हिंदी विश्वकोश

टिड्डे का संरक्षी रंजन

भिन्न भूपृष्ठों के अनुसार ईडिपोडा सेरुलेसेंस (Oedipoda Caerulescence) नामक टिड्डे में रंग परिवर्तन होता है ।

संरक्षी प्रतिरूप (pattern)

ऊपर बाएं . पत्ते के रंग की सिउडोटर्पना प्रुइनाटा (Pseudoterpna pruinata) नामक इल्ली एक हरे पौधे पर;

ऊपर दाएं . गैस्ट्रोपाचा पॉपुलिफोलिया (Gastropacha populifolia) नामक पल्लव (lappet) का शलभ आल्डर (Alder) के तने पर

तथा नीचे . भूर्ज वृक्ष पर बिस्टन बेटुलेरिया (Biston betularia) नामक पतिंगे की इल्ली ।

हिंदी विश्वकोश

खंड ४

'गैदार' से 'जीवतत्व' तक

नागरीप्रचारिणी सभा
वाराणसी

निर्देशक

संपूर्णानंद

प्रधान संपादक

रामप्रसाद त्रिपाठी

संपादक

फूलदेव सहाय वर्मा

स्थानापन्न संपादक

मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव

हिंदी विश्वकोश के संपादन एवं प्रकाशन का संपूर्ण व्यय भारत सरकार के शिक्षामंत्रालय ने वहन किया।

प्रथम संस्करण

शकाब्द १८८५ सं० २०२१ वि० १९६४ ई०

नागरी मुद्रण, वाराणसी
में मुद्रित

प्राक्कथन

हिंदी विश्वकोश का यह चतुर्थ खंड निश्चित योजना के अनुसार प्रकाशित हो रहा है। इसमें प्रकाशित लेखों का संग्रह करने में अनेक विद्वानों का सहयोग प्राप्त हुआ है। संपादन, व्यवस्थापन, मुद्रण, जिल्दबंदी आदि में पूर्वापेक्षा अधिक सहयोग मिलते रहने के कारण इस खंड का प्रकाशन प्रायः एक वर्ष से कम समय में ही हो रहा है। इस खंड का मुद्रण आरंभ होते ही मानवतादि विषयों के संपादक, डा० भगवतशरण उपाध्याय, सभा से हट गए और प्रधान संपादक को अत्यधिक परिश्रम कर उनका कार्यभार भी सँभालना पड़ा। इधर जैसी तत्परता है यदि वह बनी रही तो संभव है साल में दो खंडों का प्रकाशन सरलता से हो जाय। इस खंड में कुल ५०४ पृष्ठ हैं। ७४६ लेखों के अंतर्गत २१८ विशिष्ट विद्वानों की रचनाएँ दी हुई हैं। लेखों के अतिरिक्त इसमें अनेक रेखाचित्र, मानचित्र एवं फलकों में हाफटोन चित्र दिए हुए हैं, जिनका संग्रह करने में अनेक लेखकों, संस्थाओं और कलाकारों से सहायता मिली है।

विश्वकोश के संपादन और प्रकाशन में विश्वकोश कार्यालय के समस्त कर्मचारी, तथा सभा के और केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय के अधिकारीगण, जिन्होंने प्रकाशन में विशेष उत्साह एवं सहयोग प्रदान किया है, हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं।

संपादक

चतुर्थ खंड के लेखक

अं० पं० — अंबादत्त पंत, प्राध्यापक, राजनीति विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

अं० प्र० स० — अंबिका प्रसाद सक्सेना, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, प्राचार्य एवं अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, गवर्नमेंट सायंस कालेज, ग्वालियर।

अ० कि० ना० — अवध किशोर नारायण, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन), रीडर, पुरातत्व विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

अ० दे० वि० — अत्रि देव विद्यालंकार, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

अ० ना० मे० — अजित नारायण मेहरोत्रा, एम० ए०, बी० एस-सी०, बी० एड०, साहित्यरत्न, विज्ञान सहायक, हिंदी विश्वकोश, ना० प्र० सभा, वाराणसी।

अ० श० — अशोक शर्मा, डी० फिल०, प्राध्यापक, भौतिकी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

अ० सि० — अदालत सिंह, मेडिकल सुपरिंटेंडेंट, उदयप्रताप कालेज, वाराणसी।

आ० बे० — आस्कर वेरकूसे, एस० जे०, एल० एम० एस०, प्रोफेसर ऑव होली स्क्रिप्चर, सेंट अल्बर्ट्स सेमिनरी, राँची (बिहार)।

आ० भू० — आर्य भूषण, ऐडिशनल कमिश्नर ऑव रैलवे सेफ्टी, ८ शेषाद्रि रोड, बंगलोर।

आ० सि० स० — आनंद सिंह सजवाण, मेजर, प्राध्यापक, मिलिटरी सायंस विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

आ० स्व० जौ० — आनंद स्वरूप जौहरी, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

इ० ह० — इरफान हबीब, प्राध्यापक, इतिहास विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

उ० मि० — महामहोपाध्याय उमेश मिश्र, एम० ए०, डी० लिट०, भूतपूर्व वाइस चांसलर, कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, तीरभुक्ति, १ एलेनगंज रोड, इलाहाबाद।

उ० सि० — उजागर सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन), रीडर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

एम० आर० शु० — एम० आर० शुक्ल, डेपुटी डाइरेक्टर ऑव हॉर्टिकल्चर (पश्चिम), आगरा।

ओं० ना० श० — ओंकार नाथ शर्मा, भूतपूर्व वरिष्ठ लोको फोरमैन, बी० बी० ऐंड सी० आई० रेलवे, निवृत्त प्रधानाध्यापक, यंत्रशास्त्र प्राविधिक प्रशिक्षण केंद्र, पूर्वोत्तर रेलवे, लक्ष्मीनिवास, गुलाब बाड़ी, अजमेर।

ओ० स्मे० — ओडोलेन स्मेकल, पी-एच० डी०, प्रेग, लेक्चरर, चार्ल्स यूनिवर्सिटी, प्रेग, स्तालिनोवा २१, चेकोस्लोवाकिया।

कं० चो० — कँवलकिशोर चोपड़ा, c/o श्रीमती कृष्णाकुमारी चोपड़ा, सहायक रिसर्च अफसर, कौंसिल ऑव स्टेट्स सचिवालय, पार्लमेंट हाउस, नई दिल्ली।

क० दे० मा० — कपिल देव मालवीय, एम० बी० बी० एस०, डी० पी० एच०, न्यूट्रिशन सर्वे आफिसर, प्राविंशल हाइजीन इंस्टिट्यूट, लखनऊ।

क० न० उ० — कटील नरसिंह उडुप, एम० एस०, एफ० आर० सी० एस०, प्रिंसिपल, चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

क० ना० गु० — कमलनाथ गुप्त, एम० ए०, प्राध्यापक, इतिहास विभाग, हरिश्चंद्र डिग्री कालेज, वाराणसी।

क० प० त्रि० — करुणापति त्रिपाठी, एम० ए०, व्याकरणाचार्य, साहित्यशास्त्री, बी० टी०, अध्यक्ष, प्रशिक्षण विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

का० ना० सिं० — काशी नाथ सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

का० बु० — फादर कामिल बुल्के, एस० जे०, एम० ए०, डी० फिल०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सेंट जेवियर्स कालेज, मनरेसा हाउस, राँची (बिहार)।

कि० चं० च० — किरण चंद्र चक्रवर्ती, एम० एस-सी०, भूतपूर्व रीडर, भूभौतिकी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

कृ० कां० गो० — श्रीमती कृष्ण कांति गोपाल, इतिहास विभाग, आचार्य नरेंद्रदेव महापालिका डिग्री कालेज, कानपुर।

कृ० जी० — कृष्ण जी, डाक्टर, प्राध्यापक, भौतिकी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

कृ० द्वि० — कृष्णानंद द्विवेदी, एम० एस-सी०, प्राध्यापक, दिल्ली कालेज, दिल्ली।

कृ० मो० गु० — कृष्ण मोहन गुप्त, एम० एस-सी०, एम० ए०, एल-एल० बी०, बी० एड०, साहित्यरत्न, लेक्चरर, टीचर्स ट्रेनिंग विभाग, हरिश्चंद्र डिग्री कालेज, वाराणसी।

कृ० शं० मा०	कृपा शंकर माथुर, एम० ए०, पी-एच० डी० (कैनबरा), लेक्चरर, नृतत्व विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
कै० चं० मि०	कैलाश चंद्र मिश्र, एम० एस-सी०, बी० टी०, पी-एच० डी० (सैस्क०), प्राध्यापक, वनस्पति शास्त्र विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
कै० ना० सिं०	कैलाश नाथ सिंह, बी० एस-सी०, एम० ए०, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
क्यू० दो०	क्यूय दोई, इंडिया डिपार्टमेंट, तोक्यो यूनिवर्सिटी ऑव फारेन स्टडीज, किताकू, तोक्यो, जापान।
ग० प्र० उ०	गया प्रसाद उपाध्याय, शास्त्री, एम० ए० (हिंदी, संस्कृत) अध्यक्ष हिंदी विभाग, एम० आर० के० डिग्री कालेज, फिरोजाबाद, आगरा।
गि० कि० ग०	गिरिराज किशोर गहराना, प्राध्यापक, धर्मसमाज कालेज, अलीगढ़।
गि० प्र० गु०	गिरिराज प्रसाद गुप्त, एम० काम०, पी-एच० डी०, एफ० आर० ई० एस० (लंदन), अध्यक्ष, वाणिज्य विभाग, माधव महाविद्यालय, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन।
गि० शं० मि०	गिरजाशंकर मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, पाश्चात्य इतिहास, इतिहास विभाग, विश्वविद्यालय, लखनऊ।
गु० बे०	गुफान बे, पी-एच० डी० (मैन्चेस्टर), प्रिंसिपल, स्कूल ऑव इंजीनियरिंग, पटना।
गो० ना० च०	गोरख नाथ चतुर्वेदी, बी० ए०, ए० बी० एम० एस०, एम० पी० ए०, रीडर, चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
गो० प्र०	(स्व०) गोरख प्रसाद, डी० एस-सी० (एडिनबरा), भूतपूर्व रीडर, गणित तथा ज्योतिष, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, भूतपूर्व विज्ञान संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।
गो० बि० ध०	गोलोक बिहारी धल, एम० ए० (पटना), एम० ए० (लंदन), अध्यक्ष संस्कृत और उड़िया विभाग, पुरी कालेज, पुरी (उड़ीसा)।
चं० त्रि०	चंद्रबली त्रिपाठी, एम० ए०, एल० एल० बी०, वकील एवं ग्रंथकार, भूतपूर्व वैयक्तिक सचिव, महामना पंडित मदन मोहन मालवीय, मालवीय मार्ग, बस्ती (उ० प्र०)।
चं० प्र० शु०	चंडिका प्रसाद शुक्ल, एम० ए०, डी० फिल०, लेक्चरर, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद।
चं० भू० त्रि०	चंद्रभूषण त्रिपाठी, एम० ए०, डी० फिल्०, लेक्चरर, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
चं० म०	चंद्रचूड़ मणि, एम० ए०, लेखक एवं पुराविद, भूतपूर्व लेक्चरर, इतिहास विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद, संपादक सहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।
चा० त्रि०	चारुचंद्र त्रिपाठी एम० ए०, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।
ज० कां० मि०	जयकांत मिश्र, एम० ए०, डी० फिल०, लेक्चरर, अंग्रेजी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
ज० कृ०	जय कृष्ण, डी० एस-सी०, सी० ई० (आनर्स), पी-एच० डी० (लंदन), एम० आइ० ई० (इंडिया), प्रोफेसर, रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की।
ज० गु०	जगदीश गुप्त एम० ए०, डी० फिल, लेक्चरर, हिंदी विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद।
ज० चं० जै०	जगदीश चंद्र जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, रामनारायण रुइया कालेज, बंबई, २८, शिवाजी पार्क, बंबई-२८
ज० प्र०	जयप्रकाश, एम० ए०, प्राध्यापक, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
ज० मि० मे०	जगदीश मित्र मेहन, डेपुटी स्टैंडर्ड्स आफिसर, रोड्स विंग, ट्रैंसपोर्ट ऐंड कॉमुनिकेशन मिनिस्ट्री, नई दिल्ली।
ज० रा० सिं०	जय राम सिंह, एम० एस-सी० (कृषि), पी-एच० डी०, रीडर, कृषि महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
ज० ला० च०	जवाहरलाल चतुर्वेदी, प्रधान संपादक, पुष्टिमार्गीय ग्रंथरत्न कोश, कूवावाली गली, सूरसागर कार्यालय, मथुरा।
ज० सिं०	जगदीश सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
जि० ना० वा०	जितेंद्रनाथ वाजपेयी, एम० ए०, रीडर, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, ५५ ए, नई कॉलोनी, दुर्गाकुंड, वाराणसी।
जी० आर० एन०	गनपत राय नागिया, एम० आई० ई० (इंडिया), एम० आई० सी० ई० (यू० के०), एम० आई० स्ट्रक्च० ई० (लंदन), चीफ इंजीनियर, कैपिटल प्रोजेक्ट, पंजाब।
जी० बा० तं०	जी० बालमोहन तंपी, एम० ए०, लेक्चरर, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी।

जो॰ ना॰ मि॰ — जोगेंद्र नाथ मिश्र, एम॰ एस-सी॰, पी-एच॰ डी॰, प्राध्यापक, बनस्पति विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

त॰ भा॰ — तरुण भाई (कन्हैया सिंह), सर्वोदय साहित्य प्रकाशन, गोलघर, वाराणसी ।

ता॰ यु॰ शा॰ — तान युन शान, प्रोफेसर और डाइरेक्टर, विश्वभारती, चीन-भवन, विश्वभारती विश्वविद्यालय, शांतिनिकेतन, पश्चिमी बंग ।

तु॰ ना॰ सिं॰ — तुलसी नारायण सिंह, एम॰ ए॰, पी-एच॰ डी॰, लेक्चरर अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

त्रि॰ पं॰ — त्रिलोचन पंत, एम॰ ए॰ लेक्चरर, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

द॰ श॰ — दशरथ शर्मा, एम॰ ए॰, (इतिहास और संस्कृत), डी. लिट्., रीडर, दिल्ली विश्वविद्यालय; 'नवीन वसंत', ई॰४। १, कृष्णनगर, दिल्ली—३१.

दा॰ दा॰ ख॰ — दामोदर दास खन्ना, कैप्टेन, अध्यक्ष, सैनिक शास्त्र विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद ।

दी॰ द॰ गु॰ — दीन दयाल गुप्त, एम॰ ए॰, पी-एच॰ डी॰, अध्यक्ष हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ।

दे॰ रा॰ क॰ — देव राज कपूरिया, लेफिट्नेंट कर्नल, बी॰ ई॰ (सिविल), ए॰ एम॰ आइ॰ ई॰ (भारत), स्टाफ आफिसर ग्रेड १ (प्लैनिंग), चीफ् इंजीनियर्स आफिस, १५ कोर, ५६ ए॰ पी॰ ओ॰, इंजीनियर्स ब्रांच ।

दे॰ सिं॰ — देवेंद्र सिंह, बी॰ एस सी॰, एम॰ बी॰ बी॰ एस॰, एम॰ डी॰ (मेडिसिन), रीडर, मेडिसिन, गांधी मेडिकल कालेज, तथा चिकित्सक, हमीदिया हास्पिटल, भोपाल ।

ध॰ — (भिक्षु) धर्मरत्न, एम॰ ए॰, पी एच॰ डी॰ नव नालंदा महाविहार, पालि इंस्टीट्युट, नालंदा ।

धी॰ चं॰ गां॰ — धीरेंद्र चंद्र गांगुली, एम॰ ए॰, पी-एच॰ डी॰ (लंदन) भूतपूर्व प्रोफेसर ढाका विश्वविद्यालय, सेक्रेटरी और क्यूरेटर, विक्टोरिया मेमोरियल, कलकता—१६

न॰ च॰ — नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, प्रकाशनाध्यक्ष, साहित्य-भवन प्रा॰ लिमिटेड, इलाहाबाद—३.

न॰ द॰ मि॰ — नगेंद्र दत्त मिश्र, एम॰ एस-सी, पी-एच॰ डी॰, चीफ़ केमिस्ट, 'दि मांड्या नैशनल पेपर मिल्स लि॰, पो॰ आ॰ बेलागुला (मैसूर) ।

न॰ प्र॰ — नर्मदेश्वर प्रसाद, एम॰ ए॰, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

न॰ मे॰ — नरेश मेहता एम॰ ए॰, ९६ लूकरगंज, इलाहाबाद ।

न॰ ला॰ — नन्हे लाल, एम॰ ए॰, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

ना॰ वि॰ मो॰ — नारायण विनायक मोदक, डाइरेक्टर, हेल्थ इंजीनियरिंग रिसर्च इंस्टिट्यूट, नागपुर ।

नि॰ कौ॰ — निर्मला कौशिक, प्राध्यापिका, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

नृ॰ कु॰ सिं॰ — नृपेंद्र कुमार सिंह, एम॰ एस-सी, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

प॰ उ॰ — पद्मा उपाध्याय, एम॰ ए॰, पी-एच॰ डी॰, प्रिंसिपल, आर्यकन्या पाठशाला इंटर कालेज, खुर्जा, बुलंदशहर ।

प॰ च॰ — परशुराम चतुर्वेदी, एम॰ ए॰, एल॰ एल॰ बी॰, वकील, बलिया, यू॰ पी॰ ।

पु॰ क॰ — पुष्पा कपूर, एम॰ ए॰, प्राध्यापिका, भूगोल विभाग, महिला कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

प्यो॰ अ॰ बा॰ — प्यौत्र अलेक्सीविच बारान्निकोव, स्कालर ऑव इंडोलॉजी, ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, एकेडमी ऑव सायंसेज, फ्लैट १२५, एस॰ पैरोव्स्काया रोड, ४।२ लेनिनग्राद-डी॰ ८८ (यू॰ एस॰ एस॰ आर॰)

प्र॰ ग्रो॰ — प्रभा ग्रोवर, एम॰ एस-सी॰, डी॰ फिल्॰, १४ पार्क रोड, इलाहाबाद ।

प्र॰ व॰ — प्रमीला वर्मा, एम॰ ए॰, पी-एच॰ डी॰, लेक्चरर, भूगोल विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (मध्यप्रदेश) ।

प्रा॰ ना॰ — प्राणनाथ, एम॰ एस सी॰, पी-एच॰ डी॰, प्रोफेसर, गणित विभाग, इंजीनियरिंग कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

प्रि॰ कु॰ चौ॰ — प्रिय कुमार चौबे, बी॰ ए॰, ए॰ बी॰ एम॰ एस॰, डी॰ सी॰ पी॰, मेडिकल एवं हेल्थ आफिसर, काशी विद्यापीठ विश्वविद्यालय वाराणसी ।

फू॰ स॰ व॰ — फूलदेवसहाय वर्मा, एम॰ एस-सी॰, ए॰ आइ॰ आइ॰ एस-सी॰, भूतपूर्व औद्योगिक रसायन प्रोफेसर एवं प्रिंसिपल, कालेज ऑव टेक्नॉलोजी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय; संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी ।

ब॰ उ॰ — बलदेव उपाध्याय, एम॰ ए॰, साहित्याचार्य, (भूतपूर्व रीडर, संस्कृत-पालि विभाग, काशी हिं॰ वि॰), अध्यक्ष, पुराणेतिहास विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

ब० सिं०	बलवंत सिंह, एम० एस०-सी, लेक्चरर, वनस्पति विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
ब० सिं०	बसंत सिंह, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
बा० ना०	बालेश्वर नाथ, बी० एस-सी०, सी० ई० (आनर्स), एम० आइ० ई०, सेक्रेटरी, सेंट्रल बोर्ड ऑव इरिगेशन ऐंड पावर, कर्जन रोड, नई दिल्ली ।
बि० बि० ति०	बिपिन बिहारी तिवारी, बी० सी० टी०, लेक्चरर, गवर्नमेंट सेंट्रल टेक्सटाइल इंस्टिट्यूट, कानपुर ।
बे० मा० शु०	बेनी माधव शुक्ल, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, रीडर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
बै० पु०	बैजनाथ पुरी, एम० ए०, डी० लिट० (आक्सन) डी० फिल० (आक्सन), प्रोफेसर भारतीय इतिहास और संस्कृति, नेशनल एकेडेमी ऑव ऐडमिनिस्ट्रेशन, मंसूरी ।
ब्र० मो०	ब्रजमोहन, एम० ए०, एल-एल०बी०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, गणित विभाग तथा प्रिंसिपल आर्ट्स कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
ब्र० र० दा०	ब्रजरत्न दास, बी० ए०, एल० एल० बी०, वकील, वाराणसी ।
भ० दा० व०	भगवान दास वर्मा, बी० एस सी०, एल० टी०, भूतपूर्व अध्यापक, डेली (चीफ्स) कालेज, इंदौर; भूतपूर्व सहायक संपादक, इंडियन क्रानिकल; विज्ञान तथा साहित्य सहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी ।
भ० प्र० श्री०	भगवती प्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, एल० एल० बी० ऐसोसिएट प्रोफेसर, भौतिकी, धर्मसमाज कालेज, अलीगढ़ ।
भ० शं० या०	भवानी शंकर याज्ञिक, डाक्टर, ८, शाहनजफ रोड, हजरतगंज, लखनऊ ।
भा० गो० घा०	भास्कर गोविंद घाणेकर, आयुर्वेदाचार्य, बी० एस-सी०, एम० बी० बी० एस०, १६३१, शुक्रवार पेठ, पूना ।
भा० प्र० सिं०	भानु प्रताप सिंह, एम० एस-सी०, पो० आ० सोहना कृषि फार्म, जिला बस्ती ।
भा० स०	भाऊ समर्थ, जे० जे० स्कूल० ऑव आर्ट्स (बंबई), चित्रकार, गोयनका उद्यान, सोनेगाँव, नागपुर–५
भी० गो० दे०	भीमराव गोपाल देशपांडे, एम० ए०, बी० टी०, लेक्चरर, मराठी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
भू० कां० रा०	भूपेंद्र कांत राय, एम० ए०, रिसर्च ऑफिसर, नैशनल ऐटलस ऑर्गेनाईजेशन, १, लोअर सर्कुलर रोड, कलकत्ता–२० ।
भू० कु० मु०	भूदेव कुमार मुकर्जी, प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर ।
भृ० ना० प्र०	भृगु नाथ प्रसाद, रीडर, प्राणिशास्त्र विभाग, सायंस कालेज, बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी, वाराणसी ।
भो० ना० ति०	भोलानाथ तिवारी, एम० ए०, डी० फिल्० प्राध्यापक, किरोड़ीमल कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।
भो० शं० व्या०	भोलाशंकर व्यास, एम० ए०, पी–एच० डी० (लंदन) हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
म० गु० पूर्व म० ना० गु०	मन्मथ नाथ गुप्त, संपादक 'आजकल' पब्लिकेशंस डिविजन, सचिवालय, दिल्ली;१६०, खैबरपास होस्टल, दिल्ली–६ ।
म० ना० मे०	महाराज नारायण मेहरोत्रा, एम० एस-सी०, एफ० जी० एम० एस०, लेक्चरर, भूविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
म० रा० जै०	महेंद्र राजा जैन, एम० ए०, डिप्लोमा इन लायब्रेरी साइंस एंड इन मांतेसोरी ट्रेनिंग साहित्यरत्न फेलो ऑव लाइब्रेरी साइंस (लंदन), लाइब्रेरियन, दारुस्सलाम, (पूर्वी अफ्रीका) ।
म० ला० मि०	मनोहर लाल मिश्र, प्राध्यापक, सेरामिक्स विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
मा० पूर्व मा० आ०	माधवाचार्य बी० एस–सी०, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी ।
मा० प्र० गु०	माता प्रसाद गुप्त, एम० ए०, डी० लिट०, डाइरेक्टर कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी हिंदी इंस्टीट्यूट, आगरा ।
मि० चं० पां०	मिथिलेश चंद पांडिया, एम० ए०, लेक्चरर, इतिहास विभाग, दिल्ली कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।
मु० ला० श०	मुरारि लाल शर्मा, एम० ए०, ज्योतिषाचार्य, विद्यावारिधि (पी–एच० डी०), सहायक प्राध्यापक, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
मु० स्व० व०	मुकुंद स्वरूप वर्मा, बी० एस-सी०, एम० बी० बी० एस, भूतपूर्व चीफ़ मेडिकल आफिसर तथा प्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
मो० या०	मोहम्मद यासीन, प्राध्यापक, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ।
मो० ला० गु०	मोहन लाल गुजराल, एम० बी० बी० एस० (पंजाब), एम० आर० सी० पी० (लंदन), डाइरेक्टर प्रोफेसर, उच्चस्तरीय फार्मकालोजी विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ ।

मो० ह० — मोहम्मद हबीब, बी० ए०, डी० लिट्०, भूतपूर्व प्रोफेसर इतिहास, राजनीति मुस्लिम विश्वविद्यालय, बदरबाग, अलीगढ़।

य० रा० मे० — यशवंत राम मेहता, एम० एस सी०, पी-एच० डी० (यू० एस० ए०), ऐसोशिएट आइ० ए० आर० आइ०, इकानॉमिक बॉटनिस्ट, उत्तर प्रदेश, कानपुर।

र० कु० — रत्न कुमारी (श्रीमती), एम० ए०, डी० फिल०, प्रधानाचार्या, आर्यकन्या इंटर कालेज, बेली ऐवेन्यू, प्रयाग।

र० चं० क० — रमेश चंद्र कपूर, डी० एस-सी०, डि० फिल्० प्रोफेसर, रसायन विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर।

र० चं० त्रि० — रमेश चंद्र त्रिपाठी, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक प्राचीन इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, ८ बेलीरोड, इलाहाबाद-२

र० चं० मि० — रमेश चंद्र मिश्र, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० प्रोफेसर तथा प्रधान अध्यापक, भूविज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

र० ना० सि० — रवींद्र नारायण सिन्हा, एम० बी० बी० एस० (पटना), एफ० आर० सी० एस० (ग्लास०), एफ० आर० सी० एस० (एडि०), प्लास्टिक सर्जन, सैदपुर विस्तार पथ, राजेंद्र नगर, पटना।

र० प्र० रा० — रवींद्र प्रताप राव, डाक्टर, ऑर्गैनिक रसायन विभाग, युनिवर्सिटी ऑव एडेलायड (दक्षिणी आस्ट्रेलिया)।

र० शा० — रघुनाथ शास्त्री, व्याकरण-सिद्धांत-साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

र० स० ज० — रजिया सज्जाद जहीर, एम० ए०, भूतपूर्व लेक्चरर, उर्दू विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, वजीर मंजील लखनऊ।

रा० अ० — राजेंद्र अवस्थी, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक राजनीति विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० अ० — देखें, रा० श्या० अ०

रा० अ० द्वि० — रामअवध द्विवेदी, प्राध्यापक, अंग्रेजी विभाग, काशी विद्यापीठ वाराणसी।

रा० कु० — राम कुमार एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर ऑव मैथेमैटिक्स ऐंड हेड ऑव दि डिपार्टमेंट, ऐप्लाइड मैथमैटिक्स, मोतीलाल नेहरू इंजीनियरिंग कॉलेज, इलाहाबाद।

रा० कु० भा० — राजेंद्र कुमार भारती, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० चं० पा० — रामचंद्र पांडेय, व्याकरणाचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, बौद्ध दर्शन एवं धर्म विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

रा० चं० स० — राम चंद्र सक्सेना, भूतपूर्व प्राध्यापक, प्राणिविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० चं० शु० — राम चंद्र शुक्ल, एम० डी०, प्रोफेसर, फिजियॉलोजी विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

रा० चं० शु० — राम चंद्र शुक्ल, एम० ए०, पी० डिप्० प्राध्यापक, टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० चं० सिं० — राम चंद्र सिन्हा, डाक्टर, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, जिऑलोजी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

रा० च० मे० — राम चरण मेहरोत्रा, एम० एस-सी०, डी० फिल० (इलाहाबाद), पी-एच० डी० (लंदन), एफ० आर० आइ० सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, रसायन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

रा० दा० ति० — राम दास तिवारी, एम० एस-सी०, डी० फिल्०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

रा० द्वि० — रामाज्ञा द्विवेदी, एम० ए०, आनर्स २१, ऐशबाग कालोनी, लखनऊ।

रा० ना० — राजेंद्र नागर, एम० ए० पी-एच० डी०, रीडर, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, रिवर व्यू काटेज, टी. जी. सिविल लाइंस, लखनऊ।

रा० ना० मा० — राधिका नारायण माथुर, एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० पू० ति० — रामपूजन तिवारी, एम० ए०, डी० फिल०, हिंदी विभाग, विश्वभारती विश्वविद्यालय, शांतिनिकेतन, पश्चिमी बंग।

रा० प्र० सिं० — राजेंद्र प्रसाद सिंह, एम० ए०, रिसर्चस्कॉलर भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० फे० त्रि० — रामफेर त्रिपाठी, एम० ए०, रिसर्च स्कॉलर, (यू० जी० सी०), हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० ब० पां० — राजबली पांडेय, एम० ए०, डी० लिट०, विद्यारत्न, आचार्य प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग, भाषा तथा शोध संस्थान, अधिष्ठाता कलासंकाय, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर।

रा० मू० लूं० — राममूर्ति लूंबा, एम० ए०, एल-एल० बी०, प्राध्यापक, मनोविज्ञान एवं दर्शन विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, बादशाहबाग, लखनऊ।

रा० रा० शा० — राजाराम शास्त्री, एम० ए०, प्रिंसिपल, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

रा० शं० टं० — राम शंकर टंडन, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, एफ० एन० ए० एस-सी०, एफ० एच०

	एस०, प्राध्यापक, जीयॉलोजी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
रा० शं० भ०	रामशंकर भट्टाचार्य, व्याकरणाचार्य एम० ए०, पी-एच० डी० अनुसंधान सहायक, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
रा० शं० शु०	रामशंकर शुक्ल 'रसाल', एम० ए०, डी० लिट०, प्रोफेसर और अध्यक्ष, हिंदी विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर (राजस्थान)।
रा० श्या० शं०	राधे श्याम शंवस्थ, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, एफ० बी० एस०, प्राध्यापक, वनस्पति विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यायय, वाराणसी।
रा० सिं० तो०	रामसिंह तोमर, एम० ए०, डी० फिल०, अध्यक्ष हिंदी विभाग, विश्वभारती विश्व विद्यालय, शांतिनिकेतन, पश्चिमी बंग।
रु० म०	(सर) रुस्तम पेस्तनजी मसानी (भूतपूर्व म्युनिसिपल कमिश्नर, बंबई तथा वाइस चांसलर, बंबई विश्वविद्यालय, ४६, मेयर-वेदर रोड, बंबई-१
ल० गो०	लल्लन जी गोपाल, एम० ए०, डी० फिल०, रीडर, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्व-विद्यालय, वाराणसी।
ल० सा० वा०	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, एम० ए०, डी० फिल०, डी० लिट०, लेक्चरर, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
ला० रा० शु०	लालजी राम शुक्ल, एम० ए०, प्राध्यापक, काशी विद्यापीठ विश्वविद्यालय, वाराणसी।
ला० सिं०	लालजी सिंह, एम० ए०, आकाशवाणी, लखनऊ।
लि. स्तं० शो०	लियो स्तेफान शोम्यान, प्रधान संपादक, वृहत् सोवियत विश्वकोश, मास्को।
विं० वा० प्र०	विन्ध्य वासिनी प्रसाद, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
वि० कु० मा०	विजयेंद्र कुमार माथुर, एम० ए०, संपादक, सामाजिक विज्ञान, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, १५।१६, फैजबाजार, दरियागंज, दिल्ली।
वि० ना० त्रि०	विश्वनाथ त्रिपाठी, साहित्याचार्य, शब्दकोश विभाग, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।
वि० पा०	विशुद्धानंद पाठक, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्व-विद्यालय, वाराणसी।
वि० प्र० गु० वि० प्र० गु०	विश्वंभर प्रसाद गुप्त, ए० एम० आइ० ई०, एक्ज़ेक्युटिव इंजीनियर (रेट्स) सेंट्रल ज़ोन, सेंट्रल पी० डब्लू० डी०, एल० बैरेक्स, नई दिल्ली।
वि० प्र० मि०	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, एम० ए०, प्रोफेसर, और अध्यक्ष हिंदी विभाग, मगध विश्व-विद्यालय, गया, बिहार।
वि० भा० शु०	विद्याभास्कर शुक्ल, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, एफ० बी० एस०, एफ० पी० एल०, एफ० जी० एस० आइ०, प्रिंसिपल, कालेज ऑव सायंस, रायपुर।
वि० रा०	विक्रमादित्य राय, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्व-विद्यालय, वाराणसी।
वि० रा० सिं०	विजयराम सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्व-विद्यालय, वाराणसी।
वि० श० पा०	विश्वंभर शरण पाठक, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
वि० सा० दू०	विद्या सागर दूबे, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लंदन), भूतपूर्व प्रोफेसर, जिऑलोजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, कंसल्टिंग जिऑलोजिस्ट ऐंड माइन्स ओनर, वसुंधरा, रवींद्रपुरी, वाराणसी।
श० रा० गु०	शर्वारानी गुर्टू, द्वारा श्री इंद्रनारायण गुर्टू, २४ ई०, फैजबाजार, दरियागंज, दिल्ली।
शां० ला० का०	शांतिलाल कायस्थ, एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्व-विद्यालय, वाराणसी।
शां० प्रि० द्वि०	शांतिप्रिय द्विवेदी, लोलार्ककुंड, वाराणसी।
शि० गो० मि०	शिव गोपाल मिश्र, एम० एस-सी०, डी० फिल०, साहित्यरत्न, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
शि० गो० वा०	शिवगोपाल वाजपेयी, एम० ए०, प्राध्यापक, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
शि० नं० स०	शिव नंदन सहाय, असिस्टेंट हेडमास्टर, हायर सेकंडरी स्कूल, बोकारो, (हजारीबाग)।
शि० मं० सिं०	शिव मंगल सिंह, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
शि० मो० व०	शिव मोहन वर्मा, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
शि० यो० ति०	शिव योगी तिवारी, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, बिड़ला कालेज, पिलानी।
शु० ते०	शुभद्रा तेलंग, एम० ए०, प्रिंसिपल, बसंत महिला कालेज, राजघाट, थियासोफिकल सोसायटी, वाराणसी।
शो० ले० स्ते०	दे० ले० स्ते० शो०
श्या० कि० वा०	श्याम किशोर वासिष्ठ, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, डी० एस-सी०, रीडर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

श्या० ति०	श्याम तिवारी, हिंदी विश्वकोश, काशी।
श्री० कृ०	श्री कृष्ण, सी० ई० (आनर्स), एम० आइ० ई०, म्युनिसिपल इंजीनियर, दिल्ली नगर निगम, टाउन हाल, नई दिल्ली।
श्री० चं० पां०	श्रीचंद्र पांडेय, ज्योतिषाचार्य, प्राध्यापक, ज्योतिष विभाग, संस्कृत महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
श्री० ला०	श्रीकृष्ण लाल एम० ए०, पी-एच० डी०, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
श्री० स०	श्रीकृष्ण सक्सेना, एम० ए०, पी-एच० डी० अध्यक्ष, दर्शन एवं मनोविज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ।
सं० कु० का०	संतोषकुमार कानोड़िया, इंडिया एक्सचेंज कलकत्ता -१.
सं० प्र०	संकठा प्रसाद, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, फार्मास्युटिक्स विभाग, कालेज ऑव टेक्नॉलोजी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
सं० सिं०	संत सिंह, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, रीडर ऐग्रिकल्चरल केमिस्ट्री, ऐग्रिकल्चरल कॉलेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
सद्	सद्गोपाल, डी० एस-सी०, एफ० आइ० आइ० सी०, उपनिदेशक (रसायन), भारतीय मानक संस्था, मानक भवन, ९, मथुरा रोड, नई दिल्ली।
स० ना० प्र०	सत्यनारायण प्रसाद, एम० एस-सी०, डी० फिल०, एफ० एन० ए० एस सी०, एफ० ए० जेड०, सहायक प्रोफेसर, प्राणिविज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
स० पा० गु०	सत्य पाल गुप्त, एम० बी० बी० एस०, एफ० आर० सी० एस० (एडिन०), डी० ओ० एम० एस० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, नेत्र विज्ञान विभाग चीफ आइ सरजन, मेडिकल कालेज, लखनऊ।
स० प्र०	सत्य प्रकाश, डी० एस-सी०, एफ० ए० एस-सी०, रीडर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
स० प्र० पा०	सहदेव प्रसाद पाठक, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लिवरपूल), एफ० सी० एस० (लंदन), प्रोफेसर कालेज ऑव टेक्नॉलोजी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
स० मि० शा०	सत्यप्रकाश मिश्र, शास्त्री, एम० ए०, प्राध्यापक, काशी विद्यापीठ विश्वविद्यालय, वाराणसी।
स० व०	सत्येंद्र वर्मा, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लंदन), टेकनॉलोजिस्ट, डिपार्टमेंट ऑव प्लैनिंग ऐंड डेवलपमेंट, फर्टिलाइजर्स कॉरपोरेशन ऑव इंडिया, सिंद्री (बिहार)।
सी० जा०	सीताराम जायसवाल एम० ए०, एम० एड०, पी-एच० डी० रीडर, शिक्षा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
सी० बा० जो०	सीताराम बालकृष्ण जोशी, इंजीनियर, जोशीबाड़ी, मनमाला टैंक रोड, माहीम, बंबई।
सु० चं० गौ०	सुरेश चंद्र गौड़, एम० एस-सी०, बी० एड०, प्राध्यापक, डिग्री कालेज, जंजगीर, जिला बिलासपुर, मध्यप्रदेश।
सु० पां०	सुधाकर पांडेय, एम० काम०, साहित्यरत्न, प्रकाशन मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी; के० ६४।४४, गोलादीनानाथ, वाराणसी।
सु० सिं०	सुरेश सिंह, कुंअर, एम० एल० सी०, कालाकांकर, प्रतापगढ़ (उ० प्र०)।
सै० अ० अ० रि०	सैयद अतहर अब्बास रिजवी, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०, रीडर एवं अध्यक्ष, इतिहास विभाग, कश्मीर एवं जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।
सै० मु० अ०	सैयद मुजफ्फर अली, एम० ए०, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लंदन), प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, सामान्य तथा व्यावहारिक भूगोल विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर, म० प्र०।
स्ते० शौ० लि०	दे० लि० स्ते० शौ०
स्व० ल० भ०	स्वर्ण लता भूषण (श्रीमती), इनवरम-२, शिमला।
ह० अ० फ०	हरिअनंत फड़के, एम० ए०, रिसर्च स्कॉलर (यू० जी० सी०) इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
ह० चं० गु०	हरिश्चंद्र गुप्त, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (आगरा), पी-एच० डी० (मैन्चेस्टर), रीडर, गणित सांख्यिकी, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
ह० दे० बा०	हरदेव बाहरी, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०, एम० ओ० एल०, शास्त्री, हिंदी विभाग, कुरुक्षेत्र यूनिवर्सिटी, कुरुक्षेत्र।
ह० प्र० द्वि०	हजारीप्रसाद द्विवेदी, पद्मभूषण, प्रोफेसर और अध्यक्ष, हिंदी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।
ह० शं० श०	हरि शंकर शर्मा, 'हरीश', एम० ए०, पी-एच० डी०, हिंदी विभाग, महाराजा कॉलेज, जयपुर।
ह० शं० श्री०	हरिशंकर श्रीवास्तव, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
ह० सिं०	देखें०, ह० ह० सिं०।
ह० ह० सिं०	हरि हर सिंह, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
ही० ना० मु०	हीरेंद्रनाथ मुखोपाध्याय, एम० ए०, बी० लिट०, बार-एट-ला, संसद सदस्य, १२५, नार्थ ऐवेन्यू,

नई दिल्ली; अध्यक्ष, इतिहास विभाग, सुरेंद्रनाथ कॉलेज, १४ इंडियन मिरर स्ट्रीट, कलकत्ता।

हो० ला० जै० हीरालाल जैन, एम० ए०, एल० एल० बी०, डी० लिट०, प्रोफेसर और अध्यक्ष, संस्कृत, पालि और प्राकृत विभाग, इंस्टीट्यूट ऑव लैंग्वेजेज ऐंड रिसर्च, जबलपुर विश्वविद्यालय।

हृ० त्रि० हृषीकेश त्रिवेदी, बी० एस-सी०, बी० आर० ई०, डी० मेट०, प्रिंसिपल, हारकोर्ट बटलर टेक्नॉलोजिकल इंस्टिट्यूट, कानपुर।

हे० प्रि० दे० हेम प्रिया देवी (श्रीमती) प्राध्यापिका, भूगोल विभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

संकेताक्षर

अ०	अक्षांश; अध्याय
अ० कां०	अरण्य कांड (रामायण)
अथर्व०	अथर्ववेद
अधि०	अधिकरण
अयो०	अयोध्याकांड (रामायण)
आ० घ० या आपे० घ०	आपेक्षिक घनत्व
आदि० या आ० प०	आदि पर्व (महाभारत)
आ० श्रौ० सू०	आपस्तंब श्रौत सूत्र ।
आय०	आयतन
आर्के० स० रि०	रिपोर्ट ऑव दि आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया
ई०	ईसवी
ई० प०	ईसा पश्चात्
ई० पू०	ईसा पूर्व
उ०	उत्तर
उत्तर	उत्तर कांड
उद्यो० या उद्योग०	उद्योगपर्व (महाभारत)
ए० आई० आर०	आल इंडिया रिपोर्टर
ए० इं०; एपि० इं०	एपिग्राफिया इंडिका
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
क० प०; कर्ण०	कर्णपर्व (महाभारत)
काम०	कामंदकीय नीतिसार; कामशास्त्र
कि० ग्रा०	किलोग्राम
कि० मी० या किमी	किलोमीटर
कु० सं०	कुमारसंभव
क्र०	क्रमांक
छांदो०	छांदोग्य उपनिषद्
ज० सं०	जन्म संवत
डॉ०	डॉक्टर
तैत्ति०	तैत्तिरीय
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
द०	दक्षिण
दी० नि०	दीघनिकाय
दे०	देखिए; देशांतर
द्रो० प०, द्रोण०	द्रोणपर्व
ध०	धम्म पद
ना० प्र० प०	नागरीप्रचारिणी पत्रिका
प०	पश्चिम; पर्व
पू०	पूर्व
प्रक०	प्रकरण
फा०	फारेनहाइट

बा०	बालकांड (रामायण)
बाज० सं०	बाजसनेयी संहिता
ब्रह्म० पु०	ब्रह्मपुराण
ब्रा०	ब्राह्मण
भाग०	श्रीमद्भागवत
भी० प०	भीष्मपर्व
मनु०	मनुस्मृति
म० भा०; महा०	महाभारत
म० म०	महामहोपाध्याय
मिता० टी०	मिताक्षरी टीका
मि०मी०	मिलीमीटर
मे० सा०	मेगासाइकिल
म्यू	माइक्रॉन
याज्ञ०; याज्ञ० स्मृ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
र० का० सं०	रचनाकाल संवत
राज०	राजतरंगिणी
रा० त०	राजतरंगिणी
रामा०	रामायण
ल०	लगभग
लि०	लिटर
वन०; व० प०	वनपर्व (महाभारत)
वि०	विक्रमी
वि० पु०	विष्णुपुराण
श०, शत०	शतपथ ब्राह्मण
शल्य०	शल्यपर्व
शांति०	शांतिपर्व
श्रीमद्भा०	श्रीमद् भागवत
सं०,	संख्या, संवत्, संपादक, संस्करण, संस्कृत संहिता
सं० ग्र०	संदर्भ ग्रंथ
संस्क०	संस्करण
से० ग्रा० से०	सेंटिग्रेड, ग्राम, सेकंड पद्धति
स० प०; सभा०	सभापर्व (महाभारत)
सुंदर०	सुंदरकांड
सें०	सेंटीग्रेड
संमी०	सेंटीमीटर
से०	सेकंड
हि०	हिजरी; हिमांक

तत्वों की संकेत सूची

संकेत		तत्व का नाम
अ	Am	अमरीकियम
आ$_{इ}$	En	आइन्स्टियम
ऑ	O	ऑक्सिजन
आ	I	आयोडीन
आ$_{ग}$	A	आर्गन
आ$_{स}$	As	आर्सैनिक
ऑ$_{स}$	Os	ऑस्मियम
इ$_{ड}$	In	इंडियम
इ$_{ट}$	Yb	इटर्बियम
इ$_{ट्र}$	Y	इट्रियम
इ	Ir	इरीडियम
ए$_{र}$	Eb	एर्बियम
ऐं$_{ट}$	Sb	ऐंटिमनि
ऐ$_{क}$	Ac	ऐक्टिनियम
ऐ	Al	ऐल्यूमिनियम
ऐ$_{स}$	At	ऐस्टाटीन
का	C	कार्बन
कै$_{ड}$	Cd	कैडमियम
कै$_{लि}$	Cf	कैलिफोर्नियम
कै	Ca	कैल्सियम
को	Co	कोबल्ट
क्यू	Cm	क्यूरियम
क्रि	Kr	क्रिप्टान
क्रो	Cr	क्रोमियम
क्लो	Cl	क्लोरीन
ग	S	गंधक
गै$_{ड}$	Gd	गैडोलिनियम
गै	Ga	गैलियम
ज$_{र}$	Zr	जर्कोनियम
ज$_{म}$	Ge	जर्मेनियम
जी	Xe	जीनान
टं	W	टंग्स्टन
ट$_{र}$	Tb	टर्बियम
टा$_{इ}$	Ti	टाइटेनियम
ट$_{क}$	Tc	टेकनिशियम
टे$_{ल}$	Te	टेल्यूरियम
टै	Ta	टैंटेलम
डि	Dy	डिस्प्रोशियम
ता	Cu	ताम्र
थू	Tm	थूलियम
थै	Tl	थैलियम
थो	Th	थोरियम
ना	N	नाइट्रोजन
नि$_{य}$	Nb	नियोबियम
नि	Ni	निकल
नी	Ne	नीआन
ने$_{प}$	Np	नेप्च्यूनियम
न्यो	Nd	न्योडियम
पा	Hg	पारद
पै	Pd	पैलेडियम
पो	K	पोटासियम
पो$_{ल}$	P_o	पोलोनियम
प्रे	P_r	प्रेजीओडिमियम
प्रो$_{ट}$	P_a	प्रोटोऐक्टिनियम
प्रो$_{म}$	P_m	प्रोमीथियम
प्लू	P_u	प्लूटोनियम
प्लै	Pt	प्लैटिनम
फा	P	फास्फोरस
फ्रां	Fr	फ्रांसियम
फ्लो	F	फ्लोरीन
ब	Bk	बर्केलियम
बि	Bi	बिस्मथ
बे	Ba	बेरियम
बे$_{र}$	Be	बेरीलियम
बो	B	बोरन
ब्रो	Br	ब्रोमीन
मैं	Mn	मैंगनीज
मै$_{ग}$	Mg	मैग्नीशियम
मो	Mo	मोलिब्डीनम
य	Zn	यशद
यू	U	यूरेनियम
यू$_{र}$	Eu	यूरोपीयम
र	Ag	रजत
रु$_{थ}$	Ru	रुथेनियम
रु$_{ब}$	Rb	रुबीडियम
रे$_{ड}$	Rn	रेडन
रे	Ra	रेडियम
रे$_{न}$	Re	रेनियम
रो	Rh	रोडियम
लि	Li	लिथियम
लैं	La	लैंथेनम
लो	Fe	लोह
ल्यू	Lu	ल्यूटीशियम
वं	Sn	वंग
वै	V	वैनेडियम
स	Sm	समेरियम
सि	Si	सिलिकन
सि$_{ल}$	Se	सिलीनियम
सी$_{ज}$	Cs	सीज़ियम
सी$_{र}$	Ce	सीरियम
सी	Pb	सीस
से	Ct	सेंटियम
सो	Na	सोडियम
स्कैं	Sc	स्कैंडियम
स्ट्रौं	Sr	स्ट्रौंशियम
स्व	Au	स्वर्ण
हा	H	हाइड्रोजन
ही	He	हीलियम
है	Hf	हैफ़्नियम
हो	Ho	होल्मियम

फलकसूची

हिंदी विश्वकोश

खंड ४

गैदार (मूल नाम–गोलिकोव अर्कादी पेत्रोविच (९-२-१९०४ — २६-१०-१९४१) रूसी लेखक। १४ वर्ष की आयु में लाल सेना में स्वयंसेवक बनकर आए। १७ वर्ष की आयु में रेजिमेंट के कमांडर हुए। अस्वस्थता के कारण १९२४ में सेना से छुट्टी मिली और साहित्यिक कार्य प्रारंभ किया। महान् देशभक्तिपूर्ण युद्ध के समय गैदार मोर्चों पर गए वहीं फासिस्टों ने उन्हें मार डाला। गैदार ने किशोरोपयोगी साहित्य को बड़ी देन दी। इनके अनेक उपन्यास और कहानियाँ हैं, जिनमें मुख्य 'स्कूल' (१९३०), 'दूरवर्ती देश' (१९३२), 'सैनिक रहस्य' (१९३५), 'नीला प्याला' (१९३६), 'चुक और गेक' (१९३५), 'तिमूर और उसका दल' (१९४०) हैं। इन कृतियों में मैत्री, साहस तथा देशभक्ति की भावनाएँ परिपूर्ण हैं जिनके कारण ये रचनाएँ अति लोकप्रिय हैं। इनके आधार पर अनेक फिल्में भी बनी हैं। अनेक भाषाओं में, जिनमें हिंदी भी संमिलित है, गैदार की कृतियाँ अनूदित हैं। [प्यो॰ अ॰ बा॰]

गैरत मोहम्मद इब्राहीम सम्राट् शाहजहाँ के यहाँ पहले ४०० सवारों का मंसबदार था। फिर इसने शुजाअत खाँ की पदवी के साथ १००० सवारों का मंसब प्राप्त किया। महाराज जसवंतसिंह और दाराशिकोह से औरंगजेब के युद्ध के पश्चात् इसका मंसब बढ़कर ५००० सवारों का हो गया। दाराशिकोह से द्वितीय युद्ध में भी यह औरंगजेब के साथ रहा। समय ने करवट ली, इसके मंसब छिने और फिर दिए गए। कालांतर में यह 'गैरत खाँ' की उपाधि से विभूषित हो जौनपुर का सूबेदार नियुक्त हुआ। वहाँ से इसे सीसौदियों और राठौरों के विरुद्ध सुल्तान मोहम्मद अकबर के साथ भेजा गया। पर यह शाहजादे के साथ औरंगजेब से ही युद्ध करने लगा। फलतः कैद कर लिया गया। बहुत दिनों बाद छूटने पर तीन हजारी सवार के मंसब के साथ जौनपुर का फौजदार नियुक्त हुआ।

गैरिक, डेविड (१७१७–१७७९) अंग्रेज अभिनेता तथा मंच संचालक। फ्रेंच प्रोटेस्टेंट कुल में जन्म। पिता जहाज के कप्तान। परिवार लीचफील्ड में आकर बसा जहाँ के 'ग्रामर स्कूल' में प्रारंभिक शिक्षा हुई। उच्च शिक्षा के लिये लंदन गए किंतु एक मास के भीतर ही पिता का सहसा देहावसान हो गया। इस बीच लिस्बन स्थित चाचा की १००० पौंड की संपत्ति उत्तराधिकार में मिली, फलस्वरूप भाई के सहयोग से लंदन और लीचफील्ड में शराब का व्यवसाय शुरू किया। प्रारंभ में मंच के आलोचक तथा नाटककार बनने की चेष्टा की। पहला नाटक 'ईसव इन द शेड्स' १५ अप्रैल, १७४० में 'ड्रूरी लेन' में खेला गया और गैरिक प्रसिद्ध हो गए। मार्च, १७४१ में पहली बार अभिनेता के रूप में मंच पर उतरे। इस बीच 'लीडाल' के नाम से अभिनय करते थे। सन् १७४१ में 'गुडमैंस फील्ड्स' में तृतीय रिचर्ड के रूप में अत्यंत प्रसिद्धि मिली। क्रमशः तत्कालीन अंग्रेजी मंच के सबसे बड़े अभिनेता माने जाने लगे। गंभीर से लेकर हास्य तक के प्रसंगों के अभिनय में अद्वितीय थे। इनका अभिनय देखने के लिये तत्कालीन श्रीमंतवर्ग तथा प्रसिद्ध व्यक्ति आते थे। आरंभ के छह मास में तो १८ प्रकार के विभिन्न चरित्रों का उन्होंने अविस्मरणीय रूप से सफल अभिनय किया। स्वयं रोम के पोप इनका अभिनय देखने तीन बार आए और कहा कि इनके बराबर दूसरा अभिनेता नहीं और न ही इनके समकक्ष कोई हो सकेगा। अब वह डब्लिन तक मंच संचालक तथा निर्देशक के रूप में जाने लगे। जब कुछ दिनों बाद ड्रूरी लेन का मंच बिका तब उसे इन्होंने खरीद लिया और सितंबर, १७४७ में बड़े ही भव्य रूप में, मँजे हुए अभिनेताओं के दल के साथ अपना मंच प्रारंभ किया। इनकी महान् सफलता के दो कारण बताए जाते हैं। प्रथमतः फ्रांसीसी होकर भी अंग्रेजी में पारंगत होना दूसरे ऐसी पैनी दृष्टि जो जीवन और कला की विविधता को सहज ही ग्रहण कर लेती थी। 'त्रासदी' (ट्रेजेडी) तथा 'कामदी' (कामेडी) सभी प्रकार के नाटकों में पटु थे। शेक्सपियर के लगभग १७ चरित्रों के अभिनय के लिये विख्यात हुए। इन्होंने अंग्रेजी मंच के उन्नयन में बड़ा ही ऐतिहासिक कार्य किया। शेक्सपियर को लोकप्रिय बनाने में इनका बड़ा योग रहा है। इन्होंने शेक्सपियर के 'कामदी' नाटकों के ओपेरा प्रस्तुत किए। पत्नी, इवा मारिया, जर्मन तथा अच्छी नर्तकी भी थी। अंतिम बार १७७६ में अपने प्रिय चरित्र हैमलेट के अभिनय के उपरांत इन्होंने स्वयं अभिनय करना बंद कर दिया, यद्यपि फिर भी ये मंच से ही संबंधित रहे। अंतिम दिनों में अपना कारोबार भी बंद कर दिया। २० जनवरी, १७७९ को लंदन में इनकी मृत्यु हुई। वहाँ ये वेस्टमिंस्टर एबे में शेक्सपियर की मूर्ति के पदतल में दफना दिए गए। [न॰ मे॰]

गैरिसन, विलियम लायड (१८०५ से १८७९) अमरीकी दासता-विरोधी आंदोलन का नेता। जन्म न्यूबरीपोर्ट (मसाचूसेट्स) १० दिसंबर, १८०५ को। पिता की जब मृत्यु हुई तब गैरिसन अभी बच्चा ही था। कम उम्र में ही उसने हेराल्ड में लिखना शुरू किया जिसका अनेक बार वह स्थानापन्न संपादक भी हुआ। शीघ्र ही बोस्टन में वह नेशनल 'फिलैंथ्रापिस्ट' का संपादक हुआ जिस पत्र की स्थापना मद्यपान के विरोध में हुई थी। जान क्विंसी ऐडम्स को संयुक्त राज्य अमरीका का राष्ट्रपति बनाने के लिये १८२८ में गैरिसन ने बेनिंग्टन में 'जनरल ऑव द टाइम्स' नामक पत्र छापना शुरू किया। बेंजामिन लैंडी के दासताविरोधी व्याख्यानों से प्रभावित होकर गैरिसन ने दासता के विरुद्ध अमरीका में युद्ध ठान दिया। उसका कहना था कि नीग्रो दासों को सभी प्रकार के नागरिक अधिकार मिलने चाहिएँ और उसने दासों के पक्ष में आंदोलन प्रारंभ कर दासस्वामियों से झगड़ा मोल ले लिया। इस संबंध में उसे जेल का मुँह भी देखना पड़ा। १८३१ में उसपर भारी मुकदमा चला और ५००० डालर का इनाम उसे पकड़ने के लिये घोषित हुआ। उसी साल 'लिबरेटर' नाम का जो पत्र गैरिसन ने निकालना शुरू किया, उसका नारा था—'संसार हमारा देश है, मानव जाति हमारी हमवतन है।' उस पत्र में सिद्धांत रूप से संपादक ने जो एलान किया वह आज अपने सिद्धांत में निष्ठा रखनेवालों का नैतिक शपथ बन गया है। 'मैं दृढ़ प्रतिज्ञ हूँ', 'मैं अपनी बात पर दृढ़ रहूँगा', 'मैं कभी क्षमा नहीं करूँगा', 'मैं एक इंच भी पीछे नहीं हटूँगा', और 'अपनी बात सुनाकर रहूँगा'।

गैरिसन ने जब इंग्लैंड की यात्रा की तब वहाँ के दासप्रथावलंबियों में खलबली मच गई। फिर भी उसने वहाँ दासविरोधी समाज की स्थापना की। उसके अमरीका लौटने पर प्रेसिडेंट अब्राहम लिंकन ने उसकी दास-

विरोधी सेवाओं को सराहा और दासप्रथा का अमरीका में अंत किया। दूसरी बार जब गैरिसन १८४६ में और तीसरी बार १८६७ में इंग्लैंड गया तब उसका वहाँ बड़ा स्वागत और सम्मान हुआ। वह न्यूयार्क में ७४ साल की उम्र में २४ मई, १८७९ को मरा तथा बोस्टन में दफनाया गया।
[प० उ०]

गैलापैगस प्रशांत महासागर में विषुवत् रेखा पर स्थित ज्वालामुखी द्वीपसमूह है जिसमें १२ बड़े तथा कई सौ छोटे छोटे द्वीप संमिलित हैं। ये इक्वेडोर देश के कोलन प्रांत के अंतर्गत हैं और प्रधान तट से ६५० मील पश्चिम में हैं। कुल क्षेत्रफल ३,१२३ वर्ग मील है एवं जनसंख्या १,६८७ (१९५७) है। सबसे बड़ा ऐलबरमेल द्वीप है जिसकी लंबाई लगभग ७५ मील है। ऐलबरमेल तथा चैथम द्वीप ही आबाद हैं। अन्य द्वीपों में इंडीफिटीगेबुल, जेम्स तथा नारबरो उल्लेखनीय हैं। चैथम द्वीप पर स्थित सेंट क्रिस्टोबेल इस प्रदेश का मुख्य नगर है। १५३५ ई० में टामस डी बरलांगा नामक स्पेन निवासी ने इस द्वीप समूह की खोज की थी। १८३२ ई० में इक्वेडोर देश ने इसपर अपना अधिकार जमाया।

गैलापैगस द्वीपसमूह के महत्व का श्रेय यहाँ के प्राकृतिक जीवभांडार को है जिसमें वनस्पति तथा पशुओं की अनेकों दुष्प्राप्य जातियाँ मिलती हैं। इन द्वीपों पर विशालकाय कछुए भी पाए जाते हैं जिनमें से कुछ की आयु ३००-४०० वर्ष की हो चुकी है। इस प्रकार ये विश्व के प्राचीनतम जीवित प्राणी हैं।
[रा० ना० मा०]

गैलियम एक रासायनिक तत्व, संकेत गै, (Ga), परमाणु संख्या ३१ तथा परमाणुभार ६९·८ है। यह अतिसूक्ष्म मात्रा में अन्य धातुओं के खनिजों, विशेषतः जिंकब्लेंड और बॉक्साइट, में पाया जाता है। १८७५ ई० में लकाक द ब्वाबोद्रां (Lecoq de Boisbaudran) ने इस धातु का आविष्कार किया। तत्वों की आवर्तसारणी तैयार करने में मेंडेलिएफ (Mendeleeff) ने ऐल्यूमिनियम समूह के तत्वों में एक रिक्त स्थान पाया, जिसको उसने एका-ऐल्यूमिनियम (Eka-aluminium) नाम दिया। इसी रिक्त स्थान की पूर्ति गैलियम से हुई है। खनिजों से अम्लराज की क्रिया द्वारा क्लोराइड के रूप में गैलियम पृथक् किया जाता है। गैलियम लवणों के क्षारीय विलयन के विद्युद्विश्लेषण से गैलियम धातु प्राप्त होती है।

गैलियम नीली आभावाली, सफेद, कठोर धातु है। इसका आपेक्षिक घनत्व ५·९ है। पिघलने पर (द्रवांक २९·७६° सें०) रजत सा सफेद द्रव प्राप्त होता है। अतिशीतलीकरण से सामान्य ताप पर भी द्रव रूप में मिलता है। अम्लों, जलीय दाहक पोटाश और अम्लराज में धातु घुल जाती है। इसके ऑक्साइड, हाइड्रॉक्साइड, क्लोराइड तथा सल्फेट ऐल्यूमिनियम के लवणों से बहुत मिलते जुलते हैं। इसके ऐलम भी बनते हैं। इसकी मिश्रधातुएं बनी हैं और कुछ उपयोगी सिद्ध हुई हैं।

सं० ग्रं० — जे० एफ० थार्प और एम० ए० व्हाइटले : थार्प्स डिक्शनरी ऑव ऐप्लाइड केमिस्ट्री; जे० आर० पारटिंगटन : टेक्स्ट बुक ऑव इनऑर्गैनिक केमिस्ट्री, १९५०।
[वि० वा० प्र०]

गैलिलीओ गैलिली (Galileo Galilei, सन् १५६४-१६४२), इटली के खगोलशास्त्री एवं गणितज्ञ, का जन्म १५ फरवरी, सन् १५६४ को पीसा (Pisa) में हुआ था। इनके पिता वेंचेंजियो गैलिली निपुण गणितज्ञ एवं गायक थे। गैलिलीओ की प्रारंभिक शिक्षा फ्लोरेंस के समीप वाल्लाम्ब्रोज में हुई जहाँ इन्होंने ग्रीक, लैटिन और तर्कशास्त्र का भली भाँति अध्ययन किया, परंतु वहाँ पर सिखाए जानेवाले विज्ञान में इनकी रुचि नहीं थी। १५८१ ई० में ओषधि विज्ञान की शिक्षा के लिये ये पीसा-विद्यालय भेजे गए। इनकी मृत्यु ८ जनवरी, १६४२ ई० को हुई।

गैलिलीओ को गतिविज्ञान का जन्मदाता कहा जाता है। सर्वप्रथम इन्होंने ही अरस्तू के इस विचार का खंडन किया कि वस्तुओं के नीचे गिरने की गति उनके भार की समानुपाती होती है और गति का प्रथम नियम एवं वस्तुओं के नीचे गिरने के नियम ज्ञात किए। वेगवृद्धि और भिन्न भिन्न गतियों की स्वतंत्रता का ज्ञान स्पष्ट रूप से प्राप्त करके, गैलिलीओ यह सिद्ध कर सके कि प्रक्षेप्य परवलीय वक्र में गतिमान् होते हैं। इनको केंद्रापसारी बलों का ज्ञान था और आवेग की इन्होंने सही सही परिभाषा दी। ये स्थिति-विज्ञान के मूलभूत सिद्धांत 'बल-समांतर-चतुर्भुज' के आविष्कारक थे। ये अच्छे गायक थे और चित्रकारी में भी इनकी रुचि थी। [रा० कु०]

गैलिली सागर इजरायल देश में स्थित नाशपाती के आकार की एक झील है जिसमें से होकर जार्डन नदी बहती है। लंबाई १४ मील, चौड़ाई ८ मील एवं क्षेत्रफल ११२ वर्ग मील है। रूम सागर के तल से इसकी सतह ६८२·५ फुट नीची है। अधिकतम गहराई १५० फुट है।

गैलिली सागर जार्डन रिफ्ट वैली में स्थित है। जार्डन नदी का जलप्रवाह लावा निक्षेप द्वारा अवरुद्ध हो जाने से ही संभवतः इसका निर्माण हुआ है। ताप के आकस्मिक परिवर्तनों से यहाँ भयंकर तूफान उठते रहते हैं। सागर में विभिन्न जाति की मछलियों का बाहुल्य है। तटीय भागों में प्राचीन आबादी के अनेक चिह्न विद्यमान हैं।
[रा० ना० मा०]

गैलीपोली १. स्थिति : ४०° ३′ उ० अ० एवं १८° ०′ पू० दे०। इटली देश के अपुलिया प्रदेश के लेसी प्रांत में बंदरगाह है जो टरांटो की खाड़ी में पूर्वी तट के एक चट्टानी द्वीप पर स्थित है। यह लेसी नगर से दक्षिण-पश्चिम ११ मील की दूरी पर है तथा प्रधान तट से पुल द्वारा जुड़ा है। यहाँ एक बड़ा गिरजाघर भी है जो १६२९ ई० में निर्मित हुआ था। कुल जनसंख्या १५,७३२ (१९५१) है।

२. स्थिति : ४०° २४′ उ० अ० एवं २६° ४०′ ३०″ पू० दे०। गैलीपोली अथवा गैलीबोलू यूरोपीय टर्की में मारमारा सागर के प्रवेशद्वार तथा सँकरे गैलीपोली प्रायद्वीप पर बंदरगाह है। इसकी भौगोलिक स्थिति अत्यंत महत्वपूर्ण है। टर्की ने गैलीपोली नगर पर १३५४ ई० में अधिकार जमाया था। यहाँ अनेक मसजिदें तथा रोमन एवं बाईजैनटाईन काल के दर्शनीय अवशेष मिलते हैं। कुल जनसंख्या १६,४९६ (१९४५) है।
[रा० ना० मा०]

गलेना (Galena) सीस का मुख्य खनिज है। प्रकृति में सीस धातु रूप में नहीं पाया जाता। यह धातु गैलेना आदि सीस के खनिजों से प्राप्त की जाती है। इसकी प्राप्तिविधि बड़ी सरल है। इसी कारण प्राचीन काल से ही मनुष्य इसका उपयोग करता आ रहा है। पानी ले जाने के लिये प्राचीन काल में भी सीस के नल उपयोग में लाए जाते थे। टिन (वंग) और ऐंटिमनी धातु के साथ सीस टाइप ढालने का सर्वोत्तम पदार्थ सिद्ध हुआ है। इसके अतिरिक्त यह विद्युत्संचायक बैटरियों, केबल (cable), युद्धसामग्री अर्थात् गोला बारूद आदि, वार्निश, दवाइयाँ, छपाई, रंगाई, और रबर उद्योग में भी काम आता है।

गुण — यह सीस का सल्फाइड (सीसं, PbS) है, पर इसमें अल्प मात्रा में चाँदी भी विद्यमान रहती है। इसके मणिभ घन निकाय (cubic system) के होते हैं। यह अधिकतर घनाकार रूप में पाया जाता है। इसका रंग काला पर धात्वीय चमक लिए होता है। यह खनिज तीन दिशाओं में सरलता से तोड़ा जा सकता है। इसकी कठोरता २½ होती है तथा आपेक्षिक घनत्व ७·५।

प्राप्ति — यह खनिज तलछटी शिलाओं (sedimentary rocks) में

धारियों (veins) के रूप में मिलता है। चूने की शिलाओं तथा डोलोमाइट शिलाओं में यह पुनःस्थापन क्रिया के फलस्वरूप स्थापित हो जाता है।

संयुक्त राष्ट्र (अमरीका), मेक्सिको, आस्ट्रेलिया तथा कैनाडा इस खनिज के मुख्य उत्पादक हैं। भारत में यह खनिज राजस्थान में उदयपुर से लगभग ३० मील दूर जावर की खदानों से प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त बिहार, मध्यप्रदेश तथा मद्रास में भी इस खनिज के निक्षेप हैं। [म० ना० मे०]

गैल्वानी, लुइगी (Galvani, Luigi, सन् १७३७-१७९८) इटली के शरीर-क्रिया-वैज्ञानिक का जन्म बोलोन नगर में ९ सितंबर, १७३७ को हुआ। सन् १७६२ में बोलोन में इनकी नियुक्ति शरीर-रचना-विज्ञान के व्याख्याता पद पर हुई। उक्त पद पर कार्य करते हुए इन्होंने कई महत्वपूर्ण अनुसंधान किए।

इन्होंने पक्षियों के श्रवणांगों एवं प्रजनन-मूत्र-मार्ग पर विशेष कार्य किया। मरे हुए मेढ़क को ताँबे के तार द्वारा लोहे की जाली पर लटकाने से उसकी मांसपेशियों में स्फुरण होने के अनेक मनोरंजक प्रयोग किए। किन्हीं दो धातुओं का प्रयोग किया गया, लेकिन ताँबा एवँ जस्ता धातुओं के तार अधिक अच्छे पाए गए। गैल्वानी ने इसे 'प्राणिविद्युत्' की संज्ञा दी। उनके विचार में मांसपेशियों के स्फुरण का कारण दो विरुद्ध विद्युदावेशों का मिलन था। इन्होंने मेढ़क को एक प्राकृतिक आवेशयुक्त लीडन जार के समान समझा। यद्यपि इनके ये निष्कर्ष दोषपूर्ण थे, फिर भी ये प्रयोग महत्वपूर्ण रहे। प्रारंभिक सेल, जिसे आगे चलकर वोल्टा ने विकसित किया, इसी सिद्धांत पर बना। आज भी इसीलिये, गैल्वानी का नाम, गैल्वानोमीटर, गैल्वानिक विद्युद्धारा एवं गैल्वानाइजिंग के साथ जुड़ा हुआ है।

बोलोन शहर की विज्ञान अकादमी ने सन् १८४१-४२ में प्रोफेसर गैल्वानी के महत्वपूर्ण कार्यों की एक पुस्तिका प्रकाशित की।

गैल्वानी की मृत्यु बोलोन नगर में ही ४ दिसंबर, १७९८ ई० को हुई। [अं० प्र० स०]

गैसत्राण (Gas mask) प्रथम विश्वयुद्ध (सन् १९१४-१९१९) में शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये पहले पहल युद्ध गैसों का उपयोग हुआ था और युद्ध गैस के सांघातिक प्रभाव से बचने के लिये पहले पहल युद्ध में गैसत्राण का उपयोग हुआ। उस समय का गैसत्राण बड़ा भद्दा होता था। यह त्राण मुख पर रखा जाता था। उसमें एक नली होती थी जो एक कनस्टर से जोड़ी रहती थी। यह कनस्टर गले में सामने लटका रहता था। कनस्टर में लकड़ी का कोयला रखा रहता था, जिसमें पारित होकर शुद्ध वायु नाक में जाती थी। विषैली गैस कोयले में अवशोषित हो जाती थी। इस गैसत्राण से सैनिकों को लड़ने में बहुत असुविधाएँ होती थीं। द्वितीय विश्वयुद्ध में गैसत्राण बहुत उन्नत किस्म का बना। यह पर्याप्त हल्का था और कनस्टर शरीर के पार्श्व में लटका रहता था, जिससे युद्ध करने में अड़चन कम होती थी। पीछे इसमें और भी सुधार हुआ। अब ऐसे त्राण बने जिनकी तौल तीन पौंड से भी कम थी। कनस्टर अब सीधे त्राण से जुड़ा रहता। इससे भद्दी लंबी नली की आवश्यकता नहीं रही। छनी हुई शुद्ध वायु ऊपर से आती है और आँख पर लगे शीशों को बिना धुँधला किए नाक के छिद्रों में प्रविष्ट होती है। कनस्टर में छानने के लिये अब कोयले के साथ साथ सोडा चूना भी प्रयुक्त होता है। कोयले भी ऐसे बनने लगे हैं जिनकी अवशोषण क्षमता बहुत अधिक होती है। यदि युद्धक्षेत्र की वायु में सूक्ष्म ठोस कण बिखरे हों तो उनको दूर करने के लिये त्राण के वायुमार्ग में फेल्ट के गद्दे रखे रहते हैं, जिनमें ठोस कण छन जाते हैं।

गैसत्राण का उपयोग अब केवल युद्ध में ही नहीं होता, वरन् खान और रासायनिक संयंत्रों में, जहाँ हानिकारक गैसें और धुएँ बनते हैं, इनका उपयोग काम करनेवालों और आग बुझानेवाले व्यक्तियों के लिये भी किया जाता है। [स० व०]

गैसधानी (Gas holders) — उपभोक्ताओं के बीच गैस वितरण के पहले गैस का संग्रह करने की आवश्यकता पड़ती है। गैससंग्रह
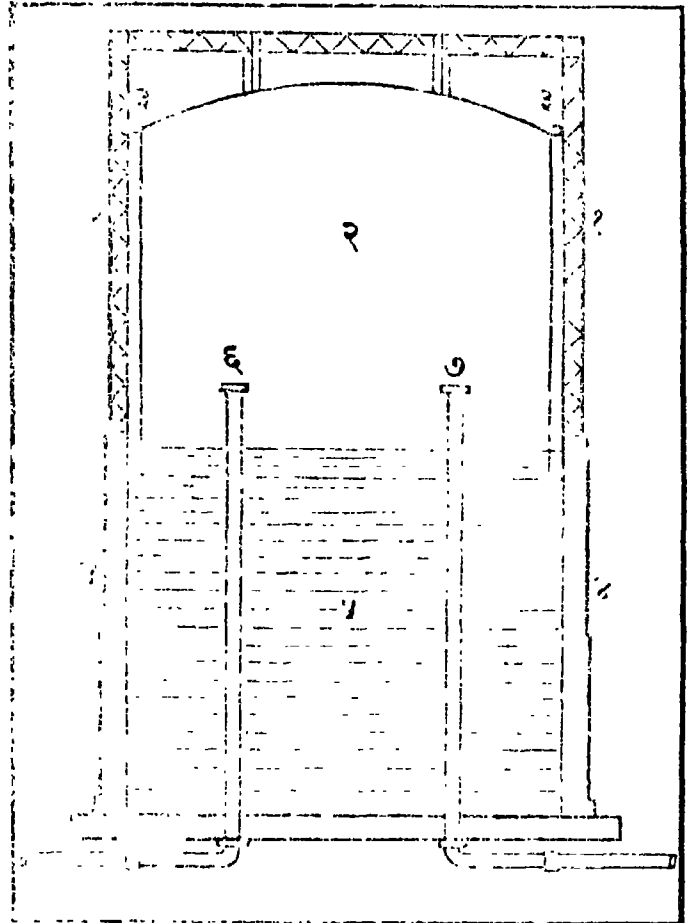
चित्र १ जलसंमुद्रित गैसधानी

१ जलनाभार गैसपात्र की गतिविधि निर्धारित करनेवाली इस्पात की संरचना; २. गैसपात्र; ३. गैसपात्र के नीचे और ऊपर लगे पहिए, जिनके सहारे पात्र ऊपर नीचे चढ़ता उतरता है; ४. पत्थर या लोहे की टंकी, जिसमें पानी भरा रहता है; ५. नल, ६ गैस का प्रवेशमार्ग तथा ७. निर्गममार्ग।

की साधारणतया तीन रीतियाँ प्रचलित हैं : १. जलसंमुद्रित टंकियाँ, २. जलरहित टंकियाँ और ३. गैस के सिलिंडर।

जलसंमुद्रित टंकियों का उपयोग बहुत दिनों से होता आ रहा है। आज भी इनका उपयोग व्यापक रूप से होता है। इसमें एक बड़ी टंकी रहती है जिसमें जल भरा रहता है। जल पर इस्पात का एक ढाँचा तैरता रहता है। जल के ऊपर गैस इकट्ठी होती है। टंकी में एक नल रहता है जो पेंदे से शिखर तक, अर्थात् नीचे से ऊपर तक, जाता है। इसी नल द्वारा गैस प्रविष्ट करती अथवा बाहर निकलती है। जब गैस प्रविष्ट करती है तब ढाँचा धीरे धीरे ऊपर उठता है। जब गैस बाहर निकलती है

तब ढाँचा धीरे धीरे नीचे गिरता है। ढाँचा दीवार पर स्थित झर्झरी द्वारा ऊपर नीचे खिसकता है।

छोटी छोटी टंकियों के ढाँचे इस्पात के एक टुकड़े से बने होते हैं। बड़ी बड़ी टंकियों के ढाँचे दो से चार भागों में बनाकर जोड़े जाते हैं।
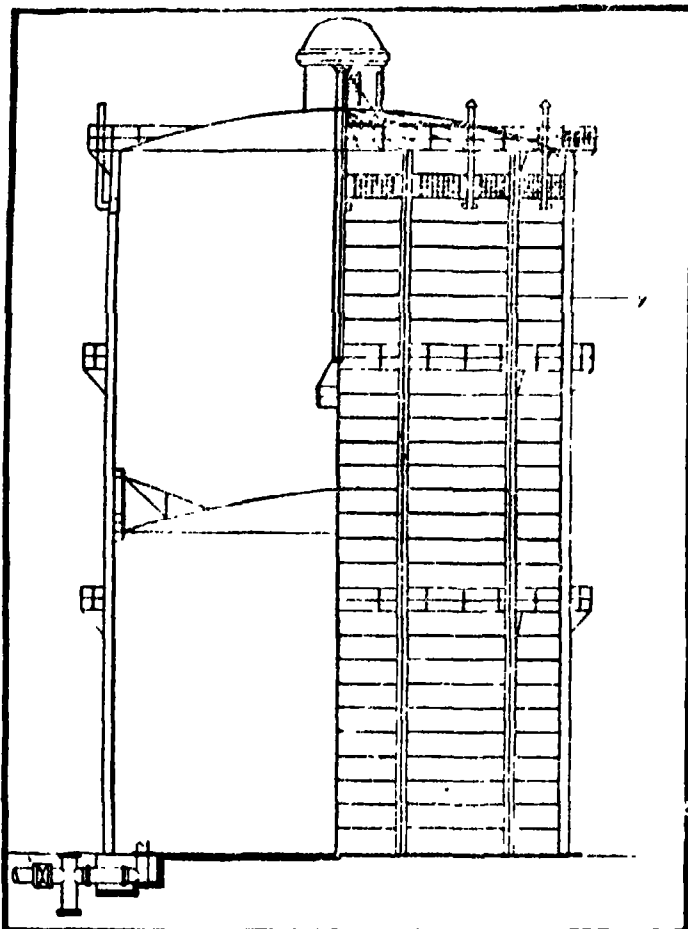
चित्र २. जलरहित गैसधानी

१. उत्थान।

जब टंकी में गैस नहीं रहती तब ढाँचा टंकी के पेंदे में स्थित रहता है। जैसे जैसे गैस प्रवेश करती है, ढाँचा ऊपर उठता जाता है। जब गैस से टंकी भर जाती है तब यह जलसंमुद्रित हो जाती है। संमुद्रण के जल को ठंडे देशों में बर्फ बनने से बचाने के लिये भाप से गरम रखते हैं। भारत ऐसे उष्ण देश में यह स्थिति साधारणतया नहीं आती। भारत की प्रयोगशालाओं में प्रयुक्त होनेवाली गैस ऐसी ही टंकियों में संगृहीत रहती है।

जलरहित टंकी जलवाली टंकी सी ही देख पड़ती है। इसमें एक पिस्टन होता है, जो गैस के आयतन के अनुसार ऊपर नीचे जाता आता रहता है। टंकी पर छप्पर होता है, जो पिस्टन को पानी से सुरक्षित रखता है। यह टंकी वृत्ताकार या बहुभुजाकार हो सकती है। भुजाएँ १० से २८ तक रह सकती हैं।

गैस सिलिंडर इस्पात के बने होते हैं। इनमें प्रति वर्ग इंच पर कई सौ पाउंड दबाव में गैस रखी जाती है। ऐसे मजबूत बने सिलिंडर का मूल्य अधिक होता है, पर इसका बार बार उपयोग किया जा सकता है। दबाव में गैस रखने के लिये ये सिलिंडर बड़े आवश्यक होते हैं। वस्तुतः गैस सिलिंडर उसी प्रकार के होते हैं जैसे सिलिंडरों में, क्लोरीन, आक्सीजन, कार्बन डाइ-आक्साइड, ऐसीटिलीन आदि औद्योगिक महत्व की गैसें रखी जाती हैं। [स० व०]

गैसनिर्माण दो उद्देश्यों से होता है। कुछ गैसें प्रकाश उत्पन्न करने के लिये बनाई जाती हैं। ऐसी गैसों को 'प्रदीपक गैस' कहते हैं। कुछ गैसें ईंधन के लिये बनाई जाती हैं। ऐसी गैसों को 'तापन गैस' कहते हैं। दोनों किस्म की गैसें 'दाह्य गैस' हैं। इन्हें 'औद्योगिक गैस' भी कहते हैं।

१७९२ ई० में इंग्लैंड के मुरडोक ने गैस उद्योग की नींव डाली, जब उन्होंने बताया कि प्रकाश उत्पन्न करने के लिये गैस का व्यवहार हो सकता है। १८१२ ई० में लंदन, १८१५ ई० में पेरिस और १८२६ ई० में बरलिन की सड़कों को प्रकाशित करने के लिये प्रदीपक गैस का व्यवहार शुरू हुआ। पीछे गैस बड़ी मात्रा में बनने लगी और छोटे छोटे नगर भी गैस के प्रकाश से जगमगा उठे। आज प्रदीपक गैस का स्थान बहुत कुछ बिजली की रोशनी ले रही है। एक समय ऐसा समझा जाता था कि गैस उद्योग का शीघ्र ही अंत हो जायगा, पर इसी बीच १८८५ ई० में तापदीप्त मैंटल के प्रवेश से यह उद्योग फिर चमक उठा। पीछे कारब्युरेटेड जलगैस के आविष्कार से प्रकाश और ऊष्मा उत्पन्न करने की क्षमता में बहुत वृद्धि हो गई, जिससे यह उद्योग फिर पनपा।

कोयला गैस — प्रदीपक गैसों में पहली गैस 'कोयला गैस' थी। कोयला गैस कोयले के भंजक आसवन या कार्बनीकरण से प्राप्त होती है। एक समय कोक बनाने में उपजात के रूप में यह प्राप्त होती थी। पीछे केवल गैस की प्राप्ति के लिये ही कोयले का कार्बनीकरण होने लगा। आज भी केवल गैस की प्राप्ति के लिये कोयले का कार्बनीकरण होता है।

कोयले का कार्बनीकरण पहले पहल ढालवाँ लोहे के भभके में लगभग ६००° सें० पर होता था। इससे गैस की उपलब्धि यद्यपि कम होती थी, तथापि उसका प्रदीपक गुण उत्कृष्ट होता था। सामान्य कोयले में एक विशेष प्रकार के कोयले, 'कैनेल' कोयला, को मिला देने से प्रदीपक गुण उन्नत हो गया। पीछे अग्नि-मिट्टी और सिलिका के भभकों में उच्च ताप पर कार्बनीकरण से गैस की मात्रा अधिक बनने लगी। अब गैस का उपयोग प्रदीपन के स्थान पर तापन में अधिकाधिक होने लगा। गैस का मूल्य ऊष्मा उत्पन्न करने से आंका जाने लगा और इसके नापने के लिये एक नया मात्रक 'थर्म' निकला, जो एक लाख ब्रिटिश ऊष्मा मात्रक के बराबर है।

गैसनिर्माण में जो भभके आज प्रयुक्त होते हैं वे क्षैतिज हो सकते हैं, या ऊर्ध्वाधर, या ३०° से लेकर ३५° तक नत। इन भभकों का वर्णन 'कोक' प्रकरण में हुआ है। गैसनिर्माण के लिये वही कोयला उत्तम समझा जाता है जिसमें ३० से लेकर ४० प्रति शत तक वाष्पशील अंश हो तथा कोयले के टुकड़े एक किस्म के और एक विस्तार के हों।

गैस के लिये कोयले का कार्बनीकरण पहले १,०००° सें० पर होता था, पर अब १,२००°–१,४००° सें० पर, और कभी कभी १,५०० सें० पर भी, होता है। उच्च ताप पर और अधिक काल तक कार्बनीकरण से गैस अधिक बनती है। उच्च ताप पर प्रति टन कोयले से १०,००० से लेकर १२,५०० घन फुट तक, मध्य ताप पर ६,००० लेकर १०,००० घन फुट तक और निम्न ताप पर ३,००० से लेकर ४,००० घन फुट तक गैस बनती है। विभिन्न तापों पर कार्बनीकरण से गैस के अवयवों में बहुत भिन्नता आ जाती है। प्रमुख गैसों, मेथेन, एथेन, हाइड्रोजन और कार्बन डाइआक्साइड, की मात्राओं में अंतर होता है।

कोयला गैस का संघटन एक सा नहीं होता। कोयले की विभिन्न किस्में होने के कारण और विभिन्न ताप पर कार्बनीकरण से अवयवों में बहुत

कुछ भिन्नता आ जाती है, तथापि सामान्यतः कोयला गैस का संघटन इस प्रकार दिया जा सकता है :

अवयव	प्रति शत आयतन
हाइड्रोजन	५७·२
मेथेन	२९·२
कार्बन मोनोक्साइड	५·८
एथेन	१·३५
एथिलीन	२·५०
कार्बन डाइ-आक्साइड	१·५
नाइट्रोजन	१·०
प्रोपेन	०·११
प्रोपिलीन	०·२९
हाइड्रोजन सल्फाइड	०·७
ब्यूटेन	०·०४
ब्यूटिलीन	०·१८
ऐसीटिलीन	०·०५
हलका तेल	०·१५

भभके से जो गैस निकलती है उसका ताप ऊँचा होता है। उसमें पर्याप्त अलकतरा, भाप, ऐमोनिया, हाइड्रोजन सल्फाइड, नैपथेलीन, गोंद बनानेवाले पदार्थ और वाष्प रूप में गंधक के कार्बनिक यौगिक रहते हैं। इन अपद्रव्यों को गैस से निकालना जरूरी होता है, विशेषतः जब गैस का उपयोग घरेलू ईंधन के रूप में होता है। कोयला गैस के निर्माण के प्रत्येक कारखाने में इन अपद्रव्यों को पूर्ण रूप से निकालने अथवा उनकी मात्रा इतनी कम करने का प्रबंध रहता है कि उनसे कोई क्षति न हो। सुरक्षा की दृष्टि से ऐसा होना आवश्यक भी है।

भभके से गरम गैसें (ताप ६००°-७००° सें०) नलों के द्वारा बाहर निकलती हैं। उष्ण, हलके ऐमोनियम-द्राव के फुहारे से उसे ठंढा करते हैं। गैसें ठंढी होकर ताप ७५° – ९५° सें० हो जाता है। अधिकांश अलकतरा यहीं संघनित होकर नीचे बैठ जाता है। यहां से गैसें प्राथमिक शीतक, परोक्ष या प्रत्यक्ष, में जाती हैं, जहाँ ताप और गिरकर २५° से ३५° सें० के बीच हो जाता है। यहाँ जल और अलकतरा संघनित होकर नीचे बैठ जाते हैं। गैस को शीतक में लाने के लिये रेचक पंप का व्यवहार होता है। शीतक से गैस अलकतरा निष्कर्षक या अवक्षेपक में आती है, जहाँ बिजली से अलकतरे का अवक्षेपण संपन्न होता है। वहाँ से गैस फिर अंतिम शीतक में जाती है जहाँ गैस का नैफ्थेलीन निकाला जाता है। हलके तेलों को निकालने के लिये गैस को मार्जक में ले जाते हैं। यहाँ हाइड्रोजन सल्फाइड को निकालने के लिये बक्स में लोहे के सक्रिय जलीयित आक्साइड रखे रहते हैं।

एक दूसरी विधि 'सीबोर्ड विधि' से भी हाइड्रोजन सल्फाइड निकाला जाता है। यहां मीनार में सोडियम कार्बोनेट का ३·५ प्रति शत विलयन रखा रहता है, जिससे धोने से ९८ से ९९ प्रति शत हाइड्रोजन सल्फाइड निकाला जा सकता है। यह विधि अपेक्षया सरल है।

मार्जक में हलके तेल से धोने से कार्बनिक गंधक यौगिक निकल जाते हैं। गैस में अल्प मात्रा में नैफ्थेलीन रहने से कोई हानि नहीं, पर अधिक मात्रा से कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। इसे निकालने के लिये पेट्रोलियम का कम श्यानतावाला अंश इस्तेमाल होता है। इससे गोंद बननेवाले पदार्थ भी कुछ निकल जाते हैं, पर 'कारोना' विसर्जन से और फिर मार्जक में पारित करने से गोंद बननेवाले पदार्थ प्रायः समस्त निकल जाते हैं। अब गैस को कुछ सुखाने की आवश्यकता पड़ती है। गैस न बिलकुल सूखी रहनी चाहिए और न बहुत भीगी। गैस का अनावश्यक जल आर्द्रताग्राही विलयन, या प्रशीतन, या संपीडन द्वारा निकालकर बड़ी-बड़ी गैस-टंकियों में संग्रह करते अथवा सिलिंडरों में दबाव में भरकर उपभोक्ताओं के पास भेजते हैं। टंकियों में गैस नापने के लिये गैसमीटर भी लगे होते हैं।

उत्पादक गैस — उत्पादक गैस का उपयोग उद्योग धंधों में दिन दिन बढ़ रहा है। भट्ठे और भट्ठियों, विशेषतः लोहे और इस्पात तथा कांच की भट्ठियों, भभकों और गैस इंजनों को गरम करने में उत्पादक गैस का ही आजकल व्यवहार होता है।

कोयले के उत्तापदीप्त तल पर भाप और वायु के मिश्रण के प्रवाह से उत्पादक गैस बनती है। इसमें कार्बन मोनाक्साइड, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, कार्बन डाइ-आक्साइड और मेथेन रहते हैं। उत्पादक गैस के सामान्य नमूने का विश्लेषण यह है :

ईंधन ——>	ऐंथ्रेसाइट	कोक न बननेवाला बिटुमिनी कोयला		कोक
		अचल जनित्र	यांत्रिक जनित्र	
	प्रति शत	प्रति शत	प्रति शत	प्रति शत
कार्बन मोनोक्साइड	२६	२३	२७	२८
हाइड्रोजन	१६	१३	१५	१०
नाइट्रोजन	५२	५२	५०	५६
कार्बन डाइ-आक्साइड	५	९	५	५
मेथेन	१	३	३	०·५
प्रति घन फुट कलरीमान (ब्रिटिश-ऊष्मा-मात्रक)	१५०	१४५	१६५	१३०

गैस में थोड़ा, आयतन में ०·१० से ०·१५ प्रति शत तक, हाइड्रोजन सल्फाइड रहता है। प्रति टन कोयले से प्राप्त होनेवाली गैस की मात्रा कोयले की राख और जल पर निर्भर करती है। ऐंथ्रेसाइट से अधिक गैस प्राप्त होती है, पर उसका कलरीमान कम होता है।

गैस जनित्र में बनती है। जनित्र अचल अयांत्रिक, अचल अर्धयांत्रिक अथवा यांत्रिक होते हैं। भाप बायलर में, अथवा अन्य प्रकार के वाष्पकों आदि में बनती है। अच्छी गैस के लिये ईंधन का ताप कम से कम १,०००° सें० रहना चाहिए। जनित्र में कई मंडल होते हैं जिनका ताप एक सा नहीं रहता। एक मंडल में राख रहती है। इसे 'राख मंडल' कहते हैं। दूसरे मंडल में आक्सीकरण होता है, जिसे 'आक्सीकरण मंडल', तीसरे मंडल में अवकरण होता है, जिसे 'अवकरण मंडल' और चौथे मंडल में आसवन होता है, जिसे 'आसवन मंडल' कहते हैं।

उत्पादक गैस के लिये कच्चा कोयला अच्छा होता है, पर कोक और कोयले की इष्टका भी कहीं कहीं प्रयुक्त होती है। कोयला एक विस्तार का, २½ इंच या १¼ इंच का टुकड़ा अच्छा होता है, पर इससे छोटे विस्तार से भी काम चल सकता है। धूल की मात्रा थोड़ी रह सकती है। कोयले में जल और वाष्पशील अंश कम तथा राख की मात्रा १० प्रति शत से कम

रहनी चाहिए। राख १,२००° सें० से कम ताप पर पिघलनेवाली न होनी चाहिए। गंधक एक से दो प्रति शत रह सकता है।

जलगैस या नीली गैस — कोयला गैस के साथ मिलाकर जलगैस ईंधन में काम आती है। इससे बड़ी मात्रा में हाइड्रोजन तैयार होता है और पेट्रोलियम तथा मेथिल ऐलकोहल का संश्लेषण भी होता है।

जलगैस का निर्माण उत्पादक गैस की भाँति ही होता है। तप्त कोयले पर पहले वायु और पीछे भाप को बारी बारी से पारित करने से यह बनती है। वायु के प्रवाह से कोयले का ताप ऊँचा उठता है तथा १,५००° से १,५५०° सें० तक पहुँच जाता है। अब वायु का प्रवेश बंद कर भाप को पारित करते हैं। इससे ताप तत्काल गिर जाता है, पर फिर ऊपर उठता है। इससे जलगैस बनती है, जिसमें प्रधानतया ९०-९५ प्रति शत (आयतन में) हाइड्रोजन और कार्बन मोनोक्साइड रहते हैं। थोड़ा नाइट्रोजन और कार्बन डाइआक्साइड भी इसमें रहते हैं।

जलगैस का जनित्र उत्पादक गैस के जनित्र जैसा ही होता है। साधारणतया कोक, पर ग्रेट ब्रिटेन में ऐंथ्रेसाइट और कहीं कहीं बिटुमिनी कोयले का भी, उपयोग होता है। कोक के टुकड़ों का २ से २½ इंच का होना अच्छा होता है। कोक में गंधक कम रहना चाहिए। एक टन कोक से ५०,०००–५५,००० घन फुट जलगैस प्राप्त होती है, जिसका कलरीमान २९०-३०० ब्रिटिश-ऊष्मक मात्रक होता है।

सामान्य जलगैस का विश्लेषण इस प्रकार है :

	प्रति शत आयतन
कार्बन मोनोक्साइड	४०
हाइड्रोजन	५१
कार्बन डाइ-आक्साइड	५
नाइट्रोजन	३·५
मेथेन	०·५

प्रति १,००० घन फुट गैस में लगभग ३५ पाउंड भाप लगती है।

जलगैस कार्बन मोनोक्साइड के कारण प्रबल विषाक्त होती है। कोई गंध न होने के कारण विष की भयंकरता बढ़ जाती है। इसकी ज्वाला बड़ी गरम होती है। ताप १,६००° सें० से भी ऊपर उठ जाता है।

कार्बुनीकृत जलगैस — जलगैस के साथ कुछ हाइड्रोकार्बन गैस मिली हो तो ऐसी गैस को कार्बुनीकृत जलगैस कहते हैं। आवश्यक हाइड्रोकार्बन गैस पेट्रोलियम तेल के भंजन से प्राप्त होती है। इसके जनित्र भी जलगैस के जनित्र से ही होते हैं। कार्बुनीकृत जलगैस की ज्वाला बड़ी दीप्त होती है। हाइड्रोकार्बन के कारण इसमें गंध भी होती है। कार्बुनीकृत जलगैस का विश्लेषण इस प्रकार है :

	प्रति शत आयतन
हाइड्रोजन	३८·०
कार्बन मोनोक्साइड	३५·०
मेथेन और एथेन	१०·०
असंतृप्त हाइड्रोकार्बन	७·५
कार्बन डाइ-ऑक्साइड	३·५
नाइट्रोजन	६·०

गैस का कलरीमान प्रति घन फुट ५०० ब्रिटिश ऊष्मा मात्रक होता है।

तैलगैस — खनिज तेलों के भंजक आसवन से तैलगैस प्राप्त होती है। यह आसवन भभकों में संपन्न होता है। कोयला गैस की भाँति ही इस गैस का शोधन होता है और तब यह टंकियों में संगृहीत होती है, अथवा सिलिंडर में दबाव से। इस प्रकार तैलगैस तैयार करने की विधि को 'पिंटश विधि' कहते हैं। भारत की छोटी बड़ी प्रयोगशालाओं में यही गैस गरम करने के लिये प्रयुक्त होती है। साधारणतया मिट्टी का तेल अथवा डीज़ेल तेल इसके लिये उपयुक्त होता है। यदि इस गैस के साथ आक्सीजन अथवा वायु मिला दी जाय तो यह सस्ती पड़ती है और तापनशक्ति भी बढ़ जाती है। ऐसी गैस में मेथेन, एथिलीन, ऐसीटिलीन, बेंजीन आदि हाइड्रोकार्बन रहते हैं। ऐसे तो यह गैस बहुत धुआँ देती हुई दीप्त ज्वाला से जलती है, पर एक विशिष्ट प्रकार के ज्वालक में, जिसमें बड़े छोटे छिद्र से गैस निकलती है, यह बिना धुआँ उत्पन्न किए जलती है। ऐसी ज्वाला की तापन शक्ति ऊँची होती है। यदि इस गैस में थोड़ा ऐसीटिलीन मिला दिया जाय तो गैस की प्रदीपक शक्ति और बढ़ जाती है। इस गैस को जलाने के लिये तापदीप्त मैंटलवाला ज्वालक भी बना है, जिससे बड़ी तेज रोशनी प्राप्त होती है।

वायुगैस — वायु और कुछ वाष्पशील हाइड्रोकार्बनों, सामान्यतः पेट्रोल या पेट्रोलियम ईथर (क्वथनांक ३५°–६०° सें०), का मिश्रण भी प्रदीपन के लिये व्यवहृत होता है।

पेट्रोलियम-गैस — पेट्रोलियम के भंजन और आसवन से कुछ गैसें प्राप्त होती हैं, जिनमें मेथेन, एथेन, प्रोपेन, नार्मल ब्यूटेन, आइसो ब्यूटेन और उनके तदनुरूपी ओलिफीन तथा पेंटेन रहते हैं। इनमें प्रोपेन, नार्मल और आइसो ब्यूटेन तथा उनके असंतृप्त संजात और ओलिफीन सिलिंडर में भरकर अथवा टंकियों में रखकर बाहर भेजे जाते हैं। इन गैसों की प्राप्ति के लिये 'संपीडन रीति' अथवा 'अवशोषण रीति' प्रयुक्त होती है। अवशोषक तेल इन्हें अवशोषित कर लेता है और उसे गरम करने से गैसें निकल जाती हैं, जिनको ठंढाकर संघनन और संपीडन द्वारा अलग करते हैं। सावधानी से इसके प्रभाजी आसवन द्वारा गैस प्राप्त करते हैं। प्रति वर्ग इंच ४५० पौंड दाब पर टंकी-यानों में रखकर उपभोक्ताओं को देते हैं।

गैसों का यह मिश्रण घरेलू ईंधन में काम आता है। मोटर में भी यह जलता है। सड़कों की रोशनी भी इससे की जाती है।

अन्य गैसें — हाइड्रोजन, आक्सिजन और ऐसीटिलीन भी प्रदीपन और तापन के लिये व्यवहृत होते हैं। इनका वर्णन अन्यत्र मिलेगा। पेट्रोलियम कूपों से निकली "प्राकृतिक गैस" भी प्रदीपन और तापन में काम आती है।

प्राकृतिक गैस — कोयले और खनिज तैलों के क्षेत्रों के कूपों से (कभी कभी ये कूप तैल क्षेत्रों से मीलों दूर रहते हैं) एक गैस निकलती है, जिसे 'प्राकृतिक गैस' कहते हैं। कभी कभी यह गैस बड़े दबाव से निकलती है और कभी कभी इसे पंप से निकालना पड़ता है। सभी खनिज तैलों के कूपों से यह गैस निकलती है, पर कुछ ऐसे कूपों से भी गैस निकलती है जिनमें खनिज तैल नहीं होता।

गैस जब पहले पहल निकलती है तब उसमें मेथेन अधिक रहता है, पर धीरे धीरे मेथेन की मात्रा कम होती जाती है और एथेन तथा उच्चतर हाइड्रोकार्बनों की मात्रा बढ़ती जाती है। ऐसी गैस में मेथेन और एथेन के सिवाय प्रोपेन, नार्मल ब्यूटेन, आइसोब्यूटेन, पेंटेन और कुछ अवाष्प पदार्थ रहते हैं। मेथेन और एथेन के वाष्प-दबाव इतने ऊँचे होते हैं कि वे व्यापारिक महत्व के नहीं हैं। पेंटेन का वाष्प दबाव इतना कम होता है कि गैस के रूप में उसका कोई मूल्य नहीं है, यद्यपि मोटर-ईंधन में यह मूल्यवान् होता है। अब केवल प्रोपेन, नार्मल ब्यूटेन और आइसोब्यूटेन रह जाते हैं, जो व्यापार की दृष्टि से बड़े महत्व के हैं। प्राकृतिक गैस या तो शुद्ध प्रोपेन के रूप में या ५० प्रति शत प्रोपेन और ५० प्रति शत ब्यूटेन के मिश्रण के रूप में, अथवा शुद्ध नार्मल और आइसोब्यूटेन के रूप में व्यवहृत होती है।

प्राकृतिक गैस के पेट्रोल अंश (पेंटेन) को संपीडित और ठंढा कर अवशोषकों द्वारा निकाल लेते हैं। अवशोषक के रूप में ऊँचे क्वथनांकवाले खनिज तैलों, काठ कोयले या सिलिका का व्यवहार करते हैं। इस प्रकार प्राकृतिक गैस से अमरीका में १९४० ई० में २३२ करोड़ गैलन पेट्रोल प्राप्त हुआ था।

पेट्रोल निकाल लेने पर जो गैस बच जाती है उससे ईंधन का काम लेते हैं। जलाकर इससे कजली भी तैयार करते हैं, जो मुद्रण-स्याही और काले रंग के लिये सर्वोत्तम समझी जाती है। गरम करने से यह गैस कार्बन और हाइड्रोजन में विघटित भी हो जाती है। कोक गैस के साथ मिलाकर प्राकृतिक गैस घरेलू ईंधन में व्यवहृत होती है। उद्योग धंधों, विशेषत: कृत्रिम रबर बनाने में, यह ब्यूटाडीन में परिणत की जाती है।

१९४० ई० में अमरीका में २,६७२ करोड़ घन फुट प्राकृतिक गैस बिकी थी। यह गैस आधी तैल कूपों से और आधी गैस कूपों से प्राप्त हुई थी। ऐसी गैस का ८८ प्रति शत पेट्रोल अंश निकाल लिया गया था।

गैस को उपभोक्ताओं के पास पहुँचाने के लिये टंकी यानों, टंकी वैगनों, इस्पात के सिलिंडरों और पीपों का उपयोग होता है। नल द्वारा भी गैस निकट के स्थानों पर पहुँचाई जाती है। परिवहन के लिये अमरीका में छोटे छोटे संयंत्र बने हैं, जिनमे तरलीकृत गैस दूर दूर तक भेजी जा सकती है। इस संयंत्र में गोल टंकियाँ ५७ फुट व्यास की होती हैं, जिनका भीतरी तल कम कार्बनवाले (०.०९ प्रति शत) और निकेलवाले (३.५ प्रति शत निकेल) इस्पात का और बाह्य टंकियाँ ६२ फुट व्यास की होती है। दोनों टंकियों के बीच का रिक्त स्थान दानेदार काग से भरा रहता है। टंकी की गैस का ताप – १५७° सें० और दबाव ५ पाउंड रहता है। संयंत्र में संपीडक, एथिलीन और ऐमोनिया प्रशोतक और उद्वाष्पन संभार रहते हैं।

[फू० स० व०]

गैसों का द्रवण ऐतिहासिक विकास — पर्याप्त समय तक यह विचार प्रचलित रहा कि कोई भी वस्तु बरफ से और अधिक ठंढी नहीं हो सकती। फलत: बरफ के ताप को ही तापमिति का सबसे निचला बिंदु मान लिया गया। परंतु फारनहाइट ने सर्वप्रथम प्रदर्शित किया कि बरफ के ताप से भी निम्न ताप बरफ एवं नमक के मिश्रण से प्राप्त किया जा सकता है, जिसका मान – १८° तक हो सकता है। गैस सिद्धांतों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि, कम से कम सैद्धांतिक रूप, में बरफ के गलनांक (melting point) से २७३° सें० कम ताप प्राप्त किया जा सकता है। इस – २७३° सें० ताप को 'ऐब्सोल्यूट ज़ीरो' अर्थात् परम शून्य कहते हैं।

सैद्धांतिक एवं प्रायोगिक, दोनों ही विचारों से, न्यूनतम ताप की उत्पत्ति का विशेष महत्व है। हवा को द्रवित करने के लिये बोरहेव (Boerhave) ने १७३२ ई० में सर्वप्रथम प्रयत्न किया, किंतु वह केवल हवा की नमी को ही द्रवित कर सका। इसके लगभग ७० वर्ष बाद फूरक्रा (Fourcroy) और वोकलें (Vauqvelin) ने – ४०° सें० ताप प्राप्त कर ऐमोनिया गैस के द्रवण में सफलता प्राप्त की। इन लोगों ने विभिन्न प्रकार के 'फ्रीज़िंग मिक्सचर्स' का उपयोग किया था। नार्थमूर (Northmore) १८०५ ई० में ठंढ एवं दाब के समकालीन प्रयोग से सल्फर डाइआक्साइड, क्लोरीन तथा हाइड्रोजन-क्लोराइड गैसों का द्रवण करने में सफल हुआ। बरफ बनाने की मशीन का आविष्कार सन् १७७५ में हुआ, परंतु इसका औद्योगिक उपयोग १८३४ ई० के पूर्व सफल न हुआ। फैरेडे (Faraday), कोलेडॉन (Colladon) और थिलोरियर (Thilorier) ने दाब के कारण गैसों के द्रवित होने के सिद्धांतों पर कार्य किया। थिलोरियर ने ठोस कार्बन डाइ-आक्साइड एवं ईथर के 'फ्रीज़िंग मिक्सचर' का उपयोग भी किया और – ११०° सें० ताप प्राप्त किया। उन दिनों यह माना जाता था कि कुछ ही गैसों का द्रवण किया जा सकता है एवं हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, आक्सीजन जैसी गैसें द्रवित नहीं हो सकतीं। इन गैसों को 'चिरस्थायी गैस' की उपाधि तक दे दी गई, यद्यपि कायते (Cailletet) और पिकटे (Pictet) १८७७ ई० में हाइड्रोजन, नाइट्रोजन तथा आक्सीजन गैसों के द्रवण में सफल हुए।

गैसों के द्रवण की विधियाँ — गैसों के द्रवण की विभिन्न प्रमुख विधियाँ निम्नलिखित हैं :

(१) कैसकेड-विधि (Cascade process) — इस विधि में गैस को पर्याप्त ठंढा किया जाता है और तब एक साथ ठंढ एवं उच्च दाब का प्रयोग किया जाता है। परंतु ठंढक उन विभिन्न द्रवों के उपयोग से प्राप्त की जाती है जिनका उबाल बिंदु (boiling point) क्रमानुसार कम होता जाता है। इसी कारण इस विधि को 'कैसकेड विधि' या 'सीरीज़ रेफ्रिजरेशन' कहते हैं।
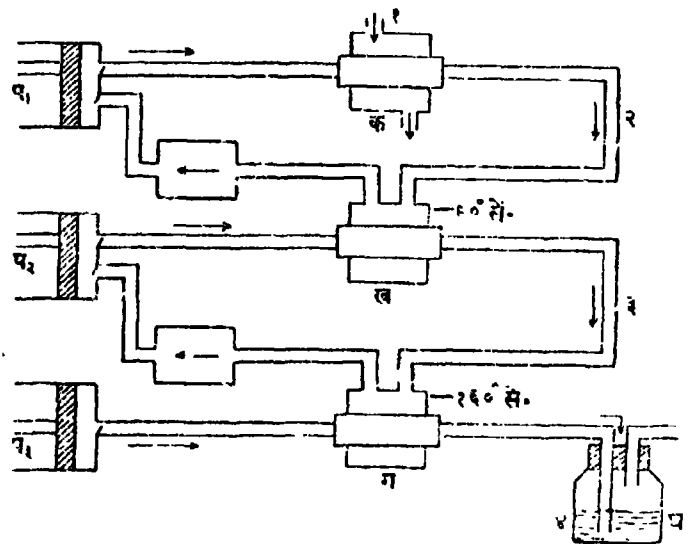
चित्र १. आक्सीजन के द्रवण की कैसकेड (Cascade) विधि
क, ख और ग कंडेन्सर (condensers); $प_1$, $प_2$ तथा $प_3$ विभिन्न पंप (pumps) ; १. पानी; २. द्रव मेथाइल क्लोराइड; ३. द्रव एथिलीन तथा ४, द्रव आक्सीजन।

रिकटे (१८७८ ई०) ने आक्सीजन को इस विधि से सर्वप्रथम द्रवित किया। व्रोब्लेव्स्की (Wroblewski) और ओलज़ेव्स्की (Olszewski) ने इस विधि द्वारा काफी मात्रा में द्रव आक्सीजन, द्रव नाइट्रोजन एवं द्रव कार्बन डाइआक्साइड प्राप्त किया और इनके गुणों का अध्ययन किया। ओलज़ेव्स्की ने अंतिम स्टेज में द्रव-इथिलीन का प्रयोग किया, जिससे वह उपर्युक्त गैसों को उनके 'क्रिटिकल ताप' (वह ताप जिसके नीचे दबाव देने पर गैस द्रवित हो जाती है) के नीचे तक ठंढा कर सका। कैमरलिंग ओनस (Kamerlingh Onnes) ने मीथाइल-क्लोराइड और एथिलीन का उपयोग इस विधि में करके आक्सीजन का लगातार द्रवण किया। इसका उपयोग औद्योगिक स्तर पर भी किया गया।

कैमरलिंग ओनस द्वारा उपयोग में लाया गया उपकरण चित्र १. में दिखलाया गया है। यह तीन पृथक् भागों में है, जिनमें प्रत्येक भाग एक 'कंप्रेशन पंप' और एक 'कंडेंसर' से बना है। पहले भाग में मेथाइल क्लोराइड द्रवित होती है। चूँकि मेथाइल क्लोराइड का 'क्रिटिकल ताप' १४३° सें० है, अतः यह सामान्य ताप पर ही थोड़े दबाव से द्रवित हो

जाएगा। सिकुड़ी हुई मेथाइल-क्लोराइड गैस पंप प$_1$ से कंडेन्सर क में ट्यूब द्वारा भेजी जाती है (जैसा चित्र से स्पष्ट है) तथा क के बाहरी जैकेट से ठंडे पानी का परिभ्रमण कराया जाता है। इस प्रकार प्राप्त द्रव मेथाइल क्लोराइड दूसरे भाग के कंडेन्सर ख के जैकेट में परिभ्रमण करता है, जो प$_1$ से संलग्न होता है, और इस तरह मेथाइल क्लोराइड (उबाल बिंदु – २४° सें०) वाष्प बनकर ख में – ६०° सें० तक ताप गिरा देता है। सिकुड़ा हुआ एथिलीन पंप प$_2$ से ख के अंदर ट्यूब से भेजा जाता है। चूँकि इसका 'क्रांतिक ताप' १०° सें० है, ख में यह तुरंत द्रवित हो जाता है, क्योंकि ख – ६०° सें० पर द्रव मेथाइल क्लोराइड के परिभ्रमण से स्थिर है। ख से प्राप्त द्रव एथिलीन तीसरे भाग के कंडेंसर ग के जैकेट में परिभ्रमण करता है, जो प$_2$ से संलग्न होता है और इस तरह एथिलीन (उबाल बिंदु – १०४ सें०) वाष्प बनकर ग में – १६०° सें० तक ताप गिरा देता है। सिकुड़ी हुई आक्सीजन गैस पंप प$_3$ से ग के अंदर ट्यूब में भेजी जाती है, जहाँ वह सरलता से द्रवित हो जाती है (क्रांतिक ताप – ११८° सें०)। तदुपरांत द्रव आक्सीजन डेवार बोतल (Dewar Flask) में एकत्रित कर लिया जाता है।

इसी विधि से हवा को भी द्रवित किया जा सकता है। इसके लिये हमें उपकरण का एक चौथा भाग प्रयोग में लाना पड़ेगा, जिसमें द्रव आक्सीजन हवा को उसके क्रांतिक ताप (– १४०° सें०) तक ठंढा करने में सहायता करेगा। परंतु नीयॉन (क्रांतिक ताप – २२९° सें०), हाइड्रोजन (क्रांतिक ताप – २४०° सें०) और हीलियम (क्रांतिक ताप – २६८° सें०) गैसें इस विधि द्वारा द्रवित नहीं की जा सकतीं, क्योंकि कोई भी द्रवित गैस इतना कम ताप, घटाए हुए दबाव में वाष्प होने पर भी, उत्पन्न नहीं कर सकती।

यह विधि थोड़ी कठिन होने के कारण इन दिनों अधिक उपयोग में नहीं लाई जाती।

(२) 'रिजेनरेटिव जूल-टामसन' विधि (Regenerative Joule Thomson Process) — इस विधि के सिद्धांत जूल-टामसन प्रभाव (Joule Thomson Effect) एवं रिजेनरेटिव कूलिंग (Regenerative Cooling) पर आधारित हैं। 'कैसकेड विधि' की अपेक्षा 'जूल-टामसन प्रभाव' के उपयोग से दो विशेष लाभ हैं : (१) गैस का उत्क्रमणांक (Inversion Temperature) तक ही ठंढा कर देना पर्याप्त है, जब कि 'कैसकेड विधि' में क्रांतिक ताप के नीचे तक ठंढा करना पड़ता है जो उत्क्रमणांक से बहुत नीचे होता है। २. 'कैसकेड विधि' की अपेक्षा बहुत कम पूर्वठंढक आवश्यक होती है। फिर 'जूल-टामसन प्रभाव' द्वारा कम ठंढ की प्राप्ति की मात्रा 'रिजेनरेटिव कूलिंग' से बढ़ा दी जाती है। पुनर्जनन सिद्धांत (Principle of Regeneration) का इस दिशा में सर्वप्रथम उपयोग लिंडे (Linde), हैंपसन (Hampson) और कई दूसरों ने किया।

लिंडे (१८९५ ई०) ने सर्वप्रथम इस विधि का उपयोग हवा के द्रवण के लिये किया। डेवार (Dewar) ने १८९८ ई० में इस विधि द्वारा हाइड्रोजन का द्रवण किया और कैमरलिंग ओन्स (१९०८ ई०) ने हीलियम का।

लिंडे का उपकरण चित्र २. में प्रदर्शित है। २०० 'ऐटमास्फीयरों' पर सिकुड़ी हुई हवा पानी द्वारा ठंढा किए हुए पाइप से भेजी जाती है, जहाँ पर सिकुड़ने से हवा का जो ताप बढ़ जाता है वह निकल जाता है। तदुपरांत सिकुड़ी हुई हवा ऐसी कुंडलाकार नली से भेजी जाती है जिसके अंतिम सिरे पर सूक्ष्म बहिर्द्वार होता है। हवा के सूक्ष्म बहिर्द्वार से बाहर आने में उसमें फैलाव होता है तथा उसका ताप गिर जाता है। यह ठंढी हवा अब ऊपर की ओर बढ़ती है और पुनः 'कंप्रेशन पंप' में
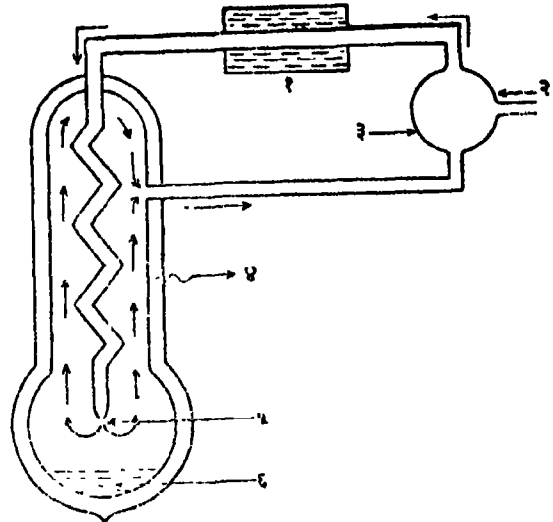
चित्र २. लिंडे का उपकरण

१. शीतक; २. ताजी हवा; ३. निपीड पंप; ४. निर्वात; ५. धार (Jet) तथा ६. द्रव वायु।

चली जाती है। यह ठंढी हवा लगभग बाहरी दबाव पर ही होती है और मार्ग में कुंडलाकार नली के अंदर की हवा को ठंढी करती जाती है। बार बार सिकुड़ने एवं फैलने के कारण वह ताप प्राप्त हो जाता है जो हवा के द्रवण के लिये पर्याप्त होता है।

लिंडे का उपकरण तीन अश्वशक्ति के यंत्र से चालित था और उससे एक लिटर द्रव हवा प्रति घंटे प्राप्त होती थी।

(३) रुद्धोष्म प्रसरण विधि (Adiabatic Expansion Process) — यद्यपि जूल-टामसन प्रभाव पर आधारित द्रवणयंत्र विशेष उपयोग में हैं, फिर भी वे पूर्णतया संतोषजनक नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनकी क्षमता (efficiency) करीब १५% है। गैसों के रुद्धोष्म प्रसरण (गैस का वह फैलाव जिसमें न तो उष्मा बाहर से अंदर आने दी जाती है और न अंदर से बाहर) सिद्धांतों पर आधारित विधि निश्चित और प्रभावशाली सिद्ध हुई।

यों तो पिकटेट ने ही पहले 'कैसकेड विधि' से आक्सीजन का द्रवण किया था, परंतु रुद्धोष्म (adiabatic) प्रसरण विधि से आक्सीजन का द्रवण कैलेटेट ने १८७७ ई० में किया।

रुद्धोष्म प्रसरण विधि सतत विधि नहीं थी। अतः इस विधि का उपयोग औद्योगिक स्तर पर तब तक नहीं हुआ जब तक क्लॉड (Claude) एवं हेलैंट (Heylandt) ने हवा के द्रवण के लिये नवीन विधि का विकास नहीं किया। सबसे बड़ी कठिनाई इस बात की थी कि कौन से स्नेहक का उपयोग मशीन के चलनेवाले हिस्सों में किया जाय, क्योंकि सभी साधारण स्नेहक संबद्ध तापों पर ठोस में परिवर्तित हो जाते थे। क्लॉड ने इस कठिनाई को पेट्रोलियम ईथर के उपयोग से दूर कर दिया, जो – १६०° सें० तक चिपचिपा रहता है।

क्लॉड का उपकरण चित्र ३. में प्रदर्शित है। सिकुड़ी हुई गैस एक पाइप से भेजी जाती है जो आगे चलकर क स्थान पर दो शाखाओं में विभक्त हो जाती है। गैस की कुछ मात्रा प्रसरण सिलिंडर पर कार्य करके उसे ढकेल देती है और स्वयं ठंढी हो जाती है। अब यह ठंढी

गैस नीचे से ऊपर की ओर जाती है जिससे द्रवण कक्ष की नली में नीचे आती हुई गैस ठंढी होती जाती है। नली की यह गैस जब सूक्ष्म निकास
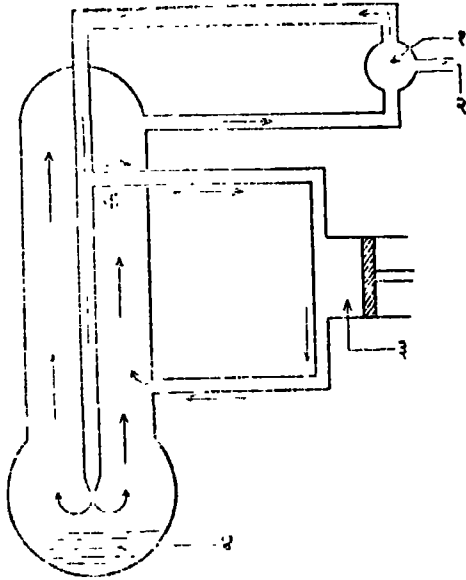
चित्र ३. क्लॉड (Claude) का उपकरण
१. निपीड पंप; २. गैस का प्रवेश; ३. यहाँ गैस फैलती तथा कार्य करती है; ४. द्रव गैस तथा क पर गैस दो शाखाओं में बँट जाती है।

द्वार से निकलती है तब फैलती है और ठंढी होकर द्रवित हो जाती है। गैस की जो मात्रा द्रवित होने से बची रह जाती है वह पुनः संपीडन पंप में चली जाती है और इस प्रकार पूरी क्रिया बार बार दुहराई जाती है।

सन् १९३४ ई० में कैपिज़ा (Kapitza) ने क्लॉड विधि से हीलियम एवं हाइड्रोजन का द्रवण किया। सन् १९४७ ई० में कॉलिन्स (Collins) ने कैपिज़ा विधि द्वारा औद्योगिक रूप में हीलियम-द्रवण-मशीन तैयार की।

(४) रुद्धोष्म विचुंबकन विधि (Adiabatic Demagnetisation Process) — यह विधि परमशून्य ताप की प्राप्ति की दिशा में विशेष महत्वपूर्ण है। इस विधि के विकास के पूर्व निम्नतम प्राप्य ताप द्रव-हीलियम एवं ठोस हीलियम के थे, जो क्रमशः प्राप्त किए गए थे। सन् १९२६ ई० में पीटर डेबाई (Peter Debye) ने सैद्धांतिक आधारों पर यह स्पष्ट कर दिया कि और भी निम्न ताप समचुंबकीय लवणों (paramagnetic salts) के रुद्धोष्म विचुंबकन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। किसी वस्तु को चुंबकीय शक्ति देने की क्रिया में उसका ताप कुछ बढ़ जाता है। अतः इसके विपरीत यदि कोई चुंबकीय वस्तु विचुंबकित की जाती है तो वह ठंढी हो जाती है।

उपर्युक्त सैद्धांतिक भविष्यवाणी को १९३४ ई० में साइमन (Simon) एवं कुर्ती (Kurti), जिआक (Giauque) एवं मैकडूगल (Mc Dougall) ने प्रमाणित कर दिखाया। इनका उपकरण चित्र ४. में प्रदर्शित है। समचुंबकीय (चुंबकीय क्षेत्र में चुंबकीय गुण रखनेवाली और चुंबकीय क्षेत्र हटा लेने के बाद चुंबकीय गुण खो देनेवाली) वस्तु ख (गैडोलिनियम सल्फेट) एक दीर्घवृत्तज अथवा गोले के आकार में ग्लास ट्यूब क में रखी जाती है, जो डेवार बोतलों ग, घ एवं च से घिरा होता है। इनमें द्रव हीलियम, द्रव हाइड्रोजन एवं द्रव हवा क्रमशः रहती हैं। यह पूरा समूह विद्युच्चुंबक के उत्तर दक्षिण सिरों के मध्य रख दिया जाता है।

१०,००० गौस (Gauss) के चुंबकीय फील्ड के अंदर वस्तु ख को चुंबकीय शक्ति दे दी जाती है। चुंबकत्व क्रिया में जो उष्मा उत्पन्न होती
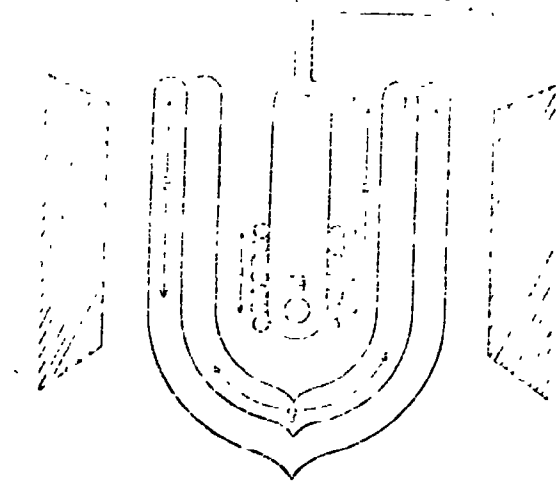
चित्र ४. रुद्धोष्म विचुंबकन विधि का उपकरण
क. काच की नली; ख. गैडोलिनियम सल्फेट; ग घ तथा च डेवार बोतलें; १. पंप या हाइड्रोजन को; २. द्रव हीलियम; ३. द्रव वायु; ४. द्रव हाइड्रोजन तथा ५. और ६. तैल। उ. चुंबक का उत्तरी ध्रुव तथा द. इसी का दक्षिणी ध्रुव।

है उसे हाइड्रोजन गैस के बहाव से बाहर कर देते हैं। इसी बीच प्रायोगिक वस्तु द्रव हीलियम के ताप पर आ जाती है। तभी चुंबकीय क्षेत्र तोड़ दिया जाता है, जिसके कारण वस्तु ख का रुद्धोष्म विचुंबकन हो जाता है। प्रायोगिक वस्तु का ताप और गिर जाता है और वह द्रवित हो जाती है। रोचक बात तो यह है कि डे हास (De Haas) ने १९४४ ई० में इस विधि द्वारा ०.००२° K (केल्विन ताप) तक ताप प्राप्त कर लिया।

द्रव गैसों की उपयोगिता — द्रव गैसों की प्रायोगिक उपयोगिता अपना विशेष महत्व रखती है। अत्यंत निम्न तापों की उत्पत्ति ने, जो द्रव हवा, द्रव हाइड्रोजन एवं द्रव हीलियम द्वारा प्राप्य है, वैज्ञानिक अनुसंधानों की एक नूतन एवं वृहत् शाखा खोल दी है। इस तथ्य ने इस बात की आवश्यकता बतलाई है कि प्रत्येक आधुनिक प्रयोगशाला में कम से कम एक द्रव-हवा यंत्र अवश्य रहना चाहिए। द्रव हवा की बोतलें अब अपेक्षाकृत कम मूल्यों पर एवं सरलता से उपलब्ध हैं।

द्रव हवा से ऑक्सीजन एवं विरल गैसों की प्राप्ति — हवा की प्रभाजी आसवन (fractional distillation) विधि, ऑक्सीजन को औद्योगिक रूप में प्राप्त करने की प्रमुख विधि है। चूँकि नाइट्रोजन का क्वथनांक −१९५° सें० है और ऑक्सीजन का −१८३° सें०, अतः जो भाग सर्वप्रथम वाष्परूप में आता है उसमें नाइट्रोजन का बाहुल्य होता है। जो अंत में वाष्प रूप में आता है उसमें ऑक्सीजन का बाहुल्य होता है, अतः कुछ ही प्रभाजी आसवन की क्रियाओं से हवा के दोनों प्रमुख भाग पूर्णतया अलग हो जाएँगे।

इसी विधि से विरल गैसों (हीलियम, नियॉन, आर्गन) को भी प्राप्त किया गया है। द्रव हवा दो भागों में बाँटी जा सकती है: पहला अधिक

वाष्पशील (हीलियम, हाइड्रोजन, नियॉन) और दूसरा कम वाष्पशील (आक्सीजन, आर्गन, कार्बन डाइआक्साइड, क्रिप्टॉन, ज़ेनॉन)। पहले भाग को द्रव हाइड्रोजन से ठंढा करने पर हाइड्रोजन के अलावा अन्य गैसें (हीलियम एवं नियॉन) पृथक् भाग में प्राप्त हो जाएँगी। इसी प्रकार हीलियम एवं नियॉन हवा से प्राप्त की जा सकती हैं।

उष्मामिति — डेवार ने वस्तुओं के कम ताप पर विशिष्ट उष्मा (Specific heat) के अनुसंधान के लिये द्रव हवा, द्रव आक्सीजन, द्रव हाइड्रोजन के उष्मामापियों का उपयोग किया। द्रव हाइड्रोजन के उष्मामापी द्वारा ०.००३ कैलारी तक की उष्मामात्रा नापी जा सकती है।

उच्च निर्वात (high vacuum) की प्राप्ति — यह द्रव गैसों के उपयोग से हो सकती है। उदाहरण स्वरूप, यदि कोई बर्तन, जिसके भीतर हवा से कम वाष्पशील गैस (जैसे सल्फ्यूरस अम्ल या पानी का वाष्प) रखी हो, द्रव हवा से घिरा हुआ है तो अंदर की सभी गैस ठोस में परिवर्तित हो जायगी और इस तरह उच्च निर्वात की उत्पत्ति हो जाएगी।

ऊपरी वायुमंडल का अध्ययन — प्रयोगशाला में हम द्रव गैसों की सहायता से निम्न ताप प्राप्त कर सकते हैं, जो ऊपरी वायुमंडल सदृश स्थितियों से मिलते जुलते होंगे। इस तरह प्रयोगशाला में बैठे बैठे ऊपरी वायुमंडल का भी अध्ययन किया जा सकता है। [बे० मा० शु०]

गोंचारोव, इवान अलेक्सँद्रोविच प्रसिद्ध रूसी लेखक। जन्म - सिंबिर्स्क में, मृत्यु पेतेबुर्ग में। मॉस्को विश्वविद्यालय के साहित्य विभाग में शिक्षा प्राप्त की। साहित्यिक कार्य का प्रारंभ १८३५ में हुआ। समुद्री जहाज से भ्रमण करने पर गोंचारोव ने 'जहाज पल्लादा' नामक यात्रा-साहित्य की प्रसिद्ध कृति लिखी। गोंचारोव ने तीन विख्यात उपन्यास लिखे — 'मामूली कहानी' (१८४७), 'ओब्लोमोव' (१८५९) और 'खड़ी चट्टान' (१८६९)। इन कृतियों में तत्कालीन रूस के वर्णन हैं : समाज के दो पहलुओं के प्रतिनिधियों' आलसी राजदरबारी जमींदारों और सक्रिय पूँजीवादियों के प्रतिबिंब हैं। उपन्यासों के नारी पात्रों में तत्कालीन रूसी समाज के प्रगतिशील विचारों का सजीव चित्रण मिलता है। गोंचारोव ने अनेक आलोचनात्मक कृतियाँ भी लिखीं जो ग्रिबोयेदोव, बेलिंस्की आदि रूसी लेखकों से संबंधित हैं।

[प्यो० भ० बा०]

गोंड भारत के कटि प्रदेश — विंध्यपर्वत, सतपुड़ा पठार, छत्तीसगढ़ मैदान के दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम — में गोदावरी नदी तक फैले हुए पहाड़ों और जंगलों में रहनेवाली आस्ट्रोलायड नस्ल तथा द्रविड़ परिवार की एक जनजाति, जो संभवत: पाँचवीं-छठी शताब्दी में दक्षिण से गोदावरी के तट को पकड़कर मध्य भारत के पहाड़ों और जंगलों में फैल गई। आज भी मोदियाल गोंड जैसे समूह हैं जो जंगलों में प्राय: नंगे घूमते और अपनी जीविका के लिये शिकार तथा वन्य फल मूल पर निर्भर हैं। गोंडों की जातीय भाषा गोंडी है जो द्रविड़ परिवार की है और तेलुगु, कन्नड़ आदि की अपेक्षा तमिल भाषा के अधिक निकट है।

बूढ़ादेव, दुल्हादेव, घनश्यामदेव, बूढ़ापेन (सूर्य) और भीवासू गोंडों के मुख्य देवता हैं। इनके अतिरिक्त फसल, शिकार, बीमारियों और वर्षा आदि के भिन्न भिन्न देवी देवता हैं। इन देवताओं को सूअर, बकरे और मुर्गे आदि की बलि देकर प्रसन्न किया जाता है। गोंडों का भूत प्रेत और जादू टोने में अप्रतिम विश्वास है और इनके जीवन में जादू टोने की भरमार है। किंतु बाहरी समाज के संपर्क के प्रभावस्वरूप इधर इसमें कुछ कमी हुई है। अनेक गोंड लंबे समय से हिंदू धर्म तथा संस्कृति के प्रभाव में हैं और कितनी ही जातियों तथा कबीलों ने बहुत से हिंदू विश्वासों, देवी देवताओं, रीति रिवाजों तथा वेशभूषा को अपना लिया है। पुरानी प्रथा के अनुसार मृतकों को दफनाया जाता है, किंतु बड़े और धनी लोगों के शव को जलाया जाने लगा है। स्त्रियाँ तथा बच्चे दफनाए जाते हैं।

आस्ट्रोलायड नस्ल की जनजातियों की भाँति विवाह संबंध के लिये गोंड भी स्वतंत्र दो या अधिक बड़े समूहों में बँटे रहते हैं। एक समूह के अंदर की सभी शाखाओं के लोग 'भाई बंद' कहलाते हैं और सब शाखाएँ मिलकर एक बहिर्विवाही समूह बनाती हैं। कुछ क्षेत्रों से पाँच, छह और सात देवताओं की पूजा करनेवालों के नाम से ऐसे तीन समूह मिलते हैं। विवाह के लिये लड़के द्वारा लड़की को भगाए जाने की प्रथा है। भीतरी भागों में विवाह पूरे ग्राम समुदाय द्वारा संपन्न होता है और वही सब विवाह संबंधी कार्यों के लिये जिम्मेदार होता है। ऐसे अवसर पर कई दिन तक सामूहिक भोज और सामूहिक नृत्यगान चलता है। हर त्योहार तथा उत्सव का मद्यपान आवश्यक अंग है। वधूमूल्य की प्रथा है और इसके लिये सुअर या बैल तथा कपड़े दिए जाते हैं।

युवकों की मनोरंजन संस्था —गोतुल का गोंडों के जीवन पर बहुत प्रभाव है। बस्ती से दूर गाव के अविवाहित युवक एक बड़ा घर बनाते हैं। जहाँ वे रात्रि में नाचते, गाते और सोते हैं; एक ऐसा ही घर अविवाहित युवतियाँ भी तैयार करती हैं। बस्तर के मांड़िया गोंडों में अविवाहित युवक और युवतियों का एक ही कक्ष होता है जहाँ वे मिलकर नाच-गान करते हैं।

गोंड खेतिहर हैं और परंपरा से दहिया खेती करते हैं जो जंगल को जलाकर उसकी राख में की जाती है और जब एक स्थान की उर्वरता तथा जंगल समाप्त हो जाता है तब वहाँ से हटकर दूसरे स्थान को चुन लेते हैं। किंतु सरकारी निषेध के कारण यह प्रथा बहुत कम हो गई है। समस्त गाँव की भूमि समुदाय की संपत्ति होती है और खेती के लिये व्यक्तिगत परिवारों को आवश्यकतानुसार दी जाती है। दहिया खेती पर रोक लगने से और आबादी के दबाव के कारण अनेक समूहों को बाहरी क्षेत्रों तथा मैदानों की ओर आना पड़ा। किंतु वनप्रिय होने के कारण गोंड समूह शुरू से खेती की उपजाऊ जमीन की ओर आकृष्ट न हो सके और धीरे धीरे बाहरी लोगों ने इनके इलाकों की कृषियोग्य भूमि पर सहमतिपूर्ण अधिकार कर लिया। इस दृष्टि से दो प्रकार के गोंड मिलते हैं : एक तो वे हैं जो सामान्य किसान और भूमिधर हो गए हैं, जैसे राजगोंड, रघुवल, डडवे और कतुल्या गोंड। दूसरे वे हैं जो मिले जुले गाँवों में खेत मजदूरों, भाड़ झोंकने, पशु चराने और पानकी होने जैसे सेवक जातियों के काम करते हैं।

गोंडों का प्रदेश गोंडवाना के नाम से भी प्रसिद्ध है जहाँ १५वीं तथा १७वीं शताब्दी के बीच गोंड राजवंशों के शासन स्थापित थे। किंतु गोंडों की छिटपुट आबादी समस्त मध्यप्रदेश में है। उड़ीसा, आंध्र और बिहार राज्यों में से प्रत्येक में दो से लेकर चार लाख तक गोंड हैं। असम के चाय बगीचोंवाले क्षेत्र में ५० हजार से अधिक गोंड आबाद हैं। इनके अतिरिक्त महाराष्ट्र और राजस्थान के कुछ क्षेत्रों में भी गोंड आबाद हैं। गोंडों की कुल आबादी ३० से ४० लाख के बीच आँकी जाती है, यद्यपि सन् १९४१ की जनगणना के अनुसार यह संख्या २५ लाख है। इसका कारण यह है कि अनेक गोंड जातियाँ अपने को हिंदू जातियों में गिनती हैं। बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश के दक्षिणी भागों में भी कुछ गोंड जातियाँ हैं जो हिंदू समाज का अंग बन गई हैं। गोंड जातियाँ हिंदू जातीय समाज के प्राय: निम्न स्तर पर स्थित हैं और कुछ की गिनती अछूतों में भी होती है। गोंड

लोग अपने को १२ जातियों में विभक्त मानते हैं। किंतु उनकी ५० से अधिक जातियाँ हैं जिनमें ऊँच नीच का भेदभाव भी है।

वास्तव में गोंडों को शुद्ध रूप में एक जनजाति कहना कठिन है। इनके विभिन्न समूह सभ्यता के विभिन्न स्तरों पर हैं और धर्म, भाषा तथा वेशभूषा संबंधी एकता भी उनमें नहीं है; न कोई ऐसा जनजातीय संगठन है जो सब गोंडों को एकता के सूत्र में बाँधता हो। उदाहरणार्थ राजगोंड अपने को हिंदू और क्षत्रिय कहते हैं तथा उन्हीं की भाँति रहते हैं। अन्य अनेक समूह गोंडी भाषा तथा पुराने जनजातीय धर्म को छोड़ चुके हैं।

गोंडों का भारत की जनजातियों में महत्वपूर्ण स्थान है जिसका मुख्य कारण उनका इतिहास है। १५वीं से १७वीं शताब्दी के बीच गोंडवाना में अनेक गोंड राजवंशों का दृढ़ और सफल शासन स्थापित था। इन शासकों ने बहुत से दृढ़ दुर्ग, तालाब तथा स्मारक बनवाए और सफल शासकीय नीति तथा दक्षता का परिचय दिया। इनके शासन की परिधि मध्य भारत से पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार तक पहुँचती थी। अभी हाल तक इनके मंडला और गढ़मंडल नाम के दो राज्य रहे हैं। गोंडवाने की प्रसिद्ध रानी दुर्गावती गोंड जाति की ही थी।

गोंडों का नाम प्रायः खोंडों के साथ लिया जाता है जैसे भीलों का कोलों के साथ। यह संभवतः उनके भौगोलिक सांनिध्य के कारण है।

[रा० रा० शा०; स० नि० शा०]

गोंडल स्थिति : २१° ५७' उ० अ० तथा ७०° ५३' पू० दे०। गुजरात राज्य के राजकोट जनपद का एक नगर जो गोंडली नदी के पश्चिमी तट पर स्थित है। पहले यह काठियावाड़ के गोंडल राज्य का प्रधान नगर था। यह प्रसिद्ध यातायात मार्गों का केंद्र है और विभिन्न राजमार्गों द्वारा राजकोट, जेतपुर, जूनागढ़, धोराजी, उपलेटा, मानेकवारा आदि क्षेत्रीय नगरों से जुड़ा हुआ है। यह भावनगर, गोंडल, जूनागढ़, पोरबंदर रेलमार्ग पर एक स्टेशन भी है। गोंडल ऐतिहासिक नगर है और इसके चारों ओर प्राचीर तथा किलेबंदी के अवशेष हैं। यहाँ दो विशाल बाग, अनाथालय, शरणालय (asylum), अस्पताल तथा महाविद्यालय हैं। इसकी जनसंख्या ४५,०६६ (१९६१) है।

[का० ना० सिं०]

गोंडवाना (प्रदेश) — यह नाम नर्मदा नदी के दक्षिण स्थित प्राचीन गोंड राज्य से व्युत्पन्न है, जहाँ से गोंडवाना काल की शिलाओं का पहले पहल विज्ञान जगत् को बोध हुआ था। इनका निक्षेपण पुराजीव के अंतिम काल से अर्थात् अंतिम कार्बन युग (Carboniferous) से प्रारंभ होकर मध्यकल्प के अधिकांश समय तक, अर्थात् जुरैसिक (Jurassic) युग के अंत तक, चलता रहा। एक पूर्वकालीन विशाल दक्षिणी प्रायद्वीप के निम्न स्थलों अथवा विभंजित द्रोणियों में, जो संभवतः मंद गति से निमज्जित हो रही थी, नदी द्वारा निक्षिप्त अवसादों से इन शिलाओं का निर्माण हुआ। गोंडवाना काल में मुख्यतः मृत्तिका, शेलशिला (shell), बलुआ पत्थर (sandstone), कंकरीला मिश्रपिंडाश्म (conglomerate), सकोणाश्म (braccia) इत्यादि शिलाओं का निक्षेपण हुआ। स्वच्छ जल में निर्मित होने के कारण इन शिलाओं में स्वच्छ जलीय एवं स्थलीय जीवों तथा वनस्पतियों के जीवाश्म का बाहुल्य और महासागरीय जीवों एवं वनस्पतियों के जीवाश्म का अभाव है।

इस महान् स्थलखंड को भूगर्भवेत्ताओं ने 'गोंडवाना प्रदेश' की संज्ञा दी। कुछ विद्वानों का मत है कि यह प्रदेश एक विशाल भूखंड न होकर अनेक भूभागों का समूह था जो सँकरे भूसंयोजकों अथवा स्थलसेतुओं द्वारा एक दूसरे से संबद्ध थे। इसके अंतर्गत भारत तथा समीपवर्ती देश, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अमरीका, ऐंटार्कटिका, दक्षिणी अफ्रीका और मैडागास्कर आते थे। इस काल की शिलाओं, जीव जंतुओं, वनस्पतियों, जलवायु इत्यादि के अध्ययन से ज्ञात होता है कि पूर्वकालीन गोंडवाना प्रदेश के उपर्युक्त अंतर्गत भागों पर इन दशाओं में आश्चर्यजनक समानताएँ थीं। इस प्रकार यह पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाता है कि पूर्वकालीन गोंडवाना प्रदेश के अंतर्गत भाग गोंडवाना काल में एक दूसरे से पूर्णतया अथवा भूसंयोजकों द्वारा संबद्ध थे, अन्यथा जीवों और वनस्पतियों का एक भाग से दूसरे भाग में परिगमन असंभव था। इसी काल में, उत्तरी गोलार्ध में, उत्तरी अमरीका, यूरोप तथा एशिया महाद्वीप भी एक दूसरे से संबद्ध थे और एक अन्य विशाल भूखंड का निर्माण कर रहे थे जिसे लारेंशिया कहते हैं। लारेंशिया तथा गोंडवाना प्रदेश के मध्य टीथिस नामक एक सँकरा सागर था। इन दोनों स्थलखंडों को मिलाकर पैंजिया कहा गया है।

गोंडवाना प्रदेश का विखंडन मध्यकाल के अंत में अथवा तृतीयक कल्प के प्रारंभ में हुआ। इस काल में एक विशाल ज्वालामुखी उद्गार भी हुआ जो संभवतः इस विखंडन की क्रिया से संबंधित या इसी का पूर्वसंकेत था। यह परिवर्तन संभवतः अंतर्गत भूखंडों के तटस्थ भागों अथवा स्थलसेतुओं के निमज्जन से या इन भूभागों के एक दूसरे से दूर खिसक जाने से संभव हुआ। इसी के साथ साथ बंगाल की खाड़ी, अरब सागर, दक्षिण अटलांटिक सागर इत्यादि का जन्म हुआ।

यह ऊपर बताया जा चुका है कि एक समय में, एक दूसरे से संबद्ध होने के कारण भारत, दक्षिणी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया इत्यादि की पुराभौगोलिक दशाओं में समानताएँ पाई जाती हैं। इस काल की भौगोलिक दशाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रारंभ में, अर्थात् अंतिम कार्बन युग में, गोंडवाना प्रदेश की जलवायु हिमानीय (Glacial) थी जिसकी पुष्टि इस युग के बोल्डर तहों (Boldar Beds) की उपस्थिति से होती है जो सभी अंतर्गत भागों पर मिलते हैं। भारत की तालचीर, दक्षिणी अफ्रीका की ड्वाईका, दक्षिणी-पूर्वी आस्ट्रेलिया की कुरी तथा दक्षिणी अमरीका की रियो दुबारो समुदायों की शिलाएँ इन्हीं बोल्डर तहों पर स्थित हैं। इस काल में ग्लासोप्टेरिस (Glossopteris) एवं गंगमोप्टेरिस वनस्पतियों की प्रचुरता थी तथा उभयचर जीवों का भूतल पर प्रथम बार आगमन हुआ था। तत्पश्चात् परमियन कार्बन युग में मोटे कोयला स्तर मिलते हैं जो उष्ण एवं नम जलवायु के द्योतक हैं क्योंकि प्रचुर वनस्पति की उपज के लिये, जिसके द्वारा कालांतर में कोयले का निर्माण होता है, इसी प्रकार की जलवायु की आवश्यकता होती है। ये कोयला स्तर इस काल में निर्मित भारत की दामुदा समुदाय, दक्षिणी अफ्रीका की इक्का तथा दक्षिण-पूर्व आस्ट्रेलिया की मेटलैंड उपसमुदायों की शिलाओं में मिलते हैं। इस काल में ग्लासोप्टेरिस वनस्पति एवं उभयचर जीवों का पूर्ण विकास हो गया था परंतु गंगमोप्टेरिस वनस्पति का ह्रास हो रहा था।

तदुपरांत मध्य गोंडवाना काल के प्रारंभ में अथवा प्रारंभिक ट्राइऐसिक (Triassic) युग में जलवायु में पुनः शीतलता आ गई, जैसा इस काल की शिलाओं के अध्ययन से स्पष्ट विदित होता है। इन शिलाओं में उपस्थित फेल्सपार के कणों में विघटन होकर विच्छेदन (disintegration) हुआ है। विच्छेदन क्रिया मुख्यतः शीतल जलवायुवाले प्रदेशों में तथा विघटन क्रिया सामान्य (उष्ण एवं नम) जलवायु के प्रदेशों में अधिक महत्वपूर्ण है। इस काल की शिलाएँ भारत के पंचत् समुदाय, दक्षिणी अफ्रीका के ब्यूफर्ट तथा दक्षिणी-पूर्वी आस्ट्रेलिया के हाक्सबरी उपसमुदायों के अंतर्गत मिलती हैं। इसके पश्चात् अंतिम ट्राइएसिक युग

में जलवायु उष्ण एवं शुष्क हो गई। इसकी पुष्टि इस काल के लाल वर्ण के बालुकाश्म से होती है जिसमें लौहयुक्त पदार्थों का बाहुल्य तथा वानस्पतिक पदार्थों का पूर्णतया अभाव मरुस्थलीय जलवायु का द्योतक है। भारत में महादेव समुदाय की शिलाएँ इसी काल में निक्षिप्त हुई थीं। मध्य गोंडवाना काल की मुख्य वनस्पति थिनफेल्डिया-टिलोफाईलम (Thinnfeldia Telophylum) है जिसने पूर्वकालीन ग्लासोप्टेरिस वनस्पति का स्थान ले लिया था। जीवों में सरीसृपों (reptiles) का पृथ्वी पर सर्वप्रथम आगमन इसी काल में हुआ था जब कि उभयचरों एवं मीनों का भी बाहुल्य था। इन सब जीवों के जीवाश्म इस काल की निक्षिप्त शिलाओं में मिलते हैं।

गोंडवाना काल के अंतिम भाग में, अर्थात् जुरैसिक युग में, जलवायु में पुनः सामान्यता आ गई थी। इस काल की शिलाओं में वानस्पतिक पदार्थ मिलते हैं; परंतु कोयले का निर्माण महत्वपूर्ण नहीं हुआ था। मुख्य वनस्पतियाँ साईकेड, कानीफर एवं फर्न हैं तथा मुख्य जीव स्टेरिया एवं मीन है। गोंडवाना काल का अंत अथवा गोंडवाना प्रदेश का विखंडन संभवतः एक भीषण ज्वालामुखी उद्गार से हुआ, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इस काल में भारतवर्ष में राजमहल उद्गमपूह तथा दक्षिणी अफ्रीका में स्टार्मबर्ग समुदाय की शिलाओं का निक्षेपण हुआ था।

सं० ग्रं० – (१) वेडनोल्ड, डब्ल्यू० टी० : दि पर्मियन जिओलोजी आव गोंडवानालैंड, रिकार्ड्स जिआलाजिकल सर्वे आव इंडिया, खंड ५८, भाग २, १९२६; (२) कृष्णन, एम० एस० : जिओलोजी आव इंडिया ऐंड बर्मा, १९६०; (३) वाडिया, डी० एन० : जिओलोजी आव इंडिया, १९६१।

[रा० ना० म०]

गोंडा १. स्थिति : २७° ६' उ० अ० तथा ८१° ५८' पू० दे०। उत्तर प्रदेश के सरयूपार क्षेत्र में स्थित अपेक्षाकृत विस्तृत जनपद जिसका क्षेत्रफल २,८२९ वर्ग मील; जनसंख्या २०,७३,२३७ (१९६१ ई०) है। इस जनपद को तीन प्रमुख प्राकृतिक खंडों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम, राप्ती पार का तराई क्षेत्र जो उप-पर्वतीय तलहटी में स्थित होने के कारण अधिकतर नदी नालों तथा उनके पुराने त्यक्त मार्गों एवं झीलों से पूर्ण, दक्षिण में दलदली किंतु गाढ़ी मटियार भूमि के कारण धान के लिये अत्यंत उपजाऊ तथा उत्तर में वनों से ढका हुआ है। राप्ती क्षेत्र में भयंकर बाढ़ आती है। द्वितीय, उपरहार क्षेत्र, जो उत्तर में राप्ती तथा ऊपरहार के उत्थित बलुआ किनारे (Uparhar edge) के मध्य उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व में विस्तृत उत्थापित मैदान है। नदी नालों द्वारा यह उपजाऊ घाटियों में बँट गया है, नदियों के किनारे जंगल तथा बलुई मिट्टी मिलती है। इस क्षेत्र में उतरौला तहसील का दक्षिणी भाग, गोंडा परगने का अधिकांश क्षेत्र तथा तारबगंज तहसील महदेवा एवं नवाबगंज परगने के क्षेत्र पड़ते हैं। तृतीय, उपरहार के दक्षिणी छोर से सरयू (घाघरा) तक का क्षेत्र, जो नदी तक १५ फुट निम्नतर होता जाता है और तरहार कहलाता है। इसमें सरयू (घाघरा) तथा उसकी सहायक टेढ़ी नदियों की बाढ़ कभी कभी भयंकर हो जाती है। इस क्षेत्र में तारबगंज का अधिकांश तथा गोंडा तहसील का पहाड़पुर परगना पड़ता है। यहाँ मिट्टी की निचली परतें बलुई हैं जिनपर विभिन्न मुटाई की दोमट परतें जमी हुई हैं। कहीं कहीं बलुए धूस मिलते हैं जिनके नीचे गहरी तथा उपजाऊ मटियार मिट्टी मिलती है।

तराई क्षेत्र में अधिकांशतः गाढ़ी मटियार, किंतु कहीं कहीं उपजाऊ दोमट; उपरहार के लगभग दो तिहाई क्षेत्र में दोमट, ऊपरी तथा नदी तटवाले भागों में बलुई, तरहार में हल्की तथा छिद्रयुक्त दोमट, तटीय भागों में बलुई तथा केवल गड्ढों में मटियार मिट्टी मिलती है। तराई में धान, उपरहार में धान, गेहूँ और तेलहन तथा तरहार में मकई, गेहूँ और जायद की फसलें मुख्य हैं। इस जिले में उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व की ओर बहनेवाली नदियाँ बूढ़ी राप्ती, राप्ती, कुवाना, बिसूटी, मनवर, तिरही, सरजू (घाघरा) हैं। राप्ती (केवल वर्षा ऋतु में) तथा घाघरा परिवहनीय हैं।

वार्षिक वर्षा का औसत ४०" से ऊपर है। १९४६-५१ ई० में औसत वार्षिक वर्षा ४२·२" रही। उत्तर से दक्षिण की ओर वर्षा क्रमशः कम होती जाती है। पाला कभी नहीं पड़ता। विशेषकर तराई तथा तरहार क्षेत्र की जलवायु अस्वास्थ्यकर और मलेरिया फैलानेवाली है। तराई में मलेरिया तथा तरहार में गठिया प्रमुख रोग हैं। उपरहार क्षेत्र अपेक्षाकृत स्वास्थ्यकर है।

उपयुक्त भूमि एवं अनुकूल जलवायु होने के कारण कुल भूमि के ६७·८ प्रति शत में कृषि होती है; ५·७ प्रति शत वनाच्छादित (अधिकांश तराई के उत्तरी भाग में), ३·२ प्रति शत चालू परती (Current fallows) तथा ६·२ प्रति शत कृषि के लिये अप्राप्य है जिसमें ५·२ प्रति शत जलाशय हैं। चालू परती के अतिरिक्त १६·९ प्रति शत भूमि कृष्य बंजर (Cultivable waste) है जिसका केवल १५ प्रति शत खेती के लिये समुन्नत किया जा सकता है। धान, मकई, गन्ना आदि खरीफ तथा गेहूँ, जौ, चना, तेलहन प्रमुख रबी की फसलें हैं।

जनपद में १९६१ की जनगणना के अनुसार गोंडा (४३,४९९), बलरामपुर (३१,७७९), उतरौला (१०,०६५), कर्नलगंज (९,६७०) तथा नवाबगंज (६,२४९) प्रसिद्ध नगर तथा कस्बे हैं। जिले का व्यापार छोटी छोटी हाटों तथा बाजारों और प्रधानतया उपर्युक्त नगरों द्वारा होता है। यातायात की दृष्टि से अपेक्षाकृत यह जनपद विकसित है। यहाँ उत्तर-पूर्व रेलमार्ग की शाखाएँ हैं।

इस जनपद का ऐतिहासिक महत्व है। सूर्यवंशी राजा वंशक ने यहाँ पर श्रावस्ती नगरी बसाई (दे० 'सहेत महेत')।

२. तहसील—यहाँ की एक तहसील का नाम भी गोंडा है।

३. नगर-स्थिति : २७° ७' उ० अ० तथा ८१° ५१' पू० दे०, उत्तर प्रदेश के गोंडा जिले के लगभग मध्य में स्थित प्रधान प्रशासकीय नगर है जिसकी जनसंख्या ४४,४९९ (१९६१ ई०), यहाँ रेलवे जंक्शन है। इसे १५वीं सदी में बिसेन राजपूत राजा मानसिंह ने स्थापित किया था। अब भी इसके अवशेष मिलते हैं जो गड्ढों एवं तालों के रूप में फैले हैं। राजा रामदत्त सिंह के शासनकाल तक यह न केवल प्रसिद्ध राजपूती गढ़ था प्रत्युत एक व्यापारिक संस्थान भी हो गया था। उन्होंने यहाँ विभिन्न एवं औद्योगिक व्यापारियों को बसाया। कई नए मुहल्ले बसाए जाने से नगर की जनसंख्या एवं क्षेत्र में प्रचुर वृद्धि हुई। १८५७ ई० के प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष में गोंडा के राजा द्वारा राष्ट्रभक्ति का परिचय दिए जाने के कारण राज्य जब्त हो गया और बलरामपुर तथा अयोध्या के देशद्रोही किंतु अंग्रेजों के साथी राजाओं को दे दिया गया।

क्षेत्रीय रेलमार्गों तथा सड़कों का केंद्र होने के कारण यह जिले का प्रधान व्यापारिक तथा यातायात केंद्र हो गया है। यहाँ जनपद के प्रशासनिक कार्यालयों के अतिरिक्त शिक्षण तथा सांस्कृतिक संस्थाएँ भी हैं।

[का० ना० सिं०]

गोंद प्राकृतिक कलिलीय पदार्थ हैं, जिनका कोई निश्चित गलनांक अथवा क्वथनांक नहीं होता। जल में ये अंशतः घुलते, विस्तारित होते और फूल जाते हैं, जिससे जेली या म्यूसिलेज सा पदार्थ बनता है। ऐलकोहल सदृश कार्बनिक विलायकों में ये नहीं घुलते। ये कार्बोहाइड्रेट वर्ग के यौगिक हैं।

कुछ गोंद, जैसे बबूल का गोंद, घट्टी, कराया और ट्रैगाकैंथ पेड़ों से रस के रूप में निकलते हैं, कुछ समुद्री घासों से प्राप्त होते हैं और कुछ बीजों से प्राप्त होते हैं। गोंदों के प्रकार सैकड़ों हैं और उनके उपयोग भी व्यापक हैं। कुछ आहार में, पकवान, मिठाई आदि बनाने में, कुछ ओषधों में, कुछ चिपकाने मे, कुछ छींट आदि की छपाई में, कुछ कागज और वस्त्र के निर्माण में, कुछ रेशम के सजीकरण में, कुछ धावनद्रव और प्रसाधन संभार इत्यादि अनेक वस्तुओं के निर्माण में प्रयुक्त होते हैं।

पेड़ों से प्राप्त गोंद पोटासियम, कैलसियम और मैग्नीशियम के उदासीन लवण होते हैं। इनके जलविश्लेषण से अनेक शर्कराएँ, कुछ अम्ल और सेलूलोज प्राप्त हुए हैं। विभिन्न स्रोतों से प्राप्त गोंद एक से नहीं होते। एक स्रोत से प्राप्त गोंद रसायनतः प्रायः एक से होते हैं।

स्पष्ट रूप से मालूम नहीं है कि गोंद पेड़ों में कैसे बनते हैं। वे एंजाइम क्रिया से अवश्य बनते हैं, पर एंजाइम कहाँ से आता और कैसे कार्य करता है, यह ठीक ठीक मालूम नहीं है। संभवतः कार्बोहाइड्रेटों पर बैक्टीरिया या कवकों की क्रिया से गोंद बनते हैं। रोगग्रस्त पेड़ों से गोंद अधिक प्राप्त होता है।

बबूल के गोंद का ज्ञान २,००० ई० पू० से है। पहली शताब्दी से इसके व्यापार का उल्लेख मिलता है। अफ्रीका, भारत और आस्ट्रेलिया में यह इकट्ठा किया जाता है। इसका रंग हल्के ऐंबर से लेकर सफेद तक होता है। विरंजक से यह सफेद बनाया जा सकता है। लगभग २० हजार टन गोंद प्रति वर्ष इकट्ठा होता है।

ट्रैगाकैंथ गोंद भी बहुत प्राचीन काल से ज्ञात है। ऐस्ट्रेलेगैस (Astralagas) पेड़ से ईरान, तुर्कदेश और सीरिया में यह गोंद निकाला जाता है। यह अंशतः घुलता और अंशतः फूलकर गाढ़ा श्यान द्रव बनता है।

सं० ग्रं० – एफ० एन० हाउवेल, वेजिटेबल गम्स ऐंड रेज़िन्स (१६४६)। [स० व०]

गोंदिया स्थिति : २१° २६′ उ० अ० तथा ८३° १३′ पू० दे०। यह महाराष्ट्र राज्य के भंडारा जिले के गोंदिया तहसील का केंद्र तथा दक्षिणी-पूर्वी रेलवे का जंकशन है जो भंडारा रोड से ४२ मील पूरब है। यहाँ से एक छोटी लाइन जबलपुर जाती है तथा दूसरी लाइन चांदा की तरफ जाती है। यह भंडारा जिले के माल भेजनेवाले दो प्रमुख स्टेशनों में से एक है जहाँ भंडारा जिले तथा पार्श्ववर्ती बालाघाट जिले का माल निर्यात के लिये आता है। नगर स्टेशन की बगल में बसा है जिसमें दो प्रधान सड़कें हैं। यह अन्न तथा जंगली पदार्थों के व्यापार का केंद्र है। यहाँ हर मंगलवार को बाजार लगता है। विशेषतः यहाँ कूची तथा मारवाड़ी बनिए व्यापार करते हैं तथा किरार जाति के छोटे छोटे दूकानदार रहते हैं। यहाँ डाकघर, अस्पताल, थाना तथा हिंदी और मराठी के कई विद्यालय हैं। इस शहर की प्रगति बड़ी तेजी से हुई है। इसकी जनसंख्या ५६,२२० (१६६१) है। [ज० सि०]

गोआ (प्रदेश) स्थिति : १४° ५३′ से १५° ४४′ उ० अ० तथा ७३° ४५′ से ७४° २६′ पू० दे०। भारत के मलाबार समुद्रतट पर स्थित यह राज्य ४०० वर्षों के उपरांत १८ दिसंबर, सन् १६६१ को पुर्तगाली शासन से मुक्त होकर पुनः भारत में संमिलित हुआ। इसकी उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व की अधिकतम लंबाई ६३ मील और चौड़ाई ४० मील है। इसका कुल क्षेत्रफल १,३०० वर्ग मील है। उत्तर में तेराखुल नदी, पूर्व में पश्चिमीघाट पर्वत, पश्चिम में अरब सागर और दक्षिण में मैसूर प्रदेश का उत्तर कनाड़ा जिला इसकी सीमा बनाते हैं।

गोआ नीची दलदली भूमि पर स्थित है। इसका एक भाग तेराखुल, मांडवी तथा जुआरी नदी का डेल्टा है जो इनके द्वारा लाए गए जलोढ़ से बना है। इसका पूर्वी भाग पहाड़ी है जो ४,००० फुट तक ऊँचा है। पूर्वी सीमारेखा पश्चिमीघाट के पहाड़ों की चोटियाँ हैं। सोनसागर पहाड़ की ऊँचाई ४,११५ फुट है। जुआरी और मांडवी यहाँ की दो नदियाँ हैं जो संपूर्ण द्वीप को चारों ओर से घेरे हुए हैं। यह द्वीप त्रिभुजाकार है। इसका शीर्षक अंतरोप कहलाता है। शीर्ष भूभाग पहाड़ी होने के कारण गोआ के बंदरगाह को दो लंगरगाहों—उत्तर में मांडवी के मुहाने पर अगोडा या अगुडा और दक्षिण में जुआरी के मुहाने पर मारमागाओ (Marmagao) में विभक्त कर देता है।

यहाँ की जलवायु वर्ष भर नम और गरम रहती है। जनवरी का औसत ताप १८° सें० है। वर्षा ऋतु अप्रैल से सितंबर तक रहती है और अधिकतम वर्षा १००″ तक हो सकती है, किंतु जाड़े में वर्षा नहीं होती।
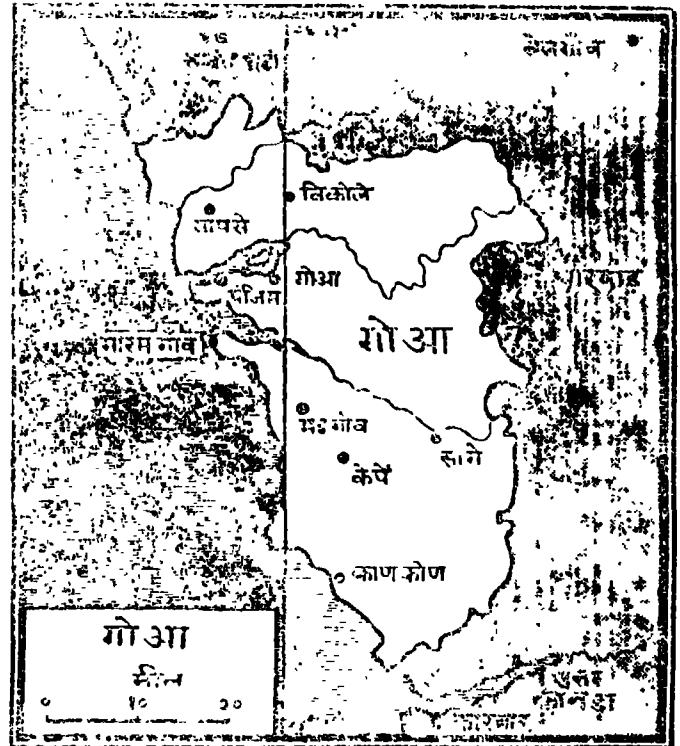
यहाँ उष्ण कटिबंधी वर्षावासी वनस्पतियाँ पाई जाती हैं। लगभग एक तिहाई भूभाग में, धान, बाजरा, कोदो, सावाँ, कालीमिर्च, सुपारी, काजू, विभिन्न किस्म के मसाले, फल, तथा नारियल उपजाए जाते हैं। यहाँ मत्स्योद्योग भी होता है। लोहा और मैंगनीज यहाँ उपलब्ध हैं। मैंगनीज की खानें मरमागाओ के संनिकट हैं किंतु खनिकर्म बहुत कम होता है। समुद्री जल से नमक भी तैयार किया जाता है। साधारणतया प्रदेश का बड़ा भाग आर्थिक रूप से अविकसित एवं पिछड़ा हुआ है। यहाँ से मसाले, नारियल, मछली, फल और नमक का निर्यात होता है।

रेलमार्ग द्वारा गोआ भारत से मिला है। यहाँ कुल तीन रेलमार्ग हैं, एक मध्य गोआ में, दूसरा पालघाट तथा तीसरा गोआ के उत्तर में। मरमागाओ जानेवाला रेलमार्ग भारत के मद्रास जानेवाले रेलमार्ग से मिलता है।

मांडवी एस्चुअरी पर स्थित पंजिम या नोवागोआ यहाँ की राजधानी है। इसके अतिरिक्त मापुका (Mapuca), मारगाओ तथा गोआविल्हा या पुराना गोआ अन्य नगर हैं। यहाँ गाँवों की संख्या ४०० से अधिक है

और अधिकांश जनसंख्या इन्हीं गाँवों में रहती है। यहाँ के अधिकांश निवासी कोंकणी भाषाभाषी भारतीय हैं। पुर्तगालियों द्वारा १६वीं शताब्दी के मध्य के पूर्व विजित क्षेत्रों की जनता रोमन कैथॉलिक और बाद के विजित क्षेत्रों की जनता हिंदू है। पुर्तगाली और अरब मिश्रित रक्त के भी कुछ लोगों की यहाँ आबादी है।

गोआ को पुर्तगाल से मुक्त कराने के बाद भारत सरकार इसके विकास का प्रयास कर रही है। उसका शासन पृथक् राज्य के रूप में चल रहा है। गोआ ऐतिहासिक नगर रहा है। पुर्तगालियों के शासन से पूर्व पुराना गोआ १५१० ई० तक बीजापुर के सुलतान के अधीन था। इसके पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर १३२० ई० तक यहाँ कदंब राजाओं का शासन रहा। यहाँ की अधिकांश ईमारतें गिर्जाघर हैं। अरब भूगोलवेत्ताओं ने इसे सिंदाबुर या सांदाबुर नाम से अभिहित किया है। हिंदू पुराणों में इसका वर्णन गोव, गोमात तथा गोवापुरी नाम से आया है। [अ० ना० मे०]

गोएबेल्स, जोज़ेफ जर्मन राजनीतिज्ञ और हिटलर के सैद्धांतिक सहकारी। जन्म २९ अक्टूबर, १८९७ को रीड में हुआ। कई विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त की। फिलासफी में डाक्टर की डिग्री प्राप्त कर इन्होंने सन् १९२२ में राष्ट्रीय समाजवादी दल के लिये काम करना शुरू किया। सन् १९२६ ई० में हिटलर ने इनको ग्रेट बर्लिन के दलसंगठन का काम सौंपा। फिर १९२९ में इनको संपूर्ण दल के प्रचार का कार्य करना पड़ा। सन् १९३३ ई० में दल के सत्तारूढ़ होने पर गोएबेल्स की नियुक्ति प्रचारमंत्री के पद पर की गई। जिस सूझ और लगन से इन्होंने प्रचार कार्य किया वह शासकीय इतिहास में अनन्य है। इनका सिद्धांत था कि झूठ को भी बार बार कहने से लोगों में उसके सत्य होने का विश्वास हो जाता है। कहा जाता है, बर्लिन पतन के पहले उन्होंने आत्महत्या कर ली। [ला० मि०]

गोकाक स्थिति : १६° १०' उ० अ० तथा ७४° ४९' पू० दे०। आधुनिक मैसूर राज्य के बेलगांव जनपद में गोकाक तालुके का प्रधान नगर है। यह दक्षिणी रेलमार्ग (पहले का दक्षिण मराठा रेलमार्ग) पर स्थित गोकाक स्टेशन से आठ मील दूर स्थित है और राजमार्ग द्वारा उससे जुड़ा हुआ है। पहले यहाँ कपड़ों की बुनाई तथा रँगाई का व्यवसाय बहुत उन्नत था जो बाद में अवनत हो गया। पुनः सरकारी प्रयत्नों से इन उद्योगों का विकास हो रहा है। हल्की लकड़ी तथा स्थानीय क्षेत्र में प्राप्य एक विशेष प्रकार की मिट्टी से निर्मित खिलौने तथा चित्रादि बनाने का व्यवसाय प्रसिद्ध है।

गोकाक प्राचीन कस्बा है। इसका प्रथम उल्लेख १०४७ ई० के एक अनुलेख (Inscription) में 'गोकागे' (Gokage) नाम से प्राप्य है। संभवतः यह हिंदुओं का पवित्र स्थल रहा है जो गऊ (गो) से संबंधित है। १६८५ ई० में यह 'सरकार' (मध्यकालीन जनपद) का प्रधान केंद्र था। १७१७-१७५४ काल में यह सवानूर के नवाबों के अधीन रहा जिन्होंने यहाँ मस्जिद तथा गंजीखाने का निर्माण कराया। पुन. यह हिंदुओं के अधीन हुआ। सन् १८३६ में गोकाक तालुका तथा नगर अंगरेजों को अधीन हो गए।

नगर की जनसंख्या २१,५८४ (१९६१) है और नगर से ३½ मील पश्चिमोत्तर तथा दक्षिण रेलमार्ग पर स्थित धूपदल स्टेशन से तीन मील दूर स्थित गोकाक प्रपात है जहाँ घाटप्रभा नदी बलुआ पत्थर के शीर्ष से १७० फुट गहराई में गिरती है। प्रपात के बाद एक सुंदर खड्डमय घाटी (gorge) का निर्माण करती है। यहाँ प्रति वर्ष हजारों पर्यटक आते हैं। प्रपात के समीप ही नदी के दाएँ तट पर १८८७ ई० में सूती कपड़े का कारखाना निर्मित हुआ। कारखाने को बिजली देने तथा आसपास के क्षेत्र में सिंचाई करने के लिये 'गोकाक जलाशय' का निर्माण हुआ। गोकाक नगरपालिका का क्षेत्र (३२.५ वर्ग मील) प्रशासकीय सुविधा के लिये पाँच भागों में बँटा है। [का० ना० सि०]

गोकुलनाथ (गोस्वामी) वल्लभ संप्रदाय की आचार्य परंपरा में वचनामृत पद्धति के यशस्वी प्रचारक के रूप में विख्यात हैं। आप गोस्वामी विट्ठलनाथ के चतुर्थ पुत्र थे। आपका जन्म संवत् १६०८, मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी को प्रयाग के समीप अड़ैल में हुआ था। गोस्वामी विट्ठलनाथ के सातों पुत्रों में गोकुलनाथ सबसे अधिक मेधावी, प्रतिभाशाली, पंडित और वक्ता थे। सांप्रदायिक गूढ़ गहन सिद्धांतों का आपने विधिवत् अध्ययन किया था और उनके मर्मोद्‌घाटन की विलक्षण शक्ति आपको प्राप्त हुई थी। सांप्रदायिक सिद्धांतों के प्रचार और प्रसार में अपने पिता के समान आपका भी बहुत योगदान है। संस्कृत भाषा के साथ ही हिंदी काव्य और संगीत का भी आपने गोविंदस्वामी से अध्ययन किया था, जिसका उपयोग आपने प्रचार कार्य में किया।

गोकुलनाथ की वैष्णव जगत् में ख्याति के विशेषतः दो कारण बताए जाते हैं। पहला कारण यह है कि इन्होंने अपने संप्रदाय के वैष्णव भक्तों के चारित्रिक दृष्टांतों द्वारा सांप्रदायिक उपदेश देने की लोकप्रिय प्रथा का प्रवर्तन किया। इन कथाओं को ही हिंदी साहित्य में 'वार्ता साहित्य' का नाम दिया गया है। आपकी प्रसिद्धि का दूसरा कारण सांप्रदायिक अनुश्रुतियों में 'मालाप्रसंग' नाम से अभिहित किया जाता है। इस मालाप्रसंग के कारण, कहा जाता है कि, गोकुलनाथ जी को वैष्णव जगत् में सार्वदेशिक यश और सम्मान प्राप्त हुआ था। मालाप्रसंग का संबंध एक ऐतिहासिक घटना से बताया जाता है। संवत् १६७४ में बादशाह जहाँगीर की उज्जैन और मथुरा में एक वेदांती संन्यासी चिद्रूप से भेंट हुई जिसकी निस्पृह साधना से बादशाह मुग्ध था। वैष्णवों में प्रचलित है कि उसके कहने पर बादशाह ने वैष्णवों के बाह्य चिह्नों (माला, कंठी और तिलक) के धारण करने पर प्रतिबंध लगा दिया। इस निषेधाज्ञा को हटवाने में गोकुलनाथ जी ने सफलता पाई। यद्यपि इस वैष्णव परंपरा की पुष्टि ऐतिहासिक ग्रंथों से नहीं होती। जहाँगीर के 'आत्मचरित' अथवा फारसी की ऐतिहासिक सामग्री में इस घटना का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। परंतु गोकुलनाथ जी के विषय में यह मिलता है कि उन्होंने जहाँगीर से गोस्वामियों के लिए निःशुल्क चरागाह प्राप्त किए थे। उनका यश और संमान पुष्टिमार्गी संतसमाज में इससे अधिक बढ़ गया। चिद्रूप की लोकप्रियता कम हुई अथवा नहीं, किंतु गोकुलनाथ जी का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। आगे चलकर इसका स्पष्ट प्रभाव उनकी कृतियों पर पड़ा। वार्ता साहित्य के यशस्वी कृतिकार एवं प्रचारक के रूप में उनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है। वैष्णव मत के सिद्धांतों और भक्ति की रसानुभूति में उनकी लेखनी खूब चली।

हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में गोकुलनाथ जी का उल्लेख उनके 'वार्ता साहित्य' के कारण हुआ है। गोकुलनाथ रचित दो वार्ता ग्रंथ प्राप्त हैं। पहला 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और दूसरा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'। इन दोनों की प्रामाणिकता और गोकुलनाथ रचित होने में विद्वानों में प्रारंभ से ही मतभेद रहा है, किंतु नवीनतम शोध और अनुशीलन से यह सिद्ध होता जा रहा है कि मूल वार्ताओं का कथन गोकुलनाथ ने ही किया था। इन वार्ताओं से वल्लभ संप्रदायी कवियों तथा वैष्णव भक्तों का परिचय प्राप्त करने में अत्यधिक सहायता प्राप्त हुई है।

अतः इनको अप्रामाणिक कहकर उपेक्षणीय नहीं किया जा सकता। सांप्रदायिक परंपराओं के अध्ययन से यह विदित होता है कि गोकुलनाथ जी ने सर्वप्रथम श्री वल्लभाचार्य जी के शिष्यों-सेवकों का वृत्तांत मौखिक रूप से 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के रूप में कहा और तदनंतर अपने पिता श्री विट्ठलनाथ जी के शिष्यों-सेवकों का चरित्र 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में सुनाया, यद्यपि गोकुलनाथ ने स्वयं इन वार्ताओं को नहीं लिखा। लेखन और संपादन का कार्य बाद में होता रहा। विशेष रूप से गुसाईं हरिराय ने इनके संपादन का महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने 'भाव प्रकाश' लिखकर इन वार्ताओं का पल्लवन करते हुए इनमें विस्तार के साथ कतिपय समसामयिक घटनाओं का भी समावेश कर दिया। इन घटनाओं में औरंगजेब के आक्रमणों की बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। वस्तुतः हरिराय जी ने अपने काल की वर्तमानकालिक घटनाओं को भाव प्रकाशन तथा पल्लवन के समय जोड़ा था। मूल वार्ताओं में वे घटनाएँ नहीं थीं। परवर्ती संपादकों और लिपिकारों ने अनेक नवीन प्रसंग जोड़कर वार्ताओं को बहुत भ्रामक बना दिया है। किंतु वार्ताओं की प्राचीनतम प्रतियों में उन घटनाओं का वर्णन न होने से अनेक भ्रांतियों का निराकरण हो जाता है। वार्ता साहित्य का हिंदी गद्य के क्रमिक विकास में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है और अब उनका विधिवत् मूल्यांकन होने लगा है। गोकुलनाथ जी रचित कुछ और ग्रंथ भी उपलब्ध हैं जिनमें 'वनयात्रा,' 'नित्य-सेवा-प्रकार,' 'बैठक चरित्र,' 'घरू वार्ता,' 'भावना,' 'रहस्य प्रसंग' आदि हैं।

गोकुलनाथ जी की ख्याति का एक कारण उनकी सांप्रदायिक विशेषता भी है। गोकुलनाथ के इष्टदेव का स्वरूप 'गोकुलनाथ' ही है और उसके विराजने का स्थान गोकुल है। इनके यहाँ स्वरूपसेवा के स्थान पर गद्दी को ही सर्वस्व मानकर पूजा जाता है। इनका सेवकसमुदाय भंडूची वैष्णवों के नाम से प्रसिद्ध है।

गोकुलनाथ जी वचनामृत द्वारा वल्लभ संप्रदाय का प्रचार करनेवाले सबसे प्रमुख आचार्य थे। उनकी मृत्यु संवत् १६९७ को फाल्गुन कृष्णा नवमी को हुई।

सं॰ ग्रं॰ — धीरेंद्र वर्मा : 'अष्टछाप'; दीनदयालु गुप्त : 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय' (भाग १)। [दी॰ द॰ गु॰]

गोखरू यह जाइगोफाइलिई (Zygophylleae) कुल के अंतर्गत ट्रिबुलस टेरेस्ट्रिस (Tribulus terrestris) नामक एक प्रसर वनस्पति है, जो भारत में बलुई या पथरीली जमीन में प्रायः सर्वत्र पाई जाती है। इसे छोटा गोखरू या गुड़खुल (हिंदी) और गोक्षुर (संस्कृत) भी कहते हैं। इसके संयुक्त पत्र में ५-७ जोड़े चने के समान पत्रक, पत्रकोणों में एकाकी पीले पुष्प और कंटिकार गोल फल होते हैं।

आयुर्वेद के 'दशमूल' नामक दस वनौषधियों के प्रसिद्ध गण में एक यह भी है और इसके मूल का (क्वाथ में) अथवा फल का (चूर्ण) चिकित्सा में उपयोग होता है। यह मधुर, स्नेहक, मूत्रविरेचनीय, बाजीकर तथा शोथहर होने के कारण मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, प्रमेह, नपुंसकत्व, मूत्राघात, वस्तिशोथ तथा वातरोगों में लाभदायक माना जाता है।

तिलकुल (Pedaliaceae) की पेडालियम म्यूरेक्स (Pedalium murex) नामक एक दूसरी वनस्पति है, जो बड़ा गोखरू के नाम से प्रसिद्ध है। इसके फलों का भी प्रायः छोटे गोखरू की तरह ही प्रयोग होता है। इसके फल चार काँटों से युक्त और आकार में पिरामिडीय शंकु जैसे होते हैं। यह दक्षिण भारत, विशेषतः समुद्रतट, गुजरात, काठियावाड़ तथा कोंकण आदि में होता है। [ब॰ सिं॰]

गोखले, गोपाल कृष्ण (१८६६-१९१५ ई॰)। ९ मई, १८६६ को रत्नागिरि में जन्म। १८८४ में एलफिंस्टन कालेज, बंबई से ग्रेजुएट हुए। फर्ग्युसन कालेज, पूना में इतिहास एवं अर्थशास्त्र के प्राध्यापक रहे। बाद में इसी कालेज के प्राचार्य (प्रिंसिपल) नियुक्त हुए। पहली बार सन् १८८० में, दूसरी बार १८८७ में विवाहित हुए। १८८६ में डेकन एजुकेशन सोसाइटी के जीवन सदस्य बने। श्री महादेव गोविंद रानडे से १८८८ में तथा गांधी जी से १८९६ में प्रथम साक्षात्कार हुआ। राजकीय एवं सार्वजनिक कार्यों के सिलसिले में सात बार इंग्लैंड की यात्रा की। १८९९ में बंबई विधानसभा के सदस्य चुने गए। सन् १९०२ में ३० रुपए की पेंशन लेकर फर्ग्युसन कालेज से अवकाश ग्रहण किया तथा उसी वर्ष इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य चुने गए। १९०४ में सी॰ आई॰ ई॰ की उपाधि मिली किंतु १९१४ में के॰ सी॰ आई॰ ई॰ की उपाधि अस्वीकार कर दी।

यद्यपि गोखले सन् १८८९ में लोकमान्य तिलक के साथ कांग्रेस में प्रविष्ट हुए किंतु गोखले पर श्री रानडे का प्रभाव था। तिलक की भाँति वह कभी गरम दलीय न हो सके, पर थे वे अपने विचारों में तेजस्वी और तेजस्विता तथा निर्भीकता से ही वे उन्हें व्यक्त भी करते थे। इसीलिये नमक कर पर बोलते हुए गोखले ने अपने तथ्यों एवं आँकड़ों के द्वारा सरकारी नीति की भर्त्सना की और बताया कि किस प्रकार एक पैसे की नमक की टोकरी की कीमत पाँच आने हो जाती है। गोखले की देशसेवा का आरंभ श्री रानडे की 'सार्वजनिक सभा' में हुआ। संयत, शिष्ट और मधुर व्यक्तित्व एवं भाषा गोखले को श्री रानडे से तथा तथ्यात्मकता एवं विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण श्री जी॰ वी॰ जोशी से मिला।

भारतीय अर्थनीति की जाँच के लिये १८९६ में 'वेल्बी कमीशन' बैठाया गया था जिसमें अनेक प्रमुख लोग गवाही के लिये बुलाए गए थे। चूँकि श्री रानडे एवं जोशी दोनों ही नहीं जा सकते थे इसलिये गोखले को गवाही के लिये भेजा गया। इस पहली ही परीक्षा में वह संपूर्ण रूप से सफल हुए। इसी समय पूना में ताऊन फैला। गोखले को इंग्लैंड में सारी खबर मिली। सरकार लोगों को ताऊन से बचाने के लिये सेना की सहायता से घरों से हटा रही थी। इसी बात को गोखले ने इंग्लैंड के अखबारों में स्पष्ट किया। इसपर इंग्लैंड की संसद् में तूफान आ गया। फलस्वरूप भारत लौटने पर रानडे के कहने से गोखले ने पूरी तरह अपनी गलती स्वीकार की।

सन् १९०१ में श्री रानडे का देहावसान हुआ और १९०२ में गोखले इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य चुने गए। सदस्यों को उन दिनों केवल बहस करने का ही अधिकार था। इन सीमाओं के बावजूद गोखले अत्यंत निर्भीकता के साथ सारी सांवैधानिक मर्यादा का पालन करते हुए अपनी तथा अपने देश की बात खुलकर शासकों के सामने रखते थे। वह अपने युग के अद्वितीय संसदीय व्यक्ति (पार्लियामेंटेरियन) माने गए हैं। गोखले अपने सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन एवं विचारों में पूर्ण आदर्शवादी तथा मर्यादावादी होते हुए भी स्पष्ट थे, इसलिये शासकों के साथ व्यवहार करते हुए वह कभी भी अतिवादी या असंभववादी दृष्टिकोण नहीं अपनाते थे जिसे उनके विरोधी समझौतावादी दृष्टिकोण कहा करते थे। इसका मूल कारण यह था कि वह वैधानिक प्रगति के द्वारा ही अपने देश और समाज की प्रगति एवं कल्याणकामना करते थे। क्रांति में उनका विश्वास नहीं था। उन्नति और समृद्धि के लिये वह सामाजिक और राजनीतिक शांति एवं व्यवस्था को अनिवार्य मानते थे इसीलिये उनके समकालीन लोकमान्य तिलक अथवा लाला लाजपतराय से वैचारिक मतभेद था। उनके असंतुलित समकालीन कांग्रेसी उन्हें दकियानूस, समझौतावादी या नरम दल का स्तंभ

कहते थे जबकि विदेशी शासक उनकी प्रखर व्याख्यान शैली एवं शिष्ट अभिव्यंजना को तथ्यात्मक आक्रमण और उग्र मानते थे। संभवतः अपने युग में उनपर दोनों ही ओर से खुलकर प्रहार किया जाता रहा, किंतु जिस प्रकार बारंबार वह शासकों को वैधानिक तरीके से अपनी बात समझाते थे उसी प्रकार अपने समकालीनों को भी उत्तेजनारहित रूप से समझाने की चेष्टा करते थे।

प्रसिद्ध 'मार्ले मिंटो सुधार' में अकेले गोखले का बहुत बड़ा हाथ था। तत्कालीन राजनीतिक चेतना को देखते हुए गोखले की 'स्वराज्य' की कल्पना 'डोमीनियन' स्थिति की थी। अंग्रेजों के प्रति इतनी सहानुभूति रखनेवाले गोखले को भी लार्ड कर्जन की प्रतिगामी नीतियों ने क्षुब्ध कर दिया था। बंग भंग, कलकत्ता कारपोरेशन के अधिकारों में कमी, कार्य की सुचारुता के नाम पर विश्वविद्यालयों पर सरकारी अफसरों का अवांछित नियंत्रण, शिक्षा की उत्तरोत्तर व्ययशीलता तथा आफीशियल सीक्रेट्स ऐक्ट आदि नीतियों के कारण उन्हें अगत्या कहना पड़ा कि 'मैं तो अब इतना ही कह सकता हूँ कि लोकहित के लिये इस वर्तमान नौकरशाही से किसी तरह के सहयोग की सारी आशाओं को नमस्कार है'। फिर भी परिणामतः वह नरमदलीय ही बने रहे। १९०५ में कांग्रेस के उग्रवादी दल ने उनके सभापति बनाए जाने का विरोध किया था लेकिन वह बनारस में होनेवाले उस कांग्रेस अधिवेशन के सभापति चुन ही लिए गए थे। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने राजनीतिशास्त्री के रूप में बहिष्कार का समर्थन यह कहकर किया था कि यदि सहयोग के सारे मार्ग अवरुद्ध हो जायँ और देश की लोकचेतना उसके अनुकूल हो तो बहिष्कार का प्रयोग सर्वथा उचित है। इसी वर्ष उन्होंने अपने जीवन का सबसे महत्वपूर्ण रचनात्मक कार्य 'भारत-सेवक-समाज' (सर्वेंट्स आव इंडिया सोसाइटी) प्रारंभ किया। पूना में इसकी स्थापना अत्यंत नैतिक आधार तथा मानवीय धरातल पर हुई जिसमें सदस्य नाम मात्र के वेतन पर आजीवन देशसेवा का व्रत लेते थे। राइट आनरेबुल श्रीनिवास शास्त्री जैसे अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के राजनीतिज्ञ भी इस संस्था के सदस्य थे। शास्त्री जी गोखले के कुछ काल तक निजी सचिव (प्राइवेट सेक्रेटरी) भी रहे थे। गोखले गांधी जी को भी इसका सदस्य बनाना चाहते थे किंतु सदस्यों में इस बारे में मतभेद रहा। श्रीमती एनी बेसेंट की संस्था 'भारत के पुत्र' के पीछे उक्त समाज ही प्रेरक था। गांधी जी को साबरमती आश्रम के लिये गोखले ने पूरी आर्थिक सहायता दी।

सन् १९१२ में गांधी जी ने गोखले से दक्षिण अफ्रीका की समस्या सुलझाने के लिये कहा और वह वहाँ गए। वहाँ की सरकार ने प्रत्येक भारतीय पर तीन पौंड का 'जजिया' कर लगा रखा था। अधिकांश भारतीय वहाँ मजदूरी करते थे जिनके लिये इतना कर दे सकना संभव नहीं था। गोखले ने वहाँ के शासकों को इस कर को बंद कर देने के लिये राजी कर लिया था, शर्त यह थी कि भारतीयों के निष्क्रमण पर रोक लगा दी जाए। जब गोखले स्वदेश लौटे तब अफ्रीकी शासकों ने कर हटाने से इनकार कर दिया। फलस्वरूप देश में गोखले पर खूब प्रहार हुआ कि निष्क्रमण का सिद्धांत मानकर गोखले ने भारी भूल की तथा कर भी नहीं हटा। पर गोखले तो मानते थे कि उस काल की देशसेवा असफलताओं पर अधिक निर्भर करती है। लगभग यही स्थिति हिंदू मुस्लिम समस्या के बारे में भी हुई। मुसलमानों के लिये पृथक् निर्वाचन मानकर उन्होंने भूल की किंतु तत्कालीन परिस्थितियों एवं जिस सांवैधानिक रीति को वह नीति मानते थे उसमें क्रांतिकारी आचरण की संभावना थी।

अंतिम दिनों में वह पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्य का काम करने लगे थे। शासकों ने उनसे पूछा कि भारत को और क्या राजनीतिक सुविधाएँ दी जायँ, पर वह इसका कोई समुचित उत्तर देने के पूर्व ही १९ फरवरी, १९१५ को स्वर्गवासी हो गए।

गोपालकृष्ण गोखले की राजनीति की छाप २०वीं सदी के प्रारंभ के वयस्क भारतीय राजनीतिक कार्यकर्ताओं पर भरपूर पड़ी। महात्मा गांधी को अपनी राजनीतिक दृष्टि के लिये गुरु चाहिए था। एक ओर तिलक सा अपरिमेय क्षुब्ध सागर था, दूसरी ओर सर फीरोज शाह मेहता सा तुंग पर्वत। दोनों के बीच बहनेवाली सुरसरि की शीतल धारा गोखले को मान गांधी जी ने उनकी शिष्यता स्वीकार की। गोखले की सहिष्णुता की अनेक कहानियाँ कही जाती हैं। एक इस प्रकार है — वे इंग्लैंड में थे। एक मित्र के पत्र के आधार पर उन्होंने वहाँ एक वक्तव्य दिया। पुलिस ने उसका प्रमाण माँगा। प्रमाण बगैर मित्र का उल्लेख किए नहीं दिया जा सकता था। मित्र की रक्षा के लिये वे मौन हो गए। बंबई पहुँचते ही पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार करना चाहा। मित्र की रक्षा के लिये उन्होंने सरकार से यह कहकर क्षमा माँग ली कि वह वक्तव्य अनुचित था। गुरुवर रानडे को सब बातें गोखले ने स्पष्ट कर दीं और यद्यपि सारा देश उन्हें कायर कहने लगा था, रानडे से प्रणबद्ध होने के कारण उन्होंने कोई सफाई नहीं दी और चुपचाप दूसरे की रक्षा के लिये लांछन का वह गरल पी लिया। जीवन भर उन्होंने यह भेद नहीं खोला। [न० मे०]

गोगँ, पॉल (१८४८-१९०३) फ्रेंच उत्तर प्रभाववादी प्रसिद्ध चित्रकार जिसके चित्रों ने २०वीं सदी की चित्रशैलियों को प्रभूत प्रभावित किया। फ्रांस की 'फ़ोव' और जर्मनी की 'ब्ल्यू राइडर' चितेरों की शैलियाँ गोगँ की कलम की ऋणी थीं। गोगँ का पिता पत्रकार था और उसकी माँ उदारचेता राजनीतिक प्रचारक थी। लुई नेपोलियन ने जब उन्नीसवीं सदी के मध्य फ्रांस की राजगद्दी पर कब्जा कर लिया तब गोगँ का परिवार दक्षिण अमरिका की ओर चला पर राह में ही उसके पिता की मृत्यु हो गई। पहले गोगँ ने जहाज की नौकरी की फिर व्यापार की दलाली जिसमें उसे पर्याप्त लाभ होने लगा। १८७३ में एक डेन लड़की से विवाह कर उसने चित्रकार की वृत्ति आरंभ की। ३ वर्ष बाद पेरिस के प्रसिद्ध सलून प्रदर्शिनी ने उसका एक चित्र स्वीकृत किया। प्रसिद्ध चित्रकार पिसारो की ख्याति तब चोटी पर थी। गोगँ पर उसका खासा प्रभाव भी पड़ा और उसी के प्रभाव से उसने प्रभाववादी चित्र प्रदर्शनियों में अपने चित्र प्रदर्शित किए। १८८३ में गोगँ ने व्यापार और परिवार छोड़ सर्वथा चित्रकार का जीवन जीना शुरू किया और डेनमार्क में पत्नी को छोड़ अपने पुत्र क्लोविस के साथ पेरिस लौटा। पैसे की तंगी का फिर वह बुरी तरह शिकार हुआ और उसे बड़ी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं।

गोगँ को लगा कि फ्रेंच चित्रण अत्यंत गतिहीन हो गया है और उसकी प्रवहमानता नष्ट हो गई है क्योंकि उसमें जीवन के तत्वों का अभाव हो गया है, सभ्यता की धारा लक्षणबद्ध होकर कुंठित हो गई है। इसी से नवजीवन तथा सभ्यता द्वारा अविकृत क्षेत्र की ओर वह मुड़ा और १८८७ में उसने पनामा की यात्रा की। पूरब के तथाकथित असभ्य और आदिवासी वातावरण ने उसकी कला पर गहरा प्रभाव डाला और उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन किया। वहाँ उसने अपनी प्रसिद्ध और तथाकथित समन्वित शैली का प्रारंभ किया। इस शैली में प्राकृतिक दृश्यों का चटख रंगों द्वारा एक विशेष आभास उत्पन्न किया जाता था जिसमें प्रकृति के आकार गतिमान जान पड़ते थे। इसका प्रारंभ और उपयोग विशेषतः गोगँ ने किया और उसके अनुयायियों में उसका प्रचलन खूब हुआ। चित्र को देख एनेमेल की कारीगरी का आभास होता था जिसमें चिपटी भूमि

सीमांकित रंग रेखाओं से घेर दी जाती थी। इस शैली को पीछे 'सिंथेटिज्म' अथवा 'क्लासोनिज्म' कहने लगे।

१८८८ में गोगैं ने पेरिस में अपनी नूतन शैली के चित्रों की प्रदर्शनी की। उसी साल वह आर्ल जाकर कुछ काल तक चित्रकार गॉग के साथ रहा जो दोनों के लिये प्रबल दुर्भाग्य सिद्ध हुआ। इस काल के उसके बनाए चित्रों में प्रधान 'पीत यीशू' है। धीरे धीरे चित्रकार के जीवन में धनाभाव बढ़ता जा रहा था और पेरिस में उसके चित्रों की असफलता ने उसे स्वदेश छोड़ने को बाध्य किया। वह ताहीती जा पहुँचा जहाँ उसने अपने कुछ महत्व के चित्र तैयार किए (इआ ओराना मारिया, और ता मातीत)। वह पेरिस लौटा, फिर ताहीती गया, पश्चिम से पूरब और पूरब से पश्चिम, बारबार उसने पाश्चात्य सभ्यता की समस्याओं का हल पूरब में खोजा। अपने चित्रों के आधार, जीवन की मान्यताओं की ही भाँति, सभ्यता से अछूती प्रकृति के निकट, नागरिक औपचारिकता से अमिश्रित जीवन में उसे मिले। पर वह भी उसकी अभावपूर्ण स्थिति को न सँभाल सका और १९०३ में वह इहलोक की लीला समाप्त कर चल बसा। उसकी शैली का प्रभाव आधुनिक चित्र शैली पर भरपूर पड़ा, उसके चित्रों का मूल्य भी आज पर्याप्त लगता है, पर गोगैं को उसका लाभ नहीं। [प० उ०]

गोगोल, निकोलाई वसील्येविच (२०.३.१८०९–२१.२.१८५२)– सुप्रसिद्ध रूसी लेखक। साधारण उक्रेनी जमींदार के परिवार में जन्म। पोलतावा और नेझिन नगरों में शिक्षा मिली। १८२८ से पेतेरबुर्ग में रहने लगे। १८२९ से साहित्यिक कार्यों का आरंभ किया। अनेक लघु उपन्यासों में गोगोल ने उक्रेनी जनता के जीवन, उक्रेनी प्रकृति का काव्यमय सा सजीव वर्णन दिया है। इन कृतियों के दो मुख्य संग्रह हैं : 'दिकंका के समीपवाले छोटे गाँव की संध्याएँ' (१८३१-३२) और 'मिरगोरोद' (१८३५)। इन रचनाओं के लिये रूसी समालोचक बेलिंस्की ने गोगोल को 'साहित्य के नेता, कवियों के नेता' का नाम दिया। गोगोल ने कई प्रहसन भी लिखे, जैसे 'विवाह' (१८४३), 'निरीक्षक' (१८३६) जिनमें तत्कालीन रूसी समाज की कुरीतियों की कड़ी आलोचना की गई। प्रतिक्रियावादियों की कार्रवाइयों के फलस्वरूप गोगोल को विदेश जाना पड़ा। गोगोल की मुख्य कृति 'मृत रियाया' है। इसमें जागीरदारी रूस का संपूर्ण आलोचनात्मक वर्णन दिया गया है। बेलिंस्की के मतानुसार यह तत्कालीन सबसे महत्वपूर्ण साहित्यिक कृति है। 'ओवरकोट' (१८४२) लघु उपन्यास में उस छोटे आदमी के कष्टमय जीवन का प्रतिबिंब मिलता है जो तत्कालीन रूस की राजधानी में रहता था। 'मित्रों से पत्रव्यवहार के चुने हुए अंश' (१८४७) नामक कृति में गोगोल ने प्रतिक्रियावादी विचारों का प्रचार किया जिसके फलस्वरूप बेलिंस्की ने इस रचना की कड़ी आलोचना की थी। गोगोल की कृतियों का गहरा प्रभाव रूसी साहित्य, थियेटर, चित्रकला और संगीत पर हुआ। गोगोल ने रूसी साहित्य में आलोचनात्मक यथार्थवाद की नींव डाली। गोगोल की रचनाएँ विश्व की अनेक भाषाओं में, जिनमें हिंदी भी संमिलित है, अनूदित हुई।

[व्यो० अ० बाराज्निकोव]

गोटी (ड्राफ्ट) यह खेल शतरंज से मिलता जुलता है और पश्चिमी देशों, विशेषकर यूरोप और अमरीका में अधिक प्रचलित है। यह दो व्यक्तियों के बीच खेला जाता है। इस खेल का प्रधान उपकरण एक पट्ट (बोर्ड) होता है, जिसमें ६४ खाने बने होते हैं। ये खाने एकांतर क्रम से विरोधी रंगों में (काले सफेद या लाल नीले रंगों में) रंगे होते हैं। इस प्रकार कुल ३२ सफेद और उतने ही काले खाने इसमें होते हैं। शतरंज के मोहरों के स्थान पर इसमें चपटी गोटें होती हैं। प्रत्येक पक्ष के पास १२ गोटें होती हैं — एक के पास कुल सफेद और दूसरे के पास कुल काली। गोटों को नीचे चित्र में प्रदर्शित ढंग से पट्ट पर लगाते हैं। चित्र के अनुसार १ से १२ तक खानों में काली गोटें रखी गई हैं और २१ से ३२ तक खानों में सफेद गोटें हैं। इन खानों को 'घर' भी कहते हैं।
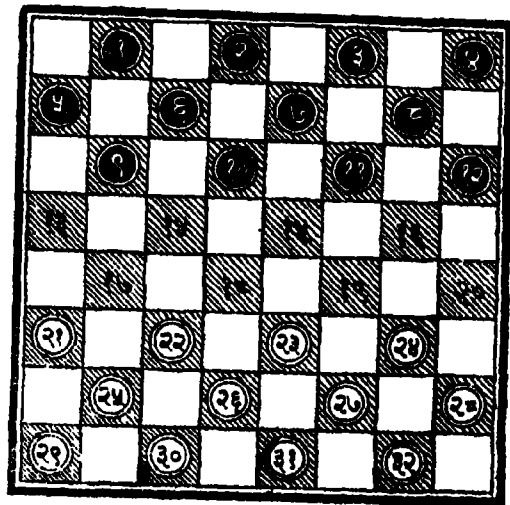
चित्र १ गोटी (Draughts) के खाने

चित्र में खानों तथा गोटियों के खेल के प्रारंभ की अवस्था दिखाई गई है। काले वृत्तों में काली तथा श्वेत वृत्तों में श्वेत गोटियाँ बैठाई जाती हैं।

खेल की प्रारंभिक चाल काली गोटवाला व्यक्ति चलता है और इसके बाद दूसरी चाल सफेद गोटवाला चलता है। कोई गोट एक घर से दूसरे ऐसे घर में चली जा सकती है जो पहले घर के कर्णवत् हो और रिक्त हो। यदि किसी गोट के घर के कर्णवत् एक से अधिक घर हों तो यह चलनेवाले की इच्छा पर है कि वह अपनी गोट जिस ओर चाहे चल सकता है। यदि विपक्षी की गोट अगले घर में हो और उसके आगे (कर्णवत्) घर रिक्त हो तो खिलाड़ी अपनी गोट उस रिक्त घर में पहुँचाकर बीच में पड़नेवाली विपक्षी की गोट को उठा ले सकता है। इसे नीचे दिए गए चित्र
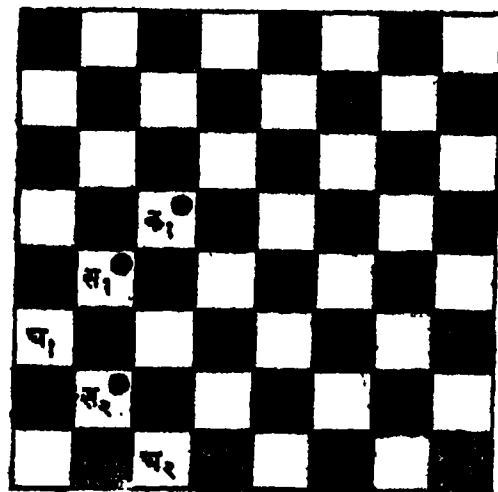
चित्र २

(२) में समझा जा सकता है। क$_1$ एक काली गोट है जिसके आगे एक सफेद गोट ख$_1$ पड़ती है और उसके आगे, उसी कर्ण की दिशा में, घर घ$_1$ रिक्त है। अतः अपनी चाल में काली गोट क$_1$ सफेद गोट ख$_1$ को पारकर अगले सफेद घर घ$_1$ में आ जायगी और सफेद गोट ख$_1$ को उठा लिया जायगा। यदि आगे और भी ऐसी ही गोटें दिखलाई पड़ें जिनके आगेवाले घर रिक्त हों तो एक ही चाल में वे सभी उठाई जा सकती हैं। उदाहरणार्थ, काली गोट क$_1$ सफेद गोट ख$_1$ को उठाकर अगले घर घ$_1$ में आ जायगी और उसी चाल में पुनः सफेद गोट ख$_1$ को उठाती हुई सफेद घर घ$_2$ पहुँच जायगी जो रिक्त है। विपक्षी की गोट को इस प्रकार उठा लेने की क्रिया को बंदीकरण (Capture) कहते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि कोई गोट केवल आगे ही चली जा सकती है।

जब कोई गोट विपक्षी के प्रथम श्रेणीवाले सफेद घरों में से किसी एक में (अर्थात् ऊपर दिए गए चित्र में कोई सफेद गोट घर संख्या १, २, ३ अथवा ४ में, अथवा कोई काली गोट घर संख्या २९, ३०, ३१ या ३२ में) पहुँच जाती है, तो उसे राजमुकुट धारण कराया जाता है, क्योंकि ये घर 'राजा के घर' कहे जाते हैं। मुकुट धारण करने की क्रिया राजा के घर में पहुँची हुई गोट पर उसी रंग की दूसरी गोट रखकर संपन्न कराई जाती है। यह मुकुटधारी नया राजा आगे पीछे किसी ओर भी कर्णवत् घर में जा सकता है और उपर्युक्त बंदीकरण विधि से विपक्षी की किसी भी गोट को बंदी बना सकता है। किंतु राजा के घर में पहुँची हुई कोई विपक्षी गोट तब तक नहीं चली जा सकती जब तक मुकुट धारण की क्रिया संपन्न न हो जाय।

कोई पक्ष जब अपनी किसी गोट को, विपक्षी की गोट पार कराते हुए, अगले घर में डाल सकने में चूक जाता है और विपक्षी की गोट को उठा नहीं लेता, तो विपक्षी उसे दंडित कर सकता है। इसे 'हफिंग' (huffing) भी कहते हैं। तब यह विपक्षी की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह दंडस्वरूप उस गोट को, जिसके कारण उसकी अपनी गोट को बंदी हो जाना चाहिए था, स्वयं उठा ले अथवा उस पक्ष को अपनी चाल को वापस कर पुनः वही चाल चलकर अपनी गोट को बंदी बनाने के लिये बाध्य करे, जैसा भी वह अपने हित के अनुकूल समझे। ज्ञातव्य है कि इस खेल में कभी कभी विजयी होने के निमित्त अपनी ही गोट को विपक्षी द्वारा बंदी बनवा लेना भी आवश्यक हो जाता है।

कोई पक्ष जब विपक्षी की सभी गोटों को बंदी बना लेता है अथवा उन गोटों का मार्ग इस प्रकार अवरुद्ध कर देता है कि वह विवश हो जाय और आगे कोई चाल चल ही न सके, तो वह पक्ष विजयी माना जाता है। जब कोई पक्ष विजयश्री न प्राप्त कर सके और खेल की स्थिति कुछ इस प्रकार की हो जाय जिससे यह स्पष्ट हो जाय कि आगे निर्णय हो सकना असंभव है, तो उस बाजी को अनिर्णीत घोषित कर दिया जाता है। प्रत्येक बाजी समाप्त होने के बाद खिलाड़ी आपस में गोटें बदल लेते हैं। चाल चलते समय यह आवश्यक है कि कोई खिलाड़ी जिस गोट को छू ले, और उसको चलने की गुंजायश है तो वह उसी गोट को चले।

यह खेल अत्यंत प्राचीन है। इसका प्राचीन नाम चेकर्स (Checkers) है। यूनानी तथा रोमन लोगों का यह अत्यंत प्रिय खेल था। इसकी लोकप्रियता का कुछ आभास इस तथ्य से मिल सकता है कि रोमनों के अनेक ऐतिहासिक महत्व के भवनों में इसी के पट्ट (board) के चित्र स्थान स्थान पर बने हुए दिखलाई पड़ते हैं। इससे बहुत कुछ मिलता जुलता एक खेल मिस्र देशवासी भी सहस्रों वर्षों से खेलते आ रहे हैं। यूनान से इस खेल का प्रचार अरब देशों में हुआ और ऐसा प्रतीत होता है कि वहीं से पुनः इंग्लैंड, फ्रांस और स्पेन आदि देशों में आया। भारत में भी गोटों का एक खेल बहुत प्राचीनकाल से खेला जाता रहा है। यद्यपि वह इस खेल से बहुत भिन्न है, फिर भी गोटों को बंदी बनाकर उठा लेना और राजा बनाने (मुकुट धारण कराने) की प्रक्रिया आदि इस खेल से बहुत कुछ मिलती जुलती है। इस खेल से संबंधित साहित्य का भी विस्तृत परिमाण में निर्माण हुआ है और अंतरराष्ट्रीय नियमोपनियमों का भी सृजन होता रहा है। वैलेंशिया के ऐंटोनिया टॉर्कमादा (Antonia Torquemada) ने सन् १५४७ में इस खेल के बारे में सर्वप्रथम पुस्तक प्रकाशित की। इसके बाद इंग्लैंड के सुविख्यात गणितज्ञ विलियम पेन (William Payne) ने अपनी विश्वविश्रुत पुस्तक 'गाइड टु दि गेम ऑव ड्राफ्ट्स' (ड्राफ्ट के खेल की संदर्शिका) सन् १७५६ में प्रकाशित की। इसकी प्रेरणा से इस खेल से संबंधित साहित्य में द्रुत गति से अभिवृद्धि होने लगी और लोकरुचि इस ओर केंद्रित होने लगी। १९वीं शताब्दी में ऐंड्रू ऐंडरसन (इंग्लैंड) गोटी-ड्राफ्ट के खेल का विश्वविख्यात विजेता हुआ। वह अनेक प्रतियोगिताओं में संमिलित हुआ और अधिकांश में विजयी रहा। इस खेल से संबंधित अनेक नियमोपनियमों का वह प्रवर्तक था। खेल के आधुनिक रूप का शिल्पकार उसे ही कहा जा सकता है। २०वीं शताब्दी में अमरीकनों ने इस खेल में बड़ी प्रगति की और यूरोपीय खिलाड़ियों को बहुत पीछे ढकेल दिया। इस समय इस खेल के सर्वश्रेष्ठ खिलाड़ियों की अधिक संख्या अमरीका में ही है। [सु० चं० गौ०]

गोड्डा १. बिहार राज्य के संथाल परगने का उपमंडल (सब डिवीजन) है (क्षेत्रफल ८५४ वर्ग मील, जनसंख्या ४,४७,९७६ (१९५१ ई०), प्रति वर्ग मील घनत्व ५२४.६ मनुष्य)। इस उपमंडल को भौगोलिक दृष्टि से दो भागों में विभाजित कर सकते हैं १. दक्षिण तथा पश्चिम का पहाड़ी क्षेत्र, जिसका अधिकांश चट्टानों तथा वनों से आच्छादित है, २. पूर्वी क्षेत्र, जो केवल मिट्टी से बना हुआ उपजाऊ मैदानी भाग है तथा जिसमें अधिकांशतः कृषि होती है। अधिकांश जनसंख्या इसी मैदानी क्षेत्र में निवास करती है। संपूर्ण जनसंख्या ग्रामीण है। १९५१ ई० की जनगणना के अनुसार यहाँ कुल १०७० गाँव हैं जिनमें कुल अधिकृत गृहसंख्या ८२,६०० है। इस उपजनपद में प्रशासनिक दृष्टि से गोड्डा, पोरैयाहाट तथा महागाँवा थाने संमिलित हैं।

२. नगर – स्थिति : २४° ५०′ उ० अ० तथा ८७°१७′ पू० दे०। गोड्डा उपमंडल का प्रधान प्रशासनिक केंद्र है। उपमंडल का केंद्र होने पर भी यातायात की सुविधाओं तथा औद्योगिक एवं व्यापारिक साधनों के अभाव के कारण यह ग्राम मात्र ही रह गया है। इसकी जनसंख्या ७,५०० (१९६१ ई०) है जो अधिकांश कृषि पर आश्रित है। यहाँ उपमंडल की कचहरी, योजना विभाग के कार्यालय, अंग्रेजी विद्यालय तथा पुस्तकालय है। [का० ना० सिं०]

गोत्रीय तथा अन्य गोत्रीय हिंदू विधि के मिताक्षरा सिद्धांत के अनुसार रक्त संबंधियों को दो सामान्य प्रवर्गों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम प्रवर्ग को गोत्रीय अर्थात् सपिंड गोत्रज कहा जा सकता है। गोत्रीय अथवा गोत्रज सपिंड वे व्यक्ति हैं जो किसी व्यक्ति से पितृ पक्ष के पूर्वजों अथवा वंशजों की एक अटूट शृंखला द्वारा संबंधित हों। वंशपरंपरा का बने रहना अत्यावश्यक है। उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति के पिता, दादा और परदादा आदि उसके गोत्रज सपिंड या गोत्रीय हैं। इसी प्रकार इसके पुत्र पौत्रादि भी उसके गोत्रीय अथवा गोत्रज सपिंड हैं, या यों कहिए कि गोत्रज सपिंड वे व्यक्ति हैं जिनकी धमनियों में समान रक्त का संचार हो रहा हो।

रक्त-संबंधियों के दूसरे प्रवर्ग को अन्य गोत्रीय अथवा भिन्न गोत्रज सपिंड या बंधु भी कहते हैं। अन्य गोत्रीय या बंधु वे व्यक्ति हैं जो किसी व्यक्ति से मातृपक्ष द्वारा संबंधित होते हैं। उदाहरण के लिये, भानजा अथवा भतीजी का पुत्र बंधु कहलाएगा।

भारत में हिंदू विधि के मिताक्षरा तथा दायभाग नामक दो प्रसिद्ध सिद्धांत हैं। इनमें से दायभाग विधि बंगाल में तथा मिताक्षरा पंजाब के अतिरिक्त शेष भारत में प्रचलित है। पंजाब में इसमें रूढ़िगत परिवर्तन हो गए हैं। मिताक्षरा विधि के अनुसार रक्तसंबंधियों के दो सामान्य प्रवर्ग हैं।

[१] गोत्रीय अथवा गोत्रज सपिंड, और

[२] अन्य गोत्रीय अथवा भिन्न गोत्रीय अथवा बंधु।

जैसा स्पष्ट किया जा चुका है, गोत्रीय से आशय उन व्यक्तियों से है जिनके आपस में पूर्वजों अथवा वंशजों की सीधी पितृ परंपरा द्वारा रक्त-संबंध हों। परंतु यह वंश परंपरा किसी भी ओर अनंतता तक नहीं जाती। यहाँ केवल वे ही व्यक्ति गोत्रीय हैं जो समान पूर्वज की सातवीं पीढ़ी के भीतर आते हैं। हिंदू विधि के अनुसार पीढ़ी की गणना करने का जो विशिष्ट तरीका है वह भी भिन्न प्रकार का है। यहाँ व्यक्ति को अथवा उस व्यक्ति को अपने आप को प्रथम पीढ़ी के रूप में गिनना पड़ता है जिसके बारे में हमें यह पता लगाना है कि वह किसी विशेष व्यक्ति का गोत्रीय है अथवा नहीं। उदाहरण के लिये, यदि 'क' वह व्यक्ति है जिसके पूर्वजों की हमें गणना करनी है तो 'क' को एक पीढ़ी अथवा प्रथम पीढ़ी के रूप में गिना जायगा। उसके पिता दूसरी पीढ़ी में तथा उसके दादा तीसरी पीढ़ी में आएँगे और यह क्रम सातवीं पीढ़ी तक चलेगा। ये सभी व्यक्ति 'क' के गोत्रीय होंगे। इसी प्रकार हम पितृवंशानुक्रम में अर्थात् पुत्र पौत्रादि की सातवीं पीढ़ी तक, अर्थात् 'क' के प्रपौत्र के प्रपौत्र तक, गणना कर सकते हैं। ये सभी गोत्रज सपिंड हैं परंतु केवल इतने ही गोत्रज सपिंड नहीं हैं। इनके अतिरिक्त सातवीं पीढ़ी तक, जिसकी गणना में प्रथम पीढ़ी के रूप में पिता संमिलित हैं, किसी व्यक्ति के पिता के अन्य पुरुष वंशज अर्थात् भाई, भतीजा, भतीजे के पुत्रादि भी गोत्रज सपिंड हैं। इसी प्रकार किसी व्यक्ति के दादा के छः पुरुष वंशज तथा परदादा के छः पुरुष वंशज और परदादा के पिता के छः पुरुष वंशज भी गोत्रज सपिंड हैं। हम इन छः वंशजों की गणना पूर्वजावलि के क्रम में तब तक करते हैं जब तक हम 'क' के परदादा के परदादा के छः पुरुष वंशजों को इसमें संमिलित नहीं कर लेते। इस वंशावलि में और गोत्रज सपिंड भी संमिलित किए जा सकते हैं जैसे 'क' की धर्मपत्नी तथा पुत्री और उसका दौहित्र। 'क' के पितृपक्ष के छह वंशजों की धर्मपत्नियाँ अर्थात् उसकी माता, दादी, परदादी और उसके परदादा के परदादा की धर्मपत्नी तक भी गोत्रज सपिंड हैं।

सम्यक् तथा संकुचित वैधिक निर्वचन के अनुसार, गोत्रज सपिंडों की कुल संख्या ५७ है। 'क' के समान पूर्वज की १३वीं पीढ़ी तक के इन पूर्वजों के वंशजों के परे जो व्यक्ति होंगे वे 'क' के समानोदक होंगे। इनके अतिरिक्त 'क' के परदादा के परदादा के परे पितृपरंपरा के सात पूर्वज और उनकी परंपरा में ४१वीं पीढ़ी तक के उनके वंशज भी 'क' के समानोदक होंगे। समानोदक वे व्यक्ति हैं जिन्हें 'क' श्राद्ध करते समय जल देता है। परंतु व्यापक दृष्टि से समानोदक भी गोत्रीय ही हैं।

[कं० को०]

गोथ एक मिश्रित प्राचीन जर्मन भाषा बोलनेवाली ट्यूतन अथवा जर्मन जाति जिसने ईसा के प्रारंभिक सदियों में यूरोपीय इतिहास पर, विशेष कर, रोमन साम्राज्य को नष्ट कर, पर्याप्त प्रभाव डाला। अपने प्राचीनतम युगों में यह जाति विश्चुला नदी की बीच की घाटी में बसी हुई थी जो संभवतः स्वीडन की ओर से आई थी, और जिसने पूर्वी पोमेरानियामें फैलकर वंदल जाति के पास पड़ोस को जीत लिया।

गोथों का शासन, कबीलाई होने के बावजूद राजसत्ताक था। उनका प्राचीन साहित्य में पहला उल्लेख ईसा की प्रारंभिक सदियों में ही मिलता है जबकि उनपर उनका राजा मारोबोदुयस राज करता था। तीसरी सदी ईसवी में वे दानूब नदी की निचली घाटी में भी धावे बोलने लगे और इस प्रकार रोमनों से जब तब टकराने लगे। रोमन सम्राट् गोर्डियन ने उन्हें एक बार परास्त कर 'गोथोरम विजयी' उपाधि धारण की थी पर सम्राट् देसियस को निश्चय उन्होंने मार डाला था और सम्राट् गालस को तो उन्होंने वार्षिक कर देने को भी मजबूर किया। अनेक टक्करों के बाद सम्राट् कोंस्तांतीन ने गोथों को हराकर उनके राजा अरियारिक से संधि कर ली। गोथों के इतिहास के उन प्रारंभिक दिनों में सबसे प्रसिद्ध राजा हरमनारिक हुआ जिसका नाम जर्मन ख्यातों में अमर हो गया है। गोथों के प्रसिद्ध इतिहासकार जेरदानिज का कहना है कि उस राजा ने दक्षिणी रूस में बसनेवाली अनेक जातियों पर विजय प्राप्त की। उसके शासन की सीमा पश्चिम में होल्स्टाइन तक पहुँच गई थी। चौथी सदी ईसवी के हूणों के हमलों का, अपनी मातृभूमि विश्चुला की घाटी में अनेक गोथ वीरों ने सामना कर, अमरकीर्ति अर्जित की। स्वयं राजा हरमनारिक ने हूणों के आक्रमण की चोट न सह सकने के कारण ३७० ई० के लगभग आत्मघात कर लिया।

गोथों के साधारणतः दो अंग माने जाते हैं जिनमें से पूर्व में रहनेवाले ओस्त्रोगोथ कहलाते थे और पश्चिम के रहनेवाले विजीगोथ। इन्हीं पश्चिमी गोथों ने अपने राजा अलारिक के नेतृत्व में पश्चिमी रोमन साम्राज्य की रीढ़ तोड़ दी थी। चौथी सदी ईसवी से गोथों की पूर्वी पश्चिमी दोनों शाखाओं के इतिहास अलग हो जाते हैं। उस सदी के चौथे चरण के आरंभ में ही रोमन साम्राज्य में पश्चिमी गोथ घुस आए और सम्राट् वालेंस को मारकर अद्रियानोपुल की प्रसिद्ध लड़ाई उन्होंने जीती। इसके बाद रोमनों तथा गोथों में संधि हो गई जिससे गोथ रोमन सेना में बड़ी संख्या में भरती किए गए। सम्राट् थियोदोसियस महान् की ३९५ ई० में मृत्यु के बाद गोथ रोमनो से झगड़कर अलग हो गए और उन्होंने अलारिक को अपना राजा चुना। अलारिक का यश उसकी विजयों के साथ रोमन साम्राज्य में फैल गया। कालांतर में वह रोमन सम्राटों का विधाता बना और एक बार तो अमर नगर रोम तक उसके चरणों में लोट गया।

अलारिक के उत्तराधिकारी अतौल्फ ने रोम के सहायक के रूप में गोथों पर राज किया, यद्यपि यदि वह चाहता तो रोमन साम्राज्य के एक बड़े भाग पर अधिकार कर सकता था। उसने सम्राट् थियोदोसियस की पोती को ब्याहा और कुछ अजब न था कि यदि उनका बेटा थियोदोसियस जीवित रहता तो वह रोमनों एवं गोथों का संयुक्त सम्राट् होता। ४१५ ई० में बार्सिलोना में अतौल्फ की हत्या हो गई और अगली पीढ़ी के गोथ प्रदेश जीत रोमनों के हवाले करते गए। पाँचवीं सदी के मध्य अत्तिला हूण के मुकाबिले थियोदोरिक प्रथम के नेतृत्व में गोथ रोमनों के फिर मित्र बन गए। पर उनके उत्साह का बाँध टूट गया, जब उन्होंने देखा कि उन्हीं की जाति के गोथ हूणों के झंडे के नीचे उनसे लड़ रहे हैं। थियोदोरिक ४५१ ई० में युद्ध में मारा गया और पश्चिमी तथा पूर्वी गोथ फिर एक दूसरे से बहुत दूर हट गए। धीरे धीरे गॉल और स्पेन में उनके राज कायम हुए और धीरे ही धीरे रोमन संस्कृति स्वीकार कर पश्चिमी गोथ कैथोलिक ईसाई हो गए।

पूर्वी गोथों ने अत्तिला हूण के मरते ही फिर अपनी आजादी कायम की। पाँचवीं सदी के अंत में पूर्वी गोथों के इतिहास में प्रसिद्ध इनका महान् राजा थियोदोरिक हुआ। थियोदोरिक महान् भी पश्चिमी गोथों की ही भाँति पश्चिमी साम्राज्य का कभी मित्र बना, कभी शत्रु बना। रोमन साम्राज्य के प्रति उसकी राजनीति चाहे जैसी भी रही हो, वह अंत तक अपनी जाति का राष्ट्रीय वीर और राजा बना रहा। ४६३ ई० तक पूर्वी गोथों की सत्ता इटली, सिसिली, दालमेशिया आदि पर पूर्णतः स्थापित हो गई। इस काल फिर एक बार थियोदोरिक की कन्या का पश्चिमी गोथों के राजा अलारिक द्वितीय से विवाह होने के पश्चात् पूर्वी और पश्चिमी गोथों में मित्रभाव स्थापित हुआ और अगली पीढ़ी में तो जैसे दोनों राज्य संयुक्त हो गए। इस काल पूर्वी गोथों का साम्राज्य अत्यंत विस्तृत हो गया था। थियोदोरिक का शासन बर्बर न होकर सभ्य था जिसने गोथों के नेतृत्व के साथ रोमन साम्राज्य की प्रभुता पश्चिम में भोगी। पूर्वी और पश्चिमी गोथों के रीति रस्म, आचार व्यवहार, एक दूसरे से भिन्न थे, पर दोनों इटली की समान भूमि पर रहते और समान राजा थियोदोरिक का शासन स्वीकार करते थे, यद्यपि वह राजा जाति के दोनों अंगों में प्रत्येक के अनुकूल विधि व्यवहार आदि की दिशा में आचरण करता था। थियोदोरिक की मृत्यु (५२६) के बाद पूर्वी और पश्चिमी गोथ फिर पृथक् हो गए। अमालारिक पश्चिमी गोथों पर राज करने लगा और अथालारिक पूर्वी गोथों पर। शीघ्र ही पूर्वी गोथों की सत्ता मिट गई।

पश्चिमी गोथों का राज्य स्पेन में दीर्घकाल तक बना रहा और रोमन साम्राज्य को नष्ट करने में धीरे धीरे सफल होता रहा। ल्योविगिल्ड (५६८-५८६) का शासनकाल पश्चिमी गोथों की शक्ति के विशेष उत्कर्ष का था। उसने अपने राज्य की सीमाएँ पर्याप्त बढ़ा लीं और गोथ सामंतों की शक्ति अपने नेतृत्व में संगठित कर ली। अगली पीढ़ी में गोथों के राजा ने अपनी जाति की अधिकतर संख्या के साथ कैथोलिक ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया जिससे यह जाति अधिकतर रोमन प्रभाव में सर्वशः आ गई। ७११ में अरबी मुसलमानों की चोट से पश्चिमी गोथों के राज्य का सदा के लिये लोप हो गया।

सं० ग्रं० – टी० हाजकिन : इटली ऐंड हर इन्वेडर्स; जे० बी० बरी : हिस्ट्री ऑव दि लेटर रोमन एंपायर। [प० उ०]

गोथनबर्ग स्वीडन के कैटेगैट जिले में स्थित एक बंदरगाह है, जो गटा (Gota) नदी के तट पर मुहाने से पाँच मील भीतर स्टाकहोम से २८५ मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। सर्वप्रथम १६०३ ई० में चहारदीवारियों से घिरे हुए एक किले के रूप में, नगर का प्रादुर्भाव हुआ किंतु डेनिस लोगों ने कालामार की लड़ाई में इसे नष्ट कर दिया। पुनः १६१९ ई० में गुस्तवस एडाल्फस ने नगर की नींव डाली। बंदरगाह का विकास १८वीं शताब्दी के अंत में हुआ जब इंग्लैंड के व्यापारियों ने यहाँ मछलियों का डिपो खोला। १८३२ ई० में गटा नहर तथा पश्चिम रेलवे खुल जाने से यहाँ का व्यापार तथा आबादी तीव्र गति से बढ़ी।

गोथनबर्ग स्वीडन का प्रथम बंदरगाह तथा दूसरा प्रधान नगर है। १६२२ ई० से यह करमुक्त बंदरगाह हो गया है। बंदरगाह से औसत आयात-निर्यात १४ लाख टन प्रति वर्ष होता है। यहाँ पानी का जहाज बनाने का बहुत बड़ा केंद्र है। सूती मिलें, रसायनक कागज, चमड़े, शराब तथा लकड़ी के बहुत से कारखाने हैं। नगर पूर्ण विकसित तथा आधुनिक ढंग का है जो प्रमुख शिक्षाकेंद्रों, व्यवसायों तथा धार्मिक संस्थाओं से परिपूर्ण है। यहाँ की जनसंख्या ३,६७,२०५ (१९५१) थी। [इ० सि०]

गोथिक कला मध्ययुगीन यूरोपीय वास्तु की एक शैली जो संभवतः जर्मन गोथ जाति के प्रभाव से आविर्भूत हुई थी; जिस शैली की इमारतें यद्यपि क्लासिकल शैली के सौंदर्य से विरहित थीं, पतले, ऊँचे अनेक शिखरों से मंडित होती थीं। इस शैली का बोलबाला १२वीं से १५वीं तक प्रायः चार सदियों बना रहा और अंत में पुनर्जागरण काल में इसका स्थान क्लासिकल शैली ने लिया।

वास्तु की दृष्टि से इस शैली की इमारतों में छरहरे ऊँचे खंभे सुंदर, कोणयुक्त मेहराबों को सिर से धारण करते हैं। बाहर की ओर से इनकी दीवारें पुश्तों से संपुष्ट की होती हैं। यूरोप के सैकड़ों गिरजे इसी शैली में बने हैं और इसी शैली में भारत के भी अधिकतर गिर्जे निर्मित हैं। नीचे स्तंभों की परंपरा से प्रस्तुत और ऊपर शूलशिखरों से व्याप्त गोथिक शैली की इमारतें सुदर्शन हैं। कालांतर में इस शैली में अलंकरण की व्यवस्था बढ़ती गई और इस शैली में निर्मित इमारतों की ज्यामितिक डिजाइनें वृत्ताकार तथा त्रिभुजाकार आवृत्तियाँ धारण करती गईं। फूल-पौधों, लतावल्लरियों और पशुपक्षियों की आकृतिसंपदा बढ़ती गई और मानवेतर रूपों की अभिव्यक्ति विशेष आग्रह से की जाने लगी।

गोथिक शैली की इमारतों, विशेषकर गिरजाघरों के दरवाजों और खिड़कियों में रंगीन काँच के टुकड़ों का उपयोग होने लगा जिनमें रंगों की विविधता विशेष आग्रह से प्रयुक्त हुई और गिरजाघरों का अंतरंग उनके योग से चमत्कृत हो उठा। उन्हीं काँच के टुकड़ों की सहायता से मानव आकृतियाँ भी बनाई जाने लगीं और संतों के चित्र रूपायित होने लगे। इस शैली की इमारतों के बहिरंग पर अनंत मूर्तियों का भी निर्माण होने लगा।

न केवल वास्तु के उपकरणों में बल्कि चित्रणकला में भी इस शैली का उपयोग हुआ और इसी के माध्यम से तत्कालीन ग्रंथ चित्रित किए जाने लगे, भित्तिचित्र लिखे जाने लगे। अधिकतर तेज रंगों का इस्तेमाल हुआ और चित्रों में स्वर्णधूलि अथवा रत्नों तक का उपयोग करने से चित्रकार न चूके। मूर्तिकला में भी पत्थर, लकड़ी, गजदंत आदि के माध्यम से इस शैली का विकास हुआ। तब के धातुओं में ढले अनेक अभिप्राय आज भी यूरोप के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। काष्ठकारिता और धातुकारिता, विशेषकर स्वर्णकारिता में यह शैली गहरे पैठी और आभिजात्य जीवन में अलंकरण का विशेष मान इसने प्रतिष्ठित किया। तत्कालीन आसनों, शैया तल्पों, पर्यंकों आदि की हजारों गोथिक शैली में निर्मित साज सज्जा मध्य-काल के प्रासादों में प्रस्तुत हुईं। इस शिल्प का एक विशिष्ट केंद्र वेनिस नगर में स्थापित हुआ जहाँ की काँच की वर्णशैली अन्यत्र दुष्प्राप्य थी। नहीं अधिकतर कलाबत्तू आदि में भी इस शैली का उपयोग हुआ और दीवारों के पर्दे तो उस शैली में इतने अभिराम बने कि, यद्यपि वे आज मिट चुके हैं, भित्तिचित्रों में उनके रूप, कलाबत्तू और मखमल के सहज आभास आज भी उत्पन्न कर देते हैं। उस शैली के लेखों की मर्यादा पिछले युगों में फिर कभी नहीं प्राप्त की जा सकी। उस मध्ययुग को साधारणतः यूरोपीय इतिहास में अंधकार युग कहा गया है, पर निःसंदेह कला के क्षेत्र में इस गोथिक वास्तुशैली ने, तक्षण, चित्रण, तंतुवाय संबंधी चटख रंगों ने उसे प्रभूत आलोकित किया।

सं० ग्रं० – एच० सी० मूर : गोथिक आर्ट इन स्पेन, लंदन, १९०९; चार्ल्स एच० मूर : दि डेफिनिशन ऑव गोथिक, न्यूयार्क, १९१६; एस० गार्डनर : इंग्लिश गोथिक फौलिएज स्कल्पचर, १९२७। [प० उ०]

गोदान (प्रकाशन : १९३६ ई०) प्रेमचंद का यह हिंदी उपन्यास है जिसमें उनकी कला अपने परम उत्कर्ष पर पहुँची है। गोदान में

भारतीय किसान का संपूर्ण जीवन — उसकी आकांक्षा और निराशा, उसकी धर्मभीरुता और भारतपरायणता के साथ स्वार्थपरता और बैठकबाजी, उसकी बेबसी और निरीहता— का जीता जागता चित्र उपस्थित किया गया है। उसकी गर्दन जिस पैर के नीचे दबी है उसे सहलाता, क्लेश और वेदना को झुठलाता, 'मरजाद' की झूठी भावना पर गर्व करता, ऋणग्रस्तता के अभिशाप में पिसता, तिल तिल शूलों भरे पथ पर आगे बढ़ता, भारतीय समाज का मेरुदंड यह किसान कितना शिथिल और जर्जर हो चुका है, यह गोदान में प्रत्यक्ष देखने को मिलता है। नगरों के कोलाहलमय चकाचौंध ने गाँवों की विभूति को कैसे ढँक लिया है, जमींदार, मिल मालिक, पत्रसंपादक, अध्यापक, पेशेवर वकील और डाक्टर, राजनीतिक नेता और राजकर्मचारी जोंक बने कैसे गाँव के इस निरीह किसान का शोषण कर रहे हैं और कैसे गाँव के ही महाजन और पुरोहित उनकी सहायता कर रहे हैं, गोदान में ये सभी तत्व नखदर्पण के समान प्रत्यक्ष हो गए हैं। गोदान, वास्तव में, २०वीं शताब्दी की तीसरी और चौथी दशाब्दियों के भारत का ऐसा सजीव चित्र है, जैसा हमें अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

गोदान में बहुत सी बातें कही गई हैं। जान पड़ता है प्रेमचंद ने अपने संपूर्ण जीवन के व्यंग और विनोद, कसक और वेदना, विद्रोह और वैराग्य, अनुभव और आदर्श सभी को इसी एक उपन्यास में भर देना चाहा है। कुछ आलोचकों को इसी कारण उसमें अस्तव्यस्तता मिलती है। उसका कथानक शिथिल, अनियंत्रित, और स्थान-स्थान पर अति नाटकीय जान पड़ता है। ऊपर से देखने पर है भी ऐसा ही, परंतु सूक्ष्म रूप से देखने पर गोदान में लेखक का अद्भुत उपन्यास-कौशल दिखाई पड़ेगा क्योंकि उन्होंने जितनी बातें कही हैं वे सभी समुचित उठान में कही गई हैं। प्रेमचंद ने एक स्थान पर लिखा है — 'उपन्यास में आपकी कलम में जितनी शक्ति हो अपना जोर दिखाइए, राजनीति पर तर्क कीजिए, किसी महफिल के वर्णन में १०-२० पृष्ठ लिख डालिए (भाषा सरस होनी चाहिए), कोई दूषण नहीं। प्रेमचंद ने गोदान में अपनी कलम का पूरा जोर दिखाया है। सभी बातें कहने के लिये उपयुक्त प्रसंगकल्पना, समुचित तर्कजाल और सही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रवाहशील, चुस्त और दुरुस्त भाषा और वर्णनशैली में उपस्थित कर देना प्रेमचंद का अपना विशेष कौशल है और इस दृष्टि से उनकी तुलना में शायद ही किसी उपन्यासलेखक को रखा जा सकता है।

गोदान हिंदी के उपन्यास-साहित्य के विकास का उज्वलतम प्रकाशस्तंभ है। गोदान के नायक और नायिका होरी और धनिया के परिवार के रूप में हम भारत की एक विशेष संस्कृति को सजीव और साकार पाते हैं, ऐसी संस्कृति जो अब समाप्त हो रही है या हो जाने को है, फिर भी जिसमें भारत की मिट्टी की सोंधी सुवास भरी है। प्रेमचंद ने इसे अमर बना दिया है। [श्री० ला०]

गोदान हिंदू धर्म में गाय की महिमा सर्वातिशायिनी है। गाय हिंदू संस्कृति की प्रतीक है। वह निर्बल, दीन हीन जीवों का प्रतिनिधान करने के अतिरिक्त स्वयं सरलता, शुद्धता और सात्विकता की मूर्ति है। हिंदुओं की पवित्र भावनाओं का संबंध गाय से साक्षात् रूप से है। जिस समाज में बैठकर रसिकजन साहित्यचर्चा करते हैं और काव्यालाप से आनंद उठाते हैं, वह गाय के ही अभिधान पर 'गोष्ठी' कहलाता है। भगवान् का सर्वोच्च नित्यलीलाधाम भी गो से संबद्ध होकर 'गोलोक' कहलाता है। इतना ही नहीं, जगत् का रक्षक तथा त्रिभुवन को तीन डगों में मापनेवाला विष्णु भी गोपा के नाम से अभिहित किया जाता है — विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।

वैदिक काल में ऋत्विजों को यज्ञ की पूर्ति के अवसर पर दक्षिणा में गोदान देने का ही विधान था। यह विधान इतना लोकप्रिय तथा बहुशः प्रचलित था कि 'दक्षिणा' शब्द से गो का अभिधान सर्वत्र साहित्य में मान्य होने लगा। कठोपनिषद् के आरंभ में बुड्ढा गायों को दक्षिणारूप से दिए जाने के अवसर पर नचिकेता के हृदय में श्रद्धा के प्रवेश का जहाँ उल्लेख मिलता है, वहाँ 'दक्षिणा' शब्द का ही प्रयोग हम पाते हैं (दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धा तमाविवेश)। शास्त्रार्थ में विजय पानेवाले विद्वान् का संमान गोदान के ही द्वारा किया जाता था। बृहदारण्यक उपनिषद् में राजा जनक के द्वारा आहूत शास्त्रार्थ में विजयी को सैकड़ों स्वर्णमंडित सींगोंवाली गायों के दान का वर्णन उपलब्ध होता है। तथ्य तो यह है कि वैदिक युग में गाय ही व्यवहार में लेन-देन का, आदान-प्रदान का मुख्य माध्यम थी। इसका परिचय भाषाशास्त्र से पूर्णतया मिलता है। अंग्रेजी भाषा का धन सूचक 'पिकुनिअरी' शब्द लातीनी भाषा के 'पेकुस्' (Pecus) शब्द से निकला है जो संस्कृत के 'पशु' (पशुः, पशुम्) से सीधा संबंध रखता है। ध्यान देने की बात है कि 'पशु' गाय का वाचक शब्द है। फलतः मुद्रा का प्रचार होने से पहिले गाय ही इस कार्य का संपादन करती थी। इसलिये उस युग में गोदान का व्यावहारिक महत्व पर्याप्त रूप से था।

धीरे धीरे गोदान के साथ पुण्यसंभार तथा पुण्यसंचयन का पूर्णतया संबंध हो गया। कृषिजीवी समाज के लिये गाय नितांत आवश्यक उपादान तो थी ही, पवित्र पशु होने के हेतु उसका दान भी पुण्यदायक कार्य समझा जाने लगा। धर्मशास्त्रों के युग में इसीलिये गोदान की भूयसी महिमा उपलब्ध है। गाय का दान अत्यंत पुण्य साधन समझा जाने लगा। ऐसी कोई याज्ञिक विधि पूर्णतः सफल नहीं समझी जाती, जब तक उसमें गाय का दान न हो। दान के समय गाय की सींग को सोने से तथा उसके खुर को चाँदी से मढ़ते थे तथा उसकी देह पर बहुमूल्य रेशमी वस्त्र का आवरण डालते थे। बछड़े के साथ गाय (सवत्सा धेनु) के दान की विशेष महिमा धर्मसूत्रों, धर्मशास्त्रों तथा पुराणों में बतलाई गई है। सद्यःप्रसूता धेनु का दान तो और भी अधिक पुण्यदायक माना जाता था और आज भी यही विधि विधान जागरूक है। ग्रहण के अवसर पर गोदान अत्यंत आवश्यक विधि है। गृह्य विधान तथा श्रौत विधान की समग्रता गोदान के बिना पूर्णतया निर्वाहित नहीं होती। मृत्युशय्या पर पड़े हिंदू के लिये यमलोक की विषम वैतरणी को पार करने के निमित्त गाय का दान आज भी अनिवार्य रूप से आवश्यक अनुष्ठान है। [ब० उ०]

गोदावरी नदी भारत की एक प्रसिद्ध नदी है। यह नदी दक्षिण भारत में पश्चिमी घाट से लेकर पूर्वी घाट तक बहती है। नदी की लंबाई करीब करीब ९०० मील है। गोदावरी नदी बंबई राज्य के नासिक जिले के त्र्यंबक गाँव की पृष्ठवर्ती पहाड़ियों में स्थित एक बड़े जलागार से निकलती है। मुख्य रूप से नदी का बहाव दक्षिण-पूर्व की ओर है। ऊपरी हिस्से में नदी की चौड़ाई एक से दो मील तक है, जिसके बीच बीच में बालू की भितिकाएँ हैं। समुद्र में मिलने से ६० मील पहले यह नदी बहुत ही सँकरी उच्च दीवारों के बीच से बहती है। बंगाल की खाड़ी में दौलेश्वरम् के पास डेल्टा बनाती हुई, सात धाराओं के रूप में (जिसमें गौतमी गोदावरी मुख्य हैं) यह नदी समुद्र में गिरती है।

गोदावरी नदी धार्मिक दृष्टि से बहुत पवित्र मानी जाती है। प्रति १२वें वर्ष पुष्करम् का स्नान करने के लिये राजमुंद्री के पास बहुत बड़ा मेला लगता है।

नदी अपने ऊपरी भाग में पठारी तथा पर्वतीय मार्ग से होकर बहती है अतः वहाँ इसका पानी सिचाई के लिये नहीं प्रयुक्त किया जाता है, नहरें निम्न भाग से निकाली गई हैं। दौलेश्वरम् के पास का बाँध सर आर्थर काटन ने बनवाया था, जिससे तीन प्रमुख नहरें निकाली गई हैं। यहाँ पर नदी साढ़े तीन मील चौड़ी है जिसके ऊपर रेल का विशाल पुल है। इस योजना से १० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होती है। सिंचाई की अन्य योजनाएँ भी इस नदी पर लागू हैं। कृष्णा-गोदावरी-डेल्टा का जलमार्ग भी १८६४ ई० में बन गया है। गोदावरी नदी पर्वतीय तथा पठारी नदी है जिसमें पर्याप्त झरने हैं अतः जल यातायात के लिये उपयुक्त नहीं है। नदी की उत्तरी मुख्य सहायक नदियाँ दुदना, प्राणहिता, इंद्रावती, सबारी आदि हैं। दक्षिण से मिलनेवाली प्रधान नदी मंजरा है। भारत सरकार ने गोदावरी तथा उसकी सहायक नदियों से लाभ उठाने के लिये बहुत सी योजनाएँ बनाई हैं जिसमें से कुछ पर निर्माण कार्य प्रारंभ है। अनुमान है कि गोदावरी नदी में पर्याप्त मात्रा में जल-शक्ति निहित है। [ह० सिं०]

गोधा स्थिति : २२°४६' उ० अ० तथा ७३° ३७' पू० दे०। गुजरात राज्य के सौराष्ट्र क्षेत्र में पंचमहाल जनपद तथा गोधा तालुका का प्रधान नगर है। यह बंबई से ३१६ मील दूर गोधा-रतलाम तथा गोधा-लुनावाडा रेलमार्गों का जंकशन है। पहले यहाँ अहमदाबाद के मुसलमान नवाबों का क्षेत्रीय शासक रहता था, तदनंतर यह रेवाकंथा राजनीतिक एजेंसी का प्रधान नगर रहा। १८८० ई० में यह पंचमहाल के कलक्टर(collector) के प्रशासकीय क्षेत्र में आया। यहाँ चमड़ा, फर्नीचर तथा जलावन की लकड़ी का व्यापार प्रसिद्ध रहा है। संप्रति चमड़ा सिझाने, लकड़ी चीरने, उर्वरक तैयार करने तथा तेल पेरने (मूँगफली का तेल) के कारखाने हैं। इसके समीप ही मेश्री नदी के पास चीनी मिट्टी के बरतन, शीशे की वस्तुएँ बनती तथा भवननिर्माण के लिये उपयोगी बालू प्राप्त होती है। जिले का प्रशासकीय केंद्र होने तथा यातायात की सुविधा के कारण यहाँ जिला स्तर के कार्यालय, कचहरियाँ, अस्पताल, पंचायत तथा शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक संस्थाएँ स्थित हैं। यहाँ १८७६ ई० में नगरपालिका की स्थापना हुई। प्रशासकीय सुविधानुसार नगरपालिका क्षेत्र (१९५१ : ७·८ वर्ग मील) छः विभागों में बँटा है। पिछले ६० वर्षों में नगर की जनसंख्या लगभग ढाईगुनी हो गई। यहाँ की जनसंख्या ५२,१६७ (१९६१) है। नगर के पास ही ७० एकड़ में विस्तृत विशाल झील है। [का० ना० सिं०]

गोनंद गोनंद कार्तिकेय के एक गण का नाम था। गोनंद अथवा गोनर्द सारस पक्षी को भी कहते हैं जो अपने ही शब्दों से प्रसन्न होता है और पानी में रहकर ही आनंद प्राप्त करता है। गोनंद को कभी कभी गोनर्द देश से भी मिलाया जाता है, जिसे हेमचंद्र ने पतंजलि मुनि (पातंजलि 'योगसूत्र' और 'महाभाष्य' के रचयिता) का निवासस्थान बताया है। गोनर्द उत्तर प्रदेश के गोंडा का प्राचीन नाम है।

गोनंद नाम के तीन राजा भी हुए जो प्राचीन काश्मीर के शासक थे। उन्हीं के लिये इस नाम का विशेष प्रयोग हुआ और कल्हण ने अपने काश्मीर के इतिहास राजतरंगिणी में उनका यथास्थान काफी वर्णन किया है। प्रथम गोनंद तो प्रागैतिहासिक युग का राजा प्रतीत होता है और कल्हण ने उसे कलियुग के प्रारंभ होने के पूर्व का एक प्रतापी शासक माना है। उसके राज्य का विस्तार गंगा के उद्गमस्थान कैलाश पर्वत तक बताया गया है (काश्मीरेंद्र स गोनर्दो वेल्लगंगाद्रुकूलया। दिशा कैलास-हासिन्या प्रतापी पर्युपासत--राज०,१.५७)। यह गोनंद मगध के राजा जरासंध का संबंधी (भाई) था और वृष्णियों के विरुद्ध उसने उसकी सहायता की थी। हरिवंश के अनुसार उसने वृष्णियों के विरुद्ध मथुरा-नगरी के पश्चिमी द्वार का अवरोध किया था ताकि कृष्ण आदि उधर से भाग न निकलें। परंतु अंत में वह बलराम के हाथों संभवतः युद्ध करते मारा गया। द्वितीय गोनंद उसके थोड़े दिन बाद शासक हुआ और कल्हण का कथन है कि उसी के समय महाभारत का युद्ध लड़ा गया। किंतु उस समय वह अभी बालक ही था और कौरवों पांडवों में किसी ने भी उससे महाभारत युद्ध में भाग लेने को नहीं कहा। उसकी माता का नाम यशोमति था, जिसकी कल्हण ने प्रशंसापूर्ण चर्चा की है। तृतीय गोनंद काश्मीर के ऐतिहासिक युग का राजा प्रतीत होता है, परंतु उसका ठीक ठीक समय निश्चित कर सकना कठिन कार्य है। इतना निश्चित है कि वह मौर्यवंशी अशोक और जालौक—जो दोनों ही काश्मीर पर अधिकार बनाए रखने में सफल रहे—के बाद हुआ था। लगता है, वह परंपरागत वैदिक धर्म का माननेवाला था, क्योंकि उसके द्वारा बौद्धधर्मावलंबियों की कुरीतियों की समाप्ति, वैदिक आचारों की पुनः प्रतिष्ठा और दुष्ट (?) बौद्धों के अत्याचारों की समाप्ति की बात राजतरंगिणी में कल्हण ने कही है। यह भी वर्णन मिलता है कि उसके राज्य में सुखशांति की कमी नहीं थी और प्रजा धनधान्य से पूर्ण थी। स्पष्ट है कि वह शक्तिशाली और सुशासक था और प्रजा के हित की चिंता करता था। राजतरंगिणी के अनुसार उसने ३५ वर्षों तक राज्य किया। इतिहास की आधुनिक कृतियों में गोनंद नामधारी राजाओं की काश्मीर में बहुतायत के कारण उस प्रदेश के विशिष्ट राजवंश का नाम ही गोनंद वंश से अभिहित होता है। [वि० पा०]

गोनचार, ओलेस (जन्म–३,४, १९१८) — प्रसिद्ध उक्रेनी लेखक इनके अनेक उपन्यासों में द्वितीय महायुद्ध का वर्णन मिलता है। 'आल्प्स' (१९४७), 'नीला डेन्यूब' (१९४६) और 'स्वर्ण प्राग' (१९४८) उपन्यासों में उन देशवासियों के जीवन का चित्रण किया गया है जिन्हें द्वितीय महायुद्ध में सोवियत सेना ने फासिस्ट जर्मनी से आजाद किया था। 'धरती गूँजती है' उपन्यास में (१९४७) विगत युद्ध के उक्रेनी छापामारों की जिंदगी का चित्र मिलता है। 'पेरेकोप' उपन्यास में (१९५७) १९१९-२० सालों की उक्रेन में हुई घटनाओं का वर्णन है। 'तव्रिया' उपन्यास में पूँजीवादी दुनिया में एक मेहनतकश की जिंदगी और संघर्ष की कहानी है। गोनचार के दो कहानी संग्रह भी प्रकाशित हैं।

[व्यो० प्र० बा०]

गोपथ ब्राह्मण (दे० 'ब्राह्मण साहित्य')

गोपबंधु दास उड़ीसा में राष्ट्रीयता एवं स्वाधीनता संग्राम की बात चलाने पर लोग गोपबंधु दास का नाम सर्वप्रथम लेते हैं। उड़ीसा के पुण्यक्षेत्र पुरी में जगन्नाथ मंदिर के सिंहद्वार के उत्तरी पार्श्व में चौक के सामने उनकी एक संगमर्मर की मूर्ति स्थापित है। उड़ीसावासी उनको 'दरिद्र सखा' (दरिद्र के सखा) रूप से स्मरण करते हैं।

सन् १८७७ ई० में उनका जन्म पुरी जिले के सत्यवादी थाना के अंतर्गत 'सुआंडो' नामक एक क्षुद्र पल्ली (गाव) में हुआ था। जून, सन् १९२८ ई० में केवल ५३ वर्ष की अवस्था में उनका देहांत हुआ। यद्यपि जीविका अर्जन के लिये उन्होंने वकालत की, तथापि शिक्षक के जीवन को वे सदा आदर्श जीवन मानते थे। कुछ दिनों तक उन्होंने शिक्षण कार्य किया भी था। अंग्रेजी शासन में पराधीन रहकर भी उन्होंने स्वाधीन शिक्षापद्धति अपनाई थी। बंगाल के शांतिनिकेतन की तरह उड़ीसा के सत्यवादी नामक स्थान में खुले आकाश के नीचे एक वनविद्यालय खोला था, और वहाँ बकुलवन में छात्रों को स्वाधीन ढंग से शिक्षा दिया करते थे। उन्हीं की प्रेरणा से उड़ीसा के विशिष्ट जननेता और कवि स्वर्गीय गोदावरीश मिश्र और उत्कल विधानसभा के वाचस्पति (प्रमुख) पंडित नीलकंठ दास

ने इस धर्मविद्यालय में शिक्षक रूप से कार्य किया था। उत्कल के विच्छिन्न अंचलों को संघटित कर पूर्णांग उड़ीसा बनाने के लिये उन्होंने प्राणपण से चेष्टा की। उत्कल के विशिष्ट दैनिक पत्र 'समाज' के वे संस्थापक थे।

बचपन से ही गोपबंधु में कवित्व का लक्षण स्पष्ट भाव से देखा गया था। स्कूल में पढ़ते समय ही वे सुंदर कविताएँ लिखा करते थे। सरल और मर्मस्पर्शी भाषा में कविता लिखने की शैली उनसे ही आरंभ हुई। उड़िया साहित्य में वे एक नए युग के स्रष्टा हुए, उसी युग का नाम 'सत्यवादी' युग है। सरलता और राष्ट्रीयता इस युग की विशेषताएँ हैं। 'अवकाश चिंता', 'बंदीर आत्मकथा' और 'धर्मपद' प्रभृति पुस्तकों में से प्रत्येक ग्रंथ एक एक उज्वल मणि है। 'बंदीर आत्मकथा' जिस भाषा और शैली में लिखी गई है, उड़ियाभाषी उसे पढ़ते ही राष्ट्रीयता के भाव से अनुप्राणित हो उठते हैं। 'धर्मपद' पुस्तक में 'कोणार्क' मंदिर के निर्माण पर लिखे गए वर्णन को पढ़कर उड़िया लोग विशेष गौरव का अनुभव करते हैं। यद्यपि ये सब छोटी छोटी पुस्तकें हैं, तथापि इनका प्रभाव अनेक बृहत् काव्यों से भी अधिक है। (गो० वि० ध०)

गोपाल गोपाल (प्रथम) गौड़ (उत्तरी बंगाल) पालवंश का प्रथम (८वीं सदी) राजा था। गुप्त और पुष्यभूतिवंश के ह्रास और अंत के बाद भारतवर्ष राजनीतिक दृष्टि से विच्छृंखलित हो गया और कोई भी प्रभविष्णु शक्ति नहीं बची। राजनीतिक महत्वाकांक्षियों ने विभिन्न भागों में नए नए राजवंशों की नींव डाली। गोपाल भी उन्हीं में एक था। बौद्ध इतिहासकार तारानाथ और धर्मपाल के खालिमपुर के ताम्रलेख से ज्ञात होता है कि जनता ने अराजकता और मात्स्यन्याय का अंत करने के लिये उसे राजा चुना। वास्तव में राजा के पद पर उसका कोई लोकतांत्रिक चुनाव हुआ, यह निश्चित रूप से सही मान लेना तो कठिन है, पर यह अवश्य प्रतीत होता है कि अपने सत्कार्यों से उसने जनमानस में अपने लिये उच्चस्थान बना लिया था। यह भी लगता है कि उसका किसी राजवंश से कोई संबंध नहीं था और स्वयं वह साधारण परिवार का व्यक्ति था, जिसकी कुलीनता आगे भी कभी स्वीकृत नहीं की गई। संध्याकर नंदिकृत रामपालचरित में गोपाल का मूल शासन वारेंद्र अर्थात् उत्तरी बंगाल बताया गया है। पर इसमें संदेह नहीं कि धीरे धीरे पूरे वंग (दक्षिणपूर्वी बंगाल) पर उसका अधिकार हो गया और वह गौड़ाधिपति कहलाने लगा। जैसा अनुश्रुति से ज्ञात होता है, उसने मात्स्यन्याय का अंत किया और वंश की राजनीतिक प्रतिष्ठा की नींव अच्छी तरह रखी जो मगध के भी कुछ भागों तक फैल गई। उसकी राजनीतिक विजयों और सुशासन का लाभ उसके पुत्र धर्मपाल ने खूब उठाया और उसने बड़ी आसानी से गौड़ राज्य को तत्कालीन भारत की प्रमुख राजनीतिक शक्ति बनाने में सफलता पाई। गोपाल के सुशासनकी तुलना पृथु और सगर के सुशासनों से की गई है। धार्मिक विश्वासों में वह संभवतः बौद्ध था और तारानाथ का कथन है कि उसने पटना जिले में स्थित विहार के पास नलेंद्र (नालंदा) विहार की स्थापना की। मंजुश्री मूलकल्प से भी ज्ञात होता है कि उसने अनेक विहार और चैत्य बनवाए, बाग लगवाए, बाँध और पुल बँधवाए तथा देवस्थान और गुफाएँ निर्मित कराई। उसके शासनकाल का निश्चित रूप से निर्णय नहीं किया जा सका है। अतः यह कहना भी कठिन है कि गुर्जर प्रतिहार शासक वत्सराज का गौड़ाधिपति शत्रु गोपाल था अथवा उसका पुत्र धर्मपाल।

गोपाल द्वितीय पालवंश की पतनावस्था का राजा था। अपने पिता राज्यपाल की मृत्यु के बाद ६४८ ई० में उसने गद्दी पाई। उसकीमाता का नाम भाग्यदेवी था, जो राष्ट्रकूट कन्या थी। संभवतः उसकी कमजोरी के परिणामस्वरूप उत्तरी और पश्चिमी बंगाल पालों के हाथ से निकलकर हिमालय के उत्तरी क्षेत्रों से आनेवाली कांबोज नामक आक्रमणकारी जाति के हाथों चला गया। कदाचित् चंदेलराज यशोवर्मा ने भी ६५३-५४ ई० के आसपास उसके क्षेत्रों पर धावा कर उसे हराया था। उसके कुछ अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनसे मगध और अंग मात्र में उसका राजनीतिक अधिकार ज्ञात होता है। उसकी मृत्यु कब हुई, यह कहना कठिन है। (वि० पा०)

गोपालचंद्र प्रहराज उड़ीसा के विशिष्ट भाषाविद् और व्यंग साहित्यिक के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनका जन्म सन् १८७२ ई० में कटक जिले के अंतर्गत सिद्धेश्वरपुर गाँव में मध्यवित्त परिवार में हुआ था। उन्होंने सन् १८६१ ई० में मैट्रिकुलेशन और सन् १८६६ ई० में बी० ए० की परीक्षा पास की थी। बाद में वकालत पास कर सारा जीवन कटक में वकील के रूप में बिताया। वकालत पास करने से पूर्व कलकत्ता में इंजीनियरिंग भी पढ़ते थे।

साहित्यिक रूप में उन्होंने जिस श्रेष्ठ कृति की रचना की है वह व्यंग्य साहित्य के अंतर्गत है। जाति और समाज को नाना दोषदुर्बलताओं से बचाकर स्वस्थ जीवन का निर्माण करने के लिये वे अति तीव्रता से चुभनेवाले लेख लिखा करते थे। उसमें व्यंगभाव जितना स्पष्ट होता था उससे कहीं अधिक सरल उसकी भाषा रहती थी। फकीरमोहन के बाद वे एकमात्र उड़िया लेखक हैं जो अपने लेखों में गाँव की भाषा को अपनाकर उसे विशेष संमानित और जनप्रिय बना सके। इस प्रकार की कई पुस्तकें विशेष प्रचलित हैं, यथा, 'दुनिआर हालचाल', 'आम घरर हालचाल', 'नना क बस्तानि', 'वाईननांक बुजुलि', मिआँ साहेब का रोजनामचा', 'जेजेबापांक टुणुमुणि', दुनिआर रीति'। इनमें से प्रत्येक कृति उड़िया साहित्य का एक एक विशिष्ट रत्न है। भाषा जितनी सरल है,भाव उतना ही मर्मस्पर्शी।

किंतु उनकी साधना एवं शक्ति का विशेष परिचायक उनका भाषाकोश है। गोपालचंद्र अपने भाषाकोश को लेकर केवल उड़ीसा में ही नहीं, सारे सभ्य संसार में सुविदित हैं। यह विशाल ग्रंथ सात खंडों में विभक्त है। प्रत्येक खंड में प्राय: डेढ़ हजार बृहद् आकार के पृष्ठ हैं। इस भाषाकोश का नाम मयूरभंज के स्वनामधन्य राजा पूर्णचंद्र के नाम पर 'पूर्णचंद्र ओड़िया भाषाकोश' है। उन्होंने सर्वप्रथम सन् १६१३ ई० में इसकी योजना बनाई थी और सन् १६४० ई० के शेष तक इसका प्रकाशन पूर्ण किया। सन् १६३१ और १६४० ई० के बीच भाषाकोश के सातों खंड प्रकाशित हुए। उसमें शब्दों की संख्या एक लाख चौरासी हजार (१,८४,०००) है। इस पुस्तक की पाँच हजार प्रतियों के मुद्रण के लिये उस समय एक लाख बयालीस हजार (रु० १,४२,०००) रुपए लगे थे। इसके प्रत्येक शब्द का उच्चारण अंग्रेजी वर्णों में भी दिया हुआ है और अनेक स्थलों पर हिंदी, बंगला और अंग्रेजी में भी अर्थ दिए गए हैं। पचीस वर्षों तक नित्य १८-१६ घंटे अथक परिश्रम कर उड़ीसा के वनों, पहाड़ों और प्रांतरों में घूम घूम कर उन्होंने शब्दों का संग्रह किया था। आधुनिक भाषाविद् शब्दकोश के निर्माण में जिस पद्धति का अवलंबन किया करते हैं, उन्होंने भी वही किया था। इस पुस्तक के मुद्रण के लिये केंद्रीय और राज्य सरकारों के अतिरिक्त उड़ीसा के कितने ही वदान्य व्यक्तियों ने आर्थिक सहायता दी थी। उनकी यह अमर रचना है।

सन् १६४५ ई० में उनकी मृत्यु बड़े ही करुण रूप में हुई। बताया जाता है कि किसी के द्वारा विष दिए जाने से उनकी मृत्यु हुई थी। किंतु उड़िया लोग उन्हें कदापि भूल नहीं सकते। कटक में वे जिस गली में रहते थे उसको अब 'भाषाकोश लेन' कहा जाता है।

उनके ग्राम का हाई स्कूल अब उन्हीं के नामानुसार 'गोपाल स्मृति विद्यापीठ' नाम से विख्यात है। (गो० वि० प०)

गोबर शब्द का प्रयोग गाय, बैल, भैंस या भैंसा के मल के लिये प्रायः होता है। घास, भूसा, खली आदि जो कुछ चौपायों द्वारा खाया जाता है उसके पाचन में कितने ही रासायनिक परिवर्तन होते हैं तथा जो पदार्थ अपचित रह जाते हैं वे शरीर के अन्य अपद्रव्यों के साथ गोबर के रूप में बाहर निकल जाते हैं। यह साधारणतः नम, अर्ध ठोस होता है, पर पशु के भोजन के अनुसार इसमें परिवर्तन भी होते रहते हैं। केवल हरी घास या अधिक खली पर निर्भर रहनेवाले पशुओं का गोबर पतला होता है। इसका रंग कुछ पीला एवं गाढ़ा भूरा होता है। इसमें घास, भूसे, अन्न के दानों के टुकड़े आदि विद्यमान रहते हैं और सरलता से पहचाने जा सकते है। सूखने पर यह कड़े पिंड में बदल जाता है।

गोबर में उपस्थित पदार्थ एवं गुण कई बातों पर निर्भर करते हैं, जैसे पशु की जाति, अवस्था, चारा, दिनचर्या आदि। चरनेवाले या काम करनेवाले पशुओं का गोबर एक स्थान पर बँधे रहनेवालों से भिन्न रहता है। दूध पीनेवाले बच्चों या बछड़ों का गोबर मनुष्यों के मल से कुछ कुछ मिलता जुलता है। अधिक भूसा एवं कम खली खाने वाले पशुओं के गोबर में नाइट्रोजनयुक्त पदार्थ एवं वसा की मात्रा कम तथा सैलूलोज जैसी वस्तुएं अधिक रहती हैं, किंतु अधिक खली खानेवाले पशुओं के गोबर में इसके विपरीत नाइट्रोजनवाले पदार्थ एवं वसा की मात्रा अधिक रहती है। गायों के गोबर में भी बच्चे के पेट में आने की अवस्था से लेकर दूध देने की अवस्था तक परिवर्तन होते रहते हैं। युवा पशु लगभग ७० प्रति शत खाद्य शरीर में पचाता है, परंतु दूध देनेवाली गाय केवल २५ प्रतिशत ही पचा पाती है। शेष गोबर एवं मूत्र में निकल जाता है। अन्न के दाने प्रायः मूल अवस्था में गोबर में विद्यमान रहते हैं; किंतु टूटे हुए, या पिसे हुए, अन्न के भाग पाचन क्रिया से प्रभावित हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ द्रव भी गोबर में रहता है। कहा जाता है कि यह द्रव कीटाणुनाशक होता है। गाय के गोबर में ८६ प्रति शत तक द्रव पाया जाता है। गोबर में खनिजों की भी मात्रा कम नहीं होती। इसमें फास्फोरस, नाइट्रोजन, चूना, पोटाश, मैंगनीज, लोहा, सिलिकन, ऐल्युमिनियम, गंधक आदि कुछ अधिक मात्रा में विद्यमान रहते हैं तथा आयोडीन, कोबल्ट, मोलिब्डिनम आदि भी थोड़ी थोड़ी मात्रा में रहते हैं। अस्तु, गोबर खाद के रूप में, अधिकांश खनिजों के कारण, मिट्टी को उपजाऊ बनाता है। पौधों की मुख्य आवश्यकता नाइट्रोजन, फास्फोरस तथा पोटासियम की होती है। वे वस्तुएँ गोबर में क्रमशः ०·३–०·४, ०·१–०·१५ तथा ०·१५–०·२ प्रति शत तक विद्यमान रहती हैं। मिट्टी के संपर्क में आने से गोबर के विभिन्न तत्व मिट्टी के कणों को आपस में बाँधते हैं, किंतु अगर ये कण एक दूसरे के अत्यधिक समीप या जुड़े होते हैं तो वे तत्व उन्हें दूर दूर कर देते हैं, जिससे मिट्टी में हवा का प्रवेश होता है और पौधों की जड़ें सरलता से उसमें साँस ले पाती हैं। गोबर का समुचित लाभ खाद के रूप में ही प्रयोग करके पाया जा सकता है।

उपयोगिता — जैसा अभी कहा गया है, गोबर का सबसे लाभप्रद उपयोग खाद के रूप में ही हो सकता है, किंतु भारत में जलाने की लकड़ियों का अभाव होने से इसका अधिक उपयोग ईंधन के रूप में ही होता है। ईंधन के लिये इसके गोहरे या कंडे बनाकर सुखा लिए जाते हैं। सूखे गोहरे अच्छे जलते हैं और उनपर बना भोजन, मधुर आँच पर पकने के कारण, स्वादिष्ट होता है। किंतु गोबर का उचित एवं लाभप्रद उपयोग, जैसा कहा जा चुका है, खाद के रूप में हो है। सभी समुन्नत देशों में, जहाँ कहीं गोबर देनेवाले पशु होते हैं, गोबर से खाद बना ली जाती है और उससे खेत उपजाऊ बनाए जाते हैं।

गोबर से खाद बनाने की विधियाँ — भारत में पहले गोबर से खाद बनाने की दो विधियाँ प्रचलित थीं, किंतु एक तीसरी विधि भी अब प्रचलित की जा रही है। ये विधियाँ निम्नलिखित हैं :

१ ठंढी विधि — इसके लिये उचित आकार के गढ़े, २०-२५ फुट लंबे, ५–६ फुट चौड़े तथा ३ से लेकर १० फुट गहरे, खोदे जाते हैं और इनमें गोबर भर दिया जाता है। भरते समय उसे इस प्रकार दबाते हैं कि कोई जगह खाली न रह जाए। गढ़े का ऊपरी भाग गुंबद की तरह बना लेते हैं और गोबर ही से उसे लेप लेते हैं, जिससे वर्षा ऋतु का अनावश्यक जल उसमें घुसने न पाए। तत्पश्चात् लगभग तीन महीने तक खाद को बनने के लिये छोड़ देते हैं। इस विधि में गढ़े का ताप कभी ३४° सें० से ऊपर नहीं जा पाता, क्योंकि गढ़े में रासायनिक क्रियाएं हवा के अभाव में सीमित रहती हैं। इस विधि में नाइट्रोजनयुक्त पदार्थ खाद से निकलने नहीं पाते।

२ गरम विधि — इस विधि में गोबर की एक पतली तह बिना दबाए डाल दी जाती है। हवा की उपस्थिति में रासायनिक परिवर्तन होते हैं, जिससे ताप ६०° सें० तक पहुँच जाता है। तह को फिर दबा दिया जाता है और दूसरी पतली तह उस पर डाल दी जाती है जिसका ताप बढ़ने दिया जाता है। इस प्रकार ढेर दस से बीस फुट तक ऊँचा बन जाता है, जो कुछ महीनों के लिये इसी अवस्था में छोड़ दिया जाता है। इस रीति से विशेष लाभ यह होता है कि ताप बढ़ने पर घास, मोथे आदि हानिकर पौधों के बीज, जो गोबर में उपस्थित रह सकते हैं, नष्ट हो जाते हैं। प्रत्येक पशु से इस प्रकार ५ से ६ टन खाद बन सकती है।

३ हवा की उपस्थिति में खाद और गैस उत्पादन — भारतीय कृषि अनुसंधान केंद्र द्वारा विकसित की गई इस विधि में एक साधारण यंत्र का उपयोग होता है, जिसमें गोबर का पाचन हवा की अनुपस्थिति में होता। इस विधि से एक प्रकार की गैस निकलती है, जो प्रकाश करने, यंत्र चलाने तथा भोजन पकाने के लिये ईंधन के रूप में काम आती है। गोबर पानी का मिश्रण कर पाचक-यंत्र में प्रति दिन डालते जाते हैं और निकलने वाली गैस से उपरोक्त काम लेते हैं। इस विधि की विशेषता यह है कि गोबर सड़कर गंधहीन खाद के रूप में प्राप्त हो जाता है और इसके नाइट्रोजन, फास्फोरस, पोटाश आदि ऐसे उपयोगी तत्व बिना नष्ट हुए इसी में सुरक्षित रह जाते है। साथ साथ इससे उपयोगी गैस भी मिल जाती है। अनुमान है कि एक ग्राम परिवार, जिसमें ४–५ पशु हैं, लगभग ७०–७५ घन फुट जलने वाली गैस प्रति दिन तैयार कर सकता है।

भारत में कुल गोबर की मात्रा और उसमें उपस्थित नाइट्रोजन फास्फोरस एवं पोटाश का वार्षिक उत्पादन इस प्रकार है :

गोबर (सूखा)	१,४४६	लाख	टन
कार्बनिक पदार्थ	१,१५७	”	”
नाइट्रोजन	१८·०८	”	”
फास्फोरस	७·२३	”	”
पोटाश	१·०८५	”	”

किंतु गोबर का बहुत थोड़ा भाग ही खाद के रूप में उपयुक्त हो पाता है। इसी कारण इस देश का उत्पादन दूसरे देशों के अनुपात मे बहुत कम है। जलावन के रूप में गोबर का उपयोग एक बहुमूल्य खाद को नष्ट करना है। जहाँ तक हो गोबर को खाद के लिये ही काम में लाना चाहिए। [सं० सिं०]

गोबी मरुस्थल स्थिति : ४२° से ४८° उ० अ० तथा ९५° से ११४° पू० दे०। एशिया महाद्वीप में मंगोलिया के अधिकांश भाग पर फैला हुआ गोबी संसार का बहुत बड़ा मरुस्थल है। पश्चिम में पामीर की पूर्वी पहाड़ियों से लेकर पूर्व में खिंगन पर्वतमालाओं तक तथा उत्तर में अल्ताई, खंगाई तथा याब्लोनोई पर्वतमालाओं से लेकर दक्षिण में अल्लाइन तथा नानशान पहाड़ियों तक फैला है। इस मरुस्थल का पश्चिमी भाग तारिम बेसिन का ही एक हिस्सा है।

यह मरुस्थल, जिसका विस्तार उत्तर से दक्षिण लगभग ६०० मील तथा पूर्व से पश्चिम लगभग १००० मील है, तिब्बत तथा अल्ताई पर्वतमालाओं के बीच छिछले गर्त के रूप में है। यहाँ की औसत ऊँचाई समुद्रतल से ४०००' है। प्राकृतिक भूरचना ढालू मैदान के समान है जिसके चारों तरफ पर्वतीय ऊँचाइयाँ हैं। कटाव तथा संक्षारण क्रियाओं के प्रबल होने से यह मरुस्थल अपनी विशिष्ट भूरचना के लिये प्रसिद्ध है।

सूखी हुई नदियों की तलहटियाँ तथा झीलों के तटों पर ऊँचाई पर स्थित पानी के निशान यहाँ की जलवायु में परिवर्तन के प्रमाण हैं। प्राचीन कालीन विभिन्न सभ्यताओं के द्योतक भग्नावशेष भी पाए जाते हैं।

यहाँ वार्षिक वर्षा का औसत ५" से ८" तक है। गर्मी कड़ाके की पड़ती है तथा गर्मी का औसत ताप ४५° से ६५° सें० तथा जाड़े का ताप १५° सें० तक रहता है। कभी कभी बर्फ के तूफान तथा उष्ण बालू मिले तूफान भी आते हैं।

वनस्पतियों में घास तथा कांटेदार झाड़ियाँ पाई जाती हैं। पानी का प्राय: अभाव रहता है। कारवाँ मार्गों पर १० मील से ४० मील की दूरी पर कुएँ पाए जाते हैं।

पूर्वी भाग में जहाँ दक्षिण-पश्चिम मानसून से कुछ वर्षा हो जाती है, वहाँ थोड़ी खेतीबारी होती है एवं भेड़ बकरियाँ तथा अन्य पशु पाले जाते हैं। उत्तरी-पश्चिमी सीमावर्ती क्षेत्रों में भी भेड़ बकरियाँ पाली जाती हैं। सुदूर उत्तर में कुछ जंगल हैं। उत्तर में ओरखान तथा उसकी सहायक नदियों की घाटियों में चीनी बस्तियाँ हैं।

आबादी बहुत ही विरल है। मंगोल यहाँ की मुख्य जाति है। उत्तर तथा दक्षिण के घास के मैदानों में आदिवासी लोग हैं जो खानाबदोशों का जीवन व्यतीत करते हैं। कारवाँ मार्ग अधिकांश पूर्व से पश्चिम को हैं जिनपर चीनी व्यापारी कपड़े, जूते, चाय, तंबाकू, ऊन, चमड़े तथा समूर आदि का व्यापार करते हैं।

[हृ० सिं०]

गोभिचेट्टिपालयम् स्थिति : ११° २५' उ० अ० तथा ७७° २५' पू० दे०। यह कोयंबुतूर जिले के इसी नाम के ताल्लुक का केंद्र है। यह इरोद (Erode) से करीब १५ मील उत्तर-पश्चिम है तथा उससे सड़क द्वारा संबंधित है। यहाँ की जनसंख्या बराबर घटती बढ़ती रही है। इसकी जनसंख्या २७,००४ (१९६१) है। यहाँ हाथकरघा उद्योग है, एक सरकारी अस्पताल तथा लड़के-लड़कियों के लिये अलग अलग उच्चांग्ल विद्यालय हैं। यहाँ तहसीलदार का कार्यालय भी है।

[ज० सिं०]

गोभिल धर्मशास्त्रीय क्षेत्र के ऋषि। इनका संबंध सामवेद से माना जाता है। वैदिकों में यह प्रसिद्धि है कि इस वेद की कौथुमशाखा का गृह्यसूत्र गोभिल गृह्यसूत्र है। यह भी इस प्रसंग में विचार्य है कि हेमाद्रि ने श्राद्ध कल्प में गोभिल को राणायनीय सूत्रकृद् माना है।

गोभिलगृह्य गौतम धर्मसूत्र के बाद का है, क्योंकि इसमें गौतम को प्रमाणपुरुष माना गया है। गौतम धर्मसूत्र भी सामवेदी है और गोभिलगृह्य भी सामवेदियों का ही है। (तंत्रवार्तिक १-३-११)। इस सूत्रग्रंथ पर चंद्रकांत तर्कालंकार का भाष्य मुद्रित हो चुका है। इसके साथ गोभिल परिशिष्ट भी है (बी० आई० सिरीज), एस० बी० ई०, खंड ३० में इसका अंग्रेजी अनुवाद है। इस गृह्यसूत्र पर भट्टनारायणकृत भाष्य भी है। इसका यशोधरकृत भाष्य भी था, जिसका उद्धरण निबंधग्रंथों में मिलता है।

गोभिलस्मृति भी प्रसिद्ध है। इसका नामांतर कर्मप्रदीप है। यह कात्यायनकृत माना जाता है। यह मुद्रित है (आनंदाश्रम संस्क०)। कहीं कहीं यह कात्यायनस्मृति भी कहलाता है (स्मृतिसंग्रह भाग १, जीवानंद०)। एक गोभिलीय श्राद्धकल्प भी है। गोभिलनाम घटित अन्यान्य ग्रंथों के लिये काणेकृत हिस्ट्री ऑव द धर्मशास्त्र, (भाग १, पृ० ५४२-५४३) द्रष्टव्य है। गोभिल गृह्यकर्मप्रकाशिका ग्रंथ भी है (सुब्रह्मण्य शास्त्रिकृत)। यह अप्राचीन ग्रंथ है।

[रा० शं० भ०]

गोमती भारत के उत्तर प्रदेश की नदी है। यह पीलीभीत से २० मील पूर्व गोमत ताल (२८° ३५' उ० अ० तथा ८०° ७५' पू० दे०) से निकलकर प्रारंभ में १२ मील तक एक खड्ड के रूप में बहती है। ३५ मील के बाद नदी में जोकनाई नदी मिलती है जहाँ से नदी स्थायी जलप्रवाह के रूप में बहती है। यहाँ से कुछ मील आगे नदी पर शाहजहाँपुर से खेरी जानेवाली सड़क पर २१० फुट लंबा पुल है। पुल के बाद नदी शाहजहाँपुर तथा खेरी के जिलों में मंद गति से बहती है तथा बहुत सी सहायक नदियाँ और नाले इसमें मिलते हैं। मुहम्मदी से लखनऊ (जो नदी के उद्गम स्थान से १८० मील की दूरी पर है) तक नदी की चौड़ाई १०० फुट से १२० फुट तक है। यहाँ नदी के करार भी पर्याप्त ऊँचे हैं। सीतापुर जिले में कथना (६० मील लंबी) तथा सरायाना (१२० मील लंबी) नदियाँ गोमती में मिलती हैं। लखनऊ नगर में कई पुल हैं। लखनऊ से आगे बढ़ने पर नदी बाराबंकी, सुल्तानपुर तथा जौनपुर जिलों से होकर बहती है। इन हिस्सों में नदी का मार्ग पर्याप्त टेढ़ा मेढ़ा है। यहाँ चौड़ाई भी २०० फुट से ६०० फुट तक हो जाती है। जौनपुर नगर में १६वीं शती के अंत में ६५४ फुट लंबा पत्थर का बना हुआ प्रसिद्ध शाही पुल है। जौनपुर के आगे इस नदी में प्रसिद्ध सई नदी मिलती है, फिर नदी वाराणसी से २० मील उत्तर, पटना गाँव के पास गंगा नदी से मिलती है।

गोमती नदी अपनी सहायक नदियों के साथ ७५०० वर्ग मील क्षेत्र को लाभान्वित करती है। अतिवृष्टि के कारण नदी में बहुधा बाढ़ आती है। गोमती में यातायात नावों द्वारा मुहमदी तक होता है।

[हृ० सिं०]

गोमल १. पाकिस्तान और अफगानिस्तान की एक नदी है। जो उत्तर-पश्चिमी सरहदी सूबे के दक्षिणी हिस्से में है। यह नदी अफगानिस्तान की कोहनाक पर्वतमाला से निकली है। अफगानिस्तान राज्य की सीमा पार करने के बाद जब यह पाकिस्तान में प्रवेश करती है, तब इससे कुंदार नामक पर्वतीय नदी मिलती है। अफगानिस्तान के पूर्वी भाग को यह नदी दक्षिण-पूर्व की ओर से बह कर पाकिस्तान में प्रवेश करने के बाद इसका बहाव सीधे पूर्व की तरफ हो जाता है। डोमंदी से मुर्तजा

तक नदी में उत्तर से वानातोई तथा दक्षिण से झाब नामक नदियाँ मिलती हैं। गोमल नदी डेरा इस्माइल खाँ के पास सिंध नदी से मिलती है। बाढ़ आने पर ही इसका पानी सिंधु नदी तक पहुँच पाता है अन्यथा अधिकांश पानी सिंचाई में खर्च हो जाता है।

२. दर्रा—पाकिस्तान में एक पहाड़ी दर्रा है। सुलेमान पर्वतमाला के उत्तरी छोर पर ७,५०० फुट की ऊँचाई पर स्थित यह दर्रा फोर्ट सैंडमन से ४०मील उत्तर है। यह प्रसिद्ध दर्रा खैबर तथा बोलन दर्रों के बीच में है। गोमल नदी के समांतर का मार्ग, जो मुर्तजा तथा डोमंडी से होता हुआ उत्तरी-पश्चिमी सरहदी सूबे को अफगान प्लेटो से जोड़ता है, इसी दर्रे से होकर जाता है। इस हिस्से का यह सबसे पुराना दर्रा है। प्राचीन समय में व्यापारियों के काफिले यहाँ से वस्तु विनिमय तथा क्रय विक्रय के लिये आया जाया करते थे। [हृ० सि०]

गोमेध यज्ञविशेष। इस यज्ञ में गो का आलंभन किया जाता है, अतः इसके लिये गवालंभ शब्द भी प्रयुक्त होता है। पहले अनेक अवसरों पर गो या वृष का वध किया जाता था। अग्निष्टोमांतर्गत उदयनीय इष्टि में अनुबंध्या गो का वध किया जाता था, (हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, भाग २, पृ० ६२७)। मधुपर्क में गोवध भी बहुधा कहा गया है (वही, भाग २, पृ० ५४३–५४५)। श्राद्ध में भी गोवध का प्रसंग है। शूलगव में भी वृषवध उल्लिखित हुआ है (वही, भाग २, पृ० ८३१–८३२)। बाद में ये कर्म कलिवर्ज्य मान लिए गए हैं (वही, भाग ३, पृ० ६३६–६४०)।

गोमेध या गोसव के विशिष्ट विवरण अनेकत्र हैं, जिससे यह निश्चित होता है कि प्राचीनकाल में यज्ञ में गोवध वैध रूप से किया जाता था। बाद में हानि देखकर क्रमशः यह प्रथा त्याज्य हो गई। चरकसंहिता सदृश प्रामाणिक ग्रंथ में यज्ञीय गोवध पर कहा गया है कि पृषध्र ने पहले गोवध किया था। गोवध और पशुयज्ञसंबंधी विशिष्ट तथ्य इतिहासपुराणों में हैं और पूर्वव्याख्याकारों ने उसे गोपशु का साक्षात् वध ही माना है।

एक गोसव नामक एकाह सोमयज्ञ है। तै० ब्रा० (२।७।६) में इस यज्ञ का विचित्र वर्णन है। वत्सर पर्यंत इस कर्म को करनेवाला पशुव्रत पदवाच्य होता है (आ० श्रौ० सू०)। गोसव संबंधी विवरण यज्ञतत्वप्रकाश में द्रष्टव्य है (पृ० १२४)। (रा० शं० भ०)

गोया ई लुसिएंतीज़, फ्रांसिस्को जोजे (१७४६–१८२८) स्पेन के जिन महान् चित्रकारों ने ख्याति प्राप्त की है उनमें अपनी दिशा में अप्रतिम इस कलावंत ने समकालीन-पश्चात्कालीन पाश्चात्य कला पर युगांतरकारी प्रभाव डाला है। स्वयं उसने स्पेनी प्राचीन परंपरा के प्रतिबंध तोड़ डाले और प्रभाववादी तथा अभिव्यंजनावादी शैलियों को, अपनी प्रेरणा द्वारा अगले युगों में प्राणवान् किया। जब किशोरावस्था में गोया चित्रकारी में अपनी शिक्षा पूरी करने के लिये स्थान स्थान घूम रहा था तब उधार ली हुई विदेशी शैलियों का स्पेन में बोलबाला था और उसके अपने सुनहरे युग का अंत हो चुका था। गोया ने शीघ्र अपनी वैयक्तिकता चित्रकला के क्षेत्र में प्रदर्शित की पर नवीनता के प्रति माद्रिद में कोई ममता न थी। दो दो बार जब राजधानी की अकदमी ने उसके चित्र वापस कर दिए तब गोया २० वर्ष की आयु में इटली जा पहुँचा जहाँ उसने एकाध पुरस्कार जीते। शीघ्र वह स्वदेश लौटा जहाँ उसके जीवन के दूसरे युग का आरंभ हुआ।

गोया १७८६ में कारलोस तृतीय का दरबारी चित्रकार नियुक्त हुआ और शीघ्र ही उसने अपने अप्रतिम प्रतिकृति चित्रों की परंपरा प्रतिष्ठित की। ओसूना तथा अल्बा के ड्यूकों के प्रसिद्ध चित्र इसी काल उसने बनाए। तब के स्पेनी बौद्धिक बैठकों में फ्रेंच प्रगतिशील विचारों की बड़ी चर्चा थी, दिदेरो, रूसो, वोल्तेयर आदि के विचार स्पेन के बुद्धिवादियों में भी प्रचलित हो चले थे, और इनके संपर्क में रहनेवाले गोया ने उनका भरपूर लाभ उठाया। १७६५ में वह स्पेन के रायल अकदमी का अध्यक्ष हो गया और चार वर्ष बाद राजा का प्रथम चित्रकार। इन्हीं दिनों बीमारी ने गोया को बहरा बना दिया; पर इसी काल उसने चित्रकला में अपनी प्रसिद्ध रजत शैली का भी विकास किया। उसके श्लिष्ट चित्रों ने सामाजिक रूढ़ियों और कुरीतियों पर कठोर व्यंग्य किए। १८०८ के नेपोलियन के आक्रमण ने स्पेन के जीवन को छिन्न-भिन्न कर दिया, पर उससे पहले ही गोया ने माद्रिद के सान आंतोनियो द ला फ्लोरिदा के प्रसिद्ध भित्तिचित्र प्रस्तुत कर दिए थे।

१८०२ में उसकी संरक्षिका मित्र अल्बा की डचेज थी और दस साल बाद उसकी पत्नी की मृत्यु हुई जिससे गोया का हृदय मथ गया। उधर युद्धों की अमानुषिकता ने भी उसके जी को तोड़ दिया। इसने उसकी चित्र-शैली पर भी परिवर्तनकारी प्रभाव पड़ा। अपनी तीव्र रोकोको तकनीक को तिलांजलि दे उसने अपने रेखांकनों तथा धात्वंकनों (एचिंग) में अन्य प्रकृतिवादी शैली अपनाई और उसकी प्रखर अभिव्यंजनावादी प्रक्रिया ने आश्चर्यजनक आधुनिक रूप धारण किया। यूरोप में सर्वत्र रोकोको और रोमैंटिक शैलियों के बीच नव-क्लासिकवाद का प्रादुर्भाव हुआ था। गोया स्पेन में उस बीच के व्यवधान को लाँघ गया और यूरोपीय रोमैंटिक आंदोलन पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। उसके १८०८–२० के धात्वंकनों—युद्ध की बरबादी, वृषभयुद्ध आदि से इसी प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। उसने मानवीय नृशंसता का भंडाफोड़ अपने चित्ररूपकों द्वारा किया जिनमें वह स्वप्नकथानकों की निरर्थक व्यंजनाएँ रचता चला गया था। विपरीत (अगियाबैताल, १८१६) शीर्षक चित्र उसी परंपरा के हैं।

१८१४ में देश के राजनीतिक अधःपतन से ऊबकर वह देहात चला गया और अपने ही घर की दीवारों पर जो उसने चित्र लिखे वे उसकी असाधारण कल्पना से प्रसूत भय और घृणा के अन्यतम रूपायन हैं। उसकी व्यंग्य प्रक्रिया इन चित्रों में अत्यंत तीव्र हो उठी है। पर जीवन की परिस्थितियाँ स्वदेश की राजनीति का वातावरण, जनसंस्थाओं का संहार विशेष कर कोर्तिज़ का पतन उसके लिये असह्य हो उठे और १८२४ में वह अज्ञातवास के लिये बोर्दो चला गया। चार वर्ष बाद वह परलोक सिधारा, पर चित्रों की दुनिया में, तक्नीकी विधान में गोया आज भी जीवित है। [प उ०]

गोर हेलमन घाटी तथा हिरात के मध्य का वह भाग जिसमें आधुनिक हजारिस्तान संमिलित है। १०वीं सदी ई० में, इब्ने होकल नामक भूगोलवेत्ता के अनुसार यह स्थान बड़ा ही आबाद एवं चाँदी तथा सोने की खानों के लिये प्रसिद्ध था। ११४८ तथा १२१५ ई० के मध्य, साम के वंशज गोरी सुल्तानों के कारण इस स्थान को बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त हो गई। ११४६ ई० में बहाउद्दीन साम ने गोर पर अधिकार जमा लिया और फीरोज़कोह के किले को पूरा करवा कर उसे सेना के रहने के योग्य बनाया, किंतु शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गई और उसके स्थान पर उसका भाई अलाउद्दीन हुसैन सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने गजनी पर आक्रमण कर उसे नष्टभ्रष्ट कर दिया और गजनवी सुल्तानों की कब्रों से उनकी हड्डियाँ खोद-खोदकर जलवा डालीं। इसी कारण उसका नाम अलाउद्दीन जहाँसोज़ (संसार को जलानेवाला) पड़

गया। किंतु कुछ समय उपरांत सुल्तान संजर सलजूक ने उसपर आक्रमण कर उसे पराजित कर दिया। अलाउद्दीन बंदी बना लिया गया किंतु संजर ने कुछ समय उपरांत उसे मुक्त कर गोर का राज्य उसे वापस कर दिया। उसने अपनी शक्ति उत्तर की ओर गरजिस्तान में बढ़ा ली और तूलक नामक किले को अपने अधिकार में कर लिया। ५५१ हि० (११५६ ई०) में उसकी मृत्यु हो गई और उसके स्थान पर उसका पुत्र सैफुद्दीन मुहम्मद फीरोजकोह में सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने साम के दोनों पुत्रों गयासुद्दीन तथा मुईज़ुद्दीन को मुक्त कर दिया और मलाहिदा अथवा इस्माईलियों की शक्ति को भी नष्ट करने का प्रयत्न किया किंतु ११६२ ई० में वह गुज़ तुर्कों से युद्ध करता हुआ मर्व के समीप मारा गया। सेना गयासुद्दीन बिन साम के साथ फीरोजकोह लौट आई और उसे वहाँ सिंहासनारूढ़ कर दिया। उसका भाई मुईज़ुद्दीन उसका मुख्य सहायक बन गया। ११७३ ई० में मुईज़ुद्दीन ने गजनवियों के पूरे राज्य को अपने अधिकार में कर लिया। गयासुद्दीन ने हिरात पर भी आक्रमण किए जो उस समय सुल्तान संजर के तुर्क दास तुगरिल के अधीन था और ११७५ ई० में उसपर अधिकार जमा लिया। किंतु तुगरिल निरंतर अपने राज्य के लिये संघर्ष करता रहा। मुईज़ुद्दीन ने गजनी में अपनी सत्ता बढ़ाकर हिंदुस्तान पर आक्रमण करने प्रारंभ कर दिए। उस समय लाहौर में गजनवियों का अंतिम बादशाह खुसरो मलिक राज्य करता था और मुल्तान करामतियों के अधिकार में था। मुईज़ुद्दीन ने ११७४ ई० में मुल्तान और उसके उपरांत उच पर अधिकार कर लिया। उच उस समय भट्टी वंश के राजा के अधीन था। ११७८ ई० में अन्हिलवाड़ा (गुजरात) के राजा भीमदेव पर आक्रमण कर दिया किंतु सुल्तान को वापस होना पड़ा। ११७९ ई० में उसने पेशावर पर अधिकार किया। ११८२ ई० में उसने सिंध के समुद्री तट पर स्थित देवल को जीता। ११८६ अथवा ११८७ ई० में उसने खुसरो मलिक को पराजित कर लाहौर पर कब्जा कर लिया। ११९१ ई० में भटिंडा के दृढ़ किले पर अधिकार कर उसने पृथ्वीराज पर चढ़ाई की। तलवड़ी (तरायन) के युद्ध में पृथ्वीराज ने मुईज़ुद्दीन को बुरी तरह पराजित कर दिया और सुल्तान स्वयं बड़ी कठिनाई से रणक्षेत्र से भाग सका। पृथ्वीराज भटिंडा तक बढ़ता चला गया किंतु ११९२ ई० में सुल्तान ने पुनः पृथ्वीराज पर आक्रमण किया और तलवड़ी (तरायन) के युद्ध में उसे पराजित कर दिया। सुल्तान गजनी वापस चला गया। ११९३ ई० में उसने कन्नौज पर आक्रमण किया। इटावा के समीप चंदवार में घोर युद्ध हुआ। जयचंद मारा गया। दूसरे वर्ष उसने थनकिर (बयाना) तथा ग्वालियर पर भी अधिकार कर लिया। १२०४ ई० में उसने ख्वारिज्म पर पुनः आक्रमण किया किंतु उसे पराजित होकर गजनी वापस आना पड़ा। इसी बीच में पंजाब के कबीलों, विशेषकर खोक्खरों ने लाहौर के समीप विद्रोह कर दिया। सुल्तान उन्हें दंड देने के लिये पुनः हिंदुस्तान पहुँचा किंतु वापस होते समय सिंध नदी पर स्थित दमियक नामक स्थान पर मुलहिदों ने १२०६ में उसकी हत्या कर दी। उसकी मृत्यु के उपरांत गोर वंश की भी शक्ति छिन्न भिन्न हो गई और १२१५ ई० में ख्वारिज्मशाहियों ने उसका पूर्णतः अंत कर दिया।

सं० ग्रं०—तबकाते नासिरी; ताजुल मआसिर; तारीखे मुबारकशाही मुबारक शाह; रिजवी : आदि तुर्क कालीन भारत। [सै० अ० अ० रि०]

गोरखनाथ (गोरक्षनाथ) गोरखनाथ का आविर्भावकाल—मध्यकालीन भारतीय धर्मसाधन के क्षेत्र में गोरखनाथ बहुत ही प्रभावशाली महापुरुष हुए हैं। ये नाथ सिद्ध मच्छंदरनाथ (मच्छंदपाद,मत्स्येंद्रनाथ) के शिष्य थे। सारे भारतवर्ष में इनके अद्भुत योगबल और सिद्धियों की अगणित कहानियाँ प्रचलित हैं। इनका समय भी बहुत ऊहापोह का विषय बना हुआ है। इनके द्वारा रचित दर्जनों पुस्तकों की चर्चा मिलती है जिनमें कुछ संस्कृत में हैं और कुछ देशी भाषाओं में। सभी अनुश्रुतियाँ इस बात में एकमत हैं कि नाथ संप्रदाय के आदिप्रवर्तक चार महायोगी हुए हैं। आदिनाथ स्वयं शिव ही हैं। उनके दो शिष्य हुए : (१) जालंधरनाथ और (२) मत्स्येंद्रनाथ या मच्छंदरनाथ। जालंधरनाथ के शिष्य थे कृष्णपाद (कान्हूपाद, कान्हूपा, कानफा) और मत्स्येंद्रनाथ के गोरख (गोरक्ष) नाथ। इस प्रकार ये चार सिद्ध योगीश्वर नाथ संप्रदाय के मूल प्रवर्तक हैं। इनमें जालंधर नाथ और कृष्णपाद का संबंध कापालिक साधना से था। परवर्ती नाथ संप्रदाय में मत्स्येंद्रनाथ और गोरखनाथ का ही अधिक उल्लेख पाया जाता है। इन चार में से किसी एक का समय यदि ठीक ठीक निश्चित हो सके तो चारों का समय निश्चित किया जा सकेगा, क्योंकि ये चारों ही समसामयिक माने जाते हैं। इन सिद्धों के बारे में सारे देश में जो अनुश्रुतियाँ और दंतकथाएँ प्रचलित हैं, उनसे आसानी से इन निष्कर्षों पर पहुँचा जा सकता है— १. मत्स्येंद्र और जालंधर समसामयिक गुरुभाई थे और इन दोनों के प्रधान शिष्य क्रमशः गोरखनाथ और कृष्णपाद (का० हि०) थे, २. मत्स्येंद्रनाथ किसी विशेष प्रकार के योगमार्ग के प्रवर्तक थे परंतु बाद में किसी ऐसी साधना में जा फँसे थे जहाँ स्त्रियों का अबाध संसर्ग आवश्यक माना जाता था (कौल ज्ञान के निर्णय से जान पड़ता है कि वह वामाचारी कौल साधना थी जिसे कौल मत कहते थे। गोरखनाथ ने अपने गुरु का वहाँ से उद्धार किया था)। ३. शुरू से ही मत्स्येंद्र और गोरख की साधनापद्धति जालंधर और कृष्णपाद की साधनापद्धति से कुछ भिन्न थी।

इनके समय के बारे में ये निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं— १. मत्स्येंद्रनाथ द्वारा लिखित कहे जानेवाले ग्रंथ कौलज्ञाननिर्णय की प्रति का लिपिकाल डा० प्रबोधचंद्र बागची के अनुसार ११वीं शती के पूर्व का है। यदि यह बात ठीक हो तो मत्स्येंद्रनाथ का समय ई० ११वीं शती से पहले होना चाहिए। २. सुप्रसिद्ध काश्मीरी आचार्य अभिनवगुप्त ने तंत्रालोक में मच्छंदविभु को बड़े आदर से याद किया है। अभिनवगुप्त को निश्चित रूप से सन् ईसवी की १०वीं शती के अंत में और ११वीं शती के पहले विद्यमान होना चाहिए। इस प्रकार मत्स्येंद्रनाथ इस समय से काफी पहले हुए होंगे। ३. मत्स्येंद्रनाथ का एक नाम मीननाथ है। बज्रयानी सिद्धों में एक मीनपा हैं जो मत्स्येंद्रनाथ के पिता बताए गए हैं। मीनपा राजा देवपाल के राज्यकाल में हुए थे (कार्डियर, पृ० २४७)। देवपाल का राज्यकाल ८०६ ई० से ८४९ ई० तक है। इससे सिद्ध होता है कि मत्स्येंद्र ईसवी सन् की नवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान थे। ४. तिब्बती परंपरा के अनुसार कान्ह (कृष्णपाद) राजा देवपाल के राज्यकाल में ही आविर्भूत हुए थे। इस प्रकार मत्स्येंद्र आदि सिद्धों का समय ईसवी सन् की नवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और १०वीं शताब्दी का पूर्वार्ध समझना चाहिए। कुछ ऐसी ही दंतकथाएँ हैं जो गोरखनाथ का समय बहुत बाद में रखने का प्रयत्न करती हैं, जैसे कबीर और नानक से इनका संवाद, परंतु ये बहुत बाद की बातें हैं जब मान लिया गया था कि गोरखनाथ चिरंजीवी हैं। गूगा की कहानी, पश्चिमी नाथों की अनुश्रुतियाँ, बंगाल की दंतकथाएँ और धर्मपूजा संप्रदाय की प्रसिद्धियां, महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर आदि की परंपराएँ इस काल को १२०० ई० के पूर्व ले जाती हैं। इस बात का ऐतिहासिक सबूत है कि ई० १३वीं शताब्दी में गोरखपुर का मठ ढहा दिया गया था इसलिये इसके बहुत पूर्व गोरखनाथ का समय होना चाहिए। बहुत से पूर्ववर्ती

मत गोरक्षनाथी संप्रदाय में अंतर्भुक्त हो गए थे। उनकी अनुश्रुतियों का संबंध गोरखनाथ से जोड़ दिया गया है। इसलिये कभी कभी गोरक्षनाथ का समय और भी पहले निश्चित किया जाता है। सब बातों पर विचार करने से गोरखनाथ का समय ईसवी सन् की नवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही माना जाना ठीक जान पड़ता है।

गोरखनाथ की पुस्तकें—गोरखनाथ के नाम से अनेक पुस्तकें संस्कृत में मिलती हैं और बहुत सी आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी चलती हैं। निम्नलिखित पुस्तकें गोरखनाथ की लिखी कही जाती हैं : (१) अमनस्क, (२) अमरोघशासनम्, (३) अवधूतगीता, (४) गोरक्षकाव्य, (५) गोरक्षकौमुदी, (६) गोरक्षगीता (७) गोरक्षचिकित्सा, (८) गोरक्ष-पद्धय (९) गोरक्षपद्धति (१०) गोरक्षशतक, (११) गोरक्षशास्त्र, (१२) गोरक्षसंहिता, (१३) चतुरशीत्यासन (१४) ज्ञानप्रकाश शतक (१५) ज्ञानशतक (१६) ज्ञानामृत योग (१७) नाड़ीज्ञान प्रदीपिका (१८) महार्थमंजरी (१९) योगचिंतासंहिता (२०) योग-मार्तंड (२१) योगबीज (२२) योगशास्त्र, (२३) गोरखसिद्धासन पद्धति (२४) विवेकमार्तंड (२५) श्रीनाथसूत्र (२६) सिद्धसिद्धांतपद्धति (२७) हठयोग (२८) हठसंहिता। इनमें महार्थमंजरी के लेखक गोरक्षा अथवा महेश्वराचार्य की लिखी और प्राकृत में हैं, बाकी संस्कृत में हैं। कई एकदूसरो से मिलती हैं। कई पुस्तकों के गोरक्षलिखित होने में संदेह है, हिंदी में सब मिलाकर ४० छोटी बड़ी रचनाएँ गोरखनाथ की रचित कही जाती हैं जो संदेह से परे नहीं है। पुस्तकें ये हैं (१) सबदी (२) पद (३) शिष्यादर्सन (४) प्राणसंकली (५) नरवै बोध (६) आतम बोध (पहला), (७) अभैमात्रा भोग (८) पंद्रह तिथि (९) सप्तवाह (१०) मछींद्र गोरखबोध (११) रोमावली (१२) ग्यानतिलक (१३) ग्यान चौंतीसा (१४) पंचमात्रा (१५) गोरखगणेश गोष्ठी (१६) गोरख दत्त गोष्ठी ज्ञानदीय बोध (१७) महादेव गोरखपुष्ट (१८) सिष्ट पुराण (१९) दयाबोध (२०) जाती भौंरावली (छंद गोरख) (२१) नवग्रह (२२) नवरात्र (२३) अष्ट पारछ्या (२४) रहरास (२५) ग्यानमाल (२६) आत्माबोध (दूसरा) (२७) व्रत, (२८) निरंजनपुराण (२९) गोरखबचन (३०) इंद्रीदेवता (३१) मूलगर्भावती (३२) खाणीवाणी (३३) गोरखसत (३४) अष्टमुद्रा (३५) चौबीस सिधि (३६) षड़क्षरी (३७) पंचअग्नि (३८) अष्टचक्र (३९) अवलिसिलूक (४०) काफिरबोध।

इन ग्रंथों में से अधिकांश गोरखनाथी मत के संग्रहमात्र हैं। ग्रंथरूप में स्वयं गोरखनाथ ने इनकी रचना की होगी, यह बात संदिग्ध है। अन्य भारतीय भाषाओं में भी, जैसे बँगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी आदि में, इसी प्रकार की रचनाएँ प्राप्त होती हैं।

गोरख संप्रदाय—गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित योगी संप्रदाय मुख्य रूप से १२ शाखाओं में विभक्त है। इसीलिये इसे 'बारह' कहते हैं। इस मत के अनुयायी कान फड़वाकर मुद्रा धारण करते हैं इसलिये इन्हें कनफड़ा या कनफटा योगी भी कहते हैं। १२ पंथों में छः तो शिव द्वारा प्रवर्तित माने जाते हैं और छः गोरखनाथ द्वारा। (१) चांदनाथ कपिलानी, जिसमे गंगानाथ, आयनाथ, कपिलानी, नामनाथ, पारसनाथ आदि का संबंध है। (२) हेठ-नाथ, जिनमे लक्ष्मणनाथ या बालनाथ, दरियापंथ, नाटेसरी, जाकर पीर आदि का संबंध बताया जाता है, (३) आई पंथ के चोलीनाथ जिससे (४) वैराग पंथ, जिनमे भाईनाथ, प्रेमनाथ, रतननाथ, आदि का संबंध है और कायानाथ या कायमुद्दीन द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय भी संबंधित है, मस्तनाथ, आई पंथ छोटी दरगाह, बड़ी दरगाह आदि का संबंध है (५) जयपुर के पावनाथ जिससे पापंथ, कानिया, बाभारग आदि का संबंध है और (६) धजनाथ जो हनुमान जी के द्वारा प्रवर्तित कहा जाता है, ये छः गोरखनाथ के संप्रदाय कहे जाते हैं। इनका विश्लेषण करने से पता चलता है कि इनमें अनेक पुराने मत, जैसे कपिल का योगमार्ग, लकुलीश मत, कापालिक मत, वाममार्ग आदि संमिलित हो गए हैं।

गोरखनाथ का मत—गोरक्षमत के योग को पातंजल वर्णित योग से भिन्न बताने के लिये ऊँचा योग कहते हैं। इसमें केवल छह अंगों का ही महत्व है। प्रथम दो अर्थात् यम और नियम इसमें गौण हैं। इसका साधना पक्ष या प्रक्रिया अंग हठयोग कहा जाता है। शरीर में प्राण और अपान, सूर्य और चंद्र नामक जो बहिर्मुखी और अंतर्मुखी शक्तियाँ हैं उनको प्राणायाम आसन, बंध आदि के द्वारा सामरस्य में लाने से सहज समाधि सिद्ध होती है। जो कुछ पिंड में है वही ब्रह्मांड में भी है। इसलिये हठयोग की साधना पिंड या शरीर को ही केंद्र बनाकर विश्वब्रह्मांड में क्रियाशील परा शक्ति को प्राप्त करने का प्रयास है। गोरक्षनाथ के नाम पर चलनेवाले ग्रंथों में विशेष रूप से इस साधन प्रक्रिया का ही विस्तार है। कुछ ग्रंथ दर्शन या तत्ववाद के समझाने के उद्देश्य से लिखे गए हैं। अमरोघशासन, सिद्धसिद्धांत पद्धति, महार्थमंजरी (त्रिकदर्शन) आदि ग्रंथ इसी श्रेणी में आते हैं। अमरोघ शासन में (पृ० ८–९) गोरखनाथ ने वेदांतियों, मीमांसकों, कौलों, वज्रयानियों और शक्ति तांत्रिकों के मोक्ष संबंधी विचारों को 'मूर्खता' कहा है। असली मोक्ष वे सहज समाधि को मानते हैं। सहजसमाधि उस अवस्था को बताया जाता है जिसमें मन स्वयं ही मन को देखने लगता है। दूसरे शब्दों में स्वसंवेद ज्ञान की अवस्था ही सहजसमाधि है। यही चरम है।

आधुनिक देशी भाषाओं के पुराने रूपों में जो पुस्तकें मिलती हैं उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। इनमें अधिकतर योगांगों, उनकी प्रक्रियाओं, वैराग्य, ब्रह्मचर्य, सदाचार आदि के उपदेश हैं और माया की भर्त्सना है। तर्क वितर्क को गर्हित कहा गया है, भवसागर में पच पचकर मरनेवाले जीवों पर तरस खाई गई है और पाखंडियों को फटकार बताई गई है। सदाचार और ब्रह्मचर्य पर गोरखनाथ ने बहुत बल दिया है। शंकराचार्य के बाद भारतीय लोकमत को इतना प्रभावित करनेवाला आचार्य शक्ति काल के पूर्व दूसरा नहीं हुआ। निर्गुणपंथी भक्ति शाखा पर भी गोरखनाथ का भारी प्रभाव है। निस्संदेह गोरखनाथ बहुत तेजस्वी और प्रभावशाली व्यक्तित्व लेकर आए थे। [ह० प्र० द्वि०]

गोरखपुर उत्तर भारत में पूर्वी उत्तरप्रदेश का वाराणसी के बाद दूसरा सबसे बड़ा नगर है। राप्ती नदी के बाएँ तट पर बसा हुआ यह नगर रोहिन तथा राप्ती नदियों और रामगढ़ ताल से घिरा हुआ है। प्रमाण के साथ कहा जा सकता है कि राप्ती नदी के मार्ग परिवर्तन के साथ यह पुराना नगर भी उत्तर से दक्षिण को खिसकता रहा। नगर के विकास पर हिंदू मुस्लिम तथा अंग्रेजी राज्यों का प्रभाव पूर्ण रूप से पाया जाता है। बाबा गोरखनाथ का मंदिर, जिसपर नगर का नाम आधारित है, नगर के विकास का मुख्य केंद्र रहा है। अकबर महान् के समय में राजपूतों का आधिपत्य समाप्त हुआ तथा नगर मुसलमानों का बहुत बड़ा गढ़ बन गया। १६१० ई० में श्रीनेत राजपूत राजा बसंतसिंह ने यहाँ जिस हिंदू राज्य की स्थापना की थी वह करीब सात दशकों तक स्थिर रहा। बसंतसिंह का किला नगर के विस्तार का कारण हुआ। १६८० ई० में औरंगजेब के शासनकाल में पुनः मुसलमानों का अधिकार हुआ। इसी समय की बनी जामा मस्जिद नगर की वृद्धि में सहायक हुई। किंतु यह सत्य है

कि अंग्रेजों के आगमनकाल (१८०१ ई०) तक नगर का विकास असंतुलित, अव्यवस्थित तथा छिटफुट हुआ।

ब्रिटिश शासन में सिविल लाइन, पुलिस लाइन, रेलवे कालोनी तथा अन्य बहुत सी बस्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। गोरखपुर के व्यापार तथा उद्योग धंधों की उन्नति भी प्रशंसनीय रही। यहाँ १८८५ ई० में रेलवे लाइन आई। १६४७ ई० में नगर क्षेत्रीय मोटर यातायात का बहुत ही बड़ा केंद्र हो गया। रेलवे के अत्यधिक विकास के फलस्वरूप यहाँ आरंभ से ही छोटी लाइन (बी० एन० डब्ल्यू० आर०; ओ० टी० आर०) का मुख्यालय रहा। आजकल यह नगर उत्तर-पूर्व-रेलवे का बहुत बड़ा जंकशन तथा केंद्र है। फलस्वरूप अधिकारियों तथा कार्यकर्ताओं के बँगले, कर्यालय, शिक्षाकेंद्र, चिकित्सालय तथा रेलवे संबंधी अन्य बहुत से विकास कार्य यहाँ हुए। छावनी समाप्त हो जाने पर भी यहाँ सैनिक टुकड़ियाँ रहती हैं।

यहाँ पर कुल आठ निजी तथा चार सरकारी कारखाने हैं, जिनमे क्रमशः १८७५ तथा ४३२१ मनुष्य काम करते हैं। उत्तर पूर्व रेलवे का भी बहुत बड़ा कारखाना है जिसमें ४००० मजदूर हैं। गोरखपुर हाथ-करघा से बने हुए वस्त्रों का बहुत बड़ा केंद्र है। यहाँ लोहे के सामान, कागज, छपाई, खाद्य सामग्री, पेय पदार्थों तथा तंबाकू के औद्योगिक केंद्र हैं।

यहा दो डिग्री कालेजों तथा १२ माध्यमिक विद्यालयों के अलावा हाल ही में खुला हुआ विश्वविद्यालय भी है। नालियों की कमी है जिससे सफाई भली भाँति नहीं रहती। मलेरिया यहाँ की मुख्य बीमारी है। सिनेमा आदि आधुनिक मनोरंजन के साधन भी हैं।

जनसंख्या १६०१ ई० मे ६४,१४८ थी, १६५१ ई० में १३२,४३६ थी जो अब डेढ़ लाख से ऊपर होगी। मुसलमानों का अनुपात अधिक है।

[ह० ह० सिं०]

गोरखप्रसाद (सन् १८६६–१६६१) गणितज्ञ, हिंदी विश्वकोश के संपादक तथा हिंदी में वैज्ञानिक साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ और बहुप्रतिभ लेखक थे। जन्म २८ मार्च, १८६६ ई० को गोरखपुर में हुआ था। ५ मई, १६६१ ई० को वाराणसी में अपने नौकर की प्राणरक्षा के प्रयत्न में इनकी भी जलसमाधि हो गई।

सन् १६१८ मे काशी हिंदू विश्वविद्यालय से इन्होंने एम० एस-सी० परीक्षा उत्तीर्ण की। ये डा० गणेशप्रसाद के प्रिय शिष्य थे। उनके साथ इन्होंने सन् १६२० तक अनुसंधान कार्य किया। महामना पं० मदनमोहन मालवीय जी की प्रेरणा से एडिनबरा गए और सन् १६२४ में गणित की गवेषणाओं पर वहाँ के विश्वविद्यालय से डी० एस-सी० की उपाधि प्राप्त की। २१ जुलाई, १६२५ ई० से प्रयाग विश्वविद्यालय के गणित विभाग में रीडर के पद पर कार्य किया। वहाँ से २० दिसंबर, १६५७ ई० को पदमुक्त होकर नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा संयोजित हिंदी विश्वकोश का संपादन भार ग्रहण किया। हिंदी साहित्य संमेलन द्वारा १६३१ ई० में 'फोटोग्राफी' ग्रंथ पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला। संवत् १६८६ (सन् १६३२–३३ ई०) में काशी नागरीप्रचारिणी सभा से उनकी पुस्तक 'सौर परिवार' पर डा० छन्नूलाल पुरस्कार, ग्रीव्ज पदक तथा रेडिचे पदक मिले। उनकी कुछ मुख्य पुस्तकें : फलसंरक्षण (१६३७), उपयोगी नुस्खे, तर्कीबें और हुनर (१६३६), लकड़ी पर पालिश (१६४०), घरेलू डाक्टर (१६४०), तैरना (१६४४) तथा सरल विज्ञानसागर (१६४६) हैं। ज्योतिष और खगोल के ये प्रकांड विद्वान् थे। इनपर इनकी नीहारिका (१६५४), आकाश की सैर (१६३६), सूर्य (१६५६), सूर्यसारिणी (१६४८), चंद्रसारिणी (१६४५) और भारतीय ज्योतिष का इतिहास (१६५६) पुस्तकें हैं। अंग्रेजी में गणित पर बी० एस-सी० स्तर के कई पाठ्य ग्रंथ हैं, जिनमें अवकलन गणित (Differential Calculus), तथा समाकलन गणित (Integral Calculus) हैं। इनका संबंध अनेक साहित्यिक एवं वैज्ञानिक संस्थाओं से था। सन् १६५२ से १६५६ तक विज्ञान परिषद् (प्रयाग) के उपसभापति और सन् १६६० से मृत्युपर्यंत उसके सभापति रहे। हिंदी साहित्य संमेलन के परीक्षामंत्री भी कई वर्ष रहे। काशी में हिंदी साहित्य संमेलन के २८वें अधिवेशन में विज्ञान परिषद् के अध्यक्ष थे। बनारस मैथमैटिकल सोसायटी के भी अध्यक्ष थे।

[स० प्र०]

गोरखमुंडी कंपोज़िटी (Compositae) कुल की स्फीरैंथस इंडिकस (Sphaeranthus Indicus) नामक वनस्पति है, जिसे मुंडी या गोरखमुंडी (प्रादेशिक भाषाओं में) और मुंडिका अथवा श्रावणी (संस्कृत में) कहते हैं। यह एकवर्षायु, प्रसर वनस्पति धान के खेतों तथा अन्य नम स्थानों में वर्षा के बाद निकलती है। यह किंचित् लसदार, रोमश और गंधयुक्त होती है। कांड पक्षयुक्त, पत्र विनाल, कांडलग्न और प्रायः व्यस्तलट्वाकार (Obovate) और पुष्प सूक्ष्म किरमजी (Magenta-coloured) रंग के और मुंडकाकार व्यूह में पाए जाते हैं।

इसके मूल, पुष्पव्यूह अथवा पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार होता है। यह कटुतिक्त, उष्ण, दीपक, कृमिघ्न, मूत्रजनक रसायन और वात तथा रक्तविकारों में उपयोगी मानी जाती है। इसमें कालापन लिए हुए लाल रंग का तैल और कड़वा सत्व होता है। तैल त्वचा और वृक्क द्वारा निःसारित होता है, अतः इसके सेवन से पसीने और मूत्र में एक प्रकार की गंध आने लगती है। मूत्रजनक होने और मूत्रमार्ग का शोधन करने के कारण मूत्रेंद्रिय के रोगों में इससे अच्छा लाभ होता है। अधिक दिन सेवन करने से फोड़े फुन्सी का बारंबार निकलना बंद हो जाता है। यह अपची, अपस्मार, श्लीपद और प्लीहा रोगों में भी उपयोगी मानी जाती है।

[ब० सिं०]

गोरिल्ला प्राइमेटगण (Primate order) का सबसे प्रसिद्ध और सबसे कद्दावर वानर है, जो अफ्रीका में विषुवत् रेखा के आसपास के घने जंगलों में कैमरूल्स से कांगो तक पाया जाता है।

गोरिल्ला छोटे छोटे गरोहों अथवा परिवारों में रहते हैं। परिवार में एक नर और कई मादाएँ तथा बच्चे और जवान रहते हैं। इसके नर और मादा एक ही रंगरूप के होते हैं, लेकिन मादा कद में नर से कुछ छोटी होती है। खड़े होने पर नर की ऊँचाई छः फुट तक हो जाती है। इसका वजन भी छः मन से कुछ अधिक ही होता है। इसके शरीर का रंग कलछौंह, चेहरे की नंगी और सिकुड़नदार खाल काली और शरीर पर के बाल भी काले ही होते हैं। पुराने हो जाने पर इनके सर पर एक प्रकार की ललाई और पीठ पर सिलेटी झलक आ जाती है।

गोरिल्ला चिंपैंजी का निकट संबंधी है। यह बड़े पेड़ों पर डालियों का मचाननुमा घर बनाता है, पर इसका अधिक समय जमीन पर ही बीतता है। चिड़ियाखानों में यह ज्यादा दिनों तक जिंदा नहीं रह पाता।

गोरिल्ला बहुत ही ताकतवर जंतु है, जो स्वभाव का सीधा और शरमीला होने के कारण मनुष्यों पर अकारण हमला नहीं करता, लेकिन घायल या क्रुद्ध हो जाने पर यह बहुत ही भयंकर हो जाता है। गुस्सा होने पर ऐसा चिल्लाता है कि सारा जंगल कांप उठता है। यह बड़ा मजबूत होता है। बंदूक को नली को दांतों के बीच में दबा कर सींक की तरह यह मोड़ डालता है।

गोरिल्ला चारों टांगों के बल चलता है। इसका सर बड़ा, चेहरा भयानक और आंखें भीतर की ओर धँसी रहती है। गर्दन तो इसके जैसे होती ही नहीं। देखने में यह बहुत भद्दा लगता है।

अब तक इसकी कई जातियां का पता चल चुका है, जिनमें सबसे प्रसिद्ध और बड़ा गोरिल्ला (Gorilla gorilla) सन् १८६१ ई० में पहली बार देखा गया। सन् १६०३ ई० में बेलजियम कांगो के पूर्वी भाग में दूसरे गोरिल्ला (Gorilla beringei) का लोगों ने पता लगाया, जिसके बाल पहले से बड़े होते हैं। यह १०,००० फुट की ऊँचाई पर रहता है। इसके बाद तीसरा गोरिल्ला, जो पहाड़ी गोरिल्ला (Mountain gorilla) कहलाता है, उसी देश में पाया गया। यह दोनों से अधिक बुद्धिमान होता है।

गोरिल्ला फलाहारी जीव है, जिसका मुख्य भोजन गन्ना, केले, अनन्नास आदि फल, तरकारी और जड़ें आदि हैं।

[मु० सिं०]

गोरिल्ला युद्ध गोरिल्ला या गेरिला (guerrilla) शब्द, जो छापामार के अर्थ में प्रयुक्त होता है, स्पेनिश भाषा का है। स्पेनिश भाषा मे इसका अर्थ लघुयुद्ध है। मोटे तौर पर छापामार युद्ध अर्धसैनिकों की टुकड़ियों अथवा अनियमित सैनिकों द्वारा शत्रुसेना के पीछे या पार्श्व में आक्रमण करके लड़े जाते हैं। वास्तविक युद्ध के अतिरिक्त छापामार अंतर्ध्वंस का कार्य और शत्रुदल में आतंक फैलाने का कार्य भी करते हैं।

छापामारों को पहचानना कठिन है। इनकी कोई विशेष वेशभूषा नहीं होती। दिन के समय ये साधारण नागरिकों की भाँति रहते और रात को छिपकर आतंक फैलाते हैं। छापामार नियमित सेना को धोखा देकर विध्वंस कार्य करते हैं।

साधारण युद्धों के साथ ही छापामार युद्धों का भी प्रचलन हुआ। सबसे पहला छापामार युद्ध ३६० वर्ष ईसवी पूर्व चीन में सम्राट् हुआंग अपने शत्रु सी याओ (Tse ayo) के विरुद्ध लड़ा था। इसमें सो याओ (Tse yao) हार गया। इंग्लैंड के इतिहास में छापामार युद्ध का वर्णन मिलता है। कैरेक्टकर (Caractacur) ने दक्षिणी वेल्स के गढ़ से छापामार युद्ध में रोमन सेना को परेशान किया था। भारत में छापामार युद्ध का अधिक प्रयोग १७वीं शताब्दी के अंत में और १८वीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ। मरहठों के इन छापामार युद्धों ने शक्तिशाली मुगल सेना का आत्मविश्वास नष्ट कर दिया। शांताजी घोरपड़े और धानाजी जाधव नाम के सरदारों ने अपने भ्रमणशाली दस्तों से सारे देश को पदाक्रांत कर डाला। जब मुगल सेना आक्रमण की आशा नहीं करती थी, उस समय आक्रमण करके उन्होंने प्रमुख मुगल सरदारों को विस्मित और पराजित किया। मरहठों की सफल छापामार युद्धनीति ने मुगल सेना के साधनों को ध्वस्त कर दिया और उनके अनुशासन और उत्साह को ऐसा नष्ट कर दिया कि सन् १७०६ ई० में औरंगजेब को अपनी उत्तम सेना को अहमदनगर वापस बुलाना पड़ा और अगले वर्ष औरंगजेब की मृत्यु हो गई। छापामार मराठे अपने दृढ़ टट्टुओं पर सवार होकर चारों ओर फैल जाते, रसद रोक लेते, अंगरक्षकों के कार्य में बाधा डालते और ऐसे स्थान पर पहुँचकर, जहां उनके पहुँचने की सबसे कम आशा होती, लूटमार करते और सारे प्रदेश को आक्रांत कर देते। इस युद्धनीति ने मुगलों की कमर तोड़ दी, उनके साधनों को नष्ट कर दिया। इनकी फुर्ती के कारण मुगल सेना इनको पकड़ न सकी। इसी प्रकार स्पेन के छापामारों ने प्रायद्वीपीय युद्ध में, और रूस के अनियमित सैनिकों ने मास्को के युद्ध में नैपोलियन की नाक में, दम कर दिया। अमरीकी क्रांति में कर्नल जान एस० मोसली इत्यादि प्रमुख छापामार थे। इन्होंने अपने शत्रुओं को बड़े प्रभावशाली ढंग से धमकाया और परेशान किया। इस क्रांति में छापामार युद्धों ने एक नई दिशा ली। अब तक युद्ध राज्यों द्वारा लड़े जाते थे। किंतु अब यह राष्ट्रीय विषय बन गया और नागरिक भी व्यक्तिगत रूप से इसमें संमिलित हो गए।

युद्धनीति – छापामार सैनिकों का सिद्धांत है मारो और भाग जाओ। ये सहसा आक्रमण करते हैं, अदृश्य हो जाते हैं और थोड़ी दूर पर पुनः प्रकट हो जाते हैं। ये अपने पास बहुत कम सामान रखते हैं। इनके लिये कोई नियंत्रणकर्ता भी नहीं रहता, अतः इनकी क्रियाशीलता में बाधा नहीं पड़ती। छापामार सेना साधारणतः अपने से बलवान् सेना पर सहसा आक्रमण करके अपनी रक्षा कर लेती है। उन्हें अपनी बुद्धि पर विशेष विश्वास रहता है। अपनी सुरक्षा के लिये ये सूचना देनेवाले दलों की व्यवस्था रखते हैं।

छापामार युद्ध का उद्देश्य है शत्रु की नियमित सेना का प्रभाव घटाना। इस उद्देश्य की अच्छे ढंग से पूर्ति करने के लिये ये शत्रु के मोरचे के पीछे कार्य करते हैं। साथ ही बड़े पैमाने पर किए जानेवाले नियमित सेना के कार्यों में भी सहायता पहुँचाते हैं। छापामारों का लक्ष्य शत्रु सैनिक ही नहीं रहते। वे रेल, यातायात, रसद, पुल और इसी प्रकार के अन्य साधनों को भी क्षति पहुँचाते हैं, जो शत्रुओं की नियमित सेना के कार्यों में बाधा डाल सकें।

छापामार युद्धों के लिए तीन प्रमुख वस्तुएँ हैं। पहली छापामारी के कार्य के लिये उपयुक्त भूभाग, दूसरी राजनीतिक अवस्था और तीसरी वस्तु है राष्ट्रीय परिस्थितियाँ। इस प्रकार के कार्य के लिये सबसे अधिक उपयुक्त पहाड़ी भूमि होती है, जिसमें जंगल हो, अथवा ऐसा समतल भूखंड जो जंगलों और दलदलों से भरा हो।

छापामार युद्ध से रक्षा के लिये छापामारों द्वारा प्रयुक्त अनियमित विधियों का ज्ञान आवश्यक है जिससे सहकारी प्रयत्नों द्वारा उनके घातक प्रयत्नों को तुरंत नष्ट कर दिया जाय। एक और विशेष उपयोगी विधि उस क्षेत्र को घेर लेना है जिसमें छापामार विश्राम करते हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध — प्रथम विश्वयुद्ध में यूरोप में लंबे लंबे स्थिर मोरचे लगते थे। छापामारों के लिये ये क्षेत्र विशेष आकर्षक नहीं थे। किंतु सन् १९१६-१८ का अरब का विद्रोह तो बिलकुल अनियमित था। कर्नल टी० ई० लारेंस ने अरब की सेना के सहयोग से छापामारी के जो कार्य किए वे उल्लेखनीय हैं। मध्यपूर्व के तुर्कों की दो दुर्बलताएँ थीं। प्रथम तो जनता अथवा अरबों के बीच की अशांति और द्वितीय तुर्क साम्राज्य को नियंत्रित करनेवाली भंजनशील और दुर्बल संचार व्यवस्था। लारेंस और उनके सहायक अरबों ने तुर्क गढ़ों से बचते हुए रेल की लाइनें काट दीं, आक्रमणों से तुर्कों को परेशान किया और उन्हें आगे बढ़ने से रोक दिया। अब दूसरी ओर से जार्डन में स्थित नियमित अंग्रेजी सेनाओं ने प्रमुख तुर्क सेना पर आक्रमण कर दिया। इधर लारेंस ने अपनी सेना की सहायता से इस तुर्की सेना का अन्य सेनाओं से संबंध विच्छेद करा

दिया। आरंभ की सफलता के कारण थे उसकी सेना की गतिशीलता, बाह्य सहायता, समय और जनमत, जिससे नागरिकों की सहायता प्राप्त हो सकी। इस प्रकार छापामारों को विजय मिली।

दूसरे विश्वयुद्ध का प्रारंभ होने के पूर्व छापामार युद्ध का एक उत्कृष्ट उदाहरण देखा गया। जापानियों ने चीनियों पर आक्रमण कर दिया। सन् १६३७ ई० में चीनी सेनाओं ने नगरों को खाली कर दिया और स्वयं पीछे हट गए। चीन के लोगों को अमरीका से शस्त्र और गोला बारूद मिला। जिसकी सहायता से इन्होंने शत्रु सेना को एक लंबे काल तक बहुत परेशान किया और छोटे छोटे सैनिक दलों को मुख्य सेना से अलग करके नष्ट कर दिया।

द्वितीय विश्वयुद्ध और उसके पश्चात् — द्वितीय विश्वयुद्ध में छापामारी के लिये विस्तृत क्षेत्र मिला। यूरोप में जर्मनों की और दक्षिणी-पूर्वी एशिया में जापानियों की विजय इतनी तीव्रता से और इतने विस्तृत क्षेत्र में हुई कि विजित क्षेत्रों में शासन का अच्छा प्रबंध न हो सका। सैनिकों ने जैसे ही एक स्थान पर विजय पाई, उन्हें सहसा आगे बढ़ जाने की आज्ञा मिली। विजित क्षेत्र छोटे छोटे सैनिक दलों के अधिकार में छोड़ देने पड़े। छापामारी के लिये ये क्षेत्र आदर्श स्थल बन गए और शीघ्र ही शत्रु दलों के बिखरे हुए संचार क्षेत्रों को सफलतापूर्वक नष्ट कर दिया गया।

उत्तरी अफ्रीका में इटली की सेनाओं ने प्रारंभ में बड़े बड़े क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया और वहाँ के निवासियों को बुरी तरह कुचल दिया। यहाँ का जनमत इटली के विपरीत हो गया। अँगरेजों ने इस भावना का लाभ उठाया और वहाँ के मूलवासियों की सहायता से सफलतापूर्वक छापामार युद्धों का संचार किया। इटली के फौजी दस्तों की संचार व्यवस्था, हवाई अड्डे, पेट्रोल, गोला बारूद के भंडार, मोटर यातायात आदि बेंगाजी से मिस्र की सीमा तक फैले हुए थे। उपयुक्त शस्त्रों से सज्जित पैदल सेना या जीपें इन छापामार सैनिकों के लिये विशेष उपयुक्त थीं। छापामार शत्रुदल के लक्ष्यों पर रात्रि में आक्रमण करते थे।

सन् १६४१ के वसंत में जर्मनों ने यूगोस्लाविया पर अधिकार कर लिया। देश के अधिकृत होने के पश्चात् ही जोसिप ब्रोज़ोविक (टिटो) की अध्यक्षता में वहाँ के लोगों ने एक छापामार दल बनाया जो शत्रु सेना के विरुद्ध कार्य करता था। शस्त्रों की आवश्यकता की पूर्ति वहाँ की जनता से, या शत्रुदल से छीने हुए शस्त्रों से, होती थी। जर्मनी और इटली की सैनिक टुकड़ियों और उनके अड्डों पर आक्रमण करके इन्होंने युद्ध का सामान प्राप्त किया। सफलता के साथ साथ इनकी संख्या में भी वृद्धि हुई। सन् १६४३ ई० के अंत तक यह संख्या लगभग १,५०,००० हो गई। यह शक्ति यूगोस्लाविया भर में फैली हुई थी और विशेष रूप से जंगलों और पहाड़ों में स्थित थी। संचार व्यवस्था, जहाँ तक संभव हो सकता था, शत्रु दल से छीने गए रेडियो सेटों से चलती थी। यूगोस्लाविया के इस दल का उद्देश्य शत्रु के उन संपन्न लक्ष्यों पर आक्रमण करना था जो दुर्बल थे और जहाँ आक्रमण होने की सबसे कम अपेक्षा की जाती थी। इसके अतिरिक्त किसी भी अवस्था में वे ऐसा अवसर नहीं देना चाहते थे कि शत्रु उनपर प्रत्याक्रमण कर सकें।

टिटो के पक्षावलंबी प्रदाय, आश्रय और सूचना के लिये नागरिकों पर आश्रित थे। सभी छापामार युद्धों में नागरिकों का व्यवहार अत्यंत महत्व का होता है। नागरिकों ने छापामारों को जो सहायता दी थी उसका दंड उन्हें भुगतना पड़ा। सहस्रों पुरुष, स्त्रियाँ और बच्चे मौत के घाट उतार दिए गए। हजारों गाँव लूट लिए गए और जलाकर ध्वस्त कर दिए गए।

तीन वर्ष की अवधि में शत्रुदल ने सात बार छापामारों को नष्ट करने के लिये आक्रमण किए और वायुसेना का भी सहारा लिया, किंतु प्रत्येक बार टिटो के पक्षावलंबी किसी न किसी प्रकार बच गए और पूरी राष्ट्र पर ऐसे स्थान पर आक्रमण करने के लिये फिर प्रकट हुए जहाँ उनके आक्रमण की आशा नहीं की जा सकती थी। आधुनिक वायुसेना और छापामारों के सहयोग से क्या परिणाम निकल सकते हैं, यूगोस्लाविया इसका प्रमाण है।

जर्मन सेनाओं को रूस में छापामारों से जितनी क्षति उठानी पड़ी उतनी अन्य किसी साधन से नहीं। रूसियों ने ३० लाख से अधिक जर्मन सिपाहियों को मार डाला, ३ हजार रेलगाड़ियाँ पटरी से उतार दीं और हजारों पुल नष्ट कर दिए।

रूसियों की सफलता में शत्रुदल की संचार व्यवस्था पर छापामारों के आक्रमण का महत्वपूर्ण स्थान है। जनता से संबंध रखने से उन्हें जर्मनों के अड्डों और उनकी सेना की गतिविधि की सूचना मिलने का विश्वस्त साधन प्राप्त हो गया। उनकी गतिशीलता, स्थानों का ज्ञान, अप्रत्याशित आक्रमण और युद्धक्षेत्र से अलग अलग टुकड़ियों का अलग अलग वापस होना शत्रुदल को भ्रम में डालने और परेशान करने के साधन बने। सन् १६४१ ई० में जापान ने युद्ध की घोषणा की। इससे इंग्लैंड और संयुक्त राष्ट्र दोनों के सामने बड़ी बड़ी समस्याएँ आ गईं। युद्धक्षेत्र अब बहुत विस्तृत हो गया और युद्ध के पहले प्रक्रम में इतनी लंबी प्रतिरक्षा पंक्ति के लिये आवश्यक वस्तुओं का प्रबंध करना असंभव सा हो गया।

फिलीपीन में नियुक्त संयुक्त राष्ट्र के जनरल डगलस मैकआर्थर उस क्षेत्र में कई वर्ष रह चुके थे। उन्होंने जापानियों के विरुद्ध छापामार सेना की व्यवस्था की। उन्होंने अधिकारियों के कई छोटे छोटे दल इस टापू में बिखेर दिए। ये अधिकारी इस क्षेत्र से भली भाँति परिचित थे। इनका काम जापानी सेना से बचकर छापामारी करना था। प्राविधिक संचार आदि में दक्ष व्यक्तियों को मिलाकर प्रत्येक दल में अधिक से अधिक १५ व्यक्ति होते थे। इनका मुख्य कार्य गुप्त समाचार प्राप्त करना और उन्हें प्रेषित करना था। इनका दूसरा कार्य था देश में स्थापित जापानी नियंत्रण में बाधा डालना। इन दलों के फैल जाने के बाद दलों में पारस्परिक संचार की व्यवस्था में कठिनाई होने लगी। इस कठिनाई को दूर करने के लिये छापामारों ने जनता के छोटे रेडियो सेटों से काम लिया। बाद में सन् १६४२ ई० में जनरल मैकआर्थर के आस्ट्रेलिया स्थित मुख्य कार्यालय से छापामार टुकड़ियों का सीधा रेडियो संबंध स्थापित हो गया। शीघ्र ही सबमेरीनें भेजने की नियमित व्यवस्था हो गई और अप्रैल १६४४ तक सभी बड़े द्वीपों का जनरल मैकआर्थर से रेडियो संपर्क स्थापित हो गया। शीघ्र ही विभिन्न द्वीपों पर सेनाएँ उतारने की योजना बनी। अब छापामारों के कार्य गुप्त सूचना प्राप्त करना और संयुक्त राष्ट्र सेना के लिये लक्ष्य ढूँढना रह गया। इस प्रकार छापामारों के द्वारा किए गए जासूसी के कार्यों से जनरल मैकआर्थर को इस क्षेत्र को पुनर्जाग्रत करने और अपने कार्यों की योजना बनाने में महत्वपूर्ण सहायता मिली।

फरवरी, १६४३ ई० में जनरल आर्डे सी० विंगेट खच्चरों और बैलों द्वारा ३,००० सैनिकों के साथ चिंदविन और इरावदी नदियाँ पार करके बर्मा में स्थित जापानी सेनाओं के पृष्ठभाग में पहुँच गए। यहाँ इन्होंने जापानी संचार व्यवस्था बिगाड़ी, शस्त्रों के भंडार नष्ट कर दिए और जापानियों द्वारा भारत पर होनेवाले आक्रमण में बाधा डाली। अधिक भीतर तक

जानेवाले इनके दलों को, जो चिंदविन के नाम से जाने जाते थे, संचार-व्यवस्था के लिये वायुयानों द्वारा रेडियो सेट दिए गए। इसी वर्ष अंग्रेजों ने बर्मा में केचिन जाति को छापामारी के लिये संयोजित किया। उन्हें रेडियो सेटों के प्रयोग का प्रशिक्षण दिया गया था। ये लोग शत्रुसेना के पीछे अधिक समय तक टिक सकें इसके लिये उस क्षेत्र में सहायताप्रद वातावरण की भी सृष्टि की गई। दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात् मलाया, हिंदचीन आदि एशियाई देश भी छापामारी के लिये अच्छे क्षेत्र बन गए।

जून, सन् १९५० ई० में कोरिया में जो संघर्ष व्यापक हो गया उसमें अत्यंत आधुनिक शस्त्रों से सज्जित नियमित सेना के विरुद्ध छापामारी अत्यंत प्रभावशाली सिद्ध हुई। यहाँ साम्यवादी छापामारों को अपने से श्रेष्ठ शक्तियों से अपने को बचाने की शिक्षा दी गई थी। छोटी टुकड़ियों द्वारा शीघ्रतापूर्ण आक्रमण करने, तेजी के साथ पीछे हटने, तितर बितर हो जाने और पुनः एकत्र होने पर विशेष बल दिया गया। छापामारी के मुख्य अंग थे सीधा आक्रमण और छिपकर आक्रमण। १० हजार से २० हजार तक की जनसंख्यावाले नगरों पर सन् १९५६ ई० तक आक्रमण होते रहे। आक्रामक दलों में ५० से ३०० तक व्यक्ति रहते थे। आक्रमण क्रमानुसार दो दलों की सहायता से होता था। पहली टुकड़ी आक्रामक क्षेत्र में पहुँचती और रुकी रहती। दूसरी टुकड़ी पहली टुकड़ी के बाद पहुँचती और अपने कार्य की पूर्ति करके तितर बितर हो जाती। दूसरी टुकड़ी के पलायन के समय पहली टुकड़ी उसकी रक्षा करती। लौटना सदैव किसी अन्य मार्ग से होता, जो पहाड़ों से या किसी बड़ी नदी के पार होकर रहता था। युद्ध और प्रचार के हेतु शत्रु पक्ष को परेशान भी किया जाता था, जिससे शत्रुसेना का नैतिक पतन हो जाय।

निष्कर्ष : छापामार युद्ध से पाठ — यह सिद्ध हो चुका है कि छापामार युद्ध के सिद्धांत आज भी वही हैं जो युद्ध के प्रारंभिक समय में थे। आज भी छापामार तीव्र गति से चलते हैं, धोखा देकर शत्रुदल पर वहाँ आक्रमण करते हैं जहाँ वह सबसे अधिक दुर्बल होता है। साथ ही वे शत्रु को प्रत्याक्रमण करने का अवसर भी नहीं देते।

युद्ध में प्रयुक्त होनेवाले शस्त्रों, साज सामानों, सैनिक स्थापनों आदि व्यवस्थाओं की भेद्यता के साथ साथ ही, जिनकी सहायता से शीघ्रतापूर्वक आक्रमण या अंतर्ध्वंस संभव है, छापामारों का क्षेत्र भी बढ़ता जा रहा है। साथ ही आधुनिक युद्धविधियों में भी इस प्रकार के युद्ध का महत्व बढ़ गया है। सुनिर्धारित लक्ष्य और युद्धकौशल की परमावश्यक शृंखलाओं के विनाश द्वारा शत्रु के आक्रमण की सारी योजनाओं को विफल बनाया जा सकता है। भौगोलिक परिस्थितियाँ भी अपना विशेष महत्व रखती हैं और छापामारी के लिये सुविधाजनक कार्यक्षेत्र अत्यंत आवश्यक है।

द्वितीय विश्वयुद्ध में मोरचा के शीघ्र बढ़ने के फलस्वरूप छापामारों के शत्रुसेना में प्रवेश की संभावनाएँ बढ़ गईं और कहीं कहीं तो नियमित सेना की टुकड़ियाँ तक शत्रुदल के पृष्ठभाग पर पहुँच गईं। अब तो छापामारों और नागरिकों के सहयोग से किए जा सकनेवाले छापामारी के कार्यों का क्षेत्र अत्यंत विशाल हो गया है। इस प्रकार के युद्धों में जनता की सहायता और शुभेच्छा प्राप्त करना अनिवार्य बन गया है।

रेडियो और विमान, इन दो आविष्कारों ने छापामार युद्ध में क्रांति ला दी। जहाँ छापामारों को इन साधनों से सहायता प्राप्त करने का मार्ग खुला वहाँ ये उपकरण उनका पीछा करने के काम भी आने लगे। फिर भी इनसे हानि की अपेक्षा लाभ अधिक हुआ। पहले छापामारों को अपने साथियों के समाचार कभी कभी ही मिल पाते थे, किंतु अब लघु तथा वहनीय प्रेषकों की सहायता से उन्हें इच्छानुसार अपने साथियों से संपर्क स्थापित करने की सुविधा मिल गई। फिर वायुयानों द्वारा, छापामारों तथा अन्य सभी प्रकार की अनियमित सेनाओं को उतारने, उन्हें वापस लेने, उनकी शक्ति को सुदृढ़ बनाने और प्रदाय तथा सामरिक महत्व की अन्य वस्तुओं को उन्हें उपलब्ध कराने का भी कार्य संपन्न होने लगा।

छापामारों का प्रमुख कार्य है शत्रुसेना को उनके पृष्ठभाग से मिलनेवाली सामग्री का विनाश करना। आणविक शस्त्रों के विकास को देखते हुए सामरिक नीति बदलेगी। सेनाएँ छोटी छोटी टुकड़ियों में विभाजित होंगी। प्रदाय स्रोतों, युद्ध आधारों, उद्योगों तथा अन्य सामरिक व्यवस्थाओं का विकेंद्रीकरण करना आवश्यक होगा। फलस्वरूप, यदि आणविक शस्त्रों का प्रयोग हुआ, तो छापामारों के लक्ष्य आकार में छोटे और संख्या में अधिक हो जायँगे। परिणाम यह होगा कि छापामारी का क्षेत्र विशाल और अधिक प्रभावी बन जायगा। नियमित सेना भी छोटी छोटी टुकड़ियों में युद्ध करेगी। इन परिस्थितियों में छापामार युद्ध ही विशेष सफल हो सकेंगे। यह कहना अनुचित न होगा कि युद्ध में आणविक शस्त्रों का प्रयोग होने पर केवल छापामार युद्ध ही प्रमुख महत्व का होगा और अन्य विधियों का साधारण उपयोग ही रह जायगा। [दा० दा० ख०]

गोरी (दे० मुहम्मद मुइज्जुद्दीन गोरी)

गोर्की रूस देश के आर० एस० एफ० एस० आर० (रशियन सोशियलिस्ट फेडरेटेड सोवियट रिपब्लिक) की राजधानी है। १९३२ ई० से पहले इस नगर का नाम निज्हनीय नोवगोरोद (Nizhni Novgorod) था। यह नाम मक्सीम गोर्की की प्रतिष्ठा का द्योतक है। नगर वाल्गा और ओका नदियों के संगम पर मास्को के उत्तर-पश्चिम में २५० मील की दूरी पर बसा है। १२२१ ई० में नगर का प्रादुर्भाव हुआ। उस समय के कतिपय प्राचीन भवनों तथा गिरजाघरों से नगर की प्राचीनता का ज्ञान होता है। १३वीं शताब्दी का बना हुआ किला प्रसिद्ध है। यहाँ के दो बहुत बड़े गिरजाघर सुप्रसिद्ध हैं जिनमें पादरियों की गद्दियाँ हैं। नगर में एक प्राचीन शाही महल भी है।

नगर के आधुनिक विकास में यहाँ के उद्योग धंधों का विशेष श्रेय है। रूस के इस औद्योगिक केंद्र में मशीन तथा कलपुर्जे बनाने एवं वस्त्र उद्योग के कारखाने प्रमुख हैं। छोटे औजार बनाने का काम भी यहाँ विकसित पैमाने पर होता है। नगर में एक बहुत बड़ा अंतर्राष्ट्रीय मेला १० जुलाई से लेकर १५ सितंबर तक होता है। १५५२ ई० के बाद से यह मेला एशिया तथा रूस के सामानों का बहुत बड़ा विनिमय केंद्र हो गया है। १९१८ ई० में यहाँ एक विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। नगर की जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ रही है—१९३९ ई० में ६,४४,११६ थी जो १९५९ ई० में ९,४२,००० हो गई। [ह० सिं०]

गोर्की, मक्सीम (वास्तविक नाम-पेश्कोव अलेक्सेई मक्सीमोविच) (१६. ३. १८६८-१८. ६. १९३६)—महान् रूसी लेखक। निज्हनीय नोवगोरोद (आधुनिक गोर्की) नगर में जन्म हुआ। गोर्की के पिता बढ़ई थे। ११ वर्ष की आयु से गोर्की काम करने लगे। १८८४ में गोर्की का मार्क्सवादियों से परिचय हुआ। १८८८ में गोर्की पहली बार गिरफ्तार किए गए थे। १८९१ में गोर्की देशभ्रमण करने गए। १८९२ में गोर्की की पहली कहानी 'मकार चुंद्रा' प्रकाशित हुई। गोर्की की प्रारंभिक कृतियों में रोमांसवाद और यथार्थवाद का मेल दिखाई देता है। 'बाज के बारे में

गैदार (पृष्ठ १)

[फ़ोटो : प्रो० प्यो० अ० बाराश्किोव, लेनिनग्राद के सौजन्य से]

गोखले, गोपालकृष्ण (पृष्ठ १५) फलक १.

डाक्टर गोरखप्रसाद (पृष्ठ २६)
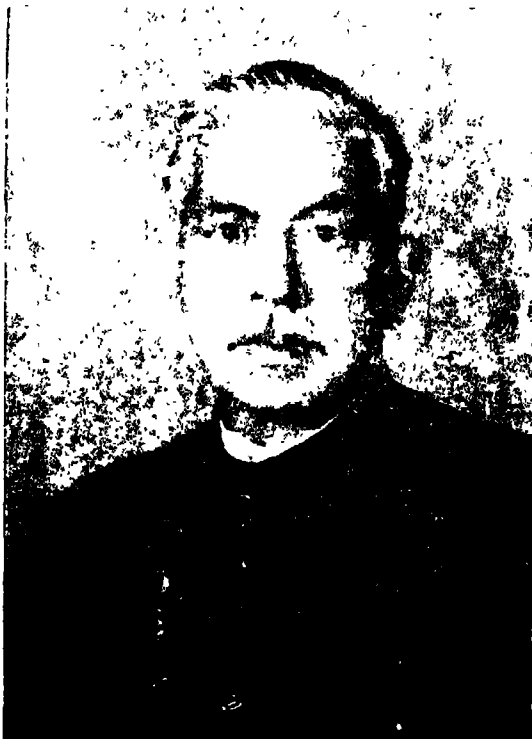
डाक्टर गोरख प्रसाद

गोर्की, मक्सीम (पृष्ठ ३२–३३)

[फोटो : प्रो० प्यो० अ० बाराश्किोव, लेनिनग्राद के सौजन्य से]

गोल्डस्मिथ, ऑलिवर (पृष्ठ ३८–३९)

[फ़ोटो : ब्रिटिश इन्फ़ॉर्मेशन सर्विसेज, ब्रिटिश दूतावास नई दिल्ली के सौजन्य से]

ग्लाद्कोव, वसील्येविच (पृष्ठ ८९)

[फ़ोटो : प्रोफ़ेसर प्यो० अ० बाराश्निकोव, लेनिनग्राद के सौजन्य से]

गीत' (१८६५), 'झंझा-तरंगिका के बारे में गीत' (१८६५) और 'बुढ़िया इजेर्गील' (१६०१) नामक कृतियों में क्रांतिकारी भावनाएँ प्रकट हो गई थीं। दो उपन्यासों, 'फोमा गोर्देयेव' (१८६६) और 'तीनों' (१६०१) में गोर्की ने शहर के अमीर और गरीब लोगों के जीवन का वर्णन किया है। १८६६-१६०० में गोर्की का परिचय चेखव और लेव तालस्तॉय से हुआ। उसी समय से गोर्की क्रांतिकारी आंदोलन में भाग लेने लगे। १६०१ में वे फिर गिरफ्तार हुए और उन्हें कालापानी मिला। १६०२ में विज्ञान अकादमी ने गोर्की को सम्मान्य सदस्य की उपाधि दी परंतु रूसी जार ने इसे रद्द कर दिया।

गोर्की ने अनेक नाटक लिखे, जैसे 'सूर्य के बच्चे' (१६०५), 'बर्बर' (१६०५), 'तह में' (१६०२) आदि, जो बुर्जुआ विचारधारा के विरुद्ध थे। गोर्की के सहयोग से 'नया जीवन' बोल्शेविक समाचारपत्र का प्रकाशन हो रहा था। १६०५ में गोर्की पहली बार लेनिन से मिले। १६०६ में गोर्की विदेश गए, वहीं इन्होंने 'अमरीका में' नामक एक कृति लिखी, जिसमें अमरीकी बुर्जुआ संस्कृति के पतन का व्यंगात्मक चित्र दिया गया था। नाटक 'शत्रु' (१६०६) और 'माँ' उपन्यास में (१६०६) गोर्की ने बुर्जुआ लोगों और मजदूरों के संघर्ष का वर्णन किया है। यह है विश्वसाहित्य में पहली बार इस प्रकार और इस विषय का उदाहरण। इन रचनाओं में गोर्की ने पहली बार क्रांतिकारी मजदूर का चित्र दिया। लेनिन ने इन कृतियों की प्रशंसा की। १६०५ की क्रांति के पराजय के बाद गोर्की ने एक लघु उपन्यास—'पापों की स्वीकृति' ('इस्पोवेद') लिखा, जिसमें कई अध्यात्मवादी भूलें थीं, जिनके लिये लेनिन ने इसकी सख्त आलोचना की। 'आखिरी लोग' और 'गैरजरूरी आदमी की जिंदगी' (१६०८) नामक कृतियों में गोर्की ने क्रांति के शत्रुओं की आलोचना की। 'शहर ओकुरोव' (१६०६) और 'मत्वेय कोजेम्याकिन की जिंदगी' (१६११) में सामाजिक कुरीतियों की आलोचना है। 'मौजी आदमी' नाटक में (१६१०) बुर्जुआ बुद्धिजीवियों का व्यंगात्मक वर्णन है। इन वर्षों में गोर्की ने बोल्शेविक समाचारपत्रों 'ज्वेज्दा' और 'प्रव्दा' के लिये अनेक लेख भी लिखे। १६११-१३ में गोर्की ने 'इटली की कहानियाँ' लिखीं जिनमें आजादी, मनुष्य, जनता और परिश्रम की प्रशंसा की गई थी। १६१२-१६ में 'रूस में' कहानीसंग्रह प्रकाशित हुआ था जिसमें तत्कालीन रूसी मेहनतकशों की मुश्किल जिंदगी का प्रतिबिंब मिलता है।

'मेरा बचपन' (१६१२-१३), 'लोगों के बीच' (१६१४) और 'मेरे विश्वविद्यालय' (१६२३) उपन्यासों में गोर्की ने अपनी जीवनी प्रकट की। १६१७ की अक्टूबर क्रांति के बाद गोर्की बड़े पैमाने पर सामाजिक कार्य कर रहे थे। इन्होंने 'विश्वसाहित्य' प्रकाशनगृह की स्थापना की। १६२१ में बीमारी के कारण गोर्की इलाज के लिये विदेश गए। १६२४ से वे इटली में रहे। वहीं इन्होंने लेनिन, तालस्तॉय, चेखव, कोरोलेंको आदि के संस्मरण लिखे। 'अर्तमोनोव के कारखाने' उपन्यास में (१६२५) गोर्की ने रूसी पूँजीपतियों और मजदूरों की तीन पीढ़ियों की कहानी प्रस्तुत की। १६३१ में गोर्की स्वदेश लौट आए। इन्होंने अनेक पत्रिकाओं और पुस्तकों का संपादन किया। 'सब मनुष्यों की जीवनी' और 'कवि का पुस्तकालय' नामक पुस्तकमालाओं को इन्होंने प्रोत्साहन दिया। 'येगोर बुलिचेव आदि' (१६३२) और 'दोस्तिगायेव आदि' (१६३३) नाटकों में गोर्की ने रूसी पूँजीपतियों के विनाश के अनिवार्य कारणों का वर्णन किया। गोर्की की अंतिम कृति—'क्लिम समगीन की जीवनी' (१६२५–१६३६) अपूर्ण है। इसमें १८८०-१६१७ के रूस के वातावरण का विस्तारपूर्ण चित्रण किया गया है। गोर्की सोवियत लेखकसंघ के सभापति थे। गोर्की की समाधि मास्को के क्रेमलिन के समीप है। मास्को में गोर्की संग्रहालय की स्थापना की गई थी। निज्हनीय नावगोरोद नगर को 'गोर्की' नाम दिया गया था। गोर्की की कृतियों से सोवियत संघ और सारे संसार के प्रगतिशील साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। गोर्की की अनेक कृतियाँ भारतीय भाषाओं में अनूदित हुई हैं। महान् हिंदी लेखक प्रेमचंद गोर्की के उपासक थे।

[प्यो॰ अ॰ ब॰]

गोर्बातोव, बोरिस लेओन्त्येविच (२. ७. १६०८–२०. १. १६५४)— रूसी लेखक। साहित्यिक कार्य का प्रारंभ १६२२ में हुआ। इनके अनेक उपन्यासों में मजदूरों के जीवन का वर्णन मिलता है। इनमें मुख्य हैं 'मेरी पीढ़ी' (१६३३), 'अलेक्सी गैदार' (१६५५) और 'दोनबास' (१६५१)। कई कृतियों में विगत महायुद्धकालीन सोवियत संघ की जनता के जीवन और संघर्ष का प्रतिबिंब मिलता है, जैसे 'योद्धा अलेक्सी कुलिकोव' (१६४२), 'एक दोस्त के लिये चिट्ठियाँ' (१६४२), 'अपराजित' (या 'तरास का परिवार') (१६४३)। 'साधारण आर्कटिका' नामक कहानी संग्रह में (१६३७) उन विशेषज्ञों के जीवन का चित्र दिया गया है जो ध्रुवों में काम करते हैं।

[प्यो॰ अ॰ बा॰]

गोलकुंडा स्थिति : १७° २५' उ॰ अ॰ तथा ७८° २२' पू॰ दे॰ यह दक्षिणी भारत में, हैदराबाद नगर से पाँच मील पश्चिम स्थित एक दुर्ग तथा ध्वस्त नगर है। पूर्वकाल में यह कुतबशाही राज्य में मिलनेवाले हीरे जवाहरातों के लिये प्रसिद्ध था। इस दुर्ग का निर्माण वारंगल के राजा ने १४वीं शताब्दी में कराया था। बाद में यह बहमनी राजाओं के हाथ में चला गया और मुहम्मदनगर कहलाने लगा। १५१२ ई॰ में यह कुतबशाही राजाओं के अधिकार में आया और वर्तमान हैदराबाद के शिलान्यास के समय तक उनकी राजधानी रहा। फिर १६८७ ई॰ में इसे औरंगजेब ने जीत लिया। यह ग्रैनाइट की एक पहाड़ी पर बना है जिसमें कुल आठ दरवाजे हैं और पत्थर की तीन मील लंबी मजबूत दीवार से घिरा है। यहाँ के महलों तथा मस्जिदों के खंडहर अपने प्राचीन गौरव गरिमा की कहानी सुनाते हैं। मुसी नदी दुर्ग के दक्षिण में बहती है। दुर्ग से लगभग आधा मील उत्तर कुतबशाही राजाओं के ग्रैनाइट पत्थर के मकबरे हैं जो टूटी फूटी अवस्था में अब भी विद्यमान हैं।

[शि॰ मं॰ सि॰]

गोला बारूद शब्द का प्रयोग प्रक्षिप्तों, उनके द्वारा संचालित स्फोटकों, छोटे मोटे हथियारों, तोपखानों, खाई मार्टरों, बमों और ग्रिनेडों तथा उनके निर्माण में काम आनेवाली वस्तुओं के अर्थ में होता है। इन अस्त्रों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

प्रथम वर्ग में लघु अस्त्र आते हैं। इन अस्त्रों में प्रक्षिप्त अस्त्रों का व्यास एक इंच से कम होता है। इन एक राउंडवाले अस्त्रों में साधारणतः पीतल के खोल में चूर्ण, प्रक्षिप्त और स्फोटक को एक घनीभूत इकाई के रूप में स्थापित किया जाता है। खोल के एक सिरे पर प्रक्षिप्त और दूसरे पर विस्फोटक संलग्न रहता है।

द्वितीय वर्ग में एक इंच से अधिक व्यासवाले प्रक्षिप्त और उनसे संबंधित अस्त्र रहते हैं। इसको तोपखाना कहते हैं। ये अस्त्र भी प्रथम वर्ग के अस्त्रों की भाँति ही बनाए जाते हैं। इन अस्त्रों को दो श्रेणियों में

विभाजित किया जा सकता है। पहली श्रेणी में अर्धस्थिर प्रकार के अस्त्र आते हैं। स्थिर श्रेणी के अस्त्रों के विपरीत, अर्धस्थिर श्रेणी के अस्त्रों की एक इकाई में प्रक्षिप्त ऐसी स्थिति में रहता है कि वह चलाए जाने पर अपने को अपने खोल और अंतर्निहित पदार्थों से मुक्त कर लेता है। इससे अस्त्र के संचालन को व्यवस्थित किया जा सकता है।

तीसरे वर्ग में अलग से भरे जानेवाले प्रकार के अस्त्र आते हैं। साधारणतः काम में आनेवाले मध्यम और बड़े व्यास के इन अस्त्रों में चूर्ण, स्फोटक और प्रक्षिप्त अलग अलग रखे जाते हैं। वार करते समय पहले तोप में नग्न प्रक्षिप्त डाला जाता है। इसके बाद चूर्ण के एक या अधिक थैले डाल दिए जाते हैं। इसके पश्चात् बंदूक के नीचे के भाग में विस्फोटक को उसके स्थान पर भर दिया जाता है। कभी कभी चूर्ण के थैलों को भी पहले से ही एक खोल में भर लिया जाता है। ऐसी स्थिति में ये प्रक्षिप्त अर्धस्थिर प्रकार के अस्त्रों के समान व्यवहार करने लगते हैं। चूर्ण, प्रक्षिप्त और विस्फोटक की इकाइयों से निर्मित ऐसे एक पूरे सेट को एक पूर्ण चक्र कहते हैं, चाहे यह सेट स्थिर, अर्धस्थिर या अलग से भरे जानेवाले वर्ग का हो।

तोपखाना — बारूदवाले प्रक्षेपकों का आरंभ १४ वीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ। जर्मनी राज्य के फ्रीबर्ग नामक स्थान के एक साधु ने, जिसका नाम बर्थोल्ड श्वार्ट्ज़ था, इसका आविष्कार किया। सबसे पहले जो शस्त्र बने वे उस समय प्रयुक्त होनेवाले तीर कमानों के समान ही थे। ये तीरों के समान थे, जिनके सिरों पर चमड़ा लपेट दिया जाता था, जिससे बारूद से उत्पन्न गैसों को निकल जाने से रोका जा सके। ये अस्त्र न तो बड़े थे और न भारी। यद्यपि इस प्रकार के शस्त्रों का प्रयोग शताब्दियों तक होता रहा, फिर भी लक्ष्यवेध की दृष्टि से ये अस्त्र अनुपयुक्त थे। अभी तक पत्थर के गोलाकार टुकड़ों का सफलतापूर्वक प्रयोग होता रहा। १४ वीं शताब्दी के मध्य में पत्थर के गोलों के स्थान पर लोहे, जस्ते या सीसे से बने गोलों का प्रयोग प्रारंभ हुआ। किंतु लोहे की गोलियों का व्यापक प्रयोग १५ वीं शताब्दी के अंत में फ्रांस के आठवें चार्ल्स (Charles) के राज्यकाल (सन् १४९३-९८) में ही प्रारंभ हुआ। सन् १४९१ ई० में वेनिस के सिपाहियों ने तारो के युद्ध में फ्रांसीसियों के विरुद्ध इन अस्त्रों का प्रयोग किया। भारी अस्त्रों का प्रयोग इसके बाद ही संभव हो सका।

यह बात बड़ी विचित्र लगती है कि तोपों में पत्थर के गोलों का प्रयोग सफलतापूर्वक काफी समय तक चला। पत्थर के गोले अपने ही आकार के धातु के गोलों की अपेक्षा अधिक सस्ते और भार में कम होते हैं। इसके अतिरिक्त पत्थर के एक गोले को फेंकने के लिये उसी आकार के दूसरे धातु के गोले की अपेक्षा कम बारूद की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही प्रयुक्त तोपें भी अधिक चलती हैं। अपने इन गुणों के कारण ये पत्थर के गोले उस समय की अविकसित तोपों के लिये अधिक उपयोगी सिद्ध हुए और इसीलिये इनका उपयोग एक लंबे समय तक होता रहा।

१५वीं शताब्दी के अंत तक बारूद बनाने के लिये आवश्यक पदार्थ अलग अलग रखे जाते थे। तोपची इन पदार्थों को ठीक अनुपात में मिलाकर विस्फोटक बनाते थे। यह कार्य खतरनाक था। बारूद के विस्फोट के लिये समीपवर्ती किसी भी स्थान पर थोड़ी सी खुली अग्नि भर पर्याप्त थी। धीरे धीरे तोपखाने का प्रयोग व्यापक रूप से होने लगा। अब ऐसे अस्त्रों के विकास की आवश्यकता का अनुभव होने लगा जिससे एक साथ ही अनेकों छोटे छोटे प्रक्षिप्त शत्रुदल पर फेंके जा सकें। इसी काल में कैनिस्टर (Canister) और केस (case) गोलों का भी विकास हुआ।

तोपखाने में दूसरा महत्वपूर्ण विकास कार्तूसों का निर्माण था। कार्तूस ढले हुए लोहे का एक साधारण रिक्त गोला रहता है, जिसमें विस्फोटक से संलग्न एक प्रकार का फ्यूज रहता है जिससे आंतरिक पदार्थ को जलाया जाता है। डब्ल्यू० डब्ल्यू० ग्रीनर (W. W. Greener) के अनुसार कार्तूस का निर्माण हालैंड में हुआ, किंतु कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि वेनिस निवासियों ने हालैंडवासियों से बहुत पूर्व (सन् १३७६ ई० में) ही गोले बारूद का प्रयोग प्रारंभ कर दिया था। इस समय तक संसार के सभी प्रमुख राष्ट्र भूयुद्धों में तोपों का खूब प्रयोग करने लगे थे, किंतु समुद्री युद्धों में तोपों का प्रयोग वार करनेवाले के लिये खतरनाक समझा जाता था। फ्रांस के एक कप्तान ने पहली बार अपनी लंबी तोपों से क्षैतिज दिशा में तोपों का प्रयोग प्रारंभ किया। इन गोलों की सहायता से उसने सन् १६९० ई० में चार अंग्रेजी नावों को नष्ट करने और बाद में दो डच जहाजों को डुबाने में सफलता पाई। १८वीं शताब्दी के अंत और १९वीं शताब्दी के प्रारंभ में लगभग सभी राष्ट्रों ने जलसेना में तोपों का उपयोग प्रारंभ कर दिया। सन् १८२२ ई० में हेनरी पेक्साँ (Henri Paixhans) ने, जो फ्रांस की जलसेना में जनरल था, एक नवीन रीति का विकास किया। उसने वाष्पचालित नौकासमूहों पर ऐसी तोपें लगाने की डिजाइन बनाई जिनसे अधिक दूर तक और अधिक वेग से गोले फेंके जा सकें। इन प्रयोगों से तोप के गोलों के जलसेना में प्रयोग को बड़ा प्रोत्साहन मिला।

१८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भूयुद्धों में क्षैतिज तोपों का प्रयोग चलने लगा। जिब्राल्टर पर घेरा डालते समय (सन् १७७९-८३) अंग्रेजों ने स्पेनवासियों पर नियमित रूप से २४ पाउंडर तोपों से गोलाबारी की। बाद में हेनरी शार्पनेल ने गोलाकार खोलों में स्थित ऐसे गोलों का आविष्कार किया जो साधारण गोलों से भिन्न थे। इस नये खोल में एक रिक्त गोलाकार प्रक्षिप्त में गोलियाँ गला दी गई थीं और बारूद की केवल उतनी मात्रा भरी गई थी जो खोल को फाड़ डालने में समर्थ हो सके। जब फ्यूज काम करता था तब गोला फट जाता था और उसमें स्थित गोलियाँ आगे की दिशा में सब ओर फैल जाती थीं और शत्रुपक्ष को दबाए रखती थीं। आजकल प्रयुक्त होनेवाले शार्पनेल प्रक्षिप्तों में बारूद के द्वारा गति में ३०० फुट प्रति सेकंड की वेगवृद्धि हो जाती है। कतिपय ऐसे अस्त्र जो पहले उपयोग में लाए जाते थे, किंतु अब व्यवहृत नहीं होते, निम्नांकित हैं :—

(क) कारकास (Carcass) लोहे के एक गोलाकार खोल के रूप में रहता है, जिसमें ज्वलनशील पदार्थ भरा रहता है। संचालित स्फोटक की दीप्ति से यह पदार्थ जल उठता है और लकड़ी आदि अन्य ज्वलनशील पदार्थों में आग लगा देता है।

(ख) ग्रेप (Grape) में लोहे की गोलियाँ रहती हैं। ये तीन विभिन्न तलों में धातु की चादरों से विभाजित कर दी जाती हैं। कम परास के लिये ये विशेष उपयुक्त पाई गईं।

(ग) बारशाट (Bar shots) का उपयोग जलसेना में किया जाता था। वार करने पर ये गोलियाँ सब ओर फैल जाती थीं और यदि अपने लक्ष्य तक पहुँच जाती थीं तो विशेष हानि पहुँचाने में समर्थ होती थीं।

(घ) शृंखला शाट (Chain Shots) भी बारशाट (Bar Shot) की ही भाँति बनाए गए थे। इनमें दो गोलार्ध एक सुदृढ़ शृंखला से जोड़ दिए जाते थे। तोप के नासिकाग्र से निकलते ही ये दोनों गोलार्ध अलग-अलग हो जाते थे और इनकी पारस्परिक दूरी शृंखला की लंबाई के बराबर रहती थी।

१६वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में गोलों के निर्माण में विशेष विकास हुआ। प्रक्षिप्त को ऐसा बनाया जाने लगा कि वह लक्ष्य से टकराकर विस्फोट कर सके। समयानुसारी, अर्थात् निश्चित समय पर जल उठनेवाले, फ्यूज के उपयोग से ऐच्छिक स्थान पर विस्फोट करना संभव हो गया। प्रक्षिप्त का मुख तोप के नासिकाग्र की ओर रखा जाता था और प्रक्षिप्त का आकार तोप की नली के व्यास से सदैव ही कम रखा जाता था। इस प्रकार से जलने पर बारूद से उत्पन्न गैस की पर्याप्त मात्रा तोप और गोले के बीच से निकल जाती थी। इससे काफी गैस और तज्जनित शक्ति का ह्रास हो जाता था।

१६वीं शताब्दी के मध्य में तोपखाने में राइफल के समान अस्त्रों का प्रयोग होने लगा। राइफल की नली में बनी नालियों के कारण परास और लक्ष्यवेध की सचाई में अवश्य वृद्धि हुई, किंतु विस्फोटक चूर्ण अब अधिक मात्रा में लगने लगा और प्रक्षिप्तों को ठीक से कार्य में लाना कठिन हो गया। धीरे धीरे बारूद के गुणधर्म को श्रेष्ठतर बनाया गया और तोपों को बनाने की विधि में और उनके निर्माण में प्रयुक्त धातु के चुनाव से स्फोटकों का प्रयोग ठीक से करना संभव हो गया। विश्व के सभी प्रमुख देशों के आविष्कारकों ने इस दिशा में प्रयोग करके राइफल वर्ग के अस्त्रों और प्रक्षिप्तों का विकास किया।

बंदूकों और तोपों को चलाते समय उनकी नली और कार्तूस के बीच से जो गैसें निकल जाती थी उनके कारण शक्ति का बड़ा ह्रास होता था। इस बरबादी को रोकने के लिये सार्डीनिया के मेजर कावालि (Cavalli), स्वेडन के बैरन वहरनडर्फ (Baron Wahrendorf), इंग्लैंड के डब्ल्यू० आर्म्स्ट्रॉङ्ग, जर्मनी के ए० क्रुप और फ्रांस के दे बांगे (De Bange) ने अनवरत प्रयत्न किए। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप ऐसे प्रक्षिप्तों का आविष्कार संभव हो सका जिनका व्यास बंदूक की नली के आंतरिक व्यास के बराबर था। अब प्रक्षिप्त को बंदूक की नली में बनी नालियों में से वर्तुलाकार मार्ग से जाना पड़ता था। अनावश्यक घर्षण और क्षय बचाने के लिये कार्तूसों के निर्माण में मृदु धातुओं का उपयोग किया जाने लगा। शीघ्र ही यह ज्ञात हो गया कि चक्राकार गति को प्रभावी बनाने के लिये कार्तूस के निचले भाग में तन्य ताँबे का थोड़ा सा गोलाकार भाग बाहर की ओर पेटी के रूप में निकला रखने से यह समस्या हल हो सकती है; अब कार्तूस का निचला भाग बंदूक की नली की नालियों से होकर वर्तुलाकार मार्ग ग्रहण कर लेता था। बंदूक की नली से होकर जाते हुए उसका व्यास बंदूक की नली के व्यास के बराबर बनता जाता था। इस प्रकार क्रमशः प्रत्येक आकार और प्रकार के कार्तूस बनाए जाने लगे।

जब राइफल के समान कार्य करनेवाली तोपें बन गईं और लंबे कार्तूसों का प्रयोग होने लगा तब तोपों के नामकरण में गड़बड़ी होने लगी। प्रारंभ में तोपों का नामकरण उनमें प्रयुक्त गोले के भार के अनुसार होता था, यथा ६ पाउंडवाली तोप का बोर ३·६७ इंच के लगभग होता था, क्योंकि ६ पाउंड भार के ढले हुए लोहे के गोले का व्यास ३·५५ इंच होता है। इसी प्रकार १२ पाउंडवाली तोप का बोर ४·६२ इंच, १८ पाउंडवाली तोप का बोर ५·३ इंच, २४ पाउंडवाली तोप का बोर ५·८२ इंच इत्यादि। किंतु वर्तुलाकार कार्तूसों के निर्माण से १० पाउंड का कार्तूस अब ३ इंच व्यास की नलीवाली तोप से चलाया जा सकता है, जब कि १० पाउंड का गोला ४$\frac{1}{2}$ इंच बोर से ही चलाया जा सकता है। धीरे धीरे तोप के नामकरण की पुरानी विधि, जो उसके द्वारा फेंके जानेवाले गोले के भार पर आधारित थी, अब त्याग दी गई है और नामकरण की नई विधि प्रयोग में लाई जाने लगी है, जो किसी तोप को उसकी नली के बोर के अनुसार इंचों या मिलीमीटरों में व्यक्त करती है।

अब तोपखाना अधिक प्रभावशाली हो गया है और अधिक परास तक ठीक से वार करने में भी समर्थ हो गया। तोपों की नलियों के निर्माण में सुधार होने से लक्ष्यसाधन के लिये नियंत्रण संभव हो गया। धीरे धीरे जलनेवाली बारूद, जो फ्यूज का काम देती थी, अब अधिक अच्छे फ्यूजों से स्थानांतरित कर दी गई। पहले विश्वयुद्ध से वायुयानों का युद्ध में प्रयोग होने लगा। वायुयानों को मार गिराने के लिये वायुयान निरोधी तोपखाने के लिये अधिक विश्वसनीय फ्यूज की आवश्यकता हुई। इस कमी को पूरा करने के लिये ऐसे यांत्रिक फ्यूज बनाने का प्रयत्न चला जो निश्चित समय पर जलें। फ्यूज के लंबे अक्ष में छिद्र कर लिया गया। इस छिद्र के आधार में स्फोटक टोपी और उसके नीचे विस्फोटक पदार्थ शृंखला की योजना की गई। कार्तूस छोड़ने पर यह टोपी कार्तूस के भार के साथ स्ट्राइकर से टकराती है। स्ट्राइकर छिद्र में स्वतंत्रतापूर्वक चलता रहता है और स्थिर हो जाता है। इसके विपरीत कार्तूस संवेग प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार उत्पन्न क्षणिक दीप्ति से विस्फोटक शृंखला जल उठती है और कार्तूस चल जाता है। फ्यूज की यही व्यवस्था आजकल भी प्रयुक्त हो रही है।

अब राइफल वर्ग के हथियारों की शक्ति और परास में बहुत वृद्धि हो गई है। १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में तोपों में पीछे की ओर से भरी जानेवाली विधि में पूर्णता लाई गई। तोपों और गोले बारूद को निर्माणविधि में आवश्यक परिवर्तन किया गया। आर्म्सस्ट्रॉङ्ग सेगमेंट कार्तूस इसी प्रकार के कार्तूसों में से है। इस कार्तूस का बाहरी खोल ढले हुए पतले लोहे का रहता है। खोल के भीतर एक ही पदार्थ से निर्मित सात वृत्तखंडों की छः परतें रहती हैं। इन वृत्तखंडों की परतों के बीचोबीच केंद्रवर्ती अक्ष में काले चूर्ण का विस्फोटक रहता है। साथ ही समयानुसारी फ्यूज और स्फोटक टोपी की भी व्यवस्था रहती है। कार्तूस के अक्ष के अगलेवाले सिरे पर स्फोटक टोपी रहती है। इसके पृष्ठ भाग पर स्ट्राइकर का आघात पड़ता है। कार्तूस का खोल एकाएक रुक जाता है। इस प्रकार कार्तूस के खोल के यकायक रुक जाने पर जो गतिरोध उत्पन्न होता है उसकी अभिक्रिया स्वरूप कार्तूस चल जाता है। कार्तूसों के निर्माण में गतिरोध के इस सिद्धांत का महत्वपूर्ण स्थान है और कार्तूसों की डिजाइन बनाने में इस सिद्धांत का विशेष ध्यान रखा जाता है। इस प्रकार के कार्तूस मनुष्यों पर वार करने के लिये तो उपयुक्त थे, किंतु किलेबंदी और गोलेबारूद से सुसज्जित लोह की मोटी चादरों से निर्मित यानों के विरुद्ध बेकार थे। इस कमी को दूर करने के लिये कार्तूसों के आकार प्रकार और उनके निर्माण में आवश्यक पदार्थों पर प्रयोग किए गए। पहला विश्वयुद्ध प्रारंभ होने के समय धूमहीन संचालकों और उच्च मानवाले विस्फोटकों का उपयोग होने लगा था। उस समय से कार्तूसों के आकार प्रकार में परिवर्तन अवश्य हुआ है, किंतु अब भी वे अच्छे गुणधर्म के ढले हुए लोहे से ही बनाए जाते हैं। पहले विश्वयुद्ध के पश्चात् कार्तूसों की रचना में भी परिवर्तन किए गए। बोर के कार्तूसों के लिये वेल्ड की हुई इस्पात की नलियाँ उपयोग में आने लगीं। इससे काम में लाने योग्य कार्तूसों का निर्माण संभव हो गया और उनके बनाने के लिये आवश्यक पदार्थ की कम मात्रा से काम चलने लगा। इस प्रकार जहाँ पहले तीन इंच के वायुयाननिरोधी कार्तूस का भार

२३ पाउंड रखना पड़ता था, अब १३ पाउंड ही रखना पड़ता है। कार्तूसों में भरने के लिये भी अब नवीन रासायनिक पदार्थ प्रयुक्त होने लगे, जो आवश्यकतानुसार धुआँ छोड़ सकते थे, या सेना को परेशान कर सकते थे।

ढलवाँ लोहे से बने कार्तूसों के लिये चिकनाई लगाने की व्यवस्था केवल लक्ष्यवेध के अभ्यास के लिये ही की जाती है। शार्पनेल का प्रयोग अब भी रासायनिक पदार्थों के प्रतिरोध में किया जाता है, यद्यपि इसकी प्रतिशत मात्रा पहले की अपेक्षा बहुत कम रहती है।

कैनिस्टर (Canister) वर्ग के गोले बारूद का अब प्रयोग नहीं किया जाता। तोपखाने में कुछ ऐसे वर्ग के कार्तूस प्रयुक्त होते हैं जैसे दाहक बम, जिनमें फास्फरस या इसी प्रकार का कोई अन्य ज्वलनशील पदार्थ रहता है; साथ ही दीवारों को फाड़ देनेवाला स्फोटक उचित मात्रा में उपस्थित रहता है। समय-फ्यूज की सहायता से दीप्ति होती है, जो एक पैराशूट अन्वेषक शेल से घिरी रहती है। धुएँ या आग के निकलने से यह गोला दागनेवाले को लक्ष्य के संबंध में सूचना देता रहता है।

खाई मॉर्टर गोला बारूद — यह तोपखाने से भिन्न प्रकार की रहती है। एक प्रकार का गोला बारूद बनाया गया है जिसके तीन इंच के कार्तूस का भार १२ पाउंड रहता है। इसका लघुतम परास १५० गज और अधिकतम परास ७५० गज रहता है। ३० गज के अर्धव्यास की परिधि में यह प्रभावी होता है। इसे तोप में भरने के लिये आधार की ओर से तोप के नासिकाग्र में भरते हैं। मॉर्टर के निर्माण में धीरे धीरे सुधार किए गए और ६० मिलीमीटर, ७५ मिलीमीटर और ८१ मिलीमीटर आकार के मॉर्टर तैयार किए गए।

इन मॉर्टरों में प्रयुक्त होनेवाले बम आकार में वायुयानों के बमों के समान रहते हैं। इन मॉर्टरों का परास १५० से लेकर २,४०० गज तक होता है और गोले का भार ३ से ७·४५ पाउंड तक।

ग्रिनेड — बहुत पुराने समय से प्रयुक्त एक अन्य प्रकार के बम गोले को ग्रिनेड कहते हैं। विस्फोटक बमों की भाँति ये भी पर्याप्त समय से उपयोग में आ रहे हैं। ये हाथ से और राइफल से भी फेंके जाते हैं। हथगोलों का उपयोग बहुत कम परास के लक्ष्य के लिये होता है। अधिक परास के लक्ष्य के लिये ग्रिनेडों को राइफल से फेंका जाता है। केवल धुआँ उत्पन्न करने के लिये फास्फरस भरे हुए ग्रिनेडों का प्रयोग किया जाता है। दूसरे प्रकार के ग्रिनेडों में, जिनका उपयोग आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिये किया जाता है, शक्तिशाली विस्फोटक भी रहते हैं। तीसरे प्रकार के ग्रिनेड गैस ग्रिनेड कहलाते हैं। जब स्थायी हानि पहुँचाने की आवश्यकता नहीं होती तब परेशान करने के लिये इन ग्रिनेडों का उपयोग किया जाता है (देखें ग्रिनेड)।

वायुयान बम — ये बम चार वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं : (१) अभ्यास के लिये, (२) टुकड़े करने के लिये, (३) नष्ट करने के लिये तथा (४) रासायनिक बम। ये सब बम, उनके फ्यूज और बम छोड़ने की विधि ऐसी रहती है कि विमान से डालने पर टक्कर द्वारा या तो वे फट जायें या न फटें। अभ्यास के लिये बनाए गए बमों में बालू भरी जाती है और थोड़ा सा विस्फोटक चूर्ण भी रख दिया जाता है। ये बम १७ पाउंड से लेकर २०० पाउंड या अधिक भार के होते हैं। टुकड़े करनेवाले बम साधारणतः आकार में छोटे होते हैं, क्योंकि इन्हें थोड़ी संख्या के विरुद्ध काम में लाया जाता है। नष्ट करने के लिये जिन बमों का प्रयोग किया जाता है वे विनाश करते हैं और भूमि में छः से लेकर ६० फुट तक अंदर घुस जाते हैं। ये भार में साधारणतः १०० से लेकर २,००० पाउंड तक होते हैं। रासायनिक बमों में सभी प्रकार के रासायनिक पदार्थ प्रयुक्त होते हैं। इनसे परेशान करने के लिये गैसें या धुआँ भी छोड़ा जाता है। दाहक बमों में कोई न कोई दाहक पदार्थ भरा रहता है, किंतु इनका उपयोग सीमित है।

[दा० दा० ख०]

गोलीय प्रसंवादी (Spherical Harmomics) एक विशेष प्रकार के फलन होते हैं, जिनका प्रयोग गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत, विद्युत् सिद्धांत और गणितीय भौतिकी की अन्य शाखाओं में होता है।

मान लीजिए कुछ कण एक दूसरे को व्युत्क्रम वर्ग नियम के अनुसार आकृष्ट करते हैं। यदि इन कणों का द्रव्यमान (mass) $द_1, द \ldots\ldots द_n$ ($m_1, m_2 \ldots \ldots \ldots \ldots m_n$) हो और ये बिंदुओं $का_1, का_2 \ldots \ldots का_n$ ($P_1, P_2, \ldots \ldots \ldots \ldots P_n$) पर स्थित हों, तो किसी बिंदु पा (P) पर इन कणों का विभव (potential)

$$\frac{द_1}{का_1 पा} + \frac{द_2}{का_2 पा} + \ldots \ldots \ldots \frac{द_n}{का_n पा}$$

$$\left[\frac{m_1}{P_1 P} + \frac{m_2}{P_2 P} + \ldots \ldots \ldots \frac{m_n}{P_n P} \right]$$

होगा। या यों कहिए कि गुरुत्वाकर्षण को एक इकाई द्रव्यमान अनंत दूरी से पा (P) तक लाने में इतना कार्य करना होगा।

मान लीजिए आयताकार त्रिविस्तार अक्षों (Three dimensional rectangular axes) के अनुसार बिंदुओं

$का_1, का_2, का_3 \ldots \ldots \ldots \ldots \ldots \ldots \ldots \ldots \ldots \ldots \ldots \ldots का_n$
$(P_1, P_2, P_3 \ldots \ldots \ldots \ldots \ldots \ldots \ldots \ldots \ldots \ldots \ldots \ldots P_n)$
पा (P) के निर्देशांक

$(क_1, ख_1, ग_1), (क_2, ख_2, ग_2) \ldots \ldots (क_n, ख_n, ग_n) (य, र, ल)$
$[(a_1, b_1, c_1) (a_2, b_2, c_2) \ldots \ldots (a_n, b_n, c_n) (x, y, z)]$
हैं तो

$$का_1 पा^2 = (य - क_1)^2 + (र - ख_1)^2 + (ल - ग_1)^2$$
$$[P_1 P^2 = (x - a_1)^2 + (y - b_1)^2 + (z - c_1)^2]$$

और इसी प्रकार के सूत्र

$$का_2 पा, का_3 पा, \ldots \ldots ..$$
$$[P_2 P, P_3 P \ldots \ldots \ldots]$$

के लिये उपलब्ध होंगे। यदि विभव को हम वि (p) से निरूपित करे तो हम आंशिक अवकलन द्वारा सरलता से सिद्ध कर सकते हैं कि

$$\frac{त^2 वि}{त य^2} + \frac{त^2 वि}{त र^2} + \frac{त^2 वि}{त ल^2} = ०$$

$$\left(\frac{d^2 p}{d x^2} + \frac{d^2 p}{d y^2} + \frac{d^2 p}{d z^2} = ० \right)$$

यह समीकरण न तो बिंदुओं की स्थिति पर आश्रित है, न उनके द्रव्यमानों पर। अतः यदि स्वच्छंद अवकाश (space) में कोई गुरुत्वाकर्षक संहति हो तो किसी भी बिंदु य, र, ल, (x, y, z) पर जनित विभव उपर्युक्त समीकरण को संतुष्ट करेगा। उक्त समीकरण को लाप्लास का समीकरण कहते हैं। यदि हम कारक

$$\frac{त^2}{त य^2} + \frac{त^2}{त र^2} + \frac{त^2}{त ल^2} \quad \left(\frac{\partial^2}{\partial x^2} + \frac{\partial^2}{\partial y^2} + \frac{\partial^2}{\partial z^2} \right)$$

को ती^{2} ($\triangleleft^2$) से निरूपित करें तो उक्त समीकरण को इस प्रकार

ती^{2} वि = ०

$$\triangleleft^2 p = 0$$

लिख सकते हैं।

यदि वि$_1$, वि$_2$, वि$_3$............(p_1, p_2, p_3............) लाप्लास समीकरण के भिन्न भिन्न हल हों तो हम सरलता से सिद्ध कर सकते हैं कि यदि

वि = वि$_1$ + वि$_2$ + वि$_3$ + ...

$$p = p_1 + p_2 + p_3 + \ldots\ldots$$

तो ती^{2} वि = ती^{2} वि$_1$ + ती^{2} वि$_2$ + ती^{2} वि$_3$ + ... = ०

$$(D^2 p = \triangleleft^2 p_1 + \triangleleft^2 p_2 + \triangleleft^2 p_3 + \ldots\ldots = 0)$$

अतः यदि लाप्लास समीकरण के कुछ हल उपलब्ध हों तो उनका योग भी उक्त समीकरण का हल होगा।

अब मान लिजिए वि (p) कोई विभव फलन है जो य, र, ल (x, y, z) के घन पूर्णांक घातों की श्रेणी में

वि = क० + क$_1$य + ख$_1$र + ग$_1$ल + क$_2$य^2 + ख$_2$र^2 + ग$_2$ल^2 + घ$_2$ रल + ङ$_2$लय + च$_2$यर + क$_3$य^3 + ख$_3$र^3 + ...

$$[p = a_0 + a_1 x + b_1 y + c_1 z + a_2 x^2 + b_2 y^2 + c_2 z^2 + d_2 yz + e_2 zx + f_2 xy + a_3 x^3 + b_3 y^3 + \ldots\ldots]$$

इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

यदि हम य, र, ल (x, y, z) के प्रथम घात के पदों को एक संघ में रखें, द्वितीय घात के पदों को दूसरे संघ में इत्यादि, तो ऊपर लिखित समीकरण को हम इस प्रकार लिख सकते हैं :

वि = श$_0$ (य, र, ल) + श$_1$ (य, र, ल) + श$_2$ (य, र, ल) + ...

$$[p = f_0 (x, y, z) + f_1 (x, y, z) + f_2 (x, y, z) + \ldots]$$

अथवा वि० = श$_0$ + श$_1$ + श$_2$ + ...

$$[p = f_1 + f_2 + f_3 + \ldots \ldots]$$

व्यंजक श$_स$ (य, र, ल) [$f_n (x, y, z)$] को स वर्ण (nth order) का गोलीय प्रसंवादी कहते हैं।

हम सरलता से सिद्ध कर सकते हैं कि

ती^{2} श$_2$ + ती^{2} श$_3$ + ... ती^{2} श$_स$ + ... ती^{2} वि = ०

$$[\triangleleft^2 f_2 + \triangleleft^2 f_3 + \ldots\ldots \triangleleft^2 f_n + \ldots\ldots \triangleleft^2 p = 0]$$

यह एक एकात्म्य है। अतः इसके समस्त पद, जो पृथक् पृथक् घातों के हैं, अलग अलग शून्य हो जाते हैं, अर्थात् गोलीय प्रसंवादी स्वयं भी लाप्लास समीकरण को संतुष्ट करते हैं। यदि हम कोणीय नियामकों

य = त्र ज्या अ कोज्या इ, र = त्र ज्या अ ज्या इ, ल = त्र कोज्या अ

$$[x = r \sin\alpha \cos\beta, \; y = r \sin\alpha \sin\beta, \; z = r \cos\alpha]$$

का प्रयोग करें तो लाप्लास समीकरण का यह रूप हो जाता है :

$$\frac{\text{त}}{\text{त त्र}}\left(\text{त्र}^2 \frac{\text{त वि}}{\text{त त्र}}\right) + \frac{1}{\text{ज्या अ}}\frac{\text{त}}{\text{त अ}}\left(\text{ज्या अ}\frac{\text{त वि}}{\text{त अ}}\right) + \frac{1}{\text{ज्या}^2\text{ अ}}\frac{\text{त}^2\text{ वि}}{\text{त इ}^2} = 0$$

$$\left[\frac{d}{dr}\left(r^2\frac{dp}{dr}\right) + \frac{1}{\sin\alpha}\frac{d}{d\alpha}\left(\sin\alpha\frac{dp}{d\alpha}\right) + \frac{1}{\sin^2\alpha}\frac{d^2p}{d\beta^2} = 0\right]$$

और श$_स$ (य, र, ल) [$f_n (x, y, z)$] का रूप त्र^स फ$_स$ (अ, इ) [$r^n \phi_n (\alpha, \beta)$] हो जाता है, जिसमें फ$_स$ (अ, इ) [$\phi_n (\alpha, \beta)$] त्र (r) से स्वतंत्र है। फलन फ$_स$ (अ, इ) [$\phi_n (\alpha, \beta)$] को तल प्रसंवादी (Surface Harmonic) कहते हैं।

यह सिद्ध किया जा सकता है कि $\frac{\text{श}_\text{स} (\text{य, र, ल})}{\text{त्र}^{2\text{स}+1}}$

$$\left[\frac{f_n (x, y, z)}{r^{2n+1}}\right]$$

भी लाप्लास समीकरण को संतुष्ट करता है। इस फलन को —(स+१) [−(n+1)] वर्ण का गोलीय प्रसंवादी कहते हैं। इसके अतिरिक्त यह फलन और श$_स$ (य, र, ल) [$f_n (x, y, z)$] ठोस प्रसंवादी (Solid Harmonics) कहलाते हैं।

सं० ग्रं०—टी० एम० मैक्रोबर्ट : स्फेरिकल हारमोनिक्स (१९२७); ए० ग्रे० ऐंड जी० बी० मैथ्यू: ए ट्रीटीज ऑन बेसल फंक्शन (१९२२); ई० टी० ह्विटेकर ऐंड जी० एन० वाट्सन् : ए कोर्स ऑव माडर्न ऐनैलिसिस (कैंब्रिज, १९२७)।

[अ० मो०]

गोल्ड कोस्ट : स्थिति : ११° ११' तथा १° १२' पू० अ० तथा ३° १५' प० दे०; जनसंख्या ६६,९०,७३० (१९६०), क्षेत्रफल ९२,१०० वर्ग मील। अफ्रीका का पश्चिमी समुद्रतटीय देश जिसे अब घाना कहते हैं। पहले यह ब्रिटेन के पश्चिमी अफ्रीकी औपनिवेशिक तंत्र के अधीन था।

१४ वी सदी में सर्वप्रथम यहाँ पुर्तगालियों का आगमन हुआ। १७वीं सदी में अँगरेज तथा डच व्यापारी इस क्षेत्र के द्वारा दासों का व्यापार करते थे। धीरे धीरे इस क्षेत्र पर ब्रिटेन का आधिपत्य हो गया। ६ मार्च, १९५७ को गोल्डकोस्ट तथा टोगोलैंड के ट्रस्टीशिप क्षेत्र को डोमिनियन पद (Dominion status) प्राप्त हुआ। उसी समय से इसका नामकरण घाना हुआ। यह नाम उस प्राचीन स्वतंत्र एवं शक्तिशाली राजतंत्र का द्योतक है जो चौथी सदी से लेकर १३वीं सदी तक मध्य नाइजर क्षेत्र में स्थित था। पहली जुलाई, १९६० ई० को यह ब्रिटिश राष्ट्रसंघ के अंतर्गत एक स्वतंत्र गणराज्य घोषित हुआ।

इसे हम भौगोलिक दृष्टि से पूर्वी, पश्चिमी, अशांति (Ashanti) उत्तरी तथा टोगोलैंड, इन पाँच क्षेत्रों में विभाजित कर सकते हैं। प्रशासनिक दृष्टि से इसे आठ भागों—पूर्वी, पश्चिमी, अशांति, उत्तरी, वोल्टा, मध्य, ऊपरी (Upper), तथा ब्रोंग अहाफो में बाँटा गया है।

घाना का अधिकांश भाग वोल्टा नदी के बेसिन में पड़ता है। दक्षिण-पश्चिमी समुद्रतटीय क्षेत्रों में उष्णकटिबंधीय वन पाए जाते हैं; शेष समुद्रतटीय निचले मैदानों में सवाना घासें उगती हैं। देश के अंतर्भाग में धरातल उठता जाता है। मध्य का पर्वतीय भाग अधिक वर्षा होने के कारण वनाच्छादित है। पहाड़ियों के उत्तर स्थित क्षेत्र में सवाना घासें प्रमुख प्राकृतिक वनस्पति हैं।

घाना का प्रमुख व्यवसाय कृषि है। कोकोआ यहाँ की सर्वप्रमुख फसल है जिसकी खेती ४५ लाख एकड़ में होती है। पिछले कुछ वर्षों में वैज्ञानिक तरीकों के व्यवहृत होने के कारण प्रति एकड़ उत्पादन में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। इसकी खेती पहाड़ों के दक्षिण, मुख्यतया कुमासी क्षेत्र में होती है। नारियल से उत्पन्न नारिकेल (Copra) द्वितीय प्रमुख निर्यात वस्तु है। पर्वतीय भागों के दक्षिण में मूँगफली, मकई, चावल, कैसवा (Cassava), केला, रतालू इत्यादि तथा उत्तरी क्षेत्र में मूँगफली, चावल, मकई, ज्वार, बाजरा तथा रतालू प्रमुख पैदावार हैं। तंबाकू तथा रबर का उत्पादन भी बढ़ रहा है। उत्तर में पशुपालन प्रमुख व्यवसाय है।

यह सोना, मैंगनीज, हीरा, तथा बॉक्साइट आदि खनिज पदार्थों के लिये प्रसिद्ध है। कोकोआ, सोना, लकड़ी, हीरा, मैंगनीज, बॉक्साइट तथा ताड़बीज (Palm kernel) प्रमुख निर्यात वस्तुएं हैं। १६५८ ई० में घाना का कुल निर्यात-व्यापार १०,४५,५७,३१०, पाउंड (स्टर्लिंग) का था जिसका ३६·२ प्रति शत ब्रिटेन, १६·२ प्रति शत संयुक्तराज्य अमरीका, १६·१ प्रति शत जर्मनी तथा ६·७ प्रति शत हालैंड द्वारा खरीदा गया। आयात में सूती कपड़े, यंत्रादि और सवारी गाड़ियां प्रमुख हैं।

समुद्रतट पर स्थित ऐक्रा (Accra) घाना की राजधानी तथा सबसे बड़ा नगर है जिसकी जनसंख्या ३,२५,६७७, (१६६०) है। अन्य नगरों में कुमासी (१,६०,३६२), सेकोंदी-ताकोरादी (१,०१, ५३२), केप कोस्ट (५४,६८६), तमाले (४६,२२३), कोफोरिदुआ (३६, १६४), केता (२६, ७१६), विन्नेबा (२५, ३६६), आबुआसी (२३, ७७५) आदि मुख्य हैं। ताकोरादी के अतिरिक्त ऐक्रा से १७ मील पूर्व में तेमा में एक नया पत्तन बना है। १६५६ ई० में घाना में कुल ५६१ मील लंबे रेलमार्ग तथा १३, ७६६ मील लंबे राजमार्ग थे।

[का० ना० सिं०]

गोल्डफेडेन, अब्राहम (Goldfaden Abraham) (जन्म--उक्रेन सन् १८४०, मृत्यु--न्यूयार्क १६०८) अब्राहम गोल्डफेडेन यहूदी थे। इन्होंने अपने साहित्यिक जीवन का प्रारंभ सन् १८६८ में इब्रानी भाषा में कविता लिखकर किया। लेकिन कुछ ही समय बाद इन्होंने यहूदियों द्वारा सामान्य रूप से बोली जानेवाली यिद्दिश भाषा को अपनी साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम चुन लिया और बाद की इनकी सारी रचनाएँ इसी भाषा में हैं। कविता के अतिरिक्त इन्होंने नाटक के क्षेत्र में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। आधुनिक यिद्दिश रंगमंच की नींव सर्वप्रथम इन्होंने ही डाली। सन् १८७६ में इन्होंने पहला यिद्दिश थियेटर रूमानिया के जेसी (Jassy) नगर में स्थापित किया। सन् १८७५ में रूस छोड़ने के बाद इन्होंने लबर्ग (Lemberg) में व्यंग्यात्मक शैली में निकलनेवाली साप्ताहिक पत्रिका यिस्रोलिक (Yisrolik) द्वारा पत्रकारिता के क्षेत्र में पदार्पण किया। बाद में ये रूस लौट आए और अपनी नाट्यमंडली के साथ प्रायः सभी बड़े नगरों का भ्रमण किया। जहां कहीं इन्होंने अपने नाटकों का प्रदर्शन किया, जनता ने उत्साह के साथ उनका स्वागत किया।

इनकी सफलता से तत्कालीन शासक घबड़ा उठे और उन्होंने सन् १८८३ में थियेटर पर प्रतिबंध लगा दिया। सन् १८८७ में ये पहली बार न्यूयार्क गए और १६०३ में वहीं बस गए। इनकी कविताएं और नाटक इनकी मृत्यु के बाद भी जनता में पहले ही की तरह लोकप्रिय रहे। इनकी कुछ कविताओं को लोकगीत के रूप में व्यापक ख्याति मिली। इनमें यहूदी वातावरण में रहनेवाले सामान्य चरित्रों का अच्छा चित्रण मिलता है। इन्होंने कई संगीत नाटक भी लिखे। प्रारंभिक नाटक हास्यप्रधान हैं और उनमें जीवन का ऊपरी चित्र मिलता है। लेकिन बाद के नाटक राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत हैं। इनकी मुख्य रचनाएँ इस प्रकार हैं।

कविता : 'डॉस येदेला' (यिद्दिश कविताओं का संग्रह), १८६६;

नाटक : 'दि यिदेने', १८६६; 'दि रेक्रूतेन'; 'दि बोबो मिलैकिल'; 'श्मेंड्रिक'; 'दि दूमे कल्ले'।

[तु० ना० सिं०]

गोल्डश्मिट, विक्टर (Goldschmidt, Victor, सन् १८५३–१६३३), जर्मन मणिभ वैज्ञानिक का जन्म राइन नदी के किनारे बसे माइंट्स (Mainz) नगर में हुआ था। इन्होंने खनिज विज्ञान का अध्ययन फ्राइबर्ग के खनि विद्यालय में आरंभ कर म्यूनिक, हाइडेलबर्ग तथा वियेना में पूरा किया।

इन्होंने मणिभों के संबंध में महत्व के अन्वेषण किए और कई प्रसिद्ध पुस्तकें लिखीं, जिनमें तीन खंडों में लिखी "मणिभों के रूपों की अनुक्रमणिका (Index der krystall formen)" तथा नौ खंडों में प्रकाशित "मणिभ रूपों की मानचित्रावली (Atlas der krystallo formen)" मुख्य हैं।

इनकी मृत्यु सन् १६३३ में सॉल्जबर्ग में हुई।

[भ० दा० व०]

गोल्डस्टकर, थ्योडोर (१८२१–१८७२) इनका जन्म १८ जनवरी, १८२१ ई० को कोनिग्सबर्ग के एक यहूदी जर्मन परिवार में हुआ था। गोल्डस्टकर के राजनीतिक विचार इतने अधिक उदार थे कि जर्मन शासन उन्हें संदेह की दृष्टि से देखता था। सन् १८४७ से १८५० तक इन्होंने बर्लिन में निवास किया, किंतु जर्मन शासन के विरोध के कारण इन्हें जर्मनी छोड़ना पड़ा। बाद को ये इंग्लैंड चले गए और वहां सन् १८५२ में लंदन के यूनिवर्सिटी कालेज में संस्कृत के प्राध्यापक (प्रोफेसर) हो गए। वहाँ रहकर अध्यापक एवं संस्कृतवेत्ता के रूप में इन्होंने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की। लंदन की संस्कृत टेक्स्ट सोसायटी के संस्थापकों में गोल्डस्टकर प्रमुख थे। इनका देहांत लंदन में ही ६ मार्च, १८७२ को हुआ था।

गोल्डस्टकर ने पाणिनीय व्याकरण को अपना प्रिय विषय बनाया तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी की जर्मन व्याख्या प्रकाशित की। वे आज भी पाणिनि व्याकरण के सबसे बड़े यूरोपीय विद्वान् माने जाते हैं। गोल्डस्टकर उन सभी पूर्वाग्रहों से रहित थे जो राजनीतिक कारणों से अधिकांश भारततत्ववेत्ता यूरोपीय लेखकों में पाए जाते हैं। ब्राह्मी लिपि के विकास के संबंध में गोल्डस्टकर के विचार अन्य यूरोपीय विचारकों से सर्वथा भिन्न हैं, और इसके लिये गोल्डस्टकर की पर्याप्त आलोचना की गई है।

[भो० शं० व्या०]

गोल्डस्मिथ, ऑलिवर (१७२८–१७७४) का जन्म आयरलैंड के एक गाँव में सन् १७२८ ई० में हुआ था। उनके पिता स्वल्प वेतनिक पादरी तथा माता स्कूलमास्टर की पुत्री थीं। पिता का वेतन अतिथिसत्कार ही में समाप्त हो जाता था, फलस्वरूप सात व्यक्तियों का कुटुंब प्रायः भविष्य के सुखस्वप्न देखता हुआ वर्तमान के अभावों तथा संकटों से संघर्ष करता रहा। गोल्डस्मिथ इस उदारहृदय तथा दयालु व्यक्ति की पाँचवीं संतान थे और जन्म से ही कुरूप तथा भद्दे थे। उनकी शिक्षा गाँव के स्कूल से आरंभ होकर ट्रिनिटी कालेज, डब्लिन, में समाप्त हुई। १७४६ में कालेज छोड़ने के साथ ही पिता की मृत्यु हो जाने से उन्हें आत्मनिर्भर होने के लिये विवश होना पड़ा। कई व्यवसायों में असफल होने के पश्चात् उन्होंने चिकित्साशास्त्र का अध्ययन आरंभ किया और १७५४ में देश के बाहर यूरोप जाकर ज्ञानविस्तार करने का निश्चय किया। यात्रा के समय उनके पास केवल २० पौंड थे और हाथ में उनकी प्रिय बाँसुरी। अपनी चंचल प्रकृति के वशीभूत होकर उन्होंने पैदल भ्रमण आरंभ किया और फ्रांस तथा स्विट्जरलैंड के विभिन्न क्षेत्रों में वे महीनों घूमते रहे। बाँसुरी का चमत्कार ही उनके भरण पोषण का साधन रहा।

१७५६ में गोल्डस्मिथ लंदन में भाग्यपरीक्षा के लिये लौटे और लेखनी को जीविकोपार्जन का माध्यम बनाने के लिये विवश हुए। १७६० में उन्होंने 'पब्लिक लेजर' नामक पत्रिका में कुछ लेख प्रकाशित करवाए जो

बाद की 'दि' सिटिजेन ऑव दि वर्ल्ड' के नाम से प्रसिद्ध हुए। सन् १७६४ में 'दि ट्रैवेलर' नामक कविता के प्रकाशन के साथ उनकी प्रसिद्धि बढ़ने लगी और दो वर्ष पश्चात् उनके उपन्यास 'दि विकार ऑव वेकफ़ील्ड' ने तो उनको लोकप्रिय लेखक बना दिया। इसके पश्चात् उनके हास्यरसपूर्ण नाटकों 'दि गुड नेचर्ड मैन,' 'शी स्टूप्स टु कांकर' तथा प्रसिद्ध कविता 'दि डेजर्टेड विलेज' का सृजन हुआ। इस समय तक वह जान्सन के साहित्यिक क्लब' के सदस्य हो चुके थे। परंतु पैसा उन्हें सदैव काटता रहा और धन आते ही वे मुक्तहस्त होकर उसे बिखेरने लगते थे। इसी के फलस्वरूप निर्धनता तथा चिंता से पीड़ित रहते हुए सन् १७७४ में उन्होंने प्राणत्याग किया।

गोल्डस्मिथ के व्यक्तित्व में बाह्य दोषों के साथ साथ मानवोचित गुणों, जैसे सहृदयता, दयालुता, देशप्रेम तथा हास्यप्रियता का ऐसा विचित्र संमिश्रण था कि उनके संपर्क में आनेवाले व्यक्तियों में विरोधी प्रक्रियाओं का होना स्वाभाविक था, परंतु कोई भी व्यक्ति अधिक देर तक उनके सद्गुणों के प्रति उदासीन नहीं रह सकता था। यही बात उनके लेखों के संबंध में भी कही गई है। बाहर से देखने में उनमें कतिपय त्रुटियाँ तुरत दृष्टिगोचर हो जाती हैं, परंतु मनोयोग से अध्ययन करने के बाद कोई भी पाठक उनके जादू से अप्रभावित नहीं रह सकता। इस संबंध में डॉ० जान्सन की यह युक्ति सारगर्भित है कि कोई भी साहित्य का अंग उनसे अछूता नहीं रहा और जिस वस्तु को उनकी लेखनी ने स्पर्श किया, उसे सुंदर तथा मनमोहक बनाने में कोई कसर नहीं रखी।

उनके निबंधों में हास्य तथा करुणरस का वैसा ही सुखद मेल है जैसा चार्ल्स लैंब के अमर लेखों में मिलता है और यही संमिश्रण उनके पात्रों को आजतक जीवित रखने में सफल हुआ है। उनके काल्पनिक पात्र, जैसे 'दि मैन इन ब्लैक,' 'डॉ० प्रिमरोज़' तथा डेजर्टेड विलेज' में 'स्कूलमास्टर' तथा 'कंट्रीपार्सन' पाठकों के लिये परिचित व्यक्तियों से भी अधिक सजीव हैं। उनकी कृतियों में मानव की नैसर्गिक मर्यादा के प्रति हार्दिक निष्ठा तथा अत्याचार के प्रति घोर विरोध मुखरित हुआ है और सर्वत्र निर्बल तथा प्रताड़ित प्राणियों के प्रति उनकी विशुद्ध संवेदना प्रवाहित हुई है। उनकी शैली परिष्कृत तथा पारदर्शी दर्पण के समान है जिसमें उनके दैवी स्वभाव का माधुर्य तथा हृदय की विशालता पूर्णरूपेण प्रतिबिंबित है। उनका व्यंग भी कोमल है और हास्य तो शरच्चंद्र के प्रकाश के समान ही सुखद है।

सं० ग्रं०—विलियम ब्लैक : गोल्डस्मिथ—इँग्लिशमेन आव लेटर्स; आर० ए० किंग : ऑलिवर गोल्डस्मिथ; लार्ड मैकाले : इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में 'गोल्डस्मिथ' शीर्षक लेख; थैकरे : इँग्लिश ह्यूमरिस्ट्स।

[वि० रा०]

गोल्डेन थ्रोन भारत के उत्तरी भाग में हिमालय के कराकोरम पर्वतमाला की एक चोटी जो उत्तरी कश्मीर में है और जिसकी ऊँचाई २३,६०० फुट है। यह चोटी गाडविन आस्टिन (Gadwin Austen) पर्वत के दक्षिण-पूर्व में स्थित है। यहाँ सदैव हिम जमा रहता है।

[रा० प्र० सि०]

गोल्डेन राक टाउन यह तिरुचिराप्पल्लि नगर में रेल कर्मचारियों की एक कालोनी है। यह बड़ा ही साफ सुथरा है, जहाँ सभी नागरिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं। यहाँ केंद्रीय जेल भी है। यह तिरुचिराप्पल्लि मुख्य शहर के दक्षिण-पश्चिम में है। यहाँ कई छोटी छोटी पहाड़ियाँ हैं जिनमें एक का नाम 'गोल्डेन राक' है। इसी के आधार पर इसका नाम 'गोल्डेन राक टाउन पड़ा है। इस स्थान का ऐतिहासिक महत्व है क्योंकि यहाँ अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों के बीच पहली बड़ी लड़ाई हुई थी जिसमें फ्रांसीसी हार गए थे। इसकी जनसंख्या ४७,०७० (१९६१) है।

[ज० सि०]

गोल्डेन हार्न (पत्तन) यूरोपीय तुर्की में इस्तंबूल या कुस्तुंतुनिया को मिलानेवाला अत्यधिक टेढ़ा मेढ़ा एवं छः मील लंबा एक संकीर्ण एवं गहरे पानी का प्रवेशद्वार है जो प्राकृतिक रूप से विशेष सुरक्षित होने के कारण सर्व-सुविधा-संपन्न-पत्तन के रूप में विकसित हुआ है। बास्फोरस के तट पर गोल्डेन हार्न के प्रवेश के निकट गहरे पानी की गोदियाँ हैं, जहाँ बड़े-बड़े जलपोत ठहर सकते हैं। यह प्रवेशद्वार पेरा और गलाटा के भागों को नगर के प्राचीन भाग से अलग करता है।

[रा० प्र० सि०]

गोल्दोनी कार्लो (१७०७-१७९३) इतालीय नाटककार कार्लो गोल्दोनी का जन्म वेनिस में हुआ। इन्होंने पेरुज्या, रेमिनी में प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त की तथा पादोवा से कानून की उपाधि प्राप्त कर वेनिस में वकालत करना शुरू किया। आरंभ से ही गोल्दोनी की रुचि रंगमंच की ओर थी। १२ वर्ष की अवस्था में इन्होंने 'सोरेल्लीना दी दोन पीलोने' (दोन पीलोने की बहन) नामक नाट्य कृति के अभिनय में भाग लिया। ग्रीक, लैटिन, इतालीय तथा फ्रांसीसी नाट्य साहित्यों तथा नाट्य शास्त्रों का इन्होंने विस्तृत अध्ययन किया। सन् १७३२ में इन्होंने, 'अमालासूंता', गीतिनाट्य कृति लिखी और फिर मिलान, वेरोना और वेनिस के रंगमंचों पर अभिनीत किए जाने के लिये अनेक प्रहसन तथा नाटक लिखे। धीरे धीरे वे दर्शकों की मनोवृत्ति को परिष्कृत करने का प्रयत्न भी कर रहे थे। मोमोल्दो कोर्तेस्यान (१७३८) तथा 'दोना दी गारबोर्बो' (१७४३) कृतियों ने इन्हें प्रसिद्ध कर दिया और जीरोलामो मेदेबाक नामक नाटकमंडली ने नाट्य कृतियाँ लिखने के लिये इन्हें नौकर रख लिया। गोल्दोनी इस बीच काफी प्रसिद्धि पा चुके थे। किंतु गोल्दोनी का विरोध करनेवाले भी थे। उनसे तंग आकर १७६२ में ये पेरिस चले गए। वहाँ इतालीय नाट्यकृतियों के अभिनय के लिये इन्हें आमंत्रित किया गया था। अथक प्रयास के फलस्वरूप पेरिस के दर्शक भी गोल्दोनी के प्रशंसक बन गए। वहीं १७७१ में गोल्दोनी ने फ्रांसीसी में 'बूर्रू ब्यंफ्रे' नाटक लिखा और ७९ वर्ष की अवस्था में फ्रेंच में ही अपने मेम्वायर्स (जीवनसंस्मरण) लिखे। १८वीं शती के इतालीय साहित्यिक जगत् का बहुत ही रोचक चित्रण गोल्दोनी के संस्मरणों में मिलता है। अपने जीवन की घटनाओं का बड़े निरपेक्ष ढंग से इन्होंने वर्णन किया है।

गोल्दोनी की प्रवृत्ति बहिर्मुखी थी। उन्होंने शताधिक नाटक कृतियाँ लिखीं जिनमें तत्कालीन समाज, विशेषकर वेनिस के जीवन के बड़े ही सटीक चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। नाटकों में सुधार की दृष्टि से भी गोल्दोनी का स्थान महत्वपूर्ण है। नाटकों के कृत्रिम तथा कुरुचिपूर्ण रूप को उन्होंने सँवारा। इनकी प्रारंभिक कृतियाँ दुःख-सुख-मिश्रित हैं—बेलिसारियो, रोसमुंद्रा, दोन ज्यॅवान्नी नाटक, कुछ प्रहसन—बाम्न, ओरोंते, जेरमोंदो आदि, कुछ इंतरमेज्जो (दो अंकों के बीच में अभिनीत होनेवाली संक्षिप्त नाटक कृति) ला पेल्डारीना, ला पुपील्ला आदि हैं। इनकी महत्वपूर्ण नाटक कृतियों का काल सन् १७४८ के बाद प्रारंभ होता है– ला वेदोवा स्काल्त्रा (चालाक विधवा), बोत्तेगा देल कफ्फे (काफी की दुकान), इल बूज्यार्दो (झूठा), रचनाओं में रूढ़िवादी कल्पित निष्प्राण पात्रों के स्थान पर वास्त-

जिक जीवन को प्रस्तुत करने का प्रयत्न लक्षित होता है। बुओना मोल्ये (अच्छी पत्नी), पेत्तेगोलेजो देल्ले दोन्ने (औरतों के झगड़े) जैसी कृतियों में गोल्दोनी ने वास्तविक जीवन के दृश्य चित्रित किए हैं। उनकी सुंदरतम कृतियाँ हैं–लोकांदिएरा (होटलवाली), इन्नामोराती (प्रेमी), ई रुस्तेगी, कासा नोवा (नया घर), बारूफे क्योज्जोत्ते (मछुओं के झगड़े)। पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण, तथा वातावरण गोल्दोनी के सूक्ष्म जीवन-अध्ययन का परिचायक है। इन्होंने यात्रा के अनुभवों को लेकर 'ले स्मानीए देल्ला वीलेज्ज्यातूरा' (प्रवास की चोटें) जैसी कृतियां भी लिखी हैं। अंत में दुखित होकर जब गोल्दोनी अपने जन्मस्थान वेनिस को छोड़कर पेरिस जा रहे थे तो मानो विदा लेने के लिये उन्होंने रूपकनाट्य 'ऊना देल्ले उल्तिमे सेरे देल कार्नेवाले दि वेनेत्सिया' (वेनिस के कार्नेवाल की अंतिम संध्याओं में से एक) लिखी। गोल्दोनी ने वेनिस की बोली को साहित्यिक रूप प्रदान किया। वेनिस की बोली का ही उन्होंने अपनी कृतियों में प्रयोग किया और इस प्रकार अलग साहित्यिक शैली का निर्माण किया। इतालीय नाटक की अवनत स्थिति को सुधारने का श्रेय गोल्दोनी को है।

[रा० सिं० तो०]

गोवर्धनराम, माधवराम त्रिपाठी (१८५५–१९०७ ई०) का व्यक्तित्व आधुनिक गुजराती साहित्य में कथाकार, कवि, चिंतक, विवेचक, चरित्रलेखक तथा इतिहासकार इत्यादि अनेक रूपों में मान्य है; किंतु उनको सर्वाधिक प्रतिष्ठा द्वितीय उत्थान के सर्वश्रेष्ठ कथाकार के रूप में ही प्राप्त हुई है। जिस प्रकार आधुनिक गुजराती साहित्य की पुरानी पीढ़ी के अग्रणी नर्मद माने जाते हैं उसी प्रकार उनके बाद की पीढ़ी का नेतृत्व गोवर्धनराम के द्वारा हुआ। संस्कृत साहित्य के गंभीर अनुशीलन तथा रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद आदि विभूतियों के विचारों के प्रभाव से उनके हृदय में प्राचीन भारतीय आर्य संस्कृति के पुनरुत्थान की तीव्र भावना जाग्रत हुई। उनका अधिकांश रचनात्मक साहित्य मूलतः इसी भावना से संबद्ध एवं उद्भूत है।

गोवर्धनराम की प्रारंभिक शिक्षा दीक्षा बंबई तथा नडियाद में संपन्न हुई। १८७५ ई० में उन्होंने एल्फिन्स्टन कॉलेज से बी० ए० की उपाधि प्राप्त की। शिक्षा समाप्त होते ही उनकी प्रवृत्ति तत्वचिंतन और सामाजिक कल्याण की ओर उन्मुख हुई।

साहित्यिक कृतित्व—'सरस्वतीचंद्र' उनकी सर्वप्रमुख साहित्यिक कृति है। कथा के क्षेत्र में इसे 'गुजराती साहित्य का सर्वोच्च कीर्तिशिखर' कहा गया है। आचार्य आनंदशंकर बापूभाई ध्रुव ने इसकी गरिमा और भावसमृद्धि को लक्षित करते हुए इसे 'सरस्वतीचंद्र पुराण' की संज्ञा प्रदान की थी जो इसकी लोकप्रियता तथा कल्पनाबहुलता को देखते हुए सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होती है।

'सरस्वतीचंद्र' की कथा चार भागों में समाप्त होती है। प्रथम भाग में रत्ननगरी के प्रधान विद्याचतुर की सुंदरी कन्या कुमुद और विद्यानुरागी एवं तत्वचिंतक सरस्वतीचंद्र के पारस्परिक आकर्षण की प्रारंभिक मनोदशा का चित्रण है। नायक की यह मान्यता कि 'स्त्री मां पुरुषना पुरुषार्थनी समाप्ति थती नथी' वस्तुतः लेखक के उदात्त दृष्टिकोण की परिचायक है और आगामी भागों की कथा का विकास प्रायः इसी सूत्रवाक्य से प्रतिफलित होता है। द्वितीय भाग में व्यक्ति और परिवार के संबंधों का चित्रण भारतीय दृष्टिकोण से किया गया है तथा तृतीय में कर्मक्षेत्र के विस्तार के साथ प्राच्य और पाश्चात्य संस्कारों का संघर्ष प्रदर्शित है। चतुर्थ भाग में लोककल्याण की भावना से उद्भूत 'कल्याणग्राम' की स्थापना की एक आदर्श योजना के साथ कथा समाप्त होती है। बीच-बीच में साधु संतों के प्रसंगों को समाविष्ट करके तथा नायक की प्रवृत्ति को आद्योपांत वैराग्य एवं पारमार्थिक कल्याण की ओर उन्मुख चित्रित करके लेखक ने अपने सांस्कृतिक दृष्टिकोण को सफलतापूर्वक साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रदान की है।

'स्नेहमुद्रा' गोवर्धनराम की ऊर्मिप्रधान भावगीतियों का, संस्कृतनिष्ठ शैली में लिखित, एक विशिष्ट कवितासंग्रह है जो सन् १८८९ में प्रकाशित हुआ था। इसमें समीक्षकों ने मानवीय, आध्यात्मिक एवं प्रकृतिपरक प्रेम की अनेक कोटियाँ परिलक्षित की हैं। 'दयारामनो अक्षरदेह' (ई० १९०६) में उनकी प्रतिभा एक समर्थ काव्यविवेचक के रूप में प्रकट हुई है। 'विल्सन कॉलेज, साहित्य सभा' के समक्ष प्रस्तुत अपने गवेषणापूर्ण अँगरेजी व्याख्यानों के माध्यम से उन्होंने प्राचीन गुजराती साहित्य के इतिहास को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने का प्रथम प्रयास किया। इनका प्रकाशन क्लैसिकल पोएट्स ऑव गुजरात ऐंड देयर इनफ्लुएंस आन सोसायटी ऐंड मॉरल्स' नाम से हुआ है। १९०५ में गुजराती साहित्य परिषद् के 'प्रमुख' रूप से दिए गए अपने भाषण में इन्होंने आचार्य आनंदशंकर बापूभाई ध्रुव से प्राप्त सूत्र को पकड़कर नरसी मेहता के कालनिर्णय की जो समस्या उठाई उस पर इतना वादविवाद हुआ कि वह स्वयं ऐतिहासिक महत्व की वस्तु बन गई। जीवनचरितलेखक के रूप में उनकी क्षमता 'लीलावती जीवनकला' (ई० १९०६) तथा 'नवलग्रंथावलि' (ई० १८९१) के उपोद्घात से अंकित की जाती है। लीलावती उनकी दिवंगता पुत्री थी और उसके चरितलेखन में तत्वचिंतन एवं धर्मदर्शन को प्रधानता देते हुए उन्होंने सूक्ष्म देह की गतिविधि को प्रस्तुत किया है। नवलराम की जीवनकथा की अपेक्षा इसमें आत्मीयता का तत्व अधिक है। गोवर्धनराम ने अपनी जीवनी के संबंध में भी कुछ 'नोट्स' लिख छोड़े थे जो अब 'स्केच बुक' के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। [ज० गु०]

गोवर्धनाचार्य जयदेव के गीतगोविंद में गोवर्धनाचार्य को रससिद्ध कवि कहा गया है। जयदेव बल्लालसेन के पुत्र लक्ष्मणसेन के समय बंगाल के एक सुप्रसिद्ध भक्त कवि हो गए हैं। लक्ष्मणसेन की सभा में पाँच रत्न थे, ऐसी प्रसिद्धि सर्वविदित है। उन पाँच रत्नों में गोवर्धनाचार्य का नाम भी गिना जाता है। अतः गोवर्धनाचार्य जयदेव के समकालीन कवि रहे होंगे और चूँकि जयदेव गोवर्धन का उल्लेख सुप्रसिद्ध कवि के रूप में करते हैं अतः गोवर्धन जयदेव के पूर्व ही ख्याति प्राप्त कर चुके होंगे। लक्ष्मणसेन का काल बारहवीं सदी का उत्तरार्ध माना जाता है और यही गोवर्धन का भी काल ठहरता है। गोवर्धन बंगाली कवि थे—उनका जन्म या निवासस्थान बंगाल ही रहा होगा इसमें संदेह की गुंजाइश कम है। परंतु इसके अतिरिक्त गोवर्धन के बारे में और कोई जानकारी हमें नहीं है।

आर्यासप्तशती नामक मुक्तक कविताओं का संग्रह गोवर्धन की कृति मानी जाती है। इसमें ७०० आर्याएँ संगृहीत होनी चाहिए परंतु विभिन्न संस्करणों में आर्याओं की संख्या अलग-अलग मिलती है। कुछ संस्करणों में तो आर्याओं की संख्या ७६० तक पहुँच गई है। अतः यह कहना कठिन है कि उपलब्ध आर्यासप्तशती क्षेपकों से रहित है। मध्ययुग में यह संग्रह काफी लोकप्रिय था और उसकी आर्याओं की छाया लेकर बहुत सी फुटकल रचनाएँ लिखी गईं। बिहारी कवि की 'सतसई' इस संग्रह से बहुत प्रभावित है।

आर्यासप्तशती में ही यह उल्लेख मिलता है कि जो शृंगाररस की धारा प्राकृत में ही उपलब्ध थी उसको संस्कृत में अवतरित करने के लिये यह प्रयास किया गया है। यहाँ संकेत हाल की 'गाथासप्तशती' की ओर

है। हाल ने प्राकृत गाथाओं में शृंगारपरक रचनाएं निबद्ध की हैं। गोवर्धन ने इन्हीं गाथाओं को अपनी आर्याओं का आदर्श बनाया। प्राकृत का गाथाछंद संस्कृत के आर्याछंदों के अधिक निकट है अतः गोवर्धन ने आर्याछंद को ही रचना के लिये चुना। केवल छंद में ही नहीं अपितु भावचित्रण में भी गोवर्धन हाल का बहुधा अनुकरण करते हैं। परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि आर्यासप्तशती गाथासप्तशती का संस्कृत अनुवाद मात्र है। जब भी गोवर्धन किसी गाथा के भाव को व्यक्त करना चाहते हैं, वे उसमें अपनी मौलिक प्रतिभा के प्रदर्शन से नहीं चूकते। अतः आर्यासप्तशती गाथासप्तशती से स्थूलरूप में प्रभावित होते हुए भी अपने आपमें मौलिक है।

शृंगार की अभिव्यक्ति के लिये गोवर्धन को आचार्य माना जाता है। इनकी रचनाओं में शृंगार का उद्दाम रूप खुलकर आया है। कहीं कहीं तो नग्न चित्रण अपनी नग्नता के कारण रसाभास उत्पन्न कर देते हैं। एक जगह तो गोवर्धन ने प्रेम में शव के चुंबन की भी बात कही है। परंतु अभिव्यक्ति की तीव्रता, अलंकारसंयोजना तथा व्यंजना की गंभीरता के कारण गोवर्धनाचार्य की गणना सत्कवियों में की जा सकती है।

सं० ग्रं०—ए० बी० कीथ : संस्कृत साहित्य का इतिहास; आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदीसाहित्य का इतिहास।

(रा०चं० पां०)

गोविंद, प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ मान्यखेट में अपनी राजधानी बनाकर दक्षिणापथ पर शासन करनेवाले जिन राष्ट्रकूट राजाओं ने सर्वप्रथम अपने वंश की वास्तविक राजनीतिक प्रतिष्ठा स्थापित की, उनमें प्रमुख थे दंतिदुर्ग और कृष्ण प्रथम। परंतु उनके पूर्व उस राजकुल में अन्य अनेक सामंत राजा हो चुके थे। गोविंद प्रथम उन्हीं में से एक था। संभवतः राष्ट्रकूटों की किसी अन्य सामान्य शाखा में भी गोविंद नाम का कोई सरदार हो चुका था। इसका आधार है विभिन्न वंशावलियों में गोविंद नाम की क्रम से दो बार प्राप्ति। परंतु मुख्य शाखा का गोविंद (प्रथम) सामंत उपाधियों को धारण करता था, जो दूसरे गोविंद के बारे में नहीं कहा जा सकता। डा० अल्तेकर उसका संभावित काल ६९० ई० से ७१० ई० तक निश्चित करते हैं। कुछ राष्ट्रकूट अभिलेखों से उसके शैव होने की बात ज्ञात होती है।

गोविंद द्वितीय कृष्ण प्रथम का पुत्र था और ७७३–४ ई० में कभी राजगद्दी का उत्तराधिकारी हुआ। अपने पिता के शासनकाल में भी वह प्रशासन से संबद्ध रहा और उसके अंतिम दिनों में युवराज नियुक्त कर दिया गया था। युवराज की अवस्था में ही उसने वेंगी के पूर्वी चालुक्य शासक विष्णुवर्धन चतुर्थ को एक लड़ाई में हराया था। वह अच्छा घुड़सवार और योग्य सैनिक था। राजा होकर उसने प्रभूतवर्ष और विक्रमावलोक की उपाधियाँ धारण कीं। परंतु शासक के रूप में वह बड़ा निकम्मा निकला और भोगविलास में अधिक रुचि रखने लगा। प्रशासन और वंश की प्रतिष्ठा के विस्तार की चिंता उसने छोड़ दी, यहां तक कि प्रशासन का सारा उत्तरदायित्व उसने अपने छोटे भाई ध्रुव के हाथों में छोड़ दिया। स्वाभाविक था कि ध्रुव इस परिस्थिति से लाभ उठाता। अपने बड़े भाई और राजा की आज्ञाओं को प्राप्त किए बिना ही वह स्वयं भूमि आदि का दान देने लगा और अनेक दानपत्र अपने नाम से उसने प्रचारित किए। ध्रुव की इन प्रवृत्तियों से गोविंद द्वितीय को उसके प्रति संदेह उत्पन्न हो जाय, यह कुछ अप्रत्याशित था और वह अपने पद से हटा दिया गया। दोनों भाइयों के बढ़ते हुए मनोमालिन्य का प्रभाव सामंतों में बढ़ती हुई स्वतंत्रता की भावना पर हुआ। ध्रुव ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया और साम्राज्य तथा वंश की प्रतिष्ठा की रक्षा का बहाना बनाकर उसने खुला विद्रोह कर दिया। गोविंद द्वितीय ने कांची गंगवाड़ी, वेंगी और मालवा के राजाओं से सहायता माँगी, परंतु उनकी सैनिक सहायता के होते हुए भी ध्रुव सफल रहा। गोविंद द्वितीय के सहायक सैनिक संघ और ध्रुव की सेनाओं के बीच युद्ध कहाँ हुआ, यह निश्चित नहीं है, परंतु वह था निर्णायक और उसमें ध्रुव की विजय हुई। विजय के बाद उसने अपने भाई का क्या किया, यह भी ज्ञात नहीं है, परंतु उसकी राजगद्दी तो उसने छीन ही ली और संभवतः ७८० ई० में उसपर स्वयं आसीन भी हो गया।

ध्रुव ने १३ वर्षों तक सफलतापूर्वक शासन करने के बाद संभवतः अपने जीवनकाल में अपने तीसरे और योग्यतम पुत्र गोविंद (तृतीय) को ७९३ ई० के आसपास राज्याभिषिक्त कर दिया। उसके पूर्व गोविंद का युवराजपद पर विधिवत् अभिषेक हो चुका था। इसका कारण था एक ओर ध्रुव की अपने बाद गोविंद को राज्याधिकारी बनाने की इच्छा और दूसरी ओर उसका यह भय कि उसके बड़े लड़के अपना अधिकार पाने के लिये उसकी मृत्यु के बाद कहीं उत्तराधिकार का युद्ध न आरंभ कर दें। साथ ही ध्रुव ने अपने अन्य पुत्रों को अपने साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों का प्रांतीय शासक नियुक्त कर दिया। परंतु गोविंद तृतीय की सैनिक योग्यता और राजनीतिक दक्षता मात्र से प्रभावित होकर अथवा अपने पिता के द्वारा उसकी राजगद्दी का उत्तराधिकार दे दिये जाने से ही संतुष्ट होकर वे कभी चुप बैठनेवाले न थे। गोविंद तृतीय के सबसे बड़े भाई स्तंभ ने अपने पिता ध्रुव के मरने के बाद उत्तराधिकार के लिये अपनी शक्ति आजमाने की ठानी। उसे कुछ सामंत राजाओं की भी शह प्राप्त हो गई, जिनकी संख्या कुछ राष्ट्रकूट अभिलेखों में १२ बताई गई है। पहले तो गोविंद तृतीय ने अपने अन्य भाइयों की तरह स्तंभ को भी प्रसन्न करना चाहा, पर उसे कोई सफलता न मिली और दोनों में युद्ध होकर ही रहा। गोविंद के छोटे भाई इंद्र ने उसकी मदद की। युद्ध में स्तंभ की हार हुई परंतु गोविंद ने उसके प्रति नरमी की ही नीति अपनाई और उसे अपनी ओर से गंग प्रदेश का प्रशासक नियुक्त कर दिया।

राजगद्दी पर सुस्थित होकर गोविंद ने विद्रोही सामंतों को दबाने और अपनी अधिराज्यशक्ति के विस्तार की ओर ध्यान दिया। गंग शासक शिवमार राष्ट्रकूटों के द्वारा कैद किया जा चुका था पर कैद से मुक्ति पाकर उसने स्वतंत्रता की प्रवृत्ति दिखाई और राष्ट्रकूट अधिसत्ता को उठा फेंकने की कोशिश की। गोविंद ने उसे तुरंत परास्त किया, वह पुनः बंदी बना और गंगवाड़ी को राष्ट्रकूट साम्राज्य के भीतर मिला लिया गया। स्तंभ पुनः वहाँ का गवर्नर नियुक्त किया गया। तत्पश्चात् गोविंद ने कांची के शासक को हराया पर उसकी वह विजय स्थायी न थी और थोड़े ही दिनों बाद उसे कांची पर दूसरा अभियान करना पड़ा। पुनः उसने वेंगी के पूर्वी चालुक्य शासक विजयादित्य पर आक्रमण कर उसको अपनी भृत्योपयुक्त सेवा के लिये विवश किया। दक्षिण के प्रायः समस्त राज्यों पर अपना आधिपत्य जमा लेने के बाद

गोविंद ने उत्तर की राजनीति को प्रभावित करना शुरू कर दिया। उसके पिता ध्रुव ने गुर्जर प्रतिहार शासक वत्सराज और पालराज धर्मपाल दोनों ही को परास्त कर उत्तर भारत की दिग्विजय की थी। परंतु उसके बाद उत्तर भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर अनेक नए दृश्य उपस्थित हुए थे। धर्मपाल ने चक्रायुध को अपने नामांकित और करद के रूप में कान्यकुब्ज की गद्दी पर बिठाने में सफलता पा ली थी, परंतु वत्सराज के उत्तराधिकारी नागभट्ट द्वितीय ने तुरंत पासा पलट दिया और कन्नौज का स्वामी बन गया। ऐसी ही परस्थितियों में गोविंद तृतीय ने उत्तर भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप किया और अपने विजयी अभियान प्रारंभ कर दिए। कुशल राजनीतिज्ञ और दक्ष सेनापति के अनुरूप उन अभियानों के पूर्व उसने अपने पार्श्वों की सुरक्षा का पूर्ण प्रबंध कर लिया था। उसी नीति में उसने इंद्र को मालवा और गुजरात में गुर्जर प्रतिहारों के किसी आकस्मिक बढ़ाव को रोकने के लिये रख छोड़ा। पश्चात् नागभट्ट और गोविंद के बीच कहीं बुंदेलखंड में युद्ध हुआ जहाँ गुर्जर प्रतिहार सेनाओं को मुँहकी खानी पड़ी और नागभट्ट को स्वयं अपनी रक्षा के लिये किसी अज्ञात स्थान की शरण लेनी पड़ी। तत्पश्चात् गोविंद की सेनाएँ हिमालय की ओर बढ़ीं और कहीं रास्ते में धर्मपाल और चक्रायुध ने भी उसकी अधीनता मान ली। लौटते समय भी गोविंद की सेनाओं ने दक्षिण पूर्वी मध्यभारत एवं बंगाल तथा उड़ीसा के अनेक क्षेत्रों को जीता। परंतु गोविंद का सारा उत्तर भारतीय अभियान दिग्विजय मात्र था और उसका राष्ट्रकूटों की सैनिक प्रतिष्ठा की वृद्धि के अतिरिक्त कोई विशेष प्रभाव न हुआ। उससे राष्ट्रकूट साम्राज्य सेना की उत्तर में कोई वृद्धि न हुई। इसका मुख्य कारण दूरी थी। उसके उन अभियानों का समय अब प्रायः ८००-८०२ ई० के बीच माना जाता है।

उत्तर भारतीय अभियानों से निवृत्त होकर गोविंद ने पुनः एक बार दक्षिण में अपनी सैनिक शक्तियों का प्रदर्शन किया। कारण था उधर के कुछ शासकों में स्वतंत्रता की भावना का उदय। परंतु उन्हें दबाने के पूर्व उसने पश्चिमी भारत में भड़ौच की ओर प्रयाण किया था, जहाँ श्रीभवन (आधुनिक सरभोन) के राजा ने उसका स्वागत किया। श्रीभवन से वह दक्षिण की ओर बढ़ा। गंगवाड़ी, केरल, पांड्य, चोल और कांची के राजाओं ने उसके विरुद्ध एक सैनिक संघ की स्थापना कर ली थी परंतु युद्ध में वे सभी हार गए और उनके असंख्य सैनिक खेत रहे। गोविंद की सेनाओं ने कांची पर कब्जा कर लिया और पांड्य तथा चोल क्षेत्रों को रौंदा। गोविंद की सैनिक सफलताओं से सिंहल का राजा भयभीत हो उठा और उसने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।

स्पष्ट है कि गोविंद तृतीय राष्ट्रकूटों में अत्यधिक योग्य और सफल शासक हुआ और वह अपने समय की दक्षिण तथा उत्तर भारतीय राजनीति को समान रूप से प्रभावित करता रहा। सैनिक और राजनीतिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से उसे समसामयिक भारत का सर्वप्रमुख शासक कहा जा सकता है। उसने अपने समय में राष्ट्रकूट राजवंश को सबसे अधिक श्रीवृद्धि की और उसकी सफलताओं के पीछे उसकी निजी वीरता, कूटनीतिज्ञता और संघटनशक्ति भरपूर मात्रा में लगी हुई थी। इस प्रकार लगभग २०-२१ वर्षों तक अत्यंत योग्यता और सफलतापूर्वक शासन करने के बाद ८१४ ई० में गोविंद तृतीय की मृत्यु हो गई।

गोविंद चतुर्थ इंद्र तृतीय का द्वितीय पुत्र था और अपने बड़े भाई अमोघवर्ष द्वितीय को राजगद्दी से हटा एवं मारकर राष्ट्रकूट की राजगद्दी पर बैठा था। इस घटना के ठीक समय के बारे में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सिंहासनारोहण के समय वह लगभग २०-२५ वर्षों का नवजवान था परंतु दुर्भाग्यवश उसकी प्रवृत्ति भोगविलास में अधिक थी। अपने सौंदर्य और जवानी को उसने नाच, गान और इंद्रियभोग में लगाया और राजकाज की चिंता बिलकुल ही छोड़ दी। जनता और राष्ट्रकूट साम्राज्य के शुभचिंतक सामंतों को इस बात से बड़ी चिंता हुई और सबने उसके चचा अमोघवर्ष (तृतीय) से उससे मुक्ति दिलाने का आग्रह किया। अमोघवर्ष ने स्वयं उसके विरुद्ध योजनाओं का प्रारंभ किया हो, ऐसा नहीं लगता, परंतु अपने भतीजे (गोविंद चतुर्थ) की बदनामी और अन्य सारी परिस्थितियों को अपने अनुरूप पाकर उसने गोविंद को गद्दी से हटा दिया। इस कार्य में उसे अपने संबंधी चेदिराज से सहायता मिली। उसका निजी व्यक्तित्व और सुचरित्र भी उसके पक्ष में था और ९३६ के आसपास गोविंद चतुर्थ को अपदस्थ कर उसने गद्दी ले ली।

[वि० पा०]

गोविंदगुप्त, गुप्तवंशी सम्राट् कुमारगुप्त के छोटे भाई। वैशाली से मिली कुछ मिट्टी की मुहरों से उनका महादेवी ध्रुवस्वामिनी और महाराजाधिराज चंद्रगुप्त द्वितीय का पुत्र होना प्रगट होता है। संभवतः अपने पिता के शासनकाल में वह तीरभुक्ति के प्रांतीय शासक थे और वैशाली केंद्र से शासन करते थे, किंतु कुमारगुप्त के शासन में उनका स्थानांतरण पश्चिमी मध्यप्रदेश में हो गया जान पड़ता है। मंदसोर से प्राप्त ४६७-८ ई० (मालव संवत् ५२४) के प्रभाकर के एक अभिलेख से भी एक गोविंदगुप्त का पता चलता है। वहाँ भी उन्हें चंद्रगुप्त का ही पुत्र कहा गया है। उसमें गोविंदगुप्त के सेनापति वायुरक्षित के पुत्र देवभट्ट के एक दान की चर्चा है। उससे यद्यपि यह ज्ञात नहीं होता कि उस समय तक गोविंदगुप्त जीवित थे या नहीं तथापि गोविंदगुप्त की शक्ति के प्रति इंद्र को भी ईर्ष्यालु कहा गया है जिससे भंडारकर जैसे कुछ विद्वानों ने उन्हें स्वतंत्र शासक माना है। ऐसी दशा में वह सम्राट् स्कंदगुप्त से स्वतंत्र ठहरेंगे। परंतु जब तक अन्य कोई पुष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं होता, हम यह नहीं निश्चित कर सकते कि वैशाली की मुहरों के गोविंदगुप्त और मंदसोर के अभिलेखवाले गोविंदगुप्त एक ही व्यक्ति थे। दोनों के एक होने में सबसे बड़ा व्यवधान समय का प्रतीत होता है। चंद्रगुप्त द्वितीय की अंतिम ज्ञात तिथि ४१२-४१३ ई० है। गोविंदगुप्त उनकी एक भुक्ति का शासन सँभालते थे, यह उनकी युवावस्था और अनुभव का द्योतक है। उसके बाद भी वह दो पीढ़ियों (कुमारगुप्त और स्कंदगुप्त) तक जीवित रहे, यह असंभव तो नहीं, पर असाधारण अवश्य जान पड़ता है। जो भी हो, ४६७-८ ई० तक वह काफी वृद्ध हो चुके होंगे और अपने शासन भार को पूर्ववत् वहन करते रहे होंगे, इसमें संदेह किया जा सकता है।

(वि० पा०)

गोविंददास बंगाली वैष्णव साहित्य में गोविंददास नाम के तीन विख्यात कवि हुए हैं। एक गोविंददास कविराज, दूसरे गोविंददास चक्रवर्ती, तीसरे गोविंददास आचार्य।

१. चैतन्यदेव के परवर्ती कवियों में गोविंददास कविराज सर्वश्रेष्ठ कवि हुए हैं। इन्होंने केवल 'ब्रजबुलि' में पदरचना की है। समस्त पद राधा-कृष्ण-लीला संबंधी हैं। इन पदों में समस्त काव्यगुण बहुत अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। छंद में अत्यंत सुंदर गति शब्दों के चयन द्वारा प्रस्तुत की गई है। अनुप्रासों की छटा भी अनुपम है। तत्सम एवं

अर्धतत्सम शब्दों के प्रयोग से काव्य अत्यंत सुंदर हो उठा है। प्रकृति-चित्रण, नख-शिख-वर्णन अत्यंत मनोमुग्धकारी है। कहा जाता है, कवि ने अपने पदों का संग्रह गीतामृत नाम से स्वयं किया था। गोविंदास का उल्लेख प्रमुख वैष्णव जीवनीग्रंथ जैसे भक्तमाल, भक्तिरत्नाकर, और प्रेमविलास में विस्तृत रूप से है। इन सबके अनुसार गोविंददास का जन्म श्रीखंड में हुआ था। इनका ग्राम 'तेलियाबुधरी' था। इनके पिता का नाम चिरंजीव सेन एवं माता का नाम सुनंदा था। इनके नाना ने, जिनका नाम दामोदर सेन था, अनाथ हो जाने पर इनको और इनके भाई रामचंद्र को पाला था। गोविंददास पहले शाक्त थे फिर वैष्णव हो गए। श्रीनिवास आचार्य इनके गुरु थे। इनके प्राप्त पदों की संख्या ४५० से ऊपर है। इनका जन्म १५३० ई० और मृत्यु १६१३ ई० के लगभग हुई।

२. गोविंददास चक्रवर्ती बोराकुली ग्राम निवासी भक्त और पदकर्ता थे। ये श्रीनिवास आचार्य के शिष्य थे। गोविंददास कविराज इनके समसामयिक एवं गुरुभाई थे। गोविंददास चक्रवर्ती की निश्चित जन्मतिथि अज्ञात है। इनका रचनाकाल गोविंददास कविराज के ही आसपास है। भक्तिरत्नाकर ग्रंथ में इनके बारे में कहा गया है कि ये श्रीनिवास आचार्य के अतिप्रिय शिष्य थे एवं गीत-वाद्य-विद्या में निपुण भक्तिमूर्ति थे। वैष्णवदास एवं उद्धवदास ने अपने एक एक पद में इनका उल्लेख किया है। इनके कुछ ही पद प्राप्त हैं।

३. गोविंददास आचार्य श्री चैतन्य के शिष्य और समसामयिक थे तथा सन् १५३३ ई० के लगभग उपस्थित थे। 'वैष्णव वंदना' एवं 'गौर-गणोद्देश-दीपिका' दोनों ग्रंथों में इनका उल्लेख है। 'वैष्णव वंदना' के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि इन्होंने राधा-कृष्ण-लीला संबंधी रचनाएँ 'विचित्र धामाली' की थीं।

(र० कु०)

गोविंदसिंह, गुरु (१६६६-१७०८ ई०)—सिक्खों के १०वें और अंतिम गुरु। जन्मस्थान पटना (बिहार)। बचपन गंगा नदी में नाव खेने, साथियों से मल्लयुद्ध करने कराने, वाणविद्या का अभ्यास, घुड़सवारी और शिकार करने में बीता। ये नौ वर्ष के थे जब इनके पिता गुरु तेगबहादुर ने दिल्ली में अपना बलिदान दिया। मुगलों से अपने पिता की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिये बालक गोविंद ने ११ वर्ष तक नाहन की पहाड़ियों में तप किया, एवं भगवद्भजन और विद्यासंग्रह के अतिरिक्त शस्त्रविद्या का अभ्यास किया, नवयुवकों को भरती किया, (देहरादून से ३० मील) पौंटा में एक किला और आनंदपुर में एक शस्त्रागार बनवाया। पौंटा में रहकर इन्होंने श्रीकृष्णचरित से संबंधित अपनी प्रारंभिक रचनाएँ लिखीं। स्थायी वास आनंदपुर में रखा। इनके दरबार में बावन (५२) कवि—नंदलाल, हुसेन अली, मंगल, चंदन, ईशरदास, कुँवर आदि थे। कुँवर हिंदी के प्रसिद्ध कवि केशवदास के पुत्र थे। इन कवियों ने पुराण, रामायण, महाभारत आदि का उल्था किया और मौलिक साहित्य भी लिखा, किंतु वह सब बाद में युद्धयात्राओं में सतलज नदी की भेंट हो गया।

गुरु गोविंदसिंह ने दो विवाह किए थे। सुंदरी से अजीतसिंह, और जीतो से जुझारसिंह, जोरावरसिंह और फतहसिंह चार पुत्र हुए। बाद में चारों बालक शत्रुओं के हाथों मारे गए। जोरावर और फतह सरहिंद में वहाँ के शासक वजीरखाँ की आज्ञा से जीते जी दीवार में चुनवा दिए गए। सन् १६९९ में गुरु गोविंदसिंह ने वैशाखी संक्रांति के दिन एक बड़ा भारी यज्ञ किया। इसमें उन्होंने 'पाँच प्यारे' सिक्खों का चुनाव किया और उन्हें वह रूप दिया जो आज सिक्खों का है—अर्थात् उन्हें केश, कंघा कच्छ (जाँघिया), कड़ा और कृपाण इन पाँच ककारों में सुसज्जित किया इसीसे 'खालसा' की नींव पड़ी। धीरे धीरे इनकी सेना और शक्ति बढ़ लगी। आनंदपुर, चमकौर, मुक्तिसर आदि स्थानों पर सिक्खों की मुगल के साथ घमासान लड़ाइयाँ हुईं जिनमें गुरु गोविंदसिंह की अद्भुत संगठन शक्ति, त्याग, तपस्या, आस्तिकता और आत्मविश्वास का प्रमाण मिला अंतिम दिनों में ये दक्षिण में थे जहाँ नंदेड़ (अब अविचल नगर) में ए पठान के हाथों घायल होने के कारण इनका देहांत हुआ।

गुरु गोविंदसिंह की साहित्यिक रचनाओं में 'दशम ग्रंथ', 'गोविंदगीता' और 'प्रेमप्रबोध' प्रसिद्ध हैं। 'दशम ग्रंथ' की भावधारा हिंदू पद्धति प है, संभवतः इसीलिये इसे सिक्खों में इतनी मान्यता नहीं दी गई जितन आदिग्रंथ को। दशम ग्रंथ के अंतर्गत 'जफरनामा' फारसी में लिख औरंगजेब के नाम पत्र है। 'चंडी दी वार' इनकी एकमात्र पंजाबी क कविता है। शेष संपूर्ण साहित्य हिंदी में है—(भक्तिरस का) जा साहब, अकाल उस्तुत, चौपई, वार श्री भगौती; (वीररस की) विचि नाटक (आत्मचरित), चौबीस अवतार और शस्त्र नाममाला। छंदों क विविधता, भाषा की ओजस्विता, भावों की स्पष्टता और कल्पना क मौलिकता इनके काव्य के शृंगार हैं।

(ह० दे० बा०

गोसाईंथान स्थिति : २८° २१' उ० अ० तथा ८५° ४७' पू० दे०। तिब्ब की सीमा के निकट नेपाल में बाह्य हिमालय की २६, २०५ फुट ऊँच हिमाच्छादित चोटी है जो काठमांडू से लगभग ५५ मील उत्तर-पूर्व स्थित है। इसे तिब्बती में 'शीशा पांगमा' कहते हैं। एवरेस्ट पर्वत शृं से ७५ मील पश्चिम स्थित यह चोटी सन् १९५० तक पर्वतारोहि द्वारा अविजित रही है। समीपवर्ती क्षेत्र समगंडकी नदी द्वारा प्ला रहता है।

(रा० प्र० सि०

गोस्वामी संस्कृत मूल गोस्वामिन् से व्युत्पन्न, अन्य तद्भवरूप गुसाईं गोसाईं, गोसामी आदि; अर्थ है जितेंद्रिय अथवा गौओं (इंद्रियों, गोपियों का स्वामी। हिंदू साधुओं तथा भिक्षुओं का एक संप्रदाय और जाति संज्ञक उपाधिविशेष। ये लोग उत्तरप्रदेश, बंगाल, बंबई, राजस्थान मध्यप्रदेश और दक्षिण भारत में पाए जाते हैं। संप्रदायविशेष क दृष्टि से इसके दो वर्ग हैं—शैव गोस्वामी तथा वैष्णव गोस्वामी।

शैव मतावलंबी गोस्वामी प्रसिद्ध शंकराचार्य के आध्यात्मिक उत्तरा धिकारी बताए जाते हैं। उनके चार मुख्य शिष्यों से दसवर्गी अथव दशनामियों की उत्पत्ति हुई। इसके दो प्रधान विभाग मठधारी अथव संन्यासी और घरबारी अथवा गृहस्थ है। मठधारी शैव गोस्वाम वाराणसी, हरद्वार आदि तीर्थस्थानों में स्थित अपने अखाड़ों या म में निवास करते हैं। इनसे संबंधित एवं दीक्षित गृहस्थ व्यवसायी हैं ज व्यापार के साथ अन्य धंधे भी करते और पारिवारिक जीवन व्यतीत कर हैं। इस संप्रदाय में निम्नतम वर्ग को छोड़ अन्य सभी वर्णों के बाल प्रवेश पाते हैं। वाराणसी आदि स्थानों में संप्रदाय की दीक्षा के लि शिवरात्रि के दिन विशेष पर्व और आयोजन होते हैं।

वैष्णव गोस्वामी पद पूर्वी बंगाल तथा आसाम के वैष्णव प्रचा के लिये भी प्रयुक्त होता है। इनमें भी मठधारी और घरबारी हो हैं। बंबई, उत्तरप्रदेश तथा बंगाल के गुसाईं अपनी रक्ष की गुहा

प्रतिष्ठा और संप्रदाय की मूलधारा से अविच्छिन्नता के कारण उल्लेख्य हैं। किंतु घुमक्कड़ जाति अथवा भिक्षुक रूप में निर्देशित गुसाईं लुटेरे, दुराचारी भी हो गए हैं जिनकी वर्णसंकरता उनकी वेश्यावृत्ति के बावजूद गृहस्थ संन्यासी के वंशज रूप में स्वतःसिद्ध है। मध्ययुग तथा परवर्ती काल में भी इन कृत्रिम गुसाइयों का आतंक देश के कई भागों में व्याप्त था। बाद में ये मराठों की सेना में भरती हुए। महादजी सिंधिया की सेवा में गुसाइयों की एक बड़ी संख्या नियुक्त थी।

(श्या० ति०)

गोष्ठी इस शब्द का अति प्राचीन प्रयोग 'ऐतरेय ब्राह्मण' (३।१८।१–४) से मिलने लगता है। इस युग में चरागाहों से पशुओं को एकत्र कर किसी एक स्थान पर सुरक्षा की दृष्टि से रात बितानी पड़ती थी। ऐसे अवसरों पर किसी वृक्ष के नीचे बैठकर गोपगोपियों के बीच गप्प गोष्ठियाँ आयोजित की जाती थीं। धीरे धीरे वे स्थान संगठित होकर निवास के स्थायी स्थल बनते गए। 'गाथासप्तशती' (७।६) में गोट्ठं का प्रयोग इस संदर्भ में स्मरणीय है। सिंधी भाषा का गोठ शब्द भी गाँव का ही पर्याय है। दे० 'गोदान।'

'नायाधम्म कहाओ' (१।१६।७७–८०) से पता चलता है कि उसके रचनाकाल तक 'ललियाएणामं गोट्ठी' (ललित गोष्ठी) का आयोजन होने लगा था। स्वयं शासक के संरक्षण में ऐसी गोष्ठियाँ आयोजित की जाती थीं जिनके सदस्य संपन्न कुल के हुआ करते थे। ऐसी गोष्ठियाँ केवल आमोदप्रमोद के लिये बुलाई जाती थीं। 'कथाकोश' (१।४।३४–३६) के अनुसार विचार विनिमय के माध्यम द्वारा ज्ञानार्जन के लिये जो सांस्कृतिक बैठकें हुआ करती थीं उन्हें 'गोष्ठीसमवाय' की संज्ञा प्राप्त थी। सामान्यतः ऐसी गोष्ठियाँ गणिकालय, सभामंडप अथवा किसी संपन्न नागरिक के यहाँ आयोजित की जाती थीं। विचार विनिमय का विषय कला, साहित्य अथवा संगीत हुआ करता था। गुणी कलाकारों और साहित्यसेवियों को पुरस्कृत भी किया जाता था। 'कामसूत्र' (१।४।-३८–३९) में 'पानगोष्ठियों' का उल्लेख मिलता है जिनमें नगरवधुएँ भी भाग लिया करती थीं। वहाँ पर बाट के साथ साथ सुरा सेवन की भी व्यवस्था रहती थी। इनका आयोजन कभी कभी उद्यानयात्रा के अवसरों पर हुआ करता था, अन्यथा ये नागरिकों के घरों में जुड़ा करती थीं।

परंतु काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने काव्यपरीक्षण (१०।१७४-७७) के लिये जिस काव्यगोष्ठी अथवा कविसमाज की व्यवस्था शासकों को दी है वह भिन्न कोटि की थी। प्राचीन काल की ऐसी काव्यगोष्ठियों में कभी कभी शास्त्रार्थ भी हुआ करते थे। कहा जाता है, कि ऐसी गोष्ठियों का सभापतित्व वासुदेव, शालिवाहन हाल, शूद्रक और साहसांक विक्रमादित्य तक ने की थी। मानसोल्लास (पृ० १०१-८९) के अनुसार सोमेश्वर के दरबार में कभी कभी तीसरे पहर कवि गोष्ठियाँ भी हुआ करती थीं जिनमें कवि, गायक, विद्वान् और नैयायिक राजसिंहासन के पास बैठकर भाग लिया करते थे। ऐसे अवसरों पर पारितोषिक वितरण की व्यवस्था भी रहती थी, जहाँ सधर्मी भी आमंत्रित किए जाते थे।

गोष्ठी का एक रूप किसी अंक के उपरूपक में भी मिलता है, जहाँ नौ दस पुरुषों तथा पाँच छह स्त्रियों का अभिनय अनिवार्य समझा जाता था। इसमें कैशिकीवृत्ति की योजना, उदात्त वचनों के प्रयोग और गर्भ तथा विमर्श संधियों के अतिरिक्त शेष सभी संधियों का समावेश रहता है। अन्य बातों की सादृश्य नाटक जैसा है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ की स्थापनाओं (६।२७४-७५) की समानता 'शारदातनय' (भावप्रकाश, अष्टम अधिकार) के विचारों जैसी है।

जैनियों के आदिपुराण (१४।१९०-९२) में ऋषभदेव के बाल्य जीवन की गोष्ठियों का वर्णन है, जहाँ पर कलागोष्ठी, पदगोष्ठी, जल्पगोष्ठी और वादित्रगोष्ठी का उल्लेख है। 'हर्षचरित' (पृ० ७१) में वीरगोष्ठी का वर्णन मिलता है जिसमें युद्धक्षेत्र के वीरों के कृत्यों का निदर्शन हुआ करता था।

मराठी में गोष्ठी का एक प्रयोग 'कानाफूसी' (रहस्यवार्ता) के अर्थ में पाया जाता है जिसका परिचय हमें मध्यकालीन संतों, भक्तों और योगियों के संवादमूलक गोष्ठियों द्वारा मिला करता है। हिंदी साहित्य क्षेत्र में भी साहित्यकारों चित्रकारों आदि की गोष्ठियाँ कुछ सालों से होने लगी हैं। [भ० च०]

गोह (Monitor) सरीसृपों के स्क्वामेटा (Squamata) गण के वैरानिडी (Varanidae) कुल के जीव हैं, जिनका शरीर छिपकिली के आकार का, लेकिन उससे बहुत बड़ा, होता है।

गोह छिपकिलियों के निकट संबंधी हैं, जो अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, अरब और एशिया आदि देशों में फैले हुए हैं। ये छोटे बड़े सभी तरह के होते है, जिनमें से कुछ की लंबाई तो १० फुट तक पहुँच जाती है। इनका रंग प्रायः भूरा रहता है। इनका शरीर छोटे छोटे शल्कों से भरा रहता है। इनकी जबान साँप की तरह दुफंकी, पंजे मजबूत, दुम चपटी और शरीर गोल रहता है। इनमें कुछ अपना अधिक समय पानी में बिताते हैं और कुछ खुरकी पर, लेकिन वैसे सभी गोह खुरकी, पानी और पेड़ों पर रह लेते हैं। ये सब मांसाहारी जीव हैं, जो मांस मछलियों के अलावा कीड़े मकोड़े और अंडे खाते हैं।

इनकी कई जातियाँ हैं, लेकिन इनमें सबसे बड़ा ड्रैगन ऑव दि ईस्ट इंडियन ब्लैंड (Dragon of the East Indian bland) लंबाई में
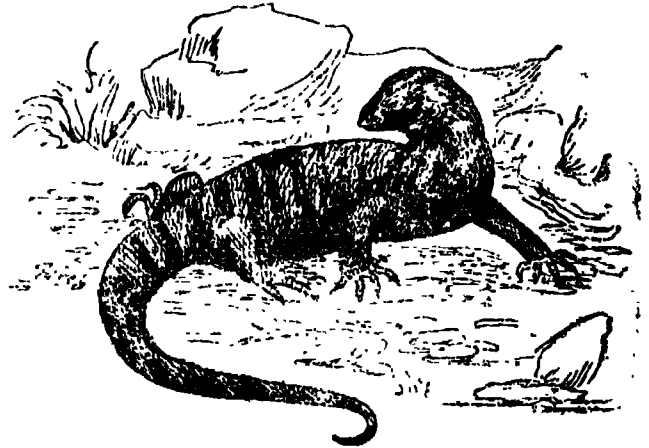
गोह

लगभग १० फुट तक पहुँच जाता है। नील का गोह नाइल मॉनिटर (Nile Monitor, V. niloticus) अफ्रीका का बहुत प्रसिद्ध गोह है और तीसरा (V. exanthematicus) भी अफ्रीका के पश्चिमी भागों में काफी संख्या में पाया जाता है। इसकी पकड़ बहुत ही मजबूत होती है

भारत में गोहों की छः जातियाँ पाई जाती हैं, जिनमें कबरा गोह (V. Salvator) सबसे प्रसिद्ध है। इसके बच्चे चटकीले रंग के होते हैं, जिनकी पीठ पर बिंदियाँ पड़ी रहती हैं और जिन्हें हमारे देश में कोम

बिसखोपरा नाम का दूसरा जीव समझते हैं। लोगों का ऐसा विश्वास है कि बिसखोपरा बहुत जहरीला होता है, लेकिन वास्तव में ऐसा है नहीं। बिसखोपरा कोई अलग जीव न होकर गोह के बच्चे है, जो जहरीले नहीं होते।

[सु० सि०]

गौगामेला (अरबेला) का युद्ध सिकंदर और दारा के बीच पहली अक्टूबर, ३३१ ई० पू० का इतिहासप्रसिद्ध युद्ध, जिसके परिणामस्वरूप ईरानी साम्राज्य का पतन हो गया। गौगामेला बाबुल से बहुत दूर नहीं था, दजला के पास अरबेला से केवल ३२ मील पश्चिम पड़ता था। वहाँ ग्रीक और ईरानी सेनाएँ शक्ति के अंतिम निर्णय के लिये आमने सामने खड़ी हुई। गौगामेला का युद्ध संसार के निर्णायक युद्धों में से है।

मिस्र आदि जीतने के बाद जब सिकंदर गौगामेला के मैदान में दारा की पड़ाव डाले पड़ी सेना से लगभग तीन मील की दूरी पर पहुँचा शाम का झुटपुटा हो चुका था। पारमेनियो ने सिकंदर को सुझाया कि रात के अँधेरे ही में ईरानियों पर हमला किया जाय क्योंकि दिन के उजाले में ईरानी सेना की गणनातीत संख्या देख, बहुत संभव है कि हमारी सेना सहम जाय। सिकंदर ने उत्तर में उससे कहा कि वह जीत चुराया नहीं करता, लड़कर उसे संभव करता है। संभव है, जैसा कुछ इतिहासकारों ने कहा है, रात में सिकंदर का हमला न करने का कारण वस्तुतः युद्ध की वह तकनीक थी जिसका उपयोग वह रात के अँधेरे में न कर पाता।

सिकंदर ने आस पास के इलाकों का कुछ ही घंटों में कुछ घुड़सवारों के साथ दौरा कर अपनी सेना का व्यूह बनाया। दाहिने और बाएँ बाजू फालांक्स के घुड़सवारों के तीन डिवीजन जमा दिए गए। अपनी हरावल के पीछे उसने दो हमलावर स्तंभों के रिजर्व खड़े किए, एक एक दोनों बाजुओं के पीछे, जिससे पीछे के बाजुओं को तोड़ने की कोशिश अगर शत्रु करे तो वे दुश्मन पर धावे बोल सकें। और यदि इसकी आवश्यकता न पड़े तो वे घूमकर प्रधान सेना की सहायता करें। दाहिने पक्ष के घुड़सवारों के सामने उसने धनुर्धरों और मल्लधारियों को ईरानी रथों के सामने खड़ा किया। ग्रीक इतिहासकारों के अनुसार सिकंदर की सेना में ७ हजार घुड़सवार और ४० हजार पैदल थे, जब कि ईरानियों की सेना संख्या में इससे पाँचगुनी थी।

सिकंदर ने मौका देखकर स्वयं हमला किया। वह ईरानियों के बाएँ बाजू पर इस तरह टूटा कि दारा को समतल छोड़ ऊँची नीची भूमि पर सरक जाना पड़ा। दारा ने जब देखा कि ऊँची नीची जमीन पर उसके रथ बेकार हो जाएँगे तब उसने बाएँ बाजू के घुड़सवारों को सिकंदर के दाहिने बाजू पर घूमकर हमला करने और उसे रोक देने का हुक्म दिया। दोनों ओर के घुड़सवारों में घमासान छिड़ गया। अब दारा ने रथों को बढ़ाया पर वे कभी सही उपयोग में नहीं लाए जा सके, और ग्रीक पैदलों के तीरों के ईरानी रथी शिकार होने लगे। ठीक तभी सिकंदर घूमकर चार डिवीजनों के साथ ईरानी घुड़सवारों द्वारा छोड़ी जमीन से होकर ईरानियों के बाएँ बाजू पर टूटा और स्वयं दारा की ओर बढ़ा। यह हमला इतने जोर का हुआ कि दारा के पाँव उखड़ गए और वह मैदान छोड़ भागा। इसी बीच सिकंदर के दाहिने बाजू के ईरानी घुड़सवारों ने जब अपने ऊपर मकदूनियाइयों को पीछे से हमला करते देखा तब वे भी भाग निकले, यद्यपि वे शत्रु द्वारा बहुत संख्या में हताहत हुए। सिकंदर की सेना के बीच उसके हमलों से जो दरार बन गई थी, ईरानियों और भारतीयों ने उसी की राह सहसा घुसकर ग्रीकों के सामान भरे तंबुओं पर हमला किया। तभी दारा के दाहिने बाजू के घुड़सवारों ने सिकंदर के बाएँ बाजू घूमकर पारमेनियों के पार्श्व पर आक्रमण किया। पारमेनियों ने बुरी तरह घिर जाने पर सिकंदर को अपनी भयानक स्थिति की खबर दी। सिकंदर तब बाएँ बाजू की टूटी ईरानी सेना का पीछा कर रहा था। वह ऐकाएक अपने घुड़सवारों को लिए लौटा और ईरानियों के दाहिने बाजू पर जा टूटा। ईरानी घुड़सवार अब भागने के लिये पीछे लौटे पर उनकी पीछे की राह जब इस तरह रुक गई, तब वे सामने के शत्रु से घमासान करने लगे। न उन्होंने आप शरण माँगी न अपने शत्रु को शरण दी। सिकंदर ने उन्हें कुचल दिया और एक एक ईरानी घुड़सवार मारा गया। अरबेला तक सिकंदर की सेना दारा का पीछा करती रही पर उसे पकड़ न पाई। दारा भाग निकला और उसने बाख्त्री में जाकर शरण ली। एरियन लिखता है कि तीन लाख ईरानी मारे गए जब कि सिकंदर के कुल एक हजार घुड़सवार मारे गए। प्रकट है कि इस आँकड़े पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

इस्सस के युद्ध के बाद यह दूसरा युद्ध था जिसमें ईरान को हारना पड़ा था और इस युद्ध के बाद ईरानी साम्राज्य टूक टूक हो गया। ईरानियों का अंतिम केंद्र फिर वंक्षुनद (आमू दरिया) की घाटी में स्थापित हुआ पर शीघ्र ही उनके उस अंतिम मोर्चे को भी सिकंदर ने तोड़ डाला जहाँ सिकंदर की मृत्यु के बाद स्वतंत्र ग्रीक राजतंत्र कायम हुआ।

(प० उ०)

गौड़ (१) बंगाल का प्राचीन सामान्य नाम। स्कंदपुराण के अनुसार गौड़देश की स्थिति वंगदेश से लेकर भुवनेश (भुवनेश्वर, उड़ीसा ?) तक थी—'वंगदेशं समारभ्य भुवनेशांतगः शिव, गौड़ देशः समाख्यातः सर्वविद्या विशारदः।' पद्मपुराण (१८९–२) में गौड़ नरेश नरसिंह का नाम आया है। अभिलेखों में गौड़ देश का सर्वप्रथम उल्लेख ५५४ ई० के हराहा अभिलेख में है जिसमें ईश्वर वर्मन मौखरी की गौड़देश पर विजय का उल्लेख है। बाणभट्ट ने गौड़नरेश शशांक का वर्णन किया है जिसने हर्षवर्धन के ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्धन का वध किया था। माधाईनगर के ताम्रपट्ट लेख से सूचित होता है कि गौड़नरेश लक्ष्मणसेन का कलिंग तक प्रभुत्व था।

गौड़ देश के नाम पर संस्कृत काव्य की परुषावृत्ति का नाम ही गौड़ी पड़ गया था। ब्राह्मणों, कायस्थों आदि की कई जातियाँ आज भी गौड़ कहलाती हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि गुड़ के व्यापार का केंद्र होने के कारण ही इस प्रदेश का नाम गौड़ हो गया था।

(२) प्राचीन लक्ष्मणावती या लखनौती का मध्यकालीन नाम, वंगदेश के गौड़ से संबद्ध है। बंगाल की राजधानी कालक्रम से काशीपुरी, वरेंद्र और लक्ष्मणावती रही थी। मुसलमानों का बंगाल पर (१३वीं सदी में) आधिपत्य होने के पश्चात् बंगाल के सूबे की राजधानी कभी गौड़ और कभी पांडुआ रही। पांडुआ गौड़ से लगभग २० मील दूर है। आज इस मध्ययुगीन भव्य नगर के केवल खंडहर ही बचे हैं। इनमें से अनेक ध्वंसावशेष प्राचीन हिंदू मंदिरों और देवालयों के हैं जिनका प्रयोग मसजिदों के निर्माण के लिये किया गया था। १५७५ ई० में अकबर के सूबेदार ने गौड़ के सौंदर्य से आकृष्ट होकर अपनी राजधानी पांडुआ से हटाकर गौड़ में बनाई थी जिसके फलस्वरूप गौड़ में एकबारगी ही बहुत भीड़भाड़ हो गई थी। थोड़े ही दिनों बाद महामारी का प्रकोप हुआ जिससे वहाँ की जनसंख्या को भारी क्षति पहुँची। बहुत से निवासी नगर छोड़कर भाग गए। पांडुआ में भी महामारी का प्रकोप फैला और दोनों नगर बिलकुल उजाड़ हो गए।

कहा जाता है कि गौड़ में जहाँ अब तक भव्य इमारतें खड़ी हुई थीं और चारों ओर व्यस्त नरनारियों का कोलाहल था, इस महामारी के पश्चात् चारों ओर सन्नाटा छा गया, सड़कों पर घास उग आई और दिन दहाड़े व्याघ्र आदि हिंसक पशु घूमने लगे। पांडुआ से गौड़ जानेवाली सड़क पर अब घने जंगल हो गए थे। तत्पश्चात् प्रायः ३०९ वर्षों तक बंगाल की यह शालीन नगरी खंडहरों के रूप में घने जंगलों के बीच छिपी पड़ी रही। अब कुछ ही वर्षों पूर्व वहाँ के प्राचीन वैभव की खुदाई द्वारा प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया है। लखनौती में ९वीं, १०वीं सदी में पाल राजाओं का राज था और १२वीं सदी तक सेन नरेशों का आधिपत्य रहा। इस काल यहाँ अनेक हिंदू मंदिरों का निर्माण हुआ जिन्हें गौड़ के परवर्ती मुसलमान बादशाहों ने नष्टभ्रष्ट कर दिया। मुसलमानों के समय की बहुत सी इमारतों के अवशेष अभी यहाँ मौजूद हैं। इनकी मुख्य विशेषताएँ हैं ठोस बनावट तथा विशालता। सोना मसजिद प्राचीन मंदिरों की सामग्री से निर्मित है। यह यहाँ के जीर्ण दुर्ग के अंदर अवस्थित है। इसकी निर्माणतिथि १५२६ ई० है। इसके अतिरिक्त १५३० ई० में बनी नसरतशाह की मसजिद भी कला की दृष्टि से उल्लेखनीय है।

गौड़ या लखनौती हिंदू राजसत्ता के उत्कर्षकाल में संस्कृत विद्या के केंद्र के रूप में विख्यात थी और महाकवि जयदेव, कविवर गोवर्धनाचार्य तथा धोयी, व्याकरणाचार्य उमापतिधर और शब्दकोशकार हलायुध इन सभी विद्वानों का संबंध इस प्रसिद्ध नगरी से था। इसके खंडहर बंगाल के मालदा नामक नगर से १० मील दक्षिण पश्चिम की ओर स्थित हैं।

(वि० कु० भा०)

गौड़पादाचार्य अद्वैत वेदांत की परंपरा में गौड़पादाचार्य को शंकराचार्य के परमगुरु अर्थात् शंकर के गुरु गोविंदपाद के गुरु के रूप में स्मरण किया जाता है। नारायण, विष्णु, ब्रह्मा, वसिष्ठ और शुक ये अद्वैत वेदांत के आचार्य गौड़पाद से पहले हो गए हैं। यदि पौराणिक परंपरा का ही प्रमाण मानें तो शुक द्वापर युग के अंत में हुए थे और उन्होंने पांडवपुत्र परीक्षित को श्रीमद्भागवत के रूप में अद्वैत ब्रह्मतत्व का उपदेश दिया था। शुक का शिष्य होने के नाते गौड़पाद की भी उसी समय स्थिति मानी जानी चाहिए। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय तो ईसा की आठवीं शताब्दी में उत्पन्न शंकर के गुरु गोविंदपाद के गुरु के रूप में गौड़पाद को कैसे स्वीकृत किया जा सकता है? यद्यपि पौराणिक लोग इस दोष का मार्जन करने के लिये कहते हैं कि गौड़पाद हिमालय में समाधिमग्न थे और गोविंद को 'निर्माणचित्त' में उपस्थित होकर अद्वैततत्व का उपदेश दिया था। 'निर्माणचित्त' की बात साधना के क्षेत्र में विश्वसनीय हो सकती है। परंतु वैज्ञानिक पद्धति में इस प्रकार के विश्वासों का कोई स्थान नहीं है। हाँ, इससे यह तो सिद्ध हो जाता है कि या तो गौड़पाद शुक के साक्षात् शिष्य नहीं थे या फिर वे गोविंदपाद के साक्षात् गुरु नहीं थे।

गौड़पाद शुक के साक्षात् शिष्य थे या नहीं इसका निर्णय करना असंभव है। प्राचीनतर पुराणों में गौड़पाद का शुक के शिष्य के रूप में कहीं उल्लेख नहीं मिलता और शुक का व्यक्तित्व भी ऐतिहासिकों के लिये विश्वसनीय नहीं है। ऐसी स्थिति में शुक की ओर से गौड़पाद की ऐतिहासिकता सिद्ध करना उचित नहीं जान पड़ता। यदि गोविंदपाद को गौड़पाद का साक्षात् शिष्य भी मान लें तो भी कई कठिनाइयाँ हैं। शंकराचार्य का समय प्रायः ८वीं शताब्दी ईसवी का उत्तरार्ध माना जाता है। यदि उन दिनों के सामान्य जीवनकाल को १०० वर्ष का भी मान लें तो गौड़पाद को सातवीं शताब्दी में मानना पड़ेगा। परंतु छठी शताब्दी के एक बौद्ध आचार्य भावविवेक या भव्य ने अपने ग्रंथ माध्यमिकहृदय में वेदांत दर्शन का विवेचन करते हुए गौड़पाद की एक कारिका उद्धृत की है। इससे यह ज्ञात होता है कि भव्य के पहले ही गौड़पाद वेदांत के आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। अतः गौड़पाद का समय ५०० ई० के आसपास होना चाहिए। यदि यह सही है तो गौड़पाद गोविंदपाद के साक्षात् गुरु नहीं हो सकते।

शंकराचार्य ने गौड़पाद को 'वेदांतविद्भिराचार्यैः' कहकर स्मरण किया है। प्रो० वालेसर ने लिखा है कि 'गौड़पाद' शब्द में प्रयुक्त 'गौड़' शब्द देशपरक है, यह व्यक्तिविशेष का नाम नहीं है। अद्वैत वेदांत के दो प्रस्थान थे—पहला गौड़ प्रस्थान जो उत्तर भारत में प्रचलित था और दूसरा द्राविड़ प्रस्थान, जिसकी स्थापना स्वयं शंकर ने की। वालेसर के अनुसार 'गौड़पाद' शब्द का अर्थ है—गौड़ देश में प्रचलित वेदांतशास्त्रपरक पादचतुष्टयात्मक ग्रंथ। परंतु इस प्रकार की दूरारूढ़ कल्पना के लिये कोई दृढ़ आधार नहीं है। विधुशेखर भट्टाचार्य ने ठीक ही कहा है कि यदि हमें एक ग्रंथ प्राप्त होता है तो उस ग्रंथ का कोई न कोई लेखक होना चाहिए। अंतरंग परीक्षा के आधार पर यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि गौड़पाद के इस ग्रंथ के चारों प्रकरण एक ही लेखक के हैं। परंपरा इस ग्रंथ के लेखक को गौड़पाद कहती है अतः दृढ़तर बाधक प्रमाण के अभाव में हमें गौड़पाद नामक व्यक्ति विशेष को ही इस ग्रंथ का लेखक मानना पड़ेगा।

१७वीं शताब्दी के बालकृष्णानंद सरस्वती ने 'शारीरक मीमांसा भाष्य वार्तिक' नामक ग्रंथ में लिखा है कि कुरुक्षेत्र में हिरण्यवती नदी के तट पर कुछ गौड़ लोग रहते थे। गौड़पाद उन्हीं में से एक थे। परंतु द्वापर के आरंभ से ही समाधिस्थ रहने के कारण उनका असली नाम लोगों को ज्ञात न हो सका। इस अनुश्रुति के आधार पर गौड़पाद को कुरुक्षेत्र के आसपास का होना चाहिए। जगद्गुरु रत्नमालास्तव नामक ग्रंथ के अनुसार गौड़पाद का ग्रीक लोगों के साथ संपर्क था। आचार्य ने इनकी पूजा की और निपाकसिद्ध अपलून्य (अपोलोनियस ऑव त्याना) इनका शिष्य था। अपोलोनियस भारत आया था या नहीं इसके बारे में ग्रीक इतिहासज्ञों में बड़ा विवाद है और अधिकांश विद्वान् मानते हैं कि अपोलोनियस कभी भारत आया ही नहीं था। उसने सुनी सुनाई बातों के आधार पर ही भारत का वर्णन कर दिया था। इसके अलावा ग्रीक ग्रंथों और अपोलोनियस के भारतवर्णन में गौड़पाद का कोई उल्लेख भी नहीं मिलता।

गौड़पाद के व्यक्तित्व के बारे में इसके अलावा कि वे एक योगी और सिद्ध पुरुष थे तथा गौड़पादीय कारिकाओं के कर्ता थे, कुछ भी नहीं कहा जा सकता। गौड़पादकृत कारिकाएँ हमारे सामने हैं। इन कारिकाओं को चार प्रकरणों में विभाजित किया गया है और ये एक ही व्यक्ति की कृति हैं। इसका पहला प्रकरण आगम प्रकरण कहा जाता है। इसका कारण यह है कि इस प्रकरण में मांडूक्य उपनिषद् का कारिकामय व्याख्यान उपस्थित किया गया है। आगम अर्थात् उपनिषद् के ऊपर आधारित होने के कारण इसको आगम प्रकरण कहते हैं। कुछ आचार्य इस प्रकरण की कारिकाओं को 'आगम' कहते हैं और इनको गौड़पाद की कृति नहीं मानते। कभी कभी तो इन कारिकाओं को मांडूक्य उपनिषद् के साथ जोड़ लिया जाता है। विधुशेखर भट्टाचार्य का तो कहना है कि

ये कारिकाएँ पहले लिखी गई थीं और बाद में इन्हीं के आधार पर मांडूक्य उपनिषद् की रचना हुई। पर यह मत तर्कसंगत नहीं है। इसका प्रमाण इस प्रकरण की कारिकाओं से ही मिलता है। ये कारिकाएँ व्याख्यानात्मक हैं। अतः मांडूक्य उपनिषद् ही इनसे पहले का मालूम पड़ता है। दूसरे प्रकरण में संसार की वितथता या मिथ्यात्व सिद्ध किया गया है, अतः उसका नाम वैतथ्य प्रकरण है। अद्वैत तत्व का प्रतिपादन होने के कारण तीसरा प्रकरण अद्वैत प्रकरण कहलाता है। सारे मिथ्या विवादों की शांति का प्रतिपादन करने के कारण चौथा प्रकरण अलातशांति कहा गया है।

विधुशेखर भट्टाचार्य का मत है कि ये चारो प्रकरण चार स्वतंत्र रचनाएँ हैं, किसी एक ग्रंथ के चार अध्याय नहीं, क्योंकि ये परस्पर संबंधित नहीं हैं। साथ ही चतुर्थ प्रकरण के प्रारंभ में 'तं वंदे द्विपदांवरम्' कहकर बुद्ध की स्तुति के रूप में मंगलाचरण किया गया है। मंगलाचरण ग्रंथ के प्रारंभ में किया जाता है, बीच के प्रकरण के प्रारंभ में मंगलाचरण नहीं देखा गया है। अतः चतुर्थप्रकरण एक स्वतंत्र ग्रंथ है। यह मत कुछ ठीक नहीं लगता क्योंकि पहली बात तो यह है कि चारो प्रकरण एक दूसरे से संबंधित हैं। प्रथम प्रकरण में उपनिषद् के आधार पर स्थूल रूप से कुछ सिद्धांत उपस्थित किए गए हैं और दूसरे तथा तीसरे प्रकरणों में क्रमशः संसार का मिथ्यात्व तथा एक अद्वय तत्व की स्थिति का प्रतिपादन किया गया है। चौथा प्रकरण उपसंहारात्मक है जिसमें पूर्वोक्त तीन प्रकरणों में कहे गए उपनिषद् अनुमोदित सिद्धांतो का बुद्ध द्वारा उपदिष्ट सिद्धांतो से अविरोध दिखलाया गया है। इस प्रकरण के आधार पर ही भट्टाचार्य ने गौड़पाद को बौद्ध कहा है परंतु यदि एक प्रकरण के आधार पर ही उनको बौद्ध कहा जा सकता है तो पहले तीन प्रकरणों के आधार पर उन्हें महावेदांती भी घोषित किया जा सकता है।

यह सही है कि गौड़पाद के सिद्धांत बौद्धों के निकट हैं। उनका अजातिवाद (दे० अजातिवाद) माध्यमिक पद्धति पर आधारित है। इनके द्वारा प्रतिपादित आत्मा का स्वरूप योगाचारानुमत विज्ञान (आलय) की अनुकृति सा मालूम पड़ता है। उनकी तर्कपद्धति वही है जो माध्यमिक शून्यवादियों की है। उन्होंने बुद्ध का बड़ा आदर किया है। यह सब होते हुए भी गौड़पाद शुद्ध वेदांती हैं, क्योंकि (१) उनका आगम में पूरा विश्वास है। बहुत से स्थानों पर उन्होंने बृहदारण्यक आदि प्राचीन उपनिषदों को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। (२) बौद्धसंप्रदाय में नित्य आत्मा का घोर विरोध किया गया है और उन्होंने अपने मत को 'अनात्मवाद' की संज्ञा दी है। परंतु गौड़पाद का कहना है कि एक आत्मा ही जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में अनुस्यूत रहकर भी शुद्धतः तुरीयावस्था (चतुर्थ अवस्था) में स्थित है, जहां वह न तो स्वयं किसी कारण से उत्पन्न है और न किसी कार्य को उत्पन्न करती है। आत्मा का यह नित्यत्व निश्चय ही बौद्धों को स्वीकार्य नहीं हो सकता। (३) यही कारण है कि भावविवेक, शांतरक्षित, कमलशील आदि बौद्ध आचार्यों ने गौड़पाद का खंडन किया है। किसी भी बौद्धग्रंथ में गौड़पाद का अनुमोदन नहीं मिलता। यह सिद्ध करता है कि यद्यपि गौड़पाद ने बौद्धों की तर्कपद्धति अपनाई परंतु उस पद्धति के आधार पर उन्होंने आत्मा की अद्वैतता सिद्ध की जो उपनिषदों में प्रतिपादित की गई है। इस प्रसंग में यह ध्यान देना आवश्यक है कि गौड़पाद न तो केवल माध्यमिक सिद्धातो के अनुयायी हैं और न शुद्धतः योगाचार दर्शन के। जहां उनको तर्कसंगत बात मिली, उन्होंने उसे ग्रहण किया। उन्होंने सर्वदा यह दिखाने का प्रयत्न किया कि बौद्ध विचारधारा और औपनिषदिक विचारधारा में तत्वतः कोई विरोध नहीं है। जो विरोध किया जाता है वह अज्ञानमूलक है। गौड़पाद जैसे श्रुति को प्रमाण मानते हैं वैसे ही बुद्ध आदि सिद्धों के अनुभव को भी। अविवाद ही उनका चरम लक्ष्य है। यही समन्वय गौड़पाद की भारतीय दर्शन को देन है। शंकराचार्य ने इसी समन्वय के मार्ग को अपनाकर अपना अद्वैत मत प्रतिष्ठापित किया पर उनका मूल गौड़पादीय दर्शन रहा। इसी कारण गौड़पाद शंकर के परमगुरु कहे जाते हैं। चतुर्थ प्रकरण में गौड़पाद अपना अविरोध दर्शन प्रतिष्ठापित करने के लिये ही बुद्ध को नमस्कार करते हैं अतः यह नमस्कार मंगलाचरण के रूप में नहीं ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय के रूप में स्वीकृत किया जाना चाहिए।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस दर्शन में तर्क को उतना स्थान नहीं दिया गया है जितना साक्षात्कार और अनुभव को। योग का मार्ग ही प्रमुख मार्ग है अतः उस मार्ग में तर्कजन्य विरोध को कोई स्थान नहीं होना चाहिए। जैसे सिद्धों—गुंडुरिपा, सरहपा आदि—के नामों के अंत में 'पाद' शब्द आता है उसी प्रकार गौड़पाद के नामांत में भी पाद शब्द का प्रयोग गौड़पाद के सिद्धों के साथ संबंध की ओर इंगित करता है। सरहपाद के दोहों तथा गौड़पाद की कारिकाओं में समानता भी दर्शनीय है। हो सकता है गौड़पाद बौद्ध और बौद्धेतर तंत्रसंप्रदायों के बीच की कड़ी हों।

इस कारिकाग्रंथ के अतिरिक्त सांख्यकारिका के ऊपर भाष्य भी गौड़पाद का माना जाता है। उत्तरगीताभाष्य, नृसिंहतापिनी उपनिषद् तथा दुर्गासप्तशती की टीका, सुभगोदय तथा श्रीविद्यारत्नसूत्र भी इनकी रचनाएँ कही जाती हैं।

सं० ग्रं०—विधुशेखर भट्टाचार्य : गौड़पादीयआगम शास्त्रम्; टी० एम० पी० महादेवन् : फिलासफी ऑव गौड़पाद; म० म० पं० गोपीनाथ कविराज : ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की भूमिका।

[रा० चं० पां०]

गौतम संस्कृत साहित्य में गौतम का नाम अनेक विद्याओं से संबंधित है। वास्तव में गौतम ऋषि के गोत्र में उत्पन्न किसी व्यक्ति को गौतम कहा जा सकता है अतः यह व्यक्ति का नाम न होकर गोत्रनाम है। वेदों में गौतम मंत्रद्रष्टा ऋषि माने गए हैं। एक से मेधातिथि गौतम धर्मशास्त्र के आचार्य हो गए हैं। बुद्ध को भी गौतम अथवा (पाली में गोतम) कहा गया है। न्यायसूत्रों के रचयिता भी गौतम माने जाते हैं। उपनिषदों में भी गौतम नामधारी अनेक व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है। पुराणों, महाभारत तथा रामायण में भी गौतम की चर्चा है। यह कहना कठिन है कि ये सभी गौतम एक ही हैं।

रामायण में ऋषि गौतम तथा उनकी पत्नी अहल्या की कथा मिलती है। अहल्या के शाप का उद्धार राम ने मिथिला के रास्ते में किया था। अतः गौतम का निवास मिथिला में ही होना चाहिए और यह बात मिथिला में 'गौतमस्थान' तथा 'अहल्यास्थान' नाम से प्रसिद्ध स्थानों से भी पुष्ट होती है। चूंकि न्यायशास्त्र के लिये मिथिला विख्यात रही है अतः गौतम (नैयायिक) का मैथिल होना इसका मुख्य कारण हो सकता है।

नैयायिक गौतम के बारे में अनेक विद्वानों ने लिखा है। महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री का कहना है कि चीनी भाषा में निबद्ध प्राचीन भारतीय ग्रंथों के अनुवाद के आधार पर गौतम, बुद्ध के पहले हो गए थे परंतु उनके नाम पर प्रचलित न्यायसूत्र ईसा की दूसरी शताब्दी की रचना

है। म० म० सतीशचंद्र विद्याभूषण का मत है कि गौतमीय धर्मसूत्र तथा न्यायसूत्र का कर्ता एक ही गौतमनामधारी व्यक्ति रहा होगा। ये बुद्ध के समकालीन रहे होंगे तथा इनका समय ६ठी शताब्दी ईसा पूर्व हो सकता है। परंतु विद्याभूषण यह भी मानते हैं कि इस गौतम ने न्यायसूत्र के केवल पहले अध्याय की रचना की होगी। बाद के चार अध्याय किसी और ने बहुत बाद में लिखे होंगे। प्रो० याकोबी के अनुसार न्यायसूत्र शून्यवाद के नागार्जुन (२०० ई०) द्वारा प्रतिष्ठापित हो जाने के बाद और विज्ञानवाद (५०० ई०) के विकास के पहले लिखा गया होगा क्योंकि इसमें शून्यवाद का तो खंडन है पर विज्ञानवाद का खंडन नहीं मिलता। परंतु प्रो० शेरवात्स्की के अनुसार न्यायसूत्र में विज्ञानवाद की ओर भी संकेत किया गया है। अतः यह ५०० ई० के बाद की रचना होगी। परंतु शेरवात्स्की का यह मत न्यायसूत्र को न समझने के कारण भ्रममूलक है। तर्कसंग्रह के संपादक आठले तथा बोडस के अनुसार गौतम के न्यायसूत्र कणाद से पहले के हैं। शबरस्वामी ने (मीमांसासूत्र भाष्य में) उपवर्ष से उद्धरण दिया है जिससे लगता है कि उपवर्ष न्याय से परिचित थे। यदि यह उपवर्ष महापद्म नंद के मंत्री ही हैं तो गौतम को ४०० ई० पू० का मानना ही पड़ेगा। प्रो० सुग्राली के अनुसार ये सूत्र ३००–३५० ई० के काल के हैं। रिचार्ड गार्बे के अनुसार आस्तिक दर्शनों में न्याय सबसे बाद का है क्योंकि ईस्वी सन् के आरंभ के पहले इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः ये सूत्र १००–३०० ई० के बीच लिखे गए होंगे। इन मतों में कौन सा सही है यह कहना वर्तमान स्थिति में नितांत असंभव है।

न्यायसूत्रों की रचना तथा गौतम का काल इन दो प्रश्नों पर अलग अलग विचार होना चाहिए। जहाँ तक न्यायसूत्रों का प्रश्न है, निश्चय ही ये सूत्र बौद्धदर्शन का विकास हो जाने पर लिखे गए हैं। इतना और भी कहा जा सकता है कि इस न्यायसूत्र में समय समय पर संशोधन तथा परिवर्धन होते रहे हैं। परंतु गौतम का नाम इन सूत्रों से इसलिये संबंधित नहीं है कि कि ये सारे के सारे सूत्र अपने वर्तमान रूप में गौतम द्वारा ही विरचित हैं। गौतम को हम सिर्फ न्यायशास्त्र का प्रवर्तक कह सकते हैं, सूत्रों का रचयिता नहीं। हो सकता है, गौतम ने कुछ सूत्र लिखे हों, पर वे सूत्र अन्य सूत्रों में इतने घुलमिल गए हैं कि उनको अलग निकालना हमारे लिये असंभव है। इन दृष्टियों से हमें विद्याभूषण का मत अधिक मान्य लगता है।

गौतम को अक्षपाद भी कहते हैं। विद्याभूषण गौतम को अक्षपाद से पृथक् मानते हैं। न्यायसूत्र के भाष्यकार तथा अन्य व्याख्याताओं ने अक्षपाद और गौतम को एक माना है। 'अक्षपाद' शब्द का अर्थ होता है 'जिसके पैर में आँखें हों'। व्याकरण महाभाष्य (१४० ई० पू०) गौतम के सिद्धांतों से परिचित है।

गौतम न्यायशास्त्र के प्रवर्तक हैं। प्रमाणों के आधार पर अर्थ की परीक्षा करना न्याय कहलाता है, अतः यह मुख्यतः प्रमाणशास्त्र है। प्रमेय का भी इस दर्शन में विचार किया गया है पर वह गौण हो गया है। ज्ञान क्या है, कैसे उत्पन्न होता है, उसकी उत्पत्ति के कितने स्रोत हैं, उन स्रोतों के दोष कौन कौन से हैं, इनका विवेचन न्याय का विषय है। भारतीय परंपरा में 'न्याय' शब्द अंग्रेजी लॉजिक या तर्कशास्त्र का पर्यायवाची है। बौद्धों तथा जैनों ने भी अपनी तर्कपद्धति बनाई है और उन्हें भी बौद्धन्याय तथा जैनन्याय कहा जाता है। पर जहाँ केवल न्याय शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ 'न्याय' से संप्रदाय द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों का ही ग्रहण होता है।

इस संप्रदाय का मूल ग्रंथ न्यायसूत्र है जिसमें पाँच अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय दो आह्निकों में विभाजित है। सारे सूत्रों की संख्या ५३० है। प्रथम अध्याय में सामान्यतः उन १६ विषयों का वर्णन किया गया है जिनका विस्तृत प्रतिपादन बाद के चार अध्यायों में हुआ है। दूसरे अध्याय में संशय तथा प्रमाणों का विवेचन है। तीसरे अध्याय के प्रतिपाद्य विषय हैं आत्मा, शरीर, इंद्रिय, इंद्रियों के विषय, ज्ञान तथा मन। चतुर्थ अध्याय इच्छा, दुःख, क्लेश और मोक्ष के स्वरूप का विवेचन करते हुए भ्रम के स्वरूप तथा अवयव एवं अवयवी के संबंध पर भी प्रकाश डालता है। पाँचवें अध्याय में जाति (असत् तर्क) और निग्रहस्थान (प्रतिवादी के तर्क को निगृहीत करना) का विवेचन किया गया है।

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति, और निग्रहस्थान इन १६ विषयों के तत्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति न्यायशास्त्र में मानी गई है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों से ज्ञान उत्पन्न होता है। वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत सात पदार्थों का प्रमेय में अंतर्भाव हो जाता है। इसीलिये परवर्ती नैयायिकों ने न्याय को वैशेषिक के साथ संबद्ध कर दिया है।

न्याय में मुख्यतः वादविवाद की पद्धति का वर्णन है। कैसे किसी सिद्धांत का उपस्थापन किया जाता है, सिद्धांत के प्रति कितने आक्षेप हो सकते हैं, उनका परिहार किस तरह किया जा सकता है, ये ही न्याय के मुख्य प्रतिपाद्य हैं। कहा जाता है, कि गौतम ने ही सर्वप्रथम अनुमान के पाँच (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन) अवयवोंवाले वाक्य का प्रचलन किया। ग्रीक दार्शनिक अरस्तू के अनुसार अनुमान तीन ही वाक्यों में संपन्न होता है। म०म० विद्याभूषण के अनुसार भारतीय न्याय में अवयवात्मक वाक्य की कल्पना अरस्तू के प्रभाव से उत्पन्न हुई है। परंतु प्रोफेसर कीथ का मत है कि न्याय की प्रारंभिक अवस्था में ग्रीक विचारधारा का प्रभाव मानने का कोई आधार नहीं है। गौतम की पंचावयव वाक्य की कल्पना उनके मस्तिष्क की ही उपज है।

भारतीय दर्शन प्रस्थानों में न्याय संभवतः सबसे अधिक प्रभावशाली प्रस्थान रहा है। न्यायसूत्रों में प्रतिपादित सिद्धांतों का बौद्ध आचार्य नागार्जुन ने खंडन किया। नागार्जुन का उत्तर देने के लिये वात्स्यायन ने न्यायसूत्रों पर भाष्य की रचना की। वात्स्यायन के ऊपर बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग द्वारा किए गए आक्षेपों का परिहार करने के लिये उद्योतकर ने न्यायवार्तिक लिखा। न्यायवार्तिक पर न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका तथा उसपर टीकापरिशुद्धि की रचना क्रमशः वाचस्पति मिश्र और उदयन ने की। इन ग्रंथों के अतिरिक्त न्यायमंजरी (जयंत भट्ट) न्यायसूत्रों की एक स्वतंत्र व्याख्या है। नव्यन्याय के प्रवर्तक गंगेशोपाध्याय ने तथा उनके अनुयाइयों ने भी गौतम द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करते हुए अनेक ग्रंथ लिखे। न्यायदर्शन ने अनेक भारतीय दर्शनों को प्रभावित तथा तर्कपद्धति की उद्भावना देकर प्रेरित किया है। न्याय ही एक ऐसा संप्रदाय है जिसपर आज भी पंडितों में विशद रूप से चर्चा चल रही है।

गौतम ईश्वरवादी थे या नहीं, यह कहना कठिन है क्योंकि उनके सूत्रों में ईश्वर का स्पष्ट निर्देश कहीं नहीं है। बाद में ईश्वर का प्रतिपादन न्याय की एक विशेषता ही हो गई। मोक्षावस्था में न्याय के अनुसार आत्मा अपने सारे गुणों से रहित होकर अपने शुद्ध द्रव्य रूप में अवस्थित

रहती है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और संस्कारों से परे आत्मा जब दुःखाभाव रूप आनंद की अवस्था में अवस्थित हो जाती है, उसे मुक्त कहते हैं।

सं० ग्रं०—विद्याभूषण : हिस्ट्री ऑव इंडियन लॉजिक; गंगानाथ झा : 'न्यायसूत्र वात्स्यायन भाष्य' के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका; अठाले और बोडस : तर्कसंग्रह की भूमिका; गार्बे : फिलासफी ऑव इंडिया।

(रा० चं० पा०)

गौतम धर्मसूत्र अद्यावधि उपलब्ध धर्मसूत्रों में यह प्राचीनतम है। यद्यपि सभी धर्मसूत्र ग्रंथ बिना किसी शाखाभेद के संपूर्ण आर्यजन को सामान्य रूप से मान्य हैं, तथापि कुमारिल (तंत्रवार्तिक, काशी, पृ० १७९) के अनुसार गौतम धर्मसूत्र और गोभिल गृह्यसूत्र छंदोग (सामवेद) अध्येताओं के द्वारा विशेष रूप से परिगृहीत हैं। गौतम धर्मसूत्र के आंतरिक साक्ष्य से कुमारिल के मत की पुष्टि होती है। इस ग्रंथ का संपूर्ण २६वां अध्याय सामवेद के ब्राह्मण सामविधान से गृहीत है। सामवेदीय गोभिलगृह्यसूत्र में गौतम के प्रमाणों का उद्धरण है। परंपरा के अनुसार सामवेद की शाखा राणायनीय का एक सूत्रचरण गौतम था और संभवतः इसी सूत्रचरण में गौतमधर्मसूत्र की रचना हुई। यह कल्पना भी दूरारूढ़ नहीं कि धर्मसूत्र के अतिरिक्त गौतमसूत्रचरण के गृह्य और श्रौतसूत्र थे जो अब उपलब्ध नहीं।

सामयाचारिक अथवा स्मार्त धर्म का विवेचन करनेवाले इस धर्मसूत्र में २८ अध्याय हैं, जिनमें वर्ण, आश्रम और निमित्त (प्रायश्चित्त) धर्मों का विस्तृत तथा गुणधर्म (राजधर्म) का अपेक्षया संक्षिप्त विधान है। धर्मप्रमाण, प्रमाणों का पौर्वापर्य, उपनयन, शौच (अ० १–२), ब्रह्मचारी, भिक्षु और वैखानस आश्रमों की विधि (अ०–३), गृहस्थाश्रम से संबद्ध संस्कार और कर्तव्य (अ० ४–६), ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्तव्य (अ० ९–१०), राजधर्म (अ० ११), दंड (अ० ११–१३), शौच (अ० १४), स्त्रीधर्म (अ० १८), प्रायश्चित्त (अ० १९-२७), दायभाग (अ० २७, २८) एवं पुत्रों के प्रकार (अ० २८) का विवेचन है।

इस धर्मसूत्र का उपलब्ध रूप अनेक प्रक्षेपों से युक्त है। उदाहरण के लिये १९वें अध्याय में कर्मविपाक का अंश बाद में जोड़ा गया है। इसपर न तो मस्करी का भाष्य और न हरदत्त की व्याख्या है। बौधायन (२,२,४,१७) द्वारा उद्धृत गौतमधर्मसूत्र के वचन तथा प्रस्तुत धर्मसूत्र के आंतरिक साक्ष्य पर अध्याय ६ का छठा सूत्र भी परवर्ती प्रक्षेप प्रतीत होता है।

इसमें अन्य धर्मसूत्रों के समान बीच बीच में फुटकर पद्य नहीं हैं। संपूर्ण गौतमधर्मसूत्र गद्य में है, यद्यपि कुछ सूत्र वृत्तगंधिशैली में लिखे गए हैं और अनुष्टुप् के अंश प्रतीत होते हैं। अन्य धर्मसूत्रों की अपेक्षा इसकी भाषा पाणिनीय व्याकरण की अधिक अनुयायिनी है, किंतु यह संस्कार भी बाद का प्रतीत होता है।

क्योंकि इस धर्मसूत्र में सामविधान ब्राह्मण का एक अंश गृहीत है, और वसिष्ठ और बौधायन धर्मसूत्रों में इस धर्मसूत्र के मतों का नामपूर्वक उल्लेख है, अतः इसकी रचना सामविधान ब्राह्मण के बाद और वसिष्ठ और बौधायनधर्मसूत्रों के पूर्व हुई होगी। इस तथ्य तथा बौद्ध धर्म के द्वारा की गई वर्णाश्रम धर्म की आलोचना के अनुल्लेख तथा उसकी प्रत्यालोचन के अभाव के आधार पर इस धर्मसूत्र का रचनाकाल ६००–४०० ई० पूर्व माना गया है।

इसपर हरदत्त की 'मिताक्षरा' व्याख्या और मस्करी का 'भाष्य' है।

(वि० श० पा०)

गौतमीपुत्र शातकर्णी —(देखिए आंध्रभृत्य–सातवाहन)

गौतिए, थियोफिल (Gautier, Theophile) फ्रेंच १८११–८२ गौतिए बहुमुखी प्रतिभा के लेखक थे। सर्वप्रथम इन्होंने चित्रकला का अध्ययन किया। इस क्षेत्र में इन्होंने अच्छी सफलता भी अर्जित की। बाद में इन्होंने साहित्य को अपनी प्रतिभा की अभिव्यक्ति का माध्यम चुना और उच्च कोटि की कविताएँ और उपन्यास लिखे। लेकिन इनके साहित्य पर भी चित्रकला का स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है। मूर्त सौंदर्य के ये अनन्य उपासक थे। किसी भी वस्तु के संबंध में लिखते समय इन्होंने उसके बाह्य उपकरणों को अत्यधिक महत्व दिया। इनकी धारणा थी कि विभिन्न कलाओं के बीच कोई मौलिक भेद नहीं है। साहित्य, चित्रकला और शिल्पकला पाठक या दर्शक के ऊपर एक सा ही प्रभाव डालती हैं। सभी कलाओं के प्रति हमारी प्रतिक्रिया समान होती है। भेद केवल अभिव्यक्ति के माध्यम का होता है। जहाँ कवि या उपन्यासकार शब्दों का प्रयोग करता है, चित्रकार रंग और तूलिका तथा मूर्तिकार पत्थर या मिट्टी का। इनकी कविताएँ, जो दो संग्रहों में निकलीं (एमाना १८४५, और एमेल्स और कैमकॉस १८५२), इस सिद्धांत की सत्यता सिद्ध करती हैं।

गौतिए पारनासियन शैली के कवियों में आते हैं। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मलार्म, वर्लेन प्रभृति कवियों ने फ्रांसीसी कविता की परंपरा को छोड़ एक नई दिशा की ओर संकेत किया। इन्होंने कविता में भाव पर नहीं वरन् रूपविधान पर जोर दिया। गौतिए में भी इस शैली की कविता के सारे गुणदोष मिलते हैं। शैली और रूपविधान की दृष्टि से इनकी कविताएं उच्च कोटि की हैं। काव्यशास्त्र की कसौटी पर ये सर्वथा निर्दोष उतरती हैं। लेकिन भावों की गहराई उनमें नहीं है। गौतिए ने उपन्यास भी लिखे। इनके दो महत्वपूर्ण उपन्यास मैदामाएले दि मा पिन (१८३५) और कैप्टेन फ्रेकास (१८६३) हैं। इन उपन्यासों द्वारा हमें इनकी अद्भुत वर्णनशैली का परिचय मिलता है। लेकिन ऊँचे दर्जे की प्रतिभा के होते हुए भी गौतिए उपन्यासकार के रूप में बहुत ऊँचा नहीं उठ पाए। व्यक्तियों एवं वस्तुओं का अलग अलग वर्णन ये खूबी के साथ कर पाते हैं लेकिन सबको सामूहिक रूप देकर जीवन का व्यापक चित्र ये नहीं प्रस्तुत कर पाते।

गौतिए ने कला का एक नया सिद्धांत दिया जिसके अनुसार कला में सौंदर्य की उपलब्धि केवल रूप के जरिए हो सकती है। कलाकार को राजनीतिक, सामाजिक या नैतिक वितंडा में कतई नहीं पड़ना चाहिए। ये समस्याएँ दूसरों की हैं, कलाकार की नहीं। इन्होंने कला कला के लिये का नारा दिया जिसका व्यापक प्रभाव न केवल फ्रांस में बल्कि इंग्लैंड और बहुत दिनों तक यूरोप के अन्य देशों में भी रहा।

[तु० ना० सिं०]

गौरीशंकर (पर्वत) स्थिति २७°५८' उ० अ० तथा ८६° २०' पू० दे०। उत्तरी नेपाल में माउंट एवरेस्ट से ३५ मील पश्चिम हिमालय पर्वतमाला की चोटी है, जिसकी ऊँचाई २३,४४० फुट है। लोग प्रायः इसे माउंट एवरेस्ट का ही पर्यायवाची समझते हैं तथा कई पुस्तकों में भी माउंट एवरेस्ट के स्थान पर गौरीशंकर पर्वत लिखा गया है, लेकिन यह भ्रमात्मक है। यह शिखर सदैव हिमाच्छादित रहता है।

[रा० प्र० सिं०]

गौरैया प्रसिद्ध शाखाशायी गण के तूती (Finch) कुल का पक्षी है, जिसकी कई जातियाँ संसार भर में फैली हुई हैं। इनमें हाउस स्पैरो (House Sparrow), ट्री स्पैरो (Tree Sparrow) और हेज स्पैरो (Hedge Sparrow) मुख्य हैं।

गौरैया लगभग चार इंच लंबी छोटी सी चिड़िया है, जिसे हम रोज अपने घरों में इधर उधर फिरते देख सकते हैं। इसके नर और मादा के रंग में थोड़ा भेद रहता है। वैसे तो दोनों का ऊपरी भाग और डैने चितले, भूरे या कत्थई रंग के और नीचे का हिस्सा राख के रंग का रहता है, लेकिन नर के सर का ऊपरी भाग सिलेटी तथा गरदन से सीने तक का हिस्सा काला रहता है। आँख की पुतली, चोंच तथा पैर भूरे रहते हैं।

गौरैया दाना खानेवाली चिड़िया है, जिसकी चोंच मोटी और भारी होती है। दाने के अलावा यह कीड़े मकोड़े भी खाती है। इसका घोंसला बनाने का काम बारहों महीने चलता रहता है। मादा उसमें राख के रंग के ३-४ अंडे देती है, जिनपर भूरी चित्तियाँ पड़ी रहती हैं।

[मु० सि०]

गौशिउंग (Kaohsiung) स्थिति : २२° ३८' उ० अ० और १२०° १८' पू० दे०; जनसंख्या: २,७५,५६३ (१९५०)।

दक्षिणी फॉरमोसा में पश्चिमी तट पर तैनान से २८ मील दक्षिण में दक्षिणी फॉरमोसा का एक प्रमुख पत्तन, एवं रेल तथा सड़कों का केंद्र है। इस नगर में चीहो का मछली पकड़ने का प्राचीन क्षेत्र है, जो प्रायद्वीप के पश्चिम में अंतिम छोर पर है। आधुनिक नगर का भाग पत्तन को मिलाते हुए पूर्व में एक सुरक्षित एवं छिछली झील पर स्थित है। सन् १८५८ के बाद यह वास्तविक व्यापारिक पत्तन के रूप में विकसित हुआ। जापानी शासनकाल (सन् १८९५-१९४५) में गौशिउंग औद्योगिक केंद्र बना। सन् १९२० से इसे जापानी भाषा में टकाऊ या टाकू कहा जाता है।

यहाँ ऐल्युमिनियम, सीमेंट, सुपरफॉस्फेट उर्वरक, लौह की ढलाई, तेल साफ करने, जलयान बनाने, मछली एवं कृषि उत्पादन (चीनी, ऐलकोहल, चावल, और फल) को सुरक्षित रखने के कारखाने हैं।

इस पत्तन द्वारा चीनी, चावल, अनन्नास और केले का निर्यात होता है।

[रा० प्र० सिं०]

गौस, कार्ल फ्रीड्रिख (Gauss, Karl Friedrich, सन् १७७७-१८५५), जर्मन गणितज्ञ, का जन्म ३० अप्रैल, १७७७ ई० को ब्रंजविक के एक राजपरिवार में हुआ था। बाल्यावस्था में इनकी गणना करने की अद्भुत योग्यता से प्रभावित होकर ब्रंजविक के ड्यूक ने इनकी शिक्षा का भार ग्रहण कर लिया। १८०७ ई० में ये गौटिंजन की वेधशाला के संचालक नियुक्त हुए और आजीवन इसी पद पर रहे। ये अपने अन्वेषणों को प्रकाशित करके प्राथमिकता प्राप्त करने के कभी इच्छुक नहीं रहे।

गणित को गौस की देनें अपूर्व हैं। सर्वप्रथम इन्होंने ही अनंत श्रेणियों का निर्दोष रूप से वर्णन किया, सारणिकों एवं कल्पित राशियों की महत्ता को पहचाना तथा इनका विधिवत् प्रयोग किया, लघुतम वर्गों की विधि का अन्वेषण किया और दीर्घवृत्तीय फलनों के द्विकआवर्तक को ज्ञात किया। इनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'दिस्कुइजिस्योनेस अरितमेतिके' (Disquisitiones Arithmeticor १८०१ ई०) के चतुर्थ भाग में सर्वांगसमता के सिद्धांत एवं वर्गात्मक व्युत्क्रमी के नियम का (जिसमें वर्गात्मक शेष के सिद्धांत का समावेश है), पंचम भाग में वर्गात्मक रूपों और सप्तम तथा अंतिम भाग में वृत्त के भाग के सिद्धांत का वर्णन है। इन्होंने चतुर्घातीय शेष एवं व्युत्क्रमी, समाशिक दीर्घवृत्तजीय आकर्षण एवं केशाकर्षण, भूमापन विज्ञान और ग्रहों एवं पुच्छल तारों की गति ज्ञात करने के नियमों पर भी शोधपत्र लिखे। इन्होंने हेलियोट्रोप (Heliotrope) और दिक्पात यंत्रों का निर्माण भी किया। २३ फरवरी, सन् १८५५ को इनका देहांत हो गया।

सं०ग्रं०—वि० सार्टोरियुस 'गौस' त्सुम गदेक्तनिस, १८५६। (W. Sartorius : Gauss, Zum Gedachtniss, 1856)

[रा० कु०]

गौहाटी स्थिति : २६° ११' उ० अ०, ९१° ४५' पू० दे०। भारतीय गणतंत्र के असम राज्य के कामरूप जिले का, ब्रह्मपुत्र नदी पर स्थित, यह नगर, 'असम का द्वार' कहलाता है। यद्यपि यह नगर ब्रह्मपुत्र नदी के दोनों ओर बसा है, तथापि नगर का मुख्य भाग दक्षिण में ही है। यह असम का अति प्राचीन नगर है। इसका प्राचीन नाम प्राग्ज्योतिषपुर था और यह महाभारतकालीन राजा भगदत्त की राजधानी था। नीलाचल पहाड़ी पर स्थित यहाँ का कामाख्या मंदिर भी अति प्राचीन है। कहते हैं, इसे नरकासुर ने कामाख्या देवी को प्रसन्न करने के लिये बनवाया था। मिट्टी के नीचे चारों ओर पाए जानेवाले इमारतों के खंडहर तथा ईंटों के टुकड़े इस बात के प्रबल साक्षी हैं कि प्राचीन काल में यहाँ, नदी के दोनो किनारों पर एक बड़ा नगर बसा था और उसकी जनसंख्या बहुत अधिक थी, परंतु इसका मध्ययुगीन इतिहास अज्ञात है। १६वीं सदी में यह कोच राज्य में मिला लिया गया था। १७वीं सदी के प्रारंभिक दिनों में यह कभी मुसलमानो तथा कभी अहोम लोगों के अधिकार में रहा। अंततः १६८१ ई० में मुसलमान यहाँ से भगा दिए गए और गौहाटी निचले असम के अहोम शासक का निवासस्थान बना; परंतु १८वीं सदी के अंत तक यहाँ की गौरवगरिमा एकदम विनष्ट हो गई। १८९७ ई० का भूकंप यहाँ के इतिहास में भयंकर दुर्घटना है। इसमें यहाँ का हर पक्का मकान ध्वस्त हो गया था। १८७८ ई० में यहाँ नगरपालिका स्थापित हुई।

गौहाटी अत्यंत मनोरम क्षेत्र में स्थित है। दक्षिण में घने वनों से ढकी अर्धचंद्राकार पहाड़ियाँ हैं और सामने ब्रह्मपुत्र नदी, जो वर्षा के दिनों में एक मील चौड़ी हो जाती है। इसमें एक चट्टानी द्वीप है। उत्तर में फिर नीची पहाड़ियाँ हैं, परंतु यहाँ की स्थिति स्वास्थ्यप्रद नहीं है। इसी कारण किसी समय यहाँ पर मृत्युसंख्या बहुत अधिक हो गई थी। अब जलप्रवाह में सुधार तथा शुद्ध पेय जल की प्राप्ति के कारण दशा काफी अच्छी हो गई है। पहाड़ियों से घिरे होने के कारण तथा अपेक्षाकृत कम वर्षा (६७'') से ग्रीष्म ऋतु मनोहर नहीं रहती।

गौहाटी असम राज्य का सबसे बड़ा नगर और शिक्षा तथा व्यापार का केंद्र है। गौहाटी विश्वविद्यालय यहीं पर है। यहाँ हवाई अड्डा, पूर्वोत्तर रेलवे स्टेशन तथा नदी का बंदरगाह है। चाय, चावल, रूई, जूट, लाख तथा तेलहन यहाँ की मुख्य व्यापारिक वस्तुएँ हैं। रूई से बिनौले अलग करना, चाय की पत्ती तैयार करना तथा साबुन बनाना यहाँ के उल्लेखनीय उद्योग हैं। यहाँ की जनसंख्या १,००,७०७ (१९६१) है।

[शि० मं० सिं०]

ग्याङ्त्से स्थिति : २९° उ० अ० तथा ८९° ५' पू० दे०; जनसंख्या ५,००० (१९५०)। तिब्बत में सांगपो (ब्रह्मपुत्र) नदी की घाटी में

१२,८६५ फुट की ऊँचाई पर ल्हासा से १०० मील दक्षिण-पश्चिम तथा शिगत्से से दक्षिण-पूर्व भारतीय सीमा से १३० मील की दूरी पर स्थित नगर है। यह ऊनी कपड़े और कालीन के लिये विशेष प्रसिद्ध था। यह नगर एक समय व्यापक व्यापार और वितरण का केंद्र था। यहाँ भारत, भूटान, लद्दाख, सिक्किम तथा मध्य एशिया से ल्हासा की सड़कें (कारवाँ मार्ग) मिलती हैं। यहाँ लद्दाख, नेपाल और ऊपरी तिब्बत से कारवाँ सोना, सुहागा, नमक, ऊन, समूर और कस्तूरी ले आते थे तथा इनके बदले में चाय, तंबाकू, चीनी, सूती कपड़े, बनात या दोहरे अर्ज का बढ़िया गरम कपड़ा तथा लोहे की वस्तुएँ ले जाते थे। सन् १९०४ के ब्रिटिश अभियान में अधिकृत किया जानेवाला यह प्रथम नगर था। जब से तिब्बत चीनियों के अधिकार में आया तब से यहाँ के व्यापार की स्थिति का ज्ञान हमें नहीं है। भारत से तो इसका संबंध बिलकुल छूट ही गया है।

[रा० प्र० सिं०]

ग्रंथताल (Borassus flebellifur L.) को पामीरा पाम (Palmyra palm) कहते हैं। बंबई के इलाके में लोग इसे "ब्रब" भी कहते हैं। यह एकदली वर्ग, ताल (Palmeae) कुल का सदस्य है और गरम तथा नम प्रदेशों में पाया जाता है। यह अरब देश का पौधा है, पर भारत, बर्मा तथा लंका में अब अधिक मात्रा में उगाया जाता है। अरब के प्राचीन नगर 'पामीरा' के नाम पर कदाचित् इस पौधे का नाम "पामीरा पाम" पड़ा है। ग्रंथताल समुद्रतटीय इलाकों तथा शुष्क स्थानों में बलुई मिट्टी पर पाया जाता है।

इसके पौधे काफी ऊँचे (६०-७० फुट) होते हैं। तना प्रायः सीधा और शाखारहित होता है एवं इसके ऊपरी भाग में गुच्छेदार, पंखे के समान पत्तियाँ होती हैं। ग्रंथताल के नर तथा मादा पौधों को उनके फूलगुच्छ से पहचाना जा सकता है। पौधे फाल्गुन महीने में फूलते हैं और फल ज्येष्ठ तक आ जाता है। ये फल श्रावणमास तक पक जाते हैं। प्रत्येक फल में एक बीज होता है, जो कड़ा तथा सुपारी की भाँति होता है। दो या तीन मास तक जमीन के अंदर गड़े रहने पर बीज अंकुरित हो जाता है।

आर्थिक महत्व — पौधे का लगभग हर भाग मनुष्य अपने काम में लाता है। एक तमिल कवि ने इस पौधे के ८०० विभिन्न उपयोगों का वर्णन किया है। इसका तना बड़ा ही मजबूत होता है और इसपर समुद्री जल का कोई बुरा असर नहीं पड़ता। अतः इसका उपयोग नाव इत्यादि बनाने में किया जाता है। इसकी पत्तियाँ मकान छाने एवं चटाई तथा डलिया बनाने के काम में लाई जाती हैं। इस पौधे से पाँच प्रकार के रेशे निकाले जाते हैं: (क) पत्तियों के डंठल के निचले भाग से निकलनेवाला रेशा, (ख) पत्ती के डंठल से निकलनेवाला रेशा, (ग) तने से निकलनेवाला "तार" नामक रेशा, (घ) फल के ऊपरी भाग से निकलनेवाला रेशा तथा (ङ) पत्तियों से निकलनेवाला रेशा। इसके रेशे तथा पत्तियों से तरह तरह की वस्तुएँ बनाई जाती है, जिनमें चटाई, डलिया, डिब्बे तथा हैट मुख्य हैं। रेशे का एक महत्वपूर्ण उपयोग ब्रश बनाने में किया जाता है। तूतीकोरन से ग्रंथताल का रेशा बाहर भेजा जाता है। बंगाल तथा दक्षिण की कुछ जगहों में इसकी लंबी पत्तियाँ स्लेट की तरह लिखने के काम में लाई जाती हैं।

ग्रंथताल का औषधि के लिये भी पर्याप्त महत्व है। इसका रस स्फूर्तिदायक होता है तथा जड़ और कच्चे बीज से कुछ दवाएँ बनाई जाती हैं। इसके पुष्पगुच्छ को जलाकर बनाया गया भस्म बढ़ी हुई तिल्ली के रोगी को देने से लाभ होता है।

ग्रंथताल के पुष्पगुच्छी डंठल से अधिक मात्रा में ताड़ी निकाली जाती है, जिससे मादक पेय, शर्करा तथा सिरका बनाया जाता है। एक पेड़ से प्रति दिन तीन चार क्वार्ट ताड़ी प्रायः चार पाँच मास तक निकलती है। १५-२० वर्ष पुराने पेड़ से ताड़ी निकालना आरंभ करते हैं और ५० वर्ष तक के पुराने पेड़ से ताड़ी निकलती है। इसकी ताड़ी में मिठास अधिक होती है। मीठी डबल रोटी बनाने के लिये बर्मा में ताड़ी को आटे में मिलाया जाता है।

दक्षिणी भारत में कहीं कहीं ग्रंथताल के बीजों को खेतों में उगाते हैं और जब पौधे ३-४ मास के हो जाते हैं तो उन्हें काटकर सब्जी के रूप में उपयोग करते हैं।

[कै० चं० मि०]

ग्रंथसूची (बिब्लियोग्रैफी) ग्रंथसूची से तात्पर्य अंग्रेजी शब्द 'बिब्लियोग्रैफी' से है, जो बहुत ही व्यापक है तथा जिसकी किसी एक निश्चित परिभाषा के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। १९६१ में पेरिस में यूनेस्को के सहयोग से 'इफ्ला' (इंटरनेशनल फेडरेशन ऑव लाइब्रेरी एसोसिएशंस) की जो कानफरेंस हुई थी, उसमें इस शब्द की परिभाषा के प्रश्न पर भी विचार किया गया था और सर्वसंमति से अंततः इस शब्द की निम्नलिखित परिभाषा स्वीकृत की गई थी: 'वह कृति (या प्रकाशन) जिसमें ग्रंथों की सूची दी गई हो। ये ग्रंथ किसी एक विषय से संबंधित हों, किसी एक समय में प्रकाशित हुए हों या किसी एक स्थान से प्रकाशित हुए हों। यह शब्द 'ग्रंथों का भौतिक पदार्थ के रूप मे अध्ययन' इस अर्थ में भी प्रयोग किया जाता है।'

'इफ्ला' द्वारा स्वीकृत उक्त परिभाषा में मुख्य तीन अर्थ शामिल किए गए हैं: (१) ग्रंथसूची या सिस्टेमेटिक और इन्युमेरेटिव बिब्लियोग्रैफी (२) ग्रंथवर्णन या अनालिटिक डिस्क्रिप्टिव और टेक्श्चुअल बिब्लियोग्रैफी और (३) ग्रंथ का भौतिक पदार्थ के रूप में अध्ययन या हिस्टोरिकल बिब्लियोग्रैफी। इसके अंतर्गत ग्रंथ का बाह्य रूप में प्रत्येक प्रकार का अध्ययन, जिससे ग्रंथ के इतिहास, निर्माण आदि का ज्ञान हो, आ जाता है। इस प्रकार कागज की निर्माणविधि, मुद्रणकला का इतिहासविकास, चित्रों के मुद्रण की विविध पद्धतियाँ, ग्रंथ के निर्माणकाल में की जानेवाली विविध क्रियाएँ आदि सभी बातें 'ग्रंथसूची' शब्द के अंतर्गत आ जाती हैं।

१—ग्रंथसूची: ग्रंथसूची (बिब्लियोग्रैफी) वस्तुतः सूचीपत्र (कैटलॉग) का ही एक रूप है, पर दोनों शब्द पर्यायवाची नहीं हैं (दे० 'कैटलाग')। सूचीपत्र से किसी एक पुस्तकालय या संग्रहालय में उपलब्ध साहित्य का ज्ञान होता है। सूचीपत्र किसी प्रकाशक द्वारा प्रकाशित ग्रंथों की सूची मात्र भी हो सकता है तथा किसी पुस्तक विक्रेता द्वारा बेचे जानेवाले ग्रंथों की सूची भी। सूचीपत्र में जो ग्रंथ संमिलित किए जाते हैं, उनका न्यूनतम विवरण, (यथा लेखक एवं ग्रंथ का नाम तथा प्रकाशन तिथि,) दे देना ही पर्याप्त समझा जाता है। इससे किसी ग्रंथ के अस्तित्व मात्र का ज्ञान ही हो पाता है। सूचीपत्र तैयार करने की विधि भी सरल है। वह या तो ग्रंथों को देखकर तैयार किया जाता है या किसी दूसरे सूचीपत्र की सहायता से। कभी कभी सूचीपत्र तैयार करने में दूसरे पुस्तकालयों तथा विद्वानों की सहायता भी ली जाती है। सूचीपत्र में ग्रंथों का जो विवरण दिया जाता है, उससे कोई व्यक्ति यह पता नहीं लगा सकता कि किसी ग्रंथ का मुद्रण किन परिस्थितियों में हुआ तथा उस ग्रंथ के बाद के संस्करणों (एडीशंस) में यदि कोई परिवर्तन, संशोधन किया गया, तो क्यों?

ग्रंथसूची (बिब्लियोग्रैफी) का क्षेत्र भी यद्यपि कुछ अंशों तक सीमित रहता है, तथापि उसकी सीमा एक ओर यदि न्यूनतम हो सकती है

तो दूसरी ओर अति विस्तृत भी। ग्रंथसूची के अंतर्गत किसी एक लेखक, प्रकाशक, मुद्रक, विषय, काल या देश (या प्रकाशनस्थान) से संबंधित ग्रंथों की सूची को लिया जा सकता है। यदि किसी पुस्तकालय में उपलब्ध किसी एक लेखक, प्रकाशक, मुद्रक, विषय, काल या देश से संबंधित ग्रंथों; या अन्य प्रकार की ग्रंथ सदृश सामग्री (बुक-लाइक मेटीरियल्स), यथा सभी प्रकार का प्रकाशित अप्रकाशित साहित्य, पैंफ्लेट, पत्रपत्रिकाएँ, समाचारपत्र और उनमें छपी रचनाओं के 'रिप्रिंट', नक्शे, चित्र, माईक्रोफिल्म सामग्री, हस्तलिखित ग्रंथ आदि की सूची किसी विशेष उद्देश्य एवं क्रम से तैयार की जाय तो उसे ग्रंथसूची कहा जायगा। इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण लेना अप्रासंगिक नहीं होगा। नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, के आर्यभाषा पुस्तकालय में उपलब्ध सभी ग्रंथों की सूची को 'आर्यभाषा पुस्तकालय का सूचीपत्र' कहा जायगा। यदि वहाँ उपलब्ध प्रेमचंद से संबंधित तथा उनके द्वारा लिखित सभी ग्रंथों की सूची तैयार की जाए तो उसे 'प्रेमचंद की ग्रंथसूची' माना जायगा, यद्यपि इसे 'आर्यभाषा पुस्तकालय में प्रेमचंद कृत तथा प्रेमचंद संबंधी साहित्य का सूचीपत्र' भी कहा जा सकता है।

ग्रंथसूची किसी न किसी प्रकार की सीमा से प्रतिबंधित रहती है। यह सीमा बहुत व्यापक और बहुत छोटी भी हो सकती है। यदि उक्त उदाहरण में प्रेमचंद द्वारा लिखित तथा उनसे संबंधित केवल उसी साहित्य की सूची तैयार की जाए जो किसी एक निश्चित अवधि में प्रकाशित हुआ हो, यथा १९२० से १९३० के बीच, तो यह ग्रंथसूची 'प्रेमचंद' विषय तक तो सीमित है ही, एक निश्चित काल से भी सीमित है। इस ग्रंथसूची को, यदि कोई चाहे तो, 'प्रेमचंद का कहानी साहित्य :१९२०–१९३०' तक भी सीमित किया जा सकता है। इसके विपरीत यदि कोई चाहे तो संसार की सभी भाषाओं में अनुवादित और प्रकाशित प्रेमचंद कृत और उनसे संबंधित संपूर्ण साहित्य को भी संमिलित कर सकता है। ऐसी स्थिति में ग्रंथसूची की सीमा बहुत अधिक बढ़ जाएगी। कहने का मंतव्य यही है कि ग्रंथसूची हमेशा किसी न किसी दिशा तक सीमित रहती है, पर इसके विपरीत सूचीपत्र का किसी एक विषय, काल या स्थान तक सीमित होना आवश्यक नहीं।

सूचीपत्र की तुलना में ग्रंथसूची अपने उद्देश्य में भी सीमित होती है। विषय एवं उद्देश्य के अनुसार ही ग्रंथसूची में ग्रंथों का क्रम (अरेंजमेंट) रहता है तथा ग्रंथसूची की एक मुख्य विशेषता यह भी होती है कि अपनी निर्धारित सीमा में वह सर्वांगसंपूर्ण होती है यद्यपि आजकल कुछ नए एवं कठिन विषयों के लिये केवल चुने हुए साहित्य की ग्रंथसूची (सेलेक्टिव बिब्लियोग्रैफी) भी संकलित की जाने लगी है।

ग्रंथसूची और सूचीपत्र में दूसरा मुख्य अंतर यह होता है कि सूचीपत्र का उपयोग मुख्यतः पुस्तकालय के सदस्य या अनुसंधानकर्ता आवश्यक ग्रंथ प्राप्त करने या उनके संबंध में आवश्यक संक्षिप्त विवरण प्राप्त करने के लिये करते हैं। इसके विपरीत ग्रंथसूची का उपयोग किसी एक निश्चित एवं सीमित उद्देश्य के लिये ही किया जाता है। सूचीपत्र से सामान्यतः किसी ग्रंथ के संबंध में लेखक का नाम तथा उसकी प्रकाशनतिथि ही ज्ञात हो सकती है, पर ग्रंथसूची में दिए गए विवरण से सभी प्रकार का आवश्यक संभावित विवरण, जैसे ग्रंथ का लेखक, नाम, मूल्य, पृष्ठसंख्या, प्रकाशक, प्रकाशनस्थान और तिथि, आकार प्रकार, संस्करण, प्रकाशन संबंधी कोई महत्वपूर्ण तथ्य तथा इसी प्रकार का अन्य विवरण भी प्राप्त होता है।

ग्रंथसूची कई प्रकार की हो सकती है, पर इसके मुख्य रूप निम्नलिखित हैं :

(अ) राष्ट्रीय ग्रंथसूची अर्थात् किसी देश में प्रकाशित समस्त साहित्य की सूची (नेशनल बिब्लियोग्रैफी)।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि किसी देश में प्रकाशित संपूर्ण साहित्य उस देश की जनता को बिना किसी आपत्ति के सुलभ होना चाहिए। कोई व्यक्ति या संस्था सभी प्रकाशित साहित्य नहीं खरीद सकती। अतः यह साहित्य किसी ऐसी जगह सुरक्षित रखा जाना चाहिए जहाँ सभी लोग समान रूप से उसका उपयोग कर सकें। यह कार्य देश विशेष की सरकार द्वारा ही संभव है। इसी उद्देश्य से संसार के प्रायः सभी देशों में राष्ट्रीय पुस्तकालय (नेशनल लाइब्रेरी) स्थापित किए गए हैं। पर केवल इतने से ही समस्या हल नहीं हो जाती। पुस्तकालय में क्या क्या साहित्य संग्रहीत किया गया है, तथा कोई ग्रंथ है या नहीं, यह जानने का कोई साधन हुए बिना पुस्तकालय का पूरा पूरा उपयोग नहीं किया जा सकता। दूसरी बात यह भी है कि किसी भी देश की संस्कृति इतनी संपन्न नहीं होती कि वह दूसरे देशों से बिना कुछ लिए दिए ही फलती फूलती रहे। आजकल जब कि विज्ञान एवं मानवता की दृष्टि से समस्त विश्व का एक सूत्र में आबद्ध होना आवश्यक समझा जाने लगा है, अनुसंधानकर्ताओं के लिये भी यह आवश्यक हो गया है कि वे दूसरे देशों में हुई तथा हो रही प्रगति से अवगत रहें। अतः प्रत्येक देश की सरकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह कोई ऐसा साधन प्रस्तुत करे जिससे देश के लोगों को ही नहीं वरन् विदेशियों को भी देश में प्रकाशित साहित्य की सूचना मिले। राष्ट्रीय ग्रंथसूची इसी उद्देश्य की पूर्ति करती है। राष्ट्रीय ग्रंथसूची में किसी देश में प्रकाशित सभी प्रकार के एवं सभी विषयों के समस्त ग्रंथों का विवरण दिया रहता है। यह सूची प्रायः देशविशेष के राष्ट्रीय पुस्तकालय में संग्रहीत साहित्य के आधार पर तैयार की जाती है।

अभी तक किसी भी देश में ऐसी राष्ट्रीय ग्रंथसूची तैयार नहीं हो सकी है जिसमें उस देश में प्रकाशित संपूर्ण साहित्य का विवरण हो। राष्ट्रीय ग्रंथसूची वस्तुतः इसी सदी की देन है। ब्रिटेन जैसे देश में भी १९५० से पूर्व कोई राष्ट्रीय ग्रंथसूची नहीं थी। वहाँ १९५० से ब्रिटिश नेशनल बिब्लियोग्रैफी का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। यह सूची वहाँ के राष्ट्रीय पुस्तकालय—ब्रिटिश म्यूजियम के पुस्तकालय—में कापीराइट कानून के अंतर्गत प्राप्त हुए ग्रंथों के आधार पर तैयार की जाती है।

भारत में १९५८ का वर्ष ग्रंथसूची की दृष्टि से अत्यंत ही महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए जबकि वहाँ राष्ट्रीय पुस्तकालय ग्रंथसूची (इंडियन नेशनल बिब्लियोग्रैफी) का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। इस सूची में भारत के राष्ट्रीय पुस्तकालय (कलकत्ता) में कापीराइट कानून के अंतर्गत प्राप्त सभी भाषाओं के सभी ग्रंथों का विवरण दिया रहता है, पर हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का दुर्भाग्य ही है कि यह सूची केवल रोमन लिपि में प्रकाशित होती है। इस प्रकार १९५८ तथा उसके बाद भारत में प्रकाशित सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य की समस्या तो बहुत कुछ हल हो चुकी है, पर १९५८ से पूर्व भारत में प्रकाशित साहित्य की कोई भी ग्रंथसूची अभी तक न तो उपलब्ध है और न तत्संबंधी कोई योजना ही विचाराधीन है। लेकिन भारत को इस बात का गर्व होना चाहिए कि यहाँ राष्ट्रीय ग्रंथसूची का प्रकाशन प्रारंभ हो चुका है जबकि कई देशों में अभी तक कोई राष्ट्रीय ग्रंथसूची प्रकाशित नहीं हुई है। वहाँ के राष्ट्रीय पुस्तकालयों के सूचीपत्र का उपयोग केवल वे ही लोग कर सकते हैं जो स्वयं पुस्तकालय जा सकें। इसके अतिरिक्त दूसरा एकमात्र उपाय पत्रव्यवहार द्वारा किसी ग्रंथविशेष के संबंध में जानकारी प्राप्त

करता है। पर अब यूनेस्को के प्रभाव एवं सहयोग से कुछ देशों में राष्ट्रीय ग्रंथसूची के प्रकाशन की योजनाएँ विचाराधीन हैं और आशा की जा रही है कि आगामी दो दशकों तक प्रायः सभी देशों में राष्ट्रीय ग्रंथसूची प्रकाशित होने लगेगी।

राष्ट्रीय ग्रंथसूची के प्रसंग में विश्व ग्रंथसूची (यूनिवर्सल बिब्लियोग्रेफी) पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। विश्व ग्रंथसूची के लिये विश्व में १८ वीं सदी से ही समय समय पर अनेक प्रयत्न किए गए, पर कोई भी प्रयत्न सफल न हो सका। विश्व ग्रंथसूची को ध्यान में रखकर ही ब्रिटेन की रायल सोसायटी ने सर्वप्रथम वैज्ञानिक साहित्य का सूचीपत्र (कैटलॉग ऑव साइंटिफिक पेपर्स) प्रकाशित करना आरंभ किया, पर शीघ्र ही यह प्रयास स्थगित कर देना पड़ा। इसके बाद उक्त सूचीपत्र के पूरक के रूप में वैज्ञानिक साहित्य का अंतर्राष्ट्रीय सूचीपत्र (इंटरनेशनल कैटलॉग ऑव साइंटिफिक लिट्रेचर) की योजना बनी। यह योजना भी कुछ समय तक ही चल सकी। उक्त दोनों योजनाओं की असफलता से विश्व ग्रंथसूची से संबंधित अनेक समस्याओं का पता चला जिनकी ओर विद्वानों का ध्यान साधारणतः नहीं गया था। इन दोनों योजनाओं के बाद भी रायल सोसायटी इस क्षेत्र में कुछ न कुछ करती रही है।

कोई भी पुस्तकालय कितना ही अधिक धन व्यय क्यों न करे, सभी देशों का संपूर्ण प्रकाशित साहित्य वह नहीं खरीद सकता। ब्रिटिश म्यूजियम के पुस्तकालयाध्यक्ष एंथोनी पानिजी इस पुस्तकालय में विश्व के सभी देशों में प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ रखना चाहते थे। इसी उद्देश्य से उन्होंने विश्व की सभी भाषाओं के श्रेष्ठ साहित्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया पर कई कारणों से वे अपने प्रयत्नों में सफल न हो सके। अमेरिका का कांग्रेस पुस्तकालय भी, जो विश्व का सबसे बड़ा पुस्तकालय माना जाता है, विश्वपुस्तकालय नहीं कहा जा सकता। पर विश्व के बड़े पुस्तकालयों के सूचीपत्र बहुत कुछ अंशों में 'विश्व ग्रंथसूची' की कमी की पूर्ति कर देते हैं क्योंकि इन पुस्तकालयों में विश्व के सभी देशों में प्रकाशित उपयोगी एवं महत्वपूर्ण ग्रंथों का संग्रह करने का प्रयत्न प्रारंभ से ही किया जाता रहा है।

आधुनिक युग में विश्व ग्रंथसूची के महत्व का अनुमान केवल इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि यूनेस्को का प्रायः प्रत्येक विभाग (डिपार्टमेंट) और शाखा (एजेंसी) ग्रंथसूची के विकास में किसी न किसी रूप में संबद्ध है तथा विविध विषयों की ग्रंथसूची तैयार करने एवं उनसे संबद्ध समस्याओं के हल के लिये यूनेस्को ने अलग अलग समितियाँ स्थापित की हैं। विश्व में ग्रंथसूची की वर्तमान स्थिति में सुधार के उद्देश्य से १९५० में पेरिस में यूनेस्को के तत्वावधान में जो अंतर्राष्ट्रीय कानफरेंस हुई थी, उसके सदस्य सर्वसंमति से इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि राष्ट्रीय स्तर पर प्रत्येक देश में 'ग्रंथसूची केंद्र' (बिब्लियोग्रैफिक सेंटर) स्थापित किया जाना चाहिए, जहाँ ग्रंथसूची से संबंधित विविध आवश्यक कार्य किए जा सकें। बाद में इन्हीं केंद्रों की सहायता से वहाँ की राष्ट्रीय ग्रंथसूची भी प्रकाशित की जा सकती है। राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित ये ग्रंथसूची केंद्र विश्व ग्रंथसूची के लिये नींव के समान उपयोगी होंगे।

(आ) सूचीपत्र : सूचीपत्र भी कुछ सीमा तक ग्रंथसूची का रूप ले सकते हैं। यदि किसी पुस्तकालय में उपलब्ध केवल किसी एक निश्चित विषय के ग्रंथों का सूचीपत्र तैयार किया जाय तो उसे कुछ अंशों तक ग्रंथसूची के रूप में उपयोग किया जा सकता है। अधिकांश प्रसिद्ध एवं बड़े पुस्तकालयों के विषय सूचीपत्र (सब्जेक्ट कैटलॉग) कालांतर में विषय ग्रंथसूची (सब्जेक्ट बिब्लियोग्रेफी) का महत्व प्राप्त कर लेते हैं। सूचीपत्रों में शामिल किए गए ग्रंथों की विशेषता प्रायः यह नहीं होती कि वे किसी लेखकविशेष की कृतियाँ होते हैं, या इसलिये कि सभी ग्रंथ किसी एक विषय से संबंधित होते हैं, यद्यपि कुछ सूचीपत्रों के संबंध में उपर्युक्त दोनों या कोई एक बात सही भी हो सकती है। वरन् उन ग्रंथों में विशेषता यह होती है कि वे किसी एक प्रकाशक द्वारा प्रकाशित होते हैं, किसी पुस्तक विक्रेता के यहाँ क्रयार्थ प्राप्त होते हैं या वे किसी पुस्तकालय के संग्रह में होते हैं। पर बड़े पुस्तकालयों (विशेषकर राष्ट्रीय पुस्तकालयों) के सूचीपत्र का महत्व ग्रंथसूची के समान होता है। इसी कारण ब्रिटेन के ब्रिटिश म्यूजियम पुस्तकालय, अमेरिका के कांग्रेस पुस्तकालय और फ्रांस के 'बिब्लिओथेक नेशनल' (राष्ट्रीय पुस्तकालय) के सूचीपत्रों की गणना ग्रंथसूची की कोटि में होती है।

(इ) विषय ग्रंथसूची : (सब्जेक्ट बिब्लियोग्रैफी) इनके संकलन का मुख्य उद्देश्य तथा इनमें शामिल ग्रंथों की मुख्य समानता केवल यह होती है कि वे किसी एक विषय से संबद्ध होते हैं। यह ग्रंथसूची, अन्य प्रकार की ग्रंथसूचियों के समान समसामयिक (करेंट) ग्रंथों की भी हो सकती है तथा पूर्वकालीन (रिट्रास्पेक्टिव) ग्रंथों की भी। यह विशद (कांप्रिहेंसिव) भी हो सकती है या केवल चुने हुए साहित्य की भी (सेलेक्टिव), इसी प्रकार उसमें शामिल ग्रंथों के विवरण के साथ टिप्पणी (एनोटेशन) भी हो सकती है तथा नहीं भी। इसका प्रकाशन पत्रपत्रिका के रूप में निर्धारित समय में भी हो सकता है, छोटी पुस्तिका (पैंफ्लेट और मानोग्राफ) के रूप में भी और स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में भी।

(ई) सहायक ग्रंथसूची . विश्वविद्यालयों की पाठ्यपुस्तकों (टेक्स्ट बुक) तथा वैज्ञानिक ग्रंथों के कुछ परिच्छेदों के अंत में और कुछ महत्वपूर्ण अनुसंधानात्मक ग्रंथों के अंत में कभी कभी स्वतंत्र अध्याय या परिशिष्ट के रूप में लेखक 'सहायक ग्रंथसूची', 'अन्य साहित्य', 'पठनीय साहित्य' या 'उपयोगी साहित्य, आदि शीर्षक देकर कुछ ग्रंथों की सूची देते हैं। कुछ पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित महत्वपूर्ण लेखों के अंत में भी कभी कभी 'सहायक ग्रंथसूची' दी रहती है। इसी प्रकार विश्वकोशों एवं विशद लेखों के अंत में संक्षिप्त ग्रंथसूची दी होती है। इन्हें भी ग्रंथसूची का ही एक रूप मानना चाहिए।

(उ) ग्रंथसूचियों की ग्रंथसूची (बिब्लियोग्रेफी ऑव बिब्लियोग्रेफीज) विश्व के सभी देशों में प्रकाशित ग्रंथों की निरंतर वृद्धि के साथ ही साथ लेखक तथा विषय ग्रंथसूची (आथर ऐंड सब्जेक्ट बिब्लियोग्रेफीज) की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है। पाश्चात्य देशों में प्रायः सभी प्रसिद्ध लेखकों की ग्रंथसूची प्रकाशित हो चुकी है। कुछ लेखकों की तो कई ग्रंथसूचियाँ अलग अलग उद्देश्य से प्रकाशित हुई हैं। लेकिन केवल ग्रंथसूची के प्रकाशित हो जाने से ही समस्या हल नहीं हो जाती। किस किस लेखक की तथा किस किस विषय की एवं किस किस प्रकार की ग्रंथसूचियाँ उपलब्ध हैं, यह जानने के लिये जब तक कोई साधन न हो, तब तक उपलब्ध ग्रंथसूचियों का पूरा पूरा उपयोग नहीं किया जा सकता। इसी उद्देश्य से अब 'ग्रंथसूचियों की ग्रंथसूची' के संकलन की ओर पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ है और युरोपीय भाषाओं में अब तक कई छोटी बड़ी 'ग्रंथसूचियों की ग्रंथसूची' प्रकाशित हो चुकी है। इस संबंध में थियोडोर बेस्टरमैन द्वारा संकलित 'ए वर्ल्ड बिब्लियोग्रेफी ऑव बिब्लियोग्रेफीज' (तृतीय संस्करण, १९५५-५६, ३ जिल्द) मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। इस विशाल ग्रंथ में विश्व की भाषाओं में प्रकाशित ८४,४०१ ग्रंथसूचियों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

(ख) साहित्य निर्देशिका (गाइड टु लिटरेचर) इसी सदी के प्रारंभ में ग्रंथसूची का यह नया रूप प्रकाश में आया है। इस प्रकार एक विषय के प्रकाशित अप्रकाशित महत्वपूर्ण साहित्य का विशद परिचय दिया रहता है। हिंदी में भी इस प्रकार की एक ग्रंथसूची प्रकाशित हो चुकी है।

ग्रंथसूची के उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार भी हैं जिनमें अनुक्रमणिकाएँ (इंडिसेज) तथा ऐब्सट्रैक्ट्स मुख्य हैं।

ग्रंथसूची का क्रम (अरेंजमेंट ऑव बिब्लियोग्रैफी) किसी भी ग्रंथसूची के संकलन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं आवश्यक बात यह है कि उसका उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए। ग्रंथसूची में शामिल किए जानेवाले ग्रंथों का क्रम उसके उद्देश्य पर ही निर्भर रहना है। किसी भी ग्रंथसूची में शामिल किए जानेवाले ग्रंथ निम्नलिखित क्रमों (अरेंजमेंट) में से किसी भी क्रम में रखे जा सकते हैं : (१) अकारादि क्रम। लेखक के नामानुसार, ग्रंथ के नामानुसार, विषय के नामानुसार या प्रकाशन स्थान के नामानुसार। (२) कालक्रम, (३) वर्गीकृत, (४) भौगोलिक क्रम (५) ग्रंथों के प्रकारानुसार।

यदि ग्रंथसूची का उद्देश्य प्रत्येक ग्रंथ का विवरण देना मात्र है तो सभी ग्रंथ लेखकों के नाम से अकारादि क्रम से रखना उपयुक्त होगा। यदि ग्रंथसूची का उद्देश्य किसी विषय के इतिहास का विकास बतलाना या किसी प्रसिद्ध लेखक के साहित्यविकास का परिचय देना है तो सभी ग्रंथ कालक्रम (क्रोनोलॉजिकल) अरेंजमेंट से रखे जाने चाहिए। यदि पाठकों को उपयोगी एवं महत्वपूर्ण ग्रंथों के संबंध में दिशाप्रदर्शन करना हो तो ग्रंथसूची के अंत में अकारादि क्रम में विषय अनुक्रमणी (सब्जेक्ट इंडेक्स) देकर ऐसा किया जा सकता है, और यदि ग्रंथसूची का उद्देश्य केवल यह बतलाना है कि विषय पर अब तक कौन कौन से ग्रंथ लिखे जा चुके हैं तथा किस अंग की अभी तक कमी है तो किसी वर्गीकरण पद्धति (क्लासीफिकेशन सिस्टम) के आधार पर संपूर्ण साहित्य को वर्गीकृत क्रम (क्लासीफाइड अरेंजमेंट) में रखा जा सकता है। इसी प्रकार यदि ग्रंथसूची में शामिल किए जानेवाले ग्रंथों का महत्व किसी स्थान या भौगोलिक क्षेत्र के कारण है तो सभी साहित्य भौगोलिक क्रम में रखा जा सकता है।

२ ग्रंथवर्णन : ग्रंथसूची के सामान यह अर्थ भी सीमित क्षेत्र में प्रयुक्त होता है। यह अर्थ वस्तुतः मशीन युग से पूर्व तथा मशीन युग के आरंभ में प्रकाशित ग्रंथों के लिये ही मुख्य रूप से प्रयुक्त होता है। आधुनिक काल मे वैज्ञानिक यंत्रों का इतना अधिक विकास हो चुका है, तथा मुद्रणकला के क्षेत्र मे भी इतनी अधिक प्रगति हो चुकी है कि किसी एक ग्रंथ की लाखों करोड़ों प्रतियाँ बिना किसी शारीरिक श्रम के मुद्रित की जा सकती हैं, साथ ही इस बात की जरा भी संभावना नहीं रहती कि इन प्रतियों मे आपस में किसी प्रकार का अंतर होगा। अतः आधुनिक काल में मुद्रित ग्रंथों के 'वर्णन' का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ग्रंथवर्णन से तात्पर्य ग्रंथ के विषयवर्णन से नही वरन् ग्रंथ के बाह्य रूप, उसके निर्माण एवं अस्तित्व मे आने की विविध क्रियाओं से है।

मशीन युग से पूर्व जब ग्रंथ हाथ से लिखे जाते थे, इस बात की अपेक्षा ही नहीं की जा सकती थी कि एक ही ग्रंथ की कोई भी दो प्रतियाँ प्रत्येक प्रकार से समान होंगी। और तो और, उनका कागज भी एक सा नहीं हो सकता था, फिर लिखावट, चित्रकारी, पैराग्राफ, 'भूल' की अशुद्धियाँ, हाशिया, आदि में तो और भी ज्यादा असमानता रहती थी। मुद्रणकला के आविष्कार के लगभग १०० वर्षों या इससे कुछ अधिक समय बाद तक भी मुद्रणकला का विकास अच्छी तरह नहीं हो पाया था। इस समय भी मुद्रणसंबंधी अधिकांश कार्य मानव शक्ति (हाथ या पैर) द्वारा होते थे। अतः यह स्वाभाविक था कि एक ही ग्रंथ की दो प्रतियों में कुछ न कुछ अंतर हो। उस काल के छपे ग्रंथों को देखने पर पता चलता है कि एक ही समय और एक ही साथ छपी एक ही ग्रंथ की दो प्रतियों में कंपोजिंग, मेकअप, प्रूफ, फार्मों की सजावट आदि में आश्चर्यजनक असमानता है।

आधुनिक काल में, जबकि प्राचीन काल के हस्तलिखित ग्रंथों और मुद्रणकला के आविष्कार के प्रारंभिक वर्षों में मुद्रित ग्रंथों के संग्रह की ओर कलापारखियों एवं साहित्यिक संस्थाओं का ध्यान आकृष्ट हुआ है तथा हस्तलिखित ग्रंथों के संग्राहक ऊँची ऊँची कीमतों पर प्रसिद्ध लेखकों की पांडुलिपियाँ और उनकी पुस्तकों के प्रारंभिक संस्करण एकत्रित करने लगे हैं, उनकी सुविधा के लिये यह आवश्यक हो गया है कि ऐसी ग्रंथसूचियाँ तैयार की जायँ जिनमें मूल वर्णन हो। इस वर्णन को देखकर असली और नकली प्रति का भेद आसानी से किया जा सके तथा कलाप्रेमी संग्राहक धोखेबाजों एवं जालसाजों द्वारा ठगे न जा सकें। कहने की आवश्यकता नहीं कि पाश्चात्य देशों में अनेक धोखेबाजों ने प्रसिद्ध लेखकों की पांडुलिपियों की हूबहू नकल कर तथा उनके ग्रंथों के 'जाली प्रथम संस्करण' तैयार कर लाखों-करोड़ों रुपए कमाए हैं। बाद में वस्तुस्थिति की जानकारी होने पर संग्राहकों को हाथ मलकर रह जाना पड़ा है।

कलाप्रेमियों एवं संग्राहकों को जालसाजों से बचाने के लिये ग्रंथसूची में जो वर्णन दिया जाता है वह अपने आपमें पूर्ण तथा किसी ग्रंथ की पहचान के लिये पर्याप्त होता है। पाश्चात्य ग्रंथों के वर्णन के लिये वहाँ के विद्वानों ने ग्रंथवर्णन की कुछ विशेष विधियाँ मान्य की हैं। ग्रंथवर्णन वस्तुतः एक प्रकार की सांकेतिक भाषा (कोड) है जिसे केवल अनुभवी ही समझ सकता है।

हस्तलिखित ग्रंथों तथा मुद्रित ग्रंथों के लिये अलग अलग विधियाँ तथा नियम हैं। इसी प्रकार ग्रंथसूची के उद्देश्य के अनुसार ग्रंथवर्णन भी कम या अधिक दिया जाता है। यदि ग्रंथसूची का उद्देश्य मात्र एक 'सूची' ही तैयार करना है तो सूची में शामिल किए जानेवाले ग्रंथों का आवश्यक संक्षिप्त विवरण दिया जाता है, पर यदि ग्रंथसूची का उद्देश्य ग्रंथों का विशद परिचय (विषयपरिचय नहीं) देना होता है तो ग्रंथ के प्रथम पृष्ठ (कवर या जिल्द) से लेकर अंतिम पृष्ठ तक का पूरा विवरण, चित्रों का पूरा विवरण, प्रत्येक पृष्ठ की मुख्य मुख्य विशेषताएँ यदि हों, हाशिया का क्रम, पैराग्राफों का क्रम, कंपोजिंग का क्रम (मुद्रित ग्रंथ में) प्रत्येक पृष्ठ मे कितनी पंक्तियाँ हैं, यदि किसी पृष्ठ में कम या अधिक पंक्तियाँ हैं तो इसकी सूचना, कोई पंक्ति यदि किसी विशेष स्थान से प्रारंभ होती हो तो उसका विवरण, आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रत्येक बात का वर्णन 'ग्रंथ वर्णन' के अंतर्गत आता है। यदि किसी प्राचीन ग्रंथ की दो प्रतियाँ (एक ही स्थान पर या दो अलग अलग स्थानों पर) उपलब्ध हों तो उनकी भौतिक बनावट की आपस में तुलना की जाती है और यदि उनमें कोई अंतर हो तो इस तथ्य का उल्लेख 'ग्रंथवर्णन' में कर इस ओर संग्राहकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। किसी एक ग्रंथ की दो प्रतियों में कोई अंतर होने का अर्थ यह कदापि नहीं कि दोनों में से एक प्रति जाली है। दोनों प्रतियों में अंतर होने पर भी दोनों ही प्रतियाँ असली हो सकती हैं, क्योंकि उनमें अंतर होने के अनेक संभावित कारण हो

सकते हैं। ग्रंथवर्णन के प्रसंग में इन कारणों पर विस्तृत रूप से विचार कर किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचना होता है।

ग्रंथ की सूची में इस प्रकार का जो विस्तृत ग्रंथवर्णन दिया जाता हैं उससे कलाप्रेमियों, संग्राहकों एवं पुस्तकालयाध्यक्षों को तो सुविधा होती ही है पर उसका उपयोग यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता। साहित्यिक दृष्टि से भी ग्रंथवर्णन का कुछ महत्व रहता है।

ग्रंथ तथा इसी प्रकार की अन्य सामग्री, जिसके द्वारा विचारों को व्यक्त किया जाता है, प्रायः रचयिता (लेखक) के विचारों का सही प्रतिरूप नहीं होती। कभी कभी ऐसा होता है कि लेखक अपने विचारों को ठीक-ठीक व्यक्त करने के लिये उपयुक्त शब्द नहीं खोज पाता तथा कभी कभी वह ऐसे शब्दों का भी प्रयोग करता है जिसका अर्थ पाठक या श्रोता की दृष्टि में कुछ और ही होता है। इस संबंध में एक अन्य तथ्य की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है।

यदि लेखक स्वयं अपने ग्रंथ को मुद्रित करता या उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ तैयार करता है तब तो किसी प्रकार के भ्रम या गलत शब्द के प्रयोग की संभावना प्रायः नहीं रहती लेकिन वस्तुस्थिति कुछ और ही है। लेखक की कलम एवं मस्तिष्क से प्रसूत कोई ग्रंथ जब मुद्रित रूप में सामने आता है तो उसके उस रूप के लिये लेखक नहीं वरन् कई अन्य व्यक्ति जिम्मेदार होते हैं। इन लोगों का साहित्यिक ज्ञान प्रायः शून्य रहता है तथा जिस विषय के ग्रंथ को वे तैयार कर रहे होते हैं उस विषय से भी वे प्रायः अनभिज्ञ रहते हैं। ऐसी स्थिति में लेखक के साथ पूरा पूरा न्याय नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि लेखक अपनी मूल प्रति (पांडुलिपि) में जो कुछ लिखता है, उसे मुद्रित रूप में देखने पर उसका अर्थ बदलता हुआ नजर आता है। यदि लेखक स्वयं प्रूफ पढ़ने में काफी सावधानी रखकर उस संभावना को बहुत कुछ कम कर दे तथा इस प्रकार अपने विचारों को व्यक्त करने के माध्यम पर थोड़ा बहुत नियंत्रण कर ले, तो भी यह नियंत्रण संपूर्ण रूप से 'त्रुटिहीन' होने का कोई प्रमाण नहीं। वस्तुस्थिति यह है कि लेखक स्वयं ही सब कुछ नहीं करता। स्वयं प्रूफ पढ़ने के बाद भी उसे बाद की क्रियाओं के लिये दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। अतः 'त्रुटि मानव से होती है', इस सिद्धांत के आधार पर कहा जा सकता है कि लेखक के काफी सावधानी रखने पर भी अन्य व्यक्तियों द्वारा कोई न कोई गलती हो जाने की संभावना बनी रहती है। कई प्रसिद्ध लेखकों ने स्वीकार किया है कि उनके ग्रंथ भौतिक रूप में ठीक वही नहीं हैं जैसी उन्होंने कल्पना की थी। अतः कल्पना और यथार्थ के अंतर को दूर करने के लिये ग्रंथवर्णन की आवश्यकता होती है।

यथातथ्य ग्रंथवर्णन साहित्यिक समीक्षा के लिये सेतु के समान है। किसी ग्रंथ की विषय वस्तु का मूल्यांकन करने के पूर्व समीक्षक को इस बात से आश्वस्त होना आवश्यक है कि समीक्षा के लिये वह ग्रंथ की जिस प्रति का उपयोग कर रहा है, वह लेखक के मूल पाठ (ऑरिजनल टेक्स्ट) के आधार पर ही तैयार हुई है। यदि ऐसा नहीं है तो उसे ग्रंथ के सभी संस्करणों की प्रतियाँ देखकर उनका आपस में संबंध स्थापित करना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि किसी ग्रंथ का इतिहास वस्तुतः उसके लेखक के साहित्यिक इतिहास का ही एक महत्वपूर्ण अंग है। समीक्षक को ग्रंथ के पाठ (टेक्स्ट) का इतिहास ज्ञात होना इसलिये भी आवश्यक है कि वह उस संस्करण की पहचान कर सके जो लेखक की मूल पांडुलिपि के अधिकतम निकट हो या जिसमें लेखक ने स्वयं कोई संशोधन किया हो। समीक्षक को यह भी ज्ञात होना चाहिए कि उस ग्रंथ में बाद में क्या क्या नई सामग्री जोड़ी गई या उसमें से कौन सा अंश निकाल दिया गया, यह परिवर्तन, परिवर्धन स्वयं लेखक द्वारा या उसकी अनुमति से किया गया या मुद्रक, प्रकाशक अथवा किसी अन्य व्यक्ति द्वारा। किसी ग्रंथ के सभी संस्करणों की तिथियाँ तथा उनका क्रम भी समीक्षक को ज्ञात होना चाहिए।

यह स्पष्ट है कि इतना सब विवरण प्राप्त करना या तैयार करना समीक्षक का कार्य नहीं। उसका कार्य तो केवल ग्रंथविशेष की विषय-वस्तु का अध्ययन कर उसके गुणदोष की परख करना है। अतः समीक्षक की सहायता के लिये ग्रंथसूची में ग्रंथवर्णन देना आवश्यक हो जाता है।
३—ग्रंथ का भौतिक पदार्थ के रूप में अध्ययन, जैसा प्रारंभ में कहा गया है, इस अर्थ के अंतर्गत उन सभी विधियों एवं वस्तुओं का अध्ययन एवं इतिहास आता है जो किसी ग्रंथ के निर्माण में सहायक होते हैं। यहाँ ग्रंथ के पाठ से कुछ भी तात्पर्य नहीं, कुशल बिब्लियोग्राफर केवल यह देखता है कि यह ग्रंथ कैसे बना तथा ग्रंथनिर्माण की जो निर्धारित मान्य विधियाँ हैं उन सभी का प्रयोग किसी ग्रंथ के निर्माण में हुआ या नहीं। व्यापक रूप में इस अध्ययन के अंतर्गत कागज निर्माण की विधि, विविध प्रकार के कागजों में अंतर, तथा उनके गुणदोष, विविध मुद्रण पद्धतियाँ तथा उनकी विशेषताएँ, मुद्रण पद्धति के अंतर्गत आनेवाली विविध क्रियाएँ (यथा कंपोजिंग, प्रूफरीडिंग, मेकअप, फार्म का डिस्प्ले आदि), टाइप के निर्माण की विधि, मुद्रणयंत्रों की कार्यप्रणाली, जिल्द बँधाई के विविध रूप आदि प्रत्येक बात पर विचार किया जाता है।

उक्त तीन अर्थों को देखने से यह स्पष्ट पता चलता है कि प्रथम दो अर्थ आपस में पूरक हैं क्योंकि ग्रंथवर्णन ग्रंथसूची में ही दिया जाता है तथा वर्णन के अभाव में ग्रंथसूची और सूचीपत्र में कोई अंतर नहीं रह जाता। तीसरे अर्थ के संबंध में विद्वानों ने समय समय पर प्रतिवाद उठाए हैं और प्रश्न किया है कि ग्रंथसूची के संकलनकर्ता को मुद्रणकला का ज्ञान होना आवश्यक नहीं। पर आधुनिक विद्वानों ने जब यह मान लिया है कि मुद्रणकला का ज्ञान हुए बिना कोई भी व्यक्ति ग्रंथसूची का संकलन नहीं कर सकता। वस्तुतः ग्रंथसूची उक्त तीनों अर्थों का समन्वय है।

ग्रंथसूची वही होती है जिसमें किसी एक निश्चित प्रणाली के अनुसार ग्रंथविवरण दिया गया हो। प्रसिद्ध विद्वान् डा० ग्रेग के मतानुसार ग्रंथसूची से तात्पर्य ग्रंथ का भौतिक रूप में अध्ययन है, उसकी विषयवस्तु से यहाँ कोई संबंध नहीं। इसी प्रकार प्रसिद्ध अमेरिकी विद्वान् डा० बोअर्स के मत से ग्रंथों की सूची मात्र तैयार करना तो सूचीकरण (कैटलागिंग) ही कहा जाएगा, पर यदि उस सूची में ग्रंथों का वर्णन भौतिक पदार्थ के रूप में दिया जाए तो उसे सही अर्थ में 'वैज्ञानिक एवं विधिवत् ग्रंथसूची' कहा जाना चाहिए। डा० बोअर्स तो एक कदम और आगे बढ़कर ऐसी ग्रंथसूची को विश्लेषणात्मक ग्रंथसूची (एनालिटिकल बिब्लियोग्रैफी) बनाने के पक्ष में हैं। उनका मत है कि ग्रंथसूची में किसी ग्रंथ का जो विवरण दिया जाता है, उसका उद्देश्य उस ग्रंथ की 'आदर्श प्रति' (आइडियल कॉपी) का पता लगाना है। आदर्श प्रति से उनका अभिप्राय वह प्रति नहीं है जिसमें कोई दोष न हो, वरन् वह प्रति है जो मुद्रक के यहाँ प्रारंभ में निकली हो, भले ही उसमें पाठ संबंधी (टेक्स्चुअल) कितनी ही अशुद्धियाँ क्यों न हों।

ऐसी 'आदर्श प्रति' का यथातथ्य ग्रंथवर्णन करने के लिये मुद्रण कला का विशद ज्ञान होना आवश्यक है। ग्रंथवर्णन में उन सब क्रियाओं का उल्लेख किया जाता है जो किसी ग्रंथ के निर्माणकाल

में (आरंभ से अंत तक) प्रयुक्त की गई हों। मुद्रण क्रियाओं का ज्ञान किसी ग्रंथ के केवल मूल पाठ की दृष्टि से ही नहीं वरन् उस ग्रंथ का इतिहास जानने के लिये भी सहायक होता है। मुद्रणकला का ज्ञान होने पर एक ही ग्रंथ के विविध संस्करणों को देखकर उस ग्रंथ का पूरा इतिहास बतलाया जा सकता है।

किसी ग्रंथ का भौतिक रूप से सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन उसके मूल पाठ संबंधी विवादास्पद प्रश्नों को सुलझाने में सहायक होता है। इसके साथ ही साथ कभी कभी वह ऐसी बातों की ओर भी ध्यान आकर्षित करता है जिनपर विद्वानों का ध्यान पहले न गया हो। यह साहित्यिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही, अनुसंधान की दृष्टि से भी इसकी उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता। डा० ग्रेग के शब्दों में यदि "साहित्य शब्द को उसके सीमित अर्थ में न लेकर विस्तृत अर्थ में लें तो ग्रंथ वर्णन (बिब्लियोग्रैफ़ी) को साहित्य का व्याकरण कहना चाहिए।"

सं० ग्रं०—मलैप, बी० डब्ल्यू० : बिब्लियोग्रैफिकल, सर्विसेज, देयर प्रेजेंट स्टेट ऐंड पॉसिबिलिटीज ऑव इंप्रूवमेंट, पेरिस, यूनेस्को, १६५०; नेशनल डेवलपमेंट ऐंड इंटरनेशनल प्लानिंग आव् बिब्लियोग्रैफिकल सर्विसेज, देयर क्रिएशन ऐंड ऑपरेशन, पेरिस, यूनेस्को, १६५३; पोलार्ड, ए० डब्ल्यू०: द अरेंजमेंट ऑव बिब्लियोग्रैफीज, लंदन एसोसिएशन ऑव असिस्टेंट लाइब्रेरियंस १६५०; मैक रम, बी० पी० ऐंड जांस, एच० डी०: बिब्लियोग्रैफिकल प्रोसीजर्स ऐंड स्टाइल, ए मैनुअल फॉर बिब्लियोग्रैफर्स इन द लाइब्रेरी ऑव कांग्रेस, वाशिंगटन, लाइब्रेरी ऑव कांग्रेस १६५४; बॉवर्स, एफ० : प्रिंसिपल्स ऑव बिब्लियोग्रैफिक डेस्क्रिप्शन, प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस १६४६; काउले, जे० टी०: बिब्लियोग्रैफिकल डेस्क्रिप्शन ऐंड कैटलॉगिंग, लंदन; पोलार्ड, ए० डब्ल्यू० ऐंड ग्रेग, डब्ल्यू० डब्ल्यू० : सम प्वाइंट्स इन बिब्लियोग्रैफिकल डेस्क्रिप्शंस, लंदन, एसोसिएशन ऑव् असिस्टेंट लाइब्रेरियंस १६५०; इस्डेल, एम० जे० के० : ए स्टूडेंट्स मैनुअल ऑव् बिब्लियोग्रैफी, तृतीय संस्करण, लंदन, लाइब्रेरी एसोसिएशन, १६५४; मैककेरो, आर० बी० : ऐन इंट्रोडक्शन टु बिब्लियोग्रैफी फॉर लिटरेरी स्टूडेंट्स, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस १६२८; केसेल्स साइक्लोपीडिया आव् लिटरेचर अथवा एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका; चेंबर्स एन्साइक्लोपीडिया; एन्साइक्लोपीडिया अमेरिकाना, फाइव इयर्स वर्क इन लाइब्रेरियनशिप; मालाबार, के० ए० : ए प्राइमर बिब्लियोग्रैफी; लंदन, एसोसिएशन आव् असिस्टेंट लाइब्रेरियंस, १६५८, वान होसजेन, एच० बी० ऐंड वाल्टर, एफ० के० : बिब्लियोग्रैफी, प्रैक्टिकल, एन्यूमरेटिव, हिस्टारिकल, ऐन इंट्रोडक्टरी मैनुअल न्यूयार्क; पत्र पत्रिकाएँ; महेंद्र राजा जैन : ब्रिटिश म्यूजियम पुस्कालय का एक सूचीपत्र, 'त्रिपथगा', जनवरी १६६१; 'द लाइब्रेरी' (क्वार्टरली) द बिब्लियोग्रैफिकल सोसाइटी, लंदन; ट्रैंजैक्शंस कैंब्रिज बिब्लियोग्रैफिकल सोसाइटी; ट्रांजेक्शंस, एडिनबरा बिब्लियोग्रैफिकल सोसाइटी; प्रोसीडिंग्स ऐंड पेपर्स, आक्सफोर्ड बिब्लियोग्रैफिकल सोसाइटी, प्रोसीडिंग्स ऐंड बिब्लियोग्रैफिकल सोसाइटी ऑव् अमेरिका; स्टडीज इन बिब्लियोग्रैफी, द बिब्लियोग्रैफिकल सोसाइटी ऑव् द यूनिवर्सिटी ऑव् वरजीनिया।

(म० रा० जै०)

ग्रंथिमूल कुल स्क्रॉफुलैरिएसिई (Scrophulariaceae), टेट्रासाइक्लिसिई (Tatracycliceae), सिमपेटैलि (Sympetalae), द्विबीजपत्री के २०५ वंश, २,६०० जातियाँ, विश्वव्यापी, अधिकांश पौधे शाकी या क्षुपा एक आध वृक्ष, जैसे पाउलोनिया; कुछ लताएँ, जैसे माउरेंडिया, यूफ्रेजिया आदि, दलदली स्थानों में भी पाए जाते हैं। इनकी जड़ें जमीन के भीतर ही भीतर घास की जड़ों पर अवलंबित होती हैं।

पुष्पक्रम एक अथवा बहुवर्षजीय। पुष्प द्विलिंगी, यद्यपि आकार तथा बनावट में पर्याप्त भिन्नता। एक युग्मी, प्रायः द्विओष्ठित, द्विदीर्घक (Didynamous), दललग्न अंडाशय के नीचे मधुग्रंथी बिंब, द्विकोष्ठी, बहुबीज अग्रवर्ती फल स्फोटशील. जो विभिन्न प्रकार से फटता है।

अधिकतर पुष्प कीट पतिंगों द्वारा परागित होते हैं। मूलर ने परागण विधि के अनुसार चार वर्ग किए हैं; (१) वरबैस्कम (Verbascum) प्रकार खुले फूल, छोटा ट्यूब; (२) स्क्राफुलैरिया प्रकार; (३) डिजिटैलिस प्रकार : लंबे और चौड़े ट्यूबवाले, मक्खियों द्वारा परागित, तथा (४) यूफ्रेजिया प्रकार : ढीले परागकणवाले। उपयोगिता की दृष्टि से अनेक ओषधियों में काम आनेवाले, कई जहरीले। प्रमुख भारतीय वंश : वरबैस्कम, लाइनेरिया, एंटीराइनम (बगीचे का पौधा), लिमनोफिला, बोनाया, ग्लासोस्टिग्मा, स्कोपैरिया, स्ट्राइगा, सुपूबिया, लिंडेनबर्जिया आदि।

[वि० भा० शु०]

ग्रंथियाँ हमारे शरीर में अनेक ग्रंथियाँ हैं। ये विशेषतया दो प्रकार की हैं। एक वे जिनमें स्राव बनकर वाहिनी द्वारा बाहर आ जाता है। दूसरी वे जिनमें बना स्राव बाहर न आकर वहीं से सीधा रक्त में चला जाता है। ये अंतःस्रावी ग्रंथियाँ कहलाती हैं (देखें अंतःस्राव विद्या) कुछ ग्रंथियाँ ऐसी भी हैं जिनमे दोनों प्रकार के स्राव बनते हैं। एक स्राव वाहिनी द्वारा ग्रंथि से बाहर निकलता है और दूसरा वहीं रक्त में अवशोषित हो जाता है।

शरीर में सबसे अधिक संख्या लसीका ग्रंथियों की है। वे असंख्य हैं और लसीका वाहिनियों (Lymphatics) पर सर्वत्र जहाँ तहाँ स्थित हैं। अंग के जोड़ों पर तथा उदर के भीतर आमाशय के चारों ओर और वक्ष के मध्यांतराल में भी इनकी बहुत बड़ी संख्या स्थित है। ये वाहिनियों द्वारा परस्पर जुड़ी हुई हैं। वाहिनियों और इन ग्रंथियों का सारे शरीर में रक्तवाहिकाओं के समान एक जाल फैला हुआ है।

ये लसीका ग्रंथियाँ मटर या चने के समान छोटे, लंबोतरे या अंडाकार पिंड होते हैं। इनके एक ओर पृष्ठ पर हलका गढ़ा सा होता है, जो ग्रंथि का द्वार कहलाता है। इसमें होकर रक्तवाहिकाएँ ग्रंथि में आती हैं और बाहर निकलती भी हैं। ग्रंथि के दूसरी ओर से अपवाहिनी निकलती है, जो लसीका को बाहर ले जाती है और दूसरी अपवाहिनियो के साथ मिलकर जाल बनाती है। ग्रंथि को काटकर सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखने से उसमें एक छोटा बाह्य प्रांत दिखाई पड़ता है, जो प्रांतस्थ (कारटेक्स, cortex) कहलाता है। ग्रंथि में आनेवाली वाहिकाएँ इसी प्रांतस्थ में खुलती हैं। ग्रंथि का बीच का भाग अंतस्थ (Medulla) कहलाता है, जो द्वार के पास ग्रंथि के पृष्ठ तक पहुँच जाता है। यहाँ से अपवाहिनी निकलती है, जो लसीका और ग्रंथि में उत्पन्न हुए उन लसीका स्रावों को ले जाती है जो अंत में मुख्य लसीकावाहिनी द्वारा मध्यशिरा में पहुँच जाते हैं।

यकृत शरीर की सबसे बड़ी ग्रंथि कहलाती है। प्लीहा, अग्न्याशय, अंडग्रंथि, डिंबग्रंथि, इन सबकी ग्रंथियों में ही गणना की जाती है। आमाशय की भित्तियों में बहुसंख्या में स्थित पाचनग्रंथियाँ जठर रस का निर्माण करती हैं। इसी प्रकार सारे क्षुद्रांत की भित्तियों में स्थित असंख्य ग्रंथियाँ भी रसोत्पादन करती हैं, जो आंत्र के भीतर पहुँचकर पाचन में सहायक होता है। कर्णमूल, जिह्वाधर तथा अधोहनु ग्रंथियाँ लालारस बनाती हैं, जिसका मुख्य काम कार्बोहाइड्रेट को पचाकर ग्लूकोज या डेक्सट्रोज बनाना है। त्वचा भी असंख्य सूक्ष्म ग्रंथियों से परिपूर्ण है, जो स्वेद तथा त्वग्वसा (Sebum) बनाती हैं।

[मु० स्व० व०]

ग्रसनी मुँह को चौड़ाकर, जिह्वा को चम्मच के हैंडिल या किसी यंत्र से दबाने पर, उसके पीछे जो चौड़ा भाग दीखता है वह ग्रसनी कहा जाता

है। डाक्टर लोग परीक्षा करते समय किसी टार्च, या सिर पर बंधे हुए दर्पण, से प्रकाश डालकर उसको आलोकित करके देखते हैं, जिससे वहाँ की प्रत्येक संरचना प्रत्यक्ष हो जाती है। यह वास्तव में उस बृहन्नाल का प्रारंभिक भाग है जो सामने ऊपर की ओर नासिका और नीचे की ओर मुख से आरंभ होती है। ऊपर दोनों नासारंध्र अपने पिछले द्वारों द्वारा और नीचे मुखगुहा (mouth cavity) ग्रसनी में खुलती है, जिससे

१. नासिका का मध्य कुहर; २. नासिका का निम्न कुहर; ३. मध्य नासाशंखास्थि (turbinated bone); ४. नासिका का उत्तल कुहर; ५ जतूक विवर (sphenoidal sinus); ६; निम्न नासा शंखास्थि; ७. नासिका की विभाजक भित्ति का पश्च प्रांत; ८. यूस्टेकिग्रो नली का रंध्र; ९. ग्रसनी स्नेहपुटी (bursa); १०. ग्रसनी के गलमुए (toncil) का भाग; ११ ग्रसनी की पार्श्व दरी (recess); १२ उन्नमनी (levator) गद्दी; १३. तूर्य ग्रसनी पुटक (Salpingo-pharyngeal fold); १४. कोमल तालु की ग्रंथियाँ; १५. गलतोरणिका (Fauces) का अग्रस्तंभ; १६. अधिगलगुटिका (supratonsilar) खात (fossa); १७. त्रिकोण पुटक (plica triangularis); १८. गलसुआ; १९. गलतोरणिका का पश्चस्तंभ; २०. लसीकाभ (lymphoid) पुटक (follicle); २१. कंठच्छद (Epiglottis); २२. कुंभाकार कंठच्छद पुट (fold); २३. चिबुक जिह्विका (Genioglossus); २४. कंठिकास्थि (Hyoid bone); चिबुक कंठिका (Genitohyoid) तथा २६. वलय उपास्थि (Cricoid cartilage)।

नासारंध्रों द्वारा आई हुई वायु और मुख से आया हुआ आहारग्रास दोनों ग्रसनी में पहुँचकर वहाँ से अपनी यात्रा में आगे को अग्रसर होते हैं। वायु कंठ या स्वरयंत्र में होकर फुफ्फुसों में चली जाती है और आहार-ग्रास ग्रासनाल में होता हुआ आमाशय में चला जाता है। इस प्रकार

ग्रसनी के ऊर्ध्व भाग में भी दो गुहाएँ या नलियाँ आकर खुलती हैं, नासारंध्र और मुखकुहर, और नीचे के भाग से भी दो नाल आरंभ होते हैं : एक श्वासनाल (Trachea), जिसके शिखर या ऊर्ध्व भाग पर कंठ स्थित है और दूसरा ग्रासनाल (Oesophagus)

मांसपेशी और कला द्वारा निर्मित ग्रसनी १२ से लेकर १४ सेंटीमीटर तक लंबी एक नाल है, जो ऊपर नासारंध्रों के पीछे, कपालतल के अधोपृष्ठ के नीचे से आरंभ होकर नीचे की ओर छठे ग्रैवेयक कशेरुका पर क्रिकॉइड उपास्थि (Cricoid cartilage) की अधोधारा पर समाप्त होती है। इसका आकार कुप्पी के समान है, जिसका ऊपरी भाग ३·५ सेंटी॰ चौड़ा है। किंतु ग्रासनाल से संगम के स्थान पर उसकी चौड़ाई केवल १·५ सेंटी॰ रह जाती है। ग्रसनी के ऊपर का, नासारंध्रों के पीछे का भाग नासाभाग (nasal part), बीच का मुखगुहा के पीछे का मौखिक भाग और नीचे का स्वरयंत्र के पीछे का कंठभाग (laryngeal part) कहलाता है।

नासाभाग में सामने दो नासारंध्र या छिद्र हैं, जो नीचे की ओर कोमल तालु से परिमित हैं। कोई वस्तु निगलते समय कोमल तालु की पेशी का संकोच कर उसको ऊपर उठा देते हैं, जिससे नासारंध्र बंद हो जाते हैं। यहाँ पार्श्वभित्ति में अधोशुक्तिका के १·० से १ ५ मिलीमीटर नीचे और पीछे को ग्रसनी श्रवणपट्ट नली (pharyngotympanic tube) का छिद्र है, जिसको यूस्टेकी नलिका भी कहते हैं

मौखिक भाग (oral part) कोमल तालु से कंठच्छद (epiglottis) की ऊर्ध्व धारा तक विस्तृत है। इस भाग की विशेष संरचना टॉसिल (tonsils) हैं, जो तालु जिह्विका (palato-glossus) और तालुग्रसनी (palato-pharangeal) चापों के बीच त्रिकोणाकार गह्वर में दोनों ओर स्थित हैं। ये चाप पेशी और कलानिर्मित पट्ट के समान हैं। टॉन्सिल लसीकाभ (lymphoid) ऊतक के पिंड हैं, जिनका काम संक्रमण से शरीर की रक्षा करना है।

कंठभाग कंठच्छद की ऊर्ध्व धारा से क्रिकाइड उपास्थि तक की ग्रसनिका के विस्तृत भाग का नाम है। इस भाग की विशेष रचना कंठद्वार है, जिसमें होकर वायु श्वासनाल में जाती है तथा जिससे शब्द उत्पन्न होता है।

ग्रसनी की रचना — नलिका का सबसे भीतरी स्तर श्लेष्मल कला द्वारा निर्मित है। उसके बाहर तांतव है। उससे बाहर मांसपेशीस्तर है, जो निम्नलिखित पेशियों का बना हुआ है। इस स्तर पर कपोल, ग्रसनी प्रावरणी (Bucco pharyngeal fascia) आच्छादित है।

ग्रसनी की पेशी :

ऊर्ध्व संवारक पेशी (Superior constrictor pharyngeus)
मध्य संवारक पेशी (Middle „ „)
अध संवारक पेशी (Inferior „ „)
शरग्रसनी (Sylopharyngeus)
तालु ग्रसनी (Palato pharyngeus)
तूर्य ग्रसनी (Salpingo-pharyngeus)

[मु॰ स्व॰ व॰]

ग्रसनी शोथ (Pharyngitis) या ग्रसन्यार्ति व्याधि में ग्रसनिका, मृदुताल तथा तुंडिकादि की श्लेष्म कला में शोथ हो जाता है।

कारण — यह रोग प्रायः शीत लग जाने के कारण उत्पन्न होता है। कभी कभी उत्तेजक पदार्थों के वाष्प से, या गरम उत्तेजक पदार्थ के प्रयोग से भी, रोग की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

छोटी चेचक (Chicken pox), मसूरिका (Measles), यक्ष्मा, उपदंश (Syphilis) आदि रोगों में भी ग्रसनीशोथ के लक्षण पाए जाते हैं।

अत्यधिक धूम्रपान, चिरकालीन मद्यपान, रजकरण इत्यादि से भी रोग हो जाने की आशंका रहती है।

लक्षण — ग्रसनिका रक्तयुक्त हो जाती एवं सूज जाती है। रोगी का कंठ शूकपूर्ण, तालु में पीड़ा, खांसी तथा स्वर भारी हो जाता है। ऐसा आभास होता है कि कंठ में कोई वस्तु फँसी हुई है। भोजन निगलने में कष्ट होता है।

उपचार — सल्फा ओषधियों तथा पेनिसिलिन का प्रयोग करना चाहिए।

[क० दे० मा०]

असंभव हो जाय, क्योंकि हम केवल सूर्य की गर्मी के कारण इस पृथ्वी पर जीवित हैं। इन तारों की दूरी का अनुमान इस बात से हो सकता है कि हमारे सबसे निकटवाले तारे की रोशनी, जो १ सेकेंड में लगभग १ लाख ८६ हजार मील चलती है, हमारे पास तक आने में चार वर्ष लेती है; अर्थात् उस तारे को हम ऐसा देखते हैं, जैसा वह चार वर्ष पहले था। कुछ तारे तो इतनी दूरी पर हैं कि उनकी रोशनी हमारे पास कई लाख वर्षों में आती है।

इस विशाल और विस्तृत ब्रह्मांड के उस छोटे से भाग को, जिसमें हमारी पृथ्वी है, 'सौरमंडल' या 'सौरचक्र' कहते हैं। इस 'सौरचक्र' के बीचोंबीच सूर्य है। सूर्य पृथ्वी से ३,३०,००० गुना भारी है। इसकी तौल ५.६ $\times$ १०२४ मन है। पृथ्वी से इसकी दूरी ९ करोड़ ३० लाख मील है तथा इसकी रोशनी को हमारे पास तक आने में लगभग ८ मिनट लगते हैं। यह रोशनी अपने साथ गर्मी भी लाती है, जैसा हम
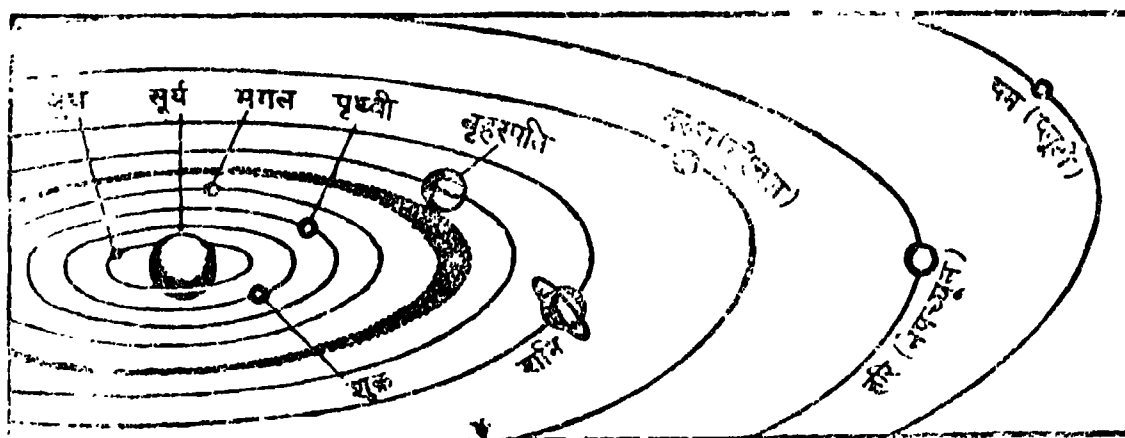
चित्र १. सौरमंडल — सूर्य और उसके ग्रह

ग्रह अनंत काल से आकाशमंडल में चमकनेवाले पिंडों ने मनुष्य को अपने प्रति जिज्ञासु रखा है। आज भी वैज्ञानिक इनकी गुत्थियों को सुलझाने में लगे हैं। इस विचार को कि सभी नक्षत्र पृथ्वी के चारों ओर परिक्रमा करते हैं, आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से वैज्ञानिकों ने असत्य सिद्ध कर दिया है।

आजकल के वैज्ञानिकों के अनुसार सूर्य पृथ्वी के चारों ओर नहीं घूमता, वरन् पृथ्वी और उसके साथ पृथ्वी जैसे कई और ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। यहाँ पृथ्वी और सूर्य के बीच विभेद करना आवश्यक है। पृथ्वी एक ग्रह या 'प्लैनेट' है। 'प्लैनेट' शब्द का अर्थ है घूमनेवाला। यह नाम इसलिये पड़ा कि पृथ्वी, मंगल, शनि इत्यादि आकाशमंडल में स्थिर नहीं हैं, वरन् चलते रहते हैं। यदि इनको दूरबीन से देखा जाय तो ये सब ग्रह चमकती हुई रकाबी की तरह दिखाई देंगे। इनके अतिरिक्त आकाशमंडल में अगणित छोटे छोटे, तेज चमकते हुए बिंदु दिखाई देंगे, जो अपने स्थान पर स्थिर हैं। ऐसे बिंदुओं को हम लोग तारा कहते हैं।

हमारा सूर्य भी इन्हीं तारों में से एक तारा है, तथा इसमें और अन्य तारों में कोई विशेष भेद नहीं है। सूर्य अन्य तारों की अपेक्षा हमारे बहुत निकट है, तथा अन्य तारे बहुत दूर होने के कारण टिमटिमाते हुए दिखाई देते हैं, परंतु सूर्य में ऐसी कोई बात नहीं पाई जाती। दूसरे, यदि अन्य तारों में से कोई तारा चमकना बंद कर दे तो हमारे जीवन पर कोई प्रभाव न पड़ेगा, परंतु यदि सूर्य ठंढा हो जाय तो इस पृथ्वी पर हमारा जीवन हो

लोगों को ज्ञात है। इस गर्मी के कारण ही हमारी खेती तथा फल आदि पकते हैं तथा इसी के कारण वर्षा, हवा इत्यादि का नियंत्रण होता है।

सूर्य से यदि हम बाहर की ओर चलें तो हमको पहला ग्रह बुध मिलेगा। यह सूर्य के सबसे निकट का ग्रह है और इसी कारण इसे देखने में कुछ कठिनाई पड़ती है। केवल वसंत तथा शरद् ऋतुओं में हम इसे बिना दूरबीन की सहायता के देख सकते हैं। वसंतकाल में यह सूर्यास्त के बाद दिखाई देता है और २ घंटे के पश्चात् स्वयं अस्त हो जाता है। शरद्काल में यह सूर्योदय से पहले दिखाई देता है। कभी पश्चिम और कभी पूरब में निकलने के कारण प्राचीन काल में इसके दो नाम पड़े। सूर्य से इसकी औसत दूरी ३ करोड़ ६० लाख मील है तथा यह सूर्य के चारों ओर ८८ दिन में एक चक्कर पूरा करता है।

इसके बाद का ग्रह शुक्र (Venus) है। बुध और शुक्र ये दोनों ग्रह पृथ्वी के ग्रहपथ के अंदर हैं और इसी कारण चंद्रमा की तरह घटते बढ़ते दिखाई देते हैं। यह घटना बढ़ना दूरबीन की सहायता से ही देखा जा सकता है, खाली आँखों नहीं। शुक्र भी कभी सूर्योदय से पहले और कभी सूर्यास्त के बाद दिखाई देता है। प्राचीन काल में इसके भी दो नाम पड़े। यह सब ग्रहों से अधिक चमकीला है तथा कभी कभी दिन में भी बिना दूरबीन के देखा जा सकता है। इसका आकार पृथ्वी के लगभग बराबर है तथा सूर्य से इसकी औसत दूरी ६ करोड़ ७२ लाख

मील है। यह सूर्य के चारों ओर की परिक्रमा २२४ दिन में पूरी करता है। हाल में अमरीका द्वारा छोड़ा गया मैरिनर–२ शुक्र के बारे में मनुष्य के ज्ञान में वृद्धि करेगा, ऐसी आशा की जाती है।

बुध और शुक्र के पश्चात् हमारी पृथ्वी का स्थान है, जिसको लोग सन् १५४३ तक सौरमंडल का केंद्र मानते रहे हैं। कोपरनिकस महोदय ने सबसे पहले सूर्य को सौरमंडल का केंद्र बताया। पृथ्वी का आकार नारंगी की भाँति गोल है। यह बता देना इसलिये आवश्यक है कि कुछ लोग इसको चपटी मानते चले आए हैं। इसकी सूर्य से औसत दूरी ६ करोड़ ३० लाख मील है, जैसा ऊपर बताया जा चुका है। यह सूर्य के चारों ओर एक परिक्रमा ३६५.२५ दिन, अर्थात् एक वर्ष में, पूरी करती है। सौरमंडल में सबसे अधिक ठोस यही ग्रह है। इसके चारों ओर चंद्रमा घूमता है। चंद्रमा के धरातल पर जो काले काले धब्बे दिखाई देते हैं, वे ज्वालामुखी पहाड़ हैं, जो कभी उत्तेजित हालत में थे, परंतु अब शांत हो गए हैं। संभवतः वर्तमान वैज्ञानिकों के प्रयत्न शीघ्र ही मनुष्य को चंद्रमा तक ले जाने में सफलीभूत हों।

इसके पश्चात् और पृथ्वी के निकट का ग्रह मंगल (Mars) है। निकट होने के कारण हम लोगों को सबसे अधिक इस ग्रह का हाल मालूम है। यह पृथ्वी से छोटा, परंतु कई बातों में पृथ्वी से मिलता जुलता है। उदाहरणार्थ, मंगल में हमारी जैसी ही ऋतुएँ होती हैं तथा लगभग इतने ही बड़े दिन और रात। कुछ समय हुआ जब कई कारणोंवश वैज्ञानिकों को यह संदेह हुआ कि मंगल पर भी पृथ्वी की तरह मनुष्य रहते हैं। इसका निर्णय भी वर्तमान विज्ञान संभवतः शीघ्र ही कर देगा। मंगल के चारों ओर दो छोटे छोटे उपग्रह या चंद्रमा घूमते हैं। ये इतने छोटे हैं कि सन् १८७७ तक इनको किसी ने देखा ही नहीं था। उस समय वाशिंगटन के प्रोफेसर हाल ने, जिनको स्वयं इनके होने की कोई आशा नहीं रह गई थी, अपनी पत्नी के बारंबार कहने पर इन्हें खोज निकाला। मंगल सूर्य से लगभग १४ करोड़ १० लाख मील की दूरी पर है और अपने ग्रहपथ की एक परिक्रमा ६८७ दिन में पूरी करता है।

इसके पश्चात् मंगल और बृहस्पति के मध्य में बहुत से छोटे छोटे ग्रहों जैसे पदार्थ मिलते हैं, जिनको 'ऐस्टरायड्स' कहते हैं। इनमें से सबसे बड़े का व्यास ४८० मील है। इसे पहले पहल सन् १८०० ई० में देखा गया था। ये सब 'ऐस्टराएड्स' मिलकर पृथ्वी के लगभग चौथाई हिस्से के बराबर होते हैं।

तत्पश्चात् बृहस्पति (Jupiter), जो सब ग्रहों में बड़ा है, मिलता है। बृहस्पति तथा उसके बादवाले ग्रह, सबों का ताप अन्य ग्रहों से अधिक है। बृहस्पति के साथ ग्यारह उपग्रह (चंद्रमा) हैं। सन् १८९२ तक हम लोगों को केवल ४ मालूम थे, आठवाँ सन् १९०८ में मिला और नवाँ तो हाल में ही। बृहस्पति की सूर्य से औसत दूरी ४८ करोड़ ३२ लाख मील है और यह एक परिक्रमा १२ वर्ष में पूरी करता है।

इसके बाद का ग्रह शनि (Saturn) है। इसके साथ नौ उपग्रह (चंद्रमा) और तीन वलय हैं। इसकी सूर्य से औसत दूरी ८८ करोड़ ६० लाख मील है। यह अपने ग्रहपथ की एक परिक्रमा २९½ वर्ष में पूरी करता है। सन् १७८१ तक, यह सौरमंडल का अंतिम ग्रह समझा जाता था, परंतु १७८१ में हरशेल ने अपनी बनाई हुई दूरबीन से एक नया ग्रह खोज निकाला। यह खगोलविद्या के लिये बड़ी भारी बात हुई। इस ग्रह का नाम 'यूरेनस (Uranus)' रखा गया। इस ग्रह के साथ चार उपग्रह हैं तथा इसकी सूर्य से दूरी १ अरब ८० करोड़ मील है। यह सूर्य के चारों ओर एक परिक्रमा ८४ वर्ष में पूरी करता है।

इसके बाद जो ग्रह खोजे गए उस खोज में गणितविद्या का अधिक भाग था। यह देखने में आया कि यूरेनस सन् १८०० से सन् १८१० तक अधिक तेज गति से चला और सन् १८३० से सन् १८४० तक मंद गति से। इससे यह परिणाम निकला कि यूरेनस के बाद भी कोई वस्तु है, जो उसकी गति पर इस प्रकार प्रभाव डालती है। केवल गणित की सहायता से कैंब्रिज के ऐडम्स महोदय तथा फ्रांस के लवेरिए (Leverrier) महोदय ने इस नए ग्रह का स्थान, दूरी इत्यादि निकाल ली। आश्चर्य की बात है कि जर्मनी के डा० गाले महोदय ने, सन् १८४६ में इस नए ग्रह को पहले पहल देखा तथा इसको उसी जगह और उतनी ही दूरी पर पाया जितनी दूरी पर उपर्युक्त गणितज्ञों ने बताया था। इस ग्रह का नाम वरुण (Neptune) रखा गया। इसके साथ एक उपग्रह है। इसकी सूर्य से दूरी २ अरब ८० करोड़ मील है। सूर्य के चारों ओर एक परिक्रमा पूरी करने में इसे १६४ वर्ष लगते हैं।

जिस प्रकार यूरेनस की गति में विषमता पाई गई थी उसी प्रकार वरुण की गति में भी विषमता मिली। इससे यह संकेत हुआ कि वरुण के बाद भी कोई और ग्रह है। इस ग्रह की दूरी तथा स्थान ऐरिज़ोना के डा० लावेल महोदय ने गणित की सहायता से निकाल लिया था। परंतु नया ग्रह कई वर्षों की लगातार खोज के बाद सन् १९३० ई० के मार्च महीने में पहले पहल दिखाई पड़ा और उसी स्थान एवं दूरी पर मिला
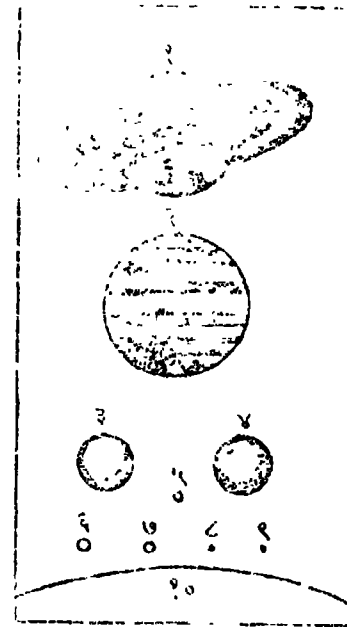
चित्र २. सूर्य तथा ग्रहों के तुलनात्मक चित्र
१. शनि; २. बृहस्पति; ३. वरुण (नेपच्यून); ४. वारुणी (यूरेनस); ५. यम (प्लूटो); ६. पृथ्वी; ७. शुक्र; ८. मंगल; ९. बुध तथा १०. समान मापनी के अनुसार सूर्य की परिधि का एक अंश।

जहाँ पर १५ वर्ष पहिले डा० लावेल महोदय ने बताया था। यह गणित के लिये एक नई विजय थी। इस ग्रह का नाम 'प्लूटो' (Pluto) रखा गया। सूर्य से प्लूटो की दूरी ३ अरब ७२ करोड़ मील है और यह अपने ग्रहपथ का एक चक्कर लगभग २५० वर्षों में पूरा करता है।

इस समय तक तो 'प्लूटो' ही हमारे सौरमंडल का अंतिम ग्रह है। सौरमंडल का परिचय हो जाने के बाद यह देखना शेष है कि क्या ब्रह्मांड में केवल हमारा ही सौरमंडल है या इसके अतिरिक्त इस जैसे

और भी मंडल हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, हमारे सूर्य तथा अन्य तारों में कोई भेद नहीं है। इसलिये यह संभव है कि अन्य तारों के चारो ओर भी हमारी पृथ्वी की तरह ग्रह घूमते हों। ऐसा अभी तक तो किसी तारे के विषय में नहीं देखा गया है, किंतु कौन जानता है, समय और आधुनिक कृत्रिम उपग्रह, जिनका प्रारंभ रूस द्वारा छोड़े गए स्पुतनिक से हुआ है, इस विचार में भी परिवर्तन कर दें।

[प्रा० ना०]

ग्रहघर (Planetarium) उस घर को कहते हैं जिसमें कृत्रिम रूप से ग्रहनक्षत्रों को दिखलाने का प्रबंध रहता है। इसकी गुंबजनुमा छत अर्धगोलाकार होती है, जिसे ध्वनिनिरोधक कर दिया जाता है। यही ग्रहनक्षत्रों के प्रकाशबिंबों के लिये पर्दे का काम करती है। इसके मध्य में बिजली से चलनेवाला एक प्रक्षेपक (Projector) पहिएदार गाड़ी पर स्थित रहता है। इसके चारों ओर दर्शकों के बैठने का प्रबंध रहता है। यद्यपि इसमें खगोल संबंधी कई गतिविधियाँ दिखलाई जाती हैं, तथापि इसका नाम ग्रहघर इसलिये पड़ा कि पहले पहल इसका प्रयोग ग्रहों की गतिविधि दिखलाने के लिये किया गया था।

कई शताब्दियों से सूर्यकेंद्रिक ग्रहगतियों को कृत्रिम रूप से दिखलाने का प्रयास किया जाता रहा है। १६८२ ई० में ह्वाइगेंज (Huygens) ने इस प्रकार का एक यंत्र बनाया था, जिसका नाम ओररी के अर्ल के नाम पर ओररी रखा गया था। १९१३ ई० में ज़ायस ने इसका एक उत्कृष्ट नमूना तैयार किया, जो जर्मनी के म्युनिक संग्रहालय में विद्यमान है। इसमें गोलाकार दीवार में छोटे छोटे बल्बों से राशिचक्र की राशियाँ बनाई गई हैं। दर्शक को एक घूमते पिंजरे में बैठा दिया जाता है और उसे पृथ्वी की कक्षा में घुमाया जाता है। उसमें बने झरोखे से वह राशिचक्र को घूमते देखता है। इसके बाद डाक्टर बौअरसंफेल्ड (Bauersfeld) के सुझाव पर जायस ने ही आधुनिक ग्रहघर का निर्माण किया।

इसका प्रक्षेपक ग्रहनक्षत्रों की विविध गतिविधियों को दिखलानेवाले उपकरणों से सुसज्जित रहता है। इसका आकार व्यायाम के उपकरण, डंबेल, की तरह होता है। पहले पहल जो यंत्र बना था उसका मुख्य अक्ष अक्षांश एक पर स्थिर रखा गया था। अब जो यंत्र बनते हैं, उनके मुख्य अक्ष को स्वेच्छापूर्वक अपने स्थान के अक्षांश पर स्थिर किया जा सकता है। यह यंत्र बिजली की मोटर से चलता है, जिसमें दांतेदार चक्रों की सहायता से विभिन्न प्रकार की गतियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं। आवश्यकता के अनुसार इसके प्रक्षेपक को विभिन्न दिशाओं में चलाया जा सकता है। इसकी शीघ्र और मंद गतियों को स्विचों से नियंत्रित किया जाता है। प्रक्षेपक में बिजली के बल्ब रहते हैं। ऊपर से यह फिल्म या तांबे के प्लेट से ढका रहता है, जिसमें छोटे बड़े सैकड़ो छेद रहते हैं। ये नक्षत्रों के सापेक्ष आकार के होते हैं तथा एक दूसरे से सापेक्ष दूरियों पर स्थित होते हैं। इनमें छिटककर जब बिजली का प्रकाश अर्धवृत्ताकार छत पर पड़ता है तब वास्तविक आकाश का दृश्य उपस्थित हो जाता है। आकाश-गंगा को दिखाने के लिये निगेटिव फोटोग्राफ का प्रयोग किया जाता है। ग्रहों को दिखलाने के लिये एक विशेष प्रक्षेपक रहता है, जिसमें राशिचक्र की राशियाँ बनी रहती हैं। ग्रहों को दिखलाने के लिये प्रकाश को पृथ्वी की विरुद्ध दिशा में प्रक्षिप्त किया जाता है। ग्रहकक्षाओं एवं पृथ्वी की कक्षा द्वारा बने कोणों को सूक्ष्मता से दिखाया जाता है। दीर्घवृत्ताकार कक्षाओं के लिये उत्केंद्र वृत्तों का प्रयोग किया जाता है। चंद्रमा की कलाओं को दिखलाने के लिये प्रकाशनिरोधक का प्रयोग किया जाता है। विशेष ग्रहनक्षत्रों के प्रकाश को कम या अधिक दिखाने के लिये विशेष प्रक्षेपक लगे रहते हैं। नक्षत्रों की चमक स्वाभाविक की अपेक्षा अधिक दिखाई जाती है, जिससे सूर्य की चकाचौंध से आनेवाले दर्शकों को उन्हें पहचानने में कठिनाई न हो। सूर्य के प्रखर प्रकाश को दिखाना संभव नहीं। इससे लाभ ही होता है, क्योंकि सूर्य के साथ नक्षत्रों को भी देखा जा सकता है। रात्रि में नक्षत्रों में अधिक चमक दिखलाई देती है, किंतु जब सूर्य उदित हो जाता है तो उन्हें धूमिल दिखलाया जाता है। ग्रह नक्षत्रों के उदय या अस्त के समय क्षितिज से छिटकती किरणों का प्रकाश दिखलाई पड़ता है। क्षितिज के समीप ग्रह नक्षत्रों का प्रकाश मद्धिम दिखलाया जाता है, जिससे वातावरण का प्रभाव दिखलाई दे सके। ग्रह स्वाभाविक गतियों से कभी वक्र, कभी मार्गी गति से चलते दिखलाई पड़ते हैं। अयन गति को भी दिखलाने का प्रबंध रहता है।

यंत्र की गति को आवश्यकतानुसार मंद या तीव्र किया जा सकता है। दिन को पाँच सेकेंड से चार मिनट तक का दिखलाया जा सकता है। इस प्रकार ग्रह नक्षत्रों की जिन गतिविधियों का वास्तविक वेध करने के लिये सैकड़ों वर्षों के कठिन परिश्रम की आवश्यकता पड़ती है उन्हें एक डेढ़ घंटे में देखा जा सकता है। व्याख्याता के पास एक पृथक् प्रक्षेपक रहता है, जिससे तीर के आकार का सूचक चिह्न किसी भी स्थान पर प्रक्षिप्त करके वहाँ पर विद्यमान ग्रह नक्षत्रों की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है और उनकी विशेषताएँ बतलाई जा सकती हैं। इस प्रकार ग्रहघर दृश्य विधि से ज्योतिष की शिक्षा देने का उत्तम साधन है।

ग्रहघरों का प्रचार सबसे पहले जर्मनी में हुआ। अमरीका का सर्वप्रथम 'एडलर' ग्रहघर शिकागो में बना था। अब तो फिलाडेल्फिया, न्यूयार्क, लास एंजिल्स आदि बहुत से स्थानों में ग्रहघर बन गए हैं। भारत में अभी तक ग्रहघरों का विशेष प्रचार नहीं हुआ। अभी यहाँ केवल चार ग्रहघर हैं। इनमें एक बिड़ला ग्रहघर (जायस कंपनी द्वारा निर्मित) कलकत्ते में है। शेष तीन लखनऊ विश्वविद्यालय; राष्ट्रिय भौतिक प्रयोगशाला, नई दिल्ली, तथा बिड़ला शिक्षासमिति, पिलानी, में है। इनमें कलकत्ता का बिड़ला ग्रहघर भारत में अपने ढंग का प्रथम तथा एशिया में विशालतम है। इसका निर्माण बिड़ला शिक्षा ट्रस्ट ने २३ लाख रुपए की लागत से किया है। यह चौरंगी तथा थियेटर रोड के संगम पर स्थित है। इसमें ५०० दर्शक बैठ सकते हैं तथा २५० अतिरिक्त दर्शकों के बैठने का प्रबंध किया जा सकता है। इसके भीतरी गुंबज का व्यास ७५ फुट है। यह गुंबज धातु की चादर से बनी है तथा इसमें ५ करोड़ से अधिक सूक्ष्म छिद्र हैं, जिनसे इसमें से केवल नगण्य (negligible) ध्वनि ही प्रतिध्वनित हो सकती है। ऊपर से यह ८२ फुट व्यास के संकेंद्रिक (concentric) खोखले कंक्रीट से बने गुंबज से ढका है। दोनों गुंबजों के भीतर के खोखले भाग को काच के रेशों तथा तापनिरोधक तख्तों से भर दिया गया है। जनता के लिये इसका उद्घाटन २९ सितंबर, १९६२ को हुआ था।

इसमें उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्ध के किसी भी स्थान से दृश्य रात्रि के आकाश को नक्षत्रों, तारामंडलों तथा अन्य आकाशीय पिंडों के साथ दिखलाया जा सकता है। इसमें ४,००० वर्षों के भीतर के किसी भी भूत या भविष्य के दिन में होनेवाली आकाश की नक्षत्रस्थिति को विषुव-अयन-गति के साथ दिखलाना संभव है। इसके द्वारा धूमकेतु, उल्काएँ, कृत्रिम उपग्रह, चल वर्ग के अलगूल तथा मीरा नक्षत्रों को दिखाया जा सकता है। इसमें लगे सहायक उपकरणों तथा स्लाइडों के द्वारा दूरदर्शी में दृश्य, आकाशीय पिंडों सरीखे, आकाशीय पिंडों को प्रक्षेपित किया जा सकता है। सूर्य तथा
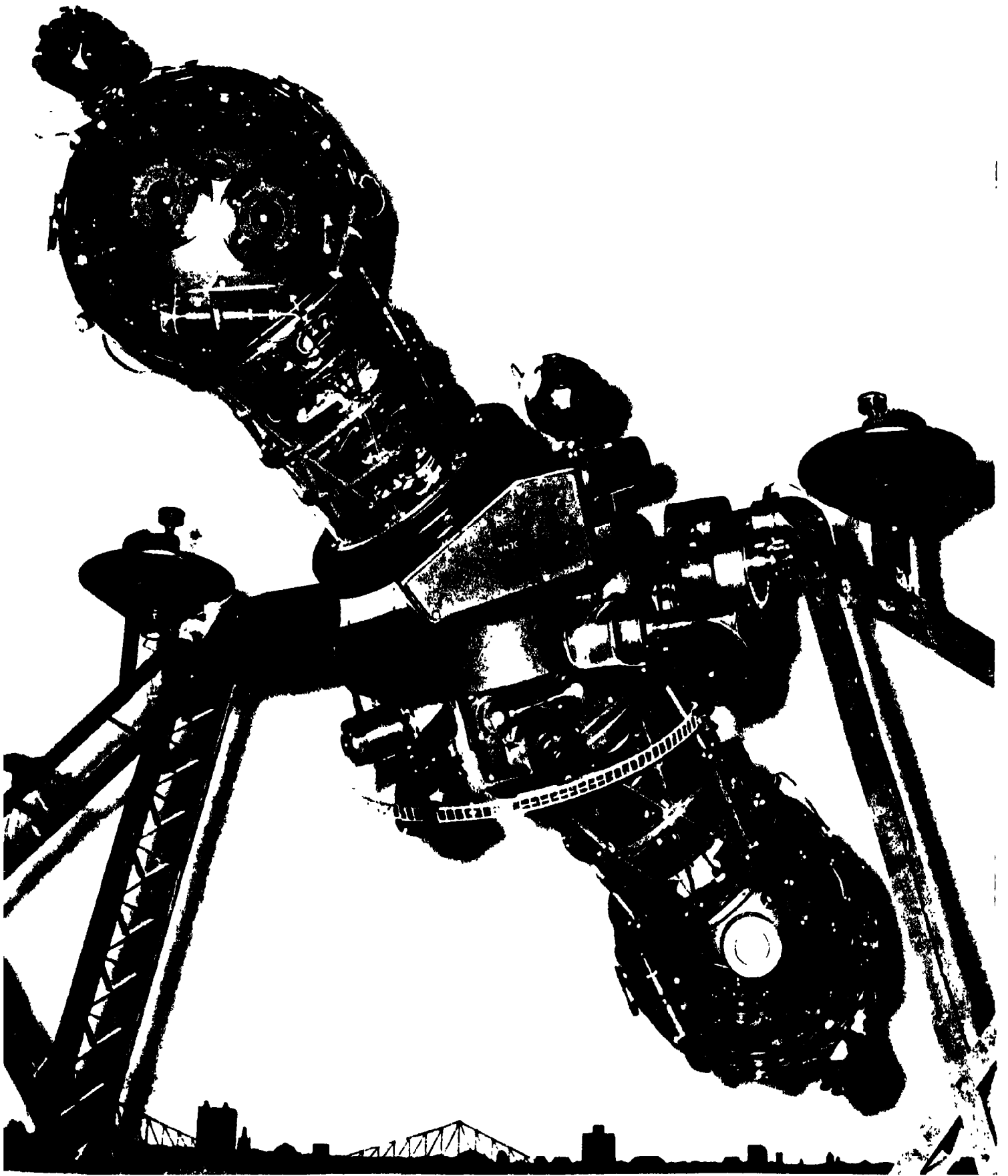
ग्रहघर का प्रक्षेपक
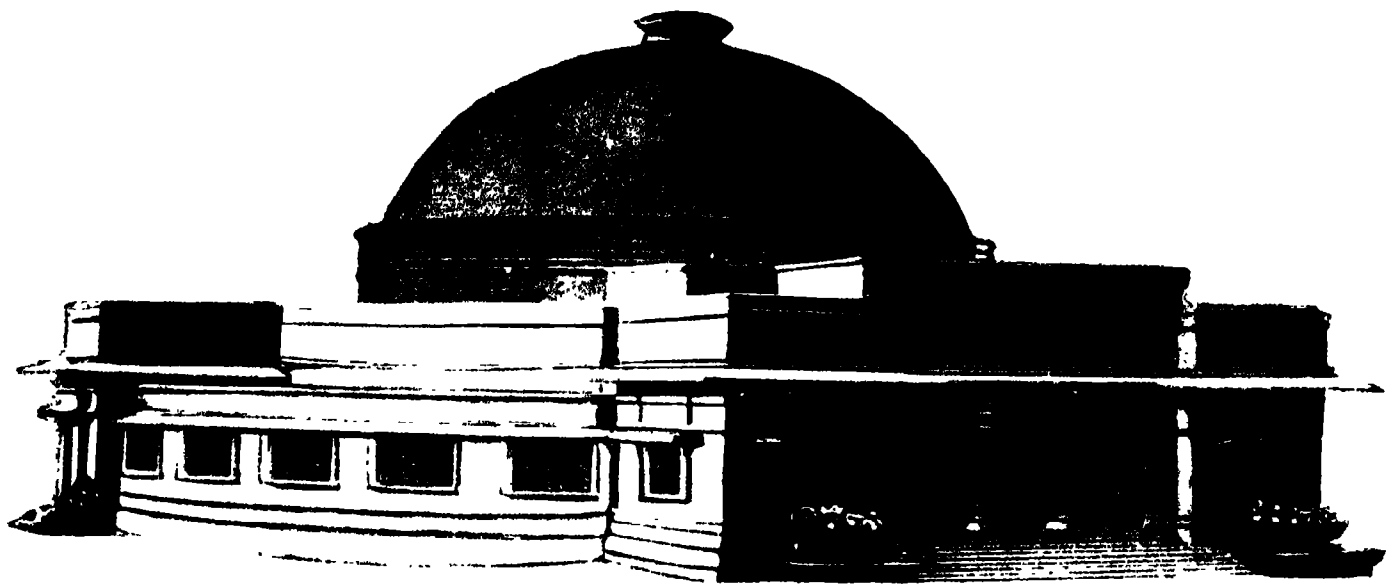
ग्रहघर का एक भवन
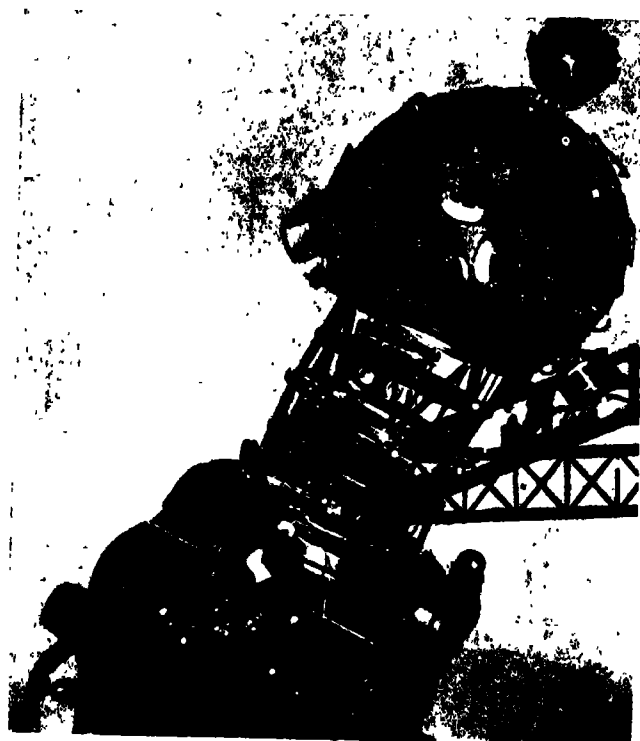
तारागोला का पास से दृश्य

इसमें ग्रह प्रक्षेपक दिखाए गए हैं।

(ऊपर के दोनों चित्र तथा पृष्ठ पर का चित्र बिड़ला एजुकेशन ट्रस्ट के सौजन्य से प्राप्त)

चंद्रग्रहण की विभिन्न स्थितियों तथा श्मित (Schmidt) के निदर्शन (model) का सौरमंडल दिखलाया जा सकता है। इस ग्रहघर में प्रदर्शन ४५ मिनट तक होता है।

[मु० ला० श०]

ग्रहण साधारणतया सूर्यग्रहण की तुलना में चंद्रग्रहण अधिक देखे जाते हैं, पर वास्तव में सूर्यग्रहण की संख्या चंद्रग्रहण से अधिक होती है। तीन चंद्रग्रहण पर चार सूर्यग्रहण लगते हैं।

इसका कारण यह है कि चंद्रग्रहण पृथ्वी के आधे से अधिक भाग में दिखलाई पड़ते हैं जबकि सूर्यग्रहण पृथ्वी के बहुत थोड़े भाग में, एक सौ मील से कम चौड़े और दो से तीन हजार लंबे क्षेत्र में ही दिखलाई पड़ते हैं।

जब चंद्रमा पृथ्वी और सूर्य के बीच में आता है तब सूर्य की किरणें पृथ्वी के कुछ भागों पर पहुँचने में असमर्थ होती हैं और तब पृथ्वी के उन भागों पर सूर्यग्रहण लगता है। उस समय सूर्य पर दिखलाई देनेवाला काला मंडल स्वयं चंद्रमा का होता है।

जब सूर्य और चंद्रमा के बीच पृथ्वी आ जाती है तथा चंद्रमा पृथ्वी की छाया में होकर निकलता है तभी चंद्रग्रहण लगता है। चंद्रग्रहण के समय जो काला मंडल चंद्रमा को ढकता हुआ दिखलाई पड़ता है वह
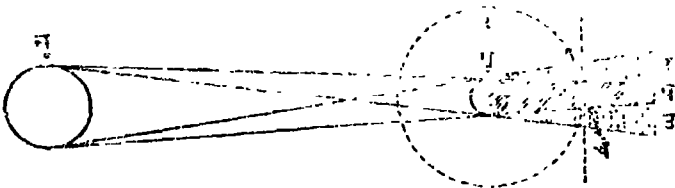
चित्र १- चंद्रग्रहण

पृथ्वी पृ. की परिक्रमा करता हुआ चंद्रमा चं. पृथ्वी की छाया में से होकर जाता है। प्र. प्रच्छाया; उ. उपच्छाया; प. चंद्रमा का पथ तथा सू. सूर्य।

पृथ्वी की छाया का होता है। चंद्रमा जब इस छाया में होकर जाता है, जैसा चित्र १. में दिखाया गया है, तब पृथ्वी के बाईं ओरवाले आधे भाग पर रहनेवाले मनुष्यों को चंद्रग्रहण दिखाई देगा।

पृथ्वी की जो परछाईं चंद्रमा पर पड़ती है उसका स्वरूप ऐसा नहीं होता जैसा दीवार पर पड़नेवाली हमारी परछाईं का होता है। यदि हम किसी लैंप और दीवार के बीच में खड़े हो जायं तो दीवार पर हमारी जो परछाईं पड़ेगी वह तलाकार होगी, किंतु चंद्रग्रहण के समय पृथ्वी की परछाईं का रूप काले ठोस शंकु के समान होता है। आकाश में फैली हुई पृथ्वी की यह छाया लगभग ८,५७,००० मील लंबी होती है। इसकी लंबाई पृथ्वी और सूर्य के बीच की दूरी के ऊपर निर्भर रहती है। यह दूरी घटती बढ़ती रहती है। इसी कारण यह परछाईं भी कभी ८,७१,००० मील और कभी केवल ८,४३,००० मील ही लंबी होती है। शंकु रूपी इस प्रच्छाया (umbra) के साथ ही साथ शंकु के रूप में उपच्छाया (penumbra) भी रहती है।

चंद्रग्रहण सर्वदा पूर्णिमा की रात्रि में लगता है। इसका कारण यह है कि पृथ्वी की छाया चंद्रमा पर तभी पड़ सकती है जब चंद्रमा, पृथ्वी तथा सूर्य तीनों एक ही सीध में हों, जैसा चित्र १. से विदित होगा। ऐसा केवल पूर्णिमा के समय ही हो सकता है। चंद्रमा अपने पथ का अनुसरण करता हुआ जब पृथ्वी की उपच्छाया के अंदर प्रविष्ट होता है उस समय कोई विशेष परिवर्तन होता नहीं दिखाई देता, परंतु जैसे ही वह पृथ्वी की प्रच्छाया के समीप आता है उसपर ग्रहण प्रतीत होने लगता है और जब उसका संपूर्ण भाग प्रच्छाया के भीतर आ जाता है तब पूर्ण ग्रहण अथवा पूर्णग्रास चंद्रग्रहण लग जाता है।
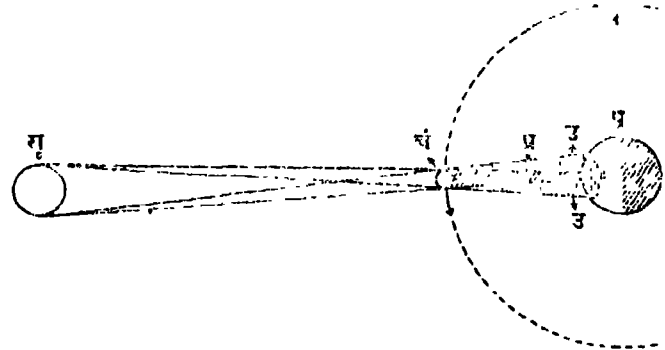
चित्र २- सूर्यग्रहण

चंद्रमा की छाया पृथ्वी पृ. पर पड़ती है। प्रच्छाया (घनी छाया) वाले भाग प्र. में पूर्ण ग्रहण, किंतु उपच्छाया वाले भाग उ. में अपूर्ण ग्रहण दिखाई देता है।

ग्रहण के समय भी चंद्रमा बिल्कुल अदृश्य नहीं हो जाता, वरन् कुछ लालिमा लिए हुए धुंधला ताँबे के रंग का दिखाई पड़ता है। ऐसा होने का कारण यह है, कि सूर्य की कुछ किरणें पृथ्वी के वायुमंडल द्वारा परावर्तित होकर मुड़ जाती हैं तथा चंद्रमा तक पहुँचने में समर्थ हो जाती हैं। इन्हीं किरणों के द्वारा हम पूर्णग्रहण के समय भी चंद्रमा को देख सकते हैं। ये किरणें जब पृथ्वी के वायुमंडल में होकर गुजरती हैं तब वायुमंडल इन किरणों के नीले भाग का शोषण कर लेता है, तथा जो किरणें शेष रहती हैं, वे लाल रंग की होती हैं। ये ही किरणें उस समय चंद्रमा पर पड़ती हैं, जिनके कारण वह पूर्णग्रास ग्रहण के समय लाल दिखाई पड़ता है।

ग्रहण की अवधि चंद्रमा और पृथ्वी के बीच की दूरी के ऊपर निर्भर है। कभी पृथ्वी की छाया उस स्थान पर, जहाँ चंद्रमा उसे पार करता है, चंद्रमा के व्यास के तिगुने से भी अधिक होती है। छाया की चौड़ाई इस स्थान पर जितनी अधिक होती है उतने ही अधिक काल तक चंद्रग्रहण रहता है। पूर्णग्रहण की अवधि दो घंटे तक की हो सकती है तथा ग्रहण का पूरा काल चार घंटे तक का हो सकता है।

ग्रहण के समय चंद्रमा की गर्मी भी प्रकाश के साथ ही साथ कम होती है तथा जिस समय पूर्णग्रास हो चुकता है उस समय ९८ प्रति शत से भी ज्यादा उष्मा अदृश्य हो चुकती है। शेष २ प्रति शत उष्मा का भी आधा हिस्सा ग्रासकाल में लुप्त हो जाता है, किंतु जैसे ही चंद्रमा छाया के बाहर आता है वैसे ही उसकी उष्मा उतनी ही शीघ्रता से फिर बढ़ जाती है जितनी शीघ्रता से वह कम हुई थी। इससे सिद्ध होता है कि चंद्रमा की सतह उष्मा का शोषण करके उसे इकट्ठा करने में बिल्कुल असमर्थ है, जिसका विशेष कारण चंद्रमा पर वायुमंडल का न होना ही है।

वर्ष भर में चार सूर्यग्रहण तथा दो चंद्रग्रहण हो सकते हैं; किंतु बहुत समय के पश्चात्, लगभग दो शताब्दियों के कालांतर पर, कुल मिलाकर सात ग्रहण होना भी संभव है, जिनमें चार सूर्यग्रहण तथा तीन चंद्रग्रहण या पाँच सूर्यग्रहण तथा दो चंद्रग्रहण होंगे। कम से कम दो ग्रहण होना प्रति वर्ष अनिवार्य है। जिस वर्ष केवल दो ही ग्रहण होंगे उस वर्ष दोनों सूर्यग्रहण ही होंगे।

जिन लोगों को ग्रहण का वास्तविक कारण नहीं मालूम है, उनके हृदय में ग्रहण को देखकर भय का संचार होना स्वाभाविक है। सन्
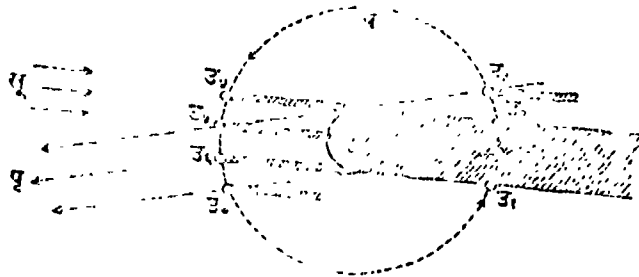
चित्र ३ बृहस्पति के उपग्रहों के ग्रहण

बृ. ग्रह बृहस्पति तथा उ., उ., उ.......इत्यादि इसकी परिक्रमा करनेवाले एक उपग्रह की क्रमानुसार स्थितियाँ हैं। सू. सूर्य से आनेवाला प्रकाश बाईं ओर से इस मंडल पर गिरता है, किंतु पृथ्वी पृ० की दिशा से यह ग्रह और उसके उपग्रह दिखाई पड़ते हैं।

१५०४ ई० की घटना है, जब अमरीका को ढूँढ निकालनेवाला प्रसिद्ध जलयात्री कोलंबस भटकता भटकता पश्चिमी द्वीपसमूह में जा पहुँचा था। वहाँ के निवासियों ने उसको खाने के लिये कुछ भी देने से बिल्कुल इनकार कर दिया था। उसकी तथा उसके साथियों के भूखों मरने तक की नौबत आ गई। इस समय कोलंबस को एक अनोखी युक्ति सूझी। उसे यह ज्ञात था कि इस वर्ष १ मार्च को चंद्रग्रहण होगा। उसने इसी ज्ञान के बल पर वहाँ के वासियों को धमकी दी कि यदि वे उसको खाने के लिये कुछ न देंगे तो वह उन्हें चंद्रमा के प्रकाश से वंचित कर देगा। इस कथन पर उन्होंने कुछ ध्यान नहीं दिया, किंतु रात्रि को जब चंद्रमा के उदित होने के कुछ देर पश्चात् ग्रहण लगना आरंभ हो गया तब तो वहाँ के निवासी अत्यधिक भयभीत होकर दौड़े दौड़े आए और कोलंबस के पैरों पर गिरकर प्रार्थना करने लगे कि वे उसकी सब इच्छाएँ पूर्ण करने को तत्पर हैं। इस प्रकार कोलंबस अपने तथा अपने साथियों की प्राणरक्षा कर सका।

ग्रहण लगना केवल चंद्रमा अथवा सूर्य तक ही सीमित नहीं है, वरन् ग्रहों और उपग्रहों में भी (चंद्रमा हमारी पृथ्वी का उपग्रह ही है) यह घटना घटित होती हुई देखी जा सकती है। इसके लिये केवल दूरबीन का सहारा लेना होगा।

गणित द्वारा आगामी सहस्रों वर्षों में होनेवाले ग्रहणों की तिथि, अवधि और ठीक ठीक समय निकाला जा सकता है। वर्तमान विज्ञान के लिये यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, परंतु हमारे पूर्वज आज से बहुत काल पहले ग्रहणों आदि का ठीक समय निकाल लिया करते थे। उनके लिये यह बड़े गौरव की बात है।

[आ० ना०]

ग्रोंकानिए यह पर्वत दक्षिणी स्विट्ज़रलैंड के पेनाइन आल्प्स की १३,०२०' ऊँची चोटी है।

[रा० प्र० सिं०]

ग्रांडे, रीओ या रीओ ग्रांडे (Rio Grande) उत्तरी अमरीका की एक नदी है। यह संयुक्त राज्य के कालोरैडो प्रांत के दक्षिण में स्थित सैन जुवान (San Juan) पर्वतों में १२,००० फुट की ऊँचाई से निकलकर पहले न्यू मेक्सिको, तत्पश्चात् टेक्सास और मेक्सिको के बीच में, बहती हुई मेक्सिको की खाड़ी में गिरती है। इसकी लंबाई लगभग १,८०० मील है। १,३०० मील तक यह संयुक्त राज्य तथा मेक्सिको के बीच सीमानिर्धारण करती है। पहले यह राकी पर्वतों के बीच बहती है, फिर मरुभूमि में और अंत में सागरतटीय मैदानों में होकर समुद्र में मिल जाती है।

इस नदी का जलमार्ग नौपरिवहन के योग्य नहीं है, क्योंकि पर्वतों को छोड़कर जब यह मैदानों में बहती है तब इसका गर्भ मिट्टी से सदा और मार्ग बदलता रहता है। सन् १९०७ में मेक्सिको के साथ हुई संधि के अनुसार संयुक्त राज्य अमरीका ने न्यू मेक्सिको में इस नदी पर एक बाँध बँधवाकर पानी के संग्रह का प्रबंध किया। इस संग्रह में से मेक्सिको को ६०,००० एकड़ फुट प्रति वर्ष मिलता है। इस नदी से सिंचित १०० मील लंबे कृषिप्रदेश का क्षेत्रफल लगभग दो लाख एकड़ है और रिओ-ग्रांड नगर से समुद्र तक फैला है।

२. स्थिति ३२° ७' द० अ० तथा ३२° ८' प० दे०। रीओ ग्रांडे नामक नगर ब्राजील के रीओ ग्रांडे दो सूल (Rio Grande do Sul) नामक राज्य का नगर और पत्तन, इसी नाम की नदी के पश्चिमी तट पर, उसके सागर संगम से छः मील ऊपर, बसा हुआ है। जनसंख्या ६४,२४१ (१९५०) है। इसके पत्तन में यूरोपीय पत्तनों से जहाज सीधे आते हैं।

यहाँ का जलवायु अत्यंत स्वास्थ्यकर है। यह औद्योगिक और व्यापारिक नगर है। यहाँ से मांस, सींग, खुर, ऊनी वस्त्र, चाय, प्याज, फल, आटा, मोमबत्ती आदि का निर्यात होता है।

[म० दा० व०]

ग्रांपाराडीजो उत्तरी-पश्चिमी इटली के उत्तर-पश्चिम में ग्रायन आल्प्स (Graian Alps) की सबसे ऊँची (१३,३२३ फुट) चोटी है। इसे ग्रांड पैराडो या ग्रांड पैराडिस भी कहते हैं।

[रा० प्र० सिं०]

ग्राउज, फ्रेडेरिक सामन (१८३७-१८९३ ई०) ग्राउज के पिता का नाम रॉबर्ट ग्राउज था। उनका जन्म १८३७ में हुआ। ओरिएंटल कॉलेज, और क्वींस कॉलेज, ऑक्सफर्ड में शिक्षा प्राप्त कर १८६० में वे इंडियन सिविल सर्विस के कर्मचारी के रूप में भारतवर्ष आए और तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश (आधुनिक उत्तर प्रदेश) में उनकी नियुक्ति हुई। उनका कार्यक्षेत्र प्रधानतः मथुरा और बुलंदशहर ज़िलों में रहा। मथुरा में उन्होंने एक कैथोलिक चर्च की भी स्थापना की थी। उनके सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ दो हैं—१.'मथुरा, ए डिस्ट्रिक्ट मेमायर' (१८७४, १८८०), और २. तुलसीदास कृत 'रामायण' का अंग्रेजी में अनुवाद (१८७७-७८ ई० तथा उसके बाद)। १८८४ में उन्होंने 'बुलंदशहर' नामक ग्रंथ भी प्रकाशित किया। मथुरा और बुलंदशहर ज़िलों से संबंधित इन ग्रंथों में वहाँ के जीवन के विविध पक्षों पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। ग्राउज विशुद्ध हिंदी के पक्षपाती थे। उन्होंने सरकारी दफ्तरों में प्रचलित हिंदुस्तानी का विरोध किया। वे बंगाल की एशियाटिक सोसायटी के सदस्य और कलकत्ता यूनीवर्सिटी के फेलो थे और प्राच्यविद्या विशारद एवं पुरातत्ववेत्ता के रूप में उन्होंने ख्याति प्राप्त की। १८७९ में उन्हें सी० आई० ई० की उपाधि मिली। १८९० में उन्होंने नौकरी से अवकाश ग्रहण किया। १९ मई, १८९३ को उनका देहांत हो गया।

[ल० सा० वा०]

ग्राट्स, ग्रास (नगर) स्थिति : ४७° ०' उ० अ० तथा १५° ५' पू० दे०; जनसंख्या २,२६,४५३ (१६५१)।

आस्ट्रिया के स्टीरिया प्रांत की राजधानी जो मूर नदी पर वियना से ८० मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। यह आस्ट्रिया का दूसरा बड़ा नगर होने के साथ ही प्रमुख सांस्कृतिक, औद्योगिक तथा रेलों का केंद्र है। यहाँ जलविद्युत् के यंत्रों तथा विभिन्न उद्योगों के निमित्त विभिन्न आधारभूत कल पुरजों के निर्माणार्थ लोहे एवं इस्पात के बड़े बड़े कारखाने हैं। इस नगर में ट्रामगाड़ी, ट्रक, साइकिल, मोटरसाइकिल, मशीन तथा मशीन के पुर्जे, रसायनक, रेल सामग्री, चश्मा, शीशा, लिनेन एवं सूती वस्त्र, फर्नीचर, दियासलाई, कागज, शराब, साबुन तथा चमड़े के सामान का निर्माण होता है। यहाँ बहुत बड़ी संख्या में मुद्रण तथा चित्रकला के प्रतिष्ठान हैं।

यद्यपि यह नगर रोमन काल में बना था, लेकिन इसका लिखित प्रमाण १२वीं शताब्दी से पहले का नहीं है। १३वीं और १५वीं शताब्दी के बीच के कई भव्य भवन हैं। घंटाघर, विश्वविद्यालय, जोहानियम संग्रहालय, नाटकगृह, गोथिक एवं अन्य चर्च तथा फर्डीनेंड द्वितीय का बड़ा मकबरा दर्शनीय हैं। यहाँ प्रांतीय सभा, नगरभवन, एक प्रसिद्ध तकनीकी विद्यालय तथा कई प्रसिद्ध वैज्ञानिक समितियाँ हैं।

यह नगर स्टीरियन आल्प्स द्वारा तीन ओर से घिरा हुआ है तथा अपने आकर्षक दृश्यों एवं दर्शनीय वास्तुकला के कारण पर्यटकों के लिये आकर्षण का केंद्र होने के साथ साथ गर्मी का स्वास्थ्यवर्धक स्थान है। यहाँ पास ही में कोफलाच का लिगनाइट क्षेत्र है। ग्राट्स नेपोलियन युद्ध तथा द्वितीय विश्वयुद्ध में क्षतिग्रस्त हुआ था।

[रा० प्र० सि०]

ग्रानसासो डिटाल्या (Gran Sasso d'Italia) इटली का एक पर्वत, जिसकी ऊँचाई, ६,५६० फुट है। यह "इटली की बृहत् चट्टान" के नाम से विख्यात है। यहाँ पर अनेक गिरिछिद्र या कुंड (डोलाइन) मिलते हैं। इस पर्वत का शिखर तथ के अधिकतर भाग में हिमाच्छादित रहता है। पिज्जो डि इंटरमिसोल (८,६६० फुट), कार्नो पिकोलो (८,६५० फुट), पिजो सिफालोन (८,२०७ फुट), तथा मांट डेला पोर्टेला (७,८३५ फुट) इसकी मुख्य चोटियाँ हैं। इसके शिखर के निचले भागों में जंगली सुअर अब भी बड़ी संख्या में पाए जाते हैं। कुछ स्थानों में देवदार एवं बीच (Beech) के वन भी उपलब्ध हैं। इसके शिखर पर से पश्चिम की ओर टिरैनियन सागर तथा पूर्व की ओर डालमेशियन पर्वतों का खुले मौसमों में आसानी से अवलोकन किया जा सकता है।

[न० ला०]

ग्राम (गाँव), कहा जाता है पूर्व की सभ्यता गाँवों की है और पश्चिम की सभ्यता नगरों की। कारण यह है कि पूर्व की प्राचीन सभ्यताओं में ग्राम और ग्रामीण धंधों का प्राधान्य रहा है। पूर्वी देश जैसे भारत, पाकिस्तान, बर्मा, चीन, ईरान, मलय अभी भी गाँवों के देश कहे जाते हैं। इन देशों की प्रायः ८० प्रतिशत जनता गाँवों में रहती है और वहाँ नगरों की उन्नति विशेषकर पिछले २०० वर्षों में ही हुई है।

मनुष्य जब वन्य जीवन से अलग हो सामुदायिक प्रयत्नों की ओर आकृष्ट हुआ तब उसने अपने अद्यावधि परस्पर विरोधी वनजीवन के प्रतिकूल सहअस्तित्व की दिशा में साथ बसने के जो उपक्रम किए उसी सामाजिक संगठन की पहली इकाई ग्राम बना। संसार में सर्वत्र इस क्रिया के अनुरूप प्रयत्न हुए और जैसे जैसे सभ्यता की मंजिलें मनुष्य सर करता गया, आवागमन और यातायात के साधन अधिकाधिक और तीव्रतर होते गए, वैसे ही वैसे ग्रामों से नगरों की ओर भी प्रगति होती गई। जहाँ यह प्रगति तीव्रतर थी वहाँ ग्रामों का उत्तरोत्तर ह्रास और नगरों का उत्कर्ष होता गया। भारत में उपर्युक्त साधनों के अभाव में गाँवों की ग्राम्यस्थिति अभी हाल तक प्रायः स्वतंत्र बनी रही है। इसी कारण वहाँ गाँव परमुखापेक्षी न होकर प्रायः स्वावलंबी रहा है। उसका स्वावलंबन अनिवार्यतः स्वेच्छा से नहीं, ऊपर बताए कारणों के परिणामस्वरूप हुआ है। इसी स्वावलंबन के परिणामस्वरूप अपनी निजी वृत्ति चलानेवाले बढ़ई, लोहार, नाई, कुम्हार आदि स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहे। वैदिक काल में गाँव के बढ़ई अथवा रथकार का बड़ा महत्व था। ग्राम अधिकतर राजसत्ता के अधीन रहते हुए भी अपने आंतरिक शासन में प्रायः स्वतंत्र थे और जैसा दक्षिण के चोल, पांड्य आदि के सांवैधानिक अभिलेखों से प्रकट है, ग्रामों के मंदिरों, तालाबों, भूमि के क्रयविक्रय, खेतों की सिंचाई, सड़कों आदि के प्रबंध के लिये भिन्न भिन्न समितियाँ होती थीं। सर चार्ल्स मेटकाफ ने भारतीय गाँव की स्वतंत्र व्यवस्था को बहुत सराहा है। परंतु आज के भारतीय गाँव दारिद्र्य, अज्ञान, अंधविश्वास, सामाजिक रूढ़ियों और बीमारियों के गढ़ बन गए हैं, फिर भी नगरों से यातायात के नए साधनों द्वारा संपर्क बढ़ने से उनमें असाधारण परिवर्तन हो चला है और भारतीय सरकार की निर्माण योजनाओं के प्रभाव से आशा की जाती है, उनमें उत्तरोत्तर प्रगतिशील परिवर्तन होते जायँगे।

राजकीय जनगणना के लिये परिभाषा के रूप में भारत में उन नैवासिक इकाइयों को ग्राम मान लिया गया है जिनकी जनसंख्या ५,००० से कम है और जो किसी नगर के अंग (मुहल्ला, बाड़ा, पुरा) नहीं है। परंतु वैज्ञानिक रूप से निश्चिततः यह कहना कठिन है कि गाँव कब खत्म होते हैं और नगर कहाँ शुरू होते हैं। खेती, पशुपालन या हस्तउद्योग की सुविधा के कारण सौ पचास घर किसी जगह बस जाते हैं, बस गाँव बन जाता है। धीरे धीरे यह गाँव उन्नति करता है, उसमें बिजली, पक्की सड़कें और इमारतें बनतीं तथा व्यापार बढ़ता है, और वह गाँव कस्बा बन जाता है। कस्बे में जब लोगों को आधुनिक सुविधा प्राप्त होने लगती हैं, तब वे कस्बे धीरे धीरे शहर बन जाते हैं। ऐसे ही प्राचीन काल के अनेक प्रसिद्ध नगर पतन होने के पश्चात् आज केवल गाँवों के रूप में शेष हैं।

समाजवैज्ञानिक के लिये गाँव आदर्श कल्पनात्मक पैमाने का एक छोर है जिसका दूसरा छोर है महानगर। इन दोनों के बीच नगरीकरण के विभिन्न स्तर हैं, जैसे छोटे कस्बे, बड़े कस्बे, जिले का नगर, प्रांतीय राजधानी और केंद्रीय नगर।

गाँव की आबादी साधारणतया कम ही होती है। ग्रामीणजन मिट्टी या पत्थर या घास फूस के पुराने तरीके के मकान बनाकर परंपरागत रूप से रहते हैं। वे खेती करते हैं या खेती से संबंधित कुछ उद्योग धंधे। उनकी खेती अधिकतर अपने उपयोग के लिये होती है। केवल बचा खुचा माल वे मंडियों में बेच देते हैं, और प्राप्त धन से अपने दैनिक उपयोग की वे चीजें खरीद लेते हैं जो उनके गाँव में नहीं बनतीं। गाँव में अक्सर बाजार नहीं होते, कई गाँवों के बीच एक बाजार होता है। गाँव का सामाजिक जीवन सीधा सादा होता है। लोगों के संबंध प्राथमिक होते हैं। समाज और समुदाय का लोगों के दैनिक जीवन में

अधिक महत्व होता है, सब मिलकर काम करते हैं। एक साथ छुट्टी या त्योहार मनाते हैं। गांव की समस्याओं का समाधान सब कोई मिलकर करने का प्रयत्न करते हैं। खुशी गमी में सब मिलकर काम करते हैं।

पश्चिम के, यूरोप, अमरीका आदि देशों में गांव लकड़ी के घरों से बने होते हैं, एकमंजिला या दोमंजिला, एक दूसरे से दूर दूर, और यद्यपि वे वहाँ के नगरों की कई मंजिली अट्टालिकाओं से सर्वथा भिन्न होते हैं, हमारे गांवों के एक से एक सटे मिट्टी के घरों से भी वे भिन्न होते हैं। उन गांवों में नगरों की चहलपहल और गाड़ियों की भीड़ भाड़ तो नहीं होती पर अखबार, पुस्तकालय आदि सर्वत्र होते हैं, टेलीफोन आदि की सुविधाएं भी गांववालों को प्राप्त होती है। जायन आंदोलन के अनुकूल यूरोप के प्रवासी यहूदी जो अब इसरायल लौट रहे हैं, उनके लिये वहाँ नए नए गांव के लकड़ी के बने मकानों और उनके चारों ओर खेत आदि बनकर तैयार हो रहे हैं। यदि गांवों में नगर की ज्ञानवर्धिनी कुछ सुविधाएं हो जायें तो निस्संदेह उनकी स्वच्छ हवा का जीवन नगरों से बेहतर हो जाय।

समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिये क्या गांव को इकाई माना जा सकता है? इस प्रश्न पर वैज्ञानिकों में काफी मतभेद है। कुछ का कहना है कि गांव निश्चित रूप से इकाई है। उसकी अपनी सत्ता होती है। उसका अपना नाम होता है और ग्रामजन आपसी परिचय में अपने को अमुक गांव का कहकर बतलाते हैं। दक्षिण भारत के कुछ प्रदेशों में तो व्यक्ति के नाम के साथ उसके गांव का नाम भी जुड़ा होता है। विशेषकर पुराने गांव के विषय में यह बात महत्वपूर्ण है। ग्रामजन अपने को ऐसे पुराने गांव का सदस्य मानने में गर्व का अनुभव करते हैं। गांव की सीमा पवित्र मानी जाती है और इसका अतिक्रमण करने का मतलब होता है गांवों के बीच झगड़े। भारत में सार्वभौम सत्ता की स्थापना से पूर्व गांव के लोग किलों में रहते थे और आपसी झगड़े कभी कभी भयानक युद्ध का रूप ले लेते थे।

गांव की अपनी आर्थिक और राजनीतिक सत्ता भी है। प्रत्येक गांव का समुदाय इस प्रकार संगठित होता है कि उसमें प्रधान अंश खेतिहरों का होता है, और शेष उन खेतिहरों को सुविधा पहुँचानेवाली जातियों का जैसे—ब्राह्मण, लोहार, बढ़ई, कुम्हार, सुनार, नाई, भंगी, चमार, तेली, ढाली, आदि। इनका जीवन ग्राम के खेतिहरों के साथ संबद्ध होता है और उनके देन लेन के संबंध परंपरा से निर्धारित होते हैं। व्यक्तिगत पसंद या नापसंदगी का अधिक महत्व नहीं होता इसी प्रकार राजनीतिक रूप से भी गांव का अलग अस्तित्व होता है। उसकी भूमि अलग होती है, पंचायत और अधिकारी अलग अलग होते हैं।

सामाजिक संगठन और धर्म के क्षेत्र में गांवों के आपसी संबंध प्रत्यक्ष और महत्वपूर्ण होते हैं। उत्तर भारत के अधिकतर गांवों में गांव के बाहर विवाह करने की प्रथा है। गांव के एक वर्ण के लोग आपस में एक दूसरे को रक्त संबंधी दायाद मानते हैं। धार्मिक विश्वास के मामले में भी गांव में भेद पाए जाते हैं। उनके विश्वास और रीतियां उनके अपने ही होते हैं जो कभी कभी धर्मग्रंथों में वर्णित विश्वासों और रीतियों से बहुत अलग होते हैं। लोकजीवन सर्वत्र शास्त्रों की व्यवस्था से दूर चला जाया करता है।

यह सब होते हुए भी गांव सभ्यता के अभिन्न अंग हैं। प्राचीन सभ्यताओं का निर्माण इसी आधार पर हुआ था कि गांवों और जनपदों का अनोखापन भी मिटने न पाए, परंतु साथ ही ऊपरी तौर से वे मानवीय सभ्यता के रंग में रँग जाएँ। ग्रामीण या जनपद संस्कृति और नागरिक संस्कृति के बीच विश्वासों और रीतियों का आदान प्रदान होता रहा है।

अधिक आबादीवाले कृषिप्रधान देशों में यह तो संभव नहीं, किंतु गांवों का रूप अवश्य ही बदलेगा। शिक्षा और राजनीतिक चेतना के साथ ग्रामीण जन भी उन सेवाओं और सुविधाओं को प्राप्त करने के इच्छुक हो रहे हैं जो अभी तक नगर के जीवन में ही प्राप्त थीं। सामाजिक विघटन रोकने के लिये और गांव तथा नगर की सामाजिक दूरी को कम करने के लिये गांवों को उन्नत करना आवश्यक है। जो सामुदायिक विकास योजना भारत के गांवों में चालू की गई है, उसका यही महत्व है।

[कृ० शं० मा०]

ग्रामोफोन यूनानी भाषा में 'ग्रामो' का अर्थ है अक्षर और 'फोन' का अर्थ है ध्वनि। ग्रामोफोन ध्वनि उत्पन्न करनेवाला एक यंत्र है, जो एक सूई के दोलनों को वायु में संचारित कर ध्वनि उत्पन्न करता है। सूई एक घूमते हुए रिकार्ड में बने घुमावदार खाँच के संपर्क में होती है। व्यापक अर्थ में किसी भी ऐसे यंत्र को ग्रामोफोन कहते हैं जिससे ध्वनि का अभिलेखन और बाद में पुनरुत्पादन होता है।

सर्वप्रथम लियन स्काट (Leon Scott) ने सन् १८५७ में एक ऐसे यंत्र, फोनाटोग्राफ, का आविष्कार किया जिसके द्वारा ध्वनि का अभिलेखन किया जा सकता था। फोनाटोग्राफ में एक झिल्ली थी, जिससे एक बहुत नाजुक उत्तोलक (lever) संलग्न था। झिल्ली एक परवलीय कीप (parabolic funnel) के पतले सिरे पर तनी होती थी। उत्तोलक की नोक एक ऐसे बेलन पर लाई जाती थी जिसपर एक कागज लिपटा होता था और कागज पर कालिख पुती होती थी। बेलन एक बहुत सूक्ष्म पेंच मे लगा होता था, जो बेलन के घूमने पर क्षैतिज दिशा में चलता था। जब झिल्ली पर ध्वनि पड़ती थी और बेलन घुमाया जाता था तब चिह्नक कागज के काले पृष्ठ पर एक सर्पिल रेखा बन जाती थी। इस प्रकार ध्वनि का अभिलेखन कर लिया जाता था।

अभिलिखित ध्वनि का प्रथम वास्तविक पुनरुत्पादन टी० ए० एडिसन द्वारा सन् १८७६ में संभव हो सका। एडिसन ने अपने यंत्र को फोनोग्राफ नाम दिया। इसमें एक पीतल का बेलन था, जिसपर सर्पिल रेखा बनाई जाती थी। बेलन से एक क्षैतिज पेंच लगा होता था। लगभग २ इंच व्यासवाले पीतल के एक छोटे से बेलन के मुँह पर पार्चमेंट की एक झिल्ली तानी जाती थी। झिल्ली के केंद्र से एक इस्पात की सूई संलग्न होती थी जिसकी नोक छेनीदार होती थी। सूई की नोक के पास इस्पात की एक कठोर कमानी लगाई जाती थी। कमानी का दूसरा सिरा पीतल के बेलन से जुड़ा होता था। अभिलेखी बड़े बेलन पर इस प्रकार रखा जाता था कि बेलन के घूमने पर सूई की पतली धार सर्पिल खाँच (ग्रूव) के बीच में चले। बेलन पर टिन की पन्नी की एक परत होती थी। जब छोटे बेलन में ध्वनि का प्रवेश कराकर झिल्ली को कंपायमान किया जाता था तब दोलनों के दबावों की विभिन्नता के कारण खाँच के तल में पन्नी पर चिह्नक द्वारा विभिन्न गहराइयों की खुदाई हो जाती थी। यह खुदाई ध्वनि तरंगों के अनुरूप होती थी।

ध्वनि के पुनरुत्पादन के लिये खाँच पर एक दूसरा चिह्नक रखा जाता था। चिह्नक खुदाई का अनुसरण करता हुआ क्रम से ऊपर या नीचे जाता

थी और इस तरह वह झिल्ली को, जिस प्रकार वह अभिलेखन के समय कंपित की गई थी उसी प्रकार, कंपित होने के लिये बाध्य करता था। झिल्ली के कंपन वायु को कंपित करते थे और इस प्रकार पूर्वध्वनि का पुनरुत्पादन होता था।
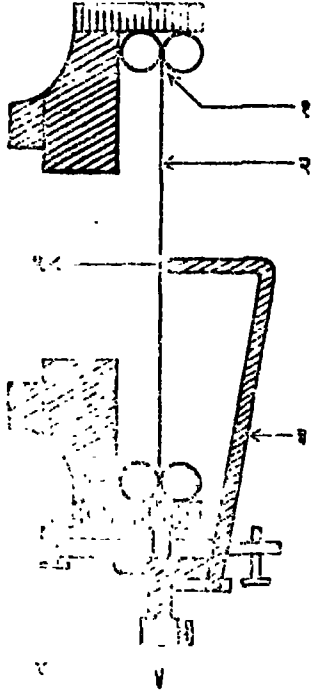
अनुनाद पेटिका (Sound box)
१. रबर के गैस्केट; २. अभ्रक का तनुपट; ३. उत्तोलक; ४. सूई तथा ५. हार्न का मार्ग।

आगे चलकर इसमें बहुत से सुधार किए गए। एडिसन के मोम के बेलनवाले फोनोग्राफ और ग्रैहम बेल तथा सी० एस० टेंटर के ग्रामोफोन में रिकार्ड पर ऊपर नीचे खुदाई करके नहीं, वरन् कटाई करके, ध्वनि अभिलेखन किया गया। ध्वनि पुनरुत्पादन विद्युत्-जमाव-प्रक्रिया द्वारा किया गया। फोनोग्राफ की तरह बेलनाकार रिकार्डों का उपयोग करनेवाली मशीनें बहुत दिनों तक जनप्रिय रहीं, परंतु इनमें बहुत सी त्रुटियाँ थीं। इन त्रुटियों में से कुछ को दूरकर एमाइल बर्लिनर (Emile Berliner) ने सन् १८८७ में एक यंत्र बनाया, जिसे ग्रामोफोन नाम दिया।

उसके पेटेंट विवरण के प्रथम रेखाचित्र में एक बेलनाकार रिकार्ड था, जो काजल से पुते एक कागज के रूप में था। यह कागज एक ढोल पर लिपटा था। काटनेवाली सूई क्षैतिज दिशा में चलती थी और कागज को हटाकर एक सर्पिल रेखा बनाती थी। पुनरुत्पादन के लिये उसने रिकार्ड की नकल यांत्रिक ढंग से, खुदाई या कटाई कर प्रतिरोधी पदार्थ पर की। उसने ताँबा, निकल या अन्य किसी धातु का स्थायी रिकार्ड बनाया, जिसपर सर्पिल गहरी रेखा थी। अभिलिखित ध्वनि को उत्पन्न करने के लिये रिकार्ड एक ड्रम पर लपेटा जाता था और सूई को नोक खाँच में रखी जाती थी तथा ड्रम को घुमाया जाता था।

बर्लिनर के दूसरे और संशोधित ग्रामोफोन में रिकार्ड के लिये एक चौरस पट्टिका का उपयोग किया गया। काच की एक पट्टिका पर स्याही, या रंग की एक परत जमा देते थे। उसपर सूई किनारे से केंद्र की ओर, या केंद्र से किनारे की ओर, सर्पिल रेखा बनाती थी। एक मेज पर रिकार्ड-पट्टिका को रखकर मेज को किसी उपयुक्त प्रकार से घुमाया जाता था। पट्टिका पर एक ऐसे पदार्थ की परत जमाई जाती थी जो सूई की गति का बहुत कम प्रतिरोध करता था और अम्लों से प्रभावित नहीं होता था। बेंजीन में घुले हुए मधुमक्खी के मोम को उसने उपयुक्त पाया। जब सूई से रिकार्ड पर खाँच बन जाती थी और उसके तल पर ठोस खुला रह जाता था, तब अम्ल डालकर खुदाई की जाती थी और स्थायी रिकार्ड बना लिया जाता था। कड़े रबर या अन्य पदार्थों की पट्टिकाओं को दबाकर रिकार्ड की प्रतिलिपियाँ प्राप्त की जाती थीं। पट्टिकानुमा रिकार्डों का निर्माण सन् १८९७ में जाकर कहीं व्यापारिक दृष्टि से सफल हो सका।

अभिलेखन की प्रारंभिक विधि — गायकों को भोंपू (horn) के मुख के ठीक सामने रखा जाता था ताकि ध्वनि की ऊर्जा तनुपट (diaphragm) पर केंद्रित हो सके। गायक या वादक सिमटकर बैठते थे। एक परदे के आगे भोंपू बाहर को ओर निकला होता था। परदे के दूसरी ओर अभिलेखन मशीन होती थी, जिसमें मोम जैसे पदार्थ की चौरस पट्टिका होती थी। इसी पट्टिका पर सूई सर्पिल रेखा अंकित करती थी। विद्युत् जमाव की प्रक्रिया द्वारा इस पट्टिका से ठोस धातु का एक प्रतिछाप (negative) बनाया जाता था। एक ऐसे पदार्थ पर जो साधारणतः कड़ा होता है, परंतु गरम करने पर मुलायम हो, जाता है, इस प्रतिछाप को दबाकर उसकी प्रतिलिपियाँ बनाई जाती थीं।

इसी समय के आस पास बहुत से आविष्कारकों ने पुनरुत्पादन करनेवाली मशीनों के सुधार की ओर ध्यान दिया। लंदन के विज्ञान-संग्रहालय में प्रदर्शित बहुत से ग्रामोफोनों द्वारा उनके विकास की विभिन्न अवस्थाओं की झलक मिलती है। आरंभ में बर्लिनर की मशीन है, जिसमें धातु तनुपटवाली अनुनाद पेटिका (Sound box) है। यह हाथ से चलाई जाती थी। सन् १८९६ में यांत्रिक नियंत्रण का प्रवेश हुआ और शताब्दी के अंत तक घड़ी के समान यंत्र बनाया गया, जो केवल पुनरुत्पादन के लिये प्रयुक्त होता था। इसमें सेलूलायड का तनुपट था, परंतु दो साल पश्चात् अभ्रक का उपयोग होने लगा। सन् १९०५ तक ऐसी अनुनादपेटिका का विकास हो चुका था जो बिना किसी महत्वपूर्ण परिवर्तन के २० वर्ष तक प्रचलित रही। इसमें अभ्रक का तनुपट था, जो चारों तरफ किनारे पर रबर के खोखले छल्ले रूपी गैस्केट (gasket) से अच्छी तरह कसा रहता था। जो उत्तोलक तनुपट के केंद्र को सुई की नोक से जोड़ता था, उसका आलंब असिकोर का होता था और उसकी गति का नियंत्रण कोमल कमानियों द्वारा होता था। अच्छे पुनरुत्पादन के लिये बड़े हार्न आवश्यक थे, परंतु जब इनका भार बहुत अधिक होने लगा तब उन्हें अनुनादपेटिका से अलग कर दिया गया और मशीन की पेटी पर बने एक ब्रैकेट से जोड़ा जाने लगा। अनुनादपेटिका को भोंपू से जोड़ने के लिये एक छोटी नलिका का उपयोग किया गया, जिसे ध्वनिभुजा (tone arm) कहते थे। भोंपू का दिखाई देना जनता पसंद नहीं करती थी, इसलिये उसे उलटा करके पेटी में रखा गया।

अभिलेखन की आधुनिक विधि — वक्ता या गायक ध्वनिग्राही (microphone) के सामने बोलता या गाता है। ध्वनिग्राही में उत्पन्न परिवर्ती विद्युद्धारा को रेडियो वाल्वों द्वारा संवर्धित कर एक कुंडली में ले जाते हैं। विद्युद्धारा के घटने बढ़ने से नरम लोहे का आर्मेचर

पार्श्व दिशा में दोलित होता है और उससे जुड़ी हुई नीलम (sapphire) की सूई मोमपट्टिका पर सर्पिल खाँच बना देती है।

विद्युद्विधि से ध्वनि उत्पादन करने के लिये अनुनादपट्टिका की जगह विद्युद्ध्वनिग्रह (pick up) का उपयोग करते हैं। सूई की पार्श्वीय गति एक कुंडली में परिवर्ती धारा उत्पन्न करती है, जिसे संवर्धित कर लाउडस्पीकर में ले जाते हैं। बहुत से ध्वनिग्रह मणिभ का उपयोग करते हैं और बहुतों में घूमनेवाला धात्र (armature) होता है या कुंडली। कुछ ध्वनिग्रह विद्युद्धारित्र का भी उपयोग करते हैं।

१९२६ ई० तक तवों (records) का व्यास १०–१२ इंच होता था और वे एक मिनट में ७८ या ८० बार घूमते थे। उनके घूमने की अवधि चार मिनट तक होती थी, परंतु अब ऐसे सुधार किए गए हैं कि एक ही तवे से आधा घंटा तक गाना सुना जा सकता है। ये तवे एक मिनट में ३३ बार घूमते हैं। ऐसा भी प्रबंध किया गया है कि तवे अपने आप बदलते रहते हैं।

सन् १९३५ से पहले प्राय: इस्पात की सूइयों का उपयोग किया जाता था, एक ही तवे पर चलने के बाद उन्हें बदलना आवश्यक हो जाता था, परंतु आजकल नीलम की सूइयों का उपयोग किया जाता है।

पुनर्जनन अभिलेखक (Feed-back recorder) — विद्युत् और यांत्रिक समुदायों की सदृशता के आधार पर हैरिसन ने सन् १९२५ में एक पार्श्वीय अभिलेखक बनाया था। दूसरा महत्वपूर्ण चरण था ऊर्ध्वाधर अभिलेखन के लिये पुनर्जनन अभिलेखक का निर्माण। सन् १९४७ तक पुनर्जनन अभिलेखक का उपयोग पार्श्वीय अभिलेखन के लिये भी किया जाने लगा। इससे यह लाभ हुआ कि सूई पर पट्टिका की अभिक्रिया से जो विकृति उत्पन्न होती थी वह कम हो गई।

[कृ० द्वि०]

ग्राम्य गृहयोजना सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार भारत में ग्रामीण जनसंख्या ३५,९७,३२,१६५ अर्थात् कुल देश की जनसंख्या का ८१% प्रतिशत है। गाँवों की संख्या लगभग ५,५८,०८९ और घरों की लगभग ५.४ करोड़ है। इन घरों की दशा अत्यंत असंतोषजनक है। अनुमान लगाया गया है कि इनमें से लगभग ५ करोड़ घरों के जीर्णोद्धार अथवा पुनर्निर्माण की आवश्यकता है। इस प्रकार देश की विशालता तथा स्थानीय परिस्थितियों की विविधता के कारण भारत में देहात की आवासमस्या न केवल आकार में बड़ी है, वरन् प्रकार में भी स्थान स्थान पर भिन्न भिन्न है।

देहात में ३४ प्रति शत परिवार एक कमरे में, ३२ प्रति शत दो कमरों में और १५ प्रति शत तीन कमरों में निर्वाह करते हैं, अर्थात् ८१ प्रति शत परिवार तीन या तीन से कम कमरोंवाले मकानों में रहते हैं।

देहाती मकानों में ८५ प्रति शत की कुर्सी कच्ची मिट्टी की, ८३ प्रति शत की दीवारें मिट्टी, बाँस या सरपत की, तथा ७० प्रतिशत छतें काम, घास, फूस, सरपत या मिट्टी की होती हैं। केवल ६॥ प्रति शत घरों की कुर्सी और दीवारें पक्की ईंट, सीमेंट, या पत्थर की, तथा छतें पनालीदार जस्ती चादर, ऐस्बेस्टस सीमेंट, खपड़ों, सीमेंट कंक्रीट, या ईंट की होती हैं।

जलवायु तथा उपलब्ध निर्माणसामग्री की दृष्टि से भारत के तीन मुख्य भाग स्पष्ट हैं: (१) उत्तर का मैदानी प्रदेश, (२) समुद्रतटीय प्रदेश जैसे बंबई, कलकत्ता तथा मद्रास और (३) पहाड़ी प्रदेश।

उत्तरी भारत के अधिकांश भागों में गरमी की ऋतु में अत्यंत गरम और जाड़े की अत्यंत ठंढी होती है, तथा वर्षा कम होती है। ताप में आत्यंतिक अंतराल होने के कारण इमारतें अनिवार्यत: भारी भरकम बनानी पड़ती हैं, जिससे वे उष्मा और शीत से रक्षा प्रदान कर सकें। अच्छी मिट्टी मिलने से यहाँ पकी ईंटों की या स्थिरीकृत मिट्टी की दीवारें उठाई जा सकती हैं।

समुद्रतटीय प्रदेशों में जलवायु गर्म और नम होती है तथा वर्षा अपेक्षाकृत अधिक होती है। ऐसे अधिकांश स्थानों में और दक्षिण में बाँस, बल्ली, पनईताड़ (Palmyra) और स्थानीय लकड़ी काफी सस्ती होती है, अत: ऐसी सामग्री का उपयोग करते हुए ढालदार छतवाली हलकी इमारतें अधिक उपयुक्त होती हैं।

पहाड़ी स्थानों में जहाँ जलवायु समशीतोष्ण और वर्षा अधिक होती है, यह आवश्यक है कि छतें जलसह हों और कुर्सी काफी ऊँची हो, जिससे नमी से बचाव हो सके। मकान या तो लकड़ी के खंभों के ऊपर बनाए जा सकते हैं, जैसे असम में प्राय: बनते हैं, या पक्की चिनाई की काफी ऊँची कुर्सी रखी जा सकती है, जिससे सील न चढ़े। छतें अनिवार्यत: ढालदार रखनी होती हैं, चाहे वे स्थानीय खपड़ों की हों या ऐस्बेस्टस सीमेंट अथवा जस्ती लोहे की चादरों की, जो भी बनवानेवाले को सुलभ हो।

ग्रामीण आवाससमस्या नगरों की आवास समस्या से अधिक जटिल है और इसका सामना नितांत भिन्न आधार पर करना चाहिए। ग्रामीण ग्रामव्यवस्था का कोई भी कार्यक्रम तब तक अभिलषित फलदायी नहीं हो सकता जब तक वह गाँवों के सर्वांगीण विकास कार्यक्रम से संबंधित न हो। आजकल भारत में विकास कार्यक्रम का आधार कृषि की उपज बढ़ाना और स्थानीय व्यवसाय की सुविधाएँ खोजना है। कार्यक्रम बनाने में यह ध्यान रखा जाता है कि वह शनै: शनै: ऐसे क्रमिक विकास के प्रयास में परिणत हो जाय जिसमें स्थानीय सामग्री और सूझ बूझ का अधिकाधिक उपयोग हो सके। यह दृष्टिकोण आवश्यक समझा जाता है, क्योंकि ८० प्रति शत ग्रामीण परिवारों की मासिक आय १५० रु० से कम है, २८ प्रति शत की तो ५० रु० तक ही है, ३४ प्रति शत की ५१ रु० से १०० रु० तक और केवल १८ प्रति शत की मासिक आय १०१ रु० से १५० रु० के बीच पड़ती है। स्पष्ट है कि ग्रामीण इतनी कम आय में से कुछ भी धन अपने घर के सुधार या जीर्णोद्धार के निमित्त नहीं बचा सकता। इसी कारण प्रथम पंचवर्षीय योजना में ग्रामीण वासव्यवस्था को स्थान नहीं मिला था। हाँ, सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय प्रसार कार्यक्रम स्वीकृत करके इसकी आधारशिला रख दी गई थी। ग्रामीणों में अच्छी विधियों का ज्ञान फैलाना, उनकी आर्थिक दशा सुधारना और उनमें उच्च जीवनस्तर की प्रेरणा एवं स्वावलंबन तथा सहकारिता की भावना जागृत करना ही इस कार्यक्रम का मौलिक उद्देश्य था। प्रथम पंचवर्षीय योजनाकाल में देश का लगभग एक चौथाई भाग इस कार्यक्रम के अंतर्गत आ चुका था और द्वितीय योजनाकाल में संभवत: समस्त देश इसके अंतर्गत आ जायगा। अभी तक जितनी भी प्रसार सेवाएँ और सहकारिता संस्थाएँ स्थापित हुई हैं, वे सब ग्रामीणों में उत्तम जीवनयापन की उत्कट भावना उत्पन्न करने के लिये प्रयत्नशील हैं। यह कार्य केवल वैज्ञानिक और प्राविधिक ज्ञान के पूर्ण उपयोग द्वारा उनकी

कृषि, स्वास्थ्य, शिक्षा, उद्योग और सहकारिता की उन्नति करके ही नहीं अपितु उनके वर्तमान आवासों का जीर्णोद्धार, या पुनर्निर्माण, करके एवं उन्हें शुद्ध पेयजल-संभरण-संयंत्र, संतोषप्रद नाली और सफाई व्यवस्था, अच्छी पाठशालाओं, मनोरंजन केंद्रों और सार्वजनिक भवनों सरीखी आवश्यक सुविधाओं से संपन्न करके संपादित किया जा रहा है।

ग्रामीण वासव्यवस्था का कार्यक्रम 'सहायताप्राप्त स्वावलंबन' के सिद्धांत पर आधारित है। प्रत्येक परिवार को लागत का कम से कम ५० प्रति शत स्वयं लगाना पड़ता है, चाहे वह निर्माण सामग्री के रूप में हो अथवा परिवार के सदस्यों के शारीरिक श्रम के। 'सहायताप्राप्त स्वावलंबन' के सिद्धांत को व्यवहार में लाकर निर्माण की लागत भी घटाई जा सकती है। ग्रामीणवास का स्तर उठाने के प्रयास में समस्त स्थानीय सामग्री एवं चातुर्य, जो हमारे गाँवों में उपलब्ध हैं, जुटा देने होंगे। आर्थिक सहायता के इच्छुक प्रत्येक परिवार को उचित ब्याज पर, लंबी अवधि के ऋणों के रूप में, सरकारी सहायता देनी होगी। ये ऋण निर्माण की लागत के ५० प्रति शत तक, १,५०० रु० की अधिकतम सीमा के अंतर्गत, हो सकते हैं।

[श्री कृ०]

ग्रासनाल (Oesophagus) के रोग निम्नलिखित विशेष रोग हैं:

१-ग्रसन कष्ट (Dysphagia), जिसके अंतस्थ (intrinsic) और बहिस्थ (extrinsic) दो प्रकार के कारण होते हैं। अंतस्थ में जन्मजात रचनात्रुटि, शोथ, व्रण, संकट (Stenosis) अर्बुद तथा तंत्रिकाजन्य दशाएँ हो सकती हैं। कैंसर और सारकोमा दोनों ही प्रकार के अर्बुद होते हैं, किंतु कैंसर अधिक होता है। बहिस्थ कारणों में ग्रासनाल से बाहर के सभी प्रकार के अर्बुदों से ग्रासनाल दब जाता है। अवटुग्रंथि (Thyroid) की वृद्धि, वक्ष के अंतराल की वर्धित लसीकाग्रंथियाँ, महाधमनी की रोम्युरिज्म, परिहृद निस्सारण आदि भी यह दशा उत्पन्न कर सकते हैं। डिफ्थीरिया के कारण तंत्रिकाशोथ तथा पेशीअवसाद (Myasthenia) से ग्रसन कष्ट होता है।

२-ग्रासनाल का शोथ और व्रण तथा व्रण के पश्चात् उत्पन्न हुआ संकट।

३-ग्रासनाल का कैंसर नीचे के तृतीयांश भाग में, पुरुष में, अधिक होता है। निगलने की कठिनाई धीरे धीरे बढ़ती जाती है। अतः नाल एक पतली नली के समान हो जाता है, जिससे गाढ़ी वस्तु निगलना भी कठिन हो जाता है। बेरियम खिलाकर एक्सरे चित्र लेने से रोगनिदान सहज हो जाता है। सारकोमा भी होता है।

४-हृद्द्वार आकर्ष (Cardiospasm) — हृद्द्वार संवरणी पेशी में बार बार आकर्ष होने से ग्रासनाल का निचला भाग विस्तृत हो जाता है।

५-शिरावृद्धि (Taleugectiosis)— वर्धित शिराओं से रक्तस्राव हो सकता है।

[मु० स्व० व०]

ग्रिनिच (Greenwich) स्थिति : ५१° २८′ उ० अ०, तथा ०° दे०। नगर (इंग्लैंड) टेम्स नदी के दक्षिणी तट पर लंदन का एक संसदीय उपनगर है। ग्रिनिच राष्ट्रीय संस्थाओं के लिये विख्यात है जिसमें रायल ग्रिनिच वेधशाला तथा ग्रिनिच चिकित्सालय मुख्य हैं। ग्रिनिच चिकित्सालय १८७३ ई० में रॉयल नोसेना कालेज बना दिया गया। चिकित्सालय के दक्षिण में ग्रिनिच प्रमदवन (१८५ एकड़) है। इसी प्रमदवन (पार्क) में वेधशाला स्थित है जिसका निर्माण १६७५ ई० में नौचालन (Navigation) तथा नाविक ज्योतिष (Nautical Astronomy) की प्रगति के लिये किया गया। यहाँ से संपूर्ण देश के मुख्य नगरों को प्रतिदिन रात्रि के एक बजे विद्युत् संकेत द्वारा ठीक समय का ज्ञान कराया जाता है। इसी स्थान को शून्य अंश मानकर भूगोलवेत्ता पूर्व तथा पश्चिम देशांतरों की गणना करते हैं। यहाँ से होकर जानेवाली देशांतर रेखा ग्रिनिच रेखा कहलाती है। इंजीनियरी तथा जलयान निर्माण मुख्य कार्य हैं। क्षेत्रफल ६.०३ वर्ग मील, जनसंख्या ९१,४९५ (१९५१) है।

[न० ला०]

ग्रिनेड (हाथ का गोला) विस्फोटक पदार्थ से भरा गोला है, जो हाथ से फेंका जाता है। इसका प्रारंभिक प्रयोग से मशीनगनों के मोरचों और आड़ के पीछे छिपे शत्रु निकटन को नष्ट करने के लिये किया जाता था। द्वितीय विश्वयुद्ध में इन्हें छादगत लक्ष्यों के अतिरिक्त कवचधारी यानों (टैंकों) के विरुद्ध आग्नेय विस्फोटक समान तथा धूम्र आवरण निर्माण करने एवं संकेत प्रसारण आदि के लिये प्रयोग किया जाने लगा। उनकी निर्माणविधि में भी प्रगति हुई। अधिक प्रभावी बनाने के लिये इनमें खंडों की संख्या बढ़ा दी गई और भेद्यता बढ़ाने के लिये टी० एन० टी०, पटालाईट और आर० डी० एक्स० का प्रयोग होने लगा। प्रज्वलित करने के लिये नए प्रकार के फ्यूज का प्रयोग होने लगा।

इनका महत्तम भार व आकार ऐसा रखना पड़ता है कि हाथ से ३०–४५ गज तक आसानी से फेंका जा सके। हथगोलों में ऐसी व्यवस्था रहती है कि हाथ से छूटते ही एक उत्तोलक (Hand lever) छूट जाता है और फ्यूज से संलग्न कारतूस की टोपी को उड़ा देता है, जो विस्फोटक पदार्थ को प्रज्वलित कर देती है और गोला फट जाता है। कुछ फ्यूज तुरंत विस्फोट उत्पन्न करते हैं और कुछ ४–५ सेकंड के पश्चात्।

हथगोले चार वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं :

(१) खंडों से निर्मित विस्फोटक — ये हथगोले अधिकतर ढलवाँ लोहे से दाँतेदार छिलके बनाए जाते हैं। इनका आकार एक बड़े नीबू के आकार जैसा, अंडाकार, होता है। ये लगभग ४–५ इंच लंबे और २–२·५ इंच व्यास के होते हैं। इनका भार लगभग २२ औंस रहता है। इनमें शक्तिशाली विस्फोटक पदार्थ भरा रहता है। खंडों का सामान्य प्रभावी अर्धव्यास ३० गज होता है।

(२) रासायनिक हथगोले — ये साधारणतः हलकी धातुओं से बनाए जाते हैं। इनमें क्लोरऐसीटोफोनोन या अश्रुगैस, एडीनीसाइट अथवा किसी अन्य उपयुक्त रासायनिक पदार्थ का प्रयोग किया जाता है। फ्यूज ज्वलनीय प्रकार का रहता है। ये गोले फेंकने के लगभग दो सेकंड के पश्चात् फट जाते हैं। ज्वलनशील हथगोले भी रासायनिक हथगोलों की भाँति होते हैं। इनमें कोई ज्वलनशील मिश्रण भरा रहता है।

(३) धूम्रजनक हथगोले — इनके द्वारा धूम्र आवरण निर्माण कर सेना की गतिविधि को शत्रुदल से छिपाने की व्यवस्था की जाती है। इन हथगोलों में या तो हेक्साक्लोरोईथेन, ऐमोनियम क्लोरेट और ऐमोनियम क्लोराइड का मिश्रण जलाया जाता है या श्वेत फास्फोरस का विस्फोटन किया जाता अथवा कोई अन्य मिश्रण जलाया जाता है।

सभी प्रकार के धूम्रसर्जक हथगोले एक ही प्रकार से बनाए जाते हैं। बाल्टी के आकार के बाह्य भाग की दीवारों और शीर्ष पर छिद्र रहते हैं, जिनसे धुआँ बाहर निकल सके। ऐसे धूम्रबमों से हरे, लाल, बैंगनी, पीले,

नीले, नारंगी, और काले रंग का धुआँ निकलता है। इन हथगोलों का प्रयोग संकेतप्रसारण के लिये होता है। एक हथगोले में ६.६ औंस मिश्रण रहता है, जो ०.४५ सेकंड में जल जाता है।

(४) अभ्यास के लिये उपयुक्त हथगोले — अभ्यास के लिये जिन हथगोलों का प्रयोग किया जाता है वे साधारण हथगोले के समान होते हैं, किंतु उनमें विस्फोटक और फ्यूज नहीं रहते। इन हथगोलों का प्रयोग प्रशिक्षण के लिये किया जाता है।

हथगोलों का परास बढ़ाने के लिये इन्हें ऐसा बनाया गया है कि ये राइफल से भी फेंके जा सकें। इस सुविधा से अब हथगोले राइफल की सहायता से लगभग २०० गज तक फेंके जाते हैं। राइफल से फेंके जानेवाले हथगोले तीन प्रकार के होते हैं। पहले प्रकार के हथगोले स्थायी रूप से एक स्थायित्वकारी नली में फंसे रहते हैं। दूसरे प्रकार के हथगोले साधारण हथगोले होते हैं, जिनमें प्रक्षेपक अनुकूलक लगा रहता है। तीसरे प्रकार के हथगोलों में उच्च शक्तिवाला विस्फोटक भरा रहता है और इनका उपयोग टैंक प्रतिरोध के लिये किया जाता है। ये टैंक प्रतिरोधी हथगोले विशेष प्रकार के कारतूसों द्वारा चलाए जाते हैं। इनमें एक सांघातिक फ्यूज रहता है। इस गोले का भार १.१३ पाउंड और लंबाई ११.२ इंच होती है।

[आ० सिं० स०]

ग्रिनोबुल स्थिति : ४५° १२' उ० अ० तथा ५° ४४' पू० दे०। नगर १७६० ई० मे इजरे (फ्रांस), प्रशासकीय विभाग (डिपार्टमेंट) की राजधानी तथा दौफाइन की प्राचीन राजधानी है। यह नगर लिओन से ६० मील दक्षिण-पूर्व इजरे नदी के दोनों किनारों पर, सागरतल से ७०२ फुट की ऊँचाई पर, स्थित है। दक्षिण-पश्चिम की उपजाऊ भूमि को छोड़कर यह अन्य दिशाओं में पर्वतों से घिरा है। नगर के पुराने भाग की सड़कें तंग तथा टेढ़ी मेढ़ी हैं। नए भाग में चौड़ी सड़कें तथा आधुनिक ढंग की ठोस इमारतें मिलती हैं। यहाँ के मुख्य औद्योगिक उत्पादन, दस्ताने, सीमेंट, कागज तथा धातु के पदार्थ हैं। यह एक पर्यटन स्थल भी है। यहाँ के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय की स्थापना सन् १३३९ में हुई थी। जनसंख्या १,१६,४४० (१९५४) है।

प्राचीन काल में यह नगर कुलारो नामक ग्राम था। चौथी शताब्दी के अंतिम चरण में इसका नाम ग्रेशियनोपोलिस पड़ा। इसीसे ग्रिनोबुल नामकरण हुआ।

[न० ला०]

ग्रिबोयेदोव, अलेक्सांदर सेर्गेएविच (४.१.१७९५-३०.१.१८२९) प्रसिद्ध रूसी लेखक, कवि और नाटककार; जन्म मास्को में। मास्को विश्वविद्यालय के साहित्य, न्यायसंबंधी तथा गणित विभागों की शिक्षा प्राप्त की। सन् १८१८ से ईरान में रूसी दूतावास में कार्य किया। अंग्रेजी और ईरानी प्रतिक्रियावादियों ने ग्रिबोयेदोव को तेहरान में मार डाला। ग्रिबोयेदोव का साहित्यिक कार्य १८१५ से प्रारंभ हुआ। इनके कई प्रहसन (कॉमिडी) हैं, जैसे 'नव दंपति', 'अपना परिवार या विवाहित दुल्हन', 'विद्यार्थी' एवं 'बुद्धि से अभाग्य'-प्रसिद्ध पद्यात्मक प्रहसन, जिससे ग्रिबोयेदोव को ख्याति मिली। यह कृति १८२४ में प्रकाशित हुई। इसमें प्रगतिशील युवकों का जारशाही के समर्थकों से संघर्ष प्रतिबिंबित है। इस नाटक के अनेक छंदों का प्रचार कहावत के रूप में हुआ। यह नाटक आजकल भी लोकप्रिय है और इसका अभिनय बराबर होता है। 'बुद्धि से अभाग्य' नाटक का गहरा प्रभाव रूसी साहित्य और थियेटर पर हुआ।

[प्यो० अ० बा]

ग्रिम, जैकब लुडविग कार्ल जर्मन भाषा तथा पुराणविद्, जिसका जन्म ४ जनवरी, १७८५ को हनाऊ में हुआ। सन् १७९८ में कैसल के पब्लिक स्कूल में शिक्षा हुई। मारबर्ग में कानून पढ़ा। यहीं पर साविन्यी के रोमन कानून संबंधी भाषणों को पढ़-सुनकर विज्ञान के महत्व को समझा। इसीलिये इतिहास एवं पुरातत्व संबंधी जिज्ञासा उनके साहित्य में सर्वत्र मिलती है। १८०५ में यह साविन्यी के साथ पैरिस चले गए। वहाँ मध्यकालीन इतिहास का उन्होंने खूब अध्ययन किया। वहाँ से लौटकर आरंभ में युद्ध विभाग में क्लार्क हुए लेकिन पदोन्नति करते हुए ग्रिम और उनके भाई दोनों प्राध्यापक पद तक पहुँचे। ग्रिम और भाई विल्हेल्म दोनों की रुचि भाषाशास्त्र की ओर बढ़ने लगी। इन्हें राष्ट्रीय कविता, चाहे वह महाकाव्य हो, बैलेड हो या जनकथाएँ, प्रिय थीं। सन् १८१६-१८ मे एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें प्राचीन जर्मन महाकाव्य की परंपरा के परिवर्तनों पर प्रकाश डाला। सन् १८१२-१५ में दोनों भाइयों ने जर्मन लोकगाथाओं का व्याख्यात्मक संकलन प्रकाशित किया। फलस्वरूप सभ्य समाज में घर घर इनका नाम फैल गया। इस संकलन ने पहली बार लोकगाथाओं को वैज्ञानिकता प्रदान की। १८३५ में पौराणिकताओं तथा विश्वासों को लेकर प्राचीन ट्यूटन काल से अपने समय तक के उनके पतन पर कालक्रमानुसार एक महान् ग्रंथ प्रकाशित किया जिसमें उस विषय की सांगोपांग व्याख्या थी। साथ ही साथ भाषा के संबंध में प्राचीन काल के लेखकों, काव्यों में पाए जानेवाले स्वरूपों का अन्य किन किन भाषाओं—विशेषतः ग्रीक और लातीनी—से संबंध रहा है, यह भी दिखाया। अपने व्याकरणसंबंधी ग्रंथ में 'ओल्ड हाई जर्मन' की विशेषताएँ दिखाने के लिये 'लो जर्मन', इंगलिश तथा नारवेर्यी, स्वीडी, डेनी आदि भाषाएँ भी शामिल कीं। सन् १८१९ तथा २२ मे क्रमशः इस व्याकरण के दोनों भाग प्रकाशित हुए। ग्रिम के पूर्व तक भाषाशास्त्र को महत्व नहीं मिला था। ग्रिम ने अपने अध्ययन एवं सिद्धांत द्वारा इसे वैज्ञानिकता प्रदान की। १८४० में व्याकरण के तीसरे भाग का प्रथम खंड ही निकल सका। क्योंकि बाद का सारा समय शब्दकोश निर्माण में लग गया।

[न० मे०]

ग्रियर्सन, जार्ज अब्राहम, (१८५१-१९४१) ई० : भारतीय विद्याविशारदों में, विशेषतः भाषाविज्ञान के क्षेत्र में सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन का 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया' के प्रणेता के रूप में अमर स्थान है। ग्राउज और बीम्स की भाँति वे भी इंडियन सिविल सर्विस के कर्मचारी थे। उनका जन्म डब्लिन के निकट ७ जनवरी, १८५१ को हुआ था। उनके पिता आयरलैंड में क्वींस प्रिंटर थे। १८६८ से डब्लिन में ही उन्होंने संस्कृत और हिंदुस्तानी का अध्ययन प्रारंभ कर दिया था। बीज (Bee's) स्कूल श्र्यूजबरी, ट्रिनटी कालेज, डब्लिन और कैंब्रिज तथा हले (Halle) (जर्मनी) में शिक्षा ग्रहण कर १८७३ में वे इंडियन सिविल सर्विस के कर्मचारी के रूप में बंगाल आए और प्रारंभ से ही भारतीय आर्य तथा अन्य भारतीय भाषाओं के अध्ययन की ओर रुचि प्रकट की। १८८० में इंस्पेक्टर ऑव स्कूल्स, बिहार और १८९९ तक पटना के ऐडिशनल कमिश्नर और अोपियम एजेंट, बिहार के रूप में उन्होंने कार्य किया। सरकारी कामों से छुट्टी पाने के बाद वे अपना अतिरिक्त समय संस्कृत, प्राकृत, पुरानी हिंदी, बिहारी और बंगला भाषाओं और साहित्यों के अध्ययन में लगाते थे। जहाँ

भी उनकी नियुक्ति होती थी वहीं की भाषा, बोली, साहित्य और लोकजीवन की ओर उनका ध्यान आकृष्ट होता था।

१८७१ और १८९९ के कार्यकाल में ग्रियर्सन ने अपने महत्वपूर्ण खोज कार्य किए। उत्तरी बंगाल के लोकगीत, कविता और रंगपुर की बँगला बोली जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, १८७७, जि० १ सं० ३, पृ०१८६—२२६ : राजा गोपीचंद की कथा वही, १८७८, जि० १ सं० ३ पृ० १३५--२३८। मैथिली ग्रामर (१८८०) सेवेन ग्रामर्स ऑव दि डायलेक्ट्स ऐंड सब डायलेक्ट्स ऑव दि बिहारी लैंग्वेज (१८८३–१८८७) इंट्रोडक्शन टु दि मैथिली लैंग्वेज; ए हैंड बुक टु दि कैथी कैरेक्टर, बिहार पेजेंट लाइफ, वीइग डेस्क्रिप्टिव कैटेलाग ऑव दि सराउंडिंग्ज ऑव दि वर्नाक्युलर्स, जर्नल ऑव दि जर्मन ओरिएंटल सोसाइटी (१८९५–९६), कश्मीरी व्याकरण और कोश, कश्मीरी मैनुएल, पद्मावती का संपादन (१९०२) महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी की सहकारिता में, बिहारीकृत सतसई (लल्लूलालकृत टीका सहित) का संपादन, नोट्स ऑन तुलसीदास, दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिंदुस्तान (१८८९) आदि उनकी कुछ महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

उनकी ख्याति का प्रधान स्तंभ लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया ही है। १८८५ में प्राच्य विद्याविशारदों की अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस ने विएना अधिवेशन में भारतवर्ष के भाषा सर्वेक्षण की आवश्यकता का अनुभव करते हुए भारतीय सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। फलतः भारतीय सरकार ने १८८८ में ग्रियर्सन की अध्यक्षता में सर्वेक्षण कार्य प्रारंभ किया। १८८८ से १९०३ तक उन्होंने इस कार्य के लिये सामग्री संकलित की। १९०२ में नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् १९०३ में जब उन्होंने भारत छोड़ा सर्वे के विभिन्न खंड क्रमशः प्रकाशित होने लगे। वह २१ जिल्दों में है और उसमें भारत की १७९ भाषाओं और ५४४ बोलियों का सविस्तार सर्वेक्षण है। साथ ही भाषाविज्ञान और व्याकरण संबंधी सामग्री से भी वह पूर्ण है। ग्रियर्सन कृत सर्वे अपने ढंग का एक विशिष्ट ग्रंथ है। उसमें हमें भारतवर्ष का भाषा संबंधी मानचित्र मिलता है और उसका अत्यधिक सांस्कृतिक महत्व है। दैनिक जीवन में व्यवहृत भाषाओं और बोलियों का इतना सूक्ष्म अध्ययन पहले कभी नहीं हुआ था। बुद्ध और अशोक की धर्मलिपि के बाद ग्रियर्सन कृत सर्वे ही एक ऐसा पहला ग्रंथ है जिसमें दैनिक जीवन में बोली जानेवाली भाषाओं और बोलियों का दिग्दर्शन प्राप्त होता है।

इन्हें सरकार की ओर से १८९४ में सी० आई० ई० और १९१२ में 'सर' की उपाधि दी गई। अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् ये कैंबर्ले में रहते थे। आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन क्षेत्र में सभी विद्वान् उनका भार स्वीकार करते थे। १८७६ से ही वे बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के सदस्य थे। उनकी रचनाएँ प्रधानतः सोसायटी के जर्नल में ही प्रकाशित हुईं। १८९३ में वे मंत्री के रूप में सोसाइटी की कौंसिल के सदस्य और १९०४ में आनरेरी फेलो मनोनीत हुए। १८९४ में उन्होंने हले से पी-एच० डी० और १९०२ में ट्रिनिटी कालेज डब्लिन से डी० लिट्० की उपाधियाँ प्राप्त कीं। वे रॉयल एशियाटिक सोसायटी के भी सदस्य थे। उनकी मृत्यु १९४१ में हुई।

ग्रियर्सन को भारतीय संस्कृति और यहाँ के निवासियों के प्रति अगाध प्रेम था। भारतीय भाषाविज्ञान के वे महान् उन्नायक थे। नव्य भारतीय आर्यभाषाओं के अध्ययन की दृष्टि से उन्हें बीम्स, भांडारकर और हार्नली के समकक्ष रखा जा सकता है। एक सहृदय व्यक्ति के रूप में भी वे भारतवासियों की श्रद्धा के पात्र बने।

[ल० सा० वा०]

ग्रीक भाषा और साहित्य ग्रीस को हम बिना किसी अतिशयोक्ति के अनेकार्थ में यूरोपीय साहित्य, दर्शन तथा संस्कृति की जननी कह सकते हैं। ग्रीक लोग अत्यंत चतुर, मेधावी तथा साहसी थे और उनके चरित्र में शारीरिक शौर्य के साथ बौद्धिक साहस का अनुपम संमिश्रण था। उनका साहित्य प्रचुर तथा सर्वांगीण था और यद्यपि उसका बहुत सा भाग कालकवलित हो चुका है, और एक तरह से उसका भग्नावशेष ही उपलब्ध है, तथापि सुरक्षित अंश ही उसके गौरव का सबल साक्षी है। ग्रीक साहित्य पर विदेशी प्रभावों की छाप नहीं है; वह ग्रीक जाति के वास्तविक गुणों तथा त्रुटियों का प्रतिबिंब है। राष्ट्र तथा साहित्य के उत्थान पतन का इतिहास एक ही है और दोनों का संबंध अटूट है। ग्रीक भाषा का मूल स्रोत, वह प्राचीन भाषा है जो मानव जाति की सभी मुख्य भाषाओं का उद्गम मानी जाती है और जिसको भाषाविशारदों ने 'इंडो-जर्मनिक' नाम दिया है। कालांतर में यह भाषा यूनान तथा निकटवर्ती एशिया माइनर में अनेक प्रादेशिक भाषाओं में विभक्त हो गई, जिनमें साहित्य की दृष्टि से चार के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—दोरिक, ऐवोलिक, आयोनिक, तथा ऐतिक। ग्रीक साहित्य के निर्माण में इन चार प्रादेशिक भाषाओं का गौरवपूर्ण योग रहा है।

होमर तथा महाकाव्य साहित्य—ग्रीक काव्यसाहित्य का प्रारंभ होमर के महाकाव्य—'ईलियद' तथा 'ओदसी' से होता है और उनको अपने साहित्य का वाल्मीकि कहना अनुचित नहीं होगा। अंतर केवल इतना ही है कि होमर ग्रीक काव्य के जन्मदाता नहीं थे क्योंकि उनके पहले भी एक लोकप्रिय काव्य परंपरा थी, जिससे वे प्रभावित हुए और जिसके बिखरे हुए तत्वों को एकत्र आकलित कर उन्होंने अपने महाकाव्यों का निर्माण किया। विद्वानों का मत है कि होमर के महाकाव्यों का धीरे धीरे विकास हुआ और उनके निर्माण में कई व्यक्तियों का हाथ रहा है। होमर की भाषा 'मिश्रित आयोनियाक' है और छंद विशेष हेक्सामीटर है। होमर का जन्म अनुमानतः एशिया माइनर के इस्मर्ना नामक स्थान पर ईसा के लगभग ९०० वर्ष पूर्व हुआ था। परंतु उनकी जीवनगाथा अंधकार में है। उनके महाकाव्य वीररस पूर्ण हैं और उनके पात्र देवोपम हैं। देवता भी मानवोचित गुणों तथा मनोविकारों से युक्त हैं, यद्यपि उनकी शक्ति तथा सुंदरता अलौकिक है। मानवजीवन का उत्थान पतन नियति के संकेत पर निर्भर है यद्यपि देवगण भी मनुष्य के सुख दुःख, जय तथा पराजय के निर्णायक हैं और कुछ देवता को प्रसन्न करने के लिये वीरशिरोमणि तथा शक्तिशाली शासक (अगामेम्नन) भी अपनी कन्या का बलिदान कर देने के लिये सहर्ष तैयार हो सकता है। होमर के महाकाव्यों ने समस्त ग्रीक साहित्य को प्रभावित किया क्योंकि प्रशिक्षित प्रचारकों की टोली यूनान के विभिन्न भागों में घूम घूमकर जनता के सामने उनका पाठ करती थी। ऐसे कथावाचकों को रैप्सोदिस्त कहते थे जो कि हाथ में लारेल वृक्ष की छड़ी लेकर कवितापाठ करते थे और मुख्य स्थलों पर अभिनय भी करते थे।

होमर के प्रभाव के सबसे सबल साक्षी हेसियद हैं जो बोयतिया के नागरिक थे और जिनका प्रसिद्ध काव्य 'कार्य और दिन' होमर की शैली में लिखा गया है। यद्यपि उनका दृष्टिकोण वैयक्तिक है और

उनकी कविता उपदेशात्मक। इसमें उन्होंने अपने आलसी भाई को परिश्रम तथा कृषि की उपादेयता की शिक्षा दी है और राजनीतिक क्षेत्र में न्याय का सबल समर्थन किया है। उनका दूसरा काव्यग्रंथ 'थियोग्नी' के नाम से प्रसिद्ध है जिसके मुख्य विषय हैं सृष्टि का आरंभ तथा देवताओं की विभिन्न पीढ़ियों का इतिहास। होमर तथा हेसियद ग्रीक पौराणिक साहित्य के परिपोषक माने जाते हैं और उनके ग्रंथों से यह स्पष्ट है कि यूनानी विचार बहुदेववाद से एक देवाधिदेव की कल्पना की ओर अग्रसर हो चला था।

एलिजिग्रात्मक तथा आइंबिक काव्य : ईसा पूर्व की आठवीं शताब्दी यूनान के इतिहास में राजनीतिक परिवर्तन का युग मानी जाती है, जिसमें राजसत्ता का ह्रास और लोकतंत्र का उदय हो रहा था। यूनानियों के लिये यह गहन चिंतन का समय था जिसका प्रभाव काव्य साहित्य में प्रतिबिंबित है। इन्हीं परिस्थितियों में एक नए काव्यरूप का उद्भव हुआ जिसको 'एलिजी' नाम दिया गया। आजकल 'एलिजी' में वे कविताएँ अभिहित की जाती हैं जो मृतात्माओं के शोक से संबंधित हों अथवा जिनमें जीवन की क्षणभंगुरता अथवा अतीत वैभव की नश्वरता पर भावपूर्ण प्रकाश डाला गया हो। परंतु प्राचीन ग्रीस में इसके अतिरिक्त भी अन्य सामयिक विषयों का एलेजी में समावेश होता था, ऐसी कविताओं में कवि के व्यक्तिगत भाव उत्सव के अवसरों पर जैसे युद्ध, प्रेम, राजनीति तथा दार्शनिक उपदेश श्रोताओं के समक्ष बाँसुरी के लय के साथ गाकर सुनाए जाते थे। इन कवियों की शैली महाकाव्यों से प्रभावित होते हुए भी उनसे भिन्न थी। होमर के षट्पदीय पद्य को इनमें पंचपदीय कर दिया गया था और ऐसी पंक्तियों का गुंफन विविध रूप के छंदों में होता था। इसी से मिलती जुलती आइंबिक (पंचपदीय) कविताएँ थीं जिनमें व्यंग्य का गहरा पुट होता था। इस काव्यधारा में उल्लेखनीय नाम आर्कीलोकस, सोलन, थियोग्नीज तथा सिमोनीदिज हैं।

शुद्ध गीतिकाव्य — आत्माभिव्यंजन का स्वतंत्र तथा शुद्ध रूप गीतिकाव्यों में पाया जाता है। प्राचीन ग्रीस में ऐसी कविताएँ वीणा के साथ गाई जाती थीं। शुद्ध गीतिकाव्य यूनान में 'इयोलियन' भाषा की देन थी और इसका मुख्य केंद्र 'लेस्बोस' था जहाँ ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी में काफी राजनीतिक तनाव तथा संघर्ष चला था। सार्वजनिक जीवन के इस पहलू की झलक अल्कायस के गीतों में मिलती है। परंतु इस क्षेत्र की मुख्य नायिका है साफो, जिनके गीतिकाव्य प्रगाढ़ प्रेमभाव से ओतप्रोत हैं। इनकी कविताएँ सखियों को भेजे प्रेमपत्रों सी हैं। भाषा, भाव तथा संगीत का ऐसा सुखद समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है। स्वयं अफलातून का कविहृदय उसकी याद में गा उठा था—साफो की प्रायः सारी रचनाएँ खंडित हैं। अधिकतर वे मिस्र की बालुकाभूमि से प्राप्त हुई।

दोरियाई लोगों ने ईसा पूर्व १२वीं शती के पश्चात् एक ऐसे गीतिकाव्य का विकास किया जिसका महत्व सार्वजनिक था और जो प्रशिक्षित कोरस रूप में देवताओं राष्ट्र अथवा नगर के पुनीत विजय-त्योहारों और धार्मिक अवसरों पर गाए जाते थे। इनमें प्रसिद्ध 'कोरस ओड' हैं, जहाँ छंदों की जटिलता, शैली का ओज तथा भाषा की गरिमा सुंदर चित्रणों का संचारण करती है। इस क्षेत्र में सर्वप्रसिद्ध नाम पिंडार का है जिनके प्रभावशाली तथा क्लिष्ट परंतु असाधारण शब्दविन्यास से अलंकृत 'ओड' आज भी सजीव हैं। इन्हीं के साथ सिमोनिदिज का नाम भी लिया जाता है, जिनकी कविताओं में राष्ट्रीय एकता तथा देशप्रेम का गहरा पुट है और भाषा तथा शैली कलात्मक होते हुए भी अपेक्षाकृत सरल तथा बोधगम्य है।

ग्रीक रंगमंच—दुःखांत तथा सुखांत नाटक : ग्रीक साहित्य का चरमोत्कर्ष नाटकों में पाया जाता है जिनका केंद्र एथेंस था और मुख्य भाषा 'ऐतिक' थी। ग्रीक नाटक सार्वजनीन जीवन से संबंधित रहे और उनमें मुख्य भावना तथा प्रेरणा धार्मिक थी। ग्रीक दुःखांत का उद्भव सुरा के देवता दियोनिसस् के सम्मान में आयोजित कीर्तनों तथा आमोदों से हुआ जिसमें पुजारी बकरे का चेहरा लगाए मस्ती से गाते हुए घूमते थे। इन गीतों को 'डिथारैंब' कहते थे। इसी ने कालांतर में नाटक का रूप धारण किया जब धार्मिक कोरस दो भागों में विभक्त हो गया—एक ओर देवता का दूत और दूसरी ओर उनके पुजारी। यही दूत नाटक का प्रथम पात्र माना जाता है। ईसापूर्व पाँचवीं शताब्दी के आरंभ तक ग्रीक नाटक का रूप सुगठित हो चुका था और दुःखांत नाटक के तीन मुख्य स्तंभ इस्किलस, सोफोक्लीज तथा युरीपिदीज इसी काल में (ई० पू० चतुर्थ शताब्दी) इसको विकसित करने के लिये प्रयत्नशील हुए। इस्किलस ग्रीक दुःखांत नाटक के पिता माने जाते हैं। यह मौलिक कवि थे और इनके नाटकों में ओजस्वी शैली के साथ ही कल्पना की ऊँची उड़ान तथा प्रगाढ़ देशप्रेम और अटूट धार्मिक विश्वास पाए जाते हैं। प्रधानता काव्यपक्ष की है और नाटकीय तत्व गौण है। ओरेस्तीज तथा प्रोमेथ्यूज संबंधी इनके नाटक विशेष प्रसिद्ध हैं। ग्रीक दुःखांत के विकास में केंद्रीय स्थान इस्किलस के सफल प्रतिद्वंद्वी सोफोक्लीज का है, जिन्होंने तीसरे पात्र का समावेश कर नाटकीय तत्वों, विशेषकर संवाद का दायरा, विस्तृत किया। इनके नाटकों में मानव तथा अलौकिक तत्वों का कलात्मक सामंजस्य है और इनके पात्र, जैसे ईदिपस और ऐंतीगान, असाधारण व्यक्तित्व के होते हुए भी, मानवोचित विशेषताओं से परिपूर्ण हैं। वातावरण उच्च विचारों से प्रेरित है। युरीपिदीज के नाटकों में प्राचीन मान्यताओं का ह्रास तथा आधुनिक दृष्टिकोण का उदय स्पष्टतः अंकित है। धार्मिक श्रद्धा के स्थान पर नास्तिकता, आदर्शवाद के स्थान पर यथार्थवाद, असाधारण पात्रों के स्थान पर साधारण पात्र पाठकों के समक्ष आते हैं। वे करुणरस के पोषक थे और उनके संवादों में जटिल तर्कों का समावेश है।

ऐसा माना जाता है कि इस अर्धशताब्दी के अल्पकाल में इस्किलस ने ७०, सोफोक्लीज ने ११३ और युरीपिदीज ने ९२ नाटकों का निर्माण किया जिनमें अधिकांश लुप्त हो गए।

ग्रीक सुखांत नाटक का उदय भी दियोनिसस देवता की पूजा से ही हुआ, परंतु इस पूजा का आयोजन जाड़े में न होकर वसंत में होता था और पुजारियों का जुलूस वैसे ही उद्दंडता तथा अश्लीलता का प्रदर्शन करता था जैसा भारत में होली के अवसर पर प्रायः देखने में आता है। सुखांत नाटक के विकास में दोरियाई लोगों का महत्वपूर्ण योग रहा, परंतु इसका उत्कर्ष तो एतिका में ही संभावित है क्योंकि प्राचीन ग्रीक सुखांत नाटक के प्रबल प्रवर्तक आरिस्तोफानिज का कार्यक्षेत्र तो एथेंस ही रहा। इस निर्भीक नाटककार ने ईसा पूर्व ४२७ से लेकर ४० वर्षों तक ऐसे सुखांत नाटकों का सृजन किया जिनमें स्वच्छंद कल्पना की उड़ान के साथ साथ काव्य की मधुरता, निरीक्षण की तीव्रता तथा व्यंग्यों की विदग्धता का आश्चर्यजनक संमिश्रण है। इन सुखांतों में, 'पक्षी,' भेक,' 'मेघ', 'रातें' और प्राय: व्यक्तियों पर प्रहार किया गया है। इनमें से अनेक में सुकरात और उसके शिष्यों के राजनीतिक तथा न्याय संबंधी कथोपकथनों, पेरिक्लीज की राजनीति तथा उसकी रखैल अस्पाजिया के तीव्र उपहास प्रस्तुत हैं। कई स्थानों पर हास्यरस अश्लीलता से पंकिल हो उठा है। प्राचीन सुखांत नाटकों का परिमार्जन यूनान के मध्यकालीन

सुखांत नाटकों में हुआ, जिनमें बर्बरता तथा व्यक्तिगत व्यंगों के स्थान पर शिष्ट प्रहसन को प्रोत्साहन मिला जिसके पात्र प्रायः विभिन्न मानव वर्गों तथा त्रुटियों के प्रतीक होते थे। इस नवीन एवं सुखांत नाटक के सजीव उदाहरण 'प्लातस' तथा 'तेरेंस' के रोमन नाटकों में मिलते हैं। मिनैंडर इसके सर्वप्रसिद्ध यूनानी प्रवर्तक थे। इन सुखांत नटकों में निम्नकोटि का वासनातत्व प्रधान है।

ग्रीक गद्य का विकास : ग्रीक गद्य का आविर्भाव संसार के अन्य साहित्यों की ही भांति पद्य के पीछे हुआ। ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी के मध्य में ग्रीक गद्य तथा पद्य के क्षेत्र एक दूसरे से अलग होने लगे और बहुत से विचारों का अभिव्यंजन गद्य के माध्यम से होने लगा। कलात्मक गद्य के निर्माण में प्रसिद्ध ग्रीक इतिहासकारों, हेरोदोतस, थ्युसिदीदिज तथा जेनोफोन ग्रीक दार्शनिकों जैसे हेराक्लीतस, अफलातून और अरस्तू तथा ग्रीक वाग्मियों तथा वाक्शास्त्रियों (रेटोरिशियनों) का काफी हाथ रहा। शास्त्रियों में मुख्य स्थान सोफिस्तों का था जो एथेंस में वक्ताओं का प्रशिक्षण करते थे और अपने काव्य तथा संगीतमय गद्यभाषणों से असत्य के ऊपर सत्य का मुलम्मा लगाकर लोगों को मुग्ध किया करते थे। इनके अनिष्टकारी प्रभावों का विरोध अफलातून ने मुक्तकंठ से किया और उनके पश्चात् अरस्तू ने इस शास्त्र का वैज्ञानिक विवेचन कर गद्य की विभिन्न शैलियों पर ऐसा प्रकाश डाला कि उनका विवेचन आज तक प्रामाणिक माना जाता है। अफलातून तथा उनके शिष्य अरस्तू दार्शनिक होने के साथ ही साहित्यसमीक्षक भी थे। दोनों की प्रतिभा बहुमुखी थी। परंतु प्लेटो की गद्यशैली साहित्यिक है और उसमें यथास्थान कवित्व का सुंदर पुट है, अरस्तू का गद्य नीरस वैज्ञानिक का है जिसमें कलापक्ष गौण है विचारपक्ष मुख्य। यूरोप का समीक्षा साहित्य शताब्दियों तक अरस्तू के काव्यशास्त्र (पोइटिक्स) को बाइबिल के समान ही पुनीत समझता रहा। अरस्तू के शिष्य थियोफेस्तस अपनी गद्यरचना 'कैरेक्टर्स' के लिये प्रसिद्ध है।

प्राचीन साहित्य का अवसानकाल : ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी के आरंभ में ग्रीक साहित्य अवसान की ओर अग्रसर होने लगा। सिकंदर के पिता फिलिप द्वितीय ने यूनानी स्वतंत्र राष्ट्रों की सत्ता पर कुठाराघात किया और सिकंदर ने स्वयं अपनी विश्वविजय की युगांतकारी यात्रा में यूनानी साहित्य तथा संस्कृति को सार्वभौम बनाने का सक्रिय प्रयास किया। इस प्रकार यूनान के बाहर कुछ ऐसे केंद्रों का निर्माण हुआ जहाँ ग्रीक भाषा और सहित्य का अध्ययन नए ढंग से किंतु प्रचुर उत्साह के साथ होने लगा। इन केंद्रों में प्रमुख मिस्र की राजधानी अलेक्जांद्रिया थी जहाँ पर यूनानी साहित्य, दर्शन तथा विज्ञान के हस्तलिखित ग्रंथों का एक विशाल पुस्तकालय बन गया जिसका विनाश ईसा पूर्व पहली सदी में जनरल आंतोनी के समय हुआ। इस नए केंद्र के लेखक तथा विद्वान् यूनान के लेखकों से प्रभावित तथा अनुप्राणित थे और विशेषकर विज्ञान क्षेत्र में उनका कार्य विशेष सराहनीय हुआ। परंतु साहित्य क्षेत्र में सृजनात्मक प्रतिभा का स्थान आलोचन तथा व्याकरण और व्याख्या साहित्य ने ले लिया। फलस्वरूप पुराने साहित्य की व्याख्या के साथ साथ बहुत से ग्रंथों की विशेषताओं की रक्षा संभव हुई। इस काल की कविता में नवीन तत्वों का विकास स्पष्ट है परंतु उसके साथ ही यह भी प्रकट है कि कविता का दायरा संकुचित हो गया और कविता जनता के लिये नहीं विशेषज्ञों के लिये लिखी जाने लगी। शैली कृत्रिम तथा अलंकारों से बोझिल हो गई और शब्दचयन में भी पांडित्य का आडंबर खड़ा हुआ। कवियों में मुख्य नाम है थियोक्रेतस का जो देहाती जीवन संबंधी गोचारण साहित्य (पैस्टोरल) के स्रष्टा माने जाते हैं और एपोलोनियस तथा कालीमेक्स का विशेष संबंध क्रमशः महाकाव्य और फुटकल गीतकाव्य, जैसे 'एलिजी' और 'एपिग्रामों' से है।

ग्रीक-रोमन काल : ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के आसपास यूनान देश पर रोमन आक्रमणकारियों का आधिपत्य हो गया, परंतु उन्होंने ग्रीक साहित्य तथा दर्शन की महत्ता स्वीकार कर उनसे प्रेरित हो अपने राष्ट्रीय-साहित्य का उत्कर्ष करने का निश्चय किया। यही कारण है कि रोमन साम्राज्य के विविध भागों में यूनानी भाषा का प्रचार था और इसी भाषा के माध्यम से साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में प्रसिद्ध ग्रंथों का निर्माण हो रहा था। इस साहित्य में मुख्य स्थान गद्य का है जो समीक्षा है। समीक्षकों में सर्वश्रेष्ठ 'लांजाइनस' है जिसका प्रसिद्ध किंतु अपूर्ण ग्रंथ 'शालीन के विषय में' प्राचीन समीक्षा साहित्य में अफलातून तथा अरस्तू के ग्रंथों का समकक्ष माना जाता है। इस ग्रंथ में साहित्य की शालीनता का विवेचन है और उदाहरण रूप में यूनान तथा रोम की सैकड़ों कृतियों का उल्लेख है। समीक्षक का साहित्य प्रेमप्रगाढ़ है और गद्य शैली में काव्यचमत्कार तथा ओजपूर्ण शब्दविन्यासों की भरमार है।

इस काल के दूसरे प्रसिद्ध तथा प्रभावशाली गद्यलेखक प्लूटार्क (४६-१२० ई०) हैं जो बोयतिया के उच्च कुल में पैदा हुए थे और रोम में रहकर काफी ख्याति प्राप्त कर चुके थे। कन्या की अकाल मृत्यु से प्रेरित हो इन्होंने 'कंसोलेशन' की रचना की जो कालांतर में लोकप्रिय हुई। प्लूटार्क प्रसिद्ध दार्शनिक तथा 'एपोलो' के भक्त थे और उनके जीवन का अंतिम चरण साहित्यसेवा तथा देवार्चन में व्यतीत हुआ। इनके लेखों तथा भाषणों का संग्रह 'मोरेलिया' के नाम से प्रसिद्ध है। प्लूटार्क का सर्वश्रेष्ठ तथा लब्धप्रतिष्ठ ग्रंथ ग्रीक तथा रोमनों का समानांतर चरित है जिसमें इन्होंने अपने इस दावे को सिद्ध किया है कि प्रत्येक रोमन का सामानांतर उदाहरण यूनानी इतिहास में उपलब्ध है। यह रचना संसार के प्रसिद्ध ग्रंथों में गिनी जाती है और इसमें ऐतिहासिक तत्व गौण होते हुए भी महत्वपूर्ण है, परंतु उससे अधिक महत्वपूर्ण है चरित्रचित्रण तथा रोचक कहानी की वह कला जिसने इसे अपने क्षेत्र का अमूल्य रत्न बना दिया है।

इसी युग में ग्रीक गद्य साहित्य ने कतिपय उपन्यासों का सृजन किया जो रोमांस के नाम से प्रसिद्ध हैं क्योंकि जीवन का यथार्थ रूप प्रस्तुत करना उनका मुख्य ध्येय नहीं है और यथार्थता कल्पना तथा अतिरंजन और आश्चर्यजनक घटनाओं से दबकर मृतप्राय हो गई है। इन रोमांस कृतियों में जैसे 'तीर का एपोलोनियस', दाफ्नीस तथा क्लो या थाग्योरेलिया-प्रेम तथा असाधारण घटनाचक्र ही केंद्रस्थल है। नायक तथा नायिका का प्रेमोदय, तत्पश्चात् उनका अलगाव और फिर परिस्थितियों की चोट से इधर उधर भटकना, अंत में संयोगवश फिर मिलना और प्रेमसूत्र में एकत्व प्राप्त करना मूलतः यही इन ग्रंथों के मुख्य कथानक का सार है।

इस युग की ग्रीक कविता में मौलिकता तथा सजीवता का अभाव है और अधिकांश काव्यसेवी साधारण श्रेणी के हैं। परंतु लूसियन (१२०-१८०) ई० का उल्लेख इस दिशा में महत्व का होगा। ग्रीक काव्य में नए जीवन का उसने संचार किया। लूसियन सीरिया में पैदा हुआ था और ग्रीक उसकी मातृभाषा नहीं थी परंतु उसने इस भाषा का इतने प्रेम और लगन से अध्ययन किया कि यह उसकी मातृभाषा हो गई। उसको विशेष रुझान दर्शन की ओर थी जिससे प्रेरित होकर उसने अपने जीवन के सुनहले काल ४० वर्ष की

अवस्था में एथेंस को कुछ समय के लिये अपना निवासस्थान बनाया था। परंतु दार्शनिकों की गंभीरता उसकी स्वभावजन्य चंचलता के विरुद्ध थी जिसके फलस्वरूप उसने समकालीन दार्शनिक आडंबरों के खंडन मंडन में ही अपनी लेखनी को सक्रिय किया। उसकी रचनाओं में 'फालेरिस' तथा 'मृतकों का डायलाग' विशेष उल्लेखनीय हैं। डायलाग व्यंग्य चित्रों से भरा है और उसमें मानव जाति के विचित्र कारनामों पर टीका टिप्पणी प्रस्तुत की गई है तथा नरक में अवतीर्ण मृतात्माओं की अच्छी जीवन झाँकी मिलती है। इन सभी रचनाओं में धनिकों के व्यवहार तथा विचारों के प्रति लेखक की घृणा तथा कड़ी आलोचना स्वतः प्रमाण है। इस तरह लूसियन की प्रतिभा व्यंगात्मक कटुता से प्रेरित थी और उनका व्यंग्य समकालीन जनजीवन तक ही सीमित नहीं था। उन्होंने प्राचीन तथा समकालीन सभी धार्मिक आंदोलनों की कड़ी आलोचना की और देवताओं के डायलाग्स तथा सीरियक देवी के प्रति जैसी रचनाओं में देवताओं तथा उनके चमत्कारों की भी काफी खिल्ली उड़ाई। इस तरह लूसियन ग्रीस की पुरानी प्रवृत्ति का ही प्रतिनिधि नहीं अपितु उसके समस्त साहित्य का प्रतिनिधि था। लूसियन के साथ ही क्लासिकल ग्रीक भाषा का अवसान हो जाता है और एक मिश्रित भाषा उसका स्थान ग्रहण करना प्रारंभ करती है क्योंकि उसकी मुख्य प्रेरणा का क्षेत्र ही बदल जाता है।

ग्रीक साहित्य तथा ईसाई धर्म : ईसाई धर्म के साथ ही ग्रीक भाषा में एक नई प्रेरणा का संचार होने लगा। ग्रीक चर्च तथा उसके अधीन बाहरी केंद्रों के नेताओं तथा संतों ने इसी भाषा के माध्यम से धार्मिक तथा आध्यात्मिक समस्याओं तथा भावनाओं का विवेचन तथा विश्लेषण करना आरंभ किया। धार्मिक रचनाओं में कुछ तो व्याख्यात्मक और उपदेशात्मक हैं, जैसे 'संत पाल के प्रसिद्ध पत्र' और कुछ का संबंध व्यवस्था तथा संगठन से है, जैसे 'फर्स्ट इपसिल ऑव क्लीमेंट,' परंतु अधिकांश व्याख्यात्मक हैं, जैसे 'इपसिल ऑव बार्नबास'। इन रचनाओं में साहित्य तत्व गौण हैं, परंतु अलेक्जांद्रिया के प्रसिद्ध चर्चनेता क्लेमेंट तथा ऑरिजेन के गंभीर लेख विचारगरिमा के साथ ही साथ साहित्यिक शैली के भी प्रभावशाली उदाहरण हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वप्रसिद्ध ग्रंथ सीजेरा द्वारा लिखित 'एक्लेज़ियास्टिकल हिस्ट्री' है जो तत्कालीन चर्च इतिहास का प्रामाणिक ग्रंथ है।

मध्यकालीन ग्रीक-साहित्य : मध्ययुगीन ईसाई लेखकों ने ग्रीक भाषा तथा शैली के माध्यम से प्राचीन यूनानी दर्शन तथा धर्म संबंधी मूल तत्वों का सामंजस्य अपने नए तथा प्रगतिशील धर्म से स्थापित करने का क्रम प्रारंभ किया। इसके फलस्वरूप पुरानी शैली के बहुत से तत्वों का पुनर्जन्म हुआ और अफलातून तथा अरस्तू के मुख्य सिद्धांतों को ईसाई धर्मशास्त्र में सम्मानपूर्ण स्थान मिला। इस नई विचारधारा के प्रबल समर्थक 'बाइज़ेंटि-यम' के धार्मिक लेखक थे जो ग्रीक साहित्य तथा दर्शन से पूर्णतया अनु-प्राणित थे। इसी धार्मिक क्षेत्र में उन गीतकाव्यों को प्रोत्साहन मिला जो चर्च में विविध पूजा तथा त्योहारों के अवसरों पर गाए जाते थे और आज तक 'लितर्गी' तथा 'हिम' (Hymn) के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये गीतकाव्य पुरानी छंदपरंपरा को छोड़कर एक नई छंद प्रणाली का अनुसरण करते हैं और इनके बाह्य रूपों में आश्चर्यजनक भिन्नता है। परंतु भाषा इतनी लचीली है कि बिना किसी विशेष प्रयास के उन सभी भिन्न रूपों का उपयुक्त साधन बन जाती है। इन गीतकाव्यों का सर्वोत्तम विकास उन शृंखलाबद्ध धार्मिक गीतों में हुआ जो 'कैनन' नाम से प्रसिद्ध हैं और जिनके सर्वश्रेष्ठ प्रवर्तक दमिश्क के संत जॉन थे। इस तरह की कविताएँ शताब्दियों तक लिखी जाती रहीं और इनमें शब्द तथा संगीत प्रायः संयुक्त हैं।

इसके साथ ही एक और नई साहित्यधारा का आविर्भाव हुआ जिसका संबंध ईसाई संतों के जीवन तथा चमत्कारों से था। इसमें सत्य तथा कल्पना का संमिश्रण है और इनके लेखक मध्ययुगीन रोमांसों के शैलीतत्वों तथा रोमांचकारी वर्णनों को अपनाते हुए पाठकों के हृदय में सांसारिक मनोरंजन के स्थान पर नैतिक तथा धार्मिक तत्वों के प्रति प्रेम तथा आस्था उत्पन्न करने में संलग्न प्रतीत होते हैं। इन लोकप्रिय ग्रंथों का उद्गम स्थान मिस्र के संत आथनी की 'जीवनकथा' है जिसके लेखक चौथी शताब्दी के संत अथनासियस माने जाते है।

आधुनिक ग्रीक साहित्य : आधुनिक ग्रीक साहित्य के सर्वप्रधान अंग ऐसे पद्य, लेख तथा काव्य है जो सर्वसाधारण में प्रचलित भाषा में लिखे गए। वह भाषा जो क्लासिकल के विपरीत 'डेमोटिक ग्रीक' के नाम से प्रसिद्ध है। इनमें अधिकांश लोकगीत की श्रेणी में आते हैं और लोकजीवन के उतार चढ़ाव के प्रतिबिंब हैं। इन गीतों की मुख्य प्रेरणा लौकिक है और इनके पढ़ने से महारानी एलिजाबेथ प्रथम के स्वर्णयुग में प्रचलित उन गीति-काव्यों का स्मरण हो आता है जिनमें जवानी की उमंग, प्रकृतिप्रेम तथा सुरा सुंदरी में उत्कट लिप्सा के साथ ही मधुर पीड़ा भी है जो भौतिक सुख सौंदर्य की क्षणभंगुरता से आविर्भूत होती है। इस परंपरा में कुछ ऐसे काव्य भी हैं जिनका महत्व ऐतिहासिक है और उद्गम-स्रोत तत्कालीन दुर्घटनाएँ; उदाहरण के लिये हम उन लोकगीतों को ले सकते हैं जो कुस्तुंतुनिया के पतन पर शोक तथा उसके रक्षकों के साहस तथा शौर्य पर संतोष प्रकट करते हैं। इस प्रचुर काव्यसाहित्य के साथ लेखकों का व्यक्तिगत संबंध नहीं के बराबर है। यह लोकजीवन से पोषित होकर समस्त जाति के सामूहिक विचारों तथा भावनाओं को प्रतिबिंबित करता है।

इसके अतिरिक्त आधुनिक ग्रीक साहित्य का अन्य प्रसिद्ध अंग वह है जिसपर पश्चिमी यूरोप की छाप गहरी है। पूर्व-पश्चिम का यह संमिलन मध्ययुगीन धर्मयुद्धों (क्रूसेडों) के समय हुआ जब फ्रांस, इटली इत्यादि देशों के धर्मवीर तुर्कों के विरोध में पूर्व की ओर अग्रसर हुए। इसी के फलस्वरूप प्रेम तथा साहसिक कार्य से संबंधित उन रोमांसों का जन्म हुआ जो मध्यकालीन फ्रेंच उपन्यासों से प्रेरित हैं और जिनका माध्यम देमोतिक ग्रीक है। १७वीं शताब्दी में दो जातियों का यह संमिश्रण क्रीट के प्रसिद्ध नगरों में सर्वाधिक सार्थक सिद्ध हुआ जिसके फलस्वरूप एक नए प्रकार के नाटक का आविर्भाव हुआ जो इतालीय रंगमंच से प्रेरित था। इस साहित्य में सर्वप्रसिद्ध नाम कोर्नारोस का है जो नाम से इटालियन हैं परंतु भाषा जिनकी यूनानी है। आपने 'रोतोक्रितस' नामक लोकप्रिय उपन्यास में यह मध्ययुगीन रोमांस को आधुनिक मोड़ देने में सफल हुए हैं। क्रीट में इस नए साहित्य का उत्कर्षकाल केवल ५० वर्ष तक था क्योंकि १६६९ ई० में क्रीट के पतन के साथ ही साहित्य का गौरव भी समाप्त हो गया, यद्यपि परवर्ती ग्रीक साहित्य पर इसका काफी प्रभाव पड़ा।

१८वीं शताब्दी का उत्तरार्ध ग्रीस की राजनीतिक जागृति का संघर्ष-काल था। इस जागृतिकाल में राष्ट्रभाषा का प्रश्न भी विचारणीय था। क्लासिकल ग्रीक, बैजंटियम की विशुद्ध भाषा, जो चर्च की भाषा थी और देमोतिक ग्रीक, जो लोकप्रचलित थी—इन्हीं में से किसी एक को आधार मानकर राष्ट्रभाषा का निर्माण करना था। इस संघर्ष में कई असफल प्रयासों के पश्चात् अंत में लोकप्रचलित भाषा की विजय हुई और इस विजय का मुख्य श्रेय आधुनिक ग्रीस के सर्वश्रेष्ठ कवि 'दियोनिसियोस सोलोमोस' को है, जिन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि भाषा ही उच्च कोटि का सफल माध्यम हो सकती है। २०वीं शताब्दी के आरंभ तक पद्य तथा

गद्य इसी माध्यम से लिखे जाने लगे, जिससे इस भाषा का पर्याप्त विकास तथा परिमार्जन हुआ। इस शताब्दी के मध्य तथा उत्तरार्ध में काव्य तथा उपन्यास ग्रीक साहित्य के विशिष्ट अंग रहे हैं। इस तरह से ग्रीक साहित्य तथा भाषा का इतिहास ईसा के पूर्व एक सहस्र वर्ष से आज तक लगभग अक्षुण्ण ही रहा है, यद्यपि इसके प्राचीन गौरव की पुनरावृत्ति बाद के युगों में कभी भी संभव नहीं हुई।

सं० ग्रं०—एल०आर० फार्नेल: कल्ट्स ग्रॉव ग्रीक स्टेट्स, ५ जिल्द, ग्राक्सफोर्ड, क्लैरेंडेन प्रेस, १८९६–१९०९; ए० लैंग०: दि वर्ल्ड ग्रॉव होमर, लंदन, लांगमैन ग्रीन कं०, तीसरा संस्करण, १९०७; ए० डबल्यू पिकार्ड १–डिथोरैंब: ट्रेजेडी ऐंड कामेडी, ग्राक्सफोर्ड क्लैरेंडन प्रेस, १९२७; जे० यु० पावेल ऐंड ई० ए० बार्बर: न्यू चैप्टर्स इन दि हिस्ट्री ग्रॉव ग्रीक लिटरेचर, प्रथम सीरीज, १९२१–द्वितीय सिरीज १९२९—तृतीय (पावेल) १९३३, ग्राक्सफोर्ड, क्लैरेंडन प्रेस। एच० जे० रोज: ए० हैंडबुक ग्रॉव ग्रीक माइथालॉजी, पंचम संस्करण, मेथुएन १९५३; ए हैंडबुक ग्रॉव ग्रीक लिटरेचर, मेथुएन कं०, पंचम संस्करण, १९५६; इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, नवां संस्करण, ११ जिल्द, पृष्ठ ८०--१५०, एडिनबरा, ऐडम ऐंड चार्ल्स ब्लैक; मेरी: स्पेसिमेंस ग्रॉव ग्रीक डायलेक्ट्स, क्लैरेंडन प्रेस १८७५; सोफोक्लीज ग्लासरी ग्रॉव लेटर ऐंड बाइजैंटाइन ग्रीक, बोस्टन, १८७०; जे डोनाल्ड्स: मॉडर्न ग्रीक ग्रामर, एडिनबरा, १८५३।

[वि० रा०]

ग्रीग, नॉर्डल, (Grieg, Nordahl) (१९०२--१९४३) का आधुनिक नार्वेई साहित्य में बड़ा ऊँचा स्थान है। इन्होंने कवि, उपन्यासकार और नाटककार के रूप में बड़ा महत्वपूर्ण काम किया। इनका जन्म संपन्न परिवार में हुआ था लेकिन इन्होंने अपना सारा जीवन समाज के दलित वर्ग की सेवा में लगाया। विद्यार्थी जीवन में ही इन्होंने संसार के कई देशों की यात्रा की और नए विचारों तथा उनके प्रभाव के फलस्वरूप होनेवाले परिवर्तनों का परिचय प्राप्त किया। सन् १९३३ से १९३५ तक ये रूस में रहे और वहां के जीवन तथा नाट्य साहित्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। सन् १९३५ में लिखा गया नाटक 'अवर ग्लोरी ऐंड अवर पावर' इनके समाजवादी दृष्टिकोण को बड़े शक्तिशाली ढंग से प्रस्तुत करता है। सन् १९३० के बाद के प्राय: सभी नाटकों में हमें शोषण और अन्याय की तीव्र आलोचना मिलती है। सन् १९३८ में इन्होंने 'उंग मा वर्देन एन्डु वेरें' नामक उपन्यास लिखा जो इनके रूस तथा स्पेन के गृहयुद्ध के अनुभवों पर आधारित है। किसी भी प्रगतिशील राजनीतिक दल से संबंधित न होते हुए भी इन्होंने साहित्य के माध्यम से समाजवादी विचारधारा के व्यापक प्रचार में महत्वपूर्ण योग दिया।

नार्डल ग्रीग में राष्ट्रीयता की भावना भी कूट कूटकर भरी थी। लेकिन इनकी राष्ट्रीयता संकीर्णता से पूर्णतया मुक्त थी। फासिस्ट देशों की राष्ट्रीयता किस प्रकार विश्व के छोटे और कमजोर देशों के लिये अभिशाप सिद्ध हो रही थी, यह इन्होंने समझ लिया था। राष्ट्रीयता के नाम पर हिटलर और मुसोलिनी एक के बाद एक देश को हड़पते जा रहे थे। विश्वशांति के लिये उनकी राष्ट्रीयता भयंकर चुनौती थी। नार्डल ग्रीग ने राष्ट्रीयता की एक दूसरी ही धारणा दी जिसमें देशप्रेम के लिये स्थान था लेकिन अन्य राष्ट्रों के प्रति घृणा के लिये कतई गुंजाइश नहीं थी। सन् १९२९ में इनकी कविताओं का संग्रह 'नार्वे इन अवर हार्ट्स' निकला जिसमें हमें राष्ट्रीयता का बड़ा ही परिष्कृत रूप देखने को मिलता है।

नार्डल केवल लेखक ही नहीं थे। इन्होंने अपने स्वल्प जीवनकाल में अपूर्व कर्मठता का भी परिचय दिया। जब हिटलर ने नार्वे पर आक्रमण किया, ये जनता का नेतृत्व करने के उद्देश्य से मैदान में कूद पड़े। फासिस्ट आक्रमणकारियों को देश की पवित्र भूमि से निकालने के काम में सबका सहयोग अपेक्षित था। ग्रीग ने अपनी सेवाएँ अर्पित की हीं, सभी देशवासियों को भी शत्रु का जुटकर मुकाबिला करने के लिये प्रोत्साहित किया। सन् १९४० के बाद इन्होंने देशप्रेम से ओतप्रोत कविताओं की रचना की। सन् १९४३ में बर्लिन पर हवाई हमले के समय इनकी मृत्यु हो गई।

[तु०ना०सिं०]

ग्रीगरी, एडवर्ड जान (१८५०--१९०९) अंग्रेज चित्रकार, जन्म साउथैंप्टन। अधिकतर कार्य उसने तैल चित्रण का किया। १८८३ में वह रॉयल अकादमी का सदस्य चुना गया और १८९२ में रॉयल इंस्टीट्यूट ऑव पेंटर्स का अध्यक्ष। उसके चित्रों के तकनीकी गुण असाधारण हैं और रेखाओं की शक्ति में वह विशेषत: निष्णात है। उसका प्रसिद्ध चित्र 'मैरुंड' लंदन की नेशनल गैलरी में आज भी सुरक्षित है। १९०९ की २२ जून को ग्रेगरी का देहांत हुआ।

[प० उ०]

ग्रीगरी, पोप (Gregory, Pope,) ५४०-६०४। पोप ग्रीगरी को ईसाई धर्म का सर्वोपरि नेता चुने जाने के पहले रोमन सिनेटर का संमान प्राप्त था। राजनीति के क्षेत्र में रहते हुए भी इन्होने अवश्य ही यश और ख्याति अर्जित की होती। लेकिन इन्होंने राजनीति को छोड़कर धर्म के क्षेत्र में आना श्रेयस्कर समझा। सन् ५९० में ये पोप चुने गए। ईसाई धर्म के व्यापक प्रचार में पोप ग्रीगरी ने महत्वपूर्ण योग दिया। इंग्लैंड से रोमन जाति के हट जाने के बाद वहाँ ईसाई धर्म का लोप होने लगा था। नई अंग्रेज जाति (Angles) जर्मनी से आकर बसने लगी थी जो कई देवी देवताओं की पूजा करती थी। इसने आते ही इंग्लैंड के ईसाई धर्म को नष्ट कर दिया। कहते हैं, एक बार पोप ग्रीगरी ने कुछ अंग्रेज बालकों को रोम के बाजार में दास के रूप में बिकते देखा। इन बालकों की सुंदरता से ये अत्यधिक प्रभावित हुए और निश्चय किया कि बृटिश द्वीप में जहाँ रोमन काल में ईसाई धर्म को लोगों ने स्वीकार कर लिया था, फिर से इस धर्म का प्रचार किया जाए। धर्मप्रचार के उद्देश्य से इन्होंने आगस्टाइन नाम के एक प्रसिद्ध पादरी को इंग्लैंड भेजा जिसने केंट के राजा एथलबर्ट के दरबार में जाकर ईसाई धर्म का प्रचार प्रारंभ कर दिया। एथलबर्ट ने फ्रांस की एक ईसाई राजकुमारी से शादी की थी, अत: उसने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया और आगस्टाइन को कैंटरबरी में गिरजाघर बनाने की आज्ञा दे दी। इस प्रकार पोप ग्रीगरी के प्रयत्न के फलस्वरूप इंग्लैंड में ईसाई धर्म का फिर से प्रचार हुआ।

पोप ग्रीगरी ने ईसाई धर्म के सर्वोच्च नेता के रूप में बड़े ऊँचे दर्जे की प्रशासनिक प्रतिभा का परिचय दिया। चाहे धर्म संबंधी बातें हों या चर्च की संपत्ति की व्यवस्था संबंधी, इन्होंने सबका प्रबंध पटुता से किया। छोटी से छोटी बातों की ओर भी इन्होंने व्यक्तिगत ध्यान दिया और पूरं

ईसाई जगत् की प्रशासनिक आवश्यकताओं से परिचित रहने की चेष्टा की। इनके पत्रों से इनकी व्यावहारिक बुद्धि और प्रशासनिक योग्यता का यथेष्ट आभास मिलता है।

पोप ग्रीगरी ने धार्मिक ग्रंथों की समीक्षा तथा धर्म संबंधी बातों की वार्तालाप (Dialogues) के रूप में विवेचना भी की। लैटिन भाषा की इन रचनाओं में इन्होंने गूढ़ विषयों के निरूपण के लिये अधिकांशतः रूपक शैली का प्रयोग किया है। शब्द दो अर्थ रखते हैं; एक तो ऊपरी जो स्पष्ट होता है और दूसरा लाक्षणिक जिससे धर्म संबंधी गूढ़ विचार भी सरलता से समझ में आ जाते हैं।

पोप ग्रीगरी ने ईसाई धर्म से पहले की कथाओं (Tales) की जगह ईसाई संतों की कहानियों का प्रचार करवाया। इन्होंने जो कुछ भी लिखा, धर्म के व्यापक प्रचार की भावना से लिखा। इनका ध्यान विचारों की स्पष्ट अभिव्यक्ति पर था, न कि शैली पर। लेकिन फिर भी इनकी भाषा में सौंदर्य और प्रभाव है।

[तु० ना० सिं०]

ग्रीगरी, संत इस नाम के अनेक संत प्रसिद्ध हैं। (१) नेओ सीज़ारेआ के बिशप संत ग्रीगरी (तीसरी सदी ई०) करामाती के नाम से विख्यात हैं। (२) नाज़िग्रंसस के संत ग्रीगरी (चौथी सदी) और (३) निस्सा के संत ग्रीगरी (चौथी सदी), प्राच्य चर्च के चार महान् धर्माचार्यों में इन दोनों का नाम आता है। (४) तूर के संत ग्रीगरी (छठी सदी), इनका सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ फ्रैंक जाति का इतिहास है। काथलिक चर्च के इतिहास में ग्रीगरी नामक १६ पोप भी मिलते हैं, जिनमें से दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। संत ग्रीगरी महान् (सन् ५४०–६०४ ई०) पाश्चात्य चर्च के महान् धर्माचार्यों में से एक हैं। इन्होंने पहले पहल इंग्लैंड में ईसाई मिशनरियों को भेजा था। ऐतिहासिक दृष्टि से संत ग्रीगरी सप्तम सबसे महत्वपूर्ण हैं। वे सन् १०७३ से सन् १०८५ तक पोप थे। इन्होंने राजाओं के विरुद्ध चर्च की स्वतंत्रता को तथा बिशपों की नियुक्ति में रोम के अधिकार को अक्षुण्ण बनाए रखने का प्रयास किया है।

[का० बु०]

ग्रीन, टॉमस हिल (१८३६–१८८२) अंग्रेज विज्ञानवादी (आइडियलिस्ट) दार्शनिक, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में ह्वाइट प्रोफेसर था। उनकी रचनाओं में दो प्रमुख हैं, नीतिदर्शन के क्षेत्र में 'प्रोलेगोमेना टु एथिक्स', और राज्यदर्शन के क्षेत्र में 'लेक्चर्स ऑन दि प्रिंसिपल्स ऑव पोलिटिकल ऑब्लिगेशन'।

ग्रीन ने दर्शन में उन सब सिद्धांतों का प्रबल विरोध किया है जो मानव मन को असंबद्ध अनुभवाणुओं की शृंखला मात्र मानते हैं अथवा मनुष्य को प्राकृतिक ऊर्जाओं का परिणाम बताते हैं। उनका कथन था कि ऐसे सिद्धांतों के अनुसार ज्ञान असंभव हो जाता है और नीतिधारणा अर्थहीन हो जाती है। मानव जीवन कर्म के ज्ञाता और उसे करने में समर्थ आत्मा के व्यक्तिगत अस्तित्व का प्रमाण है। चेतना में, केवल अनुभवों का परिवर्तन नहीं, परिवर्तनों का अनुभव, और अनुभव के विषय से भिन्न उसके अनुभवकर्ता आत्म का अनुभव भी, अवश्यमेव होता है। ज्ञान मन द्वारा चेतना में संबद्ध करने की क्रिया है। विज्ञान तथा दर्शन में सत्य की खोज की जड़ में यह विश्वास अवश्य ही होता है कि ज्ञान का विषय बुद्धिगम्य प्रत्ययात्मक संबंधतंत्र है। इसलिये मानना पड़ता है कि एक ऐसे तत्व का अस्तित्व है जिससे सब संबंध संभव होते हैं, परंतु जो स्वयं उन संबंधों द्वारा निर्धारित नहीं है; एक ऐसी नित्य आत्मबोधयुक्त चेतना है जिसे वह सब कुछ समष्टि रूप से ज्ञात है जिसका हम सबको केवल अंशतः ही पता है।

ग्रीन का विचार था कि इस प्रकार के तत्वविचार पर ही नीतिदर्शन टिक सकता है। नीतिदर्शन में पदार्पण के लिये पहले मनुष्य के आध्यात्मिक रूप में विश्वास आवश्यक है। आत्मबोध अथवा आत्मचिंतन में मानव का सामर्थ्य, कर्म तथा उत्तरदायित्व का ज्ञान होता है। मनुष्य का वास्तविक हित इन्हीं संभावनाओं की सिद्धि में है। उसका उत्प्रेरक आत्मबोध के लिये वांछनीय प्रतीत होनेवाला शुभ साध्य है। संकल्प क्रिया किसी विशिष्ट प्रकार की आत्मप्राप्ति (सेल्फ रियलाइज़ेशन) ही है। इसलिये न वह अकारण है, न बाह्य निर्धारित। आत्मा का ऐसे उत्प्रेरक के साथ तादात्म्य आत्मनिर्धारण है। यह बौद्धिक भी है और स्वतंत्र भी। स्वातंत्र्य, कुछ भी कर लेने की सामर्थ्य नहीं, अपने को, बुद्धि द्वारा प्रकट अपने वास्तविक हित से तद्रूप कर देना है। अपना वास्तविक हित व्यक्तिगत चरित्रविकास में है। इसलिये परमार्थ अथवा नैतिक आदर्श की प्राप्ति केवल ऐसे समाज में हो सकती है जो व्यक्तियों का व्यक्तित्व सुरक्षित रखते हुए भी उन्हें सामाजिक समष्टि मे समाविष्ट कर सके। व्यक्ति अपने स्वरूप को समाज के बिना प्राप्त नहीं कर सकता और समाज अपने स्वरूप को व्यक्तियों के बिना नहीं पहुँच सकता।

ग्रीन के इन विचारों के अनुसार नागरिक तथा राजनीतिक कर्तव्य भी व्यक्ति के स्वभाव में ही निहित हैं। नैतिक कल्याण व्यक्तिगत सद्गुणों के विकास तक सीमित नहीं हो सकता। व्यक्तिगत सद्गुणों पर राजनीतिक तथा सामाजिक कर्तव्यों के रूप में साकार होने का उत्तरदायित्व है। इनमें ही व्यक्तियों के चरित्र का विकास होगा। वास्तविक राजनीतिक संस्थाएँ आदर्श नहीं होतीं। फिर भी उनके द्वारा अधिकारों तथा कर्तव्यों की सुरक्षा होनी ही चाहिए। इसीलिये कभी-कभी राज्य के ही हित में राज्य के आदर्श उद्देश्य की सुरक्षा के लिये राज्य के विरुद्ध क्रांति करना भी कर्तव्य हो जाता है। राज्य का आधार तथा उद्देश्य नागरिकों द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप का आध्यात्मिक बोध है। वह शक्ति नहीं संकल्प के ही सहारे स्थित है।

सं० ग्रं०—एडवर्ड आर० एल० नेटलशिप : द वर्क्स ऑव थॉमस हिल ग्रीन; डब्ल्यू० एच० फेयरब्रदर : फिलासफी ऑव टी० एच० ग्रीन; एच० साइजविक : लेक्चर्स ऑन दि एथिक्स आव टी० एच० ग्रीन; वाई० एल० चिन : दि पोलिटिकल थियरी ऑव थामस हिल ग्रीन।

[रा० मू० लू०]

ग्रीनयार्ड के अभिकर्मक (Grignard Reagents) मैग्नीशियम के धात्वीय कार्बनिक यौगिक हैं, जो अपने आविष्कर्ता विक्टर ग्रीनयार्ड (Victor Grignard) के नाम पर 'ग्रीनयार्ड अभिकर्मक' कहलाते हैं। अन्य कार्बनिक यौगिकों के संश्लेषण में इनका बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। यशद (Zinc) के कार्बनिक यौगिकों की सर्वप्रथम गवेषणा वैज्ञानिक एडवर्ड फ्रैंकलैंड (Edward Frankland) ने सन् १८४९ में की थी और इसके ५० वर्षों बाद सन् १८९९ में बारबियर (Barbier) ने संश्लेषण क्रियाओं में यशद के स्थान पर मैग्नीशियम धातु की उपयोगिता प्रदर्शित की। अगले वर्ष, सन् १९०० में इनके विद्यार्थी ग्रीनयार्ड ने इस गवेषणा की अनेकानेक संभावनाओं की ओर रसायनज्ञों का ध्यान आकर्षित किया और उन्होंने प्रदर्शित किया कि शुष्क ईथर (Ether) की

उपस्थिति में मैग्नीशियम अनेक कार्बनिक हैलोजन यौगिकों में विलीन होकर एक नई श्रेणी के यौगिक बनाता है। इस क्रिया को, उदाहरण के लिये, निम्नांकित समीकरण द्वारा व्यक्त कर सकते हैं :

मू है	+	मै	→	मू मै है
[R hal	+	M_g	→	R M_g hal]
ऐलकिल या ऐरिल हैलाइड		मैग्नीशियम		ऐलकिल या ऐरिल मैग्नीशियम हैलाइड

[R=radical=मू=मूलक; hal = halide = है = हैलाइड]
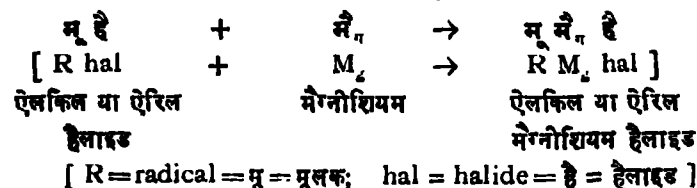
इन ऐलकिल या ऐरिल मैग्नीशियम हैलाइड यौगिकों की क्रियाशीलता तथा संश्लेषण क्रियाओं में इनकी उपयोगिता देखते हुए इन्हें ग्रीनयार्ड अभिकर्मक का नाम दिया गया है। इन अभिकर्मकों का महत्व इसी से स्पष्ट हो जाता है कि गवेषणा के प्रथम आठ वर्षों (सन् १९००–१९०८) में इनके ऊपर ८०० से अधिक अनुसंधान लेख प्रकाशित हुए और सन् १९१२ में विषय के महत्व को देखते हुए विक्टर ग्रीनयार्ड को नोबेल पुरस्कार द्वारा संमानित किया गया।

ग्रीनयार्ड अभिकर्मक साधारणतः स्वतंत्र अवस्था में नहीं पाए जाते और एक या दो ईथर अणुओं के संयोग में ही प्राप्त होते हैं। माइसेन-हाइमर ने डाइएथिल ईथर में विलीन मेथिल आयोडाइड को मैग्नीशियम से अभिकृत करके प्राप्त यौगिक को निम्नलिखित सूत्र द्वारा व्यक्त किया :

$$\text{ओ}(\text{का}_2\text{हा}_5)_2\text{—मै—का हा}_3 \text{ (ऊपर (का}_2\text{हा}_5)_2\text{ओ, नीचे आ)} \quad \left\{ O(C_2H_5)_2\text{—}\underset{I}{\overset{(C_2H_5)_2O}{M_g}}\text{—}CH_3 \right\}$$
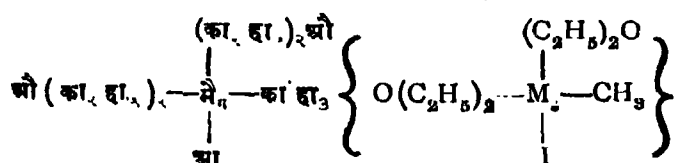
इसके विपरीत वैज्ञानिक शेलिनजेफ (Tschelinzeff) ने प्रदर्शित किया कि यदि साथ में ईथर की सूक्ष्म मात्रा भी उपस्थित हो तो ये अभिकर्मक बेंजीन, टॉलुईन तथा जाइलीन नामक विलायकों में भी प्राप्त किए जा सकते हैं। इन अवस्थाओं में प्राप्त ग्रीनयार्ड अभिकर्मक की मात्रा उपस्थित ईथर की मात्रा के अनुपात से कई गुनी तक अधिक हो सकती है, अतएव इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ईथर का कार्य केवल उत्प्रेरक का है।

विलयन से पृथक् होने पर ग्रीनयार्ड अभिकर्मक वायु में जलने लगते हैं, जिससे ठोस अवस्था में इनसे कार्य करना कठिन होता है। भाग्यवश कार्बो-निक संश्लेषण क्रियाओं में ग्रीनयार्ड अभिकर्मकों का ईथरीय विलयनों में ही सफलतापूर्वक उपयोग किया जा सकता है। इससे इनकी उपादेयता इतनी संभव हो पाई है। संश्लेषण में ग्रीनयार्ड अभिकर्मकों के उपयोगों को निम्न-लिखित तीन मुख्य वर्गों में बांटा जा सकता है :

(क) सक्रिय हाइड्रोजन वाले यौगिकों से अभिक्रिया — इस समूह के यौगिक, जैसे जल, ऐल्कोहल, ऐमिन आदि, ग्रीनयार्ड अभिकर्मकों से निम्नलिखित प्रकार की क्रिया करते हैं :

का हा₃ मै आ	+	मूओहा	=	का हा₄	+	मूओमै आ
[CH_3M_gI	+	ROH	=	CH_4	+	ROM_gI]
मेथाइल मैग्नीशियम आयोडाइड		ऐल्कोहल		मेथेन		अभिकर्मक
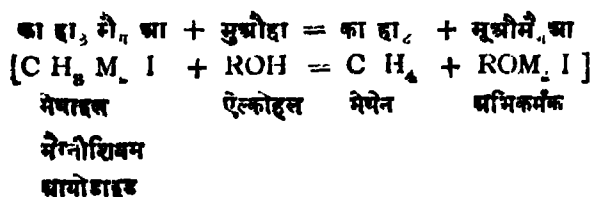
शूगेफ (Tschugaeff) ने प्रदर्शित किया कि उपर्युक्त प्रकार की क्रियाओं से प्राप्त मेथेन की मात्रा नाप लेने पर कार्बनिक यौगिक में हाइ-ड्रॉक्सिल समूहों की संख्या ज्ञात की जा सकती है। इसी प्रकार की क्रिया का उपयोग ऐमिन यौगिकों में ऐमिन समूहों की मात्रा या संख्या निर्धारित करने में किया जा सकता है। जल के साथ भी अभिक्रिया करके ग्रीनयार्ड अभिकर्मक विच्छेदित हो जाते हैं :

मूमै आ	+ हाओहा	⟶	मू हा	+ मै(ओ हा)आ
[RM_gI	+ HOH	⟶	R H	+ $M_g(OH)I$]
			हाइड्रोकार्बन	
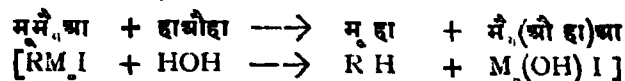
इसीलिये ग्रीनयार्ड अभिकर्मकों को बनाते या उपयोग करते समय सब विलायकों तथा अन्य यौगिकों को पूर्ण शुष्क अवस्था में लेना बहुत ही आवश्यक है।

(ख) असंतृप्त बंधता (unsaturated linkages) से योग अभिक्रिया (addition) — संश्लेषण के उपयोगों में ग्रीनयार्ड अभिकर्मकों की प्रमुख क्रिया यही है। इसमें ग्रीनयार्ड अभिकर्मक ऐल्डिहाइड (aldehyde), कीटोन (ketone) तथा नाइट्राइल (nitrile) आदि यौगिक समूहों के द्वि- या त्रि-बंधकों से योगशील (additive) यौगिक बनाते हैं और फिर इन योगशील यौगिकों पर अम्लों द्वारा अभिक्रिया करके विभिन्न क्रियाफल प्राप्त किए जा सकते हैं :

$$\text{का}_6\text{हा}_5\text{—}\underset{\text{हा}}{\overset{\text{ओ}}{\text{का}}} + \text{का हा}_3\text{मै}_{\text{ग}}\text{ब्रो} \rightarrow \text{का}_6\text{हा}_5\text{—}\underset{\text{हा}}{\overset{\text{ओ मै ब्रो}}{\text{का}}}\text{—का हा}_3$$

बेंजैल्डीहाइड; मेथाइल मैग्नीशियम ब्रोमाइड (ग्रीनयार्ड अभिकारक); (योगशील यौगिक)

× हा₂ओ ↓

का₆हा₅काहा ओहाकाहा₃ + मै ब्रोओहा

मेथाइल फेनिल कार्बिनॉल

$$\left\{ C_6H_5\text{—}\underset{H}{\overset{O}{\overset{\|}{C}}} + CH_3M_gBr \rightarrow C_6H_5\text{—}\underset{H}{\overset{OMgBr}{C}}\text{—}CH_3 \right\}$$

$$\downarrow + H_2O$$

$$C_6H_5CHOHCH_3 + M_gBr\,OH$$
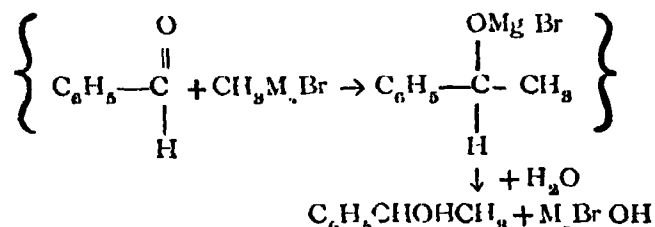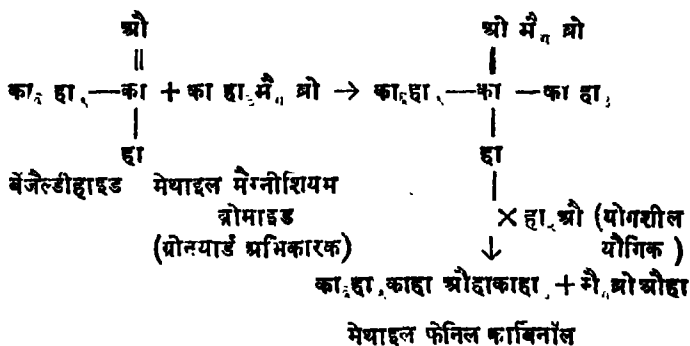
इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के यौगिक संश्लेषित किए जा सकते हैं, जिनमें से कुछ के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :

फार्मैल्डीहाइड (formaldehyde) → प्राथमिक ऐल्कोहल (primary alcohol)

अन्य ऐल्डीहाइड → द्वितीयक (secondary) ऐल्कोहल

कीटोन (ketones) → तृतीयक (tertiary) ऐल्कोहल

एस्टर (ester) → तृतीयक ऐल्कोहल

आम्लिक क्लोराइड (acid chloride) → कीटोन

नाइट्राइल (nitrile) → कीटोन
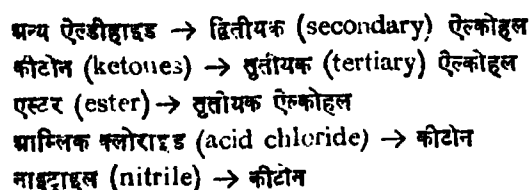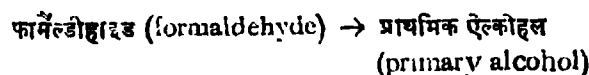
(ग) स्वतंत्र मूलकों (free radicals) का बनना — वैज्ञानिक खराश (Kharasch) तथा उनके सहयोगियों ने पिछले वर्षों में प्रदर्शित किया है कि ग्रीनयार्ड अभिकर्मकों की क्रियाशीलता पर धात्वीय हैलाइडों, जैसे कोबाल्ट क्लोराइड, की उपस्थिति का बहुत प्रभाव पड़ता है। इस प्रभाव को समझाने के लिये विलयन में स्वतंत्र मूलकों की उत्पत्ति माननी पड़ती है। इस प्रकार की क्रियाओं का अच्छा उदाहरण कोबाल्ट

क्लोराइड की उपस्थिति में फेनिल मैग्नीशियम ब्रोमाइड तथा फेनिल ब्रोमाइड से अच्छी मात्रा में डाइफेनिल बनता है :

को क्लो₂

का६हा५मै०ब्रो + का६हा५ब्रो = —→ + का६हा५का६हा५ + मै०ब्रो₂

$$[C_6H_5MgBr + C_6H_5Br \xrightarrow{CoCl_2} + C_6H_5C_6H_5 + MgBr_2]$$

फेनिल मैग्नीशियम ब्रोमाइड — फेनिल ब्रोमाइड — कोबाल्ट क्लोराइड — डाइफेनिल
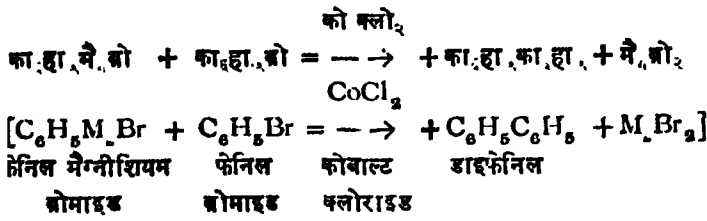
उपर्युक्त वर्णन से विभिन्न प्रकार के कार्बनिक यौगिकों के संश्लेषण में ग्रीनयार्ड अभिकर्मकों की उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है। इस विषय पर वैज्ञानिक साहित्य बहुत है और लगभग १५,००० अनुसंधान लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

[रा० च० मे०]

ग्रीनलैंड स्थिति ६६° उ० अ० तथा ४५°, ०′ प० दे०। उत्तरी अमरीका के उत्तर-पूर्व में एक द्वीप है जो डेनमार्क के अधीनस्थ एकमात्र उपनिवेश है। यह क्षेत्रफल (लगभग ८२,००० वर्ग मील) में आस्ट्रेलिया के बराबर है। शीत कटिबंध में स्थित ग्रीनलैंड एक ऐसा प्रदेश है जो आबाद है, लेकिन आबादी दक्षिणी समुद्री तट तक ही सीमित है जिसका क्षेत्रफल ४६,७४० वर्ग मील है। सन् १९५५ में इस द्वीप की आबादी २७,१०१ थी जिसमें से १,८६७ यूरोपियन थे। पश्चिमी ग्रीनलैंड की आबादी २४,६६०, पूर्वी की १,९८६ तथा उत्तरी ग्रीनलैंड की ४२५ थी।

खोज का इतिहास—ग्रीनलैंड की खोज १०वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में नार्समेन के द्वारा हुई थी, और उनके कुछ उपनिवेश बने थे, लेकिन वे थोड़े समय में ही नष्ट हो गए। उत्तरी-पश्चिमी जलमार्ग की खोज के संबंध में इस द्वीप की पुनः खोज हुई और जॉन डेविस की यात्राओं से सन् १५८५-८८ में द्वीप के पश्चिमी किनारे का पता चला। सन् १६०७ में हडसन ने पूर्वी किनारा भी देखा था। किंतु सन् १९०७ में यहाँ डेनिश सरकार की स्थापना हुई। सन् १८५२-१९०२ तक की विभिन्न यात्राओं से पश्चिमी तटीय प्रदेशों की खोज की गई तथा स्कोरेसबी नामक पिता पुत्र ने सन् १८१७-२२ तक पूर्वी तटीय भागों का ज्ञान प्राप्त किया। यह खोज बाद में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा सन् १९०७ तक जारी रही।

प्राकृतिक बनावट—यह द्वीप पठारी है जिसकी औसत ऊँचाई ३०००—६००० फुट और मध्य का अधिकतम ऊँचा भाग ५०००—१०००० फुट तक है। केवल तट के कुछ भागों को छोड़ कर संपूर्ण द्वीप हिम की लगभग १००० फुट मोटी तह से ढका है। भीतर का हिम विभिन्न ग्लेशियरों के द्वारा तटों तक आता है, जहाँ इनके द्वारा निर्मित बड़ी संख्या में फियोर्ड्स (fjords) हैं। स्कोर्सबी नामक फियोर्ड १६३ मील लंबा है। अन्य महत्वपूर्ण फियोर्ड फ्रैंज जोजेफ, किंग आस्कर गोथाब, उमीनाक, कब शेवन, पीटर मान, ऑसबार्न हैं। फियोर्ड्स के बीच सैकड़ों स्थानों पर हिम सीधे समुद्र में गिरता है।

हिमशैल—भीतर से आता हुआ हिम बड़ी बड़ी शिलाओं में टूट कर निकटवर्ती समुद्रों में सैकड़ों आइसबर्गों के रूप में बहने लगता है। इनमें से बहुत से जलधाराओं के साथ बहते हुए उत्तरी अमरीका के तट तक पहुंच जाते हैं। मेल्विल की खाड़ी में दस दस मील के और उससे भी बड़े हिमशैल देखे गए हैं जो जल के ऊपर ५०-२५० फुट तक दिखाई देते हैं।

जलवायु—(शीत जलवायु) संपूर्ण द्वीप में उत्तर से दक्षिण की ओर ताप का थोड़ा ही अंतर है। उत्तर में चार महीने सूर्य नहीं दिखाई देता है इसलिये जाड़ों में ताप का अंतर अधिक हो जाता है।

(i) ईविगतूत	(अ) ग्रीष्म	९° से०
	(ब) शीत	–६° से०
(ii) ऊपरनावीक	(अ) ग्रीष्म	३·४° से०
	(ब) शीत	–१५·५° से०
(iii) गॉटहॉप	(अ) ग्रीष्म	१° से०
	(ब) शीत	–११° से०
(iv) थैन्मगाड हारबर	(अ) ग्रीष्म	१·७° से०
	(ब) शीत	–३८° से०

जानवर—रेनडियर, सफेद खरगोश, आर्कटिक लोमड़ी, ध्रुवीय भालू तथा एरमीन प्रमुख जानवर हैं। इस द्वीप में ३५० प्रकार के जंगली फूल तथा ६०० प्रकार की काइयां पाई गई हैं।

खेती और व्यवसाय—शीत के कारण खेती सीमित क्षेत्रों में और साल के सीमित समय में होती है। फसलें गाजर, शलजम तथा सलाद प्रमुख है। प्राकृतिक घास पर चौपाए और भेड़ पालना प्रमुख व्यवसाय है। चमड़ा साफ करना, मछली का तेल निकालना अन्य व्यवसाय हैं।

ग्रीनलैंड में कोयले के संचित भंडार मिले हैं लेकिन व्यावसायिक दृष्टि से उनका महत्व अधिक नहीं है। ईविगतूत में क्रिओलाइट की खानें पाई गई हैं। सन् १९४८ में सीसे और जस्ते की खानें मिली हैं जो मेस्तरविग में स्थित हैं। सन् १९५८ में सीसे का उत्पादन ८४६० मीटरी टन था।

व्यापार—रायल ग्रीनलैंड कमीशन के निरीक्षण में सन् १७७४ से यहाँ व्यापार होने लगा। विदेशी न यहाँ बस सकते हैं और न यहाँ के निवासियों से व्यापारिक संबंध स्थापित कर सकते हैं। इस बड़े द्वीप को व्यापारिक प्रदेशों में बांट दिया गया है। सन् १९५८ में

(i) आयात (अ) डेनमार्क से (१००० क्रोनर में) ९९,१८४
(ब) अन्य देशों से (१००० क्रोनर में) ११,९१७
(ii) निर्यात (अ) डेनमार्क को (१००० क्रोनर में) २३,७१०
(ब) अन्य देशों से (१००० क्रोनर में) २६,३९६

धर्म, भाषा और शिक्षा—ग्रीनलैंड के निवासी क्रिश्चियन धर्म के डेनिश चर्च के मतावलंबी हैं, जो यहां के धार्मिक कार्यों और शिक्षा का प्रबंध करता है। एस्किमो यहाँ की प्रमुख भाषा है। पिछले साठ वर्षों में स्थानीय साहित्य प्रकाशित हुआ है।

शासन—ग्रीनलैंड पर डेनमार्क का पूरा अधिकार है। उत्तर तथा दक्षिण के भागों की दो अलग अलग इन्सपैक्टरेट हैं। ये व्यापार मिशन तथा एस्किमो लोगों के हितों को देखते है। एस्किमों लोगों की स्वयं म्युनिसिपल कौंसिल है। ५ जून, १९५३ को डेनमार्क में नया संविधान लागू हुआ जिसके अनुसार ग्रीनलैंड डेनिश राज्य का अंग हो गया। सन् १९४१ में अमरीकी सरकार ने हवाई अड्डा बनाने तथा सेना और नौसेना का केंद्र बनाने के लिये डेनमार्क सरकार से संधि की है।

[प्र० व०]

इतिहास—ग्रीनलैंड का इतिहास उत्तरी ध्रुव की खोज की कहानी से जुड़ा है। १०वीं शताब्दी के आरंभ में इस द्वीप के तटीय प्रदेशों पर बसकर ध्रुवीय क्षेत्र की यात्राएँ आरंभ कर दी गई थीं।

इसी समय नार्वे के गुनजर्न उल्फसन नामक व्यक्ति ने इस द्वीप का पता लगाया। आइसलैंडवासी एरिक ने इस द्वीप का नामकरण किया और उपनिवेश बसाने के विचार से कुछ लोगों के साथ दक्षिणी पश्चिमी तट पर बस गया। खोजों का क्रम १७वीं शताब्दी के अनेक यात्रियों द्वारा पूरा हुआ। किंतु यह खोज तटीय प्रदेशों तक सीमित थी। पहले पहल एजेड ने स्थलभाग की यात्रा कर उसके आदिवासियों का अध्ययन किया। इसके पश्चात् २०वीं शताब्दी के आरंभ तक अनेक व्यक्तियों ने इसी दृष्टि से यात्राएँ कीं। मिकिल्सन ने सर्वप्रथम उस प्रदेश के नक्शे तैयार किए। २०वीं शताब्दी में डेनमार्क वासी रासम्यूसेन (१९१०) और कोच की यात्राएँ उल्लेखनीय हैं।

अन्वेषण के इस क्रम में ग्रीनलैंड के आंतरिक बर्फीले प्रदेशों की खोज १८वीं शताब्दी तक असफल होती रही। फिर १८८३ से १९१३ तक लगातार आंतरिक प्रदेशों के विस्तृत क्षेत्रों की यात्राएँ की गईं। विमान द्वारा द्वीप की यात्राएँ १९३१ में सर्वप्रथम जर्मन ग्रोनाउ और अमरीकी पार्कर क्रेमर द्वारा की गईं।

इस अन्वेषण का उत्तरी अटलांटिक प्रदेश के जलवायु ज्ञान में बहुत योगदान है। ऋतुवेत्ताओं ने तत्संबंधी परीक्षण किए। द्वितीय विश्वयुद्ध में यहाँ मित्र राष्ट्रों ने सैन्य हितों के लिये ऋतुमापी केंद्र स्थापित किए थे। १९४४ में जांस्ट्रुप ने यहाँ के भूगर्भिक अनुसंधान की योजना बनाई। १९५१ में ग्रीनलैंड्स जियालाजिस्क अंड सोजेल्स (Greenlands Geologiske Sogelse) नामक स्थायी संस्था स्थापित हो गई।

उपनिवेशीकरण और राजनीतिक उन्नयन—सन् ९८६ में सर्वप्रथम एरिक वर्तमान जूलिएन हाब के उत्तर बसा। तत्पश्चात् शीघ्र ही जुलिएन हाब और गाडथाब आदि स्थान बसे। इस समय तक यहाँ की जनसंख्या लगभग ३,००० थी। सन् १,००० के लगभग लीफ एरिक्सन ने ईसाई धर्मप्रचार आरंभ किया। ११२६ तक यहाँ ईसाई धर्म फैल गया और पादरी ग्रीनलैंड के ही होने लगे।

१२६१ तक ग्रीनलैंड में प्रजातंत्र था। जनता नार्वे के सम्राट् द्वारा आश्रित थी। शनैः शनैः ग्रीनलैंड के संपूर्ण व्यापार पर नार्वे का एकाधिकार हो गया। इसके बाद का इतिहास अंधकारपूर्ण है। नार्स की खुदाई से १५वीं शताब्दी में वहाँ के रहन सहन पर यूरोप के स्पष्ट प्रभाव का पता चला है। उस समय को एस्किमो संस्कृति का कोई पता नहीं चलता।

१६वीं-१७वीं शताब्दी में डेन्मार्क ने नार्वे से संधि के संदर्भ में ग्रीनलैंड पर दृष्टि डाली और १७२१ में हांस एजेड के नेतृत्व में पुन: गाडथाब के निकट बस्ती बसी। प्रदेश की सारी आर्थिक स्थिति पर हांस एजेड को मिशनरी का आधिपत्य हो गया। किंतु यह असफल हुआ और डेन्मार्क को इसमें सहायता करनी पड़ी। कुछ काल तक ग्रीनलैंड के व्यापार पर व्यक्तिगत अधिकार रहे; किंतु १७७४ से उसपर राज्य का अधिकार हो गया, जो १९५१ तक रहा। इस काल में ग्रीनलैंडवासियों की सांस्कृतिक उन्नति भी हुई किंतु अनेक कारणों से ग्रीनलैंड का शेष संसार से संबंध समाप्त सा हो गया। इसका देश के व्यापार पर कुप्रभाव पड़ा। फिर भी देशवासियों ने उन्नति की। १८०५ से १९५० के बीच जनसंख्या वृद्धि और शिक्षाविस्तार के साथ संपूर्ण देश में ईसाई धर्म फैल गया।

डेनमार्क की सार्वभौमिकता—१८१४ में डेनमार्क और नार्वे की संधि भंग होने पर ग्रीनलैंड डेनमार्क के अधिकार में आ गया। १९४१ में जब जर्मनी ने डेनमार्क को अपने अधीन कर लिया तो ग्रीनलैंड की अस्थायी सुरक्षा का उत्तरदायित्व अमरीका ने लिया। उसी अवधि में अमरीका ने यहाँ अपने हवाई अड्डे आदि बनाए। द्वितीय विश्वयुद्ध में अमरीका ने युद्ध की बहुत सी कार्रवाइयों के लिये ग्रीनलैंड का उपयोग किया। युद्ध समाप्ति के पश्चात् भी अमरीका ने अपनी स्थिति वहाँ ज्यों की त्यों कायम रखी। २७ अप्रैल, १९५१ को अमरीका और डेनमार्क के मध्य कोपेनहेगेन में द्वीप की संयुक्त सुरक्षासंधि हुई जो 'नाटो' (नार्थ ऐटलांटिक ट्रीटी आर्गेनाइजेशन) के अंतर्गत थी। इस स्थिति में द्वीप पर अमरीका का भी हस्तक्षेप हो गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद डेनमार्क ने ग्रीनलैंड की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थितियों को सुदृढ़ करने के सतत् प्रयत्न किए।

शासन—डेनमार्क के १९५३ के संविधान के अनुसार ग्रीनलैंड का औपनिवेशिक स्तर समाप्त हो गया और वह डेनमार्क शासन का अविच्छिन्न अंग बन गया। द्वीप का विभाजन दो निर्वाचन क्षेत्रों में हुआ जिनसे निर्वाचित सदस्य डेनी संसद् में द्वीप का प्रतिनिधित्व करते हैं। डेनी प्रधान मंत्री के प्रशासन के अंतर्गत ग्रीनलैंड में गवर्नर नियुक्त रहता है। प्रशासन हेतु संपूर्ण द्वीप तीन भागों में विभक्त है। पूर्वी और उत्तरी भाग डेनी प्रधान मंत्री के सीधे नियंत्रण में है और पश्चिमी भाग का नियंत्रण द्वीप के निवासियों द्वारा चुनी हुई समिति द्वारा होता है। डेनी संसद् में प्रस्तुत होने के पूर्व प्रत्येक विधेयक का निर्णय इस समिति द्वारा होता है।

सामाजिक और आर्थिक दशा—सुदूर उत्तर से आनेवाले एस्किमो जो अब डेनी लोगों से मिल गए हैं, ग्रीनलैंड के नागरिक मान लिए गए हैं। १९५१ से डेनमार्क वासी वहाँ जाकर अधिक संख्या में बसे। सन् १९५८ में उसकी जनसंख्या ३८००० थी। ग्रीनलैंड वासी मुख्यतः एस्कीमो हैं जिनमें योरोपीय जातियों के रक्त का भी कुछ मिश्रण है।

सारी धार्मिक क्रियाएँ कोपेनहेगेन के बिशप के नेतृत्व में होती हैं। जनसंख्या के अनुसार शिक्षा का प्रसार भी उचित हुआ है। ग्रीनलैंड की भाषा राजकाज में प्रयुक्त होती है।

१९५१ में व्यापार का केंद्रीकरण और मूल्यनियंत्रण समाप्त हुआ। इससे ग्रीनलैंड के व्यापार को आर्थिक सहायता मिली। फिर भी विकासोन्मुख ग्रीनलैंड की आर्थिक स्थिति विशेष संतोषजनक नहीं है।

ग्रीस (यूनान) स्थिति : ३५° से ४१° ३०' उ० अ० तथा १९° ३०' से २७° पू० दे०; क्षेत्रफल—५१,१८२ वर्ग मील, जनसंख्या ८५,५५,००० (१९५८, अनुमानित) बालकन प्रायद्वीप के दक्षिणी भाग में बालकन राज्य का एक देश है जिसके उत्तर में अल्बानिया, युगोस्लाविया और बलगेरिया, पूर्व में तुर्की, दक्षिण-पश्चिम, दक्षिण और दक्षिण-पूर्व में क्रमशः आयोनियन सागर, भूमध्यसागर और ईजियन सागर स्थित हैं। यूनान को हेलास (Hellas) का राज्य कहते हैं।

ग्रीस की सबसे आकर्षक भौगोलिक विशेषता उसके पर्वतीय भाग, बहुत गहरी कटी फटी तटरेखा तथा द्वीपों की अधिकता है। पर्वतश्रेणियाँ इसके ३/४ क्षेत्र में फैली हुई हैं। पश्चिमी भाग में पिंडस पर्वत समुद्र और तटरेखा के समांतर लगातार फैला हुआ है। इसके विपरीत, पूर्व में पर्वतश्रेणियाँ समुद्र के साथ समकोण बनाती हुई चलती हैं। इस प्रकार की छिन्न भिन्न तटरेखा और यूरोप में एक अद्भुत झालरदार (Fringed) द्वीप का निर्माण करती हैं। सर्वप्रमुख बंदरगाह इसी झालरदार द्वीप पर स्थित हैं और समीपवर्ती ईजियन समुद्र लगभग २,००० द्वीपों से भरा हुआ है। ये एशिया और यूरोप के बीच में सीढ़ी के पत्थर का काम करते हैं। देश का कोई भी भाग समुद्र से ८० मील से अधिक दूर नहीं है। इस देश में थ्रेस, मेसेडोनिया और थेसाली केवल तीन विस्तृत मैदान हैं।

ग्रीस की जलवायु इसके विस्तार के विचार से असाधारण रूप से भिन्न है। इसके प्रधान कारण ऊँचाई में विभिन्नता, देश की लंबी आकृति और बालकन तथा भूमध्यसागरीय हवाओं की उपस्थिति है। समुद्रतटीय भागों में भूमध्यसागरी जलवायु पाई जाती है जिसकी विशेषता लंबी, उष्ण तथा शुष्क गर्मियां और वर्षायुक्त ठंडी जाड़े की ऋतुएँ हैं। थेसाली, मैसेडोनिया तथा थ्रेस के मैदानों की जलवायु महाद्वीपीय है, जहां दक्षिण की अपेक्षा पर्याप्त एवं समान वितरित वर्षा, जाड़े की ऋतु ठंडी तथा गर्मियां अधिक उष्ण होती हैं। अल्पाइन पर्वत पर तीसरा जलवायु खंड पाया जाता है।

यूनान को पाँच प्राकृतिक विभागों—१. थ्रेस और मैसेडोनिया, २. ईपीरस, ३. थेसाली, ४. मध्य ग्रीस और ५. द्वीपसमूह में बाँटा जा सकता है।

१. थ्रेस और मैसेडोनिया—उत्तरी भाग पूर्णतया पर्वतीय है। वारदर, स्ट्रूमा, नेस्टास और मेरिक प्रमुख नदियां हैं। इनके मुहानों के समीप विस्तृत मैदान हैं जिनमें खाद्यान्नों, तंबाकू और फलों की खेती होती है। इस प्रदेश में एलेक्जैंड्रोपोलिस, कावला तथा सालोनिका प्रमुख बंदरगाह हैं।

२. ईपीरस—अधिकांश भाग पर्वतीय तथा विषम है। इसलिये कुछ सड़कों को छोड़कर यातायात का अन्य कोई साधन नहीं है। पर्वतीय लोगों का मुख्य उद्यम भेड़ पालना है। छोटे छोटे मैदानों में कुछ फसलें, विशेषतया मक्का, पैदा की जाती हैं।

३. मैसेडोनिया की ही तरह थेसाली के मैदान अत्यंत उपजाऊ हैं जहां ग्रीस के किसी भी भाग की अपेक्षा व्यापक पैमाने पर खेती की जाती है। मुख्य फसलें गेहूँ, मक्का, जौ और कपास हैं। लारिसा यहां का मुख्य नगर तथा वोलास मुख्य बंदरगाह है।

४. मध्य ग्रीस में थेब्स (थेवाई), लेबादी और लामियां के मैदानों के अतिरिक्त पथरीली और विषम भूमि के भी क्षेत्र हैं। मैदानों में मुनक्का, नारंगी, खजूर, अंजीर, जैतून, अंगूर, नीबू और मक्का की उपज होती है। पथरीली और विषम भूमि के क्षेत्र में खाल और ऊन प्राप्त होता है।

इसी खंड में राष्ट्रीय राजधानी एथेन्स ग्रीस का प्रमुख बंदरगाह एवं औद्योगिक नगर पिरोस आते हैं।

५. द्वीपसमूह, इनमें मुख्यतः आयोनियन, ईजियन, यूबोआ, साइक्लेड्स तथा क्रीट द्वीप उल्लेख्य हैं। क्रीट इनमें सबसे बड़ा द्वीप है, जिसकी लंबाई १६० मील तथा चौड़ाई ३५ मील है। सन् १९५१ में इसकी जनसंख्या ४,६१,३०० थी तथा इसमें दो प्रमुख नगर, कैंडिया और कैनिया, स्थित हैं।

आयोनियन द्वीप बहुत ही घने बसे हुए हैं। सभी द्वीपों में कुछ शराब, जैतून का तेल, अंगूर, चकोतरा तथा तरकारियां पैदा होती हैं। यहां के अधिकांश निवासी मछुए, नाविक या स्पंज गोताखोर के रूप में जीविकोपार्जन करते हैं।

जनसंख्या—१९५१ ई० में यहां की जनसंख्या ७६,०२,००० थी जो १८२१ ई० (स्वतंत्रताप्राप्ति के समय) की दसगुनी थी, जबकि इस काल में देश का क्षेत्रफल तिगुने से भी कम बढ़ा। इस प्रकार प्रति वर्ग मील घनत्व ४१ व्यक्ति (१८२६) से बढ़कर १४६ व्यक्ति (१९५१) हो गया।

जनसंख्यावृद्धि मुख्यतः रूस, बलगेरिया तथा टर्की से बहुत अधिक शरणार्थियों के आ जाने से हुई। इन देशों से १९२८ ई० के जनगणनानुसार क्रमशः ५८,५२६; ४९,०२७ तथा ११,०४,२१६ व्यक्ति आए। इनसे उस समय ग्रीस की जनसंख्या २५% बढ़ गई।

भूमि की कमी के साथ जनसंख्या के घनत्व ने लोगों को १८वीं और १९वीं शताब्दी में समीपवर्ती देशों—रूस, रूमानिया, हंगरी तथा मिस्र में जाकर बसने के लिये बाध्य किया। १९वीं शताब्दी के अंत में ४,६०,००० से भी अधिक यूनानी संयुक्त राज्य अमरीका में भी जाकर बस गए।

१९४० ई० के जनगणनानुसार ग्रीस की मुख्य भाषाएँ ग्रीक, तुर्की, स्लाव (मैसेडोनिया की) स्पेनी तथा अल्बानी आदि थीं और मुख्य धर्म समूह कट्टरपंथी ग्रीक, मुस्लिम, ज्यू, रोमन कैथोलिक, आर्मेनियन और प्रोटेस्टेंट के थे।

प्राकृतिक संपत्ति—खनिज : ग्रीस में पर्याप्त खनिज संपत्ति है लेकिन व्यवस्थित रूप में अनुसंधान न होने से इस प्राकृतिक धन का उपयोग नहीं हो पाता है। खनिज पदार्थों के विकासार्थ संयुक्तराष्ट्र द्वारा गठित उपसमिति (unrra) की सिफारिश (१९४७) के आधार पर १९५१ ई० में एथेन्स के उपधरातलीय अन्वेषण केंद्र ने १/५००,००० अनुमाप पर ग्रीस के भूगर्भीय मानचित्र का निर्माण कार्य प्रारंभ किया।

यहां के मुख्य खनिज लौह धातु, बाक्साइट, आयरन पाइराइट (Iron Pyrite), कुरुन पत्थर, बेराइट। सीस, जस्ता, मैगनेसाइट, गंधक, मैंगनीज, ऐंटीमनी और लिगनाइट हैं। १९५१ ई० में संयुक्त राष्ट्र आयोग की खोज से यह पता चला कि मेसिना जाते, कर्दिस्ता, त्रिकाला और थ्रेस के क्षेत्रों में खोदे जाने योग्य तेल के भंडार हैं।

जलशक्ति—इसका भी पर्याप्त विकास नहीं हो सका है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के आहार और कृषि संगठन (F. A. O.) की सूचना (मार्च, १९४७) के अनुसार जलविद्युत् की क्षमता ८,००,००० किलोवाट और ५,००, ००, ००,००० किलोवाट घंटा प्रति वर्ष थी जबकि विश्वयुद्ध के पूर्व केवल २२,००,००,००० किलोवाट घंटा विद्युत् तैयार की जाती थी और तापविद्युत्यंत्रों के लिये कीमती ईंधन आयात किया जाता था। ग्रीस की अनियंत्रित नदियों से कटाव, बाढ़ तथा रेत की समस्या से छुटकारा पाने के लिये नदीघाटी योजनाओं द्वारा इन्हें नियंत्रित कर शक्ति एवं कृषि के लिये अतिरिक्त भूमि प्राप्त की जा रही है। इन योजनाओं में आगरा (मैसेडोनिया), लेदन नदी (पेलोपानीसस), लौरास नदी (ईपीरस), और अलीवेरियन (यूबोआ) मुख्य हैं।

प्राकृतिक वनस्पति एवं पशु—यूनान की वनस्पति को चार खंडों में विभाजित किया जा सकता है :

१. समुद्रतल से १५०० फुट तक इस क्षेत्र में तंबाकू, कपास, नारंगी जैतून, खजूर, बादाम, अंगूर, अंजीर और अनार पाए जाते हैं तथा नदियों के किनारे लारेल, मेहँदी, गोंद, करवीर, सरो एवं सफेद चिनार के वृक्ष पाए जाते हैं।

२. दूसरे क्षेत्र में (१५००′–३५००′) पर्वतीय ढालों पर बलूत, (Oak) अखरोट और चीड़ के वृक्ष पाए जाते हैं। चीड़ से रेजिन निकाल के कर उसका उपयोग तारपीन का तेल बनाने तथा ग्रीस की प्रसिद्ध शराब रेट्जिना (Retsina) को स्वादिष्ट बनाने के लिये होता है।

३. तृतीय खंड में (३५००′–५५००′) विशेषकर बीच (Beech) पाया जाता है। ऊँचाई पर फर और निचले भागों में चीड़ के वृक्ष मिलते हैं।

४. अल्पाइन क्षेत्र में ५,५००′ से अधिक ऊँचाई पर छोटे छोटे पौधे —लाइकन और काई—मिलते हैं। बसंत ऋतु में रंग बिरंगे जंगली फूल पहाड़ी भागों को सुशोभित करते हैं।

जंगली जानवरों में भालू, सुअर, लिङ्क्स, बेजर, गीदड़, लोमड़ी, जंगली बिल्ली तथा नेवला आदि हैं। पिक्ष श्रेणी में हरिण तथा पर्वतीय

क्षेत्रों में मेंढिए मिलते हैं। यहाँ नाना प्रकार के पक्षी, जिनमें गिद्ध, बाज, मयूर, बुलबुल तथा बतख मुख्य हैं, पाए जाते हैं।

कृषि—कुल क्षेत्र का केवल ¼ भाग कृषियोग्य है। प्रति व्यक्ति कृषि-क्षेत्र (०.७४ एकड़) तथा प्रति एकड़ उत्पादन (१३.५ बुशल) दोनों यूरोपीय देशों में सबसे कम हैं। उत्पादन की कमी के मुख्य कारण अपर्याप्त वर्षा, अनुपजाऊ भूमि, बहुत चरे हुए चरागाह तथा पुरानी कृषि प्रणालियाँ हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले प्रति दिन प्रति व्यक्ति २५०० कैलॉरी (Calorie) भोजन की मात्रा प्राप्त होती थी, जबकि अधिक उन्नत देशों में यह मात्रा ३००० से ३२०० तक है। यूनानियों के आहार में मांस तथा दुग्ध पदार्थों का उपभोग बहुत ही कम रहा है। अधिकांश कृषक पहले अपने ही परिवार के लिये भोजन पैदा करते थे। अभी तक पर्वतीय क्षेत्रों तथा छोटे द्वीपों के कृषक आत्मनिर्भर हैं। अब अधिकांश भागों में विशेष कृषि होती है और एक ही फसल पैदा की जाती है।

कृषि योग्य भूमि के ७४% भाग में खाद्यान्नों और राई, गेहूँ, मक्का, जौ, जई का उत्पादन होता है। १९५१ ई० में इनका उत्पादन १३,६०,००० मीटरी टन (अनुमानित) रहा। थोड़ी मात्रा में दाल, सोयाबीन, ब्राडबीन (Broad beans) और चिक पी (Chick peas) पैदा होती हैं और आवश्यकतानुसार इन्हें विदेशों से आयात करते हैं। आलू की पूर्ति देश से ही हो जाती है। ग्रीस की व्यावसायिक फसलें तंबाकू और कपास हैं, जिनका उत्पादन १९५१ ई० में क्रमशः ६२,००० तथा ८१,०० मीटरी टन रहा। यहाँ का कपास उच्च कोटि का है तथा उद्योग के विकास के साथ इसका उत्पादन भी बढ़ता जा रहा है।

फलों का उत्पादन २६% कृषि क्षेत्र में होता है और इनसे ३६% कृषिआय प्राप्त होती है। इनमें जैतून के बगीचे सर्वप्रमुख हैं। खाने योग्य जैतून एवं जैतून के तेल का उत्पादन १९५१ ई० में क्रमशः ८१,००० तथा १,४०,००० मीटर टन (अनुमानित) रहा। इनका निर्यात पर्याप्त मात्रा में होता है। अन्य फल मुख्यतः चकोतरा, नाशपाती, सेब, खुबानी, बादाम, पिस्ता, अखरोट, अंगूर, तथा काष्ठफल आदि हैं।

पशुपालन ग्रीस की कृषिव्यवस्था की एक प्रमुख शाखा है। यहाँ प्रत्येक गाँव में पशुपालन होता है। सन् १९५५ में यहाँ ८९,३०,००० भेड़ें और ६,५७,००० पशु थे।

उद्योग धंधे—कोयला, बिजली, तथा पूँजी की कमी के कारण ग्रीस के उद्योगों का विकास बहुत ही मंद रहा। निर्माण उद्योगों में, जो कृषि पदार्थों पर ही आधारित है, केवल ८% जनसंख्या लगी हुई है। इन उद्योगों में वस्त्र, रसायनक और भोज्य पदार्थ मुख्य है। अन्य निर्मित माल में जैतून के तेल, शराब, कालीन, आटा, सिगरेट, उर्वरक और भवन-निर्माण सामग्री हैं। औद्योगिक विकास एथेन्स तथा सालोनिका के आसपास है। ईडेसा सूती वस्त्र निर्माण का प्रमुख केंद्र है।

विदेशी व्यापार—यहाँ से निर्यात की जानेवाली प्रमुख कृषि वस्तुएँ तंबाकू, मुनक्का, रेजिन, जैतून, जैतून का तेल, अंगूर तथा शराब हैं। मुनक्का का निर्यात १९३७ ई० के १५% से बढ़कर १९५१ ई० में ३२% हो गया। ग्रीस के प्रमुख ग्राहक पश्चिम जर्मनी, संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन, आस्ट्रिया, इटली, फ्रांस तथा मिस्र हैं। आयात की वस्तुओं में तैयार माल, भोजन तथा कच्चे माल हैं, जिनकी पूर्ति मुख्यतया संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन, पश्चिम जर्मनी, इटली, बेल्जियम और लक्सेमबर्ग द्वारा होती है। सन् १९५१ के अंतरराष्ट्रीय व्यापार में आयात की मात्रा ८१% थी।

यातायात—यातायात के साधन मुख्यतः जलयान, रेलें तथा सड़कें हैं। यहाँ १९५६ में (१०० टन तथा ऊपर के) ३४७ व्यापारिक जहाज थे जिनकी क्षमता १३,०७,३३६ टन थी। १९५५ ई० में रेलमार्गों की लंबाई १६७८ मील तथा १९५३ ई० में कुल सड़कों की लंबाई १४,२२१ मील थी। द्वितीय विश्वयुद्ध काल में ग्रीस की यातायात व्यवस्था को अप्रत्याशित हानि उठानी पड़ी लेकिन संयुक्त राज्य की सहायता द्वारा सन् १९५० तक इन्हें पूर्णतया ठीक कर लिया गया।

शिक्षा—यहाँ सात वर्ष से लेकर १४ वर्ष तक प्रारंभिक शिक्षा अनिवार्य है। सन् १९५४ में प्रारंभिक पाठशालाएँ ९,३६८, उच्चतर माध्यमिक विद्यालय ४२५, तथा दो विश्वविद्यालय · एथेन्स एवं सालोनिका में—थे। इनके अतिरिक्त एथेन्स में कई प्राविधिक तथा विदेशी विद्यालय हैं। सन् १९५१ में यहाँ २३·५% निरक्षरता थी।

[रा० प्र० सि०]

ग्रीस : प्रागैतिहासिक सभ्यता—ग्रीस की मुख्य भूमि और उसके द्वीप लगभग ४००० वर्ष ईसा पूर्व बस चुके थे। ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी तक ईजियाई सभ्यता और संस्कृति में प्रचुर उन्नति हुई। उसका केंद्र क्रीट की मिनोई सभ्यता थी जहाँ से लोगों के मिस्र और एशिया माइनर से संबंध सुगम थे। लगभग १७वीं शताब्दी ई० पू० में बाल्कन क्षेत्र की ओर से ग्रीस और पेलोपोनेसस् पर आक्रमण हुए। सभी आक्रमणकारी जातियाँ—एकियाई, आर्कडी, इयोलियन, अपोली और आयोनी—ग्रीक भाषाओं से परिचित थीं। ई० पू० १५०० वर्ष तक मिनोई प्रभाव में एकियाई जाति ने ग्रीस में सभ्यता का विकास किया। माइसीनी युग, हीरो युग और होमर युग भी इस काल के नाम हैं। कहा जाता है कि ट्रोजन युद्ध, जिसकी कथा को लेकर होमर ने अपने विश्वप्रसिद्ध काव्य 'इलियड और ओडेसी' लिखे, एकियाई तथा अन्य ग्रीसवासियों के बीच ई० पू० १२वीं शती में लड़ा गया था। ई० पू० ११०० में डोरियाई जाति ने ग्रीस पर आक्रमण कर पुरानी सभ्यता नष्ट कर दी और अपना केंद्र पेलोपोनेसस् बनाया। एकियाई लोगों में से कुछ उत्तरी पश्चिमी यूरोप की ओर भागे, कुछ ने दासवृत्ति अपना ली। आयोनी और अपोली, ईजियाई द्वीपसमूह और एशिया माइनर की ओर चले गए। ई० पू० १००० तक संपूर्ण ईजियाई क्षेत्र में ग्रीक भाषी लोग बस चुके थे।

हेलेनिक राज्य—१०००-४९९ ई० पू० में मुख्य रूप से ग्रीक नगर-राज्यों की स्थापना हुई और जातिभेद चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। प्रारंभिक हेलेनिक राज्यों का शासन राजाओं द्वारा होता था। शनैः शनैः राजतंत्र कुलीनतंत्र में परिवर्तित हुआ। कुलीनतंत्र में राजनीतिक समानता प्रायः नहीं थी। लगभग ६५० ई० पू० में सामाजिक और राजनीतिक संघर्षों ने इस कुलीन तंत्र को उखाड़ फेंका और अधिनायकवादी शासन की स्थापना हुई। केवल स्पार्टा में ही कुलीन तंत्र बच सका। कुछ अधिनायकवादी शासकों ने अवश्य ही कला, साहित्य, व्यापार और उद्योग की उन्नति की, किंतु जब अधिनायकवाद जनपीड़न की स्थिति में पहुँचा तो उसका भी अस्तित्व ई० पू० ५०० तक मिट गया। ई० पू० ७५०-५०० तक व्यापारिक और राजनीतिक कारणों से इटली तथा सिसली के कई भागों में ग्रीकों ने उपनिवेश बसाए। इनके उपनिवेश व्यापार के प्रसार की दृष्टि से स्पेन और फ्रांस तक भी फैले। कुछ दिन तक ग्रीकों का प्रसार मिस्र की ओर रुका रहकर, किन्तु लगभग ७वीं शताब्दी ई० पू० में व्यापार की समस्या से सुगम हो गया। वहाँ ग्रीकों ने 'नाक्रेतिस' नगर बसाया। इसके बाद थ्रेस आदि अनेक स्थानों पर उपनिवेश बने।

ये उपनिवेश अपने मुख्य राज्य से केवल भावात्मक संबंध रखते हुए, राजनीतिक रूप से स्वतंत्र थे। केवल कुछ, जैसे एपिडाम्नस, पेलोपोनिया, अंब्रासिया आदि कोरिंथ के उपनिवेश, राजनीतिक रूप से स्वतंत्र नहीं थे। सिराक्यूज और बैजेंटियम अत्यंत संपन्न उपनिवेशों में थे। सामान्य धार्मिक भावना के कारण इन सारे उपनिवेशों में एकता कायम रही। डेल्फी में अपोलो ग्रीकों का मुख्य धार्मिक केंद्र था। वस्तुतः ७वीं और ६ठीं शती ई० पू० का काल सांस्कृतिक विकास और बौद्धिक जागरण का काल था।

स्पार्टा—५०० ई० पू० तक स्पार्टा और एथेंस ग्रीस के दो बड़े नगरराज्य बने। स्पार्टा का शासन प्राचीन परिपाटीवाले कुलीनों के हाथ में था। एथेंस के शासक मध्यवर्गीय और प्रजातांत्रिक थे। ई० पू० ७वीं शताब्दी तक स्पार्टा में संस्कृति, काव्य और कला की प्रचुर उन्नति हुई, किंतु वहाँ की शासनपद्धति अत्यंत कठोर थी। शिशु के उत्पन्न होते ही, राज्य उसे अपने संरक्षण में ले लेता था और उसे युद्ध की शिक्षा दी जाती थी। लाइकर्गस स्पार्टा का संविधान निर्माता था। शासनसूत्र के संचालन के लिये दो सदन होते थे, जिनके अध्यक्ष दो राजा होते थे। अंतिम निर्णय का अधिकार निम्न सदन को था। पाँच न्यायाधीशों द्वारा कार्यकारिणी समिति, न्याय और अनुशासन का संचालन होता था। वे राजाओं की गतिविधि पर भी नियंत्रण रखते थे। सैनिक शक्ति द्वारा स्पार्टा ने पेलोपोनेसस् के संपूर्ण नगर अपने अधिकार में कर लिए और पेलोपोनेशियाई संघ के नेता के रूप में इस नगर ने अधिकृत नगरराज्यों को भी कुलीन तंत्र स्वीकार करने को बाध्य किया।

एथेंस—ई० पू० ६८३ में एथेंस से राजतंत्र का समूलोच्छेदन हुआ। 'सोलन पिसिस्ट्राटस' ने कुछ सीमा तक जनमत का संमान किया, इसके बाद इसागोरस (अभिजाततंत्रवादी) और क्लेइस्थेनीज (जनतंत्रवादी) के नेतृत्व में संघर्ष के बाद जनतांत्रिक पद्धति की विजय हुई। स्पार्टा ने एथेंस के प्रजातंत्र को उखाड़ फेंकने के अनेक प्रयत्न किए, किंतु एथेंस ज्यों का त्यों रहा। (दे० एथेंस)

४९९-३३८ ई० पू० में फारस से युद्ध, एथेनी साम्राज्य का उत्थान, पेलोपोनेशियाई युद्ध और नगरराज्यों में परस्पर संघर्ष आदि प्रमुख घटनाएँ हुईं। ग्रीस के कई नगरराज्यों ने इस स्थिति में अपना स्थान बहुत प्रभावशाली बना लिया।

फारस से युद्ध—एशिया माइनर और कुछ द्वीपों के नगर लीडिया के सम्राट् क्रिसस के प्रभाव में आ गए थे। वह हेलेनिक संस्कृति का पोषक और एक उदार शासक था। उसने नगरवासियों को आर्थिक और बौद्धिक उन्नति में योग दिया। ५४६ ई० पू० में फारस के तत्कालीन सम्राट साइरस ने क्रिसस के अधिकार से सारे ग्रीक नगर छीन लिए। ५१२ ई० पू० में उसका उत्तराधिकारी दारायुश (Darius) एशिया माइनर के अन्य नगरों को जीतता हुआ ग्रीस के निकट तक चढ़ आया। लेकिन एरिट्रीया और एटिका (अत्तिका) को जीतने के पश्चात् एथेंस की सेना से मराथन के युद्ध में पराजित हुआ।

लगभग ४८० ई० पू० में पारसी सम्राट् जरक्सीज ने पुन. ग्रीस पर आक्रमण किया। (दे० 'ईरान का इतिहास।') एथेंस, स्पार्टा और पेलोपोनेशियाई संघ के संयुक्त प्रतिरोध के बावजूद भी ग्रीस हार गया। किंतु ग्रीस की जलसेना से फारस की सेनाओं को पीछे लौटने को बाध्य किया। एक वर्ष पश्चात् ४७९ ई० पू० में ग्रीकों ने प्रत्याक्रमणकर फारस की सारी सेनाओं को पीछे खदेड़ दिया। यह युद्ध दीर्घकाल तक चलता रहा। इसकी समाप्ति चतुर्थ शती ई० पू० में सिकंदर की फारस पर विजय के साथ हुई।

एथेनी राज्य—इस समय तक एथेंस नगर ग्रीक सभ्यता का केंद्र बन चुका था। आयोनी ग्रीकों ने स्पार्टा के अधिकार से मुक्त होकर एथेंस का नेतृत्व स्वीकार किया। ४६१ ई० पू० में पेरिक्लीज ने जनतंत्र को बढ़ावा दिया। किंतु यह जनतंत्र भी मूल यूनानी जनता के लिये सीमित था। शेष लोग दासों की कोटि में रखे जाते थे। पेरिक्लीज के नेतृत्वकाल में एथेंस की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो गई।

पेलोपोनेशियाई युद्ध—स्पार्टा और एथेंस के विचारों में बहुत भेद था। एथेंस मूलतः व्यापारिक शक्तिसंचय की प्रवृत्तिवाला उपनिवेशवादी-साम्राज्यवादी राज्य था और स्पार्टा ग्रीस के सभी नगरराज्यों का राजनीतिक नेतृत्व चाहता था। फलतः नेतृत्व के लिये इन दोनों तथा इनसे संबंधित नगरराज्यों में युद्ध छिड़ गया। युद्ध १० वर्ष से भी अधिक समय तक चला। दोनों ओर धन जन की अपार हानि हुई। ४२१ ई० पू० में कुछ काल के लिये शांतिसंधि हुई, किंतु तीन वर्ष बाद दोनों पक्षों में पुनः युद्ध हुआ। इस बार एथेंस की भयंकर पराजय हुई, यहाँ तक कि उसका अस्तित्व भी महत्वहीन हो गया। कोरिंथ और थीबीज जैसे नगरराज्य स्पार्टा से मिल गए। कुछ समय बाद स्पार्टा की नीति से क्षुब्ध होकर कोरिंथ, थीबीज, और आर्गोस ने एथेंस से मिलकर स्पार्टा के विरुद्ध संधि की। किंतु स्पार्टा के फारस से संधि करने के फलस्वरूप एथेंस की संधि भंग हो गई और एशिया माइनर के ग्रीक नगर फारस के अधिकार में चले गए। ३७१ ई० पू० में स्पार्टा ने थीबीज के विरुद्ध युद्ध छेड़ा, किंतु उसमें स्पार्टा की हार हुई, और उसका नेतृत्व ग्रीक इतिहास से मिट गया। अब थीबीज की शक्ति बढ़ने लगी थी। उसने भी अन्य नगरों के प्रति कठोर नीति से काम लिया। इस बार स्पार्टा और एथेंस के बीच संधि हुई। ३६२ ई० पू० के बाद थीबीज का महत्व समाप्त सा हो गया।

ग्रीस की संस्कृति—युद्ध और अशांति के वातावरण में भी ई० पू० ५वीं शताब्दी में एथेंस के नेतृत्व में ग्रीस में कला और साहित्य की प्रशंसनीय उन्नति हुई। पार्थेनान, प्रोलिया और हेफिस्टस के मंदिर आदि समृद्ध वास्तुकला के उत्कृष्ट नमूने उसी युग में प्रस्तुत हुए। (दे० 'ललित कला, 'यूनानी वास्तुकला') फिदियस, मिरन, और पॉलीक्लिट्स आदि प्रसिद्ध वास्तुकलाकार थे। चिकित्साजगत् में हिपाक्रिटस के अन्वेषणों ने अनेक चिकित्साशास्त्रियों का मार्गदर्शन कराया। हिरैक्लिटस, एंपिडाक्लीज और डिमाक्रिटस (डिमोक्रितस) आदि दार्शनिकों ने तत्वचिंतन में महत्वपूर्ण योग दिया। शताब्दी के अंत में विश्व के महान् दार्शनिक सुकरात का जन्म हुआ। क्रांतिकारी विचारों के कारण एथेंसवालों ने उन्हें ३९९ ई० पू० में विष दे दिया (दे० 'सुकरात')। हिरोडोटस को इतिहास का पिता कहा जाता है। थ्युसीदाइदीज दूसरा महान् इतिहासकार था, उसने पेलोपोनेशियाई युद्ध का विस्तृत वृत्तांत प्रामाणिक रूप से लिखा। एस्किलस, सोफोक्लीज, यूरीपिदीज और अरिस्तोफेनीज के दुःखांत और सुखांत नाटक इसी समय लिखे गए (दे० 'ग्रीक भाषा और साहित्य')। पिंडार और बकाइलिडीज ने राष्ट्रनायकों की प्रशस्ति में काव्यग्रंथ लिखे। इस युग में एथेंस निःसंदेह ग्रीस में कला और साहित्य का नेता था।

दासप्रथा—प्राचीन ग्रीस के इतिहास में, मुख्यतः एथेंस के इतिहास में दासप्रथा उल्लेखनीय है। इस संदर्भ में प्रजातांत्रिक पद्धति और दूसरी शासनपद्धतियों में विशेष भेद नहीं था। वर्तमान राजनीतिक सिद्धांत में

'श्रम के महत्व' को मुख्य स्थान प्राप्त है। प्राचीन सिद्धान्तों में 'श्रम' राजनीतिक अधिकारों की अयोग्यता का परिचायक था। कुछ काल तक तो हस्तकलाविदों को भी दासों की कोटि में रखा गया था। फिर भी अन्य राज्यों की अपेक्षा एथेंस में दासों की स्थिति अच्छी थी। एथेंस में इनके प्रति कुछ न्याय भी था (दे० 'दास और दासप्रथा')

मकदूनिया का उत्थान—इसी समय उत्तर ग्रीस में मकदूनिया नाम का एक शक्तिशाली राज्य उभर रहा था। ई०पू० ३५६ में फिलिप वहाँ का सम्राट् हुआ (दे० फिलिप द्वितीय)। अन्य ग्रीकी नगरराज्यों से मकदूनिया विजयी हुआ। कोरिंथ और थीबीज सैनिक अड्डे बन गए। फिलिपकी हत्या के बाद उसका पुत्र सिकंदर महान् मकदूनिया का सम्राट् हुआ।

सिकंदर और हेलेनी राज्यों का अभ्युदय (३३८-१४५ ई० पू०)—सिकंदर ने सारे बिखरे हुए ग्रीस को अपने झंडे के नीचे एकत्र कर लिया (दे० 'सिकंदर।') वह अन्य राज्यों को जीतता हुआ पंजाब (भारत) आकर लौट गया। ३२३ ई० पू० में बैबिलोन (बाबुल) में उसकी मृत्यु हुई। वह संपूर्ण विश्व में एक राज्य और एक संस्कृति देखने का इच्छुक था। पर सिकंदर की मृत्यु पर उसका विस्तृत साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। संघर्षों की लंबी शृंखला में तीन शक्तिशाली हेलेनी राज्य—एंटीगोनस् के नेतृत्व में मकदूनिया, सेल्यूकिदों के नेतृत्व में एशिया माइनर तथा सीरिया और तोल्मियों के नेतृत्व में मिस्र उदित हुए। ई० पू० दूसरी शताब्दी में रोम की शक्ति बहुत बढ़ चुकी थी। तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व में एपिरस के सम्राट् पाइरस ने रोमनों के विरुद्ध इटली पर आक्रमण किया। मकदूनिया के सम्राट् फिलिप ने इस युद्ध में हस्तक्षेप किया था। इस घटना को प्रथम मकदूनियाई युद्ध कहा जाता है। द्वितीय मकदूनियाई युद्ध (२०१-१९७ ई० पू०) में फिलिप की पराजय हुई। ग्रीस के अन्य राज्य रोमनों ने फिलिप के अधिकार से मुक्त करवा दिए। ई० पू० १९२ से १८९ तक स्थिति बदल गई। इतालियों और रोमनों के बीच युद्ध में फिलिप ने रोमनों का साथ दिया। किंतु परिस्थितियाँ इस प्रकार उत्पन्न होती गई कि मकदूनिया ने दो युद्ध और लड़े। ई० पू० १४६ में यह रोम से भी पराजित हुआ। रोम ने सारे ग्रीस को केंद्रित कर मकदूनिया में शासक नियुक्त किया।

रोमन काल—(१४६ ई० पू०) रोम ने ग्रीस और मकदूनिया पर आधिपत्य के साथ सिकंदर द्वारा विजित पूर्वी प्रदेशों पर भी अधिकार जमा लिया। एथेंस में कला और संस्कृति की उन्नति रोमनों के काल में ज्यों की त्यों रही। जस्तिनियन ने एथेंस के बौद्धिक उन्नयन में हस्तक्षेप कर सिकंदरिया को दार्शनिक शिक्षाओं का केंद्र बनाया। इससे रोम ने भी ग्रीस की कला और संस्कृति से बहुत कुछ लिया। कुस्तुंतुनिया राजधानी बनी। थिओडोसियस की मृत्यु के पश्चात् पूरा साम्राज्य दो भागों में बँटा। पश्चिमी ग्रीस के पतन (१७६) के पश्चात् पूर्वार्ध भाग बैजंटाइन साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। किंतु जब मुसलमानों ने कुस्तुंतुनिया पर अधिकार किया तो यह राज्य भी समाप्त हो गया।

बैजंटाइन साम्राज्य—यह राज्य नौकरशाही से प्रारंभ हुआ। इस साम्राज्य का पूरा इतिहास, अपनी रक्षा के लिये बाल्कन, दक्षिणी इटली और एशिया माइनर से हुए युद्धों का इतिहास है। विजीगोथिक, गाथिक (दे० गोथ) और बल्गेरियन जातियों के भी आक्रमण हुए। सम्राट् जस्तिनियन ने उस भूमि को पुन: प्राप्त करने का प्रयत्न किया। आगे चलकर धार्मिक मतभेदों के कारण सन् ८०० में, जबकि चार्लमैन रोम का सम्राट् हुआ, कुस्तुंतुनिया और रोम अलग अलग हो गए (दे० रोम का इतिहास)। ११वीं शताब्दी के अंत में सम्राट् निकेफोरस फोकास द्वितीय और जोन जिमिसेस ने राज्य को किसी प्रकार बचाने की चेष्टा की (दे० 'बैजंटाइन साम्राज्य)।' इसके बाद सेलजुक तुर्कों के आक्रमणों ने राज्य को अतिशय शक्तिहीन बना दिया। १३वीं शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी के प्रारंभ तक इस साम्राज्य में बड़ी उथल पुथल हुई। अंत में आटोमन (उस्मानी) तुर्कों ने १४५३ में कुस्तुंतुनिया पर अधिकार कर लिया। शनै: शनै: संपूर्ण ग्रीस पर उनका अधिकार हो गया (दे० 'तुर्क)।'

आधुनिक ग्रीस—फ्रांस की क्रांति और तुर्क शासन के क्रमिक पतन आदि की घटनाओं से और अन्य देशों में बसे ग्रीकी लोगों की समृद्धि से ग्रीस के नेताओं में तुर्कों से अपने देश को मुक्त कराने की इच्छा जगी। रूस, ब्रिटेन और फ्रांस के उत्साहित करने पर वहाँ की जनता ने तुर्कों के विरुद्ध सन् १८२१ से १८२९ तक संघर्ष कर ग्रीस को एक स्वतंत्र राष्ट्र बना लिया। बवारिया का राजकुमार आथो सन् १८३२ में ओटो प्रथम के नाम से सम्राट् बनाया गया। दो वर्ष पश्चात् एथेंस नगर देश की राजधानी बना। सम्राट् ओटो की व्यक्तिगत नीतियों से क्षुब्ध होकर वहाँ की जनता ने सन् १८४३ में उसके विरुद्ध आंदोलन करके संसदीय परंपरा कायम की। २० मार्च, १८४४ को जनतंत्रवादी ग्रीस का पहला संविधान बना। इसमें सम्राट् पद की पूर्णतया समाप्ति नहीं थी। डेनमार्क का राजकुमार विलियम जार्ज १८६३ में ओटो का उत्तराधिकारी हुआ। दूसरी बार के बने संविधान में सारी राजनीतिक शक्ति सम्राट् के हाथ से निकलकर जन प्रतिनिधियों के हाथ में केंद्रित हो गई। १८६९ में ब्रिटिश सरकार ने आयोनी द्वीपों को भी ग्रीस राज्य में मान लिया। १८९७ में ग्रीस, क्रीट पर आधिपत्य जमाने के लोभ में टर्की से पराजित हुआ। कुछ बड़ी शक्तियों के हस्तक्षेप से क्रीट स्वायत्त शासन की इकाई बना और टर्की का आधिपत्य समाप्त हो गया। कुछ सैन्य अधिकारियों के ग्रीस की साम्राज्यवृद्धि की नीति के विरुद्ध विद्रोह को तत्कालीन प्रधान मंत्री एलूथीरियस बेनीजेलास ने कुशलता से दबा दिया।

प्रथम विश्वयुद्ध में ग्रीस तटस्थ रहा। सम्राट् अलेक्जेंडर की मृत्यु (१९२०) के बाद संसदीय निर्वाचन में बेनीजेलास दल की हार हुई। १९२२ में सम्राट् कांस्टैंटिन ने एशिया माइनर के अल्पसंख्यक ग्रीक नगरों को मुक्त कराने के लिये टर्की के विरुद्ध युद्ध किया, किंतु पराजित हुआ। बाद में परस्पर नगरों की अदला बदली हो गई। बेनीजेलास दल के आंदोलन से १९२४ से १९३५ तक जनतंत्र कायम रहा किंतु १९३५ में पुन: राजशाही की विजय हुई। १९३६ में जनतांत्रिक पद्धति का समूलोच्छेदन हुआ और वाक्स्वातंत्र्य, जनसभाओं और राजनीतिक संगठनों पर रोक लगा दी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय यहाँ भी राष्ट्रीय समाजवादी जर्मनी की तरह अधिनायकवाद था। दोनों विश्वयुद्धों के बीच ग्रीस बाल्कन राष्ट्रों में सहयोग के लिये सक्रिय था। १९३० में पहला बाल्कन संमेलन एथेंस में हुआ। १९४० में इटली को युद्धसंबंधी सुविधा न प्रदान करने पर इटली ने ग्रीस पर आक्रमण कर दिया। प्रारंभिक असफलताओं के बाद ग्रीस ने इटालियन सेनाओं को अल्बानिया में खदेड़ दिया और लगभग २०,००० सैनिक बंदी बना लिए। ग्रेट ब्रिटेन ने उसे अल्बानिया छोड़कर हट जाने के लिये बाध्य किया। जर्मनी ने ब्रिटेन और ग्रीस का संबंध देखकर ग्रीस को रौंद डाला और दो सप्ताह में क्रीट पर भी जर्मनी का झंडा फहरा गया (दे० 'विश्वयुद्ध द्वितीय')

सन् १९४१ और उसके बाद ग्रीस में अनेक छोटे बड़े राजनीतिक संगठन हुए। इनमें बहुतों के पास कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं था ब्रिटिश प्रतिनिधियों के साथ १९४३ में राजनीतिक दलों के

नेताओं ने तय किया कि स्वस्थ जनमत तैयार होने के पूर्व तक सत्ता के अधिकार के लिये सम्राट् की नियुक्ति होनी चाहिए। राजनीतिक संगठनों ने सम्राट् को अपना सहयोग दिया। किंतु आगे चलकर इन दोनों में सत्ता के लिये संघर्ष हुआ। संघर्ष के लंबे काल में ब्रिटिश सेनाओं को हस्तक्षेप करना पड़ा। शक्तिशाली दल 'नेशनल लिबरेशन फ्रंट' का भी प्रभाव बहुत क्षीण हो गया। फिर भी संघर्ष कम नहीं हुए। एथेंस में रक्तरंजित क्रांति हुई। अंततोगत्वा सोफोलिस के निर्देशन में सारे केंद्रीय गुटों की संमिलित सरकार बनी। मार्च, १९४६ में आम चुनाव हुए, संसद् में अनुदार दल का बहुमत हुआ। सम्राट् जार्ज द्वितीय की मृत्यु पर उसका भाई पाल प्रथम शासनाध्यक्ष हुआ। वह बहुत अंशों तक प्रभावशाली सिद्ध हुआ, यहाँ तक कि कुछ उदारदलीय भी उसके पक्ष में संमिलित हो गए। तत्कालीन ग्रीक सरकार के विरुद्ध १९४७ में गृहयुद्ध छिड़ा। विद्रोही जनता सरकार का संगठन जनरल मारकोस वाफिया दीस की अध्यक्षता में चाहती थी। इनको अलबानिया, युगोस्लाविया और बल्गेरिया से सहायता मिलती थी। मार्च, १९४८ में यह विद्रोह दबाया जा सका, किंतु इससे धन जन की अपार क्षति हुई।

इस समय ग्रीस में औद्योगिक प्रगति कुछ अंशों में हुई, किंतु राजनीतिक और सामाजिक स्थिति निराशापूर्ण रही। सितंबर, १९४७ से नवंबर, १९४९ तक दस सरकारें बदलीं। पैपागस के नेतृत्व में रैली दल के बहुमत में आने पर कुछ जन अधिकारों में वृद्धि हुई और राजनीति में स्थिरता आई। संयुक्त राज्य अमरीका की सहायता में न्यूनता की गई। फिर भी देश की अच्छी आर्थिक और सामाजिक प्रगति हुई। इसकी अंतरराष्ट्रीय स्थिति भी अच्छी हुई। रूसी गुट से निकलने के बाद यूगोस्लाविया से उसके संबंध अच्छे हुए। १९५२ में टर्की के साथ ग्रीस नाटो (नॉर्थ एटलांटिक ट्रीटी आर्गेनाइजेशन) का सदस्य हुआ। फरवरी, १९५३ में यूगोस्लाविया टर्की और ग्रीस में पारस्परिक सहयोग और सुरक्षा की संधि हुई। १९५२ में ग्रीस और बल्गेरिया के बीच सीमाविवाद हुआ, किंतु ग्रीस ने अपनी आंतरिक राजनीति में साम्यवाद को कभी पनपने नहीं दिया। १९५४ में एथेंस और साइप्रस में ब्रिटिश हस्तक्षेप के विरुद्ध विद्रोह भड़का। अंत में, ब्रिटिश हस्तक्षेप का मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ में विचारार्थ पेश किया गया। १९५९ में लंदन-ज्यूरिख समझौते के अनुसार साइप्रस समस्या के प्रस्ताव द्वारा तुर्की और ग्रीस के संबंधों में स्थिरता आई। नवंबर, १९६२ में ग्रीस योरोपीय संमिलित बाजार में शामिल हुआ।

[बा० त्रि०]

ग्रे, टामस (१७१६–१७७१) १८वीं शताब्दी के अंग्रेजी कवियों में जिन्होंने पोप और उनकी क्लासिकी परंपरा के विरुद्ध कविता के क्षेत्र में रोमांटिक तत्व को प्रश्रय और महत्व दिया, टामस ग्रे का विशिष्ट स्थान है। ईटन में प्रारंभिक शिक्षा समाप्त करने के बाद ये केंब्रिज आ गए और वहाँ कानून का अध्ययन किया। लेकिन उन्होंने एकनिष्ठ भाव से साहित्य की सेवा का निश्चय कर लिया था और अपने मित्र होरेस वालपोल के साथ सन् १७३९ से १७४१ तक फ्रांस, इटली, वेल्स और स्काटलैंड की यात्रा की। इनकी अधिकांश कविताएँ मृत्यु से २० साल पहले ही लिखी जा चुकी थीं। सर्वाधिक प्रसिद्ध कविता 'एलेजी रिटेन इन एकंट्री चर्चयार्ड' सन् १७४७ में लिखी गई थी, इसका प्रकाशन तीन साल बाद, सन् १७५० में, हुआ। सन् १७५७ में इनको लारिएटशिप मिली जिसे इन्होंने अस्वीकार कर दिया। सन् १७६८ में ये केंब्रिज विश्वविद्यालय में इतिहास के प्रोफेसर हुए। मृत्यु के बाद इनका शव स्टोक पोगजेस नामक गाँव की कब्रगाह में इनकी माँ की कब्र की बगल में। दफनाया गया। इसी कब्रगाह में इन्होंने प्रसिद्ध एलेजी की रचना की थी।

टामस ग्रे अध्ययनशील और विद्वान् कवि थे। अधिकांश समय पढ़ने में ही लगाने के कारण ये अधिक नहीं लिख पाए। लेकिन जो कुछ भी इन्होंने लिखा वह कला की दृष्टि से उत्कृष्ट है। इनकी कविता भाव और भाषा दोनों की चुस्ती है। जो शब्द जहाँ है, वह वहाँ के लिये अनिवार्य प्रतीत होता है। ऐसा ज्ञात होता है कि कवि ने शब्दों का चयन बड़े ध्यान से किया है। ऐसी रचनाओं में किसी न किसी अंश में कृत्रिमता का दोष आना स्वाभाविक है लेकिन ग्रे की कविताओं में भाव की सच्ची अभिव्यक्ति है।

अलेक्जंडर पोप तथा क्लासिकी परंपरा के अन्य कवियों का ध्यान पूर्णतया नगरों के जीवन पर ही केंद्रीभूत था। शहर के सभ्य और सुसंस्कृत वातावरण में रहनेवाले स्त्रीपुरुषों के कार्यकलापों तक ही कविता का क्षेत्र सीमित रह गया था। प्रकृति के लिये वहाँ कोई स्थान नहीं था। ग्रामीण जीवन को ये कवि हेय दृष्टि से देखते थे। नदी, पर्वत, जंगल आदि सौंदर्य का नहीं बल्कि भय का भाव उत्पन्न करते थे। अंग्रेजी कविता में इस प्रवृत्ति के विरुद्ध आवाज उठने लगी और टामस ग्रे ने अपने युग के कई अन्य कवियों के साथ प्रकृतिवर्णन को फिर से प्रतिष्ठित किया। इनकी प्रकृति संबंधी कविताओं की एक विशेषता यह है कि सभी वर्णित दृश्य यथार्थ का आभास देते हैं। कोरी कल्पना का सहारा कहीं भी नहीं लिया गया है।

अंग्रेजी कविता में रोमांटिक तत्व एक अन्य प्रकार से भी आया। १८वीं शताब्दी की क्लासिकी कविता में भावतत्व का सर्वथा अभाव था। बुद्धि की ही सर्वत्र प्रधानता थी। कवि के लिये सभी प्रकार की भावुकता से बचना आवश्यक समझा जाता था। ग्रे की कविता में तीव्र विषाद की अभिव्यक्ति है। इनके समकालीन कुछ अन्य कवियों में भी हमें विषाद की झलक मिलती है। इस प्रकार कविता धीरे धीरे बुद्धिप्रधान न रहकर भावप्रधान होती गई। 'दि फैटल सिस्टर्स' और 'दि डीसेंट आॅव ओडिन' जैसी कविताओं में मध्ययुगीन विश्वासों पर आधारित विलक्षण और चमत्कारी तत्वों का समावेश है। क्लासिकी परंपरा का बुद्धिवादी कवि ऐसे तत्वों को साहित्य के लिये बिलकुल अनुपयुक्त समझता था। कविता में इनके आ जाने से उसे कल्पना का सहारा मिल गया।

[तु० ना० सिं०]

ग्रेट बेयर झील स्थिति : ६५° से ६७° उ० अ० तथा ११७° से १२३° प० दे०। कनाडा के उत्तर-पश्चिम मध्यवर्ती प्रदेश के मैकेंजी जिले में एक स्वच्छ जल की झील है। इसका क्षेत्रफल १२,००० वर्ग मील; लंबाई, २०० मील; चौड़ाई २५ से १०० मील तथा गहराई २७० फुट है। इस झील से लगभग १०० मील लंबी ग्रेट बेयर नदी निकलकर पश्चिम की ओर बहती हुई मैकेंजी नदी में मिलती है। झील का आकार बहुत ही असम है। वर्ष में लगभग आठ मास तक हिमाच्छादित रहती है। सर जॉन फ्रैंकलिन ने १८२५ ई० में इसका पता लगाया। इसमें विभिन्न प्रकार की मछलियाँ मिलती हैं। किनारे लगे जंगलों से पशुओं का शिकार करके उनके रोओं का व्यापार किया जाता है।

परमाणुशक्ति के वैज्ञानिक अध्ययन से इस झील तथा निकटवर्ती क्षेत्र की महत्ता बढ़ गई है। यहाँ पर पिचब्लेंड नामक खनिज मिला (१९२९ ई०) है जिसमें यूरेनियम तथा रेडियम धातुएँ पाई जाती हैं। झील के समीप चाँदी भी मिलती है।

[न० ला०]

ग्रेट बैरियर रीफ क्वींसलैंड (आस्ट्रेलिया) के उत्तरी-पूर्वी तट के समांतर बनी हुई, विश्व की यह सबसे बड़ी मूँगे की दीवार है। इस दीवार की लंबाई लगभग १,२०० मील तथा चौड़ाई १० मील से ६० मील तक है। यह कई स्थानों पर खंडित है। इसका अधिकांश भाग जलमग्न है, परंतु कहीं कहीं जल के बाहर भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। महाद्वीपीय तट से इसकी दूरी १० से १५० मील तक है। समुद्री तूफान के समय अनेक पोत इससे टक्कर खाकर ध्वस्त हो जाते हैं। फिर भी, यह पोतचालकों के लिये विशेष सहायक है, क्योंकि दीवार के भीतर की जलधारा इस बृहत् शैलभित्ति (reef) द्वारा सुरक्षित रहकर तटगामी पोतों के लिये अति मूल्यवान् परिवहन मार्ग बनाती है तथा पोत इसमें से गुजरने पर खुले समुद्री तूफानों से बचे रहते हैं। महाद्वीपीय तट तथा अवरोधी शैल भित्ति (barrier reef) के बीच का क्षेत्र (८०,००० वर्ग मील) पर्यटकों के लिये अत्यंत आकर्षक स्थल है।

[न० ला०]

ग्रेट ब्रिटेन यूरोप महाद्वीप के उत्तर-पश्चिम स्थित यह बृहत् द्वीप है जिसमें स्कॉटलैंड, वेल्स तथा इंग्लैंड संमिलित हैं। १२८२ ई० में इंग्लैंड ने वेल्स पर विजय प्राप्त की तथा १७०७ ई० में स्कॉटलैंड विधानतः इंग्लैंड में मिला लिया गया। इन संयुक्त राज्यों का नाम तभी से (१७०७ ई०) ग्रेट ब्रिटेन पड़ गया। ग्रेट ब्रिटेन प्राचीन रोमन "ब्रिटैनिया मेजर" शब्द का अनुवाद है (देखें आयरलैंड, इंग्लैंड, स्कॉटलैंड)।

[न० ला०]

ग्रेट विक्टोरिया मरुस्थल पश्चिमी आस्ट्रेलिया के दक्षिणी-पूर्वी तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया के पश्चिमी भागों में लगभग ५०० मील तक पूर्व से पश्चिम को फैला हुआ एक बृहत् मरुस्थल है। इसकी औसत ऊँचाई ५०० से १,००० फुट है। इसकी ढाल दक्षिण में नलाबर मैदान की ओर पड़ती है। यहाँ पर बालू के टीलों का बाहुल्य है। इसका क्षेत्रफल १,५०,००० वर्ग मील से अधिक है। चूँकि यह उत्तर में गिब्सन मरुस्थल में मिल जाता है, इसलिये इसकी सीमा ठीक रूप से निश्चित नहीं हो पाती है। यह मरुस्थल उत्तर में मुसग्रेव श्रेणी तथा दक्षिण में नलाबर मैदान के मध्य में स्थित है। कुछ स्थानों में यह मरुस्थल आस्ट्रेलिया के दक्षिणी तटों से २० मील से अधिक दूरी पर नहीं है। इस मरुस्थल के मध्य में खारे पानी की अनेक छोटी छोटी झीलें पाई जाती हैं।

[न० ला०]

ग्रेट साल्ट झील स्थिति : ४०° ४२′ से ४१° ४८′ उ० अ० तथा ११८° ४८′ से ११३° १२′ प० दे०। उटाह (संयुक्त राज्य अमरीका) के उत्तर-पश्चिम भाग में क्षारीय जल की एक झील है। इसकी संभावित लंबाई ७० मील; चौड़ाई ३० मील; औसत गहराई लगभग १० फुट; अधिकतम गहराई ३५ फुट; समुद्रतल से संभावित औसत ऊँचाई ४,१९९ फुट, और संभावित क्षेत्रफल १,७०० वर्ग मील है। इस झील से किसी भी नदी का निकास नहीं होता। जार्डन, वीबर तथा बियर नदियाँ इसमें गिरती हैं। १९५० ई० में इसकी क्षारीयता २५ प्रति शत थी। अनुमानतः झील के पानी में लगभग ६०० करोड़ टन नमक, मुख्यतः सोडियम क्लोराइड तथा सोडियम सल्फेट, मिला हुआ है। अतः क्षारीयता की अधिकता से वनस्पति तथा जीवों की कमी है। मुख्य उद्यम नमक साफ करना है। प्रति वर्ष लगभग ८० हजार टन नमक तैयार होता है। यह अभिनूतन (Pleistocene) बोनेविल झील का अवशेष अंश है।

[न० ला०]

ग्रेट सेंट बर्नार्ड स्विस आल्प्स का ८,१११ फुट (समुद्रतल से) ऊँचा दर्रा है। इसके पूर्व में माउंट वेलन तथा पश्चिम में प्वाइंट डि ड्रोनाज पर्वतश्रेणियाँ हैं। इसका पता रोमवालों को ५७ ई० पू० में ही लग गया था। एक सैनिक राजमार्ग की स्थापना ७६ ई० में हो गई थी जिसके अवशेष अब भी मिलते हैं। इस दर्रे के सिरे पर रोम-राज्यकाल का बना हुआ जूपिटर पोनिनस का एक देवालय है जो १८९०–९३ ई० की खोदाई में प्राप्त हुआ है। इसकी चोटी पर सन् ९६२ ई० में मेंथान के सेंट बर्नार्ड ने एक विश्रामगृह बनवाया था जिसमें आजकल प्राचीन वस्तुओं का एक अति सुंदर संग्रहालय है।

[न० ला०]

ग्रेनविल, जार्ज (१७१२–१७७०) १७८१ से मृत्यु पर्यंत वह ब्रिटिश संसद के सदस्य रहे। जार्ज तृतीय ने इन्हें प्रधान मंत्री के पद पर नियुक्त किया। ग्रेनविल ने पुरातन औपनिवेशिक पद्धति को कठोर कर दिया। १७६५ में उन्होंने मुद्रांक अधिनियम (स्टांप ऐक्ट) पास किया तथा मुद्रांकों से अर्जित आय ब्रिटिश राजकोश में संगृहीत होने लगी। इन प्रत्यक्ष कर के आरोपण से अमेरिका में तूफान उठ खड़ा हुआ और उपनिवेशों की सभा में ब्रिटेन की कठोर नीति का उन्होंने विरोध किया। ग्रेनविल ने तर्क किया कि ब्रिटिश संसद प्रभुतासंपन्न है, अतः कर लगाना सर्वप्रभुत्व का द्योतक है। निःसंदेह कानून ग्रेनविल के साथ था किंतु उन परिस्थितियों में कर लगाना व्यवहारबुद्धि की कमी का परिचायक है। १७६५ में जार्ज तृतीय ने इनकी वाचालता से त्रस्त होकर, इन्हें प्रधान मंत्री पद को त्यागने के लिये बाध्य किया।

[शु० ते०]

ग्रेनविल, विलियम विंढम (१७५९-१८३४) यह जार्ज ग्रेनविल के पुत्र थे। यह विदेशी नीति के अच्छे ज्ञाता थे। संसद् के विभिन्न पदों पर काम करने का इन्हें अवसर मिला, परंतु इन्होंने मंत्रिमंडल की स्थापना के आग्रह को अस्वीकार कर दिया, केवल एक बार इन्होंने संयुक्त मंत्रिमंडल स्थापित किया जिसने १८०७ में दासप्रथा उन्मूलन का विधेयक पास कराकर इन्होंने इस मंत्रिमंडल का नाम उज्वल किया। रोमन कैथोलिक धर्मावलंबियों के विरुद्ध जिस कठोर नीति का आलंबन किया जा रहा था उसका प्रतिकार इन्होंने आजीवन किया तथा उनकी मुक्ति के लिये प्रयत्नशील रहे। इन्होंने अंग्रेजी साहित्य की सेवा की। यह अपनी उदारवादिता एवं कार्यक्षमता के लिये प्रसिद्ध हैं।

[शु० ते०]

ग्रेशम का सिद्धांत सुप्रसिद्ध व्यापारिक संस्थान मरसर के संचालकमंडल के तत्कालीन सदस्य हेनरी अष्टम कालीन ब्रिटिश सरकार के आर्थिक सलाहकार, महारानी एलिजाबेथ के प्रथम मुद्रानियंता तथा ब्रिटिश रायल एक्सचेंज के आदि संस्थापक सर थोमस ग्रेशम (सन् १५१९-१५७९) इस विशिष्ट आर्थिक सिद्धांत (सन् १५६०) के उद्भावक माने जाते हैं। यद्यपि यह सिद्धांत उनसे बहुत प्राचीन है, फिर भी तत्कालीन मौद्रिक स्थिति के आधिकारिक गंभीर अध्ययन एवं सूक्ष्म विश्लेषण के द्वारा इन्होंने अपने इस मत की सर्वप्रथम स्थापना की इसलिये उनके नाम पर यह सिद्धांत प्रचलित हुआ।

सर थोमस ग्रेशम के शब्दों में इस सिद्धांत का हिंदी रूपांतर इस प्रकार है : यदि एक ही धातु के सिक्के एक ही अंकित मूल्य के किंतु विभिन्न तौल एवं धात्विक गुणधर्म के एक साथ ही प्रचलन में रहते हैं, बुरा सिक्का अच्छे सिक्के को प्रचलन से निकाल बाहर करता है पर अच्छा कभी भी बुरे को प्रचलन से निकाल बाहर नहीं कर सकता। इस सिद्धांत का वर्तमान संशोधित स्वरूप निम्नलिखित है : यदि सभी परिस्थितियाँ यथावत् रहें तो बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को प्रचलन से निकाल बाहर करती है।

सामान्यतया एक धातुमान में कम घिसे सिक्के, द्विधातु एवं बहु धातुमान में धात्विक दृष्टि से अपेक्षाकृत मूल्यवान्, कागजी मान में परिवर्त्य मुद्रा और धात्विक एवं कागजी सहमान में बाजार की दृष्टि से आंतरिक या धात्विक दृष्टि से मूल्यवान् तथा सममूल्य की होते हुए भी नवीन तथा कलात्मक मुद्रा अच्छी समझी जाती है।

अच्छी मुद्रा संग्रह के लिये अधिक उपयुक्त होने, धातु के रूप में विक्रय द्वारा विशेष लाभार्जन के निमित्त देशविदेश में चोरबाजारों के लिये अधिक उपयुक्त होने तथा बुरी मुद्रा की बुराइयों के कारण अपने पास न रखने की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के कारण अपने मूल कार्य क्रयविक्रय के साधन में प्रयुक्त होने की अपेक्षा उपर्युक्त कार्यों के लिये प्रचलन से बाहर कर दी जाती है।

इस सिद्धांत के प्रयोग की सीमा का निर्धारण मुद्रा की माँग, मुद्रा के प्रति विश्वास, मौद्रिक विधान तथा साख व्यवस्था द्वारा होता है। इन दृष्टियों से यदि मुद्रा की पूर्ति माँग से अधिक न हो, बुरी मुद्रा इतनी बुरी न हो गई हो कि उसपर से जनता का विश्वास ही उठ गया हो तथा उसका प्रचलन विधानसंमत होते हुए भी अग्राह्य हो गया हो, और जब प्रचलन में कोई भी मुद्रा प्रामाणिक नहीं रहती या एक असीमित और अन्य मुद्राएँ सीमित विधिग्राह्य होती हैं तथा साख व्यवस्था यदि ऐसी रहती है कि किसी मुद्रा के प्रचलन से बाहर जाने पर भी मूल्यस्तर प्रभावित नहीं होता तथा मुद्राबाजार का सुव्यवस्थित नियंत्रण रहता है तो यह सिद्धांत लागू नहीं हो पाता।

[सु० पां०]

ग्रैंड कूली यह संयुक्त राज्य अमरीका में ५२ मील लंबी, १॥ से लेकर ५ मील तक चौड़ी तथा कहीं कहीं १,००० फुट तक गहरी कोलंबिया नदी की घाटी है। इसकी रचना हिमयुग में ही एक प्रवाह के क्रमशः कटाव द्वारा हुई है। यह घाटी नदीस्तर से ५०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। इसके दोनों सिरों पर १०० फुट लंबा बाँध बाँधकर एक संतुलित जलाशय की स्थापना की गई है। यह जलाशय २७ मील लंबा है तथा २७,००० एकड़ भूमि को घेरे हुए ११,५०,००० एकड़ फुट जल की क्षमता रखता है। इसके समीप ही विश्व का सबसे बड़ा ठोस बाँध, ग्रैंड कूली डैम, ४,१७३ फुट लंबा तथा ५५० फुट ऊँचा बना है जिससे सिंचाई तथा शक्तिसाधन की सुविधा प्राप्त है।

[न० ला०]

ग्रैंड कैनियन उत्तर-पश्चिम अरिजोना (संयुक्त राज्य अमरीका) के ऊँचे पठारी भाग में कोलोरैडो नदी द्वारा काटा गया यह गहन संकीर्ण पर्वतीय मार्ग (गॉर्ज) है। इसकी लंबाई २१७ मील, चौड़ाई ४ से लेकर १८ मील तथा गहराई कहीं कहीं १ मील से भी ऊपर है। भूगर्भवेत्ताओं के अनुसार इसकी रचना प्रागैतिहासिक काल में नदी के कटाव द्वारा हुई है। इसकी दीवारों में लाखों वर्ष प्राचीन चट्टानों की पर्तें मिलती हैं। यह शिल्पकारी प्रकृति का अति रोचक उदाहरण है। इसके उत्तरी तथा दक्षिणी किनारों में पर्याप्त अंतर मिलता है। उत्तरी किनारा, १ हजार से लेकर २ हजार फुट तक ऊँचा है और ठंडे प्रदेश में पड़ता है जिसमें स्प्रूस, देवदार तथा फर के घने जंगल मिलते हैं। ठंडी ऋतु तथा गहन हिमपात के फलस्वरूप उत्तरी किनारा वर्ष में १५ अक्टूबर से १५ मई तक दर्शकों के लिये बंद रहता है। इसके विपरीत दक्षिणी किनारा वर्ष भर खुला रहता है। यहाँ पर १,००८ वर्ग मील का एक प्रमदवन भी है।

[न० ला०]

ग्रैंड जौरियस दक्षिणी स्विटजरलैंड के पेनाइन आल्प्स में इस नाम की दो श्रेणियाँ हैं। उच्चतर श्रेणी १३,८०६ फुट है तथा यह मॉट ब्लैंक पर्वत के उत्तर-पूर्व में स्थित है।

[रा० प्र० सि०]

ग्रैंड रैपिड्स स्थिति : ४२° ५८′ उ० अ० तथा ८५° ४१′ प० दे०। केंट, मिशिगन, संयुक्त राज्य अमरीका, का एक नगर तथा राजधानी है। ग्रैंड नदी के दोनों किनारों पर बसा हुआ यह नगर मिशिगन झील से ३० मील पूर्व तथा डिट्रायट नगर से १४७ मील उत्तर-पश्चिम पड़ता है। यहाँ पर यातायात के आधुनिक साधन उपलब्ध हैं। यह अमरीका की फर्निचर राजधानी कहलाता है। यहाँ पर फर्निचर के लगभग ८० कारखाने हैं तथा वार्षिक उत्पादन भी पर्याप्त है। फर्निचर के अतिरिक्त मोटर के भाग, मशीनें, रेफ्रिजरेटर तथा अन्य विभिन्न प्रकार की व्यापारिक वस्तुएँ बनती हैं। यहाँ पर ५७ प्रमदवन, खेल कूद के अनेक मैदान तथा मनोरंजनस्थल हैं। यहाँ की प्रमुख संस्थाएँ टी० बी० आरोग्याश्रम, सिटी चिकित्सालय, सेंट मेरी चिकित्सालय, बटरवर्थ चिकित्सालय तथा सेंट जॉन अनाथालय हैं। जनसंख्या १,७६,५१५ (१९५०)।

[न० ला०]

ग्रैंपियंस स्काटलैंड की मुख्य पर्वतश्रेणी है जो अनेक छोटी छोटी श्रृंखलाओं को मिलाकर बनी है। यह श्रेणी दक्षिण पश्चिम से उत्तर-पूर्व की ओर १५० मील तक फैली है। मुख्य शिखर बेन नेविस ४,४०६ फुट, बेन क्रुआचान (Ben Cruachan) ३,६८८ फुट, बेन लोमंड (Ben Lomond) ३,१९२ फुट, बेन लावर ३,९८४ फुट तथा बेन मेकडूई (Ben Macdhui) ४,२९६ फुट हैं। मुख्य नदियाँ टे (Tay), फोर्थ (Forth), स्पे (Spay), एस्क (Esk), डोन (Don) तथा डी (Dee) हैं। उत्तरी प्रदेश निर्जन तथा असम है, दक्षिण में ढाल साधारण है, अनेक स्थलों पर घास के मैदान हैं। मुख्य चट्टानें ग्रेनाइट, नाइस (Gneiss) शिस्ट (Schist), क्वार्टजाइट (Quartzite) तथा डायोराइट (Diorite) की हैं। तीन रेलमार्ग इस पर्वत को पार करते हैं। इस पर्वत का नाम मांस ग्रूपियस नामक उस पर्वत पर आधृत है जहाँ रोमन एग्रिकोला ने ८४ ई० में कैलिडोनियनों को हराया था।

[न० ला०]

ग्रेनाइट (Granite, कणाश्म) शब्द का सर्वप्रथम उपयोग प्राचीन इटालियन संग्रहकर्ताओं ने किया था। रोम के शिल्पकार फ्लेमिनियस वेका के एक वर्णन में इसका प्रथम संदर्भ मिलता है। ग्रेनाइट मणिभीय दानेदार शिला है, जिसके प्रमुख अवयव स्फटिक (quartz) और फेल्स्पार (feldspar) हैं। फेल्स्पार साधारणतः पोटाश किस्म का ऑर्थोक्लेस और माइक्रोक्लाइन, (Orthoclase and Microcline) होता है, अथवा सोडियम किस्म का प्लेजियोक्लेज (Plagioclase),

ऐल्बाइट (Albite) या औलिगोक्लेस (Oligoclase)। स्फटिक साधारणतया वर्णरहित रूप में ही रहता है, पर कभी कभी कुछ नीली आभा रहती है, जिससे ग्रेनाइट का रंग कुछ नीलापन लिए होता है। इसमें अभ्रक, मस्कोवाइट (Muscovite) और बायोटाइट (Biotite) भी अल्प मात्रा में रहते हैं। ग्रेनाइट में मैगनिटाइट (Magnetite), ऐपैटाइट (Apatite), ज़रकन (Zircon) तथा स्फीन (Sphene) भी बड़े सूक्ष्म मणिभों के रूप में रहते हैं। किसी किसी नमूने में हॉर्नब्लेंड (Hornblende), गार्नेट (Garnet) और तुरमली (Tourmaline) भी पाए गए हैं। इन खनिजों की उपस्थिति के कारण ऐसे ग्रेनाइटों को क्रमशः हॉर्नब्लेंड ग्रेनाइट, मस्कोवाइट ग्रेनाइट और बायोटाइट ग्रेनाइट भी कहते हैं।

ग्रेनाइट अनेक रंगों का पाया जाता है। पोटाश ग्रेनाइट गुलाबी या लाल रंग का होता है तथा चूना ग्रेनाइट धूसर या श्वेत रंग का। ग्रेनाइट का विशिष्ट घनत्व २.५१ से २.७३ तक होता है।

ग्रेनाइट के उद्भव के संबंध में वैज्ञानिक एकमत नहीं हैं। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि इसका उद्भव, द्रव पत्थरों या मैग्मा (Magma) के धीरे धीरे ठंढा होकर ठोस बनने से हुआ है। इनमें से कुछ इसका निर्माण ग्रेनाइट मैग्मा से और कुछ बैसाल्टीय मैग्मा से मानते हैं। कुछ वैज्ञानिकों का यह विचार है कि पूर्वस्थित शिलाओं के ग्रेनाइट बनाने वाले निर्गमों (emanations) की प्रवरण (selective) क्रिया से, अथवा ग्रेनाइट बनानेवाले अभिकर्मकों द्वारा, जिनको सेडेरहोम (Sederholmn) ने आयकरी नाम दिया है, ग्रेनाइट बने हैं।

ग्रेनाइट पृथ्वी के प्रत्येक भाग में पाया जाता है। भारत में भी यह प्रचुरता से मिलता है। मैसूर, उत्तर आरकट, मद्रास, राजपूताना, सलेम, बुंदेलखंड और सिंहभूमि में पर्याप्त प्राप्त होता है। हिमालय प्रदेशों में भी ग्रेनाइट शिलाएँ विद्यमान हैं।

[रा० चं० मि०]

ग्रैनाडा (नगर) स्थिति : ३७° ११' उ० अ० तथा ३° ३५' प० दे०; जनसंख्या १,६१,३६३ (१९५५)। स्पेन के ग्रैनाडा राज्य की राजधानी, सियरा नेवादा (Sierra Nevada) पर्वत के पाश्र्भाग में गेनिल नदी के किनारे समुद्रतल से २,१९५ फुट की ऊँचाई पर मैड्रिड-ग्रैनाडा-अलजीसीराज रेलमार्ग पर मैड्रिड से २२५ मील दक्षिण में स्थित है। यह नगर उपजाऊ कृषिक्षेत्र में पड़ता है तथा उद्योग और व्यापार का केंद्र है जहाँ चीनी चुकंदर, वस्त्र, शराब, रसायनक, साबुन, कागज, पटसन, जैतून का तेल, ट्रंक, कंबल, हैट, जूता, वाष्पशील तेल, ताँबा, लोहा, कसीदाकारी की वस्तुओं आदि का उत्पादन होता है। यहाँ रेशम के कीड़े भी पाले जाते हैं।

यहाँ युद्धसामग्री की सरकारी उद्योगशाला, सैनिक हवाई अड्डा, विश्वविद्यालय, ज्योतिष अनुसंधानालय, कई इतिहासप्रसिद्ध महल, मकबरे, गढ़, तथा गिरजाघर है। इनके अतिरिक्त यहाँ आर्कबिशप और दि रायल चांसरी तथा बड़े पादरी का सिंहासन है। इतिहासप्रसिद्ध स्मारकचिह्नों के कारण यह नगर पर्यटकों के लिये आकर्षक है।

[रा० प्र० सिं०]

ग्रेफाइट (Graphite) खनिज की रासायनिक प्रकृति सन् १७७९ में के० डब्लू० शीले ने ज्ञात की, पर इस खनिज का नामकरण सन् १७८९ में ए० जी० वर्नर ने किया। ग्रेफाइट नाम ग्रीक शब्द 'ग्रेफो' से लिया गया है, जिसका अर्थ है 'मैं लिखता हूँ'। हमारी पेंसिलों में लिखनेवाला पदार्थ ग्रेफाइट ही है, जिसके साथ थोड़ी सी अच्छी मिट्टी मिली होती है।

प्राचीन काल में सुरमा (आँखों का अंजन) के रूप में इसका उपयोग होता रहा है, क्योंकि यह खनिज 'स्टिबनाइट' (Stibnite) से बहुत अधिक मिलता जुलता है। साथ ही इसका उपयोग मिट्टी के बर्तनों पर पालिश आदि करने के लिये भी किया जाता था। आजकल इसका मुख्य उपयोग ढलाई तथा तापसह्य मूषों के निर्माण में होता है। इसके अतिरिक्त यह मशीनों को चिकनाने, विद्युदग्र (electrodes) बनाने तथा परमाणु पुंज (atomic pile) में भी प्रयुक्त होता है।

गुण — यह कार्बन का खनिज है और षड्भुजीय निकाय समुदाय में मणिभ देता है। यह अधिकतर परतदार आकृति में मिलता है। इसकी चमक धातु की तरह होती है, पर यह छूने पर चिकना तथा नरम प्रतीत होता है। यह नाखून से आसानी से खुरच जाता है। इसका आपेक्षिक घनत्व २ से २.२ तक है।

आक्सीजन रहित वातावरण में ३,००० ° सें० ताप का भी इसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, पर आक्सीजन के संपर्क में यह ६२०° सें० पर ही जलने लगता है और ३,५०० ° सें० पर पिघल जाता है यह विद्युत् और उष्मा दोनों का अच्छा चालक है।

प्राप्ति — ग्रेफाइट मुख्यतः शिराओं (veins) तथा छोटे छोटे जमावों के रूप में पाया जाता है। विश्व में ग्रेफाइट का सबसे बड़ा उत्पादक देश रूस है। कोरिया, जर्मनी, मैडागास्कर, तथा लंका अन्य मुख्य उत्पादक देश हैं। भारत में ग्रेफाइट खनिज के निक्षेप उड़ीसा, मध्य प्रदेश, मद्रास, केरल, बिहार, राजस्थान तथा कश्मीर प्रदेशों में है। सन् १९५५ में भारत में ग्रेफाइट का उत्पादन लगभग १,६१३ टन था।

[म० ना० मे०]

ग्रैब (Grabbe, Christian Dietrich) जर्मन (१८०१–१८३६) इनके पिता जेल सुपरिंटेंडेंट थे। इन्होंने कानून का अध्ययन किया। लेकिन इन्हें अपनी प्रतिभा पर पूरा विश्वास था और वकील न बनकर रंगमंच के लिये नाटक लिखकर जीविकोपार्जन का मार्ग इन्हें अनुकूल मालूम हुआ। शुरू में इन्हें असफलता और कठिनाई का ही अनुभव हुआ और मजबूर होकर इन्होंने डेटमोल्ड में वकालत शुरू कर दी। लेकिन इन्हें अत्यधिक मात्रा में शराब पीने की बुरी लत पड़ गई थी। इस बुरी आदत तथा स्वभाव की कतिपय विलक्षणताओं ने इन्हें सन् १८३४ में कानून छोड़ देने पर मजबूर कर दिया। कुछ समय तक इन्होंने नाटक संबंधी मामलों में इमरमान (Immermann) के सहयोगी के रूप में काम किया लेकिन फिर झगड़ा होने के कारण ये वहाँ से हट गए। असंयमित जीवनके कारण इनका शरीर प्रायः खोखला हो गया था और ३५ वर्ष की कम उम्र में ही इनकी मृत्यु हो गई।

जर्मन नाट्य साहित्य में ग्रैब का विशिष्ट स्थान है। इन्होंने अपने नाटकों द्वारा जर्मन नाट्य साहित्य को राष्ट्रीय और ऐतिहासिक तत्व दिया। प्रारंभिक रचनाओं पर शेक्सपियर और शिलर का प्रभाव है लेकिन धीरे-धीरे इन्होंने अपनी स्वतंत्र यथार्थवादी शैली विकसित कर ली जो इनके नेपोलियन और दि हंड्रेड डेज (१८३५) और हैनिबाल (१८३८) में देखने को मिलती है। इनके नाटकों में टेकनीक का नयापन भी है जिसका प्रभाव हॉप्टमैन, वार्डकिंड, योस्ट तथा कई अन्य नाटककारों पर पड़ा। योस्ट ने अपनी ट्रेजेडी 'दि लोनली मैन' में ग्रैब को एक चरित्र के माध्यम

से प्रस्तुत किया है। ग्रैब की प्रतिभा पूर्ण रूप से मुखरित नहीं हो पाई अन्यथा ये जर्मन नाट्य साहित्य में और भी ऊँचे उठे होते।

[तु० ना० सिं०]

ग्रोजनी (नगर) स्थिति : ४३° २०' उ० अ० तथा ४५° ४२' पू० दे०; जनसंख्या २,४०,००० (१९५९)। रूस के ग्रोजनी प्रांत की राजधानी सुंझा नदी के किनारे बाकू से ३०० मील उत्तर-पश्चिम पेट्रोवस्क से ब्लाडीकावकांज रेलमार्ग पर स्थित नगर है। यह नगर भूतपूर्व चेचेन-इंगुश रिपब्लिक की राजधानी रहा है। मूल रूप में इसकी स्थापना १८१८ ई० में एक किले के रूप में हुई और बाद मे १८९३ ई० में तेल की प्राप्ति से इसकी महत्ता और बढ़ गई तथा अब यह बाकू के बाद दूसरा तेल उत्पादक केंद्र है। तेल क्षेत्र काकेशस पर्वत की उत्तरी ढाल पर है जो डोनेट्ज बेसिन के गीरागारस्की ट्रडोवाया नगरों, मखाचकला (कैस्पियन सागर) और टुआप्से (कालासागर) के बंदरगाहों तथा तेल के उत्पादक एवं वितरक अन्य केंद्रों से नलतंत्र (Pipe lines) द्वारा मिले हुए हैं।

यहाँ तेलशोधक एवं लोहा गलाने के कारखाने तथा तेल निकालने के यंत्र बनाने के कारखाने हैं। इस नगर में तेलशोधक अनुसंधान संस्थान, प्रशिक्षण महाविद्यालय तथा तेलसंचालित शक्तिगृह हैं।

[रा० प्र० सिं०]

ग्रोनिंगेन (नगर) स्थिति : ५३° १३' उ० अ० तथा ६° ३४' पू० दे०; जनसंख्या १,४२,४७७ (१९५६)। यह उत्तरी नीदरलैंड्स के ग्रोनिंगेन प्रांत की राजधानी दो नहरों मे परिणत नदियों ड्रेंटसे आ (Drentsche Aa) और हुंसे (Hunse) के संगम पर स्थित उत्तरी नीदरलैंड्स का रेल एवं उद्योग का सर्वप्रमुख केंद्र है। यहाँ चीनी, वस्त्र, आटा, कागज, रसायनक, खाद, रंग, चमड़े की वस्तुएँ, जलयान, शराब, 'फर्नीचर', 'पैक' करने के सामान तथा सोने और चाँदी के बर्तन बनाने के कारखाने हैं। इनके अतिरिक्त वहाँ पुस्तकों के मुद्रण, पटसन की कताई तथा बीजों से तेल निकालने का कार्य होता है।

यहाँ कुछ प्राचीन भवन, सेंट मार्टिन का गोथिक गिरिजाघर, संग्रहालय, विश्वविद्यालय तथा विश्वविद्यालय का विशाल पुस्तकालय दर्शनीय हैं, जिसमें मार्टिन लूथर की टिप्पणी युक्त 'न्यू टेस्टामेंट' की २०० प्रतियाँ हैं।

[रा० प्र० सिं०]

ग्लाइकाज बैजंटाइन, (११३५-११९९) अपने समय में ईसाई धर्म के सिद्धांतों के प्रकांड पंडित के रूप में इनकी ख्याति थी। इन्होंने 'यूखेरिस्ट' या 'लॉर्ड्स सपर' के संबंध में अपने मौलिक विचार दिए। साहित्य के क्षेत्र में भी इन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया। इनकी रचनाएँ मध्ययुगीन यूनानी जीवन और उसकी विशेषताओं की सच्ची अभिव्यक्ति करती हैं। इनकी एक कविता 'क्रानिकिल' में उस समय की साहित्यिक परंपरा के अनुसार सृष्टि की कहानी है। लेकिन इसमें इन्होंने कुछ पशु पक्षियों की कहानियाँ भी जोड़ दी हैं। जैसे फिनिक्स पक्षी की कहानी जो अपनी जाति का अकेला है और जीवन का एक क्रम पूरा कर लेने के बाद आग में कूदकर जल जाता है। लेकिन अपनी राख से वह फिर उठ खड़ा होता है और इस प्रकार उसका कभी नाश नहीं होता। धर्म पर भी इन्होंने एक छोटी सी पुस्तक लिखी जिसमें दैनिक जीवन में प्रयुक्त होनेवाले मुहावरों पर गद्य और पद्य दोनों में व्याख्या देते हुए जनसाधारण को नैतिक शिक्षा देने का प्रयास किया गया है। इन्होंने लेखक के रूप में जनरुचि का सदा ख्याल किया और सर्वाधिक लोकप्रियता पाने की चेष्टा की। इन्होंने साहित्य में लोकरुचि का समावेश कर उसे ताजगी और मौलिकता प्रदान की।

[तु० ना० सिं०]

ग्लाइकोल (Glycol) द्वि-हाइड्राक्सि ऐलकोहलों को ग्लाइकोल के नाम से संबोधित किया जाता है। इनकी उत्पत्ति किसी हाइड्रोकार्बन के दो हाइड्रोजन परमाणुओं को दो हाइड्राक्सिल समूहों से प्रतिस्थापित करके हो सकती है, पर दोनों हाइड्राक्सिल समूह भिन्न भिन्न कार्बनों से संयुक्त होने चाहिए। हाइड्राक्सिल समूहों के पारस्परिक स्थानों के विचार से इन्हें ऐल्फा-, बीटा-, गामा-, अथवा डेल्टा-ग्लाइकोलों में श्रेणीबद्ध किया जाता है।

इस वर्ग का सबसे सरल यौगिक एथिलीन ग्लाइकोल है, जिसे केवल ग्लाइकोल भी कहते हैं। इसका रासायनिक सूत्र, हाऔ० का हा$_2$०का हा$_2$० औहा ($HO\text{-}CH_2\text{-}CH_2\text{-}OH$) है। यह रंगहीन, सुगंधित तैलीय द्रव है, जिसका क्वथनांक १९७.५° सें० तथा गलनांक — १७.४° सें० है। आपेक्षिक घनत्व ०° सें० पर १.१२५ है। यह ग्लिसरीन की भाँति मीठा तथा पानी और ऐलकोहल के साथ मिश्र्य है। औद्योगिक विधि में इसे एथिलीन गैस से, जो पेट्रोलियम भंजन का एक उपजात है, प्राप्त करते हैं। हाइपोक्लोरस अम्ल की अभिक्रिया से यह एथिलीन क्लोरोहाइड्रिन में बदलता है, जिसे दूधिया चूने के साथ गरम करके एथिलीन ग्लाइकोल प्राप्त करते हैं। इसके गुणधर्म प्राथमिक ऐलकोहलों से मिलते हैं। हाइड्राक्सिल समूह को हैलोजेन से, अथवा हाइड्राक्सिल के हाइड्रोजन को ऐल्किल समूहों, अथवा क्षार धातुओं से, प्रतिस्थापित किया जा सकता है। आक्सीकरण पर पहले यह ग्लाइकोलिक अम्ल तथा पश्चात् आक्सैलिक अम्ल देता है। नाइट्रिक और सल्फ्यूरिक अम्लों की अभिक्रिया से एथिलीन डाइनाइट्रेट, एक तैलीय विस्फोटक द्रव (क्वथनांक ११४-११६° सें०), प्राप्त होता है, जिसे नाइट्रोग्लिसरीन की भाँति विस्फोटक के रूप में प्रयुक्त करते हैं। एथिलीन ग्लाइकोल को पानी में मिलाने पर पानी का हिमांक गिर जाता है। इसलिये उद्योगों में इसका विस्तृत उपयोग हिमीकरण निवारण के लिये होता है।

इनके उच्च सजातीय, ऐल्फा प्रोपिलीन ग्लाइकोल, का हा$_3$. का हा. औहा. का. हा$_2$. औ हा [$CH_3.CH.OH.CH_2.OH$] तथा २,३ ब्यूटिलीन ग्लाइकोल, काहा$_3$. काहा. (औहा). काहा (औहा) काहा$_3$ [$CH_3.CH(OH).CH(OH)CH_3$] भी चाशनी सदृश द्रव हैं और इनकी प्राप्ति प्रोपिलीन तथा ब्यूटिलीन से होती है। कुछ संकीर्ण ग्लाइकोल भी कीटोनों के वैद्युद्विश्लेषिक अवकरण पर प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार ऐसीटोन से एक ग्लाइकोल, जिसे पिनैकोल (टेट्रा मेथाइल एथिलीन ग्लाइकोल) कहते हैं, प्राप्त होता है। इसका गलनांक ३८° सें० है और यह सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ आसवन करने पर एक कीटोन, पिनैकोलीन देता है।

[शि० मो० व०]

ग्लाइकोसाइड (Glycoside) को पहले ग्लूकोसाइड कहते थे, क्योंकि उस समय ग्लूकोज ग्लाइकोसाइडों का एक आवश्यक अंग समझा जाता था। पर अब ऐसे भी कुछ ग्लूकोसाइड पाए गए हैं जिनमें ग्लूकोज

नहीं होता। ग्लूकोज के स्थान में दूसरी शर्कराएँ रहती हैं। अतः ग्लूकोसाइड नाम अब ग्लाइकोसाइड में बदल दिया गया है। ग्लाइकोसाइडों का एक आवश्यक अवयव शर्करा होती है और दूसरा अवयव अशर्करा या शर्करा भी हो सकती है। दूसरे अवयव को 'एग्लाइकोन' (Aglycone) या 'एग्लूकोन' (Aglucone) कहते हैं।

ग्लाइकोसाइड वनस्पतिजगत् में, अर्थात् पौधों की छालों, बीजों, फूलों तथा बीजों के छिलकों और फलों में पाए जाते हैं। ये जल में अल्पविलेय हैं। प्रकृति में इनका कार्य क्या है इस संबंध में कोई निश्चित मत नहीं है।

अनेक ग्लाइकोसाइड दवा के रूप में व्यवहृत होते हैं। सैलिसिन (Salicin) महत्वपूर्ण ज्वरनाशक ओषधि है। कौनवलवुलिन (Convulvulin) और गैलोपिन (galopin) रेचक होते हैं। सैपोनिन (Saponin) के अनेक उपयोग हैं। मसाले के रूप में सरसों का उपयोग उसमें उपस्थित ग्लाइकोसाइड के कारण है। डिजिटौक्सिन (Digitoxin), डिजिटैलिन (Digitalin), स्ट्रोफैंथिन् (Strophanthin) ग्लाइकोसाइड बहुत विषैले होते हैं और अल्पमात्रा में ओषधियों में प्रयुक्त होते हैं।

फूलों के विभिन्न रंग — लाल, पीले, हरे, नीले इत्यादि — ग्लाइकोसाइडों के कारण होते हैं। तिक्त बादाम का तिक्त स्वाद ऐमिगडैलिन (Amygdalin) नामक ग्लाइकोसाइड के कारण होता है। ऐमिगडैलिन में एक भयंकर, विषाक्त यौगिक, हाइड्रोसायनिक अम्ल, संयुक्त रहता है, जो जलविश्लेषण से उन्मुक्त होता है। तिक्त बादाम के खाने से मृत्यु होने तक की सूचनाएँ मिली हैं।

कृत्रिम रीति से भी सरल ग्लाइकोसाइड तैयार हुए हैं। ऐसे ग्लाइकोसाइड दो प्रकार के, ऐल्फा और बीटा किस्म के पाए गए हैं। इनका व्यवहार इमलसिन नामक प्रकिण्व के प्रति विभिन्न होता है। अत. इमलसिन की क्रिया से इनका विभेद किया जाता है।

[फू० स० व०]

ग्लाइडिंग का अर्थ है 'मँडराना'। वायु से भारी, वायुयान सदृश, किंतु इंजन रहित, एक यान (craft) ऊपर से छोड़ दिए जाने पर वायु में मँडराता हुआ धीरे धीरे धरती की ओर आता है। इस यान को 'ग्लाइडर' और इसकी अवरोहण क्रिया को ग्लाइडिंग कहते हैं। सामान्यतया ग्लाइडिंग क्रिया के दो भाग होते हैं : प्रथम, ग्लाइडर को ऊपर उठती हुई पवनधाराओं के सहारे ऊपर उठाना और दूसरा उसे वायु में धीरे धीरे तैराते हुए पृथ्वी की ओर ले आना। पहली क्रिया को सोरिंग (soaring) उड़ान और दूसरी को ग्लाइडिंग उड़ान कहते हैं। वायुयान के आविष्कार के क्रम में ग्लाइडर का आविष्कार ही प्रथम चरण था।

चित्र १. लीलिएंथाल का ग्लाइडर
यह आद्य यंत्र सन् १८८६ में बनाया गया। चालक सहित उड़ते समय यह बड़े फतिंगे सदृश दिखाई पड़ता था।

प्रथम महत्वपूर्ण ग्लाइडिंग उड़ान १८९१ ई० में ओटो लिलिएंथाल ने संपन्न करने का प्रयत्न किया। अपनी दोनों भुजाओं में डैने बाँध, कर उसने पक्षियों की भाँति उड़ने का प्रयोग किया। ऊँचाई से वह डैने फड़फड़ाते हुए उड़ तो चला, किंतु अपने शरीर का संतुलन बनाए न रख सकने के कारण कुछ दूर तक उड़ने के उपरांत भूमि पर गिर पड़ा। उसे सांघातिक चोट आई और अंत में वह मर गया। उसके बाद इंग्लैंड के परसी पिचर ने क्षैतिज डैने लगाकर लिलिएंथाल के प्रयोग को दुहराया, किंतु वह भी अंत में उसी गति को प्राप्त हुआ।

१८९६ ई० में अमरीका के ऑक्टेव शेन्यूट (Octave Chanute) ने नए प्रकार का ग्लाइडर बनाया। इसमें चालक के बैठने के लिये स्थान बना हुआ था और ग्लाइडर के नियंत्रण के लिये पतवार (rudder) तथा जुड़वाँ (articulated) डैने लगे हुए थे। ये डैने इस प्रकार बने हुए थे कि इन्हें ऊपर, नीचे और आगे पीछे इच्छानुसार दोलन कराया जा सकता था, ठीक उसी प्रकार जैसे उड़ते समय पक्षी अपने डैने चलाते हैं। यह ग्लाइडर इतना स्थायी एवं संतुलित था कि उसपर शेन्यूट ने दो हजार उड़ानें बिना किसी प्रकार की दुर्घटना के पूरी कीं।

१८८३ और १८९४ ई० के बीच अमरीका के एक अन्य उड़ाके, मांटगोमरी, ने ग्लाइडर में ऐसे डैने लगाए जिन्हें वायु के प्रवाह की तीव्रता या मंदता में संतुलित रखने के लिये मोड़ा या फैलाया जा सकता था। इस ग्लाइडर पर उसने कई प्रयोगात्मक उड़ानें भरीं और उसमें यथावश्यक सुधार भी करता रहा। अंत में उसने अत्यंत उत्कृष्ट कोटि का ग्लाइडर बनाया, जिसकी सफल एवं ऐतिहासिक उड़ान २९ अप्रैल,१९०५, को संपन्न हुई। पहले वह इस ग्लाइडर को गरम वायु से भरे गुब्बारे के सहारे आकाश में लगभग ४,००० फुट की ऊँचाई तक ले गया। फिर गुब्बारे से उसे वियुक्त कर दिया। लगभग २० मिनट तक पवनाभिसार करने के उपरांत वह ग्लाइडर सकुशल भूमि पर उतर आया।
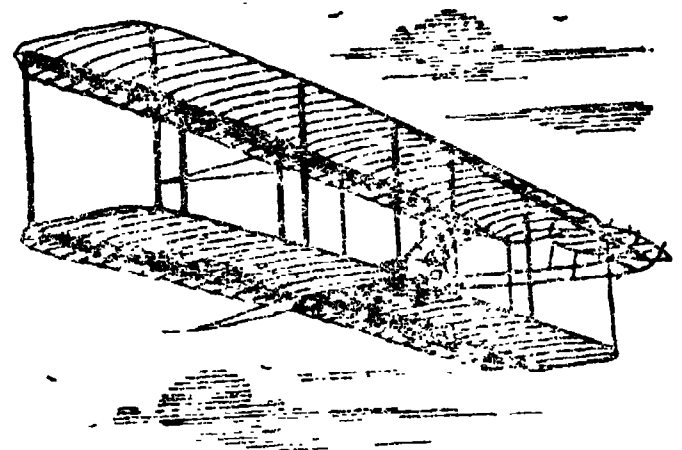
चित्र २. राइट बंधुओं द्वारा निर्मित प्राथमिक ग्लाइडर

विश्वविश्रुत वैमानिक, राइट बंधुओं ने भी १९२० ई० में एक अत्यंत उत्तम ग्लाइडर का निर्माण किया, जिसमें क्षैतिज तथा ऊर्ध्वाधर दो पतवार लगे हुए थे। इन्हें मनचाहे ढंग से घुमाया तथा नियंत्रित किया जा सकता था। इसमें लगे हुए डैनो को ऐंठ (warp) करके ग्लाइडर को उड़ान के समय आवश्यकतानुसार नियंत्रित किया जा सकता था। इस ग्लाइडर से उन्होंने सहस्रों सफल एवं निर्विघ्न उड़ानें भरीं। यही ग्लाइडर आगे चलकर शक्तिचालित वायुयानों की भूमिका बना।

ग्लाइडर की उड़ान — वायु में ग्लाइडर का अवतरण (launching) तीन प्रकार से किया जाता है।

(१) किसी ऊँची पहाड़ी की चोटी या लंबी ढाल से ग्लाइडर को अवक्षेपी (catapult) द्वारा वायु में ढकेल दिया जाता है। ऐसे ग्लाइडर में रबर की डोर बँधी रहती है, जिससे उसपर नियंत्रण रखा जाता है। ग्लाइडर का अवतरण कोण (ग्लाइडिंग कोण) ढाल के कोण से अधिक रखने पर ग्लाइडर ढाल की लंबाई से भी अधिक लंबी उड़ान भर सकता है।

(२) ग्लाइडर में एक दृढ़ तार बाँध दिया जाता है, जो किसी मोटर कार से जुड़ा होता है, अथवा किसी पहिए या विंच (winch) पर लपेटा हुआ रहता है। तार इतना लंबा होता है कि ग्लाइडर के पर्याप्त ऊँचाई तक पहुँचने में बाधक न हो।

(३) ग्लाइडर को किसी वायुयान में बाँधकर ऊपर ले जाया जाता है और वहाँ उसे अलग कर दिया जाता है। ग्लाइडर अकेले मँडराता हुआ उतरता है।

चित्र ३. धातु से बने ग्लाइडर की उड़ान का आरंभ

ग्लाइडर को अवतरित करने के लिये ऐसा स्थल चुना जाता है जहाँ पवन की ऊर्ध्वधाराएँ (upward currents) चलती हों। शांत वायुमंडल में, अथवा जहाँ वायु के क्षैतिज प्रवाह की गति समरूप होती है वहाँ ग्लाइडर के अवरोहण की गति प्रायः दो या तीन फुट प्रति सेकंड होती है। यदि वायु का ऊर्ध्व वेग इससे अधिक होता है, तो ग्लाइडर काफी ऊँचाई तक जा सकता है। ऊँचे स्थान से छोड़े जाने पर ग्लाइडर नीचे उतरने की ओर प्रवृत्त होता है, किंतु गरम वायुसमूह में पड़ने पर वह उस वायु के साथ ऊपर चढ़ने लगता है। यह वायु तप्त धरती, या चट्टानों, अथवा हरे भरे खेतों से गरम होकर ऊपर उठती है। इसलिये उष्ण वायुसमूह ग्लाइडिंग के लिये अनुकूल होता है। ग्लाइडर चालक (pilot) वेरियोमापी (Variometre) नामक यंत्र द्वारा यह पता लगाता रहता है कि उसका ग्लाइडर उष्ण वायुसमूह में पहुँचा या नहीं और जब वह पहुँच जाता है तो उसके साथ ग्लाइडर को ऊपर चढ़ाने के हेतु वह उस वायुसमूह का पूर्ण रूप से उपयोग करने का प्रयत्न करता है। इस उड़ान को ऊष्मीय उड़ान (thermal flight) कहते हैं। इस विधि से ग्लाइडर दीर्घ अवधि तक वायु में उड़ सकता है और एक उड़ान में ५०० मील या इससे भी अधिक दूरी पार कर सकता है।
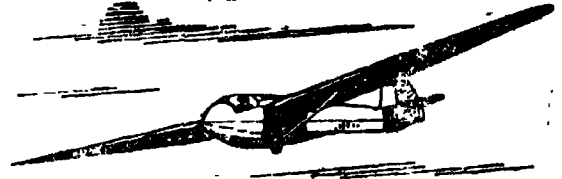
चित्र ४. उड़ान भरता हुआ ग्लाइडर

इस ब्लाइजर ग्लाइडर में चालक बंद कमरे में बैठता है।

इस प्रकार ग्लाइडर के वायु में आरोहण की क्रिया को सोरिंग कहते हैं। इससे भी अधिक ऊँचाई तक ग्लाइडर शीतल वायु-समूहाग्र (cold wave front) के सहारे चढ़ जाते हैं। ऊपर उठती हुई उष्ण वायु की जब आगे बढ़ती हुई शीतल वायु समूहाग्र से मुठभेड़ हो जाती है, तो वह उष्ण वायु को ऊपर की ओर ठेलती है। इन दोनों की संधि पर ही क्युम्यलस मेघों की सृष्टि होती है। इस स्थिति में आने पर उष्ण वायु के साथ ग्लाइडर अधिक ऊँचाई तक चढ़ जाता है। क्युमुलस मेघसमूह में पड़कर ग्लाइडर धीरे धीरे चक्कर काटता हुआ उष्ण वायु के साथ अत्यंत तीव्र वेग से (प्रायः २,००० फुट प्रति मिनट या इस से भी अधिक वेग से) ऊपर चढ़ता है। इस विधि से १९३८ ई० में ई० जिलर २८,००० फुट की ऊँचाई तक पहुँच गया था और साढ़े चार घंटे तक उसने व्योमाभिसार किया। सन् १९३९ में जी० एच० स्टीफेन्सन ने इंग्लिश चैनेल (English Channel) पार करने में सफलता प्राप्त की। इधर कुछ उड़ाकों ने इस विधि से ४४,००० फुट की ऊँचाई तक उड़ानें भरी हैं।

सफल ग्लाइडिंग उड़ानों की अर्हताएँ — सफल ग्लाइडिंग उड़ान के लिये तीन बातें आवश्यक हैं :

(१) निश्चित ऊँचाई पर अधिकतम दूरी पार करने की क्षमता।

(२) किसी ऊँचाई से नीचे उतरने में अधिक से अधिक समय लगा सकने की क्षमता।

(३) पर्याप्त क्षैतिज वेग की क्षमता।

शांत वायु में आवश्यकता (१) पूरी करने के लिये ग्लाइडर का अवतरण (ग्लाइडिंग) कोण न्यूनतम होना चाहिए। यह कोण क्षितिज से २५ में १ के अनुपात से होना चाहिए, अर्थात् २५ फुट की ढाल पार करने पर ग्लाइडर का ऊर्ध्व आरोहण १ फुट होना चाहिए। आवश्यकता (२) की पूर्ति न्यूनतम अवरोहण गति (जो प्रायः २ या ३ फुट प्रति सेकेंड होती है) द्वारा की जाती है। न्यूनतम ग्लाइडिंग कोण पर यदि अवरोहण की गति भी न्यूनतम हो तो ग्लाइडर का क्षैतिज वेग लगभग ७५ फुट प्रति सेकेंड होगा।

ग्लाइडर की रचना — ग्लाइडर की आकृति लगभग वायुयान के सदृश ही होती है। यह प्रायः स्प्रूस (spruce) और प्लाई लकड़ियों से बनाया जाता है। इसके डैने सीधे होते हैं, जिसमें मँडराते समय ऊपर वायु की दाब सर्वत्र समान पड़े। ये डैने सरलता से अलग निकाल लिए जा सकते हैं, क्योंकि बहुधा उड़ानों का अंत दूरस्थित ऐसे स्थानों में होता है जहाँ से पुनः उड़ान प्रारंभ करना संभव नहीं होता। इसलिये डैने अलग कर लिए जाते हैं और ग्लाइडर का पूरा ढाँचा मोटर इत्यादि पर लादकर वापस लाया जा सकता है।

ग्लाइडर का उपयोग मुख्यतः वायुयान चालकों को प्रशिक्षण देने के हेतु किया जाता है, ताकि वे धरती के ऊपर उड़ते समय वायुमंडलीय दशाओं से पूर्णतया अभ्यस्त हो जायँ और वायुयानों की नियंत्रणकला से भी सुपरिचित हो जायँ। इनका उपयोग सामरिक दृष्टि से युद्धकाल में किया जाता है।

[सु० चं० गौ०]

ग्लाडुकोव, फ्योदर वसील्येविच (२१ जून, १८८३—२० दिसंबर, १९५८) प्रसिद्ध रूसी लेखक। गरीब किसान परिवार में जन्म हुआ। स्कूल मे शिक्षक का काम करते थे। क्रांतिकारी आंदोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण जारशाही सरकार की ओर से कई बार सजा मिली। प्रथम साहित्यिक कृति १८९९ में प्रकाशित हुई थी। १९१७ की समाजवादी क्रांति के बाद ही साहित्यिक कार्य में प्रमुख विकास हुआ। ग्लाड्कोव ने दस से अधिक उपन्यास लिखे, जिनमें प्रमुख हैं 'सिमिंट' (१९२५) और 'शक्ति' (१९३२-३८)। इन कृतियों में सोवियत संघ के मजदूरों का जीवन वर्णित है। 'कसम' (१९४४) उपन्यास में द्वितीय महायुद्ध के समय सोवियत मजदूरों के जीवन तथा परिश्रम का सजीव चित्रण है। चार उपन्यासों में—'बचपन की कहानी' (१९४९), 'आजाद साल' (१९५०), 'कष्टमय वर्ष' (१९५४) और 'विद्रोहात्मक जवानी' (१९५६) मे लेखक ने अपनी आत्मकथा के साथ १९वीं-२०वीं शताब्दी की रूसी जनता के जीवन का यथार्थवादी चित्रण दिया है।

[प्यो० अ० बा०]

ग्लास, यह टेक्सास राष्ट्र के सुदूर पश्चिम में बेस्टर और पेकस नगरों के बीच २५ मील लंबी श्रेणी है जिसकी ऊँचाई ६,५२३' है। इसका पूर्व-उत्तर-पूर्व बिंदु अल्पाइन पर्वतश्रेणी के पूर्व १३ मील की दूरी पर है। यहाँ पशुपालन एवं चराई का कार्य होता है।

[रा० प्र० सिं०]

ग्लास्गो, एलेन (अमरीकी, १८७४-१९४५) उपन्यासकार के रूप में एलेन ग्लास्गो ने संयुक्त राज्य अमरीका के दक्षिणी भाग में स्थित वर्जिनिया प्रदेश का जीवन बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। इनकी प्रारंभिक रचनाओं में गृहयुद्ध के समय की स्थिति का व्यापक चित्र मिलता है। बाद की रचनाओं में अनुपजाऊ भूमि पर बड़ी कठिनाई से जीवनयापन करते हुए मानव के संघर्ष और दुःखों का वर्णन मिलता है। सन् १९२५ में प्रकाशित उपन्यास 'बैरेन ग्राउंड' इसी प्रकार की रचना है। कुछ उपन्यासों में उन्होंने बड़े नगरों के जीवन का बड़ा ही सूक्ष्म और व्यंगात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। 'दि शेल्टर्ड लाइफ' नामक उपन्यास में व्यंग का अच्छा पुट है। कुछ कहानियों में भी 'दि शैडोई बर्ड' (The Shadowy Bird) शीर्षक से १९२१ में प्रकाशित हुई मानव भावों का गूढ़ मनोवैज्ञानिक अध्ययन मिलता है। एलेन ग्लास्गो अपने पाठकों की रुचि में समय समय पर होते परिवर्तनों से सर्वथा परिचित थीं और इन्हीं के अनुसार इनकी कला में भी परिवर्तन होता रहा। इनकी शैली में स्पष्टता और ताजगी है। कला की दृष्टि से इनके उपन्यास उच्चकोटि के हैं। इन्होंने कहीं भी कहानियों को रोचक बनाने के उद्देश्य से चमत्कारिक घटनाओं का सहारा नहीं लिया है। इनकी अन्य रचनाएँ इस प्रकार हैं।

दि डिसेंडेंट (१८९७,) दि वायस ऑव दि पीपुल (१९००), दि बैटिल ग्राउंड (१९०२), दि ऐंश्येंट ला (१९०८), वर्जिनिया (१९१३), दि बिल्डर्स (१९१९), दि रोमैंटिक कमेडियंस (१९२६)।

[तु० ना० सिं०]

ग्लास्गो (स्काटलैंड) स्थिति : ५५° ५१' उ० अ० तथा ४° १९' प० दे०; जनसंख्या १०,८९,५५५ (१९५१)। यह स्काटलैंड का सबसे बड़ा तथा इंग्लैंड का दूसरा बड़ा नगर क्लाइड नदी पर एडिनबर्ग से ४२ मील पश्चिम में स्थित है। यह नगर संसार में जलयान-निर्माण-उद्योग का अत्यंत महत्वपूर्ण केंद्र है। लोहे और कोयले से संपन्न जिले के बीच में इसकी स्थिति तथा इसके उत्तम गोताश्रय ने इसे ब्रिटिश द्वीपसमूह का प्रमुख बंदरगाह तथा निर्माण उद्योग एवं व्यापार का उन्नत केंद्र बना दिया है। इस नगर में मीलों लंबे सुंदर तथा सामान लादने तथा उतारने के आधुनिक घाट हैं।

यहाँ जलयान, लोह सामग्री, वस्त्र, कागज, रसायनक, शराब, रेल के इंजन, रंग, साबुन, टाइपराइटर तथा विभिन्न प्रकार के यंत्र बनाए जाते हैं। इस नगर से ऊनी, सूती और लिनेन कपड़े, मशीनें, कोयला, कागज, रसायनक तथा 'ह्विस्की' का निर्यात किया जाता है और प्रायः कच्चे माल, जैसे धातु, गेहूँ, ऊन, मक्का, चीनी, तंबाकू, लकड़ी, और खनिज तेल का आयात होता है।

इस आधुनिक नगर में विकास योजनाओं द्वारा काफी सुधार हो रहा है। यहाँ वनस्पति उद्यान, कलासंग्रहालय, विश्वविद्यालय तथा कई महाविद्यालय हैं जिनमें 'दि रायल टेकनिकल कालेज, ऐंडरसन कालेज ऑव मेडिसिन, यूनाइटेड फ्री चर्च कालेज, सेंट मुनगो का कालेज, पशुचिकित्सा एवं प्रशिक्षण महाविद्यालय उल्लेखनीय हैं।

प्रेस्टविक यहाँ का अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डा तथा रेन्फ्यू स्थानीय हवाई अड्डा है। इनके अतिरिक्त यहाँ पुस्तकालय, औषधालय, गिरिजाघर तथा पादरी का स्थान हैं।

यहाँ नगरसरकार की प्रणाली है और जनता को सभी सुविधाएँ उपलब्ध हैं। ग्लासगो के नगर सरकार का अध्ययन एक आदर्श रूप में अमरीका तथा कनाडा की सरकारों द्वारा किया गया है।

[रा० प्र० सिं०]

ग्लिंका, कांस्टैंटिन दिमित्रिविच (सन् १८६७–१९२७) रूस के विख्यात भूमिसत्त्ववेत्ता (pedologist) थे। इनका जन्म स्मोलेंस्क में सन् १८६७ में हुआ तथा इनकी शिक्षा सेंट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में हुई, जहाँ रूस के सुप्रसिद्ध भूविज्ञानवेत्ता दाकुशेव (Dockuchaev) के शिष्यत्व में इन्होंने सन् १८८९ में खनिज विज्ञान में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। फिर जब दाकुशेव को नोवो ऐलेक्जेंड्रिया कृषि महाविद्यालय के नवनिर्माण का कार्यभार प्रदान किया गया तब उन्होंने ग्लिंका को बुलाकर खनिज विज्ञान तथा भौमिकी की 'चेयर' प्रदान की। सन् १८९१ में, जब प्रोफेसर सिबिर्तज़ेव (Sibirtzev) की मृत्यु हो गई तब इन्हें भूमिसत्त्व विज्ञान की प्रोफेसरी मिली।

भू संबंधी अध्ययन एवं शोध के लिये ग्लिंका ने रूस तथा पश्चिमी यूरोप के अनेक बार परिभ्रमण किए और इन अनुभवों का संकलन दो पुस्तकों में किया जिनके नाम हैं, पोंचवोवेदेनी (Pochvovedenie) तथा दि ग्रेट सॉएल ग्रूप्स ऑव दि वर्ल्ड ऐंड देयर डेवेलपमेंट। दूसरी पुस्तक का अनुवाद जर्मन भाषा में, सर्वप्रथम सन् १६१४ में, स्ट्रेमे (Stremme) द्वारा किया गया। सन् १६२८ में इसका अंग्रेजी अनुवाद मार्बट (Marbut) ने प्रस्तुत किया। इसी अनुवाद के माध्यम से पश्चिमी जगत् ने ग्लिंका के कार्य का परिचय पहली बार प्राप्त किया। फिर तो सभी ने इन्हें मृत्तिका विज्ञान की नवशाखा भूमितत्व विज्ञान का नेता घोषित कर दिया।

सन् १६२७ ई० में भूविज्ञान की प्रथम अंतरराष्ट्रीय कांग्रेस में संमिलित होने के लिये ग्लिंका संयुक्त राज्य, अमरीका, गए। द्वितीय अंतरराष्ट्रीय भूविज्ञान सोसाइटी के अध्यक्ष के रूप में इनका नाम भी प्रस्तावित हुआ था, परंतु दुर्भाग्यवश ये जीवित न रह सके। अमरीका से लौटने के बाद आमाशय के कैंसर से पीड़ित होकर २ नवंबर, सन् १६२७ को ये स्वर्गवासी हुए।

ग्लिंका का नाम मृत्तिका विज्ञान में इसलिये अमर रहेगा कि इन्होंने अपने गुरु दाकुशेव द्वारा प्रस्तुत मृत्तिका वर्गीकरण संबंधी सिद्धांत को आगे बढ़ाया। इन्होंने मृत्तिका वर्गीकरण में पार्श्वचित्र (profile) की वयस्कता (maturity) एवं जल द्वारा उसके संकर्षण (leaching) की तीव्रता पर बल दिया। फलतः इनके द्वारा प्रस्तावित मिट्टियों का वर्गीकरण अधिक सफल एवं पूर्ण है। इन्होंने मिट्टियों को दो मुख्य वर्गों में विभाजित करते हुए उनके उपवर्गों में विभाजन की योजना बनाई :

१—बाह्य विकासमान मिट्टियाँ (nktodyeamomorphic soils) ऐसी मिट्टियाँ हैं, जिनके गुणों पर मृत्तिका निर्माण के बाह्य कारकों का प्रभाव है। ऐसी मिट्टियों में लैटराइट, लाल तथा पीली मिट्टियाँ, पाडजाल, भूरी जंगली मिट्टियाँ, काली मिट्टियाँ, चेस्टनट तथा उससे संबद्ध मिट्टियाँ, पीट तथा पहाड़ी मिट्टियाँ, लवणीय तथा क्षारीय मिट्टियाँ प्रमुख हैं।

२—अंतर विकासमान मिट्टियाँ ऐसी मिट्टियाँ हैं, जिनके गुणों पर मुख्य रूप से पितृपदार्थ का प्रभाव पड़ा है।

ऐसी मिट्टियों में रेंडीजना या ह्यूमस कार्बोनेट मिट्टियाँ तथा संस्थान मिट्टियाँ (skeletal soils) प्रमुख हैं।

सं० ग्रं० — जे० एस० जाफे : 'पेडॉलोजी'।

[शि० गो० मि०]

ग्लिटरटीन नार्वे राष्ट्र के योतुन्हीमेन क्षेत्र में एक पर्वत है जिसकी सबसे अधिक ऊँचाई ८,०७७ फुट है। यह पर्वत प्राचीन चट्टानों जैसे, ग्रेनाइट, गैब्रो, नाइस (Gneiss) तथा अन्य मणिभीय शिस्ट (Schist), चूना पत्थर आदि से बना हुआ है जो क्रमशः हवा, पानी और हिमसरिताओं द्वारा अपक्षरण की क्रिया के बाद बहाकर लाए गए थे।

[रा० प्र० सिं०]

ग्लिविट्से (**ग्लिविस**) नगर, स्थिति : ५०° १८' उ० अ० तथा १८° ४०' पू० दे०; जनसंख्या १,३१,००० (१६५६)।

यह पोलैंड के दक्षिणी भाग में काटोविस प्रांत में क्लाडनीत्ज़ नदी पर, ओपेलन और क्राकाओ नगरों के बीच, रेलमार्ग पर ओपेलन से ४० मील दक्षिण-पूर्व में स्थित नगर है, जो १६४५ ई० से पहले साइलीशिया प्रांत में था और अपर साइलीशिया के खनन उद्योग का मुख्य केंद्र रहा।

यह नगर जर्मनी और पोलैंड के बीच पुरानी सीमा के लगभग एक मील उत्तर में है। यहाँ ढलाई के कारखाने हैं, जिनमें मशीन और बायलर बनाए जाते हैं। इनके अतिरिक्त यहाँ तार निर्माण, रसायनक, शीशा, सीमेंट और कागज उद्योग तथा प्राविधिक विद्यालय एवं रेडियो केंद्र हैं। यह द्वितीय विश्वयुद्ध में बुरी तरह नष्ट हुआ था।

[रा० प्र० सिं०]

ग्लिसरिन (काहा$_2$ औहा · काहा औहा · काहा$_2$ औहा, $CH_2OH \cdot CHOH \cdot CH_2OH$)। तेल और वसा में पाया जाता है। साबुन और वसा अम्लों के निर्माण में तेल और वसा के साबुनीकरण से उपजात के रूप में ग्लिसरिन प्राप्त हो सकता है। तेल और वसा को यदि अति तप्त भाप से विघटित किया जाय तो अपेक्षया शुद्ध ग्लिसरिन प्राप्त होता है। शर्कराओं के डाइ-सोडियम सल्फाइट की उपस्थिति में यीस्ट द्वारा किण्वन से ऐल्कोहल के साथ साथ ग्लिसरिन अच्छी मात्रा में प्राप्त हुआ है। इसमें कुछ ऐसिटैल्डीहाइड, दश प्रतिशत तक, बनता है। शर्कराओं का २० से २५ प्रति शत ग्लिसरिन में परिणत हो जाता है।

तेल और वसा के साबुनीकरण द्वारा साबुन के निर्माण में उपजात के रूप में एक जलीय विलयन प्राप्त होता है, जिसे 'मीठा जल' कहते हैं। मीठा जल को हड्डी के कोयले से उपचारित कर भाप द्वारा आसवन से जो जलीय आसुत प्राप्त होता है उसके सांद्रण से शुद्ध ग्लिसरिन प्राप्त हो सकता है। पर ऐसा ग्लिसरिन विस्फोटक के लिये अच्छा नहीं समझा जाता। अति तप्त भाप के विघटन से अथवा शर्कराओं के किण्वन से प्राप्त ग्लिसरिन ही विस्फोटक के लिये उत्तम होता है।

ग्लिसरिन का संश्लेषण भी प्रयोगशालाओं में हुआ है। उससे निश्चित रूप से पता लगता है कि यह ऐल्कोहल वर्ग का यौगिक है और इसमें तीन हाइड्रॉक्सिल समूह विद्यमान हैं (ऊपर का सूत्र देखें)। इससे इसके संघटन में कोई संदेह नहीं रह जाता।

ग्लिसरिन तेल सा गाढ़ा पारदर्शक द्रव है। स्वाद में मीठा होता है। १५° सें० पर इसका आपेक्षिक गुरुत्व १.२६५ है। सामान्य दबाव पर यह २६०° सें० पर और १२ मि० मी० दबाव पर १७० सें० पर उबलता है। ०° सें० पर यह धीरे धीरे जमकर ठोस पारदर्शक मणिभ रूप में हो जाता है, जो १७° सें० पर पिघलता है। जल और ऐल्कोहल में यह पूर्ण मिश्रय होता है, पर ईथर में अविलेय।

क्षार और धातुओं के हाइड्रॉक्साइडों के साथ यह ग्लिसरेट बनाता है और अम्लों के साथ एस्टर। तेल और वसा ग्लिसरिन और वसा-अम्लों के एस्टर हैं। नाइट्रिक अम्ल के साथ यह नाइट्रिक अम्ल का एस्टर बनाता है, जिसे अशुद्ध नाम नाइट्रो-ग्लिसरिन दिया गया है। वस्तुतः यह नाइट्रो यौगिक नहीं है। नाइट्रो-ग्लिसरिन बड़े महत्व का यौगिक है। यह बड़ी मात्रा में विस्फोटकों के निर्माण में प्रयुक्त होता है। ग्लिसरिन का अधिक भाग इसी में खपता है। थोड़ी मात्रा में नाइट्रो-ग्लिसरिन ओषधियों और विषनिर्माण में भी प्रयुक्त होता है।

ग्लिसरिन की एक विशेषता इसका न सूखना है। जिस पदार्थ में वह डाला जाता है, वह वायु में सदा भीगा ही रहता है। इस कारण इसका उपयोग जूते तथा फाउंटेन पेन, डुप्लिकेटर, ठप्पे और मुद्रण की स्याहियों तथा प्लास्टिक आदि बनाने में होता है।

खाद्य सामग्रियों और पेयों के संरक्षण में भी ग्लिसरिन बहुमूल्य सिद्ध हुआ है।

चमड़ा ग्लिसरिन को पूर्णतया अवशोषित कर लेता है। इस कारण मलहम, चर्मलेप, कांतिवर्धक अंगराग, प्रसाधन पाउडर आदि में इसका व्यवहार होता है। ब्रेक और जलीय प्रेसों में जल के स्थान पर ग्लिसरिन का उपयोग होता है। गैसमीटर में यह भरा जाता है। ग्लिसरिन और पानी का विलयन न जल्द जमता है और न जल्द उद्वाष्पित होता है। इस कारण वायुयानों में प्रतिहिमायक द्रव के रूप में इसका व्यवहार होता है। वस्त्रव्यवसाय में भी कुछ ग्लिसरीन खपता है।

[फू० स० व०]

ग्लूकोज़ (Glucose) को द्राक्षा शर्करा और डेक्सट्रोज भी कहते हैं। यह अंगूर और अंजीर सदृश मीठे फलों, कुछ वनस्पतियों और मधु में पाया जाता है। अल्प मात्रा में यह रक्त और मूत्र (विशेषतः मधुमेह रोगी के मूत्र) सदृश जांतव उत्पादों, लसीका (lymph) और प्रमस्तिष्क मेरुतरल (cerebrospinal fluid) में भी पाया जाता है। स्टार्च, सेलूलोज, सेलोबायोस और माल्टोज सदृश कार्बोहाइड्रेट ग्लूकोज से ही बने हैं। चीनी और दुग्धशर्करा जैसी कुछ शर्कराओं में अन्य शर्कराओं के साथ यह संयुक्त पाया जाता है। प्राकृतिक ग्लूकोसाइडों का यह आवश्यक अवयव है।

तनु सलफ्यूरिक अम्ल द्वारा स्टार्च के जलविश्लेषण से बड़ी मात्रा में ग्लूकोज तैयार किया जाता है। अल्प मात्रा मे प्रयोगशालाओ में चीनी से यह तैयार हो सकता है। कृत्रिम रीति से भी इसका संश्लेषण हुआ है।

ग्लूकोज ऐल्फा और बीटा रूपों में पाया जाता है। सामान्य ग्लूकोज अजल दशा में १४६·५° सें० पर और जलयोजित रूप में ८६° सें० पर पिघलता है। यह दक्षिणावर्ती होता है। तुरंत के तैयार विलयन का विशिष्ट घूर्णन [a] D = + १०९·६° होता है, पर धीरे धीरे घूर्णन कम होकर +५२·५° पर स्थायी हो जाता है। ऐल्फा-ग्लूकोज का विशिष्ट घूर्णन + १०९·६° और बीटा का + १७·५° है। सामान्य ताप पर ऐसीटिक अम्ल के मणिभीकरण से ऐल्फा रूप और पिरिडिन के विलयन के मणिभीकरण से बीटा रूप प्राप्त होता है। वामावर्ती ग्लूकोज भी प्राप्त हुआ है। यीस्ट से ग्लूकोज का किण्वन सरलता से होता है।

ग्लूकोज प्रमुख आहार और औषध है। इससे देह मे उष्णता और शक्ति उत्पन्न होती है। मिठाइयों और सुराओं के निर्माण मे भी यह व्यवहृत होता है। ग्लाइकोजन के रूप मे यह यकृत और पेशियों मे संचित रहता है। इसका अणुसूत्र का$_6$ हा$_{12}$ ओ$_6$ ($C_6H_{12}O_6$) और आकृतिसूत्र है :

काहा$_2$ओहा· काहाओहा· काहाओहा· काहाओहा· काहाओहा· काहाओ

[$CH_2OH \cdot CHOH \cdot CHOH \cdot CHOH \cdot CHOH \cdot CHO$]

[मो० ला० गु०]

ग्लेसिए, एगुई दे या एगुईय दे ग्लास्ये (Aiguille des Glaciers) पर्वत, पूर्वी फ्रांस में, आल्प्स पर्वतमाला की सबसे ऊँची और प्रसिद्ध चोटी, मां ब्लां (Mont Blanc), के ठीक दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। इसका शिखर १२,५१७ फुट ऊँचा है।

[भ० दा० व०]

ग्लैंडर्स पशुओं की एक व्याधि है, जो मनुष्यों में संक्रमण के द्वारा प्रवेश कर जाती है। यह गंभीर संक्रामक व्याधि है, जिसमें सारे शरीर पर जगह जगह उभरनेवाले पीबयुक्त फोड़े (फुंसियाँ) निकल आते हैं। इस रोग को उत्पन्न करनेवाला 'मैलियोमाइसीज मैलाई' (Malleomyces-mallei) नामक एक जीवाणु है, जो आक्सीजन में जीवित रहनेवाला (aerobic), गतिहीन, बीजांड न बनानेवाला (non-sporlulating), ग्राम ऋण (gram negative) है।

महामारी विज्ञान — किसी समय ग्लैंडर्स अमरीका में घोड़ों का साधारण रोग था, परंतु कठोर रोकथाम द्वारा अब यह रोग संभवतः निर्मूल कर दिया गया है। संयुक्त राष्ट्र, अमरीका, में इस रोग के विलोपन के फलस्वरूप मनुष्यों में अब इसका संक्रमण दुष्प्राप्य हो गया है, फिर भी यह रोग अभी मध्य यूरोप, उत्तरी अफ्रीका और एशिया के कुछ भागों में पाया जाता है।

रोग उत्पादन — इस रोग के मुख्य पोषक घोड़े, खच्चर और गदहे हैं। इसकी छूत इन्हीं बीमार पशुओं की देखरेख करने से लग जाती है। इसके जीवाणु त्वचा के कटने (aberration) से, नेत्रश्लेष्मिका झिल्ली (Conjunctiva) में घुसने से एवं आमाशय द्वारा प्रवेश करते हैं। प्रवेश के स्थान से इसका संक्रमण लसीकावाहिनियों और रक्तवाहिनियों में होकर शरीर भर में फैल जाता है।

प्रादुर्भाव लक्षण (Manifestations) — प्रायः संक्रमण काल कई दिनों से लेकर कई सप्ताहों तक का होता है। मनुष्यों का ग्लैंडर्स उग्र और जीर्ण दोनों प्रकार का होता है। उग्र रूप का ग्लैंडर्स, जो साधारणतः होता है, बड़ी तेजी से बढ़ता है। रोग एकाएक जाड़ा देकर, तेज बुखार और काफी कमजोरी से आरंभ होता है। त्वचा में जीवाणु के प्रवेश-स्थान पर एक ग्रंथि बन जाती है, जो फूटकर एक बेडौल, पीड़ायुक्त व्रण (ulcer) का रूप धारण कर लेती है। इसका किनारा सीमांकित रहता है और जल्दी नहीं भरता। लसीकावाहिनी और रक्तवाहिनी नलियाँ संक्रमण को क्षेत्रीय लसीका गाठों, उपत्वचीय और उपश्लेष्मिक ऊतकों, मांसपेशियों, फेफड़ों एवं दूसरे आभ्यंतरिक अंगों तक पहुँचा देती हैं। घाव धीरे धीरे बड़े होकर आपस में मिल जाते हैं और बीच में गल जाते हैं, जिनमें पनीर की भाँति का पदार्थ रहता है। बाहरी ग्रंथियाँ फोड़े के रूप में बदल जाती हैं, परंतु भीतरी फोड़े प्रायः नलीदार घाव बनाते हैं।

फेफड़ों पर घने क्षेत्र बन जाते हैं। यकृत एवं तिल्ली में शोथ होता है और वे बढ़ जाते हैं। त्वचा के ऊपर ये व्रण पहले धब्बेदार चकत्तो के रूप में दिखाई पड़ते हैं। दूसरी अवस्था में ये फफोले बन जाते हैं, जो बाद में व्रण के रूप में बदल सकते हैं। मस्तिष्कच्छदप्रकोप (Menengitis), अस्थिकोप (Osteomyelitis) और बहुपूयिक संधिकोप (Purulent poly-arthritis) भी हो सकता है। उग्र प्रकार का ग्लैंडर्स बड़े वेग से बढ़ता है और अधिकांश अवस्थाओं में एक से लेकर तीन सप्ताह तक के भीतर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

जीर्ण प्रकार का ग्लैंडर्स, जो प्रायः कम होता है, साधारण बुखार और साधारण प्रारंभिक लक्षणों से शुरू होता है। रोग की अवस्था में उग्रता एवं शैथिल्य की विशेषता पाई जाती है। आधे से अधिक रोगी महीनों या वर्षों तक बीमारी से कमजोर होकर अंत में मर जाते हैं।

निदान — रोग का निश्चित निदान उत्स्वेद, थूक या खखार, मल, एवं खून में वर्तमान रोगाणु के संवर्धन द्वारा किया जा सकता है। पशुओं में टीका लगाने की रीति द्वारा, जैसे स्ट्रांस की अभिक्रिया (Strans's reaction), लसीय (serological) परीक्षा द्वारा, बायोप्सी (Biopsy) द्वारा और मेलाई जीवाणु द्वारा त्वचीय क्षमता (dermal sensitivity) को प्रदर्शित करके भी इसका ठीक ठीक निदान किया जा सकता है।

उपचार — अनेक रासायनिक औषधियों में सल्फाडायाजीन, खून के १० से १५ मिलिग्राम प्रति १०० मिलिलिटर के स्तर पर, बड़ा प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। इस दवा को कम से कम २० दिन सेवन कराना चाहिए। पेनिसिलिन भी प्रभावकारी है। स्ट्रेप्टोमाइसीन का भी अच्छा परिणाम ज्ञात हुआ है। दूसरी जीवाणुनाशक औषधियों को अकेले या मिलाकर देने से सल्फाडायाजीन की अपेक्षा ज्यादा प्रभाव हो सकता है। रोग की विशेष वैज्ञानिक चिकित्सा रोगाणु की संवर्धनक्षमता ज्ञात हो जाने के बाद ही संभव होती है।

[श० पा० गु०]

ग्लैड्स्टन, विलियम एवर्ट (१८०९–१८९८) संसार के महान् राजनीतिज्ञों में इंग्लैंड के प्रधान मंत्री ग्लैड्स्टन की कीर्ति अमिट है। यह महारानी विक्टोरिया के शासनकाल में चार बार इंग्लैंड का प्रधान मंत्री नियुक्त हुआ। यह स्काटलैंड का निवासी था और लिवरपूल में इसका जन्म हुआ था। एटन तथा क्राइस्टचर्च कालेज में इसकी शिक्षा दीक्षा हुई थी। केवल २३ वर्ष की आयु में यह कामन्स सभा का सदस्य चुना गया था। इसकी भाषण शैली इतनी चित्ताकर्षक थी कि यह श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देता था। लोककल्याण इसके जीवन का उद्देश्य था, राजनीति इसकी कर्मभूमि थी, यह उसकी ख्याति का साधन नहीं थी। पहले यह ब्रिटिश अनुदारवादी दल का सदस्य था किंतु क्रमशः विचारों में परिवर्तन होता गया और यह उदारवादी दल में संमिलित हुआ। इसकी ख्याति एवं संमान उदारवादी विचारों के कारण ही हुई। १८४७ में यह कामन्स सभा का सदस्य चुना गया और इसने डिजरैली के बजट की आलोचना की। यह विचारोत्पादक भाषण इसकी ख्याति का पहला सोपान था। यह सन् १८५३ में अर्ल एबरडीन की मंत्रिपरिषद् तथा सन् १८५५ और १८५७ में लार्ड पामर्स्टन की मंत्रिपरिषद् में अर्थसचिव नियुक्त हुआ। क्रमशः इसने कामन्स सभा में उदारवादी दल का नेतृत्व ग्रहण किया। आयरलैंड की समस्या गंभीर होती जा रही थी, वहाँ इंग्लैंड विरोधी आंदोलन बढ़ता जा रहा था। ग्लैड्स्टन ने दूरदर्शिता से काम लिया और कामन्स सभा में प्रतिकूल वातावरण होते हुए भी, दो बार आयरलैंड के लिये स्वराज्य की माँग के प्रस्ताव रखे। किंतु अनुदारवादियों ने दोनों ही बार इस प्रस्ताव का विरोध कर इसे गिरा दिया। १८९४ में ग्लैड्स्टन ने इस विरोध के कारण अपने पद से त्याग पत्र दे दिया, किंतु अपने अंतिम भाषण में उसने यह चेतावनी दे दी थी कि इंग्लैंड और आयरलैंड का मैत्रीभाव आयरलैंड के स्वराज्य की माँग की पूर्ति में ही संभव है।

ग्लैड्स्टन ने कामन्स सभा में छह बजट पेश किए थे जो अपनी विचारशीलता के लिये स्मरणीय हैं। पार्लमेंट की निर्वाचनपद्धति भी एक विचारणीय विषय था। ग्लैड्स्टन ने पार्लमेंट का तीसरा सुधार-नियम स्वीकृत करवाया जिसके अनुसार किसानों और मजदूरों को मतदान का अधिकार दिया गया। ग्लैड्स्टन ने बड़ी सावधानी से अपने तर्क और प्रभाव पार्लमेंट में इस प्रस्ताव के पक्ष में रखे। यह प्रस्ताव, जिसे विधेयक का रूप मिला, ग्लैड्स्टन के धैर्य और तर्क का परिचायक है।

मिस्र में अंग्रेजों के विरुद्ध आंदोलन खड़ा किया गया था, किंतु इस आंदोलन को शांत करके वहाँ पर इंग्लैंड का आधिपत्य स्थापित कर दिया गया। सूडान प्रांत में मेहदी नाम के एक मुसलमान नेता ने भयंकर विद्रोह शुरू कर दिया था। ग्लैड्स्टन सूडान के विद्रोह का दमन करने में असफल रहा और अंग्रेजी सेना का लोकप्रिय सेनानी जनरल गोर्डन स्वयं विद्रोहियों के हाथों मारा गया। इस लोकप्रिय सेनानी की मृत्यु से एक अप्रत्याशित वेदना और क्षोभ की भावना देश भर में फैल गई। अस्तु ग्लैड्स्टन की शांतिप्रिय नीति से अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में ब्रिटेन की बहुत मानहानि हुई, और प्रत्येक प्रश्न पर समझौते से काम लेने की नीति के कारण अन्य देश यह समझने लगे कि अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में इंग्लैंड दुर्बल हो गया है। अपनी अंतरराष्ट्रीय शांतिप्रिय नीति के कारण ग्लैड्स्टन की सर्वप्रियता कम हो गई।

ग्लैड्स्टन ने अपने प्रधान मंत्रित्वकाल में सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में लोककल्याण की दृष्टि से लोकोपयोगी विधेयक स्वीकृत करवाए। ग्लैड्स्टन प्रभावशाली प्रधान मंत्री था। अपने शासनकाल में इसने ऐसे आंदोलन प्रारंभ किए जिससे देश का उन्नयन हुआ और ब्रिटेन प्रजातंत्र की ओर अग्रसर हुआ।

[शु० ते०]

क्वांगजू (Kwangju) स्थिति : ३५° ८' उ० अ० तथा १२६° ५४' पू० दे०, जनसंख्या १,३८,८८३ (१९४९)। यह नगर दक्षिणी कोरिया के दक्षिणी चोला प्रांत की राजधानी है, जो दक्षिण कोरिया की राजधानी स्यूल या सेडल से १६५ मील दक्षिण में स्थित है। यह रेलमार्ग का तथा सूती और सिल्क वस्त्रनिर्माण का केंद्र है।

यहाँ प्राचीन मंदिर तथा राजसी मकबरे हैं। इस नगर को क्वांगजू, कोशू तथा कोशियू भी कहते हैं।

[रा० प्र० सिं०]

क्वांगदुंग (Kwantung) प्रांत का क्षेत्रफल ८५,४४७ वर्ग मील; अनुमानित जनसंख्या ३,२३,३९,००० (१९४७) है। चीन के दक्षिण-पश्चिमी भाग में फैला हुआ यह समुद्रतटीय प्रांत है, जिसके उत्तर में हुनान तथा क्यांगसी, उत्तर-पूर्व में फुकिएन, दक्षिण तथा पूर्व में दक्षिणी चीन सागर और पश्चिम में क्वांगसी प्रांत हैं।

समीपवर्ती समुद्रतटीय प्रांतों, फुकिएन तथा चेक्यांग, की तरह ही क्वांगदुंग प्रांत में भी पर्वतीय श्रेणियाँ तथा अंतःस्थित लंबी घाटियाँ समुद्रतट के समांतर स्थित हैं। इनके समांतर होने तथा अधिकांशतः ग्रेनाइट चट्टानों से निर्मित होने के कारण प्रांत के अंतर्भाग से तटीय क्षेत्र तक जाने के मार्ग बहुत कम तथा कठिन हैं। इनमें होकर केवल दो प्रमुख नदियाँ गुजरती हैं --पूर्व में हान नदी (हान क्यांग) तथा मध्य में शी नदी (शीजियांग)। हान घाटी का ऐतिहासिक, भौगोलिक, भाषागत तथा अन्य संबंध अपेक्षाकृत फुकिएन प्रांत से अधिक रहा है। अंतर्भाग में स्थित पहाड़ियाँ बहुधा पत्थर की बनी हैं। प्रांत का प्रमुख क्षेत्र शी नदी तथा उसकी सहायक बे (Peh) एवं दुंग (Tung) नदियों की घाटियों में पड़ता है। कैंटन डेल्टा क्षेत्र इसका प्रधान केंद्रस्थल है।

यह प्रांत उष्ण कटिबंधीय क्षेत्र में पड़ता है। वर्ष भर समान रूप से ऊँचा ताप एवं अधिक वर्षा होने के कारण यहाँ एक ही खेत में धान की दो तथा फल या सब्जी की एक फसल उपजाई जाती है। धान यहाँ की प्रधान उपज है, लेकिन जनसंख्या अधिक होने के कारण चावल का आयात करना पड़ता है। धान न केवल नदी-घाटियों में प्रत्युत पहाड़ी ढालों को सीढ़ीनुमा क्यारियों में काटकर उगाया जाता है। अन्य खाद्य फसलों में कैंटन डेल्टा की नारंगी, निचली दुंग घाटी के केले तथा स्वाताउ (Swatow) डेल्टा का गन्ना प्रसिद्ध है। व्यापारिक फसलों में रेशम के लिये शहतूत, जो पहाड़ी ढालों पर उगता है, तथा चाय मुख्य हैं। अनुकूल जलवायु के कारण शहतूत की छः छः, सात सात फसलें हो जाती हैं, अतः अनुपाततः यहाँ सब प्रांतों से रेशम की पैदावार

अधिक होती है। उच्च पर्वतीय ढालों तथा घाटियों के ऊपरी भागों में कम मिलते हैं, लेकिन अधिकांश वन कट जाने के कारण मिट्टी का कटाव अब अधिक भयावह हो गया है। व्यापारिक लकड़ियाँ नदियों में बहाकर लाई जाती हैं। प्रांत भर में बाँस मिलता है।

जनसंख्या का अधिकांश उपजाऊ नदी-घाटियों तथा डेल्टाओं में स्थित है। कैंटन डेल्टा यांग्सी डेल्टा की तरह ही जनसंकुल है। पर्वतीय भागों में जनसंख्या कम है। कैंटन के पृष्ठक्षेत्र तथा पश्चिमी समुद्रतटीय मैदान में अधिकांशतः कैंटन के लोग रहते हैं, किंतु स्वाताउ डेल्टा तथा पूर्वी समुद्रतटीय मैदान के निवासी 'होक्लो' कहलाते हैं। इनका निकटतम संबंध फुकिएन निवासियों से है। अंतर्भाग के उच्चतर क्षेत्रों, हान, टुंग तथा पे नदियों की ऊपरी घाटियों, के निवासी पर्वतीय जाति के 'हक्क' कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त म्याव, याव आदि आदिम जातियाँ पश्चिम में रहती हैं।

क्वांगटुंग प्रांत, विशेषतः कैंटन क्षेत्र राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं। कैंटन क्षेत्र के द्वारा ही सर्वप्रथम यूरोपियनों का आगमन हुआ। सदियों तक कैंटन चीन का एकमात्र पत्तन रहा, जहाँ से विदेशों से व्यापार किया जा सकता था। क्वांगटुंग तथा फुकिएन प्रांतों के रास्तों से उत्तर तथा मध्य चीन से चीनियों का दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व में समावेश हुआ। विदेशों से प्रारंभिक राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं व्यापारिक संबंध होने के कारण यहाँ जागरूकता अधिक रही। आधुनिक चीन के निर्माता डा० सन यात सेन का जन्म कैंटन के पास ही हुआ था।

कैंटन दक्षिणी चीन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पत्तन तथा इस प्रांत की राजधानी है। इस प्रांत में रेशम बुनना, कसीदाकारी तथा मिट्टी के बरतन बनाने के घरेलू उद्योग धंधे होते हैं।

[का० ना० सिं०]

क्वाँगसी (Kwangsi) दक्षिण चीन का एक प्रांत, क्षेत्रफल ८४,५२६ वर्ग मील; अनुमानित जनसंख्या १,४८,६१,००० (१९४७) है। इसके उत्तर तथा उत्तर-पूर्व में हुनान और क्वेजो, दक्षिण में क्वांगटुंग तथा उत्तरी वियतनाम के क्षेत्र, पूर्व में क्वांगटुंग और पश्चिम में यून्नान तथा क्वेजो प्रांत के भाग हैं। अधिकांश क्षेत्र शी नदी की ऊपरी घाटी में पड़ता है और पर्वतीय है। शी तथा उसकी सहायक नदियों, सियांग (यू), हुंगशुइ, और क्वे आदि द्वारा अपक्षरण होने के कारण अधिकांश धरातल ऊँचा नीचा हो गया है। इन्हीं नदी घाटियों से प्रमुख व्यापारिक मार्ग गुजरते हैं। शी द्वारा यून्नान, लिउ द्वारा पूर्वी क्वेजो, क्वे द्वारा हुनान तथा सो (Tso) द्वारा वियतनाम जुड़े हुए हैं। अतः नदी घाटियों के प्रमुख संगमस्थलों पर प्रसिद्ध नगर तथा कस्बे बसे हुए हैं। क्वेलिन, जो पहले प्रांतीय राजधानी था, क्वे नदीमार्ग पर, नानिंग (यूनिंग), जो संप्रति प्रांतीय राजधानी है, सियांग के यून्नान जानेवाले मार्ग पर तथा विचाउ, जो प्रांत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यापारिक नगर है, शी नदी पर स्थित हैं। चूना पत्थर से निर्मित क्षेत्र में अपक्षरण-चक्र लगभग पूर्ण हो गया है और अवतरण रंध्र (Sink holes) मिलकर धँसे हुए मैदान के रूप में हो गए हैं।

जलवायु उष्णकटिबंधीय है। मुख्य फसल तथा खाद्यान्न चावल है, जिसका अधिकांश नदी घाटियों तथा कुछ ढालों पर सीढ़ीनुमा क्यारियों में उगाया जाता है। जनसंख्या कम घनी होने के कारण चावल यहाँ से निर्यात होता है। मकई, गन्ना, चाय तथा कपास अन्य मुख्य फसलें हैं। यहाँ भी बहुत सा वन्य भाग कट गया है इसलिये मिट्टी का कटाव एक समस्या हो गई है। ऊपरी भागों में सुरक्षित वनों से लकड़ियों के अतिरिक्त तेजपात, दालचीनी, काठतेल आदि प्राप्त होते हैं। रेशम तथा सूती कपड़ों के उद्योग यहाँ प्रमुख हैं।

अधिक पर्वतीय तथा कटा छँटा होने के कारण यहाँ जनसंख्या का घनत्व कम (१७० मनुष्य प्रति वर्ग मील) है। यह अपेक्षाकृत अविकसित प्रांत है। इसका अभी तक पूर्णतया चीनीकरण भी नहीं हो पाया है। यहाँ की ४० प्रति शत जनसंख्या विशुद्ध चीनी है तथा शेष में विभिन्न आदिम जातियाँ हैं, जिनमें याव, म्याव, चुंग, तथा मिश्रित थाई एवं रक्तवर्ण चीनी संमिलित हैं। ये जातियाँ चीनियों के आने के कारण पर्वतीय भागों में चली गई हैं। ये पहले अपने अपने मुखियों द्वारा शासित होती थीं।

[का० ना० सिं०]

ग्वाटिमाला (Guatemala) स्थिति : १५° ४०' उ० अ० तथा ९०° ३०' प० दे०। मध्य अमरीका का सर्वोत्तरी गणराज्य, जो मध्य अमरीकी देशों में क्षेत्रफल की दृष्टि से द्वितीय (४२,३५३ वर्ग मील) तथा जनसंख्या की दृष्टि से प्रथम (१९६० में अनुमानित : ३७,५९,०००,) है। प्रशांत महासागरीय तथा कैरीबियन सागरीय तटों की लंबाई क्रमशः लगभग २०० तथा ७० मील है।

इसका लगभग दो तिहाई भाग ज्वालामुखीय तथा पर्वतीय है। लगभग २०० मील लंबा तथा ३० मील चौड़ा समुद्रतटीय मैदान प्रशांत महासागर के समांतर फैला है। इसके बाद समुद्रतल से ३००-४,५०० फुट ऊँचा पर्वतपदीय पठारी भाग है। यहाँ ८,०००-१०,००० फुट ऊँची सियरा मेडर नामक पर्वत श्रेणियाँ हैं, जिनमें बहुत से ज्वालामुखीय शिखर (ताहूमूल्को १३,८१२ फुट; टैकना १३,३३३ फुट; एकाटेनांगो १२,९९२ फुट; फ्वेगो १२,५८१ फुट; सांता मेरिया १२,३६२ फुट; आग्वा १२,३१० फुट आदि) हैं। इनके कारण बहुधा भूकंप हुआ करते हैं। इन अंतर्पर्वतीय भागों में स्थित घाटियाँ अत्यंत उपजाऊ हैं। इस क्षेत्र की जनसंख्या का वितरण, आवासक्रम, स्थापत्य कला तथा आर्थिक प्रगति पर इन ज्वालामुखी पर्वतों का प्रचुर प्रभाव दिखाई देता है। उत्तर में कैरीबियन सागर का तटवर्ती नीचा मैदान है, जो पहले 'माया' सभ्यता का केंद्र था। यह भाग अधिकांशतः वनाच्छादित है।

कृषि प्रमुख धंधा है। स्थानीय उपयोग के लिये मकई, गन्ना, धान, गेहूँ, विभिन्न किस्म की सेमें, फल तथा तंबाकू आदि पैदा किए जाते हैं। कहवा (३,३८,००० एकड़, कुल निर्यातमूल्य का ७० प्रति शत), केले, कपास, मनीला (abaca) तेल, कोको तथा लकड़ियाँ प्रमुख निर्यात वस्तु हैं। पशु, भेड़, बकरियाँ, सूअर तथा मुर्गी पालन भी प्रमुख व्यवसाय हैं। सन् १९४८ में कुल राष्ट्रीय उत्पादन का केवल १४ प्रति शत उद्योग धंधे से प्राप्त हुआ। ये उद्योग भोज्य-सामग्री, कपड़ों, तंबाकू, इमारती सामान तथा लकड़ियाँ आदि से संबंधित हैं। लगभग ६५ प्रति शत भूमि वनाच्छादित है। खनिज पदार्थों में सोना, चाँदी, सीसा, जस्ता, ताँबा तथा क्रोमियम प्रमुख हैं। ऐंटीमनी, लोहा, स्फटिक तथा कोयला भी उपलब्ध हैं। पैटेन, अल्टा वेरापाज तथा आइजाबेल क्षेत्र में मिट्टी के तेल की संभावना है। मत्स्योत्पादन भी बढ़ रहा है।

कुल जनसंख्या का लगभग ५४ प्रति शत इंडियन तथा शेष लैडिनो (मिश्रित इंडियन-स्पेनिश रक्त) हैं। तीन प्रमुख क्षेत्रों में—ज्वालामुखीय पर्वतीय भाग, प्रशांत महासागरतटीय मैदान तथा दक्षिण-पूर्वी भाग, जो

एल सैल्वाडॉर तथा होंडुरैस से सटा है, जनसंख्या का अधिकांश भाग रहता है। ग्वाटिमाला देश की राजधानी तथा सर्वप्रमुख नगर है जबकि द्वितीय बृहत्तम नगर क्वैसालटेनांगो (Quezaltenango) की जनसंख्या केवल ३६,२०६ है। अन्य नगरों में कोबान (२६,२४२), जैकेपा (२७,६६६), प्वेर्टो बैरंयोस (१५,३३२) प्रमुख हैं।

यातायात का अभाव देश की प्रगति में बाधक है। कुल ७२० मील रेलमार्ग है। मध्य अमरीकी अंतरराष्ट्रीय रेलमार्ग ग्वाटिमाला को मेक्सिको तथा एल सैल्वाडॉर से जोड़ता है। यहां कुल ४,४१७ मील लंबी सड़कें हैं, जो राजधानी से प्रांतीय राजधानियों को संबंधित करती हैं। प्वेर्टो बैरंयोस अतलांतक महासागर के किनारे सबसे बड़ा पत्तन है। प्रशांत महासागर के तट पर ओकोज, शैंपरिको तथा सान जोज छोटे पत्तन हैं। नदियां बहुत कम परिवहनीय हैं।

[का० ना० सिं०]

ग्वादर (Gwadar), स्थिति : २५° ८' उ० अ० तथा ६२° ११' पू० दे०, जनसंख्या ६,००० । यह बलूचिस्तान (पश्चिमी पाकिस्तान) में कराची से लगभग २६० मील पश्चिम ओमान की खाड़ी एवं मकरान समुद्रतट पर अवस्थित एक छोटा सा कस्बा तथा पत्तन है। माध्यमिक काल में इसका बहुत महत्व था और ईरान की खाड़ी तथा भारत के पश्चिमी तट पर स्थित पत्तनों के व्यापारिक जहाज यहां रुकते थे। इस महत्वपूर्ण स्थिति के कारण ही १५८१ ई० में पुर्तगाली लुटेरे नाविकों ने इसपर आक्रमण किया और नगर में आग लगा दी तथा लूटपाट की। १७वीं सदी के अंत में इसपर कलात के खान का आधिपत्य हुआ। १८वीं सदी के उत्तरार्ध में कलात के खान नसीर खां प्रथम ने इसे तथा पास की लगभग ३०० वर्ग मील भूमि मस्कत के सुल्तान के भाई को आजीविका के लिये दे दी। पाकिस्तान का निर्माण होने पर ग्वादर पत्तन तथा ओमान की खाड़ी के उत्तर (बलूचिस्तान) का कुछ क्षेत्र पाकिस्तान के अधिकार में आ गया है। ग्वादर के अधिकांश निवासी मछुए हैं, जो 'मेद' कहलाते हैं। यहां का व्यापार खोजा मुसलमानों, जिन्हें 'लोटिया' कहते हैं, तथा हिंदू गुजरातियों के हाथ में है। कराची तथा बंबई-बसरा-मार्ग पर चलनेवाले जहाज यहां ठहरते हैं। कस्बे के पास ही पहाड़ी पर पत्थर से बना हुआ सुंदर बांध है।

[का० ना० सिं०]

ग्वादलकनाल (Guadalcanal) द्वीप (क्षेत्रफल २,५०६ वर्ग मील, अधिकतम लंबाई तथा चौड़ाई क्रमशः ६२ और ३३ मील; जनसंख्या लगभग १५,०००) प्रशांत महासागर के दक्षिण-पश्चिम भाग में ब्रिटिश संरक्षण में सोलोमन द्वीपसमूह के अंतर्गत है। इसका धरातल ऊबड़ खाबड़, पर्वतीय तथा वन संकुल है। अनेक छोटी छोटी नदियां मध्य में लंबायित काबो पर्वत (उच्चतम शिखर पोपोमानासिउ, ८,००५ फुट) से निकलकर समुद्र में गिरती हैं। यहां नारियल, केले तथा अनन्नास की खेती होती है। पशुपालन भी यहां का प्रमुख व्यवसाय होता आ रहा है। यहां के अधिकांश निवासी मलयेशियन तथा कुछ मिश्रित रक्त के पोलिनेशियन हैं। कुछ चीनी तथा श्वेत निवासी भी हैं। द्वीप के उत्तरी छोर पर समुद्रतटीय भाग में स्थित होनियारा सोलोमन द्वीपपुंज की राजधानी है। इसी के पास हेंडरसन फील्ड नामक विशाल हवाई अड्डा है।

स्पेन के प्रसिद्ध नाविक तथा भ्रमणकर्ता अल्वरो द मेंडाना द न्येरा (Alvaro de Mendana de Neyra) ने इस द्वीप का पता १५६८ ई० में लगाया था। लगभग २०० वर्ष बाद १८६८ ई० में कुछ श्वेत व्यापारी यहां आए। १८६३ ई० के लगभग संपूर्ण सोलोमन द्वीपपुंज ब्रिटेन के संरक्षण में आ गया था।

[का० ना० सिं०]

ग्वादालाहारा (Guadalajara) १. स्थिति : २०° ४१' १०" उ०अ० तथा १०३° २१' १५" प० दे०; यह मेक्सिको के जलिस्को प्रांत का प्रधान प्रशासकीय नगर है। यहां की जनसंख्या ३,७७,६२८ (१६५०) है। यह मेक्सिको नगर से २८० मील पश्चिम-पश्चिमोत्तर में समुद्रतल से ५,०६२ फुट की ऊँचाई पर सेंटियागो नदी के पास मध्य पठार के पश्चिमी छोर पर स्थित है। यह मेक्सिको का द्वितीय बड़ा नगर है। इस नगर का निर्माण योजनान्वित है और इसे सार्वजनिक स्थानों और उद्यानों का नगर कहते हैं। ऐतिहासिक नगर होने के कारण यहां के भवन विभिन्न प्रकार की स्थापत्य कलाओं तथा शैलियों के निदर्शन स्वरूप हैं। यह विकसित कृषिक्षेत्र में स्थित है, अतः यहां के उद्योग कृषिगत पैदावारों पर आधारित हैं। कपास तथा ऊनी कपड़े, होजरी, आटा, चमड़े, धातुओं से बने सामान तथा सीमेंट आदि तैयार करने के धंधे प्रमुख हैं। अन्य परंपरागत धंधों में चमड़े की वस्तुएँ, लकड़ी के सामान, मिट्टी के बरतन तथा अन्य कलात्मक वस्तुएँ और शीशे के सामान आदि बनाए जाते हैं। यहां का राजकीय विश्वविद्यालय १७६२ ई० में स्थापित हुआ था। १६२५ ई० में इसे राष्ट्रीय विश्वविद्यालय का रूप दिया गया। इसके अतिरिक्त यहां प्रशासनिक कार्यालय, पुस्तकालय, ललितकला अकादमी आदि प्रमुख संस्थाएं हैं।

इस नगर की स्थापना स्पेन निवासी ख्रिस्तोबल द ओनेट द्वारा १५३१ ई० के लगभग हुई थी। आधुनिक स्थान पर यह १५४२ ई० में बसाया गया।

२. स्पेन में ग्वादालाहारा नामक प्रांत की राजधानी तथा सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर, जनसंख्या १६,१३१ (१६५० ई०) है। इसका प्राचीन नाम ऐरियाका (Arriaca) था। यह मैड्रिड से ३४ मील उत्तर-पूर्वोत्तर समुद्रतल से २,१०० फुट ऊँचाई पर एनारस (Henaras) नदी के बाएं तट पर मैड्रिड-सारागोसा-रेलमार्ग पर स्थित है। पहले यह नगर कपड़ा बुनने का प्रसिद्ध केंद्र था, लेकिन अब इसका महत्व घट गया है। यहां साबुन, चमड़े के सामान, ऊनी कपड़े तथा भोज्य सामग्री तैयार करने के छोटे संस्थान हैं।

३. राज्य, स्थिति : ४०° ३७' उ० अ० तथा ३° १२' प० दे०। यह मध्य स्पेन का एक प्रांत है, जो पहले न्यू कैसटील (New Castile) का एक भाग था। १८३३ ई० में न्यू कैसटील से कुछ क्षेत्र लेकर यह अलग प्रांत [क्षेत्रफल ४,७०६ वर्ग मील; जनसंख्या २,०२,२७८ (१६५०), प्रति वर्गमील घनत्व ४३ मनुष्य] बनाया गया। इस राज्य का विस्तार मध्यवर्ती पठार (मेसेटा) में है। यह उत्तर-पश्चिम में पर्वतीय तथा मध्य एवं दक्षिण में चौरस उत्थापित मैदान है। टेगस (ताहो) तथा उसकी सहायक गालो, ताहुना (Tajuna), एनारस (Heneres) आदि इसकी प्रमुख नदियां हैं। समुद्रतल से ऊँचाई पर होने के कारण यहां की जलवायु विषम है, लेकिन पर्वतीय भागों में ग्रीष्म-ऋतु में आराम रहता है। यहां गेहूँ, जौ आदि खाद्यान्न तथा अंगूर, जैतून तथा अन्य भूमध्यसागरीय जलवायुवाले फल पैदा होते हैं। भेड़ बकरियां भी पाली जाती हैं। ऊँची पर्वतीय ढालों से लकड़ी प्राप्त होती है। यहां बड़ी मात्रा में मधु का उत्पादन होता है। खनिज पदार्थों में लोहा, नमक, जिप्सम तथा संगमरमर प्रमुख हैं। कुछ घरेलू धंधों के अतिरिक्त ऊनी

कपड़े का व्यवसाय भी होता है। ग्वादालाहारा इस प्रांत का प्रमुख प्रशासनिक नगर है।

[का० ना० सिं०]

ग्वानिडिन (Guanidine), सूत्र हाना=का(नाहा$_2$)$_2$ [$HN = C (NH_2)_2$]। इसका नामकरण प्यूरीन पदार्थ 'ग्वानिन' (Guanine) के नाम पर हुआ है, जो समुद्री पक्षियों की बीट ग्वानो (guano) में मिलता है। स्ट्रेकर (A. Strecker) ने सर्वप्रथम ग्वानिडिन को ग्वानिन के विघटन से प्राप्त किया। ग्वानिडिन के संजात प्रोटीन, मांसरस तथा अन्य ऐसी ही वस्तुओं में पाए जाते हैं। ग्वानिडिन बनाने की सर्वोत्तम विधि ऐमोनियम थायोसायनेट को १८०° सें० तक गरम करने की है। इसमें पहले थायोयूरिआ बनता है, जो हाइड्रोजन सल्फाइड तथा सायन-ऐमाइड में विघटित हो जाता है। यह सायन-ऐमाइड अपरिवर्तित ऐमोनियम थायोसायनेट से संयुक्त होकर ग्वानिडिन थायोसायनेट बना लेता है।

ग्वानिडिन रंगहीन, मणिभीय तथा अत्यंत जलशोषक होता है। इसमें तीव्र क्षारीय गुण होते हैं। यह हवा से कार्बन डाइआक्साइड को अवशोषित कर लेता है तथा खनिज अम्लों और कार्बनिक अम्लों के साथ लवण बनाता है। क्षारों द्वारा जलविश्लेषित होने पर ग्वानिडिन ऐमोनिया तथा यूरिया बनाता है। इसके नाइट्रेट तथा पिक्रेट अविलेय होते हैं और इस प्रकार ग्वानिडिन की पहचान में सहायता करते हैं।

नाइट्रोजन के यौगिकों के रसायन के विकास में ग्वानिडिन का अत्यंत ही महत्वपूर्ण स्थान है। इसके नाइट्रीकरण से नाइट्रोग्वानिडिन, हाना : का (ना हा$_2$). ना हा. ना औ$_2$ [$HN : C (NH_2) NH. NO_2$] बनता है, जो (यशद चूर्ण + ऐसीटिक अम्ल द्वारा) अवकृत किए जाने पर ऐमिनोग्वानिडिन बनाता है। अम्लों अथवा क्षारों से जलविश्लेषित होकर पहले सेमिकार्बेजाइड बनाता है तथा बाद में कार्बन डाइआक्साइड, ऐमोनिया तथा हाइड्राजिन।

जानवरों के चयापचय में भी ग्वानिडिन महत्वपूर्ण भाग लेता है।

[र० प्र० रा०]

ग्वाम द्वीप, स्थिति : १३° २६' उ० अ० तथा १४४° ४३' पू० दे०। यह प्रशांत महासागर में स्थित मैरियाना द्वीपसमूह का बृहत्तम तथा सर्वाधिक जनसंख्यावाला द्वीप है। लंबाई ३०–३२ मील, चौड़ाई ४–१० मील; क्षेत्रफल लगभग २२५ वर्ग मील; जनसंख्या ६६,६१० (१९६०)। यह द्वीपपुंज के दक्षिणी छोर पर फैला हुआ है।

यह द्वीप ज्वालामुखीय है और लगभग चतुर्दिक् तटीय प्रवालभित्तियों (reefs) से घिरा है। यहाँ भूकंप बहुधा हुआ करता है। इसका धरातल पठारी तथा ऊबड़ खाबड़ है। उत्तरी भाग अधिकांशतः वनाच्छादित है। पूर्वी छोर पर खड़ी ढाल मिलती है। उत्तर का क्षेत्र समुद्रतल से लगभग ५०० फुट ऊँचा है। दक्षिण में धरातल नीचा (उच्चतम १,३३४ फुट) किंतु टूटा फूटा तथा पहाड़ी है। इन पहाड़ियों के मध्य में स्थित घाटियाँ कृषि के लिये उपजाऊ हैं। औसत वार्षिक वर्षा ८०" के लगभग तथा ताप २२°-३१° सें० रहता है। यहाँ मकई, शकरकंद, अन्ना, नारियल, केको (cacao), कहवा, कैसावा (cassava), केला, अनन्नास, रसदार फल तथा आम आदि होते हैं। पशुपालन तथा नारियल से नारिकेल (copra) तैयार करने के उद्योग भी प्रमुख हैं।

अधिकांश निवासी छोटे कस्बों तथा नगरों में रहते हैं। इन नगरों में बैरिगाडा जनसंख्या ११,५३२ (१९५०), अगना राजधानी, जनसंख्या १०,००४ (१९४०), सिनाजना (६,१५६), योगो (६०२६) तथा सुमे (६१३१) प्रमुख हैं। कुल ग्वाम की लगभग आधी (३०,०००) जनसंख्या आदिवासी है और शेष अमरीकी। महत्वपूर्ण सामरिक स्थिति के कारण यह द्वीप संयुक्त राज्य अमरीका का प्रमुख हवाई तथा नौसैनिक अड्डा है। इस द्वीप का पता फर्डिनेंड मैगलन ने ६ मार्च, १५२१ ई० को लगाया था। १८९८ ई० में स्पेन ने इसे संयुक्त राज्य अमरीका को दे दिया। द्वितीय महायुद्ध में १९४१ ई० के दिसंबर मास में इसे जापानियों ने अधिकृत कर लिया था, लेकिन १९४४ ई० के अगस्त मास में यह पुनः अमरीका के हाथ में चला आया।

[का० ना० सिं०]

ग्वायाकील, स्थिति : २° १५' द० अ० तथा ७९° ५२' प० दे०। यह दक्षिणी अमरीका के एक्वाडोर गणराज्य का सबसे बड़ा नगर तथा पत्तन है। अनुमानित जनसंख्या ३,२७,६५० (१९६० ई०) है। यह ग्वायास प्रांत की राजधानी है। यह क्वीटो से रेलमार्ग द्वारा २८० मील दूर ग्वायास नदी के दाएँ तट पर अर्थात् महासागर की ग्वायाकील खाड़ी में नदी के मुहाने पर २५ मील ऊपर स्थित है। यद्यपि इसकी स्थापना १५३१ ई० में हुई, तथापि वर्तमान स्थान पर यह १५३७ में स्थापित हुआ। इसे डच, फ्रेंच तथा अंगरेज समुद्री डाकुओं ने कई बार लूटा खसोटा तथा बरबाद किया। यहाँ साबुन, शराब, चमड़े की वस्तुएँ, चीनी, कपड़े, लोहा तथा यंत्रादि, सीमेंट तथा ऊष्णकटिबंधीय फलों के रस तैयार करने के उद्योग धंधे विकसित हो गए हैं। रबर, कहवा, केको (cacao), लकड़ियाँ, कोको (cocoa), चमड़ा, सुपारी आदि का यहाँ से निर्यात होता है। यहाँ विद्यालय तथा अन्य सांस्कृतिक संस्थाएँ भी विद्यमान हैं। नदी की चौड़ाई एवं गहराई अधिक होने के कारण बड़े बड़े समुद्री जहाज भी यहाँ तक चले आते हैं। यह पृष्ठभाग में लगभग दो सौ मील तक नौपरिवहनीय है। इस पत्तन पर १९५५ ई० में कुल १,०३५ जहाज (२६,१८,६०६ टन) आए थे। यह हवाई तथा स्थलमार्गों का भी केंद्र है।

[का० ना० सिं०]

ग्वाल शिवसिंह ने अपने 'सरोज' में ग्वाल प्राचीन—जो सं० १७१५ में वर्तमान थे तथा जिनकी रचनाएँ 'कालिदास-हजारा' में हैं—और ग्वाल मथुरावासी बंदीजन—जिन्हें सं० १८७९ में उपस्थित कहा गया है—नाम से दो कवियों का उल्लेख किया है, किंतु इनमें विशेष प्रख्यात और प्रसिद्ध दूसरे ग्वाल ही हैं। अपनी रचना नखशिख' में कवि ने अपना परिचय यों दिया है—"श्री जगदंबा की कृपा, ताकरि भयो प्रकास। बासी बृंदाबिपिन के, श्री मथुरा सुखवास॥ विदित विप्र बंदी बिसद, बरने व्यास पुरान। ता कुल सेवाराव को, सुत कवि ग्वाल सुजान॥" नवाब रामपुर (उत्तर प्रदेश) के दरबार के अमीर अहमद मीनाई ने सं० १९३० में 'इंतखाबे यादगार' नाम की एक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने अपने समकालीन और निकटवर्ती कवि ग्वाल की भी चर्चा की है। उनके अनुसार ग्वाल का जन्म सं० १८२९ में हुआ था। इनके गुरु दयाल जी बताए जाते हैं और मथुरावासी स्वामी विरजानंद, जो स्वामी दयानंद के गुरु थे, से भी इनका काव्यप्रकाश का अध्ययन करना कहा जाता है। तत्पश्चात् ये पंजाब केसरी महाराजा रणजीतसिंह के यहाँ गए जहाँ २० रु० दैनिक वेतन पर काम करने

गये। रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी पुत्र शेरसिंह से इन्हें पर्याप्त संमान मिला और जागीर भी। शेरसिंह के मारे जाने पर ये रामपुर के नवाब यूसुफअली खाँ के यहाँ उनके बुलाने पर गए। सात महीने बिताकर नवाब की इच्छा के विरुद्ध ये रामपुर छोड़कर चले आए। इनके अतिरिक्त इनका संबंध नाभानरेश जसवंतसिंह और राजस्थान के टोंक के नवाब आदि अनेक राजाओं से भी था। इनका काव्यकाल सं० १८७९ से सं० १९१८ तक माना जाता है। सं० १९२४ (१६ अगस्त, १८६७ ई०) में ६५वें वर्ष इनका निधन हुआ। इनके खूबचंद (या रूपचंद) और खेमचंद दो पुत्र भी कहे गए हैं।

ग्वाल प्रकृति से स्वच्छंद, फक्कड़ और घुमक्कड़ भी खूब थे। घूमने के बल पर ही, कहा जाता है उन्होंने १९ भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया था। अध्ययन इनका प्रगाढ़ और गंभीर था। संस्कृत एवं हिंदी-साहित्य का इन्होंने अच्छा अनुशीलन किया था जिसका पता इनकी रचनाओं के पीछे व्याप्त इनकी समीक्षादृष्टि देती है। रहन सहन इनकी राजा महाराजाओं के समान ही बड़ी ठाटबाटदार होती थी। शतरंज इनका प्रिय खेल था। छंद पढ़ने की शैली बड़ी ललित थी।

ग्वाल की रचनाओं की संख्या ५० से भी ऊपर बताई जाती है। मीनाई ने इनकी १४ रचनाएँ बताई हैं। नागरीप्रचारिणी सभा, काशी-द्वारा प्रकाशित, बीच बीच में कतिपय खोज विवरणों को छोड़कर, निरंतर सन् १९०० के वार्षिक रिपोर्ट से लेकर १९३८-४० ई० तक के त्रैवार्षिक रिपोर्टों में अबतक ग्वालकृत जो रचनाएँ देखी गई हैं, संक्षिप्त परिचय के साथ उनके नाम हैं: (१) 'यमुनालहरी' (रचनाकाल सं० १८७९, यमुना-यश-कथन, ऋतुवर्णन तथा स्फुट कवित्त, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से १९२४ ई० में प्रकाशित); (२) 'रसिकानंद' (जसवंतसिंह के प्रीत्यर्थं इसकी रचना सं० १८७९ में हुई, अलंकारग्रंथ), (३) 'रसरंग' (र० का० सं० १९०४, रसांगों सहित सारे रसों और नायिका-भेद का वर्णन), (४) 'अलंकार-भ्रम-भंजन' (इसकी सन् १९३२-३४ के खोज विवरण संख्या ७३ ए० में जो हस्तलिखित प्रति देखी गई है उसका लिपिकाल सं० १९२२ वि० दिया गया है, अलंकारग्रंथ), (५) 'नखशिख' (श्रीकृष्ण जू को नखशिख भी इसी का नाम, र० का० सं० १८८४ वि०, लक्ष्मीनारायण प्रेस, मुरादाबाद से प्रकाशित, श्रीकृष्ण का नखशिख-सौंदर्य-वर्णन), (६) 'हम्मीरहठ' (र० का० सं० १८८३ वि०, वीररसात्मक ग्रंथ), (७) 'भक्तिभावन या भक्तभावन' (र० का० सं० १९१९ वि०, भक्तिविषयक संग्रहग्रंथ), (८) 'दूषण-दर्पण' (र० का० सं० १८९१ वि०, काव्य-दोष-वर्णन), (९) 'गोपी पच्चीसी' (उद्धव-गोपी-संवाद-वर्णन), (१०) 'बंसीबीसा' (बंसीलीला भी इसी का नाम, श्रीकृष्ण की वंशी के अद्भुत प्रभावों का वर्णन), (११) 'कविहृदयविनोद' (संग्रहग्रंथ), (१२) 'प्रस्तावक कवित्त' (प्रस्तावक काव्य), (१३) 'होरी आदि के छंद' (कृष्ण और गोपियों के होली खेलने का वर्णन), (१४) 'कवित बसंत' (बसंत के संदर्भ में विप्रलंभ शृंगार वर्णन), (१५) प्रस्तारप्रकाश (पिंगलनिरूपक ग्रंथ), (१६) लक्षणा व्यंजना (भेदोपभेदसहित शब्दशक्तियों का विवेचन), (१७) कवित्त संग्रह, (१८) शांत रसादि कवित्त, (१९) ग्वाल कवि के कवित्त (संग्रहग्रंथ), (२०) षड्ऋतु संबंधी कवित्त, (२१) ग्रीष्मादि ऋतुओं के कवित्त, (२२) कविदर्पण (दूषणदर्पण का ही संभवतः दूसरा नाम, र० का० सं० १८९३ विक्रमी)। ग्वाल ने पद्माकर की 'गंगालहरी' के वजन पर 'यमुनालहरी' की, चंद्रशेखर वाजपेयी के 'हम्मीरहठ' का अनुगमन कर 'हम्मीरहठ' की, घनानंद और ठाकुर आदि रीतिमुक्त कवियों की प्रेमवर्णन शैली को अपनाकर 'नेहनिबाह' की, अनेक पूर्ववर्ती रीतिबद्ध कवियों की परिपाटी को लेकर अलंकारों पर, अलंकार भ्रमभंजन' की, 'शृंगार रस तथा नायक नायिका भेद पर 'रसरंग' की पिंगल पर 'प्रस्तारप्रकाश' की, काव्यदूषणों पर 'दूषणदर्पण' की, साहित्यशास्त्र पर 'रसिकानंद', 'साहित्यानंद', 'षड्ऋतु' और 'नखशिख' की रचनाएँ की हैं।

रीतिविवेचन में इन्होंने संस्कृताचार्यों के मतों का आधार ग्रहण करते हुए भी उनका अंधानुकरण नहीं किया है। भानुदत्त कृत 'रसतरंगिणी' के आधार पर इन्होंने रसों के स्वनिष्ठ और परनिष्ठ भेद किए हैं, जबकि वीर और रौद्र रसों में स्वनिष्ठ की स्थिति नहीं देखी जाती। ग्वाल भक्तिप्रकारों में सख्य, दास्य और वात्सल्य पर भी विस्तारपूर्वक विचार किया है।

ग्वाल आचार्यकर्म में जितने सफल रहे उतने कविकर्म में नहीं। यद्यपि रसपरिपाक और अभिव्यंजना कौशल में उनकी कविता काफी सफल रही है तथा मर्म तक न पहुँच पाने की विशिष्ट प्रतिभा की कमी के कारण उनकी रचनाओं में एक प्रकार का ऐसा सस्तापन आ गया है जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'बाजारू' होने की संज्ञा दी है।

सं० ग्रं०—आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास ; विश्वनाथप्रसाद मिश्र : हिंदी साहित्य का अतीत, भा० २; हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास—संपादक डा० नगेंद्र; डॉ० भगीरथ मिश्र : हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, हिंदी साहित्य कोश, भा० २।

[रा० फे० त्रि०]

ग्वालपारा या गोवालपारा। स्थित, २५° २८' से २६° ५४' उ० अ० तथा ८९° ४२' से ९१° ६' पू० दे०। असम राज्य का यह हरा भरा जिला ब्रह्मपुत्र नदी के दोनों तरफ लगभग १२,८१८ वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में फैला हुआ है। पूर्वी भाग में कुछ निम्न श्रेणियों के अतिरिक्त प्रायः संपूर्ण क्षेत्र समतल निम्न मैदान है। नकटी पहाड़ी की अधिकतम ऊँचाई लगभग ५०९ मीटर है। जिले की मुख्य नदी ब्रह्मपुत्र पूर्व से पश्चिम १,३६० किलोमीटर लंबाई में बहती है। उत्तर से मुख्य सहायक नदियाँ मनास, डलानी, आई, चंपामती, कोकिला आदि तथा दक्षिण से करनाई, फुलनाई, कलाम, दुदनाई आदि इसको जल प्रदान करती हैं। जलवायु उत्तरी असम से भिन्न है। ग्रीष्म ऋतु में बालू की आँधियाँ भी चलती हैं। उत्तर में जलवृष्टि ३५५.६ सेंटीमीटर दक्षिण में लगभग २४१.३ सेंटीमीटर जो प्रायः मई से सितंबर महीने के बीच होती है। नदी से दूरी के अनुसार मिट्टी के प्रकार क्रमशः बलुआ से चिकने होते जाते हैं। पहाड़ियों की तलहटियों में कंकड़ पत्थर से मुक्त मिट्टी प्राप्त होती है। जिले का लगभग २४ प्रति शत भूभाग वनदेय वनों से आच्छादित है जिसमें साल मुख्य हैं। प्रमुख कृषि उपज धान है। जनसंख्या प्रायः सघन है। जनसंख्या का औसत घनत्व लगभग ११२ व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है। जिले की संपूर्ण जनसंख्या १५,४१,८६२ (१९६१) है जिसमें २०% व्यक्ति साक्षर हैं।

ग्वालियर (पृष्ठ ६७–६८)

मुहम्मद गौस का मकबरा : पार्श्वचित्र, ल० १५६४)

ग्वालियर (पृष्ठ ६७–६८)

मुहम्मद गौस का मकबरा (सम्पूर्ण)

गौड़ (पृष्ठ ८४–८६)

बंगाल : क़दम रसूल (१५३०)

फलक ७.

ग्वालियर (पृष्ठ १८)

उदयेश्वर मंदिर (११वीं शती)

ग्वालियर (पृष्ठ १८)
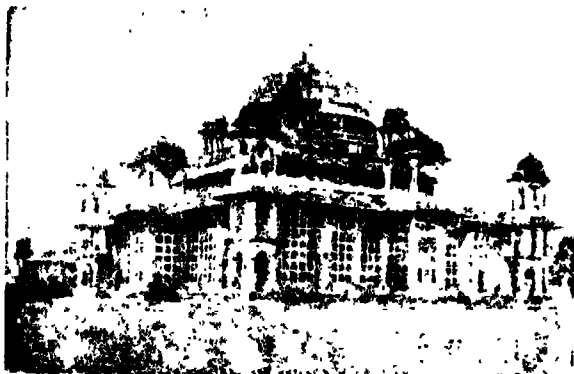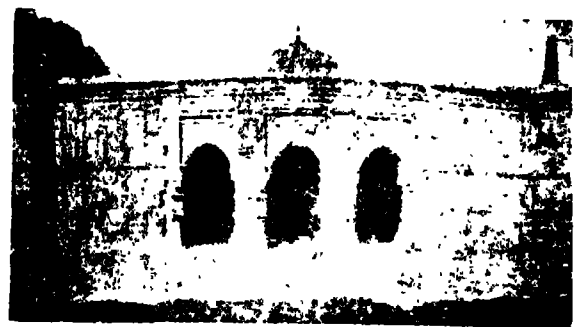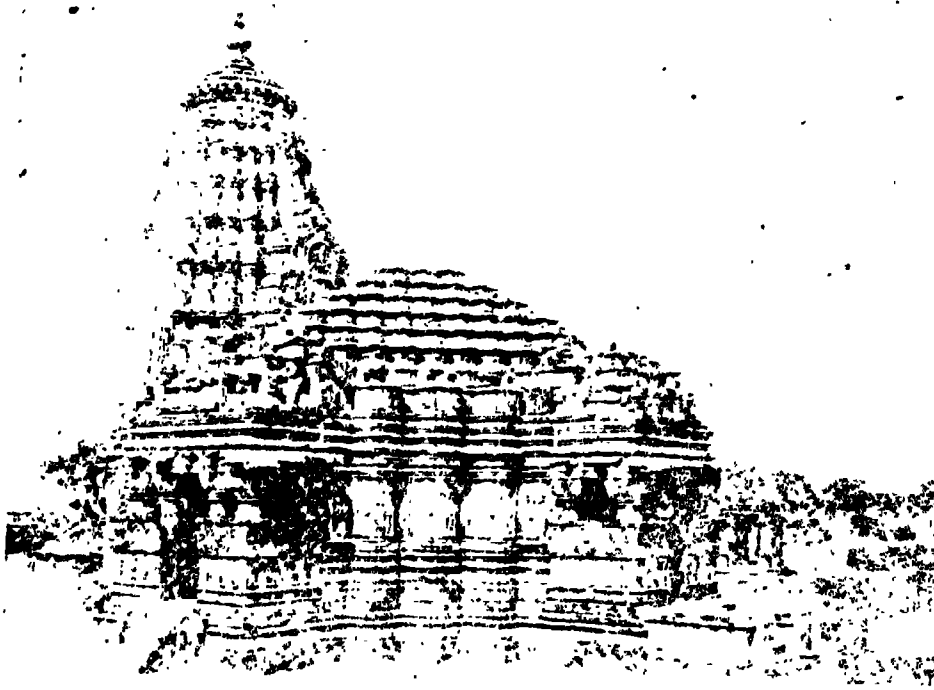
वाराह अवतार मंदिर

२. नगर स्थिति : २६° १०′ उ० अ० तथा ६०° ३८′ पू० दे०। ब्रह्मपुत्र के दक्षिणी किनारे पर स्थित है, जनपद के कार्यालय, जो ८७६ ई० में धुबरी ले जाए गए, पहले यहीं पर थे। नगर का प्रशासन १८७८ ई० से नगरपालिका द्वारा होने लगा। कार्यालयों के स्थानांतरित होने से नगर का विकासक्रम मंद पड़ गया। राजमार्ग द्वारा यह गौहाटी तथा धुबरी से मिला हुआ है। साल यहाँ से प्रायः जलमार्ग द्वारा निर्यात किया जाता है। जनसंख्या १३,६६२ (१९६१ ई०) है।

[कै० ना० सिं०]

ग्वालियर स्थिति : २६° १२′ उ० अ० तथा ७८° १०′ पू० दे० पहले काल में ग्वालियर मध्य भारत की एक रियासत थी सन् १९५६ में राज्यपुनर्गठन के पश्चात् नवीन मध्यप्रदेश का एक जिला बनाया गया, जिसका नाम गिर्द है। ग्वालियर नगर इस जिले का केंद्र है। नगर की आबादी ३,५०,०८७ (१९६१) है। प्राचीन नगर किले के नीचे बसा है तथा वास्तविक केंद्र लश्कर उससे दो मील दूर है। १६वीं शताब्दी में ग्वालियर मालवा का एक प्रमुख नगर था। पत्थर पर नक्काशी करना, चमकीले खपरैल बनाना, जेवर तथा धातुओं के अन्य सामान बनाना यहाँ के प्रमुख व्यवसाय थे। यह नगर दक्षिण की ओर जानेवाले मार्ग पर पड़ता था। प्राचीन नगर में प्राचीन इमारतें तथा उनके खंडहर बड़ी संख्या में हैं जिनमें जामा मस्जिद, खंडोला खाँ की मस्जिद, नासिरी खाँ, मुहम्मद गौस तथा तानसेन के मकबरे प्रमुख हैं।

ग्वालियर का किला भारत के प्रमुख किलों में से है। यह ३००फुट ऊँची बलुआ पत्थर की पहाड़ी पर बना है जो १¾ मील लंबी तथा अधिकतम २,८००फुट चौड़ी है। छठी शताब्दी के बाद से यहाँ का इतिहास किले से संबद्ध है तथा यह क्रमशः राजपूत राजाओं, मुगल बादशाहों एवं मराठों के आधिपत्य में रहा।

लश्कर, जो ग्वालियर का ही भाग है, आधुनिक नगर तथा मध्यप्रदेश का महत्वपूर्ण व्यावसायिक तथा व्यापारिक केंद्र है। यह दिल्ली-बंबई मुख्य रेलवे लाइन का स्टेशन है तथा सड़कों द्वारा दिल्ली, उत्तर प्रदेश के नगरों तथा बंबई से जुड़ा है। यहाँ काँच तथा चीनी मिट्टी के बरतन, सूती कपड़े, रेयन तथा बिस्कुट बनाने के कारखाने हैं।

[प्र० व०]

ग्वालियर का इतिहास आधुनिक ग्वालियर तीन शहरों से निर्मित है: प्रथम प्राचीन ग्वालियर जिसके पीछे अनेक किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं। यह किले के उत्तर है। द्वितीय लश्कर है जिसका निर्माण लगभग १८०० ई० में महाराज दौलतराव सिंधिया द्वारा सेना के शिविर के रूप में हुआ था तथा तृतीय मुरार है जो किले के पूर्व है और जिसका प्रयोग अंग्रेजों ने फौजी छावनी के रूप में किया था।

ग्वालियर नगर की स्थापना की तिथि के बारे में अनेक मत हैं और यह प्रश्न अत्यधिक विवादग्रस्त है। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता कनिंघम के अनुसार जिस समय तोरमाण के पुत्र पशुपति के काल में उसके मंत्री द्वारा सूर्यमंदिर की स्थापना हुई थी संभवतः उसी समय ग्वालियर दुर्ग और पुर भी अस्तित्व में आए।

ग्वालियर की स्थापना के संबंध में एक प्रमुख किंवदंती यह है कि किसी समय कछवाहा नरेश सूर्यसेन कोढ़ से पीड़ित था। शिकार करते करते वह ग्वालिप (प)नामक एक साधु से मिला और इस साधु की कृपा से वह रोगमुक्त हो गया। सूर्यसेन ने उस साधु के नाम पर ग्वालियर दुर्ग का निर्माण कराया और उसका नाम 'ग्वालिआवर' या 'ग्वालियर' रखा।

महाभारत में ग्वालियर का उल्लेख 'गोपराष्ट्र' तथा इस प्रदेश से प्राप्त अभिलेखों में 'गोपाचल', गोपाद्रि', 'गोपगिरि' 'गोपाह्वय भूधर' इत्यादि नामों से प्राप्त हुआ है। संभवतः इन्हीं नामों से आगे चलकर इसका नाम ग्वालियर पड़ गया हो।

ग्वालियर के इतिहास का सर्वप्रथम ज्ञात उल्लेख मौर्यकाल का है। चंद्रगुप्त मौर्य के समय उज्जयिनी एवं विदिशा, जो ग्वालियर प्रदेश में ही स्थित थे, प्रमुख नगरों में से थे। युवराज के रूप में अशोक उज्जयिनी में रह चुके थे और विदिशा की 'देवी' से उन्होंने विवाह भी किया था। उज्जैन में अशोक का एक स्तूप भी प्राप्त हुआ है तथा विदिशा के पास भी एक स्तूप के कुछ अंश प्राप्त हुए हैं।

मौर्यों के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी शुंग संभवतः विदिशा के ही निवासी थे। ग्वालियर राज्य के बेसनगर में यूनानी राजदूत हेलियोदोरस का एक स्तंभलेख भी प्राप्त हुआ है जो तक्षशिला के यवन शासक का दूत था।

शुंगों के पश्चात् विदिशा पर नागों (भारशिवों) का अधिकार हो गया जिनकी राजधानी पद्मावती, दूसरा नाम पदम पुवैया था, ग्वालियर राज्य में ही स्थित थी। इस वंश का प्रमुख शासक वीरसेन था।

गुप्त वंश के प्रतापी राजा समुद्रगुप्त ने गणपति नाग को हराकर इस प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। यह भी कहा जाता है कि चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने विदिशा के पास ही डेरा डालकर शक क्षत्रपों का विनाश किया था। कुमारगुप्त के पश्चात् के किसी गुप्त सम्राट् का अभिलेख इस प्रदेश में नहीं मिला है।

गुप्तों के पश्चात् इस प्रदेश में प्रसिद्ध हूण शासक मिहिरकुल के १५वें वर्ष का एक अभिलेख मिलता है जिससे यह पता लगता है कि उसका यहाँ अधिकार था।

हूणों के पश्चात् ग्वालियर प्रतिहारों के अधिकार में आ गया और मिहिरभोज के समय तो वह शासन का प्रधान क्षेत्र बन गया। १०वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कच्छपघात के शासक वज्रदामन ने इसे प्रतिहारों से छीन लिया और ११२६ ई० तक यह उनके आधिपत्य में रहा। उस वंश के अंतिम शासक तेजकरण से प्रतिहारों की एक दूसरी शाखा ने इसको छीन लिया। ग्वालियर थोड़े समय को छोड़कर १२३२ ई० तक इन्हीं के अधिकार में रहा।

१२३२ ई० में इल्तुतमिश ने इसपर अपना अधिकार कर लिया तथा १३९८ तक यह दिल्ली के मुस्लिम शासकों के अधिकार में रहा। तैमूर के आक्रमण से फैली हुई अराजकता से लाभ उठाकर तोमर वंशीय राजपूत शासक वीरसिंहदेव ने उसपर अधिकार कर लिया। तोमरों का अधिकार ग्वालियर पर १५२५ ई० तक रहा। इस काल के शासकों में डुंगरसिंह और मानसिंह अधिक प्रसिद्ध हैं जिन्होंने अनेक बहुमूल्य जैन कलाकृतियों का निर्माण कराया था। मानसिंह के पश्चात् ग्वालियर पर इब्राहीम लोदी का अधिकार हो गया। लोदियों के पश्चात् इसपर मुगलों का आधिपत्य हुआ परंतु हुमायूँ के भारत से पलायन के पश्चात् शेरशाह ने इसपर विजय प्राप्त की और इस्लामशाह के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों के समय ग्वालियर उनके राज्य की एक शाखा की एक राजधानी भी बना। १५५६ में वह एक बार पुनः मुगलों के

अधिकार में आ गया और लगभग दो शताब्दियों तक उन्हीं के अधिकार में रहा। इस काल में इसका प्रयोग मुख्यत: राजकीय कारावास के रूप में ही होता था।

१७५४ ई० में मराठों ने इसपर अधिकार कर लिया और १७७७ ई० के आसपास पेशवा ने ग्वालियर को सिंधिया परिवारवालों को सौंप दिया। १७६४ में दौलतराव सिंधिया ग्वालियर के शासक बने। इन्होंने अपनी सेना को फ्रांसीसी ढंग से शिक्षित किया और १८०३ ई० में राघोजी भोंसले के साथ निजाम पर चढ़ाई भी की। परंतु सर आर्थर वेलेज्ली और लार्ड लेक ने इनको बुरी तरह हराया। ग्वालियर और दोहद सिंधिया से छीन लिए गए परंतु १८०५ में एक नई संधि के अनुसार दोनों प्रदेश सिंधिया को वापस कर दिए गए।

१८२७ में दौलतराव की मृत्यु के पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने मुगतराव नामक एक बालक को ग्वालियर के सिंहासन पर बैठाया जो जनकोजी सिंधिया के नाम से प्रसिद्ध हुए। (दे० जनकोजी सिंधिया)। १८४३ में जनकोजी की मृत्यु के पश्चात् जयाजी राव नामक एक ८ वर्ष का बालक दत्तक पुत्र के रूप में उनका उत्तराधिकारी हुआ। १८५७ में विद्रोहियों ने ग्वालियर पहुँचकर जयाजी राव को वहाँ से भागने को विवश किया परंतु शीघ्र ही अंग्रेजों ने इसपर अपना अधिकार जमाया। १८८६ में ग्वालियर झाँसी के बदले हमेशा के लिये सिंधिया राजाओं को प्राप्त हो गया।

१६४७ में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जिस समय देशी रियासतों का भारत में विलयन प्रारंभ हो गया उस समय ग्वालियर भी सिंधिया वंश के हाथ से निकलकर भारत संघ में संमिलित हो गया।

ग्वालियर के प्रमुख ऐतिहासिक स्थानों में मुहम्मद गौस का मकबरा, जामा मस्जिद (जिसको औरंगजेब के गवर्नर मोतमिद खाँ ने बनवाया था), हिंडोला (जो तोमर राजाओं के काल में निर्मित किया गया था), गूजरीमहल (जो राजा मानसिंह द्वारा अपनी प्रिय महारानी नयनमंजरी के लिये बनाया गया था), चतुर्भुज मंदिर (जो अल्ला द्वारा निर्मित किया गया था), मानसिंह द्वारा निर्मित मानमंदिर, सास बहू मंदिर, माधवराव सिंधिया द्वारा निर्मित सरदार स्कूल, तथा तेली का मंदिर, महाराज महल, आदि उल्लेखनीय हैं।

[रा० कु० भा०]

ग्वालियर दुर्ग—समय समय पर क्रमशः विभिन्न शासकों के अधिकार में रहे ग्वालियर दुर्ग का प्राकृतिक, ऐतिहासिक, पुरातात्विक और सामरिक महत्व भारत के अन्य दुर्गों में अप्रतिम है। यह दुर्ग उत्तर से दक्षिण तक एक मील तीन फर्लांग लंबी, ३०० फुट ऊँची, और ६०० से २८०० फुट चौड़ी बलुआप्रस्तर की पहाड़ी के समतल और गौरव शिखरभाग पर अवस्थित है। यह आगरा से ७२ मील दक्षिण और झाँसी से ६४ मील उत्तर लगभग ३० फुट ऊँची दीवालों से निर्मित है। इसका प्रारंभिक इतिहास विवादास्पद है (दे० ग्वालियर)। इसके अंतर्गत छह महलों में मानमंदिर (मानसिंह का महल) और गूजरी महल प्राचीन भारत की वास्तुकला के उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। अनेक मंदिरों में से अब केवल सात ही शेष हैं। यह उत्तर भारत के सभी दुर्गों में अधिक मनोरम है।

(१) अन्य दुर्ग (क) अंतर दुर्ग—यह ग्वालियर के सभी दुर्गों में सबसे विशाल और चंबल नदी की घाटी में स्थित होने के कारण सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। १८वीं शताब्दी में सिंधिया ने राजपूतों को पराजित कर इसपर अधिकार कर लिया। इसका निर्माण देवगिरि कोट के नाम से महाराज बदनसिंह द्वारा १६४४ में प्रारंभ हुआ और १६६८ में महाराज महासिंह ने इसे पूर्ण किया।

(ख) भिंड दुर्ग—४०० फुट लंबा और २५० फुट चौड़ा छोटा-सा दुर्ग है। गोपालसिंह भदौरिया नामक राजपूत सरदार ने इसका निर्माण किया था। १८वीं शताब्दी में यह सिंधिया वंश के अधिकार में चला गया।

(ग) चंदेरी—ग्वालियर के तीन मुख्य पहाड़ी दुर्गों में इसका प्रमुख स्थान है। प्रस्तरनिर्मित १२ से १५ फुट तक ऊँची दीवालों से घिरा यह दुर्ग जिस शिखर पर स्थित है, उसकी लंबाई उत्तर दक्षिण ४,५०० फुट और चौड़ाई पूर्व-पश्चिम २,२०० फुट है। इस दुर्ग का उल्लेख अल्बरूनी (१०३०) और इब्नबतूता (१०३६) ने किया है। शिलालेखों के अनुसार यह प्रतिहार वंश के १३ राजाओं का केंद्र रहा। उसी वंश के सातवें राजा कीर्तिपाल ने इसका निर्माण कीर्ति दुर्ग के नाम से कराया था। उपलब्ध फारसी शिलालेखों के अनुसार दिलावर खाँ गोरी ने १४११ में इसे अधिक मजबूत किया। १३०४ में अलाउद्दीन खिलजी ने इसे जीता। इसके पश्चात् इसपर अनेक आक्रमण हुए और दुर्ग पर अधिकार बदलते रहे।

देवगढ़ दुर्ग—यह ऊँची पहाड़ी पर स्थित है। दतिया राज्य की सीमा से लगे प्रदेश इस दुर्ग के क्षेत्र में पड़ते हैं। इससे इसका सामरिक महत्व बढ़ गया है। उत्तर दक्षिण कोई २,००० फुट लंबी और पूरब पश्चिम ३५० फुट चौड़ी दुर्ग की दीवालें पत्थर और चूने से निर्मित हैं। इसके संबंध में ऐतिहासिक तथ्य अनुपलब्ध हैं।

गोहद दुर्ग—ग्वालियर से उत्तर पूर्व २० मील दूर वैशाली नदी के तट पर स्थित है। पूर्व पश्चिम १,००० फुट लंबी और उत्तर दक्षिण ८०० फुट चौड़ी दुर्ग की दीवालें बहुत विशाल और भारी पत्थरों तथा चूने से बनी हुई हैं। इसके अंदर की इमारतों में पुराना महल, नया महल और रानी की छतरी मुख्य हैं। १८वीं शताब्दी में जाटों ने इसपर अधिकार किया। इसके बाद यह भदौरिया और पेशवा के अधिकार में आया। अंत में अंग्रेजों के हस्तक्षेप से सिंधिया वंश ने दुर्ग पर अधिकार कर लिया।

करेरा दुर्ग—यह झाँसी-शिवपुरी मार्ग पर स्थित है। यद्यपि अब यह काफी ध्वस्त हो चुका है, फिर भी देखने में मनोरम है। ११५ फुट ऊँची पहाड़ी पर बने पूर्व-पश्चिम लगभग १,६०० फुट लंबे और उत्तर-दक्षिण ७०० फुट चौड़े दुर्ग के अंदर की इमारतें वास्तुकला की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं हैं। यह उल्लेख मिलता है कि करेरा दुर्ग सबसे पहले परमारों के हाथ में था। १७२६ में मुहम्मद शाह ने परमारों से यह दुर्ग छीन लिया। इसके बाद इसके बाह्य अंगों में वृद्धि की गई। कालांतर में इसपर मरहठों का अधिकार हुआ। १८३८ में अंग्रेजों ने इसे अपने हाथ में लिया और १८६० में सिंधिया को सौंप दिया।

नरवर दुर्ग—नरवर जिले में ग्वालियर से दक्षिण-पश्चिम ५० मील दूर स्थित है। यह ग्वालियर राज्य के सभी दुर्गों में प्रमुख और क्षेत्रफल तथा ऊँचाई की दृष्टि से सबसे बड़ा है। प्राचीनता और ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से ग्वालियर दुर्ग के बाद इसी का स्थान है। यह लगभग ध्वस्त हो चुका है, फिर भी इसकी वास्तुकला प्रशंसनीय है और उससे भारत के प्राचीन शिल्प का परिचय प्राप्त होता है।

ग्वीदो रेनी (१५७५–१६४२) बोलोन्या स्कूल का इतालीय चित्रकार। इटली में जब कला का ह्रास हो रहा था ग्वीदो रेनी एक ऐसा

नक्षत्र उदित हुआ जो कलाक्षेत्र में खूब चमका। समकालीन कलाकारों से उसे बड़ी प्रेरणा मिली। सुप्रसिद्ध कलाकार कारावाज्जो के टेकनीक के विपरीत वह सामान्य रूपांतरों के गुंफित छायाभास को उभारने में प्रयत्नशील रहा। रोम में लगभग २० वर्षों तक वह रहा। पाचवें पाल की छत्रछाया में उसने खूब यश कमाया। उसने शाही महल की प्राचीर पर एक विशाल भित्तिचित्र का निर्माण किया जो बड़ा ही शानदार और भव्य बन पड़ा। स्थानीय मोते कैवेलो चेपल में उसे चित्रण का काम मिला, पर उसके स्वरूपानुरूप व्यवस्था न होने से वह नाराज होकर लौट गया। पाल ने उसे बड़े आग्रह से पुनः बुलाया। नेपुल्स में संत जेनेरो गिर्जाघर के प्रसंग में रिबेरा और दूसरे कलाकारों को दिए गए दंड से बचने के लिये वह पहले रोम, फिर बोलोन्या चला आया। बोलोन्या में उसने एक कलाविद्यालय की स्थापना की जिसमें सैकड़ों शिष्यों प्रशिष्यों को उसने कला की ओर प्रेरित किया। किंतु रेनी को जुए का दुर्व्यसन था। इससे उसे पर्याप्त आर्थिक क्षति उठानी पड़ती थी। अस्थिरचित्त होने से कलासाधना और काम करते वक्त उसका उत्साह कभी कभी शिथिल और मंद पड़ जाता था। इससे उसके व्यवसाय और ख्याति पर भी धब्बा आता था। प्रायः त्वरा में आंके गए अपरिपक्व चित्रों को उसे बेचने के लिये विवश होना पड़ता था। इससे उसकी ख्याति पर भी आँच आई। अंत में उसने अपनी सेवाएँ एक चित्रव्यवसायी को बेच दीं, फलतः प्रचलित रूढ़ियों, पुनरावृत्ति और व्यावसायिक दृष्टिकोण ने इसकी तीखी दृष्टि और कलाकारिता को कुंठित कर दिया। बोलोन्या में असहाय अवस्था में उसकी मृत्यु हुई।

उसने प्रायः धार्मिक और पौराणिक चित्रों का निर्माण किया। उसके कुछ व्यक्तिचित्रण और ड्रॉइंग चित्र भी हैं। उसके पहले के चित्रों में कलात्मक संस्पर्श, कोमल अनुभूति, मृदु व्यंजना और शैलीगत मार्दव व्यापक है, पर बाद में अभाव और दुर्व्यसन उसकी सृजनचेतना पर छा गए। बोलोन्या, ड्रेस्डन, मिलान, बर्लिन, म्यूनिक, रोम, लाबेर और लंदन की नेशनल गैलरी में आज भी उसके कितने ही चित्र सुरक्षित हैं।

[श० रा० गु०]

क्वेजो (Kweichow) स्थिति : २६° ४०' उ० अ० तथा १०७° ०' पू० दे०। यह दक्षिण-पश्चिमी चीन का एक प्रांत (क्षेत्रफल ६९,२९९ वर्गमील; अनुमानित जनसंख्या १,०५,५०,००० (१९४७); प्रति वर्गमील घनत्व १५१ मनुष्य) है जिसके उत्तर में सच्वान, दक्षिण में क्वांसी, पूर्व में हूनान तथा पश्चिम में युन्नान प्रांत है। धरातल वस्तुतः उत्थापित पठार है जो विभिन्न नदियों द्वारा कट-छँटकर कई भागों में बँट गया है। किंतु मध्य में अपेक्षाकृत कम कटाछँटा बृहत् खंड (core) रह गया है। यह खंड उत्तर में [illegible]सी तथा दक्षिण में शी (शीजिआंग) नदियों के ऊपरी भाग में जलविभाजक के रूप में स्थित है। चूना पत्थर से बने भागों में अपक्षरण चक्र (erosion cycle) के पूर्ण हो जाने के कारण अवतरण रंध्र (sink-holes) आपस में मिलकर एक हो गए हैं और इस प्रकार धरातल नीचा हो गया है। इनमें खड़े अवशेष शिखरों के रूप में स्थित हैं। अपक्षरण के कारण अधिकांश क्षेत्र ४५°-६०° तक ढालू हो गया है और कहीं भी एकाध मील से अधिक पूर्णतया समतल भाग नहीं दिखाई देता। नदी घाटियों में से होकर ही व्यापारिक मार्ग जाते हैं (सच्वान में वू नदी द्वारा, क्वांगसी में लिउ (लिउक्यांग) द्वारा हूनान में युवान घाटी द्वारा)। द्वितीय महायुद्धकाल में यातायात का पर्याप्त विकास हुआ है। अब क्वेयांग, चुंगकिंग तथा कुनमिंग को सड़कें जाती हैं तथा क्वांगसी एवं हूनान से भी संबंध हो गया है। क्वांगसी से रेल संबंध भी हो गया है।

ऊँचा धरातल होने के कारण क्वेजो की जलवायु दक्षिण-पूर्व की उष्णकटिबंधीय जलवायु की अपेक्षा ठंढी तथा स्वास्थ्यकर है। दक्षिणी घाटियों एवं ढालों पर उष्णकटिबंधीय वन मिलते हैं लेकिन अन्यत्र कोणधारी वनों का बाहुल्य है। मंचूरिया के बाहर चीन में युवान नदी में सर्वाधिक अधिक लकड़ी बहाई जाती है। कृषियोग्य भूमि कम है। सिन-यी (Tsunyi) क्षेत्र में, जो प्रांत का सर्वाधिक मैदानी एवं उपजाऊ भाग है, केवल २९·७ प्रति शत भूमि पर कृषि होती है; ४१·५ प्रति शत वन, ९·५ प्रति शत अनुर्वर तथा ९·१ प्रति शत कृषि के लिये अप्राप्य है। २९·७ प्रति शत कृषिभूमि में से २३·५ प्रति शत में धान तथा शेष में गेहूँ, मकई तथा विभिन्न किस्म की सेमें उपजती हैं। घाटियों तथा निचले भागों में अधिकांश चीनियों का मुख्य भोजन चावल है लेकिन पठार के उच्च भागों की आदिम जातियाँ (म्याव ५ लाख, लोलो तथा संबंधित जातियाँ ६ लाख, एवं अन्य मिश्रित रक्तवाली जातियाँ) मकई, गेहूँ आदि पैदा करती हैं। पशु तथा घोड़े कुछ व्यापारिक स्तर पर पाले जाते हैं। खनिज पदार्थों में पारा तथा तांबा प्रचुर परिमाण में उत्खनित होते हैं लेकिन कोयलाक्षेत्र कम है। धीरे धीरे औद्योगिक विकास हो रहा है। आदिम जातियों की कसीदाकारी प्रसिद्ध है। क्वेजो की प्रमुख निर्यात वस्तुएँ लकड़ियाँ, लकड़ी का तेल तथा चमड़ा है।

[का० ना० सिं०]

क्वेयांग (Kweiyang) स्थिति : २६° [illegible]' उ० अ० तथा १०६° ३५' पू० दे०। यह चीन के क्वेजो प्रांत की राजधानी, बृहत्तम नगर तथा सुप्रसिद्ध औद्योगिक एवं व्यापारिक केंद्र है। यह नगर समुद्रतल से लगभग ३,४०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। मांचू वंश के राजत्वकाल में यह प्रांतीय राजधानी बनी। मांचू राजाओं ने इस नगर तथा क्षेत्र का बहुत अधिक विकास किया। १४वीं तथा १५वीं सदियों में यह उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच गया था। पहले इस क्षेत्र के अधिकांश पर म्याव जाति के आदिवासियों का आधिपत्य था लेकिन मांचू राजवंश के साम्राज्यवादियों ने यहाँ चीनियों को बसाकर इसका 'चीनीकरण' किया। यहाँ कपड़े, काँच, रासायनिक द्रव्य, तंबाकू के सामान, कागज आदि तैयार करने के संस्थान हैं। इसके पास ही कोयले की खानें भी हैं। यहाँ से खाद्यान्न, चमड़े, वनस्पति तेल आदि का निर्यात होता है। यहाँ विश्वविद्यालय, चिकित्सा महाविद्यालय तथा अन्य सांस्कृतिक संस्थाएँ भी हैं। इसकी जनसंख्या १,१६,६०० है।

[का० ना० सिं०]

क्वेलिन (Kweilin) स्थिति : २५° १९' उ० अ० तथा ११०° १५' पू० दे०। यह चीन के क्वांगसी प्रांत का प्रधान प्रशासनिक केंद्र तथा प्रमुख नगर है। यह राज्य के उत्तरी भाग में क्वे (Kwei) नदी के तट पर समुद्रतल से लगभग ६५० फुट की ऊँचाई पर स्थित पठार भी है। यह नदीमार्ग द्वारा कैंटन से तथा हंगयांग-कैंटन-रेलमार्ग द्वारा हंगयांग (Hengyang) से जुड़ा हुआ है। यहाँ रेशम बुनने तथा रंगने, चमड़े, चीनी, तेल, कागज, लकड़ी के सामान तथा कृषि से उत्पन्न पदार्थों द्वारा भोज्य सामग्री तैयार करने के उद्योग धंधे विकसित हैं। यहाँ एक विश्वविद्यालय तथा चिकित्सा महाविद्यालय भी है। द्वितीय महायुद्ध में यह अमरीकी हवाई सैनिक अड्डा था। इसकी जनसंख्या १,००,००० है।

[का० ना० सिं०]

घंटा हिंदुओं की संस्कृति में घंटावादन मंगलदायक है। वैष्णवों के लिये तो यह अनिवार्य है ही, बौद्ध और जैन संप्रदाय की अर्चना पद्धति में भी घंटा आवश्यक है। स्कंदपुराण के अनुसार गरुड़मूर्तियुक्त घंटा विष्णु को अति प्रिय है। ऐसा घंटा जिस घर में रहता है वहाँ सर्पभय नहीं होता। घंटानाद से जन्म और मृत्युभय मनुष्य को नहीं होते।

इसी प्रकार ईसाई मत में भी घंटा पवित्र और शुभ है। घंटे का निर्माण करते समय अनेक धार्मिक अनुष्ठान किए जाते हैं और घंटा जब बनकर तैयार हो जाता है तो विधिवत् उसका अभिषेक (Baptization) और नामकरण संस्कार होता है। घंटे पर पवित्र श्लोक अंकित किए जाते हैं। घंटे की ध्वनि के साथ पवित्र श्लोकों से मुखरित ध्वनि मंगलकारिणी मानी जाती है। १६वीं शताब्दी तक सुशिक्षित पाश्चात्य भी ऐसा विश्वास करता था कि घंटाध्वनि से आँधी रुक जाती है।

प्रारंभ में किसी ईसाई के मरने पर घंटा बजता था, किंतु बाद में मृत्यु से कुछ पूर्व बजने की रीति प्रचलित हुई। घंटाध्वनि से मुमूर्षु का शरीर पवित्र और पिशाचभय से मुक्त हो जाता है, ऐसी मान्यता थी। अब यह विश्वास बहुत कुछ शिथिल हो चला है, फिर भी मृत व्यक्ति की समाधिक्रिया होने तक उसके सम्मान में घंटा बजता है।

नीदरलैंड में घंटे से शास्त्रीय संगीत ध्वनि निकालने का प्रयत्न हुआ। वहाँ के गिरजाघरों में नियमित समय के अंतर पर अत्यंत मधुर गुंजनमय स्वरों में घंटे बजते हैं। इनमें से कुछ यंत्रों की सहायता से बजाए जाते हैं। इंग्लैंड में ५६ घंटों को एक साथ बजाकर अत्यंत कर्णप्रिय स्वररचना प्रस्तुत की जाती है।

यूरोप तथा दक्षिण पूर्व एशिया के देशों में जैसे विशाल घंटे पाए जाते हैं वैसे घंटों का भारत में अभाव है। बर्मा में बहुत से ऐसे घंटे हैं जिनमें दोलक नहीं होता। इन्हें हरिण की सींग की हथौड़ी से
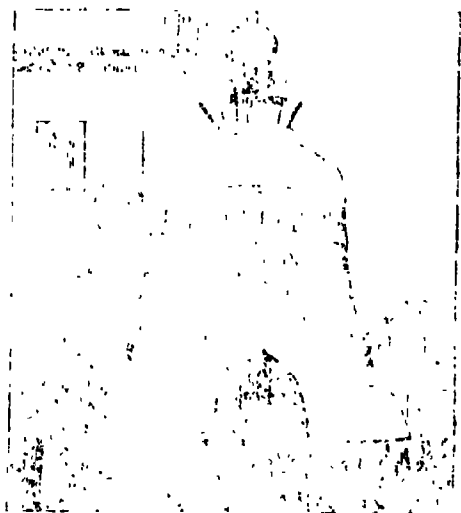
संसार का सबसे बड़ा घंटा
सन् १७३३ में ढाला गया यह घंटा मास्को के
क्रेमलिन प्रासाद में लटकता है।

बजाया जाता है। पीकिंग के एक मठ में ५३½ टन भार का एक विशाल घंटा है। उसपर चीनी भाषा में बुद्ध के उपदेश खुदे हुए हैं। प्रत्येक मठस्वामी ने मृत्यु से पूर्व उसपर कुछ न कुछ खुदवाकर उसे मठ के इतिहास का रूप दे दिया है।

मॉस्को में एक बहुत बड़ा घंटा है। यह सचमुच घंटों का राजा है। इसकी ऊँचाई २० फुट ७ इंच, व्यास २२ फुट, परिधि ६३ फुट से अधिक तथा भार ४३,२०० पौंड है। घंटे का एक हिस्सा टूट गया है, जिसका भार ११ टन है। घंटे को उसकी विशालता और टूटे हुए हिस्से के कारण, जो द्वार जैसा लगता है, छोटा गिरजा (chaple) कहते हैं।

प्राचीन काल में काठ, शुक्ति आदि कम अनुनादी पदार्थों के घंटे बनते थे, किंतु सभ्यता के प्रथम चरण में अनुनादी कांस्य के घंटे बनने लगे। अब तीन या चार भाग ताँबा और एक भाग रांगा (टिन) की मिश्र धातु से घंटे बनते हैं। छोटे घंटे जस्ता तथा सीसा की मिश्र धातु के बनते हैं। घंटे के कोर की मोटाई उसके व्यास की $\frac{1}{12}$ से $\frac{1}{15}$ तक हो सकती है और ऊँचाई मोटाई की १२ गुनी। घंटा ढालकर बनाने और फिर उसे ठंढा करने में कई दिन का समय और अनेक सावधानियाँ आवश्यक होती हैं।

यदि घंटा अच्छा है तो घंटा बजाने पर दो प्रकार की ध्वनि निकलती है, एक आघात स्वर या स्थायी स्वर (key note) और दूसरी गुंजन स्वर। (hum note)। और भी कई स्वरक (tones) होते हैं, किंतु यदि घंटे का निर्माण दोषरहित हुआ है तो ये स्वरक अप्रिय नहीं लगते। ऐसा घंटा चूँकि काफी मोटा ढला होता है, इसलिये कई वर्षों तक चलता है।

घंटे का तारत्व (pitch) घटाने के लिये उसका व्यास बढ़ाना पड़ता है और तारत्व बढ़ाने के लिये व्यास कम करना पड़ता है। घंटे के अंदर की सतह को घिसकर पतली करने पर व्यास बढ़ता है और बाहरी कोर को रगड़कर व्यास घटाया जाता है। किंतु एक बार घंटा ढल जाने के बाद उसमें हेरफेर करने से उसके स्वरकों (tones) के गुण प्रायः नष्ट हो जाते हैं।

[मा० आ०]

घटकर्पर यमकालंकार प्रधान २२ श्लोकात्मक काव्य। विरहिणी नायिका द्वारा अपने दूरस्थ नायक को वर्षारंभ में संदेश भेजे जाने का वर्णन इस काव्य का मूल विषय है। इसके रचयिता के विषय में पर्याप्त संशय है। परंपरा में इसको उज्जयिनी नरेश विक्रमादित्य के नवरत्न घटकर्पर की कृति समझते हैं, पर यह मत संगत नहीं जँचता। कालिदास को भी इस काव्य का प्रणेता माना जाता है, पर इस पक्ष में कोई भी निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं। याकोबी ने इस काव्य को कालिदास से प्राचीनतर माना है।

लेखक की गर्वोक्ति है कि जो यमकालंकार के प्रयोग में इस काव्य का अतिक्रमण करेगा, उसके लिये लेखक घट के टूटे हुए टुकड़ों में पानी भरेगा। इसके कई संस्करण प्रचलित हैं। इसपर अभिनवगुप्त कृत विवृति प्रकाशित हो चुकी है।

[रा० शं० भ०]

घटपर्णी (Nepenthes, Pitcher Plant) यह द्विदली वर्ग, नेपेंथेसी कुल का कीटभक्षी पौधा है, जो श्रीलंका और असम का देशज है। मुख्यतया ये पौधे शाक (herb) होते हैं और दलदली या अधिक नम जगहों में उगते हैं। पौधे तंतुओं के सहारे ऊपर चढ़ते हैं। ये तंतु पत्तियों की मध्यशिरा की विशेष वृद्धि के फलस्वरूप बनते हैं। तंतुओं के सिरेवाला भाग घड़े के आकार जैसा हो जाता है, जिसे घट (pitcher) कहते हैं। घड़े के मुख के एक ओर एक ढकना जुड़ा होता है, जो शिशु

अवस्था में घट के मुख को बंद रखता है। घट का किनारा अंदर की तरफ मुड़ा होता है और मुखद्वार पर बहुत सी मधुग्रंथियाँ होती हैं। मधुग्रंथियों एवं पाचक ग्रंथियों की रचना समान होती है। पाचक ग्रंथियों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक होती है तथा इनसे एक अम्लीय द्रव स्रावित होता है। नेपेंथीस स्टेनोफिला (Nepenthes Stenophylla) में प्रति घन सेंमी० में इन ग्रंथियों की संख्या ६,००० तक होती है, परंतु नेपेंथीस ग्रैसिलाइना (Nepenthes gracillina) में ये ग्रंथियाँ एक घन सेंमी० में १०० ही होती हैं।

ये कीटभक्षी पौधे कीड़े मकोड़ों को अपनी ओर रंगीन चमकदार ढकने तथा मधु-ग्रंथियों द्वारा आकर्षित करते हैं। इस प्रकार आकर्षित कीट घट की चिकनी सतह से फिसलते हुए अंदर की ओर चले जाते हैं और अंत में घट के निचले भाग में स्थित द्रव में डूब जाते हैं। घट से संभवतया एक पाचक द्रव स्रावित होता है। इस द्रव में पड़नेवाला कीट पहले डूब जाता है

चित्र १. खासी पहाड़ियों से प्राप्त घटपर्णी (N. Khasena)

इसके प्ररोह ३०-४० फुट लंबे तथा अनेक लंबे, हरे घट होते हैं।
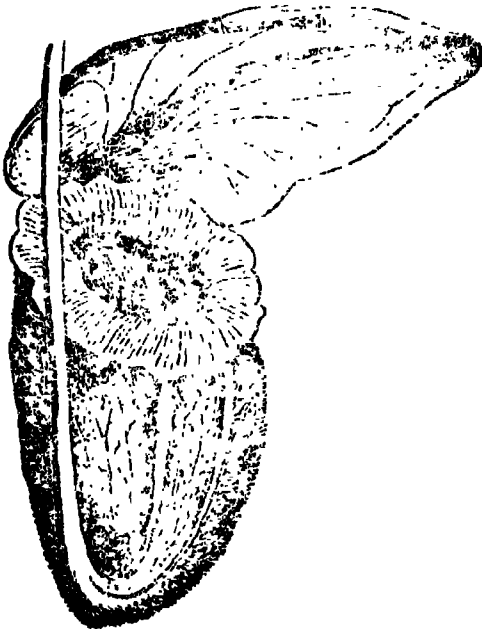
चित्र २. राजा घटपर्णी (N. Rajah)

यह भव्य जाति बोर्नियो द्वीप के किनावालू प्रदेश में पाई जाती है।

और तदुपरांत पचा लिया जाता है। यह कीटभक्षी पौधा कीड़ों को किस प्रकार पचा लेता है वह क्रिया कुछ आश्चर्यजनक है। कीटों के पाचन की दो विधियाँ बताई गई हैं। प्रथम विधि में पादप स्रवित द्रव से पाचन क्रिया करता है और दूसरी विधि में जीवाणुओं की सक्रियता के परिणामस्वरूप। दूसरी दशा में कीटों का अपक्षीणन और सड़न होता है। जीवाणु सक्रियता खुले घड़े में स्वाभाविक है, अतः इसे एक अलग पाचन क्रिया बताना उचित नहीं है।

घटपर्णी (Nepenthes) के पुष्प एकलिंगी, नियमित और निपत्र रहित (ebracteate) होते हैं, पुष्पविन्यास एकवर्ध्यक्ष (raceme) होता है; नर पुष्प में परिपुष्प दो दो करके दो कतारों में लगे होते हैं (P २+२); एक दंड में ४-१६ तक पुंकेसर होते हैं। स्त्री पुष्प में जायांग (Gynaeceum) उत्तरीय, चतुर्गुहीय और चार स्त्रीकेसर (Carpels) होते हैं। ये स्त्रीकेसर संयुक्त होते हैं। इनमें असंख्य अधोमुग्र बीजांड (Anatropous ovules) कई पंक्तियों में लगे होते हैं। संपुटिकाएँ (Capsules) चीमड़ (leathery) होती हैं। बीज हल्के होते हैं और इनके सिरे पर लंबे रोम के सदृश अवयव पाए जाते हैं। भ्रूण (Embryo) सीधा होता है, जो मांसल भ्रूणपोष (Endosperm) में रहता है।

प्रकृति की विचित्रता प्रकट करने के लिये घटपर्णी रखी जाने योग्य वस्तु है। पर्णों के तंतु से युक्त घड़े को वायु में सुखा लेते हैं और फिर रिक्त स्थान में रूई भरते हैं, जिससे घड़े की प्राकृतिक आकृति संरक्षित रहती है।

[जो० ना० मि०]

घटोत्कच भीम का पुत्र। इसकी माता का नाम हिडिंबा था। यह असाधारण शक्तिशाली तथा मायायुद्ध में अत्यंत निपुण था। महाभारत के युद्ध में यह पांडवों की ओर से लड़ा और कौरव सेना का इसने इतना संहार किया कि विवश होकर कर्ण को वह अमोघ शक्ति छोड़कर इसे मारना पड़ा, जिसे उसने अर्जुन को मारने के लिये इंद्र को प्रसन्न करके प्राप्त की थी।

[भो० ना० ति०]

घटोत्कचगुप्त घटोत्कचगुप्त गुप्तवंश का दूसरा राजा और उस वंश के प्रथम शासक गुप्त का पुत्र था। स्वयं तो वह केवल 'महाराज' अर्थात् सामंत मात्र था, किंतु उसका पुत्र चंद्रगुप्त (प्रथम) वंश का प्रथम सम्राट् हुआ। उसका शासनकाल चौथी शती के प्रथम और द्वितीय दशकों में रखा जा सकता है। घटोत्कचगुप्त नामक एक शासक की कुछ मुहरें वैशाली से प्राप्त हुई हैं और विंसेंट स्मिथ तथा ब्लाख जैसे कुछ विद्वान् इन मुहरों को गुप्तवंश घटोत्कचगुप्त का ही मानते हैं। सेंट पीटर्सबर्ग के संग्रह में एक ऐसा सिक्का मिला है, जिसपर एक ओर राजा का नाम 'घटो-गुप्त' तथा दूसरी ओर 'विक्रमादित्य' की उपाधि अंकित है। प्रसिद्ध मुद्राशास्त्री एलेन ने इस सिक्के का समय ५०० ई० के आसपास निश्चित किया है। इस तथा कुछ अन्य आधारों पर वि० प्र० सिनहा ने वैशाली की मुहरों तथा उपर्युक्त सिक्केवाले घटोत्कचगुप्त को कुमारगुप्त का एक पुत्र माना है, जिसने उसकी मृत्यु के बाद अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी थी। कुमारगुप्त के जीवित रहते संभवतः यही घटोत्कचगुप्त मध्यप्रदेश में एरण का प्रांतीय शासक था। उसका क्षेत्र वहाँ से ५० मील उत्तर-पश्चिम तुंबवन तक फैला हुआ था, जिसकी चर्चा एक गुप्त अभिलेख में हुई है।

[वि० पा०]

घड़ियाल सरीसृप (Reptilia) वर्ग के मकर (Crocodilia) गण के गेवियलिस (Gavialis) वंश का सबसे लंबा जीव है, जो केवल

भारतवर्ष के उत्तरी भाग की बड़ी और उनकी सहायक नदियों में पाया जाता है। मगर (crocodile) का निकट संबंधी होकर भी इसका थूथन उसकी तरह छोटा न होकर काफी पतला और लंबा रहता है और नरों के प्रौढ़ हो जाने पर सिर पर एक माल लोटे जैसा कुब्बा सा निकल आता है, जो इसकी तूंबी कहलाता है।

घड़ियाल मगर की तरह हिंसक न होकर मछलीखोर जंतु है, जो आदमियों और जानवरों पर हमला नहीं करता, लेकिन दबाव में पड़ने पर कभी कभी उसके दुम का वार घातक भी हो सकता है।

घड़ियाल दीर्घजीवी प्राणी है, जो समय पाकर २०-२५ फुट तक का हो जाता है। इसकी त्वचा बहुत कड़ी और मजबूत होती है, जो देखने में चारखाने की तरह जान पड़ती है। इसके शरीर के ऊपरी हिस्से की खाल के नीचे तो हड्डियों की तह रहती है, लेकिन निचले भाग की खाल बहुत मोटी और मजबूत होती है। यह बहुत कीमती बिकती है और इसी से जूते तथा सूटकेस वगैरह बनाए जाते हैं।

घड़ियाल के लंबे थूथन में ऊपर और नीचे की ओर बहुत लंबे, तेज, नुकीले दांत होते हैं, जो मुँह बंद करने पर इस प्रकार बैठ जाते हैं कि उसकी पकड़ से किसी भी शिकार का छूट निकलना आसान नहीं होता। इसके ऊपरी थूथन में ऊपर की ओर हर तरफ २७-२९ दांतों की पंक्ति रहती है।

घड़ियाल जलचर प्राणी है, जो पानी के भीतर काफी देर तक रह लेता है, लेकिन वह मछलियों की तरह पानी में घुली हुई हवा के द्वारा सांस नहीं ले सकता और इसीलिये उसे थोड़ी थोड़ी देर के बाद पानी की सतह पर सांस लेने के लिये आना पड़ता है। पानी के भीतर यह अपनी दुम को इधर उधर चलाकर बहुत तेजी से आगे बढ़ता है और खुश्की पर भी अपने चारों पैरों के सहारे अपने भारी शरीर को उठाकर काफी तेज भाग लेता है। इसे हम दिन में अक्सर नदियों के किनारे धूप सेंकते देख सकते हैं, लेकिन इसका शाम का समय मछलियों के शिकार में ही बीतता है।
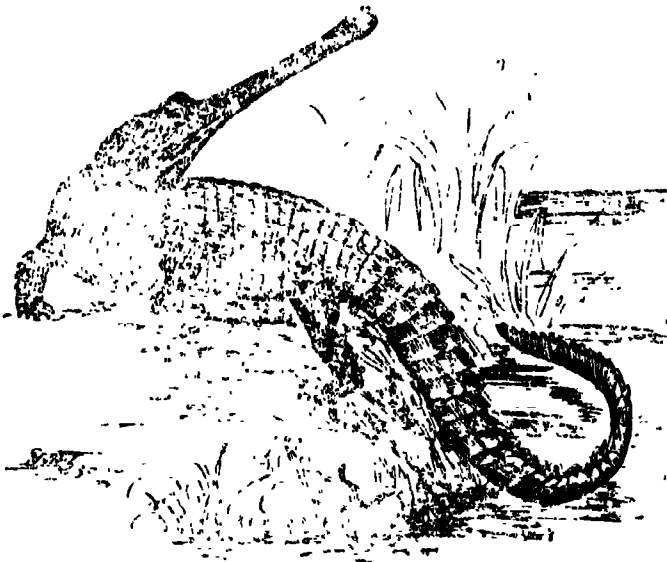
घड़ियाल

घड़ियाल के शरीर का ऊपरी भाग जैतूनी रंग का होता है, जो पुराना हो जाने पर और भी गाढ़ा हो जाता है। नीचे का हिस्सा सफेद रहता है। इसकी आँखें उभरी रहती हैं, जिनपर एक प्रकार की पारदर्शी झिल्ली रहती है। इसे यह पानी के भीतर जाने पर चढ़ा लेता है। इसकी उँगलियाँ कुछ दूर तक आपस में जुटी रहती हैं और टांगों पर का कुछ हिस्सा रीढ़ सा उठा रहता है।

घड़ियालों का जनन अंडों द्वारा होता है। नर एक प्रकार की आवाज करके मादा को अपने पास आने के लिये आमंत्रित करता है। इसके नर और मादा दोनों के शरीर में दो दो जोड़े गंधग्रंथियों के रहते हैं, जिनमें से एक जोड़ा तो गले की बगल और दूसरा अवस्कर या क्लोएका (cloaca) के भीतर रहता है। इनकी सूँघने और सुनने की शक्ति बहुत तेज होती है, जिसके सहारे नर और मादा एक दूसरे के पास शीघ्र पहुँच जाते हैं।

समय आने पर मादा अपने अंडे रेत में गाड़ आती है, जो दूध से सफेद और संख्या में २० से लेकर ९० तक रहते हैं। कुछ दिनों बाद धूप की गरमी से जब अंडों के फूटने का समय निकट आ जाता है तो भीतर से बच्चे अपने थूथन पर के अंडदंत (egg tooth) से अंडों का छिलका तोड़कर बाहर निकल आते हैं। उनका यह अंडदंत थोड़े दिनों में गिर जाता है, क्योंकि उसकी फिर कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। बच्चे एक दो साल तक तो बहुत तेजी से बढ़ते हैं, लेकिन उसके बाद फिर इनकी बाढ़ बहुत मंद हो जाती है।

[मु० सिं०]

घड़ी (सामान्य और परमाणवीय) घड़ी वह यंत्र है जो संपूर्ण अहर्निश को समय की समान अवधियों में स्वयंचालित प्रणाली द्वारा विभक्त करता है और इस प्रकार कालक्षेप को सही सही व्यक्त करता है। अधिकतर घड़ियों में नियमित रूप से आवर्तक (recurring) क्रियाएँ उत्पन्न करने की स्वयंचालित व्यवस्था होती है, जैसे लोलक का दोलन, सर्पिल कमानियों (spiral springs) तथा संतुलन चक्रों (balance-wheels) का दोलन, दाबविद्युत् मणिभों (piezo-electric crystals) का दोलन, अथवा उच्च आवृत्तिवाले संकेतों की परमाणुओं की मूल-अवस्था की अतिसूक्ष्म संरचना (hyperfine structure) से तुलना इत्यादि। प्राचीन काल में धूप के कारण पड़नेवाली किसी वृक्ष अथवा अन्य स्थिर वस्तु की छाया के द्वारा समय का अनुमान किया जाता था। ऐसी धूपघड़ियों का प्रचलन अत्यंत प्राचीन काल से होता आ रहा है जिनमें आकाश में सूर्य के भ्रमण के कारण किसी पत्थर या लोहे के स्थिर टुकड़े की परछाईं की गति में होनेवाले परिवर्तन के द्वारा 'घड़ी' या 'प्रहर' का अनुमान किया जाता था। बदली के दिनों में, अथवा रात में, समय जानने के लिये जल घड़ी का आविष्कार चीन देशवासियों ने लगभग तीन हजार वर्ष पहले किया था। कालांतर में यह विधि मिस्रियों, यूनानियों एवं रोमनों को भी ज्ञात हुई। जलघड़ी में दो पात्रों का प्रयोग होता था। एक पात्र में पानी भर दिया जाता था और उसकी तली में छेद कर दिया जाता था। उसमें से थोड़ा थोड़ा जल नियंत्रित बूँदों के रूप में नीचे रखे हुए दूसरे पात्र में गिरता था। इस पात्र में एकत्र जल की मात्रा नाप कर समय का अनुमान किया जाता था। बाद में पानी के स्थान पर बालू का प्रयोग होने लगा। इंग्लैंड के ऐल्फ्रेड महान् ने मोमबत्ती द्वारा समय का ज्ञान करने की विधि आविष्कृत की। उसने एक मोमबत्ती पर, लंबाई की ओर समान दूरियों पर चिह्न अंकित कर दिए थे। प्रत्येक चिह्न तक मोमबत्ती के जलने पर निश्चित समय व्यतीत होने का ज्ञान होता था।

आजकल प्रयोग की जानेवाली घड़ियाँ यांत्रिक विधियों से संचालित होती हैं। इन यांत्रिक घड़ियों में अनेक पहिए होते हैं, जो किसी कमानी,

लटकते हुए भार अथवा अन्य उपायों द्वारा चलाए जाते हैं। इन्हें किसी दोलनशील व्यवस्था द्वारा इस प्रकार नियंत्रित किया जाता है कि इनकी गति समांग (uniform) होती है। इनके साथ ही इसमें घंटी या घंटा (gong) भी होता है, जो निश्चित अवधियों पर स्वयं ही बज उठता है और समय की सूचना देता है।

पहली घड़ी सन् ९९६ में पोप सिलवेस्टर द्वितीय ने बनाई थी। यूरोप में घड़ियों का प्रयोग १३वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में होने लगा था। इंग्लैंड के वेस्टमिंस्टर के घंटाघर में सन् १२८८ में तथा सेंट अल्बास में सन् १३२६ में घड़ियां लगाई गई थीं। डोवर कैसिल में सन् १३४८ में लगाई गई घड़ी जब सन् १८७६ ई० में विज्ञान प्रदर्शनी में प्रदर्शित की गई थी, तो उस समय भी काम कर रही थी। सन् १३०० में हेनरी डी विक (Henry de Vick) ने पहिया (चक्र), अंकपृष्ठ (डायल) तथा घंटा निर्देशक सूईयुक्त पहली घड़ी बनाई थी, जिसमें सन् १७०० ई० तक मिनट और सेकंड की सूइयां तथा दोलक लगा दिए गए थे। आजकल की घड़ियां इसी शृंखला की संशोधित, संवर्धित एवं विकसित कड़ियां हैं।

यांत्रिक घड़ी के मुख्य भाग — यांत्रिक घड़ी की आवर्तक क्रिया किसी दोलक, अथवा संतुलन चक्र और संतुलन कमानी, अथवा बालकमानी, के दोलन पर निर्भर करती है। इन अंगों की आवर्त गति अत्यंत नियमित रूप से होती है। इनके साथ अनेक दांतेदार पहियों का संबंध होता है। दोलन प्रणाली का एक दोलन पूरा होने पर इन पहियों के एक या एक से अधिक दांते घूमते हैं। इस प्रकार ये पहिए दोलनों की गणना करते हैं। इन पहियों से घड़ी की सूइयां जुड़ी होती हैं, जो डायल (dial) पर घूमती हैं और डायल पर अंकित समयविभाग की सहायता से समय बतलाती हैं। अंकपृष्ठ घंटों, मिनटों और सेकंडों में विभक्त रहता है। दोलक एवं गणकयंत्र प्रणालियों को निरंतर चलाते रहने के लिये वांछित ऊर्जा कमानी या भार द्वारा प्राप्त होती है। साधारण तौर पर दोलक प्रणाली को गणक प्रणाली से ऊर्जा एक विशेष यांत्रिक व्यवस्था द्वारा प्राप्त होती है, जिसे पलायन तंत्र कहते हैं। वस्तुतः इसी पर घड़ी की पारशुद्धता और यथार्थता निर्भर करती है।

दोलक (Pendulum) — यह धातु का एक गोल टुकड़ा होता है, जो धातु की एक छड़ द्वारा लटकाया हुआ रहता है। जब दोलक का दोलन विस्तार या आयाम (amplitude) बहुत अधिक नहीं होता, तो दोलक का दोलनकाल प्रायः एक समान होता है। इसका दोलनकाल, का (T), जिसे आवर्तकाल भी कहते हैं, निम्नलिखित सूत्र द्वारा व्यक्त किया जा सकता है :

$$\text{का} = 2\pi\sqrt{\frac{\text{ल}}{\text{त्व}}}, \quad \left[T = 2\pi\sqrt{\frac{l}{g}}\right]$$

जहां ल (l) उस दोलक के निलंबन बिंदु से दोलक के गुरुत्व केंद्र की दूरी है, जिसे 'दोलक की लंबाई' भी कहते हैं। त्व (g) प्रयोगशाला में गुरुत्वजनित त्वरण व्यक्त करता है। यह देखा गया है कि ३९·१४ इंच लंबाईवाले दोलक की छड़ में ०·००१ इंच का परिवर्तन कर देने पर घड़ी के समय में १ सेकंड प्रति दिन का अंतर पड़ जाता है। इसी प्रकार दोलनविस्तार यदि ३ इंच से अधिक बढ़ाया जाय, तो प्रत्येक ०·१ इंच वृद्धि होने पर घड़ी के समय में २ सेकंड का अंतर आ जाता है। इससे स्पष्ट है कि ताप में परिवर्तन से दोलक की लंबाई में होनेवाले परिवर्तनों के कारण घड़ी के समय में अक्सर त्रुटि आ जाती है। इस दोष को दूर करने के लिये छड़ को इस्पात-मिश्र-धातु या 'इनवार' (Invar) का बनाया जाता है, जो शीत ताप के प्रभाव से साधारण इस्पात की अपेक्षा केवल दसवां भाग ही बदलता है। हैरिसन का ग्रिड-इस्पात दोलक ऐसे ही दोलक का व्यावहारिक रूप है।

चित्र १. लंगर या प्रतिक्षेप मोचन व्यवस्था
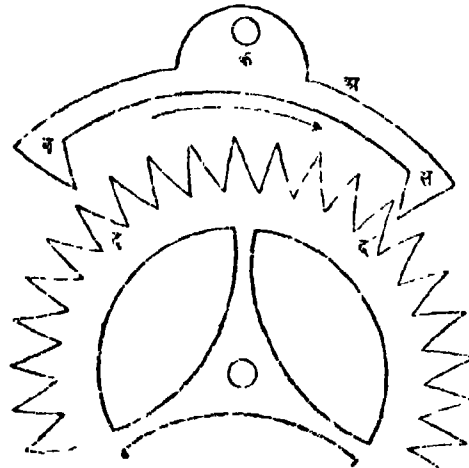
मोचन व्यवस्था (Escapements) — यह ऐसी व्यवस्था होती है जिसमें एक घूमते हुए चक्र या पहिए के द्वारा दोलक को क्षणिक आवर्तक आवेग (periodic impulses) प्रदान किए जाते हैं और साथ ही, दोलक का एक कंपन पूरा होने की अवधि भर उस चक्र की गति रुकी रहती है। इस प्रकार यह व्यवस्था दोलन की गणना करने, दोलन को नियमित रखने तथा दोलन आयाम को निर्धारित करने का कार्य करती है। सर्वोत्तम पलायनतंत्र वह है जिसमें नियमित अवधि के अनंतर एक हलका सा भार दोलक पर गिर कर उसे एकरूप आवेग उस क्षण प्रदान करता है जब दोलक अपनी मध्यमान स्थिति से गुजर रहा होता है। यह व्यवस्था कई प्रकार से संपन्न की जा सकती है, जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं :

(१) लंगर या प्रतिक्षेप (recoil) मोचन व्यवस्था — इसमें एक लंगर रूप होता है जो केंद्र क के चारों ओर दोलन करता है। क से एक दोलक नीचे की ओर लटका होता है। दोलक के अर्धदोलन (mid-swing) के पश्चात् पहिया (चक्र) प का एक दांत द लंगर के दोनों सिरों पर लगे पैलेटों (pallets) में से एक (मान लिया ब) को पार करता होता है। इस प्रकार यह उस पैलेट को एक हलका सा धक्का देता है जिससे वह पैलेट ऊपर उठ जाता है और दूसरा पैलेट अपने नीचे वाले पहिए पर गिरकर उसे पीछे की ओर हलका सा झटका देता है। किंतु इस पैलेट की वक्रता कुछ ऐसी होती है कि इस झटके की प्रतिक्रिया स्वरूप यह दांत इस पैलेट को उठाकर इसके नीचे से पार हो जाता है। इस प्रकार यह क्रिया निरंतर चलता रहता है और लंगर का दोलन कराता रहता है।

(२) मृतस्पंद (deadbeat) मोचन व्यवस्था — इस पलायनतंत्र के चक्र के दांतों की नोकें पूर्वोक्त प्रतिक्षेप पलायनतंत्र के दांतों की नोकों की विपरीत दिशा में मुड़ी हुई होती हैं। जैसा चित्र २. में दिखलाया गया है, बाईं ओर के पैलेट का फलक अ ब तथा दाहिनी ओर के पैलेट का फलक द य मृत फलक (dead faces) तथा फलक अ स और द फ आवेग-फलक (impulse faces) कहलाते हैं। दोनों मृत-फलक एक-केंद्रित (concentric) वृत्तों के चाप होते हैं, जिनका केंद्र क पर होता है। चित्र से स्पष्ट है कि बाईं ओर के पैलेट के मृतफलक पर जो दांत

इस समय रुका हुआ है वह दोलक के बाईं ओर दोलन करने के साथ ही, पैलेट के ऊपर उठने के कारण, आवेगफलक अ स पर फिसलेगा

चित्र २. मृतस्पंद मोचन व्यवस्था
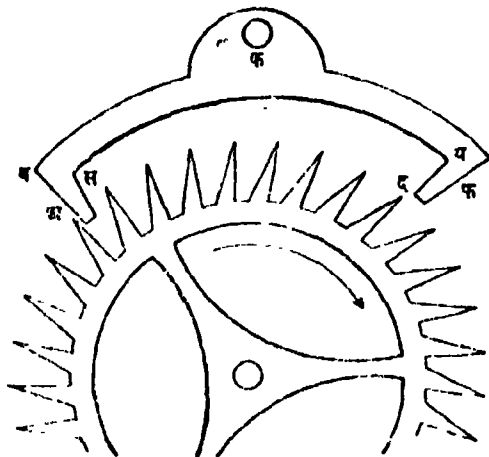
और इस प्रकार दोलक को आगे की दिशा में एक आवेग प्रदान करेगा। साथ ही, दाहिनी ओर का फलक नीचे की ओर उतरेगा और अगले दांत को आगे बढ़ने से रोक लेगा; किंतु जब दोलक पुनः दाहिनी ओर दोलन करेगा तो यह फलक ऊपर उठेगा और दांत पुनः आवेगफलक द फ पर फिसलता हुआ आगे बढ़ जायगा। इसमें दोलक को पुनः आवेग प्राप्त होगा। इस प्रकार दोनों पैलेटों के आवेग फलक बारी बारी से दोलक को आवेग प्रदान किया करते हैं, जिससे वह एकरूप गति से दोलन किया करता है।

उपर्युक्त दोनों पलायनतंत्र प्रारंभिक कोटि के हैं। इनमें उत्तरोत्तर सुधार करके अनेक नए प्रकार के पलायनतंत्रों का निर्माण किया गया है। आजकल प्रयुक्त होनेवाले पलायनतंत्रों में ऐसी व्यवस्था होती है कि पलायनचक्र (escape-wheel), अर्थात् उपर्युक्त दांतेदार पहिया, ज्यों ही अपना आवेग दोलक को प्रदान कर चुकता है, उसका संबंध दोलक से भंग हो जाता है। पुनः यह क्षणिक संबंध तभी स्थापित होता है जब दोलक अपने दोलन की मध्य स्थिति में दुबारा लौटकर आता है। ऐसे पलायन तंत्र को वियुक्त (detached) पलायनतंत्र कहते हैं। आधुनिक घड़ियों में लगे हुए क्रोनोमीटर, या कालमापी, ऐसे ही वियुक्त पलायनचक्र होते हैं।

घड़ी की चक्रप्रणाली (wheel system)—घड़ी में अनेक पहिए लगे होते हैं, जो किसी पतनशील भार या कमानी द्वारा प्रदत्त ऊर्जा से चलते हैं। पतनशील भार द्वारा चलनेवाली घड़िया आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व बनाई गई थी। इनमें एक बड़े से ढोल (drum) के चारों ओर लिपटे हुए लंबे धागे के छोर में एक भार लटकता हुआ होता था, जो स्वयं नीचे उतरते हुए ढोल को भी घुमाता जाता था। ढोल एक छोटे पहिए से जुड़ा रहता था। यह पहिया स्वयं घूमकर एक बड़े पहिए को अपने दांतों के सहारे घुमाता था। बड़े पहिए के साथ एक छोटा पहिया घूमता था, जो एक अन्य बड़े पहिए को घुमाता था। यह बड़ा पहिया एक पलायन चक्र से संबंधित था, जो भार के पतन की गति को नियंत्रित करता था। पलायन चक्र को एक दोलक की सहायता से नियमित गति से घुमाया जाता था। दोलक के दाहिनी ओर से बाईं ओर दोलन के साथ पलायनचक्र का एक दांत आगे बढ़ता था। इन पहियों में से एक के साथ घंटे की, दूसरे के साथ मिनट की और तीसरे के साथ सेकंड की सूई जुड़ी रहती थी। ये सूइयाँ एक अंकपृष्ठ (डायल) पर घूमती थीं। छोटे पहिए के छः दांत थे और यह मिनट की सूई से संबंधित था। बड़े पहिए में ७२ दांत थे। इससे घंटे की सूई संबद्ध थी। इस प्रकार जब छोटा पहिया १२ चक्कर पूरा करता था तब बड़ा पहिया एक चक्कर घूमता था।

आधुनिक घड़ियों में भार और ढोल के स्थान पर फौलाद की एक छोटी सी कमानी लगाई जाती है। कमानी कस दी जाती है। पहियों के घूमने के लिये आवश्यक ऊर्जा इस कमानी के धीरे धीरे खुलने की क्रिया
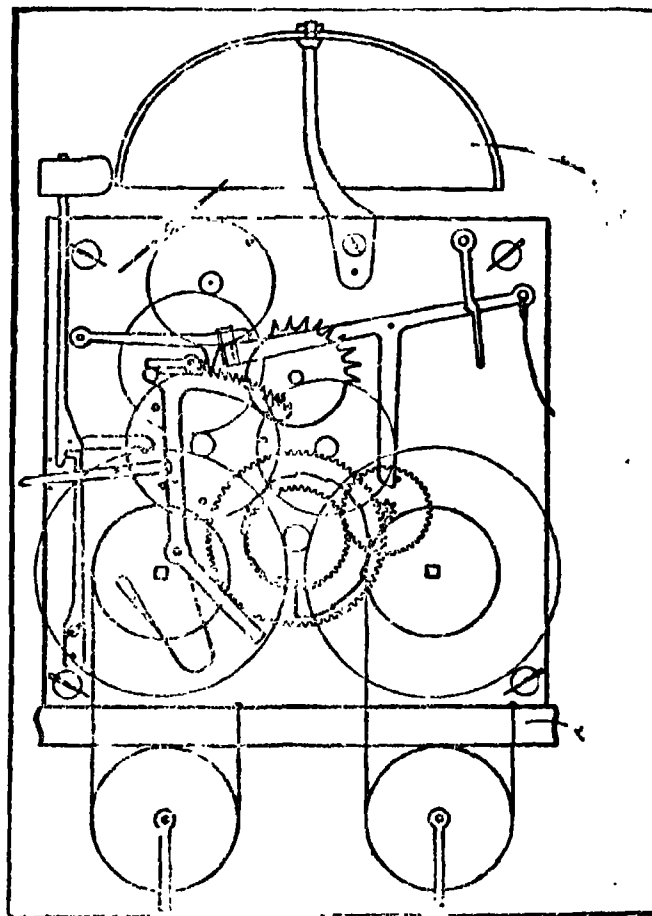
चित्र ३. ... दीवार घड़ी
(समुख दर्शन का चित्र।)

से प्राप्त होती है। छोटी घड़ियों में दोलक के स्थान पर संतुलनचक्र (balance wheel) लगा होता है, जो दाएँ बाएँ घूर्णन करता है। इस घूर्णन को नियंत्रित करने के लिये एक केशकमानी (hair spring) लगी होती है। जब संतुलनचक्र एक दिशा में घूम जाता है तो केशकमानी में ऐंठन उत्पन्न हो जाती है, जो उसे पुनः विपरीत दिशा में वापस लाकर घूर्णन की क्रिया कराती है। घड़ी को निरंतर गतिशील रखने के लिये फौलाद की कमानी को नियत अवधि के बाद पुनः कसकर लपेट दिया जाता है, जिसके लिये एक चाभी होती है। घंटाध्वनि उत्पन्न करनेवाली घड़ियों तथा निश्चित समय पर घंटी की घनघनाहट उत्पन्न करनेवाली सचेतक घड़ियों, अथवा टाइमपीस (alarm timepieces), में घंटाध्वनि उत्पन्न करने की पृथक् व्यवस्था होती है। ऐसी घड़ी के भीतर एक घंटी लगी होती है, जिसपर एक हथौड़े (hammer) की चोट पड़ने पर ध्वनि उत्पन्न होती है। यह हथौड़ा एक भार या कमानी से जुड़ा रहता है, जो इसे निश्चित अवधि पर चलाती है।

विद्युच्चालित घड़ियाँ — ये घड़ियाँ सामान्य यांत्रिक घड़ियों से केवल इस बात में भिन्न हैं कि इनकी कमानियों (या भारों) को पुनः लपेटने के लिये विद्युद्विधि का प्रयोग किया जाता है। विद्युत् द्वारा लपेटने की यह क्रिया या तो लोलक के प्रत्येक दोलन पर, या निश्चित अवधियों के अंतर पर, होती रहती है। छोटी घड़ियाँ विद्युत् बैटरियों की सहायता से चलाई जा सकती हैं और बड़ी घड़ियाँ विद्युत् मुख्यतार (mains) से जोड़ दी जाती हैं। सरल धारा में तो यह कार्य कठिन नहीं होता, किंतु प्रत्यावर्ती धारा (A. C.) जहाँ होती है वहाँ विभवपरिवर्तक, या ट्रांसफार्मर, या टेलिक्रॉन (Telchron) का प्रयोग करना पड़ता है। इनके द्वारा प्रत्यावर्ती धारा को दिष्ट धारा में परिवर्तित कर दिया जाता है।

परमाणवीय घड़ियाँ (Atomic Clocks)—विद्युत् घड़ियों के परिष्कृत एवं उत्कृष्ट रूप दाब-विद्युत्-मणिभों (piezzo-electric crystals) के कंपन द्वारा चलनेवाली घड़ियाँ हैं। इनमें स्फटिक के मणिभ को प्रत्यावर्ती धारा (A. C.) द्वारा दोलित कराया जाता है और इन्हीं दोलनों के द्वारा घड़ी चलती है।

सन् १९४८ में संयुक्त राज्य, अमरीका, के ब्यूरो ऑव स्टैंडर्ड्स की ओर से परमाणवीय घड़ियों का प्रारूप निर्धारित करने की घोषणा हुई। ये घड़ियाँ भी दाब-विद्युत्-मणिभयुक्त सामान्य विद्युत् घड़ियों की भाँति होती हैं। अंतर केवल इतना होता है कि इनकी नियंत्रक आवृत्ति (regulating frequency) प्रत्यावर्ती विद्युद्धारा के बदले उत्तेजित अणुओं या परमाणुओं के स्वाभाविक-अनुस्पंदन-आवृत्ति (natural resonance frequency) द्वारा प्रदान की जाती है। ये आवृत्तियाँ प्रायः $१०^{१०}$ चक्र (cycles) प्रति सेकंड की कोटि की होती हैं। ऐसी परमाणवीय घड़ियाँ अत्यंत सुग्राही एवं यथार्थ होती हैं और वर्ष में ०·०१ सेकंड तक की भी त्रुटि इनमें नहीं आने पाती।

परमाणवीय घड़ियों में वांछित अनुस्पंदन आवृत्ति प्राप्त करने के लिये अभी तक तीन उपायों पर विचार किया गया है : (१) परमाणु सीज़ियम की मूल (अर्थात् निम्नतम ऊर्जा की) अवस्था की अति सूक्ष्म संरचना द्वारा। यह संरचना नाभिक के चुंबकीय घूर्ण के कारण वर्णक्रम रेखाओं के खंडन से प्राप्त होती है। इसकी आवृत्ति लगभग ९,१९२ मेगासाइकिल प्रति सेकंड (Mc/s) होती है। (२) रुबीडियम धातु की मूल अवस्था की अति सूक्ष्म संरचना द्वारा, जिसकी आवृत्ति ६,८३५ मे०सा०/से० होती है; और (३) ऐमोनिया-परमाणु की उत्क्रमण आवृत्ति (inversion frequency) के द्वारा, जिसकी आवृत्ति २३,८०० मे०सा०/से० होती है।

उपर्युक्त आवृत्तियों द्वारा स्फटिक मणिभ की आवृत्ति का नियंत्रण किया जाता है। स्फटिक मणिभ का दोलन कुछ किलो-साइकिल (प्रायः लगभग १०० किलो-साइकिल) मात्र होता है। उसे किसी आवृत्तिवर्धक शृंखला द्वारा बढ़ाकर अत्यंत उच्च आवृत्तिवाले संकेतों में परिवर्तित कर दिया जाता है। यह आवृत्ति प्रायः उसी कोटि की होती है जिस कोटि की नियंत्रक आवृत्ति होती है। यदि स्फटिक मणिभ की दोलन आवृत्ति नियंत्रक आवृत्ति की तुलना में काफी कम होती है, तो उसे नियंत्रक आवृत्ति की कोटि तक पहुँचाने के लिये ऐसी घड़ियों में एक स्वयंचालित व्यवस्था होती है, जिसे त्रुटिसंकेतक (error signal) कहते हैं। यह व्यवस्था त्रुटिपरिमार्जक का भी कार्य करती है। भिन्न भिन्न प्रकार की घड़ियों में त्रुटिसंकेतक का रूप भिन्न भिन्न होता है।

अभी तक परमाणवीय घड़ियों का स्थूल रूप सामने नहीं आ सका है, किंतु इसमें संदेह नहीं कि साकार होने पर यह कालमापन का सर्वोत्कृष्ट उपकरण होगा।

[मु० चं० गौ०]

घड़ी उद्योग की विकासपरंपरा को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :

(१) प्रारंभिक काल (ईसा की १०वीं शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दी के बीच तक का काल), जिसमें विभिन्न अन्वेषकों ने घड़ी निर्माण की नई नई विधियाँ बतलाईं और अपने अपने तरीकों से घड़ी के प्रारंभिक रूपों के निर्माण करने का प्रयत्न किया। कुछ प्रारंभिक घड़ियाँ केवल सिद्धांतों के परीक्षण के उद्देश्य से बनाई गई थीं; व्यापारिक पैमाने पर उनका निर्माण नहीं हो सकता था। ऐसे प्रयासों का विशेष जोर यूरोप में ही था।

(२) मध्यकाल (सन् १८०० से १९०० तक) में घड़ी निर्माण उद्योग प्रारंभ हो गया था। घड़ी के विभिन्न पुर्जे हाथ से अलग अलग बनाए जाते थे और उन्हें यंत्रशाला (फैक्टरी) में लाकर यथास्थान जोड़ सँवारकर घड़ी बनाई जाती थी।

(३) २० वीं शताब्दी में घड़ियों का निर्माण पूर्णतया यांत्रिक विधियों से व्यावहारिक पैमाने पर होने लगा और यूरोप तथा अमरीका में घड़ी निर्माण उद्योग की गणना प्रमुख उद्योगों में होने लगी। इस अवधि में विद्युत् घड़ियाँ, दाब-विद्युत्-घड़ियाँ (piezzo-electric clocks) इत्यादि अनेक नए प्रकार की घड़ियों का आविष्कार हुआ और अब घड़ी का सर्वाधिक उन्नत रूप, परमाणवीय घड़ी, भी परिकल्पित हो चुका है।

यूरोप में घड़ी उद्योग — यूरोप में घड़ी निर्माण के केंद्र पहले (१७वीं और १८वीं शताब्दी में) ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस थे। बाद में जर्मनी से कम मूल्यवाली घड़ियों के आयात के कारण इन देशों के घड़ी उद्योग को धक्का लगा। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान में ब्रिटेन की सरकार ने वहाँ के मृतप्राय घड़ी उद्योग को पुनर्जीवित किया। अनेक नए घड़ी निर्माण प्रतिष्ठान स्थापित किए गए और बड़े पैमाने पर निर्माण कार्य प्रारंभ कराया गया। उसी समय संयुक्त राज्य, अमरीका, में आविष्कृत विद्युत् घड़ियों का प्रचलन बढ़ने लगा। ब्रिटेन ने इस ओर भी अपना हाथ बढ़ाया और कुछ ही समय में विद्युत् घड़ियों के निर्माण में अपना स्थान अन्यतम बना लिया। संप्रति लंदन, कवेंट्री, लिवरपूल, मैनचेस्टर, बरमिंघम, प्रेस्टन, ग्लासगो और डंडी घड़ी निर्माण एवं व्यापार के प्रमुख केंद्र हैं।

ब्रिटेन के अतिरिक्त स्विट्ज़रलैंड, फ्रांस और जर्मनी विश्व में घड़ी उद्योग के प्रमुख केंद्र हैं। घड़ी के पुर्जों के निर्माण में स्विट्ज़रलैंड का स्थान विश्व में सर्वप्रथम है और वहाँ की बनी घड़ियाँ सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं। यहाँ से संसार के प्रायः सभी घड़ी उद्योग केंद्रों में पुर्जों का निर्यात होता है।

संयुक्त राज्य, अमरीका, में घड़ी उद्योग — संयुक्त राज्य, अमरीका, में घड़ी उद्योग का जन्म कनेक्टिकट (Connecticut) के एल टेरी (El Terry, सन् १७७२-१८५२) द्वारा हुआ। वह लकड़ी की घड़ियाँ बनाकर आसपास के किसानों के हाथ बेचा करता था। यांत्रिक विधियों से घड़ी का निर्माण सर्वप्रथम उसी ने प्रारंभ किया था। उसका सहायक

सेठ टौमस (Seth Thomas) दूसरा घड़ी उद्योगपति हुआ। लगभग उसी समय चान्सी जेरोम (Chauncey Jerome) ने घड़ी के विभिन्न अवयवों के निर्माण में लकड़ी के बदले पीतल का प्रयोग करना आरंभ किया। उसकी घड़ियाँ अधिक टिकाऊ होने के कारण शीघ्र ही लोकप्रिय हो गई। इस सफलता से प्रेरित होकर, जेरोम ने ई० डी० ब्रायंट (E. D. Bryant) तथा ऐन्सोनिया ब्रास ऐंड कॉपर कंपनी के सहयोग से घड़ी निर्माण के निमित्त प्रथम व्यापारिक संस्थान, ऐन्सोनिया क्लॉक कंपनी, की स्थापना की।

घड़ी उद्योग का तीसरा महत्वपूर्ण युग इंगरसोल की क्रांति (सन् १८९२) से प्रारंभ हुआ जब सर्वसाधारण के उपयोग के लिये तथा उसकी क्रयशक्ति के अनुकूल घड़ियों का बहुत बड़े पैमाने पर निर्माण होने लगा। उसके बाद तो विद्युत् एवं दाब विद्युत् घड़ियों का आविष्कार हो जाने से घड़ी उद्योग में क्रांति का आविर्भाव हुआ। इधर संयुक्त राज्य, अमरीका, के नेशनल ब्यूरो ऑव स्टैंडर्ड्स ने परमाण्वीय घड़ियों के निर्माण की भी सूचना दी है, जिसके शीघ्र ही प्रारंभ होने की आशा है। अमरीका में प्रमुख घड़ी उद्योग केंद्र कनेक्टिकट (ब्रिस्टल, न्यूहैवेन और प्लाइमाउथ), मैसैचुसेट्स (बोस्टन) तथा इलिनॉय (प्रिओरिया) हैं।

भारत में भी इस उद्योग की ओर अब ध्यान दिया जाने लगा है और हाल में पूना तथा बंगलोर में घड़ी के कारखाने स्थापित हुए हैं, किंतु अभी उत्पादन की गति अत्यंत मंद है। अधिकांश पुर्जे अमरीका, ब्रिटेन अथवा स्विट्ज़रलैंड से मंगाने पड़ते हैं। इस कारण इनका निर्माण-व्यय अधिक पड़ जाता है। इस दृष्टि से इस उद्योग का संप्रति शैशव है, किंतु भारत सरकार इसे उन्नत बनाने के लिये सचेष्ट है।

[मु० चं० गौ०]

घड़ीयंत्र नियंत्रण पृथ्वी के घूर्णन के कारण समस्त आकाशीय पिंड पूर्व से पश्चिम की ओर गमन करते हुए प्रतीत होते हैं। इस कारण यदि किसी आकाशीय पिंड का फोटो लेते समय कैमरे को लक्ष्यपिंड की ओर निर्दिष्ट करके छोड़ दिया जाय, तो उक्त पिंड के आभासी स्थानांतरण के कारण उसका फोटो बिंब स्पष्ट नहीं प्राप्त होगा, वरन् वह बिंदु सदृश पिंड एक छोटी और मोटी रेखा के रूप में फोटो पट्टिका पर दृष्ट होगा और इस रेखा की परिमितियाँ भी स्पष्ट अथवा तीक्ष्ण नहीं होंगी।

इस कठिनाई को दूर करने के लिये ऐसी व्यवस्था की गई है कि खगोलीय पिंडों का फोटो लेनेवाला कैमरा एक विद्युच्चालित घड़ीयंत्र-नियंत्रण-व्यवस्था द्वारा तारों की आभासी गति की ही दिशा में तथा उनके आभासी कोणीय वेग के समान वेग से घुमाया जा सके, ताकि लक्ष्य पिंड का बिंब फोटो पट्टिका के एक ही स्थान पर 'जमा', अर्थात् 'स्थिर', रहे।

घड़ीयंत्र-नियंत्रण-व्यवस्था में सामान्य रूप से एक विशाल, दाँतेदार पहिया या चक्र होता है, जो एक ध्रुवीय या घंटीअक्ष पर आरोपित होता है। इस अक्ष को एक स्पर्शीय सर्पिल (tangential worm), या निरंतर पेच, द्वारा एक समान घूर्णनगति प्रदान की जाती है। यह स्पर्शीय सर्पिल या निरंतर पेच स्वयं विद्युन्मोटर द्वारा परिचालित होता है। साधारण खगोलीय यंत्रों में इस विद्युन्मोटर की चाल अत्यंत परिशुद्ध लोलक घड़ी द्वारा नियंत्रित की जाती है। लोलक घड़ी विद्युन्मोटर में वांछित प्रबलता की विद्युद्धारा को ही प्रवेश करने देती है, ताकि ध्रुवीय अक्ष का घूर्णन एकरूप रहे।

अधिक परिष्कृत और विशेषकर विशाल यंत्रों में, जिन्हें अभी केवल कुछ बड़ी वेधशालाओं में ही प्रतिष्ठित किया गया है, ध्रुवीय अक्ष की घूर्णन गति को जटिल यांत्रिक प्रक्रिया द्वारा नियंत्रित करने की व्यवस्था की गई है। लोलक-घड़ी-नियंत्रित विद्युन्मोटर के स्थान पर इसमें समकालिक (synchronus) मोटर का प्रयोग किया जाता है, जिसके विद्युदादान (input) की आवृत्ति का नियमन एवं नियंत्रण मानक कंपित्र यथा क्वार्ट्ज़ मणिभ द्वारा होता है।

खगोलीय यंत्रों के अतिरिक्त अन्य वैज्ञानिक परिमापन क्रियाओं में भी घड़ीयंत्र नियंत्रण प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि घड़ीयंत्र नियंत्रण प्रणालियों में कालिक युक्ति (timing device) का प्रयोग नियंत्रण फलन उत्पन्न करने के लिये किया जाता है। इस प्रणाली का साधारण दृष्टांत घरेलू चेतावनी (अलार्म) घड़ियाँ हैं, जिनमें घंटी बजने का समय घड़ीयंत्र द्वारा ही नियंत्रित होता है। वैज्ञानिक परिमापन कार्यों में प्रयोजनीय घड़ीयंत्र-नियंत्रण-व्यवस्था के मुख्यतः दो अंग होते हैं, एक तो कालिक युक्ति और दूसरा नियंत्रण प्रक्रियाएँ या युक्तियाँ। इन नियंत्रण प्रणालियों का व्यवहारक्षेत्र सामान्य चेतावनी घड़ियों से लेकर नियंत्रित क्षेप्यास्त्रों और कृत्रिम ग्रहों एवं उपग्रहों के प्रक्षेपकों में घटनाओं के जटिल क्रमों को नियंत्रित करने तक, विस्तृत है। घड़ीयंत्र नियंत्रण प्रणालियाँ साधारणतया खुले पाश-नियंत्रण-प्रणालियों पर निर्भर होती हैं, क्योंकि नियंत्रण क्रिया इस संबंध में केवल निकाय आदान (system input) और व्यतीत काल पर ही निर्भर करती है।

सामान्यतया कालिक युक्ति के रूप में निम्नलिखित व्यवस्थाएँ व्यवहृत होती हैं :

(१) समय स्विच — यह पूर्वनियोजित क्षणों पर विद्युत्संपर्कों को स्थापित एवं भंग करता रहता है। इसका प्रयोग औद्योगिक प्रतिष्ठानों में, प्रकाश एवं ऊष्मा-उत्पादक-प्रणालियों में तथा टंकी पात्रों, चूल्हों तथा अन्य उपकरणों को, उनके कार्यारंभ करने के पूर्व, गरम करने के लिये किया जाता है। यातायात प्रणालियों में भी इसका प्रयोग होता है।

(२) समय-विलंब-रिले (Time-delay relay) — इस विधि में समय-विलंब युक्ति को ऊर्जायुक्त या ऊर्जाविहीन करने तथा भारवाही विद्युत् संपर्कों के तदोत्तर क्रमवर्धन के बीच पूर्वनियोजित समयविलंबन, अथवा समयपश्चता (time lag), प्रदान करने की व्यवस्था होती है। इस विधि का प्रयोग इलेक्ट्रॉनिक प्रणालियों में प्लेट वोल्टेज के आरोपण में विलंब करने के निमित्त किया जाता है, ताकि वह हीटर-वोल्टेज के आरोपण के पश्चात् ही आरोपित हो सके। इससे निर्वात नलिकाओं की आयु में वृद्धि होती है।

(३) अंतराल समयांकक (Interval timer) — इस प्रणाली का कार्य पूर्वनिश्चित समयावधि में विद्युत्संपर्कों के कुलक (a set of contacts) को सक्रिय करना होता है और उक्त अवधि के अंत में वे उन संपर्कों को उनकी सामान्य स्थिति में वापस ले आते हैं। इस विधि का कार्य बहुत कुछ समय-विलंब-रिले के समान ही होता है। अंतर इतना मात्र होता है कि इस विधि से समयांतराल का नियंत्रण अधिक यथार्थता से होता है, और इससे प्राप्त समयांतराल अधिक दीर्घ रहता है। इस विधि का व्यवहार फोटोग्राफिक पुनरुत्पादन प्रक्रियाओं तथा स्वत-संधान-परिचालन में कालावधि नियंत्रण के लिये तथा अन्य तत्सदृश कार्यों में किया जाता है।

(४) समय-चक्र-नियंत्रक (Time-cycle controller) — यह विधि पूर्वनिश्चित समयांतरालों में संपर्कों के कुलक का इस प्रकार क्रियान्वयन करती है कि उक्त अंतराल में संबद्ध प्रस्तावित घटनाओं की शृंखला अभीष्ट क्रम में ही घटित हो।

(५) कालनिर्धारण नियंत्रक (Time schedule controller) — इस नियंत्रक प्रणाली का प्रयोग किसी प्रक्रिया में चर तत्वों (variable factors), यथा दाब, ताप इत्यादि के मानों को पूर्वनिर्धारित समयक्रम के अनुसार समयोजित करने के हेतु किया जाता है। इस नियंत्रक का प्रयोग तापानुशीलन (annealing) भ्राष्ट्रों में किया जाता है, जहाँ भ्राष्ट्रों के ताप में समय के साथ परिवर्तन अत्यंत सतर्कतापूर्वक नियोजित कार्यक्रम के अनुसार वांछित होता है।

[सु० चं० गो०]

घन आनंद ये 'आनंदघन' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। अनुमान से इनका जन्मकाल सं० १७३० के आसपास है। इनके जन्मस्थान और जनक के नाम अज्ञात हैं। आरंभिक जीवन दिल्ली तथा उत्तर वृंदावन में बीता। जाति के कायस्थ थे। साहित्य और संगीत दोनों में इनकी असाधारण गति थी। कहा जाता है कि ये शाहंशाह मुहम्मदशाह रंगीले के दरबार में मीरमुंशी थे और सुजान नामक नर्तकी पर आसक्त थे। एक दिन दरबारियों ने बादशाह से कह दिया कि मुंशी जी गाते बहुत अच्छा हैं। उसने इनको गाना सुनने को हठ पकड़ ली। पर ये गाना सुनाने में अपनी अशक्ति का ही निवेदन करते रहे। अंत में बादशाह से कहा गया कि यदि सुजान बुलाई जाय ये गाना सुनाएँगे। वह बुलाई गई और इन्होंने उसकी ओर उन्मुख होकर सचमुच गाया और ऐसा गाया कि सारा दरबार मंत्रमुग्ध हो गया। बादशाह ने आज्ञा की अवहेलना के अपराध में इन्हें दिल्ली से निष्कासित कर दिया। सुजान ने इनका साथ नहीं दिया। वहाँ से ये वृंदावन चले गए और निंबार्क संप्रदायाचार्य श्रीवृंदावनदेव से दीक्षा ग्रहण की। इनका सखीभावसूचक नाम 'बहुगुनी' था। मथुरा पर अहमदशाह अब्दाली के द्वितीय आक्रमण के समय, सं० १८१३ में, ये मार डाले गए।

ये प्रेमसाधना का अत्यधिक पथ पार कर बड़े बड़े साधकों की कोटि में पहुँच गए थे। यमुना के कछार और ब्रज की वीथियों में भ्रमण करते समय ये कभी आनंदातिरेक में हँसने लगते और कभी भावावेश में अश्रु की धारा इनके नेत्रों से प्रवाहित होने लगती। नागरीदास जैसे श्रेष्ठ महात्मा इनका बड़ा संमान करते थे।

हिंदी में इनकी निम्नलिखित ४१ कृतियाँ ज्ञात हैं—सुजानहित, कृपाकंदनिबंध, वियोगबेलि, इश्कलता, यमुनायश, प्रीतिपावस, प्रेमपत्रिका, प्रेमसरोवर, व्रजविलास, रसवसंत, अनुभवचंद्रिका, रंगबधाई, प्रेमपद्धति, वृषभानुपुर सुषमा, गोकुलगीत, नाममाधुरी, गिरिपूजन, विचारसार, दानघटा, भावनाप्रकाश, कृष्णकौमुदी, धामचमत्कार, प्रियाप्रसाद, वृंदावनमुद्रा, व्रजस्वरूप, गोकुलचरित्र, प्रेमपहेली, रसनायश, गोकुलविनोद, व्रजप्रसाद, मुरलिकामोद, मनोरथमंजरी, व्रजव्यवहार, गिरिगाथा, व्रजवर्णन, छंदाष्टक, त्रिभंगी छंद, कवित्तसंग्रह, स्फुट पदावली और परमहंसवंशावली। इनका 'व्रजवर्णन' यदि 'व्रजस्वरूप' ही है तो इनकी सभी ज्ञात कृतियाँ उपलब्ध हो गई हैं। छंदाष्टक, त्रिभंगी छंद, कवित्तसंग्रह—स्फुट वस्तुतः कोई स्वतंत्र कृतियाँ नहीं हैं, फुटकल रचनाओं के छोटे छोटे संग्रह हैं। इनके समसामयिक व्रजनाथ ने इनके ५०० कवित्त सवैयों का संग्रह किया था। इनके कवित्तों का यह सबसे प्राचीन संग्रह है। इसके आरंभ में दो तथा अंत में छह कुल आठ छंद व्रजनाथ ने इनकी प्रशस्ति में स्वयं लिखे। पूरी 'दानघटा' 'घनआनंद कवित्त' में संख्या ४०२ से ४१४ तक संगृहीत है। परमहंसवंशावली में इन्होंने गुरुपरंपरा का उल्लेख किया है। इनकी लिखी एक फारसी मसनवी भी बतलाई जाती है पर वह अभी तक उपलब्ध नहीं है।

हिंदी के मध्यकालीन स्वच्छंद प्रवाह के प्रमुख कर्ताओं में सबसे अधिक साहित्यश्रुत घनआनंद ही प्रतीत होते हैं। इनकी रचना के दो प्रकार हैं : एक में प्रेमसंवेदना की अभिव्यक्ति है, और दूसरे में भक्तिसंवेदना की व्यक्ति। इनकी रचना अभिधा के वाच्य रूप में कम, लक्षणा के लक्ष्य और व्यंजना के व्यंग्य रूप में अधिक है। ये भाषाप्रवीण भी थे और व्रजभाषाप्रवीण भी। इन्होंने व्रजभाषा के प्रयोगों के आधार पर नूतन वाग्योग संघटित किया है।

सं० ग्रं० : घनानंद ग्रंथावली (विश्वनाथप्रसाद मिश्र) प्रसाद परिषद् की ओर से वाणीवितान, ब्रह्मनाल, वाराणसी, संवत् २००९ द्वारा प्रकाशित।

[वि० प्र० मि०]

घनत्व यह सामान्य अनुभव है कि बराबर आयतन के विभिन्न पदार्थों का भार भिन्न भिन्न होता है। यह भिन्नता पदार्थों के अणुओं या परमाणुओं के भार तथा पदार्थविशेष में उनकी संनिकटता पर निर्भर होती है, क्योंकि किसी विशेष पदार्थ के अणुओं तथा परमाणुओं का भार और उस पदार्थ में उनका रचनाक्रम लगभग निश्चित होता है। अतः पदार्थविशेष के निश्चित आयतन का भार भी निश्चित हो होता है। इकाई आयतन के पदार्थ की मात्रा को उस पदार्थ का घनत्व कहते हैं। यह पदार्थ की सघनता का द्योतक है तथा पदार्थ का विशेष गुण होता है। उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार किसी वस्तु का घनत्व निम्नलिखित सूत्र द्वारा व्यक्त किया जाता है :

घनत्व = मात्रा / आयतन

अतः स० ग० स० (C. G. S.) पद्धति में घनत्व की इकाई ग्राम घन सेंमी० है।

साधारणतया पदार्थों के आपेक्षिक घनत्व का ज्ञान अधिक उपयोगी होता है, यथा किसी पदार्थ के पिंड का किसी द्रव में डूबना या तैरना, द्रव की अपेक्षा पदार्थ के घनत्व की अधिकता या न्यूनता पर, निर्भर करता है। जब एक पदार्थ के घनत्व की दूसरे पदार्थ के घनत्व से तुलना की जाती है, तब उससे जो अंक प्राप्त होता है वह पहले पदार्थ का आपेक्षिक घनत्व कहलाता है। आपेक्षिक घनत्व वस्तुतः पहले और दूसरे पदार्थों के घनत्व का अनुपात होता है। पदार्थों का आपेक्षिक घनत्व कुछ निश्चित मानक पदार्थों के घनत्व की तुलना से व्यक्त किया जाता है। यदि अ आयतन के एक पदार्थ की मात्रा द्र$_1$ (m_1) तथा उसी आयतन के मानक पदार्थ की मात्रा द्र$_0$ (m_0) है, तो उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार पदार्थ का आपेक्षिक घनत्व निम्नलिखित सूत्र द्वारा व्यक्त किया जाता है :

आपेक्षिक घनत्व = द्र$_1$ / द्र$_0$ (m_1/m_0)

पदार्थ का घनत्व, या आपेक्षिक घनत्व, व्यक्त करते समय पदार्थ की भौतिक अवस्थाओं (ताप, दाब, इत्यादि) को भी व्यक्त करना आवश्यक होता है, क्योंकि भौतिक अवस्था के परिवर्तन से घनत्व में काफी परिवर्तन होता है। घनत्व पर ताप तथा दाब का अधिक प्रभाव पड़ता है। यह परिवर्तन पदार्थ के आयतनपरिवर्तन के कारण होता है।

ठोस तथा द्रव पदार्थों के आयतन, तदनुरूप उनके घनत्व, पर सामान्य दाबपरिवर्तनों का प्रभाव इतना सूक्ष्म होता है कि सामान्यतया वह उपेक्षणीय होता है। दूसरी ओर सामान्य तापपरिवर्तनों का प्रभाव उपेक्षणीय

नहीं होता है। अतः ठोस तथा द्रव पदार्थों के घनत्व के साथ साथ उनका ताप व्यक्त करना ही पर्याप्त होता है। दाब को व्यक्त नहीं किया जाता। सामान्यतः ठोस तथा द्रव पदार्थों का आपेक्षिक घनत्व ४° सें० पर पानी के घनत्व की तुलना से व्यक्त किया जाता है। यह आवश्यक नहीं कि पदार्थ तथा पानी का ताप एक ही हो। आपेक्षिक घनत्व को निम्नांकित प्रकार से लिखते हैं :

$$\text{सा}\ (\text{त}_1^\circ/\text{त}_0^\circ)\ [\ D\ (\ t_1^\circ/t_0^\circ\ )\ ]$$

यहाँ त_1 (t_1°) पदार्थ तथा त_0° (t_0°) पानी का ताप है, तथा सा (D) पदार्थ का आपेक्षिक घनत्व है। यह स्मरण रखना चाहिए कि ४° सें० पर पानी का घनत्व एक ग्राम / प्रति घन सेंमी० होता है। अतः ४° सें० पर पानी के घनत्व की तुलना से किसी पदार्थ का आपेक्षिक घनत्व ही उसका घनत्व भी होता है। सुविधानुसार पानी के स्थान पर अन्य पदार्थ भी मानक के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

गैसीय पदार्थों के आयतन तथा तदनुरूप उनके घनत्व पर सामान्य ताप तथा दाबपरिवर्तनों का बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि द्र (m) द्रव्यमान की किसी गैस का परमताप त_0 (T_0) पर आयतन आ_0 (V_0) है तो उसी मात्रा की गैस का किसी अन्य परमताप त_1 (T_1) तथा दाब द_1 (P_1) पर आयतन आ_1 (V_1) हो जाता है। गैसीय नियमों की सहायता से आ_1 (V_1) तथा आ_0 (V_0) का निम्नांकित पारस्परिक संबंध व्यक्त किया जा सकता है :

$$\text{आ}_1 = \frac{\text{द}_0\ \text{त}_1}{\text{त}_0\ \text{द}_1}\text{आ}_0\ \left\{ V_1 = \frac{P_0\ T_1}{T_0\ P_1} V_0 \right\}$$

अतः परिभाषा के अनुसार त_1 (T_1) ताप एवं द_1 (P_1) दाब पर गैस के घनत्व घ_1 (D_1) तथा त_0 (T_0) ताप एवं द_0 (P_0) दाब पर घनत्व घ_0 (D_0) में निम्नांकित संबंध प्राप्त किया जा सकता है :

$$\text{घ}_1 = \frac{\text{त}_0\ \text{द}_1}{\text{द}_0\ \text{त}_1}\text{घ}_0\ \left\{ D_1 = \frac{T_0\ P_1}{P_0\ T_1} D_0 \right\}$$

उपर्युक्त समीकरण की सहायता से मानक दाब द_0 (P_0) तथा ताप त_0 (T_0) पर गैस का घनत्व ज्ञात कर लेने पर किसी अन्य ताप तथा दाब पर भी उसका घनत्व ज्ञात किया जा सकता है। ०° सें० तथा ७६० मिमी० पारे की दाब को क्रमशः मानक ताप तथा दाब मानते हैं।

गैसों का आपेक्षिक घनत्व, उसी ताप तथा दाब पर, मानक गैस के घनत्व की तुलना से व्यक्त करते हैं। हाइड्रोजन या वायु ही मानक गैसों के रूप में प्रयुक्त होती हैं।

सामान्यतः सभी पदार्थों का घनत्व ताप बढ़ने से घटता तथा दाब बढ़ने से बढ़ता है। ताप बढ़ने के साथ पानी के घनत्व का परिवर्तन असाधारण होता है। ४° सें० पर पानी का घनत्व अधिकतम होता है। इससे अधिक तथा कम ताप पर पानी का घनत्व कम हो जाता है।

पहले कहा जा चुका है कि घनत्व पदार्थों का विशेष गुण होता है। अतः पदार्थ की शुद्धता का अनुमान उसका घनत्व ज्ञात करके भी किया जाता है। इसी आधार पर दूध आदि द्रव पदार्थों की शुद्धता के परीक्षक यंत्र बनाए गए हैं।

पदार्थों के घनत्व संबंधी ज्ञान का उपयोग आर्किमिदीज के सिद्धांत के अनुसार द्रवस्थैतिकी में किया जाता है। इसके अनुसार यदि वस्तु को पहले वायु तथा फिर द्रव में तोला जाय तो दोनों भारों में अंतर वस्तु के बराबर आयतन के द्रव के भार के बराबर होता है। इस सिद्धांत की सहायता से पदार्थों का आपेक्षिक घनत्व निकाला जाता है।

तत्वों के परमाणुभार तथा उनके घनत्व के अनुपात को तत्व का परमाणु आयतन कहते हैं। इस परमाणु आयतन के आधार पर आवर्त-सारणी में तत्वों के स्थान का निर्धारण करने में बहुत सहायता मिली है।

किसी पदार्थ का घनत्व निकालने की उपयुक्त विधि उसकी ठोस, द्रव, या गैस अवस्था पर निर्भर करती है। यहाँ पर इन विधियों का संक्षिप्त विवरण दिया जायगा।

पदार्थ का घनत्व निकालने के लिये उसका भार तथा आयतन ज्ञात करना होता है तथा आपेक्षिक घनत्व ज्ञात करने के लिये उसी आयतन के मानक द्रव का भी भार ज्ञात करना होता है। पदार्थ का भार तो सुग्राही तुला द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। आयतन ज्ञात करने के लिये एक चिह्नित जार में ऐसा द्रव लेते हैं जिसमें पदार्थ घुलता नहीं है। पदार्थपिंड को द्रव में पूरी तरह डुबा देने पर, द्रव के आयतन में जितना परिवर्तन हो वही उस पदार्थपिंड का भी आयतन होता है। घनत्व का अधिक यथार्थ मान ज्ञात करने के लिये आयतनमापन की अधिक सुग्राही विधियों का उपयोग किया जाता है, जैसे आयतनमापी अर्थात् स्टेरिओमीटर (stereometer) का उपयोग।

एक सामान्य आयतनमापी में, पारे से भरी हुई चौड़े मुहँ की एक नली में समान अनुप्रस्थ काट की शीशे की चिह्नित दूसरी नली होती है। दूसरी नली की लंबाई पहली से छोटी होती है तथा उसका ऊपरी सिरा एक प्याले के पेंदे में खुलता है। प्याले को ढक्कन से बंद कर देने पर वायु भी प्याले के भीतर या बाहर नहीं जा सकती। दूसरी नली पर दो चिह्न क एवं ख, ल_0 (L_0) दूरी पर बने हैं। सर्वप्रथम बैरोमीटर से वायुमंडल की दाब च (p) नापते हैं। अब ढक्कन को हटाकर दूसरी नली को इतनी नीची करते हैं कि उसके अंदर का पारा क चिह्न तक आ जाय। तत्पश्चात् ढक्कन बंद करके नली को इतना उठाते हैं कि दूसरी नली के अंदर पारा ख स्थान पर हो जाय। इस समय नली के अंदर पारे के तल को, नली के बाहर पारे के तल से, ऊँचाई छ_0 (h_0) ज्ञात कर लेते हैं। इसी विधि को प्याले में पदार्थपिंड का रखकर दोहराते हैं। यदि इस समय दूसरी नली के अंदर तथा बाहर पारे के तलों का अंतर छ (h) हो, तो निम्नांकित सूत्र द्वारा पदार्थपिंड का आयतन ज्ञात कर लेते हैं :

$$\text{आ} = \frac{\text{स}\cdot\text{ल}_0\ (\text{च} - \text{छ}_0)}{\text{छ}_0} - \frac{\text{स}\cdot\text{ल}_0\ (\text{च} - \text{छ})}{\text{छ}}$$

$$\left[V = \frac{A.\ l_0\ (p - h_0)}{h_0} - \frac{A.\ l_0\ (p - h)}{h} \right]$$

यहाँ आ (V) पदार्थपिंड का आयतन है तथा स (A) दूसरी नली की अनुप्रस्थ काट का क्षेत्रफल है। इस प्रकार किसी दिए हुए पदार्थ का यथार्थ आयतन ज्ञात कर लेते हैं।

द्रव पदार्थों का आपेक्षिक घनत्व या घनत्व, आपेक्षिक-घनत्व-बोतल की सहायता से निकाला जाता है। घनत्व ज्ञात करने के लिये पहले खाली बोतल की मात्रा म_0 (m_0) ज्ञात करते हैं, तत्पश्चात् उसे द्रव से भर कर उसकी मात्रा म_1 (m_1) ज्ञात कर लेते हैं। द्रव भरकर काट लगाने पर कुछ द्रव केशिकानली से बाहर निकल जाता है, इस प्रकार बोतल का पूरा पूरा आयतन द्रव से भर जाता है। द्रव का घनत्व घ (D) निम्न-लिखित सूत्र द्वारा मालूम हो जाता है :

$$\text{घ} = \frac{\text{म}_1 - \text{म}_0}{\text{आ}_0}\ \left[D = \frac{m_1 - m_0}{V_0} \right]$$

जबकि आ० (V_0) बोतल का आयतन है, जिसे ज्ञात घनत्व के द्रव की सहायता से ज्ञात किया जाता है। यदि बोतल को दूसरी बार मानक द्रव से भरकर मात्रा $म_२$ (m_2) ज्ञात कर लें, तो आपेक्षिक घनत्व (R. D.) निम्नलिखित प्रकार से ज्ञात कर सकते हैं :

$$\text{आ० घ०} = \frac{म_१ - म_०}{म_२ - म_०} \left[R.D. = \frac{m_1 - m_0}{m_2 - m_0} \right]$$

आ० घ० बोतल की सहायता से चूरे, या छोटे छोटे टुकड़ों के रूप में प्राप्त, ठोस पदार्थों का घनत्व भी निकाला जा सकता है। आर्किमिडीज़ के सिद्धांत की सहायता से भी ठोस पदार्थों का आपेक्षिक घनत्व निकाला जा सकता है। यदि ठोस पदार्थपिंड मानक द्रव में अविलेय तथा अधिक घनत्ववाला हो, और ठोस की वायु में मात्रा $म_१$ (m_1) तथा फिर मानक द्रव में पूरा पूरा डुबाकर उसकी मात्रा $म_२$ (m_2) हो, तो पदार्थ का

$$\text{आपेक्षिक घनत्व} = \frac{म_१}{म_१ - म_२} \left[R.D. = \frac{m_1}{m_1 - m_2} \right]$$

द्रव से कम घनत्व के पदार्थों का आपेक्षिक घनत्व उपर्युक्त विधि का परिवर्तन करके ज्ञात कर सकते हैं।

गैसीय पदार्थों का घनत्व ज्ञात करते समय उनके ताप तथा दाब का भी निरीक्षण किया जाता है। पूर्वोक्त सूत्र की सहायता से किसी भी ताप तथा दाब पर ज्ञात घनत्व से मानक दाब तथा ताप पर घनत्व ज्ञात किया जा सकता है। गैसीय पदार्थों का घनत्व ज्ञात करने की दो मुख्य विधियाँ हैं :

१. रेनो की विधि—इस विधि द्वारा उन पदार्थों का घनत्व ज्ञात किया जा सकता है जो सामान्य दाब तथा ताप पर गैसीय अवस्था में रहते हैं।

बराबर आयतन तथा भार के दो फ्लास्कों को आतिनिर्वात पंप की सहायता से वायुशून्य कर एक सुग्राही तुला के पलड़ों के नीचे लटका देते हैं। ये फ्लास्क एक बक्स में रहते हैं, जिसका ताप ता स्थिर रखा जाता है। अब पलड़ों पर उपयुक्त भार रखकर तुला को संतुलित कर देते हैं। तत्पश्चात् एक फ्लास्क को ज्ञात दबाव द पर गैस से भर देते हैं। फ्लास्कों को यथास्थान लटकाने पर यदि अब तुला को म (m) ग्राम मात्रा द्वारा संतुलित करें तो ता (T) ताप तथा द (P) दाब पर गैस का घनत्व = म/आ [D = m/V] होगा। यहाँ आ (V) फ्लास्क का आयतन है। इसे फ्लास्क को ज्ञात घनत्व के द्रव से पूरा पूरा भरकर तथा द्रव का भार ज्ञात कर मालूम कर सकते हैं। गैसीय पदार्थों का आपेक्षिक घनत्व हाइड्रोजन को मानक मानकर ज्ञात किया जाता है। उपर्युक्त प्रयोग को यदि हाइड्रोजन के साथ दोहराने पर उसकी मात्रा $म_०$ (m_0) ज्ञात हो तो उपर्युक्त गैस का आपेक्षिक घनत्व = $म/म_०$ [m/m_0]

२. विक्टर मायर की विधि—इस विधि का उपयोग अधिक ताप पर गैस बननेवाले पदार्थों के वाष्प का घनत्व ज्ञात करने में किया जाता है। नीचे उपकरण चित्रित है। फ्लास्क फ में ऐसा पदार्थ $द_२$ लिया जाता है जिसका क्वथनांक पदार्थ द के (जिसके वाष्प का घनत्व ज्ञात करना है) क्वथनांक से अधिक हो। फ्लास्क फ को गरम करते हैं। नली न में पदार्थ द की ज्ञात मात्रा म (m) रख देते हैं। नली न से एक पतली नली एक चिह्नित नली च में खुलती है, जो द्रव $द_१$ से भरी होती है। $द_१$ ऐसा द्रव होता है जिसके साथ पदार्थ द का वाष्प कोई प्रक्रिया नहीं करता। गरम होने पर पदार्थ द वाष्प रूप हो जाता है। इसका वाष्प नली न में भर जाता है। यह वाष्प अपने आयतन के अनुसार वायु को नली न से च में निकाल देता है। इसी आयतन आ (V) का द्रव च के बाहर आ जाता है, जो चिह्नित नली में द्रव $द_१$ की सतह के परिवर्तन से ज्ञात होता है। यदि
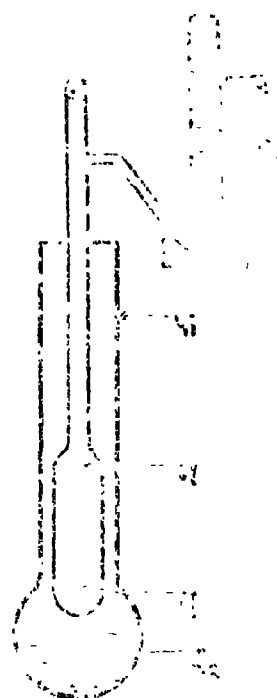
विक्टर मायर का उपकरण

द्रव $द_१$ का ताप $ता_१$ (T_1) तथा यदि सामान्य ताप पर $द_१$ की वाष्पदाब $वा_१$ (P_1) है, तो (वा − $वा_१$) [$P-P_1$] दबाव पर तथा $ता_१$ (T_1) ताप पर उपर्युक्त पदार्थ के वाष्प का भार म (m) होगा, जब वा (P) वायुमंडल का दाब है। अतः मानक दाब तथा ताप पर वाष्प का घनत्व घ (D) निम्नांकित होता है:

$$घ = \frac{म.\ ७६०.\ (२७३ + ता_१)}{(वा - वा_१).\ आ.\ ७६०} \left[D = \frac{m.\ 760.\ (273 + T_1)}{(P-P_1).V.\ 760} \right]$$

इस प्रकार सामान्य पदार्थों का घनत्व निकाला जाता है। सामान्यतः काम में आनेवाले पदार्थों का घनत्व सारणी १ में दिया गया है। सारणी २ में कुछ अन्य पदार्थों का घनत्व दिया गया है।

सारणी १

पदार्थ	अवस्था	ताप	दाब	घनत्व (ग्राम प्रति घन सेमी०)
जल (वाष्प)	गैस	१००°सें०	७६० मिमी०	५·८१ × १०⁻⁴
वायु	गैस	३७°सें०	" " "	१·९३ × १०⁻³
जल (शुद्ध)	द्रव	४°सें०	" " "	०·९९९
जल (समुद्री)	द्रव	०°सें०	" " "	१·०३–१·०७
लकड़ी (सूखी)	ठोस	२०°सें०	" " "	०·४–०·८
कागज	"	"	" " "	०·७–१·१५
बरफ	"	०°सें०	" " "	०·९१७
शीशा (साधारण)	"	२०°सें०	" " "	२·४–२·८
कार्क	"	२०°सें०	" " "	०·२२–०·२६
स्टील	"	"	" " "	६·९–८·९
ऐल्यूमिनियम	"	"	" " "	२·६४–२·८२
ताँबा	"	"	" " "	८·९६
पीतल	"	"	" " "	८·६७–८·८०
चाँदी	"	"	" " "	१०·५
पारा	"	"	" " "	१३·५४६
सोना	"	"	" " "	१९·३

सारणी २

	ग्राम प्रति घन सेंमी०
नाभिक	२×१०¹⁴
सबसे अधिक घना तत्व ठोस ऑसमियम	२२·८
पृथ्वी (औसत)	५·५१७
चंद्रमा ,,	३·३४१
सूर्य ,,	१·४१

[अ० श०]

घनास्रता और रक्तस्रोतरोधन (Thrombosis and Embolism) — जीवितावस्था में जब तक रक्तवाहिकाओं की अंतःकला (endothelium) स्वस्थ होती है तब तक भीतर बहनेवाला रक्त तरल रहता है, परंतु आघात (trauma), प्रदाह (inflammation), हृदयदौर्बल्य इत्यादि कारणों से वह विकृत हो जाता है। तब विकृत स्थान में रक्त जमता है, जिसको 'घनास्रता' कहते हैं। धमनियों की अपेक्षा शिराएँ चौड़ी तथा उनकी दीवार पतली होने से उनमें घनास्रता उत्पन्न होने की संभावना अधिक रहती है। जिस दिशा में रक्त का दाब कम होता जाता है उस दिशा में घनास्र (Thrombus) फैला करता है। यह वाहिका की समीपवर्ती शाखा तक अवश्य फैल जाता है। घनास्रता का परिणाम उसके स्थान पर, विस्तार पर, वाहिका के प्रकार पर तथा उसके पूतिदूषित, या अपूतिदूषित (septic or aseptic), होने पर निर्भर होता है। अति वृद्धावस्था में मस्तिष्क की तथा उसके आवरणों की शिराओं में घनास्रता होने की अधिक संभावना रहती है। वृद्धावस्था में होनेवाली घनास्रता एक ही सप्ताह में प्रायः घातक हो जाती है। पूतिदूषित घनास्रता से फोड़े बनते हैं और अन्य दुष्परिणाम उसी के कारण होते हैं।

घनास्र वाहिका के एकाध स्थान पर चिपककर बाकी स्वतंत्र रहता है और आघात, स्थानपरिवर्तन, आकस्मिक गति इत्यादि से टूटकर, या अलग होकर, दूरवर्ती स्थानों में जा अटकता है। इसको 'रक्तस्रोतरोधन' कहते हैं। इसके दुष्परिणाम घनास्र के मूलस्थान, विस्तार तथा उसके पूतिदूषित या अपूतिक होने पर निर्भर होते हैं। शिराओं की, या दक्षिण हृदयार्ध की, घनास्रता का रक्तस्रोतरोधन फुप्फुसों में जाकर अटकता है। यदि वह बड़ा हुआ तो फुप्फुसीय धमनियों में मार्गावरोध करके घातक होता है। शल्यकर्म या प्रसव के पश्चात् होनेवाली आकस्मिक मृत्यु प्रायः इसी प्रकार से हुआ करती है। यदि वह छोटा रहा, तो फुप्फुस का अल्पांश बेकार होकर थोड़ी सी बेचैनी उत्पन्न होती है, जो प्रायः अल्पकाल में ठीक हो जाती है। अतःशल्य पूतिक होने से फोड़ा, कोथ या अंतःपूयता (empyema) उत्पन्न होती है। हृदय के वामार्ध की घनास्रता से शारीरिक धमनियों में रक्तस्रोतरोधन उत्पन्न होता है।

यद्यपि रक्तस्रोतरोधन का घटक साधारणतया रक्त का थक्का होता है, तथापि वसा और वायु के भी रक्तस्रोतरोधन बनते हैं। वसारक्तस्रोतरोधन (Fat embolus) अस्थिभंग में मज्जा से और वातरक्तस्रोतरोधन (Air embolus) शिरा में वायुप्रवेश से होते हैं।

[भा० गो० घा०]

घरेलू सिलाई अधिकतर मरम्मत, रफू, कपड़ों का ठीक करना तथा बच्चों के कपड़ों से संबंधित होती है। इसके लिये उचित साधन, उचित कपड़े और उचित तरीके का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है।

उचित साधन — सिलाई के आवश्यक साधनों में सर्वप्रथम सूई का स्थान आता है। सूइयाँ कई प्रकार की होती हैं, कुछ मोटी, कुछ बारीक, इनको नंबरों द्वारा विभाजित किया गया है। जितने अधिक नंबर की सूई होगी उतनी ही वह बारीक होगी। मोटे कपड़े के लिये मोटी सूई का प्रयोग होता है और बारीक कपड़े के लिये पतली सूई का। मोटे कपड़े को बारीक सूई से सीने से सूई टूटने का डर रहता है तथा मोटी सूई से बारीक कपड़े को सीने से कपड़े में मोटे मोटे छेद हो जाते हैं, जो बड़े भद्दे लगते हैं। अधिकतर पाँच नंबर से आठ नंबर तक की सूई का प्रयोग होता है।

साधन में दूसरा स्थान धागे का है। धागा कपड़े के रंग से मिलता हुआ होना चाहिए तथा कपड़े के हिसाब से ही मोटा या बारीक भी होना चाहिए। वैसे अधिकतर सिलाई के लिये ४० और ५० नंबर के धागे का ही प्रयोग किया जाता है।

तीसरा स्थान कैंची का है। कैंची न तो बहुत छोटी हो और न बड़ी। उसकी धार तेज होनी चाहिए, जिससे कपड़ा सफाई से कट सके।

चौथा स्थान इंची टेप का होता है, जो कपड़ा नापने के काम में आता है; फिर निशान लगाने के रंग या रंगीन पेंसिलों का प्रयोग होता है। सीधी लाइनों के लिये यदि स्केल भी पास हो तो बहुत अच्छा होता है। सिलाई के लिये अब अधिकतर मशीन का प्रयोग होता है। इससे सिलाई बहुत शीघ्र हो जाती है। सिलाई के लिये अंगुश्ताने की भी आवश्यकता होती है। इससे उँगलियों में सूई नहीं चुभने पाती।

सिलाई का ढंग — सिलाई करते समय हाथ से कपड़े को ठीक पकड़ना तथा सूई को ठीक स्थान पर रखना अत्यंत आवश्यक है। सिलाई करते समय आप दाहिने हाथ से बाएँ हाथ की ओर चलते हैं। कसीदे में इसके विपरीत बाएँ हाथ से दाएँ की ओर जाया जाता है।

सिलाई की तुरपन तीन प्रकार की होती है : धागा भरना, तुरपन और बखिया करना।

धागा भरना — इसमें कपड़े को ठीक से पकड़ना अत्यंत आवश्यक है। यदि कपड़ा ठीक नहीं पकड़ा गया तो धागा भरने में काफी समय
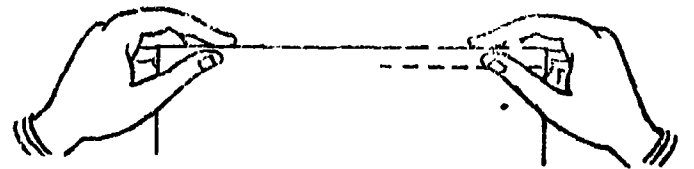
चित्र १. धागा भरना (Running Stitch)

लग जाता है। चित्र १ की भाँति आप दोनों हाथों में कपड़ा पकड़ दाएँ हाथ के अँगूठे और प्रथम उँगली के बीच सूई रख, दाएँ से बाईं ओर चलते हैं। यह कपड़ों को जोड़ने के काम में लाया जाता है।

तुरपन — यह किनारे या सिलाई को मोड़कर सीने के काम आती
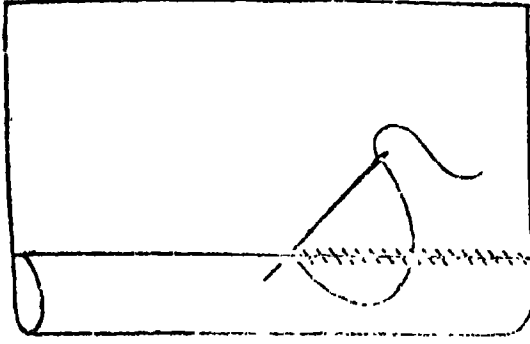
चित्र २. तुरपन (Hemming Stitch)

है। इसकी तुरपन चित्र २ की तरह होती है।

बखिया — यह भी दो कपड़ों को जोड़ने के काम में लाया जाता है। पर यह तुरपन धागा भरने से अधिक मजबूत होती है। इसका उधे-

चित्र ३. बखिया (Back Stitch)
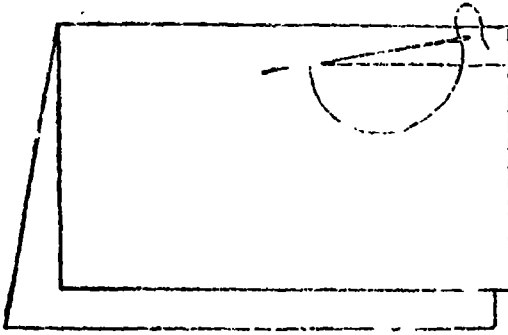
ड़ना अत्यंत कठिन होता है। इस तुरपन में चित्र ३. के अनुसार पहले सूई को पिछले छेद में डालकर दो स्थान आगे निकाला जाता है और इस प्रकार बखिया आगे बढ़ता जाता है।

सिलाई के ये तीन प्रकार होते हैं। इनके अतिरिक्त गोट लगाना, दो कपड़ों को जोड़ने के विभिन्न तरीके, रफू करना, काज बनाना एवं बटन टाँकना घरेलू सिलाई के अंतर्गत आते हैं।

गोट लगाना — गोट लगाने के लिये कपड़े को तिरछा काटना अत्यंत आवश्यक है। गोट दो प्रकार से लगती है। एक तो दो कपड़ों के बीच से बाहर निकलती है। दूसरी एक कपड़े के किनारे पर उसको सुंदर बनाने के लिये लगती है। प्रथम प्रकार की अधिकतर रजाइयों इत्यादि में, या जहाँ दोहरा कपड़ा हो वहाँ, लग सकती है। गोट को दोहरा मोड़-

चित्र ४. गोट लगाना (Piping)
अ. प्रथम चरण; आ. द्वितीय चरण
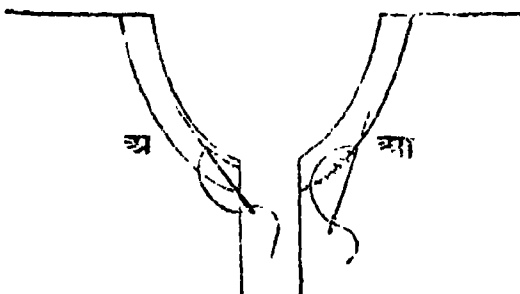
कर दो कपड़ों के बीच रखकर सी दिया जाता है। दूसरे प्रकार की गोट चित्र ४. की भाँति लगती है। पहले कपड़े पर गोट धागा भरकर टाँक दी जाती है। इसमें गोट को खींचकर तथा कपड़े को ढीला लेना होता है। फिर दूसरी ओर मोड़कर तुरपन कर दी जाती है।

दो कपड़ों को जोड़ने के लिये विभिन्न प्रकार की सिलाइयों का प्रयोग होता है।

(क) सीधी सिलाई — इसमें दो कपड़ों को एक दूसरे पर रख

चित्र ५. सीधी सिलाई

किनारे पर ½ या १ इंच दूर तक सीधा धागा भर दिया जाता है, या बखिया लगा दी जाती है।

(ख) चौरस सिलाई (Flat Fell Seam) — इसमें एक कपड़े
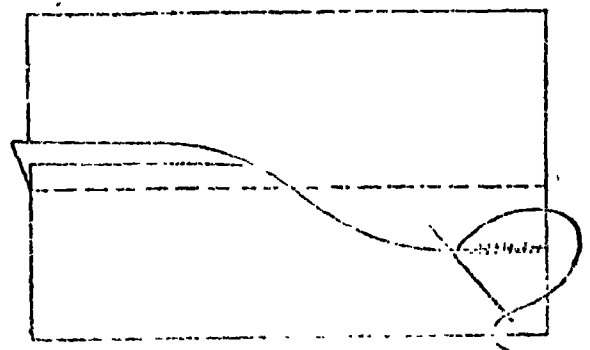
चित्र ६. चौरस सिलाई (Flat Fell Seam)

को ज्यादा तथा दूसरे को उससे थोड़ा कम आगे निकाल कर धागा भर दिया जाता है। फिर इस सिलाई को मोड़ कर तुरप दिया जाता है।

(ग) दोहरी चौरस सिलाई (Stitched Fell Seam) — इसमें
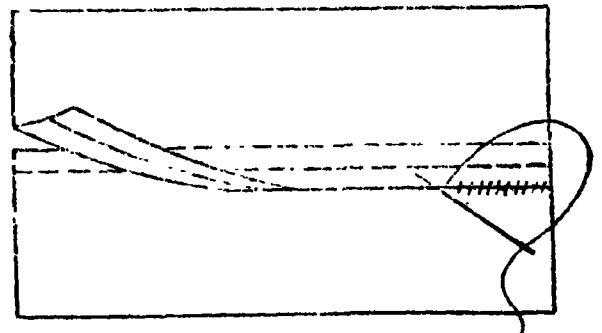
चित्र ७. दोहरी चौरस सिलाई
(Stitched Fell Seam)

चित्र की भांति दो कपड़ों के किनारों को एक दूसरे के ऊपर रख दोनों ओर से तुरपन कर दी जाती है।

(घ) उलटकर सिलाई (French Seam) — इसमें दो कपड़ों को मिलाकर बिलकुल किनारे पर धागा भर देते हैं और फिर
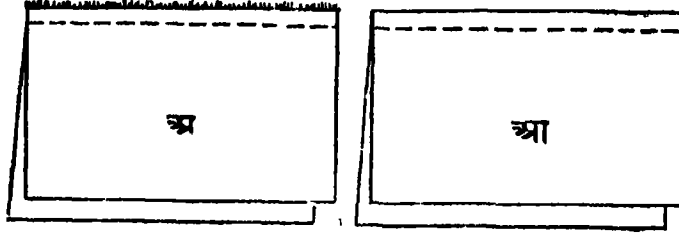
चित्र ८. उलटकर सिलाई (French Seam)
अ. प्रथम चरण; आ. द्वितीय चरण।

उन्हें उलटकर एक ओर धागा भर देते हैं। इससे कपड़े के फुचड़े सब सिलाई के अंदर हो जाते हैं और सिलाई पीछे की ओर से भी अत्यंत साफ आती है।

रफू करना (Mending) — रफू के लिये जहाँ तक संभव हो धागा उसी कपड़े में से निकालना चाहिए तथा कपड़े के धागों के रुख के अनुसार सूई को चलाना चाहिए, जैसा चित्र ९ में दिखाया है।
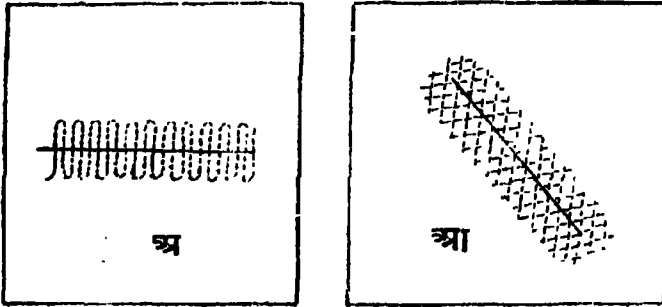
चित्र ९. रफू करना (Mending)
अ. सीधे फटे पर रफू; आ. तिरछे फटे पर रफू।

इस प्रकार सीधे फटे में सीधी सीधी सिलाई की जाती है, पर यदि कपड़ा तिरछा फटा हो तो आड़ा सीधा दोनों ओर सीना होता है।

पैबंद लगाना (Patching) — जहाँ पर आपको पैबंद लगाना हो वहाँ फटे स्थान से बड़ा एक अन्य चौकोर कपड़ा काटकर उसको फटे
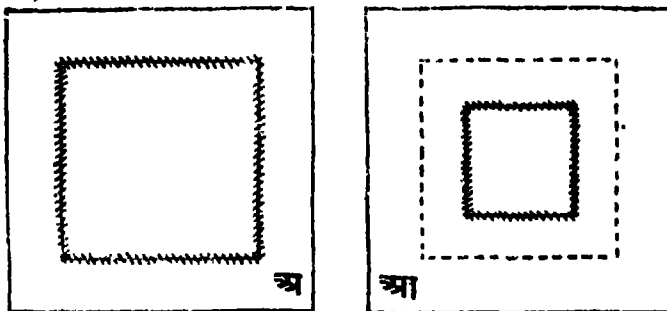
चित्र १०. पैबंद लगाना (Patching)
अ. प्रथम चरण; आ. द्वितीय चरण

स्थान पर तुरपन से टाँक दीजिए। इसके पश्चात् उलटकर फटे स्थान को चौकोर काटकर किनारे मोड़कर तुरपन कर दीजिए।

काज बनाना — आवश्यकता के अनुसार काज काटकर, काज के दोनों ओर धागा भरकर काज की तुरपन से उसे चित्र ११. की भाँति गोंद देते हैं। बटन का जोर जिस ओर पड़ता है उसके दूसरी ओर से काज
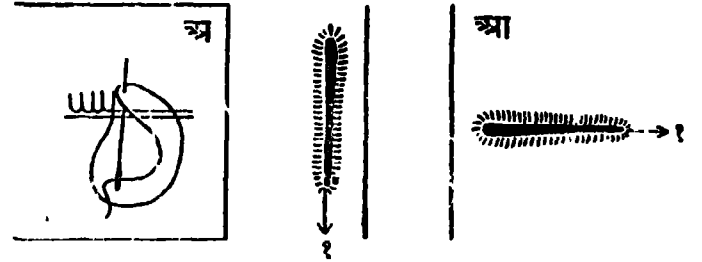
चित्र ११. काज बनाना (Button-hole)
अ. काज का प्रारंभ; आ. काज तैयार तथा
१. प्रारंभ करने के स्थान।

प्रारंभ कर पुनः वहीं सिलाई समाप्त की जाती है। इस प्रकार यदि खड़ा काज है तो प्रारंभ नीचे से किया जाता है, पर पड़े काज को किनारे के दूसरी ओर से प्रारंभ करते हैं।

बटन टाँकना — बटन में सदैव दो या अधिक छेद बने होते हैं। उन छेदों में से सुई निकालकर बटन को कपड़े पर सी देते हैं।

[स्व० ल० भू०]

घर्षक प्राकृतिक तथा बनावटी पदार्थों को मिलाकर बनाया जाता है और लकड़ी, धातु तथा पत्थरों के प्रमार्जन तथा उनपर चमक पैदा करने के कामों में लाया जाता है। प्राकृतिक घर्षकों में कुरुविंद (कोरंडम, corundum), एमरी, (emery), बालू (sand) तथा विविध प्रकार के पत्थर हैं, जिनका उपयोग पेषण पत्थर और शाणचक्रों (grinding wheels) के बनाने में होता है। दूसरे प्राकृतिक घर्षक भी हैं, जो इतने लाभदायक और अधिक उपयोगी नहीं हैं।

बनावटी घर्षकों में कारबोरंडम (carborundum), जो कार्बन तथा कुरुविंद को मिलाकर बनता है, पिसा हुआ लोहा तथा इस्पात हैं। इस्पात से एमरी भी बनाया जाता है, या तो इस्पात को पीसकर, या फिर इस्पात एमरी बनाकर घर्षक बनाते हैं। इस्पात एमरी बनाने का नियम यह है कि अच्छे इस्पात को अधिक तपाकर तुरंत जल में डाल देते हैं। इस ठंडे लोहे को यंत्रों द्वारा पीस लिया जाता है।

इन प्राकृतिक तथा बनावटी घर्षकों को चिपकनेवाले पदार्थ के साथ मिलाकर पेषण पत्थर या शाणचक्र बनाए जाते हैं। इन चिपकनेवाले पदार्थों में काचित (vitrified) सिलिकेट, चपड़ा (shellac), संश्लिष्ट रेज़िन और रबर मुख्य हैं। विशेष भारी कामों के लिये, या ऐसे कामों के लिये जहाँ धातु को अधिक तीव्र गति पर घिसना होता है, काचित पदार्थ का उपयोग सबसे अधिक होता है।

रबर ऐसे पतले चक्र बनाने के काम में लाया जाता है जिनसे किसी धातु को दो भागों में काटा जाता है। ये चक्र भंगुर नहीं होते और इस प्रकार इनके टूटने का डर नहीं रहता।

घर्षक की संरचना पर ध्यान देना जरूरी है,। संरचना से मतलब घर्षक के कणों की एक दूसरे से दूरी से है। दूर दूर रखे गए कण मृदु और तन्य (ductile) धातु को ठीक प्रकार से काट सकते हैं, परंतु पास पास रखे गए कण कठोर तथा भंगुर धातु के लिये उपयुक्त होते हैं। पास पासवाले कण से अच्छी परिसज्जा (finish) होती है और समतल पर चमक आ जाती है।

घर्षक के कणों के परिमाण का भी प्रभाव धातु पर पड़ता है। कठोर और भंगुर धातुएँ छोटे कण के घर्षक से अच्छी कटती हैं और इसी प्रकार घर्षक प्रमार्जन के लिये भी ठीक होते हैं। मोटे कण के घर्षकों से अधिक धातु कम समय में कट जाती है, परंतु अच्छी परिसज्जा नहीं हो पाती और धातु पर रेखाएँ पड़ जाती हैं।

[गु० वे]

घर्षण किसी ठोस पदार्थपिंड को ठोस सतह पर विस्थापित करने के लिये स्पर्श सतह के समांतर बल प्रयुक्त करना होता है। यदि प्रयुक्त बल एक निश्चित परिमाण (चरम घर्षणबल) से कम हुआ, तो पदार्थपिंड विस्थापित नहीं होता, और यदि अधिक हुआ तो निश्चित वेग से विस्थापित होता है। ऐसा स्पर्श करनेवाली सतहों के बीच घर्षण के कारण होता है, जिसका तात्पर्य यह है कि ठोस पदार्थपिंड पर स्पर्श सतह के समांतर प्रयुक्त बल की विरुद्ध दिशा में एक बल कार्य करता है, जिसे घर्षण बल कहते हैं। घर्षण बल का कारण सतहों का खुरदुरापन होता है।

साधारणतः कोई सतह पूर्णतया चिकनी नहीं होती, अपितु उसमें अल्प परिमाण के उठाव और गड्ढे होते हैं। इनको अच्छे सूक्ष्मदर्शी द्वारा ही देखा जा सकता है। अतः जब ऐसी दो सतहें एक दूसरे को स्पर्श करती हैं, तो एक सतह के उठाव दूसरी सतह के गड्ढों में फँस जाते हैं। इस अवस्था में एक सतह को दूसरी सतह पर खिसकाने के लिये बल लगाने पर सतह की बनावट में विकृति उत्पन्न हो जाती है। इसी के अनुरूप पदार्थों की प्रत्यास्थता के कारण प्रयुक्त बल की विरुद्ध दिशा में प्रतिबल कार्य करता है, जिसे घर्षणबल कहते हैं। विस्थापन से पूर्व घर्षणबल प्रयुक्त बल के बराबर होता है, जिसे स्थैतिक घर्षण कहते हैं। विस्थापन के लिये प्रयुक्त बल कम से कम इतने परिमाण का होना चाहिए कि विकृति चरम प्रत्यास्थता से अधिक हो। विस्थापन के लिये आवश्यक इस न्यूनतम बल के परिमाण को चरम घर्षणबल कहते हैं।

चरम घर्षणबल ब$_s$ (F_s) तथा दोनों सतहों के बीच अभिलंबी दाब द (P) में निम्नलिखित संबंध होता है :

$$ब_s = क_s \times द \; [F_s = b_s P]$$

जबकि क$_s$ (b_s) स्थैतिक घर्षणस्थिरांक कहलाता है। इसका मान पदार्थपिंड को सतह पर रखकर सतह का न्यूनतम झुकाव कोण क (θ), जिसपर पदार्थपिंड फिसलना प्रारंभ करे, ज्ञात करके मालूम कर सकते हैं। इस कोण को घर्षणकोण कहते हैं। घर्षणकोण की स्पर्शज्या ही परिमाण में स्थैतिक घर्षणस्थिरांक के बराबर होती है, अर्थात्

$$क_s = स्पर्शज्या\ क \; [b_s = \tan \theta]$$

विस्थापन के समय भी पदार्थपिंड पर घर्षणबल कार्य करता है। इसका परिमाण मुख्यतया विस्थापन के प्रकार पर निर्भर करता है। एक ठोस पदार्थपिंड को ठोस सतह पर खिसकाकर या लुढ़काकर ही विस्थापित कर सकते हैं; अतः इन्हीं दो विस्थापन प्रकारों के अनुसार निम्नांकित दो प्रकार के गतीय घर्षण होते हैं।

१—विसर्पी (sliding) घर्षण,

२—लुंठन (rolling) घर्षण

दोनों प्रकार की गतियों के लिये घर्षणबल का परिमाण निम्नलिखित सूत्र द्वारा व्यक्त किया जाता है :

$$ब_g = क_g \times द \; [F_b = b_g \times P]$$

जबकि ब$_g$ (F_b) घर्षणबल, द (P) सतह पर अभिलंबी दाब तथा क$_g$ (b_g) गतिज घर्षण स्थिरांक है, जिसका मान दोनों सतहों पर निर्भर करता है। सतहों की लघु सापेक्ष गति के लिये क$_g$ का मान गति के परिमाण पर निर्भर नहीं करता। परंतु जब गति का परिमाण क्रांतिक वेग (critical velocity) से अधिक हो जाता है, तो वेग की वृद्धि के साथ साथ क$_g$ का मान कम होता जाता है। क$_g$ का मान लुंठन तथा सर्पण (rolling and sliding) गतियों के लिये भिन्न भिन्न होता है।

हमारे दैनिक जीवन में घर्षण का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। पृथ्वी की सतह पर चलनेवाले प्रत्येक वाहन की गति सतह तथा वाहन के आधार के बीच घर्षणबल द्वारा ही संभव है। अतः घर्षण गति बाधक तथा साधक दोनों ही है। बाधक और स्नेहकों के व्यवहार में भी घर्षण का प्रमुख स्थान है।

[अ० श०]

घर्षणमारक धातु एवं मिश्रधातु (Antifriction metals and alloys) — घूमनेवाले चक्रों अथवा पहियों के अबाध गति से चलते रहने के लिये यह आवश्यक है कि जिस धुरी पर वे घूमते हैं, वह घिसकर पतली न होने पाए और न गरम ही हो सके। साधारणतः इस कठिनाई से बचने के लिये स्नेहक (लुब्रिकेटिंग ऑयल, lubricating oil) का प्रयोग किया जाता रहा है किंतु तेज चलनेवाली मशीनों के लिये केवल स्नेहक का उपयोग घिसाई एवं रगड़ को रोकने में असफल सिद्ध होता है। इसी प्रकार जब किसी मशीन का एक भाग उसके दूसरे भाग पर बराबर घूमता है, तब वहाँ भी रगड़ तथा घिसाई से बचने का उपाय आवश्यक होता है। इस उपाय के लिये मशीनों एवं चक्कों के ऐसे बिंदुओं पर, जहाँ घिसाई एवं रगड़ का प्रभाव पड़ता है, गेंद अथवा बेलन के आकार के कुछ विशेष धातुओं से बने ठोस काम में लाए जाते हैं। ये उस मशीन अथवा चक्के के घूमने के साथ साथ स्वयं भी अपनी जगह पर घूमते रहते हैं। इनपर मशीन की घिसाई का पूरा दबाव पड़ता है। इन ठोसों को बेयरिंग (bearing) कहा जाता है। ये बेयरिंग धातु के बने मजबूत खाँचे या नाल (casing) में बैठा दिए जाते हैं, जिसमें स्वयं घूमते रहने पर भी ये अपनी नियत स्थिति से हटने न पाएँ।

बेयरिंग बनाने के लिये विशेष धातु एवं मिश्रधातुओं का प्रयोग किया जाता है, जो गति में घूमते रहने पर भी घर्षण एवं ताप के कारण न तो घिसने पाती हैं और न दबाव पड़ने पर टूट ही पाती हैं। घर्षण के प्रभाव से घिसाई को कम से कम करने के लिये कड़ी धातुओं का प्रयोग सदा उपयोगी नहीं होता, क्योंकि कड़ी धातुओं में रगड़ पड़ने पर ताप शीघ्र उत्पन्न होता है और मशीन के उस भाग पर, जो ऐसी कड़ी धातु की बेयरिंग पर चल रहा हो, घिसाई का हानिकारक प्रभाव पड़ता है। इस कुप्रभाव को रोकने तथा घर्षणगुणांक (Coefficient of friction) को कम से कम रखने के लिये ऐसी मुलायम धातु एवं मिश्रधातुओं का प्रयोग किया जाता है जो अधिक से अधिक अपघर्षणीय हों तथा साथ ही टिकाऊ भी हों।

मशीनों की गति बढ़ने के साथ साथ नए प्रकार की बेयरिंग धातुओं एवं मिश्रधातुओं का आविष्कार होता जाता है। किसी विशेष गति एवं मशीन के उपयुक्त ही बेयरिंग धातुओं का चुनाव किया जाता है। इसके लिये मिश्रधातु बनाने में वंग, सीसा, ताँबा, लोहा, ऐंटिमनी, जस्ता, आर्सेनिक, बिस्मथ, कैडमियम, निकल, चाँदी एवं फास्फोरस जैसी धातुओं का

न्यूनाधिक मात्रा में प्रयोग किया जाता है। नीचे कुछ ऐसी महत्वपूर्ण मिश्रधातुएँ दी गई हैं, जिनका प्रयोग प्रघर्षणीय धातु के रूप में बड़े पैमाने पर होता है :

(१) वंग एवं सीसा मिश्रित मिश्रधातु — पिछली एक शताब्दी से अधिक समय से 'बैबिट मेटल' के नाम से वंग, ताँबा तथा ऐंटिमनी मिश्रित धातु का प्रयोग बेयरिंग बनाने में होता रहा है। १८३१ ई० में आइज़क बैबिट ने इस मिश्रधातु का आविष्कार बेयरिंग बनाने के लिये किया। इसमें लगभग ८१·३ प्रति शत वंग, ८·६ प्रति शत ऐंटिमनी, तथा १·८ प्रति शत ताँबा रहता है। वंग स्वयं बहुत मुलायम धातु है, किंतु ताँबा तथा ऐंटिमनी के साथ मिलकर यह बहुत कड़ी मिश्रधातु बनाता है।

बैबिट मेटल में कुछ विशेष प्रकार की बेयरिंग बनाने के लिये वंग के स्थान पर सीसे का भी प्रयोग किया जाता है। बैबिट मेटल में जस्ता, लोहा, अथवा ऐल्यूमिनियम की उपस्थिति हानिकारक होती है।

सीसा, ऐंटिमनी एवं ताँबे की मिश्रधातु में १५ प्रति शत तक ऐंटिमनी तथा २० प्रति शत तक वंग मिलाया जाता है। शेष सीसा रहता है। इस प्रकार से बनी मिश्रधातु बहुत कड़ी तथा अघर्षणी होती है।

आर्सेनिक, ऐंटिमनी तथा सीसे की मिश्रधातु का उपयोग, जिसमें आर्सेनिक की मात्रा १ से ३ प्रति शत से अधिक नहीं रहती, ऊँचे ताप पर चलनेवाली मशीनों के बेयरिंग बनाने में किया जाता है।

(२) कैडमियम मिश्रधातु — ऊँचे दर्जे की तथा भारी मशीनों में चलनेवाली बेयरिंग बनाने के लिये कैडमियम तथा निकेल मिली हुई मिश्रधातु काम में लाई जाती है। इसमें १·३५ प्रति शत निकेल, और ९८·६५ प्रति शत कैडमियम, अथवा २·२५ प्रति शत चाँदी, ०·२५ प्रति शत ताँबा तथा ९७·५० प्रति शत कैडमियम का प्रयोग किया जाता है। इससे बने बेयरिंगों का उपयोग विमानों आदि में किया जाता है।

(३) ऐल्यूमिनियम युक्त मिश्रधातु — इस धातु से बनी बेयरिंग का उपयोग कुछ विशेष प्रकार की मशीनों में ही होता है, जहाँ मशीन की गति साधारणत: कम होती है तथा ताप १५०° सें० से ऊपर नहीं पहुँचता। ठंढे देशों में मोटर के पुर्जों तथा ऐसी जगहों में लगाने के लिये जहाँ घर्षण का भारी दबाव पड़ता है, इसके बेयरिंग काम में लाए जाते है।

[न० ४० मि०]

घसीटी बेगम बंगाल के नवाब अलीवर्दी खाँ की बेटी। इसका विवाह ढाका के गवर्नर नवाजिश मोहम्मद से हुआ था। नवाब का नाती उसका उत्तराधिकारी बनाया गया। पर नवाब की मृत्यु होते ही घसीटी बेगम उत्तराधिकार पाने की चेष्टा करने लगी। अंग्रेज उसका साथ दे रहे थे। मनोनीत नवाबने कुशलतापूर्वक घसीटी बेगम को अपने महल में बुलाकर उत्तराधिकार का मामला शांत किया।

[मि० चं० पां०]

घाघ कृषि पंडित एवं व्यावहारिक पुरुष होने के नाते घाघ का नाम भारतवर्ष के, विशेषत: उत्तरी भारत के, कृषकों के जिह्वाग्र पर रहता है। चाहे बैल खरीदना हो या खेत जोतना, बीज बोना हो अथवा फसल काटना, घाघ की कहावतें उनका पथप्रदर्शन करती हैं। ये कहावतें मौखिक रूप में परंपरया भारत भर में प्रचलित हैं।

घाघ के जन्मकाल एवं जन्मस्थान के संबंध में बड़ा मतभेद है। शिवसिंह सरोज का मत है कि इनका जन्म सं० १७५३ में हुआ था, किंतु पं० रामनरेश त्रिपाठी ने बहुत खोजबीन करके इनके कार्यकाल को सम्राट् अकबर के राज्यकाल में माना है। इनकी जन्मभूमि कन्नौज के पास चौधरीसराय नामक ग्राम बताई जाती है। ये दुबे ब्राह्मण थे। कहा जाता है, अकबर ने प्रसन्न होकर इन्हें सरायघाघ बसाने की आज्ञा दी थी, जो कन्नौज से एक मील दक्षिण स्थित है।

अभी तक घाघ की लिखी हुई कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं हुई। हाँ, उनकी वाणी कहावतों के रूप में बिखरी हुई है, जिसे अनेक लोगों ने संग्रहीत किया है। इनमें रामनरेश त्रिपाठी कृत 'घाघ और भड्डरी' (हिंदुस्तानी ऐकेडेमी, १९३१ ई०) अत्यंत महत्वपूर्ण संकलन है।

घाघ के कृषिज्ञान का पूरा पूरा परिचय उनकी कहावतों से मिलता है। उनका यह ज्ञान खादों के विभिन्न रूपों, गहरी जोत, मेंड़ बाँधने, फसलों के बोने के समय, बीज की मात्रा, दालों की खेती के महत्व एवं ज्योतिष ज्ञान, शीर्षकों के अंतर्गत विभाजित किया जा सकता है। घाघ का अभिमत था कि कृषि सबसे उत्तम व्यवसाय है, जिसमें किसान भूमि को स्वयं जोतता है :

उत्तम खेती मध्यम बान, निकृष्ट चाकरी, भीख निदान।१।
खेती करै बनिज को धावै, ऐसा डूबै थाह न पावै।२।
उत्तम खेती जो हर गहा, मध्यम खेती जो सँग रहा।३।

अथवा—

जो हल जोतै खेती वाकी, और नहीं तो जाकी ताकी।४।

खादों के संबंध में घाघ के विचार अत्यंत पुष्ट थे। उन्होंने गोबर, कूड़ा, हड्डी, नील, सनई, आदि की खादों को कृषि में प्रयुक्त किए जाने के लिये वैसा ही सराहनीय प्रयास किया जैसा कि १८४० ई० के आसपास जर्मनी के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक लिबिग ने यूरोप में कृत्रिम उर्वरकों के संबंध में किया था। घाघ की निम्नलिखित कहावतें अत्यंत सारगर्भित हैं :

खाद पड़े तो खेत, नहीं तो कूड़ा रेत।५।
गोबर राखी पाती सड़ै, फिर खेती में दाना पड़ै।६।
सन के डंठल खेत छिटावै, तिनते लाभ चौगुनो पावै।७।
गोबर, मैला, नीम की खली, या से खेती दूनी फली।८।
वही किसानों में है पूरा, जो छोड़ै हड्डी का चूरा।९।

घाघ ने गहरी जुताई को सर्वश्रेष्ठ जुताई बताया। यदि खाद छोड़कर गहरी जोत कर दी जाय तो खेती को बड़ा लाभ पहुँचता है :

छोड़ै खाद जोत गहराई, फिर खेती का मजा दिखाई।१०।

बाँध न बाँधने से भूमि के आवश्यक तत्व घुल जाते और उपज घट जाती है। इसलिये किसानों को चाहिए कि खेतों में बाँध अथवा मेंड़ बाँधें,

सौ की जोत पचासै जोतै, ऊँच के बाँधै बारी
जो पचास का सौ न तुलै, देव घाघ को गारी।११।

घाघ ने फसलों के बोने का उचित काल एवं बीज की मात्रा का भी निर्देश किया है। उनके अनुसार प्रति बीघे में पाँच पसेरी गेहूँ तथा जौ, छः पसेरी मटर, तीन पसेरी चना, दो सेर मोथी, अरहर और मास, तथा डेढ़ सेर कपास, बजरा बजरी, साँवाँ कोदों और अंजुली भर सरसों बोकर किसान दूना लाभ उठा सकते हैं। यही नहीं, उन्होंने बीज बोते समय बीजों के बीच की दूरी का भी उल्लेख किया है, जैसे घना-घना सन, मेंढ़क की छलाग पर ज्वार, पग पग पर बाजरा और कपास; हिरन की छलांग पर ककड़ी और पास पास ऊख को बोना चाहिए। कच्चे खेत को नहीं जोतना चाहिए, नहीं तो बीज में अंकुर नहीं आते। यदि खेत में ढेले हों, तो उन्हें तोड़ देना चाहिए।

आजकल दालों की खेती पर विशेष बल दिया जाता है, क्योंकि उनसे खेतों में नाइट्रोजन की वृद्धि होती है। घाघ ने सनई, नील, उर्द, मोथी आदि द्विदलों का खेत में जोतकर खेतों की उर्वरता बढ़ाने का स्पष्ट उल्लेख किया है। खेतों की उचित समय पर सिंचाई की ओर भी उनका ध्यान था।

भड्डरी की ही भाँति वे भी ज्योतिषी थे। किस मास में किधर से हवा चले तो कितनी वर्षा हो, अथवा किस मास की वर्षा से खेती में कीड़े लगेंगे, इसका अच्छा व्यावहारिक ज्ञान उन्हें था। आज भी किसान उनकी ऐसी कहावतों से लाभान्वित होते हैं।

बैल ही खेती का मूलाधार है, अतः घाघ ने बैलों के आवश्यक गुणों का सविस्तार वर्णन किया है। हल तैयार करने के लिये आवश्यक लकड़ी एवं उसके परिमाण का भी उल्लेख उनकी कहावतों में मिलता है।

उपलब्ध कहावतों के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि घाघ ने भारतीय कृषि को व्यावहारिक दृष्टि प्रदान की। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी और उनमें नेतृत्व की क्षमता भी थी। उनके कृषि संबंधी ज्ञान से आज भी अनेकानेक किसान लाभ उठाते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से उनकी ये समस्त कहावतें अत्यंत सारगर्भित हैं, अतः भारतीय कृषिविज्ञान में घाघ का विशिष्ट स्थान है।

सं० ग्रं०—शिवगोपाल मिश्र : भारतीय कृषि का विकास।

[शि० गो० मि०]

घाघरा (सरयू) गंगा की प्रमुख सहायक नदी है जो नेपाल तथा उत्तर प्रदेश से होकर बहती है। इसका उद्गम तिब्बत में [३०° ४०′ उ० अ० तथा ८८°४८′ पू० दे०] है। यह करनाली के नाम से हिमालय की ऊँची श्रेणियों को काटती हुई खीरी तथा बहराइच जिलों के बीच मैदान में उतरती है। घाघरा के बाएँ तट पर बाराबंकी, गोंडा, बस्ती और गोरखपुर तथा दाहिने किनारे पर खीरी, सीतापुर, बाराबंकी एवं फैजाबाद जिले पड़ते हैं।

शारदा नदी तीन प्रमुख शाखाओं—मुहेली, दहावर और चौका—के रूप में इसमें मिलती है। अन्य सहायक नदियाँ राप्ती तथा छोटी गंडक हैं। छपरा (२५° ४४′ उ० अ० तथा ८४° ४२′ पू० दे०) में घाघरा और गंगा का संगम है।

घाघरा जलयातायात के लिये महत्वपूर्ण है। इसमें अयोध्या और पटना के बीच स्टीमर चलते हैं। नेपाल से बड़ी मात्रा में लकड़ी, अनाज और मसाले भी इस नदी के द्वारा भेजे जाते हैं। इसके तट पर प्रमुख व्यापारिक केंद्र टांडा, बरहज तथा रिविलगंज हैं। बहरामघाट पर एलगिन ब्रिज (३,६६५ फुट लंबाई) तथा अयोध्या के निकट नावों का पुल (३,६१२ फुट लंबाई) है। घाघरा नहर से सिंचाई के लिये १९६ क्यूसेक जल प्राप्त होता है जिससे २४,४७४ एकड़ भूमि की सिंचाई होती है।

[प्र० व०]

घाट (पूर्वी तथा पश्चिमी) भारत के दक्षिण के पठार के पूर्वी एवं पश्चिमी किनारे पूर्वी घाट तथा पश्चिमी घाट के नाम से विख्यात हैं। भूगर्भशास्त्रियों के मतानुसार पठार का पश्चिमी भाग टूटकर अरब सागर में डूब गया तथा उसका किनारा प्रपाती ढलान के रूप में कन्याकुमारी तक फैला है। ताप्ती के दक्षिण में लगभग २५०-३०० मील तक इसकी औसत ऊँचाई ३००० फुट से ४००० फुट है जब कि चोटियाँ ४,५००-५,००० फुट तक पहुँच जाती हैं। इस भाग में कटाफटा प्रपाती ढलान है जो सँकरे कोंकण तट में समाप्त होता है। गोआ के निकट घाट दीवार के समान खड़ा है जिससे होकर नदियों ने सँकरी एवं गहरी घाटियाँ बनाई हैं। गोआ के दक्षिण में लगभग २०० मील तक घाट ३,००० फुट से नीचा है किंतु नीलगिरि में पुनः उसकी ऊँचाई ८,७६० फुट तक पहुँच जाती है। लगभग ८०० मील की लंबाई में केवल तीन दर्रे—थोर घाट, थार घाट तथा पाल घाट—हैं, जिनसे होकर यातायात मार्ग तट तक जाते हैं। इनमें पालघाट सबसे चौड़ा है।

पूर्वी घाट नदियों की घाटियों के बीच टुकड़ों के रूप में है तथा इसकी औसत ऊँचाई कहीं भी ३,००० फुट से अधिक नहीं है। गोदावरी और कृष्णा के बीच लगभग १०० मील तक पूर्वी घाट नहीं है। उत्तर में महानदी एवं गोदावरी के बीच में प्राचीन चट्टानों के कटे फटे प्रदेश हैं। मध्य में कृष्णा तथा कावेरी के बीच नल्लमलै, वेल्लीकोंडा तथा पालकोंडा नाम की प्राचीन पर्वतशृंखलाओं के अवशेष हैं तथा दक्षिण में शेवारॉय तथा पांचमलाई के रूप में नाइस (gneiss) चट्टानों के भाग हैं। उड़ीसा में पूर्वी घाट सघन वनों से ढका पिछड़ा हुआ प्रदेश है। अन्य भागों में यद्यपि ऊँचाई अधिक नहीं है, तथापि कुछ भागों में अत्यधिक कटा फटा होने के कारण यातायात असंभव है।

[प्र० व०]

घाट की नाव (Ferry boat) नदी को पार करने के लिये घाट पर जो नावें उपयोग में लाई जाती हैं उन्हें घाट की नाव कहते हैं।

यातायात की किस्म के अनुसार नावें लोहे या लकड़ी की बनी होती हैं। नौका को पाटन काठ की बनाई जाती है। इसके चारों ओर हटाए जा सकनेवाले जँगले लगे रहते हैं।

घाट की नावों को साधारणतया नदी की धारा के सहारे खेया या खींचा जाता है।

घाट की नाव को चलाने की तीन रीतियाँ हैं: पहली, लटकाए हुए, मोटे तार के रस्से द्वारा; दूसरी, झूलते केबल द्वारा और तीसरी, जलमग्न केबल द्वारा। लटकाए केबल में एक केबल नदी के आर पार खिंचा रहता है और दोनों किनारों पर खंभों या कैंचीनुमा पायों से बँधा रहता है। केबल ऐसे लटकाया जाता है कि उसका मध्य भाग बाढ़ के पानी के तल से ऊँचा रहे। केबल को उसके क्षमतानुसार खूब तानकर खींचना चाहिए। केबल पर एक दो पहिएवाली गरारी चलती है। गरारी और नाव दो रस्सियों से बाँध दी जाती हैं। एक रस्से की लंबाई घटाई बढ़ाई जाती रहती है, ताकि नाव लंबाई के रुख नदी के बहाव की दिशा की ओर ५५° तक झुकी रहे। लौटने के लिये रस्से नाव के दूसरी ओर घुमा दिए जाते हैं।

झूलता केबल नदी की चौड़ाई का डेढ़ा या दुगुना रहता है और यह किनारे या नदी के बीच में लंगर से बाँध दिया जाता है। यदि केबल लंबा होता है तो नदी के मध्य में तिरेंदों पर लगा रहता है। केबल का दूसरा सिरा ऐसी दो रस्सियों से नाव से बँधा रहता है जिनकी लंबाई परिवर्तित की जा सकती है, ताकि धारा की दिशा के साथ ५५° का कोण बना रहे।

जलमग्न केबल पानी में डूबा रहता है। दो गरारियाँ ऐसे बँधी रहती हैं कि नाव नदी की धारा के साथ ५५° का कोण बनाए रखे। लौटने के लिये भिन्न प्रकार की गरारियाँ लगाई जाती हैं। घाट की नावों का ऊपर

वर्णन किया उपयोग भारत में बहुत वर्षों से होता आ रहा है। घाट की नावों में भी अब धीरे धीरे पेट्रोल या डोजल तेल से चलनेवाले इंजनों का प्रयोग बढ़ रहा है।

[सी० बा० जो०]

घाट नदी (Ferry) बहुधा किसी किसी नदी पर यातायात इतना कम रहता है कि उसपर पुल के निर्माण में व्यय करना उचित नहीं प्रतीत होता। ऐसी अवस्था में नाव से नदी आर पार करने की व्यवस्था बड़ी सुविधाजनक होती है। समुद्री किनारों की सड़कों पर ज्वार द्वारा निर्मित छोटी नदियों को आर पार करने के लिये ऐसी ही व्यवस्था साधारणतया प्रचलित है।

इसमें नदी के दोनों किनारों पर उतरने और चढ़ने की समुचित व्यवस्था रहती है, ताकि गाड़ियाँ जल तल के बदलते रहने पर भी नाव पर चढ़ या उतर सकें। चढ़ने उतरने का मार्ग काफी दूरी तक सीधा होना चाहिए, ताकि गाड़ियों को नाव में चढ़ने या उतरने के समय मुड़ना न पड़े। गाड़ियों को नाव पर चढ़ाने या उतारने के लिये पटरों का उपयोग किया जाता है। पटरों की ढाल छः में एक से अधिक नहीं होनी चाहिए। घाट नदी में इतना बड़ा नहीं होना चाहिए कि उससे नदी की धारा में कोई रुकावट पैदा हो। पहले पानी के तल के मौसमी उतार चढ़ाव की सीमा निश्चित कर ली जाती है। बाढ़ द्वारा कभी कभी पानी के तल में जो चढ़ाव होता है और जो माल में कुछ ही दिनों तक रहता है उसका विचार नहीं किया जाता। फिर अधिकतम और न्यूनतम चढ़ाव के अंतर को दो, या दो से अधिक भागों, में विभक्त कर लेते हैं। बहुधा यह अंतर ८ से लेकर १० फुट तक का होता है और दो भाग पर्याप्त नहीं होते। ऐसी दशा में तीन घाट तैयार किए जाते हैं: एक पानी के उच्च तल के लिये, दूसरा पानी के मध्य तल के लिये और तीसरा पानी के निम्न तल के लिये। लदी होने पर नाव की पाटन पानी के तल से साधारणतः डेढ़ फुट ऊपर रखी जाती है।

[सी० बा० जो०]

घातक्रिया (Involution, इनवॉल्यूशन) अंकगणित की एक क्रिया है, जिसमें किसी संख्या को लगातार अपने से दो या अधिक बार गुणा किया जाता है। जितने बार गुणा किया जाता है, वह उस संख्या का घात कहलाता है। घात को संख्या के ऊपर दाहिनी ओर थोड़ा हटाकर लिखा जाता है; इस प्रकार $3^4 = 81$। घात-संकेत के आविष्कार के पहले यूनानी द्वितीयघात को चतुष्कोण संख्या अथवा घात कहते थे। डायोफैंटस ने २७५ ई० के लगभग तृतीय घात को घन कहा, चतुर्थ घात को घातघात और पंचमघात को घातघन, इत्यादि। इस नामावली में घातों को जोड़ने का नियम बरता गया है। घात क्रिया मूल क्रिया का विलोम है। मूल क्रिया में संख्या का कोई मूल ज्ञात किया जाता है।

प्रक्षेप ज्यामिति में घात क्रिया एक ऋजुरेखा पर स्थित बिंदुओं में, अथवा एक पट-सूची (flat pencil) की रेखाओं में, अथवा समाक्षी सूची (axial pencil) के समतलों आदि में, विशेष प्रकार का एक संबंध है।

[हु० चं० गु०]

घाना गिनी की खाड़ी पर स्थित पश्चिमी अफ्रीका का एक प्रजातंत्र राज्य है, जिसका जन्म ६ मार्च, सन् १९५७ को हुआ था। इसके पूर्व यह गोल्ड-कोस्ट के नाम से ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग था। (देखें 'गोल्डकोस्ट')

इतिहास और संस्कृति—निवासी मुख्यतः नीग्रो जाति के हैं। मध्य-घाना में अशांटी और समुद्रतटीय क्षेत्रों में आकनवंशी ट्वी और फांटी उपजातियों का वास है। दक्षिण पश्चिम में रहनेवाली उपजातियों के नाम एन्ज़ीमा, अधांटा और इवेल आदि हैं। उत्तरी भागों में रहनेवाले मोशी दगोंबा या गोंजा समूह के हैं जो आकनवंशी ही हैं।

भाषा : सामान्यतः घाना ५६ भाषाओं का देश है। किंतु १९६२ से अंग्रेजी और फ्रांसीसी के अतिरिक्त 'अकुआपेम ट्वी' (Akuapem-Twi) आसांटे-ट्वी (Asante-Twi), दगबानी (Dagbani) दांगबे (Dangbe), इवे (Eve), फांटी (Fanti), गा (Ga), कासेम (Kasem) और एंज़ीमा (Nzima) नामक नौ भाषाएँ सरकार द्वारा मान्य हैं।

धर्म : यहाँ के लोग प्रायः आध्यात्मिक और आस्तिक हैं। ईसाइयों की संख्या ६,५०,००० है जिनमें रोमन कैथोलिक, मेथोडिस्ट, और प्रेस्बाइटेरियन हैं।

इतिहास : घाना का प्राचीन इतिहास अनुमानों पर आधारित है। कहा जाता है कि यहाँ के वर्तमान निवासी हजार वर्ष पूर्व बसे पश्चिमी सूडान के घाना प्रदेश से आए थे। इससे इस अफ्रीकी प्रदेश का नाम भी स्वतंत्रता के बाद घाना पड़ गया।

१४७१ में कुछ पुर्तगाली व्यापारी इसके समुद्रतटों पर आ बसे थे। इसके बाद सोने के व्यापार के उद्देश्य से क्रमशः डच, डेनी, स्वीडी, अंग्रेज आदि भी आए। धीरे धीरे इस व्यापार ने दास व्यापार का रूप लिया; १८०७ में अंग्रेजों ने इसे अवैध घोषित किया। १९वीं शताब्दी में अंग्रेजों के अतिरिक्त प्रायः सभी यूरोपीय जातियों ने घाना छोड़ दिया। दास व्यापार की समस्या को लेकर १८०६ से १९०० तक अशांटियों और अंग्रेजों के बीच कई युद्ध हुए। अंततः अंग्रेजों ने दास प्रथा को समाप्त किया और प्रदेश की बहुत सी भूमि उनके संरक्षण में आ गई। १९२२ में जर्मन उपनिवेश टोगोलैंड भी राष्ट्रसंघ के विशेषादेश से ब्रिटिश ट्रस्ट के अधिकार में आ गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद, विशेषतः १९४६ से, घाना में तीव्र राजनीतिक चेतना का आविर्भाव हुआ। १९४९ में सांवैधानिक संशोधन के निमित्त अखिल अफ्रीका स्तर की समिति गठित हुई। १९५१ के निर्वाचन में देशी जनता ने सरकार बनाने में बहुमत प्राप्त किया। १९५४ में संविधान में कुछ सुधार हुए, जिनके अनुसार 'गोल्ड कोस्ट' स्वायत्त-शासन की इकाई बन गया। १९५६ के आम चुनावों में पुनः अशांटी प्रदेश, उत्तरी भाग और टोगोलैंड के निवासियों को विशाल बहुमत प्राप्त हुआ। फलतः ६ मार्च, १९५७ को अंग्रेजों ने सारे देश को स्वतंत्र कर दिया। स्वतंत्रता के बाद इसका नाम घाना पड़ा। उसी वर्ष इसने ब्रिटिश राष्ट्रमंडल की सदस्यता भी ग्रहण की। १ जुलाई, १९६० को घाना गणराज्य घोषित हुआ।

घास (Grass) शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। साधारणतया घासों में वे सब वनस्पतियाँ संमिलित की जाती हैं जो गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि पालतू पशुओं के चारे के रूप में काम आती हैं, परंतु आधुनिक युग में वानस्पतिक वर्गीकरण के अनुसार केवल घास कुल (ग्रेमिनी-कुल, Gramineae family) के पौधे ही इसके अंतर्गत माने जाते हैं। लगभग दो लाख फूलने और फलनेवाले पौधों में से पाँच हजार इस कुल के अंतर्गत आते हैं। चरागाह एवं खेल के मैदान ऐसे स्थानों में होनेवाले पौधे, जैसे हाथी घास (नेपियर ग्रास, Napier grass), सूडान घास

(Sudan grass), दूब आदि को तो घास कहते ही हैं, हमारे भोजन के अधिकांश अनाज, जैसे गेहूँ, धान, मक्का, ज्वार, बाजरा आदि भी घास कुल में ही परिगणित हैं। इनके अतिरिक्त ईख, बाँस आदि भी इसी कुल में संमिलित हैं।

घासों के आकार एवं ऊँचाई में भिन्नता होती है। कुछ पौधे केवल कुछ इंच लंबे होते हैं, जैसे खेल के मैदान एवं लान (lawn) की घासें; कुछ मध्यम वर्ग के होते हैं, जैसे गेहूँ, मक्का आदि तथा कुछ बहुत ही ऊँचे होते हैं, जैसे ईख, बाँस आदि। कुछ प्रकार के पौधों में फूल अलग अलग तथा कुछ में गुच्छों में होते हैं। अनाजवाले पौधे अधिकतर वार्षिक होते हैं, किंतु बाँस, काँस आदि १०–४० वर्ष, या इससे भी अधिक, जीवित रहते हैं। कुछ घासें पानी में उगती हैं, या प्रायः नदी, तालाब और समुद्र के किनारे पाई जाती हैं। इसके विपरीत कुछ प्रकार की घासें केवल कम वर्षावाले स्थानों तथा मरुस्थलों में ही जीवित रहती हैं।

घासों की जड़ें प्रायः रेशेदार होती हैं। तने ठोस तथा संधियुक्त होते हैं। संधियों के बीच के भागों को पोर या पोरी (internodes) कहते हैं। पत्तियाँ नुकीली और तने के जोड़ों पर एक के बाद दूसरी ओर मुड़ी रहती हैं। पत्तियाँ सदैव समांतरमुखी (parallel viewed) होती हैं और दो स्पष्ट भागों, मुतान (sheath) एवं फलक (blade), में विभाजित होती हैं। पत्तियाँ तने के जोड़ से निकलती हैं और मुतान पोरी को घेरे रहती हैं। मुतान में फलक के मूल के कुछ ऊपर से विशेष प्रकार के अस्तर (linings) निकलते हैं। इन्हें छोटी जीभ (Little tongue) कहते हैं। कुछ घासों की पत्तियों के नीचे फलक के मूल पर एक विशेष प्रकार के वृद्धि उपांग (growth appendages) होते हैं, जिन्हें कर्णाभ (Auricles) कहते हैं। इस प्रकार घास की पत्तियों की बनावट विशेष प्रकार की होती है तथा पत्तियों द्वारा ही इस कुल के पौधों को पहचाना जाता है। कुछ घासों में नीचे की ओर की कुछ पोरियाँ कुछ अधिक लंबी और उपवर्तुल (Subglobular) होकर पौधे के लिये भोजन तत्व इकट्ठा करने का स्थान बना लेती हैं। इस प्रकार के पौधे कंदीय (bulbus) कहलाते हैं।

जिस प्रकार पत्ती की बनावट से ग्रैमिनी कुल के पौधे पहचाने जाते हैं उसी प्रकार फूलों और बीजों द्वारा जातियाँ पहचानी जा सकती हैं। फूलों के गुच्छे विभिन्न प्रकार के होते हैं। फूल अकेले या समूह में फूल देनेवाली अणुशूकियों (spikelets) पर लगे होते हैं।

पुंकेसर (stamens) और स्त्रीकेसर (pistils) प्रायः साथ साथ होते हैं, किंतु मक्का जैसे पौधों में अलग अलग भी होते हैं। फूल के अतिरिक्त अणुशूकी में दो या अधिक निपत्र (bracts) होते हैं, जिन्हें तुषनिपत्र (glumes) कहते हैं। इनमें फूलों को लेनेवाले तुषनिपत्र को बाह्य पुष्पकवच (लेमा, Lemmas) और उनके ऊपरवालों को अंतःपुष्पकवच (पेलिया, palea) कहते हैं। कभी कभी बाह्य पुष्पकवच में नुकीली तथा काँटे की तरह वृद्धि होती है, जिसे सीकुर (Awn) कहते हैं, जैसे गेहूँ, जौ इत्यादि में। फूलों में आकर्षित करनेवाला कोई रंग या सुगंध नहीं होती। परागण प्रायः हवा द्वारा होता है। कुछ फूलों में स्वयं परागण (self pollination) भी होता है। कैलिक्स (calyx) और पँखड़ियों (petals) के स्थान पर दो या तीन पतले पारभासक शल्क होते हैं, जिन्हें परिपुष्पक (Lodicules) कहते हैं। जब फूलों के खिलने का समय आता है तब परिपुष्पक एक प्रकार के रस से भर जाते हैं और बाह्यपुष्पकवच तथा अंतःपुष्पकवच पर दबाव पड़ता है, जिससे फूल खिल जाते हैं। इस अवस्था में वायु द्वारा परागण होता है।

सभी पौधों का फल एक बीजवाला होता है, जिसमें बीजावरण (seed coat), या बीजकवच (Testa), फलकवच (fruit coat) या फलावरण (pericarp) से चिपका रहता है। घासों के बीज बहुत छोटे होते हैं तथा बहुत अधिक मात्रा में पैदा होते हैं। ये बहुत दिनों तक जीवित रह सकते हैं और विभिन्न प्रकार की जलवायु और मिट्टी में उगाए जा सकते हैं। बीजों का विकिरण (dispersal) उनकी बनावट के अनुसार विभिन्न प्रकार से होता है, परंतु मुख्य रूप से हवा, पानी मनुष्यों और पशुओं द्वारा होता है।

मिट्टी और उसपर उगनेवाली वनस्पति में परस्पर बहुत घनिष्ठ संबंध होता है। संसार की कुछ प्रकार की मिट्टियाँ घासों के प्रकार और उपज से विशेष रूप से संबंधित हैं। जिन प्रदेशों में बड़ी बड़ी घासें उगती हैं, वहाँ की मिट्टी अधिक उपजाऊ होती है। बहुत अधिक घास उपजानेवाले स्थलों (grass lands) को प्रायः ब्रेड बास्केट्स (Bread Baskets) कहा जाता है। उदाहरण के लिये संयुक्त राज्य, अमरीका, तथा कनाडा के प्रेरिज (prairies), अर्जेंटाइना के पंपाज (pampas), आस्ट्रेलिया की ग्रेन बेल्ट (Grain belt) और यूरेशिया में स्टेप्स के बहुत से भाग, विशेषकर रूस के यूक्रेन प्रदेश में स्थित भाग आजकल संसार के मुख्य मुख्य ब्रेड बास्केट्स हैं।

कुछ प्रकार की घासें, जिनमें प्रसारण (propagation) विरोहक (stolon) तथा प्रकंद (rhizome) से होता है, कम वर्षावाले प्रदेशों में बहुत उगती हैं। इनमें दूब प्रधान घास है। इसे धर्मग्रंथों में राष्ट्ररक्षक (Preserver of nations) एवं भारत की ढाल (Shield of India) कहा गया है। मिट्टी के भीतर इन घासों की जड़ों का घना जाल रहता है, जिससे वर्षाजल से मिट्टी का कटाव या बहाव कम होता है। भूमि के ऊपर घनी पत्तियाँ होने से वायु द्वारा मिट्टी का कटाव नहीं होता। हवा और पानी से कटाव रोककर भूमिसंरक्षण करने में घासें बड़ी सहायक होती हैं।

इसके अतिरिक्त घासों की जड़ों में आश्रय पानेवाले उपयोगी जीवाणु वहाँ से नाइट्रोजन संचित कर मिट्टी की उर्वरा शक्ति बढ़ाते हैं तथा उनकी जड़ों द्वारा मिट्टी का विन्यास (texture) अत्यधिक उत्तम हो जाता है। इस प्रकार घासों द्वारा पथरीली या कम उपजाऊ भूमि भी अधिक उपजाऊ बनाई जा सकती है।

[सं० सि०]

घिरनी (Pulleys) एक गोल रंभ है, जिससे मशीन की शक्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया जाता है। यदि किसी खराद को इंजन से चलाना है, तो इंजन की घिरनी और खराद की घिरनी पर पट्टा चढ़ाकर इंजन की शक्ति से खराद को चलाते हैं। घिरनी के व्यास से ही मशीनों की गति को कम या ज्यादा किया जा सकता है। मशीनों की शक्ति को बिना किसी हानि के तो दाँतोवाले चक्रों से ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है, परंतु जहाँ इन स्थानों में दूरी अधिक हो वहाँ इन चक्रों का उपयोग नहीं हो सकता। इन्हीं स्थानों पर घिरनियों का उपयोग होता है। इनपर चमड़े के पट्टों या रस्सों को चढ़ाकर एक घिरनी से दूसरी घिरनी को शक्ति दी जाती है। यदि इंजन से किसी दूसरी मशीन को चलाया जा रहा है, तो इंजन की घिरनी चलानेवाली घिरनी कहलाएगी और मशीन की घिरनी चलनेवाली घिरनी होगी। घिरनियाँ प्रायः ढालवाँ लोहे की होती हैं, जिनमें बीच का भाग घिरनी के हाल से बाजुओं द्वारा जुड़ा होता है। ये बाजु संख्या में चार से लेकर छः तक होते हैं। घिरनी

के बीचवाले भाग के छेद में धुरी को डालकर कस दिया जाता है। घिरनी के हर भाग की नाप ऐसी रखी जाती है कि वह उसपर पड़नेवाले हर बल को सहन कर सके। घिरनी के हाल की चौड़ाई पट्टे की चौड़ाई से कुछ ही ज्यादा रखी जाती है। इसके हाल पर दो प्रकार के बल होंगे, एक तो पट्टे के खिंचाव के कारण और दूसरा इसके घूमने के कारण। यह देखा गया है कि एक वर्ग इंच परिच्छेद के हाल की घिरनी की गति १०० फुट प्रति सेकंड से अधिक नहीं होनी चाहिए। इसलिये ढलवाँ लोहे की घिरनी को इस गति से अधिक तेज नहीं चलाया जाता। जहाँ अधिक गति की आवश्यकता होती है वहाँ कच्चे और ढलवाँ लोहे को मिलाकर घिरनी बनाई जाती है। इसका ध्यान रहे कि अधिक गति से चलनेवाली घिरनियों को ढाला नहीं जाता, बल्कि इसके विभिन्न भागों को अलग अलग बनाकर पेचों द्वारा जोड़ा जाता है। इस प्रकार की घिरनी का भार भी प्रायः अधिक नहीं होता और न उसके टूटने का इतना डर रहता है।

घिरनी बनाने में इसका भी ध्यान रखा जाता है कि उसका आकर्षण-केंद्र ठीक बीच में हो। यदि ऐसा न हुआ तो धुरी के घूमते ही उसमें थरथराहट पैदा होगी और धुरी का तोलन खराब हो जायगा। इसलिये घिरनी को धुरी पर चढ़ाकर इसका तोलन जाँच लिया जाता है। इसको जाँचने के लिये धुरी को दोनों किनारों से आधारों पर रख दिया जाता है। यदि धुरी हर स्थान पर रुकी रहे और घूमे नहीं, तो इसका तोलन ठीक होगा, और अगर यह किसी ओर घूम जाय तो इससे पता चलेगा कि घिरनी एक ओर से भारी है। घिरनी जिस ओर भारी होती है उसके दूसरी ओर उतना ही वजन बाँधकर इसका तोलन ठीक कर लिया जाता है।

भिन्न भिन्न प्रकार की घिरनियों का विवरण नीचे दिया जा रहा है :

(१) पद घिरनी — यह घिरनी अलग अलग व्यास की दो या उससे ज्यादा घिरनियों को मिलाकर बनाई जाती है। पद घिरनी को एक ही भाग में ढाला जाता है। इनका उपयोग उसी स्थान पर होता है जहाँ चलने और चलानेवाली दोनों घिरनियाँ हों और चलनेवाली मशीन की गति को बदलने की भी आवश्यकता हो। इन घिरनियों को इस प्रकार लगाया जाता है कि एक घिरनी की छोटी घिरनी दूसरे की बड़ी घिरनी के सामने हो। इससे पट्टे को एक पद से दूसरे पद पर बदलने से पट्टे की लंबाई में कोई अंतर नहीं आता, इसलिये पट्टे को घिरनी पर चढ़ाने से पहले उसकी लंबाई दोनों घिरनियों के व्यासों को लेकर निकाल ली जाती है। घिरनी पर जो पट्टा चढ़ाया जाता है, उससे चलनेवाली मशीन की दिशा भी बदली जाती है। इसके लिये यदि पट्टे के दोनों बाजू समांतर हैं, तो चलनेवाली घिरनी के घूमने की दिशा वही होगी जो चलानेवाली घिरनी की है। अगर इस दिशा को बदलना है, तो पट्टे के बाजुओं को एक दूसरे पर चढ़ाकर घिरनी पर चढ़ाया जाता है।

(२) सवार घिरनी — यह घिरनी प्रायः छोटे आकार की होती है और पट्टे का तनाव ठीक बनाए रखने के काम आती है। इसकी धुरी पर एक स्कंद लगाकर पट्टे पर छोड़ दिया जाता है और स्कंद के बल के कारण यह घिरनी पट्टे को दबाए रखती है। चलते चलते यदि पट्टे का तनाव कम हो जाए, तो स्कंद के दबाव के कारण सवार घिरनी पट्टे पर और दब जाती है, जिससे तनाव में कमी नहीं हो पाती। इसलिये सवार घिरनी लगभग हर पट्टे पर लगाई जाती है।

(३) कसी हुई और ढीली घिरनी — ये दोनों घिरनियाँ पास पास चलानेवाली धुरियों पर लगाई जाती हैं और इन दोनों का व्यास बराबर होता है। इनमें पहली घिरनी धुरी पर कसी हुई होती है और मशीनों के चलाने के काम आती है। दूसरी ढीली घिरनी न तो धुरी के घूमने से घूमती है और न इसके घूमने से धुरी घूमती है। ढीली घिरनी लगाने का मतलब केवल यह होता है कि जब चलनेवाली घिरनी से पट्टे को ढीली घिरनी पर लाया जाता है तो धुरी तो घूमती रहती है, मगर कसी हुई चलनेवाली मशीन रुक जाती है। इसलिये जो मशीन इस धुरी से चलाई जा रही हो, वह बिना धुरी के रोके हुए रोकी जा सकती है। जब इस मशीन को फिर चलाना हो तो पट्टे को स्थिर घिरनी पर ले आया जाता है।

(४) V आकार की घिरनी — इन घिरनियों का आकार V की शक्ल का होता है और ये वहाँ काम आती हैं जहाँ रस्सों को शक्ति ले जाने के काम में लाया जाता है। कुछ स्थानों पर शक्ति इतनी ज्यादा होती है कि उसे चमड़े के पट्टों से नहीं ले जाया जा सकता। इसलिये कई कई रस्सों को मिलाकर इस प्रकार की घिरनियों पर चढ़ा दिया जाता है। ये रस्से सूत के भी होते हैं और लोहे के तारों के भी। दूसरा लाभ इन रस्सों से यह होता है कि चलते समय ये घिरनियों पर उतना नहीं फिसलते जितना चमड़े का पट्टा फिसलता है। इससे शक्ति की हानि नहीं होती।

(५) मार्ग घिरनी — यदि चलने और चलानेवाली धुरियाँ समांतर नहीं हैं, तो पट्टा घिरनियों पर से फिसल जाएगा। इसको रोकने के लिये मार्ग घिरनी का उपयोग होता है। इस घिरनी को इस प्रकार लगाया जाता है कि चलानेवाली घिरनी और मार्ग घिरनी की धुरियाँ एक समतल में हों और मार्ग घिरनी तथा चलनेवाली घिरनी की धुरी एक समतल में हो। इससे घिरनियों पर चढ़ा हुआ पट्टा नहीं उतरेगा।

[गु० बे]

घिर्लांदाइयो, दोमेनिको (१४४९–९४) १५वीं शती के फ्लोरेंस का प्रख्यात भित्तिचित्रकार, आकृतियों, वातावरण, भूदृश्यादि के यथार्थ अंकन में प्रवीण। उसका प्रकृत नाम दोमेनिको दि तोमासो बिगोर्दी था। उसकी प्रारंभिक भित्तिकृतियों पर उसके गुरुओं बाल्दोविनती और वेरोचो का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। उसके प्रधान भित्तिचित्र ओरसी के संत आंद्रिया के गिरजे, फ्लोरेंस तथा उसके आसपास के नगरों में लिखे गए।

पुनर्जागरण काल के विश्वविश्रुत चित्रकारों का, वह शैली की दृष्टि से पूर्वगामी था। उसकी शिल्पशाला शिल्पियों से भरी रहती थी जिनमें कुछ उसके शिष्य थे, कुछ भाई, कुछ सहयोगी; जिनकी सहकारिता से उसने इतनी बड़ी संख्या में इटली के भित्तिचित्र प्रस्तुत किए। इन्हीं शिष्यों में पुनर्जागरणकाल का यशस्वी कलावंत माईकेलेंजेलो भी था। घिर्लांदाइयो अपने काल के फ्लोरेंस के परम लोकप्रिय कलाकारों में से था और उसके ग्राहकों में संभ्रांत तथा धनाढ्य वणिकों की संख्या बड़ी थी, जिनकी इस कलाकार द्वारा बनाई अनेक प्रतिकृतियाँ आज भी उपलब्ध हैं। रेखाचित्रों और खाकों की भी एक राशि संरक्षित है।

घिर्लांदाइयो के चित्रकार्य की परंपरा इस प्रकार है—फ्लोरेंस के वेस्पुची गिरजे में लिखित कृपालु मदोना, तथा दुःखप्रकाश (१४७२–७३), फिना, कोलेगियाता तथा गिमिग्यानो के जीवन के घटनाचित्र (१४७५) बरोमो में बादिया के भित्तिचित्र (१४७९), पोरवेरोजा में सान दोमातो के भित्तिचित्र, फ्लोरेंस में ओग्नीसांती में अंतिम भोज के तीन दीन तथा संत जेरोम के प्रसिद्ध भित्तिचित्र (१४८०), सांता मारिया नोवेला

के संत जान बतिस्त तथा कुमारी मरियम के जीवन की घटनाओं से संबंधित असाधारण सुंदर भित्तिचित्र।

[प० उ०]

घी वसा पदार्थ है, जो गाय भैंस आदि के दूध से बनाया जाता है। बकरी और भेड़ के दूध से भी घी बनाया जा सकता है, पर ऐसा दूध कम मिलता है। इस कारण इससे घी नहीं बनाया जाता। दूध से पहले मक्खन और फिर मक्खन से घी बनाया जाता है। घी बनाने की देशी रीति दूध का दही जमाकर, उसकी मलाई को मथकर घी निकालने की है। भारत, अन्य ऐशियाई देशों तथा मिस्र में केवल दो प्रति शत मक्खन मक्खन के रूप में व्यवहृत होता है। शेष ९८ प्रति शत मक्खन से घी बनाया जाता है।

घी का उपयोग भारत में वैदिक काल के पूर्व से होता आ रहा है। पूजा पाठ में घी का उपयोग अनिवार्य है। अनेक ओषधियों के निर्माण में घी काम आता है। घी, विशेषतः पुराना घी, यहाँ आयुर्वेदिक चिकित्सा में दवा के रूप में भी व्यवहृत होता है। मक्खन और घी मानव आहार के अत्यावश्यक अंग हैं। इनसे आहार में पौष्टिकता और गरिष्ठता आती है और भार की दृष्टि से सर्वाधिक ऊर्जा उत्पन्न होती है।

संसार के प्रायः सभी देशों में मक्खन और घी उत्पन्न होते और व्यवहार में आते हैं। देश की समृद्धि वस्तुतः मक्खन और घी की खपत से आँकी जाती है। आजकल ऐसा कहा जाने लगा है कि मक्खन और घी के अत्यधिक उपयोग से हृदय के रोग होते हैं। ऐसे कथन का प्रमाण यह दिया जाता है कि जिस देश में मक्खन और घी का अधिक उपयोग होता है, वहीं के लोग हृदयरोग से अधिक संख्या में आक्रांत होते पाए गए हैं।

मक्खन बहुत दिनों तक नहीं टिकता। उसका किण्वन होकर वह पूतिगंधी हो जाता है; पर घी यदि पूर्णतया सूखा है तो बहुत दिनों तक टिकता है। घी के स्वाद और गंध ग्राह्य होते हैं। यह जल्द पचता भी है। घी में विटामिन 'ए', विटामिन 'डी' और विटामिन 'ई' रहते हैं। विटामिनों की मात्रा सब ऋतुओं में एक सी नहीं रहती। जब पशुओं को हरी घास अधिक मिलती है तब, अर्थात् बरसात और जाड़े के घी में, विटामिन की मात्रा बढ़ जाती है।

घी में विशेष प्रकार की गंध होती है, जो दूध में नहीं होती। यह गंध किण्वन और आक्सीकरण के कारण डाइऐसीटिल नामक कार्बनिक यौगिक बनने के कारण उत्पन्न होती है।

शुद्ध घी का मिलना आजकल कठिन हो गया है। सस्ते वनस्पति घी से मिलावट किया हुआ अधिकांश घी ही आजकल बाजारों में बिकता है। विश्लेषण के आँकड़ों से शुद्ध और अशुद्ध घी का बहुत कुछ पता लग सकता है। शुद्ध घी के विश्लेषण के आँकड़े इस प्रकार हैं :

घी के विश्लेषण के आँकड़े

	गाय	भैंस
विशिष्ट घनत्व १५° सें० पर	०·९३५८–०·९४४३	०·९३६०–०·९४४४
वर्तनांक (ब्यूटिरो रिफ्रैक्टर द्वारा, ४०° सें० पर)	३७·५–४०·६ ३१·५–४५ (गाडबोले)	४०–४३·५
रीचर्ट माइसल मान	२६–३३ २१–३४ (गाडबोले)	२४–३५·५
पोलेंसकी मान	०·७–१·७	०·८–२·२
साबुनीकरण मान	२१६–२३६	२२८–२३६
आयोडीन मान	२५–५० ३१·५–४५ (गाडबोले)	३६·५–४४

घी के संघटक अम्ल निम्नांकित सारणी में दिए जा रहे हैं :

घी के संघटक अम्ल (भार प्रति शत)

अम्लों के नाम	गाय	भैंस
ब्यूटिरिक	२·६–४·४	४·१–४·३
कैप्रोइक	१·४–२·२	१·३–१·४
कैप्रिलिक	०·८–२·४	०·४–०·९
कैप्रिक	१·८–३·८	१·७
लौरिक	२·२–४·३	२·८–३·०
मिरिस्टिक	५·८–१२·९	७·३–१०·१
पामिटिक	२१·८–३१·३	२६·१–३१·१
स्टीएरिक	०·०–१·०	०·९–३·३
ओलिइक (और अन्य का$_{१०}$ से का$_{१८}$ तक वाले)	२८·६–४१·३	३३·२–३५·८
लिनोलाइक	३·१–५·४	१५–२·०

घी की जाँच एवं बिक्री के लिये भारतीय मानक संस्थान ने घी के मानक स्थिर किए हैं, जो ऊपर दिए मानकों के सदृश ही हैं। इन्हीं मानकों के आधार पर भारत सरकार घी पर अपने ऐगमार्क (Agmark) मुहर लगाकर उसे शुद्ध प्रमाणित करती है।

(स० प्र० पा०)

घूर्णदर्शी (Gyroscope) एक संतुलित चक्र या पहिया होता है, जो इस प्रकार आधार वलयों (supporting rings) में स्थापित रहता है कि इसकी तीन स्वातंत्र्य संख्याएँ (degrees of freedom) होती हैं। इस पहिए को घूर्णक या रोटर (rotor) भी कहते हैं। यह चक्र एक अक्ष या धुरी के चारों ओर परिभ्रमण कर सकने के लिये स्वतंत्र होता है। इस अक्ष को भ्रमि अक्ष (spinning axis) कहते हैं। यह अक्ष या धुरी एक आधार वलय में उसके क्षैतिज व्यास पर स्थित रहती है और यह वलय स्वयं भी एक अन्य बाह्य वलय में एक क्षैतिज अक्ष के चारों ओर परिभ्रमण कर सकता है। यह अक्ष भ्रमि अक्ष के समकोणिक होता है। बाह्य वलय भी एक ऊर्ध्वाधर अक्ष के चारों ओर घूम सकता है। इस प्रकार इस चक्र या घूर्णक की धुरी किसी भी इच्छित दिशा में इंगित करती हुई रखी जा सकती है। भ्रमि करते समय यह चक्र दो मूल घूर्णदर्शी गुणों का प्रदर्शन करता है . (१) अवस्थितत्व (inertia) और (२) पुरस्सरण (precession)। घूर्णदर्शी को भली भाँति समझने के लिये इन गुणों के लक्षणों को भी समझ लेना नितांत आवश्यक है।

न्यूटन के प्रथम गतिनियम के अनुसार कोई भी पिंड जिस अवस्था में रहता है उसी में बना रहना चाहता है और उस अवस्था में किसी प्रकार के परिवर्तन का विरोध करने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है। इस प्रवृत्ति को जड़त्व (inertia) कहते हैं। अपनी धुरी पर भ्रमण करता हुआ रोटर अपने प्रारंभिक तल में ही परिभ्रमण करना चाहता है और कोई बलघूर्ण (torque) स्थापित करने पर उसका विरोध करता है।

घूर्णदर्शी के रोटर की दूसरी विशेषता है पुरस्सरण। परिभ्रमण करते हुए किसी पिंड के कोणीय संवेग में परिवर्तन करने के लिये एक बलघूर्ण आवश्यक होता है। यदि बलघूर्ण और कोणीय संवेग के अक्ष परस्पर संपाती (coincident) होते हैं, तो उस पिंड में एक कोणीय

त्वरण उत्पन्न हो जाता है, किंतु उस पिंड के परिभ्रमण का तल अपरिवर्तित रहता है। इसके विपरीत यदि उक्त दोनों अक्ष परस्पर सम-

चित्र १. साधारण घूर्णदर्शी
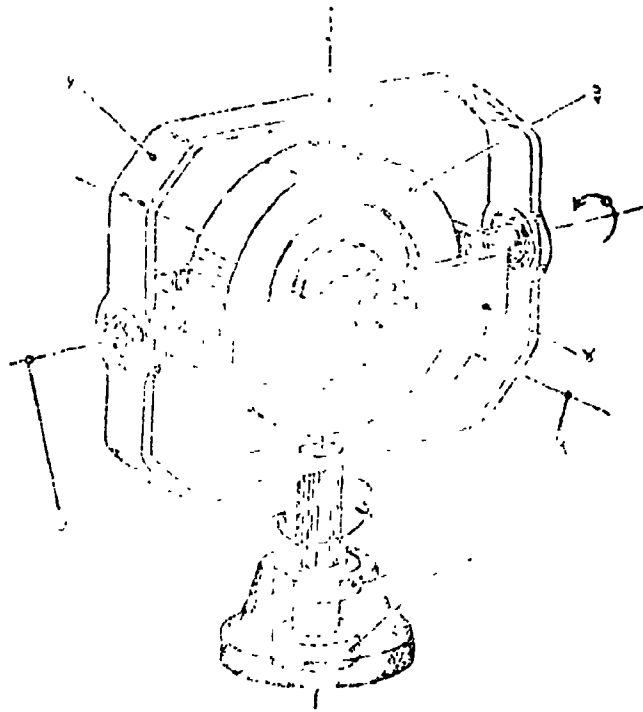
१. बाहरी छल्ला (gimbal); २. बाहरी छल्ले के धारक का अक्ष; ३. घूर्णाक्ष परिभ्रमक (Gyro-rotor); ४. भीतरी छल्ला; ५. परिभ्रमक का भ्रमिअक्ष; ६. बाहरी छल्ले के धारक तथा ७. भीतरी छल्ले के धारक का क्षैतिज अक्ष ।

कोणिक होते हैं, तो पिंड के कोणीय वेग में कोई अंतर नहीं आता, किंतु परिभ्रमण का तल स्वयं ही घूमने लगता है। इस प्रकार की गति को पुरस्सरण कहते हैं।

घूर्णदर्शी का सिद्धांत — घूर्णाक्षस्थापी की क्रियाएँ सभी परिभ्रमणशील या घूर्णशील पिंडों में दृष्टिगोचर होती है, किंतु अधिक कोणीय संवेग (momentum) वाले पिंडों में ये क्रियाएँ अधिक स्पष्ट होती हैं। ज्ञातव्य है कि किसी पिंड का कोणीय संवेग सं = द्र अ वे ($H = m r^2 \omega$), जहाँ द्र (m) = उस पिंड की संहति, अ (r) = उस पिंड के गुरुत्व केंद्र की भ्रमिअक्ष से दूरी तथा वे (ω) उसका भ्रमिवेग है। कोणीय संवेग के कारण ही घूर्णाक्षस्थापी में दृढ़ता तथा जड़त्व के गुणों का समावेश होता है।

किसी पिंड पर जब कोई बलयुग्म कार्य करता है, तब उस पिंड में बलयुग्म (couple) के अक्ष के चारों ओर एक कोणीय संवेग उत्पन्न हो जाता है, जिसके कारण पिंड में उस अक्ष के चारों ओर भ्रमि करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। जितने समय तक वह बलयुग्म कार्य करता रहेगा उतने समय तक उस पिंड का कोणीय वेग बढ़ता ही जायगा।

मान लिया, एक भारी चक्र (या पहिया) एक क्षैतिज धुरी क ख पर नर्तन (भ्रमि) कर रहा है। धुरी के दोनों सिरों पर दो बल ब (F) और ब (F) इस प्रकार कार्य कर रहे है कि उनसे एक बलयुग्म का निर्माण होता है। इससे उत्पन्न होनेवाला बलघूर्ण घू = ब × लं ($G = F \times l$), जहाँ लं (l) अक्ष क ख की लंबाई है। इसके परिणामस्वरूप यह संपूर्ण प्रणाली एक अन्य जांबिक अक्ष के चारों ओर पुरस्सृत (precess) होने लगेगी। यदि चक्र के परिभ्रमण का वेग वे (ω) तथा पुरस्सरण की दर वे' (ω') हो तो घू = अ × वे × वे' ($G = I \times \omega \times \omega'$), जहाँ अ (I) उस चक्र का नर्तन अक्ष के चारों ओर अवस्थितित्व, या जाड्यघूर्ण (moment of Inertia), है। अतः

$$वे' = \frac{घू}{अ \times वे} \left[\omega' = \frac{G}{I \times \omega} \right]$$

यदि चक्र का कोणीय संवेग अ × वे = ($I \times \omega$) काफी अधिक होगा तो ω' का मान बहुत कम होगा। इससे स्पष्ट है कि बहुत अधिक जाड्यघूर्णवाला चक्र (जैसे गतिपालक चक्र या फ्लाई-ह्वील) यदि किसी अक्ष के चारों ओर बहुत तेजी से परिभ्रमण कर रहा हो, तो उस पर किसी बाहरी अल्पकालिक बलघूर्ण, घू (G), का प्रभाव अत्यंत क्षीण पड़ेगा, अर्थात् विघ्नकारी बाह्य बलों से वह व्यवहारतः अप्रभावित रहेगा। कोणीय संवेग अधिक हो इस हेतु काफी अधिक व्यासवाला गतिपालक चक्र (फ्लाई-ह्वील) घूर्णाक्षस्थापी में प्रयुक्त किया जाता है। इसके अतिरिक्त भ्रमि वेग वे (ω) बढ़ाकर भी घूर्णाक्षस्थापी के कोणीय संवेग में बहुत अधिक सीमा तक वृद्धि की जा सकती है। इससे घूर्णाक्षस्थापी पर किसी अल्पायु बाह्य बलयुग्म का प्रभाव नहीं पड़ सकता।

उपर्युक्त गुण के कारण घूर्णाक्षस्थापी का प्रयोग पृथ्वी के परिभ्रमण का दिग्दर्शन करने के हेतु किया जा सकता है। पृथ्वी अपनी धुरी पर
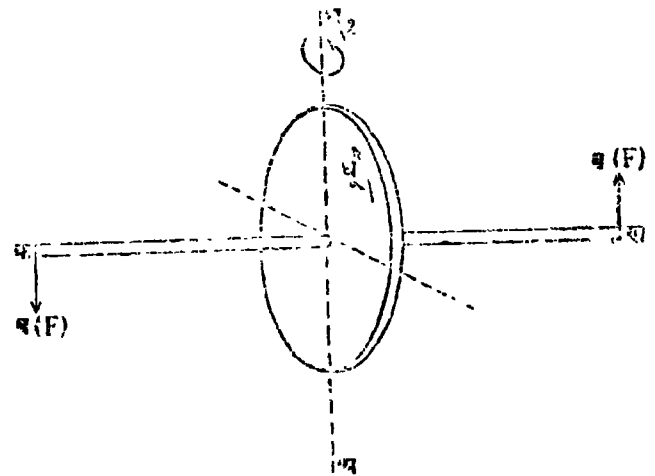
चित्र २.

अ. पुरस्सरण अक्ष (Axis of precession)

पश्चिम से पूर्व की दिशा में परिभ्रमण करती है। इसका एक परिभ्रमण २४ घंटों में पूरा होता है। यदि किसी घूर्णाक्षस्थापी को पृथ्वी तल के किसी स्थान पर इस प्रकार रखा जाय कि उसका भ्रमि अक्ष पूर्व पश्चिम दिशा में क्षैतिज रहे, तो पृथ्वी के परिभ्रमण के साथ साथ उसका संपूर्ण ढाँचा (frame work) भी पृथ्वी के केंद्र की परिक्रमा करेगा, क्योंकि प्रत्येक समय उस ढाँचे का तल पृथ्वी-तल के लंबवत् (ऊर्ध्वाधर) रहेगा। किंतु अपने जड़त्व तथा अत्यधिक कोणीय संवेग के कारण भ्रमि अक्ष अपनी प्रारंभिक दिशा के ही समांतर रहेगा। इसलिये पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण भ्रमिअक्ष, जो प्रारंभ में पृथ्वीतल के समांतर था, प्रति क्षण कुछ कोण बनाता हुआ दिखलाई पड़ेगा। इस प्रकार घूर्णाक्षस्थापी का

भ्रमिअक्ष अपने समकोणिक एकक्षैतिज अक्ष के चारों ओर पुरस्सरण करता हुआ प्रतीत होगा। इसे नीचे दिए हुए चित्र ३. द्वारा सरलता से समझा जा सकता है।

मान लिया, प्रारंभ में घूर्णदर्शी का भ्रमिअक्ष पृथ्वी के O स्थान पर क्षैतिज था और तीन घंटे में, पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण, वह ३ पर की स्थिति में पहुँच जाता है। चूँकि पृथ्वी अपनी धुरी पर पूरा चक्कर (अर्थात् ३६०°) चौबीस घंटों में घूम जाती है, इसलिये तीन घंटे में वह ४५° घूम जायगी। यह पहले कहा जा चुका है कि भ्रमि धुरी अपनी प्रारंभिक दिशा के समांतर ही रहना चाहती है, अतः इस स्थान
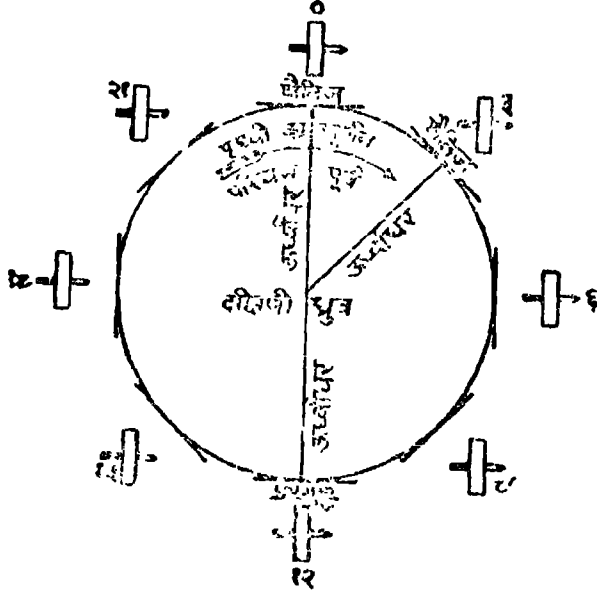
चित्र ३.

पर वह पृथ्वी की नई क्षैतिज रेखा से ४५° का कोण बनाती हुई दिखलाई पड़ेगी; यद्यपि घूर्णदर्शी का ढाँचा यहाँ भी क्षैतिज के समवत् ही रहेगा। यही क्रम आगे भी चलता रहेगा। छः घंटों के बाद भ्रमि धुरी ६ पर की स्थिति में पहुँच जायगी और अब क्षैतिज के लंबवत्, अर्थात् ऊर्ध्वाधर, दिखलाई पड़ेगी। १२ घंटे के बाद धुरी पुनः क्षैतिज हो गई दिखलाई पड़ेगी, किंतु इस बार उसके सिरे प्रारंभिक दिशाओं की विपरीत दिशाओं में होंगे, अर्थात् प्रारंभ में जो सिरा पूर्व दिशा की ओर था वह अब पश्चिम की ओर और पश्चिम दिशावाला सिरा पूर्व की ओर दिखलाई पड़ेगा। यह चित्र ३ से भली भाँति समझा जा सकता है। १८ घंटे के बाद भ्रमि अक्ष पुनः ऊर्ध्वाधर हो जायगा, किंतु इस बार ६ पर की स्थिति के विपरीत सिरा नीचे की ओर होगा। २४ घंटे के बाद वह पुनः अपनी प्रारंभिक स्थिति में दिखलाई पड़ेगा। इस प्रकार किसी स्थान पर रखा हुआ घूर्णदर्शी पृथ्वी के परिभ्रमण का वेग, परिभ्रमणकाल इत्यादि का ठीक ठीक पता देता है।

घूर्णदर्शी का सर्वप्रथम उपयोगी रूप जर्मन गणितज्ञ जोहैन बोएनबर्गर (Johann Bohnenberger, सन १७६५–१८३१) ने प्रस्तुत किया था। सन् १८१७ ई० में उसने इसका अपने ज्यौतिष अनुसंधान के क्रम में किए गए प्रयोगों में अत्यंत सफलतापूर्वक व्यवहार किया और इसके बाद इसका विवरण विज्ञानजगत् के समक्ष प्रस्तुत किया। बाद में लेआँ फूको (Leon Foucault) ने पृथ्वी के परिभ्रमण को प्रमाणित करने के हेतु इसका प्रयोग किया।

यद्यपि घूर्णदर्शी पर छोटे मोटे अथवा अल्पकालिक बलों अथवा बलघूर्णों का कोई दृश्यमान प्रभाव नहीं पड़ता, फिर भी भ्रमिधुरी और बालबेयरिंगों के बीच घर्षण इत्यादि के कारण यह उतना सटीक परिणाम नहीं दे पाता जितना सिद्धांततः इसे देना चाहिए। इसके लिये आवश्यक संशोधन कर देने से एतज्जनित त्रुटियों का परिहार किया जा सकता है।

घूर्णदर्शी के व्यावहारिक उपयोग — घूर्णदर्शी के कुछ महत्वपूर्ण व्यावहारिक उपयोग निम्नलिखित हैं :

(१) घूर्णाक्षस्थिरक (Gyro-stabilizer) के रूप में — बाह्य-बलघूर्ण के द्वारा अप्रभावित रहने के घूर्णाक्षस्थापी के गुण का उपयोग सागर के वक्ष पर यात्रा करनेवाले जलयानों को उत्ताल तरंगों के धक्कों से डगमगाने, या उलटने, से बचाने के लिये किया जाता है। इससे सागरीय यात्रा अधिक निरापद एवं कष्टरहित बनाई जा सकी है। जलयानों के डेकों के नीचे यान की केंद्ररेखा पर एक घूर्णाक्षस्थापी लगा दिया जाता है, जिसका चक्र, या घूर्णक, विशेष प्रकार के दृढ़ इस्पात का बना होता है। इस घूर्णदर्शी का भ्रमिअक्ष ऊर्ध्वाधर होता है। जब तरंगों के झोंकों से जलयान दाहिने बाएँ डगमगाता है तब भी इसका भ्रमिअक्ष पूर्ववत् ऊर्ध्वाधर बना रहता है। इस कारण वह तरंगों के विरुद्ध एक प्रतिकारी बलघूर्ण का सृजन कर उन्हें संतुलित करता है और इस प्रकार जलयान को सीधा रखने का प्रयत्न करता है। इससे जलयानों का झुकाव किसी भी ओर ऊर्ध्वाधर से चार या पाँच अंशों से अधिक नहीं होने पाता और उसके यात्रियों को तज्जनित कष्ट या असुविधा की अनुभूति नहीं होती :

(२) घूर्णदर्शी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपयोग वायुयानों के परिचालन में किया जाता है। उनमें इसका उपयोग दो प्रकार से होता है : (१) दिशासूचक घूर्णदर्शी के रूप में और (२) कृत्रिम क्षितिज के रूप में।

वायुयानों के दिशानियंत्रण के लिये घूर्णदर्शी अनिवार्य उपकरण बन गया है। दिशासूचक घूर्णदर्शी वायुयान के यंत्रपटल पर चालक के ठीक सामने लगा रहता है। अपनी प्रारंभिक स्थिति में इसकी भ्रमिधुरी पृथ्वी तल के ठीक समांतर रहती है। इसके चक्र के ठीक सामने एक छिद्र होता है, जिसमें से होकर आनेवाली वायु का प्रबल झोंका चक्र को बड़ी तेजी से घुमाता रहता है। उड़ते समय वायुयान को जब घुमाया जाता है तब घूर्णदर्शी की भ्रमिधुरी अपनी प्रारंभिक दिशा में रहती है। इसलिये वायुयान का घुमाव ठीक ठीक ज्ञात हो जाता है। सामान्यतया वायुयानों में चुंबकीय दिक्सूचक द्वारा दिशा का ज्ञान किया जाता है, किंतु वायुयान घुमाते समय, अथवा वायु के झोंकों के कारण, उसकी सूई अनियमित रूप से इधर उधर घूमने लगती है और तत्काल ठीक ठीक दिशा ज्ञात नहीं हो पाती। घूर्णदर्शी इन सबसे सर्वथा अप्रभावित रहता है। इसलिये यह एक प्रकार से चुंबकीय दिक्सूचक के पूरक की भाँति कार्य करता है और चालक को उसके गंतव्य की ठीक ठीक दिशा ज्ञात कराने में सहायक होता है।

एक दूसरा घूर्णदर्शी चालक को यह ठीक ठीक बतलाता है कि वह कितने ऊँचे या नीचे जा रहा है। धरती से बहुत ऊँचाई पर उड़नेवाले वायुयान के चालक को यह पता लगाना कठिन होता है कि उसका यान ऊपर या नीचे की ओर किस दिशा में जा रहा है। इसलिये उसे इस घूर्णदर्शी की सहायता लेनी पड़ती है। इसके भ्रमिअक्ष की प्रारंभिक दिशा ऊर्ध्वाधर होती है। जब वायुयान ऊपर चढ़ता या नीचे उतरता है, तब

वायुयान तल के ऊर्ध्वाधर से इस अक्ष के झुकाव द्वारा वायुयान की दिशा का ठीक ठीक ज्ञान हो जाता है। इस घूर्णदर्शी को कृत्रिम क्षितिज कहते हैं, क्योंकि इससे वही सहायता ली जाती है जो पृथ्वी पर क्षितिज से मिलती है। [सु० चं० गौ०]

घूर्णाक्ष दिक्सूचक (Gyro-compass) पहले जलयानों में दिशा ज्ञात करने के लिये चुंबकीय दिक्सूचक की सहायता ली जाती थी, किंतु आधुनिक विशाल जलयानों में इस्पात की अधिकता रहने के कारण चुंबकीय दिक्सूचक विश्वसनीय नहीं रह जाता। इसलिये अन्य प्रकार के दिक्सूचकों की खोज होने लगी और इस प्रयास की परिणति घूर्णाक्ष दिक्सूचक के आविष्कार के रूप में हुई। सन् १९०८ में एच० ऐंशुज (H. Anschütz) नामक जर्मन यंत्रशास्त्री ने प्रथम व्यवहार्य घूर्णाक्ष दिक्सूचक बनाया। इसके बाद संयुक्त राज्य, अमरीका, के ई० ए० स्पेरी (E. A. Sperry) ने एक नया घूर्णाक्ष दिक्सूचक बनाया और उसका सफल परीक्षण न्यूयार्क सिटी तथा नॉरफ़ॉक के बीच एक व्यापारी जहाज

चित्र १. घूर्णदर्शी
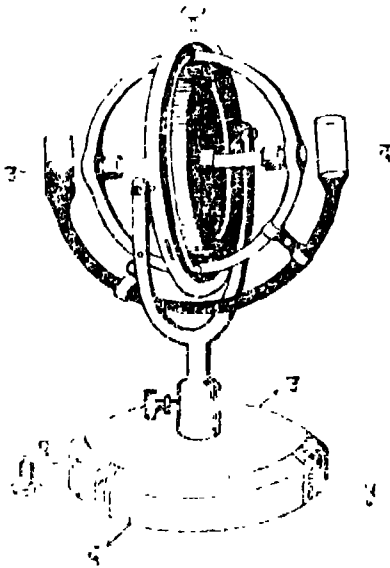
इसके फ्रेम में गुरुत्वाकर्षण के उपयोग के लिये एक द्रव पदार्थ की नली लगी हुई है।

उ = उत्तर, द = दक्षिण; प = पश्चिम तथा पू = पूरब।

पर किया गया। इंग्लैंड के एस० जी० ब्राउन (S. G. Brown) ने सन् १९१६ में एक तीसरा घूर्णाक्ष दिक्सूचक बनाया। तीनों के मौलिक सिद्धांतों में साम्य होते हुए भी, उनमें घूर्णाक्षदर्शी तत्वों (gyroscopic elements), यथा घूर्णाक या रोटर (rotor), दोलनशील खोल (pendulous case) और बाहरी छल्ले या जिंबल (gimbal) इत्यादि को लटकाने की विधियाँ भिन्न भिन्न थीं। ऐंशुज के दिक्सूचक में प्लवन विधि का, ब्राउन के दिक्सूचक में 'तैल पंप' का और स्पेरी के दिक्सूचक में गुरुत्वाकी भार को यांत्रिक विधि से संतुलित करने की विधि का अवलंबन किया गया था।

मुख्य अंग एवं कार्यसिद्धांत — इस यंत्र के तीन मुख्य भाग होते हैं : (१) [illegible] घूर्णाक्ष घूर्णाक (gyro-rotor), जो अत्यंत तीव्र गति से अपने अक्ष या धुरी (axle) पर नर्तन करता है। यह विद्युच्छक्ति से घुमाया जाता है; (२) एक दोलनशील खोल (pendulous case), जिसके सहारे घूर्णाक की धुरी ऊपर नीचे घूम सकती है; (३) एक बाहरी छल्ला (gimbal), जो धुरी को दिगंश (azimuth) में घूर्णन कराता है।

अत्यंत तीव्र गति से अपनी धुरी पर नर्तन करने के कारण घूर्णाक (rotor) में घूर्णाक्षसुलभ अवस्थितित्व (gyroscopic inertia) उत्पन्न हो जाता है, जिसके कारण धुरी दिक् (space) में सदा उसी दिशा में रहना चाहती है जिसमें वह प्रारंभ में रहती है। यदि इसकी धुरी प्रारंभ में पृथ्वी के याम्योत्तर (पृथ्वी के घूर्णाक्ष के समानांतर) में रखी जाय तो घूर्णाक के नर्तन करने पर वह उसी दिशा में बनी रहना चाहेगी। नीचे दिए गए चित्र २ में घूर्णाक्ष दिक्सूचक को भूमध्य रेखा पर स्थित दिखलाया गया है। पृथ्वी के घूर्णन के साथ ही छल्ला (gimbal) भी पश्चिम से पूर्व की ओर चलेगा। यदि घूर्णाक की नर्तनधुरी पृथ्वी के याम्योत्तर में होगी तो घूर्णाक पर कोई बलयुग्म कार्य नहीं करेगा, किंतु यदि धुरी की दिशा याम्योत्तर से रंचमात्र भी हटकर होगी, तो उसपर एक प्रत्यानयन बलयुग्म (restoring torque) उत्पन्न हो जायगा, जो धुरी को याम्योत्तर के चतुर्दिक् पुरस्सरण (precession) कराना प्रारंभ कर देगा।

मान लीजीए, घूर्णाक की नर्तनधुरी पृथ्वी के अक्ष की दिशा से कुछ विमुख है। इसका उत्तरी सिरा याम्योत्तर से कुछ कोण बनाता हुआ पश्चिम की ओर तथा दक्षिणी सिरा उतना ही कोण बनाता हुआ पूर्व की ओर हटा हुआ है। पृथ्वी के घूर्णन के कारण घूर्णाक के नर्तनअक्ष का उत्तरी सिरा नीचे की ओर झुकने लगेगा और दक्षिणी सिरा ऊपर की ओर उठने लगेगा। इस प्रकार धुरी पर एक बलयुग्म स्वतः कार्य करने लगेगा, जो घूर्णाक के उत्तरी सिरे पर नीचे तथा दक्षिणी सिरे पर ऊपर की ओर कार्य करता हुआ प्रतीत होगा। घूर्णाक के घूर्णन तथा इस प्रतिक्रियात्मक बलयुग्म के संमिलित प्रभाव से घूर्णाक की धुरी अपनी प्रारंभिक दिशा तथा बलयुग्म की दिशा, दोनों के लंबवत्, पश्चिम से पूर्व की ओर पुरस्सरण (precess) करना प्रारंभ कर देगी। पुरस्सरण करते हुए जिस क्षण घूर्णाक की धुरी पृथ्वी के घूर्णन अक्ष के समांतर स्थिति से होकर गुजरेगी, स्थिति ठीक उलटी हो जायगी, क्योंकि इसके बाद घूर्णाक की धुरी का उत्तरी सिरा पूर्व की ओर और दक्षिणी सिरा पश्चिम की ओर चला जायगा। फलस्वरूप उत्तरी सिरा ऊपर उठने लगेगा और दक्षिणी सिरा नीचे झुकने लगेगा। इस दशा में अक्ष पर लगनेवाले बलयुग्म की दिशा भी पहले की ठीक उलटी हो जायगी और नर्तनधुरी पूर्व से पश्चिम की ओर पुरस्सरण करने लगेगी। पुरस्सरण की इस क्रिया पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जायगा कि घूर्णाक की धुरी एक दीर्घवृत्ताकार (elliptical) पथ पर पुरस्सरण करती है। यदि इसे इसी प्रकार छोड़ दिया जाय, तो यह निरंतर पुरस्सरण करती रहेगी और तब यह साधारण घूर्णाक्षदर्शी की भाँति कार्य करेगी। घूर्णाक की धुरी को पृथ्वी के घूर्णाक्ष के समांतर, अर्थात् उत्तर-दक्षिण दिशा में, बनाए रखने के लिये पुरस्सरण की इस क्रिया को रोकना आवश्यक हो जाता है। एतदर्थ घूर्णाक्ष दिक्सूचक में अवमंदन (damping) की उपयुक्त व्यवस्था कर दी जाती है, जिससे घूर्णाक की धुरी सर्पिल पथ में पुरस्सरण करती हुई, अंत में पूर्ण रूप से उत्तर-दक्षिण दिशा की ओर उन्मुख होकर टिक जाती है। इस अवमंदन व्यवस्था के लिये घूर्णाक्ष दिक्सूचक में सामान्यतया पारे से भरी हुई एक अर्धवृत्ताकार नली उस फ्रेम या छल्ले

में लगा दी जाती है जिसमें वह घूर्णक या परिभ्रमणचक्र लटकता रहता है। ऊपर दिए गए दृष्टांत में, मान लीजिए, पुरस्सरण के क्रम में घूर्णक की धुरी का उत्तरी सिरा ऊपर की ओर उठता तथा दक्षिणी सिरा नीचे की ओर झुकता है। इससे पारा उस नली के ऊँचे भाग से नीचे भाग की ओर बहने लगता है। इस प्रकार वह घूर्णक की क्षैतिज धुरी के चारों ओर एक बल लगाता है। पुरस्सरण के उपर्युक्त सिद्धांत के अनुसार, यह बल घूर्णक को ऊर्ध्वाधर अक्ष के चारों ओर तब तक घुमाने की चेष्टा करता रहेगा जब तक घूर्णक की धुरी पृथ्वी के याम्योत्तर नहीं आ जाती। ज्यों ही घूर्णक की धुरी याम्योत्तर दिशा को पार करेगी, उसका विपरीत सिरा ऊपर उठेगा, जिसके फलस्वरूप पारे का प्रवाह भी अब विपरीत दिशा में होने लगेगा। इससे घूर्णक की धुरी विपरीत दिशा में पुरस्सरण करके पुनः याम्योत्तर हो जायगी, किंतु पुरस्सरण क्रमशः घटता जाता है और अंततः बिलकुल समाप्त हो जाता है, जिससे घूर्णक की धुरी याम्योत्तर दिशा में रह जाती है (देखें चित्र २.)।

जलयानों में व्यवहृत होनेवाले घूर्णाक्ष दिक्सूचक में संपूर्ण घूर्णाक्ष प्रणाली को इस प्रकार छल्लों के एक सेट (ग) पर आरोपित करते हैं कि यान के डगमगाने अथवा उसके वेग में किसी प्रकार के परिवर्तन आदि का प्रभाव घूर्णाक्ष दिक्सूचक पर नहीं पड़ने पाता। इस प्रकार के घूर्णाक्ष
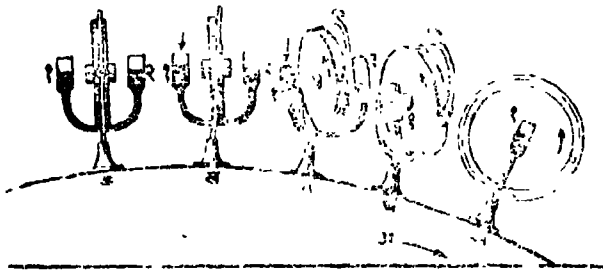
चित्र २. घूर्णदर्शी के संचलन चक्र का पूर्व पश्चिम स्थिति से प्रारंभ

अ. पश्चिम से पूर्व की ओर धुरी का घूर्णन; क. पर वास्तविक याम्योत्तर की दिशा में अवस्थापन के लिये रखा; ख., ग., घ, बाद की स्थितियाँ; च. घूर्णाक्ष दिक्सूचक में सक्रमित।

दिक्सूचक में घूर्णक और उसका प्रकोष्ठ (case) स्वयं दोलनशील (pendulous) नहीं होते, वरन् प्रकोष्ठ में एक संयोजीपिन (coupling pin) लगा होता है, जो एक अन्य छल्ले में घुसा हुआ रहता है। इस छल्ले को प्राक्षेपिक छल्ला (ballistic ring) कहते हैं। इस छल्ले में इसी के अक्ष के लंबवत् पारा भरी हुई एक नली लगी रहती है, जिसके ऊपरी सिरे दोनों ओर बोतल की आकृति के होते हैं (देखें चित्र १.)। पारा भरी हुई इस नली को "पारा प्राक्षेपिक छल्ला" (mercury ballistic ring) कहते हैं। इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। संयोगपिन (coupling pin) को तनिक सा उत्केंद्र (eccentric) कर देने से घूर्णाक्षदर्शी अवमंदन की सुलभ व्यवस्था पूरी हो जाती है। प्राक्षेपिक छल्ले से बेयरिंगों (bearings) के सहारे छाया तत्व (phantom element) से एक संकेतक संबंधित रहता है, जिसके द्वारा जलयान के आगे बढ़ने की दिशा ज्ञात की जा सकती है। [मु० चं० गौ०]

घृताची प्रसिद्ध अप्सरा; यह कश्यप और तथा प्राधा की पुत्री थी। पौराणिक परंपरा के अनुसार घृताची से रुद्राश्व द्वारा १० पुत्रों, कुशनाभ से १०० पुत्रियों, च्यवन पुत्र प्रमिति से रुरु नामक एक पुत्र तथा एकमत से वेदव्यास से शुकदेव का जन्म हुआ। एक बार भरद्वाज ऋषि ने इसे गंगा में स्नान करते देखा और उनका वीर्यपात हो गया। वीर्य को उन्होंने एक द्रोणि (मिट्टी का बर्तन) में रख दिया जिससे द्रोणाचार्य पैदा हुए कहे जाते हैं। [भो० ना० ति०]

घोड़ा मनुष्य से संबंधित संसार का सबसे प्राचीन पालतू स्तनपोषी प्राणी है, जिसने अज्ञात काल से मनुष्य की किसी न किसी रूप में सेवा की है। घोड़ा ईक्विडी (Equidae) कुटुंब का सदस्य है। इस कुटुंब में घोड़े के अतिरिक्त वर्तमान युग का गधा, जेब्रा, भोट-खर, टट्टू, घोड़-खर एवं खच्चर भी हैं। आदिनूतन युग (Eocene period) के ईयोहिप्पस (Eohippus) नामक घोड़े के प्रथम पूर्वज से लेकर आज तक के सारे पूर्वज और सदस्य इसी कुटुंब में संमिलित हैं। इनका वैज्ञानिक नाम ईक्वस (Equus) लैटिन शब्द से लिया गया है, जिसका अर्थ घोड़ा है, परंतु इस कुटुंब के दूसरे सदस्य ईक्वस जाति की ही दूसरी छः उपजातियों में विभाजित हैं। अतः केवल ईक्वस शब्द से घोड़े का अभिहित करना उचित नहीं है। आज के घोड़े का सही नाम ईक्वस कैबेलस (Equus caballus) है। इसके पालतू और जंगली संबंधी इसी नाम से जाने जाते हैं। जंगली संबंधियों से भी यौन संबंध स्थापित करने पर बाँझ संतान नहीं उत्पन्न होती। कहा जाता है, आज के युग के सारे जंगली घोड़े उन्हीं पालतू घोड़ों के पूर्वज हैं जो अपने स्वच्छ जीवन के बाद जंगल को चले गए और आज जंगली माने जाते हैं। यद्यपि कुछ लोग मध्य एशिया के पश्चिमी मंगोलिया और पूर्वी तुर्किस्तान में मिलनेवाले ईक्वस प्रज्वलस्की (Equus przewalski) नामक घोड़े का वास्तविक जंगली घोड़ा मानते हैं, तथापि वस्तुतः यह इसी पालतू घोड़े के पूर्वजों में से है। दक्षिणी अमरीका के जंगलों में आज भी घोड़े बृहत् झुंडों में पाए जाते हैं। एक झुंड में एक नर और कई मादाएं रहती हैं। सबसे अधिक १,००० तक घोड़े एक साथ एक जंगल में पाए गए हैं। परंतु ये सब घोड़े इक्वस कैबेलस के ही जंगली पूर्वज हैं और एक घोड़े को नेता मानकर उसकी आज्ञा में अपना सामाजिक जीवन व्यतीत करते हैं। एक गुट के घोड़े दूसरे गुट के जीवन और शांति को भंग नहीं करते। संकटकाल में नर चारों तरफ से मादाओं को घेर खड़े हो जाते हैं और आक्रमणकारी का सामना करते हैं। एशिया में काफी संख्या में इनके ठिगने कद के जंगली संबंधी ५० से लेकर कई सौ तक के झुंडों में मिलते हैं। मनुष्य अपनी आवश्यकता के अनुसार उन्हें पालतू बनाता रहता है।

संसार के वास्तविक जंगली घोड़े ईक्वस प्रज्वलस्की का नाम रूसी यात्री, कर्नल एन० एम० प्रज्वलस्की, के नाम पर रखा गया है, क्योंकि इन्हें एक जंगली घोड़ा एक अधिकारी ने जैसान (Zaisan) में भेंट किया था। यह वर्तमान घोड़े और घोड़खर के बीच का जानवर था। इसकी चारों टाँगों पर घोड़े के समान 'चेस्टनट' (chestnut) थे, परंतु घोड़खर के समान केवल इसकी पूँछ के निचले भाग पर लंबे बाल थे। शरीर का रंग बादामी (भूरा) था और पीठ पर पीलापन। पिछले हिस्से पर और हल्का रंग था, जो उदर पर बिलकुल सफेद हो गया था। शरीर पर कोई काली पट्टी नहीं थी। गर्दन पर छोटे और सीधे बाल थे, किंतु कानों के बीच और माथे पर न थे। खोपड़ी और खुर घोड़े के समान थे। कोबडो (Kobdo) जिले में

२० वर्ष बाद बहुत से इसी प्रकार के बच्चे मंगोलिया से मिले थे। उसके बाद भी इस प्रकार के जंगली घोड़े कई बार मिल चुके हैं। कहा जाता है कि हिमयुग के अंत तक अमरीका से सारे घोड़े समाप्त होकर प्रायः लुप्त हो गए। यही नहीं, इस काल में रहनेवाले अन्य अनेक बड़े बड़े जानवर भी किसी अज्ञात कारण से लुप्त हो गए। यूरेशिया में भी हिमयुग में जंगली घोड़े पर्याप्त संख्या में थे, परंतु आज एशिया के स्टेप्स (steppes) में प्रजेवाल्स्की घोड़े के अतिरिक्त कोई वास्तविक जंगली घोड़ा नहीं मिलता। टट्टू नाम के ठिगने घोड़े, जो आज भारत और एशिया के अन्य भागों में मिलते हैं, सब पालतू घोड़े के पूर्वज हैं।

पालतू बनाने का इतिहास — घोड़े को पालतू बनाने का वास्तविक इतिहास अज्ञात है। कुछ लोगों का मत है कि ७,००० वर्ष पूर्व दक्षिणी रूस के पास आर्यों ने प्रथम बार घोड़े को पाला। बहुत से विज्ञानवेत्ताओं और लेखकों ने इसके आर्य इतिहास को बिल्कुल गुप्त रखा और इसके पालतू होने का स्थान दक्षिणी पूर्वी एशिया में कहा, परंतु वास्तविकता यह है कि अनंत काल पूर्व हमारे आर्य पूर्वजों ने ही घोड़े को पालतू बनाया, जो फिर एशिया से यूरोप, मिस्र और शनैः शनैः अमरीका आदि देशों में फैला। संसार के इतिहास में घोड़े पर लिखी गई प्रथम पुस्तक 'शालिहोत्र' है, जिसे शालिहोत्र ऋषि ने महाभारत काल से भी बहुत समय पूर्व लिखा था। कहा जाता है कि 'शालिहोत्र' द्वारा अश्वचिकित्सा पर लिखित प्रथम पुस्तक होने के कारण प्राचीन भारत में पशुचिकित्सा विज्ञान (Veterinary Science) को 'शालिहोत्र शास्त्र' नाम दिया गया। महाभारत युद्ध के समय राजा नल और पांडवों में नकुल अश्वविद्या के प्रकांड पंडित थे और उन्होंने भी शालिहोत्र शास्त्र पर पुस्तकें लिखी थीं। शालिहोत्र का वर्णन आज संसार की अश्वचिकित्सा विज्ञान पर लिखी गई पुस्तकों में दिया जाता है। भारत में अनिश्चित काल से देशी अश्वचिकित्सक 'शालीहोत्री' कहा जाता है।

शालिहोत्र में चार दर्जन प्रकार के घोड़े बताए गए हैं। इस पुस्तक में घोड़ों का वर्गीकरण बालों के आवर्तों के अनुसार किया गया है। इसमें लंबे मुँह और बाल, भारी नाक, माथा और खुर, लाल जीभ और होठ तथा छोटे कान और पूँछवाले घोड़ों को उत्तम माना गया है। मुँह की लंबाई २ अंगुल, कान ६ अंगुल तथा पूँछ २ हाथ लिखी गई है। घोड़े का प्रथम गुण गति का होना बताया है। उत्तम वंश, रंग और शुभ आवर्तोंवाले अश्व में भी यदि गति नहीं है, तो वह बेकार है। शरीर के अंगों के अनुसार भी घोड़ा के नाम, त्र्यंड (तीन वृषणवाला), त्रिकर्णिन (तीन कानवाला), द्विखुरिन (दोखुरवाला), हीनदंत (बिना दाँतवाला), हीनांड (बिना वृषणवाला), चक्रवर्तिन (कंधे पर एक या तीन अलकवाला), चक्रवाक (सफेद पैर और आँखोंवाला) दिए गए हैं। गति के अनुसार तुषार, तेजस, धूमकेतु, एवं ताड़ज नाम के घोड़े बताए हैं। उक्त पुस्तक में घोड़े के शरीर में १२,००० सिराएँ बताई गई हैं। बीमारियाँ तथा उनकी चिकित्सा आदि, अनेक विषयों का उल्लेख पुस्तक में किया गया है, जो इनके ज्ञान और रुचि को प्रकट करता है। इसमें घोड़े की औसत आयु ३२ वर्ष बताई गई है।

घोड़े की उत्पत्ति और विकास का इतिहास — यद्यपि घोड़े की उत्पत्ति का काफी प्रमाण प्राप्त हो चुका है और उसके विकास के पूर्ण रूप से क्रमबद्ध अवशेष अमरीका और अन्य देशों में प्राप्त हो चुके हैं, फिर भी बहुत सी गुत्थियाँ अभी तक नहीं सुलझ पाई हैं। इन जीवाश्म अवशेषों से यह ज्ञात होता है कि ७,२५,००,००० वर्ष पूर्व घोड़े की उत्पत्ति पृथ्वीतल पर नहीं हुई थी। कहा जाता है, घोड़े के और मनुष्य के प्रथम पूर्वजों का जन्म एक ही काल में हुआ, अर्थात् दोनों की उत्पत्ति एक साथ हुई। ५,५०,००,००० वर्ष पूर्व ईयोसीन या आदिनूतन युग के आरंभ में ईयोहिप्पस एवं हाइरैकोथीरियम (Hyracotherium) नामक प्रथम घोड़े की उत्पत्ति हुई। यह पूर्वज लोमड़ी के समान छोटा था, जिसकी खोपड़ी अल्प विकसित थी, पैर पतले और लंबे, अगले पैरों में चार अँगुलियाँ, पिछले में तीन, दाँत ४४ और नीचे उपरिदंतवाले थे, जो इसके जंगली जीवन और कोमल पत्तों आदि के भोजन के अनुकूल थे। इस पूर्वज के फौसिल (जीवाश्म) उत्तरी अमरीका, यूरोप तथा एशिया

चित्र १ अरब बीजाश्व (Stallion)

में प्राप्त हुए हैं। तब से क्रमशः घोड़े का विकास होता रहा है। आदिनूतन युग के मध्य के ओरोहिप्पस (Orohippus) और अंत के एपिहिप्पस (Epihippus) नामक पूर्वजों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इन सब पूर्वजों के दाँतों में प्रगति होती रही और वे शाकाहारी जीवन के लिये अनुकूल हो रहे थे। एपिहिप्पस के कंकाल अभी तक नहीं मिल पाए हैं। अतः हमारे निष्कर्ष में अभी न्यूनता रह गई है। फिर २,००,००,००० वर्ष बाद ओलिगोसीन (Oligocene) या आदिनूतन युग में तीन अँगुलियोंवाले मेसोहिप्पस (Mesohippus) घोड़े की उत्पत्ति हुई। इसकी चौथी अँगुली नष्ट हो चुकी थी। यह आकार में आदिनूतन युग के घोड़ों से अधिक बड़ा तो नहीं था, परंतु इसके शरीर के अनेक अंगों में प्रगति हो गई थी। इसके सिर में घोड़े के समान मुँह, आँखें थोड़ी पीछे को, एवं मस्तिष्क थोड़ा बड़ा था। इसकी गर्दन छोटी, पीठ लंबी तथा टाँगें पतली लंबी और तीन अँगुलियोंवाली, थीं। चौथी अँगुली की एक छोटी सी गाँठ रह गई थी। दाँतों में भी प्रगति हो चुकी थी। इसी काल में माइयोहिप्पस नाम के घोड़े की भी उत्पत्ति हुई। यह मेसोहिप्पस से प्रायः बिल्कुल मिलता था। इसमें पाँचवीं अँगुली की चपती (splint) मेसोहिप्पस की चपती से काफी छोटी थी और इसके कपोलदंत भी अधिक जटिल हो गए थे। माइयोहिप्पस के कारण घोड़े के विकास की कहानी में थोड़ी जटिलता हुई है। इसी युग के ऐंकीथेरियम (Anchitherium) नामक घोड़े के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं, जिसके दाँतों में माइयोहिप्पस के समान जटिलता नहीं थी। संभवतः यह माइयोहिप्पस पूर्वज से जन्मा और

यूरोप, एशिया तथा अमरीका में माइयोसीन (Miocene), या मध्य नूतन, काल तक जीवित रहा। मेसोहिप्पस के साथ साथ मेगाहिप्पस (Megahippus) और हाइपोहिप्पस (Hypohippus) नामक घोड़े भी आदिनूतन युग में पाए गए। इसके १,००,००,००० वर्ष बाद, अर्थात् आज से २,५०,००,००० वर्ष पूर्व, माइयोसीन (Miocene) या मध्यनूतन काल के मध्य और अंतिम भाग में मर्सीहिप्पस (Merychippus) नामक पूर्वजों ने जन्म लिया। ये पूर्वज शनैः शनैः वर्तमान युग के घोड़े के निकट आ रहे थे। इनके दांत ऊँचे उपरिदंत जैसे होते गए, ताकि वे अपने मैदानी जीवन और वानस्पतिक भोजन का
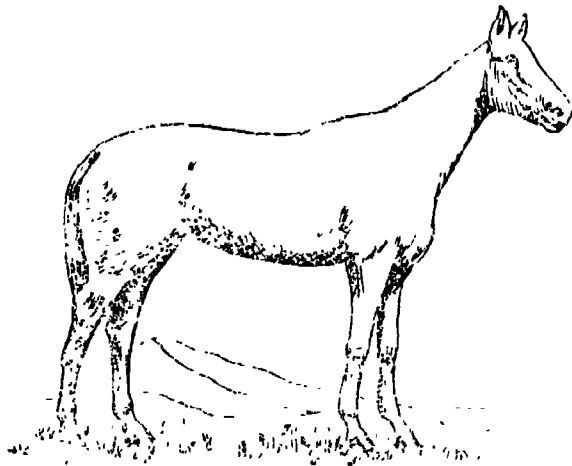
चित्र २. दुलकी चाल का नसली, बधिया घोड़ा

उपभोग कर सकें। इनके कपोलदंत भी आज के घोड़े के समान हो गए थे और दाँतों में सीमेंट (cement) की सतह भी उत्पन्न हो गई, जो इससे पहले युगों के पूर्वजों में नहीं थी। इन पूर्वजों में शरीर की लंबाई बढ़ गई थी। सिर में मुँह, आँखें और मस्तिष्क आज के घोड़े जैसे ही हो गए थे। टाँगों की हड्डियाँ भी परिवर्तित हो गई थीं। बहिःप्रकोष्ठिका (radius) से अंतःप्रकोष्ठिका (ulna) जुड़ गई थी और बहिर्जंघिका (Fibula) एक पतली तृटी के समान रह गई थी। परंतु अभी तक टाँगों में तीन अंगुलियाँ बाकी थीं, जिनमें बीच की अंगुली, जिसपर शरीर का भार रहता था, मोटी, बड़ी, और घोड़े के समान खुरवाली थी। मर्सीहिप्पस साधारणतः आज के टट्टू के समान प्रतीत होता था। अतिनूतन या प्लायोसीन (Pliocene) युग में आज से १,००,००,००० वर्ष पूर्व मर्सीहिप्पस ने अनेक नई जातियों को जन्म दिया, जिनमें से अधिकतर जातियाँ युग के अंत तक लुप्त हो गईं। नीयोहिप्पेरियन (Neohipparion), हिप्पेरियन (Hipparion), नैनहिप्पस (Nannihippus), कैलिहिप्पस (Calihippus) और प्लायोहिप्पस (Pliohippus) इस युग के प्रारंभ से प्रायः अंत तक विद्यमान थे। ये सब घोड़े उत्तरी अमरीका में मिले। केवल हिप्पेरियन अमरीका, यूरोप और एशिया सब जगह प्रकट हुआ। प्लायोहिप्पस आज के घोड़े ईक्वस का निकटतम पूर्वज था। यह इस युग का वह घोड़ा था जिसमें दोनों पार्श्व अँगुलियाँ पूर्णतया नष्ट हो गई थीं और शरीर के अंग प्रायः ईक्वस के समान हो गए थे। आज से १०,००,००० वर्ष पूर्व प्लायस्टोसीन (pleistocene), अर्थात् अतिनूतन युग, में आज का घोड़ा जन्मा। आस्ट्रेलिया के अतिरिक्त आज का घोड़ा संसार के सब देशों में इस युग में मिला। इस विकासक्रम में इयोहिप्पस से लेकर वर्तमान घोड़े ईक्वस तक इनकी आकारवृद्धि, टाँगों का लंबा होना, बाईं दाईं अंगुलियों का क्रमशः कम होना और बीच की अंगुली का बराबर बढ़ते रहना मुख्य है। इसके साथ साथ इनकी पीठ बराबर मजबूत और दृढ़ होती गई और कृंतक (incisor) दंत बराबर चौड़े होते गए। खोपड़ी गहरी और आँखों के आगे का हिस्सा लंबा हो गया। मस्तिष्क के आकार और जटिलता में वृद्धि होती गई। इस प्रकार एक छोटे से प्राणी से आज के विशालकाय और दृढ़ घोड़े का विकास हुआ। प्लायोसीन, या अतिनूतन युग, के निखातक नर्मदा की घाटी में मध्य भारत में और उत्तर में सिवालिक की चट्टानों में मिले हैं। इनको ईक्वस नामाडीकस एवं ई० सिवालेन्सिस नाम दिए गए। ये कंधे तक ५ फुट ऊँचे होते थे। आंखों के स्थान से आगे खोपड़ी में गड्ढा था। ये आज के घोड़े और मर्सीहिप्पस की बीच की स्थिति प्रकट करते हैं। प्रोफेसर बूल का मत है कि अरबी घोड़े की उत्पत्ति सिवालिक घोड़े से नर्मदा घोड़े द्वारा हुई, क्योंकि मर्सीहिप्पस के युग में ही भारत की सिवालिक पहाड़ियों में हिप्पेरियन के अवशेष प्राप्त हुए और
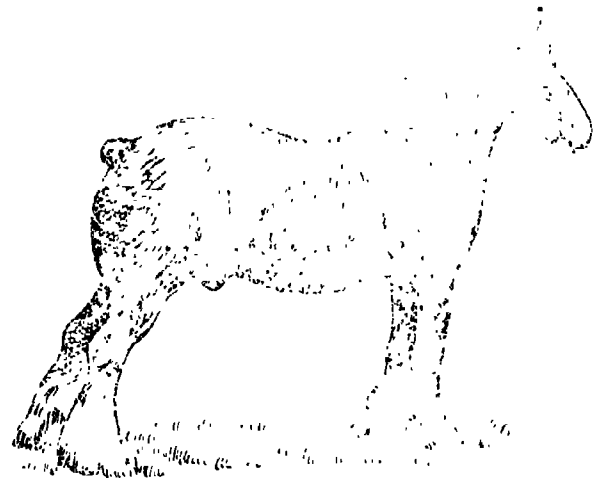
चित्र ३. भार वहन करनेवाला बधिया, नसली घोड़ा
ये दीर्घकाय, भारी घोड़े यूरोपीय, प्राचीन युद्धाश्वों के वंशज हैं। इनके पैर घने बालों से ढके होते हैं।

इन्हें हिप्पोथीरियम ऐंटिलोपियम (Hippotherium antelopium) नाम दिया गया। भारत में इसपर अधिक खोज नहीं हुई है।

१०,००,००० वर्ष पूर्व से आदिम मनुष्य ने अपनी बुद्धि के अनुसार घोड़े को पालतू बनाया और अन्यान्य अच्छी अच्छी नस्लों को पैदा किया। बोझा खींचने, घुड़दौड़ में दौड़ाने, सवारी करने और रथ आदि में चलनेवाले अलग अलग प्रकार के घोड़ों की उत्पत्ति हुई है। विदेशों में घोड़ों के नाम उनके जीवनक्रम के अनुसार दिए गए हैं। भारत में घोड़ों को उनके रंग तथा वंश के अनुसार मुश्की, अरबी आदि नाम दिए जाते हैं। कुछ लोगों को यह भ्रम है कि घोड़ा मनुष्य के बराबर बुद्धिमान होता है। वैज्ञानिक तथ्यों के अनुसार, इसकी बुद्धि सबसे मूर्ख मनुष्य से भी कम होती है। घोड़े में दृष्टि की तीव्रता होती है, क्योंकि संसार के स्थलीय जीवों में किसी प्राणी की आँख शरीर के अनुपात में घोड़े के समान बड़ी नहीं होती। दृष्टि की तीव्रता होते हुए भी इसकी आँख में गर्तिका (fovea) नहीं होती। अतः इसके लिये हमारे समान दृष्टि को केंद्रित करना संभव नहीं है। बिना

सिर घुमाए काफी क्षेत्र में देखना इसकी आँखों से संभव है। इसकी आँखें और नाक दोनों मनुष्य से अधिक सक्रिय होती हैं। कुछ घोड़ों में ईयोहिप्पस के समान ४४ दांत होते हैं, परंतु साधारणतः नरों में ४० और मादाओं में ३६ दांत होते हैं। नरों में प्रत्येक हनु में छेदक दांतों के तनिक पीछे एक श्वदंत होता है, घोड़ियों में नहीं। घोड़े के अंगों की एक विशेष रचना चेस्टनट (chestnut) नाम का मस्सा होता है। यह अगली टाँगों में घुटने के पिछले ऊपरी भाग पर एक लंबी चर्मकीली (कठोर त्वचा) के रूप में होता है, परंतु पिछली टांगों में यह एक छोटा धब्बा सा गुल्फ (टार्सस, Tarsus) के नीचे होता है। पद की पिछली सतह पर, बालों के बीच छिपा हुआ एक अर्गट (Ergot) होता है। गधे में यह अर्गट घोड़े से बड़ा होता है। यह एक लुप्तावशेष (vestige) है, जो घोड़े के पूर्वजों में पैर का पृथ्वी पर टिकाने में सहायक होता था। ढाई साल में घोड़े के बच्चों के दूध के दांत गिर जाते हैं। चार से छ: वर्ष की उम्र तक पूरे दांत निकल आते हैं। पालतू घोड़े प्रायः बीस वर्ष की उम्र में बूढ़े हो जाते हैं। अधिक से अधिक ४५ वर्ष की उम्र तक के घोड़े देखे गए हैं। संस्कृत की भारतीय पुस्तकों में घोड़े के अनेक सुंदर चित्र, उसकी आकृति, सुंदरता, शुभ-अशुभ-लक्षण और वंश का वर्णन करते हुए दिए गए हैं। इन पुस्तकों के अंग्रेजी अनुवाद भी शनैः शनैः प्रकाशित हो रहे हैं।

सं० ग्रं० — सिंपसन, जी० जी० : घोड़े, ऑक्सफोर्ड यूनि० प्रेस, न्यूयार्क (१९५१); गौवर्ट, ई० एच० : इवोल्यूशन ऑफ दि होर्स, जॉन विले ऐंड सन्स, न्यूयार्क (१९२६; [illegible], आर० : [illegible] रिलेशन्स, जी० एलेन ऐंड क०, लंदन (१९१२); अंबेश बहादुर : [illegible], हिंदुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, प्रयाग (१९३०; [illegible] : [illegible], किताब महल, इलाहाबाद (१९५५); [illegible] (संस्कृत, अंग्रेजी अनुवाद सहित)। (१९५२)। [रा० शं० टं०]

घोषणापत्र प्रायः एक व्यक्ति या समूह द्वारा उन सिद्धांतों और नीतियों की घोषणा है जिसमें आम जनता का हित निहित हो। समसामयिक जीवन से संबंधित घोषणा का साधारणतम रूप यह है जिसे राजनीतिक दल, विशेषकर चुनाव के अवसर पर, प्रसारित करते हैं। ऐसे दलों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे जनता को अपने चुनाव में समर्थन की माँग का कारण बताते हुए उन नीतियों तथा योजनाओं को भी स्पष्ट करें, जिन्हें वे अपनी सरकार बनाने पर कार्यान्वित करेंगे।

गंभीर अर्थ में मानव की कुछ उदात्त वाणियाँ (Pronouncements) घोषणापत्र की प्रकृति में उपस्थित समझी जा सकती हैं। वस्तुतः वह ऐसी आध्यात्मिक अनुभूति का साक्षात्कार है जिससे उसका लाभ अधिक से अधिक लोग उठा सकें।

जब हमारे भारतीय ऋषियों ने 'सोऽहम्' (वह मैं हूँ) और 'तत्त्वमसि' (वह तू है) की घोषणा की तो महान् घोषणापत्रों की भाँति यह चरम सत्य की अभिव्यक्ति थी। जब हमारे आश्रमों से यह सुंदर शब्द ध्वनित हुआ—'एकवृंतु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ येधामानि दिव्यानि तस्थुः, जानाम्यहं तं पुरुषं महातमादित्य वर्णम् तमसः परस्तात्' तो यह घोषणापत्र का एक शालीनतम उदाहरण बन गया।

बाइबिल में वर्णित है कि जब प्रभु ईसा पीटर की भाँति शिष्य बनने को उत्सुक मछुओं से मिले, उन्होंने संक्षेप में उनसे कहा—'मेरा अनुसरण करो'। तत्पश्चात् पर्वतशिखर से उन्होंने एक महत्वपूर्ण उपदेश दिया जो धर्म का महान् घोषणापत्र है। रोमनों के लिये सेंट पाल के तथा ईसाई कारिंथियनों और दूसरों के लिये लिखे गए अन्य धर्मपत्र प्रायः घोषणापत्रों की शैली में हैं किंतु ये अत्यंत हृदयस्पर्शी हैं।

इस्लाम का प्रचार आश्चर्यजनक रूप से 'कुरान शरीफ' के नारे से हुआ। वह उत्कृष्ट घोषणापत्र के रूप में समझा जा सकता है—'ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ भी सत्य नहीं है, और मोहम्मद उसका पैगंबर है।'

जब प्लेटो ने अपने 'रिपब्लिक' में यह विचार प्रतिपादित किया कि 'राज्य के अध्यक्ष दार्शनिक हों, और दार्शनिक अध्यक्ष हों' तब उसने एक अर्थ में संसार के संमुख चिरस्थायी शक्ति और आकर्षण का घोषणापत्र प्रस्तुत किया। टामस मोर (१६वीं शताब्दी) ने मानव जाति को अपने 'यूटोपिया' ग्रंथ द्वारा दूसरा घोषणापत्र दिया। रूसो का 'सोशल कांट्रैक्ट' (१८वीं शताब्दी) जो 'मनुष्य स्वतंत्र उत्पन्न हुआ था, किंतु सर्वत्र बंधन में है', आदि अविस्मरणीय शब्दों से आरंभ होता है, मानवीय चेतना का महान् घोषणापत्र है। इसी श्रेणी में साम्यवादी घोषणापत्र (१८४८) आता है जिसे मार्क्स ने एंजेल्स के सहयोग से लिखा।

अंग्रेजी क्रांति (१६४१–६०) ने बहुत बड़ी संख्या में पत्र पत्रिकाओं को जन्म दिया। वे सभी तत्कालीन विचारों को व्यक्त करनेवाले बहुत प्रभावशाली घोषणापत्र थे। 'लेवेलर्स', 'डिगर्स' और विशेषतः मिल्टन ने 'कामनवेल्थ' के उत्थान के लिये बहुत लिखा। मिल्टन ने सम्राट् के मृत्युदंड को न्यायपूर्ण सिद्ध करते हुए कुछ पुस्तकें लैटिन में लिखी ताकि उनका अंतरराष्ट्रीय पैमाने पर प्रचार हो। वे सभी सच्चे अर्थों में अंग्रेजी क्रांति के घोषणापत्र थे।

ब्रिटेन के विरुद्ध अमरीकी उपनिवेशों में विद्रोह ने स्वतंत्रता के एलान (Declaration) के रूप में एक बहुत गंभीर घोषणापत्र प्रस्तुत किया। इसका अनुसरण फ्रांसीसी क्रांति के लेखपत्र ने, जो संसार के लिये घोषणापत्र था, मनुष्य के अधिकारों को घोषित करके किया (१७९१)। यह कथन, कि सभी मनुष्य समान उत्पन्न हुए हैं, और उन्हें जीवनयापन, स्वतंत्रता और सुखभोग के समान अधिकार हैं, संसार की संपत्ति हो गया है।

अंग्रेज कवि शेली (१७९२–१८२२) ने कवियों को 'अज्ञात विधायक' कहा है। उनकी कुछ कविताएँ घोषणापत्रों के समान हैं। जैसे—

ओ पवन, इस सुप्त जग के लिये
मेरे होठों द्वारा (घोषित)
दिव्य संदेश का तूर्य बन जा
यदि शीत ऋतु आती है
क्या वसंत दूर रह सकता है?

१८४८ में 'साम्यवादी घोषणापत्र' प्रकाशित हुआ जो सामाजिक परिवर्तन के आंदोलन का आधारभूत सैद्धांतिक विवरण प्रस्तुत करता है, जिसकी चुनौती समसामयिक इतिहास का बहुत बड़ा तथ्य है।

राष्ट्रसंघ का प्रतिज्ञापत्र (१९१९) और संयुक्त राष्ट्र (१९४५) का शासनपत्र जैसे प्रलेख भी सच्चे अर्थों में घोषणापत्र कहे जा सकते हैं, जो संसार की महत्वाकांक्षा व्यक्त करते हैं।

राजनीतिक दलों के घोषणापत्र, जिनमें निर्वाचन के अवसर पर उनके सिद्धांत, नीतियाँ और योजना संबंधी प्रस्ताव जनता के संमुख स्पष्ट किए जाते हैं, अधिक प्रचलित हैं, किंतु इस वस्तुस्थिति को स्मरण रखना बहुत हितकर है कि घोषणापत्र इतिहास में प्रभावशाली ढंग से महत्वपूर्ण रहे हैं। [ही० ना० गु०]

घोषणापत्र, साम्यवादी (कम्युनिस्ट मैनिफस्टो) : नवंबर, १८४७ के अंत में लंदन में साम्यवादी संघ की दूसरी कांग्रेस हुई। इसमें उस काल्पनिक समाजवाद की भर्त्सना की गई जिसका विश्वास तत्कालीन समाजवादियों में प्रायः सामान्य रूप से जम गया था। उस अधिवेशन में षड्यंत्रकारी नीतियों का बहिष्कारकर संगठन को नया रूप दिया गया और एक नई योजना की घोषणा की गई। नवनिर्मित क्रांतिकारी मंच (प्लेटफार्म) के साम्यवादी सिद्धांतों को अंगीकृत कर घोषणापत्र का प्रारूप प्रस्तुत करने का कार्य कार्ल मार्क्स और फ्रेड्रिक एंजेल्स को सौंपा गया।

इस प्रकार साम्यवादी घोषणापत्र (१८४८) का प्रादुर्भाव हुआ जो प्रायः सर्वांशतः मार्क्स का कार्य था और जिसपर उस तेजस्वी विचारक की असाधारण प्रतिभा की गहरी छाप थी। यह घोषणापत्र अपनी विषयवस्तु और विचारधारा में पूर्णतः मौलिक था। इसके साथ ही यह पत्र एक ऐतिहासिक तर्कमीमांसा, युक्तियुक्त विश्लेषण, कार्यक्रम तथा भविष्यवाणी था। मित्र शत्रु दोनों वर्गों ने इसे मूर्धन्य कृति माना है।

साम्यवादी घोषणापत्र में इतनी स्पष्टता और शक्ति है जितनी मार्क्स को अबतक प्राप्त न हुई थी, और जितनी, एकाध चमत्कारों को छोड़, पीछे भी कभी संभव न हो सकी। इसके अंतर्गत उन्होंने उस पूँजीवाद का ऐतिहासिक उद्देश्य गंभीरतापूर्वक प्रमाणित किया जिसमें उत्पादन के साधनों का तो प्रबल विकास हुआ था किंतु उनका उपयोग सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नहीं हो रहा था। इसमें उन्होंने सर्वहारा और मध्यमवर्ग के बीच के तीव्र विरोध, उत्पादन की अराजकता के रूप में प्रकट पूँजीवाद के अंतर्द्वंद्व, विनिमय की अधमता और संकटों (क्राइसिस) प्रत्यक्ष किया है। पूँजीवाद की कब्र खोदनेवाले नए समाजवादी समाज के विधाता के श्रमिक प्रोलेतरियत (सर्वहारा वर्ग) की ऐतिहासिक विश्वव्यापी भूमिका मार्क्स ने अपनी महान् प्रतिभा द्वारा [illegible] की है।

मार्क्स के अनुसार सामंती समाज के भग्नावशेष से उठा वर्तमान मध्यवर्गीय समाज वर्गभेद को मिटा नहीं पाया। उसने केवल पुराने वर्गों के स्थान पर नए वर्ग खड़े कर दिए, अत्याचार के नए अवसर, संघर्ष के नए रूप प्रस्तुत कर दिए। वर्तमान राज्यशक्ति 'संपूर्ण मध्यवर्ग के संगठित कार्यों के प्रशासन के लिये मात्र समिति के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है'। उपज और उसके यातायात की मध्यवर्गीय दशाओं, मध्यवर्गीय सांपत्तिक संबंध और समग्र रूप में आधुनिक मध्यवर्गीय समाज ने "उपज के शक्तिम साधनों को माया द्वारा उत्पन्न कर लिया है—ये परिस्थितियाँ उस विवश जादूगर की सी हो गई हैं जो अपने जादू से पाताल से आत्माओं को बुला लेने के बाद फिर उन्हें नियंत्रित करने में असमर्थ हो जाता है।" मध्यवर्गीय समाज जैसे जैसे विकसित होता है, उसका पतन भी वैसे ही वैसे समीप आता जाता है, क्योंकि यह समाज स्वयं अनिवार्यतः आधुनिक श्रमिकों, विजयी सर्वहाराओं जैसी उन शक्तियों को जन्म देता है जो उसे तोड़कर विघटित कर देंगी।

मार्क्स अपने घोषणापत्र में निर्भीकतापूर्वक लिखते हैं : "सभी पूर्ववर्ती आंदोलन अल्पसंख्यकों के आंदोलन थे। सर्वहारा आंदोलन बहुमत द्वारा बहुसंख्यकों के हित में चलाया गया स्वतंत्र आंदोलन है।" अंत में वह बहुत प्रभावशाली ढंग से कहते हैं : "साम्यवादी अपने विचार और लक्ष्य छिपाने से इनकार करते हैं। वे स्पष्ट घोषित करते हैं, कि उनके उद्देश्यों की सिद्धि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को बलपूर्वक उखाड़ फेंकने से ही हो सकती है। साम्यवादी क्रांति की संभावना से शासक वर्ग काँप उठें लेकिन सर्वहाराओं को सिवा अपनी बेड़ियों के कुछ खोना नहीं। इसके विरुद्ध उन्हें एक समूची दुनिया की संप्राप्ति होगी। सारे देशों के सर्वहाराओ, मिलकर एक हो जाओ।"

घोषणापत्र का एक भाग मार्क्स से भिन्न सिद्धांतों और तत्कालीन समाजवादियों में प्रचलित अन्य आंदोलनों का विवेचन कर उन्हें अमान्य सिद्ध करता है। मार्क्स में अपने वास्तविक वातावरण की संकीर्ण सीमाओं से अपने को ऊपर उठा लेने की अद्भुत क्षमता थी; गोया वह चोटी पर खड़े होकर घटित होती उस विकास की धारा को देख रहे हों जिसमें अतीत वर्तमान में समाकर दूर भविष्य में उदित हो रहा है। चूँकि वह घोषणापत्र कारखानों के मजदूरों के महान और निरंतर बढ़ते हुए आंदोलन से संबंधित था, निस्संदेह वह विवादपूर्ण सिद्धांतों का मात्र चार्टर नहीं है। वरन् सामाजिक क्रांति के जिन अपूर्व, अकाट्य नियमों में मार्क्स विश्वास करता था, यह घोषणापत्र उन्हीं की प्रबल अभिव्यक्ति है और इसकी शैली में वह जादू है जिससे इतिहास का हृदय स्पंदित हो उठता है।

स्तालिन ने इस घोषणापत्र को मार्क्सवाद के गीतों का गीत घोषित किया था। साम्यवाद अथवा मार्क्स के संबंध में चाहे कोई जो सोचे, निःसंदेह यह अविस्मरणीय प्रलेख है, जिसने इतिहास के एक समूचे युग को प्रभावित किया, भरपूर प्रभावित किया है। (ही० ना० गु०)

घ्राणतंत्र (Olfactory system) नासिका घ्राण का अंग है। उसके भीतर की दोनों गुहाएँ नासागुहाएँ (nasal cavities) कहलाती हैं। ये आगे की ओर नासाद्वारों से आरंभ होकर पीछे ग्रसनिका (pharynx) तक चली गई हैं। इन दोनों के बीच में एक विभाजक पटल है, जो ऊपर की ओर झर्झरिका (ethmoid) की लंब प्लेट से ऊपर और नीचे की ओर सीमर (Vomer) या सीरिका अस्थि का बना हुआ है। इस फलक पर श्लेष्मल कला चढ़ी हुई है, जो नासा के पार्श्वों पर की कला से मिल जाती है। इस कला के फलक पर चढ़े हुए भाग के केवल ऊपरी क्षेत्र में घ्राणतंत्रिका के तंतु फैले हुए हैं जो गंध को ग्रहण करके मस्तिष्क में केंद्र तक पहुँचाते हैं।

नासिका का बाहरी भाग ऊपर की ओर अस्थि का और नीचे का केवल उपास्थिनिर्मित है, जो त्वचा से ढका हुआ है और नासापक्ष (Ala nasi) कहलाता है। भीतर विभाजक फलक पर ऊपर नीचे सीप के आकार की मुड़ी हुई पतली पतली तीन अस्थियाँ लगी हुई हैं, जो ऊर्ध्व, मध्य और अधो शुक्तिकाएँ (superior, middle and inferior turbinals) कहलाती हैं। ऊर्ध्व शुक्तिका के ऊपर का स्थान जतुक झर्झरिका

दरी (Sphero ethmoidal recess) कहा जाता है। उसके पीछे के भाग में जतूक वायुविवर का मुख खुलता है। ऊर्ध्व और मध्यशुक्तिभा के बीच में ऊर्ध्व कुहर (Superior meatus) है, जिसमें झर्झरिका के कुछ वायुकोष खुलते हैं। मध्य और अधोशुक्तिभा के बीच का गहरा और विस्तृत अंतःस्थान मध्यकुहर (Middle meatus) है, जिसमें ललाटास्थि (Frontal) और अधोहन्वास्थि के वायुविवरों (air sinuses) के छिद्र स्थित हैं। दोनों विवरों में यहीं से वायु

नासिका, गुहा, मुख इत्यादि की मध्योदग्र काट

१ नासिका का मध्यकुहर; २. नासिका का निम्नकुहर; ३. मध्य शुक्तिकास्थि (Turbinated bone); ४. नासिका का उत्तल कुहर; ५. जतूक विवर (Sphenoidal sinus); ६. निम्न शुक्तिकास्थि; ७. नासिका विभाजक भित्ति का पश्च प्रांत तथा ८. श्रुतिकिश्री नली का पश्चरंध्र।

पहुँचती है। संक्रमण (infection) भी यहीं से पहुँचता है। अधोशुक्तिभा के नीचे का स्थान अधःकुहर कहा जाता है। यहाँ अधोशुक्तिभा के नीचे, उससे ढका हुआ नासानलिका (nasal duct) का छिद्र है। इस कारण वह शुक्तिभा को हटाने या काटने पर ही दिखाई देता है। इस सुरंग की छत संकुचित है, जहाँ नासा की पार्श्वभित्ति मध्यफलक से मिल जाती है। यहाँ से मध्यफलक के ऊपरी भाग में फैले हुए तंत्रिकातंतु झर्झरास्थि के सुषिर पट्ट (Cribriform Plate) में होकर ऊपर को घ्राणकंद (Olfactory bulb) में चले जाते हैं।

नासिका का काम गंध का ज्ञान करना है, जो घ्राणक्रिया द्वारा होता है। गंध का अनुभव करना उपर्युक्त उन तंत्रिकातंतुओं का काम है जो मध्यफलक पर आच्छादित श्लेष्मिक कला के ऊर्ध्व भाग में फैले हुए हैं।

जब किसी व्यक्ति का घ्राण संबंधी ज्ञान प्राप्त करना होता है तब उसके भिन्न भिन्न शक्ति के विलयन बना लिए जाते हैं और उनको पृथक् पृथक् परीक्षण [illegible], सबसे अधिक शक्ति का विलयन पहले सुँघाया जाता है। फिर कम शक्ति के विलयन सुँघाए जाते हैं। इस प्रकार वह न्यूनतम मात्रा मालूम की जाती है, जिसको व्यक्ति सूँघ सकता है। जब व्यक्ति साधारण जल और विलयन की गंध में अंतर नहीं कर पाता तो उससे पहले की मात्रा न्यूनतम होती है।

ऐसे ही प्रयोगों द्वारा मालूम किया गया है कि जाफरान को १/१०,००,००,००० रत्ती को सूँघा जा सकता है। [मु० स्व० व०]

घ्राणहानि (Anosmia) इस अवस्था में गंध की अनुभूति में न्यूनता, अथवा पूर्ण रूप से अभाव, हो जाता है।

गंध का अनुभव मनुष्य नाक के द्वारा करता है। मस्तिष्क से आरंभ होकर नासास्नायु का जोड़ा नाक की श्लेष्मिक कला तथा घ्राणकोशिका में जाकर समाप्त होता है।

यह स्नायु संवेदनशील होती है। गंध से उत्तेजित होकर यह संवेदना को मस्तिष्क के केंद्रों तक पहुँचाती है। इस प्रकार हम सुगंध, या दुर्गंध, का अनुभव करते हैं।

घ्राणेंद्रियों में किसी प्रकार का दोष उत्पन्न हो जाने से घ्राणहानि का अनुभव होने लगता है।

नासागत श्लेष्मिक कला में परिवर्तन, नासानाड़ी में विकृति और मस्तिष्कगत विकृति आदि में घ्राणहानि पाई जाती है।

कुछ मनुष्यों में विशेष परिस्थितियों में, उदाहरणार्थ लड़ाई के मैदान में, अथवा अन्य किसी संकट के समय, मानसिक दुर्बलता के कारण घ्राणहानि देखी गई है।

उपचार — घ्राणहानि के कारण का पता लगाकर उसे यथोचित उपचार द्वारा दूर करना चाहिए। [क० दे० मा०]

चंगनाच्चेरि यह केरल राज्य के कोट्टयम जिले का तालुक है, जो जिले के पश्चिमी भाग में कोल्लम से ४० मील उत्तर में समुद्रतल से लगभग ३४५ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यह भाग केरल के पश्चिमी मैदान की पट्टी में पड़ता है, जो समुद्री तरंगों द्वारा जमाई हुई रेत के पुरतों और नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी से बनो है। यहाँ लाल दोमट मिट्टी मिलती है। यहाँ की जनसंख्या ४२,३७६ (१९६१) है।

अधिक वर्षा और समतल मैदान होने के कारण धान की खेती बहुत होती है। सुपाड़ी, नारियल, कालीमिर्च आदि भी बहुत उपजाई जाती हैं। धान कूटने, रस्सी और चटाई बनाने तथा मिट्टी के बरतन बनाने का काम यहाँ होता है। अलेप्पि बंदरगाह के समीप होने से इसका व्यापारिक महत्व भी है। [हे० प्रि० दे०]

चंगम मद्रास के उत्तर आर्काट जिले में चेय्यार नदी के तट पर स्थित तालुक है, जो मद्रास के प्राकृतिक विभागवाले उच्च प्रदेश के दक्षिणी पठार का ही एक भाग है।

गरमी में यहाँ का ताप ३०° से लेकर ३५° सें० तक तथा वार्षिक वर्षा ४०" के करीब होती है। वर्षा यहाँ पर चक्रवातों से होती है। मिट्टी यहाँ की दोमट है, जिसका रंग ललाई लिए काला रहता है तथा बहुत ही उपजाऊ है। कपास, रागी, मूँगफली, आलू इत्यादि की उपज यहाँ बहुत होती है। केला, आम, इत्यादि के बगीचे भी यहाँ हैं। [हे० प्रि० दे०]

घटपर्णी (पृष्ठ १००)

एक कीटाहारी पौधा

घड़ियाल (पृष्ठ १०१)

दो अमरीकी घड़ियाल

घरेलू सिलाई, (पृष्ठ ११०)

बायें : नई सिंगर ऑटोमैटिक मशीन। इस स्वयंचालित मशीन में टेढ़ी सुई से सिलाई होती है।

दाहिने, ऊपर प्रथम सिलाई की मशीन। यह सर्वप्रथम मशीन सन् १८५१ में बनी थी।

दाहिने, नीचे विशिष्ट मशीन। इस विद्युच्चालित मशीन में दो सुइयाँ भिन्न रंगों के धागों से सिलाई करती हैं।
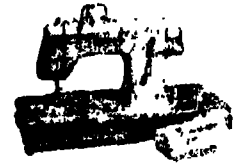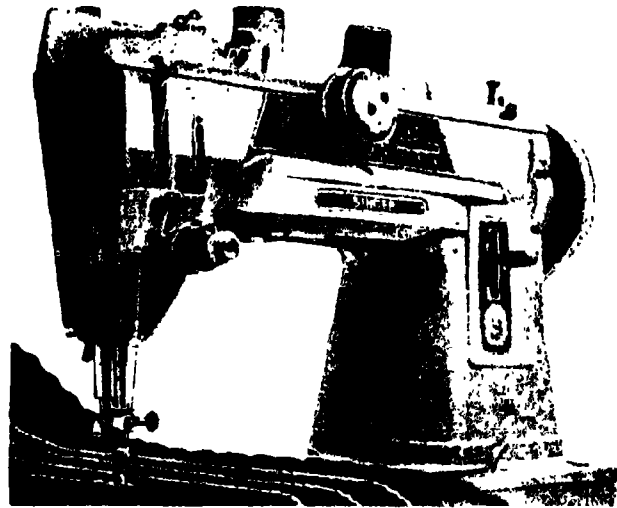
चंडीगढ़ (पृष्ठ १२६)
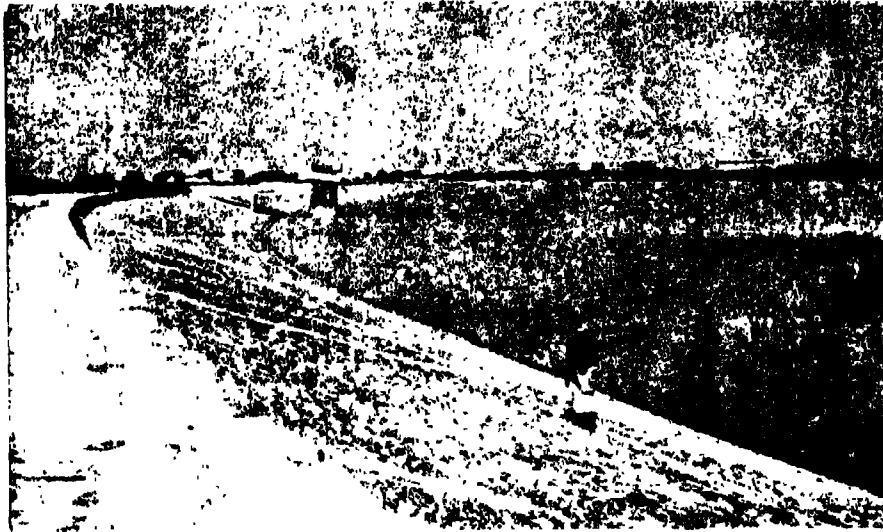
सुखना झील
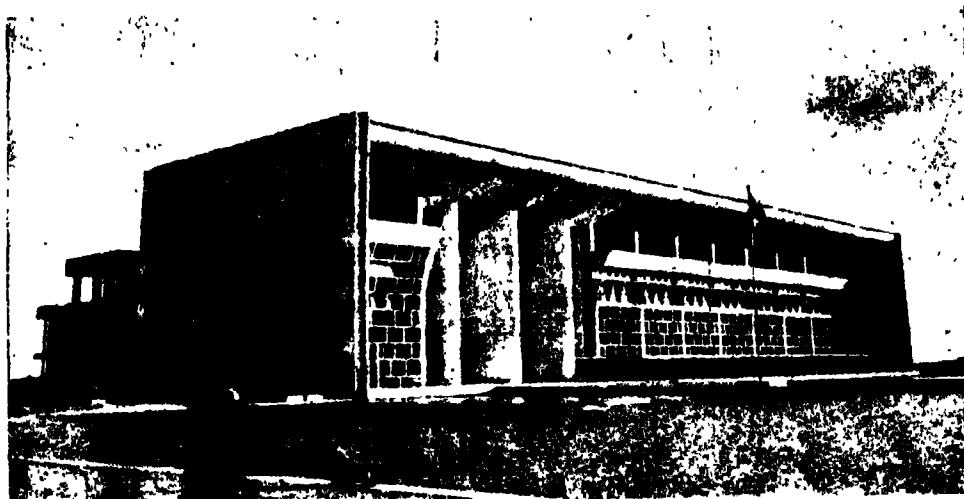
उच्चन्यायालय (HighCourt) भवन

चंडवर्मन् शालंकायन शालंकायन वंश की राजधानी वेंगी थी जिसका समीकरण आधुनिक गोदावरी जिले में पेड्डवेगि नामक स्थान से किया जाता है। चंडवर्मन् का पिता नंदिवर्मन् प्रथम था। चंडवर्मन् का राज्यकाल चौथी शताब्दी के अंत और पांचवीं शताब्दी के प्रारंभ में रखा जा सकता है। उसका स्वयं का कोई अभिलेख नहीं प्राप्त है किंतु उसके ज्येष्ठ पुत्र और उत्तराधिकारी नंदिवर्मन् द्वितीय के कोल्लैर और पेड्डवेगि के अभिलेखों में उसका अभिलेख है। उसे प्रतापोपनत सामंत कहा गया है जिससे सूचित होता है कि संभवतः कुछ समीपवर्ती शासक उसकी अधीनता स्वीकार करते थे।

उड़ीसा के गंजाम जिले के कोमर्ति नाम के स्थान से प्राप्त एक अभिलेख चंडवर्मन् नाम के एक महाराज का है जिसकी राजधानी सिंहपुर थी और जो अपने को कलिंगाधिपति बतलाता है। इसका राज्य भी पाँचवीं शताब्दी में रखा जा सकता है किंतु यह चंडवर्मन् शालंकायन से भिन्न था। [ल० गो०]

चंडी देखिए 'दुर्गा'।

चंडीगढ़ स्थिति : ३०° उ० अ० और ७६° ४६' पू० दे०; समुद्रतट से इसकी ऊँचाई १,२०० फुट; जनसंख्या ६६,२६२ (१९६१) है। १५ अगस्त, १९४७ को विभाजन के पश्चात् भारत स्वतंत्र हुआ। विभाजन के फलस्वरूप पंजाब का पश्चिमी भाग पाकिस्तान में चला गया। इसी भाग में पंजाब की राजधानी भी पाकिस्तान में चली गई। अब समस्या पूर्वी पंजाब के लिये राजधानी चुनने की थी। काफी विचार विमर्श के बाद जलवायु, स्थिति और सैनिक महत्व को ध्यान में रखते हुए हिमालय पर्वत की तलहटी में स्थित अंबाला जिले की खरड़ तहसील में अंबाला-कालका-सड़क से पांच मील दक्षिण-पश्चिम एवं दिल्ली से १६० मील उत्तर में स्थान चुना गया। इसके निकट ही चंडीदेवी का प्राचीन मंदिर था। अतः उस स्थान का नाम चंडीगढ़ रखा गया। नगर योजना के लिये विश्वविख्यात फ्रांसीसी वास्तुविशारद श्री लो० कारबूजिए (Mons Le-Corbusier), भवन वास्तु के लिये उनके सहायक श्री पी० जैनरे (Mons. P. Jeanneret), अंग्रेज वास्तुकार श्री मैक्सवेल फ्राई (Mr. Maxwell Fry) और उनकी पत्नी श्रीमती जेन बी० ड्रयू (Jane B. Drew) को नियुक्त किया गया।

१९५० ई० में इन वास्तुविशारदों ने अनेक भारतीय वास्तुकारों के सहयोग से योजना बनाई और अप्रैल, १९५१ ई० से पंजाब के सार्वजनिक निर्माण विभाग के मुख्य इंजीनियर श्री परमेश्वरी लाल वर्मा की देखरेख में निर्माणकार्य का प्रारंभ हुआ। मार्च, १९६२ ई० तक सभी महत्वपूर्ण कार्य पूरे हो गए और अब यह नगर उत्कृष्ट वास्तुकला का नवीनतम निदर्शन है।

इस नगर का औद्योगिक क्षेत्र रेलवे स्टेशन के पास ५८० एकड़ में फैला है। इस क्षेत्र को धुएँ, धूल और शोर से बचाने के लिये वृक्षों की एक दीवार बनाई गई है। निकट भविष्य में यहाँ सीमेंट, नकली रेशम, सूती वस्त्र, टाइपराइटर से संबंधित उद्योग तथा मशीनें एवं, आटा तथा तेल की मिलें बनाई जानेवाली हैं। विश्वविद्यालय, इंजीनियरिंग कालेज, पालिटेकनिक, बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय, दो हाईस्कूल, और छः प्राथमिक और नर्सरी स्कूल हैं। एक अस्पताल और एक प्रसूतिकागृह है। नया सचिवालय, टाउनहाल, पंजाब विश्वविद्यालय और सरकिट हाउस देखने योग्य इमारतें हैं। नगर सड़क, रेल तथा वायुमार्गों द्वारा देश के अन्य मार्गों से जुड़ा है। [जो० आर० एन०]

चंडीदास का बंगाली वैष्णव समाज में बड़ा मान है। इन्हें राधाकृष्ण लीला संबंधी साहित्य का आदिकवि माना जाता है। बहुत दिनों तक इनके बारे में कुछ विशेष ज्ञात नहीं था। चंडीदास को द्विज चंडीदास, दीन चंडीदास, बड़ु चंडीदास, अनंतबड़ु चंडीदास इन कई नामों से युक्त पद प्राप्त थे। इनकी पदावली को प्रायः कीर्तनियाँ लोग गाया करते थे। इनके पदों का सर्वप्रथम आधुनिक संग्रह जगद्बंधु भद्र द्वारा 'महाजन पदावली' नाम से किया गया। इस संग्रह ग्रंथ की द्वितीय संख्या में चंडीदास नामांकित दो सौ से अधिक पद संग्रहीत हैं। यह संग्रह सन् १८७४ ई० में प्रकाशित हुआ था। सन् १९१६ ई० तक चंडीदास के परिचय, समय इत्यादि के संबंध में कोई निश्चित मत न होते हुए भी इस बात की कोई समस्या नहीं थी कि चंडीदास नाम के एक ही व्यक्ति थे या अनेक। इसी समय वसंतरंजन राय ने स्वयं प्राप्त की हुई 'श्रीकृष्णकीर्तन' नाम की। हस्तलिखित ग्रंथ की प्रति को संपादित कर प्रकाशित किया। यह ग्रंथ कृष्णलीला काव्य है। प्रचलित पदावली की भाषा और वर्ण्य विषय से 'श्रीकृष्णकीर्तन' की भाषा एवं वर्ण्य विषय में अंतर होने के कारण इस बात की संभावना जान पड़ी कि चंडीदास नाम के एकाधिक व्यक्ति अवश्य थे। बहुत छानबीन के उपरांत प्रायः सभी विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि दो चंडीदास अवश्य थे।

चैतन्यदेव के पूर्ववर्ती एक चंडीदास थे, इस बात का निर्देश 'चैतन्य-चरितामृत' एवं 'चैतन्यमंगल' में मिलता है। चैतन्यचरितामृत में बताया गया है कि चैतन्य महाप्रभु चंडीदास एवं विद्यापति की रचनाएं सुनकर प्रसन्न होते थे। जीव गोस्वामी ने भागवत की अपनी टीका 'वैष्णव तोषिनी' में जयदेव के साथ चंडीदास का उल्लेख किया है। नरहरिदास और वैष्णवदास के पदों में भी इनका नामोल्लेख है। इन चंडीदास का जो कुछ परिचय प्राप्त है वह प्रायः जनश्रुतियों पर ही आधारित है। ये ब्राह्मण थे और वीरभूम जिले के नान्नूर ग्राम के निवासी थे। 'तारा', 'रामतारा' अथवा 'रामी' नाम की धोबिन इनकी प्रेमिका थी, यह एक जनश्रुति है। दूसरी जनश्रुति के अनुसार ये बाँकुड़ा जिले के छातना ग्राम के निवासी थे। ये 'बाशुली' देवी के भक्त थे। इनके नाम से प्रकाशित ग्रंथ 'श्रीकृष्णकीर्तन' में प्रबंधात्मकता है। यह प्राचीन यात्रानाट्य और पांचाली काव्य का मिलाजुला रूप है।

दीन चंडीदास नामक एक व्यक्ति चैतन्यदेव के परवर्ती थे, इस बात का भी पता चलता है। दीन चंडीदास के नाम से नरोत्तमदास का वंदना संबंधी एक पद प्राप्त है। इससे वे नरोत्तमदास के शिष्य ज्ञात होते हैं। दीन चंडीदास नामांकित बहुत से पद प्राप्त हैं। इनका संपादित संग्रह श्री मणींद्रमोहन वसु ने प्रकाशित किया है। [र० कु०]

चंद हिंदी के आदिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते रहे हैं, और उनकी एकमात्र रचना 'पृथ्वीराजरासो' ही उनकी इस कीर्ति का आधार रही है। चंद के संबंध में यह प्रसिद्ध रहा है कि दिल्ली के अंतिम हिंदू सम्राट् पृथ्वीराज के राजकवि और बालसखा थे। पृथ्वीराजरासो के

रचयिता के अतिरिक्त उक्त महाकाव्य के एक पात्र के रूप में भी वे अवतरित होते हैं और उसकी कथा में एक महत्वपूर्ण भाग लेते हैं। कन्नौजयुद्ध में पृथ्वीराज को कन्नौज वे अपने साथ थवाइत्त (तांबूलपात्रवाहक) के रूप में लिवा जाते हैं। शहाबुद्दीन गोरी का अंत अंधे हुए पृथ्वीराज के द्वारा गजनी जाकर वही कराते हैं। इन प्रसंगों के अतिरिक्त भी, प्रायः सदैव, वे पृथ्वीराज के साथ दिखाई पड़ते हैं। इन्हीं कारणों से वे पृथ्वीराजरासो के आधार पर न केवल उसके रचयिता बल्कि पृथ्वीराज के मित्र तथा उनके आश्रित राजकवि माने जाते रहे हैं। प्रसिद्धि यहाँ तक रही है कि दोनों का जन्म एक ही दिन हुआ था और मृत्यु तो दोनों की एक ही दिन हुई ही थी।

इधर जब से पृथ्वीराजरासो की ऐतिहासिकता और उसकी प्रामाणिकता पर संदेह उठ खड़ा हुआ है, स्वभावतः चंद के इस व्यक्तित्व पर भी संदेह किया जाने लगा है। यह संदेह सर्वथा निराधार भी नहीं है। पृथ्वीराजरासो के अनेक रूपों में रूपांतर मिलते हैं, किंतु उसका एक भी रूप ऐसा नहीं है और न पुनर्निमित हो सका है जिसमें अनैतिहासिक विवरण या उल्लेख न मिलते हों। इसलिये 'पृथ्वीराजरासो', जैसा हम अन्यत्र 'पृथ्वीराजरासो' शीर्षक में देखेंगे, पृथ्वीराज के आश्रित किसी कवि की रचना नहीं मानी जा सकती है और पृथ्वीराजरासो के रचयिता के रूप में चंद कल्पित व्यक्ति रह जाते हैं। 'रासो' की कथा के पात्र के रूप में चंद का व्यक्तित्व कहाँ तक वास्तविक और कहाँ तक कल्पित है, यह जानने के लिये हमारे पास कोई साधन नहीं है।

कथा का चंद पृथ्वीराज का निर्भीक मित्र और परामर्शदाता है। वह पृथ्वीराज जैसे उग्र स्वभाव के शासक को जिस प्रकार भी संभव देखता है, उचित मार्ग पर ला देता है। नवोढ़ा संयोगिता के साथ विलासमग्न पृथ्वीराज को गोरी के कुचक्रों का स्मरण कराने के लिये वही लिख भेजता है : 'गोरी रत्तउ तुव धरा तुं गोरी अनुरक्त।' 'आँखें निकलवाकर जिसे बंदीगृह में डाल दिया गया है, जो अपना समस्त साहस खो चुका है, उसको लक्ष्यभेद के बहाने गोरी के वध के लिये तैयार वही करता है और उसके द्वारा गोरी का प्राणांत कराता है। ऐसे निर्भीक किंतु प्रबुद्ध सहचर या अनुचर दुर्लभ ही होते हैं। और इसमें संदेह नहीं कि 'रासो' का पृथ्वीराज जो कुछ भी है, अधिकांश में अपने इसी अभिन्न कविमित्र के कारण है। 'रासो' के ताने बाने से इस चंद को किसी प्रकार भी अलग नहीं किया जा सकता।

यह चंद भट्ट है, रचना में अनेक बार उसे 'भट्ट' कहा गया है; कहीं कहीं उसे विरद्दिया भी कहा गया है। पृथ्वीराज के विरद या विरुद का गान करना संभवतः उसका सर्वप्रमुख कार्य था इसीलिये वह 'विरद्दिया' कहलाया है। उसे 'वरदाई' भी कुछ छंदों में कहा गया है। यह इसलिये कहा गया है कि उसे महादेव अथवा सरस्वती से सिद्धि का वर प्राप्त हुआ था। एक स्थान पर उसे 'चंडिग' भी कहा गया है, और इसी प्रकार एक स्थान पर उसे 'चंड' कहा गया है। उसके ये विशेषण रचना में चित्रित उसके उग्र स्वभाव के कारण उसके नाम के साथ जोड़े गए प्रतीत होते हैं, और उसके नाम के अभिन्न अंग कदाचित् नहीं हैं। (दे० 'पृथ्वीराजरासो')। [मा० प्र० गु०]

चंदन भारतीय चंदन का संसार में सर्वोच्च स्थान है। इसका आर्थिक महत्व भी है। यह पेड़ मुख्यतः मैसूर प्रदेश के जंगलों में मिलता है तथा देश के अन्य भागों में भी कहीं कहीं पाया जाता है। भारत के ६०० से लेकर ९०० मीटर तक कुछ ऊँचे स्थल और मलयद्वीप इसके मूल स्थान हैं।

इस पेड़ की ऊँचाई १८ से लेकर २० मीटर तक होती है। यह परोपजीवी पेड़, सैंटेलेसी कुल का सैंटेलम ऐल्बम लिन्न (Santalum album linn.) है। वृक्ष की आयुवृद्धि के साथ ही साथ उसके तनों और जड़ों की लकड़ी में सौगंधिक तेल का अंश भी बढ़ने लगता है। इसकी पूर्ण परिपक्वता में ६० से लेकर ८० वर्ष तक का समय लगता है। इसके लिये ढालवाँ जमीन, जल सोखनेवाली उपजाऊ चिकनी मिट्टी तथा ५०० से लेकर ६२५ मिमी० तक वार्षिक वर्षा की आवश्यकता होती है।

तने की नरम लकड़ी तथा जड़ को जड़, कुंदा, बुरादा, तथा छिलका और छीलन में विभक्त करके बेचा जाता है। इसकी लकड़ी का उपयोग मूर्तिकला, तथा साजसज्जा के सामान बनाने में, और अन्य उत्पादनों का अगरबत्ती, हवन सामग्री, तथा सौगंधिक तेल के निर्माण में होता है। आसवन द्वारा सुगंधित तेल निकाला जाता है। प्रत्येक वर्ष लगभग ३,००० मीटरी टन चंदन की लकड़ी से तेल निकाला जाता है। एक मीटरी टन लकड़ी से ४७ से लेकर ५० किलोग्राम तक चंदन का तेल प्राप्त होता है। रसायनज्ञ इस तेल के सौगंधिक तत्व को सांश्लेषिक रीति से प्राप्त करने का प्रयास कर रहे हैं।

चंदन के प्रसारण में पक्षी भी सहायक हैं। बीजों के द्वारा रोपकर भी इसे उगाया जा रहा है। सैंडल स्पाइक (Sandle spike) नामक रहस्यपूर्ण और संक्रामक वानस्पतिक रोग इस वृक्ष का शत्रु है। इससे संक्रमित होने पर पत्तियाँ ऐंठकर छोटी हो जाती हैं और वृक्ष विकृत हो जाता है। इस रोग की रोकथाम के सभी प्रयत्न विफल हुए हैं।

चंदन के स्थान पर उपयोग में आनेवाले निम्नलिखित वृक्षों की लकड़ियाँ भी हैं :

१. आस्ट्रेलिया में सैंटेलेसिई (Santalaceae) कुल का (क) यूकार्या स्पिकैटा (आर० बी-आर०) स्प्रैग० एवं सम्म० = सैंटेलम स्पिकैटम् (आर० बी-आर०) ए० डी-सी० [Eucarya Spicata (R.Br.) Sprag. et Summ, Syn. Santalum Spicatum (R. Br.) A. Dc.], (ख) सैंटेलम लैंसियोलैटम आर० बी-आर० [Santalum lanceolatum (R. Br.)] तथा (ग) मायोपोरेसी (Myoporaceae) कुल के एरिमोफिला मिचेल्ली बैंथ० (Eremophila mitchelli Benth.) नामक वृक्ष;

२. पूर्वी अफ्रीका तथा मैडेगास्कर के निकटवर्ती द्वीपों में सैंटेलेसी कुल का ओसाइरिस टेनुइफोलिया एंग्ल० (Osyris tenuifolia Engl.);

तथा ३. हैटी और जमैका में रूटेसिई (Rutaceae) कुल का एमाइरिस बालसमीफेरा एल० (Amyris balsamifera L.), जिसे अंग्रेजी में वेस्ट इंडियन सैंडलवुड भी कहते हैं।

सं० ग्रं०—गुंथर, ई० : दि एसेन्शेल ऑयल्स, वॉल्यूम ५, डी० वान० नॉस्ट्रैंड कंपनी, इंक०, न्यूयार्क, पृष्ठ १७३-१९४ (१९५२); कीर्तिकर, के० आर० ऐंड बसु, बी० डी० : इंडियन मेडिकल प्लान्ट्स, वॉल्यूम ३, ललितमोहन बसु, इलाहाबाद, पृष्ठ २१८५-२१८९ (१९३५); बेली, एल० एच०; दि स्टैंडर्ड साइक्लोपीडिया ऑव हॉर्टिकल्चर, वॉल्यूम, ३, दि मैकमिलन कंपनी, न्यूयार्क, पृष्ठ ३०७१ (१९५८)। [सद०]

चंदरनगर (Chandernagore) स्थिति : २२° ४८' उ० अ० तथा ८८° २१' पू० दे०; क्षेत्रफल तीन वर्गमील, जनसंख्या ६७,१०५

नगर केंद्र
(निर्माणावस्था में)

सेक्टर २२ का बाज़ार

संसद सदस्य निवास भवन

बाएँ : सेक्रेटरिएट तथा दाहिने : संसद भवन
(निर्माण की अवस्था में)

चंदन (पृष्ठ १३०)

चंदन का वृक्ष

चंपा (पृष्ठ १४५)

चंपा की पत्तियाँ तथा पुष्प

चकोर (पृष्ठ १५०)

चकोर

चमगादड़गण (पृष्ठ १५६)

उड़न लोमड़ियों (Flying-foxes) का बसेरा
इमली के पेड़ पर ये चमगादड़ लटके हैं ।

(१९६१)। पश्चिमी बंगाल राज्य के हुगली जिले का नगर है जो कलकत्ते से २० मील दूर हुगली नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है। पहले यह फ्रांस के अधिकार में था। सन् १९५० में भारत के हुगली जिले में मिला लिया गया। यहाँ उच्च विद्यालय, अस्पताल तथा कचहरी हैं। इस नगर के अधिकांश निवासी शिक्षित हैं। [शि० नं० स०]

चँदवा स्थिति : २३° ४५' उ० अ० तथा ८४° ४५' पू० दे०। बिहार राज्य के पलामू जिले के लातिहार उपमंडल के अंतर्गत नगर है। यह व्यावसायिक केंद्र है। उच्च विद्यालय और थाना भी यहाँ पर हैं। [शि० नं० स०]

चंदायन मुल्ला दाऊदकृत हिंदी का ज्ञात प्रथम सूफी प्रेमकाव्य। इसमें नायक लोर, लोरा, लोरक, लोरिक अथवा नूरक और नायिका चाँदा या चंदा की प्रेमकथा वर्णित है। रचनाकाल विवादग्रस्त है। प्रसिद्ध इतिहासकार अल् बदायूनी के आधार पर, जिसने सन् ७७२ हिजरी के आसपास इसकी प्रसिद्धि का उल्लेख किया है, ई० सन् की १४वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में इसकी रचना का अनुमान किया जाता है। इसके नामकरण तथा पाठों में भी एकतानता नहीं है। प्राचीन उल्लेखों में विशेष रूप से 'चंदायन' और सामान्यतः 'नूरक चंदा' नाम मिलता है।

लोकगाथा के रूप में इस काव्य की मौखिक परंपरा भी है। उत्तर प्रदेश और बिहार के अंचलों में, कथावस्तु में हेरफेर के साथ लोकप्रचलित छंदों में 'लोरिकायन', 'लोरिकी', और चनैनी' नाम से इस प्रेमगाथा के अनेक संस्करण प्राप्त हैं। प्राचीन काल से ही इस कथा की ख्याति इतिहासकारों और कवियों के उल्लेखों से सिद्ध है।

कुछ विद्वान् इसकी भाषा ठेठ अवधी मानते हैं और कुछ हिंदी की बोलियों के मिश्रण से बनी किसी 'सांस्कृतिक भाषा' की कल्पना करते हैं। अन्य सूफी काव्यों की भाँति इसमें भी रहस्यभावना की प्रतिष्ठा है। इसमें आए कतिपय सौंदर्यचित्र और प्रसंग मर्मस्पर्शी हैं। कथा दोहा चौपाई शैली में वर्णित है। राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मध्य प्रदेश में इस कथा के अनेक संस्करण लोकगाथा के रूप में प्रचलित हैं। [श्या० ति०]

चंदावरकर, नारायण गणेश इनका जन्म गौड़ सारस्वतों में हुआ। बचपन में पढ़ने के लिये बंबई भेजे गए और वहीं के निवासी बन गए। सन् १८७९ में एल-एल० बी० हुए। उसके बाद उन्होंने बंबई में सफलतापूर्वक वकालत करना आरंभ किया और बंबई हाईकोर्ट के न्यायाधीश बने। वे विश्वविद्यालय के प्रथम भारतीय चांसलर थे। इस सेवानिवृत्ति के बाद राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष, इंदौर के प्रधानमंत्री और अंत में, बंबई व्यवस्थापिका सभा के अध्यक्ष नियुक्त हुए। अंग्रेज सरकार का इनपर पूर्ण विश्वास था और सरकारी क्षेत्र में इनका बड़ा वजन भी था। रोलेट कमेटी के बाद जो कमेटियाँ हुईं उनमें भी सरकार ने इनसे काफी लाभ उठाया। बचपन से ही इन्हें समाचारपत्रों में लेख लिखने का चाव था। सन् १८९९ तक इन्होंने फिरोजशाह मेहता के सहकारी की स्थिति से राजनीति में हाथ बँटाया। किंतु न्यायाधीश होने पर राजनीति से विमुख हो रहे। सामाजिक सुधार के लिये ये पाश्चात्य मतों को ही प्रधानता देते थे किंतु उनको व्यवहार में नहीं लाते थे। ये प्रार्थनासमाज के संस्थापकों में थे और भक्तिसंप्रदाय पर उनका बड़ा विश्वास था। [भी० गो० दे०]

चंदासाहेब मृत्यु, १७५२ ई०। कर्नाटक के नवाब दोस्तअली का दामाद तथा दीवान। सेनानायक चंदासाहेब वीर, युद्धप्रिय और महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। कर्नाटक पर मराठों के आक्रमण (१७४०-४१) में दोस्तअली की मृत्यु हुई और चंदासाहेब बंदी बना। प्रायः ८ वर्षों की कैद के बाद १७४८ में चंदासाहब ने फ्रांसीसी गवर्नर डूप्ले तथा निजामी के दावेदार मुजफ्फरजंग की सहायता से तत्कालीन नवाब अनवरुद्दीन को अंबर के युद्ध में परास्त कर, उसका अंत कर दिया (३ अगस्त, १७४९)। पश्चात्, ७ अगस्त को अर्काट में आया। अनवरुद्दीन के पुत्र मोहम्मद अली ने त्रिचनापल्ली में शरण ली थी। चंदा साहेब ने त्रिचनापल्ली पर घेरा डालने का निश्चय किया, किंतु बीच ही में तंजौर पर आक्रमण कर दिया, जो असफल प्रमाणित हुआ (१७५०)। इधर, अपनी संकटापन्न स्थिति देख अंग्रेजों ने मोहम्मद अली तथा मुजफ्फरजंग के प्रतिद्वंद्वी नासिरजंग का पक्ष ग्रहण किया। अतः त्रिचनापल्ली के दूसरे आक्रमण पर, पहिले तो क्लाइव ने अर्काट पर इतिहासप्रसिद्ध धावा बोल चंदासाहेब की सैन्य शक्ति विभाजित कर दी, फिर क्लाइव तथा लारेंस ने फ्रांसीसी सेनानायकों को आत्मसमर्पण के लिये विवश कर दिया (१७५२) (दे० क्लाइव, राबर्ट)। अंततः; चंदासाहेब ने भी मोना जी नामक तंजोरी सैनिक के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया (१२ जून, १७५२), जिसने दो दिन बाद ही चंदा साहब का वध कर डाला। (रा० ना०)

चंदेरी बुंदेलखंड और मालवा की सीमा पर स्थित नगर। इसे चित्तौड़ के राणा साँगा ने सुलतान महमूद खिलजी से जीतकर अपने अधिकार में कर लिया था। लगभग सन् १५२७ में मेदिनीराय नाम के एक राजपूत सरदार ने, जब अवध को छोड़ सभी प्रदेशों पर मुगल सम्राट् बाबर का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था, चंदेरी में अपनी शक्ति स्थापित की। फिर पूरनमल जाट ने इसे जीता। अंत में शेरशाह ने आक्रमण किया। लंबे घेरे के बाद भी किला हाथ न आया तो संधि प्रस्ताव किया जिसमें पूरनमल को सामान सहित सकुशल किला छोड़कर चले जाने का आश्वासन था। किंतु नीचे उतर आने पर शेरशाह ने कत्लेआम की आज्ञा दी और भयंकर मारकाट के बाद किले को जीत लिया। (दे० 'ग्वालियर दुर्ग')।

चंदेलवंश मध्यकालीन भारत का प्रसिद्ध राजवंश जिसने १०वीं से १२वीं शताब्दी तक स्वतंत्र रूप से यमुना और नर्मदा के बीच, बुंदेलखंड तथा उत्तर प्रदेश के दक्षिणी-पश्चिमी भाग पर राज किया। इस वंश की उत्पत्ति का उल्लेख कई लेखों में है। प्रारंभिक लेखों में इस 'चंद्रात्रेय' वंश कहा गया है पर यशोवर्मन् के पौत्र देववर्मन् के दुदही लेख में इस वंश को 'चंद्रल्लान्वय' कहा है। कीर्तिवर्मन् के देवगढ़ शिलालेख में और चाहमान पृथ्वीराज तृतीय के लेख में 'चंदेल' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसकी उत्पत्ति भी चंद्रमा से मानी जाती है इसलिये 'चंद्रात्रेयनरेंद्राणां वंश' के आदिनिर्माता चंद्र की स्तुति पहले लेखों में की गई है। धंग के विक्रम सं० १०११ के खजुराहोवाले लेखों में जो वंशावली दी गई है, उसके अनुसार विश्वसृक् पुराणपुरुष, जगन्निर्माता, ऋषि मरीचि, अत्रि, मुनि चंद्रात्रेय भूमिजाम के वंश में नृप नंनुक हुआ जिसके पुत्र-वा पति और पौत्र जयशक्ति तथा विजयशक्ति थे। विजय के बाद क्रमशः राहिल, हर्ष, यशोवर्मन् और धंग राजा हुए। वास्तव में नंनुक से ही इस

वंश का आरंभ होता है और अभिलेख तथा किंवदंतियों से प्राप्त विवरणों के आधार पर उनका संबंध आरंभ से ही खजुराहो से रहा। अरब इतिहास के लेखक कामिल ने भी इनको 'कजुराह' में रखा है। धंग से इस वंश के संस्थापक नंनुक की तिथि निकालने के लिये यदि हम प्रत्येक पीढ़ी के लिये २०-२५ वर्ष का काल रखें तो धंग से छह पीढ़ी पहले नंनुक की तिथि से लगभग १२० वर्ष पूर्व, अर्थात् वि॰ सं॰ १०११ = ९५४ ई॰— १२० = ८३४ ई॰ (लगभग ८३० ई॰) के निकट रखी जा सकती है। 'महोबा खंड' में चंद्रवर्मा के अभिषेक की तिथि २२५ सं॰ रखी गई है। यदि 'चंद्रवर्मा' को नंनुक का विरुद अथवा दूसरा नाम मान लिया जाय और इस तिथि को हर्ष संवत् में मानें तो नंनुक की तिथि ६०६ + २२५ अथवा ८३१ ई॰ आती है। अतः दोनों अनुमानों से नंनुक का समय ८३१ ई॰ माना जा सकता है।

इस चंदेल के विषय में और कोई जानकारी प्राप्त नहीं है क्योंकि अन्य चंदेल अभिलेखों में इसका नाम भी नहीं मिलता। वाक्पति ने विंध्या के कुछ शत्रुओं को हराकर अपना राज्य विस्तृत किया। तृतीय नृप जयशक्ति ने अपने ही नाम से अपने राज्य का नामकरण जेजाकभुक्ति किया। कदाचित् यह प्रतिहार सम्राट् भोज का सामंत राजा था और यही स्थिति उसके भाई विजयशक्ति तथा पुत्र राहिल की भी थी। हर्ष और उसके पुत्र यशोवर्मन् के समय परिस्थिति बदल गई। गुर्जरों और राष्ट्रकूटों के बीच निरंतर युद्ध से अन्य शक्तियाँ भी ऊपर उठने लगीं। इसके अतिरिक्त महेंद्रपाल के बाद कन्नौज के सिंहासन के लिये भोज द्वितीय तथा क्षितिपाल में संघर्ष हुआ। खजुराहो के एक लेख में हर्ष अथवा उसके पुत्र यशोवर्मन् द्वारा पुनः क्षितिपाल को सिंहासन पर बैठाने का उल्लेख है— पुनर्येन श्री क्षितिपालदेव नृपसिंहः सिंहासने स्थापितः।

चंदेल राजा कदाचित् स्वतंत्र बन चुके थे और वे प्रतिहार सम्राटों के अधीन न थे अथवा केवल नाममात्र के लिये थे। धंग के नन्योरा के लेख (वि॰ सं॰ १०५५-९७८) में हर्ष के अधीनस्थ राजाओं का उल्लेख है। चाहमान तथा कलचुरि वंशों के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित कर, चंदेल राजा उत्तरी भारत की राजनीतिक परिस्थिति में अपना प्रभाव स्थापित करने का प्रयास करने लगे। हर्ष के पुत्र यशोवर्मन् के समय चंदेलों का गौड़, कोशल, मिथिला, मालव, चेदि, तथा गुर्जर राजाओं के साथ संघर्ष का संकेत है। उसने कालिंजर भी जीता। प्रशस्तिकार ने उसकी प्रशंसा बढ़ा चढ़ाकर की हो तब भी इसमें संदेह नहीं कि चंदेल राज्य धीरे धीरे शक्तिशाली बन रहा था। नाम मात्र के लिये इस वंश के राजा गुर्जर प्रतिहार राजाओं का आधिपत्य माने हुए थे। धंग के खजुराहो लेख में अंतिम बार गुर्जर सम्राट् विनायकपालदेव का उल्लेख हुआ है। धंगदेव वैधानिक रूप से और वस्तुतः स्वतंत्र हो गया था। यशोवर्मन् के समय खजुराहो के विष्णुमंदिर में वैकुंठ की मूर्तिस्थापना का लेख है जिसे कैलास से भोटनाथ ने प्राप्त की थी। मित्र रूप में वह कीर राजा शाहि के पास आई और उसमें हयपति देवपाल के पुत्र हेरंबपाल ने लड़कर प्राप्त की। देवपाल से यह मूर्ति यशोवर्मन् को मिली। कुछ विद्वान् इससे चंदेलों की प्रतिहार राजा पर विजय का संकेत मानते हैं, पर यथार्थ तो यह है कि 'हयपति' उपाधि का गुर्जर प्रतिहार सम्राट् से संबंध ही न था। कदाचित् यह कोई स्थानीय राजा रहा होगा।

चंदेलों में धंगदेव सबसे प्रसिद्ध तथा शक्तिशाली राजा हुआ और इसने ५० वर्ष (९५० से १००० ई॰) तक राज किया। उसके लंबे राज्यकाल में खजुराहो के दो प्रसिद्ध मंदिर विश्वनाथ तथा पार्श्वनाथ बने। पंजाब के राजा जयपाल की सहायता के लिये अजमेर और कन्नौज के राजाओं के साथ उसने गजनी के सम्राट् सुबुक्तगीन के विरुद्ध सेना भेजी। उसके पुत्र गंड (१००१-१०१७) ने भी अपने पिता की भाँति पंजाब के राजा आनंदपाल की महमूद गजनी के विरुद्ध सहायता की। महमूद के कन्नौज पर आक्रमण और राज्यपाल के आत्मसमर्पण के विरोध में गंड के पुत्र विद्याधर ने कन्नौज के राजा का वध कर डाला, पर १०२३ ई॰ में गंड को स्वयं कालिंजर का गढ़ महमूद को दे देना पड़ा। महमूद के लौटने पर यह पुनः चंदेलों के पास आ गया। गंड के समय कदाचित् जगदंबी नामक वैष्णव मंदिर तथा चित्रगुप्त नामक सूर्यमंदिर बने। गंड के पुत्र विद्याधर (लगभग १०१९-१०२९) को इब्नुल अथीर नामक मुसलमान लेखक ने अपने समय का सबसे शक्तिशाली राजा कहा है। उसके समय चंदेलों ने कलचुरि और परमारों पर विजय पाई और १०१९ तथा १०२२ में महमूद का मुकाबला किया। चंदेल राज्य की सीमा विस्तृत हो गई थी। कहा जाता है कि कंदरीय महादेव का विशाल मंदिर भी इसी ने बनवाया (दे॰ खजुराहो)।

विद्याधर के बाद चंदेल राज्य की कीर्ति और शक्ति घटने लगी। विजयपाल (लगभग १०२९-५१) इस युग का प्रमुख चंदेल नृप हुआ। कीर्तिवर्मन् (१०७०-९५) तथा मदनवर्मन् (लगभग १०२९-११६२) भी प्रमुख चंदेल नृप हुए। कलचुरि सम्राट् दाहिने की विजय से १०४०-७० तक के लंबे काल के लिये चंदेलों की शक्ति क्षीण हो गई थी। बिल्हण ने कर्ण को कालिंजर का राजा बताया है। कीर्तिवर्मन् ने चंदेलों की खोई हुई शक्ति, और कलचुरियों द्वारा राज्य के जीते हुए भाग को पुनः लौटाकर अपने वंश की लुप्त प्रतिष्ठा स्थापित की। उसने सोने के सिक्के भी चलाए जिसमें कलचुरि गांगदेव के सिक्कों का अनुकरण किया गया है। केदार मिश्र द्वारा रचित 'प्रबोधचंद्रोदय' (१०६५ ई॰) इसी चंदेल सम्राट् के दरबार में खेला गया था। इसमें वेदांतदर्शन के तत्वों का प्रदर्शन है। यह कला का भी प्रेमी था और खजुराहो के कुछ मंदिर इसके शासनकाल में बने। कीर्तिवर्मन् के बाद सल्लक्षण वर्मन् या हल्लक्षण वर्मन्, जयवर्मन्देव तथा पृथ्वीवर्मन्देव ने राज्य किया। अंतिम सम्राट्, जिसका वृतांत 'चंदरासो' में उल्लिखित है, परमर्दिदेव अथवा परमाल (११६५-१२०३) था। इसका चौहान सम्राट् पृथ्वीराज से संघर्ष हुआ और १२०८ में कुतबुद्दीन ने कालिंजर का गढ़ इससे जीत लिया, जिसका उल्लेख मुसलमान इतिहासकारों ने किया है। चंदेल राज्य की सत्ता समाप्त हो गई पर शासक के रूप में इस वंश का अस्तित्व कायम रहा। १६वीं शताब्दी में स्थानीय शासक के रूप में चंदेल राजा बुंदेलखंड में राज करते रहे पर उनका कोई राजनीतिक प्रभुत्व न रहा।

सं॰ ग्रं॰—वी॰ ए॰ स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑव इंडिया; सी॰ वी॰ वैद्य : हिस्ट्री ऑव मेडिवल हिंदू इंडिया; एन॰ एस॰ बोस : हिस्ट्री आव दि चंदेलाज; डाइनेस्टिक हिस्ट्री आव इंडिया, भाग २; केशवचंद्र मिश्र : चंदेल और उनका राजत्वकाल; हेमचंद्र रे : मजुमदार तथा पुसालकर : दि स्ट्रगिल फार दि एंपायर; एस॰ के॰ मित्र : दि अर्ली रूलर्स ऑव खजुराहो; कृष्णदेव : दि टेंपुल्स ऑव खजुराहो, एंशेंट इंडिया, भाग १५।

[बै॰ पु॰]

शासन, संस्कृति एवं कला : चंदेल शासन परंपरागत आदर्शों पर आधारित था। यशोवर्मन् के समय तक चंदेल नरेश अपने लिये किसी विशेष उपाधि का प्रयोग नहीं करते थे। धंग ने सर्वप्रथम परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परममाहेश्वर कालंजराधिपति का विरुद धारण किया। कलचुरि नरेशों के अनुकरण पर परममाहेश्वर श्रीमद्वामदेवपादानुध्यात तथा त्रिकलिंगाधिपति और गाहड़वालों के अनुकरण पर परमभट्टारक

इत्यादि समस्त राजावली विराजमान विविधविद्याविचारवाचस्पति और कान्यकुब्जाधिपति का प्रयोग मिलता है।

हम्मीरवर्मन् की साहि उपाधि संभवतः मुस्लिम प्रभाव के कारण थी; राजवंश के अन्य व्यक्तियों को भी शासन में अधिकार के पद मिलते थे। कुछ अभिलेखों से प्रतीत होता है कि कुछ मंत्रियों को उनके पद का अधिकार वंशगत रूप में प्राप्त हुआ था। मंत्रियों के लिये मंत्रि, सचिव और अमात्य का प्रयोग बिना किसी विशेष अंतर के किया गया है। मंत्रिमुख्य के अतिरिक्त अधिकारियों में सांधिविग्रहिक, प्रतिहार, कंचुकि, कोशाधिकाराधिपति, भांडागाराधिपति, अक्षपटलिक, कोट्टपाल, विशिष, सेनापति, हस्त्यश्वनेता, पुरबलाध्यक्ष आदि के नाम आते हैं। शासन के कुछ कार्य पंचकुल और धर्माधिकरण जैसे बोर्डों के हाथ में था। राज्य विषय, मंडल, पत्तला, ग्रामसमूह और ग्रामों में विभक्त था। शासन में सामंत व्यवस्था कुछ रूपों में उपस्थित थी। एक अभिलेख में एक मंत्री को मांडलिक भी कहा गया है। विशिष्ट सैनिक सेवा के लिये गाँव दिए जाते थे। युद्ध में मरे सैनिकों के लिये किसी प्रकार के पेंशन अथवा मृत्युक वृत्ति की भी व्यवस्था थी। चंदेल राज्य की भौगोलिक और प्राकृतिक दशा के कारण दुर्गों का विशेष महत्व था और उनकी ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। अभिलेखों में राज्य द्वारा लिए गए करों की सूची में भाग, भोग, कर, हिरण्य, पशु, शुल्क और दंडादाय का उल्लेख है।

ब्राह्मणों में द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी, श्रोत्रिय, अग्निहोत्री, पंडित, दीक्षित और भट्ट के साथ ही राउत और ठक्कुर का भी प्रयोग मिलता है। ब्राह्मणों ने अपने को परंपरागत आदर्शों और जीविकाओं तक ही सीमित नहीं रखा था। क्षत्रियों में जाति के स्थान पर कुल का गौरव बढ़ रहा था। ११वीं शताब्दी तक कायस्थों के उल्लेख आते हैं। चंदेल राज्य में इनकी संख्या अधिक थी। वैश्य और शूद्र अपने वर्णों के स्थान पर अपने व्यवसाय का ही उल्लेख करते हैं। सजातीय विवाह का ही प्रचलन था। बहुविवाह की भी प्रथा थी।

अभिलेखों में रूपकार, सीतिकार, चित्तलकार, सूत्रधार, वैद्य, अश्ववैद्य, नापित और धीवर के उल्लेख मिलते हैं। उद्योगों में कुशलता के स्तर के अनुसार शिल्पिन्, विज्ञाविन् और वैदाग्धि को उपाधियाँ होती थीं। कृषि की सुविधा के लिये सिंचाई की व्यवस्था की जाती थी। व्यापार प्रधानतः जैनियों के हाथ में था। श्रेष्ठि का राज्य में भी गौरव था। कीर्तिवर्मन् पहला चंदेल नरेश था जिसने सिक्के बनवाए।

चंदेल राज्य में पौराणिक धर्म की जनप्रियता बढ़ रही थी। चंदेल राजा और उनके मंत्री तथा अन्य अधिकारियों के द्वारा प्रतिमा और मंदिर के निर्माण के कई उल्लेख मिलते हैं। विष्णु के अवतारों में वराह, वामन, नृसिंह, राम और कृष्ण की पूजा का अधिक प्रचलन था। चंदेल राज्य से हनुमान की दो विशाल प्रतिमाएँ मिली हैं और कुछ चंदेल सिक्कों पर उनकी आकृति भी अंकित है। किंतु विष्णु की तुलना में शिव की पूजा का अधिक प्रचार था। धंग के समय से चंदेल नरेश शैव बन गए। शिवलिंग के साथ ही शिव की आकृतियाँ भी प्राप्त हुई हैं। शिव के विभिन्न स्वरूपों के परिचायक उनके अनेक नाम अभिलेखों में आए हैं। शक्ति अथवा देवी के लिये भी अनेक नामों का उपयोग हुआ है। अजयगढ़ में अष्टशक्तियों की मूर्तियाँ अंकित हैं। सूर्य की पूजा भी अप्रिय थी। गणेश और ब्रह्मा की मूर्तियाँ यद्यपि मिली हैं लेकिन उनके पूजकों के पृथक् संप्रदायों के अस्तित्व का प्रमाण नहीं मिलता। अन्य देवता जिनके उल्लेख हैं या जिनकी प्रतिमाएँ मिलती हैं। उनके नाम हैं—लक्ष्मी, सरस्वती, इंद्र, चंद्र और गंगा। बुद्ध, बोधिसत्व और तारा की कुछ प्रतिमाएँ मिलती हैं। ब्राह्मण धर्म की भाँति जैन धर्म का भी प्रचार था, विशेष रूप से वैश्यों में। किंतु सांप्रदायिक कटुता के उदाहरण नहीं मिलते। चंदेल नरेशों की नीति इस विषय में उदार थी।

चंदेल राज्य अपनी कलाकृतियों के कारण भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हैं। चंदेल मंदिरों में से अधिकांश खजुराहो में हैं। कुछ महोबा में भी हैं। इनका निर्माण मुख्यतः १०वीं शताब्दी के मध्य से ११वीं शताब्दी के मध्य के बीच हुआ है। ये शैव, वैष्णव और जैन तीनों ही धर्मों के हैं। इन मंदिरों में अन्य क्षेत्रों की प्रवृत्तियों का प्रभाव भी ढूँढ़ा जा सकता है किंतु प्रधान रूप से इनमें चंदेल कलाकार की मौलिक विशेषताएँ दिखलाई पड़ती हैं। एक विद्वान् का कथन है कि भवन-निर्माण-कला के क्षेत्र में भारतीय कौशल को खजुराहो के मंदिरों में सर्वोच्च विकास प्राप्त हुआ है। ये मंदिर विशालता के कारण नहीं बल्कि अपनी भव्य योजना और समानुपातिक निर्माण के लिये प्रसिद्ध हैं। मंदिर के चारों ओर कोई प्राचीर नहीं होती। मंदिर ऊँचे चबूतरे (अधिष्ठान) पर बना होता है। इसमें गर्भगृह, मंडप, अर्धमंडप, अंतराल और महामंडप होते हैं। इन मंदिरों की विशेषता इनके शिखर हैं जिनके चारों ओर अंग शिखरों की पुनरावृत्ति रहती है।

इन मंदिरों की मूर्तिकला भी इनकी विशेषता है। इन मूर्तियों की केवल संख्या ही स्वयं उल्लेखनीय है। इनके निर्माण में सूक्ष्म कौशल के साथ ही अद्भुत सजीवता दिखलाई पड़ती है। इन कृतियों के विषय भी विविध हैं : प्रधान देवी देवता, परिवारदेवता, गौण देवता, दिक्पाल, नवग्रह, सुरसुंदर, नायिका, मिथुन, पशु और पुष्पलताएँ तथा रेखागणितीय आकृतियाँ। इन मंदिरों में मिथुन आकृतियों की इतनी अधिक संख्या में उपस्थिति का कोई सर्वमान्य हल नहीं बतलाया जा सकता। महोबा से प्राप्त चार बौद्ध प्रतिमाएँ अतीव सुंदर हैं। इनमें से सिंहनाद अवलोकितेश्वर की मूर्ति तो भारतीय मूर्तिकला के सर्वोत्कृष्ट नमूनों में से एक है।

साहित्य के क्षेत्र में कोई विशेष उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई। कुछ चंदेल अभिलेख काव्य की दृष्टि से अच्छे हैं। चंदेलों के कुछ मंत्रियों और अधिकारियों को लेखों में कवि, बालकवि, कवींद्र, कविचक्रवर्तिन् आदि कहा गया है जिससे चंदेल राजाओं की कवियों को प्रश्रय देने की नीति का बोध होता है। श्रीकृष्ण मिश्र रचित प्रबोधचंद्रोदय नाटक चंदेल राजा कीर्तिवर्मन् के समय की रचना है, दे० ('प्रबोध चंद्रोदय')।

सं० ग्रं० — नेमाई साधन बोस : हिस्ट्री ऑव दि चंदेलाज; शिशिरकुमार मित्र : अर्ली रूलर्स ऑव खजुराहो। (ल० गो०)

चंदौली उत्तर प्रदेश के दक्षिण-पूर्व वाराणसी जिले में वाराणसी नगर से १६ मील पूर्व एक गाँव है। वाराणसी जिले की एक तहसील का नाम भी चंदौली है। तहसील में राज्य सरकार ने एक प्रसिद्ध पालीटेकनिक स्कूल खोल दिया है जिसमें इंजीनियरी के कई विभागों की शिक्षा दी जाती है। यहाँ धान, जौ, चना, गेहूँ और ईख की खेती होती है। वाराणसी से यह रेल और सड़क द्वारा संबंधित है। [कृ० मो० गु०]

चंदौसी उत्तर प्रदेश में मुरादाबाद जिले में दिल्ली से ६५ मील पूर्व तथा मुरादाबाद नगर से २७ मील दक्षिण यह प्रसिद्ध व्यापारिक मंडी है। इसकी जनसंख्या ४८,५५७३ (१९६१) है। अलीगढ़, मेरठ, बरेली, नैनीताल और सहारनपुर के बीच में स्थित होने के कारण इस मंडी का केंद्रीय महत्व है। सड़कों और रेलों का प्रसिद्ध जंकशन है। गेहूँ, चावल, मक्का, सरसों, जौ तथा नमक का व्यापार होता है। चंदौसी का घी शुद्धता के लिये उत्तरी भारत में प्रसिद्ध है। कपास से बिनौला निकालने की मशीनें भी यहाँ हैं; यहाँ से कपास, सन, पटुआ, चीनी और पत्थर बाहर भेजा जाता है। इसे समीप के जलविद्युत् केंद्र से बिजली मिलती है। [कृ० मो० गु०]

चंद्र (ल० ३७५-४१४-१५ ई०) सम्राट् चंद्र का ज्ञान मेहरौली में कुतुबमीनार के समीप स्थित लौहस्तंभ के लेख से होता है। इस स्तंभ में सम्राट् चंद्र की यशोगाथा उत्कीर्ण है। इससे लगता है कि उन्होंने वंग प्रदेश में एकत्र (संगठित होकर आए हुए) शत्रुओं को पराजित किया। सिंधु के सात मुखों को पार कर वाह्लीक (सिंधु के तीर पर स्थित एक स्थान या बैक्ट्रिया) जीता। उनके वीर्यानिल से दक्षिण जलनिधि सुवासित हो रहा था। उन्होंने विस्तृत पृथ्वी पर स्वबाहुबल से एकाधिराज्य स्थापित किया। अभिलेख लिखे जाने के समय वे स्वयं जीवित नहीं थे। इनके अतिरिक्त लेख के अनुसार वे वैष्णव थे। किंतु इस लेख में सम्राट् चंद्र के वंश के अनुल्लेख के कारण उनकी पहचान निश्चयपूर्वक कर सकना संभव नहीं है।

विभिन्न विद्वानों ने इन सम्राट् चंद्र की पहचान प्राचीन भारत के विभिन्न सम्राटों से करने की चेष्टा की है—चंद्रगुप्त मौर्य, कनिष्क प्रथम, पुष्करण के चंद्रवर्मन्, चंद्रगुप्त प्रथम, नाग राजाओं — सदाचंद्र या चंद्रांश तथा चंद्रगुप्त द्वितीय के साथ।

उपरिलिखित राजाओं में चंद्रगुप्त मौर्य के साथ चंद्र की समता स्थापित नहीं की जा सकती क्योंकि लौहस्तंभ-लेख की लिपि मौर्ययुगीन ब्राह्मी से बहुत बाद की है। कनिष्क प्रथम ने अपना साम्राज्यवादी जीवन का आरंभ ही बैक्ट्रिया और (पाकिस्तान के) उत्तर-पश्चिम सीमाप्रांत से किया, जबकि चंद्र की विजयों का आरंभ बंगाल एवं उसकी परिणति पंजाब और बलख में हुई। चंद्रवर्मन् एवं नागराजा सदाचंद्र और चंद्रांश छोटे छोटे स्थानीय शासक थे जिनके लिये इतनी विस्तृत और साहसिक विजययात्राएँ संभव न हुई होंगी। चंद्रगुप्त प्रथम स्वयं बलख में युद्ध करने की स्थिति में नहीं थे। इसके अतिरिक्त दक्षिण पर उनका प्रभाव भी नहीं था।

मेहरौली लेख की अधिकांश बातें चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य में उपलब्ध हैं। इसी से अधिकांश विद्वान् चंद्र की पहचान चंद्रगुप्त द्वितीय से करते हैं। गुप्त अभिलेखों से स्पष्ट है कि चंद्रगुप्त द्वितीय को अपने पिता समुद्रगुप्त से एक विस्तृत साम्राज्य उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था। किंतु, यदि यह माना जाय कि यह लेख चंद्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु के उपरांत लिखा गया, तो यह स्वीकार किया जा सकेगा कि लेख खुदवानेवाले व्यक्ति ने अतिरिक्त श्रद्धावश चंद्र को साम्राज्य का संस्थापक कहा होगा। अन्यथा 'स्वयमर्जित' रुद्रदामन् प्रथम के जूनागढ़ अभिलेख में आए 'स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना' की भाँति मात्र स्व-प्रभुता-ज्ञापनार्थ प्रयुक्त वाक्यावली भर ही सिद्ध होगी।

[अ० कि० ना० तथा ज० प्र०]

चंद्रकीर्ति—बौद्ध माध्यमिक सिद्धांत के व्याख्याता एक आचार्य। तिब्बती इतिहासलेखक तारानाथ के कथनानुसार चंद्रकीर्ति का जन्म दक्षिण भारत के किसी 'समंत' नामक स्थान में हुआ था। लड़कपन से ही ये बड़े प्रतिभाशाली थे। बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर इन्होंने त्रिपिटकों का गंभीर अध्ययन किया। थेरवादी सिद्धांत से असंतुष्ट होकर ये महायान दर्शन के प्रति आकृष्ट हुए। उसका अध्ययन इन्होंने आचार्य कमलबुद्धि तथा आचार्य धर्मपाल की देखरेख में किया। कमलबुद्धि शून्यवाद के प्रमुख आचार्य बुद्धपालित तथा आचार्य भावविवेक (भावविवेक या भव्य) के पट्ट शिष्य थे। आचार्य धर्मपाल नालंदा महाविहार के कुलपति थे जिनके शिष्य शीलभद्र ने ह्वेन्त्सांग को महायान के प्रमुख ग्रंथों का अध्यापन कराया था। चंद्रकीर्ति ने नालंदा महाविहार में ही अध्यापक के गौरवमय पद पर आरूढ़ होकर अपने दार्शनिक ग्रंथों का प्रणयन किया। चंद्रकीर्ति का समय ईस्वी षष्ठ शतक का उत्तरार्ध है। योगाचार मत के आचार्य चंद्रगोमी से इनकी स्पर्धा की कहानी बहुशः प्रसिद्ध है। ये शून्यवाद के प्रासंगिक मत के प्रधान प्रतिनिधि माने जाते हैं।

इनकी तीन रचनाएँ अब तक ज्ञात हैं जिनमें से एक—माध्यमिकावतार—का केवल तिब्बती अनुवाद ही उपलब्ध है, मूल संस्कृत का पता नहीं चलता। यह शून्यवाद की व्याख्या करनेवाला मौलिक ग्रंथ है। द्वितीय ग्रंथ—चतुःशतक टीका—का भी केवल प्रारंभिक अंश ही मूल संस्कृत में उपलब्ध है। समग्र ग्रंथ तिब्बती अनुवाद में मिलता है जिसके उत्तरार्ध (८वें परिच्छेद से लेकर १६वें परिच्छेद तक) का श्री विधुशेखर शास्त्री ने संस्कृत में पुनः अनुवाद कर विश्वभारती सीरीज (संख्या २, कलकत्ता, १९५१) में प्रकाशित किया है। इनका तृतीय ग्रंथ, संस्कृत में पूर्णतः उपलब्ध, अत्यंत प्रख्यात प्रसन्नपदा है, जो नागार्जुन की 'माध्यमिककारिका' की नितांत प्रौढ़, विशद तथा विद्वत्तापूर्ण व्याख्या है। माध्यमिककारिका की रहस्यमयी कारिकाओं का गूढ़ार्थ प्रसन्नपदा के अनुशीलन से बड़ी सुगमता से अभिव्यक्त होता है। नागार्जुन का यह ग्रंथ कारिकाबद्ध होने पर भी यथार्थतः सूत्रग्रंथ के समान संक्षिप्त, गंभीर तथा गूढ़ है जिसे सुबोध शैली में समझाकर यह व्याख्या नामतः ही नहीं, प्रत्युत वस्तुतः भी 'प्रसन्नपदा' है। चंद्रकीर्ति ने नए तर्कों की उद्भावना कर शून्यवाद के प्रतिपक्षी तर्कों का खंडन बड़ी गंभीरता तथा प्रौढ़ि के साथ किया है। बादरायण व्यास के ब्रह्मसूत्रों के रहस्य समझने के लिये जिस प्रकार आचार्य शंकर के भाष्य का अनुशीलन आवश्यक है, उसी प्रकार 'माध्यमिककारिका' के गूढ़ तत्व समझने के लिये आचार्य चंद्रकीर्ति की 'प्रसन्नपदा' का अनुसंधान निःसंदेह आवश्यक है।

सं० ग्रं०—डा० विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, द्वितीय खंड; आचार्य नरेंद्रदेव : बौद्धधर्म दर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५६; बलदेव उपाध्याय : बौद्धदर्शन मीमांसा, द्वितीय संस्करण, चौखंभा संस्कृत सीरीज, १९५७, काशी।

[ब० उ०]

चंद्रगिरि आंध्र प्रदेश में चित्तूर जिले का तालुक है। इसका क्षेत्रफल ५८८ वर्ग मील है। यहाँ की चट्टान आद्यकल्प की बनी है। यहाँ की मिट्टी लाल-काली, दुमट-बलुही तथा बहुत ही उपजाऊ है।

यहाँ पहाड़ों पर पतझड़वाले जंगल मिलते हैं। जलवायु स्वास्थ्यप्रद है। वार्षिक वर्षा ३०" से लेकर ३५" तक होती है। धान यहाँ की मुख्य उपज है, लगभग ४०% जमीन पर धान ही उपजाया जाता है। आम के बगीचे यहाँ बहुत मिलते हैं। तालुक का अधिक भाग जंगलों से आच्छादित है। यहाँ के जंगलों में लाल चंदन की प्रचुरता है; सागौन के वृक्ष भी यहाँ मिलते हैं। [इं० प्रि० दे०]

चंद्रगुप्त प्रथम गुप्त वंश के तृतीय किंतु प्रथम स्वतंत्र एवं शक्तिशाली नरेश। साधारणतया विद्वान् उनके राज्यारोहण की तिथि ३१९–३२० ई० निश्चित करते हैं। कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि उन्होंने उसी तिथि से प्रारंभ होनेवाले गुप्त संवत् की स्थापना भी की थी। गुप्तों का आधिपत्य प्रारंभ में दक्षिण बिहार तथा उत्तर-पश्चिम बंगाल पर था। प्रथम चंद्रगुप्त ने साम्राज्य का विस्तार किया। वायुपुराण में प्रयाग तक के गंगा के तटवर्ती प्रदेश, साकेत तथा मगध को गुप्तों की भोगभूमि कहा है। इस उल्लेख के आधार पर विद्वान् चंद्रगुप्त प्रथम की राज्यसीमा का निर्धारण करते हैं, यद्यपि इस बात का कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। चंद्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवि कुमारदेवी से विवाह किया था। संभव है, साम्राज्यनिर्माण में चंद्रगुप्त प्रथम को लिच्छवियों से पर्याप्त सहायता मिली हो। यह भी संभव है कि लिच्छवि राज्य मिथिला इस विवाह के फलस्वरूप चंद्रगुप्त के शासन के अंतर्गत आ गया हो। 'कौमुदी महोत्सव' आदि से ज्ञात एवं उनपर आधृत, चंद्रगुप्त प्रथम के राज्यारोहण आदि से संबद्ध इतिहासनिर्धारण सर्वथा असंगत है। उन्होंने संभवतः एक प्रकार की स्वर्णमुद्रा का प्रचलन किया, एवं महाराजाधिराज का विरुद धारण किया। प्रयाग प्रशस्ति के आधार पर कह सकते हैं कि चंद्रगुप्त प्रथम ने समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और संभवतः ३४९–५० ई० के लगभग उनके सुदीर्घ शासन का अंत हुआ।

सं० ग्रं०—हेमचंद्र रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव इंडिया, पृष्ठ ५२० ३२, षष्ठ संस्करण, कलकत्ता, १९५३; राधाकुमुद मुखर्जी : द गुप्त एंपायर पृ० २–१६, बंबई, १९५९; द क्लासिकल एज, पृ० ३–६, बंबई १९५४; द गुप्त-वाकाटक एज; सुधाकर चट्टोपाध्याय : द अर्ली हिस्ट्री ऑव नार्थ इंडिया, पृ० १४०-४६ कलकत्ता, १९५८; वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० ३२–३५, इलाहाबाद, १९५७। [अ० कि० ना०, ज० प्र०]

चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७५–ल० ४१४ ई०) समुद्रगुप्त के एरण अभिलेख में स्पष्ट है कि उनके बहुत से पुत्र पौत्र थे, किंतु अपने अंतिम समय में उन्होंने चंद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। चंद्रगुप्त द्वितीय एवं परवर्ती गुप्तसम्राटों के अभिलेखों से भी यही ध्वनित होता है कि समुद्रगुप्त की मृत्यु के उपरांत चंद्रगुप्त द्वितीय ही गुप्तसम्राट् हुए। किंतु इसके विपरीत, संस्कृत में उपलब्ध 'देवीचंद्रगुप्तम्' एवं कतिपय अन्य साहित्यिक तथा पुरातात्विक अभिलेख संबंधी प्रमाणों के आधार पर कुछ विद्वान् रामगुप्त को समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी प्रमाणित करते हैं। रामगुप्त की अयोग्यता का लाभ उठाकर चंद्रगुप्त ने उसके राज्य एवं रानी दोनों का हरण कर लिया। रामगुप्त की ऐतिहासिकता संदिग्ध है (देखिए रामगुप्त)। भिलसा आदि से प्राप्त ताम्र सिक्कों का रामगुप्त उस प्रदेश का कोई स्थानीय शासक ही रहा होगा।

चंद्रगुप्त द्वितीय की तिथि का निर्धारण उनके अभिलेखों आदि के आधार पर किया जाता है। चंद्रगुप्त का, गुप्तसंवत् ६१ (३८० ई०) में उत्कीर्ण मथुरा स्तंभलेख, उनके राज्य के पाँचवें वर्ष में लिखाया गया था। फलतः उनका राज्यारोहण गुप्तसंवत् ६१–५=५६=३७५ ई० में हुआ। चंद्रगुप्त द्वितीय की अंतिम ज्ञात तिथि उनकी रजतमुद्राओं पर प्राप्त होती है—गुप्तसंवत् ९०+० = ४०९–४१० ई०। इससे अनुमान कर सकते हैं कि चंद्रगुप्त संभवतः उपरिलिखित वर्ष तक शासन कर रहे थे। इसके विपरीत कुमारगुप्त प्रथम की प्रथम ज्ञात तिथि गुप्तसंवत् ९६=४१५ ई०, उनके बिलसँड़ अभिलेख में प्राप्त होती है। इस आधार पर, ऐसा अनुमान किया जाता है कि, चंद्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल का समापन ४१३–१४ ई० में हुआ होगा।

चंद्रगुप्त द्वितीय के विभिन्न लेखों में ज्ञात देवगुप्त एवं देवराज–अन्य नाम प्रतीत होते हैं। अभिलेखों एवं मुद्रालेखों से उनकी विभिन्न उपाधियों—महाराजाधिराज, परमभागवत, सिंहविक्रम, नरेंद्रचंद्र, नरेंद्रसिंह, विक्रमांक एवं विक्रमादित्य आदि—का ज्ञान होता है।

उनका सर्वप्रथम सैनिक अभियान सौराष्ट्र के शक क्षत्रपों के विरुद्ध हुआ। संघर्ष प्रक्रिया एवं अन्य संबद्ध विषयों का विस्तृत ज्ञान उपलब्ध नहीं होता। चंद्रगुप्त के सांधिविग्रहिक वीरसेन शाब के उदयगिरि (भिलसा के समीप) गुहालेख से, उनका समस्त पृथ्वी जीतने के उद्देश्य से वहाँ तक आना स्पष्ट है। इसी स्थान से प्राप्त चंद्रगुप्त के सामंत शासक सनकानीक महाराज के गुप्तसंवत् ८२ (= ४०१–२ ई०) के लेख तथा आम्रकार्दव नाम के सैन्याधिकारी के साँची गुप्तसंवत् ९३ (= ४१२-१३ ई०) के शिलालेख से मालव प्रदेश में उनकी दीर्घ-उपस्थिति प्रत्यक्ष होती है। संभवतः चंद्रगुप्त द्वितीय ने शक रुद्रसिंह तृतीय के विरुद्ध युद्धसंचालन तथा विजयोपरांत सौराष्ट्र के शासन को यहीं से व्यवस्थित किया हो। चंद्रगुप्त की शकविजय का अनुमान उनकी रजत-मुद्राओं से भी होता है। सौराष्ट्र की शकमुद्रा परंपरा के अनुकरण में प्रचलित इन मुद्राओं पर चंद्रगुप्त द्वितीय का चित्र, नाम, विरुद एवं मुद्राप्रचलन की तिथि लिखित है। शक मुद्राओं से ज्ञात अंतिम तिथि ३८८ ई० प्रतीत होती है। इसके विपरीत इन सिक्कों से ज्ञात चंद्रगुप्त की प्रथम तिथि गुप्तसंवत् ९०+० है। फलतः अनुमान किया जा सकता है कि चंद्रगुप्त की सौराष्ट्रविजय प्रायः २० वर्षों के सुदीर्घ युद्ध के पश्चात् ४०९ ई० के बाद ही कभी पूर्णरूपेण सफल हुई होगी। सम्राट् चंद्रगुप्त की शकविजय उन्हें साहित्यिक अनुश्रुतियों के शकारि विक्रमादित्य एवं रामगुप्त की कथाओं से संबद्ध कर सकती है।

चंद्रगुप्त के सेनाध्यक्ष आम्रकार्दव, अपने साँची अभिलेख में स्वयं को, "अनेक समरावाप्तविजययशसुपताकः" कहते हैं। इन अनेक समरों के उल्लेख से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि चंद्रगुप्त ने शकयुद्ध के अतिरिक्त अन्य युद्ध भी किए होंगे। किंतु वर्तमान स्थिति में उनका विवेचन अप्रमाणित है। दिल्ली में कुतुबमीनार के पार्श्व में स्थित लौहस्तंभ पर किन्हीं (सम्राट्) चंद्र की विजयप्रशस्ति उत्कीर्ण है। चंद्र की पहचान प्राचीन भारत के विभिन्न सम्राटों से की जाती रही है (देखिए चंद्र)। किंतु प्रायः विद्वान् उनकी पहचान चंद्रगुप्त द्वितीय से करते हैं। यदि इस सिद्धांत को सही माना जाय तो कहना न होगा कि द्वितीय चंद्रगुप्त ने वंग प्रदेश में संगठित रूप से आए हुए शत्रुओं को पराजित किया एवं (युद्ध द्वारा) सिंधु के सात मुखों को पार कर वाह्लीकों को जीता। वंग की पहचान साधारणतया पूर्वी बंगाल (प्राचीन समतट) तथा

बाह्लीक की बल्ख (बैक्ट्रिया) से की जाती है, यद्यपि कुछ आश्चर्य नहीं जो वाह्लीकों का निवास पश्चिमी पाकिस्तान में ही कहीं रहा हो। सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय के साथ चंद्र के अभिज्ञान को मानने में कठिनाइयाँ भी हैं। चंद्रगुप्त द्वितीय ने अपना राज्य पिता द्वारा उत्तराधिकार में प्राप्त किया था, किंतु लौहस्तंभ के चंद्र ने अपने स्वभुजार्जित विस्तृत साम्राज्य का उल्लेख किया है।

साहित्य में बहुचर्चित सम्राट् विक्रमादित्य की पहचान भी संदिग्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रमादित्य संबंधी कथाशृंखला की पृष्ठभूमि में अनेक शक्तिशाली सम्राटों की यशोगाथाएँ हैं। किंतु विभिन्न दृष्टियों से देखने पर, विशेषतः अपनी शकविजय के संदर्भ में, चंद्रगुप्त द्वितीय ही विक्रमादित्य कथापरंपरा के वास्तविक नायक प्रतीत होते हैं। चंद्रगुप्त की विक्रमादित्य उपाधि उनकी स्वर्णमुद्राओं पर प्राप्त होती है।

चंद्रगुप्त का साम्राज्य सुविस्तृत था। इसमें पूर्व में बंगाल से लेकर उत्तर में संभवतः बल्ख तथा उत्तर-पश्चिम में अरब सागर तक के समस्त प्रदेश संमिलित थे। इस विस्तृत साम्राज्य को स्थिरता प्रदान करने की दृष्टि से चंद्रगुप्त ने अनेक शक्तिशाली एवं ऐश्वर्योन्मुखी राजपरिवारों से विवाहसंबंध स्थापित किए। स्वयं उनकी द्वितीय रानी कुबेरनागा 'नागकुलसंभूता' थी। कुबेरनागा से उत्पन्न प्रभावतीगुप्ता वाकाटकनरेश रुद्रसेन द्वितीय को ब्याही थी। नागों एवं वाकाटकों की भौगोलिक स्थिति से सिद्ध है कि उनसे गुप्तसाम्राज्य को पर्याप्त बल एवं सहायता मिली होगी। कुंतल प्रदेश के कदंब नरेश शांतिवर्मन के तालगुंड अभिलेख से विदित है कि राजा काकुस्थ (त्स्थ) वर्मन की पुत्रियाँ गुप्त एवं अन्य राजाओं को ब्याही थीं। कुमारी का विवाह चंद्रगुप्त द्वितीय या उनके किसी पुत्र से हुआ होगा।

साम्राज्य को शासन की सुविधा के लिये विभिन्न इकाइयों में विभाजित किया गया था। सम्राट् स्वयं राज्य का सर्वोच्च अधिकारी था। उसकी सहायता के लिये मंत्रिपरिषद् होती थी। राजा के बाद दूसरा उच्च अधिकारी युवराज होता था। मंत्री मंत्रिपरिषद् का मुख्य अधिकारी एवं अध्यक्ष था। चंद्रगुप्त द्वितीय के मंत्री शिखरस्वामी थे। इन्हें करमदांड अभिलेख में कुमारामात्य भी कहा है। इस संबंध में यह ज्ञातव्य है कि गुप्तकाल में युवराजों के साहाय्य के लिये स्वतंत्र परिषद् हुआ करती थी। वीरसेन शाब को 'अन्वयप्राप्तसचिव' कहा है। ये चंद्रगुप्त के सांधिविग्रहिक थे। किंतु सेनाध्यक्ष संभवतः आम्रकार्दव थे। चंद्रगुप्त के समय के शासकीय विभागों के अध्यक्षों में (१) कुमारामात्याधिकरण--(२) बलाधिकरण—(३) रणभांडाधिकरण—(४) दंडपाशाधिकरण—(५) विनयशूर (६) महाप्रतीहार (७) तलवर (?) (८) महादंडनायक—(९) विनयस्थितिस्थापक—(१०) भटाश्वपति— और (११) उपरिक आदि मुख्य हैं।

शासन की सबसे बड़ी इकाई प्रांत था। प्रांतों के मुख्य अधिकारी उपरिक कहे जाते थे। तीरभुक्ति--उपरिक–अधिकरण के राज्यपाल महाराज गोविंदगुप्त थे। उनकी राजधानी वैशाली थी। शासन की प्रांतीय इकाई देश या भुक्ति कहलाती थी। प्रांतों का विभाजन अनेक प्रदेशों या विषयों में हुआ था। वैशाली के सर्वोच्च शासकीय अधिकारी का विभाग वैशाली–अधिष्ठान--अधिकरण कहलाता था। नगरों एवं ग्रामों के शासन के लिये अलग परिषद् होती थी। ग्रामशासन के लिये ग्रामिक, महत्तर एवं भोजक उत्तरदायी होते थे।

चंद्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र थी। किंतु परवर्ती कुंतलनरेशों के अभिलेखों में उन्हें पाटलिपुरवराधीश्वर एवं उज्जयिनीपुरवराधीश्वर दोनों कहा है। बहुत संभव है, कि शक रुद्रसिंह की पराजय के बाद चंद्रगुप्त ने अपने राज्य की दूसरी राजधानी उज्जयिनी बनाई हो। साहित्यग्रंथों में विक्रमादित्य को भी इन दोनों ही नगरों से संबद्ध किया गया है। उज्जयिनी विजय के बाद ही कभी मालव संवत् विक्रमादित्य के नाम से संबद्ध होकर विक्रम-संवत् नाम से अभिहित होने लगा होगा। यों यह संवत् ५८ ई० पू० से ही आरंभ हो गया प्रतीत होता है (दे० संवत्)।

चंद्रगुप्त के राज्यकाल में चीनी यात्री फाह्यान ने भारत का भ्रमण किया। फाह्यान (४००–४११ ई०) ने तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति तथा व्यवस्था का अत्यंत सजीव उल्लेख किया है। मध्यदेश का वर्णन करते हुए फाह्यान ने लिखा है कि लोग राजा की भूमि जोतते हैं और लगान के रूप में उपज का कुछ अंश राजा को देते हैं। और जब चाहते हैं तब उसकी भूमि को छोड़ देते हैं और जहाँ मन में आता है जाकर रहते हैं। राजा न प्राणदंड देता है और न शारीरिक दंड। अपराध की गुरुता या लघुता को दृष्टि में रखते हुए अर्थदंड दिया जाता है। बार बार राजद्रोह करनेवाले अपराधी का दाहिना हाथ काट लिया जाता है। राज्याधिकारियों को नियत वेतन मिलता है। नीच चांडालों के अतिरिक्त न तो कोई जीवहिंसा करता है, न मदिरापान करता और न लहसुन प्याज खाता है। पाटलिपुत्र में फाह्यान ने अशोक के समय के भव्य प्रासाद देखे। वे अत्यंत सुंदर थे और ऐसा लगता था जैसे मानवनिर्मित न हों। पाटलिपुत्र मध्यदेश का सबसे बड़ा नगर था। लोग धनी और उदार थे। अच्छे धार्मिक कार्य करने में एक दूसरे से स्पर्धा करते थे। देश में चोर डाकुओं का कोई भय नहीं था।

चंद्रगुप्त के काल की आर्थिक संपन्नता उसकी प्रचुर स्वर्णमुद्राओं से पुष्ट होती है। इसके अतिरिक्त उसने रजत एवं ताम्र मुद्राओं का प्रचलन भी किया। रजत एवं ताम्र मुद्राओं का प्रचलन संभवतः स्थानीय था, किंतु उसकी स्वर्णमुद्राएँ सार्वभौम प्रचलन के लिये थीं।

सं० ग्रं० —राधाकुमुद मुकर्जी : दि गुप्त एंपायर, पृ० ४४-६६, बंबई १९५९; हेमचंद्र रायचौधरी : दि पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐंशेंट इंडिया, पृ० ५५३–५६४, (षष्ठ संस्करण), कलकत्ता, १९५२; दि क्लासिकल एज (र० च० मजूमदार एवं अ० द० पुसालकर संपादित) पृ० १८–२२, ३४८–३५४, बंबई, १९६२; अ० स० अलतेकर : दि क्वायनेज ऑव दि गुप्त एंपायर, पृ० ९०–१२४, बनारस, १९५७; सुधाकर चट्टोपाध्याय : दि अर्ली हिस्ट्री ऑव नार्दर्न इंडिया, पृ० १६७-१७५, कलकत्ता, १९५८; गंगाप्रसाद मेहता : चंद्रगुप्त विक्रमादित्य, इलाहाबाद, १९३२; वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ० ७८-९१, इलाहाबाद १९५७।

[अ० कि० ना०, ज० प्र०]

चंद्रगुप्त मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण की तिथि साधारणतया ३२४ ई० पू० निर्धारित की जाती है। उन्होंने लगभग २४ वर्ष तक शासन किया, और इस प्रकार उनके शासन का अंत प्रायः ३०० ई० पू० में हुआ।

चंद्रगुप्त मौर्य के वंशादि के बारे में अधिक ज्ञात नहीं होता। हिंदू साहित्य परंपरा उसे नंदों से संबद्ध, शूद्र बताती है। जैन परिशिष्टपर्वन् के अनुसार चंद्रगुप्त मौर्य मयूरपोषकों के एक ग्राम के मुखिया की पुत्री से उत्पन्न थे। मध्यकालीन अभिलेखों के साक्ष्यानुसार मौर्य सूर्यवंशी मांधाता से उत्पन्न थे। बौद्ध साहित्य में मौर्य क्षत्रिय कहे गए हैं। महावंश चंद्रगुप्त को मोरिय (मौर्य) खत्तियों से पैदा हुआ बताता है। दिव्यावदान में बिंदुसार स्वयं को मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय कहते हैं। अशोक भी स्वयं को क्षत्रिय बताते हैं। महापरिनिब्बान सुत्त से मोरिय पिप्पलिवन

के शासक, गणतांत्रिक व्यवस्थावाली जाति सिद्ध होते हैं। पिप्पलिवन ई० पू० छठी शताब्दी में नेपाल की तराई में स्थित रुम्मिनदेई से लेकर आधुनिक देवरिया जिले के कसया प्रदेश तक को कहते थे। मगध साम्राज्य की प्रसारनीति के कारण इनकी स्वतंत्र स्थिति शीघ्र ही समाप्त हो गई। यही कारण था कि चंद्रगुप्त का मयूरपोषकों, चरवाहों तथा लुब्धकों के संपर्क में पालन हुआ। परंपरा के अनुसार वह बचपन में अत्यंत तीक्ष्णबुद्धि था, एवं समवयस्क बालकों का सम्राट् बनकर उनपर शासन करता था। ऐसे ही किसी अवसर पर चाणक्य की दृष्टि उसपर पड़ी, फलतः चंद्रगुप्त तक्षशिला गए जहाँ उन्हें राजोचित शिक्षा दी गई। ग्रीक इतिहासकार जस्टिन के अनुसार सांद्रोकोत्तस (चंद्रगुप्त) साधारणजन्मा था।

सिकंदर के आक्रमण के समय लगभग समस्त उत्तर भारत धननंद द्वारा शासित था। नंद सम्राट् अपनी निम्न उत्पत्ति एवं निरंकुशता के कारण जनता में अप्रिय थे। ब्राह्मण चाणक्य तथा चंद्रगुप्त ने राज्य में व्याप्त असंतोष का सहारा ले नंद वंश को उच्छिन्न करने का निश्चय किया अपनी उद्देश्यसिद्धि के निमित्त चाणक्य और चंद्रगुप्त ने एक विशाल विजयवाहिनी का प्रबंध किया। ब्राह्मण ग्रंथों में नंदोन्मूलन का कार्यसिद्धि श्रेय चाणक्य को दिया गया है। मुद्राराक्षस के अनुसार राज्य के वास्तविक शासक चाणक्य थे। चंद्रगुप्त उनके हाथ में कठपुतली थे। जस्टिन के अनुसार चंद्रगुप्त डाकू था और छोटे बड़े सफल हमलों के पश्चात् उसने साम्राज्यनिर्माण का निश्चय किया। अर्थशास्त्र में कहा है कि सैनिकों की भरती चोरों, म्लेच्छों, आटविकों तथा शस्त्रोपजीवी श्रेणियों से करनी चाहिए। मुद्राराक्षस से ज्ञात होता है कि चंद्रगुप्त ने हिमालय प्रदेश के राजा पर्वतक से संधि की। चंद्रगुप्त की सेना में शक, यवन, किरात, कंबोज, पारसीक तथा वाह्लीक भी रहे होंगे। प्लूटार्क के अनुसार चंद्रगुप्त सांद्रोकोत्तस ने संपूर्ण भारत को ६,००,००० सैनिकों की विशाल वाहिनी द्वारा जीतकर अपने अधीन कर लिया। जस्टिन के मत से भारत चंद्रगुप्त के अधिकार में था।

चंद्रगुप्त ने सर्वप्रथम अपनी स्थिति पंजाब में सुदृढ़ की। उसका यवनों के विरुद्ध स्वातंत्र्य युद्ध संभवतः सिकंदर की मृत्यु के कुछ ही समय बाद प्रारंभ हो गया था। जस्टिन के अनुसार सिकंदर की मृत्यु के उपरांत भारत ने सांद्रोकोत्तस के नेतृत्व में दासता के बंधन को तोड़ फेंका तथा यवन राज्यपालों को मार डाला। चंद्रगुप्त ने यवनों के विरुद्ध अभियान लगभग ३२३ ई० पू० में प्रारंभ किया होगा, किंतु उन्हें इस अभियान में पूर्ण सफलता ३१७ ई० पू० या उसके बाद मिली होगी, क्योंकि इसी वर्ष पश्चिम पंजाब के शासक क्षत्रप यूदेमस (Eudemus) ने अपनी सेनाओं सहित, भारत छोड़ा। चंद्रगुप्त के यवनयुद्ध के बारे में विस्तारपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। इस सफलता से उन्हें पंजाब और सिंध के प्रांत मिल गए।

चंद्रगुप्त मौर्य का संभवतः महत्वपूर्ण युद्ध नंदों के साथ उपरिलिखित संघर्ष के बाद हुआ। जस्टिन एवं प्लूटार्क के वृत्तों से स्पष्ट है कि सिकंदर के भारत अभियान के समय चंद्रगुप्त ने उसे नंदों के विरुद्ध युद्ध के लिये भड़काया था, किंतु किशोर चंद्रगुप्त के धृष्ट व्यवहार ने यवनविजेता को क्रुद्ध कर दिया। फलतः, प्राणरक्षा के निमित्त चंद्रगुप्त को वहाँ से भागना पड़ा। भारतीय साहित्यिक परंपराओं से लगता है कि चंद्रगुप्त और चाणक्य के प्रति भी नंदराजा अत्यंत असहिष्णु रह चुके थे। महावंश टीका के एक उल्लेख से लगता है कि चंद्रगुप्त ने प्रारंभ में नंदसाम्राज्य के मध्य भाग पर आक्रमण किया, किंतु उन्हें शीघ्र ही अपनी त्रुटि का पता चल गया और नए आक्रमण सीमांत प्रदेशों से प्रारंभ हुए। अंततः उन्होंने पाटलिपुत्र घेर लिया और धननंद को मार डाला।

इसके बाद, ऐसा प्रतीत होता है कि चंद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य का विस्तार दक्षिण में भी किया। मामुलनार नामक प्राचीन तमिल लेखक ने तिनेवेल्लि जिले की पोदियिल पहाड़ियों तक हुए मौर्य आक्रमणों का उल्लेख किया है। इसकी पुष्टि अन्य प्राचीन तमिल लेखकों एवं ग्रंथों से होती है। आक्रामक सेना में युद्धप्रिय कोशर लोग संमिलित थे। आक्रामक कोंकण से एलिलमलै पहाड़ियों से होते हुए कोंगु (कोयंबटूर) जिले में आए, और यहाँ से पोदियिल पहाड़ियों तक पहुँचे। दुर्भाग्यवश उपर्युक्त उल्लेखों में इस मौर्यवाहिनी के नायक का नाम प्राप्त नहीं होता। किंतु, 'वंब मोरियर' से प्रथम मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त का ही अनुमान अधिक संगत लगता है।

मैसूर से उपलब्ध कुछ अभिलेखों से चंद्रगुप्त का उत्तरी मैसूर पर अधिकार स्पष्ट होता है। एक अभिलेख में चंद्रगुप्त द्वारा शिकारपुर तालुक के अंतर्गत नागरखंड की रक्षा करने का उल्लेख मिलता है। उक्त अभिलेख १४वीं शताब्दी का है किंतु ग्रीक, तमिल लेखकों आदि के साक्ष्य के आधार पर इसकी ऐतिहासिकता एकदम अस्वीकृत नहीं की जा सकती।

चंद्रगुप्त ने सौराष्ट्र की विजय भी की थी। महाक्षत्रप रुद्रदामन् के जूनागढ़ अभिलेख से प्रमाणित है कि चंद्रगुप्त के राष्ट्रीय, वैश्य पुष्यगुप्त यहाँ के राज्यपाल थे।

चंद्रगुप्त का अंतिम युद्ध सिकंदर के पूर्वसेनापति तथा उनके समकालीन सीरिया के ग्रीक सम्राट् सेल्यूकस के साथ हुआ। ग्रीक इतिहासकार जस्टिन के उल्लेखों से प्रमाणित होता है कि सिकंदर की मृत्यु के बाद सेल्यूकस को उसके स्वामी के सुविस्तृत साम्राज्य का पूर्वी भाग उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ। सेल्यूकस, सिकंदर की भारतीय विजय पूरी करने के लिये आगे बढ़ा, किंतु भारत की राजनीतिक स्थिति अब तक परिवर्तित हो चुकी थी। लगभग सारा क्षेत्र एक शक्तिशाली शासक के नेतृत्व में था। सेल्यूकस ३०५ ई० पू० के लगभग सिंधु के किनारे आ उपस्थित हुआ। ग्रीक लेखक इस युद्ध का ब्योरेवार वर्णन नहीं करते। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि चंद्रगुप्त की शक्ति के संमुख सेल्यूकस को झुकना पड़ा। फलतः सेल्यूकस ने चंद्रगुप्त को विवाह में एक यवनकुमारी तथा एरिया (हिरात), एराकोसिया (कंदहार), परोपनिसदाइ (काबुल) और जेड्रोसिया (बलूचिस्तान) के प्रांत देकर संधि क्रय की। इसके बदले चंद्रगुप्त ने सेल्यूकस को ५०० हाथी भेंट किए। उपरिलिखित प्रांतों का चंद्रगुप्त मौर्य एवं उसके उत्तराधिकारियों के शासनांतर्गत होना, कंदहार से प्राप्त अशोक के द्विभाषी लेख से सिद्ध हो गया है। इस प्रकार स्थापित हुए मैत्री संबंध को स्थायित्व प्रदान करने की दृष्टि से सेल्यूकस ने मेगस्थनीज नाम का एक दूत चंद्रगुप्त के दरबार में भेजा।

यह वृत्तांत इस बात का प्रमाण है कि चंद्रगुप्त का प्रायः संपूर्ण राज्यकाल युद्धों द्वारा साम्राज्यविस्तार करने में बीता होगा। परवर्ती जैन परंपराओं के अनुसार चंद्रगुप्त अपने अंतिम दिनों में जैन हो गए और स्वामी भद्रबाहु के साथ श्रवणबेलगोल चले गए। वहीं उन्होंने उपवास द्वारा शरीर त्याग किया। श्रवणबेलगोल में जिस पहाड़ी पर वे रहते थे, उसका नाम चंद्रगिरि है और वहीं उनका बनवाया हुआ चंद्रगुप्तबस्ति नामक मंदिर भी है।

चंद्रगुप्त का साम्राज्य अत्यंत विस्तृत था। इसमें लगभग संपूर्ण उत्तरी और पूर्वी भारत के साथ साथ उत्तर में बलूचिस्तान, दक्षिण में मैसूर तथा दक्षिण-पश्चिम में सौराष्ट्र तक का विस्तृत भूप्रदेश संमिलित था।

साम्राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी सम्राट् स्वयं था। शासन की सुविधा की दृष्टि से संपूर्ण साम्राज्य को विभिन्न प्रांतों में विभाजित कर दिया गया था। प्रांतों के शासक सम्राट् के प्रति उत्तरदायी होते थे। राज्यपालों की सहायता के लिये एक मंत्रिपरिषद् हुआ करती थी। केंद्रीय तथा प्रांतीय शासन के विभिन्न विभाग थे, और सबके सब एक अध्यक्ष के निरीक्षण में कार्य करते थे। साम्राज्य के दूरस्थ प्रदेश सड़कों एवं राजमार्गों द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए थे।

पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) चंद्रगुप्त की राजधानी थी जिसके विषय में यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने विस्तृत विवरण दिए हैं। नगर के प्रशासनिक वृत्तांतों से हमें उस युग के सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को समझने में अच्छी सहायता मिलती है। (दे० 'पाटलिपुत्र')

मौर्य शासन प्रबंध की प्रशंसा आधुनिक राजनीतिज्ञों ने भी की है जिसका आधार 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' एवं उसमें स्थापित की गई राज्य विषयक मान्यताएँ हैं। चंद्रगुप्त के समय में शासनव्यवस्था के सूत्र अत्यंत सुदृढ़ थे।

सं० ग्रं०—राधाकुमुद मुखर्जी : चंद्रगुप्त मौर्य ऐंड हिज टाइम्स, दिल्ली, १९६०; हेमचंद्र रायचौधुरी : पोलिटिकल हिस्ट्री आव ऐंशेंट इंडिया, पृ० २६४-२९५, (षष्ठ संस्करण) कलकत्ता, १९५३; दि एज ऑव इम्पीरीयल यूनिटी (र० च० मजूमदार एवं अ० द० पुसालकर संपादित) पृ० ५४६९, बंबई, १९६०; एज ऑव नंदाज ऐंड दि मौर्याज (के० अ० नीलकंठ शास्त्री संपादित), पृ० १३२–१९५, बनारस, १९५२; द कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया (ई० आर० रैप्सन संपादित), भाग १, पृ० ४६७-४७३, कैंब्रिज, १९२२।

[अ० कि० ना०, ज० प्र०]

शासनव्यवस्था—चंद्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य की शासनव्यवस्था का ज्ञान प्रधान रूप से मेगस्थनीज के वर्णन के अवशिष्ट अंशों और कौटिल्य के अर्थशास्त्र से होता है (दे० मेगस्थनीज)। अर्थशास्त्र में यद्यपि कुछ परिवर्तनों के तीसरी शताब्दी के अंत तक होने की संभावना प्रतीत होती है, यही मूल रूप में चंद्रगुप्त मौर्य के मंत्री की कृति थी (दे० चाणक्य)।

राजा शासन के विभिन्न अंगों का प्रधान था। शासन के कार्यों में वह अथक रूप से व्यस्त रहता था। अर्थशास्त्र में राजा की दैनिक चर्या का आदर्श कालविभाजन दिया गया है। मेगेस्थनीज के अनुसार राजा दिन में नहीं सोता वरन् दिनभर न्याय और शासन के अन्य कार्यों के लिये दरबार में ही रहता है, मालिश कराते समय भी इन कार्यों में व्यवधान नहीं होता, केशप्रसाधन के समय वह दूतों से मिलता है। स्मृतियों की परंपरा के विरुद्ध अर्थशास्त्र में राजाज्ञा को धर्म, व्यवहार और चरित्र से अधिक महत्व दिया गया है। मेगेस्थनीज और कौटिल्य दोनों से ही ज्ञात होता है कि राजा के प्राणों की रक्षा के लिये समुचित व्यवस्था थी। राजा के शरीर की रक्षा शस्त्रधारी स्त्रियाँ करती थीं। मेगेस्थनीज का कथन है कि राजा को निरंतर प्राणभय लगा रहता है जिससे हर रात वह अपना शयनकक्ष बदलता है। राजा केवल युद्धयात्रा, यज्ञानुष्ठान, न्याय और आखेट के लिये ही अपने प्रासाद से बाहर आता था। आखेट के समय राजा का मार्ग रस्सियों से घिरा होता था जिनको लाँघने पर प्राणदंड मिलता था।

अर्थशास्त्र में राजा की सहायता के लिये मंत्रिपरिषद् की व्यवस्था है। कौटिल्य के अनुसार राजा को बहुमत मानना चाहिए और आवश्यक प्रश्नों पर अनुपस्थित मंत्रियों का विचार जानने का उपाय करना चाहिए। मंत्रिपरिषद् की मंत्रणा को गुप्त रखने का विशेष ध्यान रखा जाता था। मेगेस्थनीज ने दो प्रकार के अधिकारियों का उल्लेख किया है—मंत्री और सचिव। इनकी संख्या अधिक नहीं थी किंतु ये बड़े महत्वपूर्ण थे और राज्य के उच्च पदों पर नियुक्त होते थे। अर्थशास्त्र में शासन के अधिकारियों के रूप में १८ तीर्थों का उल्लेख है। शासन के विभिन्न कार्यों के लिये पृथक् विभाग थे, जैसे कोष, आकर, लौह, लक्षण, लवण, सुवर्ण, कोष्ठागार, पण्य, कुप्य, आयुधागार, पौतव, मान, शुल्क, सूत्र, सीता, सुरा, सून, मुद्रा, विवीत, द्यूत, बंधनागार, गौ, नौ, पत्तन, गणिका, सेना, संस्था, देवता आदि, जो अपने अपने अध्यक्षों के अधीन थे।

मेगस्थनीज के अनुसार राजा की सेवा में गुप्तचरों की एक बड़ी सेना होती थी। ये अन्य कर्मचारियों पर कड़ी दृष्टि रखते थे और राजा को प्रत्येक बात की सूचना देते थे। अर्थशास्त्र में भी चरों की नियुक्ति और उनके कार्यों को विशेष महत्व दिया गया है।

मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र के नगरशासन का वर्णन किया है जो संभवत: किसी न किसी रूप में अन्य नगरों में भी प्रचलित रही होगी। (देखिए 'पाटलिपुत्र') अर्थशास्त्र में नगर का शासक नागरिक कहलाता है और उसके अधीन स्थानिक और गोप होते थे।

शासन की इकाई ग्राम थे जिनका शासन ग्रामिक ग्रामवृद्धों की सहायता से करता था। ग्रामिक के ऊपर क्रमशः गोप और स्थानिक होते थे।

अर्थशास्त्र में दो प्रकार की न्यायसभाओं का उल्लेख है और उनकी कार्यविधि तथा अधिकारक्षेत्र का विस्तृत विवरण है। साधारण प्रकार धर्मस्थीय को दीवानी और कंटकशोधन को फौजदारी की अदालत कह सकते हैं। दंडविधान कठोर था। शिल्पियों का अंगभंग करने और जान बूझकर विक्रय पर राजकर न देने पर प्राणदंड का विधान था। विश्वासघात और व्यभिचार के लिये अंगच्छेद का दंड था।

मेगस्थनीज ने राजा को भूमि का स्वामी कहा है। भूमि के स्वामी कृषक थे। राज्य की जो आय अपनी निजी भूमि से होती थी उसे सीता और शेष से प्राप्त भूमिकर को भाग कहते थे। इसके अतिरिक्त सीमाओं पर चुंगी, तटकर, विक्रयकर, तोल और माप के साधनों पर कर, द्यूतकर, वेश्याओं, उद्योगों और शिल्पों पर कर, दंड तथा आकर और वन से भी राज्य को आय थी।

अर्थशास्त्र का आदर्श है कि प्रजा के सुख और भलाई में ही राजा का सुख और भलाई है। अर्थशास्त्र में राजा के द्वारा अनेक प्रकार के जनहित कार्यों का निर्देश है जैसे बेकारों के लिये काम की व्यवस्था करना, विधवाओं और अनाथों के पालन का प्रबंध करना, मजदूरी और मूल्य पर नियंत्रण रखना। मेगस्थनीज ऐसे अधिकारियों का उल्लेख करता है जो भूमि को मापते थे और, सभी को सिंचाई के लिये नहरों के पानी का उचित भाग मिले, इसलिये नहरों को प्रणालियों का निरीक्षण करते थे। सिंचाई की व्यवस्था के लिये चंद्रगुप्त ने विशेष प्रयत्न किया, इस बात का समर्थन रुद्रदामन् के जूनागढ़ के अभिलेख से होता है। इस लेख में चंद्रगुप्त के द्वारा सौराष्ट्र में एक पहाड़ी नदी के जल को रोककर सुदर्शन झील के निर्माण का उल्लेख है।

मेगस्थनीज ने चंद्रगुप्त के सैन्यसंगठन का भी विस्तार के साथ वर्णन किया है। चंद्रगुप्त की विशाल सेना में छः लाख से भी अधिक सैनिक थे।

सेना का प्रबंध युद्धपरिषद् करती थी जिसमें पाँच पाँच सदस्यों की छः समितियाँ थीं। इनमें से पाँच समितियाँ क्रमशः नौ, पदाति, अश्व, रथ, और गज सेना के लिये थीं। एक समिति सेना के यातायात और आवश्यक युद्धसामग्री के विभाग का प्रबंध देखती थी। मेगेस्थनीज के अनुसार समाज में कृषकों के बाद सबसे अधिक संख्या सैनिकों की ही थी। सैनिकों को वेतन के अतिरिक्त राज्य से अस्त्रशस्त्र और दूसरी सामग्री मिलती थीं। उनका जीवन संपन्न और सुखी था।

चंद्रगुप्त मौर्य की शासनव्यवस्था की विशेषता सुसंगठित नौकरशाही थी जो राज्य में विभिन्न प्रकार के आँकड़ों को शासन की सुविधा के लिये एकत्र करती थी। केंद्र का शासन के विभिन्न विभागों और राज्य के विभिन्न प्रदेशों पर गहरा नियंत्रण था। आर्थिक और सामाजिक जीवन की विभिन्न दिशाओं में राज्य के इतने गहन और कठोर नियंत्रण की प्राचीन भारतीय इतिहास के किसी अन्य काल में हमें कोई सूचना नहीं मिलती। ऐसी व्यवस्था की उत्पत्ति का हमें पूर्ण ज्ञान नहीं है। कुछ विद्वान् हेलेनिस्टिक राज्यों के माध्यम से शाखामनी ईरान का प्रभाव देखते हैं। इस व्यवस्था के निर्माण में कौटिल्य और चंद्रगुप्त की मौलिकता को भी उचित महत्व मिलना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि यह व्यवस्था नितांत नवीन नहीं थी। संभवतः पूर्ववर्ती मगध के शासकों, विशेष रूप से नंदवंशीय नरेशों ने इस व्यवस्था की नींव किसी रूप में डाली थी।

सं० ग्रं०—राधा कुमुद मुकर्जी : चंद्रगुप्तमौर्य ऐंड हिज टाइम्स; सत्यकेतु विद्यालंकार मौर्य साम्राज्य का इतिहास; मैक्क्रिंडिल एंश्यंट इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाइ मेगस्थनीज ऐंड एरिअन; कौटिल्य का अर्थशास्त्र।

[ल० गो०]

चंद्रगोपाल रामराय गोस्वामी के छोटे भाई तथा गौरगोपाल के छोटे पुत्र थे। ये लोग लाहौर से आकर वृंदावन में बस गए, जहाँ अब तक इनके वंशज रहते हैं। ये सभी चैतन्य संप्रदायी श्रीराधारमणी वैष्णव हैं। चंद्रगोपाल भी संस्कृत के विद्वान् तथा ब्रजभाषा के सुकवि थे। श्री राधामाधव भाष्य, गायत्री भाष्य तथा श्री राधामाधवाष्टक संस्कृत रचनाएँ एवं चंद्र चौरासी, ऋतुविहार, गौरांग अष्टयाम आदि ब्रजभाषा की रचनाएँ हैं। इनका जन्म सं० १५५२ के लगभग हुआ था अतः इनका रचनाकाल सं० १५७५ से सं० १६०० के बाद तक रहा।

[ब्र० र० दा०]

चंद्रगोमिन् चांद्र व्याकरण' के प्रवर्तक चंद्रगोमिन् के अन्य प्रसिद्ध नाम थे 'चंद्र' और 'चंद्राचार्य'। इनका समय जयादित्य और वामन की 'काशिका' (वृत्तिसूत्र, समय ६५० ई० के आसपास) तथा भर्तृहरि (या हरि) के 'वाक्यपदीय' से निश्चित रूप में पूर्ववर्ती है। काशिकासूत्रवृत्ति में इनके अनेक नियमसूत्र बिना नामोल्लेख के गृहीत हैं। वाक्यपदीय में बताया गया है कि पतंजलि की शिष्यपरंपरा में जो व्याकरणागम कष्टभ्रष्ट हो गया था उसे चंद्राचार्यादि ने अनेक शाखाओं में पुनःप्रणीत किया (यः पतंजलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः। सनीतो बहुशाखत्वं चंद्राचार्यादिभिः पुनः ।२।४८९)। चांद्र व्याकरण में उद्धृत उदाहरण 'अजयद् गुप्तो हूणान्' के संदर्भनिर्देश से सूचित है कि गुप्त (स्कंदगुप्त ४६५ ई० अथवा यशोवर्मा-५४४ ई०) सम्राट् की विजयघटना ग्रंथकार चंद्राचार्य के जीवनकाल में ही घटित हुई थी। अतः सामान्य रूप से चंद्रगोमिन् का समय ४७० ई० के आसपास माना जाता है। इनका सर्वप्रथम नामोल्लेख संभवतः 'वाक्यपदीय' में है।

ये प्रसिद्ध बौद्ध वैयाकरण थे। इनका निर्मित ग्रंथ — जो मूलतः कृष्णोत्मक है परंतु जिसपर लिखित वृत्तिभाग भी संभवतः उन्हीं का है— चांद्र व्याकरण है। पाणिनिपूर्ववर्ती अलब्ध चांद्र व्याकरण से यह भिन्न है। ऐसा अनुमित है कि इस चांद्र व्याकरण की रचना चंद्राचार्य ने बौद्ध-भिक्षुओं आदि को पढ़ाने के लिये की थी। इसमें वैदिक भाषा प्रयोग प्रक्रिया का व्याकरणांश नहीं है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। बौद्ध होने के कारण कदाचित् चंद्रगोमिन् ने ब्राह्मणधर्मानुयायियों के धर्मग्रंथ (वैदिक साहित्य) को उन्हीं का धार्मिक-सांस्कारिक वाङ्मय समझकर उक्त भाषा का व्याकरण निर्माण अनावश्यक समझा हो। यह भी हो सकता है कि हजारों वर्ष पुरानी वैदिक संस्कृत के भाषाप्रयोगों की व्याकरणविवेचना को अधिक प्रयोजन का न समझा हो—विशेष रूप से संस्कृत भाषाज्ञानार्थी बौद्धों के लिये। एक कारण यह भी है सरलीभूत व्याकरणपद्धति निर्माण के प्रति आग्रहवान् होने से पुरानी और व्यवहार में अप्रचलित किंतु वाङ्मय मात्र में अवशिष्ट भाषा का व्याकरण लिखना उन्हें अभीष्ट न रहा हो। इस व्याकरणग्रंथ की रचना ऐसा सर्वप्रथम महाप्रयास है जिसे हम पाणिनीय अष्टाध्यायी' का प्रतिसंशोधित पुनस्संस्करण कह सकते हैं। ऐसा दूसरा महाप्रयास है भोजराज का 'सरस्वतीकंठाभरण' नामक व्याकरणग्रंथ (इसी नाम के साहित्यग्रंथ से भिन्न)। इसमें कात्यायन और पतंजलि के वार्तिक और महाभाष्यीय संपूर्ण सुझावों और संशोधनों को प्रायः अपना लिया गया है। इस व्याकरण में पाणिनिकल्पित और तदुद्भावित संज्ञाओं का, विशेषतः 'टि', 'घु' आदि एकाक्षर पारिभाषिक संज्ञाओं का बहिष्कार किया गया है। इसी कारण इस संप्रदाय को 'असंज्ञक' व्याकरण भी कहते हैं। फिर भी, निश्चित रूप से इसका मूल ढाँचा अष्टाध्यायी (वार्तिक और महाभाष्य) के सर्वाधार पर ही निर्मित है। इस व्याकरण के अधिकांश सूत्र अष्टाध्यायी के ही हैं या अष्टाध्यायी सूत्रों के ही रूपांतर हैं। रूपांतरित सूत्रों में कुछ ऐसे हैं जिनमें शब्द तक पाणिनि के ही हैं केवल उनका क्रम बदल गया है, जैसे पाणिनि के अनेकालशित् सर्वस्य' एवं 'आद्यंतौ टकितौ' सूत्रों के स्थान पर क्रमशः 'शिदनेकाल' सर्वस्य' और टकितावाद्यंतौ' हैं। कालक्रम से प्रचलित नवप्रयोगों के लिये कुछ (लगभग २५) नूतन सूत्र भी निर्मित हैं। इसकी सूत्रसंख्या लगभग ३१०० है। कहा जाता है, व्याकरणपरिशिष्ट रूप में चंद्रगोमिन् ने उणादि-पाठ, धातुपाठ, गणपाठ, लिंगकारिका, वर्णसूत्र और उपसर्गवृत्ति की भी रचना की थी जिनमें उणादिसूची और धातुपाठ का प्रकाशन 'चांद्रव्याकरण' ग्रंथ के साथ ही हुआ है। 'वर्णसूत्र' में पाणिनीय शिक्षा के समान सूत्रों में वर्णों के स्थान प्रयत्न का विवरण है। 'चांद्रव्याकरणसूत्रवृत्ति' के अतिरिक्त धार्मिक ग्रंथ 'शिष्यलेखा' और 'लोकानंद' नाटक के निर्माण का, जिनका अधिक महत्व नहीं है, गौरव भी चंद्राचार्य को प्राप्त है। इस संदर्भ में सब से आश्चर्यजनक बात यह है कि बंगाल में कुछ ही शताब्दी पूर्व तक अध्ययनाध्यापन में प्रचलित तथा वहाँ के परवर्ती वैयाकरणों द्वारा उद्धृत यह ग्रंथ काश्मीर, नेपाल और तिब्बत में ही मिला बंगाल में नहीं। डा० लीबिश (Dr Liebich) ने तिब्बत से प्राप्त कर इसका प्रकाशन किया। डेकन कालेज, पूना, से वृत्तिसहित तथा व्याख्यात्मक विवृति के साथ एक और सुसंपादित संस्करण दो खंडों में प्रकाशित हुआ है।

[क० प० त्रि०]

चंद्रपुरा स्थिति २३° ४५' उ० अ० तथा ८६° १२' पू० दे०। बिहार राज्य के हजारीबाग जिले के अंतर्गत गोमो जंक्शन के समीप पूर्वी रेलवे का जंक्शन है। यह गोमो-राँची रोड रेलवेमार्ग पर स्थित है। पटना से टाटानगर जानेवाली साउथ बिहार एक्सप्रेस यहाँ से होते हुए जाती है। बोकारो के इस्पात का कारखाना खुल जाने के बाद इसका महत्व और भी बढ़ जायगा। इसके पास में एक छोटी सी कोयले की खान है जिसमें

निम्न श्रेणी का कोयला पाया जाता है। दामोदर घाटी निगम के द्वारा यहाँ एक विशाल विद्युदुत्पादन केंद्र बनाया जा रहा है जो पूरा होने पर दक्षिणी बिहार की विद्युत् की माँग पूरी करने लगेगा। [शि० नं० स०]

चंद्रमा पृथ्वी का उपग्रह (Satellite) है।

आकार तथा कक्षा—ग्रहों के सापेक्ष उपग्रहों के व्यासों की तुलना में इसका व्यास सबसे बड़ा ठहरेगा। यह बुध के व्यास के ¾ तथा पृथ्वी के व्यास के ¼ से बड़ा है तथा इसका मान २,१६० मील है। यदि पृथ्वी के विषुवद्वृत्त (equator) का व्यास १ मान लें तो चंद्रमा का व्यास ०·२७२ है। इसका पृष्ठतल पृथ्वी के पृष्ठतल के लगभग १४वें भाग के तुल्य है। इसका आयतन पृथ्वी के आयतन के लगभग ५०वें भाग के बराबर है। चंद्रमा का लंबन ५७′ २·५४″ है। इसकी पृथ्वी से औसत दूरी २,३८,८६० मील है। यह दूरी पृथ्वी तथा चंद्रमा के केंद्रों की दूरी है। पृथ्वी के निकटतम होने पर चंद्रमा और पृथ्वी के पृष्ठतलों की दूरी २,२०,९५७ मील के लगभग होती है।

चंद्रमा की कक्षा दीर्घवृत्ताकार है। इसकी एक नाभि में पृथ्वी है। चंद्रकक्षा का जो भाग पृथ्वी के निकटतम है उसे चंद्रनीच (Perigee) तथा जो दूरतम है उसे चंद्रोच्च (Apogee) कहते हैं। पृथ्वी से चंद्रोच्च की दूरी २,५२,७१० मील तथा चंद्रनीच से २,२१,४६३ मील है। इसीलिये नीच विंदु पर चंद्रमा का कोणीय व्यास ३३′ ३०″ तथा उच्च विंदु पर २९′ २१″। माध्य कोणीय व्यास ३१′ २५·५″ है। नीच तथा उच्च विंदु को मिलानेवाली रेखा को नीचोच्च रेखा (Apsidal line) कहते हैं। चंद्रमा की माध्य उत्केंद्रता (Eccentricity) ०·०५५ है। चंद्रमा की कक्षा पृथ्वी की कक्षा के धरातल में नहीं है। यह उससे न्यूनतम ४° ५९′ तथा अधिकतम ५° १८′ का कोण बनाती है। इस प्रकार चंद्रमा की कक्षा का पृथ्वी की कक्षा से माध्य झुकाव ५° ८′ ३०″ है। इस झुकाव के कारण चंद्रमा की आधी कक्षा पृथ्वी की कक्षा के ऊपर और आधी नीचे है। चंद्रमा की कक्षा पृथ्वी की कक्षा को दो स्थानों पर काटती है। इनको पात (Nodes) कहते हैं। जिस विंदु से चंद्रमा पृथ्वी की कक्षा के ऊपरी भाग को जाता है उसे आरोह पात (Ascending node) तथा
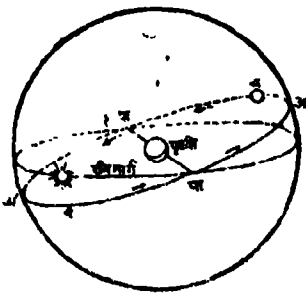
चित्र १. रविमार्ग की तुलना में चंद्रमा की दृष्ट गति
पा. आरोह पात; पा.′ अवरोह पात तथा चं. चंद्रमा।

जिस विंदु से नीचे की तरफ जाता है उसे अवरोह पात (Descending node) कहते हैं। पात विंदुओं को मिलानेवाली रेखा को पातरेखा (Nodal line) कहते हैं। सूर्य सदा क्रांतिवृत्त (ecliptic) में जाता प्रतीत होता है तथा क्रांतिवृत्त का विषुवद्वृत्त से झुकाव २३° २७′ है। जब चंद्रमा का आरोहपात वसंत विषुव (Vernal equinox) पर होता है, तो चंद्रमा की कक्षा विषुवद्वृत्त से २८° ३५′ का कोण बनाती है और चंद्रमा विषुवद्वृत्त के ५७° १०′ ऊपर नीचे जाता है। जब चंद्रमा का अवरोहपात वसंतविषुव पर होता है, तो चंद्रमा विषुवद्वृत्त से १८° १९′ का कोण बनाता है और चंद्रमा विषुवद्वृत्त के ३६° ३८′ ऊपर नीचे जाता है। इसका प्रभाव चंद्रमा की दृश्य ऊँचाई पर पड़ता है।

चंद्रमा की कलाएँ (Phases) तथा भूप्रकाश — हमें चंद्रबिंब का आधा भाग दिखलाई देता है। चंद्रमा में अपना प्रकाश नहीं है। यह सूर्य की किरणों से प्रकाशित होता है। चंद्रमा का जो भाग सूर्य की ओर होता है, वही प्रकाशित होता है। यदि चंद्रमा की कक्षा को पृथ्वी की कक्षा में मान लें, तो पूर्णिमा को चंद्रमा का दृश्य भाग सूर्य के सामने होगा। अतः यह पूरा प्रकाशित दिखलाई पड़ता है। अमावास्या को पृथ्वी से चंद्रमा और सूर्य एक ही सीध में होंगे। इसलिये चंद्रमा का दृश्य भाग अप्रकाशित रहने से दिखलाई नहीं पड़ता। अमावास्या के दूसरे दिन से पूर्णिमा तक शुक्लपक्ष तथा पूर्णिमा के बाद की प्रतिपदा से अमावास्या तक कृष्ण पक्ष होता है। शुक्लपक्ष में चंद्रमा का दृश्य भाग उत्तरोत्तर कम प्रकाशित होता है। इसे चंद्रकलाओं की वृद्धि तथा ह्रास कहते हैं। चंद्रमा के शृंग सूर्य से विरुद्ध दिशा में दिखलाई पड़ते हैं। एक अमावास्या से दूसरी अमावास्या तक चांद्रमास होता है। चंद्रमा सूर्य के सापेक्ष लगभग १२° पूर्व की ओर जाता है। यह चांद्रमास की इकाई तथा इसे
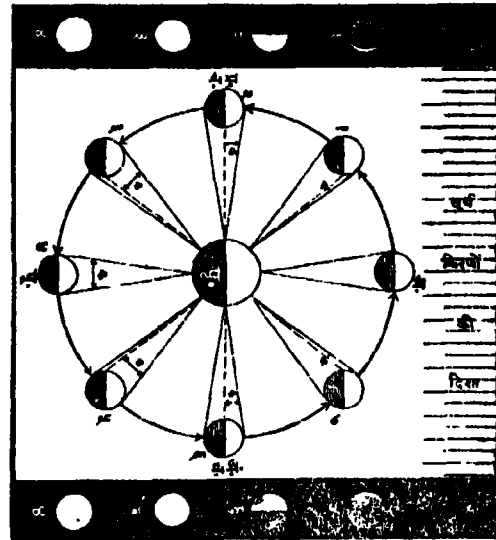
चित्र २. चंद्रमा की कलाएँ तथा भूप्रकाश का कारण। जैसे जैसे चंद्रमा पृथ्वी के चतुर्दिक् घूमता है (१, २, ३, और ४), उसका प्रदीप्त गोलार्ध पृथ्वी की ओर अधिक घूमता जाता है (कोण क)। आगे (५, ६, तथा ७) क्रिया उलटी हो जाती है। चंद्रमा से देखने पर पृथ्वी की कलाएँ भी वही दृष्टिगोचर होंगी, किंतु इनका क्रम विपरीत होगा। अमावास्या को पृथ्वी पूर्ण होगी और चंद्रमा की अँधेरी तरफ बहुत अधिक प्रकाश फेंकेगी, जिससे उसपर कुछ उजाला हो जायगा।

पू० पूर्णिमा; अ० अमावास्या।

तिथि कहते हैं। चांद्रमास में ३० तिथियाँ होती हैं। चंद्रमा पूर्णिमा के दिन प्रायः निश्चित नक्षत्रों पर दिखाई देता है। अतः वैदिक काल से ही चांद्र मासों के नाम उन नक्षत्रों के नाम पर चैत्र, वैशाख आदि रखे गए हैं। चंद्रमा पर पृथ्वी का प्रकाश भी पड़ता है। प्रतिपदा से अष्टमी तक बिना यंत्र से भी देखने से हमें चंद्रमा का सूर्य से अप्रकाशित भाग भूमिप्रकाश से दिखलाई दे जाता है। चंद्रमा पर से पृथ्वी पूर्णिमा के चंद्रमा से

४० गुना चमकीली प्रतीत होगी। अधिकतम प्रकाशित पृथ्वी का काशानुपात (Albedo) •२६ है।

पृथ्वी की परिक्रमाएँ— चंद्रमा पृथ्वी की परिक्रमा २७ दिन ७ घंटे ४३ मिनिट ४७ सेकेंड (२७·३२१६६ दिन) में करता है। इसमें सात घंटे तक कम या अधिक हो सकते हैं। किसी नक्षत्र के सापेक्ष परिक्रमा में भी इसे इतना ही समय लगता है। अतः इसे नाक्षत्र मास कहते हैं। वसंतविषुव में अयन गति (precessional motion) के कारण उसके सापेक्ष यह २७·३२१५६ दिन में परिक्रमा करता है। इसे सायन (Tropical) मास कहते हैं। सूर्य के सापेक्ष चंद्रमा २६ दिन १२ घंटे ४४ मिनिट २·७८ सेकेंड (२६·५३०५६ दिन) में परिक्रमा करता है। इसे संयुति (Synodical) मास कहते हैं। यह चांद्र मास के तुल्य होता है। इसमें १३ घंटों तक का अंतर पड़ सकता है। चंद्रकक्षा की नीचोच्च रेखा स्थिर नहीं रहती। यह पूर्वगमन (progression) से ३२३२·६ दिन में एक परिक्रमा करती है। अतः चंद्रमा को उच्च बिंदु से चलकर पुनः ऊच्च बिंदु पर पहुँचने में २७·५५४५५ दिन लगते हैं। इसे परिमास (Anomalistic month) कहते हैं। चंद्रमा की पातरेखा भी स्थिर नहीं रहती। यह १८·६ वर्ष (६७९३·५ दिन) में पश्चगमन (retrogation) से एक परिक्रमा करती है। अतः चंद्रमा को आरोहपात से पुनः उसी बिंदु पर पहुँचने के लिये २७·२१२२२ दिन लगते हैं। इसे पात (Nodal) मास कहते हैं।

चंद्रकंपन (Libration) — अन्य आकाशपिंडों की तरह चंद्रमा भी अपने अक्ष की परिक्रमा करता है। विशेषता यह है कि यह परिकमा उतने समय में पूरी होती है, जितने में चंद्रमा पृथ्वी को परिक्रमा करता है। इसके प्रभाव से हमें चंद्रमा का सदा वही आधा भाग दिखलाई पड़ता है। किंतु कुछ कारणों से हमें आधे से अधिक भाग दिखलाई पड़ जाता है। यह कंपन के
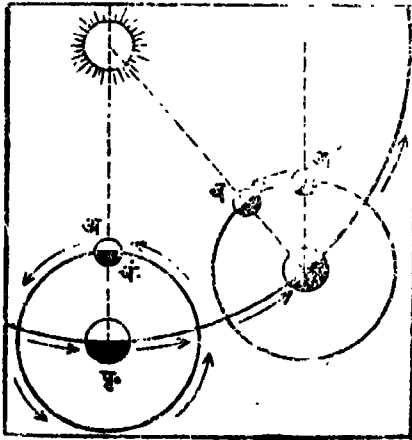
चित्र ३· नाक्षत्र तथा संयुति परिक्रमण
अ. सूर्य के साथ युति का स्थान; अ'. एक पूर्ण नाक्षत्र परिक्रमा के पश्चात्‌वाला स्थान तथा ब. अनुवर्ती सूर्ययुति का स्थान।

कारण है। नीच स्थान में चंद्रमा की कोणीय गति उच्च स्थान की अपेक्षा अधिक रहती है। इसके प्रभाव से चंद्रमा के अदृश्य भाग का ६° से ७° तक दिखाई दे जाता है। इसे भोगांशकंपन (Libration in longitude) कहते हैं। चंद्रमा का अक्ष स्थिर नहीं है। यह ८३° ११' से ८३° २९' तक डोलता रहता है। इसके परिणामस्वरूप चंद्रमा के ध्रुव प्रदेश बारी बारी से हमारी ओर झुकते रहते हैं। फलतः चंद्रमा के अदृश्य भाग के ध्रुवप्रदेशों का ६° ५०' भाग दिखलाई पड़ जाता है। इसे विक्षेपकंपन (Libration in latitude) कहते हैं। पृथ्वी की गति से दैनिक लंबन (Diurnal parallax) के कारण हमें चंद्रमा का १° २' अदृश्य भाग दिखाई दे जाता है। इसे दैनिक कंपन (Diurnal libration) कहते हैं। इन सब कंपनों के प्रभाव से चंद्रमा का ५९ प्रति शत भाग दिखलाई पड़ता है। शेष ४१ प्रति शत सदा अदृश्य रहता है। कंपन से यह तात्पर्य नहीं कि एक पक्ष को किसी निश्चत तिथि को किसी दूसरे चांद्रमास की उसी तिथि जैसा अदृश्य भाग प्रकाशित होता है, प्रत्युत इसका तात्पर्य यह है कि चंद्रमा की अदृश्य सीमा का कभी एक ओर कभी अन्य भाग दिखलाई पड़ जाता है।

चमक की तीव्रता — यह कई बातों पर निर्भर करती है, जैसे चंद्रमा की पृथ्वी से दूरी, क्षितिज से उन्नयन (elevation), सूर्य से कोणीय दूरी, तथा प्रदेशविशेष। परावर्तन (reflection) में चंद्रधरातल निकृष्ट है तथा इसमें इसके भूरे समुद्री प्रदेश निकृष्टतम। इसलिये चमक की तीव्रता चंद्रकला की अनुपाती नहीं है। अच्छी स्थिति में पूर्णिमा के दिन नाक्षत्र इकाई (stellar unit) में चंद्रमा की चमक—१२·५५ है, जब कि सूर्य की—२६·७२ है। इस प्रकार चंद्रमा की चमक सूर्य की चमक के १/४,००,००० के बराबर है। इसका धरातल सूर्यप्रकाश का केवल ७% परावर्तित करता है। अतः इसका काशानुपात (Albedo) ·०७ है।

भौतिक स्थिति — चंद्रमा का घनत्व पानी के घनत्व का ३·३३ तथा पृथ्वी के घनत्व का ०·६०४३ है। इसका द्रव्यमान पृथ्वी के द्रव्यमान का १:८१·२६ है। इसका गुरुत्वाकर्षण पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण का ०·१६५ है। चंद्रमा के सभी उत्थित (elevated) प्रदेश तीक्ष्ण (sharp) हैं। चंद्रमा में धुँधलापन, बादल अथवा तूफान कभी नहीं देखा गया। चंद्रमा यदि किसी नक्षत्र का प्रच्छादन करता है, (occultation),तो वह एकाएक लुप्त हो जाता है। इससे ज्ञात होता है कि चंद्रमा में प्रभावकारी वातावरण नहीं है। आधुनिक शोधों से पता चला है कि यह पृथ्वी के वातावरण के ०·०००००१ से अधिक नहीं। गुरुत्वाकर्षण कम होने के कारण यह पृथ्वी के वातावरण की अपेक्षा अधिक दूर फैला है, अतः प्रभावहीन है। वातावरण का दबाव शून्यप्राय होने से चंद्रमा पर पानी भी नहीं है। चंद्रमा का धरातलताप मध्याह्न के समय १००° सें० से ऊपर रहता है तथा रात्रि में –५०° सें० से भी कम हो जाता है। इन भौतिक परिस्थितियों में चंद्रमा मृत पिंड है।

चंद्रमा की बाह्य आकृति — कम कलाओं के चंद्रमा को दूरदर्शी से देखने पर उसकी धरातलीय विशेषताएँ अधिक स्पष्ट होती हैं। उसी समय प्रकाशांतरेखा (Teminator) के पास पर्वतों और क्रेटरों की छाया स्पष्ट दिखाई देती है। सागर चंद्रमा के धरातल के चिकने, भूरे तथा सबसे निम्न भाग हैं। इनका क्षेत्रफल दृश्य धरातल के लगभग आधे के तुल्य है। चंद्रमा में पानी नहीं है। पहले पहल दूरदर्शी से देखने पर सागर जैसे दिखाई पड़ने के कारण इन भागों का नाम सागर रख दिया गया, जो अभी तक प्रचलित है।

पर्वतशृंखलाएँ — ये चंद्रमा के उभरे भाग हैं। लाइपनिट्ज़ (Leibnistz) पर्वत की ऊँचाई ३०,००० फुट, डोरफेल्स (Doerfels) की २०,००० फुट तथा रुक (Rook) पर्वत की १६,००० फुट के लगभग है। कुछ पर्वतों की ऊँचाई केवल ६,००० फुट है। समुद्र तल के अभाव में ये ऊँचाइयाँ समीपस्थ धरातल के सापेक्ष है। क्रेटर चंद्रमा

के, वृत्ताकार, अँगूठी के आकार के, उभरे प्रदेश हैं। ये पृथ्वी के ज्वालामुखी जैसे प्रतीत होते हैं, इसी से इनका यह नाम पड़ा। कुछ क्रेटरों का व्यास १८० मील लंबा है, जो पृथ्वी के ज्वालामुखों की अपेक्षा बहुत बड़ा है। अतः कुछ विद्वान् इन्हें ज्वालामुख नहीं मानते। इनके अनुसार उल्कापात से तथा अन्य विद्वानों के अनुसार प्रारंभिक रासायनिक प्रक्रियाओं से इनका जन्म हुआ। कुछ क्रेटरों के भीतर क्रेटर तथा कुछ की दीवारों पर भी क्रेटर देखे गए हैं। अब तक ३,००,००० क्रेटर गिने जा चुके हैं। चंद्रमा में लंबी तथा गहरी दरारें (cracks) भी दिखलाई पड़ती हैं। अब तक ५०० दरारों का पता लग चुका है। ये प्रायः सागरप्रदेशों में पाई जाती हैं। कुछ क्रेटरों से चमकती किरणें निकलती दिखलाई पड़ती हैं। इनका कारण उन क्रेटरों में पड़ी हुई सूक्ष्म धूलि से परावर्तित किरणें हैं। चंद्रमा के दृश्य धरातल के बहुत से नक्शे बन चुके हैं।

चंद्रग्रहण — पूर्णिमा को पृथ्वी चंद्र और सूर्य के बीच रहती है। पृथ्वी के छाया शंकु में प्रविष्ट होने पर चंद्रमा प्रकाशहीन हो जाता है। इसे चंद्रग्रहण कहते हैं। जब चंद्रमा पूरी तरह से पृथ्वी की छाया से ढक जाता है, तो संपूर्ण, और यदि उसका कुछ भी अंश ढके तो खंड, चंद्रग्रहण होता है। अधिक गति के कारण चंद्रमा स्वयं पृथ्वी की छाया में प्रविष्ट होता है, अतः चंद्रग्रहण चंद्रमा के पूर्वी भाग से प्रारंभ होता है। प्रत्येक पूर्णिमा को चंद्रग्रहण इसलिये नहीं लगता कि एक तो चंद्रकक्षा भूमिकक्षा से ५° ८' कोण पर झुकी है, दूसरे उसकी पातरेखा भी चल है। पातरेखा की परिक्रमा का काल लगभग १८ वर्ष है। अतः इस अवधि के बाद ग्रहणों के क्रम की पुनरावृत्ति होती है। इस समय को चांद्रचक्र (Saros) कहते हैं।

ज्वारभाटा — ये सूर्य और चंद्रमा के संयुक्त आकर्षण के कारण होते हैं। सूर्य और चंद्रमा के आकर्षण २·२ : १ के अनुपात में हैं। युतिवियुति (Syzygy), अर्थात् पूर्णिमा अमावास्या, में संयुक्त आकर्षण ३·२ होता है। इसीलिये इस समय ज्वारभाटे ऊँचे होते हैं। अष्टमी के दिन सूर्य और चंद्रमा के आकर्षण की दिशा परस्पर विरुद्ध होती है। अतः संयुक्त आकर्षण १·२ का अनुपाती होता है। इसलिये ज्वारभाटा निम्न होता है। ज्वारभाटे पर सूर्य और चंद्रमा की क्रांति (declination) तथा उनकी पृथ्वी से दूरी का भी असर पड़ता है। इसीलिये विषुवों (equinoxes) पर पड़नेवाली युतिवियुति में वर्ष के उच्चतम तथा अयनों (solstices) के समय की अष्टमियों में निम्नतम ज्वार भाटे आते हैं।

रूस के शोध — रूसियों ने ४ अक्टूबर, १९५९ को एक स्वयंचालित अंतर्ग्रही स्टेशन चंद्रमा की ओर छोड़ा और इसने ७ अक्टूबर, १९५९ को मास्को समय से ०६:३० पर चंद्रमा के अदृश्य भाग के ४० मिनिट तक फोटो लिए। इनकी विशेषता यह थी कि इनमें चंद्रमा के कुछ दृश्य भाग के भी फोटो ले लिए, जिनकी सहायता से अदृश्य धरातल का दृश्य से संबंध जोड़ने में सहायता मिल सकी। इन चित्रों के आधार पर रूसी वैज्ञानिकों ने चंद्रमा का एक मानचित्र भी बनाया है। इन चित्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि चंद्रमा के अदृश्य भाग की भौतिक परिस्थितियाँ दृश्य भाग से विशेष भिन्न नहीं हैं। अदृश्य भाग के आकार में इतनी विशेषता अवश्य है कि इसमें गढ़े कम हैं। दृश्य भाग में समुद्र तथा क्रेटर बहुत हैं, इसमें अपेक्षाकृत कम। इसमें केवल एक ही पर्वतमाला है, जिसका नाम सोवियट पर्वतमाला (Soviet mountains) रखा गया है। यह चंद्रमा की विषुव रेखा को काटती हुई उत्तर दक्षिण की ओर २,००० किलोमीटर तक फैली हुई है। सर्वाधिक उपलब्ध अवनति (depression) के भाग का नाम मॉस्को सागर रखा गया है। इसका व्यास ३०० किलोमीटर है। यह चंद्रमा के २०° और ३०° उत्तरी अक्षांशों तथा १४०° और १६०° देशांतरों के भीतर विद्यमान है। क्रेटरों तथा समुद्रों के नाम रूसी वैज्ञानिकों के नाम पर रखे गए हैं। ये फोटो उस समय लिए गए थे जब अदृश्य भाग पूरी तरह प्रकाशित था। अतः इससे पर्वतों की छायाओं का ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो सका। इन चित्रों से चंद्रमा के विकास तथा क्रेटरों के बारे में ठीक ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती है। द्वितीय सोवियत अंतरिक्षयान द्वारा सीधे नापने से यह भी सिद्ध हो गया है कि चंद्रमा में ऐसा चुंबकक्षेत्र नहीं है जिसकी माप पृथ्वी के चुंबकक्षेत्र की भाँति यंत्रों द्वारा की जा सके। ११ जनवरी, १९६३ को प्रकाशित तास के समाचार के अनुसार रूसी वैज्ञानिकों ने चंद्रमा के धरातल की ५० से ६० किलोमीटर गहराई पर १,०००° सें० ताप नापा है।

आगामी ७ वर्षों के भीतर ही रूसी तथा अमरीकन वैज्ञानिक चंद्रमा पर मानव को भेजने की योजना बना रहे हैं। यदि वे सफल हो गए, तो चंद्रमा संबंधी कुछ वर्तमान धारणाओं को हमें कदाचित् बदलना पड़ेगा। [मु० ला० श०]

चंद्रवंश एक प्रमुख प्राचीन भारतीय क्षत्रियकुल। आनुश्रुतिक साहित्य से ज्ञात होता है कि आर्यों के प्रथम शासक (राजा) वैवस्वत मनु हुए। उनके नौ पुत्रों से सूर्यवंशी क्षत्रियों का प्रारंभ हुआ। मनु की एक कन्या भी थी—इला। उसका विवाह बुध से हुआ जो चंद्रमा का पुत्र था। उनसे पुरुरवस् की उत्पत्ति हुई, जो ऐल कहलाया और चंद्रवंशियों का प्रथम शासक हुआ। उसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी, जहाँ आज प्रयाग के निकट झूँसी बसी है। पुरुरवा के छः पुत्रों में आयु और अमावसु अत्यंत प्रसिद्ध हुए। आयु प्रतिष्ठान का शासक हुआ और अमावसु ने कान्यकुब्ज में एक नए राजवंश की स्थापना की। कान्यकुब्ज के राजाओं में जह्नु प्रसिद्ध हुए जिनके नाम पर गंगा का नाम जाह्नवी पड़ा। आगे चलकर विश्वरथ अथवा विश्वामित्र भी प्रसिद्ध हुए, जो पौरोहित्य प्रतियोगिता में कोसल के पुरोहित वसिष्ठ के संघर्ष में आए। आयु के बाद उसका जेठा पुत्र नहुष प्रतिष्ठान का शासक हुआ। उसके छोटे भाई क्षत्रवृद्ध ने काशी में एक राज्य की स्थापना की। नहुष के छह पुत्रों में यति और ययाति सर्वमुख्य हुए। यति संन्यासी हो गया और ययाति को राजगद्दी मिली। ययाति शक्तिशाली और विजेता सम्राट् हुआ तथा अनेक आनुश्रुतिक कथाओं का नायक भी। उसके पाँच पुत्र हुए—यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु। इन पाँचों ने अपने अपने वंश चलाए और उनके वंशजों ने दूर दूर तक विजय की। आगे चलकर ये ही वंश यादव, तुर्वसु, द्रुह्यु, आनव और पौरव कहलाए। ऋग्वेद में इन्हीं को पंचकृष्टयः कहा गया है। यादवों की एक शाखा हैहय नाम से प्रसिद्ध हुई और दक्षिणापथ में नर्मदा के किनारे जा बसी। माहिष्मती हैहयों की राजधानी थी और कार्तवीर्य अर्जुन उनका सर्वशक्तिमान् और विजेता राजा हुआ। तुर्वसु के वंशजों ने पहले तो दक्षिण पूर्व के प्रदेशों को अधीनस्थ किया, परंतु बाद में वे पश्चिमोत्तर चले गए। द्रुह्युओं ने सिंध के किनारों पर कब्जा कर लिया और उनके राजा गांधार के नाम पर प्रदेश का नाम गांधार पड़ा। आनवों की एक शाखा पूर्वी पंजाब और दूसरी पूर्वी बिहार में बसी। पंजाब के आनव

कुल में उशीनर और शिवि नामक प्रसिद्ध राजा हुए। पौरवों ने मध्यदेश में अनेक राज्य स्थापित किए और गंगा-यमुना-दोआब पर शासन करनेवाला दुष्यंत नामक राजा उनमें मुख्य हुआ। शकुंतला से उसे भरत नामक मेधावी पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने दिग्विजय द्वारा एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की और संभवतः देश को भारतवर्ष नाम दिया।

चंद्रवंशियों की मूल राजधानी प्रतिष्ठान में, ययाति ने अपने छोटे लड़के पुरु को उसके व्यवहार से प्रसन्न होकर— कहा जाता है कि उसने अपने पिता की आज्ञा से उसके सुखोपभोग के लिये अपनी युवावस्था दे दी और उसका बुढ़ापा ले लिया— राज्य दे दिया। फिर अयोध्या के ऐक्ष्वाकुओं के दबाव के कारण प्रतिष्ठान के चंद्रवंशियों ने अपना राज्य खो दिया। परंतु रामचंद्र के युग के बाद पुनः उनके उत्कर्ष की बारी आई और एक बार फिर यादवों और पौरवों ने अपने पुराने गौरव के अनुरूप आगे बढ़ना शुरू कर दिया। मथुरा से द्वारका तक यादव फैल गए और अंधक, वृष्णि, कुकुर और भोज उनमें मुख्य हुए। कृष्ण उनके सर्वप्रमुख प्रतिनिधि थे। बरार और उसके दक्षिण में भी उनकी शाखाएँ फैल गईं। पांचाल में पौरवों का राजा सुदास अत्यंत प्रसिद्ध हुआ। उसकी बढ़ती हुई शक्ति से सशंक होकर पश्चिमोत्तर भारत के दस राजाओं ने एक संघ बनाया और परुष्णी (रावी) के किनारे उनका सुदास से युद्ध हुआ, जिसे दाशराज्ञ युद्ध कहते हैं और जो ऋग्वेद की प्रमुख कथाओं में एक का विषय है। किंतु विजय सुदास की ही हुई। थोड़े ही दिनों बाद सुदास के शत्रु संवरण और उसके पुत्र कुरु का युग आया। कुरु के ही वंशज कौरव कहलाए और आगे चलकर दिल्ली के पास इंद्रप्रस्थ और हस्तिनापुर उनके दो प्रसिद्ध नगर हुए। कौरवों और पांडवों का विख्यात महाभारत युद्ध भारतीय इतिहास की विनाशकारी घटना सिद्ध हुआ। सारे भारतवर्ष के राजाओं ने उसमें भाग लिया। पांडवों की विजय तो हुई, परंतु वह निःसार विजय थी। उस युद्ध का समय प्रायः १४०० ई० पू० माना जाता है। उसके बाद अनेक सूर्यवंशी अथवा चंद्रवंशी राजवंश शासन तो करते रहे पर न तो उनका पूर्ण और ब्योरेवार इतिहास ही मिलता है और न वे बहुत शक्तिशाली ही थे। ई० पू० छठी सदी में मगध साम्राज्य के विकास तक राजनीतिक इतिहास का एक प्रकार से अंधकार युग था और धीरे धीरे प्राचीन राजवंशों के आनुश्रुतिक युग का अंत हो गया। [वि० पा०]

चंद्रवल्ली मैसूर के चीतलदुर्ग जिले में चित्रदुर्ग पहाड़ी के पश्चिम में स्थित चंद्रवल्ली दीर्घकाल से किंवदंतियों का विषय एवं सातवाहन (आंध्र) मुद्राओं का स्रोत रहा है।

पुरातत्ववेत्ताओं के उत्खनन से यहाँ दो सांस्कृतिक स्तर प्राप्त हुए हैं। प्रारंभिक स्तरों की संस्कृति मेगालिथ कब्रों की सभ्यता के निकट है। यह सभ्यता की प्रथम अवस्था है जिसमें सिक्के या चित्रित मृत्पात्र नहीं मिलते। उत्तर पाषाणकाल के प्रामाणिक अवशेषों का यहाँ अभाव है। इस संस्कृति के अंतिम दिनों में आंध्र सभ्यता के चिह्न मिलने लगते हैं। इसकी सूचना काँच की चूड़ियों, श्वेत या पीले रंग से चित्रित पात्रों एवं आंध्र सिक्कों से मिलती है। रोमन सम्राट् आगस्टस (२८ ई० पू०—१४ ई०) और टाइबेरियस (१४ ई०-३७ ई०) के दीनार, यूनानी ऐंफोरा (amphora) एवं रूलेटेड (rouletted) मृद्भांड भी यहाँ मिले हैं, जिससे इनके भूमध्यसागरीय प्रदेशों से संबंध प्रमाणित होते हैं। स्पष्ट है, यह नगर आंध्र सभ्यता के प्रमुख केंद्रों एवं रोमन व्यापारिक क्षेत्र में विशिष्ट स्थान रखता रहा होगा। चंद्रवल्ली की कहानी समीपवर्ती ब्रह्मगिरि की संस्कृति से पर्याप्त साम्य रखती है।

[र० चं० त्रि०]

चंद्रशेखर आज़ाद का जन्म अलीराजपुर स्टेट के भावरा नामक स्थान में १९०८ के लगभग हुआ था। पिता का नाम पं० सीताराम और माता का नाम जगरानी देवी था। सीताराम डाक विभाग में बहुत मामूली नौकरी करते थे, इसलिये चंद्रशेखर संस्कृत पढ़ने के लिये काशी भेजे गए। ब्राह्मण होने के नाते मुफ्त छात्रनिवास में रहते और क्षेत्र में खाते। कभी-कभी भक्तों की ओर से संस्कृत विद्यार्थियों को लोटा, कंबल और दक्षिणा भी मिलती थी। १९२१ में जब गांधी जी का पहला आंदोलन चला, अन्य कई संस्कृत विद्यार्थियों के साथ चंद्रशेखर भी आंदोलन में कूद पड़े और गिरफ्तार हो गए। कम उम्र होने के कारण उन्हें १५ बेंत की सजा दी गई। जेल में बेंत लगाए गए। एक एक बेंत पड़ने के साथ वह महात्मा गांधी की जय बोलते जाते थे, जो उन दिनों भारतीय स्वातंत्र्य युद्ध का नारा था।

आज़ाद बेंत खाकर जब जेल से निकले, काशी की जनता ने ज्ञानवापी में एक सभा करके उनका स्वागत किया। वह फिर आंदोलन के लिये तैयार होने लगे, पर गांधी जी ने चौरीचौरा कांड के कारण आंदोलन बंद कर दिया।

इन्हीं दिनों क्रांतिकारी फिर से कार्यक्षेत्र में आए। चंद्रशेखर आज़ाद अब विद्यापीठ के विद्यालय में भरती हुए थे। वहाँ उनका परिचय ऐसे साथियों से हुआ जो क्रांतिकारी बन चुके थे, इस प्रकार हर बेंत पर महात्मा गांधी की जय बोलनेवाले चंद्रशेखर आज़ाद असहयोगी से क्रांतिकारी बन गए। आज़ाद का नाम 'आज़ाद' असहयोग के युग में ही पड़ चुका था। उनसे मजिस्ट्रेट ने नाम आदि पूछा— बताया मेरा नाम आज़ाद है, मेरे बाप का नाम स्वाधीन है और घर जेलखाना है। क्रांतिकारी रूप में चंद्रशेखर आज़ाद ने सब तरह के जोखिम के कामों में हिस्सा लिया। लखनऊ में काकोरी के पास १९२५ के ९ अगस्त को जो ट्रेन डकैती हुई थी, उसमें उन्होंने पं० रामप्रसाद बिस्मिल के नेतृत्व में हिस्सा लिया। बाद को गिरफ्तारियाँ हुईं, षड्यंत्र का मुकदमा चला पर आज़ाद गिरफ्तार न किए जा सके। वह भागकर झाँसी आदि कई स्थानों पर रहे। काकोरी षड्यंत्र में चार क्रांतिकारियों—रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकउल्ला, रोशनसिंह और राजेंद्र लाहिड़ी—को फाँसी हुई। चंद्रशेखर गिरफ्तार न किए जा सके।

चंद्रशेखर आज़ाद ने कुछ क्रांतिकारियों को जेल से भगाने की भी चेष्टा की, वह उसमें सफल न हुए, पर उन्होंने दल को भगतसिंह के साथ फिर से संगठित किया। इस संबंध में सबसे बड़ी बात यह है कि पहले भी दल का उद्देश्य ऐसे समाज की स्थापना था जिसका उद्देश्य मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का अंत करना था, पर अब दल का नाम बदलकर हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' कर दिया गया, और यह स्पष्ट घोषणा कर दी गई कि दल का लक्ष्य समाजवाद है।

यद्यपि चंद्रशेखर आज़ाद अब उत्तर भारत के क्रांतिकारियों में सबसे पुराने थे, पर उन्होंने बराबर सबसे अधिक जोखिम के कामों में भाग लिया। उनका जीवन बहुत सादा था, यद्यपि क्रांतिकारी दल के हजारों रुपए उनके हाथ में रहते थे। सामाजिक विचारों में वह बहुत ही क्रांतिकारी थे। उनका सारा जीवन देश के ही लिये था।

आजाद के एक एक साथी गिरफ्तार होते चले गए, पर आजाद 'आजाद' ही बने रहे। भगतसिंह और बटुकेश्वरदत्त ने असेंबली में बम फेंका और उसी में वह गिरफ्तार हो गए। इसके बाद लाहौर षड्यंत्र चला, जिसमें कितने ही क्रांतिकारी गिरफ्तार हुए, पर आजाद गिरफ्तार नहीं हो सके। 'साइमन कमिशन' के 'बायकाट' के उपलक्ष्य में लाला लाजपतराय पर लाठियाँ पड़ीं। इसी चोट के कारण वह बाद को शहीद हो गए। देश के लोग इससे बहुत विचलित हुए, अब क्रांतिकारियों ने इसका बदला लेने का निश्चय किया और सैंडर्स नामक एक अंग्रेज पुलिस अफसर को मारा गया। चार क्रांतिकारियों ने इसमें भाग लिया था, चंद्रशेखर आजाद, भगतसिंह, जयगोपाल और राजगुरु। इनमें से जयगोपाल मुखबिर बन गया और लाहौर षड्यंत्र में यदि आजाद गिरफ्तार होते तो सबसे प्रमुख अभियुक्त होते पर वह फिर गिरफ्तार नहीं हो सके। लाहौर षड्यंत्र में तीन व्यक्तियों को फाँसी हुई, जिनके नाम थे : भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव।

इस प्रकार आजाद को क्रियाशील क्रांतिकारी जीवन व्यतीत करते हुए आठ साल से ऊपर हो गए थे, जो भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन में एक रिकार्ड माना जा सकता है। स्मरण रहे कि इन वर्षों के दौरान वह अत्यंत खतरनाक कामों में भाग लेते रहे।

पुलिस बुरी तरह आजाद के पीछे पड़ी हुई थी पर आजाद उनकी आँखों में धूल डालकर बराबर भागते जा रहे थे। जब वह किसी जगह को छोड़ देते थे तभी पुलिस वहाँ पहुँच पाती थी। १९३१ की २७ फरवरी के दिन १० बजे चंद्रशेखर आजाद इलाहाबाद के अलफ्रेड पार्क में पुलिस द्वारा घेर लिए गए। दोनों तरफ से गोलियाँ चलीं, आजाद का साथी पहले ही भाग निकला था, आजाद अकेले पुलिस टुकड़ी से लड़ते रहे और शहीद हो गए। कुछ जनश्रुति यह है, जिसका किसी प्रकार समर्थन नहीं हुआ है, कि आजाद ने जब देखा कि वह घेर लिए गए हैं, उन्होंने आत्महत्या कर ली।

सं० ग्रं० मन्मथनाथ गुप्त; क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास; रामप्रसाद बिस्मिल : आत्मकथा। [म० गु०]

चंद्रशेखर वेंकट रमण, भारतीय वैज्ञानिक, का जन्म ७ नवंबर, १८८८ को दक्षिण भारत के त्रिचनापल्ली नगर में हुआ। इनकी शिक्षा पहले ए० वी० एन० कालेज, त्रिचनापल्ली, में और तदनंतर प्रेसिडेंसी कालेज, मद्रास, में हुई। इन्होंने १९०४ ई० में बी० ए० और १९०७ ई० में एम० ए० की परीक्षाएँ उच्चतम विशेषताओं के साथ उत्तीर्ण कीं। फिर भारतीय वित्त विभाग में अधिकारी (१९०७–१९१७), कलकत्ता विश्वविद्यालय में भौतिकी के पालित प्रोफेसर (१९१७-१९३३) तथा बंगलोर के भारतीय विज्ञान संस्थान के भौतिकी विभाग के अध्यक्ष (१९३३-१९४८) रहे। १९४८ में ये बंगलोर में रमण अनुसंधान संस्थान के निदेशक और भौतिकी के राष्ट्रीय अनुसंधान के प्रोफेसर हैं।

इनके पिता विशाखपत्तनम् में गणित और भौतिकी के अध्यापक थे। पिता से गणित और भौतिकी का अध्ययन इन्होंने बाल्यकाल से ही शुरू किया। कालेज के अध्ययनकाल में ही इन्होंने शोधकार्य प्रारंभ कर दिया था। इनका पहला वैज्ञानिक निबंध 'फिलॉसॉफिकल मैगैजीन' में प्रकाशित हुआ। वैज्ञानिक आजीविका की संभावना न देख इन्होंने भारतीय वित्त विभाग में प्रवेश के लिये प्रतियोगिता की और सफल होने पर १० वर्षों तक इस विभाग की सेवा की। इन दिनों कामचलाऊ उपकरणों से वैज्ञानिक शोध कार्य में ये रत रहे और अनेक अनुसंधान निबंध प्रकाशित किए, जिसके फलस्वरूप कलकत्ता विश्वविद्यालय में भौतिकी के प्रोफेसर नियुक्त हुए। आर्थिक हानि सहकर भी इन्होंने यह पद स्वीकार कर लिया और १६ वर्षों तक प्रोफेसर रहे। फिर वहाँ से बँगलोर आए और अब तक वहीं कार्य कर रहे हैं।

भारत के वैज्ञानिक जीवन के अनेक क्षेत्रों में रमण ने अपना स्थान बना लिया है। इन्होंने अनेक प्रयोगशालाओं को सुसज्जित किया है और अंत में बंगलोर में रमण अनुसंधान संस्थान स्थापित कर विज्ञान के अनुसंधान में रचनात्मक सहयोग प्रदान किया है। इन्होंने इंडियन जर्नल आॉव फिजिक्स नामक पत्रिका की और इंडियन ऐकेडमी ऑव सायंस नामक संस्था की १९३४ ई० में स्थापना की। 'करेंट सायंस' नामक मासिक पत्रिका का भी संचालन कर रहे हैं। इन्होंने गत ५० वर्षों में सैकड़ों छात्रों का पथप्रदर्शन कर उन्हें शैक्षणिक, वैज्ञानिक और प्रशासनिक क्षेत्रों में ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित किया है।

इनके प्रथम अनुसंधान तारवाले वाद्यों पर थे। पीछे इन्होंने प्रकाशिकी (Optics) पर कार्य कर 'रमण प्रभाव' (देखें, रमण प्रभाव) का आविष्कार किया, जिसपर उन्हें दिसंबर, १९३० ई० में नोबेल पुरस्कार मिला। इस अनुसंधान से भौतिकी के अन्य क्षेत्रों के अनुसंधान कुछ समय तक फीके पड़ गए। प्रकाशिकी के साथ साथ ध्वानिकी पर भी इनका अनुसंधान महत्वपूर्ण रहा है। इन्होंने पराश्रव्य (ultrasonic) और अतिध्वानिक (hypersonic) आवृत्ति की ध्वनितरंगों से प्रकाशविवर्तन का सैद्धांतिक और प्रायोगिक अध्ययन किया है। मणिभों पर प्रकाश के प्रभाव से मणिभों के प्रकाशप्रकीर्णन, संदीप्ति (luminiscence) और प्रकाशअवशोषण से संबंधित वर्णक्रमीय व्यवहार का अध्ययन कर उन्होंने मणिभ गतिकी (Crystal Dynamics) की नींव डाली और हीरे, लेब्राडोराइट (Labradorite), चंद्रकांत (Moontsone), गोमेद (Agate), दूधिया पत्थर (Opal) और मोतियों (Pearls) के प्रकाशीय व्यवहार का विस्तार से अध्ययन किया। आजकल वे मानव नेत्र तथा प्रकाश और वर्णों के प्रत्यक्ष ज्ञान से संबंधित अनुसंधान में लगे हुए हैं।

१९२४ ई० में रमण ग्रेट ब्रिटेन की रॉयल सोसायटी के फेलो निर्वाचित हुए और इसके पाँच वर्ष बाद इन्हें नाइट की उपाधि प्राप्त हुई। दिसंबर, १९३० ई० में 'रमण प्रभाव' पर इन्हें नोबेल पुरस्कार मिला। अन्य संमानों में इन्हें रोम का मेट्यूसी पदक १९२८ में, रॉयल सोसायटी, लंदन, का ह्यूज पदक १९३० ई० में तथा फिलाडेलफिया के फ्रैंकलिन इंस्टिट्यूट का फ्रैंकलिन पदक १९४१ ई० में प्राप्त हुए। ये पैरिस और रूस की विज्ञान अकादमी, अमरीका की आप्टिकल सोसायटी और अनेक अन्य सोसायटियों तथा विद्वत्परिषदों के विदेशी सदस्य हैं। अनेक भारतीय तथा विदेशी विश्वविद्यालयों से इन्हें डाक्टर की संमानित उपाधियाँ मिली हैं।

चंद्रशेखरसिंह सामंत उड़ीसा निवासी भारतीय ज्योतिषी थे। इनका जन्म सन् १८३५ में पुरी के पास की खंडपाड़ा नामक एक छोटी रियासत के राजवंश में हुआ था। कुछ वैधानिक कठिनाइयों के कारण राजगद्दी अन्य को मिली तथा इन्होंने अपना जीवन गरीबी में बिताया।

उड़िया साहित्य के साथ साथ इन्हें संस्कृत के व्याकरण, काव्य तथा साहित्य की उच्च शिक्षा मिली। इनके पिता ने, जो स्वयं अच्छे विद्वान थे,

चंद्रशेखर वेंकट रमण (पृष्ठ १४४)

चंद्रशेखर वेंकट रमण

चर्चिल, सर विंस्टन ल्योनार्ड स्पेंसर (पृष्ठ १७४-७५)

[फोटो : ब्रिटिश इन्फार्मेशन सर्विसेज, ब्रिटिश दूतावास नई दिल्ली के सौजन्य से]

चेक (पृष्ठ २७६)

No. 756620 2nd August 1958

The .... Bank Ltd.

NEW DELHI.

Pay to Nagari Pracharini Sabha or Bearer

Rupees One hundred and fifty =

Rs 150/-

Jawaharlal Nehru
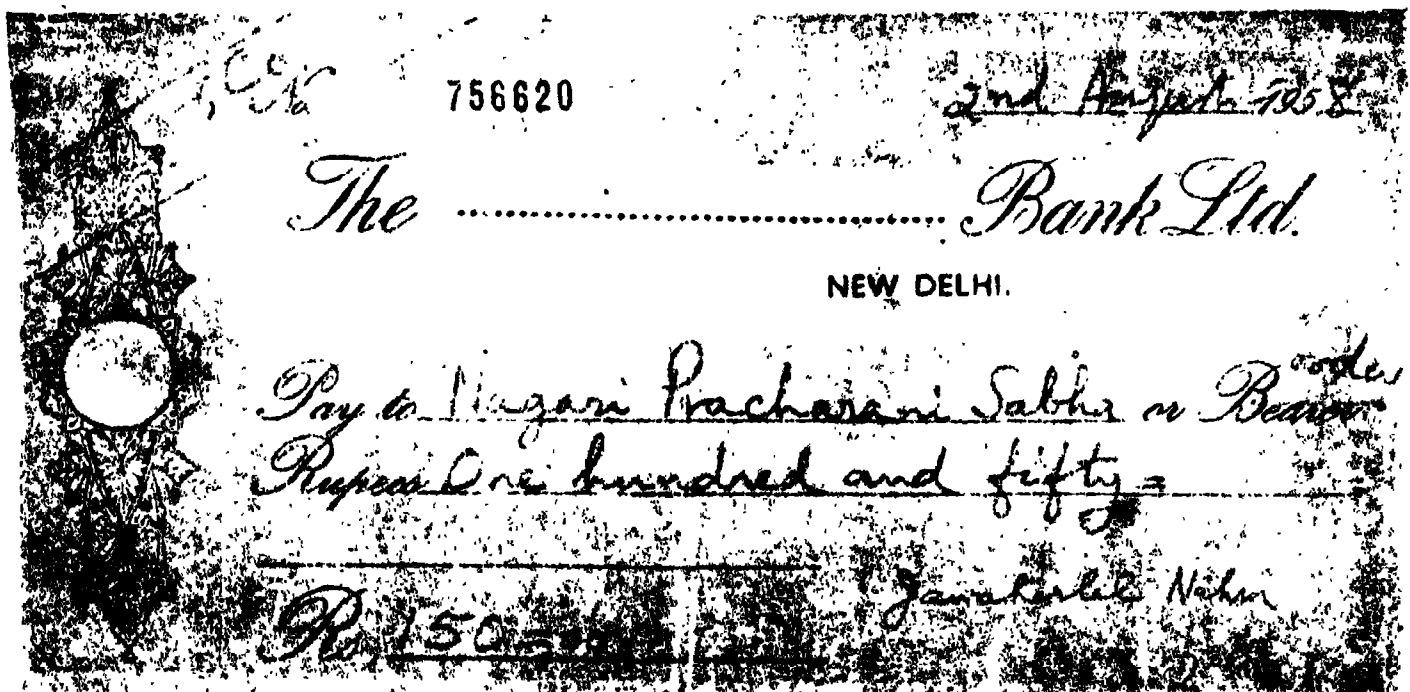
चेक का नमूना

इन्हें ज्योतिष का ज्ञान कराया। उड़िया और संस्कृत को छोड़ अन्य भाषाओं का ज्ञान इन्हें न था और न उस समय छपी हुई पुस्तकें ही उपलब्ध थीं, परंतु ग्रह, नक्षत्र और तारों की विद्या ने इन्हें आकर्षित किया। फलत: ताड़पत्रों पर हस्तलिखित, गणित ज्योतिष के प्राचीन सिद्धांत ग्रंथों का इन्होंने अध्ययन प्रारंभ किया। इन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि इन ग्रंथों के कथनों और निरीक्षण से देखी हुई बातों में बड़ा भेद था। अतएव इन्होंने आवश्यक सरल यंत्रों का स्वयं निर्माण किया तथा ग्रहों और नक्षत्रों के उदय, अस्त और गति का, बिना किसी दूरदर्शक यंत्र की सहायता के, निरीक्षण कर अपनी नापों और फलों को उड़िया लिपि तथा संस्कृत भाषा में लिखे सिद्धांतदर्पण नामक ग्रंथों में नियमानुसार क्रमबद्ध किया।

भारतीय ज्योतिषियों में केवल चंद्रशेखर ही ऐसे थे जिन्होंने चंद्रमा की गति के संबंध में स्वतंत्र तथा मौलिक रूप से चांद्र क्षोभ, विचरण और वार्षिक समीकार का पता लगाया। पहले के भारतीय ग्रंथों में इनका कहीं पता नहीं है। इन्होंने सौर लंबन की अधिक यथार्थ नाप भी ज्ञात की। बिना किसी दूरदर्शक की सहायता तथा गाँव में बनाए, सस्ते और सरल यंत्रों से ज्ञात की गई इनकी नापों की परिशुद्धता की भूरि भूरि प्रशंसा यूरोपीय विद्वानों ने की है।

मांडर (Maunder) के अनुसार यूरोपीय ज्योतिषियों द्वारा आधुनिक, बहुमूल्य एवं जटिल यंत्रों की सहायता से ज्ञात की हुई नापों और इनकी नापों में आश्चर्यजनक अत्यल्प अंतर है। यह अंतर बुध के नाक्षत्रकाल में केवल ०.००००७ दिन तथा शुक्र के नाक्षत्रकाल में केवल ०.००२८ दिन है। इनकी दी हुई ग्रहों की रविमार्ग (क्रांति वृत्त) से क्रांतिनति की नाप चाप की एक कला तक शुद्ध है। इन बातों से इनके कार्य की महत्ता का ज्ञान होता है।

ज्योतिष विद्या (फलित और गणित) से ग्रामवासियों की सेवा करते हुए, इन्होंने सारा जीवन गरीबी में साधुओं सा बिताया। ये बालकों के समान सरल स्वभाव के, अति धार्मिक तथा सत्यवादी थे। इन्होंने अपने सारे जीवन का परिश्रम, अर्थात् स्वरचित बृहद्ग्रंथ सिद्धांतदर्पण जगन्नाथ जी को समर्पित किया था और उन्हीं की पुरी में सन् १९०४ में इन्होंने मोक्षलाभ किया। [भ० दा० व०]

चंद्रसेन राजा संभाजी भोंसले के विश्वासपात्र सरदार धनाजी यादव का पुत्र। पिता के बाद चंद्रसेन प्रधान सेनापति बना। गुप्त रूप से शिवाजी की माता ताराबाई का पक्ष करने से साहूजी ने बालाजी विश्वनाथ को इनपर दृष्टि रखने के लिये नियुक्त किया। संयोग से एक दिन शिकार खेलते समय चंद्रसेन और बालाजी विश्वनाथ में लड़ाई हो गई। चंद्रसेन भागकर ताराबाई के पास पहुँचा। सन् १७१२ ई० में जब ताराबाई और शिवाजी कारागार में डाले गए और महारानी राजसबाई कोल्हापुर में प्रधान नियुक्त हुईं चंद्रसेन इस डर से कि कहीं वह पकड़कर साहूजी के पास न भेज दिया जाय, भागकर निजामुल्मुल्क आसफजाह के पास पहुँचा और उसकी सलाह से वह बादशाह फर्रुखसियर की सेवा में चला आया। बादशाह ने उसे सातहजारी मंसब तथा और बीदर प्रांत की कई जागीरें दे दीं। इसने पंचमहाल ताल्लुके में कृष्णा नदी के पास एक पहाड़ी पर छोटा सा दुर्ग बनवाया जिसका नाम चंद्रगढ़ रखा। सन् १७२६ ई० में निजामुल्मुल्क आसफजाह की साहूजी पर चढ़ाई के समय चंद्रसेन ने आसफजाह की सहायता की।

चंपक (Michelia champaca) अथवा सोनचंपा, मैगनोलिएसिई (Magnolaceae) कुल का पौधा है। माइकीलिया (चंपक) वर्ग के पौधे दक्षिण-पूर्वी एशिया (भारत, चीन तथा मलाया द्वीपसमूह) में पाए जाते हैं।

चंपक का पेड़ आठ से लेकर दस मीटर तक ऊँचा होता है और इसका फूल सुनहले रंग का तथा सुगंधयुक्त होता है। ये पौधे बगीचों में सुगंध के लिये लगाए जाते हैं। चंपे का इत्र इसी के फूलों से बनाया जाता है। असम प्रदेश में चंपक की पत्तियाँ रेशम के कीड़ों को खिलाई जाती हैं और उन कीड़ों से 'चंपा रेशम' निकालते हैं। [कै० चं० मि०]

चंपतराय बुंदेला सरदार, वीरसिंह का मित्र और विद्रोह के समय जुझारसिंह का सहायक था। जुझारसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसके एक पुत्र पृथ्वीराज की सहायता करता रहा। १६३९ ई० में जब ओड़छा और झाँसी के बीच बुंदेला सेनाएँ हार गईं और पृथ्वीराज ग्वालियर के किले में कैद कर लिया गया चंपतराय राजकुमार दारा की सेना में चला गया। बाद में अन्य बुंदेला सरदारों से ईर्ष्या के कारण वह औरंगजेब की सेना में संमिलित हुआ। सन् १६६१ में चंपतराय ने औरंगजेब के विरुद्ध विद्रोह किया किंतु बड़ी कठोरता से उसका दमन कर दिया गया।

चंपा (Artabotrys odoratissimus) जो हरा, अथवा कटहरी, चंपा कहते हैं। यह एनोनेसिई (Anonaceae) कुल का पौधा है। अरटाबोट्रिस वर्ग के पौधे अफ्रीका तथा पूर्वी एशिया के देशों में पाए जाते हैं। भारत में इस वर्ग की १० जातियाँ पाई जाती हैं।

इसका पेड़ झाड़ी जैसा, तीन से लेकर पाँच मीटर तक ऊँचा होता है। पत्तियाँ सरल तथा चमकीली हरी होती हैं। फूल अंकुशाकार डंठल पर लगते हैं। ये डंठल अन्य वृक्षों की डालियों के ऊपर चढ़ने में उपयोगी होते हैं। शुरू में फूल हरे होते हैं, परंतु बाद में इनका रंग हलका पीला हो जाता है। इन फूलों से पर्याप्त सुगंध निकलती है, जिससे इनका पता पेड़ पर आसानी से लग जाता है।

चंपा के पेड़ सजावट एवं सुगंध के लिये बगीचों में प्रायः लगाए जाते हैं। [कै० चं० मि०]

चंपा (ऐतिहासिक) प्राचीन अंग की राजधानी, जो गंगा और चंपा के संगम पर बसी थी। चंपा नगर का समीकरण भागलपुर के समीप आधुनिक चंपानगर और चंपापुर नाम के गाँवों से किया जाता है किंतु संभवतः प्राचीन नगर मुंगेर की पश्चिमी सीमा पर स्थित था। प्राचीन काल में इस नगर के कई नाम थे—चंपानगर, चंपावती, चंपापुरी, चंपा और चंपामालिनी। पहले यह नगर मालिनी के नाम से प्रसिद्ध था किंतु बाद में लोमपाद के प्रपौत्र राजा चंप के नाम पर इसका नाम चंपा अथवा चंपावती पड़ गया। यहाँ पर चंपक वृक्षों की बहुलता का भी संबंध इसके नामकरण के साथ जोड़ा जाता है।

कहा जाता है, इस नगर को महागोविंद ने बसाया था। उस युग के सांस्कृतिक जीवन में चंपा का महत्वपूर्ण स्थान था। बुद्ध, महावीर और गोशाल कई बार चंपा आए थे। १२वें तीर्थंकर वासुपूज्य का जन्म और मरण दोनों ही चंपा में हुआ था। यह जैन धर्म का उल्लेखनीय केंद्र और तीर्थ था। दशवैकालिक सूत्र की रचना यहीं हुई थी। नगर के समीप रानी गग्गरा द्वारा बनवाई गई एक पोक्खरणी थी जो यात्री और साधु संन्यासियों के विश्रामस्थल के रूप में प्रसिद्ध थी और जहाँ का वातावरण दार्शनिक वाद विवादों से मुखरित रहता था। अजातशत्रु के लिये कहा गया है कि उसने चंपा को अपनी राजधानी बनाया। दिव्यावदान के अनुसार बिंदुसार ने चंपा की एक ब्राह्मण कन्या से विवाह किया था जिसकी संतान सम्राट् अशोक थे।

चंपा समृद्ध नगर और व्यापार का केंद्र भी था। चंपा के व्यापारी समुद्रमार्ग से व्यापार के लिये भी प्रसिद्ध थे। (दे० अंग)

इतिहास और संस्कृति (भारतीय उपनिवेश) : अन्नम प्रांत के मध्य और दक्षिणी भाग में प्राचीन काल में जिस भारतीय राज्य की स्थापना हुई उसका भी नाम चंपा था। भारतीयों के आगमन से पूर्व यहाँ के निवासी दो उपशाखाओं में विभक्त थे। जो भारतीयों के संपर्क में सभ्य हो गए वे कालांतर में चंपा के नाम पर ही चम के नाम से विख्यात हुए और जो बर्बर थे वे चमम्लेच्छ और किरात आदि कहलाए।

चंपा का राजनीतिक प्रभुत्व कभी भी उसकी सीमाओं के बाहर नहीं फैला। यद्यपि उसके इतिहास में भी राजनीतिक दृष्टि से गौरव की कुछ घटनाएँ हैं, तथापि वह चीन के आधिपत्य में था और प्रायः उसके नरेश अपने अधिकार की रक्षा और स्वीकृति के लिये चीन के सम्राट् के पास दूतमंडल भेजते थे। समय समय पर उसे चीन, कंबुज और उत्तर में स्थित अन्नम लोगों के आक्रमणों से अपनी रक्षा का प्रयत्न करना पड़ता था। प्रारंभ में इस प्रदेश पर चीन का प्रभुत्व था किंतु दूसरी शताब्दी में भारतीयों के आगमन से चीन का अधिकार क्षीण होने लगा। १९२ ई० में किउ लिएन ने एक स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। यही श्रीमार था जो चंपा का प्रथम ऐतिहासिक नरेश था। इसकी राजधानी चंपानगरी, चंपापुर अथवा चंपा कुआंग नाम के दक्षिण में वर्तमान किओ है। चंपा के प्रारंभिक नरेशों की नीति चीन के आधिपत्य में स्थित प्रदेशों को छीनकर उत्तर में सीमा का विस्तार करना था। ३३६ ई० में सेनापति फन वेन ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। इसी के समय में चंपा के राज्य का विस्तार इसकी सुदूर उत्तरी सीमा तक हुआ था। धर्म महाराज श्री भद्रवर्मन् जिसका नाम चीनी इतिहास में फन हु-ता (३८०-४१३ ई०) मिलता है, चंपा के प्रसिद्ध सम्राटों में से है जिसने अपनी विजयों और सांस्कृतिक कार्यों से चंपा का गौरव बढ़ाया। किंतु उसके पुत्र गंगाराज ने सिंहासन का त्याग कर अपने जीवन के अंतिम दिन भारत में आकर गंगा के तट पर व्यतीत किए। फन यंग मै ने ४२० ई० में अव्यवस्था का अंत कर सिंहासन पर अधिकार कर लिया। यंग मै द्वितीय के राजकाल में चीन के साथ दीर्घकालीन युद्ध के अंत में चीनियों द्वारा चंपापुर का विध्वंस हुआ। इस वंश का अंतिम शासक विजयवर्मन् था जिसके बाद (५२९ ई०) गंगाराज का एक वंशज श्री रुद्रवर्मन् शासक बना। ६०५ ई० में चीनियों का फिर से विध्वंसकारी आक्रमण हुआ। अव्यवस्था का लाभ उठाकर राज्य की स्त्रीशाखा के लोगों ने ६४५ ई० में प्रभासधर्म और सभी पुत्रों की हत्या कर अंत में ६५७ ई० में ईशानवर्मन् को सिंहासन दिया। जो कंबुजनरेश ईशानवर्मन् का दौहित्र था। ७५७ ई० में रुद्रवर्मन् द्वितीय की मृत्यु के साथ इस वंश के अधिकार का अंत हुआ।

पृथिवींद्रवर्मन् के द्वारा स्थापित राजवंश की राजधानी चंपा ही बनी रही। इसकी शक्ति दक्षिण में केंद्रित थी और यह पांडुरंग वंश के नाम से प्रख्यात था। ८५४ ई० के बाद विक्रांतवर्मन् तृतीय के निस्संतान मरने पर सिंहासन भृगु वंश के अधिकार में चला गया जिसकी स्थापना इंद्रवर्मन् द्वितीय अथवा श्री जय इंद्रवर्मा महाराजाधिराज ने की थी। इस वंश के समय में वास्तविक राजधानी इंद्रपुर ही था। भद्रवर्मन् तृतीय के समय में विदेशों में भी चंपा का शक्तिशाली और महत्वपूर्ण राज्य के रूप में गौरव बढ़ा। उसके विद्वान् पुत्र इंद्रवर्मन् के राज्यकाल में ९४४ और ९४७ ई० के बीच कंबुज नरेश ने चंपा पर आक्रमण किया। ९७२ ई० में इंद्रवर्मन् की मृत्यु के बाद लगभग सौ वर्षों तक चंपा का इतिहास तिमिराच्छन्न है। इस काल में अन्नम ने, जिसने १०वीं शताब्दी में अपने को चीन के नियंत्रण से स्वतंत्र कर लिया था, चंपा पर कई आक्रमण किए जिनके कारण चंपा का आंतरिक शासन छिन्न भिन्न हो गया। ९८९ ई० में एक जननायक विजय श्री हरिवर्मन् ने अव्यवस्था दूर कर विजय में अपना राज्य स्थापित किया था। उसके परवर्ती विजयश्री नाम के नरेश ने विजय को ही अपनी राजधानी बनाई जिसे अंत तक चंपा की राजधानी बने रहने का गौरव प्राप्त रहा। जयसिंहवर्मन् द्वितीय के राज्य में १०४४ ई० में द्वितीय अन्नम आक्रमण हुआ। किंतु छः वर्षों के भीतर ही जय परमेश्वरवर्मदेव ईश्वरमूर्ति ने नए राजवंश की स्थापना कर ली। उसने संकट का साहसपूर्वक सामना किया। पांडुरंग प्रांत में विद्रोह का दमन किया, कंबुज की सेना को पराजित किया, शांति और व्यवस्था स्थापित की और अव्यवस्था के काल में जिन धार्मिक संस्थाओं को क्षति पहुँची थी उनके पुनर्निर्माण की भी व्यवस्था की। किंतु रुद्रवर्मन् चतुर्थ को १०६९ ई० में अन्नम नरेश से पराजित होकर तथा चंपा के तीन उत्तरी जिलों को उसे देकर अपनी स्वतंत्रता लेनी पड़ी। चम इस पराजय को कभी भूल न सके और उनकी विजय के लिये कई बार प्रयत्न किया।

अव्यवस्था का लाभ उठाकर हरिवर्मन् चतुर्थ ने अपना राज्य स्थापित किया। उसने आंतरिक शत्रुओं को पराजित कर दक्षिण में पांडुरंग को छोड़कर संपूर्ण चंपा पर अपना अधिकार कर लिया। उसने बाह्य शत्रुओं से भी देश की रक्षा की और अव्यवस्था के कारण हुई क्षति और विध्वंस की पूर्ति का भी सफल प्रयत्न किया। परम बोधिसत्व ने १०८५ ई० में पांडुरंग पर अधिकार कर चंपा की एकता फिर से स्थापित की। जय इंद्रवर्मन् पंचम के समय से चंपा के नरेशों ने अन्नम को नियमित रूप से कर देकर उनसे मित्रता बनाए रखी।

जय इंद्रवर्मन् षष्ठ के समय में कंबुजनरेश सूर्यवर्मन् द्वितीय ने १०४५ ई० में चंपा पर आक्रमण कर विजय पर अधिकार कर लिया। दक्षिण में परम बोधिसत्व के वंशज रुद्रवर्मन् परमब्रह्मलोक ने अपने को चंपा का शासक घोषित किया। उसके पुत्र हरिवर्मन् षष्ठ ने कंबुजों और बर्बर किरातों को पराजित किया और आंतरिक कलहों तथा विद्रोहों को शांत किया। ११६२ ई० में, उसकी मृत्यु के एक वर्ष के बाद, ग्रामपुर विजय के निवासी श्री जयइंद्रवर्मन् सप्तम ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। उसने १०७७ ई० में कंबुज पर आक्रमण कर उसकी राजधानी को नष्ट किया। जयइंद्रवर्मन् अष्टम के राज्य में श्री सूर्यदेव ने, जो चंपा का ही निवासी था लेकिन जिसने कंबुज में शरण ली,

कंबुज की ओर से ११९० ई० में चंपा की विजय की। चंपा विभाजित हुई, दक्षिणी भाग श्री सूर्यवर्मदेव को और उत्तरी कंबुजनरेश के साले जयसूर्यवर्मदेव को प्राप्त हुआ। किंतु शीघ्र ही एक स्थानीय विद्रोह के फलस्वरूप उत्तरी भाग पर से कंबुज का अधिकार समाप्त हो गया। श्री सूर्यवर्मदेव ने उत्तरी भाग को भी विजित कर अपने को कंबुजनरेश से स्वतंत्र घोषित किया किंतु उसके पितृव्य ने ही कंबुजनरेश की ओर से उसे पराजित किया। इस अवसर पर जयहरिवर्मन् सप्तम के पुत्र जयपरमेश्वर वर्मदेव ने चंपा के सिंहासन को प्राप्त कर लिया। कंबुजों ने संघर्ष की निरर्थकता को समझकर चंपा छोड़ दी और १२२२ ई० में जयपरमेश्वरवर्मन् से संधि स्थापित की। श्री जयसिंहवर्मन्, के राज्यकाल में, जिसने सिंहासन प्राप्त करने के बाद अपना नाम इंद्रवर्मन् रखा, मंगोल विजेता कुब्ले खाँ ने १२८२ ई० में चंपा पर आक्रमण किया किंतु तीन वर्ष तक वीरतापूर्वक मंगोलों का सामना करके चंपा के राज्य ने उसे संधि से संतुष्ट होने के लिये बाध्य किया। जयसिंहवर्मन् षष्ठ ने अन्नम की एक राजकुमारी से विवाह करने के लिये अपने राज्य के दो उत्तरी प्रांत अन्नम के नरेश को दे दिए। १३१२ ई० में अन्नम की सेना ने चंपा की राजधानी पर अधिकार कर लिया।

उत्तराधिकारी के अभाव में रुद्रवर्मन् परम ब्रह्मलोक द्वारा स्थापित राजवंश का अंत हुआ। अन्नम के नरेश ने १३१८ ई० में अपने एक सेनापति अन्नन को चंपा का राज्यपाल नियुक्त किया। अन्नन ने अन्नम की शक्तिहीनता देखकर अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। चे बोंग न्गा ने कई बार अन्नम पर आक्रमण किया और अन्नम को चंपा का भय रहने लगा। किंतु १३९० ई० में चे बोंगा की मृत्यु के बाद उसके सेनापति ने श्री जयसिंहवर्मदेव पंचम के नाम से वृष्णु राजवंश की स्थापना की। १४०२ ई० में अन्नम नरेश ने चंपा के उत्तरी प्रांत अमरावती को अपने राज्य में मिला लिया। चंपा के शासकों ने विजित प्रदेशों को फिर से अपने राज्य में मिलाने के कई प्रयत्न किए, किंतु उन्हें कोई स्थायी सफलता नहीं मिली। १४७१ ई० में अन्नम लोगों ने चंपा राज्य के मध्य स्थित विजय नामक प्रांत को भी जीत लिया। १६वीं शताब्दी के मध्य में अन्नम लोगों ने फंरग नदी तक का चंपा राज्य का प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। चंपा एक छोटा राज्य मात्र रह गया और उसकी राजधानी बल चनर बनी। १८वीं शताब्दी में अन्नम लोगों ने फंरंग को भी जीत लिया। १८२२ ई० में अन्नम लोगों के अत्याचार से पीड़ित होकर चंपा के अंतिम नरेश पो चोंग कंबुज में जाकर बसे। राजकुमारी पो बिय्र राजधानी में ही राजकीय कोष की रक्षा के लिये रही। उसकी मृत्यु के साथ बृहत्तर भारत के एक अति गौरवपूर्ण इतिहास के एक महत्वपूर्ण अध्याय की समाप्ति होती है।

चंपा के इतिहास का विशेष महत्व भारतीय संस्कृति के प्रसार की गहराई में है। नागरिक शासन के प्रमुख दो मुख्य मंत्री होते थे। सेनापति और रक्षकों के प्रधान प्रमुख सैनिक अधिकारी थे। धार्मिक विभाग में प्रमुख पुरोहित, ब्राह्मण, ज्योतिषी, पंडित और उत्सवों के प्रबंधक प्रधान थे। राज्य में तीन प्रांत थे – अमरावती, विजय और पांडुरंग। प्रांत जिलों और ग्रामों में विभक्त थे। भूमिकर, जो उपज का षष्ठांश होता था, राज्य की आय का मुख्य साधन था। राजा मंदिरों की व्यवस्था के लिये कभी कभी भूमिकर का दान दे देता था। न्यायव्यवस्था भारतीय सिद्धांतों पर आधारित थी। सेना में पैदल, अश्वारोही और हाथी होते थे। जलसेना की ओर भी विशेष ध्यान दिया जाता था।

चीनी सेना द्वारा समय समय पर चंपा की लूट की राशि और चंपा द्वारा दूतों के हाथ भेजी गई भेंट के विवरण से उसकी समृद्धि का कुछ आभास मिलता है।

चंपा की सामाजिक व्यवस्था को भारतीय आदर्शों पर निर्मित करने का प्रयत्न किया गया था किंतु स्थानीय परिस्थितियों के कारण उसमें परिवर्तन आवश्यक था। समाज चार वर्णों में बँटा था, किंतु वास्तव में समाज में दो वर्ग थे—प्रथम ब्राह्मण और क्षत्रियों का और दूसरा शेष लोगों का। अभिलेखों से यह सिद्ध नहीं होता कि केवल विजित जन ही दासकर्म या हीन उद्योगों में लगाए जाते थे। अभिजात वर्ग के द्योतक उनके विशेष अधिकार थे। केवल शरीर के अधोभाग में ही वस्त्र धारण किए जाते थे। स्त्रियाँ भी ऊपरी भाग को नग्न रखती थीं। अधोभाग के वस्त्र भी दो प्रकार के होते थे—एक लंबा और दूसरा छोटा। चम केशप्रसाधन की ओर ध्यान देते थे। केवल उच्चवर्ग के लोग ही जूते पहनते थे जो चमड़े के बने होते थे। वैवाहिक जीवन के आदर्शों, विवाह संबंधी उत्सव, सती के प्रसार, मरणोपरांत दाहक्रिया और पर्वों तथा उत्सवों के विषय में भी भारत से साम्य दिखलाई पड़ता है। चम नाविक जलदस्यु के रूप में कुख्यात थे। इसके कारण ही दास चंपा में अधिक संख्या में थे।

उदारता और सहनशीलता चंपा के धार्मिक जीवन की विशेषताएँ थीं। चंपा के नरेश भी सभी धर्मों का समान रूप से आदर करते थे। यज्ञों के अनुष्ठान को महत्व दिया जाता था। संसार को क्षणभंगुर और दुःखपूर्ण समझनेवाली भारतीय विचारधारा भी चंपा में दिखलाई पड़ती है। ब्राह्मण धर्म के त्रिदेवों में महादेव की उपासना सबसे अधिक प्रचलित थी। भद्रवर्मन् के द्वारा स्थापित भद्रेश्वर स्वामिन् इतिहास में प्रसिद्ध हैं ११वीं शताब्दी के मध्य में देवता का नाम श्रीशानभद्रेश्वर हो गया। चंपा के नरेश प्रायः मंदिर के पुनर्निर्माण या उसे दान देने का उल्लेख करते हैं। शक्ति, गणेश, कुमार और नंदिनी की भी पूजा होती थी। वैष्णव धर्म का भी वहाँ ऊँचा स्थान था। विष्णु के कई नामों के उल्लेख मिलते हैं किंतु विष्णु के अवतार विशेष रूप से राम और कृष्ण अधिक जनप्रिय थे। चंपा के नरेश प्रायः विष्णु से अपनी तुलना करते थे अथवा अपने को विष्णु का अवतार बतलाते थे। लक्ष्मी और गरुड़ की भी पूजा होती थी। ब्रह्मा की पूजा का अधिक प्रचलन नहीं था। अभिलेखों से पौराणिक धर्म के दर्शन और कथाओं का गहन ज्ञान परिलक्षित होता है। गौण देवताओं में इंद्र, यम, चंद्र, सूर्य, कुबेर और सरस्वती उल्लेखनीय हैं। साथ ही निराकार परब्रह्म की कल्पना भी उपस्थित थी। दोंग दुओंग, बौद्धधर्म का प्रमुख केंद्र था। बौद्धधर्म के माननेवालों और बौद्ध भिक्षुओं की संख्या कम नहीं थी।

चंपा राज्य में संस्कृत ही दरबार और शिक्षितों की भाषा थी। चंपा के अभिलेखों में गद्य और पद्य दोनों ही भारत की आलंकारिक काव्यशैली से प्रभावित हैं। भारत के महाकाव्य, दर्शन और धर्म के ग्रंथ, स्मृति, व्याकरण और काव्यग्रंथ पढ़े जाते थे। वहाँ के नरेश भी इनके अध्ययन में रुचि लेते थे। संस्कृत में नए ग्रंथों की रचना भी होती थी।

चंपा में भी कला का विकास अधिकतर धर्म के सानिध्य में ही हुआ। मंदिर अधिक विशाल नहीं हैं किंतु कलात्मक भावना और

रचनाकुशलता के कारण सुंदर हैं। ये अधिकांशतः ईंटों के बने हैं और ऊँचाई पर स्थित हैं। इन मंदिरों की शैली की उत्पत्ति बादामी, कांजीवरम् और मामल्लपुरम् के मंदिरों में मिलती है। फिर भी कुछ विषयों में स्थानीय कला के तत्व भी मिलते हैं। चंपा के मंदिर प्रमुख रूप से तीन स्थानों में हैं—म्यसोन, दोंग दुम्रांग तथा पो नगर। चंपा में मूर्तिकला भी विकसित रूप में मिलती है। मंदिरों की दीवारों पर बनी मूर्तियों के अतिरिक्त विभिन्न स्थानों से देवी देवताओं की अनेक सुंदर मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। दीवारों पर अंकित अलंकरण की लतरों की शैली भी भारतीय है जो चम कलाकारों की कुशलता के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

सं० ग्रं० : रमेशचंद्र मजूमदार : चंपा; पी० बोस : दि इंडियन कालोनी ऑव चंपा; एम० जी० मैस्पेरो : ल रोयाउम द चंपा; पी० स्टर्न : लार्त द चंपा।

(ल० गो०)

चंपारन जिला भारत के बिहार राज्य के उत्तरी पश्चिमी कोने पर तिरहुत डिवीजन में है। इसका क्षेत्रफल ३,५५३ वर्ग मील और जनसंख्या २०,०६,२११ (१९६१) है। उत्तर में नेपाल, पश्चिम में गंडक नदी और पूर्व में बागमती नदी है। उत्तर और उत्तर-पश्चिम में हिमालय की सोमेश्वर और दून श्रेणियों को छोड़कर शेष भाग में नदियों की मिट्टी से निर्मित समतल मैदान हैं। सोमेश्वर किले की ऊँचाई समुद्रतल से २,८८४ फुट है और इन पर्वतश्रेणियों के पूर्वी छोर पर भिकना थोरी दर्रा है, जिससे नेपाल में जा सकते हैं। ये दोनों पर्वतीय श्रेणियाँ लगभग ३६४ वर्ग मील स्थान घेरती हैं, जिनमें घने जंगल हैं। शेष भूमि में खेती होती है। इसमें प्रवाहित होनेवाली मुख्य नदियाँ, गंडक, बड़ी गंडक, धनौती, बागमती और लेलवागी हैं। जिले के केंद्रीय भाग में १३९ वर्ग मील में फैली झीलों की एक शृंखला है। यहाँ धान, गेहूँ, जूट, जौ, मक्का, तेलहन और ईख की खेती की जाती है। जंगलों से लकड़ियाँ प्राप्त होती हैं। धान कूटने, ईख पेरने और तेल पेरने के कारखाने हैं। सूती वस्त्र बुनने का गृहउद्योग भी उल्लेखनीय है। एक समय यह बिहार में नील उत्पादन का प्रमुख केंद्र था। सूखे से फसलों की रक्षा के लिये त्रिवेणी और धाका (Dhaka) नहरें बनाई गई हैं। त्रिवेणी नहर गंडक से निकलकर उत्तरी क्षेत्रों की ओर धाका नहर लाल बकाया नदी से निकलकर पूर्वी भाग में लगभग १३,००० एकड़ भूमि सींचती है। नेपाल का अधिकांश व्यापार इसी जिले के द्वारा होता है।

जिले का प्रशासन केंद्र मोतीहारी नगर, जनसंख्या २२,६२०, (१९६१), है जो व्यापार और शिक्षा का भी केंद्र है। बेतिया, जनसंख्या ३९,९९०, (१९६१) मोतिहारी का एक उपविभाग है। रक्सौल में चुंगी दफ्तर है, जहाँ से नेपाल की सीमा प्रारंभ हो जाती है। इसी जिले में प्रसिद्ध सैनिक केंद्र सुगौली है, जहाँ सन् १८५७ की जनक्रांति में भीषण हत्याकांड हुआ था। १८१५ ई० में इसी स्थान पर नेपाल संधि पर हस्ताक्षर किए गए थे। महान् सम्राट् अशोक ने अपनी नेपाल की यात्राओं की स्मृति के लिये इसी जिले में नंदनगढ़, अरराज और रामपुरवा में शिलालेख लगवाए थे।

[कृ० मो० गु०]

चंपुआ यह उड़ीसा राज्य के क्योंझरगढ़ जिले में स्थित है। यह उपविभाग है और इसी में चंपुआ तहसील भी है। यह छोटा नागपुर पठार के एक भाग पर पड़ता है। यह बैतरनी नदी के तट पर क्योंझरगढ़ से ५२.८ कि० मी० दूर है। यहाँ की औसत ऊँचाई समुद्रतल से लगभग ६०० मीटर है। पहले चंपुआ को चंपेश्वर कहा जाता था।

यहाँ पर लाल मिट्टी पाई जाती है, जो अधिक उपजाऊ नहीं है। धान की खेती यहाँ सबसे अधिक होती है। चंपुआ के बहुत से भाग वनों से आच्छादित हैं। यहाँ के लाख और लकड़ी के उद्योग बहुत प्रसिद्ध हैं।

[हे० प्र० दे०]

चंपू संस्कृत काव्य का एक विशिष्ट प्रकार। गद्य तथा पद्य मिश्रित काव्य को 'चंपू' कहते हैं। इस मिश्रण का उचित विभाजन यह प्रतीत होता है कि भावात्मक विषयों का वर्णन पद्य के द्वारा तथा वर्णनात्मक विषयों का विवरण गद्य के द्वारा प्रस्तुत किया जाय। परंतु चंपूरचयिताओं ने इस मनोवैज्ञानिक वैशिष्ट्य पर विशेष ध्यान न देकर दोनों के संमिश्रण में अपनी स्वतंत्र इच्छा तथा वैयक्तिक अभिरुचि को ही महत्व दिया है।

गद्य-पद्य का संमिश्रण संस्कृत साहित्य में प्राचीन है, परंतु काव्य-शैली में निबद्ध, 'चंपू' की संज्ञा का अधिकारी गद्य पद्य का समंजस मिश्रण उतना प्राचीन नहीं माना जा सकता। गद्य पद्य की मिश्रित रचना कृष्ण यजुर्वेदीय संहिताओं में उपलब्ध होती है। पालि जातकों में भी गद्य में कथानक तथा पद्य (गाथा) में मूल सूत्रात्मक संकेतों की उपलब्धि अवश्य होती है। परंतु काव्यतत्व से विरहित होने के कारण इन्हें हम 'चंपू' का दृष्टांत किसी प्रकार नहीं मान सकते। हरिषेण रचित समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति (समय ३५० ई०) तथा बौद्ध कवि आर्यशूर (चतुर्थ शती) प्रणीत जातकमाला चंपू के आदिम रूप माने जा सकते हैं, क्योंकि पहले में समुद्रगुप्त की दिग्विजय तथा दूसरे में ३४ जातक विशुद्ध काव्यशैली का आश्रय लेकर अलंकृत गद्य पद्य में वर्णित हैं। प्रतीत होता है कि चंपू गद्यकाव्य का ही एक परिबृंहित रूप है और इसीलिये गद्यकाव्य के सुवर्णयुग (सप्तम अष्टम शती) के अनंतर नवम शती के आसपास इस काव्यरूप का उदय हुआ।

चंपू काव्य का प्रथम निदर्शन त्रिविक्रम भट्ट का नलचंपू है जिसमें चंपू का वैशिष्ट्य स्फुटतया उद्भासित होता है। दक्षिण के राष्ट्रकूटवंशी राजा कृष्ण (द्वितीय) के पौत्र, राजा जगत्तुंग और लक्ष्मी के पुत्र, इंद्रराज (तृतीय) के आश्रय में रहकर त्रिविक्रम ने इस रुचिर चंपू की रचना की थी। इंद्रराज का राज्याभिषेक वि० सं० ९७२ (९१५ ई०) में हुआ था और उनके आश्रित होने से कवि का भी वही समय है दशम शती का पूर्वार्ध। इस चंपू के सात उच्छ्वासों में नल तथा दमयंती की विख्यात प्रणयकथा का बड़ा ही चमत्कारी वर्णन किया गया है। काव्य में सर्वत्र सभंग अभंग श्लेष का प्रसाद लक्षित होता है। जैन कवि सोमप्रभसूरि का 'यशस्तिलक चंपू' दशम शती के मध्यकाल की कृति है (रचनाकाल ९५९ ई०)। ग्रंथकार राष्ट्रकूटनरेश कृष्ण के सामंत चालुक्य अरिकेसरी (तृतीय) के पुत्र का सभाकवि था। इस चंपू में जैन पुराणों में प्रख्यात राजा यशोधर का चरित्र विस्तार के साथ वर्णित है। चंपू के अंतिम तीन उच्छ्वासों में जैनधर्म के सिद्धांतों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत कर कवि ने इन सिद्धांतों का पर्याप्त प्रचार प्रसार किया है। ग्रंथ में उस युग के नानाविध धार्मिक, आर्थिक तथा सामाजिक विषयों का विवरण सोमप्रभसूरि की व्यापक तथा बहुमुखी वैदुषी का परिचायक है।

राम तथा कृष्ण के चरित का अवलंबन कर अनेक प्रतिभाशाली कवियों ने अपनी प्रतिभा का रुचिर प्रदर्शन किया है। ऐसे चंपू काव्यों में भोजराज (११वीं शती) का रामायण चंपू, अनंतभट्ट का 'भारत चंपू', शेष श्रीकृष्ण (१६वीं शती) का 'पारिजातहरण चंपू' काफी प्रसिद्ध हैं।

भोजराज ने रामायण चंपू की रचना किष्किधा कांड तक ही की थी, जिसकी पूर्ति लक्ष्मण भट्ट ने 'युद्धकांड' की तथा वेंकटराज ने 'उत्तर कांड' की रचना कर की थी।

जैन कवियों के समान चैतन्य मतावलंबी वैष्णव कवियों ने अपने सिद्धांतों के प्रसार के लिये इस ललित काव्यमाध्यम को बड़ी सफलता से अपनाया। भगवान् श्रीकृष्ण की ललाम लीलाओं का प्रसंग ऐसा ही सुंदर अवसर है जब इन कवियों ने अपनी अलोकसामान्य प्रतिभा का प्रसाद अपने चंपू काव्यों के द्वारा भक्त पाठकों के सामने प्रस्तुत किया। कवि कर्णपूर (१६वीं शती) का आनंदवृंदावन चंपू तथा जीव गोस्वामी (१७वीं शती) का गोपालचंपू सरस काव्य की दृष्टि से नितांत सफल काव्य हैं। इनमें से प्रथम काव्य कृष्ण की बाललीलाओं का विस्तृत तथा विशद वर्णन करता है, द्वितीय काव्य कृष्ण के समग्र चरित का मार्मिक विवरण है। 'वीरमित्रोदय' के प्रख्यात रचयिता मित्र मिश्र (१७वीं शती का प्रथमार्ध) का 'आनंदकंद चंपू' कृष्णपरक चंपुओं में एक रुचिर श्रृंखला जोड़ता है। दक्षिण भारत में भी चंपूकाव्यों की लोकप्रियता कम न थी। नीलकंठ दीक्षित का 'नीलकंठविजय चंपू' समुद्रमंथन के विषय में है (रचनाकाल १६३१ ई०)। श्री वैष्णव वेंकटाध्वरी (१७वीं शती) के 'विश्वगुणादर्श चंपू' की रचना अन्य चंपुओं से इस बात में विशिष्ट है कि इसमें भारत के नाना तीर्थों, धर्मों तथा शास्त्रों में दोषों तथा गुणों का उद्घाटन बड़ी मार्मिकता से एक साथ किया गया है। यह विशेष लोकप्रिय काव्य है। बाणेश्वर विद्यालंकार का 'चित्रचंपू' बंगाल के एक विशिष्ट पंडित कवि की रचना है जिसमें भक्ति द्वारा भगवत्प्राप्ति का संकेत रूपकशैली में एक सरस आख्यान के माध्यम से किया गया है (१८वीं शती)। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में भावों के प्रकटन के निमित्त अनेक शताब्दियों तक लोकप्रिय माध्यम होने पर भी उत्तर भारतीय भाषासाहित्य में चंपू काव्य हृदयंगम न हो सका। द्राविड़ी भाषा के साहित्य में सामान्यतः, केरली तथा आंध्र साहित्य में विशेषतः, चंपू काव्य आज भी लोकप्रिय है जिसके प्रणयन की ओर कविजनों का ध्यान पूर्णतः आकृष्ट है।

सं० ग्रं०—कीथ : संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिंदी अनु०, मोतीलाल बनारसीदास, काशी, १९६२); विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, भाग ३, खंड १ (अंग्रेजी अनुवाद, दिल्ली १९६३); बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास (पं० सं०, काशी, १९६२) [ब० उ०]

चंबा भारत के केंद्रप्रशासित उत्तरी हिमाचल प्रदेश में एक जिला है, जिसका क्षेत्रफल ३,१३१ वर्ग मील और जनसंख्या २,१०,५७९ (१९६१) है। इसके उत्तर-पश्चिम में कश्मीर और दक्षिण में पंजाब का कांगड़ा जिला है। पहले चंबा रियासत थी, जो १९४८ में भारत में विलीन हो गई। पूरा जिला पहाड़ी है। पूर्व, उत्तर और मध्य में बर्फीली चोटियाँ हैं। यहाँ की मुख्य नदियाँ रावी और चंद्रा हैं। यहाँ धान, मक्का, ज्वार और बाजरे की खेती होती है। जंगल से प्राप्त पदार्थों का मुख्य व्यापार होता है।

इस देशी राज्य की स्थापना छठी शताब्दी में हुई थी। यह शताब्दियों तक स्वाधीन था। नाम मात्र के लिये कुछ समय तक कश्मीर के अधीन था। चंबा में १८४६ ई० में अंग्रेजों का प्रभाव जमा, जब यह कश्मीर से स्वतंत्र घोषित किया गया।

चंबा नगर की जनसंख्या ८,६०९ (१९६१) है। यह जिले का प्रमुख नगर है और रावी नदी पर शिमला से ११५ मील उत्तर-पश्चिम स्थित है। यहाँ ज्वार, बाजरा, चावल, ऊन, शहद, लकड़ी, सूती कपड़े और फलों का व्यापार होता है। मलेरिया की दवा तथा आँख की दवा का उत्पादन होता है। यहाँ पर एक प्रसिद्ध संग्रहालय है।

[कृ० मो० गु०]

चकबंदी वह विधि है जिसके द्वारा व्यक्तिगत खेती को टुकड़ों में विभक्त होने से रोका एवं संचयित किया जाता है तथा किसी ग्राम की समस्त भूमि को और कृषकों के बिखरे हुए भूमिखंडों को एक पृथक् क्षेत्र में पुनर्नियोजित किया जाता है। भारत में जहाँ प्रत्येक व्यक्तिगत भूमि (खेती) वैसे ही न्यूनतम है, वहाँ कभी कभी खेत इतने छोटे हो जाते हैं कि कार्यक्षम खेती करने में भी बाधा पड़ती है। चकबंदी द्वारा चकों का विस्तार होता है, जिससे कृषक के लिये कृषिविधियाँ सरल हो जाती हैं और पारिश्रमिक तथा समय की बचत के साथ साथ चक की निगरानी करने में भी सरलता हो जाती है। इसके द्वारा उस भूमि की भी बचत हो जाती है जो बिखरे हुए खेतों की मेड़ों से घिर जाती है। अंततोगत्वा, यह अवसर भी प्राप्त होता है कि गाँव के वासस्थानों, सड़कों एवं मार्गों की योजना बनाकर सुधार किया जा सके।

चकबंदी का कार्य सर्वप्रथम प्रयोगिक रूप से सन् १९२० में पंजाब में प्रारंभ किया गया था। सरकारी संरक्षण में सहकारी समितियों का निर्माण हुआ, ताकि चकबंदी का कार्य ऐच्छिक आधार पर किया जा सके। प्रयोग सामान्यः सफल रहा, किंतु यह आवश्यक समझा गया कि पंजाब चकबंदी कानून १९३६ में पास किया जाय, जिसके द्वारा अधिकारियों को योजना तथा काश्तकारों के मतभेदों का निर्णय करने का अधिकार प्राप्त हो जाय। १९२८ में 'रायल कमीशन ऑन ऐग्रीकल्चर इन इंडिया' ने, जिसे इसका अधिकार नहीं था कि वह जमीन की मिल्कियत में कोई परिवर्तन करे, यह संस्तुति की कि अन्य प्रांतों में भी चकबंदी ग्रहण कर ली जाय। परंतु केंद्रीय प्रांतों और पंजाब के अतिरिक्त, जहाँ कुछ सीमित सफलता के साथ चकबंदी कार्य हुआ, अन्य प्रांतों में बहुत कम सफलता प्राप्त हुई। यह पाया गया कि थोड़े से ही ऐसे खंड थे जहाँ पंजाब की भूमि की भाँति उर्वरता थी और साधारणतया कृषक अपनी भूमि की अदला बदली या चकबंदी द्वारा होनेवाली क्षति की जोखिम उठाने को अनिच्छुक थे।

स्वतंत्रता के पश्चात् चकबंदी पद्धति में व्यावहारिक रूप से ऐच्छिक स्वीकृति के सिद्धांत को समाप्त कर एक नवीन प्रेरणा प्रदान की गई। बंबई में प्रथम बार १९४७ में पारित एक विधान द्वारा सरकार को यह अधिकार प्राप्त हुआ कि वह जहाँ उचित समझे, चकबंदी कार्य लागू करे। जिन प्रांतों ने इस प्रथा का पालन किया उनमें पंजाब (१९४८), उत्तर प्रदेश (१९५३ और १९५८), प० बंगाल (१९५५), बिहार तथा हैदराबाद (१९५६) शामिल हैं। प्रांतीय सरकारों को केंद्रीय सरकार द्वारा बहुत प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। तीनों पंचवर्षीय योजनाओं में चकबंदी के विस्तार का आयोजन किया गया और मई, १९५७ में भारतीय सरकार ने यह घोषणा की कि वह राज्यों को चकबंदी कार्य लागू करने के लिये बहुत सीमा तक आर्थिक सहायता देने के लिये सहमत है। चकबंदी कार्यक्रम के विकसित आवेश को इस तथ्य से जाँचा जा सकता है कि जहाँ मार्च, १९५६ में अंत तक भारत का कुल चकबंदी क्षेत्र ११०.०९ लाख एकड़ था वहाँ मार्च, १९६० के अंत तक बढ़कर २३०.१९ लाख एकड़ हो गया तथा उसी समय १३१.८७ लाख एकड़ क्षेत्र पर चकबंदी कार्य चल रहा था। किंतु विभिन्न प्रांतों में यह काम असंतुलित ढंग से हो

रहा था। मार्च, १९६० में चकबंदी किए हुए क्षेत्र का आधे से भी अधिक भाग पंजाब प्रांत में (१२१.०८ लाख एकड़) स्थित था, जबकि बड़े प्रांतों—जैसे आंध्र, मद्रास, बंगाल और बिहार में चकबंदी क्षेत्र या तो बिलकुल शून्य था या नगण्य।

स्पष्टतया उस क्षेत्र में चकबंदी करना सरल कार्य नहीं है जहाँ भूमि में मुख्यतः सजातिता का गुण नहीं है। इसके लिये सदैव बहुत संख्या में प्रशिक्षित (और ईमानदार) अधिकारी चाहिए। दुर्भाग्यवश अनिवार्य बाध्यता ने इसे काश्तकारों में अधिक लोकप्रिय नहीं होने दिया और जितने अच्छे परिणामों की आशा थी उतने अभी तक प्राप्त नहीं हुए, बल्कि आशंका इस बात की रहती है कि चकबंदी के बाद तक फिर से विभाजित न हो जायँ। इसलिये कुछ प्रांतों में, उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश में, चकबंदी किए हुए क्षेत्र को उपभोग, विक्रय एवं हस्तांतरण करने से रोकने के लिये विशेष नियम बनाए गए हैं। किंतु अन्य प्रांतों जैसे पंजाब में अभी यह नियम नहीं लागू किए गए हैं तथा कुछ प्रांतों ने अभी तक इसपर विधिवत् विचार भी नहीं किया है (१९६२)। [द० ह०]

चकबस्त, ब्रजनारायण ये प्रसिद्ध तथा संमानित कश्मीरी परिवार के थे। यद्यपि इनके पूर्वज लखनऊ के निवासी थे तथापि इनका जन्म फैजाबाद में सन् १८८२ ई० में हुआ था। इनके पिता पं० उदित नारायण जी इनकी अल्पावस्था ही में गत हो गए। इनकी माता तथा बड़े भाई महाराजनारायण ने इन्हें अच्छी शिक्षा दिलाई, जिससे ये सन् १९०७ ई० मे वकालत परीक्षा में उत्तीर्ण होकर सफल वकील हुए। ये समाजसुधारक थे और सेवाकार्यों में सदा संनद्ध रहा करते थे। उर्दू कविता भी करने लगे थे और शीघ्र ही इसमें ऐसी योग्यता प्राप्त कर ली कि उर्दू के कवियों की प्रथम पंक्ति में इन्हें स्थान मिल गया। एक मुकदमे से रायबरेली से लौटते समय १२ फरवरी, सन् १९२६ ई० को स्टेशन पर ही फालिज का ऐसा आक्रमण हुआ कि कुछ ही घंटों में इनकी मृत्यु हो गई। इनकी मृत्यु से उर्दू भाषा तथा कविता को विशेष क्षति पहुँची।

चकबस्त लखनऊ के व्यवहार आदि के अच्छे आदर्श थे। इनके स्वभाव में ऐसी विनम्रता, मिलनसारी, सज्जनता तथा सुव्यवहारशीलता थी कि ये सर्वजन प्रिय हो गए थे। धार्मिक कट्टरता इनमे नाम को भी नहीं थी। इन्होंने पूर्ववर्ती कवियों की उर्दू कविताएँ बहुत पढ़ी थीं और इनपर अनीस, आतिश तथा गालिब का प्रभाव अच्छा पड़ा था। उर्दू में प्रायः कविगण गजलों से ही कविता करना आरंभ करते हैं परंतु इन्होंने नज्म द्वारा अपनी कविता आरंभ की और फिर गजलें भी ऐसी लिखीं जो उर्दू काव्यक्षेत्र में अपना जोड़ नहीं रखतीं। इनकी कविता में बौद्धिक कौशल अधिक है अर्थात् केवल सुनकर आनंद लेने योग्य नहीं है प्रत्युत् पढ़कर मनन करने योग्य है। इन्होंने अपने समय के नेताओं के जो मर्सिए लिखे हैं उन्हें पढ़ने से पाठकों के हृदय में देशभक्ति जाग्रत होती है। दृश्यवर्णन भी इनका उच्च कोटि का हुआ है और इसके लिये भाषा भी साफ सुथरी रखी है। इनकी वर्णनशैली में लखनऊ की रंगीनी तथा दिल्ली की सादगी और प्रभावोत्पादकता का सुंदर मेल है। उपदेश तथा ज्ञान की बातें भी ऐसे अच्छे ढंग से कही गई हैं कि सुननेवाले ऊबते नहीं। पद्य के सिवा गद्य भी इन्होंने बहुत लिखा है, जो 'मुजामीने चकबस्त' में संगृहीत हैं। इनमें आलोचनात्मक तथा राष्ट्रोन्नति संबंधी लेख हैं जो ध्यानपूर्वक पढ़ने योग्य हैं। गंभीर, विद्वत्तापूर्ण तथा विशिष्ट गद्य लिखने का इन्होंने नया मार्ग निकाला और देश की भिन्न भिन्न जातियों में तथा व्यवहार का संबंध दृढ़ किया। 'सुबहे वतन' में इनकी कविताओं का संग्रह है। इन्होंने 'कमला' नामक एक नाटक लिखा है। [र० स० ज०]

चकराता उत्तर प्रदेश के देहरादून जिले में पश्चिमी कुमायूँ के अंतर्गत हिमालय क्षेत्र की सैनिक छावनी जो देहरा के पहाड़ी सैनिक केंद्र से २८ मील उत्तर-उत्तर-पश्चिम में है। यह आसपास के क्षेत्रों का प्रमुख बाजार है। इसकी जनसंख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। यहाँ की जनसंख्या ३,१९४ (१९६१) है। यह समुद्रतल से ६,८९० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। [कृ० मो० गु०]

चकिया उत्तर प्रदेश राज्य में वाराणसी जिले के अंतर्गत एक तहसील है। नदियों द्वारा लाई गई काँप मिट्टी से यहाँ का धरातल बना है। यहाँ की जलवायु सम है। गर्मी में तेज हवाएँ तथा लू चलती हैं। यहाँ की जलवायु पर समुद्र की दूरी तथा स्थल भाग की विशालता का स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है। औसत वार्षिक वर्षा १०० सेंमी० से अधिक होती है। सामान्यतया सारी वर्षा मौसमी हवाओं द्वारा होती है। परंतु जाड़े के दिनों में उत्तर-पश्चिम की चक्रवातीय हवाएँ भी अपना प्रभाव डालती हैं। यहाँ रबी और खरीफ की दो मुख्य फसलें हैं। यहाँ की मुख्य उपज गेहूँ, धान, जौ, चना, ज्वार, तेलहन, इत्यादि हैं।

[हे० प्रि० दे०]

चकोर (Chukor or French Partridge, Caccabis chukor) एक साहित्यिक पक्षी है, जिसके बारे में हमारे देश के कवियों ने यह कल्पना कर रखी है कि यह सारी रात चंद्रमा की ओर ताका करता है और अग्निस्फुलिंगों को चंद्रमा के टुकड़े समझकर चुनता रहता है। इसमें वास्तविकता केवल इतनी है कि कीटभक्षी पक्षी होने के कारण, चकोर चिनगारियों को जुगनू आदि चमकनेवाले कीट समझकर उनपर भले ही चोंच चला दे. लेकिन न तो यह आग के टुकड़े ही खाता है और न निर्निमेष सारी रात चंद्रमा को ताकता ही रहता है।
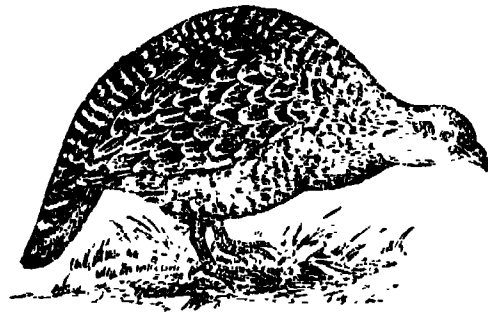
चकोर

चकोर पक्षी (Aves) वर्ग के मयूर (Phasianidae) कुल का प्राणी है, जिसका शिकार किया जाता है। इसका मांस स्वादिष्ट होता है। चकोर मैदान में न रहकर पहाड़ों पर रहना पसंद करता है। यह तीतर से स्वभाव और रहन सहन में बहुत मिलता जुलता है। पालतू हो जाने पर तीतर की भाँति ही अपने मालिक के पीछे पीछे चलता है। इसके बच्चे अंडे से बाहर आते ही भागने लगते हैं। [सु० सिं०]

चकोर—(साहित्य) परंपराप्राप्त लोकप्रसिद्धि के अनुसार तथा कविसमय की काल्पनिक मान्यताओं के अनुरूप, चकोर चंद्रकिरणें पीकर जीवित

रहता है (शार्ङ्गधरपद्धति, १.२३) । इसीलिये इसे 'चंद्रिकाजीवन' और 'चंद्रिकापायी ' भी कहते हैं । प्रवाद है कि वह चंद्रमा का एकांत प्रेमी है और रात भर उसी को एकटक देखा करता है । अंधेरी रातों में चंद्रमा और उसकी किरणों के अभाव में वह अंगारों को चंद्रकिरण समझकर चुगता है । चंद्रमा के प्रति उसकी इस प्रसिद्ध मान्यता के आधार पर कवियों द्वारा प्राचीन काल से, अनन्य प्रेम और निष्ठा के उदाहरण स्वरूप चकोर संबंधी उक्तियाँ बराबर की गई हैं । इसका एक नाम विषदर्शनमृत्युक है जिसका आधार यह विश्वास है कि विषयुक्त खाद्य सामाग्री देखते ही उसकी आँखें लाल हो जाती है और वह मर जाता है । कहते हैं, भोजन की परीक्षा के लिये राजा लोग उसे पालते थे ।	[श्या० ति०]

चक्र अनेकार्थक शब्दविशेष, जिसका प्रयोग बहुधा समूह, मंडल, वृत्त, गोलाकार चिह्न या वस्तु, समयक्रम, सेना आदि के लिये किया गया है । रथ के पहिये के लिये ऋग्वेद (२. ११.१४, ४.१.३) तथा परवर्ती वैदिक साहित्य में इसका लाक्षणिक ढंग से प्रयोग मिलता है । इसी अर्थ में सूर्य के आकार तथा उसकी गति की दृष्टि से वैदिक साहित्य में इसकी प्रतीकात्मक योजना भी है । याज्ञवल्क्य स्मृति (१.२६५) तथा महाभारत (१.१३) आदि में सत्ताधारी सम्राट् के रथ के लिये इसका व्यवहार हुआ है । शतपथ ब्राह्मण (११.८.१.१) में सर्व प्रथम कुम्हार के चक्के के लिये चक्र शब्द आया है । पुराणों में वर्णित विष्णु के प्रसिद्ध गोल आयुध को यही संज्ञा दी गई है ।

शुभाशुभ निर्णय के लिये स्वर तथा सर्वतोभद्रादि ८४ चक्रों का उल्लेख मिलता है । गणित ज्योतिष के राशिचक्रों और सामुद्रिक में वर्णित हथेली, तलवे तथा उंगलियों के विशेष गोलाकार 'चक्रों' के आधार पर फलाफल के अनेक विधान एवं परिणाम प्रस्तुत होते हैं । योगशास्त्र में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञाख्य आदि षट्चक्रों का प्रतीकात्मक वर्णन है जिसका भेदन कर कुंडलिनी सहस्रार की ओर उन्मुख होती है । मंत्र के शुभाशुभ विचार के लिये भी कुछ चक्रों का व्यवहार होता है । तंत्रग्रंथों में चक्रों का विशेष प्रयोग मिलता है (दे० तंत्र साहित्य) । चक्रव्यूह के लिये भी इस शब्द का व्यवहार किया जाता है (दे० चक्रव्यूह) ।	[श्या० ति०]

चक्रक्षेपण चक्रक्षेप का खेल बहुत पुराना है । होमर ने लिखा है कि यूनान में यह खेल अति प्रचलित था । यूनानी चतुर्वार्षिक और पंचवार्षिक खेलकूद प्रतियोगिताओं में इस खेल को भी स्थान दिया जाता था । यूनानी शरीरनिर्माण के लिये इस खेल को बड़ा महत्व देते थे । १८९६ ई० में एथेंस में अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिताएँ पुनः प्रारंभ हुई और इस खेल को भी प्रतियोगिता के लिये संमिलित कर लिया गया । उसी वर्ष स्वीडन में भी जो खेलकूद प्रतियोगिता हुई, उसमें भी चक्रक्षेपण का स्थान रखा गया । एथेंस की प्रतियोगिता में संयुक्त राष्ट्र, अमरीका, के छात्र, राबर्ट एस० गैरेट, विजयी हुए । इन्होंने चक्र को ९५ फुट ७½ इंच फेंका । स्वीडन की प्रथम प्रतियोगिता में हेलगेसन ने ९७ फुट ५½ इंच के अंतर पर चक्र को फेंककर विजयश्री लाभ की । धीरे धीरे सभी राष्ट्रों की खेलकूद प्रतियोगिताओं में चक्रक्षेपण भी संमिलित कर लिया गया । फलस्वरूप संसार के विभिन्न भागों में इस खेल में भाग लेनेवालों की संख्या बढ़ी, क्षेपणतंत्र में सुधार हुए और नए नए कीर्तिमानों का निर्माण हुआ । इस समय का विश्व का कीर्तिमान संयुक्त राष्ट्र, अमरीका, के जे० सिल्वेस्टर ने कायम किया है । इन्होंने चक्र को १९६१ ई० में १९९ फुट २½ इंच फेंका था ।

चक्रक्षेप

ईसा से पाँच शती पूर्व के माइरान (Myron) नामक ग्रीक शिल्पी की अभिकल्पना ।

प्राचीन काल में चक्र पत्थर की वृत्ताकार पट्टिका का बनाया जाता था । चक्र का व्यास ८ से ९ इंच तक होता था और इसका भार ४ से ५ पाउंड तक रहता था । चक्र के दोनों तल उत्तल होते थे और चक्र के केंद्र में छिद्र रहता था । आजकल प्रतियोगिताओं में जिस चक्र का प्रयोग किया जाता है वह लकड़ी का होता है, जिसके चारों ओर धातु का घेरा बना रहता है । भार को ठीक रखने के लिये चक्र के केंद्रस्थान पर व्यवस्था रहती है । चक्र का भार कम से कम ४ पाउंड ६.४ औंस होता है । लकड़ी के चारों ओर लगी हुई वृत्ताकार, पीतल की पट्टिकाओं का व्यास २ से २¼ इंच के बीच का रहता है । किनारे के प्रारंभ के और केंद्र से १ इंच की दूरी तक के दोनो तल एक सरल रेखा में गावदुम रूप में चले जाते हैं । चक्र की अधिकतम परिधि ८⅞ इंच होती है । चक्र की मोटाई केंद्रस्थान पर कम से कम ¼ इंच और किनारे से ¼ इंच की दूरी पर कम से कम ½ इंच होती है । चक्र को ८ फुट २½ इंच की परिधि के भीतर से इस प्रकार फेंकते हैं कि वह ९० अंश के द्वैत्रिज्य की सीमा के अंदर ही गिरे ।	[दा० दा० ख०]

चक्रधरपुर स्थिति : २२° ४५' उ० अ० तथा ८५° ४५' पू० दे० । यह बिहार राज्य के सिंहभूम जिले में संजय नदी के किनारे पर पठार की

तलहटी में बसा हुआ है और चाईबासा सदर उपमंडल के अंतर्गत है। यहाँ पर लाख और कागज बनाने के कुटीर उद्योग हैं। यहाँ के अधिकांश निवासी 'हो' नामक आदिवासी हैं। यहाँ प्रसिद्ध रेलवे जंकशन है जो दक्षिण-पूर्वी रेलवे लाइन पर स्थित है। यहाँ की जनसंख्या ३०,६०६ (१९६१) है। [शि० नं० स०]

चक्रवाक (Ruddy Sheldrake) साहित्य का चिरपरिचित पक्षी है, जैसे बुलबुल उर्दू साहित्य का। इसके कोक, कोकनद आदि अनेक नाम हैं, लेकिन गाँवों में यह चकवा चकई के नाम से प्रसिद्ध है। यह पक्षी (Aves) वर्ग के हंस (Anticlae) कुल का, मझोले कद का प्राणी है, जो प्रति वर्ष जाड़ों के प्रारंभ में हमारे देश में उत्तर की ओर से आकर जाड़ा समाप्त होते होते फिर उसी ओर लौट जाता है।

चक्रवाक (Casarca rutila) का रंग गाढ़ा नारंगी या हलका कत्थई होता है, लेकिन इसकी गरदन और सिर बदामी होता है। गरदन के चारों ओर एक काला कंठा रहता है, लेकिन मादा इस कंठे से रहित होती है। डैने और पर के कुछ पंख काले और सफेद रहते हैं और डैने का चित्ता (speculum) हरा होता है।

चक्रवाक की एक प्रसिद्ध जाति शाह चकवा (Sheldrake, Tadorna tadorna) कहलाती है। यह काले और सफेद रंग का बहुत ही सुंदर चितकबरा पक्षी है, जिसका कद और आदतें चक्रवाक जैसी ही होती हैं।

चक्रवाक दो फुट लंबा पक्षी है, जिसके नर और मादा करीब करीब एक जैसे ही होते हैं। मादा नर से कुछ छोटी होती है और उसका रंग भी नर से कुछ हलका रहता है।

चक्रवाक सारे दक्षिणी पूर्वी यूरोप, मध्यएशिया और उत्तरी अफ्रीका के प्रदेशों में फैले हुए हैं, जहाँ ये झीलों, बड़ी नदियों तथा समुद्री किनारों

चक्रवाक

पर अपना अधिक समय बिताते हैं। ये बहुत ढीठ पक्षी हैं। इनकी कर्कश बोली आबादी के निकटवर्ती जलाशयों में सुनाई पड़ती रहती है। हमारे कवियों ने इसी कारण शायद इनके बारे में यह कल्पना की है कि रात में नर पक्षी मादा से विलग हो जाता है और उसका मिलन सूर्योदय के पूर्व नहीं होता, लेकिन केवल साहित्यिक मान्यता के अतिरिक्त इसमें कोई तथ्य नहीं है।

चक्रवाक जोड़े में रहते हैं, लेकिन कभी कभी सैकड़ों का झुंड बना लेते हैं। ये अंडा देने के लिये घोंसला नहीं बनाते। इनकी मादा चट्टान के सूराखों में अथवा जमीन पर ही थोड़ा घास फूस रखकर अपने अंडे देती है। इनका मुख्य भोजन घास पात, सेवार तथा अन्न के दाने आदि हैं, लेकिन छोटी छोटी मछलियाँ और घोंघे, कटुए आदि भी ये खा लेते हैं। इनका मांस साधारण तथा बिसैंधा होता है। [सु० सिं०]

चक्रवाक (साहित्य) : नामकरण उसके बोलने के ढंग पर हुआ है। चकवा इसका अपभ्रंश हिंदी शब्द है। इस पक्षी का प्राचीनतम उल्लेख अश्वमेध के अंतर्गत बलिजीवों की सूची में ऋग्वेद (२.३९.३) तथा यजुर्वेद में हुआ है। इसके संबंध में प्रचलित किंवदंती, जो कविसमय के रूप में प्रसिद्ध होकर भारतीय प्राचीन और अर्वाचीन काव्यों में प्रयुक्त हुई है तथा जिसका इस अर्थ में सबसे पुराना प्रयोग अथर्ववेद (१४.२.६४) में दंपति की परस्पर निष्ठा और प्रेम जैसी चारित्रिक विशेषता के संदर्भ में हुआ है, यह है कि इसके जोड़े दिन में तो प्रेमपूर्वक साथ साथ विचरते हैं किंतु सूर्यास्त के बाद बिछुड़ जाते हैं और रात भर अलग रहते हैं। अत्यंत प्राचीन काल से कवियों की संयोग तथा वियोग-संबंधी कोमल व्यंजनाएँ इस प्रसिद्धि से संबद्ध हैं। यह पक्षी मिलन की असमर्थता के प्रतीक रूप में अनेक उक्तियों का विषय रहा है। अंधविश्वास, किंवदंती और काल्पनिक मान्यता से युक्त इस पक्षी की तथाकथित उपर्युक्त विशेषता ने इसे कविसमय तथा रूढ़ उपमान के रूप में प्रसिद्ध कर दिया है। [श्या० ति०]

चक्रवात घूर्णनी वायुसंगठन का नाम है। इसके दो भेद हैं : (१) उष्ण वलयिक चक्रवात (Tropical cyclone) तथा उष्णवलयपार चक्रवात (Extratropical cyclone)।

उष्णवलयिक चक्रवात — ये वायुसंगठन या तूफान हैं, जो उष्ण कटिबंध में तीव्र और अन्य स्थानों पर साधारण होते हैं। इनसे प्रचुर वर्षा होती है। इनका व्यास ५० से लेकर १,००० मील तक का तथा अपेक्षाकृत निम्न वायुदाबवाला क्षेत्र होता है। ये २० से लेकर ३० मील प्रति घंटा तक के वेग से चलते हैं। इनमें वायुघूर्णन ९० से लेकर १३० मील प्रति घंटे तक का होता है। ये वेस्ट इंडीज में प्रभंजन (hurricane) तथा चीनसागर एवं फिलिपिन में बवंडर (typhoon) कहे जाते हैं।

उष्णवलयपार चक्रवात — यह मध्य एवं उच्च अक्षांशों का निम्न वायुदाबवाला तूफान है। इसका वेग २० से लेकर ३० मील प्रति घंटे तक रहता है। वायु अंदर की ओर ६ से लेकर १५ मील प्रति घंटे के वेग से सर्पिल रूप से चलती है। प्रायः इसमें हिमपात एवं वर्षा होती है। दोनों प्रकार के चक्रवात उत्तरी गोलार्ध में वामावर्त (counter-clockwise) तथा दक्षिणी गोलार्ध में दक्षिणावर्त (clockwise) रूप में संचारित होते हैं। उष्णवलयपार चक्रवात में साधारणतया वायु-विचलन-रेखा होती है, जो विषुवत की ओर निम्न-वायुकेंद्र में सैकड़ों मील तक बढ़ी रहती है तथा गरम एवं नम वायु को ठंडी और शुष्क वायु से पृथक् करती है। [प्र० ना० मे०]

चक्रव्यूह सेना को विशेष क्रम से नियोजित तथा संगठित कर वृत्ताकार कई पंक्तियों में संचालित करने का रणकौशल। युद्धकाल में सेना की ऐसी मंडलाकार स्थिति का प्रयोजन प्राचीन काल में किसी व्यक्ति या वस्तु की रक्षा करना अथवा घेरा डालना होता था। सेना के इस विशेष जमाव और संचालन की प्रक्रिया ऐसी जटिल होती थी कि उसका भेदन करना अत्यंत दुरूह समझा जाता था। इसके प्रवेशद्वार से लेकर लक्ष्य के बीच कुंडलाकार सैन्यरचना का उपक्रम शत्रुदल को पंक्तियों के प्रत्येक मोर्चे से प्रत्यक्ष ला मिलाता था। महाभारत (१.२७५४, ७,१४७१) में प्रसिद्ध द्रोणाचार्य की व्यूहरचना जिसमें अभिमन्यु का बध हुआ था, उल्लेखनीय है। [श्या० ति०]

चक्रायुध आठवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों में, ७८३ ई० के बाद किसी समय, जब कन्नौज राष्ट्रकूट, प्रतिहार और पाल नरेशों के त्रिकोणयुद्ध का केंद्र था, चक्रायुध को कन्नौज का सिंहासन प्राप्त हुआ। कुछ विद्वान् अन्य प्रमाणों से ज्ञात वज्रायुध और इंद्रायुध नामक नरेशों के आधार पर एक आयुध वंश की कल्पना करते हैं और चक्रायुध को उसका अंतिम शासक मानते हैं। भागलपुर के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि पालवंशीय सम्राट् धर्मपाल ने इंद्रराज को, जो संभवतः इंद्रायुध था, पराजित कर महोदय (कन्नौज) का राज्य चक्रायुध को दे दिया। अभिलेख से यह ध्वनित होता है कि चक्रायुध इंद्रराज का संबंधी, संभवतः पुत्र था। इंद्रायुध कदाचित् पालों के शत्रु प्रतिहार-नरेश वत्सराज के प्रभाव अथवा अधीनता में था। खलीमपुर के अभिलेख में धर्मपाल के द्वारा कान्यकुब्ज के सिंहासन पर संभवतः चक्रायुध के ही राज्याभिषेक का वर्णन है। उस अवसर पर कई देशों के नरेशों की उपस्थिति का उल्लेख है। उस काल के इतिहास में चक्रायुध का कोई गौरवपूर्ण स्थान नहीं है। उसका व्यक्तित्व अशक्त और पराश्रित सामंत का है। शीघ्र ही प्रतिहारनरेश नागभट्ट द्वितीय ने 'दूसरों पर आश्रय के कारण व्यक्त नीच प्रवृत्ति' के चक्रायुध को पराजित कर कन्नौज पर अधिकार कर लिया। धर्मपाल ने चक्रायुध के पक्ष में नागभट्ट का विरोध किया। किंतु नागभट्ट विजयी हुआ। नागभट्ट के दुर्भाग्य से इसी समय राष्ट्रकूटनरेश गोविंद तृतीय ने उत्तरी भारत पर आक्रमण किया। धर्मपाल और चक्रायुध स्वयमेव उपनत हो गए। आक्रमण के फलस्वरूप प्रतिहार साम्राज्य कुछ समय के लिये अशक्त हो गया तथा धर्मपाल और देवपाल ने पालों का प्रभुत्व स्थापित किया। किंतु इस संघर्ष के बाद चक्रायुध इतिहास के रंगमंच से लुप्त हो गया। उसके वंशजों के विषय में हमें कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। (कृ० कां० मा०)

चगताई वंश चिंगेज खाँ के द्वितीय पुत्र चगताई के नाम पर १२वीं-१४वीं शताब्दी में मध्य एशिया के मंगोल शासक का एक वंश। इसका राजनीतिक इतिहास आरंभ होता है चिंगेज खाँ की मध्य एशिया (१२२० ई०) की विजय के पश्चात्, जब उसने चगताई को, जिसका शिविर उत्तर में इली नदी के निकट कन्यागो प्रदेश में था, सिंक्यांग और ट्रांसोक्सियाना की भूमि निर्दिष्ट की, चगताई की मृत्यु के पश्चात् (१२४२) उसके उत्तराधिकारी, खानों द्वारा (मंगोल शासक), इस खंड के अधीन शासक माने जाते रहे। मंगू (महाक) खान की मृत्यु के पश्चात् (१२५९) जब मंगोल साम्राज्य की एकता नष्ट हो गई, ओकदाई खाँ के पोते कैदू (कदू) (१२६६-१३०१) ने मध्य एशिया में अपनी शक्ति स्थापित की और चगताई शासक उसके सहायक मित्र हो गए। परंतु कैदू की मृत्यु के पश्चात् चगताई शासक दुम्रा (दुआ) (१२८२-१३०६) ने, जो मुसलमान था, कैदू के पुत्र चाप्पू के आधिपत्य को सन् १३०५ में समाप्त कर दिया। तभी से चगताई शासक स्वतंत्र खान हो गए। शीघ्र ही आपसी गृहयुद्धों के कारण उनकी शक्ति क्षीण हो गई और तर्माशीरिन (१३२६-३४) की मृत्यु के पश्चात् उनका राज्य छिन्न भिन्न हो गया। महान् विजेता तैमूर (१३७०-१४०५) ने वस्तुतः इस वंश को हटा दिया, यद्यपि उसने और उसके प्रारंभिक उत्तराधिकारियों ने चगताई वंशजों को अपना खान बनाए रखा। परंतु तुगलक तैमूर (१३४२-६३) ने सिंक्यांग में चगताई शासकों की एक नवीन शाखा स्थापित की जिसने १६वीं शताब्दी के अंत तक अपना शासन स्थापित रखा। बाबर (जो भारतीय मुगल वंश का संस्थापक था) की माँ, इसी वंश की राजकन्या थी। इसी कारण मुगल स्वयं को चगताई वंश से संबंधित बतलाते हैं।

सं० ग्रं०—वि० बर्टहोल्ड फोर : स्टडीज ऑन दि हिस्ट्री ऑव सेंट्रल एशिया, भाग १, लाइडेन, १९५६। (इ० हु०)

चचिओत स्थिति : ३१° २५′ से ३१° ४२′ उ० अ० तथा ७७° से ७७° १९′ पू० दे०। यह हिमाचल प्रदेश में मंडी जिले की तहसील है। यह मंडी नगर से दक्षिण-पूर्व लगभग १६ मील की दूरी पर है। इस तहसील के उत्तर में व्यास नदी, दक्षिण में कारसोग तहसील और पश्चिम में मंडी सदर है। समुद्रतल से इसकी औसत ऊँचाई लगभग ६,५०० फुट है। चचिओत का मुख्य कार्यालय जूनी खंड पर स्थित है तथा यहाँ की औसत ऊँचाई समुद्रतल से लगभग ४,५०० फुट है। यहाँ की जलवायु शीतोष्ण कटिबंधीय है। गर्मी में यहाँ का औसत ताप १८° सें० रहता है। जाड़े में पर्याप्त ठंड पड़ती है और ताप का औसत २ से लेकर ३ सें० तक रहता है। वर्षा का औसत लगभग १५० सेंमी० होता है। वनसंपदा की दृष्टि से चचिओत बहुत ही धनी है : चीड़ के वनों की अधिकता है परंतु देवदार, फर इत्यादि के भी वृक्ष पाए जाते हैं। वनों में जड़ीबूटियाँ, कागज के उद्योग में प्रयुक्त होने के लिये भाभर घास भी यहाँ से प्राप्त की जाती है। [हे० ज्ञि० दे०]

चटगाँव पूर्वी पाकिस्तान में नगर, जिला तथा मंडल है। मंडल का क्षेत्रफल १६,२८६ वर्ग मील और जनसंख्या १,१८,३६,००० है। इसमें नोआखाली, चटगाँव, सिलहट, त्रिपुरा और चटगाँव पहाड़ी क्षेत्र नामक जिले संमिलित हैं। चटगाँव जिले का क्षेत्रफल २,६६ वर्ग मील तथा जनसंख्या २३,२१,००० है। वास्तव में यह जिला बंगाल की खाड़ी और पहाड़ों के बीच की एक पट्टी है। इसमें कर्णफुली, सांगू और हाल्दा नदियाँ बहती हैं : अधिक वर्षा होने के कारण यहाँ की जलवायु अच्छी और स्वास्थ्यप्रद नहीं है। नदियों से सिंचित मैदानों में धान, तेलहन, तंबाकू, जूट, ईख, ज्वार, बाजरा, पान, पटुआ और तरकारियों की खेती होती है। यहाँ चाय के बगीचे बगीचे हैं, जिनसे पचासों लाख रुपयों की चाय का निर्यात होता है। पहाड़ी भाग में गुर्जन, बाँस और महोगनी के वृक्ष मिलते हैं। यहाँ पर कोयले की कुछ खान भी हैं। जंगलों में हाथी, चीता, तेंदुआ और हरिण आदि जानवर मिलते हैं।

चटगाँव नगर--कर्णफुली नदी के दाहिने किनारे पर ढाका से १२० मील दक्षिण पूर्व में स्थित है। नदी के मुहाने से आठ मील उत्तर-उत्तर-पूर्व इस नगर की जनसंख्या २,९९,००० तथा क्षेत्रफल नौ वर्ग मील है। २०° २८′ उ० अ० और ९१° ५०′ पू० दे० पर स्थित यह रेलवे का अंतिम जंक्शन है और पूर्वी पाकिस्तान का सबसे बड़ा बंदरगाह है। कराची के बाद इसी बंदर का पाकिस्तान में स्थान है। मुगल लोग इसे 'इस्लामाबाद' और पुर्तगाली 'पोर्ट ग्रैंडे' कहते थे। यहाँ पर रासायनिक पदार्थ, वस्त्र, साबुन, ईंट, बरफ और मोमबत्ती बनाने के कारखाने हैं। बिजली के सामान बनाने और बिनौला निकालने का काम भी यहाँ होता है। यहाँ से चावल, चाय जूट, कपास, खाल और तंबाकू बाहर भेजते हैं। इसके समीप हिंदुओं का प्रसिद्ध तीर्थस्थान सीताकुंड (१,१५५ फुट ऊँचा) है। इसके अतिरिक्त यहाँ बौद्ध युग के खंडहर भी हैं। [कृ० मो० गु०]

चतरा स्थिति : २४° १५' उ० अ० तथा ८४° ४०' पू० दे०। बिहार राज्य के हजारीबाग जिले के अंतर्गत चतरा उपमंडल का मुख्य नगर है। यहाँ कोडरमा से पक्की सड़क जाती है। यह नगर गया, चँदवा, चंपारन तथा हजारीबाग से पक्की सड़कों द्वारा मिला हुआ है और बिहार राज्य की बसें निरंतर आती जाती रहती हैं। यहाँ का बाजार बहुत सुंदर है। समुद्रतल से इस नगर की ऊँचाई १,४०० फुट है। यहाँ उच्च विद्यालय, माध्यमिक विद्यालय और कन्या विद्यालय भी हैं। मालोदह नामक प्रसिद्ध जलप्रपात यहाँ से पाँच मील की दूरी पर स्थित है। इसकी जनसंख्या १२, ५०७ (१९६१) है। [शि० नं० म०]

चतुरंगिणी प्राचीन भारतीय संगठित सेना। सेना के चार अंग—हस्ती, अश्व, रथ, पदाति माने जाते हैं और जिस सेना में ये चारों हैं, वह चतुरंगिणी कहलाती है। चतुरंगबल शब्द भी इतिहासपुराणों में मिलता है। इस विषय में सामान्य नियम यह है कि प्रत्येक रथ के साथ १० गज, प्रत्येक गज के साथ १० अश्व, प्रत्येक अश्व के साथ १० पदाति रक्षक के रूप में रहते थे, इस प्रकार सेना प्रायः चतुरंगिणी ही होती थी।

सेना की सबसे छोटी टुकड़ी (इकाई) 'पत्ति' कहलाती है, जिसमें एक गज, एक रथ, तीन अश्व, पाँच पदाति होते थे। ऐसी तीन पत्तियाँ सेनामुख कहलाती थीं। इस प्रकार तीन तीन गुना कर यथाक्रम गुल्म, गण, वाहिनी, पृतना, चमू और अनीकिनी का संगठन किया जाता था। १० अनीकिनी एक अक्षौहिणी के बराबर होती थी। तदनुसार एक अक्षौहिणी में २१८७० गज, २१९७० रथ, ६५६१० अश्व और १०९३५० पदाति होते थे। कुल योग २१८७०० होता था। कहते हैं, कुरुक्षेत्र के युद्ध में ऐसी १८ अक्षौहिणी सेना लड़ी थी। अक्षौहिणी का यह परिमाण महाभारत (आदि पर्व २।१९-२७) में लिखित है। महाभारत में (उ० पर्व १५५।२४-२६) में सेना परिमाण की जो गणना है, उससे इस गणना में कुछ विलक्षणता है। शांतिपर्व ५९।४१-४२ में अष्टांग सेना का उल्लेख है, उसमें भी प्रथम चार यही चतुरंगिणी सेना है। (रा० शं० अ०)

चतुर्थ कल्प (Quaternary era) तृतीय युग (Tertiary period) के अंतिम चरण में पृथ्वी पर अनेक भौगोलिक एवं भौमिकीय परिवर्तन मिलते हैं, जिनसे एक नए युग का प्रादुर्भाव होना निश्चित हो जाता है। इन्हीं परिवर्तनों के आधार पर डेसनोयार ने १८२९ ई० में चतुर्थ कल्प की कल्पना की। यद्यपि अब पुराश्मवेत्ताओं का मत है कि इस नवीन कल्प को तृतीय युग से पृथक् नहीं किया जा सकता है, फिर भी दो मुख्य कारणों से इस काल को अलग रखना उचित नहीं होगा। इनमें से एक है इस समय में हुआ मानव जाति का विकास और दूसरा इस काल की विचित्र जलवायु।

चतुर्थ कल्प का प्रारंभ तृतीय कल्प के प्लायोसीन (Pliocene) युग के बाद होता है। इसके अंतर्गत दो युग आते हैं : एक प्राचीन, जिसे प्लायस्टोसीन (Pleistocene) कहते हैं, और दूसरा आधुनिक, जिसे नूतन युग (Recent) कहते हैं। प्लायस्टोसीन नाम सर चार्ल्स लायल ने सन् १८३९ ई० में दिया था।

विस्तार — इस कल्प के शैलसमूहों का विस्तार मुख्य रूप से उत्तरी गोलार्ध में मिलता है। इन सभी जगहों में तृतीय समुद्री निक्षेप, हिमनदज निक्षेप, पीली मिट्टी और नदीय निक्षेपों के ही शैलसमूह मिलते हैं।

चतुर्थ कल्प की विशेषताएँ और भौमिकीय इतिहास — इस कल्प की विशेषताओं में हिमनदीय जलवायु और मानवीय विकास मुख्य रूप से आते हैं। इस समय ताप कम होने के कारण समस्त उत्तरी गोलार्ध बरफ से ढक गया था। इसके प्रमाणस्वरूप यूरोप, एशिया तथा उत्तरी अमरीका में अनेक हिमनदों के अस्तित्व के संकेत मिलते हैं। भारत में यद्यपि हिमनदों के होने का कोई सीधा प्रमाण नहीं मिलता, तथापि ऐसे निष्कर्षीय प्रमाण मिलते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यहाँ की जलवायु भी अतिशीतोष्ण हो गई थी। भारत के उत्तरी भाग में इन हिमनदों के अस्तित्व के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं, किंतु दक्षिणी प्रायद्वीप में हिमनदों के अस्तित्व का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। दक्षिणी प्रायद्वीप में अब भी ऊँची पहाड़ियों पर, जिनमें नीलगिरि, शेवराय, पलनीस और बिहार प्रदेश की पारसनाथ की पहाड़ियाँ हैं, ऐसे जीवजंतु और वनस्पतियाँ मिलती हैं जो आजकल भारत के उत्तरी प्रदेशों (कश्मीर, गढ़वाल इत्यादि) में ही सीमित हैं। विद्वानों का मत है कि शीतोष्ण जलवायु में रहनेवाले ये जीवजंतु किसी भी प्रकार से राजस्थान की गरम और रेतीली जलवायु से होकर इन पहाड़ियों पर नहीं पहुँच सकते थे। अतः उनके आगमन का समय चतुर्थ कल्प की हिमनदीय अवधि ही हो सकती है, जब राजस्थान की जलवायु शीतोष्ण थी और इस प्रदेश का कुछ भाग कहीं कहीं बरफ से ढका हुआ था।

जलवायु और मानवीय विकास के आधार पर इस कल्प का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया जाता है :

अवधि और आयु (वर्षों में)	जलवायु	भारतवर्ष में इस काल के निक्षेप	जीवविकास
नवीन प्लायस्टोसीन	चतुर्थ हिमनदीय अवधि	आधुनिक मिट्टी	आधुनिक जीवजंतु
८०,००० वर्ष	तृतीय अंतरहिमनदीय अवधि	पोटवार की पीली मिट्टी	
मध्य प्लायस्टोसीन	तृतीय हिमनदीय अवधि	नर्मदा नदी की मिट्टी	नर्मदा नदी के जीवजंतु
२,५०,००० वर्ष	द्वितीय अंतरहिमनदीय अवधि	नर्मदा नदी की मिट्टी	
४,००,००० वर्ष	द्वितीय हिमनदीय अवधि	हिमनदीय संपीडिताश्म	घोड़ा, हिप्पोपोटैमस, हाथी।
	प्रथम अंतरहिमनदीय अवधि	हिमनदीय संपीडिताश्म	
प्राचीन प्लायस्टोसीन	प्रथम हिमनदीय अवधि	पिंजर प्रदेश की गोलाश्म मृत्तिका	घोड़ा, हाथी, सूअर, सूँस, गैंडा,
१०,००,००० वर्ष			शिवाथेरियम आदि।

भारत में चतुर्थ युग के निक्षेप — चतुर्थ कल्प में भारत में पाए जानेवाले निक्षेपों में कश्मीर के हिमनदीय निक्षेप, जो वहाँ करेवा के नाम से विख्यात हैं, मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त उच्च (ऊपर) सतलज और नर्मदा-ताप्ती की तलहटी मिट्टी, राजस्थान के रेत के पहाड़, पोटवार प्रदेश के निक्षेप, जो हिमनदों के गलने से लाई हुई मिट्टी और कंकड़ से बने हैं, पंजाब एवं सिंध की पीली मिट्टी और भारत के पूर्वी किनारे पर की मिट्टी भी इसी युग में निक्षिप्त हुई थी। इस प्रकार पूर्व कैंब्रियन के बाद प्रत्येक कल्प के निक्षेपों का विस्तार आता है। [रा० चं० सिं०]

चनपटिया बाजार स्थिति : २६° ४५' उ० अ० तथा ८४° २५' पू० दे०। यह बिहार राज्य के चंपारन जिले के बेतिया नगर से १० मील उत्तर स्थित है। यह पूर्वोत्तर रेलवे का स्टेशन है। यहाँ चीनी का एक कारखाना है। चावल तथा चिउड़े का यहाँ से निर्यात होता है। यहाँ की जनसंख्या १४,५५६ (१९६१) है। [शि० नं० स०]

चनास्मा स्थिति : २३° ४२' उ० अ० तथा ७२° १०' पू० दे०। गुजरात प्रांत के महेसाणा जिले के बढावली तालुक का प्रधान कार्यालय है। जनसंख्या १२, २०६ (१९६१) है। यहाँ एक बहुत बड़ा जैन मंदिर है जिसकी लागत लगभग सात लाख रुपए है। मंदिर ध्रांगध्रा पत्थर का बना है। मंदिर में अच्छी कारीगरी है। इसका फर्श संगमरमर का बना है। [सै० मु० अ०]

चन्नपट्टण स्थिति : १२° ४५' उ० अ० तथा ७७° १२' पू० दे०। यह मैसूर राज्य के बँगलोर जिले के दक्षिण पश्चिम भाग में बंगलोर से ३७ मील दूर तालुक है। इसका मुख्य कार्यालय चन्नपट्टण है। इसका क्षेत्रफल ४२० वर्ग मील है। इसे प्राकृतिक दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहला उत्तर और उत्तर-पश्चिम का भाग है जो झाड़ियों तथा झाड़ियों से परिपूर्ण है। यहाँ तालाबों के अभाव के कारण सिंचाई का कार्य नहीं होता। दूसरा विभाग दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम का मैदानी भाग है। यहाँ की मिट्टी उपजाऊ है। तालाबों की संख्या बहुत है जिससे सिंचाई की सुविधा है। अर्कावती, कानवा इत्यादि नदियाँ यहाँ बहती हैं। चन्नपट्टण नगर की जनसंख्या २६,४६७ (१९६१) है। धान, नारियल, पान, केला, ईख इत्यादि यहाँ की मुख्य उपज हैं। चन्नपट्टण का औद्योगिक क्षेत्र सुकाबानपेटे के नाम से प्रसिद्ध है। [हैं० त्रि० दे०]

चपड़ा कच्ची लाख से बनता है। समस्त संसार के उत्पादन का लगभग ९० प्रति शत चपड़ा भारत में ही तैयार होता है। चपड़ा तैयार करने की वास्तविक विधि कच्ची लाख की प्रकृति, कुसुम (एक प्रकार की लाख) की किस्म अथवा बैसाखी और कतकी किस्म पर निर्भर करती है (दे० लाख)।

कच्ची लाख को पहले दलित्र में दला जाता है। इसमें से लकड़ी के टुकड़े आदि चुनकर निकाल लिए जाते हैं और तब नाँद में धोया जाता है। नाँद २½ फुट ऊँची और इतने ही व्यास की होती है। ऐसी नाँद में ४० पाउंड तक दली लाख रखी जा सकती है। फिर उस लाख को पानी से ढँककर तीन चार बार धोते हैं, जिससे लाख का अधिक से अधिक रंग (crimson) निकल जाय और तब उसे सीमेंट के फर्श पर सुखाते हैं। ऐसी सूखी लाख को अब पिघलाते हैं। रंग को उन्नत करने के लिये लाख में कभी कभी रेज़िन और हरताल मिला देते हैं। पर उत्कृष्ट कोटि के चपड़े में ये नहीं मिलाए जाते। ऐसी परिष्कृत लाख को ड्रिल, या सामान्य सूत के वस्त्र, की थैली में रखकर, जो प्रायः ३० फुट लंबी और २ इंच व्यास की होती है, उच भट्ठे में गरम करते हैं। भट्ठा २ फुट लंबा, १½ फुट ऊँचा और १ फुट गहरा होता है और उसमें लकड़ी का कोयला जलाया जाता है। भट्ठे के एक किनारे कारीगर (melter) बैठता है और दूसरे किनारे एक लड़का रहता है, जिसे 'फिरवाहा' कहते हैं। थैली का एक छोर कारीगर के हाथ में रहता है और दूसरा छोर फिरवाहा के हाथ में। भट्ठे के ऊपर थैली को रखकर फिरवाहा थैली को धीरे धीरे ऐंठता है। थैली भट्ठे पर गरम होने से लाख और मोम थैली के बाहर निकलते हैं। लोहे के स्पैचुला (करछुल) से पिघली लाख थैली से अलग कर पोर्सिलेन के उष्ण जल के क्षैतिज सिलिंडर (२½ फुट लंबे और १० इंच व्यासवाले) पर रखी जाती है। तीसरा व्यक्ति 'मिलवाया' उसे सिलिंडर पर एक सा फैला देता है। अब चपड़े की चादर बन जाती है। उसको हटाकर और गरम कर हाथ पैरों की सहायता से चादर को फैलाते हैं। उसपर यदि कोई कंकड़ आदि के दाग पड़े होते हैं तो उन्हें ठंढा होने पर दूर कर लेते हैं। कभी कभी चपड़े को चादर के रूप में न तैयार कर टिकियों के रूप में तैयार करते हैं। टिकिया लगभग ३ इंच व्यास की और ¼ इंच मोटी होती है। इसे 'बटन चपड़ा' कहते हैं। ठंढा होने के पहले निर्माता उसपर इच्छानुसार अपने नाम या व्यावसायिक चिह्न का ठप्पा दे देता है। कलकत्ते आदि बड़े बड़े नगरों में चपड़ा बनाया जाता है। विलायकों की सहायता से भी अब चपड़ा बनने लगा है। ऐसे चपड़े का रंग देशी रीति से बने चपड़े के रंग से उत्कृष्ट होता है और उसमें मोम भी नहीं रहता। चपड़े की कीमत बहुत कुछ उसके रंग पर निर्भर करती है। चपड़े में जितना ही कम रंग होता है उसकी कीमत उतनी ही अधिक होती है।

देशी रीति से चपड़े के निर्माण में उपजात के रूप में मोलम्मा, किरी और पसेवा प्राप्त होते हैं। इनमें ५ से ७५ प्रति शत तक चपड़ा रह सकता है।

आजकल अनेक प्रकार के रेज़िन और प्लास्टिक कृत्रिम रीति से बनने लगे हैं, जो देखने में चपड़े जैसे ही लगते हैं, पर ऐसे किसी भी संश्लिष्ट पदार्थ में वे सब गुण नहीं मिलते जो चपड़े में होते हैं। इससे चपड़े का स्थान कोई भी संश्लिष्ट पदार्थ अभी तक नहीं ले सका है, यद्यपि कुछ कामों के लिये संश्लिष्ट रेज़िन समान रूप से उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

चपड़े का सबसे अधिक (३० से ३५%) उपयोग ग्रामोफोन रेकार्ड बनाने में होता है। ग्रामोफोन रेकार्ड में २१ से ३० प्रति शत तक चपड़ा रहता है। ऐसा अनुमान है कि प्रति वर्ष ११ से लेकर १२ हजार टन तक चपड़ा ग्रामोफोन रेकार्ड बनाने में खपता है। रेकार्ड निर्माण का उद्योग दिनों दिन बढ़ रहा है। विद्युद्यंत्र, वार्निश और पालिश, हैट उद्योग, शाणचक्रों के निर्माण, ठप्पा देने के चपड़े, काच और रबर जोड़ने के सीमेंट, बरसाती कपड़े, जलाभेद्य स्याही, पारदर्शक ऐनिलीन स्याही आदि का निर्माण तथा लकड़ी पर नक्काशी करने आदि में चपड़े का उल्लेखनीय उपयोग होता है। [स० व०]

चपेक करेल (Capek karel) (१८९०–१९३८) चेक पत्रकार थे। उनका चेक साहित्य में गौरवपूर्ण स्थान है। उनकी सभी प्रमुख कृतियों के असंख्य विदेशी भाषाओं में अनुवाद किए गए थे। चपेक की लोकप्रियता इस बात का प्रमाण है कि उनकी लेखकीय

प्रतिभा अद्भुत, अनोखी तथा अत्यंत गंभीर है। चपेक का मानवतापूर्ण दृष्टिकोण सभी रचनाओं में स्पष्टता से विद्यमान है। वे नाटक, उपन्यास, कहानियाँ, निबंध आदि लिखते थे। चपेक ने बहुत भ्रमण किया। उनके 'इंग्लैंड से पत्र', 'हालैंड से पत्र' आदि संग्रह अति प्रिय हैं। 'माँ' नामक नाटक अनेक भाषाओं में अनूदित हो चुका है। भारतीय भाषाओं में बँगला और मराठी में भी यह नाटक अनुवाद के रूप में मिलता है। 'माँ' नाटक में लेखक नाजी सत्ता के विरुद्ध लड़ाई करने को प्रोत्साहन देता है। उनकी बालोपयोगी पुस्तकें उनके भाई योसेफ चपेक के चित्रों से सुसज्जित हैं। अन्य महत्वपूर्ण कृतियाँ : 'इसे कैसे करता हूँ' (निबंध), 'क्रकतित' (उपन्यास), 'र० उ० र०' (नाटक), 'एक जेल की कहानियाँ', 'दूसरी जेल की कहानियाँ', 'माली का वर्ष' (निबंध), 'कीटाणु जीवन' (नाटक)। [औ० स्मे०]

चमगादड़ गण (चर्मचटक, Chiroptera) स्तनधारी (mammalia) वर्ग का एक गण है, जिसके अंतर्गत सभी प्रकार के चमगादड़ निहित हैं। इस वर्ग के जंतु अन्य स्तनियों से बिलकुल भिन्न मालूम पड़ते हैं और इसके सभी सदस्यों में उड़ने की शक्ति पाई जाती है। उड्डयन के लिये इनकी अग्रभुजाएँ पंखों में परिवर्तित हो गई हैं। यद्यपि ये जंतु हवा में बहुत ऊपर तक उड़ते हैं, पर चिड़ियों से भिन्न हैं। देखने में इनकी मुखाकृति चूहे जैसी मालूम होती है। इनके कान होते हैं। चिड़ियों की भाँति ये अंडे नहीं वरन् बच्चे देते हैं और बच्चों को दूध पिलाते हैं।

चमगादड़ के हाथ और अँगुलियाँ उसके पंख के कंकाल हैं। अन्य रीढ़धारियों की अग्र शाखाओं के आधार पर इनका भी निर्माण हुआ है। उत्तर बाहु कोहिनी तक समाप्त होती है। अग्र बाहु में युग्म अस्थियाँ होती हैं और हाथ में अँगूठे के अतिरिक्त चार अँगुलियाँ होती हैं। अँगूठा छोटा और स्वतंत्र होता है, किंतु अन्य अँगुलियाँ बहुत बड़ी और त्वचीय पंखझिल्ली में गड़ी होती हैं। उनके छोर पर नख होते हैं और वे छाते की कमानी की भाँति खुलती और सिकुड़ती हैं। पंख से लगी त्वचा पैर तक चली जाती है और दोनों पैरों के बीच तक लगी होती है इसे अंतर-ऊरु-झिल्ली (Interfemoral membrane) कहते हैं। यह दुम को भी लपेट लेती है। अंतर-ऊरु झिल्ली के अतिरिक्त सहायक उड़न-झिल्ली (Accessory flying membrane) होती है, जिसे पूर्वबाहु झिल्ली (Ante-brachial membrane) कहते हैं, जो गर्दन के भाग से प्रारंभ होकर प्रगंडिका (Humerus) तथा अग्रबाहु तक जुड़ी होती है। इस प्रकार चमगादड़ के शरीर पर एक पैराशूट जैसी त्वचा होती है। हवा में उड़ने के लिये इन रचनाओं के अतिरिक्त चमगादड़ का वक्षीय कोष्ठ बड़ा होता है, जिसमें एक बड़ा हृदय और फुप्फुस स्थित होते हैं। वक्ष से लगी मांसपेशियाँ भली भाँति विकसित होती हैं। ये तीनों रचनाएँ, पैराशूट जैसी त्वचा, बृहद्वक्षीय कोष्ठ तथा विकसित मांसपेशियाँ, चमगादड़ के आकाश में अधिक देर तक उड़ते रहने में सहायक होती हैं।

चमगादड़ की अग्र शाखाएँ यद्यपि पंख में परिवर्तित हो गई हैं, तथापि अन्य स्तनियों की भाँति वह इनका उपयोग चलने और पेड़ों पर चढ़ने के लिये करता है। इनसे वह शिकार को पकड़ने और उन्हें मारने का भी काम लेता है।

अँगूठे टाँगने तथा चलने और विश्राम करने के काम आते हैं। फलभक्षी चमगादड़ में ये अँगूठे दो, किंतु कीटभक्षी में एक होता है।

अग्र भुजाओं और अग्र शरीर की अपेक्षा पश्च शाखाएँ और पश्च शरीर कमजोर होते हैं। शरीर की सारी रचना इस प्रकार हुई है कि वह उड्डयन
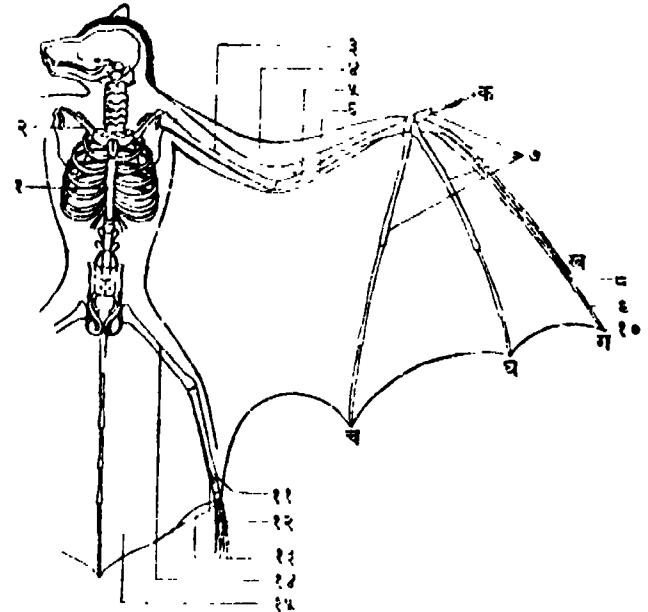
चित्र १. — चमगादड़ का अस्थिपंजर तथा पंखों की झिल्ली
१. उरोस्थि; २. हँसुली (Clavicle); ३. प्रगंडिका (Humerus); ४ पूर्वबाहु झिल्ली (Antebrachial membrane); ५. बहिःप्रकोष्ठिका (Radius); ६. अंतःप्रकोष्ठिका (Ulna), ७. करभास्थियाँ (Metacarpal bones); ८. प्रथम अंगुलास्थि (Phalanx); ९. द्वितीय अंगुलास्थि; १० तृतीय अंगुलास्थि; ११. अंतर्जंघिका (Tibia); १२. बहिर्जंघिका (Fibula); १३. कैल्कार (Calcar); १४. ऊर्वस्थि (Femur); १५. अंतरऊरु झिल्ली (Interfemoral membrane)।

के लिये अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हो। कुछ चमगादड़ पृथ्वी पर नहीं चल पाते हैं और कुछ अग्र और पश्च शाखाओं की सहायता से केकड़े की तरह थोड़ी तेजी से चल सकते हैं।

दाँत और भोजन — चमगादड़ निशिचर होता है। दिन में यह पक्षियों तथा पशुओं के भय से बाहर नहीं निकलता, वरन् किसी पेड़ की डाल अथवा पुराने खंडहरों में लटका रहता है। गोधूलि के समय बाहर निकल कर आखेट करता है। चमगादड़ प्रायः कीट-पतंग और फल-फूल खाते हैं।

कीटभक्षी चमगादड़ उड़ते ही उड़ते छोटे छोटे कीटों को झपाटा मारकर पकड़ लेता है और उसी समय अथवा नीचे उतर कर उन्हें खाता है। फलाहारी चमगादड़ पेड़ों पर ही अथवा अपने अड्डे पर फल लाकर खाता है। चमगादड़ बड़े पेटू होते हैं। सभी फलाहारी चमगादड़ मकरंद, मधुरस या फल के रस का ही पान करते हैं। उसके ठोस पदार्थ का नहीं। फलाहारी चमगादड़ के दाँत कीटाहारी चमगादड़ से भिन्न होते हैं। कीटाहारी चमगादड़ के दाँत नुकीले और तीक्ष्ण होते हैं, जिससे वह गुबरैले या घुन के कवच (shell) का वेधन कर सके। वह कीट का कड़ा भाग काटकर अलग फेंक देता है और उसके मुलायम भाग को ही खाता है। कुछ चमगादड़, जैसे वैंपायर्स (Vampires), रुधिर चूसने
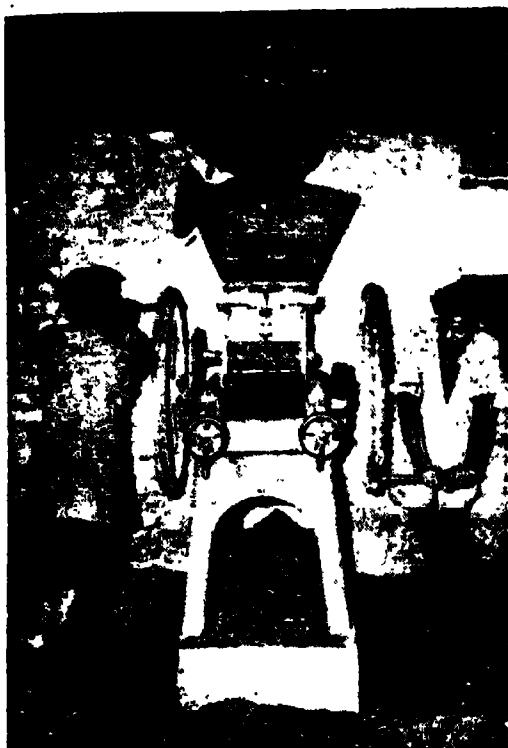
लाख का चूर्ण बनाना

खुरच कर निकाली लाख हाथ से, या अन्य शक्ति से, चलनेवाली चक्की में दली जाती है।

लाख का धोना

लाख का चूरा पानी भरी पत्थर की नादों में पैरों से रौंदकर धोया जाता है। नांद का पानी बार बार बदला जाता है, जिससे विलेय तथा अन्य अवांछित पदार्थ निकल जाते हैं।

यांत्रिक धुलाई

बड़े कारखानों में इस्पात के बने पीपों में, जिनके भीतर विलोडक लगे रहते हैं तथा पानी बहता रहता है, लाख का चूर्ण तब तक धोया जाता है जब तक बाहर निकलनेवाला जल निर्मल नहीं हो जाता।

बालू, कंकड़ अलग करनेवाली मशीन

पीपों में से धुली हुई लाख निकाल कर इस यंत्र में डाली जाती है। यहाँ अपकेंद्रिक क्रिया के कारण बालू, कंकड़ बैठ जाता है और लाख ऊपर आ जाती है।

चपड़ा (पृष्ठ १५५)

लाख का सुखाना
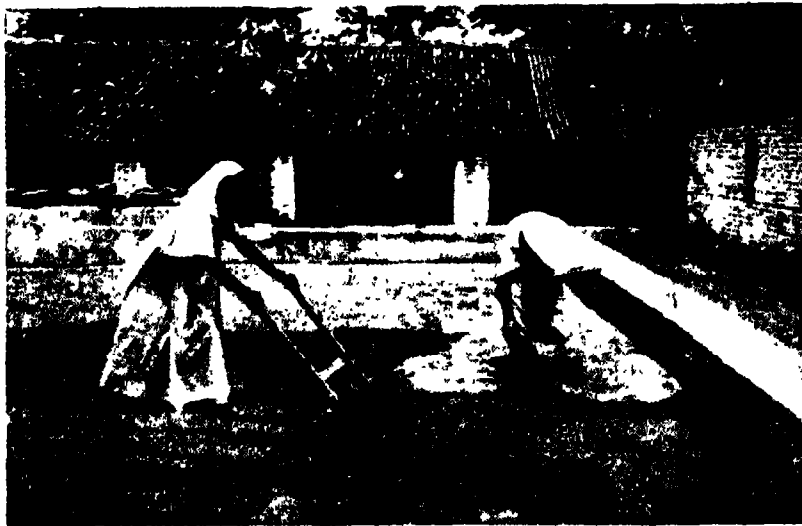
धोने तथा बालू, कंकड़ निकालने के पश्चात् लाख को खुले आंगनों मे सुखाते हैं। सूखी हुई लाख को लाख दाना (Seed Lac) कहते हैं।

चपड़ा निर्माण की देशी रीति

लाख दाने को कपड़े के थैले मे गरमी से गला तथा छान कर चादर बना लेते हैं (देखें लेख)। चादर के टुकड़ों को चपड़ा कहते हैं।

वाले होते हैं और उनके अग्रदंत प्राणियों की त्वचा छेदने के उपयुक्त होते हैं। चमगादड़ों के दांत भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। ये उनके वर्गीकरण में सहायक होते हैं।

वर्गीकरण — भोजन के आधार पर चमगादड़ दो उपगणों में बँटे हैं : (१) बृहद् या फलाहारी (Megachiroptera) तथा (२) लघु या कीटाहारी (Microchiroptera)।

बृहद् चमगादड़ फलाहारी और आकार में बड़े होते हैं। कुछ तो इतने बड़े होते हैं कि परों को दोनों ओर फैलाकर नापने से वे लगभग १·३६ मीटर ठहरते हैं। लघु चमगादड़ कीटाहारी और छोटे होते हैं।
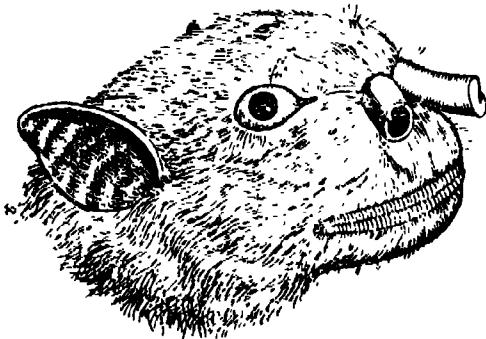
चित्र २. नल नासिकावाला फलाहारी चमगादड़
(Tube-nosed Fruit Bat)
ये चमगादड़ साधारणतः कीटभक्षी भी होते हैं।

कुछ चमगादड़ रक्तचूषक होते हैं और मेढक, मछली तथा स्तनियों का रक्त चूसकर जीवन निर्वाह करते हैं। कुल मिलाकर चमगादड़ों के सात परिवार हैं, जिनके अंतर्गत करीब १००वंश (genus) और अनेकों जात (species) हैं। भिन्न भिन्न जात के चमगादड़ों में पूँछ भिन्न
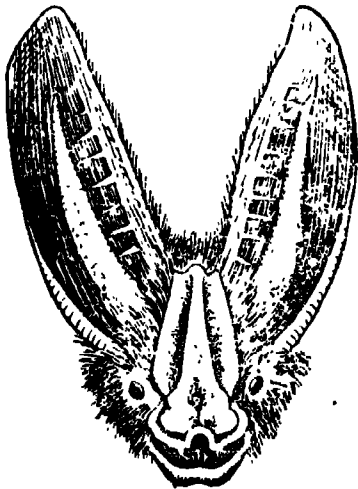
चित्र ३. मिथ्या वैंपायर (False Vampire)
मेगाडरमिडी कुल का यह चमगादड़ भारत तथा दक्षिणी एशिया के देशों में पाया जाता है।

भिन्न प्रकार की होती है। किसी में बड़ी, किसी में छोटी और किसी में लेश मात्र ही होती है। फलाहारी चमगादड़ों की पूँछ स्पष्ट होती है और अंतरऊरु झिल्ली के नीचे स्थित होती है। इस झिल्ली से पूँछ का कोई संबंध नहीं होता। रीनोलोफिडी (Rhinolophidae) परिवार के अश्वनाल (Horse shoe) चमगादड़ में पूँछ स्पष्ट होती है, किंतु मेगाडरमिडी (Megadermidae) परिवार के भारतीय वैंपायर में केवल उसका चिह्न मात्र होता है। दुम अंतरऊरु झिल्ली के लिये सहारे का कार्य करती है और आगे या पीछे मुड़कर इस झिल्ली की गतिविधि का भी नियंत्रण करती है। इसके अतिरिक्त दुम और इसको ढकनेवाली झिल्ली उदर की ओर मुड़कर उड़ते समय गतिरोधक का काम करती है। यह शिकार को पकड़ने के लिये धानी (pouch) का काम भी करती है। उड़ते समय पंख के थपेड़े से कीड़े जब मूर्छित होकर आकाश से नीचे गिरने लगते हैं, उस समय चमगादड़ कीड़े को बड़ी चतुराई से इसी धानी में ऊपर ही ऊपर लोक लेता है और उसमें सिर घुसेड़कर कीड़े को मार डालता है। कुछ चमगादड़ इस थैली मे अपने नवजात शिशु के लिये पालने (cradle) का कार्य लेते हैं।

ज्ञानेंद्रियाँ — चमगादड़ रात्रि में भोजन करते हैं। वे अँधेरे में भी सुगमता और तेजी से उड़ते रहते हैं। बहुतों में इस प्रकार की आश्चर्यजनक शक्ति होती है कि वे अँधेरे में किसी अवरोध से टकरा नहीं पाते। गोधूली या प्रातःबेला में निकलनेवाले चमगादड़ों में दृष्टि अवश्य काम करती है, किंतु चमगादड़ की कुछ जातियाँ ऐसी हैं जो पथप्रदर्शन के लिये दृष्टिशक्ति पर बहुत कम निर्भर रहती हैं। चमगादड़ की आँखों पर पट्टी बाँध देने पर भी उसके उड़ने या अन्य क्रियाओं में अंतर नहीं पड़ता। हाल के शोधों से पता चला है कि चमगादड़ प्रतिध्वनि यंत्र (echo apparatus) का प्रयोग करते हैं। उनकी अपनी एक प्रकार की 'राडार' (radar) प्रणाली होती है। कान इस यंत्ररचना का प्रमुख अंग है। चमगादड़ उड़ने के पूर्व और उड़ने समय अपने मुख या नासाद्वार से एक प्रकार की चीख इतनी तीव्र गति से करता है कि वह मनुष्य की साधारण श्रवण शक्ति के बाहर होती है। यह चीख हवा में ध्वनितरंगें उत्पन्न करती है। जब ये ध्वनितरंगे किसी अवरोध से टकराती हैं, तब वे परावर्तित होकर चमगादड़ तक पहुँच जाती हैं और इन्हें वह तत्काल ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार की प्रतिध्वनि से चमगादड़ किसी अवरोध की दूरी तथा स्थिति का सही सही पता लगा लेता है। चमगादड़ को प्रतिध्वनि का बोध किसी एक ज्ञानेंद्रिय द्वारा नहीं, बल्कि कई ज्ञानेंद्रियों की मिली जुली सहायता से होता है। इन इंद्रियों में श्रवण ज्ञानेंद्रिय अधिक प्रमुख है। कीटभक्षी चमगादड़ अधिक संवेदी और तीक्ष्ण होते हैं।

अन्य किसी स्तनी मे बाह्य कर्ण (Pinna) के विकास और आकार में इतनी विविधता नहीं है जितनी चमगादड़ में। कीटभक्षी चमगादड़ के कान का किनारा कान की जड़ के पास नहीं मिला होता, किंतु फलाहारी चमगादड़ में यह किनारा जड़ के पास मिलकर वलयी कोणनुमा छिद्र बनाता है। कीटभक्षी जाति के चमगादड़ों में इसके अतिरिक्त प्रवर्धन भी वर्तमान होता है, जिसे ट्रेगस (Tragus) कहते हैं। यह कान के भीतरी किनारे से लगा होता है। बाहरी किनारे के आधार के पास एक एक पिंड होता है, जिसे ऐंटिट्रेगस (Anti-tragus) कहते हैं। यह किसी किसी चमगादड़ में बहुत बड़ा होता है। फलाहारी चमगादड़ में न तो ट्रेगस और न ऐंटिट्रेगस होते हैं। कीटाहारी चमगादड़ों में नाक के चारों तरफ फैली हुई त्वचा एक प्रकार की संवेदनग्राही इंद्रिय होती है, जिसे "नासापत्र" (Nose leaf) कहते हैं। वैंपायर चमगादड़ में यह नासापत्र छोटा और साधारण किंतु अश्वनाल रिनोलोफस (Rhinolophus) और पत्रनासाधारी (Leaf-nosed) हिप्पोसिडिरस (Hipposidirus)

में बड़ी तथा जटिल होती है। इसके चुन्नटों में बारीक संवेदनशील लोम होते हैं, जो एक प्रकार की ज्ञानेंद्रिय हैं। निशिचर चमगादड़ों के लिये, जो पेड़ों तथा झाड़ियों में अपना शिकार ढूंढ़ते हैं, यह एक विशिष्ट साधन है। छोटे चमगादड़ कुछ रात बीतने पर शिकार की टोह में निकलते हैं, लेकिन 'उड़न लोमड़ियाँ' संध्या होते ही निकल पड़ती हैं। इनमें दृष्टि पथप्रदर्शक होती है, किंतु अँधेरे में ये अनपेक्षित अवरोधों से बच निकलने में असमर्थ होते हैं। इसलिये प्रायः टेलिफोन या टेलीग्राफ के तार से टकराकर उससे लटके पाए जाते हैं।

चित्र ४. उड़ता हुआ मूषककर्ण चमगादड़

(Myotis Lucifugus)

विस्तार — अधिकांश चमगादड़ों में किसी विशेष प्राकृतिक वातावरण में रहने की प्रवृत्ति पाई जाती है। उदाहरणार्थ, उड़न लोमड़ियाँ अफ्रीका की मुख्य भूमि से ४० मील दूर स्थित द्वीपों में पाई जाती हैं, किंतु वे अफ्रीका महाद्वीप में नहीं बस पाई हैं। ये हिंद महासागर में फैली द्वीप-शृंखलाओं में भी पाई जाती हैं। प्रत्येक जाति किसी द्वीपविशेष में ही पाई जाती है। भारत में चमगादड़ हिमालय के समशीतोष्णकटिबंध में नहीं पाए जाते। फल की ऋतुओं में, अथवा रात्रि में, वे भले ही वहाँ चले जाते हों। उष्ण कटिबंध में उनका प्रधान क्षेत्र प्रायद्वीप के उन स्थानों में है जहाँ अर्ध हरियाली, आर्द्र पर्णपाती और शुष्क पर्णपाती भूकटिबंध हैं। कुछ जातियाँ रेगिस्तान या कँटीले वनक्षेत्र में जहाँ मनुष्य ने फलवृक्ष लगा रखे हैं, बस गई हैं। यही बात कीटभक्षी चमगादड़ों की भी है। पंखधारी और प्राकृतिक अवरोधों को पार करने की क्षमता होते हुए भी चमगादड़ का विस्तार वातावरण की जलवायु, ताप तथा अन्य प्राकृतिक स्थितियों पर निर्भर करता है।

चमगादड़ को हम अँधेरे में वास करनेवाला समझते है, किंतु अनेक फलाहारी और कीटाहारी चमगादड़ संध्या के चमकीले प्रकाश में शिकार करते हैं और अन्य निशिचर जानवरों की भाँति बदली और कुहरे के मौसम में दिन में ही शिकार करने के लिये निकल पड़ते हैं। कुछ चमगादड़ों का बसेरा तो ऐसे स्थान में होता है, जहाँ प्रकाश बहुत होता है; किंतु यह अपवाद है।

शीत निष्क्रियता (Hibernation) और प्रवसन (Migration) — उत्तरी ध्रुवीय देशों में अधिकांश चमगादड़ शीतकाल में खंडहरों, घंटाघरों, कंदराओं और जंगलों में निष्क्रिय पड़े रहते हैं, क्योंकि वातावरण के ताप के गिरने से इनकी शारीरिक क्रिया बिल्कुल मंद हो जाती है और ये निद्रावस्था में हो जाते हैं। ऐसे उष्ण स्थान में जहाँ भोजन की अधिकता होती है ये प्रवास करते हैं। भारतीय चमगादड़ों की शीतनिष्क्रियता और प्रवसन के विषय में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है, किंतु यूरोपीय जातें, जो हिमालय के शीतोष्ण भाग में बस गई हैं, शीतनिष्क्रिय रहती हैं। भारतीय पिपिस्ट्रेल (Indian pipistrelle), जो शिमला में प्रायः अन्य ऋतुओं में पाए जाते हैं, जाड़े में बिल्कुल ही अदृश्य हो जाते हैं। गर्मी की भीषणता वास्तव में चमगादड़ों को व्याकुल कर देती है और वैसी अवस्था में ये अपने दाएँ या बाएँ पंख से हवा झलते पाए गए हैं। चमगादड़ के दैनिक जीवन पर कम वर्षा का प्रभाव नहीं पड़ता।

चमगादड़ और वनस्पति — जिस ऋतु और क्षेत्र में फलफूल की अधिकता रहती है, वहाँ चमगादड़ों का बाहुल्य रहता है। जननकाल और फलफूल लगने की ऋतु में भी एक समन्वय होता है। लघुनासिकाधारी, फलभक्षी चमगादड़ को ताड़ का पेड़, उड़नलोमड़ियों को विस्तृत बरगद, गूलर अथवा इमली के पेड़ तथा घनी बँसवारी भी पसंद होती है। उड़नलोमड़ियाँ किसी पेड़ या पेड़ों पर साल भर अड्डा बनाए रहती हैं।

आर्थिक दृष्टि से चमगादड़ मनुष्य के लिये हानिकारक और उपयोगी दोनों है। कुछ जाति के लोग चमगादड़ का, विशेषतः उड़नलोमड़ी का, मांस खाते हैं।

चमगादड़ के शत्रु — नेवला, उल्लू और बाज चमगादड़ के प्रमुख शत्रु हैं, किंतु चमगादड़ के वास्तविक शत्रु अनेक प्रकार की परोपजीवी मक्खियाँ हैं और कुछ सोमा तक पिस्सू तथा किलनियां हैं, जो उनके परों और त्वचा के खून को चूसते हैं अतएव परोपजीवियों से त्राण पाने के लिये चमगादड़ अपने पैर के नखर से बराबर अपने पर के बालों में कंघी करते रहते हैं। कभी कभी इसके लिये वे दाँत की भी सहायता लेते हैं।

रक्षा के साधन — तेज उड्डयन की शक्ति ही इनकी रक्षा का प्रमुख साधन है। झुंड में रहने की आदत भी सदस्यों की परस्पर रक्षा की दृष्टि से लाभदायक होती है। कुछ जातियों के चमगादड़ों में गंधग्रंथियाँ और थैलियाँ होती हैं, जो त्वचा की सतह पर खुलती हैं और उनसे एक प्रकार की तीव्र गंध निकलती है। यह शत्रुओं और मनुष्यों को विकर्षित करती है। ग्रंथियाँ मादा की अपेक्षा नर में प्रायः अधिक विकसित होती हैं। चमगादड़ के शरीर का रंग भी रक्षा का एक अन्य साधन है।
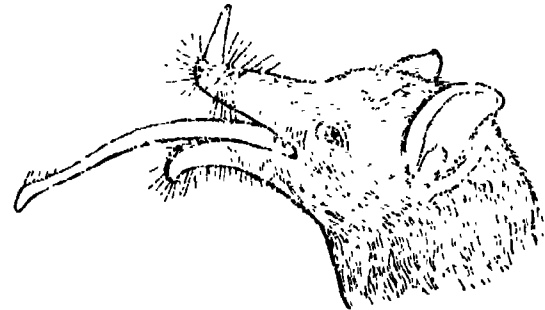
चित्र ५. दीर्घ जिह्वावाला पुष्पाहारी चमगादड़

(Long-tongued flower Bat)

फूलों के अतिरिक्त यह कीट भी खाता है।

सामाजिक जीवन — उड़नलोमड़ियों अथवा फलाहारी चर्मचटकों में भोजनक्षेत्र का बँटवारा होता है या नहीं, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं; किंतु कीटाहारी चर्मचटकों में इस प्रकार की व्यवस्था है। कुछ हवा में ऊँचे पर, कुछ नीचे और कुछ मध्य में शिकार करते हैं। अधिकांश चमगादड़ झुंड में रहनेवाले होते हैं, किंतु यह नियम अपरिवर्तनीय नहीं

है, क्योंकि कई भारतीय जातियों के चमगादड़ प्राय: अकेले अथवा युग्मों में रहते पाए जाते हैं। झुंड में न तो किसी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था होती है और न किसी प्रकार का नेतृत्व ही। प्रत्येक सदस्य स्वतंत्र होता है और उसका अपने से ही मतलब होता है। इनका पारिवारिक जीवन भी अल्पकालिक होता है। माँ बाप और संतान में अधिक दिनों तक संबंध नहीं रहता। उड़नलोमड़ियाँ बसेरे के वृक्ष से एक ही समय भिन्न भिन्न दिशाओं में उड़ती हैं, किंतु प्रत्येक अपने मनमाने रास्ते पर ही चलती है।

चमगादड़ के बच्चे भी अन्य प्राणियों के बच्चों के सदृश लगातार चिल्लाकर अपनी माँ को बुलाते हैं।

जनन ऋतु — चर्मचटकों का प्रजनन काल जलवायु तथा प्राकृतिक स्थितियों पर निर्भर करता है। साधारणत: शरद ऋतु के अंत में मैथुन ऋतु होती है। अधिकांश मादाएँ इसी समय शुक्राणु ग्रहण करती हैं, यद्यपि इस समय गर्भाधान नहीं होता और शुक्राणु गर्भाशय में संचित रहते हैं। वसंत ऋतु के अंत में जब सुप्तकाल समाप्त हो जाता है और क्रियाशीलता पुन: प्रारंभ हो जाती है, तब अंड का शुक्र से संयोग और निषेचन होता है। अनावश्यक शुक्राणु बाहर निकाल दिए जाते हैं। अधिकांश चर्मचटक फूल तथा फल लगने की मुख्य ऋतु के ठीक कुछ समय पूर्व बच्चे जनते हैं। पश्चिमी किनारे में बंबई के समीप उड़नलोमड़ियाँ प्राय: सितंबर और अक्टूबर में मैथुन करती हैं और मार्च या अप्रैल के मध्य तक बच्चे जनती हैं।

चमगादड़ का विकास — चर्मचटक में पर का विकास कैसे हुआ, यह ज्ञात नहीं है। किंतु जीवाश्मों (fossils) से पता चलता है कि जिस समय पाँच अंगुलीवाले घोड़े और टापीर (Tapir) जैसे हाथी इस पृथ्वी पर विचरण कर रहे थे उन दिनों भी चमगादड़ आज के ही चमगादड़ जैसे थे और उनमें उड़ने की क्षमता थी। मध्य इओसिन (Middle Eocene) युग की चट्टानों से प्राप्त अमरीकी जीवाश्म के चमगादड़ भी आधुनिक कीटभक्षी चमगादड़ के सदृश ही थे। दुर्भाग्य है कि जीवाश्म से चर्मचटकों में उड़ान भरने की शक्ति की उत्पत्ति और विकास की कहानी पर प्रकाश नहीं पड़ता और न उनके पूर्वजों का पता लगता है।

सं० ग्रं० — एस० एच० प्रैटर : दि बुक ऑव इंडियन ऐनिमल्स, प्रकाशक. दि बांबे नैचुरल हिस्ट्री सोसाइटी, बॉम्बे; जी० एच० एच० टेट : मैमल्स ऑव ईस्टर्न एशिया, दि मैकमिलन कंपनी, न्यूयॉर्क (१९४७)। [कृ० ना० प्र०]

चमड़ा उद्योग बड़े या छोटे पशुओं की साफ की हुई खाल को रासायनिक प्रक्रिया द्वारा 'कमाकर' चमड़ा बनाया जाता है। बिना कमाई खाल सड़ने लगती है। ६०° सें० ताप के जल में खाल लगभग पूरी घुल जाती है, किंतु कमाया हुआ चमड़ा सड़ता नहीं। आर्द्र अवस्था में भी उसका जीवाणु-पूयन (bacterial putrefaction) नहीं होता और न वह जल में विलेय होती है। कई चमड़े तो पानी के क्वथनांक पर भी यथावत् बने रहते हैं। कमाने से चमड़े में कुछ मौलिक गुण, जैसे नम्यता, तनाव सामर्थ्य, प्रत्यास्थता, अपघर्षणरोध इत्यादि भी आ जाते हैं।

संसार का लगभग ९० प्रति शत चमड़ा बड़े पशुओं, जैसे गोजातीय पशुओं, एवं भेड़ तथा बकरों की खालों से बनता है, किंतु घोड़ा, सूअर, कंगारू, हिरन, सरीसृप, समुद्री घोड़ा, और जलव्याघ्र (seal) की खालें भी न्यूनाधिक रूप में काम में आती हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर, खालें मांस उद्योग की उपजात हैं। यदि वे प्रधान उत्पाद होतीं, तो चमड़ा अत्यधिक महँगा पड़ता। उपजात होने के कारण इनमें कुछ दोष भी प्राय: पाए जाते हैं, जैसे पशुसंवर्धक लोग खाल के सर्वोत्तम भाग, पुट्ठों को दाग लगाकर बिगाड़ डालते हैं। उनकी असावधानी से कीड़े मकोड़े खाल में छेद कर जाते हैं। उसको छीलने (flaying) या पकाने सुखाने (curing) के समय कई और दोषों का आना संभव है।

यों तो खालें प्रत्येक देश में मिलती ही हैं, किंतु संसार के खाल-उत्पादन-आँकड़ों को देखने से ज्ञात होता है कि सन् १९५५ में खाल-उत्पादक देशों में भारत का बड़ी खालें पैदा करने में द्वितीय, तथा बकरी और मेमनों की खालें पैदा करने में सर्वप्रथम, स्थान था। यदि थोड़ा और प्रयास किया जाय तो चमड़ा उद्योग का भविष्य यहाँ बहुत उज्वल हो सकता है।

व्यापार में, चमड़ा कमाना प्रारंभ करने के पहले, खालों का बड़े परिमाण में संचयन अनिवार्य है। इसमें ध्यान इस बात का रखना पड़ता है कि कमाई घर (tannery) पहुँचने से पहले खालें सड़ने न लग जायँ। इसके लिये खालों का अस्थायी परिरक्षण किया जाता है। इसका सामान्य उपाय है, लवण द्वारा उपचार। सर्वोत्तम बड़ी या बछड़ों की खालों पर, छीलने के तुरंत बाद, सूखा नमकचूर्ण छिड़ककर उन्हें पैक कर देते हैं, या अति संतृप्त नमक के विलयन में उन्हें रख देते हैं। यदि अधिक दिनों तक रखना पड़े तो लवणित खालों को सुखा लेना उचित होता है। परिरक्षण का दूसरा उपाय है खालों को छाया में फैला या लटका कर सुखाना। इसमें खालों को क्षय या कीटक्षति से बचाने के लिये आर्सेनिक विलयन का उपचार वांछनीय है।

खाल में दो प्रकार की सुस्पष्ट परतें होती हैं, जिनकी उत्पत्ति तथा विन्यास भिन्न होता है : १. एपिथीलिअल (epithelial) कोशिकाओं की बनी पतली ऊपरी तह, एपिडर्मिस (इसके छोटे छोटे अंतर्नयनों में बालगर्त और बाल स्थित रहते हैं); २. इसके नीचेवाली सापेक्षत: अत्यधिक मोटी तह, डर्मिस (dermis) या कोरियम (corium)। चमड़ा वास्तव में इसी तह का बनता है। चमड़ा बनाने में बाल और एपिडर्मिस को पूर्णत: अलग करके कोरियम के नीचे लगे वसा ऊतक और मांस को छीलकर कोरियम का शोधन करते हैं, जिससे वह पूयनरोधी हो जाय। सूखे कोरियम में कम से कम ८५ प्रति शत कोलेजन नामक तंतु-प्रोटीन होता है। इसी का वास्तविक चमड़ा बनता है। बाकी १५ प्रति शत भाग में जल-संयोजक ऊतक, वसा, कार्बोहाइड्रेट, खनिज, बैक्टीरिया एंजाइम इत्यादि संमिलित रहते हैं। कोलेजन अपनी प्राकृतिक अनुपचारित दशा में जलशोषण के पश्चात् जिलेटिन में परिणत हो जाता है। अत: चर्मशोधन द्वारा इसे जलप्रतिरोधी बनाते हैं। कोरियम श्वेत-तंतु-निर्मित रचना है, जिसे बिना क्षति पहुँचाए अलग करने में ही शोधनपूर्व प्रारंभिक कार्यों की सफलता है। भिन्न भिन्न खालों के कोरियम में संयोजक ऊतक तथा वसीय पदार्थों की मात्रा न्यूनाधिक होती है। चर्मशोधक की दृष्टि से खालों में संयोजक ऊतक का होना महत्वपूर्ण है। इसके रेशे कोलेजन से भीतर के भाग इलास्टिन (elastin) नामक पीले रंग के प्रोटीन के बने होते हैं। चमड़े के तनाव तथा प्रत्यास्थता, दोनों पर इलास्टिन की मात्रा का प्रभाव पड़ता है। खाल में वसाकोशिकाओं का भी अपना पृथक् महत्व है। उदाहरणार्थ, किसी खाल में यदि इनके बड़े बड़े समूह कोलेजन तंतुओं में बिकीर्ण हैं, तो निश्चय ही उसका चमड़ा कोमल और स्पंजी बनेगा; कारण यह है कि चर्म-शोधन-पूर्व के प्रारंभिक कार्यों में वसाकोशिकाओं

के हट जाने से छोटे छोटे असंख्य रिक्त स्थान बनेंगे, जिनसे चमड़े में लचक आ जायगी।

चर्मशोधन से पूर्व की तैयारियाँ

धोना और फुलाना — खालों के गट्ठरों को खोलकर, प्रत्येक खाल का दोष जानने के लिये पहले निरीक्षण करते हैं। दोषयुक्त भाग और ऐसे छोर, जिनसे चमड़ा नहीं बनता, जैसे कान और खुर, को काटकर जिलेटिन या सरेस निर्माता के पास भेज देते हैं। शेष खालों को परिभ्रामी पीपों में ठंढे जल से कई बार धोते हैं। पीपों में खूँटियों का ऐसा प्रबंध रहता है कि खाल निरंतर मुड़ती और अलग खिचती रहें। विलेय प्रोटीनों के जीवाणुपूयन के नियंत्रणार्थ जल में कुछ पूतिरोधक भी डालते हैं। धोने के पश्चात् खालों को बड़े बड़े कुंडों (vats) में, सापेक्षतः ठंढे अक्षारीय जल में डुबोकर, फुलाते हैं। इन क्रियाओं का उद्देश्य परिरक्षक नमक, रक्त तथा लसीकाजनित प्रोटीन, गोबर या अन्य बाह्य पदार्थों को पूर्णतः निकालना और खालों को फुलाकर नम्य, कोमल तथा पूर्व आकार और आयाम का बनाना है। कभी कभी भिगोना और धोना दुहराना भी पड़ता है, किंतु खालों का अत्यधिक उत्फुल्लन रोकने के लिये विवेकपूर्ण जलशोषण और जीवाणुपूयन का दृढ़ नियंत्रण अनिवार्य है।

मांस छुड़ाना — फूली हुई खालों में नीचे की ओर लगे अनावश्यक वसा या मांस को हथचाकू, या ब्लेडयुक्त परिभ्रामी बेलनों, द्वारा रगड़कर निकाल देते हैं।

चूना उपचार (liming) — इसके लिये खालों को बड़े कुंडों में जल और बुझे हुए चूने की पर्याप्त मात्रा के साथ विलोड़ित करते हैं। चूना-जल सदा संतृप्त रहना चाहिए। चूना-उपचार का अनुकूलतम ताप १८° सें० बताया जाता है। चूना-जल की क्रिया से एपिडर्मिस की परत घुल जाती है तथा बालों को जड़ें किरेटिन नामक प्रोटीन के सुलभ क्षारविघटन के फलस्वरूप ढीली हो जाती हैं। चूने की क्रिया में तीक्ष्णता लाने के लिये चूने का लगभग दशमांश सोडियम सल्फाइड भी कुंडों में घोलते हैं। इसके जलविश्लेषण से सोडियम हाइड्रोसल्फाइड बनता है, जो केशशिथिलीकरण की गति को तीव्र कर देता है। इसके उचित प्रयोग से बाल विलेय या विघटित होकर आसानी से निकल जाते हैं, किंतु चमड़ा उद्योग को इस बहुमूल्य उपजात (बाल) की हानि उठानी पड़ती है। बालों से नमदे और कंबल बनते हैं। भेड़ की खाल का मुख्य उत्पादन ऊन है। अतः प्रत्येक खाल के नीचे की ओर चूने और सोडियम सल्फाइड का एक गाढ़ा लेप (paste) लगाकर, लेप को अंदर करके खालों को लपेटकर कुछ घंटों तक छोड़ देते हैं। लेप का ऊन से न्यूनतम स्पर्श होना चाहिए। फलस्वरूप हाइड्रोसल्फाइड खाल में विसरित होकर ऊन पकड़नेवाली कोशिकाओं को घोल लेता है और ऊन सुगमतापूर्वक एकत्र कर ली जाती है।

अलोमीकरण — अब खाल को बालों की ओर परिभ्रामी, कुंद तथा सर्पिल फलों (blades) द्वारा रगड़कर ढीले हुए बालों को हटाते हैं। इसके पश्चात् बचे हुए रोएँ छुड़ाने के लिये खाल को एक मेहराबदार, ढालू पटरे पर बिछाकर दुहत्थे, कुंद चाकुओं द्वारा ऊपर से नीचे की ओर बलपूर्वक खींचते हैं। अलोमीकरण की यह प्राचीन, मंदगामी तथा अपेक्षाकृत खुरचन (scudding) विधि इस पूरक रूप में आज भी प्रचलित है।

चूना-निराकरण — खाल को १५° से २३° सें० तक ताप के जल से धोकर, अम्लीकृत जल में विलोड़ित करते हैं। सभी मोटे चमड़ों का, जिनमें तले, पट्टे और मशीनी चमड़े संमिलित हैं, पृष्ठीय चूना-निराकरण आवश्यक है, अन्यथा शोषक द्रवों के संपर्क से उनका विवर्णन हो जाता है। किंतु हल्के चमड़ों के लिये पूर्ण अनुप्रस्थ काट में एकसम निराकरण होना चाहिए, जिसके लिये निम्नलिखित क्रियाएँ आवश्यक हैं :

बेटिंग (bating) — इस क्रिया में खालों को कुंडों या पीपों में अम्लों, लवणों और पूर्वनिर्धारित मानांकित (standardized) एंजाइमों से उपचारित करते हैं। इससे एपिडर्मिस के अवक्रमण उत्पादों, का निष्कासन, प्रत्यास्थी तंतुओं का जलविश्लेषण, पीएच का नियंत्रण और खाल उत्फुल्लन का ह्रास होता है।

अम्लमार्जन — यह विशेषतः क्रोम चर्मपाक के पूर्व किया जाता है। इसमें खालों को तनु सलफ्यूरिक अम्ल और नमक के साथ पीपों में विलोड़ित कर अम्लता की साम्यावस्था लाई जाती है। इस अंतिम सफाई से चमड़े में कोमलता बढ़ती है।

चर्मपाक (Tanning) — यही वह रासायनिक परिवर्तन है जिसके फलस्वरूप चमड़ा बनता है। प्राचीनतम काल में इसके लिये केवल वनस्पति वर्ग के पदार्थ प्रयुक्त होते थे, किंतु आधुनिक प्रौद्योगिकी ने चर्मपाक के लिये अनेक रासायनिक द्रव्यों का आविष्कार किया है। आजकल अधिकतम चमड़ा क्रोम विधि से बनता है, किंतु कुछ चमड़े अभी तक वानस्पतिक चर्मपाक द्वारा तैयार किए जाते हैं :

वानस्पतिक चर्मपाक — प्राचीन काल में चर्मपाक के लिये एकमात्र वंजुलछाल प्रयुक्त होती थी, किंतु अब अन्य अनेक वानस्पतिक पदार्थों का उपयोग होता है। इन्हें पर्किन महोदय ने मुख्यतया तीन वर्गों में बाँटा है :

१. इलागी (elagi) टैनिन — टैनिनांश सहित इस वर्ग के पदार्थ, हैं : वंजुलछाल, १०-१२ प्रति शत; हर्रा (Terminalia chebula) ३३-३६ प्रति शत; वैलोनिया (Quercus aegilops) ३०-४० प्रति शत; डिवी-डिवी (Caesalpinia coriaria) ३६-४२ प्रति शत; हर्रा का निष्कर्ष ५०-५५ प्रति शत और अलगारोविला (Caesalpinia brevifolia) ६०-८० प्रति शत।

२. गैलो (Gallo) टैनिन — इनमें अग्रलिखित टैनिनांश हैं : सुमाख (Rhus coriaria) २६-३० प्रति शत; पांगर (Castanea vesca) काष्ठ, २६-३० प्रति शत और माजूफल (Quercus infectoria) ५०-६० प्रति शत।

३. कैटिकोल (Catechol) टैनिन — लार्च (Larix europaea) में ६-१० प्रति शत; हेमलाक (Abies canadensis) में ८-२० प्रति शत; मैलेट (Eucalyptus occidentalis) की छाल में २०-२५ प्रति शत; बबूलकाष्ठसत्व में २६-२८ प्रति शत; कानाएग्रे (Rumex hymenosepalum) में २५-३० प्रति शत; गैंबियर (Nauclea gambir) में ३५-४५ प्रति शत; मिमोसा (Acacia pycnantha) में ३८-४६ प्रति शत; मिमोसा निष्कर्ष में ६२-६४ प्रति शत और क्युब्रैको (Quebracho colorado) निष्कर्ष में ६२-६८ प्रति शत टैनिन रहता है।

इलागी टैनिनों का एक गुण यह है कि इनके उपचार से चमड़े पर इलैजिक (ellagic) अम्ल का एक रवेदार, पृष्ठीय निक्षेप बन जाता है, किंतु अन्य दोनों वर्गों के टैनिनों से नहीं बनता। इस निक्षेप से तैयार चमड़े में दृढ़ता आती है, किंतु बाद में यदि चमड़े को रँगना हो, तो यह बाधक होता है।

संश्लिष्ट टैनिन — इनमें एक जाति की टैनिन सिंटैंस (syntans) कहलाती है। यह फिनोलसल्फोनिक अम्ल और फार्मैल्डीहाइड को मिश्रित करने से बनती है। चर्मपाक के लिये यह एकांतिक रूप से प्रयुक्त नहीं होती, किंतु क्रोम अथवा वनस्पतिपाचित चमड़े के पुनर्पाक में अत्यधिक उपयोगी है। चमड़े में द्रुत प्रवेश और वर्णोन्नति करने के अतिरिक्त अनेक वांछित बचत इन सहायक पाकों द्वारा हो सकती हैं। दूसरी संश्लिष्ट टैनिनें रेजिन वर्ग की हैं। विभिन्न वांछित गुणवाले चमड़ों के निर्माण में इनका भविष्य आशाजनक है।

वानस्पतिक चर्मपाक — तले, पट्टे, मशीनों या गद्दी के मोटे चमड़ों के लिये ग्रेटब्रिटेन में भारी खालों की चूना उपचार के पश्चात् ही काट छाँट (rounding) कर लेते हैं। इन कामों के लिये मुख्य तथा सर्वोत्तम भाग पुट्ठों का होता है, जिसकी पाकविधि भिन्न है। बाकी लगभग आधे क्षेत्रफल में पेट और कंधों के भाग होते हैं। इनसे हल्के कामों का चमड़ा बनाते हैं, जैसे जूते का उपरला, अस्तर, जिल्दसाजी के चमड़े, मनोहारी वस्तुएँ इत्यादि। इन हल्के भागों और छोटी खालों का चर्मपाक बिना काटे छाँटे ही कर लेते हैं। फिर उनकी मोटाई यदि आवश्यकता से अधिक हो, तो चिराई मशीन द्वारा वांछित मोटाईवाली समतल पर्तें बना लेते हैं।

वानस्पतिक चर्मपाक के संपूर्ण प्रक्रम में, आपेक्षिक घनत्व और अम्लता अंकित करनेवाले उपकरणों द्वारा, चर्मपाक द्रवों की सांद्रता यथार्थतापूर्वक नियंत्रित रखते हैं।

मोटे चमड़ों का पाक — इसका परिचालन तीन क्रमों में करते हैं :

१. खालों को धीरे धीरे बढ़ती सांद्रतावाले तनु पाकद्रवों में लटकाकर और हिला डुलाकर रँगा जाता है। यह क्रिया निलंबक (suspender) या दोलक (rocker) कुंडों में होती है। इनमें पूर्वप्रयुक्त तनु द्रव का प्रयोग करते हैं। खाल प्रतिदिन एक कुंड से निकालकर दूसरे, क्रमश: अधिक सांद्र द्रववाले, कुंड में लटकाते हैं तथा एक कुंड के अंदर भी प्रति दिन एक दो बार उलट पलट देते हैं। कुंडों की संख्या और उनमें लगनेवाला समय चमड़ा कमाने के विभिन्न कारखानों (tanneries) में न्यूनाधिक होता है।

२. सांद्रतम दोलक कुंडों के पश्चात् खाल को हस्तन (handler) या प्लावक (floater) कुंडों में लाते हैं। यहाँ खाल को प्रति दिन एक बगल, ऊपर खींचकर अपवाहित (drain) होने देते हैं, फिर उसे क्रमश: बढ़ती सांद्रतावाले अगले कुंड में क्षैतिज स्थिति में रखते हैं। इसी विधि से हस्तन कुंडों में चर्मशोधन प्राय: पूर्ण हो जाता है।

३. ये चमड़े अब धूलित्र (duster) में आते हैं। यहाँ चमड़ों की अनेक तह के बीच में ठोस पाक सामग्री बुरककर उन्हें सांद्र द्रवों में अपेक्षतया लंबी अवधि तक छोड़ देते हैं। एक दो सप्ताह बाद उन्हें अधिक सांद्रतावाले दूसरे कुंड में स्थानांतरित करते हैं। अंत में सांद्रतम द्रव अर्थात् पूर्व-अप्रयुक्त चर्मपाक निष्कर्ष काम में लाते हैं। ऐसी अवस्था में चमड़े पर पृष्ठीय निक्षेप बन जाता है, जिसके कारण वह अधिक दृढ़, कठोर, भारी तथा घर्षणरोधक (wear resistant) हो जाता है। अंत में चमड़े को निकालकर, पानी बह जाने के पश्चात्, उसके दानेदार पार्श्व पर जमे हुए निक्षेप को रगड़कर छुड़ाया जाता है।

बकरों की खाल का चर्मपाक — इन खालों का चूना निराकरण पूर्ण करने के लिये इन्हें जल से और कभी कभी अम्ल से भी धोते हैं। इसके बाद इनको पूर्वप्रयुक्त वानस्पतिक पाक द्रवों में दो से लेकर सात दिनों तक निलंबनकुंडों में चलाते रहते हैं, फिर हस्तन कुंडों के अधिक सांद्र द्रवों में उनका पाचन पूर्ण करते हैं। अंत में चमड़े का रंग हलका करने के लिये उसको पीपे या कुंड में सुमाख (Sumach) के उष्ण निषेक (infusion) द्वारा पुनर्पाक करते हैं। चूँकि अधिकतर ऐसे चमड़े बाद में रँगे जाते हैं, अत: ऐसी अवस्था उत्पन्न ही नहीं की जाती कि उनपर पृष्ठीय निक्षेप बने।

भेड़ की चिरी हुई खाल की दानेयुक्त परत, स्किवर (skiver), का चर्मपाक — चूना उपचार के बाद ही चिराई मशीन द्वारा ये परतें प्राप्त होती हैं। चिरी हुई परतों का क्षेत्रफल बराबर होता है, किंतु मोटाई कम होती है। स्किवरों का मुख्य उपयोग जिल्दसाजी में होता है। पहले इनका परिपूर्ण चूना निराकरण जल से धोकर और अम्लमार्जन द्वारा करते हैं, तब चर्मपाक के लिये इन्हें पैडल चक्र (paddle wheel) में, सुमाख पत्रों की बुकनी से ६०° सें० पर बने निषेक के साथ विलोड़ित करते हैं। प्राय: १२ घंटों में चर्मपाक पूर्ण होता है। तब चमड़ों का पानी निकालकर और धोकर सूखने देते हैं। इस प्रकार प्राप्त सफेद चमड़ा किसी भी रंग में रँगा जा सकता है।

कभी कभी क्रोमपाक चमड़े का वानस्पतिक पाक भी करते हैं। ऐसे संयुक्त पाक से चमड़े में दोनों रीतियों से प्राप्त होनेवाले गुण आते हैं, जैसे किसी विशिष्ट तले के चमड़े को संयुक्त पाक द्वारा क्रोम चमड़े जैसी घर्षणरोधकता और वनस्पति द्वारा पक्व चमड़े जैसी वर्धित मोटाई देते हैं।

खनिज चर्मपाक विधि — यद्यपि अधिकतर हल्की खालों के लिये आजकल क्रोम चर्मपाक ही प्रयोग में है, तथापि दस्तानों के चमड़े अभी तक खनिज पाक की प्राचीन विधि से ही बनाए जाते हैं। इसमें तैयार खाल के १०० भाग के साथ ८ भाग फिटकरी, ८ भाग नमक, ३ से लेकर ५ भाग तक आटा और २ से लेकर ४ भाग तक अंडपीत परिभ्रामी पीपे में डालकर दो घंटे तक चलाने से चमड़ा बनता है। इसे निस्सरण के बाद सुखाते हैं।

दुहरे अवगाह (double bath) वाली क्रोम चर्मपाक विधि — व्यापार में यह मुख्यत: बकरे और बछड़े की खालों के शोधन में प्रयुक्त होती है, जिसकी आधुनिक विधि यह है :

पहले अवगाह (bath) में १०० भाग अम्लमार्जित खालों को ६ भाग सोडियम बाइक्रोमेट और १·७५ भाग सलफ्यूरिक अम्ल के तनु विलयन के मिश्रण के साथ पीपों या पैडल चक्रों में घुमाते हैं, ताकि अवशोषण पूर्ण हो जाय और खालों का रंग चमकदार नारंगी हो जाय। तब उन्हें निकालकर २४ घंटे तक निस्सरित करके मशीन द्वारा फैलाते हैं कि दाने समतल हो जायँ और सिकुड़न निकल जाय। तत्पश्चात् दूसरे अवगाह (bath) में उन्हें १५ भाग सोडियम थायोसल्फेट के तनु विलयन के साथ पीपे इत्यादि में घुमाते हैं। ऊपर से एक भाग सलफ्यूरिक अम्ल जल में मिला हुआ देकर फिर चलाते हैं। इसी प्रकार लगभग एक घंटे में दो बार एक एक भाग अम्ल और देकर चलाते हैं। चमड़े का रंग अंत में फीका नीला हरा हो जाता है।

इस विधि की विशेषता यह है कि पहले अवगाह में बाइक्रोमेट और अम्ल की क्रिया द्वारा जो क्रोमिक अम्ल बनता है और खाल में अवशोषित होता है, वह दूसरे अवगाह में थायोसल्फेट और अम्ल की क्रिया द्वारा बने सलफ्यूरस अम्ल से अपचयित होकर समाक्षारीय क्रोमियम सल्फेट में परिणत होकर तंतुओं में निक्षिप्त हो जाता है। साथ ही थायोसल्फेट के उपचयन से टेट्राथायोनेट बनता है और उन्मुक्त गंधक भी तंतुओं के ऊपर और अंदर निक्षिप्त होता है। यह दुहरे अवगाह द्वारा पक्व चमड़े की पहचान है।

इकहरे अवगाहवाली क्रोम चर्मताप विधि — यह विधि सरल है, अधिक प्रचलित है और इससे निश्चित गुणवाले चमड़े बनते हैं। इसमें क्रमशः बढ़ती हुई सांद्रतावाले समाक्षारीय क्रोमियम लवण, क्रो (ओहा) गं औ$_4$ [Cr (OH) SO_4] की खाल पर सीधी क्रिया होती है। इस रीति में भी चर्मपाक घूर्णमान पीपे इत्यादि में करते हैं और पाकद्रव के तनु विलयन से प्रारंभ करके सांद्रता बढ़ाते जाते हैं कि वेधन पूर्ण हो जाय। एक सामान्य पाकद्रव इस प्रकार बनता है :

एक सीसा मढ़ी टंकी में पहले १०० पाउंड सोडियम बाइक्रोमेट को २५ गैलन जल में घोलते हैं, तब १०० पाउंड सलफ्यूरिक अम्ल (६५ प्रति शत) को अलग २५ गैलन जल में धीरे धीरे मिलाकर पहले विलयन में डालते हैं। ठंढा होने पर २५ पाउंड ग्लूकोज भी उसमें तब तक छोड़ते जाते हैं जब तक विलयन का प्रारंभिक नारंगी रंग बदलकर चमकदार गहरा हरा (बॉटल ग्रीन) न हो जाय।

क्रोम चर्मपाक द्रुतगामी प्रक्रम है। इससे सूक्ष्म नियंत्रित उत्पाद मिल सकते हैं। क्रोम चमड़े अपवाद रूप से घर्षण और रासायनिक क्रियारोधी होते हैं। उनकी तनाव क्षमता अधिक होती है और शुष्क तथा आर्द्र अवस्था में भी वे ऊँचे ताप, बिना हानि उठाए, सहन कर सकते हैं।

तेल चर्मपाक — कच्ची खाल से तेलों के प्रयोग द्वारा चमड़ा बनाना प्राचीनतम प्रक्रम है। आजकल साँभर का चमड़ा इसी विधि से बनाते हैं। भेड़, हिरन इत्यादि के आंतरिक चिराव को मंद क्षारीय स्थिति में लाकर मछली के किसी आक्सीकरणीय तेल, जैसे कॉड तेल, से तर करके, तेल को तंतुओं पर उपचयित करते हैं।

विलायक चर्मपाक — इसमें चर्मपाक पूर्व की तैयारियाँ करने के बाद खालों को ऐसोटोन सदृश विलायकों में विलीन पाकपदार्थों से उपचारित करते हैं। इसमें वेधन और चर्मपाक अति द्रुत होने के कारण तैयार चमड़े में सत्वर परिवर्तन करना संभव है। इस विधि से चर्म औद्योगिकी में आमूल परिवर्तन होने की प्रबल संभावना है।

चर्मपाक के बाद की क्रियाएँ— कमाया हुआ चमड़ा सदा रूक्ष होता है, इसलिये उसे समयागत कण आकारों से संबद्ध विभिन्न सतही फिनिश देते हैं, जिनके लिये निम्नलिखित प्रक्रम हैं :

सुखाना - बाद की क्रियाओं में चमड़ा विकंपित न हो जाय, इसके लिये उसके विभिन्न अंशों में आर्द्रता संतुलन बनाए रखना परमावश्यक है। क्रोम पाक चमड़ों को द्रुतता से ऊँचे ताप पर सुखा सकते हैं, किंतु भारी और वनस्पति द्वारा पक्व चमड़ों का सुखाना धीरे धीरे होना चाहिए। दानेदार तल की अति शुष्कता बचाने के लिये उनपर तेल का एक हल्का लेप लगाकर उन्हें एकसम अंतर्वाही वायुधारा में लटकाते हैं।

फैट-लिकरिंग (Fat-liquoring) — इसका उद्देश्य चर्मपाक काल में निष्कासित वसा का प्रतिस्थापन तथा तंतुओं का स्निग्धीकरण है। सूखे चमड़े का कड़ोलपन, दुर्नम्यता और भंजन (cracking) इन दुर्गुणों को दूर करने के लिये उसे साबुन द्वारा स्थिरीकृत, उपयुक्त जल-तेल पायस के साथ परिभ्रामी पीपों में विलोड़ित करते हैं। बहुधा इसमें रंग भी मिला दिया जाता है। इसे फैट-लिकरिंग प्रक्रम कहते हैं। इस प्रकार क्षुद्र वसा कणकों का अंतर्प्रवेश और तंतुसंमिलन हो जाता है।

करीइंग (Currying) तथा स्टफिंग (Stuffing) — यदि पट्टे और साज जैसे काम आनेवाले चमड़ों को और अधिक वर्षा या ग्रीज अपेक्षित हो तो यह कार्य हस्तलेपन, डुबोना (dipping) अथवा घूर्णयमान पीपों (drum) द्वारा पूर्ण किया जाता है। इसके लिये गोवसा, कॉड मछली का तेल, पैराफिन मोम, सल्फोनेटीकृत तेल इत्यादि प्रयुक्त होते हैं।

रँगना — इसके लिये अधिकतर ऐनिलीन रंग और रंजक तथा काष्ठ-निष्कर्ष प्रयुक्त होते हैं। काष्ठों में हेमेटिन, लॉग काष्ठ, हाईपर्निक तथा फुस्टिक सामान्य हैं, किंतु ऐनिलीन रंगों की अपेक्षा काष्ठ सत्वों द्वारा कांति का पुनरुत्पादन कठिन है। व्यवसाय में प्रायः दोनों के संयोग से संतोषजनक कांति बनाई जाती है। कभी कभी एक सम कांति के लिये, रँगने के पूर्व एक आधार लेप भी किया जाता है। रँगने की सामान्य विधियाँ हैं ब्रशीकरण, डुबाना, द्रुमीकरण और फुहारना। घूमनेवाले पीपे द्वारा रंजक द्रवों में बंधक पदार्थ, जैसे केसीन (casein), चमड़ा और कोई आधुनिक प्रलाक्षारस (lacquer) मिला सकते हैं। दस्तानों तथा अन्य वसनों का पृष्ठीय रंग पक्का और साबुन इत्यादि से अधाव्य होना चाहिए।

परिसज्जन (Finishing) — इसके अनेक प्रक्रम हैं जिनका चयन तैयार चमड़े के वांछनीय तल, उत्तकरचना (texture), चमक दमक तथा रूप पर आश्रित है। तले के चमड़े में दृढ़ता लाने के लिये पहले उसे आर्द्र स्थिति में तथा पुनः शुष्क स्थिति में गरम बेलनों से दबाते हैं। जूते के उपरलों को स्टेकिंग (Staking) यंत्र द्वारा कोमल बनाकर निचली सतह को मखमली स्पर्श देने के लिये परिभ्रामी घर्षक बेलनों से रगड़ते हैं। पूर्ण द्युति के लिये केसीन, ऐलब्यूमिन, मोम, गोंद, जटिल रंजन, प्रलाक्षारस, इत्यादि के रिवर पायस हाथ बेलन या फुहार द्वारा लगाए जाते हैं। पालिश घर्षक मशीनें करती हैं। दानों का प्रभेदक प्रतिरूप स्थायी बनाने के लिये उपरलों पर उपयुक्त नक्काशीदार चद्दरों द्वारा समुचित उष्णता तथा दबाव देते हैं। बकरी के चमड़े को ऊँचे ताप पर सुखाने से उसके दाने स्थायी हो जाते हैं। पेटेंट चमड़े पर तीसी के तैलविलीन यौगिकों के कई लेप लगाते हैं।

तले के चमड़ों का पाक क्रोम विधि से नहीं किया जाता, क्योंकि उसकी प्राप्ति वानस्पतिक विधि द्वारा होनेवाली प्राप्ति से कम होती है। वानस्पतिक विधि से चमड़े का भार अधिक बढ़ता है, क्रोम विधि से उतना नहीं। वनस्पति से पका चमड़ा तौल से बिकता है, किंतु क्रोम से पका क्षेत्रफल के हिसाब से, जिसका मापन स्वचालित मशीन करती है।

[श्या० कि० वा०]

चमरी या चँवरी (Bos Grunniens) अंगुलेटा (Ungulata) गण के बोविडी (Bovidae) कुल का शाकाहारी स्तनपोषी जीव है, जिसका निवास तिब्बत के ऊँचे पठार हैं। यह एक प्रकार की गाय जाति का जंगली पशु है, जिसकी कुछ जातियाँ तो पालतू

कर ली गई हैं, लेकिन कुछ अभी तक जंगली अवस्था में ही जंगलों में रहती हैं। हमारे देश में यह उत्तरी लद्दाख के आसपास १५-२० हजार फुट की ऊँचाई पर पाया जाता है। भारत और तिब्बत के बीच सामान ढोने और सवारी के काम में ये ही जानवर आते हैं।

चमरी को सुरागाय और याक भी कहा जाता है, जिसमें बड़ा याक कद में सबसे बड़ा होता है। याक का कंधा ऊँचा, पीठ चौरस, पैर छोटे और गठीले होते हैं। इसकी पीठ और शरीर की बगल के बाल छोटे रहते हैं, लेकिन सीने के निचले और पैर के ऊपरी हिस्से पर के बाल लंबे होते हैं। इसकी दुम काफी घनी, गोल और झबरी रहती है, जो चमर बनाने के काम आती है।
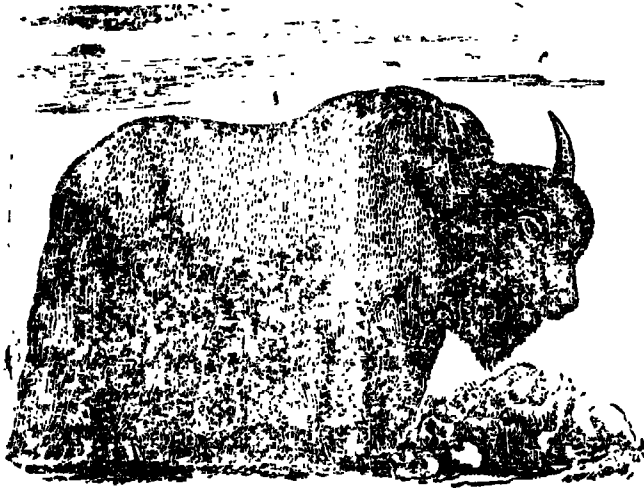
चमरी

चमरी की जंगली जाति काले रंग की होती है, लेकिन पालतू याक काले, सफेद और चितकबरे भी होते हैं। इनके थूथन के पास का कुछ हिस्सा सफेद रहता है और पुराने हो जाने पर नरों की पीठ का कुछ भाग ललछौंह हो जाता है।

याक हमारे पालतू गाय बैल से बड़े नहीं होते, लेकिन ऊँचे कंधे तथा बड़े बालों के कारण ये उनसे अधिक रोबीले दिखाई पड़ते हैं। जंगली याक, जो पालतू याकों से बड़े होते हैं, छह फुट ऊँचे और लगभग सात फुट लंबे होते हैं। मादा नर से कुछ छोटी होती है।

याक वैसे तो सीधे और डरपोक जानवर हैं, लेकिन घायल होने पर बहुत भयंकर हमला करते हैं। इनका मुख्य भोजन घास पात है। ये पानी बहुत पीते हैं और जाड़ों में बरफ खा खाकर अपनी प्यास बुझाते रहते हैं।

चमरी तिब्बत के निवासियों के लिये बहुत ही उपयोगी जीव है। वहाँ के लोग इसका दूध और मांस तो खाते ही हैं, साथ ही साथ ये इसपर सवारी भी करते हैं और सामान ढोने में भी इसका उपयोग करते हैं।

हमारी गायों की तरह चमरी की मादा ९-१० महीने पर एक या दो बच्चे देती है। [सु० सि०]

चमार संस्कृत चर्मकार से व्युत्पन्न, चमड़े का काम करनेवाली हिंदू जातिवाची संज्ञा। इस जाति की उत्पत्ति चांडाल स्त्री और निषाद (पराशर पद्धति), वैदेह स्त्री और निषाद (मनु० १०.३६), या निषाद स्त्री और वैदेह पुरुष (महा० भा० १३.२५८८) से मानी गई है। लोकवार्ताओं के अनुसार इस जाति का आरंभ चामू नामक व्यक्ति (विलियम क्रुक) अथवा लोना चमारिन (शेरिंग) से हुआ है।

प्राचीन काल में आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से दलित और अस्पृश्य जाति के रूप में यह हिंदू वर्णव्यवस्था के अंतर्गत शूद्र वर्ण में मान्य होकर भी शताब्दियों से हीन स्तर की रही है। कारण संभवतः उनका वह उद्यम है जिसमें चमड़े के जूते बनाना, मृत पशुओं की खाल उधेड़ना और चमड़े तथा उससे बनी वस्तुओं का व्यापार करना आदि कार्य था। संस्कृत के चर्मार, चर्मकृत, चर्मक आदि चर्मकार के पर्यायवाची शब्द इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं। चमड़े का उद्यम अधम व्यवसाय था। इसी से चर्मकार हीन समझे जाने लगे। कालांतर में उद्यम के आधार पर जब जाति की उच्चता हीनता का प्रश्न उपस्थित हुआ तब विचारकों का ध्यान इस ओर गया और उन्होंने वर्णव्यवस्था के विपरीत मत प्रकट किए। वर्णव्यवस्था के समर्थकों और विरोधियों के बीच यह समस्या दीर्घकाल तक उपस्थित रही। १४वीं शताब्दी के आसपास इस ढंग के संशोधनवादी और सुधारवादी दर्शन के कई व्याख्याता हुए जिन्होंने जातिगत रूढ़ियों और संस्कारों के विरुद्ध संगठित आंदोलन किए। रामानंद के प्रसिद्ध शिष्य रविदास उन्हीं में से थे जिन्हें चमार जाति के लोग अपना पूर्वपुरुष मानते हैं। यहाँ तक कि रैदास शब्द आगे चलकर चमारों की संमानित उपाधि बन गया। निर्गुनियाँ संतों ने एक स्वर से जातिगत संकीर्णता का खुला विरोध किया। किंतु इतना होते हुए भी चमार जाति में वांछित परिवर्तन न हुआ। आधुनिक युग में परिगणित, पिछड़ी तथा अछूत जाति के अंतर्गत चमारों को सामाजिक-राजनीतिक अधिकार प्रदान करने के निमित्त कानून बने और सुधारांदोलन किए गए।

इस जाति के मुख्य निवासस्थान बिहार और उत्तर प्रदेश हैं। किंतु, अब ये भारत के अन्य भागों—बंगाल, पंजाब, मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र में बड़ी संख्या में बस गए हैं। दक्षिण भारत के द्रविड़मूल जातियों में भी इनका अस्तित्व है।

वर्तमान समय में यह जाति अनेक धंधे करती है जिनमें कृषि तथा चर्म उद्योग मुख्य हैं। प्रायः इनका स्वरूप श्रमजीवी, खेतिहर मजदूर जाति का है। इसकी अनेक उपजातियाँ हैं। उनमें जैसवार, झुसिया, जटुआ, हराले आदि मुख्य हैं। मद्रास और राजस्थान में इन्हें क्रमशः 'चमूर' और 'बोलस' कहा जाता है। इसकी सभी उपजातियों में सामाजिक तथा वैवाहिक संबंध बहुत घनिष्ट हैं।

चमारों में बालविवाह व्यापक रूप से प्रचलित है। बहुविवाह की प्रथा अब समाप्त हो रही है। इनकी जातीय पंचायतें आपसी विवादों को तय करती तथा सामाजिक और धार्मिक कार्यों का संचालन करती हैं। इनमें विधवाविवाह की व्यापक मान्यता है। पुरानी प्रथा के अनुसार वधूमूल्य भी प्रचलित था। लेकिन इन सभी स्थितियों में अब तेजी से परिवर्तन हो रहा है।

इस जाति में अनेक अंधविश्वास व्याप्त हैं। भूत प्रेत, जादू टोना, देवी भवानी की सामान्य रूप से सभी ओर गहरी मान्यता है। इनमें अनेक अहिंदू देवता भी पूजे जाते हैं जिन्हें विविध चढ़ावे चढ़ते हैं। बलि की प्रथा प्रायः सभी प्रांतों के चमारों में प्रचलित है। चमारों में रैदासी,

कबीरपंथी, शिवनारायणी बहुतायत से पाए जाते हैं। कुछ चमारों ने सिख, ईसाई और मुस्लिम धर्म भी स्वीकार कर लिया है।

[श्या० ति०]

चमेली जेस्मिनम (Jasminum) प्रजाति के ओलिएसिई (Oleaceae) कुल का फूल है। अंग्रेजी का जैस्मिन शब्द अरबी भाषा के 'यस्मिन' से व्युत्पन्न मालूम पड़ता है। भारत से यह पौधा अरब के मूर लोगों द्वारा उत्तरी अफ्रीका, स्पेन और फ्रांस पहुँचा। इस प्रजाति की लगभग ४० जातियाँ और १०० किस्में भारत में अपने नैसर्गिक रूप में उपलब्ध हैं, जिनमें से निम्नलिखित प्रमुख और आर्थिक महत्व की हैं :

१. जैस्मिनम ऑफिसनेल लिन्न०, उपभेद ग्रैंडिफ्लोरम (लिन्न०) कोबस्की जै० ग्रैंडिफ्लोरम लिन्न० [J. officinale Linn. forma grandiflorum (Linn.) Kobuski syn. J. grandiflorum Linn.], अर्थात् चमेली।

चमेली की कली, फूल और पत्तियाँ

२. जै० ऑरिकुलेटम वाह्ल (J. auriculatum Vahl) अर्थात् जूही।

३. जै० संबक (लिन्न०) ऐट० [J. sambac (Linn.) Ait.] अर्थात् मोगरा, वनमल्लिका।

४. जै० अरबोरेसेंस रोक्स ब० = जै० रॉक्सबर्घियानम वाल्स० (J. Arborescens Roxb. syn. J. roxburghianum Wall.) अर्थात् बेला।

हिमालय का दक्षिणावर्ती प्रदेश चमेली का मूल स्थान है। इस पौधे के लिये गरम तथा समशीतोष्ण दोनों प्रकार की जलवायु उपयुक्त है। सूखे स्थानों पर भी ये पौधे जीवित रह सकते हैं। भारत में इसकी खेती तीन हजार मीटर की ऊँचाई तक ही होती है। यूरोप के शीतल देशों में भी यह उगाई जा सकती है। इसके लिये भुरभुरी दुमट मिट्टी सर्वोत्तम है, किंतु इसे काली चिकनी मिट्टी में भी लगा सकते हैं। इसके लिये गोबर पत्ती की कंपोस्ट खाद सर्वोत्तम पाई गई है। पौधों को क्यारियों में १½ मीटर से २½ मीटर के अंतर पर लगाना चाहिए। पुरानी जड़ों की रोपाई के बाद से एक महीने तक पौधों की देखभाल करते रहना चाहिए। सिंचाई के समय मरे पौधों के स्थान पर नए पौधों को लगा देना चाहिए। समय समय पर पौधों की छँटाई लाभकर सिद्ध हुई है। पौधे रोपने के दूसरे वर्ष से फूल लगने लगते हैं। इस पौधे की बीमारियों में फफूँदी सबसे अधिक हानिकारक है।

आजकल चमेली के फूलों से सौगंधिक सार तत्व निकालकर बेचे जाते हैं। आर्थिक दृष्टि से इसका व्यवसाय विकसित किया जा सकता है।

सं० ग्रं०— सद्गोपाल : इंडियन जैस्मिन्स सोप परफ्यूमरी ऐंड कॉस्मेटिक्स, लंदन, खंड १२, जुलाई १९३९। [सद०]

चमोली १. जिला, यह उत्तर प्रदेश राज्य के प्राकृतिक विभाग उत्तरी पहाड़ी क्षेत्र के अंतर्गत है। यहाँ की औसत ऊँचाई लगभग ४,५०० फुट है परंतु कहीं कहीं १०,००० फुट से भी अधिक ऊँचाई मिलती है। यह मध्य हिमालय के बीच में स्थित है। अलकनंदा यहाँ की प्रसिद्ध नदी है जो तिब्बत की जासकर श्रेणी से निकलती है। यहाँ पर कायांतरित (metamorphic) चट्टानें जैसे शिस्ट, कई प्रकार के क्वार्टजाइट, मिलती हैं। इसका क्षेत्रफल ३,५२५ वर्ग मील और जनसंख्या २,५३,१३७ (१९६१) है। गर्मी में यहाँ ठंडा और सुहावना रहता है। जाड़े में हिमपात होता है और ऊँची चोटियाँ हिमाच्छादित हो जाती हैं। चमोली जंगलों से प्रच्छादित है जिसमें चीड़, बँजओक तथा ओक इत्यादि की प्रचुरता है। फल भी यहाँ पर्याप्त होते हैं। भेड़, बकरी, घोड़े, याक इत्यादि यहाँ पाले जाते हैं।

२. नगर, स्थिति : ३०° २४′ उ० अ० तथा ७९° २०′ पू० दे०। जिले का मुख्य कार्यालय चमोली नगर में है। नगर अलकनंदा नदी के तट पर स्थित है। यह समुद्रतल से लगभग ३,५०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। चमोली नगर व्यवसाय और शिक्षा का केंद्र है। छोटे छोटे उद्योग भी यहाँ पर हैं। १० प्रति शत जनसंख्या कृषि के कार्य में तथा शेष दूसरे कार्यों में संलग्न है। बद्रीनाथ भी यहाँ से ही जाया जाता है। [हे० प्रि० दे०]

चयापचयन के रोग (Metabolic diseases) — चयापचयन या उपापचयन जीवन का प्रधान लक्षण तथा क्रिया है। प्रत्येक जीवित पदार्थ में प्रत्येक क्षण उपापचयन घटना घटती रहती है। चय का अर्थ है एकत्र करना और अपचय का अर्थ व्यय करना, बाँटना या बिखेरना है। चय क्रिया से ऊर्जा की उत्पत्ति और संग्रह होता है। इस ऊर्जा का पेशियों की क्रिया के, अथवा शारीरिक ताप के, रूप में व्यय होना अपचय है। जो कुछ आहार हम करते हैं — प्रोटीन, कारबोहाइड्रेट, वसा — उन सबका अत्यंत सूक्ष्म रूप में पाचन होकर शरीर की वस्तु को, जिसमें ऊर्जा एकत्र रहती है, फिर से बनाना चय है। ये परिवर्तन अनेक दुरूह रासायनिक क्रियाओं के फल होते हैं, जिनके लिये ऑक्सीजन आवश्यक होता है। रक्त फुफ्फुसों में वायु से ऑक्सीजन लेकर प्रत्येक ऊतक तथा शरीर की कोशिका

को पहुँचाता है। इन्हीं क्रियाओं से जहाँ एक ओर एक वस्तु बनती है वहाँ दूसरी ओर दूसरी वस्तु का भंजन होकर ऐसे अंतिम पदार्थ बन जाते हैं जिनका शरीर से फुफ्फुस, वृक्क, आंत्र तथा चर्म द्वारा त्याग होता है। प्रोटीन के पाचन से अंतिम पदार्थ ऐमिनो अम्ल बनते हैं, जिनके पुनर्विन्यास से शरीर में उपस्थित प्रोटीन बनता है। कुछ ऐमिनो अम्लों का भंजन भी होता है, जिससे यूरिया और यूरिक अम्ल बनकर मूत्र द्वारा शरीर से निकल जाते हैं। कार्बोहाइड्रेट के पाचन से ग्लूकोज बनकर पेशियों में काम आता है और अंत को जल और कार्बन डाइआक्साइड के रूप में मूत्र, स्वेद तथा श्वास द्वारा बाहर निकल आता है। ग्लूकोज ग्लाइकोजन के रूप में यकृत में एकत्र भी हो जाता है। वसा के कण शरीर में विस्तृत जालक-अंतःकला-तंत्र (Reticulo endothelial system) में एकत्र रहते हैं तथा विभाजित होकर जल और कार्बन डाइआक्साइड के रूप में शरीर से पृथक् होते हैं। जल, खनिज लवण, एंजाइम (enzyme) तथा हारमोन उन सब गूढ़ रासायनिक प्रक्रियाओं के ठीक ठीक संचालन में विशेष सहायक होते हैं जिनके ये परिवर्तन परिणाम हैं।

प्रायः प्रत्येक रोग का चयापचयन से संबंध है। रुग्ण अवस्था में चयापचय में परिवर्तन हो जाता है तथा इस परिवर्तन का परिणाम रोग होता है, किंतु कुछ रोग विशेषकर चयापचय की किसी रासायनिक क्रिया के विकृत हो जाने से उत्पन्न होते हैं। ये तीन प्रकार से होते हैं : (१) चयापचय की किसी रासायनिक क्रिया के विकृत हो जाने से, (२) आहार की अधिकता या न्यूनता से तथा (३) अंतःस्रावी ग्रंथियों के क्रियाधिक्य या क्रियान्यूनता से, अर्थात् हारमोनों की अधिकता या कमी के परिणाम से।

रासायनिक क्रियाओं की विकृति से उत्पन्न रोग — (१) यकृत, प्लीहा, अस्थिमज्जा, लसीका ग्रंथियों आदि की रक्तवाहिकाओं की अंतःकला में वसा के समान वस्तुओं से लेसिथिन, किरेटिन और कोलेस्टरोल का एकत्र हो जाना, (२) यकृत में ग्लाइकोजन का अतिमात्रा में संग्रह हो जाना, जिससे यकृत का आकार बढ़ जाता है तथा (३) वे रोग जो प्रोटीन के चयापचय के किसी जन्मजात विकार से उत्पन्न होते हैं, जैसे गठिया। इस रोग में प्रोटीन के अपचय से उत्पन्न हुए यूरिक अम्ल के कण संधियों में एकत्र हो जाते हैं। सिस्टिनमेह (Cystinuria), पोरफाइरिनमेह (Porphyrinuria) तथा ऐल्केप्टोनमेह (Alkaptonuria) नामक असाधारण रोग भी इसी कारण उत्पन्न होते हैं।

आहार की अधिकता या न्यूनता से उत्पन्न रोग — अधिकता से स्थूलता उत्पन्न होती है। वसा की अधिक मात्रा शरीर में एकत्र होने से अनेक रोग हो सकते हैं। आहार की न्यूनता अथवा अनुपयुक्तता (प्रोटीन, विटामिन या खनिज लवणों की कमी) से दुर्बलता होती है। खनिज लवणों या विटामिनों की कमी से शरीर को बहुत क्षति पहुँच सकती है।

हारमोनों की अधिकता या न्यूनता — प्रत्येक अंतःस्रावी ग्रंथि के स्राव में अधिकता या कमी हो जाने पर शारीरिक प्रक्रियाओं के विकृत हो जाने के कारण रोग उत्पन्न होते हैं। अवटुका ग्रंथि से मेंघोरसंबंधी गलगंड, मिक्सीडीमा या वामनता उत्पन्न होती है। अग्न्याशय की लैंगरहैंस द्वीपिका के स्राव, इंसुलिन, की कमी से मधुमेह या डायाबीटीज (Diabetes) और अधिकता से शरीर में शर्कराह्रास उत्पन्न होता है। अधिवृक्क ग्रंथि (Suprarenal gland) के स्राव की अधिकता से वह दशा उत्पन्न होती है जो कशिंग का लक्षणपुंज (Cushing Syndrome) कही जाती है और कमी से ऐडिसन का रोग हो जाता है। अधिवृक्क का अंतस्थ भाग ऐड्रिनेलिन उत्पन्न करता है, जिसकी न्यूनाधिकता से भयंकर परिणाम हो सकते हैं। पीयूषिका ग्रंथि अपने १७ या १८ स्रावों द्वारा शरीर की अधिशोषक है। उसका मृत्यु और जीवन से संबंध है। प्रजनन ग्रंथियाँ पुरुष में अंड और स्त्री में डिंब हारमोन बनाती हैं। पुरुष में पुरुषत्व के लक्षण और स्त्री में स्त्रीत्व उत्पन्न करनेवाले ये ही स्राव हैं। डिंब ग्रंथि के एक स्राव से गर्भ की वृद्धि होती है। इन स्रावों के घट बढ़ जाने से विपरीत परिणाम होते हैं (देखें अंतःस्रावी ग्रंथियाँ)।

[मु० स्व० व०]

चरक चरकसंहिता आयुर्वेद में प्रसिद्ध है। इसके उपदेशक अत्रिपुत्र पुनर्वसु, ग्रंथकर्ता अग्निवेश और प्रतिसंस्कारक चरक हैं।

प्राचीन वाङ्मय के परिशीलन से ज्ञात होता है कि उन दिनों ग्रंथ या तंत्र की रचना शाखा के नाम से होती थी। जैसे कठ शाखा में कठोपनिषद् बनी। शाखाएँ या चरण उन दिनों के विद्यापीठ थे, जहाँ अनेक विषयों का अध्ययन होता था। अतः संभव है, चरकसंहिता का प्रतिसंस्कार चरक शाखा में हुआ हो।

चरकसंहिता में पालि साहित्य के कुछ शब्द मिलते हैं, जैसे अवक्रांति, जेंताक [जंताक — विनयपिटक], भंगोदन, खुड्डाक, भूतधात्री (निद्रा के लिये)। इससे चरकसंहिता का उपदेशकाल उपनिषदों के बाद और बुद्ध के पूर्व निश्चित होता है। इसका प्रतिसंस्कार कनिष्क के समय ७८ ई० के लगभग हुआ।

त्रिपिटक के चीनी अनुवाद में कनिष्क के राजवैद्य के रूप में चरक का उल्लेख है। किंतु कनिष्क बौद्ध था और उसका कवि अश्वघोष भी बौद्ध था, पर चरक संहिता में बुद्धमत का जोरदार खंडन मिलता है। अतः चरक और कनिष्क का संबंध संदिग्ध ही नहीं असंभव जान पड़ता है। पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में मत स्थिर करना कठिन है।

[अ० दे० वि०]

चर कार्य अर्थात् भेद निकालने का कार्य गुप्तचरों और भेदियों द्वारा किया जाता है। विशेषकर युद्धकाल में सब देश अपने भेदियों को भेजकर दूसरे देशों की सेना, सरकार, उत्पादन, वैज्ञानिक उन्नति आदि के तथ्यों के विषय में सूचना प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

चर कार्य मनोबल की दृष्टि से आपत्तिजनक है और बहुधा वे लोग ही इस कार्य को सफलता से कर सकते हैं जिनको अच्छे बुरे का विचार न हो।

निजी चर कार्य — इसमें चर का उद्देश्य किसी व्यक्ति विशेष अथवा किसी व्यापार के संबंध में सूचना प्राप्त करना होता है। यह सूचना सामाजिक बातचीत और मिलाप के आधार पर प्राप्त की जा सकती है। पारिभाषिक सूचना चर विभाग अथवा निजी गुप्तचरों द्वारा प्राप्त की जा सकती है। निजी चर कार्य में तो कभी कभी असभ्य नीति भी अपना ली जाती है, जैसे पड़ोसियों अथवा व्यक्तिविशेष द्वारा संबंधित लोगों के बारे में सूचना प्राप्त करना।

अंतरराजनीतिक चर कार्य — प्रायः सब सरकारें कुछ गुप्तचर और सूचक (informer) इसलिये रखती हैं कि उन्हें जनता के विचारों की

जानकारी रहे और अपने विरोधियों के कार्यक्रमों तथा विचारों से वे अवगत रहें। इस प्रकार के कार्यकर्ता समाज के सब वर्गों से मेलजोल रख सूचना प्राप्त कर सकते हैं।

शांतिकालीन दूत कार्यों में चर कार्य — शांतिकाल में दूतों का कर्तव्य केवल यही नहीं रहता कि वे अपने देश के प्रतिनिधि रहें, अपितु यह देखना भी रहता है कि जिस देश में वे भेजे गए हैं वहाँ की गतिविधि कैसी है। उनसे यह भी आशा की जाती है कि वे वहाँ की उन वर्तमान घटनाओं का ठीक विवरण प्राप्त करें जो उनके अपने देश पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभाव डालें।

आधुनिक राजदूतों के पास हर कार्य में निपुण नभ, जल तथा स्थल की सेना और व्यापार संबंधी कार्यकर्ता होते हैं। इनका कार्य दूसरे देशों की प्रत्येक राजनीतिक गतिविधि पर ध्यान रखना होता है। इसलिये हम राजदूत को राज-संरक्षण-प्राप्त माननीय गुप्तचर कह सकते हैं। जब तक राजदूत कोई अनुचित कार्य नहीं करता, उदाहरणतः अधिकारियों को रिश्वत देना अथवा काम के लेखों की चोरी करना, तबतक वह चर की परिभाषा की परिधि में नहीं आता है।

सैनिक चरकार्य अथवा तन्मध्य चरकार्य — सैनिक चरकार्य के सिद्धांत और सूचना प्राप्त करने के साधन शांतिकाल और युद्धकाल में भिन्न होते हैं। वर्तमान काल में इस कार्य के लिये दो विभाग खोले जाते हैं। एक पुलिस विभाग और दूसरा सेना विभाग। ये विभाग परस्पर सहायता करते हैं।

जर्मनी में चरकार्य विभाग की स्थापना १६वीं शताब्दी के मध्य में हुई थी। चरकार्य में जर्मनी ने बड़ी प्रगति की। दो विश्वयुद्धों में जर्मनी का चरविभाग बहुत बढ़ गया था। चरकार्यकर्ताओं और विद्रोहियों पर चलाए गए मुकदमों से पता चलता है कि जर्मन चरकार्य का जाल व्यापक रूप में फैला हुआ था। हालैंड निवासी जर्मन गुप्तचर माताहारी का मुकदमा विश्वविख्यात मुकदमा था। इसे फ्रांस में गोली से उड़ा दिया गया था। चरविभाग की सहायता से ही रूस की प्रत्येक गतिविधि का ज्ञान प्राप्त कर शक्ति में कम होते हुए भी जापान ने सन् १९०४–१९०५ में रूस को पराजित किया।

चरकार्य के तरीके उद्देश्य पर निर्भर रहते हैं। दो बातें ध्यान में रखनी आवश्यक हैं। एक तो सूचना प्राप्त करना और फिर उन सूचनाओं को अपने अधिकारियों तक पहुँचाना। सूचना प्राप्त करने के लिये या तो चरकार्यकर्ताओं को स्वयं काम करना पड़ता है, या दूसरों को रिश्वत देनी पड़ती है। यदि प्राप्त की हुई सूचनाएँ मौखिक रूप से न भेजी जा सकें तो इस प्रकार के साधन अपनाए जाते हैं, जैसे गुप्त भाषा और संकेत आदि (साइफर) के प्रयोग।

जो सैनिक गुप्तचर पकड़ लिए जाते हैं, उनके विरुद्ध कानूनी कार्रवाई की जाती है। शांतिकाल में प्रायः उन्हें जुर्माने और कारावास का दंड दिया जाता है, परंतु युद्धकाल में ऐसे गुप्तचरों का विचार कोर्टमार्शल द्वारा किया जाता है और उन्हें मृत्युदंड तक दिया जाता है।

[दे० रा० क०]

चरखा यंत्र का जन्म और विकास कब तथा कैसे हुआ, इसपर चरखा संघ की ओर से काफी खोजबीन की गई थी। अंग्रेजों के भारत आने से पहले भारत भर में चरखे और करघे का प्रचलन था। १५०० ई० तक खादी और हस्तकला उद्योग पूरी तरह विकसित था। सन् १७०२ में अकेले इंग्लैंड ने भारत से १०,५३,७२५ पाउंड की खादी खरीदी थी। मार्कोपोलो और टेवर्नियर ने खादी पर अनेक सुंदर कविताएँ लिखी हैं। सन् ११६० में टेवर्नियर की डायरी में खादी की मृदुता, मजबूती, बारीकी और पारदर्शिता की भूरि भूरि प्रशंसा की गई है।

भारत में चरखे का इतिहास बहुत प्राचीन होते हुए भी इसमें उल्लेखनीय सुधार का काम महात्मा गांधी के जीवनकाल का ही मानना चाहिए। सबसे पहले सन् १९०८ में गांधी जी को चरखे की बात सूझी थी जब वे इंग्लैंड में थे। उसके बाद वे बराबर इस दिशा में सोचते रहे। वे चाहते थे कि चरखा कहीं न कहीं से लाना चाहिए। सन् १९१६ में साबरमती आश्रम (अहमदाबाद) की स्थापना हुई। बड़े प्रयत्न से दो वर्ष बाद सन् १९१८ में एक विधवा बहन के पास खड़ा चरखा मिला।

इस समय तक जो भी चरखे चलते थे और जिनकी खोज हो पाई थी, वे सब खड़े चरखे ही थे। आजकल खड़े चरखे में एक बैठक, दो
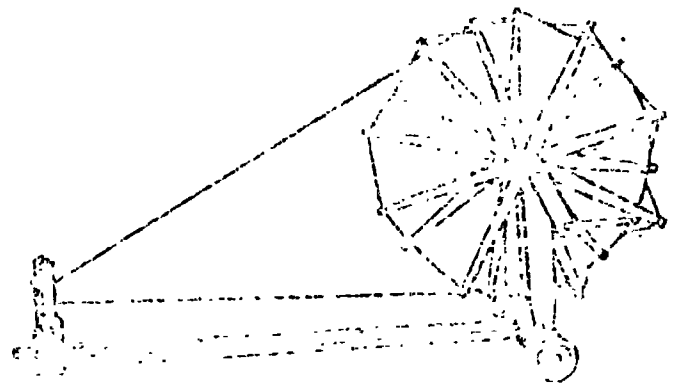
चित्र १ खड़ा चरखा

खंभे, एक फरई (मोढ़िया और बैठक को मिलानेवाली लकड़ी) और आठ पंक्तियों का चक्र होता है। देश के भिन्न भिन्न भागों में भिन्न भिन्न आकार के खड़े चरखे चलते हैं। चरखे का व्यास १२ इंच से २४ इंच तक और तकुओं की लंबाई १६ इंच तक होती है। उस समय के चरखों और तकुओं की तुलना आज के चरखों से करने पर आश्चर्य होता है। अभी तक जितने चरखों के नमूने प्राप्त हुए थे, उनमें चिकाकौल (आंध्र) का खड़ा रखा चरखा (देखें चित्र १) सबसे अच्छा था। इसके चाक का व्यास ३० इंच था और तकुआ भी बारीक तथा छोटा था। इसपर मध्यम अंक का अच्छा सूत निकलता था।

सन् १९२० में विनोबा जी और उनके साथी साबरमती में कताई का काम सीखते थे। कुछ दिन बाद ही (१८ अप्रेल, सन् १९२१ को) मगनवाड़ी (वर्धा) में सत्याग्रह आश्रम की स्थापना हुई। उस समय कांग्रेस महासमिति ने २० लाख नए चरखे बनाने का प्रस्ताव किया था और उन्हें सारे देश में फैलाना चाहा था। सन् १९२३ में काकीनाडा कांग्रेस के समय अखिल भारत खादीमंडल की स्थापना हुई, किंतु तब तक चरखे के सुधार की दिशा में बहुत अधिक प्रगति नहीं हुई थी। कांग्रेस का ध्यान राजनीति की ओर था, पर गांधी जी उसे रचनात्मक कार्यों की ओर भी खींचना चाहते थे। अतः पटना में २२ सितंबर, १९२५ को अखिल भारत चरखा संघ की स्थापना हुई।

चरखे में संशोधन हो, इसके लिये गांधी जी बहुत बेचैन थे। सन् १९२३ में ५,००० रुपए का पुरस्कार भी घोषित किया, किंतु कोई विकसित नमूना नहीं प्राप्त हुआ। २९ जुलाई सन् १९२९ को चरखा

चित्र २. किसान चरखा

संघ की ओर से गांधी जी की शर्तों के अनुसार चरखा बनानेवालों को एक लाख रुपया पुरस्कार देने की घोषणा की गई। गांधी जी ने जो शर्तें रखी थीं उन्हें पूरा करने की कोशिश तो कई लोगों ने की, लेकिन सफलता किसी को भी नहीं मिली। किर्लोस्कर बंधुओं द्वारा एक चरखा बनाया गया था, लेकिन वह भी शर्तें पूरी न होने के कारण असफल ही रहा।

चरखे के आकार पर उपयोगिता की दृष्टि से बराबर प्रयोग होते रहे। खड़े चरखे का किसान चरखे (देखें चित्र २) की शकल में सुधार हुआ। गांधी जी स्वयं कताई करते थे। यरवदा जेल में किसान चरखे को पेटी चरखे (देखें चित्र ३) का रूप देने का श्रेय उन्हीं को है। श्री सतीशचंद्र दासगुप्त ने खड़े चरखे के ही ढंग का बाँस का चरखा
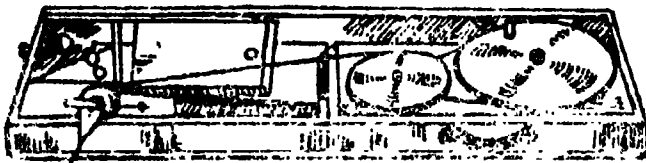
चित्र ३. पेटी चरखा

(देखें चित्र ४) बनाया, जो बहुत ही कारगर साबित हुआ। बाँस का तो जमताचक्र (किसान चरखे की ही भांति) बनाया गया, जिसपर श्री धीरेन्द्र मजूमदार लगातार बरसों कातते रहे। बच्चों के लिये या प्रवास में कातने के लिये प्रवास चक्र भी बनाया गया, जिसकी गति किसान चक्र से तो कम थी, लेकिन वह ले आने लाने में सुविधाजनक था। इस प्रकार अब तक बने हुए चरखों में गति और सूत की मजबूती की दृष्टि से किसान चरखा सबसे अच्छा रहा। फिर भी देहात की

चित्र ४. बाँस का जमता चरखा
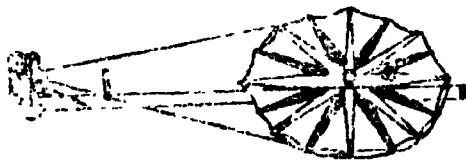
कत्तिनों में खड़ा चरखा ही अधिक प्रिय बना रहा। गांधी जी के स्वर्गवास के बाद भी चरखे के संशोधन और प्रयोग का काम बराबर चलता रहा।

सन् १९४९ में तमिलनाड के एक युवक कार्यकर्ता श्री एकंबरनाथ जी का नया प्रयोग सामने आया। अभी तक चरखे पर जो कताई होती थी, वह लेटे तकुवों द्वारा होती थी। तकुवे की गिर्री को गति देने का काम सूत की माल से लिया जाता था। एकंबरनाथ जी ने जो चरखा बनाया उसमें तकुवे खड़े लगे थे। खड़े तकुवे की पद्धति कपड़े की मिलों की है। तकुवा अब भी सूत की माल से ही चलता है, लेकिन

चित्र ५. अंबर बेलनी
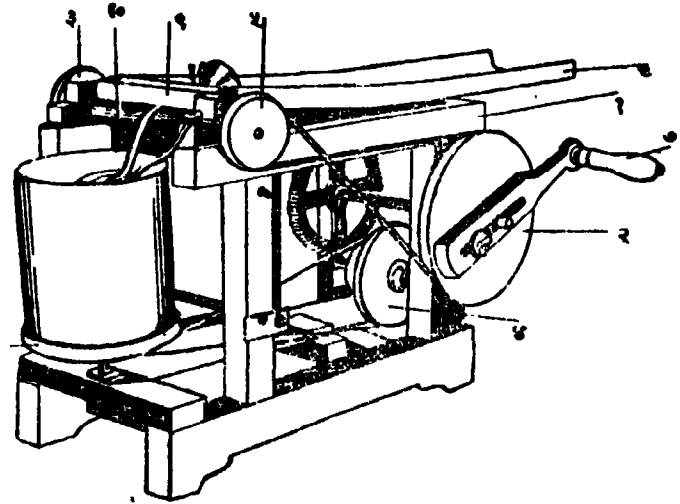
वह एक रिंग में घूमता है। चूंकि इस चरखे के आविष्कारक श्री एकंबर-नाथ जी हैं, इसलिये इस चरखे का नाम अंबर चरखा रखा गया। अंबर का अर्थ वस्त्र होने से यह और भी उचित जान पड़ा।

अंबर चरखा अब तक के चरखों में सर्वाधिक क्रांतिकारी कदम है। इसपर कातने के लिये पूनी भी मिल की पूनी जैसी चाहिए। इसलिये पूनी बनाने के लिये अंबर बेलनी (देखें चित्र ५) और कातने के लिये अंबर चरखा अलग अलग दो यंत्र बनाए गए। कपास ओटने और रुई

चित्र ६. धुनाई मोढ़िया
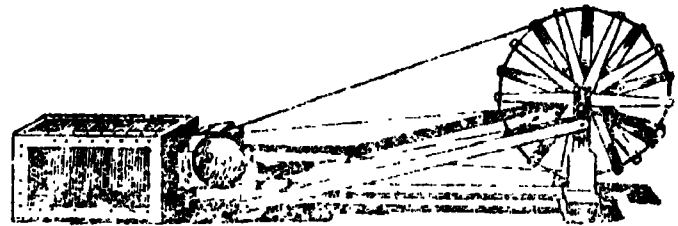
धुनने के यंत्रों में भी सुधार किया गया। धुनने के लिये मिल पद्धति का धुनाई मोढ़िया (देखें चित्र ६) बनाया गया। अंबर चरखे का प्रयोग पहले तमिलनाड में किया गया, बाद में दूसरे प्रदेशों में भी लगभग ४०० कार्यकर्ताओं को शिक्षण देकर काम चालू किया गया।

सादे चरखे और अंबर चरखे में यह बहुत बड़ा अंतर है कि सादे चरखे में कातते समय सूत भरने के लिये चरखे को रोककर तथा पीछे घुमाकर फिर आगे चलाना पड़ता है। अंबर चरखे में भरने और बटने की क्रिया चूड़ी और नथनी द्वारा अपने आप होती है। आरंभ में इसमें एक ही तकुआ (तकला) चालू किया गया था। फिर चार तकुएवाला अंबर चरखा चालू किया गया, और अब आठ तकुओं का अंबर चरखा भी प्रयोग में आ गया है। एक मिनट में एक तकुए के १० हजार से लेकर १२ हजार चक्कर तक होते हैं। सादे चरखे में वे चार हजार से लेकर पांच हजार तक ही होते हैं। और चूंकि सादे

चरखे में एक ही तकुआ होता है, इसलिये चार तकुएवाले अंबर चरखे में चौगुना और आठ तकुएवाले अंबर चरखे में आठगुना सूत कतता है। साथ ही, अंबर चरखे को भरने के लिये रोकना नहीं पड़ता, इसलिये उसे सादे चरखे की अपेक्षा दो तीन गुना अधिक तो यों ही घुमाया जा सकता है। अंबर चरखे पर कते हुए सूत की मजबूती भी मिल के सूत जैसी होती है।

अंबर चरखे (देखें चित्र ७) का आकार बड़े टाइप राइटर जितना होता है। इसकी लंबाई २१ इंच, ऊंचाई २१ इंच और चौड़ाई १६ इंच होती है। इसका वजन करीब २६ पाउंड होता है। यह घर में कहीं भी आसानी से रखा जा सकता है और सरलता से उठाया जा सकता है।

अंबर चरखे का जो नया नमूना बना है, उसमें अंबर बेलनी की आवश्यकता नहीं पड़ती। धुनाई मोड़िया का काम भी इसी से लिया जाता है। इस प्रकार रुई धुनने से लेकर कातने तक की सारी प्रक्रिया एक ही यंत्र से हो जाती है।

सारी प्रक्रिया एक साथ करने पर अंबर चरखे पर सात घंटे में नौ से लेकर १२ गुंडी तक की गति आई है। महीन सूत भी १२० नंबर तक का काता गया है। अगर पूनी अलग बनी हुई हो, तो ७ घंटे में
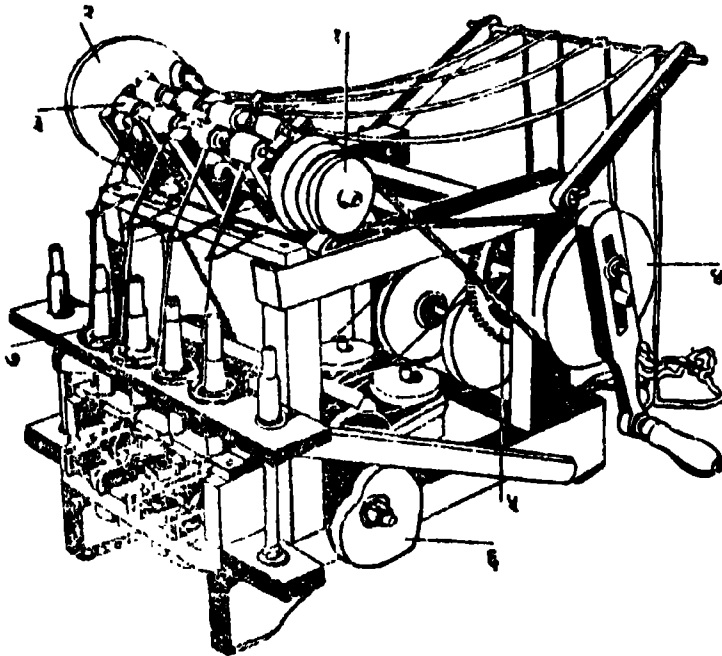
चित्र ७. अंबर चर्खा

१० गुंडी तक सूत इसपर काता जा सकता है। अंबर चरखे की कताई पूनी बनाने की कला पर निर्भर है। जितने अंक का सूत कातना है, उसी के हिसाब से पूनी भी महीन या मोटी बनाई जाती है। महीन और मोटी पूनी कपास की जाति तथा उसके रेशों की लंबाई और लचीलेपन पर निर्भर करती है।

अंबर चरखे में बराबर सुधार होता जा रहा है। उसे विद्युच्छक्ति से चलाने की बात भी सोची जा रही है और कहीं कहीं इससे चलाया भी जा रहा है, लेकिन सबसे बड़ी बात है उसकी मरम्मत। ग्रामीण यंत्र ऐसा होना चाहिए कि, खेती के औजारों की भाँति ही, बिगड़ने पर देहात में उसे सुधारा जा सके। सुधार करनेवाले लोगों का ध्यान इस तरफ बराबर रहा है। पूर्वोक्त कारणों से इस चरखे को अधिकांश लकड़ी का बनाना जरूरी समझा गया।

(रा० भा०)

चरखारी १. राज्य मध्यप्रांत का भूतपूर्व सनद राज्य था। यह ७४५ वर्ग मील क्षेत्र में फैला हुआ था। इस राज्य के उपजाऊ मैदानी भाग के गर्भ में बुंदेलखंड की नीस चट्टानें छिपी हैं। विंध्याचल तथा पन्ना श्रेणियों के मध्य भाग में ये चट्टानें सतह पर दिखाई देती हैं। केन तथा धसान प्रमुख नदियाँ हैं। चरखारी इस राज्य का प्रधान नगर है। कृषि क्षेत्र (२६३ वर्ग मील) में से केवल २२ वर्ग मील क्षेत्र सिंचित था। ज्वार गेहूँ, चना, कोदो और कपास यहाँ की प्रमुख फसलें हैं। रानीपुर में हीरे की कुछ खानें हैं। एक पक्की सड़क चरखारी नगर को महोबा से जोड़ती है। राज्य में छः स्कूल थे। अब यह राज्य मध्यप्रदेश में मिल गया है।

२. नगर, रनजीत पहाड़ (९३० फुट) की तलहटी में स्थित है। यह भूतपूर्व चरखारी राज्य (मध्यप्रांत) का प्रमुख नगर था। इसकी जनसंख्या १३,३३५ (१९६१) है। मध्य रेलवे की झांसी-मानिकपुर शाखा पर स्थित महोबा स्टेशन से १० मील दूर है। इस नगर में तीन बड़े तालाब हैं। यहाँ डाक बँगला, अस्पताल एवं स्कूल है। अब यह मध्य प्रदेश का एक नगर है। [कै० मु० अ०]

चरणदास और चरणदासी संप्रदाय संत चरणदास का जन्म मेवात के अंतर्गत, डेहरा नामक स्थान में सं० १७६० की भाद्रपद शुक्ला तृतीया को मंगलवार के दिन हुआ था। इनके मातापिता, क्रमशः कुंजो एवं मुरलीधर, दूसर जाति के थे। उन्होंने स्वयं कहा है 'मेरा जन्मनाम रणजीत रहा, मैं बाल्यावस्था में ही घूमता घामता दिल्ली के निकट श्री शुकदेव से मिला जिन्होंने मेरा नाम चरणदास रख दिया और मैं योगमुक्ति एवं हरिभक्ति द्वारा ब्रह्मज्ञान में दृढ़ता उपलब्ध करके, अजपा में लीन रहने लगा।' (ज्ञानस्वरोदय, अंतिम छप्पय)। विलियम क्रुक्स के अनुसार उस समय इनकी अवस्था १९ वर्ष की थी और ये मुजफ्फरनगर के पास शूकरताल में किसी बाबा सुखदेवदास द्वारा दीक्षित हुए थे' (ट्रा० एँ० का० ना० वे० प्रा०, भा० २, पृ० २०१)। परंतु स्वयं इनकी रचनाओं से इनका वस्तुतः प्रसिद्ध व्यासपुत्र शुकदेव मुनि से दीक्षा ग्रहण करना जान पड़ता है (अष्टांगयोग, ब्रह्मज्ञानसागर भक्तिसागर आदि)। संत चरणदास ने फिर अनेक तीर्थों में भ्रमण किया और श्रीमद्भागवत द्वारा प्रभावित होकर उसके एकादशवें स्कंध को आदर्शग्रंथ मान लिया'। इनके शिष्य रामरूप के ग्रंथ 'गुरुभक्ति-प्रकाश' में इनके अध्ययन एवं विवाह के प्रति उपेक्षा प्रकट करने का संकेत मिलता है। वहीं से यह भी प्रकट होता है कि अपनी आयु के ३५वें वर्ष में इन्होंने, सं० १७९५-९६ में, इस संप्रदाय की स्थापना की होगी (पृ० ७९-८१)। उसमें इनके विविध चमत्कारों का भी वर्णन किया गया है तथा इनकी वेशभूषा एवं रहन सहन की चर्चा की गई है। इन्होंने अपने जीवन के प्रायः ५० वर्ष अपने मत के प्रचार में व्यतीत किए और अंत में, सं० १८३८ की अगहन शुक्ला तृतीया को अपना शरीरत्याग किया। इनके मृत्युस्थान पर दिल्ली में, एक समाधि बनी हुई है। इनके जन्मस्थान डेहरा में भी इनकी छतरी है जहाँ इनका माला, वस्त्र और टोपी सुरक्षित है तथा उसी के निकट निर्मित मंदिर में, इनके चरण चिह्न भी बने हैं जहाँ पर प्रति वर्ष वसंत पंचमी को एक

मेला लगता है। रूपमाधुरीशरण ने अपनी रचना 'गुरुमहिमा' के अंतर्गत इनके बावन शिष्यों के नाम लेकर फिर एकतीस अन्य ऐसे लोगों का भी उल्लेख किया है जो, अपनी साधना में विशेष सफलता प्राप्त कर लेने के कारण इन्हें अधिक प्रिय थे। इन शिष्यों में सभी वर्णों के पुरुष थे। इनमें स्त्रियाँ भी थीं जिनमें सहजोबाई एवं दयाबाई के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

संत चरणदास द्वारा रचे गए २० ग्रंथ प्रसिद्ध हैं जिन्हें, उनके विषयानुसार, तीन मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। इनमें से प्रथम का संबंध 'योगसाधना' से, द्वितीय का 'भक्ति से तथा तृतीय का ब्रह्मज्ञान के साथ है। इनमें अधिकतर वर्णनात्मक शैली अपनाई गई है। कुछ ऐसे ग्रंथ भी हैं जिनका मूल संस्कृत रचनाओं पर आधारित रहना स्पष्ट है। योगसाधना की चर्चा करते समय चरणदास ने मानव शरीर में पाई जानेवाली विविध नाड़ियों तथा अन्य रहस्यमयी बातों का परिचय देकर उनके महत्व की ओर ध्यान दिलाया है तथा उन्हें सुस्थित रखने का भी परामर्श दिया है। इन्होंने 'अष्टांग योग' एवं 'षट्कर्म' का वर्णन किया है तथा 'समाधि' के क्रमशः 'भक्तिसमाधि' 'योगसमाधि' एवं 'ज्ञानसमाधि' नामक तीन रूप बतलाए हैं जिनमें से प्रत्येक की अंतिम स्थिति प्रायः एक सी ही लगती है और उनमें जो कुछ भी भेद लक्षित होता है वह केवल प्रक्रियाओं का है। अपने भक्तियोगवाले वर्णन में ये वृंदावन आदि तीर्थों को कोई भौतिक रूप न देकर उन्हें अलौकिक धाम जैसा प्रकट करते हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं में निष्काम प्रेमभक्ति का प्रतिपादन किया है तथा सामाजिक व्यवहार में सदाचरण को महत्व दिया है। ये अपने मत को 'शुकदेवानुमोदित भागवत' स्वीकार करते जान पड़ते हैं तथा इसी के अनुसार, उसमें ज्ञानयोग का भी स्थान है।

इनके शिष्यों और शिष्याओं में से तथा कतिपय प्रशिष्यों में भी कई ने अनेक रचनाएँ प्रस्तुत की हैं जिनमें उक्त विषयों के अतिरिक्त बहुत से पौराणिक उपाख्यानों की चर्चा आती है और उनमें उन जैसे अपांगो शास्त्रों का समावेश किया गया भी मिलता है। सहजोबाई ने अपने गुरु को हरि से भी बड़ा माना है और 'राम तजूँ पै गुरु न बिसारूँ। गुरु के सम हरि को न निहारूँ'। (सहजप्रकाश, पृ० ३) जैसा उद्गार प्रकट किया है।

चरणदासी संप्रदाय के अनुयायी विरक्त एवं संसारी दोनों ही प्रकार के होते हैं। विरक्त बहुधा पीले वस्त्र पहनते हैं, गोपीचंदन का एक लंबा तिलक ललाट पर धारण करते हैं और तुलसी की माला तथा सुमिरनी भी अपने पास रखते हैं। इनकी टोपी छोटी तथा नुकीली होती है जिसपर साधारणतः पीला साफा भी बाँध लिया जाता है। ऐसे लोग गृहस्थों से सम्मानित हुआ करते हैं। इस पंथ के अनेक मठ यत्र तत्र मिलते हैं जिनका व्यवहार चलाने के लिये मुगल बादशाहों के समय से कुछ न कुछ भूमि मिली है। इसके अनुयायी श्रीमद्भागवत् को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं और श्रीकृष्ण की लीलाओं का कीर्तन भी किया करते हैं। इसका प्रचारक्षेत्र अधिकतर दिल्ली प्रांत, उत्तर प्रदेश, पूर्वी पंजाब एवं राजस्थान तक सीमित रहा है।

संत चरणदास के प्रसिद्ध बावन शिष्यों के कोई बावन मठ आज-तक उपलब्ध नहीं हैं और संप्रदाय के अनेक अनुयायी साधारण वैष्णवों में हिल मिल गए हैं। इनमें से बहुत से लोग, वाणिज्य व्यापार द्वारा अर्जित ऐश्वर्य के कारण, बाह्याडंबर के प्रेमी भी बन गए हैं। इनके यहाँ जो निर्धन रहते हैं वे भी भिक्षावृत्ति से जीवन का निर्वाह करना गर्हित समझते हैं। भंग, तंबाकू, लहसुन, गाजर, प्याज और मसूर की दाल जैसे कई पदार्थ इनके यहाँ सर्वथा त्याज्य हैं तथा कमंडलु एवं श्रीतिलक का धारण करना अनिवार्य सा रहता है। संप्रदाय में सद्गुरु द्वारा दीक्षित होने को विशेष महत्व दिया जाता है और इसके लिये दीक्षोत्सव का बहुत बड़ा समारोह भी किया जाता है, दीक्षार्थी सर्वप्रथम 'शरणागत' कहलाकर उपस्थित होता है और उसका क्षौरकर्म करके तथा पंचाग्नि द्वारा उसे शुद्ध करके, कंठी बाँधी जाती है। दीक्षामंत्र यहाँ शरणागत के विरक्त अथवा संसारी बनने की दृष्टि से दो प्रकार से देते हैं किंतु दोनों ही दशाओं में इसका माहात्म्य बड़ा है।

संप्रदाय के मूलप्रवर्तक संत चरणदास की समन्वयात्मक बुद्धि, उनका सतमतानुमोदित उच्चादर्श एवं सदाचरण के लिये निर्दिष्ट किए गए उनके विविध नियमों का प्रभाव अब उनके अनुयायियों में पूर्ववत् लक्षित नहीं होता और न वैसी कोई प्रगति ही दिखाई पड़ती है।

सं० ग्रं० — क्रुक्स : कास्ट्स ऑव नार्थवेस्ट प्राविंसेज (भाग २), भक्तिसागर; परशुराम चतुर्वेदी : उत्तर भारत की संतपरंपरा; त्रिलोकीनारायण दीक्षित : संत चरणदास (हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, १९६१)। [प० च०]

चरबी को वसा भी कहते हैं। उन जांतव और वानस्पतिक उत्पादों को चरबी कहते हैं जो सामान्य ताप पर तैलीय ठोस होते हैं। रसायनतः तेलों की भाँति चरबी भी वसाम्लों और ग्लिसरीन का एस्टर नामक यौगिक है। यह जांतव वसा ऊतकों, बीजों, फलों और कभी कभी कंदों या जड़ों में पाई जाती है। ऊतक की कोशिकाओं में यह रहती है। कुछ कोशिकाएँ ग्लिसराइड रूप में ही इसे ग्रहण करती हैं और कुछ कार्बोहाइड्रेटों से इसका सृजन करती हैं। शरीर में चरबी इकट्ठी होने से अंगों या ऊतकों के कार्यसंचालन में कोई बाधा नहीं पहुँचती। पर शरीर में अत्यधिक चरबी से स्वास्थ्य अच्छा नहीं रखा जा सकता।

मानव शरीर का मोटापन चरबी के संचय से ही होता है। सबसे मोटा मनुष्य डैनियल लैंबर्ट था, जिसकी तौल ७२७ पाउंड थी। ४० वर्ष की उम्र में ही वह मर गया। अधिक खाने, अधिक सोने, कोई व्यायाम न करने और बहुत अधिक सुरा या बीयर पीने से मोटापा बढ़ता है। मोटापा कम करने के लिये आहार पर नियंत्रण और नियमित रूप से व्यायाम करना अत्यावश्यक है। चरबी का अवशोषण आँतों में होता है। यहाँ चरबी का पहले अम्लों और ग्लिसरीन में विघटन होता है, फिर उनसे मानव चरबी का संश्लेषण। मानव चरबी अन्य चरबियों से भिन्न होती है। वस्तुतः कोई भी दो स्रोतों की चरबी बिलकुल एक तरह की नहीं होती। एक स्रोत से प्राप्त चरबी भी सदा एक सी नहीं रहती, पशुओं के आहार आदि का चरबी की प्रकृति पर प्रभाव पड़ता है (देखें तेल, वसा और मोम)। [स० व०]

चरस देखें गाँजा।

चरिया बरियारपुर स्थित : २२° २०' उ० अ० तथा ८५° ३०' पू० दे०। यह चाईबासा से ६० मील दक्षिण-पूर्व में है। यहाँ इंडियन आयरन ऐंड स्टील कंपनी का एक विशाल कारखाना है जिसने ६ ४१ वर्ग मील जमीन खनिज पदार्थ निकालने के लिये और पर्याप्त

स्थान कारखाने में कार्य करनेवालों के निवासस्थान बनाने के लिये सरकार से किराए पर ले रखा है। यहाँ से ३५,००० टन कच्चा लोहपाषाण प्रति मास निर्यात होता है और खान में प्रायः ५,००० मजदूर काम करते हैं।
[शि० नं० सिं०]

चर्च यह शब्द यूनानी विशेषण का अपभ्रंश है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'प्रभु का'। वास्तव में चर्च (और गिरजा भी) दो अर्थों में प्रयुक्त है; एक तो प्रभु का भवन अर्थात् गिरजाघर तथा दूसरा, ईसाइयों का संगठन। चर्च के अतिरिक्त कलीसिया शब्द भी चलता है। यह यूनानी बाइबिल के एक्लेसिया शब्द का विकृत रूप है; बाइबिल में इसका अर्थ है किसी स्थानविशेष अथवा विश्व भर के ईसाइयों का समुदाय। बाद में यह शब्द गिरजाघर के लिये भी प्रयुक्त होने लगा। यहाँ पर संस्था के अर्थ में चर्च पर विचार किया जायगा। दूसरे अर्थ के लिये दे० "गिरजाघर।"

सभी ईसाई प्रायः इस बात से सहमत हैं कि ईसा ने केवल एक ही चर्च की स्थापना की थी, किंतु अनेक कारणों से ईसाइयों की एकता अक्षुण्ण नहीं रह सकी। फलस्वरूप आजकल उनके बहुत से चर्च अथवा संगठन वर्तमान हैं जो एक दूसरे से पूर्णतया स्वतंत्र हैं। उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :

(१) रोमन काथलिक चर्च — इसका संगठन सबसे सुदृढ़ है एवं विश्व भर के अधिकांश ईसाई इसके सदस्य हैं (दे० रोमन काथलिक चर्च)।

(२) प्राच्य चर्च—पूर्व यूरोप के प्रायः सभी ईसाई जो शताब्दियों पहले रोम से अलग हो गए हैं, अधिकांश आर्थोदोक्स (Orthodox) कहलाते हैं (दे० प्राच्य चर्च)।

(३) प्रोटेस्टैंट धर्म — यह १६वीं शताब्दी में प्रारंभ हुआ था (दे० प्रोटेस्टैंट धर्म)।

(४) ऐंग्लिकन समुदाय — यद्यपि प्रारंभ ही से ऐंग्लिकन चर्च पर प्रोटेस्टैंट धर्म का प्रभाव पड़ा, फिर भी अधिकांश ऐंग्लिकन ईसाई अपने को प्रोटेस्टैंट नहीं मानते (दे० ऐंग्लिकन समुदाय)।

ईसाई धर्म की प्रारंभिक शताब्दियों में चर्च की परिभाषा तथा उसके स्वरूप के विषय में अपेक्षाकृत कम चिंतन किया गया है। बाइबिल में ईसा की जीवनी तथा शिक्षा का जो वर्णन है उससे स्पष्ट है कि प्रारंभ ही से ईसाइयों का विश्वास था कि ईसा ने समस्त मानव जाति के लिये मुक्ति के साधनों का प्रबंध कर दिया और इस उद्देश्य से पृथ्वी पर 'ईश्वर का राज्य' स्थापित किया। 'ईश्वर का राज्य' उन लोगों का समुदाय है जो ईसा के ईश्वरत्व पर विश्वास कर उनकी शिक्षा ग्रहण करते हैं। बाइबिल में उस समुदाय को 'ईश्वर की प्रजा' कहा गया है। उसके संगठन तथा शासन के लिये ईसा ने १२ शिष्यों को चुनकर उन्हें विशेष शिक्षण तथा अधिकार दिए और आदेश दिया कि वे दुनिया भर में जाकर उनकी शिक्षा का प्रचार करें तथा विश्वास करनेवालों को बपतिस्मा संस्कार (दीक्षा स्नान) करके चर्च में संमिलित कर लें। इस प्रकार बाइबिल में ईसा के अनुयायियों के समुदाय को चर्च (कलीसिया), 'ईश्वर का राज्य' तथा 'ईश्वर की प्रजा' कहा गया है। इन पदों से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि प्रारंभ में चर्च के वास्तविक रूप को बाहरी संगठन तक सीमित माना गया है, किंतु ऐसी बात नहीं है। ईसा ने अपनी शिक्षा में इस पर बल दिया है कि उनमें तथा उनके सच्चे अनुयायियों में अदृश्य एवं रहस्यात्मक एकता है। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा—'मैं द्राक्षा लता हूँ और तुम डालियाँ हो।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि चर्च का सबसे महत्वपूर्ण तत्व आध्यात्मिक ही है। संत पौलुस ने चर्च के इस आध्यात्मिक तथा रहस्यात्मक पक्ष पर बहुत बल दिया है। ईसा तथा उनके सच्चे अनुयायियों का आध्यात्मिक संबंध और ईसा के सभी अनुयायियों की रहस्यमय एकता को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने अपने पत्रों में बारंबार चर्च को 'ईसा का आध्यात्मिक शरीर' कहा है (दे० बाइबिल का उत्तरार्ध)। अतः प्रारंभ ही से चर्च के बाहरी संगठन तथा उसके आध्यात्मिक स्वरूप, दोनों का ध्यान रखा गया है।

प्रोटेस्टैंट धर्म के कारण चर्च में फूट पड़ी तो धर्माचार्य चर्च के स्वरूप पर अधिक चिंतन करने लगे। प्रोटेस्टैंट विद्वान् चर्च के अदृश्य स्वरूप पर और प्रतिक्रियास्वरूप काथलिक धर्मपंडित चर्च के बाहरी संगठन, उसकी दृश्य सदस्यता आदि पर अधिक बल देने लगे। इस विवाद में उन्होंने चर्च के चार बाहरी लक्षणों को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया है। ईसा का सच्चा चर्च (१) काथलिक है (अर्थात् विश्वजनीन, यह युगयुगांतर तक सब मनुष्यों के लिये खुला रहता है); (२) एक है, प्रेम के बंधन में एक होकर उसके सभी सदस्य एक से धर्मसिद्धांतों पर विश्वास करते हैं। एक संस्कार, एक सी पूजनपद्धति और एक ही परमाधिकारी का शासन स्वीकार करते हैं; (३) पवित्र है (वह सबों के लिये मुक्ति के साधन सुलभ कर देता है और उसके बहुत से सदस्य पवित्र जीवन बिताते हैं; (४) एपोस्टोलिक है (यह ईसा के मुख्य शिष्य एपोसलस के समय से चला आ रहा है, उस प्रारंभिक चर्च से उसका अटूट संबंध है और उस संबंध पर उसका अधिकार आधारित है।)।

चर्च के दृश्य संगठन में कुछ ऐसे लोग भी संमिलित हो सकते हैं जो पाखंडी हैं, जिनका ईसा के साथ कोई आध्यात्मिक संबंध नहीं है, जो ईसा के आध्यात्मिक शरीर के अंग नहीं हैं। ईश्वर ही जानता है कि कौन चर्च का सच्चा सदस्य है और इस कारण यह माना जा सकता है कि वास्तविक चर्च अदृश्य ही है। फिर भी उस अदृश्य वास्तविक चर्च की पूर्ण सदस्यता की अनिवार्य शर्त बाहरी संस्कार ही हैं, अतः अदृश्य चर्च से अलग नहीं किया जा सकता है। आजकल प्रायः सभी प्रोटेस्टैंट भी इस बात को मानते हैं। मुक्ति के लिये चर्च की पूर्ण सदस्यता अपेक्षित होते हुए भी अनिवार्य नहीं है। ईश्वर सभी लोगों की मुक्ति चाहता है और सब मनुष्यों के अंतःकरण में सत्प्रेरणा उत्पन्न करता है। जो ईश्वर की प्रेरणा पर चलते हैं वे अनजाने ही अदृश्य रूप से चर्च के अपूर्ण सदस्य बन जाते हैं और ईसा द्वारा प्रदत्त मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ईसाई संसार में चर्च की एकता के आंदोलन को अधिक महत्व दिया जाने लगा। फलस्वरूप खंडन मंडन को छोड़कर बाइबिल में विद्यमान तथ्यों के आधार पर चर्च के वास्तविक रूप को निर्धारित करने के प्रयास में इसपर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया जाने लगा कि चर्च ईसा का आध्यात्मिक शरीर है। ईसा उसका शीर्ष है और सच्चे ईसाई उस शरीर के अंग हैं।
[का० बु०]

चर्च का इतिहास—(अ) रोमन साम्राज्य में प्रसार (३० - ३१३ ई०)

(१) ईसा की मृत्यु के बाद उनके शिष्य यहूदियों तथा गैर यहूदियों में ईसाई धर्म का प्रचार करने लगे। प्रथम मिशनरियों में से सबसे सफल थे संत पौलुस; उनकी यात्राओं का वर्णन तथा उनके पत्र बाइबिल के उत्तरार्ध में सुरक्षित हैं। उस समय अंतिओक (Antioch) रोमन साम्राज्य का तीसरा शहर था, ईसा का उत्तराधिकारी संत पेत्रुस वहीं चले आए और उस केंद्र से संत पौलुस ने एशिया माइनर, मासेदो-

निया तथा यूनान में ईसाई धर्म का प्रचार किया। बाद में राजधानी रोम ईसाई धर्म का प्रधान केंद्र बना। वहीं संत पेत्रुस (६७ ई०) और संत पौलुस शहीद हो गए। बाइबिल का उत्तरार्ध प्रथम शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में लिखा गया (दे० "बाइबिल")।

सन् १०० ई० तक भूमध्यसागर के सभी निकटवर्ती देशों और नगरों में, विशेषकर एशिया माइनर तथा उत्तर अफ्रीका में ईसाई समुदाय विद्यमान थे। तीसरी शताब्दी के अंत तक ईसाई धर्म विशाल रोमन साम्राज्य के सभी नगरों में फैल गया था; इसी समय फारस तथा दक्षिण रूस में भी बहुत से लोग ईसाई बन गए। इस सफलता के कई कारण हैं। एक तो उस समय लोगों में प्रबल धर्मजिज्ञासा थी, दूसरे ईसाई धर्म प्रत्येक मानव का महत्व सिखलाता था, चाहे वह दास अथवा स्त्री ही क्यों न हो। इसके अतिरिक्त ईसाइयों में जो भ्रातृभाव था उससे लोग प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके।

(२) प्रथम तीन शताब्दियों के इतिहास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि समय समय पर शासकों द्वारा ईसाइयों पर अत्याचार किया गया और वे बड़ी संख्या में अपना धर्म छोड़ देने की अपेक्षा सानंद यंत्रणा एवं मृत्यु स्वीकार करते थे। यद्यपि रोमन शासक प्रारंभ ही से उस नए धर्म को संदेह की दृष्टि से देखते थे और उसके अनुयायियों को सताते थे, फिर भी केवल तीसरी शताब्दी में ईसाई धर्म को पूर्ण रूप से मिटाने का व्यापक प्रयत्न किया गया था, विशेष रूप से देसियस, डाइयोक्लीशन (Diocletian), मक्सिमिनियन और गालेरियस के शासनकाल में (तीसरी के उत्तरार्ध तथा चतुर्थ शताब्दी के प्रारंभ में)।

(३) संगठन इस प्रकार था : हर शहर में स्थानीय गिरजे का परमाधिकारी धर्माध्यक्ष (बिशप) कहलाता था, उनके शासन में पुरोहित (याजक) और उपपुरोहित (उपयाजक या डीकन) धर्म कार्यों में लगे रहते थे। रोम, सिकंदरिया, अंतिओक (और बाद में कुछ और महत्वपूर्ण शहरों) में बिशपों को पेत्रिआर्क (Patriarch) की उपाधि दी जाती थी किंतु सर्वत्र रोम के बिशप का विशेष अधिकार माना जाता था।

(४) प्रारंभिक ईसाई साहित्य प्रधानतया यूनानी भाषा में लिखा गया है। ओरिजेन (दे० ओरिजेन) और संत इरेनेयस विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इरेनेयस (१३०–२०२ ई०) ने तत्कालीन भ्रामक धारणाओं का विरोध करते हुए रोमन चर्च की शिक्षा को सच्ची ईसाई शिक्षा की कसौटी घोषित किया। उन्होंने अधिकतर ईसाई गूढ़ज्ञानवाद (Gnosticism) का खंडन किया। गूढ़ज्ञानवाद ईसा के पूर्व ही चला आ रहा था किंतु बाद में इसमें ईसाई तत्वों का समावेश किया गया था। उस वाद का मूलभूत सिद्धांत है कि समस्त भौतिक जगत् और मानवशरीर भी दूषित है। किसी न किसी रूप में यह सिद्धांत शताब्दियों तक जीवित रहा। (दे० नीचे अनु० १४)

उत्तरी अफ्रीका के निवासी तेरतुलियन (Tertullian १६०-२२० ई०) लैटिन भाषा के प्रथम विख्यात ईसाई लेखक हैं। दूसरी शताब्दी के अंत तक एदेस्सा के आसपास सिरियक भाषा में ईसाई साहित्य की रचना प्रारंभ हो गई थी।

(आ) रोमन साम्राज्य के संरक्षण में (३१३-७५० ई०)

(५) डाइयोक्लीशन के पदत्याग के बाद उत्तराधिकारी के लिये जो गृहयुद्ध हुआ उसमें कोंस्तांतीन विजयी हुआ और उसने ३१३ ई० में मिलान की राजाज्ञा (Edict of Milan) निकालकर सभी धर्मों को स्वतंत्रता प्रदान कर दी। उस समय आरियस के मत के कारण ईसाई संसार में अशांति फैलने लगी थी। उसे दूर करने के उद्देश्य से कोंस्तांतीन ने कॉथलिक चर्च की प्रथम विश्वसभा का आयोजन किया; नीकिया (३२५ ई०) की इस सभा ने आरियस के मत के विरोध में घोषित किया कि ईसा वास्तविक अर्थ में ईश्वर हैं (दे० आरियस)। कोंस्तांतीन के उत्तराधिकारियों ने आरियस के अनुयायियों का पक्ष लिया, फलस्वरूप लगभग ५० वर्ष तक पूर्वी काथलिक चर्च में इतनी अव्यवस्था रही कि वहाँ का चर्च उस कुप्रभाव से कभी मुक्त नहीं हो पाया। उस शताब्दी के अंत में प्रथम वास्तविक ईसाई सम्राट् थेओदोसियस (Theodosius) ने ईसाई धर्म को राजधर्म के रूप में घोषित किया; उन्होंने आरियस के अनुयायियों का नियंत्रण भी किया और उस उद्देश्य से कुंस्तुंतुनिया (३८१ ई०) में काथलिक चर्च की द्वितीय विश्वसभा का आयोजन किया।

पाँचवीं शताब्दी में और दो बार विश्वसभा बुलाई गई। कुंस्तुंतुनिया का बिशप नेस्तोरियस एक नए सिद्धांत का प्रचार करने लगा जिसके अनुसार ईसा में ईश्वरीय और मानवीय दो व्यक्ति विद्यमान थे। एफेसस (४३१ ई०) की विश्वसभा ने नेस्तोरियस को पदच्युत किया और उसके अनुयायियों को चर्च से बहिष्कृत घोषित किया, इसके फलस्वरूप फारस का चर्च अलग हो गया। बाद में युतिकेस ने मोनोफिजितिज्म (एकस्वभाववाद) का प्रवर्तन किया जिसके अनुसार ईसा में एक ही व्यक्ति और एक ही स्वभाव है। इस मत के विरोध में कालसेदोन (४५१ ई०) की विश्वसभा ने ईसा में ईश्वरत्व तथा मनुष्यत्व दोनों को वास्तविक माना है। सीरिया, आरमीनिया और मिस्र के बिशपों ने कालसेदोन के निर्णय को अस्वीकार किया और उन देशों के ईसाई समुदाय भी काथलिक चर्च से अलग हो गए (आजकल भी एथियोपिया के ईसाई और दक्षिण भारत के जैकोबाइट मोनोफीसाइट हैं)। बाद में इस्लाम ने सीरिया और मिस्र को साम्राज्य से छीन लिया और वहाँ के अधिकांश लोग उस नए धर्म में संमिलित हुए।

(६) इस युग के प्रारंभ में ईसाई साहित्य का अपूर्व विकास हुआ। यूनानी भाषा के लेखकों में अथानासियस (२९५-३७३ ई०), संत बासिल (३२९-३७९ ई०) और उनके भाई निस्सा के संत ग्रेगोरी (३३५-३९५ ई०), नाजिअंसस के संत ग्रेगोरी (३३०-३९०), कुंस्तुंतुनिया के बिशप संत योहन क्रिसोस्तेमस (३४७-४०४) और सिकंदरिया के संत सीरिलस (३८०-४४४) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पश्चिम में लैटिन भाषा के मुख्य ईसाई लेखक इस प्रकार हैं : मिलान के बिशप संत अंब्रोसियस (३४०-३९७ ई०), संत अगस्तिन (३५४-४३० ई०) और संत जेरोम (३४७-४२०)। संत जेरोम ने समस्त बाइबिल का लैटिन भाषा में अनुवाद किया और उनका अनुवाद आज तक रोमन चर्च की पूजापद्धति में प्रयुक्त है।

(७) ईसाई धर्म के प्रारंभ से ही कुछ लोग आजीवन ब्रह्मचारी रहने का व्रत लेते थे, वे बहुधा निर्जन स्थानों में रहकर एकांतवासी होते थे किंतु धीरे धीरे उनके पड़ोस में उनके शिष्य भी उनके निर्देश के अनुसार साधना करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ही स्थान में रहनेवाले साधकों ने एक ही अधिकारी का शासन स्वीकार कर लिया। इस प्रकार के प्रथम मठ की स्थापना लगभग ३२० ई० में संत पाकोमियस द्वारा मिस्र में हुई थी। इसके अनुकरण पर फिलिस्तीन, सीरिया

और एशिया माइनर में बड़ी संख्या में पुरुषों और स्त्रियों के मठों की स्थापना हुई थी और पाँचवीं शताब्दी में सिकंदरिया, ऐंतिओक, कुंस्तुंतुनिया आदि शहरों में भी ऐसे मठ स्थापित हो चुके थे। उनमें प्राय: संत बासिल की नियमावली स्वीकृत थी।

पश्चिम में संत मारतिन ने पहले पहल ३६० ई० में फ्रांस के दक्षिण में एक मठ स्थापित किया गया और उसी केंद्र से फ्रांस के सभी देहातों में ईसाई धर्म का प्रचार हुआ क्योंकि उस समय तक केवल इटली तथा उत्तर अफ्रीका का देहात ईसाई बन गया था। संत पैत्रिक (३६२-४६१ ई०) पहले फ्रांस में मठवासी थे, उन्होंने अपने शिष्यों के साथ आयरलैंड को ईसाई धर्म में मिला लिया और बाद में वहाँ के संन्यासियों ने बड़ी संख्या में पश्चिम यूरोप के देशों (विशेषकर दक्षिण जर्मनी, स्विट्जरलैंड, दक्षिण बेलजियम) में ईसाई धर्म का प्रचार किया। संत बेनेदिक्त (४८०-५४७) ने भी एक धर्मसंघ की थापना की और मठवासी जीवन के लिये एक नियमावली लिखी जिसे यूरोप के प्राय: सभी मठों ने स्वीकार कर लिया। बेनेदिक्ताइन संघ के संन्यासी ईसा की छठी शताब्दी में इंग्लैंड भेजे गए (जहाँ बर्बर जातियों के आगमन से कम ईसाई रह गए थे)। उन्होंने वहाँ की जातियों को ईसाई धर्म में मिला लिया और अपने संघ के मठ भी स्थापित किए। संत बीड (६७२-७३५ ई०) एक अंग्रेज बेनेदिक्ताइन थे जिन्होने इंग्लैंड का सर्वप्रथम इतिहास लिखा। एक समकालीन अंग्रेज बेनेदिक्ताइन संत बोनिफास (६७५-७५५) ने पहले हालैंड में धर्मप्रचार किया और बाद में जर्मनी के अधिकांश भाग को ईसाई धर्म में मिलाया। पश्चिम में ईसाई धर्म के इस प्रचार का श्रेय मुख्य रूप से मठवासियों को ही है।

(८) पाँचवीं शताब्दी से पश्चिम रोमन साम्राज्य तथा उत्तर अफ्रीका में बर्बर जातियों का आगमन प्रारंभ हुआ था और उस शताब्दी के अंत में इटली के बाहर सर्वत्र उन बर्बर राजाओं का शासन स्थापित हो चुका था। उनमें से एक भी काथलिक नहीं था। ४९६ ई० में फ्रैंक (Frank) जाति के राजा क्लोविस ने ईसाई धर्म स्वीकार किया। छठी शताब्दी के अंत में काथलिक फ्रैंक जाति ने समस्त वर्तमान फ्रांस देश पर अधिकार कर लिया। पुर्तगाल की सुएवी (Suevi) जाति भी छठी शताब्दी के मध्य काथलिक धर्म में संमिलित हो गई और स्पेन के विजोगोथ (Visigoth) ५८९ ई० में आरियस का मत त्याग कर काथलिक बन गए। अगली शताब्दी में स्पेन के सबसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक व्यक्ति संत इसीदोर (Isidore) हैं जो ३६ वर्ष तक (६००-६३६ ई०) सेविल के बिशप थे।

(९) संत ग्रेगोरी ५९० ई० में रोम के बिशप (पोप) चुने गए। उनके शासनकाल में इटली पर लोंबार्द जाति का आक्रमण हुआ। सम्राट् उनका विरोध करने में असमर्थ था और संत ग्रेगोरी ने लोंबार्द नेताओं से भेंट कर रोम की रक्षा की। वास्तव में वह उस समय रोम के वास्तविक शासक थे। उन्ही को काँथलिक चर्च के राज्य (पेपल स्टेट्स) का संस्थापक माना जा सकता है। संत ग्रेगोरी के जीवनकाल में हजरत मुहम्मद का जन्म हुआ था; उनके अनुयायी ६९५ ई० में उत्तर अफ्रीका तथा ७११ ई० में स्पेन पर अधिकार कर लिया। यद्यपि पूर्व में कुंस्तुंतुनिया का अवरोध (७१७ ई०) असफल हुआ तथा पश्चिम में फ्रैंक जाति के चार्ल्स मारतेल ने मुसलमान सेनाओं को फ्रांस के दक्षिण में (Poitiers; ७३२ ई०) हरा दिया था, तथापि उस समय से लेकर ९०० वर्ष तक ईसाई तथा मुसलमान सेनाओं का संघर्ष चलता रहा।

चार्ल्स मारतेल का पुत्र पेपीन फ्रैंक जाति का राजा बन गया। कुछ समय बाद इटली पर लोंबार्द जाति का नया आक्रमण हुआ। सम्राट् को असमर्थ देखकर पोप ने पेपीन की सहायता माँगी और उसने अपनी फ्रैंक सेना से लोंबार्द जाति को हराकर इटली का मध्य भाग पोप के अधिकार में दे दिया। उस दिन से काथोलिक चर्च का राज्य विधिवत् प्रारंभ हुआ और १८७० ई० तक बना रहा।

(३) पूर्व मध्यकाल (७५०-१०५०)—(१०) पेपीन के पुत्र चार्लमैन (Charlemagne) ने अपने दीर्घ राज्यकाल (७६८-८१४ ई०) में यूरोप की राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक एकता के लिये सफल प्रयास किया। उन्होंने स्पेन में इस्लाम का विरोध किया तथा उत्तर में सैक्सन (Saxon) जातियों को हराकर उनको ईसाई बनने के लिये बाध्य किया। उनके जीवनकाल में सर्वत्र शिक्षा का प्रचार तथा धार्मिक उन्नति हुई। किंतु उनकी मृत्यु के बाद उनके साम्राज्य का विघटन हुआ और समस्त यूरोप में अशांति फैल गई। इसका कुप्रभाव चर्च के संगठन पर भी पड़ा। उस युग को पश्चिम के आध्यात्मिक पतन का युग कहा गया है। साधारण पुरोहितों में अनुशासनहीनता बढ़ गई और उसमें से बहुतों ने विवाह किया यद्यपि पाँचवीं शताब्दी से पुरोहितों के अविवाहित रहने का नियम चला आ रहा था। बिशप तथा मठाध्यक्ष सामंत भी थे और उनके चुनाव में बहुधा घूमखोरी का हाथ रहा करता था। पोप अब राजा भी थे तथा पेपल स्टेट्स के शासन के लिये बहुत से पुरोहित राजनीतिक मात्र ही रह गए थे। पोपों के चुनाव में रोमन सामंतों की प्रतियोगिता भी होने लगी तथा राजनीतिक प्रतिद्वंद्वियों द्वारा बहुत से पोपों की हत्या भी कर दी गई थी। इस कारण ८८६ ई० से १०४३ ई० तक ३७ पोप हो गए।

उस पतन के प्रतिक्रियास्वरूप १०वीं शताब्दी में फ्रांस के क्लुनी (Cluny) मठ नेतृत्व में पश्चिम यूरोप में मठवासी जीवन का अपूर्व पुनर्विकास हुआ। सैकड़ों दूसरे उपमठ क्लुनी के मठाध्यक्ष का अनुशासन स्वीकार करते थे जिससे पोप के बाद क्लुनी का मठाध्यक्ष उस समय ईसाई संसार का सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति बन गया था।

(११) कुंस्तुंतुनिया के नेतृत्व में नवीं शताब्दी में बालकन की स्लाव (Slav) जातियों का धर्मपरिवर्तन हुआ और उसके बाद रूस में भी ईसाई धर्म का विशेष विस्तार हुआ। ईसाई धर्म का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि यूनानी भाषा बोलनेवाले प्राच्य काथोलिकों तथा लैटिन भाषा बोलनेवाले पाश्चात्य काँथोलिकों का अलगाव उस युग में बढ़ने लगा। उसके कई कारण हैं। यूनानी संस्कृति लैटिन संस्कृति से कहीं अधिक परिष्कृत थी। एक ओर प्राच्य चर्च तथा बीजेंटाइन (Byzantine) साम्राज्य का एकीकरण हुआ था और दूसरी ओर पश्चिम में रहनेवाले पोप को वहाँ के शासकों से सहायता मिला करती थी। राजधानी कुंस्तुंतुनिया के बिशप को पेत्रिआर्क की उपाधि मिली थी और उनका महत्व इतना बढ़ गया कि वह समस्त प्राच्य चर्च के अध्यक्ष माने जाते थे। इन सब कारणों से पूर्व में रोम के पोप के अधिकार की उपेक्षा होने लगी। नवीं शताब्दी में फोतियस (Photius) ने कुछ समय तक प्राच्य चर्चों को रोम से अलगकर दिया था और अपनी रचनाओं में रोम के विरुद्ध इतना कटु प्रचार किया था कि, यद्यपि उसने बाद में रोम का अधिकार पुन: स्वीकार कर लिया, फिर भी उसकी रचनाओं का कुप्रभाव नहीं मिट सका और बाद में पेत्रिआर्क माइकल सेरुलारियस के समय मे कुंस्तुंतुनिया का चर्च रोम से अलग हो गया (१०५४ ई०)। इस्लाम

ने कार्थालिक चर्च को यूरोप तक सीमित कर दिया था, अब वह पश्चिम यूरोप तक ही सीमित रहा।

(ई) उत्तर मध्यकाल (१०२०-१२००) — (१२) ११वीं तथा १२वीं शताब्दियों में चर्च ने बिशपों की नियुक्ति तथा पोप के चुनाव में राजाओं के हस्तक्षेप का तीव्र विरोध किया। पोप संत लेओ नवम ने (१०४१-१०५४) चर्च के अनुशासन में बहुत सुधार किया। १०५६ ई० में एक कानून घोषित किया गया कि भविष्य में कार्डिनल मात्र पोप का चुनाव करेंगे; बिशपों की नियुक्ति के विषय में जर्मन सम्राट् हेनरी चतुर्थ और पोप संत ग्रेगोरी सप्तम में जो संघर्ष हुआ, उसमें सम्राट् को झुकना पड़ा (१०७७ ई०)। अगली शताब्दी में जर्मन सम्राट् तथा काथोलिक चर्च में समझौता हुआ। वोर्म्स की धर्मसंधि (११२२) के अनुसार बिशपों तथा मठाधीशों की नियुक्ति में शासकों का हस्तक्षेप रुक गया। उस समय से रोमन काथोलिक चर्च का संगठन रोम में केंद्रीभूत हुआ। रोम के प्रतिनिधि स्थायी रूप से सभी देशों में रहने लगे तथा चर्च का एक नया कानून संग्रह सर्वत्र लागू होने लगा।

११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्तर स्पेन के इस्लाम विरोधी अभियान को पर्याप्त सफलता मिली और ईसाई सेनाओं ने १०८५ ई० में तोलेदो (Toledo) को मुक्त किया। पूर्व में १०७१ ई० में बीजैंटाइन सम्राट् की हार हुई। इससे चिंतित होकर पोप ने ईसाई राजाओं से निवेदन किया कि वे एशिया माइनर तथा फिलिस्तीन को इस्लाम से मुक्त कर दें। फलस्वरूप प्रथम क्रूसयुद्ध (क्रूसेड) का आयोजन किया गया (दे० क्रूस युद्ध)। १०९९ ई० में येरूसलेम पर ईसाई सेनाओं का अधिकार हुआ, जो अधिक समय तक नहीं रह सका।

(१३) १२वीं शताब्दी को पाश्चात्य चर्च का उत्थान काल माना जा सकता है। पेरिस के पीटर लोंबार्ड की रचना से धर्मविज्ञान (Theology) को नया उत्साह मिला तथा स्पेन के पुरोहितों ने अरबी भाषा से अरस्तू के ग्रंथों तथा उसकी अरबी व्याख्याओं का लैटिन भाषा में अनुवाद किया, जिससे सर्वत्र दर्शनशास्त्र में अभिरुचि जाग्रत होने लगी।

उस शताब्दी में अनेक नए धर्मसंघों की उत्पत्ति हुई जिनमें से दो अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। सीतो (Citeaux) के धर्मसंघ की स्थापना १०९८ ई० में हुई थी। उस सिस्तर्सियन (Cistercian) संघ के मठ पश्चिम यूरोप के जंगलों में सर्वत्र कृषि का प्रचार करने लगे। १२वीं शताब्दी के अंत तक इस प्रकार के ५३० मठों की स्थापना हो चुकी थी। संत बर्नार्ड उस संघ के सदस्य थे, उनकी रचनाओं के द्वारा ईसा और उनकी माता मरियम के प्रति कोमल भक्ति का सर्वत्र प्रचार हुआ।

संत नोर्बर्ट (Norbert) ने ११२० ई० में प्रेमोंस्त्रातेंशन (Premonstratensian) धर्मसंघ का प्रवर्तन किया। उसके सदस्य उपदेश दिया करते थे तथा ईसाई जनसाधारण के लिये पुरोहितों का कार्य भी करते थे। वह संघ भी शीघ्र ही फैल गया।

उस शताब्दी में स्कैंडिनेविया, मध्य जर्मनी, बोहेमिया, प्रशा और पोलैंड में जो धर्मप्रचार का कार्य संपन्न हुआ वह मुख्य रूप से इन दो धर्मसंघों के माध्यम से ही संभव हो सका।

१२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सम्राट् फ्रेड्रिक बरबारोस्सा (११५२-११९०) ने फिर चर्च पर अधिकार जताने का प्रयास किया किंतु पोप अलैक्जेंडर तृतीय (११५९-११८१) ने उनका सफलतापूर्वक विरोध किया। इसके अतिरिक्त पोप अलेक्जेंडर तृतीय ने चर्च का संगठन भी सुदृढ़ बनाया जिससे वह दस सर्वोत्तम पोपों में गिने जाते हैं।

(१४) १३वीं शताब्दी के प्रारंभ में दक्षिण फ्रांस तथा उत्तर इटली में प्रोवांस के शासकों के नेतृत्व में एलबीजेंसस नामक संप्रदाय के प्रचार से जनता में अत्यधिक अशांति फैल गई। एलबीजेंसस भौतिक जगत् तथा मानव शरीर को दूषित मानते थे इसलिये संततिनिरोध के उद्देश्य से विवाह का विरोध तथा उन्मुक्त प्रेम का समर्थन करते थे। उस संप्रदाय के उन्मूलन के लिये एनक्विजिशन की स्थापना हुई थी (दे० एनक्विज़िशन)।

उस शताब्दी में दो अत्यंत महत्वपूर्ण धर्मसंघों की स्थापना हुई थी, फ्रांसिस्की संघ तथा दोमिनिकी संघ। इटली निवासी संत फ्रांसिस द्वारा स्थापित धर्मसंघ में निर्धनता पर विशेष बल दिया जाता था। प्रारंभ में उस संघ के सदस्यों में एक भी पुरोहित नहीं था; फ्रांसिस्की संन्यासी उपदेश द्वारा जनता में भक्ति तथा अन्य धार्मिक भाव उत्पन्न करते थे। इस संघ को अपूर्व सफलता मिली। १० वर्ष के अंदर सदस्यों की संख्या ५००० हो गई थी और १२२१ ई० में उनकी प्रथम सामान्य सभा के अवसर पर १०० नए उम्मेदवार भरती होने के लिये आए। संत दोमिनिक स्पेनिश थे। उन्होंने समझ लिया कि एलबीजेंसस का विरोध करने के लिये ऐसे पुरोहितों की आवश्यकता है जो तपस्वी हैं और विद्वान् भी। अतः उन्होंने अपने दोमिनिकी संघ में तप तथा विद्वत्ता पर विशेष ध्यान दिया। यह संघ फ्रांसिस्की संघ से कम लोकप्रिय रहा, फिर भी वह शीघ्र ही समस्त यूरोप में फैल गया।

यद्यपि पोप इन्नोसेंट तृतीय (११९८-१२१५) के समय में ईसाई संसार में पोप का प्रभाव अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया था, फिर भी १३वीं शताब्दी में पोप और जर्मन सम्राट् का संघर्ष होता रहा। उदाहरणार्थ १२४१ ई० में पोप के मरते समय ११ कार्डिनल जीवित थे; सम्राट् ने दो को कैद में डाल दिया, दूसरे भाग गए और दो वर्ष तक चर्च का कोई परमाधिकारी नहीं रहा। अंत में फ्रांस के राजा के अनुरोध से सम्राट् ने चुनाव होने दिया।

१३वीं शताब्दी में यूरोप के विश्वविद्यालयों में कुछ समय तक अरस्तू के अरबी व्याख्याता अवेरोएस (११२६-११९८ ई०) के मत तथा स्कोलैस्टिक फिलोसोफी का द्वंद्वयुद्ध हुआ, जिसमें अंततोगत्वा संत एलबर्ट (११९३-१२८०), संत बोना वेंच्यर (१२२१-१२७४ ई०) तथा संत थोमस अक्वाइनस (१२२५-१२७४ ई०) के नेतृत्व में स्कोलैस्टिक फिलोसोफी की विजय हुई और अरस्तू की ईसाई व्याख्या द्वारा ईसाई धर्मसिद्धांतों का युक्तिसंगत प्रतिपादन हुआ। उस समय समस्त यूरोप में कला और विशेषकर वास्तुकला का विकास हुआ और विशाल भव्य गौथिक गिरजाघरों का निर्माण प्रारंभ हुआ।

(१५) १३वीं शताब्दी के अंत में पश्चिम यूरोप में चर्च का अपकर्ष प्रारंभ हुआ और प्रोटेस्टैंट विद्रोह तक उत्तरोत्तर बढ़ता गया। उस समय से जर्मन सम्राट् के अतिरिक्त फ्रांस के राजा भी चर्च के मामलों में अधिकाधिक हस्तक्षेप करने लगे। १३०५ ई० में एक फ्रेंच पोप का चुनाव हुआ, वह जीवन भर फ्रांस में ही रहे और उनके फ्रेंच उत्तराधिकारी भी १३६७ ई० तक अविञोन (Avignon) नामक फ्रेंच नगर में निवास करते थे। उनमें से एक रोम लौटे किंतु वह एकाध वर्ष बाद फिर फ्रांस चले गए; उनके उत्तराधिकारी ग्रेगोरी नवम सिएना की संत कैथरीन का अनुरोध

मानकर १३७६ ई० में रोम लौटे। उनकी मृत्यु के बाद एक इटालियन अर्बन षष्ठ को चुना गया, क्योंकि जनता ने कार्डिनलों को धमकी दी थी कि ऐसा न करने पर उनकी हत्या की जाएगी। अर्बन के चुनाव के बाद कार्डिनल रोम से भाग गए और उन्होंने चार महीने बाद एक नए पोप को चुन लिया जो अविन्योन में निवास करने लगे। अब पश्चिम यूरोप में दो पोप थे, एक रोम में और एक अविन्योन में जिससे समस्त काथलिक संसार ४० वर्ष तक दो भागों में विभक्त रहा। उस समस्या को हल करने के प्रयास में १४०९ ई० में एक तीसरे पोप का भी चुनाव हुआ किंतु १४१७ ई० में सबों ने नवनिर्वाचित मारतीन पंचम को सच्चे पोप के रूप में स्वीकार किया और इस तरह पाश्चात्य विच्छेद (Western schism) का अंत हुआ।

इतने में अंग्रेज वीक्लिफ (Wycliffe) सिखलाने लगा कि चर्च का संगठन (पोप, पुरोहित), उसके संस्कार आदि यह सब मनुष्य का आविष्कार है, ईसाइयों के लिये बाइबिल ही पर्याप्त है। यह मत बोहेमिया तक फैल गया जहाँ जॉन हुस (Hus) उसका प्रचारक और शहीद भी बन गया (१४१५ ई०)। लूथर पर उन सिद्धांतों का प्रभाव स्पष्ट है।

चर्च के अपकर्ष का मुख्य कारण १५वीं शताब्दी उत्तरार्ध के नितांत अयोग्य पोप ही है। यूरोप में उस समय सर्वत्र प्राचीन यूनानी तथा लैटिन साहित्य की अपूर्व लोकप्रियता के साथ साथ एक नवीन सांस्कृतिक आंदोलन प्रारंभ हुआ जिसे रिनेसाँ अथवा नवजागरण कहा गया है। बीज़ैंटाइन साम्राज्य का अंत निकट देखकर बहुत से यूनानी विद्वान् पश्चिम में आकर बसने लगे। उनकी संख्या और बढ़ गई जब १४५३ ई० में कुस्तुंतुनिया इस्लाम के अधिकार में आया। उन यूनानी विद्वानों से नवजागरण आंदोलन को और प्रोत्साहन मिला। रोम के पोप उस आंदोलन के संरक्षक बन गए और उन्होंने रोम को नवजागरण का एक मुख्य केंद्र बना लिया। नैतिकता और धर्म की उपेक्षा होने लगी और १५वीं शताब्दी के अंत तक रोम का दरबार व्यभिचारव्याप्त रहा। इसके अतिरिक्त पोपों के चुनाव में राजनीति के हस्तक्षेप तथा इटली के अभिजात वर्ग की प्रतियोगिता ने भी रोम के प्रति ईसाई संसार की श्रद्धा को बहुत ही घटा दिया। असंतोष का एक और कारण यह था कि समस्त चर्च की संस्थाओं पर उनकी संपत्ति के अनुसार कर लगाया जाता था और रोम के प्रतिनिधि सर्वत्र घूमकर यह रुपया वसूल करते थे।

(३) आधुनिक काल (१५०० ई० से)—(१६) लूथर ने १५१७ ई० में काथलिक चर्च की बुराइयों के विरुद्ध आवाज उठाई किंतु वह शीघ्र ही कुछ परंपरागत ईसाई धर्मसिद्धांतों का भी विरोध करने लगा। इस प्रकार एक नए संप्रदाय की उत्पत्ति हुई (दे० लूथर)। लूथर को जर्मन शासकों का संरक्षण मिला और जर्मनी के अतिरिक्त स्कैंडिनेविया के समस्त ईसाई उनके संप्रदाय में संमिलित हुए। बाद में कालविन ने लूथर के सिद्धांतों को विकसित करते हुए एक दूसरे प्रोटेस्टैंट संप्रदाय का प्रवर्तन किया जो स्विट्जरलैंड, स्काटलैंड, हालैंड तथा फ्रांस के कुछ भागों में फैल गया (दे० प्रेस्बिटरीय धर्म)। अंत में हेनरी अष्टम ने भी इंग्लैंड को रोम के अधिकार से अलग कर दिया जिससे एंग्लिकन चर्च प्रारंभ हुआ (दे० ऐंग्लिकन समुदाय)।

(१७)प्रोटेस्टैंट विद्रोह के प्रतिक्रिया स्वरूप कैथलिक चर्च में 'काउंटर-रिफॉर्मेशन' (प्रतिसुधारांदोलन) का प्रवर्तन हुआ। १६वीं शताब्दी के महान् पोपों के नतृत्व में चर्च के शासन में अध्यात्म को फिर प्राथमिकता मिल गई; बहुत से नए धर्मसंघों की स्थापना हुई जिसमें कपुचिन तथा जेसुइट प्रमुख हैं (दे० जेसुइट)। प्राचीन धर्मसंघों में, विशेषकर फ्रांसिस्की तथा कार्मेलाइट धर्मसंघ में सुधार लाया गया; बहुत से संत उत्पन्न हुए जिनमें संत तेरेसा (१५१५-१५८२ ई०) तथा संत जॉन ऑव दि क्रॉस (१५४२–१५९१) अपनी रहस्यवादी रचनाओं के कारण अमर हो गए हैं। धर्मप्रचार (मिशन) का कार्य नवीन उत्साह से अमरीका तथा एशिया में फैलने लगा (दे० धर्मप्रचार)। ट्रेंट (Trent) में चर्च की १९वीं विश्वसभा का आयोजन किया गया किंतु प्रोटेस्टैंटों ने इसमें भाग लेने से इनकार कर दिया। इस विश्वसभा को कई बार स्थगित कर दिया गया जिससे वह १५४५ ई० में प्रारंभ होकर केवल १५६३ ई० में समाप्त हो गई। पुरोहितों के शिक्षण तथा चर्च के संगठन के नए नियमों के अतिरिक्त प्रोटेस्टैंट संप्रदाय के विरोध में परंपरागत काथलिक धर्मसिद्धांतों का सूत्रीकरण भी हुआ। उस समय से पश्चिम यूरोप के ईसाई संसार में एकता लाने की आशा बहुत क्षीण हो गई।

परवर्ती शताब्दियों में समस्त पश्चिम यूरोप में नास्तिकता तथा अविश्वास व्यापक रूप से फैल गया। फ्रेंच क्रांति के फलस्वरूप चर्च की अधिकांश जायदाद जब्त हुई और चर्च तथा सरकार का गहरा संबंध सर्वदा के लिये टूट गया। १८७० ई० में इटालियन क्रांति ने पेपल स्टेट्स पर भी अधिकार कर लिया, इस कारण जो समस्या उत्पन्न हुई वह १९२९ ई० में हल हो गई (दे० वैटिकन)।

(१८) २०वीं शताब्दी के प्रारंभ में ईसाई एकता का आंदोलन (एकूमेनिकल मूवमेंट) प्रारंभ हुआ। उस समय तक प्रोटेस्टैंट धर्म बहुत से संप्रदायों में विभक्त हो गया था और इस कारण धर्मप्रचार के कार्य में कठिनाई का अनुभव हुआ। १९१० में एडिनबर्ग में प्रथम वर्ल्ड मिशनरी कॉनफरेंस का अधिवेशन हुआ। इस आंदोलन के फलस्वरूप वर्ल्ड कौंसिल ऑव चर्चेज का संगठन हुआ जिसका पिछला अधिवेशन १९६१ ई० में दिल्ली में हुआ है। सभी मुख्य प्रोटेस्टैंट संप्रदाय तथा प्राच्य ऑर्थोडोक्स चर्च उस संस्था के सदस्य हैं और काथलिक ऑबज़र्वर (पर्यवेक्षक) उसकी सभाओं में उपस्थित रहते हैं। उसी प्रकार १९६२ ई० में रोम में काथलिक चर्च की जो २१वीं विश्वसभा प्रारंभ हुई उसके लिये मुख्य प्रोटेस्टैंट संप्रदायों ने तथा प्राच्य आर्थडोक्स चर्च ने अपने प्रतिनिधि भेजे। इस प्रकार हम देखते हैं कि ईसाई संसार में एकता का आंदोलन आशातीत प्रगति से आगे बढ़ता जा रहा है।

सं० ग्रं०—फिलिप ह्यूज : ए हिस्ट्री ऑव दी चर्च लंदन, १९३६ ई० (तीन भाग)। [का० बु०]

चर्चिल, सर विंसटन ल्योनार्ड स्पेंसर अंग्रेज राजनीतिज्ञ। जन्म ३० नवंबर, १८७४ को, आक्सफोर्ड शायर के ब्लेनहिम पैलेस में। इनके पिता लार्ड रैनडल्फ चर्चिल थे, माता जेना न्यूयार्क नगर के लियोनार्ड जेरोम की पुत्री थीं। इनकी शिक्षा हैरो और सैंहर्स्ट में हुई। १८९५ में सेना में भरती हुए और १८९७ में मालकंड के युद्धस्थल में तथा १८९८ में उमदुरमान के युद्ध में भाग लिया। इन युद्धों ने उन्हें दो पुस्तकों—दि स्टोरी ऑव मालकंड फील्ड फोर्स (१८९८) और दि रिवर वार (१८९९)—के लिये पर्याप्त सामग्री प्रदान की। दक्षिणी अफ्रीका के युद्ध (१८९९–१९०२) के समय वह मार्निंग पोस्ट के संवाददाता का कार्य कर रहे थे। वे वहाँ बंदी भी हुए, परंतु भाग निकले। उन्होंने अपने अनुभवों का उल्लेख 'लंदन टु लेडीस्मिथ वाया प्रिटोरिया' (१९००) में किया है।

१९०० में प्रोल्डहेम निर्वाचनक्षेत्र से संसत्सदस्य निर्वाचित हुए। यहाँ पर वह काफी तैयारी के बाद भाषण किया करते थे। अतः आगे चलकर वादविवाद की कला में वह विशेष निपुण हुए। इनको अपने पिता के राजनीतिक संस्मरणों का काफी ज्ञान था। इसीलिये इन्होंने १९०६ में 'लाइफ ऑव लार्ड रैंडल्फ चर्चिल' लिखी जो अंग्रेजी की सर्वोत्तम रुचिकर राजनीतिक जीवनियों में गिनी जाती है। १९०४ में चेंबरलेन की व्यापार-कर नीति से असंतुष्ट होकर चर्चिल लिबरल दल में संमिलित हुए और कैंपबेल बैनरमैन (१९०५–१९०८) के मंत्रिमंडल में वे उपनिवेशों के अधिसचिव नियुक्त हुए। १९०८ में वे मंत्रिमंडल में व्यापारमंडल के सभापति के नाते संमिलित हुए। १९०९ से ११ तक वे गृहसचिव रहे। औद्योगिक उपद्रवों को सँभालने में असमर्थ होने के कारण उन्हें जलसेना का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। इस पद पर उन्होंने बड़ी लगन और दूरदर्शिता से कार्य किया और यही कारण है कि १९१४ में जब युद्ध प्रारंभ हुआ तो ब्रिटिश जलसेना पूर्ण रूप से सुसज्जित थी। वे जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा के समर्थक थे। जब उदारवादी सरकार का पतन हुआ तो उन्होंने राजनीति को त्याग युद्धस्थल में प्रवेश किया। १९१७ में लायड जार्ज के नेतृत्व में वे युद्ध तथा परिवहन मंत्री हुए। लायड जार्ज से उनकी अधिक समय तक न पटी और १९२२ में वे सदस्य भी निर्वाचित नहीं हुए।

१९२४ में वे एपिंग से संसत्सदस्य निर्वाचित हुए और स्टैन्ली बाल्डविन ने उन्हें कंजरवेटिव दल में पुनः संमिलित होने के लिये आमंत्रित किया। १९२९ में उनका बाल्डविन से भारत के संबंध में मतभेद हो गया। चर्चिल भारत में ब्रिटिश-साम्राज्य-सत्ता का किसी प्रकार का भी परित्याग नहीं चाहते थे। ९ वर्ष तक वे मंत्रिमंडल से बाहर रहे। परंतु संसत्सदस्य तथा प्रभावशाली नेता होने के कारण वे सार्वजनिक प्रश्नों पर अपने विचार स्पष्ट करते रहे। इन्होंने हिटलर से समझौता की नीति का खुला विरोध किया। म्यूनिख समझौते को बिना युद्ध की हार बताया। वे इंग्लैंड को युद्ध के लिये तैयार करना चाहते थे और इसके लिये सोवियत संघ से तुरत समझौता आवश्यक समझते थे। प्रधान मंत्री चैंबरलेन ने इनके दोनों सुझावों को अस्वीकार कर दिया।

३ सितंबर, १९३९ को ब्रिटेन ने जब युद्ध की घोषणा की तो चर्चिल को जलसेनाध्यक्ष नियुक्त किया गया। मई, १९४० में नार्वे की हार ने ब्रिटिश जनता में चैंबरलेन के प्रति विश्वास को डिगा दिया। १० मई को चैंबरलेन ने त्यागपत्र दे दिया और चर्चिल ने प्रधान मंत्री पद सँभाला और एक संमिलित राष्ट्रीय सरकार का निर्माण किया। लोकसभा में तीन दिन बाद भाषण देते हुए उन्होंने कहा कि 'मैं रक्त, श्रम, अश्रु और पसीने के अतिरिक्त और प्रदान नहीं कर सकता।' उनका अंतिम विजय में अटूट विश्वास था, जो संकट के समय प्रेरणा देता था। ब्रिटिश साम्राज्य की संयुक्त शक्ति ही नहीं वरन् अमरीका और रूस की शक्तियों को जर्मनों के विरुद्ध सक्रिय रूप से प्रेरित किया।

उनके अथक परिश्रम, विश्वास, दृढ़ता और लगन के कारण मित्रराष्ट्रों की विजय हुई। इस विजय ने उनके लिये नवीन समस्याएँ उत्पन्न कर दीं। बेल्जियम, इटली और यूनान की कथित प्रतिक्रियावादी सरकारों के समर्थन का उनपर आरोप लगाया गया और साथ ही सोवियत संघ से पूर्वी यूरोप के संबंध में मतभेद उत्पन्न हो गया। १९४५ में युद्ध की विजय के उत्सव मनाए गए, परंतु उसी वर्ष के जून के सार्वजनिक निर्वाचन में चर्चिल के दल को हार हुई और उन्हें विरोधी नेता का पद ग्रहण करना पड़ा। जनता जानती थी कि वे युद्ध स्थिति का नेतृत्व कर सकते हैं। आवश्यकता निर्माण की नहीं बल्कि युद्ध के पश्चात् निर्माण की थी। १९४५–५० तक वे अपने संसदीय उत्तरदायित्वों के साथ साथ द्वितीय महायुद्ध का इतिहास लिखने में भी व्यस्त रहे। इसको इन्होंने छः खंडों में लिखा है। १९५३ में उन्हें साहित्य सेवा के लिये नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया। १९५० के सार्वजनिक निर्वाचन में उनके दल के सदस्यों की संख्या बढ़ी और श्रमदल का बहुमत केवल सात सदस्यों का रह गया। अक्टूबर, १९५१ के निर्वाचन में उनके दल की विजय हुई और वह पुनः प्रधान मंत्री नियुक्त हुए। वह विश्वशांति के लिये एकाग्रचित्त होकर प्रयत्नशील रहे। उन्होंने अंग्रेजी भाषाभाषियों का एक बृहत् इतिहास अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से लिखा है। वृद्धावस्था और अस्वास्थ्य के कारण उन्होंने ५ अप्रैल, १९५५ को प्रधान मंत्री के पद से त्यागपत्र दे दिया और इस प्रकार राजनीति से अवकाश ग्रहण किया। [गि० कि० ग०]

चर्मपत्र ऐसा कहा जाता है कि परगामम (Pergamum) के यूमेनीज (Eumenes) द्वितीय ने, जो ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में हुआ था, चर्मपत्र के व्यवहार की प्रथा चलाई, यद्यपि इसका ज्ञान इसके पहले से लोगों को था। वह ऐसा पुस्तकालय स्थापित करना चाहता था जो ऐलेग्जैंड्रिया के उस समय के सुप्रसिद्ध पुस्तकालय सा बड़ा हो। इसके लिये उसे पापाइरस (एक प्रकार के पेड़ की, जो मिस्र की नील नदी के गीले तट पर उपजता था, मज्जा से बना कागज जो उस समय पुस्तक लिखने में व्यवहृत होता था) नहीं मिल रहा था। अतः उसने पापाइरस के स्थान पर चर्मपत्र का व्यवहार शुरू किया। यह चर्मपत्र बकरी, सूअर, बछड़ा या भेड़ के चमड़े से तैयार होता था। उस समय इसका नाम कार्टा परगामिना (charta pergamena) था। ऐसे चर्मपत्र के दोनों ओर लिखा जा सकता था, जिसमें वह पुस्तक के रूप में बाँधा जा सके।

चर्मपत्र तैयार करने की आधुनिक रीति वही है जो प्राचीन काल में थी। बछड़े, बकरी या भेड़ की उत्कृष्ट कोटि की खाल से यह तैयार होता है। खाल को चूने के गड्ढे में डुबाए रखने के बाद उसके बाल हटाकर धो देते हैं और फिर लकड़ी के फ्रेम में खींचकर बाँधकर सुखाते हैं। फिर खाल के दोनों ओर चाकू से छीलते हैं। मांसवाले तल पर खड़िया या बुझा चूना छिड़ककर झाँवें के पत्थर से रगड़ते हैं और तब पुनः फ्रेम पर सुखाते हैं। फिर खाल को एक दूसरे फ्रेम पर स्थानांतरित करते हैं जिसमें खाल पर पहले से कम तनाव रहता है। दानेदार तल को फिर चाकू से छीलकर उसे एक सी मोटाई का बना लेते हैं। यदि फिर भी खाल असमतल रहती है तो सूक्ष्म भाँवें से रगड़कर उसे समतल कर लेते हैं। ऐसा चर्मपत्र सींग सा कड़ा होता है, चमड़े सा नम्य नहीं। आर्द्र वायु से यह सड़कर दुर्गंध दे सकता है।

आजकल कृत्रिम चर्मपत्र भी बनता है। इसे 'वानस्पतिक चर्मपत्र' भी कहते हैं। यह वस्तुतः एक विशेष प्रकार का कागज होता है, जो अचार और मुरब्बा रखने के घड़ों या मर्तबानों के मुख ढकने, मक्खन, मांस, सॉसेज (sausages) और अन्य भोज्य पदार्थ लपेटने में व्यवहृत होता है। इस पर वसा या ओज का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और न ये इसमें से होकर भीतर प्रविष्ट ही होते हैं। जल भी इसमें प्रविष्ट नहीं होता।

कृत्रिम चर्मपट बनाने के दो तरीके हैं। एक में असज्जीकृत कागज

को कुछ सेकंड तक सांद्र सलफ्यूरिक अम्ल (विशिष्ट घनत्व १·६६) में डुबाकर, फिर तनु ऐमोनिया से धोते हैं।

दूसरे में पल्प बनानेवाले रेशों को बहुत समय तक पानी की उपस्थिति में दबाते, कुचलते और रगड़ते हैं। इसमें सिवाय अल्प स्टार्च के अन्य कोई सजीकारक प्रयुक्त नहीं करते।

कृत्रिम चर्मपत्र का परीक्षण मोमबत्ती की छोटी ज्वाला में जलाकर करते हैं। ऐसी ज्वाला से कृत्रिम पत्र में छोटे छोटे बुलबुले निकल आते हैं। भाप के कारण ये बुलबुले बनते हैं, जो ऊपरी तल से बाहर न निकल सकने के कारण दिखाई पड़ते हैं। असली चर्मपत्र में बुलबुले नहीं बनते। [फू० स० व०]

चर्मपूरण (Taxidermy) मृत प्राणियों को सुरक्षित रखने तथा उन्हें जीवित सदृश व्यवस्थित कर प्रदर्शित करने की एक विधि है। प्रकृति विज्ञान (Natural History) के संग्रहालयों में प्रायः इस प्रकार के प्राणी, जैसे मछलियों, उरगों, चिड़ियों और स्तनी प्राणियों, जैसे गिलहरी, हिरण, शेर, रीछ, बंदर तथा अन्य जंगली प्राणियों का उनके प्राकृतिक वातावरण में प्रदर्शन किया जाता है। संग्रहालयों के इन प्राणियों को देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वे मूक जीवित प्राणी हैं।

चर्मपूरण का इतिहास — संग्रहालयों के लिये, अथवा किसी शिकार या यात्रा के स्मरण के लिये, प्राणियों की खाल, सींग तथा करोट अस्थियाँ रखी जाती थीं, उसी से चर्मपूरण कला का प्रारंभ हुआ। प्रथम मनुष्य ने चमड़े को रासायनिक क्रियाओं द्वारा पकाकर उससे ओढ़ने और बिछाने की चादरें इत्यादि तैयार की। १८वीं सदी में विषैले रसायनकों की खोज से, जिनके प्रयोग से चमड़े, बाल, तथा चिड़ियों के पर क्षतिकारक कीटों से रक्षित किए जा सकते हैं, व्यक्तिगत तथा राजकीय संग्रहालयों में चिड़ियों और स्तनी प्राणियों का विपुल संख्या में संग्रह संभव हो गया। उस समय से निरंतर प्रयास के कारण चर्मपूरण की कला का क्रमशः विकास होता रहा है। शिकारी चिड़ियों, मछलियों और विशेषतः सींगधारी स्तनी प्राणियों का चर्मपूरण व्यावसायिक तौर पर भी होने लगा है। फ्लोरेंस के राजकीय संग्रहालय में संभवतः चर्मपूरण का सबसे प्राचीन उदाहरण भारतीय गैंडा है। संभवतः वह १६वीं शती में तैयार किया गया था। स्विट्जरलैंड के सेंट गाल (St. Gall) के संग्रहालय में नील नदी में पाया जानेवाला घड़ियाल सन् १६२७ से रखा है और आज वह तीन शताब्दियों से सुरक्षित है। इस प्रकार के विदेशी तथा विरल प्राणियों का संग्रह, विजय स्मारक (trophies) की अपेक्षा शिक्षा के उद्देश्य से, प्रकृति विज्ञान के संग्रहालयों में प्रारंभ हुआ।

प्रारंभ में जानवरों की खाल उतारकर उसमें घास भूसा भरकर सीने और उनसे जानवरों की आकृति तैयार करने की चेष्टा होती रही। बाद में घास भूसे की जगह अन्य उन्नत और उत्तम वस्तुओं का प्रयोग होने लगा। इस प्रकार की विधि से नमूने के बाल या पर भले ही दिखाई पड़ते थे, किंतु वे जीवित सदृश नहीं दिखाई पड़ते थे और उनकी आकृति का ठीक ठीक प्रदर्शन नहीं होता था। १६वीं शताब्दी में चर्मपूरण कला को सुधारने का समुचित प्रयास हुआ और नमूने उपयुक्त वनस्पति, रंगीन पृष्ठभूमि और प्राकृतिक वातावरण में प्रदर्शित किए जाने लगे।

विधि — इस कला का प्रथम सिद्धांत यह है कि जैसे ही नमूना प्राप्त हो, ताजी और स्वच्छ अवस्था में ही उसकी खाल इस प्रकार उतार ली जाय कि यदि मछली या उरग हो तो शल्क (Scales), चिड़िया हो तो पर और स्तनी प्राणी हो तो बाल या कोमल लोम किसी प्रकार क्षतिग्रस्त न होने पाएँ। इस कार्य के लिये कुछ औजारों और अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त दीर्घ प्रयत्न और धैर्य की आवश्यकता होती है।

चर्मपूरण के लिये आवश्यक औजार और सामग्री — औजारों की सूची में तीक्ष्ण चाकू (जिनमें कुछ नुकीले और कुछ कुंठित), कैंची, प्लायर्स, कतरनी (cutting nippers), सुई, पतले लंबे चपटे मुँहवाले प्लायर्स (Flat nosed pliers) और टेकुआ या सूजा (Awls) इत्यादि हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सामग्री, जैसे पटुआ या सन, रूई, भरने के लिये अन्य वस्तु (wadding), धागे, लोहे के तार या पतले छड़, ऊँट के बालों की कूँचियों आदि की भी आवश्यकता होती है।

रसायनक — खाल, पर, बाल या शल्क को सुरक्षित रखने के लिये प्रायः आर्सेनिक साबुन के मिश्रण का प्रयोग होता है। आर्सेनिक साबुन तैयार करने की सामग्री और विधि निम्नलिखित है :

सफेद साबुन	२ पाउंड
साल्ट ऑव टार्टर	१२ औंस
चूने का चूर्ण	४ औंस
आर्सेनिक (संखिया) का चूर्ण	२ पाउंड
कपूर	५ औंस

आर्सेनिक साबुन बनाने की विधि — २ पाउंड सफेद साबुन को काटकर उबाला जाता है और उसमें १२ औंस साल्ट ऑव टार्टर तथा ४ औंस चूने का चूर्ण मिला दिया जाता है। जब यह विलयन करीब करीब ठंढा पड़ जाता है, तब उसमें अलग से खरल में स्पिरिट में घुलाया गया दो पाउंड संखिए का चूर्ण और ५ औंस कपूर का मिश्रण मिला देते हैं। अब इस मिश्रण को व्यवहार में लाने के लिये काँच के छोटे छोटे बरतनों में रख देते हैं। आर्सेनिक के यौगिक बड़े विषैले होते हैं। अतः इनके उपयोग में बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए। असावधानी होने पर श्वास की क्षीणता, फोड़े, नाखून का झड़ना तथा अन्य रोग उत्पन्न हो सकते हैं। आर्सेनिक के स्थान पर एक दूसरा अधिक प्रभावशाली मिश्रण ब्राउन द्वारा इस प्रकार तैयार किया गया है :

सफेद कर्ड (curd) साबुन	१ पाउंड
ह्वाइटिंग (whiting)	३ पाउंड
क्लोराइड ऑव लाइम	१½ औंस
मुश्क का टिंक्चर	१ औंस

विधि — १ पाउंड सफेद कर्ड साबुन के साथ ३ पाउंड ह्वाइटिंग मिलाकर उबालते हैं और गरम रहते ही उसमें १½ औंस क्लोराइड ऑव लाइम तथा १ औंस मुश्क का टिंक्चर मिला देते हैं। मिश्रण को उष्णावस्था में इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि इससे उत्पन्न वाष्प श्वास के साथ शरीर में प्रवेश न करे, क्योंकि उष्णावस्था में इस मिश्रण से क्लोरीन गैस निकलती है जो विषैली होती है। ठंढा होने पर यह मिश्रण संरक्षण के लिये अधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ है।

संरक्षण कार्य के लिये रसपुष्प, कारोसिव सब्लिमेट (Corrosive sublimate), की भी बहुत अधिक प्रशंसा की जाती है। यह बहुत ही कार्यसाधक होता है, पर बहुत ही विषैला है।

कभी कभी टैनिन, काली मिर्च, कपूर तथा जली फिटकरी के चूर्णों का मिश्रण भी चर्मपूरण के लिये उपयोग में लाया जाता है। इस

मिश्रण की विशेषता यह है कि खाल को यह शीघ्र ही शुष्क कर देता है, जिससे आरोपण (mounting) के लिये खाल कम समय में ही तैयार हो जाती है।

स्तनी प्राणियों की सुरक्षा के लिये १ पाउंड जली हुई फिटकरी तथा ½ पाउंड शोरे का संमिश्रण बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है। इन दोनों पदार्थों को भली भांति मिलाकर चमड़े में अच्छी प्रकार रगड़ देना चाहिए। यदि मछलियों या उरगों का सांचा या मॉडेल (model) न बनाना हो तो परिशोधित स्पिरिट मे उनका अच्छी प्रकार संरक्षण हो सकता है। यदि खर्च में कमी करनी हो तो परिशोधित स्पिरिट के स्थान पर मुलर का विलयन प्रयुक्त हो सकता है। मुलर के विलयन में निम्नांकित सामग्री रहती है :

बाइक्रोमेट ऑव पोटाश	२ औंस
सल्फेट ऑव सोडा	१ औंस
आसुत जल	३ पिंट

क्लोराइड ऑव जिंक के लगभग संयुक्त विलयन का उपयोग भी किया जा सकता है।

चिड़ियों के पर तथा स्तनी प्राणियों के मुलायम बालों की सफाई के लिये बेंजोलिन (benzoline) में रुई के पहल को डुबोकर उसपर हल्के हल्के रगड़ने के बाद प्लास्टर ऑव पेरिस के चूर्ण का छिड़काव किया जाना चाहिए। जब यह सूख जाय तब उसे चिड़ियों के पर की झाड़न से झाड़ देना चाहिए।

चर्मपूरण की सामान्य विधि — चर्मपूरण की तकनीकी में इधर बहुत सुधार हुए हैं। भराव (stuffing) की पद्धति का त्याग कर अब नए नए तरीके उपयोग में आ रहे हैं।

बड़े नमूने प्राप्त होने पर मृत जानवर की त्वचा की ठीक माप ले ली जाती है और खाल को बिल्कुल पादांगुलियों तक अलग कर उतार लेने के पश्चात् सुरक्षित रखने के लिये उसको रासायनिक यौगिक, जैसे कार्बोलिक साबुन, या फिटकरी, से उपचारित किया जाता है। साथ साथ प्राणी की मांसपेशियों, पसलियों और ऊबड़ खाबड़ भागों का चित्र तैयार किया जाता है। यह चित्र चर्मपूरक के लिये पथप्रदर्शक होता है। वह नाप और इस चित्र के आधार पर लकड़ी के टुकड़ों, चिकनी मिट्टी, या प्लास्टर ऑव पेरिस, या कागज की लुग्दी की सहायता से प्राणी का ढांचा तैयार करता है, जो उस प्राणी का बिल्कुल प्रतिरूप होता है। इस प्रतिरूप को मैनिकिन (manikin) कहते हैं। मैनिकिन तैयार करने में विशेष कुशलता की आवश्यकता होती है और इसमें प्राणी की सूक्ष्म से सूक्ष्म रचना, यहाँ तक कि उसकी मांसपेशियों की स्वाभाविक स्थिति तक का भी ध्यान रखा जाता है और जीवित अवस्था में प्राणी जिस स्वाभाविक मुद्रा में प्रायः रहता है, उसी मुद्रा में मैनिकिन तैयार किया जाता है। मैनिकिन का निर्माण हो जाने पर इसपर चिकनी मिट्टी (clay) की एक पतली पर्त चढ़ा दी जाती है और त्वचा को नापकर इसपर मढ़ दिया जाता है। त्वचा को उभड़े और धँसे भागों पर यथास्थान बैठाकर, जहाँ से खाल उतारते समय काटी गई थी, सी दिया जाता है। मुख, मुख की श्लेष्मिक झिल्लियों, तालु, जीभ और ओष्ठ इत्यादि का प्लास्टिक द्रव्य से यथार्थ ढांचा तैयार कर लिया जाता है। कृत्रिम आँखें लगा दी जाती हैं। साधारण शीशे की आँखों के बदले अब एक विशेष प्रकार से निर्मित, प्राकृतिक आँख के रंग से मिलती जुलती, काचकी ग्लोबस (globus) आँखें इस ढंग से लगा दी जाती हैं कि जानवर जीवित प्रतीत होने लगता है। आँखों का लगाना इस बात पर निर्भर करता है कि जानवर किस मुद्रा में है और मुद्रा के अनुकूल आँखें कैसी होनी चाहिए। सभी प्रकार की बड़ी मछलियों और चिड़ियों को भी इसी विधि से तैयार करते हैं और तैयार करने के बाद उन्हें रंगकर प्राकृतिक रंग दे दिया जाता है।

चिड़ियों का चर्मपूरण तथा आरोपण (mounting) — अधिकांश शौकिया चर्मपूरक प्रायः निम्नलिखित विधि को चुनते हैं : जिस नमूने का आरोपण करना होता है उसके नासिकारंध्रों तथा गले में रूई, ऊन अथवा सन ठूंसकर, उसे बंद कर देते हैं और दोनों पंखों की हड्डियाँ शरीर के पास से तोड़ देते हैं। चिड़िया को पीठ के बल मेज पर लिटाकर वक्ष के पास एक चीरा लगाते हैं। सफेद वक्षवाली चिड़ियों का पंख वक्ष के पास से न खोलकर, जिस ओर का पंख अधिक क्षत हो गया होता है उसी ओर के पंख के निचले भाग में चीरा लगाते हैं जिससे थोड़ा दबाने पर, जाँघ बाहर आ जाय। तब इससे त्वचा को अलग करने के लिये चाकू का सबे हाथ से प्रयोग उस समय तक करते हैं जब तक खुले भाग की ओर की पंखास्थि न दिखाई पड़े। अब इसे कैंची से काट डालते हैं और बड़ी कुशलता से पीठ और वक्ष से त्वचा को अलग कर गर्दन को काटकर सिर से अलग कर लेते हैं। अब इसी हिस्से की बारी आती है। बाकी दोनों पैरों को काटने के पश्चात् बड़ी सावधानी से पेट और पश्च पृष्ठ भाग से त्वचा को अलग करते हुए दुम तक पहुँचते हैं, जिसे, कुछ अस्थियों को त्वचा से लगी ही छोड़कर, काट लेते हैं। अब त्वचा से कंकाल अलग हो जाता है और गर्दन तथा सिर के अतिरिक्त कुछ भी लगा नहीं रह जाता। गर्दन और सिर से खाल को अनावश्यक खींच तान किए बिना उतारना चर्मपूरक के धैर्य का परीक्षात्मक कार्य होता है। यह कार्य सिर के ऊपर से त्वचा को उलटकर पीछे से आगे की ओर धीरे धीरे अलग करके पूरा किया जा सकता है। परंतु इस बात का पूरा पूरा ध्यान रहे कि त्वचा को केवल निचली झिल्ली ही काटी जाय, जिससे आँखें बिना क्षतिग्रस्त हुए सुगमता से नेत्रकोटरों से अलग की जा सकें। त्वचा को चोंच के समीप तक अलग कर देने के पश्चात् सिर को, जहाँ वह गर्दन से जुड़ा होता है, अलग कर दिया जाता है और मस्तिष्कगुहा से मस्तिष्क की गुद्दी को निकालकर, करोटि, पंखास्थि, पैर तथा इनसे सारे मांस को अलग कर देने के बाद, त्वचा की भीतरी सतह पर संरक्षक रसायनक का लेप कर त्वचा को उचित स्थिति में उलट दिया जाता है। त्वचा को यदि किसी कैबिनेट (cabinet) के लिये तैयार करना होता है तो सिर और गर्दन को सन या रूई से भरकर धड़ भाग को कसे या ढीले, कृत्रिम धड़ के ढांचे पर चढ़ा दिया जाता है। शरीर का कृत्रिम ढांचा कसा हो या ढीला, यह चर्मपूरक की अपनी दक्षता पर निर्भर करता है। अब औदरिक त्वचा की सिलाई कर, वक्ष तथा परों के ऊपर कागज को पिन से लगाकर किसी गर्म स्थान में, जहाँ धूल न पड़े, सूखने के लिये छोड़ दिया जाता है। सूख जाने के पश्चात् इसके साथ पक्षी का नाम, लिंग, प्राप्तिस्थान तथा प्राप्ति की तिथि इत्यादि का विवरण लगा दिया जाता है और कीटनाशक चूर्ण छिड़क दिया जाता है।

यदि नमूने को आरूढ़ करना होता है, तो किसी लोहे के तार के चारों तरफ सन लपेटकर शरीर की कृत्रिम आकृति बना ली जाती है और तार का नुकीला भाग गर्दन और करोटि से होते हुए बाहर निकाल

लिया जाता है। पैर के तलवे से होकर एक नुकीले तार को पैर के ऊपरी भाग की त्वचा तक खींच लिया जाता है और अंत में उसे कृत्रिम शरीर से फँसा दिया जाता है। शरीर के निचले तल से होते हुए एक तार पंख के मजबूत भाग से फँसा दिया जाता है। तब लकड़ी की एक बैठकी पर चिड़िया के बैठने का स्वाभाविक अड्डा बनाकर, उसीपर उसको आरूढ़ कर कृत्रिम आँखें लगा दी जाती हैं और उसे प्राकृतिक मुद्रा में स्थिर कर दिया जाता है। चिड़िया को उसकी स्वाभाविक स्थिति में सजाना चर्मपूरक की कुशलता पर निर्भर करता है।

फॉसिल प्राणियों का पुनः निर्माण करना संभवतः चर्मपूरण कला का श्रेष्ठतम कार्य समझा जाता है; क्योंकि इसके लिये चर्मपूरक को भूगर्भ विज्ञान तथा युग युग के प्राणियों के क्रमिक विकास और ऐसे जीवित प्राणियों को, जिनका फॉसिल से सादृश्य हो, शारीरिक रचना तथा स्वभाव का अध्ययन करना आवश्यक होता है। अनेक बार तो फॉसिल प्राणी के कंकाल का कुछ अंश ही प्राप्त हो पाता है। उस समय चर्मपूरक के लिये अप्राप्त अंश की कड़ी तैयार करना सचमुच ही थकानेवाला कार्य हो जाता है और उस समय उसके लिये अपने विशिष्ट ज्ञान का भरपूर प्रयोग अत्यावश्यक हो जाता है। धनोपार्जन की दृष्टि से चर्मपूरण लाभप्रद नहीं है। अधिकांश चर्मपूरक अन्य विचारों से ही इस कला को अपनाते हैं। प्रमुख चर्मपूरक प्रायः किसी न किसी संस्था या संग्रहालय से संबंधित होते हैं। [भृ० ना० प्र०]

चर्यापद चर्या का अर्थ आचरण या व्यवहार है। 'चर्या' के पद सहजिया बौद्ध सिद्धों द्वारा रचित हैं। इन पदों में बतलाया गया है कि साधक के लिये क्या आचरणीय और क्या अनाचरणीय है। इन पदों का संग्रह 'चर्यापद' के नाम से अभिहित किया जाता है। सिद्धों की संख्या चौरासी कही जाती है जिनमें कुछ प्रमुख सिद्ध निम्नलिखित हैं : लुइपा, शबरपा, सरहपा, शांतिपा, काह्नपा, जालंधरपा, भुसुकपा आदि। इन सिद्धों के काल का निर्णय करना कठिन है, फिर भी साधारणतः इनका काल सन् ८०० ई० से सन् ११७५ ई० तक माना जा सकता है।

'चर्यापद' में संगृहीत पदों की रचना कुछ ऐसे रहस्यात्मक ढंग से की गई है और कुछ ऐसी भाषा का सहारा लिया गया है कि बिना उसके मर्म को समझे इन पदों का अर्थ समझना कठिन है। इस भाषा को 'संधा' या 'संध्या भाषा' कहा गया है। 'संध्या भाषा' का अर्थ कई प्रकार से किया गया है। हरप्रसाद शास्त्री ने संध्या भाषा का अर्थ 'प्रकाश-अंधकार मयी' भाषा किया है। उनका कहना है कि इसमें कुछ प्रकाश और कुछ अंधकार मिले जुले रहते हैं, कुछ समझ मे आता है, कुछ समझ में नहीं आता। महामहोपाध्याय पंडित विधुशेखर शास्त्री का मत है कि वास्तव में यह शब्द 'संध्या भाषा' नहीं है बल्कि 'संधा भाषा' है और इसका अर्थ यह है कि इस भाषा में शब्दों का प्रयोग साभिप्राय तथा विशेष रूप से निर्दिष्ट अर्थ में किया गया है (इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १९२८, पृ० २८७)। इन शब्दों का अभीष्ट अर्थ अनुधावनपूर्वक ही समझा जा सकता है। अतएव कहा जा सकता है कि संध्या या संधा शब्द का प्रयोग 'अभिसंधि' या केवल 'संधि' के अर्थ में किया गया है। 'अभिसंधि' का तात्पर्य यहाँ अभीष्ट अर्थ है अथवा दो अर्थों का मिलन है अर्थात् उस शब्द का एक साधारण अर्थ है तथा दूसरा अभीष्ट अर्थ। इसलिये संध्या के धुँधलेपन से इस शब्द का संबंध बतलाना उचित नहीं।

चर्यापद की संस्कृत टीका में टीकाकार मुनिदत्त ने संध्या भाषा शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। २१ संख्यक भुसुकपाद की चर्या में कहा गया है, 'निसि अँधारी मुसा अचारा'। इसकी टीका करते हुए टीकाकार ने कहा है, 'मूषकः संध्यावचने चित्त-पवनः बोद्धव्यः'। सरहपाद के 'दोहाकोश' के पंजिकाकार अद्वयवज्र (ईसवी सन् की १२वीं शताब्दी) ने कहा है : 'तथा श्वेतच्छागनिर्यातनया नरकादिदुःखमनुभवंति। संध्या भाषमजानानत्वात् च'। अर्थात् यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणगण वेदमंत्र की संध्या भाषा को जानने के कारण पशुबलि कर नरकादि दुःख का अनुभव करते हैं।

चर्यापदों के अर्थ को समझने के लिये सहजिया बौद्धों के दृष्टिकोण को समझ लेना आवश्यक है। साधना और दार्शनिक तत्व दोनों ही दृष्टियों से इन पदों का अध्ययन अपेक्षित है। चर्याकार सिद्धों के लिये साधना ही मुख्य वस्तु थी, वैसे वे दार्शनिक तत्व को भी आँखों से ओझल नहीं होने देते। सहजिया बौद्धधर्म की उत्पत्ति महायान से हुई, अतएव यह स्वाभाविक ही है कि महायान बौद्धधर्म की कुछ विशेषताएँ इसमें पाई जाती हैं।

सहजिया साधक का चरम लक्ष्य शून्य की प्राप्ति है; लेकिन वह शून्य क्या है ? परमार्थ सत्य के बारे में नागार्जुन ने बतलाया है कि उसके संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह है। फिर यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह नहीं है। इसी तरह यह भी कहना सही नहीं कि वह है भी और नहीं भी है, तथा यह भी कहने का उपाय नहीं है कि है और नहीं भी है इन दोनों में कोई भी सत्य नहीं। इस प्रकार से चतुष्कोटि विनिर्मुक्त जो तत्व है उसी को शून्य कहा गया है। वैसे अन्य बौद्ध दार्शनिकों ने इसपर और तरह से भी विचार किया है। विज्ञानवादी विज्ञप्तिमात्रता (विशुद्ध ज्ञान) को ही शून्य तत्व कहते हैं। शून्य ही गगन, ख अथवा आकाश है।

कालक्रम से महायान के स्वरूप में परिवर्तन हुए। प्राचीन अर्हत्‌गण निर्वाण की प्राप्ति को चरम लक्ष्य मानते थे, लेकिन महायानियों ने बोधिसत्व के आदर्श को उच्च माना। महायानियों के अनुसार दुःख से जर्जरित इस संसार के प्राणियों के लिये देह धारण कर करुणा का अवलंबन करना निर्वाण से श्रेयस्कर है। महायानी मानते हैं कि करुणा का आधार अद्वयबोध है। समस्त प्राणियों के साथ अपने को संपूर्ण रूप से एक समझना अद्वयबोध है। इस करुणा को महायानियों ने अपनी साधना, अपनी विचारधारा का मूलमंत्र स्वीकार किया। उनका कहना है कि अद्वय की स्थिति ही साधकों की काम्य है। इसमें सभी संकल्प विकल्प विलुप्त हो जाते हैं। इस स्थिति में ज्ञातृत्व ज्ञेयत्व तथा ग्राहकत्व ग्राह्यत्व का ज्ञान नहीं रह जाता। तांत्रिक बौद्धों ने निर्वाण को परम सुख कहा। उनके अनुसार 'महासुख' ही निर्वाण है। वे मानते थे कि विशेष साधनापद्धति द्वारा चित्त को महासुख में निमज्जित कर देना ही साधक का चरम लक्ष्य है। महासुख में निमज्जित चित्त की स्थिति ही बोधिचित्त की प्राप्ति है। चित्त की यह वह स्थिति है जिसमें चित्त बोधिलाभ के उपयुक्त होकर तथा उसे प्राप्त कर सभी प्राणियों की मंगलसाधना में लग जाता है।

साधना की दृष्टि से अद्वय बोधिचित्त की दो धाराएँ हैं : प्रज्ञा और उपाय। शून्यताज्ञान को तांत्रिक बौद्ध साधकों ने 'प्रज्ञा' कहा है। यह निवृत्तिमूलक है और इसमें साधक का चित्त संसार का कल्याण करने की ओर अनुप्रेरित न होकर अपनी ही ओर लगा रहता है। करुणा को

उन्होंने उपाय कहा है। यह प्रवृत्तिमूलक है और विश्वमंगल की साधना में नियोजित रहता है। इन दोनों के मिलन को 'प्रज्ञोपाय' कहा गया है। इन दोनों के मिलन से ही बोधिचित्त की प्राप्ति होती है। इन दोनों के मिलन की निम्नगा धारा ही सुख दुःखवाली त्रिगुणात्मिका सृष्टि है और उसकी ऊर्ध्वधारा का अनुसरण कर चलने में महासुख की प्राप्ति होती है। इसे 'सामरस्य' कहा गया है। शून्यता और करुणा परस्पर विरोधी धर्मवाली हैं, और स्वाभाविक रूप से निम्नगा हैं। इन दोनों का मध्यमार्ग में एक होकर प्रवाहित होना ही 'समरस' है। जब ये ऊर्ध्वगामिनी होती हैं, 'समरस' की विशुद्धि होती है और इनकी ऊर्ध्वतम अवस्थिति ही विशुद्ध सामरस्य है। इस सामरस्य का पूर्णतम रूप ही सहजानंद है। यही अद्वयबोधिचित्त है। इसी को प्राप्त करने की साधना सहजिया बौद्धधर्म का चरम लक्ष्य है।

इस आनंद को माध्यमिकों ने तत्व माना है लेकिन बौद्ध सहजिया साधकों ने इसे रूप तथा नाम प्रदान किया है और इसका वासस्थान भी बतलाया है। उन्होंने इसे नैरात्मा देवी तथा परिशुद्धा-अवधूतिका कहा है। इसे शून्यता की सहचारिणी कहा गया है। साधक जब पार्थिव माया मोह से शून्य हो जाता है और धर्मकाय (तथता अर्थात् शून्यता) में लीन हो जाता है, वह मानो नैरात्मा का आलिंगन किए हुए महाशून्य में गोता लगाता है। नैरात्मा इंद्रियग्राह्य नहीं, इसीलिये एक पद में उसे अस्पृश्य डोंबी कहा गया है और कहा गया है कि नगर के बाहर अर्थात् देहसुमेरु के शिखरप्रदेश अर्थात् उष्णीषकमल में उसका वासस्थान है :

नगर बाहिरि रे डोंबि तोहारि कुड़िआ।
छोइ छोइ जाइ सो बाम्ह नाड़िआ॥

यहाँ इस बात की ओर ध्यान दिला देना आवश्यक है कि हिंदू तंत्र की तरह बौद्धतंत्र में भी शरीर के भीतर ही साधक उस अशरीरी को पाने की साधना करते हैं। इड़ा, पिंगला, और सुषुम्ना को बौद्धतंत्र में क्रमशः ललना, रसना और अवधूती या अवधूतिका कहा गया है। अवधूती ही मध्य मार्ग है जिससे होकर अद्वयबोधिचित्त या सहजानंद की प्राप्ति होती है। मूलाधार बौद्धतंत्र का वज्रागार है और सहस्रार के जैसा ६४ दलों का उष्णीष कमल है, जिसमें आनंद का आस्वादन होता है।

चर्यापदों में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के लिये और भी नाम प्रयुक्त हुए हैं, जैसे इड़ा के लिये प्रज्ञा, ललना, वामगा, शून्यता, बिंदु, निवृत्ति, ग्राहक, वज्र, कुलिश, आलि (अकारादि स्वरवर्ण), गंगा, चंद्र, रात्रि, प्राण, चमन, ए, भव आदि; पिंगला के लिये उपाय, रसना, दक्षिणगा करुणा, नाद, प्रवृत्ति, ग्राह्य, पद्म, कमल, कालि (ककारादि व्यंजन-वर्ण), यमुना, सूर्य दिवा, अपान, धमन, वं, निर्वाण, आदि। चर्यापद के अध्ययन के लिये इनकी जानकारी आवश्यक है।

सं० ग्रं० — राहुल सांकृत्यायन : दोहाकोश, प्रका० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्; राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबंधावली; हरप्रसाद शास्त्री : बौद्धगान ओ दोहा; प्रबोधचंद्र बागची तथा शांतिभिक्षु : चर्यागीतिकोश, प्रका० विश्वभारती, शांतिनिकेतन। [रा० पू० ति०]

चल सोपान या चलती सीढ़ी (Escalator) चल सोपान या चल सीढ़ी ऐसी लगातार चलनेवाली सीढ़ी को कहते हैं जिसके द्वारा लोग खड़े खड़े ही, उसकी चाल की दिशा में, एक तल से दूसरे तल पर पहुँच सकते हैं। चल सोपान के अनेक भाग इस प्रकार जुड़े हुए होते हैं कि देखने में वे सीढ़ी जैसे ही दिखाई देते हैं और उसी की तरह प्रयोग में भी लाए जा सकते हैं। चल सोपान वस्तुतः भारी दाँतेदार चेन (chain) पथ से लगी हुई सीढ़ियाँ होती हैं। यह चेन पथ चालक पहिए द्वारा चलाया जाता है और इसमें लगी सीढ़ियाँ लगातार आगे बढ़ती रहती हैं। प्रत्येक सीढ़ी चेन से एक धुरी द्वारा जुड़ी रहती है। इन सीढ़ियों को समतल रखने के लिये चार पटरी पथ प्रयोग में लाए जाते हैं। सीढ़ी के दोनों सिरों पर दो दो पटरियों का जोड़ा होता है, जो सीढ़ी से लगे हुए पहियों को इस प्रकार सँभाले रहता है कि आगे बढ़ती हुई सीढ़ी हर दिशा में समतल रहती है। आरंभ और अंत में चढ़ने और उतरने के लिये पटरियाँ
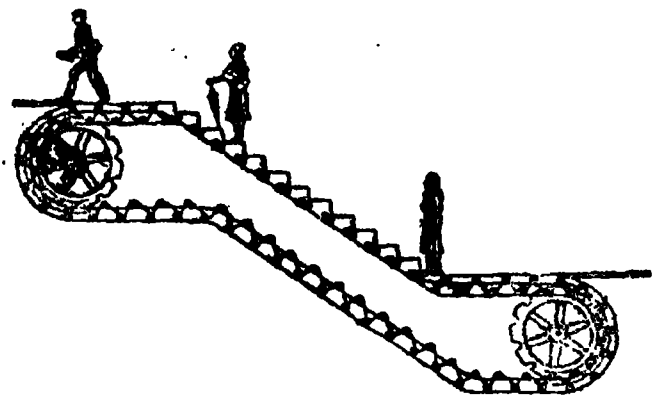
चल सोपान

यह चलती हुई सतत सीढ़ी इसपर खड़े हुए मनुष्यों को नीचे से ऊपर की ओर ले जाती है। प्रत्येक सीढ़ी के नीचे कुछ पहिए लगे रहते हैं। इनके कारण नीचे से ऊपर जाती हुई प्रत्येक सीढ़ी का पृष्ठ क्षैतिज रहता है। इसकी शृंखला को चलानेवाली मशीन इतनी शक्तिशाली होती है कि सीढ़ी पूरी भर जाने पर भी उसे जह घुमाती रहती है।

इस प्रकार लगी रहती हैं कि सीढ़ियाँ एक के बाद एक जुड़कर एक सीधा चबूतरा बना देती हैं, जिसपर से लोग आसानी से उतरकर आगे बढ़ सकें। यहाँ यह आवश्यक है कि आगे बढ़ते हुए चबूतरे से स्थिर चबूतरे पर सुरक्षित रूप से पहुँचा जा सके। इसके लिये दो तरीके प्रयोग में लाए जाते हैं। एक तो चलते हुए चबूतरे और स्थिर चबूतरे के बीच में एक तिरछी मुँडेर लगी रहती है, जिससे यदि कोई चलते हुए चबूतरे से न उतरे तो मुँडेर से हलका सा धक्का लगने के कारण स्थिर चबूतरे पर पहुँच जाता है। दूसरे तरीके में चबूतरे दाँतेदार खाँचों के बने हुए होते हैं और चलते हुए चबूतरे के खाँचे स्थिर चबूतरे के खाँचों में इस प्रकार फँसते जाते हैं कि चलते हुए चबूतरे पर खड़ा हुआ व्यक्ति आसानी से स्थिर चबूतरे पर पहुँच जाता है। वैसे तो इन चल सीढ़ियों की गति चाहे जितनी रखी जा सकती है, पर यात्रियों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए सामान्य गति ६० से लेकर १०० फुट प्रति मिनट तक होती है, जो ३०° के कोण पर ४० से लेकर ५० फुट प्रति मिनट तक की चढ़ाई के लिये है। चल सोपान का प्रत्येक भाग बहुत सतर्कता से इंच के १०००वें भाग तक सही और उत्कृष्ट निपुणता से बनाया जाता है। इसके

लिये विशेष प्रकार के औजार तथा साधन प्रयोग में लाए जाते हैं। इस सतर्कता के कारण सीढ़ियाँ आपस में इस प्रकार जुड़ी रहती हैं कि उनके बीच में कागज का एक पर्चा आने का स्थान भी नहीं रहता। चल सोपानों की चाल को लगभग निःशब्द करने के लिये उनमें रबर और चमड़े के आधार दिए जाते हैं।

चल सोपान उत्थापक (लिफ्ट) से अधिक लाभप्रद होता है, क्योंकि यह लगातार एक ही दिशा में कार्य कर सकने के कारण कई उत्थापकों का कार्य एक साथ कर सकता है। इसके चलाने का खर्च भी उत्थापक की तुलना में कम बैठता है, पर यह साधारणतः ६० फुट की ऊँचाई तक ही कार्य कर सकता है। इसलिये जहाँ अधिक ऊँचाई तक का कार्य हो वहाँ या तो उत्थापक ही काम में लाए जाते हैं अथवा दो या दो से अधिक चल सोपान लगाने पड़ते हैं, जिनसे चढ़ने उतरने में अधिक समय लग जाता है। चल सोपान की सामान्य चौड़ाई आवश्यकतानुसार दो, तीन या चार फुट रखी जाती है। ३०° के कोण पर कार्य करनेवाले चार फुट चौड़े (प्रत्येक सोपान पर दो मनुष्यों के खड़े हो सकने योग्य) तथा ६० फुट प्रति मिनट की चालवाले सोपान द्वारा लगभग ८,००० मनुष्य प्रति घंटा ले जाए जा सकते हैं। छोटे स्टेशनों या ऐसे स्थानों में, जहाँ कम यातायात हो, दो फुट चौड़े चल सोपान लगाए जाते हैं, जो प्रति घंटा लगभग ४,००० व्यक्तियों को स्थानांतरित कर सकते हैं। बड़े स्टेशनों तथा अधिक यातायात के स्थानों पर पाँच फुट चौड़े चल सोपानों का प्रयोग होता है, जिनमें प्रत्येक सीढ़ी पर तीन मनुष्य खड़े हो सकते हैं। इस प्रकार इनके द्वारा एक घंटे में १२,००० व्यक्ति चढ़ सकते हैं। यदि यात्री लोग अपने आप चढ़ना भी प्रारंभ कर दें, तो यह संख्या ४० प्रति शत बढ़ सकती है।

पाश्चात्य तथा अन्य प्रमुख देशों में चल सोपान सामान्य रूप से प्रयुक्त हो रहे हैं। भारत में प्रथम चल सोपान दिल्ली जंक्शन स्टेशन पर लगाया जा रहा है। इसका परिकल्पन पूरी तौर से भारतीय रेलवे के इंजीनियरों ने किया है और इसका निर्माण उत्तरी रेलवे के अजमेर कारखाने में हुआ है। इससे ८,००० यात्री प्रति घंटे चढ़ उतर सकेंगे। अधिक भार होने पर कोई हानि न हो, इसकी व्यवस्था तथा अचानक कोई संकट उपस्थित होने, या आवश्यकता पड़ने, पर धीरे धीरे इसकी चाल रोकने का भी प्रबंध है।

(आ० भू०)

चल्लकेरे १. तालुक, मैसूर राज्य के चित्रदुर्ग जिले में है। यह तुंगभद्रा तथा उसकी सहायक नदियों द्वारा बनाई समतल उच्च भूमि पर स्थित है। यहाँ का औसत ताप २७° सें० है। वृष्टिछाया में पड़ जाने के कारण यहाँ वर्षा बहुत कम अर्थात् वार्षिक १०" से १५" तक होती है। यहाँ की मिट्टी कम उपजाऊ है। यहाँ पर पशुपालन का काम होता है। इस तालुक का क्षेत्रफल लगभग ७६० वर्ग मील है।

२. नगर, स्थिति : १४° १८' उ० अ० तथा ७६° ४३' पू० दे०। यह जिले का प्रशासकीय केंद्र है। यह सड़क द्वारा चित्रदुर्ग से मिला है जो १८ मील पूर्व-उत्तर-पूर्व है। यहाँ पर चल्लकेरे अम्मा का मंदिर है। नगर की जनसंख्या १०,४०८ (१९६१) है। [इ० प्र० दे०]

चश्मा (Spectacles) दृष्टि संबंधी दोषों का परिहार करने अथवा तीव्र एवं अरुचिकर प्रकाश से नेत्रों की रक्षा करने के लिये प्रयुक्त लेंसों को चश्मे के फ्रेम में धारण करने का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से ही संसार के प्रायः सभी सभ्य देशों में चला आ रहा है। मुद्रण कला का विकास होने पर जब अत्यंत छोटे एवं सघन अक्षरों में छपी पुस्तकों का बाहुल्य हुआ, तो उन्हें पढ़ने के लिये चश्मे की आवश्यकता का विशेष अनुभव होने लगा। फलस्वरूप १७वीं शताब्दी में चश्मानिर्माण उद्योग बड़ी तेजी से बढ़ा और आज तो संसार के विभिन्न देशों में २५ से लेकर ५० प्रति शत तक लोग किसी न किसी प्रकार के चश्मे का प्रयोग करते हैं।

दृष्टिदोषों के परिहार के लिये प्रयुक्त चश्मों में प्रायः तीन प्रकार के लेंस प्रयुक्त होते हैं। ये दृष्टिदोष की प्रकृति पर निर्भर करते हैं। सामान्यतया चार प्रकार के दोष आँखों में ऐसे पाए जाते हैं जिनसे चश्मों की सहायता से त्राण हो सकता है :

(१) दूरदृष्टि या हाइपरमेट्रोपिया (Long sight or hypermetropia) — इस दोष से पीड़ित नेत्र दूर की वस्तुएँ स्पष्ट देख लेते हैं, किंतु निकटवर्ती वस्तुएँ स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़तीं, क्योंकि नेत्रों के लेंस की वर्तन शक्ति (refractive power) कम हो जाती है और वह आपाती किरणों को दृष्टिपटल (retina) से दूर अभिसृत (converge) करती है। अतः इस दोष का परिहार करने के लिये एक उत्तल या अभिसारी लेंस (convex or converging lens) युक्त चश्मा धारण कराया जाता है, जो किरणों को झुकाकर दृष्टि पटल पर ही अभिसृत करता है।

(२) निकटदृष्टि (Short sight) या मायोपिया (Myopia) — यह दोष दूरदृष्टि का ठीक उलटा है, अर्थात् इसमें निकट की वस्तुएँ अधिक स्पष्ट दिखलाई पड़ती हैं और दूर की वस्तुएँ साफ साफ नहीं दिखलाई पड़तीं। इसका कारण यह है कि नेत्र के लेंस आपाती किरणों को दृष्टिपटल के पहले ही अभिसृत कर देते हैं। इस दोष का निवारण करने के लिये व्यक्ति को अवतल या अपसारी (concave or diverging) लेंस युक्त चश्मा धारण कराया जाता है। इससे किरणें दृष्टिपटल पर ही अभिसृत होती हैं, क्योंकि ऐसे चश्मे के संयोग से नेत्र के लेंस की वर्तनशक्ति घट जाती है।

(३) जरा-दूर-दृष्टि या प्रेस्बायोपिया (Presbyopia) — इस दोष से पीड़ित नेत्रों की संधान क्षमता या स्वतः समायोजन (accommodation) का ह्रास हो जाता है। अतः व्यक्ति को दूर तथा निकट, दोनों स्थितियों की वस्तुओं को देखने में कठिनाई होती है। इसका परिहार करने के लिये ऐसे चश्मों का प्रयोग किया जाता है जिसके आधे भाग में दूर की तथा आधे में निकट की वस्तुओं को देखने के लिये उपयुक्त शक्तियुक्त लेंस लगे होते हैं। यह रोग सामान्यतया ४०--४५ वर्ष की आयु के बाद उत्पन्न होता है, जब कि शरीर की अन्यान्य मांसपेशियों की भाँति आँखों की मांसपेशियाँ भी निर्बल होने लगती हैं। ऐसे चश्मों में गोलीय लेंस (spherical lenses) लगाए जाते हैं।

(४) दृष्टिवैषम्य या अबिंदुकता (Astigmatism) — इस विकार से ग्रस्त नेत्र की वर्तक शक्ति भिन्न भिन्न दिशाओं में भिन्न होती है और साधारणतया किसी एक दिशा में यह अधिकतम तथा उसकी लंबवत् दिशा में न्यूनतम होती है। परिणामस्वरूप किसी वस्तु से आनेवाली सभी किरणें एक ही स्थान पर अभिसृत नहीं हो पातीं और वस्तु धुँधली एवं अस्पष्ट (blurred) दिखलाई पड़ती है। इस दोष के निवारणार्थ ऐसे बेलनाकार (cylindrical) लेंसों का प्रयोग किया जाता है जिनकी शक्ति (power) एक दिशा में अधिकतम और उसकी लंबवत् दिशा

में सहायक होती है। इन्हें चश्मे के अंदर सही स्थान पर बैठाया जाता है।

दृष्टिदोष के निवारण के अतिरिक्त आपाती प्रकाश के अवांछनीय अंश को नेत्रों तक पहुँचने से रोकना भी चश्मे का एक मुख्य कार्य है। रंगीन शीशों के बने हुए लेंसों से युक्त चश्मे धूप या तीव्र प्रकाश के कुप्रभावों से नेत्रों की रक्षा करते हैं। सूर्य की किरणों से आनेवाली पराबैंगनी (ultraviolet) किरणों से नेत्रों की रक्षा करने के लिये वायुयानों के पाइलट विशेष चश्मों का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार तेज आँच के सामने कार्य करनेवाले संधायक (welders), धातुशोधक (metal processors) तथा भट्ठियों के कारीगर (furnace workers) आदि ऐसे लेंसों के चश्मों का व्यवहार करते हैं जो अवरक्त (infra-red) प्रकाश के लिये अपारदर्शी होते हैं। इनके अतिरिक्त अनेक विभिन्न प्रयोजनों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के चश्मों का प्रयोग किया जाता है।

ऊपर अबिंदुकता (astigmatism) दोष के निवारणार्थ प्रयुक्त होनेवाले द्वि-फोकसी (bifocal) लेंस का उल्लेख किया जा चुका है। इनमें एक ही फ्रेम के अंदर दो भिन्न भिन्न संगमांतरवाले लेंस लगे होते हैं। इसी प्रकार ऐसे भी चश्मे बनाए जाते हैं जिनके अंदर तीन भिन्न भिन्न संगमांतर (focal length) वाले लेंस एक साथ लगे होते हैं। इनमें से एक लेंस दूर देखने के लिये, दूसरा मध्यवर्ती दृष्टि के लिये तथा तीसरा निकट की वस्तुओं को देखने के लिये होता है। इन्हें त्रिफोकसी (trifocal) लेंस कहते हैं।

लेंस की शक्ति (power) — चश्मे में प्रयुक्त होनेवाले लेंस की शक्ति को डायोप्टर (dioptre) कहते हैं। लेंस की फोकस दूरी का १०० में भाग देने पर उस लेंस की शक्ति डायोप्टरों में ज्ञात होती है। लेंस का प्रकार व्यक्त करने के लिये शक्ति की संख्या के पहले + या − चिह्न लिखा जाता है: + चिह्न उत्तल लेंस तथा − चिह्न अवतल लेंस का द्योतक है। उदाहरणार्थ +5D से अभिप्राय है ५ डायोप्टर शक्तिवाला (अर्थात् २० सेंमी० संगमांतरवाला) उत्तल लेंस।

[सु० चं० गौ०]

चांग छुन् किउ ताओ धर्म के अनुयायी संत जिनका जन्म सन् ११४८ में शांतुंग में हुआ था। मंगोल साम्राज्य के प्रतिष्ठाता चिंगेज खाँ ने सन् १२१९ में उन्हें बड़े आदरपूर्वक आमंत्रित किया। १५ मई, सन् १२१९ का लिखा हुआ चिंगेज खाँ का वह पत्र अभी तक सुरक्षित है। पत्र पाकर सन् १२१९ में चांग शांतुंग से पीकिंग के लिये रवाना हुए। अनेक पर्वतशृंखलाएँ और नदी नाले लाँघकर वे हिंदुकुश पहुँचे, जहाँ चिंगेज खाँ ने अपनी सेना के साथ पड़ाव डाल रखा था। सन् १२२४ में वे अपनी यात्रा से लौटे। चांग के शिष्यों और साथियों ने इस साहसिक यात्रा का मनोरंजक वर्णन किया है। चिंगेज खाँ ने ताओ मठ बनाने के लिये कुछ भूमि चांग को दान दी थी।

[ज० चं० जै०]

चांग त्सो-लिन १९११ में चीन में प्रथम क्रांति हुई, इससे मंचू राजवंश का तो अंत हो गया, पर सामंतवादी तत्वों का अंत नहीं हुआ। शक्ति सुनयातसेन ऐसे क्रांतिकारी व्यक्ति के हाथ में न पड़कर कई कारणों से युवान शिहकाई जैसे लोगों के हाथ में पड़ी, जिसे आधुनिक समय का प्रथम युद्धप्रिय व्यक्ति (वार लार्ड) कहा गया है। नाममात्र के लिये प्रजातंत्र की स्थापना हुई। उत्तर चीन में तो केंद्र से स्वतंत्र और सिद्धांतहीन सेनापतियों का ही राज्य बना रहा। यों तो इस प्रकार के छोटे मोटे अनेक सेनापति थे, पर दो गुट जबरदस्त थे। एक फेंगतो गुट और दूसरा चीहली गुट। चांग त्सो-लिन फेंगती गुट के थे।

जब १९२६ में केंद्रीय सरकार की ओर से उत्तर का अभियान किया गया, उस समय इन गुटों ने अधीनता स्वीकार नहीं की। परिणाम यह हुआ कि २५ फरवरी, १९२६ को राष्ट्रीय सरकार ने चांग त्सो-लिन और वी-पेई-फू को देश का शत्रु घोषित कर घोषणापत्र प्रकाशित किया। यह घोषणापत्र एक प्रकार से इन सामंती सेनापतियों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा थी।

चांग त्सो-लिन ईमानदार सेनापति थे। इस प्रकार के दूसरे सामंती सेनापतियों की तुलना में वे एक सीमा तक विवेकी थे। उनका कहना था कि हम दूसरे सामंती सेनापतियों के विरुद्ध भले ही षड्यंत्र करें और जापानियों से मदद लें, पर हम देश को बेच नहीं सकते। इसी कारण जापानी चांग त्सो-लिन को पसंद नहीं करते थे और अंत तक जापानी सरकार ने चांग का पीछा किया। जब वे रेल से जा रहे थे तब उन्हें एक ऐसे भाग से गुजरना था, जहाँ जापानी संतरियों का पहरा था। वहाँ उनकी रेल उड़ा दी गई।

[म० ना० गु०]

चांडाल एक निम्नस्तरीय आदिम जाति जो भारतीय समाज में प्रविष्ट होने पर 'बाह्य' होने के कारण अंत्यज एवं अस्पृश्य मानी गई। मातंग, दिवाकीर्ति, प्लेव और जनंगम इसके पर्याय हैं। उत्तरवैदिक काल में (वाज० सं० ३०, २१; तै० ब्रा० ३,४-१-१७) 'पुरुषमेध' के वर्णन में चांडालों का इतर वर्णों के साथ जो उल्लेख है उससे उनकी अस्पृश्यता द्योतित नहीं होती, यद्यपि वे शूकर के समान कुत्सितयोनि माने गए (छांदो० ५, १०, ७)। उनकी अपनी 'चांडाली' भाषा अथवा 'विभाषा' थी (चित्तसंभूत, जातक ४,३९१, नाट्यशास्त्र १६,५४-५६)। लाल दुपट्टा, कायबंधन और मैले रंग का उत्तरीय (पांसुकुल संघाटी) उनका विशेष पहनावा (मातंग जातक) था जिसे वे मृतकों के कफन से बनाते थे (मनु०, १०,५२)। वे लोहे के अलंकार पहनते और हाथ में मृण्पात्र (मनु०, १०, ५२) रखते थे। सद्यः मृत मनुष्यों की अस्थियों पर बने हुए मंदिरों में वे यक्षों की पूजा करते थे (आवश्यकचूर्णी २, पृ० २९४)। धूलिधूसरित, कुत्तों और गधों से घिरे (मनु, वही; अनुशासनपर्व १०, १, ३) हुए चांडालों का नगरग्राम से बाहर वास था। वे नगर में प्रवेश करने पर कुट्टिम पर बाँस पटककर अपने आने की सूचना देते थे। उनके मद्यपान तथा प्याज और लहसुन खाने की चर्चा फाहियान भी करता है। परंपरा है कि हर्ष के चांडालकुलोत्पन्न सभ्य मातंग दिवाकर ने अपने काव्यकौशल से बाणभट्ट और मयूर को समकक्षता प्राप्त की थी।

[वि० श० पा०]

चांडिल स्थिति: २२° ५५' उ० अ० तथा ८६° १०' पू० दे०। यह बिहार राज्य के सिंहभूम जिले के अंतर्गत सरायकेला उपमंडल में व्यावसायिक नगर है। यहाँ उच्च विद्यालय और थाना है। यह दक्षिणी पूर्वी रेलवे का जंकशन है।

[शि० नं० स०]

चांत्रे, सर फ्रांसिस लेगेट (१७८१–१८४१) अंग्रेज शिल्पकार चांत्रे चित्रकला और पच्चीकारी की कला में ख्यातिप्राप्त रहे हैं।

लगातार सन् १८०४ तक रॉयल अकादमी में चित्र और तत्पश्चात् सन् १८०८ से शिल्पाकृतियाँ प्रदर्शित करते रहे। आयु के ३०वें वर्ष से अकादमी के सदस्य बने। उन्हें सन् १८३५ में नाइट की उपाधि मिली। उनके द्वारा निर्मित पिसेंट, नेल्सन, डंकन तथा होवे आदि की मूर्तियाँ प्रसिद्ध हैं। हाल ट्रुक के व्यक्तिशिल्प के लिये उन्हें १२ हजार पौंड की राशि दी गई थी। कलकत्ता, बंबई, बोस्टन, लंदन आदि नगरों में इनकी कृतियाँ सुरक्षित हैं। एलेन कनिंघम और विक्स ये दोनों सहयोगी चांत्रे के नाम से ही शिल्पाकृति बनाते रहे। [भा० स०]

चाँदकुअँर महाराज रणजीतसिंह के पुत्र खड्गसिंह की पत्नी। इतिहास में यह चाँदकुमारी तथा चाँदकौर के नाम से भी प्रसिद्ध है। महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु के उपरांत उनके पुत्रों में जो दुर्दांत संघर्ष चला उसी अवसर पर चाँदकुअँर का अभ्युदय एक शासिका के रूप में हुआ। ५ नवंबर, १८४० को महाराज खड्गसिंह की मृत्यु पर रानी चाँदकुअँर के पुत्र नौनिहालसिंह को राजगद्दी मिली और जब उसी दिन रहस्यात्मक ढंग से उसकी भी मृत्यु हो गई तो रानी चाँदकुअँर ने शासन का भार सँभाला। वह अपने भावी पौत्र की संरक्षिका बनकर शासन करने लगी। उसे बहुत से योग्य व्यक्तियों तथा सिधिआनवालों का समर्थन प्राप्त था। परंतु यह वैभव अल्पकालीन था। शीघ्र ही महाराज रणजीतसिंह के अवैध पुत्र शेरसिंह ने मंत्री ध्यान सिंह की सहायता से सेना पर अपना सिक्का जमाकर लाहौर पर अधिकार कर लिया। प्रारंभ में तो उसने चाँदकौर को एक बड़ी जायदाद देकर संतुष्ट किया पर सन् १८४२ में दासियों द्वारा उसका वध करवा दिया। (जि० ना० वा०)

चाँदबीबी हुसेन निजामशाह की पुत्री। माँ का नाम खानजा हुमायूँ था जो मजरबाइजान राजवंश की थी। चाँदबीबी की जन्मतिथि विवादास्पद है। तारीखे फरिश्ता में उसकी मृत्युतिथि पहली मुहर्रम, १००६ हिजरी मानी गई है। इसके २०० वर्ष परचात् लिखी तारीखे शहाबी में मृत्यु के समय चाँदबीबी की आयु ५० से कुछ अधिक बताई गई है। इससे उसका जन्मकाल ६५५ हिजरी हो सकता है।

चाँदबीबी का विवाह सुल्तान अली आदिलशाह बीजापुर से सन् ६७१ हि० में हुआ। अली आदिलशाह ६८८ हि० में एक गुलाम के हाथों मारा गया। उसका भतीजा इब्राहिम आदिलशाह नौ वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठा और चाँदबीबी ने राज्यप्रबंध सँभाला तथा बड़ी ही तत्परता, योग्यता और दृढ़ता से उसे चलाया। उस समय किशवर खाँ नामक एक सरदार ने पहले तो चाँदबीबी की बड़ी सहायता की लेकिन फिर शक्ति प्राप्त कर उसे सतारा के किले में बंदी बना लिया। किशवर खाँ की इस करतूत पर शेष सरदार विद्रोह कर उठे और इखलास खाँ के प्रयत्नों से चाँदबीबी मुक्त होकर बीजापुर लौटी। आगे जब मुगलों ने दक्खिन पर आक्रमण किया तब चाँदबीबी ने आदिल शाह एवं कुतुबशाह को भी अपने साथ मिला लिया और बड़ी बहादुरी से मुगलों का सामना किया। अंत में शाहजादा मुराद ने चाँदबीबी से संधि कर ली। चाँदबीबी ने निजामशाह बहादुर को अहमदनगर की गद्दी पर बैठाया। इसी बीच आहंग खाँ नामक सरदार ने शक्ति प्राप्त कर बखेड़े खड़े किए। चाँदबीबी द्वारा कई बार समझौता करने का प्रयत्न किया गया पर व्यर्थ हुआ। अंत में मुगलों ने इस आपसी झगड़े से लाभ उठाकर (शाहजादा मुराद की मृत्यु के बाद) शाहजादा दानयाल के सेनापतित्व में आक्रमण कर दिया। बीजापुर और गोलकुंडा ने चाँदबीबी का साथ नहीं दिया। फलतः दानयाल की विजय हुई।

मृत्यु के विषय में समकालीन इतिहासकार फरिश्ता का कथन है कि उसे चीता खाँ नामक किसी हब्शी ने मुगलों के साथ संधि करने के आरोप पर मार डाला था। किंतु तारीखे शहाबी के अनुसार जब मुगल किले में प्रविष्ट हुए तो चाँदबीबी ने तेजाब की बावली में कूदकर आत्महत्याकर ली। बाद में शाहजादा दानयाल ने उसकी लाश बावली से निकलवाकर हजरत ख्वाजा बंदानिवाज की दरगाह के निकट गुलबर्गा के एक भव्य मकबरे में दफन कर दिया जिसे चाँदबीबी ने अपने जीवनकाल में बनवाया था। (र० स० अ०)

चाँदा १. भारत के महाराष्ट्र प्रदेश का जिला है जिसका क्षेत्रफल ६,२०० वर्ग मील तथा जनसंख्या १२,३८,०७० (१९६१) है। इसमें लगभग ४,००० वर्ग मील जंगली क्षेत्र हैं, जिनमें अत्यंत कम आबादी है। २,७०० वर्ग मील सरकारी सुरक्षित जंगल हैं, जिनमें सागवान की लकड़ी और बाँस मिलते हैं। पश्चिम में बल्लारपुर के पास कोयले की खानें हैं। जिले के पूर्वी भाग में लोह खनिज मिलता है। केवल उत्तर-पश्चिम में, वर्धा और नागपुर जिलों की सीमाओं के पास, कपास और गेहूँ की खेती होती है तथा शेष भागों में ज्वार, बाजरा धान और मक्का पैदा होता है। सिंचाई तालाबों से की जाती है। यहाँ से सड़कें सभी दिशाओं में जाती हैं। यह जिला प्राकृतिक दृश्यों, हरे भरे पहाड़ों, पुरातत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण मंदिरों तथा दुर्गों के लिये प्रसिद्ध है। यहाँ की जलवायु गर्म, आर्द्र और अस्वास्थ्यप्रद है। उत्तर-पश्चिम भाग के लोग मराठी, दक्षिण के लोग तेलगू, उत्तर-पूर्व के लोग छत्तीसगढ़ी (हिंदी) और आदिवासी लोग गोंडी भाषा-भाषी हैं।

२. नगर, वर्धा और इराई नदियों के संगम के समीप बसा है। यह प्राचीन गोंड वंश की राजधानी था। ५½ मील की परिधि में निर्मित पत्थर की प्राचीन दीवारों के अवशेष अभी तक वर्तमान हैं, जिससे अनुमान है कि प्राचीन काल में यहाँ की जनसंख्या अधिक रही होगी। नगर रेशमी वस्त्रों और आभूषित चप्पलों के लिये प्रसिद्ध है। नगर के बाहर प्रति वर्ष विशाल मेला लगता है, जिसमें लाखों लोग आते हैं। अब इस नगर में सड़कों तथा रेलों का केंद्र हो जाने से जनसंख्या बढ़ती जा रही है। यहाँ की जनसंख्या ५१,४८४ (१९६१) है।

[कृ० मो० गु०]

चाँदी चाँदी को रजत, रौप्य, रूपा और अंग्रेजी में सिल्वर (silver) कहते हैं। चाँदी का ज्ञान हमें बहुत प्राचीन काल से है। चमक, सफेद रंग, वायु के प्रति प्रतिरोध एवं अपेक्षया स्वल्पता से पाई जाने के कारण इसका उपयोग सिक्कों, गहनों, रत्नाभूषणों और पात्रों के निर्माण में होता आ रहा है। चाँदी का संकेत, र Ag, परमाणुभार १०७·८८, परमाणु संख्या ४७, विशिष्ट घनत्व ९·८७ से १०·५५ तक, विशिष्ट उष्मा लगभग ०·५६ तथा रेखीय प्रसारगुणक ०° से १००° सें० के बीच ०·०००० १९४ है। १००° सें० से ऊपर ताप पर प्रसारगुणक शीघ्रता से बढ़ता है। द्रवणांक ९६०·५° सें० वायुमंडलीय दाब पर तथा क्वथनांक २,०००° सें० के लगभग है। द्रवदशा में अपने आयतन के २०० गुने आयतनवाले आक्सीजन का यह अवशोषण या अधिधारण करती है। कीमियागर इसे लूना (luna) या डायना (diana) कहते थे और इसका संकेत अर्धचंद्र था।

पृथ्वी पर चाँदी बहुत व्यापक रूप में फैली हुई है। समुद्र के जल तक में बड़ी अल्प मात्रा में विद्यमान है। अर्संयुक्त दशा में भी

कहीं कहीं पाई जाती है, परंतु सोने के साथ प्रायः सदा मिली हुई मिलती है। इसके खनिज सीस, टेल्यूरियम, आर्सेनिक एवं ऐंटिमनी के खनिजों के साथ पाए जाते हैं।

चाँदी बड़ी सफेद धातु है। इसमें बहुत अच्छी धात्विक चमक होती है। घनवर्ध्यता (malleability) और तन्यता (ductility) में सोने के बाद इसी का स्थान है। एक ग्राम शुद्ध चाँदी से एक मील से भी अधिक लंबा तार खींचा जा सकता है। इसकी पत्री या तबक की मोटाई ०.०००२५ मिमी० तक की हो सकती है। हथौड़े से पीटने या लुंठन (rolling) से यह बहुत कठोर हो जाती है। शुद्ध चाँदी सोने से कुछ कठोर होती है, पर ताँबे से कोमल। ताँबा मिलाने से चाँदी की कठोरता बढ़ जाती है।

जल या भाप का चाँदी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आक्सीजन से भी यह सीधे आक्रांत नहीं होती, पर ओज़ोन से जल्द आक्रांत हो जाती है। वायु का इसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता पर गंधक या हाइड्रोजन सल्फाइड से यह काली हो जाती है। चाँदी के गहनों या पात्रों के काले होने का यही कारण है।

नाइट्रिक या सल्फ्यूरिक अम्लों में चाँदी के घुलने से क्रमशः सिल्वर नाइट्रेट ($AgNO_3$) और सिल्वर सल्फेट (Ag_2SO_4) बनते हैं और नाइट्रिक आक्साइड (NO) तथा सल्फर डाइआक्साइड (SO_2) निकलते हैं।

चाँदी का सूक्ष्म चूर्ण धूसराभ होता है और चाँदी का कलिल भूरे रंग का। रसायनतः शुद्ध चाँदी प्राप्त करना कुछ कठिन होता है। रिचार्ड्स और वेल (Richards & Well) ने अनेक उपचारों के बाद शुद्ध चाँदी प्राप्त की थी, जिसकी शुद्धता ९९.९९९ प्रति शत थी।

चाँदी की अनेक मिश्रधातुएँ प्राप्त हुई हैं। कुछ भंगुर होती हैं और कुछ कठोर, चीमड़ और उच्च गलनीय। ऐसी ही मिश्रधातुओं से सिक्के, पात्र या गहने बनते हैं। चाँदी के रुपए में पहले ९२.५ प्रति शत चाँदी और ७.५ प्रति शत ताँबा रहता था। पीछे चाँदी की मात्रा ५० प्रति शत हो गई। ताँबे के साथ साथ अब निकेल भी चाँदी के सिक्कों में मिला रहता है। सोने और प्लैटिनम के साथ भी चाँदी मिश्रधातुएँ बनाती है।

चाँदी के अनेक आक्साइड, हैलाइड (फ्लोराइड, क्लोराइड, ब्रोमाइड और आयोडाइड), नाइट्रेट और सल्फेट बनते हैं। कुछ सिल्वर हैलाइड प्रकृति में भी पाए जाते हैं। चाँदी के लवणों में सिल्वर नाइट्रेट अधिक महत्व का है। यह अभिकर्मक के रूप में प्रयोगशालाओं में और सफेद बाल को काला करने के लिये अनेक खिजाबों में प्रयुक्त होता है।

चाँदी और चाँदी के लवणों के अनेक उपयोग हैं जिनमें कुछ का उल्लेख ऊपर हुआ है। ओषधियों में चाँदी और चाँदी के लवण प्रयुक्त होते हैं। फोटोग्राफी पट्ट के निर्माण में सिल्वर हैलाइड का उपयोग होता है। चाँदी का उपयोग अनेक उद्योग धंधों में भी होता है।

चाँदी का उत्पादन — प्राचीन काल में एशिया माइनर की खानों से चाँदी निकलती थी। पीछे स्पेन में भी निकलने लगी। फिर संयुक्त राज्य, अमरीका, तथा मेक्सिको में चाँदी का पता लगा और वहाँ से प्राप्त होने लगी। सबसे अधिक मात्रा में चाँदी आज इन्हीं देशों में निकलती है, पर अन्य कुछ देशों, जैसे मध्य अमरीका, दक्षिण अमरीका, कैनाडा, जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, भारत, बर्मा, जापान, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका आदि देशों में भी अब चाँदी निकाली जाती है। चाँदी का सबसे अधिक भाग भारत और चीन में खपता है। [फू० स० व०]

यद्यपि भारत में अलंकारों आदि के लिये चाँदी का उपयोग अन्य किसी भी देश की अपेक्षा कहीं अधिक है, तथापि इस देश में इसका उत्पादन बहुत ही कम है और प्रति वर्ष कई लाख रुपयों के मूल्य की धातु का आयात करना पड़ता है। कालार तथा हुट्टी की सोने की खानों से थोड़ी मात्रा में चाँदी गौण उत्पादन (byproduct) के रूप में उत्पन्न होती है। झावर क्षेत्र से प्राप्त सीसा खनिज के शोधन से भी कुछ चाँदी उपलब्ध होने लगी है। सन् १९५७ में देश में चाँदी का उत्पादन १,२६,००० औंस हुआ था, जिसका मूल्य ६,०५,००० रु० था। [वि० सा० दू०]

चाँदुर १. तालुक, यह महाराष्ट्र प्रदेश के अमरावती जिले के दक्षिण-पूर्व में स्थित है। क्षेत्रफल ६९४ वर्ग मील एवं जनसंख्या १,१६,८४६ (१९६१) है। इसमें ३०७ गाँव तथा चाँदुर, मंगरूल, दस्तगीर, तालेगाँव और दत्तापुर नगर हैं। लगभग पूरा क्षेत्र समान उपजाऊ शक्तिवाला है। केवल चाँदुर से अमरावती तक फैली पहाड़ियों की शृंखलाएँ सूखी तथा अनुपजाऊ हैं।

२. बाजार, स्थिति : २१° १५' उ० अ० तथा ७७° ४७' पू० दे०। यह अमरावती जिले (महाराष्ट्र प्रदेश) के एलिचपुर तालुक में साप्ताहिक बाजारवाला स्थान है। जनसंख्या ६,९४७ (१९६१) है। बाजार से बहुत आय होती है। नाम के आगे बाजार लगा होने से चाँदुर नगर चाँदुर तालुक से अलग पहिचाना जा सकता है।

३. नगर, स्थिति : २१° ४९' उ० अ० तथा ७८° २' पू० दे०। अमरावती जिले (महाराष्ट्र प्रांत) के चाँदुर तालुक का प्रधान कार्यालय है। चाँदुर नगर की जनसंख्या ९,३४८ (१९६१) है। मध्य रेलवे की बड़नेरा-नागपुर शाखा पर स्थित रेलवे स्टेशन है जो बंबई से ४३० मील दूर स्थित है। यहाँ बिनौले निकालने के १२ कारखाने हैं। [सै० मु० अ०]

चांद्रायण एक प्राचीन तप, व्रत अथवा अनुष्ठान। पाणिनि ने इस तप का निर्देश किया है (अष्टाध्यायी ५।१।७२)। धर्मसूत्रादि में इसकी प्रशंसा में कहा गया है कि यह सभी पापों के नाश में समर्थ है। जब किसी पाप का कोई प्रायश्चित्त नहीं मिलता, तब चांद्रायण व्रत ही वहाँ अनुष्ठेय है।

चंद्र की ह्रासवृद्धि के अनुसार चांद्रायण का अनुष्ठान किया जाता है। इस तप के नामकरण का कारण भी यही है (याज्ञ० स्मृ० ३।३२३ की मिता० टी०)। इस व्रत के दो भेद हैं—यवमध्य और पिपीलिकामध्य। यवमध्य में शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को एक ग्रास का आहार, द्वितीया को दो ग्रास का, इस प्रकार क्रमशः बढ़ाते हुए पूर्णमासी को १५ ग्रास का आहार विहित है। उसके बाद कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को १४ ग्रास, द्वितीया को १३ ग्रास, इस प्रकार क्रमशः घटाकर चतुर्दशी को एक ग्रास और अमावास्या को पूर्ण उपवास इस व्रत में निर्दिष्ट है। अल्पाहार और बीच में अधिक आहार करने में यवाकृति के साथ इसका सादृश्य होने से इसका यह नाम पड़ा। पिपीलिकामध्य कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को १४ ग्रास और क्रमशः घटाकर कृष्णचतुर्दशी को एक ग्रास और अमावास्या में पूर्ण उपवास, उसके बाद शुक्ल प्रतिपदा को एक ग्रास, द्वितीया को दो ग्रास, इस प्रकार बढ़ाकर पूर्णमासी को १५ ग्रास।

इस पद्धति में अवधि के प्रारंभ तथा अंत में अधिक आहार और मध्य में अल्पाहार होने के कारण इसका पिपीलिका नाम सार्थक है। एक मत के अनुसार चांद्रायण के पाँच भेद हैं—यवमध्य, पिपीलिकामध्य, यति-चांद्रायण, सर्वतोमुख और शिशुचांद्रायण। चांद्रायण में जो ग्रास (अन्नमुष्टि) लिया जाता है, उसके परिमाण के विषय में भी मतभेद है। निबंधग्रंथों में व्रत और प्रायश्चित के विवरण में चांद्रायण का विशद विवरण द्रष्टव्य है। [रा० शं० अ०]

चांसलर एक आधिकारिक पद जिसका प्रयोग अधिकतर उन राष्ट्रों में होता है जिनकी सभ्यता प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में रोमन साम्राज्य से उद्भूत हुई है। मौलिक रूप में, चांसलर रोमन न्यायाधीश थे जिनके लिये न्यायालयों में एक पर्दे के पीछे बैठने की व्यवस्था थी। यह पर्दा श्रोताओं और न्यायाधीशों के बीच हुआ करता था।

इंग्लैंड में चांसलर का पद एडवर्ड दि कन्फ़ेसर के समय स्थापित हुआ। एडवर्ड पहला अंग्रेज राजा था जिसने राजपत्रों पर हस्ताक्षर करने के बजाय उनपर राजमुद्रा अंकित करने की नार्मन प्रथा अपनाई। इंग्लैंड में प्रारंभ में, चांसलर एक धार्मिक पदाधिकारी था जो एक ओर राजपुरोहित के रूप में धार्मिक कार्य संपन्न करता था दूसरी ओर राजकीय क्षेत्र में राजा का सचिव तथा राजमुद्रा का संरक्षक होता था। राजपुरोहित के रूप में वह राजा के 'न्यायाचार का संरक्षक' था, सचिव के रूप में उसे राजकीय कार्यों में राजा का विश्वास प्राप्त था तथा राजमुद्रा के संरक्षक के रूप में वह राजाज्ञा की अभिव्यक्ति के लिये आवश्यक था। परंतु प्रमुख रूप से वह सचिवालय के एक विभाग, चांसरी, का अध्यक्ष था। हेनरी द्वितीय के राज्य काल में चांसलर न्यायिक कार्य भी करने लगा। उसके न्यायिक कार्यों की वृद्धि का प्रमुख कारण यह था कि राजा को संबोधित सभी निवेदनपत्र उसके द्वारा ही राजा के पास पहुँचते थे। इन निवेदनपत्रों की संख्या इतनी बढ़ने लगी कि एडवर्ड प्रथम ने एक आज्ञप्ति द्वारा चांसलर को उनपर निर्णय देने का अधिकार सौंपा। एडवर्ड तृतीय के काल में चांसलर ने इन न्यायिक कार्यों के लिये यथेष्ट अधिकार प्राप्त कर लिए : सन् १४७४ ई० में उसके ये अधिकार यहाँ तक बढ़ गए कि अपने निर्णय वह प्रिवी कार्उसिल को न भेज कर, स्वयं न्यायिक आज्ञप्तियाँ जारी करने लगा। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में चांसलर क्रमशः मौलिक मुकदमों पर निर्णय देने के कार्य को अपने अधीन चांसरी न्यायाधीशों को सौंपता गया, और सन् १८५१ ई० में जब चांसरी में अपील के न्यायालय की स्थापना हुई तब प्राथमिक न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपील वह स्वयं तभी सुनता था जब चांसरी के अपील न्यायालय के न्यायधीशों में परस्पर मतभिन्नता होती थी।

आधुनिक काल में चांसलर उच्च न्यायालय के चांसरी विभाग का एक सदस्य है तथा अपने न्यायिक अधिकार प्रिवी कउंसिल की न्यायिक समिति तथा हाउस ऑफ लार्ड्स में प्रयुक्त करता है। अपने न्यायिक कर्तव्यों के अतिरिक्त न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा न्यायालयों की व्यवस्था भी करता है, और सरकार का विधिसंबंधी प्रमुख परामर्शदाता है। साथ ही, वह हाउस ऑफ लार्ड्स के अधिवेशनों की अध्यक्षता भी करता है, और सामान्यतः मंत्रिमंडल का सदस्य होता है। राजा के प्रतिनिधि के रूप में वह कुछ विश्वविद्यालयों का विज़िटर भी है। उसके लिये रोमन कैथोलिक होना अनिवार्य नहीं है। इस प्रकार लार्ड चांसलर अपने विधायी, न्यायिक एवं प्रशासकीय अधिकारों के साथ शक्ति विभाजन के सिद्धांत के विरुद्ध एक ज्वलंत उदाहरण है। पद की उच्चता में कैंटरबरी के आर्कबिशप के बाद ही उसका स्थान है। परंतु दूसरी ओर अन्य उच्च न्यायिक अधिकारियों की तुलना में उसे अपने पद का स्थायित्व नहीं प्राप्त है, क्योंकि प्रत्येक सरकार के भंग होने पर उसे भी पदत्याग करना पड़ता है।

चांसलर ऑफ दि एक्सचेकर की स्थापना हेनरी तृतीय के राज्य-काल में हुई थी। आधुनिक समय में चांसलर ऑफ दी एक्सचेकर क्राउन का प्रमुख वित्त मंत्री है तथा राजकोष का द्वितीय लार्ड। उसके प्रमुख कार्य हैं : वित्तसंबंधी विषयों पर मंत्रिमंडल को परामर्श देना तथा हाउस ऑव कामंस में सरकार की वित्तनीति की व्याख्या तथा स्पष्टीकरण करना। इसके लिये सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवसर उसे बजट प्रस्तुत करते समय मिलता है। चांसलर ऑव डची लैंकास्टर, लैंकास्टर की डची में भूमि के प्रबंध तथा न्यायालयों की व्यवस्था के लिये ताज का प्रतिनिधान करता है। जर्मन रिपब्लिक का प्रधान मंत्री भी आस्ट्रिया साम्राज्य काल से चांसलर कहलाता रहा है।

इन पदों के अतिरिक्त धार्मिक मठों तथा विश्वविद्यालयों के प्रमुख अधिकारी को भी चांसलर कहते हैं।

सं० ग्रं०— ऐडम्स जी० बी० : कांस्टिट्यूशनल हिस्ट्री ऑव इंग्लैंड, लंदन, १९५१; मैंसन, डब्लू० आर०: दि ला ऐंड कस्टम ऑव दि कांस्टीट्यूशन, लंदन, १९०९, कियर, डी० एल० : दि कांस्टिट्यूशनल हिस्ट्री ऑव माडर्न ब्रिटेन, लंदन, १९५३।

[रा० प्र०]

चाईबासा स्थिति : २२° ३०′ उ० अ० तथा ८५° ५५′ पू० दे०। बिहार राज्य के सिंहभूम जिले का प्रशासनिक कार्यालय तथा नगर है, जो रोरो नदी पर समुद्रतल से १,००० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यहाँ से चक्रधर पुर १६ मील उत्तर-पश्चिम दिशा में रेल तथा पक्की सड़कों द्वारा जुड़ा है। इस भाग में 'हो' नामक आदिवासी निवास करते हैं। चाईबासा का 'छो' नृत्य बहुत ही मनोरंजक, आकर्षक तथा सांस्कृतिक भावभंगिमाओं से पूर्ण होता है। यहाँ की जनसंख्या २२,०१९ (१९६१) है। यहाँ चार माध्यमिक विद्यालय, दो उच्चतर विद्यालय, एक कृषि विद्यालय और एक महाविद्यालय हैं। प्रति मंगलवार को यहाँ हाट लगता है। यहाँ की जलवायु स्वास्थ्यप्रद है तथा ताप १५° से २५° सें० के बीच रहता है। यहाँ अच्छी वर्षा होती है। आसपास सागोन, शीशम और बांस आदि के अच्छे जंगल हैं। मिट्टी लाल, पथरीली और अनुपजाऊ है। यहाँ एक आदिवासी छात्रावास भी सरकार के द्वारा खोला गया है। [शि० नं० स०]

चाकदह तहसील बंगाल में नदिया जिले के राणाघाट उपमंडल में है। यह कलकत्ता नगर के उत्तर-उत्तर-पूर्व में ३६ मील की दूरी पर स्थित है। प्राकृतिक दृष्टिकोण से यह बंगाल के मैदान तथा डेल्टा प्रदेश में पड़ता है। यहाँ की ऊँचाई समुद्रतल से लगभग ५० मीटर है। गर्मी का औसत ताप २९° से ३०° सें० और जनवरी का २०° से २१° सें० रहता है। यहाँ की औसत वर्षा १५० सेंमी० है। यहाँ पर ग्रीष्मकालीन उष्ण-कटिबंधीय चक्रवातों का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। यहाँ बाँस, पीपल, आम, बरगद इत्यादि के वृक्ष पाए जाते हैं। धान, जूट, तेलहन, ईख की खेती होती है। चावल और जूट का व्यापार होता है। चाकदह नगर की जनसंख्या २५,०८९ (१९६१) है। [हे० प्र० दे०]

चाकन दे० 'दुर्ग'।

चाकसू राजस्थान के जयपुर जिले की तहसील है। यह जयपुर नगर से २५ मील दक्षिण स्थित है। जनसंख्या ८,०६३ (१९६१) है। यह विक्रमादित्य (५७ ई० पू०) का निवासस्थान भी था। यहाँ कई पुराने तालाबों के अवशेष हैं। पुराने मंदिर मुसलमानों द्वारा तोड़ दिए गए थे। मार्च में यहाँ पर सीतामाता का भारी मेला लगता है। भूतपूर्व जयपुर रियासत की सवाई जयपुर निजामत की तहसील का प्रधान कार्यालय यहाँ था। [सै० मु० अ०]

चाकुलिया स्थिति : २०° ३५′ उ० अ० तथा ८६° २५′ पू० दे०। यह बिहार राज्य के सिंहभूम जिले के अंतर्गत दक्षिण-पूर्वी रेलवे का स्टेशन है। यहाँ एक उच्च विद्यालय और पुस्तकालय है। यह प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र है। यहाँ से विशेषकर मक्का और लाख बाहर भेजी जाती है। यहाँ पहले नील का व्यवसाय होता था। यहाँ का हवाई अड्डा द्वितीय विश्वयुद्ध के समय बनाया गया था और आज भी उसका समुचित उपयोग किया जाता है। [शि० नं० स०]

चाणक्य प्राचीन भारतीय राजनीति के अन्यतम आचार्य। प्राचीन वाङ्मय में इनके अनेक नाम पाए जाते हैं। संभवत: इनका पारिवारिक नाम विष्णुगुप्त था। चणक नामक स्थान के निवासी होने से चाणक्य कहलाए। एक परंपरा के अनुसार इनके पिता का नाम चणक था जिससे, चणकात्मज होने के कारण, इनको चाणक्य कहा गया। इनका गोत्र अथवा प्रवर कुटिल था, इसलिये ये कौटिल्य कहलाए। कूट अथवा कुटिल नीति का प्रवर्तक होने के कारण कौटिल्य कहलाने की मान्यता भ्रांत है, यद्यपि यह भ्रांति प्रभूत लोकप्रिय है। कुछ विद्वान् कामसूत्र के रचयिता वात्स्यायन से इनको अभिन्न मानते हैं। परंतु यह मत अभी संदिग्ध है। कामंदक ने अपने नीतिसार में विष्णुगुप्त (चाणक्य) का उल्लेख किया है। चाणक्य के नामों के पर्याय 'हेमचंद्र', 'यादवप्रकाश', 'वैजयंती', 'अभिधानराजनाममालिका' आदि कोशग्रंथों में पाए जाते हैं।

इन नामों में चाणक्य और कौटिल्य नाम ही अधिक प्रचलित हैं। कौटिल्य के अन्य रूप भी मिलते हैं, यथा, कौटल्य (कौटलि से व्युत्पन्न)। किंतु कौटिल्य नाम ही अधिक समीचीन जान पड़ता है। इन अनेक नामों के कारण चाणक्यसंबंधी कथाओं और परंपराओं में बहुत असमंजस उत्पन्न हो जाता है। परंतु चंद्रगुप्त मौर्य का आचार्य और प्रधान मंत्री चाणक्य लोकविश्रुत है।

चाणक्य के जीवनवृत्त पर कई स्रोतों से प्रकाश पड़ता है। विष्णुपुराण में कौटिल्य द्वारा नंदवंश के विनाश और मौर्यवंश की स्थापना का वर्णन है। पालि और प्राचीन जैन साहित्य में चाणक्यसंबंधी कथाएँ हैं। कामंदक ने अपने नीतिसार में विष्णुगुप्त चाणक्य के प्रति अपना आभार प्रकट किया है। विशाखदत्तरचित संस्कृत नाटक मुद्राराक्षस में चाणक्य के राजनीतिक चरित्र का वर्णन मिलता है। मुद्राराक्षस की भूमिका में ढुंढिराज ने भी चाणक्य के जीवन पर प्रकाश डाला है। पंचतंत्र और पंचाख्यायिका के रचयिताओं, बाण और दंडी ने भी चाणक्य के बारे में लिखा है। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने बौद्ध साहित्य के आधार पर चाणक्य का उल्लेख किया है। परंतु इन सबको मिलाने से भी चाणक्य के जीवन पर यथेष्ट प्रकाश नहीं पड़ता। उसकी धूमिल रेखाएँ ही खींची जा सकती हैं।

आचार्य चाणक्य का जन्म तक्षशिला के आस पास गांधार प्रदेश में हुआ था। अष्टाध्यायी व्याकरण के प्रणेता भी उसी दिशा के यूसुफजई प्रदेश के शालातुर स्थान में उत्पन्न हुए थे। चाणक्य की शिक्षा दीक्षा प्रसिद्ध तक्षशिला विश्वविद्यालय में हुई थी। यहीं पर अपने पूर्वाचार्यों के चरणों में इन्होंने राजनीति का गहन अध्ययन किया था और स्वतः आचार्य पद सुशोभित किया था। आर्थिक शोषण और सैनिक शक्ति पर आधारित नंद साम्राज्य की स्थापना और पश्चिमोत्तर भारत पर यवन आक्रमण से जो परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी उससे ये भली भाँति परिचित और खिन्न थे। विशेषकर पश्चिमोत्तर भारत में छोटे छोटे गणतंत्रों और राजतंत्रों के कारण जो विशृंखलता और दुर्बलता आ गई थी उसको ये अच्छी तरह समझते थे। इनके सामने तीन प्रश्न थे—(१) यवनों को देश से बाहर निकालना, (२) छोटे छोटे गणों और राज्यों का अंत करना तथा (३) पशुबल और शोषण पर आधारित साम्राज्य का अंत कर भारतीय लोकाराधन की परंपरा पर आधारित एक सशक्त साम्राज्य स्थापित करना। इसके लिये सुयोग्य माध्यम की आवश्यकता थी। जब ये मध्यप्रदेश में नंदसाम्राज्य के विध्वंस की चिंता में भ्रमण कर रहे थे, पिप्पलीवन के मौर्य गणतंत्र के मनस्वी नवयुवक चंद्रगुप्त से इनकी भेंट हुई। पहले इन्होंने विंध्याटवी के आसपास बहुत बड़ी सेना तैयार की और चंद्रगुप्त की सहायता से नंदों के मगध साम्राज्य पर आक्रमण किया। परंतु इनको सफलता नहीं मिली। निराश होकर चंद्रगुप्त के साथ ये पश्चिमोत्तर भारत लौट गए। वहाँ पर सिकंदर के भारत से प्रस्थान के पश्चात् यवन सत्ता का विनाश किया और पंचनद प्रदेश में चंद्रगुप्त के नायकत्व में एक सशक्त राजनीतिक संघटन तैयार किया। इसके बाद एक विशाल सैनिक संघ का निर्माण कर नंदसाम्राज्य पर आक्रमण किया। नंदवंश का विनाश कर पाटलिपुत्र को अपने अधिकार में कर लिया और चंद्रगुप्त को सिंहासन पर बैठाया। इसी घटना का उल्लेख विष्णुपुराण में हुआ है :

'महापद्मनंदः तत्पुत्राश्चैकं वर्षशतमवनीपतयो भविष्यंति। नवैव तान्नंदान् कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति। तेषामभावे मौर्याश्च पृथ्वीं भोक्ष्यंति। कौटिल्य एव चंद्रगुप्तं राज्येऽभिषेक्ष्यति......।'

यह घटना लगभग ३२१ ई० पू० में घटित हुई। इसका उल्लेख अर्थशास्त्र में भी हुआ है :

'येन शास्त्रं च शस्त्रं च नंदराजगता च भूः।

अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम् ॥' (अर्थशास्त्र, १५.१.८०)

(जिसके द्वारा शास्त्र, शस्त्र और नंदराज के हाथ में गई भूमि का शीघ्र उद्धार हुआ, उसी के द्वारा यह शास्त्र (अर्थशास्त्र) रचा गया।)

मौर्य साम्राज्य की स्थापना के बाद आचार्य चाणक्य के जीवन की घटनाओं के बारे में दो परंपराएँ हैं। एक के अनुसार इन्होंने चंद्रगुप्त को सिंहासन पर बैठाकर स्वयं संन्यास ग्रहण कर लिया। दूसरी के अनुसार इन्होंने प्रधान मंत्रित्व स्वीकार किया और मौर्य साम्राज्य का संचालन करते रहे। तारानाथ के अनुसार चंद्रगुप्त के पुत्र बिंदुसार के समय तक आचार्य चाणक्य राज्य के प्रधान मंत्री बने रहे, जिनके निदेशन में उसने भारत के उन भागों को भी मौर्य साम्राज्य में मिलाया, जिन्हें चंद्रगुप्त नहीं जीत सका था। पौराणिक गाथाओं में भी चंद्रगुप्त के मंत्रिपद से चाणक्य के कार्य करने का उल्लेख मिलता है। बिंदु-

सार के नामकरण की व्याख्या करनेवाली कथा में यह कहा गया है कि चाणक्य ने विष के प्रयोग द्वारा चंद्रगुप्त के शरीर को विष के प्रभाव से मुक्त कर दिया था। परंतु उसकी रानी का शरीर विष के प्रभाव से मुक्त नहीं था। एक दिन जब दोनों साथ भोजन कर रहे थे, किसी ने भोजन में विष मिला दिया था, जिससे रानी की मृत्यु हो गई। वह उस समय गर्भवती थी। गर्भ से मरा हुआ बच्चा निकला। किंतु चाणक्य ने जो उपचार कराया उसमें एक बिंदु औषध से बच्चा जी उठा। इस कहानी से यह प्रतीत होता है कि चाणक्य मंत्रिपद पर बहुत दिनों तक बने रहे। अर्थशास्त्र में इस बात का भी उल्लेख है कि इन्होंने चंद्रगुप्त के शासनप्रबंध के लिये अर्थशास्त्र नामक राजनीति ग्रंथ का प्रणयन किया। मुद्राराक्षस से आचार्य चाणक्य के अतुल राजनीतिक व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। संपूर्ण राजनीति के ऊपर चाणक्य का प्रभुत्व था। राजा के अधिकार बिल्कुल नियंत्रित थे। एक बार चंद्रगुप्त ने चाणक्य को किसी कूटनीति का रहस्य पूछा। चाणक्य ने उत्तर देते हुए कहा, 'राजा तीन प्रकार के होते हैं : स्वायत्त, सचिवायत्त और उभयायत्त। तुम सचिवायत्त हो, अतः मेरी नीति का रहस्य पूछने के अधिकारी नहीं हो।'

जैसा ऊपर कहा गया है, आचार्य चाणक्य राजनीतिशास्त्र के प्रकांड पंडित थे। उन्होंने प्रसिद्ध 'अर्थशास्त्र' की रचना की जो प्राचीन भारतीय राजनीति का अनुपम ग्रंथ है। (इसके विशेष विवरण के लिये देखिए 'अर्थशास्त्र, कौटिलीय')। आचार्य चाणक्य का एक दूसरा ग्रंथ चाणक्यसूत्र था जो अर्थशास्त्र के ही साथ प्रकाशित हो चुका है। एक तीसरा ग्रंथ है जो चाणक्यनीति के नाम से प्रचलित है। पर स्पष्ट ही यह परवर्ती काल की रचना है, जो इस नाम से प्रचलित हो गई। लेखनशैली और कुछ समान पंक्तियों और वाक्यांशों को देखकर कुछ विद्वानों का यह मत है कि कामसूत्र भी आचार्य चाणक्य की ही रचना है। परंतु यह मत संदिग्ध है।

आचार्य चाणक्य ने अपने बाद की राजनीतिशास्त्र की परंपरा को प्रेरणा देकर प्रभावित किया है। नीतिसार के रचयिता कामंदक ने चाणक्य के प्रति अपना आभार निम्नांकित पंक्तियों में व्यक्त किया है :

यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः।
पपात मूलतः श्रीमान् सुपर्वा नंद पर्वतः।
एकाकी मंत्रशक्त्या यश्शक्त्या शक्तिधरोपमः।
आजहार नृचंद्राय चंद्रगुप्ताय मेदिनीम्॥
नीतिशास्त्रामृतं धीमान् अर्थशास्त्र महोदधेः।
समुद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे॥
दर्शनात् तस्य सुदृशो विद्यानां पारदृश्वनः।
यत्किंचिदुपदेक्ष्यामः राजविद्याविदां मतम्॥ (१.४-७)

अर्थात् —वज्र के समान तेजस्वी जिसके मंत्ररूपी वज्र के प्रहार से समृद्ध और दृढ़ नंदवंशरूपी पर्वत मूल से ध्वस्त हो गया, जिन्होंने एकाकी, केवल मंत्रशक्ति से, इंद्र के समान राजाओं में चंद्रमा के तुल्य चंद्रगुप्त के लिये पृथ्वी का आहरण किया, जिस मेधावी ने अर्थशास्त्ररूपी महासागर से नीतिशास्त्ररूपी अमृत का मंथन किया, उस शास्त्रकर्ता विष्णुगुप्त को नमस्कार। ज्ञान की सीमा को पार करनेवाले विद्वान् के दर्शन से राजनीतिशास्त्र के विद्वानों से अनुमत कुछ उपदेश करने जा रहा हूँ।

मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों पर अर्थशास्त्र का पर्याप्त प्रभाव है पंचतंत्र तो स्पष्ट रूप से अर्थशास्त्र पर आधारित है। उसकी भूमिका में यह वक्तव्य मिलता है : ततो धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि, अर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि, कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि (मनु आदि धर्मशास्त्र, चाणक्य आदि अर्थशास्त्र और वात्स्यायन आदि कामशास्त्र पंचतंत्र के आधार हैं)। वात्स्यायन-कामसूत्र, कालिदास, विशाखदत्त आदि तो चाणक्य से बहुत ही प्रभावित हैं। बाण ने कादंबरी में अवश्य ही कौटिल्यशास्त्र पर व्यंग्य किया है :

'किंवा तेषां सांप्रतं येषामतिनृशंसप्रायोपदेश निर्घृणं कौटिल्य शास्त्रं प्रमाणं......।

(उनके बारे में इस समय क्या कहा जाय जिनके लिये अति निर्दय उपदेश से भरा हुआ और क्रूरतायुक्त कौटिल्यशास्त्र प्रमाण है) परंतु इसमें संदेह नहीं कि आचार्य चाणक्य अभी तक भारत में राजनीतिक पटुता और सफलता के प्रतीक माने जाते हैं।

सं० ग्रं०—विष्णुपुराण, बंबई, १८८९ ई०; शामशास्त्री : कौटिल्य अर्थशास्त्र, मैसूर, १९१९; जे० चाली : कौटिल्य अर्थशास्त्र, लाहौर १९२३-२४; मुद्राराक्षस; महावंश; जाकोबी : परिशिष्टपर्वन्, कलकत्ता, द्वि० सं० १९३२; एफ० ए० वान शेफनर : तारानाथ, सेंटपीटर्सबर्ग, १८६९; जायसवाल : हिंदू राजतंत्र, ना० प्र० स०, वाराणसी; काणे : हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, भाग १; कीथ : हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, आक्सफोर्ड, १९२४; सत्यकेतु विद्यालंकार : मौर्य साम्राज्य का इतिहास।
[रा० ब० पां०]

चाणूर मल्लयुद्ध में विशेष निपुण एक राक्षस जो कंस का सेवक था। धनुर्यज्ञ में, कंस के बुलाने पर कृष्ण मथुरा गए थे। वहाँ इसने उन्हें मल्लयुद्ध के लिये ललकारा और उनके ही हाथों मारा गया।
[भो० ना० ति०]

चातक पिक (Cuculidae) कुल का प्रसिद्ध पक्षी है, जो अपनी चोटी के कारण इस कुल के अन्य सब पक्षियों से अलग रहता है। इस कुल के पक्षी संसार के प्रायः सभी गरम देशों में पाए जाते हैं। इन पक्षियों की पहली और चौथी उँगलियाँ पीछे की ओर मुड़ी रहती हैं।

चातक (Crested Hawk Cuckoo) लगभग १५ इंच लंबा काले रंग का पक्षी है, जिसका निचला भाग श्वेत रहता है। इसके

चातक (Pied Crested Cuckoo)
(प्राकृतिक माप का चतुर्थांश।)

स्वाति नक्षत्र में बरसनेवाला ही जल पीने की कथा केवल साहित्य की मान्यता है, वास्तविकता इसमें कुछ भी नहीं है।

अपने कुल के कोयल (Indian Koel), पपीहा (Hawk Cuckoo) कुक्कू (Cuckoo), काफल पाक्को (Indian Cuckoo), कूकू (European Cuckoo) आदि पक्षियों की तरह इसकी मादा भी दूसरी चिड़ियों के घोसलों में अपना एक एक अंडा रख आती है। उससे जो बच्चा निकलता है वह और सब बच्चों को घोसले के बाहर फेंककर अकेले ही सबका भोजन खा खाकर बढ़ता है।

इसका मुख्य भोजन कीड़े मकोड़े और इल्लियाँ (caterpillars) हैं। [सु० सिं०]

चातुर्मास्य विशिष्ट व्रत तथा यज्ञ। व्रतसंबंधी चातुर्मास्य को लौकिक और यज्ञसंबंधी चातुर्मास्य को वैदिक चातुर्मास्य कहते हैं। लौकिक चातुर्मास्य का पालन वर्षा के चार महीनों में किया जाता है। महाभारत (शांति० ३२०।२६) में पंचशिख द्वारा इसके पालन का उल्लेख मिलता है। इस व्रत का विशद वर्णन भट्टोजी दीक्षितकृत तिथिनिर्णय (पृ० १२-१३), रघुनंदनकृत कृत्यतत्व (पृ० ४३४-३६), स्मृतितत्व (जीवानंद संस्क०, द्वितीय भाग) आदि ग्रंथों में मिलता है। आषाढ़ शुक्ल द्वादशी से कार्तिक शुक्ल द्वादशी तक इसका पालन होता है किंतु अन्य मत से इसकी अवधि आषाढ़ संक्रांति से कार्तिक संक्रांति तक मान्य है। व्रतकाल में मांस, गुड़, तैल आदि का व्यवहार वर्जित है और यथाशक्ति जप मौनादि का विधान है। इसे कहीं कहीं विष्णुव्रत भी कहते हैं।

वैदिक चातुर्मास्य द्विविध है—स्वतंत्र और राजसूयांतर्गत। स्वतंत्र चातुर्मास्य अग्निहोत्रादि की भाँति नित्यकर्म है और प्रति वर्ष राजसूय यज्ञ के अंतर्गत अनुष्ठेय है। चातुर्मास्य में चार पर्वों का उल्लेख है—वैश्वदेव, वरुण प्रघास, साकमेघ एवं शुनासीरीय। जो तीन ही पर्व मानते हैं, वे शुनासीरीय की गणना नहीं करते। इन चारों में अनुष्ठेय कार्यों का विवरण चिन्नस्वामिकृत 'यज्ञतत्वप्रकाश' (पृ० ४५-५३) और काणेकृत हिस्ट्री ऑव दि धर्मशास्त्र (भाग २, पृ० १०९१-११०८) में है। स्वतंत्र चातुर्मास्य के दो पक्ष हैं—उत्सर्ग पक्ष और अनुत्सर्ग पक्ष। वैदिकों की परंपरा में सोमयज्ञ के अंतर्गत उत्सर्ग पक्ष ही स्वीकृत है। एक दृष्टि से चातुर्मास्य का त्रिविध वर्गीकरण भी है—ऐष्टिक, पाशुक और सौमिक। पशुद्रव्य से किए जाने पर पाशुक और सोमद्रव्य से निष्पन्न होने पर सौमिक चातुर्मास्य होता है। [रा० श० भ०]

चामराजनगर १. तालुक, मैसूर राज्य में मैसूर जिले के अंतर्गत है। इसका क्षेत्रफल लगभग ४७१ वर्ग मील है। यहाँ पर पर्याप्त एस्बेस्टॉस मिलता है। यहाँ की प्रसिद्ध नदी होनुहोल है। इसे सुवर्णावती भी कहते हैं। वर्ष में औसत वर्षा २०" से २५" होती है। यह उपजाऊ मैदानी भाग में पड़ता है। यह मैदानी भाग उत्तर-पश्चिम की ओर बोजिलिगिरि रंगम पहाड़ की ढाल तक फैला है। यह पहाड़ इस तालुक की पूर्वी और दक्षिणी सीमा निर्धारित करता है। यहाँ पर लाल और काली उपजाऊ मिट्टी से लेकर कंकड़ीली अनुपजाऊ मिट्टी तक मिलती है। जोंधा, जो एक सूखा अनाज है, प्रचुरता से उपजाया जाता है। कहवे की भी यहाँ कुछ खेती होती है।

२. नगर, स्थिति : ११° ५५' उ० अ० तथा ७७° ०' पू० दे०। यहाँ की जनसंख्या २४,४३० (१९६१) है। यह मैसूर से २६ मील दूर दक्षिण-पूर्व में स्थित है। [हे० प्र० दे०]

चामराजेंद्र ओडियार ये मैसूर राज्य के अंतिम हिंदू राजा काढ गल्ली वंशीय चामराज के पौत्र थे। महाराज कृष्णराज ने उन्हें गोद लिया था। यशस्वी पिता की २७ मार्च, १८६८ को मृत्यु के उपरांत भी जब तक वे १८ वर्ष के पूर्ण वयस्क नहीं हो गए तब तक अंग्रेजों ने उनके नाम से शासन किया।

महाराज स्वयं बड़े ही दूरदर्शी, न्यायप्रिय, उदार, निरभिमानी, मर्यादित तथा कुशल शासक थे। कलाकौशल तथा संगीत से विशेष प्रेम था। शासनप्रबंध भी उन्होंने बड़ी निपुणता से किया। उनके पूर्व मैसूर राज्य में भीषण अकाल पड़ चुका था। परंतु मितव्ययता और किसानों को विशेष रूप से उत्साहित कर उन्होंने अन्नसंकट दूर किया। शिक्षा में महाराज की विशेष अभिरुचि थी। बालकों की ही नहीं, बालिकाओं को शिक्षा की भी अधिक उन्नति हुई। आश्चर्य और गर्व की बात है कि भारतीय राज्यों में सबसे पहले उन्होंने ही मैसूर में प्रतिनिधि शासन की नींव डाली। उन्होंने जिस विधानसभा की स्थापना की उसकी संख्या बढ़ती ही रही।

अपने शासनकाल के अंतिम दिनों में स्वामी विवेकानंद को अमरीका भेजने का व्यय देकर, अपने को बड़ा ही लोकप्रिय शासक बना लिया था। अतः स्वामी जी ने विदेश जाकर हिंदू धर्म की जो इतनी प्रतिष्ठा जमाई उसमें उनका योगदान कम नहीं था। प्रसन्न होकर स्वामी जी ने उनको तथा उनके परिवार को आशीर्वाद दिए थे। आशीर्वाद का वह पत्र बड़े महत्व का है। खेद है कि ऐसे लोकप्रिय शासक डिफ्थीरिया के भयानक रोग से ग्रस्त हो १८९४ ई० में चल बसे।

अंग्रेज गवर्नर जनरलों ने उनके कुशल शासनप्रबंध की भूरि भूरि प्रशंसा की है। पति की मृत्यु के उपरांत महारानी श्रीमती वाणीविलास ने संनिधान से संरक्षिका के रूप में बड़ी योग्यता से कार्य किया। [जि० ना० वा०]

चामुंडराय (दाहिमा) पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज के अनेक सामंतों के नाम हैं, जिनमें चामुंडराय दाहिमे का नाम अग्रगण्य है। शिहाबुद्दीन गोरी, भीम चालुक्य, जयचंद्र और उस समय के अनेक राजा उसके शौर्य से परिचित थे। किंतु इस निर्भीक और सत्यनिष्ठ योद्धा को भी पृथ्वीराज ने कुछ समय के लिये कैद कर लिया था। अपने अंतिम युद्ध से पूर्व पृथ्वीराज ने इसे बंधनमुक्त किया। चामुंडराय इस युद्ध में वीरता से लड़ता हुआ मारा गया। 'नैणसी की ख्यात' में भी इसका उल्लेख है। टाड ने इसके शौर्य की बहुत प्रशंसा की है। [द० श०]

चामुंडा देखिए 'सप्तमातृका'।

चाय चाय में कैफीन, टैनिन और गंधतैल (जिनसे चाय का स्वाद बनता है), रेशा, सेलूलोज, क्लोरोफिल, गोंद, प्रोटीन, खनिज पदार्थ और कुछ प्रकिण्व (जिनसे काली चाय के बनने में किण्वन होता है) रहते हैं। इन विभिन्न पदार्थों की आपेक्षिक मात्रा विभिन्न रहती है। मात्रा कई परिस्थितियों, जैसे उत्पत्ति स्थान, बढ़ने की स्थिति, पत्तियों के चुनाव, तैयार करने के ढंग, आदि पर निर्भर करती है। सामान्य चाय का औसत संघटन प्रति शत इस प्रकार दिया जा सकता है :

	भारतीय काली चाय	चीनी काली चाय	चीनी हरी चाय	ऊलोंग चाय
जल	५·८	८·४	६·४	५·१
समस्त निष्कर्ष	४·२	३·४	४·६	४·१

	भारतीय काली चाय	चीनी काली चाय	चीनी हरी चाय	ऊलोंग चाय
कैफोन	२·७	२·४	२·४	२·३
टैनिन	१४·६	११·५	१४·६	१६·४
समस्त राख	५·८	६·२	७·४	६·३
विलेय राख	३·५	३·०	३·३	३·२
अविलेय राख	०·२	०·५	०·५	०·५

चाय का ईथर निष्कर्ष ३·३–१५·३, डेक्सट्रिन और गोंद ३·०–७·०, प्रोटीन २२·६–२७·५ तथा सेल्यूलोज ११·६–१४·६ प्रति शत रहते हैं।

परिस्थितियों के हेर फेर का प्रभाव — ऐसा कहा जाता है कि पुराने पेड़ की चाय उत्कृष्ट होती है, पर विश्लेषण से इसकी पुष्टि नहीं होती। चुनने के पहले पौधों को तीन सप्ताह तक छाया में रखने से कैफोन और समस्त नाइट्रोजन की मात्रा अधिक पाई गई है। पत्तियों की परिपक्वता का कोई विशेष प्रभाव नहीं देखा गया है। परिपक्व पत्तियों में केवल शर्करा कुछ अधिक पाई गई है। पत्तियां तोड़ने के संबंध में देखा गया है कि देर से तोड़ने पर पत्तियों में कैफोन और राख में पोटाश और फास्फरस की मात्रा कम होती है। तैयार करने के ढंग का चाय पर विशेष प्रभाव पड़ता है, जैसा ऊपर के अंकों से पता लगता है। सूखी पत्तियों के १०० भाग से ९८·६ भाग हरी चाय और ९२·५ भाग काली चाय प्राप्त होती है।

चाय की पत्तियाँ तैयार करने में परिवर्तन — चाय की पत्तियों के तैयार करने में क्या परिवर्तन होता है, इसका अध्ययन सूक्ष्मता से किया गया है। पत्तियों को मुरझाई में प्रधानतया जल निकलता है, पत्तियां के लुढ़काने और उछालने में और जल निकलता है, कोशिकाएँ टूटती हैं और रस उन्मुक्त होता है। पत्तियों के अवयव कुछ अधिक विलेय हो जाते हैं और पत्तियों का किण्वन भी होता है। टैनिन का उपचयन होकर टैनिन प्रोटीन के साथ साथ संयुक्त होकर अविलेय यौगिक बनता है, जिससे टैनिन की विलेयता कम हो जाती है। टैनिन अंशतः क्विनोन में आक्सीकृत हो जाता है, जो पीछे संघनित होकर उच्च अणुभार का यौगिक बनता है। ऐसे यौगिक चाय में पाए गए हैं। इन यौगिकों का रंग रक्त भूरा होता है, जिससे चाय का रंग भी ऐसा ही हो जाता है। इन्हीं यौगिकों से चाय में स्वाद भी आता है। किण्वन के समय गंधतेल बनते हैं। यदि किण्वन अधिक समय तक होता रहे, तो टैनिन की मात्रा कम हो जाती है। यही कारण है कि चीन की काली चाय में टैनिन कम रहता है।

अंतिम अवस्था में पत्तियां एक बार फिर गरम की जाती हैं, जिससे प्रकिण्व नष्ट होकर किण्वन रुक जाता है तथा पानी का कुछ और अंश निकल जाता है। हरी चाय में किण्वन न होने से गंधतेल नहीं बनता। इसमें टैनिन की मात्रा अधिक रहती है।

चाय का विश्लेषण — चाय के विश्लेषण के अंक किसी महत्व के नहीं हैं, क्योंकि चाय की उत्कृष्टता उसके स्वाद और गंध से जानी जाती है। पर चाय की मिलावट के जानने में विश्लेषण के अंकों से सहायता मिलती है।

कैफीन — चाय का सबसे अधिक महत्व का अवयव कैफोन है। चाय की सूखी पत्तियों में कैफोन इस प्रकार पाया गया है :

चाय का देश	प्रति शत
भारत	३·६–४·६
लंका	२·६–४·६
जावा	३·४–४·१
जापान	२·६–३·६

चाय की पहली दो पत्तियों में कैफोन ३·४ प्रति शत, पांचवीं और छठी पत्तियों में १·५ प्रति शत और तने तथा अन्य भागों में और भी कम पाया गया है। कैफोन के निर्धारण की सरल रीति : चाय का ऐलकोहल द्वारा निष्कर्ष निकालकर, मैग्नीशिया के साथ उद्वाष्पित कर सुखाने से अवशेष प्राप्त होता है। अवशेष का जल से निष्कर्ष निकालते हैं। निष्कर्ष को अम्लीय बनाते और क्लोरोफार्म से उसका निष्कर्ष निकालते हैं। इस निष्कर्ष के सुखाने से जो अवशेष बच जाता है वही कैफीन है।

टैनिन — टैनिन कोई शुद्ध कार्बनिक यौगिक नहीं है। अनेक संबंधित यौगिकों का मिश्रण है। टैनिन का निष्कर्ष उष्ण ऐलकोहल से निकाला जाता है। पत्तियों में टैनिन की मात्रा एक सी नहीं रहती। असम की चाय के प्ररोह में मई में ११·६ प्रति शत, जून में २०·२ प्रति शत और सितंबर में २१·७ प्रति शत टैनिन पाया गया है। विभिन्न स्थान की पत्तियों में भी टैनिन की मात्रा विभिन्न रहती है। टैनिन के निर्धारित करने की विधि पेचीदा है। इसके लिये विश्लेषण का कोई ग्रंथ देखना चाहिए।

गंधतेल — काली चाय की विशिष्ट गंध का कारण यह गंधतेल है, जो बड़ी अल्प मात्रा में चाय में रहता है। इसकी मात्रा ०·००६ प्रति शत रहती है। इस तेल का विशिष्ट घनत्व २६° सें० पर ०·८६ होता है। असंतृप्त ऐलकोहल के कारण यह गंध है। पत्तियों के किण्वन से यह बनता है। वाष्प आसवन से यह पृथक् किया जा सकता है।

जल — बाजार की चाय में जल की मात्रा प्रायः ८ प्रति शत रहती है। ताजा तैयार पत्तियों में जल प्रायः ४ ही प्रति शत रहता है। १००° सें० पर स्थायी भार तक गरम करने से जल की मात्रा निर्धारित होती है।

राख — चाय में राख की मात्रा ५·५ से ७·५ प्रति शत रहती है। राख में सबसे अधिक, ३५-४० प्रति शत, पोटाश, पों$_2$ औ (K_2O), और १५ प्रति शत तक फास्फरस, फा$_2$ औ$_5$ (P_2O_5), रहता है। सदा ही अल्प मात्रा में मैंगनीज रहता है। राख की मात्रा से मिलावट का बहुत कुछ पता लगता है। अधिक राख का होना मिलावट का सूचक है। राख की आधी मात्रा जल में घुल जाती है। क्वाथ निकाल लेने पर पत्तियों में राख की मात्रा ४ प्रति शत के लगभग रह जाती है, जो अधिकांश जल में अविलेय होती है।

नाइट्रोजन — चाय में ५–६ प्रति शत नाइट्रोजन रहता है। इसका पांचवां भाग कैफीन के कारण है, शेष भाग प्रोटीन के कारण है। सामान्य केल्डाल विधि से नाइट्रोजन का निर्धारण होता है।

विटामिन — चाय की ताजी पत्तियों में विटामिन सी प्रति ग्राम ०·१४ से ०·४५ मिलीग्राम तक रहता है। पत्तियां तैयार करने पर मात्रा कम हो जाती है। बड़ी अल्प मात्रा में निकोटिनिक अम्ल पाया जाता है। चाय के क्वाथ में बड़ा अल्प रिबोफ्लैविन और पैंटोथीनिक अम्ल पाए गए हैं।

अन्य अवयव — चाय में कार्बोहाइड्रेट पर्याप्त मात्रा में रहता है। इसमें अधिकांश सेलूलोज और शेष गोंद, डेक्सट्रिन, पेक्टिन और बड़ा अल्प स्टार्च और शर्कराएँ रहती है। चाय में रंगीन पदार्थों में क्लोरोफिल, कैरोटीन और जैंथोफिल पाए गए हैं। चाय में बहुत थोड़ा असंयुक्त आक्जैलिक अम्ल और कैलसियम आक्जेलेट के मणिभ देखे गए हैं।

चाय का क्वाथ — पीने के लिये चाय का क्वाथ तैयार करने में पांच मिनट से अधिक पत्तियों को उबलते जल में नहीं रखना चाहिए। इतने समय में कैफीन की अधिकतम मात्रा, स्वादवाले पदार्थ और टैनिन की न्यूनतम (समस्त की प्रायः आधी) मात्रा निकल आती है। चाय बनाने में कठोर या मृदु जल के उपयोग से क्वाथ में भिन्नता आ जाती है।

कैफीन के कारण चाय का प्रभाव उत्तेजक होता है। इसमें विशिष्ट स्वाद और सुवास होता है। टैनिन के उपचयित उत्पाद, गंधतैल के कारण स्वाद और सुवास होते है। चाय का आहारमूल्य कुछ नहीं है, सिवाय उस चीनी और दूध के कारण जो चाय में डाला जाता है। इसमें अल्प विटामिन सी रहता है। शरीर पर चाय का प्रभाव प्रायः वही होता है जो कैफीन का होता है, पर अल्पतर मात्रा में। चाय जागरण में सहायता करती, मानसिक सक्रियता बढ़ाती, शारीरिक कार्य करने में पेशियों को उत्तेजित करती और मूत्र को बढ़ाती है। एक प्याली चाय में औसत एक ग्रेन कैफीन रहता है। अंशतः कैफीन के कारण, पर प्रधानतया टैनिन के कारण, कुछ लोग चाय का पीना पसंद नहीं करते। कैफीन और टैनिन को निकाल देने की भी चेष्टाएँ हुई हैं, पर इनके निकाल देने से चाय फिर चाय नहीं रह जाती।

चाय की मिलावट — चाय अपेक्षया महँगी बिकती है। इससे कभी कभी इसमें मिलावट की जाती है। मिलावट को रोकने के लिये कुछ देशों में कानून बने हैं और मिलावटवाली चाय को नष्ट कर देने का निर्देश है। साधारणतया जो चीजें मिलाई जाती हैं, वे हैं – (१) अन्य पौधों की पत्तियाँ, (२) एक बार इस्तेमाल की हुई चाय की पत्तियाँ, (३) बालू के कण, (४) लोहे की रेतन, (५) कुछ वानस्पतिक रंग, (६) कत्था, (७) चाय के डंठल आदि। [फू० स० व०]

आज की सभ्यता में पेय पदार्थों का विशेष महत्व है, जिनमें चाय ने उच्चतम स्थान प्राप्त किया है। यदि जल का दूसरा नाम जीवन है तो चाय का दूसरा नाम स्फूर्तिदायिनी, या अवसादहारिणी, है।

चाय की इस दिव्य शक्ति का अनुसंधान सर्वप्रथम किसने किया, यह विवादग्रस्त विषय है। चीनी अनुश्रुति के अनुसार वहाँ के राजा शेननुंग ने चाय का अनुसंधान किया। भारतीय किंवदंती है कि 'धर्म' नामक एक बौद्ध भिक्षु ने सर्वप्रथम चाय की पत्तियों का उपयोग किया। धर्म ने प्रतिज्ञा की कि वे सात वर्ष तक अनवरत तपस्या करेंगे, परंतु पाँच वर्ष व्यतीत होने पर जब उन्हें नींद आने लगी तब उन्होंने समीपस्थ झाड़ी की पत्तियाँ तोड़ कर खाईं, जिसके फलस्वरूप वे अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने में समर्थ हुए। यह झाड़ी चाय की थी। प्रमाणतः यह अनुश्रुति भी चीनी परंपरा की ही है। जापानियों के अनुसार भी धर्म द्वारा ही चाय का आविष्कार हुआ, परंतु उसकी उत्पत्ति की कथा भिन्न है। तपस्या के चमत्कार के फलस्वरूप उन्होंने अपनी दोनों आँखों की पुतलियों को निकालकर फेंक दिया, और उन्हीं से चाय की उत्पत्ति हुई। संभवतः इसी कारण जापान में चाय का इतना अधिक महत्व है। चाय की उत्पत्ति जहाँ भी हुई हो, इसपर सबसे पहला ग्रंथ लिखने का श्रेय चीन के कवि लू यू को है, जिन्होंने सन् ७८० ई० में 'चाचिंग' नाम की पुस्तक लिखी।

भारतीय चाय का इतिहास १९ वीं सदी से प्रारंभ होता है। सन् १८२३ ई० में मेजर राबर्ट ब्रूस ने असम के वनों में इसे पाया। इसके बाद चीनी बीजों से छोटे पैमाने पर चाय की खेती प्रारंभ हुई, किंतु क्रमशः आसामी चाय चीनी चाय से बेहतर सिद्ध हुई। आज भारत में इसी चाय की खेती अधिक होती है।

वनस्पति शास्त्र के अनुसार चाय कैमोलिया (Camellia) जाति का पौधा है, और कैमोलिया सिनेंसिस (Camellia Sinensis) के नाम से विख्यात है। मजबूत पौधा होने के बावजूद यह विशेष प्रकार के मौसम और मिट्टी में ही पनपता है। उष्ण और समशीतोष्ण कटिबंध के अधिक वर्षावाले प्रदेशों में इसकी खेती सर्वोत्तम होती है। ८०" से १५०" तक की वर्षा की आवश्यकता होने पर भी यदि जड़ों में पानी एकत्रित हो जाय तो पौधों को नुकसान पहुँचता है। यही कारण है कि चाय की खेती पर्वतों की ढलान पर या तराई में अधिक की जाती है, ताकि वर्षा का पानी बह जाय और यदि यह खेती समतल भूमि पर की जाती है तो वहाँ नालियों का प्रबंध करना होता है। सर्वोत्तम श्रेणी की चाय १००० से लेकर २००० मीटर तक की ऊँचाई पर होती है।

अधिकांश पौधे के पत्ते कभी न कभी झरते ही हैं, परंतु चाय के पौधों में पतझर कभी नहीं आता। इसकी वृद्धि यदि निर्बाध रूप से होने दी जाय तो यह पौधा ३० फुट से भी अधिक ऊँचा हो सकता है। इसमें श्वेत सुगंधयुक्त पुष्प लगते हैं, जिनमें तीन या चार बीज रहते हैं। हरे आवरण को हटाने पर बीज भूरे रंग के दीखते हैं जो एक-दो इंच से लेकर तीन-चार इंच तक बड़े होते हैं।

चाय मुख्यतः दो प्रकार की होती है – चीनी और असमी। चीनी चाय की पत्तियाँ २" लंबी तथा गहरे हरे रंग की होती हैं; असमी चाय की ४" लंबी, कोमल तथा हल्की होती हैं। चीनी चाय का उत्पादन किसी भी स्थान में हो सकता है, परंतु असमी चाय को अधिक वर्षा, साधारण ठंढ तथा गर्म मौसम की आवश्यकता होती है। चाय की खेती की जमीन सतह से चार-पाँच फुट की गहराई तक हल्की होनी चाहिए। बालू मिश्रित काली मिट्टी अधिक हितकर होती है।

चाय की खेती के विधिक्रम में इसके बीजों की जाँच का विशेष महत्व होता है, साथ ही इसका ढंग भी निराला है। इनको पानी में डुबोने पर जो बीज ऊपर तैरने लगते हैं, वे सूखे हुए तथा अनुपयुक्त समझकर फेंक दिए जाते हैं और जो बीज नीचे तल में बैठ जाते हैं उन्हें बोने के काम में लाते हैं। बीजों को नर्सरी में लगाते हैं, पर कई बार उन्हें सीधे क्यारी में भी लगा देते हैं। प्रायः अंकुर निकलने तक बीज को बालू या कोयले के चूरे में रखते हैं, तत्पश्चात् क्यारी में लगाते हैं। उन्हें आधे इंच की गहराई में तथा सात या आठ इंच की दूरी पर घास या बाँस से की गई छाया में लगाते हैं। छह मास से लेकर तीन वर्ष तक के पौधों को नर्सरी से निकालकर बगीचे के निर्धारित स्थान पर स्थायी रूप से स्थापित कर देते हैं।

पौधों को तीन रूपों में लगाया जाता है – चौकोर, त्रिकोण एवं पंक्तिबद्ध (Hedge)। पंक्तिबद्ध पद्धति ही आजकल अधिक प्रचलित है। इसमें पौधे एक पंक्ति में दो से ढाई फुट की दूरी पर लगाए जाते हैं तथा पहली पंक्ति दूसरी से चार से साढ़े पाँच फुट के फासले पर होती है। इस विधि से लगाने पर कम जमीन में अधिक पौधे लगाए जा सकते हैं।

पौधों को नर्सरी में लगाने के लिये एक नई विधि का आविष्कार हुआ है जिसे वर्धी प्रचारण (Vegetative propogation) कहते हैं। इसमें बीज के बदले पत्तियों को, जिन्हें क्लोन (clone) कहते हैं, निर्धारित क्यारी में निश्चित दूरी पर लगाया जाता है, जिसके फलस्वरूप पूर्ण विकसित पौधे के सभी गुण इस छोटे से नए पौधे में आ जाते हैं। लगाई जानेवाली पत्तियों को चुननेवालों का अपने कार्य में दक्ष होना अति आवश्यक है। क्लोन पद्धति से पौधे लगाने पर चाय का उत्पादन अधिक होने के साथ साथ प्रकृति (क्वालिटी) भी अच्छी होती है।

चाय के पौधों को सूर्य की प्रखरता से बचाने तथा खाद के लिये नाइट्रोजन युक्त पत्तियोंवाले विशेष प्रकार के वृक्ष लगाए जाते हैं। इन वृक्षों की किस्मों का चुनाव स्थान, विशेष प्रकार के मौसमी वातावरण, मिट्टी तथा अनुभव के अनुसार किया जाता है। इनमें मुख्य वृक्षों के नाम हैं—अलबीजिया चिनेंसिस (Albizzia chinensis), ओडोरतिस्सिमा (A. odoratissima), प्रोसेरा (A. procera), रिचार्डियाना (Richardiana), डलबर्जिया असामिका (Dalbergia Assamica) आदि। क्रोटेलेरिया (Crotolaria) आदि का, हरी खाद तथा छाया के लिये अस्थायी रूप से प्रयोग किया जाता है।

पौधों की समुचित वृद्धि के लिये रासायनिक खाद सल्फेट एमोनिया (Sulphate of Ammonia) का, जो गोबर, खली आदि से बेहतर साबित हुई है, प्रयोग किया जाता है।

चाय के पौधे की आयु १०० वर्षों से अधिक होती है, परंतु ५० या ६० वर्ष के बाद उसकी उत्पादन क्षमता कम हो जाने के कारण व्यावसायिक दृष्टि से वह अनुपयोगी माना जाता है। भारत में इन पौधों की नाना प्रकार की बीमारियों का चिकित्सा विषयक अन्वेषणकार्य, जोरहाट के पास टोकलाई में इंडियन टी ऐसोसिएशन के केंद्र में प्रगति कर रहा है।

पौधे की उम्र एवं ऊँचाई को ध्यान में रखकर उनका ऊपरी सतह छाँट दिया जाता है जिससे वे सीमित ऊँचाई के बाद और ऊँचे नहीं बढ़ पाते एवं उनका तना धीरे धीरे मोटा होता जाता है। उत्तर पूर्व भारत में छँटाई प्रायः नवंबर के अंत से फरवरी तक की जाती है, और दक्षिण भारत तथा विषुवत् रेखा के समीपस्थ अन्य देशों में सुविधानुसार ३–४ वर्षों में एक बार की जाती है।

छँटाई किए गए पौधे में दो या तीन महीनों में नई पत्तियाँ आनी शुरू हो जाती हैं। एक कोंपल और दो पत्ती की चाय अच्छी बनती है, परंतु एक कोंपल और तीन पत्ती का गुच्छा भी तोड़ा जाता है। उत्तर भारत में पत्तियाँ तोड़ने का काम मध्य मार्च से मध्य दिसंबर तक किया जाता है। उष्ण कटिबंध के प्रदेशों में संपूर्ण वर्ष पत्तियाँ तोड़ी जाती हैं, सभी देशों में यह कार्य पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक करती देखी जाती हैं। रूस ने इस कार्य के लिये एक यंत्र का आविष्कार किया है, पर अभी उसका प्रचलन नहीं हुआ है।

चाय के निर्माणकार्य के विधिक्रम को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—कृषिकर्म और निर्माणकर्म। पत्तियाँ तोड़ने के साथ कृषिकर्म समाप्त हो जाता है और निर्माणकर्म प्रारंभ होता है, जो पाँच स्थितियों में से होकर गुजरता है—१. मुरझाना (विदरिंग) २. मसलना (रोलिंग), ३. रंग परिवर्तन (फर्मेंटिंग) ४. सुखाना (फायरिंग) और ५. छाँटना (सॉर्टिंग)।

चाय की हरी पत्ती में ७५ प्रति शत अंश जल का होता है। बिना टूटे, मसले जाने के लिये पत्तियों का अनावश्यक पानी सुखाना आवश्यक है। इसलिये तोड़ी हुई पत्तियाँ चारों ओर से खुले हुए एक विशेष प्रकार के घर (विदरिंग हाउस) में रख दी जाती हैं। उसमें तार या बाँस से बनी जाली की पट्टियाँ रहती हैं, जिनपर ये पत्तियाँ मौसम के अनुसार आठ से लेकर अठारह घंटे तक के लिये बिछा दी जाती हैं। हवा के संस्पर्श से ये अपने आप मुरझा जाती हैं। कहीं कहीं इस कार्य के लिये मशीनों का भी प्रयोग किया जाता है।

मुरझाई हुई पत्तियाँ घर्षण यंत्र (रोलिंग मशीन) में डाली जाती हैं। प्रत्येक मशीन में लगभग १४५ किलोग्राम पत्ती भरी जाती है। यह वृत्ताकार घूमती है जिससे उसमें भरी हुई चाय बिल्कुल कुचल जाती है और अपने रस में पूर्णतया सन जाती है।

इसके बाद ये गीली, कुचली हुई, एक दूसरे से लिपटी हुई पत्तियाँ छानने की मशीन (सिफ्टर) में डाली जाती हैं। इस मशीन में लिपटी हुई पत्तियाँ अलग अलग हो जाती हैं और कोमल छोटी कलियाँ छनकर बाहर गिर जाती हैं। मोटी पत्तियों को पुनः घर्षणयंत्र में मसलकर फिर छाना जाता है। यह क्रिया भिन्न भिन्न प्रदेशों में दो से लेकर चार बार तक की जाती है।

छानने के पश्चात् मोटी और महीन दोनों प्रकार की चाय बिना मिलाए एक ठंढे कमरे में ऐल्युमीनियम की चादरों पर या सीमेंट के चिकने फर्श पर १।२ से १ इंच तक की मोटी तह करके बिछा दी जाती है। इस कमरे का ताप २७° सें० से ज्यादा नहीं होना चाहिए। यहाँ चाय एक घंटे से तीन घंटे तक रखी जाती है, जिसके फलस्वरूप वायु के संसर्ग से रंग परिवर्तन हो जाता है।

जब चाय की पत्तियाँ ताम्रवर्ण की हो जाती हैं तब उन्हें सुखाने के यंत्र (drier) में डाला जाता है। यंत्र के जिस भाग में चाय सुखाई जाती है वहाँ ताप लगभग ९०° से लेकर १००° डिग्री सें० तक रहता है और जिस ओर से चाय डाली जाती है वहाँ का ताप लगभग ४५ सें० रखा जाता है।

अब चाय को यांत्रिक चलनियों (सार्टर्स) में चालना पड़ता है, जिससे पूर्ण पत्ती, खंडित पत्ती और चूर्ण छँट जाते हैं। इसके बाद पंखे द्वारा लाल डंठल निकाल दिए जाते हैं।

चाय निर्माण का कार्य यहाँ पर समाप्त हो जाता है। अब इस चाय को ऐल्युमीनियम की पत्ती लगी हुई काठ की पेटी में भरकर बंद कर दिया जाता है और पेटियों पर अलग अलग किस्म की चाय के नाम और नंबर की छाप लगा दी जाती है। अमरीका के बाजार में यही चाय पेटी में बंद करने के बदले एक विशेष प्रकार के बोरे में भर दी जाती है।

सी० टी० सी० नामक एक नए यंत्र का आविष्कार हुआ है जिसमें घर्षणयंत्र में मसली हुई पत्तियों को २–३ बार काटते हैं। इसमें बनी चाय का रंग कालापन लिए हुए भूरा सा होता है। अल्प मात्रा में अधिक पेय प्राप्त करना ही इसका विशेष गुण है। विलायत में यही चाय अधिक प्रसिद्ध है परंतु अन्य देशों में अधिकांशतः लोग आज भी पुरानी रीति से बनी चाय पसंद करते हैं।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की चाय के अतिरिक्त, और भी तीन प्रकार की चाय होती है—१. हरी चाय (ग्रीन या अनफर्मेंटेड टी), २. ब्लैक चाय, और ३. ऊलांग चाय (या सेमीफर्मेंटेड)।

चमेली (देखें पृष्ठ १६०)

चमेली का खेत

चमेली का पुष्पित पौधा

चर्मपूरण (देखें पृष्ठ १७६)

चर्मपूरित विविध बड़े पक्षी

चर्मपूरित छोटे पक्षी

चर्मपूरित चमगादड़
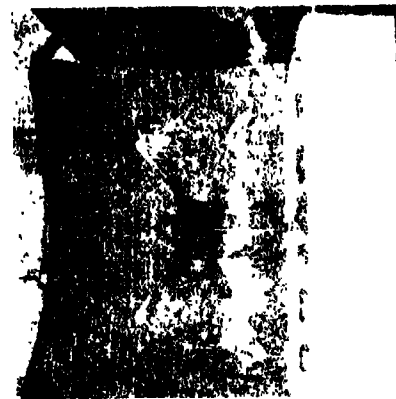
चाय (देखें पृष्ठ १८७)

चाय की पुष्पित शाखा

चित्तौड़ (देखें पृष्ठ २१६)
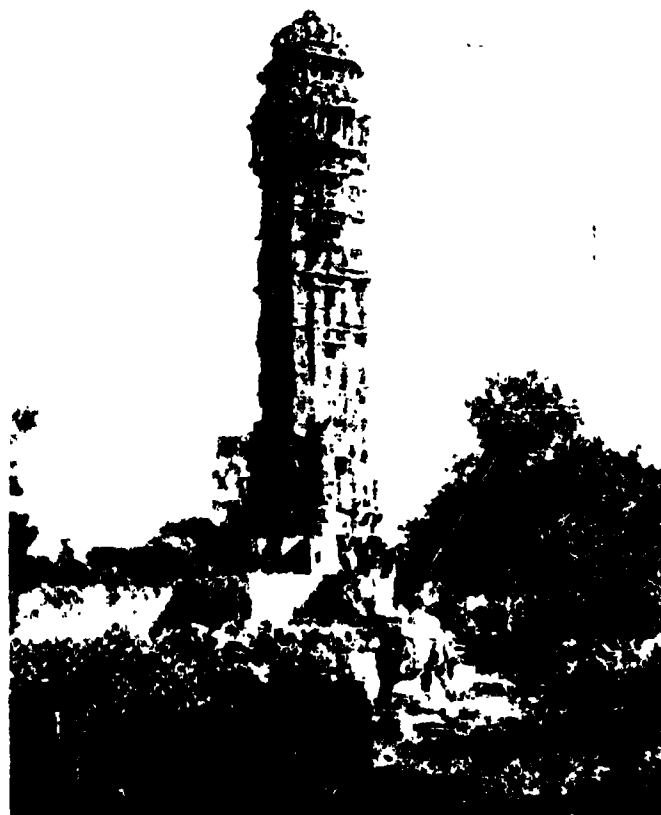
विजय स्तंभ

चिकित्सा (देखें पृष्ठ २११)
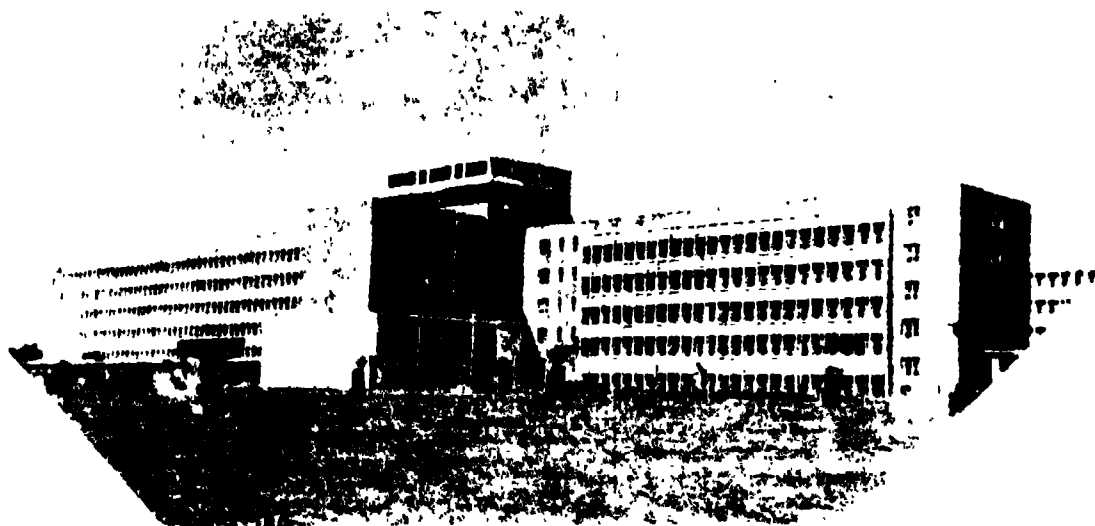
ऑल इंडिया इंस्टिट्यूट ऑव मेडिकल सायंसेज़ का भवन
यह भवन सफदरजंग अस्पताल के संमुख मेडिकल एन्क्लेव, दिल्ली, में स्थित है।

हरी चाय अफगानिस्तान, ईरान, कश्मीर, लद्दाख आदि इलाकों में और ब्रिक चाय तिब्बत एवं नेपाल में व्यवहृत होती है। ऊलांग चाय केवल फारमोसा में होती है।

तैयार चाय के गुणों की परख और उसके मूल्य के निर्धारण के लिये उसका स्वाद चखा जाता है। चखनेवाला बहुत ही अनुभवी तथा उसके गुणों से पूर्णतया परिचित होता है। शक्कर तथा दुग्धविहीन चाय को जीभ पर लेते ही उसकी कड़ुवाहट और सोडा की तरह के स्वाद से उसकी ताकत एवं गुण (ब्रिस्कनेस) का पता लगा लिया जाता है। चाय में कड़वाहट के साथ एक प्रकार की मिठास भी होती है।

भारत चाय के उत्पादन में परिमाण और जाति (क्वालिटी) दोनों दृष्टि से अग्रणी है। लंका एवं अफ्रीका इसकी स्पर्धा में प्रयत्नशील हैं, परंतु अभी तक भारत से होड़ करने के स्तर तक नहीं पहुँच पाए हैं।

भारत में चाय उत्तर में पंजाब के कांगड़ा इलाकों में, उत्तर प्रदेश के देहरादून जिले में, बिहार में, असम और पश्चिम बंगाल में तथा दक्षिण में अन्नमले और नीलगिरि पहाड़ियों में होती है। परिमाण की दृष्टि से भारतीय चाय की ४७–४८ प्रतिशत चाय अकेले असम में होती है। यहाँ की चाय के रंग व ताकत (लिकर) का जोड़ तथा दार्जिलिंग की चाय के स्वाद (फ्लेवर) का जोड़ अन्य किसी भी देश की चाय में नहीं है। भारतीय चाय की प्रगति का सर्वाधिक श्रेय जोरहाट स्थित 'टोकलाई एक्सपेरिमेंटल स्टेशन' को है, जिसने अपने प्रयोगों द्वारा चाय के उत्पादकों को नए सुझाव दिए। क्लोन (clone) की उत्पत्ति इसी प्रयोगशाला की देन है।

भारत में चाय के उत्पादन की उन्नति का कुछ श्रेय यहाँ के श्रमिकों को भी है। ये श्रमिक उसी स्थान के बाशिंदे नहीं थे—अधिकांशतः ये छोटा नागपुर जिले तथा उड़ीसा के आदिवासी हैं। प्रारंभ में अंग्रेजों की हुकूमत के समय नाना प्रकार के प्रलोभनों द्वारा ये चाय बगीचों में लाए जाते थे। बलपूर्वक अथवा धोखे से लाए श्रमिकों से चाय बगानों को जानेवाली गाड़ियाँ भरी रहती थीं। उनपर जो जुल्म हुए उनकी कथा पढ़कर रोमांच हो आया करता है। अब इन श्रमिकों को अनेक सुविधाएँ प्रदान की गई हैं, जैसे, सस्ते मूल्य में अनाज, मुफ्त दवा, रहने के मकान, खेती के लिये जमीन, पाठशाला, क्लब आदि। अब श्रमिकों के बच्चे भी चाय बगीचों में ही काम करते हैं तथा उनके विवाह, रीति रिवाज सब इन्हीं पौधों के साथ पनपते हैं। आज के भारतीय श्रमिक यहाँ के चाय उद्योग की उन्नति के प्रतीक हैं।

१९५० में भारत में चाय का उत्पादन ६१·३३ करोड़ पाउंड का था और वही बढ़ते बढ़ते १९६१ में ७३·६४ करोड़ पाउंड तक पहुँच गया।

लंका भारत का सबसे बड़ा प्रतिद्वंद्वी है। वहाँ उत्पादन की प्रगति भारत से अधिक तीव्र है—१९५० का ३१·६२ करोड़ पाउंड का अंक १९६१ में ४५–५१ करोड़ तक पहुँच गया। १९५१ में चीन में ३१·२० करोड़ पाउंड तथा जापान में १६·४४ करोड़ पाउंड का उत्पादन था जबकि १९५० में क्रमशः १३·८० करोड़ एवं ८·३० करोड़ ही था। इनके अलावा हिंदेशिया, पाकिस्तान, दक्षिणी पूर्वी अफ्रीका, फारमोसा एवं आरजेंटिना में भी अच्छी मात्रा में चाय का उत्पादन होता है।

चाय के निर्यात में भी भारत का स्थान प्रथम है। १९५६ में निर्यात ५२·३५ करोड़ था, परंतु घटते हुए १९६१ में सिर्फ ४५·२३ करोड़ पाउंड तक पहुँच गया। संभवतः लंका भारत का प्रथम स्थान दो तीन वर्षों में ही ले लेगा। १९५० के २९·७० करोड़ पाउंड का अंक १९६१ में ४२·५६ करोड़ पाउंड तक पहुँच गया। चीन का अंक १९६० में १०·४९ करोड़ पाउंड पर पहुँचा जबकि १९५० में सिर्फ २.९ करोड़ पाउंड था। यों बेलजियन कांगों का निर्यात काफी कम है, पर जब १९५० के १·०५ लाख पाउंड से १९६० में ७७·१४ लाख पाउंड तक पहुँच गया है तब उसका भविष्य भी बहुत ही उज्वल प्रतीत होता है। हिंदेशिया, फारमोसा, केन्या, न्यासालैंड, मोजंबीक, जापान एवं पाकिस्तान भी कम अधिक मात्रा में चाय का निर्यात करते हैं। [सं० कु० का०]

चायकोवस्की, निकोलाइ वासिलयेविच (१८५०–१९२६) रूस के एक क्रांतिकारी नागरिक; बाद में ये प्रतिक्रियावादी के रूप में बदल गए। सन् १८६९ में क्रांतिकारी विद्यार्थी चक्र में शामिल हुए। यह संगठन 'चायकफवादी' के नाम से ख्यात था। १८७४ में अमरीका में प्रवासी के रूप में रहे। सन् १८७९ में यूरोप लौट आए तथा लंदन में निवास करने लगे। सन् १९०० के प्रारंभ में छोटे पूँजीपतियों द्वारा निर्मित दल 'एसेर' (समाजवादी क्रांतिकारी दल) में संमिलित हुए। सन् १९०५ में रूस लौट आए। सन् १९०५–७ की रूसी क्रांति के पश्चात् 'एसेर' दल से संबंधविच्छेद कर लिया। सन् १९१७ की अक्टूबर समाजवादी क्रांति के पश्चात् सोवियत सरकार के विरुद्ध सक्रिय आंदोलन करने लगे। अगस्त, १९१८ में 'अरखानगेल्स्क' नामक नगर में 'उत्तरी भूभाग की सरकार' के रूप में एक प्रतिक्रांति सरकार की स्थापना कर उन्होंने अपने को उसका 'प्रधान' घोषित कर दिया। सन् १९१९ में देशनिकाला हो जाने पर पेरिस में प्रवासी होकर रहने लगे। [लि० स्ते० शौ०]

चायल १. यह पंजाब के पटियाला जिले की तहसील है। शिमला यहाँ से लगभग १९ मील उत्तर है परंतु सड़क द्वारा २६ मील दूर पड़ता है। समुद्रतल से इसकी ऊँचाई लगभग ७,३९५ फुट है। पटियाला के महाराजा का यह ग्रीष्मनिवास था। यहाँ का क्रिकेट मैदान विश्व में सबसे अधिक ऊँचाई पर स्थित है। यहाँ की जलवायु शीतोष्ण कटिबंधीय है। अधिक ऊँचाई के कारण गरमी में ताप १८° से २०° सें० तक रहता है। देवदार, केला, फर तथा चीड़ के बन पाए जाते हैं।

२. यह इलाहाबाद की तहसील है। इलाहाबाद से यह १५ मील पश्चिम की ओर स्थित है। नदियों की लाई हुई मिट्टी से यहाँ की भूमि का निर्माण हुआ है। इसका क्षेत्रफल लगभग १,२८९ एकड़ है जिसमें लगभग १,०५० एकड़ भूमि पर खेती होती है। धान, गेहूँ, मक्का, इत्यादि यहाँ की प्रमुख फसलें हैं। [हे० प्रि० दे०]

चार आइमाक फारसी और तुर्की भाषा में आइमाक का अर्थ जाति होता है। ये लोग हिरात और काबुल के उत्तर पर्वतीय प्रदेशों में बसे हुए हैं। इनके वंशानुसंक्रमण में मतांतर है। कहा जाता है, ये लोग फिरोजकोह में तैमूर खाँ से पराजित होकर उत्तर की पर्वतमालाओं में आ बसे थे।

चारण और भाट १. चारण : चारणों का उद्भवन कैसे और कब हुआ, वे इस देश में कैसे फैले और उनका मूल रूप क्या था, आदि प्रश्नों के संबंध में प्रामाणिक सामग्री का अभाव है; परंतु जो कुछ भी सामग्री है, उसके अनुसार विचार करने पर उस संबंध में अनेक तथ्य उपलब्ध होते हैं।

चारणों की उत्पत्ति दैवी कही गई है। ये पहले मृत्युलोक के पुरुष न होकर स्वर्ग के देवताओं में से थे (श्रीमद्भा० ३।१०।२७–२८)। सृष्टिनिर्माण के विभिन्न सृजनों से चारण भी एक उत्पाद्य तत्व रहे हैं। भागवत के टीकाकार श्रीधर ने इनका विभाजन विबुधा, पितृ, असुर, गंधर्व, भूत-प्रेत पिशाच, सिद्धचारण, विद्याधर और किंनर किंपुरुष आदि आठ सृष्टियों के अंतर्गत किया है। ब्रह्मा ने चारणों का कार्य देवताओं की स्तुति करना निर्धारित किया। मत्स्य पुराण (२४६।३५) में चारणों का उल्लेख स्तुतिवाचकों के रूप में है। चारणों ने सुमेर छोड़कर आर्यावर्त के हिमालय प्रदेश को अपना तपक्षेत्र बनाया, इस प्रसंग में उनकी भेंट अनेक देवताओं और महापुरुषों से हुई। इसके कई प्रसंग प्राप्त होते हैं। वाल्मीकि रामायण—(बाल० १७।६, ७५।१८; अरण्य० ५४।१०; सुंदर० ५५।२६; उत्तर० ४।४) महाभारत—(आदि० १२०।११, १२६।१११; वन० ८२।५; उद्योग० १२३।४-५; भीष्म० २०।१६; द्रोण० १२८।१०; शांति० १६२।७-८) तथा ब्रह्मपुराण-(३६।६६) में तपस्वी चारणों के प्रसंग मिल जाते हैं। ब्रह्मपुराण का प्रसंग तो स्पष्ट करता है कि चारणों को भूमि पर बसानेवाले महाराज पृथु थे। उन्होंने चारणों को तैलंग देश में स्थापित किया और तभी से वे देवताओं की स्तुति छोड़ राजपुत्रों और राजवंश की स्तुति करने लगे (ब्रह्म पु०, भूमिखंड, २८।८८)। यहीं से चारण सब जगह फैले। महाभारत के बाद भारत में कई स्थानों पर चारण वंश नष्ट हो गया। केवल राजस्थान, गुजरात, कच्छ तथा मालवे में बच रहे। इस प्रकार महाराज पृथु ने देवता चारणों को "मानुष चारण" बना दिया। यही नहीं जैन धर्म सूत्रग्रंथ (महावीर स्वामी कृत पन्नवणा सूत्र) में मनुष्य चारण का प्रसंग मिलता है। कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में चारण कवियों के हँसने का उल्लेख किया है (रा० त० ७।११२२)।

इन प्रसंगों द्वारा चारणों की प्राचीनता, उनका कार्य तथा उनका संमान और पवित्र कर्तव्य स्पष्ट होता है। कर्नल टाड ने लिखा है: इन राज्यों में चारण मान्य जाति के रूप में प्रतिष्ठित हैं। १९०१ के जनगणना विवरण में कैप्टन बेनरमैन ने चारणों के लिये लिखा है: चारण पवित्र और बहुत पुरानी जाति मानी जाती है। इसका वर्णन रामायण और महाभारत में है। ये राजपूतों के कवि हैं। ये अपनी उत्पत्ति देवताओं से होने का दावा करते हैं। राजपूत इनसे सदैव संमानपूर्वक व्यवहार करते हैं। ये बड़े विश्वासपात्र समझे जाते हैं। इनका दर्जा ऊँचा है। ये अक्सर बारहठ के नाम से पुकारे जाते हैं।

मारवाड़ में रहनेवाले चारण मारू तथा कच्छ के कच्छा कहलाते हैं। गुजरात के चारणों ने तो अब अपना चारणपन छोड़ दिया है पर अभी मारू चारण यथावत् हैं। उपर्युक्त उद्धरणों के अनुसार चारण जाति देवता जाति थी, पवित्र थी, जिसको सुमेर से हिमालय पर और हिमालय से भारत में लाने का श्रेय महाराज पृथु को है। यहीं से ये सब राजाओं के यहाँ फैल गए। चारण भारत में पृथु के समय से ही प्रतिष्ठित रहे हैं। परंतु आधुनिक विद्वान् इसे सत्य नहीं मानते। श्री चंद्रधर शर्मा लिखते हैं: ब्राह्मणों के पीछे राजपूतों की कीर्ति बखाननेवाले चारण और भाट हुए (ना० प्र० प०, भाग १, पृ० २२६–२३१, सं० १६६७)।

डा० उदयनारायण तिवारी ने अपने ग्रंथ वीरकाव्य में चारणों पर थोड़ा सा प्रकाश डाला है। उसमें वे पीटर्सन की रिपोर्ट का जिक्र मुरारी कवि के श्लोक में उद्धृत शब्दों — चारणगीत [illegible] का विश्लेषण करते हुए उनका समय ८वीं ९वीं शता[illegible] मानते हैं। हरि कवि के श्लोकसंग्रह सुभाषित हारावली [illegible] संस्कृत कवियों के समकालीन ठहरते हैं, जिसमें डा० तिवारी का [illegible] नहीं है। पं० हरप्रसाद शास्त्री चारणों का काल १५वीं शताब्दी का अंतिम भाग मानते हैं। लेकिन ११वीं, १२वीं और १३वीं शताब्दी के हस्तलिखित ग्रंथों में चारण शैली का प्रयोग किया गया है। सौराष्ट्र में १२वीं शताब्दी में हुए जयसिंह के राज्यकाल में भी चारण थे। [illegible]दास खीची री वचनिका तथा ढोला मारू जैसे लोककाव्यों [illegible] चारणों की चर्चा मिल जाती है। डा० तिवारी ने [illegible] १२० कुलों की सूचना दी है और उनके अन्य कुलों [illegible] ब्राह्मणों तथा राजपूतों से बताई है। फिर भी समय और [illegible] उद्भव के संबंध में अनिश्चितता है। लेकिन यह [illegible] मारू चारण राजस्थान के शृंगार रहे हैं तथा उनका [illegible] पर्याप्त प्राचीन रहा होगा। यों १५वीं शताब्दी में उदयपुर, [illegible], जयपुर, जोधपुर, जैसलमेर, कोटा, बूँदी आदि लगभग सभी [illegible] राजकुलों में चारण कवियों की बहुत संमानित [illegible], राजा लोग चारणों का तथा उनके काव्यों का [illegible] हैं, यहाँ तक कि उन्हें लाख पसाव करोड़ पसाव, जागीर, [illegible] उपाधियाँ आदि देकर अपना काव्यप्रेम प्रकट करते रहे हैं। [illegible] महाराज मानसिंह ने तो चारणों के लिये ही यह छंद बनाया था:

> [illegible]रण मुहर महलोक [illegible]रथ परमारथ हो दियण [illegible]
> चारण कहण जथारथ जोड़े चारण बड़ा अमोलक चो[illegible]

चारण हिंदू हैं, वे किसी संप्रदायविशेष से संबंधित नहीं हैं। करणी[illegible] उनकी कुलदेवी हैं। बीकानेर के पास उनका मंदिर है। आज भी ये 'करणीमाताजी' कहकर ही बात करते हैं। ये 'माता' के पूजक और शाक्त हैं।

चारणों ने पर्याप्त साहित्यसृजन किया है। १५वीं शताब्दी के [illegible] से लेकर वंशभास्कर जैसे ग्रंथों की रचना का श्रेय चारणों को ही है। डिंगल शैली और गीतरचना चारणों की मूल विशेषता कही जा सकती है। मारू चारण आज भी सैकड़ों हजारों छंद कंठस्थ किए रहते हैं। परंतु इतनी बड़ी परंपरा होते हुए भी चारण अब अपने कर्तव्य से श्लथ होते जा रहे हैं।

(२) भाट—चारण के समान भाट (संस्कृत भट्ट से व्युत्पन्न शब्द) भी काव्यरचना से संबंधित हैं लेकिन इनके विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। भाट शब्द भी भाट जाति का परिचायक है। राजस्थान में चारणों की भाँति भाटों की जातियाँ हैं। उत्तर प्रदेश में भी इनकी श्रेणियाँ हैं, लेकिन थोड़े बहुत ये समस्त उत्तर भारत में पाए जाते हैं। दक्षिण में अधिक से अधिक हैदराबाद तक इनकी स्थिति है। इनके वंश का मूलोद्गम क्या रहा होगा, यह कहना कठिन है। जनश्रुतियों में भाटों के संबंध में कई प्रचलित बातें कही जाती हैं। इनकी उत्पत्ति क्षत्रिय पिता और विधवा ब्राह्मणी माता से हुई बताई जाती है। नेस्फील्ड के अनुसार ये पतित ब्राह्मण थे, बहुधा राजदरबारों में रहते, रणभूमि के वीरों की शौर्यगाथा जनता को सुनाते और उनका वंशानुचरित बखानते थे। किंतु रिजले का इसमें विरोध है। पर इन बातों द्वारा सही निर्णय पर पहुँचना कठिन है। वस्तुतः यह एक याचकवर्ग है जो दान लेता था।

विद्वानों की मान्यता है कि भाट लोग भी चारणों की भाँति प्राचीन हैं। परंतु यह सच नहीं है। असल में यह चारणों के बाद की एक याचक जाति है जो स्तुति करने से अधिक वंशक्रम रखती है और उसे अपने आश्रयदाताओं को सुनाती है। कहते हैं, चारण तो कच्छ में ही हैं पर भाट सर्वत्र पाए जाते हैं, विशेषकर जोधपुर, बीकानेर, शेखावाटी आदि में भाटों का पर्याप्त प्रभाव है, मालवा में भी भाट अधिक हैं। ये बातें सही हो सकती हैं, परंतु ये सब भाट वे नहीं हैं जिनका काम साहित्यसृजन रहा है। चारण तो केवल राजपूतों के ही दानपात्र होते हैं, पर भाट सब जातियों से दान लेते हैं। ऐसी स्थिति में भाटों की जातियाँ राजस्थान में सैकड़ों हैं। यद्यपि भाटों में कुछ अच्छे कवि हो गए हैं, पर सभी भाट कवि नहीं हैं। राजस्थान में प्रत्येक जाति के अपने भाट मिल जाएँगे। भाटों के संबंध में बड़ी विचित्र बातें उपलब्ध होती हैं। एक दोहा उनके अंतर को स्पष्ट करने में पर्याप्त है :

भाट टाट अम मेंडरी हर काहू के होय।
पर चारण बारण मानसी जे गढपतियों के होय॥

चारणों के भी भाट होते हैं। रामासरी तहसील सोजत में चारणों के भाट चतुर्भुज जी थे। हरिदान अब भी चारणों के भाट हैं। भाटों के संबंध में एक कथा प्रचलित है। जोधपुर के महाराज मानसिंह महाराज अहमदनगर (ईडर) से तख्तसिंह को गोद लाए। तख्तसिंह के साथ एक भाट आया जिसका नाम बाघाजी भाट था। यहाँ लाकर चारणों को नीचा दिखाने के लिये उसे कविवर की पदवी दी। दो गावँ भी दिए। परंतु बाघा को कविता के नाम पर कुछ भी नहीं आता था। आजकल उसी बाघा के लिये राजस्थान में यह छप्पय बड़ा प्रचलित है :

जिण बाघे घर जलमगीत छावलियाँ गाया।
जिण बाघे घर जलम थरों घर नंग घुराया॥
जिण बाघे घर जलम लदो जालद लूणाँ री।
जिण बाघे घर जलम गुँथी तापड़ शूणाँ री।
बेला केइ बणाबास देखो माग ही हुनर साभिया।
गत राम तणी देखो गजब बाघा कविवर बाजिया॥

इस तरह इस छप्पय में जालदिया नंग बजानेवाले, छावलियाँ गानेवाले, तापड़ों की शूण गूँथनेवाले, विराजोग, बासदेवा के स्वांग लानेवाले, कावड़िया, तथा कूकरिया (मुसलमान), आदि अनेक भाट पेशों के अनुकूल भाट बने हुए हैं। डिंगल साहित्य में चारणों की भाँति कोई भी गीत या छंद भाटों द्वारा लिखा हुआ नहीं मिलता, ऐसी स्थिति में भाटों का नाम चारणों के साथ कैसे लिया जाने लगा, यह समझ में नहीं आता। निश्चित रूप से यह चारण जाति को उपेक्षित करने लिये किसी चारणविरोधी का कार्य रहा होगा। अन्यथा वंशावलियाँ पढ़कर भीख माँगनेवाले प्रत्येक पेशा और व्यापार करनेवाले सैकड़ों प्रकार की जातियों के विविध भाटों की क्या चारणों से समता हो सकती है ?

कविराज राव रघुवरप्रसाद द्वारा लिखित और प्रकाशित भट्टाख्यानम् नामक छोटी सी पुस्तक में कवि ने खींचातानी से प्रमाण जुटाकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भाट शब्द ब्रह्मभट्ट से बना है, उसे ब्रह्मराव भी कहा गया है। भट्ट जाति की उत्पत्ति का प्रतीक पुरुष ब्रह्मराव था जिसे ब्रह्मा ने यज्ञकुंड से उत्पन्न किया था। भाट स्वयं को कभी सूत, मागध और वंदीजन कहकर अपने को सरस्वतीपुत्र कहने लगते हैं और कभी अग्निकुंड से उद्भूत बताते हैं।

भाट लोग भाटों और ब्राह्मणों में कोई अंतर नहीं मानते, परंतु यह बात अवैज्ञानिक लगती है। यों भी ब्राह्मण भाट की उत्पत्ति एक होने का कोई तुक नहीं।

उनका यह भी कहना है कि वे राव हैं। परंतु चारण राव की भाँति भाट राव आज तक कहीं उपलब्ध नहीं होते। हाँ, बोलचाल में आज भी राजस्थान में भटैती तथा भटैत शब्द बड़े प्रचलित हैं। मेवाड़ में तो भटैती पंचायत करने को भी कहते हैं और भटैत पंच को। साथ ही जो आदमी बहुत पढ़ता है वह भी भटैत कहलाता है। लगता है, भटैती करनेवालों का नाम इसी कारण भाट हो गया होगा। आगे चलकर भाटों ने चारणों में अपने कर्तव्य के प्रति शिथिलता देखी तो उन्होंने कविकर्म प्रारंभ कर दिया होगा। यों भी भाटों में कुछ कवि अच्छे हुए हैं। इसीलिये चारणों के साथ साथ भाटों का भी नाम लिया जाने लगा है। अन्यथा साहित्य के क्षेत्र में जैसा योगदान चारणों का है वैसा भाटों का नहीं।

पूर्वोत्तर भारत के भाट कट्टर हिंदू हैं। वे वैष्णव या शाक्त हैं। शिव की पूजा वे गौरीपति के रूप में करते हैं। बड़े वीर, महावीर और शारदा इनके देवता हैं। इनमें भवानी या देवी की भी पूजा प्रचलित है। उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों में मुस्लिम धर्मावलंबी भाट भी पाए जाते हैं। कहा जाता है, ये शहाबुद्दीन गौरी के समय में मुसलमान बना लिए गए थे। इनमें प्रचलित रीति रिवाजों पर हिंदू रीतियों की पूरी छाप है। इनकी कुछ जातियाँ पद्यगीत बनाकर भीख माँगती हैं। बिहार में उनकी सामाजिक आर्थिक स्थिति सामान्य हिंदुओं से किंचित् भिन्न और निम्न है। पूर्वी बंगाल के भाट अधिकांशतः शाक्तपूजक हैं।

सं०ग्रं०—कल्हण : राजतरंगिणी; रिजले : ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स, १८९१; डब्ल्यू० क्रुक : ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑव द नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज ऐंड अवध, खंड २, १८९६; विल्सन : इंडियन कास्ट्स, भाग २. कविराज मुरारीदान : संक्षिप्त चारण ख्यात, सं० १९९१; डा० उदयनारायण तिवारी : वीर काव्य, भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग; कविराजा श्यामलदान का इतिहास, सज्जन यंत्रालय, उदयपुर सं० १८९३। [ह० शं० शा०]

चारसद्दा देखिए पुष्कलावती।

चारी नृत्य की विशेष क्रिया। सामान्यतः शृंगारोद्दीपक नृत्य क्रिया को चारी कहा जाता है। कुछ लोग विशेष पदविन्यास को ही यह नाम देते हैं। भू और आकाश इसके दो मुख्य भेद हैं।

भूचारी में छब्बीस और आकाशचारी में सोलह क्रियाएँ संनिहित हैं। इन सभी क्रियाओं के लिये संयम और श्रम नितांत अपेक्षित है।

चार्टर किसी व्यक्ति, संस्था अथवा प्रजा को भूमि, मकान, संमान, राजनीतिक अधिकार आदि के दिए जाने का जिस राजकीय पत्र में उल्लेख रहता है, इंग्लैंड में उसे चार्टर (अधिकारपत्र) कहा गया है। राज्य के धर्माधिकारियों और जमींदारों की माँगों का पत्रक जिसे १२१५ में इंग्लैंड के राजा जान ने स्वीकार किया मैग्नाकार्टा, ग्रेट चार्टर (महाधिकार पत्र) के नाम से प्रसिद्ध है। बाद के कुछ राजाओं अथवा सम्राटों द्वारा अधिकारों की पुष्टि में भी चार्टर शब्द का प्रयोग किया गया है। १८३८ तक इंग्लैंड में प्रजा के कुछ अधिकारों की स्वीकृति

के लिये प्रबल आंदोलन हुआ था। देशों में व्यापार करनेवाली संस्थाओं को प्राप्त अधिकार 'चार्टर' द्वारा दिए जाते थे। उन अधिकारों के आवेदन के लिये भी चार्टर शब्द का उपयोग किया गया है।

विश्व के उत्तम भविष्य की कामना से द्वितीय महायुद्ध के बीच अमेरिका के प्रेसिडेंट फ्रैंकलिन रूजवेल्ट और इंग्लैंड के प्रधान मंत्री विंस्टन चर्चिल की ऐटलांटिक महासागर से अगस्त, १६४१ में प्रकाशित विज्ञप्ति और महायुद्ध की समाप्ति से पहले ही संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के संबंध में विश्व के कई राष्ट्रों के हस्ताक्षरोंवाली सैन फ्रांसिस्को की जून, १६४५ की घोषणा के लिये भी चार्टर (ऐटलांटिक चार्टर, यूनाइटेड नेशंस चार्टर) शब्द का उपयोग किया गया है। [त्रि० पं०]

चार्टर आंदोलन १८१४ में फ्रांस में नेपोलियन की पराजय के बाद इंग्लैंड की कठोर और उग्र नीति के कारण देश के निर्धन और उपेक्षित कारीगरों, मजदूरों और किसानों को अनेक वर्षों तक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। रोजगार की कमी, अल्प वेतन और अनाज के ऊँचे भावों ने दिन दिन उनके कष्टों में वृद्धि की। निर्धन सहायता कोश से भी उन्हें पर्याप्तसहायता नहीं मिलती थी। १८३० में लंकाशायर और यार्कशायर की मिलों में १२ घंटों तक निरंतर काम करने के बाद एक मजदूर को केवल चार शिलिंग प्रति दिन मिलता था। कहीं कहीं निर्धनता-सहायता-कोश से प्राप्त धन सहित उसकी साप्ताहिक आय ३ शिलिंग १ पेंस थी। ४ पौंड की एक रोटी १ शिलिंग में मिलती थी। लगभग ऐसी ही स्थिति अन्य स्थानों में भी थी भोजन की समस्या ही कठिन थी, अन्य सुविधाओं की बात यह वर्ग सोच ही नहीं सकता था। अपनी स्थिति से यह इतना असंतुष्ट था। कि उस वर्ष उसने कई स्थानों पर श्रीमंतों के घास के गट्ठरों में आग लगाकर और कहीं मिलों में मशीनों की तोड़ फोड़ कर अपना रोष व्यक्त किया था। राजनीतिक अधिकारों में इस वर्ग का कोई स्थान न था और न उसकी कहीं सुनवाई थी। यद्यपि १७६३ में 'फ्रेंड्स ऑव दि पीपुल', १८१६ में 'बर्मिघम पोलिटिकल यूनियन' और १८१६ में 'मैंचेस्टर ब्लैंकेटियर्स' संस्थाएँ इस वर्ग की स्थिति को सुधारने के लिये संगठित हुई और उन्होंने इस दिशा में कार्य भी किया, किंतु उन्हें अपने प्रयत्नों में सफलता नहीं मिली। १८३२ के पार्लमेंट के सुधार कानून से उन्हें कुछ आशा हुई थी, किंतु पार्लमेंट ने जो सुधार कानून बनाए, उनमें इस वर्ग के उद्धार की कोई व्यवस्था न थी। व्यापार यूनियनों के संगठन द्वारा उनकी स्थिति को सुधारने का राबर्ट ओवेन का प्रयास भी असफल रहा था। ऐसी स्थिति में उनके हितचिंतकों का यह विचार प्रबल होता गया कि पार्लमेंट की सदस्यता और सदस्यों के निर्वाचन का अधिकार पाए बिना उनकी मुक्ति संभव नहीं है। श्रमिक कार्य करने के उद्देश्य से १८३६ में 'लंदन वर्किंग मेंस एसोसिएशन' की स्थापना हुई। दो वर्षों में ही इसके समर्थकों की संख्या बढ़ गई। इस संस्था को दो उत्साही कार्यकर्ताओं—लोवेट और फ्रांसिस प्लेस—ने १८३८ में संस्था की ओर से प्रजाधिकारपत्र (पीपुल्स चार्टर) प्रकाशित किया। इस अधिकारपत्र में वयस्क मताधिकार, गुप्त मतदान, पार्लमेंट का वार्षिक निर्वाचन, सदस्यों के वेतन, संपत्ति पर आधारित मतदान योग्यता की समाप्ति और समान निर्वाचनमंडल, इन छः बातों की माँग थी। सरकार से इन मांगों को मनवाने के लिये इंग्लैंड में जबर्दस्त आंदोलन हुआ। यह आंदोलन चार्टरवाद आंदोलन के नाम से प्रसिद्ध है। सार्वजनिक सभाओं, व्याख्यानों, प्रचार समितियों, प्रकाशनों, समाचारपत्रों, जलूसों आदि सभी का इस कार्य में उपयोग किया गया। समग्र देश से माँगों के समर्थन में हस्ताक्षरों का संग्रह किया गया। १८३६ के प्रारंभ में पार्लमेंट भवन के समीप वेस्टमिंस्टर प्रासाद की भूमि में अधिकारपत्र के समर्थकों का राष्ट्रीय संमेलन हुआ और १४ जून को १२,२५,००० व्यक्तियों के हस्ताक्षरों सहित अधिकारपत्र पार्लमेंट की स्वीकृति के लिये भेज दिया गया। पार्लमेंट के अभिजातवर्गीय और श्रीसंपन्न सदस्य अपनी जड़ काटनेवाली अधिकारपत्र की इन उग्र मांगों को स्वीकार नहीं कर सकते थे। पार्लमेंट ने प्रजा का आवेदन अस्वीकृत कर दिया। सरकार के निर्णय के विरोध में सभाओं, हड़तालों, तोड़ फोड़ और दंगों के रूप में बर्मिंघम, शेफील्ड और न्यूकासिल आदि कई स्थानों पर उपद्रव हुए। सरकार ने उपद्रवों के दमन में कठोरता बरती। आजीवन कारावास, निर्वासन और प्राणहरण के दंड दिए गए। मांगों की पूर्ति के साधनों के उपयोग के संबंध में आंदोलनकारियों में दो दल हो गए। लोवेट और दक्षिणी प्रांतों के उसके समर्थक सांविधानिक और शांतिमय उपायों के पक्ष में थे। किंतु आयर्लैंड के ओकोनर और उत्तरी प्रांतों के उनके अनुयायी उग्र और हिंसात्मक उपायों को भी काम में लाना चाहते थे। तोड़ फोड़ के कार्यों में इनका पूरा सहयोग था। सरकार की सतर्कता और तैयारी के कारण इनके प्रयत्न असफल रहे। आंदोलन पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुआ। १८४२ में एक दूसरा आवेदन पार्लमेंट में भेजा गया पर उसकी भी पहले आवेदन जैसी गति हुई। इस वर्ष के बाद यह आंदोलन शिथिल हो गया। अधिकांश व्यक्तियों का ध्यान १८१५ के प्रजापीड़क अनाज कानून को रद्द कराने और सस्ते अनाज की प्राप्ति के प्रयत्नों में लग गया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये १८३८ में ही 'एंटी कार्न ला लीग' की स्थापना हो चुकी थी। चार पांच वर्षों में लीग ने अपने कार्य में काफी प्रगति कर ली थी। मध्यम वर्ग इस आंदोलन का समर्थक था। सरकार की उग्र नीति और हिंसात्मक कार्यों के विषम परिणाम के कारण बहुत से मजदूर भी इसके समर्थक हो गए। पार्लमेंट में अनाज कानून को रद्द कराने के प्रस्ताव लाए गए। १८४५ में आयर्लैंड में आलू के अकाल और मजदूर वर्ग की दयनीय स्थिति ने अनाज के संबंध में संरक्षणनीति के कुछ समर्थकों को भी मतपरिवर्तन करने के लिये बाध्य किया। १८४६ में पार्लमेंट ने अनाज कानून रद्द कर दिया। बाहर से अनाज के आने की सुविधा से मजदूरों और किसानों की भी स्थिति में कुछ सुधार हुआ। पर मताधिकार से वे अभी भी वंचित थे। ओकोनर और उनके समर्थक समय समय पर अधिकारपत्र की माँगों की चर्चा करते रहते थे। इस बीच ओकोनर पार्लमेंट का सदस्य भी निर्वाचित हो चुका था। जब १८४८ में यूरोप के कुछ देशों में क्रांतियाँ हुईं, उन्होंने नया आवेदन भेजने के लिये फिर हस्ताक्षर संग्रह कराए। सरकार की सतर्कता के कारण कैनिंगटन कामन में आयोजित विशाल सभा न हो सकी और लंदन में पार्लमेंट के समक्ष प्रदर्शन करने का विशाल समूह का अभियान भी कार्यान्वित न हो सका। पर २० लाख से अधिक हस्ताक्षरों का आवेदन इस बार भी पार्लमेंट को भेजा गया। आवेदन की छानबीन से मालूम हुआ कि उसमें बहुत से जाली हस्ताक्षर थे। राज्य की अधिपति रानी विक्टोरिया और उसके पति तथा आंदोलन के प्रबल विरोधी वेलिंग्टन के ड्यूक के भी आवेदन में हस्ताक्षर थे। पार्लमेंट ने आवेदन का कोई महत्व न दिया और इस बार की असफलता के बाद यह आंदोलन समाप्त हो गया। पर चार्टरवादियों की माँगों के सिद्धांत सारहीन न थे। पार्लमेंट के वार्षिक निर्वाचन के अतिरिक्त सभी माँगें भविष्य में मान ली गईं। उस समय की परिस्थिति में इन मांगों की स्वीकृति संभव न थी। [मि० चं०]

चार्नाक जॉब (मृत्यु १६९३ ई०) जीविकोपार्जन के उद्देश्य से १६५६ या '५७ में भारत आया। ईस्ट इंडिया कंपनी में प्रथमतः कासिमबाजार काउंसिल के जूनियर मेंबर के पद पर उसकी नियुक्ति हुई। फिर, कंपनी की फैक्टरी के मुख्य अधिकारी के रूप में वह पटना स्थानांतरित हुआ। वहीं एक भारतीय महिला से उसने विवाह भी किया। एक तत्सामयिक अंग्रेज, कैप्टेन हैमिल्टन, के कथनानुसार उक्त महिला अपने पूर्वपति की मृत देह के साथ सती होने जा रही थी कि चार्नाक की दृष्टि उसपर पड़ी। उसके सौंदर्य पर मुग्ध हो, चार्नाक ने चिता से ही उसका हरण कर लिया तथा बाद में, वैवाहिक जीवन के अनेक सुखद वर्ष उसके साथ व्यतीत किए। उसकी मृत्यु पर चार्नाक ने उसे समाधिस्थ किया तथा स्थानीय प्रथा के अनुसार, प्रति वर्ष समाधि पर मुर्गे की बलि अर्पित करता रहा। तदनंतर वह कासिमबाजार फैक्टरी का चीफ एजेंट नियुक्त हुआ। किंतु, बंगाल के सूबेदार नवाब शाइस्ता खाँ का कोपभाजन बनने के कारण उसे हुगली भागना पड़ा। मुख्य अधिकारी के नाते हुगली में उसने कंपनी के व्यवसाय की व्यवस्था की। मुगल राज्य से कंपनी का संघर्ष छिड़ जाने पर विवश होकर, चार्नाक ने दलबल सहित कुछ दूर नीचे नदी के तटवर्ती स्थान सुतानुती पर डेरा डाला। इस समय यद्यपि सुतानुती एक छोटा, अविकसित, ग्राम मात्र था, किंतु चार्नाक ने उसका युद्धोपयोगी महत्व समझकर, उसे अंग्रेजी अधिवास में परिणत करने का निश्चय कर लिया। यही वह बीज था जो निकट भविष्य में फोर्ट विलियम तथा कलकत्ता नगर के रूप में पल्लवित हुआ।

सुतानुती में, अपर्याप्त साधन के बावजूद चार्नाक ने कुशलतापूर्वक मुगल सेना का विरोध किया। संकटापन्न परिस्थिति में कैप्टेन डेनहम के नेतृत्व में सैनिक सहायता (सत्तर सिपाही) प्राप्त होने पर, चार्नाक ने उन्हीं सैनिकों को बार बार गुप्त रूप से किले के बाहर, और नदी तट पर उतारकर मुगल सेनानायक अब्दुस्समद को भ्रम में डाल दिया कि चार्नाक के सहायतार्थ यथेष्ट सैनिक आ पहुँचे हैं। हतोत्साह हो, अब्दुस्समद ने संधिवार्ता आरंभ कर दी। इस प्रकार प्रायः एक वर्ष तक चार्नाक मुगल सेना का विरोध करता रहा। अंततः उसे साथियों सहित सुतानुती छोड़, मद्रास जाने के लिये विवश होना पड़ा। किंतु बंगाल में अंग्रेजों से व्यावसायिक आमदनी बंद हो जाने के कारण, सम्राट् औरंगजेब ने अंग्रेजों को पुनः बंगाल लौटने तथा व्यवसाय स्थापित करने की अनुमति दे दी (१० फरवरी, १६९०)। चार्नाक ने पुनः बंगाल लौट, सुतानुती में अंग्रेजी अधिवास का पुनर्निर्माण किया। अनेक प्रारंभिक कठिनाइयों के होते हुए भी, अब अधिवास का जीवन सुरक्षित था। भारत में दीर्घकाल तक निवास करते रहने तथा सतत संघर्षमय जीवन व्यतीत करते करते अब चार्नाक का स्वास्थ्य नष्ट हो चुका था। प्रकृति से भी वह विषण्ण और क्रूर हो गया था। १० जनवरी, १६९३ को उसकी मृत्यु हो गई।

सं० ग्रं०—जे० टी० ह्वीलर : अर्ली रेकार्ड्स ऑव ब्रिटिश इंडिया; सी० आर० विल्सन : दि अर्ली एनल्स ऑव दि इंग्लिश इन बंगाल।

[रा० ना०]

चार्लवील (Charleville) १. स्थिति : ४९° ४४' उ० अ० तथा ४° ४०' पू० दे०। यह उत्तर-पूर्व फ्रांस में म्यूज नदी के तट पर बसा है। इसके उत्तर में ५० मील दूर प्रसिद्ध नगर लक्सेमबर्ग तथा दक्षिण-पश्चिम में लगभग ८० मील दूर पेरिस स्थित है। यह समशीतोष्ण कटिबंध में पड़ता है। यहाँ की जलवायु पर अटलांटिक महासागर का बहुत प्रभाव है। यहाँ की जलवायु उपमहासागरीय है। यहाँ पर स्टोव, मोटर के पुर्जे, धातु के सामान, मिट्टी की पाइप, ईंटें इत्यादि बनाई जाती हैं। प्रथम महायुद्ध के समय यह जर्मन सेना का मुख्य कार्यालय था।

२. स्थिति : ५२° २१' उ० अ० तथा ८° ४०' प० दे०। यह आयरलैंड का नगर है। यह मैलो नगर से १५ मील दूर उत्तर में स्थित है। इसे राथल्यूरिक (Rathluric) भी कहते हैं। यहाँ पर रेलवे जंकशन और कृषि बाजार (डेयरी की वस्तुएँ, आलू, ओट इत्यादि) हैं। वार्षिक वर्षा लगभग ३५" होती है। जुलाई में ताप लगभग १५° सें० और जनवरी में लगभग ५° सें० रहता है। यहाँ शलजम तथा आलू की खेती होती है तथा डेयरी उद्योग भी यहाँ है।

३. स्थिति : २४° २४' द० अ० तथा १४६° १५' पू० दे०। यह आस्ट्रेलिया में क्वींजलैंड का नगर है। यह वारीगो (Warrego) के तट पर बसा है जो डार्लिंग की सहायक नदी है। इसके ठीक पूर्व में ग्रेट डिवाइडिंग रेंज पश्चिम से पूर्व दिशा में फैला है। समुद्रतल से इसकी औसत ऊँचाई लगभग ८०० फुट है। यह ग्रेट आस्ट्रेलियन बेसिन में पड़ता है। यह समशीतोष्ण कटिबंध में पड़ता है। यहाँ का औसत ताप लगभग २७ सें० और जुलाई में ५° सें० रहता है। यहाँ पर यूकेलिप्टस के वृक्ष मिलते हैं। यहाँ मक्का उगाया जाता है तथा अनन्नास के बागान हैं।

[हे० प्रि० दे०]

चार्ल्स इतिहास से हमें विभिन्न देशों के अनेक चार्ल्स नाम के शासकों का परिचय प्राप्त होता है। यहाँ हम उनमें से प्रमुख चार्ल्सों का ही उल्लेख करेंगे।

चार्ल्स आगस्टस (१७५७–१८२८) सैक्स वेमार का बड़ा ड्यूक; उसकी अल्पावस्था में ही उसके पिता की मृत्यु हो गई अतएव शासन उसकी माता के हाथों में आया। उसकी माँ ने बड़ी ही कुशलता से १७७५ ई० तक शासन संचालित किया। राज्याभिषेक होने पर उसका शासन उदारता के सिद्धांतों पर स्थापित हुआ। उसने जनकल्याण के अनेक सराहनीय कार्य किए। उसने गोथ संस्कृति का संरक्षण लिया तथा जेना के विश्वविद्यालय को वास्तविक रूप से ज्ञान का केंद्र बना दिया। इसी के शासन से प्रशा का सांस्कृतिक पुनरुत्थान प्रारंभ होता है। उसने क्रांतिकारी युद्धों में भी भाग लिया और नैपोलियन के विरुद्ध कई मोर्चे लिये। १८१२ ई० में जब वह अपने ही विनाशकारी युद्धों पर उतर आया तो उसके ज्वार को अवरुद्ध करने में चार्ल्स ने अपूर्व धैर्य और उत्साह का प्रदर्शन किया। नैपोलियन की पराजय के उपरांत वह वियना की कांग्रेस में एक विजेता राष्ट्र के प्रतिनिधि की भाँति संमानित हुआ और वियना कांग्रेस को वार्ता को संतुलन देने की पूरी चेष्टा की। इस अधिवेशन में ऐसे कई अवसर आए जहाँ उसे मैटरनिक की प्रतिक्रियापूर्ण नीतियों को युग की पुकार से एक साम्य देना पड़ा। उसने अपनी डची में एक उदार विधान लागू किया।

[गि० शं० मि०]

चार्ल्स एडवर्ड चार्ल्स स्टुअर्ट (१७२०–१७८८) जो यंग प्रिटेंडर के नाम से विख्यात था। वह ओल्ड प्रिटेंडर (जेम्स तृतीय) का ज्येष्ठ पुत्र था। पोलैंड और आस्ट्रेलिया के उत्तराधिकार युद्धों में उसने प्रमुख भाग लिया था तथा डिटेंगहम के युद्धक्षेत्र में उसे विशेष ख्याति प्राप्त हुई थी। इंग्लैंड में स्टुअर्ट वंश को पुनःस्थापित करने की उसकी

महत्वाकांक्षा थी और इस उद्देश्य से १७४५ ई० में इंग्लैंड पर आक्रमण किया तथा स्कॉटलैंड में शासनसत्ता स्थापित करने में वह कुछ अंश तक सफल रहा। स्कॉटलैंड से उसकी चेष्टाएँ इंग्लैंड तक पहुँचने की निरंतर होती रहीं, किंतु उसके कुचक्रों की सूचना इंग्लैंड को समय से होती रही और अंत में सभी दिशाओं से खदेड़े जाने पर उसने भागकर फ्रांस में शरण ली। फ्रांस और इंग्लैंड का जो दीर्घ मनोमालिन्य था उस पृष्ठभूमि में उसे वांछनीय वातावरण प्राप्त हुआ। किंतु फ्रांस की राजनीति में उसका हस्तक्षेप समझा गया और वहाँ से भी वह निष्कासित किया गया। उसका अवशिष्ट जीवन महाद्वीप में शरण की तलाश में इधर उधर भटकते रहने में बीता। वह ऐसे प्रत्येक अवसर की प्रतीक्षा में रहता था जिसका लाभ उठाकर इंग्लैंड में स्टुअर्ट वंश को पुनःस्थापित कर सके। किंतु इंग्लैंड की जनता अब जनतांत्रिक प्रणाली को पूर्णतः अपना चुकी थी। उसे स्टुअर्ट उत्तराधिकार और कैथोलिक षड्यंत्रों से आशंका पैदा हो गई थी। अतः उसकी गणना और योजनाएँ सभी निराधार सिद्ध हुईं और इंग्लिश इतिहास में वह 'झूठा दावेदार' विशेषण से संबोधित किया गया। [गि० शं० मि०]

चार्ल्स (बरगंडी) चार्ल्स द बोल्ड (१४३३ से १४७७) बरगंडी का चतुर्थ और अंतिम ड्यूक तथा फिलिप द गुड का पुत्र था। पिता की अस्वस्थता के कारण १४६५ में बरगंडी की डची का वास्तविक शासक हुआ और यहीं से इसकी राजनीतिक शिक्षा प्रारंभ हुई। अपने समकालीन शासक लुई एकादश के उद्देश्यों को विफल कर देने का इसने भरसक प्रयत्न किया तथा आगे चलकर उसकी पुत्री कैथरिन से विवाह भी किया। १४६६ में उसने लीग के विद्रोह को दबाया और १४६७ में वह इस डची का उत्तराधिकारी बना। लुई से उसका संघर्ष निरंतर चलता रहा तथा १४६८ में उसने फ्रांस पर आक्रमण भी किया। उसकी हार्दिक आकांक्षा थी कि मध्य यूरोपीय साम्राज्य पुनः स्थापित हो। वह फ्रांस के राज्यमुकुट को भी हथियाना चाहता था। लुई से उसे बार बार परास्त होना पड़ा। अंततः उसे भागना पड़ा और मार्ग में ही वह मार डाला गया। उसकी मृत्यु से बरगंडी के ड्यूकों की पुरुष-उत्तराधिकार-शृंखला समाप्त हो गई। उसकी एकमात्र पुत्री मेरी ने फ्रांस के परे अपने पिता के प्रदेशों पर शासन किया।

चार्ल्स का समस्त जीवन माध्यमिक युद्धप्रयासों में ही गुजरा। लुई की प्रतिद्वंद्विता में रहने के कारण उसकी प्रशासकीय क्षमता का परिचय यथेष्ट नहीं मिल सका। शासन की जड़ें मजबूत न होने के कारण उसकी मृत्यु के उपरांत ही अस्तव्यस्तता और अशांति फैलने लगी। उसकी क्षमता का उत्तराधिकारी न होने के कारण उसकी व्यवस्था शीघ्र ही लुप्त होने लगी। [गि० शं० मि०]

चार्ल्स प्रथम (१६००–४९) ग्रेट ब्रिटेन और आयर्लैंड का राजा (१६२५–४९) तथा जेम्स प्रथम का द्वितीय पुत्र। अपने बड़े भाई प्रिंस हेनरी की मृत्यु (१६१६) के बाद राजा हुआ। इंग्लैंड के इतिहास में इसके शासन का बड़ा महत्व है। अपने पिता के समान चार्ल्स के भी राज्याधिकारों के संबंध में निरंकुश विचार थे। दैवी अधिकार के सिद्धांत में उसका अटूट विश्वास था। यही कारण था कि अपने सारे शासनकाल में चार्ल्स का पार्लमेंट से मनमुटाव रहा तथा दोनों में झगड़ा होता रहा। फलतः यह समस्या उपस्थित हो गई कि इंग्लैंड में पार्लमेंट का शासन हो अथवा राजा का। चार्ल्स चाहता था कि बिना पार्लमेंट की अनुमति के वह लोगों को जेल भेज सके, कर लगा सके तथा जनसाधारण की इच्छा के विरुद्ध धार्मिक परिवर्तन कर सके। वह कामंस (लोक) सभा के अधिकारों तथा रियायतों पर कुछ भी ध्यान दिए बिना मनमाने रूप से देश पर शासन करना चाहता था। पार्लमेंट ने इसका विरोध किया, और जब राजा ने हठ किया तो पार्लमेंट से झगड़ने के फलस्वरूप उसे अपने प्राण देने पड़े। चार्ल्स के मंत्री भी उसके विश्वासपात्र नहीं थे। उसका व्यवहार सदा कपटपूर्ण रहता था। वह बहुत ही मूढ़, हठी तथा घमंडी था।

चूँकि इसकी पत्नी रोमन कैथोलिक थी इसलिये पहली ही पार्लमेंट में चार्ल्स ने कैथोलिक पत्नी के प्रति अपनी सहानुभूति दर्शाई। पार्लमेंट कैथोलिक मत के विरुद्ध थी इसलिये वह चार्ल्स के विरुद्ध हो गई। इसके अतिरिक्त, चार्ल्स ने बकिंघम नामक एक निकम्मे व्यक्ति को अपना विश्वस्त प्रियपात्र बनाया। जब पार्लमेंट से धनराशि स्वीकृत कराने का प्रश्न उठा तब पार्लमेंट ने यह शर्त रखी कि बकिंघम को पदच्युत करने पर ही ऐसा हो सकेगा। इसपर क्रुद्ध होकर चार्ल्स ने पार्लमेंट भंग कर दी। अब पार्लमेंट को प्रसन्न करने के लिये उसने स्पेन से युद्ध करने की ठानी। बकिंघम के नेतृत्व में उसने एक सेना केडिज़ भेजी, पर यह सेना बुरी तरह हार गई। इस प्रकार इस योजना में धन भी व्यय हुआ और हाथ भी कुछ न लगा। विवश होकर चार्ल्स को दूसरी पार्लमेंट बुलानी पड़ी। इस बार कामंस सभा ने जान इलियट के नेतृत्व में बकिंघम पर कई अभियोग लगाए। अपने स्नेहपात्र को बचाने के लिये चार्ल्स ने पार्लमेंट पुनः भंग कर दी। इसी बीच उसका फ्रांस से झगड़ा हो गया और ला रोशेल—जिसे फ्रांस के राजा ने घेर रखा था—के प्रोटेस्टेंट निवासियों को मुक्त कराने के लिये चार्ल्स ने पुनः एक सेना बकिंघम के नेतृत्व में भेजी, जो असफल रही। इसका व्यय पूरा करने के लिये चार्ल्स ने लोगों से बलात् ऋण लिया, पर यह धन पर्याप्त न था। विवश होकर चार्ल्स को पुनः पार्लमेंट बुलानी पड़ी। इस बार कामंस सभा ने एक अधिकारपत्र तैयार किया जिसमें चार्ल्स के मनमाने कृत्यों की आलोचना की गई, और यह कहा गया कि उनकी शिकायतों के दूर होने तक कोई अन्य अनुदान नहीं दिया जायगा। पर इस अधिकारपत्र के बावजूद चार्ल्स मनमानी करता रहा। उसने पुनः पार्लमेंट को भंग कर दिया और अब बिना पार्लमेंट के शासन करने का निश्चय किया।

इस प्रकार अपने शासन के पहले चार वर्षों में चार्ल्स ने तीन बार पार्लमेंट बुलाई और तीनों बार उससे झगड़ा कर उसे भंग कर दिया। तृतीय पार्लमेंट भंग करने के बाद सन् १६२९ से ग्यारह वर्ष तक चार्ल्स ने वैयक्तिक शासन किया। इस बीच वह लॉड तथा स्ट्रैफर्ड की राय से काम करता था। उसने अपने विरोधी नेताओं को बेरोक टोक जेल भेजना प्रारंभ कर दिया, लोगों की इच्छा के विरुद्ध उनपर अपने धार्मिक विचार मढ़ने लगा तथा अवैध करों के द्वारा धन एकत्र करने लगा। 'स्टार चेंबर' तथा 'हाई कमीशन' के कोर्ट चार्ल्स की नीति के सहायक थे। चार्ल्स की धार्मिक नीति के कारण धर्म की समस्या को लेकर स्कॉटलैंड में एक विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इसे दबाने के लिये चार्ल्स ने एक सेना भेजी। वह हार गई और अंत में चार्ल्स का ही अपमान हुआ। इसका बदला लेने के लिये चार्ल्स ने एक नई सेना संगठित करनी चाही। इसके लिये धन की आवश्यकता पड़ी। चार्ल्स ने एक पार्लमेंट बुलाई जो इतिहास में लघु पार्लमेंट के नाम से प्रसिद्ध है। इस बार भी कामंस सभा ने जब शिकायतें दूर होने पर ही अनुदान देने की बात चलाई तो

चार्ल्स ने पुनः पार्लमेंट भंग कर दी। थोड़ा बहुत धन जोड़कर उसने स्काटलैंड के विरुद्ध एक सेना भेजी पर फल कुछ न हुआ। धन की कमी के कारण चार्ल्स को पुनः पार्लमेंट बुलानी पड़ी जो दीर्घ पार्लमेंट के नाम से विख्यात है।

दीर्घ पार्लमेंट की बैठक होते ही स्टेफर्ड तथा लॉड को प्राण दंड दिया गया। इसके बाद पार्लमेंट ने संविधान का पुनरुद्धार किया। धर्म के विषय को लेकर कामंस सभा के नेताओं में मतभेद हो गया। इसपर चार्ल्स ने अपने अधिकारों की धाक जमानी चाही। फलस्वरूप सन् १६४२ में गृहयुद्ध प्रारंभ हो गया। प्रारंभ में विजय दृष्टिगोचर होते हुए भी नेज्बी तथा मार्स्टनमूर के युद्धों में चार्ल्स के समर्थकों की कमर टूट गई। चार्ल्स ने भागकर स्कॉटलैंड में शरण ली। बाद में वहाँ के निवासियों ने उसे पकड़कर पार्लमेंट के सुपुर्द कर दिया। इसके पश्चात् चार्ल्स का लेकर पार्लमेंट और सेना में कुछ तनातनी प्रारंभ हो गई। चार्ल्स ने दोनों पक्षों से षड्यंत्रपूर्ण बातें कर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहा। अंत तक कोई समझौता न हो सका। चार्ल्स ५६ जजों के एक उच्च न्यायालय के सामने पेश किया गया जिसने उसे मृत्युदंड दे दिया।

[मि० चं० पां०]

चार्ल्स द्वितीय (ग्रेट ब्रिटेन का) चार्ल्स प्रथम की मृत्यु पर दीर्घ पार्लमेंट ने राजतंत्र तथा लार्ड्स सभा को भंग कर दिया और इंग्लैंड को कामनवेल्थ घोषित किया। इसके बाद कुछ समय तक इंग्लैंड पर क्रामवेल के नेतृत्व में सेना का शासन चलता रहा। क्रामवेल की मृत्यु होने पर इंग्लैंड में राजतंत्र फिर से स्थापित हो गया और चार्ल्स द्वितीय इंग्लैंड के सिंहासन पर बिठा दिया गया। क्रामवेल की सैनिक निरंकुशता से लोग घबरा गए थे और प्यूरिटन मत के विरुद्ध हो गए थे। क्रामवेल की मृत्यु पर चारों ओर अराजकता फैल गई और लोग मनाने लगे कि इंग्लैंड में फिर से राजतंत्र स्थापित हो जाय। इसलिये जब चार्ल्स द्वितीय सिंहासनासीन हुआ तो लोगों के हृदय में उत्साह और राजभक्ति जागृत हो उठी। चार्ल्स प्रथम के समय में प्रजा में राजपद के प्रति जो कटुता उत्पन्न हो गई थी, उसे वे भूल गए।

चार्ल्स द्वितीय को जिस पार्लमेंट ने पुनः स्थापित किया था वह राजाज्ञा द्वारा नहीं बुलाई गई थी, इसलिये उसे 'कनवेंशन पार्लमेंट' कहते हैं। इस पार्लमेंट ने राजा की दशा सुधारकर बहुत कुछ पहले सी कर दी। चार्ल्स द्वितीय चार्ल्स प्रथम का पुत्र था। देखने में तो वह सीधा सादा था पर उसमें अपार प्रायोगिक बुद्धिमत्ता थी। वह ऐसे ऐसे षड्यंत्र तथा योजनाएँ बनाता जिससे बड़े बड़े राजनीतिज्ञ भी चक्कर में पड़ जाते। नैतिक दृष्टि से उसका जीवन गिरा हुआ था। वास्तव में वह रोमन कैथोलिक था पर प्रजा के विरोध के डर से खुले रूप में कैथोलिक मतावलंबियों के प्रति सहानुभूति प्रकट नहीं करता था। अपने पिता की दशा वह देख चुका था जिससे वह जनमत के विरुद्ध कुछ भी खुले तौर से करने को तैयार नहीं था। यह सही है कि वह फ्रांस के शासक १४वें लुई की सहायता से कैथोलिक मत का पुनरुत्थान करना चाहता था। पर साथ ही वह अपनी शक्ति बढ़ाने की युक्ति भी सोच रहा था।

सन् १६६१ में कन्वेंशन पार्लमेंट भंग कर दी गई और कैवेलियर पार्लमेंट बुलाई गई। इस पार्लमेंट ने कई कानून पास किए जिससे प्यूरिटन मतावलंबियों की स्वतंत्रता बहुत कुछ घट गई। चार्ल्स को यह प्रबंध कुछ जँचा नहीं। उसने एक आदेश निकालकर कैथोलिक मतावलंबियों तथा डिसेंटरों को उपयुक्त कानूनों द्वारा आरोपित अयोग्यताओं से मुक्त कर दिया। इसका पार्लमेंट में इतना विरोध हुआ कि चार्ल्स को अपना आदेश वापस ले लेना पड़ा। पर पार्लमेंट चार्ल्स की कैथोलिकों के प्रति सहानुभूति से सशंकित हो उठी। यहाँ तक कि कामंस सभा ने शैफ्ट्सबरी द्वारा प्रस्तुत बिल के अनुसार चार्ल्स के भाई जेम्स को उत्तराधिकार से वंचित करने का प्रयत्न किया पर लार्ड्स सभा ने इसे नहीं माना। इससे प्रोत्साहित होकर चार्ल्स ने अपने विरोधियों को उखाड़ फेंका और निष्कंटक राज्य करने लगा।

चार्ल्स ने फ्रांस से मित्रता और स्पेन से शत्रुता स्थापित रखी। अपव्ययी होने के कारण उसे सदा धन की आवश्यकता रहती थी। फ्रांस का लुई अपनी साम्राज्यवादी योजनाओं में इंग्लैंड की सहायता प्राप्त करने के लिये चार्ल्स को धन देता रहता था। इससे चार्ल्स लुई के हाथ की कठपुतली बन गया था। धन की लालच से चार्ल्स ने लुई से डोवर की गुप्त संधि कर ली और अपने देशवासियों की इच्छा के विरुद्ध डच लोगों से युद्ध की घोषणा कर दी। दो युद्ध हुए जिनमें डचों के साथ अंग्रेजी नौसेना को भी बड़ी क्षति पहुँची। चार्ल्स की लुई पर निर्भरता देखकर अंग्रेज बड़े असंतुष्ट हुए। वे फ्रांस के विरुद्ध हो गए तथा डच लोगों से उन्हें सहानुभूति हो गई। अंत में देशव्यापी दबाव पड़ने पर चार्ल्स को हालैंड से संधि करने के लिये विवश होना पड़ा।

चार्ल्स के राजा बनने से पहले सरकार की जो दशा थी वह काफी सुधर गई। अपने पिता का दृष्टांत सामने रखकर चार्ल्स ने अपने शासनकाल में यथासंभव कभी जनमत के विरुद्ध जाने की चेष्टा नहीं की। उसके सिंहासनासीन होने पर 'स्टार चेंबर' आदि स्वेच्छाचारी कोर्ट समाप्त कर दिए गए। कुछ कर, जो सम्राट् को प्राप्त होते थे, वे भी बंद कर दिए गए। इससे राजा की शक्ति काफी घट गई। पर चार्ल्स प्रसन्न था। चार्ल्स के समय में समाज में भी कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए। लोग पहले शुद्ध तथा आदर्श जीवन व्यतीत करते थे पर अब समाज में चारों ओर व्यभिचार तथा अनैतिकता दाख पड़ने लगी।

[मि० चं० पां०]

चार्ल्स चतुर्थ (१३१६ से १३७८) बोहेमिया के जान का पुत्र, होली रोमन सम्राट् तथा बोहेमिया का राजा। इसने फ्रांस के राजा फिलिप छठे की बहिन से विवाह किया था। जब होली रोमन साम्राज्य की गद्दी रिक्त हुई तो लुई चतुर्थ के विरोध में यह भी उस गद्दी के लिये प्रत्याशी बना। क्रेसी के युद्धक्षेत्र में इसने अद्भुत पराक्रम दिखाया था। इस युद्धक्षेत्र ने उसके व्यक्तित्व को क्रिसेंडम में बहुत ऊँचे उठा दिया और १३४७ ई० में वह लुई चतुर्थ के स्थान पर रोमन सम्राट् नियुक्त हुआ और आगामी वर्ष उसका राज्याभिषेक कर दिया गया। लुई चतुर्थ के जीवनकाल में ही ऐसा साधारण अनुमान हो गया था कि रोमन साम्राज्य का भावी नेतृत्व चार्ल्स चतुर्थ के ही मजबूत कंधों पर आएगा। बोहेमिया की आर्थिक व्यवस्था को स्थायित्व देने तथा देश का व्यापार बढ़ाने के लिये उसने बड़ी चेष्टा की। उसने प्रेग के विश्वविद्यालय की स्थापना की। देश के शिक्षास्तर में उसने वांछनीय परिवर्तन किया तथा साम्राज्य की कठिनाइयों के बीच भी बोहेमिया के स्वार्थ के लिये उसका सदैव चिंतित रहना, उसकी उच्च राष्ट्रीयता का द्योतक है।

चार्ल्स चतुर्थ के व्यक्तित्व के दो पक्ष थे, बोहेमिया के शासक और पावन रोमन सम्राट् के रूप में। दोनों ही दायित्वों का उसने समुचित

निर्वाह किया। उसके शासनकाल में ही भावी साम्राज्य और पोप के संघर्षों के लक्षण प्रस्तुत होने लगे थे। किंतु चार्ल्स चतुर्थ ने इस बात की पूर्ण सतर्कता एवं सावधानी दिखाई कि कोई अवांछनीय हलचल न उठ खड़ी हो। [गि० शं० मि०]

चार्ल्स पंचम (आस्ट्रिया का) यह आस्ट्रिया के शासक मैक्सीमीलियन का पौत्र तथा स्पेन के फर्डिनेंड का नाती था। इसका पिता नेदरलैंड्स का शासक था। अपने पितामह की मृत्यु पर इसे आस्ट्रिया तथा संबंधित प्रदेश मिल गए। अपने नाना फर्डिनेंड की मृत्यु पर इसे स्पेन तथा नेपुल्स आदि प्रदेशों का उत्तराधिकार मिला तथा पिता की मृत्यु पर यह नेदरलैंड्स का भी स्वामी बन गया। मैक्सीमीलियन का पौत्र होने के कारण यह हैप्सबर्ग घराने का प्रतिनिधि था। उपर्युक्त उत्तराधिकार प्राप्त करने के पश्चात् चार्ल्स प्रयत्न करके सारे साम्राज्य का सम्राट् चुन लिया गया और चार्ल्स पंचम के नाम से सिंहासनासीन हुआ। इस प्रकार हैप्सबर्ग घराने की सारे यूरोप में काफी धाक जम गई।

शार्लमान के समय से अब तक कोई सम्राट् इतने विशाल साम्राज्य का स्वामी नहीं हुआ था, जितना कि चार्ल्स पंचम। पर यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इससे चार्ल्स पर एक महान् उत्तरदायित्व आ पड़ा था और उसे कई कठिनाइयों तथा समस्याओं को हल करने का भार उठाना पड़ा था। स्पेन, आस्ट्रिया, जर्मनी, इटली तथा नेदरलैंड्स की अलग अलग समस्याएँ थीं। इस प्रकार वैदेशिक नीति में पर्याप्त समायोजन की आवश्यकता थी। इसी समय लूथर का प्रोटेस्टेंट आंदोलन भी आरंभ हो गया। इस प्रकार इतने बड़े साम्राज्य का उत्तराधिकारी बनने पर भी चार्ल्स की शक्ति बजाय बढ़ने के कुंठित हो गई। उसके संपूर्ण शासन काल में समय समय पर साम्राज्य के विभिन्न भागों में नाना प्रकार की समस्याएँ उठती रहीं और उन्हीं का समाधान करने में चार्ल्स की पर्याप्त शक्ति नष्ट होती रही।

चार्ल्स की योग्यता कुछ असाधारण न थी। यही कारण था कि अनेक समस्याओं को सुलझाने में, जिनमें उच्चस्तरीय राजनीतिक योग्यता की आवश्यकता थी, वह सफल न हो सका। पर इसमें भी संदेह नहीं कि उसे अपनी नीति में सफलताएँ मिलीं जिससे उसके शासन में निखार आ गया। उसने नेदरलैंड्स के अपने अधिकृत प्रदेशों को एकता के सूत्र में बाँधने का सफल प्रयत्न किया। उत्तरी अफ्रीका में उसने मुसलमानों पर अपना सिक्का जमाया तथा उनकी शक्ति को क्षीण कर दिया। स्पेन के अमरीका अधिकृत प्रदेशों में उसने पहले से अधिक उदार सरकार स्थापित की। लेकिन इन सब कार्यों में चार्ल्स को उतनी सफलता नहीं मिल सकी जितनी मिल सकती थी। कारण यह था कि विभिन्न जटिल समस्याओं के कारण उसका ध्यान उधर बँटा रहता था और वह किसी भी कार्य में अपना ध्यान केंद्रित नहीं कर पाता था। कई स्थानों पर तो उसे बहुत गहरी मात खानी पड़ी। जर्मनी में लूथर का प्रोटेस्टेंट आंदोलन उसका उदाहरण है। उस धार्मिक आंदोलन की गहराइयों को चार्ल्स न समझ सका और वह इसका निपटारा राजनीतिक दृष्टि से करने लगा। वह चाहता था कि आंदोलन अधिक न फैलने पाए, क्योंकि उसका अनुमान था कि ऐसा होने से लूथर के उपदेशों से प्रभावित होकर कुछ लोग उसके साथ हो जाएँगे और इस प्रकार जर्मनी की स्वामिभक्ति खंडित हो जाएगी। परिणाम यह होगा कि सम्राट् के रूप में चार्ल्स की स्थिति उतनी मजबूत न रह पाएगी। इसलिये उसने लूथर को वर्म्स की सभा में बुलाकर उसे धर्मसंबंधी अपने विचार बदलने को कहा। उसके इन्कार कर देने पर राजाज्ञा द्वारा उसकी पुस्तकों को नष्ट करने का आदेश दिया गया और उसे साम्राज्य से निष्कासित कर दिया गया, पर वास्तव में, इसका परिणाम कुछ नहीं हुआ क्योंकि चार्ल्स अपने विस्तृत साम्राज्य के विभिन्न कार्यों तथा फ्रांस से युद्ध में व्यस्त था। फिर जर्मनी के अनेक राजा भी लूथर के साथ थे। इस प्रकार लूथर की विचारधारा अबाध गति से बढ़ती गई। यह चार्ल्स की बड़ी हार थी।

चार्ल्स के शासनकाल में स्पेन के साथ बड़ा अन्याय हुआ। स्पेन पर चार्ल्स निरंकुश ढंग से शासन करता और मनमाने कानून बनाता था। जब एक बार कैस्टिल निवासियों ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया तब चार्ल्स ने विद्रोह को बुरी तरह कुचल दिया तथा कैस्टिल निवासियों की सारी स्वतंत्रता छीन ली। वास्तव में, चार्ल्स स्पेन की स्वतंत्र संस्थाओं का विरोधी था। जनसाधारण की स्वतंत्रता उसे खलती थी। स्पेन निवासियों को सबसे अधिक कष्ट 'इनक्विजिशन' से था। यह धार्मिक अदालत थी जिसका कार्य था पाखंडियों को दंड देना। पर चार्ल्स ने बिना किसी हिचकिचाहट के इस अदालत का राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने में प्रयोग किया। इसके अतिरिक्त जर्मनी तथा अन्य स्थानों में चार्ल्स के हितों की रक्षा करने के लिये स्पेन को धन तथा सैनिक देने पड़ते थे। इस प्रकार चार्ल्स ने स्पेन को खोखला कर डाला जिससे बाद में उसका पतन होना स्वाभाविक ही था।

अपनी सारी प्रधान योजनाओं में असफल हो जाने के कारण चार्ल्स अत्यधिक हताश हो गया। नाना प्रकार की योजनाओं में उसकी शक्ति नष्ट हो चुकी थी और उसका स्वास्थ्य खराब हो गया था। हारकर उसने सन् १५५६ में राजपद त्याग दिया। [मि० चं० पां०]

चार्ल्स पंचम (फ्रांस) (१३३७-८०) फ्रांस का राजा। यह जार्ज द्वितीय का पुत्र था। उसने पटुआ (Poitiers) के युद्ध में (१३५६) अत्यधिक ख्याति प्राप्त की। जब इंग्लैंड से संघर्ष करते हुए उसके पिता को बंदी बना लिया गया था तो पिता की अनुपस्थिति में फ्रांस का शासनभार कुशलतापूर्वक सँभाला। फ्रांस और स्पेन में जो परंपरागत प्रतिस्पर्धा एवं शत्रुता चली आ रही थी, उससे यह अछूता न रह सका और जब नवारे (Navarre) के राजा के विरुद्ध भी संघर्ष छिड़ा तो वह अंततः विजयी हुआ। जब उसे यह समाचार मिला कि इंग्लैंड के कारागार में ही उसके पिता की मृत्यु हो गई तो उसने इंग्लैंड के विरुद्ध नए सिरे से युद्धसंचालन किया। इस कार्य में उसे पर्याप्त सफलता मिली और उसने इंग्लैंड के हाथों से अनेक नगर छीन लिए। १३७८ ई० में उसने अनुभव किया कि फ्रांस के केंद्रीकरण के लिये यह परमावश्यक है कि ब्रिटानी को भी फ्रांस में संमिलित कर दी जाय। अतएव उसने ब्रिटानी पर आक्रमण किया। लंबे संघर्ष के उपरांत उसने देखा कि ब्रिटानी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का विवादास्पद बन चुका है अतः उसे अपना उद्देश्य छोड़ना पड़ा। इसके उपरांत शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गई।

कला और साहित्य में उसकी वृत्ति बहुत रमी थी। उसने अनेक ग्रंथों को एकत्र कर एक पुस्तकालय की स्थापना की थी जिसमें प्रमुखतः ज्योतिष, कानून, तथा दर्शन की पुस्तकें थीं। वह बौद्धिक तथा कलात्मक प्रतिभा का व्यक्ति था। उसे दूर देशों के दार्शनिक, साहित्यकार इत्यादि को आमंत्रित करने में विशेष आनंद आता था।

[कि० शं० मि०]

चार्ल्स पंचम (स्पेन का) (१५००-१५५८) पावन रोमन सम्राट् (१५१९-५६) तथा स्पेन का शासक (१५१६-५६)। वह बरगंडी के फ़िलिप और जुम्राना का पुत्र था। १५१८ ई० में वह कैस्टिल और ऐरागोन का सार्वभौम शासक बना। १५१९ ई० में उसे हैप्सबर्ग घराने के प्रदेशों का उत्तराधिकार मिला। शीघ्र ही वह रोमन सम्राट् निर्वाचित हुआ। अब उसके अधिकार में एक बृहत् प्रदेश आ गया और उसका साम्राज्य विश्वव्यापी हो गया। इतने विशाल साम्राज्य में उसे केवल कठिनाइयों का ही सामना करना पड़ा। सुधार आंदोलन, फ्रांस के कुचक्र और तुर्कों के आक्रमण, सभी उसे अभिभूत किए हुए थे। धार्मिक जटिलता को दूर करने के लिये उसने १५२१ ई० में वर्म्स के डाइट (Diet-of-worms) को बुलाया और मार्टिन लूथर की उपस्थिति में उसने सभा का स्वयं सभापतित्व किया। आग्सबर्ग का डाइट (१५६०) धार्मिक मतभेदों को दूर करने में असफल रहा, यहाँ तक कि ट्रेंट की कौंसिल (१५४५–६३) भी कैथोलिकों और प्रोटेस्टेंटों में मेल न करा सकी। अंततः प्रोटेस्टेंटों के विरुद्ध श्मेलकाल्डिक युद्धों (१५४६-४७) में वह विजयी हुआ और उनके साथ आग्सबर्ग की संधि (१५५५) द्वारा प्रोटेस्टेंट मत को वैधानिक मान्यता देने की बात स्वीकार की।

इसने फ्रांस के सम्राट् फ्रांसिस प्रथम से संघर्ष किया और उसे परास्त-कर पेविया में बंदी बनाया। १५२७ ई० में रोम को विध्वंस किया और पोप को बंदी बनाया। १५२९ ई० में इसने फ्रांसिस से संधि की और लोंबार्डी को अपने साम्राज्य में मिलाया। एक सुदृढ़ केंद्रीय व्यवस्था लाने के लिये चार्ल्स ने स्पेन की प्रादेशिक कोर्ट को दबाया और इसी वर्ष नेदरलैंड के उठते हुए विद्रोह का दमन किया। जब उसे यह सूचना मिली कि फ्रांसिस ने तुर्कों की सहायता से फिर से संघर्ष छेड़ दिया है तो उसने फ्रांसिस को परास्त कर क्रेपी की संधि करने के लिये विवश किया। इसने जर्मन की रियासतों को दबाया और उन्हें साम्राज्य के नियंत्रण में रखा। उसने अपने जीवन के अंतिम वर्षों में नेदरलैंड और स्पेनिश उपनिवेशों को अपने पुत्र फिलिप तथा साम्राज्य को फर्डिनेंड को देकर राज्य त्याग दिया और एकांतवास के लिये निकल पड़ा।

[गि० शं० मि०]

चार्ल्स षष्ठ पावन रोमन सम्राट् तथा लियोपोल्ड प्रथम का द्वितीय पुत्र। वह स्पेन की राजगद्दी के लिये आस्ट्रिया की ओर से उत्तराधिकारी घोषित किया गया था। द्वितीय विभाजनसंधि द्वारा वह स्पेन का राजा होने की मान्यता प्राप्त कर सका था किंतु स्पेन के चार्ल्स द्वितीय की मृत्यु पर लुई चतुर्दश ने विभाजनसंधि को ठुकरा दिया क्योंकि लुई समझता था कि चार्ल्स द्वितीय की अनुपस्थिति में संभवतः दूसरी कोई भी यूरोपीय शक्ति विभाजनसंधि को कार्यान्वित करने में कोई दिलचस्पी नहीं रखती। किंतु उसके अधिकारपद को मान्यता मित्रराष्ट्रों ने दी और जब स्पेनिश उत्तराधिकार युद्ध छिड़ा तो वह स्पेन गया और स्पेन में १७११ तक रहा। तभी उसे रोमन सम्राट् होने का गौरव प्राप्त हुआ। रोमन सम्राट् हो जाने के उपरांत आस्ट्रिया की गद्दी पर उसने अपनी पुत्री मेरिया थेरिसा को बिठाने का प्रयत्न किया। इस उद्देश्य को लेकर उसने यूरोपीय शक्तियों द्वारा प्रेगमैटिक सैंक्शन को मान्यता दिलानी चाही, यद्यपि उसकी मृत्यु के उपरांत ही प्रेगमैटिक सैंक्शन ठुकरा दी गई। उसके शासनकाल में पैसरोविट्ज की संधि द्वारा तुर्की युद्धों की समाप्ति किया गया।

चार्ल्स षष्ठ उस युग का प्रतिनिधित्व करता था जब राजवंशीय घराने ही यूरोप की कूटनीति का संचालन करते थे और राज्य हड़प करने के लिये झूठे दावे खड़े किए जाते थे। चार्ल्स षष्ठ के लिये ऐसी चालें खेलना कोई अस्वाभाविक बात न थी। [गि० शं० मि०]

चार्ल्स सप्तम् (१६९७ से १७४५) होली रोमन सम्राट् और बवेरिया का इलेक्टर तथा बवेरिया के भूतपूर्व इलेक्टर का पुत्र। उसने १७२६ में बवेरिया के इलेक्टर का शासनसूत्र सँभाला। यद्यपि उसने प्रेगमैटिक सैंक्शन को मान्यता दे दी, फिर भी चार्ल्स षष्ठ की मृत्यु पर उसने आस्ट्रिया के साम्राज्यवादी मुकुट को हथिया लेने का कुचक्र किया। यद्यपि उसका अधिकार नाम मात्र का था तो भी १७४२ ई० में रोमन सम्राट् के रूप में उसका राज्याभिषेक एक भारी समारोह के साथ किया गया। उसके साम्राज्य पर दोनों दिशाओं से आक्रमण किया गया और युद्ध के बीच ही उसकी मृत्यु हुई।

चार्ल्स सप्तम षड्यंत्रों और कुचक्रों का मूर्तिमान् स्वरूप था। बवेरिया के इलेक्टर होने से लेकर मृत्यु तक वह उन्हीं कार्यों में संलग्न रहा जिनका उद्देश्य अवांछनीय ढंग से तृष्णा की शांति करना था। प्रेगमैटिक सैंक्शन को ठुकराना तथा दूसरे प्रदेश पर लुब्धक दृष्टि डालना इत्यादि ऐसे कार्य थे जिन्होंने इसे यूरोपीय राजनीतिज्ञों के मूल्यांकन में नितांत गिरा दिया था और इसकी मृत्यु पर (२० जनवरी, १७४५) शोक, संवेदना, शिष्टाचार आदि का भी निर्वाह नहीं किया गया। [गि० शं० मि०]

चार्ल्स नवम् दस वर्ष की अवस्था में (१५६०-१५७४) फ्रांस के सिंहासन पर बैठा। वयस्क होने तक उसकी माँ कैथरीन ही उसकी संरक्षिका बन राजकार्य संचालित करती रही। उसे शक्ति का बड़ा लोभ था। फ्रांस में दो विरोधी थे—बूरबन और गीज। बूरबनों की सहानुभूति ह्यूगनाट्स (प्रोटेस्टेंट) के प्रति थी और गीजों की कैथोलिकों के प्रति। दोनों विरोधी दल कैथरीन के सारे कार्यों को शंका की दृष्टि से देखते थे। इस कारण कैथरीन को सावधानी बरतनी पड़ती थी। उसने दोनों दलों को प्रसन्न करने के लिये ह्यूगनाट्स को कुछ सुविधाएँ दे दी और उनके प्रति कुछ सहिष्णुता दिखाने का आश्वासन दिया। पर वे इतने से संतुष्ट नहीं हुए, तथा और माँगने लगे। कैथोलिक पहले से ही प्रोटेस्टेंटों से असंतुष्ट थे। उन्होंने वासी को प्रोटेस्टंट सभा पर वर्णनातीत अत्याचार किए। फलस्वरूप सन् १५६२ में गृहयुद्ध छिड़ गया जिसका अंत सन् १५७० में सेंट जरमेन की संधि से हुआ।

चार्ल्स अब वयस्क हो गया था। वह चाहता था कि देश की शक्ति गृहयुद्ध में नष्ट न होकर विदेशों पर विजय प्राप्त करने में प्रयुक्त की जाय। चार्ल्स के दरबार में कॉलिनी के नेतृत्व में एक ऐसा दल बन गया था जो चाहता था कि दोनों विरोधी दलों में मेल हो जाय। चार्ल्स ने इस विचार को बढ़ावा दिया। वह चाहता था कि फ्रांस स्पेन से युद्ध करे। इसके लिये देश में एकता की आवश्यकता थी। उसके लिये उसने बूरबन परिवार के प्रोटेस्टेंटों के नेता नेवार के हेनरी से अपनी बहिन मारगरेट का विवाह तय किया।

विवाहोत्सव में कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट सबको पेरिस में आमंत्रित किया गया। कैथरीन कॉलिनी के बढ़ते हुए प्रभाव से क्षुब्ध हो रही थी। उसने चार्ल्स को राजी कर लिया और सभी एकत्रित हुए। अतिथियों में से हजारों प्रोटेस्टेंटों को मरवा डाला। इसमें कॉलिनी भी संमिलित था। यह घटना सन् १५७२ की है और इसे 'सेंट बारथोलोम्यू का हत्याकांड'

कहते हैं। इस घटना का समाचार बिजली की तरह फैल गया और गृहयुद्ध पुनः आरंभ हो गया। अंत में प्रोटेस्टेंटों से संधि कर ली गई और उन्हें पूर्वाश्वासित सुविधाएँ पुनः प्रदान कर दी गईं। सन् १५७५ में चार्ल्स की मृत्यु हो गई। [मि० चं० पां०]

चार्ल्स नवम् (१५५०-१६११) स्विडेन का राजा तथा गुस्तावस वेसा का तृतीय पुत्र। यह प्रोटेस्टेंट मत का महान् सेनानी था। इसने स्विडेन को एक प्रोटेस्टेंट राज्य की मान्यता दिलाने का भरसक प्रयत्न किया। जान तृतीय से संघर्ष किया और जब जॉन तृतीय के पुत्र सिजिस्मंड नामक पोलैंड के कैथलिक शासक को स्विडेन की गद्दी पर बैठाया गया तब चार्ल्स को १५९५ ई० में रीजेंट नियुक्त किया गया। चार्ल्स के लिये यह स्थिति असहनीय थी और इस कैथलिक शासक को समूल नष्ट कर देने का उसने संकल्प किया। उसने बड़ी ही कुशलता से सिजिस्मंड का निष्कासन कराया और १६०४ ई० में सत्तारूढ़ हुआ। शासन में आते ही इसने लूथरीय मत को स्विडेन का राजकीय धर्म घोषित किया और रूस तथा डेनमार्क के विरुद्ध असफल युद्ध छेड़े।

चार्ल्स नवम् कुशल राजनीतिज्ञ और महान् सेनानी था। उसकी युद्धसंचालन कला विलक्षण थी। उसकी धार्मिक धारणाएँ कट्टरता की ओर जा रही थीं। लूथरमत उसके धार्मिक विश्वास की अभिव्यक्ति मात्र था जिसे स्विडेन में पल्लवित कर देने के संकल्प को उसने पूर्णतः कार्यान्वित किया। [गि० शं० मि०]

चार्ल्स दशम् (फ्रांस का) १८वें लुई की मृत्यु होने पर सन् १८२४ में उसका भाई (आर्तोआ का काउंट) चार्ल्स दशम के नाम से फ्रांस के राजसिंहासन पर बैठा। वह राजा की दैवी शक्ति के सिद्धांत का कट्टर पुजारी था। चार्ल्स उसी देश को सभ्य समझता था जहाँ के अमीर लोग स्वेच्छाचारी हों तथा चर्च असहिष्णु। वह नेपोलियन तथा क्रांति का घोर विरोधी था। अपने जीवन का बड़ा भाग उसने क्रांति के विरुद्ध लड़ने में बिताया था। क्रांति से हुई हानि को पूरा करने के लिये उसने एक बड़ी धनराशि [illegible] को दी जिससे उनकी स्थिति सुधर जाय। चर्च के निम्न श्रेणी के अधिकारियों के लिये उसने बहुत कुछ किया। इससे चर्च के अधिकारियों का ही सर्वत्र प्रसार हो गया। नई प्रवृत्तियों को दबाने में उसने कोई कसर नहीं उठा रखी। उस संबंध में मेटरनिक भी चार्ल्स से पिछड़ गया। चार्ल्स ने अपने भाई के समान दूरदर्शिता तथा समझदारी से काम नहीं लिया। यदि वह ऐसा करता तो कदाचित् फ्रांस में बोर्बनों का शासन स्थायी हो जाता।

चार्ल्स ने शक्तिशाली वैदेशिक नीति अपनाई। उसने यूनानियों को कुछ सहायता दी और अलजीरिया पर विजय प्राप्त कर ली। पर वह अपने अधिकार को स्थापित करने पर तुला हुआ था। उसने एक प्रतिक्रियात्मक मंत्रिमंडल नियुक्त किया तथा पालिगनेक को प्रधान मंत्री बनाया। फ्रांस की जनता चार्ल्स की स्वेच्छाचारिता से पहले से ही चिढ़ी हुई थी, अब और भी चिढ़ गई। प्रधान मंत्री की राय से चार्ल्स ने अपने विशेषाधिकार से अनेक अध्यादेश जारी किए जिनके द्वारा मतदाताओं की संख्या घटा दी, चुनाव प्रथा में परिवर्तन कर दिया, समाचारपत्रों की स्वतंत्रता छीन ली तथा लोकसभा को भंग कर दिया और इस प्रकार जनता को संपूर्ण अधिकारों से वंचित करने का प्रयत्न किया। परिणामस्वरूप २६ जुलाई, १८३० को फ्रांस में पुनः क्रांति हो गई। अपने पौत्र के पक्ष में राजपद त्याग कर चार्ल्स आस्ट्रिया भाग गया जहाँ सन् १८३६ में उसकी मृत्यु हो गई। (मि० चं० पां०)

चार्ल्स दशम् (स्विडेन) यह वासा राजवंश का सदस्य था। १६वीं शताब्दी में इस वंश में गुस्तावस ने स्विडेन को डेनमार्क की पराधीनता से मुक्त कर उत्तरी यूरोप की एक मुख्य शक्ति बना दिया था। स्विडेन की यह प्रशंसनीय स्थिति पूरी १७वीं शताब्दी भर बनी रही। सन् १६५४ में चार्ल्स स्विडेन के सिंहासन पर बैठा। इसने लगभग छह वर्ष शासन किया। इसके जीवन का मुख्य ध्येय था बाल्टिक तट की विजय को पूरा करना। इस संबंध में उसका पोलैंड, डेनमार्क, रूस आदि शक्तियों से टकराना स्वाभाविक ही था। पोलैंड के शासक कैजीमीर ने चार्ल्स का राज्यारोहण स्वीकार नहीं किया था। चार्ल्स ने उसके विरुद्ध दो छोटे छोटे युद्ध करके कैजीमीर को परास्त कर दिया। पूर्वी प्रशा में अपना प्रभुत्व मनवाने के लिये चार्ल्स ने ब्रैंडेनबर्ग के शासक को मजबूर किया। यह जानते हुए कि डेनमार्क ने रूस, पोलैंड, आस्ट्रिया आदि शक्तियों से मिलकर एक गुट बनाया है, चार्ल्स ने डेनमार्क पर आक्रमण कर दिया और उससे स्कैंडोनेविया प्रायद्वीप का पूरा दक्षिणी भाग छीनकर स्विडेन में मिला लिया। अपने जीवन के अंतिम दिनों में चार्ल्स का प्रभुत्व कुछ कम हो चला था। सन् १६६० में उसकी मृत्यु हो गई। [मि० चं० पां०]

चार्ल्स एकादश (१६५५–९७) स्विडेन का राजा (१६६०–९७)। दसवें चार्ल्स (गस्तावस) की मृत्यु के समय इसकी आयु केवल चार वर्ष की थी। अल्पायु में देश का शासन दरबार के अमीरों द्वारा होता रहा। ये अमीर बड़े स्वार्थी थे और धन के लोभ में विदेशी शक्तियों का साथ देते रहे। इसी लालच में स्विडेन फ्रांस के विरुद्ध इंग्लैंड के साथ हो गया। बाद में फ्रांस के १४वें लुई ने उत्कोच देकर स्विडेन को अपनी ओर मिला लिया और ११वें चार्ल्स को हालैंड पर आक्रमण करने के लिये उसकाया। डेनमार्क तथा ब्रैंडेनबर्ग हालैंड के साथ थे। चार्ल्स ने हालैंड के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। युद्ध प्रारंभ होने पर स्विडेन ने डेनमार्क पर तो विजय प्राप्त कर ली पर ब्रैंडेनबर्ग के शासक ने फरबेलिन में स्विडेन को हरा दिया (१६७५–७६)। चूँकि स्विडेन और फ्रांस के संबंध स्विडेन के अमीरों द्वारा स्थापित किए गए थे इसलिये फरबेलिन की हार का दोष उन्हीं के मत्थे मढ़ा गया। इससे जनसाधारण का मत अमीरों के सर्वथा विरुद्ध हो गया। चार्ल्स ने इस स्थिति से लाभ उठाया और अमीरों की शक्ति को कुचल डाला। अब तक चार्ल्स वयस्क हो गया था। अमीरों की शक्ति नष्ट कर उसने स्वयं शासनसूत्र सँभाला (१६८२)। अपने शासनकाल में उसने व्यापार तथा उद्योग धंधों को प्रोत्साहित किया और इस प्रकार अपने देश को समृद्ध बनाया। अमीरों ने चार्ल्स के शैशव काल में जो राजभूमि हड़प ली थी उसे चार्ल्स ने वापस ले लिया। उसने स्विडेन के शासक की वैयक्तिक शक्ति बढ़ा दी और लोगों के हृदय में अपने शासन के प्रति आस्था उत्पन्न कर दी। सन् १६९७ में उसकी मृत्यु हो गई। [मि० चं० पां०]

चार्ल्स द्वादश (१६८२–१७१८) स्विडेन का राजा (१६९७–१७१८) और वे ११वें चार्ल्स का पुत्र। अपने पिता की मृत्यु के समय इसकी अवस्था १५ वर्ष की थी। बचपन से ही चार्ल्स द्वादश का झुकाव सेना की ओर था। आरंभ से ही उसमें बड़े योद्धा के गुण विद्यमान थे। वह बड़ा ही निर्भय था और खतरनाक खेलों में विशेष रुचि रखता था। उसकी शिक्षा का विशेष प्रबंध किया गया। थोड़े ही समय में उसने अपनी योग्यता से सारे देश को मोह लिया। पर वह अच्छे शासक के गुण प्रदर्शित न कर सका। क्योंकि डेनमार्क, रूस, जर्मनी

आदि जिन देशों पर विजय के कारण स्विडेन का विस्तार हुआ था उन सबने चार्ल्स के विरुद्ध एक गुट बना लिया था। इसलिये चार्ल्स का सारा जीवन युद्ध करते बीता।

योद्धा के रूप में चार्ल्स दूरदर्शी नहीं था और न ही वह रणक्षेत्र की अपनी विजयों को प्रशासनिक रूप से संगठित करता था। महान् सेनापति के समान वह किसी भी युद्ध में शत्रु से वीरतापूर्वक लड़कर विजय प्राप्त कर लेता था पर अपनी विजय का सदुपयोग करना नहीं जानता था। इसी कारण कुछ लोगों ने उसकी आलोचना भी की है। नार्वा में रूसी शासक पीटर पर विजय प्राप्त करने पर चार्ल्स इतना मदांध हो गया कि वह रूस की वास्तविक शक्ति भूल गया और उसने अपनी सेना भी संगठित नहीं की। फ्रांस के शासक लुई ने उसकी सहायता करनी चाही, पर उसे भी उसने स्वीकार नहीं किया। इससे स्विडेन को कुछ भूमि छोड़ देनी पड़ी। सन् १७०९ में पीटर ने चार्ल्स को बुरी तरह हराया तो उसे भागकर तुर्की में शरण लेनी पड़ी। वहाँ से लौटकर चार्ल्स ने स्विडेन को चारों ओर से बड़ी शक्तियों से घिरा पाया। उसने इन शक्तियों का डटकर सामना किया। पर इस समय तक देश की शक्ति समाप्त हो चुकी थी और लोग चार्ल्स के विरुद्ध हो रहे थे। सन् १७१८ में वह युद्ध में मरा। [मि० चं० पां०]

चार्ल्स चतुर्दश (१७६३–१८४४) स्विडेन और नार्वे का राजा। (१८१८–४४)। इसे पहले जाँ बेपटिस्ट ज्यूल्स बर्नडॉट (Jean Baptist Jules Bernadotte) से संबोधित किया जाता था। तब यह पाउ (Pau) के वकील का पुत्र था। इसने फ्रेंच सेना में समय से प्रवेश किया। पहले जर्मनी के विरुद्ध चढ़ाइयों में संमानित हुआ था। १७९८ ई० में वह विएना में राजदूत होकर गया। इसी वर्ष उसने डिशरी क्लेरी से विवाह किया और जोजेफ बोनापार्ट का बहनोई हुआ। १८०१ ई० में उसे सेना का अध्यक्ष बनाया गया। १८०४ ई० में वह फ्रांस का मार्शल बनाया गया और इसी वर्ष हनोवर का गवर्नर नियुक्त किया गया। अल्प और आस्टरलित्ज के युद्धक्षेत्र में उसे विशेष ख्याति मिली। १८०५ ई० में प्रशा के विरुद्ध की गई चढ़ाई में उसे सैन्य अध्यक्षता दी गई। १८१० ई० में वह स्विडेन का क्राउन प्रिंस निर्वाचित हुआ। अब शासनभार सँभालने के लिये वह स्विडेन आया जहाँ उसे चार्ल्स त्रयोदश द्वारा दत्तक पुत्र होने की मान्यता प्राप्त हुई। जब नेपोलियन ने जर्मनी के विरुद्ध १८१२ और १३ की चढ़ाइयाँ कीं तो उसे नेपोलियन के विरुद्ध मोर्चा लेना पड़ा। १८१८ ई० में उसने चार्ल्स चतुर्दश के नाम से स्विडेन का शासन संभाला और स्विडेन के वर्तमान राजकीय परिवार का आरंभयिता बना। सेनानी और कूटनीतिज्ञ दोनों की सम्यक् अनुभूति होने के कारण उसे राज्यसंचालन में कोई विशेष कठिनाई प्रतीत नहीं हुई। चार्ल्स चतुर्दश की जीवन की विभिन्न हलचलों से गुजरने के कारण स्विडेन के इतिहास में यथेष्ट गौरव प्राप्त है। ८ मार्च, १८४४ को उसका देहांत हुआ। [मि० चं० मि०]

चार्ल्सटन (Charlston) १. स्थिति : ३९° ३०' उ० अ० तथा ८८° १०' प० दे०। संयुक्त राज्य अमरीका के पूर्व-मध्य इलिनाय में एंबारस नदी के पास बसा हुआ कोल्स काउंटी का मुख्य केंद्र है। यह १८३५ ई० में बसाया गया था। इसकी जनसंख्या ९,२०० है।

२. नगर, स्थिति : ३२° ५०' उ० अ० तथा ८०° ०' प० दे०। यह दक्षिणी कैरोलिना का सबसे बड़ा नगर (७०,२००) तथा बंदरगाह है। यह कूपर और एशले नदी के बीच बसा हुआ है। इस नगर में यातायात की सभी सुविधाएँ प्राप्त हैं। नगरविस्तार प्रायः चार वर्ग मील में है। यहाँ का धरातल नदियों की सतह से ८–१० फुट से अधिक ऊँचा नहीं है। चार्ल्सटन कालेज यहाँ की महत्वपूर्ण शिक्षासंस्था है।

३. नगर, संयुक्त राज्य अमरीका के उत्तर-पश्चिम आरकैंजस में फ्रैंकलिन काउंटी का मुख्य केंद्र है।

४. नगर, स्थिति : ३६° ५२' उ० अ० तथा ८९° २०' प० दे०। यह नगर संयुक्त राज्य अमरीका के मिसिसिपी काउंटी का मुख्य केंद्र है।

५. नगर, स्थिति : ३८° २०' तथा ८१° ३६' प० दे०। कानावा नदी के उत्तरी तट पर तथा एल्क नदी के मुहाने पर बसा हुआ यह नगर संयुक्त राज्य अमरीका के पश्चिमी वर्जीनिया की राजधानी है। यह कई प्रमुख रेलवे लाइनों का केंद्र है। इसके अतिरिक्त यहाँ नदियों द्वारा भी यातायात होता है। यह नगर ऊँचे स्थान पर स्थित है। यह बिटुमिनीय कोयले के क्षेत्र के मध्य में स्थित है। कोयले का निर्यात यहाँ का मुख्य धंधा है। कोयले के अतिरिक्त मिट्टी का तेल, लोहा और नमक की खानें भी निकट में ही हैं। यहाँ ऊन, लकड़ी, काच तथा अन्य प्रकार की वस्तुएँ बनाने के कई कारखाने हैं। [पु० कु०]

चार्ल्स टाउन (Charles Town) १. स्थिति : ३९° १७' उ० अ० तथा ७७° ५२' प० दे०। संयुक्त राज्य अमरीका में मिस्टिक और चार्ल्स नदियों के मुहानों के बीच में बसा हुआ चार्ल्स नगर पहले मासाचूसेट्स में मिडलसेक्स काउंटी का पृथक् नगर था, परंतु १८७४ ई० से यह बोस्टन का एक भाग हो गया है। अमरीकी नौसेना का लगभग ८७ एकड़ का एक यार्ड यहाँ १८०० ई० से स्थापित है। यहाँ पर मासाचूसेट्स का सरकारी जेल भी है। इस नगर की स्थापना १६२८ या १६२९ ई० में हुई थी। बिजली से तार भेजने की रीति के आविष्कारक एस० एफ० बी० मोर्स का यह जन्मस्थान है।

२. नगर, पूर्वी न्यू साउथ वेल्स, आस्ट्रेलिया में न्यूकासल से छह मील दक्षिण-पश्चिम में बसा हुआ यह नगर कोयले की खानों का केंद्र है।

३. नगर, सेंट क्रोस्टल की खाड़ी पर बसा हुआ मध्य दक्षिणी कार्नवाल का यह बंदरगाह मत्स्योद्योग के लिये प्रसिद्ध है। यहाँ पर १३वीं शताब्दी में बनाया गया एक गिरजाघर भी वर्तमान है।

४. नगर, उत्तर-पश्चिम नेटाल में ट्रैंसवाल की सीमा के निकट ५,३८६ फुट की ऊँचाई पर यह शहर स्थित है। यहाँ का मुख्य व्यवसाय मवेशी पालना है। दूध और उससे बनी हुई अन्य वस्तुओं का यहाँ व्यापार होता है।

५. नगर, यह नगर दक्षिणी पूर्वी इंडियाना में, क्लार्क काउंटी का मुख्य केंद्र है। यह न्यू ऐलबनी से १५ मील उत्तर-पूर्व में है। यहाँ रसायनक तैयार करने का एक केंद्र है। [पु० कु०]

चार्वाक दे० 'लोकायत'।

चालनबलमापी देखें डाइनेमोमीटर।

चालमापी (स्पीडोमीटर) वे यंत्र हैं जो मोटरगाड़ियों में लगे रहते हैं और उनका वेग मील (या किलोमीटर) प्रति घंटा में बताते हैं। साधारणतः मोटरगाड़ी के पिछले पहिए को चलानेवाले डंडे में

लगे दाँतीदार चक्र द्वारा एक तार लचीली खोखली नली में घूमता रहता है। इस तार के दूसरे सिरे का संबंध एक चुंबक से रहता है, जो तार के घूमते रहने के कारण स्वयं घूमता रहता है। यह चुंबक ऐल्यूमिनियम की टोपी के भीतर घूमता है। इसलिये टोपी स्वयं घूमना चाहती है। परंतु टोपी एक कमानी से नियंत्रित रहती है, इसलिये वह स्वतंत्रता से घूम नहीं पाती, केवल थोड़ा सा घूमकर रुक जाती है। टोपी के घूमने की मात्रा चुंबक के वेग के अनुपात में रहती है। इसी से ऐल्यूमिनियम की टोपी के घूमने की मात्रा से गाड़ी का वेग पढ़ा जा सकता है। ऐल्यूमिनियम की टोपी पर साधारणतः एक सुई जड़ी रहती है जो अंकों के ऊपर घूमकर वेग बताती रहती है। [गो० प्र०]

चालमापी
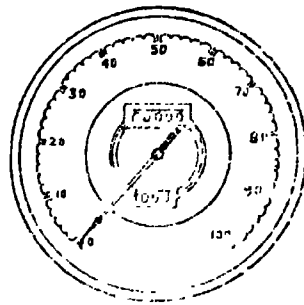
चालीसगाँव १. तालुक, जलगाँव जिले (महाराष्ट्र प्रांत) के दक्षिण में सतमाला श्रेणी की तराई में स्थित है। क्षेत्रफल ४६० वर्ग मील तथा जनसंख्या १,६७,८९७ (१९६१) है। इसमें १३२ गाँव और चालीसगाँव नामक एक नगर है। मिट्टी कड़ी, मिश्रित एवं पथरीली है। गिरना तथा उसकी सहायक मनयाद एवं तितूर प्रमुख नदियाँ हैं। इनके अतिरिक्त जामदा नामक नगर है।

२. नगर, स्थिति : २०° २७′ उ० अ० तथा ७५° १′ पू० दे०।

जलगाँव जिले के चालीसगाँव तालुक का प्रधान कार्यालय यहाँ है। जनसंख्या ३४,२८० (१९६१) है। यह धुलिया से ३५ मील दक्षिण मध्य रेलवे पर स्थित है। रेल लाइन के निर्माण के बाद इसके व्यापार में वृद्धि हुई है। [रा० मु० प्र०]

चालुक्य प्रसिद्ध राजवंश जो कई शाखाओं में विभक्त था। यह मान्यता है कि वे (चालुक्य) सोलंकी वंश के ही समरूप थे, क्योंकि वे भी इस बात में विश्वास करते थे कि परिवार का अधिष्ठाता ब्रह्मा की हथेली से उत्पन्न हुआ था। यह भी किंवदंती है कि चालुक्यों का मूल धामस्थान अयोध्या था, जहाँ से चलकर उस परिवार का राजकुमार विजयादित्य दक्षिण पहुँचा और वहाँ अपना राज्य स्थापित करने के प्रयत्न में पल्लवों से युद्ध करता हुआ मारा गया। उसके पुत्र विष्णुवर्धन ने कदंबों और गंगों को परास्त किया, और वहाँ अपने राज्य की स्थापना की। वंश की राजधानी बीजापुर जिले में बसाई थी। विष्णुवर्धन् का एक उत्तराधिकारी कीर्तिवर्मन् प्रथम था, जो छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ था। उसने कदंबों, गंगों और मौर्यों को पराजित करके अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित प्रदेश में कुछ और भाग मिला लिए। पुलकेशिन् द्वितीय, कुब्ज विष्णुवर्धन् और जयसिंह उसके तीन पुत्र थे, और छठी शताब्दी के अंत में उसका उत्तराधिकार उसके छोटे भाई मंगलेश को प्राप्त हुआ। मंगलेश ने ६०२ ई० के पूर्व मालवा के कलचुरीय बुद्धराज को परास्त किया और दक्षिण में कलचुरि राज्य के विस्तार को रोका। उसने अपने पुत्र को राज्य का उत्तराधिकारी बनाने का प्रयत्न किया, किंतु उसके भतीजे पुलकेशिन् द्वितीय ने इसका विरोध किया। फलस्वरूप गृहयुद्ध में मंगलेश के जीवन का अंत हुआ। पुलकेशिन् द्वितीय ने, जो ६०९ में सिंहासन पर बैठा, एक बड़ा युद्ध अभियान जारी किया और मैसूर के कदंब, कोंकण के मौर्य, कन्नौज के हर्षवर्धन और कांची के पल्लवों को परास्त किया तथा लाट, मालवा, गुर्जर और कलिंग पर विजय प्राप्त की। उसके छोटे भाई विष्णुवर्धन् ने अपने लिये आंध्र प्रदेश जीता जो बादामी राज्य में मिला लिया गया। उसने सन् ६१५-६१६ में इस राजकुमार को आंध्र का मुख्य शासक नियुक्त किया और तब उसका शासन राजकुमार और उसके उत्तराधिकारियों के हाथ में रहा, जो पूर्वी चालुक्यों के रूप में प्रसिद्ध थे। संभवतः पुलकेशिन् द्वितीय ने पल्लव नरसिंह वर्मन् से सन् ६४२ में युद्ध करते हुए प्राण दिए। उसके राज्यकाल में सन् ६४१ में एक चीनी यात्री युआनच्वाङ् ने उसके राज्य का भ्रमण किया, जिसके संस्मरणों से उस काल में दक्षिण की आंतरिक स्थिति की झलक प्राप्त हो सकती है। पुलकेशिन् द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् १३ वर्ष तक दक्षिण का प्रांत पल्लवों के अधिकार में रहा। ६५५ ई० में उसके बेटे विक्रमादित्य प्रथम ने पल्लवों के अधिकार से अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया। उसने अपनी सेनाएँ लेकर पल्लवों पर आक्रमण कर दिया और प्रदेश के एक भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया, यद्यपि वह प्रभुत्व बहुत अल्प समय तक ही रहा। उसके प्रपौत्र विक्रमादित्य द्वितीय ने पल्लवों से पुनः बैर ठान लिया और उसकी राजधानी कांची को लूट लिया। विक्रमादित्य द्वितीय के राज्यकालांतर्गत (७३३-७४५ ई०) चालुक्य राज्य के उत्तरी भाग पर सिंध के अरबों ने आधिपत्य जमा लिया, किंतु अवनिजनाश्रय पुलकेशी नाम के उसके सामंत ने, जो चालुक्य वंश की पार्श्ववर्ती शाखा का सदस्य था तथा जिसका मुख्य स्थान नौसारी में था, आधिपत्यकारियों को खदेड़कर बाहर कर दिया। उसका पुत्र और उत्तराधिकारी कीर्तिवर्मन् द्वितीय आठवीं शताब्दी के मध्य राष्ट्रकूट दंतीदुर्ग द्वारा पदच्युत किया गया।

जैसा इससे पूर्व कहा जा चुका है, कुब्ज विष्णुवर्धन्, पुलकेशिन् द्वितीय का छोटा भाई, जो चालुक्य साम्राज्य के पूर्वी भाग का अधिष्ठाता था, ६१५-१६ ई० में आंध्र की राजधानी वेंगी के सिंहासन पर बैठा। पूर्वी चालुक्यवंशियों को राष्ट्रकूटों से दीर्घकालीन युद्ध करना पड़ा। अंत में राष्ट्रकूटों ने चालुक्यों की बादामी शासक शाखा का ध्वंस कर दिया और दक्षिण पर अधिकार कर लिया। राष्ट्रकूट राजकुमार गोविंद द्वितीय ने आंध्र पर अधिकार कर लिया और तत्कालीन शासक कुब्ज विष्णुवर्धन् के दूरस्थ उत्तराधिकारी, विष्णुवर्धन चतुर्थ को आत्मसमर्पण के लिये बाध्य किया। विष्णुवर्धन् चतुर्थ अपने मुखिया गोविंद द्वितीय के पक्ष में राष्ट्रकूट ध्रुव तृतीय के विरुद्ध बंधुघातक युद्ध लड़ा और उसके साथ पराजय का साझीदार बना। उसने ध्रुव तृतीय और उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी गोविंद तृतीय के प्रभुत्व को मान्यता दे दी। तदनंतर पुत्र विजयादित्य द्वितीय कई वर्षों तक स्वतंत्रता के लिये गोविंद तृतीय से लड़ा, किंतु असफल रहा। राष्ट्रकूट सम्राट् ने उसे अपदस्थ कर दिया और आंध्र के सिंहासन के लिये भीम सलुकी को मनोनीत किया। गोविंद तृतीय की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी अमोघवर्ष प्रथम के राज्यकाल में विजयादित्य ने भीम सलुकी को परास्त कर दिया, आंध्र पर पुनः अधिकार कर लिया और दक्षिण को जीतता हुआ, विजयकाल में कैंबे (खंभात) तक पहुँच गया जो ध्वस्त कर दिया गया था। तत्पश्चात् उसके प्रतिहार राज्य पर आक्रमण किया, किंतु प्रतिहार नागभट्ट द्वितीय द्वारा पराजित हुआ। घटनावशात् शत्रुओं से तंग आकर उसे अपने देश की शरण लेनी पड़ी। विजयादित्य द्वितीय के पौत्र विजयादित्य तृतीय (८४४-८८८ ई०) ने उत्तरी अर्काट के पल्लवों को पराजित किया, तंजोर के कोलाओं को उनके देश के पंड्यों पर पुनर्विजय में

सहायता दी, राष्ट्रकूट कृष्ण द्वितीय और उसके संबंधी दहाल के कलचुरी संकरगण और कलिंग के गंगों को परास्त किया, और किरणपुरा तथा चक्रकूट नगरों को जलवा दिया। १०वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में गृहयुद्ध हुआ और बदप ने, जो चालुक्य साम्राज्य का पार्श्ववर्ती भाग था, राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय को सहायता देकर तत्कालीन चालुक्य शासक दानार्णव को परास्त कर दिया। फिर वेंगी के सिंहासन पर अवैध अधिकार कर लिया, जहाँ पर उसने और उसके उत्तराधिकारियों ने ९९९ ई० तक राज्य किया। अंत में दानार्णव के पुत्र शक्तिवर्मन् ने सभी शत्रुओं को परास्त करने और अपने देश में अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। शक्तिवर्मन् का उत्तराधिकार उसके छोटे भाई विमलादित्य ने सँभाला। उसके पश्चात् उसका पुत्र राजराज (१०१८–६०) उत्तराधिकारी हुआ। राजराज ने तंजोर के राजेंद्रचोल प्रथम की कन्या से विवाह किया और उससे उसको कुलोत्तुंग नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ जो अपने जीवन के प्रारंभिक दिनों में चोल राजधानी में अपनी नानी तथा राजेंद्रचोल की रानी के पास रहा। सन् १०६० में राजराज अपने सौतेले भाई विजयादित्य सप्तम द्वारा अपदस्थ किया गया जो वेंगी के सिंहासन पर १०७६ तक रहा। सन् १०७० में राजराज के पुत्र कुलोत्तुंग ने चोल देश पर सार्वभौमिक शासन किया और सन् १०७६ में अपने चाचा विजयादित्य सप्तम को पराजित कर आंध्र को अपने राज्य में मिला लिया। कुलोत्तुंग और उसके उत्तराधिकारी, जो 'चोल' कहलाना पसंद करते थे, सन् १२७१ तक चोल देश पर शासन करते रहे।

ऊपर इसका उल्लेख किया जा चुका है कि बादामी का चालुक्य कीर्तिवर्मन् द्वितीय ८वीं शती के मध्यभाग में राष्ट्रकूटों द्वारा पदच्युत कर दिया गया, जिन्होंने बाद में दक्षिण में दो सौ वर्षों से अधिक काल तक राज्य किया। इस काल में कीर्तिवर्मन् द्वितीय का भाई भीम और उसके उत्तराधिकारी राष्ट्रकूटों के सामंतों की हैसियत से बीजापुर जिले में राज्य करते रहे। इन सामंतों में अंतिम तैल द्वितीय ने दक्षिण में राष्ट्रकूटों के शासन को समाप्त कर दिया और ९७३ ई० में देश में सार्वभौम सत्ता स्थापित कर ली। वह बड़ी सफलता के साथ चोलों और गंगों से लड़ा, और मालवा के राजा मुंज को बंदी बना लिया, जिसे अंत में उसने मरवा दिया। तैल की प्रारंभिक राजधानी मान्यखेट थी। सन् ९९३ के कुछ दिनों पश्चात् राजधानी का स्थानांतरण कल्याणी में हो गया जो अब हैदराबाद में है। तैल का पौत्र जयसिंह (सन् १०१५–१०४२) परमार भोज और राजेंद्र चोल से सफलतापूर्वक लड़ा। जयसिंह का बेटा सोमेश्वर (१०४२–१०६८) भी चोलों से बड़ी सफलतापूर्वक लड़ा और लाल, मालवा तथा गुर्जर को रौंद डाला। उसका उत्तराधिकार उसके पुत्र सोमेश्वर द्वितीय ने १०६९ में सँभाला जिसे उसके छोटे भाई विक्रमादित्य षष्ठ ने १०७६ ई० में अपदस्थ कर दिया। विक्रमादित्य कुलोत्तुंग प्रथम से आंध्र देश पर अधिकार करने के निमित्त लड़ा। युद्ध के विभिन्न परिणाम हुए और कुलोत्तुंग प्रथम की मृत्यु के पश्चात् (१०१८ ई०) कुछ काल तक के लिये विक्रमादित्य ने उस प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित रखा। उसने द्वारसमुद्र के 'होयसलों' और देवगिरि के यादवों के विद्रोहों का दमन किया और लाल तथा गुर्जर को लूट लिया। उसके दरबार की शोभा कश्मीरी कवि 'बिल्हण' से थी, जिसने विक्रमांकदेवचरित लिखा है। विक्रमादित्य षष्ठ के पौत्र तैल तृतीय के शासनकाल में सन् ११५६ में कलचुरी बिज्जल ने दक्षिण पर सार्वभौम अधिकार कर लिया और चालुक्य सम्राट् की मृत्यु के पश्चात् सन् ११६३ में अपने को सम्राट् घोषित कर दिया। तैल तृतीय के पुत्र सोमेश्वर चतुर्थ ने ११८१ में कलचुरी से पुनः राजसिंहासन छीन लिया, किंतु ११८४ के लगभग फिर यादव भिल्लम को समर्पण करना पड़ा। उसके उत्तराधिकारियों के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। चालुक्यवंश की तीन प्रमुख शाखाओं के साथ, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, कुछ दूसरी शाखाएँ भी थीं जिन्होंने दक्षिण आंध्र और गुजरात आदि के कुछ भागों में प्रारंभिक काल में शासन किया।

सं० ग्रं०—बांबे गजेटियर, ७, भाग २, डायनेस्टीज़ आव दि कैनेरीज़ डिस्ट्रिक्ट्स; डी० सी० गांगुली : ईस्टर्न चालुक्याज़। [पी० चं० गां०]

संस्कृति—

बादामी के चालुक्य — चालुक्य नरेशों की पूर्ण उपाधि सत्याश्रय श्री पृथ्वीवल्लभ महाराजाधिराज परमेश्वर भट्टारक थी। इसमें से परमेश्वर का सर्वप्रथम उपयोग हर्षवर्धन पर पुलकेशिन् द्वितीय की विजय के बाद हुआ और महाराजाधिराज तथा भट्टारक सर्वप्रथम विक्रमादित्य प्रथम के समय प्रयुक्त हुए। राजवंश के योग्य व्यक्तियों को राज्य में अधिकार के पदों पर नियुक्त किया जाता था। राज्य में रानियों का महत्व भी नगण्य नहीं होता था। विजित प्रदेश के शासकों को विजेता की अधीनता स्वीकार कर लेने पर शासन का अधिकार फिर से प्राप्त हो जाता था। अभिलेखों में सामंत और महत्तर के अतिरिक्त विषयपति, देशाधिपति, महासांधिविग्रहिक, नामुंड, ग्रामभोगिक और करण के उल्लेख मिलते हैं। राज्य राष्ट्र, विषय, नाडु और ग्रामों में विभक्त था। राज्य के करों में निधि, उपनिधि, क्लृप्त, उद्रंग और उपरिकर के अतिरिक्त मारुँय, मादिर्युन, उत्तमव और मरुमत्र आदि स्थानीय करों के उल्लेख हैं। मकानों और उत्सवों पर भी कर था। व्यापारी संघ स्वयं अपने ऊपर भी कर लगाया करते थे। चालुक्यों की सेना संगठित और शक्तिशाली थी। इसका उल्लेख युवानच्वांग् ने किया है और इसका समर्थन चालुक्यों की विजयों से, विशेष रूप से हर्ष पर, सिद्ध होता है। उसका कहना है कि पराजित सेनापति को कोई दंड नहीं दिया जाता, केवल उसे स्त्रियों के वस्त्र पहनने पड़ते हैं। चालुक्यों की नौसेना की शक्ति भी नगण्य नहीं थी।

युवान च्वांग् ने लिखा है कि मिट्टी अच्छी और उपजाऊ है, बराबर जोती जाती है और इससे बहुत अधिक उपज होती है। उसने महाराष्ट्र के निवासियों को गर्वीला और युद्धप्रिय बतलाया है एवं कहा है कि वे उपकार के प्रति कृतज्ञ और अपकार के प्रति प्रतिशोधक होते हैं, विपन्न और शरणागत के लिये वे आत्मबलिदान तक करने को तत्पर रहते हैं और अपमान करनेवाले की हत्या की उन्हें पिपासा होती है। स्त्रियों में उच्चकुलों में शिक्षा के प्रसार के कई प्रमाण हैं। मंदिर सामाजिक तथा आर्थिक जीवन के विशिष्ट केंद्र थे। आर्थिक जीवन में श्रेणियों का महत्व था। कांस्यकार और तेलियों की श्रेणियों के उल्लेख अभिलेखों में मिलते हैं। लक्ष्मेश्वर के अभिलेख में युवराज विक्रमादित्य द्वारा पोरिगेरे स्थान के महाजनों, नगर और १८ प्रकृतियों को दी गई आचारव्यवस्था का विवरण है। राज्य की ओर से तौल और मान में आदर्श रूप प्रस्तुत किया गया था।

ब्राह्मण धर्म उन्नति पर था। चालुक्य नरेश विष्णु अथवा शिव के उपासक थे। उन्होंने इन देवताओं की पूजा के लिये पट्टदकल, बादामी

आदि स्थानों पर भव्य मंदिर निर्मित किए। ग्रहण के अवसर पर वे दान देते थे और स्मृतियों के आदर्श पर व्रत और दान करते थे। वे वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान करते थे और विद्वान् ब्राह्मणों का सत्कार करते थे। किंतु धार्मिक विषयों में वे सहिष्णु थे तथा जैनियों का आदर करते थे और उन्हें भी दान देते थे। चालुक्य राज्य में जैन धर्म उन्नत दशा में था। राज्य में कई उल्लेखनीय जैन मंदिर भी बनवाए गए। बौद्ध धर्म की स्थिति के लिये हमारे पास कोई समकालीन पुरातत्व का प्रमाण नहीं है। युवान च्वाङ् का कथन है कि महाराष्ट्र में सौ से ऊपर बौद्ध विहार और पाच हजार से ऊपर बौद्ध भिक्षु थे।

युवानच्वाङ् के अनुसार लोगों को ज्ञानार्जन की रुचि थी। राजवंश के व्यक्ति स्वयं विद्याओं और शास्त्रों का अध्ययन करते थे और विद्वानों को दान के द्वारा प्रोत्साहन देते थे। वातापी शिक्षा और ज्ञान के केंद्र के रूप में प्रसिद्ध थी। संस्कृत साहित्य के विभिन्न अंगों का अध्ययन होता था। अभिलेखों की भाषाशैली पर प्रसिद्ध काव्यग्रंथों का प्रभाव स्पष्ट है। ऐहोळे प्रशस्ति की रचना जैन कवि रविकीर्ति ने की थी। जैनेंद्र व्याकरण के रचयिता पूज्यपाद इसी काल के थे। विजयांका अथवा विज्जिका, जिसकी गणना राजशेखर ने वैदर्भी शैली का प्रयोग करने में केवल कालिदास के बाद की है, संभवत: चंद्रादित्य की रानी विजय-भट्टारिका ही थी। सोमदेवसूरि ने यशस्तिलकचंपू और नीतिवाक्या-मृत की रचना वेमुलवाड के चालुक्यों के संरक्षण में की थी। कन्नड साहित्य के इतिहास में भी इस काल का योगदान महत्वपूर्ण है। श्री वर्धदेव ने तत्वार्थमहाशास्त्र पर चूडामणि नाम की टीका लिखी। श्यामकुंदाचार्य प्राकृत, संस्कृत और कर्णाट भाषाओं के लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं। कन्नड भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि और आदिपुराण तथा विक्रमार्जुनविजय के रचयिता पंप वेमुलवाड के चालुक्य नरेश अरिकेसरि द्वितीय के दरबार में थे।

ऐहोले, मेगुति और बादामी के मंदिरों से दक्षिण के मंदिरों का इतिहास प्रारंभ होता है। पट्टदकल के मंदिरों में इनके विकास का दूसरा चरण परिलक्षित होता है। इन मंदिरों में मूर्तियों की संख्या में वृद्धि के साथ ही इनकी शैली में भी विकास मिलता है। ठोस चट्टानों को काट-कर मंदिरों का निर्माण करने की कला में अद्भुत कुशलता दिखलाई पड़ती है। लोकेश्वर मंदिर के निर्माता श्रीगुंडन् अनिवारिताचारि ने अनेक नगरों की निर्माणयोजना की थी और अनेक वास्तु, प्रासाद, यान, आसन, शयन, मणिमुकुट और रत्नचूडामणि आदि बनाए थे। वह त्रिभुवनाचारि और दक्षिण देश के सूत्रधार के रूप में प्रसिद्ध थे। विद्वान् अजंता के भित्ति-चित्रों में से कुछ को इसी काल की कृति मानते हैं। पट्टदकल के अभिलेख में भी शिल्पकारों और मूर्तिकारों के एक वंश की तीन पीढ़ियों का उल्लेख है। एक अभिलेख में भरत की परंपरा पर आधारित नृत्य के एक नए ग्रंथ की लोकप्रियता का उल्लेख है जिसने अन्य विरोधी पद्धतियों पर विजय प्राप्त की थी।

कल्याणी के चालुक्य—इनके राजचिह्नों में पंचमहावाद्य भी था। इनका पूर्ण विरुद था—समस्त भुवनाश्रय श्रीपृथिवीवल्लभ महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक सत्याश्रयकुलतिलक चालुक्याभरण श्रीमत् जिसके अंत में मल्ल अंतवाली राजा की विशिष्ट उपाधि होती थी। राजवंश के व्यक्तियों को विभिन्न प्रदेशों के करों का भाग भुक्ति के रूप में मिलता था। युवराज को राज्य के दो प्रमुख प्रांतों का शासन दिया जाता था। सामंतों के अभिलेखों में उनके अधिपति की वंशावली के बाद 'तत्पाद पद्मोपजीवि' के साथ उनका स्वयं का उल्लेख होता था। उनके अभिलेख में राज्य की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि और आचंद्रार्क-स्थायित्व सूचक शब्दों का अभाव होता था। स्त्रियों को भी प्रांत और दूसरे प्रादेशिक विभाजनों का शासन दे दिया जाता था। चालुक्यों के अभिलेखों में कई राजगुरुओं के उल्लेख हैं। राज्य के वैभव के प्रदर्शन की भावना बढ़ रही थी। इसी के साथ शासनव्यवस्था की जटिलता बढ़ रही थी। उदाहरणार्थ, सांधिविग्रहिक के साथ ही हमें कन्नडसांधिविग्रहिक, लाटसांधिविग्रहिक और हेरिसांधिविग्रहिक के उल्लेख मिलते हैं। राजभवन में सेवकों और अधिकारियों में कई वर्ग दिखलाई पड़ते हैं। चालुक्य अभिलेखों में अनेक योग्य मंत्रियों तथा अधिकारियों के नाम मिलते हैं जिन्होंने चालुक्यों के गौरव को बढ़ाने में विशेष योग दिया था। ऐसे अधिकारी प्राय: एक से अधिक पदों पर रहते थे। विशिष्ट गौरवप्राप्त अधिकारियों और विशिष्ट सैनिकों का एक वर्ग था जो सहवासि कहलाता था। वह सदैव सम्राट् के साथ रहता था और उसकी सेवा में प्राण तक त्यागने के लिये प्रस्तुत रहता था। पद प्राय: वंशगत होते थे और वेतन के स्थान पर भुक्ति अथवा कर का भाग देने का प्रचलन था। विशिष्ट सेवा के लिये विशेष उपाधियों और विशेष चिह्नों के उपयोग का अधिकार दिया जाता था। सैनिक अधिकारियों में सेनाधिपति, महादंडनायक, दंडनायक और करितुरगसाहिनि के उल्लेख मिलते हैं। सेना में सभी जाति और वर्ग के लोग संमिलित होते थे। राज्य राष्ट्र, विषय, नाडु, कंपण और ठाण में विभक्त था। किंतु इन प्रादेशिक विभाजनों के साथ अभिलेखों में जो संख्याएँ प्रयुक्त हुई हैं उनका निश्चित महत्व अभी तक नहीं स्पष्ट हो पाया है। शासन में स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं का विशेष स्थान था। इनमें से कुछ का स्वरूप सामाजिक और धार्मिक भी था। नगरों का प्रबंध करनेवाली सभाएँ महाजन के नाम से प्रसिद्ध थीं। गावों की संस्थाएँ, जो मुख्यत: चोल संस्थाओं जैसी थीं, पहले की तुलना में अधिक सक्रिय थीं। ये सामूहिक संस्थाएँ परस्पर सहयोग के साथ काम करती थीं और सामाजिक जीवन में उपयोगी अनेक कार्यों का प्रबंध करती थीं। गाव के अधिकारियों में ऊरोडेय, पेर्गडे, गावुंड, सेनबोव और कुलकोण के नाम मिलते हैं। राज्य द्वारा लिए जानेवाले कर प्रमुख रूप से दो प्रकार के थे: आय, यथा सिद्धाय, पन्नाय और दंडाय तथा शुंक, यथा वड्डरावुलद शुंक, पेज्जुंक और मन्नेय शुंक। इनके अतिरिक्त अरुवण, बल्लि, करवंद, तलभोग और ममतु का भी निर्देश है। मनेवण गृहकर था, कन्नडिवण (दर्पणकर) संभवत: नर्तकियों से लिया जाता था और बलंजायतेरे व्यापारियों पर था। विवाह के लिये बनाए गए शामियानों पर भी कर का उल्लेख मिलता है। इस काल की संस्कृति का स्वरूप उदार और विशाल था और उसमें भारत के अन्य भागों के प्रभाव भी समाविष्ट कर लिए गए थे। स्त्रियों के सामाजिक जीवन में भाग लेने पर बंधन नहीं थे। उच्च वर्ग की स्त्रियों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी। नर्तकियों (सूलेयर) की संख्या कम नहीं थी। सती-प्रथा के भी कुछ उल्लेख मिलते हैं। महायोग, शूलब्रह्म और सल्लेखन आदि विधियों से प्राणोत्सर्ग के कुछ उदाहरण मिलते हैं। दिवंगत संबंधी, गुरु अथवा महान् व्यक्तियों की स्मृति में निर्माण कराने को परोक्षविनय कहते थे। पोलो जैसे एक खेल का चलन था। मंदिर सामाजिक और आर्थिक जीवन के भी केंद्र थे। उनमें नृत्य, गीत और नाटक के आयोजन होते थे। संगीत में राजवंश के कुछ व्यक्तियों की निपुणता का उल्लेख मिलता है। सेनापति रविदेव के लिये कहा गया है कि जब वह अपना संगीत प्रस्तुत करता था, लोग पूछते थे कि क्या यह मधु की वर्षा अथवा सुधा की सरिता नहीं है?

कृषि के लिये जलाशयों के महत्व के अनुरूप ही उनके निर्माण और उनकी मरम्मत के लिये समुचित प्रबंध होता था। आर्थिक दृष्टि से उपयोगी फसलें, जैसे पान, सुपारी, कपास और फल, भी पैदा की जाती थीं। उद्योगों और शिल्पों की श्रेणियों के अतिरिक्त व्यापारियों के भी संघ थे। व्यापारियों ने कुछ संघ, यथा नानादेशि और तिशैयायिरत्तु ऐंजूरुंवर् का संगठन अत्यधिक विकसित था और वे भारत के विभिन्न भागों और विदेशों के साथ व्यापार करते थे। इस काल के सिक्कों के नाम हैं—पोन् अथवा गद्याण, पग अथवा हग, विस और काणि। जयसिंह, जगदेकमल्ल और त्रैलोक्यमल्ल के नाम के सोने और चांदी के सिक्के उपलब्ध होते हैं। मत्तर्, कम्मस्, निवर्तन और खंडुग भूमि नापने की इकाइयां थीं किंतु नापने के दंड का कोई सुनिश्चित माप नहीं था। संभवतः राज्य की ओर से नाप की इकाइयों को व्यवस्थित और निश्चित करने का प्रयत्न हुआ था।

सहनशीलता और उदारता इस युग के धार्मिक जीवन की विशेषताएँ थीं। सभी धर्म और संप्रदाय समान रूप से राजाओं और सामंतों के दान के पात्र थे। ब्राह्मण धर्म में शिव और विष्णु की उपासना का अधिक प्रचलन था, इनमें भी शिव की पूजा राजवंश और देश दोनो में ही अधिक जनप्रिय थी। कलचूर्य लोगों के समय में लिंगायत संप्रदाय के महत्व में वृद्धि हुई थी। कोल्लापुर महालक्ष्मी की शाक्त विधि से पूजा का भी अत्यधिक प्रचार था। इसके बाद कार्तिकेय की पूजा का महत्व था। बौद्ध धर्म के प्रमुख केंद्र बेलगावे और डंबल थे। किंतु बौद्ध धर्म की तुलना में जैन धर्म का प्रचार अधिक था।

वेद, व्याकरण और दर्शन की उच्च शिक्षा के निमित्त राज्य में विद्यालय या घटिकाएँ थीं जिनकी व्यवस्था के लिये राज्य से अनुदान दिए जाते थे। देश में ब्राह्मणों के अनेक आवास अथवा ब्रह्मपुरी थीं जो संस्कृत के विभिन्न अंगों के गहन अध्ययन के केंद्र थीं।

वादिराज ने जयसिंह द्वितीय के समय में पार्श्वनाथचरित और यशोधरचरित्र की रचना की। बिल्हण की प्रसिद्ध रचना विक्रमांकदेवचरित में विक्रमादित्य षष्ठ के जीवनचरित्र का विवरण है। विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य स्मृति पर अपनी प्रसिद्ध टीका मिताक्षरा की रचना विक्रमादित्य के समय में ही की थी। विज्ञानेश्वर के शिष्य नारायण ने व्यवहारशिरोमणि की रचना की थी। मानसोल्लास अथवा अभिलषितार्थचिंतामणि जिसमें राजा के हित और रुचि के अनेक विषयों की चर्चा है, सोमेश्वर तृतीय की कृति थी। पार्वतीरुक्मिणीय का रचयिता विद्यामाधव सोमेश्वर के ही दरबार में था। संगीतचूड़ामणि जगदेकमल्ल द्वितीय की कृति थी। संगीतसुधाकर भी किसी चालुक्य राजकुमार की रचना थी। कन्नड साहित्य के इतिहास में यह युग अत्यंत समृद्ध था। कन्नड भाषा के स्वरूप में भी कुछ परिवर्तन हुए। षट्पदी और त्रिपदी छंदों का प्रयोग बढ़ा। चंपू काव्यों की रचना का प्रचलन समाप्त हो चला। रगले नाम के विशेष प्रकार के गीतों की रचना का प्रारंभ इसी काल में हुआ। कन्नड साहित्य के विकास में जैन विद्वानों का प्रमुख योगदान था। सुकुमारचरित्र के रचयिता शांतिनाथ और चंद्रचूडामणिशतक के रचयिता नागवर्माचार्य इसी काल में हुए। रन्न ने, जो तैलप के दरबार का कविचक्रवर्ती था, अजितपुराण और साहसभीमविजय नामक चंपू, रन्न कंद नाम का निघंटु और परशुरामचरिते और चक्रेश्वरचरिते की रचना की। चामुंडराय ने ९७८ ई० में चामुंडरायपुराण की रचना की। छंदोंबुधि और कर्णाटककादंबरी की रचना नागवर्मा प्रथम ने की थी। दुर्गसिंह ने अपने पंचतंत्र में समकालीन लेखकों में मेलवीमाधव के रचयिता कर्णपार्य, एक नीतिग्रंथ के रचयिता कवितावलिास और मदनतिलक के रचयिता चंद्रराज का उल्लेख किया है। श्रीधराचार्य को गद्यपद्यविद्याधर की उपाधि प्राप्त थी। चंद्रप्रभचरिते के अतिरिक्त उसने जातकतिलक की रचना की थी जो कन्नड में ज्योतिष का प्रथम ग्रंथ है। अभिनव पंप के नाम से प्रसिद्ध नागचंद्र ने मल्लिनाथपुराण और रामचंद्रचरितपुराण की रचना की। इससे पूर्व वादि कुमुदचंद्र ने भी एक रामायण की रचना की थी। नयसेन ने धर्मामृत के अतिरिक्त एक व्याकरण ग्रंथ भी रचा। नेमिनाथपुराण कर्णपार्य की कृति है। नागवर्मा द्वितीय ने काव्यावलोकन, कर्णाटकभाषाभूषण और वास्तुकोश की रचना की। जगद्दल सोमनाथ ने पूज्यपाद के कल्याणकारक का कन्नड में अनुवाद कर्णाटक कल्याणकारक के नाम से किया। कन्नड गद्य के विकास में वीरशैव लोगों का विशेष योगदान था। प्रायः दो सौ लेखकों के नाम मिलते हैं जिनमें कुछ उल्लेखनीय लेखिकाएँ भी थीं। बसव और अन्य वीरशैव लेखकों ने वचन साहित्य को जन्म दिया जिसमें साधारण जनता में वीरशैव सिद्धांतों के प्रचलन के लिये सरल भाषा का उपयोग किया गया। कुछ लिंगायत विद्वानों ने कन्नड साहित्य के अन्य अंगों को भी समृद्ध किया।

अभिलेखों में प्रस्तर के कुछ कुशल शिल्पियों के नाम मिलते हैं, यथा शंकरार्य, नागोज और महाकाल। चालुक्य मंदिरों की बाहरी दीवारों और दरवाजों पर सूक्ष्म अलंकारिता मिलती है। मंदिरों के मुख्य प्रवेशद्वार पार्श्व में हैं। विमान और दूसरे विषयों में भी इन मंदिरों का विकसित रूप होयसल मंदिरों में दिखलाई पड़ता है। इन मंदिरों के कुछ उल्लेखनीय उदाहरण हैं लक्कुंदि में काशीविश्वेश्वर, इट्टगि में महादेव और कुरुवत्ति में मल्लिकार्जुन का मंदिर।

पूर्वी चालुक्य - राजनीतिक अव्यवस्था के कारण संपूर्ण पूर्वी चालुक्य राज्य में शासन व्यवस्थित नहीं हो पाया। साम्राज्य कई छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था जो केवल पूर्वी चालुक्य नरेशों के अत्यधिक शक्तिशाली रहने पर ही उनकी अधीनता मानते थे। अभिलेखों में सप्तांगों के अतिरिक्त मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, दौवारिक, प्रधान और अध्यक्ष आदि १८ तीर्थों के उल्लेख हैं। राजभवन के कर्मचारी ७२ नियोगों में संगठित थे। इनके अतिरिक्त मन्नेय, राष्ट्रकूट और ग्रामणी के भी उल्लेख मिलते हैं। राज्य विषय और कोट्टम् में विभक्त था।

युवानच्वाङ् के अनुसार भूमि अत्यधिक उपजाऊ थी और लोगों का स्वभाव प्रचंड था। लोग कृष्णवर्ण के और कलाप्रिय थे। देश के कुछ भागों की आबादी बिखरी थी और कुछ वन प्रदेश थे जिनमें दस्युओं के दल निरापद विचरण करते थे। अभिलेखों में बोय और शबर लोगों के भी उल्लेख मिलते हैं। कोमटि अथवा व्यापारी वर्ग समृद्ध था। श्रेणियों (नकर) का संगठन शक्तिशाली था।

बौद्ध धर्म अवनत दशा में था और उसका स्थान ब्राह्मण धर्म ले रहा था। शैव संप्रदाय का वैष्णव संप्रदाय की तुलना में अधिक प्रसार था। किंतु जैन धर्म की स्थिति अच्छी थी और उसे कुछ पूर्वी चालुक्य नरेशों का भी संरक्षण उसे प्राप्त था। शिक्षा के प्रसार में मठों का महत्वपूर्ण योगदान था।

किरातार्जुनीयम् के रचयिता भारवि को चालुक्यों की इसी शाखा के संस्थापक विष्णुवर्धन् के साथ संबंधित किया जाता है। साहित्यिक रचना की दृष्टि से संस्कृत के बाद कन्नड का स्थान था। कन्नड के तीन प्रसिद्ध कवि थे—पोन्न, पंप और नागवर्म। किंतु चालुक्यनरेश

तेलुगु भाषा के साहित्यिक उपयोग को प्रोत्साहन देने के लिये प्रसिद्ध हैं। विजयादित्य तृतीय के अभिलेखों में सर्वप्रथम तेलुगु पद्य मिलते हैं। नन्नय भट्ट का महाभारत तेलुगु की सर्वोत्कृष्ट कृतियों में से है।

सं० ग्रं०—जी० यजदानी : दि अर्ली हिस्ट्री ऑव दि डेकेन; के० ए० नीलकंठ शास्त्री : ए हिस्ट्री ऑव साउथ इंडिया; डॉ० सी० गांगुली : दि ईस्टर्न चालुक्याज; डी० आर० भंडारकर : अर्ली हिस्ट्री आव डेकेन; जे० एफ० फ्लीट : डाइनेस्टीज ऑव दि कैनारीज डिस्ट्रिक्ट्स। [ल० गो०]

चालू लेखा और चालू लेखा विवरण (एकाउंट करेंट, एकाउंट रेंडर्ड) जब क्रेता और विक्रेता के मध्य कोई ऐसा करार हो जाता है कि क्रय विक्रय का परस्पर प्रवाह निरंतर चलता रहेगा और उसमें पूर्ण भुगतान अथवा निश्चित समय पर शेष देय धन का भुगतान अवरोधक न होगा; विक्रेता ऐसे क्रेताओं का खाता स्थायी रूप से अपने यहाँ खोलता है जो नाम जमा दोनों पक्षों का संतुलन हो जाने पर भी बराबर चलता रहता है और जिसमें उसकी खरीदों एवं भुगतानों का विवरण अंकित रहता है। विक्रेता इसका संतुलन निश्चित समय पर कर क्रेता को वस्तुस्थिति से अवगत एवं भुगतान करने के लिये भेजता रहता है। विक्रेता के यहाँ रखे गए ऐसे खाते को चालू लेखा और उसके द्वारा क्रेता के पास भेजे जानेवाले इस विवरण को चालू लेखा विवरण कहते हैं। इससे व्यापारिक व्यवहार साफ रहता है तथा देय और प्राप्त धन की स्थिति से दोनों पक्ष अवगत रहते हैं। भूलों में संशोधन एवं परिमार्जन का भी सहज सुअवसर इससे उपलब्ध होता रहता है। (सु० पां०)

चावल और धान चावल, जो धान पर से भूसी निकालकर साफ करने से प्राप्त होता है, संसार की लगभग आधी जनसंख्या का मुख्य भोजन है। खाद्य एवं कृषिसंगठन की सूचना के अनुसार सन् १९५४ में समस्त संसार में २३ करोड़ एकड़ में धान की खेती होती थी, जिससे १६.२ करोड़ मीट्रिक टन साफ चावल का कुल उत्पादन हुआ। यह फसल अधिकांश रूप से एशिया की फसल कही जा सकती है, क्योंकि ९५ प्रति शत चावल दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों में, अर्थात् पाकिस्तान से लेकर जापान तक, होता है। धान गरम और आर्द्र जलवायु की फसल है। ४५° उत्तर अक्षांश से लेकर ४०° दक्षिण अक्षांश तक, जहाँ कहीं भी वर्षा अथवा सिंचाई द्वारा पानी का प्रबंध हो सकता है, धान की खेती होती है। धान के लिये २०° से लेकर ३८° तक का ताप तथा ३० इंच से लेकर २०० इंच तक की वर्षा उपयुक्त जलवायु है।

भारत में सन् १९५७-५८ में धान की खेती ७ करोड़ ९० लाख एकड़ में हुई, जिससे २ करोड़ ६८ लाख टन शुद्ध चावल प्राप्त हुआ। संसार के अन्य किसी देश में इतने अधिक क्षेत्रफल में धान की खेती नहीं होती। भारत के सभी राज्यों में, मद्रास से लेकर कश्मीर तक, धान की खेती होती है।

यों तो धान की किस्मों के लिये यह कहावत प्रसिद्ध है कि यदि धान की प्रत्येक किस्म का केवल एक एक दाना घड़े में रखा जाय, तो घड़ा भर सकता है, परंतु वानस्पतिक वर्गीकरण के अनुसार, जंगली धानों के अतिरिक्त खेती किए जानेवाले धान दो प्रकार के होते हैं — ओराइजा ग्लैबरीमा और दूसरा ओराइजा सटाइवा। ओराइजा ग्लैबरीमा की खेती केवल पश्चिमी अफ्रीका में होती है। शेष संसार में ओराइजा सटाइवा की खेती होती है। ओराइजा सटाइवा की किस्में सबसे अधिक भारत में ही पाई जाती हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि संभवतः भारत ही इस जाति के धान की उत्पत्ति का देश है। ओराइजा सटाइवा को भी भौगोलिक दृष्टि से दो भागों में बाँटा जा सकता है : ओराइजा सटाइवा जैपोनिका और ओराइजा सटाइवा इंडिका। जैपोनिका किस्म के धान की खेती जापान, कोरिया तथा अन्य समशीतोष्ण देशों में होती है और इंडिका किस्म की खेती भारत तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के अन्य देशों में।

जैपोनिका किस्म के धानों की विशेषता उसकी अधिक पैदावार, छोटा कद, अधिक खाद देने पर लंबा बढ़ने के बजाय अधिक कल्लों का निकलना, गोल मोटा दाना तथा धान में अधिक चावल का प्रतिशत है, जब कि इंडिका किस्म के धानों की विशेषता उनका लंबा दाना, औसतन कम पैदावार और अधिक खाद देने पर बढ़कर गिर जाने की प्रवृत्ति है। परंतु इंडिका किस्में बीमारियों तथा वातावरण का अधिक अच्छी तरह मुकाबला कर सकती हैं। जैपोनिका किस्म के धान उन क्षेत्रों के लिये उपयुक्त नहीं हैं, जिनमें इंडिका किस्म के धान की खेती होती है। इसी प्रकार जिन देशों में जैपोनिका धान की खेती होती है, वहाँ इंडिका की नहीं हो सकती। परंतु यह संभव है कि जैपोनिका और इंडिका धान की किस्मों को मिलाकर एक संकर जाति उत्पन्न की जाए जिसमें भारतीय धानों के अच्छे गुणों के साथ साथ जैपोनिका धान की अच्छी पैदावार प्राप्त की जा सके। इस प्रकार का संकरीकरण (hybridization) चावल-अनुसंधान-केंद्र, कटक में हो रहा है।

धान की खेती के मुख्य दो ढंग हैं : एक तो धान के बीज को सीधे खेत में बोकर और दूसरा धान को पहले बियाड़ में बोकर तथा जब पौधा कुछ बड़ा हो जाय तब उसे उखाड़कर खेतों में रोपाई करके। ऊँची जमीनों पर, जहाँ सिंचाई के साधन उपलब्ध नहीं हैं वहाँ धान को सीधे खेत में बोने की प्रथा है, परंतु नीची जमीनों में, जहाँ पानी लगता है या जहाँ सिंचाई के साधन प्राप्त हैं, वहाँ रोपाई की प्रथा प्रचलित है। यद्यपि यह माना जाता है कि रोपाई के ढंग से धान की पैदावार अधिक होती है, तथापि यदि खेतों को घासों से मुक्त रखा जा सके और खाद का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया जाय, तो सीधे बोआई के ढंग से भी धान की अच्छी पैदावार प्राप्त की जा सकती है। धान को छिटककर न बोकर, यदि लाइन से उसकी बोवाई और लाइन के बीच में गोड़ाई निकाई करके खेत साफ रखा जाय तथा खेत में खाद भी पर्याप्त मात्रा में डाली जाय, तो पैदावार लगभग उतनी ही प्राप्त की जा सकती है जितनी धान की रोपाई द्वारा। ऊँचे खेतों में बोई जानेवाली धान की किस्में ज्यादातर कम समय, अर्थात् ८० से लेकर १२० दिनों तक, में तैयार होती हैं। और नीचे खेतों में रोपाई की जानेवाली किस्में अधिक समय में, अर्थात् १४० से लेकर १७० दिनों तक में तैयार होती हैं। इन दो मुख्य किस्मों के अतिरिक्त बहुत सी अन्य किस्में हैं, जो फसल तैयार होने की अवधि तथा पानी की आवश्यकता की दृष्टि से इन दो मुख्य किस्मों के बीच की हैं। इस प्रकार भारत में पैदा होनेवाले धानों को उनके पकने की अवधि के अनुसार लघु, मध्यम और दीर्घकालीन किस्मों में बाँटा जा सकता है। इनके अतिरिक्त कुछ किस्में ऐसी हैं जो ५ से लेकर २५ फुट तक पानी में पैदा होती हैं। इन्हें गहरे पानी के धान की किस्में कहा जाता है। धान की अधिकांश फसलें वर्षा ऋतु में पैदा की जाती हैं, परंतु ताल, पोखरों और नदियों के किनारे तथा उन सभी स्थानों पर, जहाँ सिंचाई

की सुविधा हो, गरमी के दिनों में एक जायद फसल, जिसे बोरो या अलुआ कहते हैं, पैदा की जा सकती है। यह अक्टूबर नवंबर में बोकर दिसंबर जनवरी में रोपी जाती है और मार्च अप्रैल तक तैयार हो जाती है।

धान की प्रति एकड़ सबसे अधिक उपज स्पेन, इटली और जापान में होती है, जो क्रमशः ५,०८५–४,५०० और ४,००० पौंड है। इन देशों की तुलना में भारत की प्रति एकड़ १,२०० पौंड पैदावार बहुत ही कम है। धान की उपज बढ़ाने के लिये निम्नलिखित बातों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए : १. सिंचाई के साधनों का प्रसार, २. पर्याप्त मात्रा में रासायनिक खादों का प्रयोग, ३. हरी खाद का प्रयोग, ४. खेती के ढंग में सुधार, ५. उन्नत किस्मों के बीज का प्रयोग, ६ कीड़े मकोड़ों, घास पात और बीमारियों की अच्छी रोक थाम, ७. गोबर, गोमूत्र और जानवरों एवं मनुष्यों के मल मूत्र आदि का अधिक प्रयोग तथा ८. हरी और सूखी खर पतवार का कंपोस्ट बनाकर धान के खेतों में प्रयोग।

धान का व्यवहार मुख्यतः उसको कूटकर चावल के रूप में होता है। धान की कुटाई दो प्रकार से होती है। एक तो गाँवों में ढेंकी द्वारा और दूसरी कारखानों में यंत्रों द्वारा। मिल में कूटे गए धान के चावल में स्वच्छता अधिक होती है, किंतु इसमें विटामिन बी की कमी हो जाती है, जिसके कारण बेरीबेरी रोग होता है। चावल में स्टार्च पर्याप्त मात्रा में है और इसका पाचन सुगमता से होता है। पुआल का उपयोग, गत्ता बनाने, कागज उद्योग, चटाई बनाने तथा पैकिंग के कार्य में होता है। थोड़ी मात्रा में यह चिउड़ा, लाई इत्यादि बनाने के काम आता है। भोजन के अतिरिक्त चावल का प्रयोग माड़ तथा शराब तैयार करने में भी होता है। [भा० प्र० मि०]

चास स्थिति: २३° ४५′ उ० अ० तथा ८६° १०′ पू० दे०। बिहार राज्य के धनबाद जिले के अंतर्गत बाघमारा उपमंडल में व्यावसायिक केंद्र है। पश्चिम बंगाल की सीमा पर होने के कारण यहाँ विशेष रूप से अनाज का व्यापार होता है। यहाँ रांची तथा धनबाद से सरकारी बसें आती जाती हैं। [शि० नं० स०]

चासर, ज्योफ्रे चासर के साथ ही अंग्रेजी साहित्य में आधुनिक युग का प्रारंभ माना जाता है। उनकी रचनाएँ साहित्य के अतिरिक्त जीवन के व्यापक क्षेत्र में नए मोड़ का संकेत करती हैं। उनका जन्म लंदन में सन् १३४० ई० के लगभग हुआ था। पिता शराब के व्यापारी थे। १७ वर्ष की अवस्था में इन्होंने इंग्लैंड के राजा एडवर्ड तृतीय के पुत्र अल्स्टर के अर्ल के परिवार में नौकरी कर ली। इस प्रकार इन्हें राजदरबार के तौर तरीकों की अच्छी जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिला जिसका उपयोग इन्होंने अपनी कविता में किया। राजदरबार की नौकरी ने उनकी साहित्यिक प्रतिभा के विकास के कुछ और भी अवसर दिए। दो वर्ष बाद इन्हें शतवर्षीय युद्ध के संबंध में फ्रांस जाना पड़ा जहाँ इन्होंने कुछ दिन फ्रांसीसी शत्रुओं की कैद में बिताए। यह यात्रा इनके साहित्यिक जीवन में बड़ी ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। उस समय की फ्रांसीसी कविता में कृत्रिमता का दोष होते हुए भी उसमें सौंदर्य और कलात्मकता के गुण भी थे। चासर ने अपना साहित्यिक जीवन तत्कालीन फ्रांसीसी कविता को व्यापक रूप से प्रभावित करनेवाली रचना 'रोमां दे ला रोज' के अनुवाद से किया। फ्रांसीसी कविता का और विशेषतया इस काव्यग्रंथ का अमिट प्रभाव उनकी प्रारंभिक रचनाओं पर ही नहीं वरन् जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करनेवाली अंतिम और सर्वोत्तम रचना 'कैंटरबरी टेल्स' पर भी देखने को मिलता है।

राजदरबार में चासर को अपनी कार्यकुशलता के फलस्वरूप पर्याप्त ख्याति प्राप्त हो चुकी थी। सन् १३७२ ई० के करीब इन्हें कुछ महत्वपूर्ण व्यापारिक मंत्रणा के लिये इटली भेजा गया। छः साल बाद इन्होंने इटली की दूसरी बार यात्रा की। इटली की यात्रा ने इनके साहित्यिक जीवन को नया मोड़ दिया। उसी के फलस्वरूप ये फ्रांसीसी प्रभाव से मुक्त हो सके। अब इनकी प्रेरणा के स्रोत इटली के प्रसिद्ध कवि और कथाकार दाँते, पेत्रार्क तथा बोकेशियो हो गए थे। इनपर सबसे अधिक प्रभाव बोकेशियो का पड़ा। 'ट्रायलस और क्रेसिड' की दुःखांत कहानी चासर ने बोकेशियो से ही ली।

चासर की अंतिम और सर्वोत्तम रचना कैंटरबरी टेल्स में हम उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति पाते हैं। इस ग्रंथ की रचना के समय तक उन्होंने फ्रांसीसी तथा इटालियन साहित्यिक प्रभावों को पूर्णतया आत्मसात् कर लिया था। कैंटरबरी टेल्स में चासर किसी विदेशी साहित्यिक शैली का अनुसरण न कर जीवन के अपने अनुभव तथा व्यापक अध्ययन के आधार पर मौलिक रचना प्रस्तुत करते हैं।

स्त्रियों तथा वैवाहिक जीवन के संबंध में इन्होंने सामान्यतया व्यंग्यात्मक ढंग से लिखा है। संभव है ऐसा उन्होंने केवल विनोद के लिये किया हो। इनकी पत्नी का नाम फिलिप्पा था। सन् १४०० ई० में चासर की मृत्यु हुई।

चासर के जीवनकाल में कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ हुईं। सबसे महत्वपूर्ण इंग्लैंड और फ्रांस के बीच लगभग सौ वर्ष तक चलनेवाला युद्ध ही था जिसमें इन्होंने स्वयं भाग लिया था। लेकिन इनकी कविता में न इस युद्ध का उल्लेख है और न शत्रुओं के विरुद्ध दुर्भावना की अभिव्यक्ति। उसी समय किसानों का विद्रोह तथा विनाशकारी प्लेग जैसी ऐतिहासिक महत्व की घटनाएँ हुईं। लेकिन उनका भी कोई जिक्र इनकी रचनाओं में नहीं मिलता। फिर भी कैंटरबरी टेल्स में न केवल इंग्लैंड के तत्कालीन सामाजिक जीवन की, यूरोपीय जीवन में हो रहे महत्वपूर्ण परिवर्तनों की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है। इस समय तक रोम के धर्म में व्याप्त भ्रष्टाचारों की ओर लोगों का ध्यान जाने लगा था। यत्रतत्र पादरियों की चारित्रिक त्रुटियों की खरी आलोचना भी होने लगी थी। धर्म द्वारा व्यापक रूप से प्रभावित यूरोपीय विचारधारा में यह महान् परिवर्तन का लक्षण था जिसे हम कैंटरबरी टेल्स में भी देखते हैं। साथ ही साथ लोगों का ध्यान अब पारलौकिक बातों से हटकर भौतिक जगत् की समस्याओं तथा दैनिक जीवन के सुख दुःख की ओर जाने लगा। यूरोपीय जीवनदर्शन की यह महत्वपूर्ण प्रवृत्ति भी कैंटरबरी टेल्स तथा चासर की अन्य रचनाओं में परिलक्षित होती है। मध्ययुगीन साहित्य अधिकांशतः कल्पनाप्रधान था या अध्यात्म तथा नैतिकता की शिक्षा देने का माध्यम मात्र। चासर ने उसे धर्म तथा नैतिकता के आग्रह से मुक्त कर स्वतंत्र अस्तित्व दिया। साहित्यरचना में उनका उद्देश्य प्रधानतः जीवन के प्रति अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों की मनोरंजक अभिव्यक्ति था। चासर के साहित्य की ये सारी विशेषताएँ लगभग दो सौ वर्ष बाद एलिजाबेथ कालीन साहित्य में अपने पूरे निखार के साथ देखने को मिलती हैं। इस प्रकार हम इन्हें यूरोपीय पुनर्जागरण का आद्य अंग्रेजी कवि कह सकते हैं।

जैसा कहा जा चुका है, चासर ने अपना साहित्यिक जीवन रोमाँ दे ला रोज के अनुवाद से प्रारंभ किया। रूपक शैली में प्रेम की व्याख्या प्रस्तुत करनेवाला यह काव्य भिन्न ही नहीं अपितु परस्पर विरोधी प्रकृति के दो फ्रांसीसी कवियों की कृति है। स्वप्न में एक प्रेमी एक सुंदर उद्यान में प्रेम के पुष्प को तोड़ने का प्रयत्न करता है। प्रारंभिक भाग प्रेम का बड़ा ही शिष्ट, सुंदर एवं प्रभावोत्पादक चित्र प्रस्तुत करता है लेकिन बादवाले भाग में दूसरे कवियों ने स्त्रियों तथा प्रेम के वर्णन में व्यंग्यात्मक शैली अपनाई है। चासर की कई रचनाओं में हम फ्रांसीसी काव्य का प्रभाव देखते हैं। 'बुक ऑव डचेज' 'हाउस ऑव फेम' तथा 'पार्लमेंट ऑव फाउल्स' रूपक शैली में हैं। तीनों में वर्णित घटनाएँ स्वप्न में देखी प्रतीत होती हैं। बुक ऑव डचेज तथा पार्लमेंट ऑव फाउल्स में कवि दरबारी परंपरा के अनुसार प्रेम की व्याख्या प्रस्तुत करता है। प्रेम का ऐसा ही आदर्श चित्रण हम रोमाँ दे ला रोज में भी पाते हैं।

'ट्रायलस ऐंड क्रेसिड' की कहानी बोकेशियो से ली हुई है। यह दुःखांत काव्य चासर के ऊपर पड़े इटालीय प्रभाव की पुष्टि करता है। ट्रायलस निराश प्रेमी है जिसकी प्रेमिका क्रेसिड उससे अलग हो जाने पर एक अन्य पुरुष का वरण कर लेती है।

चासर ने 'लीजेंड ऑव गुड विमेन' की रचना जैसा उसने स्वयं इसकी प्रस्तावना में कहा है, रानी के यह शिकायत करने पर की कि उसने 'क्रेसिड के चरित्र द्वारा पूरी स्त्री जाति पर अविश्वसनीय होने का आरोप लगाया था। इस अधूरी पुस्तक में लगभग दस ऐतिहासिक तथा पौराणिक ख्यातिप्राप्त नारियों का प्रशंसात्मक जीवनवृत्तांत है।

चासर की अंतिम और सर्वश्रेष्ठ रचना 'कैंटरबरी टेल्स' है। अंग्रेजी समाज के विभिन्न स्तरों तथा पेशों का प्रतिनिधित्व करनेवाले लगभग तीस तीर्थयात्री जो कैंटरबरी नगर में टामस बेकेट की समाधि पर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने जानेवाले हैं, एक सराय में इकट्ठा होते हैं। रास्ते की थकान न लगे और सबका मनोरंजन हो, इस विचार से सराय के स्वामी के सुझाव पर यह तय होता है कि प्रत्येक यात्री चार कहानियाँ दो जाते समय और दो लौटती बार कहे। जिसकी कहानियाँ बहुमत द्वारा सर्वोत्तम समझी जाएँ, उसे सब लोग मिलकर उसी सराय में अच्छा खाना दें। 'कैंटरबरी' की कहानियाँ चासर की अपनी रचना न होकर पूरे यूरोपीय उपाख्यान साहित्य से ली हुई हैं। उसकी मौलिकता यात्रियों के चरित्र के सूक्ष्म अध्ययन में देखने को मिलता है। चरित्रचित्रण में उच्च कोटि की पटुता दिखाने के साथ अपने तीस यात्रियों के माध्यम से चासर ने तत्कालीन ब्रिटिश समाज का व्यापक चित्र प्रस्तुत करने में भी प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की है। कैंटरबरी टेल्स में हमें युग के सामाजिक जीवन की झाँकी मिलती है।

चासर की एक अन्य विशेषता उसका उन्मुक्त हास्य है। जहाँ वह मानव चरित्र की छोटी बड़ी कमजोरियों पर हँसता है, वहाँ उसे मनुष्य मात्र से, उसकी सारी त्रुटियों के बावजूद अपार सहानुभूति भी है। इन्हीं कारणों से उसका साहित्य स्वस्थ तथा आज भी अक्षय प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है।

सं० ग्रं०—ई० लेगुई : चासर; आर० के० रूट : 'दि पोएट्री आव चासर'; जी० एल० किटरेज : चासर ऐंड हिज पोएट्री; जे० एम० मैनली, सर न्यू लाइट ऑन चासर; एन० काघिल : दि पोएट चासर; जे० एल० लोज : ज्योफ्रे चासर। [तु० ना० सिं०]

चाहमान चहुमाण, चौहान आदि नामों से प्रसिद्ध यह राजपूत जाति भारत में दूर दूर तक फैली हुई है। राजस्थान, उत्तर प्रदेश, गुजरात और सुदूर बिहार तक में इनके राज्य रहे हैं। महाराष्ट्र में भी चहुवाण विद्यमान हैं। आजकल चौहान अपने को अग्निवंशी मानते हैं। किंतु अपने प्राचीन काव्यों और प्रशस्तियों में ये सूर्यवंशी माने गए हैं। कुछ ऐतिहासिकों का विचार है कि गुहिलों की तरह चौहान किसी समय ब्राह्मणवंशी थे, किंतु सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने इन्हें क्षत्रियत्व धारण करने को विवश किया। पृथ्वीराजरासो ने आबू को और पृथ्वीराजविजय ने पुष्कर को प्रथम चाहमान का उत्पत्तिस्थान माना है।

चौहानों ने अनेक राज्यों की स्थापना की। संवत् ८१३ में भृगुकच्छ चाहमान भर्तृवड्ड द्वितीय द्वारा प्रशासित था। धौलपुर के क्षेत्र में संवत् ८९८ में चौहानों की एक और शाखा राज कर रही थी। प्रतापगढ़ के चौहानों का संवत् १००३ का एक लेख प्राप्त है, किंतु सबसे अधिक प्रसिद्धि इनकी साँभर की शाखा ने प्राप्त की। सम्राट् वत्सराज प्रतिहार के सेनापति के रूप में दुर्लभराज चाहमान गंगासागर तक पहुँचा। प्रतिहारों के अवनत होने पर विग्रहराज द्वितीय ने स्वतंत्र होकर इधर उधर के प्रदेश जीते और उसकी सेनाओं ने भृगुकच्छ तक धावा किया। उसी के वंशज अजयराज ने वि० सं० ११९० के लगभग, अपने नाम से अजयमेरु (अजमेर) दुर्ग बनवाया और वहीं अजमेर नगर बसाकर अपनी राजधानी बनाई। उसके पुत्र अर्णोराज ने यहीं पास की तलहटी में मुसलमानों को बुरी तरह परास्त कर उस रक्तरंजित भूमि की शुद्धि के लिये आनासागर झील बनवाई। अर्णोराज के समय अजमेर राज्य की पर्याप्त वृद्धि हुई किंतु संवत् १२०८ के लगभग वह गुजरात के राजा कुमारपाल से हारा। अर्णोराज के उत्तराधिकारी बीसलदेव ने इस पराजय का ही बदला न लिया, उसने चालुक्यों को पराजित कर चित्तौड़ और उसके निकटवर्ती प्रदेश पर भी अधिकार कर लिया। दिल्ली संभवतः उसने तोमरों से ली। अशोकस्तंभ पर उत्कीर्ण बीसल का लेख उसके हाथों मुसलमानों की पराजय का अमर स्मारक बन चुका है। इसी का भतीजा सोमेश्वर का पुत्र पृथ्वीराज था। वह गद्दी पर बहुत छोटी अवस्था में बैठा। वयस्क होने पर उसने महोबे के चंदेलों को हराया। गुजरात के चालुक्यों के विरुद्ध भी उसे कुछ सफलता मिली। हरियाने के समस्त भूभाग पर भी उसी अधिकार किया। कन्नौज के राजा जयचंद से भी उसकी खटपट चलती ही रहती थी। सन् ११९१ में उसने मुहम्मद गोरी को परास्त किया। किंतु ११९२ में वह स्वयं मुसलमानों से परास्त होकर मारा गया। इसी तिथि से मानो हिंदू स्वाधीनता की इतिश्री हो गई।

पृथ्वीराज के वंशजों में रणथंभौर के राजा हठीले हम्मीर ने मुगल और मुहम्मदशाह को शरण दे और अलाउद्दीन खिलजी से युद्ध कर अमर कीर्ति प्राप्त की। नाडौल में बीसलदेव के एक भाई लक्ष्मण या लाखा ने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की थी। लक्ष्मण के वंशज कीर्तिपाल ने जालोर के राज्य की नींव डाली। जालोर के राजा कान्हड़देव ने भी अलाउद्दीन खिलजी के विरुद्ध लड़कर वीरगति प्राप्त की। इस तरह १३१६ के लगभग राजस्थान के अनेक चौहान राज्यों की समाप्ति हो गई। किंतु चौहानों की गति यदि एक ओर अवरुद्ध हुई तो दूसरी ओर उन्होंने फैलना आरंभ कर दिया। परमारों से उन्होंने चंद्रावती और आबू छीने और कुछ समय के बाद सिरोही के राज्य की स्थापना की।

बूंदी और कोटा के राज्य हाड़ा चौहानों के हैं। खीचियों ने अनेक छोटे मोटे राज्यों को जन्म दिया। चंबवाड़ में भी चौहानों का एक राज्य था जो सदियों तक रहा। उत्तर प्रदेश में मैनपुरी आदि स्थानों में उनकी अनेक शाखाएँ फैलीं और पूर्व में वे पटना राज्य के संस्थापक बने। राजपूतों में शौर्य और साहस के लिये चाहमान सदा अग्रणी रहे हैं। [द० श०]

चिंगेज खाँ (११६२-१२२७ ई०) १३वीं शताब्दी का मंगोल सरदार, प्रायः आधे विश्व का विजेता। जन्म बैकाल झील के निकट ओनान नदी के तट पर सन् ११६२ में हुआ। पिता येसुकाइ याक्क मंगोल कबीले का सरदार था और माता युलुन (होलुन) दुर्धर्ष मेर्किट कबीले की सुंदरी थी। येसुकाइ को पुत्रजन्म का संवाद तातार सरदार तेमुचिन पर विजयी होकर लौटने पर मिला। नवजात शिशु के परीक्षण पर उसे बालक की मुट्ठी में लाल पत्थर की तरह का, जमे हुए खून का, एक कतरा दिखाई दिया। इसका संबंध अंधविश्वासी येसुकाइ ने तेमुचिन पर अपनी विजय से जोड़ा अतएव उसने पुत्र का नाम ही तेमुचिन (तेमुजेन, तेमुचिन—उत्तम इस्पात निर्मित); अर्थ है, 'धरती का सर्वोच्च व्यक्ति, रख दिया। चिंगेज खाँ १२०६ ई० के पूर्व इसी नाम से प्रसिद्ध था।

प्रत्येक मंगोल बालक की भाँति तेमुचिन को भी चरवाहे का कार्य करना पड़ा। १३ वर्ष का होने पर वह पिता के साथ घुड़सवारी करने लगा। ढालू मस्तक के नीचे उभरी हुई आँखों, गाढ़े गेहुएँ रंग, लाल भूरे लंबे केशों, ऊँचे कंधों, पतले, लंबे किंतु बलिष्ठ सुघड़ शरीरवाला तेमुचिन बड़ा सुदर्शन था। साथ ही अतुल शारीरिक शक्ति, कुश्ती और अस्त्रप्रयोग में दक्षता, असाधारण धैर्य, असीम सहनशीलता, दृढ़ता, आत्मविश्वास और प्रत्युत्पन्न मति, दुर्दम इच्छा और नेतृत्व शक्ति उसकी अपनी थी।

१३ वर्ष की आयु में ही तेमुचिन उत्तरी गोबी प्रदेश का शासक बना। किंतु उसकी अल्पवयस्कता के कारण अधीनस्थ कबीले उसे छोड़कर दूसरे शक्तिशाली खानों के पास जाने लगे। फिर भी उसकी माँ के साहसिक प्रयत्नों से आधे लोग तेमुचिन के साथ रह गए। इस बीच तैदजुत कबीले के सरदार तार्गोताई ने उत्तरी गोबी प्रदेश हड़प लिया और उससे प्राण बचाने के लिये तेमुचिन को वर्षों भागते रहना पड़ा। किंतु उस ... संघर्ष में उसने न तो अपने भावी श्वसुर धुंलिक खाँ के यहाँ शरण ली और न अपने पिता के मित्र करैट सरदार तोगरुल खाँ से सहायता माँगी।

१७ वर्ष की आयु में तेमुचिन मंगेरत बोर्ताई (इतिहास की प्रसिद्ध सम्राज्ञी बोर्ताई फिद्जेन) को ब्याह लाया। गावों में प्राप्त मूल्यवान् सांबल के लबादे की भेंट लेकर वह अपने धर्मपिता तोगरुल खाँ से मिलने गया। वहाँ से लौटते समय करैट सरदार ने सहायता का आश्वासन दिया। बोर्ताई को उसके अपहर्ता मेर्किट कबीले से छुड़ाने के लिये तुमुचिन को शीघ्र ही करैट से सैनिक सहायता लेनी पड़ी। तोगरुल खाँ की मित्रता से यद्यपि उसे पश्चिमी शत्रुओं से विश्रांति मिली, किंतु बुयार (Buyer) झील के तातार और तैदजुत उसे मिटा देने के लिये आक्रमण करते ही रहे। अंत में तेमुचिन ने तार्गोताई को परास्त कर अपनी पैतृक भूमि वापस ले ली। मित्र करैट कबीले द्वारा आक्रमण किए जाने पर तेमुचिन ने अपने खूँखार कियात (योद्धादल) से उन्हें भी पराजित किया। उसका उद्देश्य इन बिखरी हुई लड़ाकू जातियों के संघ का निर्माण था, जिसके लिये वह १२०६ ई० तक निरंतर विभिन्न कबीलों से सफल संघर्ष करता रहा।

१२०६ ई० में ओनान नदी पर बुलाई गई सभी कबीलों के खानों की सभा (कुरुलताई) ने तेमुचिन को उत्तरी एशिया का शासक चुना और उसे चिंगेज खान (महानतम शासक, मानवजाति का सम्राट्) की उपाधि से विभूषित किया। उसी समय चिंगेज खाँ ने घोषणा की कि उसके अधीन सारे कबीलों के लोग मंगोल कहलाएँगे। तुर्क मंगोल जाति के इस विशाल संघटन में बुद्धिमान और रहस्यपूर्ण उगुरु (उइगिर), सशक्त करैट, जीवटवाले याक्क मंगोल, भयावह तातार, दुर्धर्ष मेर्किट जैसे कबीलों के अतिरिक्त गोबी के उत्तर में श्वेत पर्वतमालाओं से चीन की महान् दीवार तक लंबे प्रदेश भर के कुख्यात आरोही, शिकारी आदि भी संमिलित थे। उनपर नियंत्रण रखने के लिये सेना के अतिरिक्त चिंगेज खाँ ने एक 'यस्सा' का भी निर्माण किया। यस्सा मंगोलों की कठोर विधिसंहिता थी जिसमें कबीलों की सुविधाजनक प्रथाओं और चिंगेज खाँ की स्वेच्छा से निर्मित कानून थे।

तुर्क मंगोल जाति के स्थायी सैन्य संगठन का श्रेय केवल चिंगेज खाँ को है। दस सैनिकों की यूनिट से लेकर दस दस की संख्या के गठित १०,००० सैनिकों की टुकड़ी तुमन (डिवीजन) कहलाती और आवश्यकतानुसार दो या तीन तुमनों को मिलाकर एक सेना होती, जिसके सेनापति ओर्खान कहे जाते थे। विशाल अश्वसेना का अनुशासन कठोर था। तलवार, भालों आदि की सज्जा, अचूक तीरंदाजी, निडरता, व्यूहरचना, रणनीति और असाधारण गतिशीलता ने मंगोल सेनाओं को अजेय बना दिया था।

१२०६ ई० में चिंगेज खाँ ने अपने एकमात्र प्रत्यक्ष शत्रु नैमन सरदार तोलो को परास्त किया। दो वर्षों बाद उसके पुत्र कोशलेक को भी मात खाकर तुर्क शासक खितान खाँ के यहाँ शरण लेनी पड़ी।

चीन विजय अभियान को सफल बनाने के लिये चिंगेज खाँ ने हिया, बालेचीन और किर्घिजों को परास्त कर चिन सम्राट् के लिआग केलियो वंश से मित्रता कर ली। १२११ में चीन पर उसने आक्रमण कर दिया। उसका यह अभियान यद्यपि सफल रहा तथापि चीनी दुर्गों के सामने उसे पूर्ण विजय न मिल सकी। १२१२ ई० में वह स्वयं तै-तांग-फू के किले की घेरेबंदी में घायल हो जाने पर गोबी लौटा। कुछ इक्के दुक्के आक्रमणों के बाद १२१४ में उसने तीन ओर से भीषण आक्रमण कर राजधानी येंकिंग और कुछ अन्य दुर्गों को छोड़ संपूर्ण चीन साम्राज्य को पादाक्रांत कर दिया। उसने चिन सम्राट् को संदेश भिजवाया कि वह लौटना चाहता है, क्या, वाई वांग भेंट भी नहीं भेजेगा? वस्तुतः यह चीन सम्राट् के आत्मसमर्पण की माँग थी। किंतु उसने तुरंत स्वर्गीय सम्राट् की पुत्री, अन्य राजकुमारियाँ, ३,०० घोड़े, ५०० दास दासियों सहित बहुमूल्य उपहार चिंगेज खाँ के पास भेजे, जिन्हें लेकर वह कराकोरम को लौट पड़ा। चिन सम्राट् इतना आतंकित था कि उसने अपनी राजधानी येंकिंग से हटाकर दक्षिण में काई-फेंग फू बना ली। साथ ही चीन के कुलीनों ने मंगोलों का प्रतिरोध भी आरंभ कर दिया। इन्हें शत्रुता के कार्य मानकर चिंगेज खाँ ने पुनः आक्रमण कर दिया। येंकिंग की विजय और वाई वांग को सुंग राज्य में खदेड़कर उसने अनुभवी ओर्खान मुहुली को चीन का गवर्नर बनाया और उसे ही दक्षिणी चीन जीतने का कार्य सौंपकर चिंगेज खाँ कराकोरम लौट गया।

इसी बीच भगोड़े कुशलेक ने विश्वासघात कर अपने शरणदाता खितान खाँ के तिब्बत से नीचे समरकंद तक फैले हुए राज्य को स्वायत्त कर लिया था। चिंगेज खाँ ने शीघ्र ही उसका विनाश कर उसके अधिकृत भूभाग को अपने साम्राज्य में मिला लिया। उसके साम्राज्य की सीमा अब ख्वारिज्म को छूने लगी। उसने ख्वारिज्म के बादशाह मुहम्मद से व्यापारिक संबंध स्थापित किया। एक ही वर्ष बाद ओट्रार के गवर्नर इनल्जुक ने मंगोल व्यापारियों के एक दल को गुप्तचर समझकर कत्ल करा दिया। चिंगेज खाँ द्वारा अपराधियों की माँग करने पर मदांध मुहम्मद ने मंगोल दूतमंडल के नेता को भी कत्ल करा दिया और दूसरों को, उनकी दाढ़ी जलवाकर, खदेड़ दिया। इस दुर्घटना ने युद्ध अवश्यंभावी कर दिया। १२१६ के वसंत में ५६ वर्षीय खान विशाल लड़ाकू दल तथा तोपखाने के प्रधान के नेतृत्व में एक चीनी सेना के साथ भारत से बगदाद, और अराल समुद्र से कैस्पियन सागर तक विस्तृत ख्वारिज्म साम्राज्य को ध्वस्त करने के लिये चल पड़ा। १२२० ई० में सिरदरिया सीमा पर उसने एक साथ प्रहार किया, जूची द्वारा शाह की चार लाख सेना में प्रायः आधी नष्ट कर जेंद जीत लिया। चेपे नोयों ने एक ओर फरगाना रौंदकर खोकंद जीत समरकंद घेर लिया, दूसरी ओर चगताई ने ओट्रार को जमीन में मिला दिया और वहाँ के गवर्नर इनल्जुक को पकड़कर चिंगेज खाँ के पास भेजा। स्वयं चिंगेज खाँ बुखारा ध्वस्त करते हुए समरकंद पहुँचा। चिंगेज खाँ के अचानक पीछे से आ झपटने पर शाह को विवश हो फारस भागना पड़ा। पाँच महीनों के भीतर ही चिंगेज खाँ ने बुखारा और समरकंद विनष्ट कर शाह की सारी प्रतिरक्षा व्यवस्था मटियामेट कर दी। अमोघ सुबताई बहादुर और अमोघ चेपे नोयाँ शाह को पकड़ने के लिये भेजे गए। तूले के नेतृत्व में ७०,००० मंगोल सेना ने खुरासान को जीता। नेसा, मेर्व, नैशापुर आदि नगरों को तोड़ तूले ने हिरात पर कब्जा कर लिया। इसी समय तूले को मुहम्मद के उत्तराधिकारी जलालुद्दीन का पीछा करनेवाले चिंगेज खाँ का आदेश अफगानिस्तान आने के लिये मिला। जलालुद्दीन भागता हुआ भारत में घुसा। परंतु उसका पीछा करनेवाले मंगोलों ने सिंध के तट पर उसकी सेना का सफाया कर दिया। पेशावर और मालकपुर को रौंदती हुई मंगोल सेना अंत में लौट गई। इस्लाम जगत् की सभ्यता और संस्कृति के केंद्रों को विनष्ट कर चिंगेज खाँ लूटी हुई अपार धनराशि के साथ काराकोरम लौटा।

चिंगेज खाँ ने १२२३ ई० में दक्षिणी चीन के सुंग राज्य को जीतने के लिये आक्रमण किए। इन्हीं आक्रमणों के बीच १२२७ में पंचग्रही योग के कारण अनिष्ट की आशंका से भयभीत चिंगेज खाँ काराकोरम के लिये लौट पड़ा, किंतु कांसू प्रदेश में सिकियांग नदी तक पहुँचते ही वह बीमार पड़ गया। मंगोलिया में सले नदी के निकट हालाओ तू के अपने यात्रामहल में पहुँचते ही उसके प्राण पखेरू उड़ गए (१२२७)। उसकी मृत्यु तब तक गुप्त रखी गई जब तक वसीयत के अनुसार ओगताई सम्राट् नहीं घोषित कर दिया गया। शव को चिंगेज खाँ की प्रत्येक स्त्री के ओर्दु (घर) में घुमाने के बाद केलेन की घाटी में दफना दिया गया।

चिंगेज खाँ का विश्व के महानतम विजेताओं में गिना जाना कोई आश्चर्य नहीं। उसकी मृत्यु के समय उसका साम्राज्य चीनसागर से नीपर नदी तक फैला था। यद्यपि वह योग्य उत्तराधिकारियों के अभाव में विनष्ट हो गया, तथापि उस पर तुर्कों और मामलूकों ने यूरोप और मिस्र में राज्य स्थापित किए। महमूद गजनवी की तरह चिंगेज खाँ भी संहारक होते हुए निर्माता था। जहाँ उसने एक ओर संस्कृति के विशाल केंद्रों को धराशायी किया वहाँ कुशल शिल्पियों को अपनी जंगली प्रजा की वैभववृद्धि के लिये पकड़ भी लाया। सफल सम्राटों की सुशासनसुरक्षा, व्यापक गुप्तचर व्यवस्था और आतंकपूर्ण नीति उसने अपनाई। उसका विश्वास था कि सभी धर्मों का ईश्वर एक है जिससे धर्म के नाम पर उसने कोई अत्याचार नहीं किया। यही नहीं, सभी धर्मावलंबी—मुसलमान, बौद्ध, शमन आदि—मंगोलों के साथ थे। उसकी विजयों से यूरोप और एशिया के व्यापारिक संपर्क, स्थल मार्ग से, बढ़े एवं भौगोलिक ज्ञान की अभिवृद्धि हुई। चिंगेज खाँ में जंगली लड़ाकू विजेता के गुणों के साथ ही दुर्गुण भी विद्यमान थे। जिस मार्ग से उसकी सेनाएँ गईं, नरमुंडों के पहाड़ लग गए और संस्कृतियाँ नेस्तनाबूद हो गईं। उसे इस्लाम जगत् का 'ईश्वरीय प्रकोप', 'संस्कृति का शत्रु' कहा गया उसे 'धरती का श्रेष्ठ व्यक्ति', 'मानवजाति का सम्राट्' आदि उपाधियाँ मिलीं। [शि० गो० वा०]

चिंचली स्थिति : १६° ३४' उ० अ० तथा ७४° ५०' पू० दे०। महाराष्ट्र के कोल्हापुर नगर से ४२ मील दक्षिण-पूर्व में स्थित गाँव है। यहाँ रेलवे स्टेशन है। महाकाली या मायादेवी का प्रसिद्ध मंदिर है। वर्ष में चार बार लोग इनके दर्शन को आते हैं। माघ मास की पूर्णिमा को यहाँ बड़ा मेला लगता है। [सै० मु० अ०]

चिंचोली मैसूर प्रदेश के गुलबर्गा जिले के एक तालुक का नाम है। क्षेत्रफल लगभग ४१३ वर्ग मील है। चिंचोली नगर की जनसंख्या ६,०४७ (१९६१) है। तालुक में ११० गाँव तथा चिंचोली नामक एक नगर है। प्रायः पूरा क्षेत्र पहाड़ी है। लेटराइट एवं कपास की काली मिट्टियाँ प्रमुख हैं। चिंचोली नगर तालुक का प्रधान कार्यालय है। [सै० मु० अ०]

चिंतामणि मैसूर प्रदेश में कोलार नगर से २७ मील उत्तर-उत्तर-पश्चिम में बसा हुआ है। यह मुख्य व्यापारिक नगर है। यहाँ के रहनेवालों में साहूकारों की अधिकता है। अन्य व्यापारों के अतिरिक्त यहाँ सोने, चाँदी तथा बहुमूल्य रत्नों का व्यापार होता है। यहाँ पर सुगंधित द्रव और रेशमी वस्त्र तैयार किए जाते हैं। इसकी जनसंख्या १९,६४४ (१९६१) है। [पु० क०]

चिंपैंजी (Chimpanzee — Pan troglodytes) प्राइमेट् गण (Order primate) का प्रसिद्ध स्तनपोषी जीव है, जो अफ्रीका के घने जंगलों में, गिनी से लेकर कांगो तथा पश्चिमी युगेंडा तक के जंगलों में पाया जाता है। अफ्रीका का यह प्रसिद्ध वानर (ape) कद में गोरिल्ला से कुछ छोटा होता है, किंतु बुद्धिमानी में सब वानरों से आगे है।

अन्य सब वानरों की अपेक्षा चिंपैंजी की आकृति मनुष्यों से अधिक मिलती है, किंतु वाक्शक्ति का अभाव होने के कारण ये मनुष्यों जैसे समाजनिर्माण तथा संस्कृति के विकास से वंचित हैं। फिर भी सिखाए जाने पर ये मनुष्यों की भाँति मेज कुरसी पर बैठकर काँटे छुरी से भोजन कर लेते हैं और आदमियों की तरह और भी बहुत से काम करना सीख लेते हैं। वैसे तो ये वानरों की तरह चारो टाँगों के बल ही चलते हैं, किंतु सिखाए जाने पर ये अपनी पिछली टाँगों के सहारे खड़े होकर भी चल फिर लेते हैं। खड़े होने पर इनकी ऊँचाई चार साढ़े चार फुट तक की हो जाती है।

चिंपैंजी की एक बौनी जाति पैनपैनिस्कस (Pan paniscus) अफ्रीका में कांगो नदी के दक्षिणी भागों में पाई जाती है, किंतु इस जाति के चिंपैंजी बहुत कम मिलते हैं।

चिंपैंजी घने जंगलों में छोटे छोटे गरोह बनाकर रहते हैं। गरोह में एक नर, कई मादाएँ तथा कई बच्चे और युवक रहते हैं। इनके बच्चों को प्रौढ़ होने में ६ से लेकर १२ वर्ष तक लग जाते हैं और एक गरोह जंगल में रहने के लिये लगभग १० वर्ग मील का क्षेत्रफल अपने कब्जे में कर लेता है।

चिंपैंजी का मुख गोरिल्ला की तरह भयानक न होकर हँसोड़ जैसा लगता है और उसमें खूँखारी की जगह सभ्यता तथा बुद्धिमानी टपकती है। यह गोरिल्ला से अधिक समय पेड़ों पर बिताता है तथा किसी बड़े और ऊँचे पेड़ पर अपना भद्दा सा मचाननुमा घर बनाता है। गोरिल्ला से यह कम बलवान होता है।

चिंपैंजी

चिंपैंजी के नर मादा से कुछ बड़े होते हैं और उनका वजन करीब डेढ़ मन के होता है। इनके कान लंबे, रंग कलछौंह, पेट के बाल काले और चेहरे के चारो ओर का हिस्सा सफेदी लिए रहता है। अन्य वानरों की तरह ये भी फलाहारी जीव हैं। इनका मुख्य भोजन गन्ना, अनन्नास, कोको, केला तथा अन्य फल हैं, लेकिन उसी के साथ ये कीड़े, मकोड़े और अंडे भी मजे में खाते हैं। बचपन से पालतू किए जाने पर ये मांस मछली से भी परहेज नहीं करते। [मु० सिं०]

चिकनी मिट्टी देखें मृत्तिका।

चिकमैकनहल्लि स्थिति : १३° २५' उ० अ० तथा ७६° ४' पू० दे०। यह मैसूर प्रदेश के तुमकुरु नगर से प्राय: ४० मील पश्चिम-उत्तर-पश्चिम में तुरवेकर-हुलियार मार्ग पर बसा हुआ है। नगर के चारो ओर नारियल के पेड़ हैं जिससे यहाँ नारियल का व्यापार होता है। इसके अतिरिक्त यहाँ सूती और ऊनी कपड़े भी बनाए जाते हैं। इस नगर के उत्तर-पूर्व की पहाड़ियों पर सोना पाए जाने की संभावना है। यहाँ मैंगनीज की अच्छी खानें हैं। यहाँ की जनसंख्या १०,३७५ (१६६१) है। [पु० क०]

चिकाकोल आंध्र प्रदेश के विशाखपट्टणम जिले में, नागावाल नदी के मुहाने पर बसा हुआ, यह बंगाल की खाड़ी पर एक अच्छा बंदरगाह है। यह विजयानगरम से ३५ मील पूर्व-उत्तर-पूर्व में है। प्राचीन काल में यहाँ की मलमल प्रसिद्ध थी और आज भी यहाँ की हाथ की बनी मलमल प्रसिद्ध है। यहाँ जहाजों के लिये मोटी रस्सा बनाई जाती है। [पु० क०]

चिकित्सा रोगों से आक्रांत होने पर रोगों से मुक्त होने के लिये जो उपचार किया जाता है, संकीर्ण अर्थ में, वह चिकित्सा कहलाता है। पर व्यापक अर्थ में वे सभी उपचार चिकित्सा के अंतर्गत आ जाते हैं जिनसे स्वास्थ्य की रक्षा और रोगों का निवारण होता है। भारत में इस समय चिकित्सा की चार पद्धतियाँ प्रचलित हैं : १. ऐलोपैथिक, २. होमियोपैथिक ३. आयुर्वेदिक और ४. यूनानी।

अंग्रेजों के भारत में आगमन के साथ साथ ऐलोपैथिक पद्धति यहाँ आई और ब्रिटिश राज्यकाल में शासकों से प्रोत्साहन पाने के कारण इसकी जड़ इस देश में जमी और पनपी। आज स्वतंत्र भारत में भी इस पद्धति को मान्यता प्राप्त है और इसके अध्यापन और अन्वेषण के लिये अनेक महाविद्यालय तथा अन्वेषण संस्थाएँ खुली हुई हैं। प्रति वर्ष हजारों डाक्टर इन संस्थाओं से निकलकर इस पद्धति द्वारा चिकित्साकार्य करते हैं। देश भर में इस पद्धति से चिकित्सा करने के लिये अस्पताल खुले हुए हैं और उच्च कोटि के चिकित्सक उनमें काम करते हैं।

अंग्रेजों के शासनकाल में ही होमियोपैथिक पद्धति इस देश में आई और शासकों से प्रोत्साहन न मिलने के बावजूद भी यह पनपी। इसके अध्यापन के लिये भी आज अनेक संस्थाएँ देश भर में खुल गई हैं और नियमित रूप से उनमें होमियोपैथी का प्रशिक्षण दिया जा रहा है। अंग्रेजी शासनकाल में यह राजमान्य पद्धति नहीं थी, किंतु अब इसे भी शासकीय मान्यता मिल गई है। (देखें होमियोपैथी)।

आयुर्वेदिक पद्धति भारत की प्राचीन पद्धति है। एक समय यह बहुत उन्नत थी, पर अनेक शताब्दियों से मुसलमानी और ब्रिटिश राज्यकाल में शासकों की ओर से प्रोत्साहन के अभाव में इसकी प्रगति रुक गई और यह पिछड़ गई। पर इसकी जड़ इतनी गहरी है कि आज भी देश के अधिकांश व्यक्तियों की चिकित्सा इसी प्रणाली से होती है। भारत को स्वतंत्रता मिलने के बाद आयुर्वेद के अध्ययन में शासन की ओर से कुछ प्रोत्साहन मिल रहा है और वैज्ञानिक आधार पर इसके अध्यापन और अन्वेषण के लिये प्रयत्न हो रहे हैं (देखें आयुर्वेद)।

यूनानी चिकित्सा पद्धति मुसलमानी शासनकाल में आई और कुछ समय तक मुसलमानी राज्यकाल में पनपी, पर ब्रिटिश शासनकाल में प्रोत्साहन के अभाव में यह शिथिल पड़ गई। फिर भी कुछ संस्थाएँ आज भी चल रही हैं, जिनमें यूनानी पद्धति के पठन पाठन का विशेष प्रबंध है (देखें यूनानी चिकित्सा)। [कृ० स० व०]

चिकित्सा (Therapeutics)—रोगनिवारण और रोगहरण की एक विधि एवं कला तथा वैद्यक के महत्व की एक शाखा है। इसके उद्देश्य स्वास्थ्यरक्षण, रोगनिवारण, रोगउन्मूलन, रोगों के उपद्रवों और दुष्परिणामों के निराकरण और यदि निराकरण न हो तो यथाशक्ति शमन है।

प्राचीन ग्रीक चिकित्सकों का कथन है "चिकित्सक चिकित्सा करता है और प्रकृति रोगहरण करती है"। रोगों से बचने की रोगियों में शक्ति होती है, जिससे दवा न करने पर भी असंख्य रोगी नीरोग हो जाते हैं। चिकित्सा ऐसी होनी चाहिए कि वह रोगहरण की शक्तियों में कोई बाधा न डाले, वरन् उसमें सहयोग दे। इसके लिये चिकित्साकर्म में अत्यंत व्यग्रता न दिखानी चाहिए और न रोगियों को नैसर्गिक शक्ति के भरोसे ही छोड़ना, या उत्साहहीन चिकित्सा करनी, चाहिए।

स्वास्थ्य को बनाए रखना और रोग तथा महामारियों को उत्पन्न न होने देना रोग निवारक (preventive) चिकित्सा के अंतर्गत आता है। रोग हो जाने पर उसके नाश के लिये की जानेवाली चिकित्सा को रोगहारक (curative) चिकित्सा कहते हैं। जब रोगविज्ञान विकृतिविज्ञान, द्रव्यगुण विज्ञान इत्यादि विषयों के सम्यक् ज्ञान पर चिकित्सा अधिष्ठित होती है तब उसे युक्तिमूलक (rational) चिकित्सा कहते हैं। परंपरागत अनुभव पर आधारित चिकित्सा को आनुभविक (empirical) चिकित्सा कहते हैं। चिकित्सा रोगहारक (radical), लाक्षणिक (symptomatic), विशिष्ट (special) और साधारण (nonspecific) हो सकती है।

प्राचीन काल में मनुष्य सूर्यप्रकाश, शुद्ध हवा, जल, अग्नि, मिट्टी, खनिज, वनस्पतियों की जड़, छाल, पत्ती आदि द्रव्यों से अनुभव के आधार पर चिकित्सा करता था। इनके गुणधर्म उसे मालूम न थे। इसी प्रकार, रोगों का ज्ञान न होने से, वे, रोगों के उत्पन्न होने का कारण देवताओं का कोप समझते थे और उन्हें प्रसन्न करने का मंत्र-तंत्रों से प्रयत्न करते थे। पीछे जैसे जैसे रोगों का ज्ञान बढ़ा, दैवी चिकित्सा का जोर घटता गया और आनुभविक चिकित्सा का विस्तार होता गया। पीछे मैकेंज़ी (Mackenzie), कोख (Koch), एरलिख (Ehrlich) इत्यादि के परिश्रम और सूक्ष्म अवलोकन से आनुभविक चिकित्साद्रव्यों की मूलकता सिद्ध हो गई और अनेक नए द्रव्य आविष्कृत हुए। २०वीं शताब्दी तक चिकित्सा बहुत अधिक विकसित हो गई। आज चिकित्सा की अनेक शाखाएँ बन गई हैं, जिनमें निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं :

१. रोगनिवारक चिकित्सा—इसमें स्वच्छता, जलशोधन, मोरी-पनाले के नालों और मल का विनाश, मक्खी, मच्छर तथा रोगवाहक अन्य कीटों का विनाश, रोगियों का अलगाया जाना, विसूचिकादि रोगों के टीके, त्रुटिजन्य रोगों के लिये त्रुटि द्रव्यों का वितरण, यक्ष्मा, रति रोग, गर्भिणी स्त्रियों तथा बालकों के लिये निदानिकाओं (clinics), की स्थापना, बच्चों के लिये दूध के वितरणादि का समावेश होता है।

चिकित्सा के निम्नलिखित भेद अधिक महत्व के हैं :

२. मनश्चिकित्सा (Psychotherapy) — मानसिक विकारों से उत्पन्न शारीरिक विकारों के लिये यह चिकित्सा होती है। अनेक शारीरिक रोग मानसिक चिकित्सा से दूर हो जाते हैं। इसके लिये ईश्वर पर श्रद्धा रखना, पूजा पाठ पर विश्वास रखना, मनोरंजनार्थ गायन, वादन, रम्य-दृश्य-दर्शन आदि मन को शांत और प्रसन्न रखनेवाले उपाय अच्छे होते हैं।

३. औषधि चिकित्सा (Drug therapy) — इसमें विविध औषधियों का सेवन कराया जाता है। अनेक असाध्य रोगों की अचूक औषधियाँ आज बन गई हैं और निरंतर बन रही हैं।

४. आहार चिकित्सा (Dieto therapy)—अनेक रोग, जैसे मधुमेह, वृक्कशोथ, स्थूलता, जठरव्रण इत्यादि आहार से संबंध रखते हैं। इनका निवारण खाद्यों एवं पेयों के नियंत्रण से किया जा सकता है।

५. रसचिकित्सा (Chemotherapy)—इसमें ऐसे रसद्रव्यों से चिकित्सा की जाती है जो मनुष्य के लिये विषैले नहीं होते, पर रोगाणुओं के लिये घातक होते हैं।

६. अंतःस्रावी चिकित्सा(Endocrine therapy)—इसमें अंतःस्राव या संश्लिष्ट अंतःस्राव द्वारा रोगों का निवारण होता है।

७. यांत्रिक चिकित्सा (Mechano therapy)—इसमें मालिश, कंपन, विविध व्यायाम, स्वीडीय अंगायाम (Swedish movement) इत्यादि द्वारा चिकित्सा होती है।

८. जीवचिकित्सा (Biotherapy) — इसमें सीरम, वैक्सीन, प्रतिविष इत्यादि द्वारा चिकित्सा होती है।

९. अन्य चिकित्साएँ — इनमें शल्यकर्म, दहन चिकित्सा, विद्युद्द्वारा चिकित्सा (Electro shock therapy), स्नान चिकित्सा, वायुद्वारा चिकित्सा (Aerotherapy), सूर्यरश्मि चिकित्सा, (Helio therapy) इत्यादि आती हैं। [भ० गो० घा०]

चिकित्सा—शब्द के अर्थ तथा इतिहास के अनुसार यथेष्ट काल तक चिकित्सा (कित्+सन+आ) केवल रोगों को दूर करनेवाले उपचारों की संगृहीत विद्या थी। इसमें साधारण शल्यकर्म और प्रसवकर्म तक के लिये कोई स्थान नहीं था तथा लोकस्वास्थ्य की तो कल्पना भी असंभव थी।

अति प्राचीन काल में चिकित्सा की नींव ऐसे उपचारों पर पड़ी, जिनमें रोगहरण के लिये भूत प्रेतों की बाधा को दूर करना आवश्यक समझा जाता था। इन उपचारों से शरीर की अवस्था अथवा उसके घावों इत्यादि का कोई संबंध नहीं होता था। कभी कभी चिकित्सक अनुभवसिद्ध ओषधियों का प्रयोग भी करते थे। कालांतर में ज्ञात ओषधियों की संख्या बढ़ती गई और झाड़ फूँक के प्रयोग ढीले पड़ने लगे। ईसा से ५०० वर्ष पूर्व के, मिस्र देश स्थित पिरामिडों से प्राप्त 'ईबर्स पैपाइरस (Ebers Papyrus) नामक लेख ऐसे ही समय का प्रतीक है।

चिकित्सा में पहला व्यापक परिवर्तन बुद्धपूर्व भारत की दिवोदास सुश्रुत परंपरा द्वारा हुआ। इसमें ओषधियों के प्रयोग के साथ साथ शवों के व्यवच्छेदन से प्राप्त ज्ञान का उपयोग प्रारंभ हुआ और दोनों प्रकार की चिकित्साओं को एक ही पंक्ति में रखा गया। इस परंपरा के पश्चात् चिकित्सकों में बुद्धकालीन जीवक का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने शल्यकर्म और वैद्यक को समान महत्व देकर उन्हें पूर्णतः समकक्ष बनाया। इसके पश्चात् अनेक भारतेतर देशों ने भी शल्यकर्म को चिकित्सा का अभिन्न अंग बनाना प्रारंभ किया तथा इसी प्रसंग में प्रसवकर्म भी चिकित्सा के भीतर आया।

ईसा पूर्व ४६० वर्ष के पश्चात् विख्यात चिकित्सक हिपॉक्रेटिज हुए, जिन्होंने चिकित्सा को धर्मनिरपेक्ष तथा पर्यवेक्षणान्वेषणमुखी व्यापक

व्यवसाय बनाया। मिस्र का सिकंदरिया नामक नगर उस समय इस विद्या का केंद्र था। वहाँ इस परंपरा को २०० वर्षों तक प्रश्रय मिला, किंतु इसके बाद यह लुप्त होने लगी। ईसा पश्चात् १४०० वर्ष तक धर्मांधता के प्राबल्य के कारण वैज्ञानिक चिकित्सा का विस्तार नगण्य रहा, किंतु यूरोप के पुनर्जागरण पर विज्ञान की चतुर्दिक् दुर्दम्य वृद्धि होने लगी, जिसने चिकित्सा को विशालता दी तथा विभिन्नताओं को घटाया।

परिभाषा तथा परिसीमन — चिकित्सा विज्ञान फलसमन्वित ऐसा शास्त्र है, जिसमें ऐसे उपायों के उपयोगों का वर्णन है जो लोकस्वास्थ्य तथा वैयक्तिक स्वास्थ्य की दृष्टि से, शरीर संबंधी सभी अवस्थाओं में, आवश्यकतानुसार (१) रोगोन्मूलक तथा निवारक, (२) घटना नियंत्रक तथा सुधारक, (३) अभावपूरक, (४) विकारक तथा विकृत अंगों के निष्कासक, (५) कुरूपता तथा असमर्थता के निवारक, (६)
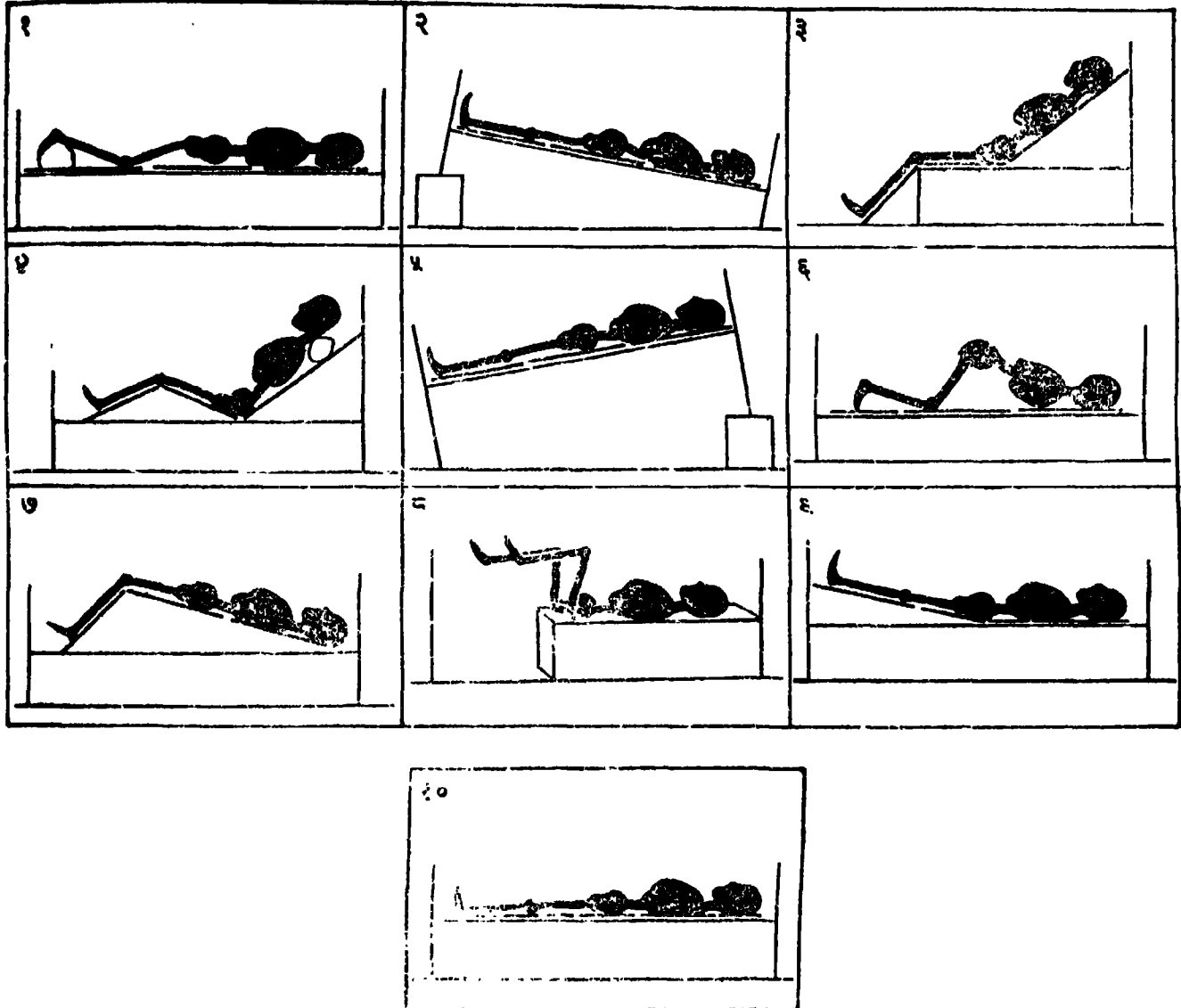
चित्र १ रोगी को लिटाने की विशेष रीतियाँ

१. कृत्रिम पट — निलंबित जीवंतता में कृत्रिम श्वाससंचालन के लिये; २. आक्षोभ स्थिति (Shock Position) — अत्यंत रक्तस्राव इत्यादि कारणों से पारिवहनिक वैफल्य में उपयोगी: ३. हृदय विश्रामण (Cardiaesest) — प्रगत हृद्रोग तथा ऊर्ध्व श्वसन में लाभदायक; ४ फाउलर स्थिति (Fowler's position) — अति श्वसन में उपयोगी; ५. ऊँचा सिरहाना (Head elevated) — गर्दनतोड़ ज्वर या मेनिनजाइटिस प्रभृति में उपयुक्त; ६. जानुवक्ष (Genu pectoral) — स्त्रियों और बच्चों के अनेक रोगों के निदान तथा चिकित्सा में आवश्यक; ७. ट्रेंडेलेनबर्ग (Trendelenburg) न्यास — श्रोणि प्रदेशीय शल्यचिकित्सा तथा रक्तचाप की हीनता में उपयोगी; ८. लिथॉटोमी (Lithotomy) स्थिति शल्य कर्म तथा प्रसूति में उपयोगी; ९. ऊर्ध्वपाद (Legs elavated) — अवस्थ अंगों के प्रदाह और सूजन आदि में उपयुक्त, तथा १०. बहुप्रयोजनीय स्थिति — नाना प्रकार की शल्य तथा अन्य चिकित्साओं में उपयोगी।

क्षतांगों के प्रतिस्थापक एवं विकलांगों के पुनर्वासक और (७) सुजनन,
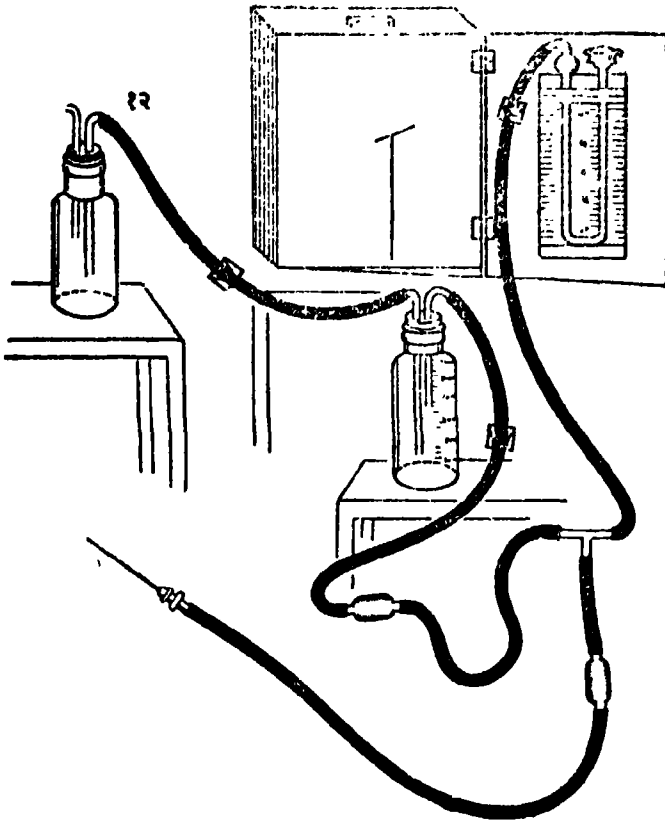
चित्र २. वातभरण यंत्र।
विभिन्न प्रकार की आंत्र तथा फुप्फुस यक्ष्मा की चिकित्सा तथा अन्य नैदानिक कार्यों में उपयोगी।

सुपोषण सुसंतान तथा परिवारनियोजन प्रभृति समस्याओं के पूरक होते हैं। चिकित्सा शिक्षण में भौतिकी, सांख्यिकी, रसायन, वनस्पति, प्राणि तथा सूक्ष्मजीव विज्ञान, मानवीय शरीररचना, कायिकी-विकृति-विज्ञान, प्रतिरक्षण विज्ञान, इत्यादि प्रत्यक्षतः, तथा अन्य सभी विज्ञान परोक्षतः, सहायक होते हैं।

मूलतः सिद्धांत पर आधारित चिकित्सा के तीन प्रकार हैं : यौक्तिक, मनोदैहिक तथा आनुभविक। यौक्तिक चिकित्सा में रोग के कारणों एवं रोगी के कायिक तथा मानसिक परिवर्तनों को समझकर, ज्ञात प्रभाव की ओषधियों अथवा साधनों का उपयोग किया जाता है। मनोदैहिक चिकित्सा में विशिष्ट मनःचिकित्सा और विश्वासमूलक चिकित्सा दोनों संमिलित हैं। प्रथम के विस्तारों में नाना प्रकार के मनोविश्लेषण वैविध्य हैं तथा दूसरे में प्लैसेबो (Placebo) सदृश निष्प्रभाव ओषधियाँ और झाड़ फूँक प्रभृति प्रयोग आते हैं। आनुभविक चिकित्सा में ज्ञात लाक्षणिक प्रभावों के बल पर ओषधियों का प्रयोग करते हैं, किंतु शरीर में दवा किस प्रकार काम करती है, इसका पता नहीं होता। चिकित्सा शब्द के साथ विशेष साधनों के नाम लगाने से विशेष ओषधीय प्रयोगों का बोध होता है, जैसे जलचिकित्सा, विद्युच्चिकित्सा, डायथर्मी (Diathermy) चिकित्सा आदि।

चिकित्सा की रीतियाँ और प्राविधिकी — चिकित्सा की सभी क्रियाओं के आठ विभाग किए जा सकते हैं :

(१) प्राथमिक कृत्य — इसमें तात्कालिक या स्थितिक निदान, प्राथमिक उपचार, चिकित्सा-क्षेत्र-निर्धारण, छुतहे रोगियों का पृथक्करण इत्यादि हैं।

(२) अस्पतालीकरण — इसमें घातक तथा कठिन रोगों के रोगियों को उचित स्थान में रखकर जीवनरक्षा के आवश्यक उपायों के प्रयोग, नियमित पर्यवेक्षण तथा प्रयोग और यंत्रों की सहायता से निदान का प्रबंध किया जाता है (देखें चित्र १)। रोगियों का अस्पतालीकरण उनके घर पर भी होता है।
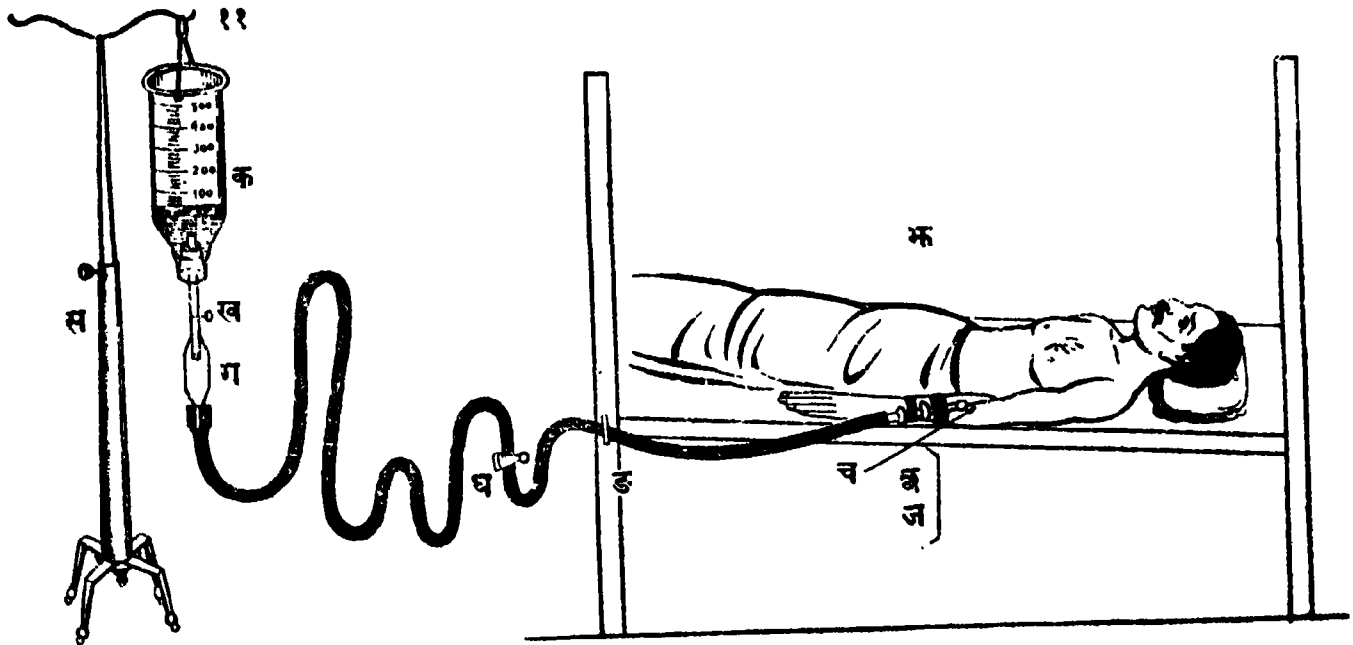
चित्र ३. शिरामार्गी प्रतिपालन
आपत्स्थिति में रक्ताधान, खाद्य तथा लवणादिक निषेचनों को देने की रीति। क. ओषधि या दातव्य रक्त; ख. तथा ग. स्टॉप कॉक और उसके भाग; ङ, छ और ज, बंधक स्ट्रैप (Strap); च सुई तथा झ उपस्तंभ।

(३) विसंक्रमण — सभी प्रकार की शल्यक्रियाओं, इंजेक्शनों तथा प्रसव कार्यों के पूर्व चिकित्सकों की त्वचा तथा हाथों को रोगाणु-विहीन बनाया जाता है। कटे हुए स्थानों में श्वास तथा स्पर्श से रोगाणुओं की पहुँच रोकने के लिये शल्यकारों का विशेष पहनावा, दस्ताने इत्यादि पहनना आवश्यक होता है। लोकस्वास्थ्य के हितकारी उपचारों में भी विविध प्रकार के विसंक्रमणों का बहुत महत्व है।

(४) भेषजसेवन — शीघ्र प्रभाव के लिये विभिन्न स्थितियों में ओषधियों का उचित मात्रा में तथा उचित रीति से सेवन कराया जाता है। सेवन की सात प्रचलित रीतियाँ हैं : आंत्रेतर (Parenteral) इंजेक्शन, मुख, प्राकृतिक गुहाओं, श्वसनमार्ग तथा त्वचा द्वारा और किरणों तथा विकिरण से। यांत्रिक भेषजसेवन छः प्रकार के होते हैं : अधिचर्मीय, अंतःचर्मीय, अधस्त्वकीय, शिरामार्गीय, मांसमार्गीय तथा अंतरंगगत। इनमें से शिरामार्गीय और अंतरंगगत रीतियाँ बहुत विकट हैं तथा असाधारण स्थितियों में प्रयुक्त होती हैं (देखें चित्र २ तथा ३)।

(५) शस्त्रोपचार तथा हस्तकौशल — इनके प्रयोग रुग्ण अंगों को काटकर निकालने अथवा कुरूपता को सुधारने इत्यादि में शल्यकारों द्वारा तथा प्रसवकार्यों में इसके विशेषज्ञों द्वारा किए जाते हैं।

(६) आरोग्यांकन — चिकित्साधीन रोगियों की साधारण रीति से, अथवा यंत्रों या प्रयोगशाला की सहायता से, जाँच कर उनकी अवस्था का पता लगाते रहना चिकित्सा का महत्वपूर्ण अंग है।

(७) पुनर्वासन — नीरोग हुए, किंतु सीमित सामर्थ्यवाले लोगों एवं विकलांगों के लिये भविष्य में स्वास्थ्यपूर्ण जीवनयापन के उपाय निश्चित करना भी चिकित्सा का आवश्यक अंग है।

(८) चिकित्सोपरांत संपर्कस्थापन — आधुनिक स्तर की पूर्ण चिकित्सा में नीरोग हुए मनुष्य से संपर्क रख, उसकी अवस्था की जानकारी रखना तथा आवश्यक सावधानी के आदेश देना भी संमिलित हैं।

विशेषज्ञता और चिकित्सा परिचालन — पहले वैद्यक, शल्यकर्म, तथा प्रसूतिविद्या पृथक् पृथक् थीं। बाद में इन्हें एक साथ सूत्रबद्ध किया गया। किंतु ज्ञान का विस्तार और तकनीकी में आश्चर्यजनक वृद्धि होने के कारण, वर्तमान काल में विशिष्टकरण अनिवार्य हो गया। फिर भी संक्रमण तथा विसंक्रमण के विचार, अद्यतन ढंगों से ओषधियों के प्रयोग, विश्राम तथा व्यायाम के प्रयोग इत्यादि बातें सब रोगों या विकृतियों के उपचार में एक से ही सिद्धांतों पर आधारित हैं।

चिकित्सा और प्रकृति की शक्ति — रोग दूर करने में प्रकृति की शक्ति ही मुख्य है। हिप्पाक्रेटीज के काल से आज तक रोगनिवारण के लिये चिकित्सक इसी शक्ति का उपयोग करते आए हैं। वे आधुनिक साधनों का तभी प्रयोग करते हैं, जब वे देखते हैं कि प्रकृति को सहारे या सहायता की आवश्यकता है। [अ० सिं०]

चिकित्सा अनुसंधान जनता में रोगों को रोकने के लिये उचित कार्यक्रम निर्धारित करने के निमित्त स्वास्थ्य सर्वेक्षण और चिकित्सा संबंधी अनुसंधान आवश्यक हैं। ये कार्य अब एक संस्था द्वारा किए जाते हैं, जिसका नाम इंडियन कौंसिल ऑव मेडिकल रिसर्च है।

चिकित्सा अनुसंधान का काम हमारे देश में १९वीं शताब्दी के दूसरे चरण में मलेरिया और विसूचिका (हैजा) नामक रोगों के फैलने से संबंधित अन्वेषण के रूप में प्रारंभ हुआ। इसी सन् १८६९ में लुई और कनिंघम ने कुछ कार्य प्रारंभ किया था। टीका लगाने से लाभ होता है या नहीं, इसका बंगाल में विसूचिका के बारे में और बंबई में प्लेग के संबंध में अन्वेषण करने के लिये हैफकिन नामक विद्वान् को सरकार की ओर से नियुक्त किया गया। इसके परिणामस्वरूप बंबई में सन् १८९९ में प्लेग रिसर्च इंस्टिट्यूट बनाया गया, जिसका नाम आगे चलकर हैफकिन रिसर्च इंस्टिट्यूट रखा गया। सन् १९०० में शिमला के पास कसौली में चेचक के टीके के लिये लिंफ बनाने और जीवाणु संबंधी अन्वेषण करने के लिये पैस्टय़र इंस्टिट्यूट की स्थापना हुई। इस समय तक देश में रोगों के संबंध में अनुसंधान कार्य का आयोजन करने के लिये केंद्रीय संस्था की आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी। फलस्वरूप सन् १९११ में इंडियन रिसर्च फंड ऐसोसिएशन बना।

प्रथम विश्वयुद्ध के दिनों में इस संस्था का काम प्रायः रुक गया। दूसरे युद्ध में द्रव्य और अन्वेषणकर्ताओं की ओर भी कमी हो गई और संस्था का काम लगभग बंद हो गया। सन् १९४० में भोर कमेटी ने चिकित्सा संबंधी अन्वेषण देश भर में कराने पर बहुत जोर दिया। सन् १९४७ के अगस्त में देश के स्वतंत्र होने के पश्चात् भारत सरकार ने चिकित्सा संबंधी अनुसंधान के महत्व को भली भाँति समझकर उसकी उन्नति की ओर ध्यान देना प्रारंभ किया और इंडियन रिसर्च ऐसोसिएशन को इंडियन काउंसिल ऑव मेडिकल रिसर्च के रूप में सन् १९४८ में पुनर्जीवित किया गया तथा देश में चिकित्सा विषयक प्रत्येक प्रकार के अनुसंधान का प्रबंध करने का काम उसके सुपुर्द किया गया। इस काउंसिल ने, जिसको संक्षेपतः आई० सी० एम० आर० कहा जाता है, देखा कि देश के मेडिकल कालेजों तथा अन्य संस्थाओं में अनुसंधान करने के ऐसे बहुतेरे साधन तथा कार्यकर्ता पड़े हुए हैं जिनका अभी तक उपयोग नहीं किया गया है। अतएव इस काउंसिल ने इन संस्थाओं को आवश्यक आर्थिक सहायता देकर अनुसंधान कार्य को प्रोत्साहित किया।

सन् १९४८ में मेडिकल कालेजों में ओषधि-क्रिया-विज्ञान के अध्यापन और अनुसंधान को विशेष रूप से प्रोत्साहित करने के लिये एक फार्मेकोलोजी ऐडवाइज़री कमेटी बनाई गई। देश में वाइरस द्वारा उत्पन्न रोगों के अनुसंधान की आवश्यकता प्रतीत होने पर सन् १९५१-५२ में वाइरस डिजीजेज ऐडवाइज़री कमेटी नियुक्त हुई। आई० सी० एम० आर० ने द्वितीय पंचवर्षीय योजना में संक्रामक रोगों तथा उनके प्रतिरोध के उपायों के अन्वेषणों को सर्वप्रथम प्रोत्साहन दिया। अतएव दो उपसमितियाँ बनाई गई। एक रोगों के प्रतिरोध के उपायों के अन्वेषण के लिये और दूसरी परिस्थितिज (environmental) स्वास्थ्य विज्ञान (hygiene) के अध्ययन के लिये। मलेरिया और फाइलेरिया के अन्वेषण के लिये एक और कमेटी बनाई गई, जिसको मलेरिया ऐंड ऐंथ्रोपाड डिजीज़ेज सबकमेटी नाम दिया गया। मानसिक स्वास्थ्य के प्रश्नों के अध्ययन के लिये एक मेंटल हेल्थ सबकमेटी बनाई गई। दाँतों के रोगों के अन्वेषण के लिये भी एक डेंटल हेल्थ सबकमेटी बनी।

चिकित्सा अनुसंधान का महत्व कितना बड़ा है, इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि जहाँ प्रथम पंचवर्षीय योजना में सरकार ने चिकित्सा अनुसंधान संबंधी आयोजनों में १२ लाख खर्च किया था वहाँ दूसरी पंचवर्षीय योजना में ३१२ लाख व्यय किया गया।

इस समय इंडियन मेडिकल रिसर्च काउंसिल की १२ परामर्शदात्री कमेटियाँ और १९ सबकमेटियाँ है। इनके अतिरिक्त विशेष विषयों पर

कार्य करनेवाले कुछ समुदाय भी हैं। एक वायु परिवहन संबंधी रोगों के अन्वेषण के लिये और दूसरा विश्लेषण की प्रामाणिक विधियों को खोजने के लिये बनाया गया है। परामर्शदात्री (ऐडवाइज़री) कमेटियाँ निम्नलिखित विषय संबंधी हैं : रोगी संबंधी अन्वेषण, संक्रामक रोग, दंतस्वास्थ्य, बालक का परिस्थितिज स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य पोषण, शरीरक्रिया तथा ओषधिक्रिया, विकृति विज्ञान तथा शरीरक्रिया विज्ञान, मानव-प्रजनन-क्रिया और वाइरसजन्य रोग। निम्नलिखित विषयों के अध्ययन के लिये सब कमेटियाँ भी नियुक्त की गई हैं : हृदय और रक्तपरिसंचरण संबंधी रोग तथा रक्तातिदाब (हाई ब्लड प्रेशर), रक्त संबंधी अन्वेषण, यकृतरोग चिकित्सा, विसूचिका, कुष्ठ, मलेरिया तथा ऐंथ्रोपॉएडों के अन्य रोग, ट्यूबर्कुलोसिस (यक्ष्मा), रतिज रोग, बुद्धिमाप की विधियाँ, पोषणसर्वेक्षण, भारतीय जनता की शारीरिक, प्रामाणिक मापनाएँ (norm) और मेडिकल कालेजों में हुए चिकित्सा तथा शरीर क्रिया संबंधी अन्वेषणों के आंकड़े एकत्र करना।

तीसरी पंचवर्षीय योजना में संक्रामक रोगों के संबंध में अनुसंधान को विशेष महत्व दिया गया है। उसका स्थान सर्वप्रथम है। बच्चों में होनेवाले अतिसार (infantile diarrhoea) पर भी विशेष ध्यान दिया गया है। इस रोग को बच्चों की मृत्यु और उनके दौर्बल्य का विशेष कारण माना जाता है।

दूसरा महत्व का कार्यक्रम देशी ओषधियों तथा चिकित्सा संबंधी अनुसंधान है। देश भर में ऐसे आठ प्रस्तावित केंद्रों में से सात केंद्र अब तक कार्य करने लगे हैं। प्रत्येक को एक विशेष समूह की ओषधियाँ अन्वेषण के लिये दी गई हैं। ऐसी ओषधियों का चिकित्सा में उपयोग तथा उनकी प्रामाणिकता स्थापित करने के लिये जो प्रयोग किए जाते हैं उनमें कई वर्षों तक का लंबा समय लग जाता है, तब कहीं संतोषजनक परिणाम निकलते हैं। काउंसिल के संततिनिरोध केंद्र में देशी ओषधियों से मुँह से खानेवाला संतोषजनक, गर्भरोधक योग बनाने का भी प्रयत्न हो रहा है।

तीसरी पंचवर्षीय योजना में जो महत्वशाली विषय अनुसंधान के लिये निर्दिष्ट किए गए हैं, वे ये हैं : जनता का दौर्बल्य (morbidity) सर्वेक्षण, मेडिकल कालेजों में अनुसंधान और व्यवसाय संबंधी स्वास्थ्य (occupational health)। अनुसंधान को प्रोत्साहित करने के लिये एक चिकित्सा अन्वेषणशाला (मेडिकल रिसर्च इंस्टिट्यूट) तथा विकृति (pathology) और चिकित्सा संबंधी जीवविज्ञान (biology) के इंस्टिट्यूट बनाए जायँगे। इतने बृहत् आयोजना के लिये तृतीय पंचवर्षीय योजना में ६.५ करोड़ रुपए निर्दिष्ट किए गए हैं, जो अधिक नहीं मालूम होते। आइ० सी० एम० आर० को प्रति वर्ष मिलनेवाली १२५ लाख रुपए की रकम इसके अतिरिक्त है।

तीसरी पंचवर्षीय योजना में विशेष उत्साहजनक बात यह है कि उसमें अनुसंधानकर्ताओं की आर्थिक स्थिति को उन्नत करने का भी ध्यान रखा गया है। यद्यपि अन्वेषकगण अपना कार्य उत्साहपूर्वक करते हैं, तथापि आर्थिक कठिनाइयाँ उनके मार्ग में अवरोध उत्पन्न करती हैं। जब तक अनुसंधानकर्ताओं को आर्थिक चिंताओं से मुक्त नहीं किया जाता, वे स्वच्छंद एकाग्रता से अपना काम नहीं कर सकते। इसी तथ्य को हृदयगम करके सरकार ने अन्वेषणकर्ताओं के लिये यूनिवर्सिटी शिक्षकों के समान वेतनक्रम का प्रस्ताव किया है।

केंद्रीय सरकार ने देशी चिकित्सा प्रणालियों की उन्नति के लिये भी कई कमेटियाँ नियुक्त की थीं, जिनमें ये मुख्य थीं : कर्नल रामनाथ चोपड़ा कमेटी (१९४८), डाक्टर सी० जी० पंडित कमेटी (१९५२), श्री डी० दवे कमेटी (१९५५) तथा डाक्टर उडुप्पा कमेटी (१९५८)। उडुप्पा कमेटी की सिफारिश के अनुसार जामनगर के अनुसंधान और स्नातकोत्तर केंद्र का पुनर्विन्यास करने की आवश्यकता थी। कमेटी ने आयुर्वेद ग्रंथों में उल्लिखित ओषधियों के संबंध में अनुसंधान करने के लिये तीन और केंद्र खोलने की सिफारिश की। साथ ही साहित्यिक खोज, ओषधिप्रद वृक्षों का सर्वेक्षण और ओषधि-क्रिया-विज्ञान के अनुसार सब प्रकार की आयुर्वेदीय ओषधियों की जाँच का भी प्रस्ताव किया। उडुप्पा कमेटी ने एक केंद्रीय आयुर्वेदिक रिसर्च काउंसिल स्थापित करने का और प्रत्येक प्रदेश में पृथक् आयुर्वेदिक निदेशालय बनाने का भी सुझाव दिया। इनमें से केंद्रीय निदेशालय का प्रस्ताव सरकार ने स्वीकृत करके उसे कार्य में परिणत भी किया है।

यूनानी और होमियोपैथिक चिकित्सा प्रणालियों को भी सरकार की ओर से बहुत प्रोत्साहन मिला है।

अंत में यह कहना आवश्यक है कि हमारे देश में चिकित्सा विषयक अनुसंधान कार्यों के संबंध में फिर से विचार करके उन्हें नए नए मार्गों पर अग्रसर करना आवश्यक है और हमारे देश में जो असीम मानसिक शक्ति और वस्तुभांडार उपलब्ध है उसके समुचित उपयोग पर ही अनुसंधान द्वारा विज्ञान की उन्नति निर्भर करती है।

[क० न० उ० तथा गो० ना० च०]

चिकित्सा विधान लिखित इतिहास के प्रारंभ से इस बात का प्रमाण मिलता है कि कितने ही देशों में चिकित्साकार्य विधान के अधीन था। चीन में चाउ वंश (९०० ई० पू०) के काल में चिकित्सा को मान्यता प्रदान करने के लिये राज्य की ओर से परीक्षाएँ ली जाती थीं और परीक्षोत्तीर्ण व्यक्तियों का वेतन उनकी योग्यता के अनुसार निर्णीत होता था। भारत में सुश्रुत (लगभग ५०० ई० पू०) ने लिखा है कि चिकित्सा प्रारंभ करने के पूर्व राजाज्ञा प्राप्त करना आवश्यक था। यूरोप में सन् ११४० में सिसिली द्वीप के राजा रोजर ने परीक्षोत्तीर्ण हुए बिना चिकित्सा करना अवैध घोषित कर दिया था, जिसकी अवहेलना करने पर जेल हो सकता था तथा अपराधी की संपत्ति सरकार छीन सकती थी। उसके एक शताब्दी पश्चात् उसके पोते फ्रेडरिक द्वितीय ने चिकित्साशास्त्र के अध्यापन तथा चिकित्सा करने के संबंध में नियम बनाए।

ग्रेट ब्रिटेन में सन् १८५८ में पार्लियामेंट ने चिकित्सा करने तथा चिकित्सा संबंधी ऐक्ट पास किया, जिसके अनुसार यूनाइटेड किंगडम की जेनरल कौंसिल ऑव मेडिकल एज्यूकेशन ऐंड रजिस्ट्रेशन की स्थापना की गई। इस कौंसिल ने जनसाधारण में चिकित्सा व्यवसाय करनेवालों का एक रजिस्टर तैयार किया, जिसमें उनके नाम लिखे जाते हैं तथा कौंसिल उनके लोकव्यवहार का नियंत्रण तथा पाठ्यविषयों और परीक्षाओं के क्रम का निर्धारण करती है। उसके नियमानुसार परीक्षोत्तीर्ण स्नातक का नाम किसी मान्य अस्पताल या चिकित्सा संस्था में एक या दो वर्ष तक स्थानिक नियुक्ति पर काम कर चुकने के पश्चात् चिकित्सा रजिस्टर में लिखा जाता है, जिससे उसको स्वतंत्र रूप से चिकित्सा करने की मान्यता प्राप्त होती है।

भारतवर्ष का सन् १९१६ का मेडिकल डिग्री ऐक्ट — देश में कई चिकित्सा प्रणालियाँ होने के कारण सरकार सन् १९१६ तक चिकित्सा संबंधी कोई विधान न बना सकी। सन् १९१६ में 'मेडिकल डिग्रीज ऐक्ट' बनाया गया, जिससे पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली की डिग्रियाँ, निर्णीत काल

तक चिकित्सा विषयों का अध्ययन करने और परीक्षोत्तीर्ण होने पर, प्रदान की जाती हैं। इस ऐक्ट में पाश्चात्य चिकित्सापद्धति का अर्थ है ऐलोपैथिक मतानुसार रोगों की चिकित्सा, शल्यकर्म तथा प्रसूति विज्ञान की क्रियाएँ। होमियोपैथी तथा देशी चिकित्सा प्रणालियों की गणना उसमें नहीं की गई है।

इस ऐक्ट के अनुसार न्यायालय अवैध कृत्यों का विचार केवल राज्य सरकार द्वारा स्वीकृत तथा मेडिकल रजिस्ट्रेशन कौंसिल द्वारा चलाए गए मुकदमों पर कर सकते हैं। विधान तोड़नेवालों को जुर्माना और सजा दोनों हो सकते है।

सन १९३३ का इंडियन मेडिकल कौंसिल ऐक्ट — सन् १९३३ में इंडियन मेडिकल कौंसिल बनने के पूर्व प्रत्येक प्रदेश में एक प्रादेशिक मेडिकल कौंसिल थी, जिसको अब स्टेट मेडिकल कौंसिल कहा जाता है। इसको रजिस्टर रखने, स्नातकों के नाम रजिस्टर में लिखने, रजिस्टर से खारिज करने तथा चिकित्साशिक्षा और परीक्षाओं का नियंत्रणकरने के अधिकार प्राप्त थे। प्रथम बार सन् १९२२ में, बंबई में, और सन् १९१४ में बंगाल और मद्रास प्रदेशों में, ऐसी कौंसिलें स्थापित हुई थीं।

सन् १९३३ में इंडियन मेडिकल कौंसिल ऐक्ट विधान सभा द्वारा स्वीकृत हुआ। इसका विशेष उद्देश्य देश भर की चिकित्साशिक्षा के स्तर को उठाना और भिन्न भिन्न प्रदेशों की शिक्षा में समन्वय उत्पन्न करना था। किंतु चिकित्सा व्यवसायियों का रजिस्टर रखना और उनपर नियंत्रण करना इसके क्षेत्र से बाहर था। यह काम अब भी प्रादेशिक मेडिकल कौंसिलों का है।

तब से इस ऐक्ट में बहुत परिवर्तन हो चुका है। सन् १९५६ में जो विधान बनाया गया उसके अनुसार मेडिकल कौंसिल अपने पहले के कार्यों के अतिरिक्त 'इंडियन मेडिकल रजिस्टर' भी रखेगी, जिसमें प्रत्येक प्रदेश की कौंसिल में दर्ज किए गए नाम लिखे रहेंगे। कौंसिल का शिक्षा संबंधी कार्यक्षेत्र भी विस्तृत हो गया है। स्नातकोत्तर शिक्षणादि का भार भी इसको सौंपा गया है। शिक्षा का पाठ्यक्रम तथा उसके स्तर की उन्नति, परीक्षाओं का उच्च स्तर तथा सब प्रदेशों में उनमें परस्पर साम्य के संबंध में विश्वविद्यालयों को परामर्श देना इस कौंसिल का काम है। इस काम के लिये सरकार का प्रस्ताव एक 'पोस्ट ग्रेजुएट एज्यूकेशन मेडिकल कमेटी' बनाने का है।

इंडियन नर्सिंग कौंसिल ऐक्ट, १९४७ — प्रत्येक प्रदेश में नर्सिंग, या उपचारिका कौंसिल बन चुकी है, जो उपचारिकाओं (Nurses), स्वास्थ्यचरों (Health visitors) और धात्रियां (Midwives) का रजिस्टर बनाकर रखती है और उनमें योग्यताप्राप्त परीक्षोत्तीर्ण व्यक्तियों के नाम दाखिल खारिज किया करती है। चिकित्साशिक्षा के समान उपचारिकाशिक्षा में भी भिन्न भिन्न प्रदेशों में बहुत भिन्नता होने के कारण सरकार को इंडियन नर्सिंग कौंसिल बनानी पड़ी है, जो विधान सभा द्वारा सन् १९४७ में स्थापित की गई। यह उपचारिकाओं, धात्रियों तथा स्वास्थ्यचरों के लिये प्रशिक्षण एवं शिक्षा का स्तर निर्धारित करती है। सन् १९५० के ऐक्ट नं० ७५ और सन् १९५७ के ऐक्ट नं० ४५ द्वारा उसमें संशोधन किए जा चुके हैं।

डेंटिस्ट ऐक्ट, १९४८ — सन् १९४८ से पूर्व बंगाल के अतिरिक्त किसी प्रदेश में दंतचिकित्सा के संबंध में कोई विधान नहीं था। कोई भी, शिक्षित अथवा अशिक्षित, दंतचिकित्सा का व्यवसाय कर सकता था। यह रोगी के लिये निरापद नहीं था। इस कारण सन् १९४८ में विधान सभा ने डेंटिस्ट ऐक्ट पास करके इंडियन मेडिकल काउंसिल की स्थापना की, कि वह दंतचिकित्सा शिक्षा का पाठ्यक्रम बनाकर तथा प्रशिक्षण द्वारा शिक्षा का उपयुक्त स्तर स्थापित करे। प्रादेशिक काउंसिल चिकित्सकों का रजिस्टर रखती है और उनपर व्यावहारिक नियंत्रण करती है। इंडियन काउंसिल शिक्षा की देखभाल तथा अन्य देशों की ऐसी ही काउंसिलों की डिग्रियों की पारस्परिक मान्यता प्राप्त करने का प्रबंध करती है।

पॉयजन्स ऐक्ट, १९१९ (विष संबंधी अधिनियम) — यह ऐक्ट १९१९ में विषों को बाहर से मंगाने तथा उनके संरक्षण एवं विक्रय के नियंत्रण के लिये बनाया गया था। इस ऐक्ट के अधीन जिस पदार्थ को विष घोषित किया जायगा वही विष माना जायगा और थोक या फुटकर में केवल लाइसेंस या अनुज्ञापत्रप्राप्त व्यक्तियों द्वारा बेचा जायगा। विक्रेता उस पदार्थ का पृथक् रजिस्टर या लेखा रखेंगे जिसमें खरीददार का नाम, पता, पदार्थ की मात्रा तथा प्राप्तिस्थान आदि सब बातों का ब्योरा रहेगा। निरीक्षक इन रजिस्टरों का निरीक्षण करते रहेंगे। विषों को बंद शीशियों या डिब्बों में लेबल लगाकर आलमारियों में सुरक्षित रखा जायगा, जिसके लिये विक्रेता उत्तरदायी होगा। इन नियमों की अवहेलना दंडनीय है। किंतु इस विधान का कोई नियम सामान्यत: पशुचिकित्सकों पर या उनके चिकित्सा व्यवसाय के अंतर्गत सद्भावना से किए हुए कार्यों पर लागू नहीं होगा।

डेंजरस ड्रग्स ऐक्ट १९३० (भयानक ओषधि अधिनियम, १९३०)—जेनेवा डेंजरस ड्रग्स कंवेंशन, १९२२, का अनुसमर्थन (ratification) करने और ऐसी ओषधियों द्वारा देशवासियों के स्वास्थ्य को हानि पहुँचने की आशंका से यह ऐक्ट बनाना आवश्यक हो गया। अतएव १९३० में यह ऐक्ट बनाया गया। कोकेन, मॉर्फीन (अफीम), भाँग आदि ओषधियाँ इस अधिनियम में आती हैं। इन ओषधियों का दुरुपयोग रोकने के लिये उनके विक्रय पर प्रतिबंध लगाना आवश्यक है। इस ऐक्ट के अनुसार उसकी अवहेलना करने वालों को जुर्माने के साथ, या उसके बिना, कैद हो सकती है।

ड्रग्स ऐक्ट (ओषधि अधिनियम, १९४०) — विदेशों से आनेवाली ओषधियों के संबंध में सरकार ने एक विशेष कमेटी नियुक्त की थी। छानबीन के पश्चात् इसकी रिपोर्ट में की गई सिफारिशों के अनुसार अन्य देशों से भारत में आनेवाली ओषधियों के निर्माण तथा उनके वितरण पर नियंत्रण के लिये यह ऐक्ट बनाया गया था। इस अधिनियम के अनुसार मनुष्य और पशुओं के शरीर के भीतर (खाने से या इंजेक्शन से या अन्य मार्गों से) पहुँचनेवाली तथा शरीर पर लगाई जानेवाली वे सभी ओषधियाँ इस ऐक्ट में आ जाती हैं, जो रोग की चिकित्सा के लिये तथा उसको कम करने या रोकने के लिये दी जाती हैं। आयुर्वेद या अन्य पद्धतियों में प्रयुक्त होनेवाली ओषधियों पर यह अधिनियम लागू नहीं है। इसके द्वारा केवल विदेशी ओषधियाँ नियंत्रित होती हैं। विदेशों से ओषधियों का आयात केंद्रीय सरकार द्वारा नियंत्रित होता है, किंतु उनका निर्माण और वितरण या विक्रय प्रादेशिक सरकारों के अधीन है। एक तकनीकी परामर्शमंडल भी बनाया गया है, जिसके विशेषज्ञ सदस्य सरकार को तकनीकी मामलों पर परामर्श देते हैं। ओषधियों का सरकारी विश्लेषक रासायनिक जाँच करता रहता

है। ओषधिनिर्माण के निरीक्षण के लिये निरीक्षक नियुक्त हैं। अधिनियम की अवहेलना दंडनीय है।

ओषधिनियंत्रण अधिनियम, १९५० — सन् १९४९ में विदेशों से आनेवाली आवश्यक ओषधियों का बढ़ता हुआ मूल्य रोकने के लिये केंद्रीय सरकार की ओर से एक अध्यादेश जारी किया गया था, जिसको ओषधि अध्यादेश कहा जाता है। इसकी आवश्यकता आज भी बनी हुई है। कितने ही प्रदेशों ने अध्यादेश के स्थान पर ऐक्ट बना दिए हैं। सन् १९५० में लोकसभा ने ड्रग्स कंट्रोल ऐक्ट पास किया। इस अधिनियम का अभिप्राय ओषधियों के विक्रय, प्रदाय और वितरण पर नियंत्रण करना है। इस अधिनियम में 'ओषधि' की वही व्याख्या मानी गई है जो सन् १९४० के ऐक्ट की धारा ३ की अनुधारा बी में दी गई है। केंद्रीय सरकार किसी भी पदार्थ को इस अधिनियम के लिये 'ओषधि' घोषित कर सकती है। इस अधिनियम की अवहेलना या इसके आदेशों की पूर्ति न करना विधानानुसार दंडनीय है।

ड्रग्स ऐंड मैजिक रिमेडीज़ (ओब्जेक्शनेबिल एडवर्टिज़मेंट) ऐक्ट [ओषधि और जादू का उपचार (आपत्तिजनक विज्ञापन) अधिनियम], १९५४—इस ऐक्ट का अभिप्राय उन अश्लील और आपत्तिजनक विज्ञापनों को रोकना है जो बहुत समय से, विशेषतया स्त्रियों तथा पुरुषों के गुप्तांग संबंधी रोगों, बंध्यता तथा क्लीवता की चमत्कारी ओषधियों के संबंध में छपते रहे हैं। भोली भाली जनता इनके चक्कर में फँसकर धन और स्वास्थ्य दोनों गँवाती है। यह व्यवसाय इतना बढ़ गया था कि सरकार को यह ऐक्ट बनाना पड़ा, जिसके अनुसार ऐसा विज्ञापन करनेवाले को दंड मिल सकता है।

ऊपर जो अधिनियम बताए गए हैं वे जम्मू और काश्मीर के अतिरिक्त देश के अन्य सब प्रदेशों में लागू हैं।

जनस्वास्थ्य, वैक्सिनेशन ऐक्ट, चेचक के टीके का अधिनियम — बच्चों की चेचक से रक्षा करने के लिये यह ऐक्ट सन् १८८० में बनाया गया था। इसके अनुसार माता पिता को जन्म के छह मास के भीतर चेचक का टीका लगवा देना चाहिए। टीका लगाने के केंद्र नगरों में कई स्थानों पर होते हैं। टीका न लगवाने से माता पिता या अभिभावक दंड के भागी होते हैं। यदि बच्चे को पहले ही चेचक हो चुकी है और वह उससे बच गया है, तो उसको टीका लगवाना आवश्यक नहीं है।

टीके का अभिप्राय बच्चे में चेचक का हलका रोग उत्पन्न करना है, जिससे उसके शरीर में वे वस्तुएँ उत्पन्न हो जाती हैं जो उसको रोग से बचाए रखती हैं। जब से टीके का आविष्कार हुआ है तब से संसार भर में यह रोग बहुत कम हो गया है और मृत्युसंख्या विशेषतया कम हो गई है।

चिकित्सा संबंधी विधानों का ऊपर संक्षेप से उल्लेख किया गया है। हमारा देश भी आधुनिक उन्नति की ओर अग्रसर है। ज्यों ज्यों आयात निर्यात बढ़ेगा और अन्य देशों से आना जाना अधिक होगा त्यों त्यों हमको और भी विधान बनाने पड़ेंगे।

[क० न० उ० तथा गो० ना० च०]

चिकोड़ी मैसूर के बेलगाँव जिले में बेलगाँव नगर से ४० मील उत्तर में है। यहाँ तंबाकू, ईख, बाजरा और मूँगफली का व्यापार होता है। यहाँ की जनसंख्या १५,७४८ (१९६१) है। [पु० क०]

चिक्कबल्लापुर (Chikballapur) यह मैसूर राज्य के कोलार जिले में है। इसका क्षेत्रफल २५० वर्ग मील है। यह कोलार से ३६ मील दूर पुराने बँगलोर-बेलोरी-सड़क पर बसा हुआ है। लंदन मिशन की एक मुख्य शाखा यहाँ पर है।

यहाँ प्राचीन काल से लोहे की वस्तुएँ बनाई जाती हैं। रेशम उद्योग भी यहाँ है। यहाँ की जनसंख्या २३,०२९ (१९६१ है)।

[नि० कौ०]

चिक्कमगलूर (Chikmagalur) स्थिति: १३° १८' उ० अ० तथा ७५° ५१' पू० दे०। मैसूर राज्य में चिक्कमगलूर जिले का एक तालुक है जिसमें चिक्कमगलूर मुख्य नगर है। यहाँ की जनसंख्या ३०,२५३ (१९६१) है। यहाँ उपजाऊ काली मिट्टी पाई जाती है। यहाँ गेहूँ, चना तथा ईख की खेती होती है। यहाँ अस्वास्थ्यप्रद तेज पूर्वी हवाओं से बचने के लिये नगर के चारों ओर पेड़ लगाए गए हैं। इसके बाजार की लंबाई दो मील है। [नि० कौ०]

चितापुर यह मैसूर राज्य में गुलबर्गा जिले में है। यह गुलबर्गा से २२ मील दूर दक्षिण में स्थित है। यहाँ की जनसंख्या ११,६४७ (१९६१) है। यहाँ पर चूने का उत्खनन होता है। यहाँ के हाथ से बने हुए रेशमी कपड़े बहुत प्रसिद्ध हैं। यहाँ की मुख्य उपज ज्वार, बाजरा, गेहूँ तथा कपास है। काली मिट्टी कपास की खेती के लिये बहुत अनुकूल है। चूना साफ करने के बाद यहाँ से बाहर भेजा जाता है। कपास का भी थोड़ा व्यापार होता है। [नि० कौ०]

चित्तरंजन स्थिति: २३° ५०' उ० अ० तथा ८६° ५५' पू० दे०। पश्चिम बंगाल राज्य के अंतर्गत बर्दवान जिले का प्रसिद्ध रेलवे स्टेशन है। संप्रति यह बहुत उन्नति पर है, विशेषतः जब से यहाँ रेलवे का बड़ा कारखाना खोला गया है। अब यहाँ पर इंजन भी बनाए जाने लगे हैं। यहाँ उच्च विद्यालय, अस्पताल तथा अतिथिशाला इत्यादि भी हैं। इसकी जनसंख्या २८,९५७ (१९६१) है। [शि० नं० स०]

चित्तविभ्रम अर्थात् डेलीरियम (Delirium) मानसिक संभ्रांति की उस अवस्था को कहते हैं जिसमें अचेतना, अकुलाहट और उत्तेजना पाई जाती है।

इसमें असंबद्ध विचारों के साथ साधारण भ्रम और मतिभ्रम के मायाजाल मस्तिष्क की स्वाभाविक चेतना को धूमिल कर देते हैं।

चित्तविभ्रम का प्रमुख भाव एक प्रकार का भय होता है, जिसमें संशय और आशंका का पुट रहता है। इसके साथ मस्तिष्क की उत्तेजना और शारीरिक उथल पुथल एवं अंगों की विचित्र हलचल भी देखने को मिलती है। रोगी में आसपास के वातावरण के संबंध में जो निर्मूल अनुमान और भ्रामक धारणाएँ पाई जाती हैं, वे संदेहजनक सुरक्षात्मक ढंग की रहती हैं। इनका आधार हानि की काल्पनिक आशंका में निहित रहता है।

चित्तविभ्रम में दिन की अपेक्षा रात्रि में रोगी की अवस्था अधिक चिंताजनक हो जाती है।

सभी चित्तविभ्रम यथार्थ में मस्तिष्क की रासायनिक प्रक्रियाओं में दोष उत्पन्न हो जाने के कारण होते हैं। यह बाधा कई कारणों से हो सकती है:

(१) मादकता — निरंतर मदिरासेवन से, किसी रोग के फलस्वरूप दुर्घटनावश, आकस्मिक प्रहार, मदिराव्यसनी को मदिरा न मिलने पर; (२) संक्रामक रोग से; (३) स्वयं मस्तिष्क की व्याधियों के कारण; (४) परिभ्रांति और घोर श्रम से; (५) रसायन के प्रयोग से।

उन्माद में यह आवश्यक नहीं है कि मस्तिष्क में कोई रचना संबंधी दोष परिलक्षित हो। चित्तविभ्रम के प्रकार : मदिराविभ्रम — लगातार मदिरापान से; समवसादीय — शारीरिक थकावट, या घोर अवसाद की स्थिति में; कंपोन्माद — मदिरासक्त को मदिरा न मिलने पर; आकार संबंधी विभ्रम — इसमें व्यक्ति अपने आपको अत्यंत विशालकाय, या अति लघु आकार का, समझने लगता है। भावनात्मक — मन की अवस्था जिसमें व्यक्ति किसी भी असत्य बात को सच मानकर बैठ जाता है; चेतना संबंधी — शल्यक्रिया या मास्तिष्की रोग के बाद; तीक्ष्ण उन्माद — गहरे आक्षेप और कभी कभी मृत्यु; जराजनित — बुढ़ापे के कारण उत्पन्न चित्तभ्रम; स्वप्नजनित — स्वप्नावस्था का उन्माद, जो जागने पर भी बहुधा चलता रहता है; शांत विभ्रम — चुपचाप बुदबुदाना।

चिकित्सा और परिचर्या — उन्माद में सर्वप्रथम मूलभूत कारणों का निर्धारण अवश्य कर लेना चाहिए। यथोचित मात्रा में आवश्यक पोषक तत्वों का सेवन करना और रक्त का अनुकूल प्रवाह बनाए रखना चाहिए। रोगी का निरीक्षण ध्यान से करते रहना चाहिए, जिससे उसे उत्तेजना और आवेश के संकट से बचाया जा सके। विशिष्ट शमक (sedative) और संमोहक औषधियों का प्रयोग आवश्यकता होने पर किया जा सकता है, लेकिन ऐसा किसी योग्य चिकित्सक की देखरेख में ही सावधानीपूर्वक करना चाहिए। परिवर्तनशील और अपरिचित वातावरण उन्माद के लक्षणों को बढ़ा देता है, अतः रोगी के आसपास अधिक से अधिक सुपरिचित, घरेलू, सरल और शांत वातावरण बनाए रखने का पूरा प्रयत्न करना चाहिए। [दे० सिं०]

चित्तूर १ जिला, आंध्रप्रदेश में स्थित इस जिले का क्षेत्रफल ५,८५५ वर्ग मील और जनसंख्या १९,१८,६३८ (१९६१) है। यह दक्षिण के पठार पर बसा है। पूर्वी घाट की पहाड़ियाँ दक्षिण और पूर्व दिशा में फैली हैं। पहाड़ों में ताँबे और लोहे के खनिज मिलते हैं। घाटियों में उपजाऊ भूमि है और ढालों पर जंगल हैं। धान, मक्का, तिलहन, गन्ना तथा कपास की खेती होती है। जंगल की लकड़ियों में चंदन और लाल चंदन महत्वपूर्ण हैं।

२. नगर, मद्रास से लगभग ८५ मील पश्चिम-उत्तर-पश्चिम में स्थित चित्तूर जिले का प्रशासकीय नगर है। यातायात और व्यापार के साथ ही शिक्षा का भी क्षेत्रीय केंद्र है। सभी पर्वती पहाड़ियों से श्वेत चंदन और लाल चंदन की लकड़ियाँ मिलती हैं, जिनसे सुंदर समान बनाए जाते हैं। चावल और तेल की मिलें हैं। शराब बनाने और चमड़ा कमाने के कारखाने हैं। कालेज, सैनाटोरियम और मिशनरी ट्रेनिंग स्कूल हैं। यहाँ ग्रेनाइट पत्थर का व्यापार होता है। १७८२ ईसवी में हैदरअली इसी नगर में मरा था। यहाँ की जनसंख्या ४७,८७६ (१९६१) है। चित्तूर नाम का एक दूसरा नगर त्रिचूर से ११ मील पूर्व-उत्तर-पूर्व में स्थित है जहाँ धान कूटने, तेल पेरने और बिनौला निकालने के कारखाने हैं। कुटीर उद्योग और टाइल बनाने में भी यह स्थान प्रसिद्ध है। [कृ० मो० गु०]

चित्तौड़ दक्षिणी राजस्थान में चित्तौड़ जिले का प्रमुख प्रशासकीय और प्रसिद्ध नगर है। इसकी जनसंख्या १६,८८८ (१९६१) है। कपास, तिलहन और मक्का की खेती होती है। कपास से बिनौला निकालने का उद्योग भी यहाँ विकसित है। इसके पास ही चूने के पत्थर की खानें हैं। यह व्यापारिक केंद्र तथा क्षेत्र का प्रसिद्ध पर्यटक केंद्र है। [कृ० मो० गु०]

ऐतिहासिक—चित्तौड़ का विख्यात दुर्ग, राजस्थान में २४°५३ अक्षांश और ७४°३९ देशांतर पर स्थित है। यह जमीन से लगभग ५०० फुट ऊँचाईवाली एक पहाड़ी पर बना हुआ है। परंपरा से प्रसिद्ध है कि इसे चित्रांगद मोरी ने बनवाया था। आठवीं शताब्दी में गुहिलवंशी बापा ने इसे हस्तगत किया। कुछ समय तक यह परमारों, सोलंकियों और चौहानों के अधिकार में भी रहा, किंतु सन् ११७५ ई० के आस पास से उदयपुर राज्य के राजस्थान में विलय होने तक यह प्रायः गुहिलवंशियों के हाथ में रहा।

चित्तौड़ की गौरवगाथा सदा भारतीय जनता के मस्तक को उन्नत करती रहेगी। यहीं वीर राजपूतों ने अलाउद्दीन खिल्जी से युद्ध कर असिधारातीर्थ में स्नान किया। यहाँ महारानी पद्मिनी (दे० 'पद्मिनी') और अन्य राजपूत रमणियों ने अपने पातिव्रत्य और संमान की रक्षा के लिये जौहर की अग्नि प्रज्वलित की। सन् १३२६ के लगभग हम्मीर ने इसे पुनः हस्तगत किया और इसी के वंशज महाराणा कुंभा ने मालवे के सुल्तान महमूद को परास्त कर सन् १४४९ में कीर्तिस्तंभ (दे० 'कीर्तिस्तंभ') का निर्माण करवाया। सन् १५३५ के लगभग बहादुरशाह गुजराती के विरुद्ध युद्ध कर महारानी कर्णावती ने फिर जौहर की अग्नि प्रज्वलित की। यह चित्तौड़ का दूसरा शाका था। दुर्ग अधिक समय तक गुजरातियों के हाथ में न रहा, ३२ वर्ष बाद फिर शत्रुओं ने इसे आ घेरा। बाकी राजस्थान अकबर के सामने नतमस्तक था। केवल मेवाड़ ने ही सिर नहीं झुकाया। अक्टूबर, १५६७ से प्रायः फरवरी, १५६८ तक राजपूतों ने मुगल सेना का डटकर सामना किया किंतु दुर्ग में भोजन की कमी पड़ गई और इसी बीच मुगल सेना ने सुरंग लगाकर दुर्ग की दीवाल उड़ा दी। इसलिये दुर्गाध्यक्ष जयमल राठौर ने अंततः किले का दरवाजा खोलने का निश्चय किया। जयमल, पत्ता, कल्ला आदि वीरों ने इस अंतिम युद्ध में जो शौर्य प्रदर्शित किया उसे याद कर प्रत्येक राजस्थानी की छाती अब भी गर्व से फूल उठती है। हजारों स्त्रियों ने फिर जौहर की अग्नि में अपने शरीरों की आहुति दी। प्रजा ने भी अकबर का डटकर सामना किया था, इस-दुर्ग पर अधिकार कर अकबर ने कत्लेआम की आज्ञा दी। सन् १६१५ में इस दुर्ग पर मेवाड़ का फिर अधिकार हुआ। किंतु औरंगजेब के अत्याचार के विरोध में राजपूतों ने फिर तलवारें उठाईं तो औरंगजेब ने दो तीन साल के लिये इसे फिर हस्तगत किया। इसके बाद कोई विशेष युद्ध इस क्षेत्र में नहीं हुआ।

चित्तौड़ प्रसिद्ध विद्यास्थान भी रहा है। प्रसिद्ध जैनाचार्य हरिभद्र सूरि चित्रकूट के ही निवासी थे। खरतरगच्छाचार्य जिनवल्लभ सूरि ने भी चित्तौड़ को अपने धर्मप्रसार का केंद्र बनाया। अनेक कवियों का यह कार्यक्षेत्र रहा है। माघ के वंशज माहुक ने यहाँ हरमेखला की रचना की। अभिनव भरताचार्य परमगुरु महाराणा कुंभा ने संगीत, साहित्य आदि पर अनेक ग्रंथों की रचना यहीं की।

दुर्ग अनेक दर्शनीय और ऐतिहासिक स्थानों से परिपूर्ण है। पाडलपोल के निकट वीर बाघसिंह का स्मारक है। महाराणा का प्रतिनिधि बनकर इसने गुजरातियों से युद्ध किया था। भैरवपोल के निकट कल्ला और जैमल की छतरियाँ हैं। रामपोल के पास पत्ता का स्मारक पत्थर है। दुर्ग के अंदर जैन कीर्तिस्तंभ, महावीरस्वामी का मंदिर, पद्मिनी के महल, कालिका माई का मंदिर, कुछ प्राचीन बौद्ध स्तूप, समिद्धेश्वर का भव्य प्राचीन मंदिर जिसे राजा भोज परमार ने बनवाया था, महाराणा कुंभा का विशाल कीर्तिस्तंभ, शृंगारचौरी, अन्नपूर्णा मंदिर, मीरा का मंदिर आदि अनेक दर्शनीय स्थान हैं। कालिका माई का मंदिर किसी समय सूर्यमंदिर था। इसके स्तंभों, छत्रों और द्वारादि की सुंदर खुदाई से अनुमान किया गया है कि इसका निर्माण दसवीं शताब्दी के आस पास हुआ होगा।

चित्तौड़ से माध्यमिका नाम की प्राचीन नगरी केवल छह मील है। चित्तौड़ के आस पास प्राचीन पाषाणकाल की अनेक वस्तुएँ भी मिली हैं जिनसे अनुमान किया जा सकता है कि चित्तौड़ क्षेत्र भारतीय इतिहास के आदिकाल से आबाद रहा है। [द० श०]

चित्रक (Chimaera) कुछ उदाहरण ऐसे हैं जहाँ एक ही पौधे का एक ऊतक अपने आनुवंशिक रूप (genotype) में अन्य ऊतकों से भिन्न होता है। जिन पौधों में ऐसे ऊतक पाए जाते हैं, उन्हें कलमी, संकर या कलमज चित्रक (graft hybrid) कहते हैं। जब एक पौधे की टहनी या शाखा दूसरे पौधे की टहनी या शाखा पर कलम द्वारा लगाई जाती है, तब जिस स्थान पर दोनों पौधों के ऊतक एक दूसरे से मिलते हैं वहाँ निकलनेवाली शाखाएँ दोनों पौधों के गुणोंवाली होती हैं। ऐसी शाखाएँ कलमज चित्रक का उदाहरण हैं। कभी कभी चित्रक बिना कलम किए हुए सामान्य पौधों पर भी देखे जा सकते हैं। इस दशा में कायकोशिकाएँ उत्परिवर्तित होकर ऐसे ऊतक बनाती हैं जिनका आनुवंशिक रूप उसी पौधे के अन्य ऊतकों से भिन्न होता है।

इस संदर्भ में उन विभज्याओं (meristems) की, जिनसे स्थायी ऊतक बनते हैं, स्थिति का ध्यान रखना आवश्यक है। बाह्यतम एक पंक्तिवाली डर्मेटोजन (dermatogen) बाह्यत्वचा (epidermis) को, भूणीयनिलक (periblem) आधार ऊतक (ground tissue) को और प्लेरोम (plerome) वाहिनी ऊतक (vascular tissue) को जन्म देते हैं। पुंकेसर, स्त्रीकेसर और क्रमशः उनमें बननेवाले युग्मक बाह्य त्वचा के नीचेवाले ऊतक (sule epidermal tissue) से बनते हैं। यदि उत्परिवर्तित ऊतक (mutated tissue) बाह्यत्वचा से बनते हैं तो लैंगिग प्रजनन द्वारा उत्पन्न पौधे सामान्य ही होते हैं, क्योंकि युग्मक, जो लैंगिक प्रजनन के लिये उत्तरदायी हैं, बाह्यत्वचा के नीचेवाले ऊतक से बनते हैं।

आनुवंशिक रूप में अंतरवाले ऊतकों के पौधों में वितरण (distribution) के आधार पर तीन प्रकार के चित्रक होते हैं : (१) खंड चित्रक (Sectorial chimaera), (२) परिपूर्ण चित्रक (Periclinal chimaera) और (३) अति चित्रक (Hyperchimaera)।

टमाटर (Lycopersicum esculentum) और मकोई (Solanum nigrum) को एक दूसरे पर कलम द्वारा लगाकर चित्रक उत्पन्न किए जा चुके हैं। कटी हुई सतह पर कलम जुड़ जाने के पश्चात् शाखा को जुड़े हुए बिंदु से होते हुए फिर काट दिया गया। परिणामस्वरूप इस सतह से कई कलियाँ निकलने लगीं। दोनों पौधों की कलमें जुड़ने की जगह के ऊतक मिश्रित प्रकार के देखे गए। जिस जगह से नई कलियाँ निकलती हैं उसके आधार पर चित्रक खंड या परिपूर्ण हो सकते हैं। जहाँ भिन्न भिन्न प्रकार के ऊतक पौधों के तने या पत्तियों में विभिन्न खंड ग्रहण करते हैं, ऐसे चित्रक को खंड चित्रक कहते हैं। इस चित्रक में ऊतक एक दूसरे को घेरते नहीं। यदि कटी हुई सतह से नई कलियाँ बाह्यत्वचा के नीचेवाले ऊतक से इस प्रकार निकलें कि चारो तरफ से घिरे ऊतक एक तरह के और घेरनेवाले ऊतक दूसरी तरह के हों, तो चित्रक परिपूर्ण चित्रक कहा जाता है।

मिर्च (Capsicum annuum) के बीजों को कॉल्चिसीन (Colchicine) का जलीय विलयन देने से बहुगुणता (pohyploidy) उत्पन्न की गई है। इन बीजों से उगे हुए कुछ पौधे चतुर्गुणित (tetraploids), कुछ परिपूर्ण गुणित (periclinalploids) चित्रक, जिनकी बाह्य त्वचा चार गुणित और परागकरण दो गुणित होते हैं और बाकी सब द्विगुणित होते हैं। गुणित चित्रकों से उत्पन्न पीढ़ी सामान्य पौधों की होती है, क्योंकि केवल बाह्यत्वचावाली कोशाओं में ही चार गुणित गुणसूत्र (chromosomes) होते हैं और बाह्यत्वचा की नीचेवाली कोशाओं में द्विगुणित गुणसूत्र पाए जाते हैं। चूँकि युग्मक (gametes) बाह्य त्वचा के नीचेवाली कोशाओं से बनते हैं, पौधे जो गुणित चित्रक से उत्पन्न होंगे, द्विगुणित ही होंगे।

कुछ दशाओं में दो विभिन्न प्रकार के ऊतक मिश्रित रूप से बनते रहते हैं। इस तरह विभिन्न किस्म की कोशाएँ किसी निश्चित भाग में ही न होकर ऊतक में इधर उधर बिखरी रहती हैं। ऐसी व्यवस्थावाले पौधे अतिचित्रक के उदाहरण हैं।

पूर्ण वेष्टित चित्रकों के बीज से उगनेवाले पौधे चित्रौकिक गुणवाले नहीं होते। यह स्वाभाविक है, क्योंकि युग्मक बाह्य त्वचा के नीचे स्थित कोशाओं से बनते हैं और बीज इन्हीं कोशाओं के आनुवंशिक का अनुसरण करते हैं। इसी प्रकार जड़ के कटे हुए टुकड़ों से उत्पन्न पौधे अपने आनुवंशिक रूप में आंतरिक ऊतकों से मिलते जुलते हैं, क्योंकि जड़ों की उत्पत्ति अंतर्जात (endogenous) होती है। शाखाओं की उत्पत्ति बहिर्जात (exogenous) होने से चित्रक की शाखाओं के टुकड़ों से उगे पौधे चित्रौकिक गुणवाले हो सकते हैं।

अतिचित्रक के बीज या जड़ के कटे टुकड़ों से उगनेवाले पौधे विभिन्न प्रकार के होते हैं। [रा० श्या० अं०]

चित्रकला दे० 'ललित कला'।

चित्रकाव्य 'ध्वन्यालोक' में जिसे 'चित्रकाव्य' कहा है, वही 'काव्यप्रकाश' का अवरकाव्य (अवम काव्य दे० 'काव्य') है। स्फुट (स्पष्ट) व्यंग्यार्थ (चाहे वह मुख्य हो या गुणीभूत) का अभाव रहने पर शब्दालंकार अर्थालंकार आदि से, जिसमें शब्दवैचित्र्यमूलक या अर्थवैचित्र्यमूलक कोरे चमत्कार की सृष्टि की जाती है, उसे 'चित्रकाव्य' कहते हैं। इसमें रस-भावादि काव्य के मर्मस्पर्शी तत्वों के न रहने से अनुभूति की गहराई का अभाव रहता है; अनुप्रास, यमक या उपमा, रूपक आदि की कोरी शब्दार्थ क्रीड़ा ही मुख्य हो उठती है। शब्दों या अर्थों को लेकर खिलवाड़ या व्यायाम ही यहाँ अधिकतर अभिप्रेत है। इन्हीं आधारों पर इस काव्य विधा के दो भेद माने गए हैं—(१) शब्दचित्र और (२)

अर्थचित्र। जहाँ (स्फुट व्यंग्य के अभाव में) अनुप्रास, यमकादि शब्दालंकारों या ओजप्रसादादि गुणव्यंजक वर्णों से शब्दगत चमत्कार प्रदर्शित होता है, उसे 'शब्दचित्र' कहते हैं और जहाँ उपमा-उत्प्रेक्षादि ऊहात्मक अर्थालंकारों से अर्थगत क्रीड़ापरक चमत्कार लक्षित होता है, उसे 'अर्थचित्र' कहते हैं। इनमें भावपूर्ण एवं रमणीयार्थ की अवहेलना करते हुए क्रीड़ावृत्ति पर ही बल दिया जाता है। 'शब्दचित्र' में वर्णाडंबर के माध्यम से भी चित्रसर्जन होता है—जैसे हिंदी के 'अमृतध्वनि' नामक काव्यरूप में। दंडी ने स्वर-स्थान वर्ण-नियम-कृत वैचित्र्यमूलक कुछ शब्दालंकारों की चर्चा करते हुए दो तीन चार व्यंजन, स्वर आदि वाले चित्रकाव्यभेद का भी निर्देश दिया है। इससे भी आगे बढ़कर शब्दक्रीड़ा का एक विशिष्ट प्रकार है जिसे प्रायः 'चित्रबंधकाव्य' कहते हैं और जिसमें खड्ग, पद्म, हल आदि की रेखाकृतियों में बद्ध, सप्रयास गढ़े पद्य मिलते हैं। हृदयस्पर्शिता से बहुत रहित होने से इन्हें काव्य नहीं पद्य मात्र कहना चाहिए। 'रुद्रट' आदि ने इसे ही 'चित्रालंकार नामक शब्दालंकार का एक भेद कहा है। 'अर्थचित्र' में मुख्यतः ऊहामूलक, कष्टकल्पनाश्रित, क्रीड़ापरक एवं असहज अर्थवैचित्र्य मात्र की उद्‌भावना की जाती है। अतः वे भी सहृदय हृदय के संवादभागी न होकर विस्मयपूर्ण कुतूहल के सर्जक होते हैं। 'प्रहेलिका' और 'दुष्ट प्रहेलिका' के भेद भी चित्रकाव्य ही हैं। इनमें भी सप्रयास शब्दार्थ क्रीड़ा से कुतूहलसर्जना की जाती है। तात्पर्य यह कि चित्रकाव्य की प्रेरणा कवि के भावाकुल अंतस्तल से नहीं वरन् क्रीड़ापूर्ण एवं वैचित्र्यसूचक कुतूहलवृत्ति से मिलती है। अतः कविहृदय की भावसंपत्ति से सहज विलास का उन्मेष यहाँ नहीं दिखाई देता।

[क० प० त्रि०]

चित्रगर्दभ (जेबरा) घोड़े के आकार के शफवर्गीय स्तनपोषी जीव हैं, जिनके शरीर पर खड़ी खड़ी धारियाँ पड़ी रहती हैं। यह जानवर अफ्रीका में पाया जाता है, जहाँ इसकी तीन जातियाँ मिलती हैं।
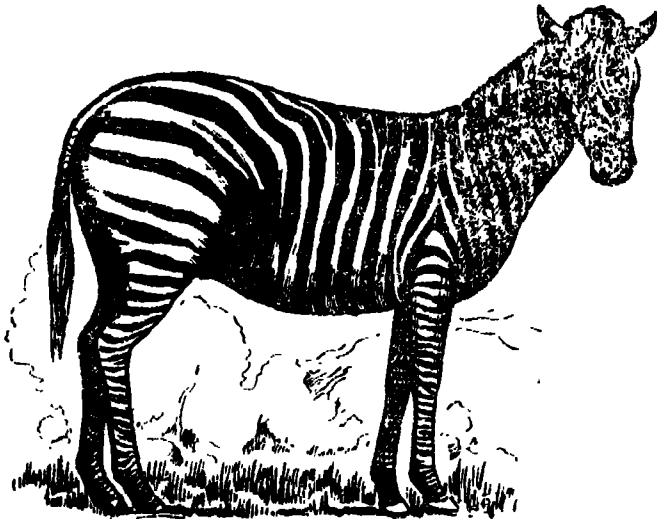
पहले किस्म के चित्रगर्दभ का वैज्ञानिक नाम "इक्वेस जेबरा" है, जो अफ्रीका के दक्षिण-पश्चिमी भाग में पाया जाता है, दूसरा "इक्वेस बरचली" वहाँ के दक्षिण-पूर्वी और तीसरा "इक्वेस ग्रेवी" उत्तर-पूर्वी भागों में मिलता है।

मानव सभ्यता के प्रसार के साथ साथ जेबरों की संख्या दिन प्रति दिन कम होती जा रही है और यदि यही हालत रही तो कुछ दिनों में इनका संसार से एकदम लोप हो जाने की आशंका है।

पहले किस्म के चित्रगर्दभ के खड़े होने पर कंधे तक की ऊँचाई भूमि से चार फुट के लगभग रहती है। इसकी त्वचा सफेद रहती है, जिसपर खड़ी खड़ी काली चौड़ी पट्टियाँ पड़ी रहती हैं। चेहरे का निचला भाग चटक भूरे रंग का रहता है और पेट तथा जंघों के भीतरी भाग के अलावा इसका सारा शरीर धारियों से भरा रहता है। इनमें टाँगों पर की धारियाँ पतली और आड़ी आड़ी रहती हैं। ये इसके खुर तक चली जाती हैं।

दूसरी किस्म के चित्रगर्दभ का कद पहले से कुछ ऊँचा होता है, किंतु उसके कान पहले से छोटे रहते हैं। इसके अयाल के बाल पहले से लंबे और दुम उससे घनी रहती है। इसकी सफेद टाँगों को छोड़कर सारे शरीर का रंग हलका बादामी रहता है, जिसपर गाढ़ी कत्थई या काली पट्टियाँ पड़ी रहती हैं। इसकी पीठ के पिछले भाग पर की धारियों में पहले की अपेक्षा कुछ भेद रहता है।

तीसरी किस्म का चित्रगर्दभ पहलेवाले जेबरे से कुछ बड़ा और दूसरे से कुछ छोटा होता है। इसके कान प्रथम दोनों से लंबे और सफेद शरीर पर की काली धारियाँ प्रथम दोनों से पतली और घनी रहती हैं।

जेबरों को घोड़ों की तरह पालतू करने का बहुत उद्योग किया गया, किंतु इसमें मनुष्य को बहुत थोड़ी ही सफलता प्राप्त हो सकी। ये इतने जंगली होते हैं कि अनायास ही बुरी तरह काटने की कोशिश करते हैं। इनकी इस आदत को छुड़ाने में मनुष्य को सफलता नहीं मिली। ये बहुत ही भड़कनेवाले जंतु है, जिन्हें हिंस्र जीवों से अपना बचाव करने के लिये हमेशा चौकन्ना रहना पड़ता है और इतना भारी भरकम शरीर लेकर अपनी आत्मरक्षा के लिये बहुत तेज भागना पड़ता है। इनकी सूँघने और सुनने की शक्ति भी बहुत तेज होती है। इनका मुख्य भोजन घास पात है। जेबरों की खाल काफी कीमती होती है। इक्वेस बरचली का मांस अफ्रीका के आदिवासी बड़े स्वाद से खाते हैं।

[सु० सिं०]

चित्रगुप्त यमलोक के लिपिक जो हर मनुष्य के पाप पुण्य का लेखा-जोखा रखते हैं। ब्रह्मा की काय (काया) से उत्पन्न होने के कारण ये कायस्थ कहे गए हैं, तथा इन्हें कायस्थों का आदिपुरुष कहा गया है। कायस्थों की विभिन्न शाखाओं के प्रवर्तक नागर, माथुर, गौड़, श्रीवास्तव तथा सेन आदि इनके पुत्र कहे जाते हैं। ये कलम और दावात लिए हुए पैदा हुए थे। कायस्थ लोग यमद्वितीया को इनकी पूजा करते हैं। भीष्म पितामह ने इन्हीं की पूजा करके इच्छामृत्यु का वरदान प्राप्त किया था। एक मत से ये चौदह यमराजों में से एक हैं।

[भो० ना० ति०]

चित्रदुर्ग (Chital droog) १. स्थिति : १४° १५' उ० अ० ७६° २८' पू० दे०। जिले का क्षेत्रफल ४,१८५ वर्ग मील तथा जनसंख्या १०,६४,२८४ (१९६१) है। यहाँ वर्षा कम होती है और वेदमती नदी ग्रीष्मऋतु में सूख जाती है। यहाँ कपास और धान की खेती तथा मैंगनीज का उत्खनन होता है। जिले में ३,८०० फुट तक ऊँची पर्वत-श्रेणियाँ हैं। दावणगेरे नगर में सूती वस्त्र के कारखाने एवं अनाज की मंडी है।

२. नगर, जिले का प्रशासकीय नगर है इसकी जनसंख्या २३,९६६ (१९६१) है। यह होलकर रेलवे स्टेशन से २४ मील दूर है। यहाँ कपास का उद्योग प्रमुख है। यहाँ कन्यागो अम्मा का प्रसिद्ध मंदिर है। नगर वेदमती नदी की घाटी में स्थित है। हैदरअली तथा टीपू सुल्तान की बनवाई हुई दृढ़ प्राचीर आज भी इसके चारों ओर है।

३. ताल्लुक, इस ताल्लुक में पर्वत शृंखला है जिसके दोनों ओर समतल मैदान है, मिट्टी काली और लाल है जिनमें कम पानी वाली फसलें और धान उपजते हैं। [नि० कौ०]

चित्ररथ भारतीय पुराणों में चित्ररथ नाम के कई व्यक्ति मिलते हैं: (१) राजा द्रुपद के एक पुत्र। (२) अंगदेश के राजा जो धर्मरथ के पुत्र थे। (३) राजा दशरथ के एक मित्र, जिनका एक अन्य नाम 'रोमपाद' था। ये निःसंतान थे। इनकी निःसंतानता दूर करने के लिये दशरथ ने अपनी कन्या शांता इन्हें दत्तक रूप में दे दी थी, जिसका विवाह इन्होंने शृंगीऋषि से किया। इसके बाद ऋषियों के परामर्श से इन्होंने पुत्रेष्टि यज्ञ किया, जिसके परिणाम स्वरूप इन्हें चतुरंग नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। [मो० ना० ति०]

चित्रलिपि दे० लिपि।

चित्रलेखा पौराणिक बाणासुर की पुत्री, उषा की सहेली एक अप्सरा। यह चित्रकला में निपुण थी। इसने उषा को उसके प्रेमी अनिरुद्ध का चित्र बनाकर दिखाया था और उसे उषा से ला मिलाया था।

चित्रशाला वह विशेष भवन जिसमें विभिन्न कलाकृतियाँ (चित्र तथा मूर्तियाँ आदि) संरक्षित तथा प्रदर्शित की जाती हैं। प्रायः कलासंग्रहालय (अं० म्यूजियम) का प्रयोग चित्रशाला के लिये होता रहा है किंतु इसके लिये चित्र संग्रहालय अथवा चित्रशाला (आर्ट म्यूजियम या आर्ट गैलरी) अधिक उपयुक्त शब्द है और यही अधिक प्रचलित है।

चित्रशालाएँ दो प्रकार की हो सकती हैं—सार्वजनिक और व्यक्तिगत। चित्रशाला प्रायः कलाकारों की अपनी कृतियों का प्रदर्शनकक्ष होता है। आधुनिक काल के पूर्व राजमहलों में भी चित्रशालाएँ होती थीं। मंदिर तथा गिरजाघरों में भी धार्मिक चित्र तथा मूर्तियाँ प्रदर्शित की जाती थीं। अजंता, एलोरा, बाघ, सीग्रिया इत्यादि तथा मिस्र, चीन, लंका और यूरोप में तमाम धार्मिक भवन तथा गिरजाघर धार्मिक चित्रशालाएँ हैं। प्राचीन काल में प्रसिद्ध कलाकार मंदिर, गिरजाघर, धार्मिक भवन की दीवारों तथा छतों पर चित्र बनाया करते थे। भारत में अजंता ऐसी ही एक अति प्राचीन चित्रशाला है। मध्ययुगीन भारतीय मंदिरों की दीवारों पर पौराणिक या धार्मिक चित्रावलियाँ पाई जाती हैं। उस समय के राजप्रासादों में दीवारों पर बने चित्र देखे जा सकते हैं। आज भी मंदिरों की दीवारों पर चित्रांकन किया जाता है और चित्र लगाए जाते हैं। वर्तमान काल में धनी मानी व्यक्तियों और सुरुचिसंपन्न नागरिकों द्वारा प्रसिद्ध कलाकारों के चित्र संग्रहीत किए जाते हैं।

कला संग्रहालय अधिकांशतः ऐसे हैं जिनमें चित्रशालाएँ भी होती हैं पर ऐसे भी हैं जिनमें चित्र नहीं भी हो सकते। वह मात्र ऐतिहासिक महत्व की, दुर्लभ और विलक्षण वस्तुओं का पुरातत्व संग्रहालय भी हो सकता है। अब तो विज्ञान, इतिहास, भूगोल, यहाँ तक कि साहित्य आदि विषयों के भी संग्रहालय बनने लगे हैं जिनमें तत्संबंधी विषयों की ऐतिहासिक ज्ञानवर्धक, विचित्र, विरल और उपयोगी वस्तुओं का संग्रह होता है। पहले यूरोप तथा अन्य पाश्चात्य देशों के अधिकतर संग्रहालयों में चित्रशालाएँ भी होती थीं। आज भी संसार भर में अधिकतर चित्रशालाओं में संग्रहालयों के भाग हैं। किंतु स्वतंत्र चित्रशालाएँ तथा चित्र कलावीथियाँ (आर्ट गैलरीज) भी निर्मित हो गई हैं। कलासंग्रहालयों में प्रदर्शित सामग्रियाँ क्रीत या प्रदत्त होती हैं। ये कलासंग्राहकों तथा कला मर्मज्ञों द्वारा प्राप्त होती रही हैं। अध्ययन एवं सुरक्षा के निमित्त ऐसी वस्तुओं के संग्रह तथा प्रदर्शन की प्रवृत्ति सार्वभौम है।

अंग्रेजी का म्यूजियम शब्द, जिसके हिंदी पर्याय संग्रहालय, कलासंग्रहालय, कलाकक्ष आदि हैं, म्यूजेज से बना है। म्यूज का अर्थ होता है गीत या कलाओं की अधिष्ठात्री देवी। ग्रीक भाषा में 'म्यूजियन' उस स्मारक को कहते थे जो ग्रीक पुराणों की म्यूजज (देवियों) को अर्पित होता था। तीसरी शताब्दी ईसा के पूर्व सिकंदरिया और मिस्र में तोलेमी (Ptolemi) राजाओं के राजमहलों के एक भाग को, जिसमें सिकंदर महान के ग्रंथागार की सामग्रियाँ रखी जाती थीं, 'म्यूजियन' कहा जाता था। उसे विद्याभवन भी कहते थे। यद्यपि उस समय कला सामग्रियों के संग्रह को म्यूजियम नहीं कहते थे तथापि उसका तात्पर्य संग्रहालय होता था और उसे ज्ञानार्जन का साधन समझा जाता था। उसी प्रकार मध्यकालीन गिरजाघरों के संग्रहालयों को आध्यात्मिक तथा कलात्मक प्रेरणा का स्रोत समझा जाता था। गिरजाघरों की दीवारों, खिड़कियों तथा छतों पर भी धार्मिक कथाओं का चित्रांकन तथा अलंकरण होता था और उससे जनसाधारण को शिक्षा मिलती थी। वेनिस में संट मार्क, ड्रेन का गिरजाघर, जर्मनी तथा पेरिस की नूत्र में अपोलो की वीथी (गैलरी) उसी ढंग के कलासंग्रहालय हैं।

१६वीं शताब्दी में इटली में 'म्यूजियन' के स्थान पर 'म्यूजिओ' शब्द का प्रयोग हुआ। पुनर्जागरणकालीन इटली के राजकुमारों तथा शाही परिवार के समृद्ध लोगों में कलात्मक सामग्रियों के संग्रह तथा प्रदर्शन की भावना उत्पन्न हुई और उन्होंने उन्हें कलाकक्षों में सजाना आरंभ किया। इनमें फ्लोरेंस का मदीसी राजघराना, मांटुआ का गोंजागा परिवार, फरेरा राजघराना, उर्बीनो का मोंटेफेल्ट्रो तथा गूबियो राजघराने इस प्रकार के कलात्मक संग्रहालय के संरक्षण के लिये प्रसिद्ध हैं और यहीं से म्यूजियम का महत्व आरंभ हो जाता है। बाद में विद्वानों में भी चित्र तथा कलात्मक सामग्रियों के चयन, संकलन और संग्रह का चाव बढ़ा।

पुनर्जागरणकालीन इतालवी 'म्यूजिओ' में अधिकतर धातु की की बनी कलात्मक वस्तुएँ, जैसे मेडल, ताम्रपट्टिकाएँ, महान लोगों के उत्कीर्ण व्यक्तिचित्र अथवा वस्तुचित्र ही होते थे। इनमें बड़े बड़े धार्मिक कथाचित्रों के रखने के लिये पर्याप्त स्थान नहीं होता था। इन्हें लंबी लंबी दीर्घाओं (गैलरीज) में रखना पड़ता था। १६वीं शताब्दी तक ऐसे चित्रों के लिये विशेष रूप से राजमहलों में कलावीथियाँ (आर्टगैलरीज) बनवाने की प्रथा चल पड़ी और तभी से चित्रशाला या "आर्टगैलरी" का रूप स्पष्ट होने लगा। सेबास्तियानो सेर्लिओ पहला व्यक्ति था जिसने १६वीं शताब्दी में ऐसी विशेष दीर्घाओं के महत्व पर जोर दिया। सन् १५८१ में बर्नार्डो बोंटालेंटी ने ऐसी ही एक सुनियोजित वीथी फ्लोरेंस में यूफिज़ी राजमहल की ऊपरी मंजिल में बनवाई थी जो आज भी विख्यात है। बाद में योरोप के अन्य तमाम राजघरानों में इस प्रकार की चित्रशाला बनवाने की प्रथा सी चल गई।

फ्रांस की क्रांति के पश्चात् कलासंग्रहालय (म्यूजियम) या चित्रवीथी (आर्ट गैलरी) केवल राजघरानों का शौक न होकर जनसाधारण की शिक्षा तथा मनोरंजन का साधन बनी और इसकी व्यवस्था तथा संरक्षण का कार्य एक निश्चित योजना के आधार पर होने लगा। बाद में संग्रहीत कलात्मक वस्तुओं तथा चित्रों के वर्गीकरण पर ध्यान गया और उनको रचनाकाल के क्रम से अलग अलग कोटि में रखकर अलग अलग कक्ष में सजाया जाने लगा। इस प्रकार चित्रशालाएँ पुरानी परंपराओं, सामाजिक जीवन, रीति रिवाज, संस्कृति तथा सभ्यता के अध्ययन का केंद्र बन गईं।

फ्रांसीसी राज्यक्रांति के पश्चात् राजभवनों की कलात्मक सामग्रियाँ विभिन्न लोगों में बँट गईं। तब तक लंदन में कलात्मक वस्तुओं के संग्रह की प्रथा जोरों से चल पड़ी थी। फलतः फ्रांस से अनेक बहुमूल्य तथा उत्कृष्ट कलाकृतियाँ लंदन तथा योरोप के बाजारों में बिकने लगी थीं। इसे रोकने के लिये फ्रांस सरकार ने राजकीय संग्रहालय तथा चित्रशाला की योजना बनाई ताकि देश की अनुपम कलाकृतियों को राष्ट्रीय निधि के रूप में सुरक्षित रखा जा सके। इस दृष्टि से एलिकजांद्रे लेनोआ के नेतृत्व में वहाँ एक आयोग गठित हुआ और 'म्यूजे नेशनल दे मानुमेंट्स फ्रांसेज' नामक प्रथम राष्ट्रीय संग्रहालय की स्थापना हुई। तत्पश्चात् संसार के अन्य प्रगतिशील देशों में भी राष्ट्रीय संग्रहालय तथा चित्रशालाएँ स्थापित होने लगीं।

आरंभ में कला संग्रहालय के लिये प्राचीन काल के प्रसिद्ध कलात्मक राजमहल चुने जाते थे। इस प्रकार के संग्रहालयों में लूव्र, लक्जेमबर्ग, रकुनि तथा कार्नावेलेट (पेरिस), बेलवीडियर (वियना) इत्यादि प्रसिद्ध हैं। दिल्ली में जयपुर हाउस तथा बड़ौदा, हैदराबाद इत्यादि कई भारतीय नगरों में इस तरह के संग्रहालय हैं। अमरीका में इसाबेला, स्टुअर्ट गार्डनर संग्रहालय (बोस्टन — मास) प्रसिद्ध हैं। रूस और चीन में भी तमाम पुराने राजमहलों को संग्रहालयों में परिवर्तित कर दिया गया है। १९वीं शताब्दी में अधिकतर दुमंजिले संग्रहालय बनाए गए और भवन आवश्यकतानुसार कायदे से सुंदर ढंग से बनाए जाने लगे। आधुनिक काल में तो बड़े ही विचित्र ढंग की प्रभावशाली चित्रशालाएँ बनाई गईं। न्यूयार्क में अरूपवादी चित्रकला का संग्रहालय (१९४५) बना जो अपने ढंग का अद्भुत है। कला संग्रहालय के निर्माण में हमेशा इधर ध्यान दिया जाता है कि भवन ऐसे ढंग से बनाया जाय कि दर्शक क्रमशः एक ओर से देखता हुआ दूसरी ओर निकल जाय और कुछ अनदेखा न रह जाय। इसीलिये शुरू में गोलाकार कलासंग्रहालय बनाने का भी प्रचलन हुआ। पेरिस में पाल नेलसन ने ऐसे ही संग्रहालय भवन की डिजाइनें बनाईं। संग्रहालय में गोलाकार पर्यटन की व्यवस्था आज भी अच्छी समझी जाती है। इस प्रकार के प्रसिद्ध कलासंग्रहालय बर्लिन, म्यूनिख, ब्रिटिश म्यूजियम, नेशनल गैलरी ऑव लंदन, ड्रेस्डेन म्यूजियम, वियना तथा मार्सेई के म्यूजियम दर्शनीय हैं। अब तो सभी देशों में इस प्रकार के अनेक संग्रहालय बन गए हैं।

राष्ट्रीय चित्रशालाएँ — राष्ट्रीय चित्रशाला स्थापित करने का सर्वप्रथम प्रयास फ्रांसीसी क्रांति के पश्चात् आरंभ हुआ। फ्रांस में नेपोलियन ने सर्वप्रथम एक पुराने राजमहल लूव्र में राष्ट्रीय चित्रशाला स्थापित करवाई जिसे बाद में 'म्यूजे नेपोलियन' भी कहा गया। नेपोलियन ने अपने योरोपीय हमलों में जो कुछ कलात्मक सामग्री उपलब्ध की थी वह इस संग्रहालय में रखी गई। इस प्रकार पहली बार साधारण जनता को एक ही भवन में संसार भर की उत्कृष्ट कलात्मक सामग्री देखने को मिली। नेपोलियन ने विभिन्न देशों की सर्वोत्कृष्ट कलात्मक सामग्रियाँ उपलब्ध की थीं। यह बात उन देशों को बहुत ही खटकती थी। इसीलिये बाद में सभी देशों ने यह यत्न किया कि उनकी लूटी हुई कलात्मक वस्तुएँ लौटा दी जाँय। इसी प्रयास से उन्हें अपने यहाँ भी राष्ट्रीय कलासंग्रहालय स्थापित करने की प्रेरणा मिली।

चित्रशाला का वर्गीकरण—पहले के संग्रहालयों में सामंतों और राजाओं की व्यक्तिगत रुचि की सामग्रियाँ ही होती थीं। किंतु जब राष्ट्रीय संग्रहालय बनने लगे तब लोगों का ध्यान इस ओर भी गया कि सारी कलात्मक सामग्री को ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक दृष्टि से इस प्रकार वर्गीकृत किया जाय कि उनके सहज विकासक्रम का पता चल सके। वियना में कलात्मक सामग्रियों के निर्देशक क्रिश्चियन वान मिचेल ने राष्ट्रीय संग्रहालय को सर्वप्रथम इसी ढंग पर सजाया और यह परिपाटी चल पड़ी। फलतः लंदन (१८२४), बर्लिन (१८३०) म्यूनिख (१८३६) तथा अन्य कई नगरों में इस प्रकार के राष्ट्रीय संग्रहालय बने। १९वीं शताब्दी में धीरे धीरे योजनाबद्ध संग्रहालय का विकास होता गया। इंग्लैंड में विक्टोरिया तथा अलबर्ट संग्रहालय बड़े ही सुनियोजित ढंग से हर प्रकार की कला को उनके विकासक्रम से सजाया ताकि उनका वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया जा सके। प्रागैतिहासिक काल से लेकर पूर्व और पश्चिम की आधुनिकतम तमाम कलात्मक सामग्रियों को क्रम से संयोजित किया गया। यहाँ तक कि आदिवासियों की कला तथा लोककला को भी उनके विकासक्रम से प्रदर्शित किया जाने लगा।

इस प्रकार संग्रहालय का अपना एक विज्ञान बन गया और उसमें निरंतर प्रगति होती गई। संग्रहालय के लिये विशेषज्ञ तैयार होने लगे जिन्हें 'क्यूरेटर' कहा जाता है। विशेषज्ञों ने संग्रहालय को और भी निखारने के लिये शुरू में उन्हें चार विभागों में विभक्त किया : (१) कला, (२) इतिहास, (३) उद्योग और विज्ञान तथा (४) प्राकृतिक इतिहास (मेमालोजी, नृतत्वविज्ञान)। कला से संबंधित संग्रहालय के अंतर्गत ही चित्रशाला या आर्ट गैलरी आती है।

बीसवीं सदी की चित्रशालाएँ — २०वीं शताब्दी में संग्रहालयों के भवन और भी वैज्ञानिक बनने लगे हैं। चित्रशालाएँ कालात्मक सामग्री के अनुरूप निर्मित की जाने लगी हैं ताकि देखने और समझने में सुविधा हो। विभिन्न काल की कलाकृतियों, संबंधित काल के भवनों की तरह की चित्रशालाएँ बनवाकर सजाई जाती हैं। यहाँ तक कि चित्रों के प्रमाण के अनुरूप उनके लिये भवन बनाए जाते हैं और उन्हें देखने के लिये कम या अधिक प्रकाश की व्यवस्था की जाती है। प्रकाश की व्यवस्था संग्रहालयों के लिये महत्वपूर्ण आवश्यकता है। अब तो संग्रहालय के साथ साथ व्याख्यानकक्ष, पुस्तकालय, परिवर्तनीय प्रदर्शनीकक्ष, अध्ययनकक्ष, अध्यापनकक्ष, उधार दी जानेवाली सामग्रियों का भवन, उधार मँगाई गई कलाकृतियों का भवन, आधुनिक चित्रकला कक्ष इत्यादि तमाम चीजें जुड़ती जा रही हैं। धीरे धीरे संग्रहालय इतना बड़ा होता जा रहा है कि दर्शक का मन ऊबने लगा है। इसीलिये अब इसपर विशेष ध्यान दिया जाता है कि कलासंग्रहालय का वातावरण अधिक से अधिक रुचिकर बनाया जाय।

विभिन्न कक्षों की विभिन्न बनावट रखी जाती है, उनमें विभिन्न रंग की पुताई होती है, उनका आकार भिन्न भिन्न होता है, बाग बगीचे, प्रदर्शनमंजूषा (शो केसेज) तथा अन्य रुचिकर सामग्रियों से उन्हें आकर्षक बनाया जाता है। सामग्रियों की पुस्तकाकार सूची दर्शकों को दी जाती है ताकि वे उनसे परिचित हो सकें।

फ्रांस — फ्रांस की अधिकतर अच्छी चित्रशालाएँ पेरिस में हैं। पेरिस में लूव्र संसार की उत्कृष्टतम चित्रशाला मानी जाती है। समय समय पर उसे व्यक्तिगत संग्रहकर्ताओं से मूल्यवान् कलासामग्रियाँ प्राप्त होती रही हैं और इस प्रकार यह अत्यंत समृद्ध चित्रशाला बन गई है। सन् १९०० में वर्ल्ड फेयर (विश्व मेला) के सिलसिले में जो राजमहल तथा इमारतें उपलब्ध हुई थीं उन्हीं में अधिकतर कलासामग्रियाँ रखी गईं। बाद में सभी जगह की अत्यंत महत्वपूर्ण सामग्रियाँ लूव्र में रखी जाने लगीं। नई चित्रशालाओं के लिये भी उपयुक्त भवन बनवाए गए, जैसे पेलेस दु टोक्यो। आधुनिक चित्रकला के लिये अलग से 'म्यूज़े नेशनल दि आर्ट' बनाया गया। द्वितीय महायुद्ध के बाद दीजों, लो हाव्रे, लियोन, नोस, राइम इत्यादि में भी नए संग्रहालय बने और आधुनिक विधि से उन्हें संयोजित किया गया। फ्रेंच चित्रशालाएँ अफ्रीका, अलजीरिया तथा ट्यूनिस में भी बनाई गईं।

फ्रांस की महत्वपूर्ण चित्रशालाएँ पेरिस में म्यूज़े गिमेट, म्यूज़े दु लूव्र, म्यूज़े नेशनल दे आर्ट माडर्न तथा दीजों, लिले, लियों, रुआं, स्ट्रासबर्ग और टूर्स में म्यूज़े देज बूज़ आर्ट्स; वार्सेई में म्यूज़े नेशनल द हिस्ट्री दे फ्रांस हैं।

अमरीका (संयुक्त राज्य) — बेंजामिन सिलीमैन (जूनियर) के प्रयास से अमरीका में चित्रशालाओं का प्रादुर्भाव हुआ। इससे पहले भी कई व्यक्तिगत संग्रहकर्ताओं, जैसे हेनरी ऐबट टामस जेफ़र्सन इत्यादि द्वारा संग्रहीत चित्र म्यूज़ियमों के संग्रहालय को प्राप्त हो चुके थे। बाद में विलियम ब्लाजेट, जे० जे० जार्विस; हेनरी टकरमैन तथा चार्ल्स जी० पर्किस के प्रयास से चित्रशालाएँ बनाने का काम आगे बढ़ा। १८७० में न्यूयार्क, बोस्टन (मास) में चित्रशालाएँ बनीं। इसके पश्चात् अमरीका में विशेष ढंग की चित्रशालाओं का निर्माण हुआ जैसे ह्विटनी में अमरिकी कला तथा आधुनिक कला के संग्रहालय, गुगेनहीम में अरूपवादी कला का संग्रह इत्यादि। मेट्रोपोलिटन संग्रहालय में सभी काल के चित्र हैं। बोस्टन में मध्यकाल तथा सुदूरपूर्व के चित्र, शिकागो में प्रभाववादी (इंप्रेशनिस्ट) ढंग के चित्र, क्लीवलैंड में धार्मिक चित्र, फिलाडेलफिया में उच्च चित्र इत्यादि का अलग अलग विशेष संग्रह प्रस्तुत किया गया।

अमरीका की सबसे महत्वपूर्ण चित्रशालाएँ बाल्टीमोर, बोस्टन, शिकागो, सिनसिनाटी, क्लीवलैंड, डेट्रॉएट, कैंजस सिटी, लॉस एंजेल्स, मिनेपोलिस, न्यूयार्क, फिलाडेलफिया, सान फ्रांसिस्को, सेंट लुई, टोलेडो, वाशिंगटन तथा वार्सेस्टर में हैं। वैसे अब अमरीका के अन्य छोटे नगरों में भी अच्छे कलासंग्रहालय बन गए हैं और अनेक महत्वपूर्ण व्यक्तिगत संग्रहालय भी हैं। इस समय चित्रशालाओं की दृष्टि से अमरीका सबसे अधिक समृद्ध है।

ग्रेट ब्रिटेन — ग्रेट ब्रिटेन में १८०३ से कलासंग्रहालयों को विशेष रूप से सुगठित किया गया। इनमें नेशनल गैलरी, विक्टोरिया ऐंड एलबर्ट म्यूज़ियम तथा टेट गेलरी प्रमुख हैं। वैसे १८७५ में ही जान रस्किन ने शेफील्ड म्यूज़ियम को आधुनिक ढंग से सुगठित करने का प्रयास किया था। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् कैंब्रिज में फिट्ज़ विलियम म्यूज़ियम तथा कार्डिफ में नेशनल म्यूज़ियम ऑव वेल्स तथा ग्लासगो, बरमिंघम, लीड्स, लिवरपूल और मैनचेस्टर की चित्रशालाओं को भी १९२० तक अच्छी तरह सुसज्जित कर दिया गया। बृटिश कामनवेल्थ के अंतर्गत कनाडा में ओटावा की चित्रशाला, आस्ट्रेलिया में मेलबोर्न का नेशनल गैलरी ऑव विक्टोरिया, यूरोपीय चित्रकला के लिये दर्शनीय हैं। अफ्रीका में केप टाउन तथा जोहांसबर्ग की चित्रशालाएँ, भारत में प्रिंस ऑव वेल्स म्यूज़ियम, बंबई, द नेशनल म्यूज़ियम ऑव इंडिया, नई दिल्ली, तथा बड़ौदा म्यूज़ियम बड़े ही महत्वपूर्ण हैं।

जापान में टोकियो तथा क्योटो की चित्रशालाएँ, तुर्की में इस्तंबूल तथा अंकरा की चित्रशालाएँ और मिस्र में काहिरा की चित्रशाला महत्वपूर्ण हैं।

ब्रिटेन के अन्य महत्वपूर्ण कलासंग्रहालय तथा चित्रशालाएँ हैं बर्नार्ड कैसल का बोज़ म्यूज़ियम, बर्मिंघम का सिटी म्यूज़ियम, कैंब्रिज का फिट्ज़ विलियम म्यूज़ियम, डलविच गैलरी, एडिनबरा की नेशनल गैलरी ऑव स्काटलैंड, ग्लैस्गो की आर्ट गैलरी, लिवरपूल वाकर आर्ट गैलरी, लंदन में ब्रिटिश म्यूज़ियम की नेशनल गैलरी, नेशनल पोर्ट्रेट गैलरी, टेट गैलरी, आक्स्फोर्ड का ऐशमोलीन म्यूज़ियम इत्यादि।

जर्मनी — २०वीं सदी के पूर्व तक यूरोप में अधिकतर चित्रशालाएँ पुरानी परिपाटी पर, एक ही ढंग से स्थापित होती रहीं। जर्मनी में भी अधिकतर चित्रशालाओं की यही स्थिति थी। लेकिन २०वीं शताब्दी के प्रारंभ में विलहेम वान बोडे के नेतृत्व में बर्लिन की चित्रशालाओं में बहुत अधिक परिवर्तन हुआ। उन्हें अधिक से अधिक व्यापक बनाया जाने लगा। उनमें योरोप, अमेरिका तथा पूर्वी देशों की कला को भी समुचित स्थान दिया गया। बोडे के प्रयास से चित्रशालाएँ वैज्ञानिक ढंग से सजाई जाने लगीं। उसके प्रदर्शन करने के ढंग को अंतर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हुई। दूसरे महायुद्ध के बाद बर्लिन की चित्रशालाओं की सामग्री पूर्व और पश्चिम, दो भागों में बँट गई और उनकी विशेषता नष्ट हो गई। फिर भी जर्मनी के कुछ महत्वपूर्ण नगर जैसे म्यूनिख, फ्रैंकफर्ट, हैमबर्ग, कैसेल, स्टटगार्ट तथा न्यूरेमबर्ग की चित्रशालाएँ बड़ी ही महत्वपूर्ण हैं। आधुनिक चित्रकला की दृष्टि से ईसन का फोकवांग संग्रहालय बहुत ही महत्वपूर्ण है। वैसे नाजी जर्मनी में इस प्रकार के संग्रहालय अवांछनीय घोषित कर दिए गए थे और उनकी सामग्रियाँ बुरी तरह नष्ट भ्रष्ट कर दी गई थीं, फिर भी कोलोन, न्यूरेमबर्ग तथा स्टटगार्ट में उन्हें फिर किसी प्रकार स्थापित किया जा सका। पूर्वी जर्मनी में राष्ट्रीय संग्रहालय तथा केमनीज, हेल और लाइपज़िग की चित्रशालाएँ महत्वपूर्ण हैं।

पूर्वी जर्मनी (बर्लिन) में डहेमलोज़ स्टाटलीश संग्रहालय (१८३०) प्राचीन, पूर्वी तथा मिस्री कला के अतिरिक्त सभी प्रकार की कला शैलियों के चित्रों तथा मूर्तियों से सुसज्जित है। जर्मन चित्रकला के लिये ड्रेस्डेन की स्टाटलीश जेमाल्दे गैलरी महत्वपूर्ण है। लाइपज़िग की चित्रशाला, म्यूज़ियम डेर बिलडेनडेन कूँस्ते (१८३७) में सभी काल के चित्र हैं। वैसे ही वीमर का स्टाटलीश कुंस्टसामलुंग संग्रहालय भी अपनी विविधता के लिये दर्शनीय है।

सोवियत रूस — लेनिनग्राड में हर्मिटेज स्टेट म्यूज़ियम प्रसिद्ध प्राचीन चित्रकारों की कला, लेनिनग्राड में रशन स्टेट म्यूज़ियम में रूसी

चित्रकला, मास्को में लोककला, स्टेट म्यूजियम ऑव माडर्न वेस्टर्न आर्ट योरोपीय चित्रकला और ट्रेट्याकोव गैलरी रूसी चित्रकला के लिये प्रसिद्ध है।

इसी प्रकार प्राग में नेशनल म्यूजियम (चेकोस्लोवाकिया), सोफिया में नेशनल म्यूजियम (बलगारिया), कोपेनहेगेन में नेशनल म्यूजीट, नाई कार्ल्स वर्ग ग्लिप टो थेक, रोजेनबर्ग स्लोट, तथा स्टेटेंस म्यूजियम (डेनमार्क), क्विटो में आर्चीवो नेशनल म्यूजियम (इक्वेडोर), बुडापेस्ट में म्यूजियम ऑव फाइन आर्ट्स (हंगरी); मेक्सिको सिटी में म्यूजियो नेशनल दे आर्टेज तथा नेशनल गैलरी (मेक्सिको), ओसलो में नेशनल गैलरी (नार्वे), क्रैकाओ तथा वारसा में नेशनल म्यूजियम (पोलैंड), स्टाकहोम में नेशनल म्यूजियम (स्विडेन), कराकस में म्यूजिओ डि आर्ट कलोनियल तथा म्यूजिओ नेशनल (वेनेजुला), बेलग्रेड में म्यूजियम ऑव आर्ट, ल्यूब्लजाना में नेशनल पिक्चर गैलरी (युगोस्लाविया) प्रसिद्ध चित्रशालाएँ हैं।

इटली के प्रत्येक नगर में चित्रशालाएँ हैं जिनमें फ्लोरेंस, मिलान, नेपुल्स, रोम, ट्यूरिन तथा वेनिस की चित्रशालाएँ अति प्रसिद्ध हैं। वहाँ के सैकड़ों गिर्जाघर भी चित्रशालाओं में परिवर्तित किए जा चुके हैं। नीदरलैंड में ऐम्सटर्डम, आर्नहेम, हेग, हार्लेम, रोटर्डम, यूट्रेक्ट; बेल्जियम में ऐंटवर्प, ब्रूजेज, ब्रूसेल्स, घेंट, लीज; स्विटजरलैंड में बासले, बर्न, जेनेवा, लुसाने, तथा ज्यूरिख; स्पेन में मैड्रिड का म्यूजिओ डेल प्राडो, बार्सीलोना तथा विश की, पुर्तगाल में नेशनल म्यूजियम, लिस्बन तथा नेशनल कोश म्यूजियम की; आस्ट्रिया में वियना का आर्ट म्यूजियम, बेलवी-डियर म्यूजियम तथा ग्राज, इंसब्रक, क्लैगेन फर्ट, लिंज और सालबर्ग की, स्कैंडीनेविया में कोपेनहेगेन, स्टाकहोम, ओस्लो, गोटेबोर, लुंड तथा मैलमो की; फिनलैंड में नेशनल म्यूजियम हेलसिंकी को; कनाडा मे ओटावा, टोरोंटो की; आस्ट्रेलिया में द नेशनल गैलरी ऑव मेलबोर्न तथा सिडनी की; दक्षिण अफ्रीका में केप टाउन तथा जोहांसबर्ग की; जापान में टोकियो तथा क्योतो की; तुर्की में अंकारा तथा इस्तंबूल का; मिस्र में काहिरा की, ईराक में बगदाद स्थित ईराक म्यूजियम; इसरायल जेरूसलम में बेजालेल म्यूजियम तथा तेलअबीव में तेलअबीव म्यूजियम, पाकिस्तान में कराची के नेशनल म्यूजियम तथा लाहौर के सेंट्रल म्यूजियम की प्रसिद्ध चित्रशालाएँ हैं।

भारत की चित्रशालाएँ - भारतीय पुराणों में प्रायः चित्रशाला तथा विश्वकर्मामंदिर का वर्णन मिलता है। ये संभवतः मनोविनोद तथा शिक्षा के केंद्र थे। पुराणों में चित्रकला में अभिरुचि के साथ चित्रसंग्रह और चित्रशाला के अनेक संकेत मिलते हैं। इससे लगता है कि भारत में अति प्राचीन काल से ही चित्रशालाएँ थीं। वैसे भी इस देश में मंदिरों में चित्रकला तथा मूर्तिकला को आदिकाल से प्रमुखता मिलती आई है जो आज भी वर्तमान है। अजंता का कलामंडप इसका अद्भुत प्रमाण है। यह करीब दो हजार वर्ष पुरानी, संसार की अप्रतिम चित्रशाला है। प्राचीन काल के सभी मंदिर मूर्तिकला से परिपूर्ण हैं और कहीं कहीं अब भी उनमें चित्रकला वर्तमान है। मध्यकालीन मंदिरों में तो चित्रकला तथा मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। इस काल में राजा महाराजा, बादशाहों, नवाबों के महलों में भी चित्रशालाएँ बनने लग गई थीं। आधुनिक अर्थों में भारत में सर्वप्रथम संग्रहालय तथा चित्रशाला एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल के प्रयास से १८१४ में स्थापित हुई जिसे हम आज भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता (इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता) के नाम से जानते हैं और यह एशिया के सबसे समृद्ध संग्रहालयों में गिना जाता है।

मंदिरों की चित्रशालाएँ अधिकतर दक्षिण भारत में हैं। इस प्रकार की चित्रशालाओं में तंजोर में राजराज संग्रहालय प्रसिद्ध है। अब उसे पुनर्गठित किया गया है। सरस्वती महल में चित्रशाला स्थापित है। सीतारंगम मंदिर, मीनाक्षीसुंदरेश्वरी का मंदिर तथा मदुराई का मंदिर भी उल्लेखनीय है। सीतारंगम मंदिर में मूर्तिकला के अद्भुत नमूने हैं, मीनाक्षी में हाथीदाँत की कला अद्भुत है। वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति में भी कलात्मक कृतियों का अच्छा संग्रह है।

इस समय भारत में सैकड़ों संग्रहालय हैं और कइयों में चित्रों का भी अच्छा संग्रह है, पर सुनियोजित चित्रशालाएँ बहुत नहीं हैं। अधिकतर संग्रहालयों में राजस्थानी, मुगल, पहाड़ी, दक्खिनी, नेपाली तथा तिब्बती शैली के चित्र हैं। कुछेक में आधुनिक योरोपीय चित्र भी हैं पर ऐसी चित्रशालाएँ, जहाँ आदि से अंत तक चित्रकला का इतिहास तथा प्रगति समझने में मदद मिले, कतिपय ही हैं। बंबई के प्रिंस ऑव वेल्स संग्रहालय में पूर्वी तथा पश्चिमी सिद्धहस्त चित्रकारों की कृतियों के साथ साथ मध्यकालीन तथा आधुनिक चित्रकला के विभिन्न पक्षों के चित्र हैं तथा अजंता की बड़ी बड़ी अनुकृतियाँ भी हैं।

मैसूर की चित्रशाला में अधिकतर भारतीय आधुनिक शैली के चित्र हैं। ग्वालियर संग्रहालय में अजंता तथा बाघ के चित्रों की अनुकृतियों का अच्छा संग्रह है। इसी प्रकार हैदराबाद की चित्रशाला में भी अजंता तथा एलोरा की कलाकृतियों की सुंदर अनुकृतियाँ रखी गई हैं। इसमें योरोपीय कला का भी सुंदर संग्रह है।

अभी हाल में मद्रास संग्रहालय में भी चित्रशाला संयोजित हुई है। यहाँ दक्षिण भारत की चित्रकला संग्रहीत है। वैसे यहाँ प्राचीन तथा मध्यकालीन चित्र भी हैं।

नई दिल्ली में एक बड़ी ही सुव्यवस्थित चित्रशाला नेशनल गैलरी ऑव माडर्न आर्ट है। इसमें अधिकतर आधुनिक शैली के भारतीय चित्र हैं। इसमें मुगल तथा राजस्थानी चित्र भी पर्याप्त मात्रा में हैं।

कलकत्ते का भारतीय संग्रहालय (इंडियन म्यूजियम) अत्यंत प्रसिद्ध है। यह संग्रहालय एशियाटिक सोसाइटी के प्रयास से सन् १८१४ में स्थापित हुआ था। १८३६ में सरकार की ओर से इसे अनुदान मिलने लगा और इसका विस्तार हुआ। १८७५ में भारतीय संग्रहालय का अपना भवन कलकत्ते में बना। १८८३ में इसमें चित्रशाला की भी स्थापना की गई। १९०४ में संग्रहालय का भवन और विस्तृत किया गया तथा चौरंगी रोड पर लार्ड कर्जन की सरकार की मदद से कलाकक्ष का निर्माण हुआ। कलाकक्ष दो चित्रशालाओं में बँटा हुआ है। एक में कलात्मक सामग्रियाँ हैं दूसरे में चित्र तथा मूर्तियाँ। मूर्तिकला की दृष्टि से यह संग्रहालय बहुत समृद्ध और दर्शनीय भी।

चित्रशाला की दृष्टि से कलकत्ते का विक्टोरिया मेमोरियल हाल बड़ा ही महत्वपूर्ण है। यह लार्ड कर्जन के प्रयास से १९०६ में बना था। इसकी चित्रशाला में पाश्चात्य प्रसिद्ध कलाकारों के बहुत से महत्वपूर्ण चित्र हैं। चित्रशाला में बृटिश काल के सम्राटों, शाही परिवारों तथा विक्टोरिया, प्रिंस ऑव वेल्स, लार्ड क्लाइव इत्यादि और राजा महाराजा तथा अमीर उमरावों के चित्रों के अलावा १८५७ के राजनीतिक

उपन्यास पर आधारित चित्र भी हैं। इसके अतिरिक्त इसमें वारेन हेस्टिंग्ज के काल के भी चित्र हैं।

आशुतोष संग्रहालय में अजंता, बाघ, पोलअरुवा, सित्तनवासल तिरुदंडिकराई इत्यादि की अनुकृतियां तथा नेपाली चित्र भी हैं। इनके अतिरिक्त जैन, गुजराती, मुगल, राजस्थानी, कांगड़ा, दक्खिनी तथा पटना शैली के चित्र, तिब्बती तथा चीनी चित्र, बंगाल की लोककला तथा आधुनिक चित्र भी हैं।

कलकत्ता के एशियाटिक सोसाइटी का संग्रहालय (१८७४) : पूर्वी देशों में सबसे पुराना और समृद्ध है। कलकत्ते का इंडियन म्यूजियम भी इसी की सामग्रियों से बना है। चित्रशाला भी अनुपम है। योरोपीय कला के संग्रह की दृष्टि से यह भारत का सबसे महत्वपूर्ण संग्रहालय है। इसमें रूबेंस, गुइडो, रेने, डोमेनिशीनो, रेनाल्डस, गानालेट्टी, कैटले, शिलरे, पो, डेनियल, से इत्यादि कई प्रसिद्ध युरोपीय कलाकारों के तैलचित्र हैं। इसमें राबर्ट होम द्वारा प्रस्तुत अनुकृतियां तथा रेखाचित्र भी हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से अच्छे व्यक्तिचित्र भी हैं।

नेशनल गैलरी ऑव् माडर्न आर्ट : भारत की राजधानी दिल्ली में आधुनिक चित्रकला की राष्ट्रीय चित्रशाला स्वतंत्रता के बाद १९५४ में स्थापित हुई जिसमें एक ही स्थान पर सारे भारतवर्ष के प्रसिद्ध आधुनिक कलाकारों के चित्र तथा मूर्तिकला के नमूने रखे गए हैं। जयपुर हाउस के विशाल कक्ष में अत्याधुनिक ढंग से यह सुसज्जित की गई है। सन् १८५७ से लेकर अब तक के कलाकारों की कृतियाँ हैं। कुछ कलाकृतियां १७७४ ई० की भी हैं, जैसे दक्षिण भारत, गुजरात तथा नेपाल की धातु की मूर्तियां, हाथ से छापे गए कपड़े तथा कढ़ाई का काम; राजपूत, कांगड़ा तथा बंगाल शैली के चित्र। आधुनिक चित्रकार अमृत शेरगिल के चित्रों के लिये एक अलग कक्ष ही बना दिया गया है। रवींद्रनाथ ठाकुर के चित्र भी इसमें संरक्षित हैं। समकालीन भारतीय चित्रकला का विस्तृत रूप यहाँ देखने को मिलता है।

डोगरा चित्रशाला (१९५४) : जम्मू में मध्यकालीन पहाड़ी चित्रकला, जैसे कांगड़ा, बसोहली, चंबल इत्यादि की कला का अद्भुत संग्रहालय है। इसके अतिरिक्त श्रीनगर में राजकीय संग्रहालय में भी चित्रों का अच्छा संग्रह है।

बड़ौदा संग्रहालय तथा चित्रशाला, बड़ौदा म्यूजियम ऐंड पिक्चर गैलरी (१८९४) : महाराज सयाजी राव तृतीय ने स्थापित की थी। महाराजा बड़े ही कलात्मक रुचि के व्यक्ति थे और कलात्मक सामग्री के संग्रह का उन्हें बड़ा शौक था। देश विदेश जब भी कभी घूमने निकलते, वहाँ से वे अपनी रुचि की कलात्मक सामग्रियों को अवश्य लाते। उन्होंने संसार के बहुत से देशों का भ्रमण किया था और उन जगहों से सामग्रियां जुटाई थीं। इस संग्रहालय में अधिकतर उन्हीं के द्वारा संग्रहीत सामग्री है। यह चित्रशाला १९१४ में बनकर तैयार हुई लेकिन इसका उद्घाटन १९२१ में हो सका। बाद में यह और भी विकसित हुई। १९४३ में चित्रशाला को आधुनिक ढंग से सुसज्जित किया गया। १९४८ में बड़ौदा राज्य बंबई राज्य के अंतर्गत मिला लिया गया और तब से यह संग्रहालय बंबई के शिक्षाविभाग द्वारा संचालित होता रहा। अब यह गुजरात प्रदेश के अधीन है।

संग्रहालय के प्रथम निर्देशक श्री जे० एफ० ब्लेक थे। बाद में चित्रशाला को पुनर्गठित किया डा० ई० कोन वाइनर तथा डा० हरमन गुत्स ने।

इसमें भारत, चीन जापान, मिस्र, ईराक, फारस, ग्रीस, मरी तथा मध्यकालीन योरोप की कलाकृतियाँ संग्रहीत हैं। भवन के नीचे के चार कमरे 'युरोपीय कक्ष' कहे जाते हैं। इसमें ग्रीस तथा रोम की (सातवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक) कलाकृतियाँ तथा योरोपीय कलाकृतियाँ हैं। एक कमरा केवल लघुचित्रों (मिनिएचर्स), छापे के कामों तथा मुद्राओं के लिये है। छह कमरे एशिया की कला के लिये हैं। एक कमरे में केवल जापानी कलाकृतियाँ हैं। दूसरे में तिब्बत और नेपाल की कलाकृतियाँ। तीसरे में मिस्र और बैबिलोन की कला, चौथे में चीनी कला। पाँचवें में इस्लामी कला और छठे में फारस, ईराक, तुर्की, सीरिया, मिस्र तथा स्पेन की कलाकृतियां हैं। पांच चित्रशालाएँ भारतीय संस्कृति तथा कला को प्रदर्शित करती हैं और एक में प्रागैतिहासिक काल की सामग्रियां हैं। एक दूसरे कक्ष में मौर्य काल से लेकर १५वीं शताब्दी तक की कलात्मक सामग्री है। एक अन्य कक्ष बड़ौदा के इतिहास को प्रदर्शित करता है। इसी प्रकार औद्योगिक कला के लिये भी एक अलग कक्ष है जिसमें १२वीं शताब्दी के बाद की कला प्रदर्शित है। अंत में एक एक कक्ष बड़ौदा, गुजरात तथा महाराष्ट्र की कला के लिये रखा गया है।

१५वीं शताब्दी से लेकर अट्ठारहवीं शताब्दी तक की योरोपियन कला दो अलग कमरों में रखी गई हैं तथा १९वीं शताब्दी की कला के लिये अलग कमरा है। आधुनिक भारतीय चित्रकला के लिये भी दो कमरे हैं। एक कमरा टूनर गैलरी और दूसरा रोरिक गैलरी के नाम पर भी है।

इस प्रकार बड़ौदा की यह चित्रशाला अत्यंत समृद्ध है और आधुनिक ढंग से सुसज्जित है। यह भारत की सबसे समृद्ध चित्रशाला कही जा सकती है, जो एशिया में अपने ढंग की अकेली है।

प्रिंस ऑव् वेल्स म्यूजियम, बंबई (१९०४)— यह संग्रहालय भी चित्रशाला की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। यह सरकार के प्रयास से १९०४ में स्थापित हुआ था। १९०५ में इंग्लैंड के प्रिंस ऑव् वेल्स के भारत आगमन के सिलसिले में इसका नामकरण हुआ। इसी समय से राज्य सरकार तथा नगरपालिका की ओर से इसे आर्थिक सहायता भी मिलने लगी। बाद में सर करीम भाई इब्राहीम तथा सर कावस जी जहाँगीर ने भी इसको आर्थिक सहायता दी। इसकी इमारत प्रसिद्ध भवननिर्माणकर्ता श्री जी० विटेट के निर्देशन से बनी थी।

इसकी चित्रशाला में भारत, योरोप, चीन, जापान तथा एशिया की कलाकृतियाँ संग्रहीत हैं। इसको समृद्ध बनाने में श्री रतन टाटा तथा दोराब टाटा का विशेष हाथ रहा है। १९१५ में बंबई सरकार ने इसके लिये बहुत सी कलाकृतियाँ खरीदीं जिनमें मुगल चित्र मुख्य थे। रतन टाटा के संग्रह के योरोपीय, भारतीय, चीनी तथा जापानी चित्र भी इसे प्राप्त हुए। १९२१ में दोराब टाटा ने इसे अपने संग्रह के योरोपीय चित्र, मूर्तियां तथा भारतीय चित्र प्रदान किए। १९२५ में सर अकबर हैदरी ने अपने भारतीय चित्र प्रदान किए जिनमें अजंता की अनुकृतियाँ भी थीं। बाद में उनके संग्रह के दक्खिनी कलम के चित्र भी इस चित्रशाला को प्राप्त हुए। १९२८ में बंबई राज्य ने भी अपनी सारी कलात्मक सामग्री इसे प्रदान कर दी।

मद्रास की राष्ट्रीय चित्रशाला (१९५१) — राजकीय संग्रहालय मद्रास के द्वारा ही विक्टोरिया टेक्निकल इंस्टिट्यूट के विक्टोरिया मेमोरियल भवन में स्थापित की गई है। इसका उद्घाटन पं० जवाहरलाल नेहरू ने १९५१ में किया था। इसमें धातु, हाथीदाँत तथा लकड़ी की

कला के साथ साथ वस्त्रकला के भी नमूने हैं। चित्रशाला में मुगल, राजपूत, दक्खिनी, तंजोर तथा मैसूर शैलियों के चित्र हैं। इनके अतिरिक्त राजा रविवर्मा तथा २०वीं सदी के कतिपय प्रसिद्ध कलाकारों के चित्र हैं। चित्रशाला आधुनिक ढंग से सजाई गई है और प्रकाश की उत्तम व्यवस्था की गई है।

वाराणसी का भारत-कला-भवन (१६२०)—भारत के उन समृद्ध संग्रहालयों में से एक है जो केवल एक व्यक्ति के अथक परिश्रम, लगन तथा कलाप्रियता के कारण ही स्थापित हो सका और आज इस देश की अमूल्य कलानिधि बन गया है। इसके संस्थापक हैं काशी के पुराने रईस, साहित्यसेवी तथा कलाप्रेमी श्री राय कृष्णदास। अध्यक्ष थे गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर। पहले यह एक बहुत छोटे किराए के मकान में स्थापित हुआ था और बाद में काशी की साहित्यिक संस्था नागरीप्रचारिणी सभा में इसे स्थान मिला जहाँ प्रायः २५ वर्षों तक इस संग्रहालय की चतुर्दिक समृद्धि होती रही। इसका विस्तार बहुत अधिक हो जाने पर १६५० में सभा ने इसे काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी को हस्तांतरित कर दिया।

कलाभवन को बाद में काशी हिंदू विश्वविद्यालय ने और भी समृद्ध कर दिया। इसके लिये अलग से २५ लाख रुपए की लागत से एक विशाल भवन निर्मित हुआ जिसका शिलान्यास पं० जवाहरलाल नेहरू ने किया था। इसे आधुनिक ढंग से सजाया गया है। इस संस्था को आरंभ से ही महात्मा गांधी, पं० जवाहरलाल नेहरू, डा० राजेंद्रप्रसाद तथा डा० भगवानदास ऐसे देशरत्नों का आशीर्वाद प्राप्त था और इसी बल पर यह संस्था आज इतनी प्रगति कर सकी है।

संग्रहालय में कुल ७ विभाग हैं: १—प्रागैतिहासिक विभाग, २—भूमि विभाग, ३—चित्र विभाग, ४—ललित कला विभाग, ५—वसन विभाग, ६—बृहत्तर भारत विभाग तथा ७—मुद्रा विभाग।

इस संग्रहालय की चित्रशाला मध्यकालीन चित्रकला की दृष्टि से भारत में अग्रगण्य है। इसके अतिरिक्त यह भारतीय चित्रकला की सभी शैलियों से परिपूर्ण है, जैसे, ११वीं १२वीं सदी की पाल कालीन चित्रकला, मुगल चित्रकला, राजस्थानी चित्रकला, मालवा, मेवाड़, गुजरात, मारवाड़, किशनगढ़, बूँदी, नाथद्वारा, जयपुर एवं बुंदेलखंड की कला, पहाड़ी चित्रकला, दक्खिनी शैली, अपभ्रंश शैली, कंपनी शैली, आधुनिक बंगाल शैली, जामिनी राय की कला, निकोलस रोरिक की कला तथा आधुनिक शैली के भारतीय चित्र इत्यादि।

भारत में अन्य कला संग्रहालय तथा चित्रशालाएँ—

(क) आंध्र प्रदेश—(१) हैदराबाद संग्रहालय (१६३०)—इसमें अजंता तथा एलोरा की अनुकृतियाँ, लघुचित्र (मिनिएचर्स), आधुनिक चित्र तथा मूर्तिकला के अच्छे नमूने हैं।

(२) सालारजंग संग्रहालय (१६५१) की भारतीय चित्रशाला में राग रागनियों के चित्र, कांगड़ा तथा राजपूत चित्र, दक्खिनी चित्र तथा आधुनिक भारतीय चित्र हैं। यह भी भारत का अत्यंत समृद्ध संग्रहालय है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित भारतीय चित्रशालाएँ हैं:

(३) मदनपल्ली की चित्रशाला (१६३४),
(४) राजामुंद्री की चित्रशाला (१६२८)
(५) विदर्गाति की चित्रशाला (१६५०)

(ख) बिहार प्रदेश—
(१) दरभंगा में चंद्रधारी संग्रहालय (१६२६)
(२) नालंदा में नालंदा संग्रहालय (१६१७)
(३) पटना में पटना संग्रहालय (१६१७)

(ग) गुजरात—
(१) श्री भवानी संग्रहालय, औंध (१६३८)—इसमें जयपुर, मुगल, राजपूत, कांगड़ा, हिमालय प्रदेश, गढ़वाल, पंजाब, बीजापुर, महाराष्ट्र, नेपाल, आधुनिक बंगाल, आधुनिक भारतीय, अजंता, सितन्नवासल तथा योरोपीय शैली के चित्र हैं।
(२) राजकोट का वाटसन संग्रहालय (१८८८)
(३) साबरमती (अहमदाबाद) में गाँधी स्मारक संग्रहालय (१६४६)
(४) सूरत में सरदार वल्लभभाई पटेल संग्रहालय (१८६०)
(५) वल्लभ विद्यानगर का कलासंग्रहालय (१६४६)
(६) हिमाचल प्रदेश में भूरिसिंह संग्रहालय (१६०८)

(घ) केरल—
(१) केरल की चित्रशाला (१६३८)
(२) त्रिवेंद्रम में राजकीय चित्रशाला (१६३५)

(ङ) मध्य प्रदेश—
(१) नागपुर का सेंट्रल संग्रहालय (१८६३)
(२) इंदौर का सेंट्रल संग्रहालय (१६२८)
(३) ग्वालियर का संग्रहालय (१६२२)
(४) नवगंज में राजकीय संग्रहालय (१६३७)
(५) रायपुर में महंत घासीदास संग्रहालय (१८७५)

(च) मद्रास—
(१) फोर्ट सेंट जार्ज संग्रहालय (१६४८)
(२) राष्ट्रीय चित्रशाला (१८६१)
(३) पुदुक्कोट्टै का राजकीय संग्रहालय (१६१०)
(४) तंजोर की चित्रशाला (११५३)
(५) मैसूर में बैंगलोर संग्रहालय (१८६६)
(६) बीजापुर संग्रहालय (१६१२)
(७) चित्रदुर्ग का संग्रहालय (१६५१)
(८) मैंगलोर की चित्रशाला (१६५७)

(छ) उड़ीसा का राजकीय संग्रहालय, भुवनेश्वर (१६३२)
(ज) पंजाब में पटियाला का प्रांतीय संग्रहालय (१६४८)
(झ) शिमला की चित्रशाला (१६४७)
(ञ) राजस्थान में
(१) अजमेर का राजपूताना संग्रहालय (१६०८)
(२) अलवर का राजकीय संग्रहालय (१६४०)
(३) भरतपुर का राजकीय संग्रहालय (१६४४)
(४) बीकानेर का गंगा संग्रहालय (१६३७)
(५) बूँदी का संग्रहालय (१६४२)
(६) जयपुर का संग्रहालय (१८७६)
(७) कोटा का संग्रहालय (१६४४)

(ट) उत्तर प्रदेश में
(१) इलाहाबाद का संग्रहालय (१६३१)
(२) कालपी का हिंदीभवन संग्रहालय (१६५०)

(३) लखनऊ का राजकीय संग्रहालय (१८६३)
(४) वाराणसी का भारत-कला-भवन (१९२०)

(ठ) महाराष्ट्र में

(१) प्रिंस ग्राव वेल्स संग्रहालय, बंबई (१८५५)।
(२) राजवाडे संग्रहालय, धूलिया (१९३२)।
(३) कोल्हापुर संग्रहालय, कोल्हापुर (१९४६)।
(४) जामनगर संग्रहालय, जामनगर (१९४६)।
(५) भारतीय इतिहास संग्रहालय (१९१०)।

[रा० चं० शु०]

चित्राल स्थिति : ३५° ५०' उ० अ० तथा ७१° ५६' पू० दे०। यह पश्चिमी पाकिस्तान की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर स्थित है। इसके उत्तर की सीमा पर अफगानिस्तान तथा उत्तर-पूर्व में कश्मीर है। यहाँ पर अनेक हिमनदियाँ (glaciers) पाई जाती हैं जिनकी ऊँचाई २०,००० फुट तक है। यहाँ की मुख्य नदी कुनार है। मुख्य फसलें धान, जौ, गेहूँ तथा फलों में अनन्नास, नाशपाती, तरबूज आदि हैं। वनों में देवदार मुख्य वृक्ष है। यहाँ खनिज लोहा, सीसा, ताँबा, एल्यूमिनियम तथा सोना प्राप्त होता है। यहाँ के हाथ के बुने कपड़े तथा कसीदाकारी का काम बहुत प्रसिद्ध है। बरतन, कपड़े, लकड़ी की वस्तुओं तथा फलों का निर्यात होता है। यहाँ फल, अनाज तथा कपड़े की मंडी है। [नि० कौ०]

चित्रित हस्तलिपि, लघुचित्रण : दे० 'ललितकला'।

चिन पहाड़ियाँ पश्चिमोत्तर बर्मा में पर्वतश्रेणी और जिला है। भारत और बर्मा के बीच अराकानयोमा से पटकाई तक फैले पर्वतीय चाप का प्रसिद्ध भाग है। इसमें पहाड़ियाँ ५,००० से ९,००० फुट तक ऊँची हैं और उनके बीच बीच में सँकरी घाटियाँ है। घाटियों में उष्ण कटिबंधीय आर्द्र जलवायु मिलती है, जबकि पहाड़ों पर अपेक्षाकृत ठंढी जलवायु है। जलवायु की यह भिन्नता वनस्पतियों पर प्रभाव डालती है। ३,००० फुट से नीचे उष्ण कटिबंधीय जंगल हैं और उसके ऊपर बंजु (oak) और देवदार के वृक्ष उगते हैं। ७,००० फुट से अधिक ऊँचाई पर रोडोडेंड्रन (Rhododendron) नामक सदाबहार झाड़ी उत्पन्न होती है। इन पहाड़ी जंगलों में लोग एक प्रकार की प्रवासी कृषिप्रणाली अपनाते हैं, जिसे तौंग्या प्रणाली कहते हैं। जंगलों को साफ करते हैं और लकड़ी को जलाकर खाद उत्पन्न कर लेते हैं। इन जंगलों की सफाई से प्राप्त क्षेत्रों में २-३ वर्ष खेती करते हैं और फिर छोड़ देते हैं, जिनमें बाँस और हाथीघास आदि उग आती हैं। इसमें ज्वार उत्पन्न होता है। पहाड़ी ढालों पर सीढ़ीनुमा खेत बनाकर धान उत्पन्न किया जाता है। यहाँ के रहनेवाले लोग मंगोल के वंशज हैं। भारतीय और बरमी संस्कृतियों का सुंदर सम्मिश्रण यहाँ के लोगों के जीवन में दिखाई पड़ता है। १९वीं शताब्दी के अंत तक यहाँ की पहाड़ी जातियाँ ब्रिटिश शासन से स्वतंत्र रहीं। चिन लोग मंगोल जाति की बरमी शाखा से संबंधित हैं। इसका क्षेत्रफल १०,३७७ वर्ग मील और जनसंख्या १,८६,४०५ है। बर्मा के मैदानों में पहाड़ी जातियों द्वारा लूटपाट रोकने के लिये इसपर अधिकार करके आदि जातीय प्रणाली पर यहाँ एक स्वस्थ ढंग की शासनप्रणाली स्थापित की गई है।

[कृ० मो० गु०]

चिनसुरा भारत में पश्चिमी बंगाल के हुगली जिले का प्रशासनिक केंद्र है। हुगली नदी पर बसा यह नगर कलकत्ता से १७ मील उत्तर है। हुगली तथा चिनसुरा की संमिलित जनसंख्या ८३,१०४ (१९६१) है। यहाँ धान कूटने की कई मिलें हैं। यह व्यापारिक तथा क्षेत्रीय शिक्षा-केंद्र है। हुगली कालेज प्रसिद्ध और अत्यंत प्राचीन है। १६वीं शताब्दी में इसपर ओलंदेजों अर्थात् हालैंड वासियों ने अधिकार कर लिया था। १६५६ ई० में उन्होंने एक सुरक्षित फैक्टरी बनवाई थी। डच या ओलंदेज चर्च, कब्रगाह तथा कमिश्नर का निवास अभी तक डच शासन की स्मृति दिलाते हैं। १८२५ में इंग्लैंड को सुमात्रा में कुछ स्थानों को देने के बदले में समझौते द्वारा यह मिल गया। इसके ठीक दक्षिण में चंदरनगर की प्राचीन बस्तियाँ हैं। [कृ० मो० गु०]

चिनाब स्थिति : ३०° ४०' उ० अ० तथा ७१° ३०' पू० दे०। यह पंजाब की पाँच नदियों में से एक है। कश्मीर की बर्फीली हिमालय की श्रेणियों से निकलकर स्यालकोट जिले से पश्चिमी पाकिस्तान की सीमा में प्रवेश करती है। इसकी सहायक नदियाँ चंद्रा तथा बागा हैं। यह उत्तर-पश्चिम बहकर त्रिग्गु में झेलम से और पूर्व में रावी से मिलती है। इसकी कुल लंबाई लगभग ५९० मील है। चिनाब, रावी, व्यास झेलम तथा सतलज पाँचों नदियाँ मिलकर पंचनद कहलाती हैं जो ५० मील दक्षिण-पश्चिम बहकर सिंध नदी में मिल जाती हैं। चिनाब से सिंचाई के लिये चिनाब मंडल (Colony) १८९२ में स्थापित हुआ जिसमें गुजरानवाला, झंग और मांटगोमरी जिले थे। निचली चिनाब नहर से इनमें सिंचाई होती थी। अब निचली चिनाब नहर में झेलम का पानी ऊपरी झेलम नहर से दिया जाता है और चिनाब का पानी ऊपरी चिनाब नहर में आता है। [नि० कौ०]

चिनुक उत्तरी अमरीका में राकी पर्वतों पर से पश्चिम या उत्तर दिशा से बहनेवाली एक विशेष प्रकार की हवा को चिनुक कहते हैं। राकी के नीचे यह शुष्क हवा के रूप में उतरती है। जाड़े में यह गर्म और गर्मी में कुछ शीतल रहती है। यह चक्रवातों के कारण उत्पन्न होती है और कुछ घंटों से लेकर सप्ताहों तक बहा करती है। पूर्वी राकी प्रदेश की जलवायु को यह सम बनाती है। इसके कारण गर्मी से बर्फ शीघ्र पिघलती है और शुष्कता से शीघ्र वाष्पीकृत हो जाती है, जिससे कहा जाता है कि पहाड़ों की ढालों पर से ये हवाएँ बर्फ को चाट जाती हैं। स्विट्सरलैंड में बहनेवाली ऐसी ही शुष्क और गर्म हवाओं को फॉन (Fohn) कहते हैं। भारत में बहनेवाली 'लू' इस प्रकार की हवाओं से भिन्न है। [कृ० मो० गु०]

चिपलूणकर, विष्णु कृष्ण (१८५०–१८८२) आधुनिक मराठी गद्य के युगप्रवर्तक साहित्यिक श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर का जन्म पूना के एक विद्वान् परिवार में हुआ। इनके पिता श्री कृष्णशास्त्री अपनी स्वाभाविक बुद्धिमत्ता, रसिकता, काव्यप्रतिभा, अनुवाद करने की अपनी अनूठी शैली इत्यादि के लिये लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार के रूप में प्रसिद्ध थे।

ये सफल संपादक भी रहे। इन्होंने डॉ० जॉन्सन के 'रासेलस' उपन्यास का मराठी में सरस एवं कलापूर्ण अनुवाद किया। ये बीस वर्ष की अवस्था में बी० ए० हुए। इन्होंने संस्कृत, अंग्रेजी और प्राचीन मराठी का गहरा अध्ययन किया। ये शासकीय हाई स्कूल में अध्यापक हुए पर ईसाई मिशनरियों के गंदे प्रचार से इनका स्वधर्म, स्वसंस्कृति, स्वदेश और स्वभाषा संबंधी अभिमान जाग्रत हुआ। नवशिक्षितों की अकर्मण्यता पर भी इनको दुःख हुआ। अतः इन्होंने लोकजागरण और

लोकशिक्षा की दृष्टि से 'निबंधमाला' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया। इनके लेख ओजस्वी, स्वाभिमानपूर्ण, स्वधर्म और स्वभाषा के प्रति प्रेम से ओतप्रोत होते थे। जिस प्रकार अनुभूति और विषय की दृष्टि से इनके निबंध श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार मौलिकता, प्रतिपादन की प्रभावकारी शैली और कलाविकास की दृष्टि से भी वे रमणीय हैं। इनमें राष्ट्रीयता, ओज, लोकमंगल की कामना और रमणीयता ओतप्रोत हैं। निबंधमाला में भाषाशुद्धि, भाषाभिवृद्धि, अंग्रेजी शैली की समीक्षा, शास्त्रीय ढंग से इतिहासलेखन, कलापूर्ण जीवनी की रचना, साहित्य और समाज का अन्योन्य संबंध और सामाजिक रूढ़ियों के गुण दोष इत्यादि के विषयों में विचारप्रवर्तक लेख हैं। इनकी निबंधशैली में मेकाले, एडीसन, स्टील, जॉन्सन इत्यादि की लेखनशैलियों के गुणों का समन्वय है। इनकी शैली में ओज, विनोद और व्यंग्य तथा सजीवता है। इसी प्रकार इन्होंने अंग्रेजी समीक्षा के अनुसार संस्कृत के पाँच प्रसिद्ध कवियों की उत्कृष्ट कृतियों की सरस समीक्षा कर मराठी में नई समीक्षा शैली की उद्भावना की। इनके 'आमच्या देशाची सद्यस्थिति' नामक विस्तृत एवं ओजस्वितापूर्ण निबंध लिखने पर अंग्रेजी शासन इनपर रुष्ट हुआ। पर इन्होंने स्वयं शासकीय सेवा की स्वर्णशृंखला तोड़ डाली।

पूना में आकर इन्होंने लोकजागरण की दृष्टि से 'केसरी' और 'मराठा' नामक दो समाचारपत्र प्रकाशित करना प्रारंभ किया। इसी प्रकार नई पीढ़ी में स्वदेशप्रेम जागृत करने के उद्देश्य से इन्होंने न्यू इंग्लिश स्कूल नामक पाठशाला स्थापित की। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और श्री आगरकर से चिपलूणकर को बड़ी सहायता मिली। ३२ वर्ष की अल्पायु में युगप्रवर्तक साहित्यिक सेवा कर इनकी असामयिक मृत्यु हुई। ये मराठी भाषा के 'शिवाजी' कहलाते हैं। [भी० गो० दे०]

चिपेवा प्रपात स्थिति: ४४° ५५' उ० अ० तथा ९१° २२' प० दे०। यह संयुक्त राज्य अमरीका के उत्तर-पश्चिमी विसकांसिन राज्य में चिपेवा नदी पर विसोटा झील के किनारे स्थित नगर है। इसकी जनसंख्या ११,०७२ (१९५०) है। यह दूध तथा दूध से बननेवाली वस्तुओं और कृषि का मुख्य केंद्र है। यहाँ पर जलविद्युच्छक्ति केंद्र है जिसके द्वारा पश्चिमी विसकांसिन को विद्युत् पहुँचाई जाती है। यहाँ पर जूते तथा लकड़ी की वस्तुएँ तैयार की जाती हैं और मांस आदि को डिब्बों में बंद करके बाहर भेजा जाता है। [नि० कौ०]

चिमणाजी, आप्पा दे० 'पेशवा'।

चिमणाजी दामोदर इनका उपनाम मोघे था। इनके पूर्वज खानदेश के रिंगण गाँव के जागीरदार थे। सन् १७०८ के लगभग चिमणाजी वहीं रहते थे। प्रथम पेशवा, श्री मोरोपंत पिंगले के नीचे वे काम करते थे। बाद में, ताराबाई के समय इन्होंने काफी उन्नति की। शाहू राजा जब औरंगजेब के कारावास से मुक्त हुए तो उन्होंने चिमणाजी को अपने यहाँ आने का बुलावा भेजा। उन्होंने आना स्वीकार किया। इसके बाद चिमणाजी का कुल महाराष्ट्र में प्रसिद्ध हो गया। पेशवा और दामोदर के कुटुंब में इतनी घनिष्ठता बढ़ी कि पेशवा चिमणाजी को 'चिरंजीव' लिखते थे। चिमणाजी शाहू से जाकर मिले लेकिन शाहू से इनकी अनबन हो गई। फलस्वरूप चिमणाजी संभाजी के पास कोल्हापुर चले गए। वहाँ कुछ दिनों तक प्रधान मंत्री के पद पर रहे। इसके अनंतर वे बड़े बाजीराव के विपक्ष में जा मिले। त्रिंबकेराव दाभाडे की ओर से डभोई की लड़ाई में वे स्वयं लड़े थे किंतु इस लड़ाई में वे हार गए अतः इनके लिये केवल तीन गाँवों की जागीर रखकर सब जागीरें पेशवाओं ने छीन लीं। चिमणाजी के पास बहुत सी जागीरें थीं। उनको कोल्हापुर तथा निजाम की ओर से इनाम भी मिला था किंतु पेशवा के विपक्ष में लड़ने से सब नष्ट हो गया। सन् १७३१ के आसपास उनकी मृत्यु हुई। [भी० गो० दे०]

चिमणाजी माधवराव दे० 'पेशवा'।

चिमनी का काम प्राचीन काल में छत में बने हुए छेद से ही लिया जाता था। इसे धुआँरा कहा जा सकता है। आदिवासियों के घरों में अब भी यही रूप देखने में आता है। चिमनियों का प्रचार धीरे धीरे युरोप में प्रारंभ हुआ और दिनों दिन बढ़ता गया। गॉथिक और एलिज़ाबेथन पद्धति में चिमनियाँ ऊँचाई में भी और साजसज्जा में भी अपना विशेष स्थान रखती हैं। प्रारंभ में चिमनी शब्द का प्रयोग अँगीठी सहित धूमनाली के लिये होता था, किंतु बाद में यह केवल नाली के लिये ही सीमित रह गया।
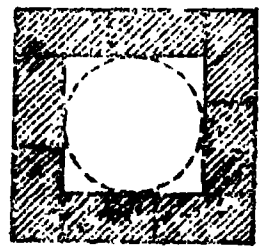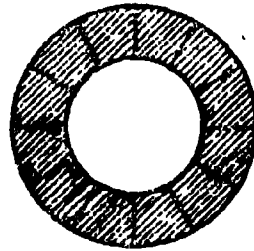
चित्र १. धूमरंध्र
गोल छिद्र सर्वोत्तम है और वर्गाकार मध्यम।

चिमनी के भीतर की गरम हवा बाहर की ठंडी हवा की अपेक्षा हलकी होने के कारण ऊपर उठती है; फलतः रिक्त स्थान की पूर्ति के लिये नीचे से ताजी हवा आती है। चिमनी की ऊँचाई जितनी ही अधिक होगी, यह प्रवाह उतना ही तेज होगा, क्योंकि प्रवाह भीतर और बाहर की हवा के भार के अंतर के अनुपात में होता है। बहुमंजिले भवनों में नीचे की चिमनियों की अपेक्षा ऊपर की मंजिल की चिमनियों के धुआँ देने की संभावना अधिक रहती है। कारखानों में न केवल आग जलाए रखने के उद्देश्य से, बल्कि धुआँ दूर फेंकने के उद्देश्य से भी ऊँची चिमनियाँ बनाई जाती हैं, जिससे निकटवर्ती निवासियों के स्वास्थ्य को हानि न पहुँचे।

चिमनी का निर्माण कार्य भी आजकल वैज्ञानिक रूप ले चुका है। संतोषजनक काम करने के लिये यह आवश्यक है कि :

१. धूमरंध्र पर्याप्त चौड़ा हो। गोल सर्वोत्तम है; वर्गाकार मध्यम है। आयताकार भी संतोषजनक है, किंतु चिपटे छिद्रवाली चिमनी तो निकृष्ट होती है।

२. चिमनी का शीर्ष मकान की छत से कम से कम दो फुट ऊपर हो। चिमनी नीची रहने से, हवा चलने पर धुआँ ऊपर चढ़ने के बजाय नीचे ही आ सकता है।

३. धूमरंध्र नीचे से ऊपर तक एक समान हो और यथासंभव उसमें दरार न हों। चिकना और अरंध्र अस्तर लगा हो तो अच्छा है।

४. घर की कई अँगीठियों का धुआँ एक ही चिमनी में न आए। सबके लिये अलग अलग नालियाँ ऊपर तक हों, नहीं तो एक का धुआँ दूसरी में खिंचकर नीचे आ सकता है। और

५. अँगीठी के ऊपर धुआँ और कालिख एकत्र हो सकने की समुचित व्यवस्था हो।
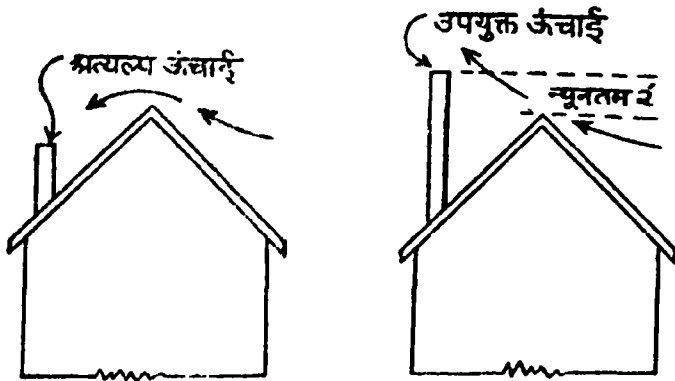
चित्र २. चिमनी का दोषरहित ऊँचाई

चिमनी यदि नीची हो तो हवा चलने पर धुआँ ऊपर न चढ़कर नीचे आ सकता है।

बिजली के हीटर और चूल्हे आविष्कृत हो जाने से निवासस्थानों में चिमनी का प्रयोग कम होता जा रहा है। आतिशदान बनते भी हैं, तो बहुधा केवल दिखाऊ, या सजावट के लिये। किंतु उष्माचालित कारखानों में अभी तक चिमनी का महत्वपूर्ण स्थान है और आगे भी रहेगा। चिमनी के अंदर के प्रवाह का चिमनी की ऊँचाई से घनिष्ठ संबंध है, यद्यपि ईंधन और चिमनी के मोड़ों के कारण भी प्रवाह में अवरोध उत्पन्न हो सकता है। प्रवाह सीमित ताप के अंदर (बाहर का ताप १५° सें० और अंदर का ताप २६०° सें०) निम्नलिखित सूत्र से परिगणित किया जाता है :

प्र = ०.००७१ ऊँचाई [$H = 0.0071\ L$]

जहाँ प्र (H) = प्रवाह की दाब पानी की इंचों में तथा ऊँ (L) = चिमनी की ऊँचाई फुटों में है।

केंट महोदय के सूत्र के अनुसार, जिसका अमरीकी इंजीनियर प्रायः प्रयोग करते हैं, प्रवाह ऊँचाई के वर्गमूल के अनुपात में होता है और इस आधार पर कि चिमनी की दीवार और गैसों के बीच घर्षण के कारण प्रवाह की कुछ हानि होती है, धूम्ररंध्र का गणनीय क्षेत्रफल,

ग = व − ०.६० √व [$E = A - 0{\cdot}60\sqrt{A}$]

माना जाता है, जहाँ ग (E) = कार्यसाधक क्षेत्रफल तथा व (A) धूम्ररंध्र का वास्तविक क्षेत्रफल है। इस सूत्र के अनुसार अश्वशक्ति से चिमनी का निम्नलिखित संबंध स्थापित किया गया है :

अश्वशक्ति, अ० श० = क ग√ऊँ [$h.p. = CE\sqrt{L}$], जिसमें स्थिरांक 'क' (C) का मान परीक्षण और अनुभव से निश्चित किया जाता है, ग (E) = कार्यसाधक क्षेत्रफल तथा ऊँ (L) = चिमनी की ऊँचाई है। प्रति बॉयलर अश्वशक्ति के लिये प्रति घंटा ५ पाउंड कोयला जलाने के लिये स्थिरांक 'क' = ३.३३ होता है। इस प्रकार,

अ० श० = ३.३३ ग√ऊँ = ३.३३ (व − ०.६√व)√ऊँ

[$h.p. = 3.33E\sqrt{L} = 3.33\ (A - 0.6\sqrt{A})\sqrt{L}$]

अथवा, ग = ०.३ अ० श० ÷ √ऊँ

[$E = 0{\cdot}3\ h.p. \div \sqrt{L}$)

यहाँ अ० श० (h.p.) = अश्वशक्ति है।

कारखानों की चिमनियाँ प्रायः ईंट की चिनाई, कंक्रीट या लोहे की बनती हैं। १५०' से ३००' की ऊँचाई तक लोहे की स्वावलंबी चिमनियाँ प्रायः सस्ती पड़ती हैं। मजबूती, सुरक्षा, स्थान की बचत की दृष्टि से भी ये उत्तम होती हैं। ईंट या कंक्रीट की चिमनियों के निर्माण में यह ध्यान रखना होता है कि हवा के झोंके और चिनाई के भार के संमिलित प्रभाव से यदि एक ओर दबाव बढ़ता है तो दूसरी ओर घटता भी है। यह कभी कभी ऋणात्मक होकर तनाव बन जाता है, और चिनाई अधिक तनाव नहीं ले सकती। किसी भी ऊँचाई पर अधिकतम या न्यूनतम दबाव

$$द = \frac{भ}{क्ष} + \frac{घ\ त्र}{ज}$$

$$\left[S = \frac{W}{a} + \frac{Mr}{I} \right]$$

होता है; जहाँ 'भ' (W) = ऊपर से पड़नेवाला भार है; क्ष (a) = चिनाई का क्षेत्रफल, घ (M) = हवा के झोंके से उत्पन्न घूर्ण; त्र (r) = त्रिज्या या सुदूर सिरे की बलशून्य रेखा (neutral axis) से दूरी और 'ज' (I) जड़ताघूर्ण हैं।

ईंट की चिनाई के लिये १५०' ऊँचाई तक अधिकतम तनाव की सीमा, २ से २½ टन प्रति वर्ग फुट, १५०' से २००' ऊँचाई तक १ से १½ टन प्रति वर्ग फुट, और २००' से ऊपर ० है। अधिकतम दबाव की सीमा ईंट की चिनाई के लिये २००' ऊँचाई तक १६ टन प्रति वर्ग फुट, और अधिक ऊँची चिमनियों के लिये २१ टन प्रति वर्ग फुट तक मानी जाती है। प्रचलित कंक्रीट के लिये अधिकतम दबाव ३५० पाउंड प्रति वर्ग इंच तक ही रखा जाता है।

संसार की कुछ विशालतम चिमनियाँ निम्नलिखित हैं :

अमरीका में १. अनाकांडा कापर कं० (निर्मित १९१८ ई०) ऊँचाई ५८५', चोटी पर भीतरी व्यास ६०';

२. अमरीकन स्मेल्टिंग ऐंड रिफाइनिंग कं०, टकोमा, वाशिंगटन (निर्मित १९१७ ई०), ऊँचाई ५७३', चोटी पर भीतरी व्यास २५';

३. बोस्टन ऐंड मौंटाना कंसालिडेटेड कॉपर ऐंड सिलवर माइनिंग कं०, ग्रेट फाल्स (निर्मित १९०७), ऊँचाई ५०६', चोटी पर भीतरी व्यास ५०'।

जापान में, ओरिएंटल कंप्रेसॉल कं०, सगानोसाकी (निर्मित १९१७ ई०), ऊँचाई ५७०', चोटी पर भीतरी व्यास २६¼'।

[वि० प्र० गु०]

चियावारी यह उत्तरी इटली के जेनेवा प्रांत में रेपाला की खाड़ी पर बंदरगाह है जिसकी जनसंख्या लगभग १८,०४२ है। यहाँ की भूमि बहुत उपजाऊ है और यहाँ अनेक प्रकार के रसदार फल एवं तरकारियाँ उगती हैं। यह इस प्रांत का औद्योगिक क्षेत्र भी है। यहाँ पर लिनेन, रेशम तथा बेल बनाने के कारखाने हैं। यहाँ पर शराब एवं जैतून का तेल भी मशीनों के द्वारा निकाला जाता है। इनके अतिरिक्त पनीर, मोम तथा फर्नीचर बनाने के भी कारखाने हैं। फलों को सुखाकर डिब्बे में बंद करके बाहर भेजा जाता है तथा पानी के जहाज बनते हैं। यहाँ स्लेट तथा मूँगे का काम भी होता है। जलविद्युत् प्लांट भी यहीं पर है। यहाँ

का रोमनिवासियों द्वारा निर्मित सैन सैल्वाडर गिरजाघर १२४४-५२ में पोप इन्नोसेंट चतुर्थ के समय में बना था। १८१० ई० में नैपोलियन द्वारा बनवाया गया लकड़ी का पुल भी दर्शनीय है। [नि० कौ०]

चिरकुंडा स्थिति : २३° ४०' उ० अ० तथा ८६° ४५' पू० दे०। यह बिहार राज्य के धनबाद जिले के अंतर्गत है और पूर्वी रेलवे का स्टेशन है। यहाँ पर कोयले की खानें हैं जो आजकल नेशनल कोल डेवलपमेंट कारपोरेशन (N. C. D. C.) द्वारा संचालित होती हैं। यह प्रसिद्ध व्यावसायिक केंद्र है। यहाँ उच्च विद्यालय, अस्पताल और थाना है। यहाँ की जनसंख्या ८,६७० (१९६१) है। [शि० नं० स०]

चिरायता (Swertia chirata Ham.) यह जेंशियानेसिई (Gentianaceae) कुल का पौधा है, जिसका प्रयोग देशी चिकित्सा पद्धति में प्राचीन काल से होता आया है। यह तिक्त, बल्य (bitter tonic), ज्वरहर, मृदु विरेचक एवं कृमिघ्न है, तथा त्वचा के विकारों में भी प्रयुक्त होता है। इस पौधे के सभी भाग (पंचांग), क्वाथ, फांट या चूर्ण के रूप में, अन्य द्रव्यों के साथ प्रयोग में लाए जाते हैं। इसके मूल को जेंशियन के प्रतिनिधि रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है।

चिरायते का पौधा हिमालय के पर्वतीय प्रदेशों में ११ हजार फुट की ऊँचाई तक प्राप्त होता है। तना प्रायः ७५ से १२५ सेंमी० ऊँचा, ऊपरी भाग चौपहल तथा सपक्ष, आधार की ओर गोल तथा वर्ण में पीताभ नीलारुण होता है। पत्तियाँ ३·५–८·० × १·५–३·५ सेंमी०, अवृंत, विपरीत, चतुष्क (decussate), भालाकार, लंबाग्र (acuminate) एवं पाँच शिराओं से युक्त होती हैं। पौधे के सभी भाग स्वाद में अत्यंत तिक्त होते हैं।

पंसारियों के यहाँ यह भेषज 'पहाड़ी चिरायता' के नाम से उपलब्ध होता है। अधिकांशतः यह नेपाल में पाया जाता है, इसलिये इसे 'नेपाली चिरायता' भी कहते हैं। आयुर्वेद का "किरात तिक्त" नाम भी इसकी पहाड़ी, अर्थात् किरातीय प्रदेश में, उत्पत्ति तथा तिक्त रस का द्योतक है। देशी चिरायता के नाम से प्रायः कालमेघ (Andrographis paniculata) या अन्य तिक्त द्रव्य, जैसे नाय या नई (Enicostema littorale), बड़ा चिरायता या ऊदि चिरायता (Exacum bicol) और असली चिरायते की अन्य जातियाँ (Species) भारत के विभिन्न भागों में काम में लाई जाती हैं। [सं० प्र०]

चिरावा स्थिति : २८° १४' उ० अ० तथा ७५° ४१' पू० दे०। यह जयपुर नगर से १०० मील उत्तर में है। राजस्थान के झुंझुनूं जिले का नगर है। जनसंख्या १२,६२८ (१९६१) है। यहाँ एक छोटा सुंदर किला, कई धर्मशालाएँ तथा कुछ स्कूल भी हैं। [से० मु० प्र०]

चिलास स्थिति : ३५° २५' उ० अ० तथा ७४° ४' पू० दे०। यह ग्राम गिलगिट एजेंसी की चिलास रियासत में सिंध नदी पर गिलगिट से ३९ मील दक्षिण पश्चिम में स्थित है। १९४८ ई० के बाद से यह पाकिस्तान के अधिकार में है। चिलास रियासत का क्षेत्रफल २८,००० वर्ग मील तथा जनसंख्या १५,३६४ (१९५१) है। इसके पश्चिम में पंजाब, हिमालय तथा नागा पर्वत हैं। सिंध नदी इसके बीच से होकर जाती है। गेहूँ, मक्का, जौ तथा लहसुन यहाँ की मुख्य फसलें हैं। [उ० सिं०]

चिलियाँवाला स्थिति : ३२° ३९' उ० अ० तथा ७३° ३७' पू० दे०। उत्तर-पश्चिम रेलवे की सिंद सागर शाखा पर स्थित है। यह पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान) के गुजरात जिले की फालिया तहसील का एक गाँव है। सिक्खों के सेनापति शेरसिंह तथा अंग्रेजों के जेनरल लार्ड गॉफ (Gough) के युद्ध (१८४९ ई०) के बाद यहाँ एक इमारत बनाई गई जिसे 'कतलघर' कहते हैं। यहीं युद्धस्थल भी था। [से० मु० प्र०]

चिली स्थिति : १७° ३०' से ५५° ०' द० अ० तथा ७१° १५' प० दे०। दक्षिणी अमरीका में प्रशांत महासागर के तट पर स्थित गणतंत्र राज्य है। यह लंबी तंग भूमि पर केपहार्न से उष्णकटिबंधीय टैकना घाटी तक विस्तृत है। उत्तर में पेरू, पश्चिम तथा दक्षिण में प्रशांत महासागर और पूर्व में बोलीविया, आर्जेंटीना और अटलांटिक महासागर से घिरा हुआ है। इसकी औसत लंबाई २,६६० मील, चौड़ाई ११० मील तथा क्षेत्रफल २,८६,३९६ वर्ग मील है। संपूर्ण देश २५ प्रशासकीय प्रांतों में विभक्त है। जूऐन फरनैनडीज द्वीप (Juan Fernandez), ईस्टर द्वीप, सलाई गोमेज़ (Salay Gomez) तथा टिएरा डेल फ्यूगो (Tierra del Fuego) का कुछ भाग भी चिली गणतंत्र में संमिलित है। चिली गणतंत्र को तीन प्राकृतिक भागों में विभक्त किया जा सकता है।
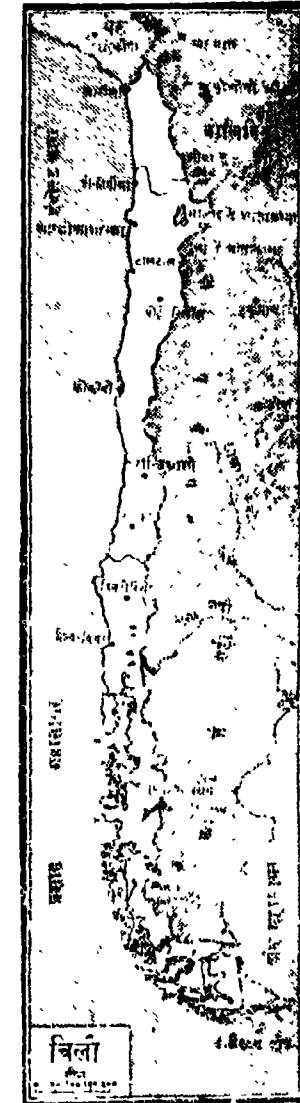
१. उत्तरी मरुभूमि, २. सम जलवायु का मध्यभाग तथा ३. ठंढा और तूफानी दक्षिणी भाग।

१. उत्तरी मरुभूमि—लगभग ८०० मील लंबा विषुवत् रेखा का दक्षिणी भाग है जिसे आटाकामा का मरुस्थल कहते हैं। आटाकामा ५० मील चौड़े तथा ३,००० फुट उन्नयनवाली बेसिनों की शृंखलाओं द्वारा निर्मित है, जो ऐनडीज के पश्चिमी आधार और समुद्रीय क्षेत्र (Coast range) के मध्य में है। यहाँ कोई भी सुरक्षित बंदरगाह नहीं है। इस भाग में कई वर्षों तक वर्षा नहीं होती। आरीका बंदरगाह तथा कोप्यापो (Copiapo), जो आटाकामा की उत्तरी तथा दक्षिणी सीमा निर्धारित करते हैं, के मध्य के मरुद्यान में केवल लोआ नदी प्रवाहित होती है। इस भाग में ताँबा तथा सोडियम क्लोराइड, सोडियम नाइट्रेट और आयोडीन के लवण प्राप्त होते हैं। संसार की आवश्यकता का ७५ प्रति शत नाइट्रेट चिली से प्राप्त होता है।

२. मध्य चिली — यहाँ ऐंडीज़ की २२,८३५ फुट ऊँची ऐकनकाग्वा (Aconcagua) चोटी है। समुद्रीय क्षेत्र की ऊँचाई २,५०० फुट से ७,००० फुट के मध्य में है। टालकाआनो

(Talcahvano) तथा वालडीव्या (Valdivea), केवल ये ही दो सुरक्षित बंदरगाह हैं। वालपाराइसो बंदरगाह को तरंगरोध से बचाना पड़ता है। यहाँ नदियाँ पश्चिमी समुद्री किनारे की ओर बहती हैं। उत्तर में सेनतियागो के समीप घाटी की सतह २,१०० फुट ऊँची है जिसका पूर्वी भाग ऐनडीयन नदी की चौड़ी जलोढ़ पंखी का बना हुआ है। दक्षिण रीम्रो बीम्रो-बीम्रो घाटी की सतह समुद्रतल से ३०० से ४०० फुट ऊँची है। यहाँ हल्की वर्षायुक्त सर्दी एवं ठंढी तथा वर्षारहित गर्मी होती है। ऐनडीन नदी का जल ग्रीष्म ऋतु में सिंचाई के काम आता है। रीम्रो बीम्रो-बीम्रो के दक्षिण में भारी वर्षा होने के कारण घने जंगल हैं। यहाँ सोने चाँदी की खानें भी हैं किंतु उत्पादन बहुत कम होता है।

३. दक्षिणी भाग — यहाँ २००" तक वर्षा होती है। हिम और सहिम वर्षा यहाँ के लिये साधारण है। यह भाग हिम नदी की प्रतिक्रियाओं के कारण निर्मित हुआ है। यहाँ कोयले की खानें हैं जिनसे घरेलू उपयोग तथा पड़ोसी देशों को निर्यात करने योग्य कोयला प्राप्त होता है।

संसार के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा चिली में अक्षांशीय क्षेत्र में घनी जनसंख्या है। यहाँ की कुल जनसंख्या ७०,३०,००० (१९६०) थी। यहाँ की आठ प्रति शत भूमि पर गेहूँ, जौ, जई, आलू, सेम वर्गीय फलियाँ, ऐल्फाल्फा तथा मूँग या मोठ की खेती होती है। गेहूँ प्रमुख पैदावार है जो एक एकड़ में १८ से लेकर २८ बुशल तक उत्पन्न होता है। १२ प्रति शत भूमि पर अंगूर के बगीचे हैं। सेनतियागो में चिली के ५० प्रति शत उद्योग हैं। इमारती लकड़ी का व्यवसाय यहाँ बढ़ रहा है। अधिकांश लकड़ी का उपयोग देश में ही हो जाता है तथा कुछ का निर्यात होता है। मत्स्य उद्योग भी उन्नति कर रहा है। यहाँ लगभग २०० प्रकार की मछलियाँ प्राप्त होती हैं। चिली में पर्यटकों के लिये वालपाराइसो के पास वीन्या देल मार (Vina del mar) और चिलीयन भील क्षेत्र स्थित ओसारनो पहाड़, टॉनाडोर पहाड़, टोदोज़लास सैनटोस (Todoslos santos) तथा यांग कीवे (Llanquihue) भील आकर्षण के केंद्र हैं। [श्र० ना० मे०]

चिली का इतिहास—दक्षिण अमरीका का एक गणराज्य, राजधानी सेंटियागो है। १५४१ में 'पेद्रो दि वाल्डिविया' नामक स्पेनी ने इस नगर की स्थापना की थी। उसने बायो बायो नदी के उत्तर के चिली के भाग को स्पेन के अधिकार में कर लिया था। इसपर अनेक युद्ध हुए और वाल्डिविया युद्ध में मारा गया। अंततः स्पेन ने १८१० में चिली की स्वतंत्रता घोषित कर दी, यद्यपि पूर्ण स्वतंत्रता १८१८ में जलसेना द्वारा प्राप्त हुई। १८१८ से १८२३ तक ओहिगिंस ने अधिनायक की स्थिति से चिली की जलसेना, कृषि, नगर तथा व्यापार का उत्थान किया। इसी समय रूढ़िवादी और उदारवादी दो राजनीतिक दल उभरे, किंतु ये भी समाज के उच्च वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करते थे। लंबे संघर्ष के बाद संघीय शासनतंत्र के विरुद्ध सत्ता के केंद्रीकरण की विजय हुई।

डियेगा पोर्टेलोज ने १८३० से १८३७ तक स्थायी सरकार स्थापित रखी।

इसी वर्ष तीन वर्ष तक (१८३६-३९) उसने पेरू के विरुद्ध सफल युद्ध करके बोलिविया और पेरू के संघ को भंग कर दिया। तत्पश्चात् चिली ने पैटागोनिया और टेराडेलफ्यूगो पर अधिकार कर लिया।

१८३१ से १८६१ तक रूढ़िवादी दल का राज्य रहा, किंतु इसके बाद १८९१ तक उदारवादी दल ने भी सरकार निर्माण में सहयोग दिया। १८७९ से १८८३ तक चलनेवाले पैसिफिक युद्ध के पश्चात् १८८३ की संधि के अनुसार एंटोफैगस्टा के संमुख बोलिविया ने और टरापका के संमुख पेरू ने आत्मसमर्पण किया। यह स्थिति १९२९ तक रही फिर अमरीका की मध्यस्थता से टकना पेरू में और एरिका चिली में मिल गया।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद चिली में वामपंथी शक्तियाँ संगठित हुई। प्रथम बार मध्यमवर्ग का प्रतिनिधि अलेसांद्री पामा राष्ट्रपति हुआ। १९२५ में उसने नए संविधान द्वारा संसदीय प्रणाली को हटाकर कार्यपालिका की स्थापना की। किंतु उसका संविधान कांग्रेस में मान्य नहीं हो सका। अलेसांद्री को १९२५ में ही राष्ट्रपति पद से त्यागपत्र देना पड़ा। १९२७ से १९३१ तक एक सैनिक सत्तारूढ़ रहा। अलेसांद्री पुनः राष्ट्रपति चुना गया। १९३८ के निर्वाचन में उदारवादी और वामपंथी गुट की विजय हुई।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय आर्थिक अव्यवस्था के कारण इसकी आंतरिक स्थिति अच्छी नहीं थी। फलतः १९४८ तक शांति स्थापित नहीं हो सकी।

१९५२ में जनरल इबानीज ने निर्वाचित होकर शांतिस्थापना की दिशा में प्रयत्न किए। किंतु कांग्रेस पर उसका प्रभाव न होने के कारण उसका मंत्रिमंडल टिक नहीं सका। १९५८ में अलेसांद्री पामा का पुत्र राड्रीग्वेज अनुदार (कंजर्वेटिव) और उदार (लिबरल) दलों के समर्थन से राष्ट्रपति बना। १९६० के भूकंप ने चिली की आर्थिक स्थिति को पुनः धक्का दिया। उसके बाद देश प्रगति की ओर पुनः अग्रसर हो रहा है।

चिल्टर्न पहाड़ियाँ स्थिति : ५१° ४४' उ० अ० तथा ०° ४२' प० दे०। खड़िया पत्थर (चाक) की ये श्रेणियाँ टेम्स नदी के उत्तर लगभग ४५ मील की लंबाई में गोरिंग के समीप से प्रारंभ होकर आक्सफोर्डशायर, बेडफोर्डशायर, हर्टफोर्डशायर और बकिंघमशायर में फैली हुई है। इनकी औसत ऊँचाई ५४० फुट है, यद्यपि यह ऊँचाई कहीं कहीं पर ८०० फुट तक चली गई है। ये श्रेणियाँ केवल १५ से २० मील तक की चौड़ाई में मिलती है। इनमें कई दर्रे मिलते हैं जिनमें से होकर अनेक सड़कें तथा रेलवे लाइनें लंदन जाती हैं। यहाँ के अधिकांश जंगल अब साफ कर लिए गए हैं। लकड़ी की वस्तुओं की स्थानीय माँग अब आंशिक रूप में यहीं से पूर्ण होती है। [न० सि०]

चिशोल्म, जॉर्ज गुडो (Chisholm, George Goudie, सन् १८५०–१९३०) का जन्म स्कॉटलैंड के एडिनबरा नगर में १९३० में हुआ था। इनकी शिक्षा दीक्षा भी एडिनबरा में ही हुई। इन्होंने अपने जीवन के प्रारंभिक ४५ वर्ष जन्मभूमि स्कॉटलैंड में बिताए। १९वीं सदी के उत्तरार्ध, विशेषतया अंतिम चतुर्थांश में वे एकाकी साधक रहे, जब उन्होंने भूगोलोक उच्च शिक्षात्मक स्तर पर वैज्ञानिक पाठ्य विषय के रूप में प्रतिस्थापित किया। १८८९ ई० में उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक वाणिज्य भूगोल (Handbook of Commercial Geography) लिखी। १८९५ में इनके द्वारा संपादित संसार का गजेटियर

(Longman's World Gazetteer) लौंगमैंस ने छापा। सन् १९०८ में एडिनबरा विश्वविद्यालय में विश्वविद्यालयीय स्तर पर भूगोल को मान्यता प्राप्त हुई और उन्हें भूगोल का प्रथम अध्यापक होने का गौरव प्राप्त हुआ। सन् १९२१ में उनकी पदोन्नति हुई और उन्हें रीडर (Reader) बनाया गया। सन् १९२३ में ७३ वर्ष की आयु में वे सेवानिवृत्त हुए और विश्वविद्यालय ने उन्हें अपनी सर्वोच्च उपाधि 'डाक्टर ऑव् लॉ' (Honorary LL. D.) द्वारा विभूषित किया।

चिशोल्म सन् १८८४ से ही राजकीय भूगोल परिषद्, लंदन के आजीवन 'फेलो' रहे। उन्होंने राजकीय स्कॉटिश भूगोल परिषद् के मंत्री के रूप में भी १५ वर्षों तक कार्य किया। उन्हें अमरीकी भूगोल परिषद्, न्यूयार्क ने 'डैली' (Daly) स्वर्णपदक से विभूषित किया। उनकी वाणिज्य भूगोल की पुस्तक की प्रसिद्धि का इसी से पता चलता है कि सन् १९२८ तक उसका ११वाँ संस्करण निकल चुका था। अब भी वह डाक्टर डड्ले स्टैंप द्वारा परिवर्धित होकर प्रसिद्धि पा रही है। ८० वर्ष के पूर्णतया कार्यशील जीवन के बाद ९ फरवरी, सन् १९३० को चिशोल्म का देहावसान हुआ। [का० ना० सिं०]

चींटी फाइलम आर्थोपोडा (Filum Orthopoda) के हाइमेनॉप्टेरा (Hymenoptera) वर्ग के अंतर्गत आती है। यह कीट पृथ्वी के ठंडे ध्रुव प्रदेशीय भागों से लेकर उष्ण अयनवृत्तीय भागों तक में पाया जाता है। कीटों में इसकी संख्या सबसे अधिक है। चींटी छोटे जानवरों में है। प्रौढ़ चींटी की लंबाई ०.५ से २५.० मिलीमीटर तक हो सकती है। यह सामाजिक जानवर है। सामाजिक परिस्थितियों के कारण चींटियाँ भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। कुछ चींटियों के जननांग पूर्णतया विकसित होते हैं और कुछ बंध्या मादा श्रमिक होती हैं। इनमें कुछ सिपाही भी पाए जाते हैं, जिनके जबड़े बड़े होते हैं ताकि शत्रुओं को डरा सकें और आवश्यक होने पर काट भी सकें।

चींटियों का जीवन

१. नर चींटी; २. पंखविहीन मादा, ३. पंखदार मादा, ४. श्रमिक, ५. अंडे, ६. डिंभ (लार्वा), ७. प्यूपा, तथा ८. श्रमिक अपने कार्य में व्यस्त।

इनका शरीर चिकना अथवा रोएँदार होता है। किसी किसी में रोओं के स्थान पर काँटे होते हैं। इनका रंग काला, भूरा या पीला हो सकता है या भूरे और लाल रंगों की मिलावट भी हो सकती है। इनके शरीर का खंडीकरण पूरी तरह विकसित होता है। शरीर के तीन खंड, सिर, धड़, तथा उदर, होते हैं। सिर बड़ा तथा चौड़ा होता है और पूर्णतया स्वतंत्र, जिससे यह आसानी से चारों ओर घूमता है। सिर पर चार से लेकर १३ खंडों तक के पतले स्पर्शांग होते हैं, जिन्हें स्पर्शक कहते हैं। इनका आकार भिन्न भिन्न होता है। संयुक्त आँखें छोटी होती हैं और किसी किसी में नहीं भी होतीं। मुखांग कुतरनेवाले होते हैं और भली भाँति विकसित रहते हैं। धड़ स्पष्ट रूप से बना रहता है।

चींटियों के अंडे सफेद या पीले रंग के ०.०५ मिली मीटर लंबे, बेलनाकार, या किसी में अंडाकार, होते हैं। डिंभ (लार्वा) अंधे एवं बिना पैर के होते हैं। इनका सिर पूर्ण, छोटा तथा मुलायम होता है। इनका पूरा शरीर खंडयुक्त होता है। अंडे से बाहर आने के बाद इनकी देखभाल श्रमिक करते हैं। इनको उपयुक्त ताप एवं नमी में रखने के लिये श्रमिक एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते हैं। इनको श्रमिक अपने मुंह से निकालकर तैयार द्रव भोजन कराते हैं। कुछ जाति की चींटियों के बच्चों को फफूँदी के टुकड़े खिलाए जाते हैं। कुछ दिनों बाद डिंभ प्यूपा (pupa) में परिवर्तित हो जाता है। कुछ प्यूपा कोकून से ढके रहते हैं तथा अन्य स्वतंत्र और नग्न होते हैं।

परदार लैंगिक चींटियाँ एकत्र होकर एक साथ उड़ती हैं और उड़ान के अंत में नर और मादा समागम करते हैं। समागम के बाद नर मर जाते हैं और मादा रगड़कर अथवा खींचकर अपने पंख नष्ट कर देती है। इसके बाद वह मिट्टी या अन्य उपयुक्त स्थान में एक छोटा बिल बनाकर उसमें घुस जाती है। बिल का मुख बंद करके उसमें वह उस समय तक अकेली रहती है जब तक उसके अंडे परिपक्व नहीं हो जाते। मादा केवल अंडे देने का कार्य करती है और श्रमिक चींटियाँ बच्चों की एवं घर की देखभाल करती हैं। ज्यों ज्यों बस्ती के सदस्यों की संख्या बढ़ती है, घर भी बढ़ता जाता है।

कुछ संसेचित रानियाँ बिना श्रमिकों की सहायता के नई बस्तियाँ नहीं बना सकतीं, इसलिये यह समागम उड़ान के बाद फिर पुराने बिलों में लौट आती हैं। ऐसे बिलों में एक से अधिक रानियाँ हो जाती हैं। फॉर्मिका एक्ज़ेक्टा नामक चींटी की मादाएं भी समागम उड़ान के बाद अपने पुराने बिलों से श्रमिकों को लेकर नए स्थान में नई बस्तियाँ बनाती है।

बिल के निर्माण के विषय में कुछ विशेष जानने योग्य बातें निम्नलिखित हैं:

१. उष्ण देशों में रानियाँ एक बार संसेचित होने के बाद बराबर अंडे देती हैं। ये लगभग १५ वर्ष तक जीवित रहती हैं।

२. श्रमिक बिलों को बढ़ाते और उनकी देखभाल तथा रक्षा करते हैं। वे भोजन एकत्रित करते और रानी एवं बच्चों को खिलाते हैं।

३. बस्तियाँ अनेक वर्षों तक बढ़ती रहती हैं। उनमें चींटियों की संख्या हजार से लेकर पांच लाख तक हो सकती है।

४. बिल कई प्रकार के होते हैं और भिन्न भिन्न स्थान पर स्थित रहते हैं। मिट्टी के ढेर केवल मुँह को ढके ही नहीं रहते, बल्कि इनमें भी चींटियाँ रहने का स्थान बना लेती हैं। फॉर्मीका रूफा (Formica rufa) नामक चींटी का बिल दो से पाँच फुट तक ऊँचा और व्यासमें तीन से लेकर छः फुट तक का होता है। फॉर्मीका (Formica) चींटी फॉर्मिक अम्ल का वाष्प निकालती है, जो चारों ओर फैल जाता है। इससे मनुष्यों अथवा अन्य किसी स्तनधारी प्राणी का इसके पास पहुँचना कठिन हो जाता है। कुछ चींटियाँ पौधों की शाखाओं में, तनों या पत्तियों के बीच में बिल

बनाती हैं। कुछ में बिल कागज जैसी झिल्ली से बनते हैं और पेड़ों या चट्टानों से लटके रहते हैं।

भोजन — चींटियाँ जीवजंतुओं एवं वनस्पतियों दोनों का आहार ठोस या द्रव रूप में करती हैं। कुछ चींटियाँ प्रधानतया शाकाहारी होती हैं।

चींटियाँ अथक परिश्रम के लिये प्रसिद्ध हैं। प्राचीन महापुरुष भी जानते थे कि इनका परिश्रम उद्देश्यपूर्ण है, व्यर्थ नहीं। ये सदा फुर्ती के साथ यहाँ वहाँ दौड़ती, अनाज या भोजन बिलों में ले जाकर विशेष कमरों में एकत्र करती हैं, जहाँ नमी रहती है। नमी से अनाज में अंकुर आ जाते हैं। इन्हें चींटियाँ काटकर, सुखाकर तथा इसके स्टार्च को चीनी में परिवर्तित कर इकट्ठा करती हैं।

कुछ चींटियाँ बहुत अधिक अनाज एकत्र करके रखती हैं। चींटियों के परिश्रम तथा उनके मानवीय ढंगों ने महान् लेखकों और दार्शनिकों को बहुत प्रभावित किया था। प्लिनी (Pliny) और एलीन जैसे विद्वानों ने इनकी मुक्तकंठ से केवल प्रशंसा ही नहीं की वरन् इनके बनाए बिल के बरामदों की तुलना क्रीट की भूलभुलैया से की है। [सु० ना० प्र०]

चींटीखोर दे० भ्रमभक्षक

चीड़ (Pine) के वृक्ष पृथ्वी के उत्तरी गोलार्ध में पाए जाते हैं। इनकी ६० जातियाँ उत्तर में वृक्षसीमा से लेकर दक्षिण में शीतोष्ण कटिबंध तथा उष्ण कटिबंध के ठंडे पहाड़ों पर फैली हुई हैं। इनके विस्तार के मुख्य स्थान उत्तरी यूरोप, उत्तरी अमरीका, उत्तरी अफ्रीका के शीतोष्ण भाग तथा एशिया में भारत, बर्मा, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो और फिलिपाइन द्वीपसमूह हैं।

कम उम्र के छोटे पौधों में निचली शाखाओं के अधिक दूर तक फैलने तथा ऊपरी शाखाओं के कम दूर तक फैलने के कारण इनका सामान्य आकार पिरामिड जैसा हो जाता है। पुराने होने पर वृक्षों का आकार धीरे धीरे गोलाकार हो जाता है। जंगलों में उगनेवाले वृक्षों की निचली शाखाएँ शीघ्र गिर जाती हैं और इनका तना काफी सीधा, ऊँचा, स्तंभ जैसा हो जाता है। इनकी कुछ जातियों में एक से अधिक मुख्य तने पाए जाते हैं। छाल साधारणतया मोटी और खुरदरी होती है, परंतु कुछ जातियों में पतली भी होती है।

इनमें दो प्रकार की टहनियाँ पाई जाती हैं, एक लंबी, जिनपर शल्कपत्र लगे होते हैं, तथा दूसरी छोटी टहनियाँ, जिनपर सुई के आकार की लंबी, नुकीली पत्तियाँ गुच्छों में लगी होती हैं। नए पौधों में पत्तियाँ एक या दो सप्ताह में ही पीली होकर गिर जाती हैं। वृक्षों के बड़े हो जाने पर पत्तियाँ वर्षों नहीं गिरतीं। सदा हरी रहनेवाली पत्तियों की अनुप्रस्थ काट (transverse section) तिकोनी, अर्धवृत्ताकार तथा कभी कभी वृत्ताकार भी होती है। पत्तियाँ दो, तीन, पाँच या आठ के गुच्छों में या अकेली ही टहनियों से निकलती हैं। इनकी लंबाई दो से लेकर १८ इंच तक होती है और इनके दोनों तरफ रंध्र (stomata) कई पंक्तियों में पाए जाते हैं। पत्ती के अंदर एक या दो वाहिनी बंडल (vascular bundle) और दो या अधिक रेजिन नलिकाएँ होती हैं। बसंत ऋतु में एक ही पेड़ पर नर और मादा कोन या शंकु निकलते हैं। नर शंकु कत्थई अथवा पीले रंग का साधारणतया एक इंच से कुछ छोटा होता है। प्रत्येक नर शंकु में बहुत से द्विकोषीय लघु बीजाणुधानियाँ (Microsporangia) होती हैं। ये लघुबीजाणुधानियाँ छोटे छोटे सहस्रों परागकणों से भरी होती हैं। परागकणों के दोनों सिरों का भाग फूला होने से, ये हवा में आसानी से उड़कर दूर दूर तक पहुँच जाते हैं। मादा शंकु चार इंच से लेकर २० इंच तक लंबी होती है। इसमें बहुत से बीजांडी शल्क (ovuliferous scales) चारों तरफ से निकले होते हैं। प्रत्येक शल्क पर दो बीजांड (ovules) लगे होते हैं। अधिकतर जातियों में बीज पक जाने पर शंकु की शल्कें खुलकर अलग हो जाती हैं और बीज हवा में उड़कर फैल जाते हैं। कुछ जातियों में शंकु नहीं भी खुलते और भूमि पर गिर जाते हैं। बीज का ऊपरी भाग कई जातियों में कागज की तरह पतला और चौड़ा हो जाता है, जो बीज को हवा द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने में सहायता करता है। बीज के चारों ओर मजबूत छिलका होता है। इसके अंदर तीन से लेकर १८ तक बीजपत्र पाए जाते हैं।

चीड़ के पौधे को उगाने के लिये काफी अच्छी भूमि तैयार करनी पड़ती है। छोटी छोटी क्यारियों में मार्च-अप्रैल के महीनों में बीज मिट्टी में एक या दो इंच नीचे बो दिया जाता है। चूहों, चिड़ियों और अन्य जंतुओं से इनकी रक्षा की विशेष आवश्यकता पड़ती है। अंकुर निकल आने पर इन्हें कड़ी धूप से बचाना चाहिए। एक या दो वर्ष पश्चात् इन्हें खोदकर उचित स्थान पर लगा देते हैं। खोदते समय सावधानी रखनी चाहिए, जिसमें जड़ों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे, अन्यथा चीड़, जो स्वभावतः जड़ की हानि नहीं सहन कर सकता, मर जायगा।

वनस्पति शास्त्र में चीड़ को कोनीफरेलीज (Coniferales) आर्डर में रखा गया है। चीड़ दो प्रकार के होते हैं: (१) कोमल या सफेद, जिसे हैप्लोज़ाइलॉन (Haploxylon) और (२) कठोर या पीला चीड़, जिसे डिप्लोज़ाइलॉन (Diploxylon) कहते हैं। कोमल चीड़ की पत्तियों में एक वाहिनी बंडल होता है, और एक गुच्छे में पाँच, या कभी कभी पाँच से कम, पत्तियाँ होती हैं। वसंत और सूखे मौसम की बनी लकड़ियों में विशेष अंतर नहीं होता। कठोर या पीले चीड़ में एक गुच्छे में दो अथवा तीन पत्तियाँ होती हैं। इनकी वसंत और सूखे ऋतु की लकड़ियों में काफी अंतर होता है।

चीड़ की लकड़ी काफी आर्थिक महत्व की होती है। विश्व की सब उपयोगी लकड़ियों का लगभग आधा भाग चीड़ द्वारा पूरा होता है। अनेकानेक कार्यों में, जैसे पुल निर्माण में, बड़ी बड़ी इमारतों में, रेलगाड़ी की पटरियों के लिये, कुर्सी, मेज, संदूक और खिलौने इत्यादि बनाने में इसका उपयोग होता है।

कठोर चीड़ की लकड़ियाँ अधिक मजबूत होती हैं। अच्छाई के आधार पर इन्हें पाँच वर्गों में विभाजित किया गया है। इन वर्गों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं:

(क) पाइनस पालुस्ट्रिस (Pinus palustris), पा. केरीबिया (P. caribaea)।

(ख) पा० सिलवेस्ट्रिस ((P. sylvestris), पा० रेज़िनोसा (P. resinosa)।

(ग) पा० पांडेरोसा (P. ponderosa)।

(घ) पा० पिनिया (P. pinea), पा० लौंजिफोलिया (P. longifolia) तथा पा० रेडिएटा (P. radiata)।

(ङ) पा० बैंक्सियाना (P. banksiana)।

उपयोगी लकड़ी प्रदान करनेवाले कोमल चीड़ के कुछ उदाहरण वर्गानुसार निम्नलिखित हैं:

चींटी (पृष्ठ २३३)

चींटियों (Formica exsectoids) के बिल
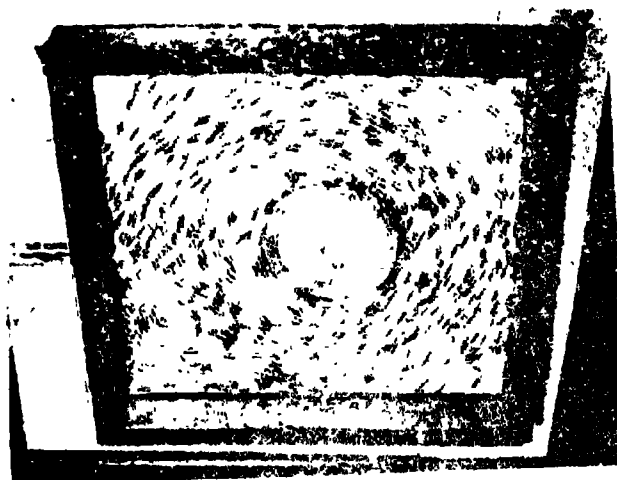
श्रमिक चींटियों की वृत्ताकार श्रेणियाँ
ये चीटियाँ सैनिक जाति की हैं।

चींटीखोर

चीता (पृष्ठ २३५)

चीता

बड़े पशु को तेंदुआ कहते हैं।

चीतों का एक जोड़ा

खुले वन में।

(क) पाइनस स्ट्रोबस (P. strobus), पा० मोंटिकोला (P. monticola)

(ख) पा० एक्सेल्सा (P. excelsa)।

(ग) पा० पार्वीफ्लोरा (P. parviflora), पा० फ्लेक्सिलिस (P. flexilis)।

कई जातियों के वृक्षों से चुप्पा (tap) करके तारपीन का तेल और गंधराल (rosin) निकाला जाता है। इनकी लकड़ी काटकर आसवन द्वारा टार तेल (tar oil), तारपीन, पाइन आयल, अलकतरा (tar) और कोयला प्राप्त करते हैं। कुछ जातियों की पत्तियों से चीड़ की पत्ती का तेल (pine leaf oil) बनाते हैं, जिसका यथेष्ट औषधीय महत्व है। पत्तियों के रेशों से चटाई आदि बनती हैं।

तारपीन और गंधराल उत्पन्न करनेवाले चीड़ के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं :

भारत में -- पा० लॉंजिफोलिया (P. longifolia), पा० एक्सेल्सा (p. excelsa) तथा पा० खास्या (P. khasya)।

यूरोप में -- पा० पिनास्टर (P. pinaster) तथा पा० सिलवेस्ट्रिस (P. sylvestris)

उत्तरी अमरीका में—पा० पालुस्ट्रिस (P palustris), पा० केरीबिया (P.cariboea) तथा पा० पॉण्डेरोसा (P. ponderosa)।

चीड़ की बहुत सी जातियों के बीज खाने के काम आते हैं, जिनमें पश्चिमोत्तर हिमालय का चिलगोजा चीड़ अपने सूखे फल के लिये प्रसिद्ध और मूल्यवान् है। जिन चीड़ों के बीज खाए जाते हैं, उनके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं :

भारत और पाकिस्तान में — पा० जिरार्डियाना (P. gerardiana) अर्थात् चिलगोजा।

यूरोप में — पा० पिनिया (P. pinea) तथा पा० सेंब्रा (P. cembra)

उत्तरी अमरीका में — पा० सेंब्रायडिस (P. cembroides) की कई किस्में, पा० साबाइकिऐना (P. sabikiana)

अमरीका के पा० लेंबर्टीना (P. lambertina) की छाल से खरोंचकर रेजिन की तरह एक पदार्थ निकालते हैं, जो चीनी की तरह मीठा होता है। इसे चीड़ की चीनी कहते हैं।

कई देशों में चीड़ की कुछ जातियाँ सजावट के लिये बगीचों में लगाई जाती हैं।

ऐंबर (amber) नामक फॉसिल रेज़िन (fossil resin) पाइनस सक्सिनिफेरा (P. succinifera) द्वारा बनी होगी, ऐसा अनुमान है।

चीड़ की बीमारियाँ — चीड़ के मुख्य रोग इस प्रकार हैं :

(१) सफेद चीड़ ब्लिस्टर रतुआ — (White pine blister rust) — यह रोग क्रोनारटियम रिबिकोला (Cronartium ribicola) नामक फफूँद के आक्रमण के फलस्वरूप होता है। चीड़ की छाल इस रोग के कारण विशेष रूप से प्रभावित होती है।

(२) आरमिलेरिया जड़ सड़न (Armillaria root rot) — यह रोग आरमिलेरिया मीलिया (Armillaria melia) नामक 'गिल फफूँदी' द्वारा होता है। यह जड़ पर जमने लगती है और उसे सड़ा देती है। कभी कभी तो सैकड़ों वृक्ष इस रोग के कारण नष्ट हो जाते हैं।

फॉसिल चीड़ (Fossil pine) — चीड़ की लकड़ी लोअर क्रिटेशस (Lower cretaceous) युग से मिलने लगती है और तृतीय युगीन निक्षेप (Tertiary deposits) में अधिकता से मिलती है।

[रा० प्र०]

चीता मांसभक्षी स्तनपोषियों के प्रसिद्ध फेलिडी कुल (Family Falidae) का बहुत परिचित जीव है, जो संसार में सबसे तेज दौड़नेवाला जानवर माना जाता है। रंग रूप और आकृति बहुत कुछ तेंदुए जैसी होती है, लेकिन इसके बादामी शरीर के ऊपरी और बगली भागों पर तेंदुए जैसे काले और सफेद गुल न होकर एकदम काले गोल चित्ते रहते हैं, इसी कारण इसे चीता या चिता कहा जाता है। इसका निचला भाग एकदम सफेद रहता है। अंग्रेजी में इसे हंटिंग लेपर्ड (Hunting Leopard) भी कहते हैं।

चीता (ऐसिनॉनिक्स जूबेटा Acinonyx jubata) का निवासस्थान भारत और अफ्रीका के जंगल हैं, लेकिन भारत में इनकी संख्या बहुत कम रह गई है। इसका सिर तेंदुए से छोटा, बदन पतला और छरहरा तथा पंजा अर्ध संकोचनीय (partially retractile) होता है। इसके बाल कड़े और दुम लंबी होती है, जो सिरे पर थोड़ी झबरी और सफेद होती है। यह तीन से लेकर चार फुट तक लंबा और ढाई फुट ऊँचा होता है। इसकी मादा शेर और तेंदुए की तरह कई बच्चे जनती है।
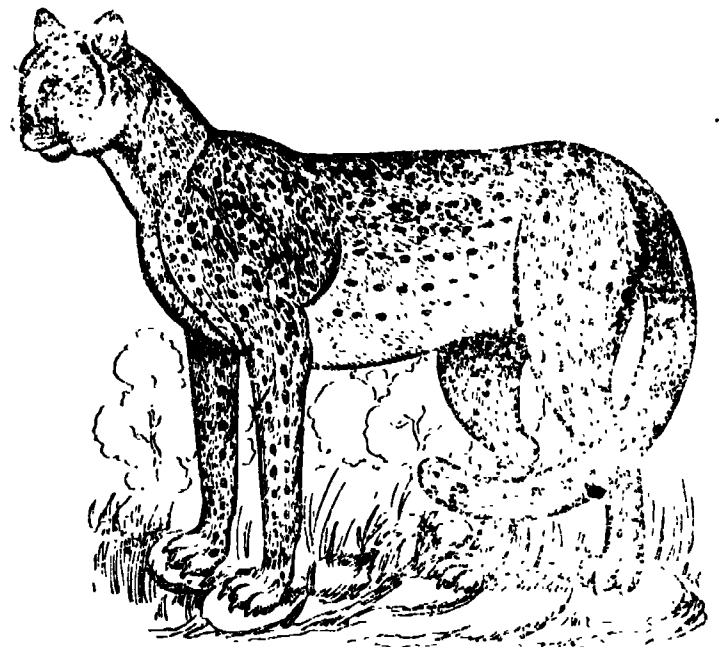
भारतीय चीता

चीते को लोग शिकार के लिये पालते हैं। सिखाए हुए चीतों की आँखों पर पट्टी बाँधकर उसे बैलगाड़ियों द्वारा शिकार के स्थान पर ले जाया जाता है। जहाँ हिरणों के गरोह दिखाई पड़ते हैं वहाँ उनमें से एक की पट्टी खोल दी जाती है। चीता हिरणों के पीछे दौड़ पड़ता है और गरोह में से एक को गिराकर तब तक वहीं खड़ा रहता है जब तक उसका मालिक वहाँ नहीं पहुँच जाता। शिकारी वहाँ पहुँचते ही हिरन की गरदन काटकर चीते को किसी बरतन में उसका खून पीने को दे देता है। जब वह खून पीने लगता है तो उसकी आँखों पर पट्टी बाँधकर उसे जंजीर से बाँध दिया जाता है। [सु० सिं०]

चीन स्थिति : १५° ४६' से ५३° ३५' उ० अ० तथा ७३° २१' से १३५° ४' पू० दे० । यह पूर्वी एशिया का बृहत्तम देश है, जिसकी सीमाएँ उत्तर और पश्चिम में लगभग ४,००० मील तक सोवियत रूस तथा बाह्य मंगोलिया से, उत्तर-पूर्व में कोरिया तथा कोरिया की खाड़ी के क्षेत्र से पूर्व में पीतसागर, पूर्वी चीन सागर और दक्षिणी चीन सागर से, दक्षिण में हाइनान की जलसंधि, टांकिन की खाड़ी, हिंदचीन और बर्मा, भारत और पाकिस्तान से तथा दक्षिण-पश्चिम में काराकोरम और हिमालय की श्रेणियों से स्पर्श करती हैं । क्षेत्रफल की दृष्टि से सोवियत रूस

और कैनाडा के बाद विश्व में इसका तृतीय स्थान है, किंतु जनसंख्या की दृष्टि से यह संसार का सबसे बड़ा देश है। मंचूरिया सिक्यांग, तिब्बत एवं छोटे छोटे अनेक द्वीपसमूहों को संमिलित करने पर इसका क्षेत्रफल ३८, ७६, ९५६ वर्ग मील है । १९६१ में चीन की अनुमानित जनसंख्या ५९,४३,४६, ६३७ थी । विश्व की जनसंख्या के ¼ भाग से भी अधिक लोग यहाँ निवास करते हैं । चीन संसार के प्राचीनतम देशों में है। यहाँ की सभ्यता कम से कम ४,००० वर्ष प्राचीन है। मुद्रणकला, कागज, बारूद, रेशम और चीनी मिट्टी जैसे आविष्कारों के लिये चीनी सभ्यता प्रसिद्ध है । चीनी लोग अपने देश को 'चुंग ह्वा मिन कुओ' कहते हैं, जिसका अर्थ होता है, केंद्रीय पुष्पाच्छादित जनराष्ट्र' । इसका संक्षिप्त नाम है 'चुंग कुओ' अर्थात् 'मध्यवर्ती देश' । चीन शब्द इस देश के प्राचीन शासक 'चीन वंश' से लिया गया है। चीन की भूरचना में दो पर्वतशृंखलाएँ महत्वपूर्ण हैं। एक तो पूर्व-पश्चिम की दिशा में और दूसरी उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम दिशा में फैली है। पहली श्रेणी मध्यवर्ती है और दूसरी समुद्रतटीय । ये विशाल पर्वतश्रेणियाँ एक दूसरे को काटती हैं तथा इनके भीतर सच्वान की लाल घाटी, सेंसी घाटी, ह्वांग-हो घाटी, यांगट्सि-सिक्यांग की घाटी और बहुत सी छोटी छोटी घाटियां हैं । संरचनात्मक विभिन्नताओं के कारण भिन्न भिन्न भौमिकीय युगों की चट्टानों का वितरण चीन में अस्तव्यस्त है; केवल घाटियों में चट्टानों का जमाव अपेक्षाकृत सरल है । जलनिर्मित प्रस्तरित चट्टानों की मोटाई बहुत अधिक है । भिन्न भिन्न क्षेत्रों में यह मोटाई अलग अलग है । विभिन्न युगों में लोहा, बालू पत्थर, चूना पत्थर, शेल, कोयला, जिप्सम, लिगनाइट, ग्रैवेल आदि खनिज पदार्थों का जमाव हुआ है । उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में पेट्रोल भी पाया जाता है ।

चीन का समुद्री तट लगभग ५,६५३ मील लंबा है । उत्तर में यालू नदी के मुहाने से दक्षिण में क्वानटुंग के टुंगसिंग तक फैला है । उत्तर में शानटुंग और ल्याओटुंग दो प्रायद्वीप हैं । इन प्रायद्वीपों को छोड़कर किनारा छिछला है और टांगचाऊ की खाड़ी तक दोमट मिट्टी से बना हुआ मालूम होता है । हांग काऊ की खाड़ी से केंन तक का किनारा चट्टानी और पहाड़ी है, किंतु दक्षिण-पश्चिम में निचला हो गया है।

यद्यपि दक्षिणी समुद्री तट बहुत कटा फटा नहीं है, तथापि यहाँ बंदरगाह हैं। समुद्रतट पर छोटे बड़े सभी आकार के अनेक द्वीपसमूह, हैनान, तैनान आदि हैं। पीतसागर, पूर्वी चीन सागर और दक्षिणी चीन सागर तीन निकटवर्ती समुद्र हैं। आमटंग, ताल्येन, चिनवांगटों, त्याकू, येनटाई, वेहैवो, सिंगताओ, शँघाई, हांगकाउ, निंगपो, फूकाम्र, एमाय, स्वताओ, कैंटन और पारवई प्रसिद्ध बंदरगाह हैं।

भूरचना—चीन के पश्चिमी भाग में सिक्यांग, तिब्बत और मंगोलिया के ऊँचे पर्वत हैं, इसलिये ढाल पश्चिम से पूर्व की ओर है। मंगोलिया का पठार (समुद्रतल से ५,००० फुट ऊँचा) चारो ओर पर्वतों से घिरा है। इस पठार के केंद्र में गोबी की मरुभूमि है। इसके दक्षिणी और उत्तरी क्षेत्र में स्टेप्स के चरागाह हैं। सिक्यांग में पहाड़ी और रेगिस्तानी क्षेत्र हैं। इस क्षेत्र को तानशान पर्वत उत्तरी और दक्षिणी दो भागों में बाँट देता है। उत्तर में सुनगरिया घाटी में ईलो (Ili) और इर्तिश (Irtish) नदियाँ बहती हैं। दक्षिण में डारिम (Tarim) घाटी में डारिम नदी बहती है जो ऊँचे पर्वतों से निकलकर मरुभूमि में बहती हुई विलीन हो जाती है। डारिम नदी के कारण हामी से शूफू तक बहुत से मरूद्यान हैं। सिक्यांग की जनता या तो इसी नदी की घाटी में या इन्हीं मरूद्यानों में निवास करती है। प्राचीन काल के व्यापारिक मार्ग इसी सिक्यांग से होकर जाते थे। तिब्बत का पठार संसार का सबसे ऊँचा पठार (१२,००० से १४,००० फुट तक) है। इसके उत्तर में कतलुन, दक्षिण में हिमालय और पूर्व में भी अत्यंत ऊँचे पर्वत हैं। मंचूरिया के पश्चिम में खिंगन पर्वत और पूर्व में चंमपाई पर्वत हैं। इन पर्वतों के बीच में आमूर, सुनगरी, असुरी तथा यालू नदियों की उपजाऊ घाटियाँ हैं।

मुख्य चीन की भूमि उत्तर में नानशान पर्वत से घिरी है। वास्तव में तिब्बत से लेकर मंचूरिया तक पर्वतश्रेणियाँ भूभागों की सीमा बनाती हैं। इसके उत्तर में पीतनदी या ह्वांगहो की महान् घाटी है, जिसमें मध्यवर्ती एशिया की पीली लोयेस (Loess) मिट्टी आँधियों के द्वारा बिछा दी गई है। इसकी मोटाई ३०० फुट या इससे भी अधिक है। इस भाग में गेहूँ, मक्का, कपास तथा धान की खेती होती है। मध्यवर्ती चीन में यांगट्सी (Yangtze) नदी घाटी है, जिसमें बांस और नारंगी के पौधे भी होते हैं। इस घाटी के दक्षिण का भाग पहाड़ी है। इनमें नानलिंग, त्याऊशान और वुईशान श्रेणियाँ प्रमुख हैं। यूनान (Yunnan) भी पर्वतीय या पठारी क्षेत्र है, जिसमें गहरी घाटियाँ और ऊँचे पर्वत हैं।

उत्तर में ह्वांग हो, मध्य में यांगट्सी और दक्षिण में सिक्यांग नदियाँ पश्चिम से पूर्व की ओर बहती हैं। ह्वांग हो नदी सिंगहाई से निकलकर २,७०० मील लंबे मार्ग में गोलाई से बहती है और अन्य भागों से तामो, फेन, वै और लो जैसी सहायक नदियाँ आकर इसमें मिलती है। मुहाने से २५ मील अंदर तक जहाज आ जाते हैं। यह नदी अपने मार्ग को कई बार बदलती रही है। चीन की सबसे बड़ी नदी यांगट्सी है, जो सिंगहाई से निकलकर ३,४०० मील की लंबाई तक बहती है। इस नदी के द्वारा ७,५६,५०० वर्ग मील भूमि के जल का निकास होता है। लगभग १,००० मील तक यह नदी जलयातायात के लिये उपयुक्त है। इसकी सहायक नदियों में मिन, क्यालिंग, हान, वु, और तुंगतिंग मुख्य हैं। शँघाई के समीप यह नदी लगभग ४० मील चौड़ा डेल्टा बनाती है। सिक्यांग दक्षिणी चीन में १,२०० मील बहती है। इसकी एक शाखा चुकयांग है जिसके मुहाने पर कैंटन बंदरगाह है। इस नदी से भी जलयातायात होता है। मंचूरिया में आमूर नदी प्रसिद्ध है, जिसकी यालू, असुरी और सुनगारी सहायक नदियाँ हैं। सिक्यांग में डारिम नदी महत्वपूर्ण है। प्ये, ढाई, चेनटंग और हांगकाऊ नदियाँ भी प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त चीनी पर्वतों से सालविन (बर्मा में) और मिकयांग (हिंदचीन में) नदियाँ निकलकर दूसरे देशों में बहती हैं। हूनान में तुंग तिंग-हू झील, क्यांगसी में पोयंग-हू, क्यांग सू में ताई और हांग ट्सो आदि प्रसिद्ध झीलें हैं।

जलवायु — चीन शीतोष्ण कटिबंध में है, लेकिन इसकी जलवायु इसी अक्षांश पर स्थित अन्य देशों की अपेक्षा अधिक शीतल है। चीन की जलवायु पर मौसमी हवाओं, चक्रवातीय आँधियों और उष्ण कटिबंधीय तूफानों का प्रभाव पड़ता है। जाड़े में साईबेरिया की ओर से (पश्चिमोत्तर दिशा से) शुष्क और ठंढी हवाएँ आती हैं। ग्रीष्मकाल में प्रशांत महासागर से जलवाष्प से पूर्ण हवाएं दक्षिण या दक्षिण-पूर्व दिशा से आती हैं। ५,००० फुट की ऊँचाई तक ये हवाएं बहती हैं और उसके ऊपर वर्ष भर व्यापारिक हवाओं का आधिपत्य रहता है। पश्चिम में पूर्व की ओर यूरोप और मध्य एशिया से चक्रवातीय आँधियाँ भी बहती हैं। जाड़े और बसंत में ये मध्यचीन में तथा जुलाई अगस्त में उत्तरी चीन में प्रभाव डालती हैं। प्रशांत महासागर से आनेवाली हवाएँ तथा चक्रवातीय आँधियाँ मिलकर खूब वर्षा करती हैं। प्रशांत महासागर में कैरोलिन द्वीपसमूह से उष्ण कटिबंधीय तूफान चलते हैं, जो चीन की भूमि पर वर्ष भर में कम से कम चार पाँच बार आक्रमण करते हैं। इन तूफानों से वर्षा तो होती है, किंतु हानियाँ भी बहुत होती हैं।

चीन विशाल देश है और इसका मध्य एशियावाला भाग समुद्र से बहुत दूर है। आंतरिक जलाशयों के बिलकुल अभाव के कारण वहाँ की जलवायु अत्यंत विषम है। इस महाद्वीप में भीषण जाड़ा और भीषण गर्मी पड़ती है। समुद्रों के पासवाले भागों की जलवायु सम है। उत्तर में मानचौली का जनवरी का औसत ताप २६° सें० है और दक्षिण में स्यामेन का १३° सें० है। पीकिंग से दक्षिण की ओर बढ़ने पर जनवरी और जुलाई दोनों का औसत ताप बढ़ता जाता है। दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ने पर तथा समुद्रतट से भीतर की ओर जाने पर वर्षा धीरे धीरे कम होती जाती है। कैंटन में ६५", हांगकाउ में ५८", शँघाई में ४४", नानकिंग में ३८", पीकिंग में २५", हारबिन में २१", लुंगक्यांग में १८" और मानचौली में केवल ४" वार्षिक वर्षा होती है। ह्वांग हो घाटी में यांगट्सी की अपेक्षा कम वर्षा होती है, और मंगोलिया और सिक्यांग के अधिकांश भाग रेगिस्तान हैं। हिमपात चीन में बहुत कम होता है। गर्मी में जाड़े की अपेक्षा अधिक वर्षा होती है।

वनस्पति — विशाल देश होने के कारण यहाँ के प्रदेशों की जलवायु और प्राकृतिक दशाएँ भिन्न भिन्न हैं। इसलिये यहाँ पर टैगा के जंगलों से लेकर चौड़ी पत्तीवाले सदाबहार वन, रेगिस्तान और घने जंगल पाए जाते हैं। चीन को मुख्यतः दो वनस्पति खंडों में बाँटा जा सकता है। (१) उत्तर-पश्चिमी भाग के घास के मैदान और रेगिस्तान, तथा (२) दक्षिण-पूर्वी भाग के जंगल। चीन में मुख्य रूप से निम्नलिखित छह प्रकार के जंगल पाए जाते हैं।

(१) उत्तर-पूर्वी प्रांतों में कड़ी लकड़ी के जंगल हैं। इसी प्रकार के जंगल उत्तरी प्रांतों की पर्वतीय ऊँचाइयों पर भी मिलते हैं। इनमें मुख्यतः जमीरी नीबू की जाति के वृक्ष, लिंडेन, (linden), भोजपत्र

(birch), श्वेत चीड़ (white pine), बंजु वृक्ष (Oak), प्रखरोट (walnut), देवदारु (elm) आदि वृक्ष मिलते हैं।

(२) उत्तरी प्रांतों के अधिकांश क्षेत्रों में पतझड़वाले (deciduous) बंजु वृक्ष, प्रभूर्ज (ash), भुंगदु (hornbeam), देवदारु, अखरोट और उत्करपर्ण (hackberry) वृक्ष मिलते हैं। पहाड़ी ढालों पर घास, जंगली गुलाब और बकाइन (lilacs) उगते हैं।

(३) यांगट्सी घाटी के मिश्रित वन, जिनमें बहुत ही घने जंगल हैं और जिनके वृक्षों से अमूल्य लकड़ियाँ मिलती हैं।

(४) दक्षिण और दक्षिणी-पश्चिमी भागों में तथा फारमोसा और हैनान द्वीपों में बंजु वृक्ष के सदाबहार वन हैं। इस क्षेत्र में बांस भी उगते हैं।

(५) मानसूनी जंगल केवल ग्रनान और दक्षिणी क्षेत्र में मिलते हैं।

(६) कोरिया की सीमा के पास पर्वतीय ऊँचाइयों पर शंकु वृक्षों के जंगल हैं, जिनमें सरोवर वृक्ष (spruce), चीड़ (pine), गर्जरी वृक्ष (hemlock) और लार्च (larch) आदि मिलते हैं। उत्तरी प्रांत सिक्यांग के ऊँचे पर्वतों पर भी इस प्रकार के वृक्ष मिलते हैं।

पूर्वोत्तरी प्रांतों के मैदानों के पश्चिम में घास के मैदान प्रारंभ होते हैं और तान शान तक, रेगिस्तानी भूमि को छोड़कर, सभी भागों में फैले हैं। रेगिस्तानों में नागफनी जैसे शुष्कजीवी पौध ही उगते हैं और मरूद्यानों में फलों के कुंज और चिनार (poplar) तथा देवदारु के वृक्ष उगते हैं। तिब्बत के पठार में वनस्पतियाँ बहुत कम है।

जीवजंतु — अनुकूल परिस्थियों तथा घनी वनस्पतियों के कारण यहाँ जीव जंतु पर्याप्त सुरक्षित रहते हैं। यहाँ आज भी बृहद सैलामेंडर (giant salamender) जो विश्व के अन्य भागों से लुप्त हो गए हैं, प्राप्त होते हैं। यहाँ हँसनेवाली तूती (laughing thrushes), विशेष प्रकार के चकोर की कई जातियाँ (pheasants) और तीतर मिलते हैं। यांगट्सी में प्रप्र मछली (paddle fish) बहुतायत से प्राप्त होती है। उत्तर-पूर्वी चीन के जंतु साइबेरिया के जंगलों के जंतुओं से, मंगोलिया के जंतु उत्तरी चीन के स्टेप्स के जंतुओं से और दक्षिण-पूर्व चीन के जंतु दक्षिण-पूर्व एशिया के जंतुओं से समता रखते हैं।

कृषि — चीन कृषिप्रधान देश है; इस दृष्टि से इसके निम्नलिखित विभाग हैं : (१) उत्तरी चीन का कृषिक्षेत्र — इस क्षेत्र की सीमा सिन लिंग शान पर्वतीय गाँठ से बनी है। इस क्षेत्र में उग्र शीत ऋतु और अनिश्चित अल्पकालीन वर्षा के कारण धान की खेती संभव नहीं है। इस लिये यहाँ मक्का, ज्वार, गेहूँ, जौ, आलू और सोयाबीन की खेती की जाती है। यद्यपि क्षेत्र की मिट्टी बहुत उपजाऊ है, तथापि शुष्क भाग में पड़ने के कारण तथा सिंचाई के साधनों के अभाव के कारण अधिकांश क्षेत्रों में खेती कठिन हो जाती है और लोग पशुपालन पर आश्रित रहते हैं। उत्तर-पश्चिमी भागों में ऊन, मांस, चमड़ा और दूध के सामानों का उत्पादन होता है।

लोयेस पेटी में, जहाँ ताई, चुवान और तातुंग इत्यादि नदियों की घाटियाँ हैं, खेती भी होती है और सेब, नाशपाती, अखरोट, स्ट्राबेरी जैसे फलों का भी उत्पादन होता है। लोयेस पठार के किनारे पर उत्तरी चीन का मैदान है, जहाँ वर्षा अधिक होती है, लेकिन ह्वांग हो की बाढ़ों के कारण यहाँ की खेती बड़ी अनियमित रहती है। गेहूँ, जौ, मक्का और बाजरा के साथ सेब, मटर तथा सरसों भी उत्पन्न की जाती है। दक्षिणी शानटुंग तथा धारी क्यांग सू में धान पैदा होता है। शानटुंग और होपेय में कपास और पटसन की भी खेती होती है। होपेय में घोड़े, खच्चर और गधे पाले जाते हैं।

यांगट्सी कृषिक्षेत्र चीन का सबसे उत्तम कृषिक्षेत्र है। इसके उत्पादन से चीन की आधी जनसंख्या का पोषण होता है। उपजाऊ मिट्टी, नदियों का जल, अपेक्षाकृत नियमित और यथेष्ट वर्षा, ऋतुओं का अनुकूल आवर्तन आदि मिलकर इस क्षेत्र का महत्व बढ़ा देते हैं। खाद्यान्नों तथा व्यापारिक उत्पादनों दोनों में इस क्षेत्र का नेतृत्व है। सबसे अधिक धान यहीं उत्पन्न होता है। राष्ट्र में संपूर्ण उत्पादन का ६८ प्रति शत रेशम और ५० प्रति शत कपास इस क्षेत्र से मिलता है। झीलों के क्षेत्र में चाय और पशुवसा (tallow) का भी उत्पादन किया जाता है। इस क्षेत्र में जाड़े और गर्मी दोनों ऋतुओं की फसलें होती हैं। जाड़े में जौ, गेहूँ, सेब, मटर, चना और गर्मी में धान की खेती होती है। इसके अतिरिक्त दूसरे अन्न भी उत्पन्न होते हैं। दक्षिण-पूर्वी चीन का कृषिक्षेत्र पर्वतीय है। फुक्येन की पहाड़ियों पर चाय उत्पन्न होती है किंतु घाटियों और डेल्टावाले भागों में वर्ष भर में धान की तीन फसलें तैयार की जाती हैं। कैंटन के डेल्टा में गन्ने की खेती होती है। इसी क्षेत्र में अनन्नास जैसे फलों और मसालों की उपज होती है।

दक्षिणी-पश्चिमी क्षेत्र कृषि के दृष्टिकोण से सबसे अधिक अविकसित है। पठारी और पहाड़ी भागों में खेती की संभावनाएँ कम हैं। चरागाहों में पशु पाले जाते हैं और कहीं कहीं पर मोटे अन्नों की खेती होती है। गहरी घाटियों में दुर्गम जंगल हैं। धान, गेहूँ और ज्वार-बाजरा जैसे खाद्यान्नों की खेती चीन की संपूर्ण कृषियोग्य भूमि की ४५ प्रति शत भूमि पर की जाती है। इसी कारण चरागाहों का भी अभाव है। समुद्र और नदियों के मत्स्याखेटों से चीनी जनता को पर्याप्त भोजन मिलता है। चाय और सोयाबीन का स्थान चावल और गेहूँ के बाद आता है। व्यापारिक उत्पादनों में क्रमशः कपास, अफीम, तंबाकू आदि का महत्व है।

चीन में तीन प्रमुख खनिज क्षेत्र हैं : ह्वांगहो और यांगट्सी के बीच के पर्वतीय क्षेत्र, २. यांगट्सी के दक्षिण का पर्वतीय क्षेत्र तथा ३. दक्षिणी पश्चिमी क्षेत्र। कोयला मुख्य रूप से मध्य मंचूरिया, शैंसी तथा आन्हवे से निकाला जा रहा है। मंचूरिया में लोहे की खानें अधिक हैं किंतु होपे, शांतुंग जैसे चीन के विशाल प्रदेशों में खनिज लोह प्राप्य है। सिक्यांग, शैंचाई, शैंसी और कांसू में तैलक्षेत्रों का पता चला है। क्यांगसी, हूनान, क्वांगटुंग तथा क्वांगसी के दक्षिणी प्रांतों में टंगस्टन और ऐंटीमनी के खनिज अधिक मात्रा में हैं। यून्नान में टिन की खानें हैं। इसके अतिरिक्त मैंगनीज, सोसा, जस्ता, पारा, गंधक, चाँदी सोना और ऐल्यूमिनियम भी चीन में निकाला जाता है। चीनी मिट्टी और मूल्यवान् रत्न भी यहाँ की खानों में पाए जाते हैं।

लोहा, इस्पात, मोटर, खानों की मशीनें, सीमेंट, कोयला, सूती वस्त्र, खाद, कागज और चीनी उत्पादन, बिजली के सामान, चमड़े की वस्तुएँ, दियासलाई निर्माण चीन के प्रमुख उद्योग हैं। यहाँ से कच्चे रेशम का कोया, सूत, अंडे, चाय, खनिज, चमड़ा और खाल, कपास, सोयाबीन का निर्यात तथा चावल, मिट्टी का तेल, पेट्रोल, धातु, गेहूँ, सूती वस्त्र रासायनिक पदार्थ, कागज, चीनी, रंग, मशीन, लकड़ी, ऊन, आटा तथा तंबाकू का आयात होता है।

उत्तर में ह्वांगहो और मध्य में यांगट्सी नदियाँ और उनसे निकलनेवाली नहरें जलमार्ग का काम करती हैं, जिनमें ग्रैंड केनाल प्रमुख है। १,५०,००० किमी० जलमार्ग है जिसमें से ४०,००० किमी० में स्टीमर चल सकते हैं। चीन का समुद्री किनारा ५,६५३ मील लंबा है, जिसमें कई प्रसिद्ध बंदरगाह हैं। सन् १९५७ तक १,८०,००० किमी० लंबी सड़कें तथा १९५८ तक २१,७४० किमी० लंबी रेलवे लाइनें थीं।

यहाँ के निवासी सूती वस्त्रों का उपयोग करते हैं। पुरुषों और स्त्रियों के वस्त्रों में कोई विशेष अंतर नहीं रहता। धनी लोग रेशमी वस्त्रों का उपयोग करते हैं। साम्यवादी सरकार ने एक ही प्रकार के वस्त्रों का पहनना अनिवार्य कर दिया है, इसलिये वस्त्रों में राष्ट्रीय एकरूपता आ गई है। उत्तरी चीन के लोग गेहूँ और मक्का तथा दक्षिणी क्षेत्र के निवासी भोजन में चावल का उपयोग करते हैं। खाद्यान्नों का यहाँ अभाव है, अतः यहाँ के लोग सभी जंतुओं का मांस खाते हैं। जनसंख्या के अत्यधिक दबाव के कारण लोगों के आवास की कमी है। यहाँ की अधिकांश जनसंख्या को झोपड़ियों तथा कच्चे मकानों में रहना पड़ता है। नावों पर घर बनाकर लोग जल पर भी रहते हैं।

इतिहास — चीन के इतिहास का अध्ययन चार विभागों में किया जा सकता है : (क) प्रागैतिहासिक युग (ख) प्रारंभिक युग (ग) आधुनिक युग (घ) द्वितीय विश्व युद्ध के बाद का चीन।

(क) प्रागैतिहासिक युग — चीन की सभ्यता कितनी पुरानी है, इसका ठीक ठीक पता नहीं लगाया जा सकता। पेकिंग से दक्षिण-पश्चिम ३७ मील की दूरी पर एक पहाड़ी कंदरा में ऐसा कंकाल मिला है, जिसको देखने से पता चलता है कि उस मानव को आग जलाना, पत्थरों के औजार बनाना और जंगली जानवरों को मारना आता था। लाखों वर्ष पूर्व जीनेवाले इस मानव को हमारा पूर्वज माना जाता है। आधुनिक कुछ विद्वानों का मत है कि यह कंकाल विश्वसनीय नहीं है। इससे अधिक विकसित मानवों के कंकाल मंचूरिया, मंगोलिया, उत्तरी और पश्चिमी चीन में पाए गए हैं। रूसी लोगों को ऐसे प्रमाण रूसी तुर्किस्तान तथा साइबेरिया में प्राप्त हुए हैं। उस समय हस्तकलाओं का विकास हो रहा था। इसे 'पूर्व पाषाण युग' कहा जा सकता है। २५,५०० से २०,००० वर्ष पूर्व तक 'उत्तर पाषाण युग' था। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके प्रारंभिक काल में पूर्वी एशिया में हिमपात के कारण जीवन कुछ कष्टप्रद हो गया था। संभवतः इसी समय आँधियों के चलने के कारण तारिम और गोबी रेगिस्तान तथा उत्तरी चीन के रेगिस्तानी टीलों का निर्माण हुआ होगा। इस युग का सबसे प्रारंभिक रूप लगभग ३५०० ई० पू० का मिलता है, जिसमें पत्थर और हड्डी के अच्छे औजार, मिट्टी के बर्तन, सूअरों की हड्डियाँ और कंदरा के निवासस्थान प्रमुख हैं। लगता है, इस युग में सामाजिक जीवन प्रारंभ हो चुका था। इसी युग में धीरे धीरे उन लोगों ने मक्का, सन, गेहूँ और चावल की कृषि प्रारंभ की, औजारों को अच्छा रूप दिया, कुत्ते और अन्य जानवरों को पालना शुरू किया। पाषाण युग के अंतिम काल में पूर्वी चीन के अनेक क्षेत्रों में चाक से बने एक विशेष प्रकार के बर्तन ह्वांगहो नदी की द्रोणी (बेसिन) से निकाले गए हैं। इस काल के निवासी मुख्यतः खेती पर आश्रित थे। ये गाय, बैल, बकरी और भेड़ आदि पालते थे। कला और निवास के क्षेत्रों में इन्होंने पर्याप्त विकास कर लिया था।

२००० ई० पू० से १८०० ई० पू० तक ताँबे के औजारों, पहिए-वाली गाड़ियों तथा लिपि के प्रयोग के प्रमाण मिले हैं। ह्वांग हो की घाटी में इस युग में राज्य और सरकार का भी प्रारंभिक रूप विकसित हो रहा था। १५२३-१०२७ ई० पू० में शांग वंश को राजधानी की खोज से इस युग के वैभव का पता चल गया है। इस समय के लोगों को लिपि, अंक, रथनिर्माण, शस्त्रास्त्र आदि के निर्माण का अच्छा ज्ञान था। इस वंश के राजा युद्ध करते थे और अपने राज्य का विस्तार करते थे। राजा 'ति' नामक देवता की पूजा करते थे। वे विद्वानों से परामर्श करते थे, जिनके प्रश्न और उत्तर कछुए की पीठ को हड्डियों तथा अन्य जंतुओं की हड्डियों पर खुदे हैं और जो उस युग के इतिहास को स्पष्ट करते हैं। इस युग में कृषि, पशुपालन और हस्तकलाओं के साथ रेशम का धंधा भी पनपने लगा था।

प्रारंभिक युग — पूर्व युग शांग वंश के अंतिम शासक 'चाऊ शिन' के अत्याचारों से समाप्त हो गया। पश्चिमी सीमा पर 'चाऊ' प्रांत था, जहाँ के शासकों ने 'चाऊ शिन' को दंडित किया। 'चाऊ' के शासक वेनवांग का नाम प्रसिद्ध है, जो आदर्श शासक था और जिसने 'चाऊ शिन' की क्रूरता का विरोध किया था।

चाऊवंश — 'चाऊवंश' का शासन चीन में लंबे समय तक (१०२७–२५६ ई० पू०) तक चलता रहा। ८वीं शताब्दी तक इस वंश के लोगों के पास सामंतो उपाधियाँ और अधिकार थे। ७७१ ई० पू० में इस वंश के लोगों में विद्रोह हुआ और राजा को मार डाला गया। इसके बाद भी चाऊ वंश के राजा ५०० वर्ष तक राज्य करते रहे, किंतु उनकी सैनिक शक्ति और प्रशासनात्मक क्षमता क्षीण ही होती गई। 'चाऊ वंश' के शासक खंडित हो गए और छोटे छोटे राज्य बड़े राज्यों के द्वारा युद्ध, राजनीति, संधि तथा रक्षादीवार बनाकर मिला लिए गए। तीसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य पश्चिमोत्तर सीमा पर स्थित प्रांतों के शासक चिन वंशवालों ने अपना प्रभाव बढ़ाया और उन्हीं का शासन स्थापित हो गया।

चीनी लोग 'चाऊ वंश' के शासनकाल को अपना महत्वपूर्ण युग मानते हैं। उस समय साहित्य और कला की बहुत उन्नति हुई। गद्य और पद्य दोनों का प्रारंभ इसी युग में हुआ। अनेक अध्यापक, विचारक, दार्शनिक, इतिहासकार, राज्य परामर्शदाता आदि इस युग में हुए। मुशांग की यात्राएँ प्रसिद्ध हैं। परिवार और राज्य के उत्तरदायित्वों का विकास हुआ। धर्म की अनेक धारणाओं का उदय हुआ। इसी युग के महान् दार्शनिक कन्फ्युशस (५५१–४७९ ई० पू०) का नाम प्रसिद्ध है, जिसने मनुष्य को प्रकृति की शुद्धता और पवित्रता पर जोर दिया तथा क्रूर शासकों के विरुद्ध विद्रोह का समर्थन किया। लाओ त्स्यांग या ताओवाद द्वारा व्यक्ति को प्रधानता दी गई और वैयक्तिक स्वच्छंदता का समर्थन हुआ। कन्फ्यूशस और लाओ त्स्यांग के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार के भी दार्शनिक इस युग में हुए, जिन्हें विधिवादी कहा जा सकता है। कला, दर्शन, साहित्य और विचार में प्रगति के साथ ही साथ इस युग में कृषि और उद्योगों के क्षेत्रों में भी बहुत विकास हुआ। सिंचाई की व्यवस्था, सेना का संगठन, लाख के उपयोग, ताम्र-दर्पण और स्वर्ण आभूषणों के उत्पादन का प्रारंभ इसी समय हुआ।

चिन वंश — (२२१–२०७) चीन में प्रथम साम्राज्य चिन वंश द्वारा स्थापित हुआ। सामंती व्यवस्था को समाप्त करके शिहुआंग ति ने देश को पहले ३६ और बाद में ४१ प्रशासकीय इकाइयों में बाँट

दिया। राजधानी से देश के अन्य भागों को जोड़ने के लिये उसने कई लंबे मार्ग बनवाए। उसके शासन में गाड़ियों के पहिए, बाँट, नापने की अन्य इकाइयों और लिखने की विधि में एकरूपता को अनिवार्य कर दिया गया था। सिंचाई तथा उत्तरी बर्बर जातियों के आक्रमणों से चीन के रक्षार्थ लंबी दीवार जैसे जनकार्यों को उसने व्यवस्थित किया। केंद्रीय सरकार शासन में करसंग्रह, लोहे, नमक तथा मुद्रा पर एकाधिकार, श्रम के लिये श्रमिकों का चिह्नीकरण और सेना के संगठन पर पूरा अधिकार रखती थी तथा उसी के अंतर्गत ये बातें थीं। पहले के साहित्य को जला दिया गया। सामंतों को राजधानी में आकर रहने की आज्ञा दी गई, जिससे उनके ऊपर सम्राट् की दृष्टि सदा पड़ी रहे। जनसंख्या को एक स्थान से दूसरे स्थान पर बदला गया, जिससे विद्रोह न हो सके तथा राष्ट्र की रक्षाव्यवस्था सुदृढ़ हो। पश्चिमोत्तर में देश के शत्रुओं सिगनू या हूंस को ह्वांग-हो नदी के क्षेत्र से भागना पड़ा। प्रथम शासक के देहांत के बाद ही चिनवंश का पतन होने लगा।

पूर्वहान वंश (२०२ ई० पू०–२२० ई०) — शिह ह्वांग-ति की मृत्यु के बाद कुछ वर्षों तक अराजकता रही, लेकिन इसी बीच गरीब परिवार में एक नेता लिउपैंग (२०२–१९५ ई० पू०) पैदा हुआ, जिसमें सैनिक तथा राजनीतिक योग्यता थी। पश्चिमोत्तर क्षेत्र में उसने राजधानी को पुनर्गठित किया और चिन साम्राज्य के दक्षिणी भाग को छोड़कर सभी क्षेत्रों को अपने अधिकार में कर लिया। १९६ ई० पू० में उसने योग्य लोगों को शासन में सहायता के लिये आमंत्रित किया। उस काल में कन्फ्यूशस के सिद्धांतों, राजतंत्र, न्याय, शांति और अनुशासन में विश्वास करनेवालों को विद्वान् और योग्य समझा जाता था। इस काल में सीमाओं पर बराबर आक्रमण होते रहे, जिनमें हूगन का आक्रमण अत्यंत प्रबल था। वास्तव में उत्तर-पश्चिम सीमा पर तुर्कों, टुंगसों, तातारों, मुगलों और मांचुओं का खतरा चीनी इतिहास में सदा बना रहा। हान सम्राट् वु-टि (१४०–८७ ई० पू०) ने आक्रमणकारियों का सामना करने के लिये मध्य एशिया या पश्चिमी एशिया के लोगों से मित्रता का संबंध स्थापित किया। हिंद महासागर के किनारे स्थित देशों से भी इस वंश वालों ने दूतसंबंध स्थापित किया। ईसा से एक शताब्दी पूर्व काल में इस प्रकार इस वंश ने मध्य-एशिया, कोरिया, और हिंदचीन में अपना प्रभाव बढ़ाया था। उस युग में चीन निवासियों के चिह्न इन क्षेत्रों में प्राप्त हुए हैं। सन् ९ में शासकों को कमजोर पाकर एक योग्य मंत्री वैंग मैंग शासक बना किंतु पीत नदी ने दोबारा बाढ़ की प्राकृतिक विपत्ति ला दी जिससे विद्रोह हुआ और उसका शासन समाप्त हो गया। सन् २५ में वैंग मैंग की मृत्यु के बाद पुनः हानवंश का राज्य स्थापित हो गया और राजधानी मध्य चीन लौयांग में लाई गई। शांति स्थापित होने के बाद टोनकिन, अनाम और हैनान पर सन् ४२–४३ में अधिकार किया गया। ९० ई० में चीनी पामीर के पार गए और कुशन वंश से इनका संपर्क हुआ। जापान से चीन का संबंध सन् ५७ में स्थापित हुआ। वैभव, विलास और प्राकृतिक विपत्तियों के कारण किसान विद्रोह हुआ और २२० ई० में यह वंश समाप्त हो गया। इस वंश से चीनी लोग इतने गौरव का अनुभव करते हैं कि वे अपने को 'हानवंश की संतान' कहते हैं। इतने बड़े और विशाल क्षेत्र के शासन के लिये नया गठन हुआ। शिक्षा की इतनी उन्नति थी कि द्वितीय शताब्दी में केवल चिकित्सकों के महाविद्यालय में ३०००० विद्यार्थी थे। सु मा च्येन और पॉन क्यू इसी युग के इतिहासकार हैं। ज्ञानविज्ञान, कला, उद्योग, दर्शन और साहित्य—प्रत्येक दिशा में इस युग में उन्नति हुई।

विभाजन की शताब्दियाँ या शासन (२२०–५८९) — चीन तीन भागों 'व्ये, श्यू और श्यु' में विभक्त हो गया। २६५ ई० में एक नेता ने चीन की एकता के लिये चेष्टा की किंतु वह विफल रहा। राजनीतिक व्यवस्था के दृष्टिकोण से चीन के इतिहास का यह अंधकार युग है, किंतु साहित्य, दर्शन और संस्कृति की सराहनीय उन्नति हुई। चित्रकला, वास्तुकला, जलयान-निर्माण-कला और अनेक कलाओं का विकास हुआ। १०० ई० में कागज का आविष्कार हुआ था, उस कला को और पूर्ण करने का प्रयास हुआ। जीवनदर्शन पर कन्फ्यूशस का प्रभाव कम होने लगा तथा ताओवाद में अराजकता बढ़ने लगी। इसी युग में भारत से बौद्धधर्म आया और लगभग पूरा चीन उसके प्रभाव में हो गया।

सूइ (५९०-६१८) और तांगवंश (६१८–९०६ ई०) — उत्तरी क्षेत्रों के एक वंश ने ५९० ई० में अराजकता का अंत किया और अब यांग च्येन का उदय हुआ। इस शासन ने अनेक महत्वपूर्ण सफलताएँ प्राप्त कीं—चीन का एकीकरण किया गया, फारमोसा और पेंघू द्वीपों पर आक्रमण किया गया, मंगोलिया के कुछ पूर्वी और कुछ पश्चिमी तुर्क सामंतों को अधीन किया गया, कुछ मंगोलों को तिब्बत भगा दिया गया और पूर्वी द्वीप समूह से संबंध स्थापित किया गया। सन् ६१८ में लि-युआन और लिशिह-मिन नामक पिता और पुत्र ने मिलकर तांग वंश की स्थापना की। चीन के राजनीतिक विकास में इस वंश का अत्यंत महत्वपूर्ण योग है। देश को प्रांतों में बाँटना, भूमि का वितरण, सरकारी नौकरियों के लिये परीक्षा, शिक्षा का प्रसार, सिंचाई व्यवस्था, विधिसंहिता, विदेशी प्रभाव, कोरिया और मंचूरिया में संरक्षित राज्यों की स्थापना, नेपाल, तिब्बत, भारत, फारस से संबंध आदि अनेक दिशाओं में देश प्रबल और सुव्यवस्थित हो गया। इस काल में महान् कवियों, शिल्पकारों, चित्रकारों, लेखकों और दार्शनिकों का जन्म हुआ। लकड़ी के ब्लाक बनाकर मुद्रण कला का प्रारंभ और विकास किया गया।

पाँच वंशावलियाँ (९०७–९६०) — शक्ति के प्रलोभन से राज्यों की स्थापना के परिणामस्वरूप उत्तर ल्यांग उत्तर तांग, उत्तर-चिन, उत्तर हान और उत्तर चाऊ पाँच वंशों का जन्म हुआ। इस काल में साहित्यिक, धार्मिक और दार्शनिक ग्रंथों का प्रभूत प्रकाशन हुआ जिससे मुद्रण कला और विकसित हुई। इसी समय स्त्रियों का एक संस्कार प्रारंभ हुआ; पैरों को जूतों से बाँधना, जिससे स्त्रियाँ हजारों वर्ष तक कष्ट झेलती रहीं।

सुंगवंश (९६० ई०–१२७९ ई०) : ९६० ई० में उच्च कुल के एक सरदार चाओ कुआंग-यिन ने सत्ता पर अधिकार किया और चीन के मध्यवर्ती राज्यों को एकता के सूत्र में बाँधा। इस वंश के राजाओं ने चीन की शक्ति बढ़ाई। ११२६ ई० में जब इनकी राजधानी कैफेंग पर चढ़ाई हुई तो सम्राट् अपने ३००० दरबारियों के साथ प्रवास के लिये चला गया। इसी देश में प्रथम बार समुद्री यात्रा और समुद्री व्यापार प्रारंभ किया गया तथा भारत और हिंद महासागर के अन्य देशों से व्यापारिक संबंध प्रारंभ किया गया। बड़े बड़े नगर स्थापित किए गए सिंचाई की व्यवस्था में नए प्रयोग किए गए। इसी समय बंदूकों और तोपों का प्रभावशाली उपयोग सैनिक कार्यों में किया गया। चीन की भूमि पर इस युग में खितन (मंगोल) तथा जेंचेन (जिनवंशी) जैसे

विदेशी वंशों का भी प्रभाव बढ़ा, किंतु चीनी संस्कृति की मौलिक आवश्यकताओं में वे विलीन हो गए।

युवान वंश (१२६०–१३६८) : मंगोलिया के लोग इधर उधर बिखरे हुए थे; उन्हें ठोस एकता के सूत्र में उनके नेता तैमुजिन (चिंगेज खाँ) ने बाँध दिया (दे० चिंगेज खाँ)। उन लोगों ने धीरे धीरे चीन के सभी राज्यों पर अधिकार कर लिया और अंत में सन् १२७९ में सुंग चीन पर भी अधिकार कर लिया, जिससे इतिहास में प्रथम बार पूरा चीन विदेशी शासन में चला गया। गेनजिस का पौत्र 'कुबलाय' इस देश का प्रथम सम्राट् हुआ और पेंकिंग को उसने अपनी शीतकालीन राजधानी बनाई। मंगोलों का बहुत विशाल साम्राज्य था, इसीलिये उन लोगों ने चीनी वैज्ञानिकों, कलाकारों और विद्वानों का उपयोग पश्चिमी एशिया में किया। उन्हीं के माध्यम से चीनी संस्कृति की बहुत सी देन यूरोप और एशिया में पहुँच गई; जैसे कागज, बारूद, कुतुबनुमा, घड़ी, मुद्रणालय आदि।

मिगवंश (१३६८–१६४४) : दक्षिणी प्रांतों में विद्रोह प्रारंभ हो गया था और १३६८ ई० में खान बालिक (पेकिंग) पर चीनी सेना ने अधिकार कर लिया था। इसके बाद मंगोलों को कोरिया, मंचूरिया और युनान सभी स्थानों से हटना पड़ा, यहाँ तक कि ग्रीष्मकालीन राजधानी कराकोरम को भी छोड़ना पड़ा। १४०४–१४०५ में तैमूरलंग ने मंगोल सेना का नेतृत्व किया और चीन पर पुनः विजय प्राप्त करने की चेष्टा की, किंतु उसका देहांत हो गया। विद्रोही नेता चू-यान च्यांग ने शक्ति संगठित करके १३६८ में मिगवंश की स्थापना की। इस वंश का प्रभाव केवल मुख्य चीन पर ही नहीं रहा, बल्कि समय समय पर मंचूरिया और मंगोलिया भी इसके अधीन रहे। इस वंश के तीसरे सम्राट् चू-ती ने राजधानी को नानकिंग से पेकिंग बदल दिया। अनेक पड़ोसी देशों से दूतसंबंध स्थापित करके उसने चीन की प्रतिष्ठा को बढ़ाया। इस सम्राट् ने सात समुद्री दूतसमूहों को हिंद महासागर के भिन्न भिन्न देशों में भेजा। १५१४ ई० में पुर्तगाली, १५४३ में स्पेन निवासी, १६२२ में डच और १६३७ में अंग्रेज चीन की भूमि पर उतरे। जापानी समुद्री डाकुओं से तटीय व्यापार त्रस्त रहता था। १४१३ ई० में तिब्बत मंगोलों से स्वतंत्र हुआ। १४४९ ई० में चीनी सेना को मंगोलों ने हरा दिया। १५६७ तथा १६१९ ई० में रूसी सरकार ने चीन से संपर्क स्थापित करने की चेष्टा की। तोयोतामी हिदयोशी नामक नेता के साथ जापानी आक्रमण (१५९२–१५९३) कोरिया पर हुआ और छह वर्ष तक भीषण युद्ध करके उन लोगों को भगा दिया गया। देश की राजनीतिक स्थिति तो ठीक नहीं थी, लेकिन अन्य क्षेत्रों में महत्वपूर्ण कार्य किए गए। नगरों के पुनरुत्थान, उत्पादन की वृद्धि, जलमार्गों का विकास तथा रक्षा के साधनों की उन्नति के लिये राज्य ने प्रयास किया। राजकीय सेवाओं के लिये पुनः परीक्षाएँ प्रारंभ हुई। कपास तथा गन्ने की जाति के लंबे अन्न के पौधों, तबाकू, मक्का आदि की खेती होने लगी। विश्वकोश भी प्रकाशित किए गए। भूगोल, संगीत, भाषा, चिकित्सा के क्षेत्र में नए नए आविष्कार किए गए। चित्रकला और चीनी मिट्टी की कला का विकास होता गया।

चिंगवंश (१६४४–१९१२) : मंगोलिया और कोरिया में अपनी शक्ति को ठोस बनाकर मांचूवंश के लोगों ने विभक्त चीन पर आक्रमण किया। १६५९ ई० में मिगवंश के अंतिम उत्तराधिकारी को समाप्त कर दिया गया। लगभग १०० वर्ष तक शांति रही, जिससे राष्ट्रीय संस्कृति का विकास होता गया। साम्राज्य और जनसंख्या तीव्रता से बढ़ती गई। गणित, इतिहास, और ग्रंथरचना में बहुत प्रगति हुई। मांचूवंश के शासकों ने अपने सरकार को मिगवंश के शासन जैसा ही रखा। प्रशासनात्मक प्रबंध निर्बल पड़ता गया और उनके विरुद्ध विद्रोह की आग सुलगती गई। १८९९–१९०० ई० में विद्रोहियों के एक गुप्त संगठन ने मांचूवंश को समाप्त किया। इस वंश में यूरोप के देशों से व्यापारिक संबंध काफी दृढ़ रहा। १७२९ में अफीम बेचने पर रोक लगाई गई और १७९६ ई० में उसके आयात पर प्रतिबंध लगा दिया गया। अंग्रेज और अन्य विदेशी व्यापारी उसे कैंटन तक ले जाने का आग्रह करते रहे, जहाँ से चीनी जनता पा जाए। १८४०–४२ में इसके लिये संघर्ष हुआ और अंग्रेज जीत गए। हांगकांग का बंदरगाह अफीम के व्यापार के लिये स्वतंत्र कर दिया गया। इसके बाद २०० वर्ष के भीतर ही ११ अन्य बंदरगाहों से अफीम व्यापार का बंधन उठा लिया गया। धीरे धीरे यूरोपीय संस्कृति और ईसाई धर्म का प्रचार बढ़ने लगा।

१८६० ई० में अंग्रेज और फ्रांसीसियों ने अपने ऊपर प्रतिबंधों के लगने के बावजूद पेकिंग में प्रवेश किया और राजमहलों को लूटा तथा जलाया। चीन की दशा बहुत बिगड़ती गई। जापान, रूस, इंग्लैंड फ्रांस, जर्मनी, सभी चीन को लूटने लगे और ऐसा प्रतीत हुआ कि संसार के साम्राज्यवादी देश चीन को कई टुकड़ों में विभक्त कर देंगे। चीनी किसानों को मजदूरों के रूप में विश्व के उपनिवेशों में भेजा गया। १८९९ ई० में अमरीकी राजसचिव जान हे ने ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, रूस, इटली और जापान से यह प्रस्ताव किया कि चीन को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का 'मुक्तक्षेत्र' बनाया जाय और वहाँ की सरकार को स्वतंत्र बनाकर उसका सुधार किया जाय। इसके पूर्व चीनी नेता कांग-यु-वे, ल्यां चि-चाओ आदि ने मांचू सम्राटों को शिक्षा, राष्ट्रीय सेना, साहित्य, न्याय, कृषि, उद्योग, अनुवाद और अन्य धार्मिक सुधारों के लिये विवश किया। त्सू-शि नाम की साम्राज्ञी बड़ी जिद्दी और दुष्टा थी, उसने सभी सुधारों को बंद कर दिया और सुधारकों को बंदीगृह में डाल दिया। बॉक्सर गुप्त दल ने जनता की भावना को विदेशियों के विरुद्ध भड़काया। फलतः गिरजाघरों तथा राजनयिक विदेशी निवासों पर आक्रमण हुआ और बहुत से निर्दोष लोगों की भी हत्या कर डाली गई। जून, १९०० में यह भीषण हत्यापूर्ण विद्रोह हुआ, फिर कोरिया चीन के हाथ से निकल गया। सुधारों के लिये आंदोलन प्रबल पड़ने लगा। जापान, फ्रांस आदि से शिक्षित युवक आए और चीनियों ने चीन में प्रजातंत्र की स्थापना का स्वप्न देखा और उसी दिशा में पूरी राष्ट्रीय शक्ति लग गई।

(२) आधुनिक युग (१९१२–१९५५) — सितंबर, १९११ में रेल की सड़कें बनाने की योजना का जब जनता ने विरोध किया और चेंग-तू के प्रशासक ने उन्हें गोली से मरवा दिया तो पूरे प्रांत में विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी। इसके बाद यह ज्वाला पूरे देश में फैल गई। पेकिंग में देश के स्वतंत्र शासन के लिये 'राष्ट्रीय परिषद' की स्थापना हुई, जिसने राजकुमार चून् से त्यागपत्र देने के लिये कहा। ७ नवंबर को युवान शिह-काई राष्ट्रीय परिषद् के प्रधान मंत्री निर्वाचित हुए। वे सेना के अधिकारी थे। १ दिसंबर को बाह्य मंगोलिया को स्वतंत्र घोषित कर दिया गया। क्रांति के सर्वोच्च नेता सुनयात सेन विदेशों

से १ जनवरी, १९१२ को [illegible] दक्षिणी प्रांतों का नानकिंग में अध्यक्ष घोषित कर दिया गया। १२ फरवरी, १९१२ ई० को मांचू-वंश का पतन हो गया। इसके बाद सुनयात सेन ने त्यागपत्र दिया और १० मार्च को युवान की चीन का अध्यक्ष बना दिया गया। सरकार की राजधानी पेकिंग में बदली गई और ११ मार्च को विधान की घोषणा की गई, जिससे चीन को वास्तविक स्वतंत्रता प्राप्त हो गई।

प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४—१९१८) के प्रारंभ होते ही जापान ने जर्मनी को बलपूर्वक शानटुंग प्रायद्वीप के क्षेत्र को छोड़ने के लिये चुनौती दी; चीन ने तटस्थता की रक्षा के लिये इसका विरोध किया तो चीन से जापान ने कई अवैधानिक माँगें प्रस्तुत कीं। चीन ने इसके उत्तर में अपनी माँगें रखीं किंतु चीन इतना निर्बल था कि उन माँगों को कार्यान्वित नहीं करा सका। योरोप युद्ध में फँसा था और संयुक्त राज्य अमरीका इस संघर्ष में सैनिक सहायता नहीं देना चाहता था इसीलिये जापान ने रूस, फ्रांस, इटली और ब्रिटेन से गुप्त संधियाँ की और चीन के क्षेत्रों को हड़पना चाहा। चीन की गृहदशा बिगड़ रही थी; युवान निरंकुश सम्राट् बनने का स्वप्न देखने लगा था। जुलाई, १९१३ में विरोधी दलों के द्वारा सुनयात सेन के नेतृत्व में संगठित विद्रोह को युवान ने दबा दिया। कोमिनटांग या राष्ट्रीय दल को नवंबर, १९१३ से मई, १९१४ तक उसने अवैधानिक घोषित किया, उसके सदस्यों को राष्ट्रीय परिषद् से निकाल दिया, बाद में प्रांतीय विधान सभाओं और राष्ट्रीय परिषद् को भंग कर दिया तथा एक नई 'परामर्शदात्री प्रशासनात्मक परिषद्' का निर्माण किया, जिसने नया विधान तैयार करके उसके कार्यकाल तथा अधिकारों को बढ़ा दिया। १९१५–१६ में दक्षिणी प्रांतों में विरोध हुआ और युवान को प्रजातंत्र के सिद्धांतों में विश्वास के लिये विवश होना पड़ा। ६ जून, १९१६ को वह मर गया।

युवान के बाद लि युवान टंग अध्यक्ष हुए। यद्यपि इन लोगों ने विधान को सुधारने की चेष्टा की किंतु युवान ने व्यक्तिगत शक्ति-लोलुपता, अत्याचार तथा बलप्रयोग की जो परंपरा कायम की थी, वह १०–११ वर्ष तक चलती रही। चीन छोटे छोटे युद्धाधिकारियों के शासन में खंडित रहा और ये लोग निजी स्वार्थ के लिये जनता को कुचलते रहे तथा अफीम का उत्पादन और व्यापार चलाते रहे। दमन और शोषण के इस वातावरण में साम्यवादी आंदोलन भी पनपता रहा। इसी बीच च्यांग काई शेक के नेतृत्व में राष्ट्रीय दल के अनुदार मोर्चे ने केंद्रीय शक्ति पर अधिकार कर लिया। नानकिंग में राजधानी बनाई गई। काफी समय तक सभी युद्धलोलुप नेता जापान के विरुद्ध एक नेतृत्व मे बंधे रहे। १९१७ ई० में संयुक्त राज्य अमरीका के प्रस्ताव से चीन सहमत हो गया और जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में आ गया। जर्मनी को मिलनेवाली सभी सुविधाएँ चीन ने रोक दीं और उसके लगभग २,००,००० सैनिक फ्रांसीसी, अंग्रेज और अमरीकी सेवाओं में भर्ती हो गए। पेरिस में जापान ने शानटंग पर अपना अधिकार घोषित किया जिसका चीन के प्रतिनिधियों ने विरोध किया। परिणाम यह हुआ कि जापान ने 'वार्साई की संधि' पर हस्ताक्षर नहीं किया और लीग ऑव् नेशंस का सदस्य बन गया। १९२१–२२ में वाशिंगटन संमेलन में चीन और जापान दोनों संमिलित हुए और 'शानटंग समस्या' को सुलझाने पर सहमत हो गए। धीरे धीरे चीन ने समुद्री व्यापार, विदेशी शासन में बँधे क्षेत्रों, हानकाऊ, तेनसिन तथा किउकयांग आदि पर अधिकार बढ़ाया। १९२६ में शंघाई के लिये बनाई गई 'अंतर्राष्ट्रीय समिति' में चीन के भी तीन सदस्य लिए गए। १९२८ में दीवानी और फौजदारी कानूनों के लिये नई संहिताएँ घोषित की गईं। धीरे धीरे चीन ने अपनी सत्ता को सबल बनाया।

चीन जापान युद्ध : १९३१ ई० में अचानक जापान ने चीन पर आक्रमण कर दिया। मंचूरिया पर आक्रमण कर शंघाई को ध्वस्त कर दिया गया। 'लीग ऑव नेशंस' ने जापानी हमले को रोकने का विफल प्रयत्न किया। १९३३ की सैनिक संधि के फलस्वरूप जापान जेहोल सहित मंचूरिया का स्वामी बन गया। होपेय का पूर्वी भाग भी उसके अधिकार में आ गया। चीनी बाजार में जापानी सामानों को भरकर, मंगोलों को आक्रमण में सहायता देकर और चीनी अधिकारियों के साथ अपमानजनक व्यवहार करके जापान ने चीन को खूब सताया। १९३७ तक चीन का प्रजातंत्र च्यांग काई शेक के नेतृत्व में अत्यधिक बलशाली हो गया। साम्राज्यवादी पर्याप्त और साम्यवादी उत्तर की ओर खदेड़ दिए गए और जापान के विरुद्ध लड़ने के लिये वे तैयार हो गए। राष्ट्रीय सेना में साम्यवादियों को भी भर्ती किया गया। सड़कें बन गईं तथा सेना को आधुनिक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित कर दिया गया। पेकिंग के पश्चिम में, चीन-जापान-संघर्ष प्रारंभ हुआ और तीव्र विरोध के बाद भी दिसंबर, १९३७ में नानकिंग का पतन हो गया। १९३८ में हानकाउ के पतन के बाद चुंगकिंग में राजधानी बनाई गई। रूस और अमरीका से मदद की गति धीमी थी। इसलिये चीन हारता ही गया। जापान ने दिसंबर, १९४१ में हांगकांग पर अधिकार कर लिया। फिर द्वितीय विश्वयुद्ध १९३९-४५ के नए रूप का प्रारंभ हुआ।

१९४५ ई० में जर्मनी पर विजय प्राप्त करने के बाद रूस ने मंचूरिया में प्रवेश किया। संयुक्त राज्य की हवाई और जलसेना ने उसी समय जापान पर आक्रमण किया। जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया। इससे वार्ता करके मंचूरिया पर अधिकार करने की चेष्टा की गई। नानकिंग पुनः चीन की राजधानी बनाई गई। १९४५-१९४६ में संयुक्त राज्य अमरीका ने चीन में शांति के लिये अथक प्रयास किया, किंतु सफलता नहीं मिली। आर्थिक संकट, युद्ध में हार, सामानों का अभाव, कुशासन तथा भ्रष्टाचार के कारण चीनी जनता के हृदय में राष्ट्रवादी सरकार के विरुद्ध असंतोष की ज्वाला भड़क गई। १९४८ के बाद साम्यवादी सेनाएँ विजय प्राप्त करने लगीं और १ अक्टूबर, १९४९ को चीन में साम्यवादी चीन के जनतंत्र (पीपुल्स रिपब्लिक) की स्थापना हुई।

(४) द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद का चीन — साम्यवादी क्रांति की सफलता के बाद 'चीनी जनतंत्र' की घोषणा की गई। माओ त्से तुंग इस जनतंत्र के अध्यक्ष और चाऊ एन लाई इसके प्रधान मंत्री घोषित हुए। १९४९ में रूस ने सर्वप्रथम 'चीनी जनतंत्र' को मान्यता दी; बाद में पोलैंड, हंगरी, रूमानिया, बलगेरिया, चेकोस्लोवाकिया और अलबानिया ने मान्यता दी। इसके बाद भारत, लंका, बर्मा, हिंद एशिया, मिस्र और युगोस्लाविया आदि देशों से चीन को मान्यता प्राप्त हुई। १९५० में ग्रेट ब्रिटेन की 'लेबर सरकार' ने चीन से संबंध स्थापित किया। नार्वे, अफगानिस्तान, नीदरलैंड और पाकिस्तान ने भी चीन से संबंध किया, किंतु संयुक्त राज्य अमरीका तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ से चीन को अभी तक मान्यता नहीं प्राप्त हो सकी। च्यांग काई शेक ने फारमोसा में राष्ट्रवादी सरकार स्थापित की और उन्होंने वहाँ से चीन के लिये 'मुक्ति-आंदोलन' चलाया। २७ जून, १९५० को अमरीका के राष्ट्रपति ट्रूमन ने कोरिया युद्ध के समय फारमोसा की रक्षा के लिये अपनी जलसेना के ७ वें बेड़े को प्रशांत सागर में रखने की घोषणा की। अक्टूबर, १९५१

में चीन ने तिब्बत पर हमला किया और मई, १९५१ में पंचेन लामा को मिलाकर उसपर अधिकार कर लिया। दलाई लामा हजारों अनुयायियों के साथ भारत में आ गए। २६ नवंबर, १९५० को चीनी सेना कोरिया की ओर आगे बढ़ी और संयुक्त राष्ट्र संघ तथा दक्षिणी कोरिया की सेना को पीछे हटने के लिये विवश किया। २७ जुलाई, १९५३ को एक संधि हुई और 'युद्धविराम रेखा' निर्धारित की गई। इस संधि की एक बड़ी विशेषता यह थी कि मुक्त होने के बाद ७४ प्र० श० चीनी सैनिकों ने साम्यवादी सरकार की निरंकुशता और बर्बरता के कारण चीन लौटकर जाना अस्वीकार कर दिया।

भारत की नीति प्रारंभ से ही चीन से मित्रता रखने और उसे सहायता पहुँचाने की रही। सन् १९४९ में चीन में कम्युनिस्ट शासन की स्थापना की घोषणा हो जाने पर भारत ने उसे अविलंब मान्यता दी और संयुक्त राष्ट्र संगठन में भी कुओमिंटांग शासन के बदले इसी 'पीपुल्स रिपब्लिक' को स्थान दिलाने के लिये भारत ने प्रयत्न किए। इस नेकी के बदले चीन ने भारत के प्रति छल कपट की नीति अपनाई। चीन, भारत से यही कहता रहा कि दोनों देशों के बीच परंपरागत चली आई सीमा उसे मान्य है, परंतु सन् १९५५ से चार वर्ष तक वह भारत की सीमा का सैनिक उल्लंघन समय समय पर करता रहा। इस छेड़खानी के प्रति भारत के विरोध और प्रतिवाद पर चीन ने तनिक भी ध्यान नहीं दिया और कुछ समय बाद लद्दाख के अक्सई चिन क्षेत्र मे अपनी सेना के लिये सड़क भी बना डाली। सितंबर, १९५९ में चीन ने भारत चीन की परंपरागत सीमा को अस्वीकार किया और भारत के ५०००० वर्गमील क्षेत्र को अपना बताने का दावा किया।

भारत चीन सीमा के संबंध में सबसे मुख्य प्रश्न तिब्बत की स्थिति का था जिसको सुलझाने के लिये भारत ने समझौते की बातचीत का सुझाव दिया। इसे पहले तो चीन ने स्वीकार किया परंतु दो महीने बाद ही ७ अक्टूबर, १९५० को उसने तिब्बत में अपनी फौजें भेजकर उसपर अधिकार जमा लिया। इस सैनिक कार्रवाई को भारत ने अनुचित तो माना परंतु चीन के साथ समझौते की बातचीत के परिणामस्वरूप भारत ने १९५४ में तिब्बत को चीन का अंग मान लिया। ब्रिटिश शासनकाल में भारत को जो सुविधाएँ तथा अधिकार तिब्बत में प्राप्त थे, उन्हें छोड़ने की उदारता दिखाई। दोनों देशों ने पंचशील के सिद्धांत अपनाने की प्रतिज्ञा की, जिसके अनुसार भविष्य में भारत और चीन के बीच यदि कभी कोई झमेला उठे तो वह सद्भावपूर्ण बातचीत के आधार पर सुलझाया जाता। परंतु यह समझौता ही जैसे चीनी छल कपट के अध्याय की भूमिका थी। चीन ने भारतीय सीमा के अंतर्गत उत्तरप्रदेश के बाराहोती स्थान को अपना बतलाया और वहाँ से भारतीय सेना हटाए जाने की माँग की। चीन की यह माँग सर्वथा अनुचित और आश्चर्यजनक थी। चीनी सेना बाराहोती में घुस आई और भारत के विरोध पर उसने चीन सीमाक्षेत्र के ऐसे नक्शे पेश किए जिनमें भारत चीन सीमा के विभिन्न अंचलों की लगभग ५०,००० वर्ग मील भारतीय भूमि चीन की सीमा के भीतर मानी गई थी। बाराहोती के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश के दमजन स्थान में भी चीनी सैनिक घुस आए जो भारत की सीमा के १० मील भीतर है। भारत द्वारा बारंबार आपत्ति करने पर भी चीन ने भारत के लोहित क्षेत्र के वालोंग स्थान में (१९५७) और लद्दाख के खुरनाक किले पर (१९५८) अपना अधिकार जमा लिया। भारत ने आपत्ति की और विवाद को संयुक्त राष्ट्रसंघ में ले जाने का प्रस्ताव किया, किंतु उसपर ध्यान नहीं दिया गया। चीनियों ने कुछ भारतीय गश्ती सिपाहियों को पकड़ लिया और उनके साथ कठोर व्यवहार किया। उन्होंने बाराहोती में ईंट गारा जमाकर अपनी स्थिति दृढ़ करना शुरू कर दिया। इसके सिवा मोटर की सड़क बनाना, लपथल में हवाई अड्डा बनाना और भारत के सीमांत क्षेत्रों पर हवाई जहाज उड़ाना शुरू किया। फलतः १० दिसंबर, १९५८ को भारत ने बाराहोती, लपथल और संगचमल्ला से हट जाने के लिये लिखा और चीन के भौगोलिक मानचित्र की भ्रमात्मकता पर चाऊ-एन-लाई का ध्यान आकर्षित किया। भारत भूमि की नभसीमा पर चीनी हवाई जहाजों की उड़ान पर आपत्ति की। इस प्रकार की लिखा पढ़ी पर २३ जून को चाऊ-एन-लाई ने उत्तर भेजा कि 'मैकमोहन' द्वारा निर्धारित सीमांत रेखा को चीन ने कभी स्वीकार नहीं किया और चीनियों की सीमांत रेखाएँ ही, पूर्वप्रकाशित मानचित्रों के अनुकूल होने से, विश्वसनीय हैं। ये सब बातें सन् १९५४ के समझौते के प्रतिकूल ठहरती थीं।

मार्च, १९५७ में दलाई लामा तिब्बत से भाग कर भारत में आए। उनको इस शर्त पर शरण दी गई कि वह भारत में रहते हुए राजनीतिक मामलों से विरत रहें। किंतु चीनियों ने आपत्ति की और मई में यह आरोप लगाया कि भारत पंचशील का उल्लंघन कर रहा है। भारत सरकार ने इस धारणा को अनुचित एवं भ्रमात्मक बतलाया, साथ ही चीन सरकार द्वारा तिब्बत में भारतीय व्यापारियों और तीर्थयात्रियों आदि के प्रति उत्पन्न की गई असुविधाओं की ओर उसका ध्यान आकर्षित करते हुए, उन्हें दूर करने का प्रस्ताव भेजा। वे फिर भी अतिक्रमण और धर पकड़ करते रहे और नए अड्डे बनाते रहे। वास्तव में, उन्होंने उत्तरी-पूर्वी सीमाप्रांत के लाँग्जू नामक भारतीय अड्डे पर गोलाबारी के साथ आक्रमण किया। लद्दाख सीमा का उल्लंघन कर चालीस मील भीतर घुस आए और कुछ भारतीय सैनिकों को मारकर कुछ को पकड़ ले गए। इतने पर भी भारत ने सन्, ६० में प्रस्ताव किया कि वह अपने सैनिकों को सीमा रेखा से हटा लेगा किंतु चीनी सैनिक भी उन स्थानों से हट जायँ जो भारतीय सीमारेखा के अंतर्गत हैं। चीन ने उसपर ध्यान नहीं दिया, उलटे चीनी सैनिक भारतीय सीमारेखा के अंदर अन्य स्थानों में भी घुसने लगे। भारत के प्रधान मंत्री श्री नेहरू जी ने चाऊ-एन-लाई को आमंत्रित किया कि वह मौखिक वार्तालाप करके मामला साफ कर लें। चाऊ-एन-लाई आए किंतु समस्या हल न हुई और स्थिति पूर्ववत् बनी रह गई। ३ जून, १९६० को चीनी सेना की एक टुकड़ी टैक्सांग गोंप्या में घुस आई और इधर उधर सीमा का उल्लंघन करने लगी। भारत ने मार्च से अगस्त, १९६० तक के ५२ उदाहरण भारत की सीमा के भीतर चीनी हवाई जहाजों की उड़ान के दिए किंतु, उसपर कुछ ध्यान देना तो दूर रहा, वे इतस्ततः भारतीय सीमा के भीतर घुसते ही रहे और अड्डे जमाते रहे (१९६१)। यही सिलसिला सन् १९६२ में भी चलता रहा। ३ मई, १९६२ को भारत द्वारा आपत्ति करने पर भी पाकिस्तान ने कराकोरम की घाटी के पश्चिमी भाग की अनधिकृत भारतीय भूमि प्रदान कर, चीनियों से समझौता कर लिया। फिर भी चीनी भारत में अनाधिकार पदक्षेप करते ही रहे। वे विचार विनिमय के प्रस्ताव की भी अवहेलना करते रहे और अगस्त तक १८ नए

अड्डे भारत भूमि पर बनाते चले गए। सितंबर में भी उत्तरी पश्चिमी प्रांत में अड्डों का निर्माण करते रहे।

२० अक्टूबर, १९६२ को चीनियों ने पूर्वोत्तर तथा पश्चिमोत्तर सीमाक्षेत्रों में बड़े पैमाने पर सैनिक कारवाई की और सुनियोजित आक्रमण कर वे भारत की सीमा में बहुत दूर तक बढ़ आए। भारत पर इस व्यापक चीनी आक्रमण की संसार के प्रायः सभी देशों ने निंदा की और इसके प्रतिरोध के लिये अमरीका, इंग्लैंड, रूस आदि ने सैनिक सामग्री की सहायता भी दी। चीन ने जिस आकस्मिक रूप में आक्रमण प्रारंभ किया था उसी प्रकार कुछ दिनों बाद अपना आक्रमण बंद कर दिया और प्रस्ताव किया कि चीन और भारत पारस्परिक बातचीत के आधार पर समझौता कर लें। भारत के जिन स्थानों पर चीनी सैनिकों का अधिकार हो गया था उनसे वह थोड़ा पीछे तो हट गए किंतु साथ ही यह धमकी भी दी कि जिन स्थानों से वे अपनी फौजें हटा रहे हैं उनपर पुनः अधिकार करने की चेष्टा यदि भारत ने की तो चीन फिर आक्रमण प्रारंभ कर देगा। भारत ने उत्तर में कहा कि ८ सितंबर, १९६२ की सीमा संबंधी स्थिति जब तक चीन नहीं मान लेता तब तक समझौते की पारस्परिक बातचीत संभव नहीं है।

लंका, अरब गणराज्य आदि एशिया और अफ्रीका के छह तटस्थ देशों के नेतागण चीन-भारत-संघर्ष की समाप्ति के लिये प्रयत्नशील हुए। उन्होंने कुछ प्रस्ताव दोनों देशों की स्वीकृति के लिये स्थिर किए। इसमें कहा गया था कि चीन-भारत-सीमा पर २० किलोमीटर का असैनिक क्षेत्र स्थिर किया जाय जिसके भीतर दोनों देश सैनिक कारवाई करने से विरत रहें। इस असैनिक क्षेत्र में भारत और चीन दोनों ही अपनी असैनिक चौकियाँ रखें। इन प्रस्तावों को लेकर लंका की प्रधान मंत्री श्रीमती भंडारनायक स्वयं चीनी प्रधान मंत्री चाऊ-एन-लाई और भारत के प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू से मिलीं। भारत ने तो इन प्रस्तावों को पूर्णरूपेण स्वीकार कर लिया परंतु चीन ने ऐसा करने से इनकार किया। लार्ड रसेल ने प्रस्ताव किया था कि लद्दाख के असैनिक क्षेत्र में सैनिक चौकी बनाने से चीन और भारत दोनों विरत रहें और इस आधार पर इन दोनों देशों के बीच समझौते की सीधी बातचीत प्रारंभ हो। परंतु चीन ने इसे भी अस्वीकार कर दिया। अतः समझौते की बातचीत के सभी आधार चीन के दुराग्रह के कारण समाप्त हो चुके हैं। अक्साई चिन और लद्दाख के जिन भारतीय क्षेत्रों पर चीन ने सैनिक कारवाई द्वारा अनुचित अधिकार कर लिया है वहाँ इस बीच वह पत्थर गाड़कर अपनी सीमा रेखा निर्धारित कर रहा है। इसका भारत की ओर से प्रतिवाद किया गया है।

प्रशासनात्मक स्वरूप : राष्ट्रवादी सरकार ने १९४७ में चीन को ३५ प्रांतों में बाँट दिया था। प्रत्येक प्रांत कई शिन (जिलों) और स्येन (परगनों) में बँटे थे। इसके अतिरिक्त तिब्बत का विशेष क्षेत्र और १२ विशेष कोटि की म्यूनिसिपलटियाँ स्थापित हुईं। १९४९ में साम्यवादी सरकार ने राजनीतिक स्वत्वहीनता के बावजूद फारमोसा को भी संमिलित करके ३२ प्रांतों तथा १२ विशिष्ट म्यूनिसिपलटियों में बाँट दिया, जिन्हें छह बड़े प्रशासनात्मक क्षेत्रों के अंतर्गत रखा। १९५६ तक २२ प्रांतों में चीन का पुनर्गठन किया गया और इसके अतिरिक्त तीन स्वायत्त शासन क्षेत्र बनाए गए, जिनके नाम तिब्बत, सिनक्यांग और आभ्यंतर मंगोलिया हैं। पेकिंग, शंघाई और तेनसिन तीन विशेष म्यूनिसपलटियाँ हैं। मुख्य चीन में १८ प्रांत हैं यह क्षेत्र देश के दक्षिणी-पूर्वी भाग में स्थित है। यद्यपि क्षेत्रफल की दृष्टि से यह देश का ३६.७ प्र० श० है किंतु इस क्षेत्र में देश की ८९ प्र० श० जनता रहती है। उत्तरी सीमा इस क्षेत्र की १२५० मील लंबी चीनी दीवार से बंद है। मंचूरिया में तीन प्रांत संमिलित हैं, जो उत्तर में अमूर नदी से लेकर दक्षिण में लायोनिंग तक फैला है। मंचूरिया का क्षेत्रफल ४,१३,३०६ वर्ग मील और जनसंख्या ४,६८,९३,३५१ है। गोबी के रेगिस्तान के समीप मंगोलिया का पठार है, जिसमें बाह्य मंगोलिया तथा तूर्विनियन क्षेत्र रूसी प्रभाव में हैं और भीतरी मंगोलिया चीनी अधिकार में। १९५६ में इस क्षेत्र की जनसंख्या ६१,००,१०४ तथा क्षेत्रफल, २,३६,७०७ वर्ग मील था। सिक्यांग में भी पर्वतीय और रेगिस्तानी भाग हैं। इसकी सीमाएँ रूसी क्षेत्र का स्पर्श करती हैं। इसकी जनसंख्या ४८,७३,६०८ और क्षेत्रफल ६०,९७६ वर्ग मील है। यहाँ की अधिकांश जनसंख्या तारिम नदी की घाटी में रहती है। तिब्बत के पठार को 'दुनियाँ की छत' कहते हैं। इसका क्षेत्रफल ४,६९,४१३ वर्ग मील और जनसंख्या १२,७३,९६९ है। तीन स्वतंत्र नगरों के नाम पेकिंग (क्षेत्रफल ९ वर्गमील, जनसंख्या २७,६८,१४९), शंघाई (क्षेत्रफल ७ वर्ग मील और जनसंख्या ६२,०४,४१७ तथा तेनसिन (क्षेत्रफल ९ वर्गमील और जनसंख्या २६,९३,८३१) है। [कृ० मो० गु०]

चीन कुलीज मिर्जा कुलीज मोहम्मद खाँ का पुत्र। यह स्वतंत्र विचारक, साहसी, और प्रशासन में चतुर था। जौनपुर और बनारस में फौजदार नियुक्त रहा। कुलीज मोहम्मद खाँ की मृत्यु पर इसका छोटा भाई मिर्जा लाहौरी, सम्राट् अकबर के राज्य में विद्रोह और उपद्रव करने लगा। जौनपुर के आसपास भी इसने लूटमार प्रारंभ कर दी। इसका परिणाम मिर्जा चीन कुलीज खाँ का विनाश हुआ।

चीनी (शर्करा) कार्बनिक यौगिकों का एक वर्ग 'कार्बोहाइड्रेट' है। कार्बोहाइड्रेटों के एक समूह के यौगिकों को शर्करा कहते हैं। कुछ शर्कराएँ प्रकृति में पाई जाती हैं और कुछ संश्लेषण से प्रयोगशालाओं में तैयार हुई हैं। शर्कराएँ उदासीन यौगिक हैं। पानी में जल्द घुल जाती, एलकोहल में कठिनता से घुलतीं और ईथर में बिल्कुल घुलती नहीं हैं। गरम करने से ये भूरी होकर झुलस जाती हैं। जलने पर विशेष प्रकार की गंध देती हैं, जिसे 'जली शर्करा की गंध' कहते हैं। शर्कराएँ प्रकाश-सक्रिय होती हैं। प्रत्येक शर्करा का अपना विशिष्ट घूर्णन होता है।

कुछ शर्कराएँ फेलिंग विलयन का अवकरण करतीं, कुछ फेनिल हाइड्रेजिन से अविलेय मणिभीय ओसोजोन बनती और कुछ किण्वन क्रिया देती हैं जिनसे शर्कराओं को पहचानने में सहायता मिलती है।

वैज्ञानिकों ने शर्कराओं को तीन वर्गों में विभक्त किया है। एक वर्ग की शर्कराओं को 'मोनो-सैकराइड', दूसरे वर्ग की शर्कराओं को 'डाइ-सैकराइड' और तीसरे वर्ग की शर्कराओं को 'ट्राइ-सैकराइड' कहते हैं। इनमें 'डाइ-सैकराइड' अधिक महत्व के हैं। प्रथम वर्ग की शर्कराओं में द्राक्षा-शर्करा (glucose) और फलशर्करा (fructose), दूसरे वर्ग की शर्कराओं में इक्षुशर्करा (चीनी; sucrose), दुग्धशर्करा (lactose) और माल्ट शर्करा हैं। तीसरे वर्ग की शर्कराओं में स्टार्च और सेलूलोज हैं। (देखें कार्बोहाइड्रेट)

इक्षुशर्करा — इक्षुशर्करा को साधारणतया 'चीनी' और कहीं कहीं 'शक्कर' भी कहते हैं। उद्भिद् जगत् के पेड़ पौधों की जड़ों, डंठलों, [illegible] और अधिकांश फलों के रसों में विस्तृत रूप से फैली हुई चीनी पाई जाती है। ईख, चुकंदर, शकरकंद, [illegible]

मक्का के डंठलों और मैपल पेड़ के रस में चीनी विशेष रूप से पाई जाती है। ईख और चुकंदर से बड़ी मात्रा में चीनी तैयार होती है। ईख उष्ण देशों में और चुकंदर समशीतोष्ण देशों में उपजता है। समस्त संसार के उत्पादन की दो तिहाई चीनी ईख से और एक तिहाई चुकंदर से प्राप्त होती है। चुकंदर से चीनी प्राप्त करने की मात्रा धीरे धीरे बढ़ रही है। भारत में ताड़ के रस से गुड़ तैयार होता है और उससे चीनी तैयार करने का भी प्रयास हो रहा है।

चीनी एकनत मणिभ बनाती है। यह पानी में शीघ्र घुल जाती है और ऐलकोहल में कठिनता से घुलती है। २०° सें० पर संतृप्त विलयन में ६७·१ प्रति शत चीनी रहती है। इसका विलयन प्रकाशतः 'दक्षिणावर्ती' (dextrorotatory) होता है। इसका विशिष्ट घूर्णन + ६६·५३° है। यह गरम करने से विघटित हो झुलस जाती है और जली शर्करा की गंध देती है।

भारत, हवाई, फिलिपाइन, जावा, क्यूबा, पोर्टोरिको, बरबेडोज, नेटाल, मॉरिशस, साउथ क्विन्सलैंड तथा न्यू साउथ वेल्स में ईख के डंठलों से और यूरोप, कैनाडा और अमरीका के कुछ राज्यों — मिशिगैन, ऊटा, कोलोरैडो और तटवर्ती कैलिफोर्निया में चुकंदर से बड़े पैमाने पर चीनी प्राप्त होती है। दोनों स्रोतों से प्राप्त शुद्ध चीनी में कोई अंतर नहीं होता।

चुकंदर से चीनी — चुकंदर की जड़ में पहले केवल पाँच प्रति शत चीनी पाई गई थी पर उन्नत कर्षण और उपयुक्त खाद के उपयोग से चीनी की मात्रा २० प्रति शत तक बढ़ाई गई है। औसत मात्रा १७ प्रति शत रहती है। चुकंदर से चीनी प्राप्त करने की विधि को 'विसार विधि' (Diffusion process) कहते हैं। विसार विधि से प्राप्त चीनी के रस में अपद्रव्यों की मात्रा अपेक्षया कम रहती है।

चीनी तैयार करने के लिये चुकंदर की जड़ की सफाई होती है। जड़ में चिपकी मिट्टी, कंकड़ पत्थर, छोटे छोटे तंतु आदि निकाल दिए जाते हैं, फिर उसे यंत्रों से पतले कतलों में काटते हैं ताकि चीनी वाली कोशिकाएँ निकल आएँ। अब कतलों को एक पंक्ति में रखे गहरे बेलनाकार पात्रों में रखते हैं। ये पात्र एक के बाद दूसरे ऐसे रखे होते हैं कि एक का पानी दूसरे में सरलता से पेंदी की नली द्वारा बहकर निकल सके। पहले के कुछ पात्रों में ऐसे कतले रखे जाते हैं जिनसे चीनी एक बार निकाल ली गई है। बाद के पात्रों में ताजे कतले रहते हैं। पहले पात्र में ताजा गरम पानी डालते हैं जो क्रमशः विभिन्न पात्रों द्वारा बहता हुआ अंत में उन पात्रों में पहुँचता है जिनमें चुकंदर के बिलकुल ताजे कतले रखे होते हैं। जब प्रथम पात्र के कतलों की समस्त चीनी निकल जाती है तब उसे निकालकर उसके संनिकट के दूसरे पात्र को प्रथम स्थान देते और अंत में ताजे कतलेवाला एक पात्र जोड़ देते हैं। यह क्रम बराबर चलता रहता है। अंतिम पात्र तक पहुँचते पहुँचते रस मेघाभ हो जाता है और चीनी की मात्रा १२-१५ प्रति शत तक पहुँच जाती है। घनत्व १४°–१७° ब्रिक्स हो जाता है। ऐसे रस में चीनी के अतिरिक्त कुछ अशर्कराएँ, फॉस्फोरिक, सलफ्यूरिक, हाइड्रोक्लोरिक, आक्सैलिक और टार्टरिक अम्लों के पोटाश लवण, प्रोटीन, ऐमिनो-अम्ल, नाइट्रोजन सम्पाक्षार, पेक्टिन और अल्प अपवृत्त-शर्करा रहती है।

दो से तीन प्रति शत चूना डालकर प्रायः दो घंटे तक गरम करने से रस का विमलीकरण होता है। उसके बाद कार्बन डाइ-ऑक्साइड पारित कर 'कारबोनेटीकरण' द्वारा चूने के आधिक्य को निकाल लेते हैं। कैलसियम कार्बोनेट का अवक्षेप बनता है। अवक्षेप के साथ साथ अधिकांश अपद्रव्य भी निकल जाते हैं। कुछ कारखानों में केवल एक कार्बोनेटीकरण पर्याप्त होता है और कहीं कहीं यह दोहराया या तेहराया भी जाता है। अब रस को निर्वात दावक में छानकर बहुप्रभाव (साधारणतया दो या तीन प्रभाव) उद्वाष्पक में रखकर गाढ़ा करते हैं। जब मणिभ निकल आते हैं तब निर्वात कड़ाह में रखकर ठंढा करते हैं। गरम करने में सावधानी रखते हैं ताकि ताप इतना ऊँचा न हो जाए कि चीनी विच्छिन्न होने लगे और उसमें रंग आ जाए। निर्वात कड़ाह के इस उत्पाद को मासक्विट (masscuite) या 'रवा' कहते हैं। इसमें चीनी के मणिभ और छोआ दोनों रहते हैं। ठंढा करने से धीरे धीरे और मणिभ निकलते हैं। मासक्विट को अपकेंद्रित्र में रखकर मणिभ और छोआ को अलग अलग करते हैं। मणिभ को फिर पानी से धो लेते हैं। ऐसा मणिभ बिल्कुल सफेद नहीं होता। इसमें कुछ रंग रह जाता है। ऐसी रंगीन चीनी की सफाई वैसे ही होती है जैसे ईख की चीनी की। तब इस चीनी और ईख की चीनी में कोई अंतर नहीं रह जाता है। दोनों बिलकुल एक सी होती हैं। छोआ का सांद्रण कर उससे और मणिभ प्राप्त कर सकते हैं। अवशिष्ट छोए में कुछ चीनी अब भी रह जाती है किंतु उससे और चीनी निकलना आर्थिक दृष्टि से लाभदायक नहीं होता। इस छोए के उपयोग वे ही हैं, जो ईख के छोए के हैं। इसका किण्वन कदाचित् ही होता है।

ईख से चीनी — ईख एक प्रकार की घास है जिसमें एक डंठल होता है। डंठल के शिखर पर पत्तों का एक गुच्छा लगा रहता है। ईख और चुकंदर से चीनी निकालने के सिद्धांत एक से ही हैं यद्यपि विस्तार में कुछ अंतर हो सकता है। ईख को खेतों से काटकर, पत्तों को छील कर शिखर के गुच्छे को तोड़ कर जल्द से जल्द कारखाने में लाते हैं नहीं तो अपवर्तन से कुछ चीनी के नष्ट हो जाने की आशंका रहती है। कारखानों में ईख को छोटे छोटे टुकड़ों में काटकर कुचलते हैं ताकि कोशिकाएँ खुल जाएँ। फिर उसे बेलन कोल्हू में पेरते हैं। कोल्हू नलीदार होता है और धीरे धीरे चलता है। कोल्हू में तीन बेलन होते हैं, दो नीचे और एक ऊपर जिनके बीच ईखें दबाई जाती है। यदि पानी न डाला जाय तो ऐसे दलन को 'शुष्क दलन' कहते हैं। पर साधारणतया कुछ रस निकल जाने पर गरम पानी छिड़ककर दोबारा या तिबारा फिर बेलन कोल्हू में पेरते हैं। ऐसे दलन को 'गीला दलन' कहते हैं। रस चूकर द्रोणी में इकट्ठा होता है। गीले दलन से रस कुछ हल्का अवश्य हो जाता है, पर ईख से अधिकतम चीनी निकल आती है। हल्के और गाढ़े दोनों रसों को मिला देते हैं। ईख में रस की मात्रा विभिन्न स्थलों में विभिन्न होती है। ईख की परिपक्वता पर भी रस में चीनी की मात्रा निर्भर करती है। ईख का प्रायः ६० से ८० प्रति शत रस निकल जाता है। कोल्हू जितना ही दक्ष होगा उतना ही अधिक रस निकलेगा। ऐसे रस का संघटन एक सा नहीं होता। इसका औसत विश्लेषण निम्नलिखित है :

	प्रति शत
जल	७७–८८
चीनी	८–२१
अपवृत्त शर्करा	०·३–३·०
राख	०·२–०·६
कार्बनिक अशर्कराएँ	०·५–१·०

ऐसा रस गँदला और अम्लीय पी एच० ४·८ से ५·६, होता है। इसकी शर्करा का अपवर्तन बहुत शीघ्र होता है। अपवर्तन रोकने के लिये इसको मिश्रक टंकी में रखकर पर्याप्त चूना डालकर क्षारीय बना देते

हैं। इतना चूना डालते हैं कि पी एच० ७·०–७·२ हो जाय। चूना डालकर रस को प्राय: एक घंटे तक गरम करते हैं। गरम करने से रस के कुछ कोलायडल अपद्रव्य अवक्षिप्त होकर अलग हो जाते हैं। रस के अम्ल चूने के साथ मिलकर अम्लता को दूर कर कैलसियम लवणों को अवक्षिप्त करते हैं। इसको कुछ समय तक रख देने से अवक्षिप्त अपद्रव्य तल में बैठ जाते और ऊपर का स्वच्छ द्रव बहाकर निकाल लिया जाता है। आजकल अपद्रव्यों को निकालने के लिये छनने बने हैं जिनमें छानने से रस के अपद्रव्य और अवक्षेप निकल जाते हैं। छनने के पट्टों में अपद्रव्य टिकियों के रूप में प्राप्त होते हैं। इनका उपयोग खाद के लिये होता है।

स्वच्छ रस में प्राय: १८ प्रति शत तक चीनी रहती है। रस को उद्वाष्पकों में गाढ़ा करते हैं ताकि चीनी की मात्रा लगभग ५० प्रति शत हो जाय, ऐसा गाढ़ा विलयन स्वच्छ, पर अधिक श्यान होता है। उद्वाष्पन बंद पात्र में न्यून दबाव पर किया जाता है। न्यून दबाव से उद्वाष्पन का ताप ऊँचा नहीं उठता। खुले पात्र में सामान्य दबाव पर उद्वाष्पन से शीरे का रंग गाढ़ा हो जाता है और कुछ चीनी विच्छिन्न भी हो जाती है। शीरे को इतना गाढ़ा करना चाहिए कि महत्तम चीनी निकल सके। अनुभव से ही यह पता लगता है कि शीरा कितना गाढ़ा होना चाहिए। इस काम पर नियुक्त व्यक्ति अनुभवी होते हैं, जो आँखों से देखकर ही बता देते हैं कि उद्वाष्पन कब बंद कर देना चाहिए। इस काम के लिये अब यंत्र भी बने हैं।

जब शीरा यथोचित गाढ़ा हो जाता है तब उसे निर्वात कड़ाह में ठंढा होने और मणिभ बनने के लिये छोड़ देते हैं। मणिभ और छोए के इस मिश्रण को 'मासक्िट' या 'रवा' कहते हैं। मासक्िट में प्रायः ८२ प्रति शत चीनी और ८ प्रति शत जल रहता है। मासक्िट की समस्त चीनी का ५६ प्रति शत मणिभ के रूप में और शेष ४४ प्रति शत विलयन में रहता है। ठंढा करने पर मणिभीय चीनी की मात्रा ६५ प्रति शत तक हो जाती है। आवश्यक मणिभ पृथक् हो जाने पर अपकेंद्रित्र में मणिभ को छोए से अलग करते हैं। जब सारा छोआ निकल जाता है, तब मणिभ को एक बार फिर पानी से धोकर सुखा लेते हैं। इस प्रकार कच्ची चीनी या अपरिष्कृत चीनी प्राप्त होती है। इसका रंग बिल्कुल सफेद नहीं होता। अनेक कारखानों में इसी रूप में चीनी बेच दी जाती है।

चीनी का परिष्कार — कच्ची चीनी में प्राय: ६५ प्रति शत चीनी, १·० प्रति शत ग्लूकोज, ०·५५ प्रति शत राख और शेष जल रहता है। इसमें कुछ रंग और अल्प गंध भी रहती है। सफाई करने से इसके रंग और गंध दूर हो जाते तथा समस्त अपद्रव्य भी निकल जाते हैं। सफाई के लिये कच्ची चीनी को पूर्व के धावन के विलयन से प्राप्त अवशेष विलयन के साथ मिलाते हैं जिससे कुछ रंग निकल जाता और अविलेय मणिभ रह जाते हैं। उसका अपकेंद्रण कर टोकरियों में धोते और बहुत थोड़े जल में घुलाकर शीरा बनाते हैं। शीरे में थोड़ा चूना डालकर भाव पारित करते हैं। उसे फिर हड्डी के चूरे पर २० फुट ऊँचे और तीन फुट चौड़े सिलिंडरों में छानते हैं। छने हुए विलयन को पूर्व की भाँति मासक्िट बनाकर फिर दानेदार चीनी को अपकेंद्रित्र में अलग कर घूर्णक शोषक में सुखाकर साफ चीनी प्राप्त करते हैं।

कुछ समय के बाद हड्डी का चूरा निष्क्रिय हो जाता है, उसे धोकर वायु की अनुपस्थिति में रक्त तप्त (red hot) कर फिर सक्रिय बना लेते हैं। कई उपचार के बाद हड्डी का रंग दूर करने का गुण बिल्कुल नष्ट हो जाता है। तब उसे फास्फेट के कारण उर्वरक के काम में लाते हैं।

हड्डी के चूरे के स्थान पर आज कल अन्य पदार्थों का उपयोग बढ़ रहा है। एक ऐसा ही पदार्थ 'सचार' (Suchar) है जो नारियल के कोयले से तैयार हुआ है। 'सचार' को एक बार उपयोग कर फेंक देते हैं। इसी तरह के अन्य पदार्थों में 'नौरिट' (Norit), डारको (Darco) तथा सुक्रोब्लांक हैं। 'सुक्रोब्लांक' (Sucroblanc) की सर्वप्रियता दिनों दिन बढ़ रही है। सुक्रोब्लांक में कैलसियम परक्लोराइट, कैलसियम सुपर फास्फेट, चूना और 'फिल्टरसेल' (Filtercell) रहते हैं। इसके उपचार से अल्प ऑक्सीजन उन्मुक्त होता है जो कोलायडल अपद्रव्यों को ऊपर तल पर उठा देता है। पेंदे से वर्णरहित स्वच्छ विलयन निकाल लिया जाता है। चूने के आधिक्य को कार्बन डाइ-ऑक्साइड से न निकालकर यदि सल्फर डाइ-ऑक्साइड से निकालें तो उससे भी रस का विलयन वर्णरहित हो जाता और साफ चीनी प्राप्त होती है। इसको 'सल्फिटेशन' (Sulphitation) विधि कहते हैं। किसी कारखाने में केवल कारबोनेशन विधि, किसी में केवल सल्फिटेशन विधि और किसी किसी में कारबोनेशन और सल्फिटेशन दोनों विधियाँ साथ साथ प्रयुक्त होती हैं।

चीनी के स्वच्छ विलयन को उद्वाष्पकों में पूर्व की भाँति गाढ़ाकर घूर्णक शोषकों में गरम वायु से सुखाकर चलनी में चालकर भिन्न भिन्न आकार के मणिभों को अलग अलग बोरों में भरकर बाजारों में भेजते हैं।

चीनी के निर्माण की सफलता के लिये ईख का चुनाव, चूने की मात्रा, विमलीकरण क्रिया का संपादन और मणिभों का पृथक्करण उचित ढंग से होना चाहिए।

चीनी के निर्माण में निम्नलिखित उपजात प्राप्त होते हैं :

(१) रस की तलछट, (२) छोआ, (३) निकोटिनिक अम्ल, (४) मोम और (५) सीठा या खोई।

रस की तलछट में पर्याप्त नाइट्रोजन रहता है। खाद के लिये इसका उपयोग होता है। जलाने से कार्बोनेट और फॉस्फेट प्राप्त होते हैं जो सीमेंट बनाने में प्रयुक्त हो सकते हैं।

जितनी चीनी बनती है उसके प्राय: आधे परिमाण में छोआ प्राप्त होता है। छोआ के एक बार फिर सांद्रण से चीनी के मणिभ प्राप्त हो सकते हैं। बेरियम सैकेरेट विधि से भी चीनी प्राप्त हो सकती है। इस विधि में छोआ को बेरियम हाइड्रॉक्साइड के साथ उपचारित करते हैं। इससे बेरियम सेकेरेट का अवक्षेप प्राप्त होता है। इस अवक्षेप को कार्बन डाइ-ऑक्साइड के साथ उपचारित करने से बेरियम कार्बोनेट अवक्षिप्त हो जाता है और चीनी विलयन में रह जाती है। पूर्व की भाँति विलयन के उपचार से चीनी के मणिभ प्राप्त हो सकते हैं। पर साधारणतया ऐसा नहीं होता क्योंकि आर्थिक दृष्टि से यह लाभप्रद नहीं है। बेरियम कार्बोनेट फिर बेरियम हाइड्रॉक्साइड में परिणत किया जा सकता है, छोए के किण्वन से एथिल ऐलकोहल (स्पिरिट), ऐसीटोन, ब्युटिल, ऐलकोहल, सिट्रिक अम्ल आदि अनेक उपयोगी उत्पाद प्राप्त हो सकते हैं जो रबर, प्लास्टिक और ओषधियों के निर्माण में काम आते हैं। छोआ पशुओं को खिलाया भी जाता है। पीने की तंबाकू बनाने में छोआ काम आता है।

छोए में निकोटिनिक अम्ल पाया गया है। यह सरलता से निकाला जा सकता है। प्लास्टिक और इमलशन के निर्माण तथा सूक्ष्म कीटाणुओं का नाश करने में इसका व्यवहार होता है।

ईख के रस में कुछ मोम भी रहता है, मोम कठोर और कोमल दोनों किस्म का होता है। यह मोम निकाला गया है।

ईख का रस निकाल लेने पर जो अवशिष्ट अंश बच जाता है उसे सीठा या खोई कहते हैं। पहले यह केवल पशुओं को खिलाने और जलावन में प्रयुक्त होता था। पर अब इसके उपयोग दिन दिन बढ़ रहे हैं। खोई की लुगदी से कागज तैयार किया गया है। छप्पर बनाने के काम में आनेवाला सेलोटेक्स (Celotex) नामक गृहनिर्माण का एक प्रकार का मजबूत तख्ता या चादर, जो प्रायः एक चौथाई इंच मोटी बनती है, इसी से बनती है। यह लकड़ी से अधिक मजबूत होती है और इसका विद्युद्वरोधक गुण भी उत्कृष्ट होता है। इसके सैलूलोज से रेयन भी बन सकता है।

चीनी के उपयोग — मनुष्य के आहार में चीनी अत्यावश्यक नहीं, पर मीठे स्वाद और सरलता से प्राप्ति के कारण मनुष्य का यह एक प्रमुख आहार बन गया है। चीनी बलवर्धक है, शरीर में शक्ति उत्पन्न करती और थकावट दूर करती है। अधिकांश चीनी खाने में ही खर्च होती है। आहार के बाद चीनी का व्यापक उपयोग ओषधियों में होता है। अनेक ओषधियों के कड़ुए स्वाद को छिपाने में चीनी के शीरे का उपयोग होता है। चीनी के सहयोग से कुछ ओषधियों का प्रभाव मानव शरीर पर जल्द पड़ता है। ऐसा अनुमान है कि प्रति वर्ष दह करोड़ पाउंड चीनी एलोपैथिक ओषधियों में खपती है। च्यवनप्राश सदृश अनेक आयुर्वेदिक ओषधियों में भी चीनी का उपयोग होता है। फलों के संरक्षण में चीनी खर्च होती है। मांस भी चीनी से सुरक्षित रखा जाता है। शर्बत और फेनिल पेय तैयार करने में पर्याप्त चीनी खपती है। कुछ सुगंध भी चीनी से बनते हैं। अनेक खाद्य सामग्रियों, रंगों, अभिघटकों और विटामिनों के निर्माण में चीनी लगती है

चीनी का विश्लेषण — चीनी का विश्लेषण महत्व का है। चीनी की मात्रा निर्धारित करने में साधारणतया दो विधियाँ, एक भौतिक और दूसरी रासायनिक, प्रयुक्त होती हैं। भौतिक विधि में जो उपकरण प्रयुक्त होता है उसे शर्करामापी (Saccharimeter) कहते हैं। इससे चीनी का विशिष्ट घूर्णन मापा जाता है जिससे चीनी की मात्रा निकाली जाती है। रासायनिक विधि में फेलिंग का विलयन प्रयुक्त होता है।

फेलिंग के विलयन में घुला हुआ कॉपर ऑक्साइड रहता है। चीनी के जलविश्लेषण से जो द्राक्षशर्करा और फलशर्करा दो यौगिक बनते हैं वे कॉपर ऑक्साइड का अवकरण करते हैं जिससे कॉपर ऑक्साइड के विलयन का नीला रंग निकल जाता है अथवा तांबे का निम्नतर ऑक्साइड बनता है जो जल में अविलेय होने के कारण अवक्षिप्त होकर पृथक् हो जाता है। अवक्षेप को धो और सुखाकर तौलते हैं और इस भार से चीनी की मात्रा निर्धारित करते हैं। [फू० स० व०]

चीनी चित्रकला दे० 'ललितकला'।

चीनी दर्शन क. **चीनी दर्शन की उत्पत्ति** — भारतीय एवं चीनी दर्शनों के मध्य अनेक समानताएँ हैं। जिस प्रकार भारतीय दर्शन चारो वेदों, विशेषकर ऋग्वेद से प्रारंभ होता है, उसी प्रकार चीनी दर्शन यह 'चिंग' या मार्गों, विशेषतया 'यी चिंग' या परिवर्तनों की पुस्तक से प्रारंभ होता है।

'यी चिंग' का प्रारंभ ६४ प्रतीकों से होता है जिन्हें 'कुआ' या रेखित चित्र कहते हैं। इन रेखित चित्रों में से प्रत्येक में छह सीधी रेखाएँ होती हैं जो टूटी हुई या बिना टूटी हुई या दोनों प्रकार की होती हैं। विदेशी विद्वानों ने इन्हें षड्रेखाकृति की भी संज्ञा दी है। ये षड्रेखाकृतियाँ आठ मौलिक एवं अधिक साधारण प्रतीकों द्वारा बनी हैं। प्रत्येक में तीन सीधी रेखाएँ बनी रहती हैं जो या तो खंडित हैं या बिना खंडित रहती हैं। इन्हें 'पा कुआ' या आठ 'त्रिग्राम' कहते हैं। ये निम्नांकित हैं :

संख्या	रेखाकृति	नाम	अभिप्राय
१.	☰	··· च' यन	··· आकाश
२.	☷	··· क' उन	··· पृथ्वी
३.	☳	··· चेन	··· मेघगर्जन
४.	☴	··· सुन	··· वायु
५.	☵	··· क' अन	··· जल
६.	☲	··· लि	··· अग्नि
७.	☶	··· केन	··· पर्वत
८.	☱	··· तुई	··· पंक

इन आठ त्रिग्रामों में से प्रत्येक को एक दूसरे से मिलाकर आठ बार गुणा करने से गुणनफल ६४ षड्रेखाकृतियाँ होता है (८ × ८ = ६४) जैसे :

रेखाकृति	नाम	बनावट	अभिप्राय
䷊	··· त' अई	··· (क' उन ऊपर) (च' यन नीचे)	···भाग्य
䷾	··· चि-चि.	··· (क, अन ऊपर) (लि नीचे)	···सफलता

परंपरा के अनुसार आठो त्रिग्रामों की रचना प्रथम प्राचीन सम्राट् फू-सी (२८५२-२७३८ ई० पू०) द्वारा मानी जाती है। आठो त्रिग्रामों की ६४ षड्रेखाकृतियों में गुणनफल की क्रिया का कार्य या फू-सी ने स्वयं किया था या उसके उत्तराधिकारी ने किया था जिसका नाम द्वितीय प्राचीन सम्राट् शेंउ-नुङ (२७३७-२६९८ ई० पू० ?) था।

६४ षड्रेखाकृतियों की रेखाएँ, जिनकी संख्या ३८४ है, 'या ओ' के नाम से प्रचलित हैं। षड्रेखाकृतियों के साथ साथ उन्हें सांकेतिक रूप से प्रथम 'त अई-ची' कहते हैं जिनका अर्थ आद्य महान्, एक एवं परमसत्य है। दूसरा लि अङ-यी' या दो सिद्धांत, यथा, 'यांग' (—), जिसका अर्थ विधायक एवं पुरुषोचित शक्ति है, और 'यिन' (-- —), का अर्थ निषेधक एवं स्त्रियोचित शक्ति है, तीसरा 'जू-सिआङ' जिसका अर्थ चार प्रतीक, यथा (१) प्राचीन यङ (=), (२) युवा यङ (-- =), (३) प्राचीन यिन (== =), (४) युवा यिन (= ==); और अंतिम, संपूर्ण विश्व के प्राकृतिक दृश्यों एवं सभी मानवीय उपकरणों के विकास की अभिव्यक्ति। दूसरे शब्दों में, आद्य महान् ने दो सिद्धांतों की सृष्टि की : दो सिद्धांत, चार प्रतीक, चार प्रतीक, संपूर्ण विश्व। यह 'ताओ' की गति या सृष्टि के विकास का ढंग या मार्ग प्रकट करता है।

चौंसठ षड्रेखाकृतियों के तुरंत बाद साहित्यिक पुस्तकों, की जिन्हें 'कुआ-अय' कहते हैं अथवा षड्रेखाकृतियों के चिह्नसमूह और

'याम्रो-जू' या रेखाओं के चिह्नसमूह कहते हैं, रचना का क्रम आता है। पहला, सभी षड्रेखाकृतियों के नामों और परिभाषाओं का वर्णन करता है। दूसरा, सभी षड्रेखाकृतियों की प्रत्येक व्यक्तिगत रेखा के अभिप्रायों के नाम एवं संकेतों का विवरण उनके स्थानों एवं परिस्थितियों के अनुसार देता है। ये दोनों मूलपाठ वेदों की संहिताओं और ब्राह्मणों के समान हैं।

ख—चीनी दर्शन की शाखाएँ — जिस प्रकार भारतीय दर्शन की छह परंपरागत शाखाएँ षड्दर्शनों के नाम से प्रचलित हैं : (१) न्याय (२) वैशेषिक, (३) सांख्य, (४) योग, (५) मीमांसा, और (६) वेदांत। उसी प्रकार चीनी दर्शन को उसी संख्या के समान शाखाएँ 'लिउ चिया' के नाम से प्रचलित हैं। (१) 'जु-चिश्रा' या कनफ्यूशिअस शाखा, (२) 'ताम्रो-चिश्रा' या ताम्रो शाखा, ((३) 'मो-चिश्रा' या मोहिस्ट शाखा, (४) 'फा-चिश्रा' या विधिज्ञ शाखा, (५) 'यिन-यङ चिश्रा' या विश्वविज्ञान शाखा तथा (६) 'मिङ-चिश्रा' या तार्किक शाखा। जिस प्रकार भारतीय दर्शन की छह शाखाएँ तीन समूहों में मिलाई जा सकती हैं : (१) न्याय वैशेषिक (२) सांख्य योग, और (३) मीमांसा वेदांत; उसी प्रकार उन्हीं संख्याओं में चीनी दर्शन की भी छः शाखाएँ समूहों में संमिलित की जा सकती हैं : (१) कनफ्यूशिअस की विधिज्ञ शाखा, (२) ताम्रो की विश्वविज्ञान संबंधी शाखा तथा (३) मोहिस्ट तार्किक शाखा।

ग-कनफ्यूशिअस की विधिज्ञ शाखा — कनफ्यूशिअस शाखा का नाम कनफ्यूशिअस (५११-४७९ ई० पू०,) के नाम के पश्चात् पड़ा जो विद्या एवं गुण दोनों में पूर्णताप्राप्त प्रथम एवं सबसे महान् गुरु माना जाता था और जिसने सबसे पहले साधारण जनता को विद्या और सद्गुण सिखलाया, जिसका एकाधिकार पहले आभिजात्य शासक वर्ग के हाथ में था। अतएव कनफ्यूशिअस के अनुयायी अन्य वस्तुओं की अपेक्षा ज्ञान एवं सद्गुण का आदर करते थे।

'लुन-यु' या कनफ्यूशिअस की साहित्यिक झाँकियों के संग्रह नामक पुस्तक में कनफ्यूशिअस ने सबसे प्रथम शब्द 'ह्सुयेह' का उल्लेख किया है जिसका अर्थ सीखना है। गुरु ने कहा था, 'निरंतर उद्योग एवं प्रयोग से सीखना, क्या यह एक मनोहर वस्तु नहीं है ?' (पुस्तक १, अध्याय १)। तत्पश्चात् अनेक अवसरों पर, कनफ्यूशिअस ने अपने अनुयाइयों के साथ ज्ञान की चर्चा की या उसके संबंध में विवाद किया। 'गुरु ने कहा, १५ वर्ष की अवस्था में मैंने ज्ञान प्राप्त करने का संकल्प किया। ३० वर्ष की अवस्था में मैं दृढ़ था। ४० की अवस्था में मुझे कोई संदेह नहीं था। ५० की अवस्था में मुझे ईश्वर के आदेशों का भान हुआ। ६० की अवस्था में मेरा कान सत्यग्रहण करने का आज्ञाकारी बना। ७० वर्ष की अवस्था में उसे समझने लगा जिसकी इच्छा मेरा हृदय करता था और ऐसा करने में सत् का अतिक्रमण नहीं किया, (पुस्तक २, अध्याय ४)। पुनः गुरु ने कहा, 'दस कुटुंबों के छोटे ग्राम में मेरे समान प्रतिष्ठित और सच्चा व्यक्ति तो मिल सकता था किंतु ज्ञान का इतना प्रेमी नहीं मिल सकता था। (पुस्तक ५, अध्याय २७)।

कनफ्यूशिअस के अनुसार ज्ञान और चिंतन दोनों निश्चय ही साथ साथ होना चाहिए। गुरु ने कहा, 'ज्ञान बिना चिंतन के परिश्रम नष्ट करना है; बिना ज्ञान के चिंतन भयावह है।' (साहित्यिक झाँकियों के संग्रह : पुस्तक २, अध्याय १५)। चिंतन एवं ज्ञान मिलकर भी पर्याप्त नहीं हैं। उनके साथ कार्य भी होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, ज्ञान और विचार दोनों निश्चय ही प्रयोग में आना चाहिए।

कनफ्यूशिअस की भावनाएँ एवं विचार निजी तौर पर नैतिक, नीतिशास्त्रीय, सामाजिक एवं मानवीय हैं। कनफ्यूशिअस ने जानबूझकर कुछ दुर्गम समस्याओं की उपेक्षा की है। कनफ्यूशिअस की साहित्यिक झाँकियों के संग्रह में यह बतलाया गया था कि जिन विषयों पर गुरु ने बातें कीं वे ये थीं। (१) विचित्र वस्तुएँ, (२) अतिप्राकृतिक शक्ति, (३) वस्तुएँ जो उचित क्रम में न हों और, (४) प्रेत एवं देवता (पुस्तक ७, अध्याय २०)। एक बार उसके अनुयायी चि-लु ने प्रेतों और देवताओं की सेवा करने के संबंध में पूछा। गुरु ने कहा : 'जब तुम मनुष्यों की सेवा करने योग्य नहीं हो, तब किस प्रकार तुम प्रेतों और देवताओं की सेवा कर सकते हो ?' चि-लु ने कहा : 'मैं मृत्यु के संबंध में पूछने का साहस करता हूँ।' उसे पुनः उत्तर दिया गया, 'जब तुम जीवन के विषय में नहीं जानते, तो किस प्रकार तुम मृत्यु के संबंध में जान सकते हो ?' (पुस्तक ११, अध्याय २)। कनफ्यूशिअस ने स्वयं एक बार अपने अनुयायी जु-कुङ से कहा। 'मैं न बोलना अधिक पसंद करूँगा।' जु-कुङ ने पूछा : 'अगर तुम गुरु नहीं बोलते हो, तुम्हारे अनुयायी, हम लोगों को क्या लिखता है ?'' गुरु ने कहा : 'क्या ईश्वर बोलता है ? चारों ऋतुएँ अपने अपने मार्ग का अनुसरण करती हैं, और वस्तुएँ लगातार उत्पन्न की जाती हैं, किंतु क्या ईश्वर कुछ कहता है ?' (पुस्तक १७, अध्याय १९)।

कनफ्यूशिअस के पश्चात् इस शाखा के दो अन्य महान् व्यक्ति मेन-जु या मेनसिअस (३७१-२८९ ई० पू०) और सुन-जु (लगभग २८९-२३८ ई० पू०) हुए। दोनों ने कनफ्यूशिअस का सबसे महान् गुरु के रूप में आदर किया और प्रकट रूप से उसकी शिक्षाओं का अनुसरण किया : किंतु उन्होंने कनफ्यूशिअस की व्याख्या भिन्न भिन्न ढंगों से की और उनके दृष्टिकोण भी भिन्न भिन्न रहे। उनके मध्य सबसे प्रधान अंतर मानव स्वभाव के सिद्धांतों से संबंध रखता था। मेनसिअस ने मानव स्वभाव को मौलिक रूप से अच्छा माना। मेङ०-जु। पुस्तक २ अ, अध्याय ६)। किंतु सुन जु ने कहा : 'मानव स्वभाव बुरा है; शिक्षण द्वारा इसकी अच्छाई प्राप्त होती है।' (सुन-जु : अध्याय २३)। किंतु कनफ्यूशिअस ने स्वयं एक ही बार कहा था : 'स्वभाव से मनुष्य लगभग एक समान होते हैं; अभ्यास से वे एक दूसरे से बहुत अलग हो जाते हैं।' (साहित्यिक झाँकियों के संग्रह : पुस्तक १७, अध्याय २)। यह चीनी दर्शन में एक अत्यंत विवादास्पद समस्याओं में से है। दर्शन की विधिज्ञ शाखा, सही अर्थों में, राजनीतिक सिद्धांतों की एक पद्धति है जिसमें स्वतंत्र रूप से कनफ्यूशिअस, ताम्रो और मोहिस्ट अनुयायियों के विचारों और आदर्शों का विलयन है। किंतु इसका अधिक संबंध बाद के दोनों की अपेक्षा पहले से अधिक है। अतः इसका अधिक लगाव कनफ्यूशिअस शाखा से है।

घ—ताम्रो की विश्व-विज्ञान-संबंधी शाखा—चीनी भाषा और साहित्य में 'ताम्रो' अत्यधिक महत्वपूर्ण, व्यापक एवं रहस्यमय है। कभी कभी इसका अर्थ निरपेक्ष वास्तविकता या सतत सत्य होता है। कभी कभी इसका अर्थ मौलिक लक्ष्य या प्रकृति की सर्वोच्च शक्ति से लिया जाता है। कभी कभी इसका अर्थ सृष्टि की अभिव्यक्ति या सृष्टि के विकास की प्रक्रिया या मार्ग होता है। कभी कभी इसका अर्थ सिद्धांत और सद्गुण भी होता है। यह संस्कृत के तीन शब्द,—ब्रह्म, धर्म और मार्ग के समानार्थक है। इसका विवरण लगभग समस्त चीनी धार्मिक, साहित्य

विशेषकर धर्मगृहीत एवं दार्शनिक कृतियों में मिलता है और समस्त भिन्न भिन्न शाखाओं के गुरुओं द्वारा भिन्न भिन्न पक्षों में प्रयुक्त किया गया है जो भिन्न भिन्न ढंगों से भिन्न भिन्न वस्तुओं के लिये व्यवहृत हुआ है। ताओ शाखा विशेष रूप से ताओ के नाम की अधिकारी है क्योंकि इसने ताओ को अधिक विशेषता से, अधिक उन्नित रूप से और अधिक गहराई से अन्य शाखाओं की अपेक्षा स्पष्ट किया है।

ताओ शाखा का महानतम एवं बहुत ही प्रसिद्ध गुरु वास्तव में लाओ-त्जू था जो वास्तविक रूप से ताओ दर्शन का जन्मदाता माना जाता है। लाओ-त्जू के बाद दूसरा महान् गुरु चुआङ-ज़ु (३६९-२८६ ई० पू०) हुआ है।

लाओ-त्जू 'ताओ' को सृष्टि का उच्चतम आत्मा, स्वयंभू, निरपेक्ष और शाश्वत मानता है जिससे सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और पुनः उसी में विलीन हो जाती हैं। 'लाओ-त्जू' नामक पुस्तक में जो उसके नाम की है या 'ताओ ती चिङ्'–ताओ और ती की धार्मिक व्यवस्था, उसने कहा था : 'ताओ एक पैदा करता है, एक दो पैदा करता है, दो तीन पैदा करता है, तीन सभी वस्तुएँ पैदा करता है।' (अध्याय ४२)। उसी पुस्तक के दूसरे लेखांश में, लाओ-त्जू ने कहा था : 'संसार में सभी वस्तुएँ 'यू' या धन से पैदा हुई हैं; और 'यू' या धन को उत्पत्ति 'वू' या निर्धनता से हुई है।' (अध्याय ४०)। यहाँ 'यू' या धन का अर्थ ताओ से है। ताओ को क्यों 'वू' या निर्धनता कहते हैं? क्योंकि ताओ कुछ है जिसे नाम या शब्द द्वारा अगोचर एवं अकथनीय समझा जाता है। इसलिये लाओ-त्जू ने पुस्तक के बिल्कुल आरंभ में हो कहा था : 'वह ताओ' जो व्यक्त हो वास्तव में शाश्वत ताओ नहीं है; वह नाम जिसका नाम लिया जा सकता हो, शाश्वत नाम नहीं है। अकथ्य स्वर्ग एवं पृथ्वी का प्रारंभ है कथ्य सभी वस्तुओं की जननी है।' (अध्याय १)

लाओ-त्जू के अनुसार 'ताओ' प्रत्येक वस्तु के लिये प्रत्येक वस्तु का निर्माणकर्ता भी है। फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि यह किसी भी वस्तु का निर्माण नहीं करता है। प्रत्येक वस्तु के लिये प्रत्येक वस्तु का कर्ता है। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि यह कुछ भी नहीं करता। इस प्रकार उसने कहा था : 'ताओ' कभी कुछ नहीं करता, फिर भी इसी के द्वारा सभी वस्तुएँ होती हैं।' (अध्याय ३७) पुनः 'ऐसा ही सर्वव्यापी शक्ति का मौन है कि यह अकेले 'ताओ' द्वारा कार्य कर सकता है। क्योंकि 'ताओ' अनुभवातीत एवं अपरिमेय वस्तु है। अपरिमेय, अनुभवातीत; फिर भी इसमें आकार अंतर्हित है। अनुभवातीत एवं अपरिमेय; फिर भी इसके अंतर्गत सत्ताएँ हैं। यह छायात्मक और मंद है, फिर भी इसके अंदर एक निरपेक्ष सत्ता है। यह निरपेक्ष सत्ता अत्यंत विशुद्ध है किंतु फिर भी प्रभावोत्पादक है।' (अध्याय २१)। इसलिये पुरुषों को 'ताओ' के पथ का अनुसरण करना चाहिए और किसी भी मूल्य पर इसके विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिए।

ताओ का द्वितीय महानतम अनुयायी गुरु चुआङ चाऊ या चुआङ ज़ू हुआ है। इसने ताओ ज़ू की अपेक्षा भी अधिक गहन रूप से एवं व्यापक दृष्टिकोण से 'ताओ' के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। वह चीन का सबसे महान् रहस्यवादी भी समझा जाता है। उसका मौलिक विचार निरपेक्ष समानता एवं प्रत्येक जीव से मुक्ति प्राप्त करना है। साथ ही साथ पूर्ण एकता और सभी जीवों के साथ अभिन्नता स्थापित करना है। किसी प्रकार का कोई भेद विभेद नहीं होना चाहिए जैसे 'अच्छा या बुरा', 'सत् या असत्', 'बड़ा या छोटा,, 'लंबा या नाटा' 'ऊँच या नीच', 'धनी या दरिद्र', 'कुलीन या सामान्य', 'वृद्ध या नौजवान', 'प्रारंभ या अंत', जीवन या मृत्यु' इत्यादि। क्योंकि ये सभी मनुष्यकृत सापेक्ष पद हैं। वास्तव में ये सभी एक और अभिन्न है क्योंकि सभी जीव उसी 'ताओ' से उत्पन्न हुए हैं और उसी 'ताओ' में विलीन हो जाएँगे। कठिनाई इस बात की है कि जब ये सभी वस्तुएँ एक बार बनाई गई तब मनुष्यों ने केवल अलगाव और भेद ही देखा किंतु मौलिक एकता और अभिन्नता का कुछ भी ध्यान नहीं रखा। यही समस्त पक्षपातों एवं अज्ञानता का कारण रहा। साथ ही साथ इसी कारण संघर्ष एवं कलह, घृणा और शत्रुता, हिंसा और निर्दयता, कारावास एवं दासता और अनेक अन्य बुरी बातें समय समय पर हर प्रकार का कष्ट और दुःख देती रही हैं। जब तक हम लोग इन समस्त वस्तुओं को समाप्त नहीं कर लेंगे विश्व में वास्तविक स्वतंत्रता एवं सुख नहीं दिखलाई देगा।

केवल उन्हीं व्यक्तियों को निरपेक्ष स्वतंत्रता एवं पूर्ण सुख प्राप्त होगा जो अपने को सभी प्रकार के भेदों एवं विभेदों से मुक्त रखेंगे। ऐसे व्यक्तियों को चुआङ-ज़ू ने 'चेन जन' अर्थात् सच्चे पुरुष की संज्ञा दी है। उन्हें 'चिह जेन' अर्थात् पूर्ण पुरुष, या 'शेन-जेन' आध्यात्मिक पुरुष, या 'शङ-जेन' अर्थात् ऋषि या संत की भी संज्ञा दी है।

इसे सच्चे व्यक्ति, पूर्ण व्यक्ति, आध्यात्मिक व्यक्ति, ऋषि या संत के विषय में चुआङ-ज़ु ने कहा था, 'पूर्ण व्यक्ति के अंतर्गत आपा नहीं है, आध्यात्मिक व्यक्ति में सिद्धि नहीं है; ऋषि या संत का कोई नाम नहीं है।' (सिआओ-याओ-यू चुआङ-ज़ू, अध्याय १) और 'प्राचीन सच्चा व्यक्ति न जीवन को प्रेम की दृष्टि से देखता था और न मृत के प्रति घृणा की भावना थी। जीवित रहते हुए उसे अत्यंत आनंद का अनुभव भी नहीं होता था, और मरते हुए वह कोई प्रतिरोध नहीं करता था। अचेतन रूप में वह गया, और अचेतन रूप में ही वह आया; यही सब था। जान बूझकर उसने यह भुलाने का प्रयत्न नहीं किया कि उसका प्रारंभ क्या था और यह भी खोजने का प्रयत्न नहीं किया कि उसका अंत क्या होगा। जो कुछ उसके पास आया उसे उसने प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार किया और जो भुला दिया गया था उसे उसने बिना चेतना के छोड़ दिया। इसे 'ताओ' की अपेक्षा चैतन्य मन को अधिक वरीयता न देना कहलाता है, या प्रकृति को व्यक्ति का पूरक कहलाता है। ऐसे को ही हम लोग सच्चा व्यक्ति कहते हैं।' (ता-सुङ-शिह : चुआङ-ज़ु, अध्याय ६)। पुनः 'पूर्ण व्यक्ति प्रेत की भाँति है। यदि बड़ी बड़ी झीलें जला दी जायँ, वह गरमी का अनुभव नहीं करेगा। यदि बड़ी बड़ी नदियाँ जमकर सख्त हो जायँ, वह ठंढक नहीं प्रतीत करेगा। यदि पर्वतों को वज्र द्वारा खंडित कर दिया जाय या तूफान द्वारा समुद्रों में लहरें उत्पन्न हो जायँ, तो उसे भय नहीं होगा। ऐसा होते हुए, वह बादलों पर चढ़ जाएगा, सूर्य और चंद्रमा पर चढ़ जाएगा और समुद्रों के बाहर सरलतापूर्वक भ्रमण करेगा। न तो मृत्यु या न जीवन का ही उसके ऊपर प्रभाव पड़ेगा। क्या इसका ध्यान बहुत ही कम रहेगा कि क्या उपयोगी है और क्या हानिप्रद है?' (चि-उ-कुन: चुआंङ-ज़ु, अध्याय २)।

विश्वविज्ञान संबंधी शाखा का दर्शन दो विश्वविज्ञान संबंधी सिद्धांतों पर आधारित है, अर्थात् 'यिन' और 'याङ'। इसलिये इनका नाम 'यिन-यांङ-चिआ' या विश्वविज्ञान संबंधी शाखा है। जैसा पहले ही

वर्णित है, 'यिन' और 'यांङ' शब्द पहले 'यी-चिङ' या परिवर्तनों की पुस्तक में प्रकट हुए थे और उस 'यांङ' का अर्थ व्यवहृत और पुरुषोचित सिद्धांत या शक्ति है, और 'यिन' का अर्थ निषेधक और स्त्रियोचित सिद्धांत या शक्ति है। इन दोनों के समीकरण से समस्त विश्व की उत्पत्ति हुई। इनकी व्याख्या गंभीरतापूर्वक एवं व्यापक रूप से कनफ्यूशिअस एवं ताओ दोनों के अनुयायियों द्वारा की गई है। किंतु विश्वविज्ञान संबंधी दार्शनिकों ने इन दोनों सिद्धांतों का प्रयोग 'यिन' एवं 'यांङ' का मानव जीवन के सूक्ष्मतम पक्षों के प्रत्येक क्षेत्र को लेकर किया। यह शाखा वास्तव में अधिक या कम कनफ्यूशिअस और ताओ विचारधाराओं का संमिश्रण है। किंतु कनफ्यूशियस की विचारधाराओं की अपेक्षा इनका अधिक संबंध ताओ की विचारधारा से है। इसलिये यह ताओ विचारधारा से संबंधित है।

ङ-मोहिस्ट तार्किक शाखा — मोहिस्ट शाखा का नाम मो-ति या मो-जु (४६३-३७६ ई० पू०) के नाम पर पड़ा जो इस शाखा का साधारणतः जन्मदाता माना जाता है। प्राचीन चीनी इतिहास में मो-जु एक महत्वपूर्ण व्यक्ति माना जाता है।

अनेक दृष्टिकोणों से मो-जु की तुलना प्राचीन भारतीय महावीर जैन और आधुनिक भारतीय महात्मा गांधी से की जाती है। उनके जीवन एवं सिद्धांत बहुत ही समान हैं। मो-जु के अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्धांत विश्वप्रेम एवं अहिंसा निरपेक्ष परार्थवाद और यतित्ववाद हैं। महान् कनफ्यूशिअस का अनुयायी मेनशिअस ने एक बार कहा था—'मो-जु सभी मनुष्यों को बिना किसी भेद भाव के प्रेम की दृष्टि से देखते हैं। यदि अपने संपूर्ण शरीर को सिर से एँडी तक पसीने से विश्व का लाभ पहुँचा सकें, तो वह ऐसा करने को तैयार थे।' मो-जु के पूर्व चीनी विचारधाराओं में विश्वप्रेम एवं अहिंसा, परार्थवाद और यतित्ववाद के विचार मिलते थे। किंतु मो-जु का महान् कार्य चीनी दर्शन के क्षेत्र में यह था कि उसने इन सिद्धांतों का स्वयं न केवल अभ्यास किया बल्कि उसने उन्हें तर्कनायुक्त नींव पर स्थिर किया और उनको एक दार्शनिक पद्धति की इकाई में ढाला।

मो-जु ने न केवल कनफ्यूशिअस और उनकी शाखा के सिद्धांतों का विरोध किया, बल्कि प्राचीन चीन के परंपरागत अनुष्ठानों एवं संस्थाओं का भी विरोध किया। कनफ्यूशिअस के अनुयायियों ने अत्यंत प्रयत्न किया, 'कि वे बिना लाभ के परिणाम को सोचे ही नीतिपरायणता में सही रहें; अपने सिद्धांतों में निर्मल रहें बिना यह सोचे कि इसका परिणाम प्रशंसनीय एवं लाभप्रद होगा।' (तुङ-चुङ-शु. च' अन-च' इव फाऊ-लु)। किंतु मो-जु और मोहिस्ट शाखा के अनुयायियों ने योग्यता एवं लाभ पर अत्यधिक बल दिया। मो-जु ने कहा : 'जो लोग सद्‌गुणी हैं उनका उद्देश्य विश्व के लिये लाभ प्राप्त करना है और उसकी आपत्तियों का निराकरण करना है।' (मो-जु : अध्याय १६, चियन-अई-त' इयन) और 'पारस्परिक प्रेम से पारस्परिक लाभ होता है।' पुनः 'निष्पक्ष प्रेम से लाभ होगा।' और दूसरों के साथ प्रेम करने तथा उन्हें लाभ पहुँचाने से सर्वश्रेय पैदा होता है।' पुनः 'जो दूसरों से प्रेम करता है उससे दूसरे भी प्रेम करते हैं।' (वही)

मो-जु का दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धांत उसका युद्ध के विरुद्ध उपदेश है। मो-जु के अनुसार सबसे महान् अपराध किसी देश पर आक्रमण करना है : ऐसे कार्य के लिये कोई बहाना नहीं होना चाहिए।

मो-जु का यह उपदेश उस समय के राज्यों के पारस्परिक संबंधों में प्रचलित दृष्टिकोणों की औषधि था। आज भी विश्व की परिस्थिति के अनुसार यह औषधि का काम दे सकती है।

चीनी भाषा में तार्किक शाखा को 'मिङ्-चिआ' कहते हैं जिसका शाब्दिक अर्थ 'नामों की शाखा' है; या 'प' इयन-चे, जिसका अर्थ वाद-विवाद करनेवाले से है अथवा जिनका अर्थ प्राचीन ग्रीक वितंडावादियों या तर्क करनेवालों से भी लिया जाता है। हम लोग यहाँ 'तार्किकों' शब्द का प्रयोग करते हैं क्योंकि वे पाश्चात्य दर्शन के तार्किकों के समान व्यवहृत होते हैं। इस शाखा के मौलिक सिद्धांतों का प्रतिपादन पहले ही से कनफ्यूशिअस, लाओ-त्जू, मो-जु और विशेषकर मोहिस्टो द्वारा किया गया है। तार्किकों ने केवल उन्हें सुनिश्चित चीनी दर्शन में विकसित किया इसलिए वे मोहिस्त शाखा से संबंधित हैं।

इस शाखा के सबसे महत्वपूर्ण प्रतिनिधि निम्नलिखित हैः (१) हिय-शिह (लगभग ३५०—२६० ई० पू०) और (२) कुङ—सुन कुङ् (लगभग २८४—२५६ ई० पू०) हिय शिह की पुस्तक 'वन-बु-शुओ' या दस सहस्त्र उपादानों पर निबंध जो बहुत पहले खो गया था। कुङ्-सुन कुङ् की कृति 'कुङ्-सुन-कुङ्-जु' की प्रामाणिकता संदेहात्मक है। हम लोग जो उनके सिद्धांतों के संबंध में जानते हैं वे 'लिह शिह' या हिय शिह की दस समस्याएँ, और अहं-शिह यि-शिह' या कुङ्-सुन-कुङ्० और अन्य तार्किको की २१ समस्याएँ हैं। ये समस्याएँ अधिकतर विरोधाभास के रूप में समझी जाती हैं। वास्तव में ये विरोधाभास नहीं हैं बल्कि दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रश्न, तात्विक और प्रत्यक्ष, सत्ताशास्त्रीय और विश्वविज्ञान संबंधी, ज्ञानवाद संबंधी और तार्किक समस्याएँ हैं; वे सभी विश्व में वस्तुओं की सापेक्षता के उदाहरण हैं। मुख्य विषय ये हैं : (१) समय और दूरी के समस्त विभाजन और अंतर कृत्रिम और कल्पित हैं। (२) स्थूल पदार्थों और वस्तुओं के अंतर और भेद बाह्य एवं सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं। (३) सभी वस्तुएँ और जीव वास्तव में एक और समान है (४) समय, दूरी और सृष्टि शाश्वत है, प्रारम्भरहित, अंतरहित और सीमारहित हैं। अतएव हिय शिह का निष्कर्ष है : 'समस्त वस्तुओं को समान रूप से प्रेम की दृष्टि से देखना चाहिए, आकाश एवं पृथ्वी एक हैं।'

च-उपसंहार — यद्यपि अनेक भिन्न भिन्न विचार एवं सिद्धांत चीनी दर्शन की भिन्न भिन्न शाखाओं में प्रचलित रहे हैं; फिर भी उनकी अनेक बातों में समानता रही है। इस प्रकार एकत्व में विषमता और नानात्व में एकत्व का प्रदर्शन मिलता है।

जिस प्रकार भारतीय दर्शन की सभी भिन्न भिन्न पद्धतियों का अंतिम लक्ष्य मुक्ति या मोक्ष रहा है, या मानवता की स्वतंत्रता रहा है, उसी प्रकार चीनी दर्शन की अनेक शाखाओं का चरम ध्येय 'शि शिह' और 'शि जेन' या संसार और मानव जाति से मुक्ति पाना रहा है। स्वतंत्रता और मुक्ति दोनों पूर्णता की एक अवस्था हैं। पूर्णता का अर्थ वास्तविक आनंद है। वास्तविक आनंद सच्ची शांति, प्रेम, सामंजस्य, स्वतंत्रता, समानता और एकता है। ये सभी वस्तुएँ किसी दूसरे लोक की सिद्धि नहीं होतीं बल्कि इनकी सिद्धि इसी लोक में यहीं और अभी माननी चाहिए।

इसलिये चीनी दर्शन की सभी भिन्न भिन्न शाखाएँ मानव जीवन और नीतिशास्त्र पर अधिक बल देती हैं। चीनी भाषा में नीतिशास्त्र

का बहुत ही व्यापक अर्थ है। यह मानव के बीच के संबंधों के ही संबंध में केवल नहीं बतलाता है, बल्कि मनुष्य और प्रकृति के मध्य के संबंध का भी वर्णन करता है और मनुष्य और सभी अन्य जीवों और वस्तुओं के संबंध में भी प्रकाश डालता है। चीनी दर्शन के अनुसार मानवता सामंजस्यपूर्ण समष्टिवाद का जीवन है न कि प्रबल उद्योग करते हुए व्यष्टि और निषेधक का जीवन। मानवता का अंतिम लक्ष्य और अभिप्राय सभी मानव जाति के लिये मंगल प्राप्ति होनी चाहिए, न व्यक्ति, न जाति और न राज्य ही अंतिम लक्ष्य होना चाहिए।

[ता० यु० शा०]

चीनी भाषा और साहित्य संसार की भाषाओं का वर्गीकरण अफ्रीका खंड, यूरेशियाखंड, प्रशांत महासागरीयखंड और अमरीकाखंड नाम के चार विभागों में किया गया है। इनमें से यूरेशियाखंड में चीनी भाषा का अंतर्भाव होता है। इस खंड के अंतर्गत निम्नलिखित भाषापरिवार है: सेमेटिक, काकेशस, यूरालअल्ताइक, एकाक्षर, द्राविड, आग्नेय, भारोपीय और अनिश्चित। इनमें चीनी एकाक्षर परिवार की भाषा गिनी जाती है। स्यामी, तिब्बती, बरमी, म्याओ, लोलो और मोन-ख्मेर समूह की भाषाएँ भी इसी परिवार में शामिल हैं।

चीनी लिपि तथा भाषा — चीनी लिपि, जो संसार की प्राचीनतम लिपियों में से है, चित्रलिपि का ही रूपांतर है। इसमें मानव जाति के मस्तिष्क के विकास की अद्भुत् कहानी मिलती है—मानव ने किस प्रकार मछली, वृक्ष, चंद्र, सूर्य आदि वस्तुओं को देखकर उनके आधार पर अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिये एक विचित्र चित्रलिपि ढूँढ़ निकाली। कितने परिवर्तनों के बाद इसका अंतिम रूप निश्चित हुआ होगा, यह जानने के साधन आज इतिहास में विलीन है, लेकिन इस लिपि के अध्ययन से इसकी वैज्ञानिकता और व्यवस्था स्पष्ट है। ईसवी सन् के १७०० वर्ष पूर्व से लगाकर आजतक उपयोग में आनेवाले चीनी शब्दों की आकृतियों में जो क्रमिक विकास हुआ है उसका अध्ययन इस दृष्टि से बहुत रोचक है।

चीनी लिपि की विभिन्न शैलियाँ — हुनान प्रांत में अनयांग की खुदाई के समय कछुओं की अस्थियों पर शांगकालीन (१७६६–११२२ ई० पू०) जो लेख मिले हैं उनसे पता लगता है कि आज से लगभग ३००० वर्ष पूर्व चीन के लोग लिखने की कला से परिचित थे। इस प्रांत के निवासियों का विश्वास था कि इन अस्थियों में जादू है। इन्हें आग पर तपाने से इनपर जो दरारें पड़ जाती थी उन्हें देखकर पंडित लोग भविष्य का बखान करते थे। कछुओं की अस्थियों के अतिरिक्त, पशुओं की टांगों और कंधों की हड्डियों पर भी लेख लिखे जाते थे। 'चु' राजवंशों के काल में (११२२–२५१ ई० पू०) चीन निवासी कांसे के बर्तनों पर लिखने लगे थे। इस काल में चीनी भाषा में बहुत से नए वर्णों का समावेश किया गया। अब बाँस या लकड़ी की नुकीली कलम की जगह बालों के बने ब्रुश से लोग लिखने लगे थे। क्रमशः उत्तर में चीन की बड़ी दीवार से लेकर दक्षिण की ओर ह्वाई नदी की घाटी तक चीनी लिपि का प्रचार बढ़ा। इसके पश्चात् 'छिन' राज्यकाल (२२१–२०६ ई० पू०) में सम्राट् शिह ह्वांग ने चीनी लिपि को एक रूप देने के लिये चीन भर में छिन लिपि का प्रचार किया। लेकिन इस लिपि के कठिन होने के कारण सरकारी फर्मानों के लिखने पढ़ने में बहुत दिक्कत होती थी, इसलिये इस समय 'लि' लिपि का प्रचार किया गया जिसमें मुड़ी हुई रेखाओं और गोलाकार कोणों के स्थान पर कोण की सीधी रेखाएँ बनाई जाने लगीं। इस समय कांसे की जगह बाँस की पट्टियों पर लिखने लगे। इस प्रकार चीनी लिपि को सुव्यवस्थित और एकरूप बनाने के लिये चीन के लोग लगातार परिश्रम करते रहे। 'हान' राजवंशों (२०६ ई० पू० से २२१ ई०) और छिन राजवंशों के काल (२६५–४२० ई०) में घसीट और शीघ्रलिपि शैली का प्रचार बढ़ा। ईसवी सन् की चौथी शताब्दी में सुलेखक वांग शिह-चि ने सुंदर अक्षरोंवाली एक आदर्श शैली को जन्म दिया जिसमें अधिक व्यवस्थित, सुडौल और चौकोर अक्षर लिखे जाने लगे। आज भी लिखने की यही शैली चीन में प्रचलित है।

एकाक्षरप्रधान भाषा — चीनी एकाक्षरप्रधान भाषा मानी जाती है, यद्यपि ध्यान रखने की बात है कि उसके एक बार में बोले जानेवाले शब्द में एक या एक से अधिक वर्ण या अक्षर हो सकते हैं। हिंदी या अंग्रेजी आदि भाषाओं की भाँति चीनी ध्वन्यात्मक भाषा नहीं है, अतएव इसमें एक एक शब्द या भाव के लिये अलग अलग संकेतात्मक आकृतियाँ बनाई जाती हैं।

वर्णमाला के अभाव में इस भाषा में प्रत्येक शब्द या भाव के लिये लिखा जानेवाला वर्ण या अक्षर अपने आप में पूर्ण होता है और विभिन्न उपसर्ग या प्रत्यय न लगने से इन वर्णों के मूल में परिवर्तन नहीं होता। हिंदी, अंग्रेजी आदि भाषाओं की भाँति यहाँ विभिन्न प्रत्ययों या कारकचिह्नों की भरमार नहीं रहती जिससे संज्ञा सर्वनाम और विशेषणों में विभक्ति प्रत्ययों के साथ परिवर्तन नहीं होता। उदाहरण के लिये लड़का लड़के और लड़कों—इन विभिन्न रूपों के लिये चीनी में एक ही वर्ण लिखा जाता है–हाय त्स। काल, वचन, पुरुष और स्त्रीलिंग पुंलिंग का भेद भी यहाँ नहीं है, इस दृष्टि से चीनी भाषा का बोलना अपेक्षाकृत सरल है। कुछ शब्दों का उच्चारण करते हुए ऊँचे नीचे सुरभेद (चीनी में इसे शंग कहते हैं) का ध्यान अवश्य रखना पड़ता है। जैसे, चीनी में चू शब्द से सूअर, बाँस, स्वामी और रहना, इन चार अर्थों का बोध होता है। लेकिन जब हम चू शब्द का इसके विशिष्ट सुरभेद के साथ उच्चारण करते हैं तभी हमें अपेक्षित अर्थ का ज्ञान होता है।

लिखावट की कठिनाइयाँ — ऊपर उल्लेख हो चुका है कि चीनी भाषा में प्रत्येक शब्द या भाव के लिये अलग अलग आकृति बनानी पड़ती है। सन् १७१६ में प्रकाशित चीनी भाषा के सबसे बड़े कोश में इस प्रकार के ४० हजार वर्ण या शब्दचिह्न दिए गए हैं, यद्यपि इनमें से लगभग ६-७ हजार ही पिछले कई वर्षों से काम में आते रहे हैं। जिन वर्णों की आकृति बनाते समय ऊपर नीचे बहुत से रेखाचिह्न लगाने पड़ते हैं, उन वर्णों का लिखना कठिन होता है। एक वर्ण में एक बार में अधिक से अधिक लगभग ३३ रेखाचिह्न तक रहते हैं और यदि भूल से कोई चिह्न इधर उधर हो गया तो अर्थ का अनर्थ हो सकता है। चित्रलिपि के साथ चीनी लिपि का संबंध होने के कारण कोई अच्छा चित्रकार ही चीनी के सुंदर अक्षर लिख सकता है। इन अक्षरों को सीखने के लिये उसका उच्चारण, लिखावट और उनके अर्थ का ध्यान रखना आवश्यक है, अतएव चीनी लिपि का सीखना काफी कठिन है।

कभी कभी एक वर्ण के स्थान पर दो वर्णों के संयोग से भी चीनी शब्द बनाए जाते हैं। जैसे, 'प्रकाश' के लिये सूर्य और चंद्रमा, 'अच्छा' के लिये स्त्री और पुत्र, 'पुरुष' के लिये खेत और ताकत, 'घर' के लिये सूअर और छत, 'शांति' के लिये घर में बैठी हुई स्त्री, 'मित्रता' के लिये दो हाथ, तथा 'वंश' के लिये स्त्री और जन्म का

सांकेतिक चिह्न बनाया जाता है। कभी विभिन्न अर्थवाले दो वर्णों के संयोग से बननेवाले शब्दों का अर्थ ही बदल जाता है, यथा—

श्वे = अध्ययन, वन = लिखना, श्वेवन = साहित्य; छिग = हरा, न्येन = वर्ष, छिगन्येन = युवावस्था; मिग = चमकीला, ट्येन = आकाश, मिगट्येन = कल; शी = पश्चिम, हुंग = लाल, शिह = फल, शी हुंग शिह = टमाटर; त्स = अपने आप, लाय = आना, श्वे = पानी, पी = कलम, त्स लाय श्वे पी = फाउंटेन पेन; = चुंग = मध्य, ह्वा = फूल, रेन = आदमी, मिन = जनता, कुंग = साधारण, ह = एकता, को = देश, चुंग ह्वा रेन मिन कुंग ह को = चीनी लोक जनतंत्र।

भाषा को सरल बनाने के प्रयत्न — भावों को व्यक्त करने की सामर्थ्य, प्रवाहशीलता, व्याकरणपद्धति, और शब्दकोश की दृष्टि से चीनी भाषा संसार की समृद्ध भाषाओं में गिनी जाती है। लेकिन कंपोजिंग, टाइपिंग, तार भेजना, समाचारपत्रों को रिपोर्ट भेजना, कोशनिर्माण और प्रौढ़-शिक्षा-प्रचार आदि की दृष्टि से यह काफी क्लिष्ट है, इसलिये प्राचीन काल से ही इस भाषा के संबंध में संशोधन परिवर्तन होते रहे हैं।

ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी के बाद चीन में भारतीय बौद्ध साहित्य का प्रवेश होने पर चीनी भाषा के वर्णोच्चारण के प्रामाणिक ज्ञान की आवश्यकता प्रतीत हुई। लेकिन बौद्ध धर्म संबंधी हजारों पारिभाषिक शब्दों का चीनी में अनुवाद करना संभव न था। अतएव इन शब्दों को चीनी में अक्षरांतरित किया जाने लगा। जैसे, बोधिसत्व को फूसा, अमिताभ को आमि तो फो, शाक्यमुनि को शिह जा मोनि, स्तूप को था, गंगा को हंङ्‌ ह और जैन को चा एन लिखा जाने लगा।

चीनी को रोमन लिपि में लिखने के प्रयास का इतिहास भी काफी पुराना है। इसके अतिरिक्त पिछले ६० वर्षों से इस लिपि को ध्वन्यात्मक रूप देने के प्रयत्न भी होते रहे हैं। सन् १९११ में पीकिंग बोली के उच्चारण को आदर्श मानकर इस प्रकार का प्रयत्न किया गया। सन् १९१९ में ४ मई के साहित्यिक आंदोलन के पश्चात् दुरूह क्लासिकल भाषा (वन्येन) की जगह बोलचाल की भाषा (पाय् ह्वा) को प्रधानता दी जाने लगी।

सन् १९५१ में जनमुक्ति सेना के चीनी शिक्षक छी च्येन ह्वा ने अपढ़ मजदूरों, किसानों और सैनिकों को अल्प समय में चीनी सिखाने के लिये नई पद्धति का आविष्कार किया। लेकिन लिखने की कठिनाई इससे हल न हुई। इस कठिनाई को दूर करने के लिये नए चीन की केंद्रीय जन सरकार ने चीनी के २००० उपयोगी शब्द चुने और उनकी सहायता से पाठ्यपुस्तकें तैयार की गईं। पहले किसी शब्द के उच्चारण से एक से अधिक अर्थों का बोध होता था, या बहुत से शब्द एक से अधिक प्रकार से लिखे जाते थे, लेकिन अब यह बात नहीं है। पुराने शब्दों को सरल बनाने के साथ कुछ नए शब्दों का भी आविष्कार किया गया है। चीन की सरकार ने पीकिंग बोली को आदर्श मानकर २६ अक्षरों की वर्णमाला तैयार कर चीनी लिपि को ध्वन्यात्मक रूप दिया है जिससे चीनी का सीखना सरल हो गया है। पहले यदि २००० शब्द सीखने में ४०० घंटे लगते थे तो अब केवल १०० घंटों में इतने ही शब्दों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

चीनी साहित्य — चीनी साहित्य अपनी प्राचीनता, विविधता और ऐतिहासिक उल्लेखों के लिये प्रख्यात है। चीन का प्राचीन साहित्य 'पांच क्लासिकल' के रूप में उपलब्ध होता है जिसके प्राचीनतम भाग का समय ईसा के पूर्व लगभग १५वीं शताब्दी माना जाता है। इसमें इतिहास (शू चिंग), प्रशस्तिगीत (शिह छिंग), परिवर्तन (ई चिंग), विधि विधान (लि चि) तथा कनफ्यूशियस (५५२-४७९ ई० पू०) द्वारा संग्रहीत वसंत और शरद्विवरण (छुन छिउ) नामक तत्कालीन इतिहास शामिल हैं जो छिन राजवंशों के पूर्व का एकमात्र ऐतिहासिक संग्रह है। पूर्वकाल में शासनव्यवस्था चलाने के लिये राज्य के पदाधिकारियों को कनफ्यूशिअस धर्म में पारंगत होना आवश्यक था, इससे सरकारी परीक्षाओं के लिये इन ग्रंथों का अध्ययन अनिवार्य कर दिया गया था।

कनफ्यूशिअस के अतिरिक्त चीन में लाओत्स, चुआंगत्स और मेन्शियस आदि अनेक दार्शनिक हो गए हैं जिनके साहित्य ने चीनी जनजीवन को प्रभावित किया है।

जनकवि चू य्वान — चू य्वान् (३४०-२७८ ई० पू०) चीन के सर्वप्रथम जनकवि माने जाते हैं। वे चू राज्य के निवासी देशभक्त मंत्री थे। राज्यकर्मचारियों के षड्यंत्र के कारण दुश्चरित्रता का दोषारोपण कर उन्हें राज्य से निर्वासित कर दिया गया। कवि का निर्वासित जीवन अत्यंत कष्ट में बीता। इस समय अपनी आंतरिक वेदना को व्यक्त करने के लिये उन्होंने उपमा और रूपकों से अलंकृत 'शोक' (लि साव) नाम के गीतात्मक काव्य की रचना की। आखिर जब उनके कोमल हृदय को दुनिया की क्रूरता सहन न हुई तो एक बड़े पत्थर को छाती से बाँध वे मिलो (हूनान प्रांत में) नदी में कूद पड़े। अपने इस महान् कवि की स्मृति में चीन में नागराज-नाव नाम का त्योहार हर साल मनाया जाता है। इसका अर्थ है कि नावें आज भी कवि के शरीर की खोज में नदियों में चक्कर लगा रही हैं।

थांग कालीन कविता — थांग राजाओं का काल (६००-९०० ई०) चीन का स्वर्णयुग कहा जाता है। इस युग में काव्य, कथा, नाटक और चित्रकला आदि में उन्नति हुई। वास्तव में चीनी काव्यकला 'प्रशस्ति गीत' से आरंभ हुई, चू युवान् की कविताओं से उसे बल मिला और थांगयुग में उसने पूर्णता प्राप्त की। इस युग की ४८,९०० कविताओं का संग्रह सन् १९०७ में ३० भागों में प्रकाशित हुआ है। इन कविताओं में प्राकृतिक सौंदर्य, प्रेम, विरह, राजप्रशंसा तथा बौद्ध और ताओ धर्म के वर्णनों की मुख्यता है। संक्षिप्तता चीनी काव्य का गुण माना जाता है, इसलिये लंबे ऐतिहासिक काव्य चीन में प्रायः नहीं लिखे गए। चित्रकला की भाँति सांकेतिकता इस कविता का दूसरा गुण रहा है। चीनी वाक्यावली में विभक्ति, प्रत्यय, काल और वचनभेद, आदि के अभाव में पूर्वापर प्रसंग आदि से ही काव्यगत भावों को समझना पड़ता है, इसलिये चीनी कविता को हृदयंगम करने में कुछ अभ्यास की आवश्यकता है।

लि पो (७०१-७६२ ई०) इस काल के एक महान् कवि हो गए हैं। बहुत दिनों तक वे भ्रमण करते रहे, फिर कुछ काजियों के साथ हिमालय प्रस्थान कर गए। वहाँ से लौटकर राजदरबार में रहने लगे, लेकिन किसी षड्यंत्र के कारण उन्हें शीघ्र ही अपना पद छोड़ना पड़ा। अपनी आंतरिक व्यथा व्यक्त करते हुए कवि ने कहा है :

मेरे सफेद होते हुए बालों से एक लंबा, बहुत
लंबा रस्सा बनेगा,
फिर भी उससे मेरे दुःख की गहराई की थाह नहीं
मापी जा सकती।

एक बार रात्रि के समय नौकाविहार करते हुए, खुमारी की हालत में, कवि ने जल में प्रतिबिंबित चंद्रमा को पकड़ना चाहा, लेकिन वे नदी में गिर पड़े और डूब कर मर गए।

तू फू (७१२–७७० ई०) इस काल के दूसरे उल्लेखनीय महान् कवि हैं। अपनी कविता पर उन्हें बड़ा गर्व था। युद्ध, मारकाट, सैनिक शिक्षा आदि का चित्रण तू फू ने बड़ी सशक्त शैली में किया है। उनके समय में चीन पतन की ओर जा रहा था जिससे सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था। विदेशी आक्रमण के कारण राजकरों में वृद्धि हो गई थी और सैनिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई थी। तत्कालीन शासकों की दशा का चित्रण करते हुए कवि ने लिखा है :

'मैं अपने सम्राट् को याओ और शुन के समान महान् बनाना चाहता हूँ, और अपने देश के रीतिरिवाज पुनः स्थापित करना चाहता हूँ, अपने अंतिम दिनों में भयंकर बाढ़ आने पर तू फू दस दिन तक वृक्षों की जड़ें खाकर निर्वाह करते रहे। उसके बाद मांस मदिरा का अत्यधिक सेवन करने के कारण उन्हें अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा।

पो छू यि (७७२–८४६ ई०) इस युग के दूसरे श्रेष्ठ कवि हैं। स्वभाव से वे बहुत रसिक थे। लाओत्स के 'ताओ ते चिंग' पर व्यंग्य करते हुए कवि ने कहा है : 'जो जानता है वह कहता नहीं, और जो कहता है वह जानता नहीं।'

ये लाओत्स के वाक्य हैं।
लेकिन इस हालत में स्वयं लाओत्स के
'पाँच हजार से अधिक शब्दों का' क्या होगा?

पो छू यि की माँ फूलों का सौंदर्य निरीक्षण करते करते कुएँ में गिर पड़ी थी, इसपर सहृदय कवि की लेखनी द्वारा फूलों की प्रशंसा में और 'नया कूप' नाम की कविताएँ लिखी गई। 'चिरस्थायी दोष' नाम की कविता में कवि ने सम्राट् मिंग ह्वांग (६८५–७६२ ई०) के अधःपतन का मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। 'कोयला बेचनेवाला', 'राजनीतिज्ञ', 'टूटी बाँहवाला बूढ़ा' आदि व्यंग्यप्रधान कविताएँ भी कवि की लेखनी से उद्भूत हुई हैं। भाषा की सरलता के कारण उनकी कविताओं ने जनसाधारण में प्रसिद्धि पाई है।

आधुनिक काव्य — विषय, भाव और आकार प्रकार की दृष्टि से प्राचीन कविता का क्षेत्र बहुत सीमित था। एक कविता में प्रायः ४ या ८ पंक्तियाँ रहती थीं जो अलग अलग नहीं लिखी जाती थीं, विराम-चिह्न भी इसमें नहीं रहते थे जिससे कविता समझने में कठिनाई होती थी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भारत की भाँति चीन में भी धार्मिक और राजनीतिक परिवर्तन हुए, जिससे साहित्यिक क्षेत्र में जागृति दिखाई देने लगी। ४ मई, १९१९ के क्रांतिकारी आंदोलन के उपरांत चीनी कविता में जनसाधारण के संघर्षों के चित्रण का सूत्रपात हुआ।

चीनी कविता को नवीन रूप देनेवालों में को मो-रो का नाम सबसे पहले आता है। उन्होंने प्रकृति, धरती, समुद्र, सूर्य आदि की प्रशंसा में एक से एक सुंदर कविताओं की रचना कर चीनी साहित्य को आगे बढ़ाया है। सन् १९२१ में प्रकाशित 'देवियाँ' नाम के इनके कविता-संग्रह में विद्रोह के साथ साथ आशावाद स्पष्ट दिखाई देता है। इसी समय च्यांग क्वांग-त्स ने रूस की अक्टूबर क्रांति पर प्रेरणादायक कविताओं की रचना की। इन कविताओं में हाथ में बंदूक लेकर शत्रु से लड़ने के लिये कवि ने अपने देश के नौनिहालों को ललकारा है।

सन् १९३० में चीनी में वामपक्षीय लेखकसंघ की स्थापना हुई। इस समय कोमिंगतांग सरकार ने अनेक तरुण साहित्यिकों को गिरफ्तार करके मौत के घाट उतार दिया। इनमें हू ये-फिंग (सुप्रसिद्ध लेखिका तिङ् लिङ् के पति) और यिन् फू नामक कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं। सन् १९३१ में चीनी लेखकों का एक संघ बना जिससे प्रेरणा प्राप्त कर यु फंग, त्साग के—छिया, वांग या—फिग और त्स्वेन त्सेन आदि कवियों ने अकाल, भुखमरी, किसानों और जमींदारों का संघर्ष, विद्रोह, हड़ताल आदि अनेक सामयिक विषयों पर रचनाएँ प्रस्तुत कीं।

आय छिंग आजकल के लोकप्रिय कवि माने जाते हैं। उन्होंने 'वह सोया है', 'काली लड़की गाती है', 'जहाँ काले आदमी रहते हैं' आदि भावपूर्ण कविताएँ लिखीं। 'वह दूसरी बार प्राणों को निछावर देता है' नामक कविता में कवि ने एक घायल किसान सिपाही का मार्मिक चित्र उपस्थित किया है जो नगर की सड़क पर बड़े गर्व से कदम उठाकर चलता है। युद्धोत्तरकालीन कवियों में य्वान् शुइ-पो, लि चि, हो छि-फांग आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। य्वान् शुइ पो ने लोकगीत की शैली में 'बिल्लियाँ' नामकी व्यंग्यात्मक कविता की रचना की। लि चि की 'वांग क्वेइ और लि श्यांग श्यांग' नामक कविता चीन में अत्यंत प्रसिद्ध है, यह भी गीत शैली में लिखी गई है। सन् १९५४ की भयंकर बाढ़ का सामना करने के लिये वू हान् की जनता को जोश दिलाते हुए हो छि-फांग ने एक भावपूर्ण कविता लिखी। इसी तरह आय छिंग, शिह फांग यू और लि त्स्वेन-चिन आदि प्रगतिशील कवियों ने शांति-रक्षा पर सुंदर रचनाएँ प्रस्तुत की हैं।

प्राचीन कथासाहित्य — सभ्यता के आदिम काल में ह्वांगहो नदी की उपत्यका में जीवनयापन करते हुए चीन के लोगों को प्राकृतिक शक्तियों के विरुद्ध जोरदार संघर्ष करना पड़ा जिससे इस देश के निवासियों का यथार्थवादी लौकिक विश्वासों की ओर झुकाव हुआ; भारतवर्ष की भाँति आध्यात्मिक तत्वों और पौराणिक कथा कहानियों का विकास यहाँ नहीं हो सका। प्राकृतिक एवं देवताओं के प्रति भय अथवा आदर की भावना से प्रेरित होकर आदिम मानव के मुख से जो स्वाभाविक संगीत प्रस्फुटित हुआ वही आदिम कविता कहलाई। शनैः शनैः मनुष्य ने प्राकृतिक शक्तियों पर विजय पाई, उसका संघर्ष कम होता गया और अवकाश मिलने पर कथा कहानियों की ओर उसकी रुचि बढ़ती गई।

प्राचीन चीन में क्लासिकल साहित्य का इतना अधिक महत्व था कि उपन्यासों और नाटकों को साहित्य का अंग ही नहीं माना जाता था। चीनी का 'श्याओ श्वो' शब्द उपन्यास और कहानी दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। इससे मालूम होता है कि आधुनिक कथा साहित्य का विकास बाद में हुआ।

थांगकालीन कथा साहित्य — थांगकालीन राजवंशों के पूर्व कहानी साहित्य केवल परियों और भूत प्रेत की कहानियों तक सीमित था। उसके बाद 'अद्भुत कहानियाँ' (चीनी में छ्वान छि) लिखी जाने लगीं, लेकिन तत्कालीन विद्वानों के निबंधों की तुलना में ये निम्न कोटि की ही समझी जाती थीं। क्रमशः कहानी साहित्य में प्रगति हुई और थांगकाल में चरित्रप्रधान कहानियों की रचना होने लगी। कुछ कहानियाँ क्लासिकल लिखी गईं तथा कुछ व्यंग, प्रेम और शौर्यप्रधान। छेन ह्वान्-यु ने 'भटकती हुई आत्मा', लि छाओ-वेइ ने 'नागराज की कन्या' और त्वान् छेंग ने 'यिंग यिंग की कहानी' नामक भावपूर्ण प्रेम कहानियों की रचना की। इन दिनों पढ़े लिखे लोग सरकारी परीक्षाएँ पास करके उच्च पद

पाने के स्वप्न देखा करते थे और अंत में असफल होने से जीवन से निराश हो बैठते थे—इसका मार्मिक चित्रण पाइ शिंग-च्येन की 'वेश्या की कहानी', लि कुंग-त्सो की 'दक्षिण के उपराज्य का राज्यपाल', शेंग या छिह की 'छिन का स्वप्न' और शेंग छे-लि की 'तकिए के नीचे' कहानियों में बड़ी कुशलतापूर्वक किया गया है।

मिंग और मंचू काल में भी कहानी साहित्य लिखा गया। ल्याओ छाइ छिह इ (अद्भुत कहानियाँ) मंचू काल की प्रसिद्ध कहानियाँ हैं, लेखक का नाम है फू सुंग-लिंग।

उपन्यास — चीनी उपन्यासों का प्रारंभ मंगोल राजवंशों के काल से होता है। इस समय युद्ध, षड्यंत्र, प्रेम, अंधविश्वास और यात्रा आदि विषयों पर उपन्यासों की रचना हुई। लो क्वान् चिंग का लिखा हुआ सान को चिह येन इ (तीन राजधानियों की प्रेमाख्यायिका) युद्धप्रधान ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें युद्ध के दृश्य, चतुर सेनापतियों के षड्यंत्र और रणकौशल आदि का आकर्षक शैली में वर्णन किया गया है। इसी लेखक का दूसरा उपन्यास शुई हू (जल का तट) है। इसमें सुंगच्याग और उसके साथियों के कृत्यों का वर्णन है। उस काल में प्रचलित कथा कहानियों के आधार पर लेखक ने बड़े परिश्रमपूर्वक यह रचना प्रस्तुत की है। 'असित्र की पराजय' इस लेखक की तीसरी रचना है जिसमें पेइचाउ के नागरिक वांग त्स के कृत्यों का वर्णन है। वांग त्स ने किसी जादू के बल से विद्रोह किया था लेकिन वह सफल न हो सका।

मिंग काल में अनेक नए उपन्यासों की रचना हुई। छिन फिंग मेइ (सुवर्णकमल) मिंग काल का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है जिसमें सुंगकालीन भ्रष्ट जीवन का प्रभावशाली चित्रण है। इसके लेखक वांग शिह-छेंग हैं जिनकी मृत्यु १५९३ में हुई। लेखक की मृत्यु के लगभग १०० वर्ष पश्चात् उपन्यास का प्रकाशन हुआ। मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक सामग्री का अध्ययन करने के लिये यह उपन्यास बहुत महत्व का है। सुप्रसिद्ध चीनी यात्री युवान् च्वांग की भारत यात्रा पर आधारित शी यू चि (पश्चिम की यात्रा) इस काल की दूसरी रचना है। इसके लेखक वू छेंग-येन माने जाते हैं; इन्होंने लोकप्रचलित कथाओं को बटोरकर १०० अध्यायों में यह सुंदर उपन्यास लिखा। सरल और लोकप्रिय शैली में लिखी गई इस रचना में सुन वू-कुंग नाम का बुद्धभक्त वानरराज, पश्चिम की ओर प्रयाण करते हुए चीनी यात्री की पद पद पर रक्षा करता है। यु च्याओ लि इस काल की एक दूसरी बृहत्काय रचना है, अनेक स्थलों पर इसमें पुनरावृत्ति भी हुई है। यह उपन्यास अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं। इसमें एक शिक्षित युवक की प्रेमकहानी है जो सुंदरियों से प्रेम करता है। पुनर्जन्म और कर्मफल को यहाँ मुख्य कहा गया है। लिंगह को च्वान् उपन्यास के लेखक का नाम भी अज्ञात है। लेखक का दावा है कि उसकी इस असाधारण कृति की प्रत्येक घटना यथार्थता पर आधारित है, और इसे उपन्यास की अपेक्षा इतिहास कहना ही अधिक उपयुक्त है। इस काल का दूसरा प्रसिद्ध उपन्यास छिंग ह्वा य्वान् है। सम्राज्ञी वू के राज्य की घटनाओं का इसमें वर्णन है। यह सम्राज्ञी सन् ६८४ में राजसिंहासन पर बैठी और २० वर्ष तक राज्य करती रही। फिंग शान लंग येन उच्च कोटि की साहित्यिक शैली में लिखा हुआ उपन्यास है; इसमें फिंग और येन नामक दो तरुण विद्यार्थियों की प्रेमकहानी है जो शान और लेंग नाम की कवयित्रियों की साहित्यिक प्रतिभा से आकृष्ट होकर उनसे प्रेम करने लगते हैं। अर्ह तोउ मेइ उपन्यास में पितृभक्ति, मित्रता और पड़ोसियों के प्रति कर्तव्य को मुख्य बताया है।

हुंग लौ मंग (लाल भवन का स्वप्न) चीन का अत्यंत लोकप्रिय उपन्यास है जो मंचू काल में ईसवी सन् की १७वीं शताब्दी में लिखा गया था। इसके लेखक का नाम है त्साओ श्ये छिन (ई० १७२४-१७६४ ई०) इस उपन्यास का पुराना नाम 'चट्टान की कहानी' था। लेखक ने अनेक पांडुलिपियों के आधार पर बड़े परिश्रम से इसे लिपिबद्ध किया। उपन्यास की प्रेमकथा बोलचाल की सरल और आकर्षक शैली में लिखी गई है। सामंती समाज का सूक्ष्म चित्रण करते हुए यहाँ शासक वर्ग की बुराइयों का पर्दाफाश किया गया है। बीच बीच में हास्य और करुण रस के आख्यान हैं जो उच्च कोटि की कविताओं से गुंफित हैं। यह कृति २४ भागों में और ४००० पृष्ठों में प्रकाशित हुई है; इसमें ६ लाख शब्द हैं और ४४८ पात्र। मंचू राजाओं ने इसे उच्छृंखलतापूर्ण और अनैतिक बताकर इसे नष्ट कर देने की घोषणा की थी। इस युग का दूसरा सुप्रसिद्ध उपन्यास है 'विद्वानों का जीवन'। इसके लेखक वू छिंग-त्स (ई० १७०१–१७५४) हैं। ये दोनों ही उपन्यास पिछले २०० वर्षों से चीन में बड़े चाव से पढ़े जाते रहे हैं और दोनों ही जनतांत्रिक विचारधारा की प्रतिष्ठा में सहायक हुए हैं। मंचू राजाओं के काल में शासकों का भ्रष्टाचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था और उनमें छोटे छोटे स्वार्थों के लिये युद्ध हुआ करते थे। विद्वान् प्रायः शासकों के नियंत्रण में रहते और उनकी सहायता से शासक प्रजा पर मनमाना अत्याचार करते थे। विद्वानों का नैतिक अधःपतन अपनी सीमा को लाँघ गया था। सरकारी परीक्षाएँ पास करके धन और मान प्राप्त करना, बस यही उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य रह गया था। इन्हीं सब बातों का चित्रण कुशल लेखक ने व्यंग्यपूर्ण शैली में किया है।

आधुनिक कथा साहित्य — आधुनिक चीनी साहित्य का आरंभ प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हुआ। युद्ध के कारण आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में जो परिवर्तन हुए उनसे नैतिकता के मापदंड भी बदल गए, जीवन की गति तीव्र हो गई और जीवन में अधिक पेचीदगी और जटिलता आ गई। इसी समय से चीनी साहित्य में एक प्रगतिशील यथार्थवादी धारा का जन्म हुआ जिससे चीन के तरुण लेखकों को नया साहित्य सर्जन करने की प्रेरणा मिली।

चीन के गोर्की कहे जानेवाले लु शुन (१८८१–१९३६) आधुनिक चीनी साहित्य में मौलिक कहानियों के जन्मदाता कहे जाते हैं। अपनी लेखनी द्वारा उन्होंने सामंती समाज पर करारे प्रहार किए हैं। कला और जीवन का वे घनिष्ट संबंध स्वीकार करते हैं। लु शुन समाज के नग्न और वीभत्स चित्रण से ही संतोष नहीं कर लेते बल्कि समाजवादी यथार्थता के ऊपर आधारित जीवन के वास्तविक लेकिन आस्थापूर्ण चित्र भी उन्होंने प्रस्तुत किए हैं। 'साबुन की टिकिया' कहानी में पितृभक्ति की परंपरागत भावना पर तीव्र प्रहार किया गया है। 'आह क्यू की सच्ची कहानी' लु शुन की दूसरी श्रेष्ठ कृति है जिसमें अपनी 'लाज' को बचाने की हीन मनोवृत्ति पर करारा व्यंग्य है। 'मनुष्यद्वेषी' कहानी में बुद्धिजीवियों के स्वप्नों पर कठोर आघात है। 'मेरा पुराना घर' और 'नए वर्ष का बलिदान' कहानियों में ग्रामीण किसानों का हृदयद्रावक चित्रण है। अनेक महत्वपूर्ण आलोचनात्मक निबंध भी लु शुन ने लिखे हैं।

आधुनिक चीनी साहित्यिक आंदोलन के नेता माओ तुन (जन्म १८९६) अनेक यथार्थवादी उपन्यासों और कहानियों के सफल लेखक हैं। सन् १९२६ से लेकर १९३२ तक इन्होंने 'इंद्रधनुष', 'एक पंक्ति में तीन' और 'सड़क' आदि उपन्यासों की रचना की है। इनका 'मध्यरात्रि' उपन्यास चीनी साहित्य की श्रेष्ठतम कृति मानी जाती है। साम्राज्यवादी शोषण के कारण उद्योग धंधों की कमी से चीन किस संकटापन्न अवस्था से गुजर रहा था, इसका यहाँ मार्मिक चित्रण है। 'बसंत के रेशमी कीड़े' और 'लिन् परिवार की दूकान' नामक कहानियों से माओ तुन को ख्याति मिली है। लाओ श (जन्म १८९७) चीन के दूसरे सुप्रसिद्ध लेखक हैं। इनके 'रिक्शावाला' उपन्यास ने अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की है। 'लाओ लि के प्रेम की खोज' और 'बिल्लाड़ियों का देश' आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। अभी हाल में लाओ श ने 'नामरहित पहाड़ी जिसका नामकरण अब हुआ है' नामक उपन्यास लिखा है। तिङ् लिङ् चीन की क्रांतिकारी महिला हैं। सन् १९२७ से ही इन्होंने लिखना शुरू कर दिया था। कोमिंगतांग की पुलिस द्वारा अपने पति हू ये-फिंग की निर्मम हत्या कर दिए जाने पर ये कोमिंगतांग सरकार के विरुद्ध जोर से काम करने लगीं। देशभक्ति के कारण तिङ् लिङ् को जेल की यातनाएँ भी सहनी पड़ीं। इनकी 'जल' नामक कहानी में प्रलयकारी बाढ़ को रोकने के लिये किसानों के संघर्ष का सशक्त शैली में चित्रण किया गया है। 'जब मैं श्यान आकाश गाँव में थी' नामक कहानी में जापानी सिपाहियों के बलात्कार का शिकार बनी एक नवयुवती का सहानुभूतिपूर्ण चित्र प्रस्तुत है। सन् १९५० में तिङ् लिङ् की 'उत्तर शान्सी पर 'वायु और सूर्य' नाम की रचना प्रकाशित हुई। 'सांगकान नदी पर सूर्य का प्रकाश' नामक उपन्यास पर इन्हें स्तालिन पुरस्कार दिया गया। इस उपन्यास का विषय भूमिसुधार है जो लेखिका के अनुभव के आधार पर लिखा गया है। पा छिन (जन्म १९०४) ने 'बसंत', 'शरत्' और 'दुर्दांत नदी' आदि सफल उपन्यासों की रचना की है। इन रचनाओं में नवयुवकों के विचारों में अंतर्विरोधों के सुंदर चित्रण मिलते हैं। यहाँ जगह जगह सामंती व्यवस्था के प्रति घृणा और क्रांतिकारियों के प्रति आदर का भाव व्यक्त किया गया है। पा छिन की सर्वश्रेष्ठ रचना 'परिवार' है। यह उनकी बाल्यावस्था के अनुभवों पर आधारित है। चाओ शु लि (जन्म १९०५) की रचनाओं में किसानों का संघर्ष तथा नए समाज में प्रेम का चित्रण प्रस्तुत है। लेखक ने गाँवों में किसानों की सहकारी संस्थाओं को संगठित करने का अनुभव प्राप्त किया है। चाओ शु लि की 'श्याओ अ ह्व का विवाह' और 'लि यु त्साय् की 'तुकांत कविताएँ' नाम की कहानियाँ काफी लोकप्रिय हुई हैं। 'लि के गाँव में परिवर्तन' इनका सफल उपन्यास है। अभी हाल में चाओ शु लि का 'सानलिवान गाँव' नाम का एक और सुंदर उपन्यास प्रकाशित हुआ है जिससे इन्हें साहित्यिक जगत् में विशेष ख्याति मिली है। चाओ शु लि भाषा के धनी हैं, इनकी भाषा सरल और प्रभावोत्पादक है।

अन्य अनेक उपन्यासकार और कहानी लेखक भी चीन में हुए हैं जिन्होंने जनवादी साहित्य का निर्माण कर मानवता के उत्थान में योग दिया है। चाओ मिंग सन् १९३२ से ही वामपक्षीय लेखकसंघ की सदस्या रही हैं। लेखिका का 'शक्ति का स्रोत' उपन्यास उनके कारखानों में काम करने के अनुभवों पर आधारित है। खुंग च्वे और युवान् छिंग पति पत्नी हैं, दोनों ने मिलकर 'पुत्रियाँ और पुत्र' नामक एक सशक्त उपन्यास लिखा है जिसमें जापानी सेना के खिलाफ किसान गोरिल्लों के युद्ध का प्रभावशाली वर्णन है। चौ लि-पो (जन्म १९०८) ने अपनी रचनाओं में भूमिसुधार के चित्र प्रस्तुत किए हैं। 'तूफान' नामक उपन्यास पर इन्हें स्तालिन पुरस्कार से पुरस्कृत किया गया है। 'पिघला हुआ इस्पात' चौ लि-पो का एक और सुंदर उपन्यास है जो हाल में ही प्रकाशित हुआ है। का ओ यु-पाओ ने सेना में भर्ती होने के बाद अक्षरज्ञान प्राप्त किया था। उनकी आत्मकथा में उपन्यास जैसा आनंद मिलता है। यांग श्वो ने 'पर्वत और नदियों के तीन हजार लि' नामक उपन्यास लिखा है जिसमें रेल मजदूरों का चित्रण है। लेइ छ्या ने 'यालु नदी पर वसंत' और आयु यु ने 'पर्वत और खेत' नामक उपन्यासों की रचना की है।

उपन्यासों के साथ आधुनिक कहानी साहित्य की भी यथेष्ट श्रीवृद्धि हुई। अभी हाल में चीनी कहानियों के अंग्रेजी अनुवादों के कुछ संग्रह प्रकाशित हुए हैं। 'घर की यात्रा तथा अन्य कहानियाँ' नामक संग्रह में आय् वू, लि छुन्, छिन श्वेन-पेइ, लि उ पाइ-यु, मा फंग, लिउ छेन, छुन् छिंग, नान तिंग आदि लेखकों की रचनाएँ संमिलित हैं। 'नदी पर उषाकाल तथा अन्य कहानियाँ' और 'नवजीवन का निर्माण' नामक संग्रहों में भी चीन के तरुण लेखकों की रचनाएँ संगृहीत हैं।

चीनी नाटक — चीनी नाटकों का इतिहास काफी पुराना है। भारतवर्ष की भाँति देवी देवता या राजाओं महाराजाओं के समक्ष किए जानेवाले प्राचीन नृत्य ही इन नाटकों के मूल आधार हैं। थांग राजवंशों के काल में मिंग ह्वांग नामक सम्राट् ने राजदरबारियों के मनोरंजन के लिये लड़के लड़कियों की नाट्यसंस्था खोली। आगे चलकर विलासप्रिय सुंग राजाओं के काल (९६०-१२७८ ई०) में नाट्यकला की उन्नति हुई, लेकिन इस कला का पूर्ण विकास हुआ मंगोल राजाओं के समय (१२००-१३६८ ई०)। इस युग में एक से एक सुंदर नाटकों की रचना हुई। च्वान् छु श्वेन त्स छि के ८ भागों में १०० नाटकों का संग्रह छपा है। वांग शि-फू का लिखा हुआ शि श्यांग चि (पश्चिम भवन की कहानी) इस काल के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में गिना जाता है। इसमें वायु, पुष्प, हिम और ज्योत्स्ना आदि संबंधी अनेक संवाद प्रस्तुत हैं जिनमें प्रेम और षड्यंत्र की सूचना मिलती है। नाटक की आख्यायिका अत्यंत साधारण होने पर भी बड़े कलात्मक ढंग से रंगमंच पर उपस्थित की जाती है। पात्रों की बोलचाल, उनका उठना बैठना और चलना फिरना आदि क्रियाएँ बड़ी मंद गति और कोमलता के साथ संपन्न होती हैं। चि छुन् श्यांग (चाओ परिवार का अनाथ) इस काल का दूसरा लोकप्रिय नाटक है जिसमें ईसा के पूर्व छठी शताब्दी के एक मंत्री की कहानी है जो अपने शत्रु की हत्या का षड्यंत्र रचता है।

मिंग काल (१३६८-१६४४ ई०) में शिल्प आदि की दृष्टि से नाट्य साहित्य में प्रगति हुई। इस युग की साहित्यिक भाषा में शब्दबहुल सैकड़ों नाटक प्रकाश में आए, कुछ में ४८ अंकों तक का समावेश किया गया। का ओ त्स छेंग का लिखा हुआ फो या ची (सितार की कहानी) इस काल का श्रेष्ठ नाटक माना जाता है। सन् १७०४ में यह पहली बार खेला गया था। इसके विभिन्न संस्करणों में २४ से लेकर ४२ दृश्य तक प्रकाशित हुए हैं। इसमें राजभक्ति, पितृभक्ति और पतिसेवा का सुंदर चित्रण प्रस्तुत हुआ है।

मंचू राजवंशों के काल (१६४४-१९११ ई०) में चीनी नाट्य साहित्य की लोकप्रियता में वृद्धि हुई। इस समय प्रायः युद्धसंबंधी नाटकों की रचना ही अधिक हुई। 'शाश्वत युवावस्था का प्रासाद' इस

काल की एक श्रेष्ठ कृति है जिसे हुंग शेंग ने सन् १६८८ में प्रस्तुत किया। इस नाटक में सम्राट् मिंग ह्वांग और उसकी प्रेमिका यांग यु-ह्वान् की करुण कहानी का सुंदर चित्रण है।

आधुनिक नाट्य साहित्य — नए चीन में जननाट्यों की लोकप्रियता बहुत बढ़ गई है। वहाँ सैकड़ों तरह के नाटक खेले जाते हैं और नाटकघरों में दर्शकों की भीड़ लगी रहती है। सान छा खो (तीन सड़कों का बड़ा रास्ता) नामक नाट्य में सुंगकाल की घटना पर आधारित एक षड्यंत्र की कहानी है। सुंग वू कुंग (जादूगर वानर) एक दूसरा लोकप्रिय नाटक है। इसमें रंगमंच पर भीषण युद्ध के साहसपूर्ण दृश्य प्रस्तुत किए गए हैं। अभिनीत होने पर इस नाटक में प्रसिद्ध अभिनेता लिन् शाओ तुन् ने वानर का अभिनय किया था। पीकिंग, उत्तर चीन, शेचुआन, शांसी आदि भिन्न भिन्न प्रांतों के गीतिनाट्य (आपेरा) भी चीन में अत्यंत प्रसिद्ध हैं। पीकिंग के गीतिनाट्य में चीन के सुप्रसिद्ध अभिनेता मे ला फांग ने स्त्रियों का अभिनय किया। इसमें 'मछुओं का प्रतिशोध', 'स्वर्ग में तूफान' 'ग्वाला और गाँव की लड़की' आदि नाट्य प्रसिद्ध हैं। चेकियांग गीतिनाट्य शांघाई में बहुत लोकप्रिय है। इसमें स्त्रियाँ ही पुरुष और स्त्री दोनों का अभिनय करती हैं। 'ल्यांग शान पो और चू यिंग थाय' इसका सुप्रसिद्ध नाट्य है। कैंटन गीतिनाट्य कैंटन, हांगकांग, मलाया और इंडोनेशिया में लोकप्रिय हुए हैं।

जननाट्यों की माँग बढ़ जाने से आजकल चीन के तरुण लेखक नाटक लिखने में जुट गए हैं। को मो-रो ने महान् कवि चुयुवान् के चरित पर आधारित सुंदर नाटक की रचना की है। लाओ श ने 'हमारा राष्ट्र सर्वप्रथम है' और माओ तुन ने 'छिंगमिंग त्योहार के पूर्व और पश्चात्' नाटक लिखे हैं। त्साओ यू का 'गर्जन, वर्षा और सूर्योदय' तथा छेन पो छेन का 'पहाड़ों के लिये प्रेम' नाटक सुप्रसिद्ध हैं। लि छि ह्वा ने 'संघर्ष और प्रतिसंघर्ष', तु ञन ने 'नई वस्तुओं के आमने सामने', आन पो ने 'नं शिन नदी में वसंत की बहार', हु ति ने 'लाल खुफिया', शा क फू ने 'हॉवधारा में', छेन चि-इंग ने 'दरिया और पहाड़ों के उस पार' तथा हुआ येन ने 'परीक्षा' नामक सुंदर नाटकों की रचना कर चीनी साहित्य को समृद्ध बनाया है।

सं० ग्रं०—'पीपुल्स चायना', 'चायना रिकन्स्ट्रक्ट्स', 'चाइनीज लिटरेचर; एच० ए० गाइल्स : चाइनीज लिटरेचर।

[ज० च० जै०]

चीनी मिट्टी एक प्रकार की सफेद और सुघट्य मिट्टी है, जो प्राकृतिक अवस्था में पाई जाती है। डा० रिस के कथनानुसार, "चीनी मिट्टी वह खनिज पदार्थ है जो, फेल्सपार या उनके समान रासायनिक संघटनवाले खनिजों के रासायनिक विघटन से प्रकृति में बनती है।" इसका रंग सफेद होता है और इसमें प्राकृतिक सुघट्यता होती है। इसका रासायनिक संघटन जलयुक्त ऐलुमिनो-सिलिकेट (Al_2O_3. $2SiO_2$. $2H_2O$) है। चीनी मिट्टी को केओलिन भी कहते हैं। चीनी भाषा में केओलिन का अर्थ पहाड़ी डांडा होता है। ये डांडे बहुधा फेल्सपार खनिज के होते हैं और इस फेल्सपार का रासायनिक विघटन होने के कारण चीनी मिट्टी या "केओलिन" इन्हीं डांडों में प्राप्त होती है। शायद इस चीनी शब्द के कारण ही इस खनिज को चीनी मिट्टी भी कहते हैं। आजकल चीनी मिट्टी या "केओलिन" केवल उसी मिट्टी को नहीं कहते हैं जो पहाड़ी डांडों में पाई जाती है, बल्कि उस सफेद और सुघट्य मिट्टी को भी कहते हैं जो विघटन के स्थान से बहकर किसी अन्य स्थान में जमा हो जाती है। इसलिये चीनी मिट्टी दो प्रकार की होती है : १. वह जो विघटनस्थल पर पाई जाती है तथा २. वह जो विघटन के स्थान से बहकर दूसरे स्थान में जमी पाई जाती है।

मृद्भांड उद्योग में उपयोगी होने के लिये चीनी मिट्टी में कुछ और गुण होने चाहिए जैसे, १. गीली रहने पर उसे मनचाही आकृति दे देना, २. सूखने पर कठोर हो जाना, ३. सूखने पर या आग में पकने पर भी दी हुई आकृति का ज्यों का त्यों बना रहना, ४. सूखने या आग में पकाने पर नियमित रूप से सिकुड़ना तथा ५. ऊँचे ताप पर न गलना।

इन गुणों को ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त दोनों प्रकार की चीनी मिट्टी का आगे और भी वर्गीकरण किया जा सकता है, जैसे १. वह चीनी मिट्टी जो आग में पकाने पर सफेद रहती है, और वह चीनी मिट्टी; जो आग में पकाने पर सफेद नहीं रहती; २. सूखने और पकाने पर अधिक सिकुड़नेवाली चीनी मिट्टी और कम सिकुड़नेवाली चीनी मिट्टी; ३. ऊँचे ताप पर गल जानेवाली और न गलनेवाली; ४. विशेष सुघट्य और कम सुघट्य मिट्टी तथा ५. छोटे कणोंवाली मिट्टी और बड़े कणोंवाली मिट्टी।

विशेष प्रकार के गुणोंवाली मिट्टी ही विशेष प्रकार के उद्योग में अधिक उपयोगी सिद्ध होती है, जैसे ऊँचे ताप को सह सकनेवाली मिट्टी का उपयोग तापसह ईंटों के बनाने में होता है। प्याले, कटोरी इत्यादि बनाने में आग में पकाने पर सफेद रहनेवाली मिट्टी को ही लोग अधिक पसंद करते हैं। मकान इत्यादि बनाने के लिये पकाने पर सुंदर और लाल हो जानेवाली मिट्टी अधिक उपयोगी है। कपड़ा, कागज या रबर बनाने के उद्योग में खूब छोटे कणोंवाली सफेद मिट्टी की ही अधिक माँग है।

चीनी मिट्टी का उपयोग बर्तन, प्याले, कटोरी, थाली, अस्पताल में काम में लाए जानेवाले सामान, बिजली के पृथक्कारी, मोटर के स्पार्क प्लग, तापसह ईंटें इत्यादि बनाने में होता है। रबर, कपड़ा तथा कागज बनाने में चीनी मिट्टी को पूरक की तरह उपयोग में लाते हैं। कभी कभी इसे दवा के रूप में भी खिलाते हैं। हैजा इत्यादि बीमारी में "केओलिन" दी जाती है।

उपयोग में लाने के पहले चीनी मिट्टी को अपद्रव्यों से मुक्त करना आवश्यक है। यह क्रिया चीनी मिट्टी को पानी से धोकर की जाती है। चीनी मिट्टी को पानी में मिलाकर नालियों में बहाया जाता है। अपद्रव्य भारी होने के कारण नीचे बैठ जाते हैं और चीनी मिट्टी पानी के साथ बह जाती है। कुछ दूर बहने के उपरांत यह चीनी-मिट्टी-युक्त पानी एक टंकी में जमा कर लिया जाता है। कुछ समय के बाद चीनी मिट्टी भी पानी में नीचे बैठ जाती है। ऊपर का पानी निकाल लिया जाता है और मिट्टी सुखा ली जाती है। तब यह काम में लाई जाती है।

भारत में चीनी मिट्टी बिहार की राजमहल पहाड़ियों और पथरगट्टा नामक स्थान के पास, दिल्ली के आसपास की पहाड़ियों में तथा केरल प्रदेश में त्रिवेंद्रम के पास कुंडारा नामक स्थान में अच्छी और प्रचुर मात्रा में मिलती है। राजस्थान में कई स्थानों पर (विशेषकर पहाड़ियों पर), मध्यप्रदेश, बबई, गुजरात, मद्रास, बंगाल और आंध्रप्रदेशों में भी चीनी मिट्टी बहुतायत से पाई जाती है। असम और पंजाब में भी चीनी मिट्टी प्रचुर मात्रा में पाई जाने की संभावना है। [म० ला० मि०]

चीनी मिट्टी के बरतन दे० 'मृत्तिका शिल्प।'

चीनी मूर्तिकला दे० 'ललितकला।'

चीपुरुपल्लि नगर आंध्र राज्य के श्रीकाकुलम जिले में विजयनगरम् नगर से १७ मील उत्तर-पूर्व में स्थित है। यह तेलहन, ज्वार, बाजरा, तथा जूट के व्यवसाय का केंद्र है। समीप में मैंगनीज् की खानें भी हैं। इस नगर की जनसंख्या ६,५४० (१६६१) है। [उ० सि०]

चील श्येन कुल, फैमिली फैलकोनिडी (Family falconidae), का बहुत परिचित पक्षी है, जिसकी कई जातियाँ संसार के प्रायः सभी देशों में फैली हुई हैं। इनमें काली चील (Black kite), ब्रह्मनी या खैरी चील (Brahmany kite), ग्रॉल बिल्ड चील (Awl billed kite), ह्विसलिंग चील (Whistling kite) आदि मुख्य हैं।

चील लगभग दो फुट लंबी चिड़िया है, जिसकी दुम लंबी और दोफंकी रहती है। इसका सारा बदन कलछौंह भूरा होता है, जिसपर गहरे रंग के सेहुरे से पड़े रहते हैं। चोंच काली और टाँगें पीली होती हैं।

बाज, बहरी आदि शिकारी चिड़ियों से इसके डैने बड़े, टाँगें छोटी और चोंच तथा पंजे कमजोर होते हैं। चील उड़ने में बड़ी दक्ष होती
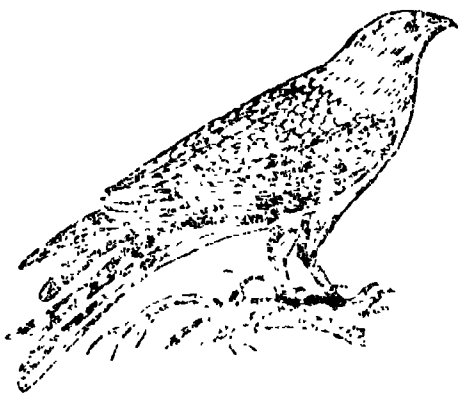
चील (Kite)

है। बाजार में खाने की चीजों पर बिना किसी से टकराए हुए, यह ऐसी सफाई से झपट्टा मारती है कि देखकर ताज्जुब होता है।

यह सर्वभक्षी तथा मुर्दाखोर चिड़िया है, जिससे कोई भी खाने की वस्तु नहीं बचने पाती। ढीठ तो यह इतनी होती है कि कभी कभी बस्ती के बीच के किसी पेड़ पर ही अपना भद्दा सा घोंसला बना लेती है। मादा दो तीन सफेद या राखी के रंग के अंडे देती है, जिनपर कत्थई चित्तियाँ पड़ी रहती हैं। [सु० सिं०]

चुंकिंग (Chungking) स्थिति : २६° ३५' उ० अ० तथा १०६° ३७' पू० दे०। यह पश्चिमी चीन के सच्वान (Szechwan) बेसिन का महत्वपूर्ण और घना आबाद बंदरगाह एवं वाणिज्यकेंद्र है। यह जिआलिंग (Kialing) तथा यांगसीकियांग (Yantze Kiang) नदियों के संगम पर चट्टानी प्रायद्वीप पर स्थित है। चुंकिंग, सच्वान का प्राकृतिक प्रवेशद्वार है जिसके द्वारा सच्वान शेष चीन और सागर से संचारसंबंध बनाता है। युद्ध के समय, सन् १६३७ में चुंकिंग चीन की राजधानी थी। इसकी जनसंख्या १०,००,००० (१६४२) थी। [अ० ना० मे०]

चुंगी (Octroi) नगर स्वायत्त संस्थानों द्वारा वस्तुओं पर उनके अधिशासन क्षेत्र में प्रवेश पर लगाए जानेवाले परोक्ष (Indirect) उपभोग कर को चुंगी की संज्ञा दी जाती है। कर लगाने का यह अधिकार संस्थानों को राज्य से प्राप्त होता है। यह नगरपालिका, नगर महापालिका, नगरनिगम आदि स्थानीय नगर-स्वायत्त-शासन की व्यवस्था के संचालन एवं उत्तरदायित्व के निर्वाह के लिये, आय का एक विशिष्ट तथा महत्वपूर्ण स्रोत है।

प्राचीन समय में भारत में ऐसे स्थानीय करों का वर्णन कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। रोम साम्राज्य में भी यह प्रचलित था और फ्रांस में १३वीं शताब्दी से इसका प्रारंभ हुआ। आगे चलकर इसे हटा लिया गया लेकिन फ्रांस की राज्यक्रांति के उपरांत वहाँ यह पुनः लगाया गया। अंग्रेजों ने भारत में इसे केंद्रीय कर के रूप में, सन् १८६० ई० में, यह कहकर लगाया कि यह कर नया नहीं है, मुगलों के "मुत्फरका" के समान ही है। भारत में सन् १६१६ ई० से नगर-स्वायत्त-शासन-संस्थानों को इस कर के लिये अधिकार प्राप्त है। भारतीय संविधान में इसे स्थानीय क्षेत्र में, उपभोग, उपयोग अथवा विक्रय के हेतु प्रविष्ट होनेवाली वस्तुओं पर कर के रूप में प्रगृहीत किया गया है।

निम्नांकित वर्गों के उपभोग की वस्तुओं पर सामान्यतः यह कर लगाया जाता है : (क) मनुष्यों एवं चौपायों के खाने एवं पीने की सामग्री, (ख) वध करने के लिये लाए गए जानवरों, (ग) प्रकाश, ईंधन एवं पेय पदार्थ, (घ) भवननिर्माण एवं साज-सज्जा की सामग्री, (ङ) रासायनिक पदार्थ, दवाइयाँ, सौंदर्यप्रसाधन, रंग आदि, (च) तंबाकू के सभी प्रकार के पदार्थ, (छ) उपभोग में आनेवाले कपड़े तथा अन्य सभी सामान (ज) धातु एवं उनसे बने पदार्थ। साधारण रूप से जिन वर्गों की वस्तुओं पर यह कर नहीं लगाया जाता वे इस प्रकार हैं : (क) जिन वस्तुओं पर उत्पादन कर (Excise duty) या सीमाशुल्क (Custom) लगता है, (ख) मूल्यवान् पत्थर तथा धातुएँ, (ग) सरकारी उपभोग की वस्तुएँ, (घ) शराब बनाने के पदार्थ, (ङ) व्यक्तियों के प्रयुक्त निजी तथा घरेलू सामान, (च) निजी उपयोग के लिये आनेवाले मुड़बोझे, (छ) सैनिक सामान, (ज) मशीन एवं उनके हिस्से (मशीन बनाने के औजार नहीं), (झ) कोयला, (ट) वाहन, (ठ) टंकण-यंत्र (ड) समाचारपत्र, पत्र, पुस्तकें आदि।

यह कर विभिन्न वस्तुओं पर भिन्न भिन्न ढंग से लगाया जाता है, जैसे कुछ वस्तुओं पर तौल, कुछ वस्तुओं पर मूल्य और कुछ वस्तुओं पर गणना के अनुसार।

इस कर का सदा से विरोध रहा है क्योंकि करवसूली का व्ययभार इसमें अधिक पड़ता है और भ्रष्टाचार भी बढ़ता है। इसलिये सन् १८७० में बेलजियम, सन् १६०३ में मिस्र तथा १६४६ में फ्रांस से यह समाप्त कर दिया गया। फिर भी इटली, स्पेन, पुर्तगाल, आस्ट्रिया, पाकिस्तान, बर्मा, लंका, भारत आदि देशों में यह कर बना हुआ है। भारत में तो यह नगर-स्वायत्त-शासन संस्थाओं की आय का एक महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य साधन है। [सु० पां०]

चुंबकत्व का विकास चुंबक पत्थर, या मैग्नेटाइट नामक खनिज के प्रति लोहे के आकर्षण के अध्ययन के फलस्वरूप हुआ है। कुछ शतक

पूर्व जानकारी हुई कि चुंबक पत्थर निर्बाध घूर्णन की सुविधा प्राप्त होने पर एक निश्चित दिशा में स्थिर होता है। १२वीं शती में ही इस जानकारी से समुद्र में दिशा का पता लगाया जाने लगा था। १२६९ ई० में पीट्रस पेरेग्राइनस द मारिकोर्ट (Petrus Peregrinus de Maricourt) ने एक गोलाकार चुंबक पत्थर की बलरेखाएँ ज्ञात की और सिद्ध किया कि प्रत्येक चुंबक के दो ध्रुव होते हैं। विलियम गिलबर्ट (William Gilbert) ने पृथ्वी को उत्तरोन्मुख और दक्षिणोन्मुख ध्रुवोंवाला विशाल चुंबक बताया। उसने यह भी सिद्ध किया कि सजातीय ध्रुवों में प्रतिकर्षण होता है और विजातीय ध्रुवों में आकर्षण। १७८५ ई० में कूलंब ने प्रतिलोमवर्ग नियम प्रतिपादित किया। १८५१ ई० में हैन्स क्रिश्चियन ओर्स्टेड (Hans Christian Oersted) ने आविष्कार किया कि किसी तार में विद्युत् प्रवाहित करने पर तार कोलित कुतुबनुमा की सुई को विचलित करता है, बशर्ते तार सुई की मूल स्थिति के समांतर हो। इस खोज से विद्युद्धारा और चुंबकीय क्षेत्र में संबंध के अस्तित्व की पुष्टि और विद्युच्चुंबकत्व (Electromagnetism) नामक विज्ञान की नई शाखा का जन्म हुआ। ऐंपियर (Andre Marie Ampe're) ने सिद्धांततः और प्रयोगतः विद्युद्धाराओं के सहवर्ती चुंबकीय क्षेत्रों के संबंध में नियम प्रतिपादित किया। इसके अनुसार तार-कुंडली और चुंबकीय क्षेत्र में सापेक्ष गति से विद्युद्वाहक बल (Electromotive force) उत्पन्न होता है। यह आविष्कार विद्युच्छक्ति उत्पादन और वितरण का आधार बना।

१७७८ ई० में ब्रगमान्स (S. J. Brugmans) ने देखा कि बिस्मथ और ऐंटिमनी चुंबक के ध्रुवों से प्रतिकर्षित होते हैं। इस आविष्कार पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। १८४५ ई० में फैरेडे ने इसे महत्वपूर्ण समझा और सिद्ध किया कि चुंबकत्व सर्वव्यापी घटना है। उसने विषम चुंबकत्व, समचुंबकत्व और लोह चुंबकत्व का अंतर स्पष्ट किया। क्यूरी (Pierre Curie) ने सिद्ध किया कि विषमचुंबकत्व ताप से नहीं प्रभावित होता और समचुंबकीय चुंबकप्रवृत्ति (susceptibility) ताप की प्रतिलोमानुपाती होती है। घूर्ण चुंबकीय (gyro-magnetic) प्रयोगों से सिद्ध हुआ है कि लोह चुंबकत्व का कारण इलेक्ट्रॉन भ्रमि है। हाइसनबर्ग (W. Heisenberg) ने तरंग-यांत्रिक के आधार पर लोह चुंबकत्व की व्याख्या की है। फेराइट के अध्ययन से एक नए चुंबकीय गुण फेरिचुंबकत्व (Ferrimagnetism) की जानकारी हुई है। नेईल (Neel) ने प्रतिलोहचुंबकत्व (Antiferromagnetism) का आविष्कार किया है, जो अबतक केवल सैद्धांतिक महत्व का ही है।

आधारभूत संकल्पनाएँ — चुंबकित पदार्थ के चतुर्दिक् वह स्थान, जिसमें चुंबक का प्रभाव पाया जाय, चुंबकीय क्षेत्र कहलाता है। इस क्षेत्र में आकर अचुंबकित लोहा प्रेरित चुंबकत्व (induced magnetism) प्राप्त कर लेता है। यह क्षेत्र एक समान भी हो सकता है और नहीं भी। पृथ्वी का चुंबकीय क्षेत्र काफी व्यापक स्थान तक एक समान माना जा सकता है। यदि कोई छड़-चुंबक क्षैतिज समतल में निर्बाध घूर्णन के लिये लटकाया जाय, तो वह मोटे तौर पर उत्तर दक्षिण दिशा में स्थिर हो जाता है। छड़ पर समांतर बलों के दो तंत्र काम करते हैं, जिनका परिणामी उसके प्रत्येक सिरे के एक बिंदु या छोटे से क्षेत्र से गुजरता प्रतीत होता है। ये बिंदु ध्रुव हैं। गणना के लिये चुंबकत्व इन्हीं ध्रुवों पर स्थित माना जाता है। ध्रुवों को मिलानेवाली रेखा चुंबकीय अक्ष कहलाती है।

इकाई ध्रुव एक सेंटीमीटर दूर स्थित समान और सजातीय ध्रुव को एक डाइन बल से प्रतिकर्षित करता है। चुंबक का ध्रुव सामर्थ्य (pole strength) इकाई ध्रुवों की वह संख्या है जिसके बराबर चुंबक का प्रत्येक ध्रुव है। शून्यक में किसी चुंबकीय क्षेत्र में, निश्चित बिंदु पर इकाई ध्रुव पर जो बल कार्यरत होगा वह उस क्षेत्र को शक्ति या चुंबकीय तीव्रता की माप होगी और उसकी चुंबकीय तीव्रता इकाई होगी, यदि इकाई ध्रुव पर १ डाइन बल कार्यशील है।

इकाई उत्तरोन्मुख ध्रुव को एक निश्चित बिंदु ख से दूसरे निश्चित बिंदु क तक ले जाने में जो कार्य करना पड़ेगा उसे क और ख के बीच का विभवांतर कहते हैं। यदि ख अनंत दूरी पर स्थित हो, तो यह कार्य क का विभव कहलाता है। म सामर्थ्य के किसी वियुक्त ध्रुव (isolated pole) से र दूरी पर तीव्रता $\frac{म}{र^२}$ होगी और विभव $\frac{म}{र}$।

चुंबकीय क्षेत्र के किसी बिंदु पर रखा हुआ कोई एकाकी उत्तरोन्मुख ध्रुव जिस दिशा में चलने के लिये प्रेरित होगा उसे उस बिंदु पर बल रेखा की दिशा कहते हैं। एक समान क्षेत्र की सभी बल रेखाएँ समांतर होती हैं। किसी बिंदु पर बलरेखाओं के लंबवत् स्थित इकाई क्षेत्र से यदि एक ही बलरेखा गुजरती हो, तो उस बिंदु पर इकाई तीव्रता होती है। चूँकि इकाई ध्रुव से १ सेंटीमीटर दूर ४π वर्ग सेंटीमीटर सतह क्षेत्र की तीव्रता १ ओर्स्टेड होती है, अतः इकाई उत्तरोन्मुख ध्रुव से ४π रेखाओं का निकलना आवश्यक है। इकाई उत्तरोन्मुख ध्रुव से निकलकर इकाई दक्षिणोन्मुख ध्रुव में समाप्त होनेवाली बलरेखाओं का एक पुंज इकाई बलनलिका कहलाती है और इसमें ४π रेखाएँ होती हैं।

ध्रुव सामर्थ्य और ध्रुवों के बीच की दूरी का गुणनफल चुंबक का चुंबकीय घूर्ण कहलाता है। प्रति इकाई अनुप्रस्थ काट के क्षेत्रफल में चुंबकीय ध्रुव सामर्थ्य की मात्रा चुंबकन की तीव्रता कहलाती है।

सतह की अभिलंब (normal) दिशा में एक समान चुंबकित पदार्थ की पतली चद्दर को, जिसके एक ओर उत्तरोन्मुख और दूसरी ओर दक्षिणोन्मुख ध्रुव है, चुंबक पट्टिका (magnetic shell) कहते हैं। इसके किसी भी बिंदु पर पट्टिका का सामर्थ्य उस बिंदु पर पट्टिका की मोटाई और चुंबकन की तीव्रता (intensity of magnetisation) का गुणनफल है।

द दूरी पर स्थित $म_1$ और $म_2$ सामर्थ्यवाले दो ध्रुवों के बीच $म_1 \times म_2/द$ डाइन बल होता है। यदि ध्रुव किसी माध्यम में स्थित हों, तो यह बल $म_1 \times म_2/\mu द$ हो जाता है। μ एक अचल है, जिसे माध्यम की पारगम्यता कहते हैं। μ पारगम्यता के माध्यम में १ ओर्स्टेड चुंबकीय-क्षेत्र की तीव्रता μ रेखा प्रति सेंटीमटर^२ से प्रदर्शित की जाती है। μ पारगम्यता के माध्यम की रेखाओं की कुल संख्या को चुंबकीय फ्लक्स कहते हैं। किसी इकाई क्षेत्र के लंबवत् गुजरनेवाली रेखाओं की संख्या चुंबकीय प्रेरण या फ्लक्स घनत्व कहलाती है। चुंबकीय प्रेरण की इकाई गौस है। μ पारगम्यता के माध्यम में यदि क्षेत्रीय तीव्रता ह ओर्स्टेड है, तो चुंबकीय प्रेरण $ब = \mu ह$ गौस होगा। चुंबकन की तीव्रता और चुंबकीय क्षेत्र का अनुपात चुंबकीय प्रवृत्ति कहलाती है। पदार्थों को प्रवृत्ति के आधार पर तीन वर्गों में बाँट सकते हैं: विषमचुंबकीय, समचुंबकीय और लोहचुंबकीय। पहले दो वर्गीय पदार्थों की सुग्राहिता साधारणतया कम होती है। विषमचुंबकीय पदार्थ की सुग्राहिता ऋणात्मक और धनात्मक समचुंबकीय पदार्थों की तुलना में

बहुत ही कम होती है। लोहचुंबकीय पदार्थों की सुग्राहिता धनात्मक होती है। यदि पदार्थ संतृप्त न हो, अर्थात् शक्तिशाली क्षेत्र में यथासंभव अधिक से अधिक चुंबकित हो, तो यह प्रायः बहुत अधिक होती है। यह प्रयुक्त क्षेत्र और पदार्थ के चुंबकीय इतिहास (magnetic history) पर निर्भर है। यदि उत्तेजक क्षेत्र हटा लिया जाय, तो विषम चुंबकीय और समचुंबकीय पदार्थों का चुंबकन लुप्त हो जाता है, किंतु लोहचुंबकीय पदार्थ अवशिष्ट या स्थायी चुंबकन प्रदर्शित करते हैं।

चुंबकीय क्षेत्र उत्पादन, चुंबकीय क्षेत्र और सुग्राहिता की माप — चुंबकीय क्षेत्र उत्पन्न करने के लिये स्थायी चुंबक या विद्युच्चुंबक का प्रयोग किया जाता है। आजकल स्थायी चुंबक का प्रयोग करना ही अधिक अच्छा समझा जा रहा है। पहले पहल कृत्रिम चुंबक तैयार करने के दो ही तरीके थे : इस्पात को चुंबक से रगड़ना, या उसे पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र में रख छोड़ना। अब विद्युद्धारा के चुंबकीय क्षेत्र से लाभ उठाया जाता है। पदार्थ और चुंबक की आकृति का चुनाव आवश्यकताओं के अनुसार होता है। स्थायी चुंबकों की दो प्रधान त्रुटियाँ हैं। पहली यह कि हम चुंबकीय क्षेत्र में निरंतर हेरफेर नहीं कर सकते और दूसरी यह कि इनसे १०,००० ओर्स्टेड से अधिक क्षेत्र पाना संभव नहीं है।

विद्युच्चुंबकों में यह लाभ है कि उनका चुंबकत्व घटाया बढ़ाया जा सकता है। सरलतम विद्युच्चुंबक वह परिनालिका (solenoid) है जिसमें क्षेत्र विद्युद्धारा तथा प्रति इकाई लंबाई में लपेटों की संख्या के गुणनफल का समानुपाती होता है। यदि धारा की वृद्धि की जाय तो तार गरम हो जाता है, जिससे प्रतिरोध बढ़ता है और दूसरे विसंवाहन (insulation) नष्ट हो जाता है। इस प्रकार परिनालिका १,००० ओर्स्टेड तक सीमित है। इस कठिनाई को हल करने के दो उपाय हैं : एक तो उत्पन्न ऊष्मा को हटाना और दूसरा लोहक्रोड (iron core) के प्रयोग से चुंबकीय क्षेत्र को संकेंद्रित करना। लोहक्रोड परिनालिका ५०,००० ओर्स्टेड से कम चुंबकीय क्षेत्र उत्पादन के लिये सीमित है। इससे अधिक क्षेत्र के लिये लोहक्रोड की उपस्थिति लाभप्रद नहीं होती। उच्चतर क्षेत्र उत्पादन के लिये लपेटों का शीतलन (cooling) किया जाता है। परिनालिका या लोहक्रोड चुंबक द्वारा अधिक से अधिक १,००,००० ओर्स्टेड सतत क्षेत्र (continuous field) प्राप्त हो सकता है। इससे बहुत ही थोड़े समय के लिये अत्यधिक क्षेत्र प्राप्त हो सकता है, क्योंकि अत्यधिक धारा का प्रयोग बहुत ही कम समय तक बिना अधिक ऊष्मा उत्पन्न किए हो सकता है। कपित्सा (Kapitza) ने लगभग ४,००,००० ओर्स्टेड क्षेत्र सेकंड के कई हजारवें अंशों के लिये, सीसा संचायक (lead accumulator) की बड़ी बैटरी को निम्न प्रतिरोध कुंडली (low resistance coil) से जोड़कर, प्राप्त किया। आजकल थोड़े समय के लिये बड़े क्षेत्र उत्पादन के लिये, उच्च विभव पर आविष्ट (charged) धारित्र (condenser) को निराविष्ट (discharge) करने के आधार पर नई विधि बनी है। कई इंजीनियरी समस्याओं की विजय के बाद अब ७,००,००० ओर्स्टेड क्षेत्र उत्पादन संभव हो गया है।

चुंबकीय क्षेत्र की माप — चुंबकीय क्षेत्र की तीव्रता के मापन की साधारण विधि प्रक्षेपक धारामापी (ballistic galvanometer) या फ्लक्समापी (fluxmeter) के प्रयोग की है। इनमें फ्लक्समापी अधिक संतोषप्रद है। फ्लक्समापी असल में चलकुंडल धारामापी (moving coil galvanometer) है, जिसके कुंडल को माउंटिंग ऐसी होती है कि निलंबन उपेक्षणीय प्रत्यानयन बलघूर्ण (restoring torque) का प्रयोग करता है। साथ ही विद्युच्चुंबकीय के अतिरिक्त अन्य उद्गमों का अवमंदन बहुत कम होता है, आदर्शतः शून्य। एक शोध-कुंडली (search coil) और एक छोटी समतल कुंडली फ्लक्समापी से जोड़कर इस प्रकार रखी जाती है कि उसका समतल मापनीय क्षेत्र के लंबवत् रहे। कुंडली को क्षेत्र से शीघ्रतापूर्वक हटाया जाता है।

इससे सूत्र एन. ए. एच. = के. θ [$NAH = K\theta$] प्राप्त होता है।

यहाँ ए (A) = शोधकुंडली का प्रभावी क्षेत्रफल, एच (H) = चुंबकीय क्षेत्र, एन (N) = लपेटसंख्या तथा के (K) = उपकरण का नियतांक है, जिसका मान ज्ञात करने के लिये ज्ञात क्षेत्र में शोधकुंडली का प्रयोग करना चाहिए।

उपर्युक्त सूत्र के अनुसार फ्लक्समापी में θ विक्षेप होता है। एन. ए. एच. फ्लक्स का कुल परिवर्तन है। प्रक्षेपक धारामापी में प्रवाहित आवेश (charge) इसका अनुपाती है। इस विधि से शोधकुंडली की अनुप्रस्थ काट में औसत क्षेत्र ज्ञात होता है।

यदि किसी धातुपट्टी को, जिसमें धारा प्रवाहित हो रही हो, चुंबकीय क्षेत्र में रखा जाय, तो पट्टी के आरपार लंबवत् चुंबकीय क्षेत्र में विद्युद्धाराओं के घूर्णन के फलस्वरूप विभवांतर उत्पन्न हो जाता है। किसी निश्चित प्रतिदर्श (sample) और निश्चित धारा के लिये यह वोल्टता, जिसका नाम हाल (Hall) वोल्टता है, चुंबकीय क्षेत्र के परिमाण की प्रथम सन्निकटन (first approximation) तक अनुपाती है। १०० ओर्स्टेड से अधिक क्षेत्र में और प्रचालन धारा (drivig current) द्वारा जर्मेनियम धातु में सरलतया मापनीय वोल्टता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रभाव का प्रयोग गौसमापी में किया गया है।

चुंबकीय क्षेत्र में यदि किसी कुंडली को उसके समतल में स्थित अक्ष के चतुर्दिक् घूर्णित किया जाय, तो उसे काटनेवाली बलरेखाएँ परिवर्तित होती हैं, जिससे कुंडली में प्रत्यावर्ती विद्युद्वाहक बल (alternating electromotive force) उत्पन्न होता है। प्रत्यावर्ती वोल्टता क्षेत्र का परिमाण मापने के काम आती है। मापनसूत्र है :

वी = एन. ए. एच. डब्ल्यू $\times$ १०$^{-८}$ ($V = NAHW \times 10^{-8}$)

यहाँ वी (V) = उत्पादित शिखर वोल्टता (peak voltage), एन (N) = लपेटसंख्या, ए (A) = कुंडली का प्रभावी क्षेत्रफल, डब्ल्यू (W) = कोणीय वेग तथा एच (H) = घूर्णन अक्ष के लंबवत् चुंबकीय क्षेत्र का अधिकतम संघटक (maximum component) है। प्रतिबंध यह है कि डब्ल्यू स्थिर रहे।

सुग्राहिता की माप — दो विधियाँ प्रमुख हैं : (१) गूई (Gouy) की विधि, (२) क्यूरी की विधि। क्यूरी की विधि से अल्प परिमाण में प्राप्त पदार्थों की सुग्राहिता ज्ञात की जा सकती है। गूई की विधि में प्रतिदर्श (specimen) लंबा तथा एकसमान अनुप्रस्थ काट ऐल्फा (α) का होता है, जिसका एक सिरा प्रबल क्षेत्र एच (H) और दूसरा दुर्बल क्षेत्र एच$_{०}$ (H_0) में होता है। गणना द्वारा प्रतिदर्श पर बल ज्ञात किया जाता है, जो–

$\frac{के_2 - के_1}{२}$ ऐल्फा (एच^2 – एच$_0^2$) $\left[\frac{k_2 - k_1}{2} \alpha (H^2 - H_0^2)\right]$ होता है। यहाँ k_2, k_1 समाकलन अचर हैं।

द्रव की सुग्राहिता क्विंके (Quincke) की विधि से ज्ञात की जाती है। एक यू (U) नली में, जिसका एक अंग सँकरा और दूसरा चौड़ा होता है, द्रव को भर लेते हैं। सँकरे अंग को विद्युच्चुंबक के ध्रुवों के बीच रख देते हैं, ताकि क्षेत्र को काट देने पर द्रव सतह ध्रुव खंडों के केंद्र के पास रहे। क्षेत्र के उत्पन्न होने पर द्रव चढ़ेगा या उतरेगा, जिससे यू नली के दोनों अंगों में दाबांतर उत्पन्न हो जायगा। यदि एक अंग दूसरे की अपेक्षा बहुत बड़ा और द्रव के घनत्व ρ की तुलना में उसके ऊपर स्थित हवा का घनत्व उपेक्षणीय माना जाय, तो सँकरी नली में चढ़ाव δ अग्रलिखित सूत्र के अनुसार होगा : पी = डेल्टा. रो. जी. $[P = \delta \rho g]$

[P = दाबांतर तथा g = गुरुत्वजनित वेगवृद्धि]

लोहचुंबकीय पदार्थ की सुग्राहिता प्रयुक्त चुंबकीय क्षेत्र और पदार्थ के चुंबकीय इतिहास पर निर्भर है। अतः लोहचुंबकीय पदार्थ की सुग्राहिता जानने के लिये शैथिल्यमंदन वक्र (Hysteresis curve) की जानकारी होनी चाहिए। शैथिल्यमंदन वक्र द्वारा सभी प्रतिबंधों में निश्चित सुग्राहिता मालूम हो जाती है। यह वक्र चुंबकीय प्रेरण बी (B) को चुंबकीय क्षेत्र एच (H) से संबंधित करता है। बी-एच (B-H) वक्र प्राप्त करने के लिये पदार्थ का वृत्ताकार अनुप्रस्थ काट का ऐसा छल्ला लेना चाहिए जिसपर निरंतर परिनालिका लपेटी गई हो। यदि प्रति सेंटीमीटर लपेटों की संख्या n_1 है तथा परिनालिका में आई (i) विद्युच्चुंबकीय इकाई धारा प्रवाहित हो रही है, तो एच = ४ π एन$_1$. आई. $(H = 4 \pi n_1 i)$ होगा। एन$_2$ (n_2) लपेटवाली सहायक कुंडली, (secondary coil) छल्ले पर लिपटी होती है और चुंबकीय क्षेत्र स्थापित होने पर फ्लक्स बी ऐल्फा (B α) उसे काटता है। यहाँ बी (B) चुंबकीय प्रेरण और ऐल्फा (α) छल्ले की अनुप्रस्थ काट का क्षेत्रफल है। सहायक कुंडली के साथ एक प्राक्षेपक धारामापी श्रेणी में जुड़ा होता है, जिसकी फेंक उत्पन्न एच (H) पर बी (B) निर्धारित करती है। छल्ले को एच (H) के प्रत्येक मान पर चक्रीय अवस्था में लाने के लिये उसे कई बार चुंबकित और विचुंबकित करना पड़ता है।

चुंबकत्व के सिद्धांत — संसार के सभी पदार्थ विद्युदुदासीन परमाणुओं से निर्मित होने के कारण चुंबकत्व को जन्म नहीं दे सकते। परमाणु का केंद्रक धनाविष्ट क्रोड है, जिसमें उसकी लगभग सारी मात्रा संकेंद्रित होती है। कोई परमाणु का लाखवाँ स्थान घेरता है। केंद्रक के चतुर्दिक् ऋणाविष्ट इलेक्ट्रॉन उसी प्रकार चक्कर लगाते हैं जैसे सूर्य के ग्रहगण। इलेक्ट्रान की कक्षागति (orbital motion) चुंबकीय घूर्ण से संबंधित है। इलेक्ट्रॉन में निजी भ्रमिकोणीय संवेग (intrinsic spin angular momentum) भी होता है, जो उसके अपने चुंबकीय घूर्ण से संबंधित है। क्वांटम यांत्रिकी के सिद्धांतों के अनुसार इलेक्ट्रान छदों (shells) में विन्यस्त रहते हैं। प्रत्येक छद की निश्चित इलेक्ट्रॉनधारिता होती है। किसी छद के पूर्ण होते ही कक्षीय और भ्रमिकोणीय संवेग से संबद्ध घूर्ण एक दूसरे को निरस्त कर देते हैं। छद के न पूर्ण होने पर परिणामी चुंबकीय घूर्ण रह जाता है। बाह्य चुंबकीय क्षेत्र प्रयुक्त करने पर परिणामी चुंबकीय घूर्ण प्रायः बाह्य क्षेत्र के साथ एकरेखण की प्रवृत्ति रखता है।

विषमचुंबकत्व — केंद्रक के चारों ओर r अर्धव्यास की गोलाकार कक्षा में $T = 2\pi r/v$ समय में भ्रमण करनेवाले, विद्युच्चुंबकीय इकाई के – e आवेशवाले इलेक्ट्रॉन पर विमर्श करें। कक्षा में उसका वेग v है। एंपीयर के नियमानुसार यह उस चुंबकीय पट्टिका के तुल्य है जिसका घूर्ण = धारा × कक्षा का क्षेत्रफल = – erv/2 होता है। यदि H सामर्थ्य का चुंबकीय क्षेत्र कक्षा के लंबवत् प्रयुक्त किया जाय, तो कक्षा के साथ साथ विद्युद्वाहक बल प्रेरित हो जाता है, जो फैराडे के नियमानुसार चुंबकीय क्षेत्र के परिवर्तित होने की दर और कक्षा के क्षेत्रफल के गुणनफल के बराबर होता है। यदि इस प्रेरित विद्युद्वाहक बल के कारण किसी बिंदु पर विद्युत्तीव्रता E हो, तो परिभाषा के अनुसार प्रेरित विद्युद्वाहक बल = कक्षा की लंबाई × E = $2\pi r E$। अतः

$$2\pi r E = -\pi r^2 \frac{\partial H}{\partial t}$$

इलेक्ट्रॉन पर बल – eE है और इसके कारण त्वरण – eE/m, जहाँ m इलेक्ट्रान की मात्रा है। अतः क्षेत्र की स्थापना के समय वेग में परिवर्तन $= \frac{er}{2m} \frac{\partial H}{\partial t}$। कक्षागति समाकलन द्वारा $-\frac{er}{2m} H$ निकल आती है।

इलेक्ट्रॉन से सहचरित चुंबकीय घूर्ण – erv/2 है। अतः क्षेत्र H स्थापित होने पर कुल चुंबकीय घूर्ण = $-e^2r^2H/4m$ होगा।

यदि परमाणु में अनेक इलेक्ट्रॉन हैं, तो प्रेरित चुंबकीय घूर्ण प्रत्येक कक्षा में घूर्णपरिवर्तनों का योग होगा। यदि प्रत्येक कक्षा क्षेत्र के लंबवत् हो, तो कुल प्रेरित चुंबकीय घूर्ण

$$M = e^2H/4m \text{ (प्रत्येक कक्षा के } r^2 \text{ का योग) होगा।}$$

प्रत्येक परमाणु के लिये प्रेरित घूर्ण $= -\frac{e^2 H}{6m} \sum r_i^2$ जिसमें r_i इलेक्ट्रॉन संख्या i का माध्य अर्धव्यास है। यदि ग्राम-परमाणुक-भार में परमाणुओं की संख्या L रहे, तो पारमाण्विक सुग्राहिता,

$$X = -\frac{Le^2}{6m} \sum r_i^2 \text{ होगी।}$$

चूँकि e, m और r ताप निरपेक्ष हैं, अतः विषमचुंबकत्व भी तापनिरपेक्ष है। चूँकि $\sum r_i^2$ हमेशा धनात्मक होना चाहिए, अतः सभी पदार्थ विषमचुंबकीय होने चाहिए। परमाणु के परिणामी चुंबकीय घूर्ण से उत्पन्न समचुंबकत्व के कारण कभी कभी यह प्रकट नहीं होता। निष्क्रिय गैसों के समान इलेक्ट्रॉन विन्यासवाले सभी आयन और परमाणु विषमचुंबकीय हैं और प्रायः सभी कार्बनिक यौगिक विषमचुंबकीय हैं।

समचुंबकत्व — संपूर्ण परमाणु में चुंबकीय घूर्ण होने पर परिस्थिति कुछ और हो जाती है। उष्मागति के कारण प्रत्येक चुंबकीय घूर्ण अनियमित रूप से अवस्थापित है और इसलिये गैस की किसी भी मात्रा में कोई चुंबकीय घूर्ण नहीं पाया जाता। अब यदि इस गैस पर कोई क्षेत्र प्रयुक्त किया जाय, तो व्यक्तिगत चुंबकीय घूर्णों की बाह्य चुंबकीय क्षेत्र की दिशा में अनुरेखण की प्रवृत्ति अनियमित गैस परमाणुओं की गति पर हावी हो जाती है। संतुलन स्थापित हो जाता है और गैस चुंबकीय क्षेत्र की दिशा में चुंबकीय घूर्ण प्रदर्शित करता है। जितना ही ताप अधिक होगा अनियमित गति का महत्व भी उतना ही अधिक होगा और प्रेरित चुंबकत्व उतना ही कम। चुंबकीय सुग्राहिता तापवृद्धि के साथ घटती है।

फेरिचुंबकत्व — लोहचुंबकीय धातुओं और उनकी मिश्रधातुओं के अतिरिक्त एक और वर्ग के पदार्थ प्रबल लोहचुंबकत्व प्रदर्शित करते हैं, किंतु इन्हें उस वर्ग में रखना संभव नहीं। ये धातु नहीं वरन् लोहे के आक्साइड हैं, जिनमें अन्य धातुओं के आक्साइड मिश्रित रहते हैं। इनका संतृप्ति चुंबकन सभी प्राथमिक चुंबकों-(elementary magnets) की पूर्णतः अनुरेखित अवस्था में प्रत्याशित संतृप्ति चुंबकन से बहुत कम होता है। ऐसे पदार्थ फेरिचुंबकीय पदार्थ कहलाते हैं। फेराइटों का व्यापक रासायनिक सूत्र $Fe_2 O_3 . MO$ है, जिसमें M तांबा, चांदी, मैग्निशियम, सीसा, निकल या लोहा जैसा कोई द्विसंयोजक धातु है। जिंक फेराइट समचुंबकीय है और कैडमियम फेराइट कभी समचुंबकीय और कभी लोहचुंबकीय है। इन्हें छोड़कर सभी फेराइट कमरे के ताप पर लोह-चुंबकीय हैं।

इनके गुणों की व्याख्या इनकी मणिभ संरचना के आधार पर की गई है। एक्सरे के प्रयोग से ज्ञात हुआ है कि इनके मणिभों की संरचना स्पिनेल की संरचना जैसी है। धातु अयनों की दो स्थितियाँ (sites) होती हैं। जब धातु अयन चार आक्सीजन अयनों से घिरा होता है तब उसे क स्थिति कहते हैं, तथा जब धातु अयन छः आक्सीजन अयनों से घिरा होता है तब उसे ख स्थिति कहते हैं। नेइल (Ne'el) की परिकल्पना के अनुसार क स्थिति पर अयनों का चुंबकीय घूर्ण समांतर अनुरेखित है और ख स्थिति पर इसी प्रकार, किंतु विपरीत दिशा में अनुरेखित है। हाइसेनबर्ग (Heisenburg) के सिद्धांत के अनुसार क और ख स्थितियों पर अयनों के बीच की दूरी इतनी है कि उनके मध्य विनिमय अंतर्क्रिया (exchange interaction) धनात्मक है और भ्रमि के समांतर अनुरेखण के अनुकूल है। क स्थिति और ख स्थिति के अयनों के बीच इतनी दूरी है कि इनके मध्य विनिमय अंतर्क्रिया रचनात्मक है और ऐसी परिस्थिति के निर्माण के अनुकूल है कि क स्थिति के सभी अयनों की भ्रमि ख स्थिति के अयनों की भ्रमि की दिशा के विपरीत निर्देश करे। अयनों के प्रत्येक कुलक का एक लाक्षणिक क्यूरी (Curie) ताप होता है। इससे अधिक ताप होने पर समांतर अनुरेखण नष्ट हो जाता है। क और ख स्थितियों के अयनों के क्यूरी ताप एक से हों, यह आवश्यक नहीं है। अतः लोहचुंबकोयों के समान यद्यपि फेराइटों का स्वजात चुंबकन किसी निश्चित ताप पर एकाएक लुप्त हो जाता है, तथापि ताप के साथ इसके चुंबकन मे परिवर्तन लोहचुंबकीयों से भिन्न होता है। फेराइटों का स्वजात चुंबकन लोहे के बराबर कभी नहीं होता, यद्यपि व्यक्तिगत अयनों का चुंबकीय घूर्ण उतना ही बड़ा हो सकता है। फेराइट उच्च आवृत्ति परिचालन में बहुत काम आते हैं।

प्रतिलोह चुंबकत्व — यदि क स्थिति के अयनों का चुंबकीय घूर्ण ख स्थिति के अयनों के चुंबकीय घूर्ण के बराबर हो तो तंत्र का परिणामी चुंबकीय घूर्ण शून्य होगा और आंतर अनुरेखण के रहते भी ऐसे पदार्थ में कोई लोहचुंबकीय गुण नहीं पाया जायगा। ऐसे पदार्थों को प्रति-लोहचुंबकीय कहते हैं। इनकी सुग्राहिता अल्प, धनात्मक और घटते हुए ताप के साथ बढ़ती है तथा क्रांतिक ताप के नीचे पुनः घटती है। जिस ताप पर सुग्राहिता अधिकतम होती है, उसे नेइल का ताप कहते हैं। इस ताप पर चुंबकीय घूर्णों का स्वतः प्रतिसमांतर अनुरेखण होता है। अभी तक प्रतिलोहचुंबकीय पदार्थों से कोई लाभ नहीं उठाया जा सका है।

पृथ्वी और तारों के चुंबकीय क्षेत्र — पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र के विवेचन के लिये पृथ्वी के क्षेत्र का अनुप्रस्थ संघटक H, दिक्पात, अर्थात् अनुप्रस्थ संघटक और भौगोलिक उत्तर दक्षिण दिशा के बीच का कोण, और नमन, अर्थात् अनुप्रस्थ संघटक और समस्त क्षेत्र के बीच के कोण, की जानकारी चाहिए। दिक्पात का मापन सिद्धांततः क्षैतिज समतल में निर्बाध गतिवाली चुंबकीय सुई के अक्ष की विश्रामदिशा और भौगोलिक उत्तर दक्षिण दिशा के बीच का कोण मापना है। नमन को ऊर्ध्वाधर समतल में, जिसमें H है, निर्बाध गतिवाले चुंबक के अक्ष की दिशा और क्षैतिज दिशा के बीच के कोण के रूप में मापते हैं। दिक्पात का मान स्थान स्थान पर बदलता रहता है और इसे ठीक ठीक जानने पर ही कुतुबनुमे द्वारा सही दिशा का ज्ञान हो सकता है। अतः, कई स्थानों पर दिक्पात का निर्धारण करके चार्ट तैयार करते हैं और समदिक्पात के स्थानों को मिलाते हैं। समदिक्पात के स्थानों को मिलानेवाली रेखा को तुल्यकोणिक रेखा (Isogonic line) कहते हैं।

पार्थिव चुंबकीय क्षेत्र के साधारण लक्षण और स्थान के साथ इसके मान में परिवर्तन की व्याख्या, इस परिकल्पना के आधार पर की जा सकती है कि पृथ्वी एकसमान चुंबकित गोला है, या उसके केंद्र में उपयुक्त परिमाण और दिशा का चुंबकीय द्विध्रुव (परिमित घूर्ण और उपेक्षणीय लंबाई का चुंबक) स्थित है। पृथ्वी का चुंबकत्व समय के साथ परिवर्तनशील है। दिक्पात, अवनमन और H का परिवर्तन चिरकालीन है और समदिक्रम में ये आवर्ती परिवर्तन नहीं हैं। चिरकालीन परिवर्तनों के अतिरिक्त दैनिक और मौसमी परिवर्तन भी होते रहते हैं। कुछ छोटे परिवर्तन २८ दिनों पर होते हैं। जब ये परिवर्तन सामान्य से अधिक होते हैं, तो चुंबकीय तूफान आते हैं। यह लगभग निश्चित है कि आवर्ती परिवर्तनों का कारण सौर विकिरण तीव्रता का परिवर्तन है। इससे आयनमंडल के कण विभिन्न सीमा तक आयनीकृत होते हैं। इसके तथा सौर या चांद्र ज्वारप्रभाव, या अन्य कारणों, से आयनित परतों की गति परिमाण और अयनों की संख्या के अनुपात में पृथ्वी पर चुंबकीय क्षेत्र उत्पन्न होता है। इसकी पुष्टि इसी से हो जाती है कि लघुतरंग रेडियो परिषण में पृथ्वी के चुंबकत्व जैसा ही परिवर्तन पाया जाता है। चुंबकीय तूफानों का मूल सूर्यकलंक है। चूंकि सूर्यकलंक की प्रतीति और चुंबकीय तूफानों के उठने में एक से लेकर चार दिनों तक की समयपश्चता (time lag) होती है, इसलिये यह निष्कर्ष निकलता है कि सूर्यकलंक, या उससे संबंधित किसी चीज से, कणों का उत्सर्जन होता है; संभवतः प्रोटोन का, जो २७० और १,१०० मील प्रति सेकेंड के मध्य की गति से आयनमंडल में पहुँचकर आयनीकरण अंश की वृद्धि करते हैं।

चिरकालिक परिवर्तन दुरूह है, जिसकी समुचित व्याख्या अब तक नहीं हो पाई है। एकसमान चुंबकन का सिद्धांत इसलिये लागू नहीं होता कि प्रेक्षित क्षेत्र की व्याख्या के लिये ०.७५ गोस (gauss) चुंबकन आवश्यक है। जब भूपृष्ठ पर भी इतना क्षेत्र नहीं होता तो ऊँचे ताप के कारण पृथ्वी के भीतरी प्रदेश में तो और भी कम होना चाहिए। चुंबकीय द्विध्रुव की मान्यता में भी समस्याएँ हैं। यदि चुंबकन की तीव्रता २,००० गौस भी मानें, तब भी द्विध्रुव पृथ्वी के केंद्र के चतुर्दिक् स्थित गोला होगा और उसका अर्धव्यास पृथ्वी के गोले के अर्धव्यास का ३०वाँ भाग होगा। उस प्रदेश में इतनी चुंबकन की तीव्रता हो नहीं सकती, क्योंकि एक तो वहाँ का ताप क्यूरी ताप से अधिक है, दूसरे उच्च दाब के कारण क्यूरी ताप घट भी जाता है। ब्लैकेट का यह सिद्धांत

कि प्रत्येक परिक्रामी पिंड में किसी अज्ञात कारण से चुंबकत्व होता है, रूसी राकेट, ल्यूनिक द्वितीय ने, चंद्रमा पर चुंबकत्व का सर्वथा अभाव दर्शाकर असिद्ध कर दिया है। एलसासर (W. M. Elsasser) और बुलार्ड (Edward Bullard) के अनुसार पृथ्वी स्वतः उत्तेजक डाइनेमो के समान कार्य करती है, जिसके लिये आवश्यक ऊर्जा क्रोडस्थ ऊष्मीय संनयन (thermal convection) से प्राप्त होती है। क्रोड में विद्युद्धाराओं का क्षेत्र चुंबकीय क्षेत्र प्रेरित कर देता है। पार्थिव चुंबकत्व के अस्तित्व से आकाशीय पिंडों में चुंबकीय क्षेत्र के अध्ययन की चेष्टा हुई। आकाशीय पिंड धरता से इतने दूर हैं कि उनका सीधा प्रभाव पृथ्वी पर नहीं लक्षित हो सकता। जेमान विकिरण (Zeeman's radiation) के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सूर्यकलंकों के पास ८,००० ओर्स्टेड तक के क्षेत्र हैं। कुछ तारों में परिवर्ती तीव्रता के चुंबकीय क्षेत्र तथा एक में क्षेत्र का उत्क्रमण (reversal) पाया गया है।

चुंबकीय पदार्थ और उनकी प्रयुक्तियाँ — आधुनिक उद्योग के बहुत से साधन और मशीनों के परिचालन के लिये चुंबकीय पदार्थ अनिवार्य हैं। आसानी से चुंबकित और विचुंबकित होनेवाले तथा उच्च परिगम्यतावाले चुंबकीय पदार्थ अत्यंत उपयोगी हैं। ऐसे पदार्थ भी बहुत उपयोगी हैं जो स्थायी चुंबकित होते हैं, अर्थात् जिनका चुंबकन कठिनाई से होता है, किंतु वे चुंबकन को दृढ़ता से बनाए रखते हैं। इन दो भेदों को साधारणतया मृदु और कठोर चुंबकीय पदार्थ कहते हैं। विशद अध्ययन के फलस्वरूप, लोहचुंबकीयों की सीमाओं और मौलिक गुणों के संबंध में, किसी भी ज्ञात संघटन की मिश्रधातु के, यदि उसके यांत्रिक और ऊष्मा उपचार ज्ञात हों, चुंबकीय गुणों का पूर्व कथन पर्याप्त परिशुद्धता के साथ संभव है। वांछित चुंबकीय लक्षणों की मिश्रधातु भी बिना भूल किए सरलता से तैयार की जा सकती है।

मृदु पदार्थों का उपयोग डाइनेमो, ट्रैंसफॉर्मर और विद्युन्मोटर निर्माण में अत्यधिक होता है। ऐसे पदार्थों में उच्च पारगम्यता, साम्यमंदन (चुंबकन और विचुंबकन प्रक्रिया में नष्ट ऊर्जा, जो साम्यमंदन पाश (hysteresis loop) के क्षेत्रफल की अनुपाती होती है) की निम्न हानि और उच्च प्रतिरोध आवश्यक है। उच्च प्रतिरोध से ठोस संवाहकों में परिवर्ती चुंबकीय क्षेत्रों के कारण उत्पन्न भँवर-धारा-हानियाँ कम हो जाती हैं। थोड़ी मात्रा में सिलिकन मिलाने से अशुद्धियों और आंतर विकृतियों (strain) का निरास होकर काफी अच्छा काम होता है। रेडियो और टेलिविज़न आदाता (receiver) में प्रयुक्त ट्रैंसफॉर्मर के लिये उच्च पारगम्यता का चुंबकीय क्रोड आवश्यक है।

उच्च पारगम्यता के चुंबकीय पदार्थों की दूसरी महत्वपूर्ण प्रयुक्ति चुंबकीय आवरण (mangetic screening) में होती है। चुंबकीय आवरण के प्रभाव से चुंबकीय बलरेखाएँ आवरणीय लक्ष्य से दूर निर्देशित होती हैं। टेलिविज़न आदाताओं में कैथोड-किरण-नलियों के आवरण के लिये पार-मिश्र-धातुएँ (permalloys) बहुत काम आ रही हैं। मृदुचुंबकीय पदार्थ विद्युच्चुंबकीय पारेषण (relay) का आवश्यक संघटक है, जो प्रायः स्वतःचालित और दूर-नियंत्रण-तंत्र का आवश्यक अवयव है।

चुंबकित करने पर जिन पदार्थों के आकार में परिवर्तन होता है, वे विद्युद्दोलनों को यांत्रिक दोलनों में और यांत्रिक को विद्युद्दोलनों में परिवर्तित करने के काम आते हैं। पराश्रव्यध्वनि उत्पादन इसी सिद्धांत पर होता है। चुंबकीय आकारांतर क्रिया का लाभ उठाकर, विद्युत्-स्मरण साधन की रचना संभव है।

ऐसे चुंबकीय पदार्थ, जिनका साम्यमंदन पाश (hysteresis loop) आयताकार है, स्मरण इकाइयों में बहुत काम आ रहे हैं। इन इकाइयों में इलेक्ट्रॉनिक कंप्यूटर के परिचालन के निश्चित अनुक्रम (sequence) में उपलब्ध सूचनाओं को तब तक एकत्रित रखा जाता है जब तक इन सूचनाओं का दूसरे परिचालन में उपयोग करने के लिये मशीन तैयार नहीं हो जाती। कुछ मिश्रधातुओं को गरम करने के बाद चुंबकीय क्षेत्र में रख देने पर अभीष्ट आकार का पाश मिल जाता है।

स्थायी चुंबक की प्रयुक्तियाँ भी अनेक हैं। स्थायी चुंबकीय पदार्थ की विशेषताएँ हैं, विचुंबकन बल और अवशिष्ट चुंबकत्व की अधिकता। चुंबकन क्षेत्र को हटा लेने पर प्रतिधारित चुंबकत्व की मात्रा को अवशिष्ट चुंबकत्व और इस चुंबकत्व को शून्य में परिवर्तित करने के लिये आवश्यक बल को विचुंबकन बल (coercive force) या क्षेत्र कहते हैं। टंग्स्टन इस्पात, जिसमें कोबाल्ट का अंश भी होता है, उत्तम चुंबकीय पदार्थ है। इसका विचुंबकीय बल २४० ओर्स्टेड तक हो सकता है। एलनिको नामक मिश्रधातुओं की श्रेणी में चुंबकीय गुणों के अतिरिक्त कई अन्य गुण होते हैं। इनमें जंग नहीं लगता, इनपर ताप और कंपन का प्रभाव नहीं पड़ता और ये उत्तम कोबाल्ट इस्पात के आधे मूल्य पर सुलभ होती हैं। चुंबकीय क्षेत्र की उपस्थिति में इनका शीतलन करने और थोड़ी मात्रा में टाइटेनियम और नियोबियम मिलाने पर अवशिष्ट चुंबकत्व १,००० और १,२०० गौस तथा विचुंबकन बल ६०० और ७०० ओर्स्टेड तक हो सकता है। १९५६ ई० में अमरीका के जेनरल इलेक्ट्रिक कॉरपोरेशन में लोहे और कोबाल्ट की सूक्ष्मकणिक मिश्रधातु से चुंबक बनाए गए, जिनका विचुंबकन बल १,००० ओर्स्टेड था। बेरियम फेराइट, कोबाल्ट-आयरन फेराइट और मैंगनीज़ बिसमथाइड के स्थायी चुंबकों का विचुंबकन बल अत्यधिक होता है और ये काफी हलके भी होते हैं।

स्थायी चुंबकों का उपयोग विद्युन्मापी उपकरणों, जैसे धारामापी, ऐंपियरमापी और वोल्टमापी में होता है। उपकरण की सूक्ष्मग्राहिता चुंबकीय क्षेत्र के सामर्थ्य पर और परिशुद्धता क्षेत्र की स्थिरता पर निर्भर करती है। चुंबकीय फीता रिकार्डिंग में चुंबक का प्रयोग अत्याधुनिक है। फीता पदार्थ ऐसा होना चाहिए कि एक तो यदि उसका कोई भाग चुंबकित किया जाय तो उसके चारों ओर का क्षेत्र अप्रभावित रहे और दूसरे, पदार्थ भंगुर नहीं होना चाहिए। सेल्युलाइड के फीते पर लोहे के आक्साइड ($\gamma-Fe_2O_3$) के अति सूक्ष्म चूर्ण की पतली परत देकर फीता तैयार करते हैं।

वैज्ञानिक अनुसंधान में चुंबकत्व — इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है कि विगत ६० वर्षों में भौतिकी के क्षेत्र में जिन अनुसंधानों से विशेष प्रगति हुई है उनमें से पचास प्रति शत प्रयोग चुंबकत्व पर आधारित रहे हैं। चुंबकीय क्षेत्र से पहला लाभ निम्न ताप का उत्पादन था। अब हीलियम के वाष्पीकरण से प्राप्य निम्नतम ताप १° K है। निम्नताप की सीमा हीलियम गैस को पंप करके निकालने के वेग पर निर्भर करती है। इस ताप पर समचुंबकीय पदार्थ को चुंबकित करने पर उसमें ऊष्मा उत्पन्न होती है। इस ऊष्मा को हीलियम गैस हटा देती है। हीलियम गैस को पंप द्वारा निकालकर लवण को तापतः वियुक्त (thermally isolated) करते हैं और चुंबकीय क्षेत्र हटा देते हैं।

ताप विसंचाहक के कारण, यह निम्नताप बराबर बना रहता है। इस विधि से $\frac{1}{1000}$° K से भी कम ताप प्राप्त किया जा चुका है। पहले इलेक्ट्रॉनिक समचुंबकत्व और बाद में न्यूक्लीय समचुंबकत्व को विचुंबकित करके १५×१०^{-६}°K ताप ऑक्सफोर्ड में १९५५ ई० प्राप्त किया जा चुका है।

चुंबकीय क्षेत्र में गतिमान् आविष्ट कणों के विस्थापन से कणों के आवेश और मात्रा का अनुपात ज्ञात किया जा सकता है। यदि किसी कण का आवेश e तथा विद्युच्चुंबकीय इकाई वेग v है और वह H सामर्थ्य के चुंबकीय क्षेत्र में चल रहा है, तो उसपर क्षेत्र के लंबवत्, वेग की दिशा में Hev बल कार्य करता है। इसका प्रभाव R अर्धव्यास के वृत्ताकार परिक्रमापथ में कण को इस प्रकार चलाता है कि

$$Hev = \frac{mv^2}{R} \text{ हो; अतः } R = \frac{mv}{He}$$ ।

R को माप कर $\frac{mv}{e}$ की गणना की जा सकती है। v को मापने के लिये चुंबकीय क्षेत्र से उत्पन्न विस्थापन को विद्युच्चुंबकीय इकाई में मापित समुचित विद्युत क्षेत्र E द्वारा निराकृत करना पड़ता है, जिससे

$$Ee = Hev, \text{ अतः } v = \frac{E}{H}$$

इस विधि से e/m ज्ञात किया जा सकता है। e/m को माप कर इलेक्ट्रॉन का अभिनिर्धारण किया जाता है। इसी रीति से टामसन ने आइसोटोप का अस्तित्व सिद्ध किया। न्यूक्लीय मात्रा को मापने का उपकरण पारमाण्विक-द्रव्यमान-वर्णक्रमलेखी (Atomic mass spectrograph) इसी सिद्धांत पर निर्मित है। आविष्ट धनात्मक कणों को कई लाख इलेक्ट्रॉन वोल्ट तक की वेगवृद्धि प्रदान करने के लिये साइक्लोट्रॉन नामक उपकरण का सिद्धांत यही है कि आविष्ट कण चुंबकीय क्षेत्र के प्रभाव में वृत्ताकार परिक्रमापथ पर चलते हैं। कणों को एक विभक्त धातुधानी (split metal box) में चुंबकीय क्षेत्र के प्रभाव में लाते हैं। हर बार जब कण खाली जगह पार करते हैं, तो एक विद्युत्क्षेत्र उनकी वेगवृद्धि करता है। इन अत्यंत वेगवृद्ध कणों द्वारा न्यूक्लियस का विशद अध्ययन हुआ है और कई नए मौलिक कण और नए तत्वों की प्राप्ति हुई है। चुंबकीय क्षेत्र में इलेक्ट्रॉन की वृत्ताकार गति का लाभ उठानेवाला दूसरा साधन मैग्नेट्रॉन है, जो बहुत लघु तरंग-दैर्घ्य के विद्युच्चुंबकीय तरंगों का उत्पादन करता है।

यदि किसी धातु पर प्रत्यावर्ती चुंबकीय क्षेत्र प्रयुक्त किया जाय, तो उसमें परिवर्तनशील चुंबकीय फ्लक्स (flux) के कारण भँवर धारा उत्पन्न होती है और यदि क्षेत्र पर्याप्त आवृत्ति और सामर्थ्य का हो तो धातु पिघल जाती है। इस विधि से शोधकार्य के लिये प्रयोगशाला में अल्प परिमाण में मिश्रधातु तैयार की जाती है।

अनुमानतः सौर ऊष्मा सायुज्यन क्रिया (fusion) से उत्पन्न होती है। हाइड्रोजन के न्यूक्लियसों का हीलियम के न्यूक्लियसों में सायुज्यन से उत्पन्न ताप हाइड्रोजन न्यूक्लियसों को इतना वेग प्रदान करता है कि वे सायुज्य हो जाते हैं। इस क्रिया में लगभग १ करोड़ अंश ताप उत्पन्न होता है। इस ताप पर कोई भी पदार्थ ठोस अवस्था में नहीं रह सकता और आधान पात्र का उपयोग नहीं हो सकता, किंतु गैसों को चुंबकीय क्षेत्र में रखा जा सकता है। उच्च ताप पर सभी गैसें आयनित हो जाती हैं, अर्थात् इलेक्ट्रॉन और न्यूक्लियस अलग अलग हो जाते हैं और आविष्ट होने के कारण चुंबकीय क्षेत्रों से विस्थापित हो जाते हैं। अतः उष्ण गैसों को समुचित आकार के चुंबकीय क्षेत्र में रखा जा सकता है।

चुंबकत्व एक ऐसा आकर्षक विषय है जिसने हमें मूलभूत ज्ञान दिया है। इससे उद्योग और घर में उठाए जानेवाले लाभ अनगिनत हैं। सारे विश्व में चुंबकत्व पर शोधकार्य जारी है, क्योंकि अभी बहुत कुछ जानना बाकी है।

सं० ग्रं० — थ्यूलिस, जे० : इनसाइक्लोपीडिक डिक्शनरी आव फ़िज़िक्स, परगामन प्रेस (१९६२); बेट्स, एल० एफ० : माडर्न मैग्नेटिज़्म, केंब्रिज (१९६१); ली, ई० डब्ल्यू० मैग्नेटिज़्म, पेंगिन (१९६३) तथा हैटफील्ड, डी० : परमानेंट मैग्नेट्स ऐंड मैग्नेटिज़्म, इलिफ बुक्स लिमिटेड, लंदन (१९६२)।

[शि० यो० ति०]

चुंबकत्व, पार्थिव (Terrestrial Magnetism) आज से बहुत वर्ष पूर्व प्राकृतिक चुंबक, चुंबक पत्थर (loadstone), की खोज हुई थी। लोहे को अपनी ओर आकर्षित कर लेना, इस चुंबक का विशेष गुण है। चुंबक की खोज के पश्चात्, नाविक दिक्सूचक का प्रयोग ११वीं शताब्दी से करते आ रहे हैं। कहा जाता है कि चीनियों को ईसा से २,६०० वर्ष पूर्व तथा जापानियों को सातवीं शताब्दी में दिक्सूचक का ज्ञान प्राप्त था। परंतु कॉलचेस्टर निवासी, विलियम गिलबर्ट (William Gilbert, सन् १५४०-१६०३), सर्वप्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र के संबंध में सही मत प्रकट किया। उन्होंने प्राकृतिक चुंबक पत्थर के गोलाकार टुकड़े पर प्रयोग करके निष्कर्ष निकाला कि पृथ्वी एक बहुत बड़ा चुंबक है और इसके चुंबकीय प्रभाव का कारण इसके ही अंदर है, जब कि उसके समसामयिकों का यह विश्वास था कि दिक्सूचक ध्रुवतारा से निर्देशित होता है।

चुंबकीय तत्व — पृथ्वी पर जहाँ तक मनुष्य और यंत्रों की पहुँच है, चुंबकीय क्षेत्र पाया जाता है। यह क्षेत्र आकाश में भी दूर तक विस्तृत है। पृथ्वी से ४,००० मील ऊपर भी इसकी शक्ति धरातल की विद्युत
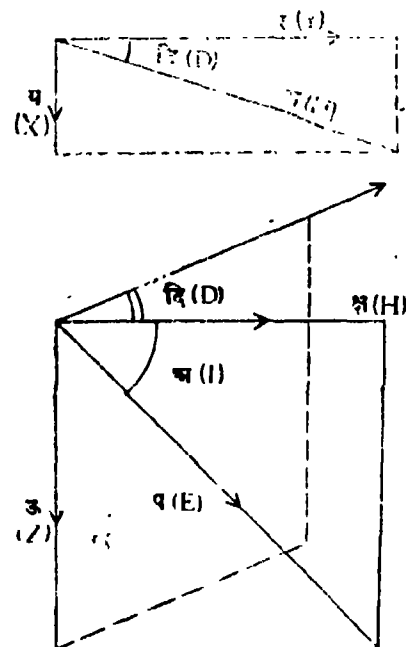
चित्र १

का १/८ भाग है। इस क्षेत्र का अस्तित्व चुंबकीय सुई से निर्धारित किया जा सकता है। प्रायः दिक्सूचक इस प्रकार कीलित रहता है कि केवल क्षैतिज दिशा में घूम सकता है। दिक्सूचक भौगोलिक उत्तर की ओर संकेत नहीं करता। भौगोलिक याम्योत्तर (meridian) चुंबकीय याम्योत्तर के साथ जो कोण बनाता है, उसे दिक्पात, दि (D), कहते हैं (देखें चित्र १ तथा २)। चुंबकीय सुई यदि इस प्रकार संतुलित हो कि ऊर्ध्वतल में स्वतंत्रतापूर्वक घूम सके तो वह क्षैतिज दिशा की ओर संकेत नहीं करती, वरन् इसका उत्तरी ध्रुव (उत्तरी गोलार्ध में) क्षैतिज दिशा से कुछ नीचे की ओर झुका होता है। जो कोण चुंबकीय सुई क्षैतिज तल के साथ बनाती है, उसे चुंबकीय अवपात, अ (I), कहते हैं। चुंबकीय क्षेत्र की तीव्रता का प्रतीक प (F) माना जायगा। इसके क्षैतिज तथा ऊर्ध्व घटकों को ल (H) तथा ऊ (Z) से अंकित किया जाएगा। ल (H) के पूर्वी और उत्तरी घटकों के प्रतीक क्रमशः य र (X, Y) कहे जायंगे। य, र, ऊ, ल, प, दि, अ, (X, Y, Z, H, F, D, I), राशियों को चुंबकीय तत्व कहते हैं। इन राशियों को निम्नलिखित समीकरणों से संबंध किया जा सकता है।

चित्र १ चुंबकीय दिक्पातन, डि (D), प्रदर्शक पृथ्वी का मानचित्र
(काल सन् १९४५)

प² = ल² + ऊ² $[F^2 = H^2 + Z^2]$

ल² = य² + र² $[H^2 = X^2 + Y^2]$

ल = प × कोज्या अ $[H = F\cos I]$

ऊ = प × ज्या अ $[Z = F\sin I]$

य = ल × ज्या दि $[X = H\cos D]$

र = ल × ज्या दि $[Y = H\sin D]$

र/य = स्प दि $[Y/X = \tan D]$

ऊ/ल = स्प अ $[Z/H = \tan I]$

किसी स्थान के चुंबकीय तत्व निर्धारित करने के लिये उपर्युक्त तत्वों में से केवल तीन तत्वों की आवश्यकता है। प्रायः (१) ल, अ, दि (H, I, D) अथवा (२) य, र, ऊ (X, Y, Z) अथवा (३) ल ऊ, दि (H, Z, D) प्रयोग में लाए जाते हैं।

चुंबकीय तत्वों की माप — चुंबकीय दिक्पात तथा अवपात कोणों से चुंबकीय क्षेत्र की दिशा निर्धारित होती है। दिक्पात कोण मापने के लिये प्रथम चुंबकीय सुई द्वारा चुंबकीय याम्योत्तर की दिशा का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, तत्पश्चात् चुंबकीय याम्योत्तर तथा भौगोलिक याम्योत्तर के बीच का कोण मापा जा सकता है। अवपात कोण को अवपात सुई से मापा जा सकता है, परंतु इसके लिये जो विद्युद्यंत्र प्रायः प्रयोग में लाया जाता है उसे अवपातप्रेरक कहते हैं। इस यंत्र में एक कुंडली का घूर्णन कराया जाता है, जिसके घूर्णाक्ष की दिशा को बदला और मापा जा सकता है। अक्ष की दिशा को इस प्रकार समंजित किया जाता है कि गैल्वैनोमापी द्वारा कुंडली में शून्य धारा पाई जाती है। अब घूर्णाक्ष चुंबकीय क्षेत्र की दिशा में होता है। इस प्रकार अवपात कोण मापा जा सकता है। अवपात कोण मापने की तीसरी विधि इस प्रकार हो सकती है कि क्षैतिज तीव्रता तथा ऊर्ध्व तीव्रता को पृथक् पृथक् नापा जाय। तदनंतर निम्नलिखित समीकरण का प्रयोग किया जाय :
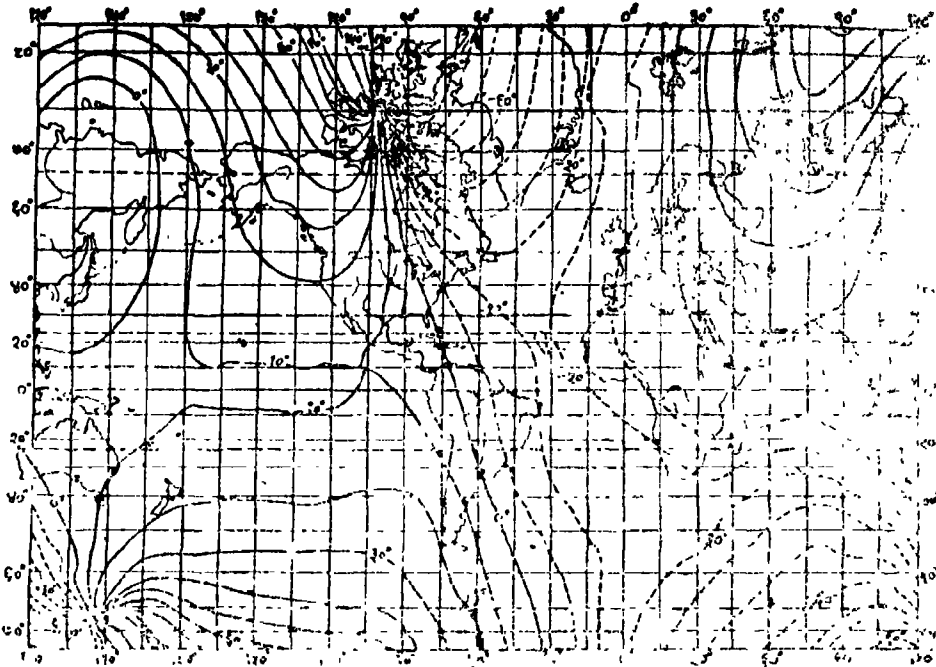
स्प अ = ऊ/ल $\left[\tan I = \frac{Z}{H}\right]$

अंतरराष्ट्रीय प्रथानुसार दिक्पात तथा अवपात के मापन में ०·१ कला की यथार्थता स्वीकार की जाती है।

दिक्पात तथा अवपात कोण ज्ञात हो जाने के पश्चात् यदि क्षैतिज तीव्रता माप ली जाय तो शेष तत्वों की गणना की जा सकती है। क्षैतिज तीव्रता मापने के लिये गौस (Gauss) की विधि इस प्रकार है : दोलन चुंबकत्वमापी से एक छड़ चुंबक का आवर्तकाल, क (T) ज्ञात किया जाता है, यदि चुंबकीय छड़ का चुंबकीय घूर्ण म (M) है और अवस्थितित्व का घूर्ण घ (K) है तो स्पष्ट है कि

क = २π √घ/म × ल $[T = 2\pi\sqrt{K/MH}]$

यदि एक अचुंबकीय वस्तु, जिसका अवस्थितित्व का घूर्ण घ₁ (K′) है, चुंबकीय छड़ के साथ रखी जाय तो क (T), क₁ (T′) में परिवर्तित हो जाता है —

क₁ = २π √((घ + घ₁)/(म × ल)) $\left[T' = 2\pi\sqrt{\frac{K+K'}{MH}}\right]$

क (T) तथा क₁ (T′) ज्ञात होने पर उपर्युक्त समीकरणों द्वारा म (M) और ल (H) का मूल्यांकन किया जा सकता है। इसके उपरांत

चुंबकत्वमापी से म/ख (M/H) मापा जाता है। म×ख (M×H) तथा म/ख (M/H) के मान ज्ञात हो जाने पर क्षैतिज तीव्रता ख (H) की गणना की जा सकती है। अंतरराष्ट्रीय प्रथानुसार चुंबकीय तीव्रता के मापन में १०$^{-5}$ गौस की यथार्थता नहीं प्राप्त की जा सकती। गौस विधि पर निर्धारित सबसे यथार्थ उपकरण किउ चुंबकत्वमापी (Kew magnetometer) है।

विद्युतीय विधियों द्वारा क्षैतिज तीव्रता अधिक सरलता एवं यथार्थता से मापी जा सकती है। शुष्टर स्मिथ (Schuster-Smith) कुंडली चुंबकत्वमापी की कुंडली में ज्ञात धारा प्रवाहित कर पृथ्वी के क्षैतिज चुंबकीय क्षेत्र को संतुलित किया जाता है। धारा की मात्रा और पूर्वांशन से क्षैतिज तीव्रता जानी जा सकती है। डाई (Dye) ने इसी प्रकार का एक यंत्र बनाया है, जिसमें ऊर्ध्व तीव्रता मापी जा सकती है। लाकूर (Dr. Lacour) ने ऊर्ध्वबल चुंबकत्वमापी बनाया, जिसमें क्षैतिज तल में स्थित कुंडली का अर्धघूर्णन कराया जाता है। इस घूर्णन का अक्ष क्षैतिज दिशा में होता है। प्रेरित धारा को मापकर पूर्वांशन द्वारा ऊर्ध्वबल ज्ञात किया जा सकता है।

पृथ्वी का चुंबकीय क्षेत्र अस्थिर है। चुंबकीय वेधशालाओं में चुंबकीय तत्वों के परिवर्तनों का फोटोग्राफी अथवा अन्य युक्तियों द्वारा निरंतर अभिलेख किया जाता है। प्रायः क्षैतिज तीव्रता, ऊर्ध्व तीव्रता तथा दिक्पात कोण का अभिलेख किया जाता है। संसार में चुंबकीय वेधशालाओं की संख्या लगभग ८० है।

केवल वेधशालाओं में मापे गए तत्वों से पृथ्वी का चुंबकीय क्षेत्र विस्तारपूर्वक ज्ञात नहीं होता। अतः इस ध्येय के लिये और अधिक प्रेक्षण अनिवार्य हैं। समय समय पर चुंबकीय सर्वेक्षण नियोजित किए जाते हैं, जिनमें समुद्र तथा भूमि पर चुंबकीय तत्वों को विस्तार से मापा जाता है।

चुंबकीय तत्वों का पृथ्वी पर विस्तार — चुंबकीय तत्वों का पृथ्वी पर विस्तार चुंबकीय मानचित्रों द्वारा जाना जा सकता है। इन मानचित्रों में समचुंबकीय रेखाएँ खींची रहती है। समचुंबकीय रेखाएँ उन स्थानों को मिलाती हैं जहाँ किसी एक चुंबकीय तत्व का मान समान होता है। इसी प्रकार समदिक्पाती रेखाएँ समानदिक्पात कोण, समनवपाती रेखाएँ समान नवपात कोण एवं समतीव्रता रेखाएँ समान चुंबकीय तीव्रता के स्थानों से गुजरती हैं। दूसरे चुंबकीय मानचित्र में इस प्रकार रेखाएँ खींची जाती हैं कि प्रत्येक स्थान पर रेखा की दिशा क्षैतिज तीव्रता की दिशा में होती है।

सभी समदिक्पाती रेखाएँ ऐसे स्थानों में होकर जाती हैं जहाँ क्षैतिज तीव्रता शून्य तथा नवपातकोण +९०° होता है। इन स्थानों को नवपात ध्रुव कहते हैं। क्षैतिज तीव्रता की सभी रेखाएँ भी इन स्थानों से होकर जाती हैं। पृथ्वी पर दो मुख्य नवपात ध्रुव हैं, जिनकी स्थिति समय समय पर निकाली गई है। सारणी १ (क) में उत्तरी और १ (ख) में दक्षिणी ध्रुव की स्थितियों का विवरण है :

सारणी १ (क). चुंबकीय उत्तरी ध्रुव की स्थिति

मापन वर्ष	उत्तरी अक्षांश	पश्चिमी देशांतर	पता लगानेवाले वैज्ञानिक
१८३१	७०° १५′	९६° ४५′	जे० सी० रॉस (J. C. Ross)
१९०४	७०° ३०′	९५° ३०′	आर० आमुंडसेन (R. Amundsen)
१९४८	७३° ००′	१००° ००′	पी० एच० सेरसन (P. H. Sersen)

सारणी १ (ख). चुंबकीय दक्षिणी ध्रुव की स्थिति

मापन वर्ष	दक्षिणी अक्षांश	पूर्वी देशांतर	पता लगानेवाले वैज्ञानिक
१८४१	७५° ००′	१५३° ४५′	जे० सी० रॉस (J. C. Ross)
१९०९	७२° २५′	१५५° १६′	डी० मॉसन (D. Mawson)
१९१२	७१° १२′	१५०° ४५′	ई० एन० वेब (E. N. Webb)
१९५२	६८° ४२′	१४३° ००	पी० मायॉड (P. Mayaud)
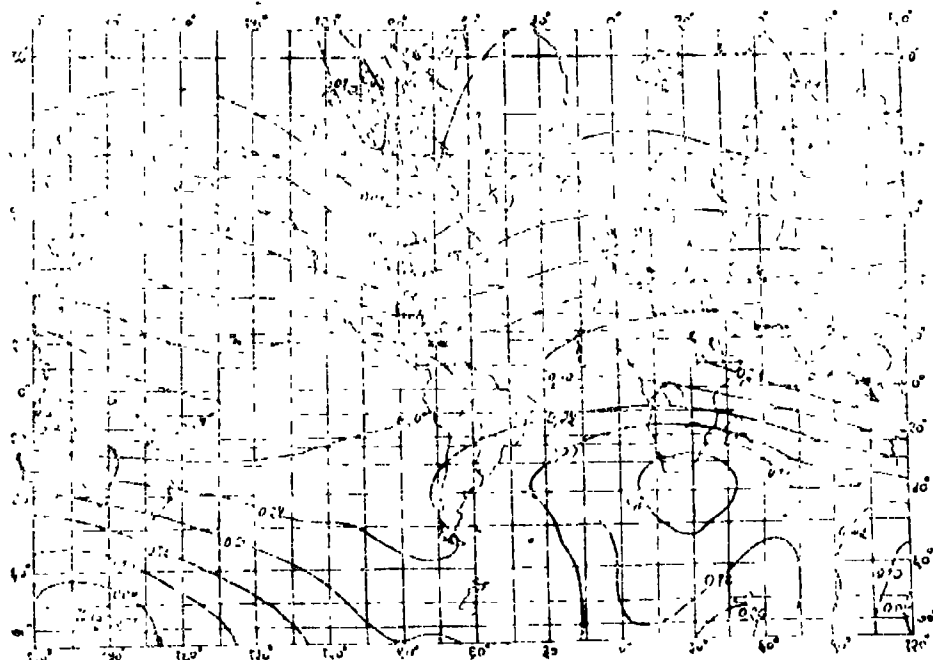
चित्र ३. चुंबकीय क्षैतिज तीव्रता, ख (H), प्रदर्शक पृथ्वी का मानचित्र (काल सन् १९४५)

इन ध्रुवों को मिलानेवाली रेखा पृथ्वी के केंद्र से लगभग १,१४० किलोमीटर की दूरी से होकर जाती है। इसके अतिरिक्त ऐसे स्थानों पर अवपात ध्रुव पाए गए हैं, जहाँ चुंबकीय खनिज के कारण चुंबकीय क्षेत्र विकृत हो जाता है। वह वक्र जिसपर अवपात कोण शून्य होता है, चुंबकीय निरक्ष कहलाता है। चित्र ३ और ४ में विश्व के मानचित्र हैं, जिनमें पृथ्वी पर क्ष (H) तथा अ (I) के मान (सन् १९४५) क्रमशः दिखाए गए हैं।

ऊर्ध्वबल ऊ (Z) का मूल्य चुंबकीय निरक्ष पर शून्य तथा अवपात ध्रुवों पर लगभग ०·६ गौस पाया गया है। इसके अतिरिक्त क्षैतिज तीव्रता का मान ध्रुवों पर शून्य एवं चुंबकीय निरक्ष पर लगभग ०·३ गौस पाया गया है। इस प्रकार संपूर्ण तीव्रता का मान चुंबकीय निरक्ष पर ०·३ गौस और चुंबकीय ध्रुवों पर लगभग ०·६ गौस हुआ। किन्हीं विकृत स्थानों पर संपूर्ण तीव्रता ०·३ गौस से कम या ०·६ गौस से अधिक भी पाई जाती है तथा कुछ स्थानों पर संपूर्ण तीव्रता ३ गौस तक पाई गई है।

पृथ्वी के स्थायी चुंबकीय क्षेत्र का गणितीय विश्लेषण — पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : (१) प$_1$ (F_1), जिसकी उत्पत्ति पृथ्वी के अंतराल में होती है, एवं (२) प$_2$ (F_2), जिसकी उत्पत्ति पृथ्वी की सतह से ऊपर, संभवतः आयनमंडल में बहनेवाली विद्युद्धाराओं से होती है। यह विभाजन पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र को गोलीय प्रसंवादों में श्रेणीबद्ध करके किया जाता है। पृथ्वी के क्षेत्र प को (F_1) और प$_2$ (F_2) में खंडित करने के पश्चात् एक सूक्ष्म भाग, प$_3$ (F_3) अवशिष्ट रहता है। प$_3$ (F_3) विभव क्षेत्र द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। यदि पृथ्वी का संपूर्ण चुंबकीय क्षेत्र प$_0$ (F_0) है तो प$_0$ = प$_1$ + प$_2$ + प$_3$ [$F_0 = F_1 + F_2 + F_3$]

गौस ने सर्वप्रथम पृथ्वी के क्षेत्र का विश्लेषण किया और यह निष्कर्ष निकाला कि समस्त प्रेक्षित चुंबकीय बल का कारण पृथ्वी के अंदर ही है, परंतु बायर ने अधिक व्यास का विश्लेषण कर यह पता लगाया कि संपूर्ण क्षेत्र के ९४ प्रति शत चुंबकीय बल का कारण पृथ्वी के अंदर है। प$_1$ (F_1) के गोलीय प्रसंवादी श्रेणी के प्रथम पद के आधार पर पृथ्वी का चुंबकीय क्षेत्र पृथ्वी के अंदर स्थित कल्पित छड़ चुंबक के क्षेत्र द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, जिसके ध्रुवों को मिलानेवाली रेखा भौगोलिक अक्ष से १२° का कोण बनाती है और पृथ्वी के धरातल को निम्नांकित बिंदुओं पर काटती है : (१) उत्तरी ध्रुव, ७८° उत्तर, ६९ पश्चिम तथा (२) दक्षिणी ध्रुव, ७८° दक्षिण, २४९° पश्चिम। इन बिंदुओं को अक्षध्रुव कहते हैं। पृथ्वी का चुंबकन असमान होने के कारण अक्षध्रुवों तथा अवपातध्रुवों की स्थितियाँ पृथक् पृथक् हैं। उत्तरी अक्षध्रुव तथा अवपातध्रुव की दूरी लगभग ६०० मील एवं दक्षिणी अक्ष तथा अवपातध्रुव की दूरी ९०० मील है।

गणना द्वारा कल्पित छड़ चुंबक का चुंबकीय घूर्ण ८·०... ग० स० (C.G.S.) मात्रक प्राप्त किया गया है। इसके ... के चुंबकन की तीव्रता ०·०७५ स० ग० स० (C.G.S.) मात्रक ...

अविभव भाग प$_3$ (F_3) की उत्पत्ति परिकल्पित विद्युद्धारा ... की जा सकती है, यदि इस धारा की दिशा निम्न अक्षांश में ... नीचे और उच्च अक्षांश में इसके विपरीत मानी जाय। इस ... अधिकतम मात्रा ०·२ ऐंपियर किलोमीटर^{2} है। इस निष्कर्ष की ... निम्नलिखित रेखीय समाकल

$$\oint \vec{क्ष} \times d\vec{s} \quad \oint \vec{H}\, d\vec{s}$$

की गणना करके भी प्रमाणित की गई है।

चित्र ४. चुंबकीय अवपात, अ (I), प्रदर्शक पृथ्वी का मानचित्र (काल सन् १९४५)

चुंबकीय तत्वों के मान में परिवर्तन

दीर्घकालीन परिवर्तन — यदि किसी स्थान के चुंबकीय तत्वों के वार्षिक मूल्यों का निरीक्षण किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि चुंबकीय तीव्रता के परिमाण तथा दिशा में परिवर्तन होते रहते हैं। क्षैतिज तीव्रता के परिवर्तनों के निरीक्षण से पता चला है कि अधिकतर स्थानों पर तीव्रता घट रही है। संपूर्ण पृथ्वी की क्षैतिज तीव्रता का समाकलन करने से मालूम हुआ है कि क्षैतिज तीव्रता का औसत मान घटता जा रहा है। क्षैतिज तीव्रता के अतिरिक्त दिक्पात, अवपात तथा चुंबकीय घूर्ण भी परिवर्तित होते रहते हैं। इस प्रकार बायर ने सन् १९२२ में गत अस्सी वर्षों के अभिलेखों का विश्लेषण कर यह निष्कर्ष निकाला कि पृथ्वी का चुंबकीय घूर्ण लगभग १/१,५०० प्रति वर्ष की दर से घटता जा रहा है। बायर का मत है कि यह परिवर्तन समय में स्थिर नहीं है, अपितु इसमें पृथ्वी के चुंबकीय घूर्ण में दीर्घकालिक दोलन का आभास मिलता है। लार्ड केल्विन ने प्रतिपादित किया कि चुंबकीय ध्रुव पूर्व से पश्चिम दिशा की ओर पृथ्वी के भौगोलिक अक्ष की परिक्रमा कर रहा है और इस परिक्रमा का आवर्तकाल लगभग ९६० वर्ष है। ध्रुवों के इस

घूर्णन के कारण समस्त पृथ्वी पर दिक्पात तथा अवपात कोण परिवर्तित होते रहते हैं। इस प्रकार लंदन में चुंबकीय बल की दिशा में ४८० वर्ष की अवधि का चक्रीय परिवर्तन पाया गया है। दीर्घ कालिक परिवर्तन के सूक्ष्म निरीक्षण करने पर ऐसे स्थानों का पता चला है जहाँ चुंबकीय तत्वों में अति शीघ्र परिवर्तन हो रहे हैं। इन स्थानों पर क्षैतिज तीव्रता में १०⁻³ गौस से अधिक तथा दिक्पात और अवपात कोण में १४ कला प्रति वर्ष से अधिक परिवर्तन हो रहे हैं। अविराम अभिलेख करनेवाली वेधशालाओं के अभिलेख के परीक्षण द्वारा चुंबकीय तत्वों का रूपांतर होने में ११ वर्षीय चक्र का प्रमाण मिला है। जिस वर्ष सूर्य में धब्बों की संख्या अधिक होती है, क्षैतिज तीव्रता न्यूनतम तथा ऊर्ध्व तीव्रता अधिकतम पाई जाती है।

दैनिक परिवर्तन

सौर दैनिक परिवर्तन — किसी वेधशाला में मापे गए चुंबकीय तत्वों में चौबीस घंटों में विशेष परिवर्तन पाए जाते हैं। निम्न तथा मध्य अक्षांशों में दैनिक सौर रूपांतर स (S) उच्च अक्षांशों से भिन्न होता है। निम्न तथा मध्य अक्षांशों में स (S) केवल स्थानीय समय तथा अक्षांश पर निर्भर करता है। सौर दैनिक परिवर्तन को स$_1$ (S_1) तथा स$_2$ (S_2) में विभक्त किया जा सकता है। स$_1$ (S_1) उन परिवर्तनों का प्रतीक है जो चुंबकीय तत्वों में शनैः शनैः होते हैं। उद्वेलित परिवर्तन का प्रतीक स$_2$ (S_2) रखा गया है। स्थानीय उष्ण मौसम में चुंबकीय तत्वों के दैनिक परिवर्तन का परास अधिक होता है। स$_1$ (S_1) में भी ११ वर्षीय चक्रीय रूपांतर का आभास मिला है। सूर्य में धब्बे जब अधिकतम होते हैं तब परिवर्तन का आयाम लगभग ५० प्रति शत उन वर्षों की अपेक्षा अधिक होता है जब सूर्य धब्बे न्यूनतम होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि उपर्युक्त परिवर्तन पृथ्वी के घूर्णन तथा सूर्य और पृथ्वी की आपेक्षिक स्थितियों पर निर्भर करता है। फलतः यह निष्कर्ष निकलता है कि सौर दैनिक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण कारण सूर्य है।

वैज्ञानिकों ने सौर दैनिक परिवर्तन को गोलीय प्रसंवादी में श्रेणीबद्ध किया है। इसी विधि से शुस्टर (Schuster) ने सौर दैनिक परिवर्तन की उत्पत्ति का प्राथमिक कारण पृथ्वी से बाहर बताया है।

चंद्रीय दैनिक परिवर्तन — सौर दैनिक परिवर्तन की भाँति ही चंद्रीय दैनिक परिवर्तन, चं (L) भी होता है, परंतु चं (L) परिवर्तन स (S) परिवर्तन का लगभग १/१५ भाग है। चं (L) रूपांतरण मुख्यतः केवल स्थानीय चंद्रीय समय तथा चंद्रमा की कला पर निर्भर करता है। चंद्रीय दैनिक परिवर्तन के गोलीय प्रसंवादी विश्लेषण द्वारा ज्ञात किया गया है कि चं (L) क्षेत्र के अधिकांश भाग की उत्पत्ति पृथ्वी से बाहर होती है। जिस भाग का कारण पृथ्वी के अंदर है, वह भी बाह्य भाग द्वारा पृथ्वी में प्रेरित विद्युद्धाराओं से सफलतापूर्वक स्पष्ट किया जा सकता है।

बालफूर-स्टुअर्ट सिद्धांत में 'स' (S) परिवर्तन का कारण उच्च वायुमंडल में बहनेवाली विद्युद्धाराओं पर सूर्यजनित ज्वारभाटा का प्रभाव बताया गया है। इसी प्रकार स्टुअर्ट-शुस्टरवाद के अनुसार चं (L) परिवर्तन की उत्पत्ति चंद्रजनित ज्वारभाटा द्वारा होती है।

चुंबकीय तूफान — चुंबकीय तूफान आने पर चुंबकीय तत्वों में अचानक बड़े परिवर्तन हो जाते हैं। इन परिवर्तनों का परास बहुधा १०⁻² गौस से अधिक होता है। चुंबकीय तूफान का प्रभाव संपूर्ण पृथ्वी पर समक्षणिक होता है। चुंबकीय तूफान बहुधा २७ दिनों के अंतर पर आते हैं तथा इनकी आवृत्ति सूर्यधब्बों पर निर्भर करती है। दैनिक परिवर्तन की भाँति चुंबकीय तूफान का मूल कारण भी पृथ्वी से बाहर है।

मध्य अक्षांश में चुंबकीय तत्वों का रूपांतरित होना केवल तूफान के समय पर निर्भर करता है। आरंभ में क्षैतिज तीव्रता में वृद्धि होती है, इसके पश्चात् कई घंटों तक क्षैतिज तीव्रता में स्थिरता रहती है। तूफान की इस कला को धन कला कहते हैं। कुछ घंटों के बाद क्षैतिज तीव्रता घटती है। इस कला को तूफान की ऋण कला कहते हैं। चुंबकीय निरक्ष पर क्षैतिज तीव्रता में अधिकतम परिवर्तन होते हैं। ऊँचे अक्षांशों में जाने पर रूपांतरण का आयाम बढ़ता है, परंतु ध्रुवों के निकट परिवर्तन की मात्रा में पुनः वृद्धि हो जाती है तथा इनकी विशेषताएँ भी बदल जाती हैं। ऊर्ध्व तीव्रता के परिवर्तन क्षैतिज तीव्रता के विपरीत एवं कम रूपांतरण में होते हैं। चित्र ५ में एक चुंबकीय तूफान के समय कुछ चुंबकीय तत्वों का परिवर्तन दिखाया गया है। एक विशेष प्रकार का चुंबकीय तूफान आने पर उच्च आवृत्ति के रेडियो तरंग का आयन मंडल से परावर्तन अवरुद्ध हो जाता है। इन तूफानों की अवधि ४५ मिनट या उससे कम होती है।

चित्र ५

चुंबकीय तूफान द्वारा होनेवाले चुंबकीय तत्वों के रूपांतर की व्याख्या ऊर्ध्वाकाश में प्रवाहित तीन बृहत् विद्युद्धाराओं द्वारा संभव है। दो धाराएं उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों के ऊपर प्रवाहित कल्पित की गई हैं। तृतीय धारा चुंबकीय निरक्ष के तल में स्थित लगभग २०० किलोमीटर चौड़े वृत्त में प्रवाहित होती है।

पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र की उत्पत्ति का कारण — यदि हम पृथ्वी के केंद्र से बाहर की ओर चलें तो १,२५० किलोमीटर तक ठोस पदार्थ

मिलेगा। तत्पश्चात् ३,४०० किलोमीटर तक तरल पदार्थ तथा उसके बाद शेष ६,४०० किलोमीटर तक पुनः ठोस वस्तु मिलती है। पृथ्वी के आंतरिक भाग में लोहा तथा निकल यथेष्ट मात्रा में पाए जाते हैं। भूचुंबकत्व को पृथ्वी के आंतरिक भाग के स्थायी चुंबकत्व द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है, परंतु धरातल से नीचे जाने पर तापमान बढ़ता है और शीघ्र ही क्यूरी ताप से अधिक हो जाता है। अतः पृथ्वी के आंतरिक भाग का चुंबक होना प्रायः असंभव है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त वाद द्वारा पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र की उत्पत्ति का मूल कारण तथा दीर्घकालिक परिवर्तन का कारण स्पष्ट नहीं होता। लारमर (Larmor) ने सन् १९१९ में विद्युच्चुंबकीय प्रेरणा द्वारा पृथ्वी के गतिशील, सुचालक तरल पदार्थ में प्रवाहित विद्युद्धाराओं के आधार पर भूचुंबकत्व को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इस विचार के आधार पर दो प्रेरणवाद निर्दिष्ट किए गए हैं : (१) एलसासर (Elsasser) तथा बुलर्ड (Bullard) का डाइनेमोवाद (Dynamo theory) एवं (२) आवर्तनवाद। गुरुत्वाकर्षण, घर्षण, चुंबकीय क्षेत्र तथा विघटनांग ऊर्मीय स्रोत के संमिलित प्रभाव द्वारा उत्पादित पृथ्वी के सुचालक तरल पदार्थ की गति की गणना प्रायः असंभव है; परंतु कुछ सरल प्रवाहनिकाय इस प्रकार के हैं जिनके द्वारा स्वजनित चुंबकीय क्षेत्र का विकास उस सीमा तक होता है जबकि संपूर्ण प्राप्त ऊर्जा को क्षेत्र स्वयं व्यय कर लेता है। इस विचार पर आधारित प्रेरणवाद द्वारा शून्य दिक्पात की रेखा का पश्चिम की ओर प्रेषित स्राव सरलतापूर्वक स्पष्ट किया जा सकता है। प्रेरणवाद के अतिरिक्त पृथ्वी के क्षेत्र की व्याख्या के लिये अन्य दो मुख्य वाद हैं — (१) एलसासर (Elsasser) के अनुसार चुंबकत्व की उत्पत्ति पृथ्वी के अंतराल में प्रवाहित तापजनित विद्युद्धारा द्वारा होती है तथा (२) तानेव, तूव और वेस्तीन (Vestine) ने सन् १९५४ में एक सुगम तथा आकर्षक योजना द्वारा पृथ्वी के आंतरिक चुंबकत्व का कारण तापविद्युत् तथा हाल प्रभाव बताया है।

अंतरराष्ट्रीय भूभौतिकीय वर्ष (International Geophysical Year) के अंतर्गत भूचुंबकत्व संबंधी प्रयोग — अंतरराष्ट्रीय भूभौतिकीय वर्ष में कई वेधशालाओं में चुंबकीय तत्वों के निरपेक्ष मापन किए गए हैं। इस प्रयास से दीर्घकालिक परिवर्तन के अध्ययन तथा यथार्थ चुंबकीय मानचित्रों के निर्माण में सहायता मिलेगी। पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र के उन परिवर्तनों का विस्तारपूर्वक प्रेक्षण किया गया है, जिनके आवर्तकाल ५० चक्र प्रति सेकंड से लेकर एक चक्र प्रति वर्ष तक हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे प्रयोग किए गए हैं जिनसे चुंबकीय तूफान के संबंध में अधिक ज्ञान प्राप्त हो सके। जैसा चुंबकीय 'तूफान' शीर्षक लेख के अंतर्गत पहले कहा जा चुका है, चुंबकीय तूफान की उत्पत्ति उच्च-वायुमंडल में प्रवाहित तीव्र वृहत् विद्युद्धाराओं द्वारा संभव है। उपर्युक्त विद्युद्धाराओं के अध्ययन के निमित्त ध्रुवों तथा चुंबकीय निरक्ष के निकट वेधशालाओं का जाल स्थापित किया गया है। भूमि पर प्रेक्षण के अतिरिक्त रॉकेट तथा कृत्रिम उपग्रहों द्वारा उच्च वायुमंडल में भी चुंबकत्वमापी भेजे गए हैं। इन प्रयोगों का पूर्ण फल अभी अप्रकाशित है। परंतु ९० पश्चिम देशांतर पर चुंबकीय निरक्ष के निकट ऊर्ध्वाकाश में १२१ किलोमीटर की ऊँचाई तक रॉकेट के द्वारा भेजे गए नाभिकीय चुंबकत्वमापी से प्राप्त किए गए फल इस प्रकार हैं : ९७ किलोमीटर की ऊँचाई तक चुंबकीय क्षेत्र की तीव्रता पृथ्वी के केंद्र से दूरी के तीसरे घात की प्रतिलोम अनुपाती है। ९७ किलोमीटर से ऊपर क्षेत्र की तीव्रता अधिक शीघ्रतापूर्वक घटती है। इससे पता चलता है कि इस ऊँचाई पर एक विद्युद्धारा चुंबकीय निरक्ष के ऊपर पूर्व दिशा में प्रवाहित है। यह धारा ९७ किलोमीटर से ११० किलोमीटर की ऊँचाई तक पाई गई है।

मानव जीवन में भूचुंबकत्व के उपयोग — समुद्री जलयान तथा वायुयान में दिशा निर्धारित करने के लिये चुंबकीय सुई प्रयोग में लाई जाती है। चुंबकीय युक्तियों द्वारा (१) खनिज लोहा (मैग्नेटाइट तथा हीमाटाइट), (२) बहुमूल्य अचुंबकीय खनिज, जिनमें चुंबकीय धातुओं का मिश्रण होता है तथा (३) तैलक्षेत्र की स्थितियाँ ज्ञात की जाती हैं। चुंबकीय सर्वेक्षण द्वारा पृथ्वी के धरातल के नीचे स्थित चट्टानों की बनावट की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। बहुधा अवपातयुक्त निर्माण कार्य में गड़ी हुई चुंबकीय वस्तुओं का पता लगाने के लिये प्रयोग में लाई जाती है।

सं० ग्रं० — १. चैपमैन, एस० ऐंड जे० बार्टेल्स : जीओमैग्नेटिज्म, ऑक्सफोर्ड (१९४०); २. हैंडबुक डेर फिजिक, २ बैंड, ४७, ४९ (१९५६); ३. वेस्टीने, ई० एच० इत्यादि : कार्नेगी इंस्टिट्यूशन पब्लि० नं. ५७८ (१९४७) और नं. ५८० (१९४७); ४. चैपमैन एस० एन० : जीओफिजिक्स ४,१०९ (१९४८); ५. बुलार्ड, ई० सी० ऐंड गेलमैन, एच० : फिल. ट्रांस. राय. सोसा. लंड सर २४७, २१३, (१९५४), ६. डा० ला० कूर : कॉन मैग्नेटिक, कोपेनहेगेन, डैन, मेट इस्ट नं० १९, १९४२।

[कृ० जो]

चुंबकत्वमापी सामान्य अर्थ में चुंबकीय क्षेत्र की तीव्रता मापने का एक उपकरण है, पर संकुचित अर्थ में इसका प्रयोग पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र के क्षैतिज अवयव को मापने में ही बहुधा होता है। इसी अर्थ में इसका प्रयोग यहाँ किया जा रहा है और कुछ चुंबकत्वमापियों के सिद्धांत दिए जा रहे हैं।

पहला चुंबकत्वमापी, जिसका प्रयोग आज भी प्रायः उसी रूप में हो रहा है, गौस ने १८३२ ई० में तैयार किया था। यह एक निरपेक्ष उपकरण है, जिससे पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र के साथ साथ चुंबक का चुंबकीय घूर्ण भी मापा जा सकता है। पहले ऐंठनहीन सूत्र द्वारा चुंबक को चुंबकीय दोलक के रूप में लटकाते हैं। चुंबक को साम्यावस्था से अल्प विचलित करने पर चुंबक पर

$$2\,m\,l\,H\sin\theta = M\,H\sin\theta \simeq M\,H\,\theta$$

परिमाण में बलयुग्म कार्य करता है। समीकरण में M चुंबक का चुंबकीय घूर्ण, H पार्थिव चुंबकीय क्षेत्र का क्षैतिज अवयव और θ अल्प होने पर $\sin\theta = \theta$। यदि चुंबक का जड़त्वघूर्ण I हो, तो घूर्णन गति का समीकरण—

$$I\frac{d^2\theta}{dt^2} = -M\,H\,\theta \text{ और हल } \theta = A\sin\left(\sqrt{\frac{MH}{I}}\;t + B\right) \text{ है।}$$

A, B स्थिरांक हैं और प्रारंभिक प्रतिबंधों से इनका मान ज्ञात हो सकता है। यह हल आवर्त गति का प्रतिनिधित्व करता है। θ का यही मान T समय बाद इस प्रकार पुनरावृत्त होता है कि

$$A\sin\left[\sqrt{\frac{MA}{I}}\left(t+T\right)+B\right] = A\,\mathrm{Sin}\left(\sqrt{\frac{MH}{I}}\,t+B\right)$$

या $\sqrt{\frac{MH}{I}}\,T = 2\pi$, अर्थात् $T = 2\pi\sqrt{\frac{I}{MH}}$

कुछ दोलनों का समय देखकर T का मान निकाल लेते हैं। I चुंबक के द्रव्यमान और परिमाप पर निर्भर करता है और गणना द्वारा ज्ञात हो सकता है। अतः

$$MH = \frac{4\pi^2 I}{T^2} \quad \ldots \quad \ldots \quad \ldots \quad \ldots (१)$$

अब इसी चुंबक से दिक्सूचक को विचलित करते हैं। कल्पना कीजिए, सुई एक बिंदु पर है और उत्तर-दक्षिण दिशा में साम्यावस्था में स्थित है। कंपन प्रयोग में प्रयुक्त चुंबक से उपर्युक्त बिंदु पर पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र के लंबवत् क्षेत्र उत्पन्न करने पर दिक्सूचक θ कोण पर विचलित होता है और दोनों बलयुग्म आपस में संतुलित हो जाते हैं, अर्थात् $FM \cos\theta = HM \sin\theta$, या $F = H \tan\theta$।

प्रदर्शित स्थिति में चुंबकीय क्षेत्र की तीव्रता

$$\frac{m}{(d-l)^2} - \frac{m}{(d+l)^2} = \frac{4\,mld}{(d^2-l^2)^2} = \frac{2\,Md}{(d^2-l^2)^2}$$

होती है। अतः $\frac{2\,M\,d}{(d^2-l^2)^2} = H \tan\theta$

$$\text{या } \frac{M}{H} = \frac{(d^2-l^2)^2}{2\,d}\tan\theta \quad \ldots \quad \ldots \quad \ldots \quad (२)$$

विचलन को परिशुद्धतापूर्वक मापने के लिये दिक्सूचक सुई के लंबवत् एक हलका और लंबा संकेतक लगा होता है। प्रयोग में संभव त्रुटियों को कम करने के लिये संकेतक के दोनों सिरों के आठ पठनों का औसत लेते हैं। ये पठन, चुंबक को प्रदर्शित स्थिति में रखकर दिक्सूचक के उसी ओर चुंबक के सिरों को प्रतिवर्तित करके, फिर चुंबक को दिक्सूचक के दूसरी ओर उतनी ही दूरी पर रख तथा प्रयोग दोहराकर, लिए जाते हैं।

समीकरण (१) और (२) से गुणा तथा भाग करने पर क्रमशः M और H का मान प्राप्त होता है। प्रयोगशाला के उपकरण की यथार्थता 3–4 γ ($\gamma = 10^{-5}$ ओर्स्टेड) और इसके क्षेत्र उपकरण की यथार्थता लगभग 5 γ है। उपकरण का मुख्य दोष यह है कि प्रयोग में लगभग एक घंटे का लंबा समय लगता है।

H का मान ज्ञात करने की दूसरी विधि में हेल्महोल्ट्ज कुंडलीवाले ज्या धारामापी का प्रयोग होता है। हेल्महोल्ट्ज कुंडली में दो समरूप, समाक्ष कुंडलियाँ एक दूसरे से अर्धव्यास की भाँति दूरी पर रखी होती हैं। यदि कुंडलियों का अर्धव्यास r और उसमें प्रवाहित धारा i विद्युच्चुंबकीय इकाई हो तो मध्य बिंदु पर

$$\frac{4\pi n i r^2}{\left\{ r^2 + \left(\frac{r}{2}\right)^2 \right\}^{\frac{3}{2}}}$$

क्षेत्र उत्पन्न होगा। मध्य बिंदु पर यदि चुंबकीय सुई रखी जाय, तो वह धारामापी में प्रवाहित धारा से उत्पन्न एक सम क्षेत्र में होगी। यदि कुंडली तंत्र को पार्थिव चुंबकीय क्षेत्र में इस प्रकार घूर्णित किया जाय कि सुई कुंडलियों के समतल के समांतर हो और धारा काट दी जाय, तो सुई का विचलन ज्ञात हो जाता है। साम्यावस्था के प्रतिबंध से—

$mF.\,2l = mH\,2l\sin\theta$, या $F = H\sin\theta$।

इस प्रकार H का मान कुंडली के स्थिरांक और विचलन में प्राप्त होता है। मापन में कुछ ही मिनट लगते हैं और यथार्थता लगभग 0·5 γ होती है।

प्रोटॉन चुंबकत्वमापी से चुंबकीय तीव्रता प्रोटॉन के ज्ञात न्यूक्लीय चुंबकीय घूर्णों में प्राप्त होती है। यह उपकरण पार्थिव क्षेत्र के अनुप्रस्थ साधारण मंद क्षेत्र द्वारा प्रोटॉन को द्रव में संरेखित करता है। प्रोटॉन दिक्स्थापित होकर मंद क्षेत्र उत्पन्न करते हैं। ध्रुवण क्षेत्र (polarizing field) सहसा काट दिया जाता है। जो न्यूक्लीय चुंबकीय घूर्ण चुंबकीय क्षेत्र में संरेखित हुए थे, वे अब पार्थिव चुंबकीय क्षेत्र के चारों ओर अयन (precess) करते हैं। अयन की आवृत्ति क्षेत्र की अनुपाती होती है। संरेखण शीघ्र टूटता है, पर उपयुक्त माध्यम में कुछ सेकंड तक बना रहता है। बेंजीन में २० सेकंड तक संरेखण नष्ट नहीं होता। अयनकारी प्रोटॉन द्वारा किसी कुंडली में प्रेरित वोल्टता से अयन की आवृत्ति का निर्धारण होता है। उपकरण की यथार्थता लगभग 0.5 γ है। इसकी सबसे मुख्य विशेषता यह है कि प्रयोग में समय बहुत ही कम लगता है। कुछ सेकंडों में ही प्रयोग पूरा हो जाता है। स्थानीय चुंबकीय सर्वेक्षणों में प्रोटॉन चुंबकत्वमापी बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

स्थान या काल के अनुसार पार्थिव चुंबकीय क्षेत्र में उपस्थित परिवर्तन जानना कभी कभी आवश्यक हो जाता है। इसके लिये सापेक्ष चुंबकत्वमापी का प्रयोग किया जाता है। सापेक्ष चुंबकत्वमापी में स्फटिक अनुप्रस्थ चुंबकत्वमापी (quartz horizontal magnetometer) का सर्वाधिक प्रयोग होता है। इसका अभिकल्पन १९३६ ई० में लाकूर (Lacour) ने किया था। M चुंबकीय घूर्ण के चुंबक को $\mathcal{T}$ ऐंठन स्थिरांक के स्फटिक तांतवक से लटकाया जाता है। माना चुंबक चुंबकीय याम्योत्तर से α कोण बनाता है और स्फटिक तांतवक में अवशिष्ट ऐंठन δ है। 2π और -2π ऐंठन पर क्रमशः $\alpha+\phi_1$ और $\alpha-\phi_2$ पठन प्राप्त होते हैं। इन कोणों को तब पढते हैं जब सिरे को घूर्णित करने पर स्थिति के सापेक्ष चुंबक पुनः उसी स्थिति में होता है। अतः

$MH \sin\alpha = \mathcal{T}\delta$; $MH\sin(\alpha+\phi_1) = \mathcal{T}(\delta+2\pi)$ और $MH\sin(\alpha-\phi_2) = \mathcal{T}(\delta-2\pi)$।

ऐंठनदार स्थितियों में प्राप्त पठनों का अंतर $2\theta = \phi_1+\phi_2$ है। इसे हम यों परिभाषित करते हैं : $\phi_1-\phi_2 = 2\beta$। अब α और β के अल्प मान के लिये

$$H = 2\pi\,\mathcal{T}/M\sin\theta\,[\,1-\beta^2/\{2\,(1-\cos\theta)^2\}]$$

और $\alpha = \beta\cos\theta/(1-\cos\theta)$।

अतः यदि $\mathcal{T}/M$ का मान ज्ञात हो तो H का मान निर्धारित किया जा सकता है। $\mathcal{T}/M$ ताप पर निर्भर करता है, अतः ताप के मापने में सावधानी बरतनी चाहिए। इस सिद्धांत पर बने चुंबकत्वमापी क्षेत्र-प्रेक्षण के लिये बहुत लाभदायक हैं और इनका व्यापक प्रयोग होता है।

सं० ग्रं० — जे. थ्यूलिस द्वारा संपादित : इनसाइक्लोपीडिक डिक्शनरी ऑव् फिजिक्स, परगामन प्रेस (१९६१); एस. के. रंकार्न द्वारा संपादित : मेथड्स ऐंड टेकनीक्स इन जियोफिजिक्स, प्रथम भाग, इंटर सायंस पब्लिशर्स (१९६०)।

[गि० यो० वि०]

चुंबक रसायन (Magneto-chemistry) तीव्र चुंबकीय क्षेत्र में स्थित काच के एक टुकड़े द्वारा प्रकाश की किरणावली के ध्रुवण (polarisation) का अध्ययन करते समय माइकेल फैराडे (Michael Faraday) ने सन् १८४५ में यह ज्ञात किया कि काच का चुंबकत्व लोहे के चुंबकत्व के बिल्कुल विपरीत था। फलस्वरूप उसने चुंबक रसायन की नींव डाली, जिसको उसने विषमचुंबकत्व (diamagnetism) कहा। उसने यह भी बतलाया कि प्रत्येक रासायनिक पदार्थ में चुंबकीय गुण होता है, चाहे वह विषम चुंबकत्व हो, समचुंबकत्व (paramagnetism) हो, या लोह चुंबकत्व (ferromagnetism) हो। इसके बाद इस क्षेत्र में क्यूरी (Curie), पैस्केल (Pascal) तथा होंडा (Honda) ने प्रायोगिक एवं लैंगेविन (Langevin) ने सैद्धांतिक विकास किए।

चुंबकीय प्रवृत्ति (Magnetic Susceptibility) — यह रसायनज्ञों के लिये एक आवश्यक संख्या है, जिसका संबंध चुंबकशीलता (magnetic permeability) चु (μ) से निम्नलिखित समीकरण द्वारा स्पष्ट है : चु = १ + ४π घ सु [$\mu = 1 + 4\pi\rho x$]

जहाँ घ (ρ) पदार्थ का घनत्व है और सु (x) उसकी भार-चुंबकशीलता (mass susceptibility) है। समचुंबकीय तथा लोहचुंबकीय पदार्थों का चु (μ) एक से अधिक होता है और विषमचुंबकीय पदार्थों के लिये एक से कम। भार-चुंबकशीलता की नाप ग्वाय (Gouy) विधि से की जा सकती है, जिसमें पदार्थ की बेलनाकार आकृति रासायनिक तुला की एक भुजा से इस प्रकार लटकाई जाती है कि बेलन का अक्ष (axis) चुंबकीय क्षेत्र से लंबवत् रहे और उसका एक सिरा विद्युच्चुंबक के ध्रुवों के बीच में हो तथा दूसरा सिरा लगभग शून्य क्षेत्र में। चुंबकीय क्षेत्र में लिए गए पदार्थ के भार और उसके साधारण भार का जो अंतर होगा, वह चुंबकशीलता की नाप होगी। यह विधि ठोस तथा द्रव दोनों प्रकार के पदार्थों के लिये उपयुक्त और बड़ी सरल है। दूसरी विधि क्यूरी तथा शेनूओ (Curie and Chenveau) की है, जिसमें ऐंठन तुला (torsion balance) का उपयोग करते हैं।

तत्वों तथा यौगिकों की चुंबकशीलता — अक्रिय गैसें (inert gases) तथा ऑक्सीजन को छोड़कर लगभग सभी अधातुएँ विषमचुंबकीय हैं। गंधक, सिलीनियम तथा टेल्यूरियम साधारण ताप पर तो विषमचुंबकीय हैं पर उनके वाष्प समचुंबकीय। उपसमूह अ (A) के तत्व अधिकतर समचुंबकीय तथा उपसमूह ब (B) के विषम चुंबकीय होते हैं। तत्वों के अपर रूपों के चुंबकीय गुणों में काफी विभिन्नता होती है। किसी पदार्थ की शुद्धता का यथार्थ मापन चुंबकीय प्रवृत्ति के आधार पर किया जा सकता है।

पैस्केल ने कार्बनिक यौगिकों के चुंबकत्व का अध्ययन करके उनकी रचना के संबंध में पर्याप्त अनुसंधान किया। उसने बताया कि यौगिकों की आणविक प्रवृत्ति (molecular susceptibility) संयोज्य गुण (additive property) है और उसने कई परमाणुओं तथा अणुओं की प्रवृत्ति की गणना की। भटनागर (Bhatnagar) ने चुंबक रसायन का प्रयोग अधिशोषण, उत्प्रेरण तथा बहुलीकरण (polymerisation) के अध्ययन में किया। पोरफाइरिन (porphyrin) आदि जटिल यौगिकों का भी चुंबकीय अध्ययन किया गया है।

सं० ग्रं० : पी० डब्ल्यू० सेलवुड : मैगनेटो केमिस्ट्री, इंटर साइंस, न्यूयार्क; एस० एस० भटनागर तथा के० एन० माथुर : फिजिकल प्रिंसिपल्स ऐंड ऐप्लिकेशन ऑव मैग्नेनेटो केमिस्ट्री; डब्ल्यू० क्लेम : मैगनेटोकेमी।

[रा० दा० ति०]

चुंबीघाटी हिमालय की दक्षिणी ढालों पर समुद्रतट से ९,५००' ऊँची यह घाटी (क्षेत्रफल ७०० वर्ग मील) भारत को तिब्बत से मिलाती है। इसके पूर्व में भूटान और पश्चिम में सिक्किम हैं। यद्यपि राजनीतिक रूप में यह पहले तिब्बत के और अब चीन के आधिपत्य में है, तथापि भौगोलिक दृष्टि से इसे भारत का अंग होना चाहिए। इसी मार्ग से १९०४ ई० में ब्रिटिश मिशन गया था। यह उत्तर-उत्तर-पूर्व में टांग्ला (Tang-la) दर्रे तक फैली है। इस घाटी में तोर्सा नदी बहती है और इसी नदी के द्वारा बने छोटे छोटे समतल क्षेत्रों में जौ, गेहूँ और तरकारियों की खेती होती है। आमो चू नदी पर चुंबी घाटी का प्रसिद्ध नगर चुंबी बसा है, जिसके ३० मील दक्षिण-पश्चिम कालिंपांग स्थित है। वर्तमान भारत चीन संघर्ष की दृष्टि से इस घाटी का सैनिक महत्व बढ़ गया है।

[कृ० मो० गु०]

चुटु सातवाहन साम्राज्य के छिन्न भिन्न हो जाने के पश्चात् जो राज्य बने उनमें चुटु उस समय सबसे अधिक शक्तिशाली थे। इनका राज्य कुंतल (दक्षिणी पठार के दक्षिण-पश्चिम) में था। इनका संबंध सातवाहनों के सामंत (महाभोजों) से था। कुछ विद्वान् इनकी नाग उत्पत्ति बतलाते हैं और कुछ चुटुकुल को सातवाहन कुल की शाखा बतलाते हैं। किंतु इन मतों के लिये सुनिश्चित प्रमाण का अभाव है। प्रारंभ में ये सातवाहनों के सामंत के रूप में शासन करते रहे होंगे। चुटुकडानंद ने, जिसके सिक्के कारवार में उपलब्ध हुए हैं, यज्ञसातकर्णि के बाद सातवाहनों की शक्ति के ह्रास का लाभ उठाकर कुंतल में अपना राज्य स्थापित किया। इस वंश के हारीतिपुत्र विष्णुकड चुटुकुलानंद सातकर्णि का बनवासि का अभिलेख तीसरी शताब्दी के पूर्वार्ध का है। कुछ विद्वान् कन्हेरी के एक अभिलेख में आए नामों के समीकरण के आधार पर, जो सर्वमान्य नहीं है, चुटु लोगों का अधिकार उत्तर में अपरांत तक मानते हैं। इसी प्रकार अनंतपुर और चुटुपह से प्राप्त हारीति नाम के सिक्कों के आधार पर कुछ विद्वान् चुटु लोगों का अधिकार पूर्व की ओर फैला हुआ बतलाते हैं। चौथी शताब्दी के पूर्वार्ध में मलवल्लि के अभिलेख से इस वंश के शिवस्कंदवर्मन् और उनके पूर्ववर्ती (संभवतः पिता) विष्णुकड्डचुटुसातकर्णि का नाम मिलता है। इस समय ये संभवतः पल्लवों के सामंत बन गए थे। चौथी शताब्दी के मध्य में कदंब नरेश मयूरशर्मन् ने कुंतल पर अधिकार कर चुटुवंश का अंत किया। चुटुकुल के राज्य में शासनव्यवस्था सातवाहनों की व्यवस्था से अभिन्न थी। करों के नाम वही हैं। इस वंश के नरेशों की उपाधि राजन् थी। राज्य आहारों में विभक्त था। हारीतिपुत्र नाम सातवाहनों के काल के सदृश ही मातृपरक सामाजिक व्यवस्था का परिचायक है।

(ल० गो०)

चुनार दक्षिण-पूर्व उत्तर प्रदेश में मिर्जापुर जिले में मिर्जापुर नगर से २० मील पूर्व और वाराणसी से लगभग २४ मील दक्षिण-पश्चिम प्रसिद्ध तहसील तथा उपनगर है। यहाँ की जनसंख्या ८,१०४ (१९६१) थी जो अब १०,००० से अधिक हो गई है। यह गंगा नदी के दक्षिणी किनारे पर बसा है। नदी के ठीक किनारे पर प्रसिद्ध ऐतिहासिक किला

है (दे० दुर्ग) जो एक समय हिंदू शक्ति का केंद्र था। हिंदू काल के भवनों के अवशेष अभी तक इस किले में हैं, जिनमें महत्वपूर्ण चित्र अंकित हैं। किले में मुगलों के मकबरे भी हैं। मुगल बादशाह हुमायूँ और अफगान सरदार शेरशाह के बीच हुए युद्धों में इस किले का विशेष महत्व रहा है। १५३९ ई० में शेरशाह ने इसपर अधिकार कर लिया, फिर अकबर के शासनकाल में १५७५ ई० में इसपर पुनः मुगलों का अधिकार हो गया। १८वीं शताब्दी में यह किला अवध के नवाब के अधिकार में रहा, जिनसे तीव्र और दीर्घकालीन अवरोध के बाद १७६३--६४ में इस को अंग्रेजों ने जेनरल कार्नाक के सेनापतित्व में छीन लिया। इसके बाद सितंबर, १७८१ में इसके संबंध में एक संधिपत्र पर अवध के नवाब तथा हेस्टिंग्ज ने हस्ताक्षर किए। कंपनी के शासनकाल में सीमा पर स्थित होने के कारण काफी समय तक इसका सैनिक महत्व बना रहा। वारेन हेस्टिंग्ज का यह अत्यंत प्रिय निवासस्थान था। कंपनी ने चुनार का उपयोग अपनी सेनाओं के वृद्ध तथा रोगी सैनिकों को बसाने के लिये किया था। यूरोपीय लोगों का निवासस्थान होने के चिह्न अभी तक कब्रगाह और गिरजाघर के रूप में वर्तमान हैं।

विंध्याचल पर्वत की गोद में बसे होने के कारण चुनार में पत्थर, और पत्थर के इमारती सामान का प्रमुख उद्योग है। चुनार के मिट्टी के खिलौने, मूर्तियाँ और बरतन सस्ते, लाख की पालिश के कारण अत्यंत चमकदार और सुंदर होते हैं। यहाँ चना, चावल, गेहूँ, तेलहन और जौ की मंडी है। वाराणसी से मिर्जापुर जानेवाली बसों के लिये यह अच्छा स्टेशन है। चुर्क सीमेंट फैक्टरी के लिये यहाँ से रेलवे लाइन जाती है। चुनार के पास अनेक रम्य और प्राकृतिक दृश्यों के स्थान हैं जहाँ सैर सपाटे के लिये लोग आते रहते हैं। [कृ० मो० गु०]

चुस्ट रूस के उक्रेन प्रदेश का नगर है। इसकी जनसंख्या १८,४०० (१९३८) थी। यहाँ गेहूँ तथा रुई की मंडियाँ हैं। यहाँ रेशम के उत्पादन का कार्य भी होता है। [उ० सिं०]

चुल्लवग्ग (पालि) खंधक का दूसरा भाग है। इसके बारह खंधक अर्थात् अध्याय हैं : १ कम्म खंधक, २ पारिवासिक, ३ समुच्चय, ४ समथ, ५ खुद्दकवत्थु, ६ सेनासन, ७ संघभेदक, ८ वत्त, ९ पातिमोक्खट्ठपन, १० भिक्खुनी, ११ पंचसतिक, और १२ सत्तसतिक खंधक।

१. पहले अध्याय में पाँच प्रकार के दंडविधानों की व्यवस्था पूरे इतिहास के साथ दी गई है। वे इस प्रकार हैं : (अ) तर्जनीय कर्म, (आ) नियस्सकर्म, (इ) प्रव्राजनीय कर्म, (ई) प्रतिसारणीय कर्म, और (उ) उत्क्षेपणीय कर्म।

(अ) तर्जनीय कर्म (दोषदर्शन द्वारा अप्रसन्नता प्रकट करना) : कलह विवादों में प्रवृत्त व्यक्ति, इस कर्म से दंडनीय है। (आ) नियस्स कर्म (उचित समय तक योग्य व्यक्ति की देखरेख में रहना)। अननुकूल गृहस्थों की संगति के लिये विशेष रूप से यह दंड दिया जाता है (इ) प्रव्राजनीय कर्म (वासस्थान से निष्कासन)। कुलाचार के विरुद्ध आचरण करनेवाले और नृत्य, गीत, वाद्य में भाग लेनेवाले इस दंड के भागी होते हैं। (ई) प्रतिसारणीय कर्म (क्षमायाचना द्वारा पुनः संबंध स्थापित करना)। अकारण किसी गृहस्थ को कटु वचन द्वारा खेद पहुँचाने पर यह कर्म किया जाता है। (उ) उत्क्षेपणीय कर्म (संघ से बहिष्कार)। जो अपराध करके उसे स्वीकार नहीं करते, जो अपराध का प्रतिकार नहीं करते, और जो समझाने पर भी मिथ्या धारणाओं को नहीं छोड़ते, उन्हें यह दंड दिया जाता है। जो इन अपराधों के दोषी हैं, वे संघ के अधिकारों से वंचित हो जाते हैं। दंड पाने के बाद जिसका आचरण सुधर जाता है, उसे समय से पहले भी क्षमा मिल सकती है।

२-३. दूसरे और तीसरे अध्यायों में संघादि शेष आपत्तियों के लिये विहित 'मानत्त' और 'परिवास' कर्मों की विस्तृत व्याख्या है। सामान्यतः मानत्त का पालन छह दिन के लिये होता है। उसके बाद शुद्धि प्राप्त होती है।

परिवास तीन प्रकार के हैं : प्रतिच्छन्न, शुद्धांत और समवधान। जो अपराध करके जितने दिन छिपाता है उतने दिन के लिये उसे परिवास पूरा करना पड़ता है—यह प्रतिच्छन्न है। जो अपराध की तिथि भूल जाता है, उसे उपसंपदा दीक्षा से लेकर उस दिन तक जितने दिन बीत चुके हैं उतने दिन के लिये परिवास पूरा करना पड़ता है—यह शुद्धांत है। जो परिवास के समय अपराध करता है उसे फिर प्रारंभ से परिवास पूरा करना पड़ता है—यह समवधान परिवास है। जो मानत्त या परिवास ग्रहण कर तत्संबंधी प्रतिज्ञाओं का पालन नहीं करता, उसे भी प्रारंभ से उसे पूरा करना पड़ता है—यह भूल से प्रतिकर्षण कहलाता है।

४. चौथे अध्याय में अधिकरणों (मामलों) के समाधान की कई विधियाँ बताई गई हैं . (अ) स्मृतिविनय, (आ) अमूढ़ विनय, (इ) प्रतिज्ञातकरण, (ई) यद्भूयसिक, (उ) तत्पापीयसिक, और (ऊ) तिणवत्थारक। सम्मुख विनय के साथ ये सात अधिकरण शमथ धर्म कहलाते हैं।

(अ) यदि किसी निर्दोष व्यक्ति पर अभियोग लगाया जाय स्मृतिविनय द्वारा संघ उसे निर्दोष घोषित करता है।

(आ) यदि कोई उन्मत्त अवस्था में अपराध करे संघ परीक्षा के बाद अमूढ़ विनय द्वारा उसे निर्दोष घोषित करता है।

(इ) अभियुक्त द्वारा अभियोग के स्वीकरण के बाद ही दंड देना चाहिए। यदि वह कई अपराधों का दोषी हो, जो सबसे गंभीर है, उसके लिये दंड देना चाहिए—यह 'प्रतिज्ञातकरण' है।

(ई) यदि किसी अधिकरण का समाधान एकमत से संभव न हो तो बहुमत से करना चाहिए—यह 'यद्भूयसिक' है।

(उ) यदि कोई दंडयुक्त होने की चेतना से अपराध को स्वीकार नहीं करता पूछताछ के बाद उसका निर्णय करना चाहिए—यह तत्पापीयसिक है।

(ऊ) यदि प्रकट रूप से किसी अधिकरण के समाधान से संघभेद की आशंका हो उसे अप्रकट रूप से तय करना चाहिए - यह 'तिणवत्थारक' है।

अधिकरण चार प्रकार के हैं : विवादाधिकरण अर्थात् विवादों से उत्पन्न अधिकरण, अनुवादाधिकरण अर्थात् किसी के अभियोग से उत्पन्न अधिकरण, आपत्ति अधिकरण अर्थात् सात प्रकार के आपत्ति स्कंधों से उत्पन्न अधिकरण, और कृत्याधिकरण अर्थात् संघ कर्मों की अनियमितता से उत्पन्न अधिकरण।

५. पाँचवें अध्याय में खानपान, स्नान, उठना बैठना, पहनना ओढ़ना आदि बातों का उचित अनुचित ढंग बताया गया है। इस सिलसिले में दैनिक प्रयोग में आनेवाली वस्तुओं की एक लंबी तालिका दी गई है। इस प्रकार इस अध्याय से उस समय के शिष्टाचार, वेश भूषा,

शिल्पकला इत्यादि बातों पर प्रकाश पड़ता है। किसी गृहस्थ के अनुचित व्यवहार के लिये भिक्षा इनकार कर अप्रसन्नता प्रकट करने की अनुमति है। अपनी अपनी भाषा में बुद्धवचन सीखने का विधान है। बोधिराज कुमार की कथा भी इसी अध्याय में दी गई है।

६. छठे अध्याय में विहारों और उनकी व्यवस्था का वर्णन आया है। राजगृह श्रेष्ठी ने ६० विहार बनवाकर भगवान् और भिक्षुसंघ को दान किए थे। अनाथपिंडिक श्रेष्ठी ने भी राजगृह में ही भगवान् के प्रथम दर्शन पाए थे। उसने श्रावस्ती में भी जेतवनाराम का दान किया था। इस प्रसंग में यह बतलाया गया है कि विहार किस प्रकार बनने चाहिए, उनके सामान क्या क्या होने चाहिए, और उनका सदुपयोग क्या है। तित्तिर जातक का उदाहरण देकर यह बताया गया है कि बड़ों का आदर किस प्रकार करना चाहिए। संख्या में संघ की वृद्धि के साथ साथ संघारामों की सुव्यवस्था के लिये कर्तव्यों का विभाजन होने लगा और तदनुसार कर्मचारी भी नियुक्त होने लगे।

७. सातवें अध्याय में संघभेद का वृत्तांत दिया गया है। देवदत्त ने पदलोलुपतावश किस प्रकार संघ में फूट डाली, उसकी दुर्गति कैसे हुई, किन किन परिस्थितियों में संघभेद हो सकता है, और संघ की सामग्री (एकता) कैसे हो सकती है— इन बातों का वर्णन है। देवदत्त के साथ अनुरुद्ध आदि शाक्य कुमारों और उपालि की प्रव्रज्याकथा भी आई है।

८. आठवें अध्याय में आगंतुक, आवासिक और गमिक के कर्तव्य; भोजन संबंधी नियम, भिक्षाचारी और अरण्यवासी के कर्तव्य; आसनगृह, स्नानगृह और शौचालय के नियम; और शिष्य-उपाध्याय एवं शिष्य-आचार्य के कर्तव्य बताए गए हैं।

९. नवें अध्याय के आरंभ में बताया गया है कि किन किन परिस्थितियों में प्रातिमोक्ष का पाठ स्थगित करना चाहिए। इसमें अपराध स्वीकरण और दोषारोपण की विधि भी बताई गई है। समुद्र संबंधी आठ गुदर उपमाओं द्वारा बुद्धशासन के गुण बताए गए हैं।

१०. दसवें अध्याय में भिक्षुणी संघ की स्थापना और संघटन का विस्तृत वर्णन आया है। भिक्षुओं और भिक्षुणियों के बीच कैसा संबंध रहना चाहिए, इसके नियम भी इसी में दिए गए हैं।

११-१२. ११वें अध्याय में प्रथम बौद्ध संगीति का विवरण है, जिसमें ५०० अर्हत शामिल हुए थे। १२वें अध्याय में द्वितीय संगीति का वर्णन है, जिसमें ७०० अर्हत शामिल हुए थे।

[भि०]

चूड़ी और भारतीय चूड़ी उद्योग चूड़ी नारी के कर का प्रमुख अलंकरण है, भारतीय सभ्यता और समाज में चूड़ियों का महत्वपूर्ण स्थान है। हिंदू समाज में यह सुहाग का चिह्न मानी जाती है। भारत में जीवितपतिका नारी का हाथ चूड़ी से रिक्त नहीं मिलेगा।

भारत के विभिन्न प्रांतों में विविध प्रकार की चूड़ी पहनने की प्रथा है। कहीं हाथीदाँत की, कहीं लाख की, कहीं पीतल की, कहीं प्लास्टिक की, कहीं काच की, आदि। आजकल सोने चाँदी की चूड़ी पहनने की प्रथा भी चल रही है। इन सभी प्रकार की चूड़ियों में अपने विविध रंग रूप और चमक दमक के कारण काच की चूड़ियों का महत्वपूर्ण स्थान है। सभी धर्मों एवं संप्रदायों की स्त्रियाँ काच की चूड़ियों का अधिक प्रयोग करने लगी हैं।

काच के बनाने में रेता, सोडा और कलई का प्रयोग होता है। रेता एक रेतीला पदार्थ है जिसमें मिट्टी का अंश कम और पत्थर का अधिक होता है। यह दानेदार होता है। कहीं कहीं यह पत्थर को पीसकर भी बनाया जाता है। काच बनाने के काम में आनेवाला रेता भारत के कई प्रांतों में मिलता है यथा: राजस्थान, मध्यभारत, हैदराबाद, महाराष्ट्र आदि। राजस्थान में कोटा, बूँदी और जयपुर की पहाड़ियों में अधिक मिलता है। राजस्थान में बरई के आसपास मिलनेवाले रेता में ·०४६ प्रति शत लौह का समावेश होता है और बूँदी के रेतों में ·६ तक का कम लौहवाला रेता सफेद काच और अधिक लौहवाला रंगीन काँच बनाने के काम में आता है।

जिस प्रकार की रासायनिक अर्हता का सोडा काच बनाने के काम आता है उसी प्रकार का प्राकृतिक पदार्थ तो दक्षिण अफ्रीका के केनियाँ प्रांत में मिलता है। भारत में सौराष्ट्र और पोरबंदर में काच के अनुकूल रासायनिक अर्हतावाला सोडा बनाया जाता है। भारत की बंजर भूमि में स्थान स्थान पर रेह मिलता है। रेह का प्रयोग कपड़े धोने में भी होता है। यही रेह इस सोडा के बनाने के काम आता है। काच के तीनों पदार्थों में से यही अधिक मूल्यवान है।

कलई, को सफेदी भी कहते हैं। प्राचीन काल में इसका एक नाम सुधा भी था। इसका प्रयोग मकानों के पोतने में अधिक होता है। यह एक कोमल पत्थर को जलाकर बनाई जाती है। राजस्थान का गोटन स्थान कोमल और मधुर कलई के लिये प्रसिद्ध है।

कलई के विकल्प का भी पता चल चुका है, कलई के स्थान में संगमरमर की पिट्टि (चूरा) का भी प्रयोग होने लगा है। कुछ काच निर्माताओं की मान्यता है कि मर्मरपिट्टि के संयोग से काच में विशेषता आती है। कलई की अपेक्षा यह सस्ती अवश्य पड़ती है।

काच में सफाई लाने के लिये सोडियम नाइट्रेट, कलमी शोरा, अथवा सुहागा का प्रयोग होता है। कलमी शोरा फर्रुखाबाद, जलेसर और पंजाब में मिलता है। सुहागा, जिसे बोरैक्स कहते हैं, प्रायः अमेरिका से मँगाया जाता है।

उपर्युक्त तीनों पदार्थ १ मन रेता, १८ सेर सोडा और ३ सेर कलई के अनुपात से मिलाए जाते हैं। मिश्रण बड़ी बड़ी नादों में भर दिया जाता है। इन नादों के लिये अंग्रेजी शब्द 'पॉट' का प्रयोग किया जाता है। ये नादें प्रारंभ में जापान से आती थीं। अब भारतवर्ष में बनने लगी हैं। इनमें बर्न एंड कंपनी जबलपुर से आनेवाली ईंटों का चूरा और दिल्ली से आने वाली एक विशेष प्रकार की मिट्टी का प्रयोग होता है जिसे 'बी क्ले' कहते हैं। ये 'पॉट' अधिक तापमान में भी नहीं पिघलते हैं।

बर्न कंपनी, जबलपुर की ईंटों से ही काच गलाने की 'भट्ठी' तैयार की जाती है। इनको अनुभवी राज ही बनाते हैं। 'पॉट' संख्या से ही बड़ी और छोटी होती है। सबसे छोटी भट्ठी में चार पॉट लगते हैं। ये भट्ठियाँ गोलाकार बनाई जाती हैं। 'पॉट' के ऊपर भट्ठी में रेता आदि मिश्रण डालने और गला काच निकालने के लिये छिद्र होते हैं।

भट्ठी के नीचे भाग में लकड़ी अथवा कोयले की आग जलती है। यह आग 'पॉटों' के नीचे होती है। आग १२०० से १५०० डिग्री तापमान तक जलनी चाहिए। इससे कम होने पर काँच गल न सकेगा। 'भराई' और 'निकासी' के समय भी तापमान १००० डिग्री से कम

नहीं होना चाहिए। रेता, सोडा और कलई का मिश्रण चौबीस घंटे में गलकर काच बन जाता है। रंगीन काच बनाने की स्थिति में रंग और रंग को 'घोलनेवाले' रासायनिक मिश्रण भी इसी अवसर पर मिला दिए जाते हैं।

कुछ कारखाने केवल काच ही बनाते हैं। मात्र काच को 'ब्लाक काच' की संज्ञा दी जाती है। कुछ कारखाने चूड़ी बनाते हैं। जो कारखाने ब्लाक काच बनाते हैं उनमें एक साथ भराई होती है और एक साथ निकासी। रेता आदि का मिश्रण 'पॉटों' में भरने को भराई और गला काच निकालने को निकासी कहा जाता है। किंतु चूड़ी बनानेवाले कारखाने की भट्ठियों में भराई और निकासी का तारतम्य चलता रहता है और गला हुआ ब्लाक काच 'कच्छाओं' से निकाला जाता है। दस फुट लंबी मोटी लोहे की छड़ में बड़ा प्याला लगा होता है। यही कच्छा है। चूड़ी बनाने की स्थिति में केवल छड़ से ही काच निकाला जाता है। यह लंबी चार सूत मोटी छड़ 'लबिया' कहलाती है।

काच निकालने से चूड़ी बनाने तक का सभी काम 'गरम' काम कहलाता है। लबिया से जब गला काच निकाला जाता है तो प्रारंभ में उसके किनारे पर थोड़ा काच आता है। इसको थोड़ा ठंढा करके गोल सा कर लिया जाता है जिससे लबिया की नोक पर एक 'घुंडी' बन जाती है। इसे 'घुंडी' कहते हैं और यह करनेवाला व्यक्ति घुंडी बनानेवाला कहलाता है। घुंडी सहित लबिया दूसरे मजदूर को दे दी जाती है। वह पुनः उस घुंडी से काच निकालता है। अबकी बार अधिक काच आता है। इसे 'बबल' कहते हैं और मजदूर को बबलवाला। यह 'बबल' अंग्रेजी शब्द है। बबल तीसरे मजदूर को दे दिया जाता है। वह इसकी सहायता से पुनः काच को पॉट से निकालता है। अबकी बार काच और अधिक आता है। इसको लोम कहते हैं। लोमवाला मजदूर लोम को ले जाकर लोम बनानेवाले व्यक्ति को दे देता है। वह काच को थोड़ा ठंढा करके एक फुट लंबे के चार सूत मोटे लोहे के टुकड़े पर खुरपी जैसे लोहे के 'दस्ते' से उसे गोपुच्छाकार बनाता है। यहाँ से चूड़ी निर्माण की वास्तविक क्रिया प्रारंभ होती है। इस 'लोम' शब्द को अंग्रेजी का शब्द माना जाय तो इसे इसकी चिकणता और मसृणता के कारण नाम दिया गया होगा और हिंदी का माना जाय तो लूम (पूँछ) के समान आकार को देखकर यह नाम दिया गया होगा।

चूड़ी प्रायः रंगीन बनती है। किसी किसी चूड़ी में अनेक रंग होते हैं। चूड़ी के रंग इसी लोम पर दिए जाते हैं। यदि चूड़ी के भीतर रंग देना हो तो बबल पर दूसरे रंग की 'बत्ती' लगाकर लोम उठाई जायगी और यदि ऊपर रंग देना होता है तो अन्य रंग की 'बत्तियाँ' लोम पर लगाई जाती हैं। चूड़ी में जितने रंग डालने होते हैं उतने ही रंगों की अलग अलग बत्तियाँ लोम पर लगा दी जाती हैं। बत्ती लगाने के लिये कारीगर अलग होता है। बत्ती लगाने से लेकर आगे काम करनेवाले मजदूर प्रशिक्षित होते हैं। रंगीन 'बत्ती' एक सी लगे यही कारीगरी है। जिस भट्ठी पर बत्ती लगाने का काम होता है उसे 'भट्ठी तली' कहते हैं। लोम बनाते समय जिस प्रकार चूड़ी के रंग निश्चित होते हैं उसी प्रकार उसका आकार भी निश्चित होता है। गोल चूड़ी के लिये लोम गोल बनानी होगी, चौकोर आदि के लिये चौकोर आदि। गोलाई में लोम का जिस प्रकार का आकार होगा उसी प्रकार का आकार चूड़ी का होगा।

रंगीन बत्ती अथवा बत्तियाँ लगने तक लोम ठंढी हो जाती है, इसलिये वह फिर 'सिकाई' भट्ठी पर पहुँचाई जाती है। लोम इधर उधर उठाकर पहुँचानेवाले मजदूर साधारण अनुभवी होते हैं। पर उनकी सिकाई करनेवाले मजदूर प्रशिक्षित होते हैं। सिकाई करनेवाले कारीगर को यह ध्यान रखना पड़ता है कि लोम को सर्वत्र समान आँच लगे। बहुरंगी चूड़ी बनाने की स्थिति में लोम भट्ठी तली पर जाएगी। एकरंगी चूड़ी के लिये वह सीधी सिकाई भट्ठी पर आएगी।

सिकाई होने के पश्चात् लोम तार बनने योग्य हो जाती है। फलतः लोम लेनेवाला मजदूर सिकाई भट्ठी से उसे लेकर 'तार' लगानेवाले को देता है। तार लगानेवाला २५ रु० से ४० रु० प्रति दिन तक मजदूरी पानेवाला कारीगर है। चूड़ी बनानेवाले कारीगरों में सबसे अधिक वेतन पानेवाला यही व्यक्ति है। यही काच की चूड़ी को प्रारंभिक रूप प्रदान करता है। तार लगानेवाले के अतिरिक्त यहाँ दूसरा कारीगर बेलन चलानेवाला होता है। इसे 'बिलनियां' कहते हैं। बेलन लोहे का होता है जिसमें बीच में चूड़ियों के खाने बने होते हैं, एक बेलनियाँ बेलन को एक ही निरंतर चाल से दो घंटे तक चलाता है। फिरते हुए बेलन पर तार लगानेवाला चूड़ी का तार खींचता है। तार खींचने की विशेषता यह होती है कि उसकी मोटाई और गोलाई में समानता रहनी चाहिए। यह सारा काम भी एक भट्ठी पर होता है जो बहुरंगी चूड़ी बनाने के क्रम में चौथी और एकरंगी चूड़ी के क्रम में तीसरी है।

घूमते हुए बेलन पर चूड़ियों का स्प्रिंग के आकार का लंबा 'मुट्ठा' तैयार होता है जिसे एक कारीगर चलते हुए बेलन से ही उतारकर ठंढा होने के लिये लोहे के तसलों में इकट्ठा करता जाता है।

यहाँ तक आते आते काँच और चूड़ी में यथेष्ट 'टूट फूट' होती है। चूड़ी में कई स्थानों पर 'टूट फूट' होती है। यह सभी 'टूट फूट' 'भंगार' कहलाती है, जिसे साधारण मजदूर इकट्ठा करते और अलग रखते हैं। भंगार बीनना भी इस उद्योग का एक प्रमुख अंग है।

चूड़ी के ठंढे 'मुट्ठे', जिनमें ४००-५०० चूड़ियाँ होती हैं, हीरे की कनी अथवा मसाले से बने पत्थर से, जिसे 'कुरंड' कहते हैं, काटे जाते हैं। एक आदमी 'मुट्ठे' से काटकर चूड़ियाँ अलग करता जाता है, दूसरा उन्हें साथ साथ एक रस्सी में पिरोकर बाँधता जाता है और तीसरा गिन गिनकर १२-१२ दर्जन संभालता जाता है। एक दर्जन में २४ चूड़ियाँ गिनी जाती हैं। १२ दर्जन अथवा २८८ चूड़ियों का एक गट्ठा या एक तोड़ा कहलाता है।

चूड़ियों के तोड़े बाँध दिए गए परंतु चूड़ियाँ अभी बीच में कटी और टेढ़ी हैं। जोड़ने से पहिले उनको कटाव के सामने थोड़ी गरमी देकर सीधा किया जाता है। गरमी पाते ही चूड़ियाँ सीधी हो जाती हैं और दोनों ओर की नोकें एक सीध में आ जाती हैं।

सीधी की हुई चूड़ियाँ जुड़ाई के लिये दी जाती हैं। चूड़ियों के टूटे हुए दोनों नोकों को, जो एक सीध में आ चुकी होती हैं मिट्टी के तेल की लैंप की लौ पर गरम कर जोड़ दिया जाता है। यह भट्ठी जिसमें लैंपों के ऊपर जुड़ाई की जाती है 'जुड़ाई भट्ठी' कहलाती है। लैंप की लौ को एक पंखे की सहायता से हवा दी जाती है जिससे उससे गैस बनने लगती है। चूड़ी को जोड़नेवाले 'जुड़ैया' कहलाते हैं। जुड़ाई होने के पश्चात् चूड़ी पहनने योग्य तो हो जाती है परंतु उसको अंतिम रूप

कुछ आगे चलकर ही मिलता है। यह जुड़ाई आदि का काम व्यक्तिगत रूप से घरों में होता है।

चूड़ी की जुड़ाई तक का उत्तरदायित्व कारखानेवाले का है। कारखाने से चूड़ी सौदागर के हाथ में पहुँचती है। सौदागर भारत के जिस प्रांत में अपनी चूड़ी भेजता है वहाँ की पसंद और फैशन का बहुत ध्यान रखता है। सौदागर के हाथ में आने के पश्चात् नाप के अनुसार चूड़ी की छँटाई की जाती है। नाप के अनुसार चूड़ी छाँटनेवाले 'छँटैया' कहलाते हैं। साथ ही यह भी परीक्षा की जाती है कि कोई चूड़ी भूल से जुड़ने से तो नहीं रह गई है। इस देखभाल को 'टूट' बजाना कहते हैं।

छाँट के पश्चात् चूड़ी पर अनेक प्रकार की डिजाइन काटने का काम होता है। यह कटाई गोल शान पत्थर के द्वारा होती है जो मशीन के द्वारा घूमता रहता है। जहाँ यह कटाई होती है उसे कटाई का कारखाना कहते हैं। डिजायन काटनेवाला कारीगर 'कटैया' कहलाता है। चूड़ी यहाँ काफी टूटती है। यहाँ की भँगार इकट्ठी कर भँगार बीननेवाले अपने घर ले जाते हैं जहाँ उनके स्त्री, बच्चे रंग के अनुसार चूड़ियों के टुकड़ों को अलग अलग करते हैं। यह भँगार सैकड़ों मन तक इकट्ठी हो जाती है।

कटने के पश्चात् चूड़ी पुनः सौदागर के गोदाम लौट जाती है। कुछ ऐसी डिजायनवाली चूड़ियाँ होती हैं जो अब ग्राहक के पास पहुँचने के लिये तैयार हैं। परंतु कुछ चूड़ियों पर 'हिल्ल' कराई जाती है। हिल्ल सोने का रासायनिक घोल है जो चूड़ी के ऊपर कटी डिजायन में भरा जाता है। प्रारंभ में हिल्ल इंग्लैंड और जर्मनी से आती थी; अब यहीं बनने लगी है। हिल्ल लगी हुई चूड़ियाँ पुनः सिकाई भट्ठियों में गरम की जाती हैं जिससे हिल्ल चमक जाय और पक्की हो जाय। यही चूड़ी का अंतिम रूप है। [ग० प्र० उ०]

चूना कैलसियम का ऑक्साइड है और प्रकृति में असंयुक्त नहीं पाया जाता। इसके लवण, कैलसियम कार्बोनेट और कैलसियम सल्फेट, प्रचुरता से पाए जाते हैं। गृहनिर्माण में जोड़ाई के लिये प्रयुक्त होनेवाली वस्तुओं में यह प्राचीनतम है, किंतु अब इसका स्थान पोर्टलैंड सीमेंट लेता जा रहा है। चूने को निम्नलिखित दो प्रमुख भागों में विभक्त किया गया है :

१. साधारण चूना या केवल चूना, २. जल चूना (Hydraulic lime)।

१. साधारण चूना — इस चूने में कैलसियम की मात्रा अधिक और अम्ल में अविलेय पदार्थ छः प्रति शत के लगभग रहता है। कैलसियम ७१·४३ प्रति शत और ऑक्सिजन २८·५७ प्रति शत रहते हैं। चूनापत्थर, खड़िया या सीप को जलाकर यह चूना बनाया जाता है (देखें चूने का भट्ठा) यह पानी से जमता नहीं है। इस प्रकार प्रस्तुत चूना सफेद, अमणिभीय होता है। पानी में बुझाए जाने पर फूटता नहीं, केवल फूलता और चूर चूर हो जाता तथा साथ ही पर्याप्त मात्रा में उष्मा देता है। ऐसा बुझा हुआ चूना जलोयित या बुझा चूना कहलाता है। चूने को बुझाने की एक रीति यह है कि एक नाँद में एक फुट ऊँचाई तक चूना भरकर उसमें तीन फुट तक पानी भर देते हैं। २४ घंटे या अधिक समय तक अर्थात् जब तक यह पूरा बुझ न जाए, इसे ऐसे ही छोड़ देते हैं। बुझ जाने के बाद इसे प्रति वर्ग इंच १२ छिद्रवाली चलनी से छान लेना चाहिए।

शुद्ध चूने के गारे में हवा का कार्बन डाइऑक्साइड संयुक्त होकर कैलसियम कार्बोनेट बनाता है, जिससे यह जमता और कठोर हो जाता है। मोटी दीवार बनाने में इसका उपयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि आंतरिक भागवाले चूने को कैलसियम कार्बोनेट में परिवर्तित होने के लिये कार्बन डाइऑक्साइड पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं होता। इस कारण ऐसा गारा ईंटों को ठीक से जोड़ता नहीं। भीतरी दीवारों पर पतला पलस्तर करने और पतली दीवारों की जुड़ाई के लिये ही यह उपयुक्त होता है।

चूने में दानेदार बालू मिला देने से इसके जोड़ने के गुण में वृद्धि हो जाती है। इससे वायु के प्रवेश के लिये पर्याप्त रिक्त स्थान प्राप्त होता है। सीमेंट और चूने का गारा भी काम में लाया जाता है। चूने से संकोचन और दरारें कम होतीं और चार भाग सीमेंट में एक भाग चूना मिलाने से बिना दृढ़ता कम किए व्यवहार्यता बढ़ जाती है। गारे में १ भाग सीमेंट, ३ भाग बालू के स्थान पर १ भाग सीमेंट १ भाग चूना ६ भाग बालू रहना अच्छा है। चूने में सुर्खी मिलाने और चक्की में पीसने से इसकी जलदृढ़ता (hydraulicity) बढ़ जाती है। ऐसा चूना उत्तर प्रदेश के देहरादून और मध्य प्रदेश के सतना में अधिकांश पाया जाता है।

२. जल-चूना — यह चूना बड़ी मात्रा में कंकड़ या मिट्टी युक्त चूनापत्थर को जलाकर बनाया जाता है। ७ से लेकर ३० दिनों तक में पानी के अंदर जमनेवाले चूने को जल-चूना कहते हैं। पानी में जमने के समय के आधार पर इसे मंद जल, मध्यम जल और उत्तम जल चूना कहते हैं। चूने में ५ से ३० प्रति शत मिट्टी रह सकती है और इसी की मात्रा पर जमना निर्भर करता है। चूने में मिट्टी की मात्रा की वृद्धि से बुझने की क्रिया मंद होती है और जल दृढ़ता गुण बढ़ता है। जल चूने में सिलिका, ऐल्यूमिना और लौहऑक्साइड अपद्रव्य के रूप में रहते हैं, जो चूने के साथ संयुक्त होकर जल के अंदर जमने और कठोर होनेवाले यौगिक बनाते हैं। जल चूने को उपयोग में लाने से ठीक पहले बुझाना चाहिए, तैयार होने के तुरंत बाद ही नहीं। पानी के अंदर तथा उन स्थानों पर जहाँ दृढ़ता आवश्यक है, ऐसे चूने का उपयोग होता है।

जलाकर चूना बनाने के लिये आवश्यक कंकड़ उत्तर भारत के मैदानी भागों में सतह से कुछ फुट नीचे पाए जाते हैं। [ज० कु०]

चूना कंक्रीट अच्छी तरह श्रेणीबद्ध किए हुए सूक्ष्म और स्थूल राशियों का समूह है, जिसमें जोड़नेवाला पदार्थ चूना रहता है। स्थूल राशि में तोड़े हुए पत्थर, तोड़ी हुई ईंटें या रोड़े होते हैं, जिनके विस्तार ३/१६" से १½" तक के होते हैं। सूक्ष्म राशि में ऐसे कण होते हैं जो ३/१६" अक्षिवाली चलनी से छन जाएँ पर १००-अक्ष प्रति वर्ग इंच वाली चलनी में न छनें। ये राशियाँ बालू, दले पत्थर या सुर्खी की होती हैं।

स्थूल राशि, सूक्ष्म राशि और चूने को क्षैतिज स्तर में रखकर साधारणतया चूना कंक्रीट बनाया जाता है। प्रत्येक स्तर की मोटाई आवश्यक अनुपात के अनुसार रखी जाती है। आवश्यक पानी डालकर थोड़ी थोड़ी मात्रा में उन्हें मिलाया जाता है।

चूना कंक्रीट का उपयोग नींव डालने, पुश्ता बाँधने और घन (mass) कंक्रीट बनाने में बहुत होता है।

भवनों की नींव डालने में चूना कंक्रीट व्यापकता से उपयोग में आता है, यद्यपि इसका स्थान पतला सीमेंट कंक्रीट ले रहा है, क्योंकि सीमेंट सुगमता से प्राप्य है। इसके सघन होने में कम समय लगता है और खर्च भी कम पड़ता है। लगभग ९" मोटाई की कंक्रीट रखी जाती है, जिसे १०–१२ पाउंड वाली दुरमुस से पीटकर ६" तक सघन कर देते हैं।

दुरमुस का क्षेत्रफल लगभग ५० वर्ग इंच और आयताकार होना चाहिए, जिससे किनारों की पिटाई ठीक से हो सके। पिटाई समाप्त होने पर गारा ऊपर आ जाना चाहिए। यदि गारा ऊपरी सतह पर नहीं आता, तो उससे पानी की कमी मालूम होती है और तब स्तर फिर से रखना चाहिए। दुरमुस से पीटते समय और पानी नहीं देना चाहिए, केवल ग्रीष्मकाल में उद्वाष्पण से पानी की क्षति की पूर्ति के लिये पानी दे सकते हैं। जब ईंट की मिट्टी का प्रयोग हो, तब पीटते समय पानी छिड़का जा सकता है।

पुश्ते के लिये कंक्रीट की मोटाई ५"–१०" रहती है। २० में १ की ढाल पानी बह जाने के लिये रखी जाती है। हाथ की थापी से पिटाई करते समय कुछ अनुपात में चूने के पानी में गुड़ और बेल (फल) का विलयन मिलाकर छिड़का जाता है। इससे छत में जलरोधकता आ जाती है। फिर अंत में कुछ स्वच्छ सीमेंट छिड़क देते हैं ताकि तल ऐसा कठोर हो जाय कि उसमें जल प्रविष्ट न हो सके। [ज० कु०]

चूना पत्थर वस्तुतः कैलसियम कार्बोनेट है, पर इसमें सिलिका, ऐल्यूमिना और लोहे इत्यादि सदृश अपद्रव्य अंतर्मिश्रित रहते हैं। गृहनिर्माण के लिये चूनापत्थर बहुत अच्छा होता है और देश के विभिन्न भागों की स्तरित चट्टानों से सुविधापूर्वक यह उत्खनित होता है।

चूना पत्थर अनेक किस्मों में उपलब्ध है। यह रंग, विन्यास, कठोरता और टिकाऊपन में विभिन्न गुणों का होता है। सघन कणवाले गहन और मणिभीय पत्थर गृहनिर्माण के लिये उत्कृष्ट होते हैं। ये कार्न-साधक, दृढ़ और टिकाऊ होते हैं। चूना पत्थर पर तनु अम्ल की क्रिया बड़ी सरलता से होती है, अतः औद्योगिक नगरों के निकट गृहनिर्माण के लिये यह पत्थर ठीक नहीं होता। बनावट और अन्य गुणों की विभिन्नता के कारण चूना पत्थर की दृढ़ता विभिन्न होती है। इसलिये गृह-निर्माण के पूर्व पत्थर की परीक्षा कर लेनी चाहिए।

बहुत बड़ी मात्रा में चूना पत्थर का चूने के निर्माण में उपयोग होता है। १०० पाउंड चूने के पत्थर से लगभग ६५ पाउंड चूना प्राप्त होता है। शुद्ध चूना पत्थर या खड़िया से, जिसमें छः प्रति शत से अधिक सिलिका, ऐल्यूमिना तथा अन्य अपद्रव्य न हों, उत्कृष्ट चूना प्राप्त होता है। चार से सात प्रति शत संयुक्त सिलिका ऐल्यूमिना वाले मिट्टीयुक्त चूना पत्थर से मध्यम श्रेणी का जलचूना और ११-२५ प्रति शत संयुक्त सिलिकावाले चूनापत्थर से सर्वोत्कृष्ट श्रेणी का जलचूना प्राप्त होता है। [ज० कु०]

चूने का भट्ठा भट्ठे या ढेरों में चूना पत्थर को जलाकर चूना बनाया जाता है। ढेरों में जलाने से बहुत सा ईंधन व्यर्थ नष्ट हो जाता है। आवश्यकता से अधिक, या आवश्यकता से कम, जला हुआ चूना भी बड़ी मात्रा में इससे प्राप्त होता है। जहाँ ईंधन सस्ता और प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो वहाँ के लिये ही यह विधि उपयुक्त हो सकती है। चूने के भट्ठे साधारणतया नदीतटों या जलाशयों के आस पास बैठाए जाते हैं, जिसमें चूने को सरलता से बुझाया जा सके।

भट्ठे बेलनाकार होते हैं और उनकी चिमनी खंडित शंक्वाकार होती है। स्थानीय आवश्यकता के अनुसार उसका आकार व्यवस्थित किया जा सकता है। ये ईंटों या पत्थरों के बने होते है। इनका भीतरी अस्तर १४" से लेकर १८" तक मोटा होता है और अग्निसह ईंटों से अग्निसह मिट्टी द्वारा जोड़ा रहता है।

भट्ठे की भराई — भट्ठे की भराई दो प्रकार से होती है। एक विधि में कंकड़, या चूनापत्थर, के लगभग ६" के स्तर एवं ईंधन
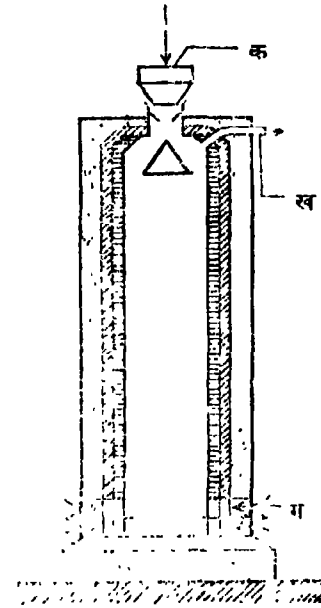
चूने का भट्ठा

क. निवापी, जिसमें चूने का पत्थर तथा कोयले का मिश्रण रहता है और भट्ठे में डाला जाता है। नीचे का शंकु मिश्रण के गिरने पर उसे समान रूप से वितरित कर देता है; ख. कार्बन डाइ-आक्साइड के निकलने का स्थान तथा ग. से वायु का प्रवेश होता है और चूना निकाला जाता है। भट्ठे ७० फुट तक ऊँचे तथा १४ फुट तक आंतरिक व्यास के होते है।

(कोयला, कोक या काठकोयला) के २" के स्तर बारी बारी से रखे जाते हैं। पेंदे में सूखी या हरी लकड़ी रखी जाती है। दूसरी विधि में कंकड़, कोयला और काठकोयला मिलाकर रखे जाते हैं।

भट्ठे की किस्में — साधारणतः दो किस्म के भट्ठे काम में आते हैं (१) आंतरायिक भट्ठे (intermittent kilns) और (२) अविरत भट्ठे (continuous kilns)।

(१) आंतरायिक भट्ठे — इस भट्ठे में एकांतर भरण होता है तथा धूम्रमार्ग का उचित प्रबंध और वायुप्रवाह का उचित नियंत्रण रहता है। प्रत्येक बार चूना तैयार हो जाने पर भट्ठी की सफाई होती है और तब नए भार डाले जाते हैं। जलना पूरा हो जाने पर ठंढा होने में १० से १५ दिन तक लगते है। ये भट्ठे महँगे पड़ते हैं, क्योंकि इनमें समय अधिक लगता है और कुछ ऊष्मा नष्ट हो जाती है।

(२) अविरत भट्ठे — ये भट्ठे बहुत सस्ते होते हैं, क्योंकि इनकी भराई और फुँकाई तभी हो जाती है जब वे गरम रहते हैं। पर ऐसे भट्ठों का भारत में प्रचलन नहीं है। चूने के निर्माण में अन्य किस्म के अविरत भट्ठे भी उपयोग में आते हैं।

अविरत उर्ध्वाधर भट्ठों में कच्चेमाल ऊपर से डाले जाते हैं। भट्ठे के तल से उठती उष्ण गैसें माल को आरंभ में ही गर्म कर देती हैं और माल नीचे पहुँचते पहुँचते ईंधन से संयुक्त होता है तथा दाहक मंडल में पहुँच-कर चूना पत्थर निस्तप्त हो जाता है। ठीक ठीक जलने के बाद चूना

नीचे गिरते हुए शीतक मंडल में आकर वायुप्रवाह को गरम करता हुआ स्वयं ठंडा हो जाता है। पेंदे से चूना निकाल लिया जाता है।

चूने का निस्तापन ताप १,०००° सें० है। चूना पत्थर में मिले हुए पानी की भाप कार्बन डाइग्राक्साइड के बाहर निकलने की गति में त्वरण लाती है। कभी कभी चूना पत्थर में बाहर से पानी मिलाया जाता है। मिट्टी-युक्त चूना सुगमता से निस्तप्त होता है, पर सिलिका और ऐल्यूमिना की चूने से बंधुता के कारण कुछ ऊँचा ताप आवश्यक होता है। निस्ताप के समय नवजात सिलिका और ऐल्यूमिना, चूने के कुछ अंश के साथ संयुक्त होकर, कैलसियम सिलिकेट और कैलसियम ऐल्यूमिनेट बनाते हैं। ऐसे चूने को जलचूना कहते हैं, क्योंकि इसमें पानी के अंदर जमने का गुण होता है। [ज० कु०]

चेंगलपट्टु मद्रास राज्य का जिला है, जिसका क्षेत्रफल ३,०३१ वर्ग मील है। पूरे जिले की जनसंख्या २१, ९६,४११ (१९६१) है।

चेंगलपट्टु नगर में इस जिले का मुख्य कार्यालय है। इसकी जनसंख्या २५,९७७ (१९६१) है। यह नगर मद्रास के दक्षिण-पश्चिम में, मद्रास से ३५ मील की दूरी पर स्थित है। यहाँ रेलवे जंक्शन भी है। नगर के निकट मकान बनाने के पत्थर निकालने का काम होता है। समुद्र के निकट होने के कारण यहाँ पर कई स्वास्थ्यवर्धक आरोग्यनिवास स्थापित हैं। १८वीं शताब्दी में अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण यह महत्वपूर्ण स्थान था, जहाँ पर अंग्रेज तथा फ्रांसीसी दोनों ने अधिकार स्थापित करने का यत्न किया था। [उ० सिं०]

चेंबर, सर (जोजेफ) आस्टिन (१८६३–१९३७) १६ अक्टूबर, १८६३ ई० को बर्मिघम नामक स्थान में जोजेफ चेंबरलेन के ज्येष्ठ पुत्र के रूप में पैदा हुए। प्रारंभ में अपने पिता के निजी सचिव का कार्य करते रहे। १८९२ ई० में पूर्वी वोर्सेस्टरशायर (Worcestershire) से एम० पी० चुने गए। बाद में नौवहन विभाग में राजकीय प्रधान बने (१८९५–१९००)। फिर अर्थसचिव (१९००–१९०२) और तत्पश्चात् पोस्टमास्टर जनरल (१९०२) के पद पर भी कुछ दिनों तक कार्य करते रहे। १९०३ ई० में अपनी प्रखर प्रतिभा और योग्यता के बल पर अर्थमंत्री (Chancellor of the Exchequer) पद पर नियुक्त हुए। पिता के पदमुक्त होने पर उसी पद पर रहकर इन्होंने अपने पिता के तटकर (Tariff) सुधार संबंधी राजकोषीय नीति का पूर्ण समर्थन किया। वे इस पद पर १९०६ ई० तक कार्य करते रहे।

१९०६ ई० से लेकर प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान सर आस्टिन ग्रेट ब्रिटेन एवं आयरलैंड के बीच व्यवस्थापक एकता की विच्छिन्नता का विरोध करनेवाले दल के नेता के रूप में कार्य करते रहे। १९१५ ई० में संयुक्त सरकार की स्थापना पर इन्हें मंत्रिमंडल में भारत के राजकीय सचिव के रूप में नियुक्त किया गया, किंतु दो वर्ष बाद इन्होंने अपने ऊपर मेसोपोटामिया कमीशन द्वारा लगाए गए आरोपों के विरोध में, संमानार्थ पद त्याग दिया। बाद में उनकी निष्ठा और कार्यों का मूल्यांकन हुआ और १९१८ ई० में इन्हें ब्रिटेन के युद्ध मंत्रिमंडल का सदस्य बनाया गया। तत्पश्चात् आप पुनः अर्थमंत्री नियुक्त हुए और ब्रिटेन को आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ बनाने में तत्पर रहे। इसके बाद इनका राजनीतिक जीवन कुछ अव्यवस्थित रहा किंतु बाल्डविन के मंत्रिमंडल में आप विदेशमंत्री बने और यूरोप में शांतिस्थापना के निमित्त 'लीग ऑव् नेशंस' की स्थापना करने में रत रहे। ३० नवंबर, १९२५ ई० में इन्हें नोबेल पुरस्कार से संमानित किया गया। ये १६ मार्च, १९३७ ई० तक जीवित रहे। [कृ० ना० गु०]

चेंबरलेन, आर्थर नेविल (१८६९–१९४०) ब्रिटेन का राजनितिज्ञ और नेता। १८ मार्च, १८६९ ई० को जन्म। पिता जोजेफ चेंबरलेन थे। आरंभ में नेविल ने कुछ समय तक व्यापार किया। प्रथम विश्वयुद्ध के समय एम० पी० हुए, फिर अक्टूबर, १९२२ ई० तक पोस्टमास्टर रहे और उसके बाद स्वास्थ्यमंत्री बने। १९२४ ई० में इसी पर दोबारा चुने जाने पर आवास, शुद्ध खाद्य पदार्थों आदि के लिये सुधार करते रहे। १९३१ ई० में ब्रिटेन के प्रधान मंत्री बाल्डविन (Baldwin) के कार्यकाल में अर्थमंत्री (राजकोष महामात्य Chancellor of the Exchequer) थे। इसी बीच नात्सी जर्मनी के आक्रमणों के कारण इन्हें विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ा, जिसको हल करने के लिये इन्होंने १० सितंबर, १९३८ ई० को एक संमिलित ऐंग्लो जर्मन संधि की। इस संधि में इन्होंने जर्मनी की सभी माँगे स्वीकार कीं। फलतः परस्पर अनाक्रमण की घोषणा हुई। नेविल को इस संधि में पूर्ण विश्वास था, किंतु छह मास बाद ही जर्मनी का छद्मरूप प्रकट हो गया और उसने चेकोस्लोवाकिया को अपने अधिकार में कर लिया। इसके पूर्व कि नेविल रूस से मैत्री करके पोलैंड की रक्षा की घोषणा करते, जर्मनी ने रूस से अगस्त, १९३९ ई० में मित्रता करके पोलैंड पर आक्रमण कर दिया। वाध्य होकर इन्हें भी जर्मनी के विरुद्ध ३ सितंबर, १९३९ को युद्ध की घोषणा करनी पड़ी, किंतु नार्वे के पतन के पश्चात् इन्हें विंस्टन चर्चिल के पक्ष में अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा। ९ नवंबर, १९४० ई० में इस असफल शांतिस्थापक का देहावसान हो गया। (कृ० ना० गु०)

चेक एक अनिबंध आदेशपत्र जिसके द्वारा बैंक का जमाकर्ता अपने बैंक को आदेश देता है कि चेक में लिखित राशि का, चेक में लिखित व्यक्ति (आदाता) को अथवा उसके आदिष्ट किसी अन्य व्यक्ति को, चेक के प्रस्तुत करने पर, भुगतान कर दी जाय।

किसी बैंक पर चेक लिखने का अधिकार केवल उस व्यक्ति को होता है जिसका उस बैंक में लेखा हो और उस लेखे में पर्याप्त राशि जमा हो। ऐसे व्यक्ति को बैंक का 'जमाकर्ता ग्राहक' कहते हैं।

किसी भी बैंक पर चेक क्यों न लिखा जाय, उसका प्रारूप एवं विवरण एक जैसा ही होता है। बैंक अपने नाम के चेक अपनी ओर से मुद्रित कराकर अपने ग्राहकों को देते हैं ताकि पहिचान की सुविधा रहे और चेक लिखते समय लेखक से कोई सूचना छूट जाने की आशंका भी न रहे।

चेक लिखते समय लेखक को तिथि (दिनांक), राशि, आदाता का नाम तथा अपने हस्ताक्षर लिखने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है। यदि इनमें से कोई भी बात न लिखी गई अथवा अपूर्ण, अशुद्ध या अस्वच्छ लिखी गई तो बैंक उस चेक का भुगतान नहीं करता। ऐसी स्थिति को 'चेक का अनादरण' कहते हैं। लेखक को चेक पर अपना हस्ताक्षर ठीक उसी प्रकार करना आवश्यक होता है जिस प्रकार वह लेखा खोलते समय निदर्शन स्वरूप बैंक में प्रस्तुत करता है। यदि कभी लेखक चेक में किसी स्थान पर उलट फेर करे तो उसे प्रमाणस्वरूप उस स्थान पर भी अपना हस्ताक्षर कर देना चाहिए। लेखक के अधि-

रिक्त किसी अन्य व्यक्ति को चेक को भाषा में परिवर्तन करने का अधिकार नहीं होता।

चेक सामान्यतः दो प्रकार के होते हैं—(१) आदेश चेक, (२) वाहक चेक। आदेश चेक का भुगतान चेक में लिखित व्यक्ति (आदाता) को अथवा आदाता द्वारा आदिष्ट किसी अन्य व्यक्ति को ही मिल सकता है। पर वाहक चेक का भुगतान किसी भी व्यक्ति को, जो उसे ले जाकर बैंक में प्रस्तुत करे, मिल सकता है। बैंक चेक का भुगतान करते समय राशि पानेवाले व्यक्ति के हस्ताक्षर चेक पर कराकर "वसूल पाया" लिखा लेता है।

यदि लेखक अथवा कोई धारक चेक के मुख पर दो आड़ी समानांतर रेखाएँ खींच दे तो उस चेक को 'रेखांकित चेक' कहते हैं। रेखांकन का अभिप्राय यह होता है कि उस चेक का भुगतान, कोई भी व्यक्ति, चाहे वह आदाता ही क्यों न हो, बैंक के कार्यालय पर जाकर व्यक्तितः नकद राशि में प्राप्त नहीं कर सकता वरन् उस चेक का भुगतान किसी अन्य बैंक के माध्यम द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। अतः चेक का रेखांकन करने से उसमें कपट की संभावना कम हो जाती है। यदि कभी कोई व्यक्ति रेखांकित चेक को चुराकर अपने बैंक के माध्यम से उसकी राशि प्राप्त कर भी ले तो उसका ब्योरा उसके लेखे में से प्राप्त करके कपट का ज्ञान हो सकता है। इस सुरक्षा के कारण बाहर गाव भेजे जानेवाले चेकों का रेखांकन करना हितकर होता है। चेक का रेखांकन अनेक विधियों से किया जा सकता है, यथा चेक की पीठ पर लेखक तथा धारक अपने हस्ताक्षर करके किसी व्यक्ति के नाम उस चेक का बेचान कर सकते हैं। प्रत्येक धारक अपने ऋण के भुगतान मे चेक का बेचान कर सकता है और इस प्रकार संभव है कि चेक काफी समय तक बैंक में भुगतान के लिये प्रस्तुत नहीं किया जाय। पर स्मरण रहे कि चेक लिखित दिनांक से अगले छह मास में अवश्य बैंक में भुगतान के लिये प्रस्तुत हो जाना चाहिए अन्यथा बैंक 'बीतकालीन चेक' कहकर उसे अनाहृत कर देता है।

बैंक द्वारा चेक का अनादरण तब भी किया जाता है जब कि (१) ग्राहक (लेखक) ने उस चेक का भुगतान रोक दिया हो, (२) चेक में लिखित भाषा अपूर्ण, अशुद्ध एवं अप्रमाणित हो, (३) ग्राहक के लेखे में पर्याप्त राशि शेष न हो, (४) न्यायालय द्वारा बैंक को ग्राहक के लेखे में से भुगतान न करने का आदेश मिल गया हो, (५) लेखक पागल या नष्टनिधि हो गया हो अथवा उसकी मृत्यु हो गई हो और उसकी सूचना बैंक को प्राप्त हो चुकी हो, (६) चेक उत्तरतिथीय हो (७) चेक फट गया हो या किसी प्रकार विकृत हो गया हो।

[गि० प्र० गु०]

चेक भाषा और साहित्य चेकोस्लोवाकिया की दो राष्ट्रीय भाषाएँ हैं : चेक और स्लोवाक। ये पश्चिमी स्लावोनिक समुदाय की हैं और एक दूसरे से अत्यंत मिलती जुलती हैं। चेक भाषा बोहीमिया और मोराविया प्रांतों में और स्लोवाक भाषा स्लोवाकिया नामक प्रांत में बोली जाती है।

चेकोस्लोवाकिया के प्रथम लिखित साहित्यिक उदाहरण प्राचीन स्लाव भाषा में (९-११वीं शताब्दी में) लिखे गए थे, जिनमें से विशेषकर गीत, लोककथाएँ और पौराणिक गाथाएँ आज तक सुरक्षित हैं। सन् ११२५ में सबसे पुरातन ऐतिहासिक कृति 'कोस्मस घटनावली' की रचना हुई थी, उसके बाद शांति के अनेक गीत तथा भजन चेक साहित्य के आधार बन गए जिनमें से एक 'प्रभु, हम पर दया करें' नामक भजन सबसे प्रसिद्ध है। एक अन्य धार्मिक गीत का नाम है 'संत वात्स्लव भजन'। प्राचीन स्लाव भाषा के अतिरिक्त अनेक लेख लैटिन में भी चेक लेखकों द्वारा लिखे गए थे।

१३-१४वीं शताब्दियों में चेक भाषा, जो प्राहा नामक प्रदेश की उपभाषा थी, साहित्यिक भाषा के पद पर आसीन हुई और उस समय से वह अविच्छिन्न रूप से साहित्यिक कृतियों में प्रयुक्त होती रही। साथ ही साथ कुछ पुस्तकें लैटिन तथा जर्मन भाषाओं में भी लिखी गई। उस काल के चेक साहित्य में विभिन्न गाथाएँ, महाकाव्य, गद्य, निबंध और विशेषकर यन हुस (धार्मिक और सामाजिक सुधारक) के पवित्र संगीत और धार्मिक उपदेश प्राप्त होते हैं। यन हुस के अनुसार हुसित आंदोलन उत्पन्न हुआ और उसका १५-१६वीं शताब्दी में चेक साहित्य पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा। चेक पुस्तकों की छपाई का प्रारंभ सन् १४६८ में पहली बार हुआ और इस आविष्कार से चेक और लैटिन पुस्तकों के प्रकाशन में अधिक प्रगति हुई।

१७वीं शताब्दी में चेक राजा लोग पराजित हो गए थे (सन् १६२०) और इसके फलस्वरूप बलपूर्वक जर्मनीकरण हुआ जो दो शताब्दियों (सन् १९१८) तक चेक भाषा को सार्वजनिक जीवन तथा साहित्य से निकालने का प्रयत्न करता रहा। यह सब होते हुए भी चेक भाषा जीवित रही।

उस काल का एक प्रकांड विद्वान् यन अमोस कोमेन्स्की (१५९२-१६७०) था जो आधुनिक शिक्षाशास्त्र का संस्थापक है। उसकी अनेक कृतियों में विविध शब्दकोश और विश्वविद्यालय विषयक ग्रंथ अंतर्भूत हैं, जैसे 'यनुन लिग्वारुम' अर्थात् भाषाओं का फाटक और 'ओबिस पिक्तुस' अर्थात् 'चित्रों में संसार', 'संसार की भूलभुलैया' और 'हृदय का आनंदधाम'। इन पुस्तकों के अतिरिक्त कोमेन्स्की के दार्शनिक और सार्ववैज्ञानिक लेख तथा शिक्षाशास्त्र पर लिखे ग्रंथ (ओपेरा दिदक्तिका ओम्नीया, अम्स्तेर्दम, १६५७) अनेक भाषाओं में अनूदित होकर प्रकाशित हुए हैं। कोमेन्स्की 'राष्ट्रों के शिक्षक' नामक पदवी से विभूषित थे और युरोपीय शैक्षिक प्रणाली के मार्गदर्शक कहलाते हैं।

राष्ट्रीय जीवन का पुनरुद्धार राष्ट्रीय जागरण के फलस्वरूप १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रारंभ हुआ। १९वीं शताब्दी के प्रारंभ में राष्ट्रीय जाग्रति का एक नया उभार हुआ जिसने चेक भाषा के प्रचार और उसके शुद्धीकरण में सहायता पहुँचाई। उस समय के प्रसिद्ध भाषाविज्ञान-वेत्ता योसेफ़ दोब्रोव्स्की (१७५३-१८२९) थे जिन्होंने चेक इतिहास, स्लाव भाषाशास्त्र तथा चेक भाषा के अनुसंधान कार्य की नींव डाली। प्रसिद्ध वैज्ञानिकों में योसेफ यंगमन (१७७३-१८४७) का उल्लेख किया जा सकता है। प्रसिद्ध इतिहासकार फ्रांतिशेक पलत्स्की (१७९८-१८७६) ने विकसित चेक राष्ट्र का इतिहास लिखा।

१९वीं शताब्दी के प्रमुख साहित्यकारों में निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं :

करेल हव्लीचेक (१८२१-१८५६) पत्रकार, राजनीतिज्ञ और व्यंग्य कवि थे। चेक नाटक साहित्य और अभिनय कला का आरंभ योसेफ कयेतम तिल (१८०८-१८५६) से होता है। महान् चेक कवि करेल हिनेक माखा (१८१०-१८३६) भी इस काल के तरुण रचयिता थे। उनकी विख्यात कृति रोमांटिक कविता 'मई' है। माखा अंग्रेजी तथा रूसी पुश्किन आदि कवियों से कला तथा भाषा में पूर्णतया प्रभावित

हैं। अन्य कवि करेल यरोमीर एर्बोन (१८११-१८७०) फुटकर लोकगीतों तथा गाथाओं के संग्रहकर्ता थे। इस पीढ़ी के प्रमुख कवि यन नेरुद (१८३४-१८९१) थे, जिनकी कविताएँ तथा आलोचनात्मक निबंध आज तक पढ़े जाते हैं और मान्य हैं। विख्यात लेखिका श्रीमती बोजेना नेम्त्सोवा (१८२०-१८६२) की सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक 'दादी' है, जो चेक साहित्य की सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है। इस उपन्यास की केंद्रीय पात्री दादी सभी सद्गुणों की मूर्त रूप है जो बुद्धिमत्ता और देशभक्ति से ओतप्रोत है।

१९वीं शती के उत्तरार्ध के प्रतिनिधि लेखक निम्नलिखित हैं: यरोस्लाव व्रख्लित्स्की (१८५३-१९१२) के विशाल कृतित्व ने आधुनिक चेक कविता के लिये नवीन मार्ग खोले। उनकी अनेक कविताएँ सार्वभौम मनुष्यता के प्रति सहानुभूति अभिव्यक्त करती हैं। अत्यंत सफल कवि के रूप में व्रख्लित्स्की छंदों में सुधार तथा पूर्णता के लिये प्रयत्नशील रहे। अन्य कवि स्वतोप्लुक चेख (१८४६-१९०८) की रचनाएँ प्रबल देशभक्तिपूर्ण भावनाओं और सामाजिक तत्वों से ओतप्रोत हैं। कवि योसेफ वात्स्लाव स्लादेक (१८४५-१९१२) की काव्यभाषा को अद्भुत स्वच्छता प्राप्त हुई है। उसकी बाल कविताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। लेखक और कवि युलियस जेयेर (१८४१-१९०१) ने अपने महाकाव्यों में पुरातन चेक इतिहास और विख्यात घटनाओं का बहुधा उल्लेख किया। उसने अपनी रचनाओं के प्रसंग विशेषतया प्राच्य देशों की सभ्यता से ग्रहण किए हैं। अन्य चेक कवि जो पूर्वी चेतना और भावों से अधिक से अधिक प्रभावित था, ओतकार ब्रेजिना (१८६७-१९२९) था। काव्यमय अभिव्यक्ति का धनी यह चेक कवि रहस्यात्मक काव्यों का प्रधान तथा प्रायः एकमात्र कवि है।

उन मुख्य लेखकों में, जिन्होंने राष्ट्रीय इतिहास के प्रसंगों पर अपनी रचनाओं का निर्माण किया, अलोइस यिरासेक (१८५१-१९३०) सर्वोपरि है। उनके ऐतिहासिक उपन्यास हुसित युग और आंदोलन विषयक हैं (जैसे 'संसार हमारे विरुद्ध', 'काले युग के दौरान में', आदि)।

२०वीं शताब्दी के प्रधान साहित्यकार निम्नलिखित है: पेत्र बेजरुच (१८६७-१९५८) जो यथार्थवादी हैं। वे खनिकों और श्रमिकों के कवि थे। अन्य समाजवादी प्रमुख कवि स० कोस्त्का नोइमन (१८७५-१९४७) थे जिनके प्रौढ़ काव्यों में क्रांतिकारी चेतना और शुद्ध भौतिकवादी दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से झलकता है। सर्वाधिक प्रतिभावान् समाजवादी कवि, जो अत्यंत तरुण अवस्था में दिवंगत हो गए, यिरी वोल्केर (१९००-१९२४) थे। योसफ होरा (१८९१-१९४५) चेक छंदों के स्वामी थे। उनका मातृभूमि के प्रति गहरा स्नेह उनकी अनेक सफल कविताओं में मूर्त हुआ है। कवि करेल तोमन (१८७७-१९४६) ने अद्भुत स्वच्छता तथा कोमल अभिव्यक्ति में वास्तविक नैपुण्य प्राप्त किया था। सन् १९२८ में स्वर्गवासी होनेवाले विख्यात कवि वीतेस्लाव नेज्वल आधुनिक चेक कवियों में प्रमुख थे। उनकी उत्तर युद्धकालीन कविता की पराकाष्ठा 'शांतिगान' है जिसमें अंतर्राष्ट्रीय शांति की शक्ति में उन्होंने अपना अटूट विश्वास अभिव्यक्त किया है।

प्रधान जीवन कवियों में निस्संदेह योसेफ सैफेर्त और फ्रांतिशेक ह्रूबीन सामयिक चेक साहित्य के प्रतिनिधि कवि हैं।

प्रथम चेक लेखक, जिन्होंने पहला समाजवादी उपन्यास लिखा है, मारिए ओल्ब्राख्त (१८८२-१९५२) थे। उपन्यास का नाम 'श्रमजीवी स्त्री अन्ना' है। समाजवादी यथार्थवाद की लेखिकाएँ [illegible] (१८६३-१९५८) और मारिए मयेरोवा (जन्म १८८२)।

चेक साहित्य के यशस्वी व्यंग्यलेखक यरोस्लाव हाशेक [illegible] १९२३) हास्यपूर्ण चेक कहानियों और विशेषकर संसार भर [illegible] हास्य उपन्यास 'भला सैनिक श्वेक' के प्रणेता हैं।

२०वीं शताब्दी के दो प्रमुख और सबसे महत्वपूर्ण [illegible] एवं कहानीकार हैं: व्लादिस्लाव वंचुरा (१८९१-१९४२) जिसके उपन्यास 'रोठीवाला यह महोल', 'मकैता लजारोवा' काव्य-गुण संपन्न भाषा में लिखे गए हैं। वंचुरा अद्भुत कहानी सुनाने की कला के लिये प्रख्यात हैं। उनकी असमाप्त कृति 'चेक राष्ट्र के इतिहास के चित्र' की भाषा उच्चस्तरीय काव्यगुणों से संपन्न है।

चेक लेखकों में सबसे अधिक गौरवपूर्ण स्थान करेल चपेक (१८९०-१९३८) को प्राप्त है। उनकी यात्रा विषयक और विभिन्न प्रकार के निबंध हमें सहज में परम कलात्मक रूप से इस बात का प्रमाण देते हैं, कि उनके प्रणेता की प्रतिभा और जनजीवन के प्रति कुशल निरीक्षण-शक्ति अद्भुत, अनोखी और अत्यंत आकर्षक है। चपेक का मनुष्यता-पूर्ण दृष्टिकोण, विशेषकर रूर (Rur) और 'क्रकतित' नामक पुस्तकों में विद्यमान है। उनका 'माँ' नामक नाटक प्रायः समस्त भाषाओं में (बंगला और मराठी में भी) अनूदित हो चुका है। की रचनाओं के अनेक भाषाओं में अनुवाद इस बात के [illegible] हैं कि लेखक का मानवता में विश्वास वास्तविक, गंभीर और [illegible] तथा यह संसार के सभी राष्ट्रों एवं जातियों को अधिक [illegible] तथा जीवनदायक मालूम हुआ है।

सं० ग्रं०—

भाषा, चेक भाषा के व्याकरण

संग्रह — गेबाउर, यरोमीर : चेक भाषा के सात अध्याय, प्राहा, १९५५; गेबाउर, यन : चेक भाषा का ऐतिहासिक व्याकरण, १-४ भाग प्राग १९२९; फ्लाशिंक : चेकोस्लोवाक ऐतिहासिक व्याकरण : साहित्यिक चेक भाषा का व्याकरण, भाग २: प्राग १९३५; ह्रावानेक, बोहुस्लाव-येद्लिचका, अलोइस : चेक व्याकरण प्राग १९६०; ह्रावानेक बोहुस्लाव : चेक उपभाषाएँ, प्राहा। १९३४; स्मलिच्का, व्लादिमीर : चेक भाषा का रूप; चेक शुद्ध विन्यास के नियम।

चेक शब्दकोष

शिमेक, फ्रांतिशेक : पुरानी चेक भाषा का शब्दकोश प्राहा १९४७।

पत्रिकाएँ

हमारी भाषा (Nase rec) शब्द और ललित साहित्य (Slovo a sloveshosk) चेक भाषा और साहित्य (cescy Jazyt a literatura)

चेक साहित्य का इतिहास

नोवाक, यरोस्लाव : चेक साहित्य का इतिहास प्राग १९५१; मुकरोव्स्की, यन; चेक छंदशास्त्र का अध्ययन प्राग १९४० नेज्वल, वीतेस्लाव : आधुनिक कविता प्राग १९४८; कुबीक, युलियस : साहित्य के प्रबंध वास्लाविक, बद्रिखः जन ललित साहित्य ह्रुबानेक फ्रांतिशेकः आधुनिक चेक साहित्य प्राग १९६० लेयुद्रली, श्रेनेकः साहित्य के बारे में प्राग १९५३; वात्स्लावेक, बद्रिख: २० वीं शताब्दी का चेक साहित्य प्राहा १९३९। [ओ० स्वे०]

चेकोस्लोवाकिया (Czechoslovakia) स्थिति : ४९° ०' उ० अ० तथा १७° ०' पू० दे०। यूरोप महादेश के मध्यवर्ती देश चेकोस्लोवाकिया का निर्माण सन् १९१८ ई० में प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर, आस्ट्रिया-

हंगरी साम्राज्य के विघटन के परिणामस्वरूप हुआ था। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् इसका रूथेन (Ruthane) क्षेत्र, जो लगभग १३,००० वर्ग किमी० है, १९४५ की संधि के अनुसार रूस के अधिकार में चला गया। इसके अतिरिक्त देश की सीमाओं में और कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

इसका क्षेत्रफल १,२७,८६० वर्ग किमी० है। इसका विस्तार पश्चिम में बावेरिया से लेकर पूर्व में यूक्रेन तक उत्तर-दक्षिण की अपेक्षा बहुत ही अधिक है। सन् १९४९ में प्रशासन क्षेत्रों का पुनर्गठन किया गया। फलतः स्लोवाकिया, मोरेविया, साइलीजा और बोहीमिया के तत्कालीन प्रांतों के स्थान पर १९ प्रशासनिक क्षेत्रों का निर्माण हुआ।

प्राकृतिक दशा — चेकोस्लोवाकिया के तीन स्पष्ट भूभाग हैं : १. पश्चिम में बोहीमिया का पठारी भाग है, जो चारों ओर पर्वतश्रेणियों से घिरा है। यद्यपि ये श्रेणियाँ कहीं कहीं ५,००० फुट से भी अधिक ऊँची हैं, तथापि अधिकांश भाग १,५०० फुट से नीचा है। दक्षिण पश्चिम में बोहीमियन फॉरेस्ट पर्वत है, जिसके शिखर ४,५०० फुट से अधिक ऊँचे हैं। उत्तर-पश्चिम में ओर (Ore) पर्वत है, जिसे एर्ट्स गेबिर्गे (Erz Gebirge) भी कहते हैं। यह मध्यवर्ती पठार की ओर अधिक ढालू है और जर्मनी की ओर कम। एल्बे नदी इस पर्वतावृत पठारीय बेसिन का संपूर्ण जल अपनी सहायक नदियों से लेकर उत्तर पश्चिम दिशा में जर्मनी में प्रवेश करती है। उत्तर-पूर्व में सूडेटीज (Sudetes) पर्वतश्रेणियाँ हैं, जो बोहीमिया को पोलैंड से अलग करती हैं। इनकी उच्चतम शृंखला जाएंट (Giant) पर्वत है, जिसे रीज़ेनगेबिर्गे (Riesengebirge) भी कहते हैं, कहीं कहीं ५,८०० फुट से अधिक ऊँची हैं। मोरेवियन पर्वत, जो दक्षिण-पूर्व में स्थित है, कोई विशेष ऊँचा नहीं है। इसका उच्चतम शिखर केवल २,७२९ फुट ऊँचा है।

२. बोहीमिया के पूर्व देश के मध्यवर्ती भाग में मोरेविया का मैदान है, जो विशेष रूप से डैन्यूब नदी की सहायक मारावा का प्रवाहक्षेत्र है। यह दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व की ओर फैला हुआ है। इसके मध्यवर्ती भाग से ऊँचाई पश्चिम में बोहीमिया के पर्वतों की ओर धीरे धीरे बढ़ती है, परंतु पूर्व के कार्पेथियन पर्वतों की ओर तीव्र बढ़ाव है। उत्तर में सूडेटीज एवं कार्पेथियन पर्वत के मध्य मोरेवियन द्वार है, जो कुछ ही मील चौड़ा है। इससे होकर दक्षिण के डैन्यूब के मैदान से उत्तरी साइलीजा मैदान में जाने का महत्वपूर्ण मार्ग है।

३. स्लोवाकिया पर्वतीय क्षेत्र — यह मुख्यतः कार्पेथियन शृंखलाओं का पश्चिमी भाग है। इसमें पश्चिमी बेस्कड्ज (Beskids) और टाट्रा पर्वत (Tatra mt.) की वनाच्छादित श्रेणियाँ संमिलित हैं। हाई टाट्रा अधिक ऊँचा है और उच्चतम शिखर ८,७४३ फुट है। इसके दक्षिण निम्न टाट्रा पर्वत हैं, तत्पश्चात् स्लोवाकियन पर्वत हैं। ये श्रेणियाँ विशेष रूप से पश्चिम से पूर्व को फैली हैं और इनके मध्य चौड़ी घाटियाँ हैं। दक्षिण क्षेत्र में ढाल विशेष रूप से दक्षिण की ओर है, जहाँ डैन्यूब नदी सुदूर तक देश की सीमा निर्धारित करती है।

आर्थिक अवस्था — चेकोस्लोवाकिया धनी राष्ट्र है और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अधिकांश वस्तुएँ देश में ही उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त चीनी, छोटे मोटे कल पुर्जे, इंजन, विद्युत् टरबाइन के सामान और अन्य विविध प्रकार की छोटी मोटी वस्तुएँ, जैसे पेंसिल आदि, निर्यात भी करता है।

देश का सबसे उन्नतिशील भाग बोहीमिया है, जो कृषि और उद्योग दोनों की दृष्टि से बढ़ा हुआ है। एल्बे नदी की घाटी, विशेषकर प्राग (Prague) के उत्तर-पूर्व का क्षेत्र, जो लिटॉमेरजित्से (Litomerice) नगर के चारों ओर फैला हुआ है, अधिक उपजाऊ है। वल्टावा

(Vltava) नदी की घाटी दूसरा महत्वपूर्ण उपजाऊ क्षेत्र है। बोहीमिया के इस मध्यवर्ती भाग की जलवायु ग्रीष्मकाल में साधारण गरम और शीतकाल में अधिक ठंढी होती है। प्राग में लगभग १९" वर्षा होती है, जो गेहूं, तंबाकू, चुकंदर आदि के अनुकूल है। चुकंदर बड़ी मात्रा में उपजाई जाती है।

पिल्ज़ेन (Pilzen) और प्राग के समीपवर्ती क्लैडनो (Kladno) कोयला क्षेत्र से लगभग ४० लाख टन कोयला प्रति वर्ष निकाला जाता है। प्राग के दक्षिण-पश्चिम की सिल्यूरियन चट्टानों में सोना, सीसा, चाँदी और लोहे के खनिज मिलते हैं। यहाँ के खनिज पदार्थों और साइलीजा के कोयला, अथवा स्वेडन के लोहे के आयात पर आधारित धातु उद्योग, पिल्ज़ेन से प्राग तक उन्नत कर गए हैं। लोहे की भट्ठी और इस्पात के कारखाने, तामचीनी (enamel) की वस्तुएँ, लोहे की चादरें और विशेष रूप से स्कोडा (Skoda) के यंत्र उद्योग, रेल के इंजिन तथा पटरियाँ, बिजली के यंत्र, चीनी और काच के बरतन आदि उद्योग धंधों ने इस क्षेत्र को वृहत् औद्योगिक केंद्र बना दिया है। पर्वतीय क्षेत्र के टेप्लित्से (Teplice) नगर में साधारण काच और मणिभ काच (crystal glass) बनाने के प्रमुख कारखाने हैं तथा कॉमटॉफ (Chomutov) नगर में लोहे और इस्पात के कारखाने हैं। उस्ती (Usti) में काच, कपड़ा और यंत्र बनाने के उद्योग हैं। सुडेटीज पर्वतीय क्षेत्र के लिबेरेट्स (Liberec) नगर में सूती कपड़ा उद्योग, ट्रुटनेव (Trutnev) में लिनेन, और येब्लोनेक (Yablonec) में रंगीन काच और मणिभ काच बनाने के विश्वप्रसिद्ध कारखाने हैं। ब्युडेजोविस (Budejovice) में मृत्तिकाशिल्प (ceramic) और पेंसिल बनाने के उद्योग हैं।

मोरेविया का मैदान बहुत ही उपजाऊ है और कृषि के लिये प्रसिद्ध है। यहाँ की मुख्य उपज चुकंदर, जौ, अंगूर, गेहूँ, मक्का, राई तथा चारा है और मवेशी तथा सुअर भी पाले जाते हैं। यहाँ के उत्तरी सीमावर्ती कोयला क्षेत्र में मॉराफस्का ऑस्त्रावा (Moravska Ostrava) और विट्कोविस (Vitkovice) औद्योगिक नगर है, जहाँ इस्पात की भट्ठियाँ तथा कारखाने उन्नति कर गए हैं। यहाँ भारी उद्योग धंधे और रसायन उद्योग दोनों ही मुख्य हैं। इस मैदान का सबसे बड़ा नगर बर्नो (Brno) है, जो देश का कपड़ा बनाने का वृहत्तम केंद्र है। इसके

अतिरिक्त यहाँ लोहे की वस्तुएँ, आटा पीसने, शराब बनाने तथा अन्य शस्त्र तैयार करने के उद्योग विकसित हो गए हैं।

स्लोवाकिया पर्वतीय भाग होने के अतिरिक्त बहुत समय तक हंगरी के अधीन रहा और यही कारण है कि यहाँ पर न तो कृषि ही उन्नति पर है और न उद्योगों का ही कोई विशेष महत्व है। यह देश का सबसे पिछड़ा हुआ भाग है। ब्रेटिस्लाव (Bratislava) अथवा प्रेस्बर्ग डैन्यूब नदी पर मुख्य बंदरगाह है।

चेकोस्लोवाकिया आर्थिक दृष्टि से संतुलित देश है। कार्यरत जनसंख्या का २८% कृषि मे तथा ३७% उद्योगों में लगा है। यहाँ की जनसंख्या १,३७,४१,५२६ (१९६१) थी, जिनमें लगभग ९६,२८,०६२ चेक और ४१,१३,४३७ स्लाव थे। प्राग यहाँ की राजधानी है जिसकी जनसंख्या ९,९८,४९३ (१९६१) थी। [ग्रा० स्व० जौ०]

चेक और स्लोवाकी यहाँ की दो मुख्य भाषाएँ है। वैसे मगयार, पोलिश, (polish) रुथेनियाई (Ruthenian), यीदी (yiddish) और जर्मन अल्पसंख्यकों की भाषाएँ हैं। लगभग तीन चौथाई निवासी रोमन कैथोलिक संप्रदाय के हैं। शेष प्रोटेस्टैंट, यहूदी और चेकोस्लोवाकिया चर्च के है।

इतिहास — ५वीं शताब्दी के आसपास स्लावी (Slavic) जातियाँ विस्तुला घाटी से चलकर चेकोस्लोवाकिया की धरती पर बसीं। ७वीं शताब्दी में वहाँ राजनीतिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। १०वीं शताब्दी में मगयार और जर्मन जातियों के आक्रमणों ने चेकोस्लोवाकिया का इतिहास ही बदल दिया। इसी समय ये लोग स्लोवाक तथा बोहेमिया-मोराविया दो भागों में बँट गए। १४वीं शताब्दी में लक्जमबर्ग में बोहेमियन राज्य स्थापित हुआ, और प्रेग राजधानी बना। १५वीं, १६वीं और १७वीं शताब्दियों में हुसाई आंदोलन चला जो राजनीतिक धार्मिक आंदोलन था।

१५२६ में बोहेमिया में हब्सबर्ग राज्य की स्थापना हुई। लेकिन फ्रांसीसी क्रांति ने इन नवनिर्मित प्रदेशों में जागरण उत्पन्न कर दिया था, यही जागरण आगे चलकर चेकोस्लोवाकिया के निर्माण में सहायक बना।

स्लावी (Slavic) लगभग हजार वर्ष तक हंगरी के शासन में रहे। १९वीं शताब्दी में उनके साहित्यिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों में जागृति हुई। इस जागरण ने उनमें राष्ट्रीयता की प्रखर चेतना भर दी।

१९१८ में हब्सबर्ग राज्य की समाप्ति के साथ चेक, स्लावी, जर्मन रुथेनियाई, हंगेरियाई और पोली (poles) जातियों ने मिलकर चेकोस्लोवाकिया का निर्माण किया। गणराज्य का जो नया संविधान बना, उसमें नागरिकों के बीच जाति, धर्म, राजनीतिक संबंधों आदि के आधार पर कोई भेद नहीं रखा गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय विएना संमेलन के अनुसार चेकोस्लोवाकिया की बहुत सी भूमि हंगरी में मिल गई। १९३९ में हिटलर ने बोहेमिया और मोराविया को अपने अधिकार में ले लिया। १९४५ तक ये दोनों प्रदेश जर्मनी द्वारा शासित रहे। डा० जोसेफ तीसो नामक कैथोलिक नेता ने स्लोवाकिया प्रदेश को स्वतंत्र राज्य बनाने के लिये हिटलर से समझौता किया। १९४५ तक स्लोवाक प्रदेश हिटलर १९३९ से हंगरी के अधिकार में था। विश्वयुद्ध समाप्त होने के बाद यह रूस का भाग हो गया।

राष्ट्रपति एडुअर्ड बेने अक्टूबर, १९३८ में पद से त्यागपत्र देकर ब्रिटेन चला गया जहाँ उसने निर्वासित चेकोस्लोवाक सरकार [चेकोस्लोवाक गवर्नमेंट इन एक्जाइल] नामक संघ गठित किया। बेने ने १९४३ में रूस से संधि की। मई, १९४५ में जब चेकोस्लोवाकिया स्वतंत्र हुआ इंग्लैंड की सरकार ने वहाँ के साम्यवादी नेताओं के साथ कोसिक समझौता (Kosic Agreement) किया। फरवरी, १९४८ में साम्यवादियों ने रक्तहीन क्रांति द्वारा शासन पर अधिकार कर लिया। उसी वर्ष गणराज्य का संविधान, चेकोस्लोवाकिया में लागू हुआ। वर्तमान समाजवादी संविधान १९६० में निर्मित हुआ।

१९४८ के पश्चात् राष्ट्र ने उद्योगीकरण की दिशा में तीव्रता से प्रगति की है। व्यापार के राष्ट्रीकरण और सामूहिक कृषियोजना आदि में सरकार ने व्यक्तिगत उद्योगों को समाप्त कर दिया है।

चेखव, अंतोन पाव्लोविच (२९. १. १८६०–१५. ७. १९०४) सुप्रसिद्ध रूसी लेखक। इनका जन्म तागनरोग नगर में एक दूकानदार के परिवार में हुआ। १८६८ से १८७९ तक चेखव ने हाई स्कूल की शिक्षा ली। १८७९ से १८८४ तक चेखव ने मास्को के मेडिकल कालेज में शिक्षा पूरी की और डाक्टरी करने लगे। १८८० में चेखव ने अपनी पहली कहानी प्रकाशित की और १८८४ में इनका प्रथम कहानीसंग्रह निकला। १८८६ में 'रंगबिरंगी कहानियाँ' नामक संग्रह प्रकाशित हुआ और १८८७ में पहला नाटक 'इवानव'। १८९० में चेखव ने सखालिन द्वीप की यात्रा की जहाँ इन्होंने देशनिर्वासित लोगों की करुणमय जीवनी का अध्ययन किया। इस यात्रा के फलस्वरूप 'सखालिन द्वीप' नामक पुस्तक लिखी। १८९२ से १८९९ तक चेखव मास्को के निकटवर्ती ग्राम 'मेलिखोवो' में रहे थे। इन वर्षों में अकाल के समय चेखव ने किसानों की सहायता का आयोजन किया और हैजे के प्रकोप के समय सक्रिय रूप से डाक्टरी करते रहे। १८९९ में चेखव बीमार पड़े जिससे वे क्रिम (क्राइमिया) के याल्ता नगर में बस गए। वहाँ चेखव का गोर्की से परिचय हुआ।

१९०२ में चेखव को 'संमानित अकदमीशियन' की उपाधि मिली; लेकिन जब १९०२ में रूसी जार निकोलय द्वितीय ने गोर्की को इसी प्रकार की उपाधि देने के फैसले को रद्द कर दिया तब चेखव ने अपना विरोध प्रकट करने के लिये अपनी इस उच्च उपाधि का परित्याग कर दिया। १९०१ में चेखव ने निप्पेर नामक अभिनेत्री से विवाह किया। इनकी पत्नी उस प्रगतिशील थियेटर की अभिनेत्री थी जहाँ चेखव के अनेक नाटक स्टेज किए गए थे। १९०४ में चेखव के नाटक 'चेरी के पेड़ों का बाग' का प्रथम बार अभिनय हुआ। १९०४ के जून में बीमारी (तपेदिक) जोर से फैल जाने के कारण चेखव इलाज के लिये जर्मनी गए। वहाँ बादेनवेलर नगर में इनका स्वर्गवास हुआ। चेखव की समाधि मास्को में है।

चेखव ने सैकड़ों कहानियाँ लिखीं। इनमें सामाजिक कुरीतियों का व्यंगात्मक चित्रण किया गया है। अपने लघु उपन्यासों 'मुख' (१८८७), 'बाँसुरी' (१८८७) और 'स्टेप' (१८८८) में मातृभूमि और जनता के लिये सुख के विषय मुख्य हैं। 'तीन बहनें' (१९००) नाटक में सामाजिक परिवर्तनों की आवश्यकता का

कालीन रूस के गाँवों की दुःखप्रद कहानी प्रस्तुत की गई थी। अपने सभी नाटकों में चेखव ने साधारण लोगों की मामूली जिंदगी का सजीव वर्णन किया है। चेखव का प्रभाव अनेक रूसी लेखकों, बुनिन, कुप्रिन, गोर्की आदि पर पड़ा। यूरोप, एशिया और अमरीका के लेखक भी चेखव से प्रभावित हुए। भारतीय लेखक चेखव की कृतियाँ उच्च कोटि की समझते हैं। प्रेमचंद के मत से 'चेखव संसार के सर्वश्रेष्ठ कहानी लेखक' है।

आजकल भी चेखव के सभी नाटकों का सोवियत संघ के अनेक थियेटरों में प्रदर्शन किया जाता है। चेखव की कहानियों के आधार पर अनेक चलचित्र बनाए गए हैं, जैसे 'कुत्तेवाली महिला', 'भालू', 'दूल्हन', 'स्वीडिश दियासलाई' आदि। सोवियत संघ में १९१८ से १९५६ तक चेखव की कृतियाँ ७१ भाषाओं में प्रकाशित हुई थीं। इन सभी पुस्तकों की संख्या ४६ लाख है। चेखव के निवासस्थानों पर मास्को, याल्ता, तागनरोग और मेलिखोव में चेखव म्यूजियम खुले हैं। भारत में चेखव की अनेक कहानियाँ और नाटक बहुत सी भाषाओं में प्रकाशित हुई हैं।

सं० ग्रं० — मेलिखोव : चेखव का तपोवन; बनारसीदास चतुर्वेदी : 'रूस की साहित्यिक यात्रा', दिल्ली, १९६२। [प्यो० अ० वो०]

चेचक (Small pox, शीतला, बड़ी माता) यह रोग अत्यंत प्राचीन है। आयुर्वेद के ग्रंथों में इसका वर्णन मिलता है। मिस्र में १,२०० वर्ष ईसा पूर्व की एक ममी (mummy) पाई गई थी, जिसकी त्वचा पर चेचक के समान विस्फोट उपस्थित थे। विद्वानों ने उसको चेचक माना। चीन में भी ईसा के कई शताब्दी पूर्व इस रोग का वर्णन पाया जाता है। छठी शताब्दी में यह रोग यूरोप में पहुँचा और १६वीं शताब्दी में स्पेन निवासियों द्वारा अमरीका में पहुँचाया गया। सन् १७१८ में यूरोप में लेडी मेरी वोर्टले मौंटाग्यू ने पहली बार इसकी सुई (inoculation) प्रचलित की और सन् १७९६ में जेनर ने इसके टीके का आविष्कार किया।

यह रोग अत्यंत संक्रामक है। जब तब रोग की महामारी फैला करती है। कोई भी जाति और आयु इससे नहीं बची है। टीके के आविष्कार से पूर्व इस रोग से बहुत अधिक मृत्यु होती थी, किंतु टीके को कई देशों ने कड़ाई के साथ अनिवार्य करके अब रोग की रोकथाम बहुत कुछ कर ली है। यूरोप के कुछ देशों में यह मिट सा गया है और कुछ देश, जैसे इंग्लैंड, अमरीका और रूस, में बहुत कम हो गया है। भारत में भी टीके के प्रचार के कारण चेचक से होनेवाली मृत्यु संख्या ११६.२ प्रति लाख से घटकर ४० हो गई है।

कारण — रोग का कारण एक वाइरस होता है, जो रोगी के नासिकास्राव और थूक तथा त्वचा से पृथक् होनेवाले खुरंडों में रहता है और बिंदुसंक्रमण द्वारा फैलता है। खुरंड भी चूर्णित होकर वस्त्रों या अन्य वस्तुओं द्वारा रोग फैलने का कारण होते हैं। यह वाइरस भी दो प्रकार का होता है। एक उग्र (major), जो उग्र रोग उत्पन्न करता है, दूसरा मृदु (minor), जिससे मृदुरूप का रोग होता है। गायों में रोग (Cow-pox) उत्पन्न करनेवाला वाइरस प्रायः मनुष्य को आक्रांत नहीं करता और न वह एक व्यक्ति से दूसरे में पहुँचता है।

लक्षण — रोग का उद्भवकाल दो सप्ताह का कहा जाता है, किंतु इससे कम का भी हो सकता है। प्रारंभिक लक्षण जी मिचलाना, सिर दर्द, पीठ में तथा विशेषकर त्रिक प्रांत में पीड़ा, शरीर में ऐंठन, ज्वर, गलशोथ, खाँसी, गला बैठ जाना तथा नाक बहना होते हैं, जो दो तीन दिन तक रहते हैं। तदनंतर चर्म पर पित्ती के समान चकत्ते निकल आते हैं। मुँह में, गले में तथा स्वरयंत्र तक पर छोटी छोटी स्फोटिकाएँ (vesicles) बन जाती हैं, जो आगे चलकर व्रणों में परिणत हो जाती है।

तीसरे या चौथे, और कभी कभी दूसरे ही दिन चेचक का विशेष झलका (rash) दिखाई देता है। इसकी स्थिति और प्रकट होने का क्रम रोग की विशेषता है। छोटे छोटे लाल रंग के धब्बे (macules) पहले ललाट और कलाई पर प्रगट होते हैं, फिर क्रमशः बाहु, धड़, पीठ और अंत में टाँगों पर निकलते हैं। इनकी संख्या ललाट और चेहरे पर तथा अग्रबाहु और हाथों पर, तथा इनमें भी प्रसारक पेशियों की त्वचा पर, अधिक होती है। बाहु, छाती का ऊपरी भाग तथा कुहनी के मोड़ के सामने के भाग इनसे बहुत कुछ बचे रहते हैं। कक्ष (axilla) में तो निकलते ही नहीं।

इन विवर्ण धब्बों में भी निश्चित क्रम से परिवर्तन होते हैं। कुछ घंटों में इन धब्बों से पिटिकाएँ (papules) बन जाती हैं, जो सूक्ष्म अंकुरों के समान होती हैं। दो तीन दिन तक ये पिटिकाएँ निकलती रहती हैं, तब ये स्फोटिका (vesicles) में परिवर्तित होने लगती हैं। जो पिटिका पहिले निकलती है, वह पहले स्फोटिका बनती है। लगभग २४ घंटे में सब स्फोटिकाएँ बन जाती हैं। प्रत्येक स्फोटिका उभरे हुए दाने के समान होती है, जिसमें स्वच्छ द्रव भरा होता है। दो तीन दिन में यह द्रव पूययुक्त हो जाता है और पूयस्फोटिका (pustule) बन जाती है, जिसके चारों ओर त्वचा में शोथ का लाल घेरा बन जाता है। इस समय वह ज्वर, जो कम हो गया अथवा उतर जाता है, फिर चढ़ जाता है। आठवें या नौ दिनों में पूयस्फोटिकाएँ सूखने लगती हैं और गहरे भूरे अथवा काले रंग के खुरंड बन जाते हैं, जो त्वचा से पूर्णतया पृथक् होने में १० १२ या इससे भी अधिक दिन ले लेते हैं।

पिटिका और स्फोटिका अवस्था में रोगी की दशा कष्टदायी नहीं होती, किंतु पूयस्फोटिकाओं के बनने पर ज्वर के बढ़ने के साथ ही उसकी दशा भी उग्र और कष्टदायी हो जाती है। चर्म में स्टेफिलो या स्ट्रेप्टो कोकाई के प्रवेश से स्फोटिकाओं में पूय बनने के साथ त्वचा में शोथ हो जाता है और मुँह, गले, स्वरयंत्र आदि में व्रण बन जाते हैं। निमोनिया भी हो सकता है।

रोग के रूप — रोग के तीनों रूपों को जानना आवश्यक है। (१) विरल (discrete) रूप में स्फोटिकाएँ थोड़ी तथा दूर दूर होती है। इस कारण त्वचा पर शोथ अधिक नहीं होता। (२) दूसरे रूप में स्फोटिकाएँ बड़े आकार की और पास पास होती है। बढ़ने पर वे आपस में मिल जाती है, जिससे चेहरा या त्वचा के अन्य भाग बड़े बड़े फफोलों से ढँक जाते हैं। बहुत शोथ होता है, सारा चेहरा सूजा हुआ दिखाई पड़ता है और नेत्र तक नहीं खुल पाते। यह संगलक (confluent) रूप होता है। इसमें अधिक मृत्यु होती हैं। (३) तीसरा रक्तस्रावक (haemorrhagic) रूप है। नेत्र, मुँह, मूत्राशय, आंत्र, नासिका आदि से रक्तस्राव होता है, जो मल, मूत्र, थूक, आदि द्वारा बाहर आता है। नेत्र के श्वेत भाग में रक्त एकत्र हो जाता है। यह रूप सदा घातक होता है। प्रायः रोगी की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा — रोग की कोई विशेष ओषधि नहीं है। पूयोत्पादन की दशा में पेनिसिलिन का प्रयोग लाभकारी होता है। अन्य प्रतिजीवाणुओं का उपयोग भी पूयोत्पादक जीवाणुओं के विषैले प्रभाव को मिटाने के लिये किया जाता है। उत्तम उपचार रोगी के स्वास्थ्य लाभ के लिये आवश्यक है।

निरोधक उपाय — रोग का टीका रोग को रोकने का विशिष्ट उपाय है। जिस वस्तु का टीका लगाया जाता है, वह इस रोग की वैक्सीन होती है, जिसको साधारण बोलचाल में लिंफ कहते हैं। यह बछड़ों में चेचक (cow pox) उत्पन्न करके उनमें हुई स्फोटिकाओं के पीव से तैयार किया जाता है। टीका देते समय शुद्ध की हुई त्वचा पर, स्वच्छ यंत्र से खुरचकर, लिंफ की एक बूंद फैलाकर यंत्र के हैंडिल से मल दी जाती है। इससे रोगक्षमता उत्पन्न होकर रोग से रक्षा होती है। यह टीका वैक्सिनेशन कहलाता है और शिशु को प्रथम मास में लगाया जा सकता है। तीसरे मास तक शिशु को अवश्य लगवा देना चाहिए। स्कूल में बालक को भेजने के समय फिर लगवाना चाहिए। ८ से १० वर्ष की आयु में एक बार फिर लगवा देने से जीवन पर्यंत रोग के प्रतिरोध की क्षमता बनी रहती है। रोग की महामारी के दिनों में टीका लगवा लेना उत्तम है। [मु० स्व० व०]

चेतना जीवधारियों में रहनेवाला वह तत्व है जो उन्हें निर्जीव पदार्थों से भिन्न बनाता है। दूसरे शब्दों में हम उसे मनुष्यों की जीवनक्रियाओं को चलानेवाला तत्व कह सकते हैं। चेतना स्वयं को और अपने आस पास के वातावरण को समझने तथा उसकी बातों का मूल्यांकन करने की शक्ति का नाम है। विज्ञान के अनुसार चेतना वह अनुभूति है जो मस्तिष्क में पहुँचनेवाले अभिगामी आवेगों से उत्पन्न होता है। इन आवेगों का अर्थ तुरंत अथवा बाद में लगाया जाता है।

चेतना का स्थान - बहुत पुराने काल से प्रमस्तिष्क प्रांतस्था (cerebral cortex), चेतना की मुख्य इंद्रिय, अथवा प्रमुख स्थान, माना गया है। इसमें से भी पूर्वललाट के क्षेत्र को विशेष महत्व दिया गया है। परंतु पेनफील्ड और यास्पर्स महोदय चेतना को नए तरीके से समझाते हैं। उनके मतानुसार चेतना का स्थान चेतक (thalamus), अधश्चेतक (hypothalamus) और ऊपरी मस्तिष्क के कई भाग में आभासित है। ये लोग मस्तिष्क के इन भागों को और उनके संयोजनों को स्नायुओं के संगठन का सर्वोच्च स्तर मानते हैं।

पूर्व ललाट क्षेत्र तथा अधश्चेतक के बीच बहिर्गामी नाड़ियों द्वारा संयोजन है। संयोजन प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष है। परोक्ष संयोजन पृष्ठ केंद्रक के द्वारा होता है। इन नाड़ियों का संबंध पौंस (Pons) से भी है।

चेतना मनुष्य की वह विशेषता है जो उसे जीवित रखती है और जो उसे व्यक्तिगत विषय में तथा अपने वातावरण के विषय में ज्ञान कराती है। इसी ज्ञान को विचारशक्ति (बुद्धि) कहा जाता है। यही विशेषता मनुष्य से ऐसे काम कराती है जिसके कारण वह जीवित प्राणी समझा जाता है। मनुष्य अपनी कोई भी शारीरिक क्रिया तब तक नहीं कर सकता जब तक कि उसको यह ज्ञान पहले न हो कि वह उस क्रिया को कर सकेगा। कोई भी मनुष्य किसी विघातक पदार्थ अथवा प्राणी से बचने के लिये अपने किसी अंग को तब तक नहीं हिला सकता, जब तक उसको यह ज्ञान न हो कि कोई घातक पदार्थ उसके सामने है और उससे बचने के लिये वह अपने अंगों को काम में ला सकता है।

उदाहरणार्थ, हम एक ऐसे मनुष्य के बारे में सोच सकते हैं जो नदी की ओर जा रहा है। यदि वह चलते चलते नदी तक पहुँच जाता है और नदी में घुस जाता है तो वह डूबकर मर जायगा। वह अपना चलना तब तक नहीं रोक सकता और नदी में घुसने से अपने को तब तक नहीं बचा सकता जब तक कि उसकी चेतना में यह ज्ञान उत्पन्न नहीं होता कि उसके सामने नदी है और वह जमीन पर तो चल सकता है, परंतु पानी पर नहीं चल सकता।

मनुष्य की सभी क्रियाओं पर उपर्युक्त नियम लागू होता है चाहे, ये क्रियाएँ पहले कभी हुई हों अथवा भविष्य में कभी हों। मनुष्य केवल चेतना से उत्पन्न प्रेरणा के कारण कोई काम कर सकता है।

चेतना और मनुष्य के चरित्र में मौलिक संबंध है। चेतना वह विशेष गुण है जो मनुष्य को जीवित बनाती है और चरित्र उसका वह संपूर्ण संगठन है जिसके द्वारा उसके जीवित रहने की वास्तविकता व्यक्त होती है तथा जिसके द्वारा जीवन के विभिन्न कार्य चलाए जाते हैं।

किसी मनुष्य की चेतना और चरित्र केवल उसी की व्यक्तिगत संपत्ति नहीं होते। ये बहुत दिनों के सामाजिक प्रक्रम के परिणाम होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने वंशानुक्रम को स्वयं में प्रस्तुत करता है। वह विशेष प्रकार के संस्कार पैतृक संपत्ति के रूप में पाता है। वह इतिहास को भी स्वयं में निरूपित करता है, क्योंकि उसने विभिन्न प्रकार की शिक्षा तथा प्रशिक्षण को जीवन में पाया है। इसके अतिरिक्त वह दूसरे लोगों को भी अपने द्वारा निरूपित करता है, क्योंकि उनका प्रभाव उसके जीवन पर उनके उदाहरण, उपदेश तथा अवपीड़न के द्वारा पड़ा है।

जब एक बार मनुष्य की चेतना विकसित हो जाती है, तब उसकी प्राकृतिक स्वतंत्रता चली जाती है। वह ऐसी अवस्था में भी विभिन्न प्रेरणाओं (आवेगों) और भीतरी प्रवृत्तियों से प्रेरित होता है, परंतु वह उन्हें स्वतंत्रता से प्रकाशित नहीं कर सकता। वह या तो उन्हें इसलिये सर्वथा दबा देता है जिससे कि समाज के दूसरे लोगों की आवश्यकताओं और इच्छाओं में वे बाधक न बनें, अथवा उन्हें इस प्रकार चपेट दिया जाता है, या कृत्रिम बनाया जाता है, जिसमें उनका प्रकाशन समाजविरोधी न हो।

इस प्रकार मनुष्य की चेतना अथवा विवेकी मन उसके अवचेतन, अथवा प्राकृतिक, मन पर अपना नियंत्रण रखता है। मनुष्य और पशु में यही विशेष भेद है। पशुओं के जीवन में इस प्रकार का नियंत्रण नहीं रहता, अतएव जैसा वे चाहते हैं वैसा करते हैं। मनुष्य चेतनायुक्त प्राणी है, अतएव कोई भी क्रिया करने के पहले वह उसके परिणाम के बारे में भली प्रकार सोच लेता है।

सं० ग्रं० — जेफरसन, जी० : मेडि० ज०, १९३७; (ii) १९९; हाइंड-मेरिआन : (१९२९), ऑन सेरिब्रल लोकलाइजेशन, फिजिओलॉजिकल रिव्यू, १९९२; फैरुल्टन (१९३३) : इंटिग्रेटिव फंक्शन ऑव द सेरिब्रल कॉर्टेक्स, फिजिओलॉजिकल रिव्यू, १३, १। [रा० ब० शु०]

मनोविज्ञान की दृष्टि से चेतना मानव में उपस्थित वह तत्व है जिसके कारण उसे सभी प्रकार की अनुभूतियाँ होती है। चेतना के कारण ही हम देखते, सुनते, समझते और अनेक विषय पर चिंतन करते हैं। इसी के कारण हमें सुख दुःख की अनुभूति भी होती है और हम इसी के कारण अनेक प्रकार के निश्चय करते तथा अनेक पदार्थों की प्राप्ति के लिये चेष्टा करते हैं।

मानव चेतना की तीन विशेषताएँ हैं। वह ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक होती है। भारतीय दार्शनिकों ने इसे सच्चिदानंद रूप कहा है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के विचारों से उक्त निरोपज्ञा की पुष्टि होती है। चेतना वह तत्व है जिसमें ज्ञान की, भाव की और व्यक्ति, अर्थात् क्रियाशीलता, की अनुभूति है। जब हम किसी पदार्थ को जानते हैं, तो उसके स्वरूप का ज्ञान हमें होता है, उसके प्रति प्रिय अथवा अप्रिय भाव पैदा होता है और उसके प्रति इच्छा पैदा होती है, जिसके कारण या तो हम उसे अपने समीप लाते अथवा उसे अपने से दूर हटाते हैं।

चेतना को दर्शन में स्वयंप्रकाश तत्व माना गया है। मनोविज्ञान अभी तक चेतना के स्वरूप में आगे नहीं बढ़ सका है। चेतना ही सभी पदार्थों को, जड़ चेतन, शरीर मन, निर्जीव जीवित, मस्तिष्क स्नायु आदि को बनाती है, उनका स्वरूप निरूपित करती है। फिर चेतना को इनके द्वारा समझाने की चेष्टा करना अविचार है। मेगडूगल महाशय के कथनानुसार जिस प्रकार भौतिक विज्ञान की अपनी ही सोचने की विधियाँ और विशेष प्रकार के प्रदत्त हैं उसी प्रकार चेतना के विषय में चिंतन करने की अपनी ही विधियाँ और प्रदत्त हैं। अतएव चेतना के विषय में भौतिक विज्ञान की विधियों से न तो सोचा जा सकता है और न उसके प्रदत्त इसके काम में आ सकते हैं। फिर भौतिक विज्ञान स्वयं अपनी उन अंतिम इकाइयों के स्वरूप के विषय में निश्चित मत प्रकाशित नहीं कर पाया है जो उस विज्ञान के आधार हैं। पदार्थ, शक्ति, गति आदि के विषय में अभी तक कामचलाऊ जानकारी हो सकी है। अभी तक उनके स्वरूप के विषय में अंतिम निर्णय नहीं हुआ है। अतएव चेतना के विषय में अंतिम निर्णय की आशा कर लेना युक्तिसंगत नहीं है। चेतना को अचेतन तत्व के द्वारा समझाना, अर्थात् उनमें कार्य कारण संबंध जोड़ना, सर्वथा अविवेकपूर्ण है।

चेतना को जिन मनोवैज्ञानिकों ने जड़ पदार्थ की क्रियाओं के परिणाम के रूप में समझाने की चेष्टा की है अर्थात् जिन्होंने इसे शारीरिक क्रियाओं, स्नायुओं के स्पंदन आदि का परिणाम माना है, उन्होंने चेतना की उपस्थिति को ही समाप्त कर दिया है। पैवलाफ और वाटसन महोदय के चिंतन का यही परिणाम हुआ है। उनके कथनानुसार मन अथवा चेतना के विषय में मनोविज्ञान में सोचना ही व्यर्थ है। मनोविज्ञान का विषय मनुष्य का दृश्यमान व्यवहार ही होना चाहिए।

चेतना के शरीर से संबंध के विषय में मनोवैज्ञानिकों के विभिन्न मत हैं। कुछ के अनुसार मनुष्य के बृहत् मस्तिष्क में होनेवाली क्रियाओं, अर्थात् कुछ नाड़ियों के स्पंदन, का परिणाम ही चेतना है। यह अपने में स्वतंत्र कोई तत्व नहीं है। दूसरों के अनुसार चेतना स्वयं तत्व है और उसका शरीर से आपसी संबंध है, अर्थात् चेतना में होनेवाली क्रियाएँ शरीर को प्रभावित करती हैं। कभी कभी चेतना की क्रियाओं से शरीर प्रभावित नहीं होता और कभी शरीर की क्रियाओं से चेतना प्रभावित नहीं होती। एक मत के अनुसार शरीर चेतना के कार्य करने का यंत्र मात्र है, जिसे वह कभी उपयोग में लाती है और कभी नहीं लाती। परंतु यदि यंत्र बिगड़ जाय, अथवा टूट जाय, तो चेतना अपने कार्यों के लिये अपंग हो जाती है। कुछ गंभीर मनोवैज्ञानिक विचारकों द्वारा विज्ञान की वर्तमान प्रगति की अवस्था में उपर्युक्त मत ही सर्वोत्तम माना गया है।

चेतना के तीन स्तर माने गए हैं : चेतना, अवचेतन और अचेतन। चेतन स्तर पर वे सभी बातें रहती हैं जिनके द्वारा हम सोचते समझते और कार्य करते हैं। चेतना में ही मनुष्य का अहंभाव रहता है और यहीं विचारों का संगठन होता है। अवचेतन स्तर में वे बातें रहती हैं जिनका ज्ञान हमें तत्क्षण नहीं रहता, परंतु समय पर याद की जा सकती हैं। अचेतन स्तर में वे बातें रहती हैं जो हम भूल चुके हैं और जो हमारे यत्न करने पर भी हमें याद नहीं आतीं और विशेष प्रक्रिया से जिन्हें याद कराया जाता है। जो अनुभूतियाँ एक बार चेतना में रहती हैं, वे ही कभी अवचेतन और अचेतन मन में चली जाती हैं। ये अनुभूतियाँ सर्वथा निष्क्रिय नहीं होतीं, वरन् मानव को अनजाने ही प्रभावित करती रहती हैं।

चेतना सामाजिक वातावरण के संपर्क से विकसित होती है। वातावरण के प्रभाव से मनुष्य नैतिकता, औचित्य और व्यवहारकुशलता प्राप्त करता है। यह चेतना का विकास कहा जाता है। विकास की चरम सीमा में चेतना निज स्वतंत्रता की अनुभूति करती है। वह सामाजिक बातों को प्रभावित कर सकती है और उनसे प्रभावित होती है, परंतु इस प्रभाव से अपने आपको अलग भी कर सकती है। चेतना का इस प्रकार की अनुभूति को शुद्ध चैतन्य अथवा प्रमाता, आत्मा आदि शब्दों से संबोधित किया जाता है। इसकी चर्चा चार्ल्स युंग, स्पेंग्ल, विलियम ब्राउन आदि विद्वानों ने की है। इसे देशकाल की सीमा के बाहर माना गया है। [ला० रा० शु०]

चेतसिंह बनारस के सामंत जमींदार बलवंतसिंह के पुत्र चेतसिंह के उत्तराधिकार ग्रहण (१७७० ई०) करने के बाद, उक्त जमींदारी अवध के आधिपत्य से ईस्ट इंडिया कंपनी के अंतर्गत ले ली गई (१७७५)। हेस्टिंग्ज ने तब चेतसिंह को वचन दिया था कि उनके नियमित कर देते रहने पर, उनसे किसी भी रूप में अतिरिक्त धन नहीं लिया जायगा। किंतु मरहठा युद्ध से उत्पन्न आर्थिक संकट में हेस्टिंग्ज ने उनसे पाँच लाख रुपयों की माँग की (१७७८)। चेतसिंह के आनाकानी करने पर हेस्टिंग्ज ने पाँच दिनों के अंदर भुगतान की धमकी दे रकम वसूल ली। अगले वर्ष उनसे पाँच लाख की दुबारा माँग की। चेतसिंह के पूर्व-आश्वासन का विनम्र उल्लेख करने पर, हेस्टिंग्ज ने सक्रोध हर्जाने के रूप में बीस हजार रुपए भी साथ वसूले। १७८० में हेस्टिंग्ज ने उतना ही धन (पाँच लाख) देने का फिर आदेश दिया। चेतसिंह ने हेस्टिंग्ज को मनाने अपना विश्वासपात्र नौकर कलकत्ते भेजा; साथ में दो लाख रुपए का घूस भी अर्पित किया। हेस्टिंग्ज ने घूस तो स्वीकृत किया, लेकिन भारी दंड सहित उक्त धन तीसरी बार भी वसूल किया। अब उसने चेतसिंह को एक हजार घुड़सवार भेजने को फर्माइश की। चेतसिंह के पाँच सौ घुड़सवार और पाँच सौ पैदल तैयार करने पर, हेस्टिंग्ज ने पाँच करोड़ रुपए का जुर्माना थोप दिया। हेस्टिंग्ज के बनारस पहुँचने पर उसने चेतसिंह से मिलना भी अस्वीकार नहीं किया, बल्कि उनके नम्रतापूर्ण पत्र को विद्रोहप्रदर्शन घोषित कर, उन्हें बंदी बना लिया। इस दुर्व्यवहार से उत्तेजित हो चेतसिंह की सेना ने स्वतः विद्रोह कर, हेस्टिंग्ज का निवास स्थान घेर लिया। हेस्टिंग्स ने प्राणांतक संकट में धैर्य और साहस से विद्रोह का दमन किया; यद्यपि अंग्रेजी सेना के बनारस का पूरा खजाना लूट लेने के कारण हेस्टिंग्ज के हाथ कुछ न लगा। चेतसिंह विद्रोहजनित अवस्था से लाभ उठाकर विजयगढ़ भाग गए और विजयगढ़ से ग्वालियर। हेस्टिंग्ज ने बनारस की जमींदारी अपहृत कर चेतसिंह के किशोरवयस्क भांजे को, यथेष्ट लगानवृद्धि के साथ सौंप दी। चेतसिंह के प्रति हेस्टिंग्ज के इस लज्जाजनक दुर्व्यवहार के मूल में हेस्टिंग्ज

की व्यक्तिगत प्रतिशोध की भावना निहित थी, जिसकी पार्लमेंट में भर्त्सना हुई। [रा० ना०]

चेदि आर्यों का एक अति प्राचीन वंश है। ऋग्वेद की एक दानस्तुति में इनके एक अत्यंत शक्तिशाली नरेश कशु का उल्लेख है। ऋग्वेदकाल में ये संभवतः यमुना और विंध्य के बीच बसे हुए थे। पुराणों में वर्णित परंपरागत इतिहास के अनुसार यादवों के नरेश विदर्भ के तीन पुत्रों में से द्वितीय कैशिक चेदि का राजा हुआ और उसने चेदि शाखा की स्थापना की। चेदि राज्य आधुनिक बुंदेलखंड में स्थित रहा होगा और यमुना के दक्षिण में चंबल और केन नदियों के बीच में फैला रहा होगा। कुरु के सबसे छोटे पुत्र सुधन्वन् के चौथे अनुवर्ती शासक वसु ने यादवों से चेदि जीतकर एक नए राजवंश की स्थापना की। उसके पांच पुत्रों में से चौथे (प्रत्यग्रह) को चेदि का राज्य मिला। महाभारत के युद्ध में चेदि पांडवों के पक्ष में लड़े थे। छठी शताब्दी ईसा पूर्व के १६ महाजनपदों की तालिका में चेति अथवा चेदि का भी नाम आता है। चेदि लोगों के दो स्थानों पर बसने के प्रमाण मिलते हैं — नेपाल में और बुंदेलखंड में। इनमें से दूसरा इतिहास में अधिक प्रसिद्ध हुआ। मुद्राराक्षस में मलयकेतु की सेना में खश, मगध, गंधार, यवन, शक और हूण के साथ चेदि लोगों का भी नाम है।

भुवनेश्वर के समीप उदयगिरि पहाड़ी पर हाथीगुंफा के अभिलेख से कलिंग में एक चेति (चेदि) राजवंश का इतिहास ज्ञात होता है। यह वंश अपने को प्राचीन चेदि नरेश वसु (वसु-उपरिचर) की संतति कहता है। कलिंग में इस वंश की स्थापना संभवतः महामेघवाहन ने की थी जिसके नाम पर इस वंश के नरेश महामेघवाहन भी कहलाते थे। खारवेल, जिसके समय में हाथीगुंफा का अभिलेख उत्कीर्ण हुआ इस वंश की तीसरी पीढ़ी में था। महामेघवाहन और खारवेल के बीच का इतिहास अज्ञात है। महाराज वक्रदेव, जिसके समय में उदयगिरि पहाड़ी की मंचपुरी गुफा का निचला भाग बना, इस राजवंश की संभवतः दूसरी पीढ़ी में था और खारवेल का पिता था।

खारवेल इस वंश और कलिंग के इतिहास के ही नहीं, पूरे प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रमुख शासकों में से है। हाथीगुंफा के अभिलेख के विवरण में अतिशयोक्ति की संभावना के पश्चात् भी जो शेष बचता है, उससे स्पष्ट है कि खारवेल असाधारण योग्यता का सेना नायक था और उसने कलिंग की जैसी प्रतिष्ठा बना दी वैसी बाद की कई शताब्दियों संभव नहीं हुई।

खारवेल के राज्यकाल की तिथि अब भी विवाद का विषय है, जिसमें एक मत ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के पूर्वार्ध के पक्ष में है किंतु खारवेल को ईसा पूर्व पहली शताब्दी के उत्तरार्ध में रखनेवाले विद्वानों की संख्या बढ़ रही है।

१५ वर्ष की आयु तक खारवेल ने राजोचित विद्याएँ सीखीं। १६वें वर्ष में वह युवराज बना। २४वें वर्ष में उसका राज्याभिषेक हुआ। सिंहासन पर बैठते ही उसने दिग्विजय आरंभ की। शासन के दूसरे वर्ष में उसने सातकर्णि (सातवाहन नरेश सातकर्णि प्रथम) का बिना विचार किए एक विशाल सेना पश्चिम की ओर भेजी जो कण्णवेंणा नदी ([illegible]) पर स्थित असिक नगर (ऋषिक नगर) तक गई थी। चौथे वर्ष में उसने विद्याधर नाम के एक राजा की राजधानी पर अधिकार कर लिया और राष्ट्रिक तथा भोजों को पराभूत किया, जो संभवतः विदर्भ में राज्य करते थे। आठवें वर्ष में उसने बराबर पहाड़ी पर स्थित गोरथगिरि के दुर्ग का ध्वंस किया और राजगृह को घेर लिया। इस समाचार से एक यवनराज के हृदय में इतना भय उत्पन्न हुआ कि वह मथुरा भाग गया। १०वें वर्ष में उसने भारतवर्ष (गंगा की घाटी) पर फिर आक्रमण किया। ११वें वर्ष में उसकी सेना ने पिथुंड को नष्ट किया और विजय करती हुई वह पांड्य राज्य तक पहुँच गई। १२वें वर्ष उसने उत्तरापथ पर फिर आक्रमण किया और मगध के राजा बहसतिमित (बृहस्स्वातिमित्र) को संभवतः गंगा के तट पर पराजित किया। उसकी इन विजयों के कारण उसकी रानी के अभिलेख में उसके लिये प्रयुक्त चक्रवर्तिन् शब्द उपयुक्त ही है।

खारवेल जैन था। उसने और उसकी रानी ने जैन भिक्षुओं के निर्वाह के लिये व्यवस्था की और उनके आवास के लिये गुफाओं का निर्माण कराया। किंतु वह धर्म के विषय में संकुचित दृष्टिकोण का नहीं था। उसने अन्य सभी देवताओं के मंदिरों का पुनर्निर्माण कराया। वह सभी संप्रदायों का समान आदर करता था।

खारवेल को प्रजा के हित का सदैव ध्यान रहता था और इसके लिये वह व्यय की चिंता नहीं करता था। उसने नगर और गांवों की प्रजा का प्रिय बनने के लिये उन्हें करमुक्त भी किया था। पहले नंदराज द्वारा बनवाई गई एक नहर की लंबाई उसने बढ़वाई थी। उसे स्वयं संगीत में अभिरुचि थी और जनता के मनोरंजन के लिये वह नृत्य और संगीत के समारोहों का भी आयोजन करता था। खारवेल को भवन-निर्माण में भी रुचि थी। उसने एक भव्य 'महाविजय-प्रासाद' नामक राजभवन भी बनवाया था।

खारवेल के पश्चात् चेदि राजवंश के संबंध में हमें कोई सुनिश्चित ज्ञान नहीं प्राप्त होता। संभवतः उसके उत्तराधिकारी उसके राज्य को स्थिर रखने में भी अयोग्य थे जिससे शीघ्र ही साम्राज्य का अंत हो गया। [ल० गो०]

चेदि (कलचुरि) राजवंश जैजाकभुक्ति के चंदेलों के राज्य के दक्षिण में कलचुरि राजवंश का राज्य था। कलचुरि अपने को कार्तवीर्य अर्जुन का वंशज बतलाते थे और इस प्रकार वे पौराणिक अनुवृत्तों की हैहय जाति की शाखा थे। इनकी राजधानी त्रिपुरी जबलपुर के पास स्थित थी और इनका उल्लेख डाहल-मंडल के नरेशों के रूप में आता है। बुंदेलखंड के दक्षिण का यह प्रदेश चेदि देश के नाम से भी प्रसिद्ध था इसीलिये इनके राजवंश को कभी कभी चेदि वंश भी कहा गया है।

इस वंश का प्रथम ज्ञात शासक कोक्कल्ल प्रथम था जो ८४५ ई० के लगभग सिंहासन पर बैठा। उसने वैवाहिक संबंधों के द्वारा अपनी शक्ति दृढ़ की। उसका विवाह नट्टा नाम की एक चंदेल राजकुमारी से हुआ था और उसने अपनी पुत्री का विवाह राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय के साथ किया था। इस युग की अव्यवस्थित राजनीतिक स्थिति में उसने अपना प्रभाव बढ़ाने के लिये कई युद्ध किए। उसने प्रतिहार नरेश भोज प्रथम और उसके सामंत कलचुरि शंकरगण, गुहिल हर्षराज और चाहमान गूवक द्वितीय को पराजित किया। कोक्कल्ल के लिये कहा गया है कि उसने इन शासकों के कोष का हरण किया और उन्हें संभवतः फिर आक्रमण न करने के आश्वासन के रूप में भय से मुक्ति दी। इन्हीं युद्धों के संबंध में उसने राजस्थान में तुरुष्कों को पराजित किया जो संभवतः

सिंध के अरब प्रांतपाल के सैनिक थे। उसने वंग पर भी इसी प्रकार का आक्रमण किया था। अपने शासनकाल के उत्तरार्द्ध में उसने राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय को पराजित करके उत्तरी कोंकण पर आक्रमण किया था किंतु अंत में उसने राष्ट्रकूटों के साथ संधि कर ली थी। इन युद्धों से कलचुरि राज्य की सीमाओं में कोई वृद्धि नहीं हुई। कोक्कल्ल के १८ पुत्र थे जिनमें से १७ को उसने पृथक् पृथक् मंडलों का शासक नियुक्त किया; ज्येष्ठ पुत्र शंकरगण उसके बाद सिंहासन पर बैठा। इन १७ पुत्रों में से एक ने दक्षिण कोशल में कलचुरि राजवंश की एक नई शाखा की स्थापना की जिसकी राजधानी पहले तुम्माण और बाद में तृतीय नरेश रत्नराज द्वारा स्थापित रत्नपुर थी। इस शाखा में नौ शासक हुए जिन्होंने १२वीं शताब्दी के अंत तक राज्य किया।

शंकरगण ने कोशल के सोमवंशी नरेश से पालि छीन लिया। पूर्वी चालुक्य विजयादित्य तृतीय के आक्रमण के विरुद्ध वह राष्ट्रकूट कृष्ण द्वितीय की सहायता के लिये गया किंतु उसके पक्ष की पूर्ण पराजय हुई। उसने अपनी पुत्री लक्ष्मी का विवाह कृष्ण द्वितीय के पुत्र जगत्तुंग के साथ किया था जिनका पुत्र इंद्र तृतीय था। इंद्र तृतीय का विवाह शंकरगण के छोटे भाई अर्जुन की पौत्री से हुआ था।

शंकरगण के बाद पहले उसका ज्येष्ठ पुत्र बालहर्ष और फिर कनिष्ठ पुत्र युवराज प्रथम केयूरवर्ष सिंहासन पर बैठा। युवराज (दसवीं शताब्दी का द्वितीय चरण) ने गौड़ और कलिंग पर आक्रमण किया था। किंतु अपने राज्यकाल के अंत समय में उसे स्वयं आक्रमणों का सामना करना पड़ा और चंदेल नरेश यशोवर्मन् के हाथों पराजित होना पड़ा। राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय युवराज का दौहित्र था और स्वयं उसकी पत्नी भी कलचुरि वंश की थी। उसने अपने पिता के राज्यकाल में ही एक बार कालंजर पर आक्रमण किया था। सिंहासन पर बैठने के बाद उसने मैहर तक के प्रदेश पर अधिकार कर लिया था किंतु शीघ्र ही युवराज को राष्ट्रकूटों को भगाने में सफलता मिली। कश्मीर और हिमालय तक उसके आक्रमण की बात अतिशयोक्ति लगती है।

युवराज के पुत्र लक्ष्मणराज (१०वीं शताब्दी का तृतीय चरण) ने पूर्व में बंगाल, ओड्र और कोसल पर आक्रमण किया। पश्चिम में वह लाट के सामंत शासक और गुर्जर नरेश (संभवतः चालुक्य वंश का मूलराज प्रथम) को पराजित करके सोमनाथ तक पहुँचा था। उसकी कश्मीर और पांड्य की विजय का उल्लेख संदिग्ध मालूम होता है। उसने अपनी पुत्री बोन्थादेवी का विवाह चालुक्य नरेश विक्रमादित्य चतुर्थ से किया था जिनका पुत्र तैल द्वितीय था।

लक्ष्मणराज के दोनों पुत्रों शंकरगण और युवराज द्वितीय में सैनिक उत्साह का अभाव था। युवराज द्वितीय के समय तैल द्वितीय ने भी चेदि देश पर आक्रमण किए। मुंज परमार ने तो कुछ समय के लिये त्रिपुरी पर ही अधिकार कर लिया था। युवराज की कायरता के कारण राज्य के प्रमुख मंत्रियों ने उसके पुत्र कोक्कल्ल द्वितीय को सिंहासन पर बैठाया। कोक्कल्ल के समय में कलचुरि लोगों को अपनी लुप्त प्रतिष्ठा फिर से प्राप्त हुई। उसने गुर्जर देश के शासक को पराजित किया। उसे कुंतल के नरेश (चालुक्य सत्याश्रय) पर भी विजय प्राप्त हुई। उसने गौड़ पर भी आक्रमण किया था।

कोक्कल्ल के पुत्र विक्रमादित्य उपाधिधारी गांगेयदेव के समय में चेदि लोगों ने उत्तरी भारत पर अपनी सार्वभौम सत्ता स्थापित करने की ओर चरण बढ़ाए। उसका राज्यकाल १०१९ ई० के कुछ वर्ष पूर्व से १०४१ ई० तक था। भोज परमार और राजेंद्र चोल के साथ जो उसने चालुक्य राज्य पर आक्रमण किया उसमें वह असफल रहा। उसने कोसल पर आक्रमण किया और उत्कल को जीतता हुआ वह समुद्र तट तक पहुँच गया। संभवतः इसी विजय के उपलक्ष में उसने त्रिकलिंगाधिपति का विरुद धारण किया। भोज परमार और विजयपाल चंदेल के कारण उसकी साम्राज्य-प्रसार की नीति अवरुद्ध हो गई। उत्तर-पूर्व की ओर उसने बनारस पर अधिकार कर लिया और अंग तक सफल आक्रमण किया किंतु मगध अथवा तीरभुक्ति (तिरहुत) को वह अपने राज्य में नहीं मिला पाया। १०३४ ई० में पंजाब के सूबेदार अहमद नियाल्तिगीन ने बनारस पर आक्रमण कर उसे लूटा। गांगेयदेव ने भी कीर (कांगड़ा) पर, जो मुसलमानों के अधिकार में था, आक्रमण किया था।

गांगेयदेव का पुत्र लक्ष्मीकर्ण अथवा कर्ण कलचुरि वंश का सबसे शक्तिशाली शासक था और उसकी गणना प्राचीन भारतीय इतिहास के महान् विजेताओं में होती है। उसने प्रयाग पर अपना अधिकार कर लिया और विजय करता हुआ वह कीर देश तक पहुँचा था। उसने पाल राज्य पर दो बार आक्रमण किया किंतु अंत में उसने उनसे संधि की और विग्रहपाल तृतीय के साथ अपनी पुत्री यौवनश्री का विवाह किया। राढ़ा के ऊपर भी कुछ समय तक उसका अधिकार रहा। उसने वंग को भी जीता किंतु अंत में उसने वंग के शासक जातवर्मन् के साथ संधि स्थापित की और उसके साथ अपनी पुत्री वीरश्री का विवाह कर दिया। उसने ओड्र और कलिंग को भी विजय की। उसने कांची पर भी आक्रमण किया था और पल्लव, कुंग, मुरल और पांड्य लोगों को पराजित किया था। कुंतल का नरेश जो उसके हाथों पराजित हुआ, संभवतः सोमेश्वर प्रथम चालुक्य था। १०५१ ई० के बाद उसने कीर्तिवर्मन् चंदेल को पराजित किया किंतु बुंदेलखंड पर उसका अधिकार अधिक समय तक नहीं बना रह सका। उसने मालव के उत्तर-पश्चिम में स्थित हूणमंडल पर भी आक्रमण किया था। भीम प्रथम चालुक्य के साथ साथ उसने भोज परमार के राज्य की विजय की किंतु चालुक्य के हस्तक्षेप के कारण उसे विजित प्रदेश का अधिकार छोड़ना पड़ा। बाद में भीम ने कलह उत्पन्न होने पर डाहल पर आक्रमण कर कर्ण को पराजित किया था।

१०७२ ई० में वृद्धावस्था से अशक्त लक्ष्मीकर्ण ने सिंहासन अपने पुत्र यशःकर्ण को दे दिया। यशःकर्ण ने चंपारण्य (चंपारन, उत्तरी बिहार) और आंध्र देश पर आक्रमण किया था किंतु उसके शासनकाल के अंतिम समय जयसिंह चालुक्य, लक्ष्मदेव परमार और सल्लक्षण वर्मन् चंदेल के आक्रमणों के कारण चेदि राज्य की शक्ति क्षीण हो गई। चंद्रदेव गाहड़वाल ने प्रयाग और बनारस पर अपना अधिकार कर लिया। मदनवर्मन् चंदेल ने उसके पुत्र गयाकर्ण को पराजित किया था। गयाकर्ण के कनिष्ठ पुत्र जयसिंह ने कुमारपाल चालुक्य, बिज्जल कलचुरि और खुसरव मलिक के आक्रमणों का सफल सामना किया। जयसिंह के पुत्र विजयसिंह का डाहल पर १२११ ई० तक अधिकार बना रहा। किंतु १२१२ ई० में त्रैलोक्यवर्मन् चंदेल ने ये प्रदेश जीत लिए। इसके बाद इस वंश का इतिहास में कोई चिह्न नहीं मिलता। [ल० गो०]

चेदि (कलचुरि) राज्य में सांस्कृतिक दशा : कर्ण, यशःकर्ण और जयसिंह ने सम्राट् की प्रचलित उपाधियों के अतिरिक्त अश्वपति, गजपति, नरपति, और राजत्रयाधिपति की उपाधियाँ धारण कीं। कोक्कल्ल प्रथम के द्वारा अपने १७ पुत्रों को राज्य के मंडलों में नियुक्ति

चेदि राज्य के शासन में राजवंश के व्यक्तियों को महत्वपूर्ण स्थान देने के चलन का उदाहरण है राज्य को राजवंश का सामूहिक अधिकार माना जाता था। राज्य में महाराज के बाद युवराज अथवा महाराजपुत्र का स्थान था। महारानियाँ भी राज्यकार्य में महत्वपूर्ण स्थान रखती थीं। मंत्रिमुख्यों के अतिरिक्त अभिलेखों में महामंत्रिन्, महामात्य, महासांधिविग्रहिक, महाधर्माधिकरण, महापुरोहित, महाक्षपटलिक, महाप्रतीहार, महासामंत और महाप्रमातृ के उल्लेख मिलते हैं। मंत्रियों का राज्य में अत्यधिक प्रभाव था कभी कभी वे सिंहासन के लिये राज्य परिवार में से उचित व्यक्ति का निर्धारण करते थे। राजगुरु का भी राज्य के कार्यों में गौरवपूर्ण महत्व था। सेना के अधिकारियों में महासेनापति के अतिरिक्त महाश्वसाधनिक का उल्लेख आया है जो सेना में अश्वारोहियों के महत्व का परिचायक है। कुछ अन्य अधिकारियों के नाम हैं : धर्मप्रधान, दशमूलिक, प्रमत्तवार, दुष्टसाधक, महादानिक, महाभांडागारिक, महाकरणिक और महाकोट्टपाल। नगर का प्रमुख पुर प्रधान कहलाता था। पद वंशगत नहीं थे, यद्यपि व्यवहार में किसी अधिकारी के वंशजों को राज्य में अपनी योग्यता के कारण विभिन्न पदों पर नियुक्त किया जाता था। धर्माधिकरण के साथ एक पंचकुल (समिति) संयुक्त होता था। संभवतः ऐसी समितियाँ अन्य विभागों के साथ भी संयुक्त हैं। राज्य के भागों के नामों में मंडल और पत्तला का उल्लेख अधिक थो। चेदि राजाओं का अपने सामंतों पर प्रभावपूर्ण नियंत्रण था। राज्य-करों को सूची में पट्टिकादाय और दुस्साध्यादाय उल्लेखनीय हैं, ये संभवतः इन्हीं नामों के अधिकारियों के वेतन के रूप में एकत्रित किए जाते थे। इसी प्रकार घट्टपति और तरपति भी कर उगाहते थे। शौल्किक शुल्क एकत्रित करनेवाला अधिकारी था। विषयादानिक भी कर एकत्रित करनेवाला अधिकारी था। विक्रय के लिये वस्तुएँ मंडपिका में आती थीं जहाँ उनपर कर लगाया जाता था।

ब्राह्मणों में सवर्ण विवाह का ही चलन था किंतु अनुलोम विवाह अज्ञात नहीं थे। कुछ वैश्य क्षत्रियों के कर्म भी करते थे। कायस्थ भी समाज के महत्वपूर्ण वर्ग थे। कलचुरि नरेश कर्ण ने हूण राजकुमारी आवल्लदेवी से विवाह किया था, उसी को संतान यशःकर्ण था। बहुविवाह का प्रचलन उच्च कुलों में विशेष रूप से था। सती का प्रचलन था किंतु स्त्रियाँ इसके लिये बाध्य नहीं थीं। संयुक्त-परिवार-व्यवस्था के कई प्रमाण मिलते हैं। व्यवसाय और उद्योग श्रेणियों के रूप में संगठित थे। नाप की इकाइयों में खारि, खंडी, गोणी, घटी, भरक इत्यादि के नाम मिलते हैं। गांगेयदेव ने बैठी हुई देवी की शैली के सिक्के चलाए। ये तीनों धातुओं में उपलब्ध हैं। यह शैली उत्तरी भारत की एक प्रमुख शैली बन गई और कई राजवंशों ने इसका अनुकरण किया।

धर्म के क्षेत्र में सामान्य प्रवृत्ति समन्वयवादी और उदार थी। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र को समान पूजा होती थी। विष्णु के अवतारों में कृष्ण के स्थान पर बलराम ही अंकित किए जाते थे। विष्णु की पूजा का अत्यधिक प्रचलन था किंतु शिव-पूजा उससे भी अधिक जनप्रिय थी। चेदि राजवंश के देवता भी शिव थे। युवराजदेव प्रथम के समय में शैवधर्म का महत्व बढ़ा। उसने मत्तमयूर शाखा के कई शैव आचार्यों को चेदि देश में बुलाकर बसाया और शैव मंदिरों और मठों का निर्माण किया। कुछ शैव आचार्य राजगुरु के रूप में राज्य के राजनीतिक जीवन में महत्व रखते थे। गोलकी मठ में ६४ योगिनियों और गणपति की मूर्तियाँ थीं। वह मठ दूर दूर के विद्वानों और धार्मिकों के आकर्षण का केंद्र था और उसकी शाखाएँ भी कई स्थानों में स्थापित हुई थीं। ये मठ शिक्षा के केंद्र थे। इनमें जनकल्याण के लिये सत्र तो थे ही, इनके साथ व्याख्यानशालाओं का भी उल्लेख आता है। गणेश, कार्तिकेय, अंबिका, सूर्य और रेवंत की मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। बौद्ध और जैन धर्म भी समृद्ध दशा में थे।

चेदि नरेश दूर दूर के ब्राह्मणों को बुलाकर उनके अग्रहार अथवा ब्रह्मस्तंब स्थापित करते थे। इस राजवंश के नरेश स्वयं विद्वान् थे। मायुराज ने उदात्तराघव नाम के एक नाटक और संभवतः किसी एक काव्य की भी रचना की थी। भीमट ने पाँच नाटक रचे जिनमें स्वप्नदशानन सर्वश्रेष्ठ था। शंकरगण के कुछ श्लोक सुभाषित ग्रंथों में मिलते हैं। राजशेखर के पूर्वजों में अकालजलद, सुरानंद, तरल और कविराज चेदि राजाओं से ही संबंधित थे। राजशेखर ने भी कन्नौज जाने से पूर्व ही छः प्रबंधों की रचना की थी और बालकवि की उपाधि प्राप्त की थी। युवराजदेव प्रथम के शासनकाल में वह फिर त्रिपुरी लौटा जहाँ उसने विद्धशालभंजिका और काव्यमीमांसा की रचना की। कर्ण का दरबार कवियों के लिये प्रसिद्ध था। विद्यापति और गंगाधर के अतिरिक्त वल्लण, कर्पूर और नाचिराज भी उसी के दरबार में थे। बिल्हण भी उसके दरबार में आया था। कर्ण के दरबार में प्रायः समस्यापूरण की प्रतियोगिता होती थी। कर्ण ने प्राकृत के कवियों को भी प्रोत्साहन दिया था।

कलचुरि नरेशों ने, विशेष रूप से युवराजदेव प्रथम, लक्ष्मणराज द्वितीय और कर्ण ने, चेदि देश में अनेक भव्य मंदिर बनवाए। इनके उदाहरण पर कई मंत्रियों और सेनानायकों ने भी शिव के मंदिर निर्मित किए। इनमें से अधिकांश की विशेषता उनका वृत्ताकार गर्भगृह है। इनकी मूर्तियों की कला पर स्थानीय जन का प्रभाव स्पष्ट है। ये मूर्तिफलक विषय की अधिकता और भीड़ से बोझिल से लगते हैं।

सं० ग्रं०—वासुदेव विष्णु मिराशी : इंसक्रिप्शंस ऑव दि कलचुरि-चेदि एरा; आर० डी० बनर्जी : दि हैहयाज ऑव त्रिपुरी ऐंड देयर मान्यूमेंट्स।

[ल० गो०]

चेनारायपाटन नगर, मैसूर राज्य के हसन जिले में बेंगलूरु से दक्षिण-पूर्व ३५ मील की दूरी पर बेंगलूरु से मैसूर जानेवाली रेलवे लाइन पर स्थित है। यह नगर आसपास के क्षेत्रों का व्यापारिक केंद्र है। यहाँ विशेषकर चावल तथा तेलहन की मंडी है। इसकी जनसंख्या ६, ६१३ (१९६१) है। [उ० सिं०]

चेन्नगिरि स्थिति : १४° १' उ० अ० तथा ७५° ५६' पू० दे०। नगर मैसूर राज्य के शिवमोगा (Shimoga) नगर से करीब २३ मील दूर उत्तर में बागेपुर-चित्रदुर्ग-सड़क पर स्थित है। यहाँ चेन्नगिरि तालुके के प्रधान कार्यालय भी हैं। इसकी जनसंख्या ७, ८९२ (१९६१) है। [उ० सिं०]

चेवियाट पहाड़ियाँ (Cheviot Hills) स्थिति : ५५° २८' उ०अ० तथा २° ८' प० दे०। चेवियाट पहाड़ियाँ इंग्लैंड और स्कॉटलैंड की सीमा पर उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम में फैली हुई हैं। ये श्रेणियाँ प्राचीन शिस्ट, लाल बलुआ पत्थर, ग्रेनाइट तथा अन्य प्रकार की कड़ी चट्टानों से निर्मित हैं। लावा द्वारा निर्मित चट्टानें भी इस श्रेणी में मिलती हैं। प्रत्येक स्थल पर इन पहाड़ियों की ऊँचाई समान नहीं है।

इसकी न्यूनतम ऊँचाई १,६०० फुट तथा अधिकतम ऊँचाई २,६७६ फुट है। अधिकतम ऊँचाई चेवियाट श्रेणी में मिलती है जो मुख्यतया ग्रेनाइट से बनी हुई है, और जिसपर 'पीट' (peat) का जमाव है। इन श्रेणियों की ढाल दक्षिण और उत्तर की ओर अधिक है। संपूर्ण पहाड़ी क्षेत्र दुर्गों आदि के भग्नावशेषों से भरा हुआ है जिनसे इंग्लैंड तथा स्कॉटलैंड में होनेवाले प्राचीन युद्धों का स्मरण हो आता है। [उ० सिं०]

चेम्सफ़ोर्ड, फ्रेडरिक जान नैपियर थिसाइज़र (जन्म १२ अगस्त, १८८६—मृत्यु २ अप्रैल, १९३३, लंदन, उपाधि—प्रथम विस्काउंट) आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के एक प्रतिभावान् स्नातक और ख्यातिनामा ब्रिटिश प्रशासक थे। भारत के वाइसराय (१९१६–२१) बनने के पूर्व आप क्रमशः क्वींसलैंड (१९०५–१९०९) और न्यू साउथवेल्स (१९०९-१३) में सफल गवर्नर रह चुके थे। भारतवर्ष में आपने 'माटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों' (१९१८) को कार्यान्वित किया। उनका बहिष्कार करनेवाले कांग्रेसियों, 'स्वतंत्रता की राष्ट्रीय माँग, सत्याग्रह और खिलाफत आंदोलन को कुचलने के लिये आपने रौलेट ऐक्ट (१९ मार्च, १९१९) लागू किया। फलतः पंजाब में जलियावाला बाग के लोमहर्षक हत्याकांड और उत्पीड़क दमन नीति से क्षुब्ध जनता का रोष गांधी जी के असहयोग आंदोलन में प्रकट हुआ। 'खिलाफत' को सैन्यबल देनेवाले अफगान अमीर से रुष्ट होकर दंडस्वरूप चेम्सफोर्ड ने उसको सरकारी सहायता और भारत से शस्त्रास्त्र आयात करने की सुविधा बंद कर दी। सेवानिवृत्त होने पर ब्रिटिश सरकार ने आपको उच्च उपाधियाँ देकर संमानित किया। चेम्सफोर्ड ने मजदूर मंत्रिमंडल में एडमिरल्टी के प्रथम 'लार्ड' (१९२४) और न्यूसाउथवेल्स के एजेंट जनरल (१९२६–२८) के रूप में भी कार्य किए। [शि० गो० ना०]

चेय्यर मद्रास राज्य के चेंगलपट्टु जिले में बंगाल की खाड़ी के कारोमंडल के किनारे पर स्थित है। नगर के पूर्व में नमक बनाने का कार्य होता है। बकिंघम नहर नगर के निकट से जाती है। इस नगर की जनसंख्या ६,६२६ (१९६१) है। [उ० सिं०]

चेर केरल का प्राचीन नाम था। उसमें आधुनिक त्रावणकोर, कोचीन, मलाबार, कोयंबत्तूर और सलेम (दक्षिणी) जिलों के प्रदेश संमिलित थे। द्रविड़ अथवा तमिल कहलानेवाले पांड्य, चोल और चेर नाम के तीन क्षेत्र दक्षिण भारत की सर्वप्रथम राजनीतिक शक्तियों के रूप में दिखाई देते हैं। अत्यंत प्रारंभिक चेर राजाओं को वानवार जाति का कहा गया है। अशोक ने अपने साम्राज्य के बाहर दक्षिण की ओर के जिन देशों में धर्मप्रचार के लिये अपने महामात्य भेजे थे, उनमें एक था केरलपुत्र अर्थात् चेर (देखिए शिलाभिलेख द्वितीय और त्रयोदश)। संगम युग (लगभग १०० ई० से २५० ई० तक) का सबसे पहला चेर शासक था उदियंजेराल (१३० ई०) जिसे संगम साहित्य में बहुत बड़ा विजेता कहा गया है। उसे अथवा उसके वंश को महाभारत की घटनाओं से जोड़ा गया है। उसका पुत्र नेडुंजेराल आदन भी शक्तिशाली था। उसने कुछ यवन (रोमक) व्यापारियों को बलात् रोककर धन वसूल किया, अपने सात समकालिक राजाओं पर विजय प्राप्त की और अधिराज (इमयवरंबन) की उपाधि धारण की। उसका छोटा भाई कुट्टुवन भी बड़ा भारी विजेता था, जिसने अपनी विजयों द्वारा चेर राज्य की सीमा को पश्चिमी पयोधि से पूर्वी पयोधि तक फैला दिया। आदन के पुत्र शेंगुट्टुवन के अनेक विवरण सुप्रसिद्ध संगम कवि परणर की कविताओं में मिलते हैं। वह एक कुशल अश्वारोही था तथा उसके पास संभवतः एक जलबेड़ा भी था। इस वंश के कुड्डक्को इरंजेराल इरुंपोडई (१९० ई०) ने चोलों और पांड्यों से युद्ध कर कई दुर्गों को जीता तथा उनकी धन-संपत्ति भी लूटी। किंतु उसके बाद के मांदरंजेराल इरुंपोडई नामक एक राजा को (२१० ई०) पांड्यों से मुँह की खानी पड़ी। इन चेर राजाओं की राजधानी वंजि थी, जिसके आधुनिक स्थान की ठीक ठीक पहचान कर सकना कठिन है। विद्वानों में इस विषय पर बड़ा मतभेद है। आदन उदियंजेराल का वंश कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित कुलसंघ का एक उदाहरण माना जाता है। कुलसंघ में एक राजा मात्र का नहीं अपितु राजपरिवार के सभी सदस्यों का राज्य पर शासन होता है।

तीसरी शती के मध्य से आगे लगभग ३०० वर्षों का चेर इतिहास अज्ञात है। पेरुमाल उपाधिधारी जिन राजाओं ने वहाँ शासन किया, वे भी चेर के निवासी नहीं, अपितु बाहरी थे। सातवीं आठवीं शती के प्रथम चरण में पांड्यों ने चेर के कोंगु प्रदेश पर अधिकार कर लिया। अन्य चेर प्रदेशों पर भी उनके तथा अन्य समकालिक शक्तियों के आक्रमण होते रहे। चेर राजाओं ने पल्लवों से मित्रता कर ली और इस प्रकार अपने को पांड्यों से बचाने की कोशिश की। आठवीं नवीं शती का चेर राजा चेरमान् पेरुमाल अत्यंत धर्मसहिष्णु और कदाचित् सर्वधर्मोपासक था। अनेक विद्वानों के मत में उसके शासनकाल के अंत के साथ कोल्लम अथवा मलयालम् संवत् का प्रारंभ हुआ (८२४–२५ ई०)। उसके समय में अरबी मुसलमानों ने मलाबार के तटों पर अपनी बस्तियाँ बसा लीं और वहाँ की स्त्रियों से विवाह भी किया, जिनसे मोपला लोगों की उत्पत्ति हुई। चेरमान् पेरुमाल स्वयं भी लेखक और कवि था। उसके समकालिक लेखकों में प्रसिद्ध थे शंकराचार्य, जो भारतीय धर्म और दर्शन के इतिहास में सर्वदा अमर रहेंगे। पेरुमाल ने अपने मरने के पूर्व संभवतः अपना राज्य अपने सभी संबंधियों में बाँट दिया था। नवीं शती के अंत में चेर शासक स्थाणुरवि ने चोलराज आदित्य के पुत्र परांतक से अपनी पुत्री का विवाह कर चोलों से मित्रता कर ली। स्थाणुरवि का पुत्र था विजयरागदेव। उसके वंशजों में भास्कर रविवर्मा (१०४७–११०६) प्रसिद्ध हुआ। किंतु राजराज प्रथम और उसके उत्तराधिकारी चोलों ने चेर का अधिकांश भाग जीत लिया। मदुरा के पांड्यों की भी उसपर दृष्टि थी। आगे रविवर्मा कुलशेखर नामक एक चेर राजा ने थोड़े समय के लिये अपने वंश की खोई हुई कुछ शक्ति पुनः अर्जित कर ली, पांड्य-पल्लव क्षेत्रों को रौंदा तथा अपने को सम्राट् कहा। वह एक कुशल शासक और विद्वानों का आश्रयदाता था। कोल्लम् (क्विलान) उसकी राजधानी थी।

मध्ययुग और उसके बाद का चेर इतिहास बहुत स्पष्ट नहीं है। कालांतर में वह पुर्तगाली, अन्य योरोपीय आक्रमणकारियों, ईसाई धर्मप्रचारकों और भारतीय रजवाड़ों की आपसी प्रतिस्पर्धा का विषय बन गया। अंग्रेजी युग में ट्रावणकोर और कोचीन जैसे देशी राज्य बचे तो रहे किंतु उनके पास अपनी कोई स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति नहीं थी।

विद्या और साहित्य की सेवा में नंबूदरी ब्राह्मण परंपरया अग्रणी थे। उनमें यह प्रथा थी कि केवल जेठा भाई विवाह कर घरबार की चिंता करता था। शेष सभी छोटे भाई पारिवारिक चिंताओं से मुक्त होकर साधारण जनता में विद्या का प्रचार और स्वयं विद्याध्ययन में लगे

रहते थे। आर्यवंशी कुरुनंदडक्कन (नवीं शती) नामक वहाँ के शासक ने वैदिक विद्याओं के प्रचार के लिये एक विद्यालय और छात्रावास की स्थापना हेतु एक निधि स्थापित की थी। वह विद्यालय दक्षिणी त्रावणकोर में पार्थिवशेखरपुरम् के एक विष्णुमंदिर में लगता था। वास्तव में उस क्षेत्र के सभी मठ और सत्र अपने अपने ढंग से गुरुकुलों का काम करते थे।

सं० ग्रं० — नीलकंठ शास्त्री : ए हिस्ट्री ऑव साउथ इंडिया; दि एज ऑव इंपीरियल कन्नौज, भा० विद्याभवन। [वि० पा०]

सांस्कृतिक दशा — तामिल साहित्य के इतिहास में तृतीय संगम की रचनाओं में से एत्तुथाकै में आठ संग्रह हैं। इनमें चौथे संग्रह पदित्रुपात्तु में दस-दस पदोंवाली दस कविताएँ थीं। इन कविताओं में से पहली और आठवीं उपलब्ध नहीं है। शेष आठ कविताएँ चेर राजाओं के युद्धों और गुणों से संबंधित हैं। इनसे चेर राज्य में तमिल संस्कृति की कई विशेषताओं का ज्ञान होता है।

वंशगत राजतंत्र ही राज्य का प्रचलित स्वरूप था। उस काल में कुछ छोटे सामंत शासक भी थे जो परिस्थिति के अनुसार प्रमुख राज्यों की अधीनता स्वीकार करते या उनसे युद्ध करते थे। राज्य को वंश की पारिवारिक संपत्ति माना जाता था जिसमें वंश के सभी वयस्क पुरुष भाग लेते थे। एक स्थल पर कहा गया है कि संसार राजा का अनुकरण करता और प्रजा के सत्कार्यों से राजा की आयु बढ़ती है। राजा का कर्तव्य है कि प्रजा के जीवन को सुखमय बनाकर उन्हें बाहर जाकर बसने से रोके और विजित देश की प्रजा को पुनर्वासित करे। शासक के लिये विजिगीषु का आदर्श था। सात राजाओं पर विजय एक उच्च पद था जिसके सूचक के रूप में विजित राजाओं के मुकुट की माला धारण की जाती थी। विशेष शक्तिशाली राजाओं के लिये दिग्विजय के द्वारा चक्रवर्ती का पद प्राप्त करने का आदर्श था। युद्धकला में दुर्गों का विशेष महत्व था। दुर्गों की प्राचीर, उनके द्वार और पर्वतदुर्ग तथा समुद्रदुर्ग आदि कई प्रकार के दुर्गों का उल्लेख मिलता है। सैनिकों के शरीर के लिये व्याघ्रचर्म के परिधान होते थे। युद्ध के नगाड़ों की पूजा की जाती थी। उस समय यह विश्वास था कि युद्ध में मरे सैनिकों को वीरस्वर्ग प्राप्त होता है। वीरों की स्मृतियों में पत्थर गाड़ने और उनकी पूजा करने का चलन था। युद्ध में शूरता के आदर्शों के संबंध में कई नियम और विश्वास प्रचलित थे। सैनिकों में अदरख और पुष्प की माला पहनने का विशिष्ट चलन था। राज्य की नौशक्ति भी संगठित थी।

सांस्कृतिक जीवन की प्रमुख विशेषता उसका मिश्रित स्वरूप थी जिसमें तमिल और आर्य दोनों ही तत्व वर्तमान थे। तमिल कवियों को आर्य परंपरा के अनुवृत्तों और दार्शनिक तथा धार्मिक विचारों का ज्ञान था। ऋणत्रय के विचार का भी उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार संस्कृत के काव्यसमयों और वर्णनशैली की कुछ रूढ़ियों का भी उपयोग दिखलाई पड़ता है।

कवियों ने भूमि की उर्वरा शक्ति के गुणगान गाए हैं। चेर देश अपनी भैंस, मिर्च, हल्दी और मूल्यवान् पत्थरों के लिये प्रसिद्ध था। संभवतः अग्निमान के वंश ने ही गन्ने की खेती को इस प्रदेश में आरंभ किया था। पशुओं में सिंह के भी उल्लेख हैं, किंतु संभवतः चेर कवियों को उसका कोई निजी ज्ञान नहीं था। उल्लेख है कि रेशम और ऊन के वस्त्र कताई के बनते थे (नूलाक्कलिंगम्)। आर्थिक जीवन में विनिमय का अत्यधिक उपयोग होता था। चेर देश में, पूर्वी तट की तुलना में, अधिक बंदरगाह थे जिनका रोम के व्यापारियों से अधिक गहरा संबंध था। मुशिरि प्रमुख बंदरगाह था जहाँ यवन व्यापारी सोने से लदे अपने बड़े जहाजों में आते थे और विनिमय में प्राप्त मिर्च और समुद्र तथा पर्वतों की दुर्लभ उपजों के साथ लौटते थे। पुरनानुरु में धान के बदले मछली और मिर्च की गाँठों के विक्रय का और बड़े जहाजों से छोटे जहाजों पर सामान लादने का वर्णन है। अन्य प्रसिद्ध बंदरगाहों में बंदर और कोडुमणम् के नाम उल्लेखनीय हैं। जहाजों की मरम्मत में निपुण कारीगरों का उल्लेख मिलता है। रोम के साथ चेर देश के इस लाभकारी व्यापार संबंध की पुष्टि पेरिप्लस और अधिक संख्या में देश में उपलब्ध हुई चाँदी तथा सोने की रोम की मुद्राओं से होती है।

उच्च वर्ग की स्त्रियाँ कंचुकि पहनती थीं और केशों में लेप करती थीं। केश को पाँच श्रेणियों में बाँटने का चलन था। स्त्रियों को समाज में पर्याप्त स्वतंत्रता प्राप्त थी। विधवाओं की दशा बुरी थी। सती का प्रचलन विशेष रूप से उच्च और सैनिक वर्गों में था। केशकर्तन करने के लिये कैंचियों का उल्लेख मिलता है। घड़ों में रखी ताड़ी और हरी बोतलों में आयात हुई शराब के कई उल्लेख मिलते हैं। इनका स्वाद सुधारने के लिये इनमें कभी कभी अदरख मिला दिया जाता था। ब्राह्मण मांस और ताड़ी का सेवन करते थे। ग्रीष्म की तपन से बचने के लिये राजा अपने मित्रों और संबंधियों के साथ नदी के तट पर कुंजों की शरण लेते थे।

इस साहित्य से उपलब्ध सामाजिक व्यवस्था का चित्र संतुलन, संतोष और सुख का है। नृत्य और संगीत जनजीवन के महत्वपूर्ण अंग थे। अपनी वीणा (याल), ढोल (पदलै) और अन्य वाद्यों के साथ नर्तकों के दल विचरण करते थे। नर्तकियों (विरलि) के नृत्यों का आयोजन रात्रि को दीपों के प्रकाश में होता था। नर्तक गीत के भावों के अनुरूप अथवा कभी ताल के लिये अपने हाथों को हिलाते थे। तुणंगै और अल्लियम् नृत्यों में स्त्री और पुरुष दोनों भाग लेते थे।

धार्मिक और नैतिक जीवन में यद्यपि उत्तर भारत का प्रभाव स्पष्ट है, तथापि उसमें समाज के विभिन्न वर्गों के पृथक् उत्पत्तिवाले कई तत्व संमिश्रित मिलते हैं। वैदिक यज्ञों का पूर्ण प्रभाव दिखलाई पड़ता है। राजाओं और सामंतों के द्वारा अनेक यज्ञों के अनुष्ठान का उल्लेख आता है। ब्राह्मण अपने घरों में तीनों प्रकार की अग्नि का प्रतिस्थापन करते थे और नियमित रूप से देवताओं का यज्ञ और अतिथि का भोजन से सत्कार करते थे। ब्राह्मणों को दान सदैव जल के अर्पण के साथ दिया जाता था। अन्य धर्मों की तुलना में ब्राह्मण धर्म का अत्यधिक प्रसार था। कई देवी देवताओं की पूजा के उल्लेख मिलते हैं। विष्णु की पूजा में तुलसीपत्र, घंट और अन्य उपकरणों का उल्लेख आता है। विष्णु की अनुकंपा प्राप्त करने के लिये उनके उपासक उनके मंदिर में उपवास करते थे। कार्त्ति से सुब्रह्मण्य की उत्पत्ति और उनके शौर्य के कृत्य विशेष रूप से असुर शूर का अंत कवियों के प्रिय विषय थे। शेंगुट्टुवन् के लिये कहा जाता है कि उसने पत्तिनि संप्रदाय को प्रवर्तित किया जिसमें कण्णगि की आदर्श पत्नी के रूप में पूजा होती थी। शिशु में विशेष गुणों के विकास के लिये उसके जन्म से पूर्व कुछ धार्मिक अनुष्ठान और कृत्य किए जाते थे। शवों को जलाने और विशेष बर्तनों में गाड़ने का प्रचलन था। अधिकांश कविताओं में जीवन के भौतिक सुखों के उपभोग का आशावादी दृष्टिकोण दिखलाई पड़ता है। लोगों के शकुन, ज्योतिष और दूसरे विश्वासों के उल्लेख मिलते हैं।

इन कविताओं में कवि और उसके संरक्षक राजा के संबंध, विशेष रूप से राजा द्वारा उसे मान और उपहार के अनेक उल्लेख हैं जो अतिशयोक्ति की संभावना के बाद भी सिद्ध करते हैं कि साहित्य का सृजन राज्य के संरक्षण में पल्लवित हो रहा था। कई राजा स्वयं विद्वान् थे। इस युग के प्रसिद्ध कवियों में परनर्, कपिलर्, पलै कौथम्नार और काक्कै पादिनिआर प्रमुख हैं। प्रसिद्ध ग्रंथ शिलप्पदिकारम् के रचयिता इलंगो अडिगल को चेर नरेश शेंगुट्टुवन् का भाई कहा जाता है।

समुचित प्रमाणों के अभाव में संगम युग के अनंतर चेर साम्राज्य की सांस्कृतिक स्थिति के विषय में भी क्रमबद्ध इतिहास नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि बाद के युगों में भी पश्चिमी देशों के साथ व्यापार में इनका उल्लेखनीय भाग था। विदेशी धर्मों के प्रति सहिष्णु व्यवहार प्रारंभ से ही चेर राज्य की विशेषता रही है। ईसाई यात्री कॉस्मस ने छठी शताब्दी में क्विलन में एक चर्च देखा था। स्थानीय जनता में से भी कुछ लोगों ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया था और उनको ताम्रपत्रों के द्वारा अनुदान दिए गए थे जिनमें सर्वप्रथम ७७४ ई० का है। नवीं शताब्दी में अरब मलाबार तट पर आकर बसे और उन्होंने स्थानीय स्त्रियों से विवाह किया। इनकी संतान माप्पिल्ल (मोप्ला) के नाम से प्रसिद्ध हुई। चेर नरेश चेरमान् पेरुमाल के संबंध में कथा है कि उसने इस्लाम स्वीकार किया था और मक्का की यात्रा की थी जहाँ से उसने भारतीय नरेशों को मुसलमानों का आदर करने और मस्जिदें बनवाने के लिये कहा था। यहूदियों के विषय में भी कहा जाता है कि वे पहली शताब्दी ईसवी में आए थे। चेर नरेश भास्कर रविवर्मन् ने जोजेफ़ रब्बन और उसके अनुवर्तियों को दान में कुछ भूमि और विशेषाधिकार दिए थे। वैष्णव आल्वारों में कुलशेखर चेर देश का ही निवासी था। प्रसिद्ध दार्शनिक शंकराचार्य भी चेर के थे। केरल दक्षिणाचार संप्रदायों के केंद्र के रूप में भी प्रसिद्ध था।

केरल की स्त्रियों का केशविन्यास उस युग में प्रसिद्ध था। कुछ केरल राजकन्याओं का विवाह पांड्य और चोल नरेशों से हुआ था। चोल और लंका में कई अधिकारी केरल के ही थे। राजादित्य का गुरु चतुरानन पंडित केरल का ही था। लंका में केरल के सैनिक राजसेना में काफी संख्या में रहते थे।

कुलशेखर ने महाभारत पर आधारित दो नाटक रचे—तप्ती संवरण और सुभद्रा धनंजय। रविवर्मन् ने १३वीं शताब्दी में प्रद्युम्नाभ्युदय नाटक की रचना की।

केरल में प्रचलित तमिल ही शताब्दियों में स्वतन्त्र विकसित होकर मलयालम् भाषा बनी। इसने भी संस्कृत-प्रभाव को ग्रहण किया और संस्कृत-उच्चारणों को व्यक्त करने के लिये प्राचीन वट्टेलुत्तु लिपि के स्थान पर तमिलग्रंथ पर आधारित एक नई लिपि का विकास किया। मलयालम् में प्रचलित पलैयपाट्टु नाम के लोकगीतों में से कुछ प्राचीन भी हैं। रामायण के युद्धकांड पर आधारित रामचरितम् को १२वीं और १३वीं शताब्दी के बीच तिरुवांकुर के किसी नरेश की कृति कहा जाता है। रामकथापाट्टु की रचना इसके बाद हुई है। मलयालम की प्रथम उपलब्ध साहित्यिक रचना उण्णुनीलि संदेशम् (१४वीं शताब्दी) में रविवर्मन् कुलशेखर का उल्लेख है। चाक्कियार्कूत्तु नाम के नृत्य गीतों के कारण साहित्यिक रचनाओं को प्रोत्साहन मिला और कई चंपू ग्रंथों की रचना हुई। [ल० गो०]

चेरमान् पेरुमाल यह केरल के पेरुमाल नरेशों में अंतिम था। इसका राज्यकाल ७४२ से ८२६ ई० तक था। इसकी गणना इसके मित्र सुंदरमूर्ति के साथ प्रसिद्ध शैव नायनारों में होती है। एक मंदिग्ध कथा है कि चेरमान् पेरुमाल ने इस्लाम स्वीकार कर लिया था और मक्का की यात्रा की थी जहाँ से उसने भारत के शासकों को मुसलमानों का सत्कार करने और मस्जिद बनवाने का संदेश भेजा। लेकिन इस कथा को ऐतिहासिक सत्य नहीं माना जा सकता। वास्तव में चेरमान् पेरुमाल ने चिदंबरम् की यात्रा की थी। संभावना है कि ८२४-२५ ई० में प्रारंभ होनेवाला कोल्लम अथवा मलयालम् संवत्, जिसका संबंध कुछ विद्वान् कोल्लम (क्विलन) की स्थापना से करते हैं, वास्तव में चेरमान् पेरुमाल के शासन के अंत से संबंधित था। [ल० गो०]

चेरापूँजी पश्चिमी असाम में खासी और जयंतिया पहाड़ी जिले में शिलांग से ३३ मील दक्षिण-दक्षिण-पश्चिम प्रसिद्ध गाँव है, जो खासी पहाड़ियों की दक्षिणी ढाल पर बसा है। पहले यही खासी रियासत की राजधानी थी, सन् १८६४ ई० में राजधानी को यहाँ से हटाकर शिलांग में कर दिया गया। इसके पास में कोयले की खानें हैं। यहाँ पर चावल, कपास और शीशम का व्यापार होता है। संसार में सबसे अधिक वर्षा होनेवाले स्थानों में इसकी गणना होती है। १८६१ ई० में ९०५" और १८७३ ई० केवल २८३" वर्षा हुई, यहाँ की वार्षिक वर्षा का औसत ४२६' है। सर्वाधिक वर्षा की दृष्टि से दूसरा महत्वपूर्ण स्थान हवाई द्वीप में वियालेल (Wailaleala) चोटी है, जहाँ की वार्षिक वर्षा का औसत ४७६" है। अत्यधिक वर्षा का कारण इसकी स्थिति है; यह मैदान की ओर झुके हुए एक पठार पर बसा है, जिससे बंगाल की खाड़ी से चलनेवाला मानसून का पूरा लाभ इसे मिलता है। [कृ० मो० गु०]

चेरु भारत की एक प्राचीन जाति। कुछ विद्वान् इसे नागजाति के अंतर्गत मानते हैं। 'शेरिंग' का मत है कि प्रसन्न के नागा नागपुर के आदिवासी और नागवंशीय राजपूतों से इस जाति का घनिष्ठ संबंध है। भारत के उत्तरपूर्व भाग में ही हमेशा इनकी बस्ती रही है। मध्ययुग में शेरशाह को इस जाति के मुखिया से उलझना पड़ा था। अब इस जाति का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रह गया है। मिश्रित वर्णों में यह जाति अब भी विद्यमान है।

चेरुश्शेरि नंपूतिरि मलयालम कवि। ये मलाबार में पैदा हुए थे तथा उदयवर्मन् के दरबार में रहते थे जो १५वीं शताब्दी में एक छोटे से राज्य कोलत्तुनाड पर शासन करते थे। ये कृष्णगाथा के लेखक हैं। कविता में श्रीकृष्ण के विषय की उन कहानियों का वर्णन है जिनका संबंध उनके जन्म से लेकर अंत तक है। महाकाव्य का समस्त ४७ कहानियाँ श्री भगवद्भागवतम् से ली गई हैं। चेरुश्शेरि ने सभी रसों के विकास में समान रूप से ध्यान दिया है। महाकाव्य अपने माधुर्य एवं प्रसाद गुण के लिये प्रसिद्ध है। श्रीकृष्ण के बालकाल का विस्तृत निरूपण, रासक्रीड़ा एवं ऋतु इत्यादि के वर्णन पूर्णरूपेण लोकप्रिय हैं। नंपूतिरि होने के कारण विनोद स्वाभाविक था और

यह अनेक उद्धरणों में व्यक्त है। कहीं कहीं उनमें मृदु व्यंग भी है। चेरुश्शेरि ने अपने पूर्ववर्ती लेखकों द्वारा प्रयुक्त संस्कृत एवं तमिल छंदों का बहिष्कार किया है और अपने महाकाव्य को गाथावृत्त में लिखा है जिसे 'मंजरि' कहते हैं।

कृष्णगाथा प्रथम महाकाव्य है जिसे विशुद्ध एवं सरल मलयालम में लिखा गया है। कवि ने कविता की भाषा को बोलचाल की भाषा के निकट लाया है। सबसे प्रथम इन्होंने ही यह प्रदर्शित किया कि मलयालम भाषा में मानव भावनाओं की सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को व्यक्त करने की क्षमता है। उनका काव्य अलंकारों से परिपूर्ण है और वह अपने छंदों के लिये विशेष रूप से प्रशंसा के पात्र हैं। [जी० बा० तं०]

चेर्नीशेव्स्की, निकोलाई ग्राविलोविच (२४ जुलाई, १८२८–२६ अक्टूबर, १८८९) रूस के महान् विचारक, क्रांतिकारी लेखक, विद्वान् तथा प्रशासक। आपका जन्म एक पुरोहित परिवार में सारातफ में हुआ। सन् १८५४ से 'रूव्रेमेन्निक' नामक एक समाचारपत्र मे काम करते थे। आगे चलकर इन निर्देशित पथ पर यह पत्र समाजवादी क्रांति के मुखपत्र के रूप में परिवर्तित हो गया।

चेर्नीशेव्स्की ने कृषकों को भूमिगत पराधीनता से मुक्त करने का महान् व्रत धारण कर क्रांति आंदोलन में भाग लिया। पहले आप छिपे रहे, बाद में जार सरकार ने आपको ७ जुलाई, १८६२ को बंदी बनाकर पेत्रोपाल्वोवस्की के एक दुर्ग में रखा। लगभग २० वर्षों तक साइबेरिया में निर्वासित जीवन व्यतीत किया।

आपका दार्शनिक दृष्टिकोण धर्म तथा आदर्शवाद का विरोधी रहा। आपने जड़वाद और पदार्थविद्या को बल दिया। रूस की जनता आपको इतिहास का निर्माता मानती है। इतिहास में आपके व्यक्तित्व का प्रभाव समयानुकूल था।

'क्या करना है' उपन्यास में सर्वप्रथम चेर्नीशेव्स्की ने रूसी साहित्य मे पेशेवर क्रांति की रूपरेखा की नींव डाली।

कार्ल मार्क्स तथा फ्रेडरिक एंगेल्स ने आपके लेखों को पढ़ा और आपको एक महान् विद्वान् की आख्या दी। व्ला० ई० लेनिन ने भी आपके लेखों की काफी सराहना की तथा आपको जनसत्ताक समाजवादियों में एक प्रमुख व्यक्ति माना। [स्ते० शौ० ले०]

चेलना प्राचीन भारतीय सम्राट् बिंबिसार की पत्नी। यह वैशाली के राजा चेटक की पुत्री थी। बिंबिसार ने अपनी वृद्धावस्था में मुग्ध होकर इसे ब्याहा था। बिंबिसार बौद्ध धर्मावलंबी था और चेलना जैन धर्मावलंबी। कहा जाता है कि चेलना ने बुद्धिचातुर्य से बिंबिसार को जैनधर्म स्वीकार करने को बाध्य कर दिया था।

चेलिनी, बेन्वेनुतो (१५००-१५७१) इटली के इस धातुकार शिल्पी का जन्म फ्लोरेंस में १ नवंबर, १५०० ई० में हुआ। अपने पिता के विरोध करने पर भी उसने कई स्थानों पर स्वर्णकार्य किया। इस बीच चेलिनी की बनाई सुंदर कलाकृतियों में रजत रत्नपटी, दीपाधार, अलंकृत कलश तथा जिदा और हंस आकृतिवाले स्वर्णरत्न उल्लेखनीय हैं। १५२७ ई० में चेलिनी रोम गया जिसपर फ्रांस राजपरिवार के मुख्य सेनाधिकारी शार्ल बुर्नो ने आक्रमण कर दिया। चेलिनी के प्रमाण से स्वयं उसने ही बुर्नो को गोली मारकर पोप क्लेमंट सप्तम के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की। वहाँ से फ्लोरेंस लौटने पर उसने अनेक पदकों का निर्माण किया जिनमें स्वर्ण पदक पर उभारे हरकुलिज और निमियन सिंह, पृथ्वी उठाए आतलस सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। स्वर्ण और रजत के अतिरिक्त चेलिनी ने प्रतिमा निर्माण का भी कार्य किया जिनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण मेदूसा मस्तकधारी पर्सियस की कांस्य प्रतिमा थी। रजत की जूपितर की आदमकद प्रतिमा, बिदो आल्तोवित्ती का कांस्य ऊर्ध्वांग, तथा मार्स की विशाल प्रतिमा उसकी मूर्तियों में मुख्यतम हैं। उसकी अन्य कलाकृतियों में पोप क्लेमेंट के लिये बनाए सुंदर पदक, फ्रांसिस प्रथम अंकित पदक और कार्डिनल पेड्रो बेंबो का पदक उल्लेखनीय है। इन सभी पर चेलिनी का नाम भी उत्कीर्ण है।

चेलिनी की आत्मजीवनी भी अनुपम साहित्यिक कृति है। चेलिनी ने स्वर्णकारों, शिल्पियों और डिजाइनों के ऊपर भी अनेक ग्रंथ लिखे। ६५ वर्ष की अवस्था में पियरा द साल्वादोरे पारिगी को उसने ब्याहा। ७१ वर्ष की आयु में १३ फरवरी, १५७१ ई० को फ्लोरेंस में चेलिनी की मृत्यु हो गई। [क० ना० शु०]

चेसापीक खाड़ी स्थिति : ३८° १०' उ० अ० तथा ७६° १५' प० दे०। यह खाड़ी पूर्वी संयुक्त राज्य अमरीका में, मेरीलैंड और वर्जिनिया राज्यों में है। इसकी लंबाई २०० तथा चौड़ाई ४ से लेकर ४० मील तक है। यह मेरीलैंड को दो भागों में विभाजित करती है। यह संयुक्त राज्य अमरीका के अंध महासागर तट का सबसे बड़ा प्रवेशद्वार है। १२ मील चौड़े इसके मुहाने के उत्तर में केप चार्ल्स तथा दक्षिण में केप हेनरी हैं। अनेक नौगम्य नदियाँ इस खाड़ी में गिरती हैं जिनमें उत्तर की ओर सस्क्युवेहेना (Susquehanna), पश्चिम की ओर पोटोमैक (Potomac), रैपहैक (Rappahannock) और यार्क (York) तथा दक्षिण-पश्चिम में जेम्स (James) प्रमुख हैं। इस खाड़ी में सीप का भंडार है और शिकारी चिड़ियाँ मिलती हैं। [शां० ला० का०]

चेसापीक तथा डिलावेयर संयुक्त राज्य अमरीका के पूर्वी भाग में चेसापीक और डिलावेयर खाड़ियों को मिलानेवाली यह नहर १९ मील लंबी है, किंतु एक पुल से दूसरे पुल की वास्तविक दूरी केवल १० मील है। यह २५० फुट चौड़ी तथा २७ फुट गहरी है। इसके निर्माण में लगभग एक करोड़ डालर व्यय हुए थे। चेसापीक खाड़ी से डिलावेयर खाड़ी को मेरीलैंड तथा डिलावेयर होते हुए सीधा जलमार्ग इस नहर द्वारा उपलब्ध है। [शां० ला० का०]

चेस्टर, एलन आर्थर (१८३०–१८८६) संयुक्त राज्य अमरीका के २१वें राष्ट्रपति। जन्म ५ अक्टूबर, १८३० को फेयरफील्ड (वर्मांट) में हुआ। यूनियन कालेज से शिक्षा प्राप्त कर इन्होंने १८५३ में न्यूयार्क में वकालत प्रारंभ की। यह दास प्रथा के घोर विरोधी थे। गृहयुद्ध के समय सैनिक सेवा में भी रहे। १८८० में यह उपराष्ट्रपति निर्वाचित हुए और गारफील्ड की मृत्यु के पश्चात् १९ सितंबर, १८८१ से १८८५ तक राष्ट्रपति रहे। इन्होंने अमरीका के जहाजी बेड़े का पुनर्गठन किया। [चं० भू० त्रि०]

चेस्टरफील्ड, फिलिप स्टैनहोप कुशल राजनीतिज्ञ, मुत्सद्दी, अर्ल तथा विद्वान्। इनका जन्म २२ सितंबर, १६९४ को लंदन में हुआ। शिक्षा कैंब्रिज में प्राप्त की। अपने पिता के बाद चेस्टरफील्ड के चौथे अर्ल बनने पर वे १७१६ से १७२६ तक 'सेंट जरमेंस के सदस्य' के रूप

में हाउस ग्रॉव् कामंस में रहे। सन् १७३० में हाउसहोल्ड के लार्ड स्टीवार्ड नियुक्त हुए। ग्रभी तक उन्होंने वालपोल का समर्थन किया था। राज्यकर संबंधी एक कानून के विरोध में मत देने के कारण फिलिप डारमर स्टैनहोप को पदच्युत कर दिया गया। इसके बाद विरोधी दल के सदस्य बनकर वे वालपोल के कट्टर वैरी बन गए। सन् १७४४ ई० में पैलहम मंत्रिमंडल में शामिल हुए। १७४५ में लार्ड लैफ्टिनेंट तथा १७४६ में राज्य के एक मुख्य सचिव बने। इनकी घनिष्ठता स्विफ्ट, पोप, बोलिंगब्रोक आदि से थी। 'लेटर्स टु हिज (नेचुरल) सन' तथा 'लेटर्स टु हिज ग्रैंड सन एंड सक्सेसर' नामक दो पुस्तकें लिखीं। उनकी मृत्यु २४ मार्च, १७७३ ई० को हुई। मृत्युपरांत सन् १८२३ में लार्ड हंटिंग्डन को लिखे पत्र तथा सन् १९२७ में उनकी कविताएँ प्रकाशित हुई। फिलिप डारमर स्टेनहोप के संबंध में क्रेन (१९०७), कावसन (१९२५) की पुस्तकें तथा सेंट बोव, सी० कोलिंस, ग्रास्टीन डाबसन के निबंध प्राप्त हैं। [ला० सिं०]

चेस्टर्टन, गिलबर्ट कीथ ब्रिटिश पत्रकार और साहित्य समालोचक। आपका जन्म लंदन में २९ मई, १८७४ को हुआ। विद्यार्थी काल से ही आपकी रुचि साहित्यरचना की ओर थी और श्रेष्ठ काव्य रचना पर आपको 'मिल्टन' पुरस्कार मिला। कई साहित्यिक पत्रपत्रिकाओं में आप नियमित रूप से पुस्तकों की समीक्षाएँ लिखते रहे जिससे अंग्रेजी-साहित्यजगत् में शीघ्र ही प्रतिष्ठित हो गए। आपकी आलोचनाशैली व्यंग्यपूर्ण थी। राबर्ट ब्राउनिंग, चार्ल्स डिकेंस, आर० एल० स्टीवेंसन और जार्ज बर्नार्ड शॉ पर आलोचनात्मक ग्रंथ लिखकर आपने विशेष ख्याति पाई। आपकी प्रतिभा बहुमुखी थी। साहित्यालोचक के साथ ही आप कुशल कवि, नाटककार और जासूसी उपन्यास लेखक भी थे। सन् १९२२ में रोमन कैथलिक धर्म अपनाया। आपकी मृत्यु १४ जून, १९३६ को हुई। आपकी प्रमुख रचनाएँ दि 'वाइल्ड नाइट', 'दि डिफेंडेंट,' 'ट्वेल्व टाइप्स', 'हेरेटिक्स', 'दि नेपोलियन ग्रॉव नटिंग हिल', 'दि क्लब ग्रॉव क्वियर ट्रेडर्स', 'दि मैन हू वाज थर्सडे', 'दि बाल एंड दि क्रास,' 'दि मैन हू न्यू टू मच', 'कैथोलिक एमेज,' 'दि एवरलास्टिंग मैन' आदि हैं।

चेहरा दे० 'मास्क'।

चैंपलेन झील स्थिति ४४° ३०' उ० अ० तथा ७३° २०' प० दे०। संयुक्त राज्य अमरीका के न्यूयार्क और वरमांट राज्य तथा कैनाडा के क्वीबेक प्रांत के बीच सीमा बनाती हुई यह झील उत्तर की ओर छह मील तक कैनाडा में फैली हुई है। उत्तर-दक्षिण की संपूर्ण लंबाई लगभग १२५ मील तथा चौड़ाई ४०० गज से १४ मील तक है। अधिकतम गहराई ६०० फुट है। इसके ६०० वर्ग मील के विस्तृत क्षेत्र में ५० से अधिक द्वीप हैं। झील की ऊँचाई ९० फुट है। पूर्व की ओर ग्रीन और पश्चिम की ओर ऐडिरांडैक पर्वत इसे घेरे हैं। रिशलू (Richelieu) नदी द्वारा झील का पानी उत्तर को ओर सेंट लारेंस में जाता है। चैंबली (Chambly) नहर और न्यूयार्क स्टेट बाज नहर इस झील से मिलकर न्यूयार्क तथा मांट्रियल नगरों के बीच जलमार्ग की सुविधा प्रदान करती है। झील के तट पर स्थित मुख्य नगर बर्लिंगटन और प्लैट्सबर्ग हैं। इसपर पक्की सड़क का एकमात्र पुल है जो क्राउन प्वाइंट और चिमनी प्वाइंट को मिलाता है। यह १९२९ ई० में बनाया गया था। फ्रांसीसी जिज्ञासु पर्यटक सैमुएल डी चैंपलेन (Samuel de Champlain) ने इस झील का पता १६०९ ई० में लगाया था। कैनाडा और अंग्रेजों के उपनिवेशों के बीच, जो आगे चलकर संयुक्त राज्य अमरीका बने, आक्रमण का एकमात्र मार्ग होने के कारण प्रारंभिक उपनिवेश युग के अनेक युद्ध इस भाग में हुए थे। [शां० ला० का०]

चैंसलर, रिचर्ड—(जन्म ?—मृत्यु नवंबर १०, १५५६) महान् अंग्रेज नाविक तथा अन्वेषक। इनका लालन पालन सर फिलिप सिडनी के पिता के घर बड़े लाड़ प्यार के साथ हुआ था। महासागर तथा नौविद्या में बचपन से ही उन्हें बड़ी अभिरुचि थी। सन् १५५३ में सर ह्यूग विलोबी के नेतृत्व में भारत के मार्ग की जानकारी के लिये जो सामुद्रिक अभियान हुआ था उसमें चैंसलर को प्रधान नाविक होने तथा 'एडवर्ड बोना वेंचर' नामक जहाज का नेतृत्व करने का अवसर प्राप्त हुआ। मार्ग में लोफोटेन द्वीपसमूह के समीप तूफान में फँस जाने के कारण जहाज एक दूसरे से अलग हो गए। चैंसलर वार्डोएहुस (Vardoehuus) नामक पूर्व निर्धारित स्थान पर एक सप्ताह तक अन्य जहाजों की प्रतीक्षा करते रहे। तदनंतर वह श्वेत सागर (White sea) में एकाकी आगे बढ़े और वहाँ लंगर डालकर मास्को की यात्रा की। वहाँ उनका बड़ा आदर सत्कार हुआ और उन्होंने इंग्लैंड की ओर से एक व्यापारिक संधि की जिसके अनुसार अंग्रेजी जहाजों को व्यापार करने की सुविधा प्राप्त हुई। इंग्लैंड लौटकर उन्होंने अपनी रिपोर्ट दी जिसके आधार पर मस्कोवी कंपनी (Muscovy Company) का सृजन हुआ। १५५५ की ग्रीष्म ऋतु में वे अपने पुराने जहाज पर पुनः श्वेत सागर गए और मास्को की दूसरी यात्रा की। जुलाई, १५५६ में स्वदेश लौटते समय ऐबरडीन-शिर से कुछ दूर ऐबर्डोर में तूफान में फँस जाने के कारण उनका जहाज नष्ट हो गया और १० नवंबर, १५५६ को उनका देहांत हो गया। उन्होंने रूस के विषय में एक विवेचनात्मक निबंध भी लिखा। [का० ना० सिं०]

चैड स्थिति : ८° ०' से २३° ०' उ० अ० तथा १४° ०' से २४° ०' पू० दे०। यह मध्य अफ्रीका में स्थित गणतंत्र राज्य है। इसके पूर्व में सूडान, पश्चिम में नाइजीरिया, नाइजर गणतंत्र तथा कामरून, उत्तर में लिबिया तथा दक्षिण में मध्य अफ्रीका गणतंत्र स्थित हैं। इसका क्षेत्रफल १२,८३,००० वर्ग किमी० तथा जनसंख्या २६,८०,००० (१९६१) है। यहाँ की राजधानी तथा प्रशासनिक नगर फोर्ट लैमी है। यहाँ की औसत वार्षिक वर्षा ७४.९३ सेंमी० है जो मुख्यतः जुलाई से लेकर अक्टूबर तक होती है। यहाँ ताड़ तथा उष्णकटिबंधीय अन्य वनस्पतियाँ होती हैं। हाथी, शेर, चीता, भैंसा यहाँ के जंगलों में पाए जाते हैं। ऊँट, भेड़ तथा अन्य पशुपालन यहाँ का मुख्य उद्यम है। यहाँ का मुख्य कृषि उत्पादन रुई है। इसके अतिरिक्त गेहूँ, धान, मिलेट (millet) अर्थात् सावाँ, कुटकी बाजारा, ज्वार, मंडवा यहाँ उगाए जाते हैं। चैड झील क्षेत्र के अतिरिक्त संपूर्ण चैड में मिलेट मुख्य खाद्यान्न है। स्फटिक तथा सोना वादाइ क्षेत्र में, खनिज तैल एरडिस क्षेत्र में तथा यूरेनियम एवं थोरियम ईनेडी क्षेत्र में मिलते हैं। यातायात और विद्युच्छक्ति की कमी के कारण चैड उद्योग धंधों में पिछड़ा हुआ है। चैड झील यहाँ का मुख्य आकर्षण है। यहाँ के अधिकांश निवासी नीग्रो तथा मुस्लिम धर्मावलंबी हैं। [अ० ना० मे०]

जाति—मध्य अफ्रीका का नवोदित गणराज्य। राजधानी फोर्ट-लैमी है। यहाँ के निवासी मुख्यतः नीग्रो जाति का हैं। अरबों के निरंतर प्रवेश से अब यहाँ कई उपजातियों का समिश्रण हो गया है। सलामत (Salamat) और तुंगुर (Tungur) जैसी जातियाँ अंतर्विवाहों

से अरबों के घनिष्ट संपर्क में आई। तिबेस्ती (Tibesti) प्रदेश की टेडा (Teda) तथा टुबू (Tubu) जाति संभवतः मिस्र से आई थी।

भाषा — यों तो यहाँ की सभी प्रजातियाँ भिन्न भिन्न भाषाएँ बोलती हैं, लेकिन इस्लाम के प्रसार से अरबी का प्रयोग बढ़ता गया। संविधान में फ्रांसीसी भाषा ही मान्य है।

धर्म — उत्तरी चैड के निवासी मुख्यतः मुसलमान हैं। वर्षों से यहाँ प्रोटेस्टैंट और कैथोलिक मिशनरियाँ काम कर रही हैं।

इतिहास — चैड में योरोपीयों के आने के पूर्व का इतिहास अव्यवस्थित है। १८२२ में डेनहम और क्लैपरटन नामक अंग्रेज यात्रियों ने इसकी खोज की। १८९० के पश्चात् चैड झील के दक्षिण और पूर्वी क्षेत्रों पर फ्रांसीसियों ने अधिकार कर लिया। रबाह अमोनो नामक अफ्रीकी नेता ने फ्रांसीसी राज्य का विरोध किया लेकिन १९१३ तक एक संधि के अनुसार शांति स्थापित हो गई। चैड की वर्तमान सीमाएँ फ्रांस तथा जर्मनी (१८९४) और फ्रांस तथा ब्रिटेन (१८९८) द्वारा निर्धारित की गई थीं।

प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्धों के बीच चैड ने शनैः शनैः प्रगति की। १९४५ तक चैड फ्रांसीसी संघ का अंग हो गया था। २८ सितंबर, १९५८ को उसने फ्रांसीसी संघ के अंतर्गत स्वायत्त गणराज्य का प्रस्ताव पास किया। २९ नवंबर, १९५८ को यह गणराज्य घोषित हो गया। ११ अगस्त, १९६० को देश ने पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त की। फ्रांकोइस टोम बाल्बे इसके प्रथम राष्ट्रपति और प्रधान मंत्री हुए।

चैडविक, जेम्स इंग्लैंड के भौतिक वैज्ञानिक थे। इनका जन्म २० अक्टूबर, सन् १८९१ को मैंचेस्टर में हुआ। इन्होंने मैंचेस्टर विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई। सन् १९११ के बाद लगभग १० वर्ष तक इन्होंने देश विदेश की प्रयोगशालाओं में परमाणु विघटन संबंधी समस्याओं पर शोधकार्य किए। सन् १९२३ में ये कैवेंडिश प्रयोगशाला में सहायक डायरेक्टर और १९३५ में लिवरपूल विश्वविद्यालय में प्रोफेसर नियुक्त हुए। सन् १९२७ में ये रायल सोसाइटी के सदस्य चुने गए। सन् १९४५ में इन्हें 'सर' की उपाधि मिली। सन् १९४८ से ये मास्टर ऑव गोन्विल ऐंड केयस कालेज, कैंब्रिज, के पद पर कार्य कर रहे हैं।

अनुसंधानकार्य — सन् १९३०–३२ में बोथे और बेकर ने बेरिलियम पर ऐल्फा कणों की बौछार फेंककर यह दिखलाया कि इनके आघात से बेरिलियम में से शक्तिशाली किरणें निकलती हैं। सन् १९३२ में चैडविक ने इन किरणों के गुणों की परख करके यह सिद्ध किया कि वास्तव में ये प्रकाशकिरण अथवा गामाकिरण की जाति की नहीं है, बल्कि ये नन्हें नन्हें कणों की बौछार हैं, जिनमें किसी तरह का भी विद्युदावेश वर्तमान नहीं है। इन विद्युद्रहित कणों का भार प्रोटॉन के भार के बराबर होता है। चैडविक ने इन्हें 'न्यूट्रॉन' नाम दिया। न्यूट्रॉन की खोज ने परमाणु नाभिक की रचना का सही रूप भी प्रदान किया कि हीलियम के नाभिक में २ प्रोटॉन तथा न्यूट्रॉन हैं, तथा लीथियम के परमाणु नाभिक में ३ प्रोटॉन और ४ न्यूट्रॉन हैं। संक्षेप में यदि तत्व की परमाणुसंख्या ८ और परमाणुभार, अ (A) है, तो उसके नाभिक में स (Z) प्रोटान होंगे और अ–स (A–Z) न्यूट्रॉन उपस्थित होंगे। परमाणु विघटन तथा परमाणु विखंडन (Fission Fission) के प्रयोगों के लिये न्यूट्रॉन विशेष महत्वपूर्ण साबित हुए, क्योंकि विद्युद्रहित होने के कारण ये परमाणु नाभिक में सहज ही प्रविष्ट कर जाते हैं। न्यूट्रॉन की खोज के उपलक्ष में चैडविक को सन् १९३५ में नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया। [भ० प्र० श्री०]

चैतन्यश्री और उनका संप्रदाय बंगाल के नवद्वीप या नदिया नगर में फाल्गुनी पूर्णिमा, सं० १५४२ वि० को श्री चैतन्य महाप्रभु का प्राकट्य हुआ, जब चंद्रग्रहण लगा हुआ था। इनके पिता का नाम जगन्नाथ उपनाम पुरंदर मिश्र तथा माता का शचीदेवी था। इनका बाल्यकाल का नाम विश्वंभर था पर यह निमाई, गौर, गौरांग, गौरहरि नामों से भी ख्यात थे। संन्यास लेने पर श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु नाम हुआ। बाल्यकाल ही से इनमें अलौकिकता प्रकट होती थी तथा यह बड़ी चंचल प्रकृति के थे। बालक्रीड़ा में उपद्रव बहुत करते थे। पाँच वर्ष की अवस्था में शिक्षा प्रारंभ हुई तथा नवें वर्ष में उपनयन संस्कार हुआ। इन्होंने पंडित गंगादास से दो वर्ष व्याकरण तथा दो वर्ष साहित्य का अध्ययन किया। दो वर्ष तक विष्णु मिश्र से स्मृति तथा ज्योतिष और सुदर्शन मिश्र से दो वर्ष षड्दर्शन पढ़ा। इसके अनंतर वासुदेव सार्वभौम की पाठशाला में न्याय तथा तर्कशास्त्र पढ़कर श्रीमदद्वैताचार्य से वेदों तथा भागवत का अध्ययन किया एवं विद्यासागर की उपाधि पाई शास्त्रार्थ करने में यह अत्यंत पटु थे और इनके तर्कों को सुनकर इनके सहपाठी क्या अच्छे अच्छे विद्वान् स्तंभित हो जाते थे। दीधिति के ग्रंथकर्ता रघुनाथ शिरोमणि इनके सहपाठी थे और इन दोनों ने न्याय पर ग्रंथ लिखे थे। इस विषय में इनकी विलक्षण बुद्धि देखकर रघुनाथ ने इनके ग्रंथ की पांडुलिपि माँगकर पढ़ी, जब दोनों नाव पर बैठे गंगा पर वायुसेवन कर रहे थे। उन्होंने इस ग्रंथ को देखकर समझ लिया कि इसके रहते उनके ग्रंथ का कुछ भी आदर न होगा और दीर्घ निश्वास लिया। यह देखकर इन्होंने उनका घबराहट का कारण पूछा और उसे सुनकर कहा कि भाई दुखी न हो, तुम्हारी प्रतिष्ठा में हम बाधक नहीं होंगे और यह विषय भी परमार्थ का नहीं है अतः हम इसे गंगा को समर्पित कर देते हैं। यह कहकर इन्होंने अपनी पुस्तक गंगा में फेंक दी। इस प्रकार सर्वविद्यानिष्णात होने पर १६ वर्ष की अवस्था में सं० १५५८ में इन्होंने अपनी पाठशाला खोली और व्याकरण पढ़ाने लगे। इनका अध्ययन इतना विशद था कि इनके यहाँ छात्रों की भीड़ लगी रहती। इसी वर्ष इनका प्रथम विवाह वल्लभाचार्य की पुत्री लक्ष्मीप्रिया जी से हुआ। श्री माधवेंद्रपुरी के शिष्य ईश्वरपुरी यात्रा करते हुए नवद्वीप आकर कुछ दिन ठहरे और इनके उपदेशों से श्री गौर में प्रेमभक्ति का स्फुरण हुआ। सं० १५६० में श्री गौर ने पूर्व बंग की यात्रा की और अपने पूर्वजों के स्थान श्रीहट्ट गए। इसी यात्राकाल में नदिया में इनकी प्रथम पत्नी का सर्पदंशन से शरीरांत हो गया। यात्रा से लौटने पर इन्होंने अपनी पाठशाला आरंभ की और दिग्विजयी विद्वान् केशवकश्मीरी को साहित्यचर्चा में परास्त कर भक्त बना दिया। इससे यह नदिया के श्रेष्ठतम विद्वान् माने जाने लगे। सं० १५६१ में इनका द्वितीय विवाह श्री सनातन मिश्र की पुत्री विष्णुप्रिया जी से हुआ। इसके दूसरे वर्ष श्री गौर गया गए और वहाँ पिता का पिंडदानादि कर विष्णुपद का दर्शन करने गए। यहीं एकाएक इनमें ऐसा परिवर्तन हो गया कि यह उद्भट विद्वान् से विनम्र भक्त हो गए। पहले पहल यहीं प्रेमविभोर हो ये मूर्छित हुए और नृत्य कीर्तन किया। गया ही में ईश्वरपुरी से इन्होंने दशाक्षरी मंत्र की दीक्षा ली तथा नवद्वीप लौट आए। किंतु अब ये प्राध्यापक न रहकर हरिभक्ति के व्याख्याता हो गए। यह हरिनाम संकीर्तन तथा भगवद्भक्ति की शिक्षा तथा प्रचार करने में दत्तचित्त हुए और नित्यानंद, अद्वैताचार्य आदि सभी आकर

इसमें संमिलित हो गए। सं० १५६५ में श्री गौर के महाभाव का प्रकाश हुआ और यह भगवदवतार माने जाने लगे। इनके हरिनाम संकीर्तन तथा श्रीकृष्ण की प्रेमभक्ति का ऐसा प्रचार बढ़ा कि वंग देश ही नहीं सारे उत्तरी भारत का धार्मिक जगत् इससे प्रभावित हो उठा।

प्रेमभक्ति तथा नामकीर्तन के अतिरिक्त श्रीकृष्ण की ब्रजलीला के रसास्वादन का भी इस भक्तमंडली में विशेष प्रचार हुआ और तत्संबंधी लीलास्थली वृंदावन का इसमें बड़ा महत्व था। उस समय वह घोर वन हो रहा था और सभी लीलाओं के स्थान अस्पष्ट तथा अज्ञात हो रहे थे। श्री गौर ने सं० १५६५ में पहले लोकनाथ गोस्वामी को भुगर्भ गोस्वामी के साथ वृंदावन भेजा कि वे वहाँ रहकर लीलास्थलों की खोज करें। इसके अनंतर भी अपने अनेक शिष्यों को इस कार्य तथा भक्ति के प्रचार के लिये वहाँ भेजा तथा बाद में स्वयं भी गए।

यद्यपि यह दीक्षा लेने के अनंतर नाम मात्र के गृहस्थ बने रहे तथापि हृदय से कृष्ण के अनुरक्त भक्त तथा संसार से विरक्त हो चुके थे। अंत में यह निश्चय कर कि गार्हस्थ्य धर्म त्यागकर तथा संन्यासी होने पर ही वह अपने मत का देशव्यापी प्रचार कर सकेंगे, इन्होंने सं० १५६६ में केशव भारती से संन्यास की दीक्षा ले ली और इनका संन्यासाश्रम का नाम श्रीकृष्ण चैतन्य हुआ। माता की आज्ञा से इन्होंने नीलाचल जगन्नाथपुरी में रहना स्वीकार किया और वहीं से स्वमत का प्रचार करने लगे। यहाँ उन्होंने प्रकांड विद्वान् सार्वभौम भट्टाचार्य को स्वज्ञान से प्रभावित कर भक्त बना लिया तथा अवधूत नित्यानंद गोस्वामी को प्रभावित कर गार्हस्थ्य धर्म स्वीकार करने एवं वंग देश में भक्ति का प्रचार करने के लिये पुरी से गृह लौटा दिया। इसके अनंतर श्री गौर दक्षिणयात्रा को निकले। मार्ग में राय रामानंद से भेंट हुई और उनसे आध्यात्मिक चर्चा करने के अनंतर यह श्रीरंगपत्तन पहुँचे। यहाँ वेंकट भट्ट के गृह पर चातुर्मास्य व्यतीत किया तथा उनके पुत्र गोपाल भट्ट गोस्वामी को सं० १५६८ में अपना अनुगत बनाया। यही गोपाल भट्ट गोस्वामी तथा इनकी शिष्यपरंपरा उत्तरी भारत से गुजरात तक इस मत की मुख्य प्रचारक हुई तथा इन्होंने स्वसेव्य श्री राधारमण जी का प्रतिष्ठापन वृंदावन में किया। इस प्रकार दो वर्षों में दक्षिणयात्रा समाप्त कर यह नीलाचल लौट आए। यहाँ से यह एक बार वंगदेश में गए और उसके अनंतर सं० १५७२ में ब्रज की यात्रा को चले। काशी, प्रयाग होते हुए यह मथुरा पहुँचे और अन्वेषण कर वहाँ के सभी लुप्त लीला-स्थानों के दर्शन किए। यहाँ इनका भावावेश बहुत बढ़ गया था अतः इनके अनुचरों ने इन्हें प्रयाग में मकरस्नान करने को उद्यत किया। प्रयाग में रूप गोस्वामी को उपदेश देकर वृंदावन भेजा। यहीं अड़ैल में श्री वल्लभाचार्य जी से भेंट हुई और इसके अनंतर यह काशी आए। यहाँ से सनातन गोस्वामी को भी उपदेश देकर वृंदावन भेजा तथा प्रसिद्ध विद्वान् मायावादी प्रकाशानंद सरस्वती को अपने तर्क से प्रभावित कर अनुगत बनाया। इसके बाद यह नीलाचल चले आए। इस प्रकार यात्रा कर इन्होंने प्रेमभक्ति की पवित्र धारा सारे भारत में प्रवाहित कर दी तथा हरि-कीर्तन से सारे वातावरण को प्रभावित किया। यह भक्त का अनुपम आदर्श उपस्थित करने को अवतरित हुए थे और उसे पूर्ण रूप से चरि-तार्थ कर दिया। निर्मल चरित्र, सभी पर समान रूप से दया तथा सभी से प्रेमपूर्ण व्यवहार के कारण जो भी इनके संपर्क में आया वह इनका भक्त बन गया। यात्रा से सं० १५७३ के अंत में लौटने पर यह सं० १५९० तक नीलाचल में ही रहे और यहीं यह इसी वर्ष अप्रकट हो गए। इन १८ वर्षों में अहर्निश हरिकीर्तन, भागवतादि का पाठ तथा भजन गायन होता रहा और अनेक प्रसिद्ध भक्त विद्वान् इनके साथ बराबर रहे।

श्री चैतन्य ने स्वयं किसी संप्रदाय के प्रचार का कभी आग्रह नहीं किया। यह केवल कलियुग के जीवों के हितार्थ कृष्ण-भक्ति-तत्व, हरिनाम संकीर्तन तथा सब जीवों पर समान रूप से दया करना, इन्हीं का निरंतर उपदेश देते रहे और भगवद्विरह में किस प्रकार भक्त दुःखी रहता है, इसका उन्होंने आदर्श उपस्थित किया। इनके अनुगत विद्वान् भक्तों ने इनके दिव्य उपदेशों तथा सारगर्भित प्रवचनों का आधार लेकर संस्कृत में अनुपम ग्रंथों की रचना की और असम से लेकर गुजरात तक इनके उपदेशों का प्रचार किया। यद्यपि इस संप्रदाय के उदय तथा प्रचार का प्रारंभ गौड़ प्रदेश में हुआ था तथापि इसके तात्विक एवं शास्त्रीय विवेचन का कार्य वृंदावन ही से हुआ और ये सब ग्रंथ प्रसार के लिये यहीं से श्रीनिवासाचार्य की रक्षा में गौड़ भेजे गए। इसी प्रकार उड़ीसा में प्रचारार्थ श्री श्यामानंद जी ग्रंथों को लेकर गए तथा खूब प्रचार किया। बंगाल में बंगला भाषा में भी अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचनाएँ हुईं और बाद में होती रहीं। बंगाल में श्री नित्यानंद अद्वैताचार्य आदि की वंशपरंपरा तथा उनके शिष्य वर्ग ने इनका निरंतर प्रचार किया और कर रहे हैं। अनेक गौड़ीय मठ स्थान स्थान पर स्थापित हो गए हैं तथा प्रचार कर रहे हैं। वृंदावन में श्री गोपालभट्ट गोस्वामी की शिष्यपरंपरा उन्हीं के सेव्य ठाकुर श्री राधारमण जी के मंदिर के घेरे में रहती हुई प्रारंभ से अबतक इसके प्रचार में दत्तचित्त है। वृंदावन जयपुर राज्य के प्रभावक्षेत्र में था और वैष्णव विरोधियों ने वहाँ के राजा जयसिंह से इस संप्रदाय को अवैदिक बतलाया। इसपर सं० १७७५ के लगभग जयपुर में एक धर्मसंमेलन हुआ, जिसमें इस संप्रदाय के वयोवृद्ध विद्वान् विश्वनाथ चक्रवर्ती भी निमंत्रित हुए। इन्होंने अपने शिष्य बलदेव विद्याभूषण को जयपुर भेजा जिन्होंने स्वमत की बड़ी विद्वत्ता से पुष्टि की तथा एतत्संबंधी वेदांतभाष्य के अभाव को इन्होंने 'गोविंदभाष्य' लिखकर पूरा किया। इस संप्रदाय के सफल प्रचार का मूल कारण यही था कि श्री चैतन्य महाप्रभु तथा उनके अनुगत भक्तों ने विद्वत्ता के साथ साथ आडंबरहीन निर्मल भक्तिभावना, शुद्ध आचरण तथा त्यागपूर्ण जीवन से जनता पर ऐसा प्रभाव डाला कि वह वशीभूत हो गई। इनके प्रेमभक्ति के प्रचार से ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक में कृष्णभक्ति का अपूर्व संचार हुआ और वे अगणित संख्या में उसी समय इस संप्रदाय के अनुगामी हो गए और होते जा रहे हैं।

[ब्र० र० दा०]

चैत्य संस्कृत 'चिता' से व्युत्पन्न (पालि 'चेतीय')। इस शब्द का संबंध मूलतः चिता या चिता से संबंधित वस्तुओं से है (चितायांभवः चैत्यः)। चिता स्थल पर या मृत व्यक्ति की पावन राख के ऊपर स्मृति-भवन-निर्माण अथवा वृक्षारोपण की प्राचीन परंपरा का उल्लेख ब्राह्मण, बौद्ध और जैन साहित्यों में हुआ है। रामायण, महाभारत और भग-वद्गीता में इस शब्द का प्रयोग पावन वेदी, देवस्थान, प्रासाद, धार्मिक वृक्ष आदि के लिये हुआ है—देवस्थानेषु चैत्येषु नागानाभालयेषु च (महा० ३.१९०-६७), प्रासादगोपुरसभाचैत्यदेव गृहादिषु, (भाग० ६–११२७), कश्चिच्चैत्यशतैर्जुष्टः (रामायण २-१००-४३); चैत्ययू-पांकिता भूमिर्यस्येयं सवनाकरा (महा० १-१-२२९)।

बौद्धों और जैनों में भिक्षु या संन्यासी के समाधिस्थल पर पावन स्मृति-भवन-निर्माण की परंपरा ही चल पड़ी थी। फलतः उनके

साहित्य में इस तरह के प्रसंगों का बहुशः उल्लेख हुआ है। धीरे धीरे इस शब्द का प्रयोग स्तूप के लिये होने लगा। बौद्ध धर्म के प्रचार और प्रसार के साथ चैत्यनिर्माण का प्रवेश अन्य देशों में हुआ। लंका में इसके लिये दागबा (सं० धातुगर्भ) और तिब्बती में दुगतेन शब्द प्रचलित हुए। चैत्य शब्द का प्रयोग कालांतर में किसी पावन स्थान, मंदिर, अस्थिपात्र अथवा पवित्र वृक्ष के लिये भी होने लगा।

आधुनिक पुराविद् इस शब्द का प्रयोग सामान्यतया बौद्ध या जैन मंदिर के लिये करते हैं यद्यपि बौद्ध वास्तु में एक विशिष्ट शैली में निर्मित उस भवन को चैत्यप्रासाद कहा जाता है जिसमें उपासना के लिये स्तूप प्रतिष्ठापित किए जाते थे। इस तरह चैत्यप्रासादों के निर्माण के मूल में भी वही धार्मिक भावना थी। फर्गुसन का मत है कि भाजा, नासिक, एलोरा, कार्ले आदि स्थानों के बौद्ध चैत्यप्रासाद गिर्जाघरों के काफी निकट हैं। उनकी रचनाशैली, वेदी या गर्भगृह, मंडप आदि में काफी समानता है, यद्यपि चैत्यों का निर्माण गिर्जाघरों के बहुत पहले से ही प्रारंभ हो गया था। गर्भगृह, मंडप और प्रदक्षिणापथ की रचनाशैली तथा चैत्यप्रासाद और हिंदू मंदिरों में भी विशेष समानता पाई जाती है। चैत्यप्रासाद के अर्धवृत्ताकार भाग में स्थापित स्तूप उपासना का केंद्र होता था। स्तूप के पार्श्व से प्रदक्षिणापथ जाता था जो उससे स्तंभों द्वारा पृथक् कर दिया जाता था। प्रासाद का आधार वृत्ताकार होता था।

अपने प्रारंभिक रूप में चैत्यप्रासाद काष्ठनिर्मित होते थे जिनका उल्लेख रामायण तथा बौद्ध और जैन साहित्यों में सामान रूप से हुआ है। कालांतर में इन्हें स्थायी रूप देने की भावना से प्रेरित निर्माताओं ने समूचे चैत्यप्रासाद की सजीव कल्पना ठोस चट्टानों में प्रारंभ कर दी। बड़े पर्वत की चट्टानें तराशकर उनमें कला का एक नया संसार रचा जाने लगा। उनके भीतर बड़े बड़े मंडप, स्तंभ, स्तूप, बनाए जाने लगे। लेखों में इन्हें सेलघर (शैलगृह), चेतीयघर (चैत्यगृह), सेलमंडप (शैलमंडप) आदि कहा गया है। यद्यपि प्रारंभ में इस दिशा में काष्ठनिर्मित चैत्यगृह का अंधानुकरण किया गया और लकड़ी के आधारों और जोड़ों को भी अनावश्यक ढंग से पत्थरों में भी उत्कीर्ण किया गया, जैसा कि भाजा, कोंदाने तथा कार्ले के भव्य चैत्यप्रासादों से स्पष्ट है, किंतु बाद में उस अनावश्यक रचनाविधान का परित्याग कर दिया गया। पश्चिमी भारत के बंबई के निकटवर्ती नासिक के दो सौ मील के क्षेत्र में इस तरह की लगभग ६०० चैत्य गुफाएँ हैं जिनका निर्माणकाल ई० पू० दूसरी सदी से सातवीं सदी के बीच है।

(कृ० ना० गु०)

चैथम १. द्वीपसमूह स्थिति : ४° ३०' द० अ० तथा १७६° ०' प० दे०। ज्वालामुखी उद्गार से बने चैथम द्वीप समूह न्यूजीलैंड के अंतर्गत हैं। ये न्यूजीलैंड के विलिंग्टन नगर से ५३० मील दूर हैं। इस भूभाग की रचना, वनस्पतियों तथा जीवजंतुओं का सादृश्य न्यूजीलैंड की रचना तथा वनस्पति इत्यादि से है। चैथम द्वीपसमूह में जैथमपिट और दक्षिणी-पूर्वी द्वीपसमूह इत्यादि संमिलित हैं। संपूर्ण क्षेत्रफल ३७२ वर्ग मील है। पॉलिनिशियाई शाखा के मोरियारी आदिवासी यहाँ १२०० ई० में न्यूजीलैंड से आकर बसे। चथम द्वीपसमूह (३४८ वर्ग मील) का प्रमुख नगर वैटांगी है। यहाँ का मुख्य व्यवसाय भेंड़ तथा पशुपालन और मछली का शिकार करना है। मछलियाँ आस्ट्रेलिया को निर्यात की जाती हैं। यहाँ की जनसंख्या ४७१ (१९५१) थी जिनमें २६६ मारि जाति के लोग थे।

२. नगर, स्थिति : ४२° २३' उ० अ० तथा ८२° १५' प० दे०। यह कैनाडा के ओंटेरिओ प्रांत में टेम्स नदी पर स्थित है। यहाँ से कैनेडियन पैसिफिक, कैनेडियन नेशनल तथा पेर मार्क्विट रेलें गुजरती हैं। यह नगर डेट्राएट से ४५ मील उत्तर-पूर्व तथा लंदन से ६७ मील दक्षिण-पश्चिम में है। इस स्थान का चुनाव तथा नामकरण गवर्नर जान ग्रेवस सिमको द्वारा १७९५ ई० में हुआ। चैथम नगर खाद्यान्न पशु तथा फल उत्पादन क्षेत्रों के मध्य स्थित है। यहां लकड़ी चीरने, आटा पीसने और ऊनी कपड़ों की मिलें हैं। इसके अतिरिक्त फाउंड्री और मशीन वर्कशाप भी हैं तथा चीनी, तंबाकू और डिब्बे बनाने के उद्योग हैं। निकट ही प्राकृतिक गैस पाई जाती है। नगर में बहुत से सुंदर भवन हैं जिनमें अस्पताल, कालेज और उरसुलिन परिषद् प्रमुख हैं। यहाँ की जनसंख्या २०,००० (१९५१) थी। [शां० ला० का०]

चैथम, विलियम पिट १७०८-१७७८ : चैथम के प्रथम अर्ल, इंग्लैंड के महान् राजनीतिज्ञ और प्रसिद्ध वक्ता विलियम पिट का जन्म वेस्टमिंस्टर के गोल्डेन स्क्वायर में संपन्न परिवार में १५ नवंबर, १७०८ को हुआ। पिता राबर्ट पिट प्रारंभ में कार्नवाल की एक बस्ती बोकनोक में रहते थे। ग्रामीण क्षेत्र के भद्र समाज में इस परिवार की गणना थी। बाबा टामस पिट १६८७ से १७०९ तक मद्रास में ईस्ट-इंडिया कंपनी के गवर्नर रहे। स्वदेश में कुछ जागीरों और बस्तियों का स्वामित्व प्राप्त कर उन्होंने समाज में ऊँचा स्थान बना लिया था। अपनी एक भ्रष्ट बस्ती ओल्ड सैरम के प्रतिनिधि के रूप में, वह कुछ समय पार्लमेंट के सदस्य भी रहे। १७०९ में उनकी मृत्यु के बाद उनके पुत्र विलियम पिट के पिता राबर्ट पिट उनकी संपत्ति और जायदाद के स्वामी हुए। ओल्ड सैरम के प्रतिनिधि के रूप में वह भी पार्लमेंट में पहुँच गए थे। राबर्ट पिट का विवाह संभ्रांत कुल की कन्या से हुआ था। कुछ समय से यह परिवार देश की राजधानी लंदन नगर में रहने लगा था। पिट छः भाई बहिनों के बीच माता पिता की चौथी संतान और दूसरे पुत्र थे। बचपन में उनकी देखरेख घर पर ही हुई। ११ वर्ष की आयु में विद्याध्ययन के निमित्त ईटन के प्रसिद्ध स्कूल में उनका प्रवेश हुआ। स्कूल का अध्ययन समाप्त कर उच्च शिक्षाप्राप्ति के लिये पिट १९वें वर्ष में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के ट्रिनिटी कालेज में चले गए। ऑक्सफोर्ड में प्राचीन ग्रीक और लैटिन विद्याओं का उन्होंने मननपूर्वक अध्ययन किया पर दोनों ही विद्यालयों में उनकी भावी प्रतिभा का कोई लक्षण व्यक्त नहीं हुआ। उनकी गणना असाधारण छात्रों में नहीं होती थी। पिट गठिया के रोग से त्रस्त थे। इस रोग ने उनको जीवन भर कष्ट दिया। रोग के कारण उनका अध्ययन कठिन हो गया। स्नातक की पदवी प्राप्त किए बिना ही वर्ष भर बाद उनको ऑक्सफोर्ड छोड़ना पड़ा। कुछ समय तक उन्होंने योरोप में भ्रमण किया और कुछ मास हालैंड के उट्रेक्ट विश्वविद्यालय में कानून के अध्ययन में बिताए। योरोप प्रवास की अवधि में उनके पिता की मृत्यु हो गई। परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। पिट के संमुख आजीविका की समस्या थी। वह स्वदेश लौट आए और शीघ्र ही दो सौ पौंड वार्षिक वेतन पर अश्वसेना में कौर्नेट के पद पर नियुक्त हो गए। उन्होंने उत्साहपूर्वक सैनिक शिक्षा प्राप्त की और कार्य में कभी शिथिलता न आने दी। सैनिक सेवा की अवधि में उन्होंने एक बार फिर योरोप की यात्रा की और अपने देश के कई राजनीतिज्ञों के संपर्क में आए। तत्कालीन सरकार की नीति और भ्रष्टाचार ने उनका ध्यान आकर्षित किया।

१७३५ के ओल्ड सैरम के प्रतिनिधि के रूप में पार्लमेंट में पहुँचने पर पिट ने विरोधी दल का साथ दिया। अगले वर्ष देश के भावी शासक वेल्स के राजकुमार फ्रेडरिक के विवाह के अवसर पर अपने पहले ही भाषण में उन्होंने सरकार की इतनी तीव्र आलोचना की कि तत्कालीन प्रधान मंत्री वालपोल ने उनको तुरंत सैनिक सेवा से निवृत्त कर दिया। वालपोल ने कहा था : 'अश्व सेना के इस कौर्नेट का मुँह हमें बंद करना चाहिए'। राजकुमार ने पिट को अपनी गृहसेवा में स्थान देकर आजीविका की समस्या से उसको मुक्त कर दिया। पार्लमेंट में सरकार की खरी टीका करने के प्रत्येक अवसर का पिट ने उपयोग किया। सरकार की शांतिवादी नीति का वह परम विरोधी था। पिट की साहसपूर्ण स्पष्टवादिता से वालपोल के पुराने विरोधियों को बल मिला। नए समवयस्क सदस्यों में भी कई ने उसका साथ दिया। वालपोल के समर्थकों की संख्या कम होती गई। एक बस्ती के सदस्य के निर्वाचन के मामले में पार्लमेंट में केवल एक अधिक मत प्राप्त होने पर १७४२ में वालपोल प्रधान मंत्री के पद से हट गए। कार्टरैट के नए मंत्रिमंडल का कार्य सँभालने के बाद पिट ने पार्लमेंट में वालपोल के कार्यों की अत्यंत कटु शब्दों में आलोचना की और उसपर अभियोग लगाकर कठोर दंड देने का प्रस्ताव किया। इस बीच राजा जार्ज द्वितीय ने वालपोल को अर्ल की पदवी देकर लार्ड सभा का सदस्य बना दिया। पिट का प्रस्ताव कार्यान्वित न हो सका किंतु ब्रंजविक के राजवंश की क्षुद्र जर्मन रियासतों के हित में, इंग्लैंड के धन के अपव्यय की सरकारी नीति का उसने तीव्र विरोध किया।

इंग्लैंड की मर्यादा की रक्षा और देश को विनाश से बचाने के उद्देश्य से पार्लमेंट में व्यक्त पिट के दृढ़ विचारों से मार्लबरो के ड्यूक की वृद्धा पत्नी इतनी प्रसन्न और प्रभावित हुई कि उसने १७४४ में मृत्यु से पूर्व अपनी वसीयत में दस हजार पौंड की रकम पिट के नाम कर दी थी। पिट को धन का विशेष मोह न था। राजनीतिक कार्यों में उसकी अधिक रुचि थी। राजकुमार की सेवा से मुक्त होकर पिट ने अब राजनीतिक क्षेत्र में देश की सेवा को अपने जीवन का प्रमुख उद्देश्य बना लिया। १७४४ में कार्टरैट-मंत्रिमंडल भंग हो गया। नए प्रधान मंत्री हैनरी पैलहम ने १७४६ में पिट को भी मंत्रिमंडल में स्थान देना चाहा। राजा पिट से अप्रसन्न था। उसने स्वीकृति नहीं दी। पिट के बिना कार्य जारी रखने के लिये पैलहम मंत्रिमंडल सहमत नहीं हुआ और किसी को मंत्रिमंडल बनाने में असमर्थ पाकर राजा को पैलहम का प्रस्ताव मानना पड़ा। पिट सेना के वेतनवितरक के पद पर नियुक्त हुए। इस पद के अधिकारी को परंपरागत प्रथानुसार वेतन पानेवालों से तथा अन्य प्रकार से पर्याप्त धनराशि प्राप्त होती थी। पिट की आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। किंतु इस पद की आठ वर्ष की अवधि में उसने कभी भी किसी से धन नहीं लिया। वह इस प्रथा को दोषपूर्ण मानता था और इसकी समाप्ति का समर्थक था। इस उत्तम आचरण से प्रजा के बीच उसकी लोकप्रियता और संमान में वृद्धि हुई। १७५४ के नवंबर मास में अपने ग्रैनविल मित्रों की एकमात्र बहिन हैस्टर से लंदन में पिट का विवाह हुआ। उसका वैवाहिक जीवन सुखमय रहा। वह अपनी पत्नी में अनुरक्त था। पत्नी का विश्वास, स्नेह और सहानुभूति उसे सदा मिलती रही। इंग्लैंड का एक और महान् राजनीतिज्ञ छोटा पिट इन दोनों का पुत्र था। इसी वर्ष हैनरी पैलहम की मृत्यु के बाद उसका भाई न्यूकासिल का ड्यूक टॉमस पैलहम प्रधान मंत्री नियुक्त हुआ। उसने मंत्रिमंडल में पिट को राज्यसचिव का पद दिया। अगले ही वर्ष हनोवर की रक्षा के लिये रूस और जर्मनी की रियासत हैस से संधि करने के सरकारी प्रस्ताव का पिट ने विरोध किया। उनकी दृष्टि में यह कार्य इंग्लैंड के हित में उचित नहीं था। विरोध के कारण उनको मंत्रिमंडल से हटा दिया गया। पिट अब कामंस सभा में विरोधी पक्ष के नेता बन गए। १७५६ में इंग्लैंड का फ्रांस से सप्तवर्षीय युद्ध छिड़ गया। प्रधानमंत्री युद्ध का सफलतापूर्वक संचालन न कर सके। मंत्रिमंडल के पूर्ण सहयोग के अभाव में उन्होंने वर्ष के अंत में पदत्याग कर दिया। डेवनशायर के ड्यूक के नए मंत्रिमंडल में पिट को फिर राज्यसचिव का पद दिया गया। पिट उत्साहपूर्वक कार्य में जुट गए। युद्ध की स्थिति में अनुकूलता लाना उनका मुख्य उद्देश्य था। स्कॉटलैंड के पहाड़ी इलाके की असंतुष्ट प्रजा को देशरक्षार्थ, इंग्लैंड की सेना में नियोजित कर इस अवधि में उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया। इसके वेतनभोगी जर्मन सैनिक विदा कर दिए गए।

पिट का मंत्रिमंडल और पार्लमेंट दोनों ही पर सर्वाधिक प्रभाव था। राजा को यह स्थिति पसंद न थी। उन्होंने वर्ष का अंत होने से पूर्व ही पिट को राज्यसचिव के पद से हटा दिया। पिट प्रजा की दृष्टि में ऊँचा उठ गया। लंदन और अन्य नगरों को कार्पोरेशनों ने पिट को अपने अपने नगरों की स्वतंत्रता प्रदान की। पिट के बिना डेवनशायर मंत्रिमंडल का कार्य ठप हो गया। राजा ने न्यूकासिल के ड्यूक को नया मंत्रिमंडल बनाने का कार्य सौंपा। पिट के बिना युद्धसंचालन में वह भी असमर्थ थे। राजा मंत्रिमंडल में पिट के संमिलित होने के अब भी विरोधी थे। पर उस समय की स्थिति से पिट के बिना मंत्रिमंडल बनाने के लिये कोई तैयार न था। राजा को झुकना पड़ा। न्यूकासिल के मंत्रिमंडल में पिट ने राज्यसचिव का पद ग्रहण किया। कामंस सभा में राजकीय पक्ष के नेतृत्व का भार भी उनको सौंपा गया। युद्ध में इंग्लैंड को विजयी बनाने की अपनी योग्यता और क्षमता में पिट को पूर्ण विश्वास था। इस संबंध में उन्होंने डेवनशायर के ड्यूक से कहा था कि केवल वही इस संकट से देश की रक्षा कर सकते हैं, और कोई नहीं। युद्ध में इंग्लैंड की स्थिति डावाँडोल थी। केवल योरोप में ही नहीं, भारत और उत्तरी अमरीका में भी, जहाँ फ्रांस और इंग्लैंड दोनों देशों की व्यापारी कोठियाँ और उपनिवेश थे, युद्ध की ज्वाला सुलगी हुई थी। व्यापार और साम्राज्य की रक्षा और सर्वत्र फ्रांस की पराजय पिट की युद्धनीति का लक्ष्य था। पिट ने इंग्लैंड की समुद्री शक्ति का विस्तार किया। योग्य सेनापति और सेनाएँ भारत और उत्तरी अमरीका भेजीं। योरोप में अपने एकमात्र मित्र और सहायक प्रशा के राजा फ्रेडरिक को आर्थिक और सैनिक सहायता देकर फ्रांस को योरोप में ही फँसाए रखा।

पहले वर्ष पिट की योजनाएँ सफल नहीं हुई, पर १७५९ और १७६० में इंग्लैंड को सभी स्थानों पर शानदार सफलता मिली। फ्रांस के जहाजी बेड़े की काफी क्षति हुई। योरोप में मिंडेन (१७५९) उत्तरी अमरीका में अब्राहम की पहाड़ी (१७५९) और भारतवर्ष में वाडीवाश (१६६०) के निर्णायक युद्धों ने फ्रांस को क्षीण कर दिया। पिट की स्फूर्ति, अथक परिश्रम और कार्यक्षमता ने इंग्लैंड को सफल बनाया। प्रधान मंत्री और राजा का पूर्ण समर्थन पिट को प्राप्त था। १७६० में जार्ज द्वितीय की मृत्यु के बाद उसका पौत्र जार्ज तृतीय इंग्लैंड का राजा हुआ। वह व्यक्तिगत शासन चलाना चाहता था। मंत्रियों पर राजा का नियंत्रण उसको अभीष्ट था। वह पिट की युद्धनीति का विरोधी था। उसने कुछ मंत्रियों को अपने पक्ष में कर लिया और फ्रांस के सहायक स्पेन के विरुद्ध युद्ध घोषित करने

के पिट के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। १७६१ में पिट ने अपना पद प्रधान मंत्री न्यूकासिल को सौंप दिया।

न्यूकासिल भी प्रधान मंत्री के पद से हट गए। राजा के मनोनुकूल नए मंत्रिमंडल ने कार्यभार सँभाला। पार्लमेंट ने पिट को तीन हजार पौंड की वार्षिक पेंशन प्रदान की और उनकी पत्नी को शेष जीवन के लिये चैथम की 'बैरोनेस' की पदवी दी। अगले पांच वर्ष पिट कामंस सभा में विरोधी दल के साथ रहे। व्यक्ति और वस्तु के नाम बिना तलाशी, गिरफ्तारी और जब्ती के लिये नियमतः प्राप्त सुविधा के साधारण वारंट के उपयोग का उसने १७६३ में विरोध किया। ऐसे ही वारंट के आधार पर विल्कीज और उसके कुछ साथियों पर एक प्रकाशन के संबंध में राजाज्ञा से मुकदमा चलाया गया था। अमरीका के उपनिवेशों की स्वीकृति के बिना उनपर कर लगाने के प्रस्तावित स्टांप ऐक्ट का भी उन्होंने १७६५ में विरोध किया। इस बीच दो बार राजा ने मंत्रिमंडल बनाने के लिये पिट से कहा किंतु कुछ प्रमुख व्यक्तियों को मंत्रिमंडल में स्थान देने में राजा की अस्वीकृति के कारण दोनों ही अवसरों पर उसने राजा का प्रस्ताव नहीं माना। बीमारी के कारण इस अवधि में पिट कुछ समय तक सोमरसेटशायर के अपने गांव के मकान में रहा। १७६६ में स्टांप ऐक्ट के रद किए जाने पर पिट ने प्रसन्नता व्यक्त की किंतु भविष्य में कर लगाने के अधिकार को अक्षुण्ण रखने के घोषणात्मक कानून का उन्होंने समर्थन नहीं किया। राजा के तीसरी बार कहने पर इस वर्ष उन्होंने प्रधान मंत्री का पद ग्रहण कर लिया किंतु अब उनका स्थान लार्ड सभा में था। राजा ने उनको चैथम के अर्ल की पदवी देकर लार्ड सभा का सदस्य बना दिया था। उनको लार्ड प्रीवीसील का पद भी दिया गया। पिट अब भी इंग्लैंड के प्रभाव के विस्तार की नीति के समर्थक थे पर लार्ड सभा में जाने से कामंस सभा में उनकी प्रतिष्ठा कम हो गई। उनकी बातों का पहले जैसा प्रभाव उस सभा में नहीं रहा। गिरते स्वास्थ्य और रोग के कारण पिट को शीघ्र ही कार्य से हटना पड़ा। राजनीति की हलचलों से दूर रहकर दो वर्ष तक उन्होंने ह्रेज में कष्ट का जीवन बिताया। स्वास्थ्य में सुधार की संभावना न देखकर पिट ने १७६८ में लार्ड प्रीवीसील का पद त्याग दिया। उनके मंत्रिमंडल का अंत हो गया। अपनी दुर्बल स्थिति में भी पिट पार्लमेंट के कामों में रुचि लेते रहे। १७६६ और १७७० के बीच पार्लमेंट की निर्वाचन प्रणाली में सुधार के उन्होंने प्रस्ताव किए। इस प्रसंग में उन्होंने कहा था कि शताब्दी का अंत होते होते या तो पार्लमेंट स्वयं सुधार कर लेगी या बाहरी शक्तियां उससे यह सुधार करा लेंगी। मिडलसेक्स से विल्कीज का बार बार निर्वाचन होने पर उसके निर्वाचन को रद्द करने की निर्वाचकों की स्वतंत्रता की विघातक कामंस सभा के घातक कार्य का १७६९ में पिट ने दृढ़तापूर्वक प्रतिवाद किया। उन्होंने भारतवर्ष के शासन की समस्या पर भी विचार किया और १७७३ में यह स्पष्ट मत व्यक्त किया कि उस देश का शासनभार इंग्लैंड की सरकार के स्वयं सँभालने पर ही असंगतियां दूर हो सकेंगी। अमरीका के मामले में वह शांति और समझौते की नीति के समर्थक थे। अमरीका के विरोधी और हिंसात्मक कार्यों के कारण बोस्टन बंदरगाह को बंद करने के सरकारी प्रस्ताव का १७७४ में पिट ने विरोध किया। अमरीकावासियों को संतुष्ट करने की दृष्टि से अगले वर्ष पिट ने पार्लमेंट में यह प्रस्ताव रखा कि अमरीका पर लगाए कर रद्द कर दिए जायँ और उपनिवेशों को प्रतिनिधि सभाओं के हाथ में ही कर लगाने के निर्णय का अधिकार रहे। किंतु राजा के हठ के कारण उनकी कोई भी बात नहीं मानी गई। पिट अमरीका से संबंधविच्छेद और साम्राज्य के विघटन के विरोधी थे। १७७७ में अमरीका में अंग्रेज सेनाध्यक्ष बर्गोयन की पराजय और अमरीका तथा फ्रांस की संधि के बाद इस संबंध में ७ अप्रैल, १७७८ को उन्होंने अपने विचार अत्यंत प्रभावशाली शब्दों में लार्डसभा में व्यक्त किए। दुर्बल तो थे ही वे भाषण के बीच में ही बेहोश हो गए। उपचार के लिये उन्हें ह्रेज ले जाया गया। पर वे फिर उठ न सके। अपने ही मकान में ७० वर्ष की आयु में ११ मई, १७७८ को उनकी मृत्यु हो गई। वेस्टमिंस्टर के गिरजाघर में सार्वजनिक रूप में उनका अंतिम संस्कार हुआ। उनके ऋण के भुगतान के लिये पार्लमेंट ने बीस हजार पौंड प्रदान किए और उनके उत्तराधिकारियों को चार हजार पौंड की वार्षिक पेंशन दी। पिट महान् देशभक्त थे। इंग्लैंड की कीर्ति और संमान की वृद्धि में वह सतत प्रयत्नशील रहे। भ्रष्टाचार के वे परम विरोधी थे। उनका सार्वजनिक जीवन निष्कलंक रहा। उनकी नीयत और ईमानदारी में संदेह करनेवाले व्यक्ति कम ही थे। पिट में कुछ दोष भी थे। उनमें अहं की भावना प्रबल थी। तड़क भड़क और दिखावा उनको पसंद था। सादगी से वह दूर ही रहते थे। उसके भाषणों और वर्तालाप में नाटकीय कृत्रिमता रहती थी। अपने कटु व्यवहार से वे कभी कभी सहयोगियों को रुष्ट कर देते थे। किंतु उनके ये दोष उनकी देशसेवा में कभी बाधक नहीं हुए। अपनी योग्यता और दूरदर्शिता से उन्होंने देश को महान् संकट से उबारा। उनकी सफलताएँ भी महान् थीं। निःसंदेह अपने समय में पिट इंग्लैंड के सर्वश्रेष्ठ देशभक्त, वक्ता और राजनीतिज्ञ थे। [मि० पं०]

चैनपुर स्थिति : २५° १०' उ० अ० तथा ८३° ३०' पू० दे०। यह बिहार राज्य के शाहाबाद जिले के अंतर्गत भभुआ उपमंडल से सात मील की दूरी पर स्थित है। यहां पर बख्तियार खां का मकबरा है जो शेरशाह का निकट संबंधी था। यहां प्राचीन किला है जिसके चारो ओर खाईं और पत्थर की दीवारें हैं। किले के अंदर एक प्रसिद्ध हिंदू मंदिर है जिसमें हरसू ब्रह्म शिला की पूजा होती है। [शि० नं० स०]

चैप्लिन, चार्ली विख्यात हास्य सिने-अभिनेता और निर्माता। १६ अप्रैल, १८८९ को नाट्य संगीतकार पिता के घर लंदन में पैदा हुआ। १९१० से १९१३ तक 'कार्नो कामेडी कंपनी' में अभिनेता बनकर अमरीका और कनाडा गया। १९१३ में लास एंजेल्स की सिने कंपनी से संपर्क बनाया और १९१८ में उसने प्रसिद्ध सिने केंद्र हालीवुड में 'चार्ली चैप्लिन फिल्म कंपनी' स्थापित की। अपने अभिनय में सामाजिक परंपराओं पर तीक्ष्ण व्यंग्याभिनय के कारण वह पर्याप्त विवादास्पद बन गया किंतु यही तत्व उसकी प्रसिद्धि का भी मूल बना। क्रांतिकारी विचारों के कारण उसे अमरीका प्रवास में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अतः १९५३ में वह जिनेवा (स्विट्जरलैंड) में बस गया।

चैमोनी (Chamonix) स्थिति : ४५° ४५' उ० अ० तथा ६° ५१' पू० दे०। यह ग्राम फ्रांस के हाट सेवोए जिले में ३,२७० फुट माट ब्लांक चोटी के उत्तर-पूर्व में; स्थित है। चैमोनी फ्रांस का सर्वोत्तम शैलावास है। चैमोनी की घाटी ३,३०० फुट ऊँची है और इसके विचित्र हरे भरे चरागाह, दक्षिण-पूर्वी पहाड़, जो चीड़ और लार्च के घने वनों से काले हैं, एवं हिमानी नदियां तथा अनेक झरने बड़े रमणीक तथा चित्ताकर्षक हैं। यहाँ पर पर्यटकों के लिये अनेक सुंदर होटल और नाच गान घर हैं। इनके अतिरिक्त एक स्टेडियम, एक हिम-क्रीड़ा-स्थल तथा अन्य सब आराम हैं जो किसी अच्छे

गर्मियों और सर्दियों के पर्यटककेंद्र में होने चाहिए। पास में ही १५,७४२ फुट ऊँची मोंट ब्लैंक चोटी है जो यूरोप में आल्प्स पर्वत की सर्वोच्च चोटी है। लगभग छःह हिमनदियाँ ऊँचे पहाड़ों से चैमोनी को यू (U) आकार की घाटी में उतरती हैं। [शां० ला० का०]

चैरंट स्थिति : ४५° ४१' उ० अ० तथा ०° ३०' प० दे०। फ्रांस की एक नदी है जो हॉटवीन जिले से निकलकर पश्चिम की ओर रॉकफोर्ट से १० मील नीचे बिस्के की खाड़ी में गिरती है। इसकी लंबाई २५ मील है। [शा० ला० का०]

चैरंटन ले पांट (Charenton-Le-Pont) स्थिति : ४८° ४५' उ० अ० तथा २° २८' पू० दे०। फ्रांस के सीन मंडल का एक कम्यून है जो पेरिस से एक मील दक्षिण-पूर्व में है। यह सीन और मार्न नदियों के संगम पर बसा है तथा रेल द्वारा पेरिस से मिला है। यह अनेक उद्योगों का केंद्र है जिनमें नाव, पियानो, चीनी मिट्टी के बरतन तथा रबर की वस्तुओं के उद्योग प्रमुख हैं। मार्न नदी पर का पत्थर का पुल प्राचीन काल में पेरिस की कुंजी समझा जाता था। यहाँ की जनसंख्या २१,४५७ (१९४६) थी। [शा० ला० का०]

चोपड़ा महाराष्ट्र प्रदेश के जलगाँव जिले का एक नगर है। यहाँ की जनसंख्या २६,४६० (१९६१) है। यहाँ की तीन चौथाई जनता खेती तथा शेष मजदूरी द्वारा जीवकोपार्जन करती है। यह तापी नदी के दाहिने किनारे पर नदी से आठ मील दूर स्थित है। यहाँ कपास और तीसी का व्यापार होता है तथा कपास से बिनौला निकालने के कारखाने भी हैं। अस्पताल, नगरपालिका तथा विद्यालय भी यहाँ हैं। [शा० ला० का०]

चोपाल यह हिमाचल प्रदेश के महासू जिले की एक तहसील है। इसका क्षेत्रफल ३७५ वर्ग मील है। यहाँ की १९६१ की जनसंख्या में १९५१ की अपेक्षा १०,००० की वृद्धि हुई है जबकि इससे पहले कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। इसमें एक भी शहर नहीं है। जनसंख्या का घनत्व प्रति वर्ग मील १०८ व्यक्ति है। प्रायः पूरी जनसंख्या खेती पर निर्भर करती है। [शा० ला० का०]

चोरलु यूरोपीय टर्की में आड्रियानोपल का नगर है जो चोरलु नदी के बाएँ किनारे पर बसा हुआ है। यह मारमोरा सागर पर स्थित सिलिवरी से २५ मील उत्तर-पूर्व और इस्तांबुल से रेल द्वारा ७५ मील दूर है। यहाँ की जनसंख्या १६,९७६ (१९४०) थी। इस्तांबुल-एडीर्न-रेलवे लाइन पर यह बड़ा स्टेशन है। यहाँ ऊनी कपड़े, दरियाँ तथा गलीचे बनते हैं। खाद्यान्न, मोमजामा, कपड़ा, गलीचा, पशु, अंडा, मांस, फल, मदिरा, ऐल्कोहल, चमड़ा, हड्डी आदि का यहाँ से निर्यात किया जाता है। [शा० ला० का०]

चोल राजवंश चोल शब्द की व्युत्पत्ति विभिन्न प्रकार से की जाती रही है। कर्नल जेरिनी ने चोल शब्द को संस्कृत 'काल' एवं 'कोल' से संबद्ध करते हुए इसे दक्षिण भारत के कृष्णवर्ण आर्य समुदाय का सूचक माना है। चोल शब्द को संस्कृत 'चोर' तथा तमिल 'चोलम्' से भी संबद्ध किया गया है किंतु इनमें से कोई मत ठीक नहीं है। आरंभिक काल से ही चोल शब्द का प्रयोग इसी नाम के राजवंश द्वारा शासित प्रजा एवं भूभाग के लिये व्यवहृत होता रहा है। संगमयुगीन मणिमेकलै में चोलों को सूर्यवंशी कहा है। चोलों के अनेक प्रचलित नामों में शेंबियन् भी है। शेंबियन् के आधार पर उन्हें शिबि से उद्भूत सिद्ध करते हैं। १२वीं सदी के अनेक स्थानीय राजवंश अपने को करिकाल से उद्भूत कश्यप गोत्रीय बताते हैं। चोलों के उल्लेख अत्यंत प्राचीन काल से ही प्राप्त होने लगते हैं। कात्यायन ने चोडों का उल्लेख किया है। अशोक के अभिलेखों में भी इसका उल्लेख उपलब्ध है। किंतु इन्होंने संगमयुग में ही दक्षिण भारतीय इतिहास को संभवतः प्रथम बार प्रभावित किया। संगमकाल के अनेक महत्वपूर्ण चोल सम्राटों में करिकाल अत्यधिक प्रसिद्ध हुए। संगमयुग के पश्चात् का चोल इतिहास अज्ञात है। फिर भी चोल-वंश-परंपरा एकदम समाप्त नहीं हुई थी क्योंकि रेनंडु (जिला कुडाया) प्रदेश में चोड पल्लवों, चालुक्यों तथा राष्ट्रकूटों के अधीन शासन करते रहे।

उपर्युक्त दीर्घकालिक प्रभुत्वहीनता के पश्चात् नवीं सदी के मध्य से चोलों का पुनरुत्थान हुआ। इस चोल वंश का संस्थापक विजयालय (८५०-८७०-७१ ई०) पल्लव अधीनता में उरैयुर प्रदेश का शासक था। विजयालय की वंशपरंपरा में लगभग २० राजा हुए, जिन्होंने कुल मिलाकर चार सौ से अधिक वर्षों तक शासन किया। विजयालय के पश्चात् आदित्य प्रथम (८७१-९०७), परांतक प्रथम (९०७-९५५) ने क्रमशः शासन किया। परांतक प्रथम ने पांड्य-सिंहल नरेशों की सम्मिलित शक्ति को, पल्लवों, बाणों, वैडुंबों के अतिरिक्त राष्ट्रकूट कृष्ण द्वितीय को भी पराजित किया। चोल शक्ति एवं साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक परांतक ही था। उसने लंकापति उदय (९४५-५३) के समय सिंहल पर भी एक असफल आक्रमण किया। परांतक अपने अंतिम दिनों में राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीय द्वारा ९४९ ई० में बड़ी बुरी तरह पराजित हुआ। इस पराजय के फलस्वरूप चोल साम्राज्य की नींव हिल गई। परांतक प्रथम के बाद के ३२ वर्षों में अनेक चोल राजाओं ने शासन किया। इनमें गंडरादित्य, अरिंजय और सुंदर चोल या परांतक द्वितीय प्रमुख थे। इसके पश्चात् राजराज प्रथम (९८५-१०१४) ने चोल वंश की प्रसारनीति को आगे बढ़ाते हुए अपनी अनेक विजयों द्वारा अपने वंश की मर्यादा को पुनः प्रतिष्ठित किया। उसने सर्वप्रथम पश्चिमी गंगों को पराजित कर उनका प्रदेश छीन लिया। तदनंतर पश्चिमी चालुक्यों से उनका दीर्घकालिक परिणामहीन युद्ध आरंभ हुआ। इसके विपरीत राजराज को सुदूर दक्षिण में आशातीत सफलता मिली। उन्होंने केरल नरेश को पराजित किया। पांड्यों को पराजित कर मदुरा और कुर्ग में स्थित उद्गै अधिकृत कर लिए। अपनी शक्तिशाली नौसेना के द्वारा उन्होंने मालद्वीप को भी अधिकृत कर लिया। यही नहीं, राजराज ने सिंहल पर आक्रमण करके उसके उत्तरी प्रदेशों को अपने राज्य में मिला लिया।

राजराज ने पूर्वी चालुक्यों पर आक्रमण कर वेंगी को जीत लिया। किंतु इसके बाद पूर्वी चालुक्य सिंहासन पर उन्होंने शक्तिवर्मन् को प्रतिष्ठित किया एवं अपनी पुत्री कुंदवा का विवाह शक्तिवर्मन् के लघु भ्राता विमलादित्य से किया। इस समय कलिंग के गंग राजा भी वेंगी पर दृष्टि गड़ाए थे, राजराज ने उन्हें भी पराजित किया।

राजराज के पश्चात् उनके पुत्र राजेंद्र प्रथम (१०१२-१०४४) सिंहासनारूढ़ हुए। राजेंद्र प्रथम भी अत्यंत शक्तिशाली सम्राट् थे।

राजेंद्र ने चेर, पांड्य एवं सिंहल जीता तथा उन्हें अपने राज्य में मिला लिया। उन्होंने पश्चिमी चालुक्यों को कई युद्धों में पराजित किया, उनकी राजधानी को ध्वस्त किया किंतु उनपर पूर्ण विजय न प्राप्त कर सके। राजेंद्र के दो अन्य सैनिक अभियान अत्यंत उल्लेखनीय हैं। उनका प्रथम सैनिक अभियान पूर्वी समुद्रतट से कलिंग, उड़ीसा, दक्षिण कोशल आदि के राजाओं को पराजित करता हुआ बंगाल के विरुद्ध हुआ। उन्होंने पश्चिम एवं दक्षिण बंगाल के तीन छोटे राजाओं को पराजित करने के साथ साथ शक्तिशाली पाल राजा महीपाल को भी पराजित किया। इस अभियान का कारण अभिलेखों के अनुसार गंगाजल प्राप्त करना था। यह भी ज्ञात होता है कि पराजित राजाओं को यह जल अपने सिरों पर ढोना पड़ा था। किंतु यह मात्र आक्रमण था, इससे चोल साम्राज्य की सीमाओं पर कोई असर नहीं पड़ा।

राजेंद्र का दूसरा महत्वपूर्ण आक्रमण मलयद्वीप, जावा और सुमात्रा के शैलेंद्र शासन के विरुद्ध हुआ। यह पूर्ण रूप से नौसैनिक आक्रमण था। शैलेंद्र सम्राटों का राजराज से मैत्रीपूर्ण व्यवहार था किंतु राजेंद्र के साथ उनकी शत्रुता का कारण अज्ञात है। राजेंद्र को इसमें सफलता मिली। राजराज की भाँति राजेंद्र ने भी एक राजदूत चीन भेजा।

राजाधिराज प्रथम (१०१८–१०५४) राजेंद्र का उत्तराधिकारी था। उसका अधिकांश समय विद्रोहों के शमन में लगा। प्रारंभ में उसने अनेक छोटे छोटे राज्यों, तथा चेर, पांड्य एवं सिंहल के विद्रोहों का दमन किया। अनंतर इसके चालुक्य सोमेश्वर से हुए कोप्पम् के युद्ध में उसकी मृत्यु हुई। युद्धक्षेत्र में ही राजेंद्र द्वितीय (१०५२–१०६४) अभिषिक्त हुए। चालुक्यों के विरुद्ध हुए इस युद्ध में उनकी विजय हुई। चालुक्यों के साथ युद्ध दीर्घकालिक था। राजेंद्र द्वितीय के उत्तराधिकारी वीर राजेंद्र (१०६३–१०६९) ने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की और प्रायः संपूर्ण चोल साम्राज्य पर पूर्ववत् शासन किया। अधिराजेंद्र (१०६७–१०७०) वीर राजेंद्र का उत्तराधिकारी था किंतु कुछ महीनों के शासन के बाद कुलोत्तुंग प्रथम ने उससे चोल राज्यश्री छीन ली।

कुलोत्तुंग प्रथम (१०७०–११२०) पूर्वी चालुक्य सम्राट् राजराज का पुत्र था। कुलोत्तुंग की माँ एवं मातामही क्रमशः राजेंद्र (प्रथम) चोल तथा राजराज प्रथम की पुत्रियाँ थीं। कुलोत्तुंग प्रथम स्वयं राजेंद्र द्वितीय की पुत्री से विवाहित था। कुलोत्तुंग ने अपने विपक्ष एवं अधिराजेंद्र के पक्ष से हुए समस्त विद्रोहों का दमन करके अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली। अपने विस्तृत शासनकाल में उसने अधिराजेंद्र के हिमायती एवं बहनोई चालुक्य सम्राट् विक्रमादित्य के अनेक आक्रमणों एवं विद्रोहों का सफलतापूर्वक सामना किया। सिंहल फिर भी स्वतंत्र हो ही गया। युवराज विक्रम चोल के प्रयास से कलिंग का दक्षिणी प्रदेश कुलोत्तुंग के राज्य में मिला लिया गया। कुलोत्तुंग ने अपने अंतिम दिनों तक सिंहल के अतिरिक्त प्रायः संपूर्ण चोल साम्राज्य तथा दक्षिणी कलिंग प्रदेश पर शासन किया। उसने एक राजदूत भी चीन भेजा।

विक्रम चोल (१११८–११३३) कुलोत्तुंग का उत्तराधिकारी हुआ। लगभग १११८ में विक्रमादित्य छठे ने वेंगी चोलों से छीन ली। होयसलों ने भी चोलों को कावेरी के पार भगा दिया और मैसूर प्रदेश को अधिकृत कर लिया।

कुलोत्तुंग प्रथम के बाद का लगभग सौ वर्ष का चोल इतिहास अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। इस अवधि में विक्रम चोल, कुलोत्तुंग द्वितीय (११३३-११५०), राजराज द्वितीय (११४६-११७३), राजाधिराज द्वितीय (११६३-११७९), कुलोत्तुंग तृतीय (११७८-१२१८) ने शासन किया। इन राजाओं के समय चोलों का उत्तरोत्तर अवसान होता रहा। राजराज तृतीय (१२१६-१२४६) को पांड्यों ने बुरी तरह पराजित किया और उसकी राजधानी छीन ली। चोल सम्राट् अपने आक्रमकों एवं विद्रोहियों के विरुद्ध शक्तिशाली होयसलों से सहायता लेते थे और इसी कारण धीरे धीरे वे उनके हाथ की कठपुतली बन गए। राजराज को एकबार पांड्यों से पराजित होकर भागते समय कोप्पेरुंजिंग ने आक्रमण कर बंदी बना लिया, पर छोड़ दिया।

चोल वंश का अंतिम राजा राजेंद्र तृतीय (१२४६-१२७९) हुआ। प्रारंभ में राजेंद्र को पांड्यों के विरुद्ध आंशिक सफलता मिली, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि तेलुगु-चोड साम्राज्य पर गंडगोपाल तिक्क राजराज तृतीय की नाममात्र की अधीनता में शासन कर रहा था। गणपति काकतीय के कांची आक्रमण के पश्चात् तिक्क ने उसी की अधीनता स्वीकार की। अंततः जटावर्मन् सुंदर पांड्य ने उत्तर पर आक्रमण किया और चोलों को पराजित किया। इसके बाद से चोल शासक पांड्यों के अधीन रहे और उनकी यह स्थिति भी १३१० में मलिक काफूर के आक्रमण से समाप्त हो गई। (चोल सम्राट् साधारणतया अपने राज्य का प्रारंभ अपने यौवराज्याभिषेक से मानते थे और इसीलिये उनके काल के कुछ प्रारंभिक वर्ष एवं उनके तत्काल पूर्ववर्ती सम्राट् के कुछ अंतिम वर्षों में समानता प्राप्त होती है)।

चोडों के अभिलेखों आदि से ज्ञात होता है कि उनका शासन सुसंगठित था। राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी राजा मंत्रियों एवं राज्याधिकारियों की सलाह से शासन करता था। शासनसुविधा की दृष्टि से सारा राज्य अनेक मंडलों में विभक्त था। मंडल कोट्टम् या वलनाडुओं में बँटे होते थे। इनके बाद की शासकीय परंपरा में नाडु (जिला), कुर्रम् (ग्रामसमूह) एवं ग्रामम् थे। चोल राज्यकाल में इनका शासन जनसभाओं द्वारा होता था। चोल ग्रामसभाएँ 'उर' या 'सभा' कही जाती थीं। इनके सदस्य सभी ग्रामनिवासी होते थे। सभा की कार्यकारिणी परिषद् (आडुगणम्) का चुनाव ये लोग अपने में से करते थे। उत्तरमेरूर से प्राप्त अभिलेख से उस ग्रामसभा के कार्यों आदि का विस्तृत ज्ञान प्राप्त होता है। उत्तरमेरूर ग्रामशासन सभा की पाँच उपसमितियों द्वारा होता था। इनके सदस्य अवैतनिक थे एवं उनका कार्यकाल केवल वर्ष भर का होता था। ये अपने शासन के लिये स्वतंत्र थीं एवं सम्राटादि भी उनकी कार्यवाही में हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे।

चोल शासक प्रसिद्ध भवननिर्माता थे। सिंचाई की व्यवस्था, राजमार्गों के निर्माण आदि के अतिरिक्त उन्होंने नगरों एवं विशाल मंदिरों का निर्माण कराया। राजराज ने राजराजेश्वर नाम का एक विशाल मंदिर तंजौर में बनवाया। यह प्राचीन भारतीय मंदिरों में सबसे अधिक ऊँचा एवं बड़ा है। तंजौर के मंदिर की दीवारों पर अंकित चित्र उल्लेखनीय एवं बड़े महत्वपूर्ण हैं। राजेंद्र प्रथम ने अपने द्वारा निर्मित नगर गंगैकोंडपुरम् (त्रिचनापल्ली) में इस प्रकार के एक अन्य विशाल मंदिर का निर्माण कराया। चोलों के राज्यकाल में मूर्तिकला का भी प्रभूत विकास हुआ। इस काल की पाषाण एवं धातुमूर्तियाँ अत्यंत सजीव एवं कलात्मक हैं।

चोल शासन के अंतर्गत साहित्य की भी बड़ी उन्नति हुई। इनके शक्तिशाली विजेताओं की विजयों आदि को लक्ष्य कर अनेकानेक प्रशस्ति-

पूर्ण ग्रंथ लिखे गए। इस प्रकार के ग्रंथों में जयंगोंडार का 'कलिंगत्तु-पर्णि' अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त तिरुत्तक्कदेव लिखित 'जीवक चिंतामणि' तमिल महाकाव्यों में अन्यतम माना जाता है। इस काल के सबसे बड़े कवि कंबन थे। इन्होंने तमिल 'रामायण' की रचना कुलोत्तुंग तृतीय के शासनकाल में की। इसके अतिरिक्त व्याकरण, कोष, काव्य-शास्त्र तथा छंद आदि विषयों पर बहुत से महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना भी इस समय हुई।

सं० ग्रं० — के० ए० नीलकंठ शास्त्री : द चोलाज, (द्वितीय संस्करण), मद्रास विश्वविद्यालय, १९५५; के० ए० नीलकंठ शास्त्री : ए हिस्ट्री ऑव साउथ इंडिया, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १९५५।

[प्र० कि० ना० ज० प्र०]

सांस्कृतिक दशा — चोल साम्राज्य की शक्ति बढ़ने के साथ ही सम्राट् के गौरव और ऐश्वर्य के भव्य प्रदर्शन के कार्य बढ़ गए थे। राजभवन, उसमें सेवकों का प्रबंध और दरबार में उत्सवों और अनुष्ठानों में यह प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। सम्राट् अपने जीवनकाल ही में युवराज को शासनप्रबंध में अपने साथ संबंधित कर लेता था। सम्राट् का सामंतों पर कठोर नियंत्रण रहता था। सम्राट् के पास उसकी मौखिक आज्ञा के लिये कोई भी विषय एक सुनिश्चित प्रणाली के द्वारा आता था, एक सुनिश्चित विधि में ही वह कार्य रूप में परिणत होता था। राजा को परामर्श देने के लिये विभिन्न प्रमुख विभागों के कर्मचारियों का एक दल, जिसे उडनकूट्टम् कहते थे, सम्राट् के निरंतर संपर्क में रहता था। सम्राट् के निकट संपर्क में अधिकारियों का एक संगठित विभाग था जिसे ओलै कहते थे। चोल साम्राज्य में नौकरशाही सुसंगठित और विकसित थी जिसमें अधिकारियों के उच्च (पेरुंदनम्) और निम्न (शिरुदनम्) दो वर्ग थे। केंद्रीय विभाग की ओर से स्थानीय अधिकारियों का निरीक्षण और नियंत्रण करने के लिये कणकाणि नाम के अधिकारी होते थे। शासन के लिये राज्य वलनाडु अथवा मंडलम्, नाडु और कूर्रम् में विभाजित था। संपूर्ण भूमि नापी हुई थी और करदायी तथा करमुक्त भूमि में बँटी थी। करदायी भूमि के भी स्वाभाविक उत्पादनशक्ति और फसल के अनुसार, कई स्तर थे। कर के लिये संपूर्ण ग्राम उत्तरदायी था। कभी कभी कर एकत्रित करने में कठोरता की जाती थी। भूमिकर के अतिरिक्त चुंगी, व्यवसायों और मकानों तथा विशेष अवसरों और उत्सवों पर भी कर थे। सेना अनेक सैन्य दलों में बँटी थी जिनमें से कई के विशिष्ट नामों का उल्लेख अभिलेखों में मिलता है। सेना राज्य के विभिन्न भागों में शिविर (कडगम) के रूप में फैली थी। दक्षिण-पूर्वी एशिया में चोलों की विजय उनके जहाजी बेड़े के संगठन और शक्ति का स्पष्ट प्रमाण है। न्याय के लिये गाँव और जाति की सभाओं के अतिरिक्त राज्य द्वारा स्थापित अदालतें भी थीं। निर्णय सामाजिक व्यवस्थाओं, लेखपत्र और साक्षी के प्रमाण के आधार पर होते थे। मानवीय साक्ष्यों के अभाव में दिव्यों का भी सहारा लिया जाता था।

चोल शासन की प्रमुख विशेषता सुसंगठित नौकरशाही के साथ उच्च कोटि की कुशलतावाली स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं का सुंदर और सफल सामंजस्य है। स्थानीय जीवन के विभिन्न अंगों के लिये विविध सामूहिक संस्थाएँ थीं जो परस्पर सहयोग से काम करती थीं। नगरम् उन स्थानों की सभाएँ थीं जहाँ व्यापारी वर्ग प्रमुख था। ऊर गाँव के उन सभी व्यक्तियों की सभा थी जिनके पास भूमि थी। सभा ब्रह्मदेय गाँवों के ब्राह्मणों की सामूहिक संस्था का विशिष्ट नाम था। राज्य की ओर से साधारण नियंत्रण और समय पर आयव्यय के निरीक्षण के अतिरिक्त इन सभाओं को पूर्ण स्वतंत्रता थी। इनके कार्यों के संचालन के लिये अत्यंत कुशल और संविधान के नियमों की दृष्टि से संगठित और विकसित समितियों की व्यवस्था थी जिन्हें वारियम् कहते थे। उत्तरमेरूर की सभा ने परांतक प्रथम के शासनकाल में अल्प समय के अंतर पर ही दो बार अपने संविधान में परिवर्तन किए जो इस बात का प्रमाण है कि ये सभाएँ अनुभव के अनुसार अधिक कुशल व्यवस्था को अपनाने के लिये तत्पर रहती थीं। इन सभाओं के कर्तव्यों का क्षेत्र व्यापक और विस्तृत था।

चोल नरेशों ने सिंचाई की सुविधा के लिये कुएँ और तालाब खुदवाए और नदियों के प्रवाह को रोककर पत्थर के बाँध से घिरे जलाशय (डैम) बनवाए। करिकाल चोल ने कावेरी नदी पर बाँध बनवाया था। राजेंद्र प्रथम ने गंगैकोंड-चोलपुरम् के समीप एक झील खोदवाई जिसका बाँध १६ मील लंबा था। इसको दो नदियों के जल से भरने की व्यवस्था की गई और सिंचाई के लिये इसका उपयोग करने के लिये पत्थर की प्रणालियाँ और नहरें बनाई गई। आवागमन की सुविधा के लिये प्रशस्त राजपथ और नदियों पर घाट भी निर्मित हुए।

सामाजिक जीवन में यद्यपि ब्राह्मणों को अधिक अधिकार प्राप्त थे और अन्य वर्गों से अपना पार्थक्य दिखलाने के लिये उन्होंने अपनी अलग बस्तियाँ बसानी शुरू कर दी थीं, फिर भी विभिन्न वर्गों के परस्पर संबंध कटु नहीं थे। सामाजिक व्यवस्था को धर्मशास्त्रों के आदेशों और आदर्शों के अनुकूल रखने का प्रयत्न होता था। कुलोत्तुंग प्रथम के शासनकाल में एक गाँव के भट्टों ने शास्त्रों का अध्ययन कर रथकार नाम की अनुलोम जाति के लिये संमत जीविकाओं का निर्देश किया। उद्योग और व्यवसाय में लगे सामाजिक वर्ग दो भागों में विभक्त थे—वलंगै और इडंगै। स्त्रियों पर सामाजिक जीवन में किसी भी प्रकार का प्रतिबंध नहीं था। वे संपत्ति की स्वामिनी होती थीं। उच्च वर्ग के पुरुष बहुविवाह करते थे। सती का प्रचार था। मंदिरों में गुणशीला देवदासियाँ रहा करती थीं। समाज में दासप्रथा प्रचलित थी। दासों की कई कोटियाँ होती थीं।

आर्थिक जीवन का आधार कृषि थी। भूमि का स्वामित्व समाज में संमान की बात थी। कृषि के साथ ही पशुपालन का व्यवसाय भी समुन्नत था। स्वर्णकार, धातुकार और जुलाहों की कला उन्नत दशा में थी। व्यापारियों की अनेक श्रेणियाँ थीं जिनका संगठन विस्तृत क्षेत्र में कार्य करता था। नानादेश-तिशैयायिरत्तु ऐञ्जूर्रवर व्यापारियों की एक विशाल श्रेणी थी जो बर्मा और सुमात्रा तक व्यापार करती थी।

चोल सम्राट् शिव के उपासक थे लेकिन उनकी नीति धार्मिक सहिष्णुता की थी। उन्होंने बौद्धों को भी दान दिया। जैन भी शांतिपूर्वक अपने धर्म का पालन और प्रचार करते थे। पूर्वयुग के तमिल धार्मिक पद्य वेदों जैसे पूजित होने लगे और उनके रचयिता देवता स्वरूप माने जाने लगे। नंबि आंडार नंबि ने सर्वप्रथम राजराज प्रथम के राज्यकाल में शैव धर्मग्रंथों को संकलित किया। वैष्णव धर्म के लिये यही कार्य नाथमुनि ने किया। उन्होंने भक्ति के मार्ग का दार्शनिक समर्थन प्रस्तुत किया। उनके पौत्र आलवंदार अथवा यामुनाचार्य का वैष्णव आचार्यों में महत्वपूर्ण स्थान है (दे० 'यामुनाचार्य')। रामानुज ने विशिष्टाद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया, मंदिरों की पूजा विधि में सुधार किया और कुछ मंदिरों में वर्ष में एक दिन अंत्यजों के

प्रवेश की भी व्यवस्था की। शैवों में भक्तिमार्ग के अतिरिक्त वीभत्स आचारोंवाले कुछ संप्रदाय, पाशुपत, कापालिक और कालामुख जैसे थे, जिनमें से कुछ बीभत्स की आराधना करते थे, जो प्रायः विकृत रूप ले लेती थी। देवी के उपासकों में अपना सिर काटकर चढ़ाने की भी प्रथा थी। इस युग के धार्मिक जीवन में मंदिरों का विशेष महत्व था। छोटे या बड़े मंदिर, चोल राज्य के प्रायः सभी नगरों और गाँवों में इस युग में बने। ये मंदिर शिक्षा के केंद्र भी थे। त्योहारों और उत्सवों पर इनमें गान, नृत्य, नाट्य और मनोरंजन के आयोजन भी होते थे। मंदिरों के स्वामित्व में भूमि भी होती थी और कई कर्मचारी इनकी अधीनता में होते थे। ये बैंक का कार्य भी करते थे। कई उद्योगों और शिल्पों के व्यक्तियों को मंदिरों के कारण जीविका मिलती थी।

चोलों के मंदिरों की विशेषता उनके विमानों और प्रांगणों में दिखलाई पड़ती है। इनके शिखरस्तंभ छोटे होते हैं, किंतु गोपुरम् पर अत्यधिक अलंकरण होता है। प्रारंभिक चोल मंदिर साधारण योजना की कृतियाँ हैं लेकिन साम्राज्य की शक्ति और साधनों की वृद्धि के साथ मंदिरों के आकार और प्रभाव में भी परिवर्तन हुआ। इन मंदिरों में सबसे अधिक प्रसिद्ध और प्रभावोत्पादक राजराज प्रथम द्वारा तंजोर में निर्मित राजराजेश्वर मंदिर, राजेंद्र प्रथम द्वारा गंगैकोंडचोलपुरम् में निर्मित गंगैकोंडचोलेश्वर मंदिर है। चोल युग अपनी कांस्य प्रतिमाओं की सुंदरता के लिये भी प्रसिद्ध है। इनमें नटराज की मूर्तियाँ सर्वोत्कृष्ट हैं। इसके अतिरिक्त शिव के दूसरे कई रूप, ब्रह्मा, सप्तमातृका, लक्ष्मी तथा भूदेवी के साथ विष्णु, अपने अनुचरों के साथ राम और सीता, शैव संत और कालियदमन करते हुए कृष्ण की मूर्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं।

तमिल साहित्य के इतिहास में चोल शासनकाल को स्वर्ण युग की संज्ञा दी जाती है। प्रबंध साहित्यरचना का प्रमुख रूप था। दर्शन में शैव सिद्धांत के शास्त्रीय विवेचन का आरंभ हुआ। शेक्किळार का तिरुत्तोंडर् पुराणम् या पेरियपुराणम् युगांतरकारी रचना है। वैष्णव भक्ति-साहित्य और टीकाओं की भी रचना हुई। आश्चर्य है कि वैष्णव आचार्य नाथमुनि, यामुनाचार्य और रामानुज ने प्रायः संस्कृत में ही रचनाएं की हैं। टीकाकारों ने भी संस्कृत शब्दों से आक्रांत मणिप्रवाल शैली अपनाई। रामानुज की प्रशंसा में सौ पदों की रचना रामानुजनूरंदादि इस दृष्टि से प्रमुख अपवाद है। जैन और बौद्ध साहित्य की प्रगति भी उल्लेखनीय थी। जैन कवि तिरुत्तक्कदेवर् ने प्रसिद्ध तमिल महाकाव्य जीवकचिंतामणि की रचना १०वीं शताब्दी में की थी। तोलामोलि रचित सूलामणि की गणना तमिल के पाँच लघु काव्यों में होती है। कल्लाडनार के कल्लाडम् में प्रेम की विभिन्न मनोदशाओं पर सौ पद हैं। राजकवि जयन्गोंडा ने कलिंगत्तुप्परणि में कुलोत्तुंग प्रथम के कलिंगयुद्ध का वर्णन किया है। ओट्टकूत्तन् भी राजकवि था जिसकी अनेक कृतियों में कुलोत्तुंग द्वितीय के बाल्यकाल पर एक पिल्लैत्तामिल और तीन चोल राजाओं पर उला उल्लेखनीय हैं। प्रसिद्ध तमिल रामायणम् अथवा रामावतारम् की रचना कंबन् ने कुलोत्तुंग तृतीय के राज्यकाल में की थी। किसी अज्ञात कवि की सुंदर कृति कुलोत्तुंगन्कोवै में कुलोत्तुंग द्वितीय के प्रारंभिक कृत्यों का वर्णन है। जैन विद्वान् अमितसागर ने छंदशास्त्र पर याप्परुंगलम् नाम के एक ग्रंथ और उसके एक संक्षिप्त रूप (कारिगै) की रचना की। बौद्ध बुद्धमित्र ने तमिल व्याकरण पर वीरसोलियम् नाम का ग्रंथ लिखा। दंडियलंगारम् का लेखक अज्ञात है, यह ग्रंथ दंडिन् के काव्यादर्श के आदर्श पर रचा गया है। इस काल के कुछ अन्य व्याकरण ग्रंथ हैं—गुणवीर पंडित का नेमिनादम् और वच्चणंदिमालै, पवणंदि का नन्नूल तथा ऐयनारिदनार का पुरप्पोरुलवेण्बामालै। निगंलम् नाम का कोश भी इसी काल की कृति है।

चोलवंश के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि चोल नरेशों ने संस्कृत साहित्य और भाषा के अध्ययन के लिये विद्यालय (ब्रह्मपुरी, घटिका) स्थापित किए और उनकी व्यवस्था के लिये समुचित दान दिए। किंतु संस्कृत साहित्य में, सृजन की दृष्टि से, चोलों का शासनकाल अत्यल्प महत्व का है। उनके कुछ अभिलेख, जो संस्कृत में हैं, शैली में तमिल अभिलेखों से नीचे हैं। फिर भी वेंकट माधव का ऋग्वेद पर प्रसिद्ध भाष्य परांतक प्रथम के राज्यकाल की रचना है। केशवस्वामिन् ने नानार्थार्णवसंक्षेप नामक कोश को राजराज द्वितीय की आज्ञा पर ही बनाया था।

सं० ग्रं०—के० ए० नीलकंठ शास्त्री : दि चोलाज [ल० गो०]

चौगाड़ यह केरल राज्य के पालघाट जिले में है। कृषि यहाँ का मुख्य व्यवसाय है। दुमट कछारी मिट्टी में धान और लेटराइट भूमि पर नारियल, रागी और दालें पैदा होती हैं। वर्षा बहुत होती है और वार्षिक तापांतर कम है। पहाड़ी तलहटियों में प्रति वर्ग मील १०० व्यक्ति रहते हैं। [शां० ला० का०]

चौपारन बिहार राज्य के हजारीबाग जिले के अंतर्गत चतरा उपमंडल में व्यावसायिक नगर है। यहाँ विद्यालय, अस्पताल, थाना और डाक बँगला भी है। यह ग्रैंड ट्रंक रोड पर स्थित है। इसलिये यह स्थान महत्वपूर्ण है। [शि० नं० स०]

चौरासी स्थिति : २१° २' से २१° १७' उ० अ० तथा ७२° ४२' से ७२° ५१' पू० दे०। यह गुजरात राज्य के सूरत जिले में तालुक है। इसका क्षेत्रफल २२१ वर्ग मील है। इसमें सूरत तथा चोरासी रांदर दो मुख्य नगर हैं जिनमे सूरत जिले का केंद्र है। दो तिहाई से अधिक लोग नगरों में रहते हैं। [शां० ला० का०]

चौराहा या सड़कसंगम जहाँ सड़कों के जाल बिछे होते हैं वहाँ वे एक दूसरे से मिलती या काटती ही हैं। जिस स्थान पर दो या दो से अधिक सड़कें मिलती हैं वह स्थान चौराहा या सड़कसंगम कहलाता है।

सड़कसंगम की रचना मार्ग इंजीनियर के लिये बड़ी समस्या होती है, क्योंकि वहाँ वाहनों के पथ एक दूसरे को काटते हैं। अतः संगम ऐसा होना चाहिए कि वाहनों की टक्कर न हो, उनके पहिए विशेष घिसें पिटें नहीं और यातायात निरापद तथा निर्बाध हो। लेकिन इंजीनियर के लिये कठिनाई यह है कि दो संगमस्थान कभी भी एक से नहीं होते। कहीं सड़कें भिन्न कोण पर मिलती हैं, कहीं उनकी संख्या कम होती है, कहीं अधिक, कहीं सड़कें एक प्रकार की होती हैं और कहीं दूसरे प्रकार की। यातायात में भी भिन्नता देखी जाती है। अतएव संगम अनेक प्रकार के हो सकते हैं, कहीं बड़े सरल और कहीं बड़े पेचीदे।

सड़कसंगमों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है : (१) चौरस भूमिवाले संगम, (२) विभिन्न समतलों पर से आती हुई सड़कों के संगम। चौरस स्थान के संगम तीन उपवर्गों में बाँटे जा सकते हैं। (क) नियतपथ संगम (channelized junction), (ख) अनियतपथ संगम (nonchannelized junction) तथा (ग) चक्करदार संगम।

चौरस स्थान के संगम — चौरस स्थान पर जब दो सड़कें मिलती हैं तब उस स्थान को चौराहा कहा जाता है, क्योंकि संगम स्थान पर

चार रास्ते निकल आते हैं। लेकिन कहीं कहीं तीन या इनसे अधिक सड़कों का भी मिलन होता है। तीन सड़कों के संगम को T या Y से प्रदर्शित करते हैं।

चौरस स्थान पर जब सड़कें मिलती हैं, तब सब मिलनेवाली सड़कों के लिये एक ही संगमक्षेत्र होता है। इसी संगमक्षेत्र में गाड़ियों का आना जाना और मुड़ना हुआ करता है। अतः संगमस्थान का नक्शा
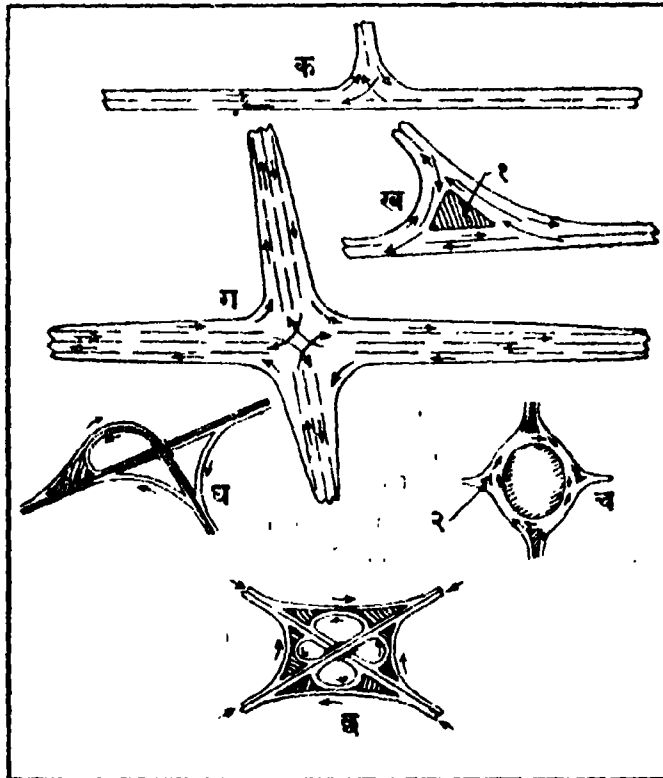
विविध प्रकार के चौराहे

क. पृथक् पथरहित चौराहा; ख. पृथक् पथवाला चौराहा, जिसमें एक पथनियतन द्वीप है; ग. चार भुजाओं-वाला चौराहा; घ. तुरीय तिपतिया चौराहा; च. पूर्णांक चौराहा, जिसमें पथनियतम दो द्वीप हैं तथा छः तिपतिया चौराहे।

बनाते समय गाड़ियों की गति, दृष्टिदूरी, ढाल और सोध आदि प्रत्येक बात का विचार कर पर्याप्त स्थान की व्यवस्था करनी पड़ती है।

अनियत पथसंगम वहाँ होते हैं जहाँ आना जाना कम होता है और गाड़ियों की भीड़ भाड़ भी कम होती है। अन्यथा पथनियतन द्वीप (channelizing island) के द्वारा आवागमन का नियंत्रण किया जाता है। ये द्वीप यातायात को ठीक दिशा में चलाने में सहायक होते हैं और पैदल यात्रियों की भी रक्षा करते हैं, क्योंकि वे गाड़ियों से बचकर उनपर शरण ले सकते हैं। इन द्वीपों के कारण संगम पर अधिकतम यातायात हो सकता है और दुर्घटनाओं की संभावना भी कम हो जाती है।

चक्करदार संगम गोलाकार होता है। यहाँ पर सारा यातायात एक केंद्रीय द्वीप के चारों ओर की सड़क में मिलकर एक ही दिशा में चलता है। ऐसे चक्कर उन्हीं स्थलों के लिये उपयुक्त होते हैं जहाँ उनके लिये आवश्यक पर्याप्त जगह मिल सके।

भिन्नतलीय संगम (Grade separated Junctions) — चौरस स्थान के संगम की सारी त्रुटियाँ, जैसे यातायात की क्षमता में कमी, घूमने आदि में विलंब के कारण गाड़ियों की गति में ह्रास, गाड़ियों की टक्कर तथा अन्यान्य प्रकार की दुर्घटनाओं की आशंका, भिन्नतलीय संगम में दूर हो जाती है, क्योंकि यहाँ विभिन्न तलों पर यातायात बिना बाधा के चलता रहता है। इससे समय की बचत होती है तथा यातायात भी निरापद हो जाता है। किंतु ऐसे संगम का निर्माण महँगा होता है, अतः ऐसे संगम उच्च कोटि के मार्गों पर ही बनाए जाते हैं। इस वर्ग के संगम जलेबी संगम (clover leaf) तथा आंशिक जलेबी संगम (partial clover leaf) उल्लेखनीय हैं।

सं० ग्रं० — ब्रूस तथा क्लॉग्लेसबी : हाइ वे इंजीनियरिंग; रिटर तथा पैकेट : हाई वे इंजीनियारिंग; ब्रूग जोन्स: ज्यॉमेट्रिकल डिजाइन ऑव मॉडर्न हाईवेज; वुड्स हाई वे इंजीनियरिंग हैंडबुक (मैकग्रा हिल बुक कंपनी द्वारा प्रकाशित)।

[ज० मि० त्र०]

चौर्य व्यापार (Smuggling) करों या वैधानिक प्रतिबंधों से (Legal prohibiton) आँख छिपाकर या उनकी चोरी कर लाभ कमाने के लिये अवैध रूप से मुद्रा, वस्तु या व्यक्तियों का किया गया आयात, निर्यात, अंतर्देशीय या अंतर्प्रांतीय व्यापार (क्रय विक्रय की प्रक्रिया) चौर्य व्यापार माना जाता है। स्वतंत्र व्यापार (Free trade) पर कर या प्रतिबंध—विलासमयी विदेशी वस्तुओं के उपयोग की आदत की समाप्ति या उनमें कमी करने के उद्देश्य, विदेशी मुद्रा के अभाव या उसके संकट से मुक्ति, राष्ट्रीय उत्पादन को प्रोत्साहन, राष्ट्रीय उद्योगों के संरक्षण तथा प्रवर्धन, राष्ट्र की आर्थिक योजनाओं के कार्यान्वयन, विदेशी-व्यापार-संतुलन तथा सामरिक एवं दैवी आपदाओं से त्राण पाने आदि के लिये लगाया जाता है। इन करों तथा प्रतिबंधों के कारण या तो वस्तुओं आदि का मूल्य बढ़ जाता है या उनकी माँग बढ़ जाती है। फलस्वरूप प्रतिबंधित तथा अधिक करवाली वस्तुओं आदि के उपयोग के लिये लोगों में सहज स्वाभाविक रुचि बढ़ जाती है। चौर्य व्यापार में करों की चोरी की जाती है, इसलिये वैध रूप से यातायात की हुई वस्तुएँ अवैध माध्यम से उपलब्ध वस्तुओं की अपेक्षा महँगी पड़ती हैं। इस लाभ के कारण लोग इन्हें क्रय करते हैं। जिन वस्तुओं आदि के यातयात पर पूर्ण या सीमित प्रतिबंध हैं वे भी इस अवैध माध्यम से उपलब्ध हो जाती हैं। इसलिये ऐसी अनुपलब्ध वस्तुओं को लोग आदत या ऐसी वस्तुओं की अधिक उपादेयता या ऐसी वस्तुओं के उपयोग के प्रदर्शन की सहज मानवीय दुर्बलता के कारण अधिक मूल्य देकर तथा कानून भंग करके भी लोग क्रय करना अधिक पसंद करते हैं और इस अवैध अनैतिक व्यापार को जीवन प्रदान करने में योगदान करते हैं। ऐडम स्मिथ ने इसीलिये इन अवैध व्यापार करनेवालों के प्रति सहानुभूतिपूर्वक विचार करते हुए लिखा है कि 'इसमें संदेह नहीं कि चौर्य व्यापार करनेवाले देश के विधान की मर्यादाओं को भंग करने के लिये निश्चय ही अत्यधिक दोषी हैं, तो भी प्रायः वे सहज स्वाभाविक न्याय (Natural Justice) को तोड़ने में असमर्थ होते हैं क्योंकि सभी दृष्टियों से ऐसे व्यक्ति अति श्रेष्ठ नागरिक माने जाते यदि उनके देश का विधान उस बात को अपराध घोषित न कर देता जिसे प्रकृति कभी भी रोकना नहीं चाहती (वेल्थ ऑव् नेशन)।

यद्यपि व्यापार में करव्यवस्थावाले सभी देशों में सदा से ही करों की चोरी होती रही है और स्वतंत्र यातायात व्यापार पर लगे प्रतिबंधों को लुक छिपकर तोड़ा जाता रहा है, तो भी इसका गंभीर

वैज्ञानिक अध्ययन उन राष्ट्रों में होता चला आ रहा है जहाँ आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था का उद्भव, पल्लवन एवं विकास हुआ। यद्यपि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कर चोरी के लिये दंडविधान की व्यवस्था है एवं भारत के मध्यकाल के इतिहास में भी कर चोरी के लिये दंडविधान का उल्लेख यत्र तत्र मिल जाता है, तो भी औद्योगिक प्रगति के आदिदूत इंग्लैंड के आर्थिक इतिहास में इस अनैतिक अवैध व्यापार का क्रमबद्ध विवरण सन् ११९८ ई० से ही उलूक व्यापार (निशाचरी व्यापार) (Owling) के रूप में मिलने लगता है और तब से आज तक निरंतर संसार के सभी औद्योगिक देशों में यथासमय, यथावश्यकता, किसी न किसी रूप में यह वर्तमान रहा है। इंग्लैंड ने ऊन के विदेशी व्यापार पर १२वीं शताब्दी में प्रतिबंध लगाया। इन प्रतिबंधों तथा करों से बचने के लिये रात्रि में संगठित रूप से किए गए ऊन के निर्यात का आतंकपूर्ण तस्कर व्यापार उलूक व्यापार के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उस समय तक आशंका यही थी कि यह चोरी कर विभाग के अधिकारी कराते हैं और न्यायाधीशों पर उनकी ही जाँच का कार्य सौंपा गया। यह व्यापार शताब्दियों तक इंग्लैंड के दक्षिण तट से चला और तस्कर व्यापारियों ने जनसहानुभूति भी अर्जित की। समय समय पर इतनी अधिक जनसहानुभूति इन व्यापारियों को प्राप्त होती रही कि जनता भी इसके अवैध कार्यों में स्पष्ट रूप से योगदान करती थी।

योरप के औद्योगिक तथा व्यापारिक केंद्रदेशों के तथ्य का सही सही विवरण १४वीं शताब्दी के मध्य मिला और इस अनैतिक व्यापार के लिये सूली तक का दंड अनेक राष्ट्रों ने निर्धारित किया। जब जब कर बढ़े या स्वतंत्र व्यापार पर प्रतिबंध लगा फ्रांस, इंग्लैंड, स्पेन, पुर्तगाल, हालैंड, जर्मनी तथा इटली आदि सभी योरोपीय देशों और उनके उपनिवेशों में यह अवैध अनैतिक व्यापार गति के साथ चलता रहा। इतना ही नहीं, समय समय पर शत्रु राष्ट्रों ने इसके प्रवर्धन में, आर्थिक संतुलन बिगाड़ने के लिये, सहायता पहुँचाई; इन व्यापारियों से जासूस का काम लिया और इन्हें यथावश्यकता शरण भी दिया। इन व्यापारियों ने राष्ट्रद्रोह का कार्य भी किया है। नेपोलियन के समय फ्रांस और इंग्लैंड के युद्ध में कॉट आदि के तत्कालीन तस्कर व्यापारियों ने बड़े पैमाने पर राष्ट्रद्रोह किया था। केवल विदेशी व्यापार के क्षेत्र में ही यह नहीं प्रगट हुआ, अपितु फ्रांस तथा अन्य देशों में, देश के भीतर विभिन्न प्रांतों एवं राज्यों में वस्तुगत कर की असमानता या उनपर लगे यातायात संबंधी प्रतिबंधों के कारण देश के भीतर भी यह पनपा। १९वीं शती में फ्रांस में तथा २०वीं शती में भारतवर्ष में यह विशेष रूप से दिखाई पड़ा। वाटरलू के युद्ध (सन् १८१७ ई०) के उपरांत इस व्यापार पर जलसेना एवं तटरक्षकों के कठोर निरीक्षण तथा राष्ट्रों के मध्य हुई संधियों के आधार पर नियंत्रण करने का प्रयास किया जाने लगा; तथा विभिन्न देशों के विधानों में भी यथावश्यक परिष्कार तथा सुधार इसके नियंत्रण तथा उन्मूलन के लिये किया जाने लगा। इसके साथ ही अंतर्राष्ट्रीय व्यापार (International trade) में करों को कम करने की प्रवृत्ति तथा स्वतंत्र व्यापार को प्रवर्धित करने की नीति अपनायी जाने लगी। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरांत (सन् १९१८ ई० से १९३९ ई० तक) जर्मनी आदि का योरोप के अन्य देशों से विनिमय दरों में भेद तथा व्यापारिक प्रतिबंधों एवं प्रतिबंधित करनीति ने इसे पुनः उभाड़ा और यह व्यापार फिर चमका। द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण यह मंदकला हो गया। द्वितीय विश्वयुद्ध में सभी राष्ट्रों ने उपयोग पर व्यापक नियंत्रण एवं प्रतिबंध तथा कर को घोर प्रतिबंधित अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को युद्ध की परमावश्यक अर्थनीति के रूप से अंगीकार किया। कृष्णमुखी व्यापार (Black Market) की वृद्धि हुई और तस्कर व्यापारियों की पुनः गोटी लाल हुई। युद्धसमाप्ति के उपरांत सन् १९४५ ई० के पश्चात् यह व्यापार और उभड़ा।

द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत संसार के अनेक परतंत्र राष्ट्र स्वतंत्र हुए। आर्थिक दृष्टि से ये अविकसित राष्ट्र आर्थिक निर्माण के लिये नवआयोजन कर रहे हैं। इसलिये इन्हें अपनी अर्थव्यवस्था को नियंत्रित एवं संरक्षित प्रणाली पर ले चलना पड़ रहा है। पर पुरानी आदत तथा श्रेष्ठ राष्ट्रीय उत्पादन के अभाव के कारण इन राष्ट्रों में इस व्यापार को बढ़ावा मिल रहा है। यह व्यापार न केवल जल अपितु थल एवं नभ के माध्यम से भी होता है और यान, जहाज, मोटर, बैल, ऊँट आदि यातायात के सभी साधनों का उपयोग इसके लिये किया जाता है। इन व्यापारियों के लिये परिवहन सेवाओं में कार्य करनेवाले, यात्री और यहाँ तक कि राजदूत भी योगदान करते हुए पाए जा रहे हैं, यद्यपि इसपर कठोर नियंत्रण एवं निरीक्षण की व्यवस्था है। भारतवर्ष में भी द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारंभ से ही तस्कर व्यापार किसी न किसी रूप में बराबर चल रहा है और आर्थिक नवनिर्माण में योजनाबद्ध रूप से लगे हुए स्वतंत्र भारत को तो तस्कर व्यापारियों ने कुछ अर्थों में स्वर्ग समझ रखा था। १९६३ का स्वर्ण-नियंत्रण-अधिनियम इसको निर्मूल करने का इस देश में अन्यतम मौलिक अभियान है। भारत की थल सीमा का अनेक देशों से मिला रहना तथा अल्प समय में हुई इसकी आर्थिक प्रगति एवं यात्रियों को दी जानेवाली विशेष सुविधाएँ तथा विनिमय नियंत्रण एवं प्रतिबंधित व्यापारनीति इसके मूल में हैं। अनेक आर्थिक सिद्धांतों की उपलब्धि भी इससे त्राण पाने के मार्गसंधान के कारण हुई जिनमें ग्रेशम का सिद्धांत अति प्रसिद्ध है।

अलग अलग देशों में इसके लिये अलग अलग दंडविधान है जो समय समय पर बदलता रहता है। तस्कर व्यापार के लिये कम्युनिस्ट देशों में प्राणदंड या आजीवन कारावास का विधान है तथा अन्य देशों में सामान की जब्ती, जुर्माना एवं कठोर सजा की व्यवस्था अलग अलग अपराधों के लिये है। [मु० पा०]

चौहान दे० 'चाहमान'।

चौहान (चाहमान) राज्य में संस्कृति — सम्राट् शासन के विभिन्न अंगों का प्रमुख था। कुछ कवि सम्राटों को विष्णु का कोई अवतार बतलाते अथवा उनसे तुलना करते थे। चाहमान वंश के नरेशों की उपाधियाँ उनके पद में वृद्धि के साथ बढ़ती थीं। युवराज का भी राज्य में गौरवपूर्ण स्थान होता था। कुछ चाहमान रानियाँ शासन में महत्वपूर्ण भाग लेती थीं। राजदरबार की भव्यता की ओर ध्यान दिया जाता था। अन्य परंपरागत मंत्रियों के अतिरिक्त विद्वानों की सभा बुलाने और उनका सत्कार करनेवाले मंत्री तथा पौराणिक का भी उल्लेख मिलता है। राज्य विषयों, ग्रामसमूहों और ग्रामों में विभक्त था किंतु साथ ही सामंत व्यवस्था भी साम्राज्य के स्वरूप में प्रविष्ट थी। राजा और उनके परिवार के व्यक्तियों के उपभोग के लिये उनकी जागीर या भुक्ति होती थी। संभवतः प्रारंभ में चाहमान कबीले के सामंतों को राज्य में ऐसी जागीरें मिली थीं। प्रधान सामंत मंडलेश्वर कहलाते थे और उनके अधिकार में मंडल होते थे। साधारण सामंत ठाकुर, राणक अथवा भोक्ता कहलाते थे। सम्राट् की सेना मुख्यतः सामंतों की टुकड़ियों की बनी होती थी। सेना में सबसे अधिक महत्व हाथियों को दिया जाता

था। अश्वारोही सैनिक भी चाहमान सेना में अधिक संख्या में होते थे। ऊँट सामान ढोने के काम में आते थे। सेना के उच्च अधिकारी प्रस्थान करते समय सुख और ऐश्वर्य का उपभोग करते थे। चाहमान राज्य में विशेष रूप से उत्तरी भाग में कई सुदृढ़ दुर्ग थे। शत्रु के हाथों दुर्ग को समर्पित करना अति लज्जा की बात थी। ऐसे अवसर पर जौहर के उपरांत सैनिक दुर्ग के द्वार खोलकर जीवन की पर्वाह न करके युद्ध करते थे। चाहमानों के अभिलेखों में परंपरागत करों के अतिरिक्त तलाराभाव्य' सेलहथाभाव्य, बलाधियाभाव्य और दशबंध के भी उल्लेख मिलते हैं। कभी कभी किसान और परिजन, जो दासों से भिन्न थे, भूमिदान के साथ ही सदैव के लिये हस्तांतरित कर दिए जाते थे। एक अभिलेख में एक नगर के निवासी संमिलित रूप से चौकीदारी की व्यवस्था करते हैं। न्याय के क्षेत्र में व्यवस्था थी कि ब्राह्मण अभियुक्त को एक गर्दभपत्र देना पड़ता था जिसमें वह घोषणा करता था कि यदि न्यायाधीश के निर्णय से असंतुष्ट होकर वह आत्महत्या करे तो वह गदहे अथवा चांडाल की मृत्यु मरे।

मुस्लिम आक्रमण की प्रतिक्रिया में ब्राह्मणों ने हिंदू धर्म की रक्षा के लिये सामाजिक नियमों की कठोरता बढ़ा दी जिससे विदेशियों के साथ रक्तसंमिश्रण न होने पाए।

ब्राह्मणों की कई उपशाखा, श्रीमाली, नागर, रायकवाल और दध्या आदि के उल्लेख मिलते हैं। राजपूतों में ३६ कबीले थे जिनमें से कुछ की उत्पत्ति अभारतीय थी किंतु धीरे धीरे वे सभी अपने को क्षत्रिय कहने लगे। दूसरे वर्ण के लोगों की भी, व्यापार करने के कारण, वैश्य वर्ण में गणना होती थी, उदाहरणार्थ अग्रवाल, माहेश्वरी और ओस्वालों की क्षत्रिय उत्पत्ति थी। राज्य में वैश्यों का महत्व ऊँचा था और वे प्रायः मंत्री नियुक्त होते थे। वैश्यों में भी कई शाखाएँ थीं—प्राग्वाट, उकेशवंश, धरकट, दूसर बीसा आदि। इसी प्रकार शूद्रों में भी विभिन्न व्यवसायों के कारण उपजातियाँ थीं। राजस्थान में अहीर, कायस्थ, खत्री, जाट और गुर्जर भी अधिक संख्या में थे। अंत्यजों में मेद, भील, मीणा, लावरी, मातंग, डोंब और चांडाल के उल्लेख मिलते हैं।

कन्या का जन्म हर्षकारक नहीं था। प्रायः उच्च घरानों में उनकी शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी। राजकन्याओं का विवाह कभी कभी राजनीतिक उद्देश्यों से होता था। स्वयंवर के भी कुछ उल्लेख मिलते हैं। अनुलोम विवाह के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं। बहुविवाह की प्रथा भी उच्च और समृद्ध लोगों में प्रचलित थी। स्त्रियों में सतीत्व का गौरव बढ़ने के साथ ही सती और जौहर की प्रथाओं का प्रचलन बढ़ रहा था। साथ ही उच्च वर्णों में विधवा विवाह की प्रथा समाप्त सी हो रही थी। नर्तकियों और गणिकाओं की संख्या देवमंदिरों और दरबारों में बढ़ गई थी।

पुरुष भी आभूषणों का उपयोग करते थे। जैन धर्म के प्रभाव के कारण शाकाहार की जनप्रियता बढ़ रही थी किंतु क्षत्रिय मांस खाते थे। प्रसिद्ध मंदिर यात्रियों के लिये आकर्षण थे। विभिन्न देवताओं के जत्र (यात्रा) भी निकलते थे। विभिन्न धर्मों के त्योहारों और पवित्र दिवसों के भी उल्लेख मिलते हैं। वसंतोत्सव जनप्रिय त्योहार था। जैनियों में दीक्षा, प्रतिष्ठा और ध्वजारोपण धूमधाम से मनाए जाते थे।

चाहमान राज्य में राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक कारणों से कई नगरों की स्थापना हुई। इन नगरों का उस युग के सांस्कृतिक जीवन में विशेष योगदान था। राजस्थान के व्यापारी अंतर्प्रांतीय व्यापार में ही नहीं, बल्कि समुद्र के मार्ग से विदेशी व्यापार में भी भाग लेते थे। ब्याज की साधारण दर ३०% प्रतिवर्ष थी। अजयदेव और उसकी पत्नी सोमलेखा ने सिक्के चलाए थे। भिल्लमाल की टकसाल प्रसिद्ध थी। सिक्कों का उल्लेख प्रायः द्रम्म के नाम से आता है। कुछ दूसरे सिक्कों के नाम हैं पाठत्थ, द्रम्म, द्विवल्लकद्रंम, विंशोपक, लोहटिक, रूपक, टंक, दीनार और जीतल। वस्तुओं के दाम कम थे। व्यापार के कारण राज्य में समृद्धि थी और जनसंख्या का दबाव अधिक न होने के कारण कृषक और साधारण जनता अभाव से त्रस्त नहीं थी। किंतु प्राकृतिक कारणों से जब दुर्भिक्ष आते थे, जैसे १२५५-५८, १२६४ और १३३७ ई० में आए थे, तो अधिक संख्या में जन जीवन की हानि के साथ ही जनता को अवर्णनीय दुःख उठाना पड़ता था।

विद्यामठों में विद्यार्थी और गुरु दोनों के भोजन वस्त्र आदि का व्यय धनवान व्यक्ति पुण्य के लिये उठाते थे। विग्रहराज चतुर्थ के द्वारा स्थापित सरस्वती मंदिर राज्य के विभिन्न भाग के शिक्षार्थियों के लिये आकर्षण का केंद्र था। अजमेर, भीनमाल, आबू और चित्तौड़ शिक्षा के प्रसिद्ध केंद्र थे। विग्रहराज चतुर्थ समय समय पर विद्वानों और कवियों की सभाओं का आयोजन करता था। पृथ्वीराज की सभा में जनार्दन और विद्यापति गौड़ जैसे पंडित थे जो दरबार में आनेवालों की विद्वत्ता की परीक्षा करते थे। पंडितसभा में विद्वानों में सभी विषयों पर गहन विवाद और विवेचन होता था। विवाद में जिस विद्वान् की विजय होती थी उसे जयपत्र मिलता था और उसके समर्थक उसका जुलूस निकालते थे। प्रसिद्ध ग्रंथों की प्रतियाँ बनाई जाती थीं जो जैसलमेर, जालोर आदि के ग्रंथभांडारों में रखी जाती थीं।

चाहमान राज्य में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों ही में ग्रंथ रचना हुई। किंतु प्राकृत का महत्व घट गया था। अपभ्रंश में रचनाएँ समय के साथ बढ़ती गई और अंत में मारवाड़ी रासो, आख्यान, चरित और प्रबंध के रूप में पल्लवित हुई।

कई चाहमान नरेशों की साहित्य में अभिरुचि थी। विग्रहराज चतुर्थ कविबांधव के रूप में प्रसिद्ध था। उदयसिंह भी विद्वान् था। मंत्रियों में पद्मनाभ, यशोवीर और वैजादित्य सफल कवि थे। चाहमान दरबार के संरक्षण में सोमदेव, जयानक और जयमंगल जैसे काव्यकारों ने रचनाएँ कीं। अनुश्रुति चंद बरदाई का नाम पृथ्वीराज तृतीय के साथ जोड़ती है। चाहमान काल में राजस्थान में साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में सुंदर मूल ग्रंथ और महत्वपूर्ण टीकाओं की रचना करनेवाले विद्वानों की लंबी सूची है। इनमें कुछ प्रसिद्ध नाम हैं जिनवल्लभ, जिनदत्त सूरि, जिनपति सूरि, जिनपाल, उपाध्याय, सुमतिगणि, चंद्रतिलक, पल्ह, धर्मघोष सूरि और यशोभद्र।

चाहमानों से पूर्व ही बौद्ध धर्म राजस्थान से लुप्तप्राय हो गया था। जैन धर्म और ब्राह्मण धर्म ही चाहमान राज्य में प्रमुख धर्म थे। जैन धर्म को सुधारने का प्रयास हरिभद्र सूरि, उद्योतन सूरि और सिद्धर्षि सूरि ने अपनी रचनाओं द्वारा किया। किंतु सबसे अधिक श्रेय खरतर नाम के गच्छ के आचार्यों को है। इन्होंने विधिमार्ग का प्रतिपादन किया। इनका प्रभाव इनके ग्रंथों, उपदेशों और व्यक्तिगत उदाहरण के कारण अधिक गहरा था। बाद में इन्होंने अपभ्रंश में रचना कर अपने विचार जनसुलभ बना दिए। इन आचार्यों में जिनेश्वर सूरि, अभयदेव सूरि, जिनवल्लभ, जिनदत्त सूरि और जिनपति सूरि उल्लेखनीय हैं। जैन धर्म

को कई चाहमान नरेश और मंत्रियों की सहायता प्राप्त थी। वैश्यों में जैन धर्म के अनुयायी बहुत संख्या में थे। जैन धर्म के प्रभाव के कारण ही मांसाहार को मात्रा कम हो गई थी।

पुष्कर के अतिरिक्त अन्य कुछ दूसरे स्थानों पर भी ब्रह्मा के मंदिर थे। किंतु विष्णु के उपासकों की संख्या अधिक थी। ब्राह्मण संप्रदायों में शैव मत सबसे अधिक लोकप्रिय था। शिव की मूर्ति के स्थान पर लिंग का ही प्रचलन था। चाहमान अभिलेखों में कापालिक और पाशुपत संप्रदायों का उल्लेख आता है। शक्ति की आराधना कम जनप्रिय नहीं थी। इसके अतिरिक्त गणपति, दिक्‌पाल, कार्तिकेय और सरस्वती की भी आराधना होती थी। चाहमान काल में सूर्य की उपासना भी राजस्थान में काफी प्रचलित थी और भीनमाल, ओसिया और मंडोर उसके प्रसिद्ध केंद्र थे।

कला के क्षेत्र में चाहमान काल में उल्लेखनीय प्रगति हुई। ओसिया, झालरापाटन, किराडु, आबू आदि अनेक स्थानों पर अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ। ये मंदिर नागर शैली में हैं। इनकी अपनी प्रादेशिक विशेषताएँ हैं जो मध्य भारत में मिलनेवाली प्रवृत्तियों का एक समानांतर रूप दिखलाती हैं। मंदिरों के अतिरिक्त दुर्ग और राजभवनों का भी निर्माण हुआ। चित्तौड़ का कीर्तिस्तंभ इन सभी में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। जैसलमेर के मंदिर भी कला की दृष्टि से उच्च कृतियाँ हैं। इस युग के सास बहू नाम के मंदिरों में सुंदर नक्काशी मिलती है।

सं० ग्रं० — दशरथ शर्मा : अर्ली चौहान डाइनेस्टीज [ल० गो०]

च्यवन पिता भृगु और माता पुलोमा से उत्पन्न वेद प्रसिद्ध एक ऋषि। पौराणिक आख्यानों के अनुसार जब ये गर्भ में थे तब एक राक्षस इनकी माता का अपहरण करने आया। उसी समय माता का गर्भ गिर गया और उसके तेज से राक्षस भस्म हो गया। गर्भ से च्युत होने के कारण उस गर्भ से उत्पन्न बालक च्यवन कहलाया। दूसरी कथा के अनुसार ये तपस्या में इतने लीन हो गए कि इनके शरीर पर दीमकों ने बाँबी बना ली जिसमें से केवल इनकी आँखें चमकती थीं। शर्याति की पुत्री सुकन्या ने कौतूहलवश आँखों में काँटा चुभो दिया। क्रुद्ध ऋषि के प्रभाव से राजा के सिपाहियों का मलमूत्र अवरुद्ध हो गया। सुकन्या को पत्नी के रूप में देकर राजा ने उन्हें शांत किया। अश्विनीकुमारों ने सुकन्या के सतीत्व की परीक्षा लेकर वृद्ध च्यवन को पुनः युवा बना दिया। यह कथा ऋग्वेद में भी मिलती है। इस यौवनदान के प्रतिदान में च्यवन ने अश्विनियों को सोमरस का अधिकारी बनाया। [रा० चं० पां०]

च्यांग काई शेक (१८८७) चिकोउ, प्रांत चेकियांग में जन्म। राष्ट्रवादी चीन (फारमोसा) का नायक एवं राजनीतिज्ञ। साधारण परिवार में उत्पन्न च्यांग ने पाओतुंग सैनिक अकादमी (१९०६) और टोकियो सैनिक कालेज (१९०७-११) में सैनिक शिक्षा के अतिरिक्त चीन के प्राचीन ग्रंथों का अनुशीलन और आधुनिक प्रवृत्तियों का भी ज्ञान प्राप्त किया। टोकियो में यह सुनयातसेन के क्रांतिकारी संगठन 'तुंग मेंग हुई' का सक्रिय सदस्य बना। चीन लौटने पर उसने शंघाई के क्रांतिकारी नेता चेन ची मेई की सेना की एक ब्रिगेड का नायकत्व करते हुए १९११ की क्रांति में भाग लिया। चीन के आंतरिक युद्धों में क्रांतिकारियों के पक्ष में लड़ता हुआ वह सुनयातसेन का विश्वासपात्र बना। १९२३ में रूस से लौटने पर ह्वंपोआ सैनिक अकादमी का प्रधान बना। वहीं साम्यवादियों से उसका संघर्ष प्रारंभ हो गया। अपने सहपाठियों को अकादमी में उच्च पदों पर बुलाया और साम्यवादियों को सैनि[क] उच्च पदों से वंचित रखा।

सुनयातसेन की मृत्यु (१९२५) के बाद कुओमितांग दल [के] नेतृत्व के संघर्ष में च्यांग काई शेक विजयी हुआ। चीन के एकीकरण [की] योजना को कार्यान्वित करने के प्रश्न पर दल के वाम एवं दक्षिण पक्ष [में] काफी खींचतान हुई। किंतु अंत में च्यांग काई शेक के ही सेनापति[त्व] में १९२६ में 'उत्तरी अभियान' प्रारंभ हुआ। शीघ्र ही यौत्से घा[टी] के प्रमुख नगरों पर अधिकार हो गया। किंतु सफलता के क्षण में कुओमितांग दल में फूट पड़ गई और अभियान ठप हो गया। आक्रम[ण]कारी सेना के वामपक्षी एवं दक्षिणपक्षी दलों ने वुहान और नानकिंग [में] अलग अलग अपने प्रधान अधिकरण बना लिए। इस खींचतान के बी[च] ही कुओमितांग दल के वामपक्षियों और उनके समर्थक साम्यवादियों [में] भी झगड़ा हो गया। फलतः साम्यवादी निष्कासित कर दिए गए [और] दक्षिणपक्षी नानकिंग की सरकार में च्यांग काई शेक का प्राबल्य हो [गया।] [श]ही, शंघाई नगर भी उसके अधिकार में आ गया। उस कार्य में सश[क्त] बाधा डालनेवाले साम्यवादियों के विरुद्ध च्यांग ने कड़ी कार्रवाई की। सोवियत सलाहकारों को रूस लौट जाने के लिये उसने विवश किया। चीनी साम्यवादियों को कारावास एवं मृत्युदंड दिए। साम्यवादी विरो[धी] अभियानों में शंघाई के धनपतियों एवं विदेशियों ने उसकी सहायता की। किंतु यह सब होते हुए भी अपने दल के असंतुष्ट नेताओं के विरोध ए[वं] कई पराजयों के कारण च्यांग काई शेक को पदत्याग करना पड़ा। शंघ[ाई] में उसने स्वर्गीय सुनयातसेन की साली सूंग मेई-लिना के साथ अप[ना] दूसरा विवाह कर ईसाई धर्म अंगीकार कर लिया।

राजनीतिक उथल पुथल के मध्य नानकिंग सरकार ने उसे १९२७ [के] अंत में महासेनापति पद पर पुनः बुलाया। उसके नेतृत्व में १९२८ [में] कुओमितांग सेनाओं ने पीकिंग पर अधिकार किया। मंचूरिया [के] नए सेनासत्ताधारी ने बिना लड़े ही कुओमितांग सरकार [की] अधीनता स्वीकार कर ली। चीन में राष्ट्रीय एकता स्थापित हो ग[ई] किंतु वस्तुतः यह सैनिक एकीकरण मात्र था। नानकिंग में राष्ट्री[य] सरकार की स्थापना हुई और च्यांग काई शेक उसका राष्ट्रपति (१९२[८]-३१) बना। किंतु तानाशाही अधिकारों का भोग करते हुए भी प्रब[ल] विरोधियों के संघर्ष के कारण उसका सारे चीन पर कभी नियंत्रण [न] स्थापित हो सका।

च्यांग काई शेक ने साम्यवादियों के विनाश करने के सारे प्रय[त्न] किए। पर साम्यवादियों ने माओ त्से तुंग के संचालन में दक्षिणी चीन [के] क्यांग्सी प्रांत के पर्वतीय प्रदेश में चीनी सोवियत रिपब्लिक की स्थाप[ना] (१९३१) कर ली। १९३४ में मंचूरिया में जापान के आक्रमण [की] गति धीमी पड़ जाने पर च्यांग काई शेक ने साम्यवादियों को चारों [ओर] से घेर लिया। विवश होकर साम्यवादियों को शेंसी प्रांत के [लि]ए 'महाप्रस्थान' करना पड़ा। किंतु उसी समय च्यांग काई शेक [को] जापान के प्रति भयंकर बाह्य संकट का सामना करना पड़ा। मंचूरि[या] पर कब्जा कर लेने के बाद जापानियों ने उत्तरी चीन के लिये भी संक[ट] उपस्थित कर दिया। साम्यवादियों की येनान की सरकार ने जापान [के] विरुद्ध संयुक्त प्रतिरोध नीति की घोषणा की। उनके साथ मिलक[र] जापान से लड़ने के लिये च्यांग काई शेक पर दबाव डाला जाने लगा किंतु वे साम्यवादियों को देश का शत्रु मानते थे। उनकी योजना के अनु[सार] साम्यवादियों को विनष्ट करके संपूर्ण चीन में एकता स्थापित क[रने] के बाद ही जापान से सफल युद्ध किया जा सकता था। इसी से उन्हों[ने]

साम्यवादियों से सहानुभूति रखनेवाली सेना को येनान पर आक्रमण करने का आदेश दिया। किंतु आदेशपालन कराने के लिये जब च्यांग काई शेक स्वयं सियान पहुँचे तो विद्रोही सेना ने उन्हीं का अपहरण करके (१६३६) उन्हें बंदी बना लिया। फिर मुक्त होकर भी १६३७ में जापान के आक्रमण के कारण वे साम्यवादियों के विरुद्ध कुछ भी न कर सके। साम्यवादियों को जापान के विरुद्ध छापामार युद्ध करने की छूट भी देनी पड़ी। द्वितीय महायुद्ध में अमेरिका के प्रवेश (१६४१) से च्यांग काई शेक की स्थिति कुछ सँभल गई। चीन के रणमंच पर मित्रराष्ट्रों की संयुक्त सेनाओं के सर्वोच्च सेनापति (१६४२-४५) के रूप में भी उसने कार्य किया। १६४५ में जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया।

१६४६ में चीन के नए संविधान के अंतर्गत च्यांग काई शेक राष्ट्रपति बना किंतु साम्यवादियों के विनाश के लिये किए जानेवाले अभियानों के परिणाम भयंकर युद्ध हुए, जिनमें च्यांग को पराजित होकर चीन छोड़ भाग जाना पड़ा। दिसंबर, १६४३ में उसने फारमोसा में चीन की राष्ट्रवादी सरकार का संघटन किया जिसका वह राष्ट्रपति है। किंतु उसकी तथा फारमोसा की सरकार अमरीका की कृपा पर निर्भर है। राष्ट्रसंघ और सुरक्षापरिषद् में वही सरकार अब भी चीन का प्रतिनिधान करती है। च्यांग काई शेक कृत चाइनीज डेस्टिनी और चाइनीज इकोनामिक थियरी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। [शि० गो० वा०]

च्यापास स्थिति : ७०° ०' उ० अ० तथा ६२° ४५' प० दे०। यह दक्षिणी मेक्सिको में राज्य है। इस राज्य की राजधानी टुस्टला (Tuxtla) है। यहां की जनसंख्या ६,०३,२०० (१६५०) है। उत्तरी भाग में, जो 'सिएरा नेवेदा' की मुख्य श्रेणी में आता है, 'टकाना' ज्वालामुखी है जो अंतर्राष्ट्रीय सीमा निर्धारित करता है। यह भाग ग्रिजालवा एवं सुमाकिंटा नदियों द्वारा सींचा जाता है। इस राज्य की जलवायु सूखी तथा तटीय प्रदेशों में उष्ण एवं मध्य में शीतल है। निचले स्थल में गर्म तथा नम है। उत्तरी भाग खनिज पदार्थों की दृष्टि से धनी है। परंतु केवल नमक ही आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। कृषि यहां का मुख्य उद्योग है जो पूरे क्षेत्र में महत्वपूर्ण है। कृषि में मुख्य उपज काफी, कोको, ईख, तंबाकू, बेनिला, नील, कपास, धान, दाल तथा केला आदि हैं। यहां पर वन वनस्पति पर्याप्त मात्रा में है जिनमें रंजक काष्ठ तथा कैबिनेट काष्ठ, महोगनी, देवदारु आदि मुख्य हैं। पूर्वी भाग में रबर भी प्राप्त होता है। यह देश का प्रमुख पशुचारण क्षेत्र है।

टुस्टला, सैन क्रिस्टोबल डि लास, कैसास, कैमिटन तथा टापाचुला मुख्य नगर हैं। च्यापास १८२४ में मेक्सिको देश का राज्य बना था। [नि० कौ०]

छंदशास्त्र (भारतीय) छंद शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। 'छंदस' वेद का पर्यायवाची नाम है। सामान्यतः वर्णों और मात्राओं की गेयव्यवस्था को छंद कहा जाता है। इसी अर्थ में पद्य शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। पद्य अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। भाषा में शब्द और शब्दों में वर्ण तथा स्वर रहते हैं। इन्हीं को एक निश्चित विधान से सुव्यस्थित करने पर छंद का नाम दिया जाता है।

छंद मुख्यतः दो प्रकार के हैं : प्रथम—'वैदिक'—जिनका प्रयोग वेदों में प्राप्त होता है। इनमें ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और स्वरित, इन चार प्रकार के स्वरों का विचार किया जाता है, यथा 'अनुष्टुप' इत्यादि। वैदिक छंद अपौरुषेय माने जाते हैं। द्वितीय, 'लौकिक छंद'—इनका प्रयोग साहित्यांतर्गत किया जाता है, किंतु वस्तुतः लौकिक छंद वे छंद हैं जिनका प्रचार सामान्य लोक अथवा जनसमुदाय में रहता है। ये छंद किसी निश्चित नियम पर आधारित न होकर विशेषतः ताल और लय पर ही आधारित रहते हैं, इसलिये इनकी रचना सामान्य अपठित जन भी कर लेते हैं। लौकिक छंदों से तात्पर्य होता है उन छंदों से जिनकी रचना निश्चित नियमों के आधार पर होती है और जिनका प्रयोग सुपठित कवि काव्यादि रचना में करते हैं। इन लौकिक छंदों के रचना-विधि-संबंधी नियम सुव्यवस्थित रूप से जिस शास्त्र में रखे गए हैं उसे 'छंदशास्त्र' कहते हैं।

छंदशास्त्र की रचना कब हुई? इस संबंध में कोई निश्चित विचार नहीं दिया जा सकता। किंवदंती है कि महर्षि वाल्मीकि आदिकवि हैं और उनका 'रामायण' नामक काव्य आदिकाव्य है। 'मा निषाद प्रतिष्ठा त्वं गमः शाश्वती समाः यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधिः काममोहितं'—यह अनुष्टुप छंद वाल्मीकि के मुख से निकला हुआ प्रथम छंद है जो शोक के कारण सहसा श्लोक के रूप में प्रकट हुआ। यदि इस किंवदंती को मान लिया जाय, छंद की रचना पहले हुई और छंदशास्त्र उसके पश्चात् आया। वाल्मीकीय रामायण में अनुष्टुप छंद का प्रयोग आद्योपांत हुआ ही है, अन्य उपजाति आदि का भी प्रयोग प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। एक अन्य किंवदंती यह है कि छंदशास्त्र के आदि आविष्कर्ता भगवान् शेष हैं। एक बार गरुड़ ने उन्हें पकड़ लिया। शेष ने कहा कि हमारे पास एक अप्रतिम विद्या है जो आप सीख लें, तदुपरांत हमें खाएँ। गरुड़ ने कहा कि आप बहाने बनाते हैं और स्वरक्षार्थ हमें विभ्रमित कर रहे हैं। शेष ने उत्तर दिया कि हम असत्य भाषण नहीं करते। इसपर गरुड़ ने स्वीकार कर लिया और शेष उन्हें छंदशास्त्र का उपदेश करने लगे। विविध छंदों के रचनानियम बताते हुए अंत में शेष ने 'भुजंगप्रयात' छंद का नियम बताया और शीघ्र ही समुद्र में प्रवेश कर गए। गरुड़ ने इसपर कहा कि तुमने हमें धोखा दिया, शेष ने उत्तर दिया कि हमने जाने के पूर्व आपको सूचना दे दी। 'चतुर्भिर्मकारैर्भुजंगप्रयाति' अर्थात चार मगणों से भुजंग प्रयाति छंद बनता है, और प्रयुक्त होता है। इस प्रकार छंदशास्त्र का आविर्भाव हुआ। इससे प्रतीत होता है कि छंदशास्त्र एक दैवी विद्या के रूप में प्रकट हुआ। इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि इसके आविष्कर्ता शेष नामक कोई आचार्य थे जिनके विषय में इस समय कुछ विशेष ज्ञान और सूचना नहीं है। इसके पश्चात् कहा जाता है कि शेष ने अवतार लेकर पिंगलाचार्य के रूप में छंदसूत्र की रचना की, जो 'पिंगलशास्त्र' कहा जाता है। यह ग्रंथ सूत्रशैली में लिखा गया है और इस समय तक उपलब्ध है। इसपर टीकाएँ तथा व्याख्याएँ हो चुकी हैं। यही छंदशास्त्र का सर्वप्रथम ग्रंथ माना जाता है। इसके पश्चात् इस शास्त्र पर संस्कृत साहित्य में अनेक ग्रंथों की रचना हुई।

छंदशास्त्र के रचयिताओं को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है : एक आचार्य श्रेणी, जो छंदशास्त्र का शास्त्रीय निरूपण करती है, और दूसरी कवि श्रेणी, जो छंदशास्त्र पर पृथक् रचनाएँ प्रस्तुत करती है। थोड़े समय के पश्चात् एक लेखक श्रेणी और प्रकट हुई जिनमें ऐसे लेखक आते हैं जो छंदों के नियमादिकों की विवेचना

अपनी ओर से करते हैं किंतु उदाहरण दूसरे के रचे हुए तथा प्रचलित ग्रंथों से उद्धृत करते हैं। हिंदी में भी छंदशास्त्र पर अनेक ग्रंथ लिखे गए हैं। (दे० संदर्भ सूची २-३, ५-६)।

छंदशास्त्र में मुख्य विवेच्य विषय दो हैं : प्रथम — छंदों की रचना-विधि तथा द्वितीयतः छंद संबंधी गणना जिसमें प्रस्तार, पताका, उद्दिष्ट, नष्ट आदि का वर्णन किया गया है। इनकी सहायता से किसी निश्चित संख्यात्मक वर्णों और मात्राओं के छंदों की पूर्ण संख्यादि का बोध सरलता से हो जाता है। छंदशास्त्र इसलिये अत्यंत पुष्ट शास्त्र माना जाता है क्योंकि वह गणित पर आधारित है। वस्तुतः देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि छंदशास्त्र की रचना इसलिये की गई जिससे अग्रिम संतति इसके नियमों के आधार पर छंदरचना कर सके। छंदशास्त्र के ग्रंथों को देखने से यह भी ज्ञात होता है कि जहाँ एक ओर आचार्य प्रस्तारादि के द्वारा छंदों को विकसित करते रहे वहाँ दूसरी ओर कविगण अपनी ओर से छंदों में किंचित् परिवर्तन करते हुए नवीन छंदों की सृष्टि करते रहे जिनका छंदशास्त्र के ग्रंथों में कालांतर में समावेश हो गया।

छंदों का वर्गीकरण — छंदों का विभाजन वर्णों और मात्राओं के आधार पर किया गया है। छंद प्रथमतः दो प्रकार के माने गए हैं : वर्णिक और मात्रिक। वर्णिक वृत्तों में वर्णों की संख्या निश्चित रहती है। इसके भी दो प्रकार हैं—गणात्मक और अगणात्मक। गणात्मक वर्णिक छंदों को वृत्त भी कहते हैं। इनकी रचना तीन लघु और दीर्घ वर्णों से बने हुए गणों के आधार पर होती है। लघु तथा दीर्घ के विचार से यदि वर्णों की प्रस्तारव्यवस्था की जाय आठ रूप बनते हैं। इन्हीं को 'आठ गण' कहते हैं इनमें भ, न, म, य शुभ गण माने गए हैं और ज, र, स, त अशुभ माने गए हैं। वाक्य के आदि में प्रथम चार गणों का प्रयोग उचित है, अंतिम चार का प्रयोग निषिद्ध है। यदि अशुभ गणों से प्रारंभ होनेवाले छंद का ही प्रयोग करना है, देवतावाची या मंगलवाची वर्ण अथवा शब्द का प्रयोग प्रथम करना चाहिए—इससे गणदोष दूर हो जाता है। इन गणों में परस्पर मित्र, शत्रु और उदासीन भाव माना गया है। छंद के आदि में दो गणों का मेल माना गया है। वर्णों के लघु एवं दीर्घ मानने का भी नियम है। लघु स्वर अथवा एक मात्रा-वाले वर्ण लघु अथवा ह्रस्व माने गए और इसमें एक मात्रा मानी गई है। दीर्घ स्वरों से युक्त संयुक्त वर्णों से पूर्व का लघु वर्ण भी विसर्ग युक्त और अनुस्वार वर्ण तथा छंद का चरणांत वर्ण दीर्घ माना जाता है।

अगणात्मक वर्णिक वृत्त वे हैं जिनमें गणों का विचार नहीं रखा जाता, केवल वर्णों की निश्चित संख्या का विचार रहता है विशेष मात्रिक छंदों में केवल मात्राओं का ही निश्चित विचार रहता है और यह एक विशेष लय अथवा गति (पाठप्रवाह अथवा पाठपद्धति) पर आधारित रहते हैं। इसलिये ये छंद लयप्रधान होते हैं।

छंदों का विभाजन मात्राओं और वर्णों की चरण-भेद-संबंधी विभिन्न संख्याओं पर आधारित है। इस प्रकार छंद सम, विषम, अर्धसम होते हैं। सम छंदों में छंद के चारों चरणों में वर्णस्वरसंख्या समान रहती है। अर्धसम में प्रथम, तृतीय और द्वितीय तथा चतुर्थ में वर्णस्वर संख्या समान रहती है। विषम छंद के चारों चरणों में वर्णों एवं स्वरों की संख्या असमान रहती है। ये वर्ण परस्पर पृथक् होते हैं वर्णों और मात्राओं की कुछ निश्चित संख्या के पश्चात् बहुसंख्यक वर्णों और स्वरों से युक्त छंद दंडक कहे जाते हैं। इनकी संख्या बहुत अधिक है। छंदों का विभाजन फिर अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है : स्वतंत्र छंद और मिश्रित छंद। स्वतंत्र छंद एक ही छंद विशेष नियम से रचा हुआ रहता है। मिश्रित छंद दो प्रकार के हैं : १. जिनमें दो छंदों के चरण एक दूसरे से मिला दिए जाते हैं। प्रायः वे अलग अलग जान पड़ते हैं किंतु कभी कभी नहीं भी जान पड़ते। २. जिनमें दो स्वतंत्र छंद स्थान स्थान पर रखे जाते हैं और कभी उनके मिलाने का प्रयत्न किया जाता है, जैसे कुंडलिया छंद एक दोहा और चार पद रोला के मिलाने से बनता है। दोहा और रोला के मिलाने से दोहे के चतुर्थ चरण की आवृत्ति उसके प्रथम चरण के आदि में की जाती है और दोहे के प्रारंभिक कुछ शब्द रोले के अंत में रखे जाते हैं। दूसरे प्रकार का मिश्रित छंद है 'छप्पय' जिसमें चार चरण रोला के देकर दो उल्लाला के दिए जाते हैं। इसीलिये इसे षट्पदी अथवा छप्पय (छप्पद) कहा जाता है। इनके देखने से यह ज्ञात होता है कि छंदों का विकास न केवल प्रस्तार के आधार पर ही हुआ है वरन् कवियों के द्वारा छंद-मिश्रण-विधि के आधार पर भी हुआ है। इसी प्रकार कुछ छंद किसी एक छंद के विलोम रूप के भाव से आए हैं जैसे दोहे का विलोम सोरठा है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवियों ने बहुधा इसी एक छंद में दो एक वर्ण अथवा मात्रा बढ़ा घटाकर भी छंद में रूपांतर कर नया छंद बनाया है। यह छंद प्रस्तार के अंतर्गत आ सकता है।

लघु छंदों को छोड़कर बड़े छंदों का एक चरण जब एक बार में पूरा नहीं पढ़ा जा सकता, उसमें रचना के रुकने का स्थान निर्धारित किया जाता है। इस विरामस्थल को यति कहते हैं। यति के विचार से छंद फिर दो प्रकार के हो जाते हैं। १—यत्यात्मक जिनमें कुछ निश्चित वर्णों या मात्राओं पर यति रखी जाती है। यह छंद प्रायः दीर्घाकारी होते हैं, जैसे दोहा, कवित्त आदि। २—अयत्यात्मक—जिन छंदों में चौपाई, द्रुत, विलंबित जैसे छंद आते हैं। यति का विचार करते हुए गणात्मक वृत्तों में गणों के बीच में भी यति रखी गई है जैसे मालिनी। इससे स्पष्ट है कि यति का उद्देश्य केवल रचना को कुछ विश्राम देना ही है।

छंद में संगीत तत्व द्वारा लालित्य का पूरा विचार रखा गया है। प्रायः सभी छंद किसी न किसी रूप में गेय हो जाते हैं। राग और रागिनीवाले सभी पद छंदों में नहीं कहे जा सकते। इसी लिये 'गीति' नाम से कतिपय पद रचे जाते हैं। प्रायः संगीतात्मक पदों में स्वर के आरोह तथा अवरोह में बहुधा लघु वर्ण को दीर्घ, दीर्घ को लघु और अल्प लघु भी कर लिया जाता है। कभी कभी हिंदी के छंदों में दीर्घ ए और ओ जैसे स्वरों के लघु रूपों का प्रयोग किया जाता है।

छंद शास्त्र पर इधर सुंदर और विवेचनापूर्ण ग्रंथ नहीं रचे गए हैं। कतिपय पुस्तकें अवश्य प्रणीत हुई हैं जो छंदों की परिचायक कही जा सकती हैं, और सामान्य कक्षा के विद्यार्थियों का हित कर सकती हैं। जगन्नाथप्रसाद भानु कृत 'छंद प्रभाकर' एक सुंदर ग्रंथ है। आधुनिकता के विचार से 'छंदशास्त्र' नाम की एक पुस्तक और प्रकाशित हुई है। संक्षेप में छंद शास्त्र के विकास का यह परिचय पर्याप्त है।

सं० सूची सं० १—संस्कृत

आचार्य भरत (अध्याय १४, १५) — नाट्यशास्त्र

(अध्याय १) — अग्निपुराण

वाराहमिहिर — बृहत्संहिता

कालिदास (दंतकथा के आधार पर)	श्रुतिबोध
जयदेव	जयदेवछंद
जयकीर्ति	छंदानुशासन
क्षेमेंद्र	सुवृत्त तिलक
केदार भट्ट	वृत्तरत्नाकर
विरहांक	वृत्तजात समुच्चय
अज्ञात	छंदोरत्न मंजूषा
हेमचंद्र	छंदानुशासन
गंगादास	छंदमंजरी
भट्ट हलायुध	छंदशास्त्र
अज्ञात (पूना के भंडारकर संस्था में सुरक्षित)	कविदर्पण
" "	वृत्तदीपका
" "	छंदसार
" "	छांदोग्योपनिषद
दामोदर मिश्र	वाणीभूषण
विविध	प्राकृत पैंगलम्
शांतिपा	छंदोरत्नाकर
क्षेमेंद्र	सुवृत्त तिलक

सं० सूची सं० २—हिंदी

चिंतामणि त्रिपाठी	छंदविचार
मतिराम	छंदसारपिंगल
भिखारीदास	छंदोर्णव
पद्माकर	छंदमंजरी
गदाधर	वृत्तचंद्रिका
सुखदेव मिश्र	वृत्तविचार
ज्वाला स्वरूप	रुद्रपिंगल
बलवान सिंह	चित्रचंद्रिका
श्रीधर	पिंगल
कन्हैयालाल शर्मा	छंदप्रदीप
हृषिकेश भट्टाचार्य	छंदोबोध
उमरावसिंह	छंदोमहोदधि
रामप्रसाद	छंदप्रकाश
जगन्नाथप्रसाद भानु	छंदप्रभाकर
रामकिशोर	छंदभास्कर
गिरिवर स्वरूप	गिरीशपिंगल
हरदेव दास	पिंगल
जगन्नाथदास (रत्नाकर)	घनाक्षरी नियम
केवलराम शर्मा	छंदसार पिंगल
बिहारीलाल	साहित्य सागर
नारायणप्रसाद	पिंगलसार

सं० सूची सं० —३

रघुवरदयाल	पिंगल प्रकाश
रामनरेश त्रिपाठी	पदरचन
डा० रमाल	छंदशास्त्र
डा० पुत्तूलाल शुक्ल	आधुनिक हिंदी काव्य में छंदयोजना
माखन	छंदविलास
"	श्री नाग पिंगल
नारायण दास	छंदसार
रामसहाय	वृत्ततरंगिनी
कलानिधि	वृत्तचंद्रिका
नंदकिशोर	पिंगल प्रकाश
सोमनाथ (३, ४, ५ तरंग में)	रसपीयूषनिधि
देव (१० वें ११ वें प्रकाश में छंदवर्णन)	शब्दरसायन

हिंदी छंदशास्त्र—शोधप्रबंध—दिल्ली विश्वविद्यालय;
हिंदी में छंदों का विकास—शोधप्रबंध—पटना विश्वविद्यालय;
अपभ्रंश काव्य में छंद योजना— „ —आगरा— „
मध्यकालीन हिंदी छंदों का ऐतिहासिक विकास—आगरा विश्वविद्यालय,
रीतिकाल में विशिष्ट संदर्भ में हिंदी काव्य में छंद शास्त्र का विकास पंजाब विश्वविद्यालय,
आधुनिक हिंदी कविता में छंद—पंजाब वि० वि०,
हिंदी में मुक्तक छंद का आरंभ और विकास—सागर वि० वि०;
हिंदी में अतुकांत छंद-योजना का विकास—दिल्ली वि० वि०;
मध्यकालीन हिंदी में प्रयुक्त वर्णिक छंदों का अध्ययन—पटना विश्वविद्यालय। [रा० शं० शु०]

छछ्छ (चच) छछ्छ का वास्तविक नाम शायद जज (यज्ञ) रहा हो। पिता का नाम शिलाइज (शिलादित्य) था और राजा बनने से पहले यह सिंध के राजा साहसी का मुख्य मंत्री रहा था। कहते हैं कि रानी से मिलकर उसने राज्य पर अधिकार जमा लिया। उसने अपने पक्ष के सरदारों को अच्छी जागीरें दीं, विरोधियों को कैद किया और राज्य को सुसंगठित कर दिग्विजय के लिये प्रयाण किया। चित्तौड़ के राजा को पराजित कर उत्तर की ओर उसने अस्कलंद और पाविया को जीता जिसकी स्थिति संभवतः सिंध और चिनाब के संगम के निकट थी। इसके बाद मुल्तान और करूर की बारी आई। पश्चिमी प्रयाण में उसने मकरान और सिविस्तान को जीता। दक्षिण में अगम लोहाना ने उसका एक साल तक सामना किया। अगम की मृत्यु के बाद उसके पुत्र ने छछ्छ की अधीनता स्वीकार की।

छछ्छ ने चालीस वर्ष राज किया, किंतु जहाँ उसने राज्य की वृद्धि की वहाँ अपने कुछ कार्यों से उसे निर्बल भी बनाया। उसने जाटों और लोहानों को तलवार न बाँधने की आज्ञा दी। उन्हें काले और लाल रंग के उत्तरीय पहनने पड़ते थे, रेशमी कपड़े उनके लिये वर्जित थे। उन्हें घोड़े पर बिना जीन के चढ़ना और नंगे सिर, नंगे पैर घूमना पड़ता था। सिंध की वीर जातियों से छछ्छ का यह व्यवहार भारत के लिये अंततः घातक सिद्ध हुआ।

सं० ग्रं० — इलियट ऐंड डाउसन : चचनामा, खंड १ पृ० १३१–१५२; होडीवाला : स्टडीज इन इंडो मुस्लिम हिस्ट्री, पृ० ८०–६ [द० श०]

छत इमारत के सबसे ऊपरी भाग को कहते हैं, जो उसे ऊपर की ओर से मौसम के प्रभाव से बचने के लिये बनाया जाता तथा मकान की दीवारों या स्तंभों पर टिका होता है। तृण, फूस या पत्तों की छत, जो अनिवार्यतः ढालू होती है, छप्पर कहलाती है, जब कि मिट्टी, पत्थर, लकड़ी, कंक्रीट आदि की छत, जिसमें बहुधा नाम मात्र की ढाल होती है, पाटन कहलाती है। बहुत ऊँचे स्थान के लिये भी छत शब्द का प्रयोग होता है, जैसे पामीर के पठारों को 'दुनिया की छत' कहते हैं।

गुफाओं में रहनेवाले आदिकालीन मानव ने पहाड़ों को काटकर गुफाएँ बनाने और उनमें अपनी आवश्यकता के अनुकूल स्थान निकालने के लिये कठिन परिश्रम करते करते ऊबकर बाहर पत्थरों को एक दूसरे के ऊपर रखकर फिर उन्हें पाटकर घर बनाने का प्रयास किया होगा। पुराने 'डोलमेन' ऐसे ही प्रयास की ओर संकेत करते हैं। किल्टरनन (डब्लिन) में 'दैत्य की समाधि' नाम से प्रसिद्ध डोलमेन देखने से प्रकट होता है कि दो तीन सीधी शिलाओं के ऊपर कुछ तिरछी सी एक शिला इस प्रकार रखी है, जैसे दीवारों पर छत रखी हो।

छतों के प्रकार — छतें मुख्यत: दो प्रकार की होती हैं : १. सपाट अर्थात् चौरस और २. ढालू।

चौरस छतों में भी नाम मात्र की ढाल रहती है और ये बहुधा पक्की छतें ही होती हैं, जिनमें छादन सामग्री में खुले जोड़ नहीं रहते कि पानी भीतर रिस सके। अच्छी मिट्टी से भी कभी चौरस छतें बनाई जाती हैं। इनमें ढाल पक्की छतों की अपेक्षा कुछ अधिक रखी जाती है, किंतु इतनी अधिक नहीं कि मिट्टी ही पानी में बह जाए। धरनों या कड़ियों के ऊपर पत्थर के चौके, ईंट, लकड़ी के तख्ते, बाँस, सरपत या अन्य कोई पदार्थ बिछा दिए जाते हैं, फिर इसके ऊपर मिट्टी या कंक्रीट आदि फैला दी जाती है। इस प्रकार सपाट या चौरस छत बनती है।

आजकल चौरस छतें बहुधा सीमेंट कंक्रीट या ईंट की चिनाई की बनने लगी हैं। सीमेंट कंक्रीट या सीमेंट के तगड़े मसाले में ईंट की चिनाई की सिल्ली (slab) ढाल दी जाती है, जिसके अंदर तनाव लाने के लिये यथास्थान इस्पात की छड़ें दबाई रहती हैं। इस प्रकार प्रबलित कंक्रीट, या प्रबलित चिनाई, की छत बनती है। धरनें भी प्रबलित कंक्रीट या प्रबलित चिनाई की बनाई जाती हैं, और बहुधा धरनें और सिल्ली एक साथ ढाल कर 'टी' धरनों वाली छतें बनाई जाती हैं (ऊपर सिल्ली और नीचे की ओर धरन मिलकर अंग्रेजी के वर्ण 'T' जैसी काट बनती है, इसलिये इन्हें 'टी' धरनें कहते हैं।

जब सिल्ली (या धरन) आलंबों पर रखी जाती है और उसपर भार (जिसमें सिल्ली का निजी भार सम्मिलित होता है) पड़ता है, तब फलस्वरूप उसमें झुकने की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति (नमन) का परिमाण नमनघूर्ण से मापा जाता है। समांग संहतिवाली सिल्ली

चित्र १. कैंचीवाली छत

क. मुख्य कड़ी; त. मुख्य तान; त'. छोटी तान तथा थ. थाम।

(या धरन) में नमन का प्रभाव यह होता है कि वक्रता केंद्र की ओर का (भीतर का) तल कुछ सिकुड़ने की और दूसरी ओर (बाहर) का तल फैलने की कोशिश करता है। इसी को वैज्ञानिक भाषा में कहते हैं कि वक्रता के भीतर की ओर दबाव और बाहर की ओर तनाव पड़ता है। कंक्रीट या चिनाई दबाव सहन करने में तो काफी मजबूत होती है, किंतु तनाव के लिये कमजोर होती है। अत: इन्हें तनाव सहन कर सकने योग्य बनाने के लिये इनमें प्रबलन की आवश्यकता होती है। ढालते समय उपयुक्त मात्रा में इस्पात की छड़ें यथास्थान रखकर कंक्रीट (और चिनाई) प्रबलित की जाती है। नमन के फलस्वरूप और भी अनेक प्रतिबल उत्पन्न होते हैं जैसे कर्तन और इस्पात कंक्रीट का बंधन (पकड़) आदि। डिजाइन करते समय इन सबका ध्यान रखा जाता है।

ढालू छतें — अधिक वर्षावाले क्षेत्रों में प्राय: ढालू छतें ही बनती हैं। ये एक ढाल या दो ढालवाली, तथा एक ओर को या दोनों ओर को ढालू हो सकती हैं। जिसमें एक ओर को एक ढाल हो वह टेकदार छत कहलाती है। जिसमें बीच से दोनों ओर को ढाल हो, उसके सिरे, जो तिकोनी दीवार से बंद रहते हैं, त्रिअंकी पार्श्व कहलाते हैं और छत त्रिअंकी छत कहलाती है। बीच की रेखा, जहाँ से दोनों ढालें नीचे उतरती हैं, काठी रेखा कहलाती है। यदि त्रिअंकी पार्श्वों के बजाय उधर भी ढालू छत हो हो, अर्थात् छत में चारों ओर को ढाल हो, तो ऐसी छत काठी छत कहलाती है।

विदेशों में दुढालू छतें बहुत बनती हैं। इनमें काठी रेखा के समांतर दोनों ओर दूसरी रेखाएँ होती हैं, जहाँ से ढाल बदल जाती है। ऊपर की ओर को ढाल कम रहती है और नीचे की ओर की अधिक। इसमें एक लाभ तो यह होता है कि ऊपर से उतरते उतरते वर्षा का जल जब मात्रा में अधिक हो जाता है तब अधिक ढाल पाकर और तेजी से उतरता है। दूसरा लाभ यह भी है कि कमरे के ऊपर छत के भीतर ही काफी जगह निकल आती है। कभी कभी तो यह जगह, जो नीचेवाले कमरे से कुछ ही कम होती है, एक अन्य कमरे का काम देती है। दो ओर को दुढालू छत 'गैंब्रेल' और चारों ओर को ढालवाली 'मैंसर्ड' छत कहलाती है।

छत की कैंचियाँ — एक ढाल की छत बनाने के लिये छत का एक सिरा ऊँचा करना पड़ता है और उधर की दीवार ऊँची करने से ही काम चल जाता है। किंतु यदि ऊँचाई सीमित ही रखनी हो तो दोनों ओर ढाल देना अनिवार्य हो जाता है। ऐसी छतों के लिये कैंचियाँ लगाई जाती हैं। छोटे पाटों की कैंचियाँ लकड़ी की और बड़े पाटों की लोहे की, या लकड़ी और लोहे की मिली जुली, हुआ करती हैं। लकड़ी दबाव के अवयवों के लिये और लोहा तनाव के अवयवों के लिये विशेष उपयुक्त होता है। लोहे की कैंचियों में एक या अधिक ऐंगिल, टी, चैनेल या आई सेक्शन दबाव के अवयवों के लिये प्रयुक्त होते हैं। तनाव के अवयवों में इनके अतिरिक्त पत्ती या छड़ें भी लगाई जा सकती हैं। इन अवयवों का विस्तार आवश्यकता से कुछ बड़ा रखा जाता है, ताकि उनमें रिवेटों के लिये छेद करने की गुंजाइश रहे।

पाट के अनुसार ही कैंचियों की बनावट होती है। इनके मुख्य अंग तीन हैं।

(१) मुख्य कड़ियाँ, जिनपर पर्लिनें रखकर ऊपर छत डाली जाती है। प्राय: ये दबाव में रहती है।

(२) मुख्य तान या निचली तान, जो मुख्य कड़ियों के नीचे के सिरों को बाहर की ओर फैलने से रोकती है। यह तनाव में रहती है।

(३) मध्यवर्ती अवयव जो बनावट के अनुसार तनाव या दबाव में रहते हैं। इनकी संख्या पाट के अनुसार कम ज्यादा होती है। दबाव में

रहनेवाले अंगों को 'थामें' कहते हैं। यथासंभव भार जोड़ों के ऊपर ही आने दिया जाता है, ताकि अवयवों में सीधा दबाव या तनाव हो पड़े, आड़ा नहीं। यदि जोड़ों के बीच में भी भार आता है, तो आड़े प्रतिबल के लिये वे अवयव काफी मोटे रखने पड़ते हैं।

चित्र २. विविध प्रकार की कैंचियाँ

(दबाववाले अवयव मोटे और तनाववाले पतले दिखाए गए हैं) १. युग्मित कड़ियाँ (१० फुट पाट तक); २. तानयुक्त युग्मित कड़ियाँ (१४ फुट पाट तक); ३. कॉलरवाली कैंची (१८ फुट); ४. नरथंभा या नर छड़ कैंची (२०-३० फुट); ५. मादा थंभा या मादा छड़ कैंची (२०-४० फुट); ६. फिंक कैंची (३० फुट); ७. मिश्र फिंक (५०-६० फुट); ८. फैन कैंची (४० फुट); ९. मिश्र फैन (७०-८० फुट); १०. खमदार फिंक (३० फुट); ११. खमदार मिश्र फिंक (५०-६० फुट); १२. खड़ी थाम फिंक (५०-६० फुट), १३. खमदार फैन (४० फुट); १४. खमदार मिश्र फैन (७०-८० फुट); १५. विभाजित खंड फिंक (८०-९० फुट); १६. प्राट कैंची; १७. चिपटी प्राट; १८. चिपटी वारेन; १९. आरीदंत या उत्तरी प्रकाश कैंची; २०. होव या तिकोनी तथा २१. चिपटी होव (कैंचियाँ संख्या १६ से २१ तक सभी, आवश्यकतानुसार खंडों की संख्या घटा बढ़ाकर, २० से ८० फुट पाट तक होती हैं)।

कैंची का सबसे सादा उदाहरण युग्मित कड़ियाँ हैं। यदि पाट कुछ अधिक हो, तो इन कड़ियों के नीचेवाले सिरों की बाहर की ओर फैलने की प्रवृत्ति अधिक होती है। इससे दीवारों पर ठेल पहुँचती है। अतः नीचे के सिरे एक तान द्वारा बाँधने पड़ते हैं। यदि यह तान बिल्कुल नीचे न लगाकर कुछ ऊँचाई पर, कड़ियों के लगभग आधे पर, लगाई जाय, तो कॉलर कहलाती है। कॉलरवाली कैंची के नीचे कमरे की ऊँचाई कुछ अधिक मिल जाती है और लकड़ी की भी बचत होती है, किंतु मुख्य कड़ियों में नमन और दीवारों पर ठेल होने से इसके प्रयोग में बहुत सावधानी की आवश्यकता होती है।

तानयुक्त युग्मित कड़ियों में तान को बीच में एक नर थंभा द्वारा कैंची के शीर्ष से बाँध देने से तान को सहारा मिलता है और दोनों ओर दो तिरछी थामें लगाने से मुख्य कड़ियों को टेक मिलती है। इस प्रकार की कैंची को नर थंभा कैंची कहते हैं। यदि एक के बजाय दो थंभे हों तो उन्हें मादा थंभा कैंची कहेंगे।

अधिक पाट की कैंचियों में आवश्यकतानुसार अनेक थामें और तानें होती हैं। इनकी अनेक आकृतियाँ हैं, जो 'फिंक' कैंची, 'होव' कैंची, 'प्राट' कैंची, 'वारेन' कैंची आदि के नाम से विख्यात हैं। यदि कैंची की दोनों मुख्य कड़ियाँ असमान हों, अर्थात् एक ओर की ढाल बिल्कुल खड़ी हो, तो उसे आरीदंत कैंची कहते हैं। ऐसी कैंचियाँ प्रायः कारखानों में, या बड़े बड़े शेडों में, लगती हैं और खड़ी ढाल की ओर शीशा या प्लास्टिक लगाया जाता है, ताकि अंदर प्रकाश पहुँच सके। यह खड़ी ढाल प्रायः उत्तर की ओर रखी जाती है, ताकि प्रकाश तो अंदर पहुँचे किंतु धूप न पहुँच सके (उत्तरी गोलार्ध में जहाँ पृथ्वी का अधिकांश स्थल है, सूर्य प्रायः शिरोबिंदु से दक्षिण की ओर ही रहता है)। इन कैंचियों को इसीलिये उत्तरी प्रकाश कैंची भी कहते हैं।

कैंची का सिद्धांत यह है कि फ्रेम यथासंभव त्रिभुजों में विभक्त हो जाय, क्योंकि त्रिभुज की भुजाओं की लंबाई में परिवर्तन हो तो उसकी आकृति नहीं बदलती, जबकि चतुर्भुज या अधिक भुजाओंवाली आकृति, भुजाओं की लंबाई अपरिवर्तित रहने पर भी प्रतिबल से प्रभावित होकर अपने कोण, और फलतः आकृति, बदल देती है, जैसे आयत समांतर चतुर्भुज हो सकता है और वर्ग समचतुर्भुज भी। जिस मादा-थंभा-कैंची में एक चतुर्भुज होता है, वह अपूर्ण कैंची है। इसी प्रकार युग्मित कड़ियाँ तथा कॉलरवाली कैंची भी अपूर्ण हैं।

छादन-सामग्री—छादन सामग्री की विविधता ढालू छतों में विशेष दिखाई पड़ती है। घास फूस, तृण और पत्ते आदिकाल से छप्परों के लिये प्रयोग में आते रहे हैं। शीत, ताप आदि से रक्षा करने में प्रभावशाली ऐसा सस्ता पदार्थ भी और कोई नहीं है। संपन्न व्यक्ति भी कम वर्षावाले क्षेत्रों में मकान के ऊपर फूस की छत लगवाकर अधिक आराम अनुभव करते हैं, दोष केवल यह है कि आग लगने का विशेष भय रहता है।

खपड़ों की छत खपरैल कहलाती है। यह भी छप्पर की भाँति (किंतु उससे कम) व्यापक है। देहात में कड़ियों या बल्लियों के ऊपर बाँस, सरपत, झाड़ी आदि कोई पतली लकड़ी रखकर खपड़े छाए जाते हैं, और अच्छे काम के लिये कड़ियों पर लकड़ी के बत्ते कीलों से जड़कर उनपर खपड़े छाए जाते हैं। खपड़ों से बहुधा चपटे खपड़ों का ही बोध

होता है और आधे गोल, अर्थात् नाली की शक्ल के खपड़े 'नरिए' कहलाते हैं। छवाई केवल नरियों की, या खपड़ों और नरियों को मिलाकर, होती है। कुम्हार के चाक द्वारा बनाए हुए नरिए अच्छे और सुडौल होते हैं। उनकी छत भी देखने में सुंदर लगती है। इससे भी अच्छे नरिए और खपड़े, जो 'इलाहाबादी' कहलाते हैं, सांचों में मशीन द्वारा बनाए जाते हैं। मशीन से और भी अनेक प्रकार के खपड़े बनाए जाते हैं, जो एक दूसरे में फँसते चले जाते हैं।

स्लेट भी छत के लिये बहुतायत से प्रयुक्त होती है। यह पत्थर की किस्म का कड़ा, समांग, और कभी खराब न होनेवाला, परतदार खनिज पदार्थ है, जो बहुत पतली परतों में चीरा जा सकता है। कुछ उत्तम किस्म की चट्टानों से तो ⅛ इंच मोटी स्लेटें तक निकाली जा सकती हैं। ये छेद करके कीलों से जड़ दी जाती हैं। अच्छी स्लेटें १२" × ६" से लेकर २६" × १६" तक के अनेक विस्तारों में मिलती हैं। छोटे विस्तारों में चढ़ाव का अनुपात अपेक्षाकृत अधिक होता है और इनके लिये अधिक ढाल की भी आवश्यकता होती है। कभी कभी स्लेट में लोहमाक्षिक (iron pyrite) होता है जिसके छोटे छोटे, गोल गोल, सफेद धब्बे से दिखाई देते हैं। ऐसी स्लेटें छत में नहीं लगानी चाहिए, क्योंकि मौसम के प्रभाव से लोहमाक्षिक विघटित होकर स्लेट के क्षय का कारण होता है।

बलुआ पत्थर के पतले चौके भी स्लेट की तरह छाए जाते हैं। हाँ, ये भारी होते हैं और छेद करके कीलों से नहीं जड़े जाते। ये खपड़ों की भाँति ही अपने वजन के कारण यथास्थान टिके रहते हैं। वजन अधिक होने के कारण छतों के लिये इनका प्रयोग खानों के आसपास ही अधिक होता है। पन्ना (मध्य प्रदेश) की खानों से ¾" और ½" मोटे चौके तक निकाले जाते हैं। यदि ढुलाई की समस्या न हो तो वहाँ १५ फुट वर्ग तक के २ इंच मोटे चौके निकल सकते हैं। इंग्लैंड में यार्कशायर के पत्थर के चौके छतों के लिये अच्छे माने जाते हैं।

आधुनिक पदार्थों में, विशेष प्रकार का कागज, किरमिच, तारकोल में डुबाया हुआ नमदा (फेल्ट) और अनेक प्रकार के गत्ते आदि भी छवाई के काम आते हैं, किंतु भारत में इनका चलन नहीं है। धात्वीय पदार्थों में ताँबे, जस्ते, सीसे, ऐल्युमिनियम और लोहे की चादरें प्रयोग में आती हैं। सादी चादरें तो लकड़ी के तख्तों के ऊपर ही लगाई जाती हैं, किंतु ऐल्युमिनियम और लोहे की जस्ती चादरें पनालीदार भी होती हैं, जो पाटनों के ऊपर ही अँकुरीनुमा कब्जों द्वारा कस दी जाती हैं। ये काफी सस्ती और हलकी होती हैं, किंतु यदि नीचे लकड़ी या अन्य कोई नकली छत न लगाई जाय, तो ये शीत-ताप की उग्रता को रोक नहीं पातीं। ऐस्बेस्टॉस सीमेंट की चादरें भी लोहे की पनालीदार सफेद चादरों (टिन) की भाँति ही लगाई जाती हैं। शीत ताप की उग्रता रोकने की इनकी क्षमता धात्वीय चादरों की अपेक्षा कुछ अधिक होती है, किंतु ये कुछ भंगुर होती हैं।
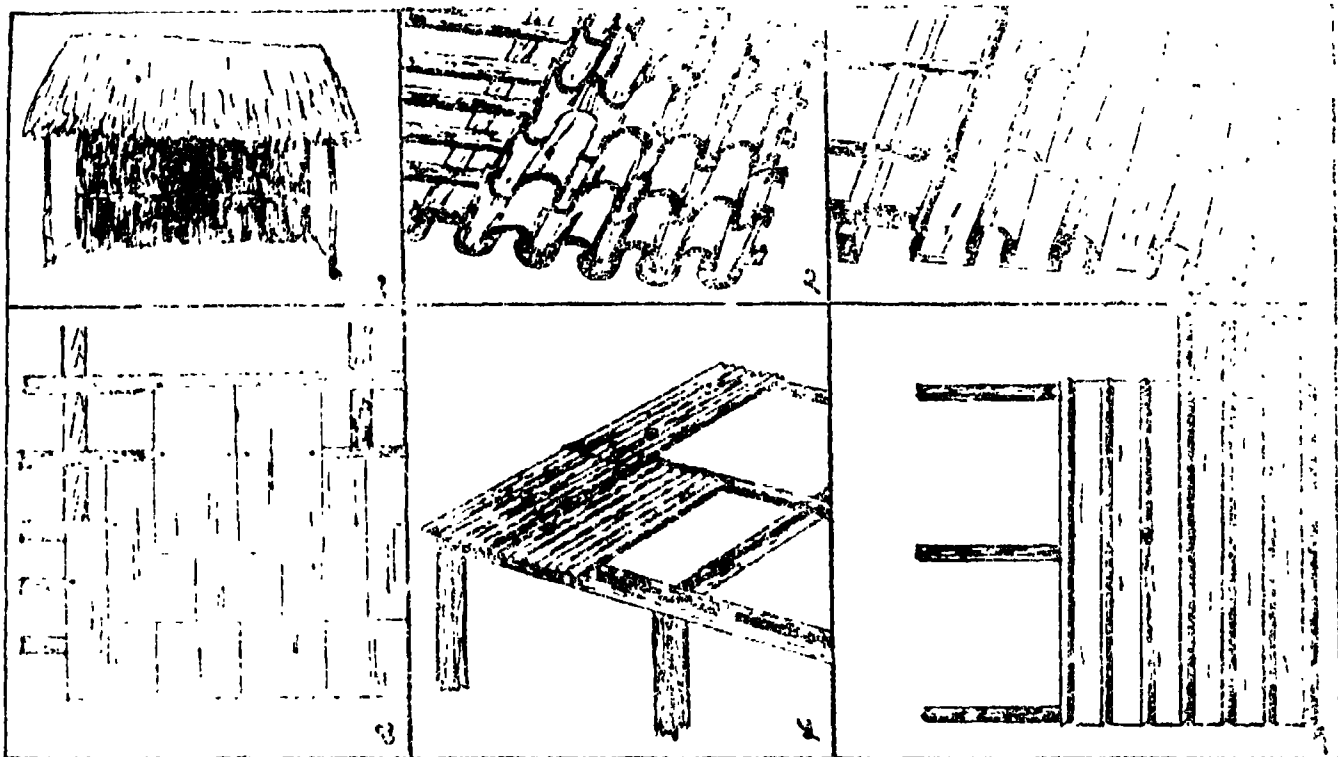
चित्र १. विविध प्रकार की छवाई

१. फूस की झोपड़ी; २. नरियों की छवाई; ३. इलाहाबादी खपड़ों की छवाई; ४ स्लेट की छवाई; ५ पनालीदार जस्ती चादर की छवाई तथा ६. ऐस्बेस्टस-सीमेंट चादरों (ट्रैफर्ड) की छवाई।

गोल छतें—ठंडे देशों के एस्किमो के बर्फ के घर 'इगलू' और अफ्रीका जैसे गर्म देशों के जुलु लोगों की झोपड़ियाँ (देखिए 'गृह')

में ही शायद गोल छतों का आदि रूप देखने में आता है। लकड़ी गोल छतों के लिये विशेष उपयुक्त नहीं, अतः केवल पक्की छतें ही गोलाकार बनीं। इन्हें गुंबद कहते हैं (देखिए 'गुंबद')। इनका वास्तुकार की दृष्टि में प्रत्येक युग में बहुत महत्व रहा है। विशेष उपयोग के लिये निर्मित भवनों के गुंबद विशेष प्रकार से अलंकृत किए जाते रहे हैं। ईंट, पत्थर और प्रबलित कंक्रीट के गुंबदों का आज भी चलन है, विशेषकर सार्वजनिक स्थानों में, जहाँ उपयोगिता की अपेक्षा शोभा ही मुख्यतया इनका उद्देश्य होता है।

कुछ ऐतिहासिक छतें — रोमवालों ने ईंट और कंक्रीट के सुंदर गुंबद बनाए थे। रोम में अग्रीप्पा ने २७ ई० पू० में अनेक देवों का एक विशाल मंदिर बनवाया था, जो ६०९ ई० के बाद सांता मेरिया रोटंडा नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके गुंबद का भीतरी व्यास १४१ फुट है और प्रकाश के लिये शिखर पर २८ फुट व्यास का एक छिद्र है। यह गुंबद भीतर और बाहर काँसे के काम से अलंकृत किया गया था।

बीजापुर के गोल गुंबद में सादगी और भव्यता का अद्भुत संमिश्रण है। १७वीं शती की यह कृति विश्व में विशालतम इस अर्थ में है कि

चित्र ४. गोल गुंबद, बीजापुर, की छत (१६६० ई०)

इसके नीचे का क्षेत्रफल १८,००० वर्ग फुट से कुछ अधिक है, जब कि रोम के रोटंडा का क्षेत्रफल १५,८३३ वर्ग फुट ही है। ईंट के रद्दे बढ़ा-बढ़ाकर बनाया हुआ गोल गुंबद १० फुट मोटे एक औंधे कटोरे सा ११० फुट ऊँची दीवारों के ऊपर इस प्रकार रखा है कि भीतर की ओर लगभग १० फुट चौड़ी एक वीथी चारों ओर छूट जाती है। १३५ फुट भुजा के वर्गाकार कमरे को अनेक डाटों द्वारा कोने काट काटकर ऊपर गोल किया गया है, जिनकी अलंकारशून्यता दर्शक पर अपना विशेष छाप डाले बिना नहीं रहती।

गोल छतों के प्रसंग में कुस्तुंतुनिया का सेंट सोफिया गिरजाघर भी उल्लेखनीय है। जस्टिनियन द्वारा ५३२-७ ई० में बनवाई गई इस विशाल इमारत में बाइज़ैंटाइन (Byzantine) कला पूर्णता को प्राप्त हुई है और रोमन आयोजन का प्राच्य रचना एवं अलंकरण के साथ
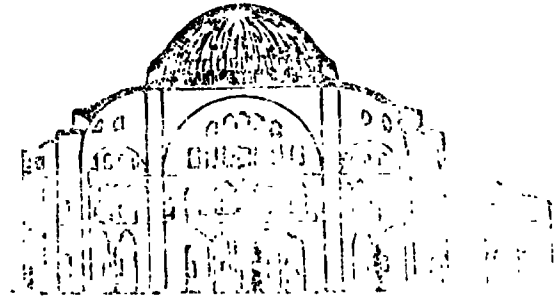
चित्र ५. सेंट सोफिया (कुस्तुंतुनिया) की छत (५३०-७ ई०)

सुखद संमिश्रण यहाँ दृष्टिगोचर होता है। इसका पहिला गुंबद ५५८ ई० में भूकंप से गिर पड़ा था। उसके बाद दूसरा बना, जिसकी ऊँचाई २५ फुट अधिक थी। १९२६-२७ ई० में इसका फिर जीर्णोद्धार हुआ है।

हिंदू स्थापत्य में गुंबद जैसी चीज हाल में ही आई है। पुराने मंदिरों की छत, बहुधा पत्थरों के रद्दे दीवारों से बढ़ा बढ़ा कर रखते हुए, पिरामिड जैसी बनाई जाती थी। ऐसी छतों को शिखर कहते हैं। भुवनेश्वर (उड़ीसा) के विशाल लिंगराज मंदिर की छत भूमितल से १२५ फुट की ऊँचाई पर बने स्कंध से उठती है, और ऊपर 'आमलक शिला' में, जो चारों ओर से घेरे हुए पाट की वास्तविक छत है, समाप्त होती है। मंदिर के 'जगमोहन' की छत पिरामिड की भाँति उठती हुई १०० फुट ऊँची जाती है। इन शिखरों की एक विशेषता है ठोस घन चिनाई, जो बाहर से जितनी अलंकृत है, भीतर से उतनी ही सादी।

आधुनिक छतों में, दिल्ली के विज्ञानभवन की छत उल्लेखनीय है। मुख्य प्रेक्षागृह, जिसमें १,१०० व्यक्तियों के बैठने का स्थान है, १४३ पाट की कैंचियोंवाली छत से पटा है। कैंचियों से ही नकली छत लटकाई गई है, जिसके भीतर से विद्युत्प्रकाश आने की व्यवस्था है। निरीक्षण के निमित्त आवागमन के लिये नकली छत के ऊपर रास्ते बने हुए हैं। बीचोबीच काच की विशाल छागीरी है, जिससे नीचे की ओर दिन का सा ही प्रकाश पहुँचता है।

शेल छतें — आजकल बड़ी बड़ी छतें कंक्रीट के शेल (खोल) की बनती हैं। संरचना की दृष्टि से शेल छत तीन प्रकार की होती है। एक गोल या गुंबद सरीखी, जिसका पृष्ठ किसी वृत्त के चाप द्वारा अपनी त्रिज्या के समांतर किसी धुरी के चारों ओर परिक्रमा करने से बनता है; दूसरी बेलनाकार या ढोल सरीखी, जिसका पृष्ठ किसी आयत द्वारा अपनी किसी भुजा के चारों ओर परिक्रमा करने से बनता है और तीसरी अतिपरवलयिक परवलयज या अंडाकार, जिसका

पृष्ठ किसी दीर्घवृत्त द्वारा अपने लघु अक्ष के चारों ओर परिक्रमा करने पर बनता है।

शेल छतों की विशेषता उनकी अत्यल्प मोटाई में है। इनकी दृढ़ता

चित्र १. लिंगराज के विशाल मंदिर (भुवनेश्वर, उड़ीसा) की छत (१,००० ई०)
क. भोगमंदिर; ख. नटमंदिर; ग. जगमोहन तथा घ. श्रीमंदिर

और मजबूती इनकी विशेष प्रकार की आकृति के कारण होती है। कुशीनगर (उ० प्र०) में निर्वाण विहार (१९५६-५७ ई०) की
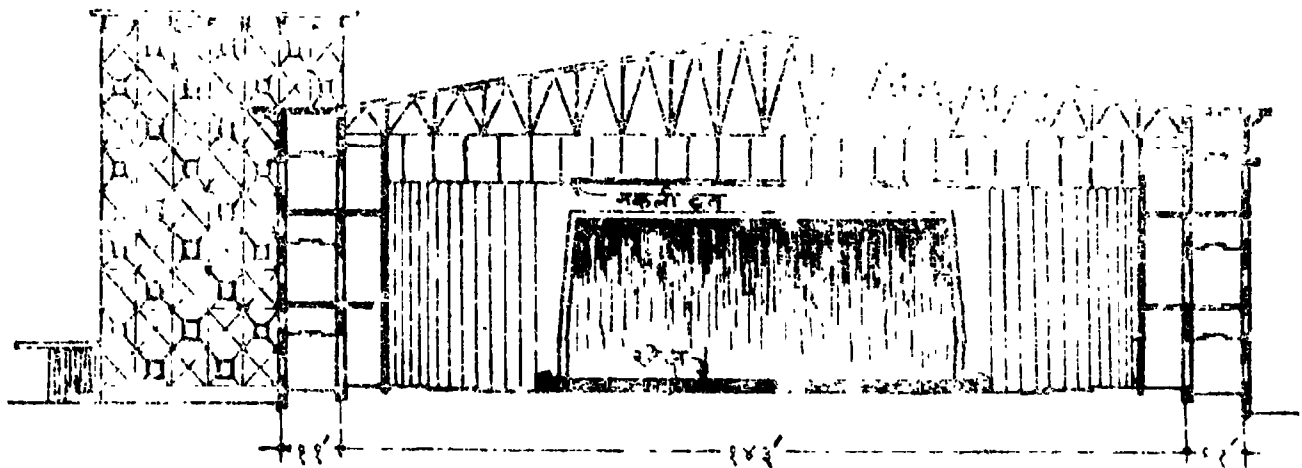
चित्र २. विज्ञानभवन, दिल्ली, के मुख्य प्रेक्षागृह की छत (१९५६-५७ ई०)

तीन इंच मोटी बेलनाकार छत, जिसके बीच में एक ओर एक बड़ी खिड़की भी है २४ फुट व्यास की है। डालेनॉय (अमरीका) के विशाल प्रेक्षा-गृह की ४०० फुट व्यास की गोलाकार शेल छत शायद अपनी किस्म की विशालतम है, जिसकी न्यूनतम मोटाई ३½ इंच है।

छतों के उपचार — जलरोक छत बनाने के उद्देश्य से अनेक उपचार किए जाते हैं। उपचार की आवश्यकता बहुधा चौरस छतों में ही पड़ती है, किंतु महत्वपूर्ण इमारतों में गुंबद या ढालू छतों पर भी उपचार किया जाता है। बिटूमन, (bitumen), ऐस्फाल्ट, (asphalt) या मैस्टिक की परत छत पर बिछाने से छत १०-१५ वर्षों के लिये जलरोधी हो

जाती है। प्रबलित कंक्रीट या प्रबलित चिनाईवाला छतों में आवश्यक ढाल देने के लिये उनके ऊपर चूने को कंक्रीट या मिट्टी का फसका आदि बिछाते हैं। इनसे पानी भी रुकता है, किंतु कंक्रीट या फसका डालने के पहले छत पर बिटुमन पोत देने से छत का जीवनकाल बढ़ जाता है।

नकली छत या छतगीरी — वास्तविक छत के नीचे, उसका अदर्शनीय रूप छिपाने की दृष्टि से नकली छत लगाई जाती है। सादी छतगीरी लकड़ी के तख्तों, ऐस्बेस्टॉस सीमेंट की चादरों, कपड़े या टाट आदि की होती है। अलंकृत छतगीरी बहुधा पैरिस प्लास्टर की होती है। इसके भीतर से ही विद्युत्प्रकाश की व्यवस्था रहती है। इसके लिये नकली छत के कुछ भाग पारदर्शी (शीशे के या प्लास्टिक के) हुआ करते हैं। कभी कभी वातानुकूलन के लिये कमरे का आयतन घटाने के उद्देश्य से भी नकली छत लगानी पड़ती है। [वि० प्र० गु०]

छतरपुर १. भूतपूर्व मध्यप्रदेश का एक देशी राज्य था जो अब एक जिला है। राज्य का क्षेत्रफल १,११८ वर्ग मील था। किंतु जिले का क्षेत्रफल ३,३८१ वर्ग मील है। राज्य में मुख्यतः मैदानी भाग था। जिले की समुद्रतट से औसत ऊँचाई ६०० फुट है। केन यहाँ की प्रमुख नदी है। उर्मल और कुतुरी उसकी सहायक नदियाँ हैं। यहाँ पुरातत्व की दृष्टि से महत्व के स्थानों में खजुराहो, १८वीं सदी की इमारतें, छतरपुर से १० मील पश्चिम स्थित राजगढ़ के पास एक किले के अवशेष एवं चंदेलों द्वारा निर्मित अनेक तालाब हैं। कोदो, तिल, जौ, बाजरा, चना, गेहूँ तथा कपास यहाँ के मुख्य कृषिपदार्थ हैं। यहाँ कई स्कूल भी हैं। जिले की जनसंख्या ५,८७,३७३ (१९६१) है।

२. नगर, स्थिति : २४° ५५' उ० अ० तथा ७९° ३६' पू० दे०। यह मध्यप्रदेश के छतरपुर जिले का प्रधान कार्यालय है। जनसंख्या २२,१४२ (१९६१) है। यह बाँदा सागर-सड़क पर स्थित है। पहले नगर तीन ओर से तालाबों से घिरा था। नगर के केंद्र में राजमहल तथा अन्य कई अच्छे मकान हैं। यहाँ एक स्नातकोत्तर डिग्री कालेज तथा कुछ स्कूल हैं। ताँबे के बर्तन, लकड़ी के सामान तथा साबुन निर्माण यहाँ के उद्योगों में प्रमुख हैं। समुद्र की सतह से ऊँचाई १,००० फुट है। नगर के कई तालाबों में रानी ताल प्रमुख है। [सै० मु० अ०]

छत्तीसगढ़ी भाषा और साहित्य छत्तीसगढ़ी पूर्वी हिंदी की तीन विभाषाओं में से एक है। यह रायगढ़, सरगुजा, बिलासपुर, रायपुर, दुर्ग जबलपुर तथा बस्तर आदि में बोली जाती है। कहते हैं किसी समय इस क्षेत्र में ३६ गढ़ थे, इसीलिये इसका नाम छत्तीसगढ़ पड़ा। किंतु गढ़ों की संख्या में वृद्धि हो जाने पर भी नाम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। डा० हीरालाल के मतानुसार छत्तीसगढ़ चेदीशगढ़ का अपभ्रंश हो सकता है। सन् १९२१ की जनगणना के अनुसार इस बोली का प्रयोग करनेवालों की संख्या ३७,५५,३४३ थी। संभलपुर में तथा उसके आसपास छत्तीसगढ़ी 'लरिया' कहलाती है। छत्तीसगढ़ी मराठी तथा उड़िया भाषाओं से प्रभावित हुई है।

छत्तीसगढ़ी साहित्य में भारतीय संस्कृति के तत्व वर्तमान हैं। इस साहित्य में अनेक लोककथाएँ हैं जिनके मूल भाव भारत को अन्य भाषाओं में भी सामान्य रूप से पाए जाते हैं। कहीं कहीं स्थानीय तथा सामयिक ढंग से इन कथाओं की रोचकता बढ़ गई है। छत्तीसगढ़ी पँवाड़ों के प्रबंधगीत किसी न किसी कहानी पर आधारित हैं। पँवाड़ों का केंद्रबिंदु बहुधा ऐतिहासिक है। वीरगाथाओं में राजा वीरसिंह की गाथा प्रसिद्ध है। इसमें मध्यकालीन विश्वासों की प्रचुरता है। कुछ गीतों में देवता के पराक्रम का वर्णन है। श्रवणकुमार संबंधी 'सरवन' के गीत तथा 'सरवन' की गाथा प्रसिद्ध है। छत्तीसगढ़ी में ऋतुगीत, नृत्यगीत, संस्कारगीत, धार्मिक गीत, बालकगीत तथा अन्य प्रकार के विविध गीत पाए जाते हैं। लोकोक्तियों तथा पहेलियों की भी कमी नहीं है।

सं० ग्रं० — पं० उदयनारायण तिवारी : (सं०) भारत का भाषा-सर्वेक्षण खंड १, भाग-१, सन् १९५९ म० मं० राहुल सांकृत्यायन (संपादक) : हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास सं० २०१७ वि०; श्री हीरालाल काव्योपाध्याय : 'ए ग्रामर ऑव द छत्तीसगढ़ी' डायलैक्ट ऑव हिंदी, सन् १९२१'

छत्र छतरी। प्राचीन काल में यह सम्राटों का गौरवचिह्न था। साधारणतया इसका उपयोग ताप और वर्षा से बचने के लिये होता है। इसकी उत्पत्ति के संबंध में एक पौराणिक कथा प्रचलित है : एक बार महर्षि जमदग्नि की पत्नी रेणुका सूर्यताप से बहुत विकल हुई। क्रुद्ध होकर महर्षि ने सूर्य का वध करने के निमित्त धनुष बाण उठाया। सूर्यदेव डरकर उनके समक्ष उपस्थित हुए और ताप से रक्षा के लिये एक शिरस्त्राण छत्र बनाकर उनको सेवा में भेंट की।

राजछत्र सामान्य छत्र से भिन्न होता है। युवराज का छत्र सम्राट् के छत्र से एक चौथाई छोटा होता है जिसके अग्रभाग में आठ अंगुल की एक शलाका लगी होती है। उसे 'दिग्विजयी' छत्र कहा जाता है। भारत में अनुष्ठान आदि में छत्र का दान मंगलकारी माना जाता है।

छत्रसाल (मई, १६४९ – दिसंबर, १७३१) चंपतराय बुंदेला के चतुर्थ पुत्र। मुगलकालीन इतिहास के प्रसिद्ध बुंदेल योद्धा और पन्ना राज्य (१६७५) के संस्थापक। विवादास्पद जन्मतिथियों में मान्य ४ मई, १६४९ को बुंदेलखंड के ककर कचनए ग्राम में आपका जन्म हुआ था। आपका बचपन अस्त्रसंचालन, मल्लयुद्ध और घुड़सवारी सीखने में बीता। युवक होने पर पँवारवंशीय कन्या देवकुँअरि से आपका विवाह हुआ। उस समय जब मुगल सम्राट् के कोप से विचलित आपके पिता निर्वासित होकर शरण प्राप्त करने के लिये कई स्थानों पर सपरिवार अज्ञातवास का कठिन और अपमानित जीवन व्यतीत कर रहे थे और अंत में आत्महत्या कर ली (१६६१) तब छत्रसाल ने मुगलों का विरोधी बनने की अपेक्षा मुगलसेना में नौकरी करना ही उचित समझा।

सबसे पहले १६६५ में आप जयसिंह की सेना में भरती हुए और पुरंधर के घेरे में शिवाजी के विरुद्ध वीरता दिखाने के नाते जयसिंह की संस्तुति पर मुगल सम्राट् द्वारा ढाई सदी जात १०० सवार का मनसब प्राप्त किया। १६६६ में बीजापुर पर शाही आक्रमण में भाग लिया और देवगढ़ के राजा कोकसिंह के विरुद्ध दिलेरखाँ की चढ़ाई में सैनिक योग दिया।

१६६७ के अंत में छत्रसाल की भेंट शिवाजी से हुई। आप उनके साथ पूना में कुछ दिन रहे और १६६८ के आरंभ में बुंदेलखंड आकर शुभकरण बुंदेला से मिले। फिर औरंगजेब की हिंदूविरोधी नीति के अनुसार १६६९ में जब हिंदू मंदिरों को ध्वस्त करने का फर्मान जारी हुआ और १६७० में ओरछा के मंदिरों को तोड़ने के लिये आया हुआ

फिदाई खां छत्रसाल के नेतृत्व में संगठित बुंदेलों से धूमघाट पर हारा, तब हिंदू जनता में व्याप्त असंतोष तथा मुगलशासन की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बुंदेलखंड की हिंदू जनता छत्रसाल को हिंदू धर्म का रक्षक समझने लगी। इस समय यश के साथ आपकी शक्ति भी बढ़ने लगी। फिदाई खां से निबटकर १६७० के अंत में आप ओरछा के राजा सुजानसिंह के बुलाने पर दक्षिण गए जो चढ़ाई में मुगलसेना के साथ थे।

१६७१ में दक्षिण से लौटने पर छत्रसाल ने एक छोटी मोटी सेना संगठित की और बलदाऊ की सहायता से आसपास के प्रदेशों को लूटना और चौथ वसूलना प्रारंभ किया। शीघ्र ही १६७१-७२ में ३० घुड़सवारों और ३०० सैनिकों की सेना द्वारा मऊ के आसपास अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया, फिर धंधेरों को हराया, सिरोंज के फौजदार मुहम्मद हाशिम, आनंदराय बंका, धामोनी के फौजदार खालिक और वासा के जागीरदार केशवराय दांगी को हराकर ओडर, पिपरहट सिरोंज, चंद्रापुर, मैहर, धामोनी और सागर आदि एक दर्जन से अधिक स्थानों तथा आसपास के क्षेत्रों को भरपूर लूटा। उस उपद्रव से बुंदेलखंड में मुगलसत्ता समाप्त सी हो गई। अनेक जमींदार और जागीरदार अब छत्रसाल के साथ हो गए। इस प्रकार आपकी सैन्य शक्ति भी बहुत बढ़ी। अब मुगल सम्राट् ने ध्यान दिया और विद्रोह का दमन करने के लिये रुहुल्ला खां ने एक शक्तिशाली सेना लेकर गढ़ाकोटा पर हमला कर दिया पर बुंदेलों के सामने टिक न सका और गहरी क्षति उठाकर लौट गया। अब तो छत्रसाल की हिम्मत और भी बढ़ी। फलतः नरवर, ओरछा के समीपस्थ क्षेत्र गारौन, जौरोन, जतारा, कनवर आदि को लूटा। १६७५ में गोंड़ राजा को हराया और पन्ना पर अधिकार कर उसे अपनी राजधानी बनाई। तत्पश्चात् रायसीन में उपद्रव कर ग्वालियर के इलाकों में धावे मारे, राठ तथा महोबे के फौजदार मुनव्वर खां को धूमघाट पर हराया और आसपास के कस्बों को लूटते हुए पथरिया और दमोह को भी लूटा।

अब छत्रसाल की ख्याति दूर दूर तक फैल चली थी। आपके आतंक से मुगलसेना के अजेय होने का भ्रम भी हटने लगा था। अतः छत्रसाल के भाई, अन्य संबंधी, जामशाह, पृथ्वीराज, अमरदीवान, कटेरा और शाहगढ़ के जमींदार सभी की शक्तियां छत्रसाल से मिलकर एकाकार हो गईं। छत्रप्रकाश के अनुसार तो बुंदेलखंड के ७० सरदार और जमींदार आपके साथ हो गए। इस बीच युद्धों से विरत रहकर आपने सेना का नया संगठन किया।

किंतु छत्रसाल ने मुगल सेना की अपार शक्तिसंपन्नता को न भूलकर अपनी दूरदर्शिता से काम लिया। आपने १७६९ के प्रारंभ में शाहजादा मुअज्जम से अपने साम्राज्यविरोधी कार्यों के लिये क्षमा मांगी। इसी बीच छत्रसाल के दमन के लिये पुनर्नियुक्त तहव्वर खां ने छत्रसाल पर क्रमशः तीन चढ़ाइयां कीं और हर बार उसे मुंहकी खानी पड़ी। इससे उत्साहित होकर छत्रसाल ने पुनः लूटपाट शुरू कर दी और दर्जनों स्थानों को लूटा। अब औरंगजेब के क्रोध का ठिकाना न था। उसने छत्रसाल को मटियामेट कर डालने के उद्देश्य से अनेक लोगों को नियोजित किया। छत्रसाल इस धरपकड़ से चिंतित हो उठे फलतः तहव्वर खां द्वारा दुबारा सम्राट् से क्षमायाचना की। परंतु थोड़े समय बाद ही कालपी के समीप छत्रसाल ने पुनः उपद्रव करना आरंभ किया और मुगलसेनाधिकारियों–शेख अनवर, सदरुद्दीन, बहलोल खां आदि को लड़ाई में परास्त कर शाही ठिकानों, गांवों, कस्बों आदि को लूटा। किंतु धामोनी के नए फौजदार इखलास खां ने छत्रसाल को मुगल अधीनता स्वीकार करने पर बाध्य कर दिया। तदनुसार अगस्त, १७८१ में आप मुगलसेना में संमिलित होकर खाला नामक परगने के मुगल अधिकारी बने। लेकिन १८८२ में बुंदेलखंड आकर आपने पुनः लूटपाट की, कई स्थानों को लूटा, युद्ध किया और इलाकों पर अधिकार किया। लगातार कई युद्धों से छत्रसाल ऊब उठे थे इसलिये उन्होंने एक बार पुनः मुगलों की अधीनता स्वीकार कर खांजहां के अधीन शाही फौज में मिल गए। इस बीच आपने शाही दरबार में उपस्थित होकर मनसब प्राप्त किया जो क्रमशः बढ़कर ५ सदी जात ४५० सवारों का हो गया।

इधर अवसर पाकर धामोनी के फौजदार शमशेर खां ने बुंदेलों को परास्तकर गढ़ाकोटा और छतरपुर पर अधिकार कर लिया। लेकिन जब छत्रसाल बुंदेलखंड गए तो बुंदेलों ने दूने जोश में शाही ठिकानों पर धावे मारना, स्थानों को लूटना और चौथ वसूलना आरंभ किया। आपने शेरअफगन और शाहकुलीन खां को हराकर चौथ वसूला। इस प्रकार १६८४ से लेकर १७०२ तक छत्रसाल ने लूटपाट का काम जारी रखा। अचानक १७०७ में जब आपने फिरोजजंग के द्वारा सम्राट् से क्षमायाचना कर मुगल सेना में संमिलित होने की इच्छा प्रकट की तब उसने औरंगजेब से आग्रह कर छत्रसाल को राजा की उपाधि और चार हजार का मनसब दिलवा दिया। इसके अतिरिक्त आप सतारा के दुर्गाध्यक्ष भी बने। तदनंतर छत्रसाल स्वयं दक्षिण के शाही दरबार में उपस्थित हुए और सम्राट् की मृत्यु तक वहीं रहकर पुन. बुंदेलखंड लौट आए। ८ जून, १७०७ की जाजऊ की निर्णायक लड़ाई के बाद आपने नए सम्राट् बहादुरशाह की अधीनता स्वीकार की और क्षमा मांगी। १७१० में कामबख्श का दमन कर उत्तर भारत लौट रहे बहादुरशाह से आपने कानीसिंध के पास भेंट की और खिलअत पाई। इस बीच छत्रसाल की कई भेंटों और उपहारों से सम्राट् बहुत प्रसन्न हुआ। उसने दो जोड़े कान की बालियां दीं। १७१० में सिख नेता बंदाबैरागी के विरुद्ध लोहागढ़ के घेरे में मुगलों की ओर से शौर्य दिखाने पर पुरस्कार स्वरूप आपको एक कलँगी मिली।

बहादुरशाह की मृत्यु के बाद जब फर्रुखसियर ने उत्तराधिकार सँभाला तब उसने १७१३-१४ में छत्रसाल को चार हजारी जात और चार हजार सवारों का मनसब प्रदान किया। अब आप मुगलों के प्रबल समर्थक होकर मराठों आदि के विरुद्ध उनकी कई चढ़ाइयों में सक्रिय योग देने लगे। १७१९ में मुहम्मद शाह ने सम्राट् बनने पर छत्रसाल को १७२० में एक जड़ाऊ कटार और हाथी प्रदान किया। किंतु आगे चलकर दोनों के संबंध कटु होते गए। उसी समय मुहम्मद खां बंगश इलाहाबाद का सूबेदार नियुक्त हुआ जिसमें बुंदेलखंड के अधिकांश क्षेत्र पड़ते थे और वे क्षेत्र फर्रुखसियर के समय से छत्रसाल के अधिकार में थे। इसे बंगश सहन न कर सका। बंगश की ओर से एक बड़ी फौज लेकर दिलेर खां बुंदेलों को कुचलने चला। कई स्थानों पर लड़ाइयां हुईं। अंत में १५ मई, १७२१ को 'तारागढ़न' की लड़ाई में वह बुरी तरह पराजित हुआ। फिर १७२४ में बंगश स्वयं एक बड़ी सेना के साथ बुंदेलों से लड़ा पर उसे भी सफलता न मिली। दूसरी बार १७२६ में २० हजार सवार और एक लाख पैदल सेना लेकर चढ़ा और दर्जनों मोर्चों पर घमासान युद्ध कर बुंदेलों को खूब छकाया। यह लड़ाई तीन सालों तक चली जिसमें बंगश विजयी हुआ। लेकिन १७२९ में बाजीराव पेशवा (प्रथम) ने बुंदेलखंड पर हमलाकर बंगश की जीत हार में बदल दी। इधर निराश हो छत्रसाल बंगश की शरण में आए और संधिवार्ता के अनुसार आपने मुगलों की अधीनता स्वीकार की तथा बीमारी और अशक्तता का बहाना कर आदेशानुसार सूरजमऊ चले आए।

उधर मराठे जोर मारने लगे थे पर बंगश को छत्रसाल से अब कोई आशंका थी नहीं इसलिये निश्चिंत हो गया। इधर अमझेरा के युद्ध के बाद छत्रसाल ने चिमाजी अप्पा और पेशवा बाजीराव प्रथम से बंगश के विरुद्ध सहायता मांगी। इसके अनुसार १७२९ में पेशवा एक बड़ी सेना लेकर बुंदेलखंड पहुँचे। शीघ्र ही बुंदेलों और मराठों की संमिलित सेना ने बंगश तथा उसके सहायकों को हरा दिया। असहाय बंगश अब निराश था। जैतपुर में वह मराठों और बुंदेलों से घिरा था। इसी बीच महामारी फैलने से मराठे तो चले गए किंतु छत्रसाल घेरा डाले पड़े रहे। अंत में एक संधि के अनुसार बंगश ने अगस्त, १७२९ में जैतपुर के किले को खाली कर दिया और छत्रसाल के राज्य पर फिर कभी आक्रमण न करने का वचन दिया। छत्रसाल, बंगश के विरुद्ध सहायता करने से पेशवा बाजीराव के कृतज्ञ थे अतः उन्होंने बाजीराव को विजित प्रदेश का तिहाई भाग देने का वचन दिया था लेकिन यह कभी पूरा न हुआ। ४ दिसंबर, १७३१ को छत्रसाल स्वर्गवासी हो गए।

छत्रसाल कलम और तलवार दोनों के धनी थे। वे एक अच्छे कवि थे जिनकी भक्ति तथा नीति संबंधी कविताएँ ब्रजभाषा में प्राप्त होती हैं। इनके आश्रित दरबारी कवियों में भूषण, लालकवि, हरिकेश, निवाज, ब्रजभूषण आदि मुख्य हैं। भूषण ने आपकी प्रशंसा में जो कविताएँ लिखीं वे 'छत्रसाल दशक' के नाम से प्रसिद्ध हैं। (दे० भूषण) छत्रप्रकाश जैसे चरितकाव्य के प्रणेता गोरेलाल उपनाम लाल कवि आपके ही दरबार में थे। यह ग्रंथ तत्कालीन ऐतिहासिक सूचनाओं से भरा है, साथ ही छत्रसाल की जीवनी के लिये उपयोगी है।

सं० ग्रं०—डॉ॰ भगवानदास गुप्त : महाराजा छत्रसाल बुंदेला, आगरा १९५८; सर यदुनाथ सरकार : शार्ट हिस्ट्री ऑव औरंगजेब; डॉ० रघुबीर सिंह : मालवा इन ट्रांजीशन; मआसिरुल उमरा; लालकवि : छत्रप्रकाश। [श्या० ति०]

छत्रसेना ऐसे सैनिकों से बनी होती है, जिन्हें वायुयानों द्वारा दूरस्थ शत्रुसेना की पंक्तियों के पीछे, अथवा अन्य इष्ट स्थान पर, पैराशूट

चित्र १. पैराशूट बाँधे छत्रसैनिक
संमुख, पृष्ठ तथा पार्श्व से सज्जा बाँधने की रीति दिखाई गई है। वायुयान में बैठने के समय सैनिक पैराशूट के गट्ठर पर ही बैठ जाता है (देखें दाहिना चित्र)।

(इसे देखें) की सहायता से पृथ्वी पर लड़ने के लिये, अथवा अपनी अधिकारस्थापना के लिये, उतारा जाता है। वायुयानों पर सवार होते समय पैराशूटों के गट्ठर इन सैनिकों के शरीर पर तसमों द्वारा, बँधे होते हैं। निश्चित स्थान पर पहुँचकर, वायुयान से कूदने पर सैनिक द्वारा या अन्य प्रकार से, एक डोरी के खींचे जाने के कारण ये गट्ठर खुल जाते हैं और पैराशूट की छतरी फैलकर गिरते हुए सैनिक की गति को धीमा कर देती है।

प्रथम विश्वयुद्ध में कुछ सैनिक कार्यों के लिये पैराशूटों का उपयोग किया गया था, किंतु वांछित स्थानों में इनसे सेना उतारने का काम लेने का विचार पीछे प्रस्फुटित हुआ। रूस ने सन् १९३० में इसकी परीक्षा युद्धाभ्यासों में की, पर इस रीति को व्यावहारिक रूप देने में

चित्र २. कूदता हुआ छत्रसैनिक
वायुयान में उलझ न जाए, इसलिये सैनिक उसके डैने पर से कूदता है और पैराशूट को खोलनेवाली डोरी खींचने को उद्यत है।

छः वर्ष लग गए। सन् १९३६ के युद्धाभ्यासों में सहस्रों सैनिक वायुयानों द्वारा ऊँचाई पर ले जाकर पैराशूटों की सहायता से इष्ट स्थान पर उतारे गए। इटली ने भी लगभग इसी समय छत्रसेना तैयार की। सन् १९४० में जर्मनी ने नीदरलैंड पर आक्रमण में छत्रसेना का उपयोग किया तथा सन् १९४१ में क्रीट द्वीप की इनकी सफल चढ़ाई में छत्रसेना ही विशेषतः काम आई। पूर्ण विकसित जर्मन छत्रसेना के एक डिविज़न में लगभग ६,७०० सैनिक होते थे। इनका उपयोग विशेषकर शत्रुसेना के बगल में, या पीछे पहुँचकर, उसका विघटन करने में होता था। द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी ने इस प्रकार की सेना का जब उपयोग आरंभ किया, तो अन्य देशों का ध्यान भी इस ओर गया और उन्होंने भी इस प्रकार की सेनाएँ तैयार कीं।

अंग्रेजों ने भी छत्रसेना का संगठन किया। इसके लिये विशेष प्रकार के पैराशूट बहुत बड़े परिमाण में तैयार किए गए। ये पूर्णरूप से स्वचालित होते थे और सैनिक के कूदते ही स्वयमेव खुल जाते थे। वायुयान तथा पैराशूट के गट्ठर से जुड़ी एक स्थैतिक डोरी सैनिक के कूद जाने पर गट्ठर को खोलने का काम करती थी और उसे खोलने के बाद अलग हो जाती थी। इन पैराशूटों का व्यास २८ फुट होता था। विविध प्रकार के सामानों या भारी वस्तुओं को पृथ्वी पर उतारने के लिये २ फुट व्यास से लेकर ६० फुट व्यासवाले तक छत्र काम में लाए जाते थे। टैंक, तोपें तथा रक्षानौकाएँ (लाइफ बोट) उतारने के लिये अनेक वितानों के कुंडों वाले पैराशूट काम में लाए जाते थे।

छत्र सैनिकों को इष्ट स्थान पर पहुँचाने के लिये ग्लाइडरों का भी उपयोग किया जाता है। कर्टिस सी-४७ के ढंग का वायुयान ३६ छत्र-सैनिकों को ले जाने के साथ साथ तोप, टैंक तथा विविध प्रकार की सैनिक गाड़ियाँ लादे हुए दो ग्लाइडरों को भी उड़ाकर ले जाता है। पैराशूट, ग्लाइडर और वायुयान, इन तीनों के सिवाय छत्रसैनिकों के लाने ले जाने के लिये अन्य कोई सफल परिवहन अभी तक विकसित नहीं हो सका है।

छत्रसेनाओं को साधारण स्थलसेना के सहयोग से काम करना पड़ता है। जिन सेनादलों के साथ ये संयुक्त हों, उनसे मिलकर सुनिश्चित योजना के अनुसार ये अपना कर्तव्य पूरा करती हैं। इनके उपयोग का साधारण सिद्धांत यह है कि इनसे उसी स्थान पर काम लिया जा सकता है जहाँ वायु की प्रमुखता सुनिश्चित हो। छत्रसेनाओं को ले जाते हुए वायुयानों
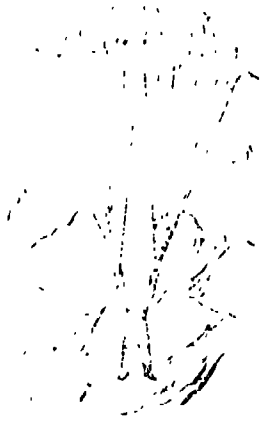
चित्र ३. भूमि पर अवतरण

खुले हुए पैराशूट के सहारे सैनिक धीरे धीरे उतरता है।

या अन्य परिवहनों पर शत्रु के लड़ाकू हवाई जहाज सरलता से आक्रमण कर सकते हैं, किंतु ये अपनी सुरक्षा करने में सर्वथा अक्षम होते हैं। इसलिये सफलता आदि के लिये यह आवश्यक है कि छत्रसेना के उपयोग से पूर्व शत्रु के वायुयानों से स्थानीय व्योम को पूर्णतः मुक्त कर लिया जाए। इस प्रकार के आक्रमण में हताहतों की संख्या अधिक होती है, किंतु एक बार जब उतरी हुई सेनाएँ जम जाती हैं तो शत्रु का व्यूह भंग हो जाता है। द्वीपों पर आक्रमण करने और दृढ़, सुरक्षित स्थानों पर अधिकार जमाने में छत्रसेनाओं का विशेष उपयोग होता है। आक्रांत देशों के पंचमांगियों और विद्रोहियों से छत्रसेना के कार्य में सहायता मिलती है। [भ० दा० व०]

छद्मावरण (Camouflage) शत्रु को उन सभी जानकारियों से वंचित रखने का सैनिक विज्ञान है जिनसे वह युद्धपरिचालन में लाभान्वित हो सकता है। छद्मावरण विज्ञान छिपने के प्राकृतिक साधनों के उपयोग तथा कृत्रिम साधनों के निर्माण का ज्ञान प्रदान करता है।

छद्मावरण का प्रयोग प्राचीन काल से ही होता चला आ रहा है। इसके प्रयोग से पराजय को विजय में बदलने के कई उदाहरण इतिहास में मिलते हैं। ईसा से १,२०० वर्ष पूर्व ट्रॉय के घेरे में ग्रीकों द्वारा 'कपट अश्व' का प्रयोग इसका एक सुंदरतम उदाहरण है। प्रकृति में छद्मावरण का रूप खूब देखने को मिलता है। हिम प्रदेश का रीछ हिम के पर्यावरण में लगभग अदृश्य सा हो जाता है।

प्रथम विश्वयुद्ध में छद्मावरण युद्धपरिचालन का आवश्यक अंग हो गया। पनडुब्बीमार (antisubmarine) उपाय के रूप में यह अत्यंत सफल रहा। व्यापारी जहाजों पर भड़कीला रंग लगाकर शत्रु को उसकी दिशा और वेग के संबंध में भ्रम उत्पन्न किया जाता था। रहस्यमय क्यूबोट का क्या कहना, जो देखने में व्यापारी जहाज जान पड़ते थे और इन्हें निरापद समझकर शत्रु की पनडुब्बी जब समुद्रपृष्ठ पर आ जाती तो ये गोले उगलना प्रारंभ कर देते थे। द्वितीय विश्वयुद्ध तक हवाई टोह का विकास इतना हो चुका था कि छद्मावरण का महत्व और भी बढ़ गया।

छद्मावरण में सभी लाभप्रद कार्रवाइयाँ शामिल हैं, जैसे हवाई प्रेक्षण, फोटोग्राफी और बमबारी से बचाव, पनडुब्बी के खतरे को कम करना, शत्रु को सही आँकड़ों की जानकारी से वंचित रखना, सेना, तोप, शिविर, और सैनिक अभिस्थानों को छिपाना, हवाई जहाजों के मैदान, वायुयान और औद्योगिक अभिस्थानों को छिपाना या रूपांतरित करना, प्रत्येक सैनिक की रक्षा करना, आदि।

छद्मावरण निर्माण करते समय प्रेक्षक की चर्या का विचार करना चाहिए। हवाई प्रेक्षक सभी दृश्यों के मानसिक चित्र से अनुमान लगाता है। अनुमान सही भी हो सकता है और भ्रामक भी। यदि प्रेक्षक फोटो लेता है तो फोटो के कुशल परीक्षण से अनुमान लगाते हैं।

सफल छद्मावरण के लिये भिन्न भिन्न स्थितियों में दृश्यता का विचार करना चाहिए। प्रदीप्ति तथा प्रेक्षक और लक्ष्य के मध्य अवकाश की पारदर्शकता और वैषम्य विचारणीय तत्व हैं। इन तत्वों के परिवर्तन से प्रेक्षक की दृष्टि प्रभावित होती है। धुंध में सीधी प्रदीप्ति और पर्याप्त वैषम्य होने पर भी वस्तु की पहचान नहीं हो पाती। धुंध की चीजों को देखने के लिये अवरक्त कैमरे (infra-red camera) का प्रयोग किया जाता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दिनों इंग्लैंड की सरकार ने सैकड़ों नकली शहर, हवाई अड्डे, पोतप्रांगण आदि का निर्माण कराया था। इतने कलात्मक ढंग से ये बने थे कि इन स्थानों पर शत्रु के हजारों टन बम बेकार ही बरस गए। इसी प्रकार नकली हवाई अड्डों पर असली हवाई अड्डों की अपेक्षा अधिक धावे हुए।

हवाई मैदानों का छद्मावरण एक कला है। इसमें हवाई पट्टी को पर्यावरण के भूप्रदेश से संमिश्रित कर दिया जाता है। ऐसा करते समय यह ध्यान रखने की बात है कि ऋतुपरिवर्तन के साथ भूप्रदेश की प्रतीति बदल जाती है। सैनिक का छद्मावरण रंग और रंगीन वस्त्रों से किया जाता है। उदाहरण के तौर पर खाकी वर्दी मरुभूमि में और सफेद वर्दी हिम प्रदेशों में काम आती है।

छिपने के लिये छद्मावरण की रीति और स्थिति का चुनाव दोनों समान महत्व के प्रश्न हैं। छिपाने की दृष्टि से सेना को ऐसी पृष्ठभूमि में रखते हैं कि स्थिति के तत्वों में सेना अदृश्य हो जाय। पृष्ठभूमि की प्रतीति में कम से कम परिवर्तन अभीष्ट होता है। पृष्ठभूमि का उत्तम उपयोग करके बिना किसी प्रकार के निर्माणकार्य के ही छिपाव हो सकता है। प्राकृतिक झाड़ पर्याप्त हो, तो छिपाना सरल होता है और यदि छिटफुट हो, तो भूप्रदेश की अनियमितता से लाभ उठाकर सेना को छिपाते हैं।

छद्मावरण अनुशासन ऐसे कार्यकलापों का निवारण है जिनमें पृष्ठभूमि की प्रतीति बदल जाती है या सैनिक लक्ष्य प्रकट हो जाते हैं। फालतू मिट्टी और मलबा सैनिक कार्रवाई के स्पष्ट संकेत हैं, अतः इन्हें या तो छिपा देते हैं, या परिस्थान से संमिश्रित कर देते हैं। घरों से निकलनेवाले धुएँ को नियंत्रित और व्याहृत करना भी परमावश्यक होता है।

कठोर अनुशासन का पालन हर हालत में होना चाहिए। जोर से आदेश देना, नाम लेकर पुकारना, खाँसना, छींकना आदि वर्जित हैं। कोमल भूमि का लाभ उठाना चाहिए। सैनिक उपकरणों को इस प्रकार बाँधना चाहिए कि किसी प्रकार आवाज न होने पाए। गाड़ी पर माल लादते और उतारते समय आवाज नहीं होनी चाहिए। ध्वनिपरासन (sound ranging) से शत्रु को अपनी तोपों की स्थिति का पता न लगने देने के लिये आवश्यक है कि चलती फिरती सेना परासन करे।

सैनिक कार्यकलाप और अभिस्थापन को छिपाने की तीन मुख्य विधियाँ हैं : (१) संमिश्रण, इसमें छद्मावरण पदार्थ से लक्ष्य को इस प्रकार छिपाते हैं कि लक्ष्य और पदार्थ पृष्ठभूमि के अंग जान पड़ते हैं, (२) अभिस्थापन पर रक्षावरण निर्मित करना (३) सैनिक महत्व के लक्ष्य या क्रियाकलाप की नकल उतारकर शत्रु को भ्रमित करना।

यूनिटों को तितर बितर करना छद्मावरण निर्माण में सहायक होता है। बिखराव से सैनिक कार्यकलापों की पहचान कठिन हो जाती है। विदारी चित्रण (disruptive painting) भी छद्मावरण की एक प्रचलित विधि है। इसका प्रयोग जहाज, हवाई जहाज, टैंक तथा स्थल अभिस्थापनों के छद्मावरण में किया जाता है। विदारी चित्रण द्वारा रंगीन लक्ष्यों के संबंध में भ्रम उत्पन्न किया जाता है। जलयान का विदारी चित्रण करने से उसकी प्राकृतिक संरचना रेखाएँ अदृश्य हो जाती हैं, जिससे उसकी दिशा और वेग का निर्धारण करना कठिन हो जाता है।

स्थिर असैनिक अभिस्थापनों का बमवर्षक और हवाई टोह लेनेवालों से बचाना कठिन समस्या है। बड़े बड़े अभिस्थापनों को फोटोग्राफी से गुप्त रखना लगभग असंभव है। फोटोग्राफी से ज्ञात अभिस्थापनों को छद्मावरण उपचार से ऐसा बनाते हैं कि बमवर्षक उन्हें समय से पहचान न पाएँ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि नदी, सड़क, और स्टेडियम जैसे वृहद्, ध्यानाकर्षी अभिस्थापनों को छिपाना अत्यंत कठिन है और बमवर्षक इन्हीं स्थाननिर्देशों की सहायता से अपने लक्ष्य पहचान लेते हैं। ऐसे अभिस्थापनों के छद्मावरण के लिये यह आवश्यक होता है कि इन अभिस्थापनों का निर्माण करते समय ही सावधानी बरती गई हो।

द्वितीय विश्वयुद्ध में जिन छद्मावरण उपायों का प्रयोग हुआ उनसे बमवर्षक और दृष्टिप्रेक्षण को धोखा दिया जाता था। मार्गनिर्देशन राडार तथा अंध बमवर्षक उपकरणों के आविष्कार से अब इन विधियों से काम नहीं चल सकता। परमाणु बम और रॉकेट के युग में अधिक सुनियोजित और वैज्ञानिक छद्मावरण विधि का विकास करना इस युग की अनिवार्य आवश्यकता है। [मा०]

छपरा स्थिति : २५° ५०' उ० अ० तथा ८४° ४५' पू० दे०। यह बिहार राज्य के सारन जिले का प्रशासकीय केंद्र है। यह घाघरा नदी के उत्तरी-तट पर बसा है। नगर छः मील लंबा एवं कहीं कहीं एक मील से कुछ अधिक चौड़ा है। ऐसा कहा जाता है कि यहाँ के दहियावाँ महल्ले में दधीचि ऋषि का आश्रम था। इससे पाँच मील पश्चिम रिविलगंज है, जहाँ गौतम ऋषि का आश्रम बतलाया जाता है और वहाँ कार्तिक पूर्णिमा को एक बड़ा मेला लगता है। छपरे से चार मील पूरब चिरान छपरा में पौराणिक राजा मयूरध्वज की राजधानी तथा च्यवन ऋषि का आश्रम बतलाया जाता है। यहाँ पर पुरातत्व विभाग की ओर से खंडहरों की खुदाई हो रही है और कुछ बहुमूल्य ऐतिहासिक तथ्यों के प्राप्त होने की संभावना है। छपरा से १५ मील पूरब सोनपुर स्थान है जो हरिहर क्षेत्र के नाम से विख्यात है। यहीं पर गज और ग्राह के पौराणिक युद्ध का होना बतलाया जाता है। यहाँ शिव और विष्णु के मंदिर साथ साथ हैं। कार्तिक पूर्णिमा को सोनपुर का प्रसिद्ध मेला लगता है जो महीनों चलता रहता है। इस मेले में बहुत बड़ी संख्या में मवेशी–गाय, बैल, घोड़े, हाथी, ऊँट–तथा पक्षी विक्रय के लिये आते हैं। छपरा में दो कालेज और कई स्कूल हैं। शिक्षा का प्रसार तेजी से हो रहा है। जिले में चीनी के अनेक कारखाने हैं। छपरा नगर की जनसंख्या ७५,२८० (१९६१) है। [शि० नं० स०]

छपाई (वस्त्रों की) हमारे प्राचीन ग्रंथों में चित्रलेखा, चित्रांगदा, रंगशाला, आदि शब्दों का प्रयोग यह सूचित करता है कि अलंकारिता की दृष्टि से रंगों का प्रयोग भारत में अत्यंत पुराना है। वस्त्र की बुनाई करते समय रंगीन सूत द्वारा नाना प्रकार के रंगबिरंगे चित्र बनाए जाते थे। इसके उपरांत उसे छपाई द्वारा रंगबिरंगे चित्रों से सँवारा जाता था। प्लिनी (Pliny) के अनुसार 'रंगाई छपाई' का जन्म भारत से होकर मिस्र आदि देशों में ईसा पूर्व प्रसरित हो चुका था।

छींट (Chhintz), गत (Blotch), बंधनी (Tie Dyeing) और बातिक (Batik) आदि शब्द वस्तुतः छपाई की क्रियाविशेष के सूचक हैं। छींट और गत की छपाई यंत्रों से की जाती है। छींट में रंगीन भूमि कम और गत में लगभग सभी वस्त्र रंगचित्रों से ढका होता है। बंधनी में कपड़े को डोरी से बाँध कर रंग के विलयन में रँगाई की जाती है। बातिक में मोम अथवा रोजिन का प्रयोग किया जाता है और कपड़े पर रंग की बहुलता होती है। छींट की छपाई में ही उत्पादन सबसे अधिक और व्यय सबसे कम हो सकता है। ये छपे हुए कपड़े प्रायः सभी प्रकार के, व्यक्तिगत रुचि के अनुकूल तथा आकर्षक होते हैं। एक की दूसरे से तुलना कर किसी को घटिया और किसी को बढ़िया कहना बड़ा कठिन है।

कपड़े की छपाई को दो भागों में बाँटा जा सकता है : (१) सिद्धांत (principles) और (२) कार्यप्रणाली (practice)। सिद्धांत में वे सभी बातें आ जाती हैं जिनसे कपड़े पर पक्का रंग चढ़ता है। विधान या व्यवहार में उपकरणों का उपयोग और यथार्थ उत्पादन आदि आते हैं।

आज से ६०-७० वर्ष पूर्व, प्राकृतिक रंगों को ही रंगाई या छपाई के काम में लाया जाता था। ये रंग वानस्पतिक, जांतव अथवा खनिज स्रोतों से उपलब्ध होते थे। हल्के या गाढ़े विलयनों में विभिन्न रंगस्थापक (mordants) का प्रयोग कर इंद्रधनुष के सभी वर्ण प्राप्त कर लिए जाते थे। विज्ञान के विकास के साथ साथ कृत्रिम रंगों का भी उत्थान हुआ। प्राकृतिक रंगों को अब लोग भूल गए। रँगाई और छपाई में प्रयुक्त रंगों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जाता है : एक रँगाई की प्रणाली के आधार पर और दूसरा रंगों में रासायनिक संघटनों के आधार पर। पहले वर्गीकरण से इस बात का पता लगता है कि रंग-

विशेष की बंधुता (affinity) रेशे रेशे के अनुसार होती है और दूसरे से रंगप्रदत्त वर्णों की दशा — कच्चा, पक्का, चमकीला और लाल, पीला, नीला आदि — निश्चित होती है।

रँगाई हो या छपाई, रंगत लाने के लिये कुछ बातें ध्यान में रखना आवश्यक है, जैसे रंग को विलेय दशा में उपस्थित करना, उसको किसी उचित माध्यम द्वारा रेशे या कपड़े के संपर्क में लाना आदि। रँगाई में पानी और छपाई में माड़ी (thickening) तथा रंगग्राहक उपयुक्त होते हैं। रंग रेशे के अंदर प्रवेश करे, इसके लिये गरमी या भाप देना अथवा कुछ और सहायक क्रियाएँ भी करनी पड़ती हैं, जो रंग की जाति पर निर्भर करती है। प्रत्येक रंग को विलेय बनाने के लिये, उसके अनुरूप उचित रसायन को पानी के साथ मिलाकर फेंटना, चलाना, गरम करना, उबालना और कभी ठंढा करना पड़ता है। आवश्यक वस्तुएँ मिलाकर, झीने कपड़े से छानकर यंत्रों द्वारा छपाई की जाती है। भाप, और नमी के संयोग से रंग विषयक क्रियाएँ सक्रिय हो जाती हैं और इस प्रकार रेशे पर रंग चढ़ता जाता है। छापने के पूर्व कपड़े को धोकर तैयार करना आवश्यक है, नहीं तो कपड़ा रंग नहीं पकड़ता। छपाई के अंत में सुखाकर, रंग चढ़ाने के लिये अवकरण, आक्सीकरण इत्यादि यथोचित क्रियाएँ भी करनी पड़ती हैं। सबसे पीछे उबलते साबुन के पानी से धोकर माड़ी, अनावश्यक मसाले और निष्क्रिय रंग निकाल दिए जाते हैं। तब कपड़ा सुखाया और परिसज्जित किया जाता है।

माड़ी लसदार होती है, जो अन्य मसालों सहित रंग को बांध कर रखती है। इस कार्य के लिये बबूल या अन्य गोंद, गेहूँ का आटा या स्टार्च, मकई का स्टार्च, और ब्रिटिश गम आदि लसदार पदार्थ पानी के साथ पकाकर काम में लाए जाते हैं। अल्शियन (Alcian) रंगों के साथ माड़ वर्जित है। इनके साथ मैदे का प्रयोग करना चाहिए; वर्णक रंगों (pigment colours) के साथ ऐक्रापान ए (Acrapon, A) पायस मांड (emulsion thickening) अधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ है। अभिक्रियाशील रंजकों का व्यवहार करते समय सोडियम ऐल्जिनेट (sodium alginate) की माड़ी अधिक उपयुक्त होती है।

छपाई के पहले कपड़े की तैयारी के लिये विरंजन (bleaching) से पहले कुछ क्रियाएँ की जाती हैं। इनमें रोम दहन (singeing) करके कपड़े के उभरे हुए रोएँ, बेकार बिखरे हुए तागे आदि जलाकर नष्ट कर दिए जाते हैं। यह क्रिया कपड़े के एक या दोनों ओर, एक बार में या दो बार में, की जा सकती है। इसके साधन प्लेट सिंजिंग (plate singeing), रोलर (roller) सिंजिंग और गैस फ्लेम (gas flame)सिंजिंग हैं। इनमें से किसी एक या दो का व्यवहार शृंखला में किया जा सकता है। इन तीनों क्रियाओं में गैस फ्लेम सिंजिंग अधिक उपयोगी पाया गया है और आजकल मिलों में इसी का विशेष चलन है। रोमदहन के पश्चात्, बुनने, ताने पर लगाई गई माड़ी काटने (desize) की क्रिया भी करनी पड़ती है। माड़ी सड़ाकर निकाली जाती है। केवल पानी, नमकीन पानी, या अम्लीय पानी में माल को चौबीस घंटे भिगोकर रखने से माड़ी सड़ जाती है, किंतु इस क्रिया में समय अधिक लगता है और कार्य की दक्षता भी अनिश्चित रहती है। इसलिये आजकल सड़न उत्पन्न करनेवाले कृत्रिम प्रकिण्व पदार्थ काम में लाए जाते हैं। ये वानस्पतिक और जांतव दोनों प्रकार के होते हैं। इनके हल्के विलयन में माल को डाल देने से माड़ी शीघ्रातिशीघ्र सड़कर विलेय हो जाती और सरलतापूर्वक गरम पानी से धोकर निकाली जा सकती है। आई० सी० आई० कंपनी द्वारा प्रस्तुत डिकैटेज (Decatase) और सीबा कंपनी का रैपिडेज (Rapidase) ऐसे ही पदार्थ हैं।

माड़ी कट जाने के पश्चात्, प्राकृतिक मोम, पेक्टिक पदार्थ और प्रोटीन कपड़े पर रह जाते हैं। इनको निकालने के लिये माल को दाहक सोडा, सोडा ऐश, साबुन आदि के साथ आठ दस घंटे तक भट्ठी (कियर, kier) में दबाव देकर उबाला जाता है और धोकर अम्लीय बनाने तथा रसायन (chemicaling) की क्रियाएँ की जाती हैं। प्रत्येक क्रिया के बाद पानी से धुलाई अच्छी तरह होनी चाहिए। अंत में टर्की रेड (turkey red) तेल के हल्के विलयन में उबालकर, गरम पानी से धो देने पर रंग निर्विघ्न अच्छा और गहरा चढ़ता है। कपड़े पर छपाई के दो पक्ष होते हैं: एक तो छपाई विधि या साधन (Methods of printing), जिसमें यंत्रों का वर्णन है, दूसरा रंगीय उपचार या प्रथाएँ (Styles of printing), जिसमें उन नियमों का वर्णन है जिनके द्वारा कपड़े पर रंगीन अभिकल्प (designs) उपस्थित किए जाते हैं।

छपाई की विधियाँ — कपड़े पर छींट की छपाई चार विधियों से की जाती है: (१) हाथ ठप्पों (hand blocks) से, (२) मशीन के द्वारा ठप्पों से (machine block, or perrotine printing), (३–क) स्टेन्सिल (stencil) की छपाई, (३–ख) स्क्रीन (screen) की छपाई (४) तांबे की खुदी हुई चद्दरों से छापे की छपाई (flat press printing from engraved copper plates) तथा (५) बेलन छपाई (roller printing)।

हाथ के ठप्पे और स्टेंसिल — स्क्रीन की लोकप्रियता अधिक है, पर बेलन प्रिंटिंग का उत्पादन अधिक होने से माल सस्ता तथा सर्वसुलभ होता है।

हाथ ठप्पे (Hand Blocks) — ये कई प्रकार के होते हैं: केवल लकड़ी के, तांबे के, लकड़ी के ठप्पों में तांबे की पत्तियाँ लगाकर और बहुरंगी ठप्पे (multicolour blocks) आदि। लकड़ी के ठप्पे कड़ी और सीझी हुई (seasoned) लकड़ी से बनाए जाते हैं। ये आवश्यकतानुसार ६" चौड़े और ८" लंबे होते हैं, पर वांछित अभिकल्प के अनुसार छोटे अथवा बड़े भी रखे जा सकते हैं। किंतु ये इतने बड़े या छोटे भी न होने चाहिए कि काम करने में असुविधा हो। अभिकल्प उभरे हुए (in relief) होते हैं। इनमें खोदाई करने में देर लगती है और ये जल्दी घिस जाते हैं। इस विधि के अन्य दोष ये हैं कि हाथ से काम करने में उत्पादन कम होता है और छीपे (छापनेवाले) को परिश्रम अधिक करना पड़ता है। परंतु इस कला का सबसे बड़ा गुण यह है कि हाथ ठप्पे के द्वारा, कितना ही लंबा चौड़ा कपड़ा क्यों न हो छापा जा सकता है, जो किसी अन्य विधि से असंभव है। इसके अतिरिक्त अलंकारिता (ornamentation) की दृष्टि से भी यह अपना विशिष्ट स्थान रखती है। इसके व्यवसाय में व्यय कम लगने से घरेलू धंधा में इसका चलन है। ठप्पा रंग लगाने का साधन है। रंग थाली से लिया जाता है। यह लकड़ी की आयताकार होती है जिसकी तली में आजकल रबर की चादर लगाने का रिवाज चल गया है, इस थाली में आवश्यक सामग्री, मिश्रित रंग का पेस्ट, भर दिया जाता है। इसके ऊपर बांस की पतली खाचियों से बनी एक टटिया रख दी जाती है। इसे इसी टटिया के बराबर जूट, टाट या कंबल के टुकड़े से ढक दिया जाता है। इन सब के ऊपर टाट के बराबर एक मलमल का टुकड़ा बिछा दिया जाता है। टाट और मलमल को रंग के पेस्ट में भिगोकर, साधारण निचोड़ कर और तब अच्छी तरह खोलकर इस प्रकार बिछाना

चाहिए कि उनमें सिकुड़न न रहे। इस प्रकार बिछी हुई गद्दी पर सरलता से आगे पीछे बदलकर, ठप्पे में दो बार रंग लगाकर, तब कपड़े पर लगाना चाहिए। कपड़े पर रंग लगाने से पूर्व उसे मेज पर बिछा लिया जाता है। यह मेज छपनेवाले कपड़े की लंबाई चौड़ाई को ध्यान में रखकर, लगभग ११' लंबी, ३०" चौड़ी और ४५" ऊँची, होनी चाहिए। परंतु बैठकर काम करनेवाले लगभग ६०" लंबी, ३०" चौड़ी और १५" ऊँची मेज पर सुविधापूर्वक काम करते हैं। मेज प्रत्येक दशा में चौरस और भारी होनी चाहिए, जिससे हिले नहीं। उसपर पहले एक मोटा कंबल बिछाकर, उसके ऊपर उबाली हुई कोरी खद्दर (back grey) की कम से कम दो या चार तहें देकर तब छपाई का कपड़ा इस प्रकार फैलाना चाहिए कि उसमें सिकुड़न न रहे। कोई कोई छोटे बारीक कपड़े की छपाई करते समय उसे बबूल के काँटों अथवा आलपिनों से स्थिर कर देते हैं। इसके पश्चात् ऊपर बताए अनुसार ठप्पे को रखकर छपाई की जाती है। अभिकल्प को ध्यान में रखते हुए कपड़े पर, उसे मोड़कर, रेखाएँ निर्धारित कर ली जाती हैं। इन्हीं के सहारे छपाई आगे बढ़ती है।

स्टेंसिल की छपाई (Stencil Printing) — कागज के ऊपर चित्र बनाकर बच्चे उसे इस प्रकार काटते हैं कि चित्र के छिद्रों से ब्रश द्वारा रंग डाला जाय तो नीचे रखे दूसरे कागज या कपड़े पर वैसा ही चित्र बन जाय। इस कला को स्टेंसिल काटना और इस प्रकार की छपाई को स्टेंसिल की छपाई कहते हैं। कागज की स्टेंसिल टिकाऊ नहीं होती, अतः ताँबे की स्टेंसिल का कपड़े की छपाई में उपयोग होता है। ब्रश की जगह एअरोग्राफ गन (aerograph gun) का उपयोग किया जाता है। इस यंत्र में मुख्य दो अंग होते हैं। एक रंग प्याली (colour cup) होती है, दूसरी वायुनलिका, जिससे दबावयुक्त वायु (air under pressure) आती है। जब लिबलिबी (trigger) को दबाया जाता है, हवा आगे बढ़कर रखते हुए रंग पेंट से मिलती है और एक बारीक तुंड (nozzle) से फुहारे के रूप में रंग के साथ स्टेंसिल के ऊपर पड़ती है, और चित्र के छिद्रों से होकर कपड़े पर तन्मय चित्र बनाती है। एक एक चित्र में दस बारह रंग तक सरलतापूर्वक लगाए जा सकते हैं। इस साधन की यह विशेषता है कि इसमें रंग की आभा (shade) हल्की से हल्की और गहरी से गहरी की जा सकती है। एक कलाकार के हाथों इस विधि द्वारा रंगों की जो अलंकारिता लाई जा सकती है वह असीम है। इससे चित्रित फूलों पर मधुमक्खी या भ्रमर तक सरलता से बनाए जा सकते हैं। परंतु उत्पादन अत्यंत कम होने से स्टेंसिल की छपाई कार्यविशेष के लिये ही सीमित है।

स्क्रीन की छपाई (Screen Printing) — स्टेंसिल का विकसित रूप स्क्रीन है। स्क्रीन जाली (gauze) से बनाई जाती है। रेशम का कपड़ा (silk cloth), अरगंडी (organdie), ताँबे के तारों की जाली, आधुनिक टेरिलीन (terylene) या नाइलोन (nylon) का कपड़ा इत्यादि स्क्रीन बनाने में प्रयुक्त होते हैं। कुछ रंगों के पेस्ट में दाहक सोडा पड़ता है, जिससे रेशम का कपड़ा धीरे धीरे गल जाता है। ऐसी दशा में रेशम का कपड़ा अनुपयुक्त होता है। जाली या कपड़े को लकड़ी के आयताकार साँचे में खींचकर लगाया जाता है। लकड़ी की छोटी छोटी खपच्चियों को लगाकर चारों ओर साँचे में अच्छी तरह कस दिया जाता है। इस आयत की दीवार लगभग तीन इंच ऊँची, आधी इंच मोटी और छह इंच लंबी होती है। आयत की चौड़ाई चार फुट के लगभग हो सकती है। अभिकल्प को जाली पर राल वार्निश, या सेलूलोज लाक्षारस (cellulose lacquer) से इस प्रकार बनाया जाता है कि जहाँ चित्र हो वहाँ लाक्षारस न लगने पाए और शेष सब स्थान लाक्षारस से भर जाएँ। इस प्रकार बनाई स्क्रीन पर जब रंग डालकर, रबर के निपीड़क (squeezee) से रंग आगे पीछे खींचा जाएगा, तब रंग चित्रित स्थानों को पारकर कपड़े पर पहुँच जायगा। इस प्रकार स्क्रीन की छपाई की जाती है। निपीड़क आध इंच मोटे, दो इंच चौड़े और अभिकल्प की चौड़ाई के अनुसार दो फुट लंबे इंडिया रबर के खंड को लकड़ी के खाँचेदार तीन इंच चौड़े, तीन चौथाई इंच मोटे और दो फुट लंबे हत्थे में जमा कर बनाया जाता है। ठप्पे की छपाई के लिये बताए गए नियमों के अनुसार स्टेंसिल और स्क्रीन में भी कपड़ा मेज के ऊपर बिछाया जाता है। मेज की लंबाई स्क्रीन में १०० गज तक तथा चौड़ाई कपड़े की चौड़ाई से कुछ अधिक रखी जाती है। यह मेज छपाई धुलाई की सुविधा के लिये एक ओर को कुछ ढलुआँ होती है। जहाँ गरमी देने का साधन है वहाँ मेज का ऊपरी तल धातु का, जैसे जस्ते की चादर का, होता है। कहीं कहीं आजकल सीमेंट का भी उपयोग होता है। कपड़े को स्थिर रखने के लिये ऊपर मोम लगा दिया जाता है। इस दशा में मेज के ऊपर बेठन (कंबल, बैक ग्रे आदि) न भी रहे तो कोई असुविधा नहीं होती। मेज पर और स्क्रीन की लकड़ी में सानुपातिक छेद (catch points) बने होते हैं, जिससे अभिकल्प दोबारा रखने (repeat) अर्थात् लगाने में आसानी पड़े। भारतीय कपड़े की मिलों में, विशेषकर जहाँ कृत्रिम रेशम या रेयन बनता है, इस पद्धति से छपाई बड़े पैमाने पर होती है। स्क्रीन का उपयोग रेशम की छपाई में इसलिये अधिक मान्य है, क्योंकि रोलर प्रिंटिंग मशीन पर सुविधापूर्वक उसे नहीं छापा जा सकता। कपड़े का रूप भी कुछ बिगड़ जाता है। अहमदाबाद, बंबई और वाराणसी में स्क्रीन की छपाई घरेलू धंधों के रूप में भी काफी प्रचलित है। जापान और स्विट्ज़रलैंड तो इसके केंद्र ही हैं।

स्क्रीन की छपाई का विकास अभी थोड़े दिन पूर्व ही हुआ है, परंतु जो उन्नति छपाई के इस साधन की हुई है वह सराहनीय है। इस कला के संरक्षक इसे रोलर प्रिंटिंग से भी अधिक लोकप्रिय बनाने का भी सफल प्रयत्न कर रहे हैं। परंतु फिर भी अभी इसका उत्पादनव्यय रोलर छपाई की अपेक्षा अधिक पड़ता है। यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि अलंकारिता की दृष्टि से यह कहीं आगे बढ़ गई है और कुछ विशिष्ट अभिकल्पों के लिये, जैसे पर्दों आदि की छपाई (panel printing) में, अपना जोड़ नहीं रखती।

इधर थोड़े समय में ही इस छपाई के लिये नाना प्रकार की मशीनें बन गई हैं, जो ऐसे नवीनतम आधुनिक यंत्रों से युक्त हैं जिनसे छपाई एक ओर, या कपड़े के दोनों ओर, हो सकती है, अथवा दो कपड़े एक साथ छापे जा सकते हैं। मोटे से मोटा और पतले से पतला कपड़ा बिना विकृत हुए सुंदर चित्रों और चटकीले गहरे रंगों में छापा जा सकता है। प्रत्येक कार्य, जैसे मेज पर कपड़ा लगाना, आगे बढ़ाना, स्क्रीन उठाकर कपड़े पर रखना, इसे छापकर हटाना, मेज धोना, मेज को यथोचित गरम करना, छपा हुआ कपड़ा निश्चित ताप पर सुखाना और उसके बाद की क्रियाएँ आदि, सभी स्वचालित यंत्रों से होती हैं। किसी का हाथ तक लगाने की आवश्यकता नहीं होती। चालक और विशेषज्ञ मशीन की गति और रंग, पेस्ट आदि का आवश्यक नियंत्रण और सामंजस्य बनाए रखते हैं।

हाथ के काम में चार आदमियों द्वारा, ६० गज की मेज पर, आठ घंटे में लगभग ४०० गज कपड़ा और मशीन द्वारा लगभग ६०० गज कपड़ा छापा जा सकता है।

बेलन छपाई विधि या सिलिंडर प्रिंटिंग (Roller or Cylinder Printing) — यह आजकल की छींट की छपाई का आधुनिकतम और पूर्ण सफल साधन है। इस यंत्र का आविष्कार १७८५ ई० के लगभग एक अंग्रेज सज्जन, बेल, (Bell) ने किया, यद्यपि इससे पूर्व फ्रांस और अन्य देशों में भी इसका स्वरूप सोच लिया गया था और संभवतः कुछ प्रयोग इसपर हुए भी थे, तथापि सफलता का श्रेय बेल को ही प्राप्त हुआ।
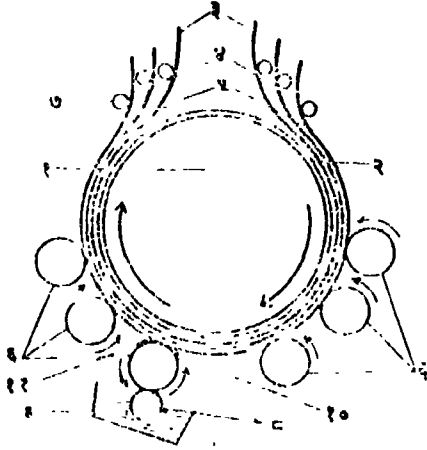
चित्र १. रंग की बेलन मशीन

१. सिलिंडर (Cylinder); २. प्रमार्जन (Lapping) ३. कंबल; ४. बैक ग्रे (Back Grey); ५. छपाई का कपड़ा; ६. तावे के बेलन; ७. गाइड रोलर्स (Guide Rollers); ८. थाली का बेलन (Colour Furnisher); ९. रंग थाली (Colour Box); १०. छुरी (Doctor Knife) तथा ११. लिंट डाक्टर (Lint Doctor)

इस यंत्र में वे सभी आवश्यक अंग हैं जो छपाई के लिये अनिवार्य होते हैं। इसमें मेज की जगह सिलिंडर और ठप्पों की गद्दियों के स्थान पर रंग थाली (colour furnisher) और लकड़ी के ठप्पों के बजाय तांबे के बेलन (copper rollers) होते हैं।

लोहे के सिलिंडर पर लचीलापन लाने के लिये एक ऊनी फलालेन (woollen flannel), या फलालेन के अभाव में धुली हुई दोसूती, लपेटकर एक ऊनी कंबल लगाया जाता है। इसके दोनों सिरे मिलाकर सी दिए जाते हैं, जिससे इसमें सिरा नहीं होता और लगभग ४० गज लंबा होता है। इसके ऊपर धुली कोरी मारकीन (back grey) होती है। इन सब की चौड़ाई बेलन के बराबर, परंतु बैक ग्रे छपनेवाले कपड़े से कुछ बड़ा होता है। सबके ऊपर छपनेवाला कपड़ा होता है। तांबे के बेलन, जिनपर अभिकल्प (design) बने होते हैं, सिलिंडर को दबाते हुए कपड़े के साथ घूमते हैं और रंगथाली में फिरते हुए बेलन से रंग मिलता है। तब उसकी दबी हुई, या खुदी हुई, जगहों में रंग भर जाता है और बेलन में सभी जगह रंग लग जाता है। कपड़े के पहले बेलन पर एक पैनी छुरी (Doctor Knife) लगी होती है। यह अनावश्यक रंग को निकाल कर चिकने धरातल को बिलकुल साफ कर देती है। दबाव पड़ने पर कपड़ा दबी जगहों में स्थित रंग को लेकर छपाई की क्रिया पूर्ण करता है। कपड़े पर लगे तागे आदि छपाई बेलन पर लग जाते हैं। उनको निकालने के लिये दूसरी ओर कुंद छुरी (Lint Doctor) होती है।

मशीन से निकालकर कपड़ा सुखाया जाता है। यह क्रिया गरम किए हुए कमरे में, या भाप से गरम किए हुए सुखानेवाले यंत्र (Drying Machine) के सिलिंडरों (cylinders) पर की जाती है। गरम नलियों (hot tubes) के संपर्क से इसी प्रकार बैक ग्रे भी सुखाया जाता है। चलते चलते कड़ा हो जाने पर इसे धोकर साफ कर लिया जाता है। कंबल के स्थान पर मैकिनटोश (mackintosh) का भी उपयोग किया जाता है। यह रबर लगा हुआ कपड़ा होता है, जो पानी से नहीं भीगता और जिसपर दाहक सोडा जैसे खारे पदार्थों का प्रभाव भी कम पड़ता है, जबकि कंबल बैक ग्रे से रक्षित रहने पर भी खराब हो जाता और कम दिन चलता है। कपड़े पर लगे रंग में कमी तथा उसका विकास एक विशेष प्रकार प्रकार के कमरे में किया जाता है, जिसमें भाप भरी होती है। इसे भाप कमरा (Ager) कहते हैं। इसमें लोहे की लगभग आध इंच मोटी दीवार चारों ओर होती है। कमरे की तली में भाप नलिकाएँ होती हैं, कुछ छिद्र सहित और कुछ छिद्र रहित। जब सूखी भाप की आवश्यकता होती है, तब छिद्र रहित को और जब गीली भाप की जरूरत होती है तब छिद्रित नलिकाओं को खोला जाता है। इनसे ताप १००° सें० के निकट तक ही प्राप्त किया जा सकता है, परंतु कभी कभी १०५° सें०, या इससे भी अधिक, ताप वांछित होता है। इसलिये आजकल ऐसे कमरे के बाहर भी छोटे छोटे, मोटे लोहे की चादर के संदूक की तरह भापकक्ष (Steam Chest) लगा दिए जाते हैं। इनमें भाप भारी दबाव में रहने से ऊपर की छत और दीवारें आवश्यकतानुसार अधिक गरम की जा सकती हैं। कपड़ा कमरे के अंदर तावे के फिरते हुए बेलनों पर चलता है और तीन मिनट से १० मिनट तक उसके अंदर रखा जाता है। छपा हुआ कपड़ा चाहे हाथ ठप्पों का हो, चाहे स्टेंसिल, स्क्रीन या रोलर मशीन का, सभी इन बेलनों पर चलाकर विकसित किए जा सकते हैं।

ऊपर के कमरे से निकालकर कपड़े को धुलाई मशीन (Soaper) पर ले आया जाता है। इसमें चार, पाँच या छः कक्ष (compartments) होते हैं। आगे एक छोटा सा अकलंकी इस्पात (stainless steel) का होता है, जिसमें अम्ल आदि आवश्यकतानुसार लिए जाते हैं। शेष कक्षों में केवल पानी, गरम पानी, बाई क्रोमेट और सोडा, साबुन का पानी, या अन्य मसालों का विलयन लिया जाता है। सुविधा और उपयुक्त रंगों के अनुसार विशेषज्ञ इनको अपने अपने रुचिपूर्वक काम में लाते हैं। अंत में शुद्ध पानी से धोकर कपड़ा सुखाया जाता है।

ऊपर बताया गया है कि तांबे के बेलनों पर अभिकल्प खोदकर, इनसे छपाई की जाती है। इसपर खोदाई की क्रिया तीन प्रकार से की जाती है। एक तो हाथ से छेनी हथौड़ी द्वारा, दूसरे डाई (die) और मिल (mill) की सहायता से, तीसरे पैंटोग्राफ (pantograph) और फोटोजिंको पद्धति (photo zinco process) से बेलन पर चित्र बनाकर नाइट्रिक अम्ल से कटाई (etching) की जाती है। बेलन पर खोदाई से अभिकल्प चिह्न अंदर की ओर (intaglio) में होते हैं। अभी डाई-मिल (die-mill) का चलन अधिक है, पर पैंटोग्राफ प्रथा का विकास उत्तरोत्तर हो रहा है। प्रत्येक रंग के लिये एक बेलन लिया जाता है। इस प्रकार चार रंग कपड़े पर लगाने के लिये पृथक् पृथक् चार बेलन लेने पड़ते हैं।

रोलर छपाई का उत्पादन अन्य सभी साधनों से अत्यंत अधिक है। इसके चार रंगों का अभिकल्प आठ घंटे में २०,००० गज कपड़ा छाप सकता है। १०–१२ रंगों की छपाई में आठ नौ हजार गज का उत्पादन हो सकता है। अधिक से अधिक १८ रंग तक छापने की मशीन अभी बनी है। इस मशीन में प्रायः सूती कपड़ा ही अधिक छापा जाता है और अधिकांश सूती कपड़े की मिलें इसे लगाए हुए हैं। अन्य जाति के कपड़े भी इसपर उसी प्रकार छापे जा सकते हैं जैसे सूती कपड़े, किंतु छपनेवाले कपड़े का धरातल चिकना और समतल एवं कपड़े पर पड़नेवाला खिंचाव यथोचित कम होना चाहिए।

छपाई की प्रथाएँ (Styles Of Printing) — छपाई के आरंभिक काल में साधनगत विभाजन का चलन था, परंतु आजकल रंजक और रंगने में क्रमशः महान् विकास हो जाने से उन रीतियों को विभाजन का आधार बनाना पड़ता है जिनके द्वारा छपाई में कपड़े पर रंग खिलता है, या रंग स्थापित किया जाता है। रासायनिक अथवा यांत्रिक क्रियाओं के आधार पर इन रीतियों को अलग अलग वर्गों में रखा जा सकता है, जो प्रत्येक की भिन्न भिन्न होती हैं। इन्हीं को छपाई की प्रथाएँ कहते हैं। भाप छपाई (steam style or direct printing), रंजक छपाई (dyed style) और कटाव छपाई (discharge style) आदि इनके उदाहरण हैं।

भाप की छपाई प्रथा — यह आजकल की सर्वाधिक प्रचलित छपाई की प्रथा है। इसमें वे ही रंजक प्रयुक्त होते हैं जो छपनेवाले कपड़े के प्रति सीधी बंधुता (direct affinity) रखते हैं, अथवा जो रसायनकों के संयोग से इस प्रकार की बंधुता उत्पन्न कर सकते हैं, जैसे अम्लीय और क्रोम रंगस्थापक तथा समाक्षारीय एल्शियन (Alcian) और विलेय कुंड (vat) रंजक ऊनी तथा रेशमी वस्त्र पर; प्रत्यक्ष (direct), समाक्षारीय, गंधकी, वैट (vat), विलेयकृत वैट रंजक अथवा वैट रंजकों के लिउको एस्टर्स (leuco esters), आज़ोइक (Azoic), जिनमें बीटा - नैफ्थाल (β-Naphthol), नैफ्थाल ए० एस० (Naphthol AS series), रैपिडफास्ट (Rapid-fast), रैपिडोजन (Rapidogen) तथा रैपिडेज़ॉल (Rapida-zol) भी संमिलित हैं और एनिलीन काला (Aniline Black), एलिज़रिन क्रोम रंगस्थापक (chrome mordant) एवं वे सभी वानस्पतिक रंग जो रंगस्थापक द्वारा कपड़े पर चढ़ाए जाते हैं सूती कपड़े या समान गुणवाले रेयन के लिये उचित हैं। रंगस्थापक वह रासायनिक पदार्थ है जो रेशे और रंग दोनों के प्रति बंधुता रखता है। जब वह स्वयं कपड़े पर स्थापित हो जाता है तब रंग को भी चढ़ा लेता है। इस वर्ग के रंगों में प्रायः कपड़े के प्रति सीधी बंधुता नहीं होती। रंगस्थापक और समाक्षारीय रंजक यद्यपि सूती रेशे पर सीधे नहीं चढ़ते, तथापि इनको इस प्रथा में संमिलित किया गया है, क्योंकि इन रंगों को कुछ ऐसे रसायनकों के साथ छापा जाता है जिनका रंगस्थापक पहले निष्क्रिय रहता है, पर भाप लगने पर सक्रिय होकर रंगस्थापक और रंजक दोनों एक साथ रेशे पर चढ़ जाते हैं। इस प्रथा में प्रयुक्त रंजकों का योग (recipe) भी विभिन्न वर्ग के रंजकों के अनुसार पृथक् पृथक् होता है। उदाहरण के लिये प्रत्यक्ष (direct) रंजकों के साथ सोडा फॉस्फेट (soda phosphate) कुंड रंजकों के साथ अवकरणीय पदार्थ, जैसे सोडियम सल्फॉक्सिलेट फार्मेल्डिहाइड (sodium sulphoxylate formal-dehyde), या आई० सी० आई० निर्मित फॉर्मोसल (Formosul) और क्षार (alkali) जैसे पोटासियम कार्बोनेट, रंग को सक्रिय रूप देने के लिये लेना अनिवार्य है। इसी प्रकार माड़ी के अतिरिक्त अन्य रंजकों के साथ भी उचित रसायनकों का होना नितांत आवश्यक है।

इस प्रथा में भाप का महत्व प्रमुख है। आज़ोइक (azoic) रंजकों को छोड़कर शेष अन्य रंजकों के साथ भाप देना अनिवार्य है। आज़ोइक के रैपिडेज़ाल को भी भाप देकर विकसित किया जाता है। रैपिडोजेन (Rapidogen) रंजकों को अम्लीय भाप (steaming in acid fumes) से उपचारित करते हैं। रैपिडफास्ट (rapid fast) रंजकों की छपाई के पीछे कपड़े को दो तीन दिन हवा में लटकाकर, अथवा भाप देकर, या उबलते तनु कार्बनिक अम्ल के विलयन में चलाकर, उभाड़ा जा सकता है। रंजक और उसके आनुषंगिक रसायनक माड़ी (thickening agents) में मिलाकर कपड़े पर हाथ ठप्पे, स्क्रीन, स्टेंसिल या रोलर प्रिंटिंग यंत्र से छाप दिए जाते हैं। पीछे कपड़े को सुखाकर घरेलू वाष्पयंत्र (Cottage Steamer) में एक घंटे और गतिवान् पक्वित्र (Rapid Ager) में तीन से लेकर सात मिनट तक भाप दी जाती है। इस प्रकार कपड़े पर रंग चढ़ाकर फिर उससे लिपटा हुआ (unfixed colour) रंजक सबुनिया (soaping) कर निकाल दिया जाता है। परंतु कभी कभी इससे पहले कुंड रंजकों में आक्सीकरण, अथवा बेसिक रंगों में स्थिरीकरण क्रिया (fixing), कर लेना आवश्यक है, अन्यथा रंग फीका आएगा और पक्का भी नहीं रहेगा। रंजक वर्ग के अनुसार ही रंग पक्का अथवा कच्चा होता है। पक्के और कच्चे रंग के अनुसार ही छपाई का व्यय भी कम या अधिक होता है।

छपाई की रँगाई प्रथा — यह अपने देश की प्राचीनतम छपाई प्रथा है, जो कुछ समय पूर्व संसार के अनेक देशों में व्यापक रूप से प्रचलित थी। आज भी "रामनामी" वस्त्र की छपाई मथुरा और उसके आसपास के जिलों में इसी विधि से होती है। छपाई के पहले कपड़े पर रंगस्थापक लगाना पड़ता है। रंगस्थापक को उचित रसायनकों से क्रियान्वित करके, कपड़े पर स्थापित करने के बाद उसकी धुलाई की जाती है। तदनंतर गीली दशा में ही रँगाईपात्र में उचित योगों के साथ वांछित रंग दिया जाता है। रंगस्थापक अभिकल्प के अनुसार लगाया जाता है, अतः रंग रंगस्थापकस्थित अभिकल्पों पर ही चढ़ता है। इस प्रकार चार रंग के अभिकल्प के लिये चार रंगस्थापक लगाने पड़ेंगे। इनका लेप रंगरहित होता है, इसलिये नील का प्रयोग प्रदर्शक (sighting agent) के रूप में किया जाता है। रंगस्थापक अनेक होते हैं और लगभग उन सबसे एक ही रंजक के अलग अलग रंग प्राप्त होते हैं। किसी दो को मिलाकर रंग में परिवर्तन भी किया जा सकता है, क्योंकि रंग रंगस्थापक के अनुसार ही होता है और मिलाने पर एक का वर्ण दूसरे से प्रभावित हो जाता है।

वानस्पतिक रंजकों में 'मंजीठ' (madder) और 'आल' का उपयोग इस छपाई में विशेष होता था। आजकल मजीठ के स्थान पर संश्लेषिक एलिजरिन काम में लाई जाती है। इन रंजकों के संपर्क में फिटकरी लाल, सोडियम बाइक्रोमेट और स्टैनस क्लोराइड नारंगी तथा हराकसीस बैंगनी और काला वर्ण देता है। फिटकरी और हराकसीस को मिलाकर उन्नाबी (maroon) रंगत से लेकर कसीस को बढ़ाने से चॉकलेट (chocolate) रंग तक प्राप्त किया जा सकता है। आजकल एलिजरिन का ही व्यापक उपयोग होता है। मजीठ का चलन तो

बिलकुल ही उठ गया है। रंगस्थापक छपाई के पश्चात् रँगाई करके, साबुन से भली प्रकार धोकर तब कपड़े को सुखाया जाता है। ये रंग प्रकाश और धुलाई आदि के लिये अच्छे पक्के होते हैं। इनमें चमक भी अच्छी होती है, परंतु प्रयुक्त रसायनकों में अपद्रव्य न होना चाहिए। इस प्रथा में कठोर पानी का उपयोग कुछ विशेष क्रियाओं के लिये लाभकारी है, किंतु साधारण अन्य प्रथाओं में हानिकारक है।

जो रंग रंगस्थापक की सहायता से चढ़ाए जाते हैं, वे सभी इस प्रथा से छापे जा सकते हैं। इस प्रकार समाक्षारीय रंजक भी इसके लिये उपयुक्त हैं, परंतु साधारणतया प्रकाश और धुलाई के लिये कच्चे होने से इनका चलन स्वतंत्र रंगत में अधिक नहीं है। क्रोम रंगस्थापक रंजक भी उपर्युक्त सिद्धांत के अनुसार उचित हैं, परंतु इनमें सभी आभा के रंग उपलब्ध होने से इनको प्रायः सीधी (direct) छपाई द्वारा ही काम में लाया जाता है। ऊनी या रेशमी वस्त्रों की छपाई में अन्य योगों के साथ क्रोम ऐसिटेट (chrome acetate) रंग स्थिरीकरण के लिये उपयोग में आता है। अम्लीय माध्यम होना आवश्यक है।

कटाव प्रथा (Discharge Style of Printing) — इस छपाई में पहले कपड़े को किसी रंग में रँगना होता है। रँगाई वैसे ही की जाती है जैसे वस्तु रँगाई कला में प्रचलित है, अर्थात् रंग घुलाकर, रंजक जाति के अनुसार उचित योगों को लेकर, रंगपात्र में चलाना, पकाना आदि। पूर्ण रँगाई क्रिया के पश्चात्, कपड़े पर अभिकल्प के अनुसार कटाव कारक (discharging or cutting agent) लगाया जाता है। सुखाई करके भाप दी जाती है, घरेलू भापयंत्र में एक घंटा और गतिवान् पक्वित्र में तीन से १० मिनट तक समय दिया जाता है। इसी बीच कटाव की क्रिया संपन्न होती है। उसके बाद माल को बाहर निकालकर हवा में सुखाया जाता है और आक्सीकरण आदि क्रियाएँ की जाती हैं। अंत में साबुन से धोकर कपड़े को अच्छी तरह साफ कर दिया जाता है। कपड़ा रंगीन होता है। यदि केवल कटाव का योग ही लगाया जायगा, तो कपड़े का रंगीन पृष्ठभूमि पर श्वेत अभिकल्प होंगे, जो गोल बूँदों के या अलंकार के रूप में दृष्टिगोचर होंगे। इसे श्वेत कटाव कहा जाएगा। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि केवल श्वेत चिह्नों में अलंकारिता का विस्तार अत्यंत सीमित हो सकता है। इसलिये रंगीन पृष्ठभूमि पर कटाव के माध्यम से एक श्वेत और कई एक रंगीन कटाव किए जाते हैं। रंगीन कटाव के लिये कटावकारक में ऐसे रंजक उचित अनुपात में मिश्रित कर दिए जाते हैं जो कपड़े के रंग को वाष्पन में काट दें। इन मिश्रित रंगों की अन्य क्रियाएँ, जैसे रंगउभाड़, अवकरण एवं आक्सीकरण आदि वैसी ही होती हैं जैसी उनको निजी सीधी छपाई में। इन मिश्रित रंजकों में आभानुसार एक ही वर्ग के कई रंजक, अथवा कई वर्गों के रंजक, लिए जा सकते हैं। किंतु ये केवल ऐसे ही होने चाहिए जो कटाव कारक से नष्ट न हों, रेशे से उचित बंधुता रखते हों तथा कटाव कारक में उनका वर्ण भी परिवर्तित न हो। एक ही रसायनक एक रंजक के लिये घातक और दूसरे के लिये हितकर हो सकता है।

कटाव कारक तीन प्रकार के होते हैं। एक तो आक्सीकारक, जैसे बाइक्रोमेट, नाइट्रेट, क्लोरेट, ब्रोमेट आदि। इनके प्रभाव को बढ़ाने या उत्प्रेरित करने के लिये आक्सीजन वाहकों एवं उत्प्रेरकों का प्रयोग किया जाता है। दूसरे कटाव के पदार्थ अवकारक होते हैं, जैसे स्टैनस क्लोराइड, हाइड्रोसल्फाइट और सल्फॉक्सिलेट-फार्मेल्डिहाइड (Sulphoxylate Formaldehyde) अथवा आई० सी० आई० निर्मित व्यापारिक फार्मोसल (Formosul) या आई० जी० निर्मित रांगोलाइट सी (Rongolite C) आदि। इनके प्रभाव को बढ़ाने के लिये ऐंथ्राक्विनोन लेप (Anthraquinone paste) और ल्यूकोट्राप डब्ल्यू (Leucotrope W) को कटाव कारक में मिलाना पड़ता है। तीसरे प्रकार के कटाव पदार्थ अम्ल होते हैं, जो प्रायः खनिज रंगों की ही कटाई में काम आते हैं। ये रासायनिक पदार्थ अलग अलग रंगजाति के कटाव के लिये लगभग निश्चित से हो गए हैं, यद्यपि इनका उपयोग दूसरे समकक्ष रंजकों में भी किया जा सकता है। इन पदार्थों का चुनाव इस प्रकार करना चाहिए कि वे मिश्रित रंग के मूल रसायनकों का विरोध न करें, जैसे आजोइक रंजकों के पृष्ठभूमि कटाव में पोटासियम कार्बोनेट, दाहक सोडा, हाइड्रोसल्फाइट और फॉर्मोसल आदि लिए जाते हैं। इन्हीं पदार्थों को कुंड रंजकों के मूल लेप में, उनकी प्रत्यक्ष छपाई में अथवा उनकी रँगाई में उपयोग में लाया जाता है। अब कुंड रंजकों को इन कटाव के पदार्थों में मिलाकर आजोइक रंजकों के तल (ground) की निर्विघ्न कटाई की जा सकती है। इनमें से कोई भी पदार्थ कुंड रंजक के वस्त्र पर चढ़ने में हानिकारक न होकर पूरक होगा। यदि कुंडरंजक के अतिरिक्त सरल रंजकों (diret colours) को रंग कटाव के लिये लिया जाय, तो अनुचित होगा, क्योंकि सरल रंजक इन पदार्थों में स्वयं कटकर रंगहीन हो जायँगे। सरल रंजकों में केवल पीला रंग ही ऐसा होता है जो इन योगों से नहीं कटता। उसे पीले कटाव में आजोइक के तल पर लिया जा सकता है। नील तथा अन्य कुंडरंजकों की तल कटाई के लिये आक्सीकारक पदार्थ उपयुक्त होते हैं, परंतु जिन रंजकों में ऐंथ्राक्विनोन लेप आदि उत्प्रेरक मिले हों उन्हें अवकारक पदार्थों से भी काटा जा सकता है। सरल रंजकों के तल को भी आजोइक रंजकों की भाँति ही काटा जा सकता है, परंतु योगों की मात्रा और भाप का समय कम होना चाहिए।

प्रतिरोध (Resist) छपाई प्रथा — कटाव में कपड़े को रँगकर तब उसका रंग काटा जाता है, किंतु प्रतिरोध प्रथा में कपड़े पर प्रतिरोधी (resisting agent) पहिले ही लगा लिया जाता है, तब सुखाने के बाद रँगाई की जाती है। प्रतिरोधी लगे स्थलों पर रंग नहीं चढ़ता शेष सब कपड़ा भली प्रकार रँग जाता है। प्रतिरोधी में रंग मिलाकर चित्रित किया जाय, तत्पश्चात् रँगाई की जावे, तो रंगीन प्रतिरोधन प्राप्त होगा। ये प्रतिरोधन दो प्रकार के होते हैं। एक तो यांत्रिक, जो अपरिवर्तित भौतिक रूप से बिना किसी परिवर्तन के काम करते हैं, जैसे मोम, रेजिन, चीनी मिट्टी, जिंक ऑक्साइड, चर्बी, सीस, बेरियम सल्फेट आदि। बातिक और बंधनी की छपाई इसी श्रेणी में आती है, परंतु इन पदार्थों को रासायनिक प्रतिरोधकों के साथ भी मिलाते हैं, जिससे सक्रिय रंजक तत्व कपड़े तक न पहुँच सकें। दूसरे रासायनिक द्रव्य, जो क्रियाकलाप के बीच ऐसी दशा उत्पन्न कर देते हैं कि रँगाई के समय योग लगे स्थलों पर कपड़ा रंग नहीं पकड़ता, तथा बिलकुल श्वेत रहता है। रासायनिक प्रतिरोधी चार प्रकार के होते हैं : (१) अवकारक, जैसे सोडियम या पोटासियम सल्फाइट, सोडियम या पोटासियम बाइसल्फाइट, स्टैनस क्लोराइड, हाइड्रोसल्फाइट और फार्मोसल आदि, (२) आक्सीकारक, जैसे तूतिया, ऐमोनियम क्लोरेट,

सोडा बाईकोमेट, सोडियम क्लोरेट, ऐमोनियम वैनेडेट आदि, (३) क्षार, जैसे दाहक सोडा, सोडा ऐश, और पोटासियम कार्बोनेट आदि, (४) अम्ल
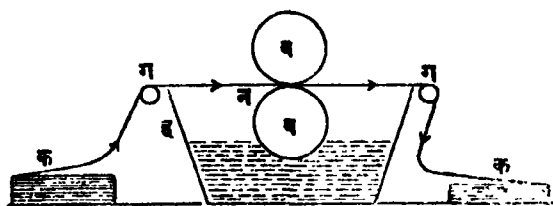
चित्र २. निप पैडिंग मशीन (Nip-padding Machine)

क. प्रतिरोध लगा कपड़ा; क. रँगा हुआ कपड़ा; ग. गाइड रोलर; न. निचोड़ा (Nip); ब. बेलन; र. रंगविलयन तथा ह. कुंड (vat)।

जैसे साइट्रिक, टैनिक, टार्टरिक और आक्ज़ेलिक अम्ल आदि । इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे धातुलवण भी होते हैं जो भाप में विघटित होकर अम्ल देते हैं। इन्हें भी लिया जा सकता है। प्रतिरोधियों को लगाकर सुखाना चाहिए । यदि प्रतिरोधी श्वेत (white resist) है, तो कपड़े को सुखाकर पैडिंग (padding) द्वारा इस प्रकार रँगते हैं कि कपड़ा केवल दोनों बेलनों के बीच से जाता है, कक्ष से नहीं और नीचेवाले रोलर पर एक कपड़ा लपेट दिया जाता है।

ऐनिलीन (Aniline) वाले माल को भाप सेवन (ageing) कराकर, साधारण आक्सीकरण के बाद पानी, साबुन आदि से स्वच्छ किया जाता है। जब प्रतिरोधी में वैट रंग मिला हो, तब छपाई के बाद उसे भाप देकर स्थायी कर लेना चाहिए। तत्पश्चात् यदि तल ऐनिलीन के काले रंग का हो, तो उसके अनुसार रँगाई पात्र में योगों के साथ पैडिंग आदि करके अन्य क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। इसी प्रकार अन्य रंगों की श्वेत अथवा रंगीन प्रतिरोध छपाई की जाती है। प्रतिरोधी का उपयोग रंजक वर्ग और उसके गुणधर्मानुसार किया जाता है।

यांत्रिक प्रतिरोधियों का उपयोग स्वतंत्र रूप से बंधनी (tie-dyeing) और बातिक (batik) की छपाई में होता है। बँधनी में कपड़े को केवल पतली डोरी से अभिकल्प के अनुसार बाँधकर रँगाई की जाती है। कई रंग लगाने के लिये यह क्रिया कई बार में पूरी की जाती है। जब रँगाई ठंडे में करनी हो तब रस्सी में मोम लगाकर उसे भी अलसह बना लिया जाता है। उचित रँगाई के योगों के साथ रँगाई की जाती है। इस प्रथा का उपयोग जयपुर, जोधपुर आदि राजस्थानी नगरों में अब भी अधिक पाया जाता है। प्रसिद्ध जयपुरी साफा इसी रीति से रँगा जाता है।

बातिक (Batik) — अनुमानतः यह संस्कृत शब्द 'वर्तिका' से बना है, जिसका अर्थ बत्ती होता है। इस क्रिया में प्रयुक्त मोमबत्ती के आधार पर इसका यह नाम पड़ा है। मोम लगाकर कपड़े को बत्ती की भाँति लपेट कर रँगाई के लिये झुर्रियाँ (cracks) डाली जाती हैं। संभवतः प्रारंभ में यह कला दक्षिण भारत के समुद्री तटों पर प्रचलित थी। वहीं से पूर्वी देशों — जावा, सुमात्रा की ओर जाकर उन देशों की मुख्य छपाई कला हो गई । अब इसका प्रचार हमारे देश में नहीं है। शांतिनिकेतन के कुछ कलाकार कला के रूप में इसे प्रदर्शित करते हैं। व्यापारिक वस्त्र छपकर जावा में ही तैयार होता है, भारत में नहीं। इस प्रथा से छपा हुआ कपड़ा बड़ा आकर्षक, सुंदर, उसकी अलंकारिता अत्यंत जटिल, विचित्र और अनेक रंगों से युक्त होती है। इसकी छपाई में अधिक समय और अनुभव एवं कार्यदक्षता की विशेष आवश्यकता होती है। जावा और अन्य पूर्वी देशों में इस प्रकार के कपड़े उत्सवों और विशेष अवसरों पर पहनने का चलन है । १७वीं, १८वीं और १९वीं शताब्दी में इसका विकास अधिक हुआ तथा यह चीन, जापान, इंडोचीन, और पश्चिम में हालैंड, जर्मनी एवं फ्रांस तक में फैल गया था। अंत में बेलन छपाई के सामने यह कला टिक न सकी, विशेषकर पश्चिम में, और अब केवल जावा इसका केंद्र रह गया है।

बातिक की छपाई तकनीक में जावा ने इस समय उतनी ही दक्षता प्राप्त कर ली है जितनी अन्य देशों ने अन्य छपाई प्रथाओं में। यद्यपि सिद्धांत की दृष्टि से कटाव प्रथा का कुछ अनुकरण कर क्रिया को विस्तृत करने और अलंकारिता में विशेषता लाने का प्रयत्न किया गया है, फिर भी अब तक बातिक छपाई का कार्य प्रतिरोधन प्रथा की सीमा के भीतर ही होता है। रंग को कपड़े पर पहुँचने से रोकने के लिये मोम, राल, और चावल, मैदा या स्टार्च की माड़ी का उपयोग किया जाता है। ये पदार्थ ठंडे होकर जमते और प्रतिरोधी का कार्य करते हैं। इन्हें नाना प्रकार से कपड़े पर लगाया जाता है। हाथ से लगाने में अलंकारिता न्यून श्रेणी की होती है, अतः विभिन्न प्रकार के उपकरणों का विकास किया गया है। इनमें से विशेष उल्लेखनीय एक छोटा ताँबे का लोटा है जिसमें कई पतली टेढ़ी टोंटियाँ (spouts) होती हैं। इससे कपड़े पर मोम द्वारा बहुत बारीकी से चित्रांकन किया जा सकता है। कोई कोई कूँची (brush) से भी काम लेते हैं। कभी कभी कपड़े पर मोम लगाकर सुई की नोक से छिद्र बनाते हुए चित्रित किया जाता है। विभिन्न प्रकार की स्टेंसिलों की सहायता से भी चित्र बनाए जाते हैं। आजकल लकड़ी के ठप्पों में ताँबे की पत्तियाँ (strips) लगाकर उत्पादन बढ़ाने का प्रयास सफल हुआ है। इन उपकरणों को रँगाई क्रिया का प्रारंभिक साधन कहा जा सकता है। परंतु रँगाई चूँकि कई बार में पूरी की जाती है, अतः इनका उपयोग बार बार होता है। कभी कभी एक बार रँग लेने के बाद उस जगह कूँची से भी मोम भरी जाती है, ताकि वहाँ रंग न पहुँच सके। तब रँगाई की क्रिया भी दुहराई जाती है।

प्राचीन काल में रँगाई के लिये केवल वानस्पतिक रंग ही उपलब्ध थे। मोम घुले नहीं, इस विचार से इस छपाई प्रथा में रँगाई ठंडे में की जाती थी। नील की अनेक जातियाँ तथा मजीठ आदि इसी प्रकार काम में लाए जाते थे। मोम आदि से अलंकारिता के पश्चात् रँगाई की रीति वही होती है जो साधारण कपड़ा रँगाई में व्यवहृत होती है। लाल की रँगाई में तेल लगाना, रंगस्थापक, उसको स्थायी करना आदि क्रियाएँ यथावत् करके तब मोम से अलंकारिता की जाती थी और उसके बाद रँगाई होती थी। स्वतंत्र रूप से या कई वनस्पतियों के मिश्रण से बहुरंगी आभाएँ बनाई जाती थीं। फिर भी ये रंगतें आभा में सीमित थीं । आजकल सांश्लेषिक नील और ऐलिज़रिन का उपयोग अधिक किया जाता है। इनके अतिरिक्त अब अन्य उपयुक्त सांश्लेषिक रंजकों, जैसे ऐज़ोइक आदि को भी, इस छपाई की रँगाई में काम में लाया जाने लगा है। अधिकांश वानस्पतिक रंग प्रकाश और धुलाई में कच्चे होते हैं। इस कारण से भी नवीन रँगों को अधिक अपनाया गया है। इनकी रँगाई क्रियाएँ भी अधिक सुविधाजनक होती हैं।

बातिक कटाव में पोटासियम परमैंगनेट की रीति का अधिक अनुसरण किया जाता है, अर्थात् कपड़े को नील में रँगकर धोने सुखाने के बाद अभिकल्प के अनुसार मोम लगाया जाता है। तत्पश्चात् आक्सीकारक कटाव करके हाइड्रोसल्फाइट ऑव् सोडा के तनु विलयन में चलाया जाता और धुलाई आदि की जाती है। जिन स्थलों में मोम लगा रहता है, वहाँ का कपड़ा नीला रहता है, शेष श्वेत।

प्रारंभ में यह छपाई प्रथा बड़े घरों में समय काटने का साधन थी, बाद में, विशेषकर जावा में, घरेलू धंधों के रूप में इसका प्रचलन बड़ी मात्रा में होने लगा और आज भी वहाँ जनसंख्या के एक बड़े भाग के जीविकोपार्जन का यह मुख्य साधन है।

धातु छपाई प्रथा — जरी की बुनाई में सोने चाँदी के तारों का उपयोग किया जाता है। ऐसे वस्त्रों का मूल्य साधारण मनुष्य की क्रयशक्ति के परे होता है, अतः छपाई द्वारा इस कमी की पूर्ति करने का प्रयास छीपों ने किया है। इसमें धातुचूर्ण को काम में लाया जाता है। ये चूर्ण सोना, चाँदी, बनावटी सोना और ऐल्यूमीनियम आदि चमकदार धातुओं के होते हैं। इनको कपड़े पर चिपकाने के लिये कुछ आसंजकों का उपयोग किया जाता है, जैसे लिथोफोन (Lithophone), प्राकृतिक अथवा सांश्लेषिक राल, रोगन, अलसी का उबाला तेल, वार्निश और सेलूलोज प्रलाक्षारस (lacquer) आदि। कपड़े की यथोचित रँगाई करके, सुखाने के बाद उसपर ताँबे या पीतल के ठप्पों से आसंजकों का अपेक्षित अभिकल्प लगाया जाता है। उसके ऊपर पतले कपड़े की पोटली में बाँधकर धातुचूर्ण को धीरे धीरे छिटकाया जाता है। इस प्रकार आसंजक पर धातुचूर्ण लगाकर कपड़े को दो तीन दिन धूप तथा छाया में लटकाने से आसंजक सूख जाता है और चूर्ण स्थायी होकर पक्का हो जाता है।

आजकल उपर्युक्त आसंजकों के बदले ऐसे पदार्थ लिये जाते हैं जिनसे कपड़े पर सांश्लेषिक रेजिन बन जाती है, जैसे फीनॉल और फार्मैल्डिहाइड सोडियम ऐसीटेट के साथ। इनके प्रभाव को अधिक स्थायी बनाने के लिये इनमें थोड़ी सी सेरिकोज (Sericose, a cetyle cellulose compound) भी मिला दिया जाता है। भाप देने पर इस प्रकार जो अविलेय रेजिन बनता है उसमें साबुन की धुलाई के लिये धातुचूर्ण बहुत पक्के स्थापित हो जाते हैं।

आजकल उपर्युक्त सिद्धांत के आधार पर ही फ्लॉक (Flock) छपाई का आविष्कार हुआ है। इसमें धातुचूर्ण के स्थान पर रूई, ऊन, रेशम और रेयन के एक या दो मिलीमीटर लंबे, अथवा आवश्यकतानुसार छोटे एवं बड़े टुकड़े, काटकर कपड़े पर चिपकाए जाते हैं। पोटली या अन्य साधन के द्वारा रेशा चूर्ण को छिटककर पारदर्शी वस्त्रभूमि, जैसे ऑरगैंडी या नाइलॉन पर, इसकी छपाई बहुत सुंदर और आकर्षक होती है। मशीन के द्वारा कपड़े के साथ ९०° का कोण बनाते हुए रेशों एवं बड़े टुकड़ों को खड़ा लगाने का चलन भी हो गया है। ऐसे कपड़े को पाइल फैब्रिक (pile fabric) कहते हैं। यह देखने में वैसा ही होता है जैसे गलीचे का कपड़ा। जिस मशीन के द्वारा इनको कपड़े पर जमाया जाता है, उसमें चुंबकीय आकर्षण होता है, जिसके संपर्क में आनेवाला रेशासमूह कपड़े में खड़ा लग जाता और आसंजक पदार्थ की वहाँ पूर्वस्थिति होने से, उसी में खड़ा स्थिर होकर पक्का हो जाता है। इस कला में प्रयुक्त आसंजक आधुनिक होते हैं और ये साबुन की धुलाई के लिये तो पक्के होते ही हैं, प्रायः उनमें से अधिकांश शुष्क धुलाई के लिये भी पक्के होते हैं। रेशे, रेशों के टुकड़े या चूर्ण, श्वेत अथवा रंगीन काम में लाए जाते हैं। चमड़े के चूर्ण को भी इसी प्रकार चिपकाकर नाना प्रकार की सुंदर एवं आकर्षक वस्तुएँ व्यापारिक स्तर पर बनाई जाती हैं। ऐल्यूमीनियम के चूर्ण को इसी पद्धति से छापकर आग बुझानेवाले कर्मचारियों के बहुमूल्य कपड़े बनाए जाते हैं।

छपाई की जिन पद्धतियों का ऊपर वर्णन किया गया है, उत्पादन और व्यापारिक दृष्टि से वे ही महत्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और पद्धतियाँ भी हैं, जो कार्यविशेष के लिये ही निश्चित हैं और जिनका चलन उद्योग में सीमित है, जैसे उभाड़ प्रथा (Raised style) जो रसायनकों के अवक्षेपन द्वारा होती है, क्रीपान प्रथा (Crepon or crimp style) जो दाहक सोडा के मर्सरीकरण शक्ति के सांद्रण से प्राप्त होती है और भारी की छपाई (printing of linings) जो ब्रोकेड ऐसे कपड़ों के लिये भी प्रचलित है, परंतु अधिक नहीं।

रसायनकों की विभिन्नता और प्रथागत क्रियाकलाप से ही छपाई का इतना विकास हुआ है। कपड़ों की छपाई में वांछित उत्पादन की दृष्टि से इनमें से प्रत्येक का अपना अपना निजी महत्व है और उत्पादक उसी प्रथा का अनुसरण करते हैं जिसके द्वारा निर्मित कपड़े की माँग अधिक होती है। यंत्रों और उपकरणों आदि का प्रबंध भी उसी के अनुसार किया जाता है।

उपर्युक्त प्रथाओं में प्रयुक्त योगों को पकाने और बनाने आदि के लिये जब उत्पादन बड़ी मात्रा में किया जाता है, तब रंजकमिश्रण पात्र का इसमें उपयोग किया जाता है। इसमें दो या अधिक कड़ाह होते हैं, जिनमें भाप से गरम करने का और पानी से ठंढा करने का साधन
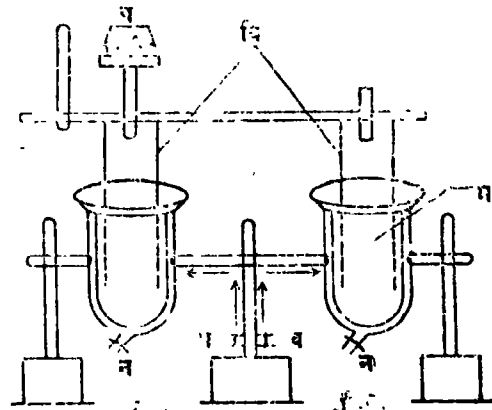
चित्र १. रंजकमिश्रण कड़ाह

न. पानी का निकास; ऊपर का प. विलोडक चालक पहिया; नीचे का प. पानी का नल; भ. दुहरी चादर के कड़ाह; व. भाप का नल तथा वि. विलोडक।

होता है। इनमें योगों को चलाने के लिये विलोडक (stirrer) भी लगे होते हैं। ये पात्र अपनी जगह पर रहते हुए योगों के गिराने के लिये उलटे भी जा सकते हैं। एक बार में लगभग १०० पाउंड गाढ़ी, अथवा पेस्ट, बनाया जा सकता है।

ऊपर बताई हुई प्रथाओं से रेशे के अनुसार उचित रंग और योग लेकर सूती, ऊनी रेशमी अथवा रेयन सभी प्रकार के कपड़े छापे

जा सकते हैं। दाहक क्षारों का उपयोग ऊनी और रेशमी रेशों पर वर्जित है। इनका माध्यम सदैव अम्लीय होना अनिवार्य है। अतः पेस्ट बनाते समय इसे ध्यान में रखना आवश्यक है। छपाई में रँगाई की तरह रंग चढ़ाना मुख्य ध्येय होता है, अतः योग (recipe) ऐसा बनाना चाहिए जिससे निर्दिष्ट रेशे पर अपेक्षित रंग चढ़ जाय। योग में रासायनिक द्रव्यों की मात्रा कम या अधिक करना विशेषज्ञ के इच्छानुसार हो सकता है। एक रसायनक के अभाव में अन्य समगुणधर्मी रसायन द्रव्य लिया जा सकता है, परंतु मूल सिद्धांत यह है कि रंग की विलेयता, भंगुरता और उसके स्थायित्व आदि में अंतर नहीं आना चाहिए।

[वि० वि० ति०]

छबीलेराम नागर राजा उपाधिधारी गुजराती ब्राह्मण योद्धा जो पहले सुल्तान अज़ीमुश्शान के राज्य में तहसील का अधिकारी था। तत्पश्चात् कड़ा जहानाबाद का फौजदार नियुक्त हुआ। मुहम्मद फर्रुखसियर की ओर से जहाँदारशाह के विरुद्ध लड़ा। विजयी होने पर इसे पाँचहजारी मंसब के साथ राजा की पदवी और खालसा की दीवानी मिली। अपनी योग्यता के कारण कुछ दिन के बाद इसे राजधानी की सूबेदारी मिली और फिर इलाहाबाद का सूबेदार बना दिया गया। सन् १७१६ ई० में यह मर गया।

छांदोग्य उपनिषद् सामवेदीय छांदोग्य ब्राह्मण का औपनिषदिक भाग है जो प्राचीनतम दस उपनिषदों में नवम एवं सबसे बृहदाकार है। इसके आठ प्रपाठकों में प्रत्येक में एक अध्याय है जिसकी तालिका यह है :

अध्याय	खंड	मंत्र
१	१३	११३
२	२४	८१
३	१९	११०
४	१७	७९
५	२४	८९
६	१६	६९
७	२६	५०
८	१५	६२

ब्रह्मज्ञान के लिये प्रसिद्ध छांदोग्य उपनिषद् की परंपरा में अ० ८.१५ के अनुसार इसका प्रवचन ब्रह्मा ने प्रजापति को, प्रजापति ने मनु को और मनु ने अपने पुत्रों को किया जिनसे इसका जगत् में विस्तार हुआ। यह निरूपण बहुधा ब्रह्मविदों ने संवादात्मक रूप में किया। श्वेतकेतु और उद्दालक, श्वेतकेतु और प्रवाहण जैबलि, शालावत्य शिलक तथा चैकितायन दाल्भ्य और प्रवाहण जैबलि, सत्यकाम जाबाल और हारिद्रुमत गौतम, कामलायन उपकोसल और सत्यकाम जाबाल, औपमन्यवादि और अश्वपति कैकेय, नारद और सनत्कुमार, इंद्र और प्रजापति के संवादात्मक निरूपण उदाहरण सूचक हैं।

संन्यास प्रधान इस उपनिषद् का विषय ८-७-१ में उल्लिखित इंद्र को दिए गए प्रजापति के उपदेशानुसार अपाप, जरा-मृत्यु-शोकरहित, विजिघित्स, पिपासारहित, सत्यकाम, सत्यसंकल्प आत्मा की खोज तथा सम्यक् ज्ञान है।

संक्षेप में छांदोग्य उपनिषद् की मुख्य मान्यताएँ इस प्रकार हैं : सृष्टि के मूलारंभ में एक और अद्वितीय सत् था जिससे असत् की उत्पत्ति हुई। तैत्तरीय उपनिषद् में असत् से सत् की उत्पत्ति बतलाई गई है, किंतु शब्द वैभिन्य रहते पर भी दोनों के तात्पर्य समान हैं। इस सत् को ही 'ब्रह्म' कहते हैं जिसने एक से बहुत होने की इच्छा से सृष्टिरचना करके उसमें जीवरूप से प्रवेश किया। इस उपनिषद् में पंचतन्मात्रों अथवा पंचमहाभूतों का वर्णन नहीं आता बल्कि तेज, जल, और पृथ्वी इन मूल तत्वों के मिश्रण से विविध सृष्टि का निर्माण माना गया है।

समस्त सृष्टि नामरूपात्मक है; यहाँ तक कि अ० ७ में नारद को दिए गए सनत्कुमार के उपदेशानुसार चतुर्वेद, शास्त्र एवं विद्याएँ नाम रूपात्मक हैं, और इनके मूल में जो नित्य तत्व है वह ब्रह्म है जो वाणी, आशा, संकल्प, मन, बुद्धि और प्राण तथा अव्यक्त प्रकृति से भी परे अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है।

जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में विलीन होकर समुद्र हो जातीं और अपनी सत्ता को नहीं जानतीं, इस तथा अन्य दृष्टांतों से उद्दालक ने श्वेतकेतु को समझा दिया है कि सृष्टि के समस्त जीव आत्म-स्वरूप को भूले हुए हैं, वस्तुतः उनमें जो आत्मा है वह ब्रह्म ही है, और इस सिद्धांत को इस उपनिषद् के महावाक्य 'तत्वमसि' में वाग्बद्ध किया है (६-८-१६)।

३-१६-१७ के अनुसार मनुष्य का जीवन एक प्रकार का यज्ञ है जिसकी महत्ता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इस यज्ञविद्या का उपदेश घोर आंगिरस ने 'देवकीपुत्र कृष्ण' को किया। कुछ विद्वानों की धारणा है कि यह कृष्ण अवतारी भगवान् कृष्ण हैं।

३-१४-१ में पुरुष को क्रतुमय कहकर निश्चित किया गया है कि जिसका जैसा क्रतु (श्रद्धा) होता है मृत्यु के पश्चात् उसे वैसा ही फल मिलता है। जिन्हें ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ, ऐसे पुण्यकर्म करनेवाले देवयान और पितृयाण मार्गों से पुण्यलोकों को प्राप्त करते हैं किंतु आजीवन पापाचार करनेवाले तिर्यक् योनि में उत्पन्न होते हैं।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'आत्मैवेदं सर्वं', 'तत्वमसि' इत्यादि वाक्य अद्वैत का प्रतिपादन करते हैं।

ब्रह्मज्ञान के लिये नितांत आवश्यक ब्रह्मचिंतन के निमित्त चित्त की एकाग्रता अनिवार्य है जिसके लिये ब्रह्म निर्देशक ओंकार की एवं ब्रह्म के सगुण प्रतीक जैसे मन, प्राण, आकाश, वायु, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, सूर्य, अग्नि, रुद्र, आदित्य या मरुत और गायत्री इत्यादि की उपासना निर्दिष्ट की गई है।

सं० ग्रं०—शांकर भाष्य, माधवाचार्य की 'छांदोग्योपनिषद्दीपिका' तथा डॉ० गंगानाथ झा कृत अंगरेजी अनुवाद; एमिल सेनार्ट (Emile Senart): छांदोग्य उपनिषद् (संपादित, Traduite Et Annotee)। [चं० त्रि०]

छाता १. स्थिति : २७° २३′ से १७° ५६′ उ० अ० तथा ७७° १७′ से ७७° ४२′ पू० दे०। यह तहसील तथा नगर है। तहसील का क्षेत्रफल १,०५२ वर्ग किमी० है। इसमें १६२ ग्राम तथा दो नगर हैं। इसकी जनसंख्या १,७८,२४० (१९५१) थी।

२. नगर, स्थिति : २७° ४४′ उ० अ० तथा ७७° ३१′ पू० दे०। छाता तहसील का प्रशासनिक केंद्र है और आगरा से ६० किमी० की दूरी पर दिल्ली जानेवाली पक्की सड़क पर स्थित है। नगर की विशाल दुर्गाकार सराय, जो शेरशाह अथवा अकबर के शासनकाल की है, अपना विशेष स्थान रखती है। इसका क्षेत्रफल ४८५ हेक्टर है। इसकी चहारदीवारी में पत्थर के दो सिंहद्वार हैं। यहाँ की जनसंख्या ७,५१४ (१९५१) है। [आ० स्व० जी०]

छायावाद अंग्रेजी में जिसे रोमांटिसिज़्म कहते हैं, हिंदी में उसे छायावाद कहते हैं। यों हिंदी कविता में छायावाद का युग द्विवेदी युग के

बाद आया, किंतु उसका आरंभ द्विवेदी युग में ही हो गया था। उससे बहुत पहिले बँगला में रवींद्रनाथ की रचनाओं से छायावाद प्रतिष्ठित हो चुका था। सन् १९१३ में 'गीतांजलि' पर रवींद्रनाथ को नोबेल पुरस्कार मिलने के बाद उनका काव्यप्रभाव अखिल भारतीय आधुनिक साहित्य पर पड़ने लगा था, हिंदी साहित्य पर भी पड़ा। द्विवेदीयुग के प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त की 'झंकार' (सन्, १९१४-१७) देखने से ज्ञात होता है कि यत्र तत्र वे भी रवींद्रनाथ की प्रतिभा से प्रभावित हुए।

द्विवेदी युग में छायावाद के विशेष कवि सियारामशरण गुप्त और श्री मुकुटधर पांडेय हैं। सियारामशरण जी की प्रारंभिक पुस्तकों ('मौर्य-विजय' और 'अनाथ') के बाद की कवितापुस्तकों ('दूर्वादल', 'विषाद', 'पाथेय') में रवींद्रनाथ का काव्यप्रभाव परिलक्षित है। मुकुटधर जी की भी किन्हीं कविताओं में रवींद्रनाथ का प्रभाव है, किंतु शैली के 'टु ए स्काईलार्क' की याद दिलानेवाली उनकी 'कुररी के प्रति,' शीर्षक कविता देखने से ज्ञात होता है कि वे अंग्रेजी की उस रोमांटिक कविता से भी प्रेरित थे जिससे स्वयं रवींद्रनाथ भी प्रभावित थे। किशोरावस्था में उन्हें तुतलाता शैली कहा जाता था।

भारतेंदुयुग के बाद द्विवेदीयुग ने भाषा और छंद की नवीनता दी थी, द्विवेदीयुग के बाद छायावाद ने भाषा और छंद की नवीनता दी। यद्यपि रवींद्रनाथ उसके कलागुरु थे तथापि हिंदी का छायावाद-युग उन्हीं के प्रभाव तक सीमित नहीं रहा, उसने प्राचीन संस्कृत साहित्य (वेदों, उपनिषदों तथा कालिदास की रचनाओं) और मध्यकालीन हिंदी-साहित्य (भक्ति और शृंगार की कविताओं) से भी आदान लेकर आत्म-विस्तार किया। उसकी विस्तीर्णता में बौद्ध दर्शन और सूफी दर्शन का भी समावेश हो गया। रवींद्रनाथ ने भी ऐसा ही विशद काव्यानुष्ठान (काव्यसमन्वय) किया था। सभी भारतीय भाषाओं को प्राचीन वाङ्मय का उत्तराधिकार प्राप्त था, फलतः हिंदी में भी छायावाद का सांस्कृतिक और भावात्मक संबंध अतीत से स्थापित हो गया था। वह गतिशील था, अतएव अंग्रेजी की रोमांटिक कविता से भी उसका भावात्मक और कलात्मक संबंध जुड़ गया था। उसका हृदय उन्मुक्त था, स्वभावतः वह साहित्य में ही नहीं, जीवन में भी अनंत सृष्टि और असीम विश्व की ओर उन्मुख हो गया था। इसीलिये एक युग, एक दिशा और एक भाषा में आकर भी छायावाद सभी युगों, सभी देशों और सभी भाषाओं से एकात्म हो गया। जैसे सांप्रदायिक सीमाओं को तोड़कर उसने संस्कृति को आत्मसात् किया, वैसे ही साहित्यिक सीमाओं को तोड़कर सर्वानुभूति को स्वायत्त किया। इस तरह उसमें सभी युगों और सभी दिशाओं का उपादान एकसार हो गया। छायावादयुग उस सांस्कृतिक और साहित्यिक जागरण का सार्वभौम विकासकाल था जिसका आरंभ राष्ट्रीय परिधि में भारतेंदुयुग से हुआ था।

छायावाद की शब्दावली (प्रेम, मूक भाषण, अव्यक्त वेदना, इत्यादि) से सूचित होता है कि उसके भाव अतींद्रिय अथवा अनिर्वचनीय थे। उसके सामने भी सूरदास की तरह 'अविगत गति' (परोक्ष अनुभूति) को अभिव्यक्ति देने की समस्या थी। निर्गुण (रहस्यवाद) में केवल अविगत गति थी, किंतु छायावाद निर्गुण की तरह वीतराग नहीं, सगुण की तरह सानुराग था। वह हिंदी का नवीन सगुण काव्य था। मध्ययुग का सगुण 'अवतार' को लेकर चला था, छायावाद उस स्वात्म को लेकर अग्रसर हुआ था जिसे तुलसीदास ने 'स्वांतः' कहा है। कवि का स्वात्म वह 'चित्' है जो अपनी ही तरह निखिल सृष्टि को सचेतन रूप में उपलब्ध करता है। इसीलिये छायावाद ने प्रकृति को भी सजीव रूप में देखा। मध्ययुग के सगुण और शृंगार काव्य में प्रकृति केवल जड़ उपकरण है, उद्दीपन और अलंकरण का साधन है। छायावाद ने उसे अपना अंतःकरण देकर काव्य में एक विशेष भावात्मक सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित किया।

छायावाद का 'छाया' शब्द सूक्ष्मता का बोधक है। वह पंचभूतों को स्थूल रूप (वस्तुरूप) में नहीं ग्रहण करता। छायावाद के काव्य-जगत् के लिये भी कवि के शब्दों में यही कहा जा सकता है जो उसने अपने मनोजगत् ('छाया का देश') के लिये कहा है :

> यह छाया का देश, कल्पना का क्रीड़ास्थल,
> वस्तुजगत् अपना घनत्व खोकर इस जग में
> सूक्ष्म रूप धारण कर लेता, भावद्रवित हो।

कवि के केवल सूक्ष्म भावात्मक दर्शन का ही नहीं, 'छाया' से उसके सूक्ष्म कलाभिव्यंजन का भी परिचय मिलता है। उसकी काव्यकला में वाच्यार्थ की अपेक्षा लाक्षणिकता और ध्वन्यात्मकता है। अनुभूति की निगूढ़ता के कारण अस्फुटता भी है। शैली में राग की नवोद्‌बुद्धता अथवा नवीन व्यंजकता है।

द्विवेदी युग में कविता का ढाँचा पद्य का था। वस्तुतः गद्य का प्रबंध ही उसमें पद्य हो गया था, भाषा भी गद्यवत् हो गई थी। छायावाद ने पद्य का ढांचा तोड़कर खड़ी बोली को काव्यात्मक बना दिया। पद्य में स्थूल इतिवृत्त था, छायावाद के काव्य में भावात्मक अंतर्वृत्त था, छायावाद के काव्य में भावात्मक अंतर्वृत्त आ गया। भाव के अनुरूप ही छायावाद की भाषा और छंद भी रागात्मक और रसात्मक हो गया। ब्रजभाषा के बाद छायावाद द्वारा गीतकाव्य का पुनरुत्थान हुआ। छायावाद युग के प्रतिनिधि कवि हैं--प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, रामकुमार। पूर्वानुगामी सहयोगी हैं—माखनलाल और 'नवीन'।

गीतकाव्य के बाद छायावाद में भी महाकाव्य का निर्माण हुआ। तुलसीदास जैसे 'स्वांतः' को लेकर लोकसंग्रह के पथ पर अग्रसर हुए थे वैसे ही छायावाद के कवि भी 'स्वात्म' को लेकर एकांत के स्वगत जगत् से सार्वजनिक जगत् में अग्रसर हुए। प्रसाद की 'कामायनी' और पंत का 'लोकायतन' इसका प्रमाण है। 'कामायनी' सिंधु में बिंदु (एकांत अंतर्जगत्) की ओर है, 'लोकायतन' बिंदु में सिंधु (सार्वजनिक जगत्) की ओर। [शां० प्रि० द्वि०]

छाला और दाह भारत में प्रति वर्ष सहस्रों व्यक्ति दाह से मरते हैं और इससे बहुत अधिक संख्या में अपंग होकर समाज के भार बन जाते हैं। दाह रोग प्रायः असामान्य नहीं होता। शुष्क ऊष्मा से ऊतकोत्सर्ग, दाह और नम ऊष्मा से उत्पन्न छाला कहलाता है। गहराई और व्यापकता की दृष्टि से दाह विभिन्न प्रकार के होते हैं। व्यापकता के अनुसार दाह के वर्गीकरण के लिये प्रभावित क्षेत्र को समग्र देहपृष्ठ के प्रति शत में निरूपित करते हैं। आपातो कार्य के लिये 'नौ का नियम' सुविधाजनक है। तदनुसार 'सिर, गर्दन' और प्रत्येक ऊपरी सिरा समग्र देहपृष्ठ का नौ प्रति शत, सामने और पीछे का धड़ तथा प्रत्येक निचला सिरा १८ प्रति शत और मूलाधार एक प्रति शत होता है। एक अन्य नियमानुसार रोगी की फैली हुई हथेली समग्र शरीरपृष्ठ का एक प्रति शत होती है।

गहराई में दाह दो प्रकार के हैं, उत्तल और गहरा। उत्तल दाह में त्वचा प्रभावित तो होती है, किंतु विनष्ट नहीं होती। कुछ उपकला

कोशिकाएँ (Epithrehal cells) बची रहती हैं, जिनका स्वतः पुनर्जनन संभव है। गहरे दाह में दग्ध क्षेत्र के किसी स्थल के सभी स्वयं-पुनरुत्पादक उपकला कोशिकाओं का विनाश हो जाता है, अतः पुनर्जनन संभव नहीं होता। गहरे दाह के उपशमन के लिये दाहाक्रांत और मृत त्वचा का अपच्छेदन के पश्चात् त्वचा कलमन (skin grafting) द्वारा उस क्षेत्र का पुनः पृष्ठनिर्माण करते हैं।

दाह में दाहव्यापकता का निर्धारण भी बड़े महत्व का है, क्योंकि दाहोत्तर आघात (post burns shock) शरीरपृष्ठ के दाहाक्रांत क्षेत्र के अनुपात में उत्पन्न होता है। रुधिरवाहिकाएँ विस्तारित होती हैं, उनकी दीवारों की प्रवेश्यता बढ़ जाती है और अतिरिक्त रक्तधर ऊतकों (extra vascular tissues) में प्लाविका (plasma) और विद्युद्विश्लेष्य (electrolytes) निकलते हैं। प्लाविका की हानि से संचारी रुधिर आयतन का ह्रास होता है, जिसके परिणामस्वरूप मर्म अंगों में ऊतक ऑक्सीजनक्षीणता उत्पन्न हो जाती है और यदि शीघ्र अवमुक्त न किया जाय तो रोगी की मृत्यु तक हो सकती है। पीलापन, बेचैनी और प्यास आरंभी, असामान्य, रक्ताल्पता आघात (incipient oligaemic shock) के लक्षण हैं और इनमें से किसी एक का प्रकट होना अविलंब तरल प्रयोग को आवश्यकता का संकेत करता है। छाला और दाह के उपचार के मुख्य उद्देश्य तीन होते हैं : (१) पृष्ठीय दाह में तरल, लवणद्रव और प्लाविका का समान भागों में प्रयोग करके तथा गहरे दाह में प्लाविका, रुधिर और लवणद्रव के प्रयोग से रोगी के प्राणों की रक्षा करना, (२) रोगी को उपर्युक्त प्रतिजीवाणु पदार्थ देकर और उसे धुले या विसंक्रमित चादर में अवगुंठित करके संक्रमण रोकना और (३) समय रहते संक्रमण निरोध और त्वचाकलयन द्वारा पुनःपृष्ठनिर्माण करके अपकुंचन (contractures) और कीलायड जैसी जटिलताओं को न उत्पन्न होने देना।

पृष्ठीय परिचर्या का उद्देश्य शुष्क शीत पृष्ठ प्राप्त करके सूक्ष्माणुओं को उष्ण नम पर्यावरण से रहित करना है, ताकि उनका प्रचुरोद्भव हो सके। इसके लिये दाहाक्रांत क्षेत्र को खुला रखते हैं और ऐसा करना यदि अभीष्ट न हो तो उसे अवशोषी ड्रेसिंग से आवृत रखते हैं।

दस प्रति शत से अधिक के सभी गहरे रासायनिक और पृष्ठीय दाहों में यदि शल्य आघात की संभावना हो, तो रोगी को अविलंब अस्पताल ले जाना चाहिए।

पृष्ठीय दाह में, आघात के उपचार और रोगी के जीवन की रक्षा के पश्चात् संक्रमणनिरोध की समस्या तत्काल आती है। संक्रमणनिरोध होने पर अपने आप १४ से लेकर २१ दिनों तक में घाव भर जाता है। किंतु व्यापक रीति से इसका प्रयोग नहीं होता, क्योंकि गहरे दाह में यदि दाहाक्रांत त्वचा को निकाला न जाय तो घाव का भरना संभव नहीं। है। किसी दवा या व्यवसाय प्रतिजीवाणुओं के उपयोग से यह होने का नहीं। हमारे देश के अधिकांश भागों के वर्तमान अत्यंत असंतोषजनक दाह उपचार में सुधार तभी संभव है जब तर्कसंगत उपचार अपनाया जाय।

[र० ना० सिं०]

छिंदवाड़ा १. जिला यह मध्यप्रदेश में है। इसका क्षेत्रफल ४,५६५ वर्ग मील, जनसंख्या ७,८५,५३९ (१९६१) तथा जनसंख्या का प्रति वर्ग मील घनत्व १७२ व्यक्ति हैं। यह सतपुड़ा पठार पर स्थित है। सौंसर तहसील से उत्तर-पूर्व की ओर ऊँचाई बढ़ती है। कुछ चोटियाँ ३,६०० फुट ऊँची हैं। कन्हान और पेंच प्रमुख नदियाँ हैं। मिट्टी काली दोमट, लाल और पीली है। कपास एवं ज्वार सौंसर तहसील में होते हैं। पूर्व की ओर धान होता है। गेहूँ, ज्वार, कोदो, तिल, सनई अन्य कृषिपदार्थ हैं। पातन एवं सोंगी नगरधान यहाँ के प्रसिद्ध किले हैं। देवगढ़ में तालाबों और इमारतों के अवशेष हैं। कपास और टसर रेशम बुनना, यांत्रिक और धातु उद्योग, तेल मिल, आरा मशीन आदि प्रमुख उद्योग हैं। पेंच घाटी में कोयले का क्षेत्र है। यहाँ एक महाविद्यालय तथा कुछ स्कूल हैं।

२. तहसील, मध्यप्रदेश के छिंदवाड़ा जिले के उत्तरी भाग में स्थित है, जिसका क्षेत्रफल ३,५२८ वर्ग मील है। इसकी जनसंख्या ४,०६,८०३ (१९६१) है। तहसील में १,३६८ गाँव तथा छिंदवाड़ा नामक एक शहर है। भूरचना पठारी है और कहीं कहीं पहाड़ियाँ भी हैं। ज्वार और गेहूँ प्रमुख कृषिपदार्थ हैं। छिंदवाड़ा नगर में एक महाविद्यालय है।

३. नगर, स्थिति : २४° ४' उ० अ० तथा ७८° ५७' पू० दे०। यह मध्यप्रदेश का एक नगर, तहसील एवं जिला है। इसकी जनसंख्या ३७,२४४ (१९६१) है। इसकी समुद्र तल से ऊँचाई २,२०० फुट है। यह सतपुड़ा पठार पर स्थित, दक्षिण-पूर्व रेलवे की शाखा पर एक रेलवे स्टेशन है। बरतन बनाना, कपास तथा टसर रेशम बुनना, तेल की मिलें आदि यहाँ के प्रमुख उद्योग हैं। यहाँ एक महाविद्यालय तथा स्कूल भी हैं।

४. स्थिति : २३° २' उ० अ० तथा ७९° २८' पू० दे०। यह मध्यप्रदेश के नरसिंहपुर जिले का नगर है, जिसकी जनसंख्या ७,७४७ (१९६१) है। यह मध्य रेलवे पर बंबई से ५८३ मील दूर है। यह नगर सन् १८२४ में सर डब्ल्यू० स्लीमन द्वारा स्थापित किया गया था। प्रति सप्ताह यहाँ पशुओं का बाजार लगता है। यहाँ सूत कातने की एक फैक्टरी भी है।

[सै० मु० अ०]

इतिहास — प्राचीन इतिहास अंधकारपूर्ण होने के कारण १७वीं शताब्दी तक प्रायः अज्ञात रहा है। किंवदंतियों के अनुसार कुमारीपुत्र जाटवा ने अपने वीरतापूर्ण साहस से गावली राज्य का अंत कर गोंड राज्य की स्थापना की और कुछ किले बनाए थे। १७वीं शताब्दी के अंत में देवगढ़ के राजा बख्तबुलंद ने, जो अपने पराक्रम से दिल्ली का कृपापात्र था, छिंदवाड़ा पर शासन किया। इसके पश्चात् रघुजी भोंसले ने इसपर अधिकार कर लिया। आगे मराठी सत्ता के दुर्बल होने पर गोंडों ने इसे कई बार लूटा। १८ वीं शताब्दी के अंत तक मराठी राजा अप्पा साहब को हटाकर इस्ट ईस्ट इंडिया कंपनी ने अधिकार किया और १८५३ में यह अंग्रेजी राज्य का अंग हो गया।

छिंदविन उत्तरी बर्मा के सागइंग मंडल (Division) में नदी है, जो इरावदी की मुख्य सहायक है। यह लगभग ८८५ किमी० लंबी है। छिंदविन नदी तनाई (Tanai), तावान (Tawan) और तारुन (Taron) नदियों के मिलने से बनी है। किंतु इनमें से कौन मुख्य धारा है, यह संदेहास्पद है।

इन नदियों के स्रोत हूकांग (Hukawng) घाटी के पार्श्ववर्ती पहाड़ों में हैं। सिंजिन नगर के निकट छिंदविन पूर्ववाहिनी हो जाती है, परंतु कुछ ही दूर बाद पुनः दक्षिण-पूर्व की ओर बहने लगती है और कानी, अलोन तथा मोनिवा नामक नगरों से होती हुई इरावदी में मिल जाती है। मुहाने से लगभग ३२२ किमी० दूर किंडार नगर के पास तक नदी वर्ष भर नौपरिवहनीय रहती है और बाढ़ की अवस्था में नौकाएँ २०९ किमी० ऊपर होमालिन नगर तक चलती हैं।

२. उच्च (upper), निम्न (Lower) उच्च बर्मा के सागाइंग (Sagaing) मंडल के दो जिले हैं, जिनमें उच्च छिंदविन बर्मा के जिलों में सबसे बड़ा है। इसका क्षेत्रफल ४१,५३६ वर्ग किमी० है। निम्न छिंदविन, जिसका क्षेत्रफल ६,०१३ वर्ग किमी० है, इससे दक्षिण में स्थित है।

उच्च – यह भूभाग विशेष रूप से पहाड़ी है। छिंदविन नदी, जो जिले में उत्तर से दक्षिण प्रवाहित होती है और जिसकी मुख्य सहायक ऊयू (Uyu) है, क्षेत्रीय पर्वतों को दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित करती है, जो इस नदी के पूर्व एवं पश्चिम में स्थित हैं। उत्तर-पश्चिम में बर्मा का सर्वोच्च पर्वतशिखर सारामेटी (Sarameti) अथवा नेमाकटांग (Nwemauktaung) स्थित है, जो ३८२६ मी० ऊँचा तथा पर्वतशृंखलाओं के उस संघटन में है, जो बर्मा को भारत के असम राज्य से अलग करता है। नदियों एवं पर्वतश्रेणियों के कारण अधिकांश जिला, विशेषकर दक्षिणी भाग प्राकृतिक सौंदर्य में अपूर्व है। प्रचुर मात्रा में वर्षा (२७-२२८ सेंमी० वार्षिक) होने के कारण वनों की अधिकता है, जिनसे इमारती लकड़ी, विशेषकर सागौन (Teak), प्राप्त होती है। विभिन्न प्रकार के बाँसों की भी अधिकता है। पहाड़ी भागों तथा घाटियों की प्रमुख उपज धान है। इसके अतिरिक्त कुछ चाय भी उत्पन्न होती है। पहाड़ी क्षेत्र होने के कारण जनसंख्या केवल २,१०,००० है।

निम्न — छिंदविन नदी उच्च छिंदविन से आकर इस जिले में उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व में बहती है और इसको लगभग दो समान भागों में विभाजित करती है। पश्चिम में पोंडांग (Pondaung) पर्वतश्रेणियाँ, जो सामान्यतः १,२२० मीटर ऊँची हैं, उत्तर से दक्षिण को फैली हुई हैं। इन श्रेणियों के पूर्व में तथा छिंदविन नदी के पश्चिम महाडांग (Mahadaung) शृंखला है, जिसका सर्वोच्च शिखर ७०२·३ मीटर ऊँचा है। छिंदविन नदी का पूर्वी क्षेत्र विषम धरातलीय है, जिसको वेग्वेदांग (Nwegwadaung) की निम्न पहाड़ी शृंखला विभाजित करती है। उच्च छिंदविन की अपेक्षा यह जिला शुष्क है, परंतु वर्षा की मात्रा उत्तर की ओर उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। शुष्कता के कारण मुख्य उपज ज्वार है। इसके अतिरिक्त यहाँ तिल तथा धान की भी खेती होती है। यहाँ की जनसंख्या ४,२८,००० है। दक्षिण का समतल भाग अधिक घना बसा है। [आ० स्व० जौ०]

छिद्रक (Punch) शीघ्रातिशीघ्र छेद करने के लिये छिद्रक का उपयोग होता है। कागज, दफ्ती, चमड़ा, कपड़ा तथा टिन, लोहा इत्यादि धातुओं मे छेद करने के लिये पृथक् पृथक् छिद्रक होते हैं। धातु में छेद करने का छिद्रक (punch) मोटी नोक युक्त एक छोटा सा मजबूत औजार होता है, जिससे बलपूर्वक दबाकर या ठोंककर धातु की किसी पट्टिका इत्यादि में छेद कर दिया जाता है। छेद की आकृति छिद्रक की नोंक के अनुरूप ही होती है, जबकि बरमे से सदैव गोल छेद ही बन सकता है। पतली चीजों में छोटे छेद करने का काम छिद्रक पर हथौड़े या घन की चोट लगाकर किया जाता है। जब बहुत अधिक मात्रा में छेद बनाने, अथवा मोटी चीजों में छेद करने, होते हैं तब छिद्रक को दबाने का काम यंत्रों द्वारा किया जाता है, जो लीवर (lever), पेंचों की दाब या किरों द्वारा चलाए जाते है। किर्रे युक्त यंत्र पट्टे द्वारा और प्लंजर युक्त यंत्र द्रव शक्ति से भी चलाए जाते हैं।

चित्र १. (क) में प्रदर्शित छिद्रक साधारण हथौड़े से ठोंका जाता है; यह बहुत छोटे कामों के लिये उपयुक्त है।

चित्र १. (ख) मूठयुक्त छिद्रक का है, जिसे एक आदमी हाथ से थामे रहता है और दूसरा घन चलाकर उसपर चोट लगाता है। इससे छेद की जानेवाली वस्तु को निहाई के छेद पर रखना आवश्यक होता है। इस छिद्रक का उपयोग गरम लोहे में छेद करने के लिये ही
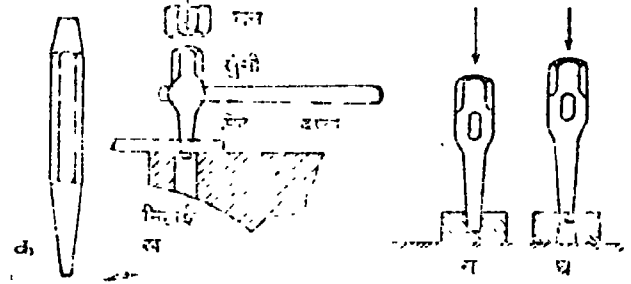
चित्र १.

किया जाता है। छेद करते समय आधी गहराई तो एक तरफ से, शेष आधी गहराई उस वस्तु को पलटकर दूसरी तरफ से बनानी होती है, जैसा आकृति (ग) और (घ) में दिखाया गया है।

चित्र २. में यंत्रों में लगाए जानेवाले छिद्रकों की पाँच प्रकार की आकृतियाँ दिखाई गई हैं। आकृति २ (क) में दिखाया गया है कि
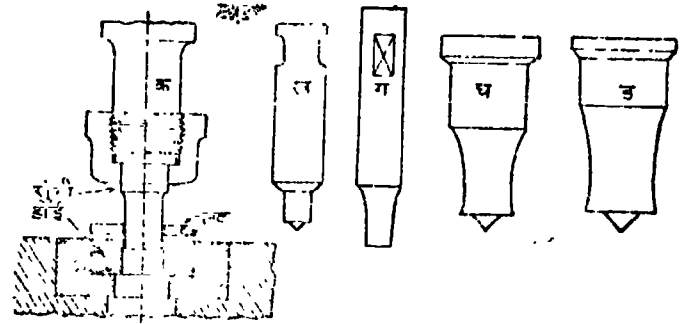
चित्र २.

छिद्रक को यंत्र के शीर्ष में विविध अवयवों सहित कैसे बाँधा जाता है।

चित्र ३. में स्थायी प्रकार का पट्टों द्वारा चालित तथा किर्रीयुक्त यंत्र दिखाया है, जिसके लीवर को पैर से दबाते ही छिद्रक नीचे उतरकर
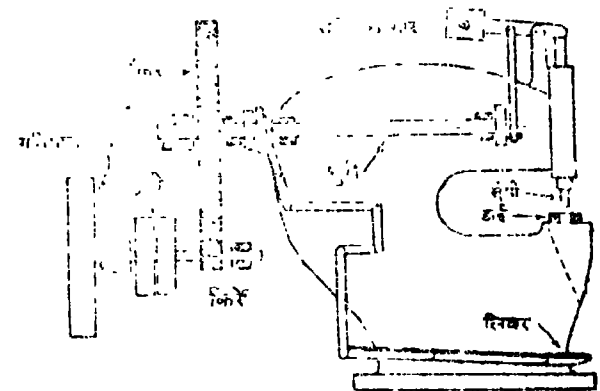
चित्र ३.

छेद कर देता है। इस यंत्र में पट्टे के अतिरिक्त धुरी पर लगे गतिपालक चक्र द्वारा भी छिद्रक को छेद करने की शक्ति मिलती है।

छिद्रकों को भारतीय मानक विशिष्टि सं० एम /१३ (M/13) वर्ग ई (E) में वर्णित कार्बन इस्पात से बनाना चाहिए, जिसमें कार्बन ०·७५ से ०·८५%, मैंगनीज़ ०·४%, गंधक ०·०३५%, फॉस्फोरस ०·०३५% और सिलिका ०·२०% से अधिक नहीं होनी चाहिए। ब्रिनेल कठोरता (Brinell hardness) २१२ से २४८ अंक तक होनी चाहिए। इस इस्पात का सामान्यीकरण (normalising) ताप ४५४° सें० तथा तापानुशीतन (annealing) ताप ४३२° सें० होता है। छिद्रक को कठोरीकरण (hardening) के लिये ४३२° सें० तक गरम करके पानी में बुझाया जाता है। इसके पश्चात् मृदुकरण (tempering) करने के लिये छिद्रक को ७२६° सें० तक गरम करने के बाद २५५° सें० ताप तक ठंढा करना चाहिए, अर्थात् उसकी सतह पर जब कत्थई रंग दिखने लगे तब उसे तेल में बुझा देना चाहिए। [ओं० ना० श०]

छिपकली (Gecko or House Lizard) यह जंतुश्रेणी सरीसृपों के उपगण गोधा के गेकोनिडी (Gekkonidae) वंश की एक सदस्य है। मनुष्य छिपकलियों से अति प्राचीन काल से परिचित है और इनका वर्ग सारे संसार में अतीत काल से विद्यमान है। आज के विश्व में जीवित सरटों (गोधा) में छिपकलियाँ प्राचीनतम हैं। संसार के शीतप्रधान और समशीतोष्ण भागों को छोड़कर अन्य सब स्थानों में ये पाई जाती हैं। इनके जीवाश्म आज तक संसार में कहीं प्राप्त नहीं हुए हैं। इनकी प्रायः ५० जातियाँ और ३०० उपजातियाँ संसार में पाई जाती हैं। इनका वर्गीकरण केवल अंगुलियों की आकृति और बनावट पर किया गया है।

छिपकलियों में चार पैर, अचल पुतलियोंवाली आँखें तथा जिह्वा माँसल, चौड़ी तथा आगे को थोड़ी कटी और बाहर निकलनेवाली होती
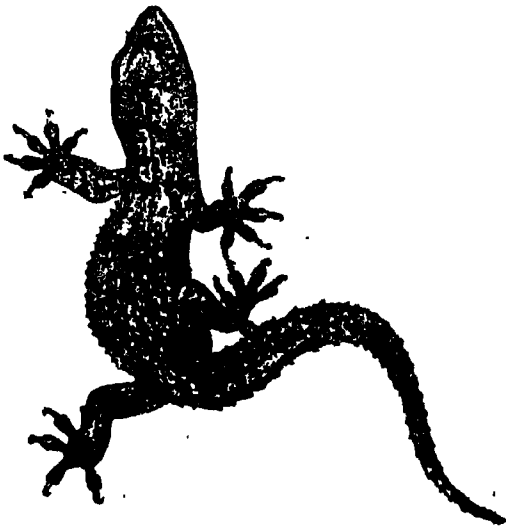
छिपकली।

है। सारी जिह्वा पर अंकुरक (papillae) होते हैं। शरीर कोमल, दानेदार झिल्ली से ढका रहता है और कभी कभी छत्रप्रांत (imbricate) शल्क भी होते हैं। ये शल्क सिर पर अधिक बड़े होते हैं।

अधिकतर छिपकलियों में चिपकनेवाली अंगुलियाँ होती हैं, जिनकी सहायता से ये चिकनी से चिकनी सतहों, छतों आदि पर चढ़ और चल सकती हैं। इनकी पटलिकाओं पर छोटे छोटे रोएँ रहते हैं, जिनके कारण ये असमान सतहों पर भी चल लेती हैं। पंजे की अंतिम अंगुलास्थि मजबूत पृष्ठीय-प्रति-पृष्ठीय चौड़ी, पार्श्व में दबी हुई होती है और सिरे पर चोंच की तरह पतली हो जाती है। इसकी स्थिति और पंजे के चारों ओर फैले रहने के कारण सूक्ष्म सुई के समान नख

छिपकली के पंजे।
क. ऊपरी सतह; ख. निचली सतह।

सतह को अलग अलग दिशाओं से जकड़ लेते हैं। नखों के मुड़े रहने के कारण, शरीर का भार एक बिंदु पर केंद्रित होने के स्थान पर विभाजित हो जाता है। मरी हुई छिपकलियाँ भी इस प्रकार चिपकी रहती हैं। जब किसी सतह पर पानी डाल दिया जाता है या जाइलीन (xylene) से साफ कर दिया जाता है, तब छिपकली उसपर चिपक या चल नहीं सकती है।

अनेक देशों में यह भ्रमात्मक धारणा प्रचलित है कि छिपकली भयावह और विषैली होती है। तथ्य इसके बिलकुल विपरीत है। इसके शरीर में न तो किसी प्रकार का विष होता है, न यह काटकर पीड़ादायक घाव ही कर सकती है। यह पूर्णतः निरापद और सीधा प्राणी है।

छिपकली की पूँछ इसके शरीर का महत्वपूर्ण अंग है। केवल छूने मात्र पर ही यह अपनी पूँछ को त्याग सकती है। पूँछ शरीर से अलग होने के बाद भी अधिक समय तक हिलती रहती है और शत्रु को भ्रम होता है कि छिपकली उसके अधीन या सामने है। कटी पूँछ की पुनः उत्पत्ति हो जाती है, क्योंकि पूँछ की कशेरुकाओं में अनुप्रस्थ विभाजन होता है। प्रत्येक कशेरुका में एक आगे का और एक पीछे का भाग होता है और पूँछ इस विभाजन के स्थान पर ही टूटती है। शरीर से पूर्ण पूँछ कभी भी अलग नहीं होती। अतः कशेरुका के आगे शरीर से जुड़े भाग से पूँछ की फिर से रचना हो जाती है और नई पूँछ उत्पन्न हो जाती है। नई पूँछ के बनने में प्रायः दो तीन मास लग जाते हैं। नई पूँछ पहली पूँछ से छोटी होती है। कभी कभी अपूर्ण विभंग के कारण घाववाले स्थान से एक नई पूँछ उत्पन्न हो जाती है और पहलेवाली पूँछ का घाव भर जाता है। इस प्रकार दो पूँछें बन जाती हैं। यही नहीं तीन पूँछवाली छिपकलियाँ तक देखी गई हैं।

छिपकली की त्वचा साधारणतः ऊपर से चिकनी होती है और उसपर छोटे छोटे कणिकाशल्क होते हैं। उनपर छोटे छोटे कठोरीकृत शल्क होते हैं। ये सिर पर सबसे अधिक होते हैं और प्रायः सिर की हड्डियों से जुड़े रहते हैं। समय समय पर छिपकली अपनी त्वचा का परित्याग करती रहती है, जिसे वह स्वयं खा जाती है। टॅरेनटोला (Tarentola) नाम की छिपकली की कुछ उपजातियों में सुपरा ऑरबिटल (supra orbital) हड्डी आँख के ऊपर निकली रहती है। नीचे की सतह साधारणतः छोटे छत्रप्रांत शल्कों से ढकी रहती है। होमोफोलिस (Homopholis) नाम की छिपकली में नीचेवाले शल्क ऊपर तक रहते हैं और टेराटोस्किंकस (Teratoscincus) में ये सबसे अधिक रहते हैं। टाईकोज़ून (Ptychozoon) की तरह की

कुछ जातियों में शरीर और पूँछ के दोनों तरफ की त्वचा पिंडक और पल्लव की तरह को माला के समान बढ़ी रहती है और चिपकने में सहायक होती है। अधिकतर छिपकलियों के कान में अंतर्लसीकी कोश (endolymphatic sacs) होते हैं, जिनमें खड़िया के समान सफेद दानेदार ओटोलिथ (otolith) भरे रहते हैं। ये अंडों के लिये कैल्सियम प्रदान करते हैं और गर्भवती छिपकलियों में बढ़ जाते हैं, फिर छोटे हो जाते हैं। साधारणतः छिपकलियाँ दिन में निष्क्रिय होती हैं, क्योंकि संसार की तीन चौथाई छिपकलियाँ निशाचरी होती हैं। दिन में विचरण करनेवाली छिपकलियों की आँख की पुतलियाँ गोल होती हैं और इनमें कोई विशेषता नहीं होती, परंतु निशाचरी जातियों में दृष्टिपटल कोशिकाओं (retinal cells) के प्रकार में अंतर होता है। इनमें खात (fovea) नहीं होती। कुछ में बिल्ली के समान चिकनी पार्श्व की पुतलियाँ होती हैं। कुछ में दोनों तरफ की पुतलियों के तट पालित होते है तथा कुछ में प्रत्येक पुतली के तट के मध्य में वर्धन होता है। निशाचरी जातियों में भी दिन में थोड़ी बहुत क्रियाशीलता रहती है और कम गरम दिनों में, या छायादार स्थानों पर, ये दिन में भी अपना आहार ढूढ लेती हैं। ये अधिक काल तक बिना भोजन के रह सकती हैं। अधिकतर छिपकलियाँ मांसाहारी होती हैं और प्रायः शलभों, झींगुरों, तेलचट्टों और अन्य कीट पतंगों को खाती हैं, परंतु इनकी बड़ी जातियाँ जो कुछ भी आसानी से पकड़ पाती हैं उसे खा जाती हैं। यहाँ तक कि शतपद (centipede) को भी ये खा जाती हैं। ये अपनी जीभ को लपलपाकर चावल और शक्कर भी खा लेती हैं। जीभ से ही पानी भी पीती हैं और एक बार में पर्याप्त जल ग्रहण कर लेती हैं। जब कोई शिकार युद्ध का प्रयास करता है, तब छिपकली अपने मुँह से उसे बार बार दीवार पर पटक कर शांत कर देती है। छिपकली के दाँत छोटे और बहुसंख्यक होते हैं और बहुत पास पास बेलनाकार ईषा और अधिक विंदुओं पर लगे रहते हैं। नए दाँत पुराने दाँतों के आधारों को खोखला करके बाहर निकाल देते हैं।

प्रायः सब छिपकलियाँ अंडज होती हैं। केवल न्यूज़ीलैंड की हॉप्लोडैक्टीलस (Hoplodactylus) तथा नॉल्टिनस (Naultinus) नाम की छिपकलियाँ जरायुज हैं। एक बार में एक छिपकली प्रायः दो अंडे देती है। बहुत सी छिपकलियाँ एक स्थान पर बहुत से अंडे देती है। १८६ अंडे तक एक खिड़की पर चीन में मिले हैं। अंडे देने के बाद नर और मादा इन्हें छोड़कर चले जाते हैं। अंडे गोल या अंडाकार होते हैं। इनका खोल कैल्सियम लवण का होता है। जब अंडे रखे जाते हैं तब ये मुलायम होते हैं और गोंद के समान लसदार पदार्थ में सने रहते हैं, जिसके कारण वे सूखे स्थान पर आपस में और चिपक जाते है। चिपकने के बाद हवा लगने पर अंडे कड़े हो जाते हैं। डिंबपोषण अवधि कई मास की होती हैं। अंडे से निकलने पर छिपकली के बच्चे अपनी त्वचा का परित्याग करके प्रायः उसे खा जाते हैं।

संसार की प्रायः आधी, अर्थात् २८ जातियाँ, भारत में मिलती हैं। इनकी केवल ८५ उपजातियाँ ही भारतीय हैं। दक्षिणी यूरोप, दक्षिणी एशिया, अफ्रीका और अमरीका में हेमिडैक्टाइलस (Hemidactylus) की ६० से अधिक उपजातियाँ पाई जाती हैं, जिनमें से २८ भारतीय हैं। एच० ब्रूकी (H. Brooki) भारत की सर्वसाधारण घरेलू छिपकली है और यह लंका, आधे उत्तरी अमरीका और पश्चिमी इंडीज में भी मिलती है। इसका शरीर ५८ और पूँछ ७५ मिलीमीटर लंबी होती है। इसके नरों में फेमोरल (femoral) तथा प्रीऐनल (preanal) छिद्र होते हैं। दूसरी साधारण छिपकली गेको (Gecko) है। यह दक्षिण-पूर्वी एशिया की बड़ी जाति है। इसकी तेज आवाज के कारण इसका नाम और छिपकली वंश का नाम पड़ा है।

मैडागास्कर तथा हिंद महासागर के द्वीपों की फेलसूमा (Phelsuma) छिपकली हरे रंग के सिर वाली होती है। इसके शरीर पर लाल चित्तियाँ होती हैं। पूँछ चपटी होती है। यह दिवाचरी है। मलाया में बच्चे के जन्म पर छिपकली के बोलने पर उसका जीवन सुखपूर्ण माना जाता है। टाइकोज़ून (Ptychozoon) एक प्राच्य छिपकली है। इसके नाम का अर्थ "झालर जीव" है, क्योंकि इसके शरीर के पार्श्व भाग पर एक पतली झालर सी होती है। इस झालर की सहायता से वह आपत्ति काल में अपने को बचा लेती है। यह अपने पैरों और पूँछ को तानकर झालर को चारों तरफ फैला देती है और छतरी के समान बन जाती है, जिसके कारण काफी ऊँचाई पर से पृथ्वी पर सुगमता से कूद जाती है।

उत्तरी अमरीका, स्पेन, तथा भूमध्यसागरीय अन्य देशों में पाई जानेवाली छिपकली टारेंटोला मॉरिटेनिका (Tarentola mauritanica) दिवाचरी, भित्ति जाति की है। ये जहाजों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँच गई हैं।

दक्षिणी अमरीका की वॉलसौरस (Wallsaurus) एवं पत्तों के समान पूँछ वाली छिपकली जिम्नोडैक्टीलस (Gymnodactylus) के पदों में चिपकनशील उपबर्हं नहीं होते। मध्य और दक्षिणी अमरीका की सबसे बड़ी छिपकली थीकाडैक्टीलस रैपिकैंडस (Thecadactylus rapicandus) छः इंच से अधिक लंबी होती है।

पश्चिमी भारत की पीली छिपकली गोनाटोडिस फुस्कस (Gonatodes fuscus) तथा मटमैली छिपकली स्फीरोडैक्टीलस (Sphaerodactylus) अफ्रीका तक में मिलती है।

फारस की छिपकली अगैमूरा (Agamura) में चूहों के समान लंबी पूँछ होती है, जो न तो आसानी से टूटती है न पुनः उत्पन्न होती है।

तुर्किस्तान तथा फारस की रेगिस्तानी जाति की छिपकली टेराटोस्किंकस (Teratoscincus) तथा मिस्र की स्टेनोडैक्टोलस (Stenodactlyus) में चिपकनशील पटलिकाएँ नहीं होती हैं, परंतु निचला हिस्सा दानेदार होता है, जो रेगिस्तानी जीवन के लिये अनुकूल है। शरीर छत्रप्रांत शल्कों से ढका रहता है। टेराटोस्किंकस के नर और मादा दोनों में पूँछ के ऊपर बड़े नाखून के समान, अनुप्रस्थ रोपणमालाएँ होती हैं, जिन्हें आपस में रगड़कर ये झींगुरों के समान ध्वनि उत्पन्न करते हैं।

सं० ग्रं० — जगपति चतुर्वेदी : संसार के सरीसृप, १९३७, किताब महल, इलाहाबाद; शिमट और इंगर : लिविंग रेप्टाइल्स ऑव दि वर्ल्ड (१९५७); महेंद्र : प्रोसिडिंग्स ऑव इंडियन ऐकेडेमी ऑव सायंसेज १३ (५) २८८— ३०६ (१९४१)।

[रा० शं० टं०]

छिबरामऊ १. तहसील एवं नगर, उत्तर प्रदेश (राज्य) के फर्रुखाबाद जिले में है। तहसील का क्षेत्रफल १८० वर्ग किमी० है। इसमें ४८५ ग्राम तथा दो नगर हैं।

२. नगर, स्थिति : २७° १' उ० अ० तथा ७९° ३१' पू० दे०। छिबरामऊ तहसील का प्रशासनिक केंद्र है। यह ग्रैंड ट्रंक रोड के किनारे बसा है और एक अन्य सड़क द्वारा फर्रुखाबाद नगर से भी मिला हुआ है। नगर बहुत प्राचीन है। अकबर के शासनकाल में यह परगने का केंद्र था। २०वीं शताब्दी के प्रारंभिक ६० वर्षों में इसकी जनसंख्या में ६५% से अधिक वृद्धि हुई है। वर्तमान जनसंख्या १०,७११ (१९६१) है। [श्या० स्व० जौ०]

छीतस्वामी श्री गोकुलनाथ जी (प्रसिद्ध पुष्टिमार्ग के आचार्य ज० सं० १६०८ वि०) कथित दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता के अनुसार अष्टछाप के भक्त कवियों में सुगायक एवं गुरु गोविंद में तनिक भी अंतर न माननेवाले 'श्रीमद्वल्लभाचार्य' (सं० १५३५ वि०) के द्वितीय पुत्र गो० श्री विट्ठलनाथ जी (ज० सं०—१५७२ वि०) के शिष्य थे। जन्म अनुमानतः सं०—१५७२ वि० के आसपास 'मथुरा' यत्र सन्निहितो हरिः (श्रीमद्भागवत : १०. १. २८) में माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण के एक संपन्न परिवार में हुआ था। उनके माता पिता का नाम बहुत खोज करने के बाद आज तक नहीं जाना जा सका है। 'स्वामी' पदवी उनको गो० विट्ठलनाथ जी ने दी, जो आज तक आपके वंशजों के साथ जुड़ती हुई चली आ रही है।

छीतस्वामी का इतवृत्त भक्तमाल जैसे भक्त-गुण-गायक ग्रंथों में नहीं मिलता। श्री गोकुलनाथकृत वार्ता, उसकी 'हरिराय जी (सं०—१६४७ वि०) कृत टीका—'भावप्रकाश,' प्राणनाथ कवि (समय—अज्ञात) कृत 'संप्रदाय कल्पद्रुम,' एवं श्रीनाथभट्ट (समय-अज्ञात) कृत' संस्कृत वार्ता-मणि-माला, आदि ग्रंथों में ही मिलता है।

छीतस्वामी एक अच्छे सुकवि, निपुण संगीतज्ञ तथा गुणग्राही व्यक्ति थे। 'संप्रदायकल्पद्रुम' के अनुसार यह समय (सं० १५९२ वि०) मथुरापुरी से नातिदूर नए बसे 'गोकुल' ग्राम में गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ के समृद्ध रूप में विराजने का तथा स्वपुष्टिसंप्रदाय के नाना लोकरंजक रूपों और सुंदर सिद्धांतों को सजाने सँवारने का था। श्री गोस्वामी जी के प्रति अनेक अतिरंजक बातें मथुरा में सुनकर और उनकी परीक्षा लेने जैसी मनोवृत्ति बनाकर एक दिन छीतस्वामी अपने दो चार साथियों को लेकर, जिन्हें 'वार्ता' में गुंडा कहा गया है, गोकुल पहुँचे और साथियों को बाहर ही बैठाकर अकेले खोटा रुपया तथा थोथा नारियल ले वहाँ गए जहाँ गोस्वामी विट्ठलनाथ जी अपने ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी (जं० सं० १५९७ वि०) के साथ स्वसंप्रदाय संबंधी अंतरंग बातें कर रहे थे। छीतू गोस्वामी जी तथा गिरिधर जी का दर्शनीय भव्य स्वरूप देखकर स्तब्ध रह गए और मन में सोचने लगे, 'बड़ी भूल की जो आपकी परीक्षा लेने के बहाने मसखरी करने यहाँ आया। अरे, ये साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम हैं—'जेई तेई, तेई, एई कछु न संदेह' (छीतस्वामी कृत एक पद का अंश), अतः मुझे धिक्कार है, धिक्कार है। अरे इन्हीं से तू कुटिलता करने आया ? छीतू चौबे इस प्रकार मन ही मन पछतावा कर ही रहे थे कि एकाएक गोस्वामी जी ने इन्हें बाहर दरवाजे के पास खड़ा देखकर बिना किसी पूर्व जान पहचान के कहा 'अरे, छीतस्वामी जी, बाहर क्यों खड़े हो, भीतर आओ, बहुत दिनन में दीखे।' छीतू चौबे, इस प्रकार अपना मानसहित नाम सुनकर और भी द्रवित हुए तथा तत्काल भीतर जाकर दोनों हाथ जोड़कर तथा साष्टांग प्रणाम कर अर्ज की, "जैराज, मोहिं सरन में लेउ, मैं मन में मौत कुटिलता लैके यहाँ आयो हो सो सब आपके दरसनन ते भाजि गई। अब मैं आपके हाथ बिकानौं हौं, जो चाँहों सो करौ।" गोस्वामी जी ने 'छीतू' जी के मुख से ये निष्कपट भावभरे वचन सुने और अपने प्रति उनका यह प्रेमभाव देख उनसे कहा—" अच्छौ, अच्छौ, आगे (भीतर) आओ—।" तथा उठाकर उन्हें गले लगाया, पास में बड़े प्रेम से उन्हें बैठाया। तत्पश्चात् अपने पूजित भगवद्विग्रह के पास ले जाकर उन्हें नाममंत्र सुनाओ।" नाममंत्र सुनते ही 'छीतू' जी ने तत्क्षण एक 'पद' की रचना कर बड़े गद्गद स्वरों में गाया, जो इस प्रकार है :

> भई अब गिरिधर सों पैहचान।
> कपट रूप धरि छल के आयौ, परषोतम नहिं जान॥
> छोटो बड़ो कछु नहिं देख्यौ, छाइ रह्यौ अभिमान।
> 'छीतस्वामि' देखत अपनायौ, विट्ठल कृपा निधान॥'

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (सं० २) में लिखा हुआ है कि एक बार छीत स्वामी अपने यजमान महाराज बीरबल (ज० सं०—१६३२, या १६४० वि०) के पास अपनी 'बरसौड़ो' (सालाना चंदा) लेने आगरा गए और उनके यहाँ ठहरे। प्रात समय सोकर जब वे उठे श्रीवल्लभाचार्य का नामस्मरण किया। बाद में देवगंधार राग में स्वरचित एक पद गाया जिसके बोल हैं—"श्रीवल्लभ राजकुमार। नहिं मिति नाथ कहाँ लौं बरनौं, अगनित गुन-गन-सार, 'छीतस्वामि' गिरिधर श्री विट्ठल प्रगट कृष्ण औतार।' अतः महाराज बीरबल ने पद सुना और आपकी गायकी और संगीततरक ज्ञान की मधुर अभिव्यक्ति पर मुग्ध हो गए, पर मन मे डरे कि 'कहूँ याहि देशाधिपति (अकबर) सुन लेगें तो अपने मन में कहा कहैगौ।' इधर छीतस्वामी शैया से उठ श्री यमुनास्नान करने चले गए। वहाँ से लौटकर आए। पास के श्री ठाकुर जी (मूर्ति) को जगाया, सेवा की और भोगसामग्री सिद्ध कर प्रभु को समर्पण की। बाद में फिर स्वरचित एक कीर्तन पद गाने लगे। बीरबल को यह सब आपका कृत्य अच्छा न लगा। अतः उन्होंने बड़े ही नम्रभाव से छीत स्वामी से कहा—"आपने सबेरें और या समैं जो पद गाए, उन्हें (यदि) म्लेच्छ देशाधिपति सुनि लेइ और मोते पूँछै—तो मैं कहा उतर देउंगो, सो ऐसौ न करौ तो अच्छौ है।" यै सुनिकैं छीतस्वामी बीरबल से बोले—"राजा, देसाधिपति म्लेच्छ सुनैगो और पूँछैगो जब की बात या समैं तुम पूंछ रहे हौ, सो तुम्हूँ म्लेच्छ जैसे ही मोंहि दीख रहे हौ, सो अब आज ते मैं तेरो मुख नाहीं देखौंगो।" छीतस्वामी बीरबल से यह कह और अपना सामान बाँध तथा सालाना बरसासन छोड़ मथुरा वापिस चले आए, फिर गोकुल गोस्वामी जी के पास चले गए। उधर बादशाह अकबर ने किसी प्रकार यह सब—छीतस्वामी का आना और अपना सालाना बरसासन छोड़कर चले जाना, सुना। उन्होंने बीरबल को पास बुलाया और समझाते हुए कहा—'जो बीरबल, तेरे पिरोहित छीतस्वामी ने तोसे कछू झूठी बात तौ कही नहीं, तुमकों वौ बात भूलि गई जब मैं और तू एक 'नवाड़ा (नाव—किश्ती) में बैठे जमना की सैर कर रहे हे। जब नवाड़ा गोकुल पोंहचौ देखी गो० विट्ठलनाथजी 'ठकुरानी घाट' पै जमना किनारें बैठे आँख मींचे ध्यान में बैठे हैं। मेरे उनके प्रति आदाब बजा लेने पर उन्होंने मुझे आँख मींचे ही मींचे आशीर्वाद दिया था। उस समय मेरे पास एक 'मणि' विशेष थी, जो रोजाना पाँच तोला सोना उगला करती थी। मैंने उसे गुसाईं जी की भेंट कर दी। और उन्होंने बिना देखे उस मणि को उसी जमना में डाल दिया; मुझे उनकी यह हरकत अच्छी न लगी और उसे वापिस माँगी। मेरी विशेष जिद पर उन्होंने जमना में हाथ डाल कर वैसी ही हुबहू मुट्ठी भर मणियाँ निकालकर मेरे सामने रख दीं

और कहा 'तिहारी जो मरिण होई वाइ पेहचान कें ले लेउ।' उस समय मैं और तुम दोनों उनका यह हैरतअंगेज करिश्मा देखकर बुत बन गए और सोचने लगे कि ऐसा काम सिवा 'खुदा' के और कोई नहीं कर सकता। सो बीरबल वो बात तू भूल गया ? और अपने सच्चे पिरोहित से ऐसा कहा ! गुसाइं जी साक्षात खुदा हैं, इसमें जरा भी फर्क नहीं। यह काम तुमसे अच्छा नहीं हुआ, जो अपने सच्चे खुदापरस्त पिरोहित को वापिस लौटाल दिया—इत्यादि...।' उधर छीतस्वामी, गोस्वामी जी को गोकुल में न पाकर उनके दर्शनार्थ गोवर्धन चले गए और वहाँ उनके दर्शन किए।' गोस्वामी जी ने उनके आगरें जाइवे के आइवें के समाचार पूंछे, वहाँ को सब हाल छीतस्वामी ते सुनिकें आप बड़े प्रसन्न भए। वा समें आपके पास लाहौर के कछु वैष्णव हू बैठे हैं सो उनते आपने कही—'जो तुम्ह पास छीतस्वामी कों पठवत हौ, सो तुम इनकी भली भाँति सों बिदा करियो। कछु दिन पाछें अपने छीतस्वामी कों एक पत्र देकें कहयौ—जौ तुम्ह या पत्र कों लेकें लाहौर जाउ, वहाँ के वैष्णव तुम्हारी बिदा भलिभाँति सों करेंगे।' यह सुनकर छीतस्वामी ने श्री गुसाइं जी से विनती की—'जैराज, मैं आपको सेवक (शिष्य) कछू भीख माँगने के लिऐं भयौ नाहीं। बीरबल के पास मेरी बरसौंढ़ो' (सालाना चंदा) बँधी ही, सो म्हौं तोर कें लातो हो। जब वा 'बहिर्मुख' ने म्लेच्छ कौ सौ आचरन कियो मैं उठिकें चलौ आयौ, अब में इन चरनँन कों छोरि कें कहूं न जाउगो। वैष्णव हैं कें वैष्णवनं के घर घर भीख माँगन डोलों, सो जै, अब मोते ये न होइगी।' श्री गो० विट्ठलनाथ जी उनकी ये निष्कपट वैष्णवों जैसी सच्चे मन की बात सुनकर अति प्रसन्न हुए, और पास मे बैठे दूसरे वैष्णवन सों कह्यों 'वैष्णवन को धरम ऐसों ई होई है, वाइ ऐसौई करनों चाहिएं...।' बाद में आपने लाहौरवाले वैष्णवन को लिखा—'छीतस्वामी जी, लाहौर आइ नाहीं सकत हैं, तुम्हीं उन्हें वरष वरष सौ सो रुपैया उनकों भेज दियौ करियो।' सो उन वैष्णवन नें आपकौ ऐसौ पत्र पढ़िकें छीतस्वामी कों वरष सौ रुपैया भेज दियौ करते है (द्वितीय वार्ता)। अस्तु इन वार्ता उल्लेखों के कारण छीतस्वामी जी के जीवन के साथ कितनी ही ऐतिहासिक उलझनें समय के विपरीत लिपट जाती हैं, जैसे 'गो० श्री विट्ठलनाथ जी का गोकुल निवास संप्रदाय में 'मधुसूदन' कृत 'वल्लभवंसावली' के अनुसार सं०—१६२८ वि० कहा सुना जाता है। यह समय गोस्वामी जी के सातवें लालजी (बेटे) घनश्याम जी के उत्पन्न होने का है, अर्थात् आपके प्रथम पुत्र गिरिधर जी, के जन्म (सं० १५९७ वि०) के बाद श्रीगोकुल पधारने और बसने का है। संप्रदाय में मान्यता है कि श्री छीतस्वामी गो० विट्ठल जी की शरण, 'संप्रदाय-कल्पद्रुम' के अनुसार सं० १५९२ वि० में आए। अष्टछाप के अन्य कवि—'कृष्णदास अधिकारी नंददास, चतुर्भुजदास' से पहले...। इसके बाद है। वह सोरों (शूकर क्षेत्र) में प्राप्त आपके वंशज—'लाव जी' की सं०—१६२८ वि० वाली तीर्थयात्रा से प्रारंभ होकर लावजी के पुत्र वृंदावनदास जी (सं० १६६० वि०) तत्पुत्र—'यदुनंदन, सपांधन तथा हरिशरण 'जिन्हें सं० १६९६ वि० में जयपुर राज्य की एक गद्दी विशेष 'शेखावत शाखा' के अज्ञातनामा राजा से दानस्वरूप २० बीघा जमीन, छीतस्वामी जी के सेव्य ठाकुर 'श्याम जी' का नया मंदिर तथा मंदिर के पासवाला 'श्याम घाट' का बनवाया जाना तथा जयपुर (राजस्थान) से १६ कोस दूर 'लाव पीर' गाँव के पास 'बाण गंगा' के किनारे 'बलेरा' गाँव का मिलना, जिसका सुव्यवस्थित पट्टा (प्रमाणपत्र) सं० १७०२ वि० में मिला था। छीतस्वामी जी का निधन श्री गिरिधर जी १२० वचनामृत कृति के अनुसार सं० १६४२ वि० में 'गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के निधन के समाचार सुनकर 'गोवर्धन' में यह पद—'विहरन, सातों रूप धरें गाते गाते हुआ था। आपके यशःशरीर की गाथा वहाँ संप्रदाय में 'भगवल्लीला रूप से दिन में 'सुबल सखा' रात्रिसेवा में ललिता जी सहचरी 'पद्मा' तदनुकूल वर्ण 'कमल समान, शक्ति—'दुमाले के शृंगार युक्त विट्ठलनाथ जी की मूर्ति, जो इस समय 'श्रीनाथ द्वारा (उदयपुर) में विराजमान है, की संध्या आरती में, अंगस्थान—'कटि' कुंज माणिक, ऋतुवर्षा, मनोरथ हिंडोला 'खीला-थाल' और स्थान 'बिलकुंड' कहा सुना जाता है।

छीतस्वामी कृत कुछ विशेष साहित्य नहीं मिलता। पुष्टि संप्रदाय में नित्यउत्सव विशेष पर गाए जानेवाले उनके हस्तलिखित एवं मुद्रित संग्रहग्रंथ—'नित्यकीर्तन, 'वर्षोत्सव' तथा 'वसंतधमार' पदविशेष मिलते हैं। कीर्तन रचनाओं में संगीत सौंदर्य, ताल और लय एवं स्वरों का एक रागनिष्ठ मधुर मिश्रण देखा जा सकता रे। [ज० ला० च०]

छुईखदान मध्य प्रदेश का भूतपूर्व राज्य था; इसका क्षेत्रफल १५४ वर्ग मील था। यह भूभाग उपजाऊ मैदान है। इसमें १०७ गाँव थे। छुईखदान नगर (जनसंख्या ३,४४८—१९६१) प्रधान कार्यालय है। यह दक्षिण-पूर्व रेलवे के राजनाँदगाँव स्टेशन से ३१ मील है। कोदो यहाँ की प्रमुख उपज है। गेहूँ, एवं धान भी होते हैं। यहाँ कई स्कूल एवं अस्पताल हैं। यहाँ छुई मिट्टी (एक प्रकार की सफेद मिट्टी) की खदानें मिलने के कारण इसका नाम छुई खदान पड़ा। [सै० मु० अ०]

छुरीकाँटा के अंतर्गत वे काटनेवाले औजार और छुरियाँ आती हैं जिनका उपयोग घरों में तथा व्यक्तिगत रूप में होता है, जैसे कैंची, कर्तन, उस्तरा, भोजन के समय उपयोग में आनेवाला काँटा और छुरी, जेबी छुरी, पावरोटी काटने की छुरी, कसाई की छुरी, फल और सब्जी काटने की छुरी तथा बागवानी, कपड़ा काटने, बाल काटने, शल्य चिकित्सा आदि में काम आनेवाली कैंचिया आदि।

पाषाण युग से ही मनुष्य किसी न किसी रूप में काटनेवाले औजारों का उपयोग करता आ रहा है। प्रारंभ में इन औजारों के फल पत्थर तथा ताँबा आदि धातुओं के बनते थे। अब फल के लिये कर्तन इस्पात (shear steel) तथा ढालवा इस्पात (cast steel) के अतिरिक्त अविकारी इस्पात (stainless steel) का व्यवहार विशेष रूप से किया जा रहा है।

इस्पात की छड़ से चाकू का फल बनाने में गढ़ाई (forging), दृढ़ीकरण (hardening), मृदुकरण (tempering) तथा अपघर्षण (grinding) किया जाता है। इस्पात की छड़ से फल मशीन या हथौड़े द्वारा इच्छित आकृति में गढ़ा जाता है। अपेक्षित कठोरता एवं कड़ापन लाने के लिये गढ़ा हुआ फल दृढ़ीकरण एवं मृदुकरण की प्रक्रिया से गुजरता है। फल को गरम (इस्पात ७६०° सें० तथा अविकारी इस्पात ८३८° सें० तक) कर शीतलन द्रव (प्रायः जल) में बुझाकर, उसे पुनः १९९° सें० ताप पर गरमकर शीतलन द्रव में बुझाया जाता है। यह दृढ़ीकरण एवं मृदुकरण की प्रक्रिया है। अंतिम प्रक्रिया फल को उचित दृढ़ता एवं कड़ाई प्रदान करती है। दृढ़ीकरण तथा मृदुकरण की प्रक्रिया के पश्चात् फल का अपघर्षण होता है। इसके लिये मनुष्य द्वारा चालित अपघर्षण पत्थरचक्र, अथवा मशीन द्वारा चालित अपघर्षण पत्थर, का उपयोग होता है। स्वास्थ्य की दृष्टि से बालू पत्थर का चक्र

हानिकारक होने के कारण अब कृत्रिम अपघर्षक (abrasive) चक्र का उपयोग किया जाता है।

अपघर्षण हो जाने के पश्चात् फल में बेंट लगाई जाती है। बेंट के लिये हाथीदाँत, सींग, हड्डी, सीप, सेलूलॉयड, चंदन की लकड़ी, प्लास्टिक, आबनूस, साधारण लकड़ी, सोना, चाँदी, इस्पात तथा अन्य धातुओं का उपयोग होता है। भारत में चाँदी, सोना, सीप, सींग और चंदन की लकड़ी की बेंट का अधिक चलन है। इंग्लैंड में घरेलू उपयोग में हाथीदाँत, सेलूलॉयड तथा हड्डी की बेंट का तथा जर्मनी और अमरीका में चाँदी, चाँदी मुलम्मा तथा निकल की बेंट का चलन अधिक है।

घरेलू उपयोग में आनेवाले चाकुओं में विभिन्न कार्यों के लिये पृथक्-पृथक् चाकू बनते हैं। पावरोटी काटने के लिये आरी की तरह दाँतेदार अथवा लहरदार धार का चाकू होता है। केक, पेस्ट्री आदि मिठाइयों को काटने के लिये छोटा चाकू होता है, जिसे टी नाइफ (tea knife) कहते हैं। पहले चाकू बेंट में बने खाँचे में बंद होता था, परंतु बाद
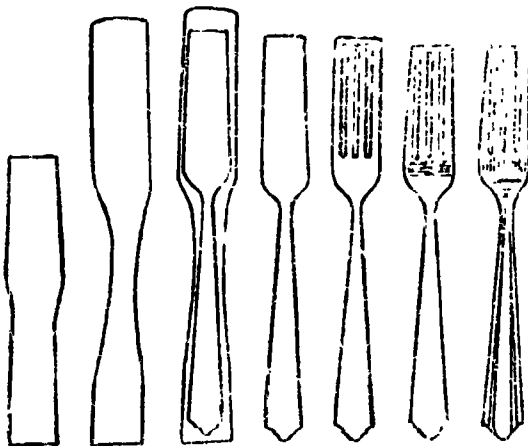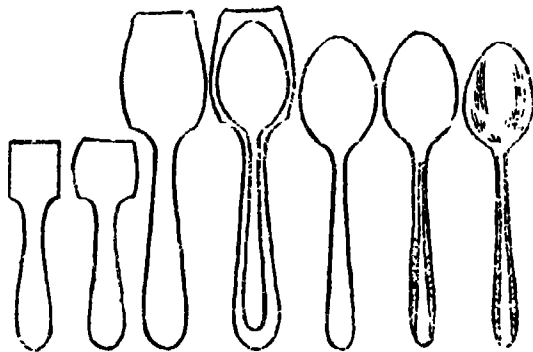
चम्मच और काँटे का निर्माण

चद्दर पर ठप्पा लगाने के पूर्व से लेकर संपूर्ण तैयार होने तक की अवस्थाएँ दिखाई गई हैं।

में कमानी का प्रयोग प्रारंभ हुआ, जिससे उसके व्यवहार में सुरक्षा बढ़ गई। कमानी लगाने में अधिक दक्षता की आवश्यकता होती है। यदि कमानी ठीक से न लगे तो चाकू को बंद करने और खोलने में कठिनाई होती है। कलम बनानेवाला चाकू कलमतराश (pen knife) कहलाता है। इसके एक सिरे पर बड़ा फल तथा दूसरे सिरे पर छोटा फल होता है और यही छोटा फल कलम बनाने के काम में आता है। जेबी चाकू भी बनाए जाते हैं। इनका फल भोजन करने में काम आनेवाले चाकू की अपेक्षा अधिक दृढ़ किया जाता है।

उस्तरा प्राचीन काल से मानव व्यवहार में आ रहा है। अब इसका फल उत्कृष्ट कोटि के इस्पात का बनाया जाता है। फल की धार पतली बनाने के लिये फल को घर्षित करने के बाद सान लगाई जाती है। उचित दृढ़ता एवं अत्यंत तीक्ष्ण धार उस्तरे के फल की विशेषता है। उस्तरे द्वारा उत्पन्न असुरक्षा ने सेफ्टी रेज़र को जन्म दिया। जिलेट नामक व्यक्ति ने इसे पहले पहल बनाया। सेफ्टी रेज़र में धारक (holder), जिसमें रक्षक (guard) लगा रहता है, ब्लेड को सुरक्षित रखता है। रक्षक ब्लेड की धार को त्वचा के ठीक स्पर्श में लाता है। सेफ्टी रेज़र का ब्लेड सीधी धार का होता है और इसका उत्पादन मशीन द्वारा होता है।

काँटा (fork) मध्यकाल तक भोजन करने के उपकरण के रूप में व्यवहार में नहीं आया था। १६वीं शताब्दी में इटली में सर्वप्रथम इसका व्यवहार प्रारंभ हुआ। भोजन करने तथा अन्य कई कार्यों में काँटा व्यवहृत होता है। भोजन करने का काँटा इस्पात, चाँदी तथा अब विशेषकर अविकारी इस्पात का बनाया जाता है।

कैंची के दोनों भागों को अवपात ठप्पे (drop stamps) से गढ़कर बनाया जाता है। इसके लिये जो इस्पात काम में आता है, वह उस्तरे के इस्पात से घटिया होता है। गढ़ जाने के बाद दोनों भागों को कठोर इस्पात के पेंच द्वारा दो प्रकार से लगाया जाता है। प्रथम विधि में कैंची के दोनों फल एक दूसरे की ओर झुके रहते हैं, जिससे काटनेवाली धार में समीपता रहती है। दूसरी विधि में जोड़ पर ऐसा प्रबंध किया जाता है जिससे दोनों धारों की समीपता बनी रहे।

अँगूठा और अँगुली फँसाकर सुगमता से कार्य करने के लिये कैंची के फल के दोनों सिरों पर धनुषाकार आकृति घातवर्ध्य ढलाई (malleable casting) के द्वारा बनाई जाती है और बाद में इस्पात का फल इन आकृतियों में लगा दिया जाता है। ऐलुमिनियम की धनुषाकार आकृतियाँ भी ठप्पा ढलाई (die casting) द्वारा तैयार कर फल में लगाई जाती हैं। ऐसी कैंचियाँ देखने में सुंदर और काम में हल्की होती हैं। बाल काटने, कपड़ा काटने, कसीदा तथा सलमा लगाने, बागवानी तथा शल्यचिकित्सा आदि विभिन्न कार्यों के लिये विभिन्न आकृतियों की कैंचियाँ बनाई जाती हैं। [भ० ना० मे०]

छेंदीपदा स्थिति: २१° ५′ उ० अ० तथा ८४° ४०′ पू० दे०। यह उड़ीसा राज्य के ढेंकानल जिले के अनुगुल उपमंडल के प्रशासनिक केंद्र से लगभग ३२ किमी० उत्तर-पश्चिमोत्तर, समुद्रतल से १५२ मीटर की ऊँचाई पर कुंमिरा नदी के बाएँ तट पर स्थित है और पक्की सड़क द्वारा अनुगुल से मिला हुआ है। [प्रा० स्व० जौ०]

छोटा नागपुर बिहार राज्य का प्रमुख अंग, राज्य के दक्षिण और दक्षिण-पूर्व में स्थित है। इसके पूर्व में पश्चिमी बंगाल के मेदिनीपुर बाँकुड़ा और पुरुलिया जिले, दक्षिण में उड़ीसा और मध्य प्रदेश के जिले, पश्चिम में उत्तर प्रदेश का मिरजापुर जिला और उत्तर में दक्षिण बिहार का मैदान है। इसका आकार आयताकार एवं क्षेत्रफल २०,०१६ वर्ग मील है। इसके समस्त क्षेत्रफल का ३८ प्रति शत अर्थात् ७,६०० वर्ग मील जंगलों से भरा हुआ है। इनमें गिरिडीह और धनबाद के क्षुपों (shrubs) के जंगलों से लेकर सिंहभूम के विशाल साल वृक्षों तक के जंगल

है। यहाँ का साल उत्कृष्ट कोटि का होता है। छोटा नागपुर का समस्त क्षेत्रफल पहाड़ियों, पठारों और घाटियों से भरा पड़ा है। पश्चिमी बंगाल के निकट ऊँचाई ७०० फुट से लेकर औसत ऊँचाई ३,५०० फुट है। इसकी महत्तम ऊँचाई पर जैनियों का तीर्थस्थान, पारसनाथ या पार्श्वनाथ मंदिर है। पारसनाथ की पहाड़ी समुद्रतल से ४,५०० फुट ऊँची है। इस क्षेत्र का पानी उत्तरी कोयल नदी द्वारा सोन में, दक्षिण कोयल और सिंहभूम की कोरा और कोइना नदियों द्वारा उड़ीसा के बैतरणी में तथा सुवर्णरेखा और कंसई नदियों द्वारा बंगाल की खाड़ी में, एवं दामोदर और उसकी सहायक नदियों द्वारा बर्दवान जिले की हुगली नदी में गिरता है। इसकी घाटियों में अनेक जलप्रपात हैं जिनके सूर्योदय और सूर्यास्त के दृश्य बड़े ही मनोरम होते हैं। इन्हीं को देखकर कैप्टेन फ्रैंकलिन ने कहा था कि "सौंदर्य में पंचमढ़ी के दृश्य भी इनकी बराबरी नहीं कर सकते"। छोटा नागपुर होकर ही ग्रैंड ट्रंक रोड जाती है।

छोटा नागपुर के पेड़ पौधों का अनेक वैज्ञानिकों ने, जिनमें क्लार्क (Clark), कैंपबेल (Campbell), रेवरेंड कार्डन (Cordon), सर जे० डी० हूकर (Hooker) और वनसंरक्षक एच० एच० हेनिस (Haenis) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, अध्ययन और संग्रह किया था। यहाँ के पेड़ पौधों में कुछ ऐसे पेड़ पौधे मिले हैं जो बहुत विरल जाति के हैं। यहाँ पेड़ पौधों के बाहुल्य से प्रायः सभी प्रभावित हुए थे, यद्यपि पारसनाथ पर पाए जानेवाले पेड़ पौधों से कुछ निराशा हुई थी। पारसनाथ पहाड़ी पर कुछ ऐसी विशिष्ट जातियाँ मिली थीं, जैसे पाइजीनम ऐंडरसोनी (Pygenun andersonie), बरबरिस एशियाटिका (Berberis asiatica) और कैलैनकोइ हेट्रोफाइटा (Kalanchoe heterophyta), जो गंजाम जिले के महेंद्रगिरि पर्वत और प्रायद्वीपीय स्थानों को छोड़कर अन्य कहीं नहीं पाई जाती। यह आश्चर्यजनक है कि हिमालय पर्वत, नील गिरि और पालनी पहाड़ियों पर ६,००० फुट की ऊँचाई पर पाए जानेवाले पौधे यहाँ २,५०० फुट की ऊँचाई पर ही पाए जाते हैं।

यहाँ के पक्षियों का अध्ययन पहले पहल मेजर फ्रैंकलिन ने १८३१ ई० में और बाद में कैप्टन बीवान (Beavan) और कर्नल टिकेल (Tickell) ने किया था। इनका बड़े विस्तार से अध्ययन भारत के भूगर्भ सर्वेक्षण विभाग के वी. बॉल (V. Ball) ने दस वर्षों तक, (१८६४-१८७४ ई०) किया था और पता लगाया था कि लगभग ४०० जातियों के पक्षी यहाँ पाए जाते हैं, यद्यपि उन्होंने जलपक्षियों का बहुत कुछ अभाव पाया। दामोदर घाटी योजना में बाँधों के बँध जाने और बड़े बड़े जलाशयों के हो जाने से आशा की जाती है कि भविष्य में जलपक्षियों का भी यहाँ बाहुल्य हो जायगा। यहाँ के पक्षियों में मालाबॉर भृंगालकंठी कस्तूरिका (Malavar thistling thrush), वल्गुली (tit), ककर (sand grouse), शलभास (fly catcher), हरितपर्णवेल कोकिल (European cuckoo) तथा मैना (myna or grackle) महत्व के हैं।

स्तनियों में पहाड़ी बकरी यहाँ नहीं पाई जाती। इसके जंगलों में चीता, बाघ, शार्दूल (Leopard), भालू, सियार पहले बहुतायत से देखे जाते थे, पर अब उतने नहीं देखे जाते। संभवतः आबादी बढ़ जाने से ये अब घने जंगलों में छिप गए हैं और बहुत कुछ शिकारियों द्वारा मार डाले गए हैं।

छोटा नागपुर भारत की शिल्पशाला (Workshop) कहा जाता है और यथार्थ में यह है भी, क्योंकि शिल्पशाला के लिये बिजली, कोयला और लोहा अत्यावश्यक वस्तुएँ यहाँ हैं। इन तीनों का यहाँ बाहुल्य है। भारत का अधिकांश कोयला यहाँ की खानों से ही निकलता है और यह कोयला उत्कृष्ट कोटि का होता है। जल से अब जलविद्युत् का उत्पादन बहुत बड़े परिमाण में हो रहा है। लोहे के खनिज का विशाल भंडार यहाँ पड़ा है और उससे जमशेदपुर के ताता के लोहे का कारखाना ५० से अधिक वर्षों से चल रहा है। दूसरा बहुत बड़ा कारखाना बोकारो में रूस के सहयोग से खुल रहा है। लोहे के खनिज के अतिरिक्त यहाँ क्रोमियम, मैंगनीज, ताँबा तथा सीस के खनिज, चूना पत्थर और सीमेंट बनाने के सामान, ऐस्बेस्टस, चीनी मिट्टी (केओलीन) बड़े महत्व के खनिज मिलते हैं। यहाँ का अभ्रक संसार में प्रसिद्ध है। ऐसा उत्कृष्ट अभ्रक अन्य किसी स्थान में नहीं पाया जाता। यहाँ रेडियम और यूरेनियम के रेडियधर्मी खनिज भी प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। खनिज के भंडार की दृष्टि से छोटा नागपुर बड़ा समृद्धशाली क्षेत्र है। जैसे जैसे सर्वेक्षण हो रहा है, वैसे वैसे अधिकाधिक मात्रा में खनिज पाए जा रहे हैं और उन्हें निकालकर काम में लाने का प्रयत्न हो रहा है।

भारत की दो प्रमुख राष्ट्रीय प्रयोगशालाएँ, एक ईंधन अनुसंधान राष्ट्रीय प्रयोगशाला धनबाद के निकट और दूसरी धातुनिर्माण अनुसंधान राष्ट्रीय प्रयोगशाला जमशेदपुर में स्थित है। लाख अनुसंधान की एकमात्र प्रयोगशाला राँची के निकट नामकुम में स्थित है, जिसमें लाख के संबंध में बड़े महत्व के अनुसंधान हुए और हो रहे हैं। लाख उत्पादन में भारत में छोटा नागपुर का स्थान प्रथम है। यहाँ के जंगलों के पेड़ों पर लाख उगाया जाता है। यहाँ के जंगलों में बाँस भी बहुत बड़ी मात्रा में उत्पन्न होता है, जिससे लुगदी और कागज का निर्माण डालमियाँ नगर के कारखाने में हो रहा है। जंगलों की लकड़ी से भी यांत्रिक लुगदी बनती है, जो सस्ते कागजों के निर्माण में प्रयुक्त होती है।

छोटा नागपुर में अनेक कारखाने खुले हैं और नए नए खुल रहे हैं, जिनमें लाखों व्यक्ति आज काम कर रहे हैं। ऐसे कारखानों में जमशेदपुर का लोहे का कारखाना, सिंदरी का नाइट्रोजन खाद निर्माण का कारखाना तथा फॉस्फेट खाद के निर्माण का कारखाना, राँची में भारी इंजीनियरी सामान निर्माण का कारखाना, डालमियानगर का सीमेंट का तथा लुगदी और कागज निर्माण का कारखाना, जपला का सीमेंट का कारखाना, गोमिया में विस्फोटक पदार्थों के निर्माण का कारखाना, जमशेदपुर में ताँबा निकालने का कारखाना, केओलीन से ऐल्युमिनियम निर्माण का कारखाना, बोकारो में कोयले से बिजली तैयार करने का कारखाना, तथा दामोदर घाटी योजना के अंतर्गत जल से जलविद्युत् तैयार करने का कारखाना विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

छोटा नागपुर में हिंदू एवं मुसलमानों के अतिरिक्त पर्याप्त संख्या में आदिवासी बसते हैं। आदिवासियों के कई फिरके हैं, जिनकी अपनी अपनी बोली है और रस्मरिवाजों में पर्याप्त अंतर है। आदिवासियों की अपनी बोली तो है, पर उनकी अपनी कोई लिपि नहीं है। यूरोपीय पादरियों ने उनके लिये रोमन लिपि का प्रचार किया था और इसी लिपि में कुछ प्रारंभिक पुस्तकें लिखी थीं, पर अब उनकी पुस्तकें नागरी लिपि में ही लिखी जा रही हैं। पर्याप्त संख्या में आदिवासी ईसाई हो गए हैं, पर

अधिकांश अभी अपने रिवाजों और अपने देवी देवताओं को मानते हैं, जो हिंदुओं के रस्मरिवाजों और देवी देवताओं से बहुत मिलता जुलता है। आदिवासियों में शिक्षितों की संख्या अभी बहुत कम है, यद्यपि स्वतंत्रता मिलने के बाद पाठशालाओं की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई है। इनकी आर्थिक अवस्था अब भी बहुत गिरी हुई है। [फू० स० व०]

छोटी सादड़ी स्थिति : २४° २३' उ० अ० एवं ७२° ४३' पू० दे०। यह राजस्थान के चित्तौरगढ़ जिले का नगर है। भूतपूर्व उदयपुर रियासत के छोटी सादड़ी जिले का प्रधान कार्यालय था। उदयपुर से ६६ मील दूर पूर्व-दक्षिण-पूर्व में स्थित है तथा कपास की उपजाऊ काली मिट्टी का क्षेत्र है। यहाँ एक अस्पताल और स्कूल हैं।

[कै० मु० अ०]

जंग या मोरचा धातुओं, विशेषकर लोहे, को सामान्य आर्द्र वायु में खुला रखने पर उनके स्वच्छ तल पर एक आवरण चढ़ जाता है, जिसे जंग लगना या मोरचा लगना कहते हैं। इससे तल की चमक नष्ट हो जाती है और धातु का धीरे धीरे संक्षारण होता जाता है। लोहे पर जो मोरचा लगता है, वह लाल भूरे रंग का होता है। यह हाइड्रेटेड फेरिक ऑक्साइड (२लो$_2$औ$_3$, ३हा$_2$औ; $2Fe_2O_3, 3H_2O$) का बना होता है। अनेक वैज्ञानिकों ने जंग लगने के संबंध में अनुसंधान किए हैं, पर उनके परिणाम एक से नहीं है। परिणाम बहुत कुछ धातुओं की शुद्धता और समांगता पर निर्भर करता है। कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार जंग लगने में जल की उपस्थिति आवश्यक है, कुछ के मतानुसार कार्बन डाइऑक्साइड या अम्लता का होना आवश्यक है। तुरंत के लगे मोरचे में फेरस हाइड्रॉक्साइड और कार्बोनेट पर्याप्त मात्रा में पाए गए हैं, जिससे पता लगता है कि मोरचा लगने में इनका बनना पहली अवस्था है। लोहे के जंग के संबंध में कैल्वर्ट और क्रम ब्राउन (Calvert and Crum Brown) का सुझाव निम्नलिखित समीकरणों से प्रकट होता है :

$$\text{लो} + \text{हा}_2\text{औ} + \text{का औ}_2 = \text{लोकाऔ}_3 + \text{हा}_2$$
$$[Fe + H_2O + CO_2 = FeCO_3 + H_2]$$
$$४\,\text{लो का औ}_3 + ६\text{हा औ} + \text{औ}_2 = ४\,\text{लो (औ हा)}_2 + ४\,\text{का औ}$$
$$[4\,FeCO_3 + 6H_2O + O_2 = 4Fe(OH)_2 + 4CO_2]$$
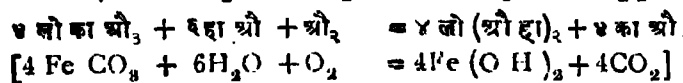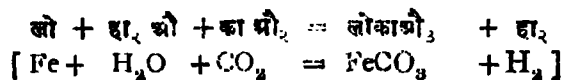
मोडी (Moddy) का कथन है कि शुद्ध लोहे पर वायु और जल की उपस्थिति में भी, यदि उसमें कार्बन डाइ-ऑक्साइड का पूर्ण अभाव है, तो मोरचा नहीं लगता। कार्बन डाइ-ऑक्साइड के कारण ही लोहा पहले फेरस बाइकार्बोनेट [लो (हा का औ$_3$)$_2$ $Fe(HCO_3)_2$] बनता है, जिसके ऑक्सीजन के साथ ऑक्सीकरण से, उपर्युक्त समीकरण के अनुसार, फेरिक हाइड्रॉक्साइड अवक्षिप्त होता है। यदि जल में क्षार रहे, तो लोहे को मोरचा लगने से बहुत कुछ बचाया या कम किया जा सकता है। एक दूसरे वैज्ञानिक के अनुसार लोहे के टुकड़ों पर वोल्टीय सेल के ध्रुव रहते हैं, जिनके बीच की क्रिया से मोरचा लगता है। लैंबर्ट (Lambert) के अनुसार समांग (homogeneous) लोहे पर सामान्य वायु में मोरचा नहीं लगता, यद्यपि सामान्य लोहे पर कार्बन डाइऑक्साइड के अभाव में भी मोरचा लगता है।

मोरचे से बचने के लिये लोहे पर पेंट या इनेमल चढ़ाते या चूने से सफेदी करते हैं। लोहे के नलों को अलकतरे के पिच या नेफ्था में डुबा कर मोरचे से उनका संरक्षण करते हैं। बार्फ विधि (Barf process) में लोहे को उच्च ताप पर गरम करके भाप के प्रभाव से उसपर फेरोसो-फेरिक ऑक्साइड का स्तर चढ़ाकर मोरचे से बचाते हैं। फल रखने के लोहे के डिब्बों को इसी उपचार से मोरचे से सुरक्षित रखते हैं।

[फू० स० व०]

जंगबहादुर, राणा (१८१६-१८७७) नेपाल के प्रसिद्ध रक्षामंत्री भीमसिंह थापा के भ्रातृपौत्र। ये अपने पूर्वजों की अपेक्षा स्थायी शासन की स्थापना करने में सफल रहे। इन्हें अपने चाचा मातवरसिंह के मंत्रित्वकाल में सेनाध्यक्ष तथा प्रधान न्यायाधीश का पद सौंपा गया किंतु शीघ्र ही इनके चाचा की छलपूर्वक हत्या कर दी गई और फतेहजंग ने नया मंत्रिमंडल बनाया। इस नए मंत्रिमंडल में इन्हें सैन्य विभाग सौंपा गया। दूसरे वर्ष १८४६ ई० में शासन में एक संघर्ष छिड़ा। फलस्वरूप फतेहजंग और उनके साथ के ३२ अन्य प्रधान व्यक्तियों की कुटिलतापूर्वक हत्या कर दी गई। महारानी द्वारा राणा की नियुक्ति सीधे प्रधान मंत्री पद पर की गई। शीघ्र ही महारानी का विचार परिवर्तित हुआ और उनकी हत्या के षड्यंत्र भी रचे गए। परंतु रानी की योजना असफल रही। फलतः राजा और रानी दोनों को ही भारत में शरण लेनी पड़ी। अब राणा के मार्ग से सारी बाधाएँ परे हट चुकी थीं। शासन को व्यवस्थित और नियंत्रित करने में इन्हें पूर्ण सफलता मिली। यहाँ तक कि जनवरी, १८५० में वे निश्चित होकर इंग्लैंड गए और ६ फरवरी, १८५१ तक वहीं रहे। लौटने पर इन्होंने अपने विरुद्ध रची गई हत्या की कुटिल योजनाओं को पूर्णतः विफल कर दिया। इसके बाद आप दंडसंहिता के सुधार कार्यों में तथा तिब्बत के साथ होनेवाले छिटपुट संघर्षों में उलझे रहे। इसी बीच उन्हें भारतीय सिपाही विद्रोह की सूचना मिली। राणा ने विद्रोहियों से किसी प्रकार की बातचीत का विरोध किया और जुलाई, १८५७ को सेना की एक टुकड़ी गोरखपुर भेजी। यही नहीं, दिसंबर में इन्होंने १४,००० गोरखा सिपाहियों की एक सेना लखनऊ की ओर भी भेजी थी जिसने ११ मार्च, १८५८ को लखनऊ की घेरेबंदी में सहयोग दिया। जंगबहादुर राणा को इस कार्य के लिये जी० सी० बी० (ग्रेट कमांडर ऑव ब्रिटेन) के पद से संमानित किया गया। नेपाल को उसका एक भूखंड लौटा दिया गया और अन्य अनेक सीमाविवादों का अंत कर दिया गया। १८७५ में राणा ने इंग्लैंड के लिये प्रस्थान किया किंतु बंबई में घोड़े से गिर जाने पर घर लौट आए। ६१ वर्ष की अवस्था में २५ फरवरी को इनका देहांत हो गया। इनकी तीन विधवाएँ भी इनके साथ ही चिता को समर्पित हो गईं।

[क० ना० गु०]

जंगीपुर स्थिति: २४° २८' उ० अ० तथा ८८° ४' पू० दे०। पश्चिमी बंगाल के मुर्शिदाबाद जिले के उत्तरी क्षेत्र में स्थित जंगीपुर उपमंडल का शासनिक केंद्र एवं नगर है, जो भागीरथी नदी के पूर्वी किनारे पर स्थित है। अंगरेजी राज्य के आरंभ में यह रेशम के उद्योग तथा व्यापार का मुख्य केंद्र भी रहा है। यहाँ रेशम के धागों की पिंडी करने का गृहउद्योग १७७३ ई० में स्थापित हो गया था। आज भी जंगीपुर रेशम के व्यापार का केंद्र है। यहाँ पर पीतल के बरतन तथा लोहे के संदूक बनाने के उद्योग भी हैं। नदीमार्ग में परिवर्तन होने के कारण पूर्वी तट पर स्थित प्रशासनिक कार्यालय हटाकर पश्चिमी तट पर रघुनाथगंज क्षेत्र में स्थापित किए गए हैं। १८६९ ई० में यहाँ नगरपालिका की स्थापना हुई थी। यहाँ की जनसंख्या २४,२०१ (१९६१) है।

[आ० स्व० जौ०]

जंजीबार १. द्वीप, स्थिति : ६° ०' द० अ० तथा ३९° २०' पू० दे०। इसका क्षेत्रफल १,०२० वर्ग मील तथा जनसंख्या १,६५,२५३ (१९५८) है। पूर्वी अफ्रीका में यह पेंबा तक विस्तृत है। पेंबा की जनसंख्या १,३३,८५८ (१९५८) है। जंजीबार अफ्रीका महाद्वीप से २२½ मील लंबे जलमार्ग द्वारा पृथक् हो गया है। यह अफ्रीका के पूर्वी किनारे पर सबसे लंबा प्रवाल द्वीप है।

यहाँ दिसंबर से मार्च तक गर्मी, अप्रैल से मई तक भारी वर्षा तथा जून से अक्टूबर तक सर्दी पड़ती है। औसत वार्षिक वर्षा ५८", उच्चतम ताप २९° सें० तथा न्यूनतम ताप २५° सें० रहता है। धान यहाँ की प्रमुख उपज है। इसके अतिरिक्त मक्का, बाजरा तथा अन्य मोटे अनाज उपजाए जाते हैं। आर्थिक दृष्टि से लौंग प्रमुख वस्तु है; ५,००० एकड़ जमीन पर इसकी खेती होती है और इसका निर्यात किया जाता है। यहाँ से नारियल और उससे बनी वस्तुओं का भी निर्यात होता है। अनाज एवं रूई का आयात होता है। यहाँ के आदिवासी बंटू भाषाभाषी हैं। इनके अतिरिक्त भारतीय, अरब, यूरोपीय तथा गोआनी भी यहाँ के नागरिक हैं। द्वीप में रेलवे नहीं है। २०० मील लंबी सड़कों में से १५० मील डामर की बनी हुई हैं। इसका यूरोप तथा उत्तरी एवं दक्षिणी अफ्रीका से संबंध है। अमरीकी, ब्रिटिश एवं अन्य यूरोपीय जहाजरानी कंपनियों की सेवाएँ यहाँ प्राप्त हैं।

२. नगर, स्थिति : ६° २' द० अ० तथा ३९° २०' पू० दे०। जंजीबार द्वीप की राजधानी एवं प्रमुख बंदरगाह है। यह नगर त्रिभुजाकार द्वीप पर जंजीबार द्वीप के पश्चिम में स्थित है। यह सुरक्षित बंदरगाह है, जहाँ पानी की न्यूनतम गहराई ४ फैदम है। इसकी भौगोलिक स्थिति ने इसे ग्वारडाफुइ अंतरीप से डेलागोआ खाड़ी तक की कुंजी बना दिया है। यहाँ की जनसंख्या ५७, ९३२ (१९५८) है।

[अ० ना० मे०]

जाति तथा भाषा — अफ्रीका के पूर्वी तट पर टांगानिका से १२॥ मील दूर जंजीबार और पेंबा द्वीपों से निर्मित राज्य। राजधानी जंजीबार है। १९५८ की गणना के अनुसार इनकी जनसंख्या २,९९,१११ (जंजीबार द्वीप १,६५,२५३ और पेंबा १,३३, ८५८) थी। इसमें २२८,८१५ अफ्रीकी ४६,९८९ अरब और १८,३३४ भारतीय तथा पाकिस्तानी थे। यहाँ के निवासी मुख्यतः नीग्रो हैं। ७वीं शताब्दी ईसापूर्व में अरब जाति के लोग बसे।

जंजीबार में अधिकांश जन मुस्लिम हैं। कुछ ऐंग्लिकन और रोमन कैथोलिक ईसाई तथा हिंदू हैं।

किशवाहिली (Kishwahili) सर्वप्रचलित भाषा है। इसके अतिरिक्त स्थानीय बंटू, अंग्रेजी, अरबी तथा भारतीय भाषाओं में गुजराती का भी प्रयोग होता है।

इतिहास — अफ्रीका के पूर्वी तट के कुछ भाग तथा जंजीबार पर ७वीं शताब्दी ई० पू० तक अरबों तथा प्रथम शताब्दी तक हिमेराइयों (Himyarites) का आधिपत्य रहा। दक्षिणी अरब राज्यों का जंजीबार से प्रभाव उठाने के बाद हद्रमातों (Hadramawt) का संपर्क घनिष्ठ रहा।

यहाँ इस्लाम का प्रसार अरबों द्वारा ९वीं या १०वीं शताब्दी में आरंभ हुआ। निवासी प्रायः शफी संप्रदाय के सुन्नी हैं जिनकी स्थापना ८१३ ई० में हुई थी। ९७५ में शिया आंदोलन से यह प्रदेश तीन भागों—जंजीबार, तुंबातू और पेंबा में बँट गया। १५वीं शताब्दी के अंत में भारत की खोज में निकले यूरोपीयों ने जंजीबार से संपर्क स्थापित किया। यहाँ तक कि १६वीं शताब्दी में जंजीबार और पुर्तगाल में घनिष्ठ संबंध स्थापित हो गया तथा पुर्तगाल ने जंजीबार की भूमि पर उद्योग के साथ चर्च की भी स्थापना की। लेकिन पेंबा ने पुर्तगालियों का शासन अधिक दिनों तक स्वीकार नहीं किया और १५८९ में वहाँ का पुर्तगाली सम्राट् पदच्युत कर दिया गया।

१५९३ में पुर्तगाल ने मोंबासा पर अधिकार कर लिया। इससे पूर्वी अफ्रीका में उसकी स्थिति सुदृढ़ हो गई। किंतु १६३१ में मालिंदी और मोंबासा के शासक ने विद्रोह कर पुर्तगालियों का जीजज फोर्ट छीन लिया। इस विद्रोह में मोंबासा के अनेक पुर्तगाली मारे गए। यद्यपि एक वर्ष के भीतर पुर्तगालियों ने पुनः द्वीप पर अधिकार कर लिया, तथापि वे मोंबासा और पेंबा में शांति स्थापित नहीं कर सके।

१६९८ में ओमन के आरब इमाम सईफ-बिन-सुलतान ने पुर्तगालियों से पुनः फोर्ट जीजज छीन लिया और मोजांबीक के पुर्तगाली अधिकारियों को निष्कासित कर दिया। किंतु कुछ ही समय के पश्चात् १७२८–२९ में मोंबासा के अरब और जंजीबार के संघर्ष के कारण पुर्तगाली फोर्ट जीजज प्राप्त करने में सफल हो गए। ओमुंज के पतन के बाद हिंद महासागर पर उनका प्रभाव क्षीण होने लगा। पुर्तगालियों के ही काल में प्रथम अंग्रेजी जलयान जंजीबार के तट पर आया।

ओमन के इबालिदी (Ibalidi) अरब सईफ-बिन-सुलतान द्वारा पुर्तगालियों के निष्कासन के बाद से पूर्वी अफ्रीका के शासक रहे, किंतु १८वीं शती में ओमन यारूबियों की शक्ति क्षीण होने से मजरूई जाति ने मोंबासा में अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। ओमन का समुद्री तट भी फारसीयों के हाथ में चला गया।

ओमन के एक छोटे से नगर के अधिपति ने फारसीयों को अंत में निकाल बाहर किया। अहमद-बिन-सईद-अल सईदी व्यापारी था, किंतु अपनी राजनीतिक सूझबूझ से वह १७४१ में इबादी इमाम चुना गया। उसके पौत्र सईद-बिन-सुलतान को वर्तमान जंजीबार का संस्थापक कहा जाता है। १७७५ में अहमद की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सईद इमाम चुना गया, किंतु उसके पुत्र हमीद ने शासनसत्ता पर अधिकार कर लिया। १७९२ में उसकी मृत्यु के पश्चात् इमाम अहमद के पाँचवें पुत्र सुलतान को शासनसत्ता हस्तांतरित हुई, यद्यपि उसका भाई ही जीवन पर्यंत इमाम रहा। सुल्तान की मृत्यु (१८०४) पर उसका पुत्र सईद उत्तराधिकारी हुआ। इस प्रकार इमाम का निर्वाचन धीरे धीरे समाप्त हो गया और एक वंश का राज्य स्थापित हो गया।

सइय सईद १७९१ में उत्पन्न हुआ। शासनारूढ़ होते समय वह अल्पवयस्क था। उसने अपना ध्यान केवल ओमन की ही समस्याओं पर केंद्रित रखा। इस प्रकार शेष पूर्वी अफ्रीका उपेक्षित रह गया। १८२१ में पेंबा में मजरूई अत्याचारों की शिकायत सुनकर उसने जंजीबार के शासक को मजरूइयों के निष्कासन का आदेश दिया। इसी प्रक्रिया में जंजीबार और पेंबा अलबू सईद के ध्वज के नीचे एक हुए। उसने जंजीबार को १८३२ में अपनी राजधानी बनाया। अल-बू सईद व्यापारी प्रवृत्ति का व्यक्ति था। उसने अरबों का एकाधिकार समाप्त करके अन्य विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन दिया। उसने अपनी मृत्यु तक (१८५६) ओमन, जंजीबार, पूर्वी तट, ग्रेट लेक्स, और कांगो को मिलाकर एकराज्य का निर्माण किया था। उसके दो पुत्रों में शासन के

किये मतभेद के कारण ओमन और जंजीबार पृथक् हो गए। ब्रिटेन और फ्रांस ने १८६२ में दोनों देशों की स्वतंत्रता को मान्यता दे दी।

१८९० में जंजीबार को १८८६ के फ्रांस-ब्रिटेन-जर्मनी के समझौते के परिणामस्वरूप ब्रिटेन रक्षित राज्य बनाया गया और एक वर्ष के उपरांत वहाँ सम्यक् शासन की स्थापना हुई। १९५६ में निर्वाचन पद्धति के आधार पर विधान परिषद् की स्थापना हुई। २४ जून, १९६३ को जंजीबार स्वतंत्र हुआ। फिर राजनीतिक स्थिति तेजी से बदली। राष्ट्रपति करूमे और टांगानिका के राष्ट्रपति ज्यूलियस न्यरेरे दोनों राष्ट्रों के महासंघ की योजना बनाई। परिणामस्वरूप २६ अप्रैल, १९६४ को 'युनाइटेड रिपब्लिक ऑव टांगानिका ऐंड जंजीबार' नाम से नए राष्ट्र का उदय हुआ।

जंजीरा के हब्शी जंजीरा का द्वीप बंबई से ४५ मील दक्षिण, १८-१८° उत्तर तथा ७३-०° पूर्व स्थित है। इसके आधे मील पूर्व समुद्र की एक खाड़ी कोलाबा जिले में घुस गई है। उस खाड़ी के उत्तरी मुहाने पर दंडा नगर, तथा इसके दो मील उत्तर-पश्चिम राजपुर नगर है। खाद्य-पदार्थ के लिये द्वीपवासियों को भारतीय महादेश की भूमि पर निर्भर रहना पड़ता था। १४९० ई० में सुल्तान अहमद निजामशाह ने जंजीरा विजय कर अबीसीनिया के एक हब्शी को वहाँ का गवर्नर नियुक्त किया। इसी समय से यहाँ हब्शी शासन प्रारंभ हुआ। ये हब्शी अपनी वीरता, परिश्रम, युद्ध, स्वामिभक्ति तथा जहाज चलाने के लिये प्रसिद्ध थे। जलयुद्ध में तो वे योरोपीयनों के अतिरिक्त सभी लोगों से श्रेष्ठ थे। जंजीरा में बसे हब्शी सिद्दी (सैय्यद या उच्च वंश में पैदा हुए) कहलाते थे। निजामशाही राज्य के पतन के पश्चात् १६३६ ई० में जंजीरा बीजापुर के अधीन हो गया। वहाँ के शासक ने सिद्दी सरदार को वजीर की उपाधि दी तथा नगोथाना से बनकोट तक के भाग का उसके अधीन कर दिया। शिवाजी के साम्राज्यविस्तार के परिणामस्वरूप १६५८ में जंजीरा के हब्शियों तथा मराठों में युद्ध प्रारंभ हुआ जो पश्चिमी समुद्रतट की एक स्थायी समस्या बन गई। शिवाजी जब तक जीवित रहे प्रायः प्रत्येक वर्ष जंजीरा की भूमि पर चढ़ाई करते रहे। सिद्दियों की नौसेना तोपों को शक्ति के समक्ष मराठों को सफलता नहीं मिली। इसी युद्ध के लिये शिवाजी ने मराठा नौसेना का शुभारंभ किया था। इसी संघर्ष के बीच सिद्दी सरदार फतह खाँ रुपया तथा जागीर लेकर शिवाजी को जंजीरा समर्पित करना चाहता था किंतु अन्य तीन सिद्दी सरदारों (कासिम, खैरियत, तथा संबल) ने उसे बंदी बना लिया जिससे यह संभव न हो सका। मराठों से अपनी रक्षा हेतु १६७० ई० में सिद्दियों ने मुगलों को अधीनता स्वीकार कर ली। मुगल सम्राट् ने सिद्दी सरदार को 'याकूत खाँ' की पुश्तैनी उपाधि तथा तीन लाख रुपया वार्षिक वेतन देकर समुद्र में पहरा देने का कार्य सौंप दिया। १६७१ ई० में सिद्दी सरदार कासिम ने दंडा दुर्ग पर अधिकार कर लिया। शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् (१६८० ई०) में शंभाजी ने इस युद्ध को जारी रखा। औरंगजेब के दक्षिण निवास से जंजीरा के हब्शियों की शक्ति बढ़ गई। सिद्दी खैरियत ने कई मराठा दुर्गों पर अधिकार कर लिया। १७१४ ई० में सिद्दियों, पुर्तगालियों तथा मुगल सूबेदारों ने मराठा सरदार आंग्रे की भूमि पर आक्रमण किया किंतु पेशवा बालाजी विश्वनाथ के कारण वे सफल न हो सके। १७३३ ई० में जंजीरा के शासक सिद्दी रसूल की मृत्यु के पश्चात् उसका लड़का अम्बुसा मार डाला गया तथा उसका पौत्र अब्दुल रहमान भाग कर मराठों की शरण में आया। मराठों के लिये यह अपूर्व अवसर था। पेशवा ने सिद्दी राज्य के कई दुर्गों पर अधिकार कर लिया जिसमें शिवाजी का प्रसिद्ध दुर्ग रायगढ़ भी था जिसे १६८९ ई० में औरंगजेब ने विजय कर जंजीरा के सिद्दी सरदार को दे दिया था। मराठों ने अपने पक्ष के सिद्दी अब्दुर्रहमान को उसका शासक बना दिया। १७३४-३५ तथा १७३५-३७ में मराठों तथा सिद्दियों के बीच पुनः संघर्ष हुआ। २५ सितंबर, १७३६ ई० में एक संधि हुई जिसमें सिद्दी के ११ महालों में मराठों तथा सिद्दियों का द्वैध शासन स्थापित हुआ। समुद्र से घिरा होने के कारण ही जंजीरा की रक्षा हो सकी। गोवलकोट के विरुद्ध मराठों का संघर्ष चलता रहा तथा जनवरी, १७४५ में तुला जी आंग्रे ने उसपर अधिकार कर लिया। मराठों, पुर्तगालियों तथा जंजीरा के हब्शियों से रक्षार्थ बंबई ईस्ट इंडिया कंपनी की कौंसिल को अपनी सामुद्रिक शक्ति बढ़ानी पड़ी (बंबई सिटी गजेटियर, भाग २, पृष्ठ २७७) तथा हब्शियों के कारण उन्हें अक्सर हानि उठानी पड़ती थी। १७८४ ई० में सिद्दी अब्दुल रहीम की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों के उत्तराधिकार के प्रश्न पर संघर्ष प्रारंभ हुआ जिससे जंजीरा की हब्शी शक्ति का ह्रास हुआ। जंजीरा के हब्शियों का प्रभाव पश्चिमी तट पर बाद में भी बना रहा।

सं० ग्रं० — सरकार : शिवाजी, अध्याय ११, दीघे : पेशवा बाजीराव फर्स्ट ऐंड मराठा एक्सपैंशन, पृष्ठ ४३-८५। [हृ० शं० श्री०]

जंतुदंश जंतुओं के काटने या डंक मारने को कहते हैं। कुछ जंतुओं के काटने से कोई कष्ट नहीं होता। परंतु कुछ अन्य जंतुओं के काटने से रोगों का आक्रमण हो सकता है, कुछ के काटने से पीड़ा होती है और कुछ का काटना या डंक मारना घातक हो सकता है। ऐसे जंतुओं में पिस्सू, जूँ, खटमल, मच्छर, चींटी, बर्रे, गोजर, बिच्छू, मकड़ी, साँप, कुत्ता, सियार, बंदर, बिल्ली, मछली तथा अन्य जीव हैं। पिस्सू के काटने से प्लेग हो सकता है, खटमल के काटने से काला आजार और टाइफाइड, तथा मच्छर के काटने से मलेरिया और फाइलेरिया हो सकता है। मधुमक्खी और बर्रे के डंक मारने तथा चींटी के काटने से पीड़ा होती है। कभी कभी इनका डंक मारना घातक भी होता है। बिच्छू के डंक मारने से बड़ी पीड़ा होती है। कुछ साँपों का काटना विषैला होता है और उससे मृत्यु तक हो जाती है। भारत में हजारों व्यक्ति प्रति वर्ष साँप के काटने से मरते हैं। पागल कुत्ते या सियार के काटने से जलसंत्रास (hydrophobia) का आक्रमण हो सकता है।

मधुमक्खी, चींटी तथा बर्रे का वंश प्रायः एक सा ही होता है। इनमें स्थानिक शोथ, लाली, दर्द एवं खुजलाहट होती है। इनके विष घातक नहीं हैं, पर कभी कभी व्यक्ति के चेतनाशून्य हो जाने पर मृत्यु भी हो सकती है। दंशस्थान को किसी क्षार, बुझा चूना, सोडियम बाइकार्बोनेट, लिकर ऐमोनिया, स्मेलिंग साल्ट (smelling salts) या साबुन से मलना चाहिए। दंशस्थान पर पूतिदोषरोधी (antiseptic), या ऐलर्जीरोधी (antiallergic) मलहम लगाया जा सकता है। ऐलर्जीरोधी औषधियों का सेवन भी किया जा सकता है।

वृश्चिकदंश — बिच्छू का डंक मारना कष्टकारक होता है। हृदय, नाड़ी तथा रक्तसंचार पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है। इससे तीव्र पीड़ा, जलन, मिचली, वमन, मांसपेशियों में ऐंठन इत्यादि लक्षण प्रकट हो सकते हैं। छोटे बच्चों के लिये यह घातक भी हो सकता है।

दंशस्थान से चार इंच ऊपर रूमाल या रस्सी बाँधकर दंशस्थान को चीर कर रुधिर निकाल देना चाहिए और लिकर ऐमोनिया (liquor ammonia) या स्मेलिंग साल्ट सुंघाना और बर्नाल (Burnol) मल्हम या स्पिरिट लगाना लाभदायक होता है। ब्रैंडी या कोरामिन सेवन कराया जा सकता है।

गोजरदंश — गोजर काटता है। इसके पैरों के प्रथम जोड़े विषदंत का कार्य करते हैं। ये दंशस्थान पर चिपक जाते हैं। इन्हें हटाना कठिन होता है। इसके विष का प्रभाव समस्त शरीर पर पड़ता है। दंशस्थान पर वेदना और शोथ होता है। चक्कर आने लगता है। वमन तथा सिर दर्द होने लगता है। वृश्चिकदंश की तरह इसका भी उपचार होता है।

मकड़ी का दंश — प्रायः सभी मकड़ियों में विषग्रंथि होती है। इसके काटने पर दंशस्थान पर लाल उभार दिखाई पड़ता है, मांसपेशियों में संकोच होता है, जिससे पेट में ऐंठन, नाड़ीगति में तीव्रता अथवा चमड़े पर छाले निकल आते हैं। नाड़ीमूल के आक्रांत होने पर नाड़ीमंडल में दर्द उत्पन्न होता है। प्राथमिक उपचार के रूप में पोटासियम परमैंगनेट का तनु विलयन दंशस्थान पर लगाते हैं। इसका उपचार वृश्चिक दंश के अनुसार ही किया जाता है।

कुत्ते का दंश — पागल कुत्ते के काटने से जलसंत्रास नामक दुस्साध्य घातक रोग हो जाता है, जिससे रोगी को जल पीने, जल देखने एवं उसके नाममात्र से भय होता है और विचित्र प्रकार के आक्षेप एवं श्वासावरोध के लक्षण उत्पन्न होते हैं (देखें जलसंत्रास)। कुत्ते के काटे हुए स्थान को पहले साबुन के पानी से, फिर हाइड्रोजन परॉक्साइड, या प्रबल पोटासियम परमैंगनेट के विलयन से धोते हैं। कार्बोलिक अम्ल से घाव को जलाकर ऐंटिरैबिक (antirabic) की १४ सुई देनी चाहिए। पागल बंदर, गीदड़ या बिल्ली के काटने पर भी पागल कुत्ते के काटने जैसा उपचार किया जाता है।

सर्पदंश — विषैले जंतुओं के दंश में सबसे अधिक भयंकर होता है। इसके दंश से कुछ ही मिनटों में मृत्यु तक हो सकती है। कुछ साँप विषैले नहीं होते और कुछ विषैले होते हैं। समुद्री साँप साधारणतया विषैले होते हैं, पर वे शीघ्र काटते नहीं। विषैले सर्प भी कई प्रकार के होते हैं (देखें उरग)। विषैले साँपों में नाग (कोब्रा), काला नाग, नागराज (किंग कोब्रा), करैत, कोरल वाइपर, रसेल वाइपर, ऐडर, डिस फालिडस, माँबा (Dandraspis), बाइटिस गैबोनिका, रैटल स्नेक, क्रॉटेलस हॉरिडस आदि हैं। विषैले साँपों के विष एक से नहीं होते। कुछ विष तंत्रिकातंत्र को आक्रांत करते हैं, कुछ रुधिर को और कुछ तंत्रिकातंत्र और रुधिर दोनों को आक्रांत करते हैं।

भिन्न भिन्न साँपों के शल्क भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। इनके शल्कों से विषैले और विषहीन साँपों की कुछ सीमा तक पहचान हो सकती है। विषैले साँप के सिर पर के शल्क छोटे होते हैं और उदर के शल्क उदरप्रदेश के एक भाग में पूर्ण रूप से फैले रहते हैं। इनके सिर के बगल में एक गड्ढा होता है। ऊपरी ओंठ के किनारे से सटा हुआ तीसरा शल्क नासा और आँख के शल्कों से मिलता है। पीठ के शल्क अन्य शल्कों से बड़े होते हैं। माथे के कुछ शल्क बड़े तथा अन्य छोटे होते हैं। विषहीन साँपों की पीठ और पेट के शल्क समान विस्तार के होते हैं। पेट के शल्क एक भाग से दूसरे भाग तक स्पर्श नहीं करते। साँपों के दाँतों में विष नहीं होता। ऊपर के छेदक दाँतों के बीच विषग्रंथि होती है। ये दाँत कुछ मुड़े होते हैं। काटते समय जब ये दाँत धँस जाते हैं तब उनके निकालने के प्रयास में साँप अपनी गर्दन ऊपर उठाकर झटके से खींचता है। उसी समय विषग्रंथि के संकुचित होने से विष निकलकर आक्रांत स्थान पर पहुँच जाता है।

लक्षण — कुछ साँपों के काटने के स्थान पर दाँतों के निशान काफी हल्के होते हैं, पर शोथ के कारण स्थान ढंक जाता है। दंश स्थान पर तीव्र जलन, तंद्रालुता, अवसाद, मिचली, वमन, अनैच्छिक मल-मूत्रत्याग, अंगघात, पलकों का गिरना, किसी वस्तु का एक स्थान पर दो दिखलाई देना, तथा पुतलियों का विस्फारित होना प्रधान लक्षण हैं। अंतिम अवस्था में चेतनाहीनता तथा मांसपेशियों में ऐंठन शुरू हो जाती है और श्वसन क्रिया रुक जाने से मृत्यु हो जाती है। विष का प्रभाव तंत्रिकातंत्र और श्वासकेंद्र पर विशेष रूप से पड़ता है। कुछ साँपों के काटने पर दंशस्थान पर तीव्र पीड़ा उत्पन्न होकर चारों तरफ फैलती है। स्थानिक शोथ, दंशस्थान का काला पड़ जाना, स्थानिक रक्तस्राव, मिचली, वमन, दुर्बलता, हाथ पैरों में झनझनाहट, चक्कर आना, पसीना छूटना, दम घुटना आदि अन्य लक्षण हैं। विष के फैलने से थूक या मूत्र में रुधिर का आना तथा सारे शरीर में जलन और खुजलाहट हो सकती है। आंशिक दंश या दंश के पश्चात् तुरंत उपचार होने से व्यक्ति मृत्यु से बच सकता है।

निरोधक उपाय — कुएँ या गड्ढे में अनजान में हाथ न डालना, बरसात में अंधेरे में नंगे पाँव न घूमना और जूते को झाड़कर पहनना चाहिए।

उपचार — सर्पदंश का प्राथमिक उपचार शीघ्र से शीघ्र करना चाहिए। दंशस्थान के कुछ ऊपर और नीचे रस्सी, रबर या कपड़े से ऐसे कसकर बाँध देना चाहिए कि धमनी का रुधिर प्रवाह भी रुक जाय। लाल गरम चाकू से दंशस्थान को १।२" लंबा और १।४" चौड़ा चीरकर वहाँ का रक्त निकाल देना चाहिए। तत्पश्चात् दंशस्थान साबुन, या नमक के पानी, या १ प्रतिशत पोटाश परमैंगनेट के विलयन से धोना चाहिए। यदि ये प्राप्य न हों तो पुरानी दीवार के चूने को खुरचकर घाव में भर देना चाहिए। कभी कभी पोटाश परमैंगनेट के कणों को भी घाव में भर देते हैं, पर कुछ लोगों की राय में इससे विशेष लाभ नहीं होता। यदि घाव में साँप के दाँत रह गए हों, तो उन्हें चिमटी से पकड़कर निकाल लेना चाहिए। प्रथम उपचार के बाद व्यक्ति को शीघ्र निकटतम अस्पताल या चिकित्सक के पास ले जाना चाहिए। वहाँ प्रतिदंश विष (antivenin) की सुई देनी चाहिए। दंशस्थान को पूरा विश्राम देना चाहिए। किसी दशा में भी गरम सेंक नहीं करना चाहिए। बर्फ का उपयोग कर सकते हैं। ठंढे पदार्थों का सेवन किया जा सकता है। घबराहट दूर करने के लिये रोगी को अवसादक ओषधियाँ दी जा सकती हैं। श्वासावरोध में कृत्रिम श्वसन का सहारा लिया जा सकता है। चाय, काफी तथा दूध का सेवन कराया जा सकता है, पर भूलकर भी मद्य का सेवन नहीं कराना चाहिए। [प्रि० कु० चौ०]

जंतुओं का विस्तार संसार में चारों ओर भ्रमण करके जिस किसी ने जंतुजीवन का अध्ययन किया है, वह जानता है कि संसार में जंतुओं का वितरण सर्वत्र एक जैसा नहीं है, यद्यपि संसार के हर कोने में प्राणी मिलते हैं। संसार के हर भाग के जंतु उसके अपने होते हैं, अर्थात् आस्ट्रेलिया में पाए जानेवाले जंतु भारत में नहीं पाए जाते और

भारत में पाए जानेवाले जंतु यूरोप में नहीं मिलते। इसका कदाचित् एक कारण यह है कि जानवरों में अनुकूलन शक्ति कम होती है। इसलिये एक भाग की जलवायु में पनपनेवाले प्राणी दूसरे भाग की जलवायु में पनप नहीं पाते। कभी कभी ऐसा भी होता है कि किसी विशेष जाति के जानवर के लिये उपयुक्त वातावरण कहीं पर हो, पर वह वहाँ विशेष रुकावटों के कारण पहुँच न सके। कुछ ऐसे भी जानवर हैं जो अपने आदि निवासस्थान को छोड़कर दूसरे देशों को चले गए और वहाँ भली भाँति पनपे, जैसे खरगोश आस्ट्रेलिया में, नेवला जामेका में और अंग्रेजी स्पैरो अमरीका में।

जंतुओं के वितरण के अध्ययन को जंतु-विस्तार-विज्ञान कहते हैं। यह जंतुशास्त्र की एक विशेष शाखा है। जंतुविस्तार का अध्ययन कई ढंगों से होता है। पहले जानवरों के विस्तार का अध्ययन पृथ्वी की सतह पर किया जाता है, जिसे भौगोलिक विस्तार या क्षैतिज विस्तार कहते हैं। इसके पश्चात् जानवरों के विस्तार का अध्ययन पहाड़ की चोटी से लेकर समुद्र की गहराई तक करते हैं। इसे ऊर्ध्वाधर या शीर्षलंब संबंधी (altitudinal) विस्तार, अथवा उदग्र (bathymetric) विस्तार कहते हैं। इन दोनों विस्तारों को अवकाश में विस्तार कहते हैं। इसके अतिरिक्त जानवरों के "काल (समय) में विस्तार" का अध्ययन भी किया जाता है, जिसे भूवैज्ञानिक विस्तार कहते हैं। इसका अध्ययन भूविज्ञान की सहायता से होता है। प्रत्येक प्राणी का अध्ययन तीनों पक्षों के अंतर्गत हो सकता है, परंतु जंतुविस्तार का पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिये तीनों पक्षों का अलग अलग अध्ययन करना आवश्यक है।

विस्तार के कारक — संख्या में कितनी ही कम क्यों न हो, पर प्रत्येक जाति का अपना एक क्षेत्र होता है। लंबे समय तक लगातार प्रजनन होते रहने के कारण इनकी संख्या इतनी बढ़ जाती है कि प्रस्तुत क्षेत्र इनके लिये कम हो जाता है; इसलिये क्षेत्र के बढ़ाव के लिये जाति का विस्तार होता है। संख्या में वृद्धि के कारण खाद्य सामग्री में भी कमी हो जाती है। यह भी विस्तार का प्रेरक है। जाति का विस्तार स्थानांतरण से होता है। प्राय: जाति प्राकृतिक रुकावटों को भी पार करके अपना क्षेत्र बढ़ाती है। इस तरह स्पष्ट है कि विस्तार के दो मुख्य कारण हैं : (१) जीवसंख्या की वृद्धि (population pressure) और (२) बदलता हुआ वातावरण। जीवसंख्या में वृद्धि का दबाव तीव्र गति से प्रजनन का कारण होता है। इसी कारण भोजन की कमी हो जाती है और आपस में स्पर्धा बढ़ जाती है। एक ही जाति के सदस्यों के बीच स्पर्धा के साथ साथ अन्य संबंधी जाति से भी प्रतिद्वंद्विता प्रारंभ हो जाती है। उससे वह जाति अपनी सुरक्षा के लिये नए स्थान को चल पड़ती है।

प्रत्येक स्थान का जलवायु परिवर्तनशील होता है, जो सदा धीरे धीरे बदलता रहता है। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक है कि लंबी अवधि तक लगातार परिवर्तन होते रहने के पश्चात्, किसी विशेष स्थान का वातावरण उस जाति के रहने योग्य नहीं रह जाता। अब उस जाति के लिये दो ही रास्ते रह जाते हैं, एक है स्थानांतरण और दूसरा विलोप। यदि प्राकृतिक रुकावटों को पार करके बाहर निकलने के साधन प्राप्त हुए, तो वह जाति उस स्थान को छोड़कर नए स्थान पर चली जाती है और यदि ये साधन न हुए और उपयुक्त रास्ते न मिले, तो वह जाति विलुप्त हो जाती है। हाथी और घोड़ों के जीवाश्मों (fossils) के अध्ययन से पता चलता है कि जब भी अवसर मिला, ये एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते रहे हैं और इसी कारण इनकी जाति विलुप्त होने से बच गई।

विस्तार के साधन — जंतुओं का प्रव्रजन कई मार्गों से होता है। ये मार्ग वातावरण की परिस्थितियों तथा प्राकृतिक रुकावटों पर निर्भर करते हैं। रुकावटें होने पर भी ऐसे अनेक अन्य साधन रहते हैं, जिनके द्वारा जंतु प्रव्रजन करते हैं, जैसे वायु, जल, पृथ्वी के पुल, प्राकृतिक बेड़े और तैरती हुई लकड़ियाँ आदि।

वायु द्वारा प्रव्रजन — कुछ जानवर अपना क्षेत्र अपनी उड़ान शक्ति की सहायता से बढ़ाते हैं। पक्षी, चमगादड़, तितली तथा उसके संबंधी कीड़े मकोड़े ऐसे प्राणियों के अच्छे उदाहरण हैं। हवा के झोंके और प्रचंड वायु भी जानवरों के विस्तार में सहायता देते हैं। हवा के बहाव की सहायता से पतंगे तथा उनके अन्य संबंधी कीड़े लगातार लंबी उड़ानें भर सकते हैं। एक उल्लेख के अनुसार प्लाइओन (Pleione) नामक एक जहाज को केप वर्ड (Cape Verde) टापुओं से ९६० मील दक्षिण-पश्चिम की ओर कुछ फतिंगे मिले थे। ये पूर्वी अयनवृत्तीय देशों के रहनेवाले थे, जिन्हें हवा अपने साथ वहाँ तक उड़ा ले गई थी। मधुमक्खी तथा अन्य कीटों की समागम उड़ान भी इनके विस्तार में सहायता देती है।

पक्षियों का प्रव्रजन वितरण का आश्चर्य में डालनेवाला उदाहरण है। कई सौ से लेकर ये कई हजार मील से अधिक तक बड़ी तेजी के साथ उड़ सकते हैं। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि जंगली हंस ६० से लेकर ७५ मील प्रति घंटे तक की गति से उड़ता है और अबाबील (swallow) ९० मील प्रति घंटे की गति से। इसी तीव्र गति से यह लगातार १० से १२ घंटे तक उड़ सकती है। पृथ्वी पर रहनेवाली चिड़ियाँ पृथ्वी से दूर ऐटलांटिक महासागर के बीच में पाई गई हैं। इनको प्राय: पूर्वी तथा पश्चिमी प्रचंड हवाएँ अपने साथ उड़ा ले जाती हैं। चमगादड़ सारे संसार में मिलते हैं, समुद्र में स्थित टापुओं में भी। इससे सिद्ध है कि हवा की लहरें जानवरों के विस्तार में सहायता करती हैं।

जल से प्रव्रजन — कुछ जानवरों का प्रव्रजन जल द्वारा होता है। वे या तो स्वयं तैरकर जाते हैं अथवा जल उन्हें बहाकर ले जाता है। कुछ ऐसे हैं, जो पानी पर तैरते हुए कूड़े करकट पर बैठकर चले जाते हैं। पानी पर तैरते हुए लट्ठों, अथवा अन्य वस्तुओं पर बैठकर बहुत से जानवर जलमार्ग पार करते हैं। अनेक ध्रुवप्रदेशीय जानवर बर्फ के टुकड़ों पर बैठकर लंबी यात्राएँ कर डालते हैं। कुछ जानवर इस तरह २४० मील तक लंबी यात्रा करते पाए गए हैं। ध्रुवप्रदेशीय भालू अपने भोजन की तलाश में इसी तरह बहते हैं।

प्राकृतिक पुलों द्वारा विस्तार — पृथ्वी पर जानवरों का विस्तार किसी विशेष जाति की गति से भी होता है। जानवरों के समूह के समूह एक स्थान को जाते रहते हैं। इस प्रकार के प्रव्रजन की प्रवृत्ति अनेक जाति के जानवरों में पाई जाती है। प्राय: बड़े बड़े महाद्वीपों के बीच पृथ्वी के प्राकृतिक पुल पाए जाते हैं, जिनपर से जानवर आसानी से आ जा सकते हैं। स्वेज और पनामा के प्राकृतिक पुल इसके उदाहरण हैं। पनामा का पुल विशेष रूप से रोचक है, इसलिये कि उसकी उत्पत्ति का इतिहास भी हमें भली भाँति मालूम है।

उत्तरी अमरीका और यूरेशिया के जानवरों में भी इसी तरह का संबंध है। पहले ये दोनों महाप्रदेश एक दूसरे से प्राकृतिक पुल द्वारा जुड़े थे। यह प्राकृतिक पुल उस स्थान पर था जहाँ इस समय बेरिंग स्ट्रेट जलसंधि (Bering Strait) है। इसको अलास्का का पुल कहा जाता है।

प्रव्रजन (Migration) — जानवरों के एक स्थान से दूसरे स्थान तक के आवागमन को प्रव्रजन कहते हैं। वास्तव में प्रव्रजन उस आवागमन को कहते हैं, जो बदलते हुए मौसमों द्वारा प्रेरित होते हैं। जिस प्रकार ऋतुएँ आती जाती हैं और सूर्य की अयनगति होती रहती है, वैसे ही जानवरों के प्रव्रजन भी हुआ करते हैं। अनेक जानवर, जिनमें चलने फिरने की विशेष क्षमता होती है, सूर्य के साथ चलते हैं। जब सूर्य उत्तर की ओर जाता है तब ये उत्तर की ओर जाते हैं और जब दक्षिण की ओर आता है, तब ये भी दक्षिण की ओर जाते हैं।

प्रव्रजन के दो मुख्य रूप हैं, यद्यपि इन दोनों में विशेष अंतर नहीं है। घास खानेवाले लगभग सभी जानवर समूहों में रहते हैं। इनको अधिक मात्रा में भोजन की आवश्यकता होती है। शीघ्र ही ये किसी स्थान की खाद्य सामग्री खा डालते हैं और दूसरे स्थान को चल पड़ते हैं। इन जानवरों को भ्रमणशील कहते हैं। ये नित्य ही भोजन के अतिरिक्त पानी और हिंसक जानवरों से सुरक्षा की खोज में घूमते रहते हैं।

कुछ जानवर ऋतुपरिवर्तन के साथ साथ अत्यधिक दूर दूर तक चले जाते हैं। कुछ पहाड़ की चोटियों पर चढ़ जाते हैं अथवा ऊपर से उतर आते हैं। इसको लंबरूप (vertical) प्रव्रजन कहते हैं। पहाड़ की चोटी से नीचे तक ताप, आर्द्रता आदि के स्तर में अधिक अंतर होता है। इसलिये जैसे ही कोई पहाड़ पर चढ़ता है, वह अनुभव करता है कि कई प्रकार की जलवायु से गुजरा है। कुछ जानवर हैं, जो केवल पृथ्वी की सतह पर प्रव्रजन करते हैं। इस प्रकार के प्रव्रजन को क्षैतिज प्रव्रजन कहते हैं। उत्तरी कैनेडा का कैरीबू (caribou) गर्मियों में उत्तर की ओर और हेमंत में दक्षिण की ओर चलता है।

घास खानेवाले जंगली जानवरों के प्रव्रजन के उदाहरण पालतू जानवरों के आवागमन से भिन्न होते हैं। पालतू जानवर चरवाहे के संकेतों पर चलते हैं, परंतु जंगली जानवर अंतःप्रेरणा के बल पर। ऐसा अनुमान है कि उत्तरी अमरीका का गवल (bison) अनेक अक्षांशों से प्रव्रजन कर चुका है। बड़ी बड़ी दूरीवाले प्रव्रजन भी स्थानीय आवागमन के विस्तृत रूप माने जाते हैं, क्योंकि इनका मुख्य कारण भी भोजन की खोज ही है।

प्रव्रजन का दूसरा कारण संतान की सुरक्षा की प्रवृत्ति है। अनेक निम्नस्तर के प्राणी जन्म के समय माता पिता के रूप से भिन्न होते हैं और भोजन भी भिन्न प्रकार का करते हैं। इसलिये माँ प्रायः ऐसे स्थान में अंडे देती है, जहाँ भविष्य में बच्चों के काम आनेवाली सभी चीजें सुलभ तथा पर्याप्त हों। ऐसा करने के लिये उन्हें अंडा देने के लिये प्रायः दूर दूर तक जाना पड़ता है। ऐसे प्रव्रजन का उदाहरण चिड़ियों में मिलता है। कुछ जंतु अपनी अंतःप्रेरणा के बल पर अपना जन्मस्थान पहचान लेते हैं और अपने बच्चों के लालन पालन के लिये भी वे अपने जन्मस्थान पर वापस आ जाते हैं। मातृत्वभार से निवृत्त होकर वे पुनः वहीं चले जाते हैं, जहाँ से आए थे। वहाँ आने पर या तो उनकी मृत्यु हो जाती है या वे दूसरी ऋतु में पुनः अंडे देने के लिये अपनी जन्मभूमि में पहुँच जाते हैं।

प्रव्रजन के ये दोनों रूप समयानुकूल आवागमन के यथार्थ उदाहरण हैं। चाहे प्राणी प्रभावित हो (जैसे पक्षियों में), चाहे एक पीढ़ी (जैसे मछलियों में), ये प्रव्रजन उसी तरह स्वतः (automatic) होते हैं जैसे पृथ्वी की गति (जो कदाचित् इस प्रव्रजन का उत्तेजक है)।

पक्षियों का प्रव्रजन — यह ऋतुओं की प्रेरणा के कारण होता है। समयानुकूलता तथा गमनस्थानपर पुनरागमन इसकी विशेषता है। कुछ चिड़ियों में अनियमित प्रव्रजन भी मिलता है। इसमें चिड़ियाँ उस स्थान को वापस नहीं आतीं जहाँ से चलती हैं। कुछ प्रव्रजन करनेवाली चिड़ियाँ सहस्रों मील निकल जाती हैं। उदाहरणार्थ कोयल को लीजिए। यह फीजी से न्यूजीलैंड तक जाती है और वापस आती है। यह दोनों स्थान १,५०० मील की दूरी पर हैं। एशिया का सुनहला प्लवर २,००० मील की दूरी तय करके अलास्का से हवाई तक जाता है, रास्ते में आराम तक नहीं करता। प्रव्रजन क्यों होता है, इसका मुख्य कारण नहीं मालूम, परंतु कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ मालूम हैं, जिनकी प्रेरणा से प्रव्रजन होता है। इनमें प्रमुख है, पक्षियों की अतिविकसित अंतःप्रेरणा और नए क्षेत्र में भोजन सामग्री की सुलभता।

वितरण बाधाएँ — कुछ जानवर प्रायः एक ही क्षेत्र में सीमित रह जाते हैं। क्षेत्र की भौतिक अवस्था तथा वातावरण के अतिरिक्त जानवरों का आवागमन प्राकृतिक बाधाओं पर भी निर्भर है। ये बाधाएँ भिन्न भिन्न प्रकार की होती हैं : (१) जलवायु संबंधी, (२) भौगोलिक तथा (३) जीवविज्ञान संबंधी।

जलवायु संबंधी बाधाएँ — इनमें ताप, आर्द्रता तथा प्रकाश उल्लेखनीय हैं। गरमी जानवरों के विस्तार का महत्वपूर्ण कारण है। ताप असमतापी प्राणियों के विस्तार पर अधिक प्रभाव डालता है। असमतापी प्राणियों का ताप वातावरण के ताप के साथ घटता बढ़ता रहता है। इसलिये ये न अधिक गरमी सह सकते हैं और न अधिक सर्दी। उभयचर तथा उरग उष्ण तथा शीतोष्ण भागों में पाए जाते हैं और ध्रुव प्रदेशों की ओर ये कम होते जाते हैं। घड़ियाल उष्ण तथा शीतोष्ण देशों में पाए जाते हैं, कछुए ५०° उत्तर अक्षांश तक पाए जाते हैं। छिपकली ६०° अक्षांश के बाद नहीं मिलती। साँपों का क्षेत्र बड़ा है, फिर भी सीमित। यही कारण है कि शीतप्रदेशों में केवल पक्षी और स्तनधारी प्राणी ही पाए जाते हैं।

स्तनधारी प्राणियों में भी कुछ ऐसे हैं, जो ताप के अनुसार पाए जाते हैं। शेर भारत तथा मलाया जैसे उष्ण प्रदेशों का रहनेवाला है, परंतु यह कॉकेशस (Caucasus) तथा ऐल्टाई (Altai) पहाड़ों की चोटियों और मंचूरिया के ठंढे भागों में भी मिलता है। हाथी भी ठंढक सह सकता है, यदि उसे अधिक मात्रा में जल मिल जाय। भारतीय हाथी ठंढे पहाड़ की चोटियों में वैसे ही आराम के साथ रहता है, जैसे नीचे मैदानों में।

आर्द्रता से बाधा — रेगिस्तान में रहनेवाले जानवरों का अध्ययन बतलाता है कि आर्द्रता का प्रभाव भी जानवरों के विस्तार पर पड़ता है, यद्यपि इनमें भी कुछ जानवर ऐसे मिलते हैं जो अत्यधिक शुष्कता सह सकते हैं। अधिकतर बड़े बड़े रेगिस्तान जानवरों के विस्तार में बाधक बन जाते हैं। सहारा इनमें उल्लेखनीय है। हिरण जैसे तीव्रगामी प्राणी भी पानी की कमी तथा ताप के कारण इसको पार नहीं कर पाते। इसीलिये अफ्रीका जैसे विशाल देश में हिरण नहीं पाए जाते। वे केवल उत्तर में ही मिलते हैं। अन्य देशों में, जहाँ अफ्रीका

जैसी जलवायु है, वे बहुत मिलते हैं। अरब का रेगिस्तान भी इसी तरह जानवरों के विस्तार में बाधक बन जाता है। आर्द्रता की वृद्धि भी कुछ विशेष जानवरों के विस्तार में बाधा डालती है। स्पष्ट है कि आर्द्रता की अधिकता से दलदली वातावरण उत्पन्न हो जाता है, जिसे अनेक जानवर विजित नहीं कर पाते।

भौगोलिक बाधाएँ — भौगोलिक बाधाओं के अंतर्गत समुद्रों, नदियों, पहाड़ों तथा रेगिस्तानों की गणना होती है। भारत के उत्तर में हिमालय की विशाल पर्वतमाला है। हर प्रकार के जानवर इसे पार नहीं कर पाते। इसकी हिमाच्छादित चोटियों के ऊपर से चिड़ियाँ तक नहीं उड़ पातीं। इसी कारण इसके उत्तर में पाए जानेवाले प्राणी दक्षिण में पाए जानेवाले प्राणियों से बिल्कुल भिन्न हैं। भूमध्यरेखा के समांतर पर्वतमालाओं का प्रभाव, जंतुओं के विस्तार पर, उत्तर-दक्षिण दिशा में स्थित पर्वतमालाओं से अधिक होता है। इस तरह हिमालय पर्वत संसार की सबसे महत्वपूर्ण बाधाओं में से एक है। पश्चिमी संयुक्त राज्य की पर्वतमालाएँ विस्तार पर प्रभाव डालती हैं। प्रशांत महासागर से आनेवाली हवाएँ ज्योंही इन पर्वतमालाओं से गुजरती हैं, अपनी नमी छोड़ती जाती हैं, और जैसा पहले बतलाया जा चुका है, केवल इस नमी का प्रभाव जंतुविस्तार पर पड़ता है। हिमालय की भाँति उत्तरी अमरीका का पठार भी ऐसी सीमा बनाता है, जिसके इधर उधर के जानवर एक दूसरे से भिन्न हैं।

पृथ्वी के वृहत् जलीय भाग पृथ्वी पर रहनेवाले जानवरों को पृथक् करते हैं। सतह पर बर्फ जमने पर कुछ जानवर उन्हें पार कर सकते हैं। उभयचर उरग और स्तनधारी जानवरों को समुद्रों अथवा अन्य जलीय भागों से काफी हानि पहुँचती है। पक्षी अथवा चमगादड़ उड़कर इन जलाशयों को पार कर जाते हैं। मीठे जल में रहनेवाली मछलियों के लिये समुद्री (लवणीय) जल रुकावट बन जाता है। फिर भी कुछ मछलियाँ, सामन (salmon) और स्टर्जियन (sturgeon) हैं, जो साल में एक बार लवणीय जल से मीठे जल में आ जाती हैं। ईल में इसके विपरीत आवागमन होता है। आधुनिक उभयचरों के लिये लवणीय जल गंभीर बाधा खड़ी करता है, क्योंकि लवणीय जल इनके लिये विष का कार्य करता है। इसलिये फीजी, सॉलोमन तथा न्यूकैलेडोनिया आदि टापुओं को छोड़कर अन्य टापुओं तक यह नहीं पहुँचे हैं। दुमवाले उभयचर जैसे न्यूट (newt), सायरन (siren) और सलामैंडर (salamander) इत्यादि केवल पृथ्वी के उत्तरार्ध में पाए जाते हैं, क्योंकि दक्षिणी भाग के महाद्वीप समुद्रों से घिरे हैं। अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका इनमें ऐसे देश हैं, जो पृथ्वी के मुख्य भागों से जुड़े हैं। किंतु दुमवाले उभयचर इन देशों तक भी नहीं पहुँच पाए हैं, क्योंकि जिन रास्तों पर से ये जा सकते थे वे लंबे हैं और ये जानवर इतने सुस्त हैं कि इतनी दूर वे नहीं जा सकते। पृथ्वी को खोदकर रहनेवाले उभयचर, जिन्हें सिसिलियन कहते हैं, दक्षिणी अमरीका, अफ्रीका, उत्तरी भारत, सुमात्रा, जावा तथा बोर्नियो आदि में पाए जाते हैं। ये सब भूभाग पुराने दक्षिणी महाद्वीप के हिस्से हैं, जो अब अलग हो गए हैं। मेढक तथा उनके संबंधी (बिना दुमवाले उभयचर) का वितरण अधिक है, परंतु वे भी समुद्री टापुओं में नहीं पहुँच पाए हैं।

मगर तथा समुद्री कछुओं जैसे उरगों के लिये समुद्र बाधक नहीं है। यद्यपि इसका ताप इनके आवागमन को सीमित करता है। साँप कुशल तैरनेवाले जानवर हैं, पर वे भी पानी के बड़े विभागों को पार नहीं कर पाते। जल उन पक्षियों के वितरण में बाधक बनता है, जो उड़ नहीं सकते, जैसे *शतुर्मुर्ग तथा न्यूजीलैंड निवासी चिड़िया कीवी* आदि। स्तनधारी प्राणी भी बड़े बड़े जलाशयों को अधिक संख्या में पार नहीं कर पाते। ये जल में अधिक से अधिक ५० मील तक तैर सकते हैं। ह्वेल और सील आदि स्तनधारी प्राणी इसके अपवाद हैं, क्योंकि जलाशय इनके वितरण में कोई बाधा नहीं डालते। जैग्वार (Jaguar) जैसे कुशल तैराक दक्षिणी अमरीका की बड़ी से बड़ी नदियों को पार कर जाते हैं, परंतु वे समुद्र में अधिक दूर नहीं जा पाते। शेर, हाथी और हिरण आदि को जल अति प्रिय है, परंतु शायद वे भी पृथ्वी से दूर जाना पसंद नहीं करते। जंतुओं के वितरण संबंधी विशेषज्ञ हीलप्रिन का कहना है कि पृथ्वी पर रहनेवाले बहुत से स्तनधारी प्राणी, जो यूरोप के बड़े से बड़े जलाशयों को पार करने के लिये तत्पर रहते हैं, समुद्र के ५० मील लंबे भाग अथवा इसके आधे से अधिक भाग को ही पार करने के लिये आसानी से तैयार न होंगे।

जीवविज्ञानीय बाधाएँ — ये प्रायः निवासस्थान से संबंधित होती हैं। प्रायः यह देखा गया है कि किसी दूसरे स्थान से आए जानवर नए स्थान में बढ़ नहीं पाते। कभी वे खाद्य सामग्री की कमी से और कभी शत्रुओं की बहुतायत से मर जाते हैं। वनस्पति की घनी पैदावार कुछ जानवरों के वितरण का साधन बन जाती है, तो कुछ के लिये बाधा। वितरण पर वनस्पति का प्रभाव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से पड़ता है। घने जंगलों के पेड़ों पर रहनेवाले जानवर अविरल जंगलों को पार नहीं कर पाते। इसी तरह कहीं कहीं जंगल इतने घने होते हैं कि पृथ्वी पर रहनेवाले बड़े बड़े जानवर इन्हें पार नहीं कर पाते। मैस्टोडान (Mastodon) के साथ यही हुआ। यह उत्तरी अमरीका से दक्षिणी अमरीका तो आ गया, पर घने जंगलों के कारण मेक्सिको से दक्षिण की ओर नहीं जा सका।

इसी तरह वनस्पति की कमी भी जानवरों के वितरण पर प्रभाव डालती है। वानर-गण (प्राइमेटीज Primates) उष्ण प्रदेशों के घने जंगलों में रहते हैं और वृक्ष उनकी सुरक्षा, आवागमन तथा भोजन के लिये आवश्यक होते हैं। ये फल, फूल एवं कलियाँ तथा वृक्षों पर रहनेवाले कीड़े और पक्षियों को खाते हैं। यदि उपर्युक्त जंगल न मिलें तो इनका निर्वाह नहीं हो सकता। इसीलिये जंगलविहीन भागों में प्राइमेटीज नहीं पाए जाते। घने जंगलों के रहनेवाले पक्षी तथा कीड़े भी जंगलविहीन भागों में नहीं पाए जाते।

पृथ्वी को खोदकर रहनेवाले जानवरों के लिये मिट्टी बाधक बन जाती है। फेरीटाइमा नामक केचुआ विशेष प्रकार की मिट्टी में पाया जाता है और युटाफियस दूसरे प्रकार की मिट्टी में। कुछ जानवर हैं, जो सूखी रेतीली जमीन में बिल बना सकते हैं, तो कुछ हैं जो नम और चिकनी मिट्टी में बिल बनाते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मिट्टी की भौतिक, रासायनिक एवं जीवविज्ञानीय अवस्था भी जंतुवितरण में रुकावट बन जाती है। इस तरह की बाधा को भूमि संबंधी बाधा (edaphic barrier) कहते हैं।

भू प्राणिक्षेत्र (Zoogeographical regions) — पिछले ८० वर्षों में जानवरों की आबादी के आधार पर पृथ्वी को कई भागों में बाँटने का कई बार प्रयास किया गया। लिडकर ने पृथ्वी की सारी सतह को तीन प्रमुख क्षेत्रों में बाँटा था : (१) आर्कटोजीआ (उत्तरी क्षेत्र, जिसमें

आधुनिक निआर्कटिक (Nearctic), पैलिआर्कटिक (Palaearctic), ईथियोपियन और ओरिएंटल क्षेत्र संमिलित हैं। (२) निओजिआ (Neogaea), जिसमें दक्षिणी अमरीका का नीओट्रापिकल क्षेत्र आता है और (३) नोटोजोआ (Notogaea), दक्षिणी क्षेत्र, जिसमें आस्ट्रेलिया का क्षेत्र आता है। इनमें से निओजोआ शेष संसार से तृतीय (Tertiary) युग में और आस्ट्रेलियन क्षेत्र तृतीय युग के प्रारंभ में ही अलग हो गए थे। इसीलिये इन क्षेत्रों में रहनेवाले जंतु संसार के

चित्र १. संसार के भू-प्राणि-वितरण प्रदेश

उत्तरी क्षेत्रों के जंतुओं से भिन्न हैं। आस्ट्रेलिया में तो अब भी वे पुराने स्तनधारी प्राणी पाए जाते हैं, जो मेसोज़ोइक (Mesozoic) युग में संसार में पाए जाते थे। संसार से पृथक् होने के कारण आस्ट्रेलिया में उत्तरी क्षेत्र के जानवर आ नहीं पाए और मेसोजोइक युग के जानवर अब तक ज्यों के त्यों पाए जाते हैं।

भू-प्राणि-क्षेत्रों की आधुनिक स्थिति निम्नलिखित है :

आर्कटोजीआ (Arctogaea)	निआर्कटिक	होलार्कटिक
	पैलिआर्कटिक	
	ईथियोपियन	
	ओरिएंटल	
नोओजीआ (Neogeaea)	नीओट्रापिकल	
नोटोजीआ (Notogaea)	आस्ट्रेलियन	

निआर्कटिक क्षेत्र

सीमा — इस क्षेत्र में ग्रीनलैंड और उत्तरी अमरीका का वह भाग आता है, जो मेक्सिको के दक्षिण में है।

विशेषता — इस प्रदेश में विस्तृत जंगलविहीन और खुले मैदान हैं। रेगिस्तानी हिस्से छोटे हैं। पर्वतमालाएँ अधिकतर उत्तर से दक्षिण की ओर जाती हैं और विशेष बाधा का काम नहीं करतीं।

प्राणिसमूह — इस क्षेत्र के स्तनधारी प्राणी पैलिआर्कटिक क्षेत्र के स्तनधारी प्राणियों से मिलते हैं। रैकून (raccoon), ओपोसम (opossum), कूदनेवाली चुहियाँ, नन्हें गोफर (pocket gopher), स्कंक (skunk) और मस्करैट (muskrat) यहाँ के विशेष जानवर हैं। हरिण, अमरीकी एल्क (moose), बारहसिंघा, बाइसन (bison), बिल्लियाँ, लिंक्स (lynx), वीज़िल्स (weasels), भालू और भेड़िए आदि भी यहाँ मिलते हैं। खुरवाले जानवर बहुत कम हैं। न घोड़े मिलते हैं, न सुअर, केवल वे पालतू घोड़े आदि मिल जाते हैं, जिन्हें मानव अपने साथ ले गया है। पहले भैंस या बाइसन और एल्क सारे क्षेत्र में विस्तृत थे। एक छोटे से क्षेत्र में लंबी सींगवाला भेड़ और काँटेदार सींगवाला मृग (prong horn anteloc) भी मिलता है। पक्षी प्राणिसमूह में टर्की (turkey), नीलकंठ (blue jay), बुज़्ज़ार्ड (buzzards) प्रमुख हैं। ये दक्षिण नीओट्रॉपिकल क्षेत्र की ओर भी मिलते हैं। उरगों में रैटल सर्प (rattle snake) प्रमुख हैं।

पैलिआर्कटिक क्षेत्र

सीमा — यूरोप और उसके पास के टापू तथा भारत को छोड़कर संपूर्ण एशिया और सहारा रेगिस्तान के उत्तर का अफ्रीका इस क्षेत्र के अंतर्गत आता है। इसके दक्षिण में ओरिएंटल क्षेत्र है। दोनों के बीच हिमालय पहाड़, सहारा तथा अरब के रेगिस्तान हैं। ये जंतुविस्तार में बड़ी बाधाएँ डालते हैं।

विशेषता — यह भूभाग बहुत कुछ समतल कहा जा सकता है। पहाड़ियाँ प्रायः अधिक ऊँची नहीं हैं। इसलिये विस्तारण में ये कोई बाधा नहीं डालतीं। पश्चिमी भाग में घने जंगल हैं। इसके दक्षिण का अधिकांश भाग रेगिस्तानी (सहारा, अरब और मंगोलिया का रेगिस्तान) है उत्तरी भाग में उथले स्टेप्स हैं।

प्राणिसमूह — यहाँ के चौपायों में भेड़ और बकरी प्रमुख हैं। मिस्र, सीरिया और सिनाई के पहाड़ी क्षेत्रों में इबेक्स (ibex) की एक जाति पाई जाती है। छछूंदर (mole) इस क्षेत्र में बराबर विस्तृत है। बैजर (badger), ऊँट, रो-डियर (roe-deer), कस्तूरी मृग, याक, शैमि (chamois), डॉरमाउस (dormouse), पाइका (pika) तथा जल का छछूंदर (water mole) इस क्षेत्र में रहनेवाले विशेष स्तनधारी प्राणी है। पुरानी दुनियाँ के चूहे, चुहियाँ भी इस क्षेत्र में मिलती हैं। उरगों में वाइपर (viper) अधिक संख्या में मिलते हैं और अधिक विषैले भी होते हैं।

इथिओपियन क्षेत्र

सीमा — अफ्रीका, बड़े रेगिस्तान के दक्षिण का अरब और मैडागास्कर टापू इस क्षेत्र के भाग हैं।

विशेषता — इस क्षेत्र में दुनियाँ के बड़े से बड़े रेगिस्तान हैं और बड़े बड़े जंगल, जिनमें अटूट वर्षा होती है। उष्ण प्रदेश से समशीतोष्ण देशों तक और हिमाच्छादित पहाड़ों से बड़े बड़े मैदान तक इसमें शामिल हैं। उत्तर में रेगिस्तान की एक बड़ी पट्टी बन जाती है। उसके बाद घास से भरे मैदान हैं। इनमें से अधिकतर चार या पाँच हजार फुट ऊँचे पठार (plateau) हैं। इसी में बृहत् उष्ण प्रदेशीय जंगल हैं।

प्राणिसमूह — इस विभाग में कई विचित्र जानवर मिलते हैं। खुरवाले जानवर तथा हिंसक जानवर विशेष रूप से विकसित हैं। कुछ

खुरवाले जानवर, जैसे जिराफ और हिप्पोपॉटैमस केवल इसी क्षेत्र में पाए जाते हैं। जंगली सूअर और साधारण सूअर अवश्य मिलते हैं। इस क्षेत्र में दरियाई घोड़े दो सींगवाले होते हैं। मृग कई प्रकार के मिलते हैं, छोटे बड़े सभी। भेड़ बकरी आदि यहाँ नहीं मिलते। बकरी के संबंधियों में इबैक्स मिलता है। सहारा के दक्षिण में कस्तूरी-मृग का एक संबंधी मिलता है, जिसको शैव्रोटैन (chevrotain) कहते हैं। जंगली साँड यहाँ नहीं मिलता। जेब्रा और अबीसीनिया के जंगली गदहे, बहुतायत से पाए जाते हैं। शिकारी जानवरों में प्रमुख हैं बब्बर शेर, चीते, तेंदुए, गीदड़ और तरक्षु (hyena)। बाघ (tiger), भेड़िया और लोमड़ी यहाँ नहीं मिलती। ऊदबिलाव (civets) अच्छी तरह विकसित हैं। भालू नहीं मिलते। बंदर जैसे जानवरों में गोरिल्ला, चिंपैंजी, बेबून और लीमर आदि इस क्षेत्र के प्रतिनिधि हैं।

इस क्षेत्र का पक्षिसमूह संख्या में और विशेषता में महत्वपूर्ण नहीं है। यहाँ के प्रमुख पक्षी हैं गिनी फाउल (guinea-fowl) और सेक्रेटरी बर्ड (secretary bird) तथा शेष साधारण हैं। तोते कम हैं, काकातुआ आदि नहीं मिलते। शिकारी चिड़ियाँ बहुत हैं। शुतुर्मुर्ग भी यहाँ मिलते हैं।

उरगसमूह विभिन्न प्रकार का तथा बहुतायत से मिलता है। वाइपर (viper) सर्प कई प्रकार के मिलते हैं और सबसे विषैला पफ़ ऐडर (puff adder) भी यहाँ मिलता है। अजगर की जाति के भी कई जानवर हैं। छिपकलियों में अगामा और गिरगिट मिलते हैं। घड़ियाल लगभग सभी नदियों में मिलते हैं। मछलियाँ कई भाँति की हैं, परंतु प्रोटोप्टेरस (protopterous) नामक मछली यहाँ की विशेषता है। यह और कहीं नहीं पाई जाती।

ईथिओपियन क्षेत्र का प्राणिसमूह प्रारंभ से अंत तक एक ही प्रकार का है। परंतु मैडागास्कर टापू का जीवसमूह महाद्वीप के जीव-समूह से भिन्न है। इस द्वीप और अफ्रीका के बीच एक चौड़ी मुजंबीक (Mozambique) जलांतराल है, परंतु बीच के कोमोरो द्वीप (Comoro island) और कुछ जलमग्न किनारे यह सिद्ध करते हैं कि मैडागास्कर दक्षिणी अफ्रीका का ही भाग है। मैडागास्कर में अफ्रीका जैसी सच्ची बिल्लियाँ नहीं हैं, परंतु ऊदबिलाव मिलता है। बंदर की जातिवाले जानवरों में यहाँ केवल लीमर मिलते हैं। ये अफ्रीका और दक्षिण-पूर्वी एशिया में भी पाए जाते हैं। अन्य विचित्र जानवरों में प्रमुख है ऐ-ऐ (aye-aye)। यह बिल्ली की भाँति का मांसाहारी जानवर है, जिसे क्रिप्टोप्रोक्टा फोरौक्स (Cryptoprocta Ferox) कहते हैं। यहाँ जल में रहनेवाला सूअर तथा हिप्पोपोटैमस की एक अविकसित जाति भी मिलती है। साथ ही यहाँ का हेज हाग (hedge hog) एक विशेषता है। पक्षी अधिकतर एशिया के सदृश हैं। उरग प्राणिसमूह में कुछ अमरीकी ढंग के भी हैं। दोनों स्थानों (मैडागास्कर और अफ्रीका) के प्राणिसमूहों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि ऊदबिलाव और लीमर के विकास तक ये जुड़े हुए थे और इसके बाद पृथक् हो गए। सच्ची बिल्लियाँ और बंदर पृथक् होने के बाद अफ्रीका में विकसित हुए, पर मैडागास्कर न जा सके।

पूर्वी (ओरिएंटल) क्षेत्र

सीमा — भारत, लंका, मलाया प्रायद्वीप, पूर्वी द्वीपसमूह, जैसे बोर्नियो, सुमात्रा, जावा और फिलीपीन आदि, इस प्रदेश के भाग हैं।

विशेषता — इस प्रदेश में घने जंगल हैं, जो हिमालय की तराई में आठ से लेकर दस हजार फुट की ऊँचाई तक फैले हैं। जंगलों की विशेषता की दृष्टि से कुछ लोगों ने इसे इंडोचायनीज़ और इंडोमलायन उपक्षेत्रों में विभाजित किया है। भारत में अधिकतर घास के खुले मैदान अथवा चरागाह हैं। इसको तीसरा उपक्षेत्र कहा जा सकता है। इसी तरह भारतीय प्रायद्वीप का दक्षिणी भाग लंका से भिन्न है। इसलिये लंका चौथा उपक्षेत्र बनाता है। इसे सिंहली उपक्षेत्र कहते हैं।

प्राणिसमूह — इस क्षेत्र के स्तनधारी प्राणी अफ्रीका के स्तनधारी प्राणियों से मिलते जुलते हैं। इसलिये पहले कुछ लोग इसे ईथिओपियन क्षेत्र का एक भाग मानते थे। जहाँ तक खुरवाले जानवरों का संबंध है, हिप्पोपोटैमस, जो अफ्रीका की विशेषता है, इस क्षेत्र में नहीं मिलता। घोड़ों में केवल एक जाति सिंध नदी के पास मिलती है। यह वह सीमा है, जहाँ ओरिएंटल और होलार्कटिक क्षेत्र मिलते हैं। मृग भी यहाँ मिलते हैं, परंतु उनकी संख्या कम हो गई है। ठोस सींगवाले हिरन की लगभग २० जातियाँ मिलती हैं। भारतीय भैंस, गाय और इनकी तीन चार जंगली जातियाँ, जैसे गवल (gour), गायल (gayal) आदि जावा से लेकर भारतीय प्रायद्वीप तक विस्तृत हैं। पवित्र गाय, जिसे जेबू कहते हैं, केवल पालतू रूप में मिलती है। बकरी भी यहाँ मिलती है। गैंडा (राइनोसरॉस, rhinoceros) भी यहाँ मिलता है। ये एक सींगवाले और दो सींगवाले, दोनों प्रकार के होते हैं। अमरीकी तापिर की एक जाति और सूअर की छः जातियाँ यहाँ मिलती हैं।

कुछ भागों में ऊदबिलाव पाए जाते हैं। बिल्लियों में बाघ और उसके अलावा अफ्रीकी बिल्लियाँ भी, जैसे शेर, चीते और तेंदुए आदि, हैं। कुत्तों और लोमड़ियों की कई जातियाँ मिलती हैं। जंगली कुत्तों की भी कई जातियाँ मिलती हैं, जो भेड़ियों की भाँति शिकार करती हैं। कुछ भागों में गीदड़ भी पाए जाते हैं। धारीदार हायना, अर्थात् लकड़बग्घा, भी अनेक स्थानों में मिलता है। भालुओं की भी कई जातियाँ यहाँ मिलती हैं। भारतीय हाथी सभी जंगलों में मिलते हैं। ये पूर्व में लंका, बोर्नियो और सुमात्रा तक फैले हुए हैं। चूहों और गिलहरियों का यह क्षेत्र मुख्य घर है। गोल और चिपटी पूँछवाली उड़नेवाली गिलहरियाँ भी बहुत मिलती हैं। चमगादड़ यहाँ अन्य प्रदेशों की अपेक्षा विशेष विकसित हैं। लाल मुंह (macacus) और काले मुँह तथा लंबी दुमवाले लंगूर (semnopithecus) यहाँ बहुत पाए जाते हैं। इस प्रदेश के पूर्वी भागों में जैसे मलाया द्वीपपुंज (Malay Archipelago) में, औरांग उटान (orang-utan) और गिब्बन (gibbon) मिलते हैं। इसी भाग में उड़नेवाला लीमर (Galeo pithecus) मिलता है। सुमात्रा, जावा और बोर्नियो में एक विशेष प्रकार का लीमर पाया जाता है, जिसे स्पेक्ट्रम लीमर (spectrum lemur) कहते हैं तथा जिसका वैज्ञानिक नाम टारसियस स्पेक्ट्रम (tarsius spectrum) है।

इस क्षेत्र में विभिन्न और अधिक पक्षिसमूह है। अनेक प्रकार की महत्वपूर्ण चिड़ियाँ, जैसे लाफिंग थ्रश (laughing thrush), हिल-टिट (hill-tit), बुलबुल (bulbul), ग्रीन बुलबुल (green bulbul), टेलर बर्ड (tailor bird), स्टार्लिंग (starling), मधुमक्खी भक्षी (bee-eater), सन बर्ड (sun-bird) आदि इस क्षेत्र में बहुतायत से पाई जाती हैं। बया भारतीय क्षेत्र का विशेष पक्षी है। यहाँ तोते कम विकसित हैं। फीजेंट्स (pheasants) बहुतायत में

मिलते हैं। मुर्ग हिमालय से लेकर जावा के टापुओं तक फैला है। मोर हर जगह, हिमालय से लेकर दक्षिण में लंका और पूर्व में चीन तक, मिलता है।

उरगों में विशालकाय अजगर, कोबरा और पिट वाइपर आदि मिलते हैं। छिपकलियों में गोह, गेक्को (घरेलू छिपकली), आगामा, ड्रेको (उड़नेवाली छिपकली) आदि मिलती हैं। मगरमच्छ और घड़ियाल भी यहाँ की विशेषताएँ हैं। उभयचरों में मेढक, टोड और वृक्षों पर रहनेवाले मेढक (hyla frog) आदि मिलते हैं। यहाँ का मत्स्य भी विशेष महत्वपूर्ण है।

आस्ट्रेलियन क्षेत्र

सीमा — आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, न्यूगिनी के अतिरिक्त पैसिफिक महासागर के टापू, जैसे ईस्ट इंडीज और लोंबक आदि इस क्षेत्र की सीमा बनाते हैं।

विशेषता — इस क्षेत्र के मुख्य भाग (आस्ट्रेलिया) की जमीन कंकरीली है। यहाँ पानी की कमी है और शुष्क तीव्र वायु अधिक बहती है। यहाँ की भूमि सारी अनुपजाऊ है। वनस्पतियाँ कम होती हैं और जो होती हैं, वे भी गर्मी से झुलस जाती हैं, जिससे उनके द्वारा जंतुओं का विकास नहीं हो पाता। इस क्षेत्र का अधिकतर भाग रेगिस्तानी है, जिसमें जानवर रह नहीं पाते। इस महाद्वीप का आधे से कुछ कम भाग उष्ण प्रदेश में पड़ता है। न्यूजीलैंड के अधिकतर भाग में घना जंगल है।

जंतुसमूह — आस्ट्रेलियन क्षेत्र के जंतुसमूह में कई विचित्रताएँ दिखाई देती हैं। वे स्तनधारी प्राणी यहाँ नहीं मिलते, जो अन्य समान जलवायुवाले देशों में मिलते हैं। न्यूगिनी में सूअर की एक जाति सस (sus) मिलती है। इसके अलावा यहाँ पृथ्वी पर रहनेवाले वे अन्य स्तनधारी प्राणी नहीं मिलते, जो पुरानी दुनिया में मिलते हैं, पर चमगादड़ और चूहे यहाँ मिलते हैं। इस प्रदेश के महत्वपूर्ण जानवर हैं मारसूपियल (marsupial) और मॉनोट्रीम (monotreme)। मारसूपियल शरीर के बाहर स्थित थैली (मारसूपियम) में बच्चे पालनेवाले जंतु हैं। इनमें कंगारू, कंगारू चूहा, डैस्यूरस (dasyurus), चींटी खानेवाले मारसूपियल, बैंडीकूट, बिना पूँछवाला कोआला और शहद चूसनेवाले मारसूपियल उल्लेखनीय हैं। इस क्षेत्र के अलावा ये कहीं और नहीं पाए जाते। मॉनोट्रीम अविकसित स्तनधारी हैं, जिनमें बत्तख जैसी चोंचवाला ऑरनिथोरिंकस (ornithorhynchus) और साही जैसे काँटोंवाले एकिड्ना (echidna) उल्लेखनीय हैं।

यहाँ का पक्षीसमूह भी महत्वपूर्ण है। पुरानी दुनिया के अधिकतर पक्षी यहाँ मिलते हैं। संसार में पाई जानेवाली कुछ फिंच (finch) यहाँ नहीं मिलती। गिद्ध, कठफोड़वा तथा फीजैंट यहाँ नहीं मिलते। न्यूगिनी की पैराडाइज बर्ड यहाँ का विशेष पक्षी है। यह आस्ट्रेलिया में भी मिलता है। कुंज बनानेवाले पक्षी (bower birds) केवल यहीं मिलते हैं। यहाँ के तोते बहुत बड़े होते हैं। काकातूआ और कैसोवैरी (cassowaries) भी यहाँ के विशेष पक्षी हैं। एमू आस्ट्रेलिया में साधारणतः पाया जाता है।

यहाँ बिना दुमवाले उभयचर (मेढक, टोड) मिलते हैं, परंतु जीनस व्यूफो (genus bufo) यहाँ नहीं मिलता। राना (Rana) की एक ही जाति (species) यहाँ मिलती है, जिसमें पेड़ों पर रहनेवाले मेढक अधिक हैं। साँप और छिपकलियाँ यहाँ बहुत मिलते हैं। विषहीन साँपों से विषैले साँपों की संख्या अधिक है। मगरमच्छ की भी एक जाति यहाँ मिलती है। न्यूजीलैंड में एक छिपकली मिलती है, जिसे टुआटारा (Tuatara) कहते हैं। इसको जीवित जीवाश्म कहते हैं, क्योंकि इस छिपकली में पुराने समय की छिपकलियों के चारित्रिक गुण पाए जाते हैं। मत्स्यसमूह बहुत कम है। फेफड़ेवाली मछली, सिरैटोडस (Ceratodus), की यहाँ दो जातियाँ मिलती हैं।

आस्ट्रेलियन क्षेत्र और ओरियंटल क्षेत्र के बीच पचीस मील चौड़ी समुद्र की धारा है। इस धारा को वॉलिस की रेखा (Wallace's line) कहते हैं। यह बाली (Bali) द्वीप से लाबॉक (Lombok) द्वीप तक बोर्नियो (Borneo) तथा सेलेबीज (Celebes) द्वीपों के बीच होकर जाती है। इस रेखा के पूर्व में आस्ट्रेलियन क्षेत्र है, जिसमें मारसूपियल स्तनधारी प्राणी मिलते हैं, किंतु विकसित स्तनधारी नहीं मिलते। इस रेखा के पश्चिम में ओरियंटल क्षेत्र है, जिसमें आस्ट्रेलियन क्षेत्र से भिन्न प्रकार के जंतु मिलते हैं। यह पचीस मील चौड़ी धारा बहुत गहरी है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि कभी यहाँ पर कोई महत्वपूर्ण बाधा रही होगी जिसके कारण एक ओर के जानवर दूसरी ओर नहीं जा पाते होंगे।

उदग्र विस्तार (Bathymetric Distribution) — पहाड़ की चोटी से समुद्र के तल तक जलवायु के कई स्तर मिलते हैं। हर प्रकार की जलवायु का जंतु समूह पृथक् पृथक् होता है। इसलिये पहाड़ की ऊँचाई से लेकर समुद्र की गहराई तक के जानवरों के विस्तार का अध्ययन किया जाता है। इस तरह के विस्तार को बैथिमेट्रिक वितरण कहते हैं। कुछ लेखकों ने बैथिमेट्रिक वितरण को दो भागों में विभाजित किया है, एक है गहराई संबंधी, अर्थात् जलीय, और दूसरा है ऊँचाई संबंधी, अर्थात् ऐल्टिट्युडिनल विस्तार (altitudinal distribution)। बैथिमेट्रिक विस्तार के अध्ययन के लिये जीव संबंधी तीन विभाग किए गए हैं : १—भूमिजीवी (geobiotic), २—समुद्रेतर जलवासी (limnobiotic) तथा ३—हैलोबायोटिक (halobiotic) या समुद्रवासी।

१. भूमिजीवी जंतु पृथ्वी पर रहनेवाले हैं। समुद्र के किनारे से लेकर पहाड़ की चोटी तक के जानवरों का उल्लेख इनमें होता है। इनमें प्रायः ऐसे प्राणीसमूहों का उल्लेख होता है, जिनपर ऊँचाई का प्रभाव पड़ता है।

२. समुद्रेतर जलवासी (limnobiotic) जंतुओं में स्वच्छ जल (झील या नदी) में रहनेवाले जानवरों का उल्लेख होता है। स्वच्छ जल के निवासियों की संख्या कम है। इनमें मेरुदंडवंशी प्राणी बहुत कम होते हैं, विशेषकर बहनेवाले जल में। कुछ बड़ी बड़ी झीलें हैं, जिनमें जल का दबाव अधिक है और प्रकाश भी अंदर नहीं आ पाता, पर उनमें रहनेवाले प्राणियों में वे विशेषताएँ नहीं होतीं, जो समुद्र में रहनेवाले प्राणियों में होती हैं।

३. समुद्रवासी प्राणीविभाग में समुद्रवासी प्राणियों का उल्लेख होता है। पृथ्वी का लगभग ७२ प्रति शत क्षेत्र समुद्र से घिरा हुआ है। समुद्र में प्राणी बहुत पुराने समय से हैं। पत्थरों पर अंकित प्राणियों के जो जीवाश्म मिलते हैं, वे अधिकतर समुद्री प्राणियों के हैं। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि समुद्र में रहनेवाले प्राणियों में ही विकास

अधिक हुआ, क्योंकि इन प्राणियों को एक जैसे वातावरण में एक लंबे काल तक रहने का अवसर मिला। आधुनिक समय में भी यदि देखा जाय तो प्राणियों के कई समूह, जैसे टेनोफोरा (Tenophora), ब्रैकियोपोडा (Brachiopoda), पॉलिकीटा (Polychaeta), सेफालोपॉडा (Cephalopoda), ट्यूनिकाटा (Tunicata) हैं, जो केवल समुद्र में ही मिलते हैं। समुद्री क्षेत्र में ताप परिवर्तित नहीं होता। जल का खारापन हर स्थान पर प्रायः एक समान है और विलेय गैस भी हर स्थान पर एक जैसी मात्रा में मिलती है। इस क्षेत्र को भी चार भागों में बाँटा गया है : स्ट्रैंड (Strand), फ्लैट सी (Flat sea) या शैलो सी (Shallow sea), पिलैजिक (Pelagic) और ऐबिस्सल (Abyssal)। इनमें से कभी कभी लेखक पहले दो का वर्णन लिटोरल (Littoral) के अंतर्गत करते हैं।

स्ट्रैंड समुद्र के किनारे को कहते हैं। यह पृथ्वी और समुद्र के बीच परिवर्तनवाला क्षेत्र है। इस स्थान से दिन में दो बार ज्वारभाटा धीमे से वापस जाता है और वहाँ के रहनेवाले प्राणियों को खोल देता है। चूँकि इसका संबंध ज्वारभाटा से है, इसलिये इसे ज्वारभाटा संबंध क्षेत्र भी कहते हैं। इस भाग के जानवर अपने को सूखने से बचाने के लिये या तो कवच (shell) बंद कर लेते हैं, या तल में बिल बनाकर प्रवेश कर जाते हैं। इनमें कुछ ऐसे प्राणी भी होते हैं, जो जल में अथवा हवा में साँस ले सकते हैं।

फ्लैट सी उथले समुद्र को कहते हैं। यह उतरते हुए ज्वारभाटा के उस चिह्न से प्रारंभ होता है, जहाँ से जल समुद्र की ओर नहीं जाता। इसमें

चित्र २. समुद्रीय परिमंडल के विभिन्न उपमंडल

समुद्री लहरों की क्रिया एक सी होती है और यह लगभग ६०० फुट गहरा होता है। यह महत्वपूर्ण भाग है। इसमें प्रकाश, वनस्पति और तल तीनों वस्तुएँ उपस्थित रहती हैं, जिनपर जंतुजीवन निर्भर करता है। इसको लोगों ने विकासवाद का क्षेत्र माना है।

प्रकाश उथले जल से नीचे भी प्रवेश करता है। पर फ्लैट सी विभाग के नीचे तल नहीं मिलता। इसमें जितने प्राणी हैं वे बिना तल के रहते हैं। इसलिये ये सदा लहरों के साथ पाया जाया करते हैं। समुद्र में जिस गहराई तक प्रकाश पहुँच सकता है, उस गहराई तक के भाग को पिलैजिक (pelagic) भाग कहते हैं। पिलैजिक के ऊपरी भाग में ताप बदलता रहता है और लहरों की उथल पुथल रहती है। नीचे जल स्थिर रहता है और ताप कम। इस भाग में कुछ प्राणी हैं, जो जल में तैरते रहते हैं और जिन्हें जल यहाँ वहाँ ले जाता है। ऐसे प्राणी-समूह को प्लैंक्टन (plankton) कहते हैं। इस भाग में कुछ ऐसे बड़े प्राणी भी होते हैं, जो लहरों के विरुद्ध जा सकते हैं। इन्हें नेक्टॉन (nekton) कहते हैं। मछली, ह्वेल आदि ऐसे प्राणियों के उदाहरण हैं। इस भाग में जल पर तैरनेवाली वनस्पतियाँ भी मिलती हैं। प्रायः सर्वत्र पिलैजिक भाग का जल एक जैसा होता है, इसलिये इस भाग का फैलाव अधिक होता है। प्लैंक्टन प्राणिसमूह अनेक भाँति के प्राणियों का प्रतिनिधित्व करता है। इस समूह के जंतु प्रायः छोटे होते हैं, जिससे इनके शरीर के अंदर और बाहर का द्रव पदार्थ एक जैसा होता है और दोनों का ताप भी एक जैसा होता है। इसका भार बहुत कम होता है। यदि भार अधिक हुआ तो अंदर हवा के बुलबुले भरे रहते हैं, या तेल की बूँदें, जिससे वे जल में तैरते रहते हैं। इनके कवच पतले होते हैं। कुछ जातियों के अंडों में तैरने की विशेष व्यवस्था होती है। प्लैंक्टन के जानवर अच्छे तैरनेवाले नहीं होते; अधिकतर तो तैरना जानते ही नहीं। ५०० मीटर की गहराई के जानवर, विशेषकर मछलियाँ, प्रकाशोत्पादक होती हैं। सतह पर रहनेवाले प्राणी पारदर्शी होते हैं। जहाँ प्रकाश धूमिल है, वहाँ के प्राणी रुपहले होते हैं और अधिक गहराई में रहनेवाले जानवर गाढ़े रंग के होते हैं। नेक्टॉन प्राणी अधिकतर समूहों में रहते हैं। उड़नेवाली मछलियाँ, ह्वेल एवं डॉल्फिन आदि इसके अच्छे उदाहरण हैं।

ऐबिस्सल क्षेत्र में १०० फैदम से अधिक गहराईवाले सभी समुद्र आते हैं। यह पिलैजिक के बाद प्रारंभ होता है। इस प्रदेश का वातावरण बिल्कुल स्थिर होता है। यहाँ के जानवर तलों की नरम कीचड़ पर, या कीचड़ में रहते हैं। यहाँ का जल ठंढा और प्रकाशहीन होता है। ऊपर की लहरों का प्रभाव भी यहाँ नहीं होता। इस गहराई में जल का दबाव अधिक हो जाता है। ज्यों ज्यों गहराई बढ़ती है, चूने की मात्रा कम होती जाती है और कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा बढ़ती जाती है; फिर भी इतना ऑक्सीजन होता है कि प्राणी भली भाँति रह सकें। काला सागर जैसे कुछ ऐसे स्थान भी हैं, जिनके जल में पर्याप्त ऑक्सीजन नहीं मिलता। इस क्षेत्र में केवल प्रकाशोत्पादक प्राणियों का ही प्रकाश मिलता है। यहाँ के जानवर विशेष रूप से बड़े होते हैं। कुछ केकड़े इतने बड़े होते हैं कि उनका व्यास ३ मीटर होता है। हाइड्रा की आकृतिवाले कुछ जानवर होते हैं, जिनकी लंबाई २·५ मीटर होती है, यद्यपि स्वयं हाइड्रा की लंबाई केवल आठ मिलीमीटर के लगभग होती है। इस गहराई में रहनेवाले अधिकतर जानवर स्पंज, सीलट्रेट, क्रिनॉइड्स (crinoids) और एमिडियंस आदि डंठलवाले होते हैं। डंठल से इनका शरीर उठा रहता है। क्रस्टेशियन के शरीर पर लंबे काँटे, कड़े बाल और लंबे स्पर्शक होते हैं। गहरे जल में रहने-

वाले क्रस्टेशियन लाल होते हैं, परंतु अन्य अपृष्ठवंशी प्राणी नीले अथवा बैंगनी रंग के होते हैं। गहराई में रहनेवाली मछलियों में आँखें नहीं होतीं। यहाँ ऐंग्लर मछलियाँ भी होती हैं, जिनके मुँह बड़े तथा शरीर पर लंबे लंबे काँटे होते हैं। मोलस्का की श्रेणी में यहाँ बड़े बड़े ऑक्टोपस (Octopus) एवं स्क्विड (Squid) होते हैं। चूँकि इस गहराई का वातावरण स्थिर होता है, अतः यहाँ विकास संबंधी तीव्र परिवर्तन नहीं होते।

भूवैज्ञानिक विस्तार (Geological Distribution) — जिस तरह सतह पर जंतुओं के विस्तार का अध्ययन किया जाता है, उसी प्रकार

भूवैज्ञानिक कालमान की सामान्य तालिका

कल्प	अवधि	मोटाई (हजार फुटों में)		आयु (दस लाख वर्षों में)		स्तर की बनावट	प्रधान जीव जंतु और वनस्पति
		प्रत्येक अवधि में	अवधि के शुरू से तब तक	प्रत्येक अवधि के	अवधि के शुरू से अब तक		
मानव	नूतनतम	२५	५५	०२	०२		
[illegible]	[illegible]	१'०५	४	'६८	१		मनुष्य
केनोजोइक या नूतनजीव	[illegible]	११	१७	७	८		[illegible]
	[illegible]	१४	११	१२	२०		
	[illegible]	१२	४३	१५	१५		
	[illegible]	[illegible]	६३	७५	६०		
[illegible]	[illegible]	[illegible]	१०७	५०	११०		
	[illegible]	८	११५	३०	१४०		[illegible]
	[illegible]	१७	१३७	४०	१८०		
[illegible]	[illegible]	१२	[illegible]	[illegible]	[illegible]		[illegible]
	[illegible]	२१	१६१	८०	[illegible]		[illegible]
	[illegible]	१२	१६५	४५	३१०		[illegible]
	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]		[illegible]
	[illegible]	१७	[illegible]	[illegible]	[illegible]		[illegible]
	[illegible]	२६	२४३	७०	[illegible]		[illegible]
[illegible]	[illegible]	२०	[illegible]	१२५	[illegible]		[illegible]
[illegible]	[illegible]	२०	[illegible]	[illegible]	[illegible]		[illegible]
[illegible]		?	?	[illegible]	[illegible]		[illegible]

चित्र १

जंतुओं के काल (समय) में विस्तार का भी किया जाता है। अब से १० हजार अथवा १५ हजार वर्ष पूर्व कैसे प्राणी थे, इसका अध्ययन भूगर्भशास्त्र की सहायता से किया जाता है। इसीलिये इसे भूवैज्ञानिक विस्तार कहते है। पृथ्वी की सतह जैसी आज है, वैसी पहले नहीं थी। उसपर परत के परत जमते आ रहे हैं। परतों के बीच में जो जानवर पड़ गए, आज भी उनके जीवाश्म खोदकर निकाले जा सकते हैं। इनकी सहायता से विकासवाद का अध्ययन पूरा हो सका है। विकासवाद के जीवाश्म-प्रमाण टुकड़ों में मिले हैं, पर कहीं कहीं पूरे भी मिल गए हैं, जैसे आधुनिक घोड़े के विकास संबंधी जीवाश्म पूर्ण मिल गए हैं, जिनसे घोड़ों के विकास के क्रम का पता चलता है। इसी तरह आर्कियोप्टैरिक्स का जीवाश्म है, जिसमें चिड़ियों के लक्षण हैं और उरगों के भी। यह सिद्ध करता है कि उरगों से ही पक्षियों का विकास हुआ।

भूवैज्ञानिक दृष्टि से समय को छः कल्पों में बाँटा गया है और प्रत्येक कल्प को अन्य छोटे छोटे कालभागों में विभाजित किया गया है। जिन्हें अवधि (epoch) कहा गया है। पहला जीवहीन कल्प (Azoic) के नाम से अभिहित है। यह कल्प लगभग १,००,००,००,००० वर्षों तक रहा। साधारण जीवोत्पत्ति दूसरे कल्प में हुई, जिसका नाम आर्कियोज़ोइक (Archeozoic) है। इस काल के जीवाश्म प्राप्त नहीं हैं। इसका कारण यह है कि प्रारंभिक प्राणी अत्यंत सुकुमार तथा छोटे थे, इसलिये उन्होंने कोई चिह्न नहीं छोड़े। तीसरे कल्प का नाम प्राजीव कल्प (Proterozoic) है। इस काल के जीवाश्म बहुत अच्छे नहीं हैं, परंतु ऐसा अनुमान है कि अधिकतर अपृष्ठवंशी प्राणी इस समय में विकसित हो चुके थे। इस निश्चय पर पहुँचने का मुख्य कारण यह है कि इसके आगेवाले काल से अपृष्ठवंशी प्राणियों के अच्छे जीवाश्म प्राप्त हैं।

इसके पश्चात् पुराजीवकल्प (Palaeozoic) काल आता है। इसको छः अवधियों में बाँटा गया है। प्रथम अवधि कैंब्रियन कहलाती है। उसके बाद क्रमशः आर्डोविशियन, डिवोनियन, कार्बोनीफेरस तथा पर्मियन आते हैं। कैंब्रियन (Cambrian) में अपृष्ठवंशी प्राणियों की बहुतायत है। ट्राइलोबाइट्स् (trilobites) और ब्रैकियोपॉड्स अधिक हैं। आर्डोविशियन (Ordovician) में अपृष्ठवंशी प्राणियों का उत्कर्ष और मछलियों का जन्म हो गया। कवचदार मछलियाँ भी पैदा हो गई थीं। सिल्यूरियन (Silurian) में बड़ी बड़ी कोरल रीफ (coral reefs) पैदा हो गई थीं। ब्रैकियोपॉडों का उत्कर्ष हुआ, परंतु ट्राइलोबाइट कम होने लगे थे। इस काल में मछलियाँ भली भाँति मिलती हैं। फेफड़ेवाली मछलियाँ भी मिलती हैं। डिवोनियन (Devonian) मछलियों का काल कहलाता है। इस अवधि में मोलस्क अधिक थे। उभयचरों का भी जन्म हो गया था। इस प्रकार पृष्ठवंशी प्राणियों ने इस अवधि में प्रथम बार पृथ्वी पर जन्म लिया। इस अवधि के ये तीनों भाग इस कारण विशेषकर महत्वपूर्ण हैं। कार्बोनिफेरस (Carboniferous) में, जो डिवोनियन के पश्चात् आता है, वनस्पतियों तथा कोरल की अधिकता थी। कीटों का विकास भली भाँति हो चुका था। ब्रैकियोपॉड विलीन होने लगे थे। बड़ी बड़ी शार्क मछलियाँ तथा फेफड़ेवाली अन्य मछलियाँ अधिक थीं। प्रधानतः यह उभयचरों का युग था। इसमें बड़े बड़े उभयचर थे। इन्हीं से उरगों का जन्म हुआ। कार्बोनिफेरस के पश्चात् पर्मियन (Permian)

युग आया। इस अवधि में मछलियाँ, उभयचर और छिपकलियाँ बहुत थीं। मकड़ी, बिच्छू, गोजर, घोंघे और पुरातन कीट इस युग में बहुत थे।

मेसोज़ोइक (Mesozoic) कल्प प्राजीव कल्प के बाद आया। यह उरग काल कहलाता है। कुछ उरग तो हाथियों से भी बड़े थे। इसी युग के उरग पक्षियों में परिवर्तित हुए। इस कल्प को तीन अवधियों में बाँटा गया है। ये हैं ट्राइऐसिक (triassic) ,जुरैसिक (Jurassic) और क्रिटेशस (Cretaceous)। ट्राइऐसिक में समुद्री अपृष्ठवंशी प्राणियों की कमी हुई और बड़े उरग डायनोसॉर की वृद्धि। जुरैसिक में आधुनिक क्रस्टेशियन पैदा हो गए तथा ऐमोनाइटीज (Ammonites) बहुत हो गए। इस काल में पक्षी और उड़नेवाले उरग भी पाए जाते हैं। क्रिटेशस युग में ऐमोनाइटीज लुप्त हो गए। बड़े बड़े उरग भी विलीन होने लगे और टीलियोस्टियन मछलियों की वृद्धि हुई।

अंतिम कल्प को केनोज़ोइक (Cenozoic) कल्प कहते हैं। यह आधुनिक प्राणियों का काल है। इसका विभाजन दो कालों में किया गया है। एक है तृतीय युग (Tertiary) और दूसरा चतुर्थ युग (Quaternary)। तृतीय युग के कई भाग हैं। सबसे पहले भाग को आदि नूतन काल (Eocene) कहते हैं। इसमें अविकसित स्तनधारियों का विलोनीकरण प्रारंभ हो गया था और गर्भनाल (placenta) वाले स्तनधारियों का जन्म हुआ। इनमें घोड़े का प्राथमिक रूप इयोहिप्पस (Eohippus)भी है। दूसरे भाग को अधिनूतन युग (Oligocene) कहते हैं। इसमें स्तनधारियों की वृद्धि हुई। बिल्ली, कुत्ते और भालू के बीच के जानवर और घोड़े की दूसरी श्रेणी मीज़ोहिप्पस (Mesohippus) तथा मायोहिप्पस (Miohippus) भी थे। बंदर तथा एप (ape) भी इसी काल में पैदा हुए हैं। तृतीय भाग, अल्पनूतन (Miocene), स्तनधारियों की वृद्धि का काल है। इनकी संख्या एवं रूप दोनों में वृद्धि हुई है। चौथे भाग अतिनूतन (Pliocene) में बंदर जैसे प्राणियों का सीधे चलनेवाले मानव में परिवर्तन प्रारंभ हो गया।

चतुर्थ युग सबसे आधुनिक काल को कहते हैं। इसका प्रथम भाग अभिनूतन काल (Pleistocene) कहलाता है। मानव का जन्म इसी काल में हुआ है। यह आधुनिक काल है। इस समय के बने जीवाश्म आधुनिक प्राणियों से मिलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जानवरों का विकास क्रमशः काल अथवा समय के अनुसार हुआ है। [स० ना० प्र०]

जंतुओं के रंग प्रकृति ने इंद्रधनुष के सारे रंगों को लेकर उनके भड़कीले मिश्रण से पशु पक्षियों को इस प्रकार सुसज्जित कर दिया है कि उन्हें देख हम अवाक् रह जाते हैं। मोर तथा 'स्वर्ग का पक्षी' (Bird of Paradise) रमणीक रंगों के परिधान हैं, परंतु गौरैया तथा कुछ अन्य चिड़ियाँ साल भर भूरे रंग की ही रहती हैं। यह वर्णविभिन्नता क्यों? वर्णरमणीयता आती क्यों कर है? प्रकृति ने जंतुओं को सुंदर भड़कीले रंग दिए ही क्यों? ये प्रश्न ऐसे हैं जिनको ज्यों ज्यों सुलझाने का प्रयास किया जाता है त्यों त्यों उलझते जाते हैं।

ग्रांट ऐलन ने अपनी पुस्तक "कलर सेंस" में लिखा है कि वे जंतु, जो सुंदर फल और फूल इत्यादि पर रहते हैं, प्रायः सुंदर हो जाते हैं और मांसाहारी जंतु, जो सदा मिट्टी में अथवा गंदी जगह रहते हैं, रंगीन नहीं होते। यह सत्य है कि प्रायः जंतु के रंगों पर वातावरण का प्रभाव पड़ता है, परंतु उसे एक सिद्धांत का रूप नहीं दिया जा सकता। कीचड़ में पाए जानेवाले घोंघों के कवच का रंग प्रायः सुंदर होता है। गंदे वातावरण में ही रहनेवाली कुछ मकड़ियाँ बड़ी सुंदर होती हैं।

रंग के प्रयोजन संबंधी खोज हमें यह बतलाती है कि यद्यपि प्राणियों में रंग का होना अनिवार्य नहीं है फिर भी हमारे चारों ओर रंगीन जंतुओं का भारी जमघट है। सर्वेक्षण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जंतुओं के अद्भुत वर्ण इनकी सुरक्षा से संबंधित हैं। परंतु यह निष्कर्ष सब प्राणियों पर लागू नहीं होता। कुछ जंतुओं में रंग आनुवंशिक रूप में अनिवार्य रहता है। उसका न किसी बाह्य वातावरण से संबंध है और न सुरक्षा से ही। उदाहरण के लिये कोन-शेल (Cone-shell) को लीजिए। इसके कवच (shell) की बाहरी सतह पर रंग का एक निश्चित प्रतिरूप रहता है। जब तक प्राणी जीवित रहता है यह प्रतिरूप दिखलाई नहीं देता, क्योंकि यह बाह्य त्वचा को एक स्थूल परत से ढका रहता है। मृत्यु के पश्चात् त्वचा सड़ जाने पर यह रंगीन प्रतिरूप दिखाई देने लगता है। जीवित प्राणी का रंग इस छिपे हुए प्रतिरूप से कहीं भिन्न है। सी-ऐनिमोन (Sea-anemone) नामक प्राणी भी विभिन्न रंगों के होते हैं। परंतु कोई नहीं जानता कि इतने सुंदर रंग उन्होंने कहाँ से पाए।

वर्णक — हर प्रकार के रंग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दो प्रकार के द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं। एक है मेलैनिन (melanin) वर्णक और दूसरा है वसारंजी (lipochrome)। मेलैनिन रक्त से उत्पन्न होता है। यह वर्ज्य पदार्थ है, किंतु अन्य वर्ज्य पदार्थों की तरह बाहर न निकल कर त्वचा, बाल, पंख और शल्क (scale) में एकत्र हो जाता है। मेलैनिन वर्णक कई प्रकार के होते हैं, परंतु इनमें गाढ़े भूरे और काले रंगवाले वर्णक अधिक प्रत्यक्ष होते हैं।

पीले और लाल रंग के वर्णक वसारंजी कहलाते हैं। ये वसा के वर्णक हैं और शरीर के संचित द्रव्य से उत्पन्न होते हैं। कुछ ऐसे जंतु हैं जिनके रंग खाए गए पदार्थ के रंग पर आधारित होते हैं। इन रंगों को व्युत्पन्न वर्णक (derived pigments) कहते हैं। तितलियों की इल्ली (caterpillar) के रंग इसी तरह के होते हैं।

कोई भी प्राणी अपने शरीर को रमणीक वर्णों से सजाकर शत्रुओं की आँखों से नहीं बच सकता, परंतु मंद वर्णवाले प्राणी शिकारी जानवरों से बच निकलते हैं। इस तथ्य का अभिज्ञान सबसे पहले डारविन (Darwin) को हुआ, किंतु इस तथ्य को पूर्णतः प्रमाणित और सिद्ध करने का भार प्रोफेसर पूल्टन (Poulton) ने अपने कंधों पर संभाला। इसी के फलस्वरूप आज हम रंग को कई श्रेणियों से परिचित हैं। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण श्रेणियाँ हैं संरक्षी रंजन (protective colouration), भयसूचक (warning) रंजन अनुहरण (mimicry) और गौण लैंगिक लक्षण से संबंधित रंग।

संरक्षी रंजन — संरक्षी रंजन के सैकड़ों उदाहरण दिए जा सकते हैं, परंतु जितना समाधानकारी रंग तीतर अथवा जंगली बतख का होता है उतना अन्य कोई नहीं। जब ये पूर्णतया गतिहीन बैठे होते हैं, दिखलाई नहीं पड़ते। इन पक्षियों में वैयक्तिक पंखों का परिशुद्ध प्रतिरूप किसी प्रकार से अनुवर्ती नहीं, क्योंकि हर जाति (species) का अपना पृथक् नमूना होता है, परंतु व्यापक आभास एक ही प्रकार का प्रतीत होता है और वह है अदृश्यता का आवरण।

कुछ पक्षियों में संरक्षी रंजन शरीर के विशेष आसनों से संबंधित प्रतीत होते हैं। प्रायः भय की आशंका से ये पक्षी ऐसा आसन ग्रहण कर लेते हैं जिससे ये शत्रु को दिखाई न दें। इससे यह भी सिद्ध होता है कि ये अपने शरीर के रंग के परिणाम से सचेत हैं। बिटर्न (bittern) नामक पक्षी भय का संकेत पाते ही अपनी चोंच को आकाश की ओर उठाए अपने शरीर को ऊर्ध्वाधर दिशा में इस तरह स्थिर करके खड़ा हो जाता है कि उसके नीचे का भाग शत्रु की ओर रहे। इसके शरीर के नीचे के भाग का रंग हलका पीला होता है और गर्दन तथा सीने पर काली, खड़ी रेखाएँ होती हैं। दूर से इसका रंग सरकंडे की शाखाओं के बीच से झाँकती हुई प्रकाश की किरणों जैसा हो जाता है। फलस्वरूप यह शत्रु की दृष्टि से ओझल हो जाता है।

वर्ण और बाह्य वातावरण की अनुरूपता केवल संपात ही नहीं है। यह अन्य अनेक उदाहरणों द्वारा सिद्ध होता है। उष्ण कटिबंधीय वनों में रहनेवाले मृग (axis deer) का वर्ण पूरे वर्ष धब्बेदार बना रहता है, परंतु साधारण जंगलों में रहनेवाले मृगों का रंग गर्मी में धब्बेदार और शीतकाल में साधारण एक रंग का होता है। प्रायः तितलियों अथवा फतिंगों के पंखों का रंग एक ही समय संरक्षी तथा भड़कीला होता है। जैसे भारत की प्रसिद्ध तितली कैलीमा (kallima) को लीजिए। यह ऐसा महत्वपूर्ण प्राणी है जो आँख झपकते ही रंग बदल लेता है। उड़ते समय इसके विस्तृत पंख नीले रंग के रहते हैं, जिसपर एक सुनहरी पट्टी सुशोभित रहती है। यदि इसका पीछा किया जाय, तो यह अचानक अदृश्य हो जाती है, मानो हवा हो गई। अचंभा होता है कि हुआ क्या और क्यों कर? जिस झाड़ी के निकट यह विलीन हुई प्रतीत होती है उसके पास ध्यान से देखने पर थोड़ी देर में कोई एक पत्ती किनारे पर फटती हुई लगेगी। देखते देखते उसके दोनों किनारे अलग हो जाएँगे और बीच से गहरा नीला रंग दिखलाई देने लगेगा।

इस तितली के पंख के नीचे का रंग सूखी पत्ती के रंग से बिल्कुल मिलता जुलता है, यहाँ तक कि विशेषज्ञों को उलझन में डाल देता है। वैसी ही मध्य शिरा और वैसा ही शिराविन्यास भी होता है। यहाँ तक कि मध्य भाग में कुछ धब्बे भी दिखलाई पड़ते हैं, जो पत्तियों पर उपस्थित फफूँदों के धब्बों से मिलते हैं। नीचे की ओर बढ़कर मध्यशिरा पत्ती के डंठल का रूप धारण कर लेती है और जब तितली पौधे पर बैठती है तो पता चलता है कि पत्ती टहनी से निकल रही है।

आकर्षक रंजन (Alluring Colouration) – मंतिस (mantis) नामक कुछ जंतु हैं, जिनके शरीर की बनावट सुंदर फूलों से मिलती जुलती है। भारतीय मंतिस इसका महत्वपूर्ण उदाहरण है। इसके शरीर का रंग गुलाबी होता है। टाँगें चपटी हो जाती हैं, इसलिये फूलों की पंखुड़ियों जैसी लगती हैं। यह अपना सिर झुकाकर इस तरह बैठता है कि उधर आनेवाले प्राणी को किसी जानवर की उपस्थिति का भान तक नहीं होता। परंतु कोई कीड़ा इसके निकट आया नहीं कि इसकी अगली टाँगों में फँस जाता है। इसकी अगली टाँगें भी विशेष रूप की होती हैं। वे लंबी होती हैं और उनका अगला भाग पीछे वाले पर मुड़कर लटकेदार चाकू की धार जैसा घातक फंदा बना लेता है। इस धार के किनारे दाँतेदार होते हैं, जिससे कोई प्राणी एक बार फँस जाने पर इस फंदे से निकल नहीं सकता। तितली तथा उसके अन्य संबंधी इसको फूल समझ कर मधु के प्रलोभन से इसके निकट आते हैं और फंदे में फँस जाते हैं।

लंका की एक मकड़ी पत्ती पर रेशम का ऐसा जाल बुनती है जो पक्षियों के उत्सर्जित पदार्थ के रूप रंग का होता है। इसके मध्य बैठी हुई मकड़ी उत्सर्जित पदार्थ का गहरा धब्बा मालूम पड़ती है। तितलियाँ या कीड़े मकोड़े उसे उत्सर्जित पदार्थ समझकर वहाँ नमी की खोज में आते हैं और आते ही मकड़ी के शिकार हो जाते हैं।

रंगों में परिवर्तन — कुछ जानवरों में रंग बदलने की शक्ति होती है। वे बड़ी शीघ्रता से रंग बदल सकते हैं। रंग या तो प्रकाशकिरणों से बदलते हैं या रंजक द्वारा। मोर के पंखों के बदलते रंगों का अनुभव सभी ने किया होगा। एक क्षण वह हरा रहता है, दूसरे क्षण नीला और उसके पश्चात् ताम्र वर्ण का दिखाई पड़ता है। मोर में निश्चित रंग एक ही है, केवल उसपर पड़नेवाली प्रकाशकिरणों का विश्लेषण भिन्न भिन्न रंगों की झलक दिखलाता है।

गिरगिट की रंग बदलनेवाली आदत से सभी परिचित हैं। देखते देखते इसके सिर का रंग लाल हो जाता है। कुछ स्क्विड (squids), अष्टपाद (octopus) और उष्ण प्रदेशीय मछलियाँ रंग बदलने में बड़ी प्रवीण होती हैं। बरमूडा (Bermuda) के सागर में नैसाँ (Nassau) समुदाय की मछलियों में एक मछली ऐसी होती है जिसका रंग हलका काला (जस्ते के रंग जैसा) होता है। कुछ क्षणों में ही इसका शरीर काली बेड़ी धारियों से युक्त हो जाता है। इन धारियों के बीच संगमरमर जैसी चमकती हुई सफेद धारियाँ रहती हैं। अनेक उष्ण प्रदेशीय मछलियाँ भी यों ही रंग बदला करती हैं। प्रयोगशाला में भी इनके बदलते हुए रंग देखे जा सकते हैं।

इन सब जानवरों में वर्णक कणियाँ (pigment granules) त्वचा की बाहरी सतह के एक दम नीचे रहती हैं। प्रत्येक वर्णक कणी झिल्ली की थैली में भरी रंग की नन्हीं नन्हीं बूँदों की बनी होती है। झिल्ली की इन थैलियों पर तंत्रिका तथा अनुसेवी मांसपेशियों का जाल फैला रहता है। आँखों पर पड़नेवाला प्रकाश इन थैलियों को उत्तेजित करता है। प्रकाश यदि तेज होता है, तो उसका प्रभाव गहरी लाल एवं नीली थैलियों पर पड़ता है और यदि कम तेज होता है, तो उसका प्रभाव हलके रंग की थैलियों पर पड़ता है। इसके प्रभाव से मांसपेशियाँ सिकुड़ती हैं और वर्णक कणी से रंग निकलकर एक परत बना लेता है। इस प्रकार पता चलता है कि रंग बदलने का कारण आँखों पर पड़नेवाला प्रकाश है। अंधी मछलियों के शरीर का रंग परिवर्तित नहीं होता।

अपसूचक रंजन (Warning Colouration) — कुछ रंग शत्रुओं को चेतावनी देने के लिये उत्पन्न होते हैं। ये शत्रु को बतलाते हैं कि अमुक रंगवाले प्राणी बेस्वाद हैं या कड़वे। शत्रुजंतु एक या दो बार अनुभव करके समझ लेते हैं कि कौन से विशेष रंगवाले कीड़े खाने योग्य नहीं हैं, फिर उस रंगवाले कीड़ों पर हमला नहीं करते। मुर्गियों के सामने संरक्षी रंगोंवाले और अपसूचक रंजनावाले बहुत से डिंभ (larvae) डाल दीजिए। वे काले पीले अपसूचक रंजनोंवाले डिंभों को छोड़कर सभी को खा डालेंगी। अपसूचक रंजन, संरक्षणीय रंजन के बिल्कुल विपरीत, इस बात की चेतावनी देते रहते हैं कि अमुक रंजनवाले जानवरों से दूर रहो। उत्तरी अमरीका का स्तनपायी जंतु स्कंक (Skunk), लाल पेटवाला टोड (Fire bellied toad)
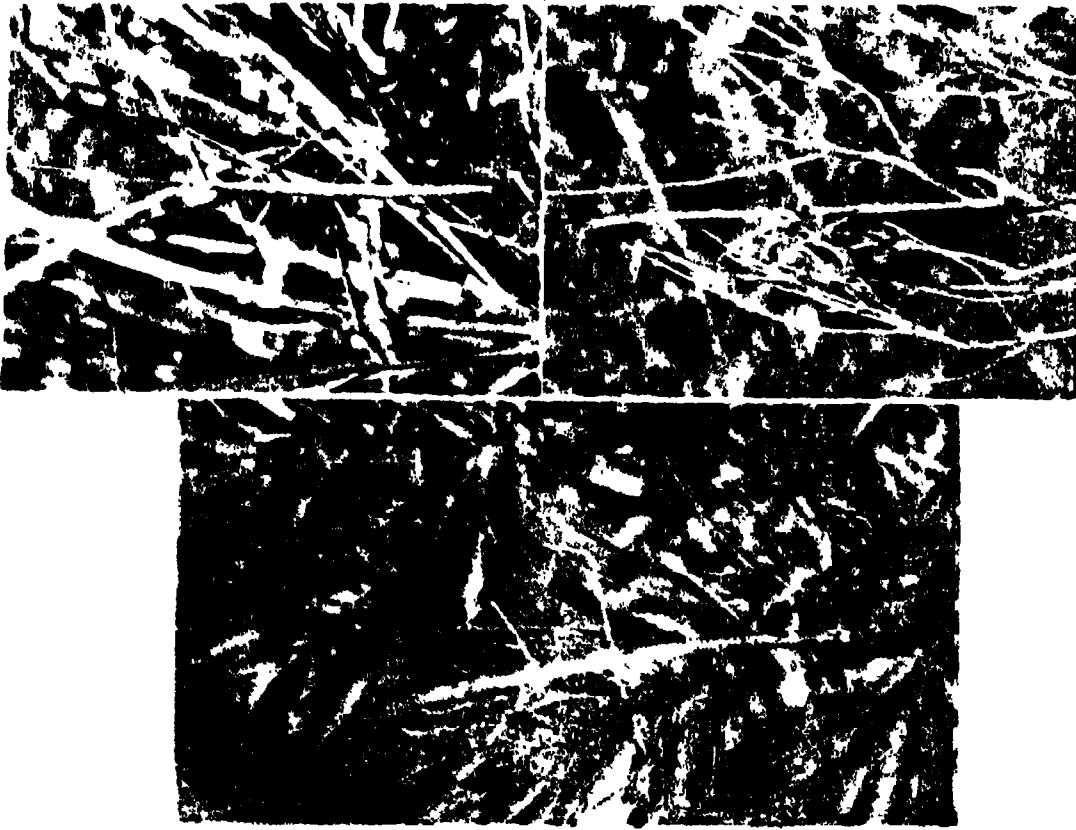
यष्टि कीट (Stick insect) **में संरक्षी रंजन**
पृष्ठभूमि के अनुसार इस कीट का रंग बदलता है।

ऊपर : लघु शृंगवाले टिड्डे के अर्भक (nymph) में अपसूचक रंजन;
दाएँ तथा नीचे : दो दीर्घ शृंग टिड्डे जो आकृति तथा रंग दोनों में पत्तियों का अनुकरण करते हैं।

जाति पृष्ठवंशी (vertebrate) प्राणी हैं, जो अपनी रक्षा के लिये अपसूचक रंजन का प्रयोग करते हैं।

अनुहरण (Mimicry) — अनुहरण का तात्पर्य एक जाति (species) की दूसरे से संरक्षीय एकरूपता है। साधारण खाई जानेवाली स्वादिष्ट जातियाँ अपनी रक्षा के लिये डंक मारनेवाली अथवा बेस्वाद जाति का अनुहरण करती हैं। उदाहरण के लिये वायसराय तितली (Viceroy butterfly) कुस्वाद मॉनर्क तितली (Monarch butterfly) का अनुहरण करती है। कुछ फतिंगे (moths) भृंगों (beetles) का और कुछ मक्खियाँ बर्रे की विभिन्न जातियों के रंजनों का अनुहरण करती हैं। कुछ केवल रंजनों की नकल ही नहीं करती, बल्कि उन्हीं की भाँति फूलों पर मँडराती हैं।

गौणलैंगिक लक्षण — नर और मादा के रंजनों मे प्रायः अंतर पाया जाता है। पक्षियों में यह अंतर बहुत स्पष्ट होता है। इनमें नर मादा से अधिक भड़कीले रंग का होता है। मुर्गे के सिर पर सुंदर लाल कलँगी होती है, जो मादा के सिर पर नहीं होती। नर का रंग मादा से भड़कीला होता है। नर टर्की के गले में चमड़े की एक लाल थैली लटकने लगती है। नर मोर सुंदर रंगों की छटा प्रदर्शित करता है, पर मादा का रंग सादा होता है। स्वर्ग के पक्षी का नर अद्वितीय सुंदरता के लिये प्रसिद्ध है। स्टिकिल बैक नामक मछली के नर का पेट प्रजनन काल में लाल हो जाता है। प्रकृति के नियम के अनुसार नरों के लिये प्रतिद्वंद्विता में सफल होने के लिये सुंदर होना आवश्यक है। सुंदरता के साधनों में सबसे महत्वपूर्ण हैं रंग। [प्र० ग्रो०]

जंबुकेश्वर दक्षिण भारत में कावेरी नदी के निकट श्रीरंगमतीर्थ के अंतर्गत एक प्रसिद्ध शैव मंदिर, तीर्थ और जलतत्वप्रधान शिवलिंग। श्रीरंग मंदिर से लगभग तीन किलोमीटर दूर स्थित इस मंदिर का लिंग जल में प्रतिष्ठित है। फर्ग्युसन के अनुसार इसका निर्माण १६वीं शताब्दी के अंत में हुआ था। किंतु मंदिर के एक शिलालेख से इसका अस्तित्व शक काल के पूर्व विदित होता है। मंदिर बहुत विशाल तथा विस्तृत है।

जंबुसार १. तालुक, गुजरात राज्य के भड़ौंच जिले में है। इसका क्षेत्रफल ३८६ वर्ग मील तथा जनसंख्या १८,४४६ (१९६१) है। इसके पश्चिम का भाग सूखा तथा मैदानी है, पूर्व का भाग वनस्पतियुक्त है। यहाँ मीठे पानी के झरने हैं। ज्वार, बाजरा, गेहूँ, दलहन, तंबाकू, तथा कपास प्रमुख कृषि उपज हैं।

२. नगर, स्थिति : २२° ३' उ० अ० तथा ७२° ४८' पू० दे०। यह गुजरात राज्य के भड़ौंच जिले में है। भड़ौंच नगर से यह २७ मील दूर स्थित है। नगर के उत्तर में एक बड़ी झील है, जिससे नगर में पानी आता है। यह झील पवित्र समझी जाती है। इसके किनारों पर वृक्ष तथा मध्य में ५० फुट के व्यास का एक द्वीप है। नगर में एक किला है जिसमें आजकल अनेक सरकारी कार्यालय हैं। [ऐ० मु० अ०]

जंबेजी का अफ्रीका महादेश की नदियों में चौथा स्थान है। यह २,५७६ किमी० लंबी है, परंतु अपनी सहायक नदी के साथ ३,४५० किमी० लंबी हो जाती है। इसका उद्गम उत्तरी रोडेशिया के कालेन (Kalen) नामक स्थान के पास (११° २१' द० अ० और २४° २२' पू० दे०) है, जो समुद्र से १,५२४ मीटर की ऊँचाई पर अंगोला की सीमा के निकट स्थित है। यह मोजांबिक देश के चिंडे नामक स्थान के निकट हिंद महासागर में गिरती है। नदी के बेसिन का क्षेत्रफल लगभग १३,२९,९५६ वर्ग किमी० है, जो विशेषकर अंगोला, उत्तरी रोडेशिया, दक्षिणी रोडेशिया और मोजांबिक देशों में विस्तृत है। इसका प्रवाहक्षेत्र भारत के कुल भूभाग के ४३% के बराबर है। अपने प्रारंभिक मार्ग में नदी पश्चिम की ओर बहती है और लगभग २८° पू० दे० पर अंगोला में प्रवेश करती है। तदनंतर दक्षिण-पश्चिम दिशा में बहकर दक्षिण की ओर बहने लगती है। अंगोला और उत्तरी रोडेशिया की सीमा के निकट चावुमा (Chavuma) स्थान पर इसी नाम के जलप्रपात हैं। इसकी बड़ी सहायक नदियों में सबसे पहले कैबोंपो (Kabompo) है, जो उत्तरी रोडेशिया से निकलती है, और इसके बाएँ किनारे पर मिलती है। उसी के निकट नांबोमा (Namboma) जलप्रपात है। इससे कुछ ही दूर दाहिने किनारे पर एक और बड़ी सहायक नदी लुंग्वे बंगु (Lungwe bungu) आकर मिलती है। अन्य सहायक नदियों में काफ़ुए (Kafue) उल्लेख्य है, जो उत्तरी रोडेशिया की उत्तरी सीमा के निकट निकलती है।

नदी पर सबसे महत्वपूर्ण विक्टोरिया जलप्रपात है, जो दक्षिणी रोडेशिया में लिविंगस्टन नगर से केवल १२ किमी० दक्षिण में स्थित है। प्रपात की अधिकतम चौड़ाई १,७२५ मीटर है। इसके रेनबो प्रपात (Rainbow fall) की सुषमा दर्शनीय है। प्रपात की कुल ऊँचाई १०६ मीटर है। जंबेजी की करीबा घाटी में काफ़ुए नदी के संगम से ४८ किमी० ऊपर एक जल-विद्युत्-योजना कार्यान्वित की गई जिसका प्रथम चरण १९६० ई० में पूर्ण हो गया था।

नदी में कई स्थानों पर झरने तथा जलप्रपात होने के कारण नौका-वहन में बाधा पड़ती है। मोजांबिक में स्थित केब्राबासा के प्रपात के नीचे नदी मुहाने तक लगभग ६४४ किमी० नौपरिवहनीय है।

[आ० स्व० जौ०]

जई भारत में जई की जातियाँ मुख्यतः ऐवना सटाइवा (Avena sativa) तथा ऐवना स्टेरिलिस (A. sterilis) वंश की हैं। यह भारत के उत्तरी भागों में उत्पन्न होती है। इसका उपयोग पशुओं के दाने तथा हरे चारे के लिये होता है।

जई की खेती के लिये शीघ्र पकनेवाली खरीफ की फसल काटने के बाद चार-पाँच जोताइयाँ करके, १२५-१५० मन गोबर की खाद प्रति एकड़ देनी चाहिए। अक्टूबर-नवंबर में ४० सेर प्रति एकड़ की दर से बीज बोना चाहिए। इसकी दो बार सिंचाई की जाती है। हरे चारे के लिये दो बार कटाई, जनवरी के आरंभ तथा फरवरी में, की जाती है। दूसरी सिंचाई प्रथम चारे की कटाई के बाद करनी चाहिए। हरे चारे की उपज २००-२५० मन तथा दाने की १५-२० मन प्रति एकड़ होती है। [य० रा० मे०]

जकार्ता (Djakarta) हिंदेशिया (इंडोनेशिया) गणतंत्र की राजधानी है, जो जावा द्वीप के पश्चिम उत्तरी समुद्रतट पर जिलिवांग या चिलिवांग नदी के मुहाने पर स्थित है।

डच ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा १६१९ ई० में बटेविया नाम से इसकी स्थापना हुई। १९४९ ई० में यह इंडोनेशिया की राजधानी घोषित किया गया और इसका नाम जकार्ता रखा गया।

डच काल में नगर के चारों ओर दीवार बनाई गई थी। उस समय अधिकांश चीनी लोग दीवार के भीतर रहते थे। १७४० ई० में चीनियों

ने 'चाइना टाउन' नाम की अलग बस्ती बसाई, जो अब जकार्ता का महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र है।

१६वीं शताब्दी में कहवा, सिनकोना तथा रबर आदि के बगीचे जावा तथा आसपास के द्वीपों में बड़े पैमाने पर लगाने से इस नगर की अत्यधिक उन्नति एवं विकास हुआ। जकार्ता बंदरगाह से रबर, चाय, कुनैन तथा गर्म क्षेत्रों में उत्पन्न होनेवाली अन्य वस्तुएँ विदेशों को भेजी जाती हैं। आयात होनेवाली वस्तुओं में मशीनें तथा तैयार माल मुख्य है। १९३० ई० के पश्चात् इस नगर के उद्योगीकरण के कारण यहाँ पर लोहा गलाने, साबुन तैयार करने, चमड़ा सिझाने और लकड़ी चीरने के कारखाने तथा कपड़े की मिलें स्थापित हुई।

भारतीय नगरों की भाँति इस नगर में भी पूर्व-पश्चिम का समन्वय यहाँ की इमारतों, लोगों की पोशाक, सड़कों पर चलनेवाली विभिन्न सवारी गाड़ियों में स्पष्ट दिखाई देता है। सरकारी विज्ञप्ति के अनुसार यहाँ की जनसंख्या २९,७३,१०० (१९६१) है। [उ० सि०]

जगतसिंह, राजा यह राजा बासू का बेटा था। सर्वप्रथम यह एक छोटे से मंसब के साथ बंगाल में नियुक्त हुआ। जब इसके भाई सूरजमल ने, जो दक्षिण का शासक नियत था, विद्रोह किया तब बादशाह जहाँगीर ने जगतसिंह को बंगाल से बुलाकर उसका मंसब एकहजारी ५०० सवार का करके और अन्य बहुत सी वस्तुएँ देकर उसे सूरजमल का दमन करने के लिये नियत राजा विक्रमाजीत सुंदरदास की सहायता के लिये भेजा। जहाँगीर के राज्य के अंत में इसका मंसब डीनहजारी १००० सवार तक पहुँचा था। शाहजहाँ के शासन में यही मंसब रहा। बादशाही सेना के कश्मीर से लौटने पर इसे बंगश की थानेदारी और खंगजाति के विद्रोहियों का दमन करने के लिये नियुक्त किया गया।

शाहजहाँ के शासन के १०वें वर्ष यह उस पद से हटा दिया गया और काबुल का सहायक सरदार बनाया गया। जलाल तारीकी के पुत्र करीमदाद को इसने बड़ी चतुराई से गिरफ्तार करवाया था। बताते हैं कि जलाल तारीकी इस्लाम धर्म का विरोधी था। ११वें वर्ष इसे जमींदावर दुर्ग पर अधिकार करने के लिये भेजा गया। बड़ी धीरता दिखाकर इसने दुर्ग पर प्रभुत्व प्राप्त कर लिया। १२वें वर्ष यह लौटकर आया। इसे पुरस्कार मिला और यह बंगश का फौजदार नियुक्त किया गया। १४वें वर्ष कांगड़ा की तराई में इसके पुत्र राजरूप को फौजदार नियत किया गया और इसने पर्वतीय राजाओं से भेंट लेने की आज्ञा बादशाह से प्राप्त कर ली। किंतु इसी समय इसके मन में विद्रोह की भावना जगी। इसके लिये बादशाह ने खानजहाँ बारहा मर्दद खाँ जफरजंग और असालत खाँ के अधीन सेनाएँ भेजीं और सुल्तान मुरादबख्श को पीछे से भेजा।

जगतसिंह ने अपने अधीनस्थ मऊनूरगढ़ और तारागढ़ आदि दुर्गों को बचाने के लिये जमकर युद्ध किया। विजय होती न देखकर खानजहाँ को मनाकर शाहजादे के पास आया। शाहजादे ने इस शर्त पर कि मऊ और तारागढ़ ध्वस्त कर दिए जाएँगे, इसे क्षमा कर दी।

बादशाह ने अपनी दयालुता से इसे दंड नहीं दिया और इसका मंसब वही रहने दिया।

उसी वर्ष यह दाराशिकोह के साथ कंधार पहुँचकर किलात दुर्ग का अध्यक्ष बना। १६४५ ई० में शाहजहाँ ने अमीर-उल-उमरा अलीमर्दान खाँ को शाहजादा मुरादबख्श के साथ बदख्शाँ विजय के लिये नियुक्त किया। उसमें भी इसने अपनी विलक्षण चतुराई का परिचय दिया। तत्पश्चात् यह पेशावर पहुँचकर सन् १६४५ ई० (१०५५ हि०) में मर गया।

जगतसेठ जगत्श्रेष्ठी शब्द का अपभ्रंश है। जोधपुर राज्य के वणिकवंशी हीरानंद सा के सात पुत्र थे। सारे देश में इनकी हुंडी का व्यापार फैला था। इनके एक पुत्र माणिकचंद्र ने ढाका में एक कोठी बनाई तथा इन्हीं से इस वंश का नाम फैला। ये बंगाल के नवाब मुर्शिद कुली खाँ के कृपापात्र, मित्र एवं दाहिने हाथ थे।

सन् १७१५ में सम्राट् मुहम्मदशाह ने धनकुबेर फतेहचंद को जगतसेठ की उपाधि से विभूषित किया तथा एक मरकत मणि भी प्रदान की जिसपर 'जगतसेठ' अंकित था। आगे चलकर इन्होंने राजनीति में विशेष भाग लिया। ये नवाबों को बनाने और बिगाड़ने लगे। अलीवर्दी खाँ से मिलकर सरफराज खाँ का विनाश किया और पुनः सिराजुद्दौला को बंगाल से निकालने तथा मीरजाफर को भी हटाने में इनका हाथ था। अंत में मीर कासिम ने इनके पुत्रों को कैद करवा लिया और बाद में उनका वध भी करा दिया। तदुपरांत इनके वंशजों को बड़ी मुसीबत के दिन देखने पड़े। [जि० ना० वा०]

जगतियल १. आंध्र प्रदेश में करीमनगर जिले का तालुक है। यह गोदावरी नदी की घाटी में समुद्रतट से लगभग ४०० किमी० की दूरी पर स्थित है। इसका कुल क्षेत्रफल लगभग २,४८५ वर्ग किमी० है। इसके दक्षिणी भाग में एक नीची पहाड़ी शृंखला है। इस तालुक में जगतियल तथा कोरतला नाम के दो नगर और २५१ ग्राम हैं। यहाँ धान की खेती की जाती है और सिंचाई के मुख्य साधन तालाब हैं।

२. नगर, स्थिति : १८°४९' उ० अ० तथा ७८° ५५' पू० दे०। यह आंध्र प्रदेश के करीमनगर जिले में स्थित इसी नाम के एक ताल्लुक का मुख्य नगर है। यहाँ की जनसंख्या २०,६४१ (१९६१) है। इस नगर के उत्तर में जफरुद्दौला द्वारा सन् १७४७ में निर्मित एक किला है। यहाँ एक सरकारी स्कूल तथा अस्पताल है। यहाँ रेशमी साड़ी और दुपट्टे बनाए जाते हैं। [न० प्र०]

जगदलपुर १. तहसील, मध्यप्रदेश के बस्तर जिले में है। क्षेत्रफल २,६०८ वर्ग मील है। इसकी जनसंख्या ३,४३,०५१ (१९६१) है। उत्तर-दक्षिण दिशा में पहाड़ियों की शृंखला फैली है। धान कृषि का प्रमुख पदार्थ है। साल और सागौन प्रधान वनस्पति हैं। यहाँ मारिया, मुरिया, परजा, भतरा आदि आदिवासी जातियाँ रहती हैं। जगदलपुर प्रमुख नगर है। यहाँ एक महाविद्यालय है।

२. नगर, मध्य प्रदेश के बस्तर जिले में है। यह इंद्रावती नदी पर स्थित है। इसकी जनसंख्या २०,४१२ (१९६१) है। नगर के चारों ओर एक खाड़ी थी, जिसे गंदगी के कारण पाट दिया गया। महल के पास एक बड़ा तालाब है, जिसे समुद्र कहते हैं। यहाँ चावल और तेल की कुछ मिलें तथा एक महाविद्यालय है। [सै० मु० अ०]

जगदीशचंद्र वसु, सर (सन् १८५८-१९३७) भारत के प्रसिद्ध भौतिकविद् तथा पादपक्रिया वैज्ञानिक का जन्म ३० नवंबर, १८५८, को हुआ था। इन्होंने कलकत्ता के सेंट जेवियर कालेज तथा इंग्लैंड के कैंब्रिज विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई तथा उच्च संमान प्राप्त किए। प्रेसिडेंसी कालेज, कलकत्ता, में ये सन् १८८५ में भौतिकी के प्रोफेसर नियुक्त हुए तथा इस पद पर सन् १९१५ तक रहे। सन् १८९६ में कैंब्रिज विश्व-

विद्यालय ने आपको डी० एस-सी० की उपाधि प्रदान की। प्रेसिडेंसी कालेज से सेवानिवृत्त होने पर सन् १९१७ में आपने बोस रिसर्च इंस्टिट्युट, कलकत्ता, की स्थापना की और सन् १९३७ तक इसके निर्देशक रहे।

सर जगदीशचंद्र ने भौतिकी विज्ञान में वैद्युत विकिरण से संबंधित महत्व के आविष्कार किए तथा विद्युत्तरंगों के परावर्तन, वर्तन और ध्रुवण के नियमों को स्थापित किया। बेतार संबंधी क्रियाओं में काम आनेवाले तथा बाद में आविष्कृत कोहियरर (Coherer) के सदृश एक उपकरण का इन्होंने आविष्कार किया था, जिससे पूर्वोक्त नियमों संबंधी खोजों में इन्हें विशेष सहायता मिली।

जंतुओं के, तथा विशेषकर वनस्पतियों के, क्रियाविज्ञान में इनके आविष्कार आश्चर्यजनक और इतने प्रगत थे कि उनका मूल्य सर बसु की मृत्यु के दीर्घकाल पश्चात् तक पूर्णतः नहीं आँका जा सका। इन्होंने अपने प्रयोगों के लिये नई नई रीतियों को अपनाया तथा अनेक नए एवं अद्भुत यंत्रों और उपकरणों का आविष्कार किया। इन यंत्रों में पौधों की वृद्धि नापने के लिये क्रेस्कोग्राफ् नामक एक यंत्र भी था, जो इस वृद्धि को एक करोड़ गुना संवर्धित कर प्रदर्शित करता था। इन्होंने ऐसे उपकरण भी बनाए जिनसे पौधों पर निद्रा, वायु, भोजन और ओषधियों इत्यादि के प्रभाव भी देखे जा सकते थे। इनकी सहायता से इन्होंने वानस्पत्य तथा जांतव ऊतकों की क्रियाओं में सादृश्य प्रदर्शित किया।

सन् १९१७ में इन्हें अंग्रेज सरकार ने सर की उपाधि दी तथा सन् १९२० में ये रॉयल सोसायटी (इंग्लैंड) के फेलो निर्वाचित हुए। सर जगदीशचंद्र ने कई महान् ग्रंथ भी लिखे हैं, जिनमें से कुछ निम्नलिखित विषयों पर हैं : सजीव तथा निर्जीव की अभिक्रियाएँ (१९०२), वनस्पतियों की अभिक्रिया (सन् १९०६), पौधों की प्रेरक यांत्रिकी (सन् १९२८) इत्यादि।

सन् १९३७ के २३ नवंबर को बंगाल के गिरिडीह नगर में आपकी मृत्यु हुई। [भ० दा० व०]

जगदीश तर्कालंकार दे० 'नैयायिक' (भारतीय)।

जगदीशपुर स्थिति : २५° १५' उ० अ० तथा ८४° ४०' पू० दे०। यह बिहार राज्य के शाहाबाद जिले के अंतर्गत प्रसिद्ध ग्राम है। प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी कुँवरसिंह का यह निवासस्थान था। इसकी जनसंख्या ११,८४० (१९६१) है। [शि० नं० स०]

जगदेकमल्ल (चालुक्य) कल्याणी के चालुक्य वंश में जगदेकमल्ल के विरुदवाले तीन नरेश हुए हैं। जयसिंह द्वितीय (१०१५-४२ ई०) ने सर्वप्रथम इस विरुद को धारण किया। अतएव वह जगदेकमल्ल प्रथम के नाम से भी प्रसिद्ध है (दे० 'जयसिंह द्वितीय')।

सोमेश्वर तृतीय के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र कल्याणी के सिंहासन पर बैठा। अभिलेखों में उसके नाम का निर्देश नहीं है। अपने विरुद जगदेकमल्ल के नाम से ही उसका उल्लेख आता है अतएव उसे जगदेकमल्ल द्वितीय (११३८-५५ ई०) कहा गया है। उसके अन्य विरुद थे—पेर्म, प्रताप चक्रवर्तिन् और त्रिभुवनमल्ल। अपने पितामह विक्रमादित्य षष्ठ के समय में ही उसे शासन में विशेष महत्व का पद प्राप्त हो गया था। चालुक्य वंश की क्षीण होती हुई शक्ति का लाभ उठाकर विष्णुवर्धन् होयसल ने अपने राज्य का विस्तार धारवाड़ में बंकापुर तक कर लिया था, फिर भी वह चालुक्यों की अधीनता स्वीकार करता था। उसने नरसिंह होयसल के साथ ११४३ ई० के लगभग मालव पर आक्रमणकर जयवर्मन् के स्थान पर बल्लाल को सिंहासन पर बैठाया था। इसके अतिरिक्त लाट, गुर्जर, चोल, कलिंग और नोलंबपल्लव पर भी उसकी विजय का उल्लेख है लेकिन इसमें अतिशयोक्ति की संभावना अधिक है। जगदेकमल्ल को अपना अधिकार बनाए रखने में कई सेनानायकों और सामंतों से सहायता मिली थी। इनमें पेरमाडिदेव सिंद, बर्म्म दंडाधिप और केशिराज दंडाधीश के नाम उल्लेखनीय हैं। ११४९ ई० के लगभग ही जगदेकमल्ल का छोटा भाई तैल तृतीय भी जगदेकमल्ल के साथ शासन में संयुक्त हो गया था। जगदेकमल्ल ने एक संवत् की स्थापना की थी किंतु स्वयं उसके राज्यकाल में ही उसका सदैव उपयोग नहीं होता था; उसके शासन के बाद वह शीघ्र ही समाप्त हो गया। 'संगीतचूड़ामणि' जगदेकमल्ल द्वितीय की कृति थी। कर्णाटक भाषाभूषण, काव्यालोकन और वस्तुकोश का रचयिता नागवर्म द्वितीय उसका उपाध्याय था।

११५६ से ११८१ ई० तक के काल में कल्याणी पर कलचुरि लोगों का अधिकार रहा। किंतु ११६३ में तैल द्वितीय की मृत्यु के बाद भी चालुक्यों ने अपना दावा नहीं छोड़ा। जगदेकमल्ल तृतीय इसी समय हुआ। उसके अभिलेखों की तिथि ११६४ से ११८३ तक है। कदाचित् वह तैल तृतीय का पुत्र था। संभवतः परिस्थिति के अनुकूल वह कभी कलचुरि नरेश का आधिपत्य स्वीकार करता था और कभी स्वतंत्र शासक के रूप में राज्य करता था। उसके अभिलेख चितलद्रुग, बेल्लारी और दूसरे जिलों से प्राप्त हुए हैं। एक अभिलेख में तो उसे कल्याण से राज्य करता हुआ कहा गया है। विजय पांड्य उसका सामंत था। [ल० गो०]

जगद्धात्री दुर्गा का एक रूप। यह सिंहवाहिनी चतुर्भुजा, त्रिनेत्रा एवं रक्तांबरा हैं। हिंदू धर्म में दुर्गा के रूप की पूजा का आरंभ अज्ञात है। शक्तिसंगमतंत्र, उत्तर कामाख्यातंत्र, भविष्यपुराण स्मृतिसंग्रह, और दुर्गाकल्प आदि ग्रंथों में जगद्धात्री पूजा का उल्लेख मिलता है। केनोपनिषद् में हेमवती का वर्णन जगद्धात्री के रूप में प्राप्त है। अतएव इन्हें अभिन्न मानते हैं। कार्तिक शुक्ल पक्ष नवमी को इनकी पूजा का विधान है।

जगद्बंधु शर्मा संस्कृत के प्रसिद्ध बंगाली पंडित। इन्होंने 'अरेबियन नाइट्स' की प्रथम पचास कहानियों का पद्यानुवाद मूल अरबी से संस्कृत भाषा में 'आख्यामिनी' नाम से किया था।

जगन्नाथ तर्कपंचानन (१६९४-१८०७) प्रसिद्ध बंगाली पंडित। हुगली (त्रिवेणी) में इनका जन्म हुआ। ये बड़े ही प्रतिभाशाली थे। इनके पांडित्य पर मुग्ध होकर तत्कालीन बर्धमान नरेश तथा मुर्शिदाबाद के नवाब ने इन्हें अनेक पारितोषिक प्रदान किए थे। 'विवाद भंगार्णव सेतु' तर्कशास्त्र पर इनका प्रामाणिक ग्रंथ है। कहा जाता है, इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की लेकिन इस समय रामचरितनाटक के अतिरिक्त कुछ उपलब्ध नहीं है। ११३ वर्ष की आयु भोगने के बाद इनकी मृत्यु हुई।

जगन्नाथ पंडितराज वेंगिनाटीय कुलोद्भव तैलंग ब्राह्मण, गोदावरी जिलांतर्गत मुंगुडु ग्राम के निवासी थे। उनके पिता का नाम 'पेरुभट्ट' (पेरमभट्ट) और माता का नाम लक्ष्मी था। पेरुभट्ट परम

विद्वान् थे। उन्होंने ज्ञानेंद्र भिक्षु से 'ब्रह्मविद्या', महेंद्र से न्याय और वैशेषिक, खंडदेव से 'पूर्वमीमांसा' और शेषवीरेश्वर से महाभाष्य का अध्ययन किया था। वे अनेक विषयों के प्रति प्रौढ़ विद्वान् थे। पंडितराज ने अपने पिता से ही अधिकांश शास्त्रों का अध्ययन किया था। शेषवीरेश्वर जगन्नाथ के भी गुरु थे। प्रसिद्धि के अनुसार जगन्नाथ, पहले जयपुर में एक विद्यालय के संस्थापक और अध्यापक थे। एक काजी को विवाद में परास्त करने के कीर्तिश्रवण से प्रभावित दिल्ली सम्राट् ने उन्हें बुलाकर अपना राजपंडित बनाया। 'रसगंगाधर' के एक श्लोक में 'नूरदीन' के उल्लेख से समझा जाता है नूरुद्दीन मुहम्मद 'जहाँगीर' के शासन के अंतिम वर्षों में (१७वीं शती के द्वितीय दशक में) वे दिल्ली आए और शाहजहाँ के राज्यकाल तथा दाराशिकोह के वध तक (१६५६ ई०) वे दिल्लीवल्लभों के पाणिपल्लव की छाया में रहे। दाराशिकोह के साथ उनकी विशेष घनिष्ठता थी। अतः उसकी हत्या के पश्चात् उनका जीवन मथुरा में हरिभजन और काशी में निवास करते हुए बीता। उनके ग्रंथों में न मिलने पर भी उनके नाम से मिलनेवाले पद्यों और किंवदंतियों के अनुसार पंडितराज का 'लवंगी' नामक नवनीतकोमलांगी, यवनसुंदरी के साथ प्रेम और शरीरसंबंध हो गया था। उससे विवाह हुआ या नहीं, कब और कहाँ उसकी मृत्यु हुई — इस विषय में बहुत सी भिन्न भिन्न दंतकथाएँ हैं। इसके अतिरिक्त भी पंडितराज के संबंध में अनेक जनश्रुतियाँ पंडितों में प्रचलित हैं। कहा जाता है कि यवन संसर्गदोष के कारण काशी के पंडितों, विशेषत: अप्पय दीक्षित द्वारा बहिष्कृत और तिरस्कृत होकर उन्होंने प्राणत्याग किया। कहीं कहीं यह भी सुना जाता है कि यवनी और पंडितराज — दोनों ने ही डूबकर प्राण दे दिए। इस या इस प्रकार की लोकप्रचलित दंतकथाओं का कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। किसी मुसलमान रमणी से उनका प्रणयसंबंध रहा हो — यह संभव जान पड़ता है। १६वीं शती ई० के अंतिम चरण में संभवतः उनका जन्म हुआ था और १७वीं शती के तृतीय चरण में कदाचित् उनकी मृत्यु हुई। सार्वभौम श्री शाहजहाँ के प्रसाद से उनको 'पंडितराज' की उपाधि (सार्वभौम श्री शाहजहाँ - प्रसादाधिगतपंडितराज - पदवीविराजितेन) अधिगत हुई थी। कश्मीर के रायमुकुंद ने उन्हें 'आसफविलास' लिखने का आदेश दिया था। नव्वाब आसफ खाँ के (जो 'नूरजहाँ' के भाई और शाहजहाँ के मंत्री थे) नाम पर उन्होंने उसका निर्माण किया। इससे जान पड़ता है कि शाहजहाँ और आसफ खाँ के साथ वे कश्मीर भी गए थे।

पंडितराज जगन्नाथ उच्च कोटि के कवि, समालोचक तथा शास्त्रकार थे। कवि के रूप में उनका स्थान उच्च कोटि के उत्कृष्ट कवियों में कालिदास के अनंतर — कुछ विद्वान् रखते हैं। उन्होंने यद्यपि महाकाव्य की रचना नहीं की है, तथापि उनकी मुक्तक कविताओं और स्तोत्रकाव्यों में उत्कर्षमय और उदात्त काव्यशैली का स्वरूप दिखाई देता है। उनकी कविता में प्रसादगुण के साथ साथ ओजप्रधान समासबहुला रीति भी दिखाई देती है। भावनाओं का ललितगुंफन, भावचित्रों का मुग्धकारी अंकन, शब्दमाधुर्य की झंकार, अलंकारों का प्रसंगसहायक और सौंदर्यवर्धक विनियोग, अर्थ में भावप्रवणता और बोधगरिमा तथा पद्यों के संग्रथन में लालित्य की सर्जना — उनके काव्य में प्रसंगानुसार प्रायः सर्वत्र मिलती है। रीतिकालीन अलंकरणप्रियता और ऊहात्मक कल्पना की उड़ान का भी उनपर प्रभाव था। गद्य और पद्य — दोनों की रचना में उनकी अन्योक्तियों में उत्कृष्ट अलंकरणशैली का प्रयोग मिलता है। कल्पनारंजित होने पर भी उनमें तथ्यमूलक मर्मस्पर्शिता है। उनकी सूक्तियों में जीवन के अनुभव की प्रतिध्वनि है। उनके स्तोत्रों में भक्तिभाव और श्रद्धा की दृढ़ आस्था से उत्पन्न भावगुरुता और तन्मयता मुखरित है। उनके शास्त्रीय विवेचन में शास्त्र के गांभीर्य और नूतन प्रतिभा की दृष्टि दिखाई पड़ती है। सूक्ष्म विश्लेषण, गंभीर मनन चिंतन और प्रौढ़ पांडित्य के कारण उनका 'रसगंगाधर' अपूर्ण रहने पर भी साहित्यशास्त्र के उत्कृष्टतम ग्रंथों में एक कहा जाता है। वे एक साथ ही कवि, साहित्यशास्त्रकार एवं वैयाकरण थे। पर 'रसगंगाधर' कार के रूप में उनके साहित्यशास्त्रीय पांडित्य और उक्त ग्रंथ का पंडितमंडली में बड़ा आदर है।

ग्रंथ की प्रौढ़ता से आकृष्ट होकर साहित्यशास्त्रज्ञ नागेश भट्ट ने 'रसगंगाधर' की टीका लिखी थी। उनकी रचनाएँ — (१) स्तोत्र : (क) अमृतलहरी (यमुनास्तोत्र), (ख) गंगालहरी (पीयूषलहरी — गंगामृतलहरी), (ग) करुणालहरी (विष्णुलहरी), (घ) लक्ष्मीलहरी और (ङ) सुधालहरी। (२) प्रशस्तिकाव्य (क) आसफविलास, (ख) प्राणाभरण — और (ग) जगदाभरण। (३) शास्त्रीय रचनाएँ – (क) रसगंगाधर (अपूर्ण साहित्य शास्त्रीय ग्रंथ), (ख) चित्रमीमांसाखंडन (अप्पय दीक्षित की 'चित्रमीमांसा' नामक अलंकारग्रंथ की खंडनात्मक आलोचना) (अपूर्ण), (ग) काव्यप्रकाशटीका (मंमट के 'काव्यप्रकाश' की टीका) और (घ) मनोरमाकुचमर्दन (भट्टोजि दीक्षित के 'प्रौढ़मनोरमा' नामक व्याकरण के टीकाग्रंथ का खंडन)। इनके अतिरिक्त उनके गद्य ग्रंथ 'यमुनावर्णन' का भी 'रसगंगाधर' से संकेत मिलता है। 'रसगंगाधर' नाम से सूचित होता है कि इस ग्रंथ में पाँच 'आननों' (अध्यायों) की योजना रही होगी। परंतु दो ही 'आनन' मिलते हैं। 'चित्रमीमांसाखंडन' भी अपूर्ण है। 'काव्यप्रकाशटीका' भी प्रकाशित होकर अब तक सामने नहीं आई। (५) सुभाषित — भामिनीविलास (पंडितराज शतक) उनका परम प्रसिद्ध मुक्तक कविताओं का संकलन ग्रंथ है। 'नागेश भट्ट' के अनुसार 'रसगंगाधर' के लक्षणों का उदाहरण देने के लिये पहले से ही इसकी रचना हुई थी। इसमें चार विलास हैं, प्रथम 'प्रस्तावित विलास' में अत्यंत सुंदर और ललित अन्योक्तियाँ हैं जिनमें जीवन के अनुभव और ज्ञान का सरस एवं भावमय प्रकाशन है। अन्य 'विलास' हैं — शृंगारविलास, करुणविलास और शांतिविलास। सायास अलंकरणशैली का प्रभाव तथा चमत्कारसर्जना की प्रवृत्ति में अभिरुचि रखते हुए भी जगन्नाथ की उक्तियों में रस और भाव की मधुर योजना का समन्वय और संतुलन बराबर वर्तमान है। उनके मत से वाङ्मय में साहित्य, साहित्य में ध्वनि, ध्वनि में रस और रसों में शृंगार का स्थान क्रमशः उच्चतर हैं। पंडितराज ने अपने पांडित्य और कवित्व के विषय में जो गर्वोक्तियाँ की हैं वे साधार हैं। वे सचमुच श्रेष्ठ कवि भी हैं और पंडितराज भी। [क० प० त्रि०]

जगन्नाथ (पुरी) संसार के स्वामी, विष्णु अथवा कृष्ण की संज्ञा है, किंतु पिछली कई शताब्दियों से इस शब्द का प्रयोग रूढ़रूप से उड़ीसा में स्थित जगन्नाथमंदिर के देवता के लिये होता रहा है। भुवनेश्वर को जगन्नाथपुरी अथवा पुरुषोत्तम क्षेत्र कहा जाता है। पुरुषोत्तमतीर्थ और जगन्नाथ देवता की उत्पत्ति की चर्चाएँ बहुत बाद में लिखे गए कुछ पुराणों में मिलती हैं (ना० पु०, उ० भा०, अ० ५२ ३, स्क० पु०, उ० खं० अ० १८; ब्र० पु०, अ० ४५-५१)। जगन्नाथमंदिर का निर्माण कलिंग के गंगवंशी राजा चोडगंग ने ११०० ई० के आसपास कराया

था। इस मंदिर के साथ १०० से कुछ अधिक ही मंदिर हैं जो शिव और विष्णु जैसे देवताओं के आस्पद हैं। विष्णुचक्र और ध्वज से युक्त १९२ फुट ऊँचे शिखरवाले अत्यंत भव्य जगन्नाथ मंदिर में जगन्नाथ (कृष्ण) के अतिरिक्त बलराम और सुभद्रा की मूर्तियाँ हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वानों के मत में ये त्रिमूर्तियाँ बौद्ध प्रभाव और बौद्धों के त्रिरत्नों-बुद्ध, संघ और धर्म-की सूचक हैं। किंतु भारत में ऐसे मंदिर प्रायः मिलते हैं जहाँ मुख्य देवता के परिवार के अन्य सदस्यों की भी मूर्तियाँ और उपमंदिर बने हैं। तथापि जगन्नाथ के संबंध में ऐसी अनेक रीतियाँ और विश्वास प्रचलित हैं, जो अन्य हिंदू मंदिरों से सर्वथा भिन्न हैं और जिनपर बौद्ध प्रभाव भी दिखाई देता है। उनमें एक तो यह है कि जगन्नाथ की मूर्ति के भीतर एक अस्थिमंजूषा भी होती है जो समय समय पर (आजकल प्रति १२वें वर्ष) बदलकर नई मूर्ति में स्थापित की जाती है। ये अस्थि अवशेष कृष्ण के माने जाते हैं, किंतु भारतीय इतिहास में बुद्ध के अस्थि अविशेषों की तरह कृष्ण के अस्थि अवशेषों की कोई परंपरा नहीं है। असंभव नहीं कि आधुनिक जगन्नाथ मंदिर के स्थान पर प्राचीन काल में कोई बौद्ध स्तूप रहा हो, जिसकी मूल अस्थियाँ जगन्नाथ की मूर्ति में भी स्थापित कर दी गई हों। जगन्नाथ की महिमा और पूजा का सर्वाकर्षक रूप उनकी रथयात्रा (आषाढ शुक्ल द्वितीया को) है। उस अवसर पर भारत के दूरस्थ प्रदेशों से लाखों की संख्या में तीर्थयात्री आते हैं। वहाँ की दूसरी विशेषता यह है कि छुआछूत के सभी भावों को त्यागकर सभी लोग उस मंदिर का महाप्रसाद ग्रहण करते हैं। [वि० पा०]

जगमोहन सिंह भारतेंदुयुगीन साहित्यसेवी ठाकुर जगमोहन सिंह का जन्म श्रावण शुक्ल १४, सं० १९१४ वि० को हुआ था। ये विजयराघवगढ़ (मध्यप्रदेश) के राजकुमार थे। अपनी शिक्षा के लिये काशी आने पर उनका परिचय भारतेंदु और उनकी मंडली से हुआ। हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य की उन्हें अच्छी जानकारी थी। ठाकुर साहब मूलतः कवि ही थे। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा नई और पुरानी दोनों प्रकार की काव्यप्रवृत्तियों का पोषण किया।

उनके तीन काव्यसंग्रह प्रकाशित हैं: (१) 'प्रेम-संपत्ति-लता' (सं० १९४२ वि०), (२) 'श्यामालता' और (३) 'श्यामा-सरोजिनी' (सं० १९४३)। इसके अतिरिक्त इन्होंने कालिदास के 'मेघदूत' का बड़ा ही ललित अनुवाद भी ब्रजभाषा के कवित्त सवैयों में किया है। हिंदी निबंधों के प्रथम उत्थान काल के निबंधकारों में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। शैली पर उनके व्यक्तित्व की अनूठी छाप है। वह बड़ी परिमार्जित, संस्कृतगर्भित, काव्यात्मक और प्रवाहपूर्ण होती है। कहीं कहीं पंडिताऊ शैली के विलक्षण प्रयोग भी मिल जाते हैं। 'श्यामा-स्वप्न' उनकी प्रमुख गद्यकृति है, जिसका संपादन कर डॉ० श्रीकृष्ण-लाल ने नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित कराया है। इसमें गद्य-पद्य दोनों हैं, किंतु पद्य की संख्या गद्य की अपेक्षा बहुत कम है। इसे भावप्रधान उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है। आद्योपांत शैली वर्णनात्मक है। इसमें चरित्रचित्रण पर ध्यान न देकर प्रकृति और प्रेममय जीवन का ही चित्र अंकित किया गया है। कवि की शृंगारी रचनाओं की भावभूमि पर्याप्त सरस और हृदयस्पर्शी होती है। कवि में सौंदर्य और सुरम्य रूपों के प्रति अनुराग की व्यापक भावना थी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का इसीलिये कहना था कि 'प्राचीन संस्कृत साहित्य के अभ्यास और विंध्याटवी के रमणीय प्रदेश में निवास के कारण विविध भावमयी प्रकृति के रूपमाधुर्य की जैसी सच्ची परख, जैसी सच्ची अनुभूति इनमें थी वैसी उस काल के किसी हिंदी कवि या लेखक में नहीं पाई जाती' (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ४७४, पंचम संस्करण)। मानवीय सौंदर्य को प्राकृतिक सौंदर्य के संदर्भ में देखने का जो प्रयास ठाकुर साहब ने छायावादी युग के इतने दिनों पहले किया इससे उनकी रचनाएँ वास्तव में 'हिंदी काव्य में एक नूतन विधान' का आभास देती हैं। उनकी ब्रजभाषा काफी परिमार्जित और शैली काफी पुष्ट थी।

[रा० के० त्रि०]

जगमोहिनी संप्रदाय पूर्वी बंगाल का एक संप्रदाय। इसका नाम जगमोहन गोस्वामी के नाम पर पड़ा जो इसके प्रवर्तक माने जाते हैं। इस संप्रदाय के लोग निर्गुण उपासक हैं। गुरु की पूजा इनकी उपासना का मुख्य अंग है। इसके दो भेद—गृही और उदासीन हैं। किंतु इसका कोई धर्मग्रंथ उपलब्ध नहीं है।

जगराँव १. तहसील, स्थिति: ३०° ३५' से ३०° ५६' उ० अ० तथा ७५° २३' से ७५° ४७' पू० दे०। सतलज नदी के दक्षिण में स्थित यह पंजाब राज्य के लुधियाना जिले की तहसील है। इसका क्षेत्रफल लगभग १,०७० वर्ग किमी० है। सतलज की निम्न भूमि एवं धैया नामक उच्च भूमि इसके मुख्य प्राकृतिक विभाग हैं। यहाँ सिंचाई सरहिंद नहर की अबोहर शाखा से होती है। इस तहसील में जगराँव तथा रायकोट नाम के दो नगर और १६३ ग्राम हैं।

२. नगर, स्थिति: ३०° ४७' उ० अ० तथा ७५° २८' पू० दे०। यह लुधियाना नगर से ४२ किमी० दूर स्थित है। यहाँ से पश्चिमी पाकिस्तान की सीमा केवल ८० किमी० की दूरी पर है। यहाँ गेहूँ और चीनी का व्यापार होता है। हाथीदाँत पर नक्काशी का कार्य यहाँ का प्रमुख उद्योग है। यहाँ बिलियर्ड के गोले बनाए जाते हैं। यहाँ नगरपालिका, एक अस्पताल, और एक महाविद्यालय है। यहाँ की जनसंख्या २१,६१७ (१९६१) है। [न० प्र०]

जगलुल साद मिस्र का राजनीतिज्ञ। १८६० में गरबिया प्रांत में जन्मा। अलअजहर विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई। १८८२ में अहमद अरबी के विद्रोह में साथ देने के लिये गिरफ्तार हुआ किंतु शीघ्र ही छोड़ दिया गया और १८८४ में वकालत करने लगा। १८९१ में न्यायाधीश नियुक्त हुआ। १९०६ में जन-निर्देश-मंत्री और १९१० में न्यायमंत्री बना। खेदीव अब्बास हालिमी पाशा पर स्वयं लगाए दोष सिद्ध न कर पाने के कारण उसे त्यागपत्र देना पड़ा। पश्चात् इसने ब्रिटिश विरोधी नीति प्रदर्शित की और वह मिस्र के राष्ट्रीयतावादी दल का नेता बन गया। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् उसने मिस्री स्वतंत्रता का आंदोलन छेड़ दिया। फलतः १९१९ में निष्कासित होकर माल्टा गया। १९२१ में वह पुनः काहिरा लौट आया। गिरफ्तार करके वह अदन, वहाँ से सेशेलस और बाद में जिब्राल्टर भेजा गया। १९२३ में उसे मिस्र लौटने की आज्ञा मिल गई और जनवरी, १९२४ में जब राष्ट्रीयतावादी दल की सरकार बनी, तब वह मिस्र का प्रधान मंत्री बना, किंतु आंग्लमिस्री-सूदान के गवर्नर जनरल सर ली स्टैक की हत्या होने पर उसे प्रधान मंत्री का पद त्यागना पड़ा। तत्पश्चात् वह प्रतिनिधि सदन का अध्यक्ष हो गया। २३ अगस्त, १९२७ को काहिरा में मर गया।

जजरान (जसदान) भूतपूर्व काठियावाड़ पोलिटिकल ऐजेंसी (बंबई) का एक राज्य था । क्षेत्रफल २८३ वर्ग मील था । कृषियोग्य क्षेत्रफल १५१ वर्ग मील था । लगभग १६ वर्ग मील के क्षेत्र पर सिंचाई होती थी । इसमें ५६ गाँव थे। स्वतंत्रताप्राप्ति (१६४७) के बाद इसे वर्तमान गुजरात राज्य में मिला दिया गया है ।

२. नगर; स्थिति : २२° ५' उ० अ० तथा ७१° २०' पू० दे० । इसकी जनसंख्या १०,८६२ (१६६१) है । यह गुजरात राज्य के राजकोट जिले का एक नगर है। यह राजकोट-भानगढ़ सड़क पर आकोट से चार मील उत्तर-पूर्व में स्थित है। इस नगर में कुछ स्कूल एवं एक अस्पताल है। [सै० मु० अ०]

जटणी स्थिति : २०° १०' उ०अ० तथा ८५° ४०' पू० दे० । यह उड़ीसा राज्य के पुरी जिले का नगर है। पहले यह साधारण ग्राम था। यह खुर्दा रोड जंक्शन के समीप स्थित है। इसलिये भूतपूर्व बंगाल-नागपुर रेलवे द्वारा, खुर्दा रोड से पुरी तक, रेलवे की शाखा बनाने के उपरांत इसकी प्रसिद्धि बढ़ गई। रेलवे जंक्शन के कर्मचारियों की बस्ती यहाँ है। यहाँ थाना और एक डाकबँगला भी है। यह कलकत्ता से मद्रास जानेवाले मुख्य रेलमार्ग पर स्थित है। यह पुरी से लगभग ४५ किमी० उत्तर है। इसकी जनसंख्या १६,०६८ (१६६१) है। [न० प्र०]

जटलैंड (जीलैंड) स्थित : ५६° २५' उ० अ० तथा ६° ३०' पू० दे० । जटलैंड, जिसे प्राचीन भूगोल में करसोनीज (Chersonese) या किमब्रिक प्रायद्वीप कहते थे, उत्तरी यूरोप में डेनमार्क का महाद्वीपीय क्षेत्र है । बृहत्तर अर्थ में इस भूभाग में जर्मनी का श्लेसविग होल्सटाइन क्षेत्र भी संमिलित है ।

जटलैंड, ३१ मई, १६१६ को हुए ब्रिटिश तथा जर्मन नौसेनाओं के युद्ध के लिये प्रसिद्ध है। जर्मन निवासी इसे स्कागेरेक का युद्ध कहते हैं। डेनिश समुद्रतट से ७५ मील दूर लगभग ७५° उ० अ० तथा ६° पू० दे० के पास प्रमुख युद्ध हुआ था। प्रथम महायुद्ध के दौरान में यह एकमात्र संग्राम रहा, जिसमें दो नौसेनाएँ आमने सामने मोर्चे पर लड़ीं तथा इस युद्ध के बाद जर्मनी के आत्मसमर्पण तक ब्रिटिश नौसेना जर्मन नौसेना पर पूर्णतया हावी रही। [नृ० कु० सि०]

जटावर्मन् कुलशेखर पांड्य विक्रम पांड्य के पश्चात् जटावर्मन् कुलशेखर पांड्य प्रथम सिंहासन पर बैठा जो संभवतः विक्रम पांड्य का पुत्र था। यह राजगंभीर के नाम से भी विख्यात था। उसका राज्यकाल ११६० से १२१६ ई० तक था। इसके अभिलेख मदुरा, रामनाड और तिन्नेवेल्लि से प्राप्त हुए हैं। जेतुंगनाडु का तिरुवडि नरेश उसका सामंत था। इसने कोदै रविवर्मन् से, जो चेरवंशीय नरेश था, वैवाहिक संबंध किए थे। उसने चोलों की प्रभुता का अंत कर पांड्यों की स्वतंत्रता स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस कारण यह चोल नरेश कुलोत्तुंग तृतीय का कोपभाजन हुआ जिसने १२०५ ई० में तीसरी बार पांड्य देश पर आक्रमण किया। यद्यपि कुलोत्तुंग ने राजधानी को लूटा और पांड्यों के अभिषेकभवन को नष्ट भ्रष्ट किया, फिर भी उसकी सफलता आंशिक रही। उसके आक्रमण के बाद कुलशेखर को फिर से राज्य का अधिकार प्राप्त हुआ। कुलशेखर यशस्वी शासक था। उसके अभिलेखों से उसकी शासनव्यवस्था का कुछ आभास मिलता है। उसके अनेक सिंहासनों के विशिष्ट नामों का उल्लेख मिलता है। राजभवन की सेविकाओं का भी उल्लेख आता है। एक अभिलेख में उसके द्वारा एक जलाशय को गहरा करने के लिये १०० द्रमों के नाम का उल्लेख है। एक अन्य अभिलेख में कई गाँवों को मिलाकर एक नए गाँव की स्थापना का विवरण है।

जटावर्मन् कुलशेखर पांड्य द्वितीय को मारवर्मन् सुंदर पांड्य प्रथम ने १२३८ ई० में युवराज के रूप में शासन से संबंधित किया था। किंतु यह अधिक दिन तक जीवित नहीं रहा। उसकी मृत्यु के बाद १२३८ ई० में ही मारवर्मन् सुंदर पांड्य द्वितीय युवराज के रूप में शासन से संबंधित हो गया था।

जटावर्मन् कुलशेखर पांड्य तृतीय के शासन का प्रारंभ १९६५-९६ ई० में हुआ। उसके अभिलेख तिन्नेवेल्लि के बाहर नहीं मिलते। शासन के १४वें वर्ष में उसने एक मंदिर बनवाया और १६वें वर्ष में एक नए गाँव की स्थापना की। [ल० गो०]

जटावर्मन् वीर पांड्य जटावर्मन् वीर पांड्य प्रथम (१२५३–१२७५ ई०) ने प्रांतढ़ पांड्य नरेश जटावर्मन् सुंदर पांड्य प्रथम (१२५१–१२६८ ई०) के राज्यकाल में दीर्घकाल तक संयुक्त उपराजा की भाँति राज्य किया। मारवर्मन् कुलशेखर प्रथम (१२६८–१३१०) भी वीर पांड्य के साथ पहले संयुक्त उपराजा और बाद में प्रमुख शासक के रूप में संबंधित था। वीर पांड्य के कुछ अभिलेख काचीपुरम् और कोयंबटूर से भी उपलब्ध हुए हैं, लेकिन प्रायः वे तिन्नेवेल्लि, मदुरा रामनाड और पुदुक्कोट्टै में मिलते हैं। उसके अभिलेखों में वर्णित अधिकांश विजयें जटावर्मन् सुंदर पांड्य के अभिलेखों में भी उल्लिखित हैं जिससे संभावना है कि उसने सुंदर पांड्य के राज्यकाल में उसकी ओर से अनेक अभियानों में भाग लिया। उसके अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने कोंगु, चोल और लंका की विजय की; वडुग लोगों की पहाड़ी को नष्ट किया, गंगा और कावेरी के तट पर अधिकार किया, वल्लाल् को पराजित किया और चिदंबरम् में पड़ाव डाला जहाँ उसने काव्य से कर वसूल किया और उसका अभिषेक हुआ। इन उल्लेखों में से कई का रूप स्पष्ट नहीं है। लंका पर उसने आक्रमण लंका के एक मंत्री की प्रार्थना पर ही किया था। लंका के राजकुमार को पराजित कर और मारकर उसने दूसरे राजकुमार और मलय प्रायद्वीप के चंद्रभानु के एक पुत्र को अपनी अधीनता स्वीकार करने पर बाध्य किया। उसके अभिलेखों से तत्कालीन शासनव्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है, यथा, न्यायव्यवस्था और फाल द्वारा परीक्षा, सभा के भूमिप्रबंध और कर संबंधी अधिकार और कार्य, तथा प्रचलित सिक्के।

जटावर्मन् वीर पांड्य द्वितीय मारवर्मन् कुलशेखर पांड्य का अनौरस किंतु प्रिय रानी का पुत्र था। मारवर्मन् कुलशेखर ने उसे अपने शासन के अंतिम वर्षों में १२९६ ई० से शासन में संयोजित किया था और संभवतः यह प्रकट किया था कि यही राज्य का भावी अधिकारी है। यह बात उसके ज्येष्ठ और औरस पुत्र जटावर्मन् वीर पांड्य तृतीय को बुरी लगी। उसने अपने पिता की हत्या करके १३१० ई० में सिंहासन पर बलात् अधिकार कर लिया। किंतु वीर पांड्य ने उसे पराजित कर मदुरा छोड़ने पर विवश किया। सुंदर पांड्य ने अलाउद्दीन खल्जी अथवा मलिक काफूर से सहायता के लिये प्रार्थना की। वीर पांड्य ने होयसल नरेश बल्लाल तृतीय की, मलिक काफूर के विरुद्ध सहायता करके मलिक काफूर को अप्रसन्न कर दिया। किंतु यह सब तो बहाने मात्र थे। वीर बल्लाल ने काफूर की अधीनता स्वीकार कर उसकी आक्रमणकारी सेना की सहायता की। किंतु वीर पांड्य और सुंदर पांड्य ने आपसी कलह भूलकर आक्रमणकारी का विरोध किया और बिना झुककर युद्ध किया

उसे परेशान किया। काफूर ने वीर पांड्य की राजधानी बीरधूल पर आक्रमण किया। मुसलमानों का अधिकार होने से पहले ही वीर पांड्य कंदूर भाग गया। काफूर ने वीर पांड्य का पीछा कर कंदूर की भी विजय की। काफूर सुंदर पांड्य की राजधानी मदुरा पर आक्रमण करता हुआ दिल्ली लौट गया। उसके लौटते ही वीर पांड्य और सुंदर पांड्य का कलह फिर प्रारंभ हो गया। मुसलमानों ने सुंदर पांड्य की पूरी सहायता नहीं की। इसी समय परिस्थिति का लाभ उठाकर केरल के शासक रविवर्मन् कुलशेखर ने पांड्यदेश पर आक्रमण कर कांची तक अधिकार कर लिया। वीर पांड्य उससे मिल गया। काकतीय नरेश प्रतापरुद्र द्वितीय ने सुंदर पांड्य के पक्ष में रविवर्मन् कुलशेखर और वीर पांड्य को पराजित किया और सुंदर पांड्य को बीरधूल के सिंहासन पर बैठाया। इसी समय खुसरो का आक्रमण हुआ जिसे कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। इन आक्रमणों से वीर पांड्य की शक्ति क्षीण तो अवश्य ही हुई किंतु पांड्य देश के बड़े भूभाग पर उसका अधिकार बाद तक बना रहा। उसके राज्यकाल के ४६ वें वर्ष (१३४१ ई०) के अभिलेख भी उपलब्ध होते हैं। [ल० गो०]

जटावर्मन् सुंदर पांड्य जटावर्मन् सुंदर पांड्य प्रथम (१२५१-१२६८ ई०) पांड्य राजवंश का सबसे महान् शासक था जिसके समय में पांड्य साम्राज्य का चरमोत्कर्ष हुआ। उसकी गणना दक्षिणी भारत के इतिहास के प्रसिद्ध विजेताओं में होती है। उसने अपने राज्यकाल के प्रारंभ में ही चेर नरेश वीर रवि उदयमार्तंड वर्मन् और उसकी सेना को नष्ट किया और मलैनाडु का विध्वंस किया। उसने राजेंद्र चोल को अपनी अधीनता स्वीकार करने और कर देने के लिये विवश किया। उसने लंका पर आक्रमण करके वहाँ के नरेश से अत्यधिक मोती और कई हाथी लिये। उसने होयसलों के अधिकार में कावेरि प्रदेश पर आक्रमण किया और कण्णनूर कोप्पम् के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। इस युद्ध में होयसलों की बहुत क्षति हुई, कई सेनानायक मारे गए और पांड्यों के हाथ में हाथी, घोड़े, धन और स्त्रियाँ आईं। होयसल नरेश वीर सोमेश्वर के युद्ध से भाग जाने पर सुंदर पांड्य ने युद्ध समाप्त कर दिया किंतु कुछ समय बाद वीर सोमेश्वर ने युद्ध फिर से प्रारंभ किया। इस युद्ध मे वीर सोमेश्वर सुंदर पांड्य के ही हाथों मारा गया। सुंदर पांड्य ने शेंदमंगलम् के दुर्ग पर आक्रमण किया और काडव शासक कोप्पेरुंजिंग को कई युद्धों में पराजित करके पहले तो उसके राज्य पर अपना अधिकार कर लिया किंतु बाद में कोप्पेरुंजिंग को फिर से शासनाधिकार दे दिया। संभवतः कोप्पेरुंजिंग और वीर सोमेश्वर के विरुद्ध युद्ध के संबंध में ही सुंदर पांड्य ने कोंग और मगदै की विजय की थी। चिदंबरम् होते हुए वह श्रीरंगम् तक गया। उत्तर की ओर उसने आक्रमण करके तेलुगु चोड शासक गंडगोपाल को पराजित किया, जो युद्ध ही मे मारा गया और कांची पर अधिकार कर लिया किंतु बाद में उसके भाइयों को अपने सामंत के रूप में शासन करने दिया। उसने काकतीय नरेश गणपति और एक बाण सामंत को भी पराजित किया जो संभवतः गंडगोपाल के सहायक थे। इन विजयों के उपलक्ष में उसने नेल्लोर में वीराभिषेक किया। जटावर्मन् सुंदर पांड्य को अपने शासन में दूसरे पांड्य राजकुमारों से सहायता मिली थी जिसमें जटावर्मन् वीर पांड्य प्रथम अपनी विजयों के कारण उल्लेखनीय है। अपनी विजयों के द्वारा सुंदर पांड्य ने साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार लंका से नेल्लोर तक कर लिया था और विजित प्रदेशों पर अपना कठोर नियंत्रण रखा था। उसे अपने प्रभाव और वैभव के प्रदर्शन की विशेष रुचि थी। उसने श्रीरंगम् और नेल्लोर में अपना अभिषेक ही नहीं संपन्न किया वरन् कई बार तुलाभार भी किया। उसने कई भव्य उपाधियाँ भी धारण कीं यथा महाराजाधिराज श्री परमेश्वर, एल्लांदलैयानान्, समस्त जगदाधार, एम्मंडलमुम्-कोंडरुलिय, मरकत पृथ्वीभृत् और राजतपन। अपनी विजयों से प्राप्त प्रभूत धन का उपयोग उसने चिदंबरम् और श्रीरंगम् मंदिरों को दान देने और सुशोभित करने में किया। उसने दोनों मंदिरों की छतों को हेमाच्छादित किया, चिदंबरम् के मंदिर में एक सोने का सभामंडप बनवाया और श्रीरंगम् के मंदिर को १८ लाख स्वर्ण मुद्राएँ दीं।

जटावर्मन् सुंदर पांड्य द्वितीय, मारवर्मन् कुलशेखर पांड्य (१२६८-१३१० ई०) के राज्यकाल के पूर्वार्ध में संयुक्त शासक था। उसका सिंहासनारोहण १२७६ ई० में हुआ और उसने १२९२ ई० तक राज्य किया।

जटावर्मन् सुंदर पांड्य तृतीय, मारवर्मन् कुलशेखर पांड्य का ज्येष्ठ पुत्र था और १३०३ ई० से शासन में संयुक्त हुआ था। उसका उपनाम कोदंडरामन् था। इस नाम के सिक्के संभवतः उसी के हैं। उसने अपने पिता की हत्या करके अपने भाई जटावर्मन् वीर पांड्य द्वितीय के साथ सिंहासन के लिये दीर्घकालीन संघर्ष किया था। (दे० जटावर्मन् वीर पांड्य द्वितीय)। उसने मदुरा पर अपना अधिकार स्थापित किया था। १३१९ उसके राज्यकाल की अंतिम ज्ञात तिथि है। संभवतः रविवर्मन् कुलशेखर और प्रतापरुद्र द्वितीय की विजयों के बाद उसका अधिकार अधिक समय तक नहीं बना रह सका। [ल० गो०]

जड़भरत इनका प्रकृत नाम भरत है, जो स्वायंभुव वंशी ऋषभ के पुत्र हैं। मृग के छौने में तन्मय हो जाने के कारण इनका ज्ञान अवरुद्ध हो गया था और वे जड़वत् हो गए थे जिससे ये जड़भरत कहलाए। (वि० पु० २।१३ अ०--१६ अ०) शालग्राम तीर्थ में तप करते समय इन्होंने सद्यःजात मृगशावक की रक्षा की थी। उस मृगशावक की चिंता करते हुए इनकी मृत्यु हुई थी, जिसके कारण दूसरे जन्म में जंबूमार्ग तीर्थ में एक 'जातिस्मर मृग' के रूप में इनका जन्म हुआ था। बाद में पुनः जातिस्मर ब्राह्मण के रूप में इनका जन्म हुआ। आसक्ति के कारण ही जन्मदुःख होते हैं, ऐसा समझकर ये आसक्तिनाश के लिये जड़वत् रहते थे। इनको सौवीरराज की डोली ढोनी पड़ी थी पर सौवीरराज को इनसे ही आत्मतत्वज्ञान मिला था (श्रीमद्भा० ५।५-१४)। [रा० शं० म०]

जनक, विदेह विदेह के राजा। पुराणों के अनुसार इक्ष्वाकुपुत्र निमि ने विदेह के सूर्यवंशी राज्य की स्थापना की, जिसकी राजधानी मिथिला हुई। मूल जनक के बाद मिथिला के उस राजवंश का हो नाम जनक हो गया जो उनकी प्रसिद्धि और शक्ति का द्योतक है। जनक नामक एक अथवा अनेक राजाओं के उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथों, उपनिषदों, रामायण, महाभारत और पुराणों में हुए हैं। इतना निश्चित प्रतीत होता है कि जनक नाम के कम से कम दो प्रसिद्ध राजे अवश्य हुए; एक तो वैदिक साहित्य के दार्शनिक और तत्वज्ञानी जनक विदेह और दूसरे दाशरथि राम के ससुर जनक, जिन्हें वायु और पद्मपुराण में सीरध्वज कहा गया है (दे० जनक सीरध्वज)। असंभव नहीं, और भी जनक हुए हों और यही कारण है, कुछ विद्वान् वशिष्ठ और विश्वामित्र की भाँति जनक को भी कुलनाम मानते हैं। जनकविदेह के उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में चार भिन्न भिन्न स्थलों में हुए हैं और सभी में याज्ञवल्क्य भी साथ साथ आते हैं। वहाँ जनक विदेह याज्ञवल्क्य को शिक्षा देते हुए पाए जाते हैं। यह भी कहा गया

है कि वे अंत में स्वयं ब्राह्मण्य (ब्रह्मा) पद प्राप्त कर लेते हैं। यों तो वैदिक युग में वर्णपरिवर्तन संभव ही नहीं अपितु प्रचलित भी था; यह कह सकना कठिन है कि यहाँ जनक द्वारा क्षत्रिय वर्ण छोड़कर ब्राह्मण वर्ण में प्रवेश कर जाने का उल्लेख है अथवा केवल ज्ञान और दर्शन क्षेत्र में ब्राह्मण्य प्राप्त कर लेने की ओर निर्देश है। यह भी कहा गया है कि अग्निहोत्र के बारे में उचित उत्तर पाकर जनक ने याज्ञवल्क्य को १०० गायों का दान दिया। एक दूसरे स्थल पर १००० गायों के दान देने की बात भी कही गई है। शांखायन श्रौतसूत्र में उन्हें सप्तरात्र नामक यज्ञ का कर्ता भी कहा गया है। जनक और याज्ञवल्क्य का बृहदारण्यक उपनिषद् में भी उल्लेख हुआ है, किंतु वहाँ याज्ञवल्क्य शिष्यत्व छोड़कर गुरु का स्थान प्राप्त कर लेते हैं और स्वयं जनक उनसे परलोक, ब्रह्म और आत्मा के विषय में शिक्षा ग्रहण करते हैं। शतपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यक और कौषीतकि उपनिषदों तथा शांखायन आरण्यक से यह तो सिद्ध होता ही है कि जनक विदेह और याज्ञवल्क्य समकालीन थे, यह भी ज्ञात होता है कि श्वेतकेतु आरुणेय और काशी के प्रसिद्ध दार्शनिक राजा अजातशत्रु भी उन्हीं के समय में हुए थे। एक विद्वान् ने काशी के अजातशत्रु को मगध के अजातशत्रु से मिलाते हुए जनक का समय ई० पू० छठी शती में निश्चित करने का प्रयत्न किया है, जो स्पष्टतः अस्वीकार्य है। ब्राह्मणों और जनक का उल्लेख करनेवाले उन प्राचीन उपनिषदों का समय निश्चय ही बुद्ध युग के बहुत पूर्व था। अतः जनक को भी उस युग के पूर्व का ही मानना होगा, किंतु उनका ठीक समय सफलतापूर्वक निश्चित नहीं किया जा सकता। [वि० पा०]

जनक, सीरध्वज मिथिला प्रांत में जनक नाम का एक अत्यंत प्राचीन तथा प्रसिद्ध राजवंश था जिसके मूल पुरुष कोई जनक थे। जनक के पुत्र उदावसु पौत्र नंदिवर्धन् और कई पीढ़ी पश्चात् ह्रस्वरोमा हुए। ह्रस्वरोमा के दो पुत्र सीरध्वज तथा कुशध्वज हुए। यही सीरध्वज जनक सीरध्वज के नाम से प्रसिद्ध हैं, क्योंकि जनक नाम के अनेक और व्यक्ति हुए हैं। (दे० जनक विदेह) सीरध्वज की दो कन्याएँ सीता तथा उर्मिला हुईं जिनका विवाह राम तथा लक्ष्मण से हुआ। कुशध्वज की कन्याएँ मांडवी तथा श्रुतिकीर्ति हुईं जिनके ब्याह भरत तथा शत्रुघ्न से हुए। श्रीमद्भागवत में दी हुई जनकवंश की सूची कुछ भिन्न है, परंतु सीरध्वज के योगिराज होने में सभी ग्रंथ एकमत हैं। इनके अनेक नाम विदेह अथवा वैदेह तथा मिथिलेश आदि हैं। मिथिला राज्य तथा नगरी इनके पूर्वज मिमि के नाम पर प्रसिद्ध हुए। [रा० द्वि०]

जनगणना का शाब्दिक अर्थ है मनुष्यों की गणना, किंतु आधुनिक अर्थ में जनगणना किसी क्षेत्र या देश के ग्राम, नगर या उपक्षेत्रों के निवासियों की संख्या तथा तत्संबंधी विभिन्न तथ्यों जैसे आयु, लिंग, शिक्षा, कार्यकलाप, निवास, आश्रित तथा धर्म आदि की संख्या, के अतिरिक्त कृषि, उद्योग-धंधों, पशु धन, खनिज एवं अन्य प्राकृतिक तथा जन-साधनों का समसामयिक वैज्ञानिक विवरण प्रस्तुत करती है। अतः 'जनगणना' संसार के लगभग सभी सभ्य देशों में साधारण आवधिक गणना मात्र ही नहीं, प्रत्युत निवासियों की संख्या तथा तत्संबंधी अन्य तथ्यों का समसामयिक विवरण प्रस्तुत करनेवाली राष्ट्रीय संस्था हो गई है, जिसपर प्रशासनीय एवं आयोजना संबंधी सरकारी नीतियाँ निर्धारित होती हैं।

इतिहास — सर्वप्रथम जनगणना का प्रचलन संसार के किस क्षेत्र या देश में हुआ, इसका ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है, किंतु इतिहासकारों का मत है कि इसका प्रचलन अति प्राचीन काल से संसार के विभिन्न भागों में रहा है, यद्यपि इसका रूप अव्यवस्थित था। संसार के विभिन्न क्षेत्रों में जब जातीय या पारिवारिक संगठन था, तब नेता को अपने वर्ग तथा पशुधन का पता रहता था। विपत्ति के दिनों में संपूर्ण वर्ग की गुहार होती थी और भोजादि के अवसरों पर सब निमंत्रित होते थे। पूर्ववैदिक काल में भारत में आर्य लोग अपनी जातियों, कुरु, यदु आदि में बँटे थे और राजा को पूरी जाति का पता रहता था। महाभारत में कौरवों और पांडवों ने अपने अपने सैन्यदल की गणना द्वारा अपनी अपनी शक्ति का आकलन और युद्धायोजन किया था।

सेंसस (Census-जनगणना) शब्द रोम के प्राचीन शब्द सेंसर (Censor) से बना है, जबकि रोमन राज्यसेवक, जिन्हें सेंसर (Censor) कहते थे, सरकारी निर्देशानुसार प्रति पाँचवें वर्ष राज्य के परिवारों तथा प्रत्येक परिवार के सदस्यों की संख्या एवं आर्थिक और सामाजिक तथ्यों का विवरण प्रस्तुत करते थे। इसका प्रारंभ सर्वियस टालियस नामक रोम के छठे राजा (५७८-५३४ ई० पू०) ने किया था। ऑगस्टस ने ईसा से पाँच वर्ष पूर्व इस रीति को संपूर्ण रोम साम्राज्य में प्रचलित कर दिया।

प्रणाली तथा ताथ्यिक स्वरूप — आधुनिक जनगणना का स्वरूप अत्यंत विशद होता जा रहा है। इसमें किसी देश के प्रत्येक व्यक्ति, परिवार, ग्राम, मुहल्ला, नगर, विभिन्न प्रशासकीय क्षेत्रों और संपूर्ण क्षेत्र के मनुष्यों तथा उनकी आवासीय, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, शैक्षिक, जातीय, राजनीतिक तथ्यों, अंतःक्षेत्रीय, अंतःप्रांतीय या अंतरराष्ट्रीय गमनागमन, बेकारी आदि विवरणों का समावेश रहता है। ये सब तथ्य निरंतर परिवर्तनशील हैं, अतः प्रति पाँच या दस वर्षों पश्चात् ये आँकड़े लिए जाते हैं, जिससे तथ्यों में परिवर्तनक्रम के अनुसार सरकारी नीति एवं योजनाओं तथा विभिन्न मदों में, आमदनी खर्च की आयोजनाओं में भी, आवश्यकतानुसार संशोधन तथा परिवर्तन किया जा सके।

जनगणना का स्वरूप प्रस्तुत करने के लिये विभिन्न देशों में उद्देश्यानुसार विभिन्न प्रणालियाँ उपयोग में लाई जाती हैं। गणना की प्रधानतया दो प्रणालियाँ प्रचलित हैं—एक यथार्थ (de facto), दूसरी अयथार्थ (de Jure)। यथार्थ प्रणाली के अनुसार निर्धारित जनगणना के समय व्यक्ति को उसके तात्कालिक आवास या ठहराव के स्थान पर ही परिगणित कर दिया जाता है, यद्यपि वस्तुतः उसका स्थायी या लगभग स्थायी आवास दूसरे क्षेत्र में स्थित रहता है। अयथार्थ प्रणाली में व्यक्ति को जनगणनाकालिक ठहराव पर नहीं, प्रत्युत उसके स्थायी या मुख्य निवासस्थान की गिनती में संमिलित किया जाता है। अतः जिस देश या क्षेत्र की जनता अधिक चल (Mobile) नहीं है, वहाँ तो एक गणनांक से कार्य संपन्न हो जाता है, परंतु उद्योगप्रधान देशों में अधिक लोगों के निरंतर चल होने से गणना-संबंधी समस्या दुरूह हो जाती है। इस दुरूहता को कम करने के लिये गणना की एक निश्चित अवधि निर्धारित करके जनता से उस काल में स्थानांतरण न करने की अपील की जाती है, ताकि यथार्थ गणना हो सके, और इस प्रकार आँकड़े दूसरी प्रणाली के समान हो जाते हैं। ऐसा न होने पर यथार्थ गणना में प्रचुर त्रुटियाँ आ जाती हैं और गणना का उद्देश्य निरर्थक हो जाता है, जैसे किसी नगर में एक लाख निवासी हैं और वहाँ आवासीय कठिनाई है। यदि गणनाकाल में यथार्थ प्रणाली द्वारा केवल ५० हजार ही गिने जाते हैं, तो

वहाँ की आवासीय कठिनाई का पता नहीं चल पाएगा। द्वितीय प्रणाली भी दोषरहित नहीं है। उदाहरणस्वरूप भारत के पर्वतीय नगरों में स्थायी तथा ग्रीष्मकालीन जनसंख्या में बहुत ही अंतर रहता है और यदि ग्रीष्मकाल में गणना की जाती है, तो यथार्थ जनसंख्या का पता ही नहीं चलता। वैसे ही बड़े नगरों के केंद्रीय स्थानों में दिन (कार्यालय का समय) और रात्रि की जनसंख्या में पर्याप्त अंतर रहता है। इस प्रकार दोनों प्रणालियाँ दोषरहित नहीं हैं। कुछ देशों में ऐसी त्रुटियों को दूर करने के लिये कुछ उपाय प्रयुक्त होते हैं। भारतीय जनगणना दूसरी प्रणाली के अनुसार संपन्न होती है, किंतु पर्वतीय भ्रमणस्थलों की जनसंख्या के सही आकलन के लिये ग्रीष्म एवं जाड़े दोनों ऋतुओं में गणना की जाती है। नीचे कुछ देशों की प्रणालियों एवं प्रश्नावलियों का विवरण दिया जाता है :

ब्रिटेन की जनगणना दसवर्षीय है और यथार्थ प्रणाली द्वारा संपन्न होती है। गृहपति द्वारा प्रश्नावली भरी जाती है। तालिका में व्यक्ति का नाम, गृहपति से संबंध, आयु, लिंग, वैवाहिक (Married status) अवस्था, माँ बाप का जीवित या मृत होना, जन्मस्थान, राष्ट्रीयता, शिक्षास्तर, व्यवसाय, औद्योगिक स्वरूप, मालिक, वेतन भोगी या अपना धंधा करनेवाला, स्थान, जीवित संतानों की संख्या तथा आयु और १६ वर्ष से कम उम्रवाली सौतेली संतानें। फ्रांस और जर्मनी में पंचवर्षीय तथा अमरीका एवं इटली में दसवर्षीय जनगणना होती है।

जनसंख्या खाता (Population registers) — दसवर्षीय या पंचवर्षीय जनगणनाओं की दुरूहता के निवारण के लिये कुछ देशों में जनसंख्या खाता का प्रचलन प्रारंभ हो गया है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के संबंध का विविध विवरण समाविष्ट होता है। इसमें किसी व्यक्ति से संबंधित विवरणों में होनेवाले क्रमिक परिवर्तनों का सुविधापूर्वक उल्लेख होता रहता है और इस प्रकार देश या क्षेत्र के कुल निवासियों का विशद समसामयिक विवरण निरंतर तैयार रहता है। लेकिन यह असंभव सा मालूम होता है। अधिकांश व्यक्तियों के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक स्थिति में इतने परिवर्तन होते हैं कि सबका निरंतर उल्लेख करते रहना अत्यंत दुरूह और बहुव्ययसाध्य कार्य है। ऐसे परिवर्तनक्रमों की ठीक ठीक उपलब्धि भी असंभव है। हालैंड, स्वीडेन, बेल्जियम आदि में कुछ हद तक इसका उपयोग हो रहा है। भारत में भी व्यक्तिगत खाते (personal register) का प्रचलन हुआ है लेकिन उसका क्षेत्र अभी व्यापक नहीं है।

विशेष विवरण — आधुनिक जनगणनाओं में भी कुछ आवश्यक तथ्यों का समावेश नहीं हो पाता, जिनका समावेश आधुनिक अध्ययनशास्त्रों में अन्वेषणात्मक कार्यों के लिये अधिक उपयोगी हो सकता है। सरकारी नीतियों को निर्दिष्ट करने में भी उनसे सहायता प्राप्त होगी। उदाहरण स्वरूप, किसी व्यक्ति के कुल शील का ज्ञान, विवाह के पहले या बाद के अनुचित यौन संबंध, किसी स्त्री के कौमार्यावस्था अथवा विवाहितावस्था की भ्रूण-हत्याएँ, अन्य असामाजिक या समाज विरोधी कार्य (लूट, हत्या, पापादि) अथवा गुप्तांगों या अन्य अंगों की बीमारी आदि का विवरण समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, चिकित्साशास्त्र, आदि के अन्वेषणात्मक कार्यों के लिये अत्यावश्यक है। ऐसे व्यक्तिगत या पारिवारिक विवरण गोपनीय होते हैं, जिनका रहस्योद्घाटन अवांछित होता है। रहस्योद्घाटन का भयनिवारण करने पर और प्रत्येक ग्राम या नगर संबंधी ऐसे तथ्यों की कुल संख्या दिखलाने पर संभवतः ऐसे विवरण प्राप्त हो सकेंगे।

अंकन प्रक्रिया (Tabulation method) — आधुनिक जनगणना में विभिन्न प्रकार के विशद आँकड़ों का वैज्ञानिक अंकन, प्रतिचयन (Sampling) तथा विवरण प्रस्तुत करने का कार्य अत्यंत दुरूह हो गया है। इस कार्य में समयाभाव के कारण क्षिप्रता, शुद्धि एवं वैज्ञानिकता अत्यावश्यक है, जिससे विभिन्न कार्यों के लिये आँकड़ों एवं विवरणों का उपयोग किया जा सके। अमरीका जैसे देशों में अंकशास्त्र तथा वैद्युतिकी के आधुनिक सिद्धांतों पर निर्मित यंत्रों के उपयोग द्वारा अंकन, गणना, प्रतिचयन आदि कार्य अति क्षिप्रता तथा कुशलता के साथ संपन्न होते हैं। अमरीका में एक आधुनिकतम यंत्र से यह कार्य होता है, जिसे युनिवेक (Univac) कहते हैं।

भारतीय जनगणना — बर्मा (१९३६) तथा पाकिस्तान के अलग होने जाने पर भी भारतीय जनगणना संसार में वृहत्तम है (चीन जनसंख्या की दृष्टि से संसार में प्रथम है, लेकिन अभी तक वहाँ कोई संगठित जनगणना नहीं हो पाई है)। भारत के मद्रास, पंजाब, उत्तर प्रदेश आदि राज्यों में १९वीं सदी के पूर्वार्ध में ही विविध तथ्यों पर आधारित गणनाएँ प्रस्तुत हुई थीं, किंतु वस्तुतः १८६५–७२ ई० के काल में देश के अधिकांश भाग में आयोजित जनगणना हो सकी। किंतु इससे कई बड़े देशी राज्य—हैदराबाद, कश्मीर, मध्यभारत, राजपूताना तथा पंजाब के राज्य लाभान्वित नहीं हुए थे। यह गणना अपूर्ण भी थी और आवागमन के आधुनिक साधनों से वंचित अंतर्वर्ती वन्य तथा मरुक्षेत्रों में अपूर्ण ढंग से आँकड़े प्रस्तुत किए गए थे। वस्तुतः भारत से तात्विक एवं आधुनिक ढंग की सर्वथा आयोजित जनगणना १७ फरवरी, १८८१ को संपन्न हुई। फिर भी इसमें कश्मीर, सिक्किम तथा कुछ अन्य छोटे भाग नहीं लिए जा सके। १८८१ से १९६१ ई० तक आठ जनगणनाएँ संपन्न हो चुकी हैं, जो प्रत्येक दशक के प्रथम वर्ष में ली जाती हैं। १८९१ में कश्मीर एवं सिक्किम भी संमिलित किए गए। तृतीय जनगणना १९०१ ई० के प्रथम मार्च को संपन्न हुई, जिसमें राजपूताने का भील क्षेत्र तथा अंदमान निकोबार द्वीपसमूह भी संमिलित किए गए। इस बार जनगणना की तालिका तैयार की गई थी और प्रथम बार यहाँ पर्ची प्रणाली (slip system) का प्रयोग आरंभ हुआ।

स्वतंत्रताप्राप्ति (१९४७) के पहले की जनगणनाओं में अंगरेज शासकों ने आँकड़ों को क्रमबद्ध रखने की चेष्टा नहीं की और विभिन्न राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये कभी संप्रदाय, कभी भाषा, कभी जाति आदि के अनुसार तालिकाएँ एवं प्रश्नावलियाँ बनती थीं। इनके अतिरिक्त कोई स्थायी विभाग या कार्यालय न होने के कारण येनकेन प्रकारेण जनगणना संपन्न कराई जाती थी। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद सरदार वल्लभ भाई पटेल ने जनगणना के महत्व को समझते हुए एक स्थायी गणना अधिनियम (Census act) पारित कराया और एक प्रमुख जनगणना अधिकारी के अधीन जनगणना कार्यालय संघटित हुआ। १९५१ की जनगणना के लिये पहले से ही उसका विशद प्रारूप, विभिन्न क्षेत्रीय कार्यालयों और कार्यकर्ताओं का निर्धारण, गणना तालिका तथा देश की विभिन्न भाषाओं एवं स्थानीय बोलियों में पर्चे तैयार कर लिए गए। देश को गणना प्रमंडल एवं गणना प्रमंडलों को गणना खंडों में बाँट लिया गया। स्वतंत्र भारत की प्रथम जनगणना में ५,९३,५१८ गणक, ८०,००९ निरीक्षक तथा ८,९५४ कार्य अधिकारी लगे थे।

१९५१ की जनगणना के कुछ प्रमुख तथ्य इस प्रकार हैं।

१. प्रत्येक व्यक्ति की गिनती केवल एक बार हुई और अधिकांश व्यक्तियों की गिनती उनके सामान्य निवासस्थान (usual place of residence) पर हुई।

२. पर्चे (Census slip) के अतिरिक्त प्रत्येक नागरिक संबंधी विवरण रखने के लिये राष्ट्रीय नागरिक पंजिका (National register of citizens) प्रारंभ की गई।

३. प्रत्येक ग्राम, मुहल्ले, या नगर के निवासियों की संख्या, लिंग, शिक्षा स्तर, तथा आजीविका के आठ साधनों—चार कृषि तथा चार अकृषीय कार्यों —में लगे लोगों की अलग अलग तालिका प्रस्तुत की गई। विशद प्रश्नावली का रूप इस प्रकार है : १. नाम, गृहस्वामी से संबंध, जन्मस्थान, लिंग, आयु और वैवाहिक तथ्य; २. पारिवारिक आर्थिक स्वरूप—सदस्यों के व्यवसाय की स्थिति (Employment status), आजिविका के प्रमुख तथा गौण (यदि हों) साधन; ३. राष्ट्रीयता, धर्म, 'विशेष समूह' की सदस्यता (जैसे पिछड़ा वर्ग, अनुसूचित जातियाँ), मातृभाषा, द्विभाषिता (यदि है), शिक्षण स्तर, और देश परिवर्तन विवरण (displacement)।

भारत की १९६१ की जनगणना १९५१ की जनगणना से भी अधिक विशद एवं व्यापक है। यह ५ मार्च, १९६१ को संपन्न हुई। भारतीय जनगणना के इतिहास में प्रथम बार १९६१ में 'गृह' को इकाई मानकर उसके आवासीय या अन्य कार्यों (functions of a house or use of a house), दीवार तथा छत निर्माण के सामान, कमरों की संख्याएँ, गृहस्वामित्व का विवरण आदि तथ्यों का समावेश किया गया है। इसके अतिरिक्त १९६१ में नौ साधनों के लिये सूचनाएँ प्राप्त की गई। १९६१ की जनगणना में निम्नांकित पंजिकाएँ प्रस्तुत की गई :

भाग १——जनगणना का सामान्य विवरण, गौण सारणी। इसके अतिरिक्त १९५१–६१ ई० की दशाब्दी के जन्म मरण के आँकड़े,

भाग २—सारणियाँ,

भाग २ क—सामान्य जनसंख्या सारणी और प्रमुख गणना विषयक संक्षिप्त पंजिकाएँ,

भाग २ ख—सामान्य जनसंख्या की आर्थिक सारणी।

भाग २ ग—सांस्कृतिक और स्थानांतरण सारणी।

भाग ३—पारिवारिक आर्थिक सारणी, परिवार के सदस्यों की संख्या और सदस्यीय विवरण,

भाग ४—गृह तथा संस्थापन (establishment) सारणी एवं विवरण,

भाग ५—विशेष सारणियाँ (पिछड़ी जातियाँ और अनुसूचित जातियां) एवं अन्य जातीय विवरण (ethnographic tables)।

भाग ६—ग्रामीण क्षेत्रों के सर्वेक्षण (village survey monographs)।

भाग ७—हस्तकलाओं का सर्वेक्षण;

भाग ८—जनगणना का प्रशासकीय विवरण (बिक्री के लिये नहीं),

भाग ९—मानचित्रावली।

भाग १०—दस लाख तथा उससे अधिक जनसंख्यावाले नगरों की विशेष विवरणपंजिका।

अन्य प्रकार के विवरण—संयुक्त राज्य तथा कुछ अन्य देशों में इन गणनाओं के अतिरिक्त कुछ विवरण भी दिए जाते हैं, जो विभिन्न प्रशासकीय एवं आयोजन कार्यों के लिये अत्यावश्यक हैं।

[का० ना० सिं०]

राजनीतिक महत्व — राजनीतिक परिवर्तनों का जनसंख्या से घनिष्ठ संबंध है। इस प्रकार नियतकालीन जनगणना का सूत्रपात ही राजनीतिक कारणों से सर्वप्रथम संयुक्त राज्य अमरीका में हुआ। वहाँ प्रत्येक राज्य से संघ सरकार में जानेवाले प्रतिनिधियों की संख्या तथा करारोपण की मात्रा निर्धारित करने के लिये इस किस्म की गणना सर्वप्रथम १७९० में की गई और तब से प्रति दस वर्ष बाद यह गणना की जाती है। भारत में अंग्रेजी शासनकाल में साइमन कमीशन और गोलमेज संमेलनों के बाद होनेवाले परिवर्तन, सांप्रदायिकता का फैसला, भारत सरकार का सन् १९३५ का अधिनियम आदि काफी हद तक १९२१ और १९३१ की जनगणना रिपोर्ट पर आधारित थे। इस प्रकार १९४७ का 'रैडक्लिफ फैसला', विशेषकर बंगाल और पंजाब का विभाजन १९४१ की जनगणना के आधार पर हुआ। इसी प्रकार १९५३ में भाषा के आधार पर आंध्र राज्य का निर्माण और सन् १९६० में बृहत् बंबई राज्य का गुजरात और महाराष्ट्र के दो प्रदेशों में विभाजन सन् १९५१ की जनगणना के आधार पर हुआ। चुनाव के समय विभिन्न निर्वाचित क्षेत्रों का बँटवारा भी जनगणना रिपोर्ट पर आधारित होता है। सरकार की सारी वैज्ञानिक तथा शासन संबंधी कार्यवाही जनगणना से प्राप्त सूचनाओं पर आधारित होता है।

आर्थिक महत्व — जनगणना से प्राप्त आँकड़ों का आर्थिक क्षेत्र में काफी महत्व है। इन आँकड़ों के आधार पर ही सरकार आनेवाली पीढ़ी के लिये शिक्षा, स्वास्थ्य, और अन्य नागरिक सुविधाओं को देने की योजना बनती है, प्रत्येक जनगणना रिपोर्ट के साथ आयु तालिकाएँ भी दी रहती हैं, जिससे सरकार अनुमान लगाती है कि अमुक समय रोजगार ढूँढ़नेवालों की संख्या इतनी होगी और उसी के अनुसार रोजगार व्यवस्था का प्रबंध करती है। आज नियोजन और पूर्ण रोजगार के युग में इसका बड़ा महत्व है। इसके अतिरिक्त देश में प्रति व्यक्ति औसत आय तथा वस्त्र आदि अन्य वस्तुओं का उपभोग और देश के लोगों के रहन सहन के स्तर का अनुमान भी जनगणना से प्राप्त आँकड़ों के आधार पर लगाया जाता है। इसी के आधार पर केंद्रीय तथा राज्य सरकारें अपना सालाना बजट बनाती हैं और जनता पर कर लगाती हैं। इन्हीं आँकड़ों के आधार पर यह भी पता लगाया जा सकता है कि देश में जनसंख्या तथा खाद्य पदार्थों के उत्पादन, दोनों में किसमें तीव्रतर गति से वृद्धि हो रही है। यदि जनसंख्या की वृद्धि की दर अधिक तेज है तो यह देश के लिये चिंताजनक विषय होगा। फिर सरकार को भविष्य में दुर्भिक्ष की संभावना से बचने के लिये प्रबंध करना पड़ेगा और जनसंख्या नियंत्रण की आवश्यकता हो सकती है पर आँकड़ों के आधार पर निष्कर्ष निकालते समय पर्याप्त सावधानी बरतनी चाहिए।

[मू० कु० मु०]

जनन (Reproduction) द्वारा कोई जीव (वनस्पति या प्राणी) अपने ही सदृश किसी दूसरे जीव को जन्म देकर अपनी जाति की वृद्धि करता है। जन्म देने की इस क्रिया को जनन कहते हैं। जनन जीवधारियों की विशेषता है। जीव की उत्पत्ति किसी पूर्ववर्ती जीवित जीव से ही होती है। निर्जीव पिंड से सजीव की उत्पत्ति नहीं देखी गई है। संभवतः

विषाणु (Virus) इसके अपवाद हों (देखें स्वयंजनन, Abiogenesis)। जनन के दो उद्देश्य होते हैं, एक व्यक्तिविशेष का संरक्षण और दूसरा जाति की शृंखला बनाए रखना। दोनों का आधार पोषण है। पोषण से ही संरक्षण, वृद्धि और जनन होते हैं।

जीवधारियों के अंतर्गत वनस्पति और प्राणी दोनों आते हैं। दोनों में ही जैविक घटनाएँ घटित होती हैं। दोनों की जननविधियों में समानता है, पर सूक्ष्म विस्तार में अंतर अवश्य है। अतः उनका विचार अलग अलग किया जा रहा है।

वानस्पतिक जनन

वनस्पतियों में जनन की प्रमुख विधियाँ १. वानस्पतिक जनन (Vegetative), २. अलैंगिक (Asexual) जनन और ३. लैंगिक (Sexual) जनन हैं।

वानस्पतिक जनन में कोई वानस्पतिक भाग, (जड़, तना, अथवा पत्ती) नए पेड़ की उत्पत्ति करता है और जनक पौधे से अलग होकर नया जीवन प्रारंभ करता है। इसके दो प्रकार, एक प्राकृतिक और दूसरा कृत्रिम, हैं। प्राकृतिक वानस्पतिक जनन निम्नलिखित प्रकार का होता है :

(१) समुद्भवन (Budding) में कोशिका में एक तरफ या चारों तरफ अनेक प्रवर्ध निकलकर मातृ कोशिका से अलग होकर स्वतंत्र रूप से प्रवर्धन (process) कर कोशिकाओं की शृंखला बनाते हैं। इसका उदाहरण यीस्ट है। एक दूसरे प्रकार के समुद्भवन को जीमा (Gemma) समुद्भवन कहते हैं, जिसमें पैतृक पिंड के किसी निकले भाग से कलियाँ निकलकर उसी के साथ लपटी रहती हैं, या अलग हो जाती हैं। ऐसा जनन काई, लिवरवर्ट और प्रवाल डेंड्रोफिलिया (Dendrophyllia) में देखा जाता है।

(२) भूस्तारी या रनर (Runner) में जो पौधे सीधे खड़े नहीं हो सकते वे जमीन पर रेंगते हुए बढ़ते हैं। उनके ऊपर के भाग पर वल्कल पत्र (scab leaves) रहते हैं, जिनके कोणों में कलियाँ रहती हैं। कलियों के बीच से पतली झकड़ा जड़ें निकलकर जमीन के अंदर चली जाती हैं और इस प्रकार नए पौधे तैयार होते हैं। दूब घास इसका उदाहरण है।

(३) सकर (Suckers) भूस्तारी से मिलता जुलता है। अंतर यह है कि सकर में जमीन के अंदर तनों पर वल्कल पत्र होते हैं और उनके कोणों की कलियों से शाखाएँ निकलकर हवा में चली जाती हैं। प्रत्येक शाखा के तल से झकड़ा जड़ें निकलकर जमीन के अंदर घुस जाती हैं। पुदीना इसका उदाहरण है।

(४) भूस्तरिका या आफसेट (Offset) भी भूस्तारी की तरह फैलती है, पर यह भूस्तारी से छोटी और मोटी होती है तथा थोड़ी दूर ही रेंगकर तने के अंत में एक नया पौधा उत्पन्न करती है।

(५) पत्रकंद या बल्बिल — में अक्षकोणीय कलियाँ होती हैं, जो अधिक मात्रा में खाद्य पदार्थ एकत्रित हो जाने से मोटी हो जाती हैं और जमीन पर गिरने पर नए पौधे को जन्म देती हैं। लहसुन, पुष्पक्रम (Inflorescence), बनआलू या जमींकंद (Dioscorea bulbifera), अनन्नास इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

(६) प्रकंद या राइजोम (Rhizome) के ऊपर वल्कल पत्र और नीचे झकड़ा जड़ें होती हैं। पत्र के कोणों की कलियों से अंकुर निकलकर हवा में चले जाते हैं। जड़ें प्रमुख राइजोम से अलग होकर वंशविस्तार करती हैं। इसके उदाहरण अदरख, हल्दी और फर्न हैं।

(७) घनकंद या कार्म (Corm) के उदाहरण घुइयाँ और बंडा हैं। इनमें नीचे एक फूला हुआ तना रहता है जिसे मंडल (Disc) कहते हैं। इसके ऊपर वल्कलपत्र का आवरण होता है। इनको कोण में कलियाँ रहती हैं, जिनसे अनुकूल मौसम पर अंकुर निकलकर ऊपर चला जाता है और नीचे से जड़ें निकलकर पृथ्वी के अंदर चली जाती हैं। इस प्रकार नए पौधे उत्पन्न होते रहते हैं।

(८) बल्ब (Bulb) घनकंद सा ही होता है, पर इसका मंडल अपेक्षया छोटा होता है और ऊपर रसीली मोटी फाकियाँ होती हैं। अंदर की पत्ती के कोण में कली रहती है, जो अनुकूल मौसम पर नए तने को जन्म देती है। प्याज इसका उदाहरण है।

(९) कंद या ट्यूबर (Tuber) वल्कलपत्रों के कोणों में कंद लगता है। कंद का तना फूला हुआ रहता है। इसमें खाद्य संचित रहता है। आलू इसका अच्छा उदाहरण है। आलू पर कलियाँ या आँखें होती हैं। प्रत्येक आँख एक पौधा उत्पन्न करती है।

जड़ों द्वारा वानस्पतिक उत्पादन में सतावर (Asparagus), डैलिया (Dahlia) और शकरकंद की जड़ें कंद उत्पन्न करती हैं, इन कंदों से फिर नए पौधे उत्पन्न होते हैं।

(१०) पत्तियों द्वारा उत्पादन में कुछ पौधों के पत्ते नए पौधे उत्पन्न करते हैं। इन्हें पत्रकलिका (Leaf buds) कहते हैं। पत्थर कुचो (Bryophyllum), बेगोनिया (Begonia), पर्णवृंत (Petiole) तथा कैलैंकोइ (Kalanchoe) इसके उदाहरण हैं। कुछ फर्न में भी इसी रीति से जनन होता है।

कृत्रिम वानस्पतिक उत्पादन — कुछ पौधों का जनन कृत्रिम रीति से भी होता है। कुछ पौधे तनों की कतरन (cutting) से (इसके उदाहरण हुरैंडा, गुलाब, मेंहदी इत्यादि हैं), कुछ पौधे कलम बाँधने (Grafting) से (इसके उदाहरण आम, नीबू, कटहल आदि हैं) और कुछ दाब कलम (Layering) से (इसका उदाहरण अंगूर की लता है) नए पौधों को उत्पन्न करते हैं।

वानस्पतिक जनन से लाभ — कृत्रिम वानस्पतिक जनन से पौधे की जातिगत शुद्धता बनाई रखी जा सकती है, जो बीज द्वारा उत्पन्न पौधे में निश्चित नहीं होती, और जनन प्रायः निर्विघ्न होता है। ऐसे जनन के लिये खाद्य पदार्थ पर्याप्त रहना चाहिए। इसके अभाव में जनन लैंगिक या अलैंगिक हो सकता है। अलैंगिक जनन में विशेष प्रकार की कोशिकाएँ, बिना किसी दूसरी इकाई से मिले ही, नए पौधों को उत्पन्न करती हैं। यह विखंडन विधि (fission) या बीजाणु-निर्माण-विधि (sporulation) से होता है। पहली विधि से ही शैवाल, कवक और बीजाणुओं आदि का जनन एवं वर्धन होता है। दूसरी विधि में जनन बीजाणुओं द्वारा होता है। बीजाणु एककोशीय और बहुत सूक्ष्म होते हैं। कुछ बीजाणु गतिशील होते हैं और कुछ गतिहीन। कुछ शैवालों, जलकाइयों और कवकों में बीजाणु होते हैं जो केवल प्रोटोप्लाज्म के बने होते हैं। इनमें लोमक (Cilia) होते हैं। ऐसे बीजाणुओं को चलजन्तु (zoospores) कहते हैं। ये चलजन्तु लोमक की सहायता से तैरते हैं और शुद्धजलीय प्राणियों की भाँति बाद में नए पौधों में बदल जाते हैं। कुछ पदार्थों में, जैसे युग्मोभिवस

(Ulothrix) चलजन्यु अधिक संख्या में और सैप्रोलेग्निया (Saprolegnia) में उत्पन्न होते हैं।

कुछ शैवालों, जैसे नौस्टॉक (Nostoc) में, बीजाणुतंतु की कोशिकाओं से अचल बीजाणु उत्पन्न होते हैं, जो हवा से उड़कर फैलते हैं। बीजाणुजनक (sporophytes) से बीजाणुओं का निर्माण होता है, जिनमें नर और मादा दोनों होती हैं। ये परस्पर मिलकर युग्मक-सू (गैमिटोफाइट, Gametophyte) बनते हैं, जिनसे फिर बीजाणु और उनसे बीजाणुजनक बनते हैं।

अधिक विकसित पौधों में फल और बीज द्वारा लैंगिक जनन होता है। उनके फूलों में नर गैमीट और मादा गैमीट (Gamete) होते हैं, जिनके सायुज्य से युग्मक (Zygote) बनते हैं। ये बीज के अंदर भ्रूण में विकसित हो, अंकुर बनकर नए पौधों को जन्म देते हैं। गैमीट बहुत सूक्ष्म और एककोशिकीय होते हैं। लैंगिक जनन में दो विभिन्न जनकों की आवश्यकता होती है। कभी कभी एक ही प्रकार के दो गैमीट मिलकर जनन करते हैं। ऐसे मिलन को समागम (Conjugation) कहते हैं। दो विभिन्न गैमीटों के मिलने को निषेचन (Fertilization) कहते हैं। शैवाल और कवक सदृश निम्न श्रेणी के पौधों में समागम से जनन होता है और उच्च श्रेणी की वनस्पतियों में निषेचन से। जिन पौधों के गैमीट में नर और मादा का विभेद नहीं होता उन्हें समयुग्मक (Isogametes) कहते हैं और ऐसे पौधों को समयुग्मी (isogamous)। निषेचन में नर और मादा के मिलने से जो बनता है उसे शुक्राणु (Oospore), गैमीट को असम युग्मक (heterogamete) और पौधे को असमयुग्मीया या विविधयुग्मी (heterogamous) कहते हैं। जनन की उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त कुछ अन्य विधियों, जैसे अजीवाणुजनन (Apospory), अपयुग्मजनन (Apogamy) और असेचन जनन (Parthenogenesis) से भी जनन होता है।

प्राणियों का जनन

प्राणियों में जनन की विधियाँ दो कोटि में बाँटी जा सकती हैं एक अलैंगिक और दूसरी लैंगिक। इनमें भेद यह है कि अलैंगिक विधि से जनन के लिये केवल एक ही जनक की आवश्यकता होती है और जनककोशिका तथा संतानकोशिका का विभाजन समसूत्रण (Mitosis) से ही होता है। लैंगिक जनन के लिये दो जनकों की आवश्यकता होती है और इसमें समसूत्रण के अतिरिक्त अर्धसूत्रण और निषेचन की क्रियाएँ होती हैं। निम्न श्रेणी के प्राणियों का जनन अलैंगिक और लैंगिक दोनों विधियों से होता है, पर उच्च श्रेणी के प्राणियों का जनन केवल लैंगिक विधि से ही होता है।

अलैंगिक जनन — यह जनन पिंड के दो या दो से अधिक सम भागों में विभाजन से होता है। इस विभाजन को विखंडन (Fission) कहते हैं। यह विखंडन द्विविखंडन (Binary fission), बहुविखंडन (Multiple fission) या बीजाणुकरण (Sporulation) का रूप ले सकता है। द्विविखंडन का उदाहरण अमीबा (Amoeba) में मिलता है। मुकुलन से भी जनन होता है। स्पंज, सीलेंटरेटा (Coelenterata) और ब्राइओजोआ (Bryozoa) में प्रवर्धन या कलिकाओं के रूप में जनन होता है। कुछ प्राणियों में पुनरुत्पादन (Regeneration) की शक्ति होती है। यदि उनके शरीर का कोई भाग क्षतिग्रस्त हो जाय या कट जाय तो उसका फिर निर्माण हो जाता है। यह बात हाइड्रा और केंचुए में देखी जाती है। यह शक्ति उच्च श्रेणी के जंतुओं में क्रमशः कम होती जाती है। स्तनियों में सबसे कम होती है और मनुष्य में केवल घावों के भरने तक ही सीमित रह जाती है। पुनरुत्पादन का एक दूसरा रूप खंडों में बढ़ना है या खंविभाजन (fragmentation) है। प्लैनेरियनों (Planarians) के टुकड़े हो जाने पर प्रत्येक टुकड़ा अलग प्राणी बन जाता है। कुछ प्राणियों में जेम्यूलों (Gemmules) का निर्माण होता है। उत्पादक कोशिकाएँ गेंद के रूप में इकट्ठी हो जाती हैं तथा उनके चारों तरफ कंटिकाओं (Spirules) की भित्ति बन जाती है, जिसे जेम्यूल कहते हैं। यहाँ जनक की मृत्यु हो जाती है, पर जेम्यूल जीते रहते हैं और अनुकूल मौसम आने पर पूर्ण स्पंज के रूप में विकसित हो जाते हैं। कुछ प्राणी स्टैटोब्लास्ट (Statoblast) का निर्माण करते हैं। यह मंडलाकार अवरोधक रचना होती है, जो प्रतिकूल स्थिति के हट जाने पर नए मंडल में अंकुरित हो जाती है।

लैंगिक जनन — प्राणियों में लैंगिक जनन की कई विधियाँ हैं, जिनमें प्रमुख विधियाँ (१) सामान्य लैंगिक जनन, (२) उभयलिंगी (Hermaphroditic) जनन, (३) असेचन जनन (Parthenogenesis) और (४) डिंभजनन (Paedogenesis) हैं।

सामान्य लैंगिक जनन में दो जन्यु कोशिकाएँ मिलकर एक युग्मज बनाती हैं। दो जन्युओं की उत्पत्ति दो विभिन्न लिंगों के जनकों में होती है। नर जन्यु को शुक्राणु (Sperm) और स्त्री जन्यु को डिंब या अंडाणु (Ovum) कहते हैं। ये जन्यु विशेष अवयवों अर्थात् जनदों (Gonads) में उत्पन्न होते हैं। नर जनद को वृषण (Testes) और स्त्री जनद को अंडाशय (Ovary) कहते हैं। पूर्वोक्त दोनों जन्युओं के मिलन को संसेचन (Fertilization) कहते हैं। संसेचन के फलस्वरूप युग्मज का निर्माण होता है। युग्मजों के खंडीकरण से भ्रूण बनता है और विकसित होकर शिशु रूप में जन्म लेता है।

वृषण शुक्रजनन नलिकाओं से बना होता है। प्रत्येक नलिका की अंतःभित्ति भ्रूणीय एपिथीलियम (Germinal epithelium) की बनी होती है, जिसके गुणन और विभेदीकरण (differentiation) से शुक्राणु बनते हैं। यह प्रक्रिया तीन क्रमों में होती है। पहला क्रम गुणन अवस्था (phase of multiplication), दूसरा क्रम वृद्धि अवस्था (phase of growth), और तीसरा क्रम परिपक्व अवस्था (phase of maturation) का है। भ्रूणीय एपिथीलियम की सभी कोशिकाएँ निर्माण में सक्षम होती हैं, पर कुछ ही उसमें भाग लेती हैं। ये कोशिकाएँ सूत्रविभाजन द्वारा ज्यामितीय अनुपात में विभाजित होती हैं। विभाजन से बनी कोशिकाओं को शुक्राणु-कोशिका-जन (Spermatogonia) कहते हैं। शुक्राणु-कोशिका-जन बड़े सूक्ष्म होते हैं। इनके अंदर पोषक पदार्थ एकत्रित होने से ये बढ़ने लगते हैं। ऐसी वर्धित कोशिकाओं को प्राथमिक शुक्राणु कोशिका (Primary spermatocytes) कहते हैं। ये फिर परिपक्व अवस्था में प्रवेश करती हैं। यहाँ प्राथमिक शुक्राणु कोशिकाओं का दो बार विभाजन होता है। प्रथम विभाजन अर्धसूत्रण (Meiosis) या ह्रास विभाजन (Reduction division) का है। इस विभाजन के पूर्व प्राथमिक शुक्राणु कोशिका के केंद्रक में उपस्थित क्रोमोसोम (Chromosome) की संख्या द्विगुणित (diploid) होती है, पर अर्धसूत्रण के समय पैतृक क्रोमोसोम अंतर्ग्रंथन (Synapsis) द्वारा जोड़ों में व्यवस्थित हो जाते हैं। अंतर्ग्रंथन में कोई दो क्रोमोसोम जोड़े नहीं बनाते वरन् ऐसे ही क्रोमोसोम जोड़े बनाते हैं जो समधर्मी या समान शक्ति और रचना के

होते हैं। इस प्रकार अर्धसूत्रण में पैतृक क्रोमोसोमों की संख्या अगुणित (haploid) हो जाती है। कोशिकाएँ अब द्वितीय शुक्राणुकोशिका हो जाती हैं। द्वितीय शुक्राणुकोशिका का एक बार फिर विभाजन होता है जिसे समसूत्रण (Mitosis) कहते हैं। इससे पूर्वशुक्राणु (Spermatids) बनते हैं, जो धीरे धीरे रूपांतरित होकर शुक्राणु बन जाते हैं।

लाक्षणिक शुक्राणु के तीन भाग—(१) सिर, (२) मध्य खंड या ग्रीवा और (३) पूँछ—होते हैं। विभिन्न शुक्राणुओं के सिर विभिन्न आकार के होते हैं। अधिकांश के अंडाकार, पर किसी के छड़नुमा, किसी के कागपेंच से टेढ़े या अन्य प्रकार के भी होते हैं। इनके अग्रिम सिरे पर नुकीला अग्रस्थ भाग या एक्रोसोम (Acrosome) होता है। मध्य खंड प्रायः छोटा और बेलनाकार होता है। पूँछ का अक्षसूत्र (Axial filament) इसी में लिपटा रहता है। पूँछ तंतु के रूप में लंबी और क्रमशः पतली होती जाती है और कशाभ (Flagellum) की भाँति गतिशील होती है। यह शीघ्रतापूर्वक हिलती डुलती रहती है, जिससे वीर्यद्रव, या जल में तैरकर अंडाणु में प्रवेश करने के लिये शुक्राणु आगे बढ़ता है।

अंडजनन (Oogenesis) — अंडाशय की कोशिकाओं से अंडे (Ova) उत्पन्न होते हैं। अंडे की भी (१) गुणन अवस्था, (२) वृद्धि अवस्था और (३) परिपक्व अवस्था होती है। अंडाशय की कुछ उत्पादक कोशिकाओं के गुणन विभाजन से डिंब कोशिकाजन (Oogonia) बनते हैं। कोशिकाजनों में अंडपीत एकत्र होकर बढ़ते हैं और बढ़कर प्राथमिक डिंबकोशिका (Ocoytes) बनते हैं। इनका फिर से ह्रास विभाजन होता है और ये दो अलग अलग कोशिकाओं में बँट जाते हैं। इनमें एक बहुत छोटी और दूसरी बड़ी होती है। छोटी को प्रथम ध्रुवीय पिंड (First polar body) और बड़ी को द्वितीय डिंबकोशिका कहते हैं। द्वितीय डिंबकोशिका का सूत्रण विभाजन होता है। यहाँ भी एक छोटी और दूसरी बड़ी होती है। बड़ी को परिपक्व या प्रौढ़ अंडा और छोटी को द्वितीय ध्रुवीय पिंड कहते हैं। प्राथमिक ध्रुवीय पिंडों का भी सूत्रण होकर ध्रुवकोशिका (Polocytes) प्राप्त होती हैं। ध्रुवीय रचनाएँ जनन के काम के लिये बेकार होती हैं।

अर्धसूत्रण या ह्रास विभाजन इस कारण आवश्यक है कि इस प्रकार उत्पन्न जन्युओं के संयोग से जो युग्मज बने उनमें पैतृक सूत्रों की संख्या उतनी ही रहे जितनी उस जाति के लिये आवश्यक है, अन्यथा संतान में पैतृक गुणों के बदल जाने की संभावना हो सकती है। पैतृक सूत्रों की संख्या निश्चित रखने के लिये युग्मज जनन के समय उनका ह्रास विभाजन आवश्यक है।

संसेचन (Fertilization) — डिंब के शुक्राणु से मिलने पर ही नए जीव की उत्पत्ति होती है। जिन प्राणियों में लैंगिक जनन होता है, उनमें डिंब और शुक्राणु दो विभिन्न लिंगवाले प्राणियों में उत्पन्न होते हैं। इनका सायुज्य नर और मादा के मिलकर संयोग करने से होता है। संयोग के समय डिंब और शुक्राणु निकट तो आ जाते हैं, पर शुक्र का डिंब के साथ मिलकर एक हो जाना, अर्थात् डिंब का संसेचन कई बातों पर निर्भर करता है। परिस्थितियों के अनुकूल न होने पर अंडे का संसेचन नहीं होता। संसेचन के लिये निम्नलिखित परिस्थितियाँ आवश्यक हैं :

१. शुक्राणु का गतिशील होना — वृषण में शुक्राणु गतिशील नहीं होता, क्योंकि वृषण में थोड़े ही स्थान में असंख्य शुक्राणु रहते हैं। उनसे उत्पन्न कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा इतनी अधिक होती है कि वे शिथिल रहते हैं, किंतु मैथुन के समय वृषण से निकलकर शुक्रप्रणाली में प्रवेश करने पर वे क्रियाशील एवं गतिशील हो जाते हैं। डिंब तक पहुँचने के लिये शुक्राणु को कुछ दूरी तय करनी पड़ती है और वह दूरी शुक्राणु वीर्य में (जहाँ अंतःसंसेचन होता है), या जल में (जहाँ बाह्य संसेचन होता है), तैरकर तय करते हैं, अतः शुक्राणु का गतिशील होना आवश्यक है।

२. डिंब और शुक्राणु का परिपक्व होना — संसेचन के लिये डिंब और शुक्राणु का परिपक्व होना भी आवश्यक है। किसी किसी प्राणी में डिंब अपरिपक्व अवस्था में स्खलित होता है और ध्रुवीय पिंड (polar bodies) अलग नहीं हुए रहते हैं। ऐसे डिंब के अंदर शुक्र का प्रवेश होने पर प्रथम और द्वितीय ध्रुवीय पिंड अलग हो जाने पर ही संसेचन की विधि पूर्ण होती है। जन्यु जब तक परिपक्व नहीं होते तब तक संसेचन संभव नहीं होता।

३. किसी द्रव माध्यम का होना — जिन प्राणियों में डिंब और शुक्राणु का संयोग जननी के शरीर के अंदर अथवा अंतःसंसेचन द्वारा होता है, उन प्राणियों में नर की कुछ विशेष ग्रंथियों में से एक प्रकार के द्रव का स्राव होता है, जिसे वीर्य (semen) कहते हैं। इसी द्रव के साथ शुक्राणु मिले रहते हैं। वीर्य के माध्यम से शुक्राणु तैरकर, गह्वर द्वार से होकर, डिंबवाही नली (Fallopian tubes) में प्रवेश कर डिंब से संयोग करते हैं। जिन प्राणियों में डिंब और शुक्राणुओं का संयोग प्राणी के शरीर के बाहर होता है, अर्थात् जहाँ बाह्य संसेचन होता है, जैसे मछली और मेढक में, तो ऐसा संसेचन जल में होता है।

४. डिंब और शुक्राणु का एक ही जाति के प्राणी का होना — साधारणतया ऐसा देखा जाता है कि कुत्ते कुतियों से, साँड़ गाय से, मुर्गा मुर्गी से तथा बकरा बकरी से ही संयोग करता है। यदि विभिन्न-जातियों के पशुओं का संयोग कराया भी जाय, तो उससे गर्भधारण नहीं होता, क्योंकि एक जाति का शुक्राणु दूसरी जाति के डिंब से संसेचन नहीं कर सकता। यदि किसी प्रकार ऐसा संसेचन कराया भी जाय और उससे संतान भी उत्पन्न हो तो संतान में जनन की क्षमता नहीं रहती। वह नपुंसक होती है।

अंतःसंसेचन करनेवाले प्राणियों में अंडों की संख्या बहुत कम होती है और एक बार में एक या कुछ ही संतान उत्पन्न होती है, पर जिन प्राणियों में बाह्य संसेचन होता है, डिंब की संख्या अत्यधिक होती है और अंडों की अपेक्षा शुक्राणुओं की संख्या तो और भी अधिक। जब अंडों और शुक्राणुओं का संयोग जल में होता है, युग्मजों के लिये अनेक बाधाएँ रहती हैं, जैसे जल का ताप, उसकी अम्लता या क्षारीयता, (जल का पीएच मान आदि); जल की धारा की गति (मंद या तीव्र), आसपास के अन्य जलीय प्राणियों की उपस्थिति इत्यादि। अतः स्पीशीज की श्रृंखला बनाए रखने के लिये प्रकृति डिंब और शुक्राणुओं का उत्पादन अधिक संख्या में करती है, क्योंकि इन बहुसंख्यक अंडों और शुक्राणुओं में से अनेक अंडे और शुक्राणु उपर्युक्त कारणों में से कोई भी प्रतिकूल कारण होने पर असंसेचित अवस्था में मर जाते हैं। संसेचन के लिये एक डिंब को एक ही शुक्राणु की आवश्यकता होती है। मनुष्य के

एक बार के मैथुन में स्खलित वीर्य में सामान्यतः शुक्राणुओं की संख्या २२,६०,००,००० अनुमानित की गई है। इनमें केवल एक ही शुक्राणु डिंब को संसेचित करने का काम करता है। प्रत्येक डिंबोत्सर्ग (Ovilation) में केवल एक ही डिंब डिंबग्रंथि से निकलता है।

ज्योंही कोई क्रियाशील शुक्राणु अपने ही स्पीशीज के प्राणी के डिंब के संपर्क में आता है त्यों ही वह उसमें प्रवेश कर जाता है। शुक्राणु का सिर तो डिंब के अंदर घुस जाता है, किंतु उसकी पूँछ टूटकर बाहर ही रह जाती है। डिंब में शुक्र प्रवेश कर उसके अंदर अनेक घटनाओं को उत्तेजित करता है। सबसे पहले वह डिंब में किसी अन्य शुक्राणु के प्रवेश को रोकता है। यह काम इस प्रकार होता है :

संसेचित अंडे के बाह्य स्तर से एक प्रकार का रासायनिक स्राव निकलता है, जो अन्य शुक्राणु को डिंब की ओर आकर्षित न कर विकर्षित करता है अथवा डिंब के बाहर चारों ओर एक प्रकार की जेली जैसी झिल्ली (Fertilization Membrane) बन जाती है, जिससे शुक्राणु का प्रवेश नहीं हो पाता अथवा अभेद्य भित्ति से घिरा डिंब का बिल्कुल छोटा छेद, माइक्रोपाइल (Micropyle) एक शुक्राणु के प्रवेश करते ही बंद हो जाता है।

डिंब में प्रविष्ट करने पर शुक्राणु निर्धारित पथ से केंद्रक की ओर अग्रसर होते हुए डिंब के पूर्वकेंद्रक (Pronucleus) से मिलता है और शुक्राणु तथा डिंब दोनों ही के पूर्वकेंद्रक घुलमिलकर क्रोमोसोम बनाते हैं, जो कोशिका द्रव्य में स्वतंत्र पड़े रहते हैं। डिंब अब युग्मज बन जाता है। डिंब का सेंट्रोसोनोम लुप्त हो जाता है, पर शुक्राणु का सेंट्रोसोम दो भागों में बँट जाता है और एक गतिशील तर्कु (spindle) का निर्माण करता है। इस तर्कु के अयनवृत्त के चारों ओर क्रोमोसोम अपनी अपनी जगह ले लेते हैं और संसेचित डिंबकोश का विभाजन और विकास शुरू होकर भ्रूण का निर्माण होने लगता है।

जन्तुओं का सायुज्य कैसे होता है, इसपर विचार करने से पता लगता है कि अधिकांश दशाओं में तो संयोग से ही नर जन्तु तैरते तैरते मादा जन्तु के संपर्क में आ जाता है, पर कुछ दशाओं में शुक्राणु सीधे निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं। इसका कारण शुक्राणु का किसी विशेष रासायनिक द्रव्य की ओर आकर्षित होना है। इस रासायनिक द्रव्य को डिंब उत्पन्न करता है। इसे रासायनिक कर्षण (Chemo taxis) कहते हैं। पर हर दशा में रासायनिक कर्षण नहीं होता। ऐसा समझा जाता है कि नर जन्तु और मादा जन्तु में ध्रुवीय अंतर होता है, जिससे वे परस्पर आकर्षित होते हैं। आकर्षण का वास्तविक कारण क्या है, यह निश्चित रूप से अभी नहीं कहा जा सकता।

मैथुन — संभोग के समय मादा प्रायः निष्क्रिय रहती है और नर में मादा के आलिंगन के लिये विविध भाँति के आलिंगन अवयव विकसित होते हैं। कुछ प्राणियों में गौण लैंगिक लक्षण, जैसे मानव नर में दाढ़ी, मूछें और नारी में इनका अभाव किंतु विकसित स्तन का होना और चिड़ियों में विविध भाँति के रंगों से युक्त पर इत्यादि, पाए जाते हैं। ये गौण लक्षण ज्ञानेंद्रियों को प्रभावित कर नर तथा मादा का संयोग कराने में सहायक होते हैं। कुछ प्राणियों में कुछ ऐसे भी सहायक अवयव पाए जाते हैं, जो संतान की रक्षा के लिये होते हैं। अनेक प्राणियों में संसेचन के पश्चात् माँ बाप की जिम्मेदारियाँ समाप्त हो जाती हैं और युग्मज बिना किसी देखरेख के विकसित होते हैं, कुछ प्राणियों में बच्चे अपना लालन पालन स्वयं करते हैं, पर कुछ प्राणियों में माँ बाप अपनी संतान की रक्षा का बड़ा ध्यान रखते हैं। वे अंडे या भ्रूण की रक्षा के लिये कोई उपयुक्त स्थान चुनते हैं। कुछ उनको बाँध रखने का उपाय भी करते हैं। इसके लिये वे कोए (Cocoon) का निर्माण करते हैं। अन्य जंतुओं में अंडनिक्षेपक (Ovipositor) होते हैं, जिनमें वे अंडे सुरक्षित रखते हैं अथवा किसी जीवित या मृत प्राणी के ऊतक से वे यही काम लेते हैं। वहीं अंडे का विकास होता और डिंभ (Larva) बनते हैं।

कुछ प्राणियों के अंडे या डिंभ माँ या बाप से चिपके रहते हैं। कुछ माँ बाप उन्हें गलफड़ों (gills) में लिए फिरते हैं, कुछ शिशु-थैलियों (Brood pouches) में, जैसे क्रस्टेशिया (Crustacea) में, कुछ स्वरथैलियों में (जैसे मेढक में), कुछ फैली हुई डिंब-वाहिनियों में और कुछ मारसुपियल थैलियों (Marsupial pouches) में लिए फिरते हैं।

भ्रूण विकास (Embryology) — कुछ प्राणियों में डिंब और शुक्राणु का संयोग माता के शरीर के अंदर ही होता है और युग्मज का खंडीकरण एवं भ्रूण का विकास भी वहीं होता है। भ्रूण के पूर्ण विकसित हो जाने पर शिशु माता के गर्भ से प्रसव द्वारा बाहर चला आता है। जितने दिनों तक भ्रूण माता के गर्भ में रहता है, उतने समय को गर्भकाल (Gestation period) कहते हैं। इस प्रकार के विकास को अंतःविकास (Internal development) कहते हैं। कुछ मछलियों, छिपकलियों और पक्षियों में डिंब का संसेचन मैथुन द्वारा मादा के शरीर के अंदर ही होता है और युग्मज अथवा संसेचित डिंब चूर्णमय (Calcareous) आवरण से मंडित होकर शरीर के बाहर निकलता है। भ्रूण का विकास बाहर ही होता है। पूर्ण विकसित हो जाने पर बच्चा अंडे की खोली (Egg case) को तोड़कर अंडे से बाहर चला आता है। इस प्रकार के विकास को बाह्य विकास (External development) कहते हैं। मछलियों, मेढकों तथा निम्न कोटि के अन्य प्राणियों में डिंब और और शुक्राणु दोनों ही शरीर के बाहर स्खलित किए जाते हैं और वहीं उनका संयोग होता है तथा अंडे बाहर ही भ्रूण में विकसित होते हैं। इस प्रकार संसेचन भी और विकास भी बाह्य होता है (देखें भ्रूण विज्ञान)।

गाय, भैंस, बकरी, मनुष्य इत्यादि, जिनमें भ्रूण माता के शरीर के भीतर परिवर्धित होता है और शिशु जीवित अवस्था में बाहर निकलता है, जरायुज (viviparous) कहलाते हैं। इनके विपरीत मछली मेढक, साँप, छिपकली और चिड़िया जैसे जंतु, जिनमें शिशु अंडे से बाहर निकलते हैं, अंडज (oviparous) कहलाते हैं।

शिशु का पोषण — अधिकांश दशाओं में भ्रूण का पोषण माँ के रक्त से, अपरा (placenta) सदृश किसी संयोजक द्वारा होता है। कुछ शार्क मछलियाँ, ऐनाब्लेप्स (Anablebs = एक प्रकार की मछली), कुछ छिपकलियों और स्तनियों में इसी प्रकार की व्यवस्था पाई जाती है। कुछ प्राणियों में जन्म के पश्चात् अथवा अंडे से बाहर आने पर नवजात शिशु को माँ बाप भोजन खिलाते हैं। स्तनियों में स्तन होता है, जिससे दूध का स्राव होता है, यह दूध नवजात शिशु का आहार होता है। बहुतेरी चिड़ियों के मुख से लार का स्राव (salivary secretion) होता है, जो चूजों का भोजन होता है। अन्यथा चिड़ियाँ दाना चुगकर शिशु के मुख में डाल देती हैं।

जननकाल — साधारणतया वयस्क होने पर जनन प्रारंभ होता है, पर कुछ प्राणियों में जैसे मिजेज (Midges) और ऐक्सोलाटल (Axolotle) में शैशव अवस्था में ही जनन प्रारंभ हो जाता है। इसे असेचन जनन (Parthenogenesis) कहते हैं। अधिकांश प्राणियों या पौधों की जननऋतु, प्रायः निश्चित होती है, डिंब का विकास ऋतु और वातावरण पर निर्भर करता है। अनेक चिड़ियों, कीटों और अन्य प्राणियों में बसंत या ग्रीष्म ऋतु में जनन की क्रियाशीलता अधिक होती है। वातावरण की स्थिति, ताप, आर्द्रता, शुष्कता इत्यादि शरीरक्रिया को प्रभावित करती हैं और इनका प्रभाव जनन पर भी पड़ता है। भोजन के साथ भी जनन का गहरा संबंध है। जहाँ वातावरण एक सा रहता है, वहाँ के प्राणियों में ऋतुकाल (reproduction period) निश्चित नहीं होता, जैसे फिलीपाइन द्वीपों में जलवायु की परिस्थितियों से ही कुछ प्राणियों का प्रवसन (migration) होता है और सहायक जननेंद्रियों में सामयिक, बाह्य या अंतः परिवर्तन होते हैं। कुछ प्राणियों में जनन जीवन पर्यंत चलता है, पर कुछ में उम्र की वृद्धि के साथ साथ जननक्रियाशीलता मंद पड़ जाती अथवा बिलकुल रुक जाती है। अधिकांश प्राणियों में जननक्रियाशीलता के बाद विश्राम काल आता है और उसके बाद फिर ऋतुकाल प्रारंभ होता है। ऐसा क्रम शृंखला (rhythmical series) में या एकांतरणतः (alternation) होता है। उच्च कोटि के प्राणियों में, जिनमें मनुष्य भी आता है, गरम होना (Heat), रजःस्राव (menstruation) अथवा अंडाणु उत्पादन (oviiation) भी क्रमबद्ध होते हैं।

अंतःस्राव ग्रंथियाँ — प्राणियों के शरीर में कुछ ऐसी ग्रंथियाँ हैं, जिनकी कोई वाहनी (duct) नहीं है। इन ग्रंथियों से हारमोन बनते हैं, जो सीधे रक्त में चले जाते हैं। रक्तप्रवाह के साथ साथ ये समस्त शरीर में घूमते हैं और शरीर पर भिन्न भिन्न प्रभाव उत्पन्न करते हैं। ये कुछ अंगों को उद्दीप्त करते और कुछ का दमन करते हैं। इनमें पीयूष ग्रंथि (pituitary gland) और जननग्रंथि (gonads) का प्रजनन से बड़ा घना संबंध है (देखें हार्मोन)।

उभयलिंगी जनन (Hermaphrodition Reproduction)—कुछ प्राणियों में नर जननेंद्रिय और नारी जननेंद्रिय दोनों होती हैं तथा शुक्राणु और अंडे एक ही प्राणी में उत्पन्न होते हैं। ये उभयलिंगी प्राणी हैं। इनमें या तो एक ही प्रकार के क्रोमोसोम अंदर ही परस्पर मिलकर जनन करते हैं, जिसे स्वयंसंसेचन कहते हैं, अथवा दो उभयलिंगी जोड़े खाकर परस्पर एक दूसरे के अंडे का संसेचन करते हैं, जिसे 'क्रौस' (cross) कहते हैं। केंचुएँ, जोंकें, घोंघे और हाइड्रा पिछले प्रकार के उदाहरण हैं। स्वयंसंसेचन विरला ही पाया जाता है।

असंसेचन जनन — इसमें अंडे और शुक्र के सायुज्य का होना आवश्यक नहीं होता। इसे अक्षतयौनिक जनन (virgin reproduction) भी कहते हैं। इसका उदाहरण मधुमक्खियाँ और ऐफिड्स हैं। मधुमक्खियाँ कुछ संसेचित और कुछ असंसेचित या अगर्भित अंडे देती हैं। संसेचित अंडे से श्रमिक और रानी मधुमक्खियाँ उत्पन्न होती हैं और असंसेचित अंडे से ड्रोन या नर मधुमक्खियाँ उत्पन्न होती हैं। कुछ सामुद्रिक प्राणियों, जैसे सी अर्चिन (sea urchin) में भी असंसेचित अंडे से नए प्राणी का उत्पादन वैज्ञानिकों ने संभव किया है। मेढक के अंडे को सूई से गोद कर तथा उसका विकास कर बेंगची (tadpoles) उत्पन्न किया गया है। इस प्रकार भौतिक और रासायनिक विधियों से भी अंडे को विकसित होने के लिये सफलतापूर्वक प्रेरित किया गया है।

डिंभजनन (Paedogenesis)—यकृत कृमि (Liver fluke) और टाइगर सैलामंडर (Tiger salamander) में जनन की एक अपूर्व रीति पाई जाती है, जिसे डिंभजनन कहते हैं। इसमें जब प्राणी डिंभावस्था (larval stage) में ही रहते हैं और पूर्ण वयस्क नहीं हुए रहते तभी जनन करने लगते हैं और संतानवृद्धि करते हैं। [मु० ना० प्र०]

जननतंत्र

जननतंत्र (Reproductive System) का कार्य संतानोत्पत्ति है। प्राणिवर्ग मात्र में प्रकृति ने संतानोत्पत्ति की अभिलाषा और शक्ति भर दी है। जीवन का यह प्रधान लक्षण है। प्राणियों की निम्नतम श्रेणी, जैसे अमीबा नामक एककोशी जीव, जीवाणु तथा वाइरस में प्रजनन या संतानोत्पत्ति ही जीवन का लक्षण है। निम्नतम श्रेणी के जीवाणु अमीबा आदि में संतानोत्पत्ति केवल विभाजन (direct division) द्वारा होती है। एक जीव बीच में से संकुचित होकर दो भागों में विभक्त हो जाता है। कुछ समय पश्चात् यह नवीन जीव भी विभाजन प्रारंभ कर देता है।

ऊँची श्रेणियों के जीवों में प्रकृति ने नर और मादा शरीर ही पृथक् कर दिए हैं और उनमें ऐसे अंग उत्पन्न कर दिए हैं जो उन तत्वों या अणुओं को उत्पन्न करते हैं, जिनके संयोग से माता पिता के समान नवीन जीव उत्पन्न होता है, प्रथम अवस्था में यह डिंब (ovum) कहलाता है और फिर आगे चलकर गर्भ या भ्रूण (foetus) कहा जाता है। इसको धारण करने के लिये भी मादा शरीर में एक पृथक् अंग बनाया गया है, जिसको गर्भाशय (Uterine) कहते हैं।

प्रजनन अंग — समस्त स्तनपायी (mammalia) श्रेणी में, जिनमें मनुष्य भी एक है, नर में अंडग्रंथि, शुक्राशय और शिश्न गर्भ को उत्पन्न करनेवाले अंग हैं। स्त्री शरीर में इन्हीं के समान अंग डिंबग्रंथि, डिंबवाही नलिका और गर्भाशय हैं। योनि भी प्रजनन अंगों में ही गिनी जाती है, यद्यपि वह केवल एक मार्ग है।

चित्र १. शुक्राणु (Spermatozoon)
क. पार्श्व से; ख. संमुख से;
१. शिर, २. ग्रीवा तथा ३. पुच्छ।
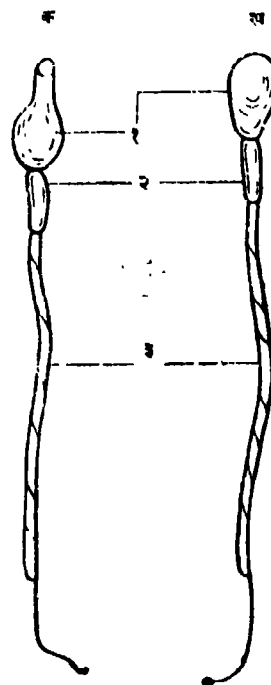
गर्भधारण (Conception)—गर्भस्थापना करनेवाले तत्वों को उत्पन्न करनेवाले अंग नर में अंडग्रंथि तथा मादा में डिंबग्रंथि हैं। अंडग्रंथियों में शुक्राणु उत्पन्न होते हैं और डिंबग्रंथि में डिंब। शुक्राणुओं को नर मादा की योनि में मैथुन क्रिया द्वारा पहुँचाता है। वहाँ से वे गर्भाशय में चले जाते हैं। इसके ऊपरी दोनों किनारों पर डिंबवाही नलिकाएँ होती हैं, जिनमें शुक्राणु प्रवेश करके उसके दूसरे सिरे की ओर यात्रा करते हैं। उधर स्त्री की डिंबग्रंथि में परिपक्व होकर, महीने में एक बार एक डिंब उसके बाहर निकलकर, डिंबवाही नलिका में दूसरी ओर से आता है। डिंबवाही में कहीं पर शुक्राणु और डिंब का संयोग होता है। शुक्राणु का सिर डिंब के शरीर में समा जाता है। उसकी पूँछ बाहर ही रहकर नष्ट जाती है। यह

क्रिया संसेचन (Fertilization) कहलाती है। इसके पश्चात् डिंब में बड़े वेग से परिवर्तन प्रारंभ हो जाते हैं। उसमें विभाग होने लगते हैं। डिंब के जो केवल एककोशिका था, विभाजन से दो कोशिकाएँ बनती हैं। दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह, सोलह से बत्तीस, इसी प्रकार कोशिकाओं की संख्या निरंतर बढ़ती रहती है। अब संसेचित डिंब (Fertilized ovum) गर्भाशय में लौट आता है और वहाँ उसकी भित्ति में अपने रहने के लिये स्थान बना लेता है। यही गर्भ कहलाता है। धीरे धीरे उसके आकार में वृद्धि होती है। विभाजन जारी रहने से नवीन नवीन कोशिकाएँ बनती जाती हैं और उनके पुनर्विन्यास से भ्रूण के अंगों की उत्पत्ति हो जाती है। छह सप्ताह में भ्रूण के अंगों की रचना पूरी होती है। शेष समय उनके विकास में लगता है। नौ मास तक विकसित होकर भ्रूण गर्भाशय से प्रसव क्रिया द्वारा बाहर आ जाता है। यह जन्म कहलाता है।

पुरुष के जननांग

अंडग्रंथि या वृषण (Testis) — पुरुष में दो अंडग्रंथियाँ, दाहिनी और बाईं, अंडकोष (scrotum) में रहती हैं। ये श्वेत रंग की, अंडे के समान दो कड़ी ग्रंथियाँ हैं, जो एक रज्जु के समान रचना से लटकी रहती हैं। इसके बाहर और ऊपर की ओर एक मुड़ा सा भाग चढ़ा रहता है, जो अध्यंड(Epididymis) कहलाता है और अंडग्रंथि से पृथक् होता है, किंतु उसी के आवरण से ढका रहता है। यह सारी ग्रंथि एक दृढ़ सौत्रिक आवरण से ढकी हुई है। वह भीतर से सौत्रिक पट्टों द्वारा ८ या १० विभागों में विभक्त होती है, जिसमें सूक्ष्म नलिकाएँ गुच्छों के रूप में स्थित रहती हैं। ये ही शुक्राणुजनक नलिकाएँ (seminiferous tubules) हैं। प्रत्येक विभाग या कोष्ठ में दो या तीन फुट लंबी नलिकाएँ भरी हुई होती हैं। सब कोष्ठों में कोई १,००० के लगभग नलिकाएँ रहती हैं। प्रत्येक कोष्ठ की नलिकाएँ पीछे की ओर जाकर एक अन्य नलिका में खुल जाती हैं। ये आठ दस नलिकाएँ मोड़ खाती हुई एक गुच्छे के रूप में अध्यंड में स्थित हैं। अंत में इन सबके मिलने से एक बड़े आकार की नलिका (Vas deferens) बन जाती है, जो शुक्रवहा कहलाती है। इसमें होकर इन नलिकाओं में बने हुए शुक्राणु तथा कुछ द्रव पदार्थ शुक्राशय में पहुँचकर एकत्र हो जाते हैं। चित्र ३ में इनका आकार स्पष्ट है।
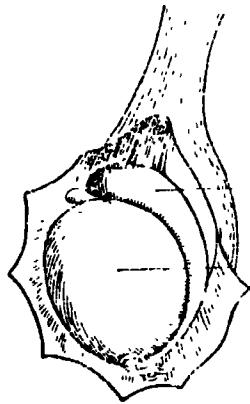
चित्र २. पुरुष जननेंद्रिय : अंड ग्रंथि
१. अध्यंड तथा २ अंड

अंडरज्जु (Chord) — अंडग्रंथि जिस रज्जु समान रचना से लटकी हुई है वह अंडरज्जु कहलाती है। इसमें शुक्रवहा, धमनियाँ तथा रक्त कोशिकाओं की नलिकाएँ रहती हैं। ऊपर एक सौत्रिक आवरण चढ़ा रहता है। यह रज्जु अंडग्रंथियों से ऊपर को जाकर उदर के भीतर शुक्राशयों तक चली जाती है।

शुक्राशय (Seminal Vesicles) — ये दो बड़े बड़े थैले उदर के भीतर श्रोणि में मूत्राशय के पीछे की ओर स्थित हैं। दोनों ओर से शुक्रवहा आकर दाहिने और बाएँ शुक्राशयों में खुलती हैं और शुक्र को लाकर उनमें एकत्र करती हैं शुक्र को शुक्राशयों के बाहर निकालने के लिये
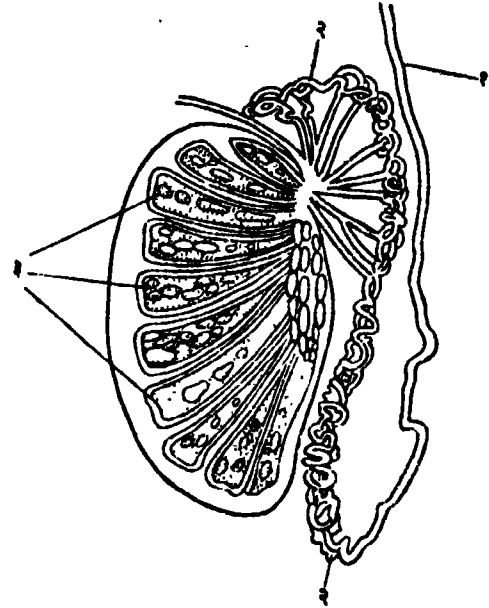
चित्र ३. अंड और अध्यंड की अनुदैर्घ्य काट
बादाम के रूप का बाईं ओर का भाग अंड है।
१. शुक्रवहा (Vas deferens); २. अध्यंड (Epididymis)
तथा ३. शुक्रोत्पादक नलिकाएँ।

उनसे एक एक नलिका निकलती है, जो आपस में मिलकर एक नलिका हो जाती हैं। यह नलिका मार्ग में एक छिद्र द्वारा खुलती है। पास की
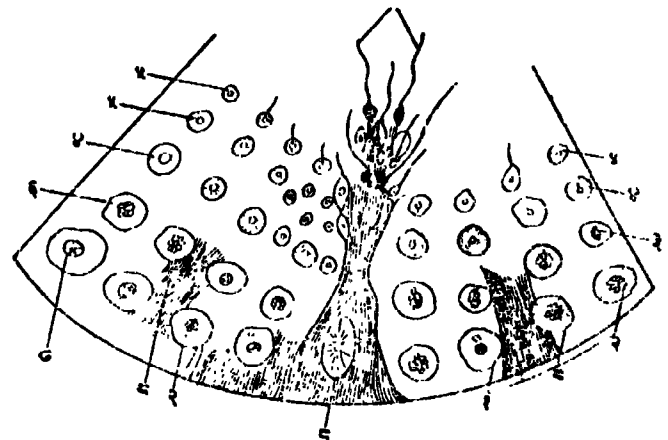
चित्र ४. शुक्रोत्पादक नलिकाओं का अनुभाग
१, २, ३, ४, ५, ६, ७ तथा ८. शुक्राणु की उत्पत्ति की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ।

कई ग्रंथियों में उत्पन्न हुए द्रवों से युक्त होकर मैथुन के समय मूत्रमार्ग द्वारा शुक्र बाहर आता है।

शिश्न (Penis) — यह मैथुन का अंग है। इसी के द्वारा मूत्रत्याग भी होता है। यह तीन लंबी दंडिकाओं का बना हुआ है, जिनपर सौत्रिक आवरण और उसपर त्वचा चढ़ी हुई है। दो दंडिकाएँ ऊपर हैं और एक उनके बीच में नीचे की ओर स्थित है। इनका ऊतक इस प्रकार का है कि इसमें रक्त भर जाने के लिये सूक्ष्म रिक्त स्थान हैं। इसीसे

(erection) के समय उसमें रक्त भर जाने से शिश्न कड़ा पड़ जाता है। स्खलित होने पर रक्त लौट जाता है और शिश्न ढीला हो जाता

चित्र ५. पुरुष जननेंद्रिय। शिश्न

१. मूत्रधर काय (Corpus Cavernosa Urethra;
२. शिश्न रक्तधर काय (Corpora Cavernosa Penis)
३. शिश्नमुंड (Glans)।

है। यह क्रिया स्वचालित तंत्र की अनुकंपी (sympathetic) और सहानुकंपी (Parasympathetic) तंत्रिकाओं के द्वारा होती है।

ऊपर की दोनों दंडिकाएँ केवल रक्त धारण करनेवाले ऊतकों की बनी हुई हैं। इसलिये वे रक्तधर काय (corpora cavernosa penis) कहलाती हैं। नीचे की काय में मूत्रमार्ग (urethra) भी स्थित है। इस कारण उसको मूत्रधरकाय (corpora cavernosa urethra) कहा जाता है। शिश्न का अगला मोटा भाग शिश्नमुंड (glans penis) कहलाता है।

नारी प्रजनन अंग

स्त्री न केवल गर्भोत्पत्ति के लिये डिंब प्रदान करती है। अपितु गर्भ के बन जाने पर उसको धारण भी करती है तथा नौ मास तक गर्भ को अपने उदर के भीतर गर्भाशय में रखकर उसका पोषण भी करती है। शिशु के जन्म से कई वर्ष तक स्वयं नाना प्रकार के कष्ट सहन करके उसका पालन पोषण करती है। इसी कारण माता का स्थान पिता से ऊँचा माना गया है।

डिंबग्रंथियाँ (Ovary) — ये उदर के निचले भाग श्रोणि में गर्भाशय के दोनों ओर स्थित हैं। इनका आकार बादाम के समान है। ये मटमैले या भूरे के रंग की लगभग १ इंच लंबी, ½ इंच चौड़ी और इतनी ही मोटी हैं। गर्भाशय से दोनों ओर को फैली हुई झिल्ली के समान पृथु स्नायु (broad ligament) में ये स्थित हैं। इनके पास ही डिंबवहा का बाहरी, कुप्पी के समान अंतिम भाग है, जिससे झल्लरियाँ (fimbria) लटकी हुई हैं, जो डिंबग्रंथि से मास में एक बार परिपक्व होकर निकलने वाले डिंब को उनके बीच में स्थित डिंबवहा के मुख में ढकेल देती हैं।

डिंबग्रंथि में रक्त का संचार बहुत होता है। एक बड़ी धमनी द्वारा इसमें रक्त आता है।

डिंबग्रंथि के भीतर डिंबों की उत्पत्ति होती है। ग्रंथि पर चढ़ी हुई उत्पादक कला (germinal epithelium) जहाँ तहाँ ग्रंथि के भीतर तक चली गई है। वहीं इस कला की एक कोशिका आकार में बढ़कर डिंब का पूर्ण रूप ले लेती है। अन्य कोशिकाओं के स्तर उसके
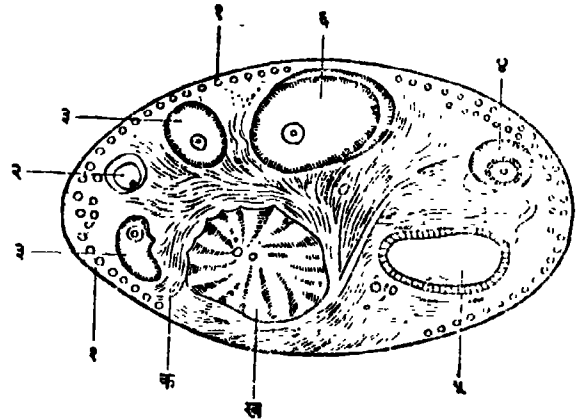
चित्र ६. डिंबग्रंथि की काट

इसमें डिंब की वृद्धि दिखाई गई है। १, २, ३, ४, ५ और ६ डिंब की वृद्धि की अवस्थाएँ हैं; क. कोशांतरी सूत्र (Interstitial fibres) तथा ख. पीतांग (Corpus luteum)।

चारों ओर स्थित हो जाते हैं। इसमें कुछ द्रव भी भर जाता है। इसको डिंबकोष या ग्राफिऐन पुटिका (Graafian follicle) कहते हैं। धीरे धीरे यह आकार में बढ़ता है और ग्रंथि के मध्य भाग से उसके पृष्ठ की ओर सरकता जाता है। पृष्ठ पर पहुँचने तक वह पूर्णतया परिपक्व हो चुकता है। इस समय इस कोष से एक हारमोन (एक रासायनिक वस्तु) जिसको ईस्ट्रिन (Estrine) कहते हैं बनता है, जो गर्भाशय को गर्भधारण करने के योग्य बनाता है। यही मासिकधर्म या आर्तव का कारण होता है। आर्तव के दस से पंद्रहवें दिन पर कोष फटता है और डिंब उसके बाहर आता है। इस डिंब को डिंबवहा की झल्लरी डिंबवहा के भीतर ढकेल देती हैं, जहाँ शुक्राणु के साथ संयोग करने से वह गर्भ में परिणत हो जाता है। कोष के फटने से कुछ रक्त निकलकर डिंब के निकल जाने से जो स्थान खाली हो गया है, उसमें भर जाता है और पीतांग (Corpus luteum) बना देता है, जिससे प्रोजैस्टिन नामक हारमोन की उत्पत्ति होती है। यह गर्भ की रक्षा और वृद्धि करता है। गर्भ स्थापित न होने पर पीतपिंड गल जाता है और हारमोन नहीं बनता।

गर्भाशय — इस अंग का काम गर्भधारण करना है। डिंब डिंबवहा में संसेचित होकर गर्भाशय में आ जाता है और उस सूक्ष्म अवस्था से लेकर नौ मास तक, जब वह ७ पाउंड का होकर बाहर का वायुमंडल और वातावरण सहन करने योग्य नहीं हो जाता तबतक, वहीं रहता है। उसका आकार इस काल में बढ़ता जाता है। उसी के अनुसार गर्भाशय भी वृद्धि करता है। प्रसव काल के समीप नाभि से भी ऊपर तक पहुँच जाता है। गर्भाशय में अपने आयाम और आकार में ६०० गुना तक वृद्धि करने की शक्ति है।

गर्भाशय ३ इंच लंबा, दो इंच चौड़ा (जहाँ सबसे अधिक चौड़ा है) और एक इंच मोटा, भीतर से खोखला अंग है। चित्र ७ से इसका आकार स्पष्ट है। इसका ऊपर का चौड़ा भाग बुध्न या गात्र (body) कहलाता है। इसके ऊपरी दोनों कोनों से डिंबवहा प्रणालियाँ निकली हुई हैं। डिंबग्रंथि इसके पार्श्व में स्थित है और पृथु स्नायु में स्थित होने के कारण उसके

एक भाग द्वारा गर्भाशय से संबंधित है। गर्भाशय के ऊपरी आधे भाग के भीतर त्रिकोणाकार रिक्त स्थान है। नीचे का भाग, जो नली के समान
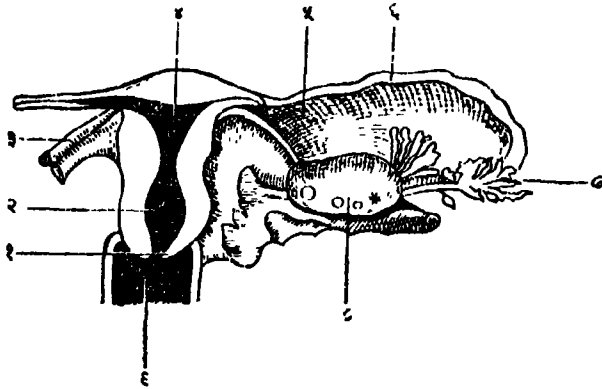
चित्र ७· स्त्री जननेंद्रिय : गर्भाशय, डिंबवहा, डिंबग्रंथि इत्यादि

१. गर्भाशय का बहिर्मुख (Externalos); २. गर्भाशय की ग्रीवा (Cervix); ३. धमनी; ४. बुध्न (Fundus), ५.परिदीर्घ स्नायु; ६. डिंबवाही नली (Fallopian tube); ७. इसका झालरदार मुख (Fibria); ८. डिंबग्रंथि (Ovary) तथा ९. योनि (Vagina)

होता है, ग्रीवा (Cervix) कहलाता है। यह लगभग १ इंच लंबी नली है, जिसका बहिर्मुख (Externalos) योनि में खुलता है। मैथुन द्वारा पुरुष के शुक्राणु योनि में पहुँच जाते हैं और वहाँ से, तीव्र गति शक्ति संपन्न होने के कारण, वे बहिर्मुख द्वारा ग्रीवा में होते हुए गर्भाशय के बुध्न से निकलकर डिंबवहा में चले जाते हैं, जहाँ उनका डिंब से संयोग होता है और गर्भ की स्थापना होती है।

गर्भाशय की दीवार भीतर की ओर गर्भाशयन्तःस्तर (Endometrium) से आच्छादित है। संसेचित डिंब डिंबवहा से लौटकर इसी स्तर में
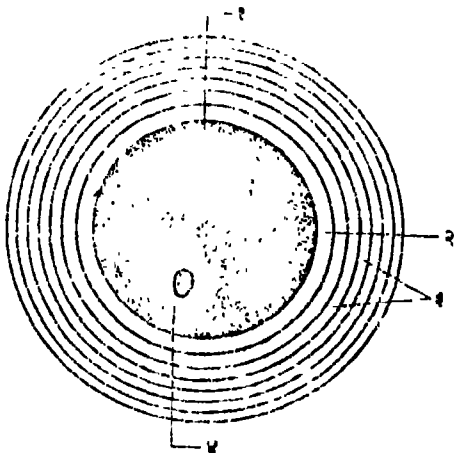
चित्र ८. डिंब का काल्पनिक चित्र

१. कणयुक्त पोषक पदार्थ (cytoplasm); २. स्वच्छ स्तर (Zona pallucida), ३. बहिः स्तर तथा ४. केंद्रक (nucleus)।

अपना घर बनाकर रहता है और इसी स्तर के एक भाग से गर्भकमल की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक मासिकधर्म में इस स्तर का बहुत सा भाग रजःस्राव के साथ निकल जाता है और इसके पश्चात् उसकी पुनरुत्पत्ति होती है। अंतःस्तर के बाहर की ओर मोटा मांसस्तर (Myometrium) है, जो मांस-पेशी-सूत्रों का बना हुआ है। गर्भकाल में इसी स्तर की वृद्धि होती है। नए नए सूत्र बनते चले जाते हैं। उनमें रक्तवाहिकाएँ तथा कोशिकाएँ भी बन जाती हैं। सूत्रों की कई सौ गुना वृद्धि हो जाती है। प्रसव के पश्चात् भ्रूण के गर्भाशय से बाहर आने पर, वे पेशीसूत्र संकुचित होकर उनके बीच में स्थित रक्तवाहिकाओं के मार्ग को रोक देते हैं। यदि इनकी यह क्रिया न हो, तो प्रसव के पश्चात् ऐसा भयंकर रक्त स्राव हो कि उससे प्रसूता की जीवनरक्षा अत्यंत कठिन हो जाय।

मांसस्तर के बाहर गर्भाशय उदर की पर्युदर्या कला से आच्छादित है, जो गर्भपरिस्तर (perimetrium) कहा जाता है।

योनि (Vagina) — यह लंबी नलिका केवल गर्भाशय द्वार तक पहुँचने का मार्ग है, जिसके द्वारा शिश्न प्रवेश करके शुक्राणुओं को निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचाता है। इसकी दीवारों में, जो श्लेष्मल कला की बनी हुई हैं, बहुत सी सिलवटें पड़ी हुई हैं, जिनमें विशेष स्राव बनानेवाली सूक्ष्म ग्रंथियाँ स्थित हैं। मैथुन के समय सारी श्लेष्मल कला में रक्तसंचार बढ़ जाता है और स्राव भी अधिक बनता है। योनि के अंत पर गर्भाशय के बहिर्मुख का कुछ भाग उसमें निकला रहता है। मैथुन के समय यह भाग कुछ चूसने की सी भी क्रिया करता है, जिससे शुक्राणु उसके भीतर खिंच जाते हैं।

योनिमार्ग के बहिर्द्वार पर दोनों ओर भगोष्ठ (Labia) हैं, जिनके बीच का द्वार भग (Vulva) कहलाता है। [मु० स्व० व०]

जनमत (Plebiscite) आधुनिक राजनीतिक शब्दावली में इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम फ्रांस में हुआ। यह लैटिन भाषा के दो शब्दों-प्लेबिस (Plebis) तथा सिटम (Scitum) के संयोग से बना है जिनका अर्थ क्रमशः जनता तथा आदेश है। जनमत को प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के विधिनिर्माण साधनों से पृथक् समझना चाहिए क्योंकि इसका प्रयोग विधि निर्माण हेतु नहीं किया जाता है। इसका संबंध केवल राजनीतिक महत्व की समस्याओं से है। यद्यपि शाब्दिक दृष्टि से इसका अर्थ संपूर्ण जनता का मत है तथापि व्यवहार में जनता शब्द से तात्पर्य केवल मताधिकार प्राप्त वयस्कों से ही है। व्यापक रूप में जनमत किसी भी सार्वजनिक प्रश्न पर सार्वजनिक मत है। परंतु वास्तव में यह वह साधन है जिसके द्वारा किसी महत्वपूर्ण राजनीतिक समस्या का समाधान, स्थायी राजनीतिक स्थिति की स्थापना के उद्देश्य से, जनता के प्रत्यक्ष मतग्रहण के द्वारा किया जाता है। किसी राज्य अथवा उसके किसी भाग के, अथवा किसी राष्ट्रीय अल्पसंख्यक वर्ग के राजनीतिक भविष्य का निश्चय करने या किसी अन्य महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न का निर्णय करने के लिये जनमत का प्रयोग किया जाता है।

सन् १८०४ में सर्वप्रथम जनमत का प्रयोग नेपोलियन ने अपने को फ्रांस का सम्राट् घोषित करने के लिये किया था। सन् १८५१ में नेपोलियन तृतीय ने इसी उद्देश्य से पुनः इस साधन को अपनाया था। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् योरोप में अनेक प्रदेशों के हस्तांतरण का निश्चय करने के लिये इसी पद्धति का प्रयोग किया गया था। परंतु जर्मनी तथा हंगरी से जो प्रदेश हस्तांतरित किए गए उनके निवासियों की इच्छा को जानने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। सन् १९३५ में सार का प्रदेश जनमत के आधार पर ही पुनः जर्मनी को हस्तांतरित किया गया था। हिटलर ने जनमत के द्वारा अपने अधिनायकत्व को वैध रूप देने का

प्रयत्न किया था। पुनः उसने ऑस्ट्रिया तथा चेकोस्लोवाकिया के सुडेटन प्रदेशों को बलपूर्वक जीतकर जनमत प्रयोग के द्वारा यह दिखलाने का प्रयत्न किया था कि वे स्वेच्छा से जर्मन राष्ट्र के अंग बन गए हैं। भारत के विभाजन के समय उत्तर पश्चिमी सीमांत प्रांत के भाग्य का निर्णय भी जनमत द्वारा ही किया गया था।

इन उदाहरणों से यह प्रतीत होता है कि जनमत का परिणाम सदा ही हितकर होगा, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। इस लोकतांत्रिक पद्धति का प्रयोग सफलतापूर्वक लोकतंत्र का अंत करने के लिये भी किया जा सकता है परंतु इसके दुरुपयोग का भय होने पर भी किसी राजनीतिक प्रश्न पर जनता का मत जानने का यही सर्वोत्तम साधन है। [अं० पं०]

जनमेजय वेद और पुराणेतिहास में अनेक जनमेजयों के उल्लेख मिलते हैं, जिनमें प्रमुख जनमेजय संज्ञक व्यक्ति निम्नांकित हैं। इनके अतिरिक्त जनमेजय नामक नाग भी हैं (सभा० ९।१०)।

एक जनमेय पुरु के पुत्र थे जिनका दूसरा नाम प्रवीर है (आदि० प० ६५।११-१२)। दूसरे जनमेजय अश्ववान् कुमार परीक्षित् के वंश में उत्पन्न हुए थे, जिनके पुत्र का नाम धृतराष्ट्र था (आदि०, ९४।५१-५६)। उन्होंने इंद्रोत मुनि से ज्ञान प्राप्त किया था (शांति० १५०–१५२)।

तीसरे जनमेजय भरतवंशी महाराज कुरु के द्वारा वाहिनी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। (आदि० ९४।५१)।

इसके अतिरिक्त और भी जनमेजयों के उल्लेख हैं (आदि० ६७।६२,१।१२८)।

परीक्षित और भद्रावती के पुत्र पांडव जनमेजय पुराण में बहुत प्रसिद्ध हैं। उन्होंने कुरुक्षेत्र में दीर्घकाल तक यज्ञ किया था। प्रसिद्ध सर्पयज्ञ उन्होंने ही किया था। इनकी प्रार्थना पर व्यास की आज्ञा से वैशंपायन ने महाभारत युद्ध की कथा सुनाई थी।

इनके अतिरिक्त पुराणों में अन्य जनमेजयों के भी निर्देश (पुराण विषयानुक्रमणी पृ० १०७–१०९ में पाँच जनमेजयों के चरित दिए गए हैं।) हैं यहाँ जनमेजय प्रथम को भल्लाट का पुत्र कहा गया है, जिन्होंने नीपों को यम से बचाया था। जनमेजय द्वितीय राजर्षि सोमदत्त के पुत्र थे। 'एंशेंट इंडियन हिस्टॉरिकल ट्रेडीशन' में भी तीन जनमेजयों पर विशद विवेचन मिलता है — पुरुपुत्र जनमेजय तथा दो परीक्षित-पुत्र जनमेजय। प्रसिद्ध पारीक्षित जनमेजय के अतिरिक्त प्राचीनतर अन्य परीक्षित जनमेजय भी थे, महाभारत में भी इसका संकेत है।

'जनमेजय' वैदिक वाङ्मय में भी प्रसिद्ध थे। शतपथ ब्रा० (१३।५।४।१) में कहा गया है कि इंद्रोत ने पारीक्षित जनमेजय के लिये यज्ञ किया था। उसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण (८।२१) में कहा गया है कि तुर कावषेय ने पारीक्षित जनमेजय के लिये यज्ञ किया था। इन दोनों स्थलों में जनमेजय संबंधी गाथा भी है (लगभग एक ही शब्दानुपूर्वी में), जो जनमेजय की प्रसिद्धि का ज्ञापक है। अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मण (२।५) में भी जनमेजय पारीक्षित वर्णित हुए हैं। [रा० शं० भ०]

जनसंख्या मानव इतिहास का अध्ययन करने से विदित होता है कि जनसंख्या की समस्या आदिकाल से विशेष महत्व का प्रश्न रही है। यूनानी (ग्रीक) दार्शनिकों, विशेषकर प्लेटो और अरस्तू ने अपने लेखों में जनसंख्या संबंधी विषयों पर अपने विचार प्रकट किए थे। 'रिपब्लिक' में प्लेटो ने जनसंख्यावृद्धि से मानवकल्याण पर पड़नेवाले प्रभावों का वर्णन किया है। नगरराज्य के उचित आकार (प्रॉपर साइज) तथा प्रजननसुधार (यूजनिक रिफॉर्म) संबंधी उनके विचार आदर्श समाज की (आइडियल कम्यूनिटी) उनकी धारणा पर आधारित थे। परंतु अरस्तू ने इस आदर्श समाज की धारणा को अस्वीकार करते हुए विवाह के नियंत्रण तथा संयम द्वारा जनसंख्या की रोक पर जोर दिया। अरस्तू के जनसंख्या नियंत्रण संबंधी विचार संपत्ति से संबंधित थे। इससे विदित होता है कि अरस्तू उपलब्ध साधनों की दृष्टि से जनसंख्या नियंत्रण के पक्ष में थे। रोमन साम्राज्य को अपनी विस्तारवादी साम्राज्य नीति के कारण लड़ाकू सैनिकों की आवश्यकता थी। अतएव वे बढ़ती हुई जनसंख्या को अच्छा मानते थे। आगस्टस (Augustus) के जनसंख्या संबंधी विचार विवाह को प्रोत्साहन देते थे। यूनानी लेखकों के बाद फिर १८वीं शताब्दी के अंत तक जनसंख्या संबंधी सिद्धांतों पर कोई नए विचार नहीं मिलते। मध्ययुग के सामंतशाही काल (फ्यूडल एज) के पश्चात् जब राष्ट्रीयता की भावना के प्रसार का युग आता है तो पुनः जनसंख्या संबंधी समस्याओं के प्रति विचारकों की दिलचस्पी दिखाई देती है। इटालियन लेखक मैकियावेली (Discourso spora la prima deca di Tito livio, 1531) के लेखों में, दुर्भिक्ष तथा महामारी किस प्रकार जनसंख्या की वृद्धि की रोक के लिये प्रतिबंध हो सकती हैं, इसका आभास मिलता है। फिर बोटेरो (Bottero, 1588) के लेखों में मानव की यौन प्रवृत्तियों और जनसंख्यावृद्धि के संबंध में हमें माल्थस के विचारों का पता चलता है। फिर १६८२ में सर विलियम पेटी की पुस्तक 'ऐन एसे कनसर्निंग दि मल्टीप्लिकेशन ऑव मैनकाइंड' में, मैथ्यू हेले के निबंध में हमें, माल्थस द्वारा बाद में संगठित रूप में प्रतिपादित किए जानेवाले, सिद्धांत की पहली रूपरेखा दिखाई पड़ती है। इस प्रकार १८वीं शताब्दी के अंत तक, माल्थस के पहले, इस प्रश्न पर बेंजामिन फ्रैंकलिन, डेविड ह्यूम, राबर्ट वालेस, जोसेफ टाउनसेंड तथा विलियम पैले अपने विचार प्रकट कर चुके थे, परंतु इनके विचारों में वैज्ञानिक प्रणाली एवं तार्किक रीति का अभाव था। अतः वास्तव में, जनसंख्या संबंधी समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन, टी० आर० माल्थस की पुस्तक 'ऐन एसे ऑन प्रिंसिपल्स ऑव पॉपुलेशन' (१७९८) के प्रकाशन के समय से ही प्रारंभ होता है।

मनुष्य के विचारों पर समसामयिक वातावरण का प्रभाव रहता ही है, माल्थस के विचार भी उनके समय की देन हैं। माल्थस का समय यूरोप के लिये सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक कठिनाइयों का समय था। नेपोलियन की लड़ाई, औद्योगिक क्रांति से श्रमिकों में फैलती हुई बेकारी, दुर्भिक्ष तथा महामारी का बोलबाला था। जनसंख्या में तो वृद्धि होती जा रही थी परंतु जीवननिर्वाह के साधनों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता था। इन सब परिस्थितियों को देखकर तथा विभिन्न देशों के इतिहास के अध्ययन से माल्थस इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यदि इसी तरह से जनसंख्या में वृद्धि का क्रम जारी रहा तो मानव समाज का भविष्य अंधकारमय है। अतएव उन्होंने बढ़ती हुई जनसंख्या को अभिशाप कहा और माल्थस द्वारा उदाहृत आयलैंड के संबंध में ग्रीन महोदय ने कहा कि कुशासन के पाप के साथ दरिद्रता का अभिशाप भी जुड़ गया है तथा दरिद्रता, जनसंख्यावृद्धि

तथा अकाल ने मिलकर देश को नरककुंड बना दिया। माल्थस स्वभाव से ही निराशावादी थे। अतः उनके विचार भी अधिकांश लोगों को निराशावादी मालूम होते हैं।

माल्थस के सिद्धांत की तीन मुख्य बातें — मनुष्य में यौन की मूल भावना सार्वभौम होने के कारण संख्यावृद्धि की स्वाभाविक प्रवृत्ति पाई जाती है। इसलिये यदि कोई बाधा न हो तो देश की आबादी वहाँ उत्पन्न होनेवाले खाद्य पदार्थों की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ जायगी। मानव में प्रजनन शक्ति इतनी तेज होती है कि अन्य बाधाओं की अनुपस्थिति में, किसी देश की जनसंख्या तो २५ वर्षों में लगभग दूनी हो जायगी पर खाद्य सामग्री, जिसका उत्पादन क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास-नियम के अधीन होता है, इतनी तेजी से नहीं बढ़ पाती।

उपर्युक्त विचारों को अधिक स्पष्ट करने के लिये माल्थस ने उसे गणितीय रूप दिया। उन्होंने बताया कि जहाँ जनसंख्या गुणोत्तर श्रेणी (Geometrical Progression), यानी १, २, ४, ८, १६, ३२ से बढ़ती है वहाँ जीवन निर्वाह के साधनों में समांतर श्रेणी (Arithmetical Progression) से यानी १, २, ३, ४, ५, ६ से वृद्धि होती है। अतः एक ऐसा समय आ जाता है जब जीवननिर्वाह के साधन, जनसंख्या की तुलना में, इतने कम रह जाते हैं कि जीवन-संघर्ष अत्यंत जटिल बन जाता है। ध्यान रहे, माल्थस ने यह गणित का रूप केवल उदाहरणार्थ दिया था और यह उनके सिद्धांत का कोई आवश्यक अंग नहीं है।

जनसंख्या पर प्रतिबंध — ऐसी परिस्थिति में बढ़ी हुई जनसंख्या को घटाने तथा नया संतुलन स्थापित करने के लिये प्रकृति स्वयं आगे बढ़ती है और नैसर्गिक रोक लगा देती है जैसे महामारी, दुर्भिक्ष, बाढ़, युद्ध, भूकंप इत्यादि। इससे देश में घोर विपत्ति फैलती है, असंख्य लोग असामयिक मृत्यु के शिकार होते हैं और नाना प्रकार के दुराचार फैलते हैं। दूसरे प्रकार के प्रतिबंध वे होते हैं जो निरोधक या स्वयं मनुष्य द्वारा लागू किए जाते हैं, जैसे अपेक्षाकृत अधिक आयु में विवाह, युवक युवतियों द्वारा ब्रह्मचर्य के संयम का पालन इत्यादि।

माल्थस का सुझाव—माल्थस का विचार था कि मनुष्य स्वयं प्रतिबंधक प्रणालियों द्वारा जनसंख्या को सीमित रखे। प्रकृति द्वारा लागू की गई नैसर्गिक रोकों के परिणाम बहुत बुरे होते हैं। नैसर्गिक रोकों से मृत्युसंख्या बढ़ती है। यह एक नकरात्मक प्रणाली है। निरोधक रुकावटों से जन्मदर में कमी आती है। यह एक धनात्मक रीति है। नैसर्गिक रोक अंतहीन कुचक्र के समान हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह स्वयं आत्मसंयम द्वारा जनसंख्या सीमित रखे।

वर्तमान समय में इस सिद्धांत की अत्यंत तीव्र आलोचना हुई है। ऐतिहासिकता की दलील पर माल्थस के सिद्धांत को गलत बताया जाता है। जनसंख्या में वृद्धि अवश्य हुई है परंतु वैज्ञानिक आविष्कार और फलस्वरूप उत्पादन प्रणालियों में उन्नति के परिणामस्वरूप जीवननिर्वाह के साधनों में भी आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। माल्थस की निराशाजनक भविष्यवाणी पूर्णतया असत्य सिद्ध हुई। माल्थस ने यह सोचा भी नहीं था कि एक समय आएगा जब मनुष्य शिक्षा, उच्च जीवनस्तर तथा व्यक्तिगत भावनाओं से प्रेरित होकर स्वयं को सीमित करने का प्रयत्न करेगा। अनुभव ने यह भी बताया कि २५ वर्षों में जनसंख्या दुगुनी हो ही जाती है। विद्वानों ने यह भी बताया है कि जनसंख्या का विवेचन करने में देश में उपलब्ध कुल संपत्ति का ध्यान रखना चाहिए, केवल खाद्य पदार्थों का ही नहीं। इन सब दोषों के कारण माल्थस का सिद्धांत वर्तमान समय में स्वीकार नहीं किया जाता। प्रसंगतः यह कहा जा सकता है कि माल्थस का सिद्धांत पश्चिम के विकसित देशों में भले ही लागू न होता हो, एशिया के अविकसित देशों के लिये तो यह अब भी काफी अंश तक सही है।

जनसंख्या का आधुनिक या अनुकूलतम सिद्धांत — जनसंख्या संबंधी आधुनिक विचारधारा, अनुकूलतम या आदर्श सिद्धांत (आप्टिमम थियरी) के नाम से प्रसिद्ध है। हेनरी सिजविक ने इसकी स्थापना की थी, यद्यपि उन्होंने आदर्श (Optimum) शब्द का प्रयोग नहीं किया था। तत्पश्चात् कैनन ने इसे व्यवस्थित किया और कार सांडर्स ने वैज्ञानिक रूप से प्रतिपादित कर इसे प्रसिद्ध बना दिया। अनुकूलतम जनसंख्या का अर्थ किसी देश में उपलब्ध समस्त साधनों को ध्यान में रखते हुए एक आदर्श संख्या से होता है। यही संख्या किसी देश के लिये सर्वश्रेष्ठ तथा वांछनीय मानी गई है। जब किसी देश की वास्तविक जनसंख्या न तो अधिक है और न कम, बस ठीक उतनी ही है जितनी उस देश के साधनों की मात्रा, औद्योगिक ज्ञान तथा पूँजी की मात्रा को देखते हुए होनी चाहिए, तो यह कहा जाता है कि अमुक देश की जनसंख्या सर्वोत्तम बिंदु (Optimum point) पर है। अतएव आदर्श जनसंख्या वह है, जिसका आकार और संगठन इस प्रकार हो जो किसी विशेष समय में वहाँ के प्राकृतिक स्रोतों का अधिकतम शोषण करने में समर्थ हो; जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति की वास्तविक आय, आर्थिक कल्याण, जीवनस्तर, अधिकतम हो सके। आदर्श जनसंख्या के सिद्धांत का यही उद्देश्य है। यह वह संख्या है जो किसी देश में होनी चाहिए। यदि वास्तविक जनसंख्या इस आदर्श संख्या से अधिक है तो जनाधिक्य की समस्या पैदा हो जाएगी, जो हानिकारक होगी, क्योंकि उस हालत में प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में कमी हो जाएगी और यदि वास्तविक संख्या इससे कम है तो भी हानिकारक है क्योंकि प्राकृतिक स्रोतों के अभाव में प्रति व्यक्ति आय पुनः कम हो जाएगी।

क्या सर्वोत्तम जनसंख्या स्थिर रहती है? — मिल की यह गलत धारणा थी कि किसी क्षेत्र के लिये सर्वोत्तम बिंदु सर्वदा स्थिर रहेगा। परंतु यह संख्या कभी स्थिर (static) नहीं रहती वरन् परिवर्तनशील (Dynamic) है। देश की परिस्थितियों में, उत्पादन प्रणाली, कृषि, कला तथा उद्योग में वैज्ञानिक उन्नति के साथ साथ सर्वोत्तम जनसंख्या भी बदलती रहती है। यह अनुकूलतम जनसंख्या निरपेक्ष नहीं है। परंतु उपलब्ध साधनों तथा आर्थिक विकास के स्तर के सापेक्ष है। उदाहरणार्थ आज भारत के लिये ४३ करोड़ की जनसंख्या अधिक मालूम होती है, परंतु आज से बीस साल बाद यदि हम अधिक अन्न पैदा करें और अधिक औद्योगिक उन्नति कर लें तो संभव है कि इससे भी अधिक जनसंख्या को ऊँचे जीवनस्तर पर रखने में समर्थ हों।

क्या सर्वोत्तम जनसंख्या को ठीक ठीक ज्ञात किया जा सकता है? — अब प्रश्न यह उठता है कि किसी देश के लिये सर्वोत्तम जनसंख्या क्या होगी? क्या यह वास्तव में मालूम किया जा सकता है? वास्तव में यह कठिन काम है। प्रत्येक देश में आर्थिक परिस्थितियाँ गतिशील हैं। उत्पादन की नई नई प्रणालियाँ निकल रही हैं। नए यंत्रों का आविष्कार हो रहा है। इन परिवर्तनों के कारण न तो उत्पत्ति का और न प्रति व्यक्ति आय का ही ठीक ठीक पता लगाया जा सकता है। अतएव यह भी

बतलाना प्रायः असंभव ही है कि अनुकूलतम संख्या क्या होगी। इन कठिनाइयों के होते हुए भी डा० डालटन ने अधिक या कम जनसंख्या ज्ञात करने के लिये एक सूत्र निकाला है, जिससे सर्वोत्तम जनसंख्या का अनुमान लगाया जा सकता है। यदि म = वास्तविक और आदर्श जनसंख्या में पाया जानेवाला कुसमंजन (Maladjustment), ब = वास्तविक जनसंख्या और अ = आदर्श जनसंख्या हो तो—

$$म = \frac{ब - अ}{अ} \text{ होगा।}$$

यदि म (कुसमंजन) धनात्मक है तो इसका अर्थ यह होगा कि देश में अधिक जनसंख्या है। यदि म ऋणात्मक है तो वह कम जनसंख्या की पहचान होगा और यदि म शून्य है तो वास्तविक जनसंख्या आदर्श विंदु पर मानो जाएगी। इस सूत्र का सैद्धांतिक महत्व भले ही हो किंतु इसकी व्यावहारिक उपयोगिता कम ही है।

जन्म दर, मृत्यु दर तथा शुद्ध प्रतिजीवन दर (Net survival rate) — जनसंख्या के अध्ययन में जन्म दर, मृत्यु दर तथा शुद्ध प्रतिजीवन दर का बड़ा महत्व है। जनसंख्या की वृद्धि तथा उससे संबंधित समस्याओं का ज्ञान इन्हीं आंकड़ों से होता है। जन्मदर का अर्थ प्रति वर्ष एक हजार व्यक्तियों के पीछे जन्म लेनेवाले बच्चों से होता है। इसी प्रकार मृत्यु दर का अर्थ प्रति वर्ष प्रति हजार व्यक्तियों के पीछे मरनेवालों की संख्या से होता है। इन दोनों का अंतर शुद्ध प्रतिजीवन दर (Survival rate) कहलाता है। उदाहरणार्थ, भारत में प्रति वर्ष एक हजार पर ४० शिशु पैदा होते है, जो भारत की जन्म दर हुई। प्रति वर्ष प्रति हजार पर २७ की मृत्यु होती है तो यह मृत्यु दर हुई। इन दोनों का अंतर १३ प्रतिजीवन दर हुई। अतः हम कह सकते हैं कि भारत में प्रति वर्ष प्रति हजार पर औसतन १३ की वृद्धि होती है। जन्म मृत्यु के आंकड़े औसत के रूप में लिए जाते हैं।

शुद्ध प्रजनन दर (Net reproduction rate) — यद्यपि प्रतिजीवन दर (Survival rate) से हम जनसंख्या की वृद्धि की दर का पता लगा सकते हैं फिर भी इस प्रकार के अनुमान गलत हो सकते हैं। अतएव कुजिंसकी (Kuczynsky) नामक विद्वान् ने एक नवीन विधि के द्वारा जनसंख्या की वृद्धि को माप की है, जिसे शुद्ध प्रजनन दर कहते हैं। उनके अनुसार केवल जन्मदर का मृत्युदर से आधिक्य ही जनसंख्यावृद्धि की पहचान नहीं है। इसका वास्तविक प्रमाण तो शुद्ध प्रजनन दर है। जनसंख्या वृद्धि का सही अनुमान लगाने के लिये हमें स्त्रियों की आयु के उस काल का, जिसमें वह शिशु को जन्म देने योग्य हों (Child bearing age), जन्मों की पुनरावृत्ति (Frequency of births) तथा प्रत्येक अवस्था में जीवित रह जानेवाले बच्चों की संख्याओं के आंकड़ों का परस्पर समन्वय करना पड़ता है। यदि मान लिया जाय कि जन्म और मृत्यु की वर्तमान दरों पर १००० लड़कियाँ आगे बढ़ते हुए अपने जीवन की उस अवस्था पर पहुँचती हैं, जब वे माता बन सकती हैं (यानी १५ से ४० वर्ष की आयु तक) और इस अवस्था से गुजरने के बाद यदि वे अपने पीछे १०० लड़कियाँ छोड़ जाती हैं जो आगे चलकर माता बनेंगी, तो इसका अर्थ यह हुआ कि वर्तमान पीढ़ी अपने बराबर की संख्या में दूसरी पीढ़ी को जन्म दे रही है। यदि १००० के पीछे १००० से अधिक लड़कियाँ उत्पन्न होती हैं तो इसका अर्थ यह होगा कि शुद्ध प्रजनन दर १ से अधिक है। विपरीत परिस्थिति में प्रजनन दर १ से कम होगी। यहाँ ध्यान रहे कि इस दर को जानने के लिये केवल लड़कियों की ही पैदाइश पर विचार करते हैं क्योंकि आगे चलकर वे ही जनसंख्या की वृद्धि की दर को प्रभावित करती हैं। कुजिंसकी के शब्दों में 'वह दर जिसपर स्त्री जनसंख्या अपने आपको प्रतिस्थापित कर रही है शुद्ध प्रजनन दर है।'

क्या बढ़ती हुई जनसंख्या सर्वदा हानिकारक ही है ? माल्थस और उसके अनुयायियों के अनुसार जनसंख्या में वृद्धि सर्वदा अभिशाप ही है। परंतु यह भी सही नहीं कि वृद्धि सदैव सुखदायक ही होती है। सर्वोत्तम जनसंख्या सिद्धांत हमें जनसंख्या की गति को ठीक से समझने में सहायता पहुँचाता है। यदि वास्तविक जनसंख्या आदर्श जनसंख्या से कम है तो जनसंख्या में वृद्धि होने से ही प्रति व्यक्ति आय बढ़ेगी और इसलिये वृद्धि वांछनीय होगी। बढ़ती हुई जनसंख्या कभी कभी आर्थिक विकास में सहायक होती है तथा उत्पादन को प्रोत्साहित करती है। श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण के लिये अच्छा अवसर मिलता है और बाजार का विस्तार करके उद्योग धंधों के विकास में सहायक होती है। परंतु यह सब तभी तक होगा जब तक वास्तविक संख्या अनुकूलतम विंदु से कम रहे। [मु० कु० मु०]

जनस्वास्थ्य इंजीनियरी के अंतर्गत मुख्यतः जलप्रबंध तथा जनस्वास्थ्य, दो विषय, आते हैं।

जलप्रबंध

जनस्वास्थ्य और जल — देश में जनस्वास्थ्य ठीक रखने के लिये यह परम आवश्यक है कि प्रत्येक समुदाय और व्यक्ति को यथेष्ट और स्वच्छ पीने का पानी मिले। जनस्वास्थ्य को कोई खतरा न रहे इसलिये घरों के द्रवीय तथा ठोस, दूषित मल दूर ठिकाने लगाने के लिये भी जल ही काम आता है।

यदि जलप्रबंध विश्वसनीय तथा मात्रा में पर्याप्त, विकृतिजनक तथा हानिकारक तत्वों से रहित और उपभोक्ताओं को दिन रात नल पर ठीक वेग से सुलभ हो, तो उसे निरापद और संतोषजनक समझा जाता है।

भारत सरकार की पर्यावरण स्वास्थ्यविज्ञान समिति (१९४९) के अनुसार सुरक्षित जन-जल-प्रबंध का लक्ष्य यह होना चाहिए कि ऐसे जल का प्रबंध किया जाय जो

(१) रोगप्रसार के भय से रहित, मन को भानेवाला और रसोई बनाने तथा कपड़े धोने के उपयुक्त हो।

(२) स्थापन काल से लेकर कम से कम एक पीढ़ी (३० वर्ष) तक सारे घरेलू और सार्वजनिक उपयोग के लिये पर्याप्त हो।

(३) स्थानीय परिस्थितियों में उपभोक्ताओं को न्यूनतम शारीरिक कष्ट से सुलभ हो। कुएँ या नल के बंबे की दूरी का प्रश्न भी इसी में आ जाता है।

(४) दिन के ९५ प्रति शत समय में उपलब्ध हो। पर्याप्तता, जलवितरण का समय तथा अग्निकाल के लिये विभंग भी इसी में आ जाते हैं।

इनके अतिरिक्त पेय और अपेय जल का प्रबंध पास पास करना जनजीवन के लिये भयावह और अनुचित है और जलवितरण यथासंभव बीच बीच में रुकनेवाला नहीं होना चाहिए।

खेद की बात है कि भारत की अधिकांश सामुदायिक जलप्रबंध व्यवस्था में इन आवश्यकताओं का ध्यान नहीं रखा गया है। भारत में पेय तथा औद्योगिक जल के मानक अबतक निश्चित नहीं हो सके हैं। इंडियन कौंसिल ऑव मेडिकल रिसर्च (आयुर्विज्ञान अनुसंधान की भारतीय परिषद्) ने पेय जल का मानक निर्धारित करने के लिये एक समिति नियुक्त की थी। समिति ने विश्वस्वास्थ्य संघटन का मानक लगभग स्वीकार किया है।

जल के गुण — उपभोक्ता को विमल, रंगहीन, आपत्तिजनक स्वाद तथा गंध रहित, आवश्यक रासायनिक पदार्थयुक्त, मृदु और अत्यंत स्वास्थ्यकारी गुण का जल मिलना चाहिए ताकि वह निरापद रूप से उसे पी सके (पेय जल का अंतरराष्ट्रीय मानक, विश्वस्वास्थ्य संघटन, जेनेवा, १९५८ द्वारा स्वीकृत)।

प्राकृतिक स्रोत से उपलब्ध सब जलों में उपर्युक्त गुण नहीं होते। प्राकृतिक जल दूषित तथा आपत्तिजनक अशुद्धियों से युक्त होता है। प्राकृतिक जल को भौतिक, रासायनिक तथा जीवाणु विज्ञानीय विधियों से शोधित किया जाता है। शोधित होने के बाद ही जल पेय हो पाता है।

परिमाण — किसी व्यक्ति की जल की घरेलू दैनिक आवश्यकता की मात्रा उसकी स्वच्छताप्रियता तथा स्थानीय जलवायु और कुछ अन्य बातों पर निर्भर है। वह इसपर भी निर्भर है कि उसके घर के तरल और ठोस मलों के संग्रह और निकास के क्या साधन हैं। एक लाख से कम आबादीवाले कस्बों में, जहाँ मल की निकासी के लिये जलसंवाहन विधि प्रयुक्त होती है, प्रति दिन प्रति व्यक्ति को कम से कम २५ गैलन जल मिलना चाहिए। अच्छा हो यदि इसे बढ़ाकर ३० गैलन प्रति व्यक्ति प्रति दिन कर दिया जाय। बड़े नगरों में, जहाँ मल निकासी जलसंवाहन विधि से की जाती है, वहाँ प्रति व्यक्ति प्रति दिन के इस औसत को कार्यान्वित करना बहुधा नागरिक प्रशासन की आर्थिक सीमाओं के बाहर की बात होती है। उदाहरण के लिये मद्रास की वर्तमान जल-वितरण व्यवस्था संतोषजनक नहीं है, किंतु यदि १२० मील दूर से नदियों का पानी लाया जाय तो जनता उसकी लागत का भार भी वहन नहीं कर पाएगी।

जलप्राप्ति — जल भूमिपृष्ठ तथा भूमिगत स्रोतों से लिया जा सकता है। भूमिपृष्ठजल झील, तालाब, नदी नालों से लिया जा सकता है, यदि वे बारहमासी हों और उनका न्यूनतम प्रवाह नगर की माँग पूरी करने के लिये पर्याप्त हो। यदि ये बारहमासी न हों, तो वर्षाकाल में बहनेवाले जल को उपयुक्त स्थलों में बाँध बनाकर इकट्ठा किया जाता है। बाँध का स्थल, या बारहमासी नदियों, झीलों और तालाबों से जल लेने का स्थान निश्चित करते समय बहुत सावधानी बरतनी चाहिए। वह पानी निकालने का स्थान गाँव या नगर की अपेक्षा ऊँचाई पर होना चाहिए, जिससे जल दूषित न हो सके। यह स्थान औद्योगिक केंद्रों से भी दूर होना चाहिए, जिससे औद्योगिक मल जल को दूषित न कर सके। ऐसा करने से जलनिर्मलीकरण यंत्र पर भार कम पड़ता है।

भूमिपृष्ठीय जल — संग्राही जलाशय में जलसंग्रह इतना होना चाहिए कि लगातार तीन वर्षों तक वर्षा न होने पर भी जनता की जल की माँग पूरी हो सके। संग्रह के लिये प्राप्य जल का परिमाण नदियों के आवाहक्षेत्र तथा उस क्षेत्र की वर्षा पर निर्भर है। भारत के विभिन्न भागों में २'' से २००'' तक की वर्षा होती है।

जलाशयों में जल का बहुत बड़ा भाग वाष्पीकरण द्वारा उड़ जाता है। इस कमी को पूरी करने की व्यवस्था होनी चाहिए। क्षेत्र की जल-वायु के अनुसार जलाशय के औसत क्षेत्रफल पर ५ से १५ फुट तक अतिरिक्त जल इकट्ठा करने से यह कमी पूरी होती है। वाष्पीकरण से बहुत बड़ी जलराशि खो जाती है।

कुछ देशों में वाष्पीकरण द्वारा जलहानि के नियंत्रण का सक्रिय प्रयास चल रहा है। आस्ट्रेलिया सन् १९५२ से ही प्रयत्नशील है। सेटाइल ऐलकोहल तथा हेक्साडेकोनल इस प्रयोजन के लिये प्रयुक्त हो रहे हैं। इस रासायनिक पदार्थ को पानी पर फैलाने की विधि भारत में निकाली गई है और प्रयोग चल रहे हैं।

नदियों के रेतीले तल में बहुत सा जल रिसकर एकत्र हो जाता है, जो रिसना बंद होने पर रेत में बना रहता है। नदियों के तल में 'अंतःसरण सुरंग' (infiltration galleries) तथा संभरण कूपों की व्यवस्था करके यह भूमिगत जल काम में लाया जा सकता है।

भूजल — भूजल की प्राप्ति भूवैज्ञानिक अवस्थाओं पर निर्भर है। भारत में सभी जगह भूजल नहीं है। पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार और गुजरात के कुछ हिस्सों में ही भूजल पर्याप्त मात्रा में है। यह जल गहरे कुओं से निकाला जाता है, जो १०० से १,००० फुट की गहराई तक खोदे जाते हैं। इन कुओं से ५०० से ४०,००० गैलन तक जल प्रति घंटे निकलता है।

भूजल में घुले हुए लवण तथा अशुद्धियाँ होती हैं। वितरण के पूर्व जल को इनसे रहित करना आवश्यक है।

कुछ देशों में समुद्रजल को पेय बनाने के प्रयत्न चल रहे हैं। अभी तक समुद्रजल को पेय बनाने की कोई सस्ती विधि नहीं विकसित हो सकी है। संभव है, भविष्य में कोई ऐसी विधि निकल आए।

घरों में जल का अपव्यय — घरों में जल के अपव्यय के दो कारण हैं : (१) वितरित जल की माप व्यवस्था का अभाव तथा (२) विरामी जल-वितरण, अर्थात् जल का लगातार न प्राप्त होना। यह आवश्यक है कि सारे जलवितरण पर जलमापी लगाए जायँ, पर भारत में अनेक स्थानीय शासन जलमापी लगाना नहीं चाहते।

विरामी जलवितरण व्यवस्था में जल कुछ काल सवेरे और कुछ काल शाम को वितरित किया जाता है। फलतः लोग सवेरे जितना हो सकता है पानी भर लेते हैं और शाम को पानी चालू होने पर सवेरे का पानी फेंक कर फिर भर लेते हैं, जिसके कारण बहुत बड़े परिमाण में जल का अपव्यय होता है।

जल निर्मलीकरण — भूपृष्ठ जल के संदूषित होने का भय सर्वदा ही रहता है, अतः वितरित करने के पूर्व उसे साफ कर लेना आवश्यक है। भूपृष्ठीय जल को सुरक्षित रखने के लिये इसका उचित शोधन पहला कर्तव्य है। नदियों के जल का गुण बदलता रहता है और अधिकतर झीलों और तालाबों के जल से कम संतोषजनक होता है। गंदे क्षेत्रों में से होकर बहनेवाला जल मलमूत्र और औद्योगिक मलों से बहुत दूषित हो जाता है।

जल में निम्नलिखित अपद्रव्य रह सकते हैं, जिनको जल का वितरण करने से पूर्व दूर करना चाहिए। १. निलंबित ठोस (पंकलापद और तलछट), २. घुले हुए ठोस, ३. घुली हुई गैसें, ४. रंग तथा कार्बनिक पदार्थ, ५. स्वाद तथा गंध और ६. अणुजीव।

अपद्रव्य कैसे और कितने हैं, जल का किस कार्य के लिये उपयोग किया जायगा, कौन कौन से और कितने अपद्रव्य सह्य हो सकते हैं, इन बातों पर जल का निर्मलीकरण निर्भर करता है।

जल का भौतिक निर्मलीकरण — भूपृष्ठीय जल में थोड़ा गँदलापन होता है, जो सतह की धुलाई से आई धूल के निलंबन से हो जाता है। जल का गँदलापन रासायनिक उपचार के बाद, या पहले ही, उसे बड़े जलागारों में भरकर, या अवक्षेपण कुंडों अथवा नियार जलागारों में से निकालकर या छानकर, या दोनों विधियों को मिलाकर, कम किया जा सकता है। किंतु इन उपायों से गँदलापन पूर्णतया दूर नहीं होता। इसके लिये रासायनिक विधियों का सहारा लेना पड़ता है।

प्राकृतिक जल में प्रायः लवण घुले होते हैं, जो स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हो सकते हैं। लवण की बहुतायत से कब्जियत होने का डर रहता है। मैग्नीशियम तथा कैल्सियम युक्त जल जठरांत्रीय रोग उत्पन्न करता है। फ्लुओराइड युक्त जल के सेवन से दाँत, हड्डी, जोड़ तथा केंद्रीय और परिधीय तंत्रिकातंत्र के रोग हो जाते हैं।

रासायनिक शोधन — असंयुक्त कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैस युक्त जल क्षारक होता है। जल का क्षारक गुण गैस की मात्रा पर निर्भर है। जल में यह गैस नैसर्गिक, या ऐल्युमिना सल्फेट पर पानी की क्रिया से, उत्पन्न होती है। इस गैस के प्रभाव से लोहे तथा इस्पात के पाइपों और अन्य सतहों पर लाली छा जाती है, जिसे रक्त जलप्लेग कहा जाता है। इसे दूर करने का उपाय जलवितरण के पूर्व उसमें मिली कार्बन डाइ-ऑक्साइड की मात्रा को कम करना है। इसके लिये वातन, या चूने के रासायनिक संयोग, या दोनों विधियों का प्रयोग करना पड़ सकता है। सोडा राख भी प्रयुक्त हो सकती है। वातन द्वारा कार्बन डाइऑक्साइड हवा में निकल जाता है। पर चूने की क्रिया से वह चूने के साथ क्रिया कर कैल्सियम कार्बोनेट या कैल्सियम बाइकार्बोनेट बनाता है, जो क्षारक न होने पर भी जल को कठोर बना देता है।

साधारणतया विलीन कैल्सियम तथा मैग्नीशियम के बाइकार्बोनेट, या सल्फेट, या क्लोराइड के कारण जल कठोर होता है। कठोर जल न घरेलू काम के योग्य होता है न उद्योग के। कठोर जल में साबुन अधिक खर्च होता है। कठोरता का उपचार उसके प्रकार और उसकी मात्रा पर निर्भर है। बाइकार्बोनेट की कठोरता चूने की क्रिया से दूर होती है। चूने की क्रिया से बाइकार्बोनेट विघटित होकर कैल्सियम कार्बोनेट तथा मैग्नीशियम कार्बोनेट का तलछट बन जाता है। यदि कठोरता सल्फेट तथा बाइकार्बोनेट दोनों के कारण है, तो जल का उपचार चूना तथा सोडा राख से किया जाता है, जिससे कैल्सियम कार्बोनेट तथा मैग्नीशियम हाइड्रॉक्साइड नीचे बैठ जाते हैं।

चूना तथा सोडा राख उपचार के साथ जल मृदुकरण की जिओलाइट विधि भी प्रयुक्त होती है। इस विधि में गँदलेपन से मुक्त जल प्राकृतिक, या कृत्रिम जिओलाइट, के संपर्क में लाया जाता है। कैल्सियम और मैग्नीशियम का स्थान जिओलाइट का सोडियम ले लेता है। इस प्रकार जल मृदु हो जाता है। जिओलाइट की तहों में जल तब तक छाना जाता है जब तक सोडियम पूरा निकल नहीं जाता। इसके बाद जिओलाइट की तह से जल निकाल दिया जाता है तथा वह नमक के सांद्र विलयन से पुनर्जीवित की जाती है। क्षार का विनिमय होता है। जिओलाइट में मिले हुए कैल्सियम तथा मैग्नीशियम को नमक के विलयन का सोडियम प्रतिस्थापित कर देता है। जिओलाइट अपनी पूर्वावस्था में आ जाता है। इसमें से द्रव पुनः निकालकर उसे साफ पानी से धोया जाता है, ताकि पुनर्जीवक नमक विलयन लेश मात्र भी न रह जाय। इस प्रकार जिओलाइट पुनः काम के लिये तैयार हो जाता है। जिओलाइट विधि से कठोरता पूर्णतया समाप्त की जा सकती है, किंतु यह विधि सार्वजनिक जलप्रबंधों में अभी काम में नहीं लाई जाती।

संश्लिष्ट रेज़िन भी जल की कठोरता को दूर करने में प्रयुक्त होते हैं। संश्लिष्ट फिनॉल तथा टैनिन् से निर्मित रेज़िन आयन विनिमय द्वारा कठोर जल से कैल्सियम तथा मैग्नीशियम को पृथक् कर देते हैं। हाइड्रोक्लोरिक अम्ल या नमक के विलयन से रेज़िन को पुनर्जनित किया जाता है।

धनायन रेज़िन भारत में बनता है और ऋणायन आयात करना पड़ता है। नैशनल केमिकल लेबॉरेटरी, पूना, ने धनायन रेज़िन पेटेंट कराकर इस दिशा में नेतृत्व किया है। अब प्रश्न केवल रेज़िन को जनसाधारण के लिये सुलभ करने का है, ताकि प्रत्येक खारे कुएँ का पानी मृदु बनाया जा सके।

पृष्ठजल में नाइट्रेट की मात्रा अपेक्षया कम होती है, किंतु भूगर्भ जल में प्रति लिटर ये सैकड़ों मिलीग्राम तक हो सकते हैं। इनसे बच्चों और वयस्कों को कोई हानि नहीं होती, किंतु प्रयोग से निश्चित हो चुका है कि प्रति लिटर ८० मिलीग्राम से अधिक नाइट्रेट की मात्रा उन बच्चों के लिये विष का काम करती है जिन्हें माता का दूध उपलब्ध नहीं हो पाता।

फ्लुओराइड भी रासायनिक पदार्थ है, जो पानी में घुला होता है। महामारी-विज्ञान संबंधी प्रयोग से सिद्ध हुआ है कि प्रति दस लाख भाग जल में १·५ अंश से अधिक फ्लुओराइड बचपन में दाँतों की बनावट और सड़न की प्रतिरोधशक्ति पर कुप्रभाव डालता है।

जल से फ्लुओराइड निकालने की कई विधियाँ हैं, किंतु इनमें से कोई भी सस्ती नहीं है। भारत में अनेक स्थानों पर कुएँ के पानी में काफी फ्लुओराइड पाए गए हैं। लोग इन कुओं का पानी पीकर फ्लुओराइड के कुप्रभावों के शिकार होते हैं। इस क्षेत्र में अनुसंधान जारी है।

लकड़ी के बुरादे से विशेष विधि द्वारा प्रस्तुत कोयले से पीने के पानी से फ्लुओराइड को हटाया जा सकता है। कोयले से फ्लुओराइड दूर करने की विधि सरल, सस्ती और कारगर होती है। साथ ही यह विधि भारत के गाँवों की परिस्थितियों के अनुकूल भी है। धान मात्रा अध्ययन से ज्ञात होता है कि शोधित जल की लागत (६·०० अंश प्रति दस लाख भाग से घटाकर १·५ अंश प्रति दस लाख भाग तक यदि फ्लुओराइड कम की जाती है) प्रति सहस्र गैलन ३० और ४० नए पैसे के बीच होगी।

लोहे की उपस्थिति — यदि जल में लोहे की मात्रा सहनसीमा से अधिक हो तो यह आपत्तिजनक है। यह लोह भूपृष्ठ जल में हवा के संपर्क से ऑक्सीकृत होकर लाल तलछट के रूप में रहता है। ऐसा पानी नल के सामान पर दाग उत्पन्न करता है और पीने में अरुचिकर होता है। वातन और छनाई से लोहे की मात्रा को कम किया जा सकता है। कहीं कहीं छानने के पूर्व चूने से पानी का उपचार किया जाता है। जब जल में मैंग्नीशियम घुला होता है, तब तलछट लाल रंग का न होकर काला होता है। मैंगनीज को दूर करने की विधि लोहे को दूर करने की

विधि जैसी ही है। मैंगनीज के लिये चूना और लोहा विधि काम में लाई जाती है, अर्थात् चूना और फेरस सल्फेट का प्रयोग छनाई से पहले ऐल्यूमिना सल्फेट के साथ, या उसके अभाव में भी, किया जाता है।

स्वाद और गंध — जल में स्वाद और गंध (१) प्राकृतिक कारणों से, (२) औद्योगिक-गंदगी और मलमूत्र तथा (३) जलीय वनस्पति, जैसे काई और प्रोटोजोआ की वृद्धि, आदि से होती हैं।

विषाक्त जल — प्राकृतिक जल में भयंकर तथा दीर्घकालिक रोग उत्पन्न करनेवाले पदार्थ बहुधा नहीं होते। जीवाणु संग्राम में जल को ऐसा संदूषित किया जा सकता है कि उसके सेवन से मृत्यु हो सकती है। ऐसे जल में बहुत विषैला सायनाइड विष रहता है, जिससे बचना संभव नहीं है।

भारत के जलकल इंजीनियर की दूसरी समस्या है, जलागार या नदियों के मुहाने पर काई की असीम वृद्धि। काई पानी को अरुचिकर बनाती और छनाई में बाधा डालती है, जिसके कारण फिल्टर को पुनः पुनः धुलाई आवश्यक हो जाती है। समस्या तब और भी जटिल हो जाती है, जब जलागार के पानी के घटने से काई का प्राकृतिक क्षय और सड़न शुरू हो जाती है। विविध काइयों का कुप्रभाव निम्नलिखित एक या एक से अधिक विधियों के प्रयोग से, दूर किया जा सकता है। (१) साधारण और उच्च दाबीय वातन, (२) अधिक्लोरीनीकरण (breakpoint chlorination), (३) पूर्व और पश्चक्लोरीनीकरण, (४) तूतिया (कापर सल्फेट) के उपचार, (५) चूना का प्रति उपचार (६) दानेदार अक्रियकृत कार्बन, (७) ओजोनीकरण, और (८) अति क्लोरीनीकरण (superchlorination)।

दुरुस्त ढंग के तेज बालू फिल्टर युक्त आधुनिक जल उपचार संयंत्र का गंदलापन दूर करने का अनुक्रम इस प्रकार है :

(अ) पूर्व निथारन टंकी (Pre-sedimentation tank)।

(ब) दमक मिश्रण रसायनकक्ष (Flash mixing chemical house)।

(स) समाक्षेपक (Flocculator)।

(द) निर्मलकारी (Clarifier)।

(इ) फिल्टर

(ई) रोगाणुनाशन (Disinfection)

पूर्व निथारन कुंड — इसकी कार्यक्षमता ४ घंटे से २४ घंटे तक की होती है, जो उपचार किए जानेवाले जल के गँदलेपन पर निर्भर है। इसका उद्देश्य २०० छेदवाली जाली में से भी निकल जानेवाले रेतकणों को दूर करना होता है और ये रेतकण बहुत जगह घेरते हैं। सिल्ट की मात्रा अधिक होने पर उससे भी अधिक निष्कासन को लक्ष्य बनाना पड़ता है। पूर्व निथारन कुंड में ही ठोस पदार्थों का निष्कासन निर्मलकारी समाक्षेपक में अपक्षेपक (Co-agulant) की मात्रा कम करने में सहायक होता है।

बहुधा निलंबित ठोस पदार्थों के शीघ्र निष्कासन के लिये पूर्व तलछटीकरण कुंड में अपक्षेपक मिलाना पड़ता है। पूर्व तलछटीकरण कुंड या निर्मलकारी समाक्षेपक में प्रवेश से पूर्व काई बहुल अपरिष्कृत जल का क्लोरीनीकरण लाभदायक होता है।

समाक्षेपक — आजकल क्षैतिज या ऊर्ध्वाधर बाधक मिश्रण टंकी (Horizontally or vertically Baffled Mixing Tanks) की अपेक्षा यांत्रिक समाक्षेपण की ओर रुझान अधिक है। अच्छे समाक्षेपक से अपक्षेपक की खपत ५० प्रति शत तक कम हो सकती है। समाक्षेपण टक्कर तथा आसंजन (adhesion) से प्रभावित होता है। टक्कर भौतिक बलों तथा आसंजन रासायनिक या वैद्युतिक बलों पर आश्रित है।

आकार, अंतराल, गति और व्यवस्था की दृष्टि से समाक्षेपक पैडलों का अभिकल्प अत्यंत महत्व का है। पैडल ऐसा हो कि गुंफ (floc) को पानी से बुहार कर निलंबित हल्के कणों को पकड़ पकड़कर बड़ा तथा भारी पिंड बना डाले। अभिकल्प में सुडौल गुच्छे के एक भाग को प्रवाह प्रांत में लौटाकर बेसिन में प्रवेश करते हुए ताजे पानी की असंख्य कणिकाओं के लिये केंद्रक (Nucleus) बनाने की भी व्यवस्था होनी चाहिए।

ऐल्यूमिनियम सल्फेट, फेरस सल्फेट, चूना और फेरिक क्लोराइड नामक रासायनिक पदार्थों का अधिकतर प्रयोग किया जाता है। भारत में जल-उपचार-संयंत्रों में फिटकरी अपक्षेपक के रूप में बहुतायत से प्रयुक्त होती है। अपक्षेपक की मात्रा निर्धारित करने के लिये प्रति दिन 'जार परीक्षण' (Jar test) किया जाता है।

रासायनिक अपद्रव्य (धनायन और ऋणायन), पी एच मान मिश्रण, समाक्षेपण गुंफ निर्माण और अपक्षेपण को प्रभावित करते हैं। यद्यपि सर्वोत्तम पी एच मान ताप के साथ बदलता है पर गुंफनिर्माण की दर ताप से प्रभावित नहीं होती।

रासायनिक पदार्थ विलयन या शुष्क रूप में डाले जाते हैं। भारत में विलयन संभरण और विदेशों में शुष्क संभरण चलता है। संभव है उपयुक्त गुणों से युक्त आर्द्रता-अग्राही (Non-hygroscopic) फिटकरी सुलभ हो तब भारत में भी शुष्क संभरण होने लगेगा।

दमक मिश्रण द्वारा रासायनिक पदार्थ ताजे पानी में जल्द से जल्द भली भाँति मिलाया जाता है। इसके लिये प्रवाह की धारिता से अधिक धारितावाले तीव्र गतिवाले प्रेरक मिश्रक (High speed Impeller mixers) प्रयुक्त होते हैं। मिश्रण एक सा और तीव्र होना चाहिए ताकि रासायनिक पदार्थों के सर्वोत्तम उपभोग (optimum consumption) द्वारा उपचार उत्तम हो।

पृथक् समाक्षेपक या निर्मलकारी समाक्षेपक कुंड युक्त निथार कुंड — इसके अभिकल्प में मुख्य कारक हैं (क) परिवाह वेग, (ख) अवरोध काल, (ग) उद्रोध वेग, (घ) प्रवेश और निकास व्यवस्था, (ङ) अवमल संग्राहक अवकाश और (च) कुंड का आकार। परिवाह वेग गँदलेपन पर निर्भर है और ४½ फुट से लेकर ५ फुट प्रति घंटा तक होता है। अवरोध काल दो से तीन घंटे तक होता है, लेकिन ठीक अभिकल्प से १ से १½ घंटे तक घटाया जा सकता है। उद्रोधवेग प्रति घंटे प्रति फुट लंबाई में १४० से १८० घन फुट तक से अधिक नहीं होता। प्रवेश और निकास ऐसा हो कि लघु परिपथ की संभावना न रहे। प्रवेश पर वेग ०·२ फुट प्रति सेकंड से कम हो ताकि गुंफ टूट न जाय। अवमल संग्रह अवकाश (sludge storage volume) उन कुंडों के लिये जिनकी सफाई हाथ से की जाती है, आवश्यक है। जिन कुंडों का अवमल कीच यंत्र से निकाला जाता है, उनमें अवमल के लिये अतिरिक्त अवकाश नहीं रखा जाता। कुंड गोलाकार या आयताकार होते हैं।

उच्च दरवाला निर्मलकारी समाक्षेपक लोकप्रिय हो रहा है। अपक्षेपक, मृदुकारक या अन्य रासायनिक पदार्थ से उपचारित जल का टंकी के तल में आकर जहाँ गुंफ इकट्ठा होता है, पुनः गुंफ या पतले अवमल में से ऊपर उठकर छलक पड़ना, इस कुंड की विशेषता है। अवमल की

वायु संचारणकारी उत्स्रोत (Fountain)
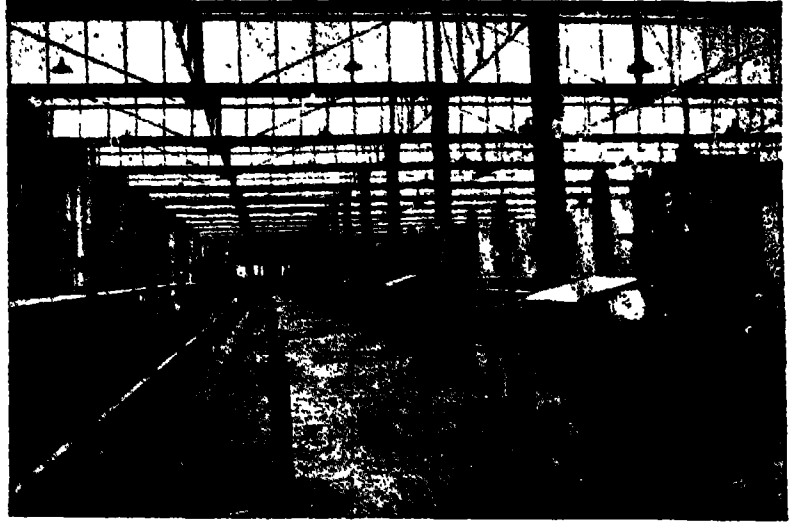
निस्यंदन भवन (Filter House)
चंद्रावल वाटर वर्क्स, दिल्ली, में निस्यंदन-कार्य-संचालन कक्ष ।
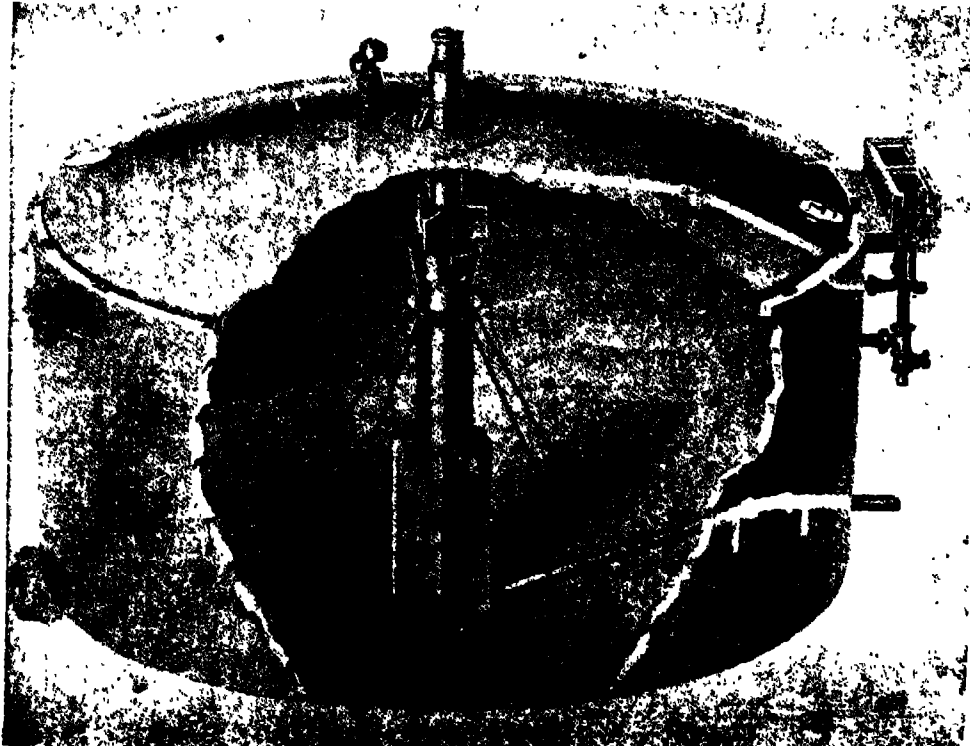
उपचारण (digestion) टंकी तथा मिश्रण यंत्र

जन स्वास्थ्य इंजीनियरी (पृष्ठ ३६९)
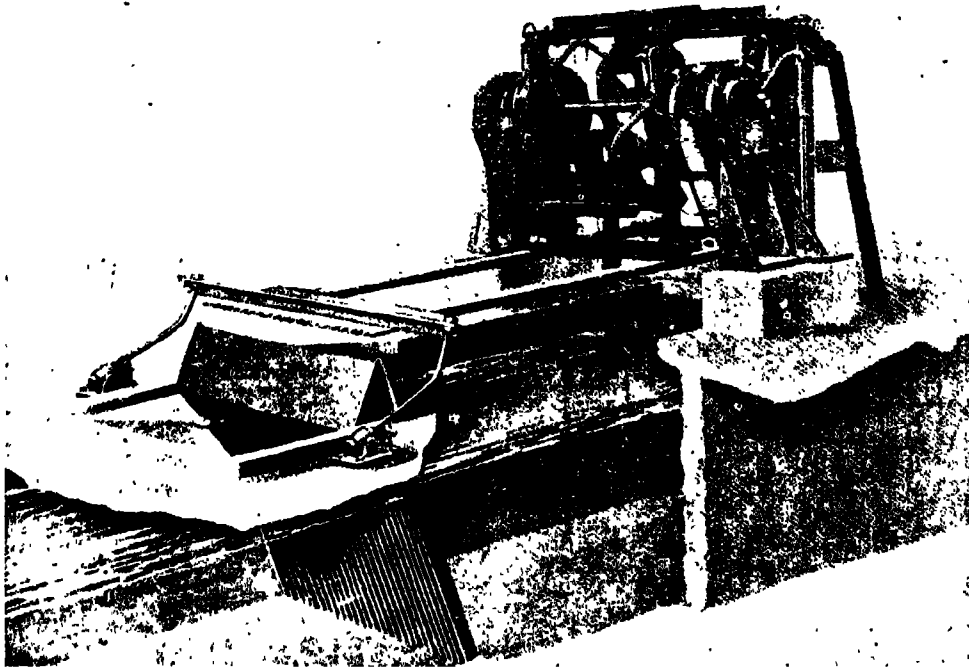
दंडों से बनी यांत्रिक चलनी (Mechanical Bar Screen)

वृत्ताकार निर्मलकारी

परत में से होकर उठते समय भारी गुंफ तल में गुरुत्व के कारण बैठ जाता है और शेष गुंफ को छानकर और अवमल परत की अन्य भौतिक, और रासायनिक क्रियाओं से निकाल लिया जाता है। बहुत से संयंत्रों में ऊपर उठते हुए जल के क्रमिक मंदन (gradual deceleration) द्वारा अवमल निष्कासन प्रेरित किया जाता है। अवमल के एक भाग के सतत स्वचालित निकास द्वारा अवमल परत को वांछित गहराई तथा संधानता पर रखा जाता है। अवरोध काल को एक घंटे से कम रखते हुए गँदलेपन के लिये १० फुट प्रति घंटे तथा कठोरता निष्कासन के लिये १५ फुट प्रति घंटे की परिवाह दर (overflow rate) से टंकियाँ चलाई जा सकती हैं।

निस्यंदन (फिल्ट्रेशन) — भारत में नगर जलप्रबंध के लिये मंद बालू के निस्यंदक (फिल्टर) और तीव्र बालू के निस्यंदक प्रयुक्त होते हैं।

तीव्र बालू निस्यंदन — भारत में यह विधि दिनोंदिन अधिक लोकप्रिय होती जा रही है। पहले दिनों में जल के पूर्वानुकूलन (preconditioning) पर, अर्थात् उसके निस्यंदकों पर आने से पहले, कम ध्यान दिया जाता था और छानने पर अधिक। अब छानने से पहले गँदलापन तथा दूषित जल का गँदलापन और जीवाणुओं को दूर करने के लिये पानी का रासायनिक उपचार आवश्यक समझा जाता है। तेज बालू निस्यंदन की क्षमता छानने के वेग और छनित (filtrate) की कोटि पर निर्भर है। अब यह मान लिया गया है और वास्तविक व्यवहार से सिद्ध हो गया है कि छाने हुए की कोटि का ह्रास किए बिना भारत में निस्यंदकों के अभिकल्प में स्वीकृत ८० गैलन प्रति वर्ग फुट प्रति घंटे की दर बढ़ाकर १२० गैलन प्रति वर्ग फुट प्रति घंटे करना संभव है। बेलिस (Baylis) ने सिद्ध किया है कि शिकागो (अमरीका) के लिये २०० से ४०० फुट प्रति वर्ग फुट प्रति घंटे की छानने की दर निरापद, संतोषजनक और आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद है। वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, की राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं में केंद्रीय जनस्वास्थ्य इंजीनियरी अनुसंधान संस्था के दिल्ली के क्षेत्रीय केंद्र में किए गए प्रयोगों से सिद्ध हो चुका है कि छनित जल की कोटि पर बुरा प्रभाव डाले बिना ही छानने की दर १५० गैलन प्रति वर्ग फुट प्रति घंटे तक बढ़ाई जा सकती है।

दूषित जल से काई के निकाम के लिये आजकल सूक्ष्म छनाई (micro straining) पर बहुत ध्यान दिया गया है। ताजे जल के पथ में पट पर एक पतली परत बनती है और उसकी वैसी ही क्रिया होती है जैसी मंद बालू निस्यंद की। श्मुट्सडेक (Schmutzdecke) की सूक्ष्म छनाई इसी क्रिया पर आधारित है। सूक्ष्म छनाई ९ इंच से कम शीर्ष (head) पर ही काम करती है।

भूजल का उपचार — भूजल का प्रबंध स्थान पर ही करना चाहिए और दूषण से सुरक्षित होना चाहिए। आवाह क्षेत्र में उपयुक्त जलनिकासी होनी चाहिए। उसमें बाढ़ न आती हो और वह सुरंग, मलनाली इत्यादि से दूर होना चाहिए। शैल और स्थल रूपरेखा तथा भौमिकीय रचना का ध्यान आवश्यक है। दूषित, विषाक्त और हानिकार अवशिष्ट द्रव निकालनेवाले औद्योगिक कारखानों से भूजल दूर रहना चाहिए।

जलप्रबंध का स्थल चुनते समय निम्नलिखित विशेषताओं का ध्यान रखना चाहिए :

(१) भूजल की घटनाविधि — क्या जल जलस्तर के निकट के क्षेत्र से या उत्स्रोती क्षेत्र से प्राप्त होता है ?

(२) जल जिस स्वतंत्रता से कुएँ की ओर बह सकता है उसके विचार से भूमिरचना का ढंग या संरंध्रता समांगता, पदार्थों के आकार, स्तरीकरण, शैल विलयनप्रणाली, अंश इत्यादि भूमि के लक्षण और भौमिक रचना के विचार से जो भूजल को प्रभावित करते हैं।

(३) जल के स्रोत की दृष्टि से भूमि की सतह और जलस्तर की ढाल का कोण और दिशा।

(४) संदूषण स्रोत से दूरी और संदूषण को परिरुद्ध करने और उसे कुएँ के निकट धरती में समाने से रोकने के लिये संरचनात्मक लक्षण structural features)।

(५) संभावित अथवा प्रयुक्त पंप क्रिया का वेग।

भूमिगत स्रोत से उपलब्ध जल में, निलंबित गंदगी की कमी या अभाव होने पर भी घुले हुए लवण हो सकते हैं, जिनकी संशोधन विधि बताई जा चुकी है। ताजे या रासायनिक रीति से उपचारित पानी के विकृति जनक या परजीवी जीवाणुओं के नाश के लिये क्लोरीन या उसके यौगिक सबसे अधिक प्रभावकारी हैं। कुछ संयंत्रों में ओज़ोन भी प्रयुक्त होता है।

क्लोरीन पानी में विरंजन चूर्ण या गैस के रूप में प्रयुक्त हो सकता है। क्लोराइड के विलयन के विद्युद्विश्लेषण से प्राप्त क्लोरीन प्रयुक्त हो सकता है। क्लोरीन की जीवाणुनाशी क्षमता उसके मिलाने की विधि पर निर्भर नहीं करती, बल्कि वह पानी के गुण और संपर्ककाल पर निर्भर करती है। क्लोरीन की मात्रा जल के कार्बनिक अंश, हाइड्रोजन अंश, कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा, ताप, संपर्ककाल, इच्छित परिणाम तथा अन्य कारकों पर निर्भर है। भारत में क्लोरीन की मात्रा का ऐसा नियमन किया जाता है कि संवितरण प्रणाली के अंतिम सिरे पर अवशिष्ट क्लोरीन ०·१ से ०·२ अंश प्रति दस लाख भाग रहे। संपर्ककाल २० से ३० मिनट तक का होता है। द्रव क्लोरीन सबसे प्रभावी रोगाणुनाशक है, अतः वही अधिक उपयोग में लाया जाता है। यदि पानी में कार्बनिक अंश अधिक हो, तो उसका अधिक्लोरीनीकरण (breakpoint chlorination) किया जाता है।

मल और मल निपटारा

मल उपचार (Sewage Treatment) — मल में ९९.८५ प्रति शत पानी और ०·१५ प्रति शत अपद्रव्य रहते हैं। अपद्रव्यों में ४०% निलंबित और कोलायडीय पदार्थ और लगभग ६०% विलेय पदार्थ रहते हैं।

मलशोधन का ढंग शोधन के अंतिम उत्पाद, "निस्राव" (effluent), का कैसे निपटारा होता है इसपर निर्भर करता है। यह निस्राव लोककंटक न बने या जलधारा को दूषित न करे जिससे जनता के स्वास्थ्य पर संकट पड़ सके, इसका ध्यान रखा जाता है। साधारणतया शोधन के दो ढंग प्रचलित हैं, प्राथमिक और द्वितीयक। प्राथमिक शोधन में द्रव मल से आसानी से निथरनेवाले ठोस अंश को यंत्रों से दूर किया जाता है। इसमें चालना, कचरे या कंकर को दूर करना और कोलायडीय कणों को सामान्य रीति से निथरने देना, या रसायनकों को डालकर अवक्षिप्त करना है। द्वितीय शोधन का कार्य है ऑक्सीजन की उपस्थिति में कोलायडीय और विलेय कार्बनिक पदार्थों को जीवरासायनिक कारकों द्वारा स्थायी रूप में परिणत करना। द्वितीय शोधन में ये क्रियाएँ होती हैं। (१) बड़ी जलराशि में विसर्जन द्वारा तनूकरण, (२) भूमि सिंचाई, (३) कई प्रकार के टपकनेवाले

फिल्टरों—खुले, बंद या तीव्रगामी—का प्रयोग, जिनमें बारबार परिचालन किया जा सके तथा (४) यांत्रिक प्रक्षोभन या विसरित वायु के समावेशन से सक्रियकृत अवमल विधि।

प्रारंभिक शोधनकुंड के तल में बैठे हुए ठोस "कच्चा अवमल" कहे जाते हैं और द्वितीय शोधनकुंड के तल में बैठे ठोस सक्रियकृत अवमल या ह्यूमस कहलाते हैं। कच्चे अवमल में जलांश ९०-९० प्रति शत और द्वितीयक शोधन से प्राप्त अवमल में ९८-९९ प्रति शत होता है। मल अवमल अत्यंत अप्रिय और अस्थायी होता है। इसका उपचार और निपटारा वैसा ही कठिन है, जैसा स्वयं मल का होता है। वह कृषि में उपयोगी तो है, क्योंकि मंदगति से नाइट्रोजन उन्मुक्त करने का साधन है, पर इसकी भौतिक दशा और उच्च जलांश कृषि में इसकी उपयोगिता को सीमित कर देते हैं।

चिथड़े, धातु, कूड़ा, बेंत, ईंट आदि पदार्थ चालन से निकल जाते हैं। इनका संयंत्र में प्रवेश पाना ठीक नहीं, क्योंकि ये यंत्र के चलते पुर्जों जैसे जंजीर, दाँतेदार चक्रों, पहियों, दंडों आदि से उलझकर भारी गड़बड़ी उत्पन्न कर सकते हैं। फिर वे संयंत्र में व्यर्थ ही स्थान घेरते हैं। एक बार संयंत्र में प्रविष्ट होने पर इन्हें निकालना सरल नहीं होता। इसके लिये अत्यावश्यक शोधनयंत्रों को बंद करना या उनका पानी अस्थायी तौर पर निकालना पड़ता है।

छलनी — इसके (क) मोटी छलनी (coarse screen) या रैक, (ख) छड़ छलनी, अथवा (ग) बारीक तोड़नेवाले उपकरण (comminutor devices) आदि विभिन्न रूप हो सकते हैं।

मोटी छलनी चौकोर या गोल छड़ों को नाली में समान दूरी पर लगाकर बनाई जाती है। खुली जगह २½ से ४ इंच तक होती है और छड़ें ऊर्ध्वाधर से ४५° से ६०° तक के कोण पर झुके हुए क्षैतिज मंच पर समाप्त होती हैं। पंजे द्वारा रैक से पदार्थ हटाए जाते हैं।

छड़वाली छलनी हाथ से भी चलाई जाती है और यंत्र से भी। ये छलनियाँ लगभग सभी संयंत्रों में काम में लाई जाती हैं। हाथ छलनी में छड़ें बराबर दूरी पर लगाई जाती हैं, जिससे एक रैक बन जाता है। रैक की ढाल क्षितिज तल से प्रायः ६०° अंश होती है। वह एक मंच पर समाप्त होती है। छानन (screenings) को जल से रहित करने के लिये उसपर पंजा मारा जाता है। छड़ों के बीच की जगह साधारण तौर पर १ से १½ इंच तक होती है। यंत्र द्वारा छलनी के छड़ ऊर्ध्वाधर, या उससे बहुत ही छोटे कोण पर, लगे होते हैं। चलते पंजे छानन को उठाकर मंच पर बाल्टियों में या ठेले पर डाल देते हैं। इन छलनियों को, लगातार या रुक रुककर, चलाया जाता है। बारीक तोड़नेवाले उपकरणों को विभंजक (shredder or communitor) कहा जाता है। इसका आकार झिरीदार ढोल सा होता है, जो मलपथ में घूमता रहता है। ज्यों ज्यों ढोल काटनेवाली धारों से लगकर घूमता है, उसकी झिरियों में प्रविष्ट होनेवाले पदार्थों के टुकड़े टुकड़े होते रहते हैं। कुछ कलों में एक स्थिर ढोल होता है, जिसके काटनेवाले फलक झिरीदार सतहों से लगकर घूमते हैं। कुछ में चलते फिरते फलक होते हैं, जो छलनी पर इकट्ठा किए हुए पदार्थ को काटते है। इसे प्रायः लगातार चलाया जाता है।

छड़ छलनी की छानन सीधे ट्रक या टीनों में निवर्तन के लिये भर दी जाती है। कभी कभी उन्हें कलों से जलोत्सारक धरातल (drained floor) पर डाला जाता है, जहाँ उनका पानी निकालकर उन्हें अंतिम निपटारे के स्थान पर ले जाया जाता है।

छलनी पर जमी हुई छानन की बड़ी राशियों को शीघ्र ही निपटारे के कार्यस्थलों से हटाया जाता है, जिससे कोई उत्पात न पैदा हो। उनसे बड़ी दुर्गंध निकलती है जो संयंत्र के आस पास बहुत बुरी लगती है। उन्हें या तो तीन फुट गहरी नालियों में दबाकर उनसे पीछा छुड़ाया जाता है, या उन्हें घर के कूड़े के साथ मिलाकर खाद बनाया जाता है, या उन्हें जलाया जाता है। पिछली विधि अपनाने से पूर्व उसका पानी निकाल दिया जाता है, ताकि उसका भार और आयतन कम हो जाय।

कंकरी का निकालना (Grit removal) — बालू, धूल, पत्थर, राख, जला कोयला और अन्य अकार्बनिक पदार्थों से कंकरी (grit) बनती है। ये पदार्थ घरेलू नलों से मलनाली में प्रविष्ट होते हैं। कच्चे मल में कंकरी निलंबित अवस्था में रहती है, क्योंकि मल नाली का वेग उसे नीचे बैठने नहीं देता। मलनाली को ऐसा बनाया जाता है कि उसमें मल ऐसे वेग से बहे कि नाली स्वयं स्वच्छ हो जाय। यह वेग २½ से ३½ फुट प्रति सेकंड होता है और यह मलवाहक नाली के आकार पर निर्भर है। मल मलनाली ऐसी बनाई जाती है कि आधी भरी हुई रहे और अंडाकार मल नाली तीन चौथाई भरी हुई।

भारत की मलनालियों का डिजाइन (अभिकल्प) पृथक् प्रणाली पर किया जाता है, अर्थात् विष्ठा, स्नान आदि का पानी अलग मलनाली में जाए। वर्षा का पानी बहने के लिये अलग नालियों की व्यवस्था होती है। जब मल और वर्षाजल एक ही नाली में डाले जाते हैं, तब उस व्यवस्था को संमिलित प्रणाली कहते हैं। यह प्रणाली यूरोप और अमरीका में पहले प्रचलित थी, किंतु अब अधिकतर देशों में पृथक् प्रणाली का प्रयोग किया जा रहा है।

कंकरी को नीचे बैठ जाने के लिये कंकरी कुंड में प्रवाह का वेग घटाकर १ फुट प्रति सेकंड कर लिया जाता है। कंकरी निकालने की सुविधाएँ विभिन्न आकार प्रकार की होती हैं। कुछ को हाथ से साफ किया जाता है। कुछ में मशीन से चलनेवाला 'कंकरी निष्कासन यंत्र' होता है। दो या अधिक समांतर सँकरी और कम गहरी नालियाँ या वर्गाकार या गोल कुंड निकालने और अलग करने के लिये बनाए जाते हैं। कुछ का कार्य केवल गुरुत्व पर निर्भर रहता है और कुछ में पृथक्करण और निष्कासन की सहायता के लिये वायु या प्रेरकों का उपयोग होता है। कुछ में कंकरी निकालते समय धोई भी जाती है, कुछ में सिर्फ निकाली जाती है। लेकिन वेग और बैठने के समय के नियंत्रण का उपाय सभी में आवश्यक है।

छोटे संयंत्रों में हाथ से स्वच्छ किए जानेवाले कोष्ठों का प्रयोग होता है। इनमें दो समांतर लंबी नालियाँ होती हैं, जिनमें प्रवाह वेग के संभावित परास के लिये ऐसी वेग नियंत्रण युक्तियाँ लगी होती हैं जिनसे कि एक फुट प्रति सेकंड का अचर वेग रहे। चूँकि भारत के अधिकतर नगरों में विरामी जलप्रबंध है, घरों का अधिकांश पानी सबेरे शाम ढाई तीन घंटों में मलनाली में जा पहुँचता है। इसलिये इस उच्चतम भार के समय में मलनाली में प्रवाह औसत से कहीं अधिक होता है। यह औसत प्रवाह का २½ से ३ गुना होता है। उच्चतम भार की माँग के अनुसार ही जलवितरण प्रणाली को भी डिजाइन किया जाता है।

वेगनियंत्रण के लिये युक्तियाँ हैं, पार्शल नालिका (Parshal flumes), परवलय नालिका और समानुपाती बंध। बहुत से संस्थापनों का तल कंकरी के संग्रह के लिये प्रवाहरेखा के नीचे हॉपर (गोद) के

आकार का होता है। प्रायः नाँदों के तल में नलिका का जल निकालने के लिये मोरी होती है, ताकि कंकरी सरलता से निकाली जा सके। कंकरी हाथ बाल्टी, कुदाल या फावड़े के प्रयोग से पहियागाड़ियों में लादकर ले जाई जाती है।

यंत्रचालित कुंड प्रायः वहीं बनाए जाते हैं, जहाँ (क) प्रवाह अपेक्षाकृत अधिक होता है, (ख) कंकरी बड़ी राशि में संभावित होती है या (ग) कुंड भूमि सतह से इतना नीचे रहता है कि हाथ से निकालना संभव नहीं होता। मलप्रवाह की दर अधिक परिवर्ती होने पर वेग-नियंत्रण और निरोधकाल में आवश्यक ढिलाई के लिये दो या अधिक कुंड प्रायः बनाए जाते हैं। बहुत से कुंड होने से काम बराबर जारी रह सकता है, अन्यथा एक ही कुंड होने पर मरम्मत इत्यादि के लिये काम रोक देना पड़ता है।

कंकरी का लगातार निवारण ऐसे साधन से होता है, जो उसे खुरच या ढकेलकर किसी वाहक में छोड़ दे या टीन, संग्रह खत्ती या ट्रक में भर दे। मलजल में बहती हुई कंकरी घुलती जाती है और कंकरी से कुछ कार्बनिक पदार्थ हटते रहते हैं। दूसरी यांत्रिक विधियों में जब कंकरी पंपिंग या वाहक द्वारा बैठा दी जाती है तब प्रेरक या दबी वायु द्वारा कार्बनिक पदार्थ निलंबित कर दिए जाते हैं।

भारतीय मलजल में यूरोपीय मलजल की अपेक्षा कंकरी अधिक होती है। कंकरी बहुत बारीक भी होती है। यह बात कंकरी कुंड के अभिकल्प तथा उपचारण कुंड (digestion tank) के मल अवमल के उपचारण की क्षमता को प्रभावित करती है। यह अकार्बनिक पदार्थ उपचारण कुंड में "गैस" देने से कोई सहायता नहीं देता। भारतीय मलजल के लिये उपयुक्त कंकरी कुंड का ठीक डिजाइन अभी तक नहीं बना है।

कंकरी कुंड की सुरक्षा के लिये उसकी देखभाल में सावधानी का पालन आवश्यक है। मलजल की विषैली तथा विस्फोटक गैसें कंकरी कुंड में हवा से मिलकर विषैली अवस्था या विस्फोटक वातावरण उत्पन्न कर सकती हैं। यदि कुंड वायुमंडल की ओर पूर्णतया खुला न हो तो निम्नलिखित सावधानियों का पालन आवश्यक है।

(१) सब समय यथेष्ट संवातन की सुविधा,

(२) कुंड के चारो ओर के क्षेत्र को विस्फोटक क्षेत्र जैसी सुरक्षा तथा

(३) विषैला क्षेत्र मानकर उपयुक्त सावधानियों का पालन।

प्रारंभिक शोधन निथारन -- मलजल की ताजगी या सांद्रता और कणों के घनत्व, आकार तथा रूप, जैसे दानेदार या गुंफमय, निथारन को प्रभावित करते हैं। गुंफमय कण (कार्बनिक द्रव्यगुंफ, अपक्षेपक या जीववैज्ञानिक वृद्धिजनित) निथारते समय आकार, रूप और आपेक्षिक घनत्व के परिवर्तन के साथ ही गुच्छ बनाते हैं। कणों की अपेक्षा गुच्छ शीघ्रता से बैठते हैं। कनी और गुंफ पदार्थ का वही अंश निथरता है, जो शांत अवस्थाओं में उचित समय में निथरता है। यह समय साधारणतया ऐच्छिक रूप से एक घंटा माना जाता है। न निथरनेवाले ठोस इतने छोटे होते हैं कि इन अवस्थाओं में भी नहीं निथरते। सांद्र मलजल लघु मलजल की अपेक्षा शीघ्र निथरता है। मलजल सांद्रता की माप उसकी 'जीवरासायनी ऑक्सीजन माँग' (जी० ऑ० मा०, B.O.D.) है। २५ से ३० गैलन प्रति दिन प्रति व्यक्ति जलवितरण हो तो भारतीय मलजल की यह जी० ऑ० मा० लगभग २५० है। गर्मी के दिनों में यह माँग ४०० तक बढ़ जाती है। दूसरी ओर अतिकालिक मलजल, जिसे उपचार बिंदु पर पहुँचने में छह से लेकर आठ घंटे तक या अधिक समय लगा हो, अपेक्षाकृत धीमी गति से निथरता है। इसके कारण हैं, जैव अधःपतन द्वारा कणों के आकार का घटना और उनका गैस द्वारा प्लावन। भारी कण हल्के कणों की अपेक्षा शीघ्र बैठते हैं। जिन कणों के तलीय क्षेत्र भार की दृष्टि से अधिक हैं, वे देर में बैठते हैं और टेढ़ मेढ़े कण घर्षण की अधिकता के कारण सुडौल कणों की अपेक्षा धीरे धीरे बैठते हैं।

तलछटीकरण या निथारन तालाबों में बैठने योग्य ठोस कणों के निथारन काल को 'निरोधकाल' कहते हैं। दीर्घ निरोधकाल निष्कासन में सहायक नहीं होता, बल्कि हानिकारक ही हो सकता है, क्योंकि गरम जलवायु में मल के पूतिदूषित होने की संभावना रहती है। भारतीय संयंत्रों में निरोधकाल साधारणतया १½–२ घंटे का होता है।

समानवेग से बैठते हुए दानेदार कणों की निवारण दर प्रायः पूर्णतः कुंड के सतही क्षेत्र पर निर्भर करती है। विविध गति से बैठते हुए गुंफमय कणों की निवारण दर तालाब के सतही क्षेत्र और उसकी गहराई पर निर्भर करती है। सीधे सादे निथारन तालाब का सतहभार ६००-१,२०० गैलन प्रति दिन प्रति वर्ग फुट और ८–१० फुट गहराई साधारण बात है। प्रवेशिका का अभिकल्प ऐसा किया जाता है कि वेग घटे और द्रोणी की आड़ी काट में सर्वत्र उपयुक्त द्वार बाधिका, या अन्य उपाय द्वारा, प्रवाह समान रूप से वितरित होता रहे। निर्गम 'पोत द्वार' (port) या उद्रोध (weir) के आकार के होते हैं। ये समुचित क्षेत्रफल या लंबाई के होते हैं, ताकि तालाब के निर्गम द्वार पर वेग इतना कम हो कि तल में बैठी सामग्री बह न जाय। निर्गम उद्रोध के आगे प्रायः गतिरोधक (baffles) बना दिए जाते हैं ताकि बहते हुए ठोस और ग्रीज अर्थात् वसा, मोम, मुक्त वसीय अम्ल, खनिज तेल और अन्य अवसीय पदार्थ निकलने न पाएँ। शांत स्थिति में कुछ ग्रीज अवपंक के साथ बैठता है और कुछ ऊपर तैर जाता है, जिसे काछने के समुचित उपकरण से हटा दिया जाता है। ग्रीज को अधिकाधिक तैराने के लिये हवा अंदर फूँकी जाती है।

निथारन टंकी का आकार गोल, आयत या वर्ग होता है। आयताकार टंकी में मल एक छोर से दूसरे छोर तक बहता है और अवमल प्रवेशिका के सिरे से खुरचने के यंत्रों द्वारा निकाला जाता है। गोलाकार या वर्गाकार टंकी में मल मध्य में प्रविष्ट होकर अरीय रूप से परिमा तक फैलता है और अवमल ढकेला जाकर, या अन्य किसी प्रकार से, मध्य में चला जाता है। कुछ गोल तालाबों में मल बाहरी कोर से स्पर्शरेखा बनाता हुआ भीतर प्रवेश कर बहता है। गोल टंकियों को अक्सर 'निर्मलकारी' कहते हैं। ऐसी टंकियों में प्रवाह को मध्य में एक संभरण कूप में प्रविष्ट किया जाता है, जिससे प्रवेशिका वेगों का क्षय होता है। संभरण कूप से मल तेजी से टंकी के बाहरी किनारे पर उद्रोध और उत्प्रवाह नाली तक चला जाता है। टंकी के मध्य में लगे हुए एक चालन यंत्र या तालाब की दीवार पर लगे एक कर्षण यंत्र की भुजाओं से निथरे ठोसों को खींचकर एक नाँद में डाल दिया जाता है। बहता हुआ पदार्थ अवमल संग्राहक में लगे हुए एक फलक द्वारा खींचकर उतार लिया जाता है।

आयताकार टंकियाँ आजकल प्रयोग में नहीं लाई जातीं। जहाँ इनका उपयोग हो रहा है, वहाँ वे अकेली इकाइयों या श्रेणी में होती हैं। टंकी की लंबाई चौड़ाई की कई गुना होती है। वाहक रस्से के समांतर तारों

पर चढ़े काष्ठसोपानों, या टंकी की दीवार पर लगाई पटरी पर चलनेवाली गाड़ी पर आरोपित एकतल खुरचनी (single bottom scraper) द्वारा इकट्ठा हुआ अवमल एक सिरे पर लगी नांद में डाल दिया जाता है। जंजीर तथा सोपान निमज्जित दाँतेदार पहियों, दंडों और बेयरिंगों पर मोटर से चलते हैं।

जब लंबी दूरी की यात्रा के कारण मल पूतिदूषित या प्रतिकालिक अवस्था में शोधन स्थान पर पहुँचता है, तब उसे "प्रिय" (sweet) बनाने के लिये किसी अलग संरचना में वायुविसरण द्वारा पूर्व-वायुमिश्रित या यांत्रिक वायुमिश्रित किया जाता है। यह क्रिया निथारन में सहायक होती है।

रासायनिक शोधन भारत में कहीं भी नहीं होता। इसका एकमात्र कारण रासायनिक पदार्थों की महँगाई है। इससे देखभाल का व्यय बहुत बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त रासायनिक पदार्थों को अभी तक आयात करना पड़ रहा है।

तनूकरण द्वारा निपटारा — यदि निपटारे के लिये ऐसी अवस्थाएँ मौजूद हों तो कच्चे या अंशतः शोधित मल का निपटारा नदी, झील या समुद्र में उसे विसर्जित करके किया जाता है। मल के अप्रिय पदार्थों के ऑक्सीकरण और उपचारण करने की क्षमता प्राकृतिक जलराशि में प्रायः सीमित होती है, इसलिये प्राकृतिक जलराशि में एक या कई स्थानों पर उचित मलविसर्जन की एक सीमा होती है। किसी प्राकृतिक जलराशि के दूषित पदार्थों के ऑक्सीकरण की क्षमता उसके आरक्षित ऑक्सीजन और उसकी पुनर्ग्रहण की क्षमता पर निर्भर है। तनूकरण के लिये उपयुक्त अवस्थाओं का विचार करते समय ऑक्सीजन संतुलन के संवहन की दिशा और ऐसे संवहन की सीमा का ध्यान आवश्यक है। जीवरसायनी प्रक्रिया के लिये ऑक्सीकरण वायुमंडल से निम्न स्रोतों से प्राप्त होता है : (क) सतह पर ऑक्सीजन अवशोषण, (ख) भँवर और तरंग द्वारा वायु अधिधारण (air occlusion), (ग) ऑक्सीजन या वर्षा से नवसंतृप्त जल (freshly saturated) के संमिश्रण से तथा (घ) हरे जलीय पौधों से निकली ऑक्सीजन से।

जब मल या दूषित जल किसी प्राकृतिक जलराशि में विसर्जित किया जाता है, तब उसका आत्मशोधन काल (period of self purification) विविध कारकों पर निर्भर करता है, जैसे

(१) पीनेवाले जल के गुणधर्म, (२) विसर्जन स्थल पर जल के परिमाण, (३) वेग और पुनर्वायुमिश्रण तथा (४) विसर्जित मल के प्रकार और परिमाण पर। मत्स्यजीवन की संभावित क्षति का विचार रखना भी परमावश्यक है।

जहाँ विसर्जन समुद्र में होता है वहाँ जल के ऑक्सीजन भंडार और उसकी ऑक्सीजन-पुनर्ग्रहण-क्षमता के अतिरिक्त अधोलिखित स्थानीय अवस्थाएँ भी विचारणीय हैं :

(१) तनूकारक जल का परिमाण और उसका गुण धर्म, (२) विसर्जित मल को गहरे जल या मुख्य धारा की ओर ले जाने के लिये प्राप्त धाराएँ, (३) विसर्जन स्थल पर जल की गहराई, (४) प्रचलित पवन की दिशा तथा (५) पानेवाली ज्वार जलराशि (tidal water) का आकार।

उत्तम व्यासारण (dispersion) के लिये तनूकारक जल का मल से पूर्ण मिश्रण आवश्यक है। कुछ नगरों में इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये कई विसर्जन स्थल रखे जाते हैं।

कच्चे मल को ज्वार जल में विसर्जित करने की प्राचीन प्रथा अब तेजी से लुप्त हो रही है। यह सिद्ध हो चुका है कि तनूकारक जल का कार्यभार घटाने के लिये विसर्जन के पूर्व मल का प्रारंभिक शोधन आवश्यक है।

बंबई के मल का बहुत बड़ा भाग 'केवल छानने और कंकरी निकालने के बाद अन्य शोधन के बिना ही अरब सागर में विसर्जित किया जा रहा है। विसर्जन स्थल पर उपयुक्त परिस्थितियों के अभाव में मल के विसर्जन से विसर्जन स्थान के आसपास बहुत अपदूषण हो रहा है, यद्यपि निकासी मलनाली (outface sewer) तट से २,००० फुट आगे तक समुद्र में प्रवेश करती है। विसर्जन पर लघु ज्वार काल में जल की गहराई केवल ६ फुट रहती है, जब कि कच्चे मल के संतोषजनक व्यासारण के लिये कम से कम ५० फुट की गहराई आवश्यक है। बंबई का मल जिस गहराई में विसर्जित किया जाता है वह इंग्लैंड और अन्य विदेशों में बहुत उथला समझा जाता है। विसर्जन मल को दूर वास्तविक समुद्र में ले जाने के लिये ज्वारीय धाराओं का वेग ०·७ मील प्रति घंटे से अधिक नहीं है, जब कि इष्टतम वेग तीन से पाँच मील तक प्रति घंटा है। इसके अतिरिक्त धाराएँ तट के लंबवत् न होकर समांतर हैं, जिससे विसर्जित मल मुख्य धारा की ओर न जाकर ज्वार के साथ आगे पीछे होता रहता है और निकास-मल-नाली द्वारा, जो रोधिका (groyne) का काम करती है, तट की ओर ही बढ़ता है। तटाग्र (foreshore) का आकार भी ऐसा नहीं है कि वह मल को समुद्रजल की विशाल राशि में शीघ्रता से फैला दे, बल्कि इसके विपरीत वह प्रवाहहीन अवस्था (stagnant conditions) बना देता है। उपर्युक्त कारणों से ऑक्सीजन का संतुलन संतोषजनक नहीं है और विसर्जन स्थल पर पर्याप्त दूरी तक समुद्रजल ऑक्सीजन से रिक्त रहता है। अतः अब समुद्र में मल विसर्जन के पूर्व उसके प्रारंभिक शोधन के लिये कदम उठाए जा रहे हैं। इस स्थल पर और मल न गिराकर अनेक नए विसर्जन स्थान बनाए जा रहे हैं, जिनमें प्रारंभिक या द्वितीयक शोधन के पश्चात् मल समुद्र में विसर्जित होता है।

भारत के समुद्रतटवर्ती नगरों में ही तनूकरण की निपटारे की विधि का लाभ उठाया जा सकता है। मद्रास के मल का बड़ा भाग समुद्र में विसर्जित किया जा रहा है और वहाँ भी अनुपयुक्त परिस्थितियों के कारण अपदूषण उत्पन्न कर रहा है। अब वहाँ मल का उपयोग उसे भूमि पर फैलाकर किया जा रहा है और यही विधि लाभपूर्ण और संतोषजनक पाई गई है।

बड़ी नदियों में भी मलविसर्जन संभव नहीं है, क्योंकि गर्मी के मौसम में इन नदियों में प्रवाह बहुत घट जाता है और तनूकरण के उपयुक्त नहीं रह जाता।

मल की फार्मभूमि पर प्रयुक्ति — मलनिर्यास की अधिक प्रचलित विधि जो भारत के सभी मुख्य अंतर्देशीय नगरों में अपनाई गई है, मल की भूमि पर प्रयुक्ति है। इनी गिनी नगरपालिकाओं में ही मल का इस प्रकार उपयोग किया जाता है। मल का भूमिशोधन नगरपालिकाओं ने आर्थिक दृष्टि से अपनाया है न कि जनस्वास्थ्य की रक्षा की दृष्टि से। उनके निर्यास और शोधन मल फार्मों पर भूमिपट्टों के किरायों के बड़े राजस्व, मलनिस्राव के शुल्क और कृषि उत्पादनों के विक्रय से कुछ नगरपालिकाओं ने अपनी आमदनी बढ़ाई है, किंतु अब मल फार्म के अधिकारी आर्थिक दृष्टिकोण त्यागकर जनता के स्वास्थ्य पर अधिक ध्यान रखने लगे हैं।

भारत भर में अब लगभग ६५ मलफार्म हैं। भारत के प्राचीनतम मलफार्म अहमदाबाद और पूना में क्रमशः सन् १८९६ और १९१८ में चालू हुए। मदुराई का मलफार्म बहुत बाद में स्थापित होने पर भी वैज्ञानिक सिद्धांतों पर कार्य करने के कारण विशेष सफल रहा है।

मलफार्म के संपर्क और सांनिध्य से प्रभावित वातावरण में लोकस्वास्थ्य का विस्तृत अध्ययन किया गया है। वर्षों तक मलजल द्वारा सींची गई भक्ष्य फसलों (पकाकर या बिना पकाए खाई जानेवाली) के सेवन से किसी प्रकार की महामारी फैलने का कोई ठोस प्रमाण नहीं मिला है। किंतु फिर भी लोकस्वास्थ्य की दृष्टि से यह प्रयोग निरापद नहीं है, क्योंकि मल में रोगजनक जीवाणु होते हैं, जो कृषिजन्य खाद्यों में पहुँचकर संक्रामक सिद्ध हो सकते हैं। मल कृषि से उत्पन्न तरकारियों के धोवन में उच्च बी. कोली (B. Coli) गणन पाए गए हैं, अतएव ऐसे पदार्थ सर्वथा निरापद नहीं समझे जाने चाहिए।

मल के जीवाण्वेतर (non-bacterial) रोगजनक अंशों से संभावित संकटों का भी अध्ययन हुआ है। मदुराई और अहमदाबाद के मलफार्मों में मुख्यतया अंकुशकृमि (Ankylostoma) और गोल कृमि (Ascaris) का संक्रमण सामान्यतया अधिक रहा और प्रजीवाणु पुटी (Protozoon cysts, Endamoeba histolytica) के कारण संक्रमण विरल रहा।

मलजनित अस्वस्थता के कारणों और उसके उपचार के संबंध में भी अध्ययन हो चुका है। कुछ फार्मों की धरती पर भारी निलंबित ठोस पदार्थों से युक्त कच्चे मल की सिंचाई या अधिक खुराक का हानिकारक प्रभाव पड़ा है। अहमदाबाद की मिट्टी की अयोग्यता का कारण लगातार और अधिक मात्रा में मलजल देने से अंतर्भौमि जलस्तर की वृद्धि के फलस्वरूप उत्पन्न जलाक्रांत अवस्था (Water logged condition) है। जयपुर में निचली भूमि में कच्चे मल के प्रयोग से अंतर्भौम जलस्तर बहुत ऊपर उठ गया है। प्राकृतिक विलेय लवण सतह पर आकर वाष्पीकरण द्वारा सफेद पपड़ी के रूप में जम गए हैं। वहाँ मलजनित अयोग्यता का कारण मिट्टी की उच्च लवणता है। मलजनित कारणों से अयोग्य हुई मिट्टी के उद्धार के लिये सूर्यप्रकाश मिलना आवश्यक है। गहराई तक हल चलना और लंबा अवकाश मिलना भी अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त चूने का प्रयोग भी लाभदायक है।

मदुराई और कलकत्ता में मत्स्यपालन मलफार्म (Piscicultural Sewage Farming) में मलनिस्राव काम आता है। कलकत्ते में नगर के समीप ही कच्चा मल तनूकरण के पश्चात् करीब १०,००० एकड़ मत्स्यक्षेत्र को उर्वर बनाता है। इन तालाबों से प्रति दिन १०–१२ टन मत्स्य कलकत्ते के बाजारों में आते हैं। क्षेत्र केवल मत्स्योत्पादन के लिये आरक्षित है। मदुराई में फार्म का अंतःसुत (pescolated) और अंशतः शोधित निस्राव गहरी निस्राव नाली में एकत्र होता है। मलनिस्राव मत्स्यजीवन की वृद्धि के लिये संतोषजनक है। वर्तमान क्षेत्रफल ४½ एकड़ है और उसमें टीलापिया मछली पैदा होती है।

ऑक्सीकरण ताल या स्थिरीकरण ताल — मलशोधन के लिये इन तालों की उपयोगिता खास तौर पर छोटे समुदायों में इनकी प्रारंभिक और आवर्ती लागत के कारण बढ़ रही है। अपशिष्ट स्थिरीकरण ताल में द्रव जैव अपशिष्ट द्रव्य को जीवविज्ञानीय, रासायनिक और भौतिक विधियों से शुद्ध करते हैं। इसे आत्मशोधन (Self purification) कहते हैं। स्थिरीकरण प्रक्रिया जीवाणु और काई के बीच लाभप्रद उभय परस्पर क्रिया (Interaction) है। अपशिष्ट में उपस्थित जैव द्रव्य जीवाणु द्वारा कार्बन डाइऑक्साइड, ऐमोनिया और पोषक तत्वों में विघटित हो जाते हैं। ये उच्च ऊर्जा के साथ मिलकर शैवालीय प्रकाश संश्लेषण (Algal Photosynthesis) की मुख्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, जिससे वातापेक्षी तंत्र (aerobic system) को ऑक्सीजन प्राप्त होता है। शैवाल के अभाव में वायुमंडल से ऑक्सीजन लेना पड़ेगा। शैवालीय प्रकाश संश्लेषण स्थिरीकरण प्रक्रिया के लिये आवश्यक है।

ताल ३–५ फुट गहरा होता है। जल के उच्चतम स्तर और तटस्तर में दो से तीन फुट तक शून्य भाग (free board) रहना चाहिए। चार पाँच फुट की गहराई ताल के ताप को एक समान रखने में सहायक होती है क्योंकि ऐसे तालों का ताप वायुमंडल के ताप के अनुसार ही होता है।

ताल का उपयोग कच्चे या निथरे (Sedimented Sewage) दोनों प्रकार के मलों के शोधन के लिये हो सकता है। कच्चा मल स्थिरीकरण ताल में प्रवेशिका तट-रेखा से कुछ हटकर होना चाहिए ताकि हवा बैठते हुए मल के ठोस पदार्थों को विसरित कर सके। निर्गम द्वार ऐसे बनाए जाएँ कि उनके चलने में अधिकाधिक लचीलापन रहे।

ताल का वांछित क्षेत्रफल भिन्न भिन्न होता है। इस संबंध में और अनुसंधान आवश्यक है। संयुक्त राज्य अमरीका के दक्षिणार्ध में प्रति एक हजार मनुष्य के लिये एक एकड़ ठीक समझा जाता है। यह बराबर है ७० पाउंड प्रति एकड़ प्रति दिन जीवरासायनिक ऑक्सीजन की माँग के। यह सूचना मिली है कि ताल द्वारा जीवरासायनिक ऑक्सीजन का निकास ६० से लेकर ९० प्रति शत है। अनेक शैवालीय कोशिकाओं के कारण ताल निस्राव, मलजल निस्राव के समान अनेक जैव पदार्थों से युक्त हो सकता है। शैवालीय कोशिकाएँ अत्यधिक स्थिर और विकृतिजनक दृष्टि से महत्वहीन होती हैं। मत्स्य और अन्य जंगली जीवों के लिये शैवाल जीवित आहार है।

अवमल (Sludge) — ऑक्सीकरण तालों के तल में अवमल नहीं इकट्ठा होता। ऐसा लगता है कि अवमल समस्या उठेगी ही नहीं। अबतक दुर्गंध और मच्छर-मक्खी का संकट भी उत्पन्न नहीं हुआ है।

अब तक के परिणाम अस्थाई हैं और अल्पकालिक अध्ययन के फल हैं। गंभीर अध्ययन तो नागपुर मलफार्म में इस प्रयोजन के लिये बने विशाल भांडेवाडी ऑक्सीकरण तालों के चालू होने पर होगा।

ऑक्सीकरण ताल का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है, क्योंकि (१) इनके बनवाने और देखभाल में खर्च कम पड़ता है (२) द्वितीय शोधन की अन्य विधियों के समान इनमें कुशल पर्यवेक्षण की आवश्यकता नहीं होती (३) कच्चा मल प्रारंभिक शोधन के बिना ही उपचारित किया जा सकता है और (४) अन्य के लिये नहीं तो केवल पशुओं के लिये ही शैवाल का खाद्य बनाने से आमदनी होने की संभावना है।

निस्संदेह लघु समुदायों के लिये स्वास्थ्यकर विधि से मल शोधन की यह आदर्श और सबसे कम खर्चीली विधि है। निस्राव का पानी जलमार्गों में विसर्जन करना चाहिए जहाँ यथेष्ट तनूकरण उपलब्ध होता है या उसका प्रयोग फसलों की सिंचाई में करना चाहिए। निस्राव में शैवाल फसलों की उपज के लिये अच्छा पोषक तत्व है। इसके लिये वैज्ञानिक विधि पर और प्रयोग करना आवश्यक है।

द्वितीय शोधन (Secondary treatment) — रिसती हुई फिल्टर विधि और सक्रियकृत अवमल विधि मल में सड़नेवाले पदार्थों का ऑक्सीकरण वैसे ही करती हैं जैसे भूमि शोधन में भूमि की सतही परतें।

भूमि शोधन का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें भूमि के विशाल क्षेत्रों की आवश्यकता पड़ती है। जहाँ इतनी भूमि उपलब्ध नहीं होती वहाँ द्वितीय शोधन से काम चलाया जाता है, क्योंकि इसमें स्थान कम लगता है।

टपकन फिल्टर का कार्य यह है कि वह निथारने से निकले सूक्ष्म निलंबित ठोसों और घुले मल ठोसों को निरापद पदार्थों में बदल देता है। टपकन फिल्टर में खुदरा पदार्थों की एक तह होती है। इसमें रिक्त स्थानों का अनुपात अधिक होता है और कणों के सतही क्षेत्रफल भी अधिक होते हैं। निथरा मल तह की सतह पर फैलाया जाता है। यह तह में से टपक कर या रिस कर निकलता है और तल की संग्राही नालियों में निकाल दिया जाता है। विशेष प्रकार से बनी टंकियों में, जिन्हें ह्यूमस टंकी कहते हैं, निथरने के बाद निस्राव या तो किसी बड़ी जलराशि में विसर्जित कर दिया जाता है या फसलों की सिंचाई के लिये प्रयुक्त होता है।

फिल्टर साधारणतया चार से छः फुट तक गहरा होता है। कभी कभी छः फुट से अधिक गहरे फिल्टरों का भी उपयोग किया जाता है। ऐसा दावा किया गया है कि फिल्टर की गहराई फिल्टर माध्यम के आकार और मल की सांद्रता पर निर्भर करती है। फिल्टर का माध्यम कठोर पत्थर, खंगर (clinker) कोक, कोयला या धातुमैल (slag), जो भी उपलब्ध हो, हो सकता है। माध्यम का परीक्षण इन बातों के लिये होना चाहिए : (१) आभासी आपेक्षिक गुरुत्व, (२) अधिशोषण (Adsorption), (३) घिसाई की प्रति शतता, (४) कड़ापन या दृढ़ता और (५) समांगता। फिल्टर के माध्यम अपेक्षतया आकार में एक समान होने चाहिए और सूक्ष्म कणों से रहित होने चाहिए। सूक्ष्म कण निर्दिष्ट आकारों के बीच के स्थान को भर देते हैं, पदार्थ ऐसा होना चाहिए कि वह माध्यम को तोड़फोड़कर सूक्ष्म कणों में परिणत न कर सके।

फिल्टर के माध्यम (पत्थर आदि) पर जीवाणु और अन्य जैव पदार्थों की एक श्लेषीय (Gelatinous) झिल्ली का लेप चढ़ जाता है। मल के जटिल कार्बनिक पदार्थ (निलंबित, कोलायडीय या घुले हुए) आसंजन या अवशोषण द्वारा जीवांड की जीवित झिल्ली में फँस जाते हैं। ऑक्सीजन की उपस्थिति में जीवाणु अभिक्रिया से कार्बनिक पदार्थ एक अधिक स्थाई पदार्थ में बदल जाते हैं। शीघ्र ही ऑक्सीकृत होनेवाले कार्बनिक पदार्थ और जैव पदार्थों में संख्या संतुलन हो जाता है। ऑक्सीकरण विधि और उससे होनेवाले उपचार में होने वाली क्रियाओं को कई प्रकार से स्पष्ट किया गया है। यह तो निश्चित है कि उपचार का संबंध जीवाणु और अन्य जैव पदार्थों से है और उनकी स्वस्थता इस विधि के लिये अनिवार्य है।

जीवांडपटल की वृद्धि और विस्तार माध्यम के आकार के अनुसार होता है। सूक्ष्माकार कणों का सतही क्षेत्र अधिक होता है, जो कि व्यास का प्रतिलोमानुपाती है। रिक्त स्थान की बहुलता के लिये पत्थर के खुरदरे कण अच्छे माने जाते हैं। साधारणतया माध्यम के कणों का आकार ¾ इंच से १½ इंच तक होता है।

फिल्टर वृत्ताकार या आयताकार हो सकते हैं। भिन्न भिन्न प्रकार के फिल्टरों में बैठे हुए मल को फिल्टर की सतह पर वितरण करने की प्रक्रिया अलग अलग है।

फिल्टरों की असुविधायें — इसकी मुख्य कठिनाइयाँ कालांतर में रोधन, साइकोडा मक्खी का होना और हवाई अपदूषण की प्रवृत्ति हैं। रोधन या तो फिल्टर पदार्थ के टूटने से या भार की दर में वृद्धि से होता है। फिल्टर पर डालने से पहले मल को क्लोरिन से पूर्व उपचारित कर फिल्टर की सतह को गोदनी या हैरो से तोड़ कर या सतह पर हौज से पानी डालकर अतिभार का दोष दूर किया जा सकता है। साइकोडा मक्खी का नियंत्रण निम्नलिखित विधियों से किया जाता है : (क) मक्खी के मौसम में १० से १४ दिन तक फिल्टर के माध्यम के ऊपर तक फिल्टर को पानी से भरने से, (ख) प्रयुक्त मल में मक्खी के मौसम में प्रतिसप्ताह इतने क्लोरिन का प्रयोग हो कि मल के अवशिष्ट अंश में प्रति दस लाख पर ३·५ अंश क्लोरिन रहे। (ग) प्रौढ़ मक्खियों को आराम करते समय "ब्लो टार्च" (blow torch) द्वारा मारकर और (घ) कभी-कभी पाइरेथ्रम (Pyrethrum) के निष्कर्ष का फुहार देकर (एक गैलन मिट्टी के तेल में ½ से ¾ पाउंड तक पाइरेथ्रम निष्कर्ष मिलाया जाता है)।

१९३० ई० के पूर्व अनेक अन्वेषकों के अनुभव के आधार पर निम्न भार के टपकन फिल्टर अभिकल्पित हुए, जिन्हें "निम्नदर टपकन फिल्टर" या "रूढ़" (conventional) फिल्टर कहते थे। निम्न भार फिल्टर का मुख्य दोष यह था कि इनके लिये "बृहत फिल्टर संस्थापन" की आवश्यकता पड़ती थी, जिन्हें बनाने में बहुत पूँजी लगती थी और संयंत्र स्थापना के लिये भूमि के विशाल क्षेत्रों पर अधिकार करना पड़ता था। अन्वेषणों के फलस्वरूप "जीवाणुनिस्यंदन" (biofiltration) की विधि (पुन: परिचालन सहित उच्चदर टपकन फिल्टर) निकली।

बढ़ती हुई धारिता के लिये टपकन फिल्टर पर परिवाह को पुनः परिचालित करने की पहली विधि हेरी जेंक्स द्वारा निकाली हुई "जीवाणुनिस्यंदन" है। फिल्टर माध्यम पर कार्बनिक भार अत्यधिक बढ़ा और निम्नदर फिल्टर से द्रव प्रेरित भार कई गुना बढ़ गया।

जीवाणु निस्यंदन विधि (पुन: परिचालन सहित उच्चदर टपकन निस्यंदक) में प्रारंभिक उपचार, निस्यंदन, द्वितीय निर्मलीकरण और पुनः परिचालन की सुविधा रहती है। यह इस प्रकार अभिकल्पित हो सकता है कि निस्राव की जीव रसायनिक ऑक्सीजन मांग उतनी ही हो, जितनी निम्नदर टपकन फिल्टर या सक्रियकृत अवमल संयंत्र में रहती है। कई अनुक्रम (flowsheet) जैसे एक पदी, द्विपदी इत्यादि प्रयुक्त होते हैं। इन सब अनुक्रमों में पुनः परिचालन के सिद्धांतानुसार जो जीवाणुनिस्यंदन का हृत्केंद्र (Heart centre) है, फिल्टर निस्राव का फिल्टर तह में लौटना आवश्यक है और इस प्रकार मल का फिल्टर में बार बार आना और उचित जीवाणुओं से निस्राव (effluent) का अन्त:क्रामित होना (inoculation) आवश्यक हो जाता है। हेरी जेंक्स का दावा है कि जीवाणुनिस्यंदन विधि में निम्नदर टपकन फिल्टर और सक्रियकृत अवमल विधि के लाभ तो हैं, पर उनका कोई दोष इनमें नहीं है। इस विधि का सारे संसार में प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि यह विधि सस्ती और मल एवं औद्योगिक अवशेषों के उपचार की उत्तम विधि है।

जीवाणुनिस्यंदन विधि से मल और औद्योगिक अवशेष उपचारक अनेक

संयंत्र भारत में बने हैं और वे संतोषजनक ढंग से कार्य कर रहे हैं। कई अन्य संयंत्र बन रहे हैं, जिनमें ओखला, दिल्ली जेल, उत्तर दिल्ली, बंबई के चेंबूर, दादर और थाना, डालमियानगर रोहतास, असम के पांडु, जमशेदपुर के टेल्को, भोपाल, दुर्गापुर, कलैकुंड वायु क्षेत्र, भोपाल, रूरकेला, पिलानी, वाराणसी (बनारस हिंदू विश्वविद्यालय) तथा पूना के हिंदुस्तान ऐंटीबायोटिक उल्लेखनीय हैं।

शोधन संयंत्रों के अपने अपने काम के ज्ञान से प्रकट है कि भारत की जलवायु और अन्य परिस्थितियों में जीवाणु निस्यंदन सफल है। कुछ प्राचीन अनुभवी लेखकों का यह तर्क न्यायसंगत सिद्ध हुआ है कि उष्ण और उपोष्ण कटिबंधीय जलवायु में पुनः परिचालन सहित उच्चदर टपकन निस्यंदक सफल होगा।

सक्रियकृत अवमल विधि — यदि कच्चे या बैठे हुए मल को किसी टंकी में भरकर उसमें वायु मिश्रित किया जाय तो उसमें अल्प अम्लता उत्पन्न होती है और उसकी अवांछित गंध और धूसर रंग दूर होकर वह हल्के भूरे रंग का हो जाता है। जब इस प्रकार वायुमिश्रित मल को सिलिंडर में निथरने दिया जाता है तब उसके तल मे हल्के भूरे रंग का गुंफ बैठ जाता है और ऊपर साफ पानी रह जाता है। सूक्ष्मदर्शी से देखने पर ज्ञात होता है कि यह भूरा गुंफ लाखों जीवाणुओं और अन्य प्रतिसूक्ष्म जीवाणु से संकुल होता है। इस भूरे गुंफ को सक्रियकृत अवमल कहा है। वायु मिश्रण से बना यह सक्रियकृत अवमल मलशोधन के काम में आता है। इस विधि को सक्रियकृत अवमल कहते हैं।

प्रारंभिक संयंत्रों में टंकियों के तल में सरंध्र प्लेटों से संपीड़ित वायु फूँककर प्रक्षोभन प्राप्त किया जाता था। पर यह विधि महँगी पड़ती है। अतः प्रक्षोभन प्राप्त करने के लिये कई यांत्रिक युक्तियाँ निकाली गई हैं।

सक्रियकृत अवमल के जीवाणुओं तथा अन्य प्रतिसूक्ष्मजीवों के ठोस मल के साथ अंतर्मिश्रण का परिणाम यह होता है कि मल और अवमल का मिश्रण ऐसी स्थिति में आ जाता है कि ठोस अपेक्षाकृत शीघ्र नीचे बैठ जाते हैं। जीवाणुकृत सक्रिय अवमल और मल का अनुपात लगभग १:५ है। इसे 'वापसी अवमल अनुपात' कहते हैं। मल में अवमल का योग नियंत्रित करके इस वापसी अवमल की मात्रा ठीक रखी जाती है। टंकियों में वायु मिश्रण की क्रिया ठीक रहने के लिये वापसी अवमल की मात्रा प्रर्याप्त होनी चाहिए। साथ ही वायुमिश्रण टंकियों में मल इतनी देर तक रुका रहना चाहिए कि प्रक्षोभन पर्याप्त हो सके और मल का शोधन पूर्णतया हो जाय। रुका रहने का समय वायुमिश्रण युक्तियों, मल की सांद्रता और शोधन की मात्रा पर निर्भर करता है और यह समय ३ से लेकर ३० घंटे तक का होता है। वायुमिश्रण टंकियों में वापसी अवमल ३० से ३५ प्रति शत होता है।

वायुमिश्रण टंकी की सापेक्ष परिमाप और गहराई प्रयुक्त वायुमिश्रण विधि और इच्छित शोधन मात्रा द्वारा शासित होती हैं। गहराई जितनी अधिक होगी वायु को उतनी ही अधिक दाब पर संपीडित होना चाहिए। टंकियों की औसत गहराई १० से लेकर १६ फुट तक होती है।

जिस पद्धति में मल और अवमल का प्रक्षोभन संपीडित वायु से होता है, वह "विसरित वायु पद्धति" कहलाती है और जिसमें यांत्रिक विधि से प्रक्षोभन होता है, उसे "यांत्रिक प्रक्षोभन" कहते हैं। विसरित वायु पद्धति में (क) मेंड़ और नाली कोटि टंकी या (ख) सर्पिल प्रवाह कोटि की टंकी द्वारा वायुविसरण होता है। वायु की इच्छित दाब दोनों टंकियों में प्लेटों के ऊपर मल के स्थैतिक वर्चस (static head) से कुछ ही अधिक होती है। टंकी की गहराई प्रायः १२ से लेकर १५ फुट तक होती है। वायु की दाब ६ से लेकर ७ पाउंड तक साथ ही विसरण से हानि होती है। औसत दाब प्रति वर्ग इंच में आठ से दस पाउंड तक बदलता है।

प्रति गैलन शोधित मल में प्रयुक्त वायु अनेक कारकों पर निर्भर करती है, जैसे मल का प्रकार और उसकी सांद्रता, वायुमिश्रण टंकी में प्रवेश के पूर्व हुए शोधन की कोटि आदि। प्रति गैलन अवमल के शोधन में डेढ़ से दो घन फुट वायु लगती है।

यांत्रिक प्रक्षोभन (Mechanical agitation) — की मुख्य विधियाँ निम्नलिखित हैं :

(१) हावर्थ पैडल या शेफील्ड वायुमिश्रण पद्धति, (२) हार्टले पैडल या बर्मिंघम जीव संकलन पद्धति, (३) सिम्प्लेक्स वायुमिश्रक, (४) लिंक बेल्ट वायुमिश्रक और (५) केसनर ब्राश वायुमिश्रण पद्धति।

भारत के कुछ संयंत्रों में सिम्प्लेक्स वायुमिश्रक कार्य कर रहा है। इसमें एक स्थिर सिलिंडर या ऊपर खींचने की नली होती है, जिसके ऊपरी सिरे पर परिक्रामी चकती होती है। चकती पर पंख (vanes) ऐसे लगे होते हैं कि टंकी की सतह के आरपार मल की धारा उनपर आकर आड़े बल पड़े। जब फैलाया जा रहा मल कुंड की सतह पर जा गिरता है, तब हवा के अनेक बुलबुले उठते हैं, जिसके फलस्वरूप मल में अधोमुखी वृत्ति या गति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार वायुमिश्रण पद्धति में रोककाल क्या हो, यह निथरे मल के गुण और उसकी सांद्रता पर निर्भर है। यह काल आठ से लेकर १२ घंटे तक का होता है। इस युक्ति में अभी हालही में सुधार हुआ है। अब इस विधि में उच्च तीव्रता शंकु (high intensity cones) का प्रयोग हो रहा है और इससे थोड़ी शक्ति द्वारा अच्छा वायुमिश्रण हो रहा है। मैनचेस्टर में तो यह भी देखा गया है कि इन शंकुओं के प्रयोग से थोड़ी सी ऊर्जा व्यय करके ही ऐसा अच्छा मिलाव प्राप्त हो जाता है जैसा विसरित वायु संयंत्र से प्राप्त होता है।

भारत में बड़े या मझोले आकार के संयंत्रों में विसरित वायुयंत्र अभी नहीं लगाए गए हैं। उनकी स्थापना और देखभाल दोनों ही अधिक खर्चीली है। तदनंतर उसका कुशलतापूर्वक पर्यवेक्षण करते रहना आवश्यक है। फिर यह विधि बड़ी सुग्राही है। यह टपकन फिल्टर के समान झटकेवाले भार सहन नहीं कर सकती।

भारत के नगरों में सक्रियकृत अवमल विधि का बड़े पैमाने पर उपयोग होने की बहुत संभावना नहीं है, क्योंकि अधिकतर नगरों में प्रारंभिक उपचार के बाद मल मलफार्मों में कृषि के लिये प्रयुक्त होता है।

ग्रामीण क्षेत्रों में मल निर्यास (पूति कुंड) — उपनगर क्षेत्रों में, जहाँ घर दूर दूर होते हैं, घरेलू मल को जन-स्वास्थ्य-संकट या अपदूषण उत्पन्न किए बिना निर्यास की सर्वसाधारण विधि भौमांतर्गत प्रस्राव-निर्यास-क्षेत्र (Underground Seepage disposal field) से युक्त पूतिकुंड (Septic tank) का उपयोग है। सरंध्र मिट्टीवाले क्षेत्र के लिये तो यह अत्यंत संतोषजनक विधि है। किंतु मृण्मय या अरंध्र मिट्टीवाले क्षेत्रों में या जहाँ घर सटे हुए होते हैं, भौमांतर्गत प्रस्राव

निर्वाह लोग बेकार हो जाता है और लोकस्वास्थ्य-संकट पैदा कर देता है।

पूतिकुंड से आशा की जाती है कि वह निम्नलिखित कार्य करे। (क) निथारन द्वारा जहाँ तक हो सके अधिक से अधिक मल का निलंबित ठोस निकाल दे, (ख) बैठे हुए अवमल के अपघटन द्वारा बने अपघटित अवमल का आयतन घटा दे और (ग) सफल सफाइयों के बीच इकट्ठा हुई अवमल और मली (scum) का संग्रह करे अर्थात् उसका बाहर निकलना रोके।

भारत में क्लेमाशा और टॅम्प्ल के पहले पहल के अध्ययनों से ज्ञात हुआ कि प्रति व्यक्ति ५ से लेकर १० गैलन प्रति दिन तक के मल के आधार पर कुंड की कुल धारिता ठीक होगी। अब २½ से लेकर ३ घनफुट प्रति व्यक्ति तक के हिसाब से कुंड की धारिता का निर्णय किया जाता है। धारिता निश्चित करते समय अवमल और मली के संचय का ध्यान नहीं रखा जाता। इसी प्रकार कुंड की न्यूनतम धारिता तय करने के लिये भी कोई न्यूनतम मानक नहीं रखा गया है। प्रायः सभी पाश्चात्य देशों में ४०० गैलन या ६४ घन फुट निम्नतम धारिता रखने के नियम बनाए गए हैं।

मद्रास राज्य के ३२ से अधिक पूतिकुंडों के अध्ययन से सिद्ध हुआ है कि उन कुंडों में जिनके कार्यकाल १२ और १८ तथा २० मास हैं, प्रति व्यक्ति वार्षिक अवमल और मली संचय लगभग क्रमशः ०·३८८ और ०·४५७ घन फुट है। इसी प्रकार कलकत्ते के २०० से अधिक पूतिकुंडों के पाँच वर्षों के अध्ययन से प्रकट है कि कुंड में अवमल संचय प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष ०·६ घन फुट से अधिक नहीं है।

आकार, माप, तरतीब और कक्षाओं की संख्या की दृष्टि से पूतिकुंडों की डिजाइन में बहुत भेद रहता है। ३ से लेकर ४ फुट तक की गहराई पर्याप्त पाई गई है। चौड़ाई और लंबाई का अनुपात १:३ से लेकर १:६ तक होता है।

पूतिकुंड का निस्राव खुली नाली द्वारा किसी नदी नाले में विसर्जित नहीं किया जा सकता। निस्राव का द्वितीय शोधन आवश्यक है। इतना होने पर भी यदि प्राकृतिक नदी नाले में सालभर तनूकरण के लिये पर्याप्त जल नहीं रहता तो निस्राव का विसर्जन हानिकर हो सकता है।

अतः निस्राव का निपटारा या तो अंतर्भौम हो सकता है या भूमि के ऊपर। अंतर्भौम निपटारे की दो विधियाँ हैं: (१) सोख गड्ढा और (२) अवशोषण खाई। इनका लक्ष्य होता है, सतह के नीचे रिसना या मिट्टी में चूना। भारत में रोड़ों या ईंट के टुकड़ों से भरे सोख गड्ढे बहुत काम आ रहे हैं। पश्चिमी देशों में अवशोषण खाई सोख गड्ढों से अच्छी मानी जाती है। जहाँ अंतर्भौम जलस्तर बहुत नीचा होता है, वहाँ सोख गड्ढे उपयुक्त होते हैं, क्योंकि उनसे रिसन हो सकता है। इससे भूजल का संदूषण भी नहीं होता।

अवशोषण खाइयाँ अपेक्षाकृत सँकरी और उथली होती हैं। इनमें चीनी मिट्टी के खुले जोड़वाले नल बिछाए जाते हैं, जो मामूली ढाल पर बजरी या पत्थर में दबाए जाते हैं। खाई की लंबाई प्रायः ७५ फुट से अधिक नहीं होती। खाइयाँ तिरछी रखी जाती हैं। इनके बीच की दूरी कम से कम ६ फुट होती है। निस्राव वितरणकक्ष से खाइयों के जाल में प्रविष्ट किया जाता है।

यह देखा गया है कि यदि अवशोषण खाइयों पर धूप की छाया न पड़े और वहाँ उपयुक्त पौधे लगाए जाएँ तो वे और असरकार हो जाती हैं।

किसी स्थानविशेष के लिये पूतिकुंड निस्राव का द्वितीय शोधन निश्चय करने के पूर्व सरल रिसनपरीक्षण द्वारा स्थानीय मिट्टी के रिसन गुण की जाँच कर लेना आवश्यक है। अवशोषण युक्ति का अभिकल्प पूतिकुंड के आकार से अधिक दैनिक मल के परिमाण पर निर्भर है। अतः दैनिक प्रवाह का ठीक अंदाजा लगाना आवश्यक है।

पूतिकुंड ऐसे स्थान पर होना चाहिए कि वह किसी ऐसे जलधारी भूमिस्तर में प्रवेश न करने पाए, जिससे कुओं में पानी आता है या त्रिशैल में वेधन न हो जहाँ से मल के चूने या परिवाह से घरेलू जल का स्रोत ही संदूषित हो जाय।

पूतिकुंड की नियत अवधियों पर सफाई आवश्यक है। लेकिन अधिकांश स्थलों में उनकी नियमित सफाई नहीं होती जिससे इनसे निकलनेवाले निस्राव में निलंबित ठोस की पर्याप्त मात्रा रह जाती है।

एक बात ध्यान देने योग्य है कि लघु संस्थान के रूप में भी पूतिकुंड मल निपटारे की उपयुक्त विधि नहीं है। इसका संस्थापन वहीं सही है जहाँ शोधन की कोई और विधि नहीं अपनाई जा सकती। समस्या का सबसे अच्छा समाधान यह है कि मलनाली की व्यवस्था की जाय। किंतु प्रायः यह केवल आर्थिक कारणों से ही नहीं हो पाता।

अवमल का निपटारा — अवमल निपटारे की समस्या सदैव ही ही रहती है और यद्यपि अवमल के शोधन और निपटारे की बहुत सी विधियाँ प्रचलित हैं, फिर भी इस महत्वपूर्ण और तात्कालिक समस्या का अभी तक ठीक ठीक समाधान नहीं हो पाया है। विदेशों में तो यह समस्या अंतिम निस्राव विसर्जन (final effluent discharges) के नियंत्रणार्थ कठोर मानक (stringent standard) के आरोपण के कारण बराबर अधिक गंभीर होती जा रही है, क्योंकि उससे मलशोधन स्थानों पर अवमल के शोधन और निपटारे के लिये अधिक ठोसों को रोकना पड़ता है। यद्यपि बहुत से व्यक्ति और अधिकारी अवमल के शोधन और निपटारे की सुधरी विधियों की व्यवस्था आवश्यक समझते है, फिर भी ऐसा कोई समाधान नहीं दिखाई पड़ता जिससे उचित खर्च और बिना अपदूषण उत्पन्न किए ही अवमल का ठीक निपटारा हो सके। ये समस्याएँ अभी और खोज की आवश्यकता रखती हैं।

प्रारंभिक अवमल में ६२ से लेकर ९७ प्रति शत तक जलांश होता है। यह मल के स्वरूप और निथार कुंड के प्रकार पर निर्भर है। शोधन की जैव स्थितियों के बाद अंतिम निथार टंकी में उत्पन्न द्वितीय अवमल में जलांश प्रायः प्रारंभिक अवमल से बहुत अधिक होता है। फिल्टर निस्राव से प्राप्त ह्यूमस अवमल में जलांश ९५ प्रति शत से अधिक होता है। सक्रियकृत वेशी अवमल में जलांश ९८ से ९९·५ प्रति शत तक होता है।

घरेलू मल से उत्पन्न अवमल के अतिरिक्त अन्य अवमल का स्वरूप बहुत बदलता रहता है। इसका कारण औद्योगिक कचरे से उत्पादित अवमलों में बहुत विविधता और इन अपशिष्टों का किसी समुदाय विशेष के मल प्रवाह और मलशोधन विधियों पर प्रभाव है।

अतः मलशोधन स्थान में उत्पादित अवमल का परिमाण निम्नलिखित बातों पर निर्भर है।

(१) मल में उपस्थित व्यापार निस्राव (Trade effluent) के स्वरूप और कोटि या उसका अभाव।
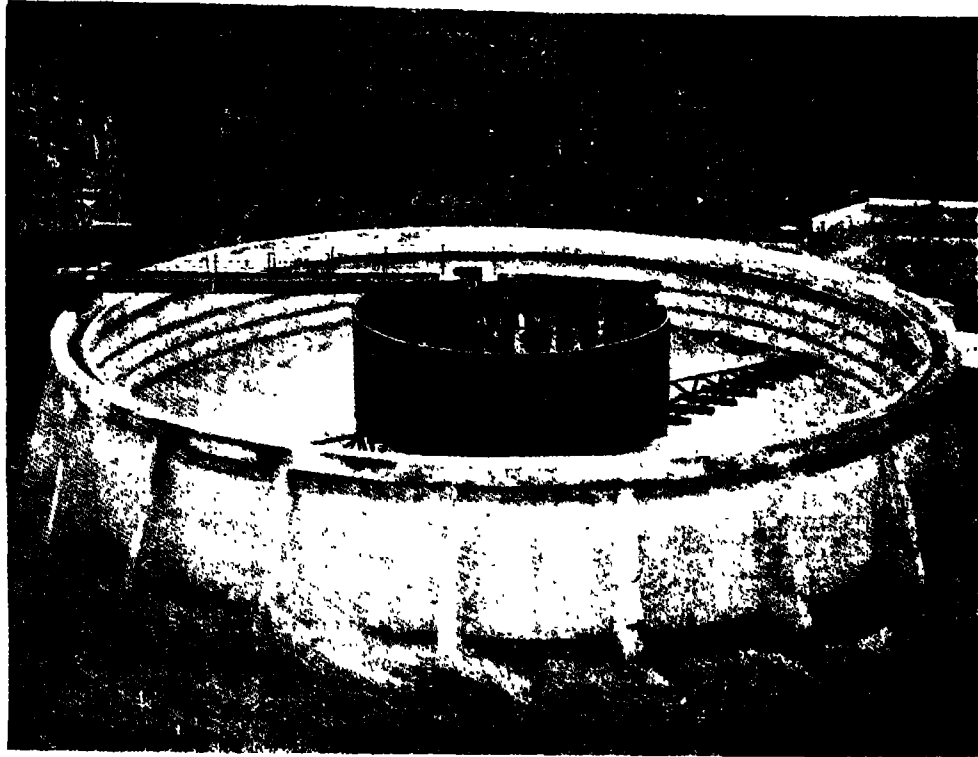
समाक्षेपण द्वारा निर्मलकारी (Clariflocculator)
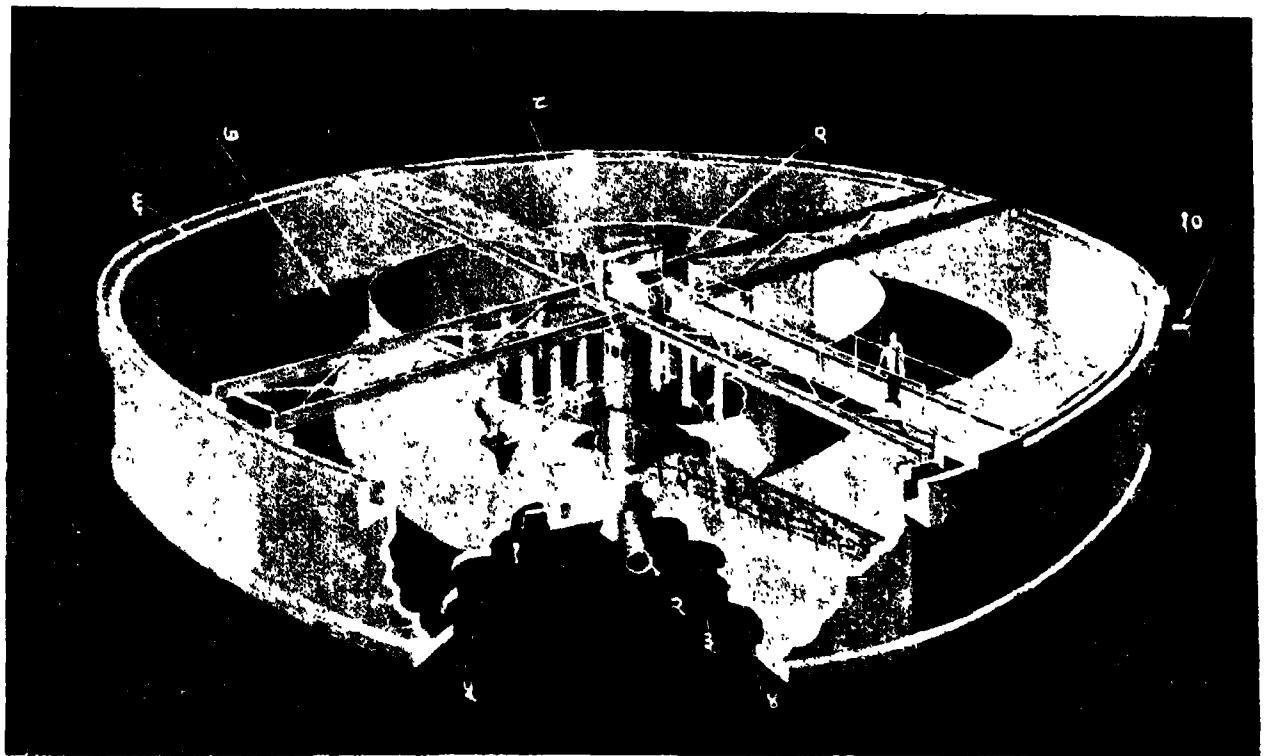
समाक्षेपण द्वारा निर्मलकारी की काट

काट द्वारा यंत्र की भीतरी बनावट दिखाई गई है।
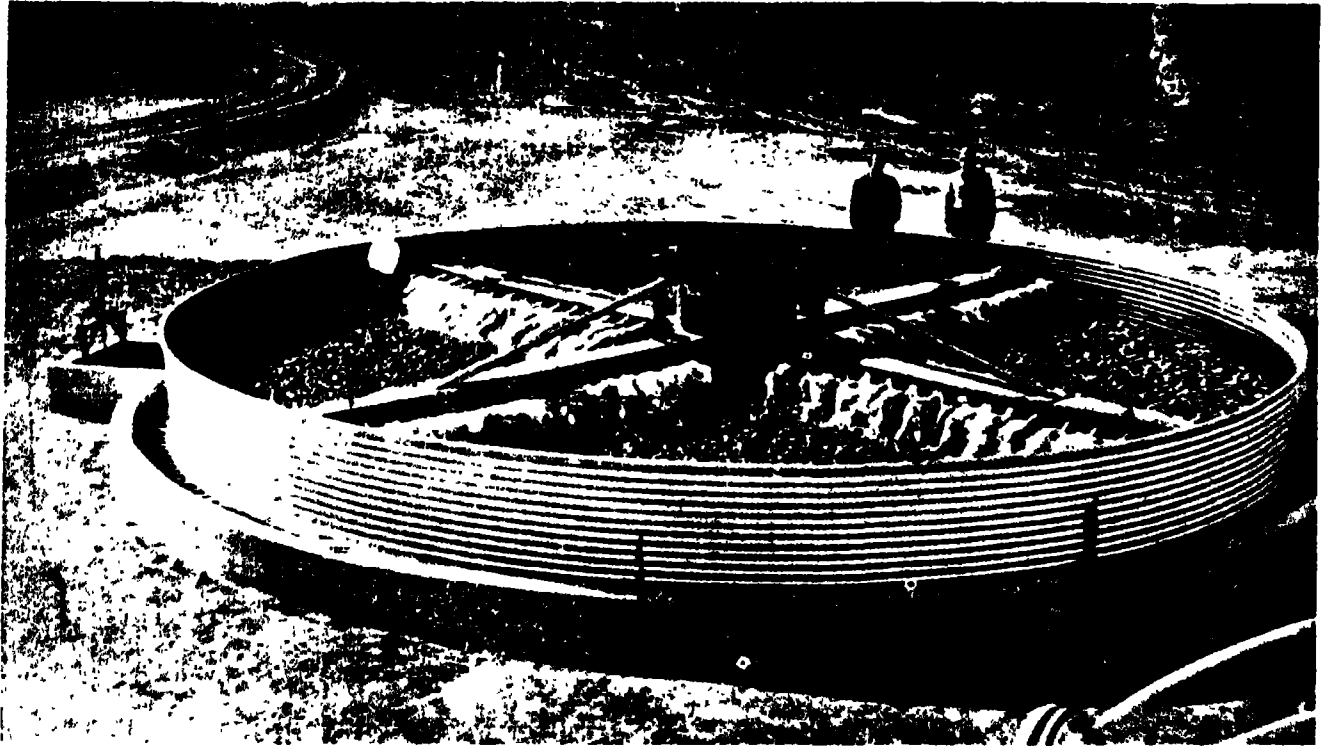
टपकन निर्स्यंदक (Trickling Filter) तथा वितरक यंत्र
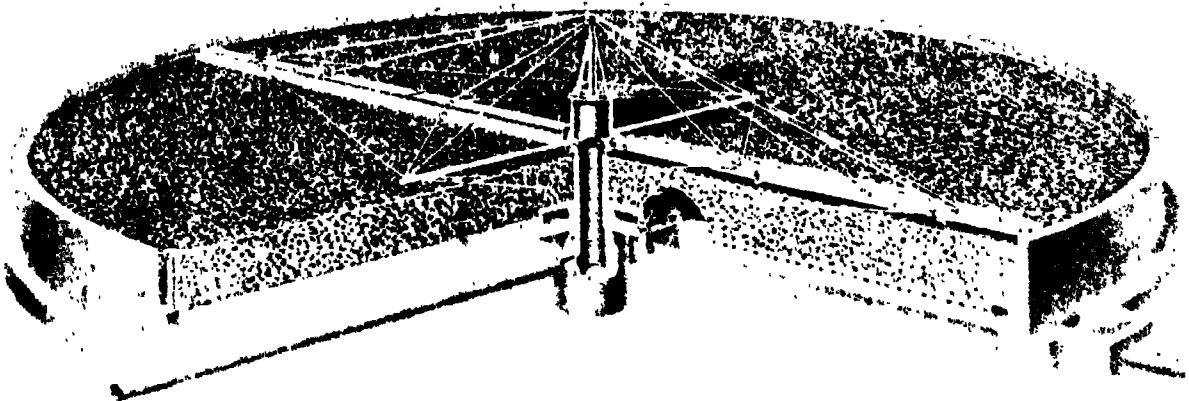
टपकन निर्स्यंदक तथा वितरक की काट
काट द्वारा यंत्र की भीतरी बनावट दिखाई गई है।

(२) प्रारंभिक निथार की विधि और

(३) अंतिम निथार पद्धति।

अवमल निर्यास समस्या की जटिलता का कारण उसमें जलांश की प्रचुरता और उसके कारण अवमल की विपुलता है और आज भी मल शोधन का सबसे खर्चीला भाग अवमल निर्यास ही है। यह बात इसी से समझी जा सकती है कि ९५ प्रति शत जलांशयुक्त १०० टन अवमल का जलांश ९० प्रति शत करने पर अवमल का भार ५० टन,८० प्रति शत करने पर २५ टन, ५० प्रति शत करने पर १० टन और १० प्रति शत करने पर ५.५० टन रह जाता है।

आर्द्र अवमल का निपटारा (१) समुद्र में बजरों पर ले जाकर, (२) गड्ढे में गिराकर (३) भूमि पर फैलाकर, किया जा सकता है। लंदन, मैनचेस्टर, ग्लासगो, न्यूयार्क, फिलाडेलफिया, साउथैंपटन जैसे कुछ नगरों का मल बजरों में ले जाकर गहरे समुद्र में डालने से धन की बचत की जाती है।

भूमि पर गीले अवमल का डालना वांछनीय नहीं है, क्योंकि इससे जन-स्वास्थ्य-संकट और अपदूषण उत्पन्न होता है। अतः अवमल शोधन आवश्यक है।

यदि गीले अवमल के शोधन के बिना निपटारे की सुविधाएँ न हों तो अवमल से पानी सुखाने की विधियाँ ये हैं : (१) विशिष्ट रीति से बने खुले या कांच से ढके तलों (Bed) पर हवा में सुखाना, (२) दाब निस्यंदकों का प्रयोग, (३) अपकेंद्री यंत्रों का प्रयोग, (४) निर्वात निस्यंदन, (५) उष्मा उपचार (Heat treatment) (६) उपचारण (Digestion)

उपर्युक्त विधियों में केवल उपचारण ही प्रचलित है अन्य विधियाँ नहीं। अवमल को खुले में सुखाने से दुर्गंध अपदूषण (smell nuisance) होता है। अतः किसी किसी संयंत्र में यह जमीन में दबा दिया जाता है किंतु निपटारे की यह विधि स्वास्थ्यकर नहीं है।

अवमल के सड़नेवाले कार्बनिक पदार्थों के वातनिरपेक्ष किण्वन (Anaerobic fermentation) का ही दूसरा नाम उपचारण है। वातनिरपेक्ष किण्वन मंदप्रक्रिया है। इसकी प्रगति ताप पर निर्भर है। अवमल का ताप जितना ही कम होगा उपचारण प्रक्रिया की समाप्ति में उतना ही अधिक समय लगेगा।

अवमल के जलबंधक गुणों में हेर फेर करके द्रुत अनार्द्रीकरण में उपचारण सहायक होता है। यह अवमल की प्रारंभिक प्रचुरता को घटाने, विकृतिजनक जीवों के नाश, कार्बनिक ठोस पदार्थों को स्थिरता प्रदान कर अप्रिय गंध रोकने और किण्वन क्रिया के अंतर्गत मेथेन और उपचारित अवमल इन दो उपोत्पादों के बनाने में भी सहायक होता है।

मल की उपस्थिति में अवमल उपचारण के उदाहरण पूतिकुंड और दोतल्ला इमहॉफ टंकियाँ हैं। आजकल उपचारण कुंड में अवमल के पृथक् उपचारण की प्रवृत्ति है। उपचारण खुला, बंद या तैरती छत (floating roof) वाला हो सकता है।

उपचारण कुंड की भार दर का हिसाब वाष्पशील ठोस पदार्थ घटकों (volatile solid component) पर निर्भर है, जो कुल भार का २ से ३ प्रति शत तक होता है।

ठंढे देशों में उपचारण की वेग वृद्धि के लिये कुंड को कृत्रिम रूप से गर्म किया जाता है। आजकल प्रारंभिक उपचारकों को ३२° से ३५° सें० तक गर्म किया जाता है जब कि पहले २९° से ३०° सें० तक ही गर्म किया जाता था।

कृत्रिम तापन की दो विधियाँ है। पहली है उपचारक कुंड में स्थापित कुंडली में गर्म पानी प्रवाहित करना और दूसरी विधि है, उच्चतम ताप पर स्थित अवमल के एक अंश में लगभग ४९° सें० पर गर्म पानी कुंड में इस प्रकार परिचालित करना कि ठंढे और गर्म अवमल के मिश्रण का ताप ३२° सें० हो जाय। दूसरी विधि में गर्म जल कुंडली के उपयोग से पैदा होनेवाली समस्याओं का प्रश्न नहीं होता।

अवमल ठोस उत्पन्न करनेवाली समान जनसंख्या (Equivalent population) के आधार पर उपचारक धारिता का निर्धारण किया जाता है। अमरीका में केवल प्रारंभिक अवमल के तापित उपचारक की धारिता २ से ३ घन फुट प्रति व्यक्ति होती है। प्रारंभिक और टपकन फिल्टरवाले अवमल की धारिता ३ से ५ घन फुट प्रति व्यक्ति और प्रारंभिक तथा सक्रियकृत अवमल के उपचारकों की धारिता प्रति व्यक्ति ४ से ६ घनफुट होती है। बिना गरम किए उपचारकों की धारिता इससे अधिक होती है।

बंबई के उपचारकों की धारिता १·१ से २ घनफुट प्रति व्यक्ति प्रतिदिन है। बंबई में चूँकि गर्मी और सर्दी के ताप का अंतर अधिक नहीं होता अतः अवमल गर्म नहीं किया जाता। यह धारिता टंकियों में २१ दिन के उपचारण के तुल्य है।

प्रति दिन प्रति व्यक्ति गैस उपज १·३ से ०·५ घनफुट तक होती है। बंबई में गैस उपज ०·७ से ०·८ घनफुट प्रतिव्यक्ति प्रति दिन है।

उपचारण कुंड के अधिद्रव (supernatant) का शोधन आवश्यक है। अधिद्रव में स्पष्टता कम और जीवरसायनी ऑक्सीजन माँग, ठोस सांद्रता, रंग और दुर्गंध की अधिकता होती है। अधिद्रव के शोधन की निम्नलिखित विधियाँ हैं।

(१) यदि अधिद्रव में निलंबित ठोस और जीवरसायनी ऑक्सीजन माँग कम हो तो अधिद्रव को संयंत्र निस्राव के साथ उसे टपकन निस्यंदक या सक्रियकृत अवमल विधि द्वारा शोधित किया जा सकता है।

(२) यदि अधिद्रव की जीवरसायनी ऑक्सीजन मांग और निलंबित ठोस मात्रा उच्च हो तो उसे संयंत्र निस्राव के साथ मिश्रण के पूर्व शोधित कर लेते हैं।

पूर्व शोधन विधियाँ निम्नलिखित हैं :

(१) वायुमिश्रण और ऊर्णन, रासायनिक ऊर्णन और वायुमिश्रण, प्लवन, अपकेंद्रीकरण (centrifugation) और निर्वात निस्यंदन (vacuum filtration)

(२) सतही वायुमिश्रण, नाइट्रेट और चूने के शोधन के साथ या उसके बिना।

(३) कार्बनिक या अकार्बनिक यौगिक के साथ रासायनिक अपक्षेपण के बाद निर्वात निस्यंदन, प्लवन, अपकेंद्रीकरण और निर्मलीकरण।

(४) क्लोरिनीकरण

(५) सीधा योग

गैस के कई उपयोग हैं। यह अच्छा ईंधन है। इसका ब्रिटिश थर्मल यूनिट टाउन गैस से कहीं अधिक है। यह घरों में रसोई पकाने, गर्म करने और प्रकाश के काम आता है और उद्योगों में बिजली उत्पादन के लिये काम में आता है। इसे ५,००० पाउंड दाब पर सिलिंडरों में भरकर मोटर गाड़ियाँ भी चलाई जा सकती हैं। [मा० सिं० मौ०]

जन्म दर एक कैलेंडर वर्ष में प्रति सहस्र जनसंख्या में घटित होनेवाली लेखबद्ध जीवितजात संख्या है। किसी देश की स्वास्थ्य दशा की वास्तविक जानकारी प्राप्त करने के लिये तथा उसकी क्रमोन्नति अथवा अवनति का पता लगाने के लिये नाना प्रकार के जन्ममरण के आँकड़ों का सांख्यकीय पद्धति के अनुसार अध्ययन किया जाता है। ऐसे आँकड़ों में देश की जनसंख्या, जन्मसंख्या, मृत्युसंख्या आदि हैं। विवाह, शिक्षा, व्यवसाय, आय-व्यय आदि अनेक अर्थशास्त्रीय और समाजशास्त्रीय आँकड़े भी उपयोगी होते हैं।

देश के विभिन्न नगरों तथा ग्रामों में सर्वत्र प्रत्येक व्यक्ति के जन्म मरण का नगरपालिका, ग्राम पंचायत तथा अन्य स्थानीय निकायों द्वारा लेखा रखा जाता है। परिवार के मुख्य सदस्य द्वारा जन्ममरण की सूचना देना अनिवार्य है। इस प्रकार से प्राप्त आँकड़ों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा जनता की स्वास्थ्य दशा की जानकारी प्राप्त की जाती है। दो या अधिक स्थानों की जन्मसंख्या की न्यूनाधिकता के आधार पर परस्पर तुलना नहीं की जा सकती। जिस स्थान की जनसंख्या अधिक होगी वहाँ अधिक बालक जन्म लेंगे। इस कारण जन्मसंख्या की अपेक्षा जन्म दर द्वारा तुलना करना अधिक समीचीन होता है, जो जन्मसंख्या और जनसंख्या के परस्पर अनुपात के आधार पर निर्धारित की जाती है।

किसी नगर या विशेष ग्राम की जन्मसंख्या का पता जनगणना द्वारा लगाया जाता है, जो प्रति दस वर्ष के अंतर पर व्यवस्थित रीति से की जाती है। उस स्थान में प्रति वर्ष पहिली जनवरी से इकतीस दिसंबर तक पूरे वर्ष भर में जीवित अवस्था में जन्म लेनेवाले सभी बालक-बालिकाओं की संख्या नगरपालिका तथा ग्राम पंचायत से प्राप्त की जाती है। जिस बालक ने जन्मते ही एक बार भी साँस लिया हो वह जीवितजात माना जाता है, भले ही वह कुछ ही देर बाद मर जाय। उपर्युक्त जनसंख्या तथा जन्मसंख्या के आँकड़ों से साधारण गणित द्वारा जन्म दर का परिकलन किया जाता है।

जन गणना प्रति दस वर्ष में एक बार की जाती है। जन्ममरण तथा आवागमन के कारण जन्मसंख्या निरंतर घटती बढ़ती रहती है। इस कारण सन् १९६१ ई० की जनगणना के आँकड़ों का १९६३ ई० में उपयोग करना ठीक नहीं हो सकता। इसी प्रकार किसी वर्ष की पहली जनवरी की जनसंख्या उसी वर्ष के ३६५ दिन पश्चात् इकतीस दिसंबर को नहीं व्यवहृत हो सकती। इस कठिनाई को दूर करने के लिये प्रति वर्ष तीस जून की मध्यवर्षीय जनसंख्या का परिकलन किया जाता है और जन्ममरण संबंधी अनुपातों में इसी मध्यवर्षीय अनुमानित जनसंख्या का उपयोग किया जाता है। गत दो दशकों की जनगणनाओं में प्राप्त जनसंख्या की घटाबढ़ी के आधार पर मध्यवर्षीय जनसंख्या का परिकलन किया जाता है। परिकलन करते समय यह परिकल्पना की जाती है कि गत दशक में जनसंख्या में जो फेरफार हुआ है, चालू दशक में भी यथावत् विद्यमान रहा है। मध्यवर्षीय जनसंख्या के आधार पर जन्म दर निकालने का सूत्र इस प्रकार है :

किसी स्थान की वर्ष विशेष की जन्मदर

$$= \frac{\text{उस वर्ष में जीवितजात बालकों की संख्या} \times १०००}{\text{३० जून की मध्यवर्षीय जनसंख्या}}$$

पूरे वर्ष भर की जन्मसंख्या के स्थान में यदि एक सप्ताह अथवा मास (चार सप्ताह अथवा २८ दिन का मास और ५२ सप्ताह का वर्ष) में लेखबद्ध जन्मसंख्या के आधार पर जो जन्म दर गणित द्वारा निकाली जाती है, उसे निम्नलिखित सूत्र से पूरे वर्ष की जन्म दर का रूप दिया जाता है।

सप्ताहगत जन्म दर

$$= \frac{\text{सप्ताह में घटित जीवितजात बालकों की संख्या} \times १००० \times ३६५}{\text{३० जून की मध्यवर्षीय जनसंख्या} \times ७}$$

मासगत जन्म दर

$$= \frac{\text{चार सप्ताह में घटित जीवितजात बालकों की संख्या} \times १००० \times ३६५}{\text{३० जून की मध्यवर्षीय जनसंख्या} \times २८}$$

किसी स्थान विशेष की लेखबद्ध जन्मसंख्या सर्वथा शुद्ध नहीं होती। बड़े बड़े नगरों में चिकित्सालयों की सुविधा होने के कारण दूर और पास के अन्य स्थानों की अनेक माताओं की प्रसव क्रिया चिकित्सालयों में होती है। वास्तविक जन्म दर तो उसी स्थान के निवासियों से संबंधित होनी चाहिए। अन्य स्थानों के निवासियों में होनेवाले प्रसवों की गणना उनके मूल निवासस्थान में ही की जानी चाहिए, किंतु भारत में इस प्रकार का निवासस्थानिक संशोधन कठिन जान कर नहीं किया जाता। निवासस्थान संबंधी संशोधन न करने के कारण इस देश में असंशोधित जन्म दर का ही चलन है।

जन्मसंख्या की घटा बढ़ी में छोटे बड़े सभी स्त्री पुरुष समान रूप से योगदान नहीं करते। यह घटा बढ़ी वास्तव में प्रसव धारण योग्य १५ से ४५ वर्ष की स्त्रियों की संख्या पर निर्भर है। उद्योग धंधों में व्यस्त श्रमिक वर्ग अपने परिवार को ग्रामों में छोड़कर स्वयं जीविकोपार्जन के लिये औद्योगिक क्षेत्रों में जा बसते हैं। इस कारण ऐसे स्थानों का स्त्री पुरुष अनुपात बिगड़ जाता है और जन्म दर में अंतर आ जाता है। इसलिये वास्तविक जन्म दर की गणना प्रति सहस्र जनसंख्या के अनुपात के बदले प्रति सहस्र १५ से ४५ वर्ष की आयु की स्त्रियों की संख्या के आधार पर की जानी चाहिए। ऐसा किया भी जाता है, किंतु उसे सामान्यतः प्रचलित जन्म दर की संज्ञा न देकर प्रसवन दर कहा जाता है। यह अनुपात इस प्रकार सूचित किया जाता है :

$$\text{प्रसवन दर} = \frac{\text{कैलेंडर वर्ष में जीवित जात बालकों की संख्या} \times १०००}{\text{१५ से ४५ वर्ष की स्त्रियों की मध्यवर्षीय संख्या}}$$

बालक तथा बालिकाओं की जन्म दरें पृथक् रूप से भी निकाली जाती हैं, किंतु नवजात बालक तथा बालिकाओं की संख्या के परस्पर अनुपात की गणना अधिक उपयोग में लाई जाती है। इस अनुपात को पुंस्त्वानुपात कहते हैं जो इस प्रकार सूचित किया जाता है —

$$\text{पुंस्त्वानुपात} = \frac{\text{वर्ष भर में बालकों की जन्मसंख्या} \times १०००}{\text{वर्ष भर में बालिकाओं की जन्मसंख्या}}$$

जिस प्रकार बालक तथा बालिकाओं की जन्म दरें पृथक् रूप से निकाली जाती हैं, उसी प्रकार औरस और जारज संतानों की जन्म दरें भी निकाली जा सकती हैं, जिसकी गणना इस प्रकार होती है :

$$\text{औरस जन्म दर} = \frac{\text{वर्ष में औरस संतानों की जन्म संख्या} \times १०००}{\text{१५ से ४५ वर्ष की विवाहिता स्त्रियों की संख्या}}$$

$$\text{जारज जन्म दर} = \frac{\text{वर्ष में जारज संतानों की जन्म संख्या} \times १०००}{\text{१५ से ४५ वर्ष की अविवाहिता और विधवाओं की संख्या}}$$

किंतु सुगमता के लिये जारज जन्म दर की अपेक्षा उसकी संपूर्ण जन्मसंख्या का प्रति शत अनुपात ही अधिक उपयुक्त होता है।

जारज प्रति शत अनुपात = वर्ष में जरज संतानों की जन्मसंख्या × १००० / लेखबद्ध जीवितजात बालकों की संख्या

मृतजात संतानों की संख्या जन्मसंख्या में संमिलित नहीं की जाती। गर्भधारण के अट्ठाईस सप्ताह के पश्चात् होनेवाले मृत बालक का जन्म मृत जात जन्म कहा जाता है। अट्ठाईस सप्ताह के पूर्व होनेवाले प्रसव में जीवित बालक के जन्म की संभावना नहीं होती। मृत जात बालक की गणना जन्म तथा मृत्यु दोनों लेखों में न कर उसे पृथक् रूप से मृतजात शीर्षक के अंतर्गत जन्मसंख्या के लेखे में लिखा जाता है। मृतजात संतानों का अनुपात इस प्रकार निकाला जाता है :

मृतजात दर = वर्ष में मृतजात की संख्या × १००० / जीवितजात बालकों की संख्या

जन्म दर की घटी बढ़ी के कई कारण होते हैं। अधिकांश जन्म माता पिता की विवाहित अवस्था में होने के कारण जन्म दर विवाहित व्यक्तियों की संख्या पर निर्भर होती है। इसके अतिरिक्त माताओं की प्रजनन शक्ति, परिवार में वांछनीय संतान संबंधी प्रचलित धारणा, विवाह के समय की आयु, अविवाहिता स्त्रियों की संख्या, सहगमन की सुविधा आदि का जन्म दर पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। संतति-निरोध के उपायों का चलन भी जन्म दर में कमी का कारण है। लगभग १०० वर्ष पूर्व इंग्लैंड में ३५ प्रति शत परिवारों में आठ या उससे अधिक संतानें होती थीं और २० प्रति शत में केवल दो या तीन। किंतु अब तो पाँच सात संतानों के स्थान में एक या दो ही होती हैं। अपेक्षित संतान संख्या में यह कमी इंग्लैंड निवासियों को खटकती है।

शिक्षा, उद्योग, वाणिज्य-व्यवसाय की उन्नति द्वारा जीवन स्तर में उत्तरोत्तर सुधार होने से जन्म दर में कमी होती देखी गई है।

भारत में जन्म दर में कोई विशेष कमी नहीं पाई जाती, संक्रामक रोगों की रोक थाम के फल स्वरूप मृत्यु दर में जो कमी दृष्टिगोचर होती है, उसके अनुपात में जन्म दर में कमी नहीं हुई। बाल मृत्यु दर में कमी होने से प्रत्याशित जीवन काल की अवधि में वृद्धि हुई। देश की जनसंख्या प्रबल वेग से बढ़ रही है और समस्त जनता के लिये आवश्यक जीवनोपयोगी साधन जुटाना निरंतर कठिन होता जा रहा है। जन्म दर में कमी होना देशहित में बहुत आवश्यक है और इस महत्कार्य को उच्चकोटि की प्राथमिकता दी गई है। परिवार नियोजन अथवा परिसीमन द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति संभव है। परिवार नियोजन वस्तुतः संतति निरोध नहीं है। इसका मुख्य उद्देश्य माताओं की स्वास्थ्य रक्षा के अतिरिक्त अवांछित अथवा अनावश्यक बहुप्रजननता का समाज समत उपायों से नियंत्रण कर परिवार की सदस्य संख्या को आर्थिक स्थिति के अनुसार सीमित करना है, जिससे भरणपोषण, शिक्षा, स्वास्थ्य और सुखी जीवन के समस्त साधन सबको यथोचित मात्रा में प्राप्त हो सकें और सबका पूर्णतः सुव्यवस्थित विकास हो सके। [भ० शं० या०]

जन्मपत्री जन्मपत्री में प्राणियों की जन्मकालिक ग्रहस्थिति से जीवन में होनेवाली शुभ अथवा अशुभ घटनाओं का निर्देश किया जाता है। उसके स्वरूप, फलादेश विधि और संसार के अन्य देशों में उसके स्वरूप तथा शुभाशुभ निर्देश की प्रणालियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

आकाश में दो प्रकार के प्रकाश पिंड दिखाई देते हैं। प्रथम वे जो स्थिर दिखाई पड़ते हैं, नक्षत्र कहलाते हैं। दूसरे वे जो नक्षत्रों के बीच सदा अपना स्थान परिवर्तित करते रहते हैं, ग्रह कहलाते हैं। पृथ्वी अपनी धुरी पर प्रति चौबीस घंटों में पश्चिम से पूर्व की ओर घूम जाती है जिससे सभी ग्रह और नक्षत्र पूर्व में उदित होकर पश्चिम में जाते तथा अस्त होते दिखाई पड़ते हैं। किंतु प्रति दिन ध्यान से देखने पर पता चलता है कि ग्रह नित्य आकाशीय पिंडों की यात्रा के विपरीत, पश्चिम से पूर्व की ओर चला करते हैं। इस प्रकार सूर्य जिस मार्ग से चलकर वर्ष में नक्षत्रचक्र की एक परिक्रमा पूरी करता है, उसे क्रांतिवृत्त (ecliptic) कहते हैं। प्राचीन ज्योतिर्विदों ने इसी क्रांतिवृत्त का बारह भागकर उन्हें राशि (sign) की संज्ञा दी है। इनमें कुछ तारा पुंजों से जीवधारियों जैसी आकृतियाँ बन जाती हैं। राशियों के नाम उन्हीं के अनुसार—मेष, वृष, मिथुन, कर्क (केकड़ा), सिंह, कन्या, तुला, (तराजू), वृश्चिक (बिच्छू), धनु (धनुष) मकर (घड़ियाल), कुंभ (घड़ा), मीन (मछली) रखे गए हैं।

लग्न और भाव — पृथ्वी की दैनिक गति के कारण बारह राशियों का चक्र (zodiac) चौबीस घंटों में हमारे क्षितिज का एक चक्कर लगा आता है। इनमें जो राशि क्षितिज में लगी होती है उसे लग्न कहते हैं। यहाँ लग्न और इसके बाद की राशियाँ तथा सूर्य, चंद्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, केतु आदि ग्रह जन्मपत्री के मूल उपकरण हैं। लग्न से आरंभकर इन बारह राशियों को द्वादश भाव कहते हैं। इनमें लग्न शरीरस्थानीय है शेष भाव शरीर से संबंधित वस्तुओं के रूप में गृहीत हैं। जैसे लग्न (शरीर), धन, सहज (बंधु), सुख, संतान, रिपु, जाया, मृत्यु, धर्म, कर्म, आय (लाभ), और व्यय (खर्च) ये १२ भावों के स्वरूप हैं।

इन भावों की स्थापना इस ढंग से की गई है कि मनुष्य के जीवन की संपूर्ण आवश्यकताएँ इन्हीं में समाविष्ट हो जाती हैं। इनमें प्रथम (लग्न) चतुर्थ (सुख), सप्तम (स्त्री) और दशम (व्यापार) इन चार भावों को केंद्र मुख्य कहा गया है।

वस्तुतः आकाश में इनकी स्थिति ही इस मुख्यता का कारण है। लग्न पूर्व क्षितिज और क्रांति वृत्त का संयोग विंदु कहा गया है, सप्तम भी पश्चिम क्षितिज और क्रांति वृत्त का संयोग विंदु ही है। ऐसे ही दक्षिणोत्तर वृत्त और क्रांति वृत्त का वह संयोग विंदु जो हमारे क्षितिज से नीचे है चतुर्थ भाव तथा क्षितिज से ऊपर हमारे शिर की ओर (दक्षिणोत्तर वृत्त और क्रांति वृत) का संयोग विंदु दशम भाव कहलाता है। इन्हीं केंद्रों के दोनों ओर जीवनसंबंधी अन्य आवश्यकताओं एवं परिणामों को बतलानेवाले स्थान हैं। लग्न (शरीर) के दाहिनी ओर व्यय है, बाईं ओर धन का घर है। चौथे (सुख) के दाहिनो ओर बंधु और पराक्रम हैं, बायीं ओर संतान और विद्या हैं। सप्तम स्थान (स्त्री) के दाहिनी ओर शत्रु और व्याधि हैं तो बायीं ओर मृत्यु है। दशम (व्यवसाय) के दाहिनी ओर भाग्य और बायीं ओर आय (लाभ) है।

जन्मपत्री द्वारा प्राणियों के जीवन में घटित होनेवाले परिणामों के तारतम्यों को बतलाने के लिये इन बारह राशियों के स्वामी माने गए सात ग्रहों में परस्पर मैत्री, शत्रुता और तटस्थता की कल्पना की गई है और इन स्वाभाविक संबंधों में भी विशेषता बतलाने के लिये तात्कालिक मैत्री, शत्रुता और तटस्थता की कल्पना द्वारा अधिमित्र, अधिशत्रु आदि कल्पित किए गए हैं। इसी प्रकार ग्रहों की ऊँची-नीची राशियाँ भी उपर्युक्त प्रयोजन के लिये ही कल्पित की गई हैं

(क्योंकि फलित के ये उच्च वास्तविक उच्चों से बहुत दूर हैं)। इन कल्पनाओं के अनुसार किसी भाव में स्थित ग्रह यदि अपने गृह में हो तो भावफल उत्तम, मित्र के गृह में मध्यम और शत्रु के गृह में निम्न कोटि का होगा। यदि ऐसे ही ग्रह अपने उच्च में हों तो भावफल उत्तम और नीच में हों तो निकृष्ट होगा। इसके मध्य में अनुपात से फलों का तारतम्य लाना होता है। तात्कालिक मैत्री, शत्रुता, समता आदि से स्वाभाविक मैत्री आदि के द्वारा निर्दिष्ट शुभाशुभ परिणामों में और अधिकता न्यूनता करनी होती है।

कुंडलीचक्र (जन्मांग) द्वादशभाव

कुंडलीचक्र (बंगला) द्वादशभाव
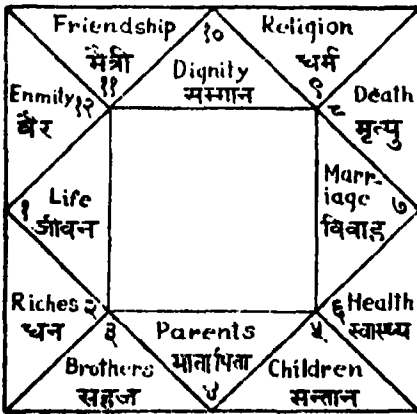
यूनानी जन्मपत्री, भाव (Aspects)

राशिचक्र (Zodiac)
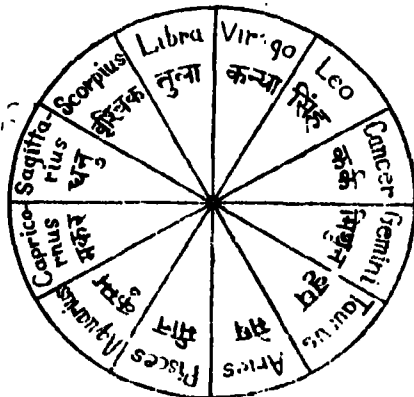
जन्मपत्री में मंगल की राशि मेष और वृश्चिक तथा मकर उच्च है। बुध और तुला शुक्र की राशि तथा मीन उच्च है। मिथुन और कन्या बुध की अपनी राशि तथा कन्या ही उसका उच्च भी है। कर्क चंद्रमा की राशि तथा वृष उच्च है। सिंह सूर्य की राशि तथा मेष उच्च है। धनु और मीन बृहस्पति की अपनी राशि तथा कर्क उच्च है। ऐसे ही मकर और कुंभ का स्वामी शनि तथा तुला उसका उच्च है। जन्मपत्री में द्वादश भावों को किस प्रकार अंकित किया जाता है, यह जानने के लिये प्रस्तुत कोष्ठक द्रष्टव्य हैं।

हिंदू और यूनानी दोनों प्रणालियों में भावों की कल्पना एक सी है किंतु ६, ११, और १२ भावों में भेद स्पष्ट है। यद्यपि हिंदू प्रणाली में छठे भाव से शत्रु और रोग दोनों का विचार किया जाता है किंतु उनमें शत्रु भाव ही मुख्य है। यूनानी ज्योतिष में ग्यारहवाँ मित्र भाव और बारहवाँ शत्रुभाव है। हिंदू ज्योतिष में ११वाँ आय और बारहवाँ व्यय है।

जन्मकुंडली में ग्रहों के संबंध में अन्य कल्पनाएँ प्राणिवर्ग के पारस्परिक संबंधों और अन्य संभाव्य परिस्थितियों पर आधारित हैं जिनके द्वारा प्रस्तुत किए गए फलादेश प्राणियों पर घटित होनेवाली क्रियाओं के अनुरूप ही होते हैं। ग्रहों की स्वाभाविक मैत्री, विरोध और तटस्थता तथा तात्कालिक विद्वेष, सौहार्द और समभाव की मान्यताएँ जन्मकुंडली के लिये आधारशिला के रूप में गृहीत हैं। इसी प्रकार सूर्य आदि सात ग्रहों को क्रमशः आत्मा, मन, शक्ति, वाणी, ज्ञान, काम, दुःख, तथा मेष आदि बारह राशियों की क्रम से शिर, मुख, उर (वक्ष) हृदय, उदर, कटि, वस्ति, लिंग, उरु, घुटना, जंघा और चरण आदि की कल्पनाएँ, प्राणियों की मानसिक अवस्था तथा शारीरिक विकृति, चिह्न आदि को बताने के लिये की गई हैं। ग्रहों के श्वेत आदि वर्ण, ब्राह्मण आदि जाति, सौम्य, क्रूर आदि प्रकृति की मान्यताएँ भी प्राणिवर्ग के रूप, रंग, जाति और मनोवृत्ति के परिचय के लिये ही हैं। चोरी गई वस्तु के परिज्ञान के लिये इनका सफल प्रयोग प्रसिद्ध है।

ग्रह दशा — प्राणियों के समस्त जीवनकाल के भिन्न भिन्न अवयव भिन्न भिन्न रूपों में प्रभावित बतलानेवाले ग्रहों की दशाओं और अंतर्दशाओं के परिणाम हैं। जीवन में कौन सा समय सुखदायक तथा कौन सा अरिष्टप्रद होगा, भाग्योदय कब होगा, माता, पिता, बंधु, संतति, स्त्री आदि का सुख कब कैसा रहेगा, विवाह कब होगा, कौन सी ग्रहदशा जीवन में समृद्धि उड़ेल देगी और किस ग्रह की दशा में दर दर का खाक छाननी पड़ेगी, सबसे बढ़कर किस समय इस संसार को सदा के लिये छोड़ देना होगा इत्यादि सभी बातों का समय, ग्रहों की दशाओं और अंतर्दशाओं से ही सूचित किया जाता है।

गणना क्रम — ग्रह दशा की गणना के लिये जन्मकालसंबंधी चंद्रमा का नक्षत्र प्रधान है। कृत्तिका से गणना करके नौ नौ नक्षत्रों में क्रमशः सूर्य, चंद्र, भौम, राहु, गुरु, शनि, बुध, केतु और शुक्र की दशाओं का भोगकाल ६, १०, ७, १८, १६, १९, १७, ७, २० वर्षों के क्रम से १२० वर्ष माना गया है। इस प्रकार कृत्तिका से जन्मकालिक चंद्रमा के नक्षत्र तक की संख्या में ९ का भाग देकर शेष संख्या जिस ग्रह की होगी उसी की दशा जन्मकाल में मानी जायगी तथा जन्म समय और नक्षत्र के पंचांगीय भोग काल से ग्रह की दशा के जन्म काल से पहले व्यतीत और जन्म के बाद के भोग काल का निर्णय करके भावी फलादेश को प्रस्तुत किया जाता है। यदि ग्रह कुंडली में अपने गृह या मित्र के गृह में हो अथवा उच्च का हो तो वह जिस भाव का स्वामी होगा, उसका फल उत्तम होगा तथा शत्रु के गृह में अथवा नीच राशि में उसके स्थित होने पर फल निकृष्ट होगा। अब प्रश्न उठता है कि सभी गणनाएँ तो अश्विनी नक्षत्र से आरंभ की जाती हैं फिर ग्रहदशा की गणना कृत्तिका से क्यों की जाती है। तथ्य यह है कि हमारा ग्रहदशासंबंधी फलादेश तब से चला आता है जब हमारी नक्षत्र गणना कृत्तिका से आरंभ होती थी। महर्षि

गर्ग ने वैदिककाल में दो स्वतंत्र नक्षत्र गणनाओं का उल्लेख किया है। एक कृत्तिकादि और दूसरी धनिष्ठादि। गर्ग वाक्य है कि—'तेषां सर्वेषां नक्षत्राणां कर्मसु कृत्तिका प्रथममाचक्षते श्रविष्ठतु संख्यायाः पूर्वा लग्नानाम्' अर्थात् सभी नक्षत्रों में अग्न्याधान आदि कर्मों में कृत्तिका की गणना प्रथम कही जाती है किंतु धनिष्ठा क्षितिज में लगनेवाले नक्षत्रों में प्रथम है। रहस्य यह है कि जिस समय कृत्तिका (कचपिचिया) का तारापुंज विषुवद्वृत्त (Equater) में था उस समय कृत्तिकादि नक्षत्र गणना का आरंभ हुआ। जब उत्तरायण का आरंभ धनिष्ठा पर होता था धनिष्ठादि गणना का आरंभ हुआ। तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है कि 'मुखं वा एतन्नक्षत्राणां यत्कृत्तिका एताह वै प्राच्यै दिशो न च्यवंते' अर्थात् कृत्तिका सब नक्षत्रों में प्रथम है। यह उदय काल में पूर्व दिशा से नहीं हटती। यह निश्चय है कि जो ग्रह या नक्षत्र विषुवद्वृत्त में होता है उसी का उदय पूर्व बिंदु में पृथ्वी तल पर सर्वत्र होता है। कृत्तिका की आकाशीय स्थिति के अनुसार गणना करने पर यह समय लगभग ५१०० वर्ष पूर्व का सिद्ध होता है। अतः हमारे फलादेश की ग्रहदशा पद्धति इतनी प्राचीन तो है ही।

वर्षफल — हमारी जन्मकुंडली की दशा अंतर्दशाओं के क्रम से प्रभावित होकर अरब देशवासियों ने वर्षफल की एक नई प्रणाली प्रारंभ की जिसे ताजिक कहते है। इसमें प्राणी के जन्म काल से सौर वर्ष की पूर्ति के समय का लग्न लाकर एक वर्ष के अंदर होनेवाले शुभाशुभों का विचार किया जाता है। इसमें १६ योगों की प्रधानता है जिनमें लाभ, हानि तथा शारीरिक स्थिति का विचार किया जाता है। इन १६ योगों के नाम अरबी भाषा के ही हैं, संस्कृत ग्रंथों में उनके नाम उच्चारण के अनुसार कुछ परिवर्तित हो गए हैं यथा, इक्कबाल (इकबाल) इशराफ (इसराफ) इत्तसाल (इत्तसाल) आदि।

जन्मपत्री का इतिहास — वर्तमान समय में राशिचक्र का बारह भाग कर जन्मकुंडली के फलादेश की जो प्रणाली प्रचलित है इसका उल्लेख हमारे प्राचीन वैदिक साहित्य में नहीं है। किंतु अथर्व ज्योतिष में बहुत पहले से ही इस पद्धति के मूल तत्व निहित हैं। इसमें राशिचक्र के २७ नक्षत्रों के नौ भाग करके तीन तीन नक्षत्रों का एक एक भाग माना गया है। इनमें प्रथम जन्म नक्षत्र, दसवाँ कर्म नक्षत्र तथा उन्नीसवाँ आधान नक्षत्र माना गया है। शेष को क्रम से संपत्, विपत्, क्षेम्य, प्रत्वर, साधक, नैधन, मैत्र, और परम मैत्र माना गया है, जैसे —

१.	जन्म नक्षत्र	१०	कर्म नक्षत्र	१९ आधान नक्षत्र
२.	,,	११	,,	२० संपत्कर
३.	,,	१२	,,	२१ विपत्कर
४.	,,	१३	,,	२२ क्षेम्य
५.	,,	१४	,,	२३ प्रत्वर
६.	,,	१५	,,	२४ साधक
७.	,,	१६	,,	२५ नैधन
८.	,,	१७	,,	२६ मैत्र
९.	,,	१८	,,	२७ परममैत्र

इनमें जन्म, संपत् और नैधन (मृत्यु) अर्थात् १, २ और ७, द्वादश भाववाली जन्मकुंडली के १, २ और ८ स्थानों से मिलते हैं। क्योंकि अथर्व ज्योतिष में दसवाँ कर्म नक्षत्र है। आधुनिक पद्धति में भी दशम स्थान कर्म है। इससे सिद्ध है कि अथर्व ज्योतिष में नौ स्थान वर्तमान कुंडली के बारह स्थानों के किसी न किसी स्थान में अंतर्भुक्त हो जाते हैं जो मेषादि संज्ञाओं के प्रचार में आने के पहले ही से हमारी फलादेश पद्धति में विद्यमान थे। पूर्व क्षितिज में लगनेवाले नक्षत्रों को लग्न नक्षत्र मानने का वर्णन ३३०० वर्ष प्राचीन वेदांग ज्योतिष में भी है। जैसे, — 'श्रविष्ठाभ्यो गुणाभ्यस्तान् प्राग्विलग्नान् विनिर्दिशेत्'। अर्थात् गुण (तीन) तीन की गणना कर धनिष्ठा से पूर्व क्षितिज में लगे नक्षत्रों को बताना चाहिए। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय २७ नक्षत्रों में तीन तीन भाग करके नक्षत्र चक्र के नव भाग किए गए थे। अथर्व ज्योतिष के नव विभागों का सामंजस्य इससे हो जाता है।

बारह राशियों का प्रचार काल — युरोपियन विद्वानों का मत है कि नक्षत्र चक्र के बारह भाग या बारह राशियाँ भारत में बाहर से आई। किंतु हमारे वैदिक साहित्य में सूर्य की गति के आधार पर नक्षत्र चक्र के बारह भाग और चंद्रमा की दैनिक गति के आधार पर २७ भाग पहले से किए गए हैं। यद्यपि हमारे पुराणों में जिस प्रकार नक्षत्रों और चंद्रमा से संबंधित कथाएँ हैं, उसी प्रकार मेषादि राशियों की कथाएँ नहीं हैं किंतु ग्रीक साहित्य में हैं। फिर भी इतने से ही यह सिद्ध नहीं होता कि राशिगणना और भाव भारत में बाहर से आए। युरोपियन विद्वानों की ही उक्तियाँ इसके विपरीत साक्ष्य दे रही हैं। जैकोबी का कथन है कि जन्मकुंडली में द्वादश गृहों से फल बताने की पद्धति फारमीकस मैटरनस (३३६ ई०-३५४ ई०) के ग्रंथ में मिलती है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि टोलेमी से पहले ग्रीस में भी किसी जातक ग्रंथ का पता नहीं लगता। टोलेमी के दो जातक ग्रंथ अल्मिजास्ती (आल्माजेस्ट) और टाइट्राबिब्लास कहे जाते हैं किंतु यह प्रमाणित नहीं है यदि ३५४ ई० के बाद फारमीकस मैटरनस् के ग्रंथ का प्रचार भारत में हुआ सत्य मान लिया जाय वराहमिहिर (५५० ई०) के पूर्व २५० वर्षों में ६ आर्य ग्रंथकार और पाँच आर्ष ग्रंथकारों का होना संभव नहीं प्रतीत होता। वराहमिहिर ने अपने पूर्ववर्ती मय यवन, मणित्थ, सत्य, विष्णुगुप्त आदि आचार्यों का नाम लिया है। बृहज्जातक के टीकाकार भट्टोत्पल का मत है कि ये विष्णुगुप्त चंद्रगुप्त के मंत्री आचार्य चाणक्य हैं। इस प्रकार यह हमारी राशिगणना पद्धति ईसवी सन् से ३०० वर्ष पूर्व की सिद्ध होती है। इससे यह कथन तथ्यपूर्ण नहीं है कि राशिगणना भारत में बाहर से आई।

बृहत्संहिता के ग्रहचाराध्याय में (अ० १०४) ग्रहगोचर फल दिए हैं। उसमें प्रथम स्थान चंद्र का है। उस अध्याय में मांडव्य का उल्लेख है। मांडव्य आर्ष ग्रंथकार हैं। मांडव्य के ग्रंथ में चंद्रकुंडली मुख्य थी अथवा उसमें चंद्रमा के स्थान से विचार किया गया था। यह विचार अथर्व ज्योतिष के ९ स्थानों से होता था। १० राशियों के प्रचार में आने के बाद इसका विचार १२ भावों से होने लगा। अतः जन्मकुंडली की पद्धति गर्ग आदि किसी ऋषि ने प्रचलित की, यह मानना ही युक्तिसंगत है। क्योंकि ईसवी सन् से ५०० वर्ष पूर्व विद्यमान विशिष्ट सिद्धांत में भी लग्न और भावों की कल्पना है।

भारतीय ज्योतिष में कुछ राशियों और ग्रीक नाम इस बात के प्रमाण हैं कि यूनानियों से हमारा प्राचीन संपर्क था। उनसे अनेक विद्याओं और कलाओं का आदान-प्रदान भी हुआ। वराहमिहिर ने

लिखा है कि 'यवन म्लेच्छ हैं, जातक शास्त्र उनमें समीचीन रूप से विद्यमान है जिससे उनकी पूजा ऋषियों के तुल्य होती है, फिर दैवज्ञ ब्राह्मण के लिये कहना ही क्या है—

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्मृतम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यंते किं 'पुनर्दैवविद् द्विजः।

इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि सारा का सारा हमारा जातक शास्त्र उधार लिया गया है। भारतीय जन्मकुंडली की पद्धति जानकर यूनानियों ने उसका विस्तार अवश्य किया और नवीन रूप में उसे वराहमिहिर के समय में भारतीयों के संमुख प्रस्तुत किया। फलतः वराहमिहिर ने उनकी होरा, द्रेष्काण आदि नवीन पद्धतियों के साथ राशियों के नाम भी यूनानी ही रख लिये, जैसे आज हमारा बीजगणित अरबों द्वारा यूरोप में फैलाया जाकर अपने बृहद् रूप में पुनः भारत लौटकर नवीन गणित के नाम से विख्यात हुआ है। [श्री० चं० पां०]

जफना स्थिति : ६° ४५' उ० अ० ८०° २' पू० दे०। यह श्रीलंका के उत्तरी छोर पर स्थित नगर है। इसकी जनसंख्या ७७,२१८ (१९५३) है। ईसा से २०४ वर्ष पूर्व यहां तमिल लोगों ने अपनी सत्ता स्थापित की और १६१७ ई० तक यहाँ तमिल राजवंश राज्य करता रहा। १६१७ से १७५६ तक पुर्तगालियों ने इसे अपने अधिकार में रखा। यहाँ के बहुत से गिरजाघर पुर्तगालियों के हैं। १७९५ में अंगरेजों ने यहाँ अपना अधिकार जमाया। यहाँ के निवासी ताड़ तथा तंबाकू की खेती करते है। ताड़ के रेशे और तंबाकू का निर्यात होता है। यहाँ आवश्यकतानुकूल धान नहीं पैदा होता। [नृ० कु० सिं०]

जफ़र खाँ (मीर जफ़र या मीर मोहम्मद जफ़र खाँ) सैयद अहमद अल नजिफी का पुत्र। १७४० में अलीवर्दी खाँ के बंगाल के नवाब होने पर यह उसका सेनापति हुआ किंतु इसने आगे चलकर अलीवर्दी खाँ की हत्या और सिंहासन हड़पने का कुचक्र रचा। फलतः शुजाउद्दौला (अलीवर्दी खाँ के पौत्र) ने इसे सभी पदों से मुक्त कर दिया। ईस्ट इंडिया कंपनी के लार्ड क्लाइव की सहायता से इसने बंगाल के शासन पर अधिकार कर लिया (१७५७)। कुछ दिन तक मीर कासिम के द्वारा पदच्युत रहने के बाद और मीर कासिम के ईस्ट इंडिया कंपनी से हार कर अवध भाग जाने पर १७६३ में यह पुनः नवाब हुआ। १७६५ में इसकी मृत्यु हुई।

जफ़र खाँ ख्वाजा अहसन जहाँगीर शासन के १६वें वर्ष अपने पिता ख्वाजः अबुल हसन तुरबती का प्रतिनिधि बनकर काबुल का शासक नियुक्त हुआ। जहाँगीर राज्य के अंतिम समय इसकी स्थिति में बहुत उन्नति हो गई थी। जब शाहजहाँ शासनारूढ़ हुआ, उस समय किन्हीं कारणोंवश इसे काबुल छोड़कर आगरे आना पड़ा।

एकवर्ष पश्चात् अपने पिता के साथ जुझारसिंह बुंदेला के दमन हेतु नियुक्त किया गया। सम्राट् शाहजहाँ के दक्षिण प्रस्थान के समय पुनः इसको अपने पिता के साथ नासिक, संगमनेर, और त्र्यंबक पर आक्रमण करने का काम सौंपा गया।

ख्वाजा अबुलहसन तुरबती जब कश्मीर का सूबेदार नियुक्त किया गया तब यह अपने पिता का प्रतिनिधि बनकर वहाँ गया। पिता की मृत्यु पर स्वयं ही कश्मीर का सूबेदार नियुक्त किया गया।

अपने कश्मीर के शासकत्व काल में इसने शीघ्रता से तिब्बत प्रांत पर अधिकार कर लिया और वहाँ के शासक अब्दाल को कैद कर लिया। शाहजहाँ ने कुछ समय के पश्चात् इसे कश्मीर की सूबेदारी से मुक्त करके खानदौराँ नसरत जंग की सहायता में हजारा जाति पर आक्रमण करने को भेजा। तदनंतर यह शाहजादा मुरादबख्श के साथ रहा। परिस्थितियाँ बदलीं, दो वर्ष तक यह दंडित होकर निर्वासित रहा किंतु फिर उसी स्थिति पर आसीन हुआ। कश्मीर के तत्कालीन सूबेदार पर अप्रसन्न होकर सम्राट् ने इसे पुनः वहाँ का सूबेदार बनाया। इसके सुप्रबंध पर प्रसन्न होकर सम्राट् ने इसे उचित पुरस्कार दिया।

कुछ काल तक यह ठट्टा प्रांत का शासक नियुक्त रहा। इसके पश्चात् सम्राट् की सेवा में चला आया। यह सांसारिक छलकपट से पूर्णतः अनभिज्ञ था। औरंगजेब अपने शासन काल में चालीस सहस्र रुपया वार्षिक वृत्ति के रूप में इसे देता रहा। सन् १६६३ ई० में लाहौर में इसकी मृत्यु हो गई।

कहते हैं कि यह पूर्णरूपेण निश्छल व्यवहार-कुशल व्यक्ति था और विद्वानों का संमान करता था।

जफ़राबाद १. स्थिति : २५° ४१' उ० अ० तथा ८२° ४४' पू० दे०। यह जौनपुर तहसील में स्थित छोटा कस्बा है। यह गोमती के दाहिने किनारे पर जौनपुर से दक्षिण-पूर्व लगभग पांच मील दूर पक्की सड़क पर स्थित है। यह प्राचीन ऐतिहासिक नगर है। अनुमान है कि बौद्ध काल में इसका नाम मनेछ था। १३२१ ई० में जब गयासुद्दीन तुगलक के तृतीय पुत्र ने इस नगर पर विजय प्राप्त की तो इसका नाम जफराबाद पड़ा। नगर के आसपास अनेक प्राचीन इमारतें तथा मकबरों के भग्नावशेष हैं।

२. गुजरात राज्य के अमरेली जिले में स्थित एक छोटा बंदरगाह है। यहाँ की जनसंख्या ७,६२२ (१९६१) है [उ० सिं]

जबलपुर १. मध्यप्रदेश का प्रभाग है। इसका क्षेत्रफल १५,९५० वर्ग मील तथा जनसंख्या ५७,२१,६०२ (१९६१) है। इसमें जबलपुर, सागर, दमोह, मंडला, बालाघाट, छिंदवाड़ा, सिवनी और नरसिंहपुर जिले संमिलित हैं। यह पहाड़ी भाग है। उत्तर में विंध्याचल पठार और दक्षिण में सतपुड़ा पठार के बीच से नर्मदा नदी बहती है। इसमें ८,५६१ गांव और जबलपुर तथा सागर प्रमुख नगर हैं। जबलपुर से १३ मील दूर नर्मदा नदी पर संगमरमर की चट्टानें मिलती हैं।

२. जिला, मध्यप्रदेश में ऊपरी नर्मदा घाटी पर स्थित है। क्षेत्रफल ३,९१८ वर्ग मील और जनसंख्या १२,७३,८२५ (१९६१) है। नर्मदा नदी जिले के दक्षिण से बहती है। इसके उत्तर में विंध्याचल एवं दक्षिण में सतपुड़ा पर्वतश्रेणियाँ हैं। दोनों श्रेणियाँ मुड़वारा तहसील में मिलती है। बीच में हवेली का उपजाऊ मैदान है। भांडेर पर्वतश्रेणी इसे दमोह जिले से अलग करती है। उत्तर में कैमूर पर्वतश्रेणी है। जिले के दक्षिण में नर्मदा तथा उसकी सहायक नदियाँ गौर एवं हिरन हैं। उत्तर में महा० नदी, केन तथा कटनी नदियाँ हैं। जिले की मिट्टियां में उपजाऊ काली मिट्टी, रेतीली तथा रेतीली काली मिट्टी प्रमुख हैं। गेहूँ, धान, कोदो, कुटकी, चना और तेलहन प्रमुख कृषिपदार्थ हैं। सिहोरा तहसील में लोहा, गोसलपुर में मैंगनीज, स्लीमनाबाद में सोना और तांबा तथा मुड़वारा तहसील में चूने का पत्थर और बॉक्साइट प्रमुख हैं। उद्योगों में सीमेंट फैक्टरी, रासायनिक कारखाना, कांच कारखाना, चीनी मिट्टी के बरतन बनाना, शस्त्र फैक्टरी,

रंग तथा रबर कारखाना, संगमरमर की मूर्तियाँ बनाना आदि प्रमुख हैं। यहाँ एक विश्वविद्यालय तथा कला, विज्ञान, वाणिज्य, पशुचिकित्सा, पॉलिटेकनिक, धार्मिक, इंजीनियरिंग, कृषि, शिक्षा तथा चिकित्सा संबंधित कालेज हैं। एक कृषि विश्वविद्यालय की भी स्थापना होने जा रही । है

३. तहसील, जबलपुर जिले के दक्षिण में है। इसका क्षेत्रफल लगभग १,५१९ वर्ग मील तथा जनसंख्या ५,४४,४०४ (१९६१) है। पश्चिम में हवेली का उपजाऊ मैदान तथा दक्षिण में कुछ पहाड़ियाँ हैं। यहाँ जबलपुर नामक एक बड़ा नगर है। एक विश्वविद्यालय तथा अनेक महाविद्यालय हैं। उद्योगों में चीनी मिट्टी के बरतन बनाना, कांच का कारखाना, आयुध कारखाना, यांत्रिकी तथा धातु के कारखाने प्रमुख हैं।

४. नगर, स्थिति : २३° १०' उ० अ० तथा ७९° ५७' पू० दे०। यह मध्यप्रदेश का नगर, तहसील और जिला है। यह मध्य रेलवे की बंबई कलकत्ता शाखा पर स्थित है। इसकी जनसंख्या ३,६७,०१४ (१९६१) है। यह चारों ओर से पहाड़ियों से घिरा है। नर्मदा नदी से ६ मील और भेड़ाघाट से १३ मील दूर स्थित है। यहाँ कई तालाब तथा बगीचे हैं। छावनी क्षेत्र की जनसंख्या ४१,०१४ (१९६१) है। यह महत्वपूर्ण व्यापारिक एवं औद्योगिक नगर है। चीनी मिट्टी के बरतन बनाना, कांच कारखाना, बरफघर, आयुध फेक्टरी आदि प्रमुख उद्योग हैं। हिंदुओं तथा मुसलमानों के अतिरिक्त ईसाई, पारसी एवं आंग्लभारतीय भी जनसंख्या में हैं। एक विश्वविद्यालय तथा इंजीनियरिंग, चिकित्सा, पशुचिकित्सा, पॉलिटेकनिक, धर्म, कृषि, कला, विज्ञान तथा वाणिज्य से संबंधित १९ महाविद्यालय हैं। एक कृषि विश्वविद्यालय की स्थापना होने जा रही है। एक कला और विज्ञान महाविद्यालय की स्थापना की भी योजना है। [सै० मु० अ०]

जब्त, जब्ती भूमि राजस्व के निर्धारण की एक पद्धति। माप पर आधारित, भारत में सूरों और मुगलों के अधीन प्रचलित। साधारणतः जब्त, परंतु कभी कभी जब्ती तथा जरीब या 'अमल ए- जरीब' कहलाती थी। अबुल फजल के अनुसार सूर राजा शेरशाह (१५४०-४५) और इस्लाम शाह (१५४५-५४) इस पद्धति को प्रचलित कराने के लिये उत्तरदायी थे। इसकी जो प्रमुख विशेषता थी, अन्य पद्धतियों (प्राचीन पद्धतियों) से भिन्न, जो माप पर आधारित थीं अर्थात् 'कनकूत' प्रति बीघा फसलों की दर (रयो) पूर्व से ही निर्धारित हो जाती थी न कि फसल की कटाई के समय। वास्तविक भूमि राजस्व की दर (रयो) की १।३ (एक तिहाई) थी, और यह नियम सारी हुई भूमि पर राजस्व प्राप्ति के लिये लागू किया जाता था। यह राजस्व पहले जिंस में ही लिया जाता था, तदुपरांत तत्कालीन मूल्यों के आधार पर नकद में परिवर्तित कर दिया जाता था। परिवर्तन वास्तव में भ्रष्टाचार एवं अयोग्यता का स्रोत था। अस्तु, अकबर (१५५६-१६०५) ने भूमि राजस्व को नकद में ही निर्धारित कराया। उपज तथा तत्कालीन दस वर्षों (१५७१-८१) के प्रचलित मूल्य दरों का विस्तृत निरीक्षण करने के पश्चात् नकद भूमि राजस्व (दस्तूर, दस्तूर -उल-अमल) प्रति बीघा विभिन्न फसलों के लिये प्रत्येक क्षेत्र (परगनों का संघ) में निर्धारित होता था। जब्त में भूमि राजस्व, बोयी हुई आराजी दस्तूर से गुणा करके नकद निर्धारित होता था। दस्तूर जिनमें समय समय पर परिवर्तन होता था, प्रायः प्रति वर्ष उपज और मूल्यों की दरों को देखे बिना लागू होता था। दैवी विपत्ति पड़ने पर माँग में कटौती, बिना दस्तूर में परिवर्तन के आपदाग्रस्त क्षेत्र (नाबुद) को आराजी में से घटाकर किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तव में, भूमि की पैमाइश प्रत्येक वर्ष नहीं होती थी, बल्कि पूर्व वर्षों की संख्याओं को ही, स्वेच्छा से परिवर्तन कर, ग्रहण कर लेते थे। पैमाइश केवल तभी होती थी जब कि किसान अथवा अधिकारी पहले की पैमाइश से संतुष्ट न हो, अगर वह वर्तमान उपज पर आधारित न रही हो (दे० 'नसक')।

शेरशाह ने जब्त पद्धति को, मुल्तान और कदाचित बंगाल को छोड़कर अपने संपूर्ण साम्राज्य में लागू किया था। अकबर के अधीन जब्त क्षेत्र का और अधिक विकास हुआ, यद्यपि यह संदेहजनक है कि दिल्ली और प्रांतों के बाहर विस्तृत खेतिहर भूमि की नाप तथा निर्धारण हुआ हो। मोरलैंड की विचारधारा के प्रतिकूल १७वीं शताब्दी में जब्त पद्धति का ह्रास नहीं हुआ। वास्तव में, इसका मुर्शीद कुली खां (१६५२-५८) के द्वारा दक्षिण के मुगल प्रांतों में अधिक विस्तार हुआ था। उत्तरी भारत के प्रांतों में भी माप किए हुए क्षेत्र का विस्तार औरंगजेब (१६५८-१७०७) के अधीन, आइने अकबरी (१५९५) में लिखित क्षेत्र से काफी अधिक हुआ। मुगल साम्राज्य के पतन के साथ यह पद्धति, जिसको केंद्रित शासन के लिये बढ़ावा दिया गया था, या तो त्याग दी गई या परिवर्तित कर दी गई। परंतु कुछ समय पूर्व तक पंजाब और उत्तर प्रदेश में 'जब्ती लगान' की प्रथा थी, जो कुछ फसलों पर आराजी के आधार पर नकद में वसूल होता था।

सं० ग्रं०—डब्ल्यू० एच० मोरलैंड : दी ऐग्रेरियन सिस्टम ऑव मुस्लिम इंडिया, इलाहाबाद, कापी पृष्ठ, ७४-१५०, इरफान हबीब : दी ऐग्रेरियन सिस्टम ऑव मुगल इंडिया' (१५५६-१७०७), बंबई, १९६३, पृष्ठ २००-२१५, २१६-२३०।

[इ० ह०]

जब्रिया (मुजब्रिया) केवल ईश्वर को कर्ता सिद्ध करने के सिद्धांत को दिया जानेवाला नाम। मुजब्रिया शब्द का प्रयोग सामान्यतः परंपरावादियों, अशराई (अल अशरी के अनुयायी) धर्मशास्त्रियों तथा चित् स्वातंत्र्य को नकारनेवालों के लिये हुआ। शर्ह अल फिरकः-अल-अकबर का लेखक अशराइयों को 'जब्रवादी' मानता है। अशराइयों ने अपने अपने कस्ब वाद को जब्र और कद्र (चित् स्वातंत्र्य) के मध्य का मार्ग माना और जब्रवाद को जहमिया का ही रूप समझा। अल-शहरस्तानी ने अपनी पुस्तक अल मिलल में अशराइयों को पूर्व 'जब्रवादी' और 'अल-नजर तथा 'दिरार' को 'मध्यम जब्रवादी' माना है। लंबे विवादों की शृंखला में जब्रवाद और कस्बवाद महत्वहीन हो गए।

जमदग्नि भृगु के पौत्र तथा ऋचीक के पुत्र, जो ब्रह्मर्षि थे। इनका विवाह प्रसेनजित की कन्या रेणुका से हुआ था, जिनसे इन्हें समन्वान्, सुषेण, वसु, विश्वावसु और परशुराम, पाँच पुत्र पैदा हुए। एक बार इनकी पत्नी रेणुका का मन राजा चित्ररथ को अपनी स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करते देख, विचलित हो गया। जमदग्नि योगबल से यह जान गए और उन्होंने अपने पुत्रों को बारी बारी से रेणुका का वध करने की आज्ञा दी। सबके अस्वीकार करने पर परशुराम ने उनका वध किया। इसपर प्रसन्न होकर जमदग्नि ने उन्हें वर माँगने को कहा। परशुराम ने माता के पुनर्जीवित हो जाने का वर माँगा, इस प्रकार रेणुका पुनः जीवित हो उठीं। एक बार जब जमदग्नि ध्यानमग्न थे, कार्तवीर्य ने इन्हें मार डाला। [भो० ना० ति०]

जमशेद ईरानी पुराकथाओं में वर्णित, पहलवी 'यीमा' से अभिन्न वीवंगहुवंत का पुत्र एवं ईरानी स्वर्णयुग का महान् शासक था। फिरदौसी

कृत 'शाहनामा' में इसे सांस्कृतिक नायक की स्थिति से ईंट तथा भवन निर्माणकला का आविष्कर्ता और अन्य कलाओं का उन्नायक कहा है। अवेस्ता, बूंदहिश्न तथा अन्य ईरानी पुराणों के अनुसार जमशेद सृष्टि निर्माण, 'महान शीत, और 'नूह' के 'जल प्रलय' से संबंधित है। यह देवलोक का प्रथम मानवशासक था जो बाद में मृत्युलोक का अधिपति बना। इसके सुंदर शासन से सुखाधिक्य के कारण मानवजाति में इतनी वंशवृद्धि हुई कि उनके रहने के लिये उसे तीन बार पृथ्वी का विस्तार करना पड़ा। अंत में अहुरमज्द के निषेध करने पर उसने ऐसा करना बंद किया। किंतु ये बातें पुराणों की आलंकारिक उक्तियाँ हैं। इसकी ऐतिहासिकता विवादास्पद है। इतिहासकारों का एक वर्ग उसका समय ई० पू० ३,००० वर्ष और दूसरा उसका जन्मकाल ८०० ई० पू० मानता है। कहा जाता है कि इस अर्द्ध ऐतिहासिक राजा ने पर्सिपोलिस नगर की स्थापना की थी। यह सौर वर्ष का प्रारंभयिता था। बूंदहिश्न के अनुसार सृष्टि की प्रथम दो सहस्राब्दियों में द्वितीय सहस्राब्दी के मध्य, नाग-मुखवाले त्रिशिर दानव अजहिदहाक ने जमशेद का नाशकर उसका राज्य हड़प लिया। अवेस्ता के इस कथन की व्यवस्था इतिहासकारों ने नए ढंग से की है। उनके मत से अजहिदहाक या जुहाक सीरिया का राजा था जिसने आक्रमण कर इस विलासी राजा का अंत कर दिया।
[श्या० ति०]

जमशेदपुर स्थिति : २२° ४४' उ० अ० तथा ८६° २०' पू० दे०। यह बिहार राज्य के सिंहभूम जिले के अंतर्गत चाईबासा से ७० मील उत्तर-पूर्व सुवर्णरेखा नदी पर स्थित है। यहाँ इस्पात का विश्वप्रसिद्ध कारखाना है। पहले यहाँ साकची नामक छोटी सी बस्ती थी। इस आधुनिक नगर का निर्माण १९०७ ई० में बंबई के प्रसिद्ध पारसी व्यापारी जमशेद जी नसरवान जी टाटा के द्वारा हुआ और उन्हीं के नाम पर इस नगर का नाम पड़ा। इसके समीप ही नोआमुंडी नामक एशिया की प्रसिद्ध लोहे की खान है। यहाँ का विशाल जुबली पार्क अत्यंत ही रमणीक और दर्शनीय है। यह नगर बहुत ही साफ सुथरा है। यहाँ उच्च विद्यालय, मेडिकल कालेज, और नेशनल मेटालर्जिकल प्रयोगशाला है। इस्पात तैयार होने के कारण इससे संबंधित और भी कारखाने खुल गए हैं। इसे भारत का पिट्सबर्ग कहा जाता है। यहाँ की जनसंख्या, ३,२८,०४४ (१९६१) है।
[शि० नं० स०]

जमाल 'शिवसिंहसरोज' में इन्हें जमालुद्दीन, पिहानी (हरदोई) निवासी और सं० १६२५ में उपस्थित कहा गया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जमाल को मुसलमान कवि और उनका रचना-काल सं० १६२७ अनुमानतः माना है। विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इनके विषय में एक दंतकथा का उल्लेख किया है जो उन्होंने प्रसिद्ध कवि दीनदयालगिरि के प्रशिष्य चुन्नीलाल से सुनी थी। उसके अनुसार जमाल सुकवि अब्दुर्रहीम खानखाना के पुत्र थे। विलास में डूबे रहने के कारण जमाल अंतःपुर से बाहर बहुत कम ही निकलते थे। पिता रहीम को यह बुरा लगता था। पुत्र को भोग से दूर खींचने और उसमें काव्यरचनाशक्ति जगाने के लिये रहीम ने प्रति दिन रंगमहल के द्वार पर एक कूट दोहा लिखवाने का उपाय किया। जमाल नित्य उस दोहे को पढ़ते, देर तक उसका अभिप्राय समझते और प्रत्युत्तर में एक अन्य दोहा उसी द्वार पर अंकित कर देते थे। प्रश्नोत्तर रूप में इस दोहावली का शुभ परिणाम यह हुआ कि जमाल भोग से भागकर काव्यरचना में लग गए। इस कपोलकथा से इतना पता लग जाता है कि जमाल सम्राट् अकबर के समय में अवश्य विद्यमान थे।

अब तक जमाल के पौने चार सौ के लगभग फुटकर दोहे और कतिपय छप्पय ही प्राप्त हो सके हैं, वैसे 'जमाल पचीसी' और 'भक्तमाल की टिप्पणी' इनके दो और ग्रंथ कहे जाते हैं। इन्होंने प्रमुख रूप से कूट दोहों की ही रचना की है जिनका प्रधान विषय शृंगार है। इनकी संपूर्ण रचनाएँ प्रेम, नीति और कृष्ण-कथा से संबंधित हैं। इन्होंने 'चित्र-काव्य' की रचना में विशिष्ट प्रकार की विचित्रता दिखाई है। भाव-व्यंजना की सहज मार्मिकता, शब्दक्रीड़ा की निपुणता और कूट काव्य-रचना की प्रवीणता इनमें थी।

सं० ग्रं० : डॉ० अब्राहम जार्ज ग्रियर्सन : हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास, अनुवादक, किशोरीलाल गुप्त, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९५७ ई०, आचार्य रामचंद्रशुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, पंचम संस्करण २००६ ना० प्र० स०, काशी; संपा० डॉ० धीरेंद्रवर्मा तथा अन्य : हिंदी साहित्य कोश, भा० २, ज्ञानमंडल, वाराणसी, सं० २०२०; शिवसिंह : 'सेंगर शिवसिंहसरोज' सातवीं बार, नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, सन् १९२६; विश्वनाथप्रसाद मिश्र : हिंदी साहित्य का अतीत २ (शृंगारकाल) वाणी-वितान, वाराणसी।
[रा० फे० त्रि०]

जमालपुर स्थिति : २५° १५' उ० अ० तथा ८६° ३०' पू० दे०। यह बिहार राज्य के मुंगेर जिले में है। यह कलकत्ता से २९० मील दूर है। यहाँ रेलवे का कारखाना है, जो भारत के बड़े बड़े कारखानों में से एक है। कारखाने की स्थापना १८६२ ई० में हुई थी। इस नगर की स्थिति खड़गपुर पहाड़ी की तलहटी में है, इसलिये यहाँ का प्राकृतिक दृश्य बहुत ही मनोहर और आकर्षक है। यहाँ से रेलवे की एक शाखा मुंगेर तक जाती है, जो जिले का प्रधान नगर है। यहाँ पर रेलवे का एक उच्च विद्यालय भी है। इसकी जनसंख्या ५७,०३१ (१९६१) है।
[शि० नं० स०]

जमालुद्दीन अफगानी (१८३८-१८९७) दार्शनिक, लेखक, वक्ता और पत्रकार। अफगानिस्तान के काबुल जिले के असदाबाद नामक स्थान में उत्पन्न हुआ। किंतु शिया लेखकों का मत है कि उसने फारस के असदाबाद में जन्म लिया था। उसका बचपन अवश्य काबुल में व्यतीत हुआ। इसके पश्चात् उसने मिस्र, ईरान, भारत, फारस और इंग्लैंड का भ्रमण किया। यह दार्शनिक विचारों में भौतिकवाद और डार्विन के विकासवाद का विरोधी था। मुस्लिम धर्म और दर्शन का मर्मज्ञ होते हुए भी जमालुद्दीन ने इन विषयों पर अधिक नहीं लिखा। अफगानिस्तान के इतिहास पर "तातिमत-अल-बयाँ" इसकी प्रसिद्ध पुस्तक है। फिर भी इसकी समसामयिक राजनीतिक और सामाजिक घटनाओं पर लिखी हुई समीक्षाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। इसकी मृत्यु कैंसर से हुई।

जमालुद्दीन अस्करी तुर्क दार्शनिक और धर्मशास्त्री। इसकी प्रतिभा और विद्वत्ता से आकर्षित होकर बहुत बड़ी संख्या में लोग इसके शिष्य हुए। कुछ इतिहासकारों के मतानुसार अमासिया के शासक की सेवा में काजी अस्कर नियुक्त रहा। इसकी मृत्यु के समय के संबंध में मतभेद है।

उसकी पुस्तकों में केवल 'अखलाक-ए-जमाली' (आचारशास्त्र) ही मौलिक रूप से उपलब्ध है। 'अल-गया-अल-कुसवा', 'शर्ह-अल-इदाह', 'शर्ह-ए-मुश्किलात-अल-कुरान अलकेरीम' (धर्मशास्त्र), हाल अल-मुजीज् (चिकित्सा शास्त्र) 'हाशियात-ए-मुल्तका' (विधि शास्त्र) आदि पुस्तकों की अन्य विचारकों द्वारा की गई समीक्षाएँ ही उपलब्ध है।

जमुई स्थिति : २४° ५५' उ० अ० तथा ८६° १५' पू०दे०। यह बिहार राज्य के मुंगेर जिले में है। यह जमुई उपमंडल का मुख्य नगर है, जो

रेलवे स्टेशन से चार मील दक्षिण है। जमुई उपमंडल में लगभग पाँच सौ गाँव हैं। इसके दक्षिण में छोटा नागपुर का पठार है। यह महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र है। मुख्यतः रेल से व्यापार होता है। धान यहाँ की प्रधान कृषि उपज है। यहाँ की जनसंख्या २४,२१३ (१९६१) है।

[शि० नं० स०]

जमुना १. पूर्वी पाकिस्तान के सीमांत पर रंगपुर जिले में स्थित घोड़ामारा स्थान (२५° २४' उ० अ० तथा ८९° ४५' पू० दे०) से लेकर गंगा-ब्रह्मपुत्र के संगम स्थल गोआलंदो (२३° ५०' उ० अ० तथा ८९° ४५' पू० दे०) तक विस्तीर्ण ब्रह्मपुत्र नदी के भाग का नाम, जो पूर्वी बंगाल एवं असम में प्रचलित है। इस भाग में नदी लगभग अपने पूर्ण १२१ मील के प्रवाह में सीधी दक्षिण दिशा में बहती है। यह मार्ग अपेक्षाकृत नवीन है, जिसे नदी ने बालू एवं काँप से भरे स्वर्निर्मित मैदान में बनाया है। यह भूमि जूट की कृषि के लिये बहुत ही उपयुक्त है। संपूर्ण मार्ग तक नदी परिवहनीय है और असम तक स्टीमर चला करते हैं। इसके तट पर स्थित बाजारों में सिराजगंज प्रमुख है जो पबना जिले में पड़ता है।

२. पूर्वी पाकिस्तान की एक नदी जो तिस्ता नदी के प्राचीन मार्ग से होकर बहती है। अपने उद्गम स्थान से (दिनाजपुर जिले में २५° ३८' उ० अ० तथा ८८° ५४' पू० दे०) दक्षिण दिशा में बोगरा की सीमा से होकर बहती हुई राजशाही जिले में भवानीपुर गाँव के पास (२४° ३८' उ० अ० तथा ८८° ५७' पू० दे०) गंगा की सहायक अत्रई नदी में मिल जाती है। नदी की कुल लंबाई ८८ मील है। निचले मार्ग में इसमें वर्ष भर छोटी नावें चला करती हैं, किंतु ऊपरी भाग में यह केवल वर्षा ऋतु में परिवहनीय रहती है। इसके तट पर स्थित दिनाजपुर जिले के फुलबारी तथा विरामपुर एवं बोगरा जिले के हिल्ली नामक बाजार प्रसिद्ध हैं।

३. बंगाल में गंगा के डेल्टा क्षेत्र की एक शाखा नदी अथवा इछामती नदी के एक भाग की कई धाराओं में से एक का नाम है।

४. जमुना (दे० यमुना)। [नृ० कु० सिं०]

जमुरिया पश्चिमी बंगाल राज्य के बर्दवान जिले के आसनसोल तहसील का नगर तथा थाना है। जमुरिया १९६१ की जनगणना के अनुसार शहर की श्रेणी में आया। यहाँ की जनसंख्या १७,२१६ (१९६१) है।

जमुरिया थाने के अंतर्गत के भूभाग का क्षेत्रफल ९०·६ वर्ग मील, घनत्व १,२३१ व्यक्ति प्रति वर्ग मील तथा जनसंख्या १,११,५५० (१९५१) है। [नृ० कु० सिं०]

जमेका (Jamaica) स्थिति : १७° ४३' से १८° ३२' उ० अ० तथा ७६° ११' से ७८° २०' पू० दे०। यह ब्रिटिश पश्चिमी द्वीपसमूह का सबसे बड़ा द्वीप है। इसकी लंबाई १४८ मील, अधिकतम चौड़ाई ५२ मील तथा क्षेत्रफल ४, ४११ वर्ग मील है। यह क्यूबा के पूर्वी छोर से ९० मील दक्षिण में स्थित है। संपूर्ण जमेका उपनिवेश (४, ४७० वर्ग मील) में जमेका के अतिरिक्त मोरैंट तथा पेड्रोकेज भी संमिलित हैं।

द्वीप में रीढ़नुमा पर्वतीय क्षेत्र पूर्व से पश्चिम फैला है। पश्चिमी भाग अधिक ऊँचा है। ब्लू माउंटेन नामक शिखर (७,४०२), ब्रिटिश पश्चिमी द्वीप समूह का सर्वोच्च शिखर है। दक्षिण में विस्तृत मैदानी भाग है, जिसमें लिगुआना क्षेत्र १३२ वर्ग मील में फैला है। इस मैदानी क्षेत्र में किंग्स्टन (राजधानी) तथा स्पेनिश शहर हैं। जमेका में १६ बंदरगाह हैं, जिनमें पोर्ट मोरैंट, किंग्स्टन, लुसिया, मानटीगोबे प्रमुख हैं। यहाँ मक्का, धान, गन्ना, केला, तंबाकू, रसदार फल, कहवा, कोको तथा अदरख की खेती होती है। बॉक्साइट तथा जिप्सम भी यहाँ मिलते हैं। १९५२ में एक सीमेंट का कारखाना स्थापित किया गया। यहाँ की जनसंख्या १४,९१,००० (१९५२) थी। [नृ० कु० सिं०]

जमेका निवासी तथा धर्म — जमेका की राजधानी किंग्स्टन है। यहाँ की आबादी का घनत्व ३६६ व्यक्ति प्रति वर्ग मील है। नवीनतम गणना के अनुसार कुल जनसंख्या १६,४७,००० है। निवासियों में मूलतः ९० प्रति शत अफ्रीका से आकर बसे हैं। इनके अतिरिक्त ईस्ट इंडियन, यूरोपीय, चीनी आदि भी हैं। किंतु अब सबकी जन्मभूमि जमेका ही है। भाषा अंग्रेजी है, जिसका प्रयोग भिन्न भिन्न रूपों में होता है। जमेका में पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता है। एंग्लिकन (इंग्लिश) चर्च, और रोमन कैथोलिक चर्च के विश्वासी अधिक संख्या में हैं। कुछ यहूदी समुदाय भी है

इतिहास — कोलंबस ने १४९४ में जमेका की खोज की। १६वीं शताब्दी के प्रारंभ तक यहाँ स्पेनी बस्तियाँ बन गई थीं। आरावाक भारतीय जो यहाँ ११वीं शताब्दी से बसे हुए थे, निष्कासित किए गए, और स्पेनियों ने अफ्रीका के दास बुलाने प्रारंभ किए। १६६५ तक द्वीप पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। उन्होंने स्पेनियों को १६६० तक निकाल बाहर किया था, किंतु स्पेनियों द्वारा लाए गए अफ्रीकी गुलामों ने १७४० तक अंग्रेजों के खिलाफ छापामार युद्ध जारी रखा। १६७० में स्पेन ने माड्रिड संधि के अनुसार जमेका पूर्ण रूप से अंग्रेजों को समर्पित कर दिया। उस समय तक यूरोपीय जनसंख्या द्वीप में बहुत कम थी, उनमें कुछ स्पेनी शरणार्थी भी संमिलित थे जो छोटे छोटे स्थानों में बस कर व्यापार करते थे।

१८३४ में दासप्रथा समाप्त हुई। इससे जमेका की तात्कालिक बागवानी उद्योग की अर्थ-व्यवस्था को बड़ा धक्का लगा। १८६६ में नए गवर्नर सर जान पीटर ग्रांट ने नई योजना प्रस्तुत की, जिसमें केला उत्पादन, आंतरिक यातायात और प्रशासन का पुनर्गठन आदि संमिलित थे। शैक्षिक और जनस्वास्थ्य की सुविधाओं, तथा राजनीतिक प्रतिनिधित्व में विस्तार किया गया।

आर्थिक और सामाजिक विषमता ने जो कि द्वीप की मुख्य समस्या थी, कुछ अशांति उत्पन्न की जिससे लोग राजनीतिक सुधारों की माँग करने लगे। परिणामस्वरूप सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के अध्ययन हेतु एक राजकीय आयोग गठित हुआ। १९४४ में उसके द्वारा ऐसा संविधान निर्मित हुआ, जिससे जमेका के स्वायत्तशासन को अधिक बल मिला। सांविधानिक सुधार जारी रहे। १९५३ में मंत्रिस्तरीय सरकार की स्थापना हुई।

१९५८ में जमेका ने ब्रिटेन के अन्य कैरिबियन उपनिवेशों के साथ महासंघ बनाया। किंतु १९६१ में जनमत संघ के विरुद्ध होने के कारण जमेका संघ से पृथक् हो गया। ६ अगस्त, १९६२ को ब्रिटेन ने जमेका को स्वतंत्रता प्रदान की।

जम्मिया समाज या संगठन का पर्याय। यह शब्द १७वीं शताब्दी के अंत से सीरिया और लेबनान के मठों और चर्च के संगठन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ। किंतु १९वीं शताब्दी के मध्य से लेबनान तथा

अन्य अरबीभाषी देशों में इसका प्रयोग वैज्ञानिक, साहित्यिक और राजनीतिक संघों के निमित्त होना प्रारंभ हुआ। शनैः शनैः इसके अर्थ का क्षेत्र विस्तृत होता गया और रूप धर्मनिरपेक्ष होने लगा तथा विभिन्न संगठनों में भिन्न भिन्न धर्मावलंबी संमिलित होने लगे।

कुछ काल के पश्चात् क्रियाशील संगठन बने। जमैयत बाकूरा सुरिम्या के नाम से महिला संघ बेरुत में १८८१ में संघटित हुआ। जमचेतना के प्रतिनिधि के रूप में १८७८ में अलेक्जेंड्रिया में जमैया-अल-खैरिया अल-इस्लामिया के नाम से संस्था स्थापित हुई, जिसके निर्देशन में वहाँ शिक्षा प्रसार की व्यवस्था हुई। काहिरा में भी कुछ ऐसी ही संस्थाएँ स्थापित हुईं। इन संस्थाओं का उद्देश्य मुख्यतः तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के प्रति जनता को जाग्रत करना था। मिस्र में इस्लामिक चेतना को जाग्रत करने और ब्रिटिश शासन से मुक्ति पाने के प्रयत्नों में इन संस्थाओं ने अच्छा योगदान दिया। राजनीतिक संस्थाएँ अरब आदि में अधिक संख्या में स्थापित हुईं। अरब में तुर्की शासन के विरुद्ध २०वीं शताब्दी के प्रारंभ में क्रांति का सूत्रपात कुछ छात्रों द्वारा स्थापित ऐसी ही संस्था द्वारा हुआ। वर्तमान काल में राजनीतिक संगठनों के लिये जम्मिया का स्थान 'हिज्ब' शब्द ने ले लिया और जम्मिया पुनः सांस्कृतिक और साहित्यिक संस्थाओं के लिये सीमित रह गया।

जम्मू स्थिति : ३२° ४७' उ०अ० तथा ७४° ५०' पू० दे०। यह भारत में जम्मू-कश्मीर राज्य का एक भाग है। इसके अंतर्गत जम्मू, कठुआ, ऊधमपुर, दोदा तथा पुंछ जिले संमिलित हैं। जम्मू प्रदेश का क्षेत्रफल ११,२७३ वर्ग मील है। यह पहाड़ी इलाका है। यहाँ जाड़े में ताप ७° सें० से २३° सें० तक रहता है, पर गर्मी में ४६° सें० तक पहुँच जाता है। इस प्रदेश में गेहूँ तथा मक्के की खेती होती है। यहाँ खनिज पदार्थ भी थोड़ी मात्रा में मिलते हैं। कोयला जंगजगली तथा कालकोट की खानों से निकलता है जो जम्मू नगर से क्रमशः ४० तथा ७५ मील की दूरी पर हैं। जिप्सम की खान जम्मू से ४० मील की दूरी पर है। जम्मू प्रदेश की जनसंख्या १५,७२,८८७ (१९६१) है।

जम्मू (नगर) — यह जम्मू प्रदेश का प्रधान नगर एवं कश्मीर की शीतकालीन राजधानी है। यह चेनाब की सहायक रावी नदी के किनारे बसा है। यहाँ राजपूत राजाओं का गढ़ था। नगर में बिखरे खंडहर इसकी पुरानी समृद्धि के प्रतीक हैं। नगर तथा राजमहल नदी के दाहिने किनारे पर स्थित हैं। किला बाएँ किनारे पर नदी की धारा से १५ फुट की ऊँचाई पर खड़ा है। जम्मू भारतीय रेलमार्ग के अंतिम स्टेशन पठानकोट से संबद्ध है। नगर में रंग तथा खनिज का राजकीय कारखाना है। यहाँ एक प्रौद्योगिकप्रशिक्षण संस्थान भी है। जम्मू में ६ महाविद्यालय भी हैं। जम्मू नगर की जनसंख्या १,०२,७३८ (१९६१) है। यहाँ के अधिकांश लोग उद्योग, व्यापार, यातायात तथा अन्यान्य साधनों से अपना जीविकोपार्जन करते हैं। [ज० सिं०]

जयकर, मुकुंदराव आनंदराव का जन्म नासिक में हुआ था। आपकी शिक्षा बंबई के एलफिंस्टन हाई स्कूल और कॉलेज तथा सरकारी लॉ स्कूल में हुई थी। १९०५ में आपने हाईकोर्ट में वकालत शुरू की। १९३७ में फेडरल कोर्ट ऑव इंडिया में न्यायाधीश के रूप में आपकी नियुक्ति हुई। प्रीवी काउन्सिल की ज्युडीशियल कमिटी के भी आप सदस्य थे पर १९४२ में आपने इस पद से त्यागपत्र दे दिया। कॉन्स्टिट्यूएंट एसेंबली के लिये सदस्य के रूप में आपका निर्वाचन हुआ था पर १९४७ में इस पद से भी आप ने त्यागपत्र दे दिया।

१९०७ से १९१२ तक लॉ स्कूल में आप कानून के प्राध्यापक थे। आपके आत्मसंमान की भावना का इसी समय साक्षात्कार होता है जब आपने से निम्नस्तर के यूरोपीय अध्यापक की आपसे उच्चपद पर नियुक्ति पर आपने त्यागपत्र दे दिया। फर्ग्युसन कॉलेज में 'प्लेस ऑव इंग्लिश लिटरेचर' पर आपका भाषण शिक्षा संबंधी आपके गंभीर अध्ययन का परिचायक है। बंबई विश्वविद्यालय की रिफॉर्म कमिटी के आप १९२४-२५ में सदस्य थे। शिक्षा सुधार की योजना आपने इसी समय प्रस्तुत की थी। सरकार की डेक्कन कॉलेज को बंद करने की नीति के विरुद्ध आपने संघर्ष किया जो बंबई विश्वविद्यालय के इतिहास में चिरस्मरणीय है। १९४१ में महाराष्ट्र युनिवर्सिटी के संबंध में आपकी अध्यक्षता में एक कमिटी कायम हुई थी। शिक्षा और साहित्य के साथ संगीत और कला में भी आपकी रुचि थी। इनके उत्थान के लिये भी आप चिंतित थे।

शिक्षाशास्त्री के रूप में आप सर्वत्र विख्यात थे। नागपुर, लखनऊ, पटना आदि अनेक विश्वविद्यालयों में हुए आपके दीक्षांत भाषण अमर हैं। १९१७, १९१८, १९२० तथा १९२५ के कांग्रेस के अधिवेशनों में 'स्वराज्य' तथा दूसरे राजनीतिक विषयों पर आपके भाषण और प्रस्ताव बहुत ही महत्वपूर्ण रहे हैं। बंबई की स्वराज पार्टी लेजिस्लेटिव काउंसिल में आप विरोध पक्ष के नेता रहे। १९२६ में इंडियन लेजिस्लेटिव एसेंबली के लिये सदस्य के रूप में आप निर्वाचित किए गए। यहाँ पर आप नेशनलिस्ट पार्टी के उपनेता के रूप में कार्य करते रहे। राउंड टेबुल कॉन्फरेंस में प्रतिनिधि के रूप में आप उपस्थित थे। फेडरल स्ट्रक्चर कमिटी के भी आप सदस्य रहे। गांधी इर्विन पैक्ट के लिये सर सप्रू के साथ शांतिदूत के रूप में आपने कार्य किया। पूना पैक्ट के लिये भी आप प्रयत्नशील रहे।

आप पर सभी का समान रूप से विश्वास होने के कारण मध्यस्थ के रूप में आपकी योग्यता महनीय थी। सरकार ने आपको के० सी० एस० आई० बनाना चाहा पर आप मिस्टर जयकर ही बने रहे। १९१९ में जालियावाला हत्याकांड से संबंधित आपकी रिपोर्ट इतिहास में अमर है। १९४० में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने डी० सी० एल० पदवी से आपको विभूषित किया।

१९१७ के बाद हिंदुस्तान का ऐसा कोई भी आंदोलन नहीं जिसमें आपका संबंध न रहा हो। १९४८ से पूना के उप कुलपति के रूप में आप रहे। आपका व्यक्तित्व अत्यंत व्यापक रहा है। प्रख्यात विधि विशारद, संविधानशास्त्रज्ञ, न्यायाधीश तथा प्रसिद्ध वक्ता, शिक्षाशास्त्री एवं समाजसेवक के रूप में आपकी सेवाएँ चिरस्मरणीय हैं। आपके सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा शिक्षा संबंधी कार्यों का मूल्यांकन किए बिना भारत का आधुनिक इतिहास अधूरा रहेगा। इस दृष्टि से आपके भाषणों, पत्रों तथा लेखों का अध्ययन आवश्यक है। [दु० अ० फ०]

जयदेव नाम से सबसे अधिक प्रसिद्ध वह संस्कृत कवि हैं जो 'गीत गोविंद' के रचयिता हैं। गोवर्धन, धोयि शरण तथा उमापतिधर के साथ ये बंगाल के महाराज लक्ष्मणसेन (लगभग १११९ ई०—११७० ई०) की सभा के पंचरत्नों में एक माने जाते हैं। इनका जन्म बीरभूमि जिले के किंदुबिल्व (केंदुलि) गाँव में हुआ था। 'भक्तमाल' में इनकी चर्चा कृष्ण के विशिष्ट भक्तों में की गई है—यद्यपि उसके अनुसार इनकी

जन्मभूमि पुरी के निकट विदुबिल्व गाँव थी। कहा जाता है कि मथुरा-वृंदावन का पर्यटन करते हुए एक बार वे जगन्नाथपुरी पहुँचे। वहाँ एक ब्राह्मण को स्वप्न हुआ कि अपनी कन्या पद्मावती का पाणिग्रहण वह जयदेव के साथ कर दे। पद्मावती से विवाह करने के बाद कवि की अलौकिक प्रतिभा निखर पड़ी। उन्होंने गीतगोविंद में पद्मावती का आभार भी स्वीकार किया है। कवि की जयंती शताब्दियों से पौष शुक्ला सप्तमी को इनके जन्मस्थान (जो अब जयदेवपुरी कहलाता है) मनाई जाती है। उस रात वहाँ इनके गीतों से कृष्ण का कीर्तन होता है।

गीतगोविंद भारतीय साहित्य का अभिज्ञान शाकुंतल और मेघदूत की भाँति महत्वपूर्ण प्रतिनिधि काव्य है। इसकी लोकप्रियता देश में है ही, विदेश में भी महाकवि गेटे जैसे गुणग्राही विद्वान् इसपर मुग्ध हैं। इसकी कई टीकाएँ उपलब्ध हैं तथा इसके अनुकरण में लिखे काव्यों की संख्या काफी है। इन अनुकरणों में विशेष उल्लेखनीय महादेव विषयक काव्य हैं। भाषा साहित्यों में मध्ययुगीन मैथिली और उसी के द्वारा बंगला, असमिया और उड़िया की वैष्णव पदावलियों का विकास गीतगोविंद की ही प्रेरणा से हुआ।

गीतगोविंद श्रीमद्भागवत और ब्रह्मवैवर्त पुराण से प्रभावित है। श्रीमद्भागवत के अनुकरण में इसमें बारह सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग को कवि ने चौबीस अष्टपदियों से अलंकृत किया है। प्रत्येक अष्टपदी में ताल और राग का तथा आदि और अंत में ध्रुव के रूप में सहगान का निर्देश है। कोमल और मधुर अनुप्रासमयी शब्दावली और तुकबंदी का प्रयोग, संगीत नृत्य अभिनय के साथ मिलकर इसमें एक अपूर्व समन्वय का आविष्कार करते हैं जो संस्कृत साहित्य के इतिहास में सर्वथा नवीन है। कुछ विद्वानों का मत है कि इस कारण यह ग्रंथ मध्ययुग के संगीतबहुल यात्रा-नाटकों से प्रभावित है अथवा प्राकृत भाषा से संस्कृत में अनूदित ग्रंथ है। वस्तुतः जयदेव संस्कृत काव्य के अंतिम महान् कवि थे और उन्होंने अपनी प्रतिभा और निपुणता से आदिरस में ओतप्रोत इस अपूर्व पदावली का आविष्कार किया जिसने प्राचीन राधाकृष्ण की लीलाओं को परंपरा को लोकगाथाओं की जीवित शक्तियों के सहारे संस्कृत में स्थापित कर युगों तक संस्कृत काव्य को लोकप्रिय बनाए रखा। प्राचीन मिथिला और आधुनिक नेपाल में जयदेव की संगीत परंपरा (जो अन्य भारतीय परंपराओं से कुछ भिन्न है) सुरक्षित रही है।

गीतगोविंद के आरंभ में कवि ने अपना परिचय दिया है। तत्पश्चात् दशावतार का कीर्तन है तथा क्रमशः कवि कृष्णावतार की प्राचीन लीलाओं का वर्णन करते हैं। कथानक का आरंभ वसंत में कृष्ण की रासलीला से होता है। गोपियाँ कृष्ण को प्रेमविह्वल हो घेर लेती हैं और उनके साथ मिलन की उत्कट अभिलाषा प्रकट करती हैं। दूसरी ओर कृष्ण भी प्रेमविह्वल दिखाए जाते हैं। वे कामदेव और राधा को याद करते हैं। इसी बीच राधा की सखी कृष्ण को उसकी दशा बताने आती हैं किंतु वे गोपियों के साथ चले गए हैं और राधा निराश पड़ी रहती है। रात्रि में चंद्रमा की किरणें राधा को और सताती हैं। अंत में जब कृष्ण स्वयं उसके पास पहुँचते हैं, राधा मान करती है। राधा का जब मान टूटता है, कृष्ण और राधा का मिलन होता है।

जयदेव की दूसरी कृतियों के बारे में संदेह है कि वे किस जयदेव की हैं। संभव है गीतगोविंदकार की लिखी 'रतिमंजरी' नामक कामशास्त्र का ग्रंथ और 'छंदःशतक' नामक छंद-संबंधी ग्रंथ मात्र हैं। प्रसन्नराघव नामक काव्यशास्त्र का ग्रंथ लिखनेवाले जयदेव मिथिला के प्रसिद्ध नव्य न्याय के विद्वान् पीयूषवर्ष पक्षधर उपनाम को धारण करनेवाले १२वीं शताब्दी के थे। अभिनव जयदेव उपनाम से महाकवि मैथिल कोकिल विद्यापति ठाकुर (लगभग १३४०-१४४८ ई०) प्रसिद्ध हुए। आधुनिक काल में महामहोपाध्याय जयदेव मिश्र (१८५४-१९२६ ई०) वैयाकरण जया विजया और शास्त्रार्थरत्नावली आदि ग्रंथों के लेखक हुए।

जयदेव के संबंध में कोई मौलिक ग्रंथ नहीं लिखे गए हैं। सभी संस्कृत साहित्य के इतिहासों में इनकी चर्चा है। [ज० कां० मि०]

२. 'जयदेव मिश्र' नाम से प्रसिद्ध संस्कृत साहित्य के कई एक विशिष्ट विद्वान हुए हैं इनमें प्रथम नव्यन्याय के आदि ग्रंथ 'तत्वचिंतामणि' की 'आलोक' नाम की टीका के रचयिता, जिनको 'पक्षधर मिश्र' के नाम से विशेष प्रसिद्धि हुई; दूसरे अलंकार के प्रसिद्ध ग्रंथ 'चंद्रालोक' तथा 'प्रसन्नराघव' नाटक के रचयिता और तीसरे 'विजया,' 'जया' आदि टीकाओं के रचयिता वैयाकरण, ये तीन बहुत ही विख्यात विद्वान हुए हैं। यहाँ क्रमशः इन तीनों के संबंध में ज्ञात विषयों का उल्लेख किया जाता है।

१. जयदेव मिश्र (पक्षधरमिश्र) — मिथिला के प्रसिद्ध सोदरपुर ग्राम निवासी, शाण्डिल्यगोत्रोत्पन्न श्रोत्रिय गुणे मिश्र के द्वितीय पुत्र थे। नाथू मिश्र इनके बड़े भाई थे। वाद-प्रतिवाद में जिस किसी भी पक्ष को यह स्वीकार कर लेते थे उसी के समर्थन में इनकी विजय होती थी। इसी कारण 'पक्षधर' के नाम से यह प्रसिद्ध हुए। इन्हें परिवार के लोग 'पाखू' कहा करते थे। इसी लिये संस्कृत में प्रसिद्ध उक्ति है–'पक्षधरप्रतिपक्षी लक्षीभूतो न च क्वापि'।

मैथिली भाषा के प्रसिद्ध कवि विद्यापति ठाकुर इनके सहपाठी थे। इन दोनों ने पक्षधर मिश्र के पितृव्य हरि मिश्र से न्यायशास्त्र पढ़ा था। यह लंबाई में नाटे थे। बंगाल के प्रसिद्ध नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि ने इन्हीं से न्यायशास्त्र पढ़कर बंगदेश में नव्य-न्याय के अध्ययनाध्यापन की परंपरा चलाई। इन बातों के आधार पर १४वीं शती में हम इनका समय निर्णय करते हैं।

कहा जाता है कि कर्णाटक के द्वैतवादी प्रौढ़ नैयायिक व्यासतीर्थ ने इनके साथ शास्त्र विचार करने के अनंतर इनकी विद्या के संबंध में कहा था –

यदधीतं तदधीतं यदनधीतं तदनधीतम्।
पक्षधरप्रतिपक्षो नावेक्षि विनाऽभिनवव्यासेन॥

इन्होंने नव्यन्याय की एक दृढ़ परंपरा चलाई जो प्रायः समस्त भारत-वर्ष में मान्य हुई। मैथिल गंगेश उपाध्याय रचित 'तत्वचिंतामणि' के ऊपर 'आलोक' नाम की एक बहुत सुंदर इनकी टीका है। एक भाग प्रकाशित हो चुका है। यह जानना आवश्यक है कि मिथिला में सोदर-पुरवंश वस्तुतः बहुत विस्तृत तथा बड़े-बड़े विद्वानों का वंश था और आज भी है।

पक्षधर ने अधोलिखित ग्रंथों की रचना की :

(१) शशधर के 'न्यायसिद्धांतदीप' की टीका (२) तत्वचिंतामणि—'आलोक' तथा (३) तत्वचिंतामणि—'टिप्पणी'। 'विवेक' नाम से प्रसिद्ध कुछ ग्रंथ कुछ लोगों ने इन्हीं के रचित माने हैं।

मिथिला में वासुदेव मिश्र, रुचिदत्त, भगीरथ आदि तथा बंगाल में वासुदेव सार्वभौम, रघुनाथ शिरोमणि आदि इनके प्रसिद्ध शिष्यों में गिने जाते हैं। पक्षधर के समय पर्यंत नव्यन्याय का पांडित्य, अध्ययन तथा अध्यापन केवल मिथिला ही में होता था और आधुनिक विशिष्ट विद्वानों का कहना है कि मिथिला में ही नव्य-न्याय का व्यवसाय चरम सीमा पार कर चुका था।

२. दूसरे जयदेव मिश्र (पीयूषवर्ष) प्रधानतया साहित्यिक हैं। 'पीयूषवर्ष' इनके नाम की उपाधि थी। यह महादेव और सुमित्रा के पुत्र थे। यह भी मिथिला के वासी थे। यह कौंडिन्य गोत्र के बड़े सरस कवि थे। साथ ही साथ यह बहुत प्रौढ़ नैयायिक भी थे। इन दोनों बातों को कवि ने स्वयं कितने मधुर तथा कठोर शब्दों में कहा है। ये उल्लेख के योग्य श्लोक हैं :

विलासो यद्वाचामसमरसनिष्यंदमधुरः
कुरंगाक्षीबिंबाधरमधुरभावं गमयति।
कवींद्रः कौंडिन्यः स तव जयदेवः श्रवणयो-
रयासीदातिथ्यं न किमिह महादेवतनयः ॥ १ ॥
येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते।
यैः कांताकुचमंडले कररुहाः सानंदमारोपिताः
तैः किं मत्तकरींद्र-कुंभ-शिखरे नारोपणीयाः शराः ? ॥ २ ॥

उपर्युक्त दूसरे श्लोक से लोग अनुमान करते हैं कि 'आलोककार' तथा साहित्यिक पीयूषवर्ष जयदेव दोनों एक ही व्यक्ति हैं। परंतु यह भ्रांति है। आलोककार का शांडिल्य गोत्र है तथा 'प्रसन्नराघवकार' कौंडिन्य गोत्र हैं। प्रसन्नराघवकार भी एक उत्तम कोटि के नैयायिक थे यह उपर्युक्त श्लोक से ही स्पष्ट होता है और संभवतः 'न्यायलीलावती-विवेक', 'द्रव्यविवेक', 'कुसुमांजलिविवेक', 'प्रत्यक्षविवेक' आदि 'विवेक-ग्रंथ' इन्हीं 'पीयूषवर्ष' जयदेव मिश्र के हों। नाममात्र के साम्य से बाद के कुछ लोगों ने ऐसी भूल की है।

इन्होंने 'काव्यप्रकाशकार' मंमट के काव्य का तथा 'अलंकारसर्वस्वकार' रुय्यक के विकल्प, विचित्र, अलंकारों के लक्षणों का उल्लेख चंद्रालोक में किया है। अतएव ये जयदेव रुय्यक के बाद हुए हैं। रुय्यक का समय १२वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। इसलिये उसके बाद 'पीयूषवर्ष' हुए। पश्चात् अलंकारशेखरकार केशव मिश्र ने अपने ग्रंथ में प्रसन्नराघव का 'कदली कदली करभः करभः', इत्यादि श्लोक का उल्लेख किया है। केशव मिश्र १६वीं शताब्दी में हुए थे। इन प्रमाणों के आधार पर पीयूषवर्ष का समय १३वीं शताब्दी माना जाता है।

इनके ग्रंथों को पढ़कर इनकी 'पीयूषवर्ष' उपाधि अन्वर्थक है, यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। साथ ही यह कर्कश तर्क में भी पारंगत थे।

३. तीसरे जयदेव मिश्र (विजयाकार) — प्रधानरूप से वैयाकरण थे। यह मिथिलावासी सोदरपुर श्रोत्रियवंश के चित्रनाथ मिश्र के ज्येष्ठ पुत्र थे। शची देवी इनकी माता का नाम था। इनका जन्म १८७४ ई० की कार्तिकी पूर्णिमा को हुआ था। इनके पाँच छोटे सोदरभाई भी भिन्न भिन्न शास्त्र के विशिष्ट विद्वान थे। इस वंश में बहुत पूर्वकाल से ही बड़े बड़े महामहोपाध्याय विद्वान हुए हैं। इन्होंने मिथिला में 'हल्ली झा' तथा 'राजनाथ मिश्र' से अध्ययन कर काशी में 'बालशास्त्री,' 'विशुद्धानंद सरस्वती' तथा 'कैलाशचंद्र शिरोमणि' से व्याकरण शब्दखंड, वेदांत तथा नव्यन्याय का विशेष अध्ययन किया। काशी के विशिष्ट तथा प्रसिद्ध विद्वान 'शिवकुमार मिश्र' के यह सहपाठी थे तथापि उनका यह गुरुवत् आदर करते थे। उनके साथ इन्होंने सभी शास्त्रों का मथन किया था। काशी, विश्वनाथ, तथा मणिकर्णिका के ये अनन्य भक्त थे। कश्मीर नरेश आदि के विशेष आग्रह करने पर भी इन्होंने राजाश्रित होकर कहीं अन्यत्र जाना स्वीकार नहीं किया। सदाचार की जीवित मूर्ति यह समझे जाते थे। ५० वर्ष काशी में रहकर इन्होंने विद्यादान किया।

पूर्व में लगभग ४० वर्ष दरभंगा नरेश के काशी में स्थापित दरभंगा पाठशाला में अध्यापक थे। पश्चात् १९१६ में हिंदू विश्वविद्यालय में, पं० मदनमोहन मालवीय के आग्रह से, इनको जाना पड़ा और जीवन के अंत समय तक वहीं रहकर शतशः छात्रों को पढ़ाया। १९२६ के फाल्गुन शुक्ल ७ को मणिकर्णिका की गंगा में इस भौतिक शरीर की लीला ७२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने समाप्त की।

इनके रचित परिभाषेंदुशेखर की 'विजया' नाम की तथा व्युत्पत्तिवाद की 'जया' नाम की टीकाएँ देशविदेश में प्रसिद्ध हैं। इन्होंने 'शास्त्रार्थ रत्नावली' नाम का एक पाणिनिसूत्र तथा परिभाषाओं पर स्वतंत्र ग्रंथ का निर्माण किया। इनके अतिरिक्त छोटे छोटे बहुत से ग्रंथ इनके अभी भी अमुद्रित ही हैं। १९११ में ब्रिटिश सरकार ने इन्हें 'महामहोपाध्याय' की पदवी दी थी। शास्त्रार्थ में उन दिनों न केवल काशी में अपितु समस्त भारत में इनका प्रतिपक्षी दूसरा कोई न था। इसीलिये इनके अन्यतम छात्र महामहोपाध्याय डाक्टर सर 'गंगानाथ झा' ने इनके संबंध में लिखा है—

जय कुले जयोऽभ्यासे जयः पंडितमंडले।
जयो मृत्यौ जयो मोक्षे जयदेवः सदा जयः ॥

[उ० मि०]

जयद्रथ ये सिंधुदेश के राजा थे। महाभारत के वन पर्व में इनको 'सिंधुसौवीरपति' कहा गया है। इनके पिता का नाम वृद्धक्षत्र और पत्नी का नाम धृतराष्ट्रकन्या दुःशला था (म० भा०, आ० प०, ६७-१०६-११०)। जब पांडवों के साथ द्रौपदी वन में रहती थी, तब जयद्रथ ने द्रौपदी के अपहरण की चेष्टा की थी, पर पांडवों के द्वारा ये स्वयं ही पराजित हुए (व० प०, २६४ अ०–२७२)। बाद में इस अपमान का प्रतिशोध लेने के लिये उन्होंने शिव की पूजा की और शिव से अर्जुनातिरिक्त अन्य पांडवों को जीतने के लिये (एक दिन के लिये ही) वर प्राप्त किया। कुरुक्षेत्र युद्ध में दुर्योधन के पक्ष में रहकर इन्होंने युद्ध किया। अर्जुन ने इनका वध किया था (द्रो० प०, १४६)। इनके काटे हुए सिर को अर्जुन ने इनके तपस्वी पिता की गोद में गिराया था, जिससे उनके सिर के सौ टुकड़े हो गए थे। महाभारत में इनको अक्षौहिणीपति कहा गया है। इनका ध्वज वराहचिह्नयुक्त था (द्रो० प० ४३।१)।

पुराणों में भी जयद्रथ का प्रसंग है। उनमें उपर्युक्त जयद्रथ के अतिरिक्त और भी तीन जयद्रथों का उल्लेख है (पु० वि० पु० १०१-११०)। ऐंशेंट इंडियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन ग्रंथ में दो पुराणोक्त जयद्रथों पर विचार किया गया है। [रा० शं० अ०]

जयनगर १. स्थिति : २२° ११' उ० अ० तथा ८८° २५' पू० दे०। यह पश्चिमी बंगाल राज्य के २४ परगना जिले में एक नगर है। इसकी जनसंख्या (जयनगर-मिजलापुर) १४,१७७ (१९६१) है। यह

नगर उपप्रभाग का प्रधान कार्यालय है तथा कलकत्ता शहर से ११ मील दक्षिण में स्थित है। जलमार्ग द्वारा मगराहाट स्टेशन से केवल साढ़े छः मील दूर है। [सै० मु० अ०]

२. स्थिति : २६° ४०' उ० अ० तथा ८६° १०' पू० दे०। बिहार राज्य के दरभंगा जिले में एक प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र है। नेपाल की सीमा पर होने के कारण इस नगर की उन्नति हो रही है। यहाँ रेलवे स्टेशन और उच्च विद्यालय भी है। जनकपुर जाने के लिये यात्री इसी स्टेशन से होकर जाते हैं। यहाँ की जनसंख्या ७,६०४ (१९६१) है। [शि० नं० सं०]

जयपत्र (लॉरेल, Laurel sp.) नाम से प्रचलित पौधे अधिकतर 'लॉरोसेरासस' कुल के होते हैं, पर कुछ पौधों का वर्णन "मैगनोलियेसी" तथा "रोजेसी" कुलों में भी पाया जाता है, क्रमशः उदाहरणार्थ मैगनोलिया ग्रैंडीफ्लोरा (Magnolia grandiflora) एवं प्रूनस लॉरोसेरासस (Prunus laurocerasus) इस वर्ग के पौधे उष्ण तथा शीतोष्ण प्रदेशों में पाए जाते हैं।

जयपत्री वर्ग के पौधों की पत्तियाँ साधारणतया मोटी तथा सदाबहार होती हैं। इन पत्तियों से सुगंधित तेल निकाला जाता है, जिसका

जयपत्र

उपयोग कीड़ों के मारने में होता है। उत्तरी अमरीका में पाए जानेवाले पर्वतीय जयपत्र (Kalmia sp.) से एक जहरीला पदार्थ निकलता है और इसकी पत्तियाँ खा लेने पर जानवर मर जाते हैं।

जयपत्र विजयचिह्न माना जाता है। इसकी पत्तियाँ अपोलो देवता तथा रण में विजयी वीरों को चढ़ाई जाती हैं। इस वर्ग के कुछ पेड़ों की लकड़ी मेज आदि बनाने के काम आती है। दालचीनी (Cinnamomum), कपूर और बेनजोइन (Lindera) के पौधे भी इसी कुल के हैं। [कै० चं० मि०]

जयपाल १. प्रसिद्ध लाहौरनरेश। मुसलमानों का भारत में प्रथम प्रवेश इसी के काल में हुआ। ९७७ ई० में गजनी के सुबुक्तगीन ने उसपर आक्रमण कर कुछ स्थानों पर अधिकार कर लिया। जयपाल ने प्रतिरोध किया, किंतु पराजित होकर उसे संधि करनी पड़ी। अब पेशावर तक मुसलमानों की सीमा हो गई। दूसरी बार सुबुक्तगीन के पुत्र सुलतान महमूद ने जयपाल को पराजित किया। लगातार पराजयों से क्षुब्ध होकर इसने अपने पुत्र अनंगपाल को अपना उत्तराधिकारी बनाया और आग में जलकर आत्महत्या कर ली।

२. अनंगपाल का पुत्र। १०१३ में सत्तारूढ़ हुआ। यह भी सुलतान महमूद से १०२२ में इरावती के तट पर पराजित हुआ और लाहौर मुसलमानों के हाथ में चला गया। इस प्रकार भारत में मुसलमान शासन की नींव पड़ गई।

३. हमीर काव्य के अनुसार चौहान वंश में भी जयपाल नाम के दो सम्राट् हुए।

जयपुर १. जिला, यह सन् १९४७ के पूर्व राजपूताना का एक राज्य था जिसका विस्तार १५,५७९ वर्ग मील था। अब यह जिला है। यह समुद्रतल से १,४०० फुट से १,६०० फुट तक की ऊँचाई पर स्थित है। जिले का क्षेत्रफल ५,३९३ वर्ग मील तथा जनसंख्या १९,०१,७५६ (१९६१) है। यहाँ सांभर झील से नमक निकाला जाता है।

२. नगर, स्थिति २६° ५५' उ० अ० तथा ७५° ५०' पू० दे०। नगर राजस्थान राज्य की राजधानी तथा यहाँ का सबसे बड़ा नगर है। यह दिल्ली से १९१ मील दक्षिण-पश्चिम में बसा है। इस नगर का नामकरण सुप्रसिद्ध महाराजा सवाई जयसिंह द्वितीय के नाम पर हुआ जिन्होंने इसकी स्थापना १७२८ ई० में की थी। जयपुर सूखी झीलवाले मैदान में बसा है, जो दक्षिणी दिशा को छोड़कर अन्य दिशाओं में ऊबड़-खाबड़ पहाड़ियों द्वारा घिरा हुआ है, जिनकी समस्त मुख्य चोटियों पर किले बने हैं। नगर के उत्तरी-पश्चिमी किनारे पर मुख्य सुरक्षास्थल है, जो प्राचीन काल में 'टाइगर फोर्ट' के नाम से विख्यात था। इस नगर के चारो ओर ९ फुट चौड़ी तथा २० फुट ऊँची दीवार है, जिसमें सात द्वार हैं। यहाँ की सड़कें स्वच्छ एवं चौड़ी हैं, जो एक दूसरी को समकोण पर काटती हैं। मुख्य सड़कें १११ फुट, द्वितीय श्रेणी की सड़कें ५५ फुट एवं तृतीय श्रेणी की सड़कें २७½ फुट चौड़ी हैं। नगर के मध्य में गुलाबी पत्थरों से निर्मित राजमहल तथा अन्य भवन बहुत ही सुंदर हैं।

जयपुर नगर में राजस्थान विश्वविद्यालय (१९६०-६१ ई०), मेडिकल महाविद्यालय, जनता पुस्तकालय एवं अन्य अनेक शिक्षण संस्थाएँ हैं। यहाँ का राजमहल, जंतर-मंतर वेधशाला, विधानभवन, विश्वविद्यालय आदि दर्शनीय हैं।

यहाँ की जनसंख्या ४,०२,७६० (१९६१) है, परंतु राजस्थान की राजधानी हो जाने के कारण अब यह उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है, यहाँ के कालीन, मिट्टी तथा पीतल के बरतन, सोने पर मीने की कारीगरी एवं संगमरमर पर खुदाई के कार्य तथा उद्योग मुख्य हैं। [वि० रा० सिं०]

जयमल १ — पौराणिक विष्णोपासक राजा। विष्णु की पूजा में लीन रहने के कारण वह राजकाज से विरत सा हो गया। कथा है कि उसके पूजा व्यस्त रहते जब शत्रु ने आक्रमण कर दिया भगवानविष्णु ने स्वयं लड़ाई लड़ी और शत्रु को पराजित किया। यह जानकर आक्रमणकारी भी विष्णुभक्त हो गया।

२ — प्रसिद्ध राजपूत सामंत। राणा संग्रामसिंह के पुत्र उदयसिंह के भाग जाने पर जयमल और कलवा के पुत्र ने मुगल सम्राट् अकबर के विरुद्ध चित्तौड़ की रक्षा का भार सँभाला। १५६८ में अकबर के हाथों उनकी हत्या हुई। फिर भी गुणग्राहक अकबर इन दो वीरों को नहीं भूला। उसने दोनों की प्रस्तर मूर्तियाँ बनवाकर अपने महल के सिंहद्वार पर स्थापित करवायी।

जयमाला स्वयंवर में कन्या द्वारा वर को पहनायी जानेवाली माला। प्राचीन भारत की स्वयंवर प्रथा का ऐतिहासिक महत्व है। (दे० 'स्वयंवर') आमंत्रित अनेक वर प्रत्याशियों में कन्या इच्छानुकूल व्यक्ति को जयमाला पहनाती थी। यह विजय का प्रतीक समझी जाती थी, इस लिये विजयी सम्राटों को भी पहनायी जाती थी।

जयशक्ति चंदेल चंदेल अभिलेखों में पूर्ववर्ती नरेश वाक्पति के पुत्र जयशक्ति का उल्लेख आता है। यह जेज्जाक और जेजा के नाम से भी प्रसिद्ध था। इसका राज्यकाल संभवतः ९वीं शताब्दी के तृतीय चरण में था। यह स्वतंत्र शासक नहीं था किंतु उस काल की राजनीतिक अव्यवस्था का लाभ उठाकर इसने अपनी शक्ति को दृढ़ किया। प्रायः विद्वान् इसे प्रतिहारों का सामंत बतलाते हैं। अभिलेखों में कभी कभी चंदेल राजाओं की तालिका जयशक्ति के नाम से ही प्रारंभ होती है। कदाचित् उसी के समय में पहली बार वर्तमान खजुराहो के समीप की भूमि एक पृथक् भुक्ति के रूप में संगठित हुई और जयशक्ति के नाम पर ही वह जेजाक भुक्ति कहलाई। उसने अपनी पुत्री नट्टा का विवाह कलचुरि नरेश कोकल्ल प्रथम के साथ किया था जो संभवतः उसकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं से प्रेरित था। अभिलेखों में उसके नाम के साथ उसके अनुज विजयशक्ति का नाम भी संबद्ध रहता था जो बाद में सिंहासन का अधिकारी हुआ। [कृ० कां० गो०]

जयसिंह चालुक्य बादामि के चालुक्य राजवंश की स्थापना करनेवाले पुलकेशिन् प्रथम के पितामह का नाम जयसिंह प्रथम था। यह संभवतः छठी शताब्दी के आरंभ में हुआ था। इस वंश के महाकूट स्तंभ अभिलेख (६०२ ई०) में जयसिंह के लिये सुंदर विशेषणों का उपयोग हुआ है जिनका कोई ऐतिहासिक महत्व नहीं है। ११वीं शताब्दी के प्रारंभ से कल्याणि के चालुक्य राजाओं के अभिलेखों में जो अनुवृत्ति मिलती है उसमें जयसिंह के लिये कहा गया है कि देश के दीर्घकालीन तिमिराच्छन्न इतिहास का अंत कर उसने आठ सौ हाथियोंवाली अपनी सेना की सहायता से राष्ट्रकूट नरेश इंद्र और अन्य पाँच सौ राजाओं को पराजित कर चालुक्यों की सत्ता स्थापित की। किंतु यह वर्णन ऐतिहासिक नहीं है और संभवतः तैल द्वितीय के द्वारा कल्याणि शाखा की स्थापना की अनुकृति मात्र है।

कल्याणि के चालुक्य घराने में विक्रमादित्य पंचम की मृत्यु के एक वर्ष के भीतर ही उसके दो छोटे भाई सिंहासन पर बैठे—अय्यन और उसके बाद जयसिंह द्वितीय। जयसिंह द्वितीय के विरुदों में जगदेकमल्ल भी है और वह जगदेकमल्ल प्रथम के नाम से भी प्रसिद्ध है। जयसिंह का नाम सिंगदेव भी था और त्रैलोक्यमल्ल, मल्लिकामोद और विक्रमसिंह उसके दूसरे विरुद थे। जयसिंह द्वितीय का राज्यकाल १०१५ से १०४३ ई० तक था। जयसिंह के राज्यकाल के पूर्वार्ध में अनेक युद्ध हुए। भोज परमार ने आक्रमण कर उत्तरी कोंकण की विजय कर ली थी और वह कोल्हापुर तक पहुँच गया था। उत्तर में उसकी दिग्विजय की योजनाएँ थीं किंतु उनके विषय में स्पष्टतः कुछ ज्ञात नहीं है। इन युद्धों में उसकी सफलता उसके सेनापति चावनरस, चट्टुग कदंब और कुंदमरस के कारण हुई थी। राजेंद्र प्रथम चोल की व्यस्तता से लाभ उठाकर जयसिंह ने सत्याश्रय के समय चालुक्यों के विजित प्रदेशों को चोलों से फिर से लेने के लिये और वेंगि के सिंहासन पर चोल राजकन्या की संतान राजराज के स्थान पर अपने व्यक्ति को आसीन कराने का प्रयत्न किया। इन युद्धों में भी जयसिंह को अपने सेनापतियों के कारण प्रारंभ में सफलता प्राप्त हुई। उसने रायचूर दोआब पर अधिकार कर लिया और उसकी सेना तुंगभद्रा पार करती हुई बेल्लारि और संभवतः गंगवाडि तक पहुँच गई थी। दूसरी ओर वेंगि में बेजवाड़ा पर उसकी सेना ने अधिकार कर लिया और राजराज दो तीन वर्ष तक वेंगि के सिंहासन पर न बैठ सका। किंतु शीघ्र ही राजेंद्र चोल ने दोनों ही क्षेत्रों में विजय प्राप्त की। १०२२ ई० में राजराज का वेंगि के सिंहासन के लिये अभिषेक हुआ। दूसरी ओर राजेंद्र की विजय करती हुई सेना का जयसिंह की सेना के साथ १०२०-२१ ई० में मुशंगि (मस्की) में घमासान युद्ध हुआ। विजय यद्यपि राजेंद्र की हुई और जयसिंह को युद्ध से भागना पड़ा किंतु शीघ्र ही दोनों राज्य की सीमा तुंगभद्रा बनी। जयसिंह के शासन के अंतिम २० वर्षों में उल्लेखनीय युद्ध नहीं हुआ। अभिलेखों से इस काल की शांत स्थिति का ज्ञान होता है। ऐसे तो कल्याणी चालुक्य राज्य की राजधानी बन गई थी किंतु मान्यखेट का महत्व बना रहा। इसके अतिरिक्त कई उपराजधानियों के भी उल्लेख मिलते हैं यथा, एतगिरि, कोल्लिपाके, होट्टलकेरे तथा घट्टदकेरे। उसके अधीन शासन करनेवाले कुछ सामंतों के नाम हैं, कुंदमरस, सत्याश्रय, चट्टुदेव कदंब, जगदेकमल्ल नोलंब-पल्लव सत्यादित्य, छोरस हैहय और नागादित्य सिंद। उसकी बहिन अक्कादेवी अपने पति मयूरवर्मन् के साथ बनवासि, बेल्वोल और पुलिगेरे पर राज्य करती थी। उसकी दो रानियों के नाम मालूम हैं—सुग्गलदेवी जिसके बारे में अनुश्रुति है कि उसने अपने जैन पति को शैव बनाया, और दूसरी नोलंब राजकुमारी देवलदेवी। उसकी पुत्री हंमा अथवा आवल्लदेवी का विवाह भिल्लम तृतीय सेउण से हुआ था। जयसिंह के सोने के सिक्के दो शैलियों में मिलते हैं। उसके अभिलेख उस काल की शासन व्यवस्था के ज्ञान के लिये महत्वपूर्ण हैं। एक अभिलेख में उल्लेख है कि उसने धर्मबोलल के सोलह सेट्टियों को छत्र, चामर और शासन देकर संमानित किया। पार्श्वनाथ चरित और यशोधर चरित्र के रचयिता जैन विद्वान् वादिराज इसी के दरबार में थे। इनके मंत्री दुर्गसिंह ने कन्नड में पंचतंत्र नाम के चंपू की रचना की थी।

चोल साधनों से ज्ञात होता है कि चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रथम का जयसिंह नाम का एक अनुज था जो १०५१-५२ ई० में कोप्पम् के युद्ध में अन्य चालुक्य सेनापतियों के सहित राजेंद्र द्वितीय चोल के द्वारा पराजित हुआ और मारा गया। जयसिंह तृतीय, सोमेश्वर प्रथम का कनिष्ठ पुत्र और सोमेश्वर द्वितीय और विक्रमादित्य षष्ठ का अनुज था। अपने पिता के समय में वह तर्दवाडि का प्रांतपाल था। १०६१ ई० में वह कूडल् के युद्ध में वीर राजेंद्र के विरुद्ध लड़ा था किंतु चालुक्य पक्ष की गहरी हार हुई थी। सोमेश्वर द्वितीय ने सिंहासन पर बैठने पर जयसिंह को भी प्रांतों का शासन दिया। १०६८ ई० में वह कोगलि, कदंबलिगे और बल्लकुंदे पर राज्य कर रहा था। बाद में वह नोलंबवाडि और सिंदवाडि का प्रांतपाल नियुक्त हुआ जिस पद पर वह १०७३ ई० तक बना रहा। बीच बीच में उसे अन्य प्रांतों का भी अधिकार मिल जाता था। विरुद सहित उसका पूरा नाम त्रैलोक्यमल्ल-नोलंब-पल्लव पेर्माडि जयसिंहदेव था। विक्रमादित्य षष्ठम् और सोमेश्वर द्वितीय के संघर्ष में दोनों बार उसने विक्रमादित्य का पक्ष लिया। १०७६ ई० में वह भी विक्रमादित्य के साथ कुलोत्तुंग प्रथम, जिसने सोमेश्वर का पक्ष लिया था, के हाथों पराजित हुआ था। किंतु उसकी सहायता से विक्रमादित्य ने चोल नरेश को पराजित करके सिंहासन प्राप्त किया। विक्रमादित्य ने जयसिंह की सहायता का उचित महत्व स्वीकार किया और उसे बेल्वोल और पुलिगेरे का प्रांत दिया जो प्रायः युवराज को दिया

जाता था। बाद में बनवासि और संतलिगे भी उसके अधिकार में कर दिए गए। १०८३ ई० तक जयसिंह ने विक्रमादित्य की अधीनता में शासन किया। फिर उसने प्रजा को अनेक प्रकार से उत्पीड़ित करके धन एकत्र किया जिससे उसने एक विशाल सेना बनाई, चोल नरेश से भी मित्रता की, वन-जातियों से संधि की, विक्रमादित्य की सेना में फूट डालने का प्रयत्न किया और सिंहासन पर अपना अधिकार करने के लिये कृष्णा के तट पर आया जहाँ अनेक सामंत उससे मिल गए। पहले तो विक्रमादित्य ने शांतिपूर्ण उपायों से काम लेना चाहा किंतु अंत में विवश होकर उसे युद्ध करना पड़ा। जयसिंह को प्रारंभ में विजय मिलती हुई सी लगी, किंतु अंत में विक्रमादित्य की वीरता के कारण वह पराजित होकर बंदी बना। बिल्हण के अनुसार विक्रमादित्य ने उसे क्षमा कर दिया। वास्तविकता कदाचित् उससे कुछ भिन्न थी; जयसिंह का इतिहास में इसके बाद कोई चिह्न नहीं मिलता।

वेंगि के चालुक्य राजवंश में भी दो जयसिंह हुए। जयसिंह प्रथम (६४१-७३ ई०) विष्णुवर्धन का पुत्र था। वह भागवत था। सर्वसिद्धि उसका विरुद था। उसके राज्यकाल की कोई राजनीतिक घटना विदित नहीं है। किंतु वह स्वयं विद्वान् था। असनपुर में उच्च शिक्षा का विद्यालय (घटिका) था। उसका एक अभिलेख तेलुगु के प्राचीनतम उपलब्ध अभिलेखों में से एक है।

वेंगि युवराज विजयसिद्धि प्रथम के बाद उसके पुत्र जयसिंह द्वितीय ने ७०६ से ७१८ ई० तक राज्य किया। सर्वसिद्धि उसका भी विरुद था।

[ल० गो०]

जयसिंह, मिर्जा राजा आमेर के कछवाहा वंश के प्रसिद्ध राजाओं में मिर्जा राजा जयसिंह का नाम अग्रगण्य है। इसका जन्म सन् १६११ में हुआ। अत्यधिक मदिरापान के कारण चाचा भावसिंह की मृत्यु होने पर, जयसिंह गद्दी पर बैठा और जहाँगीर ने उसे दो हजारी मनसबदार बनाया। जहाँगीर की मृत्यु होने पर समझदार जयसिंह ने शाहजहाँ का साथ दिया। नए बादशाह ने उसे चार हजारी मनसबदार बनाया। बल्ख जीतने के लिए जब शाहजादे औरंगजेब की नियुक्ति हुई, जयसिंह उसकी सेना के बाएँ पार्श्व का नायक बना। औरंगजेब के कंधार पर आक्रमण के समय जयसिंह को हरावल में रखा गया जो उसकी बहादुरी और सैन्य संचालन का और भी अच्छा प्रमाण है। दाराशिकोह के कंधार पर आक्रमण के समय भी जयसिंह उसके साथ था। सन् १६५७ में शाहजहाँ के बीमार पड़ने पर जब शाहशुजा बंगाल से दिल्ली की ओर बढ़ा तो जयसिंह को छह हजारी जात का मनसब देकर दारा के पुत्र सुलेमान शिकोह के साथ बनारस की ओर भेजा गया। शाहशुजा बहादुरगढ़ के युद्ध में उससे हारा। इससे प्रसन्न होकर बादशाह ने उसे ७००० जात ६ हजार सवार का मनसबदार बनाया।

दारा की सेना धरमत और सामूगढ़ के युद्धों में औरंगजेब से हारी। जयसिंह को जब ये समाचार मिले तब उसने सुलेमान शिकोह का साथ छोड़ दिया और २५ जून, १६५८ ई०, को मथुरा के पड़ाव पर उसने औरंगजेब की अधीनता स्वीकार कर ली। जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह का भी औरंगजेब से मेल करवाने में जयसिंह का पर्याप्त हाथ था। इस समय से जयसिंह राजस्थान के नरेशों में प्रमुख गिना जाने लगा। जिस सुलेमान शिकोह की उसने सेवा की थी, उसी का पीछा करने में अब उसने औरंगजेब को सहायता दी।

सन् १६६४ में औरंगजेब ने जयसिंह को दक्षिण का सूबेदार बनाया और उसे शिवाजी को दंडित करने का काम सौंपा। शाइस्ता खाँ और महाराजा जसवंतसिंह इस कार्य में असफल रहे थे। जयसिंह को पूरी सफलता मिली। पुरंदर की संधि द्वारा शिवाजी ने कई दुर्ग औरंगजेब को सौंप दिए और आगरा जाना स्वीकार किया। जयसिंह ने बहादुरी और नीतिपटुता का इस कार्य में प्रयोग किया था। बादशाह ने भी इस कार्य की कीमत समझी और जयसिंह को मुगल साम्राज्य में प्राप्त सात हजारी जात-सात हजार दो-अस्पा या से-अस्पा सवार का सबसे बड़ा मनसब मिला।

किंतु औरंगजेब की अदूरदर्शिता से शिवाजी मुगल साम्राज्य का शत्रु ही रहा। जब शिवाजी बादशाही दुर्व्यवहार से असंतुष्ट हुआ तब उसे कैद में डाल दिया गया और यथा तथा जब वह वहाँ से भाग निकला तब सब दोष जयसिंह के पुत्र रामसिंह पर मढ़ा गया। जयसिंह की मृत्यु के बाद बादशाह ने रामसिंह को आसाम युद्ध में भेज दिया। वहीं उस वीर राजपूत की मृत्यु हुई।

जयसिंह का भाग्यसूर्य भी अब अस्तोन्मुख हो चला। बादशाह ने उसे बीजापुर के विरुद्ध प्रयाण करने की आज्ञा दी, किंतु अपने जीवन की इस अंतिम चढ़ाई में जयसिंह को सफलता न मिली। बादशाह रुष्ट तो था ही, अब और रुष्ट हुआ। मार्च, १६६७ ई० में जयसिंह को दक्षिण की सूबेदारी से हटाकर उस स्थान पर बादशाह ने शाहजादे मुअज्जम को नियुक्त किया। औरंगाबाद से उत्तर लौटते समय बुरहानपुर में २८ अगस्त, १६६७ को जयसिंह का देहांत हुआ। उसने बड़ी ईमानदारी से औरंगजेब की सेवा की थी, अंतिम चढ़ाई में एक करोड़ अपनी जेब से भी खर्च किए थे। राज्य की सेवा उसने खाली हाथों शुरू न की थी। उसका शौर्य और चातुर्य भी अप्रतिम था। किंतु अपने जीवन के अंतिम समय मुगल बादशाह का यह सबसे बड़ा राजपूत खाली हाथ ही नहीं, ऋणी भी था।

[द० श०]

जयसिंह सिद्धराज (१०९४–११४३ ई०) गुजरात के चालुक्य नरेश कर्ण और मयणल्लदेवी का पुत्र जयसिंह कई अर्थों में उस वंश का सर्वश्रेष्ठ सम्राट् था। सिद्धराज उसका विरुद था। उसका जन्म १०९१ ई० में हुआ था। पिता की मृत्यु के समय वह अल्पवयस्क था अतएव उसकी माता मयणल्लदेवी ने कई वर्षों तक अभिभाविका के रूप में शासन किया था।

वयस्क होने और शासनसूत्र सँभालने के पश्चात् जयसिंह ने अपना ध्यान समीपवर्ती राज्यों की विजय की ओर दिया। अनेक युद्धों के अनंतर ही वह सौराष्ट्र के आभीर शासक नवघण अथवा खंगार को पराजित कर सका। विजित प्रदेश के शासन के लिये उसने सज्जन नाम के अधिकारी को प्रांतपाल नियुक्त किया किंतु संभवतः जयसिंह का अधिकार चिरस्थायी नहीं हो पाया। जयसिंह ने चालुक्यों के पुराने शत्रु नाडोल के चाहमान वंश के आशाराज को अधीनता स्वीकार करने और सामंत के रूप में शासन करने के लिये बाध्य किया। उसने उत्तर में शाकंभरी के चाहमान राज्य पर भी आक्रमण किया और उसकी राजधानी पर अधिकार कर लिया। किंतु एक कुशल नीतिज्ञ के समान उसने अपने पक्ष को शक्तिशाली बनाने के लिये अपनी पुत्री का विवाह चाहमान नरेश अर्णोराज के साथ कर दिया और अर्णोराज को सामंत के रूप में शासन करने दिया। मालव के परमार नरेश नरवर्मन् के विरुद्ध उसे आशाराज और अर्णोराज से सहायता प्राप्त हुई थी। दीर्घकालीन

युद्ध के पश्चात् नरवर्मन् बंदी हुआ लेकिन जयसिंह ने बाद में उसे मुक्त कर दिया। नरवर्मन् के पुत्र यशोवर्मन् ने भी युद्ध को चालू रखा। अंत में विजय फिर भी जयसिंह की ही हुई। बंदी यशोवर्मन् को कुछ समय तक कारागार में रहना पड़ा। इस विजय के उपलक्ष में जयसिंह ने अवंतिनाथ का विरुद धारण किया और अवंतिमंडल के शासन के लिये महादेव को नियुक्त किया। किंतु जयसिंह के राज्यकाल के अंतिम वर्षों में यशोवर्मन् के पुत्र जयवर्मन् ने मालवा राज्य के कुछ भाग को स्वतंत्र कर लिया था। जयसिंह ने भिनमाल के परमारवंशीय सोमेश्वर को अपने राज्य पर पुनः अधिकार प्राप्त करने में सहायता की थी और संभवतः उसके साथ पूर्वी पंजाब पर आक्रमण किया था। जयसिंह को चंदेल नरेश मदनवर्मन् के विरुद्ध कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। संभवतः मालव में मदनवर्मन् की सफलताओं से आशंकित होकर ही उसने त्रिपुरी के कलचुरि और गहड़वालों से मैत्रीपूर्ण संबंध बनाए। कल्याण के पश्चिमी चालुक्य वंश के विक्रमादित्य षष्ठ ने नर्मदा के उत्तर में और लाट तथा गुर्जर पर कई विजयों का उल्लेख किया है। किंतु ये क्षणिक अभियान मात्र रहे होंगे और चालुक्य राज्य पर इनका कोई भी प्रभाव नहीं था। अपने एक अभिलेख में जयसिंह ने पेर्मादि पर अपनी विजय का उल्लेख किया है किंतु संभावना है कि पराजित नरेश कोई साधारण राजा था, प्रसिद्ध चालुक्य नरेश नहीं। जयसिंह को सिंधुराज पर विजय का भी श्रेय दिया गया है जो सिंध का कोई स्थानीय मुस्लिम सामंत रहा होगा। जयसिंह ने बर्बरक को भी पराजित किया जो संभवतः गुजरात में रहनेवाली किसी अनार्य जाति का व्यक्ति था और सिद्धपुर के साधुओं को त्रास देता था।

अपनी विजयों के फलस्वरूप जयसिंह ने चालुक्य साम्राज्य की सीमाओं का जो विस्तार किया वह उस वंश के अन्य किसी भी शासक के समय में संभव नहीं हुआ। उत्तर में उसका अधिकार जोधपुर और जयपुर तक तथा पश्चिम में भिलसा तक फैला हुआ था। काठियावाड़ और कच्छ भी उसके राज्य में संमिलित थे।

जयसिंह पुत्रहीन था। इस कारण उसके जीवन के अंतिम वर्ष दुःखपूर्ण थे। उसकी मृत्यु के बाद सिंहासन उसके पितृव्य क्षेमराज के प्रपौत्र कुमारपाल को मिला। किंतु क्षेमराज औरस पुत्र नहीं था, इसलिये जयसिंह ने अपने मंत्री उदयन के पुत्र बाहड़ को अपना दत्तक पुत्र बनाया था।

अपनी विजयों से अधिक जयसिंह अपने सांस्कृतिक कृत्यों के कारण स्मरणीय है। जयसिंह ने कवियों और विद्वानों को प्रश्रय देकर गुजरात को शिक्षा और साहित्य के केंद्र के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। इन साहित्यकारों में से रामचंद्र, आचार्य जयमंगल, यशःचंद्र और वर्धमान के नाम उल्लेखनीय हैं। श्रीपाल को उसने कवींद्र की उपाधि दी थी और उसे अपना भाई कहता था। लेकिन इन सभी से अधिक विद्वान् और प्रसिद्ध तथा जयसिंह का विशेष प्रिय और स्नेहभाजन जिसकी बहुमुखी प्रतिभा के कारण अन्य समकालीन विद्वानों का महत्व चमक नहीं पाया, जैन पंडित हेमचंद्र था। अपने व्याकरण ग्रंथ सिद्धहेमचंद्र के द्वारा उसने सिद्धराज का नाम अमर कर दिया है।

जयसिंह शैवमतावलंबी था। मेरुतुंग के अनुसार उसने अपनी माता के कहने पर बाहुलोड में यात्रियों से लिया जानेवाला कर समाप्त कर दिया। लेकिन धार्मिक मामले में उसकी नीति उदार और समदर्शी थी। उसके समकालीन अधिकांश विद्वान् जैन थे। किंतु इनको संरक्षण देने में उसका जैनियों के प्रति कोई पक्षपात नहीं था। एक बार उसने ईश्वर और धर्म के विषय में सत्य को जानने के लिये विभिन्न मतों के आचार्यों से पूछा किंतु अंत में हेमचंद्र के प्रभाव में सदाचार के मार्ग को ही सर्वश्रेष्ठ समझा। इस्लाम के प्रति भी उसकी नीति उदार थी।

उसकी सर्वप्रमुख कृति सिद्धपुर में रुद्रमहालय का मंदिर था जो अपने विस्तार के लिये भारत के मंदिरों में प्रसिद्ध है। उसने सहस्रलिंग झील भी निर्मित की और उसके समीप एक कीर्तिस्तंभ बनवाया। सरस्वती के तट पर उसने दशावतार नारायण का मंदिर भी बनवाया था।

सं० ग्रं० — अशोक कुमार मजूमदार : चालुक्याज ऑव गुजरात।

[ल० गो०]

जयादित्य हेमचंद्र (११४५ वि०) ने अपने 'शब्दानुशासन' में व्याख्याकार जयादित्य को बहुत ही रुचिपूर्ण ढंग से स्मरण किया है। चीनी यात्री इत्सिंग ने अपनी भारत यात्रा के प्रसंग में जयादित्य का प्रभावपूर्ण ढंग से वर्णन किया है।

जयादित्य के जनन मरण आदि वृत्तांत के बारे में कोई भी परिमार्जित एवं पुष्कल ऐतिहासिक सामग्री नहीं मिलती। इत्सिंग की भारतयात्रा एवं विवरण से कुछ जानकारी मिलती है। तदनुसार जयादित्य का सं० ७१८ वि० के आस पास देहावसान हुआ होगा। जयादित्य ने भारवि कृत पद्यांश उद्धृत किया है। इस आनुमानिक तथ्य के आधार पर जयादित्य का सं० ६५० से ७०० वि० तक के मध्य अवस्थित होना माना जा सकता है। चीनी आदि विदेशी साहित्य में बहुत दिनों तक भारतीय साहित्य का अनुवाद होता रहा है। बहुत सा भारतीय साहित्य अनुवादरूप से विदेशी साहित्य में पाया गया है परंतु उसका मूल ग्रंथ भारत से लुप्त है। इस स्थिति में यदि विदेशी अनुवाद साहित्य की गंभीर गवेषणा की जाय जयादित्य के बारे में प्रामाणिक जानकारी मिल जायगी।

पाणिनि मुनि ने आठ अध्यायों में व्याकरण सूत्रों को लिखा है। उसी मूल पर सैकड़ों व्याकरण ग्रंथों का निर्माण हुआ है। अष्टाध्यायी को सभी संप्रदाय के लोगों ने समान रूप से अपनाया है। जयादित्य ने 'काशिका' नाम से अष्टाध्यायी पर व्याख्या की है। काशी में इसकी सृष्टि हुई होगी क्योंकि काशिका का प्रधान अर्थ यही है (काश्यां भवः काशिका)। कुशकाशावलंबन न्याय से हमको जयादित्य के बारे में सोचने का अवसर मिलता है। संभव है जयादित्य काशी वासी हों। काशी आज भी संस्कृत व्याकरण के पठन पाठन और व्याकरण ग्रंथों की सृष्टि का प्रधान केंद्र है। जैन, बौद्ध सांस्कृतिक साम्राज्य में भी काशिका के पठन-पाठन की बड़ी धाक थी। आज भी काशिका का प्रभाव सजीव रूप से संस्कृत शिक्षा सत्रों में देखा जाता है।

बहुत से वैयाकरण प्रायः काशिका को संपूर्ण रूप से जयादित्य का बनाया हुआ नहीं मानते। पुरुषोत्तमदेव, हरिदत्त आदि विद्वानों ने भाषावृत्ति, पदमंजरी, अमरटीका सर्वस्व, अष्टांग हृदय (सर्वांग सुंदरी टीका) में इसका उल्लेख किया है। कुछ विद्वान् जयादित्य और वामन को काशिका का निर्माता मानते हैं।

काशिका के समान भर्त्रीश्वर, जयंत, मैत्रेयरक्षित, आदि की अष्टाध्यायी व्याख्याएं थीं। उनमें से कम वृत्तियाँ पाई जाती हैं। काशिका के प्रभाव में नवीन प्राचीन सभी वृत्तियाँ विलीन हो गईं और व्यवहार रूप में आज भी काशिका ही रह गई है। काशिका पर जिनेंद्रबुद्धि कृत 'काशिका विवरण पंजिका' (न्यास) और हरदत्त मिश्र ने 'पद-

मंजरी' ग्रंथ लिखा है। जिनेंद्र कृत ग्रंथ 'न्यास' नाम से ही प्रसिद्ध है। यह बहुत विशालकाय कई भागोंवाला ग्रंथ है। न्यास ने सर्वथा काशिका के समर्थन में प्रयास किया है परंतु पदमंजरी में कैयट (महाभाष्य के टीकाकार) का अनुकरण है और अनावश्यक सामग्री को विडंबित किया गया है। काशिका की केवल अपनी विशेषता यही है कि

१–आजकल प्राप्त होनेवाली वृत्तियों में अन्यतम प्राचीन है, २–प्रत्येकसूत्र पर यथासंभव व्याख्या, उदाहरण, प्रत्युदाहरण, शंका समाधान प्रौढ़ है; ३–सभी उदाहरण प्राचीन परंपरा के अनुकरण पर हैं; ४–महाभाष्य विरोधी उदाहरणों की भी पुष्टि की गई है; ५–प्राचीन एवं लुप्त व्याकरण ग्रंथों के गणपाठ भी दिए गए हैं; ६–प्राचीनकाल में कैसी व्याख्या पद्धति थी इसका अर्थाभास काशिका से मिलता है। काशिका का लक्षित विषय रहस्यगर्भित है।

[र० शा०]

जयापीड विनयादित्य (लगभग ७७०–८०१ ई०) कश्मीर के कार्कोटवंश के ललितादित्य मुक्तापीड का पौत्र और वज्रादित्य बप्पियक का पुत्र जयापीड विनयादित्य के नाम से भी प्रसिद्ध था। वह अपने पितामह ललितादित्य की भाँति ही कुशल सेनानायक था। कल्हण के अनुसार उसने अपने राज्य के प्रारंभिक वर्षों में ही पूर्व की ओर अभियान किया, पंच गौड़ों को पराजित करके पुंड्रवर्धन् के नरेश जयंत को उनका अधीश्वर बनाया और कश्मीर को लौटते हुए कान्यकुब्ज के नरेश (संभवतः इंद्रराज) को पराजित किया। उत्तरी भारत की अव्यवस्थित राजनीतिक स्थिति में ऐसी विजय असंभव नहीं थी। कुछ विद्वान् इसके समर्थन में मध्यदेश के कुछ स्थानों से प्राप्त श्री ज० प्रताप के सिक्कों का उल्लेख करते हैं जिन्हें वे जयापीड के सिक्के मानते हैं। किंतु कल्हण के विवरण में कुछ बातें अद्‌भुत और कथा जैसी हैं। जयापीड की अनुपस्थिति में उसके बहनोई जज्ज ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया था किंतु जयापीड के लौटने पर उसके साथ युद्ध में जज्ज मारा गया। कल्हण का कथन है कि कुछ समय बाद जयापीड फिर विजय के लिये निकला। उसका संघर्ष पूर्वी भारत के नरेश भीमसेन और नेपाल के शासक अरमुडि से हुआ। उसका अंतिम युद्ध स्त्रीराज्य के साथ था। ये नाम और ये युद्ध ऐतिहासिक जैसे नहीं लगते किंतु स्टेवो नाम के विद्वान् इनको नितांत निराधार नहीं मानते। राज्यकाल के अंत की ओर अपने उत्पीड़क करों के कारण जयापीड जनसाधारण में अप्रिय हो गया था। ब्राह्मणों के एक षड्यंत्र के फलस्वरूप शासन के ३१वें वर्ष में उसका अंत हुआ।

जयापीड स्वयं कवि था। उसकी रचना के उद्धरण सुभाषित ग्रंथों में मिलते हैं। उसका शासनकाल उसका संरक्षण पानेवाले कवियों के कारण प्रसिद्ध है। इनके नाम हैं मनोरथ, शंखदत्त, चटक, संधिमत् और कुट्टनीमतम के रचयिता दामोदरगुप्त। काव्यशास्त्र में अलंकार परंपरा के सर्वप्रसिद्ध समर्थक उद्भट जयापीड के सभारत्न थे। रीति को काव्य की आत्मा माननेवाले दूसरे प्रसिद्ध काव्यशास्त्री वामन भी जयापीड के ही दरबार में थे। जयापीड ने दो नए शासनविभाग बनाए—न्याय के लिये धर्माधिकरण और अभियान के कारण राजधानी से दूर रहने पर सुविधा के लिये एक गतिशील कोष अथवा चलगंज। जयापीड ने जयपुर और द्वारवती नाम के दो नगरों की स्थापना की। जयपुर में उसने बुद्ध की तीन प्रतिमाएँ, एक विशाल विहार एवं जयादेवी तथा चतुरात्मन् केशव के मंदिर बनवाए।

[ल० गो०]

ज़रकोनियम तत्व आवर्त सारणी के चतुर्थ अंतर्वर्ती समूह (transition group) का तत्व है। इस तत्व के पाँच स्थिर समस्थानिक पाये जाते हैं, जिनका परमाणु भार ९०, ९१, ९२, ९४, ९६ है। कुछ अन्य रेडियधर्मी समस्थानिक जैसे परमाणु भार ८९ भी कृत्रिम साधनों से निर्मित किए गए हैं।

इस तत्व की खोज ज़रकान अयस्क में, क्लॉप्रोट नामक वैज्ञानिक ने सन् १७८९ में की थी। सन् १८२४ में स्विडन के प्रसिद्ध रसायनज्ञ बर्जीलियस ने ज़रकोनियम धातु तैयार की।

ज़रकोनियम की गणना विरल तत्वों में की जाती है यद्यपि पृथ्वी की सतह पर इसकी मात्रा अनेक सामान्य तत्वों से अधिक है। तत्वों की प्राप्ति सारणी में इसका स्थान बीसवाँ है। ऐसा अनुमान है कि ज़रकोनियम की मात्रा ताम्र, यशद एवं सीस तीनों की संयुक्त मात्रा से अधिक है।

इस तत्व के मुख्य अयस्क बैडिलियाइट या ब्रेज़ीलाइट (ज़रकोनियम ऑक्साइड), ज़रकेलाइट (ऑक्साइड एवं सिलिकेट का संमिश्रण) तथा ज़र्कन (ज़रकोनियम सिलिकेट) हैं। इस तत्व को विशुद्ध अवस्था में तैयार करना अत्यंत कठिन है, क्योंकि उच्च ताप पर ज़रकोनियम अनेक तत्वों से यौगिक बनाता है। बहुत समय तक इसे सोडियम, कैल्सियम या मैग्नीशियम से ज़रकोनियम ऑक्साइड के अवकरण द्वारा तैयार करते थे। इस क्रिया द्वारा अशुद्ध धातु चूर्ण रूप में प्राप्त होती थी। अब प्रायः ज़रकोनियम क्लोराइड को मैग्नीशियम धातु द्वारा अवकृत कर धातु में परिणत करते हैं। तत्पश्चात् इससे आयोडीन द्वारा अभिक्रिया कर उत्पन्न ज़रकोनियम आयोडाइड के वाष्प को तप्त टंगस्टन तंतु पर प्रवाहित करते हैं। फलस्वरूप तंतु पर विशुद्ध धातु की तह जम जाती है।

विशुद्ध ज़रकोनियम घातवर्ध्य (malleable) होता है, जिसके पतले तार बनाए जा सकते हैं। इसके कुछ विशेष गुण निम्नलिखित हैं :

संकेत ज़्र (Zr), परमाणु संख्या ४०, परमाणु भार ९१·२२, गलनांक २१००° सें०, क्वथनांक ३६००° सें०, घनत्व ६·४ ग्रा० प्रति घ० सेमी०, परमाणु व्यास ३·१९, एंग्सट्राम,

साधारण ताप पर ज़रकोनियम वायु में स्थायी है, परंतु रक्त ताप पर हाइड्रोजन, ऑक्सीजन तथा नाइट्रोजन को अवशोषित करता है। ७००° सें० पर ऑक्सीजन से और १०००° सें० से ऊपर नाइट्रोजन से क्रिया करता है। ऊष्ण सांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल, हाइड्रोक्लोरिक अम्ल तथा अम्लराज ज़रकोनियम पर क्रिया करते हैं। उच्च ताप पर यह अनेक ऑक्साइडों को अवकृत कर सकता है।

ज़रकोनियम दो तथा चार संयोजकतावाले यौगिक बनाता है। इनमें से चार संयोजकतावाले यौगिक अधिक स्थायी हैं।

ज़रकोनियम सिलिकेट तथा ऑक्साइड का विद्युत उपकरणों, तथा चीनी मिट्टी उद्योग में उपयोग होता है। ज़रकोनियम यौगिकों के वर्णकों का चमड़े की रँगाई, तथा रेशम उद्योगों में उपयोग हुआ है। ज़रकोनियम चूर्ण का उपयोग विस्फोटक उपकरणों में भी होता है।

आजकल ज़रकोनियम का प्रधान उपयोग परमाणु ऊर्जा में हो रहा है। ज़रकोनियम का न्यूट्रान–अवशोषण–अनुप्रस्थ काट (neutron absorption cross-section) अत्यंत न्यून है, जो अन्य धातुओं या मिश्रधातुओं से कहीं कम है। साथ में संक्षरण प्रतिरोधी होने से इसका उपयोग परमाणु अभिक्रियक (atomic reactor) में सफलता से हो रहा है।

[र० चं० क०]

जरत्कारु सर्पराज वासुकि के बहनोई, एक पौराणिक सर्प। इनकी स्त्री का नाम भी जरत्कारु ही था। एक बार ये सायंकाल को सो रहे थे और जरत्कारु ने इन्हें जगा दिया। इसपर रुष्ट होकर उसे छोड़ के चले गए। वह उस समय गर्भवती थी। उसी गर्भ से आस्तिक सर्प पैदा हुआ जिसने पौराणिक परंपरा के अनुसार जनमेजय के सर्पयज्ञ के समय सपरिवार वासुकि की रक्षा की थी। [भो० ना० ति०]

जरथुस्त्र प्राचीन ईरान के पैगंबर का ईरानी नाम जो प्राचीन ग्रीस के निवासियों तथा पाश्चात्य लेखकों को इसके ग्रीक रूप जोरोस्टर के नाम से ज्ञात है। फारसी में जरदुश्त्र; गुजराती तथा अन्य भारतीय भाषाओं में जरथुस्त। विभिन्न प्रमाणों के अनुसार इनकी जन्मतिथि ६००० से १००० वर्ष ई० पू० अलग अलग मानी जाती है। सबसे पहले शुद्ध अद्वैतवाद के प्रचारक जोरोस्ट्रीय धर्म ने यहूदी धर्म को प्रभावित किया और उसके द्वारा ईसाई और इस्लाम धर्म को। इस धर्म ने एक बार हिमालय पार के प्रदेशों तथा ग्रीक और रोमन विचार एवं दर्शन को प्रभावित किया था, किंतु ६०० वर्ष ई० पू० के लगभग इस्लाम धर्म ने इसका स्थान ले लिया। यद्यपि अपने उद्‌भवस्थान आधुनिक ईरान में यह धर्म वस्तुतः समाप्त है, प्राचीन जोरोस्ट्रीयनों के मुट्ठीभर बचे खुचे लोगों के अतिरिक्त, जो निदरशताओं के बावजूद ईरान में रहे, और उनके वंशजों के अतिरिक्त जो अपने धर्म को बचाने के लिये बारह शताब्दियों से अधिक हुआ पूर्व भारत भाग आए थे, उनमें उस महान् प्रभु की वाणी अब भी जीवित है और आज तक उनके घरों और उपासनागृहों में सुनी जाती है। गीतों के रूप में गाथा नाम से उनके उपदेश सुरक्षित हैं जिनका सारांश है अच्छे विचार, अच्छी वाणी, अच्छे कार्य (दे० 'गाथा')।

राजवंश से अच्छी तरह संबद्ध सूरमाओं के स्पितमा (spitama) कबीले में जरथुस्त्र का जन्म हुआ। प्लिनी (pliny) द्वारा नेचुरल हिस्ट्री में उल्लिखित एक परंपरा के अनुसार यह एकमात्र मानव थे जो जन्म के दिन ही हँसे थे। उसके जन्म के समय मज्दयासनी धर्म विकृत हुआ। अंधविश्वास ने सच्चे ज्ञान को स्थानभ्रष्ट कर दिया था। ईश्वर (आहुर मज्द) पर झूठे देवताओं ने आक्रमण कर दिया। अतः पंद्रह वर्ष की उम्र में जरथुस्त्र ने संसार से वैराग्य ले लिया और मानव अस्तित्व के रहस्य का गंभीर ध्यान करने में सात वर्ष एकांतवास में बिताए। जब दिव्य दृष्टि की लालसा ने अन्य सारी इच्छाओं का नाश कर दिया, तब दिव्य शक्तियों में से वोहू महह् (vohu mahah सुविचार) उनकी ध्यानावस्था में प्रकट हुए और उनकी समाधिस्थ आत्मा को आहुर मज्द के समक्ष उपस्थित किया।

'हे मज्द, जब मैंने पहले पहल अपने ध्यान में तेरी कल्पना की तो मैंने शुद्ध हृदय से तुझे विश्व का प्रथम अभिनेता माना, विवेक का जनक, सदाचार का उत्पन्न करनेवाला, मनुष्य के कार्यों का नियामक। प्रारंभिक कठिनाइयों के बाद उनके मत को राजा विश्तस्प (vishtasp) ने स्वीकार किया और वह तेजी से फैलने लगा। पचास वर्ष तक प्रत्येक स्त्री पुरुष को सदात्मा के चारों ओर जमा होने और दुरात्मा की शक्तियों का विनाश करने का उपदेश देकर अपने जीवन के अंतिम दिन तक उन्होंने धर्म का प्रचार किया। उनमें दूसरे धर्मों के प्रति असहिष्णुता नहीं थी।

इस मत का निष्कर्ष 'अश' (asha) के नियमों की उदात्त भावना है। सदाचार तो 'अश' (asha) शब्द की अस्पष्ट व्याख्या मात्र है जो व्यवस्था, संगति, अनुशासन, एकरूपता का सूचक है और सब प्रकार की पवित्रता, सत्यशीलता और परोपकार के सभी रूपों और क्रियाओं को समेटती है। लोगों के आगे ईश्वर का गुणगान करते हुए पैगंबर ने उनसे कहा कि किसी मत को आँख बंद कर मत स्वीकार करो, विवेक की सहायता से उसे स्वीकार या अस्वीकार करो। यह विलक्षण बात है कि धार्मिक विचार की इस पद्धति में अमरत्व सद्विचार के साथ ही जुड़ा है। जो लोग 'वोहू महह्' के शब्द सुन पाते हैं और उसके अनुसार कार्य करते हैं, वे स्वास्थ्य और अमरत्व प्राप्त करते हैं। भावी जीवन की इस कल्पना से मृत्यु के बाद जीवन का विचार उत्पन्न हुआ जिसकी शिक्षा पुरानी पोथी के अंतिम भाग में दी गई है।

विचारों की गड़बड़ और महात्मा के सुचिंतित दर्शन की प्रक्रिया में सद् और असद् के विरोध की भ्रांत धारणा के कारण यूरोपीय लेखकों ने जरथुस्त्र के मत को द्वैतधर्म कहा है। इस प्रकार की कल्पना ने आवेस्ता सिद्धांत के मूल तत्वों को ही नजरअंदाज कर दिया है। यूरोपीय और जोरोष्ट्री विद्वानों के अनुसंधानों ने अब निश्चयपूर्वक यह प्रमाणित कर दिया है कि जरथुस्त्र का विचारदर्शन शुद्ध अद्वैतवाद पर स्थित है और दुरात्मा के व्यक्तित्व का उल्लेख शुद्ध रूपकात्मक उल्लेख के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। किंतु इसमें अजोरोस्ट्रीय लेखकों का उतना दोष नहीं है जितना कि परवर्तीय युग के जोरोस्ट्रियनों का है जो स्वयं अपने पैगंबर की वास्तविक शिक्षाओं को भूल गए थे, जिन्होंने दर्शन को अध्यात्म से मिलाने की गड़बड़ की और आहुर मज्द के समकक्ष और समकालीन दुरात्मा के अस्तित्व के विश्वास को जन्म दिया। [रु० म०]

जरबोआ (Jerboa) अथवा हरिण मूषक एक प्रकार का चूहा है, जो एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका के रेगिस्तानों में पाया जाता है। हरिण मूषक हमारे देश में प्रायः सभी स्थानों में मिलता है लेकिन संख्या

जरबोआ

में कम और रात्रिचर होने के कारण इसे हम कम देख पाते हैं। अपनी अगली छोटी और पिछली बड़ी टाँगों के कारण हरिण की तरह छलाँगें भरता हुआ चलता है, इसीलिये इसका नाम हरिण मूषक पड़ा है। इसकी एक एक छलांग चार पाँच गज की होती है। कभी

कभी निरंतर इतनी जल्दी जल्दी छलाँगें भरता है कि मालूम होता है, हवा में उड़ रहा है।

हरिण मूषक लगभग छह इंच लंबा होता है जिसके लगभग सात साढ़े सात इंच की लंबी दुम होती है। इसकी अगली और पिछली टाँगों की लंबाई में कंगारू की टाँगों से भी अधिक विषमता होती है। अगली टाँगें एक इंच से अधिक लंबी नहीं होतीं, किंतु पिछली टाँगें छह इंच की होती हैं। इसका रंग हलका ललछौहाँ भूरा होता है, जिसमें कुछ राखीपन की झलक रहती है, जिससे यह अपने रेगिस्तानी वातावरण में बिलकुल मिल जाता है और शीघ्र इसका पता नहीं चलता। तल भाग का रंग सफेद होता है। पार्श्व भाग के बाल कालापन लिए होते हैं। यह देखने में कंगारू जैसा लगता है और उसीकी तरह जब अपनी पिछली टाँगों पर खड़ा होता है तो अपनी दुम का सहारा लेता है।

हरिण मूषक बड़ी संख्या में एक साथ रहते हैं और अगले पैरों से मिट्टी खोद कर बिल बनाते हैं। दिन में या तो बिल में छिपे रहते हैं या बिल के द्वार के समीप ही बैठते हैं और ज्यों ही किसी प्रकार का खटका होता है, त्यों ही तुरंत बिल में घुस जाते हैं। इस प्रकार सारा दिन बिल में अथवा उसके समीप बिताकर रात को भोजन की तलाश में ये बाहर निकलते हैं। इनका मुख्य भोजन घास, जड़, बीज और अनाज है। इसकी मादा साल में कई बार, आठ दस या उससे भी अधिक संख्या में बच्चे जनती है। [भू० ना० प्रा०]

जराविद्या (Gerontology) **और जरारोगविद्या** (Geriatrics) का संबंध प्राणिमात्र के, विशेषकर मनुष्य के वृद्ध होने तथा वृद्धावस्था की समस्याओं के अध्ययन से है। संसार का प्रत्येक पदार्थ, निर्जीव और सजीव, सभी वृद्ध होते हैं, उनका जीर्णन (ageing) होता है। प्रत्येक धातु, पाषाण, काष्ठ, यहाँ तक कि कितनी ही धातुओं की रेडियधर्मिता (Radioactivity) का गुण भी मंद हो जाता है। यही जीर्णन या वृद्ध होना कहलाता है। एक प्रकार से उत्पत्ति के साथ ही जीर्णन प्रारंभ हो जाता है, तो भी यौवन काल की चरम सीमा पर पहुँचने के पश्चात् ही जीर्णन अथवा जरावस्था का प्रत्यक्ष आरंभ होता है।

जराविज्ञान के तीन अंग हैं : (१) व्यक्ति के शरीर का ह्रास, (२) व्यक्ति के शारीरिक अवयवों, अंग या अंगों का निर्माण करनेवाली कोशिकाओं का ह्रास और (३) वृद्धावस्था संबंधी सामाजिक और आर्थिक प्रश्न। इस अवस्था में जो रोग होते हैं, उनके विषय को जरारोगविद्या कहा जाता है। जरावस्था के रोगों की चिकित्सा (Geriatrics) भी इसी का अंग है।

जरावस्था के प्रारंभ के सामान्य लक्षण, बालों का सफेद होना तथा त्वचा पर झुरियाँ पड़ जाना महत्व की घटना नहीं है। उसकी विशेषता आभ्यंतरांगों या ऊतकों (tissues) में होनेवाले वे परिवर्तन हैं, जिनके फलस्वरूप उन अंगों की क्रिया मंद पड़ जाती है। इस प्रकार के परिवर्तन बहुत धीमे और दीर्घकाल में होते हैं। चलने, भागने, दौड़ने की शक्ति का ह्रास इस अवस्था का प्रथम लक्षण है। किंतु यदि व्यक्ति युवावस्था में स्वस्थ रहा है तो अभ्यंतरांगों में ह्रास दीर्घकाल तक नहीं होता तथा विचार की शक्ति बढ़ जाती है। वृद्ध व्यक्ति में अपनी आयु के अनुभवों के कारण सांसारिक प्रश्नों को समझने और हल करने की विशेष क्षमता होती है। इसी लिये कहा गया है कि 'न सा सभा यत्र न संति वृद्धाः'। वृद्ध व्यक्ति की नवीन विषयों को समझने की शक्ति भी नहीं घटती। यही पाया गया है कि ८२ वर्ष की आयु में व्यक्ति की विषय को ग्रहण करने की शक्ति १२ वर्ष के बालक के समान होती है। यह शक्ति २२ वर्ष की आयु में सबसे अधिक उन्नत होती है।

प्राणिमात्र का शरीर असंख्य कोशिकाओं (cells) के समूहों का बना हुआ है। अतएव ह्रास की क्रिया का अर्थ है कोशिकाओं का ह्रास। कोशिकाओं की सदा उत्पत्ति होती रहती है। वे नष्ट होती रहती हैं और साथ ही नवीन कोशिकाएँ उत्पन्न भी होती रहती हैं। यह अवधि जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत होती रहती है। इस प्रकार कोशिकाएँ सदा नई बनी रहती हैं। कोशिकाओं का सामूहिक कर्म ही अंग का कर्म है। किंतु वृद्धावस्था प्रारंभ होने पर इनकी उत्पत्ति की शक्ति घटने लगती है और जितनी उत्पत्ति कम होती है, उतना ही अंगों की कर्मशक्ति का ह्रास होता है।

कोशिका के जीर्णन प्रविधि का ज्ञान अभी तक अत्यल्प है। इसके ज्ञान का अर्थ है जीवनोत्पत्ति का ज्ञान। इसका ज्ञान हो जाने पर जीवन ही बदला जा सकता है।

अंगों के ह्रास के कारण वृद्ध शरीर में बाह्य उत्तेजनाओं की प्रतिक्रिया करने की शक्ति घट जाती है। अतएव यह रोगों के जीवाणुओं (bacteria) आदि के शरीर में प्रवेश करने पर उनका प्रतिरोध नहीं कर पाता। आघात आदि से क्षत होने पर यह नवीन ऊतक बनाने में असमर्थ होता है। यद्यपि जरावस्था के रोग युवावस्था के रोगों से किसी प्रकार भिन्न नहीं होते, तो भी उपर्युक्त कारणों से चिकित्सा में बाधा उत्पन्न हो जाती है और चिकित्सक को विशेष आयोजन करना होता है। वृद्धावस्था में होनेवाले विशेष रोग ये हैं : धमनी काठिन्य (arteriosclerosis), तीव्र रक्त चाप (high blood pressure), मधुमेह (diabetes), गठिया (gout), कैंसर (cancer) तथा मोतियाबिंद (cataract)। इनमें से प्रथम और द्वितीय रोगों का हृदय और शारीरिक रक्त संचरण से सीधा संबंध होने के कारण उनसे अनेक प्रकार से हानि पहुँचने की आशंका रहती है।

उपर्युक्त जरावस्था के रोगों की विशेषता यह है कि वे लक्षण प्रगट होने के बहुत पहिले प्रारंभ होते हैं, जब कि उनका संदेह तक नहीं हो सकता। २ से २० वर्ष पूर्व उनका प्रारंभ होता है। अनेक बार अन्य विकारों के कारण रोगी की जाँच करने पर उनका चिकित्सक को पता लगता है, तब उनको रोकना असंभव हो जाता है और वे असाध्य हो जाते हैं; अतएव चिकित्सक को प्रौढ़ावस्था के रोगियों की परीक्षा करते समय भावी संभावना को ध्यान में रखना चाहिए। शरीर के भीतर ही उत्पन्न विकार इन रोगों का कारण होते हैं। जीवाणुओं की भाँति इनका कोई बाहरी कारण नहीं होता, इस कारण इनका निरोध असंभव होता है।

कोशिकाओं का ह्रास — प्रयोगों से मालूम हुआ कि शरीर की कोशिकाएँ बहुदीर्घजीवी होती हैं। एक विद्वान् ने मुर्गी के भ्रूण के हृदय का टुकड़ा काट कर उपयुक्त पोषक द्रव्य में ३४ वर्ष तक रखा। इस दीर्घ काल के पश्चात् भी वे कोशिकाएँ वैसी ही सजीव और क्रियाशील थीं जैसी प्रारंभ में। इसके कई गुना लंबे काल तक कोशिकाएँ जीवित रखी गई हैं। विद्वानों का कथन है कि वे अमर सी मालूम होती हैं। अतः प्रश्न उठता है कि जरावस्था का क्या कारण है ?

विद्वानों का मत है कि जरा का कारण कोशिकाओं के बीच की अंतर्वस्तु द्रव (fluids), तंतुओं आदि में देखना चाहिए। उनके मतानुसार इन तंतुओं या अन्य प्रकार की अंतर्वस्तु द्रव की वृद्धि हो जाती है, जो अपने में खनिज लवण एकत्र होने से कड़े पड़ जाते हैं। इस कारण अंतर्स्थान में होकर जो वाहिकाएँ कोशिकाओं को पोषण पहुँचाती हैं, वे दब जाती हैं तथा दब कर नष्ट हो जाती हैं जिससे कोशिकाओं में पोषण नहीं पहुँच पाता और वे नष्ट होने लगती हैं। इसी से जरावस्था की उत्पत्ति होती है।

जरावस्था का सामाजिक रूप — जरावस्था सदा से सामाजिक प्रश्न रही है। वृद्धावस्था में स्वयं व्यक्ति में जीवकोपार्जन की शक्ति नहीं रहती और अधिक आयु होने पर उनके लिये चलना फिरना या नित्यकर्म करना भी कठिन होता है। अतएव वृद्धों को न केवल अपनी उदर पूर्ति के लिये अपितु अपने अस्तित्व तक के लिये दूसरों पर निर्भर करना पड़ता है। समाज के सामने सदा से यह प्रश्न रहा है कि किस प्रकार वृद्धों को समाज पर भार न बनने दिया जाय, उनको समाज का एक उपयोगी अंग बनाया जाय तथा उनकी देखभाल, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा सब प्रकार की सुविधाओं का प्रबंध किया जाय।

यह प्रश्न २०वीं शताब्दी में और भी जटिल हो उठा है, क्योंकि जीवनकाल की अवधि में विशेष वृद्धि होने से वृद्धों की संख्या बहुत बढ़ गई है। इस कारण उनके लिये निवासस्थान, जरावस्था पेंशन (जो अभीतक यथोचित रूप में हमारे देश में नहीं है, किंतु उत्तर प्रदेश सरकार ने इसे प्रारंभ कर दिया है।) सरकार उनका भरणपोषण, जो काम करने योग्य हों उनके लिये उपयुक्त काम, बीमार होने पर चिकित्सा का प्रबंध तथा अन्य अनेक ऐसे प्रश्न हैं जो समाज को सुलझाने होंगे। इस विषय की ओर सन् १९४० से पूर्व विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। किंतु अब यह प्रश्न, विशेषकर पाश्चात्य देशों में, इतना जटिल हो उठा है कि उन देशों की सरकारें इस प्रश्न पर गंभीरतासे विचार करने और उचित योजनाएँ बनाने में व्यस्त हैं, क्योंकि उसका प्रभाव जाति के सभी आयुवालों पर पड़ता है। [मु० स्व० व०]

जरासंध मगध के चंद्रवंशीय राजा जयद्रथ का पुत्र। किंवदंती है कि यह दो माताओं से दो भागों में उत्पन्न हुआ था। जरा नामक राक्षसी ने दोनो भागों को जोड़कर उसका पालन पोषण किया। इस प्रकार उसका नाम जरासंध पड़ा। यह बहुत पराक्रमी सम्राट् सिद्ध हुआ। भीम ने द्वंद्व युद्ध में इसे संधि स्थान से चीर दिया और इसकी मृत्यु हो गयी।

जरी सोने का पानी चढ़ा हुआ चाँदी का तार है तथा इस तार से बने वस्त्र भी जरी कहलाते हैं। जरी वस्त्र सोने, चाँदी तथा रेशम अथवा तीनों प्रकार के तारों के मिश्रण से बनता है। इन तारों की सहायता से बेलबूटे तथा उभाड़दार अभिकल्प बनाए जाते हैं। बुनकर बुनाई के समय इन तारों का उपयोग अतिरिक्त बाने के रूप में करता है और इनसे केवल अभिकल्प ही बनाए जाते हैं।

भारतीय किमख्वाब और पर्शियन सुनहले तारों तथा रेशम के वस्त्र को भी लोग जरी कहते हैं, किंतु वस्तुतः ये जरी नहीं है, क्योंकि इन वस्त्रों में जरीवाली सजावट नहीं होती। लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व पर्शिया, सीरिया, उत्तरी अफ्रीका तथा दक्षिणी यूरोप में सुनहले तारों का वस्त्र अंशतः जरी होता था। इंग्लैंड, फ्रांस, रोम, चीन, तथा जापान में जरी का प्रचलन प्राचीन काल से है।

भारत का जरी उद्योग प्राचीन काल से विश्वविख्यात रहा है और यहाँ के बने जरी वस्त्रों को धारण कर देश विदेश के नृपति अपने को गौरवान्वित समझते रहे हैं। काशी जरी उद्योग का केंद्र रहा है। बनारस की प्रसिद्ध बनारसी साड़ियाँ और दुपट्टे शताब्दियों से लोकप्रिय रहे हैं। आज इनकी खपत, अमरीका, ब्रिटेन और रूस आदि देशों में क्षिप्र गति से वृद्धि प्राप्त कर रही है। गुजरात वर्तमान भारतीय जरी तार उद्योग का केंद्र है। इसके पूर्व काशी ही इसका केंद्र था। पहले चाँदी के तारों को सोने की पतली पत्तरों पर खींचकर सुनहला बनाया जाता था, किंतु विज्ञान की उन्नति ने इस श्रमसाध्य विधि के स्थान पर विद्युद्विश्लेषण विधि प्रदान की है। विदेश से आनेवाले जरी के तार इसी विधि द्वारा सुनहले बनाए जाते हैं और भारतीय विधि से बने तारों की अपेक्षा सस्ते भी होते हैं।

अब जरी शब्द का व्यवहार उभाड़दार अभिकल्प के बने सूती वस्त्रों के लिये भी होने लगा है। इन वस्त्रों के अंतर्गत पर्दे तथा बच्चों एवं स्त्रियों के पहनने के वस्त्र आते हैं। सूती जरी वस्त्र दोनों ओर एकसा या उल्टा सीधा होता है। इसके उल्टा सीधा होने पर ताने बाने कई रंग, विभिन्न संख्या और कई किस्म के हो सकते हैं। पर्दे के ताने बाने की संख्या और किस्म में पहनने के वस्त्र की अपेक्षा कम विषमता होती है।

[अ० ना० मे०]

जरीडीह बजार स्थिति : २३° ४५' उ० अ० तथा ८५° ५५' पू० दे०। यह बिहार राज्य के हजारीबाग जिले के अंतर्गत एक प्रसिद्ध व्यावसायिक केंद्र है। जारंगडीह कोयले की खान समीप होने के कारण यह नगर उन्नति पर है। यहाँ का बाजार कोयले के क्षेत्रों में बहुत प्रसिद्ध है। यहाँ से गिरीडिह और चास जाने के लिये बसें खुलती हैं। यहाँ की जनसंख्या ३१,६०५ (१९६१) है। [शि० नं० स०]

जर्कन खनिज जरकोनियम धातु का सिलिकेट ($Zr\ Si\ O_4$) है। छोटे छोटे कणों के रूप में यह हीरा सा चमकता है। जर्कन शब्द अरबी के जरगन शब्द से व्युत्पन्न समझा जाता है। जर्कन खनिज रंगहीन तथा कई रंगों का भूरा, धूसर, लाल, नीला, हरा और पीला पाया जाता है। कुछ दशाओं में रंगीन जर्कन को ऑक्सीकरण वातावरण में गरम करने से रंग दूर हो जाता और कुछ दशाओं में अवकरण वातावरण में गरम करने से नीला रंग विकसित होता है।

सामान्य जर्कन अपारदर्शक होता है पर रत्न के रूप में प्रयुक्त होनेवाला जर्कन पारदर्शक होता है। इसकी कठोरता ७·५ और आपेक्षिक गुरुत्व ४·७ है। एक अन्य किस्म का जर्कन भी पाया जाता है जिसकी कठोरता ६ और गुरुत्व ३·९४ है। इसका वर्तनांक ऊँचा होता है। आकार और चमक में यह हीरा जैसा प्रतीत होता है जिससे रत्न के रूप में इसका व्यवहार व्यापक रूप से होता है। जर्कन में जरकोनियम ऑक्साइड ६६-६७ प्रति शत रहता है।

जर्कन मणिभीय चूना-पत्थरों और लेफेलिन साइनाइट में, पश्चिमी समुद्री तट के विशेषतः त्रावनकोर के, आस पास के समुद्री तटों के रेत निक्षेप में, बिहार प्रदेश के हजारीबाग और राँची जिले के क्षोभ निक्षेप (placer deposits), जलोढ़, (alluvial) तथा अवशिष्ट (sedimental) मृदाओं में पाया जाता है। जर्कन साधारणतया अन्य खनिजों जैसे इल्मेनाइट, मोनोजाइट (Monozite), नाइस (Gneiss) एवं शिस्ट (Schist) शिलाओं में भी पाया जाता है। रत्न किस्मवाला जर्कन फ्रांस, लंका, बरमा, न्यूजीलैंड, न्यूसाउथवेल्स आदि देशों में मिलता है।

जरथुस्त्र (पृष्ठ ३६८)

चेस्टर्टन, गिलबर्ट कीथ (पृष्ठ २६१)

जर्मनी (पृष्ठ ४०१)

ब्रैंडनबर्ग गेट
बर्लिन का यह प्रवेशद्वार विख्यात है।

बॉन (Bonn) का बाजार

जर्कन त्रिकोणीय वर्ग का समपार्श्वीय (prismatic) मणिभ बनाता है जिसके दोनों सिरों पर पिरामिड बना रहता है। ज़र्कन उष्मा प्रतिरोधक होता है। शुद्ध जर्कन ऑक्साइड की मूषा २४००° सें० तक उष्मा रोधन कर सकती है। उद्दीप्त गैस मैंटल और नेर्न्स्ट लैंपों में यह काम आता है। उष्मसह सामानों के तैयार करने और मृत्तिका शिल्पों में इसका व्यवहार होता है। इसकी मिश्रधातुएँ बनती हैं, जो अनेक उद्योगों में काम आती हैं। समुद्रतटीय काली रेत से जर्कन तैयार करने का एक कारखाना त्रावनकोर के समीप खुला है, जहाँ विद्युच्चुंबकीय उपचार द्वारा जर्कन अन्य खनिजों से पृथक् किया जाता है। [वि० सा० दु० तथा म० ना० मे०]

जर्नल यह शब्द प्राचीन लातिनी द्विर्नालिस और फ्रेंच शब्द जूर्ना (Journal) से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ 'दैनिकी' होता है। शब्द का प्राचीन और वर्तमान प्रचलित अर्थ 'दैनिक लेख' है, यद्यपि लेखों के संस्करण और कालक्रम कुछ भी हो सकते हैं। इस प्रकार 'जर्नल' में डायरी की भाँति दैनिक लेखा नहीं होता वरन् मासिक, त्रैमासिक और वार्षिक होता है। २०वीं शताब्दी में 'जर्नल' शब्द का प्रयोग पत्रिकाओं और समीक्षापत्रों के लिये होता है

जर्मन भाषा और साहित्य (दे० ड्वायश भाषा और साहित्य)।

जर्मनी ८ मई, १९४५ के बाद संयुक्त राष्ट्र, रूस, ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रांस द्वारा प्राचीन जर्मनी के चार विभाग कर दिए गए। इसी समय फेडरल रिपब्लिक ऑव जर्मनी का निर्माण हुआ जिसे पश्चिमी जर्मनी भी कहते हैं। ५ मई, १९५५ की लंदन पेरिस संधि द्वारा जर्मनी का यह भाग स्वतंत्र कर दिया गया, किंतु इसके भूभाग पर अमरीका, ब्रिटेन, और फ्रांस के सैनिकों के रहने का आदेश भी प्रदान किया गया। इस भाग की जनसंख्या ५,३७,२६,१०० (१९६१), क्षेत्रफल ९५,९१८ वर्ग मील तथा राजधानी बॉन (Bonn) है।

जर्मनी का एक और भाग जिसे पूर्वी जर्मनी कहते हैं, जर्मन डेमोक्रेटिक रिपब्लिक (German Democratic republic) के नाम से विख्यात है। यह गणतंत्र पूर्वी जर्मनी के प्रांतों को संमिलित करता है। इस भाग एवं रूस के बीच सन् १९५५ की संधि के अनुसार इसको स्वतंत्रता प्राप्त हुई। इस भाग का क्षेत्रफल ४१,६३५ वर्ग मील, जनसंख्या १,७०,७९,३०६ (१९६१) तथा राजधानी पूर्वी बर्लिन है।

भौगोलिक दृष्टि से जर्मनी के निम्नलिखित विभाग किए गए हैं: १. जर्मनी का उत्तरी मैदान, २. मध्य जर्मनी, ३. दक्षिणी-पश्चिमी जर्मनी, ४. मोड़दार पर्वतों का प्रदेश।

१. जर्मनी का मैदान — इस प्रदेश की अधिकतम चौड़ाई लगभग १५० मील है। हिमयुग का प्रभाव यहाँ के भूपटल पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। जलप्रवाह का विकास अच्छा नहीं है एवं भूमि हिम कटाव के कारण अनुपजाऊ है। इस भाग की मुख्य नदियाँ एल्बे (Elbe) तथा वेज़र (Weser) हैं। अनुपजाऊ भागों को पोलैंड के आधार पर उपजाऊ बनाया जा रहा है।

इस प्रदेश के मुख्य नगरों में बर्लिन (३२,२७,४८३) तथा हैमबर्ग (१८,३६,९५०) हैं। यहाँ से जर्मनी के प्रत्येक क्षेत्र के लिये आवागमन के साधन सुलभ हैं।

२. मध्य जर्मनी — यह संपूर्ण देश का अत्यधिक विकसित प्रदेश है। यहाँ जर्मनी के विशाल उद्योग, खनिज तथा अन्य संबंधित उद्योगों का विकास हुआ है। युद्धों के कारण इस भाग की अत्यधिक क्षति हुई थी। किंतु पुनः उद्योग धंधों का विकास किया गया है। यहाँ कपड़ा, रेशम, लोहा, इस्पात, कांच, बरतन, रसायनक तथा चमड़े के अनेक कारखाने हैं।

प्रमुख नगरों में ड्रेसडेन (जनसंख्या ४,९१,६९९) एल्बे के तट पर स्थित है। लाइपसिग (Leipzig, जनसंख्या ५,८५,२५८) महत्वपूर्ण आवागमन का केंद्र है, जो उत्तरी एवं मध्य जर्मनी के मुख्य औद्योगिक नगरों को मिलाता है। इस भौगोलिक विभाग के अंतर्गत सैक्सनी एवं वेस्टफेलिया हैं। वेस्टफेलिया क्षेत्र खनिजों के लिये विश्वप्रसिद्ध है। इसी क्षेत्र में रूर (Ruhr) कोयला क्षेत्र स्थित है, जहाँ प्रति वर्ष लगभग ८,००,००,००० टन कोयले का उत्खनन होता है। इस प्रदेश के मुख्य औद्योगिक नगरों में एसेन (Essen) जनसंख्या ७,२९,४०० तथा डार्टमंट (६,४०,८००) है। इन नगरों के क्षेत्र में लोहा गलाना तथा इस्पात निर्माण मुख्य उद्योग हैं। लारेस क्षेत्र में कच्चा लोहा प्राप्त होता है। युद्ध के पहले लोहे इस्पात का उत्पादन यहाँ ग्रेट ब्रिटेन के उत्पादन से भी अधिक था।

३. दक्षिणी पश्चिमी जर्मनी — इस भौगोलिक विभाग के अंतर्गत राइन घाटी तथा समीपवर्ती प्रदेश आते हैं। यहाँ राइन नदी
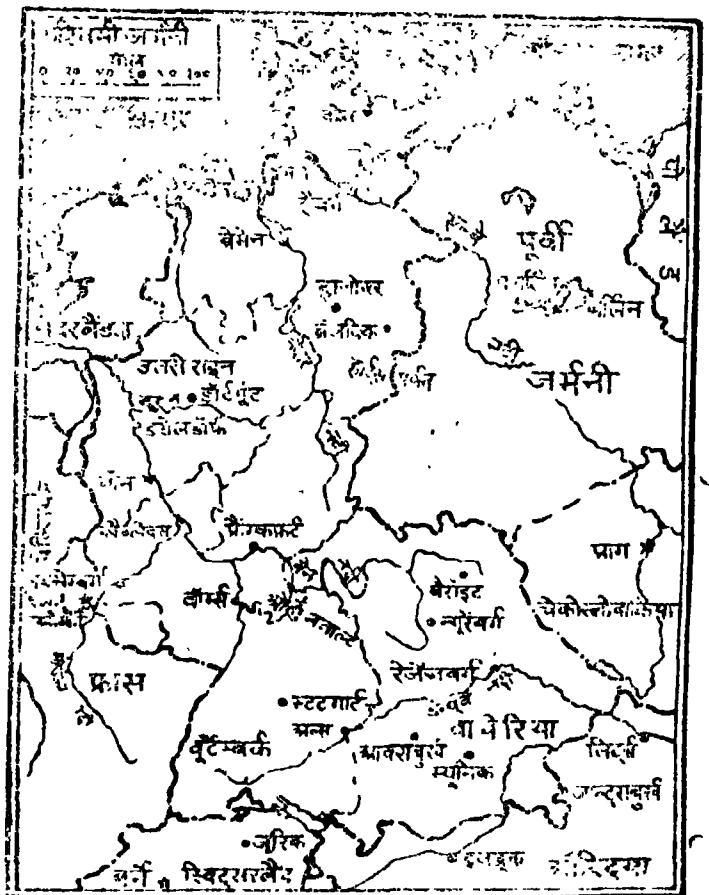
गहरी घाटी से होकर प्रवाहित होती है। यह क्षेत्र कृषि तथा आवागमन के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस घाटी से आवागमन के मार्ग दक्षिणी यूरोप के लिये बेसेल से होकर स्विटसरलैंड एवं इटली

की ओर जाते हैं तथा पश्चिमी यूरोप के लिये सेवर्न गेट से होकर पेरिस जाते हैं।

राइन घाटी के पूर्व की ओर त्रिकोणात्मक रूप में ब्लैक फारेस्ट का विस्तृत प्रदेश है। इस प्रदेश की ऊँचाई २,००० से ३,००० फुट तक है। यहाँ के प्रमुख नगरों में न्यूरेमवर्ग एवं स्टटगार्ट (Stuttgart) हैं।

४. मोड़दार पर्वतप्रदेश — इसके अंतर्गत बवेरिया (Bavaria) का भाग आता है। यहाँ की भूमि अनुपजाऊ है। बवेरिया प्रमुख नगर तथा क्षेत्रीय राजधानी है। यह नगर आइज़र नदी के तट पर
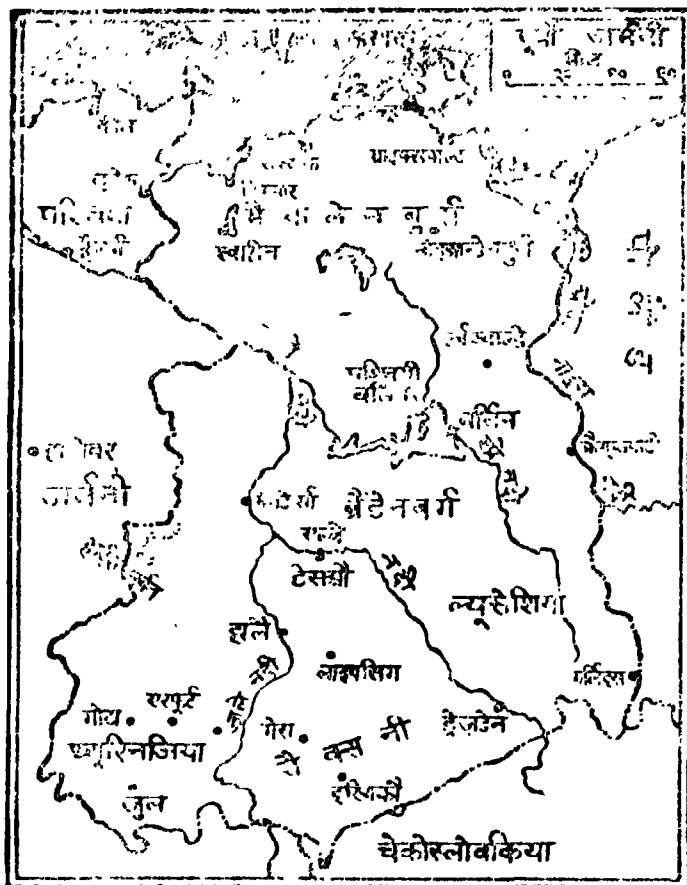
स्थित है। सन् १९५५ में इसकी जनसंख्या ९,००,००० थी। पर्वतीय भागों का प्रदेश अत्यंत ऊँचा नीचा है। यहाँ ओबरामरगोउ (Oberammergau) प्रसिद्ध दर्शनीय क्षेत्र है।

जर्मनी की जलवायु कई प्रकार की है। उत्तरी जर्मनी मुख्यतः उत्तरी-पश्चिमी यूरोपीय जलवायु प्रदेश के अंतर्गत आता है। मध्य एवं दक्षिणी जर्मनी महाद्वीपी प्रकार की जलवायु के क्षेत्र में संमिलित किए जाते हैं।

जर्मनी के विभाजन तथा युद्धों के परिणामस्वरूप यहाँ कई समस्याएँ खड़ी हो गई हैं जैसे शरणार्थी तथा कृषि समस्या। भूमि के विभाजन के कारण प्रति व्यक्ति कृषिभूमि कम हो गई तथा उत्पादन का परिमाण घट गया। निम्नलिखित तालिका में उपज मीटरीटन प्रति हजार हेक्टेयर (एक हेक्टेयर = २.४७ एकड़) में दी गई है :

उपज	पश्चिमी जर्मनी	पूर्वी जर्मनी
गेहूँ	८५८	४९०
राई	१,१९८	१,११०
जौ	५००	३००
जई	१,२०२	७८५
आलू	१,११९	८००
चुकंदर	१६०	२०६

इससे जर्मनी में उपज का वितरण स्पष्ट हो जाता है। पश्चिमी जर्मनी में राई, जई, और आलू मुख्य तथा गेहूँ और चुकंदर गौण उपज हैं तथा पूर्वी जर्मनी की राई और जई मुख्य फसलें हैं।

[भू० का० रा०]

जाति, भाषा और धर्म — पूर्वी जर्मनी के निवासी प्रायः समजातीय हैं, यद्यपि स्वेबियनों (Swabians), थुरिंजियनों (Thuringians) सैक्सनियनों (Saxonians), प्रशियनों (Prussians) आदि में कुछ परस्पर भेदमूलक विशेषताएँ हैं। पश्चिमी में लगभग ९९% मूल जर्मन हैं। अल्पसंख्यकों में केवल डेनी (Danes) हैं। हाल में पूर्वी यूरोप से कुछ लोग आकर बसे हैं।

जर्मन दोनों राज्यों की राजभाषा है। भिन्न भिन्न भागों में प्रयोग होनेवाली बोलियाँ जर्मन के ही अंतर्गत हैं।

दोनों राज्यों में संविधान द्वारा धार्मिक स्वतंत्रता मान्य है। प्रायः रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टैंट लोग ही बसते हैं। पूर्वी जर्मन की 'सोशलिस्ट यूनिटी पार्टी' का उद्देश्य नास्तिक समाज की रचना है।

इतिहास — दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में पश्चिमी यूरोप में जर्मन जातियों के अभ्युदय का उल्लेख मिलता है। कुछ जातियाँ जैसे अलामन्नी (Alamanni) बरगंडियाई (Burgundians), फ्रांक (Franks) लंबार्ड (Lombards) ओस्ट्रोगोथ (Ostrogoths) और विज़ीगोथ (Visigoths) पूर्व में राइन नदी के मुहाने, पश्चिम में एल्बे नदी और दक्षिण में उत्तरी इटली के भागों के बीच धीरे धीरे बसी। उनमें से कुछ ने इटली पर आक्रमण किया और रोम साम्राज्य का विनाश किया, अन्य फ्रांस और ब्रिटेन में बस गईं। राइन नदी के दोनों ओर का क्षेत्र कुछ दिन विवाद में रहने के पश्चात् फ्रांकों के रोमन सम्राट् शार्लमेन द्वारा नवीं शताब्दी में अधिकृत किया गया। लेकिन शताब्दी के अंतिम दिनों जर्मन साम्राज्य तीन भागों में बँट गया।

सैक्सन सम्राट् ओटो प्रथम ने ९६२ ई० में इटली और जर्मनी को एक सूत्र में बाँधा। आगे चलकर अशांतिपूर्ण स्थिति उत्पन्न हुई। फ्रैडरिक द्वितीय ने अपने शासन को सिसली में ही केंद्रित रखा, इस प्रकार जर्मनी लगभग उपेक्षित रहा। १२७३ में हप्सबर्ग का रुडाल्फ सम्राट् निर्वाचित हुआ, किंतु उसके लिये भी बड़े साम्राज्य को कायम रखना असाध्य हो गया था।

रोमन साम्राज्य जिस समय लड़खड़ा रहा था इंग्लैंड, फ्रांस और स्पेन शक्तिशाली राज्य बन रहे थे। जर्मनी उस समय समृद्ध था—इसके विरुद्ध उपर्युक्त तीनों राज्यों ने संधि की।

लेकिन जर्मनी की राजनैतिक अस्थिरता के कारण यहाँ १६वीं शताब्दी में मार्टिन लूथर के नेतृत्व में आंदोलन हुआ। अंत में इस आंदोलन ने ३० वर्षीय धर्मयुद्ध (१६१८-१६४८) का रूप लिया। इसमें

महासभा भवन
(पश्चिमी बर्लिन)

फ्री युनिवर्सिटी का मुख्य भवन
(पश्चिमी बर्लिन)

जर्मनी (पृष्ठ ४०१)
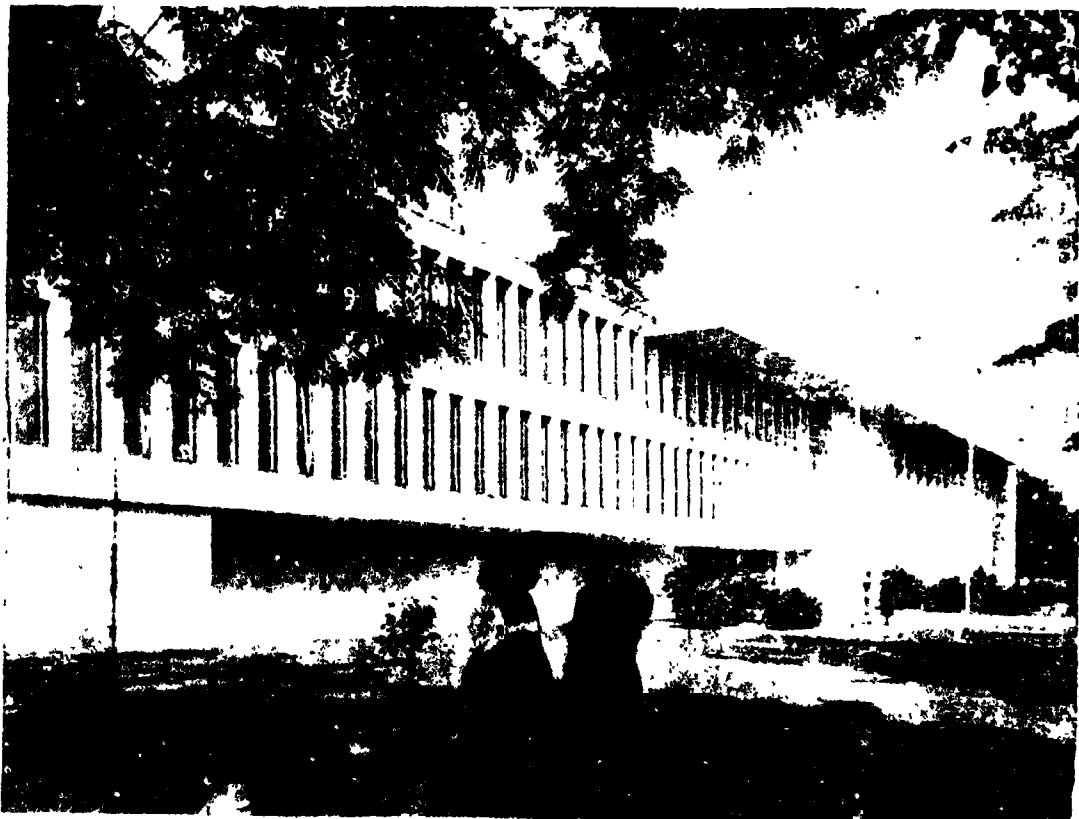
- जर्मन किसान
यह किसान ईसा की सूली के नाटक के लिये विख्यात
ओबरामर्गाऊ ग्राम का निवासी है।
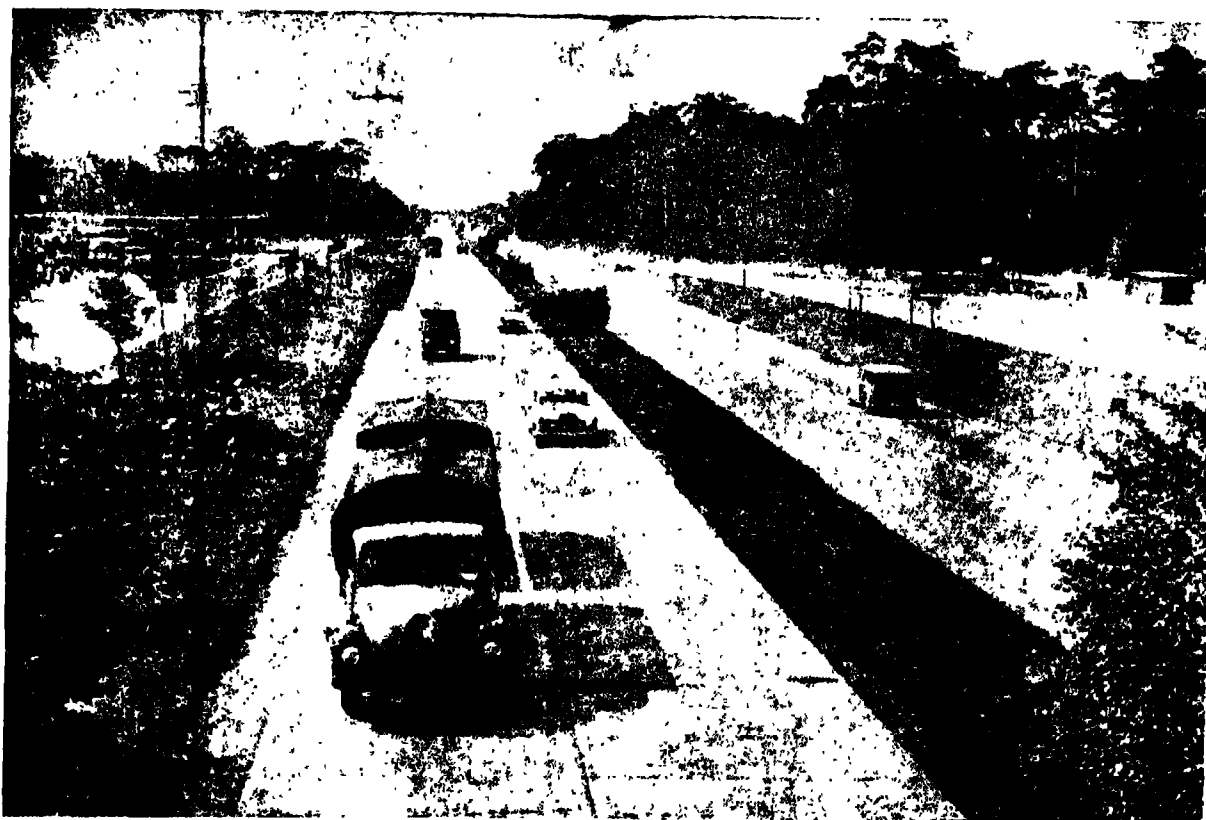
प्रसिद्ध सड़क, ऑटोबान

जर्मनी के लगभग ३०० टुकड़े हुए। १८वीं शताब्दी में इन छोटी छोटी स्वतंत्र इकाइयों ने प्रशा में अत्यधिक उन्नति की।

फ्रांसीसी क्रांति और नेपोलियन के युद्धों के समय से जर्मनी में राष्ट्रीयता की चेतना का आविर्भाव हुआ। यह चेतना आगे चलकर उदारवादी आंदोलन के रूप में बदली। १९१८ से १९७१ तक तत्कालीन चांसलर ओटावान बिसमार्क ने आस्ट्रिया, डेनमार्क, और फ्रांस से युद्ध करके जर्मन राज्य को संगठित किया। फ्रांस की पराजय के बाद जर्मनी ने सैनिक, औद्योगिक और आर्थिक क्षेत्रों में तेजी से प्रगति की। बिसमार्क ने इस स्थिति में अन्य यूरोपीय शक्तियों से संबंध स्थापित किया। १८८८ ई० में विलियम द्वितीय सम्राट् हुआ। देश की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में पुनः अशांति उत्पन्न हुई, जिसने २०वीं शताब्दी में प्रथम विश्वयुद्ध का रूप लिया। इस युद्ध में जर्मन सेनाएँ पराजित हुई। इस पराजय से उत्पन्न आर्थिक और सामाजिक अव्यवस्थाओं तथा 'मित्र राष्ट्रों' की 'वार्सा-संधि' के अनुसार आर्थिक दबावों की परिस्थिति में एडाल्फ हिटलर तथा नेशनल सोशलिस्ट पार्टी (नाजी दल) ने १९३३ में जर्मनी की सत्ता ग्रहण की। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद वीमर (Weimer) संविधान के अनुसार गणराज्य घोषित जर्मनी में हिटलर ने अपना अधिनायकत्व स्थापित किया। उसने अपने शासनकाल में जर्मनी को सभी क्षेत्रों में सुदृढ़ किया। उसकी साम्राज्यवादी नीति ने, जिससे उसने यूरोप का बड़ा भाग १९३९ तक कुछ संधियों से और कुछ सैनिक तरीकों से जर्मनी में जोड़ लिया, द्वितीय विश्वयुद्ध की परिस्थितियाँ उत्पन्न कीं। १९४५ में जर्मनी बुरी तरह पराजित हुआ और उसे मित्र राष्ट्रों के समक्ष आत्मसमर्पण करना पड़ा। रूस, ब्रिटेन, संयुक्तराज्य अमरीका और फ्रांस ने जर्मनी के चार भाग करके परस्पर बाँट लिए। १९४९ में शांति समझौते के अनुसार जर्मनी के फेडरल जर्मन रिपब्लिक (पश्चिमी) और जर्मन डिमाक्रेटिक रिपब्लिक (पूर्वी) दो भाग हुए। पूर्वी भाग, जिसमें पूर्वी प्रशा भी संमिलित है, जो कि १९३७ के पूर्व जर्मनों के और अब पोलैंड और रूस के अधिकार में है।

जर्मेनियम रासायनिक तत्व है। इसका स्थान आवर्तसारणी में उसी वर्ग में है, जिसमें सीस और टिन हैं। इसका आविष्कार १८८६ई० में सी० विकलर ने किया था। इसका संकेत ज॰ (Ge), परमाणुसंख्या ३२ और परमाणु भार ७२.६ है। यह तत्व बड़ी अल्प मात्रा में पृथ्वी पर पाया जाता है। साधारणतः यह जस्ते के खनिजों के साथ मिला हुआ मिलता है। खनिजों को जलाने पर जो राख बच जाती है उसमें ०.२५, प्रति शत जर्मेनियम ऑक्साइड रहता है। इसको पहले वाष्पशील टेट्राक्लोराइड मे परिणत करते हैं। टेट्राक्लोराइड का प्रभाजक आसवन करके अन्य धातुओं से यह पृथक् किया जाता है। इसके ऑक्साइड को ऐल्युमिनियम या कार्बन या हाइड्रोजन द्वारा अवकृत करने से धातु प्राप्त होती है।

जर्मेनियम कुछ भूरापन लिए श्वेत रंग की धातु है। इसकी बनावट मणिभीय होती है। यह अति भंगुर होता है। इसका विशिष्ट गुरुत्व २०° सें० पर ५.३५ और गलनांक ६५८.५° सें० है। ऑक्सीजन में गरम करने से ऑक्साइड (GeO_2) बनता है। इसका वर्णहीन टेट्राक्लोराइड द्रव (क्वथनांक ८३° सें०), टेट्राब्रोमाइड रंगहीन और टेट्राआयोडाइड नारंगी रंग का ठोस होता है, जो क्रमशः २६.८° और १४४° सें० पर पिघलता है।

सिलिकान तथा टिन के ऐसा जर्मेनियम कार्बनिक यौगिक, हाइड्राइड आदि बनता है। हाइड्राइड के क्लोरोसंजात भी बनते हैं। जर्मेनियम के हाइड्रोक्लोरोसंजात द्रव और ठोस होते हैं। कांच में सिलिका का स्थान जब जर्मेनियम ऑक्साइड लेता है तब कांच का वर्तनांक बहुत बढ़ जाता है। रक्तक्षीणता में जर्मेनियम यौगिकों के प्रयोग का सुझाव मिलता है। अन्य कई यौगिकों के निर्माण में भी जर्मेनियम और टिन के बीच समानता देखी जाती है। [स० व०]

जर्राह शल्य चिकित्सक का अरबी पर्याय। जर्राह शब्द का अरबी साहित्य में प्रयोग सर्वप्रथम ९वीं शताब्दी में मिलता है, तत्पश्चात् यह चिकित्सा शास्त्र में प्रयुक्त हुआ। उस समय तक समाज में शल्य चिकित्सक का स्थान निकृष्ट माना जाता था। इस्लाम की शिक्षा के अनुसार किसी मनुष्य या पशु की शारीरिक स्थिति में हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए। इब्न सीना और इब्न जुहर जैसे विख्यात चिकित्सक भी इस प्रणाली को निम्न कोटि का और विशेष पेशेवर जर्राहों और मुजब्बिरों (अस्थिचिकित्सक) का काम मानते थे। इब्न सीना ने अपनी 'कानून' पुस्तक में 'इल्म-अल-जर्राह' (शल्य चिकित्सा प्रणाली) पर विस्तार से लिखा है। अल-मजूसी ने अपनी 'कामिल-अल-सीना' में इस प्रणाली की विशेष चर्चा की है। अल-कुफ की कृति' अल-उम्दा-फि-सिनाअत-अल-जिराह अरबी शल्य चिकित्साशास्त्र में बहुत महत्व रखती है। पाश्चात्य संसार को आंशिक रूप से इस प्रणाली का परिचय देने का श्रेय अल-जहरावी की रचना किताब-अल-तशरीफ् को है। मध्यकाल में अरब और यूरोप में शल्य चिकित्सा साथ साथ और पारस्परिक प्रभाव मे विकसित हुई।

जल पदार्थ की तीनों दशाओं—ठोस, द्रव और गैस—में पाया जानेवाला ऑक्सीजन और हाइड्रोजन का यौगिक हा॰ऑ (H_2O) है। संसार में पाए जानेवाले सभी जैव पदार्थों में यह विद्यमान है और पृथ्वी का तीन चौथाई धरातल जल से घिरा हुआ है। बहुत से मणिभों की आकृति उनमें उपस्थित जल पर निर्भर करती है। वर्षा, नदी, झरने, झील, समुद्र, कुएँ जल के प्रधान स्रोत हैं। शताब्दियों से भारतीय तथा पाश्चात्य वैज्ञानिक एवं विद्वान् इसे तत्व स्वीकार करते आए थे और उन तत्वों में इसे एक मानते थे जिससे इस संसार की सृष्टि हुई है। किंतु १७८३ ई० में लाव्वाज्ये ने सर्वप्रथम यह सिद्ध किया कि यह यौगिक है, तत्व नहीं। गेलूसाक (Gay-Lussac) ने प्रमाणित किया कि ऑक्सीजन का एक आयतन हाइड्रोजन के दो आयतन से मिलकर जल बनाता है। इन दोनों गैसों का संयोग ३००° सें० पर बहुत मंद होता है, किंतु ५५०° सें० पर इनकी संयोजन गति बढ़ जाती है। विद्युद्विश्लेषण से ऑक्सीजन और हाइड्रोजन पृथक् हो जाते हैं। जल के अणु त्रिभुजाकार हैं $\frac{हा}{हा}>ऑ \left(\frac{H}{H}>O\right)$ और बांड कोण १०४° ३१' है। जल के एक अणु का अर्धव्यास १.३८ ऐंग्स्ट्रौम (Angstrom) तथा ऑ–हा (O – H) दूरी ०.९६ ऐंग्स्ट्रौम है। हाइड्रोजन परमाणु ऑक्सीजन में इतने गहन रूप से अंतर्भूत होते हैं कि जल का अणु लगभग गोलाकार हो जाता है।

विभिन्न स्रोतों से प्राप्त होनेवाले जल में साबुन से झाग बनाने की क्षमता भिन्न भिन्न होती है। जिस जल में सुगमता से यथेष्ट झाग बनता है, उसे मृदुजल और जिसमें झाग देर से या कम बनता है, उसे कठोर जल कहते हैं। जल की कठोरता उसमें उपस्थित मैग्नीशियम और कैलसियम के लवणों के कारण होती है, जो जल के प्रवाहमार्ग में रहने के कारण उसमें घुल जाते हैं। जिस जल में कैलसियम सल्फेट घुला रहता है, वह स्थायी कठोर और जिसमें मैग्नीशियम और कैलसि-

धन के बाइकार्बोनेट घुले रहते हैं, वह अस्थायी कठोर कहलाता है। स्थायी कठोरता को दूर करने के लिये कठोर जल में सोडियम कार्बोनेट डालते हैं जिससे कैल्सियम कार्बोनेट अवक्षिप्त होता है और सोडियम सल्फेट विलयन में घुला रह जाता है और जल मृदु हो जाता है। अस्थायी कठोरता को दूर करने की निम्नलिखित विधियाँ हैं।

१. उबालने से जल में विलेय मैग्नीशियम और कैल्सियम के बाइकार्बोनेट अविलेय कार्बोनेट में बदल जाते हैं जिसे छानकर पृथक् कर देने पर जल मृदु हो जाता है।

२. क्लार्क विधि (Clark's process) में जल में चूने का पानी (कैल्सियम हाइड्रॉक्साइड) मिला देने से कैल्सियम बाइकार्बोनेट अविलेय कार्बोनेट में परिवर्तित हो जाता है, जिसे छान कर पृथक कर देने पर जल मृदु हो जाता है।

३. आयन विनिमय (Ion Exchange) अभिक्रिया के द्वारा भी जल मृदु किया जा सकता है।

कारखानों के वाष्पित्रों (boilers) में उपयोग के लिये बड़े पैमाने पर जल के मृदुकरण के अनेक यंत्र बने हैं। इनमें स्थायी और अस्थायी दोनों प्रकार की कठोरता दूर हो जाती है। (देखें जनस्वास्थ्य इंजीनियरी)।

भौतिक गुण — शुद्ध जल गंधहीन, स्वादहीन, तथा पारदर्शक द्रव है। इसकी स्थूल परत का रंग निलंबित अशुद्धियों के कारण नीला होता है। हिमनदी जलधारा का रंग निलंबित हुए कैल्सियम कार्बोनेट के कारण हरा रहता है। पानी का क्वथनांक मानक दबाव पर १००° सें० तथा हिमांक ०° सें० है। ४° सें० पर इसका घनत्व १ ग्राम प्रति घन सेंमी० होता है जो इसका सर्वाधिक घनत्व है। विभिन्न तापों पर इसका आयतन भी भिन्न भिन्न होता है, जैसे ०° सें० पर १·०००१२२, ४° सें० पर १·००००००, १०° सें० पर १·०००२६१, २०° सें० पर १·००१७४१ और ३०° सें पर १·००४३१० घन सेंमी०। इसका विद्युत्पार्य स्थिरांक (dielectric constant) ८० है जो कि पानी के अणुओं के द्विध्रुव प्रकृति के कारण होता है। शुद्ध जल विद्युत का कुचालक होता है। ०° सें० पर इसकी विद्युत् संवाहकता ०·०३८ × १०$^{-६}$ (ओम$^{-१}$-सेंमी०)$^{-१}$ से० है।$^{-६}$ २०° सें० पर सकी संपीड्यता (Compressibility) ४३ × १०$^{-६}$ घन सेंमी० प्रति मेगाबार है। १००° सें० पर इसकी विशिष्ट उष्मा १·००६४ कैलॉरी प्रति ग्राम तथा गुप्त ताप ५३९ कैलॉरी प्रति ग्राम है। २०° सें० पर इसका वर्तनांक १·३३३० है। २५° सें० तथा एक वायुदाब पर पानी की श्यानता (Viscosity) ८·९५ मिलिप्वॉज (Millipoise) होती है किंतु यह १००° सें० पर ०° सें० की अपेक्षा आठ गुना कम हो जाती है।

रासायनिक गुण — जल महत्वपूर्ण विलायक है। इसमें सैकड़ों ठोस, गैस, और द्रव पदार्थ घुल जाते हैं। जल में ठोस और द्रव की विलेयता ताप बढ़ने पर बढ़ जाती है, किंतु गैस की विलेयता इसी दशा में कम हो जाती है। ०° सें० तथा एक वायुमंडलीय दाब पर १ घन सेंमी० जल में कार्बन डाइऑक्साइड १·७३, हाइड्रोजन ०·०२१, ऑक्सीजन ०·०२४, सल्फर डाइऑक्साइड ७९·८, हाइड्रोजन क्लोराइड ५०६ तथा एथिलीन ०·२५ आयतन घुलता है। जब जल अतिलप्त किया जाता है तब यह शीशे पर क्रिया कर क्षार को निकाल देता है और सिलिका को छोड़ देता है।

जल के उत्प्रेरक गुण के कारण इसके द्वारा बहुत सी रासायनिक क्रियाएँ संपन्न होती हैं। पूर्णतया शुष्क क्लोरिन गैस धातुओं को आक्रांत नहीं करती और न विरंजन ही करती है। धातुओं पर जंग भी बिना जल के नहीं लगता। पानी की अनुपस्थिति में अनेक वस्तुओं के साधारण गुण भी बदल जाते हैं, जैसे ब्रोमीन का क्वथनांक ६३° सें० होता है किंतु नौ वर्षों तक ब्रोमीन को सुखाने के पश्चात् यह ११८° सें० हो गया। सी० स्मिट ने बताया कि वस्तुओं के बहुलकरूप (polymeric form) में संतुलन रखने में जल उत्प्रेरक का कार्य करता है, किंतु जल की अनुपस्थिति में वस्तु में यह संतुलन नहीं रहता जिसके कारण उनमें असामान्य भौतिक गुण उत्पन्न हो जाते हैं पर जल के मिलते ही वस्तुएँ अपने साधारण गुणों को पुनः प्राप्त कर लेती हैं।

जल के अणुओं का विस्तार लघु होने के कारण ये आयनिक मणिभों के जालकों (lattices) में बैठ जाते हैं और हाइड्रेट बनाते हैं। बहुत से यौगिक जल के निश्चित अणुओं से संयोग कर हाइड्रेट बनाते हैं, जैसे क्यूप्रिक सल्फेट पेंटाहाइड्रेट ता गं औ$_4$ ५ हा$_2$ औ ($CuSO_4$ $5H_2O$)। प्रायः यौगिक के अणु के प्रति जल का आकर्षण बड़ा जटिल होता है। उपर्युक्त हाइड्रेट में जल के चार अणु सल्फेट के आयन के चारों ओर समन्वित रहते हैं और १२५° सें० पर पृथक् किए जा सकते हैं किंतु जल का पाँचवाँ अणु इतने दृढ़ रूप से जुड़ा रहता है कि २५०° सें० ताप पर ही वह सल्फेट आयन को त्यागता है। सल्फ्यूरिक अम्ल भी स्थायी हाइड्रेट है, किंतु इसका व्यवहार यह संकेत करता है कि हाइड्रेट में संतुलन गं औ$_3$ हा$_2$ औ (SO_3 H_2O) और गं औ$_2$ (औ हा)$_2$ [SO_2 $(OH)_2$] के रूप में रहता है। प्रायः जल के विलयन में आयन हाइड्रेट रहते हैं, जैसे हा$^+$ (H^+) या हा$_5$ औ$_2$ ($H_5O_2^+$)। ब्रोमिन और क्लोरिन के अतिरिक्त अन्य तत्वों के हाइड्रेट नहीं होते। कुछ लवणों में हाइड्रेट मणिभीकरण जल के रूप में रहते हैं, जैसे बेरियम क्लोराइड बे क्लो$_2$. २हा$_2$औ ($BaCl_2 . 2H_2O$), मैग्नीशियम सल्फेट मै$_n$ गं औ$_4$ ७ हा$_2$ औ ($MgSO_4$ $7H_2O$) इत्यादि। एक ही लवण जल के विभिन्न अणुओं से मिलकर विभिन्न हाइड्रेट बनाता है जैसे ता गं औ$_4$ ५ हा$_2$ औ ($CuSO_4$ $5H_2O$), ता गं औ$_4$ ३ हा$_2$ औ ($CuSO_4 3H_2O$) और ता गं औ$_4$ हा$_2$ औ ($CuSO_4 H_2O$)। यदि हाइड्रेट की वाष्पदाब वायुमंडल की वाष्पदाब से अधिक होती है तो लवण शुष्क और भुरभुरा हो जाता है। इस प्रक्रिया को प्रस्फुटन (Efflorescence) कहते हैं और इसके विपरीत जब लवण वायुमंडल से जल शोषित कर गीला हो जाता है, तब इस प्रक्रिया को प्रक्लेदन (Deliquescence) कहते हैं। जल की वह अभिक्रिया जिसमें हाइड्रोजन उत्पन्न नहीं होता जलविश्लेषण (Hydrolysis) कहलाती है।

धातुएँ और कुछ अधातुएँ जल या जलवाष्प से ऑक्सीकृत (Oxidised) हो जाती हैं और हाइड्रोजन स्वतंत्र होकर निकल जाता है, जैसे ३ लो + ४ हा$_2$ औ = लो$_3$ औ$_4$ + ४ हा$_2$ ($3Fe + 4H_2O = Fe_3O_4 + 4H_2$)। हैलोजन पर जल वाष्प की अवकारक क्रिया (reducing action) होती है, जैसे २ क्लो$_2$ + २ हा$_2$ औ = ४ हा क्लो + औ$_2$ ($2Cl_2 + 2H_2O = 4HCl + O_2$)। कुछ तत्वों

के साथ जल की क्रिया से असमानुपात (disproportion) उत्पन्न होता है, जैसे ३ गं + २ हा$_2$ ऑ = गं ऑ$_2$ + २ हा$_2$ गं ($3S + 2H_2O = SO_2 + 2H_2S$) । ऑक्साइड या हाइड्रेट ऑक्साइड जल की अभिक्रिया होने पर हाइड्रॉक्साइड बनते हैं जो क्षारीय, अम्लीय या उभयधर्मी (amphoteric) होते हैं। धात्विक नाइट्राइड और हाइड्राइड जल द्वारा विघटित हो जाते हैं जिससे हाइड्रोजन और ऐमोनिया गैस निकलती है और धातु के हाइड्रॉक्साइड बनते हैं। जल से मिलने पर धात्विक कार्बाइड हाइड्रोकार्बन बनाते हैं। जल द्वारा वसा, अम्ल और एल्कोहल में, विश्लेषित हो जाती है।

भारीपानी — जब द्रव हाइड्रोजन को वाष्पन के लिये रख दिया जाता है तब अवशेष में बचे हुए हाइड्रोजन समस्थानिक साधारण हाइड्रोजन समस्थानिक से दूने भारी होते हैं। इस भारी हाइड्रोजन समस्थानिक को ड्यूटीरियम कहते हैं। जो जल इस ड्यूटीरियम से बनाया जाता है उसे भारी जल या ड्यूटीरियम ऑक्साइड (D_2O) कहते हैं जिसका गुण साधारण जल के गुण से भिन्न होता है। २५° सें० पर इसका घनत्व १·१०६६ और १०० ग्राम जल में नमक की विलेयता २९·७ ग्राम होती है। इसका क्वथनांक १०१·४२ सें०, हिमांक ३·८२ सें० तथा २०° सें० पर श्यानता १,२६० मिलिप्वॉज होती है। ११·६° सें० पर इसका घनत्व सर्वाधिक होता है। रासायनिक अभिक्रिया की दर भारी पानी में कम होती है। विद्युत्पार्य स्थिरांक ८०·७ तथा तलतनाव साधारण जल की तरह ही होता है। नाभिकीय अनुसंधान मे न्यूट्रान (Neutron) की गति मंद करने के लिये इसका उपयोग किया जाता है। साधारण जल में भार के अनुपात से ५,००० भाग जल और एक भाग ड्यूटीरियम ऑक्साइड है, चाहे जल किसी भी स्रोत से प्राप्त किया गया हो। मनुष्य के मूत्र में भी ५०००:१ के अनुपात में ही साधारण और भारी पानी मिलता है। यदि मनुष्य ऐसे जल का उपयोग करे जिसमें भारी पानी अनुपात में अधिक है तो मूत्र से प्राप्त जल की मात्रा से यह ज्ञात हो जाता है कि भारी जल को शरीर से निकलने की क्या गति है। किंतु यह पाया गया कि १५ दिनों के पश्चात् भी आधे से अधिक जल शरीर में ही रह जाता है।

आज की वैज्ञानिक मीटरी माप प्रणाली जल पर आधारित है। ४° सें० पर १ घन सेंमी० जल का भार १ ग्राम संहति की इकाई है। इसी प्रकार उष्मा-शक्ति की इकाई कैलॉरी ताप की वह मात्रा है जो एक ग्राम जल के ताप को १° सें० (१४·५°-१५·५° सें०) बढ़ाने के लिये आवश्यक होती है। आपेक्षिक गुरुत्व ज्ञात करने में जल का ही उपयोग किया जाता है। किसी वस्तु का आपेक्षिक गुरुत्व उस वस्तु की मात्रा और समान आयतनवाले जल की मात्रा का अनुपात होता है। जल का क्वथनांक (१००° सें०) प्रसामान्य (normal) दाब पर जल और भाप के मध्य संतुलन का ताप है और इसी प्रकार जल का हिमांक (०° सें०) प्रसामान्य दाब पर बर्फ और वायु-संतृप्त जल के मध्य संतुलन का ताप है।

जल और जीवन — जल जीवन की प्राथमिक आवश्यकता और प्रोटोप्लाज्म का महत्वपूर्ण अंश है। वयस्क मनुष्य में ६०% से लेकर ६७% तक, जेली मछली में ९५% तथा बीजों में १०% तक जल पाया जाता है। उपापचयन (metabolism) की प्रक्रिया के लिये यह आवश्यक वस्तु है। इसका विलायक तथा गतिशीलता का महत्वपूर्ण गुण शरीर में क्रमशः पोषक पदार्थ को पहुँचाने तथा उत्सर्जित पदार्थों को बाहर निकालने में सहायक होता है। प्रोटीन के प्रत्येक अणु में जल के प्रायः २,००० अणु उपस्थित रहते हैं।

खनिज जल — जब धरातलीय जल लोहा, लिथियम, गंधक तथा अन्य खनिजवाली चट्टानों में अंतःस्रवण करता है तब खनिज जल बनता है। यह जल सोतों तथा झीलों के रूप में प्राप्त होता है। प्राकृतिक चिकित्सा में इस खनिज जल का प्रचुर उपयोग होता है।

[अ० ना० मे०]

जल इंजीनियरी अथवा द्रव इंजीनियरी (Hydraulics) के अंतर्गत इंजीनियरी के उन तत्वों का विचार आ जाता है जिनके अंतर्गत जल, वायु तथा तेल और अन्य रासायनिक विलयनों का उपयोग प्राकृतिक दशा में या दबाव के अंदर होता है। इन द्रवों के प्राकृतिक लक्षणों का, जैसे घनत्व, श्यानता, प्रत्यास्थता गुणधर्म और तलतनाव आदि, के ऊपर इंजीनियरी के समस्त अभिकल्प निर्भर होते हैं, क्योंकि सारे द्रवों का आधारभूत व्यवहार एक सा ही होता है। किंतु यहाँ जल से संबंधित इंजीनियरी का ही विशेष विवरण दिया जा रहा है।

जल इंजीनियरी के संबंध में सर्वप्रथम जल के स्थायी दबाव का अध्ययन आवश्यक होता है। यह स्थायी दबाव का विषय द्रवस्थिति विज्ञान (Hydrostatics) कहलाता है। जब जल में किसी प्रकार की गति आ जाती है, तो समस्या जटिल हो जाती है। अन्यान्य द्रवों की भाँति जल की भी यह विशेषता होती है कि वह पृथ्वी के गुरुत्व के कारण स्वयं चालक हो जाता है और यह गुण स्थिति के अनुकूल घटता बढ़ता रहता है। इंजीनियर की विचारतुलना गणितज्ञ की विचारतुलना से इस संबंध में भिन्न हो जाती है। गणितज्ञ बहुत सी बातों का निदान काल्पनिक परिस्थितियों पर निर्भर रहकर करते हैं। इंजीनियरों के विचार में वास्तविक स्थितियों का जल संबंधी समस्याओं पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इन समस्याओं को सुलझाने में बहुत से ऐसे आधारभूत तथ्यों की गणना की जाती है, जैसे ऊर्जा अविनाशिता, सामग्री का संरक्षण, परिचलन का संरक्षण इत्यादि। जल इंजीनियरी का कोई भी प्रश्न हो, वह इनमें से दो आधारभूत तथ्यों पर अवश्य ही निर्भर होगा।

स्विस इंजीनियर, डेनियल बर्नूली (Daniel Bernoulli) ने १८वीं शताब्दी में यह प्रतिपादित किया था कि गति मार्ग में किसी भी द्रव के कणों में ऊर्जा समान रहती है अथवा गति ऊर्जा (Kinetic energy) और स्थितिज ऊर्जा (Potential energy) का योग एक ही होता है। एतदर्थ उसने निम्नांकित समीकरण निर्धारित किया था :

$$\text{आ} + \text{द} + \frac{\text{वे}^2}{\text{२त्व}} = \text{नि}$$

$$\left(Z + H + \frac{V^2}{2g} = K \right)$$

जहाँ आ (Z) आधार रेखा (datum), द (H) जलका दबाव (head), $\frac{\text{वे}^2}{\text{२त्व}}$ $\left(\frac{V^2}{2g}\right)$ गतिशील शक्ति तथा नि (K) नियतांक (constant) है।

इस समीकरण से बहुत सी समस्याओं का समाधान हो जाता है। उदाहरण के लिये एक पंप एक घनफुट पानी प्रति सेकंड निकालता है।

उसके एक सिरे पर पानी का वेग १० फुट प्रति सेकंड है और दूसरी ओर पानी का वेग २० फुट प्रति सेकंड है, पहले सिरे पर वेग का दबाव

चित्र १.

१·५६ फुट है और दूसरे सिरे पर ६·२४ फुट है। चित्र १. में ये बातें प्रदर्शित की गई हैं। बर्नुली के समीकरण से 'क' और 'ख' की स्थिति इस प्रकार निकलती है :

	क	ख
धा (Z)	o	o अक्षर पर आधार रेखा (datum hire along axis)
घ (H)	−६	+४०
$\frac{वे^2}{2ग्र}$ $\left(\frac{v^2}{2g}\right)$	$\frac{१·५६}{-४·४४}$	= $\frac{६·२४}{४६·२४}$

∴ व (H) − ४.४४ = ४६·२४

∴ व (H) = ५०·६८ फुट

अतः पंप द्वारा पानी के ऊपर अतिरिक्त दबाव ५०·६८ फुट डाला गया। माप ४६ फुट ही दिखाई पड़ती है, क्योंकि बाकी का दबाव वेग दबाव में परिवर्तित हो गया। बर्नुली के तथ्य से बहुत सी समस्याओं का समाधान हो जाता है।

पानी के बहाव में और भी बहुत सी बातों का निदान करना पड़ता है, जैसे छोटे बड़े निकासों से पानी का वितरण, निकास-मार्ग के संकुचित होने से बहाव की स्थिति में घटाव-बढ़ाव, निकास मार्ग की बनावट तथा उसके आधार का जलनिस्सरण पर प्रभाव, निकास मार्ग में छोटे बड़े भँवर पैदा हो जाना, इन सब बातों का लगाव नहरों के लिये, या जल-प्रसादन-केंद्रों में जलवितरण के लिये किए गए साधनों पर होता है। नहरों में इन बातों पर विचार करके ही बड़े बड़े कार्यों के अभिकल्प बनाए जाते हैं।

वास्तव में जल इंजीनियरी में ऐसी बहुत सी बातों का समन्वय होता है जिनका गणित के द्वारा समाधान होना संभव नहीं। अतः बहुत सी समस्याओं का समाधान छोटे प्रतिरूप (model) अर्थात् छोटे आकार के नमूने बनाकर किया जाता है। इन नमूनों या मॉडलों में पानी प्रवेश कराकर और उसकी चाल को मापकर यह बात निर्धारित की जाती है कि विभिन्न अभिकल्पों से बनाए कार्यों पर पानी के व्यावहारिक बहाव से क्या प्रभाव पड़ेगा। इन प्रयोगों से यही अनुमान किया जा सकता है कि कितने पानी के दबाव से अथवा कितनी मात्रा में पानी के बहाव से, किसी विशेष अभिकल्प से बनाया गया कार्य स्थिरता से डिगने लगता है अथवा स्थिर हो जाता है। वैसे तो जल संबंधित कार्यों का निर्माण मूल इंजीनियरी के मूल सिद्धांतों पर ही निर्भर होता है, किंतु उन कार्यों की व्यावहारिक सुचारुता एवं संपन्नता और स्थिरता का ठीक अनुमान मॉडल के प्रयोग द्वारा किया जाता है। नाविक कार्य में जहाँ बड़े बड़े जहाज बनाए जाते हैं, छोटे छोटे मॉडलों द्वारा जहाजों की कार्यक्षमता एवं यातायात योग्यता का अनुमान किया जाता है।

पानी के बहाव में घर्षण द्वारा बहुत से दबाव का क्षय (friction loss) होता है। इसी कारण बहुधा ऊँचे या दूरी पर स्थित स्थलों पर जलप्रदाय साधनों में पानी अनुकूल दबाव से नहीं निकल पाता। वैसे खुली नहरों में भी घर्षण द्वारा दबाव का क्षय होता है। जल इंजीनियरी द्वारा इस प्रकार बहुत से साधन प्रस्तुत किए जाते हैं कि दबाव का क्षय कम से कम हो। इसलिये पानी के मार्गों को पक्का या चिकना करने के साधन उपयोग में लाए जाते हैं। नालिकाओं में जहाँ जोड़ या मोड़ आते हैं अथवा नालिका जहाँ बड़ी से छोटी होती है वहाँ दबाव का क्षय होता है। दबाव के इस क्षय का अनुमान बर्नुली के समीकरण द्वारा किया जा सकता है।

बड़े बड़े तालाबों या जलाशयों में अथवा विशेष कार्यों की पूर्ति में भूगर्भ में सर्पण द्वारा पानी का क्षय होता है। इसके लिये भी जल इंजीनियरी के सिद्धांतों द्वारा ऐसे साधन जुटाए जाते हैं जिनसे या तो सर्पण बिलकुल बंद हो जाय अथवा सर्पण द्वारा पानी इतने ही वेग से बहे, जिससे भूमि के कण हटने न पाएँ। यदि भूमि के कण हटने लगते हैं तो परिणाम यह होता है कि अभिकल्प पर आधारित कार्य के अंदर पोल होती रहती है और कार्य की स्थिरता जोखिम में पड़ जाती है। इस बात का प्रदर्शन चित्र २. में किया गया है।

इस संबंध में बहुत सा कार्य भिन्न भिन्न देशों में हो चुका है। बिलाई द्वारा निर्धारित 'सर्पण' सिद्धांत (Creep theory) पर आधारित बहुत
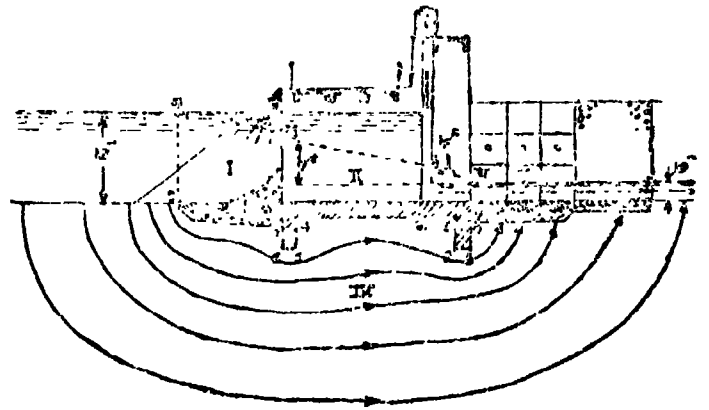
चित्र २.

से काम बनाए गए हैं। इस सिद्धांत का मूल यह था कि यदि सर्पण का मार्ग लंबा कर दिया जाय तो उससे निकास का वेग कम हो जायगा। इसके बाद भारतीय इंजीनियर खोसला ने एक और तथ्य घोषित किया, जिसके आधार पर बहुत से काम बनाए गए।

जल इंजीनियरी का महत्वपूर्ण क्षेत्र बड़े बड़े बाँध तथा नदियों में रोक या बाराज (barrage) बनाने का है। जहाँ पानी संचित करने के लिये बाँध बनते हैं, वहाँ बाँधों की स्थिरता जाँचने के लिये बड़ी खोज

करनी पड़ती है। साधारणतः जितना ऊँचा बाँध हो उसको एक तिहाई उस की चौड़ाई होनी चाहिए। इसके निमित्त जो गणित-रेखा-निदान किया जाता है उसका प्रदर्शन चित्र ३. में अंकित है।
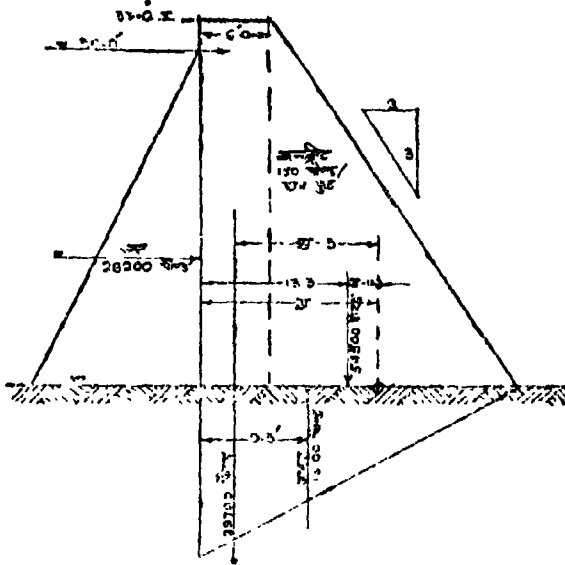
चित्र ३

यह साधारण भू-आकर्षण पर स्थित कंक्रीट (concrete) बांध का अभिकल्प है। इन अभिकल्पों में पानी के भार के अतिरिक्त लहरों का प्रभाव, भूकंप का प्रभाव, हवा का प्रभाव तथा अन्य बहुत सी बातें भी सोचनी पड़ती हैं। फिर, आजकल व्यय में बचत को ध्यान में रखते हुए ये बाँध भी विविध प्रकार से बनने लगे हैं और बांध का निर्माण जल
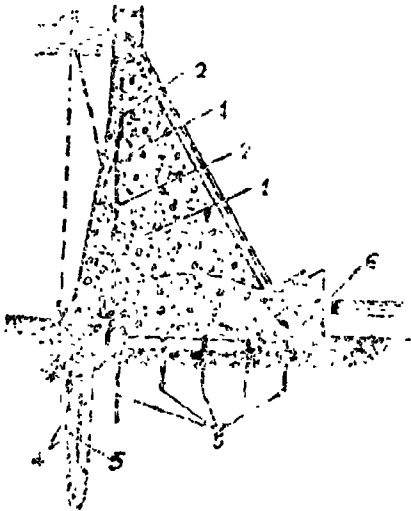
चित्र ४

इंजीनियरी की विशेष शाखा बन गई है। एक नए बाँध के अभिकल्प का कुछ ज्ञान चित्र ४. से हो सकेगा। इस बाँध को विशेष रूप से बनाया गया है और बहुत सी नई खोजों का इसमें प्रयोग किया गया है।

जब जल बहुत अधिक दबाव में निकलता है तब उसकी कटान की क्षमता बहुत बढ़ जाती है। बड़ी बड़ी चट्टानें उसके कारण कट जाती हैं। अतः बड़े बड़े बाँधों पर अतिरिक्त जल की निकासी की समस्या बड़ी विकट होती है। उसके निकास स्थल को विशेष रूप से पक्का बनाया जाता है। कहीं कहीं तो जल में निमित शक्ति को व्यय करने के लिये एक गोलाकार तसले की सी शक्ल बनानी होती है। इस प्रकार नीचे गिरकर जल कुछ ऊपर उठता है और उसमें निमित शक्ति का ह्रास

चित्र ५

हो जाता है, जैसा चित्र ५. में प्रदर्शित है। इसके उपरांत उस जल की कटानक्षमता कम हो जाती है। अन्य बहुत से साधन जल में निमित शक्ति को व्यय करने के लिये उपयोग में लाए जाते हैं।

जल इंजीनियरी की एक विशेष युक्ति साधारण पनचक्की से संबंधित है। यही युक्ति प्रगति पाकर पनबिजली के उत्पादन में लगती है। इसके द्वारा जल के दबाव से पनबिजली के जनित्र (generator) को घुमाया जाता है। इनके चालित होने से बिजली बनने लगती है। उसके दो प्रतिरूप हैं। एक तो वह जहाँ टरबाइन के घूमनेवाले पंखे ऐसे होते जो सर्वथा पानी के दबाव के अंदर ही घूमते हैं। इनको प्रतिक्रिया टरबाइन कहा जाता है। जहां पानी की मात्रा अधिक होती है वहां इनका प्रयोग विशेषकर होता है। दूसरे प्रकार के टरबाइन आवेग टरबाइन (Impulse turbine), यानी चोट खाकर चलनेवाले टरबाइन होते हे। इनमें पानी की धार से लगकर टरबाइन का पहिया घूमता है और वह जनित्र को घुमाता है जिससे बिजली उत्पन्न होती है। इसका कुछ अनुमान चित्र ६ से हो सकेगा।

इंजीनियरी के क्षेत्र में जल इंजीनियरी का स्थान महत्वपूर्ण है। उद्योग के क्षेत्र में जल का बड़ा उपयोग होता है। भारी से भारी दबाव उत्पन्न करने के लिये जलप्रेरित प्रेस काम में लाए जाते हैं। इन्हें द्रव-चालित प्रेस कहते हैं। इन प्रेसों का विस्तार बड़े से बड़ा हो सकता है। जल की भाप बनाकर उससे बड़े बड़े इंजन चलाए जाते हैं। रेलगाड़ी का इंजन जल की भाप से ही चलता है। यद्यपि यह जल इंजीनियरी का पूर्ण क्षेत्र नहीं है, तथापि भाप और जल लगभग एक ही सिद्धांत पर नियंत्रित होते हैं क्योंकि दोनों ही तरल अवस्था में रहते हैं। जल या भाप में जितना अधिक दबाव होता है उसी मात्रा में उनमें शक्ति संचित होती है। चाहे दबाव प्राकृतिक ऊँची स्थिति के कारण हो अथवा कृत्रिम साधनों द्वारा उत्पन्न किया गया हो।

जल के दबाव के कारण ही कहीं कहीं जल के जेटों द्वारा बहुत से काम किए जाते हैं। बहुत से नगरों में सफाई आदि के लिये पानी के जेटों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार के दबाव से खेतों बारी में भी बौछार (sprinkler) द्वारा पानी का वितरण किया जाता है और एक प्रकार की वर्षा की जाती है जैसा चित्र ७ में दिखाया गया है। वैज्ञानिक रूपसे अत्यधिक दबाव पैदा करके पानी की धार में इतनी शक्ति पैदा कर दी जाती है कि वह बड़ी बड़ी चीजों को काट भी सकती है। यथेष्ट दबाव द्वारा यह धार स्टील की परतों तक को भी

काटने की क्षमता रखती है। उसके लिये लगभग १०,००० पाउंड प्रति वर्ग इंच का दबाव आवश्यक होता है।

जल की माप आदि भी जल इंजीनियरी का महत्वपूर्ण अंग है। साधारणतः पाइपों में पानी की माप जल मीटरों से हो जाती है, किंतु नहरों में तथा नदियों में पानी की माप के लिये भिन्न भिन्न साधनों

चित्र ६

का उपयोग किया जाता है। विज्ञान की प्रगति के साथ साथ नए नए तरीके पानी की माप के लिये निकाले जा रहे हैं। यह विषय इसलिये
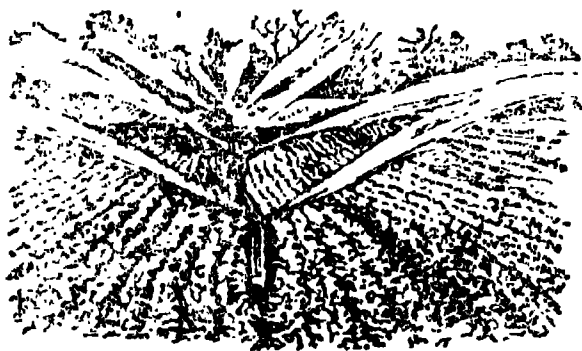
चित्र ७

और भी महत्वपूर्ण है कि अंतरराष्ट्रीय जल-विभाजन-संधियों में अथवा अंतरप्रादेशिक जलवितरण में पानी की ठीक माप द्वारा ही जल का उचित रूप से विभाजन हो सकता है। इसलिये द्रव में विलयन मिलाकर अवमिश्रण विधि (dilution method) से अथवा अन्य साधनों से पानी की मात्रा का परिमापन किया जाता है। साधारणतः विशेष स्थानों पर स्वतः-माप-अभिलेखक (Automatic guage recorder) लगा दिए जाते हैं जिनसे पानी की माप का लेखन स्वतःचालित मशीन द्वारा हो जाता है।

जल इंजीनियरी के और भी बहुत से विशेष अंग हैं जिनका विवरण उन विशेष अंगों के अंतर्गत मिल सकता है। जल इंजीनियरी में मुख्यतः जल का स्थिर दबाव, उसकी गति तथा उसका प्रभाव, उसके द्वारा चालित यंत्र जल का मापन आदि विषयों का विचार आ जाता है, जिनके संबंध में केवल परिचयात्मक विवरण ऊपर दिया गया है। [बा० ना०]

जलकाक (Cormorant) पक्षियों में बक गण (Order Ciconiformes) के जलकाक कुल (Family Phalacrocoracidae) का प्रसिद्ध पक्षी है जिसकी कई जातियाँ सारे संसार में पाई जाती हैं। इस कुल के पक्षियों का रंग काला, चोंच लंबी, टाँगें छोटी और उँगलियाँ जालपाद होती हैं। ये अपना अधिक समय पानी में ही बिताते हैं और पानी के भीतर मछलियों की तरह तैर लेते हैं। ये सब मछलीखोर पक्षी हैं।

जलकाक का दूसरा नाम पनकौआ भी है। इसकी एक छोटी जाति भी होती है जो छोटा पनकौआ (Little cormorant) कही जाती है। कद की छोटाई के अलावा इन दोनों में कोई भेद नहीं है।

तीसरी जति के पक्षी बानवर (Darter) कहे जाते हैं। पूर्वोक्त दोनों जातियों से इनकी चोंच अवश्य भिन्न होती है, लेकिन इसके अतिरिक्त इनके रहन सहन, स्वभाव, तथा भोजन आदि में कोई भेद नहीं है। पनकौओं की चोंच जहाँ आगे की ओर थोड़ी मुड़ी रहती है, वहीं बानवर की चोंच सीधी पतली और नुकीली रहती है।

पनकौए १०–१२ इंच लंबे पक्षी हैं जिनके नर और मादा एक ही जैसे होते हैं। ये या तो किसी जलाशय में मछलियाँ पकड़ते रहते हैं या पानी के किनारे या किसी ठूँठ पर डैने फैलाए बैठे अपने पंख सुखाते रहते हैं। इनका जोड़ा बाँधने का समय जुलाई है, जब ये सैकड़ों की संख्या में इकट्ठे होकर अपने बड़े बड़े गरोह बना लेते हैं। इनका गरोह एक ही जगह मिलकर घोंसला बनाता है, जिसमें मादा ४-५ अंडे देती है। [सु० सिं०]

जलकाक

जलगाँव १. महाराष्ट्र राज्य के बुलडाना जिले का एक तालुक है। इसका क्षेत्रफल ४७४ वर्ग मील तथा जनसंख्या १,१५,६०८ (१९६१) है। इसके उत्तर में ग्वालीगढ़ पर्वतश्रेणी तथा दक्षिण में पूर्णा नदी है। इसका अधिकांश भाग पूर्णा की उपजाऊ घाटी में स्थित है। इसमें १५५ गाँव तथा जलगाँव नगर है, जहाँ तालुक का प्रधान कार्यालय है।

२. नगर, स्थिति : २१° ३' उ० अ० तथा ७६° ३५' पू० दे०। यह महाराष्ट्र राज्य के बुलडाना जिले का नगर है। कभी कभी जलगाँव जामोद नाम से भी जाना जाता है। यह नाम खानदेश (जलगाँव) जिले में स्थित जलगाँव नगर से इसे भिन्न करने के लिये है। यहाँ बिनौला निकालने का कारखाना तथा कपास का बाजार है।

३. तालुक, महाराष्ट्र राज्य के जलगाँव जिले (भूतपूर्व पूर्व खानदेश जिला) में एक तालुक है। इसकी जनसंख्या १,६१,४८२ (१९६१) है तथा क्षेत्रफल लगभग ३२० वर्ग मील है। उत्तर में काली मिट्टी का उपजाऊ मैदान तथा दक्षिण में ऊँची नीची भूमि है। जलवायु स्वास्थ्यप्रद है। इसमें ८९ गाँव तथा जलगाँव और नसीराबाद नामक दो नगर हैं।

४. नगर, स्थिति : २१° १' उ० अ० तथा ७५° ३५' पू० दे०। यह महाराष्ट्र राज्य के जलगाँव जिले का नगर है। इसकी जनसंख्या ८०,३५१ (१९६१) है। बंबई से २६१ मील दूर मध्य रेलवे पर स्थित है। यहाँ कपास बहुत होता है। बिनौले निकालने एवं सूती कपड़ा बुनने की मिलें यहाँ हैं तथा कपास और तिल से संबंधित व्यापार होता है। पत्रो के नेता पटेल द्वारा निर्मित एक सुंदर तिमंजिली इमारत यहाँ दर्शनीय है। पास ही अजंता की गुफाएँ हैं। [कै० मु० अ०]

जलग्राफ (Hydrograph जल लेखा चित्र) का सामान्य आशय ऐसे रेखाचित्रों से होता है जिनके द्वारा जल से संबंधित उन प्राकृतिक अथवा मानवकृत तथ्यों का प्रदर्शन हो सके जो नदी, नाले, झील, सरोवर, समुद्र एवं समुद्रतल के स्थलीय, अथवा जल के आवागमन के व्यावहारिक, रूप से संबंधित होते हैं। बहुधा जल की धाराओं का दिशानुमान, उनके जल की मात्रा, उनके वेग का हेरफेर तथा अन्य बातों का चित्रण भी जलग्राफों द्वारा ही किया जाता है। नदियों के प्रवाह-

क्षेत्रों में तथा अन्य प्राकृतिक भूखंडों में सामान्य मेघों द्वारा अथवा आंधी, तूफान और हिमपात द्वारा प्राप्त जल का लेखाजोखा भी जलग्राफों के अंतर्गत आ जाता है।
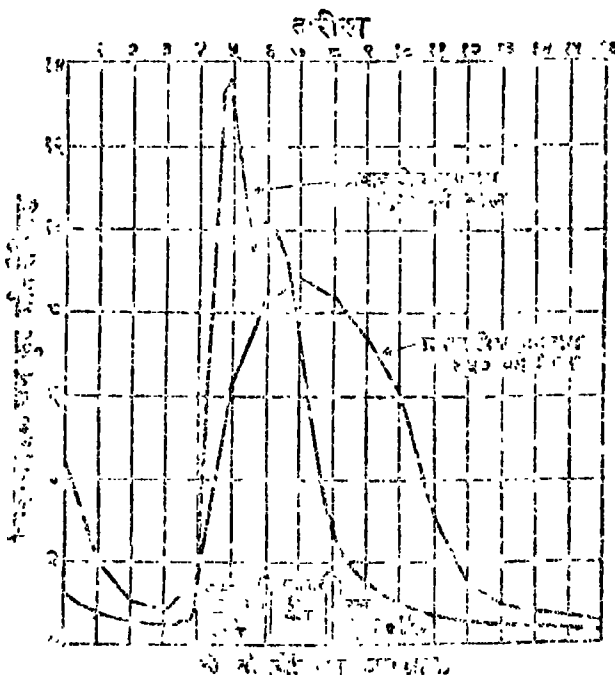
नदियों के जलग्राफ बहुधा १२ घंटे या २४ घंटे की समयावधि पर आधारित होते हैं। फिर वर्षाक्षेत्र की स्थलाकृति पर आधारित तथ्यों से यह अनुमान किया जा सकता है कि अधिक से अधिक कितना जल एक क्षेत्र से बहकर नदी में आ सकता है। अतः इसके द्वारा अधिकतम बाढ़ों का अनुमान किया जा सकता है। बाढ़ों के अनुमान में अनेक वर्षों के आँकड़ों का विश्लेषण किया जाना अनिवार्य है। जब तक बाढ़ों से प्रेरित अधिकतम जलबहाव का अनुमान न हो जाए तब तक इंजीनियरी के कार्यों का, अथवा बाढ़-नियंत्रण एवं निवारण के कार्यों का, अभिकल्प संतोषजनक नहीं हो सकता। अतः जल इंजीनीयरी के क्षेत्र में जलग्राफो का महत्वपूर्ण स्थान है।

नदियों में आई हुई जल की मात्रा का किसी एक विशेष स्थल पर मापित रेखाचित्र भी जलग्राफ कहलाता है। इसका प्रदर्शन चित्र में किया गया है।

इस जलग्राफ में दो नदियों के निस्सरण प्रदर्शित हैं, जिससे इस बात का संकेत हो जाता है कि किस समय भारी से भारी बाढ़ का आगमन हो सकता है और उनमें कितने समय का अंतर पड़ सकता है।

जलग्राफों के अध्ययन के और भी विशेष पहलू हैं, जैसे वर्षा के १२ अथवा २४ घंटे के भीतर कितना जल नदी में प्रवेश करेगा अथवा नदी के निस्सरण (discharge) में उसके द्वारा कितनी वृद्धि हो सकती है। इसके अतिरिक्त जहाँ बड़े बड़े जलाशय बनाए जाते हैं, वहाँ बाँधों के अभिकल्प पर संबंधित नदियों के जलग्राफों का बड़ा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि जलग्राफों द्वारा ही यह अनुमान किया जा सकता है कि बाँधों को अधिक से अधिक कितने जलागमन का सामना करना पड़ेगा।

पाश्चात्य देशों में जलग्राफों से संबंधित विशेष विभाग स्थापित हैं। ज्यों ज्यों जल संबंधी साधनों का उपयोग बढ़ता जाता है त्यों त्यों वृष्टि एवं हिमपात के आँकड़ों का लेखाजोखा बढ़ाना आवश्यक होता जाता है और उनके विश्लेषण के लिये जलग्राफों का उपयोग बढ़ता जाता है। भारत में नई नदी घाटी योजनाओं में और सामान्यतः भूसिंचन तथा जलविद्युत् योजनाओं को अधिकाधिक उपयोगी बनाने के निमित्त जलग्राफों द्वारा वृष्टि का विश्लेषण एवं बाढ़ों द्वारा लाए हुए जल का अनुमान किए जाने के लिये केंद्रीय जल और शक्ति प्रायोग की एक विशेष शाखा है, जो भारतीय मौसम (Meteorological) विभाग के सहयोग से इस विषय का अध्ययन करती है और उसको व्यावहारिक रूप देती है। [बा० ना०]

जलचालित मशीनें पिस्टनयुक्त अथवा बेलनदार इतस्ततोगामी और धुरे पर लगी पंखुड़ीयुक्त घूमनेवाली उन सब मशीनों को कहते हैं जो उच्च दाब के जल के माध्यम से बड़ी ही मंद गति से चलती हैं। मंद गति से चलने के कारण इनकी चाल पर बड़ी सरलता से सही सही नियंत्रण रखा जा सकता है।

जलचालित यंत्रों का सिद्धांत — सभी जलचालित यंत्रों का सिद्धांत एक है और ठीक वही जो ब्रामा प्रेस का है। (देखें ब्रामा प्रेस)। संक्षेप में उसे चित्र १. की सहायता से समझा जा सकता है। चित्र में इ और स दो सिलिंडर हैं जिनमें पूरा पूरा पानी भरा है और उनका संबंध नल न द्वारा कर दिया गया है। इनमें क्रमशः

प और र मज्जक और बेलन लगे हैं जिनपर द और भ भार रखे हैं। पानी व्यवहारतः असंपीड्य होने के कारण यदि मज्जक प भार द के कारण जरा सा भी नीचे उतरता है तो उसके द्वारा हटाए पानी के लिये जगह करने के लिये बेलन र को ऊपर चढ़ना पड़ता है, अर्थात् बेलन प पर
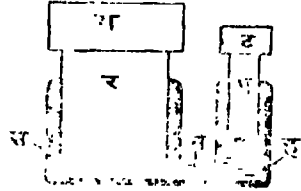
चित्र १. ब्रामा प्रेस का सैद्धांतिक आरेख

ह. पंप का सिलिंडर; प. पंप का मज्जक (plunger) बेलन; द. पंप के मज्जक बेलन पर दाब रूपी भार; स. प्रेस का सिलिंडर; र. प्रेस के सिलिंडर का बेलन; भ. प्रेस द्वारा दबाई जानेवाली वस्तु अथवा परिणामी भार तथा न. दोनों सिलिंडरों को संबंधित करनेवाला नल।

किया हुआ कार्य द जलदाब के कारण नल न द्वारा बड़े सिलिंडर स में पारेषित होकर बेलन र पर भ मात्रा में कार्य करता है। इस युक्ति में नल न की लंबाई चाहे जितनी भी हो सकती है।

इस चित्र के अनुसार व (d) और वा (D) यदि क्रमशः प और र के व्यास इंचों में हों और मज्जक प द्वारा दिया हुआ पानी पर दाब द (p) पाउंड प्रति वर्ग इंच हो, और इस पंप द्वारा पहुँचाया जानेवाला समग्र बल दा (P) और बेलनद्वारा उठाया जानेवाला भार भ (W) भी यदि पाउंडों में ही नापा जाय तो घर्षण को नगण्य मानकर

$$दा = \frac{\pi व^2}{४} द \left[P = \frac{\pi d^2}{4} p\right] \text{ और } भ = \frac{\pi वा^2}{४} द \left[W = \frac{\pi D^2}{4} p\right]$$

$$\therefore \frac{भ}{दा} = \frac{वा^2}{व^2} \left[\frac{W}{P} = \frac{D^2}{d^2}\right]$$

दाब तीव्रक (Intensifier) — यदि जलशक्ति पारेषक पंप और संग्राहक से आनेवाली जलदाब किसी जलचालित यंत्र की आवश्यकता से कम होती है तो उस यंत्र के साथ एक तीव्रक यंत्र भी लगा देते हैं। दाबयुक्त जल मुख्य यंत्र में प्रविष्ट होने के पहले उस तीव्रक
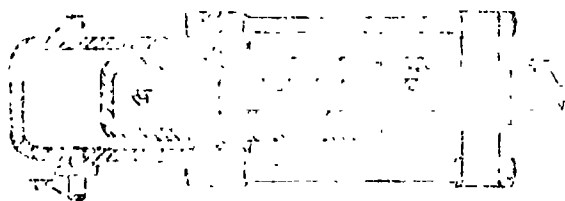
चित्र २. द्रवचालित शक्ति तीव्रक (Hydraulic Intensifier)

क. प्रधान सिलिंडर; ख. इतस्ततोगामी पोला बेलन; ग. स्थिर, पोला बेलन; घ. हलकी दाब के पानी का नल तथा च. उच्च दाब के पानी का नल।

में प्रविष्ट होता है और तीव्रक उसी जल की दाब से बढ़कर मुख्य यंत्र में प्रविष्ट होनेवाले पानी की दाब को कई गुना बढ़ा देता है। चित्र २. में इसी प्रकार का तीव्रक दिखाया है, जिसके स्थिर सिलिंडर क के दाहिने

सिरे में से एक इतस्ततोगामी पोला बेलन ख चलता है। इस पोले बेलन के भीतर एक और पोला बेलन ग लगा हुआ है जो यंत्र के ढाँचे में स्थिर
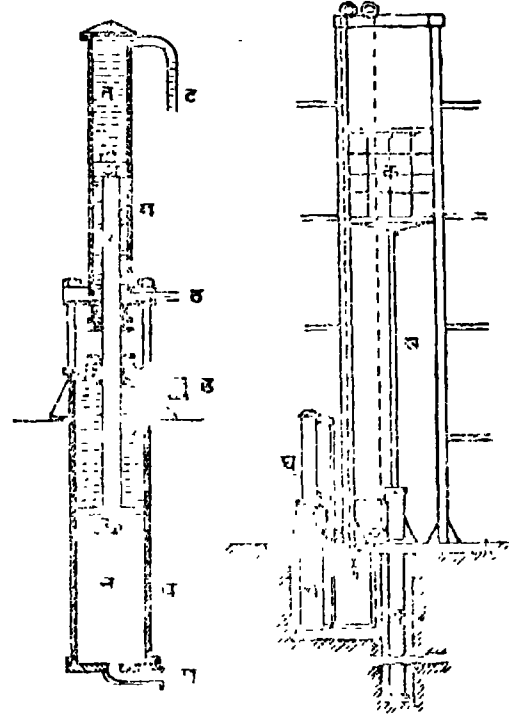
चित्र ३. द्रवचालित लिफ्ट (Hydraulic lift)

क. लिफ्ट का पिंजरा; ख. पिंजरे का लंबा बेलन (प्रधान बेलन); ग. प्रधान सिलिंडर; घ. छोटा संतोलक सिलिंडर; च. बड़ा संतोलक सिलिंडर; छ. पिस्टन ज और झ को संयुक्त करनेवाला दंड; ज. छोटे संतोलक सिलिंडर का पिस्टन; झ. बड़े संतोलक सिलिंडर का पिस्टन; ट. प्रधान जलसंपीडक यंत्र से आनेवाले मुख्य नल की शाखा; ठ. प्रधान सिलिंडर ग को तीव्र दाब के पानी का नल; ड. प्रधान जलसंपीडक यंत्र से आनेवाले मुख्य नल की निचली शाखा; ण. बड़े संतोलक सिलिंडर के निचले भाग को आवश्यकता के समय संपीडित जल से भरने का नल; त छोटे संतोलक सिलिंडर का ऊपरवाला भाग, जिसमें मुख्य नल की शाखा ट से संपीडित जल आता है; थ. छोटे संतोलक सिलिंडर के निचले भाग में भरा हुआ तीव्र दाब का जल; द. बड़े संतोलक सिलिंडर का ऊपरवाला भाग जिसमें मुख्य नल की शाखा ड से संपीडित जल आता है तथा न. बड़े संतोलक सिलिंडर का निचला भाग।

रहता है। हलकी दाब का पानी नल घ में प्रविष्ट होकर सिलिंडर क में लगे पोले बेलन ख को ढकेलता है जिससे बेलन ख और ग में पहिले से भरा हुआ पानी दब कर, नल च में से होकर मुख्य यंत्र में जाता है।

यदि अल्पदाब पानी द (p) पाउंड प्रति वर्ग इंच और उच्चदाब का पानी दा (P) पाउंड प्रति वर्ग इंच, तथा बेलन ख और ग का बाहरी व्यास क्रमशः व (d) और वा (D) इंच मान लिया जाय तो घर्षण को नगण्य मानकर $\frac{दा}{द} = \frac{व^2}{वा^2} \left[\frac{P}{p} = \frac{d^2}{D^2}\right]$ होगा। उदाहरणतः यदि व और वा

व्यासों का अनुपात २:१ हो तो अन्दर दाबयुक्त ७०० पाउंड प्रति वर्ग इंच वाले पानी की दाब बढ़कर २,८०० पाउंड प्रति वर्ग इंच तक हो सकती है।

हविस तथा लिफ्ट (Hoists and lifts) — ऐलिंग्टन द्वारा निर्मित संतुलित हविस चित्र ३. में दिखाया गया है, जिसका लंबा बेलन ख सिलिंडर ग में ऊपर नीचे चलता है, जिसके सिरे पर लगा पिंजरा क भी पाँच मंजिल तक चढ़ सकता है। इस बेलन पर तीन प्रकार के भार आते हैं : १. पिंजरा, २. आदमी अथवा माल तथा ३. बेलन का भार। दूसरे और तीसरे भारों में हेरफेर सदैव होता रहता है, जिन्हें सँभालने के लिये अलग से एक बेलन क और दो सिलिंडर घ और च लगाए जाते हैं, जिनमें मुख्य नल से दाबयुक्त पानी लिया जाता है। सिलिंडर च के पिस्टन ज पर पानी को दाब सदैव एक सी रहती है। यह पानी मुख्य नल की शाखा ट से आता है। इसी की शक्ति से पिंजरे क और बेलन ख के भारों को सँभाला जाता है, जब कि वे नीची स्थिति में रहते हैं। बड़े सिलिंडर घ में लगे बेलन के पिस्टन झ के ऊपर भी मुख्य नल की शाखा ञ से ही दाबयुक्त जल आता है, जिसके द्वारा माल और आदमियों का बोझा संभाल लिया जाता है। पिस्टन ज और झ, एक ही बेलनदंड छ से संबंधित होने के कारण, मुख्य नल में से आए उपर्युक्त पानी की दाब से जब एक साथ नीचे उतरने की चेष्टा करते हैं तब सिलिंडर घ के निचले थ भाग में जो पानी भरा रहता है उसकी दाब अत्यधिक तीव्र हो जाती है। यह तीव्र दाबयुक्त जल सिलिंडर ग में जाकर बेलन ख के संपूर्ण भार को उठाने में समर्थ होता है। सिलिंडर घ के थ भाग में इतना ही पानी भरा होता है जिससे बेलन ख पिंजरे आदि को पूरी ऊँचाई तक उठा सके। अतः जब पिंजरा सर्वोच्च स्थिति पर चढ़ जाता है तब थ भाग खाली हो जाने से पिस्टन ज और झ अपने सिलिंडरों के पेंदों में बैठ जाते हैं। उस समय इन पिस्टनों पर मुख्य नल के पानी की दाब ही नहीं रहती, बल्कि इन बड़े बड़े सिलिंडरों में भरे पानी का भार भी रहता है, जिस कारण संपूर्ण बेलन ख और भरे हुए पिंजरे के भार को सँभालने में पूर्णतया समर्थ रहता है। जब पिंजरा सबसे नीची स्थिति में रहता है उस समय इन पिस्टनों पर पानी का भार बिल्कुल नहीं रहता, केवल मुख्य नल की दाब ही रहती है। इस प्रकार बेलन ख का भार सारी परिस्थितियों में संतुलित ही रहता है। पिंजरे को उतारते समय सिलिंडर च में से द भाग के पानी को खाली कर दिया जाता है, जिससे पिंजरा अपने ही भार के कारण धीरे धीरे नीचे उतर आता है और पिस्टन ज और झ ऊपर चढ़ते हैं, क्योंकि ट नल में से आनेवाला दाबयुक्त पानी अपने दबाव के कारण उन्हें एकदम चढ़ने से रोकता है, और यह सारा स्वयं संचालक यंत्र को जाने लगता है। उपर्युक्त द्रवचालित लिफ्ट में ऐलिंग्टन ने अधिकतर पैकिंग भीतर की ओर से लगाए थे, लेकिन आधुनिक यंत्रों में सब बाहर की ओर से लगाए जाते हैं। इससे मरम्मत करने में बड़ी आसानी होती है।

क्रेन और जैक (Cranes and Jacks) — क्रेन यंत्र भाप, विद्युत्, तेल इंजन और हस्तचालित भी होते हैं, लेकिन बंदरगाहों और ढलाईखानों आदि स्थानों पर जल-शक्ति-चालित यंत्रों का ही अधिक प्रयोग होता है, जिसके अनेक लाभ हैं। प्रथम तो इन्हें शक्ति प्रदान करने के लिये एक छोटा सा पंप इंजन ही काफी होता है, दूसरे इनके द्वारा कार्य तत्क्षण प्रारंभ किया जा सकता है, तीसरे इनके प्रयोग के समय आवाज नहीं होती और उठाए जानेवाले सामान पर जरा सा भी झटका नहीं लगता, जो बड़े महत्व की बात है, और सर्वोपरि इनकी बनावट भी अत्यंत सरल होती है।

क्रेन चित्र ४. में दिखाया गया है, जिसमें सिलिंडर क स्थिर रहता है और उसके निचले सिरे पर ग, गा, गि आदि घिरनियाँ (pulleys) लगी रहती हैं। ऊपर बेलन ख के ऊपरी सिरे पर भी घ, घा, घि आदि उतनी ही संख्या में घिरनियाँ लगी हैं जितनी नीचे की तरफ हैं। पानी की दाब से आगे बढ़ते समय यह बेलन कहीं घूम न जाय, इसलिये इसका शीर्ष च, छ-छ चिह्नित दो मार्गदर्शिकाओं के बीच में चलता है और
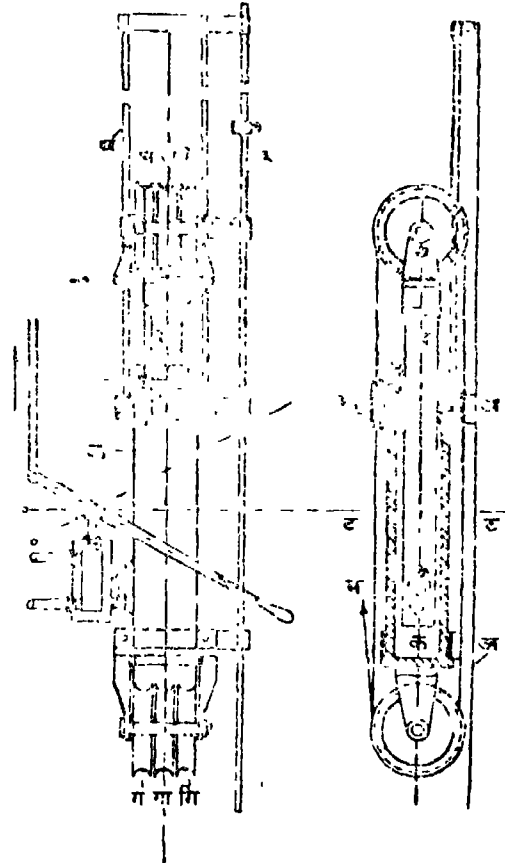
चित्र ४. द्रवचालित क्रेन

क. प्रधान सिलिंडर; ख. प्रधान बेलन; ग, गा, गि. नीचे की घिरनियाँ घ, घा, घि. ऊपर की घिरनियाँ; च. बेलन के ऊँचा उठने की उच्चतम सीमा की रोक; छ. बेलन के शीर्ष की मार्गदर्शिकाएँ (guides); ज. क्रेन के मुख्य ढाँचे की तलरेखा, जिसपर सिलिंडर आदि मजबूती से कसे हैं; झ. घिरनियों के रस्से को बाँधने का आँखयुक्त बोल्ट; ट. चालक हैंडिल की मध्य स्थिति तथा भ. उठाए जानेवाले भार से संबंधित रस्से का छोर।

यह सारा उपकरण क्रेन यंत्र के मुख्य ढाँचे ज-ज के साथ दृढ़ता से बँधा रहता है। लोहे के तारों के एक रस्से अथवा जंजीर का एक सिरा आँखयुक्त एक बोल्ट झ से बँधा रहता है और वह रस्सा क्रमशः ग घ, गा घा, और गि घिरनियों पर लिपट कर घि पुली के ऊपर होकर उठाए जानेवाले भार भ (W) से संबंधित हो जाता है। अनेक घिरनियों की सहायता से बोझा उठाते समय जो यांत्रिक लाभ ला (n) होता है, वह

घिरनियों के चौगिर्द लपेटने के बाद ट चिह्नित स्थान पर रस्सी की लड़ों की संख्या का अनुक्रमानुपाती होता है।

सब प्रकार के घर्षणों का विचार रखते हुए यदि बेलन द्वारा पहुँचाई हुई समग्र दाब दा (P) हो तो

$$भ = \frac{दा}{रस्सियों की संख्या} \times ला \left[W = \frac{P}{\text{Number of ropes}} \times \eta \right]$$

घिरनियों की संख्या के अनुसार ही क्रेन की क्षमता भी परिवर्तित हो जाती है, जिसका अनुमान अनुभव द्वारा प्राप्त निम्नलिखित सारणी के अंकों से लगाया जा सकता है :

घिरनियों की संख्या	०	२	४	६	८	१०	१२	१४	१६
ला (η)	·८७	·८०	·७६	·७२	·६७	·६३	·५९	·५४	·५०

जैक (Jack) — कारखानों में भारी वजन उठाने के लिये जब क्रेन यंत्र उपलब्ध नहीं हो सकता, अथवा भार उसकी पहुँच के बाहर होता है, तब जलीय जैक बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है। इसका सिद्धांत ब्रामा प्रेस अथवा क्रेन के समान है। अंतर इतना ही है कि उठाऊ बेलन तो जमीन में टिका दिया जाता है और टोपी के समान उसपर पहनाया हुआ सिलिंडर पानी की दाब से ऊपर नीचे सरकता है। पानी की यह दाब इसी यंत्र में हाथ से एक लीवर चलाकर उत्पन्न की जाती है। चित्र ५. में सिलिंडर के मत्थे पर तो एक घूमनेवाला टोपीनुमा आलंब और नीचे की तरफ पंजेनुमा स्थिर आलंब बना दिया गया है। ऊपर के आलंब से ऊँचाई पर स्थित बोझों

चित्र ५. द्रवचालित जैक
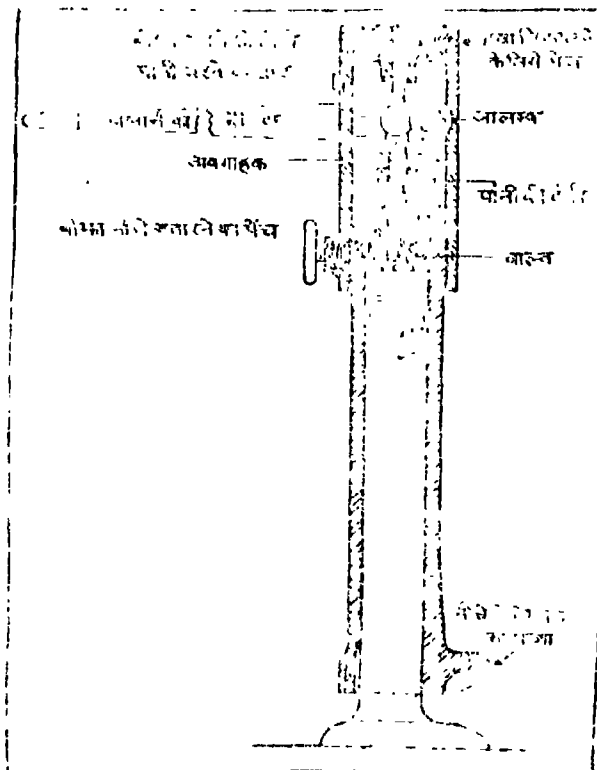
को और नीचेवाले से जमीन के पास तक धसे हुए बोझों को सरलता से उठाया जा सकता है। सिलिंडर के मत्थे पर एक टंकी कसी है, जिसमें तेल, ग्लिसरीन या पानी दाब पैदा करने के लिये भर देते हैं और आलंब के सहारे हैंडिल को ऊपर नीचे चलाने से मज्जक ऊपर उठते समय द्रव को दाहिनी बगल में बने वाल्व में से खींचकर तथा नीचे जाते समय अपने नीचेवाले वाल्व में से ढकेलकर सिलिंडर और बेलन के बीच के स्थान में दबा कर भर देता है। ज्यों ज्यों उसमें द्रव भरता जाता है सिलिंडर बोझ सहित ऊपर को उठता है। नीचे उतारने के लिये बाईं तरफ लगे पेंच को थोड़ा थोड़ा खोला जाता है, जिससे द्रव ऊपर की टंकी में लौट जाता है।

गढ़ाई का दाब यंत्र, गढ़ाई प्रेस (Forging Press) जलशक्तिचालित प्रेस द्वारा भारी गढ़ाई क्रियाएँ करने की परिकल्पना सर्वप्रथम चार्ल्स फॉक्स ने सन् १८४७ ई० में की और उसका व्यवहार हैस्वेल ने सन् १८६१ में किया। इसका श्रेय ग्लेडहिल को भी दिया जाता है, जो सर विटवर्थ के कारखाने का मैनेजर था। इस प्रेस द्वारा गरम लौह पिंड को दबाने से स्थिरतापूर्वक दाब पड़ती है, जिसका प्रभाव उसके आंतरिक पदार्थ पर होने के कारण गढ़ी गई वस्तु बड़ी ठोस
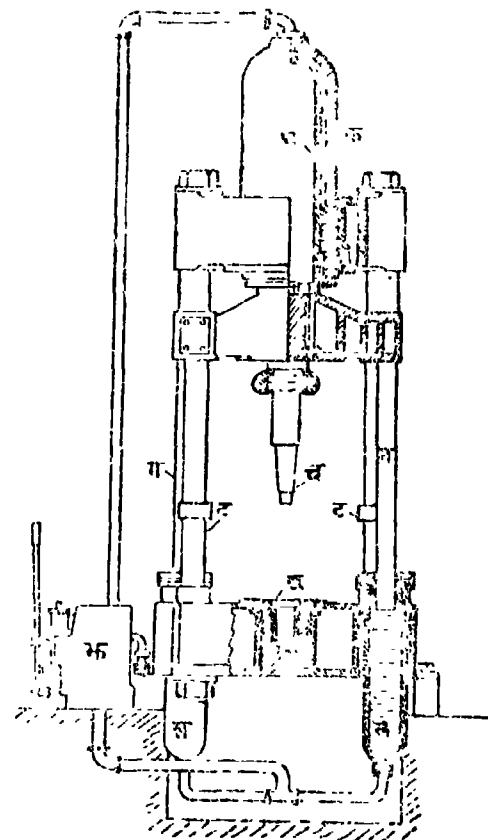
चित्र ६. द्रवचालित गढ़ाई

क. प्रधान सिलिंडर; ख. बेलन को ऊँचा उठानेवाले सहायक सिलिंडर; ग. सहायक सिलिंडरों के बेलन दंड; घ. प्रधान बेलन (खोखला); च. प्रधान बेलन के सिरे पर कसा हुआ संधान पंच (मुग्दा); छ. डाइ के भीतर बैठा हुआ संधानित अदद; झ. संचालक वाल्व बक्स तथा ट. प्रधान सिलिंडर आदि के स्तंभ और बेलन की चाल को सीमित करनेवाली रोकें।

और मजबूत बन जाती है। इसके विपरीत वाष्पचालित अथवा पात घन द्वारा गरम लौहपिंड पर जो क्षणिक चोट पड़ती है, वह केवल उसके

बाहरी पदार्थ पर ही असर कर पाती है और भीतरी पदार्थ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, और यदि पड़ता भी है तो बहुत कम। अतः उसमें आंतरिक खिंचाव और दरारें पड़ जाती हैं, जिससे वह वस्तु कमजोर हो जाती है। दूसरा लाभ यह होता है कि इसके द्वारा वाष्पघन जैसा भारी धमाका और इमारतों में कंपन नहीं होता।

इन प्रेसों के साथ एक तीव्रक भी लगाना आवश्यक होता है, क्योंकि भारी वस्तुओं की गढ़ाई करते समय ३,००० पाउंड प्रति वर्ग इंच की दाब की आवश्यकता होती है। चित्र ६. में क मुख्य सिलिंडर है, जिसके निचले सिरे पर लगा च, पंच फ्रेम में लगी छ डाइ (die) में लौहपिंड को दबाकर गढ़ाई की क्रिया करता है। मुख्य सिलिंडर को चार मजबूत खंभों ट पर लगाया गया है, जो मार्गदर्शिका का भी काम करते हैं। क्योंकि बेलन घ बहुत भारी होता है, अतः इसे उठाने के लिये नीचे के फ्रेम में लगे ख सिलिंडरों से सहायता ली जाती है, जिनमें ग बेलन शक्तिसंग्राहक द्वारा प्राप्त दावयुक्त पानी से चलते हैं।

रिवेट (Rivet) प्रेस — बड़े आकार के ढोल, टंकियाँ, बायलर और जलपोत बनानेवाले कारखानों के लिये रिवेट प्रेसों का होना बड़ा आवश्यक है। इनका आविष्कार ट्वेडेल (Tweddell) ने सन् १८६५ में किया था। चित्र ७. में ऊपर की तरफ प्रदर्शित, स्थायी प्रेस उपर्युक्त आविष्कार का १८९० ई० में निर्मित तथा परिष्कृत रूप है। इसके फ्रेम के क और ख दो भाग हैं, जो ग चटखनियों (bolts) द्वारा दृढ़तापूर्वक बाँध दिए गए हैं। क भाग के ऊपर ज सिलिंडर और झ बेलन है, जिसके साथ रिवेट के मत्थे की डाइ लगी है। ख भाग के ऊपर रिवेट की निहाई थ लगी है। ट, ठ और ड बेलन को चलानेवाले हैंडिल है। ज सिलिंडर के साथ ही एक सहायक सिलिंडर और बना है, जिसमें २० फुट ऊँचाई पर स्थित टंकी घ से पानी भर लिया जाता है। इसकी दाब से दोनों प्लेटें सटकर बैठ जाती हैं। फिर मुख्य सिलिंडर में भी वही पानी भरकर उसमें उच्च दाब का पानी प्रविष्ट किया जाता है, जिससे कुल १०० टन तक दाब बढ़ जाती है। इसमें से ४० टन तो प्लेटों को सटाकर बैठाने में खर्च हो जाती है और शेष ६० टन से रिवेट का मत्था दबा दिया जाता है।

सुवाह्य रिवेट प्रेस — ट्वेडेल ने सन् १८७१ में रिवेट लगाने की सुवाह्य मशीन का आविष्कार किया। ये सुवाह्य यंत्र दो प्रकार के होते हैं, एक तो प्रत्यक्ष क्रियात्मक और दूसरा लीवर (lever) युक्त। इन्हें चित्र ७. में क्रमशः दाईं और बाईं ओर नीचे की तरफ दिखाया गया है। प्रत्यक्ष क्रियात्मक यंत्र का फ्रेम U आकार का होता है, जिसकी एक शाखा के छोर पर सिलिंडर और बेलन होता है और दूसरे पर निहाई। इस यंत्र को जंजीरों द्वारा लटकाकर क्रेन द्वारा काम करने की जगह ले जा सकते हैं। लीवरयुक्त यंत्र की बनावट संड़सी जैसी होती है, जिसमें हाथ से पकड़नेवाले सिरे को चौड़ा करने से पकड़नेवाले जबड़े बन जाते हैं। इस यंत्र के लीवर ग आलंब पर घूमते हैं। सिलिंडर घ में जब उसका बेलन दाबयुक्त पानी के जोर से लीवरों के सिरे च और छ को फैलाता है तब रिवेट की डाइयाँ क और ख बड़ी शक्ति के साथ प्लेट और रिवेट को दबाती हैं। यंत्र को जंजीर द्वारा लटकाकर जहाँ चाहें ले जा सकते हैं।

छेद करने (punching) और प्लेट मोड़ने के जलचालित यंत्र — छेद करने के यंत्र थोड़े हेर फेर के साथ रिवेट लगाने के यंत्रों के समान ही होते हैं और प्लेट मोड़ने के यंत्र आमा प्रेस से मिलते जुलते होते हैं, अतः वर्णन अनावश्यक है। लेकिन जहाँ इनका तथा अन्य उपर्युक्त यंत्रों का प्रयोग होता है, वहाँ के संपीडित जल के मुख्य नलों में पानी की दाब १,५०० पाउंड से लेकर १,७०० पाउंड प्रति वर्ग इंच तक होना आवश्यक है।

परीक्षण यंत्र (Testing machines) — विभिन्न धातुओं के तनाव, संपीडन और विरूपण सामर्थ्य जानने के लिये उन धातुओं के परीक्षण नमूने (test pieces) बनाकर, जिन यंत्रों में खींचे, दबाए या काटे जाते हैं उनमें भी अधिकतर जल अथवा तेल को संपीडित करके ही परीक्षण के लिये शक्ति प्राप्त की जाती है। प्रोफेसर वर्डर (Werder) ने सर्वप्रथम इस प्रकार का यंत्र बनवाया जिसका १९वीं सदी में जर्मनी में खूब प्रचार हुआ। इसके पहले तुलायुक्त यंत्रों का प्रयोग
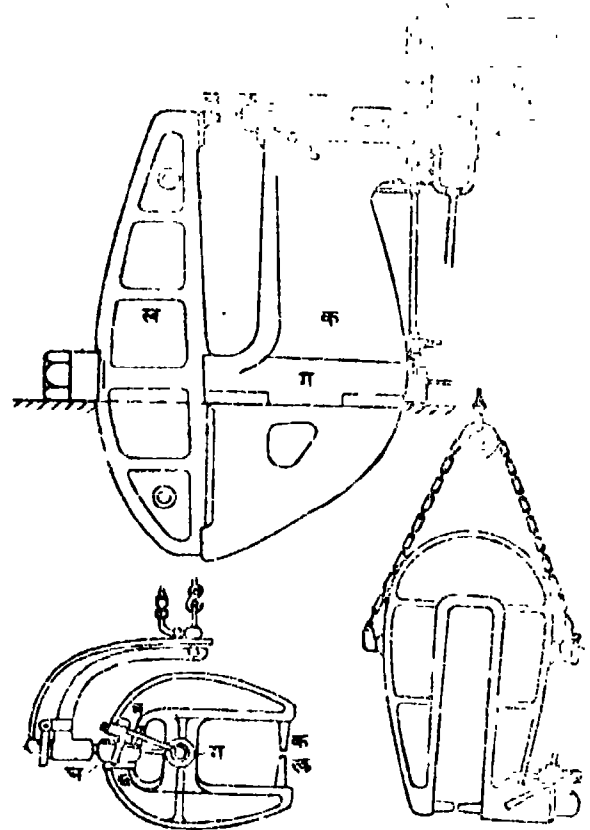
चित्र ७. विविध रिवेट (Rivet) प्रेस

ऊपर : द्रव-चालित स्थायी रिवेट प्रेस; क. प्रेस का सिलिंडर युक्त स्थायी अंग, ख. प्रेस का निहाई युक्त स्थायी अंग, ग. क और ख अंगों को बाँधनेवाली दृढ़ चटखनी; ध. पानी की टंकी, न. सिलिंडर का तल, ज. सिलिंडर तथा बेलन, झ. रिवेट का माथा दबाने की, बेलन में लगी हुई डाइ (die); प्रेस चालक वाल्व का ट. प्रथम हत्था, ठ. द्वितीय हत्था, ड. तृतीय हत्था तथा थ. रिवेट दबाने की निहाई। नीचे बाएँ : द्रवचालित, लीवरयुक्त, सुवाह्य रिवेट प्रेस क. रिवेट का माथा दबाने की डाइ (die), ख. रिवेट दबाने की निहाई, ग. लीवरों के घूमने का चूलयुक्त आलंब, घ. प्रेस का सिलिंडर और बेलन, च. ऊपरवाला लीवर तथा छ. निचला लीवर। नीचे दाएँ : द्रवचालित, "प्रत्यक्ष क्रियात्मक", सुवाह्य रिवेट प्रेस।

हुआ करता था। पश्चात् केनेडी (Kennedy) और विकस्टीड (Wickstecd) ने वर्डर के यंत्र में सुधार कर कई मशीनें बनवाईं, जिनमें जल-संपीडन-केंद्र से प्राप्त उच्च दाब के जल का प्रयोग न कर प्रयोगशाला में ही लगभग ४० फुट ऊँचाई पर टंकी लगाकर और एक छोटे से तीव्रक तथा पेंचों की सहायता से १०० टन प्रति वर्ग इंच तक का दबाव प्राप्त किया। आधुनिक यंत्रों में पानी की जगह तेल का भी प्रयोग किया जाता है।

जहाजी यंत्र — जहाजों के भारी भारी लंगरों और उनकी भारी जंजीरों को समेटते समय उन्हें चर्खियों पर लपेटा जाता है। पुराने जमाने के हल्के जहाजों की चर्खियां तो कई आदमी मिलकर हाथ से ही चला लेते थे, किंतु आधुनिक जहाजों पर ऐसा करना संभव नहीं है अतः इन कामों तथा जहाजों के पतवारों को चलाने में भी अब जलशक्तिचालित यंत्रों का ही प्रयोग किया जाता है। इस काम के लिये सन् १७३८ ई० में सर आर्मस्ट्रांग ने जल-शक्ति-चालित पिस्टन तथा सिलिंडर युक्त इंजन बनाया था, जिससे बंदरगाह में जहाजों को घुमाना, लंगर की चर्खी घुमाना, पुलों को ऊपर उठाना और फिर वापस बंद कर देना आदि कार्य किए जाते थे। इस इंजन में तीन झूमनेवाले सिलिंडर होते थे, जिनसे धुरे पर लगे तीन क्रैंक चलाए जाते थे, किंतु इसके पिस्टनदंडों में से पानी के चूने की कठिनाई इतनी बढ़ जाती थी कि उसका प्रयोग बंद करना पड़ा। इसके कुछ दिनों बाद ब्रदरहुड हेस्टी (Brotherhood Hastie) ने एक सिलिंडर और बेलन युक्त इंजन बनाया, जो ७५० पाउंड प्रति वर्ग इंच दाब और धीमी गति से उत्तम कार्य करता है।

जल-शक्ति-चालित इतस्ततोगामी इंजन — चित्र ८ में ब्रदरहुड
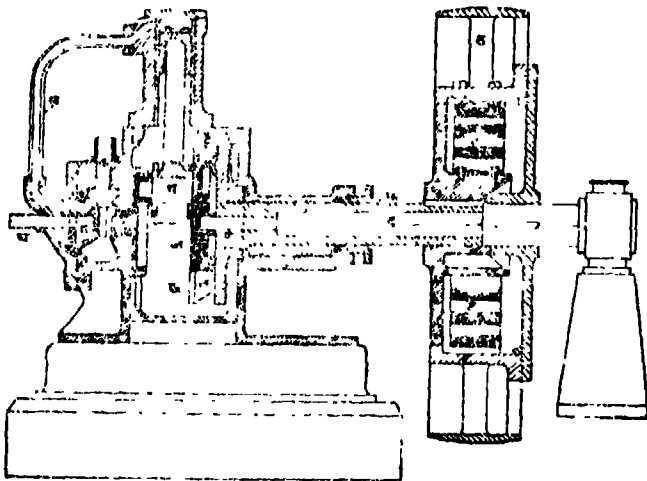
चित्र ८. संपीडित द्रवचालित इंजन

क. प्रधान जलसंपीडक यंत्र से संपीडित जल का मार्ग; ख. सिलिंडर में संपीडित जल का प्रवेशनल; ग. जलनियंत्रक वाल्व; घ. जल-निष्कासन-मार्ग; च. क्रैंक (crank) पिन; छ. क्रैंक प्लेट; ज. स्थिर प्लेट; झ. पोला धुरा, ट. कुंतल कमानियाँ; ठ. घिरनी; ड. ठोस धुरा; ढ. सीधी चाल का क्लच; ण. कैम (Cam) तथा त. उलटी चाल का क्लच (clutch)

हेस्टी के इंजन की बनावट दिखाई गई है। इसका बेलन अंतर्दह इंजन के पिस्टन से बहुत साम्य रखता है। इस इंजन में संपीडित जल क मार्ग से ख नल में होकर सिलिंडर में ऊपर की तरफ से प्रवेश करता है और निस्सरण के समय ख में से ही होकर वाल्व ग के द्वारा निष्कासन मार्ग घ में चला जाता है। जलमार्ग क और घ की गति पलटने के वाल्व से संबंधित कर देते हैं तब इंजन उलटा चलने लगता है। उस समय पानी घ में से प्रविष्ट होकर मार्ग क में से निकल जाता है। इस इंजन में क्रैंक पिन च की बनावट ऐसी है कि वह अपने स्थान पर उस प्रकार स्थिर नहीं रहता जैसा वाष्प और अंतर्दह इंजनों में स्थिर रहता है, क्योंकि जितना क्रैंक प्लेट छ में गुंजाइश रखी गई है उतना ही वह आड़ा सरक जाता है। किंतु पिन को सीधा रखने के लिये उसे प्लेट में ज पेंच द्वारा कस दिया गया है। अतः क्रैंक प्लेट को सिलिंडर से दाब के रूप में जो शक्ति मिलती है उससे पोला धुरा झ घूम जाता है। इसपर बहुत ही शक्तिशाली कुंतल कमानियाँ ट चारों तरफ कस दी गई हैं, जिनके दूसरे सिरे पर घिरनी ठ से संबंधित यंत्र चल पड़ते हैं। साथ ही यह घिरनी, पोले धुरे झ के भीतर लगे एक ठोस धुरे ड पर चाबी द्वारा पक्की कसी
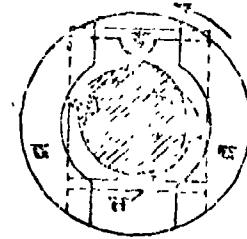
चित्र ९. संपीडित द्रवचालित इंजन का क्रैंक प्लेट

छ. क्रैंक प्लेट; ढ. सीधी चाल का क्लच; ण. कैम तथा त. उलटी चाल का क्लच

रहती है, अतः घिरनी पर जब मरोड़ बल पड़ता है तब कमानियाँ ट भी ऐंठती हैं और उस समय धुरा ड क्रैंक प्लेट पर लगे क्लच के ढ कांटे की सीध से उतना ही सरकता है जितना उसपर ऐंठन पूर्ण पड़ता है। (देखें क्लच का परिवर्धित चित्र ९) इस कारण ड, कैम ण को इस प्रकार से घुमा देता है जिससे क्रैंक पिन धुरे के केंद्र से सरक जाता है और क्रैंक की चाल बढ़ जाती है। जब धुरे पर कम भार पड़ता है तब क्रैंक की चाल स्वतः ही कम हो जाती है। इंजनों से कम या अधिक काम लेने के दो उपाय हैं: पहला तरल पदार्थ को दाब में परिवर्तन, दूसरा पिस्टन की दौड़ में परिवर्तन। लेकिन पानी की दाब सदैव स्थिर रहती है, अतः इस इंजन में उपर्युक्त प्रकार से दौड़ को ही कम किया गया है। चित्र ९ में कांटा ढ चिह्नित स्थान पर, जहाँ सबसे लंबी दौड़ होती है, दिखाया है। यह कैम ण के ½ चक्कर पार करने पर प्राप्त होती है। जब कांटा चिह्नित स्थान पर आता है तब सबसे छोटी दौड़ होती है।

जलचालित अन्य यंत्र—बंदरगाह में समुद्री पानी के कई टन भारवाले दरवाजों को, जिनपर समुद्री पानी का भी अमित दबाव पड़ता है, खोलने और बंद करने के लिये पिस्टन बेलन युक्त यंत्रों का प्रयोग होता है। इन बेलनों की चाल १२–१३ फुट तक होती है। समुद्री पानी और बड़े बड़े बाँधों के स्लूइस वाल्व (sluice valve) भी, जिनका व्यास लगभग ६० इंच तक होता है, इन्हीं यंत्रों द्वारा खोले तथा बंद किए

जाते हैं। इन यंत्रों की बनावट क्रेन यंत्रों के सिलिंडर और बेलनों से बहुत साम्य रखती है। स्टेशनों पर रेलगाड़ियों को प्लैटफार्मों के अंत में टक्कर लगाने से रोकने के बफर (buffer), रेल के इंजनों की मरम्मत करते समय उनके चक्कों को उतारने और चढ़ाने के लिये तथा कई प्रकार के ब्रेक भी इन्हीं सिद्धांतों पर बने होते हैं। इंजनों का परीक्षण करने के लिये डाइनेमोमीटर के कुछ यंत्र भी जल या तेल की दाब शक्ति से अपना काम करते हैं, जिससे पता चलता रहता है कि किसी विशेष समय पर इंजन कितना खिचाव प्रस्तुत कर रहा है। इंजनों और रेलगाड़ियों के चक्कों में, उनके धुरों को मजबूती से दबाकर बैठाने के लिये भी, जलशक्ति-चालित प्रेसों का प्रयोग किया जाता है। [ओं० ना० श०]

जलचिकित्सा (Hydropathy) अनेक रोगों की चिकित्सा करने की एक निश्चित पद्धति है, जिसमें शीतल तथा उष्ण जल का बाह्याभ्यंतर प्रयोग सर्वश्रेष्ठ ओषधि होती है और उपचारार्थ प्रयुक्त अन्य सभी ओषधियाँ प्रायः हानिकर समझी जाती हैं।

जलोपचार १८२९ ई० से प्रचलित है। इसका श्रेय साइलीजा (आस्ट्रिया) के विन्सेंट प्रीसनिट्स (Vincent Priessnitz) नामक एक किसान को है, जिसने सर्वप्रथम इसका व्यवहार प्रचलित किया। बाद में अनेक डाक्टरों ने आंतज्वर, अतिज्वर (Hyperpyrexia) इत्यादि में शीतकारी स्नान बड़ा उपयोगी पाया। अब इसका प्रयोग अधिक व्यापक हो गया है।

जलचिकित्सा में जल का प्रयोग निम्नलिखित विधियों द्वारा किया जाता है :

(१) एकांग तथा सर्वांग के लिये शीतल तथा उष्ण आवेष्टन (packings)। आर्द्रवस्त्रावेष्टन चिकित्सा व्यवसाय का एक महत्व का अंग हो गया है।

(२) उष्ण वायु तथा बाष्पस्नान — टर्किश बाथ उष्णवायुस्नान का उत्तम उदाहरण है। डेविड उर्गुहर्ट (David Urguhart) ने पौर्वात्य देशों से लौटने पर इंग्लैंड में इसको खूब प्रचलित किया। अब टर्किश बाथ एक स्वतंत्र सर्वमान्य सार्वजनिक प्रथा ही बन गई है।

(३) शीतल और उष्ण जल का सर्वांग स्नान।

(४) शीतल या उष्ण जल से पाद, कटि, शीर्ष, मेरुदंड इत्यादि, एकांगस्नान।

(५) आर्द्र तथा शुष्क पटबंधन और कंप्रेस (compresses)।

(६) शीतल तथा उष्ण सेंक एवं पुल्टिस (poultices)

(७) प्रक्षालन (Ablution) — इसमें १५°-२१° सें० ताप का पानी हाथों से शरीर पर लगाया जाता है।

(८) आसेक (Affusion) — इसमें रोगी टब में बैठा या खड़ा रहता है और उसके सर्वांग या एकांग पर बाल्टी से पानी डाला जाता है।

(९) डूश (Douche) — इसमें पाइप (hose pipe) के द्वारा शरीर पर पानी छोड़ा जाता है।

(१०) जलपान — इसमें पीने के लिये शीतल या उष्ण जल दिया जाता है। [भा० गो० घा०]

जलजीवशाला (Aquarium) कृत्रिम जलाशय, या पानी से भरे गोल बर्तन, या कांच के हौज को कहते हैं, जिसमें जीवित जलचरों या पौधों को रखा जाता है। ये शालाएँ मुख्यतः मछलियों को पालने और उनके कौतुक देखने दिखाने के काम में आती हैं।

इतिहास — मछलियों के पाले जाने के प्रमाण कम से कम ४,५०० वर्ष पूर्व तक के प्राप्त हुए हैं, जब सुमेर निवासी भोजन के लिये उन्हें हौजों या पोखरों में पालते थे। किंतु संभव है कि यह प्रथा इससे भी पूर्व प्रचलित रही हो। भारत में मछलियों को पालना सर्वप्रथम कब आरंभ हुआ यह कहना कठिन है, किंतु एशियाई देशों में से चीन में, सुंगवंश के राज्यकाल में (सन् ९६०–१२७८) लाल मछलियों (स्वर्ण मत्स्यों) का कौतुक और सजावट के लिये पालन प्रारंभ हुआ। चीनियों ने छोटे बरतनों में रखने योग्य तथा सजावट के उपर्युक्त मछलियों की विशेष जातियों का विकास किया। इन्होंने उत्तम नस्लों के चुनाव से जिन जातियों की मछलियों का संवर्धन किया उन्हीं से आज की सुंदरतम पालतू मछलियाँ प्राप्त हुई हैं। रोमन लोगों में भी पालतू मछलियाँ रखने का वर्णन है। ये मछलियाँ हौजों, या छोटे तालाबों, में पाली जाती थीं। शीशे के बरतनों या शालाओं में मछली पालन की प्रथा २०० वर्षों से अधिक पुरानी नहीं है।

जलजीवशालाएँ दो प्रकार की होती हैं : सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत। भिन्न भिन्न देशों के अनेक मुख्य नगरों में सार्वजनिक जलजीवशालाएँ स्थापित हैं। न्यूयार्क, शिकागो, सैनफ्रांसिस्को, लंदन, बर्लिन इत्यादि नगरों में बड़ी बड़ी जलजीवशालाएँ हैं। इनसे छोटी, किंतु प्रसिद्ध, जलजीवशालाएँ मद्रास, हवाई द्वीप, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका तथा संयुक्त राज्य (अमरीका) के वाशिंगटन, फिलाडेल्फिया, बोस्टन, बाल्टिमोर इत्यादि नगरों में हैं। ये जलजीवशालाएँ मुख्यतः जनशिक्षा तथा मनोरंजन के लिये हैं, कुछ में थोड़ा बहुत वैज्ञानिक खोज का काम भी किया जाता है। वे जलजीवशालाएँ अलग हैं, जिनका प्रयोजन मुख्यतः वैज्ञानिक अनुसंधान है। ये साधारणतः विशाल होती हैं। इनके साथ जनता के विनोदार्थ छोटी जीवशालाएँ भी प्रायः रहती हैं। इनमें प्रधान संयुक्त राज्य (अमरीका) के मासाच्यूसेट्स प्रदेश के वुड्स होल नामक स्थान में, इंग्लैंड के प्लिमथ तथा इटली के नेपुल्स नगर में है। देखने की सुविधा के विचार से जलजीवशालाओं की दीवारें काच की बनाई जाती हैं। बड़े जलाशयों की दीवारें एक से डेढ़ इंच मोटे काच की होती हैं।

जलजीवशालाओं का जल — सार्वजनिक जलजीवशालाओं की देखभाल के लिये जल को आवश्यक ताप तथा रासायनिक संरचना का बनाए रखना तथा जलजीवों के स्वास्थ्य, भोजन, रोग और परजीवियों से संबंधित समस्याओं का निराकरण भी आवश्यक होता है। जहाँ उचित प्रकार का जल आवश्यक परिमाण में सुलभ होता है, वहाँ मशीनों द्वारा आवश्यक जल की पूर्ति सरलता से होती है। ताजा जल नगरपालिकाओं के जलाशयों से मिल जाता है, किंतु इस जल के जीवाणुओं को मारने के लिये प्रयुक्त क्लोरिन गैस के अवशेष को पहले अलग कर लिया जाता है, क्योंकि यह गैस जलाशय के जीवों को हानि पहुँचाती है। यदि जलाशय के लिये समुद्री पानी आवश्यक है, तो समुद्र के ऐसे स्थान से जल लेते हैं जहाँ नदियों से आई हुई, या अन्य प्रकार से गिरनेवाली, गंदगियाँ न हों। ऐसे स्थानों पर भी तूफानों के कारण जल उपयोग के अयोग्य ठहर सकता है, इसलिये अनेक जगहों पर ऐसा प्रबंध रहता है कि हौज में एक बार भरा हुआ जल पुनः संचारित होता रहता है और मार्ग में उसके छानने और उपयुक्त बनाने की क्रियाएँ संपन्न हो जाती हैं।

इस कार्य के लिये जीवशालाओं से जल एक छनने से होकर नीचे स्थित एक हौज में चला जाता है। यहाँ इसका रासायनिक शोधन तथा ताप-

नियंत्रण होता है। जल का ताप नियमित बनाए रखने के लिये गरम या ठंढा करने के उष्मास्थैतिक उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। नीचे के हौज से पंप मशीन जल को उठाकर फिर जीवशाला में पहुँचा देती है। जीवों द्वारा जल में से ली हुई ऑक्सीजन की पूर्ति तथा उसमें छोड़ी हुई कार्बन डाइग्रावसाइड के निकास के लिये मार्ग में उचित स्थानों पर वायुसंचारण के साधन रहते हैं। इस प्रकार की बड़ी संस्थाओं में भिन्न प्रकार की जलवायु में पाए जानेवाले जीवों के लिये उष्ण, समशीतोष्ण तथा शीतल, समुद्री जल के भिन्न भिन्न जलाशय होते हैं। इसी प्रकार भिन्न ताप के मृदु जल के जलाशय आवश्यक हैं तथा भिन्न ताप और भिन्न क्षारीय या अम्लीय जलों की भी आवश्यकता होती है। जल के आवागमन के लिये धातु के नलों के स्थान पर, जिनका प्रभाव विषैला हो सकता है, काँच के या सीमेंट के पलस्तर किए हुए नल उपयुक्त होते हैं।

जंतुओं की परिचर्या और चौकसी — जंतुओं के संग्रह में यह सावधानी अत्यावश्यक है कि पकड़ते समय उन्हें अधिक चोट न लगे और परिवहन के समय उपयुक्त जल तथा खाद्य उन्हें मिलता रहे। कुछ खाद्य सामान तो बाजारों में मिल जाते हैं, किंतु कुछ खाद्य जलशाला के कार्यकर्ताओं को ढूँढ़कर एकत्रित करना पड़ता है। परजीवियों तथा रोग और महामारियों से रक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिए। जलजीवों के रोगों की चिकित्सा कठिन है, इसलिये निवारक उपाय ही अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं। चिकित्सा के लिये मुख्यत: जीव को ऐसे विलयन में रख देते हैं जिसमें उसको कोई हानि न पहुँचे, किंतु संक्रामक जीवाणु मर जाएँ। यदि जलाशय के जल को ठंढा न होने दिया जाय, तो रोगों और परजीवियों से विशेष आशंका नहीं रहती।

व्यक्तिगत जलजीवशाला — छोटे जलाशयों में मछलियों के साथ जलीय वनस्पतियों को भी रखने के कारण, घरों में जलजीवशालाओं के प्रति आकर्षण बढ़ गया है और ये लोकप्रिय हो गई हैं। अनेक जलीय जीव स्थिर जल में जीवनयापन के अभ्यस्त हैं। इसलिये इस प्रकार की जीवशालाओं का रखरखाव अपेक्षाकृत सरल होता है, यद्यपि इनकी देखभाल के सिद्धांत मुख्यत: वे ही हैं जो सार्वजनिक बड़ा जीवशालाओं के संबंध में लागू होते हैं।

एक मिथ्या विश्वास फैला हुआ है कि स्थिर जलवाली उपर्युक्त जलजीवशालाओं में उपस्थित वनस्पतियों से जल का ऑक्सीकरण होता रहता है। वास्तव में बात इसके विपरीत है। वनस्पतियाँ भी रात में, या बदलीवाले दिनों में, जल से उसी प्रकार ऑक्सीजन लेती और कार्बन डाइऑक्साइड देती हैं जैसे जलीय जीव; किंतु इन जीवशालाओं में वनस्पतियों की उपस्थिति से अन्य लाभ हैं। मछलियों तथा अन्य जीवों के शरीर से जो मल इत्यादि निकलते हैं वे वनस्पतियों के लिये खाद के काम आ जाते हैं और इस तरह जल में गंदगी नहीं एकत्रित होने पाती। वनस्पतियों से जलाशय की सुंदरता में भी वृद्धि होती है।

वनस्पतियों और जंतुओं द्वारा जल से शोषित ऑक्सीजन का पुनःस्थापन तथा इनके द्वारा जल में उत्पन्न कार्बन डाइऑक्साइड का निष्कासन समुचित रीति से होना आवश्यक है: यदि जलाशय के जल और वायु का मध्यस्थ स्तर यथेष्ट विस्तृत है, तो यह कार्य स्वयमेव संपादित हो जाता है। यदि ऐसा नहीं है, तो सूक्ष्म बुलबुलों के रूप में पंप या अन्य किसी उपाय से जल के भीतर से वायु का निष्कासन कराना आवश्यक होता है। किसी भी जलाशय में यदि जीवों तथा वनस्पतियों का परिमाण जलवायु-मध्यस्थ-स्तर के क्षेत्रफल से संतुलित रखा जाय, तो वायुसंचरण की विशेष व्यवस्था किए बिना भी काम चल सकता है।

संतानोत्पत्ति — मछलियों तथा अन्य जलजंतुओं को पालने के सिवाय इनकी संतानोत्पत्ति की रीतियों का अध्ययन भी आकर्षक विषय है। इन जीवों की लगभग ३०० ऐसी जातियाँ हैं जो जलाशयों में पाली जा सकती हैं। इनमें से कुछ की प्रजनन रीतियाँ विचित्र प्रकार की हैं। अनेक अंडे देती हैं, जिनको सेने पर बच्चे निकलते हैं। अन्य जीवित बच्चों को जन्म देती हैं। अनेक बच्चों की बड़ी देखभाल और सावधानी रखती हैं। स्याम देश की लड़ाकू मछलियों का नर लसदार फेन का आवास बना लेता है। इसमें मादा द्वारा दिए अंडे रखकर वह उनकी रक्षा करता रहता है। सिक्लिदी (Ciehlidae) जाति की मछलियाँ अपने अंडों और बच्चों को भी सुरक्षा के लिये अपने मुँह में रखे रहती हैं और जितने दिनों तक अंडों में से बच्चे नहीं निकलते उतने दिनों तक भोजन नहीं करतीं।

आहार — जलजीवशाला की मछलियों के भोजन की समस्या विशेष कठिन नहीं है। मछलियों के साधारण भोज्य पदार्थ और सूक्ष्म जलजीवों से इनका निर्वाह हो जाता है। घरेलू जीवशालाओं की मछलियों के लिये धान या भुजिया चावल का लावा भी उपयुक्त पाया गया है। शेष बचा भोजन जल को गंदा करता है। मछलियों को अत्यल्प आहार की आवश्यता होती है। इसलिये इस भूल की अधिक संभावना है कि कम भोजन देने के स्थान पर आवश्यकता से अधिक भोजन दिया जाय। यह ध्यान रखना सदैव आवश्यक है कि जलाशयों में उतना ही भोजन डाला जाय जितना खप सके।

जलजीवशालाओं के रखरखाव संबंधी पूर्वोक्त सिद्धांत मछली पालने की सभी रीतियों पर लागू होते हैं, चाहे सजावट के लिये घरों में रखी जानेवाली छोटी जीवशालाएँ हों, या बगीचों में बनाए जानेवाले हौज हों, अथवा भोजन के लिये पाली जानेवाली मछलियों के पोखरे हों। लगभग सभी देशों की सरकारों ने, सार्वजनिक जलाशयों में यथेष्ट मछलियाँ बनाए रखने के लिये, विशेष मत्स्यशालाओं में मछलियों के रखने, उनके अंडों का संरक्षण तथा बच्चों के पालने का प्रबंध किया है। जहाँ संभव होता है वहाँ अंडों को मछलियों से अलग रखकर सेने और बच्चे पैदा करने का भी प्रबंध रहता है। इस प्रकार नदियों या जलाशयों में छोड़ने के लिये छोटी या बड़ी, जिस प्रकार की भी मछलियाँ चाहिए, उपलब्ध हो जाती हैं। [भ० दा० व०]

जलनिकास (सड़कों का) सड़क तथा संलग्न क्षेत्र के सतही तथा भूमिगत फालतू जल को दूर ले जाना है। सड़कों के दीर्घजीवन तथा उनके यातायात की सुविधा को बनाए रखने के लिये जलनिकास की समुचित व्यवस्था अत्यावश्यक है।

जलनिकास के संबंध में तीन बातें आवश्यक हैं: १. सड़क में पड़नेवाले नालों तथा स्रोतों पर पुल का बनाना, २. मार्ग से पृष्ठीय जल का संतोषजनक निकास होना और ३. भूपृष्ठ जल पर नियंत्रण होना।

सड़क के आर पार जल का निकास — मुख्य मार्ग के जलनिकास के के लिये पुलिया, पुल तथा उपसेतु (causeway) होते हैं। इनका कार्य प्राकृतिक स्रोतों में बहते पानी, या सड़क पर, या सड़क के आस पास एक-

त्रित पानी को निकालना होता है। पुलियों और पुलों से पानी सड़क के नीचे से निकलता है, किंतु उपसेतु से पानी सड़क के पृष्ठ पर भी बह सकता है। इससे उपसेतु जल में डूब सकता है। पर ऐसी स्थिति कुछ महत्वहीन सड़कों पर ही या ऐसी सड़कों पर जहाँ यातायात बहुत कम है, कुछ सीमा तक बरदाश्त की जा सकती है।

भूपृष्ठीय जलनिकास — सड़कों के पृष्ठीय जल के अच्छे निकास के लिये सड़कें ऐसी बनाई जाती हैं कि उनमें अल्प उभार हो, ताकि पानी किनारे की नालियों में बहकर निकल जाय। यदि सड़क पार्श्विक ढालू जमीन पर हो, तो उसकी ऊँची ढाल पर एक दूसरी निकास नाली बनाकर निकटतम पुलिया या पुल से मिला दी जाती है, ताकि पानी उससे निकल जाय। इन्हें जलरोक नाली (intercepting or catch drain) कहते हैं।

स्थलमंडलीय जलनिकास (subsurface drainage) — भूमिगत जल के निकास का यह उद्देश्य होता है कि सड़कों की मिट्टी अपेक्षया शुष्क दशा में बनी रहे। जलनिकास के लिये सड़क के नीचे सछिद्र नालियाँ (pipe) बैठाई जाती हैं, जिससे अधोभूमि जल की सतह को नीचा करने में सहायता मिलती है। दूसरी रीति में सड़क को बगल में गहरी नालियाँ खोदी जाती हैं। इन्हें फिर ढीले पत्थर से भर देते हैं। सड़क के नीचे का अधोभूमि जल इन गहरी नालियों में रिसकर जाता और फिर दूर बह जाता है।

सं० ग्रं०—रिटर तथा पैकेट : हाइ-वे इंजीनियरिंग; मूम तथा क्लार्कसन : हाइ-वे इंजीनियरिंग; 'मैनुअल ऑव विलेज रोड कंस्ट्रक्शन' : मिनिस्ट्री ऑव कम्यूनिटी डेवलपमेंट, नई दिल्ली। [ज० मो० ने०]

जलपरी (Mermaids) जरायुज स्तनपायी जीव है। यह पौराणिक नाम इसके रूप और आदतों से प्रभावित किसी कल्पनाशील नाविक का दिया मालूम होता है। इसका दूसरा नाम 'समुद्री गाय' है, जो शायद अधिक उपयुक्त है।

बाह्य आकृति में बिल्कुल भिन्न होते हुए भी हाथियों और शाकाहारी खुरीय प्राणियों से इसकी समानता है। यह तर्कु आकार का विशालकाय और बेडौल जलचर है। इसकी पूँछ दाँतेदार न होकर पार्श्विक पक्षाभ होती है, इसका मुँह छोटा तथा थूथन चौड़ा और विरल स्थूल शूक (bristle) युक्त होता है। इसके कान बाहर नहीं होते। इसके शरीर पर बाल कम और दूर दूर होते हैं। दाँतों में दंतवल्क होता है। इसके आमाशय की बनावट जटिल होती है।

इसके अगले पैर तैरने में सहायक होते हैं। इसके पिछले पैर होते ही नहीं। यह शाकभक्षी प्राणी है। इसकी निम्नलिखित दो जातियाँ वर्तमान हैं :

१. ट्रिकिकस मेनाटी (Trichechus manatee) की लंबाई १२ फुट होती है और यह फ्लोरिडा, वेस्ट इंडीज, ब्राज़ील और पश्चिमी अफ्रिका की गरम नदियों में मिलती है।

२. हालिकोरी डूगांग (Halicore Dugong), या समुद्री गाय (seacow), लालसागर, हिंदमहासागर, न्यूगिनी तथा आस्ट्रेलिया में प्राप्त होती है।

सं० ग्रं०—१ वाल्टर : बॉयोलोजी ऑव वर्टिब्रेट्स; स्टोरर : जेनरल जोओलोजी; सी० एन० एच० : मैमेलिया। [रा० चं० स०]

जलपाईगुड़ी स्थिति : २६° २५' उ०अ० तथा ८८° ३०' पू०दे०। यह पश्चिमी बंगाल राज्य के नदिया जिले का प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र है। बिहार की सीमा के पास होने के कारण यहाँ से बहुत व्यापार होता है। यहाँ उच्च विद्यालय तथा अस्पताल है। यहाँ की जनसंख्या ४८,७३८ (१९६१) है। [शि० नं० श०]

जलप्रपात शब्द से साधारणतया पानी के संकलित रूप में गिरने का बोध होता है। जलप्रपातों की उत्पत्ति प्राकृतिक तथा कृत्रिम दोनों प्रकार की होती है।

प्राकृतिक जलप्रपात बहुधा पर्वतीय क्षेत्रों में होते हैं, क्योंकि वहाँ भूतल का उतार चढ़ाव अधिक होता है। वर्षा ऋतु में तो छोटे बड़े जलप्रपात प्रायः सभी पहाड़ी क्षेत्रों में देखने को मिलते हैं, किंतु कुछ क्षेत्रों में, भूस्तर तुलनात्मक तौर पर कठोर और नरम होने के कारण, बहते पानी से कटाव द्वारा भूतल में एक ही स्थल पर गिराव पैदा हो जाता है और कहीं कहीं सामान्य समतल क्षेत्रों में भी जलप्रपात प्राकृतिक रूप से बन जाते हैं। पृथ्वी के गुरुत्व द्वारा प्रेरित होकर पानी का वेग ज्यों ज्यों बढ़ता है, त्यों त्यों उसके भूस्तर के कटाव की क्षमता बढ़ती जाती है और प्रपात बड़ा होता जाता है। यह क्रिया तब तक जारी रहती है जब तक कि कुछ प्राकृतिक संतुलन न हो जाय, और प्रपात के विस्तार में स्थिरता न आ जाय।

संसार के सबसे बड़े प्रपातों में अमरीका और कैनाडा के मध्य स्थित नायगरा प्रपात तथा अफ्रीका में जैंबेजी नदी पर विक्टोरिया प्रपात की गणना की जाती है। भारत में सबसे विख्यात प्रपात पश्चिमी घाट में मैसूर प्रदेश का जोग प्रपात है। इसके अतिरिक्त छोटे बड़े प्रपात देश के भिन्न भिन्न भागों में स्थित हैं, जैसे उत्तर प्रदेश में मंसूरी के समीप कैंपटी प्रपात, मिर्जापुर के समीप सिरसी प्रपात और राँची जिले का हुंडरु प्रपात है।

कृत्रिम प्रपात बहुधा नहरों पर बनाए जाते हैं। जहाँ नहरें यातायात के लिये बनी होती हैं, वहाँ पानी के वेग को कम करने के लिये प्रपात बनाए जाते हैं और नावों का आवागमन लॉकों (locks) द्वारा हुआ करता है। कभी कभी नदियों में भी ऐसे लॉक बनाए जाते हैं। भूसिंचन के हेतु बनाई गई नहरों में भी जलप्रपात इसीलिये बनाए जाते हैं कि पानी का वेग कम किया जा सके। ऐसे बहुत से प्रपात उत्तर प्रदेश की गंगा तथा शारदा नहरों पर बनाए गए हैं। प्रायः अन्य प्रदेशों की नहरों पर भी जलप्रपात बनाए जाते हैं।

प्राचीन समय से ही प्रपातों से अनेक लाभ उठाए जा रहे हैं। सर्वप्रथम प्रपातों द्वारा पनचक्की चलाने का प्रचलन हुआ। पर्वतीय प्रदेशों में पनचक्कियाँ विशेषकर जलप्रपातों द्वारा ही चलती हैं और लोग पनचक्कियों द्वारा ही पिसाई कराते हैं। जब नहरों का निर्माण हुआ तब जलप्रपातों पर पहले पनचक्कियाँ ही स्थापित की गईं, जिससे सिंचाई के अतिरिक्त आटा पीसे जाने की सुविधा हो सके। फिर जब पनबिजली का विकास हुआ तब जलप्रपातों पर पनबिजली बनाने के लिये बड़े बड़े यंत्र लगाए जाने लगे।

प्रपात के पानी के परिमाण तथा उसके पतन के ऊपर जलप्रपातों से मिलनेवाली बिजली की मात्रा निर्भर करती है। साधारणतः इसका अनुमान नीचे लिखे सूत्र से किया जाता है :

ह × व ÷ १५ = क [H × V ÷ 15 = K]

जिसमें 'ह' (H) पतन की ऊँचाई फुटों में, 'व' (V) प्रति सेकंड निस्रुत जल का परिमाण घनफुटों में तथा 'क' (K) उत्पन्न पनबिजली के किलोवाट के लिये प्रयुक्त है।

इसी सूत्र के आधार पर बहुत से जलविद्युत बिजलीघर चलाए जाते हैं। उत्तर प्रदेश में गंगा नहर पर स्थित जलप्रपातों पर जो बिजलीघर बने हैं, वे पथरी, मोहम्मदपुर, निर्गाजिनी, सलावा, चिरौरा, सुमेरा और पलड़ा प्रपातों पर स्थित हैं। शारदा नहर पर छोटे बड़े १८ प्रपातों के गिराव को खटीमा के समीप ६० फुट के गिराव में संकलित कर लगभग १० हजार घनफुट प्रति सेकंड पानी के बहाव से जलविद्युत उत्पादन के लिये एक बड़ा बिजलीघर निर्मित किया गया। भारत के अन्य प्रदेशों में बहुत से बिजलीघर जलप्रपातों पर बनाए जा चुके हैं। कहीं कहीं बाँधों द्वारा कृत्रिम जलप्रपात बनाकर बिजली उत्पादन की योजनाएँ संपन्न की गई हैं।

प्राकृतिक या कृत्रिम जलप्रपात संसार के प्रायः सभी देशों में हैं। भिन्न भिन्न देशों में इनका भिन्न भिन्न उपयोग होता है। जलप्रपात प्राकृतिक शक्ति के महान् स्रोत हैं, जिनको मनुष्य अपनी संपन्नता एवं सुविधा, उद्योगों तथा कृत्रिम साधनों के लिये उपयोग में लाता है। इस प्रकार जलप्रपात मनुष्य के लिये प्रकृति की बहुत बड़ी देन है। [वा० ना०]

जलबद्ध सड़क का वैज्ञानिक ढंग से निर्माण १९वीं सदी में प्रारंभ हुआ। जलबद्ध सड़क का जन्मदाता मकादम शायद ही जानता रहा होगा कि एक दिन सड़क इंजीनियरों के संसार में उसका नाम अमर होगा। सौ वर्षों से मकादम पृष्ठ उच्चतम कोटि का पृष्ठ माना जाता है। यातायात के साधनों में जहाँ मोटर गाड़ियाँ प्रधान हैं वहाँ मकादम पृष्ठ का ऊपरी तह के रूप में कम उपयोग है, किंतु है यह दीर्घजीवी, तथा स्थानीय साधन और श्रम से कम खर्च में तैयार होता है।

सार रूप में, गिट्टियों की फर्श बिछाकर 'जलबद्ध मकादम' तैयार किया जाता है। रोलर चलाकर गिट्टियों को पत्थरचूर्ण और पानी से 'अन्योन्यबद्ध' किया जाता है। मकादम सड़क को आधारभूत आवश्यकता है जोड़नेवाली किसी उपयुक्त चीज के योग से गिट्टियों का सुदृढ़ जमाव। इसके लिये सड़क कई परतों में बनाई जाती है और पहली परत घनी और मजबूत हो जाने पर ही उसपर दूसरी परत चढ़ाई जाती है। इस प्रकार की संरचना आधार क लिये ही उपयुक्त होती है, किंतु यदि यातायात की तीव्रता कम हो, तो ऊपरी तह के लिये भी प्रयोज्य है।

निर्माणविधि — मकादम सड़क की सबसे बड़ी आवश्यकता निचली सतह का मजबूत और ठस होना है। अतः पहले निचली सतह को इच्छित सतह पर लाकर रोलर द्वारा ठस बना लिया जाता है। निचली सतह में सूक्ष्मकणिक मिट्टी (fine grained soils), जैसे सिल्ट मिट्टी होने पर रूक्ष समुच्चय (coarse aggregate) अर्थात् पत्थर रोड़ी रखने के पूर्व उसपर आवरण (screenings) की एक परत रखी जाती है, जिसे बिचली सतह (sub base) कहते हैं। निचली सतह विसंवाहक तह का काम करती है। रोलर चलाते समय सूक्ष्मकणिक मिट्टी को रूक्ष समुच्चय में आने से यह रोकती है।

इसके बाद पूर्वनिश्चित गहराई में रूक्ष समुच्चय के फैलाने तथा रोलर द्वारा इसके दृढ़ीकरण का प्रधान काम होता है। रोलर द्वारा समुच्चय के ठस हो जाने पर पृष्ठ पर आवरण चढ़ाया जाता है। आवरण इतना चढ़ाया जाता है कि सभी अंतराल अच्छी तरह भर जाएँ। रिक्तियों के पूर्ण हो जाने पर पानी का छिड़काव करते हुए रोलर चलाया जाता है। ऐसा करने से समूची गहराई तक पाषाणसमुच्चय सम्यक् रूप में बद्ध तथा ठस हो जाता है। तराई (curing) तथा सुखाई के बाद सड़क चालू हो जाती है।

आजकल पत्थर की रोड़ियों के नीचे गोला पत्थर या ईंट की एक परत दी जाती है। इसे रोड़ा भराई (soling) कहते हैं।

जलबद्ध सड़क से लाभ तथा हानि — सड़क निर्माण के समय बहुत ध्यान देने पर भी कुछ त्रुटियाँ रह जाती हैं, जिनके कारण जलबद्ध सड़क शीघ्र बिगड़ने लगती है। त्रुटियों के कारण बरसात के दिनों में सड़क में पानी रिसने लगता है। यातायात में गिट्टियों का घर्षण होता है, जिससे धूल और कीचड़ उत्पन्न होती है।

जलबद्ध सड़क के निर्माण में खर्च कम पड़ता है, क्योंकि इसमें केवल स्थानीय सामग्री का ही उपयोग होता है, श्रम कम लगता है और भारी भरकम मशीनों का प्रयोग नहीं करना पड़ता। मंचनिर्माण के लिये तो यह बहुत ही उपयुक्त है। फर्श को चाहे जब मजबूत किया जा सकता है। इन गुणों ने ही जलबद्ध मकादम सड़क को महत्वपूर्ण बना रखा है।

सं० ग्रं०—रिटर ऐंड पैकेट : हाइवे इंजीनियरिंग; कृष्णस्वामी : मैनुएल ऑव हाइवे इंजीनियरिंग; मेकेलवी ऐंड राघवाचारी : वाटरबाउंड मकादम, जर्नल ऑव दि इंडियन रोड कांग्रेस, भाग ११-२। [ज० मो० प्रे०]

जलवायु, कृत्रिम किसी स्थान की ३० वर्ष या इससे भी अधिक समय के ऋतुवैज्ञानिक तत्वों की सामान्य अवस्थाओं का नाम जलवायु है। यह समय जितना ही अधिक होगा, उस स्थान के जलवायु के संबंध में ये सामान्य मान भी उतने ही अधिक निरूपक होंगे। इस संबंध में विचारणीय ऋतुवैज्ञानिक तत्व दाब, ताप, आर्द्रता, बदली, अवक्षेपण, पवन, धूप और दृश्यता हैं। जलवायु का निश्चय करने के लिये कुछ तत्वों के चरम मान तथा महीने या साल में इन तत्वों के कुछ विशिष्ट परासों (specific ranges) की आवृत्ति का भी ध्यान रखा जाता है। उदाहरणार्थ, किसी स्थान का उच्चतम और निम्नतम ताप तथा अलग अलग महीनों में वर्षा के दिनों की आवृत्ति महत्व की बातें हैं। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि किसी स्थान के जलवायु में कृत्रिम परिवर्तन कर देना यदि असंभव नहीं, तो अत्यंत कठिन अवश्य है, यद्यपि धरती पर जलवायु के नैसर्गिक परिवर्तन के उदाहरण कम नहीं हैं। विज्ञान और उद्योगविद्या (technology) के विकास के साथ ही विश्व के भिन्न भिन्न स्थानों पर जलवायु के कृत्रिम परिवर्तन के लिये मनुष्य प्रयत्नशील हुआ है, कहीं मरुभूमि को अपेक्षाकृत उपजाऊ खंड में परिणत किया जा रहा है और कहीं नम धरती को शुष्क बनाया जा रहा है। अब सवाल यह उठता है कि जलवायु को गठित करनेवाली नैसर्गिक वायुमंडलीय घटनाओं का नियंत्रण किस प्रकार हो। यह बात तो सुविदित है कि किसी क्षेत्र की ऋतु वैज्ञानिक घटना और वायुमंडल के प्रधान तथा गौण परिसंचरण में बहुत निकट का संबंध है। ये परिसंचरण भिन्न मौसम में भिन्नता प्रदर्शित करते हैं, जिसके कारण एक स्थान और दूसरे स्थान की घटनाओं में भिन्नता होती है। जब तक इन परिसंचरणों की सामान्य बनावट में कोई परिवर्तन न किया जाय, मौसम की घटना में कोई मुख्य परिवर्तन संभव नहीं है। लेकिन इस प्रकार के परिवर्तन के लिये लाखों ऐटम बमों की संमिलित ऊर्जा की

आवश्यकता है, अतः इस समस्या के समाधान के संबंध में वैज्ञानिकों ने कोई गंभीर प्रयत्न नहीं किया है। बादलों के कृत्रिम वपन (seeding) द्वारा किसी स्थान की आर्द्रता और वर्षा में कृत्रिम वृद्धि करने का प्रयत्न वैज्ञानिकों ने किया है। किसी स्थान पर बादलों का बीजवपन अधिक समय तक करने पर वहाँ वर्षा की मात्रा में वृद्धि होती है। शुष्क कटिबंध में वर्षा की वृद्धि होने पर पौधे और वृक्ष बढ़ने लगते हैं और इस प्रकार वनसंवर्धन होने पर वर्षा में और वृद्धि हो सकती है। इसके विपरीत मनुष्यकृत वनकटाई के कारण वर्षा और आर्द्रता में ह्रास हुआ है। भारत जैसे देश में देश के ऊपर से गुजरनेवाले तूफानों और हवा में दबाव के ह्रास के प्रभाव से वर्षा हुआ करती है। बड़े बड़े वन गतिमान तूफान और हवा में दबाव के ह्रास का गतिरोध करते हैं, जिससे वहाँ और निकट के क्षेत्रों में बदली और वर्षा में वृद्धि होती है।

कृत्रिम वर्षा रोचक प्रक्रिया है, जिसने हाल ही में संसार के बहुत से भागों की जनता का ध्यान आकर्षित किया है। बहुत ऊँचे ठंढे बादलों का वपन करने के लिये शुष्कहिम की क्षुद्र गुटिकाओं या सिल्वर आयोडाइड के मणिभों का उपयोग किया जाता है, जो बादलों को उद्दीप्त करके वर्षा उत्पन्न करते हैं। शुष्कहिम उन ऊँचाइयों पर कारगर होता पाया गया है, जहाँ ताप ०° सें० से लेकर १५° सें० तक होता है और सिल्वर आयोडाइड का कार्यक्षेत्र १०° सें० से लेकर १५° सें० के बीच सीमित है। उष्णकटिबंध में गरम बादलों का वपन महत्व की बात है, क्योंकि वहाँ बादलों के हिमस्तर तक न पहुँचने के उदाहरण ही अधिक हैं, हिमस्तर से नीचे उतरने के बहुत कम। गरम बादलों का वपन उनके आधार पर जलबिंदु के छिड़काव से होता है। कहीं कहीं बादलों में हिमशीतजल की फुहार से तापांतर के कारण उत्पन्न सततगमन के कारण सम्मिलन (coalescence) द्वारा जलबिंदुओं की वृद्धि सुव्यक्त की जाती है। गरम बादलों का वपन करके वर्षा उत्पन्न करना जलबिंदुओं के सम्मिलन की प्रक्रिया है, जबकि पूर्ववर्णित ठंढे बादलों के वपन द्वारा वर्षा होना प्रसिद्ध 'प्रक्षेपण के हिममणिभ सिद्धांत' को सिद्ध करता है। अमरीका, आस्ट्रेलिया, भारत आदि देशों में कृत्रिम वर्षा के प्रयत्न हुए हैं और अधिकतर प्रयत्न सफल रहे हैं। यह देखना रह गया है कि इस दिशा में अनवरत क्रिया करके किसी स्थान के जलवायु का कृत्रिम परिवर्तन हो सकता है या नहीं।
[कि० चं० च०]

जलवायु विज्ञान (Climatology) मौसम और जलवायु दो अलग बातें हैं। वायुमंडल की तात्कालिक या अल्पकालिक स्थिति को मौसम कहते हैं और जलवायु किसी स्थान की तीस वर्ष या इससे अधिक समय की औसत परिस्थिति को बताता है। किसी वर्ष के किसी नियत दिन का मौसम दूसरे वर्ष के उसी दिन वैसा ही रहे, यह आवश्यक नहीं है। उसमें बहुत कुछ हेरफेर हो सकता है, किंतु दोनों दिनों के जलवायु में कोई अंतर नहीं पड़ेगा यदि लंबी अवधि की औसत स्थिति में इस बात का संकेत न हो कि उस स्थान के जलवायु में परिवर्तन हो रहा है। विश्व के विभिन्न भूभागों के जलवायु का अध्ययन जलवायु विज्ञान कहलाता है। किसी भूभाग के जलवायु का निर्णय मौसम विज्ञान घटक के किसी एक ही तत्व के बहुवार्षिक औसत से नहीं होता, वरन् कई महत्वपूर्ण तत्वों, जैसे दाब, ताप, वर्षा, आर्द्रता, बदली, वायु और धूप आदि के सामान्य मानों के संयोजन से होता है। साथ ही इन तत्वों के सामान्य दैनिक और वार्षिक परिवर्तन, इनके चरम मान तथा चरम मानों के संपात या असंपात का ज्ञान भी आवश्यक है। उदाहरणार्थ ताप, आर्द्रता, और वर्षा का दैनिक तथा वार्षिक परिवर्तन, वर्षा जाड़े में होती है या गर्मी में, जाड़े और गर्मी के विभिन्न महीनों में वर्षा का वितरण, वायु की गति और दिशा आदि बातों की जानकारी परमावश्यक है। विभिन्न महीनों में इन तत्वों के सामान्य आवर्ती तथा अनावर्ती हेरफेर भी जलवायु के महत्वपूर्ण पहलू हैं।

सौर विकिरण और जलवायु — जलवायु और उसके हेरफेर की प्रथम संनिकटता तक व्याख्या आतपन (insolation) के विश्व-वितरण द्वारा संभव है, क्योंकि ऋतुओं का कारण है पृथ्वी द्वारा सूर्य की परिक्रमा और उसका अपनी धुरी पर झुकाव, जिसके परिणामस्वरूप आतपन का मौसमी हेरफेर होता है। सूर्य दहकती हुई गैसों का पिंड है। उसकी ऊर्जा का कारण तापनाभिकीय सतत अभिक्रियाएँ हैं। यह अभिक्रिया सायुज्य की है, जिसके परिणामस्वरूप हाइड्रोजन की हिलियम में और संहति की ऊर्जा में परिणति होती है। सूर्य प्रति सेकंड अपार ऊर्जा प्रेषित करता है। यह ऊर्जा २,५०० खर्व पाउंड कोयला जलाने पर प्राप्य ऊर्जा के समान है। इस ऊर्जा की तीव्रता दूरी के प्रतिलोम (inversely) वर्गानुपाती है। पृथ्वी और सूर्य के बीच की दूरी के हिसाब से वायुमंडल के उदग्र भाग पर सूर्यकिरणों की लंबवत् स्थिति के कारण प्रति वर्ग सेंमी० स्थान पर, प्रति मिनट दो कैलॉरी ऊष्मा पहुँचती है। हर साल प्रति इकाई क्षेत्र की सतह पर औसत आतपन विषुवद्वृत्त में उच्चतम और ध्रुवों पर न्यूनतम है। इसका कारण यह है कि औसत सौर उष्णता विषुवद्वृत्त पर उच्चतम से लेकर ध्रुवों पर निम्नतम मान तक घटती जाती है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि पृथ्वी की सूर्य के चारों ओर वार्षिक गति के परिणामस्वरूप होनेवाले आतपन के आवर्ती हेरफेर के कारण किसी स्थान पर मौसम किस प्रकार बदल जाता है। विषुवद्वृत्त पर आतपन का उतार चढ़ाव न्यूनतम होता है, अतः इस क्षेत्र में ताप तथा मौसम का वार्षिक परिवर्तन प्रायः नहीं होता। केवल सूखे और नमी का थोड़ा सा प्रभाव पड़ता है। विषुवत् क्षेत्र में अत्यंत गरम और अत्यंत ठंढे मौसम का तापांतर शायद ही कभी १° सें० से अधिक होता है। वार्षिक आतपन का परास (range) अक्षांतर के साथ बढ़ता है, जिसके कारण ताप परास यानी गर्मी और सर्दी का तापांतर, ज्यों ज्यों हम विषुवत् क्षेत्र से ध्रुवों की ओर बढ़ते हैं, बढ़ता जाता है। इस संदर्भ में यह समझ लेना चाहिए कि आतपन का वार्षिक पथ वायुताप के वार्षिक पथ से लगभग एक महीना पिछड़ जाता है, जिसके कारण शीततम और उष्णतम मौसम मकर और कर्क संक्रांति के कुछ समय बाद होते हैं।

सूर्य के प्रवेशी विकिरण की दृष्टि से पृथ्वी को पाँच कटिबंधों में विभाजित किया जा सकता है :

(क) विषुवत् कटिबंध — उत्तरी गोलार्ध में ग्रीष्म काल में सूर्य विषुवत् रेखा के उत्तर में और दक्षिणी गोलार्ध में ग्रीष्म काल में सूर्य उसके दक्षिण में होता है। विषुवद्वृत्त में दोनों विषुवों (equinoxes) में सूर्य शिरोबिंदु पर होता है। इस प्रकार साल में दो बार सूर्य विषुवत्‌क्षेत्र में शिरोबिंदु पर होता है। फलतः वसंत में और शरद् में, प्रवेशी विकिरण उच्चतम होगा। विषुवत् कटिबंध में चूँकि सूर्य प्रति दिन आकाश में ऊँचाई पर होता है और दिन के घंटों में हेरफेर बहुत कम होता है, अतः ताप का वार्षिक परिवर्तन बहुत कम होता है। लेकिन इसके सापेक्ष दैनिक तापपरिवर्तन अधिक होता है, क्योंकि दिन के घंटे बदलते नहीं और सूर्य प्रति दिन ऊँचाई पर होता है।

(ख) शीतोष्ण कटिबंध (उत्तरी और दक्षिणी) — इन कटिबंधों में मध्यग्रीष्म में सूर्य शिरोबिंदु पर नहीं होता। गर्मी के दिन बड़े होते हैं और इन दिनों सूर्य ऊँचाई पर होता है, किंतु जाड़ों के दिन छोटे होते हैं और सूर्य निचाई पर होता है, जिसके परिणामस्वरूप साल में आनेवाले विकिरण में काफी परिवर्तन होता रहता है। इसके कारण, जैसा पहले ही कहा जा चुका है, अक्षांशों की ऊँचाई के साथ ताप का परिवर्तन बढ़ता जाता है। लेकिन ताप का दैनिक परिवर्तन अक्षांशों की वृद्धि के साथ घटता है, क्योंकि सूर्य की मध्याह्न ऊँचाई घटती है।

(ग) ध्रुवीय कटिबंध (उत्तर ध्रुवीय और दक्षिण ध्रुवीय कटिबंध,) — ध्रुवीय वृत्त के ध्रुव की ओर वाले प्रदेश के मध्य जाड़े में दिन और रात सूर्य क्षितिज के नीचे होता है और मध्यग्रीष्म में सूर्य दिन और रात में क्षितिज के ऊपर होता है। दैनिक प्रवेशी विकिरण में कोई अंतर नहीं पड़ता और ताप का दैनिक परिवर्तन गायब हो जाता है। लेकिन जाड़े और गर्मी में प्रवेशी विकिरण का अंतर उच्चतम हो जाता है, जिसके कारण ताप का वार्षिक परिवर्तन बढ़ जाता है।

ध्रुवों पर गर्मी में सूर्य दिन रात क्षितिज के ऊपर रहता है और विषुवद्वृत्त पर दिन और रात के घंटे समान होते है। ग्रीष्म में पृथ्वी के वायुमंडल के उदग्र भाग पर प्रवेशी विकिरण विषुवद्वृत्त की अपेक्षा ध्रुवों पर अधिक होता है। लेकिन उच्च अक्षांशों वाले प्रदेशों में धरती की सतह पर विकिरण उतना ही अनुकूल नहीं हो सकता है, जितना विषुवत् कटिबंधों में। इसका कारण यह है कि अक्षांतर प्रदेशों में सूर्य की किरणें वायुमंडल में अधिक दूर यात्रा करती है। इस कारण वे काफी क्षीण हो जाती हैं। यदि पृथ्वी का धरातल सम होता, जिससे प्रवेशी विकिरण समान रूप से अवशोषित होता, और यदि हवाएँ ऊष्मा को एक स्थान से दूसरे स्थान तक न पहुँचातीं और धरातल के निकट तापवितरण का नियंत्रण विकिरण द्वारा होता तो ऐसी स्थिति में पृथ्वी के धरातल के निकट परिणामी तापवितरण निम्नलिखित होता :

(क) औसत वार्षिक ताप विषुवद्वृत्त पर उच्चतम और ध्रुवों पर न्यूनतम होता।

(ख) विषुवद्वृत्त पर ताप का वार्षिक परिवर्तन कम होता और उच्चतम ताप वसंत और शरत् में होता।

(ग) ताप का वार्षिक परिवर्तन अक्षांशों के बढ़ने के साथ बढ़ता और उच्चतम ताप गर्मी में होता।

(घ) ताप का दैनिक परिवर्तन विषुवद्वृत्त पर उच्चतम और अक्षांशों के बढ़ने के साथ घटता जाता।

धरती पर, इन परिणामों में किसी हद तक हेर फेर होता है, जिसका कारण जल और थल का वितरण और ऊष्मा का स्थानांतरण करनेवाली हवाएँ होती हैं।

जलवायु को प्रभावित करनेवाले बाह्य कारक — किसी स्थान के जलवायु को प्रभावित करनेवाले महत्वपूर्ण कारक निम्नलिखित हैं :

(क) अक्षांश — इसपर सौर विकिरण के आपतन का कोण, दिन के घंटे, मौसम की लंबाई और कुल प्रवेशी विकिरण निर्भर हैं। यह कारक अत्यंत महत्वपूर्ण है।

(ख) ऊँचाई — अधिकांश मौसम विज्ञान संबंधी तत्व ऊँचाई के साथ बदला करते हैं। दाब और ताप ऊँचाई के साथ बदलते हैं। हवा की तीव्रता भी ऊँचाई के साथ बढ़ती है। मेघ भी स्थान की ऊँचाई पर निर्भर करते हैं। सामान्य वायुमंडलीय स्थिति में अधिक ऊँचाई पर बादल प्रायः नहीं होते।

(ग) मृदा के गुण — नम और सूखी मृदा, काष्ठ या अकाष्ठ मृदा और हिमाच्छादित मृदा में ऐसे गुणधर्म हैं, जो जलवायु को प्रभावित करते हैं।

(घ) समतल की ढाल — यह अवक्षेपण की मात्रा और ताप को प्रभावित करती है। उदाहरण के लिये पहाड़ी इलाके के वाताभिमुख भाग (windward side) में हवा की ओटवाली दिशा (leeward side) की अपेक्षा अधिक वर्षा होती है।

(ङ) महाद्वीपीयता — इसका निर्णय महासागर और समुद्र के संबंध में स्थान की स्थिति से होता है। किसी स्थान पर प्रचलित पवन की मात्रा बहुत कुछ महाद्वीपीयता पर निर्भर है। समुद्री पवनपुंज स्थान को नम बनाता है, लेकिन महाद्वीप का स्थलीय पवनपुंज उसे सूखा बना देगा।

समुद्र और महादेश का पवन ताप पर प्रभाव — यह तो सभी जानते हैं कि समुद्र के निकटवर्ती भूभागों में ताप कम होता है। तटवर्ती स्थानों में जलवाष्प के प्रभाव के कारण, जिसका आपेक्षिक ताप अधिक होता है, कभी अधिक गर्मी या ठंढक नहीं होती। महासागर तथा उसके निकट ताप का वार्षिक तथा दैनिक परिवर्तन कम होता है और तट से दूरी के साथ यह अंतर बढ़ता जाता है। अंतस्थलीय क्षेत्र समुद्री पवनपुंज से प्रभावित है या नहीं, और यदि है, तो किस सीमा तक, यह बात प्रवाहित पवन पर निर्भर करती है। जैसे पछुवा हवाओं के क्षेत्र में महासागरीय, अर्थात् समुद्री, पवनपुंज का प्रभाव महादेश के पूर्वी भाग से अधिक उसके पश्चिमी भाग में होता है। मध्य अक्षांशों में पश्चिम तट पर पूर्वी तट की अपेक्षा माध्यवार्षिक ताप प्रायः अधिक होता है। व्यापारिक हवाओं के क्षेत्र में हवाएँ प्रायः पूर्वी होती हैं और ताप का वार्षिक तथा दैनिक परिवर्तन पूर्वी तट की अपेक्षा पश्चिमी तट में अधिक होता है। दक्षिण-पूर्व एशिया में, जहाँ उत्तर-पूर्वी और दक्षिण-पश्चिमी मानसून चला करते हैं, मानसून धाराएँ ताप को अत्यधिक प्रभावित करती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्व में सभी जगह जल और थल का वितरण और प्रचलित पवन का गुणधर्म ही ताप की परिस्थितियों का नियंत्रण करते हैं।

सामान्य वितरण से जलवायु पर वर्षा का प्रत्याशित प्रभाव — समुद्र और महासागर वायुमंडल में वाष्पीकरण की प्रक्रिया द्वारा नमी की पूर्ति करते है। समुद्र और महासागर से जल का अंतरस्थलीय भूभागों में वहन, संघनन और अवक्षेपण की प्रक्रिया से संबद्ध है। किसी परिदर्श वायु को संतृप्त करने के लिये उच्चताप पर निम्न ताप की अपेक्षा अधिक जलवाष्प की आवश्यकता होती है। अतः उत्तरी महादेशों में ग्रीष्म में, जबकि ताप अधिक और पवन अस्थिर होता है, शीत ऋतु की अपेक्षा, जब ताप निम्न होता है, अवक्षेपण अधिक होता है। ऐसे ऊर्ध्वगामी पवनपुंज के रुद्धोष्म शीतायन से संघनन तथा अवक्षेपण होता है। ऐसी ऊर्ध्वगामी धाराएं निम्नदाबीय क्षेत्रों (चक्रवाती तूफान और अवनमन) में और पहाड़ियों के वाताभिमुख भागों में बहुत प्रमुख है। क्षैतिज प्रवाह का अभिसारी तंत्र संतप्त वायु के अवक्षेपण के लिये अनुकूल और अपसारी प्रवाह प्रतिकूल होता है। विषुवप्रशांत मंडल (doldrums) और ध्रुवीय वाताग्रकटिबंध ऊपर वर्णित अभिसारी प्रवाह के मुख्य क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों में वायुमंडल के प्रधान परिसंचरण के आदर्श चित्रानुसार वायु विपरीत पार्श्व से अभिसरण करती है।

अपसारी वायुधाराओं का मुख्य क्षेत्र उपोष्ण कटिबंधीय प्रतिचक्रवात है। अतः पृथ्वी के सभी भागों की तुलना में विषुव-प्रशांत मंडल और ध्रुवीय अग्र कटिबंधों में अवक्षेपण की अधिक संभावना है। उपोष्ण कटिबंधीय प्रतिचक्रवातों का अवक्षेपण से कोई सरोकार नहीं है, क्योंकि यहाँ
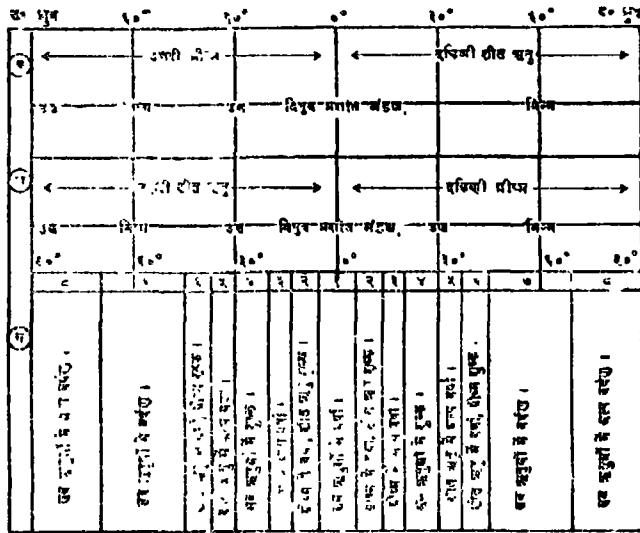
चित्र १. अवक्षेपण के कटिबंध

आरोही तथा अवरोही गति के मुख्य क्षेत्र : (क) उत्तरी ग्रीष्म में; (ख) उत्तरी शीत ऋतु में तथा (ग) वर्षण के क्षेत्र।

ऊर्ध्वगमतः उष्ण अधोगामी वायुधाराएँ और अपसारी वायुधाराएँ चलती हैं। ग्रीष्म गोलार्ध की तरफ उत्तर-दक्षिण चलती हुई एक वार्षिक गति (rhythm) है। अतः पृथ्वी के वायुमंडल के प्रारंभिक परिसंचरण का आदर्श चित्र लेने पर भी अवक्षेपण कटिबंध का कुछ हेरफेर संभव है। श्री एस० पैटरसन के चित्र में धरातल पर अवक्षेपण के कटिबंधों को पूर्वलिखित चर्चाओं के संदर्भ में दिखाया गया है (देखें चित्र १)।

अवक्षेपण — आदर्श स्थितियों के आधार पर अवक्षेपण का क्षेत्रीय वितरण पृथ्वी के भिन्न भिन्न भूभागों की औसत वार्षिक वर्षा से अच्छी तरह मेल खाता है। पूर्वी गोलार्ध में अफ्रीका, यूरोप और एशिया में विषुव-प्रशांत-मंडल-क्षेत्र में उच्चतम वर्षा क्षेत्र है। जैसा कहा जा चुका है, यह क्षेत्र उत्तर और दक्षिण में ग्रीष्म गोलार्ध की ओर परिवर्तनशील है। उत्तरी अफ्रीका के पश्चिम तट से लेकर अरब होते हुए केंद्रीय एशिया तक अतिशय सूखा प्रदेश फैला हुआ है। इस क्षेत्र का उत्तरी भाग पछुआ हवाओं की वर्षा का प्रदेश है। यह प्रदेश जाड़ों में दक्षिण की ओर परिवर्तनशील है। भूमध्यसागरीय प्रदेशों में शीतकालीन वर्षा होती है। इसके भी उत्तर में, वर्षा सभी ऋतुओं में होती है, किंतु ज्यों ज्यों हम अंदर घुसते हैं, वर्षा कम होती जाती है। दक्षिण-पूर्वी एशिया में धुआँधार वर्षा का कारण ग्रीष्मकालीन दक्षिण-पश्चिमी मानसून है। जाड़े के दिनों में पूर्वी एशिया के तटवर्ती क्षेत्रों में थोड़े बहुत अवक्षेपण को छोड़कर अधिकतर सूखा ही रहता है। जहाँ तक पश्चिमी गोलार्ध का प्रश्न है, बढ़ते हुए अक्षांशों के साथ ऐसा ही वर्षावितरण देखा जाता है। ग्रीष्मकालीन विषुव वर्षा मेक्सिको तक और पछुआ हवाओं का वर्षा-क्षेत्र सुदूर उत्तर तक फैला हुआ है। जाड़ों में दक्षिणी वर्षाक्षेत्र पश्चगामी होता है और उत्तरी क्षेत्र दक्षिणी कैलिफोर्निया तक चला आता है। उत्तरी अमरीका के पूर्वी तट पर गर्मियों में प्रचलित पवन स्थल पर होते हैं और जाड़ों में ध्रुवीय वाताग्रतट के इतने निकट होते हैं कि प्रायः अवक्षेपण हुआ करता है। अतः पूर्वी तट के निकट उपोष्ण कटिबंधीय सूखा प्रदेश नहीं है। उत्तरी अमरीका के संबंध में श्री एस० पैटर्सन के ये स्पष्ट अवलोकन हैं। दक्षिण गोलार्ध में वर्षावितरण से भी इसी कटिबंधीय व्यवस्था का बोध होता है। उष्ण कटिबंधीय अक्षांशों में पश्चिमी तट सूखे रहते हैं और पूर्वी तट पर वर्षा होती है। ऊँचे अक्षांशों में आर्द्र पश्चिमी तट और अपेक्षाकृत सूखे पूर्वी तट पाए जाते हैं। यह महत्वपूर्ण बात है कि पहाड़ियों की वातािभिमुख ढाल में साल भर में काफी वर्षा होती है।

वर्षा और ताप का वितरण, जिसका वर्णन अभी तक हुआ है, भूमंडल पर जलवायु के वितरण का अत्यंत महत्वपूर्ण पक्ष है।

जलवायु का वर्गीकरण — विश्व के सभी भूभागों के जलवायु का वर्गीकरण करते समय ऊपर वर्णित मौसम विज्ञान संबंधी, स्थल रूप-रेखीय, महादेशीयता आदि कारकों पर उचित ध्यान देना आवश्यक
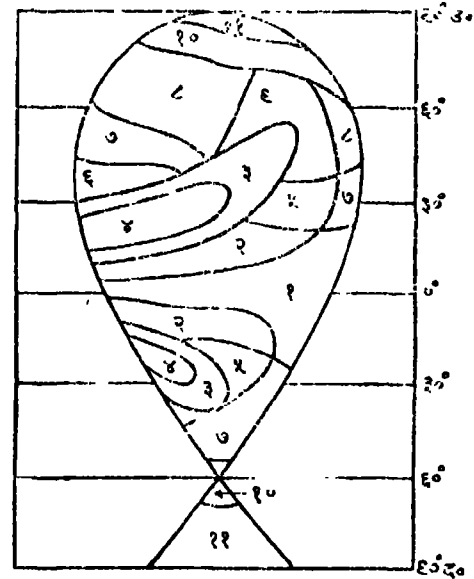
चित्र २. आदर्श महाद्वीप के मुख्य जलवायुक्षेत्र

१. उष्ण कटिबंधीय वर्षावन; २. सवाना (उष्ण कटिबंधीय घास के मैदान); ३. स्टेप (Steppe), ग्रीष्म में वर्षा; ४. मरुभूमि; ५. उष्ण, ग्रीष्म में वर्षा; ६. उष्ण, शीत ऋतु में वर्षा; ७. समशीतोष्ण, प्रत्येक ऋतु में वर्षा; ८. शीत प्रदेश, आर्द्र जलवायु; ९. अति शीत ऋतु, शुष्क जलवायु; १०. टुंड्रा (Tundra) तथा ११. हिम प्रदेश।

है। इन कारकों के अलावा पेड़ पौधों की हालत भी ध्यान देने योग्य है, क्योंकि प्रकृत्य भूमि की वनस्पतियों के प्रकार और उस स्थान के जलवायु में बहुत निकट का संबंध होता है। कई शोधकर्ताओं ने जलवायु का वर्गीकरण किया है। कूपेन (Koopen) का वर्गीकरण सर्वाधिक प्रचलित है, जो नीचे दिया जा रहा है। कूपेन ने कई उपविभागों के साथ निम्नलिखित ११ मुख्य प्रकार के जलवायु का वर्णन किया है :

(१) उष्ण कटिबंधीय वर्षा तथा जलवायु — यह कटिबंध मुख्यतया विषुव-प्रशांत-मंडल (विषुव कटिबंध) के ऊपर होता है। व्यापारिक हवाओं

की अभिबिंदुता के कारण यह कटिबंध पश्चिमी तट पर सँकरा है। पूर्वी तट पर, जहाँ प्रायः वर्ष भर मानसून और स्थल भाग की व्यापारिक हवाओं के कारण वर्षा होती है और गर्मी पड़ती है, यह प्रदेश २६° उत्तर अक्षांश से १६° दक्षिणी अक्षांश तक फैला हुआ है। इस प्रकार के जलवायु की विशेषताएँ हैं : (क) उच्च ताप। अधिकतम सर्दी के दिनों में ताप १८° सें० से ऊपर और ताप का वार्षिक परिवर्तन ६° सें० से कम, (ख) उष्ण कटिबंधीय वनों के उपयुक्त वर्षा। दो बार अत्यधिक मात्रा की वर्षा के साथ साल भर वर्षा या एक लंबी और एक छोटी बरसात की ऋतु। प्रधानता सूखे मौसम की। लेकिन सबसे सूखे महीने में भी ६ सेंमी० तक वर्षा। (ग) महोष्म (megatherm) प्रकार की वनस्पतियाँ।

(२) उष्ण कटिबंधीय सवाना जलवायु — इसका क्षेत्र उष्ण कटिबंधीय वनों के चतुर्दिक का प्रदेश है और विषुव प्रशांत मंडल की परिवर्तनशीलता के कारण इस उष्ण कटिबंधीय जलवायु को ये विशेषताएँ हैं : (क) उच्च ताप। अधिकतम शीत के मास का ताप १८° सें० से अधिक, वार्षिक ताप का अंतर १२° सें० से कम; (ख) गर्मी में अपेक्षाकृत अधिक वर्षा, जाड़े में सूखा, जाड़े के किसी एक महीने में ६ सेंमी० से कम वर्षा तथा (ग) थोड़ी बहुत उष्णकटिबंधीय-वर्षा, वन-जलवायु किस्म की वनस्पतियाँ। कहीं कहीं मैदान और वृक्ष।

३. स्टेप्प (steppe) — सवाना के मैदान ध्रुवों की ओर अर्धशुष्क प्रदेशों में विलीन हो जाते हैं। इन प्रदेशों में गर्मी में कुछ वर्षा होती है और जाड़ों में सूखा पड़ता है। इन्हें स्टेप्प कहते हैं। ये महाद्वीप में अंदर तक फैले हुए हैं जहाँ समुद्र की नम हवाओं के अभाव में जलवायु सूखी होती है। स्टेप्पों के विषुव भाग में कुछ उष्णकालीन वर्षा होती है। प्रचलित पछुआ हवाओं के अनुदक्षिण प्रवास के कारण कुछ भाग में जाड़ों में वर्षा होती है और गर्मी में सूखा पड़ता है। स्टेप्प जलवायु की विशेषताएँ हैं : (क) ताप का अधिक परिवर्तन; (ख) पर्याप्त वर्षा का अभाव, अधिक समय के अंतर पर बौछार के रूप में वर्षा तथा (ग) उच्च ताप और सूखे प्रदेश के लायक वनस्पतियाँ।

४. मरुस्थल — महादेशों के उपोष्णकटिबंधीय अक्षांशवाले पश्चिमी भाग प्रतिचक्रवातों के परिसंचरण से उत्पन्न अत्यधिक शुष्क हवाओं के कारण मरुस्थल हो जाते हैं। महादेश के पूर्वी भाग मानसून और व्यापारी हवाओं के कारण मरुस्थल नहीं होते। मरुस्थल की विशेषताएँ : (क) गर्मी में अत्यधिक ताप, दैनिक ताप का अत्यधिक परिवर्तन और ताप का वार्षिक परिवर्तन; (ख) स्वच्छ आकाश की प्रधानता। अत्यधिक सूखा, धूल और रेत के तूफान, विरल अंतर पर प्रचंड वर्षा तथा (ग) स्टेप्प कोटि की वनस्पतियाँ।

५. उष्ण जलवायु के साथ वर्षारहित शीत — उष्ण जलवायु का क्षेत्र निम्न और मध्य अक्षांतरों पर स्थित है और सवाना से सटा हुआ होता है। यहाँ ताप सवाना से कम होता है। मानसून हवाओं से गर्मी में वर्षा होती है और जाड़ों में सूखा पड़ता है। इस जलवायु की विशेषताएँ : (क) सबसे ठंढे महीने का औसत ताप १८° सें० से कम और-३° सें० से अधिक तथा सबसे गर्म महीने का औसत ताप १०° सें० से अधिक; (ख) वर्षा गर्मी में, जाड़ों में सूखा, अत्यंत सूखे महीने की तुलना में अत्यंत नम महीने में १० गुनी वर्षा तथा (ग) मध्योष्म (mesothermal) कोटि की वनस्पतियाँ।

६. उष्ण जलवायु के साथ वर्षारहित गर्मी — यह जलवायु, उपोष्ण कटिबंध प्रतिचक्रवातों के ध्रुवोन्मुख भागों में, जहाँ प्रतिचक्रवातों के वार्षिक प्रवास से प्रचलित व्यापारिक हवाओं से जाड़ों में वर्षा होती है, पाई जाती है। इसे प्रायः भूमध्यसागरीय जलवायु कहते हैं। विशेषताएँ : (क) ताप की स्थिति प्रायः वही है जो उष्ण जलवायु के साथ, वर्षारहित शीत में वर्णित है; (ख) गर्मी में सूखा पड़ता है और जाड़ों में वर्षा होती है। सबसे नम महीने में सबसे सूखे महीने की तिगुनी वर्षा। सबसे सूखे महीने में ३ सेंमी० से कम वर्षा होती है तथा (ग) अवर्षण और उष्ण ग्रीष्म। साधारण शीत और वर्षा के उपयुक्त मध्योष्म वनस्पतियाँ।

७. नम शीतोष्ण जलवायु — नम शीतोष्ण जलवायु के प्रदेश समुद्री पवनपुंज से साल भर प्रभावित रहनेवाले प्रदेश हैं। इस जलवायु की विशेषताएँ : (क) ताप की अवस्था लगभग उष्ण जलवायु की सी है, जिसमें वर्षा ग्रीष्म या शीत ऋतु में होती है; (ख) सभी ऋतुओं में पर्याप्त वर्षा, वार्षिक परिवर्तन अपर्याप्त तथा (ग) साल भर वर्षा होने के कारण सदाहरित मध्योष्म वनस्पतियाँ।

८. शीत जलवायु, नम जाड़ा — उपध्रुवीय चीड़ के जंगलों में ऐसा जलवायु होता है। यह जलवायु महादेश के पश्चिमी भाग में बहुत बड़े क्षेत्र में, और उसकी तुलना में पूर्वी तट पर काफी छोटे भाग में, होता है। इस जलवायु की विशेषताएँ : (क) सर्दी का निम्नतम ताप ३° सें० से कम होता है और गर्मी का उच्चतम ताप १०° सें० से अधिक होता है; (ख) वर्ष भर अवक्षेपण — तटवर्ती भूभाग में जाड़े में और अंतरस्थलीय भूभाग में गर्मी में। किसी मौसम में भी अत्यधिक सूखा नहीं पड़ता तथा (ग) अणुष्मा (Microthermal) प्रकार की वनस्पतियाँ।

९. शीत जलवायु, सूखा जाड़ा — महाप्रदेश के ऊँचे अक्षांशों में यह जलवायु फैला हुआ है। इसकी विशेषताएँ शीत जलवायु तथा नम जाड़ा हैं। अंतर इस बात का है कि अवक्षेपण की मात्रा जाड़े के महीनों में बहुत कम होती है। इसका कारण जाड़ों में ताप की कमी और नम वायु का अभाव है।

१०. टुंड्रा जलवायु — यह महादेश के सुदूर उत्तर में है। गर्मी का उच्चतम ताप १०° सें० से कम है। यहाँ जंगलों का अभाव है और अधोभूमि हमेशा बर्फीली रहती है।

११. हिम जलवायु — यह जलवायु ध्रुवीय आवरण में है, जहाँ हिम और बर्फ का वर्ष भर एकछत्र राज्य रहता है और गर्मी का उच्चतम ताप शून्य अंश सें० से कम ही होता है।

चित्र २. में कूपेन के अनुसार आदर्श महादेश के जलवायु क्षेत्रों का वितरण प्रदर्शित किया गया है।

वैमानिकी (aviation) की दृष्टि से विश्व के भिन्न भिन्न स्थानों के जलवायु के वर्गीकरण का आधार पवनपुंज (air mass) की आवृत्ति होनी चाहिए। इस विभाजन में पवनपुंज की उच्चतम अंतर्क्रियावाले प्रदेश, वे प्रदेश जहाँ रेत और धूल के तूफान उठते हैं, प्रचंडवात (squally) मौसम रहता है और वायु अत्यंत असंतुलित होती है तथा चक्रवात और प्रतमभन से प्रभावित क्षेत्रों के अतिरिक्त कुहरे आदि के क्षेत्रों का भी सही प्रदर्शन आवश्यक है। अभी तक इस विभाजन की दिशा में प्रयत्न नहीं किया गया है।

भारत की जलवायु - भारत के विभिन्न स्थानों का जलवायु विविधता के कारण अत्यंत रोचक है। भारत के उत्तर-पश्चिम, राजपूताना मरु-

स्थल, में ७ सेंमी० या इससे कम औसत सालाना वर्षा होती है, जबकि उत्तर-पूर्व में चेरापूंजी में १,००० सेंमी० औसत सालाना वर्षा होती है, जो एशिया में सर्वाधिक है। कुछ पहाड़ी स्टेशनों में जाड़ों में ०° सें० से भी कम ताप होता है, तो मध्यभारत के कुछ स्टेशनों में उच्चतम ताप ५०° सें० के लगभग होता है। हिमालय के पहाड़ी स्टेशन शत प्रति शत नमी के साथ कई दिनों तक मेघावृत रह सकते हैं, लेकिन संभव है कि जाड़ों में वहाँ हवा में आर्द्रता शून्य प्रति शत हो। दक्षिण भारत के कई तटीय स्टेशनों में औसत सालाना ताप का परास उत्तर भारत के कई स्टेशनों के दैनिक ताप के परास से भी कम होता है। एक और रोचक बात है, उत्तर-पूर्व और दक्षिण-पश्चिम मानसून से संबंधित ऋतु विज्ञानीय कारकों का अतिशय परिवर्तन। भारत में उत्तर-पूर्वी मानसूनी मौसम दिसंबर से फरवरी तक जाड़े के साथ संपतित होता है। इन दिनों आसमान साफ रहता है, मौसम काफी अच्छा होता है और आर्द्रता कम होती है। उत्तर भारत में खासकर यह अवस्था कभी कभी ईरान और उत्तर भारत की ओर चलनेवाले पछुआ विक्षोभ (disturbances) के कारण, जिसमें वर्षा, बदली और थोड़ा अवक्षेपण भी हो जाता है, गड़बड़ा जाती है। उत्तर-पूर्वी मानसून के बाद मार्च से मई तक ग्रीष्म रहता है। इसकी विशेषता यदा कदा रेत और धूल के तूफान है। मई का अंत होते होते भारतीय क्षेत्रों पर वायुसंचरण प्रबल हो जाता है और लगभग उसी समय विषुवद्वृत्त के दक्षिण-पूर्व में अरब सागर और बंगाल की खाड़ी से व्यापारिक हवाएं उठकर भारत के पवनसंचरण में समा जाती हैं। इसी को दक्षिण-पश्चिमी मानसून कहते हैं, जो भारत को प्रभावित करता है। यह आर्द्र धारा धीरे धीरे भारत के स्थल भाग की ओर बढ़ती है और जुलाई के पहले सप्ताह तक भारत भर में फैल जाती है। भारत सितंबर तक दक्षिण-पश्चिम मानसून से प्रभावित रहता है। यहाँ पर यह कह देना ठीक होगा कि उत्तर-पूर्वी मानसून दक्षिण भारत के पूर्वी तट पर ही वर्षा करता है, अन्यत्र नहीं। सच तो यह है कि अधिकतर स्थानों की साल भर की कुल वर्षा का ७५ प्रति शत दक्षिण-पश्चिम मानसून के प्रभाव से होता है। दक्षिण-पश्चिमी मानसून की एक और विशेषता यह है कि इस मौसम में वहाँ भी अनवरत वर्षा नहीं होती। वर्षा थोड़े थोड़े समय के अंतर पर होती है, जो फसल की उपज के लिये लाभदायक होती है। मानसून के बाद अक्टूबर और नवंबर गर्मी और जाड़े के बीच के संक्रमण का समय है। इन दिनों मौसम प्रायः अच्छा रहता है।

समुद्र से उठनेवाले चक्रवात तूफान और अवनमन भी भारत के जलवायु को प्रभावित करते है। दक्षिण-पश्चिमी मानसून के दिनो में तूफान और अवनमन बंगाल की खाड़ी के उत्तर से उठकर मानसून धारा को सक्रिय करते और राह में साधारण से लेकर अत्यधिक वर्षा करते हुए भारत में पश्चिमोत्तर दिशा में प्रवेश करते है।

दक्षिण-पश्चिमी मानसून के प्रत्येक महीने में इस अवनमन और तूफान की आवृत्ति ४ और ५ के बीच होती है। मानसून से पहले अप्रैल, मई में और बाद अक्टूबर से दिसंबर तक में उठनेवाले अल्पसंख्यक (साल में एकाध) चक्रवाती तूफान विषुवद्वृत्त से उठकर भारत में प्रवेश करते हैं। इनका भीतरी क्रोड प्रभंजन पवन का होता है। ये प्रायः तटवर्ती भूभागों में कोहराम मचा देते हैं और भयंकर वर्षा, तेज हवा और तूफानी तरंगों का दौर लाते हैं।

भारत के जलवायु के संबंध में ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि भारत के जलवायु को कूपेन के वर्गीकरण में से किसी एक वर्ग में रखना अत्यंत कठिन है। भारत के अधिकांश भाग के जलवायु के लिये उपयुक्त अर्थगर्भित शब्द होगा 'मानसूनी जलवायु'। [कि० चं० च०]

जलविज्ञान (Hydrology) विज्ञान की वह शाखा है, जो जल के उत्पादन, आदान प्रदान, स्रोत, सरिता, विलीनता, वाष्पता, हिमपात, उतारचढ़ाव, प्रपात, बाँध, संभरण तथा मापन आदि से संबंधित है। जो जल वृष्टि द्वारा पृथ्वी पर गिरता है, वह प्रथम तो भूमि के प्राकृतिक गुरुत्व के कारण या तो भूमि के अंतस्तल में प्रविष्ट हो जाता है, या नाली और नालिकाओं द्वारा नदियों में जा गिरता है और वहाँ से पुनः सागरों में प्रवेश करता है। कुछ जल वाष्प रूप में वायुमंडल में मिश्रित हो जाता है, कुछ वनस्पतियों द्वारा भूगर्भ से खिंचकर वायु के संपर्क से वाष्प रूप में परिवर्तित हो जाता है। पृथ्वी के अंतस्तल में प्रविष्ट जल का कुछ अंश स्रोतों द्वारा प्रकट होकर नदी, नालों या अन्य नीचे स्थलों पर प्रवाहित या संकलित होने लगता है।

जब जल की मात्रा किसी कारण बहुत बढ़ जाती है, तो नदी, नाले बाढ़ अथवा बढ़ोतरी के रूप में बह निकलते हैं और यदाकदा बड़ी क्षति पहुँचाते हैं। वैसे तो पानी का बहाव प्रकृति के अकाट्य नियमों के अंतर्गत होता है, किंतु प्रत्येक स्थल की भूमि की रूपरेखा, वनस्पति, आबहवा और मनुष्य द्वारा बनाए हुए साधनों के कारण, पानी के बहाव में बहुत परिवर्तन हो जाता है। यदि किसी जगह कोई रोक हो तो उस रोक के कारण, पानी के बहाव का वेग बढ़ना आवश्यक है। इसीलिये
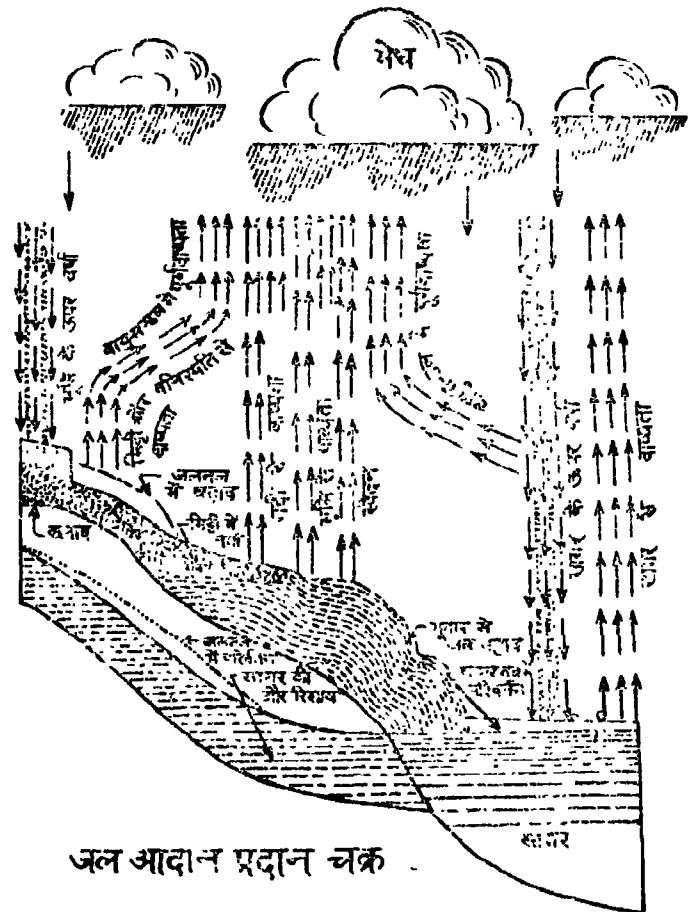
जल आदान प्रदान चक्र

पानी की वेगवती धारा के संपर्क में बड़ी बड़ी चट्टानें भी धीरे धीरे घुल जाती हैं। इसी कारण नदियों के मुहानों पर नदियों द्वारा लाई

हुई रेत से नई भूमि बनती जाती है, जिसको डेल्टा (delta) कहते हैं (देखें डेल्टा)। वास्तव में पृथ्वी पर बड़े बड़े मैदान, जैसे उत्तरी भारत में गंगा और सिंधु के विशाल मैदान, हिमालय से लाई हुई रेत के बने हुए हैं। इस बनावट में सहस्रों क्या करोड़ों वर्ष लगे होंगे। अब भी गंगा के मुहाने पर सुंदरवन आदि के क्षेत्र प्राकृतिक जलागमन द्वारा ही बढ़ते चले जा रहे हैं।

पृथ्वी के अंतस्तल में भी जल की अनेक परतें स्थित हैं। कहीं कहीं जल पृथ्वी तल के समीप मिलता है और कहीं पर अधिक गहराई में। इस क्षेत्र में जलविज्ञान का संबंध भूगर्भ विद्या से हो जाता है। जलोत्पादन के निमित्त जहाँ बड़े बड़े कूप खोदे जाते हैं या कृत्रिम नलकूप बनाए जाते हैं, वहाँ यह प्रकट होता है कि रेत की परतों में जो जल विद्यमान है, वह अवसर मिलने पर साधारण जलस्रोत के तल तक आ जाता है। कभी कभी जल पृथ्वी के गर्भ में प्रविष्ट होकर वहाँ उसी दशा में सहस्रों वर्ष पड़ा रहता है। कुछ जलराशि धीरे धीरे समुद्र की ओर भूगर्भ में प्रवाहित होती रहती है। इस दिशा में जलविज्ञान की प्रगति अभी बहुत सीमित है।

प्रवाहित जल का मापन भी जलविज्ञान का एक विशेष अंग है। इसका प्रयोग विशेषतः भूमिसिंचन के साधनों में, जलविद्युत, पनचक्की आदि में होता है। आजकल के युग में तो बहुत से कारखानों में भी जल का प्रयोग ठंडक पहुँचाने अथवा जल द्वारा चालित मशीनों को चलाने के लिये होता है। अतः भिन्न भिन्न प्रकार की जलमापन की विधियों का होना अनिवार्य है। बड़ी नदियों में जब बाढ़ आती है, उस समय जलमापन एक समस्या बन जाता है, क्योंकि नदियों के तल में रेत और मिट्टी भी जल के साथ बहती चलती है। वैसे जलमापन के निमित्त बहुत से यंत्र बन चुके हैं, जैसे धारावेगमापी (Current meter) आदि। वर्षा द्वारा प्राप्त जल के मापन के लिये जगह जगह यंत्र लगाए जाते हैं, जिससे इस बात का अनुमान हो सके कि कितना जल वर्षा द्वारा प्राप्त होता है, कितना नदियों द्वारा समुद्र में चला जाता है, कितना भूगर्भ में प्रविष्ट हो जाता है और कितना वाष्प में परिवर्तित होता है। जल के आयागमन का यही ज्ञान साधारणतया जलविज्ञान कहलाता है।

[बा० ना०]

जलविमान (Hydroplane) एक प्रकार की नाव है, जो अन्य नावों से भिन्न होती है। सामान्य नाव में विस्थापित जल का भार नाव के भार के समतुल्य होता है। सामान्य नाव को आगे बढ़ाने के लिये धक्का देना पड़ता है, जिससे जल में प्रतिरोध उत्पन्न होने से नाव आगे बढ़ती है। पर जलविमान में ऐसा नहीं होता। जलविमान ऐसा बना होता है कि उसका एक या एक से अधिक नत समतल, जो पेंदे में बने होते हैं, जल के प्रतिदबाव से नाव को ऊपर उठाकर तीव्र चाल से चलाते हैं। इससे जल के संसर्गवाला तल कम हो जाता है, पर शेष

जलविमान

बाएँ, स्थिर स्थिति में : दाएँ, गतिशील

भाग पर दबाव बढ़ जाता है। नावें जब खड़ी रहती हैं तब वे द्रवस्थैतिक बल (hydrostatic force) पर आधारित होती हैं। जब वे जल का स्पर्श करके चलती हैं तब द्रवस्थैतिक बल प्रायः शून्य होता है और उसका आधार प्रधानतया द्रवगतिक प्रभाव होता है। जलविमान की चाल इंजन शक्ति से चलनेवाली नावों से अधिक होती है, अथवा उसी चाल के लिये कम शक्तिवाले इंजन की आवश्यकता पड़ती है। १६५३ ई० से जलविमान की चाल में बराबर वृद्धि हो रही है।

जलविमान का विचार पहले पहल समेक्स के एक अंग्रेज पादरी रेवरेंड चार्ल्स मीड रेमन (Rev. Charles Meade Raman) के मन में १८७० ई० में उठा था, पर हल्के इंजन के अभाव में वे उसे व्यावहारिक रूप न दे सके। बाद में जब पेट्रोल इंजन का उपयोग शुरू हुआ तब जलविमान का विचार फिर उठा और १६०६ ई० में पहला रिकोचेट जलविमान (Ricochet hydroplane) बना। इस जलविमान का पेंदा चिपटा था और नति के उपयुक्त कोण से इसका उतराना संभव हो सका। अन्य प्रकार के जलविमानों के पेंदे अनुप्रस्थ काट (cross section) में चिपटे थे पर उनका आकार आरे के सदृश लंबा था और उनमें अनेक नत समतल थे। नावों के संबंध में सर जॉन थॉर्निक्रॉफ्ट (Sir John Thornycroft) अनेक प्रयोग कर रहे थे। उन्होंने जलविमान तैयार करने की संभावनाओं पर विचार किया और अनुकूल प्रतीत होने पर जलविमान तैयार करने में लग गए। उनका जलविमान एकपदीय नाव था, जो दो नत समतलों से बना था। इन दोनों समतलों पर उसका भार बँटा हुआ था। अमरीका में फेबर (W. H. Fauber) और जार्ज क्राउच (George Crouch) ने ऐसे ही जलविमान बनाए। फिर एकपदीय जलविमान का व्यवहार व्यापक रूप से होने लगा, यद्यपि द्विपाद या बहुपाद किस्म के भी विमान बने। सन् १६५० के लगभग ऐसे जलविमान बने जिनमें कोई पद नहीं था। ऐसी नावों के पेंदे V–आकार के होते थे और पिछला भाग (stern) चौड़ा होता जाता था।

१६३० ई० के लगभग अमरीका में एक नए प्रकार का जलविमान बना, जिसका विकास ऐडोल्फ आपेल (Adolf Apel) ने किया था। यह तीन संकेतक (three pointer) जलविमान था। यह त्रिभुजाकार तीन समतलों से बना हुआ था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एक नए प्रकार का जलविमान बना, जिसमें नोदक आरोही (propeller-rider) लगा हुआ था। इससे जलविमान की चाल और भी अधिक बढ़ गई है।

[फू० स० व०]

जलशोथ (Dropsy) शरीर की कुल या कुछ गुहाओं (cavities), या ऊतकों, में हुए द्रवसंग्रह को कहते हैं। जब यह त्वक् तथा अधस्त्वक् के एकाध स्थान में मर्यादित होता है, तब उसे शोफ (Oedema), जब बहुत विस्तृत होता है तब उसे देहशोथ (Anasarca), जब मस्तिष्क निलयों (ventricles) तथा जालतानिका गुहा (arachnoid cavity) में होता है, तब उसे 'जलशीर्ष' (Hydrocephalus), जब फुफ्फुसावरण में होता है तब उसे 'वक्षशोफ' (Hydrothorax), जब परिहृत्कला में होता है तब उसे 'जलपरिहृद' (Hydropericardium) और जब पर्युदर्या (Peritoneum) में होता है तब उसे 'जलोदर' (Ascites) कहते हैं।

जलशोथ रोग नहीं लक्षण है, जो शरीर के नैसर्गिक कार्य के प्रतियोग का परिणाम है। शरीर में कोशिकाओं से लसीका बराबर बाहर निकलकर, शरीरपोषण का कार्य कर, सबकी सब शिराओं तथा लसीकावाहिनी (Lymphatics) द्वारा रक्त में वापस चली जाती है, इकट्ठी नहीं होती। इसका इकट्ठा होना ही 'जलशोथ' है। शोथयुक्त (inflammatory) संचित द्रव के विकारों का अंतर्भाव जलशोथजन्य विकारों में नहीं किया जाता।

जलशोथ के द्रव का संघटन स्थान के अनुसार जितना बदलता है, उतना कारण के अनुसार नहीं बदलता। इस जल का विशिष्ट गुरुत्व १.००८ से लेकर १.०१८ तक होता है। इसके खनिज लवण सब बातों में रक्त के खनिज लवणों के समान होते हैं, इनमें स्थान और कारण के अनुसार कोई अंतर नहीं पाया जाता। कारण की अपेक्षा स्थान का प्रभाव ऐल्ब्युमिन की राशि पर अधिक होता है। त्वक्शोथ के द्रव में ऐल्ब्युमिन लेशमात्र होता है परंतु वक्षशोफ तथा जलोदर के द्रव में यह बहुत अधिक रहता है और वृक्कविकारजन्य द्रव की अपेक्षा हृद्विकारजन्य द्रव में इसकी मात्रा अधिक होती है। देखने में जलोदर का द्रव प्रायः वर्णहीन होता है, थोड़ा रक्तयुक्त होने पर हरिद्वर्ण या रक्तवर्ण, थोड़ा पित्तयुक्त होने पर पीतवर्ण और वसापायस (Chyle) युक्त होने पर पारदर्शी, पारभासी (translucent) या दूधिया रहता है।

जलशोथ का सामान्य कारण भौतिक (mechanical) है, जिसमें शिरागत रक्तसंचरण की बाधा से रक्तचाप (Blood pressure) मर्यादा से अधिक बढ़ता है। यह चापवृद्धि प्रसूता के श्वेत पाद (Phlegmasia alba dolens) में शिरा में रक्त जमने से; अपस्फीत (varicose) शिराओं में रक्तसंचरण की मंदता से; ऐन्यूरिज्म (Aneurysm), अर्बुद (Tumor) इत्यादि में शिराओं पर बाहर से दबाव पड़ने से होती है। हृद्रोग, वृक्करोग इत्यादि में होनेवाले जलशोथ के रोगजनन (Pathogenesis) के कारण अधिक जटिल होते हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि हृद्रोग में लसीका का अवशोषण पूर्णतया न होने से वृक्करोग में, लसीका का निस्रवण (exudation) अधिक होने से और पीलिया (Chlorosis) एवं मधुमेह में रक्त के विषैलेपन से जलशोथ होता है। देहशोथ मुख्यतया हृद्रोग, वृक्कविकार, कभी कभी वसामय (lardaceous) अपजनन, क्वचित् मधुमेह और रक्तक्षीणता से होता है।

सब हृद्रोगों की प्रवृत्ति धमनीगत रक्तचाप को घटाकर शिरागत रक्तचाप को बढ़ाने की ओर होती है और जब शिरागत रक्तचाप अधिक बढ़ता है, तब देर तक खड़े या लेटे रहने पर पैर, पीठ, फुफ्फुस इत्यादि निम्नस्थ अंगों मे प्रथम जलशोथ प्रकट होकर धीरे धीरे अन्य अंगों पर फैलता है। वातस्फीति (Emphysema), तंतुमयता (Fibrosis) इत्यादि फुफ्फुस के कुछ रोग शिरागत रक्तसंचार में बाधा उत्पन्न करके ठीक हृद्रोग के समान जलशोथ उत्पन्न करते हैं। वृक्कविकार में हृदयगत धमनी तनाव बढ़ने के कारण कोशिकाओं द्वारा होनेवाले अत्यधिक लसीका निस्रवण से जलशोथ उत्पन्न होता है और साथ साथ यदि हृद्रोग न हो तो शोथ सर्वप्रथम आँखों पर दिखाई देता है।

तीव्र जलशोथ में पैर तथा उदर का वेधन (puncture) करके जल निकाला जाता है। वृक्कविकारजन्य जलशोथ को छोड़कर शुष्काहार द्वारा भी निर्जलीकरण (dehydration) कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त लक्षणानुसार स्वेदल (diphoretic), मूत्रल (diuretic) या विरेचक औषधियों द्वारा भी चिकित्सा की जाती है।

महामारी जलशोथ (Epidemic dropsy), जलशोथ से भिन्न है। १८७७ ई० में सर्वप्रथम कलकत्ते में इसका उत्पात हुआ, इसके पश्चात् अन्य स्थानों में यह फैला। सत्यानाशी (Argemone mexicana) के तेल का सेवन इसका प्रधान और चावल का सेवन इसका सहायक कारण है। सत्यानाशी के तेल की सरसों के तेल के साथ मिलावट की जाती है और इस मिलावटी सरसों के तेल के सेवन से जलशोथ की महामारी उत्पन्न होती है। इसमें सर्वप्रथम पैरों पर जलशोथ दिखाई देता है, जो रोग बढ़ने पर ऊपर फैलता है, किंतु चेहरा प्रायः बच जाता है। शोथ के अतिरिक्त, ज्वर, जठरांत्रशोथ (Gastro-enteritis), शरीर में दर्द, त्वचा में सुई चुभने की सी पीड़ा तथा जलन, विविध स्फुटन इत्यादि लक्षण होते हैं। मृत्यु प्रायः हृदय या श्वसन के उपद्रवों से अचानक होती है। [आ० गो० वा०]

जलसंत्रास (Hydrophobia) जल या किसी अन्य पेय या खाद्य को देखकर रोग के आक्रमण की संभावना से रोगी के भयभीत हो जाने की स्थिति का नाम है। यह जलसंत्रास रोग का विशेष लक्षण है। धनुस्तंभ (Tetanus) में भी ऐसा ही होता है। घूँटने का प्रयत्न करते ही रोगी की पेशियों में ऐंठन आ जाती है, जिससे बहुत पीड़ा होती है। इस कारण रोगी को जल से डर लगता है। यह केवल एक लक्षण है।

पागल कुत्ते के काटने के प्रायः ४० दिन पश्चात् यह रोग उत्पन्न होता है। बांह, पेट या गर्दन पर काटने से थोड़े ही दिनों में यह उत्पन्न हो सकता है। शिशु और बालकों में तो कुछ ही दिनों में प्रकट हो जाता है। रोग की प्रथम अवस्था में दो तीन दिन तक रोगी का मन उदास रहता है। उसे भूख नहीं लगती और वह भयभीत सा रहता है। प्रकाश नहीं सुहाता। नींद भी नहीं आती। कुछ भी निगलने से गले में पीड़ा होती है। इस कारण रोगी खाना नहीं चाहता। वह जल पीने तक का साहस नहीं करता।

दूसरी अवस्था में पेशियों में, विशेषकर कंठ की पेशियों में, ऐंठन होने लगती है, निगलने की क्रिया में काम आनेवाली तथा ग्रीवा की अन्य पेशियों में दारुण पीड़ायुक्त ऐंठन होती है। रोगी को १०१° से १०३° फा० तक ज्वर रहता है। कितने ही रोगियों को ऐंठन के साथ उन्माद हो जाता है। रोगी बकने झकने लगता है। आक्षेपक ऐंठन के अंतकाल में रोगी ठीक रहता है। कुछ रोगियों में ज्वर नहीं होता। यह अवस्था दो तीन दिन तक रहती है।

इसके पश्चात् संस्तंभ (paralytic) की तीसरी अवस्था प्रारंभ होती है जिसमें पेशीसमूह अकर्मण्य होते जाते हैं। ऐंठन कम हो जाती है। संस्तंभित होकर पेशी ढीली होने लगती है। रोगी अचेत सा रहता है। धीरे धीरे अचेतनता बढ़ती जाती है और साथ ही पेशियों का संस्तंभ भी अधिक हो जाता है। अंत में सब पेशियों के संस्तंभन के कारण हृदयावसाद से रोगी की मृत्यु हो जाती है। यह अवस्था ६ से १८ घंटे तक रह सकती है।

यह रोग कुत्ते, सियार, लोमड़ी, बिल्ली, गाय और घोड़ों को भी होता है। मनुष्य को यह रोग प्रायः कुत्ते के काटने से होता है। रोग का निदान कठिन नहीं होता। कुत्ते या अन्य किसी जंतु के काटने का पता चलते ही रोगी के लक्षणों से धनुस्तंभ या अन्य अवस्थाओं को पहचानना कठिन नहीं होता।

रोग का कारण एक प्रकार का विषाणु होता है, जो तंत्रिकातंत्र को, विशेषकर तंत्रिकाओं के प्रेरक मूलों को आक्रांत करके मेरुरज्जु में भर जाता है। इसके कारण मस्तिष्क में विशेष आकार के पिंड

बन जाते हैं, जिनका नेग्री नामक विद्वान् ने सबसे पहले वर्णन किया था। इस कारण इनको नेग्री पिंड (Negri bodies) कहते हैं।

इस रोग की कोई चिकित्सा नहीं है। पाँच से सात दिनों में रोगी की मृत्यु हो जाती है। चिकित्सा लाक्षणिक की जाती है। यद्यपि रोग की कोई चिकित्सा नहीं है, तथापि रोग को रोकना सहज और निश्चित है। इस रोग से मृत कुत्तों की मेरुरज्जु से तैयार किए हुए १४ इंजेक्शन, प्रति दिन एक के क्रम से दिए जाते हैं। उससे रोग निरोध क्षमता उत्पन्न हो जाती है और रोग के लक्षण प्रकट नहीं होने पाते। काटने के पश्चात् जितना शीघ्र हो सके इंजेक्शन प्रारंभ कर देना चाहिए। यदि यह निश्चय हो कि कुत्ता पागल नहीं था, तो इंजेक्शन की आवश्यकता नहीं होती। यदि काटने के पश्चात् कुत्ता १० दिन तक जीवित रहे, तो समझना चाहिए कि काटने के समय कुत्ता पागल नहीं था। यदि काटने के पश्चात् कुत्ता न दिखाई पड़े और उसके रोगमुक्त होने का निश्चय न किया जा सके, तो इंजेक्शन आवश्यक है। यह टीका हमारे देश में कसौली, बंबई के हैफकीन इंस्टिट्यूट और अन्य कई स्थानों पर तैयार किया जाता है और सरकारी अस्पतालों में इंजेक्शन देने का प्रबंध रहता है।

इस टीके का आविष्कार सबसे पहले फ्रांस के लुई पैस्टर ने किया था। इसके पूर्व इस रोग से बहुत मृत्यु होती थी। फ्रांस के पैस्टर इंस्टिट्यूट में सन् ११०८ और १६०६ में ६६१ रोगियों में से केवल १ की मृत्यु हुई और १६१० में ४१० रोगियों में से किसी की भी मृत्यु नहीं हुई। तब से मृत्युसंख्या निरंतर घट रही है और अब अत्यल्प है, जिसका मुख्य कारण टीके का रोगनिरोधक के रूप में प्रयोग और लावारिस कुत्तों का संहार है।

बालकों में इस रोग का उद्भवनकाल कम होता है। बालक जितना छोटा होगा, उद्भवनकाल उतना ही कम होगा। इस कारण उनमें रोग-निरोधन का आयोजन जितना भी शीघ्र हो सके करना चाहिए।

काटे हुए स्थान की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। इस स्थान को विसंक्रामक विलयनों से स्वच्छ करके कारबोलिक या नाइट्रिक अम्ल से दग्ध कर देना चाहिए। [मु० स्व० व०]

जलसेतु (Aqueducts) किसी नदी, नाले अथवा घाटी पर पुल बनाकर उसपर से यदि कोई कृत्रिम जलधारा ले जाई जाती है, तो उस पुल को जलसेतु कहते हैं (इसके विपरीत यदि कृत्रिम जलधारा नदी नाले आदि के नीचे से गुजरती है, तो पुल ऊर्ध्वलंघिका कहलाता है)।

इंजीनियरी, विज्ञान और उद्योग का विकास हो जाने से आजकल बड़े बड़े व्यास के नल कंक्रीट या लोहे के बनाए जाते हैं। अतः जल बहुधा बड़े बड़े नलों में ले जाया जाता है, जो भूमि के तल के अनुसार ऊँचे नीचे हो सकते हैं, और पर्याप्त का दबाव सह सकते हैं। किंतु प्राचीन काल में बहुधा खुली नालियाँ ही होती थीं, या नालियाँ चिनाई आदि करके बनाई जाती थीं, जो भीतर की ओर से जल का दबाव सहन नहीं कर पाती थीं। अतः उन्हें उद्गम से लेकर अंतिम सिरे तक एक नियमित ढाल में ले जाना अनिवार्य था। इसलिये नदी, नाले या घाटियाँ पार करते समय जलसेतु बनाने पड़ते थे। बहुत बड़ी नहरों के लिये, जिनका निस्सरण बड़े बड़े नलों की समाई से भी कहीं अधिक होता है, जलसेतु आज भी अनिवार्य हैं।

संसार के सबसे पुराने जलसेतु इटली, फ्रांस और स्पेन में मिलते हैं। इटली में दूसरी सदी ई० पू० से ही जलवाहिनी एवं जलसेतु बनने लगे थे। रोमन लोगों द्वारा बनाया हुआ 'पॉंट ड्यू गार्ड' नामक जलसेतु नीम (Nimes) (फ्रांस) में आज भी खड़ा है, जिसकी रूपाकृति की भव्यता अतुलनीय है। इसमें डाटों के तीन स्तर हैं : पहिले स्तर में ६०–७० फुट पाटवाली छः, दूसरे में ३५ फुट पाटवाली ११, और तीसरे स्तर में छोटी छोटी ३५ डाटें हैं, जिनके ऊपर नहर बनाई गई थी। एक जलसेतु सेगोहरा (स्पेन) में, २,७८० फुट लंबा और १०२ फुट ऊँचा है, जिसमें दो मंजिलों में चिनाई की १०६ डाटें हैं। यह अभी तक प्रयोग में आता है।

जिरूसलेम में बहुत पहले से, जूडा नरेश के जमाने से ही, नलों द्वारा पानी आता था। इस प्रकार की एक २० मील लंबी जलवाहिनी हिनम की घाटी को डाटों के ऊपर से पार करती है। कुस्तुंतुनिया में मध्ययुगीन जलसेतुओं के कई उत्कृष्ट नमूने मिलते हैं। इनमें से जुस्तीनियन का जलसेतु विशेष उल्लेखनीय है। ७२० फुट लंबे और १०८ फुट ऊँचे इस जलसेतु में दो स्तर हैं। एक ५५ फुटी डाटों का और दूसरा ४० फुटी डाटों का।

कृषिप्रधान देश भारत में सिंचाई के लिये नहरें प्राचीन काल से ही थीं। हिमालय की तलहटी के इलाकों में जंगलों में ऐसी अनेक नहरों के छिपे अवशेष मिले हैं, जो कहीं कहीं, जैसे रुहेलखंड में, नई सिंचाई व्यवस्था के आधार बन गए हैं। मुस्लिम काल में भी अनेक नहरें बनी थीं। इन सबमें जलसेतु भी रहे होंगे; किंतु आज किसी का पता नहीं है। आजकल की भारतीय नहरों में, जिनमें से अनेक विश्व में बेजोड़ हैं अनेक जलसेतु हैं, जो इंजीनियरी कौशल के उत्कृष्टतम उदाहरण हैं।

ऊपरी गंगा नहर में रुड़की के पास सोलानी जलसेतु १६वीं शती के मध्य में बना। इसमें ५० फुट पाट की १५ डाटें हैं, जिनके ऊपर से होकर १६४ फुट चौड़ी और १० फुट गहरी नहर सोलानी नदी को पार करती है। सोलानी की घाटी में लगभग २½ मील लंबे और ३६ फुट ऊँचे बाँध पर यह नहर बहती है, जिसका तीन मील से अधिक भाग पक्की चिनाई का है।

निचली गंगा नहर के ३४वें मील पर काली नदी पर नदरई जलसेतु की अपनी ऐतिहासिक विशेषता है। १८७८ ई० में प्रारंभिक जानकारी के अनुसार, जिसका कोई पक्का आधार नहीं था, निकटस्थ रेलवे पुल और एक सदी पुराने सड़क पुल को देखते हुए १८,००० घन फुट प्रति सेकंड निस्सरण के लिये ३५ फुट पाटवाली ५ डाटों का एक, जलसेतु बनाया गया। यहाँ काली नदी की बाढ़कालीन गहराई १३ फुट अनुमान की गई थी। किंतु छह वर्ष बाद ही १८८४ ई० में ऐसी भीषण बाढ़ आई कि पानी २२ फुट तक चढ़ गया और निस्सरण ४०,००० घन फुट प्रति सेकंड हो गया। फलतः जलसेतु टूट गया। इसके स्थान पर बड़ा जलसेतु बनाने की योजना अभी बन ही रही थी, और टूटे हुए भाग की अस्थायी मरम्मत हुई ही थी कि अगले वर्ष और भी भीषण बाढ़ आई जिसका १,४०,००० घन फुट प्रति सेकंड निस्सरण अपने मार्ग के सभी पुल बहा ले गया। इस जलसेतु के भी दो पक्षों के कुछ अवशेष-मात्र स्मारक स्वरूप रह गए। तदनंतर वर्तमान जलसेतु, जो भारत में सर्वश्रेष्ठ और शायद विश्व में अपने जैसा विशालतम है, १८८६ ई० में बना। इसमें ६० फुट पाटवाली १५ डाटें हैं, और पुल की चौड़ाई १४६ फुट है। मंत्याधार और पायों की नींव के लिये २६८ कुँए बनाए गए थे, जिनका कुल गलान १५,०१६ फुट अर्थात् तीन मील से कुछ कम

था। इसी नहर में आगे चलकर फतेहपुर जिले में दो और जलसेतु, एक बरेंडा और दूसरा सिसमी के पास, हैं।

उत्तर प्रदेश के हमीरपुर जिले में धसान नहर पर कोहनिया जलसेतु है। इसमें ३० फुट पाटवाले ११ दर हैं और नहर का तल नाले के तल से ३३ फुट ऊपर है। इस जलसेतु की कुल लंबाई १,३०० फुट है।

दक्षिण भारत में तुंगभद्रा नदी से निकलनेवाली कुर्नूल-कड़ापा नहर पर हिंदरी जलसेतु (मद्रास) और निचली मसवाद नहर पर का जलसेतु (बंबई) उल्लेखनीय हैं। मध्य प्रदेश के मझगवाँ जलसेतु और माधापुरा जलसेतु भी उल्लेखनीय हैं। पहले में ३० फुटे पाटवाले १५ दर हैं, जलसेतु की लंबाई १,००० फुट और नाले के तल से ऊँचाई ६४ फुट है। दूसरा भी इसी आकृति का है, जिसमें ३० फुटे पाटवाले १२ दर हैं।

गोदावरी नदी के दाएँ बाएँ दोनों तटों पर से निकलनेवाली दोनों नहरों पर, जिनकी लंबाई क्रमशः ६६ और ४८ मील है, शताधिक पुलियों के अतिरिक्त लगभग २० जलसेतु हैं। बिहार में गंडक नदी के उत्तरी आवाह क्षेत्र को सींचनेवाली केवल ६१ मील लंबी त्रिवेणी नहर में भी १८ जलसेतु हैं। इन नहरों में इतने अधिक जलसेतु होने का कारण यह है कि ये ढालू प्रदेश में नदी के समांतर बहती हैं, जहाँ इन्हें नदी की सभी सहायक नदियों और नालों को लाँघना पड़ता है। इसके विपरीत समतल पंजाब की १३४ मील लंबी निचली बारी दोआब नहर में केवल एक जलसेतु (हुधियारा नाला पर, १२ वें मील पर) है।

पाकिस्तान की ऊपरी स्वात नहर (पश्चिमोत्तर सीमांत प्रदेश) भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है, कि यह पहाड़ों में बड़ी कठिन परिस्थितियों में बनाई गई है। इसमें छोटी बड़ी आठ सुरंगें और कई जलसेतु हैं।

बर्मा में मांडले नहर का थापनगँग जलसेतु अभिकल्प की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। चोमिनक्यांग पहाड़ी नदी है, जो बाढ़ के समय इतनी तेजी से बढ़ती है कि पाँच घंटे में ही २० फुट ऊँचा पानी चढ़ जाना मामूली बात है। नहर के तल के नीचे इतनी गुंजाइश न होने से डाटों के ऊपर मुंडेर न बनाकर दोनों ओर लकड़ी के सात फुट ऊँचे तख्ते लगाए गए हैं, जिनके बीच में नहर बहती है। नदी का बाढ़कालीन निस्सरण अधिकतम ६०,००० घन फुट प्रति सेकंड कूता जाता है, जब कि २२ फुट पाटवाली १२ दरों से केवल २४,००० घन फुट पानी प्रति सेकंड निकल सकता है। बाढ़ के समय तख्ते एक एक करके गिराए जा सकते हैं जिससे नदी का अतिरिक्त पानी डाटों के ऊपर से होकर निकल जाय।
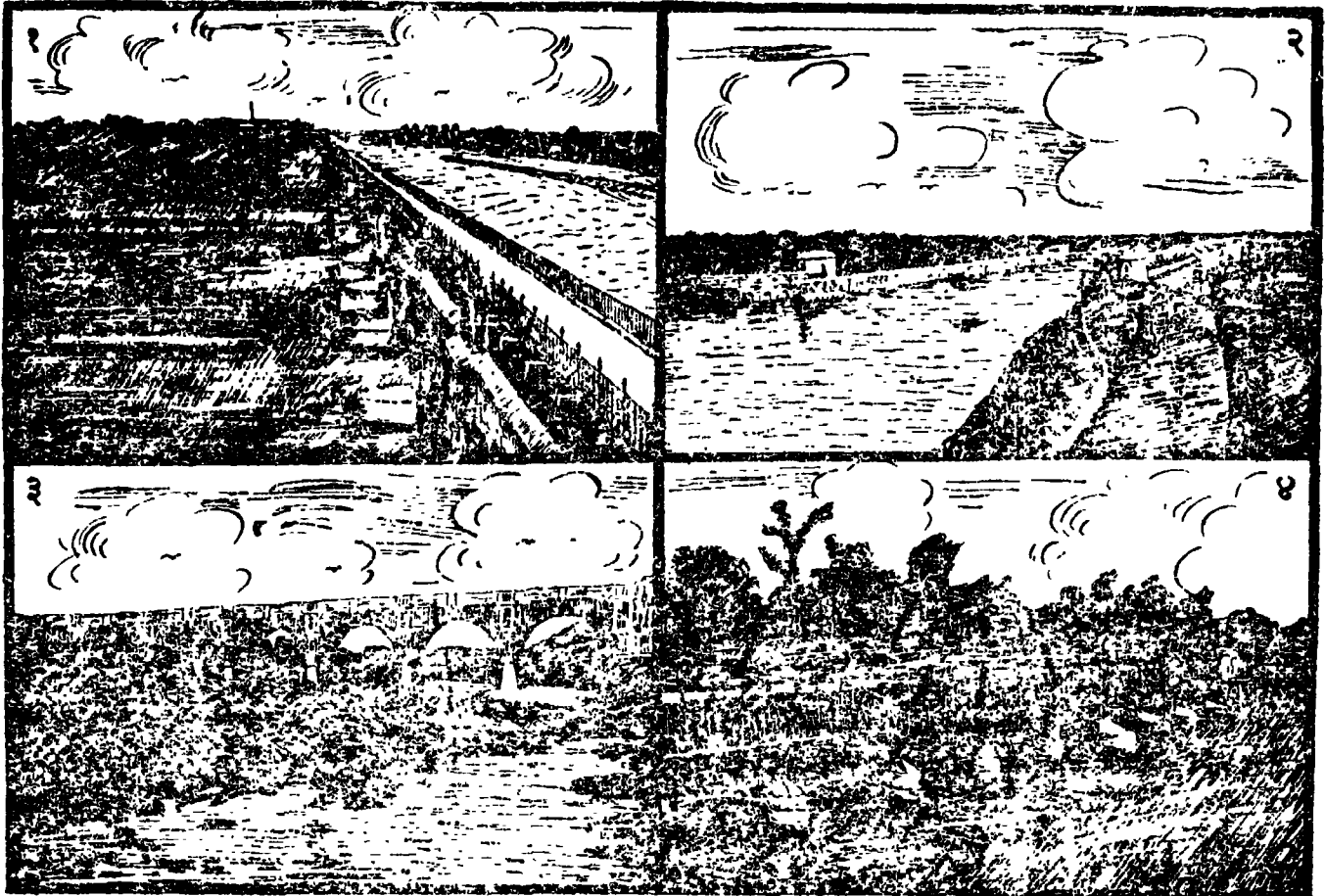
जलसेतु

१. ऊपरी नहर गंग में, रुड़की के पास सोलानी जलसेतु; २. निचली नहर गंग में काली नदी पर नदरई जलसेतु; ३. ऊपरी स्वात नहर (पश्चिमी पाकिस्तान) की मचाई शाखा में एक जलसेतु तथा ४. मांडले नहर (बर्मा) में चोमिनक्यांग नदी पर थापनगँग जलसेतु।

जलसेतु के अभिकल्प के सिद्धांत वे ही हैं, जो पुलों के हैं। नहर के दोनों ओर की दीवारें पुश्ते की दीवारों की तरह बनाई जाती हैं।

[वि० प्र०]

जलह्रास (Dehydration) वह दशा है जिसमें शरीर से पानी का निकास अंतर्ग्रहण से अधिक होता है और शरीर में पानी की मात्रा कम हो जाती है। जलह्रास के अनेक कारण हो सकते हैं, जिनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :

१. जलरिक्तता या प्रारंभिक जलह्रास यह मनुष्य को पानी न मिलने, ज्वर होने, बार बार वमन और दस्त आने से हो जाता है।

२. इलेक्ट्रोलाइट के कुल परिमाण में कमी तथा लवण का निःशेषण (depletion) शरीर के बाह्य कोशिकाद्रवों तथा आंतर कोशिकाद्रवों के इलेक्ट्रोलाइटों के बीच जल के निरसन या अवरोधन द्वारा सांद्रण स्थायी रखा जाता है। कुल इलेक्ट्रोलाइटों की कमी या वृद्धि से शरीर में पानी की मात्रा घटती या बढ़ती रहती है।

३. अतिबली विलयन (Hypertonic solution) का अंतःशिरा इंजेक्शन — इससे रक्त में रसाकर्षणदाब अस्थायी रूप से बढ़ जाती है और ऊतक द्रव बहकर उसमें चला जाता है। बाद में बढ़ा हुआ द्रव वृक्क द्वारा उत्सर्जित होता है और शरीर के जल में वास्तविक ह्रास होता है।

जलह्रास के संभव परिणाम निम्नलिखित हैं : शरीर के भार में कमी, अम्ल और क्षार के संतुलन में विक्षोभ, रक्त में प्रोटीनविहीन नाइट्रोजन की वृद्धि, क्लोराइड की प्लाविका प्रोटीनसांद्रण में वृद्धि, शरीर के ताप में वृद्धि, नाड़ी में वृद्धि और हृदय निपज (output) में कमी, प्यास लगना, त्वचीय और उपत्वचीय जलह्रास के कारण त्वचा का ढीलापन, शुष्कता और उसमें झुर्रियाँ पड़ना तथा परिक्लांति और पात।

सं० ग्रं०— ई० एम० लैंडिस : कैपिलियरी ऐंड कैपिलियरी परमीआबिलिटी; *फिजीयोलॉजिकल रिव्यू १९३४, १४, ४०४;* ई० एच, स्टार्लिंग : दी फ्लूइड्स ऑव दि बॉडी; कॉन्सटाबल लंदन, १९०९। [रा० चं० शु०]

जलालाबाद स्थिति : ३४° ३०' उ० अ० तथा ७०° २९' पू० दे०। यह समुद्रतल से १,९५० फुट की ऊँचाई पर काबुल नदी के दक्षिणी किनारे पर काबुल नगर से ९९ मील तथा पेशावर से ७६ मील दूर स्थित पूर्वी अफगानिस्तान का मुख्य नगर है। इसकी स्थिति बहुत महत्वपूर्ण है। पेशावर और इसके मध्य में खैबर दर्रा, काबुल और इसके मध्य में जग्दालक तथा खुर्दकाबुल दर्रे हैं। यहाँ से लाघमन जिला और कूनार घाटी के प्रवेश पर तथा काबुल पेशावर-मार्ग और चित्राल या भारत मार्ग पर नियंत्रण रखा जाता है। इसकी जनसंख्या ६,००० से अधिक है। यहाँ का जलवायु पेशावर के जलवायु के सदृश है। बाबर ने इस स्थान का चुनाव किया था और अकबर ने १५६० ई० में इस नगर को बसाया। नगर में एक बाजार है। [अ० ना० मे०]

जलालुद्दीन अहसन (मृत्यु १३३९) मदुरा का प्रथम सुलतान। पंजाब में उत्पन्न हुआ। मुहम्मद तुगलक ने इसे मदुरा का शासनाध्यक्ष (इसामी के 'फुतुह अल सलातीं' के अनुसार कोतवाल) नियुक्त किया। १३३५ में इसने अपने को 'जलालुद्दीन अहसन शाह' के नाम से मदुरा का स्वतंत्र शासक घोषित किया, और अपना सिक्का भी चलाया। तुगलक ने उसके विद्रोह के दमन के प्रयत्न किए, किंतु सेना में व्यापक रूप से हैजा फैल जाने के कारण असफल रहा। १३३९ में इसी के एक अधिकारी ने इसकी हत्या कर दी और अलाउद्दीन उदवजी शाह के नाम से शासक बन बैठा।

जलालुद्दीन ख्वारिज़्म शाह सुलतान मुहम्मद ख्वारिज्म शाह का ज्येष्ठ पुत्र और वंश का अंतिम शासक। मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् जलालुद्दीन के अन्य भाइयों ने मंगोलों की सहायता से इसके विरुद्ध षड्यंत्र रचा, इसलिये यह भागकर अफगानिस्तान चला गया। गजनी में इसने ६०,००० तुर्कों को एकत्रकर सेना तैयार की। चिंगेज खाँ (मंगोल) ने इसका पीछा किया। यह भागकर भारत आया (१२२१) और अल्तमश से संधि के असफल प्रयत्न किए। ३ वर्ष भारत में रहकर १२२४ में वह किरमान पहुँचा। यहाँ से चलते हुए उसने खुजिस्तान पार किया, जहाँ खलीफा अल नासिर से उसकी टक्कर हुई। १२२५ में उसने अजरबैजान के शासक उजबेग को पराजित कर उसकी राजधानी तबरीज पर अधिकार कर लिया। धीरे धीरे आसपास के काकेशस, किरमान और अखलात पर भी अधिकार कर लिया। इसी समय फारस में मंगोलों के विरुद्ध इसे पुनः युद्ध करना पड़ा। तुरंत बाद अल अशरफ और कैकुबाद की संमिलित शक्तियों से पराजित होकर अजरबैजान चला गया किंतु मंगोलों के कारण उसे शांति नहीं मिली। अखलात होते हुए आमिद की ओर वह भागा। किंतु मंगोलों ने एक रात चुपके से आक्रमण किया, युद्ध में जलालुद्दीन मारा गया। कुछ समय में उसकी मृत्यु के संबंध में दो मत हो गए। कुछ ने अपने को ही जलालुद्दीन ख्वारिज्म शाह कहना आरंभ कर दिया था।

जलालुद्दीन बुखारी (१३०८–८४) भारत का एक प्राचीन पीर। इसका उपनाम 'मकदूम-ए-जहाँनिय-जहाँगुश्त' था। इसका दादा सैयद *जलालुद्दीन-ए-सुर्ख बुखारा से भारत आया था।* बहुत थोड़ी आयु में इसने ज्ञान प्राप्ति की कामना से मिस्र, सीरिया, फिलस्तीन, मेसोपोटामिया, बलख, बुखारा, खुरासान, मक्का और मदीना की यात्राएँ कीं। भारत में मुहम्मद तुगलक ने इसे 'शेख-अल-इस्लाम' नियुक्त किया। फीरोजशाह तुगलक ने भी इसे बहुत अधिक संमान दिया। जलालुद्दीन युद्धों में भी फीरोज के साथ रहा। सुलतान की धार्मिक प्रवृत्ति पर जलालुद्दीन का बहुत प्रभाव था, जैसा कि फितूहात-ए-फिरोजशाही से स्पष्ट है। 'खुलासत अल अलफाज जामी अल उलूम', 'सिराज अल हिदाय' और 'खजाना-ए-जलाली' नामक पुस्तकों में उसकी धार्मिक शिक्षाएँ संगृहीत हैं।

जलाशय पृथ्वी पर स्थित जल के संचय को कहते हैं, चाहे वह प्राकृतिक हो, अथवा कृत्रिम। किंतु प्रस्तुत संदर्भ में जलाशय का अभिप्राय केवल मानवकृत जलाशयों से है, जिनका विवरण नीचे प्रस्तुत है।

मनुष्य जीवनयापन के लिये सदा से जल और भूमि पर आश्रित रहा है। इसी कारण सभ्यता का श्रीगणेश नदीतटों पर ही हुआ। किंतु, ज्यों ज्यों मानवसमाज का विकास होता गया, त्यों त्यों वह नदीतटों से दूर स्थलों पर भी निवास करने लगा, अतएव जल संचित करने के साधन जुटाए जाने लगे और जहाँ कहीं संभव हो सका मनुष्य ने अपने उपयोग के लिये या तो पृथ्वी के भीतरी स्तरों में छिपे हुए जल को निकालने के लिये कुएँ बनाए अथवा ताल या सरोवर बनाकर जल संचित किया। प्राचीन समय में बने इस प्रकार के जलाशय संसार के प्रायः समस्त देशों में पाए जाते हैं। ऐसा ही एक जलाशय मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल में है। दक्षिण भारत में, जहाँ कुएँ साधारणतः नहीं बन सकते, ऐसे सहस्रों जलाशय पाए जाते हैं, जिन्हें शताब्दियों पूर्व मनुष्य ने अपना तथा अपने पशुओं का निर्वाह और यथासंभव खेती बारी करने के लिये बनाया था।

आधुनिक युग में इन जलाशयों का विस्तार किया जाने लगा है। ऊँचे ऊँचे बाँधों का निर्माण होने लगा, और बाँधों द्वारा बनाए गए जला-

पथरी जलप्रपात

बहादुराबाद (उ० प्र०) के इस जलप्रपात से एक विद्युत गृह को शक्ति मिलती है।

एक नहर पर प्रपात श्रेणी

फलक ३०.

जलाशय (पृष्ठ ४२८)

बुंदेलखंड का एक जलाशय

मझगवाँ जलाशय में निकली धमान नहर तथा जल कपाट संख्या २.

शयों से बहुमुखी योजनाओं का सूत्रपात हुआ। उदाहरण के लिये कावेरी नदी पर बने मेट्टूर बाँध के जलाशय से बड़ी मात्रा में बिजली का उत्पादन किया जाने लगा और मद्रास राज्य में इस बिजली का बड़े विस्तार से उपयोग हुआ। वर्तमान विकास युग में बहुत सी ऐसी योजनाएँ बनीं जिनसे बड़े बड़े जलाशयों द्वारा बिजली उत्पादन तथा भूसिंचन के लिये संचित जल का उपयोग किया जा सके। ऐसी योजनाओं में मुख्यत: दामोदर घाटी के जलाशय, भाकड़ा बाँध का जलाशय, हीराकुंड बाँध का जलाशय, तुंगभद्रा, नागार्जुन, कोयना, रिहंद आदि की गणना की जा सकती है। इनके अतिरिक्त अन्यान्य बहुतेरे छोटे बड़े जलाशय बनाए जा चुके हैं। अन्य देशों में भी बहुत बड़े बड़े जलाशयों का निर्माण हुआ, जैसे अमरीका का बोल्डर डैम जलाशय तथा शास्ता डैम जलाशय।

नगरों में जलवितरण के लिये भी जलाशय बनाए जाते हैं। ऐसे जलाशयों में पानी ऊँचाई पर संचित किया जाता है, जिससे वितरण नलियों में पानी सुचारु रूप से पहुँच सके। इस किस्म के जलाशय कंक्रीट, इस्पात आदि के बने होते हैं। इनमें आवश्यक मात्रा में जल संचित किया जाता है, जिससे सामान्य रूप से जल उपलब्ध हो सके। वैसे बहुतेरी जगहों में संतुलन जलाशय भी बनाए जाते हैं, जिससे जल-वितरण में सुविधा हो सके और वितरणक्षेत्रों में पानी का दबाव समान रहे।

जलाशयों के अन्य उपयोग भी हैं। बहुत से क्षेत्रों में मछली आदि के प्रजनन के निमित्त जलाशयों का उपयोग किया जाता है, जिससे समाज को मछली के रूप में भोज्य सामग्री उपलब्ध हो सके। भारत के पूर्वी प्रदेशों में, जैसे बंगाल में, इसका बड़ा प्रचलन है। और भी क्षेत्रों में जलाशय का उपयोग इस प्रयोजन के लिये किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त जलाशयों में आमोद प्रमोद के साधन बहुधा जुटाए जाते हैं। बहुत से सुंदर जलाशय इस हेतु समय समय पर बनते रहे हैं। भारत में देवालयों के समीप ऐसे जलाशय पाए जाते हैं और उनको विशेष महत्ता भी दी जाती है। बहुत से स्थानों पर प्राकृतिक सौंदर्य बढ़ाने के लिये भी जलाशय बनाए गए हैं, जैसे उदयपुर या नैनीताल के जलाशय, जहाँ नौकाविहार बड़ा आनंददायक होता है।

जलाशयों का एक अप्रत्यक्ष लाभ यह है कि उनमें संचित जल का रिसाव धीरे धीरे भूमि में होता रहता है, जिसके द्वारा भूगर्भ में स्थित जलस्रोतों में जल पहुँचता रहता है, जो दूर दूर स्थलों पर कूपों द्वारा मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये निकाला जाता है। मध्य भारत और दक्षिणी पठार के प्रदेशों मे बहुत से जलाशय इस हेतु बनाए जाते हैं कि वर्षा ऋतु में उनमें जल संचित होकर भूगर्भ में स्थित स्रोतों में जल प्लावित कर सके, जिससे वर्षा के बाद कूपों में जल उपलब्ध हो सके। अत: जलाशयों से बड़े लाभ हैं और उनका विकास मानवीय विकास के साथ पूर्णतया संबद्ध है। [श० ना०]

जलीय शक्ति पारेषण (Hydraulic Power Transmission) यंत्रों के व्यावहारिक क्षेत्र में उन्हें संचालित करने के लिये यांत्रिक युक्तियाँ, विद्युत्, संपीडित हवा और संपीडित द्रव ही मुख्य माध्यम हुआ करते हैं, लेकिन कुछ विशेष परिस्थितियों में उपर्युक्त माध्यमों में से संपीडित द्रव द्वारा विशेष प्रकार के यंत्रों का संचालन करना अधिक सुविधाजनक और लाभप्रद होता है। द्रवों में खनिज तेल और जल ही मुख्य हैं। यदि यंत्र छोटा है और द्रव का संपीडन उसी यंत्र मे करके उसी में काम लेना है तब तो खनिज तेल ही उत्तम रहता है, जैसे खराद मशीनों आदि में, लेकिन जहाँ बहुत अधिक मात्रा में द्रव का प्रयोग करना पड़े, यंत्र बहुत बड़ा हो और जहाँ संपीडक यंत्र कार्यकर्ता-यंत्र से कुछ अधिक दूरी, या बहुत दूरी, पर स्थित हो तो तेल का प्रयोग बहुत मँहगा पड़ता है। अत: वहाँ जल को ही माध्यम बनाया जाता है।
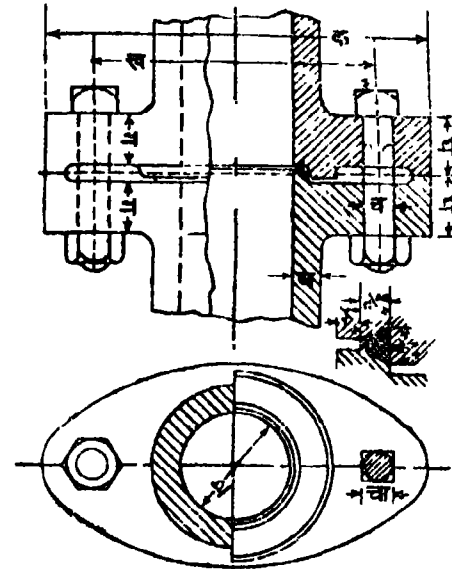
चित्र १. नली की संधियों की बनावट तथा विभिन्न अवयवों का अनुपात

द्रवों को शक्तिपारेषण का माध्यम बनाने की समस्या को दो दृष्टिकोणों से देखा जाता है: (१) जब द्रवचालित यंत्र को बहुत ही मंद गति से चलाना अभीष्ट हो, यंत्र के अभीष्ट कार्य के लिये बहुत अधिक शक्ति की आवश्यकता हो तथा यंत्र की चाल पर बहुत सही सही नियंत्रण करना हो, जैसे रेल के इंजनों के चक्कों और टायर खरादने के यंत्रों में, हाई स्पीड स्टील के औजार बनाने के यंत्रों में, चाँद आदि का परीक्षण और कमानियों का लचीलापन जाँचने के यंत्रों में, तथा (२) जहाँ ठहर ठहरकर, कुछ क्षणों के लिये ही अधिक शक्ति लगानी हो, जैसे ग्रामा प्रेसों, संधानीय यंत्रों, बरतन बनाने और ठप्पा लगाने के यंत्रों, रिवेट लगाने के प्रेसों, उन्थापक यंत्र, क्रेन और जहाजी लंगर तथा पुल खींचने की चर्खियों आदि में किया जाता है।

कारखानों में जल को संपीडित करने के लिये इतस्ततोगामी पंपों का ही प्रयोग किया जाता है, जो शक्तिशाली इंजनों द्वारा चलाए जाते हैं। भारतीय कारखानों में तो अपना स्वतंत्र इंजन और पंप ही लगाने का रिवाज है, लेकिन पाश्चात्य देशों के बृहत् औद्योगिक नगरों में केंद्रीय बिजलीघर के समान ही केंद्रीय जल संपीडनालय होते हैं, जो अपने शहर के विभिन्न कारखानों को, जो उसके स्थायी ग्राहक होते हैं, ७०० से १,६०० पाउंड प्रति वर्ग इंच की दाब पर संपीडित जल, ढले हुए लोहे के मजबूत नलों द्वारा, यंत्रसंचालन के लिये पहुँचाते हैं। ये नल अकसर छह इंच भीतरी व्यास के हुआ करते हैं। उनके टुकड़ों को जोड़ने के लिये उनके सिरों की आकृति विभिन्न अनुपातों सहित चित्र १. में दिखाई गई है।

यदि दा (P) = संपीडित जल का कार्यकारी दाब, प्रति वर्ग इंच, पाउंड में; व (D) = नल का भीतरी व्यास इंचों में; म (t) = नल की

दीवार की मोटाई; च (d)=फ्लैंज के बोल्ट का व्यास; चा (d_1) = फ्लैंज में बोल्ट के छेद का व्यास; ख (B) = फ्लैंज में बने व्यासाभिमुख छेदों के केंद्रों का फासला; घ (E) = परिधि पर फ्लैंज की मोटाई; ग (C) = बीच में से फ्लैंज की मोटाई; क (A) = फ्लैंज की परिधि का व्यास हो तो।

म = $\frac{\text{दा} \times \text{व}}{५,६००} + \frac{१}{४}$ इंच $\left[t = \frac{PD}{5,600} + \frac{1}{4} \text{in.} \right]$;

ख = व + २म + २·७ च [$B = D + 2t + 2 \cdot 7\ d$];

घ = २म + $\frac{१}{४}$ इंच [$E = 2t + \frac{1}{4}$ in.];

च = $\frac{\text{व}\sqrt{\text{दा}}}{१३०} + \frac{३}{८}$ इंच $\left[d = \frac{D\sqrt{P}}{130} + \frac{3}{8} \text{in.} \right]$;

चा = च + $\frac{१}{८}$ इंच [$d_1 = d + \frac{1}{8}$ in.];

क = व + २म + ६च [$A = D + 2t + 6d$];

तथा ग = २म [$C = 2t$]

संपीडित जल का बहाव विभिन्न स्थानों पर नियंत्रित करने के लिये वाल्वों का प्रयोग किया जाता है, जिनके प्रत्येक अंग को बड़ा मजबूत बनाना होता है। इस प्रकार का एक वाल्व चित्र २. में दिखाया गया
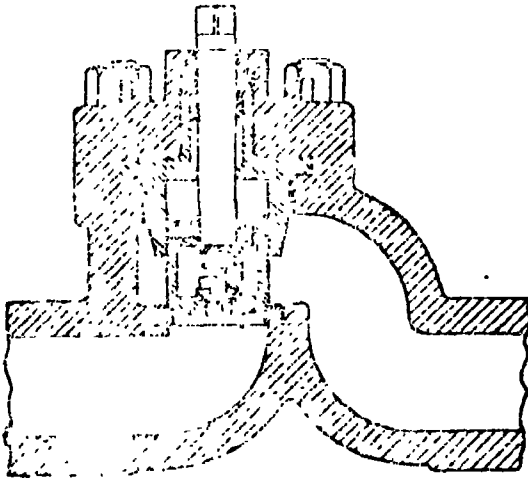
चित्र २. वाल्व की बनावट

है। जल संपीडनायों में नदी के पानी को हौजों में भरकर, निथारकर और उचित विधियों से छानकर ही संपीडित किया जाता है, जिससे प्रयोगकर्ताओं के यंत्र कचरा जमने के कारण खराब न हों।

जलीय पारेषण में शक्ति की हानि (loss) — नलों के माध्यम से शक्ति का पारेषण करते समय हानि का मुख्य कारण जल और नल के संपर्कतल पर होनेवाला घर्षण है। जल की श्यानता (viscosity) के कारण होनेवाली हानि अत्यंत स्वल्प होने के कारण नगण्य समझी जाती है। द्रवगतिकी के सिद्धांतानुसार किसी दी हुई दाब पर शक्तिपारेषण, प्रति सेकंड नल में से बहनेवाले पानी के आयतन के अनुलोमतः परिमित होता है, अत. घर्षण भी उसके वेग के अनुपात से ही बढ़ता है; लेकिन ज्यों ज्यों दाब बढ़ाई जाती है, नल की दीवार की मोटाई भी बढ़ानी पड़ती है। इस कारण नल बहुत भारी हो जाते हैं और उनके लगाने में तनिक सी त्रुटि हो जाने पर पानी के क्षरण का भय भी बढ़ जाता है। क्षरण आरंभ हो जाने पर उसे रोकना कठिन हो जाता है। अतः व्यवहार में पानी की दाब १,६०० पाउंड प्रति वर्ग इंच से अधिक बढ़ाना उपयोगी नहीं समझा जाता। अधिक शक्ति पारेषण के लिये नल का व्यास भी बढ़ाया जा सकता है, लेकिन उसकी सीमा है, क्योंकि नल की कीमत, बैठाने का खर्चा और क्षरण रोकने का प्रबंध भी अधिक खर्चीला हो जाता है। अतः छह इंच से अधिक व्यास बढ़ाने के बदले, नलों की दो या अधिक समांतर कतारें लगा दी जाती हैं।

छह इंच व्यास के नल के द्वारा १४० अश्वशक्ति भली भाँति पारेषित की जा सकती है और इसके द्वारा एक मील की दूरी पर अधिक से अधिक १० पाउंड प्रति वर्ग इंच दाब की हानि होती। है। इस उद्देश्य से पंप की दाब लगभग १०० पाउंड प्रति वर्ग इंच रखनी होती है, जिससे नल में पानी का वेग तीन से पांच फुट प्रति सेकंड तक रहता है। प्रोफेसर अनविन के मतानुसार यदि किसी नल में उच्च दाब के पानी का वेग तीन फुट प्रति सेकंड हो तो एक मील की दूरी में १०७/व [107/D] पाउंड प्रति वर्ग इंच शक्ति का हानि हो जाती है। इस सूत्र में व [D] नल का व्यास इंचों में है।

शक्तिपारेषण — पंप और जलीय शक्ति संग्राहकयुक्त स्थिर संयंत्रों में शक्तिपारेषण का अनुमान निम्नलिखित सूत्र द्वारा लगाया जा सकता है :

पारेषित अश्वशक्ति = $\frac{\pi \text{व}^2 \text{दाप्र}}{२,२००} \left[\frac{\pi D^2 P v}{2,200} \right]$

जिसमें, व (D) = नल का भीतरी व्यास इंचों में;

दा (P) = पानी की दाब प्रति वर्ग इंच पाउंडों में;

तथा प्र (v) = वेग प्रति सेकंड फुटों में।

जलीय शक्तिसंचायक — जलीय शक्तिपारेषण के उद्देश्य से लगाए जानेवाले इतस्ततोगामी पंपों की रचना ही ऐसी होती है कि उसके कारण, यदि सीधा उन्हीं से उच्च दाब पर पानी लिया जाय तो, पानी की दाब मे निरंतर घटाबढ़ी होने के कारण जलशक्तिचालित यंत्र को निरंतर एक सी दाब नहीं मिल सकती। निम्न कोटि की दाबों के लिये तो, एक जलसंचायक हौज किसी ऊँचे स्थान पर बनाकर काम चलाया जा सकता है, लेकिन १०० फुट की ऊँचाई पर हौज रखने पर भी ४३·३ पाउंड प्रति वर्ग इंच की दाब ही प्राप्त हो सकती है, जो यंत्रों के लिये बेकार है। अतः मुख्य पंप और जलशक्तिपारेषक मुख्य नल के बीच में द्रवशक्ति संचायक यंत्र (Hydraulic Accumulator) लगाना होता है। आधुनिक रूप में इसका आविष्कार सर डब्लू० जी० आर्मस्ट्रांग ने किया था (देखें चित्र ३.)। इसके प्रधान अवयवों में ढले हुए इस्पात का एक लंबा सिलिंडर जमीन पर ऊर्ध्वाधर लगा दिया जाता है। इसके भीतर बोझे से लदा हुआ एक बेलन पानी की दाब से ऊपर नीचे सरकता रहता है। नल में बहनेवाले पानी को जितना दाबयुक्त बनाना अभीष्ट होता है उसी के हिसाब से बेलन पर बोझा लादा जाता है। भारी दाब पहुँचानेवाले संचायकों के बेलन के ऊपर लटकता हुआ, लोहे की मजबूत चादरों का बना, एक वलयाकार ढोल कस दिया जाता है, जिसके खोखले भाग में चित्र ३. में दिखाए अनुसार प्रकसर रद्दी लोहा या लोहे के टुकड़े भर दिए जाते हैं, बेलन के पेंदे के पास दो नल लगाए जाते हैं, जिनमें से एक तो पंप से आता है और दूसरा संचायक से यंत्रों को जाता है। जब तक यंत्रों में दाबयुक्त पानी का प्रयोग होता रहता है, इन नलों में से पंप का पानी यंत्रों में सीधा जाकर उन्हें संचालित करता है, और ज्योंही उन यंत्रों में पानी की आवश्यकता कम हो जाती

है, फालतू पानी संचायक के सिलिंडर में भरने लगता है। इससे भार सहित बेलन ऊँचा उठने लगता है, और जब बेलन अपनी सबसे ऊँची हद पर पहुँच जाता है, तब वहाँ एक लीवर से टकराकर उसे चला देता है जिससे संबंधित अन्य लीवर भी चलकर पंप को बंद कर देते हैं। जब यंत्रों
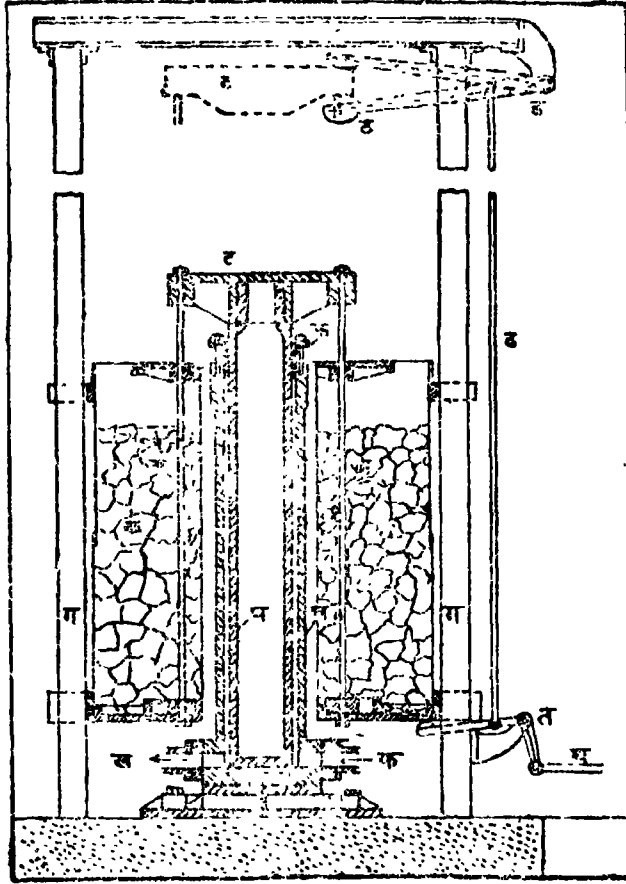
चित्र १. द्रवचालित शक्ति संचायक (Hydraulic Accumulator)
क. संपीडित जल का प्रवेश नल, पंप से; ख. संपीडित जल का निष्कासन नल, यंत्र को; ग. गर्डरों द्वारा बने संचायक के खंभे; घ. संचायक का बेलन; च. संचायक का सिलिंडर; छ. रद्दी लोहे आदि के रूप में भरा हुआ भार; ज. वलयाकार हौज में लगी हुई लोहे की तानें; झ. सिलिंडर के मुँह पर लगा ग्लैंड और पैकिंग; ट बेलन की चोटी (नीचे तथा ऊपर की स्थितियों में); ठ. बेलन की उच्चतम स्थिति का नियंत्रक लीवर; ड. नियंत्रक लीवर का आलंब; ढ. नियंत्रक लीवरों का ऊर्ध्वाधर संयोजक दंड; त. बेलन की निम्नस्थिति नियंत्रक लीवर का आलंब तथा थ. नियंत्रक लीवर का तान दंड, पंप से संयुक्त।

में दाबयुक्त पानी का फिर से प्रयोग आरंभ होता है, तब सर्वप्रथम संचायक के सिलिंडर में भरा पानी खर्च होने लगता है, जिससे भार सहित बेलन नीचे उतरने लगता है, और जिस लीवर के दबने से पंप बंद हुआ था वह ढीला पड़ कर छूट जाता है। इससे पंप फिर स्वतः चालू हो जाता है।

जिन कारखानों में जलशक्तिचालित यंत्रों द्वारा प्रेस अथवा रिवेट मशीनें चलाई जाती हैं, वहाँ छोटा सा संचायक और लगा दिया जाता है, जैसा ४. में दिखाया गया है। इसका बेलन पोला होता है, जिसे जमीन पर दृढ़ता से लगा दिया जाता है और सिलिंडर पर भार लादकर, बेलन पर उलटकर लगा दिया जाता है। बेलन का पोल से संबंध मिलाते हुए, नीचे की तरफ पंप से आने और यंत्रों को जानेवाले दो नल भी लगे रहते हैं। बेलन के पोल से सिलिंडर का संबंध ऊपर की तरफ से होता है। इस प्रकार के यंत्र को व्यासांतरीय संचायक कहते हैं, जिसमें थोड़े भार से ही अधिक दाब प्राप्त हो सकती है। संचायक यंत्रों का मुख्य प्रयोजन जल की दाब शक्ति का वर्धन, संग्रह और नियमन करना है। यह संग्रह विद्युत् संचायक घट में विद्युत् शक्ति के संग्रह जैसा नहीं होता, बल्कि बहुत कुछ इंजन के गतिपाल चक्र के सदृश होता है, क्योंकि इसके सिलिंडर में दाबयुक्त जल को संग्रह करने की जगह बहुत थोड़ी होती है। इन यंत्रों की कार्यक्षमता ९८% तक होती है।

जलशक्ति संचायकों में भार सहित बेलन के ऊँचा उठने पर जो स्थितिज ऊर्जा बेलन में समाहित होती है, उसी के बराबर संचायक की ऊर्जा-संग्रहण-क्षमता समझी जाती है, जिसमें से लगभग २ % ऊर्जा घर्षण आदि में नष्ट हो जाती है।

यदि बेलन का स्ट्रोक (Stroke) स [S] फुट और बोझ सहित उसका समग्र भार भ [W] पाउंड हो, तो सबसे ऊँची स्थिति में उसकी
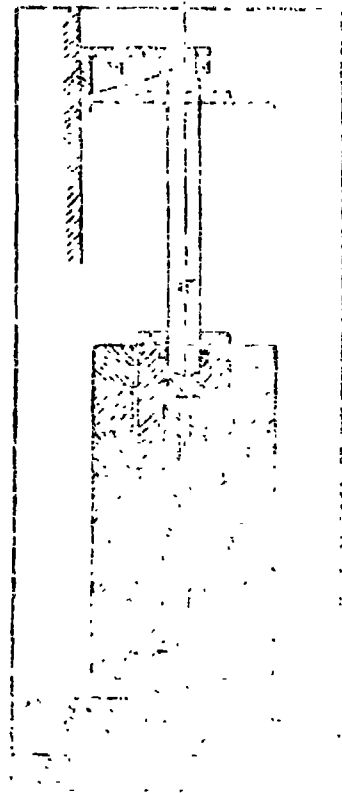
चित्र ४. व्यासांतरी संचायक (Differential Accumulator)
क. संपीडित जल का प्रवेश नल, पंप से; ख. संपीडित जल का निष्कासन नल, यंत्र को; ग. व्यासांतरी बेलन; घ. संचायक सिलिंडर; च. ढले लोहे के वलयाकार भार; छ. संचायक के बेलन को ऊपर की तरफ स्थिर रखनेवाला ब्रैकेट तथा ज. संचायक के बेलन को नीचे की तरफ स्थिर रखनेवाला बुनियादी ब्रैकेट।

ऊर्जा स भ [S W] फुट पाउंड होगी। यदि पानी की दाब दा [P] पाउंड प्रति वर्ग इंच, और बेलन की गोलाई के परिच्छेद का क्षेत्रफल क्ष

वर्ग इंच हो तो ऊर्जा द ख ल फुट पाउंड होगी।

$$\text{अतः भार } \text{भ} = \frac{\text{द ख ल}}{\text{ल}} = \frac{\pi}{४}\text{द}^२\text{दा} \left[\quad W = \frac{PAS}{S} = \frac{\pi}{4} D^2 P \right]$$

जिसमें द [D] बेलन का व्यास इंचों में माना गया है। प्रायः बेलन का व्यास १८ से २० इंच और स्ट्रोक २० से २३ फुट तक होती है। जिन जलीय शक्ति संयंत्रों में दो संचायक एक साथ लगाए जाते हैं, उनमें से एक पर लगभग २० पाउंड प्रति वर्ग इंच भार, दूसरे से अधिक रखा जाता है, जिससे जब हल्का संचायक अपनी सर्वोच्च स्थिति पर पहुँच जाय तब दूसरा उठना प्रारंभ करे।

नलों में तरंगों द्वारा शक्तिपारेषण — उपर्युक्त प्रणाली के अनुसार जब दाबयुक्त पानी एक बार यंत्र में काम कर चुकता है, तब वह रद्दी नाली में बहा दिया जाता है, परंतु इस विधि के अनुसार तेल अथवा पानी एक बंद परिपथ (closed circuit) में कैद रहता है, जिसके एक छोर पर तो पंप रहता है और दूसरे छोर पर यंत्र। इतस्ततोगामी पंप को चालू करने पर उसकी चाल के अनुसार बारी बारी से उस द्रव पर दबाव और खिंचाव पड़ता है, जो चालित यंत्र को भी प्रभावित करता है। जी० कांस्टैंटिनेस्को (G. Constantinesco) ने चट्टान छेदने के बरमे के लिये इस सिद्धांत का प्रयोग किया था, लेकिन अनेक प्रकार की प्राविधिक कठिनाइयों के कारण इसका प्रचार न हो सका।

सं० ग्रं०—कांस्टैंटिनेस्को : दि थियोरी ऑव वेव ट्रैंस्मिशन; हाईड्रॉलिक्स ऐंड हाईड्रालिक्स मेशिनरी, मैकग्रा हिल पब्लिशिंग कंपनी न्यूयार्क।

[ओं० ना० श०]

जलोदर (Ascites) उदरगुहागत अशोथयुक्त (Noninflammatory) द्रवसंचय है। यह रोग नहीं किंतु हृदय, वृक्क, यकृत इत्यादि में उत्पन्न हुए विकारों का प्रधान लक्षण है। यकृत के प्रतिहारिणी (portal) रक्तसंचरण की बाधा हमेशा तथा विशेष रूप से दिखाई देनेवाले जलोदर का सर्वसाधारण कारण है। यह बाधा कर्कट (Cancer) और सूत्रणरोग (Cirrhosis) जैसे यकृदंतर्गत कुछ विकारों में तथा आमाशय, ग्रहणी, अग्न्याशय इत्यादि एवं विदर (Fissure) में बढ़ी हुई लसीका ग्रंथियों जैसे यकृद्बाह्य कुछ विकारों में प्रतिहारिणी शिराओं पर दबाव पड़ने से उत्पन्न होती है।

यकृद्विकारों में प्रथम जलोदर होकर पश्चात् उदरगुहागत शिराओं पर द्रव का दबाव पड़ने से पैरों पर सूजन आती है। हृद्रोग में प्रथम पैरों पर सूजन, दिल में धड़कन, सांस की कठिनाई इत्यादि लक्षण मिलते हैं, और कुछ काल के पश्चात् जलोदर उत्पन्न होता है। वृक्कविकार में प्रथम देह शोथ का, विशेषतया प्रातःकाल चेहरे तथा आँखों पर सूजन दिखाई देने का इतिहास मिलता है और कुछ काल के पश्चात् जलोदर होता है। इन सामान्य कारणों के अतिरिक्त कभी कभी तरुणों में जीर्ण क्षय पेटमिल्लीशोथ (chronic tuberculous peritonitis) और अधिक उम्र के रोगियों में कर्कट एवं दुष्ट रक्ताल्पता (pernicious anaemia) भी जलोदर के कारण हो सकते है। [भा० गो० घा०]

जलौक का ज्ञान मात्र राजतरंगिणी से होता है। आधुनिक विद्वान् उसे मौर्य अशोक का पुत्र मानते हैं। संभवतः अशोक के राज्यकाल में जलौक कश्मीर का राज्यपाल रहा होगा। अनंतर जलौक ने स्वयं को वहाँ का स्वतंत्र शासक घोषित किया होगा। कल्हण उसे म्लेच्छों का संहारकर्त्ता एवं संपूर्ण धरित्री का विजेता बताते हैं। किंतु साधारणतया कान्यकुब्ज तक के प्रदेशों पर ही उसके आक्रमण ऐतिहासिक जान पड़ते हैं। उत्तर भारत में उसके साम्राज्यविस्तार की सीमा का निर्धारण संभव नहीं है। उसने कश्मीर में वर्णाश्रम व्यवस्था स्थापित की। बौद्धवादिसमूहजित् शैव गुरु के प्रभाव से वह विजयेश्वर एवं भूतेश का उपासक हुआ होगा। राजतरंगिणी से विदित होता है कि प्रारंभ में वह बौद्धविरोधी था, पर बाद में उसकी आस्था बौद्ध धर्म में भी हुई और उसने कीर्ति आश्रम विहार की स्थापना कराई।

जलौक की पहचान के विषय में मतैक्य नहीं है। जलौक, शायद कोई कुषाण शासक हो जिसका नाम गलत रूप में प्रयुक्त होता आया हो। किंतु वर्तमान स्थिति में जलौक के अभिज्ञान के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। [अ० कि० ना०, ज० प्र०]

जल्हण संस्कृत के एक प्रख्यात कश्मीरी कवि। इनके पिता का नाम लक्ष्मीदेव था। ये राजपुरी के कृष्ण नामक राजा के मंत्री थे जिसने सन् ११४७ ई० में राज्य प्राप्त किया था। इनकी अनेक रचनाएँ प्राप्त हैं। ऐतिहासिक काव्य लिखनेवालों में इनका नाम राजतरंगिणीकार कल्हण के बाद आता है। 'श्रीकंठचरित' महाकाव्य के रचयिता मंख या मंखक के कथनानुसार जल्हण उसके भाई अलंकार की विद्वत्सभा के पंडित थे। अलंकार कश्मीर नरेश जयसिंह के मंत्री थे जिनका समय ई० ११२९-११५० है। जल्हण द्वारा लिखित ग्रंथों में 'सोमपाल विलास' ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसमें उन्होंने राजपुरी के राजा सोमपाल की वंशावली, समवर्ती नरेश और सोमपाल के जीवन पर प्रकाश डाला है। यह सोमपाल अंत में सुस्सल द्वारा पराजित होता है। 'सूक्तिमुक्तावली' 'सुभाषित मुक्तावली' में धन, दया, भाग्य दुःख, प्रीति और राजकीय सेवा आदि विषयों पर क्रमबद्ध रूप में प्रकाश डाला गया है। इसका वह अंश विशेष महत्वपूर्ण है जिससे विभिन्न कवियों एवं विद्वानों की रचनाओं और समय के संबंध में निश्चित ज्ञान प्राप्त होता है। अपने पूर्ववर्ती दामोदर गुप्त, क्षेमेंद्र आदि की रचनाओं से प्रभावित होकर जल्हण ने 'मुग्धोपदेश' की रचना की जिसमें कुल ६६ पद हैं। जल्हण द्वारा रचित 'सप्तशती छाया' नाम का एक ग्रंथ और भी है।

[वि० ना० त्रि०]

जवाँ, मिर्जा कासिम अली विख्यात उर्दू गद्यलेखक। १७६० में अहमदशाह अब्दाली के दिल्ली पर आक्रमण के कारण मिर्जा लखनऊ चला गया। १८०० में कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना होने पर वहाँ अध्यापक नियुक्त हुआ। उसने इस काल में कई पुस्तकों का उर्दू में अनुवाद किया। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' का अनुवाद विशेष उल्लेखनीय है जो उसने ब्रजभाषा से किया। उर्दू के अतिरिक्त अरबी फारसी और ब्रजभाषा पर उसका अच्छा अधिकार था। १८५१ के लगभग उसकी मृत्यु हुई।

जशपुर १. मध्यप्रदेश का एक भूतपूर्व राज्य। इसका क्षेत्रफल १,९४८ वर्ग मील था। इसके पश्चिम में हेतघाट मैदान तथा राँची की ओर ऊपरघाट नामक पठार है। इब यहाँ की प्रमुख नदी है। उत्तर-दक्षिण बहती हुई यह नदी मार्ग में कई जलप्रपात बनाती है। सोना तथा लोहा यहाँ के प्रमुख खनिज हैं। ओराव, दतिया, कोरवा, अहीर आदि अनेक कबीले यहाँ निवास करते हैं।

२. नगर — स्थिति २२° ५३' उ० अ० तथा ८४° ८' पू० दे०। यह मध्यप्रदेश के रायगढ़ जिले का नगर है। इसे जगदीशपुर भी कहा जाता है। यहाँ की जनसंख्या ५,७६५ (१९६१) है। यहाँ एक अस्पताल तथा कुछ स्कूल हैं। यह नगर सड़क द्वारा रायगढ़ से जुड़ा है। [सै० मु० अ०]

जसवंतसिंह (प्रथम) जोधपुर के महाराज गजसिंह के तीन पुत्र थे, अमरसिंह, जसवंतसिंह और अचलसिंह। अचलसिंह का देहांत बचपन में ही हो गया। अमरसिंह वीर किंतु बहुत क्रोधी थे इसलिये गजसिंह ने अपने छोटे पुत्र जसवंतसिंह को ही गद्दी के उपयुक्त समझा। २५ मई, १६३८ के दिन बारह बरस का जसवंत गद्दी पर बैठा।

प्राय: राज्य के प्रारंभ काल से ही जसवंतसिंह शाही सेना में रहा। सन् १६४२ में उसने शाही सेना के साथ ईरान के लिये प्रयाण किया। एक साल बाद वह वापस लौटा। सन् १६४८ में ईरान के शाह अब्बास ने ५०,००० सेना और तोपें लेकर कंधार को घेर लिया। कुछ समय के बाद किला उसके हाथ आया। जसवंतसिंह किले पर घेरा डालनेवाली शाहजादे औरंगजेब की फौज में संमिलित था। औरंगजेब किला लेने में असमर्थ रहा। इसी बीच जसवंतसिंह के मनसब में अनेक बार वृद्धि हुई और सन् १६५५ में उसे महाराजा की पदवी मिली।

सन् १६५७ में बादशाह शाहजहाँ बीमार हुआ और उसके पुत्रों में राज्याधिकार के लिये युद्ध शुरू हो गया। दारा ने बादशाह से कहकर जसवंतसिंह का मनसब ७,००० जात और ७,००० सवार करवा दिया और उसे एक लाख रुपये और मालवे की सूबेदारी देकर औरंगजेब के विरुद्ध भेजा। दूसरी शाही सेना कासिमखाँ के सेनापतित्व में उससे आ मिली। इसी बीच औरंगजेब ने शाहजादा मुराद को अपनी ओर कर लिया। धर्मत नाम के स्थान पर दोनों सेनाओं का सामना हुआ। कोटा का राव मुकुंदसिंह, उसके तीन भाई, शाहपुरा का सुजानसिंह सीसोदिया, अर्जुन गौड़, दयालदास झाला, मोहनसिंह हाड़ा आदि अनेक राजा और सरदार उसके साथ थे। हरावल का नायक कासिमखाँ था और जसवंतसिंह स्वयं २,००० राजपूतों के बीच केंद्र में था। उनमें से कई राजपूत सरदार तो प्रारंभिक आक्रमण में ही काम आए। टोड़े का रायसिंह, बुंदेला सुजानसिंह आदि भाग निकले। जसवंतसिंह अवशिष्ट राजपूतों के साथ वीरता से लड़ता हुआ औरंगजेब के पास तक पहुँचा किंतु इसी बीच वह बुरी तरह घायल हुआ। युद्ध में पराजय को निश्चित समझ उसके साथ के राजपूत जसवंतसिंह को बलपूर्वक युद्ध से बाहर ले गए और उसे जोधपुर लौटना पड़ा।

धर्मत के बाद औरंगजेब ने दारा को सामूगढ़ की लड़ाई में हराया, और २२ जुलाई, १६५८ को शाहजहाँ को नजरकैद कर औरंगजेब गद्दी पर बैठा। उसी साल जसवंतसिंह ने औरंगजेब की अधीनता स्वीकार की, किंतु मन से वह उसके विरुद्ध था। अत: कोड़े में जब शाहशुजा और औरंगजेब का युद्ध हुआ तो औरंगजेब की फौज का काफी नुकसान कर वह जोधपुर लौट गया। किंतु शाहशुजा युद्ध में हार गया। औरंगजेब को बहुत क्रोध आया, फिर भी मिर्जा राजा जयसिंह के बीच में पड़ने से और जसवंतसिंह से अच्छा संबंध बनाए रखने में ही अपना हित समझकर औरंगजेब ने महाराजा को क्षमा कर दिया।

१६५९ में जसवंतसिंह गुजरात का सूबेदार नियुक्त हुआ, किंतु कुछ समय के बाद औरंगजेब ने उस स्थान पर महाबतखाँ की नियुक्ति की। शिवाजी की बढ़ती शक्ति को देखकर औरंगजेब ने शाइस्ताखाँ को उसके विरुद्ध भेजा। उसने पूने में रहना शुरू किया और जसवंतसिंह सिंहगढ़ के मार्ग में ठहरा। शाइस्ताखाँ पर रात्रि के समय शिवाजी के आक्रमण की कथा प्रसिद्ध है। शिवाजी के विरुद्ध जसवंतसिंह ने कोई विशेष सफलता प्राप्त न की। बादशाह ने उसे दिल्ली वापस बुला लिया और उसके स्थान पर दिलेरखाँ और मिर्जा राजा जयसिंह की नियुक्ति की। किंतु सन् १६७८ में फिर उसकी नियुक्ति दक्षिण में हुई और उसके उद्योग से मुगलों और मरहटों के बीच कुछ समय के लिये संधि हो गई। सन् १६७० में वह दुबारा गुजरात का सूबेदार नियुक्त हुआ और सन् १६७१ में बादशाही फरमान मिलने पर काबुल के लिये रवाना हुआ। २८ नवंबर, १७१८ को उसका देहांत जमुरंद में हुआ।

महाराजा जसवंतसिंह वीर ही नहीं दानशील और विद्यानुरागी भी था। उसके रचित ग्रंथों में भाषाभूषण, अपरोक्षसिद्धांत, अनुभवप्रकाश, आनंदविलास, सिद्धांतबोध, सिद्धांतसार और प्रबोधचंद्रोदय आदि प्रसिद्ध हैं। सूरतमिश्र, नरहरिदास, और नवीनकवि उसकी सभा के रत्न थे। जसवंतसिंह का हृदय हिंदुत्व के प्रेम से परिपूर्ण था और उसके सदुद्योग और निरुद्योग से भी हिंदू राजाओं को पर्याप्त सहायता मिली। औरंगजेब भी इस बात से अपरिचित न था। यह प्रसिद्ध है कि उसके मरने पर बादशाह ने कहा था, 'आज कुफ्र का दरवाजा टूट गया'। जसवंतसिंह के लिये हिंदूमात्र के हृदय में संमान था और इसी कारण जब औरंगजेब ने उसकी मृत्यु के बाद जोधपुर को हथियाने और कुमारों को मुसलमान बनाने का प्रयत्न किया तो समस्त राजस्थान में विद्वेषाग्नि भड़क उठी और राजपूत युद्ध का आरंभ हो गया। [द० श०]

जसीडीह स्थिति : २४° ४०' उ० अ० तथा ८६° ४५' पू० दे०। बिहार राज्य के संथालपरगना जिले में है। प्रसिद्ध तीर्थ स्थान देवघर और वैद्यनाथ धाम जाने के लिये यात्री पूर्वी रेलवे के इसी स्टेशन पर उतरते हैं। इस स्थान से देवघर जो छः मील दूर है, रात दिन बसें आती जाती रहती हैं। देवघर और जसीडीह शाखा रेलमार्ग द्वारा भी संबंधित है। यहाँ की जनसंख्या ४,२६२ (१९६१) है। [शि० नं० स०]

जस्टस (जोदोकस या जूस, घेंट का) (१४३०-१४८०) चित्रकार, जिसे वसरी और मुइसियरदिनी ने 'गिस्टो द ग्वांटो' के नाम से पुकारा है, और जिसका दूसरा नाम 'जूस वान वेसेन होव' माना जाता है। यह ऐंटवर्प और घेंट में क्रमशः १४६० और १४६४ में चित्रकार संघ का सदस्य रहा। १४६८ के पश्चात् उस संघ के विवरणों में, इसके नाम का उल्लेख नहीं मिलता, अनुमान है कि वह इस समय के बाद इटली में जाकर बस गया। न्यूयार्क के 'ब्लूमेंथल' संग्रह में दो चित्र, एक घेंट के सेंट बावो की कलापूर्ण मूर्ति 'क्रूसीफिक्शन' और दूसरी 'एडोरेशन ऑव द मेजाइ', उसके प्रारंभिक जीवन के नमूने बताए जाते हैं। १४७४ के पश्चात् उसने इटली में 'कम्युनियन ऑव द एपासिल्स' नाम का चित्र बनाया, जिसका उल्लेख वसरी ने किया है, और वह अब 'अरबिनो के पैलेजो ड्युकेल' में है। केवल यही उस कलाकार का सर्वप्रमाणित चित्र है।

कहा जाता है कि रोम के 'लोवर' और बारबेरिनी महलों में जो प्राचीन महापुरुषों के चित्र हैं, वे इसी के द्वारा निर्मित हैं।

जस्टस उत्तरी यूरोप की चित्रकला की परंपराएँ इटली ले गया,

और अपनी शैली तथा इटालियन शैली का एक आकर्षक योग उसने प्रस्तुत किया। उसकी कला का विकास शनैः शनैः हुआ। उसके अंतिम चित्र अन्य इटालियन चित्रकारों से अलग नहीं किए जा सकते।

जस्ता अथवा यशद (Zinc) एक तत्व है, जिसमें विशेष धातु गुण होते हैं। यह आवर्तसारणी के द्वितीय अंतरवर्ती समूह (transition group) में कैडमियम एवं पारद के साथ स्थित है। यशद के पाँच स्थिर समस्थानिक (isotopes) प्राप्त हैं, जिनकी द्रव्यमान संख्याएँ ६४, ६६, ६७, ६८ तथा ७० हैं। कृत्रिम साधनों द्वारा प्राप्त रेडियधर्मी समस्थानिकों की द्रव्यमान संख्याएँ ६५, ६९, ७१ एवं ७२ हैं। अनेक भारतीय पुरातन ग्रंथों में यशद का वर्णन मिलता है। यशोधराकृत "रसप्रकाशसुधाकर" में कैलामाइन (calamine) से यशद बनाने की विधि बताई गई है। "रुद्रयामलतंत्र" के अंतर्गत "धातु क्रिया" ग्रंथ में यशद एवं शुल्व (ताँबा) के योग से पीतल बनाने का संकेत है। जस्ते के अनेक पर्याय जरासीत, जासत्व, राजत, खर्पर, यशदयाक, चर्मक, रसक, यशद, रूप्यभ्राता आदि पुरातन ग्रंथों में प्रयुक्त हुए हैं।

१६वीं शताब्दी के अंत में यह धातु यूरोपीय वैज्ञानिकों को भारत से प्राप्त हुई। इसका वर्णन एंड्रेज लिबैवियस ने किया है। जिंक शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग पेरासेलास ने जिंकन रूप में किया था। १८वीं शताब्दी में जस्ता तैयार करने के कारखाने इंग्लैंड में बने और इसके पश्चात् यूरोप के अन्य देशों में भी यह तत्व बनाया जाने लगा।

उपस्थिति एवं निर्माणविधि — जस्ता मुक्त अवस्था में नहीं प्राप्त होता। यह सल्फाइड के रूप में ही मिलता है, जिसे ज़िंक ब्लेंड अथवा स्फेलराइट (sphalerite) कहते हैं। इसके मुख्य स्रोत अमरीका, मेक्सिको, कैनाडा, जर्मनी, पोलैंड, बेल्जियम, इंग्लैंड, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया, स्पेन तथा आस्ट्रेलिया हैं। भारत में जस्ते के खनिज के साथ सीस और अल्प चाँदी के भी खनिज मिले रहते हैं। सीस के निर्माण में उपजात के रूप में जस्ता प्राप्त होता है।

जस्ता धातु को ऑक्साइड के अवकरण द्वारा तैयार करते हैं। अयस्क को सांद्रित करके भर्जन (roasting) द्वारा ऑक्साइड में परिणत करते हैं। तत्पश्चात् उसे अधिक कार्बन के साथ मिलाकर १,२००° सें० पर गरम करते हैं।

जिंक ऑक्साइड + कार्बन → जिंक + कार्बन मोनॉक्साइड

$$ZnO + C \rightarrow Zn + CO$$
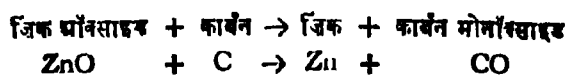
इस क्रिया से जस्ता वाष्प बनकर भट्ठे के ठंडे स्थानों पर जम जाता है। प्राप्त जस्ते को आसवन द्वारा शुद्ध करते हैं। विद्युतरसायनिक विधि द्वारा अति शुद्ध जस्ता बनता है। इस क्रिया में जिंक ऑक्साइड को सल्फ्यूरिक अम्ल में घुलाते हैं। तत्पश्चात् विद्युत प्रवाह द्वारा ऐल्युमिनियम ऋणाग्र पर जस्ते की परत जमाई जाती है। इस प्रकार ९९.९५ प्रति शत शुद्ध जस्ता खुरचकर निकलता है, जिसके द्रवीकरण द्वारा बड़े टुकड़े बनते हैं। भारत में शुद्ध जस्ता तैयार करने के कारखाने खोलने का प्रयत्न हो रहा है।

विशुद्ध जस्ते के गुणधर्म — जस्ता नील-श्वेत रंग की धातु है। इसके भौतिक गुण बनाने की रीति पर निर्भर करते हैं, यथा यह भंगुर तथा तन्य (ductile) दोनों रूपों में बनाया जा सकता है। जस्ते के कुछ विशेष गुणधर्म निम्नांकित हैं :

संकेत	ज (Zn)
परमाणु संख्या	३०
परमाणु भार	६५.३७
गलनांक	४१९.५° सें०
क्वथनांक	९०७.६° सें०
घनत्व (२०° सें० पर)	७.१४ ग्राम प्रति घन सेंमी०
परमाणु व्यास	२.७ एंग्सट्राम
विद्युत प्रतिरोधकता	५.९२ माइक्रोओह्म सेंमी०

जस्ता वायु में दूषित (tarnish) नहीं होता। लगभग ८००° सें० तक गरम करने पर यह वेग से प्रकाश के साथ जलता है। यह उबलते पानी का विघटन कर हाइड्रोजन मुक्त करता है। जस्ते पर तनु सल्फ्यूरिक अम्ल की क्रिया द्वारा वेग से हाइड्रोजन मुक्त होता है। परंतु अत्यंत शुद्ध जस्ते को तनु सल्फ्यूरिक अम्ल में डालने पर बहुत क्षीण क्रिया होती है। यदि प्लैटिनम, ताम्र, रजत अथवा स्वर्ण के टुकड़े को उससे मिलाकर रखा जाय, तो जस्ता शीघ्र विलयित होने लगता है और वेग से हाइड्रोजन गैस मुक्त होती है। इससे यह ज्ञात होता है कि जस्ते पर तनु सल्फ्यूरिक, अथवा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल, का प्रभाव कुछ अधिक ऋणात्मक अपद्रव्यों के कारण ही होता है। अपद्रव्य जितनी ही अधिक मात्रा में उपस्थित होंगे उतनी ही वेगवान अभिक्रिया होगी। जस्ते पर तनु नाइट्रिक अम्ल की क्रिया से जिंक नाइट्रेट [$Zn(NO_3)_2$] बनता है तथा नाइट्रस ऑक्साइड गैस (N_2O) मुक्त होती है। सांद्र अम्ल अथवा उच्च ताप पर नाइट्रिक ऑक्साइड गैस (NO) बनती है। जस्ता क्षार विलयनों, जैसे दाहक सोडा आदि में विलेय होकर ज़िंकेट आयन [$Zn(OH)_4^{--}$] बनाता है, परंतु ऐमोनिया (NH_3) विलयन द्वारा अप्रभावित रहता है।

जस्ते के यौगिक — जस्ता द्विसंयोजी (bivalent) अवस्था में अनेक यौगिक बनाता है। इसका यह गुण पारद एवं कैडमियम से बहुत मिलता जुलता है। जस्ते का आयन (Zn^{++}) रंगहीन है। आम्लिक एवं उदासीन दशा में यह आयन जलसंयोजित रूप [$Zn(H_2O_4)$] $^{++}$ में रहता है। सामान्य क्षार की क्रिया से श्वेतरंगी हाइड्रॉक्साइड $Zn(OH)_2$ बनाता है, जिसकी विलेयता कम है। परंतु अधिक क्षारीय माध्यम में यह फिर विलेय होकर ज़िंकेट आयन में परिणत हो जाता है। यशद आयन Zn^{++} अनेक विलयनों से क्रिया कर जटिल (complex) आयन बनाता है, जैसे जिंक टेट्राऐमिन [$Zn(NH_3)_4^{++}$], टेट्रासायनोज़िंकेट [$Zn(CN)_4^{--}$] आदि।

ज़िंक आक्साइड (ZnO) सफेद चूर्ण है, जो जस्ते के अयस्क को भर्जन करने पर बनता है। जस्ते के वाष्प को वायु में जलाने से विशुद्ध आक्साइड बनता है। व्यापार के लिये ज़िंक ऑक्साइड कोयले के साथ भट्ठी में जलाकर बनाया जाता है। उच्च ताप पर जिंक ऑक्साइड का रंग पीला हो जाता है। यह पानी में अविलेय है, परंतु अम्लों के विलयन में घुल कर लवण बनाता है। जिंक आक्साइड का उपयोग श्वेत वर्णक (pigment) के रूप में होता है।

ज़िंक क्लोराइड ($ZnCl_2$) जस्ते को क्लोरीन गैस में गरम करने पर बनता है। ७००° सें० ताप पर इसका बाष्प बनता है। इसमें जलसंचय की विशेष क्षमता है। इसके विलयन को सांद्रित करने पर इसके ($ZnCl_2 . H_2O$) के मणिभ बनते हैं। ज़िंक क्लोराइड का सांद्र विलयन अनेक कार्बनिक पदार्थों को विलेय यौगिकों में परिणत करता है।

ज़िंक सल्फाइड (ZnS) प्राकृतिक अवस्था में ज़िंक ब्लेंड अयस्क के रूप में मिलता है। ज़िंक लवण के विलयन में ऐमोनियम अथवा सोडियम सल्फाइड डालने से भी यह बनाया जा सकता है। प्राकृतिक ब्लेंड में सूक्ष्म अशुद्धियों के कारण स्फुरदीप्ति (phosphorescence) का गुण होता है।

ज़िंक सल्फेट ($ZnSO_4.7H_2O$) लवण जस्ते को सल्फ्यूरिक अम्ल में घुलाने पर बनता है। इसके मणिभ जल के सात अणुओं के साथ मणिभीकृत होते हैं। यह पोटैसियम सल्फ़ेट के साथ द्विगुण लवण (double salt) बनाता है।

उपयोग — जस्ते का उपयोग अन्य धातुओं को संक्षारण (corrosion) से बचाने में होता है। लोहे की चादरों को इससे जस्ती (galvanised) चादरों में परिणत करते हैं।

जस्ते के यौगिकों के अनेक उपयोग हैं। ज़िंक ऑक्साइड वर्णक तथा पालिश के लिये काम आता है। इसे मोटर के टायर में, चिपकने वाले टेप आदि में पूरक (filler) के रूप में प्रयुक्त करते हैं। ज़िंक ऑक्सीक्लोराइड का उपयोग दाँत के भरने में होता है। इसका विलयन रेशम को घुलाने की क्षमता रखता है, जिस कारण इसका उपयोग ऊन से रेशम के पृथक्करण में होता है। ज़िंक ब्लेंड प्रायः घड़ियों आदि के डायलों पर लगाए जानेवाले ज्योतीय (luminous) पेंट बनाने में काम आता है। ज़िंक सल्फ़ेट और बेरियम सल्फ़ाइड मिलाने पर लिथोपोन (lithopone) नामक उपयोगी वर्णक बनता है। जस्ते के अनेक यौगिकों के विलयनों से आँख, कान या अन्य घाव आदि साफ किए जाते हैं। कीटाणुनाशक गुण रहने के कारण इनके अनेक चिकित्सीय उपयोग हैं, परंतु जस्ते के यौगिक दाहक तथा विषैले होते हैं। इनको खाने पर शरीर की विशेष हानि या मृत्यु तक हो सकती है। यदि दुर्घटनावश इसका लवण खा लिया जाय तो साबुन का जल, या गर्म तेल आदि देना चाहिए, जिससे वमन द्वारा वह बाहर निकल जाय। तत्पश्चात् मक्खन, कच्चा अंडा, दूध या क्रीम खिलाना विशेष लाभकारी होगा। [र० चं० क०]

जस्ता, (इंजीनियरी में) — जस्ते का सबसे अधिक उपयोग ताँबे के साथ मिलाकर पीतल बनाने में होता है, जिसमें इसका अंश १० से ४० प्रति शत तक होता है। काँसे की कुछ किस्मों और कुछ अन्य मिश्र धातुओं में भी जस्ता लगता है। सीसे को उसमें मिली हुई चाँदी से पृथक् करने के लिये 'पार्क' विधि में इसका काफी उपयोग होता है।

जस्ते का दूसरा महत्वपूर्ण उपयोग लोहे के प्रतिरक्षण में किया जाता है। जस्तीकृत लोहा पानी, साबुन के विलयन, पेट्रोल, और खनिज तेलों के आक्रमण को सह सकता है। जलवायु के प्रभाव से इसका संक्षरण, सादे लोहे की अपेक्षा दशमांश ही होता है। जस्तीकरण में कोई स्थानीय दोष रह जाए, तो भी वहाँ पर लोहे के बजाय जस्ते का ही क्षरण होता है, क्योंकि नमी पाने से जस्ते और लोहे के विद्युद्युग्म बन जाता है, जिसमें जस्ता ऋण ध्रुव होता है। किंतु अम्ल या दाहक क्षारों के संपर्क में आने पर जस्ते का आवरण नष्ट हो जाता है और धातु गल जाती है।

रंग रोगन में जस्ते के ऑक्साइड, सल्फाइड और चूर्ण काम आते हैं। चूर्ण का रोगन ब्रश से भी लगाया जा सकता है और फुहारे (spray) द्वारा भी। लोहे के बड़े ढाँचों के प्रतिरक्षण के लिये यह जस्तीकरण की सस्ती विधि है, किंतु इसका आवरण बहुत टिकाऊ नहीं होता। जस्ता चूर्ण अत्यंत सक्रिय रसायनक है। यह कपड़े की छपाई में और 'साइनाइड' विधि से सोना निकालने में भी काम आता है। ज़िंक ऑक्साइड रंग रोगन के अतिरिक्त रबर उद्योग और ओषधियों में भी काम आता है।

जस्ते को बेलकर उसकी चादरें और पत्तियाँ भी बनाई जाती हैं। छतों में बरसाती पानी की नालियों नलकों में, सूखी बैटरी के डिब्बों में और पेटियों में अस्तर के लिये चादरों का प्रयोग बहुतायत से होता है। लीथो की छपाई भी जस्ते की चादरों से होती है। इस विधि को ज़िंकोग्राफी कहते हैं। बॉयलरों में और जहाजों में, जहाँ संक्षरण की अधिक संभावना होती है, जस्ते का प्रयोग होता है। प्राथमिक सेलों का ऋण ध्रुव बहुधा जस्ते का ही होता है। [वि० प्र०]

जस्ती इस्पात (Galvanised Steel) सादे इस्पात के बने हुए पतले तारों और चादरों को संक्षरण से बचाने के लिये इस्पात को किसी संक्षरणरोधी धातु की पतली परत से ढका जाता है। इस कार्य के लिये जो धातुएँ उपयोग में आती हैं उनमें जस्ता और वंग (Tin) मुख्य हैं। जस्ता सबसे सस्ती धातु पड़ती है।

इस्पात पर जस्ता चढ़ाने की चार विधियाँ हैं :

१–उष्ण निमज्जन प्रक्रिया (Hot Dip process);

२–विद्युद्विश्लेषीय रीति से जस्ते का मुलम्मा चढ़ाना (Electrolytic Zinc Plating);

३–शेरार्डीकरण (Sherardising) तथा

४– उष्ण धातु का फुहारा देना (Spraying of Hot Metal)।

उष्ण निमज्जन — यह सबसे अच्छी विधि है। यदि उचित ढंग से मुलम्मा चढ़ाया जाय तो वायुमंडल में खुला रखने के लिये सर्वश्रेष्ठ मुलम्मा इस विधि से चढ़ता है।

इसके लिये पिटे लोहे, या मृदु इस्पात, का एक पात्र आवश्यक होता है, जिसमें पिघला स्पेल्टर रखा जा सके। इस पात्र को नीचे से गरम कर जस्ते को पिघलाते हैं। जिन पात्रों पर जस्ता चढ़ाना होता है, उन्हें पहले अम्ल से, पीछे जल से धोकर सुखाते और तब द्रावक के साथ उपचारित कर पिघले जस्ते में डुबा देते हैं। लोहे की सतह पर यदि बालू के कण चिपके हों तो ५ प्रति शत हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से प्रारंभ में उपचारित कर लेते हैं। अम्लमार्जन के पश्चात् ऑक्सीकरण से बचाने के लिये, उसे पानी में डुबाकर रखते हैं। जस्ता-उष्मक पर तैरते हुए द्रावक स्तर पर ले आने के पूर्व, इस्पात की ऊपरी सतह के ऑक्साइड को ५ से २० प्रति शत तक के ज़िंक ऐमोनियम क्लोराइड के विलयन से पारित कर दूर कर लेते हैं।

जस्ता उष्मक का ताप ४२५° से ४६०° सें० तक रह सकता है। जस्ती तार बनाने की विधि यह है कि उर्ध्वाधर तर्कु (spindle) से इस्पात के तार को पहले पिघले सीसे उष्मक में ले जा कर तार का ऐनीलीकरण करते हैं और फिर क्रमशः उष्ण हाइड्रोक्लोरिक अम्ल में ले जाते, पानी से धोते, और ज़िंक क्लोराइड के द्रावक उष्मक में ले जाते हैं। तब उसे जस्ता उष्मक में ले जाकर निमज्जक छड़ों द्वारा सतह के नीचे रखते हैं। उष्मक से निकालकर इसे ऐस्बेस्टस के गद्दों या काठ कोयले के संस्तर से पारित करते हैं और पानी के फुहारे से ठंढा कर गड़ारी (reel) पर लपेटते हैं। चादर को जस्ती बनाने के लिये भरणरोलों (feeding rolls) से चादरें निकालकर द्रावक उष्मक में और द्रावक स्तर से होते हुए जस्ता उष्मक में ले जाते हैं। पार्श्वनियामक (side guide) और

जिससे रोलों द्वारा चादरें पिंच (pinch) रोलों में आती हैं, जो अंशतः ऊष्मक में डूबे रहते हैं और वहाँ से निकलकर वे शीतक वाहक (cooling conveyors) में जाती हैं। समतल करनेवाले रोलों (rolls) से निकलने के बाद चादरें आवश्यक विस्तार में काट ली जाती हैं।

जस्ती पाइप बनाने में पाइप का द्रावक धावन (flux wash) करते हैं और उसे जस्ता चढ़ानेवाली केटली के द्रावक स्तरों से पारित करके लपेटते हैं। पाइप को ऐसे रखते हैं कि उसके आभ्यंतर भाग से अधिक से अधिक जस्ता बहकर निकल जाय। अम्लमार्जन और द्रावक उपचार के बाद छोटे छोटे खंडों और लागों (fixtures) को पिटकों में रखते और पोंछते हैं। मैल की निकासी और पोंछाई से कितना जस्ता नष्ट होता है, यह वस्तु की किस्म पर निर्भर करता है।

जस्ता शीघ्रता से लोहे के साथ मिश्रधातु की परत बनाता है। इस्पात के तुरंत बाद Fe_3Zn_{10} के निक्षेप का पतला कठोर निक्षेप रहता है। दूसरा यौगिक $FeZn_7$ होता है, जो जस्ते के लेप को चिपकाता है। यह $Fe\ Zn_{13}$ से घिरा हुआ रहता है, जो विसरण की दर (diffusion-rate) को सीमित करता है। बाह्य भाग पर शुद्ध जस्ते की परत रहती है।

जस्ती लेप का बाहरी रूप जस्ते की सतह की परत के मणिभीकरण की प्रकृति से निर्धारित होता है, जो अधिकांश शीतलन की दर पर निर्भर करता है। जस्ते में वंग की उपस्थिति से लेप की एकरूपता और चिपकने का गुण बढ़ जाता है। जस्ते के ऊष्मक (bath) में ०·१ प्रति शत, या इससे कम सांद्रण में, ऐल्यूमिनियम की उपस्थिति का उपयोग बहुत बढ़ गया है। इसे सतह के नीचे इसलिये डाला जाता है कि गलन के द्रावक से इसकी प्रक्रिया तेजी से होकर परिचालन की कठिनाइयों को न बढ़ाए। जस्ती गलन की तरलता को ऐल्यूमिनियम सरलता से बढ़ा देता है, अतः इसका उपयोग अनियमित आकार की झिरी या तरेड़ (slot or crevices) वाली वस्तुओं के लेप में होता है, जहाँ अन्य विधि से जस्ते के पहुँचने में कठिनाई होती है।

कोई भी वस्तु, जो जस्ते के सतह तनाव को बदल सकती है चमक का नियंत्रण करती है। इसमें निम्नलिखित बातें महत्व रखती हैं। १, इस्पात की किस्म, २. अम्लमार्जन की विधि और कोटि, ३. चादर का ऐनीलीकरण करनेवाले द्रव्यों की भिन्नता, ४. चादर की सतह की दशा, ५. उपयोग में आए स्पेल्टर की किस्म, ६. जस्ता चढ़ाने के ऊष्मक का ताप, ७. जस्ते में चादर के निमज्जन का समय तथा ८. जस्ता चढ़ाने की रीति।

विद्युद्विश्लेषीय या जस्ती मुलम्मा प्रक्रिया — कुछ किस्म के पदार्थों पर जस्ता चढ़ाने के लिये शीतक या विद्युतमुलम्मा प्रक्रिया आजकल काम में आती है। इस विधि के लाभ ये हैं : १. जस्ते के उपयोग में मितव्ययिता; २. लेप की वांछित मोटाई पर एक सीमा तक नियंत्रण; ३. शुद्ध जस्ते के लेप का चढ़ना; ४. इस्पात की कमानी जैसी वस्तुओं के लिये, जो उष्ण विधि में पिघले जस्ते के ताप से प्रभावित हो सकती है, इसकी उपयुक्तता तथा ५. सपाट सतह के लेप में विकृत और टेढ़ा मेढ़ा होने का अभाव, जैसा उष्ण विधि में देखा जाता है।

इस विधि के दोष ये हैं। १. उष्ण विधि की अपेक्षा अधिक समय का लगना, २. मोटे असंजीय लेप प्राप्त करने में कठिनता, ३. उष्ण मुलम्मे की तरह लेप का चमकदार न होना, ४. ठीक ठीक लेप प्राप्त करने में उष्ण विधि की अपेक्षा अधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता और अधिक कठिनाइयों का सामना पड़ना तथा ५. जलाभेद्य बर्तनों के निर्माण में विद्युद्विश्लेष्य विधि का भलाई में उतना प्रभावशाली न होना जितना उष्ण विधि का। सभी विद्युद्विश्लेषिक विलयनों का आधार जिंक-सल्फेट है।

शेरार्डीकरण — इस विधि में लेप की जानेवाली वस्तु को धातु के ड्रम या बक्स में जस्ताचूर्ण से घेर कर, जिसमें धात्विक जस्ता रहता है, गरम करते हैं। यह विधि विशेष रूप से उन वस्तुओं के लिये उपयुक्त है जिनपर संरक्षण के लिये बहुत पतला लेप आवश्यक होता है और जहाँ पात्रों पर नक्काशी, प्रतिरूप एवं रूपांकन को ज्यों का त्यों रखना होता है। इसमें यही दोष है कि छोटी मोटी वस्तुओं पर ही इससे जस्ता चढ़ाया जा सकता है।

धातु फुहार — इस विधि में पहले से स्वच्छ किए हुए उष्ण इस्पात पर पिघले जस्ते की हल्की फुहार एक विशेष प्रकार की धातु की पिच-कारी से की जाती है। बड़े बड़े पात्रों पर जस्ता चढ़ाने के लिये यह सुगम विधि है। इस लेप से इस्पात के साथ मिश्रधातु नहीं बनती।

जस्ती लेप की आयु — साधारण जस्ती लेप वायुमंडलीय तथा द्रव संक्षारण के प्रति खुले रहते हैं और मिट्टी के संक्षारण के प्रति कम मात्रा में खुले रहते हैं। इनका वायुमंडलीय संक्षारण प्रतिरोध हवा के अम्लीय पदार्थों, जैसे औद्योगिक स्थानों पर सल्फर डाइआक्साइड, लवणीय जल की झीलों या समुद्रों के पास सोडियम क्लोराइड, के प्रति संवृष्णा पर निर्भर है। इस तरह ग्रामीण क्षेत्रों में औद्योगिक क्षेत्रों की अपेक्षा जस्ती लेप की आयु ४ से लेकर १० गुना तक अधिक होती है। द्रव में, या द्रव द्वारा, जस्तीकृत चादरों के संक्षारण की मात्रा संक्षारक माध्यम के हाइड्रोजन आयन की सांद्रता पर निर्भर करती है। पीएच ६ और १२ के बीच संरक्षी फिल्म स्थायी होता है। पीएच के ४ और १२·५ हो जाने से चादरें शीघ्रता से आक्रांत होती हैं। प्रबल खनिज अम्लों के कुछ लवणों, विशेषतः क्लोराइड और नाइट्रेट वाले लवणों, के विलयन में जस्ता शीघ्रता से घुल जाता है।

जस्ती लेप का परीक्षण और उसके दोष — जस्ती चादरों के रासायनिक, चुंबकीय, सूक्ष्मदर्शीय तथा भौतिकी परीक्षण किए जाते हैं। अपलेपन परीक्षण (test) रासायनिक है और यह जस्ती लेप के जस्ते के भार के अंतर पर आधारित है, जो परीक्षण के समय विलीन हो जाने से होता है। बिना वस्तु को नष्ट किए चुंबकीय परीक्षण द्वारा लेप की मोटाई निर्धारित की जाती है। जस्ते का लेप अचुंबकीय होने के कारण चादर के संघनित्र परिपथ (condenser circuit) की चादर के लेप की मोटाई के अनुसार प्रेरण (induction) में परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन मापा जाता है और उससे गणना कर मोटाई ज्ञात की जाती है। ठीक ठीक निक्षारित आड़ी काट (etched cross section) के सूक्ष्मदर्शी द्वारा अध्ययन से लेप की मोटाई और बनावट प्रकट होती है। भौतिक विधियों में लेप को बिना हटाए चादर में सामान्य रूप में मोड़ने, गोंठने (beading), किनारे दबाने और खींचने से जो विफलता आती है, उसका निर्धारण होता है।

बार बार सामने आनेवाले दोषों में मुख्य दोष फफोला पड़ना है। ये फफोले अत्यंत सूक्ष्म आकार से लेकर बड़े बड़े आकार तक के हो सकते हैं और चादर की सतह पर न्यून स्थान से बृहत स्थान तक घेरते हैं। इस्पात की सतह के असातत्य (discontinuities) के कारण हाइड्रोजन एकत्र होता है और उससे फफोले बनते हैं। दूसरा दोष लेप का धूसर होना है। इसमें क्षेत्र धूसर रंग का हो जाता है, जिसमें मणिभ या तो बिलकुल होते नहीं, अथवा सामान्य विस्तार से छोटे होते हैं। इस दोष के निश्चित कारण हैं : (१) लोहे में अधातु पदार्थों का रह जाना और (२) जस्ता ऊष्मक से निकलने पर चादर का बड़ा तीव्र गति से ठंढा होना। जस्ता चढ़ाने में विशेष सावधानी बरतकर इन दोषों का निवारण किया जा सकता है। [ह्० त्रि०]

जहन्नुम अरबी शब्द जहेन्ना से व्युत्पन्न जो पाताल के अर्थ में प्रयुक्त होता है। कुरान तथा अन्य इस्लामी स्मृतियों में यह अग्नि का पर्याय है। सामान्यतयः इसमे नरक का बोध होता है। कुरान में 'नार' अध्याय में जहन्नुम का वर्णन किया गया है। अलबगवी प्रकृति विद्वानों ने कुरान के जेहेन्ना को नरक का विलक्षण जंतु माना है। अल-शरानी ने भी, संक्षेप में इसी से मिलता जुलता मत व्यक्त किया है। नरक को पाताल की गहराई के विभिन्न तलों से संबंधित करनेवाले जेहेन्ना को अन्य लोगों की मान्यताओं की अपेक्षा उच्चतर स्तरीय मानते हैं। वह मुसलमान पापियों के लिये सुरक्षित है जिन्हें ईश्वर उनके अक्षम्य पापों के प्रति दंड हेतु भेजता है। कुछ इस संबंध में आशावादी हैं कि जब प्रत्येक मुसलमान अपने पापों के प्रति उचित पश्चात्ताप करके स्वर्ग जाने लगेगा तो जेहेन्ना का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा।

जहाँआरा पादशाह् बेगम या बेगम साहब के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म अजमेर में २३ मार्च, १६१४ ई० को हुआ था। ये शाहजहाँ तथा मुमताजमहल की जीवित संतानों में सबसे बड़ी थीं। इनकी शिक्षा सती उन्निसा खानम की देखरेख में हुई। जहाँआरा फारसी गद्य और पद्य की तथा हिकमत (वैद्यक) की भी अच्छी ज्ञाता तथा धर्मपरायण थीं।

शाहजहाँ इनका बड़ा आदर करता था। मुमताजमहल की मृत्यु के बाद (७ जून, १६३१) अगले २७ वर्षों के लिये यही बादशाह की सबसे अधिक प्रतिष्ठापात्री रहीं। मार्च, १६४४ में आग से बुरी तरह जल जाने के कारण इन्हें चार महीनों तक मृत्यु से घोर संघर्ष करना पड़ा।

४४ वर्ष की उम्र तक इनका जीवन परम सुखमय रहा। भारत के दूसरे भागों के स्वाधीन शासक, मुगल साम्राज्य के अधीन राजकुमार, शाही परिवार के सदस्य तथा राज्य के अन्य कुलीन व्यक्ति आवश्यकता पड़ने पर इनकी मध्यस्थता स्वीकार करते थे और इसके लिये उन्हें कभी निराशा नहीं हुई। इनके पास अपार धन था परंतु उसका तथा अपने प्रभाव का उपयोग इन्होंने सदा दूसरों के उपकार के लिये ही किया। शाही परिवार में तो इनका कार्य ही शांतिदूत का था और इनके भाई कठिनाई के समय इन्हीं से अपना दुखड़ा रोते थे।

सन् १६५७ ई० जहाँआरा के लिये परीक्षाकाल बनकर आई, जब इनके चारों भाई राजसिंहासन के लिये परस्पर लड़ने लगे। ये स्वयं दाराशिकोह के पक्ष में थीं जिसे शाहजहाँ ने भी चुन रखा था। धर्मत के युद्ध के बाद इन्होंने औरंगजेब को पत्र लिखकर मेल कराने का प्रयास किया जो व्यर्थ गया। आगरे से दस मील पूर्व सामूगढ़ में हारने के बाद दाराशिकोह दिल्ली की ओर निकल भागा। औरंगजेब ने अपने पिता को आगरे के किले में बंदी बना लिया। जहाँआरा अपने विजयी भाइयों से (औरंगजेब व मुराद बख्श) १० जून, १६५८ को उनके शिविर में मिलीं और मुगल साम्राज्य को चारों भाइयों में शांतिपूर्वक बाँट देने का प्रस्ताव रखा, परंतु वह असफल रहीं।

शाहजहाँ के औरंगजेब द्वारा बंदी बनाए जाने पर जहाँआरा ने अपने पिता का ही साथ देना उचित समझा और साढ़े सात वर्षों तक — जनवरी, १६६६ ई० जब शाहजहाँ की मृत्यु हुई — वे सेवा में रत रहीं। तदनंतर औरंगजेब ने उनकी वृत्ति दुगुनी कर दी और यथापूर्व संमान दिखाया।

अपने जीवन के चरमोत्कर्ष काल में ही जहाँआरा लाहौर के संत मियाँमीर की शिष्या बन गई थीं। इन्होंने शेख मुईनुद्दीन चिश्ती का जीवन और उनके उपदेशों का अध्ययन किया और फारसी में मुनीस-उल-अरवाह नामक एक छोटा सा विवरण भी लिखा।

६ सितंबर, १६८१ को जहाँआरा स्वर्गवासिनी हुईं और दिल्ली में निजामुद्दीन औलिया की समाधि की छाया में इन्हें दफना दिया गया।

सं० ग्रं० — १. जियाउद्दीन अहमद बरनी : जहाँआरा बेगम, कराची १९५५; बी० पी० सक्सेना : हिस्ट्री ऑव शाहजहाँ ऑव देहली, इलाहाबाद १९५८; अब्दुल हमीद लाहौरी : बादशाहनामा, कलकत्ता, १८६७-६८, बर्नियर : ट्रैवेल्स इन द मोगल एंपायर, संपादित आर्चीबल्ड कांसटेबिल, द्वितीय संस्करण १९१६। [मो० या०]

जहाँगीर अकबर का पुत्र और भारत का चौथा मुगल सम्राट्। फतहपुर सीकरी में एक हिंदू रानी के गर्भ से ३१ अगस्त, १५६९ को इसका जन्म हुआ। 'शेख सलीम चिश्ती' की कुटिया में उत्पन्न होने के कारण राजकुमार का नाम सलीम रखा गया। अकबर ने इसके पालन और उच्चशिक्षा की समुचित व्यवस्था की किंतु राजकुमार अपने को राजनीतिक वातावरण से मुक्त नहीं रख सका, फलतः पिता-पुत्र में वैमनस्य हो गया। १५९९ में इलाहाबाद में विद्रोह करके उसने अपने स्वतंत्र राज्य की घोषणा की।

अकबर ने सलीम के साथ संधि के अनेक असफल प्रयत्न किए। एक बार राजकुमार अपनी सेना लेकर अकबर पर आक्रमण के मंतव्य से आगरे की ओर चला, किंतु अकबर के शक्तिशाली प्रतिरोध के कारण वह इलाहाबाद लौट गया। वहाँ पहुँचकर उसने अपने को सम्राट् घोषित किया। बैरामखाँ की विधवा पत्नी सलीमा सुलतान बेगम की मध्यस्थता से सलीम और अकबर के बीच केवल अस्थायी संधि हो सकी। लेकिन सलीम को अपने पिता पर अविश्वास था, इसलिये उसने दरबार के एक विश्वासपात्र मंत्री अबुलफजल को षड्यंत्र का मूल समझ कर उसकी हत्या कर दी।

१६०५ में अकबर की मृत्यु के बाद यह 'अबुल मुजफ्फर नुरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर बादशाह-ए-गाजी के नाम से राज्यसिंहासन पर बैठा। यह नाम उसके सिक्कों से प्रकट होता है। जहाँगीर के सत्तारूढ़ होने के एक वर्ष पश्चात् उसका पुत्र खुसरो विद्रोही हो गया। किंतु १६२२ में बुरहानपुर में उसकी मृत्यु होने पर जहाँगीर निश्चित हो गया। उसने सिखों के धर्मगुरु अर्जुन सिंह पर खुसरो के विद्रोह में सहायक होने का आरोप लगाकर उसकी हत्या करवा दी जिसके फलस्वरूप मुगलों और सिखों में स्थायी वैमनस्य उत्पन्न हो गया, जिसके चिह्न आगे बहुत बार स्पष्ट हुए।

जहाँगीर ने १६११ में गयासबेग की पुत्री नूरजहाँ से विवाह किया। तत्कालीन सूत्रों से उसके और नूरजहाँ के प्रणय संबंध तथा शेर अफगन की हत्या के पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते। विवाह के बाद राज्य की सारी शक्ति जहाँगीर ने नूरजहाँ को समर्पित कर दी। इस रूप में वह बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुई।

१६२३ में राजकुमार खुर्रम ने विद्रोह किया। नूरजहाँ ने 'शहरयार' को राज्य का उत्तराधिकारी बनाने की चेष्टा की। गृहयुद्ध छिड़ा जिसमें राज्यकोष का बहुत धन नष्ट हुआ। किंतु विद्रोह के तीन वर्षों के पश्चात् कुशल सेनानायक महाबत खाँ ने खुर्रम को आत्मसमर्पण के लिये बाध्य कर दिया।

१६२६ में महाबत खाँ ने जहाँगीर को नूरजहाँ और उसके भाई आसफ खाँ के प्रभाव से मुक्त करने का प्रयत्न किया, किंतु असफल हुआ। इस बार उसने राजकुमार खुर्रम से मिलकर षड्यंत्र की योजना बनाई। नूरजहाँ ने खानजहाँ लोदी को सेनानायक नियुक्त किया और उसे विद्रोहियों के दमन का आदेश दिया किंतु संयोगवश उसी समय जहाँगीर की मृत्यु हो गई (२८ अक्टूबर, १६२७) और नूरजहाँ की योजनाएँ सफल न हो सकीं।

जहाँगीर एक शिक्षित और संस्कृत व्यक्ति था। उसे कला और साहित्य में रुचि थी। वह शोषण और दमन को मानवता के विरुद्ध समझता था। उसकी न्यायप्रियता की अनेक कहानियाँ कही जाती हैं। उसने महल के सिंहद्वार से अंदर तक एक सोने की जंजीर बँधवाई थी, जिसमें बहुत सी घंटियाँ बंधी हुई थीं। कोई भी व्यक्ति किसी समय उस जंजीर को हिला कर न्याय की माँग कर सकता था। जहाँगीर प्रकृति-प्रेमी लेखक और कवि भी था। इसके राज्य में उद्योग और व्यापार के साथ साथ कला और साहित्य की भी उन्नति हुई। मेवाड़, दक्षिण और बंगाल की कुछ हलचलों के अतिरिक्त राजनीतिक स्थिरता भी बनी रही।

जहाँदारशाह मुगल सम्राट्। बहादुरशाह का ज्येष्ठ पुत्र जहाँदारशाह १६६१ में उत्पन्न हुआ। पिता की मृत्यु के पश्चात् सत्ता के लिये इसे अपने भाइयों से संघर्ष करना पड़ा। मीर बख्शी जुल्फिकार खाँ ने इसे सहायता दी। इसका एक भाई अजीम-उल-शान लाहौर के निकट युद्ध में मारा गया। शेष दो भाइयों—जहानशाह और रफी-उल-शान को पदच्युतकर सम्राट् बनने में वह सफल हुआ। विलासी प्रकृति के जहाँदारशाह ने समूचे राज्य के प्रति उपेक्षा बरती। १७१२ में अब्दुल्ला-खाँ, हुसेन अलीखाँ और फर्रुखसियर ने इसके विरुद्ध पटना से कूच किया। आगरा में जहाँदारशाह ने टक्कर ली। पराजित होकर इसने दिल्ली में जुल्फिकार खाँ के पिता असदखाँ के यहाँ शरण ली। असदखाँ ने इसे दिल्ली के किले में कैद कर लिया। फर्रुखसियर ने विजयी होते ही इसकी हत्या करवा दी।

जहाँसोज़ अलाउद्दीन गुरीद शासक, जो कवि भी था। इसके दो भाई कुतुबुद्दीन मुहम्मद और सैफुद्दीन सूरी क्रमशः गजनी विजय के लोभ में बहराम शाह (गजनी का शासक) के हाथों मारे गए। अंत में अलाउद्दीन प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर गजनी पर चढ़ आया। बहराम की तीन सतत पराजयों के बाद गजनी अलाउद्दीन के हाथ में आ गया। बड़ी नृशंसता से नगर को विध्वंस किया गया। इस घटना ने अलाउद्दीन के जीवन को बहुत कलंकित किया है। ठीक एक वर्ष पश्चात् ११५२ में अलाउद्दीन ने पंजाब में संजर के विरुद्ध कूच किया और हेरात के निकट पराजित हुआ। किसी तरह मुक्त होकर उसने फिराज कोह में शासक के रूप में अपने अंतिम दिन बिताए। ११६१ में वह मर गया।

जहाज समुद्र के आवागमन तथा दूर देशों की यात्रा के लिये जिन बृहद् नौकाओं का उपयोग प्राचीनकाल से होता आया है उन्हें जहाज कहते हैं। पहले जहाज अपेक्षाकृत छोटे होते थे तथा लकड़ी के बनते थे। प्राविधिक तथा वैज्ञानिक उन्नति के आधुनिक काल में बहुत बड़े, मुख्यतः लोहे से बने तथा इंजनों से चलनेवाले जहाज बनते हैं।

आधुनिक जहाजों का वर्गीकरण — जिस जहाज से जो भी काम लिया जाता है उसी के अनुसार उसकी अभिकल्पना और निर्माण किया जाता है। अतः कार्य के अनुसार जहाजों को तीन वर्गों में बाँटते हैं: (१) यातायात के जहाज, (२) युद्ध संबंधी जहाज तथा (३) तट-

चित्र क का १–४
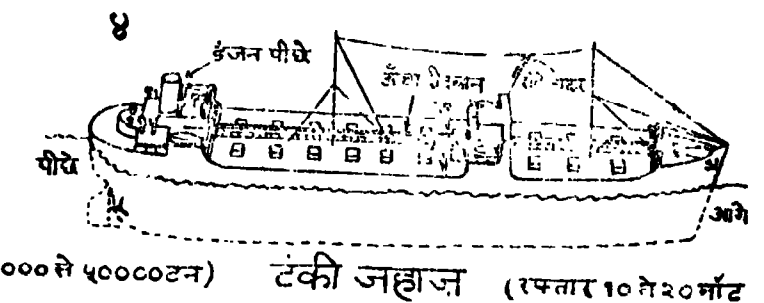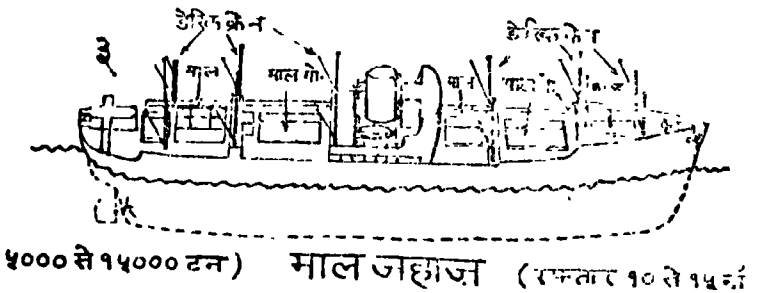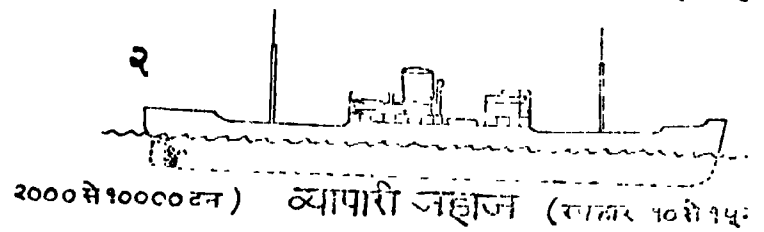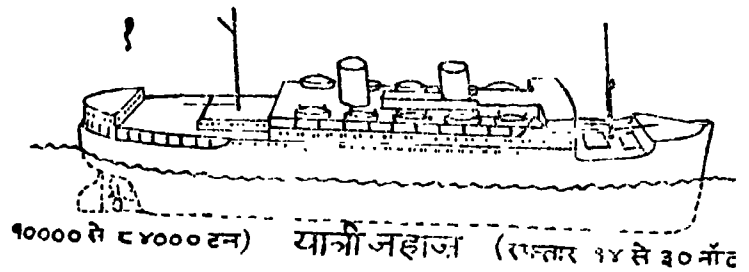
वर्ती और नदुपयोगी नौकाएँ। इनके भी कई उपवर्ग होते हैं, जिनका हम क्रमानुसार आगे वर्णन करेंगे।

चोल कला (पृष्ठ २६६-३००)

मैत्रेय (नागापट्टम)

ग्याङ्त्से (पृष्ठ ५०-५१)

चोर्तेन

चोल कला (पृष्ठ २६६-३००)

भैरव (बृहदीश्वर मंदिर, तंजपुर)
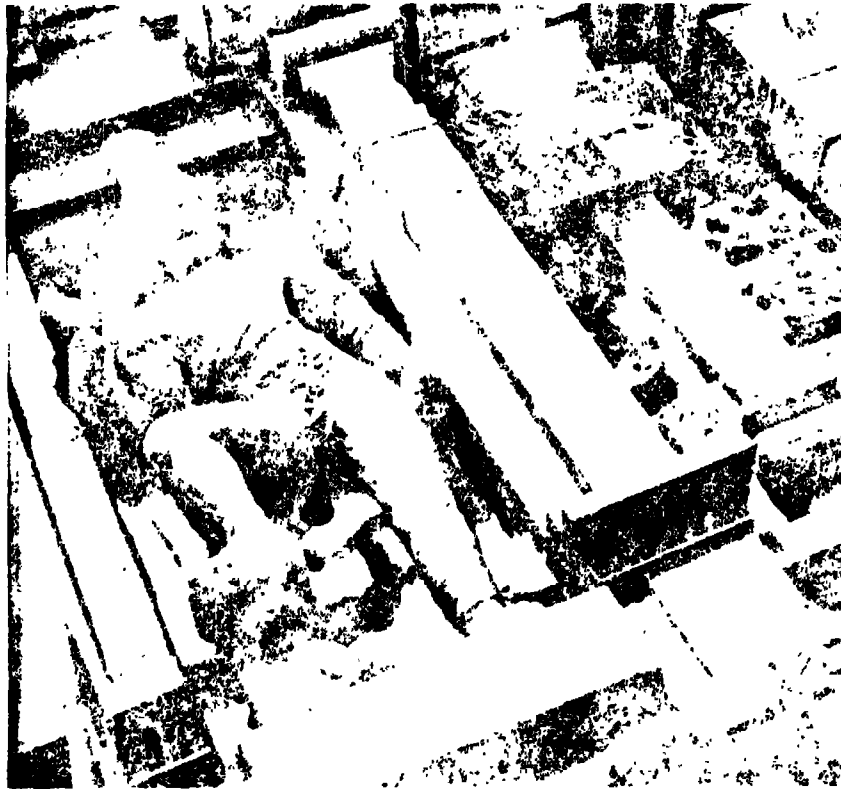
[फोटो : चंद्रधर त्रिपाठी, आई० ए० एस०, पोलिटिकल डिपार्टमेंट (केबिनेट सेल), असम, शिलांग]

वायुयानवाहक जहाज, एच० एम० एस० ऐलबियन
(फरवरी, १९५७)
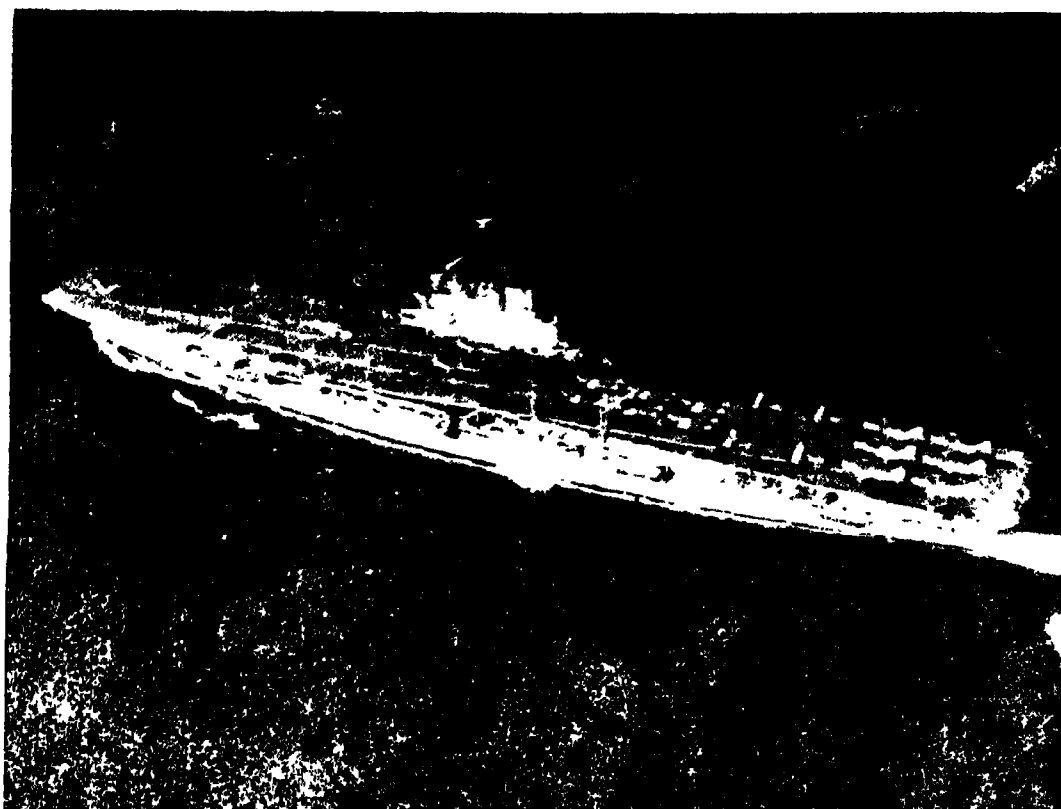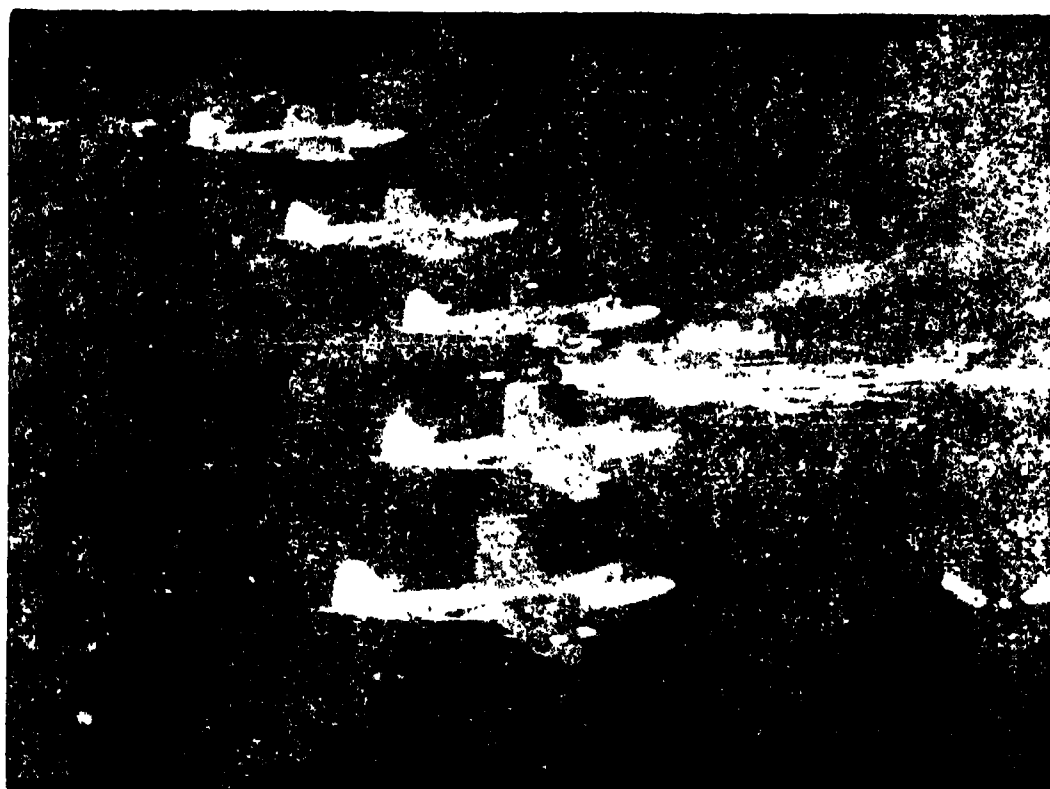
वायुयानवाहक के ऊपर वायुयान श्रेणी

आर्क रायल नामक वाहक जहाज के ऊपर "सी हॉक" वायुयान उड़ रहे हैं।

(१) यातायातोपयोगी (Transportation) जहाज :

(क) यात्री जहाज (Passenger Liners) दुनियाँ के एक बंदरगाह से दूसरे तक यात्रियों को ले जाने का काम करते हैं। इनके द्वारा माल बहुत ही कम ढोया जाता है, क्योंकि इनके अधिकांश भागों में यात्रियों के आवास तथा सुख सुविधा की सभी प्रकार की रचनाएँ बनी होती हैं (देखें चित्र क का १.)।

(ख) व्यापारी जहाज (Merchant Ships) अधिकतर हलका माल ढोने के काम में ही आया करते हैं। अतः इनमें यात्रियों के आवास कक्ष बहुत थोड़े होते हैं। सामान को उठाने धरने के लिये इनपर कुछ क्रेन भी लगे रहते हैं (देखें चित्र क का २.)।

(ग) माल जहाज (Cargo Ships) अकसर भारी माल ढोने के लिये बनाए जाते हैं। बिखरा हुआ माल, जैसे अनाज, कोयला, धातुओं के अयस्क आदि, जिन्हें खुलामाल (Bulk cargo) कहते हैं, डेक के ऊपर बने बड़े बड़े कुएँनुमा गोदामों में भरने के बाद उनका ढक्कन बंद कर दिया जाता है। बँधा हुआ सामान, जिसे पैक माल (General cargo) कहते हैं, गोदामों में चुन दिया जाता है। यंत्रादि बहुधा डेक पर ही लादे जाते हैं, जिसे डेकमाल (Deck cargo) कहते हैं। सामान खाली हो जाने पर ऐसे जहाज जब हल्के हो जाते हैं तब उनके निम्नतम (पेंदे के) भाग में बने विशेष कक्षों में मिट्टी, रोड़ी, पानी आदि भर दिया जाता है, जिससे कि वे समुद्र में ठीक सतह पर बैठकर तैर सकें। इस प्रकार के बोझे को नीरम (Ballast) कहते हैं (देखें चित्र क का ३.)।

(घ) टंकी जहाज (Tankers) इनमें पेट्रोल, ईंधन, तेल, गुड़ का शीरा आदि भरकर ले जाया जाता है। अतः इनकी रचना में अधिकतर टंकियों का ही भाग रहता है और तरल पदार्थों को निकालने के लिये जहाँ तहाँ पंप भी लगे होते हैं। इन जहाजों में इंजन सबसे पिछले भाग में लगाया जाता है, जिससे पेट्रोल आदि में आग लगने की आशंका न रहे। इनमें क्रेन बिलकुल नहीं होते, बल्कि इनके आगे के सिरे से पीछे के सिरे तक एक लंबा पुल अवश्य बनाया जाता है, जिससे समुद्र की लहरों का पानी डेक पर आ जाने के समय कार्यकर्ता एक सिरे से दूसरे सिरे तक आ जा सकें (देखें चित्र क का ४.)।

(२) युद्ध संबंधी जहाज :

(क) युद्धोपयोगी, सैनिक जहाजों (Warships) पर भारी भारी तोपें लगी रहने, चाल बहुत तेज होने तथा चारों तरफ से इस्पाती प्लेटों का आवरण चढ़ा रहने से इनके ढाँचों पर भारी प्रतिबल पड़ा करते हैं। केंद्रीय भाग में चिमनी के आस पास ही समस्त आवश्यक अधिरचनाएँ बना दी जाती हैं, जिससे चारों तरफ के खाली भागों में तोपों के गोलों के आने के लिये निर्बाध जगह रह सके (देखें चित्र ख का १)।

(ख) वायुयान वाहक (Aircraft Carrier) इनके सपाट डेक पर नाना प्रकार के बम, रॉकेट, तारपीडो और जल सुरंगों से सुसज्जित वायुयान रखे जाते हैं, जो यहीं से उड़ उड़कर शत्रु पर दूर दूर तक सब प्रकार के हमले कर सकते हैं। इन जहाजों पर अपनी सुरक्षा के लिये भी कुछ तोपें लगी रहती हैं, लेकिन फिर भी ये जहाज बड़े युद्धपोतों की रक्षा में ही काम करते हैं (देखें चित्र ख का २.)।

(ग) बड़े विध्वंसक जहाजों (Fleet Destroyers) का काम शत्रु की पनडुब्बियों से बड़े युद्धपोतों की रक्षा करना, शत्रु पर टारपीडो से हमला करना तथा अपने जंगी बेड़े के आगे आगे चलकर अग्रदूत का सा
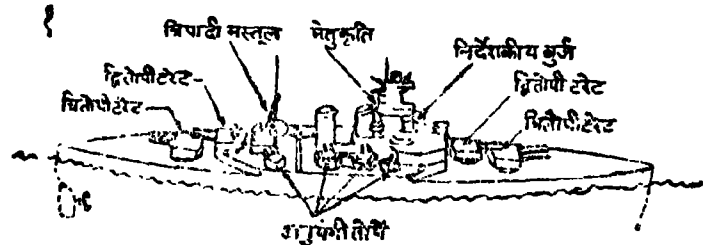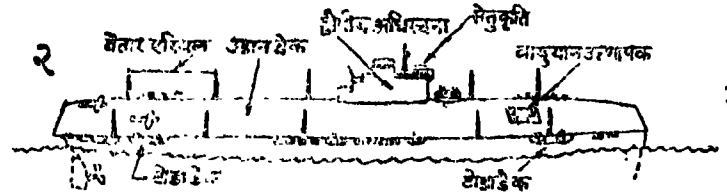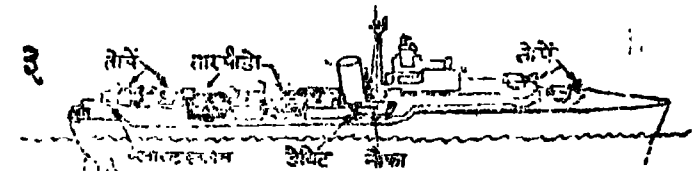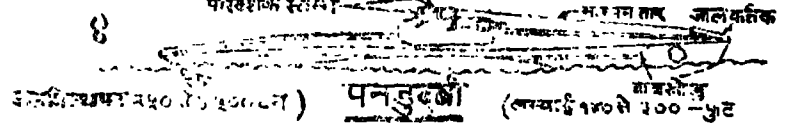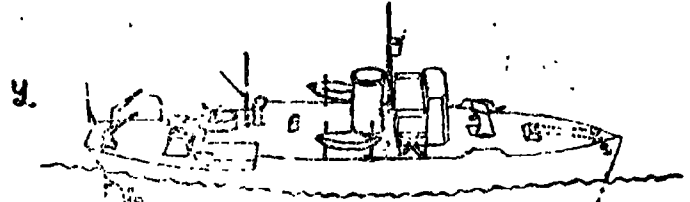
चित्र ख का १—५

चित्रों में दी हुई १ से ५ तक संख्याएँ इन चित्रों को क्रमवार प्रदर्शित करती हैं।

काम करना होता है। आकार में छोटे होने के कारण साफ मौसम में तो ये जहाज अच्छी तेज गति से चल सकते हैं, लेकिन तूफानी मौसम में इन्हें बड़ी सतर्कता बरतनी पड़ती है (देखें चित्र ख का ३.)।

(घ) पनडुब्बियाँ (Submarines) शत्रु के युद्धपोतों, माल जहाजों तथा सेनावाहक जहाजों पर छिट पुट हमले करके उन्हें परेशान कर सकती हैं। ये पानी में डुबकी लगाकर अपने जंगी बेड़ों से बहुत आगे तक जाकर वहाँ की खबरें भी ले आती हैं (देखें चित्र ख का ४.)।

(क) सुरंग निवारक (Mine Sweeper) जहाज शत्रु द्वारा बिछाई गई विस्फोटक समुद्री सुरंगों को अपने जंगी बेड़े के आगे आगे साफ करते चलते हैं। अपनी सुरक्षा के लिये इनपर कुछ तोपें भी लगी होती हैं (देखें चित्र ख का ५.)।

(च) क्रूज़र जहाज (Cruiser) युद्धपोतों से छोटे होने पर भी सब प्रकार के युद्धों में स्वतंत्रता पूर्वक भाग ले सकते हैं। इनमें आक्रमणात्मक तथा पैतरा बदलने की व्यवस्था रहती है एवं इनकी

चित्र ग

गति बहुत अच्छी होती है। इनके टरेटों (turrets) पर मध्यम नाप की तोपें लगी होती हैं, जो सब ऋतुओं में अच्छा काम करती हैं (देखें चित्र ग)।

(छ) इनके अतिरिक्त शत्रु को हानि पहुँचाने के लिये उसके समुद्र के निकट सुरंगें बिछानेवाले (Mine Layers) जहाज भी बनाए जाते हैं। सुरंगें बिछाने का काम हवाई जहाजों, जंगी जहाजों और पनडुब्बियों आदि से भी लिया जा सकता है। जंगी नौबेड़ों के साथ युद्ध सामग्री और तेल पहुँचानेवाले तथा सेनावाहक जहाज भी रहा करते हैं।

(३) तटवर्ती तथा बहुउपयोगी नौकाओं के वर्ग में डूबते हुए जहाजों को निकालनेवाले पोत (Dredgers and Tugs) समुद्री तार बिछाने तथा उनकी मरम्मत करनेवाले (Cable Ships), तटवर्ती यात्रोपयोगी छोटे जहाज (Steamers), भोजन सामग्री ले जानेवाले (Frozen Meat Carriers), मत्स्य नौकाएँ (Trawlers) और घाट-यान- नौकाएँ (Ferries) आदि मुख्य हैं।

जहाज के ढाँचों पर पड़नेवाले प्रतिबल (stresses) — प्रत्येक जहाज के ढाँचे की अभिकल्पना (design) इस प्रकार से की जाती है कि उसके इंजनों, प्रणोदित्रों अथवा पैडल व्हीलों, सहायक यंत्रों तथा पंपों आदि के चलने के कारण और विशेषकर समुद्री लहरों के कारण जो विकृतियाँ तथा प्रतिबल पड़ें, उन्हें वह सह ले। जहाजों के चलते समय जब सामने की हवा का मुकाबिला करना होता है उस समय यदि जहाज की चौड़ाई के बराबर लंबी लहरें उठने लगती हैं, तो कई बेर कोई एक ही बड़ी लहर बीच में जहाज को अधर में उठा ले सकती है। तब जहाज के आगे और पीछे के सिरे ठीक उसी प्रकार से लटकते रहेंगे जैसे कि किसी लंबी हुई शहतीर को बीच में से सहारा देकर उठा लिया हो। जहाज का इस दशा को उत्तलन (ऊपर को उठा लिया जाना, hogging) कहते हैं (देखें चित्र च)। कभी कभी ऐसा भी होता है कि जहाज का आगे और पीछे का सिरा तो लहरों पर टिक जाता है और बीच का स्थान खाली हो जाता है, ठीक वैसे ही जैसे कोई लंबी हुई शहतीर दोनों सिरों पर टिकी हो। इस परिस्थिति में जहाज के ढाँचे पर पड़नेवाले प्रतिबलों को अवतलन (sagging) कहते है (देखें चित्र च)। कभी कभी इन दोनों परिस्थितियों का मिश्रण भी हो जाता है, जिसमें पड़नेवाले प्रतिबल कर्तन (shear stress) कहलाते हैं (देखें चित्र छ)। जब हवा तिरछी चलती है तब कभी कभी जहाज के ढाँचे में मरोड़ प्रतिबल (twisting strains) पड़ते हैं (देखें चित्र ज)। जब बगली हवा चलती है तब पार्श्वीय विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं (देखें चित्र झ)। इसके अतिरिक्त पानी में डूबे रहनेवाले भाग पर समुद्री पानी का भी अत्यधिक दाब पड़कर ढाँचे को चिपकाने की प्रवृत्ति दिखाता है (देखें चित्र ट)। सबसे अधिक तथा विकट प्रकार की विकृतियाँ तो आगे और पीछे के सिरों पर उस समय पैदा होती हैं जब जहाज में माल के विषम लदान और लहरों के प्रभाव तथा पानी के उत्प्लावक बल के कारण जगह जगह पर नमन घूर्ण (bending moments) पैदा होने लगते हैं।

लहरों द्वारा पड़नेवाली विकृतियों की गणना करते समय मान लिया जाता है कि प्रत्येक लहर की लंबाई जहाज की चौड़ाई के बराबर और उनकी ऊँचाई. लंबाई के $\frac{1}{20}$ वें भाग के बराबर है।

जहाज के ढाँचे की अभिकल्पना करते समय उसके प्रत्येक अवयव (जो ढले इस्पात का होता है अथवा मुलायम इस्पात की छड़ों, ऐंगल आयरनों, चैनलों, गर्डरों और प्लेटों आदि को आपस में रिवटों द्वारा बैठाकर अथवा विभिन्न प्रकार के जोड़ों द्वारा कसकर बनाया जाता है) की रचना ऐसी करते हैं कि उसपर जो भी प्रतिबल पड़े, सब में समविभाजित होकर इस प्रकार से समस्त ढाँचे में फैल जाए कि प्रत्येक अवयव पर आनेवाले झटकों को अवयव मिलकर सह लें।

जहाज के ढाँचे के प्रधान अवयव — ये चित्र ठ के क और ख में आरेखीय विधि से दिखाए गए हैं। जहाज का पठाण (नौतल, keel) लोहे या ढले इस्पात द्वारा तीन प्रकार से बनाया जाता है, यथा इकहरी

मोटी छड़ों, चपटी पट्टियों अथवा प्लेटों द्वारा। यही सबसे नीचे रहनेवाला बुनियादी अवयव है, जिसके सहारे समस्त ढाँचा खड़ा किया जाता है।

चित्र थ, च, छ, ज, झ, और ट

चित्रों में दी हुई संख्याएँ १ से ६ तक इन चित्रों को क्रमवार प्रदर्शित करती हैं।

मरिया (Keelson) एक से अधिक तथा विभिन्न आकार के बनाए जाते हैं। इनमें से जो प्रमुख होता है वह जहाज के पेंदे की मध्य रेखा पर जड़ा लगाया जाता है। सब मिलकर समस्त पेंदे को सहारा देते हैं। पठाण के आगे के सिरे से मत्स्यजोड़ (Scarph) द्वारा (देखें चित्र ठ का ग) ऊपर को उठा हुआ जो अवयव ढले हुए इस्पात का बनाकर जोड़ा जाता है वह दुंबाल (Stern) कहलाता है। इसी में खाँचे बनाकर बीचवाला मरिया और बाहरी खोल के प्लेट बैठाकर जड़ दिए जाते हैं। पीछे की तरफ ढले इस्पात का जो खड़ा अवयव इसी प्रकार जोड़ा जाता है वह दुंबाल स्तंभ या कुदास (Sternpost) कहलाता है। रडर को सहारा देने के लिये और यदि एक या तीन प्रणोदित्र (propeller) युक्त जहाज हों तो मध्यवर्ती प्रणोदित्र के घूमने के लिये भी इसी में जगह बनाई जाती है। जहाज के समस्त ढाँचे की रचना पंजरनुमा होती है (देखें चित्र सं० ठ का क, और ड का नीचे का भाग)। पंजर के समस्त अंग ऐंगल आयरन और पट्टियों द्वारा ही बनाए जाते हैं। ये पंजर दोहरे होते हैं, एक भीतरी और दूसरा बाहरी। उन्हें आपस में संयुक्त करने की तरकीब चित्र ठ के घ में दिखाई गई है। जिन स्थानों पर जहाज का निचला फर्श टिकता है, वे बाहरी और भीतरी पंजरों के बीच में खड़े लगाए जाते हैं (देखें चित्र ड, ढ और न) इन्हें मरिया अथवा फ्लोर्स भी कहते हैं। इनके कारण पेंदा बहुत ही दृढ़ हो जाता है। जहाज की दोनों बगलियों के पंजरों को दृढ़ता प्रदान करने के लिये, उनके बीच में लंब पट्टियाँ तथा आड़ी स्थूणाएँ (धरनें) लगा दी जाती हैं। लंब पट्टियाँ जहाज के पंजर से ऐंगल प्लेटों के साथ रिवेटों द्वारा जड़ दो जाती हैं। संपूर्ण जहाज का पंजर कई खंडों में बनाकर प्रत्येक पंजर के ऊपरी सिरे पर भी एक एक धरन लगा दी जाती है, जो ऊपरी डेक के प्लेट को सहारा देती है।

जिन जहाजों में एक से अधिक डेक होते हैं, उनमें प्रत्येक डेक को सँभालने के लिये प्रत्येक खंड में एक एक स्थूणा लगाई जाती है। ऊपरी डेक सदैव इस्पात की प्लेटों का बनाया जाता है और उसपर लकड़ी के तख्ते बैठा दिए जाते हैं। नीचे के डेक लकड़ी के तख्तों से ही बनाए जाते हैं। कुछ जहाजों में नीचे के डेक भी इस्पात की प्लेटों से बनाते हैं। यह सब उपयोग पर निर्भर करता है। जहाज के पंजर की आड़ी धरनों के बीच, उन्हें सहारा देने के लिये एक एक खंभा भी इस्पात का लगा दिया जाता है। जिन जहाजों की चौड़ाई अधिक होती है उनके मध्य खंभे के दोनों ओर एक खंभा और लगा दिया जाता है। मालवाहक जहाजों के गोदामों में अधिक खुली जगह की आवश्यकता पड़ा करती है। अतः उनमें खंभे न लगाकर अन्य प्रकार की युक्तियों से काम लिया जाता है। चित्र ढ में इस प्रकार का एक खंभा दिखाया गया है, जबकि चित्र ड की रचना में एक भी खंभा नहीं लगाया गया है।

बिलज पट्टिकाएँ (Bilge Keels) — ये जहाज के बाहरी आवरण से बाहर की ओर निकली रहती हैं। (देखें चित्र ड और न)। इनके

कारण जहाज के खोल (hull) की लुंठनगति (rolling) में काफी अवरोध होता है, जिससे लुंठनगति बिलकुल तो नहीं रुकने पाती, परंतु काफी कम हो जाती है। जहाज के पेंदे पर पूरी लंबाई भर में, इस्पात के प्लेटों को ब्रेकटों द्वारा जड़कर, उनसे भीतें (bulk-heads) बनाकर जलाभेद्य कमरे बना दिए जाते हैं, जिनकी ऊँचाई दोतले पेंदे से लेकर समुद्री पानी की सतह तक होती है। ये कमरे बड़े उपयोगी होते हैं, क्योंकि जब किसी दुर्घटनावश जहाज के आवरण में कहीं छेद हो जाता है, तब समुद्री पानी केवल उसके निकटवर्ती कमरे में ही भरकर रह जाता है और शेष जहाज सुरक्षित रहता है। कई बार जहाज की लंबाई की दिशा में लदे हुए माल का संतुलन ठीक करने के लिये किसी उपयुक्त कमरे में जान बूझकर भी पानी भर दिया जाता है। कई पुराने प्रकार के जहाजों में तो ये कमरे इस प्रकार के बने होते थे कि एक से दूसरे में जाने के लिये उनकी छत में बने छेद में चढ़कर दूसरे के छेद में उतरना होता था (देखें चित्र ठ)। आधुनिक जहाजों में उनकी दीवारों में ही दरवाजे लगा दिए जाते हैं। (देखें चित्र ध)। ये छेद और दरवाजे रबर की पट्टियाँ तथा क्लैंप लगाकर बिलकुल जलाभेद्य बना दिए जाते हैं।

चित्र ठ.

व्यापारी जहाजों में अधिक से अधिक तीन डेक होते हैं। एक डेकवाले जहाज की ऊँचाई पठाण से डेक तक १५ फुट, दो डेक वाले जहाज की ऊँचाई पठाण से ऊपरी डेक तक २४ फुट और तीन डेकवाले की ३५ फुट के लगभग रहती है। लेकिन बड़े समुद्री पोतों और माल जहाजों की समग्र ऊँचाई इससे अधिक हो जाती है।

जहाजों का बाहरी आवरण — यह इस्पात की चादरों का बना होता है और इसकी मोटाई, जहाज के परिमाण, उसमें भरे जानेवाले माल तथा जिस भाग में वह जड़ा जाता है वहाँ के पानी के दबाव के अनुपात से निश्चित की जाती है। जहाज के पेंदे और अडवाल से नीचे के प्लेट, जिन्हें पेरज (Gunwale) भी कहते हैं, सबसे मोटे रखे जाते हैं। मंदान तथा कुदास की निकटवर्ती प्लेटें भी काफी मोटी होती हैं।

चित्र ड.

चित्र ढ.

इनकी अधिक से अधिक मोटाई एक इंच होती है। आवरण प्लेटों की मोटाई इंच के २०वें भाग में नापने की प्रथा है।

जहाज की चौड़ाई — जहाज के मध्य भाग में नीचे की तरफ सबसे अधिक चौड़ाई रहती है, जिसे "बरन माप" (moulded breadth) कहते हैं। इसके ऊपर की तरफ चौड़ाई क्रमशः कम होती जाती

है, जिसे जहाज के मध्य भाग का भीतरी झुकाव (Tumble home)

जलाभेद्य गुहा द्वार

चित्र त.

कहते हैं। इसे ऊपर के डेक से एक ही तरफ को नापा जाता है। आगे

चित्र थ.

तथा पीछे के सिरों के निकट, नीचे की ओर, जहाज की चौड़ाई क्रमशः कम होती जाती है, जिससे वहाँ के परिच्छेद की आकृति V आकार की हो जाती है। इस नीचे से ऊपर बढ़ती चौड़ाई को जहाज का अपसरण (flare अथवा flam) कहते हैं। चित्र द. में जहाज की अनुदैर्घ्य आकृति, क च, ख छ और ग ज रेखाओं पर उसकी तीन अनुप्रस्थ काटें तथा नीचे की तरफ प्लान दिखाकर जहाज की विविध परिभाषाएँ और भागों के नाम सूचित किए गए हैं।

यात्री जहाज — चित्र ध. में एक बड़े यात्री जहाज के विविध डेकों का विन्यास आरेखीय विधि से दिखाया गया है। इनमें उनका मुख्य ढाँचा, दोहरा पंजर और लंब पट्टियाँ आदि मध्य डेक तक ही समाप्त हो जाती हैं। विहार डेक (Promenade deck) तथा नौका डेक (Boat deck) की अधिरचना ऊपरी ढाँचे के रूप में उपरले और खुले डेक पर कर दी जाती है। बड़े यात्री जहाज माल जहाजों की अपेक्षा अधिक भारी होने के साथ ही समुद्र की सतह से अधिक ऊँचे भी तैरते रहा करते हैं। अतः उन्हें अधिक दृढ़ तथा सावधानी से बनाना पड़ता है, जिससे कोई दुर्घटना हो जाने पर भी समुद्री पानी उनमें प्रवेश न कर सके।

युद्धपोतों की बनावट — टारपीडो नौकाओं तथा युद्धपोतों के पंजरों की बनावट तो उसी ढंग की होती है जैसी यात्री जहाजों की, लेकिन उन्हें इतना दृढ़ बनाया जाता है कि वे बड़े बड़े इंजनों की चाल, तोपों के दागे जाने, अथवा जहाज की चाल को बारंबार आगे पीछे करके पैंतरा बदलते समय होनेवाले कंपनों के प्रभाव को सह सकें। इनकी पठाण चपटे प्लेटों से बनाकर उसके आगे पीछे के सिरों को मंदान और कुदाल की झिरियों में डालकर मोड़ दिया जाता है। फिर उन्हें मल्ल जोड़ द्वारा पक्का भी कर दिया जाता है। बाहरी और भीतरी पठाण प्लेटों को पंजर के साथ टक्करी जोड़ (butt joint) द्वारा कसकर, नीचे की तरफ बाहरी आवरण प्लेटों की कोरों को पठाण के साथ ही जड़ देते हैं। हथियारों के गोदामों में इंजन और यंत्रों की ऊँचाई की सतह तक सुरक्षा के

जहाजी परिभाषायें
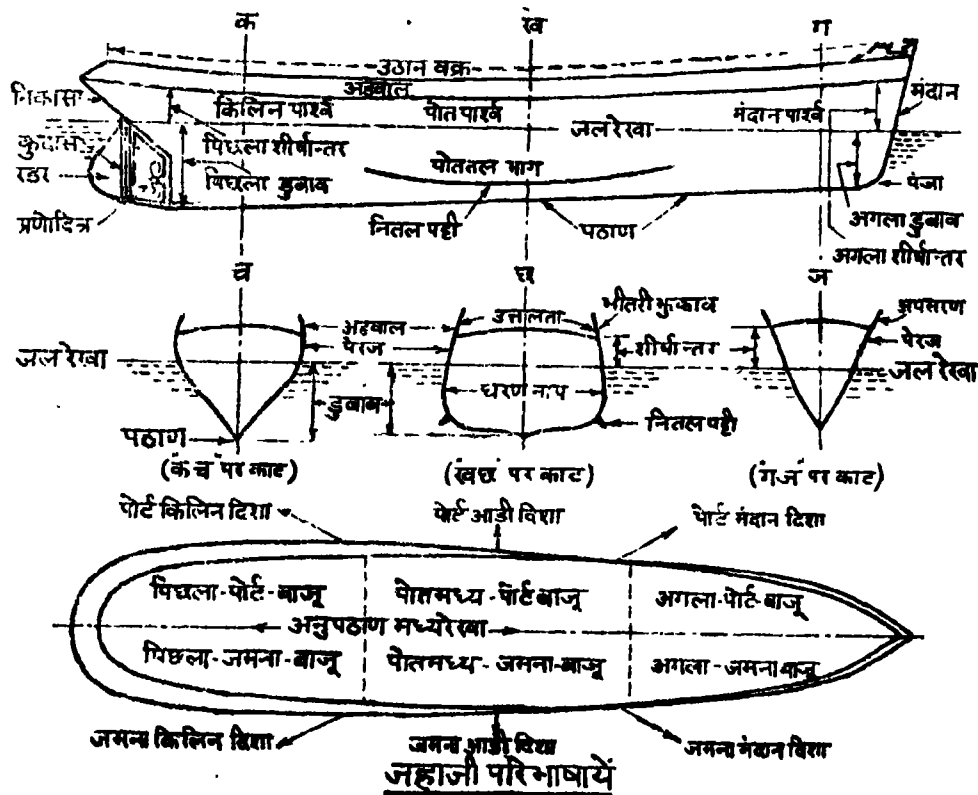
चित्र द.

लिये इस्पात का मोटा कवच प्लेट लगा दिया जाता है। सबसे आगे की पोतभीत (bulk-head) तथा दुंबाल (stern) के बीच कुछ

चित्र ध

खाली जगह छोड़ दी जाती है, जिसे टक्कर पोतभीत (Collision Bulkhead) कहते हैं। चित्र ब और ढ में एक क्रूजर और बेड़ा निर्ध्वंसक

चित्र न

जहाज की अनुप्रस्थ काट दिखाई है, जिससे उनकी बनावट का बहुत कुछ ज्ञान हो सकता है। चित्र ढ में जलनलिका (water tube) तथा

चित्र प

बायलर लगाने के चबूतरे दिखाए गए हैं और चित्र न में अग्निनाल (fire tube) बायलर लगाने की विधि दिखाई गई है। चित्र प की क, ख और ग आकृतियों में विशिष्ट स्थानों को रेखांकित करके क्रमशः मानव आवास, माल और युद्धसामग्री तथा यंत्रादि के उपयुक्त स्थानों का निर्देश किया गया है।

सं० ग्रं०—ए० ई० सीटन : ए मेनुएल ऑव मैराइन इंजिनियरिंग; ए मैनुएल ऑव सीमैनशिप, खंड १, (प्रकाशकः ऐडमिरेल्टी ऑफिस, लंदन) तथा सी० एच० बिरकेल: मैराइन इंजीनियरिंग। [ओ० ना० श०]

जहाज निर्माण के सिद्धांत — जब कोई ठोस पदार्थ पूरा पूरा, अथवा उसका कोई भाग, द्रव में डुबोया जाता है तब उसका भार कम मालूम पड़ता है। यह कमी उस ठोस के द्वारा हटाए हुए द्रव के भार के बराबर होती है। इस सिद्धांत की खोज सबसे पहले आर्किमिडीज ने की थी। जहाज लोहे के बने होने पर भी पानी पर तैरते रहते हैं, क्योंकि कुल जहाज को यदि एक इकाई मान लिया जाय तो उसका समग्र आपेक्षिक घनत्व पानी के आपेक्षिक घनत्व से कम होता है। इसका कारण यह है कि जहाज के समग्र आयतन का बहुत कुछ भाग हवा से भरा होता है। तैरते हुए जहाज तथा उसके सामान का समग्रभार, उसके द्वारा विस्थापित पानी के उत्प्लावक बल के बराबर होता है। विस्थापित द्रव का आयतन जहाज के डूबे हुए भाग के आयतन के बराबर होता है, अतः उत्प्लावक बल जहाज के डूबे हुए भाग के समग्र आयतन और द्रव के घनत्व पर निर्भर करता है। यदि नदी के पानी का आपेक्षिक घनत्व १ मान लिया जाय तो समुद्री पानी का आपेक्षिक घनत्व १·०३ होगा, अर्थात् यदि नदी के ३५·९६७ घन फुट पानी का भार एक टन होता है, तो समुद्री पानी के ३५ घन फुट ही का भार एक टन के बराबर होगा, अर्थात् जहाज नदी के पानी की अपेक्षा समुद्री पानी में अधिक ऊँचे उठकर तैरेंगे। हम देखते हैं कि नौकाएँ या जहाज पानी पर बिलकुल स्थिरता से नहीं रह सकते। पानी की लहरों तथा हवा के कारण सदैव कुछ न कुछ डगमगाते रहा करते हैं, अतः इस विषय पर इस निबंध में उनकी स्थिरता आदि गुणों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

जहाज का लुंठन और तारत्व (Rolling & Pitching of Ships) — जहाजों की अभिकल्पना करते समय उनके लुंठन तथा तारत्व पर सबसे पहले विचार करना आवश्यक होता है। जैसे कि प्रत्येक पेंडुलम के एक दोलन का निश्चित समय होता है, वैसे ही प्रत्येक जहाज के लहरों पर लुंठन करने का एक समय होता है और इसी प्रकार समुद्री लहरों का भी। संयोगवश जब दोनों की लुंठन अवधियाँ संपाती (coincident) हो जाती हैं तब अन्य अवसरों की अपेक्षा लुंठनगति सबसे अधिक होती है, जिसकी मात्रा लहरों की ऊँचाई और शक्ति पर निर्भर करती है। जब जहाज लहरों के कारण एक ओर को झुकता है तब उसके बाहरी आवरणपटों, पंजर, स्थूणाओं (beams) आदि पर पड़नेवाले बलों की मात्रा बदलने लगती है। जहाज को हम एक यौगिक पेंडुलम के समान समझकर उसके लुंठन की अवधि निम्नलिखित सूत्र से जान सकते हैं : $t = 2\pi k/\sqrt{lg}$, जिसमें k उसके गुरुत्वकेंद्र के विचार से घूर्णनत्रिज्या (radius of gyration), l गुरुत्वकेंद्र से बलकेंद्र (Metacentre) की ऊँचाई, t = लुंठन का समय और g = ३२·२। चित्र १. में क ख छ त च जहाज के मध्य परिच्छेद की रूपरेखा है, जिसमें पठाए छ सीधी हालत में है। इसमें त ता समुद्री पानी की सतह, ग गुरुत्वकेंद्र और ब विस्थापित जल का उत्प्लावक केंद्र है। जब जहाज पानी पर सीधा तैरता है, उस समय उसका त छ ता भाग पानी में डूबा रहता है, अर्थात् जहाज को ऊपर उठानेवाला उत्प्लावक बल जहाज के भार के कारण उत्पन्न नीचे डुबानेवाले बल के बराबर होता है। अतः गुरुत्व केंद्र ग और उत्प्लावक केंद्र ब दोनों एक ही ऊर्ध्वाधर रेखा ब छ पर स्थित रहते हैं और जहाज के,

समस्त अवयवों पर पड़नेवाले प्रतिबल समविभाजित तथा संतुलित अवस्था में रहते हैं। इस समय जहाज के आवरण पर पड़नेवाला समुद्री पानी का दबाव उसे पिचकाने की चेष्टा करता है और भीतरी ढाँचा
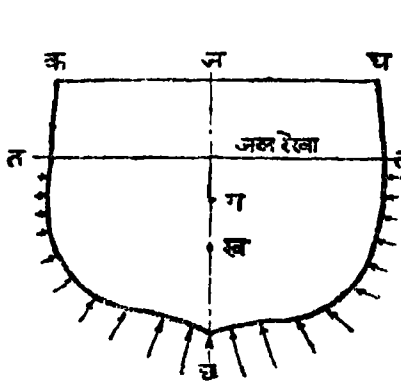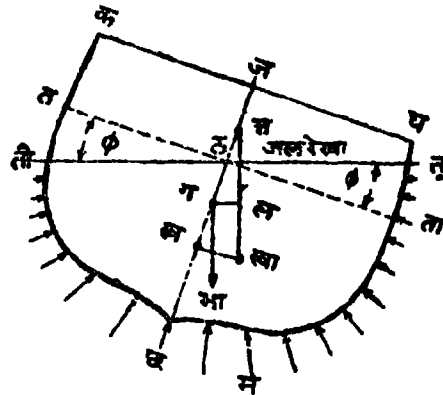
चित्र १ चित्र २

उसका विरोध करता है। जहाज के ढाँचे पर इस प्रकार से जितने भी बल और प्रतिबल पड़ते हैं वे सब त छ ता क्षेत्र तक ही सीमित रहते हैं, जिनकी मात्रा विविध लंबाई के बाणों द्वारा चित्र में दिखाई है। इससे विदित होता है कि सबसे अधिक परिमाण के बल, जिनकी प्रवृत्ति उसे ऊपर उठाने की ही रहती है, जहाज के पेंदे के निकट पड़ते हैं।

अब मान लीजिए चित्र २. के अनुसार, समुद्री लहरों के कारण, जहाज किसी विशेष कोण ϕ पर दाहिनी तरफ झुक गया, जिससे पानी की सतह रेखा ती तू हो गई। यदि इसके भीतर लदा हुआ सामान अपने स्थान पर स्थिरता से जमा हुआ है, तो इस हालत में भी उसका गुरुत्वकेंद्र ग स्थान पर ही पूर्ववत् रहेगा, लेकिन जहाज को डुबानेवाली दाब की क्रियात्मक रेखा, मध्य रेखा ज छ से हटकर ग भा रेखा पर आ जाएगी और जहाज के आवरण का त ती चिह्नित भाग पानी के दबाव से विमुक्त हो जायगा तथा उसके दूसरी तरफ का तू ता भाग, जिसपर पहले कोई दबाव नहीं था, अब पानी की दाब से प्रभावित होने लगेगा। अत: जहाज के बोझ के कारण पड़नेवाला परिणामी दाब (resultant pressure) छ बिंदु की सीध में पड़ने के बदले छ और ता के बीच में कहीं म बिंदु पर पड़ेगा।

जहाज की स्थिरता (Stability) — उपर्युक्त परिस्थिति को समझते हुए, अब हम जहाज की स्थिरता पर विचार कर सकते हैं। उसे साम्यावस्था में स्थिर रखने के लिये यह आवश्यक है कि अधोगामी गुरुत्व बल तथा ऊर्ध्वगामी उत्प्लावक बल दोनों ही समान और एक ही सीधी रेखा में परंतु विपरीत दिशा में अपना प्रभाव डालनेवाले हों तथा ऐसी भी परिस्थितियाँ होनी चाहिए कि यदि उसकी साम्यावस्था को बिगाड़नेवाली अन्य हलचल होने लगे तो इस प्रकार के बल भी उत्पन्न हो जाएँ जिनसे वह फिर से साम्यावस्था में आ जाय।

चित्र १. में दिखाई गई जहाज की सीधी स्थिति में ऊर्ध्वाधर मध्य रेखा ज ग ख छ जहाज के मध्य परिच्छेद क्षेत्र को दो समान क्षेत्रों में बाँट देती है। जब उसे त ता रेखा तक लाद दिया जाता है तब तो उसके गुरुत्वकेंद्र ग और उत्प्लावक केंद्र पूर्ववत् ही रहते हैं, किंतु जब समुद्री हवा के कारण वह एक स्वल्प कोण ϕ के बराबर तिरछा हो जाता है तो नई जलरेखा ती तू मूल रेखा त ता से ϕ कोण बनाती हुई मूल रेखा को तिरछी कर देती है। इस स्थिति में गुरुत्वकेंद्र तो अपने पुराने स्थान ग पर ही रहता है, किंतु उत्प्लावक केंद्र ख से हटकर खा पर आ जाता है। अब यदि खा से एक ऊर्ध्वाधर रेखा बनाएँ तो वह जहाज के ढाँचे की मध्य रेखा को च बिंदु पर काटेगी। यह इस समय जहाज का अनुप्रस्थ चलकेंद्र (Transverse Metacentre) कहलाएगा और रेखा ग च की लंबाई चलकेंद्रीय ऊँचाई (metacentric height) कहलाएगी, जो जहाज की स्थिरता की गणना करने के लिये बड़ी ही महत्वपूर्ण चीज है। चित्र २ के अनुसार जहाज के तिरछा होने से उसके परिच्छेद का क्षेत्र त ठ ती जो पहले पानी में डूबा था, उघड़ गया और क्षेत्र तू ठ ता, जो पहले उघड़ा हुआ था, अब डूब गया। अतः गणित द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि जब तक ख च > ख ग, अर्थात् जब तक जहाज का गुरुत्वकेंद्र ग, चलकेंद्र च से नीचे है तब तक जहाज स्थिर रहेगा और साधारणतया जैसे जैसे झुकाव का कोण ϕ, ३०° तक बढ़ेगा तथा चलकेंद्र की ऊँचाई बढ़ेगी, जहाज की स्थिरता भी बढ़ेगी तथा इससे अधिक झुकाव पर कम होने लगेगी। लेकिन ये सब बातें जहाज की बनावट पर निर्भर करती हैं। कुछ विशेष प्रकार के जहाजों में ४०° अथवा ४५° तक स्थिरता बढ़ती है और कइयों में २०° तक ही रहती है, फिर घटने लगती है।

संवेदनशीलता (Tenderness) और दुर्नम्यता (Stiffness) — विभिन्न जहाजों में उनकी रचना के अनुसार गुरुत्वकेंद्र तथा चलकेंद्र के बीच का अंतर कुछ इंचों से लेकर ४ फुट तक हुआ करता है। यह अंतर जितना ही अधिक होता है, जहाज उतना ही अधिक दुर्नम्य होता है। ऐसे जहाजों में स्थिरता की मात्रा तो काफी अधिक होती है, किंतु उनके लुंठन की अवधि कम होने के कारण आवर्तन अधिक होते हैं। जिनमें उक्त फासला कम होता है वे अधिक संवेदनशील होते हैं, किंतु उनकी लुंठन अवधि बड़ी तथा स्थिरता कम होती है।

जहाजों की स्थिरता भी दो प्रकार की होती है, एक तो स्थैतिक (statical) और दूसरी गत्यात्मक (dynamical), प्रत्येक जहाज में दोनों ही प्रकार की स्थिरताओं का होना आवश्यक है।

स्थैतिक स्थिरता — चित्र २. में हम देखते हैं कि टेढ़े हुए जहाज को पुनः सीधा करने में दो बल खा च और ग भा एक ही बल युग्म के रूप में काम करते हैं, जिसकी भुजा ग ज है। दोनों बल जहाज के समग्र भार के बराबर हैं क्योंकि ग ज = ग च ज्या ϕ। यदि हम जहाज के समग्र भार को भ ट न मान लें तो

स्थैतिक स्थिरता = भ × ग च ज्या ϕ होगी।

गत्यात्मक स्थिरता — जहाज में लदे सामान के कम हो जाने से उसका गुरुत्वकेंद्र ऊँचा उठ जाया करता है तथा उत्प्लावक केंद्र नीचे उतर जाता है। अब यदि कोई बाहरी बल, जो ऊर्ध्वाधर दिशा में नीचे की ओर गुरुत्व केंद्र में से होकर अपना प्रभाव डालता हो, गुरुत्वकेंद्र नीचे को वापस सरका दे और कोई अन्य बाहरी बल, जो ऊर्ध्वाधर दिशा में उत्प्लावक केंद्र में से होकर तथा ऊपर को प्रभाव डालकर उत्प्लावक केंद्र को ऊपर उठा दे, तो ऐसा करने में उन बलों को कुछ कार्य करना पड़ेगा। यदि उक्त केंद्रों के स्थानांतरण की

मात्रा क फुट हो तथा जहाज का भार भ टन हो तो उक्त कार्य की मात्रा भ क फुट-टन होगी। यही उस जहाज की गत्यात्मक स्थिरता का मान होगा, अर्थात् जहाज को टेढ़े से सीधा करने में जितने फुट-टन कार्य करना पड़े वही उसकी गत्यात्मक स्थिरता समझी जानी चाहिए।

अनुदैर्ध्य चलकेंद्र (Longitudinal Metacentre) — जहाज की पार्श्वीय लुंठन गति संबंधी स्थिरता पर विचार करने के साथ ही अनुदैर्ध्य दिशा में होनेवाले दोलन संबंधी उसकी स्थिरता पर भी विचार करना आवश्यक है। जहाज के चलते समय उसका उत्प्लावक केंद्र अनुदैर्ध्य रेखा पर आगे पीछे जहाज के दोलन के कारण सरकने लगता है और जहाज का गुरुत्वकेंद्र उसकी मध्य ऊर्ध्वाधर रेखा पर रहता है। अतः उत्प्लावक केंद्र में से अनुदैर्ध्य तल में होकर गुजरनेवाली ऊर्ध्वाधर रेखा जहाँ गुरुत्वकेंद्र की ऊर्ध्वाधर रेखा को काटती है, वहीं जहाज का अनुदैर्ध्य चलकेंद्र समझा जाता है। इसकी स्थिति को जानने का वही तरीका है जो अनुप्रस्थ चलकेंद्र को जानने के लिये प्रयुक्त होता है। इसका उपयोग जहाज की अनुदैर्ध्य नति जानने के लिये किया जाता है।

अनुदैर्ध्य स्थायित्व (Longitudinal Stability) — किसी विशेष डुबाव (draught) पर जब जहाज लंबाई की दिशा में एक तरफ झुक जाता है, तब वह फिर अपने अनुदर्ध्य स्थायित्व गुण के कारण अपनी सामान्य जलतल रेखा पर आने की चेष्टा करता है। इस गुण को उचित मात्रा में बनाए रखने के लिये उसपर लदे भारों को इधर उधर सरकाकर समायोजित करना होता है। जहाज निर्माण करते समय उसकी अनुदैर्घ्य मध्य रेखा की दिशा में एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक, अर्थात् जहाज की पूरी लंबाई भर में, बहुत से जलाभेद्य कक्ष बना दिए जाते हैं, जिनमें से उपयुक्त एक, दो, अथवा अधिक में आवश्यकतानुसार समुद्री पानी भरकर जहाज की नति (trim) को सम कर दिया जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे हम किसी तुलादंड पर जहाँ तहाँ अनेक बोझे उपयुक्त प्रकार से लटकाकर उसे संतुलित कर दिया करते हैं। चित्र ३. में प फ ब भ जहाज की अनुदैर्घ्य काट है, जिसमें बराबर बराबर नाप के आठ जलाभेद्य कक्ष
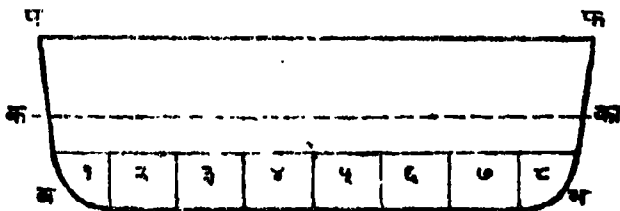
चित्र ३

हैं और क ख उसकी जल-तल-रेखा है। अब यदि किसी कारण चित्र ४. के अनुसार वह जहाज आगे की तरफ, फ भ सिरे पर झुक जाता है, तो उसके पीछेवाले १, २, ३, अथवा ४ कक्ष में उचित मात्रा में पानी भर कर उसे पूर्ववत् सम किया जा सकता है। किंतु पहले जो उसकी जल तल रेखा क ख थी, अब अधिक बोझ के कारण डूब जाएगी और उसकी नई जल तल रेखा ग गा हो जाएगी; तथापि जहाज के पुनः संतुलित होने के कारण उसकी अनुदैर्ध्यस्थिरता बढ़ जाएगी।

आरक्षित उत्प्लावकता (Reserved Buoyancy) — साधारण प्रकार से पानी में तैरते समय जहाज का जितना हिस्सा पानी में डूबा रहता है, उसी के अनुपात से उसे उत्प्लावकता की मात्रा प्राप्त होती है। यदि जहाज को किसी प्रकार से कुछ और बोझा नियंत्रित कर दिया जाय, तो उसकी उत्प्लावकता की मात्रा बढ़ जायगी। अतः उत्प्लावकता
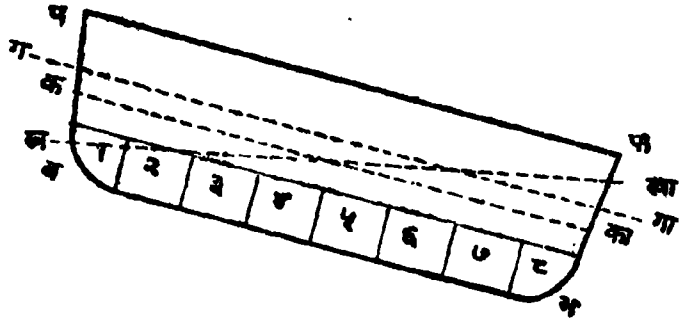
चित्र ४

की यह अतिरिक्त महत्तम मात्रा, आरक्षित उत्प्लावकता कहलाती है, जिसका सदुपयोग आपातिक अवसरों पर किया जा सकता है। हम देखते हैं कि समुद्री पानी की सतह की रेखा के ऊपर भी दो डेक बने होते हैं, जो चारों तरफ से जलाभेद्य होते हैं और जिनके बीच हवा भरी रहती है। अतः उनके बीच बंद हवा के, जो पानी की सतह के ऊपर है, आयतन के अनुसार ही आपेक्षित उत्प्लावकता की मात्रा समझी जाती है। इसलिये जिस जहाज में जितनी ही अधिक आरक्षित उत्प्लावकता की मात्रा उपलब्ध रहे, उतनी ही अधिक उस जहाज की निरापदता समझी जानी चाहिए।

शीर्षांतर (Free Board) — प्रत्येक जहाज अपने वर्ग की मानक विशिष्टियों (standard specifications) के अनुसार ही बनाया जाता है, किंतु फिर भी माल ढोनेवाले जहाज को बनाते समय आरंभ से ही इसका अनुमान लगाया जाता है कि उसमें अधिक से अधिक कितना माल ले जाया जाएगा और उसी के अनुसार यह निश्चित कर लिया जाता है कि पानी में तैरते समय पूरे लदे हुए जहाज का कितना भाग पानी में डूबा रहने देना चाहिए। अतः उत्प्लावकता की कम से कम जितनी भी मात्रा आरक्षित रखनी हो उसी के अनुसार जहाज के डुबाव की मात्रा निश्चित की जाती है। जहाज की सुरक्षा के लिये आरक्षित उत्प्लावकता के अतिरिक्त उसकी जाति के अनुसार बनावट, ढंग और मजबूती पर भी ध्यान देना आवश्यक होता है।

कोई जहाज बंदरगाह के भीतर शांत समुद्री पानी में जब अधिक से अधिक डूबा रहता है, उस समय जहाज की लंबाई के मध्यभाग में, ऊपरी डेक के किनारे से पानी की सतह तक की उघड़ी दूरी उसका शीर्षांतर कहलाती है। इस शीर्षांतर के परिमाण को प्रदर्शित करने के लिये जहाजों के पार्श्व में, उनकी आवरणप्लेट पर कुछ संकेत रेखाएँ बना दी जाती हैं, जिन्हें प्लिम्सॉल रेखा और लॉयड का चक्र (Lloyd's disc) कहते हैं (देखें चित्र ५.)। ये रेखाएँ काफी चौड़ी हुआ करती हैं। इंग्लैंड की पार्लियामेंट के एक सदस्य श्री प्लिम्सॉल (Plimsoll) ने १८६८ ई० में जहाजी यात्रियों की जान और माल की सुरक्षा के लिये पार्लियामेंट में एक प्रस्ताव पास करवाया कि प्रत्येक जहाज पर एक सुरक्षा-भार-रेखा अवश्य होनी चाहिए। १८९० ई० में कुछ नियम बने, जिनके अनुसार जहाज पर उतना माल लादने की ही आज्ञा दी गई जितने में जहाज उस रेखा तक ही डूब सके। इन रेखाओं के पास एक गोल प्लेट भी होती है, जिसके क्षैतिज व्यास के दोनों छोरों पर L और R अक्षर लिखे होते हैं। इस व्यासीय रेखा का ऊपरी किनारा ही वह सीमा है जहाँ तक जहाज को माल लादने के बाद पानी में अधिक से अधिक डुबाया चाहिए। अब

रेखा लायड्स रजिस्टर ऑव शिपिंग से तय होती है। चित्र में दिखाए अनुसार जहाज के ऊपरी किनारे से रेखा के ऊपरी किनारे तक का

चित्र ५
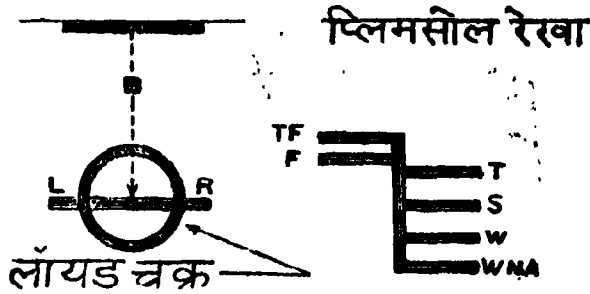
फासला B, जहाज का शीर्षांतर है। ताजा पानी समुद्री पानी से हल्का होता है और गरम पानी ठंडे पानी से हलका होता है, अतः बगल में अनेक पानियों और मौसिमों के लिये अलग अलग रेखाएँ खिंची होती हैं, जिनपर उनके सूचक अक्षर निम्नलिखित प्रकार से लिखे होते हैं। T F = उष्ण कटिबंधीय ताजा पानी, F = ताजा पानी, T = उष्ण कटिबंधीय समुद्री पानी, S = ग्रीष्म ऋतु में समुद्री पानी, W = शरद् ऋतु में समुद्री पानी, W N A = ३५० फुट से छोटे जहाजों के लिये उत्तरी ऐटलांटिक में शरद् ऋतु में समुद्री पानी।

जहाजों को पानी में चलाने के लिये अश्वशक्ति की गणना — जब जहाज पानी में उतराया हुआ होता है तब उसकी भीगी हुई सतह (wetted surface) के अनुपात से ही उसका आवरण प्रतिरोध (skin resistance) भी हुआ करता है। साधारण गति पर यह प्रतिरोध १ पाउंड प्रति वर्ग फुट के लगभग हुआ करता है। अतः जहाज की

$$\text{अश्वशक्ति} = \frac{\text{भीगी सतह का क्षेत्रफल} \times \text{गति प्रति सेकंड फुटों में}}{५५०}।$$

इस सूत्र में इंजनों की कार्यक्षमता पर विचार नहीं किया गया है। वास्तव में भीगी सतह के प्रति वर्ग फुट पीछे एक पाउंड अवरोध की दर कुछ ऊँची ही पड़ती है, किंतु जब इंजन आदि के अन्य अवरोध भी गिन लिए जाते हैं तो उक्त दर ठीक ही पड़ जाती है। प्रयोगों द्वारा मालूम हुआ है कि साधारण प्रकार की बारीकियों पर विचार करते हुए १०० वर्ग फुट भीगी सतहवाले जहाज को यदि १० नॉट (knot) प्रति घंटे की गति से चलाया जाय तो उसमें लगभग ५ सूचित अश्व शक्ति (Indicated Horse Power) खर्च होती है। यदि इससे भी तीव्र गति पर चलाया जाय तो सू० अ० श० की मात्रा गति के घन (cube) के अनुपात से होगी। उदाहरणतः, यदि किसी जहाज की भीगी सतह ४,८०० वर्ग फुट हो तो उसे १० नॉट की रफ्तार से चलाने के लिये $\frac{४८००}{१००} \times ५ =$ २४० सू० अ० श० चाहिए और उसी को यदि १५ नॉट प्रति घंटा चलाएँ, तो $\text{सू० अ० श०} = \frac{१०^3 \times २४०}{१५^3} = ८१०$ सू० अ० श० चाहिए।

जहाजों का समग्र भार — जहाजों के समग्र भाग को व्यक्त करने के कई तरीके प्रचलित हैं, जिनमें से प्रमुख तरीकों का वर्णन नीचे किया जाता है :

जहाज का टन मान अर्थात् टन भार (Tonnage) — जहाज पर पूरा ईंधन, पानी, स्टोर तथा कार्यकर्ताओं को लादने के बाद वह जितने घन फुट समुद्री पानी को विस्थापित करता है उस पानी के भार के बराबर ही उसका टन मान होगा। यदि जहाज की डूबी हुई सतह का आयतन घनफुट में मालूम करके उस आयतन में ३५ का भाग दे दें तो भागफल जहाज का टनमान होगा, क्योंकि ३५ घन फुट समुद्री जल का भार एक टन हुआ करता है। यह तरीका जंगी जहाजों के लिये बरता जाता है।

लदान का कुल टन भार (Gross Tonnage) — जहाज के भीतरी खाली आयतन को, जिसमें सामान भरा जा सकता है, १०० घन फुटों से भाग देने पर लदान का टन भार मालूम हो जाता है, क्योंकि व्यापारी माल जहाजों में १०० घन फुट जगह एक टन के बराबर समझी जाती है।

पंजीकृत शुद्ध टन भार (Net Registered Tonnage) — इस इकाई के द्वारा जहाजों की उपार्जन क्षमता (earning capacity) नापी जाती है। इसमें जहाज के उस भीतरी खाली जगह के आयतन पर विचार किया जाता है, जिसमें वह माल और मुसाफिर भरकर ले जा सकता है। यह भी उसके लदान का कुल टन भार ही है। इस गणना में उसके संयंत्र, यंत्रोपकरण, कार्यकर्ताओं के आवास, सब प्रकार के पुल, औजार, गोदाम आदि की जगह छोड़ दी जाती है। इस विधि से बंदरगाहों के शुल्क और नहरों के करों की गणना की जाती है।

अचल टन भार (Dead Weight Tonnage) — जहाज के राज्यानुमोदित डुबान पर तैरते समय जितना माल, मुसाफिर, कर्मचारी, स्टोर, ईंधन और पानी लेकर वह जहाज चल सकता है, अर्थात् जो सामान खाली किया जा सकता है और खर्च हो सकता है, उसका भार इस गिनती में आ जाता है।

प्रति इंच निमज्जन टन भार (Tons per inch immersion)— इस विधि में, जहाज की प्रति इंच गहराई को जल में निमज्जित करने के लिये जितने भार की आवश्यकता होती है, उसकी गणना की जाती है। यह विभिन्न डुबान के तलों पर भिन्न भिन्न हुआ करती है। इस प्रकार की एक सारणी जहाज बनते समय ही तैयार कर ली जाती है।

कर्ण-संचालन-बल (Power required for steering) – जहाजों का कर्णसंचालन उनके सुकान (rudder) द्वारा हुआ करता है, जो जहाज के पिछले खंभे (कुदास) से कब्जों द्वारा जुड़ा रहता है। जहाज के चलते समय जो पानी उसके अगवाड़ों (bows) द्वारा ढकेला जाता है वह जहाज की बगलियों के सहारे बहकर उसके धावनपथ (run) में, जहाँ रडर लटका होता है, आ जाता है। अतः इस पानी की दाब रडर तथा जहाज के पिछले अंगों पर पड़ती है, जिस कारण जहाज का शीर्ष भाग (ship's head) आगे की तरफ चलता है। यदि जहाज का पिछला भाग अधिक डूबा हुआ हो, तो कर्णसंचालन में अधिक जोर पड़ता है, अतः उस समय रडर को कुछ ऊपर खींचना पड़ता है। जिस जहाज में एक अथवा तीन प्रणोदित्र पंखे लगे हों उसमें बीचवाले पंखे के लिये भी फ्रेम में जगह छोड़नी होती है। अतः आगे की तरफ से बहकर आनेवाली पानी की धारा उसके खाँचे में घुसने लगती है, जिससे कर्णसंचालन में अधिक जोर पड़ने लगता है और जहाज को ढकेलनेवाले पानी की दाब कम हो जाती है। जिनमें यह खाँचा नहीं होता उनमें पानी, जहाज को पीछे से, अधिक बल से ढकेलता है। जहाज जितना ही अधिक तेजी से पानी में चलता है उसका कर्णसंचालन उतनी ही अधिक सुविधा से किया जा सकता है, किंतु जहाज की दिशा बदलने में उतनी ही अधिक कठिनाई भी होती है। कर्णसंचालन के समय रडर को सीधे मार्ग से

१७° से अधिक कभी नहीं मोड़ा जाता, जल्दी दिशा बदलने के लिये १०° तक घुमाना काफी समझा जाता है। रडर को जल्दी से घुमाना भी खतरनाक होता है।

सं० ग्रं० — ए० ई० सीटन : मैनुअल ऑव मैराइन इंजीनियरिंग।

[ओं० ना० श०]

जहाजरानी का इतिहास नदियों और समुद्रों में नावों और जहाजों से यात्रा तथा व्यापार का प्रारंभ लिखित इतिहास से पूर्व हो गया था। प्रायः साधारण जहाज ऐसे बनाए जाते थे कि आवश्यकता पड़ने पर उनसे युद्ध का काम भी लिया जा सके, क्योंकि जलदस्युओं का भय बराबर बना रहता था और इनसे जहाज की रक्षा की क्षमता आवश्यक थी। ये जहाज डाँड़ों या पालों, अथवा दोनों, से चलाए जाते थे और वांछित दिशा में ले जाने के लिये इनमें किसी न किसी प्रकार के पतवार की भी व्यवस्था होती थी। स्थलमार्ग से जलमार्ग सरल और सस्ता होता है, इसलिये बहुत बड़ी या भारी वस्तुओं को बहुत दूर के स्थानों में पहुँचाने के लिये आज भी नावों अथवा जहाजों का उपयोग होता है। प्राचीन काल में सभ्यता का उद्भव नौगम्य नदियों या समुद्रतटों पर ही विशेष रूप से हुआ और ये ही वे स्थान थे जहाँ विविध संस्कृतियों की, जातियों के संमिलन से, परवर्ती प्रगति का बीजारोपण हुआ।

प्राक्‌ऐतिहासिक काल — कुछ विद्वानों का मत है कि भारत और शत्तेल अरब की खाड़ी तथा फरात (Euphrates) नदी पर बसे प्राचीन खल्द (Chaldea) देश के बीच ईसा से ३,००० वर्ष पूर्व जहाजों से आवागमन होता था। भारत के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में जहाज और समुद्रयात्रा के अनेक उल्लेख हैं (ऋक्‌ १।२५।७, १।४८।३, १।५६।२, ७।८८।३–४ इत्यादि)। प्रथम मंडल (१।११६।३) की एक कथा में १०० डाँड़ोंवाले जहाज द्वारा समुद्र में गिरे कुछ लोगों की प्राणरक्षा का वर्णन है। इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद काल, अर्थात्‌ लगभग २,०००–१,५०० वर्ष ईसा पूर्व, में यथेष्ट बड़े जहाज बनते थे और भारतवासी समुद्र द्वारा दूर देशों की यात्रा करते थे। वाल्मीकीय रामायण के अयोध्याकांड में जहाजों पर चढ़कर जलयुद्ध करने का उल्लेख मिलता है तथा महाभारत के द्रोण पर्व में ऐसे वणिकों का उल्लेख है, जिनका जहाज टूट गया था और जिन्होंने एक द्वीप में पहुँचकर रक्षा पाई थी। मनुसंहिता में जहाज के यात्रियों से संबंधित नियमों का वर्णन है। याज्ञवल्क्य संहिता, मार्कंडेय तथा अन्य पुराणों में भी अनेक स्थलों पर जहाजों तथा समुद्रयात्रा संबंधित कथाएँ और वार्ताएँ हैं। धर्मग्रंथों के अतिरिक्त अनेक संस्कृत काव्य, नाटक आदि भी प्राचीन भारत के अर्णवपोतों की गौरवगाथाओं से भरे पड़े हैं। भारतवासी जहाजों पर चढ़कर जलयुद्ध करते थे, यह बात वैदिक साहित्य में तुग्र ऋषि के उपाख्यान से, रामायण में कैवर्तों की कथा से तथा लोकसाहित्य में रघु की दिग्विजय से स्पष्ट हो जाती है। पालि साहित्य के जातकों एवं प्राकृत में लिखित जैन पुराणों में भी जहाजों और समुद्रयात्रा के विवरण पाए जाते हैं। प्रसिद्ध विद्वान्‌ टामस विलियम रीस डेविड्स के मतानुसार 'प्राचीन काल में भारत का बाबुल और संभवतः मिस्र, फिनिशिया और अरब देशों के साथ समुद्र द्वारा वाणिज्य संबंध था। इन देशों के व्यापारी प्रायः वाराणसी या चंपा से जहाज पर सवार होते थे। इसका उल्लेख प्रायः मिलता है।'

यह निःसंदेह है कि प्राचीन काल में फिनीशिया निवासी बड़े साहसी समुद्रगामी थे। इन्होंने भूमध्यसागर के तटवर्ती अनेक स्थानों पर पत्तन और उपनिवेश स्थापित कर रखे थे और एशिया के विभिन्न देशों से माल इकट्ठा कर वे समस्त यूरोपीय देशों में पहुँचाते थे। यह व्यापार ही इस जाति की समृद्धि का मुख्य कारण था। ईसा पूर्व सातवीं या छठी शताब्दी तक भारत से मिस्र, खल्द तथा दजला (Tigris) नदी से होते हुए बाबुल (Babylon) तक समुद्रतटीय मार्गों द्वारा व्यापार का नियमित क्रम बँध गया था। पिछले काल में ग्रीस निवासियों का भी भूमध्यसागरीय व्यापार में हाथ हो गया था, किंतु रोम साम्राज्य के स्थापित होने पर जब निरंतर युद्ध तथा जलदस्युओं के अत्याचारों से शांति मिली तभी यूरोपीय समुद्रीय व्यापार पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँच सका।

ऐतिहासिक काल — ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी में भारत अभियान से लौटते समय सिकंदर महान्‌ के सेनापति निआर्कस (Nearchus) ने अपनी सेना को समुद्रमार्ग से स्वदेश भेजने के लिये भारतीय जहाजों का बेड़ा एकत्रित किया था। ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में निर्मित सांची स्तूप के पूर्व तथा पश्चिमी द्वारों पर अन्य मूर्तियों के मध्य जहाजों की प्रतिकृतियाँ भी हैं। ईसा की द्वितीय शताब्दी के इतिहासकार ऐरिऐन (Arrian) का कहना है कि पंजाब देश की एक जाति तीस डाँड़वाले जहाज बनाकर उन्हें किराए पर चलाया करती थी। इन्होंने पत्तनों का भी उल्लेख किया है। ग्रीक दूत मेगास्थिनीज के अनुसार मौर्ययुग में एक विशेष जाति के लोग राज्य की देखरेख में जहाज बनाने का कार्य करते थे। स्ट्रैबो (Strabo, ई० पू० ६४-२४ ई०) का कहना है कि ये जहाज व्यापारियों को किराए पर दिए जाते थे। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में (काल ३२१-२९६ ई० पू०) राज्य के एक स्वतंत्र विभाग की चर्चा की है, जिसके ऊपर नदी और समुद्रयात्रा विषयक सब प्रबंधों का भार रहता था। पत्तनों की व्यवस्था, कर की तथा वणिकों और यात्रियों से भाड़े की वसूली, नियमों का पालन कराना इत्यादि इस विभाग के कर्तव्य थे। भारत के समुद्रतटीय प्रदेशों में स्थित अनेक पत्तनों से समुद्र द्वारा आवागमन तथा व्यापार होता था।

बंबई से २५ मील दूर सालसेट द्वीप पर अवस्थित तथा ईसा की द्वितीय शताब्दी में निर्मित, कन्हेरी के गिरिमंदिर में उत्कीर्ण एक चित्र में भग्न जहाज और व्याकुल यात्रीगण प्रार्थना करते दिखाए गए हैं। अजंता की द्वितीय गुहा में जहाज संबंधी चित्र अंकित हैं। इनमें से एक में विजय की सिंहलयात्रा दिखाई है। चित्रों के अधिकांश जहाजों में लंबे लंबे मस्तूल और अनेक पाल हैं। इतिहासकार विंसेंट स्मिथ का मत है कि द्वितीय और तृतीय शताब्दी के आंध्र राजाओं की मुद्राओं में जहाजों की प्रतिलिपियों से अनुमान होता है कि इनका साम्राज्य समुद्र पार के देशों में भी था। पल्लव राजाओं के सिक्कों में भी जहाज के चित्र मिलते हैं। ईसा के ४०० वर्ष पश्चात्‌ चीनी यात्री फाहियान (फाशिएन, Fa-Hsien) ने ताम्रलिप्ति से एक जहाज पर चढ़कर स्वदेश को यात्रा की थी। ताम्रलिप्ति, पूर्व बंग के चटगाँव तथा भारत के अन्य पत्तनों से वणिकों और यात्रियों की समुद्रयात्राओं के उल्लेख मिलते हैं। प्राचीन भारत में जहाजों की निर्माण प्रणाली के सिद्धांतों और नियमों का ज्ञान भोज के 'युक्तिकल्पतरु' नामक ग्रंथ से मिल सकता है।

प्राचीन काल में नौवहन सुव्यवस्थित व्यापार था। जहाज के स्वामी, माल भेजनेवाले वणिक्‌ और यात्रियों के संबंध में स्पष्ट नियम निर्धारित थे। प्रायः वणिकों के अपने जहाज होते थे, किंतु वणिक्‌ पूरा जहाज, या उसपर माल लादने योग्य स्थान, किराए पर भी लेते थे। कुछ

यात्राओं के लिये कई वणिक् एकत्रित हो संघ भी स्थापित कर लेते थे। वणिक् प्रसिद्ध पत्तनों में अपने गुमाश्ते भी रखते थे। इन पत्तनों के विकास के लिये आवश्यक उपाय किए जाते थे। जहाज हजारों मील लंबी यात्राएँ करते थे। ईसा से ५०० वर्ष पूर्व भी फिनीशियन नाविक मिस्र के पत्तनों से चलकर अफ्रीका के पश्चिमी समुद्रतट तक जाते थे। रोमन काल में रोम और भारत के बीच मिस्र होते हुए बहुत बड़ा व्यापार होता था। इसका प्रमाण ईसा की प्रथम शताब्दी में लिखित ग्रंथ 'पेरिप्लस ऑव दि एरिथ्रीयन सी' (Periplus of the Erythrean Sea) में मिलता है।

२५० टन भार तक के और कुछ इससे भी बड़े जहाज बनते थे। जब युद्धोपयोगी जहाज बनने लगे तो लंबे, सँकरे, डाँड़ों से चलने और सरलता से इधर उधर घूमनेवाले जहाज बनाए गए। माल ढोनेवाले, या व्यापारी जहाज चौड़े, गहरे और पाल से यात्रा करनेवाले होते थे। इनकी चाल मंद होती थी और इनको घुमाने में देर लगती थी। इन जहाजों में डाँड़ों का उपयोग सहायताकारी होता था। साधारणतः जहाज भूमि से अधिक दूर नहीं जाते थे और मौसम खराब होने पर पास के किसी पत्तन की शरण लेते थे। सुरक्षा के लिये जहाजों को पत्तनों और अन्य रक्षित स्थानों में महीनों रुक जाना पड़ता था। भारत की यात्रा में मानसून से बड़ी सहायता मिलती थी और यह प्रायः बिना बीच में रुके संपन्न हो जाती थी। नौ-चालन-विज्ञान प्रारंभिक अवस्था में था। आधुनिक सहायक यंत्र तो दूर, दिशाओं को बतानेवाले साधारण चुंबकीय दिक्सूचक तक नहीं थे। इसलिये भूमि से बहुशः संपर्क बनाए रखना आवश्यक होता था और लंबी, महासागरीय यात्राएँ अव्यावहारिक थीं।

फिर भी, साहसी मनुष्यों ने अज्ञात सागरों में हजारों मीलों की यात्राएँ कीं। भारतवासियों ने अपने देश से अति दूर, कितने ही समुद्रों को लाँघकर स्वर्णद्वीप (सुमात्रा), यवद्वीप (जावा), हिंद चीन इत्यादि में उपनिवेश तथा राज्य स्थापित किए और भारतीय संस्कृति फैलाई। सबसे आश्चर्यजनक बात तो प्रशांत महासागर स्थित सहस्रों द्वीपों में मनुष्यों का बसना है। ये अल्प विकसित सभ्यतावाले मनुष्य अवश्य एशिया, आस्ट्रेलिया या अमरीका महादेशों से ही इन छोटे छोटे द्वीपों में पहुँचे होंगे। इनमें से अनेक की दूरी इन महादेशों अथवा अन्य द्वीपों से १,००० मील से भी अधिक है और यह महासागर अचानक उठनेवाले भयंकर तूफानों के लिये प्रसिद्ध है। ये यात्राएँ बेड़ा और डोंगों में ही पूरी की गई होंगी।

मध्य युग — १४वीं और १५वीं शताब्दी में जहाज के शिल्प ने यूरोप में बहुत उन्नति की। नौचालन विद्या में भी बड़ी प्रगति हुई। दिक्सूचक का प्रयोग १२वीं शताब्दी में आरंभ हो गया था। गुनिया यंत्र (Cross staff) तथा ऐस्ट्रोलेब वेधयंत्र से अक्षांश की गणना संभव हो गई। इस प्रगति ने महासमुद्र की यात्राओं का साहस दिया। सन् १४९८ में कोलंबस पश्चिमी द्वीपसमूह तक जा पहुँचा। सन् १४९७ में जॉन कैबट नामक अंग्रेज नाविक उत्तरी अमरीका के तट पर उतरा तथा सन् १४९२ में पुर्तगाली वास्को-डी गामा उत्तमाशा अंतरीप होते हुए भारत में कालीकट के बंदरगाह पर पहुँच गया। ये यात्राएँ ऐसे समुद्रों की थीं जिनके कोई मानचित्र आदि उस समय तक नहीं बने थे। नौचालन विज्ञान का ज्ञान प्रारंभिक था, जिसके कारण देशांतर रेखा की गणना में ६०० मील तक की भूल हो सकती थी। इस अवस्था में मैगेलैन (Magellan) ने सन् १५१९-२२ में जहाज द्वारा पृथ्वी की परिक्रमा पूरी की। इन यात्राओं ने तथा उपनिवेशीय और दासों के व्यापार ने बड़े जहाजों के निर्माण को प्रगति दी।

रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात् यूरोपीय राष्ट्रों में इटली के नगर राज्य जेनोआ, पिसा और विशेषकर वेनिस का समुद्रीय व्यापार और यातायात पर प्रभुत्व हो गया था। यह प्रभुत्व मुख्यतः पूर्वी देशों से व्यापार पर आधारित था। इस प्रभुत्व को तोड़ने और पूर्वी व्यापार हथियाने के उद्देश्य से प्रेरित हो पुर्तगाल और स्पेन राज्यों ने बड़े जहाज बनाए और महासागरीय लंबी यात्राएँ कर भारत तक पहुँचने की चेष्टाएँ कीं। सन् १५८१ में जब पुर्तगाल और स्पेन के राज्य एक हो गए, स्पेन की बराबरी करनेवाली अन्य सागरीय शक्ति नहीं रह गई। फिर भी विश्व का बहुत बड़ा व्यापार डच जहाजों द्वारा होता था। उत्तरी समुद्र के मत्स्य व्यापार में डच १५वीं शताब्दी में ही प्रमुख हो गए थे। १७वीं शताब्दी के प्रारंभ में इनके १,५०० से लेकर २,००० जहाज तक समुद्र परिवहन में लगे हुए थे। भूमध्य-सागरीय व्यापार के बहुत से भाग पर भी डच पोतों का अधिकार हो गया। इस शताब्दी में तीन दारुण युद्धों के फलस्वरूप अंग्रेजों की समुद्र पर प्रमुखता स्थापित हुई, किंतु सन् १७७५ तक, ऐडैम स्मिथ के कथनानुसार, जहाजों द्वारा परिवहन व्यापार का सबसे अधिक भाग डच हाथों में था। १८वीं शताब्दी उपनिवेश-स्थापन का काल था। उपनिवेशों की आवश्यकताओं और बढ़ते हुए व्यापार ने अंग्रेजी जहाजरानी में बड़ी उन्नति की। लंदन नाविक बीमे की सबसे बड़ी मंडी हो गया, जिससे सब प्रकार की जहाजी खबरें नियमित रूप से एकत्रित होने लगीं। सन् १७३१ में षष्ठक (Sextant) तथा सन् १७३५ में कालमापी (Chronometer) का आविष्कार होने से नौचालन अधिक विश्वसनीय हो गया तथा अनेक साहसिक सामुद्रिक अभियानों के फलस्वरूप समुद्रतटों, हवाओं और जलधाराओं संबंधी सूचनाएँ एकत्रित हुईं। पहले से कहीं अधिक संख्या में तथा विश्वसनीय, सागरीय मानचित्र तथा नाविक निर्देश तैयार हुए। पूर्वोक्त कारणों से अंग्रेजी नौवहन में निरंतर वृद्धि होती रही तथा सन् १८१४ तक ब्रिटिश साम्राज्य के जहाजों का रजिस्टर्ड टन भार २६,१६,००० हो गया। इस समय १,००० टन या इसके अधिक भारवाले सबसे बड़े जहाज ईस्ट इंडिया कंपनी के थे।

भारतीय जहाज — सन् १३४४ में इब्न बतूता नामक प्रसिद्ध मुस्लिम यात्री मलाबार से मालद्वीप होते हुए चटगाँव गए थे और वहाँ से जहाज पर चढ़कर चीन गए थे। उस समय चटगाँव और उसके दक्षिण में देशी शिल्पियों के जहाज-निर्माण के बहुत से कारखाने थे। इन कारखानों में से कुछ ने सन् १७७५ तक अपने शिल्प की प्रसिद्धि अक्षुण्ण रखी थी। इसके कुछ वर्ष पूर्व यहाँ निर्मित तथा भारतीय नाविकों द्वारा परिचालित बकलैंड नामक एक जहाज ने उत्तमाशा अंतरीप होते हुए स्कॉटलैंड की ट्वीड नदी तक यात्रा की थी। अंग्रेज नाविक इस जहाज की बनावट और कार्यक्षमता देखकर आश्चर्य-चकित हो गए थे। भारत में व्यापार के लिये स्थापित ईस्ट इंडिया कंपनी ने सन् १६१३ में भारतीय नौसेना, इंडियन मैरीन, की स्थापना की, जिसने पुर्तगालियों और डचों के साथ अनेक युद्ध किए। इस सेना के

लिये जहाज सूरत में सन् १७१५ तक बनते थे। इसी वर्ष बंबई में गोदी बाड़े (dock yard) की स्थापना हुई और जहाज इसमें बनने लगे। सन् १७७५ तक यह बाड़ा विश्व के किसी भी अन्य गोदी बाड़े की बराबरी कर सकता था और यह बात सर्वमान्य थी कि बंबई में सागौन की लकड़ी के बने जहाज यूरोप में बने जहाजों से श्रेष्ठ होते थे। अंग्रेजी नौसेना के लिये यदि कोई जहाज यूनाइटेड किंग्डम के बाहर बनाना आवश्यक होता था तो वह बंबई में ही बनाया जाता था। सन् १९१५ में चटगाँव के एक व्यापारी का भारतनिर्मित, 'अमीना खातुम' नामक एक बड़े जहाज का सागर-अवतरण हुआ। तत्कालीन गवर्नमेंट के अंग्रेज मैरीन सर्वेयर के मतानुसार 'यह विलायती जहाज की अपेक्षा निर्माणकौशल में किसी प्रकार हीन नहीं था। गठन और सुंदरता भी तदनुरूप थी।'

वाष्प का उपयोग — १९वीं शताब्दी के प्रारंभ में जहाजों को चलाने के लिये वाष्पशक्ति के उपयोग की ओर ध्यान गया। सन् १८०२ में प्रथम सफल स्टीमर का उपयोग फर्थ और क्लाइड नहर पर हुआ। शनैः शनैः स्टीमरों का प्रयोग बढ़ता गया, पर दीर्घ काल तक ये नदियों में, या समुद्र में, छोटी यात्राओं के लिये प्रयुक्त होते रहे। महासागरीय यात्राओं में वाष्प के इंजिनों से केवल पालों के सहायक के रूप में काम लिया जाता था। इसका मुख्य कारण यह था कि वाष्प की सहायता से चलनेवाले जहाजों में ईंधन का खर्च अधिक होता था। वाष्प इंजिन से डाँड़ों का काम करनेवाले, तख्ते लगे हुए चक्र (paddle wheel) घुमाए जाते थे और जहाज वैसे ही चलता था जैसा आज भी नदियों के अनेक स्टीमरों में होता है। सन् १८३८ में सर्वप्रथम वाष्पचालित चार अंग्रेजी जहाजों ने अंधमहासागर पारकर अमरीका तक की यात्रा की और सन् १८४० से इंग्लैंड और उत्तरी अमरीका के बीच प्रत्येक पखवारे में डाक लाने और ले जाने का काम लगभग १,१५० टन भार के चार स्टीमर करने लगे।

अभी भी जहाज मुख्यतः पालवाले होते थे। अमरीका ने ऐसे जहाजों की निर्माणकला में बहुत उन्नति की। सन् १८४३ में 'रेनबो' नामक क्लिपर (Clipper) जाति का पाल से चलनेवाला विशेष तीव्रगामी जहाज अमरीका में तैयार किया गया। इस क्षेत्र में दीर्घ काल तक अमरीका सबसे आगे बना रहा। सन् १८५६ तक अंग्रेज व्यापारी अपने व्यापार के लिये अमरीकी तीव्रगामी क्लिपर जहाज खरीदते रहे। किंतु पालवाले जहाजों के दिन पूरे हो चुके थे। धीरे धीरे पाल का स्थान वाष्प इंजिनों ने ले लिया और पहले से कहीं अधिक बड़े जहाज बनने लगे। सन् १८५८ में दीर्घकाय, वाष्प की सहायता से और ऐंठे हुए डैनों (screw propellers) से चलनेवाले १८,९१४ टन के 'ग्रेट ईस्टर्न' नामक जहाज ने इंग्लैंड से अमरीका की यात्रा की। इस बीच इंजिनों की बनावट में सुधार हुआ, जिससे ईंधन का खर्च कम हो गया और लंबी यात्राओं में वाष्प का उपयोग व्यापारियों के लिये संभव हो गया। स्वेज नहर बन जाने पर भारत तथा अन्य दक्षिण एशियाई देशों की यात्रा के बीच के स्थानों में कोयले के संग्रहालय स्थापित किए गए और इस नहर के कारण यात्रा की दूरी भी कम हो गई। वाष्पचालित जहाज जल्दी भी पहुँचते थे। इन बातों के कारण धीरे धीरे पालवाले जहाजों का स्थान इंजिनवाले जहाजों ने ले लिया।

लकड़ी के स्थान पर लोहा — साथ ही साथ जहाज-निर्माण में लकड़ी का स्थान लोहे ने लिया। लकड़ी के साथ लोहे का अधिकाधिक प्रयोग तो बहुत पहले से प्रारंभ हो गया था, किंतु सन् १८३७ में लोहे का सर्वप्रथम अंग्रेजी जहाज तैयार हुआ। इसके पश्चात् भी लकड़ी और लोहा के मिले जुले जहाज बनते रहे, पर सन् १८७० में अंग्रेजी जहाजों के छः में से पाँच अंश लोहे के तथा तीन चौथाई भाग स्टीम के जहाजों का था। इस वर्ष तक विश्व के सब जहाजों के भार का १६ प्रति शत स्टीमर थे। सन् १८९० तक यह अनुपात ५६ प्रति शत हो गया और सन् १९०० तक ६२ प्रति शत। यह ध्यान में रखना चाहिए कि बराबर भारवाला स्टीमर पालवाले जहाज से तिगुना या चौगुना माल ढो सकता है। पालवाले जहाजों में क्षति की आशंका अधिक होती है। इसके अतिरिक्त वे वायु पर आश्रित होते हैं तथा यात्रा में उनका समय अनिश्चित और स्टीमरों से अधिक होता है। स्टीमरों के प्रयोग में विशेष उपयोगी बात यह है कि निर्दिष्ट स्थान पर उनके पहुँचने का समय लगभग ठीक ठीक बताया जा सकता है। स्टीमरों की श्रेष्ठता इसी से स्पष्ट है कि यद्यपि सन् १८५० से सन् १९०० की अर्धशताब्दी में इनका कुल भार डेढ़ गुना ही बढ़ा, पर परिवहनशक्ति सात गुनी बढ़ गई।

जहाजों से सभ्यता का विस्तार — परिवहनशक्ति में वृद्धि तथा निश्चित समय पर जहाजों के पहुँच जाने ने महत्व के परिवर्तनों को जन्म दिया। व्यापार की वृद्धि के साथ साथ प्रवासियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई। उद्योगों में भी उन्नति हुई, क्योंकि कारखानों के लिये कच्चा माल तथा बस्तियों और नगरों के जनपुंजों की आवश्यकता की वस्तुओं का निश्चित समय पर पहुँचना संभव हुआ। अधिक व्यापार तथा यात्रा की सुविधाओं के कारण सब देशों में जीवन का स्तर पहले से अधिक ऊँचा हो गया और सभ्यता का विस्तार हुआ। स्टीमरों के विकास के साथ जहाज उद्योग के संगठन में भी परिवर्तन हुए। स्टीमरों के आगमन के पूर्व निश्चित मार्गों पर चलनेवाले बड़े जहाजों के स्वामी विशेष व्यापारों में लगे धनी वणिक् हुआ करते थे, किंतु अधिकतर जहाजों में अनेक आदमियों का हिस्सा हुआ करता था। इन मालिकों में से योग्य और अनुभवी को चुनकर सब प्रबंध उसके हाथ में सौंप दिया जाता था। स्टीमरों का चलन होने पर इनका मूल्य अधिक होने के कारण इस पद्धति का स्थान संमिलित पूंजीवाली कंपनियों ने ले लिया। ये कंपनियाँ कुछ पत्तनों के बीच नियमित रूप से यात्रा करनेवाले बड़े जहाज, जो लाइनर (liner) कहलाते हैं, चलाती हैं। ये लाइनर निश्चित समय में निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाते हैं तथा बीच के स्थानों पर उनके रुकने का समय भी बँधा रहता है। इन जहाजों को नियमित रीति से चलाने के लिये विस्तृत तथा व्ययसाध्य संगठन आवश्यक होता है। इसलिये लाइनरोंवाली कंपनियाँ क्रमशः बड़ी व्यापारिक संस्थाएँ हो गईं। अलेमीपोन (tramps) या साधारण जहाज किसी बँधे हुए क्षेत्र में काम नहीं करते। वे कुछ समय के लिये, या एक निश्चित यात्रा के लिये, किराए पर किराएदार के इच्छानुसार एक बंदरगाह से दूसरे को माल या यात्री पहुँचाते हैं। इसका मालिक कोई व्यापारी या व्यक्ति होता है। बहुत से ऐसे जहाजों का मालिक कोई कंपनी भी हो सकती है।

नौसेना के लड़ाकू जहाजों के अतिरिक्त साधारण व्यापारी जहाजों ने पिछले दोनों विश्वयुद्धों में महत्व के काम किए। सामान पहुँचाने का काम तो इन्होंने किया ही, प्रहरी के कार्य, मार्गरक्षण तथा अन्य सैनिक सहायताओं के लिये व्यक्ति तथा जहाज इन्हीं से प्राप्त हुए। इन युद्धों में अनेक व्यापारी जहाज नष्ट हुए, किंतु आवश्यकतानुसार जहाजों के निर्माण में भी अतीव वृद्धि हुई। फल यह हुआ कि प्रत्येक युद्ध के पश्चात् कुल जहाजों की परिवहन शक्ति पहले से अधिक ही रही। द्वितीय विश्वयुद्ध में

४६,००,००० टन के ७०० से अधिक जहाजों के नष्ट हो जाने पर भी युद्ध के अंत में संयुक्त राज्य, अमरीका, के व्यापारी जहाजों का बेड़ा अन्य सब देशों के संयुक्त व्यापारी बेड़ों से बड़ा था। युद्ध के पश्चात् सन् १९४६ में संयुक्त राज्य का कुल निर्यात व्यापार युद्धपूर्व के निर्यात से दूना हो गया था। युद्ध के पूर्व यह विश्व के कुल निर्यात का केवल १४ प्रति शत था, परंतु युद्ध के पश्चात् यह ३० प्रति शत हो गया। सन् १९४७ में संयुक्त राज्य, अमरीका, को छोड़ अन्य सब देशों का निर्यात युद्धपूर्व का ७५ प्रति शत, सन् १९४८ में २५ प्रति शत तथा सन् १९४९ में लगभग वही हो गया था जो युद्धपूर्व था। जून, सन् १९४९ तक युद्धोत्तर व्यापार के लिये मालवाहक जहाजों का भार सन् १९३९ के भार से १४,००,००० कुल (gross) टन बढ़कर ५,६६,००,००० कुल टन [संयुक्त राज्य के आरक्षित (reserved) बेड़े को छोड़कर] हो गया था। युद्धपूर्व बने जहाजों की तुलना में युद्धोत्तर जहाज साधारणतः अधिक बड़े और तीव्रगामी निर्मित हुए।

भारतीय जहाज उद्योग — विदेशी शासन के पश्चात् भारत के जहाज उद्योग को भारी धक्का लगा। सन् १८६० से १९२५ के बीच के समय में जहाजों के निर्माण के लिये १०२ कंपनियों की रजिस्ट्री हुई, किंतु विदेशी जहाजी कंपनियों के कठिन विरोध और अंग्रेजी सरकार की नीति के कारण इनमें से अधिकांश का कामकाज बंद हो गया। २०वीं शताब्दी के आरंभ में भारतीय बेड़े के विकास के लिये उद्योग आरंभ हुए और सन् १९१९ में सिंधिया स्टीम नेविगेशन कंपनी के स्थापित होने से भारतीय जहाजरानी का एक नया अध्याय आरंभ हुआ, किंतु विदेशी सरकार की उपेक्षा के कारण दीर्घ काल तक विशेष उन्नति न हो सकी। दूसरे विश्वयुद्ध के आरंभ में कुल १,५०,००० टन के भारतीय जहाज थे। सन् १९४७ में जब देश स्वतंत्र हुआ इनका भार २,५०,००० टन हो गया था। स्वाधीनता के पश्चात् देश का व्यापार बढ़ाने तथा रक्षा के लिये भी भारत सरकार ने निश्चय किया कि भारत का तटवर्ती व्यापार, अर्थात् प्रति वर्ष लगभग २५ से ३० लाख टन माल ढोने का काम, भारतीय जहाजों से ही हो तथा पाँच सात वर्षों में भारतीय जहाजों की टन भार-क्षमता २० लाख टन कर दी जाय। इस कार्यक्रम को पूरा करने के लिये सन् १९५० से पूर्वी जहाजरानी निगम (Eastern Shipping Corporation) तथा सन् १९५६ में पश्चिमी जहाजरानी निगम स्थापित किए गए। सन् १९६१ में ये दोनों संमिलित होकर भारतीय जहाजरानी निगम हो गए। सन् १९६३ के मध्य तक इस निगम के पास २,०१,८६६ टन भार के २७ जहाज थे, जो तटीय व्यापार के सिवाय आस्ट्रेलिया, जापान, मलाया, पूर्वी अफ्रीका, कालासागर के देश, ब्रिटेन, अमरीका आदि को आते जाते थे।

सन् १९५२ में विशाखपत्तनम् का हिंदुस्तानी शिप यार्ड सरकारी कारखाना बना दिया गया और इसने जहाज-निर्माण कार्य में यथेष्ट प्रगति की। भारत सरकार ने देशी जहाजरानी कंपनियों को जहाज खरीदने के लिये प्रथम पंचवर्षीय योजना में २४ करोड़ रुपए और दूसरी योजना में १५ करोड़ रुपए का ऋण दिया। योजना आयोग ने तृतीय पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत भारतीय जहाजों का कुल टन-भार बढ़ाकर ११ लाख टन का लक्ष्य स्वीकार किया तथा नए जहाज खरीदने के लिये ५१ करोड़ रुपए रखे। परंतु जहाज मालिकों के अपने प्रयत्न से ही दिसंबर, १९६२, तक भारत के पास ११ लाख टन के जहाज हो गए। इनमें से ९ लाख ६४ हजार टन भार के जहाज तटवर्ती व्यापार और शेष देशांतर व्यापार में काम आते थे। तटवर्ती देशों को तेल ढोने में कुल २४ सहस्र टन भार के तीन देशी जहाज लगे हुए थे। विदेशों से तेल लाने का कार्य २०,४०० टन का एक जहाज कर रहा था। आशा है, सन् १९६४ के अंत तक इस प्रकार के जहाजों में ८७ हजार टन भार की वृद्धि हो जायगी। दिसंबर, १९६३ तक भारतीय जहाजों का कुल भार १३ लाख टन हो गया। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में भारतीय जहाजों का कुल भार ३५ लाख टन करने का लक्ष्य रखा गया है। भारतीय जहाज अब निम्नलिखित समुद्रमार्गों पर चल रहे हैं : भारत-यूरोप-ब्रिटेन, भारत-रूस, भारत-पोलैंड, भारत-दक्षिणी अमरीका, भारत-उत्तरी-अमरीका, भारत पूर्वी अफ्रीका, भारत-लाल सागर, भारत-ईरान की खाड़ी, भारत-आस्ट्रेलिया, भारत-जापान, भारत-सिंगापुर इत्यादि। मर्चेंट शिपिंग ऐक्ट, नैशनल शिपिंग बोर्ड तथा शिपिंग डेवेलेपमेंट फंड द्वारा भारत की वर्तमान सरकार जहाजरानी उद्योग की प्रगति के लिये यथेष्ट चेष्टा कर रही है।

सरकारी सहायता — द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् प्रत्येक देश व्यापारी जहाजी बेड़ों पर अधिक ध्यान देने लगा तथा उनके कार्यों पर पहले से अधिक नियंत्रण रखने लगा। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व विविध देशों की सरकारें अपने जहाजी बेड़ों को प्रचुर सहायता नहीं देती थीं, किंतु दो विश्वयुद्धों में राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये व्यापारी जहाजी बेड़ों के महत्व का अनुभव होने पर अनेक देशों ने इनके विस्तार तथा विकास का काम हाथ में लिया और विविध प्रकार से इन्हें सहायता देना आरंभ किया। जहाजी बेड़ों के स्वामियों के संमुख उपस्थित प्राविधिक तथा अन्य समस्याओं के हल खोजने के लिये अनेक समितियों और परिषदों की भी स्थापना हुई। विभिन्न देशों की सरकारों ने समुद्र पर सुरक्षा, जहाजों पर काम करनेवाले श्रमिकों के कल्याण, एक समान समुद्र नौवहन नियम, जहाज संबंधी कागज पत्रों के समन्वय तथा जलमार्गों की उन्नति के लिये आवश्यक उपाय किए।

संयुक्त राष्ट्र (United Nations) ने भी अंतर राज्य नाविक संघों द्वारा प्राविधिक उलझनों को सुलझाने का काम द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात्, संकटकालीन नौवहन के निर्देशन हेतु स्थापित 'संयुक्त नौवहन परामर्शदायिनी समिति (The United Maritime Consultative Council) को सौंपा। सब देशों की सरकारें और जनता आर्थिक लाभ और सुरक्षा के लिये व्यापारी जहाजों के महत्व को अब समझ गई हैं और इस कारण उनकी सर्वांगीण उन्नति के लिये परम उत्सुक हैं।

सं० ग्रं० — इंडियन शिपिंग : राधाकुमुद मुकर्जी, इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, हिंदी विश्वकोश (इंसाइक्लोपीडिया इंडिका)। [भ० दा० व०]

जहाजपुर स्थिति : २५° ३७' उ० अ० तथा ७५° १७' पू० दे०। यह भूतपूर्व उदयपुर रियासत का एक जिला तथा नगर था। यह देवली से १२ मील दक्षिण पश्चिम में स्थित है। यहाँ एक पहाड़ी पर किला तथा उसके चारों ओर खाइयाँ हैं। [ते० मु० अ०]

जहानाबाद स्थिति : २५° २०' उ० अ० तथा ८५° १०' पू० दे०। यह बिहार राज्य के गया जिले के अंतर्गत जहानाबाद उपमंडल का मुख्य नगर है। पटना से गया जानेवाली साउथ बिहार एक्सप्रेस यहाँ पर रुकती है। यहाँ कचहरी, अस्पताल और उच्च विद्यालय हैं। यह व्यापारिक केंद्र है। यहाँ की जनसंख्या २३,२०१ (१९६१) है।

[शि० नं० प्र०]

जांजिग अफ्रीका के मिस्र देश में शर्किया प्रांत की राजधानी तथा प्रमुख केंद्र है। काहिरा से रेलमार्ग द्वारा ७६ किमी० उत्तर-पूर्वोत्तर यह नगर नील नदी के डेल्टा क्षेत्र में इस्माइलिया नहर पर स्थित है। यह सिकंदरिया तथा स्वेज से भी रेलमार्गों द्वारा संबद्ध है। अत्यंत उपजाऊ कृषिक्षेत्र में स्थित होने तथा नहर एवं रेलमार्गों द्वारा यातायात की पर्याप्त सुविधाओं के कारण यह नगर गल्ले तथा कपास की बड़ी मंडी हो गया है। यहाँ कपास से बिनौले निकालने के बड़े बड़े कारखाने हैं और कपास यहाँ से साफ करके निर्यात की जाती है। यहाँ से लगभग डेढ़ मील दक्षिण-पूर्व में प्राचीन बूबस्तिस (Bubastis) नामक नगर के, जिसे अब तेलबेस्ता कहते हैं, भग्नावशेष प्राप्य हैं। यातायात, व्यापार तथा उद्योगों के विकास के कारण नगर प्रगतिशील है। १९३७ ई० में जनसंख्या ५६,७६१ थी, जो अगली दशाब्दी (१९३७-४७) में ८२,९१२ हो गई। [का० ना० सि०]

जाँनिसारी सेना टर्की की पैदल सेना। सुलतान ओरखान ने सर्वप्रथम इसका संगठन १३३० में किया था। मुराद प्रथम ने इसकी उन्नति की और १३६२ में इसके सैनिकों की संख्या १०,००० हो गई। यह सेना, अपने रणकौशल और वीरतापूर्ण दक्षता के लिये प्रसिद्ध है। सैनिकों का यह दावा था कि वे युद्ध से कभी विचलित नहीं हुए। यह टर्की की बहुत बड़ी शक्ति थी। वैतनिक स्थायी सैनिकों की संख्या एक समय ६०,००० के लगभग थी। बाद में यह संख्या घटाकर २५,००० कर दी गई। इनके रहने के लिये कांस्टैंटिनोपिल तथा अन्य नगरों में बैरक बने हुए थे। अस्थायी सैनिकों की संख्या ३,००,००० से ४,००,००० तक रहती थी। ये सैनिक राज्य के सभी नगरों में बिखरे हुए थे और शांति के समय पुलिस का कार्य करते थे। सुलतान की अंगरक्षा में रहनेवाले जाँनिसारी धीरे धीरे इतने उग्र हो गए कि वे कभी कभी विद्रोह भी करने लगे। किंतु इन विद्रोहों का दमन भी किया जाता रहा। १८२६ में जाँनिसारी सैनिकों ने नई राष्ट्रीय सेना की स्थापना के प्रस्ताव पर विद्रोह कर दिया। इसपर महमूद द्वितीय ने जाँनिसारी कमांडर-इन-चीफ की सहायता लेकर इन्हें बुरी तरह पराजित किया और उनकी बैरकें जला दीं। उसी समय एक शाही घोषणा के अनुसार यह सेना समाप्त कर दी गई। उसके लगभग १५,००० सैनिकों को मृत्युदंड दिया गया और २०,००० देश से निकाल दिए गए।

जांभेकर, बाल गंगाधर (जन्म स० १८१२; मृत्यु स० १८४६) का जन्म राजापुर जिले के पोंवर्ले गाँव में हुआ था। उनके पिता अच्छे वैदिक थे। अध्यापकों में नापू छत्रे तथा बापू शास्त्री शुक्ल थे।

दादोबा पांडुरंग ने अपनी आत्मकथा में उनकी अद्भुत स्मरणशक्ति के संबंध में एक प्रसंग का उल्लेख किया है—

एक बार उन्होंने दो गोरे सिपाहियों को लड़ते हुए देखा। अदालत में उनको गवाह के रूप में उपस्थित होना पड़ा। यद्यपि उन्हें उस समय तक अंग्रेजी नहीं आती थी, उन्होंने केवल अपनी स्मरणशक्ति से उनके संभाषण को तथ्यतः उद्धृत किया। प्रो० आलिबार से उन्होंने गणित शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया। स० १८२० में अध्ययन की समाप्ति के बाद वे एल्फिंस्टन कॉलेज में अपने गुरु के सहायक के रूप में गणित के अध्यापक नियुक्त हुए। १८३२ में वे अक्कलकोट के राजकुमार के अंग्रेजी के अध्यापक के रूप में भी रहे। इसी वर्ष भाऊ महाजन के सहयोग से उन्होंने 'दर्पण' नामक अंग्रेजी मराठी साप्ताहिक चलाया। इसमें वे अंग्रेजी विभाग में लिखते थे। वे अनेक भाषाओं के पंडित थे। मराठी और संस्कृत के अतिरिक्त लैटिन, ग्रीक, इंग्लिश, फ्रेंच, फारसी, अरबी, हिंदी, बंगाली, गुजराती तथा कन्नड भाषाएँ उन्हें आती थीं। उनकी यह बहुमुखी योग्यता देखकर सरकार ने 'जस्टिस ऑव दि पीस' के पद पर उनकी नियुक्ति की (१८४०)। इस नाते वे हाईकोर्ट में ग्रांड ज्यूरी का काम करते थे। १८४२ से १८४४ तक एज्युकेशनल इन्सपेक्टर तथा ट्रेनिंग कॉलेज के प्रिंसिपल के रूप में भी रहे। १८४० में 'दिग्दर्शन' नाम की एक मासिक पत्रिका भी उन्होंने शुरू की। इसमें वे शास्त्रीय विषयों पर निबंध लिखते थे। ग्रहण से संबंधित वास्तविकता अपने भाषणों में प्रकट करने तथा श्रीपाद शेषाद्रि नामक ब्राह्मण को ईसाई धर्म से पुनः हिंदूधर्म में लेने के कारण वे जातिबहिष्कृत कर दिए गए थे। महाराष्ट्र के वे समाजसुधारक थे।

उन्होंने इतिहास और गणित से संबंधित विषयों पर अनेक पुस्तकें लिखीं। रॉयल एशियाटिक सोसाइटी तथा जिओग्राफिकल सोसाइटी में पढ़े गए शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों से संबंधित उनके निबंध अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। शिलालेखों की खोज के सिलसिले में जब वे कनकेश्वर गए थे, वहीं उन्हें लू लग गई। इसी में उनका देहावसान हुआ। सच्चे अर्थ में उन्होंने अपने कर्म में अपने जीवन का समर्पण किया था।

[ह० प्र० फ०]

जांसेंस (१५९३-१६६१) इंग्लैंड का प्रसिद्ध व्यक्तिचित्रकार अर्थात् व्यक्तियों के चित्र बनाने में दक्ष। वान डाइक से पहले जांसेंस ही इंग्लैंड का लोकप्रिय व्यक्तिचित्रकार (पोर्ट्रेट पेंटर) था। अपने समय में उसकी धूम थी। वह अनेक नामों से प्रसिद्ध था।

जांसेंस लंदन में उत्पन्न हुआ था। वह ऊर्ध्वार्ध (बस्ट) बनाने में बड़ी रुचि लेता था। उसने बड़े ही साफ सुथरे व्यक्तिचित्र बनाए हैं। बाद में उसकी कला डच शैली से प्रभावित होकर उभरी। १६४३ के गृहयुद्ध के कारण वह हालैंड चला गया। [रा० च० शु०]

जाकोबें जाकोबें फ्रांस के क्रांतिकाल का सर्वाधिक प्रसिद्ध राजनीतिक दल था। इसके प्रारंभिक सदस्य सन् १७८९ ई० में स्टेट्स जनरल में संमिलित होने के लिये ब्रिटेन के संसदसदस्य थे जो वरसाई के एक कैफे में विचार विनिमय के लिये गोष्ठियाँ आयोजित किया करते थे। इन गोष्ठियों का नाम ब्रिटेन क्लब पड़ा और कालांतर में फ्रांस के अन्य भागों के संसदसदस्य भी इनमें भाग लेने लगे। जब अक्टूबर के विप्लव के अनंतर संसद को पेरिस ले जाया गया तब ब्रिटेन क्लब भंग हो गया। परंतु इसके सदस्य गोष्ठियों की आवश्यकता अनुभव करते रहे। फलतः उन्होंने डोमिनिकन पादरियों (जिन्हें फ्रांस में जाकोबें कहते हैं) के मठ में एक कमरा किराए पर लिया तथा "पेरिस सोसाइटी" की स्थापना की। इस नए क्लब को राजतंत्र के अनुयायी व्यंग्य में जाकोबें क्लब कहते थे, परंतु इसके सदस्यों ने स्वयं यह नाम अपना लिया। अति शीघ्र ही इस क्लब की शाखाएँ प्रांतों में स्थापित हो गईं।

जाकोबें ने प्रभावकारी संस्था के रूप में कार्यारंभ किया। उसके प्रचार के ढंग अत्यधिक आधुनिक थे। सन् १७९२-९३ में इसका उद्देश्य गणतंत्रात्मक सरकार की स्थापना, पुरुष मताधिकार, विकास के संमुख समता, वैयक्तिक प्रतिद्वंद्विता के स्वतंत्र क्षेत्र से उद्भूत आर्थिक समता, सार्वभौम शिक्षा आदि की प्राप्ति तथा राज्य एवं चर्च को विलग करने के लिये जनता पर दबाव डालना था। प्रारंभ में जाकोबें क्लब

के प्रमुख उद्देश्य थे संसद द्वारा तय की जानेवाली समस्याओं पर उसके पूर्व ही विचार करना तथा संविधान को स्थापित एवं सशक्त रखने के लिये कार्य करना। क्लब के पदाधिकारियों में एक अध्यक्ष (जिसका निर्वाचन प्रति मास होता था), चार मंत्री तथा एक कोषाध्यक्ष होते थे। इनके अतिरिक्त क्लब के प्रबंध तथा पत्रव्यवहार के लिये कुछ समितियाँ होती थीं।

परंतु जाकोबें क्लब केवल एक राजनीतिक दल ही नहीं था वरन् अपने सिद्धांतों को धार्मिक आवरण प्रदान कर उसने धार्मिक पंथ का भी रूप धारण किया। इस रूप में इसकी गोष्ठियों में क्रांतिकारी स्तोत्र गाए जाते तथा नैतिक प्रवचन दिए जाते थे। इन गोष्ठियों की क्रियापद्धति रूसोवादी भावुकता, १८वीं शताब्दी की बुद्धिवादी कैथोलिक प्रथाओं तथा जनरीतियों का अद्भुत संमिश्रण थी। विधिसंगत पद्धति में अंतर या परिवर्तन के प्रति घोर असहिष्णुता, सदस्यों में धर्मदंड का भय, व्यवहार में पूर्ण रसहीनता, तथा विरोधी को महापापी मानने का विश्वास आदि इन गोष्ठियों के प्रमुख लक्षण थे जो धार्मिक निष्ठा तथा कट्टरता के परिचायक थे।

"आतंक" के काल में जाकोबें क्लब क्रांति के पूजास्थल मात्र बनकर रह गए तथा यथेष्ट संख्या में इनके सदस्य नई सरकार के कर्मचारी बन गए। अतएव स्वभावतः दबाव के गुट के रूप में क्लब की पुरानी क्रियाएँ समाप्त हो गईं। थर्मीडार के बाद तो ये क्लब तीव्र गति से नष्ट होने लगे और सन् १७९५ ई० तक सभी जाकोबें क्लब समाप्त हो गए। [रा० अ०]

जाग्रेब स्थिति: ४५° ५०' उ० अ० तथा १६° ०' पू० दे०। यह युगोस्लाविया का द्वितीय वृहत्तम नगर तथा प्रमुख व्यापारिक एवं यातायात केंद्र है। बेलग्रेड से ३६८ किमी० पश्चिम-पश्चिमोत्तर पहाड़ी क्षेत्र में साबा नदी के तट पर स्थित यह नगर क्रोएशिया गणराज्य की राजधानी तथा प्रमुख ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक केंद्र है। लकड़ी तथा वनों में उत्पन्न अन्य पदार्थ (forest products) एवं अंगूर उत्पादक क्षेत्र में स्थित होने के कारण यह बड़ा निर्यातकेंद्र है। यहाँ के उद्योगों में विविध प्रकार के यंत्र, चमड़े के सामान, कागज, दरी, गलीचे एवं अन्य कपड़े, तंबाकू के सामान, विभिन्न रसायनक, दवाएँ, लकड़ी के सामान, शराब, ईंट तथा चीनी मिट्टी की कलात्मक वस्तुएँ तैयार करने के धंधे प्रमुख हैं। यहाँ विश्वविद्यालय (सन् १६६९ में स्थापित), संगीतशाला तथा कला की अकादमियाँ, मध्यकालीन निर्माणकला के निदर्शक भवन और स्लाव संस्कृति के विभिन्न संस्थान हैं। इसकी जनसंख्या ३,५४,००० (१९५६) है। [का० ना० सिं०]

जाजपुर स्थिति: २०° ५१' उ० अ० तथा ८६° २०' पू० दे०। यह उड़ीसा राज्य के कटक जिले का उपमंडल तथा नगर है। यह बैतरणी नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है। नगर हिंदुओं का महत्वपूर्ण तीर्थस्थान है। यहाँ का विरोदादेवी का मंदिर, भगवान् विष्णु के वाराह अवतार की मूर्ति, तथा अन्य सूर्यस्तंभ, जो नगर से एक मील दूर स्थित है, दर्शनीय हैं। यहाँ की जनसंख्या १३,८०२ (१९६१) है। [रा० ना० मा०]

जाट भारत और पाकिस्तान में बसनेवाली एक जाति जिसके लोग मुख्य रूप से पंजाब, सिंध, राजस्थान, और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पाए जाते हैं। 'जाट' शब्द की व्युत्पत्ति उत्तर संस्कृत काल में प्रयुक्त जट्ट शब्द से ज्ञात होती है। मुहम्मद ताहिर अल पटनी ने इसका अरबी रूप जुट्ट (Zutta) दिया है। लंबे चौड़े तथा सुगठित डील डौल और श्यामवर्ण जाटों की जाति के संबंध में अभी तक विस्तृत वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हुआ है। साधारणतया इन्हें आर्य जाति का माना जाता है, किंतु अन्य प्राचीन जातियों के रक्त का भी मिश्रण इनमें हुआ है। पंजाब में यह जाति हिंदू, मुसलमान और सिख तीन धर्मों में बँटी हुई है। हिंदू और सिख जाट भारत पाक विभाजन के बाद भारत आ गए। उत्तर प्रदेश के उत्तरी पश्चिमी जिलों में इनकी बस्ती अधिक है।

हिंदू विवाह कानून, १९५५ के बाद इनमें बहुविवाह की प्रथा समाप्त हो गई। विधवा विवाह जैसी प्रथाएँ प्रचलित हैं।

मुहम्मद-अल-कासिम ने जब भारत पर आक्रमण किया (७१२ ई०) तो उसने बड़ी संख्या में जाटों को युद्धबंदी के रूप में ईराक भेज दिया। जो शेष बचे, वे सिंध तथा पास के प्रदेशों में शांतिपूर्वक बस गए। महमूद गजनवी के आक्रमण के विरुद्ध ये वीरता से लड़े। मुगल काल में सदैव ये राजसत्ता के प्रति विद्रोही रहे। औरंगजेब ने इनके दमन के अनेक असफल प्रयत्न किए। उसकी मृत्यु के बाद जब मुगल साम्राज्य छिन्न भिन्न होने लगा तो सूरजमल के नेतृत्व में जाटों ने आगरा और दिल्ली के बीच बहुत आतंक फैलाया। दिल्ली में उनके अत्याचारों की कथा शाह वलीअल्लाह देहलवी और शाह अब्दुल अजीज अल देहलवी के पत्रों में मिलती है। अहमदशाह अब्दाली अपने कई आक्रमणों (१८वीं शती) के बाद भी इनका दमन नहीं कर पाया। १७६१ में मराठों के विरुद्ध दुर्रानी की विजय ने (पानीपत का तीसरा युद्ध) इन्हें शक्तिहीन बना दिया। फिर भी रणजीतसिंह ने पंजाब में एक छोटे से सिक्ख राज्य की स्थापना की। १८५७ की सशस्त्र क्रांति में जाटों की हिंसक प्रवृत्तियाँ उभरीं, किंतु अंग्रेजी सेना ने इनका दमन कर दिया। १९४७ में भारतविभाजन के समय इन्होंने पुनः अलवर और भरतपुर में लूट और हत्या के कांड किए।

सिंध में मुसलमानों का आधिपत्य होने के बाद कुछ जाटों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। यह मुख्यतः जलालुद्दीन हुसैन बुखारी और फरीद-अल-दीन गंजी शकूर के प्रयत्नों से हुआ। औरंगजेब के समय में भी कुछ जाट मुसलमान हो गए थे।

अपेक्षाकृत कम शिक्षित और कम संस्कृत जाट जाति ने अनेक प्रतिभाशाली व्यक्तियों को जन्म दिया है। आबूहनीफ, इमाम अवजाई और शिब्ली नुमानी आदि प्रसिद्ध व्यक्ति इसी जाति में उत्पन्न हुए। पाकिस्तानी जाटों में सर मुहम्मद जफरुल्ला खाँ, जो संयुक्तराष्ट्र संघ की साधारण सभा के अध्यक्ष रह चुके हैं, इसके उदाहरण हैं।

जातक बुद्ध भगवान् के पूर्वजन्म संबंधी कथानक को पालि साहित्य में 'जातक' कहा गया है। बुद्धत्वप्राप्ति के पूर्व के जन्मों में दानशील आदि पारमिताओं द्वारा 'बोधि' की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील प्राणी बोधिसत्व कहलाता है और उसी के जीवन की किसी महत्वपूर्ण उपदेशप्रद घटना का आख्यान जातक में किया जाता है। पालि त्रिपिटक में जातकों का स्थान सुत्त पिटक के पंचम विभाग खुद्दक निकाय के अंतर्गत है और इस विभाग का नाम भी जातक है। 'चुल्लनिद्देस' के अनुसार जातकों की संख्या ५०० है। और इसी संख्या का समर्थन चीनी यात्री फाहियान (५वीं शती) के इस कथन से होता है कि उसने लंका में ५०० जातकों के चित्र देखे थे। संप्रति उपलब्ध जातकों की संख्या ५४७ या ५४८ है। इस संख्याभेद का एक कारण यह भी है कि कहीं कहीं एक के दो

था दो के एक जातक भी बना दिए गए हैं। वस्तुतः जातकों की रचना सुत्तपिटक और विनयपिटक के आधार पर ही की गई है और उनमें अवांतर कथानक भी जोड़े गए हैं। इन सब कथाओं को यदि पृथक् पृथक् लिया जाय तो पालि साहित्य के जातक खंड में लगभग ३००० कहानियाँ प्राप्त होती हैं।

प्रत्येक जातक के पाँच भाग होते हैं -- १. पच्चुपन्नवत्थु; २. अतीतवत्थु; ३. गाथा, ४. वेय्याकरण और ५. समोधान। इनमें क्रमशः तात्कालिक बुद्धजीवन की घटना, उस घटना से संबद्ध पूर्वजन्म का वृत्त, तद्विषयक पद्यात्मक एक या अनेक गाथाएँ, उन गाथाओं का अर्थविस्तार और अतीत के पात्रों का बुद्ध जीवनकालीन व्यक्तियों से समन्वय दिखलाया जाता है। जातक साहित्य का सूक्ष्म अध्ययन करके राइस डेविड्स ने जातकों के संबंध में निम्नलिखित तथ्य स्थापित किए हैं---(१) मूलतः जातक केवल गाथात्मक थे और उनकी रचना अशोक से पूर्व मध्यप्रदेश में हुई थी। (२) इनके आधार पर विस्तारपूर्वक कथा कहने की मौखिक परंपरा चलती थी, (३) तीसरी शती के ऐसे पाषाणखचित चित्र साँची, भरहुत आदि स्थानों में पाए गए हैं, जिनमें अनेक जातक कथाओं का चित्रण गया है। इनमें एक स्थान पर जातक की आधी गाथा भी उद्धृत पाई किया गई है। (४) पालि त्रिपिटक के अन्य ग्रंथों में ऐसी जातक कथाएँ मिलती हैं जो उनके जातक खंड में संगृहीत रूप की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं। (५) इन प्राचीनतम जातकों का स्वरूप कोई उपमा, रूपक या उपाख्यान मात्र है। उनमें न गाथाएँ हैं और न कथा की पूरी रूपरेखा। उनमें बुद्ध अपने पूर्वजन्म में किसी पशुयोनि में अथवा साधारण मनुष्य के रूप में नहीं पाए जाते। वे केवल किसी प्राचीन महापुरुष के रूप में प्रकट होते हैं। (६) वर्तमान में प्रचलित जातक वस्तुतः त्रिपिटकांतर्गत जातक नहीं हैं। वे उसकी अट्ठकथाएँ नामक टीकाएँ हैं जो लंका में संभवतः पाँचवीं शती में किसी अज्ञात लेखक द्वारा लिखी गईं। (७) जातक के जो पाँच अंग ऊपर बतलाए जा चुके हैं वे यथार्थतः इन अट्ठकथाओं के ही हैं। (८) यह अट्ठकथा मूलतः सिंहली भाषा में लिखी गई थी जो अब नहीं मिलती। उसी का पालि अनुवाद अब प्रचलित है। वैसे गाथाएँ अवश्य पहले से ही पालि में रहीं। (९) जातक जिस रूप में अब मिलते हैं उनमें बहुतायत से ई० पू० तीसरी शती की परंपरा सुरक्षित है। इसके आधार क्वचित् ही मिलते हैं। (१०) जातकों में उल्लिखित राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ अधिकांशतः वे हैं जो बुद्धकाल से पूर्व उत्तर भारत में वर्तमान थीं। (११) मूल जातकों के निर्माणकाल में उनके अधिकांश कथानक सीधे उत्तर भारत की लोककथाओं से लिए गए हैं। (१२) जातकों के सूक्ष्म अध्ययन से उनकी परस्पर आपेक्षिक प्राचीनता का कुछ कुछ पता चलता है। बहुधा छोटे जातक अपेक्षाकृत प्राचीन सिद्ध होते हैं। (१३) सभी जातकों में गाथाएँ अनुबद्ध हैं। जिन जातकों में ये गाथाएँ कथानक के प्रसंग से बँधी हुई नहीं हैं वे संभवतः मौलिक भारतीय लोककथाएँ हैं। (१४) कुछ गाथाएँ ऐसी भी हैं जिनमें कथा के बीच आई हुई गाथाएँ गीति मात्र हैं, आख्यान का अंग नहीं। इन्हें भी मूल भारतीय लोककथाएँ माना जा सकता है। (१५) ये जातक संसार भर के उपलभ्य साहित्य में सबसे अधिक प्रामाणिक, अत्यधिक सुसंपूर्ण और प्राचीनतम लोककथाओं के संग्रह हैं।

विषय की दृष्टि से विंटरनित्स ने जातकों के सात विभाग किए हैं: व्यावहारिक चातुरी, पशुपक्षी कल्पना, विनोद, रोमांचक उपन्यास, नीति, कहावत और धार्मिक वृत्तांत। (इनमें से प्रथम चार विभाग जातकों में बौद्ध धर्म की गंध भी नहीं है, और शेष में नाम मात्र की।)

मूल में जातकों का विभाजन २२ निपातों में किया गया है और उनमें उन्हें गाथाओं की संख्या तथा विस्तार के क्रम से रखा गया है; जैसे प्रथम निपात के १५० जातकों में एक एक ही गाथा है, और वे छोटे छोटे भी हैं। दूसरे निपात में दो दो और तीसरे में तीन तीन गाथाओं का प्रत्येक जातक में समावेश है और वे परिमाण में भी क्रमशः बढ़ते गए हैं। गाथासंख्या १३वें निपात तक क्रम से और आगे अक्रम से बढ़ते हुए अंतिम २२वें निपात के कुल दस जातकों में गाथाओं की संख्या सौ सौ से भी अधिक हो गई है।

जातकों में जंबुद्वीप, मध्यप्रदेश, अंग, मगध, काशी, कोशल, कुरु, गंधार, आदि जनपदों, कपिलवस्तु, मिथिला, वैशाली, राजगृह, श्रावस्ती, तक्षशिला आदि नगरों; पांडव, वैभार, गयासीस आदि पर्वतों तथा नेरंजना, अनोमा आदि नदियों के संबंध में ऐसी उपयोगी सूचनाएँ पाई जाती हैं कि उनके आधार पर विमलचरण ला ने बुद्धकालीन भूगोल का निर्माण किया है। जातकों में विभिन्न राष्ट्रों, राजवंशों बिंबसार आदि राजाओं, जनता के रोजगार धंधों तथा विचित्र मानव वृत्तियों संबंधी इतने प्रचुर उल्लेख आए हैं कि उनसे सामग्री लेकर फिक ने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का, राइस डेविड्स ने जनजीवन का, श्रीमती राइस डेविड्स ने आर्थिक दशा का एवं राधाकुमुद मुकर्जी ने भारतीय नौकानयन एवं भारतीय व्यापार का बड़ा सजीव चित्रण उपस्थित किया है।

उद्दालक, सेतकेतु, महाजनक आदि जातकों में वैदिक आख्यान; दशरथ और देवधम्म जातकों में रामायण की तथा कुनाल, घट, महाकण्ह आदि जातकों में महाभारत की कथाएँ विद्यमान हैं। अन्य जातकों में सर्वत्र पंचतंत्र, हितोपदेश, बृहत्कथा कथासरित्सागर के पूर्वभवादि की कथाओं के पूर्वरूप मिलते ही हैं, किंतु यूरोपीय ईसप की कहानियाँ, बाइबिल के संतों, अरबी अलिफलैला तथा सामान्यतः यूनान, इटली, स्पेन, फ्रांस आदि देशों की नाना लोककथाओं के बीज भी यहाँ बिखरे हुए हैं। इसीलिये जर्मन विद्वान् बेनफ़ी ने जातक को विश्व-कथा-साहित्य का आदिस्रोत माना है। इस प्रकार केवल भारत की नहीं प्रत्युत समस्त संसार की प्राचीन सभ्यता एवं साहित्य के इतिहास के लिये जातक अति महत्वपूर्ण और अनुपम सामग्री से भरे हुए हैं।

सं० ग्रं०---इंसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐंड एथिक्स; राइस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया; विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, भा० २।

[ही० ला० जै०]

जाति (**स्पीशीज़,** Species) वर्गीकरण की एक महत्वपूर्ण श्रेणी है। यह वर्गीकरण वैज्ञानिकों (taxonomist) का मुख्य अस्त्र तो है ही, परंतु साधारण जीववैज्ञानिक का भी इसके बिना काम नहीं चलता। साधारण भाषा में 'स्पीशीज़' शब्द का अर्थ है 'प्रकार' और आधुनिक जैव वैज्ञानिक संकल्पना के पूर्व भी इस शब्द का यही अर्थ माना जाता था। निर्जीव पदार्थों के वर्गीकरण के संबंध में भी इस शब्द का प्रयोग होता है, जैसे खनिज पदार्थों की जातियाँ (species of minerals)। ग्रीसवासी, विशेषकर प्लेटो तथा उनके साथी, स्पीशीज़ के लिये शब्द आइडोस (eidos) का प्रयोग करते थे।

जाति संकल्पना (species concept) को जन्म देने का श्रेय जे० रे (J. Ray) को है। इन्होंने अपनी पुस्तक (Historia Plantarum) में स्पीशीज़ शब्द का प्रयोग उसी अभिप्राय से किया था जिससे

लिनीयस (Linnaeus) तथा १९वीं सदी के अन्य वर्गीकरण वैज्ञानिकों ने किया था। जातिसंकल्पना किसी भी स्पीशीज के प्राकृतिक अध्ययन पर आधारित है। किसी भी स्थान के जंतुओं अथवा वनस्पतियों का विद्यार्थी अनेक 'प्रकार' के प्राणी एवं पौधे देखता है। उदाहरण के लिये प्रयाग के आस पास लगभग १२५ 'प्रकार' की चिड़ियाँ पाई जाती हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यहाँ चिड़ियों की १२५ जातियाँ हैं। एक जाति के प्राणियों की यह विशेषता होती है कि वे आपस में प्रजनन कर सकते हैं, परंतु अन्य जातियों के सदस्यों के सहयोग से वे प्रजनन नहीं कर सकते।

थ्रश (Thrush) नामक चिड़ियों की प्रायः पाँच या छः जातियाँ एक ही स्थान पर पाई जाती हैं। देखने में ये सब एक जैसी होती हैं। आपस में रचनात्मक एकरूपता होते हुए भी एक जाति की मादा दूसरी जाति के नर के सहयोग से प्रजनन नहीं कर सकती। प्रजनन हेतु ये विच्छिन्न हैं।

किंतु इसके अनंतर वर्गीकरण में वैज्ञानिकों के संमुख यह विशेष कठिनाई उत्पन्न हुई कि जाति के प्राकृतिक रूप को किस प्रकार व्यावहारिक रूप दिया जाय। प्रत्येक जाति को उपयुक्त मान्यता देने के लिये उसका प्राकृतिक अध्ययन साधारण रूप से संभव नहीं, इसलिये लोगों ने उसे आकारिकीय (morphological) रूप दिया और एक जाति को दूसरी जाति से स्पष्ट आकारिकीय लक्षण, जाति लक्षण, से पृथक् कर दिया। परंतु शीघ्र ही देखा गया कि आयुभेद, लैंगिक द्विरूपता तथा बहुरूपता (polymorphism) के प्रभाव से अनेक जातियाँ आकारिकीय भिन्नता उत्पन्न कर लेती हैं। इससे कुशल वैज्ञानिक भी उन्हें पृथक् पृथक् स्पीशीज मान बैठते हैं। इनके अंतः प्रजनन से इनका एक ही स्पीशीज का होना सिद्ध होता है। ऐसे स्पीशीज को 'कॉनस्पेसीफिक' (conspecific) स्पीशीज नाम दिया गया है।

ऐसे भी उदाहरण प्राप्त हैं जिनमें कई जातियों के पशु देखने में एक प्रतीत होते हैं और आकारिकी के आधार पर उन्हें एक ही स्पीशीज माना जा सकता है, परंतु वे आपस में अंतःप्रजनन नहीं करते। इसलिये आकारिकीय एकरूपता होते हुए भी इनको अलग अलग स्पीशीज माना जाता है। अतः केवल आकारिकीय अभिलक्षणों पर आधारित स्पीशीज की परिभाषा असंतोषजनक प्रतीत हुई। प्रजननीय पृथक्करण स्पीशीज की परिभाषा का महत्वपूर्ण लक्षण है, यद्यपि क्रियात्मक वर्गीकरण में इसका व्यवहार साधारणतः संभव नहीं। स्पीशीज की इस परिभाषा को जैववैज्ञानिक (biological) परिभाषा कहते हैं। इस परिभाषा के आधार पर स्पीशीज यथार्थरूप से (अर्थात् कार्यक्षमता से) आपस में अंतःप्रजनन करनेवाली जीवसंख्या को कहते हैं। [प्र० गो०]

जाति भारतीय समाज जातीय सामाजिक इकाइयों से गठित और विभक्त है। श्रमविभाजनगत आनुवंशिक समूह भारतीय ग्राम की कृषिकेंद्रित व्यवस्था की विशेषता रही है। यहाँ की सामाजिक व्यवस्था में श्रमविभाजन संबंधी विशेषीकरण जीवन के सभी अंगों में अनुस्यूत है और आर्थिक कार्यों के अतिरिक्त धार्मिक कृत्य, शिक्षा और प्रशासन संबंधी सभी कार्यों का ताना बाना इन्हीं आनुवंशिक समूहों से बनता है। यह जातीय समूह एक ओर तो अपने आंतरिक संगठन से संचालित तथा नियमित है और दूसरी ओर उत्पादन सेवाओं के आदान प्रदान और वस्तुओं के विनिमय द्वारा परस्पर संबद्ध हैं। समान परंपरागत पेशा या पेशे, समान धार्मिक विश्वास, प्रतीक, सामाजिक और धार्मिक प्रथाएँ एवं व्यवहार, खानपान के नियम, जातीय अनुशासन और सजातीय विवाह इन जातीय समूहों की आंतरिक एकता को स्थिर तथा दृढ़ करते हैं। इसके अतिरिक्त पूरे समाज की दृष्टि में प्रत्येक जाति का सोपानवत् सामाजिक संगठन में एक विशिष्ट स्थान तथा मर्यादा है जो इस सर्वमान्य धार्मिक विश्वास से पुष्ट है कि प्रत्येक मनुष्य की जाति तथा जातिगत धंधे दैवी विधान से निर्दिष्ट हैं और व्यापक सृष्टि के अन्य नियमों की भाँति प्रकृत तथा अटल हैं।

एक गाँव में स्थित परिवारों का ऐसा समूह वास्तव में अपनी बड़ी जातीय इकाई का अंग होता है जिसका संगठन तथा क्रियात्मक संबंधों की दृष्टि से एक सीमित क्षेत्र होता है, जिसकी परिधि सामान्यतः २०-२५ मील होती है। उस क्षेत्र में जातिविशेष की एक विशिष्ट आर्थिक तथा सामाजिक मर्यादा होती है जो उसके सदस्यों को, जो जन्मना होते हैं, परंपरा से प्राप्त होती है। यह जातीय मर्यादा जीवन पर्यंत बनी रहती है और जातीय धंधा छोड़कर दूसरा धंधा अपनाने से तथा आमदनी के उतार चढ़ाव से उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह मर्यादा जातीय-पेशा, आर्थिक स्थिति, धार्मिक संस्कार, सांस्कृतिक परिष्कार और राजनीतिक सत्ता से निर्धारित होती है और निर्धारकों में परिवर्तन आने से इसमें परिवर्तन भी संभव है। किंतु एक जाति स्वयं अनेक उपजातियों तथा समूहों में विभक्त रहती है। इस विभाजन का आधार बहुधा एक ही पेशे के अंदर विशेषीकरण के भेद प्रभेद होते हैं। किंतु भौगोलिक स्थानांतरण ने भी एक ही परंपरागत धंधा करनेवाली एकाधिक जातियों को साथ साथ रहने का अवसर दिया है। कभी कभी जब किसी जाति का एक अंग अपने परंपरागत पेशे के स्थान पर दूसरा पेशा अपना लेता है तो कालक्रम में वह एक पृथक् जाति बन जाता है। उच्च हिंदू जातियों में गोत्रीय विभाजन भी विद्यमान हैं। गोत्रों की उपयोगिता मात्र इतनी ही है कि वे किसी जाति के बहिर्विवाही समूह बनाते हैं और एक गोत्र के व्यक्ति एक ही पूर्वज के वंशज समझे जाते हैं। यह उपजातियाँ भी अपने में स्वतंत्र तथा पृथक् अंतर्विवाही इकाइयाँ होती हैं और कभी कभी तो बृहत्तर जाति से उनका संबंध नाम मात्र का होता है (दे० गोत्रीय तथा अंतर्गोत्रीय)। इन उपजातियों में भी ऊँच नीच का एक मर्यादा-क्रम रहता है। उपजातियाँ भी अनेक शाखाओं में विभक्त रहती हैं और इनमें भी उच्चता तथा निम्नता का एक क्रम होता है जो विशेष रूप से विवाह संबंधों में व्यक्त होता है। विवाह में ऊँची पंक्तिवाले नीची पंक्तिवालों की लड़की ले सकते हैं किंतु अपनी लड़की उन्हें नहीं देते।

शब्दव्युत्पत्ति की दृष्टि से जाति शब्द संस्कृत की 'जनि' (जन्) धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगकर बना है। न्यायसूत्र के अनुसार 'समानप्रसवात्मिकाजातिः' अर्थात् जाति समान जन्मवाले लोगों को मिलाकर बनती है। 'न्यायसिद्धांतमुक्तावली' के अनुसार जाति की परिभाषा इस प्रकार है— 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्‌जातित्वम्' अर्थात् जाति उसे कहते हैं जो नित्य है और अपनी तरह की समस्त वस्तुओं में समवाय संबंध से विद्यमान है। व्याकरण शास्त्र के अनुसार जाति की परिभाषा है—'आकृति ग्रहण जातिर्लिगनांचनसर्व भाक् सकृदाख्यातनिर्गाह्या गोत्रंच चरणैः सह'। अर्थात् जाति वह है जो आकृति के द्वारा पहचानी जाय, सब लिंगो के साथ न बदल जाय और एक बार के बतलाने से ही जान ली जाय। इन परिभाषाओं और शब्दव्युत्पत्ति से स्पष्ट है कि 'जाति' शब्द का प्रयोग प्राचीन समय में विभिन्न मानवजातियों के लिये नहीं होता था। वास्तव में जाति मनुष्यों के अंतर्विवाही समूह या समूहों का योग है जिसका एक सामान्य नाम

होता है, जिसकी सदस्यता अर्जित न होकर जन्मना प्राप्त होती है, जिसके सदस्य समान या मिलते जुलते पैतृक धंधे या धंधा करते हैं और जिसकी विभिन्न शाखाएँ समाज के अन्य समूहों की अपेक्षा एक दूसरे से अधिक निकटता का अनुभव करती हैं।

भारत में जातियों और उपजातियों की निश्चित संख्या बताना कठिन है। श्रीधर केतकर के अनुसार केवल ब्राह्मणों की ८०० से अधिक अंतर्विवाही जातियाँ हैं। और ब्लूमफील्ड का मत है कि ब्राह्मणों में ही दो हजार से अधिक भेद हैं। सन् १९०१ की जनगणना के अनुसार, जो जातिगणना की दृष्टि से अधिक शुद्ध मानी जाती है, भारत में उनकी संख्या २३७८ है। डा० जी० एस० घुरिए की प्रस्थापना है कि प्रत्येक भाषाक्षेत्र में लगभग दो सौ जातियाँ होती हैं, जिन्हें यदि अंतर्विवाही समूहों में विभक्त किया जाय तो यह संख्या लगभग ३,००० हो जाती है।

जाति की परिभाषा असंभव मानते हुए अनेक विद्वानों ने उसकी विशेषताओं का उल्लेख करना उत्तम समझा है। डा० जी० एस घुरिए के अनुसार जाति की दृष्टि से हिंदू समाज की छह विशेषताएँ हैं — (१) जातीय समूहों द्वारा समाज का खंडों में विभाजन, (२) जातीय समूहों के बीच ऊँच नीच का प्रायः निश्चित तारतम्य, (३) खानपान और सामाजिक व्यवहार संबंधी प्रतिबंध, (४) नागरिक जीवन तथा धर्म के विषय में विभिन्न समूहों की अनर्हताएँ तथा विशेषाधिकार, (५) पेशे के चुनाव में पूर्ण स्वतंत्रता का अभाव, और (६) विवाह अपनी जाति के अंदर करने का नियम।

जाति एक स्वायत्त इकाई — परंपरागत रूप में जातियाँ स्वायत्त सामाजिक इकाइयाँ हैं जिनके अपने आचार तथा नियम हैं और जो अनिवार्यतः बृहत्तर समाज की आचारसंहिता के अधीन नहीं हैं। इस रूप में सब जातियों की नैतिकता और सामाजिक जीवन न तो परस्पर एकरस है और न पूर्णतः समन्वित। फिर भी, भारतीय जातिपरक समाज का समन्वित तथा सुगठित सामुदायिक जीवन है, जिसमें विविधताओं तथा विभिन्नताओं को सामाजिक मान्यता प्राप्त है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा कुछ वैश्य जातियों को छोड़कर प्रायः प्रत्येक जाति की नियमित तथा स्थायी पंचायत अपने सदस्यों को अनुशासित करती है और जातीय नियमों तथा आचारों का उल्लंघन करने पर उन्हें दंडित करती है। क्षत्रिय तथा ब्राह्मण जातियाँ भी जातीय जनमत के दबाव से और यदाकदा जातीय बंधुओं की तदर्थ पंचायत द्वारा उल्लंघनकर्ताओं को अनुशासित और दंडित करती हैं। उच्च जातियों का यह अनुशासन राज्यतंत्र द्वारा भी होता रहा है।

जातियों में ऊँच नीच का भेद — जातियाँ एक दूसरे की तुलना में ऊँची या नीची हैं। एक ओर सबसे ऊपर धार्मिक रूप से पवित्र अथवा सर्वोच्च मानी जानेवाली ब्राह्मण जातियाँ हैं और दूसरी ओर सबसे नीचे अंत्यज श्रेणी की अपवित्र और अछूत कही जानेवाली जातियाँ हैं। इनके बीच अन्य सभी जातियाँ हैं जो सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से उच्च, मध्यम और निम्न श्रेणी में रखी जा सकती हैं। हिंदू धर्मशास्त्रों ने पूरे समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में विभक्त किया है। जातियों की मर्यादा विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न भिन्न है किंतु वर्णों का श्रेणीक्रम निर्धारित और सार्वभौम है। जातियों को वर्णों में विभाजित करने का भी प्रयत्न किया जाता है। जातियों की सामाजिक मर्यादा का अनुमान करने में इससे सुविधा होती है। किंतु अनेक जातियों की वर्णगत स्थिति अनिश्चित है। उत्तर भारत में जाट, गूजर, अहीर आदि क्षत्रिय होने का दावा करते हैं और कायस्थ जाति के वर्ण के विषय में अनेक धारणाएँ हैं। यही स्थिति उच्च मानी जानेवाली भूमिहार जाति की है।

खानपान और व्यवहार संबंधी प्रतिबंध — एक पंक्ति में बैठकर किसके साथ भोजन किया जा सकता है और किसके हाथ का छुआ हुआ या बनाया हुआ कौन सा भोजन तथा जल आदि स्वीकार्य या अस्वीकार्य है, इसके अनेक जातीय नियम हैं जो भिन्न भिन्न जातियों और क्षेत्रों में भिन्न भिन्न हैं। इस दृष्टि से ब्राह्मण को केंद्र में रखकर उत्तर भारत में जातियों को पाँच समूहों में विभक्त किया जा सकता है। एक समूह में ब्राह्मण जातियाँ है जिनमें स्वयं एक जाति दूसरी जाति का कच्चा भोजन स्वीकार नहीं करती और न एक पंक्ति में बैठकर भोजन कर सकती है। ब्राह्मणों को कुछ जातियाँ इतनी निम्न मानी जाती हैं कि उच्चजातीय ब्राह्मणों से उनकी कभी कभी सामाजिक दूरी बहुत कुछ उतनी ही होती है जितनी उच्च ब्राह्मण जाति और किसी शूद्र जाति के बीच होती है। दूसरे समूह में वे जातियाँ आती हैं जिनके हाथ का पका भोजन ब्राह्मण स्वीकार कर सकता है। तीसरे समूह की जातियों से ब्राह्मण केवल जल ग्रहण कर सकता है। चौथे समूह की जातियाँ यद्यपि अछूत नहीं, तथापि ब्राह्मण उनके हाथ का जल ग्रहण नहीं कर सकता। पाँचवें समूह में वे सब जातियाँ हैं जिनके छूने मात्र से ब्राह्मण तथा अन्य शुद्ध जातियाँ अशुद्ध हो जाती हैं और अशुद्धि दूर करने के लिये वस्त्रों एवं शरीर को धोने तथा अन्य शुद्धिक्रियाओं की आवश्यकता होती है। हिंदू समाज मे भोजन संबंधी एक जातीय आचार यह है कि कच्चा भोजन अपनी जाति के हाथ का ही स्वीकार्य होता है। दूसरी परंपरा यह है कि ब्राह्मण के हाथ का भी कच्चा भोजन ग्रहण किया जाता है। तीसरी परंपरा यह है कि अपने से सभी ऊँची जातियों के हाथ का कच्चा भोजन स्वीकार किया जाता है। सभी जातियाँ पका हुआ कच्चा भोजन अपने से छोटी जातियों के हाथ से स्वीकार नहीं करतीं। जल के संबंध में यह बात नहीं है। अधिकांशतः ब्राह्मण जातियाँ पहली परंपरा में हैं और अन्य जातियाँ सामान्यतः बाद के नियमों का अनुसरण करती हैं। एक अछूत जाति दूसरी अछूत जाति के हाथ से न तो कच्चा और न पक्का भोजन स्वीकार करती है, यद्यपि शुद्ध जातियों के हाथ का दोनों प्रकार का भोजन उन्हें स्वीकार्य है। पूर्वी तथा दक्षिणी बंगाल, गुजरात तथा समस्त दक्षिणी भारत में कच्चे तथा पक्के भोजन का यह भेद नहीं है। गुजरात तथा दक्षिणी भारत में ब्राह्मण किसी अब्राह्मण जाति के हाथ से न तो भोजन और न जल ही ग्रहण करता है। उत्तर भारत में अस्पृश्य जातियों से छू जाने पर छूत लगती है किंतु दक्षिण में अछूत व्यक्ति की छाया और उसके निकट जाने से ही छूत लग जाती है। ब्राह्मण को तमिलनाड में शाणान जाति के व्यक्ति द्वारा २४ पग से, मालाबार में तियाँ से ३६ पग और पुलियों से ९६ पग की दूरी से छूत लग जाती है। महाराष्ट्र में अस्पृश्य की छाया से उच्चजातीय व्यक्ति अशुद्ध हो जाता है। केरल में नायर जैसी सुसंस्कृत जाति के छूने से नंबूदी ब्राह्मण अशुद्ध हो जाता है। तमिलनाड में पुराड वन्नान नाम की एक जाति के दर्शन मात्र से छूत लग जाती है।

जातियों की अनर्हताएँ तथा विशेषाधिकार — भारतीय जातिव्यवस्था में कुछ जातियाँ उच्च, पवित्र, शुद्ध और सुविधाप्राप्त हैं और कुछ निकृष्ट, अशुद्ध, अस्पृश्य और असुविधाप्राप्त हैं। ब्राह्मण पवित्र और पूज्य हैं और उन्हें अनेक धार्मिक, सामाजिक तथा नागरिक विशेषा-

धिकार प्राप्त हैं। इनके विपरीत अस्पृश्य जातियाँ हैं। धार्मिक दृष्टि से ये जातियाँ शास्त्रों के पठनपाठन तथा श्रवण के अधिकार से वंचित हैं। इनका उपनयन संस्कार नहीं होता। ब्राह्मण इनके धार्मिक कृत्यों में पौरोहित्य नहीं करता। देवालयों में इनका प्रवेश निषिद्ध है। ये अशुद्ध और अशुद्धिकारक हैं। आर्थिक और व्यावसायिक क्षेत्र में गंदे और निकृष्ट समझे जानेवाले कार्य इनके सिपुर्द हैं जिनसे आय प्रायः अत्यल्प होती है। इनकी बस्तियाँ गाँव से कुछ हटकर होती हैं। ये अनेक सामाजिक और नागरिक अनर्हताओं के भागीदार हैं। नाई और धोबी की शारीरिक सेवाएँ इन्हें उपलब्ध नहीं हैं। ये सार्वजनिक तालाबों, धर्मशालाओं और शिक्षासंस्थाओं का उपयोग नहीं कर सकते। अंत्यजों की दशा उत्तर की अपेक्षा दक्षिण भारत में अधिक हीन है। १८वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक महाराष्ट्र में महार जाति के लोगों को दिन में दस बजे के बाद और ४ बजे के पहले ही गाँव और नगर में घुसने की आज्ञा थी। उस समय भी उन्हें गले में हाँडी और पीछे झाड़ू बाँधकर चलना होता था। दक्षिण भारत में पूर्वी और पश्चिमी घाट के शाणान और इड़वा कुछ काल पूर्व तक दुतल्ला मकान नहीं बनवा सकते थे। वे जूता, छाता और सोने के आभूषणों का उपयोग नहीं कर सकते थे। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक तियाँ और अन्य अछूत जाति की नारियाँ शरीर का ऊर्ध्व भाग ढककर नहीं चल सकती थीं। नाई, कुम्हार, तेली जैसी जातियाँ भी वैदिक संस्कारों और शास्त्रीय ज्ञान के अधिकार से वंचित रही हैं। इसके विपरीत ब्राह्मणों और क्षत्रियों को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे। मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण मृत्युदंड से मुक्त है। हिंदू राजाओं के शासनकाल में ब्राह्मणों को दंड तथा करसंबंधी अनेक रियायतें प्राप्त थीं। धार्मिक कर्मकांडों में पौरोहित्य का एकमात्र अधिकार ब्राह्मण को है। क्षत्रिय भी विशेष संमान के अधिकारी हैं। शासन करना उनका अधिकार है। छुआछूत का दायरा बहुत व्यापक है। अछूत जातियाँ भी एक दूसरे से छूत मानती हैं। मालाबार में पुलियन जाति के किसी व्यक्ति को यदि कोई परहिया छू ले तो पुलियन पाँच बार स्नान करके और अपनी एक अंगुली से रक्त निकाल देने के बाद शुद्धिलाभ करता है। श्री ई० थर्स्टन के अनुसार यदि नायादि जाति का व्यक्ति एक सौ हाथ की दूरी पर आ जाय तो सभी अपवित्र हो जाते हैं। उन्हीं के अनुसार यदि ब्राह्मण किसी परहिया अथवा होलिया के घर या मुहल्ले में भी चला जाय तो उससे उनका घर और बस्ती अपवित्र हो जाती है।

जाति और पेशा — प्रत्येक जाति का एक या अधिक परंपरागत धंधा है। कुछ विभिन्न जातियों के समान परंपरागत धंधे भी हैं। आर० वी० रसेल (R. V. Russel) ने मध्यभारत के बारे में बताया है कि वहाँ कृषकों की ४०, बुनकरों की ११ और मछुओं की सात भिन्न भिन्न जातियाँ हैं। कृषि, व्यापार और सैनिक वृत्ति आदि कुछ ऐसे पेशे हैं जो प्रायः सभी जातियों के लिये खुले रहे हैं। अछूत इसमें अपवाद हैं, यद्यपि कृषि अनेक अछूत जातियाँ भी करती है। आज ईसा की २०वीं शताब्दी के मध्य तक अधिकांश जातियों के अधिकतर लोग अपने परंपरागत पेशों में लगे हैं। चमड़ा कमाना, जूते बनाना, विष्ठा की सफाई आदि कुछ ऐसे गंदे तथा निकृष्ट समझे जानेवाले कार्य हैं जिन्हें करने की अनुमति अन्य उच्च जातियाँ अपने सदस्यों को नहीं देतीं। इसके विपरीत बुनाई का धंधा अनेक छोटी जातियों ने अपना लिया है। जजमानी व्यवस्था से संबंधित नाई, धोबी, बढ़ई, लोहार, आदि के कुछ ऐसे धंधे हैं जिनपर संबंधित जातियाँ अपना अधिकार मानती है। पौरोहित्य पर ब्राह्मण जातियों का एकाधिकार है। यज्ञ कराना, अध्ययन अध्यापन और दान दक्षिणा लेना ब्राह्मणों का जातीय कर्म तथा वृत्ति है। क्षत्रियों का परंपरागत कार्य शासन और सैनिक वृत्ति है।

गाँव में विभिन्न जातीय समूह सेवा की एक ऐसी व्यवस्था में गठित हैं जिसमें अधिकांश जातियाँ दूसरे की परंपरागत रूढ़ियों पर आधारित आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन के लिये उपयोगी, निश्चित तथा विशिष्ट सेवा देती हैं। इसे कुछ विद्वानों ने जजमानी व्यवस्था कहा है। जजमानी व्यवस्था का विस्तार आर्थिक जीवन के साथ साथ सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन में भी है और अनेक सेवक जातियाँ अपने जजमानों से आर्थिक सेवा के अतिरिक्त सामाजिक उत्सवों और धार्मिक संस्कारों के आधार पर भी संबद्ध हो गई। ब्राह्मण तथा अनेक सेवक जातियों का संबंध तो अपने जजमानों के केवल धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन से है। भाट, नट आदि और ब्राह्मणों की अनेक जातियों की गणना इस श्रेणी में की जा सकती है।

सजातीय विवाह — सजातीय विवाह जातिप्रथा की रीढ़ माना जाता है। वास्तव में बहुधा एक जाति में भी अनेक अंतर्विवाही समूह होते हैं जो एक प्रकार से स्वयं जातियाँ हैं और जिनकी पृथक् जातीय पंचायतें, अनुशासन और प्रथाएँ हैं। इन्हें उपजातियों का नाम भी दिया जाता है। सजातीय अथवा अंतर्विवाह के कुछ अपवाद भी हैं। पंजाब के कुछ पहाड़ी क्षेत्रों में उच्च जाति का व्यक्ति छोटी जाति की स्त्री से विवाह कर सकता है। मालाबार में नंबूद्री ब्राह्मण मातृस्थानीय नायर नारी से वैवाहिक संबंध करता है।

उत्पत्ति — भारत में जाति प्रागैतिहासिक काल से मिलती है। इसकी उत्पत्ति के कारण और काल के विषय में अनेक मत हैं जो सब अनुमान पर आधारित हैं। अनेक विद्वानों का मत है कि श्वेतवर्ण विजेता आर्यों और श्यामवर्ण विजित अनार्यों के संघर्ष से आर्य और दास दो जातियों का उदय हुआ और कालक्रम में वर्णसांकर्य, धर्म, व्यवसाय, श्रमविभाजन, संस्कृति, प्रवास तथा भौगोलिक पार्थक्य से हजारों जातियाँ उत्पन्न हुई। दूसरा प्रबल मत है कि जाति का उदय अनार्य समाज में आर्यों के आगमन से पहले हो चुका था और आर्यों के आगमन ने उसमें अपना योगदान किया। इस मत के समर्थकों का कहना है कि 'माया', 'जीवतत्ववाद', 'अभिनिषेध' (टैबू) और जादू आदि की भावनाओं से प्रभावित विभिन्न समूह जब एक दूसरे के संपर्क में आए तो वे अपने विश्वास, संस्कृति, प्रजाति, धार्मिक कर्मकांड आदि के कारण एक दूसरे से पृथक् बने रहे। क्योंकि अनेक जातीय समूहों का विश्वास था कि खाद्य पदार्थों तथा व्यावसायिक उपकरणों पर परकीय प्रभाव अनिष्टकारी होता है। अतः छुआछूत और अंतर्विवाह (सजातीय विवाह) संयुक्त समाज के अंग बने। संयोग से जाति को कर्मवाद का आधार भी मिल गया। व्यवसाय, क्षेत्रीयता, वर्णसांकर्य आदि अनेक तत्वों ने उसे प्रभावित, परिवर्तित और दृढ़ किया। आर्यों के आगमन ने इसे नया रूप दिया और जातिप्रथा आर्यों में भी प्रविष्ट हुई। वैदिक साहित्य के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रारंभ में भारतीय आर्यों में तीन वर्ग थे जो समस्त संसार के आर्यों की विशेषता थी और जो जातियों से मूलतः भिन्न थे।

वर्ण तथा जाति — हिंदू शास्त्रों के मत से जाति का मूल वर्णों में है। ऋग्वेद के १०वें मंडल के पुरुषसूक्त के अनुसार ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से राजन्य (क्षत्रिय), जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार मानव सृष्टि के प्रारंभ से ही चार वर्णों की उत्पत्ति मानी गई है। मनु आदि स्मृतिकारों ने प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति के सामाजिक और व्यक्तिगत कार्य, जीविका, शिक्षा दीक्षा, संस्कार और कर्तव्य तथा अधिकार संबंधी नियमों का विधान किया है। वर्णव्यवस्था में पुरोहित तथा अध्यापक वर्ग ब्राह्मण, शासक तथा सैनिक वर्ग राजन्य या क्षत्रिय, उत्पादक वर्ग वैश्य और शिल्पी एवं सेवक वर्ग शूद्रवर्ण हैं। अनेक विद्वानों का मत है कि वैदिक आर्य समाज में तीन अस्पष्ट वर्ग थे। वास्तव में उस समय गौरवर्ण आर्य और श्यामवर्ण दास दो ही वर्ण थे जिन्हें एक ओर तो त्वचा का गौर और श्याम रंगभेद और दूसरी ओर विजेता और विजित का सत्तागत भेद और सांस्कृतिक भिन्नत्व एक दूसरे से पृथक् करता था। दासवर्ण बाद में शूद्रवर्ण हुआ और इसके साथ आर्यों के तीनों वर्गों ने मिलकर चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की। जो जनजातियाँ, आर्य समाज से दूर रहीं उन्हें वर्णव्यवस्था में संमिलित नहीं किया गया। वर्णों में अंतर्विवाह का निषेध नहीं था और इस निषेध का न होना मूल आर्य समाज की परंपरा के अनुकूल था। केवल प्रतिलोम विवाह निषिद्ध थे। हिंदू धर्मशास्त्रों ने जातियों को नहीं, वर्णों को मान्यता दी है, यद्यपि स्वयं वेदों और स्मृतियों में अनेक जातियों का उल्लेख है जो वस्तुतः या तो अनार्य सभ्य जातियाँ हैं, या सभ्य समाज के संपर्क में आए अनार्य जन जातीय समूह हैं। जातिभेद का मूल (आरंभ) आर्यों में नहीं था। अतः जाति शास्त्रकारों द्वारा उपेक्षित रही है। आर्यमूल की उच्च जातियों में जातीय पंचायतों की अनुपस्थिति भी मूल आर्य समाज की जातिविहीन स्थिति की द्योतक है। परंतु हिंदू समाज में जातियों का मौलिक महत्व है और वे वर्णों से भिन्न हैं। ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है जिनका वर्ण अनिश्चित और विवादास्पद है, जबकि सभी की जाति निश्चित और संदेह से परे है। वर्णों का सामाजिक मर्यादाक्रम असंदिग्ध और निश्चित है, जबकि जातियों का एक सीमा तक निश्चित होते हुए भी संदिग्ध और विवादास्पद रहता है। सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से जातियाँ स्थानीय तथा क्षेत्रीय और वर्ण सार्वदेशिक हैं अर्थात् जातियों में स्थानभेद से मर्यादाभेद हो जाता है। वर्णव्यवस्था में दो वर्णों के बीच विवाहसंबंध निषिद्ध नहीं है, केवल प्रतिलोम विवाह निषिद्ध है। जातिव्यवस्था में अंतर्जातीय विवाह सर्वथा निषिद्ध है। वर्ण समाज की क्रियात्मक वास्तविक इकाइयाँ नहीं हैं और जातितत्व जीवन के प्रायः सभी अंगों में समाविष्ट है। जाति के कारण वर्णों की गतिशीलता अवरुद्ध है और व्यक्ति के लिये वर्णांतर उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार जात्यंतर, क्योंकि व्यक्ति मूलतः जाति से संबद्ध है और जाति के साथ ही उसका वर्णांतर हो सकता है। वर्णविभाजन में किसी जाति का स्थान उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा का द्योतक है। अंत्यज या अछूत जातियाँ यद्यपि हिंदू समाज का अंग हैं तथापि वर्णव्यवस्था में उनका कोई स्थान नहीं है। दक्षिण भारत में क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण की मान्य जातियाँ हैं ही नहीं। जिन जातियों ने इन वर्णों के पेशे अपना लिए हैं उन्हें आज भी शूद्र ही माना जाता है, यद्यपि वे अब क्षत्रिय या वैश्य होने का दावा करती हैं। केरल के राजवंशों तक की यही स्थिति थी। हिंदुओं के कर्मवाद ने जातिव्यवस्था को धार्मिक आश्रय प्रदान किया और यह आश्रय जाति को दृढ़ तथा स्थायी बनाने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। जाति के साथ सामान्य हिंदू का तादात्म्य धर्म की अपेक्षा कहीं अधिक है। वह धर्म की उपेक्षा और अवज्ञा कर सकता है किंतु जातीय बंधनों, प्रथाओं और आचार व्यवहार का उल्लंघन उसके लिये कठिन है। वास्तव में अधिकांश लोगों की धारणा में धर्म और जाति का भेद है ही नहीं।

प्रजातीय तत्व — भारत उपमहाद्वीप में प्रागैतिहासिक काल से संसार की विभिन्न प्रजातियों का मिश्रण होता रहा, और यद्यपि कुछ क्षेत्रों और जातीय समूहों में एक या दूसरी प्रजाति के लक्षण बहुलता से परिलक्षित हैं, तथापि प्रजातीय भेद और जाति में अटूट संबंध स्थापित नहीं किया जाता। एच० एच० रिजली ने पंजाब, उत्तर प्रदेश और बिहार की कुछ जातियों के नासिकामापन से यह निष्कर्ष निकाला कि आर्य प्रजाति का अंश जिस जाति में जितना अधिक या कम है उसका मोटे तौर पर सामाजिक स्थान उतना ही ऊँचा या नीचा है। किंतु डाक्टर जी० एस० घुरए और अन्य जातिविदों ने मानवमितिक नापों के आधार पर रिजली की प्रस्थापना का खंडन किया है। भारत के जातीय समूहों में प्रजातीय मिश्रण व्यापक है और यह मिश्रण विभिन्न जातियों, उपजातियों तथा क्षेत्रों में भिन्न भिन्न है। संभवतः भारत के प्राचीनतम निवासी निग्रिटो मानव जाति के थे। इनके वंशज प्रायः अमिश्रित अवस्था में आज भी अंडमान में हैं। इनके अतिरिक्त नाटा कद, काला रंग और ऊन सरीखे बालवाली काडर, इरूला, और पणियन जैसी दक्षिण भारत की वन्य जातियों में तथा उत्तरपूर्व की कुछ नागा जनजातियों में निग्रिटो मानव जाति का मिश्रण परिलक्षित है। निग्रिटो के पश्चात् भारत में संभवतः निषाद (आस्ट्रिक) मानव जाति का पदार्पण हुआ जिसके शारीरिक लक्षणों में दीर्घ कपाल, पृथु नासिका, मझोला कद और घुँघराले बाल तथा चाकलेटी श्यामल वर्ण है। निषादों का मिश्रण समस्त भारत में और विशेषकर छोटी जातियों में अधिक है। दक्षिण की अधिकांश वन्य जातियाँ और कोल, संथाल, मुंडा, और भील मूलतः इसी वंश की जनजातियाँ हैं। मुसहर, चमार, पासी आदि जातियों में भी इसी मानव जाति का अंश अधिक परिलक्षित होता है। दीर्घ कपाल और मध्यम नासिका तथा श्याम वर्णवाली द्रविड़ जाति का प्रभाव दक्षिण भारत पर सबसे अधिक है। किंतु मध्य और समस्त उत्तर भारत की आबादी में भी इसका व्यापक मिश्रण है। ऐसा प्रतीत होता है कि द्रविड़ जाति का उत्तर भारत में निषाद, किरात (मंगोल) और आर्य रक्त से मिश्रण हुआ तथा इन लोगों ने आर्य भाषाओं को ग्रहण कर लिया। गोंड, खोंड और बैगा जनजातियाँ इसी वंश की हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में निग्रिटो, निषाद (आस्ट्रिक), द्रविड़, किरात (मंगोलायड) और आर्य जातियों का मिश्रण हुआ है। इनके अतिरिक्त गोल सिर और मध्यम कद वाली आर्मिनायड मानव जाति का मिश्रण द्रविड़ जाति से या तो भारत में आने पर या उसके पूर्व ही हुआ। दक्षिण तथा मध्य भारत और बंगाल में इस जाति के लक्षण स्पष्ट हैं। प्रजातीय मिश्रण की दृष्टि से भारत के उत्तर-पश्चिम में आर्य, उत्तर-पूर्व में किरात तथा निषाद और दक्षिण में द्रविड़ तथा निषाद मानव जातियों के लक्षण अधिक प्रबल हैं।

भारत के अहिंदुओं में जातितत्व — भारत में जाति सर्वव्यापी तत्व है। ईसाइयों, मुसलमानों, जैनों और सिखों में भी जातियाँ हैं और उनमें भी उच्च, निम्न तथा शुद्ध अशुद्ध जातियों का भेद विद्यमान है, फिर भी उनमें जाति का वैसा कठोर रूप और सूक्ष्म भेद प्रभेद नहीं है जैसा हिंदुओं में है। ईसा की १२वीं शती में दक्षिण में वीर शैव संप्रदाय का उदय जाति के विरोध में हुआ था। किंतु कालक्रम में उसके अनु-

पंथियों की एक पृथक् जाति बन गई जिसके अंदर स्वयं अनेक जातिभेद हैं। सिखों में भी जातीय समूह बने हुए हैं और यही दशा कबीरपंथियों की है। गुजरात की मुसलिम बोहरा जाति की मस्जिदों में यदि अन्य मुसलमान नमाज पढ़ें तो वे स्थान को धोकर शुद्ध करते हैं। बिहार राज्य में सरकार ने २७ मुसलमान जातियों को पिछड़े वर्गों की सूची में रखा है। केरल के विभिन्न प्रकार के ईसाई वास्तव में जातीय समूह हो गए हैं। मुसलमानों और सिखों की भाँति यहाँ के ईसाइयों में अछूत समूह भी हैं जिनके गिरजाघर अलग हैं अथवा जिनके लिये सामान्य गिरजाघरों में पृथक् स्थान निश्चित कर दिया गया है। किंतु मुसलमानों और सिखों के जातिभेद हिंदुओं के जातिभेद से अधिक मिलते जुलते हैं जिसका कारण यह है कि हिंदू धर्म के अनुयायी जब जब इस्लाम या सिख धर्म स्वीकार करते हैं तो वहाँ भी अपने जातीय समूहों को बहुत कुछ सुरक्षित रखते हैं और इस प्रकार सिखों या मुसलमानों की एक पृथक् जाति बन जाती है।

जाति की गतिशीलता — भारत में जाति चिरकालीन सामाजिक संस्था है। ई० ए० एच० ब्लंट के अनुसार जातिव्यवस्था इतनी परिवर्तनशील है कि इसका कोई भी स्वरूपवर्णन अधिक दिनों तक सही नहीं रहता। इसका विकास अब भी जारी है। नई जातियों तथा उपजातियों का प्रादुर्भाव होता रहता है और पुरानी रूढ़ियों का क्षय हो जाता है। नए मानव समूहों को ग्रहण करने की इसमें विलक्षण क्षमता रही है। कभी कभी किसी क्षेत्र की कोई संपूर्ण जाति या उसका एक अंग धार्मिक संस्कारों तथा सामाजिक रीतियों में ऊँची जातियों की नकल करके और शिक्षा तथा संपत्ति, सत्ता और जीविका आदि की दृष्टि से उन्नत होकर कालक्रम में अपनी मर्यादा को ऊँचा कर लेती है। इतिहास में अनेक ऐसे भी उदाहरण हैं जब छोटी या शूद्र जातियों के समूहों को राज्य की कृपा से ब्राह्मण तथा क्षत्रिय स्वीकार कर लिया गया। जे० विलसन और एच० एल० रोज के अनुसार राजपूताना, सिंध और गुजरात के पोखरना या पुष्करणा ब्राह्मण, और उत्तर प्रदेश में उन्नाव जिले के आमताड़ा के पाठक और महावर राजपूत इसी प्रक्रिया से उच्च जातीय हो गए। ऐसा देखा गया है कि जातियों का उच्च या निम्न स्थान धार्मिक अनुष्ठान तथा सामाजिक प्रथा, आर्थिक स्थिति तथा सत्ता द्वारा स्थिर और परिवर्तित होता है। इसके अतिरिक्त कुछ पेशे गंदे तथा निकृष्ट और कुछ शुद्ध तथा श्रेष्ठ माने जाते हैं। चमड़े का काम, मल मूत्र की सफाई कपड़ों की धुलाई आदि गंदे पेशे हैं; बाल काटना, मिट्टी और धातु के बर्तन बनाना, टोकरी, सूप आदि बनाना, बिनाई, बुनाई आदि निम्न कार्य हैं; खेती, व्यापार, पशुपालन, राजा की नौकरी मध्यम और विद्याध्ययन, अध्यापन, तथा शासन श्रेष्ठ काम हैं। इसी प्रकार भोजन के कुछ पदार्थ उत्तम और कुछ निकृष्ट माने जाते हैं। मृत पशु, विष्ठोपजीवी शूकर तथा मांसाहारी गीदड़, कुत्ते, बिल्ली आदि का मांस निकृष्ट खाद्य माना जाता है। शाकाहार करना और मदिरात्याग उत्तम है। धार्मिक संस्कार और उनकी विधियों का भी बहुत महत्व है। स्त्रियों का पुनर्विवाह और विधवाविवाह उच्च जातियों में निषिद्ध और निम्न जातियों में स्वीकृत है। यह निषेध धार्मिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से उत्तम माना जाता है। अतः जब कोई जाति अपनी मर्यादा को ऊँचा करने के लिये प्रयत्नशील होती है तो ऊँची जातियों के धार्मिक संस्कारों को अपनाती है और निकृष्ट भोजन, मद्यपान, स्त्रियों के पुनर्विवाह और विधवाविवाह पर रोक लगा देती है। यद्यपि जातीय गतिशीलता हिंदू समाज के सभी स्तरों में, एक ही स्तर के अंदर और विभिन्न स्तरों के बीच विद्यमान है तथापि अंत्यज वर्ग की जातियों का ऊपर के स्तरों में में पहुँचना अभी तक असंभव ही बना हुआ है। ऐसा भी देखा गया है कि संस्कार, संपत्ति और सत्ता की दृष्टि से उन्नत होने पर भी किसी जाति के उच्च श्रेणी संबंधी दावे को मान्यता नहीं मिली। कुछ भी हो, आधुनिक युग में जातीय गतिशीलता अनेक दिशाओं में बढ़ रही है। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव ने एक नई धारा प्रवाहित की है। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से उच्चशिक्षाप्राप्त वे लोग जो ऊँचे सरकारी पदों पर हैं या उद्योग तथा व्यापार में उन्नति कर गए हैं, अपने खान पान और रहन सहन को बदल रहे हैं और जातीय आचार व्यवहार का पालन नहीं करते अथवा उसकी उपेक्षा करते हैं। फिर भी, अपनी जाति से इनका संबंध बना रहता है, और इन्हें जाति से विशेष प्रतिष्ठा तथा संमान भी प्राप्त होता है। नगरों तथा औद्योगिक केंद्रों में अनेक जातीय भेदभाव तथा बंधन – जैसे खानपान के प्रतिबंध, पेशे तथा व्यवसाय संबंधी रुकावटें— और छुआछूत की कठोरता तीव्रता से समाप्त हो रही है। परंतु विवाह अब भी अपनी जाति के ही अंदर होता है, यद्यपि इस दिशा में भी परिवर्तन परिलक्षित हैं। अनेक जातियों की उपजातियों में विवाह संबंध सुगम हो गया है और विशेषकर उच्च जातियों में अंतर्जातीय विवाहों को स्वीकार किया जाने लगा है। कानूनी रूप से न्याय और दंड का अधिकार जाति पंचायतों के अधीन न रहने से भी उनकी शक्ति और प्रभाव में ह्रास हुआ है। दूसरी ओर जातियाँ अपना प्रभाव बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील हैं और इनके ये प्रयत्न राजनीतिक गतिविधियों में अभिव्यक्त होते हैं। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद उत्तर प्रदेश में 'अजगर' दल (अहीर, जाट, गूजर, और राजपूत) और शोषित वर्गसंघ का संघटन हुआ। महाराष्ट्र में श्री भीमराव अंबेडकर के नेतृत्व में पहले दलित वर्गसंघ और बाद में रिपब्लिकन पार्टी बनी और दक्षिण भारत में पहले जस्टिस पार्टी और स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम् का संघटन हुआ। देश के लोकतांत्रिक निर्वाचनों में जातितत्व प्रमुख हो जाता है, सरकारी नौकरियों और सुविधाओं की प्राप्ति में भी जातीय पक्षपात प्रतिलक्षित होता है। इस प्रकार राजनीति में जाति का विशेष स्थान हो गया है। २०वीं शताब्दी के आरंभ से ही भौगोलिक दृष्टि से भी जातीय संघटन व्यापक होते जा रहे हैं और नए ढंग से अपने को संगठित कर रहे हैं।

भारतीय संविधान और कानून की दृष्टि से छुआछूत का व्यवहार दंडनीय अपराध है। संविधान ने अनुसूचित जातियों (दलित जातियों) और जनजातियों के लिये अनेक प्रकार के आरक्षण का वैधानिक प्राविधान किया है, जिसके अंतर्गत संसद तथा राज्यों के विधानमंडलों में आरक्षित स्थान निश्चित किए गए हैं। इसी प्रकार केंद्रीय तथा राज्य सरकारों की नौकरियों में भी अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिये स्थान आरक्षित हैं। इन जातियों को यह आरक्षण अंतरिम काल के लिये दिया गया है।

जातिव्यवस्था के गुण दोष — भारतीय जातिव्यवस्था प्रागैतिहासिक काल से एक दृढ़ सामाजिक आर्थिक संस्था के रूप में विद्यमान है। निस्संदेह इस व्यवस्था में व्यक्ति की स्वतंत्रता अति सीमित है और वह जातिविशेष, जातीय शाखाविशेष तथा परिवारविशेष के सदस्य के रूप में जाना और माना जाता है। असमानता इसका दूसरा लक्षण है। इस व्यवस्था में व्यक्तिगत योग्यता तथा आकांक्षाओं का विशेष महत्व नहीं है। फिर भी, इस व्यवस्था ने समाज को एक ऐसी विलक्षण स्थिरता और व्यक्तियों को ऐसी शांति और सुरक्षा प्रदान की है जो अन्यत्र दिखाई नहीं देती। जातियों के आंतरिक संघटन, जजमानी व्यवस्था और पारि-

धार्मिक दायित्वों के द्वारा व्यक्ति को सभी प्रकार की सामाजिक सुरक्षा मिलती रही है। इसमें अनाथ बच्चों का पालन पोषण, विधवाओं, रोगियों अपाहिजों और बूढ़ों की देखरेख तथा आश्रय की व्यवस्था है। किंतु जातिव्यवस्था का आधुनिक औद्योगिक अर्थप्रणाली और जनतांत्रिक स्वतंत्रता तथा समाजवादी समानता के मूल्यों से मेल नहीं बैठता और लगता है कि यह विरोध बुनियादी है। आर्थिक विकास के लिये जिस व्यावसायिक तथा भौगोलिक गतिशीलता की आवश्यकता है, जातीय बंधन उसमें बाधक है। अब यह देखना है कि वर्तमान निरंतर परिवर्तनशील और संक्रांति युग में जाति अपना स्वरूप बदलकर सामाजिक संबंधों में युगानुकूल नया सामंजस्य स्थापित करती है या निष्प्रयोज्य और अवरोधक बनकर समाप्त हो जाती है।

अन्य देशों में जातितत्व — जातिव्यवस्था भारतीय समाज की विशेषता है। वह ऐसी स्थिर वस्तु मानी गई है। जिसमें व्यक्ति की सामाजिक मर्यादा जन्म से निश्चित होकर आजीवन अपरिवर्तनीय रहती है। ऐतिहासिक अभिलेखों से ज्ञात होता है कि प्राचीन मिस्र और पश्चिमी रोम साम्राज्य में भी इस प्रकार की व्यवस्था थी जिसमें कार्यविभाजन से उत्पन्न पेशे और पद वंशानुगत कर दिए गए थे। ईसा की ५वीं शताब्दी में रोम साम्राज्य की विधिसंहिता के अधीन सभी धंधे और प्रशासनिक कार्य वंशानुगत थे। विवाहसंबंध अपनी बिरादरी में ही हो सकता था। प्राचीन मिस्र में पुरोहित, सैनिक, लेखक, चरवाहे, सुअर पालनेवाले और व्यापारियों के पृथक् पृथक् वर्ग थे जिनके पेशे और पद वंशानुगत थे। कोई कारीगर अपना पैतृक धंधा छोड़कर दूसरा धंधा नहीं कर सकता था। उसका अपने वर्ग से संबंध अटूट था। सूअर पालने वाले अछूत माने जाते थे और उन्हें मंदिरों में प्रवेश करने की अनुमति नहीं थी। वैवाहिक दृष्टि से उनकी अंतर्विवाही जाति थी। सैनिक, पुरोहित और लेखक एवं अध्यापक उच्चवर्ग में थे और एक ही परिवार में तीनों प्रकार के व्यक्ति हो सकते थे। परंतु अन्य वर्गों के लिये उनके पैतृक पेशे निर्धारित थे। इस प्रकार मिस्र और प्राचीन रोम में वर्गों के विभाजन का रूप वैसा न था जैसा भारत में मिलता है। न तो खानपान और छुआछूत संबंधी प्रतिबंध थे और न अंतवर्गीय विवाहों पर धार्मिक या सामाजिक रोक थी। पेशों के संबंध में भी रोम तथा मिस्र दोनों देशों में शासन की ओर से रोक लगाई गई थी।

जापान में सैनिक सामंतवाद (१२वीं शताब्दी से १८वीं शताब्दी के मध्य तक) के शासनकाल में अभिजात सैनिक "समुराई" वर्ग के अतिरिक्त कृषक, कारीगर, व्यापारी और दलित वर्ग थे। समुराई शासन सुविधासंपन्न वर्ग था, जिसके लिये विशेष कानूनी व्यवस्था और अदालतें थीं। दलित वर्ग में एता और हिनिन दो समूह थे जो समाज के पतित अंग माने जाते थे और गंदे तथा हीन समझे जानेवाले कार्य उनके सुपुर्द थे। विभिन्न वर्ग विवाह की दृष्टि से अंतर्विवाही समूह थे और दो वर्गों के व्यक्तियों में विवाह के लिये शासन से विशेष आज्ञा लेने की आवश्यकता होती थी। चीन में शासकीय पदों के लिये अबाध परीक्षा का नियम था जो सभी वर्गों के लिये खुली थी। परंतु नाइयों का एक पृथक् और पतित वर्ग माना जाता था जिसको न तो शासकीय परीक्षाओं में भाग लेने की अनुमति थी और न कोई अन्य वर्ग का व्यक्ति इनसे विवाहसंबंध करता था। अन्य वर्गों में पेशे साधारणतः वंशानुगत थे। परंतु इस संबंध में और अंतर्विवाह के संबंध में भी कठोर सामाजिक नियम नहीं थे। कोरियों में विभिन्न वर्ग सदा अपने वर्ग में ही विवाह करते हैं। किंतु मध्यम वर्ग के व्यक्ति दास वर्ग की स्त्रियों से विवाह कर लेते हैं। कैरोलिन में दासों के अतिरिक्त उच्च और निम्न दो वर्ग हैं। निम्न वर्ग का व्यक्ति यदि उच्च वर्ग के व्यक्ति को छू ले तो वह अपराधी माना जायगा जिसका दंड मृत्यु है। निम्न वर्ग के लोग मछली का शिकार तथा नाविक का कार्य नहीं कर सकते। अफ्रीका में लोहारों का समूह प्रायः शेष समाज से पृथक् रखा जाता है और इस वर्ग के लोग अपनी बिरादरी में ही विवाह करते हैं। बर्मा में पैगोडा का दासवर्ग एक पृथक् और अंतर्विवाही समूह है और उनका पेशा वंशानुगत है। वहाँ के राजाओं के काल में छह हीन वर्ग समझे जाते थे जो शेष समाज से पृथक् रहते थे। उनसे न तो कोई अन्य बर्मी विवाह तथा खानपान का संबंध करता था और न उनके पेशों को अपनाता था। इन वर्गों में थे पैगोडा के दास, पुलिस का काम करनेवाले तथा फाँसी देनेवाले लोग, कोढ़ी, असाध्य रोगों से पीड़ित, विकलांग, मुरदों को दफन करनेवाले लोग तथा राजा के खेतों में काम करनेवाले दास।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन काल में और सामंतवादी व्यवस्था में पेशों और पदों को वंशानुगत करने की प्रवृत्ति प्रायः सभी देशों में थी। इनके अतिरिक्त अनेक देशों में कुछ समूह ऐसे भी दिखाई देते हैं जो शेष समाज से पृथक् और हीन हैं तथा अनेक नागरिक और धार्मिक सुविधाओं से वंचित हैं। सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से विभिन्न वर्गों का श्रेणीविभाजन तो सभी देशों में रहा है। भारतीय उच्च वर्गों की भाँति अन्यत्र भी उच्च वर्गों को प्रायः सांपत्तिक, नागरिक और धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त रहे हैं। छुआछूत और अंतर्विवाहों पर निषेध के कुछ उदाहरण भी जहाँ तहाँ मिलते हैं। प्राचीन मिस्र, मध्यकालीन रोम और सामंती जापान में राज्य की ओर से अंतर्विवाहों पर प्रतिबंध लगा दिए गए थे और पेशों को वंशानुगत कर दिया गया था। वंशानुगत पेशे, बिरादरी में ही विवाह का नियम और छुआछूत आदि भारतीय जाति के प्रमुख तत्वों में हैं। किंतु भारत के बाहर वर्तमान समय में या पुराने इतिहास में ऐसे किसी समाज का अस्तित्व दिखाई नहीं देता जो स्वतः उद्भूत जातीय व्यवस्था से परिचालित हो और जहाँ जातिव्यवस्था समाज का स्वभाव बन गई हो।

सं० ग्रं० — ई० ए० एच० एंथोविन : द ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑव् बांबे, बंबई १९२०; ई० थर्स्टन : कास्ट्स ऐंड ट्राइब्स ऑव् सदर्न इंडिया, मद्रास, १९०९; विलियम क्रुक : द ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑव नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज ऐंड अवध, गवर्नमेंट प्रेस, कलकत्ता, १८९६; आर० वी० रसेल : ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑव सेंट्रल प्राविंसेज ऑव इंडिया, मैकमिलन, लंदन, १९१६; एच० ए० रोज : ए ग्लासरी ऑव द ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑव द पंजाब ऐंड नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज, लाहौर, १९११; एच० एच० रिजले : ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑव बंगाल—इथनोग्राफिक ग्लासरी, कलकत्ता, १८९१; जे० एन० भट्टाचार्य : हिंदू कास्ट्स ऐंड सेक्ट्स, कलकत्ता, १८९६; श्रीधर केतकर : द हिस्ट्री ऑव कास्ट इन इंडिया, न्यूयॉर्क, १९०९; एच० एच० रिजले : द पीपुल ऑव इंडिया, द्वितीय सं०, बंबई, १९१५; जी० एस० घुरिए कास्ट, क्लास ऐंड ऑकुपेशन, चतुर्थ सं० पापुलर बुक डिपो, बंबई १९६१; ई० ए० एच० ब्लंट : द कास्ट सिस्टम ऑव नार्दर्न इंडिया, लंदन, १९३१; एम० एन० श्रीनिवास : कास्ट इन माडर्न इंडिया ऐंड अदर एजेज, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई १९६२; जे० एच० हटन : कास्ट इन इंडिया, इट्स नेचर, फंक्शंस ऐंड ओरिजिंस, कैंब्रिज, १९४६; नर्मदेश्वरप्रसाद उपाध्याय : द मिथ ऑव द कास्ट सिस्टम, पटना, १९५७; क्षितिमोहन सेन 'भारतवर्ष में जातिभेद' अभिनव भारतीय ग्रंथमाला, कलकत्ता, १९४०; डॉ० मंगलदेव शास्त्री : भारतीय संस्कृति—वैदिक धारा, समाजविज्ञान परिषद्, वाराणसी, १९५५।

[रा० रा० शा० तथा सु० मि० शा०]

जाति (दे० प्रमुख जातियाँ)

जादू (Conjuring) बाजीगरी, हस्तकौशल या इंद्रजाल सदृश खेलों को कहते हैं जिनमें असंभव समझे जानेवाले काम करके दिखाए जाते हैं। जादूगर, या बाजीगर, इन असंभव कार्यों को करके दिखाने में हस्तकौशल, मानसिक प्रभाव तथा बहुधा यांत्रिक उपकरणों का उपयोग करता है। खेल दिखानेवाले का प्रभाव तभी तक पड़ता है जब तक उसके कार्यों पर रहस्य का पर्दा पड़ा रहे। इसलिये वह अपनी रीतियों को गुप्त रखता है और दर्शकों को उल्टा सीधा कारण सोचने देता है। बाजीगरी के खेलों का प्रभाव विस्मयकारी होने के सिवाय इनकी विशेषता यह है कि प्रत्येक देश और जाति के लोग इनको समझ सकते हैं और इनका आनंद ले सकते हैं।

इतिहास — प्राचीन काल में मिस्र, ग्रीस और रोम में पुरोहितों द्वारा धर्म पर आस्था उत्पन्न करने के उद्देश्य से किए जानेवाले करतबों में अपनाई गई रीतियों का वर्णन कुछ विद्वानों ने किया है। यह ज्ञात है कि देवताओं को उपस्थित तथा अंतर्धान करने के लिये प्रकाशिकी पर आधारित इंद्रजाल का, मूर्तियों से बातें कराने के लिये उनके मुँह से जुड़ी नलियों द्वारा छिपे हुए मनुष्यों की वाणी का तथा अन्य अलौकिक और विलक्षण घटनाओं को दिखाने के लिये विविध यांत्रिक उपकरणों का उपयोग किया जाता था। भारत में धार्मिक प्रभावों के लिये इस प्रकार की बाजीगरी के उपयोग के कोई पक्के प्रमाण नहीं मिलते, किंतु अन्य प्रसंगों में ऐंद्रजालिक, मायिक, कापालिक, मांत्रिक, तांत्रिक, हस्तकौशली आदि व्यक्तियों का वर्णन अनेक प्राचीन ग्रंथों में आया है। पिछले जमाने के नट, मदारी, जादूगर इत्यादि की कथाओं से तो सभी परिचित हैं। मंदिरों के पुरोहितों के करतब इस प्रकार के होते थे कि वे मंदिरों के बाहर नहीं दिखाए जा सकते थे, किंतु साधारण बाजीगर अपने खेल चाहे जहाँ दिखा सकता है।

जादू के खेल — भारत ने इस दिशा में भी प्राचीन काल में बड़ा नाम कमाया था। जादू के अनेक खेलों का आविष्कार भारत में हुआ और यहाँ से इनका ज्ञान अन्य देशों में फैला; जैसे, एक खेल में एक मनुष्य को अधर में बैठा हुआ दिखाया जाता है। इस मनुष्य का एक हाथ मंच पर रखी एक चौकी या तिपाई पर खड़ा जड़े एक बाँस से छूता रहता है। इस भारतीय खेल को फ्रांसीसी जादूगर, ज्याँ यूजीन रॉबर्ट ऊदें (सन् १८०५-१८७१) ने सन् १८४६ में यूरोप में दिखाकर दर्शकों को आश्चर्यचकित कर दिया था। यह लाग का खेल है, जिसमें बाँस के भीतर समकोण पर मुड़ा एक लोहे का डंडा छिपा रहता है और मनुष्य को अधर में सम्हालने के लिये इसी डंडे से एक उपकरण जुड़ा होता है। मनुष्य के कपड़ों और आस्तीन से डंडे का बाहरी भाग और उपकरण ढक जाते हैं। इसी प्रकार के अन्य भारतीय खेलों का देशांतरगमन हुआ है, अथवा अन्य देशों के जादूगरों ने इनका वर्णन सुन इन खेलों के करने की रीतियों का स्वतंत्र आविष्कार किया है। खेलों में रस्सी का भारतीय खेल भी है, जो 'इंडियन रोप ट्रिक' के नाम से यूरोप में बहुप्रसिद्ध है। इस खेल में मदारी, या नट, बटी की हुई लंबी रस्सी के एक सिरे को आकाश की तरफ फेंक देता है और रस्सी आकाश में सीधी चढ़ती चली जाती है। यहाँ तक कि केवल उसका निचला सिरा पृथ्वी के पास स्थिर रह जाता है और ऊपरवाला दिखाई नहीं देता। तब पुकारने पर नट का लड़का, या सहायक, रस्सी के निचले छोर को पकड़कर ऊपर चढ़ता हुआ अदृश्य हो जाता है। थोड़ी देर बाद आकाश में घोर युद्ध की ध्वनियाँ सुनाई देती हैं और रस्सी द्वारा चढ़े हुए लड़के के हाथ, पाँव तथा अन्य अंग कट कटकर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। लड़के की माँ विलाप करने लगती है, जिसे नट मदारी ढाढ़स देता है और मंत्र पढ़, आकाश की तरफ फूंक, लड़के को नीचे उतरने का आदेश देता है। लड़का सही सलामत नीचे आ खड़ा होता है। इस खेल का आँखों देखा वर्णन अत्युच्च अंग्रेज पदाधिकारियों ने लंदन के टाइम्स ऐसे संमानित पत्रों में लगभग ८० वर्ष पहले छपवाया था। अब इस खेल को दिखानेवाले नहीं मिलते।

गेंद और प्यालेवाला खेल, जिसमें प्याले में रखी गेंद गायब हो जाती है, या खाली प्याले में एक से अधिक गेंदें निकल आती है, एक रस्सी जो बारबार काट देने पर साबूत हो जाती है तथा शरीर में चाकू या सूओं को घोंप लेने के खेल भी सर्वत्र, भारत तथा अन्य देशों में, दिखाए जाते हैं। सबसे पहलेवाले खेल में प्याले की गेंद कुशलता से निकाल ली जाती है तथा अन्य प्यालों में पास छिपाई अन्य गेंदें वैसी ही कुशलता से रख दी जाती हैं, द्वितीय खेल में जैसा दिखाया जाता है वैसे रस्सी काटी ही नहीं जाती और इसलिये समूची बनी रहती है तथा तीसरे खेल में जो डरावने चाकू दिखाए जाते हैं उनके स्थान पर विशेष प्रकार से बने चाकुओं का प्रयोग किया जाता है, जो कोई हानि नहीं पहुँचाते।

प्रदर्शन की रीतियाँ — प्राचीन काल से जादू के खेल दिखानेवालों में एक स्थान से दूसरे स्थान में घूम घूमकर खेलों के दिखाने की परिपाटी चली आती है। इनमें राजाओं के दरबारों में खेल दिखानेवाले अधिक कुशल तथा उनके खेल भी संख्या में अधिक और विस्मयकारी प्रभाव में असाधारण होते थे। कम योग्यता के नट अमीरों के घरों पर या बाजारों में साधारण जनता को, अपने खेल आज भी दिखाते हैं। जैसे जैसे इस क्षेत्र में उन्नति होती गई, इसके उपकरणों में भी वृद्धि होती गई, यहाँ तक कि विशेष प्रकार के जटिल यंत्रों का भी उपयोग होने लगा। इस अवस्था में स्थायी, या अर्धस्थायी आवास तथा एक मंच आवश्यक हो गया। उपकरणों और यंत्रों को मंच के नीचे स्थापित कर, ढकी हुई बड़ी मेज के नीचे बने प्रच्छन्न द्वारों से छिपे हुए कार्यकर्ताओं की सहायता द्वारा, विभिन्न और विस्तृत खेल दिखाना संभव हो गया। इस रीति से मेज पर रखी हुई किसी वस्तु को दर्शकों के सामने एक क्षण के लिये ढककर जादूगर के आदेश पर अदृश्य कर देना, या संपूर्णतः भिन्न प्रकार की वस्तु में बदल देना, सरल हो गया।

प्रसिद्ध जादूगर — अन्य देशों में प्रचलित जादू के खेलों का संग्रह कर, यांत्रिकी और विज्ञान की खोजों से लाभ उठा तथा नए खेलों का आविष्कार कर यूरोप और अमरीका के जादूगरों ने खेलों में बड़ी उन्नति की। इस उन्नति में जॉन नेविल मैस्केलिन (सन् १८३९-१९१७) का बड़ा हाथ रहा है। तालाबंद और रस्सी से बँधे हुए संदूक में से निकल जाना, अधर में बेसहारा लटके हुए मनुष्य को ऊपर और नीचे उठाना तथा लटकी हुई अवस्था में उसके शरीर को एक वलय में से निकालकर सिद्ध करना कि उसे किसी तार या रस्सी से नहीं लटकाया है, ये सब खेल उन्हीं के आविष्कार हैं। अन्य यूरोपीय जादूगरों में जे० ए० क्लार्क, डेविड डेवांट (सन् १८६८-१९४१), जोसेफ बुएटियार (सन् १८४५-१९०३) तथा मेक्स ओजिगर (सन् १८३६-१९२८), कुछ प्रमुख नाम हैं। हैरी केलार (सन् १८४९-१९२२) प्रथम प्रसिद्ध अमरीकन जादूगर हुए। हरबर्ट थर्स्टन (सन् १८६९-१९३६) केवल ताश के तथा टी० एन० डाउन्स (सन् १८६७-१९३८) केवल मुद्राओं (सिक्कों) के

जादू के खेल दिखाते थे। हैरी हाउडिनि (सन् १८७४-१९१६) रस्सियों के बंधनों से, हथकड़ियों और बेड़ियों से निकलने के खेल दिखाने के लिये प्रसिद्ध हुए हैं। चीनी जादूगरों में चिंग लिंग फू (सन् १८५४-१९१८) का नाम अति प्रसिद्ध है। आधुनिक भारत में भी पी० सी० सरकार (बंगाल) ने इस क्षेत्र में खूब नाम कमाया और देश, विदेश में दर्शकों को विमुग्ध और चकित किया है।

बाजीगर के गुण — जादूगर के व्यक्तित्व का तथा उसके खेल के समयानुकूल और स्वाभाविक होने का दर्शकों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। असंभव को संभव कर दिखानेवाले जादूगर के लिये यह परमावश्यक है कि उसका प्रत्येक बोल और कार्य विकल्प और दुविधाहीन हो। इस बात का निश्चय तभी हो सकता है जब निरंतर अभ्यास से ऐसी निपुणता आ जाय कि प्रत्येक कार्य बिना विचारे, स्वयमेव होता जाए। वास्तविक योग्यता अनुभव से ही आती है। जादूगर में आमोदजनक, मुग्धकारी तथा विस्वासोत्पादक रीति से बात करने की तथा बिना बोले अभिनय से विचारों को जनाने की योग्यता होनी चाहिए। ललित भाषा तथा यथेष्ट ऊँची वाणी भी आवश्यक गुण हैं। [भ० दा० व०]

जादोराव कानसटिया निजाम राज्य के सरदारों में से थे। जहाँगीर के राज्य के १६वें वर्ष जब शाहजहाँ दक्षिण के विद्रोहियों का दमन करने गए तब वह भी उसके साथ हो गए। फलत: पाँचहजारी मंसब देकर उनका संमान किया गया। इनके और बहुत से रिश्तेदारों को भी मंसब दिए गए थे जिनका योग चौबीसहजारी, १५,००० सवारों, तक पहुँच गया था। इन्हें दक्षिण में एक जागीर भी दी गई।

शाहजहाँ के शासन के तीसरे वर्ष जादोराव अपने संबंधियों को लेकर निजामशाही राज्य को वापस लौट गए। शाहजहाँ ने इसे देशद्रोह माना और जादोराव को गिरफ्तार करने का आदेश जारी कर दिया। जादोराव ने अपने संबंधियों के साथ गिरफ्तार करनेवाली सेना के विरुद्ध डटकर युद्ध किया और उसी युद्ध में मारे गए। इसके बाद इनके रिश्तेदारों के सारे दोष क्षमा कर दिए गए और उन्हें सदैव उच्च पद दिए जाते रहे।

जान, आगस्टस एडविन (१८७८) इंग्लैंड का चित्रकार, टेंबी नामक स्थान पर वेल्स में उत्पन्न हुआ था। स्लेड के विद्यालय में कला सीखी और लिवरपूल में कला अध्यापन कार्य किया। रेखाचित्रण में इन्हें अतीव कुशलता प्राप्त हुई। इनकी कला पर उत्तर प्रभाववादी चित्रकला (पोस्ट इंप्रेशनिस्ट आर्ट) का खासा प्रभाव पड़ा। यह फ्रांस तथा इंग्लैंड में खूब घूमे फिरे और शास्त्रीय कलाध्ययन के विरोधी बन गए। फिर भी १९२८ में इन्हें आर० ए० (रायल आर्किटेक्ट) बनाया गया। इस उपाधि को बाद में इन्होंने त्याग दिया। सन् १९४६ में यह पुन: आर० ए० चुन लिए गए। [रा० चं० शु०]

जान, ऐंडस ल्योनार्ड (१८६०-१९२०) स्वीडी चित्रकार, जन्म १८ फरवरी, १८६० को देलाकार्लिया के मोर ग्राम में हुआ। स्पेन, इंग्लैंड, अल्जीरिया, फ्रांस, अमरीका तथा पूर्वी यूरोप के राष्ट्रों में जीवन भर प्रवास करता रहा। स्पेन के निसर्ग और जनजीवन के रंगों का चित्रों में उपयोग कर उसने कलाकृतियाँ बनाईं। जलरंग ही उसकी कलाकृतियों का माध्यम था। सन् १८८७ से छह साल तक पेरिस में रहा, ग्रीष्म में फिर भी वह अपने देश आ जाया करता था। सन् १८९६ के बाद उसने तैलचित्र बनाना शुरू किया। उसके चित्रों के मुख्य विषय थे स्नान तथा मोरा ग्राम का लोकजीवन। देहातियों में वह सुधारकार्य भी करता रहा। चित्र कृतियों के साथ उसकी तीन शिल्प कृतियाँ भी काफी प्रसिद्ध हैं। [ग्रा० स०]

जानकीहरण यह सिंहलद्वीप के महाकवि कुमारदास द्वारा निर्मित उच्च कोटि का महाकाव्य है। इसका संपूर्ण रूप से प्रकाशन आज तक नहीं हो सका है। सर्वप्रथम सिंहली भाषा में प्राप्त 'सन्ने' (यथानुक्रम रूपांतर) के आधार पर इसके प्रथम १४ सर्गों तथा १५वें के कुछ अंश का मूल संस्कृत रूप बनाकर प्रकाशित किया गया है, जिसमें अंगद द्वारा रावण की सभा में दौत्य तक की कथा आ जाती है। गवर्नमेंट ओरिएंटल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास में इस महाकाव्य की २० सर्गों की पांडुलिपि संस्कृत में है। किंतु यह लिपि अत्यधिक दुर्बोध है। इसकी प्रामाणिकता के प्रति भी संदेह है तथा यह भी ज्ञात नहीं कि सिंहली 'सन्ने' से इसने कहाँ तक अपना रूप ग्रहण किया है। संभवतः इस महाकाव्य की रचना २५ सर्गों में हुई थी, और राम के राज्याभिषेक से कथा की समाप्ति हुई थी — यह अनुमान 'सन्ने' में उद्धृत सर्वांत्य श्लोकों से लगाया जाता है। अतः इसका कथानक बहुत कुछ 'भट्टिकाव्य' ('रावणवध') का जैसा कहा जा सकता है।

सर्गक्रम से इसकी कथा इस प्रकार है : प्रथम सर्ग — अयोध्या, राजा दशरथ तथा उनकी रानियों का वर्णन; द्वितीय सर्ग — बृहस्पति द्वारा ब्रह्मा से सहायता माँगते समय रावण के चरित्र का वर्णन; तृतीय सर्ग — राजा दशरथ की जलक्रीड़ा एवं संध्यावर्णन; चतुर्थ-पंचम-सर्ग — रामजन्म से सुबाहुवध तक का वर्णन; षष्ठ सर्ग — विश्वामित्र का राम-लक्ष्मण-सहित जनकपुर गमन एवं जनक-मिलन-वर्णन; सप्तम-अष्टम-सर्ग — राम-सीता-विवाह आदि; नवम सर्ग — सबका अयोध्या आगमन; दशम सर्ग — दशरथ द्वारा राजनीति विवेचन, राम का यौवराज्याभिषेक, विविध घटनाएँ तथा अंत में जानकीहरण; एकादश सर्ग — वालिवध तथा वर्षावर्णन; द्वादश सर्ग — लक्ष्मण द्वारा सुग्रीव की भर्त्सना; त्रयोदश सर्ग — वानर-सेना-एकत्रीकरण; चतुर्दश सर्ग — सेतुबंध; पंचदश सर्ग — अंगद द्वारा रावणसभा में दौत्य; षोडश सर्ग — राक्षस केलि; सप्तदश से विंश सर्ग तक — युद्ध तथा रावणपराजय। शेष सर्गों में अयोध्या आगमन तथा राज्याभिषेक वर्णित रहा होगा।

अंतिम पद्यों के विवेचन से ज्ञात होता है कि इस महाकाव्य के रचयिता का नाम कुमारदास था, जिन्हें कुमारभट्ट या कुमार भी कहा जाता है। ये सिंहलद्वीप के राजा थे। इनके पिता का नाम कुमारमणि था। कुमारदास की ख्याति भारतवर्ष में भी पर्याप्त थी। जल्हण (१२५० ई०) ने अपनी सूक्तिमुक्तावली में 'जानकीहरण' के अनेक श्लोक उद्धृत किए हैं। राजशेखर (९२० ई०) ने कुमारदास के 'जानकीहरण' की सुश्लिष्ट उक्ति द्वारा प्रशंसा की है — 'जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति। कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमौ ॥' अर्थात् 'रघुवंश' के रहते 'जानकीहरण' या रावण ही कर सका या फिर कवि कुमारदास ही। कहते हैं जिस दिन पिता कुमारमणि युद्ध में मारे गए उसी दिन बालक कुमारदास का जन्म हुआ था। इनके दो मातुलों — श्री मेघ और अग्रबोधि — ने इनका पालन पोषण किया। कवि ने बड़ी कृतज्ञता के साथ अपने उन मातुलों का स्मरण इस काव्य के अंत में किया है।

ये कुमारदास सिंहलद्वीप के इतिहासग्रंथ महावंश में वर्णित मौद्गल्यायन के पुत्र कुमार धातुसेन (५१५–५२४ ई०) से भिन्न थे। किंवदंती है कि अपने काव्य 'जानकीहरण' के प्रशंसक महाकवि कालिदास को कुमारदास ने सप्रेम सिंहलद्वीप बुलाया। वहाँ जाकर कालिदास दुर्भाग्य-

गया एक सुंदरी के प्रेमजाल में फँसकर मार डाले गए। अपने अतिथि पूर्व मित्र की इस जघन्य हत्या से खिन्न होकर राजा कुमारदास ने भी अपने को उसी चिता पर जला डाला। आज भी लंका के दक्षिण प्रांत में कालिदास को सामाधिस्थान विद्यमान है।

राजशेखर की पूर्वोल्लिखित उक्ति से यही निष्कर्ष निकलता है कि कुमारदास कालिदास के पश्चात् ही हुए होंगे। उनकी रचना पर रघुवंश और कुमारसंभव का अत्यधिक प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। यमक के प्रति अतिशय आग्रह होते हुए भी वैदर्भी रीति एवं प्रसाद गुण इस काव्य की अपनी विशिष्टताएँ हैं। वामन जयादित्य के व्याकरण ग्रंथ 'काशिका' (६१०–६५० ई०) में उल्लिखित कुछ विशिष्ट शब्दों का उन्हीं अर्थों में 'जानकीहरण' में प्रयोग देखकर कुमारदास का समय वामन और राजशेखर के बीच ईसा की आठवीं शताब्दी के अंत तथा नवीं के प्रारंभ में रखा जा सकता है। [चं० प्र० शु०]

जान पोस्टगेट परसीवल ब्रिटिश अकादमी के सदस्य, का जन्म सन् १८५३ ई० में हुआ। इनके पिता का नाम डा० जान पोस्टगेट था जिनको खाद्य पदार्थों में मिलावट करने के विरुद्ध कानून बनाने का श्रेय प्राप्त हुआ। पोस्टगेट की किंग वुडवर्ड स्कूल, बरमिंघम तथा ट्रिनिटी कालेज, कैंब्रिज में शिक्षा हुई। सन् १८८४ से १९०९ तक उसी कालेज में आप क्लासिकल प्राध्यापक के पद पर रहे। आप लंदन में तुलनात्मक दर्शन के प्रोफेसर पर भी रहे। १४ जुलाई, १९२६ को एक दुर्घटना में आपकी मृत्यु हुई। लातीनी विद्वानों में पोस्टगेट का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। लातीनी की शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने बहुत प्रशंसनीय काम किया।

अत्यंत सरल रूप में लिखी जाने के कारण उनकी 'न्यू लैटिन प्राइमर' और 'सरमो लैटिनास' नामक पुस्तकें अत्यंत लोकप्रिय हुईं। [सा० सिं०]

जानसठ स्थिति : २९° १९' उ०अ० तथा ७७° ५१' पू०दे०। यह उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर जिले की तहसील तथा नगर है। नगर मुजफ्फरनगर से १४ मील दक्षिण-पूर्व स्थित है। इसकी प्रसिद्धि मुख्यतः जानसठ सय्यदों की जन्मभूमि के कारण है। इनके कुछ वंशज वर्तमान समय में भी इस नगर में बसे हुए हैं। इसकी कुल जनसंख्या ६,७७५ (१९६१) है। [रा० ना० मा०]

जानसेन, जोहांस (१८२९-१८९१) जर्मन इतिहासकार, १० अप्रैल, १८२९ ई० को क्लातेन में पैदा हुए और ३१ वर्ष की आयु में पादरी के संमानित पद पर नियुक्त हुए। तदनंतर १८५७ ई० में प्रशा की लोकसभा के सदस्य बने और इसके २३ वर्ष बाद बिशप नियुक्त हुए। २४ दिसंबर, १८९१ ई० को इनकी मृत्यु हुई। [कु० ना० मु०]

जानोजी जसवंत निंबालकर, महाराज यह राव रंभा के लड़के थे। राव रंभा, ऊँचे मंसब के साथ दक्षिण का कार्यभार औरंगजेब के आज्ञानुसार संभाले थे, किंतु कुछ षड्यंत्रों के कारण वे कैद कर लिये गए, बाद में कैद से छूट गए। कुछ लड़ाइयों में शौर्य प्रदर्शित करने के कारण उनका मंसब सात हजार सवार का हो गया। उनके मरने पर सारी जागीर, महल आदि उनके बेटे जानोजी को मिले। जानोजी आज्ञाकारी के कार्य में दक्ष, युद्धवीर और नीतिमर्मज्ञ थे। बादशाह का जब कोई मामला दक्षिण में मरहठों से उलझता था तब यही मध्यस्थता करते थे। नासिरजंग निजामुद्दौला के समय जानोजी को जसवंत की उपाधि मिली। फूलझरी के युद्ध में नासिरजंग शहीद के साथ इन्होंने खूब वीरता दिखाई। सन् १७६२ ई० में ये चल बसे।

जॉन्सटाउन (Johnstown) स्थिति : ४०° १९' उ० अ० तथा ७८° ५३' प० दे०। यह नगर संयुक्तराज्य अमरीका के पेंसिलवेनिया राज्य में है। यह कोनेमॉ नदी की सुरम्य घाटी में पिट्सबर्ग से ७६ मील दक्षिण-पूर्व स्टोनी क्रीक पर १,१७० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यहाँ से रेलमार्ग बाल्टिमोर तथा ओहायो को जाता है। समीपवर्ती क्षेत्र में खनिज लोहा, बिटूमनी कोयला, चूना पत्थर और प्रचुर मात्रा में जलशक्ति उपलब्ध है जिससे नगर औद्योगिक केंद्र बन गया है। यहाँ इस्पात, रेडिएटर, खान खोदने के यंत्र, रासायनिक पदार्थ, वस्त्र, स्टोव (Stove), ईंट, सीमेंट, कांच, लकड़ी का सामान और साबुन बनाने के कारखाने हैं। शैक्षणिक संस्थाओं में जूनियर कालेज ऑव पिट्सबर्ग विश्वविद्यालय उल्लेखनीय है। समीपस्थ गैलिट्जन स्टेट फॉरेस्ट, कोनेमॉ गैप, जो लारेल पर्वत-श्रेणियों में है, स्टैक हाउस पार्क और क्यूमाहोनिंग (Quemahoning) जलाशय आदि ने नगर को पर्यटनकेंद्र बना दिया है। कोनेमॉ नदी जहाँ इसके सौंदर्य को बढ़ाती है वहीं बाढ़ आने पर इसके लिये अभिशाप भी बन जाती है। नगर की जनसंख्या ५३,९४९ (१९६०) है। [कै० ना० सिं०]

जॉन्सन, ऐंड्रू जन्म : राले (उत्तरी कैरोलिना); २९ दिसंबर, १८०८ मृत्यु : कार्टर स्टेशन (टेनेसी) ३१ जुलाई, १८७५। १७वें राष्ट्रपति। कठिन परिश्रम कर शिक्षा प्राप्त की और दर्जी के रूप में इन्होंने जीविका आरंभ की। डिमाक्रेटिक दल की ओर से १८४३ से १८५३ तक कांग्रेस के सदस्य थे। १८५३ से १८५७ तक टेनेसी के गवर्नर और १८५७ से १८६२ तक सेनेट के सदस्य रहे। १८६४ में उपराष्ट्रपति निर्वाचित हुए और लिंकन की मृत्यु के उपरांत १८६५ से १८६९ तक राष्ट्रपति रहे। इन्होंने लिंकन की नीति को ही आगे बढ़ाने की चेष्टा की। [चं० भू० त्रि०]

जॉन्सन, लींडन जन्म टेक्सास, २७ अगस्त, १९०८। संयुक्त राष्ट्र अमरीका के राष्ट्रपति। एक साधारण किसान परिवार में पले और कठिन परिश्रम द्वारा धन अर्जित कर शिक्षा प्राप्त की। १९३० में ग्रेजुएट होकर कुछ दिन शिक्षक रहे। १९३२ में राजनीति में प्रवेश कर १९३७ से १९४८ तक कांग्रेस के तथा १९४८ से १९६० तक सेनेट के सदस्य रहे। द्वितीय विश्वमहायुद्ध में अमेरिकन नौसेना में लेफ्टिनेंट कमांडर के पद पर रहे। सेनेट में अपनी योग्यता से डिमाक्रेटिक दल के नेता चुने गए। १९६० में यह केनेडी के साथ उपराष्ट्रपति चुने गए। १९६१ में जर्मनी, भारत एवं दक्षिण पूर्वी एशिया का भ्रमण किया। केनेडी की मृत्यु के उपरांत २२ नवंबर, १९६३ से राष्ट्रपति के पद पर हैं। [चं० भू० त्रि०]

जॉन्सन, बेंजामिन (१५७२-१६३७) अंग्रेजी के प्रसिद्ध नाटककार कवि तथा समीक्षक बेन जॉन्सन अपने काल के अत्यंत प्रतिष्ठित एवं प्रतिनिधि साहित्यकार थे। इनका जन्म लंदन नगर में हुआ और उन्होंने वेस्टमिन्स्टर स्कूल में शिक्षा प्राप्त की जहाँ वे प्रसिद्ध अध्यापक विलियम कैमडेन के प्रिय शिष्य रहे। १५९७ के पूर्व उन्होंने अपने पिता के व्यवसाय में सहायता करने के अतिरिक्त कई वर्षों तक सैनिक सेवा के लिये फ्लैंडर्स में निवास किया। इसी वर्ष उन्होंने नाट्य लेखन का कार्य प्रारंभ किया। सन् १५९८ ई० में इन्होंने द्वंद्वयुद्ध में एक सहयोगी का वध किया किंतु धर्मोपदेशक होने के कारण मृत्युदंड से

बच गए। इसी समय उन्होंने रोमन कैथलिक मत ग्रहण किया जिसे आगे चलकर फिर छोड़ दिया। सन् १६०६ ई० में 'ईस्टवर्ड हो' नामक व्यंगपूर्ण नाटक लिखने के कारण उन्हें कुछ दिनों के लिये कारावास भोगना पड़ा। १६१६ ई० में महाराजा जेम्स प्रथम ने उनके लिये पेंशन निर्धारित की तथा सन् १६१८ में उन्होंने स्काटलैंड की यात्रा की जहाँ उनकी भेंट ड्रमंड ऑव हाथांडेन से हुई जिन्होंने इनके साथ हुए वार्तालाप को लिपिबद्ध किया। सन् १६२८ में बेन जॉन्सन क्रोनोलाजर ऑव लंदन के पद पर नियुक्त हुए। अपने गंभीर अध्ययन एवं सुदृढ़ व्यक्तित्व के कारण वे संमानित हुए तथा अपने युग के सभी प्रमुख साहित्यकारों से या तो उनकी मैत्री थी अथवा विरोध था।

बेन जॉन्सन की सर्वाधिक प्रतिष्ठा उनके सुखांत नाटकों के कारण है। इनमें यथार्थ के निरूपण और व्यंग को मिलाकर प्राचीन शास्त्रीय परिपाटी पर रचना की गई है तथा साथ ही इनमें हृदय की प्रबल चेष्टाओं की गंभीर अभिव्यक्ति हुई है। इनके प्रमुख नाटक 'एव्रीमैन इन हिज ह्यूमर' का अभिनय सर्वप्रथम १५६८ में हुआ और तदुपरांत निम्नलिखित सुखांत नाटक क्रम से अभिनीत हुए—'एव्रीमैन आउट ऑव हिज ह्यूमर', 'सिन्थियाज रिवेल्स' १६०६, 'दो पोएटैस्टर' १६०१, 'वालपोन' १६०६', एपीसिन ऑर दि साइलेंट वुमन' १६०६, 'दि ऐलकेमिस्ट' १६१०, 'बार्थालोम्यू फेयर' १६१४, 'दि डेविल इज ऐन ऐस' १५१६, 'स्टेपुल ऑव न्यूज' १६२५, 'दि न्यू इन १६२८, 'दि मैगनेटिक लेडी', १६३२ टेल ऑव ए टब' १६३३।' बेन जॉन्सन का अंतिम सुखांत नाटक' 'सैड शेफर्ड', जो काव्यात्मक है, अपूर्ण रह गया।

रोमन इतिहास से संबंधित तथा प्राचीन परिपाटी पर लिखे हुए बेन जॉन्सन के दोनों दुःखांत नाटक—'सेजनस' १६०३, 'केटिलाइन' १६११—ऐतिहासिक तथ्यों का सफल निर्वाह करते हैं, किंतु प्रभाव की दृष्टि से वे शेक्सपियर के रोमन नाटकों की अपेक्षा कम सफल सिद्ध हुए।

बेन जॉन्सन ने १६०५ और १६३४ के बीच बहुसंख्यक 'मास्क' लिखे। इनमें अधिकांश राजदरबार के मनोरंजनार्थ लिखे गए थे और इनका अभिनय इनिगो जोन्स की सहायता से हुआ था। इन मास्कों में 'मास्क ऑव ब्लैकनीस' (१६०५) और 'मास्क ऑव क्वींस' (१६०६) सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए।

बेन जॉन्सन ने लघु आकार की कई सौ कविताओं की भी रचना की जो अपनी परिष्कृत शैली और व्यंग के लिये प्रसिद्ध हैं। उनकी कविताओं के दो संग्रह 'एपिग्राम्स' तथा 'दि फॉरेस्ट' सन् १६१६ में प्रकाशित हुए तथा 'अंडरवुड्स' नामक तीसरा संग्रह, जिसमें अपेक्षाकृत लंबी कविताएँ संकलित है, कवि की मृत्यु के उपरांत, सन् १६४१ में, प्रकाशित हुआ।

गद्यलेखन और आलोचना के क्षेत्र में बेन जॉन्सन की कृतियाँ विशेष महत्व रखती हैं। उनकी शैली सुस्पष्ट और परिमार्जित है एवं उनके आलोचनात्मक विचारों पर उनके पांडित्य और मौलिक चिंतन की छाप है। उनकी प्रमुख गद्यरचना टिंबर ऑर डिस्कवरीज (१६४० ई०) अनेक छोटे बड़े निबंधों का संग्रह है जिनसे लेखक के समीक्षासिद्धांत का पता लगता है।

बेन जॉन्सन ने न केवल अपने जीवनकाल में सामयिक साहित्य को प्रभावित किया, अपितु उनकी मृत्यु के उपरांत बहुत दिनों तक उनका यश अक्षुण्ण और उनका प्रभाव सक्रिय बना रहा। आज भी उनकी गणना अंग्रेजी के मूर्धन्य नाटककारों और आलोचकों में होती है।

[रा० अ० हि०]

जॉन्सन, सैमुएल १८वीं शताब्दी में अलेक्जैंडर पोप के बाद डॉ० जॉन्सन ने इंगलैंड की साहित्यिक गतिविधि को विशेष प्रभावित किया। उन्होंने न तो प्रचुर मात्रा में ही लिखा और न निबंधों एवं कतिपय आलोचनात्मक रचनाओं के अतिरिक्त कविता, नाटक या अन्य क्षेत्रों में किए गए उनके साहित्यिक प्रयासों का आज कोई विशेष महत्व ही है, फिर भी उनके गंभीर व्यक्तित्व का प्रभाव उस समय के अधिकांश छोटे बड़े लेखकों पर पड़ा।

डॉ० जॉन्सन का जन्म सन् १७०६ ई० में लिचफील्ड में एक निर्धन पुस्तकविक्रेता के घर हुआ था। जीवन की प्रारंभिक अवस्था से ही उन्हें विषम परिस्थितियों से संघर्ष करना पड़ा। दारिद्र्य की विभीषिका परिवार पर सदा मँडराया करती। लिचफील्ड के ग्रामर स्कूल में प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद इन्होंने आक्सफोर्ड के पेंब्रोक कालेज में प्रवेश किया। लेकिन वहाँ ये केवल १४ महीने रह पाए और इन्हें बिना डिग्री लिए ही कालेज छोड़ देना पड़ा। सन् १७३१ ई० में इनके पिता की मृत्यु हो गई जिससे परिवार का आर्थिक संकट और भी अधिक बढ़ गया। सन् १७३५ ई० में इन्होंने श्रीमती एलिजाबेथ पोर्टर नाम की विधवा से, जिनकी अवस्था इनसे काफी अधिक थी, विवाह किया। इसी समय इन्होंने लिचफील्ड के पास एक निजी स्कूल भी प्रारंभ किया जो चल नहीं पाया। अंत में बाध्य होकर इन्होंने सन् १७३७ में लंदन के लिये प्रस्थान किया और साहित्य को जीवनयापन के माध्यम के रूप में अपनाया।

डॉ० जॉन्सन की प्रथम रचना, जिसने लोगों का ध्यान इनकी ओर आकर्षित किया, 'लंदन' शीर्षक कविता थी। पोप ने भी इसकी प्रशंसा की। सन् १७४४ में इन्होने अपने मित्र रिचर्ड सैवेज की जीवनी लिखी। कतिपय प्रकाशकों के सुझाव पर इन्होंने अंग्रेजी भाषा का शब्दकोश बनाने का कार्य हाथ में लिया। प्रकाशन में सहायता मिलने की आशा से इन्होंने शब्दकोश की योजना लार्ड चेस्टरफील्ड के पास भेजी लेकिन जैसे प्रोत्साहन की अपेक्षा थी, वह मिला नहीं। सात साल के कठोर परिश्रम के बाद जब शब्दकोश प्रकाशित हुआ लार्ड चेस्टरफील्ड ने उसके संबंध में 'वर्ल्ड' (World) नामक पत्रिका में दो प्रशंसात्मक पत्र लिखे। डॉ० जॉन्सन ने इस थोथी प्रशंसा से चिढ़कर उन्हें जो उत्तर दिया वह न केवल उनके व्यक्तित्व की गरिमा एवं उनके आत्मसंमान के भाव का परिचायक है, वरन् भावुकता के क्षणों में उनकी भाषाशैली कितनी सरल, ओजस्वी एवं प्रवाहमय हो सकती थी, इसका भी प्रमाण प्रस्तुत करता है।

सन् १७४६ ई० में इनकी कविता 'वैनिटी ऑव ह्यूमन विशेज' प्रकाशित हुई। इसमें मनुष्य की विभिन्न आकांक्षाओं की निरर्थकता पर उदाहरण सहित विचार है। कार्डिनल वुल्जे के पतन से शक्ति की निरर्थकता सिद्ध होती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलिलियो को भी अपने ज्ञान के लिये अत्यधिक मूल्य चुकाना पड़ा।

इनका एक नाटक 'आइरीन' लगभग इस समय प्रकाशित हुआ। उस समय के प्रख्यात अभिनेता डेविड गैरिक ने इसे रंगमंच पर प्रस्तुत किया और लेखक को इससे ३०० पौंड मिले भी, लेकिन नाटकीयता की दृष्टि से वह असफल ही कहा जायगा। पूरा नाटक पात्रों के बीच नैतिक विषयों पर वार्तालाप के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

सन् १७५६ में 'रासेलास' नामक शिक्षाप्रद रोमांस प्रकाशित हुआ जिसकी रचना इन्होंने एक सप्ताह में अपनी मृत माँ की अंत्येष्टि के

व्यय तथा उनके द्वारा लिया गया कर्ज चुकाने के निमित्त की थी। अबीसीनिया का युवराज रासेलास राजसी सुखों से ऊबकर अपनी बहिन तथा एक वृद्ध एवं अनुभवी दार्शनिक के साथ मिस्र देश चला जाता है। उसका उद्देश्य जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का अनुभव प्राप्त करना है। एक साधारण कहानी के माध्यम से लेखक सुखी जीवन की खोज पर अपने विचार व्यक्त करता है।

डॉ॰ जॉन्सन ने 'रैंबलर' तथा 'आइडलर' नाम की दो पत्रिकाएँ भी एक के बाद दूसरी निकालीं। इनमें इनके निबंध प्रकाशित होते रहे।

साहित्यालोचना के क्षेत्र में भी इन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया। शेक्सपियर पर विद्वत्तापूर्ण निबंध लिखने के अतिरिक्त इन्होंने अंग्रेजी कवियों के संबंध में 'लाइव्स ऑव दि पोएट्स' नामक एक रोचक ग्रंथ भी लिखा।

सन् १७६२ में इनके लिये सौ पाउंड वार्षिक की पेंशन स्वीकृत हुई और इन्हें आर्थिक कठिनाइयों से राहत मिली। पेंशन के साथ इन्होंने अपनी लेखनी को भी विश्राम दे दिया। जैसा इन्होंने स्वयं स्पष्ट शब्दों में कहा है, लेखन इनके लिये व्यवसाय मात्र था जिससे रोजी रोटी चलती थी। सन् १७६४ में 'लिटरेरी क्लब' की स्थापना हुई जिसके सदस्यों में बर्क, गोल्डस्मिथ, बॉस्वेल, गैरिक, गिबन और रेनाल्ड्स आदि थे। डॉ॰ जॉन्सन क्लब के एकछत्र सम्राट् से थे। जेम्स बॉस्वेल ने इनकी दिन प्रति दिन की बातों के आधार पर इनका वृहत् जीवनवृत्तांत लिखा जो अंग्रेजी साहित्य की अक्षय निधि है। सन् १७८४ में इनकी मृत्यु हुई।

डॉ॰ जॉन्सन की प्रत्येक रचना में नैतिकता का स्पष्ट आग्रह देखने को मिलता है। 'आइरीन' तथा 'रासेलास' में कहानी गंभीर विचारों की अभिव्यक्ति का निमित्त मात्र है। संभवतः इसी कारण इनकी भाषा में भी कृत्रिम दुरूहता का दोष आ गया है। लेकिन जब कभी इन्होंने हृदय की सच्ची भावनाओं की अभिव्यक्ति की, इनकी शैली में प्रवाह और स्वाभाविकता का गुण आया। जीवन में इन्हें बड़े संकट झेलने पड़े। फिर भी इनके स्वभाव में रूक्षता का दोष नहीं आया। सहानुभूति और उदारता के गुण इनमें कूट कूटकर भरे थे। १८वीं शताब्दी के अधिकांश साहित्य में हम सामाजिकता पर जोर पाते है। डॉ॰ जॉन्सन ने भी अपनी रचनाओं द्वारा व्यक्तिपक्ष की तुलना में सामाजिक पक्ष को महत्व दिया।

सं॰ ग्रं॰ — जेम्स बॉस्वेलः जॉन्संस लाइफ (६ भाग); जे॰ मा॰ बेली : डॉ॰ जॉन्सन ऐंड हिज सर्किल; ई॰ एन॰ हाडस्टन॰ : डॉ॰ जान्सन : ए स्टडी इन एट्टीथ सेंचुरी ह्यूमैनिज्म; सर वाल्टर रेले : सिक्स एसेज ऑव जान्सन; डब्ल्यू॰ के॰ विंसेंट : दि प्रोज स्टाइल ऑव सैमुएल जॉन्सन; जी॰ ए॰ हैगस्ट्राम : सैमुएल जान्सन लिटरेरी क्रिटिसिज्म [तु॰ ना॰ सिं॰]

जापान स्थिति : ३६° ०' उ॰ अ॰ तथा १३६° ०' पू॰ दे॰। जापानी द्वीपसमूह एशिया महाद्वीप के पूर्वी तट से सटा हुआ; प्रशांत महासागर में स्थित है। इन द्वीपों में मुख्य चार हैं। होकाइडो (Hokkaido, ३०,३१२ वर्ग मील), हॉनशू (Honshu, ८८,६७६ वर्ग मील), शिकोकू (Shikoku, ७,२४२ वर्ग मील) और क्यूशू (Kyushu, १६,१६६ वर्ग मील) हैं। यों छोटे छोटे द्वीप हजारों की संख्या में समुद्र में बिखरे हुए हैं, जो जापानी संप्रभुता के अंतर्गत है। देश की राजधानी टोकियो है।

भौमिकीय — जापान के धनुषाकार द्वीपसमूहों की सबसे बड़ी विशेषता भूकंपों तथा ज्वालामुखी पर्वतों की सक्रियता है। जापान के ऊपर कहे गये मुख्य चार बड़े द्वीप मिलकर बड़ा जापानी चाप बनाते हैं, जिसका निर्माण क्रमिक वलनिक उच्चावचन (orogenies) द्वारा मध्य पुराजीवकल्प (Mid Palaeozoic) में, तलछट के संचयन से हुआ था। कूरील, बोनिन तथा रियूक्यू के नवीन चापों के जापानी चाप से बाहर प्रशांत बेसिन की ओर विकसित होने से जापानी चाप की निरंतरता भग्न हो गई है। जापानी चाप तथा नवीन चापों के संगम बिंदु ज्वालामुखी सक्रियता के बड़े केंद्र हैं। सिल्यूरिएन (Silurian) काल से परमोकार्बोनीफेरस (Permocarboniferous) युग तक के समुद्री तलछटीकरण तथा ज्वालामुखी क्रियाओं के संपूर्ण अनुक्रम को जीवाश्म प्रमाणों ने सिद्ध कर दिया है। जुरासिक (Jurassic) तथा अधः क्रिटेशस (Lower Cretaceous) सापेक्ष उत्थापन का काल है, जिसमें निक्षेप एस्चुअरी (estuary), डेल्टा तथा अनूपों (lagoons) में हुआ है। इस काल के फर्न (fern) और साइकैड (cycade) की वनस्पतियाँ तथा एमोनाइटीज (ammonities) के जीवाश्म मिले हैं। ऊर्ध्व क्रिटेशस काल में जापान में पुनः अवतलन हुआ है और इस काल के निक्षेप समुद्री बलुआ पत्थर, शेल (shale), चूना पत्थर तथा ऐमोनाइटीज और फलकक्लोम (Lamellibranchia) के जीवाश्म हैं। तृतीय काल की वनस्पतियाँ तथा कोयला महाद्वीपीय निक्षेप और फोरेमिनीफेरा (foraminifera) समुद्री निक्षेप हैं। चतुर्थ युग के निक्षेप में हाथी के पूर्वज तथा मैमथ (mammoth) के महाद्वीपीय जीवाश्म प्राप्त हैं, जिससे यह प्रमाणित होता है कि जापान एशिया से जुड़ा हुआ था।

प्राकृतिक स्वरूप — जापान का मुख्य द्वीप हॉनशू (Honshu) जिसे जापानी प्रायः गृहद्वीप (home island) कहते हैं, हॉनशू के दक्षिण शिकोकू एवं क्यूशू नामक दो द्वीप हैं तथा उत्तर में चौथा द्वीप होकाइडो है। इनके अतिरिक्त अन्य द्वीप रिऊक्यु (Ryukyu) तथा बोन्नीस नामक दो द्वीपसमूहों में विभाजित हैं। जापान का कुल क्षेत्रफल १,४१,७२६.५ वर्ग मील है। जापान के द्वीपसमूह उस विशाल ध्वस्त पर्वतशृंखला के अवशेष हैं जिनके प्रतीक आलेस्का पर्वत, अल्यूशैन (Aleustian) पठार, कुरील तथा फिलिपीन द्वीपसमूह हैं।

जापान के धरातल में पर्वतों द्वारा घिरा हुआ भाग लगभग ५८% है। प्रत्येक सात वर्ग मील में से छह वर्ग मील क्षेत्र पर पर्वत विद्यमान हैं। यहाँ १९२ ज्वालामुखी पर्वत हैं जिनमें से ५८ सक्रिय हैं। माउंट फूजी (१२,३८५ फुट) सबसे ऊँचा पहाड़ है। यह भी सुषुप्त ज्वालामुखी है। सन् १७०७ में इसमें विस्फोट हुआ था। सक्रिय ज्वालामुखियों में आसामायामा (Asamayama), साकुराजीमा (Sakurajima), कोमागेटेक (Komagatake) तथा असोसान (Asosan) उल्लेखनीय हैं।

किसी भी द्वीप में विस्तृत मैदान इने गिने ही हैं। सबसे बड़ा मैदान क्वांटो (Kwanto) टोकियो की खाड़ी से हॉनशू के मध्य भाग तक फैला है। पश्चिमी मध्य हॉनशू में कानसाई का मैदान है, जिसमें ओसाका, कोबे, क्योटो आदि नगर बसे हैं। नोबी छोटा मैदान है, जिसमें नगोया नगर स्थित है।

जापान का धरातल अत्यधिक ढालवाँ है। हर जगह चोटी, पहाड़, पठार और समुद्रतट की क्रमबद्ध शृंखला मिलती है। अत्यधिक ढाल, पर्याप्त वर्षा (४०" से १००") तथा समुद्रतट से निकट ही जलविभाजकों की स्थिति के कारण यहाँ असंख्य छोटी, पतली तथा वेगवती नदियाँ

मिलती हैं। जब नदियाँ पहाड़ी भाग से तटीय मैदान में उतरती हैं, अथवा अंतर्पर्वतीय बेसिन से होकर बहती हैं, तब धाराएँ अचानक मंद होने से बहुत अधिक मिट्टी जमा करती हैं और इस प्रकार उपजाऊ मैदानों का निर्माण करती हैं। यह उनकी सबसे बड़ी देन है। यहाँ की नदियों की धाराएँ प्रायः किनारों की अपेक्षा ऊँचाई पर बहती हैं, जिससे सिंचाई की सुगमता होती है, पर बाढ़ का खतरा अधिक हो जाता है। सीनानो (२३० मील) सबसे बड़ी नदी है। जापान में झीलें भी बहुत हैं। बीवा (२६० वर्ग मील) सबसे बड़ी झील है। जापान का समुद्रतट १७,००० मील लंबा तथा अत्यंत कटा फटा है।

जलवायु — जापान का जलवायु समशीतोष्ण है। चारों ऋतुएँ होती हैं। गर्मियों में पर्याप्त गर्मी पड़ती है। जापान के जलवायु पर क्यूरोशियो गरम जलधारा, कूरील ठंढी जलधारा तथा एशिया की मौसमी हवाओं का बहुत प्रभाव पड़ता है। जनवरी में उत्तर में औसत ताप –७° सें० तथा दक्षिण में ४° सें० रहता है। जुलाई में उत्तर में औसत ताप १५.५° सें० एवं दक्षिण में २७° सें० रहता है। उत्तरी भाग में औसत वार्षिक वर्षा ४०" से ६०" तक तथा दक्षिण में १००" तक होती है। यहाँ प्रायः बवंडर (typhoon) आते हैं।

वनस्पति एवं जंतु — जापान के वन कुल भूक्षेत्र के २/३ भाग में फैले हुए हैं। इस वन क्षेत्र से इमारती लकड़ी, कागज बनाने की लकड़ी तथा घरेलू ईंधन के लिये लकड़ी उपलब्ध होती है। पहाड़ियों के जंगलों में बंजु, भुर्ज, द्विफल (maple), अखरोट आदि के वृक्ष पाए जाते हैं। ऊँचे पहाड़ों पर चीड़, लार्च, स्प्रूस (spruce), फर आदि के पेड़ मिलते हैं।

जापान में पाए जानेवाले जंतुओं में से अधिकांश कोरिया तथा चीन में पाए जानेवाले जंतुओं के सदृश हैं। यहाँ चमगादड़ों की १८ किस्में उपलब्ध हैं। हाँनशू से लेकर उत्तरी सिरे तक गुलाबी चेहरेवाला लघुपुच्छ बानर पाया जाता है और यह यहाँ का एकमात्र बानर गण (primate) है। यहाँ भालू, कुत्ते, भेड़िए, लोमड़ी, बिज्जू, रैकन कुत्ते (raccoon dog) पाए जाते हैं। आर्टिक रोवर (artic rover) नामक हरिण भी यहाँ पाया जाता है, जो शरद ऋतु में श्वेत हो जाता है। उरग की ३० जातियाँ यहाँ मिलती हैं, जिनमें प्रशांत महासागर का हरा कच्छप भी है, जो बहुत कम दृष्टिगत होता है। यहाँ के समुद्र में विभिन्न प्रकार की मछलियाँ प्रचुर परिमाण में हैं। समुद्री सर्प भी यहाँ मिलते हैं। स्थलगामी सर्पों में ऐगकिस्ट्रोडॉन हेलयस ब्लुम्होफाइ (Agkistrodon halys blomhofii) संपूर्ण जापान में मिलते हैं।

कृषि — जापान में अब लगभग ३७ प्रति शत लोग खेती पर निर्भर हैं। लगभग १४० लाख एकड़ पृथ्वी खेती के योग्य है। पहाड़ी जमीन होने से खेत छोटे छोटे तथा बिखरे होते हैं। धान प्रमुख उपज है, जिससे देश की आवश्यकता के ४।५ भाग की ही पूर्ति होती है। अन्य मुख्य उपज गेहूँ, जौ तथा सोयाबीन हैं। आलू तथा मूली की भी खेती होती है। १।२ प्रति शत जमीन पर चाय की खेती होती है। रेशम के कीड़े पालने का भी काम होता है। फलों की बहुत सी किस्मों का उत्पादन होता है जिनमें संतरा तथा आड़ू प्रमुख हैं। मछली के व्यवसाय में जापान संसार में सर्वप्रथम है। यहाँ साइन, हेरिंग, माकेरल, फ्लो टेल, ह्वेल आदि मछलियाँ मिलती हैं।

खनिज — जापान में कच्चा लोहा मिलता है। लेकिन देश की पूरी माँग का १।१६ भाग ही देश के उत्पादन से मिलता है। केवल कुछ घटिया किस्म के कोयले को छोड़कर प्रायः सब कोयला बाहर से आता है। ताँबा, चाँदी, जस्ता, गंधक, चूना, बेराइटिस तथा पाइराइट (pyrite) भी कुछ अंशों में यहाँ प्राप्त होता है। पेट्रोलियम अत्यधिक न्यून मात्रा में मिलता है।

उद्योग — जापान के विशाल कारखाने चार औद्योगिक क्षेत्रों में केंद्रित हैं। सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र ओसाका, कोबे तथा क्योटो का है। यहाँ सूती वस्त्र के कारखाने हैं। ओसाका तथा कोबे में जलपोत भी बनते हैं। क्यूशू के उत्तरी समुद्र तट पर इस्पात, सीमेंट, जलपोत, तथा काच बनाने के कारखाने हैं। देश के ढलवाँ लोहे (pig iron) का ३।४ भाग यहाँ तैयार होता है। यावाता इस्पात का मुख्य केंद्र है। टोकियो तथा याकोहामा क्षेत्र में मशीन तथा औजार, धातु के समान, रासायनिक पदार्थ, खाद्य सामग्री एवं वस्त्र उद्योग विकसित हैं। नागोया क्षेत्र वस्त्र उद्योग, अन्य हल्के उद्योग तथा घरेलू उद्योगों का केंद्र है।

यातायात — जापान में सड़कें अपेक्षाकृत कम तथा ऊबड़ खाबड़ हैं। मोटर यात्रा सुरक्षित न होने से ट्रकें या बसें कम हैं। छोटी रेलवे लाइनों का विस्तृत जाल है। रेल मार्गों की कुल लंबाई लगभग २०,००० मील है। सभी नगर रेल मार्गों द्वारा संबद्ध हैं। जल यातायात, यहाँ अधिक प्रचलित है। सामानों का यातायात प्रायः जलपोतों द्वारा होता है, पर सवारियाँ रेलों पर चलती हैं। सन् १९५८ में हाँनशू तथा क्यूशू समुद्र के भीतर खुदी एक सुरंग द्वारा संबद्ध कर दिए गए हैं।

शक्ति — जापान के ३६ प्रति शत घरों को छोड़कर सर्वत्र विद्युत्-सुविधा उपलब्ध है। देश की लगभग ७० प्रति शत विद्युच्छक्ति जल-विद्युदुत्पादन द्वारा प्राप्त की जाती है। १९६१ ई० में जापान की विद्युत् उत्पादन क्षमता २,२६,५४,००० किलोवाट थी। तोकुई मुरा नामक स्थान में अणुशक्ति केंद्र है। यहाँ कृषि, चिकित्सा आदि विभिन्न क्षेत्रों में अणुशक्ति के उपयोग के संबंध में अनुसंधान कार्य हो रहा है।

जापान की जनसंख्या ९,५०,८०,००० (१९६२) थी। यहाँ के निवासी मंगोल, मलाया तथा ऐनू जातियों के हैं, जिनके रंग-रूप चीनियों से मिलते हैं। जापानियों ने यद्यपि पश्चिमी रहनसहन का अनुसरण किया है, तथापि अपने परंपरागत रीतिरिवाजों को अक्षुण्ण बनाए रखा है। जापानी नम्र, सौंदर्योपासक, मेहनती तथा साहसी होते हैं। चावल तथा मछली उनका मुख्य आहार है।

टोकियो जापान की राजधानी है। अन्य प्रमुख शहर ओसाका कोबे, क्योटो, नागासाकी इत्यादि हैं। टोकियो की जनसंख्या १,०१,९६,००० (१९६१) है। [ज० सिं०]

ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक — १८६८ से मीजियों (Meiji) के पुनरुत्थान पर राष्ट्र के उद्योगीकरण से जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ी है। १८७२ में ३ करोड़ ५० लाख और १९३६ में ७ करोड़ से बढ़कर १९६२ में ९ करोड़ ५२ लाख हो गई। आबादी के घनत्व में (६६.६ प्रति वर्ग मील) जापान का विश्व में तीसरा स्थान है। सात नगरों की आबादी १० लाख से अधिक है। राजधानी टोकियो की जनसंख्या १ करोड़ से अधिक है। औद्योगीकरण के कारण ६३.५% लोग (१९६०) नगरों में बसते हैं। एशिया में केवल यही एक ऐसा देश है, जिसमें जन्मदर संसार के अन्य औद्योगिक स्थानों की जन्मदर के स्तर तक घटा दी गई है।
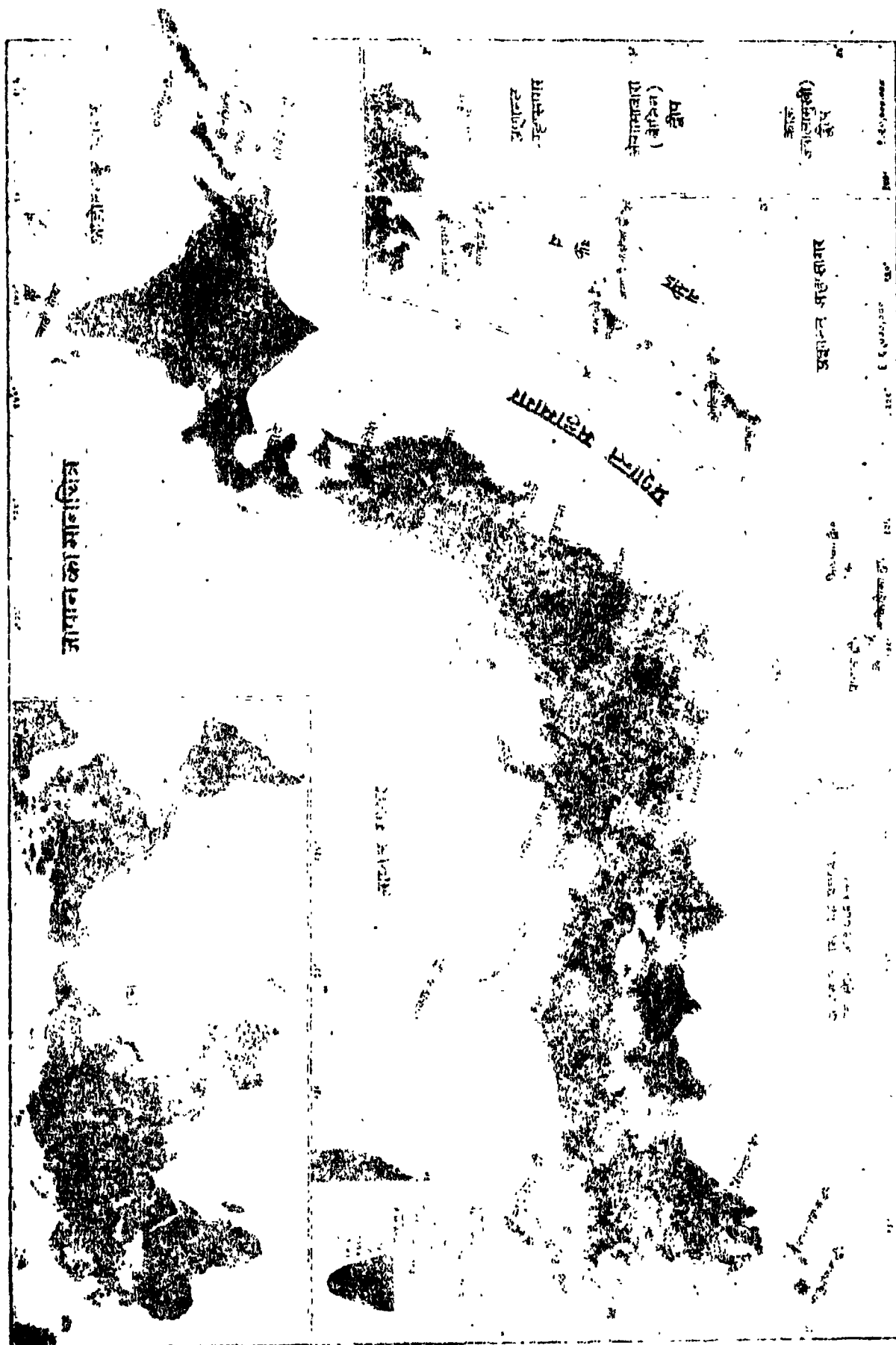
जापान का प्रशासन क्षेत्र

ऊपर बाएँ कोने में संपूर्ण पृथ्वी के मानचित्र में जापान का स्थान दिखाया गया है।

चाय परसने के शिष्टाचार का शिक्षण

इस सत्कार के सुनिश्चित शिष्ट रीति से संपादन का अभ्यास जापान में पुरुष और स्त्री दोनों करते हैं।
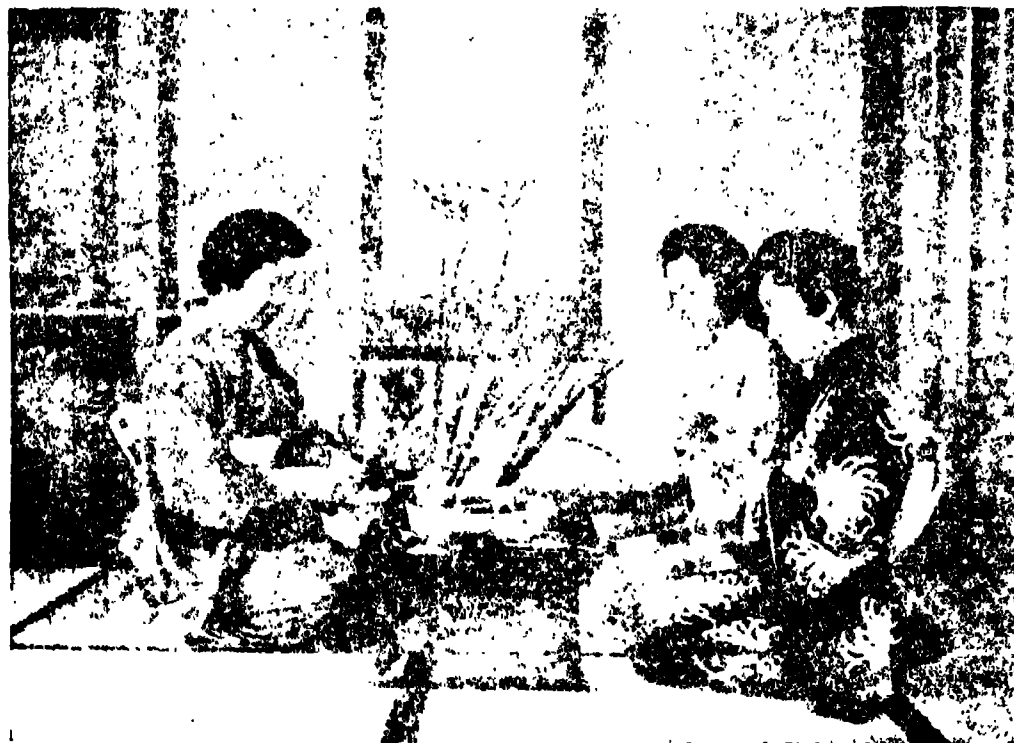
फूलों को सजाने की कला का शिक्षण

[illegible] शियों में विकसित इस कला का शिक्षण पाठशालाओं, दफ्तरों, कारखानों तथा गृहों में दिया जाता है।

जापानी एशिया के कई भागों से आए हुए प्रतीत होते हैं। शारीरिक रचना से वे मंगोलिया से संबंधित जान पड़ते हैं। यह अनुमान है कि प्राचीन प्रस्तर काल में अनेक जातियाँ एशिया के भीतरी भागों से भिन्न भिन्न भाषाओं, सांस्कृतिक और शारीरिक विशेषताओं के साथ आकर यहाँ बसीं। यह स्थानांतरण विशेष रूप से दूसरी और तीसरी शताब्दियों में हुआ। चौथी शताब्दी तक टेनो (Teno) नामक जाति ने वर्तमान नारा (Nara) में अपना राज्य स्थापित किया। ज्ञात होता है कि जापान में बसे लोग संभवतः इंडोनेशिया, चीन और उत्तरी एशिया, साइबेरिया और अलास्का से आए थे। होकाइडो (Hokkaido) में बसी आइनू (Ainu) नामक आदिम जाति अपने समकालीन जापानियों से शारीरिक विशेषताओं में भिन्न रही है। ये लोग आर्यों के निकट मालूम होते हैं। धीरे धीरे इस जाति की शारीरिक, भाषागत और सांस्कृतिक विशिष्टताएँ अंतर्संबंधों के कारण लुप्तप्राय हो रही हैं।

विदेशी भाषाओं में मुख्यतया अंग्रेजी का अध्ययन होता है। सर्वसाधारण में जापानी का प्रयोग होता है। तीन प्रधान धर्म शिंतो, बौद्ध और ईसाई हैं। शिंतो धर्म का जन्म जापान की धरती पर ही हुआ। बौद्ध धर्म, जो भारत से छठी शताब्दी में वहाँ पहुँचा, बहुत प्रभावशाली है। ईसाई धर्म का विकास १६वीं शताब्दी से प्रारंभ हुआ। कन्फ्यूशियस का दर्शन कुछ काल के लिये शिंतो का सैद्धांतिक आधार रहा, किंतु अब उसका प्रभाव नहीं है।

जापान के प्राचीन इतिहास के संबंध में कोई निश्चयात्मक जानकारी नहीं प्राप्त है। पौराणिक मतानुसार जिम्मू नामक एक सम्राट् ६६० ई० पू० राज्यसिंहासन पर बैठा, और वहीं से जापान की अव्यवस्थित कहानी प्रारंभ हुई। अनुमानतः तीसरी या चौथी शताब्दी में यमातो नामक जाति ने दक्षिणी जापान में अपना आधिपत्य स्थापित किया। ५वीं शताब्दी में चीन और कोरिया से संपर्क बढ़ने पर चीनी लिपि, चिकित्साविज्ञान और बौद्धधर्म जापान को प्राप्त हुए। जापानी नेताओं ने शासननीति चीन से सीखी किंतु सत्ता का हस्तांतरण परिवारों तक ही सीमित रहा। ८वीं शताब्दी में कुछ काल तक राजधानी नारा में रखने के बाद क्योटो में स्थापित की गई जो १८६८ तक रही।

मिनामोतो जाति के एक नेता योरितोमो ने ११९२ में कामाकुरा में सैनिक शासन स्थापित किया। इससे सामंतशाही का उदय हुआ, जो लगभग ६०० वर्ष चली। इसमें शासन सैनिक शक्ति के हाथ रहता था, राजा नाममात्र को ही होता था।

१२७४ और १२८१ में मंगोल आक्रमणों से जापान के तात्कालिक संगठन को धक्का लगा, इससे धीरे धीरे गृहयुद्ध पनपा। १५४३ में कुछ पुर्तगाली और उसके बाद स्पेनिश व्यापारी जापान पहुँचे। इसी समय सेंट फ्रांसिस जैवियर ने यहाँ ईसाई धर्म का प्रचार प्रारंभ किया।

१५९० तक हिदेयोशी तोयोतोमी के नेतृत्व में जापान में शांति और एकता स्थापित हुई। १६०३ में तोगुकावा वंश का आधिपत्य प्रारंभ हुआ, जो १८६८ तक स्थापित रहा। इस वंश ने अपनी राजधानी इदो (वर्तमान टोक्यो) में बनाई, बाह्य संसार से संबंध बढ़ाए, और ईसाई धर्म की मान्यता समाप्त कर दी। १६३९ तक चीनी और डच व्यापारियों की संख्या जापान में अत्यंत कम हो गई। अगले २५० वर्षों तक वहाँ आंतरिक सुव्यवस्था रही। गृह उद्योगों में उन्नति हुई।

१८५३ में अमरीका के कमोडोर मैथ्यू पेरी के आगमन से जापान बाह्य देशों यथा अमेरिका, रूस, ब्रिटेन और नीदरलैंड्स की शांतिसंधि में संमिलित हुआ। लगभग १० वर्षों के बाद दक्षिणी जातियों ने सफल विद्रोह करके सम्राट्तंत्र स्थापित किया, १८६८ में सम्राट् मीजी ने अपनी संप्रभुता स्थापित की।

१८९४-९५ में कोरिया के प्रश्न पर चीन से और १९०४-५ में रूस द्वारा मंचूरिया और कोरिया में हस्तक्षेप किए जाने से रूस के विरुद्ध जापान को युद्ध करना पड़ा। दोनों युद्धों में जापान विजयी हुआ। ताइवान, लिया ओतुंग और सखालिन द्वीप जापान के अधिकार में आ गए। मंचूरिया और कोरिया में उसका प्रभाव भी बढ़ गया।

प्रथम विश्वयुद्ध में सम्राट् ताइशो ने बहुत सीमित रूप से भाग लिया। इसके बाद जापान की अर्थव्यवस्था द्रुतगति से परिवर्तित हुई। उद्योगीकरण का विस्तार किया गया।

१९३६ तक देश की राजनीति सैनिक अधिकारियों के हाथ में आ गई और दलगत सत्ता का अस्तित्व समाप्त हो गया। जापान राष्ट्रसंघ से पृथक् हो गया। जर्मनी और इटली से संधि करके उसने चीन पर आक्रमण शुरू कर दिया। १९४१ में जापान ने रूस से शांतिसंधि की। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अगस्त, १९४५ में जापान ने मित्र राष्ट्रों के सामने बिना शर्त आत्मसमर्पण किया। इस घटना से सम्राट् जो अब तक राजनीति में महत्वहीन थे, पुनः सक्रिय हुए। मित्र राष्ट्रों के सर्वोच्च सैनिक कमांडर डगलस मैकआर्थर के निर्देश में जापान में अनेक सुधार हुए। संसदीय सरकार का गठन, भूमिसुधार, और स्थानीय स्वायत्त शासन निकाय नई शासनव्यवस्था के रूप थे। १९४७ में नया संविधान लागू हुआ। १९५१ में सेनफ्रांसिस्को में अन्य ५५ राष्ट्रों के साथ शांतिसंधि में जापान ने भी भाग लिया। जापान ने संयुक्त राज्य अमरीका के साथ सुरक्षात्मक संधि की जिसमें जापान को केवल प्रतिरक्षा के हेतु सेना रखने की शर्त थी। १९५६ में रूस के साथ हुई संधि से परस्पर युद्ध की स्थिति समाप्त हुई। उसी वर्ष जापान राष्ट्रसंघ का सदस्य हुआ।

जापानी उद्यान कला की थोड़े दिनों से भारतवर्ष में बड़ी चर्चा होने लगी है। यह कला वहाँ की राष्ट्रीयता और संस्कृति की द्योतक है। इस शैली का प्रचार जापान में कदाचित् छठी शताब्दी में मोहान लोन हान नामक व्यक्ति ने किया। उसने नकली पहाड़ियाँ, टीले, तालाब, पानी की नालियाँ, झरने आदि बनाकर उनमें फूलों आदि के वृक्ष लगाकर सुशोभित करने का प्रयास प्रारंभ किया था। यही कला विकसित होते होते अब सर्वथा नूतन कला हो गई।

जापानी उद्यानों की विधि, बनावट आदि के विषय में श्रीमती टेलर का यह कथन अत्यंत सत्य है कि पत्थर और चट्टानें जापानी उद्यान के शरीर की अस्थियाँ हैं, भूमि की सब रेखाएँ शरीर के आकार को प्रदर्शित करती हैं, फूल और वृक्ष उसके वस्त्र और आभूषण हैं, परंतु जल तो उसका जीवन और प्राण ही है। पत्थर और पानी का जापानी उद्यानों में मुख्य स्थान है। बिना इनके किसी उद्यान का संपूर्ण होना संभव नहीं। जिन स्थानों में पानी की कमी होती है, वहाँ पानी के स्थान में बालू फैलाई जाती है और उसी से पानी का आभास होता है।

छोटे से छोटे स्थान को अत्यंत रमणीक बनाने की कला में जापानी सिद्धहस्त हैं। सादगी इन स्थानों की विशेषता है। जापानी उद्यान-कला का उद्देश्य यही रहा है कि दर्शक को थोड़े से स्थान में ही पर्वतीय दृश्य, झरता हुआ झरना, एक छोटी सी झील और उसमें एक द्वीप, एक

पुल और विशेष रूप से शिलाएँ और चट्टानें आदि सब वस्तुएँ देखने को मिलेंगी। स्थान स्थान पर पुल, पहाड़ियाँ, जलकुंड, प्राकृतिक विश्राम गृह और जलपानगृह आदि पगडंडियों और रास्तों के किनारे और चारों ओर इस प्रकार बनाए जाते हैं कि उद्यान में घूमते समय वे आपको जगह जगह दृष्टिगोचर हों और उनके सौंदर्य को निरखकर आप प्रसन्न हों।

भिन्न भिन्न आकार के पत्थरों से वे छोटे छोटे स्थानों को भी अत्यंत आकर्षक ढंग से सजाते हैं। पानी के बीच में वे प्रायः कछुए के आकार का पत्थर रखते हैं और उसके पास ही दूसरा पत्थर उड़ते हुए हंस के आकार का होता है। दोनों ही प्राणी दीर्घजीवी होने के कारण बड़े शुभ माने जाते हैं। कभी कभी जहाजों के आकार के एक के पीछे एक सात पत्थर पानी में रखे जाते हैं, जिनका आशय यह होता है कि सात बड़े बड़े खजानों की खोज में समुद्र की लंबी यात्रा पर जा रहे हैं। (सात का अंक जापान में बड़ा शुभ माना जाता है)।

पानी का होना भी जापानी उद्यान में आवश्यक है। पानी के झरने और तालाब और उनके ऊपर पुल जापानी उद्यान के अनिवार्य अंग हैं। पानी के किनारे पेड़ और पत्थर आदि इस प्रकार सजाते हैं कि पानी में उनका प्रतिबिंब और भी सुंदर लगता है।

अनेक प्रकार के फलनेवाले और महीन पत्तीवाले शोभाकर पेड़ लगाते हैं। चीड़ के पेड़ों का विशेष महत्व है। प्रायः वे मुख्य द्वार के दोनों ओर संतरी के समान लगे मिलते हैं। दूसरे ये वृक्ष भी दीर्घजीवन के प्रतीक माने जाते हैं।

'बोनसाई' कला में, अर्थात् बड़े ऊँचे बढ़नेवाले पेड़ों को छोटे आकार में उगाने की कला में, भी जापानी सिद्धहस्त होते हैं और इसका उपयोग जापानी उद्यान कला में प्रचुर मात्रा में होता है। [एस० आर० शु०]

जापानी भाषा यह केवल जापान में ही बोली जाती है। बोलनेवालों की संख्या लगभग ६ करोड़ है। द्वितीय महायुद्ध से पहले कोरिया, फार्मोसा और सखालीन में भी जापानी बोला जाती थी। अब भी कोरिया और फार्मोसा में जापानी जाननेवालों की संख्या पर्याप्त है, परंतु धीरे धीरे उनकी संख्या कम होती जा रही है।

जापानी भाषा किस भाषा कुल में संमिलित है इस संबंध में अब तक कोई निश्चित मत स्थापित नहीं हो सका है। परंतु यह स्पष्ट है कि जापानी और कोरियाई भाषाओं में घनिष्ठ संबंध है और आजकल अनेक विद्वानों का मत है कि कोरियाई भाषा अलटाइक भाषाकुल में संमिलित की जानी चाहिए। जापानी भाषा में भी उच्चारण और व्याकरण संबंधी अनेक विशेषताएं हैं जो अन्य अलटाइक भाषाओं के समान हैं परंतु ये विशेषताएँ अब तक इतनी काफी नहीं समझी जाती रहीं जिनसे हम निश्चित रूप से कह सकें कि जापानी भाषा अलटाइक भाषाकुल में से एक है।

इतिहास

प्राचीन काल (८वीं शताब्दी तक) : जापानी भाषा कब से प्रारंभ होती है इस संबंध में प्रमाण न होने के कारण निश्चित रूप से कुछ बताया नहीं जा सकता। तीसरी शताब्दी में लिखी गई एक चीनी पुस्तक में जापान के कुछ स्थानों और लोगों के नाम मिलते हैं जिनसे अनुमान किया जा सकता है कि उस समय जापानी भाषा का विकास हो चुका था। ७वीं-८वीं शताब्दी में जापानी लोगों ने चीनी भाषा और लिपि सीखी और चीनी भाषा में इतिहास, भूगोल आदि लिखे गए। धीरे धीरे चीनी लिपि में जापानी भाषा लिखने का उपाय खोज निकाला गया। जापान में सबसे पुरानी कविताओं का संग्रह 'मान्योशू' (लग० ७७८ ई०) इसी उपाय से लिखा गया था। चीनी भाषा के शब्द एकमात्रिक होते हैं। इस कारण उसके एक एक लिपिचिह्न (शब्द) से जापानी भाषा का उच्चारण प्रकट करना अत्यंत सरल था। इस प्रकार की लिपियों को 'मान्यो' लिपि कहते हैं। इन लिपियों के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि उस समय की जापानी भाषा में आठ प्रकार के स्वर और शब्दों में स्वर अनुरूपता होती थी। अब भी कोकोरो (हृदय), अतामा (सिर) आदि शब्दों की भाँति एक ही स्वर से बने अनेक शब्द हैं।

उत्तर प्राचीन काल (९-१२वीं शताब्दी). चीन के साथ गमनागमन बंद हो जाने के कारण जापान की अपनी संस्कृति का विकास हुआ। भाषा में स्वर अनुरूपता का लोप हो गया और स्वरों की संख्या केवल पाँच रह गई। चीनी लिपि-चिह्नों को सरल करके जापान की अपनी दो प्रकार की लिपियाँ 'हिराकाना' और 'काताकाना' बन गईं। हिराकाना चीनी लिपि को सरल करके बनाई गई। प्रारंभ में यह लिपि विशेषतया स्त्रियों में लोकप्रिय हुई। चीनी लिपि को न मिलाकर केवल उसी लिपि में भाषा लिखी जाती थी। काताकाना चीनी भाषा में लिखी पुस्तक को जापानी की भाँति पढ़ने की दृष्टि से बनाई गई। प्रायः चीनी लिपि चिह्न का एक भाग लेकर उसका निर्माण हुआ था। प्रारंभ से ही यह लिपि चीनी लिपियों के साथ मिलाकर लिखी जाती थी। इस समय चीन के माध्यम से जापान में संस्कृत भाषा और लिपि का अध्ययन भी प्रारंभ हो गया था। नई जापानी लिपियों की वर्णमाला संस्कृत की वर्णमाला के अनुकरण में बनाई गई। (९-१०वीं शताब्दी) इस समय का राजनीतिक केंद्र पश्चिमी जापान था। पूर्वी जापान के सैनिकों के आने से भाषा में, विशेषकर उच्चारण में, परिवर्तन आ गया।

मध्य काल (१३-१६वीं शताब्दी) : इस समय सेनापतियों की शक्ति बढ़ गई और कुछ समय तक तोक्यो के निकट कामाकुरा राजनीतिक केंद्र रहा। इस काल में अनेक लड़ाइयाँ होने के कारण प्राचीन भाषा की परंपरा टूटने लगी और उच्चारण तथा व्याकरण में बड़ा परिवर्तन आ गया।

इस काल के अंतिम भाग में यूरोप के लोग आने लगे और ईसाई मत के प्रसार के उद्देश्य से उन्होंने जापानी भाषा का अध्ययन किया। उनके लिखे व्याकरण और शब्दकोश उपलब्ध हैं। उनकी लिखी अनेक पुस्तकों से उस समय की जापानी भाषा का हाल अच्छी भाँति जाना जाता है।

इसी समय छपाई का विकास हुआ और बौद्ध धर्म, कनफ्यूशीवाद, में भी चिकित्सा शास्त्र आदि की पुस्तकें छापी गई। परंतु चीनी भाषा में लिखी पुस्तकें अधिक छापी गईं और जापानी में लिखी पुस्तकों की संख्या कम रही। इस काल तक प्राचीन भाषा का काल कह सकते हैं; परंतु इस समय के अंत में भाषा का रूप बदलकर आधुनिक भाषा का रूप धारण करने लगा।

पूर्व आधुनिक काल — (१७-१९वीं शताब्दी) : इस काल में सम्राट् के स्थान पर तोकुगावा परिवार के लोग राज्य करने लगे, तोक्यो राजधानी हो गया तथा जागीरदारी पद्धति दृढ़ हो गई। प्रारंभ में ओसाका सांस्कृतिक केंद्र था परंतु १८वीं शताब्दी के अंतिम भाग से 'एदो' (आजकल का तोक्यो) सांस्कृतिक केंद्र बना। साहित्य अधिकतर एदो की बोली में ही लिखा जाने लगा। देश जागीरों में विभाजित होने के कारण

जापान (पृष्ठ ४६५)

फुजि नामक ज्वालामुखी

जापान का यह उच्चतम पर्वत समामित सुंदरता के लिये अनुपम कहा जाता है ।

और लोगों के जागीरों के बाहर आने जाने का अवसर बहुत कम होने के कारण इस काल में अनेक बोलियों का विकास हुआ। उच्चारण आधुनिक भाषा की भाँति हो गया और व्याकरण में क्रिया के रूपपरिवर्तन के नियमों का सरल होना प्रारंभ हुआ। प्रारंभ में एदो में भिन्न भिन्न बोलियाँ बोलनेवाले इकट्ठे हुए थे परंतु धीरे धीरे एदो नगर की अपनी बोली का विकास हुआ। यह और भी विकसित होकर आजकल की सर्वमान्य भाषा बन गई है। इस समय प्राचीन जापानी भाषा तथा साहित्य का अध्ययन बहुत अधिक किया जाने लगा। इस समय से हिराकाना में चीनी लिपियों को अधिक मिलाकर लिखने की पद्धति पसंद की जाने लगी।

आधुनिक काल (२०वीं शताब्दी) : इस काल में सम्राट् स्वयं राज्य करने लगे और तोक्यो राजधानी बना। यहाँ की बोली सर्वमान्य भाषा मानी जाने लगी। यूरोप के साथ संपर्क स्थापित हुआ तथा यूरोप के अनेक शब्द चीनी लिपि में अनूदित होकर जनसाधारण में प्रचलित होने लगे। चीनी लिपियों के अत्यधिक प्रयोग में आ जाने के कारण एक ही उच्चारणवाले अनेक शब्द बन गए। यूरोप के साहित्य के अनुवाद से भाषा में नई शैलियों का विकास हुआ। १८८७ से बोलचाल की भाषा में साहित्य लिखने का आंदोलन प्रारंभ हुआ और यह नए प्रकार का साहित्य शीघ्रता के साथ लोकप्रिय होता गया। ज्ञान विज्ञान की पुस्तकें अब तक की लेखन शैली में ऊपर से नीचे की ओर लिखी जाने के बदले बाईं से दाईं ओर लिखी जाने लगीं। यह प्रवृत्ति आजकल और भी बढ़ रही है और द्वितीय महायुद्ध के बाद सरकारी आज्ञापत्र भी बाईं से दाईं ओर लिखे जाते हैं।

अब पत्रपत्रिका, रेडियो, टेलिविजन आदि साधनों से सर्वसामान्य भाषा का प्रचार अत्यंत तीव्रगति से बढ़ रहा है और देश के कोने कोने में तोक्यो की बोली समझी तथा बोली जाने लगी है।

मेजि काल के आरंभ में अधिक प्रयोग में आई चीनी लिपियों को कम करना, चीनी लिपि को लघु रूप में लिखना, हिराकाना और काताकाना के प्रयोग में एकरूपता ले आना, रोमन लिपि प्रयोग का अध्ययन करना आदि आदि उपायों से भाषा को यथासंभव सरल बनाने के लिये प्रयत्न किया जा रहा है। १९४६ में जब जापान का नया संविधान हिराकाना और चीनी लिपियों को मिलाकर लिखा गया था उस समय से प्रायः समस्त पत्रपत्रिकाओं में भी यही उपाय अपनाया जा रहा है। विदेशी शब्दों के उच्चारण की नकल करते समय काताकाना का प्रयोग होता है। कुछ लोग टाइपराइटर के लिये काताकाना का प्रयोग करते हैं परंतु यह अब तक लोकप्रिय नहीं हो सका है।

बोलियाँ : जापानी समाज में भारतीय समाज जैसी विशेषताओं के होने तथा भाषा के बहुत पुरानी होने के कारण जापानी भाषा में अनेक बोलियाँ हैं। जिन में मुख्य क्यूश्यू है। पश्चिमी जापान तथा पूर्वी जापान की बोलियों में, विशेषकर उनके उच्चारण में स्पष्ट अंतर है। मेजि काल से शिक्षा के प्रचार के कारण हर क्षेत्र में सर्वमान्य भाषा तोक्यो की बोली, समझी जाती है। क्षेत्रीय बोलियों के अतिरिक्त पेशे, स्त्री पुरुष, उच्च वर्ग निम्न वर्ग आदि के भेद से भिन्न भिन्न भिन्न बोलियाँ बोली जाती हैं। ऊपर के हर प्रकार के भेदों के साथ साथ प्रत्येक जापानी को सुननेवाले के बड़े छोटे के भेद से तीन प्रकार की शैली में बोलना पड़ता है। अपने से छोटे या बराबर के लोगों से बोलते समय दा (है) प्रकार का वाक्य, कुछ बड़े से बोलते समय देसु प्रकार का तथा बहुत आदर से बातें करते समय गोजाइमासु (है) प्रकार का वाक्य बनाना पड़ता है। लिखित भाषा में भी अरु (साधारण) और अरिमासु (आदर - सूचक) दोनों शैलियाँ हैं।

उच्चारण : स्वर : अ इ उ ए (ह्रस्व) ओ (ह्रस्व)

व्यंजन — सदा स्वर के साथ होकर उच्चरित होने के कारण केवल व्यंजन प्रकट करनेवाली लिपि नहीं है। व्यंजन स्वर वाली लिपि निम्नलिखित है :

क कि कु के को क्य क्यु क्यो
ग गि गु गे गो ग्य ग्यु ग्यो
स शि सु से सो श्य श्यु श्यो
ज जि जु जे जो ज्य ज्यु ज्यो
त चि त्सु ते तो च च्यु ज्यो
द दे दो
न नि नु ने नो न्य न्यु न्या
ह हि हु हे हो ह्य ह्यु ह्यो

(१) सघोष के लिये विशेष लिपिचिह्न नहीं हैं। अघोष लिपि चिह्न पर ही दो नुक्ते लगाए जाते हैं।

(२) जब जापानी लिपि बनी, क्यश्यु क्यो जैसे उच्चारण नहीं थे। ये बाद में चीनी भाषा के प्रभाव से अपनाए गए हैं। इसलिये ये मूल लिपि के बाद छोटे अक्षर लगाकर प्रकट किए जाते हैं। ऊपर लिखित उच्चारण के अतिरिक्त दो और हैं :

(अ) न् के लिये

(आ) जब पक्का, अच्छा जैसा शब्द हो क् च् क च को भी एक मात्रा समझते हैं। इस मात्रा को प्रकट करने के लिये छोटे अक्षर त्सु लिखते हैं।

स्वराघात : जापानी शब्द संगीतात्मक स्वराघात के हैं। स्वराघात के प्रकार बहुत कम हैं। चार मात्रावाले शब्दों में निम्नलिखित केवल चार प्रकार के भेद हैं।

¯ _ _ _ | _ ¯ _ _ | _ ¯ ¯ _ | _ ¯ ¯ ¯ |

जापानी भाषा में एक ही उच्चारण और विभिन्न अर्थवाले अनेक शब्द हैं। स्वराघात में भी उन शब्दों में भेद बताने की शक्ति नहीं है। कमि (कागज) और कमि (बाल) के उच्चारण, स्वराघात में कोई अंतर नहीं है। हम केवल उनकी चीनी लिपि को देखने से ही दोनों का भेद जान सकते हैं। परंतु यह स्वराघात वाक्य में शब्दसमूह को अच्छी भाँति बताता है।

निवानो। सकुरा मो। मिनुना। चित्ते। शिमता

व्याकरण

वाताकुशि व	निहोन्गो नो	बेन्क्यो ओ	शिते	ओरिमासु
मैं	जापानी भाषा का	अध्ययन	कर	रहा हूँ

इस प्रकार एक वाक्य में शब्दों का स्थान संयोग से हिंदी से बहुत मिलता है। परंतु जापानी भाषा के संयोगात्मक न होकर योगात्मक होने के कारण कुछ विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं।

संज्ञा — संज्ञा में विभक्तियों का प्रयोग नहीं होता। वाक्य में संज्ञा का संबंध बताने के लिये सहायक शब्द या सहायक क्रियाएँ लगाई जाती

हैं। ऊपर के वाक्य में 'मैं' को प्रकट करने के लिये 'वाताकुशि' में कोई रूपपरिवर्तन नहीं हुआ है। कर्ता कारक को व्यक्त करने के लिये सहायक शब्द 'व' लगाया गया है। संज्ञा में लिंगभेद नहीं है, परंतु मनुष्य, जानवर आदि चेतन और अचेतन वस्तुओं में कुछ भेद है। संज्ञा के रूप में कोई भेद नहीं होता परंतु बाद में आनेवाली क्रिया में, एकवचन बहुवचन के रूप में भेद आ जाते हैं।

आदर अथवा नम्रता प्रकट करने के लिये संज्ञा में उपसर्ग 'ओ' लगाया जाता है।

जैसे—तेगामि......पत्र

ओतेगामि......आपका पत्र

पुरुषवाचक सर्वनाम — में आदरास्पद से, बराबरवाले से, छोटे दर्जे के लोगों से अथवा नम्रता से कहने के लिये भिन्न भिन्न शब्द हैं। इन शब्दों का समुचित प्रयोग करना बहुत कठिन है जैसे मैं के लिये। वाताकुशि—विशेषकर स्त्रियाँ कहती हैं। पुरुष भी बड़ों के सामने नम्रता प्रकट करने के लिये इस शब्द का प्रयोग करते हैं।

वाताशि कुछ बड़ों के सामने

वशि, बोकु, ओरे, बराबर अथवा छोटे से

अताई — छोटी लड़कियाँ

क्रिया — क्रिया मे रूपपरिवर्तन होता है। एक शब्द दो या उससे अधिक मात्राओं का होता है।

क्रिया में एक विशेषता मिएरु (दिखाई देना) किकोएरु (सुनाई देना) जैसे शब्द हैं जो केवल अचेतन वस्तुओं के संबंध में प्रयुक्त किए जाते है। हिंदी की भांति संज्ञा में सुरु (करना) लगाकर क्रियाएँ बनाई जाती हैं जैसे—

शिप्पत्सु सुरु (प्रस्थान करना) परंतु इस प्रकार की क्रियाओं के संबंध में एक विशेषता यह है कि जब ऐसी क्रिया वाक्य के अंत में आती है, कभी कभी 'सुरु' (करना) न लगाकर वाक्य पूर्ण किया जाता है। जैसे रोकुजि किशो। शिचिजि शिप्पत्सु। (छः बजे उठता हूँ। सात बजे प्रस्थान करता हूँ)।

विशेषण — कुरोइ (काला), अकइ (लाल), जैसे इकारांत और शिज़ुकाना (शांत), गेनूकिना (स्वास्थ्य), जैसे नकारांत दो प्रकार के शब्द हैं। विशेषणों में भी क्रिया की भांति रूपपरिवर्तन होता है।

अंक : मनुष्य, जानवर आदि जीव जंतु और अचेतन वस्तुओं के गिनने की रीति भिन्न भिन्न है :

जैसे पुरुषों को गिनने के लिये	हितोरि	फुतारि	सान्निन
जानवरों ,,	इप्पिकि	निहिकि	सन्बिकि
साधारण अचेतन वस्तु ,,	हितोत्सु	फुतात्सु	मित्सु
कागज आदि पतली चीजें ,,	इचिमइ	निमइ	सनमइ
कलम आदि लंबी चीजें ,,	इप्पोन्	निहोन्	सन्बोन्

सहायक क्रिया केवल दो दा (है) और रशिइ (मालूम होता है) हैं। दा (है), दरो (होगा), दत्ता (था) की भांति रूपपरिवर्तन होता है।

सहायक शब्द — सहायक शब्द में रूप परिवर्तन नहीं होता। शब्दों के रूप बहुत छोटे होते है—अधिकतर एक मात्रावाले। तीन मात्राओं से अधिक लंबे शब्द बहुत कम हैं। ये शब्द हिंदी के संबंधबोधक तथा समुच्चयबोधक शब्द की विभक्ति और क्रियाविशेषण का काम करते हैं।

संबंधबोधक ग ओ नि नो दे पाँच शब्द हैं।

राम ग युकि मसु। तेगमि ओ योमु

(राम) (जाता) (है) (पत्र को) (पढ़ता है)

रोकु नि नि ओरिरु

(६ बजे को) (उठता हूँ)

समुच्चयबोधक कर, (kara) ग (ga) केरेदोमो, शि, चार शब्द हैं।

आसा वा हायाइ शि, योरु व ओसोइ शि,

(प्रातःकाल को) (सबेरे) (भी) (रात को देर में भी)

तइहेन्दा

तकलीफ है (... बहुत सबेरे जाते भी हो, और रात को बहुत देर में वापस आते भी हो, बहुत ही तकलीफ होगी।)

शब्दसमूह : स्वतंत्र शब्द और परतंत्र शब्द (सहायक क्रिया, सहायक शब्द) में विभाजित होते हैं। परतंत्र शब्द अधिकतर एक से चार मात्राओं के होते है परंतु दो तीन परतंत्र शब्द एक साथ भी लगाए जा सकते है।

स्वतंत्र शब्दों में चार मात्रावाले अधिक हैं और मूल भाग चीनी लिपि में तथा रूप परिवर्तन करनेवाले भाग हिराकाना में लिखे जाते है। चीनी लिपियों को अधिक लगाकर बहुत बड़े बड़े, कभी कभी १०-१५ मात्राओं के शब्द भी बनाए जा सकते हैं। परंतु तीन चार मात्राओं के शब्द अधिक पसंद किए जाने के कारण चीनी लिपियों के किसी किसी हिस्से को काटकर लघु शब्द बनाना अधिक पसंद किया जाता है, जैसे 'निहोन् क्योशोकुइन् कुमिअइ' के स्थान पर 'निक्क्योसो' इस प्रकार के अनेक शब्द बनाए जाने के कारण एक ही उच्चारण के एवं अनेक अर्थ प्रकट करनेवाले शब्द बहुत अधिक मिलते हैं।

चीनी शब्द और अन्य विदेशी शब्द : चीनी शब्द अथवा चीनी लिपियों को जोड़कर जापान में बने शब्द जापानी भाषा में अत्यंत महत्व का स्थान रखते हैं। आजकल के समाचारपत्रों में प्रयुक्त शब्दों में से कोई ४० प्रतिशत ऐसे शब्द हैं। चीनी लिपियों में लिखे शब्दों को पढ़ने में एक बड़ी कठिनाई यह है कि एक एक लिपि के लिये तीन भिन्न उच्चारण हैं। कारण यह है कि चीन में 'कान' राजकुल, 'गो' राजकुल और 'तो' राजकुल के शासनकालों में चीनी लिपियों के उच्चारण भिन्न थे और इन तीनों कालों में चीनी भाषा का प्रभाव जापानी भाषा पर पड़ता रहा। इस प्रकार चीनी उच्चारण के अनुसार पढ़ने के लिये तीन भेद हैं। इसके अतिरिक्त जब ये लिपियाँ जापान के अपने मूल शब्दों के लिये प्रयुक्त की जाती हैं ये चीनी लिपियाँ अपने अपने अर्थ के अनुसार जापानी उच्चारण में पढ़ी जाती हैं। इस प्रकार कभी कभी एक चीनी लिपि सात आठ प्रकार से पढ़ी जाती है।

मेजि काल में जब जापान में विदेशियों का प्रभाव पड़ने लगा, कलब, बकेट, ब्लैंकेट, रोमैंटिक, टोबाको जैसे शब्द या तो उनके उच्चारण को लेकर या उनके अर्थों को लेकर चीनी लिपि में लिखे जाने लगे। परंतु आजकल ऐसे शब्द अधिकतर काताकाना में लिखे जाने लगे हैं। आधुनिक जापानी भाषा में कुल शब्दों के पाँच प्रति शत ऐसे विदेशी शब्द

जापान, (पृष्ठ ४६५)

कियोटो का किंकाकुजी मंदिर

५५३ वर्ष पुरातन मंदिर के जल जाने पर, उसका यह यथार्थ प्रतिरूप सन् १९५५ में बनाया गया।

जापानी पहनावा, किमोनो

समारोहों में स्त्रियों के लिये इस पहनावे की परंपरा है।

जापानी उद्यान, (पृष्ठ ४६७)

प्रस्तर उद्यान

कियोटो के एक जेन मंदिर का यह उद्यान चट्टानों और काई से तथा बजरी को प्रवाहमय जल का रूप देकर बनाया गया है।

सद्दंत जातक (साँची : पश्चिमी द्वार)

जातक (पृष्ठ ४५३)

सुधान जातक (मैत्रेय टेक्स्ट). द्वितीय गैलरी. बोरोबुदूर
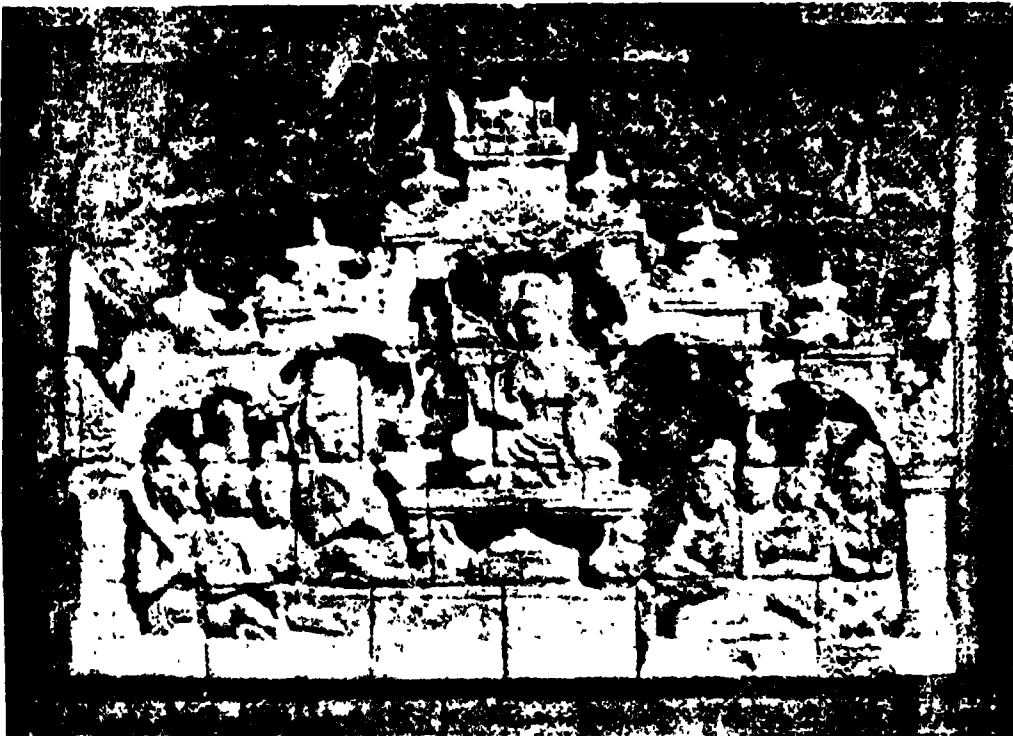
हैं। इन विदेशी शब्दों में उद्योग-व्यवसाय के यंत्रों के नाम, कपड़े आदि रहन-सहन संबंधी शब्द और खेल कूद के शब्द अधिक हैं। इनमें अंग्रेजी और आजकल अमरीकी शब्द सबसे अधिक हैं। चिकित्सा, तत्वज्ञान, पहाड़ों की चढ़ाई के संबंध में जर्मनी से, कला के संबंध में फ्रांसीसी से, संगीत के संबंध में इतालीद से अधिक शब्द लिए गए हैं।

चीनी को मिलाकर विदेशी शब्दों में रूपपरिवर्तन नहीं होते। जब क्रिया बनानी होती है, ऐसे शब्दों के बाद सुरु (करना) लगाया जाता है, जैसे सइन सुरु (साइन करना, संकेत करना)। [क्यू० दो०]

जापानी साहित्य साधारणतया जापानी साहित्य पाँच कालों में विभक्त किया जाता है — प्राचीन काल (ल० ७८४ तक), उत्तर प्राचीनकाल (ल० ७८४–ल० ११८५), मध्यकाल (ल० ११८५–१६००), पूर्व आधुनिक काल (ल० १६००–१८६८), आधुनिक काल (१८६८–)। यह कालविभाजन उस समय की राजधानी के नाम पर (१) यामातो नारा काल, (२) हेइयन् काल, (३) कामाकुरा मुरोमाचि काल, (४) एदो काल, (५) तोक्यो काल, हुआ है।

प्राचीन काल (ल० ७८४ ई० तक)

अनुमान किया जाता है कि ईसवी पूर्व दूसरी या तीसरी शताब्दी के आसपास से जापान में अनेक मंत्र बनाए गए थे परंतु ये लिखे नहीं गए थे। तीसरी शताब्दी में कुछ चीनी पुस्तकें ले आई गईं और लिखना पढ़ना भी आवश्यक हो गया। छठी शताब्दी के अंत में जापान में लिखी गई कुछ सामग्री उपलब्ध है। इस प्रकार धीरे धीरे कुछ साहित्य भी लिखा जाने लगा। ८वीं शताब्दी के प्रारंभ में बनी पुस्तकें अब तक सुरक्षित हैं।

उस समय तक सम्राट् की शक्ति बढ़ गई थी। सम्राट् परिवार के गौरव को बढ़ाने के लिये अब तक जनप्रचलित कथाएँ, पौराणिक कथाएँ बड़े बड़े परिवारों के इतिहास आदि इकट्ठे कर लिए गए और उन कथाओं के आधार पर भगवानों के युग से ३३वें सम्राट् तक का इतिहास 'कोजिकि' (७१२) और ४१वें सम्राट् तक का इतिहास 'निहोन् शोकि' (७२०) लिखे गए। दोनों चीनी भाषा में लिखे गए हैं परंतु कोजिकि में लोककथाओं को यथासंभव उसी रूप में व्यक्त करने का यत्न किया गया है। निहोन् शोकि में चीनी इतिहासग्रंथों का अनुकरण किया गया है और यह शुद्ध चीनी भाषा में है।

७१३ में सम्राट् ने क्षेत्रीय सरकारों को आज्ञा देकर अपने अपने क्षेत्र का भूगोल, पैदावार, भूमि की उर्वरा शक्ति, क्षेत्र के नामों का इतिहास, लोककथा आदि लिखवाए। प्रत्येक क्षेत्र से ऐसे ग्रंथ लिखकर भेजे गए परंतु अब केवल पाँच क्षेत्रों के ग्रंथ सुरक्षित हैं। इन ग्रंथों को 'फुदोकि' अर्थात् भूगोल का ग्रंथ कहते हैं। ये ग्रंथ अपने अपने क्षेत्रों की विशेषता लिए हुए हैं। इनमें कुछ जापानी भाषा में, कुछ चीनी भाषा में और कुछ मंत्रों की शैली में लिखे गए हैं।

ऊपर लिखित पुस्तकें इतिहास और भूगोल की पुस्तकें हैं परंतु उनमें संमिलित लोककथाओं और पौराणिक कथाओं में हम महाकाव्य का रस पाते हैं।

प्राचीन काल में लोगों का विश्वास था कि शब्दों में भगवान् की शक्ति है और शुभ शब्दों के उच्चारण से अच्छा फल प्राप्त होता है। इस विश्वास से मंत्र बनाए गए। ये लिपिबद्ध नहीं हुए परंतु इन मंत्रों का आगे के साहित्य पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा।

कविता : प्राचीन काल में धार्मिक उत्सवों के अवसर पर परिवार या ग्राम के लोग इकट्ठे होकर गीत गाया करते थे। इस प्रकार के कुछ गीत 'कोजिक', 'निहोन् शोकि' आदि पुस्तकों में सुरक्षित हैं। उनको पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि प्रारंभ में पंक्तियाँ अनेक प्रकार की होती थीं परंतु धीरे धीरे पाँच और सात मात्राओं की पंक्तियाँ अधिक पसंद की जाने लगीं। जब चीनी संस्कृति का प्रभाव बढ़ने लगा, दरबारियों द्वारा व्यक्तिगत कविताएँ लिखी जाने लगीं, साथ ही लंबी कविताओं से 'वाका' अर्थात् ५, ७, ५, ७, ७, मात्राओं की कविताएँ अधिक पसंद की जाने लगीं। इन कविताओं को इकट्ठा करके 'मान्यो श्यू' (ल० ७७८) नामक ग्रंथ बन गया। यह कोई ४५०० कविताओं का संग्रह है। इसमें राजाओं, राजकुमारों, राजकुमारियों, रईसों तथा अमीरों के अतिरिक्त सीमाप्रांत की रक्षक सेना आदि के साधारण लोगों की कविताएँ भी संमिलित हैं। कवि अपने भावों को सीधी-सादी शैली में प्रकट करते हैं। यह ग्रंथ जापान में सर्वश्रेष्ठ काव्यग्रंथ माना जाता है और प्रत्येक युग में अनेक कवि इसका अनुकरण करने की चेष्टा करते आए हैं।

उत्तर प्राचीन काल (ल० ७८४ ११८५ ई०) : यह राजा रईसों के साहित्य का काल है। अनेक दरबारियों के प्रयत्न से वास्तविक जापानी साहित्य, विशेषकर गद्य साहित्य, का विकास हुआ। शैली भी अति सुंदर सुरूप हो गई।

चीनी भाषा साहित्य — इस काल के प्रारंभ में चीनी संस्कृति के अध्ययन पर अधिक बल दिए जाने के कारण चीनी भाषा में कविताएँ, इतिहास, विधान, चिकित्सा शास्त्र यात्रावर्णन आदि की पुस्तकें लिखी गईं।

वाका — प्रारंभ में अधिक नहीं लिखी गई, परंतु नवीं शताब्दी में छः प्रसिद्ध कवि हुए और वाका दरबार आदि बड़ी बड़ी सभाओं में पढ़ी जाने लगी। धीरे धीरे 'उता अवासे' का रिवाज प्रारंभ हो गया। उता अवासे (काव्यप्रतियोगिता) में कवि लोग दो दलों में विभाजित हो जाते थे और दोनों दलों से एक एक वाका पढ़कर सुनाते थे और निश्चय करते थे कि कौन से दल की कविता अधिक अच्छी है। सम्राट् की आज्ञा से प्रतिनिधि कविताओं का ग्रंथ 'कोकिन् वाका श्यू' (ल० ९१३) बनाया गया। इसमें ११०० कविताएँ संमिलित हैं। कविताएँ सीधी सादी न होकर अधिक सुंदर और काल्पनिक हैं। कला पर बहुत जोर दिया गया और अलंकार का विकास हुआ। यह ग्रंथ यात्रा, प्रेम, दुःख, चार ऋतु, शुभकामनाएँ, विदा आदि खंडों में विभाजित है। इस ग्रंथ के अतिरिक्त कविताओं के अन्य अनेक ग्रंथ बनाए गए (सन् ९५१, १००५, १०८६, ११२७ में)। उनमें मित्र या प्रेमी प्रेमिका की एक दूसरे को भेजी गई वाका में स्वाभाविकता और अपना व्यक्तित्व रखनेवाली अच्छी कविताएँ हैं।

११वीं शताब्दी के अंत से कविताओं की आलोचना एवं काव्यशास्त्र की अनेक पुस्तकें लिखी गईं। इसका कारण यह है कि उस समय राजा रईसों का जीवनस्तर बदल गया था। अब वे लोग इस काल के आरंभ या मध्य भाग की सी शानशौकत और ठाटबाट से नहीं रह सकते थे। अपने जीवन के संबंध में कविताएँ लिखने से कुछ बन नहीं पाता था। कविता के लिये काल्पनिक संसार में बसने की आवश्यकता आ पड़ी। इस प्रकार कविताएँ लिखने के लिये अधिक अध्ययन की आवश्यकता उत्पन्न हो गई और कला कला के लिये का भाव प्रबल हो

गया। इस समय की प्रतिनिधि कविताओं का संग्रहग्रंथ 'सेंजाइ वाका शू' (११८७) है।

गद्य साहित्य : इस काल के आरंभ में गद्य अधिकतर चीनी भाषा में लिखा जाता था। परंतु जब स्त्री पुरुष आपस में कविताएँ भेजते थे तो कविता के साथ साथ हिराकाना में भी कुछ लिखकर भेजा करते थे। रईस लोग भी जानते थे कि हिराकाना में सूक्ष्म भावों को अधिक अच्छे ढंग से प्रकट किया जा सकता है। अंत में किनो त्सुरायेकि (मृ० ९४६) नाम के एक दरबारी ने हिराकाना में रोजनामा 'तोसा निक्कि' लिखा (ल० ९३५ – ६)। इसमें मुख्य बातें वाका के बारे में अपना विचार और काव्यशास्त्र तथा समुद्री यात्रा के सिलसिले में देखे जनता के रीतिरिवाजों पर व्यंग्यात्मक वर्णन हैं।

इसके बाद भी अनेक रोजनामे प्रकाशित हुए। उनमें स्त्रियों के लिखे कुछ रोजनामे अच्छे है।

कथाएँ : १०वीं शताब्दी में कुछ कथाएँ लिखी गईं। उनमें सबसे प्रसिद्ध 'ताकेतोरी मोनोगातारि' (ल० ९०० ई० है) अर्थात् 'बाँस काटनेवाले बुड्ढे की कथा' है। मूल कथानक प्राचीन काल से लोगों में प्रचलित कथा से लिया गया है, परंतु यह साधारण लोककथा नहीं है। बुड्ढे बुढ़िया का कागुयाहिमे पर स्नेह और अंत में विदा के समय का दुःख भरा वर्णन अत्यंत उच्च कोटि का है। यह उस समय के कथासाहित्य का आदर्श ग्रंथ माना गया। इससे भिन्न प्रकार की एक कथा 'इसे मोनोगातारि' (ल० ९४५ ई०) भी अपना महत्व रखती है। यह आरिहारा नो नारिहिरा (८२५–८८०) के जीवन पर आधारित कथा है। नारिहिरा अत्यंत सुंदर व्यक्ति थे और अनेक स्त्रियों के साथ प्रेम, भोग और विलास का जीवन व्यतीत करते थे। वे उस समय के सर्वश्रेष्ठ छः कवियों में से एक थे। यह कथा उनकी और अन्य कुछ लोगों की २०९ कविताओं का संग्रह है जिससे स्पष्ट भासित होता है कि कैसे वातावरण में ये कविताएँ लिखी गई हैं।

इस प्रकार विकसित हुआ गद्य साहित्य १०वीं शताब्दी के अंत में पहुँचकर दो स्त्रियों की कृतियों में चरम सीमा तक पहुँच गया। एक पुस्तक सेशोनागोन् (ल० ९६६–१०२४) कृत 'माकुरानो सोशि' (ल० ९९२–१०००) है। यह निबंधों का संग्रह है। लेखिका एक विषय पर अधिक समय तक गंभीर विचार नहीं कर सकती थी, परंतु चार ऋतु, फल-फूल, घर आदि पर उसने अपने विचार अत्यंत अनुकूल भाषा में व्यक्त किए हैं। दूसरी पुस्तक मुरासाकि शिकिबु (ल० ९७८–१०१४) कृत 'गेन्जि मोनोगातारि' (ल० १००८ ई०) है। लेखिका ने गंभीरता के साथ मनुष्य, विशेषकर स्त्रियों के दुःख भरे जीवन पर विचार करके उन्हें एक बड़े उपन्यास के रूप में व्यक्त किया है। यह उपन्यास तीन भागों में विभाजित है। पहले भाग में अत्यंत सुंदर प्रतिभाशाली राजकुमार हिकारू गेन्जि के दरबार में उन्नति पाते जाने के साथ साथ अनेक स्त्रियों के साथ व्यतीत किए गए कामातुर जीवन का वर्णन है। दूसरे भाग में उस नायक के अपनी असावधानी से एक एक करके सब प्रेमिकाओं से विदा होने और अंत में संन्यासी बनने तक की कहानी है। तीसरे भाग में उनके लड़के की बातें हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय तक के जापानी साहित्य का समस्त सार इस उपन्यास में एकत्रित है। गेन्जि के बाद राजा रईसों के जीवन पर आधारित इससे अधिक अच्छा उपन्यास लिखना अत्यंत कठिन सा ज्ञात होने लगा। इसलिये कुछ लोगों ने काल्पनिक अथवा विदेशी कथाओं को लेकर गेन्जि से भिन्न प्रकार के उपन्यास लिखने का प्रयत्न किया। उनमें भारत, चीन तथा जापान की १०८० कहानियों का संग्रह 'कोन्ज्याकु मोनोगातारि' (आधुनिक एवं पुरानी कहानियों का संग्रह) (ल० १०७७) उल्लेखनीय है। इसका कारण यह ज्ञात होता है कि इस काल के अंतिम भाग में रईसों की शक्ति कम हो गई। गेन्जि के समय की भाँति संतुलित, अति सुंदर जीवन व्यतीत करना कठिन हो गया और जनसाधारण के जीवन पर आधारित साहित्य लिखा जाने लगा। ऐतिहासिक कहानियाँ भी अधिक लिखी गईं।

मध्यकाल (ल० ११८५–१६०० ई०) : यह राजा-रईसों के ह्रास और सामुराइ (क्षत्रिय) लोगों की उन्नति का काल है। साहित्य में कविताओं का ह्रास और युद्ध का प्रारंभिक वर्णन और उपन्यास, कहानी, निबंध तथा बौद्ध धर्म की कथाओं का विकास हुआ। लेखक अधिकतर संन्यासी या पुजारी थे। इस काल के साहित्य में एक ओर सामुराइ वर्ग का जोश है, दूसरी ओर युद्ध के कुप्रभावों से दुःखित पुजारियों तथा संन्यासियों की कृतियों में गंभीर विचार निहित हैं।

कविता : इस काल में भी सम्राट् की आज्ञा से कविताओं के दो संग्रह ग्रंथ 'शिन् कोकिन् वाका शू' (१२०५) और 'शिन् चोकुसेन् वाका शू' (१२२३–३५) बने। इस समय का प्रतिनिधि कवि फुजिवारा नो तेइका (मृ० १२४१) था। इस समय की कविताओं में सरल सौंदर्य से संतुष्ट न होकर अनेक प्रकार के सौंदर्य के मिश्रण से बने शांति और काल्पनिक अतिसुंदरता के भाव प्रबल हैं। परंतु मिनामोतो नो सानेतोमो (११९२–१२१९ ई०) ने मान्यो शू का अध्ययन करके अपने भावों को सीधी सादी शैली में व्यक्त करने की चेष्टा की।

१४वीं शताब्दी के आरंभ से 'रेन्गा' अधिक पसंद की जाने लगी। रेन्गा का अर्थ है लगाई हुई कविताएँ अर्थात् वाका का पहला अंश एक कवि कहता है और दूसरा कवि उस वाका को पूर्ण करता है। इस प्रकार की कविताएँ मन्यो शू के समय में भी थीं परंतु इस काल में आकर यह कविता जनता में भी फैल गई। रेन्गा का सबसे प्रसिद्ध कवि सोगि है। उसने दो मित्रों के साथ मिलकर १०० रेन्गाकी पुस्तकें बनाई (१४८८ ई०)।

गद्य — उस काल में योद्धाओं को मुख्य पात्र के रूप में चित्रित करनेवाले युद्ध संबंधी साहित्य का बड़ा विकास हुआ। इनमें सबसे प्रसिद्ध हेइके मोनोगातारि (ल० १२४० ई०) है। इसके लेखक का नाम और रचनाकाल स्पष्ट मालूम नहीं है। यह बिवा नामक इकतारा जैसा बाजा बजाकर जनता के सामने पढ़कर सुनाया जाता था और इन सुनानेवालों के द्वारा, इनमें परिवर्धन होते होते इसने आज का रूप ग्रहण किया है। यह उस समय के सबसे प्रबल हेइके परिवार के विरुद्ध गेन्जि परिवार के युद्ध और हेइके परिवार के विनाश की कथा है। इसमें तीन मुख्य विषय हैं : (१) घमासान युद्ध का वर्णन, (२) आदर्श नायक का वर्णन, (३) दुर्भाग्य से हार गए योद्धाओं और उनके परिवारों की हृदयविदारक स्थिति का वर्णन। इस प्रकार उस समय के लोगों की विशेषताएँ इसमें स्पष्ट वर्णित हैं। इसमें जगह जगह बौद्ध धर्म के मायावादी विचार मिले हैं।

युद्ध में हारे सामुराइ लोगों में से अनेक संन्यासी बनकर देश भर में घूमते या किसी वन में रहकर गंभीर विचार किया करते थे। इस काल में उन लोगों के लिये निबंध, रोजनामे तथा बौद्ध धर्म की कथाएँ अधिक

मिलती हैं। इनमें 'होजोकि' (१२१२) और 'त्सुरेज़ुरेगुसा' (ल० १३३०) बहुत महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं। होजोकि (कुटी में विचार) के लेखक कामो नो चोमेइ (११५५-१२१६ ई०) ने अपनी आँखों देखे अग्निकांड, अकाल, महामारी भूकंप आदि दैवी विपत्तियों का वर्णन करके बताया है कि इस संसार की सब चीजें फेन की भाँति बनती बिगड़ती रहती हैं। तदनंतर वह अपने संबंध की बातें, संन्यासी जीवन आरंभ करने का कारण और अपनी रहने की कुटी का वर्णन करके एकाकी जीवन की सुविधा पर जोर देता है।

त्सुरेज़ुरेगुसा का लेखक योशिदा केन्को (१२८३-१३५० ई०) है। लेखक इन निबंधों में पूर्वकाल की राजा-रईसों की संस्कृति की प्रशंसा करते हुए अपने काल की बातों पर गंभीर विचार करता है। इन दो पुस्तकों के अतिरिक्त बौद्ध संप्रदाय के प्रवर्तकों के लिखे ग्रंथ भी पढ़ने योग्य हैं। उन्होंने अपने विचार जनसाधारण को स्पष्ट समझाने का यथासंभव प्रयत्न किया था।

उपन्यास कहानी — इस काल की एक विशेष पुस्तक 'मुम्यो सोशि' (अनामी पुस्तक) (११९६-१२०२ ई०) है। इसमें गेन्जि मोनोगातारि से लेकर इस समय तक के उपन्यासों, कविताओं तथा लेखकों की आलोचनाएँ हैं। इसमें गेन्जि को आदर्श उपन्यास मानकर इसकी तुलना में अन्य उपन्यासों की आलोचना की गई है।

इस काल के उत्तर भाग में जनसाधारण के पढ़ने के लिये कहानियों की पुस्तकें 'ओतोगि सोशि' प्रकाशित होने लगीं। ये कहानियाँ ऊँची आवाज में पढ़कर सुनाने के लिये हैं। कहानियों के साथ अनेक चित्र भी होने के कारण इन पुस्तकों का चाक्षुष आनंद भी लिया जा सकता है। इस प्रकार साहित्य केवल राजा-रईसों की वस्तु न होकर जनता की वस्तु बनने लगा।

नाटक — जापान में 'नो' नाटक बहुत प्राचीन काल से 'सारुगाकु' और 'देन्गाकु' के नाम से खेले जाते थे परंतु इस काल में कान्आमि (१३३३-१३८४ ई०) और उसके पुत्र सेआमि (१३६३-१४४३ ई०) नामक बड़े अभिनेताओं तथा लेखकों के प्रयत्न से इस नाटक शैली कोली की बड़ी उन्नति हुई। सेआमि ने १५० से अधिक पुस्तकें लिखीं। उनका मत था कि नो नाटक फूल की भाँति होना चाहिए। जैसे फूल खिलकर लोगों को आकर्षित करता है उसी प्रकार का आकर्षण नाटक में भी होना चाहिए। परंतु नाटक और फूल में एक भेद होना चाहिए। जब फूल गिर जाता है, आकर्षण नहीं रहता, परंतु यह अवस्था अभिनेता के लिये उचित नहीं है। अभिनेता बूढ़ा हो जाय, फिर भी उसका आकर्षण नहीं घटना चाहिए। इसके लिये अभिनेता के शरीर तथा हृदय में विशेष सौंदर्य और कोमलता का होना आवश्यक है और अभिनेता को यह आकर्षण पाने के लिये निरंतर प्रयत्न करते रहना चाहिए।

क्योगेन् (प्रहसन) — क्योगेन् भी नाटक के साथ ही साथ विकसित होता गया। ऐसा ज्ञात होता है कि साधारणतया एक बार के तीन नो और दो क्योगेन् का अभिनय किया जाता था। नो नाटक के अभिनेता मुखौटा या चेहरा (मास्क, mask) लगाकर अभिनय करते हैं। यह एक नायक का नाटक है जो साधारणतया इतिहास या पुराण का सुप्रसिद्ध पुरुष होता है। क्योगेन में दो तीन नायक बिना मुखौटे के अभिनय करते हैं परंतु वे साधारण पुरुष होते हैं।

गीत या पद — इस काल में बौद्ध धर्म के सिद्धांतों को शिक्षा देनेवाले अथवा प्रसिद्ध पुजारियों के जीवन का हाल बतानेवाले गीत बनाए गए। इनमें शिन्रान् (११७३-१२६२), इप्पेन् (१२३९-१२८९) आदि पुजारियों के बनाए गीत साहित्यिक महत्व रखते हैं। इनके अतिरिक्त छोटे छोटे गीत भी हैं जिनके संग्रहग्रंथ 'कान्गिन श्यु' (१५१८) में ३१० गीत एकत्रित हैं।

पूर्व आधुनिक काल (ल० १६००-ल० १८६८ ई०)— इस काल में सम्राट् क्योतो में रहते थे परंतु उन्हें कोई अधिकार नहीं था। शासन के सब काम एदो (तोक्यो) में रहनेवाले तोकुगावा परिवार द्वारा संपन्न किए जाते थे। देश जागीरों में बँटा था परंतु केंद्रीय सरकार का बल बहुत अधिक था। भारत की जातिप्रथा की भाँति सामुराई (क्षत्रिय), कृषक, शिल्पी, व्यापारी के भेद स्पष्ट हो गए थे। परंतु दूसरी ओर धीरे धीरे नगरों के विकास के साथ अधिक धन कमानेवाले व्यापारियों की शक्ति बढ़ने लगी। इस प्रकार यह मध्ययुगीन जागीरदारी और आधुनिक युग की पूँजीवादी पद्धति के मिश्रण का काल था। इस युग का साहित्य सुविधापूर्वक तीन भागों में बाँटा जा सकता है।

प्रथम भाग — (१७ वीं शताब्दी) तोकुगावा सरकार ने सामुराई और जनता की शिक्षा के लिये चीन के कन्फ्युशियनिज्म पर बल दिया। इस कारण चीनी साहित्य का अध्ययन बहुत चाव से किया जाने लगा।

इसे धनी व्यापारियों के प्रभाव का समय कह सकते हैं। १७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उनकी शक्ति बढ़ गई और सब लोग निवृत्तिमार्गी विचारों को छोड़कर प्रवृत्ति मार्ग पर बढ़ रहे थे। इस समय के साहित्यकार न केवल रईस विद्वान् वरन् पुजारी, सामुराई आदि अनेक प्रकार के लोग थे और अधिकतर ओसाका क्योतो में रहते थे। उनकी कृतियों में बल और ओज भरा हुआ है। छपाई कला के विकास ने साहित्य को बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया। साहित्य में मानव प्रवृत्तियों पर बल दिए जाने के कारण जनता की बोलचाल की भाषा अधिक पसंद की जाने लगी।

कविता—अब तक रईसों की विशेष कला वाका को जनता की चीज बनाने के लिये ओसाका में चोर्यु (१६२४-१६८६ ई०) एदो में मोट्‌ट (१६२६-१७०६ ई०) आदि ने प्रयत्न किया परंतु स्वयं उनकी कविताएँ परंपरा से मुक्त न हो सकीं। इस समय वाका से हाइकु या ५, ७, ५ कुल मिलाकर १७ मात्राओं की कविता अधिक पसंद की जाने लगी। इस क्षेत्र में मात्सुओ बाशो (१६४४-१६९४) सबसे प्रसिद्ध हैं। 'सारुमिनो' (१६९१), 'सुमिदावरा' (१६९४) आदि उनकी अनेक पुस्तकें हैं। हाइकु के बारे में इनका विचार था (१) स्वार्थ को छोड़कर जनता के विचारों को समझना चाहिए, (२) चीजों के मूल सत्य को ग्रहण करना चाहिए। ऐसा करने की योग्यता बच्चों में भी होती है परंतु चीजों और पुरुषों के संबंध में ही इस योग्यता को बढ़ाने में कवि का विकास है। इस प्रकार मनुष्यों के हर काम और हर चीज पर विश्वास करके साधारण बातों पर कविता की जा सकती है। फिर चीजों के बाहरी रूपों से इनके अंदर निहित भाव पर अधिक महत्व दिया जाता है। इसलिये कविता में इस बात पर बल दिया जाता है कि पढ़ने के बाद पाठक के हृदय में कुछ भाव उत्पन्न हो जाएँ।

उपन्यास कहानी — आरंभ में उत्तर प्राचीन तथा मध्य काल की

कथाएँ और इनकी टीका टिप्पणियाँ प्रकाशित हुईं और उन पुराने साहित्य को देखादेखी अनेक कथा कहानियाँ लिखी गईं। इस क्षेत्र में इहारा साइकाकु (मृ० १६६३) ने बहुत महत्वपूर्ण काम किया। उसने 'कोशोकु इचिदाइ ओतोको' (कामातुर पुरुष की कथा) (१६८२) आदि कामातुर स्त्री पुरुषों के कई उपन्यास लिखने के बाद सामुराइ और व्यापारियों के जीवन को लेकर अनेक उपन्यास लिखे। उसके 'सेकेन् मुना संयो' (व्याकुल जनता) (१६६२ ई०) में वर्ष के अंत में उधार के पैसे को वापस न कर सकनेवालों का हाल अत्यंत सुंदर ढंग से वर्णित है।

नाटक—इस समय काबुकि नाटक चरम सीमा पर पहुँच गया। बहुत अच्छे अभिनेता निकले। उस समय के सर्वश्रेष्ठ नाटककार चिकामात्सु मोन्जाएमोन् (१६५३-१७२४) ने उन अभिनेताओं के लिये अनेक नाटक लिखे। इस समय के नाटकों का मुख्य विषय जागीरदार के घर में संपत्ति के उत्तराधिकारी को नियुक्त करने के संबंध में होनेवाले झगड़े और कूटप्रबंध था। चिकामात्सु का 'बुत्सुबो मायासान् कइचो' (बुद्ध की माता माया का मंदिर) (१६९४) बहुत प्रसिद्ध है। 'जोरुरि' भी बहुत लोकप्रिय हो गया। चिकामात्सु ने १६८६ से जोरुरि नाटक लिखने मे लग गया। उसने 'ओन्ना गोरोशि अबुरानो जिगोकु' (स्त्री को मार डालनेवाला तेल का नरककुंड) (१७२१) आदि, आदि १०० से भी अधिक नाटक लिखे। उसके नाटकों की विशेषताएँ ये हैं :

(१) इस समय के लोगों का हाल अच्छी प्रकार व्यक्त करता है। (२) उसने एक बार में दिखाए जानेवाले कठपुतली नाटक के कार्यक्रम में पाँच प्राचीन नाटक और आधुनिक जीवन संबंधी तीन नाटक दिखाने का नियम बनाया, (३) गानेवाले और कठपुतली नचानेवाले के व्यक्तित्व को अच्छी प्रकार जानकर उनके लिये अनुकूल नाटक लिखे (४) रंगमंच को विचार में रखकर लिखा। तत्कालीन समाज में जातिप्रथा जैसे अनेक प्रतिबंध स्थापित हो चुके थे। सामुराई लोगों को अपने स्वामी के लिये अपनी जान भी अर्पित करनी पड़ती थी। परंतु व्यक्तिगत इच्छा उसका विरोध भी करती थी। इस सामाजिक प्रतिबंध और व्यक्तिगत इच्छा का संघर्ष चिकामात्सु के नाटकों में भली भाँति व्यक्त है।

दूसरा भाग (१८वीं शताब्दी) : इस भाग के पूर्वार्ध में विशेष लेखक नहीं हुए। परंतु यह विशेष महत्व का समय था। बहुत लंबे काल तक सांस्कृतिक केंद्र बने रहनेवाले पश्चिमी भाग के नगर क्योतो तथा ओसाका का ह्रास हुआ और जापान का पूर्वी नगर एदो ही सांस्कृतिक केंद्र के रूप में उन्नत होने लगा। इस समय परंपरागत वाका हाइकु का ह्रास होकर जनसाधारण की पसंद के अनुसार काव्यशास्त्र का कुछ भी विचार न करनेवाली व्यंग्य-हास्य-प्रधान हाइको वाका लोकप्रिय होती गई। उपन्यास के क्षेत्र में भी यही प्रवृत्ति हुई। उस समय क्योतो में हाचिमोजिया नामक एक बड़ा प्रकाशक था। उसके यहाँ से जनसाधारण के लिये हास्य-व्यंग्य-प्रधान उपन्यास अधिक प्रकाशित हुए।

१८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एदो संस्कृति और साहित्य का केंद्र बन गया। उसके साथ साथ साहित्य न केवल नगर वरन् देश के कोने कोने में पढ़ा जाने लगा। एदो में प्रकाशक संघ का बड़ा बल था। आधुनिक काल की भाँति प्रकाशक ही स्वयं लेखकों को चुन चुनकर लिखवाने लगे। इस समय ऐसे लोग अधिक थे जो प्रतिभाशाली होकर भी सामाजिक प्रतिबंध के कारण उन्नति नहीं पा सकते थे। ऐसे लोग अपने अवकाश के समय में कविता, उपन्यास आदि लिखा करते थे। इस कारण इस समय का साहित्य गंभीर प्रकार का न होकर हलका व्यंग्य-हास्य-प्रधान हुआ करता था। इस समय प्राचीन साहित्य के बड़े बड़े विद्वान् निकले और मान्योशू को अनुकरण करते हुए वाका लिखने का प्रचलन हुआ। परंतु काव्य में हाइकु सेन्र्यु और क्योको (व्यंग्य हास्य वाका अधिक पसंद की गई।

कविता—हाइकु में योसा बुसोन् (१७१६-१७८३ ई०) सुंदर और कोमल कृतियों में सफल रहे, दूसरी ओर नित्यजीवन पर हास्य व्यंग्य करनेवाली हाइकु जनसाधारण में बहुत प्रचलित हुई। जनता की इस प्रकार की कृतियों को इकट्ठा करके काराइ सेन्र्यु (१७१८-१७९० ई०) ने एक पुस्तक निकाली। यह बहुत पसंद की गई और इस समय से इस प्रकार की हाइकु सेन्र्यु कही जाने लगी।

गद्य—चीनी उपन्यासों के अनुवाद अधिक प्रकाशित होने लगे। जो शिक्षित लोग क्योतो के हाचिमोजिया से निकलनेवाली उपन्यास कहानियों से संतुष्ट नहीं थे वे अनूदित उपन्यासों को अधिक पसंद करते थे। धीरे धीरे चीनी उपन्यासों से प्रभावित होकर गंभीर उपन्यास कहानियाँ लिखी जाने लगीं। उनमें उएदा अकिनारि (१७३४-१८०९) की नौ अद्भुत कहानियों का संग्रह 'उगेत्सु मोनोगातारि' (१७७६) प्रसिद्ध है। उसने अत्यंत उच्च शैली में धन, स्त्री और पुरुष का संबंध, कामभोग, प्रेम आदि समस्याओं पर आलोचना की है।

तीसरा भाग (१९ वीं शताब्दी, पूर्वार्ध)

इस समय कुछ लोगों ने विदेशी ज्ञान विज्ञान का अध्ययन करना आरंभ किया। जो अच्छा ज्ञान प्राप्त करते उन्हें अच्छे काम मिल जाते थे। इस कारण अब तक अवकाश के समय साहित्यरचना करनेवाले शिक्षित लोगों ने उपन्यास लिखना छोड़ दिया। इसके फलस्वरूप उपन्यास कहानी लिखना ही अपना पेशा माननेवाले अथवा कविता लिखकर और व्यापारी आदि धनी लोगों को कविताकला सिखाकर जीवननिर्वाह करनेवाले लेखक वर्ग का जन्म हुआ। इसलिये इस समय की रचनाओं में गंभीर और उच्च कोटि की कृतियाँ कम और जनता को खुश करनेवाली सस्ती रचनाएँ अधिक हैं।

दैनिक जीवन की बातों को अपनी बोलचाल की भाषा में व्यक्त करने को आदर्श माननेवाले वाका के कवि कागावा कागेकि (१७६७–१८४३ ई०), लंबे उपन्यास का लेखक ताकिजावा बाकिन् (१७६७–१८४८ ई०), हास्यप्रधान कहानीलेखक जिप्पेंशा इक्कु (१७६५–१८३१ ई०), हास्य के साथ साथ सामाजिक जीवन पर गंभीर आलोचना करनेवाली कहानियों के लेखक शिकितेइ सन्बा (१७७६–१८२२ ई०) श्रेष्ठ हैं।

आधुनिक काल (१८६८) में राजनीतिक क्रांति हुई और जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों की भाँति साहित्य पर भी यूरोपीय संस्कृति तथा व्यक्तिवादी विचारधारा का प्रभाव पड़ने लगा। यूरोपीय साहित्य के प्रभाव से प्रथम महायुद्ध के समय तक यथार्थवाद, रोमांटिकवाद आदि स्वीकार कर लिए गए थे। उसके बाद समाजवाद और फासिज्म का प्रभाव भी पड़ा। द्वितीय महायुद्ध के बाद से नए पुराने सब प्रकार के लेखक अधिक सक्रिय हैं। इस काल में उपन्यास का स्थान प्रमुख और कविताओं का गौण होने लगा। आलोचना और निबंध भी साहित्य में विशेष स्थान रखने लगे। इस काल का साहित्य तीन भागों में विभाजित किया जाता है।

प्रथम भाग (१८६८–१९००) (आधुनिक साहित्य की ओर चेष्टा)

इस काल के आरंभ में कोई अच्छा साहित्य नहीं लिखा गया। विदेशी साहित्य के अनुवाद और राजनीतिक उद्देश्य अथवा सिद्धांत बतानेवाले कुछ उपन्यास प्रकाशित हुए। नवयुग का नया साहित्य त्सुबोउचि शोयो (१८५९–१९५३ ई०) के लेख 'उपन्याससार' (१८८६ ई०) से आरंभ होता है। वह अंग्रेजी साहित्य का विद्वान् था और इस लेख में उसने यथार्थ वर्णन पर बल दिया तथा इस सिद्धांत के अनुसार स्वयं 'तोसेइ शोसेइ कातागि' (आधुनिक विद्यार्थी) (१८८१ ई०) नामक उपन्यास भी लिखा था। परंतु इस उपन्यास में पुराने साहित्य का प्रभाव भी मिलता है। वास्तव में सबसे पहला आधुनिक यथार्थवादी उपन्यास रूसी साहित्य से प्रभावित फुताबातेइ शिमेई (१८६४–१९०९ ई०) का 'उकिगुमो' (तैरते बादल) (१८८६ ई०) था। इसमें शिक्षित नवयुवक के दुःख और व्याकुलता बोलचाल की भाषा में बहुत अच्छी तरह व्यक्त की गई हैं। यह बोलचाल की भाषा में पहला उपन्यास था और इसका बाद के लेखकों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। (१८८७–१९०० ई०) के बीच सबसे लोकप्रिय लेखक ओजाकि कोयो (१८६७–१९०३ ई०) और कोदा रोहान (१८६७–१९४७ ई०) थे। इस समय लोग यूरोपीय संस्कृति और साहित्य के अत्यधिक प्रभाव से ऊबकर जापान के अपने पुराने साहित्य पर ध्यान दे रहे थे। दोनों लेखक एदो काल के साइकाकु की कृतियों का अध्ययन करके बहुत सुंदर शैली में लिखने लगे। कोयो उस समय की सामाजिक स्थिति तथा स्त्रियों के मनोभावों के वर्णन में निपुण थे। रोहान ने मूर्तिनिर्माण, भवननिर्माण आदि के कलाकारों और शिल्पियों के जीवन का हाल बताते हुए उनमें अपना आदर्श भर दिया। इन दोनों के अतिरिक्त लेखिका हिगुचि इचियो (१८७२–१८९६ ई०) का उपन्यास 'ताकेकुराबे' (१८९६ ई०) पड़ोस में रहकर साथ साथ खेलने कूदनेवाले बालक बालिकाओं के मनोवैज्ञानिक वर्णन में बहुत सफल है।

आलोचना — इस समय त्सुबोउचि शोयो, मोरि ओगाइ (१८६२–१९२२ ई०) और कितामुरा तोकोकु (१८६८–१८९४ ई०) आलोचना में बहुत सक्रिय रहे। शोयो अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित उपयोगितावादी लेखक थे। मोरि ओगाई और तोकोकु जर्मन साहित्य से प्रभावित आदर्शवादी थे और शोयो से वादविवाद किया करते थे।

कविता — कविता के क्षेत्र में भी यूरोपीय साहित्य के प्रभाव से एक नई प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। कुछ विद्वानों ने यूरोपीय कविताओं का अनुवाद 'नव कविताएँ' (१८८२ ई०) नाम से प्रकाशित किया। उन लोगों का विचार था कि नवयुग के विचारों को व्यक्त करने के लिये वाका या हाइकु अनुकूल नहीं, एतदर्थ और लंबी कविताओं की आवश्यकता है। इस अनुवाद का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। ओगाई और उनके मित्रों ने भी यूरोपीय कविताओं का अनुवाद 'ओमोकागे' (१८८९ ई०) प्रकाशित करके इस प्रवृत्ति को अधिक बढ़ाया।

दूसरा भाग (१९००–१९२६ ई०): (आधुनिक साहित्य की स्थापना)

गद्य साहित्य — व्यक्तिवादी विचारधारा पर आधारित नवीन साहित्य का विकास यथार्थवादी साहित्य से आरंभ होता है। यह यथार्थवादी विचार फ्रांसीसी लेखक ज़ोला के प्रभाव से साहित्यिकों में व्याप्त होने लगा था। इस श्रेणी के उपन्यासों के प्रवर्तक शिमाज़ाकि तोसोन (१८७२–१९४३) और तायामा काताइ (१८७१–१९३०) हैं। तोसोन ने १९०६ में 'हाकाइ' (आज्ञा की उपेक्षा) नामक उपन्यास प्रकाशित किया। इस उपन्यास का नायक अछूत है; अपनी जाति को छिपाकर अध्यापक बनता है। परंतु कुछ लोग उसकी जाति जानते थे। वह सदा डरता रहता था कि कहीं कोई उसके इस रहस्य को प्रकट न कर दे। अंत में वह इस भय को सहन न कर सका और अपने पिता की आज्ञा की उपेक्षा करके सबके सामने उसने यह रहस्य प्रकट कर दिया और नवजीवन की खोज में अमरीका चला गया।

काताइ ने 'फुतोन' (गद्दी) (१९०७) नामक कहानी में शिष्या के प्रति अपना प्रेम स्पष्ट व्यक्त कर उस समय के पाठकों को आश्चर्यचकित किया था। परंतु इन दोनों कृतियों के बाद इस प्रकार के यथार्थवादी उपन्यास बहुत अधिक लिखे जाने लगे। मासामुने हाकुचो (१८७९) तोकुदा श्यूसेइ (१८७१–१९४३ ई०) आदि भी प्रसिद्ध हैं। इस यथार्थवादी साहित्य को एक कदम और बढ़ाकर १९१२–१९२६ ई० के आसपास लेखकों ने अपने निजी जीवन की बातों पर प्रकाश डालनेवाले उपन्यास अधिक लिखे। परंतु यथार्थ के प्रवाह में अश्लील और भद्दी बातों का भी समावेश कृतियों में हुआ।

यथार्थवादी लोग कल्पना और आदर्श को नहीं मानते; समस्या का समाधान नहीं करते; केवल दैनिक जीवन की बातें ही लिखते हैं। इस प्रवृत्ति के विरोध में सौंदर्य, आदर्श अथवा बुद्धि पर बल देनेवाले साहित्य का सृजन होने लगा।

सौंदर्यवादी साहित्यकारों में नागाइ काफ़ू (१८७९–१९५९ ई०), सातो हारुओ (१८९२) प्रसिद्ध हैं।

इन प्रवृत्तियों के साहित्यकारों से अलग दो बड़े साहित्यकार मोरि ओगाइ और नात्सुमे सोसेकि (१८७६–१९१६) थे। मोरि ओगाइ ने गंभीर नैतिक विचार को लेकर सेनेन् (नवयुवक) (१९११) आदि उपन्यास लिखने के बाद 'अबे इचिज़ोकु' (अबे परिवार) (१९१३) आदि बहुत अच्छे ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। सोसेकि के उपन्यास हाइकावादि अथवा शांतिवादी कहलाते हैं। हाइकु कवि की भाँति तथा सोसेकि शांतिपूर्ण भाव से जीवन का निरीक्षण करता है। उसने 'वागाहाइ वा नेको दे अरु' (मैं बिल्ला हूँ) (१९०६) कोकोरो (हृदय) (१९१४) आदि अनेक उपन्यास लिखे। उनके शिष्यों में अनेक लेखक एवं विद्वान् अब भी बहुत सक्रिय हैं।

आदर्शवादी लेखक सोसेकि से प्रभावित धनी घराने के कुछ नवयुवक व्यक्तित्व के विकास द्वारा मानव की सेवा को उद्देश्य मानकर लिखने लगे। ये लेखक मुशानोकोजि सानेअत्सु (१८८५), शिगा नाओया (१८८३), अरिशिमा ताकेरो (१८७८–१९२३) आदि हैं। मुशानोकोजि ने गांधी के आदर्श समाज जैसा एक ग्राम बनाना चाहा और १९१८ में कुछ लोगों के साथ मिलकर 'नव ग्राम' बनाया। उनके 'कोफ़ुकु मोनो' (सौभाग्यवान) (१९१९) पर टालस्टाय का प्रभाव स्पष्ट है। अरिशिमा ने अपनी विशाल भूसंपत्ति किसानों को बाँट दी थी।

इस आदर्शवाद से भी असंतुष्ट अकुतागावा र्‌युनोसुके (१८९२–१९२९ ई०) और किकुचि कान् (१८८८–१९४८) ने बुद्धिवादी या नवयथार्थवादी उपन्यास लिखे। र्‌युनोसुके के उपन्यास 'रोशोमोन्' (१९१७) पर आधारित उसी नाम की फिल्म भारत में बहुत पसंद की गई।

आलोचना — इस भाग के आरंभ में अनेक आलोचक यथार्थवादी

विचारों का समर्थन करते रहे। बाद में आदर्शवादी आलोचक अधिक प्रबल हुए। परंतु इस समय के विशेष आलोचक ओगाइ, सोसेकि, तोसोन तथा इशिकावा ताकुबोकु (१८८८–१९१२ ई०) थे। संस्कृति एवं सभ्यता के बारे में लिखे इनके लेख उच्च कोटि के हैं।

कविता — पूर्व भाग के अंत से यूरोपीय कविताओं से प्रभावित होकर लंबी नवकविता का विकास होने लगा। इस क्षेत्र में सबसे पहला और सर्वश्रेष्ठ कवि शिमाजाकि तोसोन था। उसकी कविताओं का प्रथम ग्रंथ 'वाकाना शू' (नव घास) १८९७ में, उसके बाद १८९८,१८९९ तथा १९०१ में एक एक ग्रंथ और इन चारों पुस्तकों का संग्रह १९०४ में प्रकाशित हुआ। इनमें पवित्र प्रेम, यात्रा का दुःख आदि अनेक अच्छी रोमांटिक कविताएँ हैं। दूसरी ओर दोइ बानसुइ (१८७१–१९५२) ने चीनी मिश्रित शक्तिशाली भाषा में देश का आदर्श प्रकट किया था। १९०५ में उएदा बिन (१८७४–१९१६ ई०) ने फ्रांसीसी प्रतीकवादी कविताओं का अनुवाद प्रकाशित करके बाद के कवियों पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला। ताकामुरा मित्सुतारो (१८८३–१९५६) आदर्शवाद और मानवतावाद को लेकर बोलचाल की भाषा में कविताएँ लिखने लगा। १९१४ में प्रकाशित 'दोतेइ' (रास्ता) नामक पुस्तक में उसी नाम की एक कविता यह है।

> मेरे सामने रास्ता नहीं,
> मेरे पीछे बन जाता है रास्ता।
> हे प्रकृति,
> हे पिता,
> मुझे स्वयं खड़ा होने दिया इन महान् पिता ने।
> मुझसे आँखें न मोड़ो, मेरी रक्षा करो,
> सदा मुझमें भरते रहो पिता के तेज,
> इस सुदूर रास्ते के लिये;
> इस सुदूर रास्ते के लिये।

वाका और हाइकु · रोमांसवादी कवि योसानो तेक्कान् (१८७३–१९३५) तक सबसे अधिक सक्रिय रहे। उनकी शिष्या तथा पत्नी आकि (१८७८–१९४२) बहुत प्रतिभाशाली कवयित्री थीं। उनकी कल्पना एवं ओजपूर्ण कविता का एक उदाहरण यह है :

> इस कोमल शरीर के अंदर
> बहता है गरम पुरजोश रक्त
> इसके स्पर्श से भी डरते हो अध्यापक
> क्या तुम्हें रंज न होगा
> दुःख न होगा।

इस प्रवृत्ति के विरुद्ध मासाओका शिकि (१८६७–१९०२ ई०) ने हाइकु और वाका में ग्रामजीवन के वर्णन पर जोर दिया था। उसके शिष्य इतो सचियो (१८६५–१९१३ ई०) ने कहा था कि 'जब हमारे हृदय में कोई भाव उत्पन्न होता है हम अनायास पुकार उठते हैं। इस पुकार को कविता के रूप में व्यक्त करना ही वाका का सार है।' १९०७ ई० के बाद वाका पर भी यथार्थवाद का प्रभाव पड़ा। इस श्रेणी के कवियों में इशिकावा ताकुबोकु सुप्रसिद्ध है। उसकी वाका उदाहरणार्थ निम्नांकित है।

> काम करता हूँ, पैसे कमाता हूँ मैं,
> परंतु रहता हूँ, वही गरीबी में,
> हाथ देखता रह जाता हूँ मैं।

हाइकु के क्षेत्र में भी परंपरा से मुक्त यथार्थ वर्णन पर जोर दिया गया। इसके प्रतिनिधि कवि ताकाहामा क्योशि (१८७४–), नाकात्सुका इप्पेकिरो (१८८७–१९४६), ओगिवारा सेइसेनसुइ (१८८४–) हैं। इस युग के आरंभ में ही साहित्यकार दो श्रेणियों में विभाजित हो गए। एक दल साम्यवादी लेखकों का था। दूसरे में साम्यवाद के विरोधी सभी प्रकार के लोग थे। अपने व्यक्तिगत जीवन का यथार्थ वर्णन करनेवाले लेखक दोनों दलों में बहिष्कृत किए गए। दूसरे दल में यूरोपीय साहित्य से प्रभावित भविष्यवाद, डाडावाद, उपसंक्षेपवाद आदि अनेक वादों के अनुयायी लोग थे। उनमें से नवचेतनावाद के योकोमित्सो रिइचि (१८९८–१९४७) सर्वश्रेष्ठ हैं। उनके उपन्यास 'किकाइ' (यंत्र) (१९३०) में अनेक मजदूरों का मनोविश्लेषण है और उसकी वर्णनशैली विशेष महत्वपूर्ण है। साम्यवादी दल की कृतियों में कोबायाशि ताकिजि (१९३१–१९३३ ई०) के उपन्यास 'कानिकोसेन' (केंकड़ा जहाज) (१९२९) में जहाज के मजदूरों द्वारा पूँजीपतियों के विरुद्ध लड़ने तथा जलसेना द्वारा दबाए जाने का हाल अत्यंत सजीव ढंग से लिखा गया है। १९३१–३२ ई० के आसपास फासिज्म का प्रभाव प्रबल होने लगा। न केवल साम्यवादी दल के लेखकों को वरन् अन्य प्रकार के लेखकों को भी स्वतंत्रता के साथ लिखना कठिन होता गया। इसी युग में यथार्थवाद, सौंदर्यवाद एवं आदर्शवाद के पुराने लेखक शिमाजाकि तोसोन, नागइ काफू आदि ने अच्छे बड़े उपन्यास लिखे। १९३७ ई० में चीन के साथ युद्ध छिड़ गया और हिनो आशिहेइ (१९०७–१९६०) का 'मुगि तो हेइताइ' (गेहूँ और सिपाही) (१९३८ ई०) जैसे युद्धवर्णन अथवा कृषकों के जीवन पर आधारित ग्रंथ लिखे गए। द्वितीय महायुद्ध के बीच अनेक लेखकों को भी रणभूमि में जाना पड़ा। जो अच्छी कृति लिखने की चेष्टा करते रहे, किंतु उन्हें प्रकाशित करने का अवसर नहीं दिया गया।

द्वितीय महायुद्ध के बाद नए पुराने सब प्रकार के लेखक अत्यंत सक्रिय हो गए। विशेषकर साम्यवादी लेखकों ने जेल से मुक्त होकर अनेक अच्छे उपन्यास लिखे। मियामोतो युरिको (१८९९–१९५१) का 'बनश्यु मैदान' (१९४६), 'फ़ुतात्सु नो निवा' (दो बाग) (१९४७), तोकुनागा सुनाओ (१८९९–१९५८) का 'त्सुमायो नेमुरे' (सो जाओ मेरी पत्नी (१९४६), नाकानो शिगेहारु (१९०२–) का '५ शाकु नो साके' (एक प्याला शराब, १९४७) आदि प्रसिद्ध हैं। परंतु १९५० में, जब कोरिया में युद्ध छिड़ गया फिर से साम्यवादी लेखकों पर दबाव पड़ने लगा।

युद्ध के बाद वयोवृद्ध लेखक भी बहुत सक्रिय रहे। नागाइ काफू ने 'तोवाजु गातारि' (स्वयं बताने लगा) (१९४७) में युद्ध में सब चीजों की कमी सह कर भी कामातुर जीवन व्यतीत करनेवाले स्वयं और स्त्रियों का वर्णन किया। शिगा नाओया ने 'हाइइरो नो त्सुकि' (भूरा चाँद) (१९४७) में मानवतावादी दृष्टिकोण से युद्धपश्चात् के जर्जर समाज का वर्णन किया।

हिरोशिमा में रहकर अणु बम से बचे लेखकों में हारा तामिकि (१९०५–१९५१) की कहानी 'नात्सु नो हाना' (ग्रीष्म का फूल) (१९४७) और ओताओको (१९०७–) सुप्रसिद्ध हैं।

युद्धपश्चात् के जीवन एवं कामातुर स्त्री पुरुषों को लेकर लिखनेवालों में निवा फुमिओ (१९०४–), तामुरा ताइजिरो (१९११–), इशोजाव तोमोइचिरो (१९०९–), साकागुचि अनगो (१९०६–१९५४), इशि-

जाका योजिरो (१९००–), इशिकावा तात्सुजो (१९०५–), इतो सेइ (१९०५–) आदि बहुत सक्रिय हैं।

युद्ध के बाद से लिखनेवाले लेखकों में ताकेदा ताइजिन् (१९१२–), मिशिमा युकिओ (१९२५), उमेजाकि हारूओ (१९१५–), इनोउइ यासुशि (१९०७–), ओओओका शोहेइ (१९०९–), होत्ता योशिए (१९१८–) आदि श्रेष्ठ हैं। युद्धपश्चात् की एक विशेष प्रवृत्ति यह है कि कामातुर जीवन का अत्यंत स्पष्ट चित्रण होने लगा है।

युद्ध के कारण बंद हो जानेवाले दो पुरस्कार शुद्ध साहित्य के लिये आकुतागावा पुरस्कार और जनसाधारण के लिये साहित्य को दिया जानेवाला नाओकि पुरस्कार १९४९ से फिर से दिए जाने लगे। अनेक पत्रपत्रिकाएँ निकल जाने के कारण ऐसे पुरस्कार पानेवालों को लिखने के बहुतेरे अवसर मिल जाते हैं।

१९५५ ई० के आसपास बिलकुल नए प्रकार के कुछ लेखक सामने आए। ये लेखकों के दलों से अलग रहकर अपनी अपनी रीति से लिखते रहते हैं। इशिहारा शिन्तारो (१९३२–) ने १९५५ में अकुतागावा पुरस्कार पाया। वह कभी कभी फिल्म में अभिनय करता है और कभी फिल्म का निर्देशक भी बन जाता है। फुकाजावा शिचिरो (१९१४–) एक संगीत के बैंड में गिटार बजानेवाला है। इसने एक प्रसिद्ध मासिक पत्र में पुरस्कार पाने के उद्देश्य से 'नारायामा बुशिको' (१९५६) नामक उपन्यास लिखकर ख्याति पाई। उसके बाद से वह संगीतकार एवं लेखक का ही जीवन व्यतीत कर रहा है। वह यथार्थवादी परंपरा से मुक्त होकर संगीतमय लिखता है। ओएकेनजाबुरो (१९३५) ने जब १९५८ में आकुतावा पुरस्कार पाया था तब वह तोक्यो विश्वविद्यालय में पढ़ रहा था। अब भी वह फ्रांसीसी साहित्य का अध्ययन करता है।

समाचारपत्र, मासिक पत्र तथा साप्ताहिक पत्रों में अनेक लंबे लंबे उपन्यास प्रकाशित होने के कारण एक विशेष प्रकार के उपन्यासों का जन्म हुआ। समाचारपत्रों के उपन्यास गंभीर प्रकार के शुद्ध साहित्य नहीं होते। जनसाधारण के मनोरंजन के सस्ते उपन्यास भी नहीं होने चाहिए। इन दोनों के बीच की स्थिति की आवश्यकता है। इस प्रकार के उपन्यास को मध्यम उपन्यास कहते हैं। इस क्षेत्र में ओसारागि जिरो (१८९७–), शिशि बुनरोकु (१८९३–), योशिकावा एजि (१८९२–) बहुत सक्रिय हैं।

अब लेखकों के लिये, विशेषकर लोकप्रिय लेखकों के लिये, एक बड़ी समस्या यह है कि अनेक पत्र-पत्रिकाओं में लिखने के कारण उच्च कोटि के उपन्यास लिखना अत्यंत कठिन हो रहा है। वे किसी न किसी उपाय से अपने बोझ को कम करके अच्छी रचना करने की चेष्टा कर रहे हैं। परंतु यह अत्यंत कठिन समस्या मालूम होती है।

आलोचना के क्षेत्र में युद्धपश्चात् की एक विशेषता यह रही है कि विश्वविद्यालय के प्राध्यापक गण बहुत सक्रिय होने लगे। क्योतो विश्वविद्यालय में फ्रांसीसी साहित्य के प्राध्यापक कुवाबारा ताकेओ (१९०४) ने हाइकु को गौण साहित्य ठहरानेवाला एक लेख प्रकाशित करके कवि लोगों को बहुत बड़ा धक्का दिया था (१९४६)। तोक्यो विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्राध्यापक नाकानो योशियो (१९०३–) ने आलोचक का जीवन व्यतीत करने के लिये पदत्याग किया है।

अब तक की कृतियों में अयोनो सुएकिचि (१८९०–) की 'आधुनिक साहित्य पर एक विचार' (१९४९) और कामेइ कात्सुइचिरो (१९०७–) की 'आधुनिक लोगों का एक अध्ययन' (१९५०) आदि प्रसिद्ध हैं। १८६८ के बाद के साहित्य के अध्ययन भी बहुत किए गए। नाकामुरा मित्सुओ (१९११–) की 'फुताबातेइ शिमेइ : एक अध्ययन' (१९४७), सेनूमा शिगेकि (१९०४–) की शिमाजाकि तोसोन (१९४९) आदि श्रेष्ठ हैं।

नाटक — एक ओर काबुकि अब भी बहुत शौक से खेले जाते हैं, यद्यपि इनके लिये अच्छे नाटक नहीं लिखे गए; दूसरी ओर ओरि ओगाइ और त्सुबोउचि शोयो की चेष्टा से १९०० ई० के आसपास नए प्रकार के नाटक लिखे और अभिनीत किए जाने लगे। प्रारंभ में अभिनय के लिये अधिकतर विदेशी नाटकों के अनुवाद किए गए। परंतु धीरे धीरे नाटककार भी निकले। ओकामोतो किदो (१८७२–१९३९) का शुजेनूजि मोनोगातारि (१९११), कुराता आकुबो (१८९१–१९४३) का 'शिक्के तो सोनो देशि' (पुजारी और उसका शिष्य) (१९१६), मायामा सेइका (१८७८–१९३८) का दाइरा नो मासाकादो (१९२५) आदि प्रसिद्ध हैं। इन प्रसिद्ध नाटककारों के बाद किशिदा कुनिओ (१८९०–१९५४) तथा कुबोता मनूतारो (१८८९–) के नेतृत्व में नाटक का बड़ा विकास हुआ। अनेक नाट्यशालाएँ भी बनीं। अब नए प्रकार के नाटक काबुकि नाटक से अधिक लोकप्रिय हैं। कुबोतो मनूतारो का 'ओतेरा पाठशाला' (१९२७), कुबो सोकाए (१९०१–१९५८) का बंजर भूमि (१९२७), माफुने (Mafune) युताका (१९०२–) का 'नाकाहाशि घर' (१९४६), मियोशि जूरे १९०१–) का खंडहर (१९४७) किशिदा कुनिओ का 'दायामिजु पाठशाला' (१९४८) आदि प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त अनेक अच्छे उपन्यासों को भी नाटकों में रूपांतरित किया गया। उपन्यासकार किकुचि कान का नाटक 'पिता वापस लौट आया' (१९१७) भी प्रशंसनीय है। [क्यू० दो०]

जाफ़र ख़ाँ उमूदतुलमुल्क यह सादिक खाँ मीरबख्शी के पुत्र थे। बचपन से ही सम्राट् जहाँगीर की कृपादृष्टि इनपर रही और निरंतर उन्नति करने का अवसर इन्हें मिला। बीच में कुछ कारणवश इन्हें शाही संमान से वंचित रहना पड़ा, किंतु शीघ्र ही पुनः इन्होंने अपनी पूर्वस्थिति प्राप्त कर ली। ये पंजाब प्रांत के सूबेदार नियुक्त हुए। एक वर्ष के बाद खलीलुल्ला खाँ के स्थान पर ये मीरबख्शी नियुक्त हुए। दो तीन वर्ष बाद ये दिल्ली के सूबेदार नियुक्त हुए। एक वर्ष इस पद पर रहकर यह ठट्ठा के अध्यक्ष बनाए गए। ६-७ वर्ष तक ठट्ठा की अध्यक्षता के बाद मुअज्जम खाँ के पदमुक्त होने पर ये शासन के प्रधान वजीर बनाए गए।

औरंगजेब और दाराशिकोह के मध्य हुए संघर्ष में इन्होंने औरंगजेब का साथ देने की बुद्धिमानी दिखलाई जिसके पुरस्कारस्वरूप औरंगजेब ने इन्हें मालवा का सूबेदार नियुक्त किया और सर्वोच्च मंसब प्रदान किया। सन् १०७६ हिजरी में औरंगजेब ने इन्हें प्रधान मंत्री बना दिया। सन् १०८१ हिजरी में बीमारी से ये मर गए।

सम्राट् औरंगजेब इनका बहुत संमान करते थे। ये विवेकपूर्ण और जनहितैषी व्यक्ति थे। सम्राट् ने इनके संबंधियों को अच्छे पद और पुरस्कार देकर संमानित किया।

जाफ़र सादिक, अबू अब्दुल्ला (७००–७४२-७६५) मुहम्मद अलबाकिर के पुत्र। मदीना में उत्पन्न हुए। ये इस्माइली शियाओं के अंतिम इमाम माने जाते हैं। शिया होते हुए भी इनमें धार्मिक

कट्टरता नहीं थी। राजनीतिक वातावरण से सर्वथा अप्रभावित रहकर इन्होंने दार्शनिकों और चिंतकों के संगठन में अपना जीवन व्यतीत किया। कहा जाता है, अल मंसूर ने विष खिलाकर इनकी हत्या करवा दी।

जाफेत नूह के तीन पुत्रों में से एक (उत्पत्ति ग्रंथ, ६-१०)। बाइबिल में इन्हें प्रलय के बाद की मानव जाति के जन्मदाताओं में से एक तथा भूमध्यसागर के आसपास रहनेवाले आर्यों का पूर्वज माना गया है। बाइबिल के जिस खंड में जाफेत का उल्लेख है, उसका रचनाकाल छठी शताब्दी ई० पू० है। उस समय यह धारणा प्रचलित थी कि प्राचीन काल में एशिया माइनर, उत्तर मेसोपोटामिया तथा फिलिस्तीन में आर्य जातियों का आधिपत्य था। इस कारण जाफेत (याफेथ) का अर्थ 'दूर तक फैला हुआ' है (उत्पत्ति ग्रंथ १०,१-५)। जाफेत ऐतिहासिक व्यक्ति ही हैं किंतु वे किस समय हुए यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। बाइबिल का वह अंश तत्कालीन भौगोलिक तथा नृवंश विषयक ज्ञान पर आधारित है। [आ० वे०]

जाब पर्वतीय प्रदेश चंबा का अरबी नाम। इसके जाफ, हाब, आब और गाब नाम भी हैं। इसकी प्राचीन राजधानी ब्रह्मपुर (ययराटपट्टन) थी। हुएनत्सांग ने इसका वर्णन करते हुए लिखा है कि यह अलकनंदा और करनाली नदियों के बीच बसा है। कुछ काल बाद इस प्रदेश की राजधानी चंबा हो गई। १५ अप्रैल, १९४८ में इसका विलयन भारत सरकार द्वारा शासित हिमाचल प्रदेश में हो गया। अरब लेखकों ने सामान्यतः चंबा के सूर्यवंशी राजपूत शासकों को जाब की उपाधि के साथ लिखा है। इब्न रुस्ता का मत है कि यह शासक सालुकि वंश के थे परंतु राजवंश की उत्पत्ति के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। ८४६ ई० में सर्वप्रथम इब्न खुर्रदद्बी ने 'जाब' का प्रयोग किया, पर ऐसा लगता है कि इस शब्द की उत्पत्ति अरब साहित्य में इससे पूर्व हो चुकी थी। इस प्रकार यह प्रामाणिक माना जाता है कि चंबा नगर ९वीं शताब्दी के प्रथम दशक में विद्यमान था। इब्न रुस्ता ने लिखा है कि चंबा के शासक प्रायः गुर्जरों और प्रतिहारों से शत्रुता रखते थे।

जाबाल जाबाल शब्द का अर्थ 'जबाला' का अपत्य भी हो सकता है, 'जाबालि' का अपत्य भी। इन दोनों से संबंधित कुल या वंश भी जाबाल पदवाच्य होता है। पुराणों में बाष्कलि बाष्कल, अगस्त्य आगस्ति आदि पर्यायवाची शब्द हैं, अतः कहीं कहीं जाबालि को भी यदि जाबाल कहा गया है तो कोई विस्मय की बात नहीं। जाबाल के द्वारा प्रोक्त वैदिक शाखा भी 'जाबाल' ही होगी, जिनके लिये निम्नांकित 'जाबाल' पद प्रयुक्त होता है।

सत्यकाम जाबाल — यह जबाला (स्त्री) के पुत्र थे। छांदोग्य उपनिषद् में हारिद्रुमत गौतम से इनकी विद्याप्राप्ति की कथा वर्णित है (४।४)। बृहदारण्यक (६।३।१२) में भी सत्यकाम जाबाल की चर्चा है।

जाबाल शाखा — शुक्ल यजुर्वेद की यह शाखा अब अप्राप्य है। शुक्लयजुर्वेद प्रवर्तक याज्ञवल्क्य का एक जाबाल नाम का शिष्य था, जिससे यह शाखा प्रवर्तित हुई थी। चरणव्यूह में भी शुक्लयजुर्वेद के १५ भेदों में 'जाबाल' भी है। इस शाखा का उपनिषद् आज भी मिलता है (वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० २९५-२९८)।

जाबाल कल्प, जाबाल गृह्यसूत्र तथा जाबाल धर्मसूत्र भी प्रसिद्ध हैं। जाबाल एक गोत्रनाम भी है। [रा० शं० श०]

जाबालि — (१) एक प्राचीन स्मृतिकार ऋषि; (२) अयोध्यानरेश दशरथ के गुरु जिन्होंने चित्रकूट में राम को वनवास से लौटने और राज्य की ओर प्रेरित करने का असफल प्रयत्न किया था।

जाम अफगानिस्तान में एक गाँव। यहाँ तगाओ गुमबज और हारीरूद नामक दो नदियों के संगम पर अष्टभुज क्षेत्र पर एक सुंदर मीनार है। इसमें इसके निर्माता पंचम गुरीद सुलतान गयास अल दुन्या वल दीन अबू ए फतह का नाम सुंदर सजावट के बीच में उत्कीर्ण है। १९५७ में मारिक ने इसे खोजा। उसका विचार है कि यह मीनार गुरीद सुलतानों का गौरवचिह्न रही है। इस तथ्य के भी अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं कि इन सुलतानों की राजधानी फिरोजकोह का केवल यही अंश अब तक शेष रह सका है।

जामखेड़ महाराष्ट्र राज्य के अहमदनगर जिले का तालुक है। इसका क्षेत्रफल ३३७ वर्ग मील एवं जनसंख्या ७३,०३६ (१९६१) है। इसके पूर्व की ओर बालाघाट के ऊँचे पठार तथा पश्चिम में सीना नदी है। सीना नदीघाटी की मिट्टी गहरी और कठोर है। बालाघाट के पठारी भाग की मिट्टी भुरभुरी है। तालुका के अधिकांश गाँव सीना नदीघाटी में हैं। इस तालुका में खरदा तथा जामखेड़ दो मुख्य नगर हैं। जामखेड़ नगर तालुके का प्रधान कार्यालय है। [से० मु० अ०]

जामताड़ा स्थिति : २३° ५५′ उ० अ० तथा ८६° ५०′ पू० दे०। यह बिहार राज्य के संथाल परगना के अंतर्गत जामताड़ा उपमंडल का मुख्य नगर है। यह अजय नदी के तट पर स्थित स्वास्थ्यवर्धक स्थान है। यहाँ माँ चंचलीदेवी का प्रसिद्ध मंदिर है, जिनका दर्शन करने के लिये बंगाल के भिन्न भिन्न भागों से लोग आते हैं। पौष पूर्णिमा के समय यहाँ मेला लगता है। यहाँ विद्यालय और कचहरी है। यहाँ से चित्तरंजन, आसनसोल, धनबाद और दुमका के लिये बसें खुलती हैं। इसके पास ही मिहिजाम नामक एक नगर है, जहाँ उच्च कोटि के गुलाब के फूलों का उद्यान है और जहाँ सर्पदंश के उपचार को 'लेक्सिन' नामक प्रसिद्ध ओषधि तैयार होती है। इस ओषधि का आविष्कार भी यहीं पर हुआ था। यहाँ की जनसंख्या ६,७२२ (१९६१) है।

[शि० नं० स०]

जामनगर १. यह कच्छ की खाड़ी के दक्षिणी तट पर विस्तृत गुजरात राज्य का जिला है। पहले यह देशी राज्य था। इसके उत्तर में कच्छ की खाड़ी, पश्चिम में अरब सागर, पूर्व में राजकोट और दक्षिण में राजकोट तथा जूनागढ़ के जिले पड़ते हैं। यहाँ की अधिकांश भूमि समतल है, पर २,००० फुट ऊँची बारदा पहाड़ी का ¾ भाग इस जिले के अंतर्गत है। पहले इन पहाड़ियों पर शेर, चीते आदि जंगली जानवर मिलते थे परंतु १८९० ई० में विद्रोही वघेरों को दबाने के लिये जब से तोपें छोड़ी गईं तब से ये जानवर गिर के जंगल में चले गए।

इस जिले में संगमरमर की खुदाई होती है। समुद्रतट पर मोती निकालने का भी कुछ काम होता है। अधिकांश लोग कृषि पर जीवननिर्वाह करते हैं। वर्षा की कमी (२०″ वार्षिक) से प्रायः अकाल पड़ता रहता है। जिले का क्षेत्रफल ३,९४४ वर्ग मील तथा जनसंख्या ८,२८,४१९ (१९६१) है। इस जिले के मुख्य नगरों में खंभालिया, द्वारका, जामजोधपुर, जालवड, सिक्कापुर, बेड़ी, ओख, ओखा बंदरगाह, सिक्का, जोडीया, ध्रोलनगर हैं।

२. नगर स्थिति : २०° २७' १०" उ० अ० तथा ७०° १६' १०" पू० दे०। इसकी स्थापना १५४० ई० में जाम रावल ने की थी। सारा नगर पत्थर का बना हुआ है। यहाँ पर एक किला है, जो १७८८ ई० में निर्मित किया गया था। नगर की जनसंख्या १,४८,५७२ (१९६१) है। [उ० सि०]

जामनेर १. यह महाराष्ट्र राज्य के जलगाँव जिले का तालुक है। इसका क्षेत्रफल लगभग ५२१ वर्ग मील एवं जनसंख्या १,५२,२२१ (१९६१) है। उत्तर और दक्षिण-पूर्व में छोटी छोटी पहाड़ियाँ हैं। वघुर और उसकी सहायक नदियाँ काग, सूर, हरकी तथा सोनिज प्रमुख हैं। अधिकांश नदियाँ सतमाला पहाड़ियों से निकलती हैं। नदीघाटियों में काली मिट्टी और पठार पर काली भूरी मिट्टी मिलती है। यहाँ जामनेर तथा शेंदुरनी नामक दो नगर हैं।

२. नगर, स्थिति : २०° ४१' उ० अ० तथा ७५° ४७' पू० दे०। महाराष्ट्र के जलगाँव जिले का यह नगर काग नदी पर स्थित है। यह धुलिया के ६० मील दक्षिण-पूर्व में है। जामनेर नगर तालुक का प्रधान कार्यालय है। यहाँ बिनौले निकालने के कारखाने तथा स्कूल भी हैं। कपास के व्यापार के कारण नगर का पुनः विकास हो रहा है। [सै० मु० अ०]

जामा का युद्ध — (२०२ ई० पू०) इस समर ने वाटर लू के समय की ही भाँति तत्कालीन विश्व इतिहास को प्रभावित किया था। इस युद्ध में कार्थेज का जनरल हनीबाल अपने शौर्यपूर्ण जीवन में पहली बार परास्त हुआ था। अफ्रीका के आक्रामक और रोमनों के हितैषी स्किपियो (Scipio) ने दक्षिण इटली के अपराजित योद्धा हनीबाल पर आक्रमण करने की योजना बनाई। हनीबाल ने अपनी सामरिक शक्ति लेप्टिस (Leptis) नामक स्थान में केंद्रित की। ऐसा करके उसने स्किपियो की सामरिक स्थिति को संकटापन्न कर दिया। किंतु ऐसे समय पर स्किपियो ने हनीबाल की प्रतीक्षा करने की अपेक्षा अपने विरोधी को बिना आभास दिए अपनी सेना को शत्रु के पार्श्व में काफी भीतर तक ले आने का निर्णय किया। हनीबाल को अपने रक्षार्थ पूरे सैन्य दल के साथ कूच करना पड़ा किंतु इस भाग दौड़ में स्किपियो ही लाभ में रहा।

दोनों सेनाओं के प्रधान नायकों में आरंभ में एक संधिवार्ता हुई किंतु विवाद को अंततः युद्ध द्वारा ही हल करने का निश्चय किया गया। स्किपियो ने अपनी सेना के मध्य भाग में बड़ी संख्या में तीन पंक्तिबद्ध सैनिकों को तथा उनके दोनों सिरों पर सशक्त अश्वारोही दल को रखा। विरोधी दल ने अपनी विशाल सैन्य शक्ति दूसरे ढंग से सुसज्जित की किंतु उसमें वही त्रुटि दुहराई गई जो सिकंदर के विरुद्ध लड़ते हुए भारतीय नरेश पुरु ने अपनी सेना को संचालित करने में की थी। कार्थेज सेना में ८० हाथी थे जिन्हें शत्रु को भयभीत करने के उद्देश्य से पहली पंक्ति में खड़ा किया गया और उनके पार्श्व में वेतनभोगी पैदल सैनिकों की पंक्तियाँ खड़ी की गई। सेना का दूसरा अपेक्षाकृत शक्तिशाली मोर्चा थोड़ा पीछे हटकर तथा तीसरा मोर्चा, हनीबाल के नेतृत्व में, अन्य मोर्चों से २०० गज पीछे था।

संघर्ष का आरंभ हस्ति सैन्य द्वारा किए गए आक्रमण से हुआ किंतु इसके पहले कि रोमन सेना शृंखलित होती, उन्होंने भीषण तूर्यनाद द्वारा हस्तिदल को अत्यधिक भयाक्रांत और विक्षिप्त कर दिया। फलतः पूरा हस्तिदल घबड़ाकर पीछे की ओर घूम पड़ा और अपनी ही सेना को ध्वस्त करने लगा। इस अवसर का लाभ रोमन सैनिकों ने भली प्रकार उठाया और हाथियों के पैरों तले कुचली जाती हुई सेना पर टूट पड़े। सारी धरती रक्त से गीली होकर चिकनी हो उठी जिसके कारण रोमनों के विजयमार्ग में अप्रत्याशित अवरोध उत्पन्न हो गया। यह स्थिति हनीबाल के पक्ष में थी और रोमनों को पीछे खदेड़ने में उसे सफलता भी मिली किंतु शीघ्र ही रोमनों ने अपने को सँभाल लिया। स्किपियो ने युद्धस्थल में ही अपनी सेना की शक्ति को कुशलतापूर्वक पूर्णतः केंद्रित और व्यवस्थित करके शत्रु पर भीषण प्रहार के लिये संनद्ध किया। घमासान युद्ध हुआ। हनीबाल के सैनिक वीरता से लड़े लेकिन ठीक उसी क्षण स्किपियो की सेना को नए अश्वारोही सैन्य का प्रबल सहयोग मिल जाने के कारण हनीबाल को अंततः पराजित होना पड़ा। स्किपियो आगे बढ़ा और उसने कार्थेज पर अधिकार कर लिया। इसके साथ ही रोम तथा कार्थेज के बीच भूमध्यजगत् पर सत्तास्थापना के लिये होनेवाले एक लंबे संघर्ष का अंत हो गया। [कु० ना० गु०]

जामी नूरुद्दीन (१४१४-१४९२) विख्यात फारसी कवि। हेरात के निकट जाम जिले में उत्पन्न हुए। उनकी रचनाओं में उनकी प्रतिभा का, विस्तृत और गंभीर ज्ञान का तथा भाषा और शैली पर प्रशंसनीय अधिकार का परिचय मिलता है। यों उन्होंने काव्य से अधिक गद्य में लिखा है, फिर भी उनका कविरूप ही प्रधान माना जाता है। गद्य रूप में लिखी हुई नफाहत अल उंस ने, जिसमें सूफी मतवादियों के जीवन-चरित्र संकलित हैं, बहुत आदर पाया है। सूफी दर्शन और काव्य पर इनकी अनेक उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। इनकी मृत्यु हेरात में हुई।

जामेअ मस्जिद मुसलमानों का प्रधान पूजागृह। इसका इतिहास मुहम्मद साहब के समय से आरंभ होता है। इसकी नींव सर्वप्रथम एक कमरे के रूप में पड़ी। एशिया और यूरोप में इस्लाम के प्रसार के साथ मस्जिद के रूप भी बदलते चले गए। अब वैभव और वास्तुकला के उत्कृष्ट नमूने मस्जिदों में देखने को मिलते हैं। हिंदू मंदिरों या ईसाई चर्चों से भिन्न इनकी इमारतों का कोई निश्चित रूप नहीं होता। देश, काल की संस्कृति के अनुसार उनका निर्माण हुआ। जामेअ मस्जिद प्रधान मठ होता है, जिसे धर्मप्रचार की दृष्टि से विशेष महत्व प्राप्त रहता है। अन्य मस्जिदें इसके नियंत्रण में रहती हैं। प्रधान धर्मगुरु जामेअ मस्जिद का अधिपति होता है।

अरब, मिस्र, ट्यूनिशिया, अलजीरिया और मोरक्को में, प्रसिद्ध ऐतिहासिक मस्जिदें हैं। भारत में अहमदाबाद, फतहपुर सीकरी, बीजापुर तथा जौनपुर में बनी जामा मस्जिदें वास्तुकला की दृष्टि से प्रशंसनीय हैं।

जामोइस्की, जान सेनापति और राजनीतिज्ञ। स्कोकोव में १ अप्रैल, १५४१ को उत्पन्न हुआ और ३ जुलाई, १६०५ को चल बसा। पेरिस स्ट्रासबर्ग और पाडुआ में इसने शिक्षा प्राप्त की। १५६४ में पाडुआ विश्वविद्यालय का कुलपति चुना गया। १५६५ में वह पोलैंड गया। अनेक उतार चढ़ाव के पश्चात् जामोइस्की राज्य का चांसलर हो गया और पोलिश राजनीति की शक्ति उसके हाथ में आ गई। तत्पश्चात् उसने सम्राट् की भतीजी ग्रिसेल्डा से विवाह किया। १५८० में, जब कि रूस से युद्ध हो रहा था, बाथोरी ने उसे मुख्य सेना का 'कमांडर' नियुक्त कर दिया। १५८६ में बाथोरी की मृत्यु के पश्चात् यदि वह चाहता तो

सम्राट् बन सकता था, किंतु अपनी राजनीतिक शक्ति का उपयोग उसने स्वीडन के सम्राट् के पुत्र सिजिस्मंड तृतीय के पक्ष में किया। आर्कड्यूक मैक्सीमिलियन की सेना को उसने क्रासे में पराजित किया। १५०० से १५६२ तक वह बराबर युद्धों में फँसा रहा। सिजिस्मंड से मतभेद होते हुए भी, वह राज्य का महत्वपूर्ण व्यक्ति बना रहा। इस बीच उसने तुर्कों, तारतारों और कुज़ाकों से युद्ध किया।

जामोइस्की केवल राजनीतिज्ञ और सैनिक ही नहीं था, वह साहित्य और विज्ञान का भी आदर करता था। उसने न्यू जोमोस्क में एक विश्वविद्यालय और छापेखाने की भी स्थापना की। उसने टेस्टामेंटम जोसिस अमोरी नाम की एक पुस्तक भी लिखी है।

जायन (सियोन) येरुसलेम की पूर्वी पहाड़ी की दक्षिणी ढलान पर यहूदी जाति का किला (सियोन का अर्थ किला है), जिसपर दाऊद ने अधिकार कर लिया था और जिसे उन्होंने अपना निवासस्थान बनाया था। आगे चलकर यह शब्द येरुसलेम अथवा उसके निवासियों के लिये प्रयुक्त होने लगा, काव्य में इसका अर्थ प्रायः येरुसलेम में याहवे का निवासस्थान अर्थात् मंदिर है। अन्यत्र इसका अर्थ ईश्वर की प्रजा अर्थात् इसराएल ही है। बाद में (और आजकल तक) येरुसलेम के दक्षिणी-पश्चिमी भाग को भी सियोन कहा गया है।

जायन आंदोलन — अपनी प्राचीन मातृभूमि फिलिस्तीन (जायन, इसराएल) में यहूदियों के पुनर्वास का आंदोलन। इस आंदोलन के अनेक कारण हैं।

(१) धार्मिक कारण — छठी श० ई० पूर्व में यहूदी जाति को बाबुल में निर्वासित किया गया था। उस समय से धर्मपरायण यहूदी यह आशा करते चले आ रहे हैं कि किसी दिन इसराएल को संसार के अन्य स्वतंत्र राष्ट्रों में अपना उचित स्थान प्राप्त होगा। बाइबिल में नबियों की उक्तियों का यही अर्थ लगाया जा सकता है। किंतु ईसाई धर्मपंडितों के अनुसार नबियों की वे भविष्यद्वाणियाँ ईसामसीह द्वारा स्थापित ईश्वर के राज्य (चर्च) से संबंध रखती हैं। धार्मिक जायनवादियों का विचार है कि नबियों की प्रतिज्ञाएँ अब तक पूरी नहीं हुई और अब यहूदियों के लिये अपनी प्राचीन मातृभूमि में लौटने का समय आ गया है। मध्यकाल में सर्वश्रेष्ठ इब्रानी कवि हालेवी (१०७८ ई०) ने उस धार्मिक प्रयाण को जाग्रत करने का प्रयास किया था।

(२) आर्थिक और सामाजिक कारण — बहुत से देशों में समय समय पर यहूदी विरोधी आंदोलन हुए हैं और यहूदियों पर आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में अत्याचार किया गया है। आधुनिक राष्ट्रवादी विचारधाराओं के कारण यहूदियों को विदेशी कहकर संदेह की दृष्टि से देखा गया। यद्यपि बहुत से यहूदियों ने अपने को उन देशों के अनुकूल बना लिया है जहाँ वे रहते थे, तथापि अपने विरुद्ध भेदभाव देखकर दूसरे यहूदियों का विचार रहा कि हमारी समस्याओं का एकमात्र समाधान यह है कि हम अपने ही देश में अलग रहकर एक यहूदी राष्ट्र में संमिलित हो जाएँ।

(३) राजनीतिक प्रभाव — मोसस मोंटेफिओरे, डिसराएली और मोसस हेस आधुनिक जायन आंदोलन के प्रथम प्रोत्साहक हैं। थेओडोर हेर्जल ने (मृत्यु १६०४ ई०) इस आंदोलन को राजनीतिक रूप देकर कूटनीतिक उपायों द्वारा यहूदियों को कोई क्षेत्र दिलाने का प्रयास किया। उसका विरोधी खाइम वाइजमैन फिलिस्तीन देश में यहूदियों के उपनिवेश बसाने के पक्ष में था। बालफोर ने १९१७ ई० में ब्रिटेन की ओर से प्रतिज्ञा की थी कि यहूदियों को फिलिस्तीन में अपना राष्ट्र स्थापित करने की अनुमति मिलेगी। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् फिलिस्तीन को ब्रिटेन के शासन में दिया गया और यहूदी हरबर्ट सामुएल को वहाँ का उच्चायुक्त बनाया गया, जिससे बहुत से यहूदी वहाँ आकर बस गए। उनकी संख्या रूसी साम्यवाद तथा जर्मन हिटलरवाद के कारण बहुत बढ़ गई। यहूदी आवासियों और अरबी निवासियों में तनाव बढ़ जाने के डर से ब्रिटिश शासन जायन आंदोलन में बाधा उपस्थित करता रहा।

द्वितीय महायुद्ध के बाद तनाव फिर बढ़ गया। एक ओर यहूदी आवासी बड़ी संख्या में आए जो ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अंतर्गत फिलिस्तीन में एक डोमिनियन स्थापित करना चाहते थे किंतु ब्रिटेन ने उस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। दूसरी ओर अरब लोग समस्त फिलिस्तीन में एक ही स्वतंत्र अरबी राज्य का दावा करते थे। सन् १९४७ ई० में संयुक्त राष्ट्रों की विशेष समिति ने फिलिस्तीन के विभाजन का निर्णय किया, अगले दिन ही (३० नवंबर) अरबों और यहूदियों के बीच युद्ध छिड़ गया, जो एक वर्ष तक चलकर सुरक्षापरिषद् के आदेश से बंद कर दिया गया। इतने में अधिकांश फिलिस्तीन यहूदियों के हाथ में आ गया था। अमरीका, ब्रिटेन और फ्रांस ने वर्तमान विभाजनरेखा की सुरक्षा का भार स्वीकार कर लिया किंतु अब तक अरबों तथा यहूदियों में शांति स्थापित करने के सभी प्रयत्न निष्फल रहे। युद्धविराम के बाद बहुत से यहूदी फिलिस्तीन के यहूदी अंग अर्थात् इसराएल में आकर बस गए, किंतु जो अरब उस क्षेत्र से भाग गए वे कभी वापस नहीं आ सके और जार्डन में शरणार्थी रूप में रह रहे हैं। अब तक फिलिस्तीन की परिस्थिति विस्फोटक ही है। [का० बे०]

जायसवाल, काशीप्रसाद (२७ नवंबर, १८८१-१९३७) इतिहास और पुरातत्व के अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान् थे। उनकी उपलब्धियों से ज्ञान का यह क्षेत्र विकसित हुआ। आपका जन्म मिर्जापुर में हुआ और प्रारंभिक शिक्षा वाराणसी में हुई। इंग्लैंड में एम० ए० (ऑक्सफोर्ड) और बार-एट-ला की परीक्षाएँ पास कीं। १९१० ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त हुए। १९१४ से पटना हाईकोर्ट में वकालत आरंभ की। बिहार के तत्कालीन प्रशासक एडवर्ड गेट ने 'बिहार रिसर्च सोसाइटी' से जब 'बिहार रिसर्च जर्नल' के प्रकाशन का प्रबंध किया तो श्री जायसवाल उसके प्रथम संपादक हुए। उन्होंने 'पाटलिपुत्र' का भी संपादन किया। 'पटना म्यूजियम' की स्थापना भी आपकी ही प्रेरणा से हुई। १९३५ में 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' ने लंदन में भारतीय मुद्रा पर व्याख्यान देने के लिये आपको आमंत्रित किया। आप इंडियन ओरिएंटल कांफ्रेंस (छठा अधिवेशन, बड़ोदा), हिंदी साहित्य संमेलन, इतिहास परिषद् (इंदौर अधिवेशन), बिहार प्रांतीय हिंदी साहित्य संमेलन (भागलपुर अधिवेशन) के सभापति रहे। स्वर्गीय राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद के सहयोग से आपने इतिहास परिषद् की स्थापना की। आपकी प्रकाशित पुस्तकों के नाम 'हिंदू पालिटी', 'ऐन इंपीरियल हिस्ट्री ऑव इंडिया', 'द क्रॉनॉलजी ऐंड हिस्ट्री ऑव नेपाल' हैं। 'हिंदू पालिटी' का हिंदी अनुवाद (श्री रामचंद्र वर्मा) 'हिंदू राज्यतंत्र' के नाम से नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी से प्रकाशित हुआ। आप नागरीप्रचारिणी पत्रिका के संपादक मंडल के सदस्य भी रहे।

जायसी का पूरा नाम मलिक मुहम्मद जायसी था। ये जायस (जिला रायबरेली, उत्तर प्रदेश) के निवासी थे, इसलिये जायसी कहलाते हैं। 'मलिक' उनकी उपाधि थी जो संभवतः उनके कुल में पहले से चली आ रही थी। हिंदी के अवधी क्षेत्र में पठानों के शासन-काल में इसलामी संस्कृति के कई अच्छे केंद्र बन गए थे, जिनमें से एक जायस भी था। यहाँ पर चिश्ती संप्रदाय के सूफियों की एक शाखा स्थापित थी, जिसमें कई प्रसिद्ध संत हुए। इसी शाखा से जायसी का भी संबंध था।

इस अवधी क्षेत्र के सूफियों ने अवधी बोली में अनेक प्रेमाख्यान लिखे हैं। इनमें से सबसे प्रथम मुल्ला दाऊद आते हैं जिन्होंने सं० १४३६ में 'लोरकहा' नामक लोरिक चंदा की प्रेमकहानी लिखी जो 'चंदायन' के नाम से प्रसिद्ध है। सं० १५६० में कुतुबन ने 'मृगावती' नाम की प्रेम कहानी लिखी और तदनंतर सं० १५९७ में जायसी ने 'पदमावत' नाम की प्रेमकहानी इसी परंपरा में लिखी। इन प्रेमकहानियों में प्रेम की साधना का उपदेश और चित्रण किया गया है।

जायसी का जन्म जायस में हुआ माना जाता है, और अब भी वहाँ उनके मकान के खंडहर बताए जाते हैं। अपनी रचनाओं में भी जायसी ने जायस को अपना स्थान (निवासस्थान) कहा है। उनके माता-पिता के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है। संभवतः इनकी थोड़ी अवस्था में ही उनका स्वर्गवास हो गया था। किसी समय इन्हें कदाचित भयंकर चेचक निकली थी, जिसके परिणाम स्वरूप इनकी बाँई आँख जाती रही थी और बायाँ कान भी बेकार हो गया था। कहा जाता है, ये कृषि करते थे और उसी से जीवन निर्वाह करते थे। इन्होंने कदाचित् विवाह भी किया था और इनकी संतानें भी हुई थीं जो पीछे जाती रहीं।

जायसी की तिथियाँ विवाद का विषय बनी हुई हैं। जायसी की मानी जानेवाली एक रचना 'आखिरी कलाम' में उन्होंने कहा है, 'भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिख ऊपर कबि बदी, (छंद ४) और उसी रचना में अन्यत्र उन्होंने कहा है, 'नौ सै बरस छतीस जो भए, तब एहि कथा क आखर कहे' (छंद १३)। इन दोनों उल्लेखों में स्पष्ट वैषम्य है, और यही कारण है कि जायसी की जन्मतिथि के बारे में विवाद चल रहा है। इसी रचना में उन्होंने जन्म के कुछ बाद एक भयंकर भूचाल के आने का उल्लेख किया है (छंद ४)। 'बाबरनामा' के अनुसार जो भयंकर भूचाल आया था, संभवतः उसी का उल्लेख जायसी ने भी किया है। इनकी मृत्युतिथि भी अज्ञात है। कहा जाता है कि दीर्घ आयु पाकर ये परलोक सिधारे थे।

जायसी की रचनाएँ एक दर्जन से भी अधिक बताई जाती हैं, किंतु अभी तक आधी दर्जन रचनाएँ ही प्राप्त हुई हैं। ये हैं आखिरी कलाम, अखरावट, पदमावत, महरी बाईसी, चित्ररेखा और मसलानामा। इनमें से आखिरी कलाम की रचना, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, उन्होंने ९३६ हि० (सं० १५८६) में की थी और पदमावत की ९४७ हि० (सं० १५९७) में। शेष रचनाओं की तिथियाँ अज्ञात हैं। पदमावत के अतिरिक्त शेष रचनाओं की प्रामाणिकता भी सुनिश्चित नहीं है।

आखिरी कलाम में कयामत के अनंतर होनेवाले अंतिम निर्णय की चर्चा की गई है। 'अखरावट' में वर्णमाला के अक्षरों को क्रम से लेकर सूफी सिद्धांतों का उपदेश किया गया है। पदमावत में चित्तौर के राजा रत्नसेन और सिंहल की पद्मिनी (पद्मावती) की प्रेमकथा है। (इसके संबंध में विस्तार से इसके स्वतंत्र शीर्षक के अंतर्गत देखिए)। 'महरी बाईसी,' में कहारों के गीतों की शैली में २२ गीत हैं जिनमें आध्यात्मिक उपदेश हैं। 'चित्ररेखा' में सावित्री सत्यवान के प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान के ढंग का एक सती का आख्यान है जिसके साथ विवाह हो जाने के कारण कथानायक तात्कालिक मृत्युपाश से मुक्त हो जाता है। 'मसलानामा' में अवधी क्षेत्र की कुछ कहावतें हैं जिनका प्रयोग आध्यात्मिक उपदेश देने के लिये चतुष्पदियों और दोहों में किया गया है। ये सभी रचनाएँ अवधी में हैं।

सं० ग्रं० — आचार्य रामचंद्र शुक्ल (सं०) : जायसी ग्रंथावली; : कल्बे, मुस्तफा : मलिक मुहम्मद जायसी। [मा० प्र० गु०]

जार और जारीना (दे० 'रूस का इतिहास')

जार्ज प्रथम — जार्ज लुई (१६६०-१७२७) ग्रेट ब्रिटेन तथा आयरलैंड का राजा, जो अर्नेस्ट आगस्टस तथा जेम्स प्रथम की पोती सिलविया से जन्मा था। कुछ समय बाद यह हनोवर का एलेक्टर हुआ और इसका राजनीतिक अभ्युदय प्रारंभ हुआ। इस समय यूरोप में स्पेन के उत्तराधिकारी का युद्ध हो रहा था। जर्मनी की सीमा पर सुदृढ़ तथा आक्रामक फ्रांस को सहन कर सकना जार्ज प्रथम के लिये जीवन और मरण का प्रश्न था, अतएव इसने ब्रिटिश राजनीतिज्ञ मार्लबरो के साथ संधि कर लुई चतुर्दश की महत्वाकांक्षाओं को विफल कर देने का प्रयास किया। इस उद्देश्य में इसे आशातीत सफलता मिली और यूरोपीय राजनीति में इसे गौरव प्राप्त हुआ।

१७१४ ई० में यह ऐक्ट ऑव सेटिलमेंट के अधिकार से इंग्लैंड की गद्दी पर बैठा। अंग्रेजी वातावरण से यह अपरिचित सा था। भाषा, संस्कृति, विधान, सभी दिशाओं से उसे कठिनाइयाँ हुईं। अतएव उसने मंत्रिमंडल की बैठकों की अध्यक्षता करनी बंद कर दी। शासन का भार अब एक विशिष्ट मंत्री पर पड़ा जो आगे चलकर प्रधान मंत्री कहलाया। प्रथम प्रधान मंत्री वालपोल हुआ।

जार्ज प्रथम इस तथ्य से भली भाँति अवगत था कि हनोवर तथा हनोवर उत्तराधिकार दोनों का स्थायित्व ह्विग समर्थन पर ही निर्भर करता है, अतः उसने अपने को पूर्णतया ह्विग दल के हाथ में ही सौंप दिया। इंग्लैंड द्वारा प्रस्तुत साधनों से हनोवर की प्रतिष्ठा यूरोप में बढ़ाने के उद्देश्य से जार्ज ने मंत्रिमंडल को 'उत्तरी प्रश्न' में हाथ डालने को बाध्य किया। अब इंग्लैंड स्विडेन विरोधी गुट का सदस्य बना। इस नीति से जार्ज हनोवर के छिने हुए ब्रेमेन तथा वर्डन के प्रदेशों को पुनः प्राप्त करना चाहता था। [गि० शं० मि०]

जार्ज प्रथम (हैलनीज) — (१८४५-१९१३) यह हैलनीज का राजा था। यह डेनमार्क के शासक किंग क्रिश्चियन का द्वितीय पुत्र था। यूरोप में पूर्वीय समस्या के जटिल हो जाने पर एक राजनीतिक हलचल पैदा हुई और हैलनीज की ग्रीक जनता ने १८६२ ई० में अपने शासक ओटो को निष्कासित कर दिया। परिणामस्वरूप १८६३ ई० में जार्ज प्रथम हैलनीज का राजा नियुक्त किया गया। हैलनीज की गद्दी पर आरूढ़ हो जाने के उपरांत उसे डेनमार्क की गद्दी के उत्तराधिकार से त्यागपत्र देना पड़ा। अब जार्ज ने इस बात की पूर्ण चेष्टा की कि वह ग्रीक जगत् में उठती हुई राष्ट्रीयता का नेतृत्व अपने हाथ में ले। अपने को यथेष्ट प्रभावशाली बना देने के लिये १८६७ ई० में इसने रूस की ग्रांड डचेज

ओलगा से विवाह किया। हेलनीज की भौतिक समृद्धि बढ़ा देने के उद्देश्य से जार्ज ने उन वैज्ञानिक साधनों एवं आविष्कारों का आश्रय लिया जो हेलनीज में औद्योगिक एवं कृषिव्यवस्था में विकास ला सकते थे। इसके अतिरिक्त उसने अनेक ऐसी सुधार-योजनाएँ लागू कीं जो ग्रीस के सांस्कृतिक तथा सामाजिक जीवन को प्रभावितकर रही थीं। १९वीं शताब्दी के अंत तक पूर्वीय समस्या और भी जटिल हो गई थी और तुर्की में एक नया उग्र राजनीतिक दल 'यंग टर्क' के नाम से उठ रहा था जिससे ग्रीक राष्ट्रीयता को महान् खतरा पैदा हो गया था। अतएव जार्ज प्रथम ने इस बात की आवश्यकता महसूस की कि बालकन राष्ट्रों को एकता के सूत्र में बाँधकर इस तुर्की उभार का सामूहिक रूप से सामना किया जाय। अतः १९१२ ई० में इसने बालकन लीग की रचना में एक महत्वपूर्ण कदम उठाया और अपने सतत प्रयत्न से इस संगठन को स्थायित्व देने की चेष्टा की। दुर्भाग्यवश सैलोनिका में एक षड्यंत्र करके इसका वध कर दिया गया और इसके स्थान पर इसके पुत्र कांस्टैंटाइन को राजगद्दी ग्रहण करनी पड़ी।

जार्ज प्रथम प्रतिभाशाली, दूरदर्शी एवं निपुण शासक था। प्रजा के प्रति उसकी वास्तविक सहानुभूति थी। यही कारण था कि यद्यपि वह ग्रीक जनता के लिये विदेशी था, फिर भी अपने उदार शासन और मृदु व्यवहार से वह उनका प्रेमपात्र बन गया था। ग्रीक राष्ट्रीयता को इसने एक नूतन दिशा बताई थी और बालकन लीग की रचना में इसके प्रयत्न चरितार्थ हुए थे। यदि उसका वध न कर दिया गया होता तो यह निश्चय था कि प्रथम विश्वव्यापी युद्ध में ग्रीक जगत् को संभवतः वह अशांति न झेलनी पड़ती जिसने सभी वर्गों को उद्भ्रांत कर दिया था।

जार्ज द्वितीय — जार्ज प्रथम का एकमात्र पुत्र। जार्ज ऑगस्टस (१६८३-१७६०) ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैंड का राजा था। १७०८ का क्वाडेरंडे का संघर्ष इसके जीवन की महत्वपूर्ण घटना है। इसका मित्रसमुदाय तथा व्यसन दोनों ही पिता के लिये आपत्तिजनक थे। पूरे समय तक बाप-बेटे का मनोमालिन्य राजनीतिक विवादों का विषय बना रहा। १७२७ में वह अपने पिता के मरने पर इंग्लैंड के सिंहासन पर बैठा। इसकी रानी कैरोलाइन ने इंग्लैंड की राजनीति में पर्याप्त प्रभाव पैदा कर लिया था और वालपोल के १७४६ ई० तक शासन में बने रहने का यह प्रमुख कारण था। अपने पिता की ही भाँति इसने भी इंग्लैंड के साधनों का उपयोग हनोवर के स्वार्थों के रक्षण तथा वर्धन में लगाया। इसने आस्ट्रिया के उत्तराधिकार युद्ध में मेरिया थेरेसा की नीति का समर्थन किया। १७४७ के डिटिंगन की विजय के अवसर पर वैयक्तिक रूप से स्वयं सैन्यसंचालन कर इंग्लैंड की जनता के संमुख एक गौरवपूर्ण प्रमाण रखने की चेष्टा की। शासक की स्थिति से इसने इंग्लैंड की वैधानिक मान्यताओं तथा मूल्यों का पूर्ण रूप से संमान किया जिसके परिणामस्वरूप इंग्लैंड की मंत्रिमंडलप्रणाली को और भी प्रश्रय मिला। प्रशासकीय मामलों में इसका हस्तक्षेप नगण्य था। इसकी मृत्यु सप्तवर्षीय युद्ध के मध्य हुई।

जार्ज द्वितीय (हेलनीज) (१८९०-१९४७) जार्ज द्वितीय हेलनीज का राजा था। यह राजा कांस्टैंनटाइन का ज्येष्ठ पुत्र था। इसकी सहानुभूति जर्मनी के साथ थी। अतः पिता ही नहीं वरन् सारे मित्रराष्ट्रों के समर्थन से यह वंचित था। किंतु प्रथम विश्वव्यापी युद्ध के उपरांत कुछ राजनीतिक घटनाचक्र ऐसा रहा कि कांस्टैंटाइन शासन से अपदस्थ कर दिया गया और यह शासन पर आरूढ़ हुआ। जनता फिर भी विगत स्मृतियों से दुखी थी, अतः आंतरिक विद्रोह होते रहे। कुछ समय उपरांत इसपर यह संदेह किया गया कि इसने देश के विधान को समाप्त कर देने का कुचक्र किया था। कुछ ऐसे प्रमाण भी मिले जिन्होंने दृढ़ता के साथ सिद्ध किया कि इसने निरंकुश व्यवस्था हेलनीज को देनी चाही थी, अतएव क्षुब्ध जनता और संसद् ने इसका निष्कासन किया। ग्रीस में मार्च, १९२४ ई० को एक गणतंत्रीय विधान दिया गया। गणतंत्रीय विधान घोषित हो जाने पर जार्ज द्वितीय ने अपना अधिकार पुनः प्राप्त करने के लिये जनता के स्वार्थों की दुहाई दी और फिर धीरे धीरे वह ग्रीक जनता का प्रेमभाजन बनने लगा। यह क्रम १९३५ तक चलता रहा जब एक साधारण जनमत से इसे फिर अपनी राजगद्दी प्राप्त हुई और यह दूसरी बार ग्रीस का राजा बना। शीघ्र ही रायलिस्ट दल के नेता मेटक्साज (Mataxas) ने विधान को समाप्त कर अधिनायकवादी व्यवस्था जारी की। जब १९४१ ई० में मुसोलिनी ने ग्रीस पर आक्रमण किया तो ग्रीस ने मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध की घोषणा की। किंतु धुरी शक्तियों ने ग्रीस को परास्त और नतमस्तक कर दिया था। जार्ज को विदेशों में शरण ढूँढ़नी पड़ी। युद्ध समाप्त होने पर मित्रराष्ट्रों की सहायता से रायलिस्ट दल फिर सत्तारूढ़ हुआ तथा एक साधारण जनमत से जार्ज ने पुनः शक्ति ग्रहण की और वह तीसरी बार ग्रीस का राजा हुआ।

उपर्युक्त घटनाचक्रों से यह स्पष्ट है कि जार्ज द्वितीय एक असाधारण परिस्थिति में ग्रीस का राजा बना और जीवन भर असाधारण परिस्थितियों से संघर्ष करता रहा। उसमें उत्साह और अध्यवसाय की प्रचुरता थी। घोर संकटों के बीच धैर्य और बुद्धिमानी से काम लेते हुए उसने बार बार अपनी खोई शक्ति प्राप्ति की, और वह भी उस राष्ट्र से जो सदैव हलचल और बवंडर से ही गुजरता रहा। शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गई।

जार्ज तृतीय — जार्ज फ्रेड्रिक विलियम (१७३८–१८२०) ग्रेट ब्रिटेन तथा आयरलैंड का राजा था। यह युवराज फ्रेड्रिक का पुत्र तथा जार्ज द्वितीय का प्रपौत्र था। इसका लालन-पालन इंग्लैंड के वातावरण में ही हुआ था अतः यह अपने पूर्वशासकों की अपेक्षा वहाँ की व्यवस्था को हृदयंगम कर चुका था। उसकी शिक्षा प्रमुखतः अपनी माता और अर्ल ऑव ब्यूट के तत्वावधान में हुई थी। इसने बोलिंगब्रूक की पुस्तक 'पेट्रियट किंग' को ही अपनी बाइबिल बनाया और जब १७६० ई० में यह राजपद पर आसीन हुआ तो इसने राजा की प्रतिष्ठा स्थापित करने का प्रयत्न किया किंतु इसके राजतिलक तक इंग्लैंड की राजनीतिक परिस्थिति में व्यापक परिवर्तन हो चला था। राजा के स्थान पर मंत्रिमंडल सत्तारूढ़ था और वालपोल के दीर्घकालिक मंत्रित्व में मंत्रिमंडलीय प्रणाली पर्याप्त मात्रा में स्थापित हो चुकी थी। शासन का भार लेते ही उसने राजप्रभुतावाली अपनी आकांक्षा स्पष्ट कर दी। इसी निश्चय के अनुसार उसने अपने मंत्रियों का चुनाव अपने मन के अनुकूल कौशल से करना चाहा। इस अर्थ उसने अपना एक राजनीतिक दल बनाना प्रारंभ किया जिसे किंग्स फ्रेंड्स की संज्ञा दी गई और शासन के प्रत्येक उच्च पद पर राजा के मित्र नियुक्त किए जाने लगे। पार्लिमेंट के चुनाव में भी राजा के मित्र उम्मेदवार घोषित किए गए। लगा कि इंग्लैंड से राजनीतिक स्वाधीनता शीघ्र ही लुप्त हो जाएगी।

कुछ समय बाद जार्ज तृतीय अर्ल ऑव ब्यूट को अपना प्रथम प्रधानमंत्री नियुक्त कर राजा के विशेषाधिकारों की पुनरावृत्ति उस रूप से करती

लगा। परंतु इसी समय अमेरिका में एक आंदोलन चल पड़ा—वहाँ की जनता इंग्लैंड द्वारा लगाए गए असहनीय करों पर अपना रोष प्रकट करने लगी। आंदोलन ने अमरीकी स्वातंत्र्य-संग्राम का रूप धारण किया और उस उपनिवेश ने स्पष्ट घोषित कर दिया कि जब तक उसका ब्रिटिश पार्लियामेंट में प्रतिनिधित्व न हो, उस पार्लियामेंट को उसपर कर लगाने का अधिकार नहीं। उत्तर में जार्ज तृतीय ने उग्र दमन और कठोरता का व्यवहार किया और यह बात स्पष्ट कर दी कि उपनिवेश की जनता केवल प्रार्थना कर सकती है, शासन का दावा नहीं। अमरीकी स्वातंत्र्य-संग्राम ने उग्र रूप धारण किया जिसमें जार्ज के अविनीत आचरण ने अग्नि में ईंधन का काम किया। इस युद्ध के दो परिणाम हुए। एक तो यह कि जो अंग्रेज राजनीतिज्ञ राजा की निरंकुश नीति का अवसान देखना चाहते थे वे सुखी हुए। दूसरे यूरोप की वे शक्तियाँ जो औपनिवेशिक संघर्ष में ब्रिटेन से पराजित हो चुकी थीं, विशेष प्रसन्न हुईं। फ्रांस इस युद्ध के द्वारा अपने प्रतिकार की भावना को फलवती देखना चाहता था। वह इससे संतुष्ट हुआ। बाह्य और आंतरिक दोनों ओर से पर्याप्त बाधाएँ प्रस्तुत हुईं और जब यूरोप की बड़ी शक्तियों ने अमरीका के साथ सक्रिय सहयोग किया तब वार्साई की संधि के द्वारा अमरीकी स्वाधीनता की घोषणा को मान्यता प्रदान कर दी गई।

इस युद्ध ने जार्ज तृतीय के मनोरथों को एक महान् आघात दिया और उसकी निरंकुश व्यवस्था शिथिल पड़ने लगी। पूरी असफलता का उत्तरदायित्व जार्ज तृतीय के कंधों पर डाला गया, अब वह इस स्थिति में नहीं था कि ब्रिटिश जनता के सामने अपनी बात प्रभावशाली ढंग से रख सके। नया वातावरण राजनीति में प्रतिबिंबित होने लगा और जार्ज तृतीय का दूसरा प्रधान मंत्री राकिंघम १७८३ में मर गया तो उसके उत्तराधिकारी लार्ड शैलबर्न में इतनी क्षमता नहीं थी कि वह अपने प्रतिद्वंद्वी राजनीतिज्ञों के आघातों का सामना सफलतापूर्वक कर सके और शीघ्र ही फॉक्स और नार्थ के मिले जुले मंत्रिमंडल ने शासनसूत्र सँभाला। किंतु यह राजनीतिक मसलहत भी अधिक समय तक कारगर न हो पाई। इंडिया बिल के प्रश्न पर इस मंत्रिमंडल में घोर विभाजन पैदा हो गया और देश के राजनीतिक वातावरण को ध्यान में रखते हुए जार्ज तृतीय को इस मंत्रिमंडल का विघटन करना पड़ा। इस समय इंग्लैंड के राजनीतिक अंतरिक्ष में एक नया नक्षत्र विलियम पिट के व्यक्तित्व में आ गया था जिसने पार्लियामेंट में प्रवेश करते ही राष्ट्र को अपने प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का संकेत दे दिया था। जार्ज तृतीय ने अपनी इस नैराश्यपूर्ण और अस्तव्यस्त स्थिति में विलियम पिट को मंत्रिमंडल बनाने के लिये आमंत्रित किया।

१७८८ ई० में जार्ज तृतीय की मानसिक स्थिति विक्षिप्त हो गई और अब उसमें हठ और चिड़चिड़ापन आ गया था तथा १७८९ में फ्रांस में राज्यक्रांति छिड़ जाने से जार्ज तृतीय के राजनीतिक विचारों को और भी आघात पहुँचा। क्योंकि राज्यक्रांति समता, बंधुत्व और राष्ट्रीयता के सिद्धांत को लेकर चली थी, क्रांति का इंग्लैंड में महान् स्वागत हुआ। इसका कारण यह भी था कि इंग्लैंड की जनता जार्ज तृतीय की निरंकुश व्यवस्था से रुष्ट थी। कुछ ही समय उपरांत १८०१ ई० में 'ऐक्ट ऑव यूनियन' के पास हो जाने से जार्ज तृतीय को और भी पीड़ा पहुँची क्योंकि वह कैथोलिकों को त्राण देने के विरुद्ध था। और पिट का त्यागपत्र इस वातावरण में स्वाभाविक ही हो गया था। पिट के स्थान पर ऐडिंग्टन प्रधान मंत्री हुआ। ऐडिंग्टन के ही तत्वावधान में एमीन्स की संधि हुई जिसकी निंदा सारे ब्रिटेन में हुई और ब्रिटिश जनता को अनुभूति हुई कि नैपोलियन के ज्वार को रोकने में पिट ही समर्थ हो सकेगा। अतएव जब १८०४ में इंग्लैंड और फ्रांस का युद्ध फिर छिड़ा तो पिट पुनः मंत्रिमंडल बनाने के लिये बाध्य किया गया। यह समय इंग्लैंड के लिये अत्यधिक दारुण था। नैपोलियन के युद्धों ने जो अशांति पैदा कर दी थी उसमें पिट का व्यक्तित्व इतनी शीघ्रता से ख्याति प्राप्त कर रहा था कि जार्ज तृतीय की ओर रंचमात्र भी ध्यान देने का अवकाश ब्रिटिश जनता को न था। हाँ, कैथोलिकों को त्राण देने की योजना का उसने सक्रिय विरोध किया जिसके फलस्वरूप कैथोलिकों को १८१९ तक प्रतीक्षा करनी पड़ी।

इस अवधि में जार्ज तृतीय की मानसिक अस्वस्थता एवं चिड़चिड़ापन बढ़ता ही गया और उसका वैयक्तिक शासन १८११ तक समाप्त हो गया। यद्यपि वह नौ वर्ष तक और जीवित रहा, तथापि इस अवधि में वह मानसिक रूप से अस्वस्थ ही नहीं था, वरन् अंधा भी हो चला था। राजनीतिक जीवन अधिक बोझिल हो जाने के कारण जार्ज तृतीय अपने गार्हस्थ्य जीवन में कुछ अधिक दिलचस्पी न ले सका था। उसने १७६१ ई० में शार्ललोट सोफिया से विवाह किया, जिससे नौ पुत्र और छह पुत्रियाँ हुई थीं। उसकी संतान को यथेष्ट वात्सल्य प्राप्त न होने के कारण एक नियमित और यथोचित विकास से रहित होना पड़ा। उसका ज्येष्ठ पुत्र जार्ज रीजेंट नियुक्त किया गया जो उसकी मृत्यु (१८२०) तक उस पद का कार्यभार सँभालता रहा।

जार्ज तृतीय स्वभाव से उग्र, अहंमन्यता के भावों से आप्लावित, उस शासनसूत्र की कल्पना करता था जहाँ मंत्रिमंडल, पार्लियामेंट और न्याय-व्यवस्था सभी उसके संकेत पर संचालित होती थीं। यह उसके व्यक्तित्व का ही प्रभाव था कि उसने अपनी आकांक्षाओं को कार्यरूप में परिणत करना चाहा। यह दूसरी बात थी कि अमरीकी स्वातंत्र्य-संग्राम तथा फ्रांस की राज्यक्रांति ऐसी व्यापक घटनाएँ उसके शासन के लगभग अंतिम चरण में घटित हुईं, जिनका प्रभाव इतना विश्वव्यापी हो गया था कि प्रत्येक इंग्लिश व्यक्ति को अपनी पूरी क्षमता और शौर्य के साथ देश की रक्षा में उतरना पड़ा, अन्यथा जार्ज तृतीय की नीतियाँ निरंकुश व्यवस्था लाने में क्रियाशील हो गई थीं और कुछ समय के लिये तो राजा के विशेषाधिकारों की पुनरावृत्ति हो ही गई थी। यदि वह थोड़ी भी दूरदर्शिता को अपनाता और मंत्रिमंडल को समाप्त करने के स्थान पर उसे प्रगति देता तो इंग्लैंड के वैधानिक शासन के इतिहास में उसका नाम विक्टोरिया और जार्ज पंचम के पूर्व निश्चय ही गौरवान्वित ढंग से लिया जाता। किंतु बाल्यकाल की शिक्षा दीक्षा और संस्कार उसके मस्तिष्क पर इतनी अमिट छाप छोड़ चुके थे कि उसे विशेष दिशा में कदम बढ़ाना था जहाँ आधी ही मंजिल पार करने पर उसकी टाँग टूट गई।

सं० ग्रं० — आई० डी० जो० डेविस : लाइफ ऑव जार्ज थर्ड); बी० विल्सन : 'जार्ज थर्ड ऐज मैन, मोनर्क ऐंड स्टेट्समैन)

जार्ज चतुर्थ (जार्ज आगस्टस फ्रेडरिक) — (१७६२–१८३०) ग्रेट ब्रिटेन तथा आयरलैंड का राजा था। यह जार्ज तृतीय का ज्येष्ठ पुत्र था। यह प्रतिभासंपन्न था और रूपलावण्य के लिये प्रसिद्ध था। इसका जीवन अमितव्ययता का प्रतीक था। व्यसनों में इसकी रुचि थी और यह साथियों के संपर्क में निरंतर रहता था। इसके व्यसनी जीवन ने राज्य के ऋणभार में वृद्धि कर दी। व्यसनों में अनुरक्त होने के कारण पिता से इसके

संबंध कटु होते गए और १७८१ ई० में इसे कार्टन हाउस में अलग निवास दे दिया गया। नए निवासस्थल में उसका जीवन और भी अनियंत्रित हो गया था और १७५८ ई० में उसने गुप्त रीति से मेरिया फ़िजरबर्ट नाम की एक कैथोलिक विधवा से विवाह किया जो अपने सौंदर्य के लिये विख्यात थी। किंतु ऐक्ट ऑव सैटिलमेंट के पास होने तक वह इस विधवा को स्पष्ट रूप से अपनी धर्मपत्नी घोषित न कर सका, यद्यपि सारे साम्राज्य में इस संबंध की चर्चा थी और विवाह के गुप्त रखने के कारण राजवंश पर अनेक प्रकार की छीटाकशी होती रही। उसका वैवाहिक जीवन अब भी नवीनता की खोज में था और १७८५ ई० में उसने एक जर्मन प्रोटेस्टैंट राजकुमारी कैरोलाइन ऑव ब्रिन्सविक से विवाह कर अपने रागात्मक जीवन का नया अध्याय प्रारंभ किया। इस विवाह से उसके एक पुत्री उत्पन्न हुई जिसका नाम शार्लोलेट था।

१८११ ई० में जार्ज तृतीय की मानसिक अस्वस्थता बढ़ जाने पर यह रीजेंट (प्रतिसंरक्षक) नियुक्त किया गया। इस पद पर वह जार्ज तृतीय की मृत्यु तक कार्यभार सँभालता रहा। इसी कारण वह इंग्लैंड में प्रिंस रीजेंट कहलाया। रीजेंट हो जाने पर उसके जीवन की अनुशासन-हीनता और उच्छृंखलता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। साधनों के आधिक्य और सुविधाओं के प्राचुर्य ने उसकी वासना और व्यसन की प्रवृत्तियों को और भी प्रश्रय दिया और उसके वैयक्तिक जीवन की विडंबनाएँ एक सार्वजनिक अपवाद का कारण बनीं। इंग्लैंड की जनता उस अवसर की प्रतीक्षा करने लगी जब वह इस विलासी शासक से छुटकारा प्राप्त करती। १८२७ ई० में पिता की मृत्यु पर उसका राज्यतिलक हुआ। किंतु वह अपनी पत्नी रानी कैरोलाइन से पहिले ही संघर्ष कर चुका था और अब उसके विरोधियों ने इस बात की चेष्टा की कि राजतिलक के अवसर पर कैरोलाइन भी गद्दी पर उसके साथ ही बैठे। इस योजना ने एक वीभत्स रूप ग्रहण किया और राजा के विरोध के कारण परित्यक्ता रानी केवल उपहास का कारण बनी। उसके परित्याग के प्रश्न को लेकर पार्लिमेंट में विषाक्त वातावरण पैदा हो गया। समाचार-पत्रों तथा अन्य सार्वजनिक साधनों के द्वारा इस कृत्य की निंदा की गई। राजा के विरोधियों ने कैरोलाइन के प्रश्न को लेकर अपने राजनीतिक उद्देश्यों को सिद्ध करना चाहा। तलाक का बिल अंततः हाउस ऑव लार्ड्स से केवल नौ के बहुमत से पास हुआ। लार्ड ब्रोहम ने, जो राजा का घोर शत्रु था, इस बिल पर इतने कुशल वक्तृत्व का प्रदर्शन किया कि सारा जनमत इस बिल पर आकृष्ट हो गया। मंत्रिमंडल इस बात के लिये विवश हो गया कि कैरोलाइन के विरुद्ध लगाए गए आरोपों को समाप्त कर दिया जाय। इस घटना ने सारे इंग्लैंड मे प्रसन्नता की लहर दौड़ा दी। राजा अपने तलाक के उद्देश्य में असफल रहा। किंतु शीघ्र ही कैरोलाइन की अकस्मात् मृत्यु हो जाने के कारण इस अध्याय की समाप्ति हुई। यद्यपि मृत्यु पर जार्ज चतुर्थ को घोर संवेदनशील देखा गया, जनता ने राजा और सरकार के तलाक संबंधी कार्य की इतनी निंदा की कि सरकार का परिवर्तन अवश्यंभावी हो गया।

अपने शासन के दस वर्षों में उसने कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया। पूरे शासनकाल में वह जनता की दृष्टि में अप्रिय ही बना रहा। जार्ज चतुर्थ जहाँ राजनीतिक और वैयक्तिक जीवन की दृष्टि से अपने को घृणास्पद बना चुका था वहीं वह कला और साहित्य का संरक्षक भी था। बाल्यकाल से ही उसकी रुचि कला और साहित्य की ओर बढ़ रही थी। उसके अमितव्ययी होने में उसकी कलात्मक प्रवृत्तियों का उत्तर-दायित्व कम नहीं था। राजनीति की विषमताओं के मध्य उसकी कोर्ट में बड़े बड़े साहित्यकार एवं कलाकार सतत रूप से संरक्षण प्राप्त करते रहे। वह स्वयं भी नृत्य, संगीत, घुड़सवारी और काव्यजगत् की ओर पर्याप्त प्रगति कर चुका था। उसकी एकमात्र संतान शार्लोट की मृत्यु १८१७ ई० में हो चुकी थी। यह ऐसी घटना थी जिसने उसके जीवन में कुछ नैराश्य पैदा कर दिया था और कुछ इतिहासकारों का ऐसा मत है कि पुत्री की स्मृति की पीड़ा से छुटकारा पाने के लिये ही उसने नशे की मात्रा बढ़ा दी थी। उसका गार्हस्थ जीवन सदैव अशांत रहा। संभवतः उसकी राजनीतिक उदासीनता का यह भी एक कारण था।

सं० ग्रं०—आर० हुरर्व : 'मैम्वार्स ऑव जार्ज फोर्थ'; आर० फुलफर्ड : 'लाइफ ऑव जार्ज फोर्थ।'

जार्ज पंचम (जार्ज फ्रेडिरिक अर्नेस्ट अल्बर्ट) – (१८६५–१९३६) ग्रेट ब्रिटेन और ब्रिटेन के दूरस्थ डोमिनियनों के राजा तथा भारत के सम्राट् थे। ये महारानी विक्टोरिया के पौत्र तथा एडवर्ड सप्तम के द्वितीय पुत्र थे। १८७७ ई० में ये अपने भाई ड्यूक ऑव क्लैरेन्स के साथ जलसेना में भर्ती हुए। इनकी महत्वाकांक्षा जलसेना में विशिष्ट स्थान प्राप्त करने की थी और शीघ्र ही इन्हें सब-लेफ्टिनेंट का पद प्राप्त हुआ। १८८१ ई० में ये लेफ्टिनेंट बने। अपनी सैनिक क्षमताओं के कारण ये उत्तरोत्तर उन्नति करते रहे और १८९० ई० में इन्हें एच० एम० एस० थ्रस्ट का कमांड दिया गया जिसमें इनकी ख्याति और भी बढ़ी। १८९२ ई० में युवराज पद पर आरूढ़ हो जाने के कारण इन्हें अपनी जलसेना के कमीशन का परित्याग करना पड़ा क्योंकि ड्यूक ऑव क्लेरेंस की मृत्यु ने यह स्पष्ट कर दिया कि निकट भविष्य में उन्हें शासनभार ग्रहण करना होगा। इसी वर्ष ये ड्यूक ऑव यार्क कहलाए। १८९३ ई० में इन्होंने राजकुमारी विक्टोरिया मेरी आगस्टा से विवाह किया। १९०१ ई० में इन्होंने प्रथम संघीय संसद का उद्घाटन करने के लिये अपनी आस्ट्रेलिया की यात्रा प्रारंभ की। आस्ट्रेलिया से लौटने पर इन्हें प्रिंस ऑव वेल्स की उपाधि से विभूषित किया गया।

१९१० ई० में इनका राज्यतिलक हुआ। १९११ ई० में ये भारत पधारे। इस समय यूरोप प्रथम विश्वव्यापी युद्ध की ओर जा रहा था। अतएव इन्हें कभी कभी पश्चिमी मोर्चों की यात्रा भी करनी पड़ी। युद्धकालीन परिस्थिति का समुचित सामना करने के लिये इन्होंने ब्रिटिश सरकार को जागरूक और चैतन्य रखने की भरसक चेष्टा की। १९१७ ई० में इन्होंने यह घोषणा की कि राजभवन भविष्य से हाउस ऑव विंडसर के नाम से संबोधित किया जायगा। इन्होंने क्रम से बेलजियम और रोम की यात्रा १९२२ और २३ में की। सम्राट् की इन यात्राओं ने बेलजियम और रोम में पर्याप्त सद्भावना तथा मैत्रीपूर्ण संबंधों की स्थापना में सहायता पहुँचाई। १९२८ ई० में ये घोर अस्वस्थता के शिकार बने किंतु धीरे धीरे स्वास्थ्यलाभ करते गए। प्रथम विश्वव्यापी युद्ध के उपरांत इंग्लैंड ने जो आशातीत प्रगति की, उसके परिणामस्वरूप १९३५ के मई महीने में इनकी रजत जयंती का समारोह आयोजित किया गया। २० जनवरी, १९३६ ई० को सैंड्रिघम में इनका देहांत हुआ। इनका आदरणीय व्यक्तित्व, जीवन की सरलता तथा जनता के प्रति अपार स्नेह इत्यादि ऐसे गुण थे जिन्होंने इन्हें अद्वितीय सर्वप्रियता दी। इनके पांच पुत्र थे—एडवर्ड, जो एडवर्ड अष्टम कहलाए, एलबर्ट जो जार्ज षष्ठ, एमरी जार्ज हुए ड्यूक ऑव केंट तथा जान। इनको एक पुत्री थी जिसका नाम मेरी था।

सं० ग्रं० — ब्रैट, ए० । लाइफ ऑव जार्ज फिफ्थ, १९३६; मोरे, वी० : किंग जार्ज फिफ्थ, १९४७ ।

जार्ज पंचम (हनोवर)—(१८१९–१८७८) यह १८५१ से १८६६ ई० तक हनोवर का राजा था। हनोवर के राजा अर्नेस्ट आगस्टस का एकमात्र पुत्र तथा इंग्लैंड के जार्ज तृतीय का पौत्र था। १८३३ ई० में, अपनी किशोरावस्था में ही वह अंधा हो गया किंतु भाग्य ने उसका साथ दिया और १८५१ ई० में अपने पिता की मृत्यु पर वह हनोवर के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसकी राजनीतिक विचारधारा घोर संकीर्णता को लेकर चली थी और राष्ट्रीयता के उस युग में जबकि बिस्मार्क जर्मनी के सभी राज्यों को प्रशा के तत्वावधान में एकता के सूत्र में बांधना चाहता था, जार्ज पंचम ने हनोवर के अस्तित्व को अक्षुण्ण रखने की चेष्टा की। अपने आंतरिक शासन में भी वह उन सभी प्रभावों को दबाने की चेष्टा करता रहा जो फ्रांस की राज्यक्रांति की देन थे। उसने प्रेस पर कठोर नियंत्रण लगाया जिससे क्रांतिकारी विचार हनोवर में प्रसार न पा सकें। उसके सभी प्रयत्नों के उपरांत भी हनोवर अपनी सत्ता की रक्षा न कर सका और १८६६ ई० में प्रशा के चांसलर बिस्मार्क ने इसका विलयन कर प्रशा में मिला दिया। किंतु जार्ज शांत न बैठ सका और राजगद्दी को पुनः प्राप्त करने के लिये इसने अनेक असफल प्रयत्न किए। बिस्मार्क की कठोर नीति और दूरदर्शिता के संमुख इसकी सारी चेष्टाएँ व्यर्थ हुईं। अपने अधिकार पद की चेष्टा में इसने यूरोप की कुछ राजधानियों की यात्रा की और प्रशा के विरुद्ध यूरोपीय राष्ट्रों का एक गुट बनाना चाहा। जब यह पेरिस की यात्रा कर रहा था तो इसकी मृत्यु हो गई तथा विंडसर के सेंट जार्ज के गिरिजाघर में इसे दफना दिया गया।

जार्ज पंचम की गणना उन शासकों में की जाती है जो संकीर्ण विचारों के होते हुए भी कठोर नियंत्रण में विश्वास रखते थे। यह इसका दुर्भाग्य था कि अल्पावस्था में ही यह अंधा हो गया। किंतु इसके प्रयत्नों और कूटनीतियों को देखते हुए अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि वह नेत्रविहीन न होता तो संभवतः जर्मनी की राजनीति का एक दूसरा पक्ष इतिहास में आता जिसका प्रमुख पृष्ठ जार्ज और बिस्मार्क का द्वंद्व होता।

जार्ज षष्ठ (ग्रेट ब्रिटेन)—अलबर्ट फ्रेडरिक आर्थर जार्ज (१८९५–१९५२) ग्रेट ब्रिटेन तथा ब्रिटेन के दूरस्थ डोमीनियनों के राजा और भारत के सम्राट् थे। १५ अगस्त, १९४७ ई० को भारत स्वाधीन हो गया तो इनकी उपाधियों में से भारतसम्राट् की उपाधि हटा दी गई। ये जार्ज पंचम के द्वितीय पुत्र थे। इनकी शिक्षा रायल नेवल कालेज (आसबर्न) और कैंब्रिज में हुई थी। १९२० ई० में इन्हें ड्यूक ऑव यार्क की उपाधि से विभूषित किया गया। १९२३ ई० में इनका विवाह अर्ल ऑव स्ट्रेथमूर की कन्या एलिजबेथ से हुआ था। इन्होंने पूर्वी अफ्रीका, वेस्ट इंडीज, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड की यात्रा की थी। १९३६ ई० में इनके बड़े भाई एडवर्ड अष्टम ने जब राज्य का त्याग कर दिया तो ये इंग्लैंड के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए। अपनी जनतांत्रिक अपील के कारण ये जनता में अत्यधिक प्रिय हुए तथा अपनी उच्च कर्तव्यपरायणता से इन्होंने क्राउन की प्रतिष्ठा बढ़ाई। ये पहले ब्रिटिश सम्राट् थे जिन्होंने १९३९ में अमेरिका की यात्रा की। द्वितीय विश्वव्यापी युद्ध में इन्होंने सभी ब्रिटिश मोर्चों की यात्रा की थी—फ्रांस १९३९, माल्टा १९४३ तथा नार्वे १९४४। १९४९ ई० में इनके पैर का आपरेशन हुआ था और १९५२ ई० में सैंड्रिंघम में इनकी मृत्यु हुई। इनके दो लड़कियाँ थीं, पहली राजकुमारी एलिजाबेथ जिसे ऐडिनबर्ग की ड्यूक की उपाधि मिली थी तथा जिसने इनकी मृत्यु पर शासनभार ग्रहण किया था; दूसरी का नाम राजकुमारी मारगरेट है।

जार्ज षष्ठ का शासनकाल द्वितीय विश्वव्यापी युद्ध की घटनाओं तथा उसके उपरांत ब्रिटिश साम्राज्य के विघटन से भरा है। इस अशांतिकारक एवं विषम परिस्थिति में जिस तत्परता एवं सावधानी से इन्होंने ब्रिटिश राज्यतंत्र को चलाया और मंत्रिमंडल के साथ पूर्ण सहयोग किया, उसकी जितनी ही सराहना की जाय कम है। परिस्थिति का समुचित अध्ययन एवं उसके अनुसार व्यवहार इनका ऐसा विशेष गुण था जिससे ब्रिटेन के महान वैधानिक शासकों में इनकी गणना की गई।

जार्ज ऑव पिसीडिया का जन्म एशिया माइनर के पिसीडिया नामक स्थान पर हुआ था। निश्चित जन्म या मृत्युतिथि तो नहीं मालूम, लेकिन ये सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में रहे। कवि के रूप में बाइजैंटियम के साहित्य में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। इनके समय में बाइजैंटियम साम्राज्य का शासक हेराक्लियस (Heraclius) था। उसने फारस के तत्कालीन शासकों के विरुद्ध कई युद्ध किए और उनकी विस्तारवादी नीति को सफल होने से रोका। उस समय के युद्ध केवल साम्राज्यविस्तार के उद्देश्य से ही नहीं, धर्मप्रचारार्थ भी लड़े जाते थे। फारस का साम्राज्य ईसाई धर्म के लिये भयंकर चुनौती सिद्ध हो रहा था। हेराक्लियस बड़ा ही पराक्रमी सम्राट् था और उसने फारस की सेनाओं का बढ़ाव रोककर ईसाई धर्म की भी रक्षा की। जार्ज ऑव पिसीडिया ने अपनी तीन कविताओं में (Expedition of Heraclius, Heracliad और Recovery of the true Cross) अपने सम्राट् के शौर्य और पराक्रम का गुणगान किया है। एक अन्य कविता (Attack of the Avars)' में इन्होंने सन् ६२५ ई० की उस लड़ाई का वर्णन किया है जिसके परिणामस्वरूप कुस्तुंतुनिया ईसाइयों के हाथ में आ गया। इन कविताओं में केवल विजेताओं के पराक्रम का ही वर्णन नहीं है, ईश्वर के प्रति कृतज्ञता के भाव की उत्साहपूर्ण अभिव्यक्ति भी है। इनकी सबसे लंबी रचना 'Hexameron' है जिसमें इन्होंने मध्य युग में लोकप्रिय सृष्टि की कहानी कही है। सृष्टि की छोटी से छोटी वस्तुओं में भी ईश्वर विराजमान है। उसकी महिमा सर्वत्र देखी जा सकती है। इन्होंने एक कविता 'Human life' भी लिखी। मध्ययुगीन यूनानी कवियों ने मुख्यतः प्रार्थना (Hymns) और चुटकुलों के रूप में छोटी कविताओं (Epigrams) की ही रचना की। जार्ज ऑव पिसीडिया ने लंबी कविताएँ भी लिखीं जो प्रायः सभी काव्योचित गुणों से परिपूर्ण हैं।

[तु० ना० सिं०]

जार्ज, कुस्तुंतुनिया का यह बैजंटाइन इतिहासकार तथा पादरी था जिसका जीवनकाल ८वीं शताब्दी के अंतिम चरण और नवीं शताब्दी के आरंभ में बताया जाता है। यह कुस्तुंतुनिया के पैट्रियार्क टैरेसियस (७८४-८०६) का विश्वासप्राप्त साथी था। टैरेसियस प्रत्येक कठिनाई में इसी से परामर्श लेता था और इसी के निर्णय को अंतिम मानता था। टैरेसियस की मृत्यु के उपरांत इसने अपनी लेखनी उठाई और ऐडम से लेकर डा० केलेशियन के युग तक की सभी घटनाओं का क्रमिक वृत्तांत देना प्रारंभ किया। यह अपना कार्य संपादित नहीं कर पाया था कि इसकी मृत्यु हो गई किंतु अवशिष्ट कार्य इसके साथी थियोफीनेस कन्फेशन ने पूर्ण किया। धार्मिक दृष्टिकोण रखते हुए भी इसका यह कार्य अमूल्य है।

जार्ज का महत्व उसके साहित्य में निहित है। मध्ययुग की

शताब्दियों में, जिन्हें उसके अंधकाल की संज्ञा दी गई है, मानव सभ्यता के क्रमिक इतिहास को लेखबद्ध करने का कार्य निश्चय ही दुःसाध्य था। उसे जिस संकल्प एवं अध्यवसाय से जार्ज ने लगभग संपादित कर दिया था वह उसके व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ गया है।

जार्ज, ग्रेबिजांद का (१३६०–१४८४) यूनानी दार्शनिक, जो अरस्तू की रचनाओं के सुविज्ञ अनुवादक तथा शिक्षक के रूप में प्रसिद्ध हुआ, और इसलिये अरस्तुवादी पोप निकोलस पंचम द्वारा निजी सचिव चुना गया। उसने अफलातून की कड़ी आलोचना की जिसका बेसारियान ने कड़ा प्रतिरोध किया। साथ ही उसके द्वारा किए गए अफलातून और अरस्तू की रचनाओं के अनुवाद त्रुटिपूर्ण पाए गए—इन सबके कारण उसकी प्रसिद्धि समाप्तप्राय हो गई। [श्री० स०]

जार्ज द मांक यह बैजंटाइन इतिहासकार था जो माइकेल तृतीय के शासनकाल में (८४२ से ८६७) था। इसने उस समय विगत घटनाओं का एक नियमित वृत्तांत तैयार किया जबकि इतिहास लिखना मानव-जगत् के लिये कोई विशेष आकर्षण की बात नहीं थी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इसने पृथ्वी की रचना के प्रारंभ से लेकर सम्राट् थियोफिलस (८४२) के शासन तक का वृत्तांत देकर साहित्य-जगत् में एक रोमांस पैदा किया। सारी घटनाओं को इसने चार अंकों में क्रमबद्ध किया और जहाँ तक इसकी प्रतिभा तथा अध्ययन पहुँच सकता था, इसने मानव सभ्यता के उन सभी पक्षों तथा अंगों का विवरण दिया जो मानव जगत् को नूतन दृष्टिकोण प्रदान करते थे। इसकी कृति मुख्यतः उन विभेदों, कलह और वैमनस्य को चरितार्थ करने में सफल हुई है जो सामाजिक विघटन के लिये विशेष रूप से उत्तरदायी है। यह मूर्ति-पूजा का पोषक था और उसने अपनी कृति में प्रभावशाली शब्दों में उन तत्वों का घोर विरोध किया जो मूर्तिपूजा का खंडन चाहते थे। उसकी परिभाषा में मूर्तियाँ केवल धार्मिक भावना का ही प्रतिनिधित्व नहीं करतीं वरन् वे मानव के कलात्मक जीवन की अभिव्यक्ति भी हैं। जार्ज द मांक की रचना अपने समय का विश्वसनीय साहित्य है जिसके अध्ययन से नवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की सामाजिक, आर्थिक तथा राज-नीतिक व्यवस्था के विषय में कुछ आधिकारिक रूप से जाना जा सकता है। सभ्यता के उस युग में जबकि मानव में अब भी हिंसक बर्बरता पूर्ण रूप से विद्यमान थी और जहाँ कला और लालित्य की ओर कोई भी विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था, लूटमार के कार्य ही मानव को व्यस्त किए हुए थे। ऐसे समय पृथ्वी की रचना से लेकर अपने समय तक की घटनाओं का क्रमबद्ध वृत्तांत देना जार्ज द मांक की ऐसी अमर देन है जिसके मूल्य की अवहेलना नहीं की जा सकती।

जार्ज लाउडिका सीरिया के लाउडिका का जार्ज एरियन संप्रदाय का अनुयायी, अलेक्जैंड्रिया का आर्कबिशप था। कई वर्षों तक इधर उधर भटकते रहने के बाद ३५६ ई० में यह अलेक्जैंड्रिया पहुँचा जहाँ आर्क-बिशप का स्थान रिक्त था। तत्कालीन एरियन संप्रदाय ने इसकी प्रतिभा से मुग्ध हो इसे आर्कबिशप नियुक्त किया। इस महान् पद पर आरूढ़ होकर इसकी आकांक्षाएँ अब नेतृत्व की ओर गईं। अतः इसने द्वितीय सर्मियन सिद्धांत चलाया जो कट्टर एरियनवाद से साम्य रखता था। इस कृत्य ने इसे शीघ्र ही विवादास्पद बना दिया और जैसे जैसे विरोधाग्नि बढ़ती गई, यह दमन नीति का आश्रय लेता गया। शीघ्र ही इसने कट्टरपंथियों का दमन आरंभ किया जिसके परिणामस्वरूप विद्रोह खड़ा हो गया और इसे अपने स्थान से भागना पड़ा। किंतु सेना में इसके कई समर्थक निकल आए तथा उच्च अधिकारियों को इसने अनेक प्रलोभन देकर अपनी ओर मिलाया और सेना की सहायता से इसका अधिकार पुनः स्थापित किया गया। सेना के साथ षड्यंत्र करने के कारण यह जनता में और भी अप्रिय हो गया क्योंकि अब सामान्य जनता की यही प्रतिक्रिया थी कि सेना पर नियंत्रण प्राप्त कर लेने के बाद इसकी दमन नीति और भी तीव्र हो जायगी। अतएव ३६१ ई० में जनता ने इसका वध कर डाला। इस थोड़ी अवधि में ही एक महंत के स्थान से इसने जो अत्याचार किए उससे उस परंपरा का संकेत मिलता है जो आगे चलकर रोम के पोप द्वारा किए गए अत्याचारों एवं कठोरताओं के लिये कुख्यात है।

जार्ज, संत पाँचवीं श० ई० से संत जार्ज की शहादत के विषय में बहुत सी दंतकथाएँ प्रचलित हैं जिनकी प्रामाणिकता अत्यंत संदिग्ध है। इतना ही निश्चित है कि वह लगभग ३०० ई० में फिलिस्तीन देश के लिड्डा नगर में शहीद हुए। वह शाही सेना के उच्च पदाधिकारी थे, उन्होंने सम्राट् डायोक्लीशन से मिलकर ईसाइयों पर हो रहे अत्याचार के विरुद्ध आपत्ति की। उनके ब्रिटेन आने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। यूनानी पौराणिक कथाओं के अनुकरण पर उनके विषय में निम्नलिखित कहानी सर्वाधिक प्रचलित हो गई है : 'लिबिया (उत्तरी अफ्रिका) के सिलेन नगर के पास एक झील में एक मकर (ड्रैगन) रहता था, जिसे नगरनिवासी प्रति दिन दो भेड़ें अर्पित करते थे। भेड़ें समाप्त होने पर मनुष्यों की बारी आई और इसके लिये प्रति दिन चिट्ठी निकाली जाती थी। किसी दिन राजा की एकमात्र पुत्री के नाम चिट्ठी निकली किंतु उसी समय संत जार्ज वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने मकर को घायल करके राजकुमारी को आदेश दिया कि वह उसके गले में अपना कमरबंद डालकर उसे शहर के अंदर ले आए। वहाँ संत जार्ज ने नाग-रिकों से ईसाई बनने की प्रतिज्ञा कराई और इसके बाद उन्होंने मकर को मार डाला। यह देखकर राजा ने अपनी समस्त प्रजा के साथ ईसाई दीक्षा ग्रहण की।

क्रूसेड के समय संत जार्ज की लोकप्रियता पश्चिम में और विशेष रूप से सैनिकों में बहुत ही बढ़ गई। वह १४वीं शती ई० में इंग्लैंड के संरक्षक संत घोषित किए गए। उनका पर्व २३ अप्रैल को पड़ता है।

[का० बु०]

जार्जिया स्थिति : ३२° ०' उ० अ० तथा ८३° प० दे०। जार्जिया संयुक्त राज्य, अमरीका, का दक्षिणी राज्य है, जो सर्वप्रथम स्थापित होनेवाले १३ अंग्रेजी राज्यों में से एक है। इसकी उत्तर से दक्षिण की अधिकतम लंबाई ३२० मील, चौड़ाई २५४ मील तथा क्षेत्रफल ५८,८७६ वर्ग मील है।

जार्जिया को पाँच प्राकृतिक विभागों मे विभाजित किया जा सकता है। १. कंबरलैंड का पठार — यह उत्तरी पश्चिमी कोने में फैला हुआ है। इसकी ऊँचाई समुद्र के धरातल से १,८०० से लेकर २,००० फुट तक है। कोयले तथा लोहे की खदानें इस विभाग में मिलती हैं, पर कृषि की दृष्टि से इसका महत्व कम है। २. ऐपालेशिएन की घाटी — यह विभाग उत्तरी पठारी भाग के दक्षिण में मिलता है तथा लंबी श्रेणियों द्वारा कई घाटियों में विभक्त है। कुछ समय पूर्व तक सारा प्रदेश चीड़ तथा 'हार्ड वुड' के जंगलों से आच्छादित था, पर अब यह महत्वपूर्ण

कृषिप्रदेश है, जिसमें कपास, मक्का तथा फल और तरकारियाँ उत्पन्न होती हैं। वहाँ पर मैंगनीज की खदानें भी हैं। ३. ऐपालेशिएन पर्वत — यह पर्वतीय भाग इस राज्य के उत्तरी-पूर्वी भाग में है। इसके शिखरों की ऊँचाई २,००० से ५,००० फुट तक है। जंगलों से लकड़ी प्राप्त होती है। यह क्षेत्र खनिज उत्पादन, विशेषकर सोना, फेल्सपार, ग्रेनाइट और क्वार्ट्ज में अधिक धनी है। ४. पीडमॉन्ट पठार — इस क्षेत्र में राज्य का एक तिहाई क्षेत्र आता है। इस भाग में राज्य के कुछ मुख्य नगर ऐटलांटा, कोलंबस, ऑगस्टा और एथेंस स्थित हैं। ५. तटीय मैदान — यह सबसे बड़ा भाग है। राज्य का संपूर्ण दक्षिणी भाग इसमें संमिलित है। कृषि के विचार से यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यहाँ मूँगफली, तंबाकू, शकरकंद तथा तरबूजे की फसलें मुख्य हैं।

इस राज्य का नाम इंग्लैंड के सम्राट् जार्ज द्वितीय के नाम पर पड़ा है। इसे 'एंपायर स्टेट ऑव साउथ' भी कहते हैं, क्योंकि उद्योग धंधों में दक्षिण के राज्यों में जार्जिया बहुत आगे है। [उ० सिं०]

जार्जिया खाड़ी स्थिति : ४५° २०' उ० अ० तथा ८१° ०' प० दे०। यह कनाडा देश के ऑन्टारियो प्रांत में ह्यूरन झील का उत्तर-पूर्वी भाग है। प्रधान झील से यह खाड़ी सौगीन, अर्थात् ब्रूस प्रायद्वीप तथा मैनिटूलिन द्वीप एवं इसके समीपवर्ती द्वीपपुंजों द्वारा पृथक् होती है। खाड़ी की औसत लंबाई १२० मील एवं चौड़ाई ५० मील है तथा इसके प्रवेशद्वार की चौड़ाई २० मील है। ट्रेंट नहर प्रणाली द्वारा यह खाड़ी ऑन्टारियो झील से संबद्ध है। खाड़ी के पूर्वी छोर पर लगभग ३० द्वीपों का एक समूह है, जिसपर 'जार्जियन बे आइलैंड' नामक राष्ट्रीय उद्यान स्थित है। [रा० ना० मा०]

जार्जोने (१४७८–१५११) इतालवी चित्रकार, वास्तविक नाम जार्जियो बारबारेली (या बारबारेला)। कास्तल फ्रांको में जन्मा। इसने प्रायः ऐतिहासिक चित्र बनाए और व्यक्तिचित्रण में रुचि दिखाई। तिशियन के साथ उसने वेनिस शैली का अध्ययन किया। यदि वह अधिक दिन जीवित रहता तो संभवतः तिशियन का प्रतियोगी होता। वेनिस शैली की कई असामान्य और अद्भुत तकनीकों को विकसित करने का श्रेय जार्जोने को ही है। इसकी विविध रंगयोजनाएँ अनेक चित्रकारों ने अपनाई हैं। तत्कालीन चित्रकला पर उसका इतना व्यापक प्रभाव था कि अन्य चित्रकारों से उसके चित्रों का भेद करना कठिन है। फिर भी कुछ चित्र प्रामाणिक रूप से उसके माने जाते हैं, जो संख्या में १२ हैं। उनमें कुछ विशेष उल्लेखनीय हैं, जैसे 'संत फ्रांसिस और लिबरल के साथ सिंहासनारूढ़ मडोना' जिसे उसने कास्तलफ्रांको के चर्च के लिये बनाया था, 'यायावर और सैनिक', 'जार्जोने का परिवार' और 'तीन दार्शनिक' जो वियना में तथा 'सुप्त वीनस' जो ड्रेस्डन गैलरी में संगृहीत हैं।

जार्डन स्थिति : ३१° ०' उ० अ० तथा ३६° ०' पू० दे०। यह अरब प्रायद्वीप के उत्तर-पश्चिम भाग में स्थित एक स्वतंत्र देश है। २६ अप्रैल, १९४९ ई० से पूर्व इसका नाम ट्रैंसजार्डन था। देश की सीमाएँ दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व में सऊदी अरब, उत्तर पूर्व में ईराक, उत्तर में सीरिया एवं पश्चिम में इजरायल हैं। क्षेत्रफल ३६,७१५ वर्ग मील है, जिसमें जार्डन नदी के पश्चिम की २,५०० वर्ग मील भूमि भी संमिलित है (यह पहले ब्रिटेन द्वारा संरक्षित क्षेत्र पैलेस्टाइन के अंतर्गत थी), जिसपर इस देश का अधिकार २४ अप्रैल, १९५० ई० से हुआ है।

यह देश जार्डन नदी की घाटी से पूर्व दिशा की ओर फैलकर सीरिया तथा अरब के मरुस्थल प्रदेशों से मिल जाता है। देश प्रधानतः पठारी है, जिसकी ऊँचाई समुद्रतल से १,५०० से ४,५०० फुट तक है और जो अनेक स्थानों पर गहरी घाटियों के रूप में कटा फटा है। जलवायु मुख्यतः उष्ण-मरुस्थलीय है तथा औसत वार्षिक वर्षा १०" से भी कम है। जार्डन नदी के पश्चिम में स्थित प्रदेश के कुछ भाग का जलवायु भूमध्यसागरीय है तथा वार्षिक वर्षा १०" से २०" तक है।

जार्डन देश की राजधानी ऐम्मैन [जनसंख्या २,४५,००० (१९५२)] है, जो मृत सागर (डेड सी) से २५ मील उत्तर-पूर्व स्थित है। देश की जनसंख्या १६,९०,१२३ (सन् १९६१) अनुमानित है, जिसका आधे से कुछ कम भाग इजरायल से आए हुए अरब शरणार्थियों का है। अधिकांश जनता अरब जातीय है। राष्ट्रीय धर्म इस्लाम है। स्थिर जनसंख्या (जिसके अंतर्गत अरबों से भिन्न अन्य सभी जातिवाले आते हैं) जार्डन नदी के पश्चिम भाग में तथा देश के उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में फैली है। अर्ध-अस्थिरवासी जातियाँ खेतिहर हैं, जो तंबुओं में रहती हैं तथा ऐम्मैन उच्च प्रदेश, केरक और मान के समीप मिलती हैं। अस्थिरवासी जातियाँ देश के समस्त शेष भाग पर फैली हैं तथा जीविकोपार्जन के निमित्त अपने पशुसमूहों पर निर्भर रहती हैं।

देश की अर्थव्यवस्था मुख्यतः यहाँ के कृषि तथा पशुपालन उद्योगों पर निर्भर है। खाद्यान्न की उपज में देश आत्मनिर्भर है। यहाँ जैतून, अंगूर इत्यादि फलों का उत्पादन होता है। जार्डन नदी का तटीय प्रदेश तथा मृत सागर के पूर्व का भाग कृषि की दृष्टि से अधिक उपजाऊ है। देश के औद्योगिक विकास की गति अब तक सामान्य ही रही है। खनिजों के अन्वेषण की ओर ध्यान दिया गया है। सीमेंट, आटा पीसना, तंबाकू, जैतून से तेल निकालना तथा मछली पकड़ना महत्वपूर्ण उद्योग हैं। [रा० ना० मा०]

इतिहास — साउदी अरब के उत्तर पश्चिम में एक राज्य। इसके उत्तर में सीरिया (शाम) और पश्चिम में इजराएल प्रदेश हैं। यहाँ ई० पू० ६,००० की बस्ती के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। प्राचीन इजराएल के एडम, गिलियड और मोआब इसी जार्डन के अंतर्गत थे, जबकि यहाँ ग्रीस और रोम की मिली जुली सभ्यता पनप रही थी। ७वीं शताब्दी में मुसलमानों के आक्रमण हुए। जार्डन वासियों के अल्प प्रतिरोध के पश्चात् जार्डन परतंत्र हो गया और वहाँ इस्लाम का प्रसार द्रुत गति से हुआ। आटोमन राज्य में (१५१७–१९१७) में जार्डन अलग अलग डेमास्कस और बेरुत के तुर्कों द्वारा शासित था। प्रथम विश्वयुद्ध (१९१८) में अंग्रेजी सेनाओं ने तुर्कों को जार्डन के बाहर निकाल दिया और हेजाज के शासक हुसेन इब्न अली का बेटा फैजल राजा हुआ। १९२० में फ्रांसीसियों ने फैजल को पदच्युत किया। किसी प्रकार अंग्रेजों की सहायता से फैजल ईराक का शासक हो गया और उसका भाई अब्दुल्ला जार्डन का। १९२८ में राष्ट्रसंघ की मान्यता के साथ साथ ब्रिटेन ने भी जार्डन को अब्दुल्ला इब्न हुसेन के अधिनायकत्व में मान्यता दे दी। १९४६ में अब्दुल्ला इब्न हुसेन के शासकत्व में जार्डन स्वतंत्र घोषित हुआ। यह अरबसंघ का सदस्य बना। १९४८ के फिलिस्तीन युद्ध के पश्चात् सम्राट् ने फिलिस्तीन के पश्चिमी किनारे अपने राज्य में मिला लिए। १९५३ में अब्दुल्ला का पुत्र हुसेन सम्राट् के सिंहासन पर प्रतिष्ठित हुआ। इसके पश्चात् जार्डन ने ग्रेट ब्रिटेन से अपने संबंध बराबर मैत्रीपूर्ण रखे। अरब संघ में संमिलित होने के लिये मिस्र के प्रस्ताव पर देश में भेद उत्पन्न हो गया। १९५५ में सरकार के बगदाद पैक्ट में संमिलित

होने के विरोध में दंगे भी हुए, किंतु सेना ने स्थिति पर अधिकार कर लिया। राष्ट्रवादियों ने अरब संघ में राज्य को संमिलित करने के यथासंभव सभी प्रयत्न किए हैं। सुलेमान नाबुल्सी के प्रधान मंत्रित्व, मिस्र पर इजराएली आक्रमण और स्वेज पर आंग्ल फ्रांसीसी हस्तक्षेप ने राष्ट्रवादियों की शक्ति और बढ़ा दी। इन घटनाओं से जार्डन का संबंध ग्रेट ब्रिटेन से विच्छिन्न होना स्वाभाविक था। मिस्र, साउदी अरब और सीरिया ने इस संबंधविच्छेद पर अपना मत प्रकट किया। इधर जार्डन के राष्ट्रवादियों ने अपनी कार्यप्रणाली की गति बढ़ा दी। २५ अक्टूबर, १९५६ के समझौते के अनुसार सीरिया, मिस्र और जार्डन की कमान मिस्री जनरल के हाथ में थी, इसलिये प्रधान मंत्री नाबुल्सी ने जार्डन की सेना को राष्ट्रवादियों के आधिपत्य में लाना चाहा, इसपर १० अप्रैल १९५७ में शाह हुसेन ने नाबुल्सी को सेवा-मुक्त कर दिया।

इसके पश्चात् यद्यपि शाह हुसेन की स्थिति दृढ़ हो गई, किंतु उसे शासनच्युत करने के प्रयत्न निरंतर होते रहे। संयुक्त अरब गणतंत्र के निर्माण तथा ऐसी ही कुछ घटनाओं ने जार्डन के शाह को पुनः पश्चिमी सहायता की ओर जाने के लिये बाध्य किया। किसी प्रकार १९५८ के पश्चात् स्थिति कुछ सुधरी। ईराक के शाह कासिम ने सं० अ० गणतंत्र का विरोध किया और वह संधि टूट गई। इन घटनाओं के बाद शाह ने देश को आर्थिक उन्नति की ओर ध्यान दिया। पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा देश ने प्रगति के पथ पर अग्रसर होना आरंभ किया। पड़ोसी इजराएल से जार्डन की स्थायी शत्रुता स्थापित हो चुकी है। पिछली घटनाओं की गंभीरता ने संबंध सुधारने की कोई आशा नहीं छोड़ी है।

जार्विस द्वीप (Jarvis Island) स्थिति : ०° २५′ द० अ० तथा १५९° ५५′ प०दे०। यह मध्य प्रशांत महासागरीय क्षेत्र में स्थित तश्तरी के आकार का छोटा सा द्वीप है। इसका निर्माण बालुकाकणों तथा प्रवालीय चट्टानों के संमिश्रण से हुआ है। इसकी पूर्व-पश्चिम दिशावर्ती लंबाई लगभग १·९ मील तथा उत्तर-दक्षिण चौड़ाई एक मील है। महासागरतटीय अग्रिम क्षेत्र के पृष्ठक्षेत्र की ओर खड़ी ढाल का लगभग २० फुट ऊँचा डाँड़ा (ridge) द्वीप को चतुर्दिक् घेरे हुए है। पहाड़ी अंतराल क्षेत्र पहले जलमग्न था किंतु अब समुद्रतल से लगभग सात आठ फुट ऊँचा उठ गया है। द्वीप के चतुर्दिक् बाह्येतर क्षेत्र में सँकरी परातटवर्ती प्रवाली शृंखला पाई जाती है। इस द्वीप में गुआनो नामक उर्वरक के जमाव मिलते हैं।

इस द्वीप पर मई, १९३६ में अमरीकियों का अंतरराष्ट्रीय वैधानिक दृष्टि से आधिपत्य घोषित हुआ। द्वीप के पश्चिमी किनारे, छोटी सामुद्रिक नावों के ठहराव के लिये सुरक्षित स्थान हैं। सामरिक एवं राजनीतिक दृष्टि से जार्विस द्वीप महत्वपूर्ण है। अपनी महत्वपूर्ण स्थिति के कारण दिसंबर, १९४१ में अमरीका-जापान-युद्ध छिड़ जाने पर अमरीका द्वारा न्यूजीलैंड को सामान की पूर्ति करने में जार्विस द्वीप महत्वपूर्ण रहा। [का० ना० सिं०]

जालंधर पंजाब राज्य का एक प्रभाग है। इसका क्षेत्रफल १९,४१० वर्ग मील है। बाहरी हिमालय तथा काँगड़ा पहाड़ियों के अलावा इस प्रभाग में उपजाऊ मैदान भी हैं। इसमें ९,४१५ गाँव तथा ९७ नगर हैं। जालंधर, फीरोजपुर तथा लुधियाना नगर व्यापार में प्रमुख हैं। काँगड़ा तथा ज्वालामुखी नगर धार्मिक केंद्र हैं। हिंदू, मुसलमान तथा सिख यहाँ के प्रमुख धर्म हैं। यहाँ काँगड़ा, फिल्लौर, मुदकी, फीरोजशाह, अलीवाल एवं सोबरान प्रथम सिख युद्ध (१८४५ ई०) के रणक्षेत्र हैं।

२. जिला, यह पंजाब राज्य में है। इसका क्षेत्रफल १,३३४ वर्ग मील तथा जनसंख्या ८,७७,३७९ (१९६१) है। यह व्यास और सतलज नदियों के बीच स्थित है। यह बिस्त-जालंधर-दोआब के नाम से जाना जाता है। पूरे जिले की मिट्टी उपजाऊ है। गेहूँ प्रमुख कृषिपदार्थ है। इसके अतिरिक्त चना, जौ, मक्का तथा दालें भी यहाँ होती हैं। गन्ना और कपास यहाँ की प्रमुख व्यापारिक फसलें हैं। हिंदू तथा सिख जनसंख्या में प्रमुख हैं। यहाँ पंजाबी भाषा प्रधान है। जाट, खोखर और गूजर जिले की प्रमुख जातियाँ हैं। रेशम तथा कपास बुनना, सोने चाँदी की वस्तुएँ और कागज के बरतन बनाना यहाँ के प्रमुख उद्योग हैं। यहाँ कई महाविद्यालय हैं।

३. तहसील, यह पंजाब राज्य के जालंधर जिले में है। इसका क्षेत्रफल लगभग ३६१ वर्ग मील है। उत्तर-पूर्व में ६ मील चौड़ा उपजाऊ मैदान है। शेष भाग पठारी है, जिसपर रेत के टीले हैं। गेहूँ यहाँ का प्रमुख कृषिपदार्थ है। करतारपुर, अलवालपुर और जालंधर तहसील के प्रमुख नगर हैं। जालंधर नगर में तहसील का प्रमुख कार्यालय है।

४. नगर, स्थिति : ३१° २०′ उ० अ० तथा ७५° ३५′ पू० दे०। यह पंजाब राज्य का नगर, तहसील एवं जिला है। इसकी जनसंख्या २,२२,५६१ (१९६१) है। यह उत्तर रेलवे पर बंबई से १,१८० मील दूर स्थित है। शहर कई बस्तियों से घिरा है। ह्वेनसांग यात्री यहाँ आया था। रेशम बनाना, आटा पीसना, लोहे और पीतल की वस्तुएँ बनाना यहाँ के प्रमुख उद्योग हैं। सदर की जनसंख्या ४२,४६१ (१९६१) है। यहाँ एक महाविद्यालय एवं कई स्कूल हैं। [सै० मु० अ०]

जालना स्थिति : १९° ५१′ उ० अ० तथा ७५° ५४′ पू० दे०। यह महाराष्ट्र राज्य के औरंगाबाद जिले का तालुका तथा नगर है। यह नगर कुंडालिका नदी के दाहिने तट पर कदीराबाद नगर के संमुख है तथा मध्य रेलमार्ग के काचेगुडा-मनमाड-खंड पर स्थित है। यहाँ १७२५ ई० में निर्मित एक दुर्ग अब जीर्णावस्था में है। यहाँ की जनसंख्या ६७,१५८ (१९६१) है। [रा० ना० मा०]

जॉली तुला ठोस तथा द्रवों के आपेक्षिक गुरुत्व ज्ञात करने के अनेक उपकरण हैं। ऐसे उपकरणों में एक जॉली तुला है। जॉली तुला का कार्य आर्किमीडीज के सिद्धांत तथा हुक के नियम पर आधारित है। आर्किमीडीज के सिद्धांत के अनुसार किसी तरल पदार्थ में डूबा हुआ पिंड विस्थापित तरल के भार के बराबर बल से उत्प्लावित होता है। हुक के नियमानुसार किसी प्रत्यास्थ पिंड में कुछ सीमाओं के भीतर विकृति (strain) प्रतिबल (stress) का समानुपाती है। दूसरे शब्दों में, विस्थापन विस्थापक बल का समानुपाती है।

जॉली तुला में एक लंबी, सुग्राही, कुंडलीदार कमानी होती है। यह एक सम अंशांकित माप (uniformly graduated scale) के सामने एक छोर से लटकती रहती है। कमानी के निचले भाग में एक पलड़ा होता है। पलड़े के नीचे एक तार पिटक (wire basket) होता है। किसी सुविधाजनक बिंदु पर सूचक (index) होता है। यह प्रायः पलड़े के ऊपर होता है। सूचक से माप के अंश पढ़े जाते हैं। माप दर्पण की सतह पर अंशांकित होती है, जिसमें विस्थापनाभास (parallax) न हो। एक चल मंच पर छोटा सा जलपात्र होता है। जलपात्र की

माप के सहारे इच्छित ऊँचाई पर स्थिर कर सकते हैं। यह तार पिटक के नीचे कमानी से जुड़ा रहता है। कमानी का निलंबनबिंदु ऊर्ध्वाधर चलता है। इससे तुला की सीमित माप बढ़ती और सूचक सुविधानुसार शून्य स्थिति में लाया जा सकता है।

आपेक्षिक गुरुत्व ज्ञात करने के लिये पहले तार पिटक को पानी में डुबाते हैं। यह निलंबन तार के एक निश्चित बिंदु तक पानी में डूबता है। कमानी का निलंबनबिंदु इस प्रकार होना चाहिए कि कमानी के प्रसार में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। सूचक की स्थिति को लिख
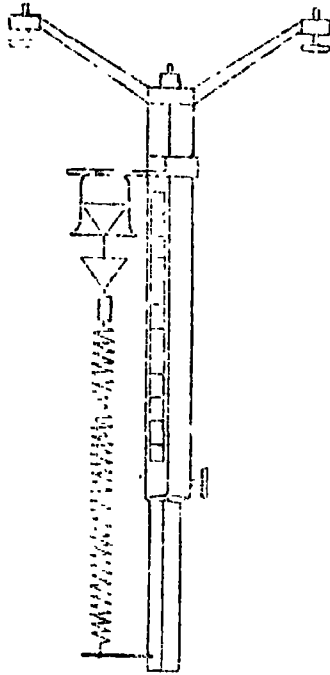
जॉली की तुला

लिया जाता है। माना यह भा१ (W_1) है। अब पलड़े पर उस वस्तु को रखते हैं जिसका आपेक्षिक गुरुत्व निकालना है। जलपात्रयुक्त चलनशील मंच को झुकाकर निलंबन तार को इसी निश्चित बिंदु तक पानी में डुबाते हैं। पुनः सूचक की स्थिति लिख लेते हैं। माना यह भा२ (W_2) है। भा२–भा१ (W_2-W_1) कमानी का प्रसार है। इसे हम हवा में वस्तु का भार मान सकते हैं। अब वस्तु को पलड़े से निकालकर जलमग्न तार पिटक में रखते हैं। चलनशील मंच की स्थिति में परिवर्तन करके पानी की सतह को निलंबन तार के निश्चित बिंदु तक लाते हैं। सूचक की स्थिति माना भा३ (W_3) है। भा२–भा३ (W_2-W_3) वस्तु के भार का पानी में ह्रास बताता है।

$$\text{आपेक्षिक गुरुत्व} = \frac{\text{हवा में वस्तु का भार}}{\text{पानी में वस्तु के भार का ह्रास}}$$

$$= \frac{\text{भा}_2-\text{भा}_1}{\text{भा}_2-\text{भा}_3} \left(\frac{W_2-W_1}{W_2-W_3}\right)$$

इस प्रकार हवा में जल के सापेक्ष, कमरे के ताप पर वस्तु का आपेक्षिक गुरुत्व प्राप्त होता है। द्रव का आपेक्षिक गुरुत्व ज्ञात करने के लिये यही प्रयोग दुहराया जाता है। एक ऐसे ठोस पदार्थ के "पानी में भार का ह्रास" तथा "द्रव में भार का ह्रास" ज्ञात करते हैं जो दोनों द्रवों से किसी प्रकार प्रभावित या परिवर्तित नहीं होता।

$$\text{द्रव का आपेक्षिक गुरुत्व} = \frac{\text{द्रव में भार का ह्रास}}{\text{पानी में भार का ह्रास}}$$

[मा०]

जालीनूस (१२९–१९९) — गेलेन का अरबी नाम है। यह ग्रीस का सुप्रसिद्ध जीवशास्त्री, चिकित्सक और दार्शनिक था। हिपोक्रेटीज के साथ चिकित्साशास्त्र में इसका स्मरणीय योगदान कहा जाता है। इसकी कृतियों की संख्या १२५ के लगभग अनुमानित हुई है, जिनका अनुवाद अरबी और लैटिन में हुआ। इसकी मृत्यु रोम में हुई।

जालोन स्थिति : २५° ४६' से २६° ३०' उ० अ० तथा ७८° ५६' से ७९° ५८' पू० दे०। यह उत्तर प्रदेश का जिला तथा नगर है। यह यमुना तथा इसकी सहायक नदियों, बेतवा एवं पाहुज से घिरा है। इसका क्षेत्रफल १,७६४ वर्ग मील तथा जनसंख्या ६,६३,१६८ (१९६१) है।

यहाँ जनवरी में न्यूनतम ताप १८° सें० तथा मई में उच्चतम ताप ३६° सें० तक रहता है। यहाँ की औसत वार्षिक वर्षा ३२" तथा मुख्य उपज चना, ज्वार एवं गेहूँ है। यहाँ विनाशकारी कास घास का प्रकोप फैलता है, जिससे खेती योग्य भूमि क्षतिग्रस्त हो जाती है और गाँव तक उजड़ने लगते हैं।

उरई, कौंच, कालपी तथा जालोन इस जिले की तहसीलें हैं, जो अपने मुख्य नगरों के नाम से ही संबोधित होती हैं। इन नगरों की जनसंख्या क्रमशः २६,५८७, २३,७०८, १७,२७८ तथा १४,१०१ (१९६१) है। जिले का प्रशासन कार्य उरई नगर से होता है।

२. नगर, स्थिति : २६° ८' उ० अ० तथा ७९° २१' पू० दे०। इसी नाम की तहसील का मुख्य नगर है, जो उरई नगर से १३ मील उत्तर-पश्चिम में स्थित है। १८वीं शताब्दी में जालोन नगर एक मराठा राज्य की राजधानी रह चुका है। [रा० मा० मा०]

जावद स्थिति : २४° ३६' उ०अ० तथा ७४° ५२' पू० दे०। यह मध्यप्रदेश के मंदसौर जिले का नगर है। इसकी जनसंख्या ८,५०६ (१९६१) है। समुद्र की सतह से इसकी ऊँचाई १,४१० फुट है। नगर चारों ओर से दीवार से घिरा है। यहाँ अनाज तथा कपड़े का व्यवसाय होता है। कपड़े रँगने का उद्योग यहाँ प्रमुख है। यहाँ एक अस्पताल तथा स्कूल हैं। [सै० मु० अ०]

जावा स्थिति : ७° ०' द० अ० तथा ११०° ०' पू० दे०। यह इंडोनेशिया गणराज्य में द्वीप है, जो मलाया द्वीपशृंखला में वृहत्तम तथा सर्वप्रसिद्ध है। इसका क्षेत्रफल १,३२,१७४ वर्ग मील तथा जनसंख्या ६,३०,६०,००० (१९६२) है। इसके उत्तर में जावा समुद्र, दक्षिण में हिंद महासागर और पूर्व में बाली तथा पश्चिम में सुमात्रा द्वीप हैं, जो क्रमशः बाली तथा सुंडा जलडमरूमध्यों द्वारा जावा से अलग हो गए हैं। जावा की पूर्व से पश्चिम लंबाई ९६० किमी० तथा उत्तर से दक्षिण अधिकतम चौड़ाई २०० किमी० है।

जावा का निर्माण अधिकांशतः तृतीयकयुगीन चट्टानों द्वारा तथा अंशतः नवीनतर चट्टानों द्वारा हुआ है। केवल तीन स्थानों पर प्राचीनतर चट्टानें उपलब्ध होती हैं जो संभवतः क्रिटेशस युग की हैं। जावा के भूगर्भ एवं धरातल पर प्लाइओसीन (Pliocene) तथा मध्य तृतीयक युगीन ज्वालामुखी उद्गारों का अधिक प्रभाव पड़ा है। प्लाइओसीन काल में जावा एशिया के महाद्वीपीय क्षेत्र से जुड़ा हुआ था, जिसके कारण यहाँ

महाद्वीपीय जीव जंतुओं का प्रादुर्भाव हुआ। सुंडालैंड के जलमग्न होने के कारण यह द्वीप में परिवर्तित हो गया। तदनंतर स्थानीय धरातलीय धँसाव, समुद्रतल में परिवर्तन, प्रवालीय निर्माण, ज्वालामुखीय उद्गारों तथा संक्षरण कार्यों के फलस्वरूप जावा को वर्तमान उच्चावच (relief) प्राप्त हुआ है।

जावा के लगभग मध्य में पूर्व-पश्चिम फैली पहाड़ी श्रेणियाँ इसे उत्तरी तथा दक्षिणी दो भागों में बाँटती हैं। ये श्रेणियाँ पश्चिम में विशेष दक्षिणाभिमुख हो गई हैं, जिससे दक्षिणवर्ती समुद्रमुखी ढाल अधिक खड़ी और बीहड़ हो गई है। खड़ी ढाल तथा हिंद महासागरीय शक्तिशाली तरंगों एवं धाराओं के थपेड़ों के कारण दक्षिण में कोई सुरक्षित बंदरगाह नहीं बन पाया है, न ही कोई बड़ा मैदानी भाग ही मिलता है। उत्तर में ढाल कम है; अतः मैदानी भाग अधिक विस्तृत है, जिसमें काँप का जमाव है। पूर्व में पहाड़ी श्रेणियों के मध्य में छोटी छोटी घाटियाँ स्थित हैं। उत्तरी समुद्रतट पर जहाजरानी के लिये अनेक स्थानों पर प्राकृतिक सुविधाएँ प्राप्त हैं। जावा में १०० से भी अधिक ज्वालामुखी पर्वत हैं, जिनमें से १३ जाग्रत हैं। यहाँ २० से भी अधिक पर्वतशिखरों की ऊँचाई ८,००० फुट से अधिक है, जिनमें सेमेरू (१२,०६०′) सर्वोच्च है। द्वीप में भूकंप आते हैं लेकिन बहुत ही विरल। हिंद महासागर में गिरनेवाली नदियाँ छोटी और तीव्रगामी हैं। परंतु उत्तर में प्रवाहित होनेवाली नदियाँ अपेक्षाकृत अधिक लंबी, धीमी गतिवाली तथा परिवहनीय हैं। सोलो (५१६ किमी०), ब्रांटास या केडीरी (३१८ किमी०) और जीलिवंग (८० किमी०) प्रमुख नदियाँ हैं।

जलवायु — जावा का जलवायु भूमध्यरेखीय है, किंतु इसपर चतुर्दिक् स्थित समुद्रों तथा मौसिमी हवाओं का व्यापक प्रभाव पड़ता है। यहाँ दो ऋतुएँ होती हैं, अप्रैल से अक्टूबर तक शुष्क ऋतु तथा नवंबर से मार्च तक वर्षा ऋतु रहती है, जिसमें प्रातःकाल को छोड़कर निरंतर वर्षा होती रहती है। वार्षिक वर्षा ८०″–८५″ होती है। दिन में मैदानों तथा घाटियों का औसत ताप २६° से ३४° सें० तथा रात्रि में २३° से २७° सें० रहता है।

जावा में समुद्री तथा पालतू जानवरों को मिलाकर १०० से भी अधिक प्रकार के जानवर प्राप्य हैं। गैंडा, बाघ, तेंदुआ, बिल्ली, बैल, सुअर तथा कुत्ते, लंगूर, हिरण आदि वन्य तथा भैंस, बैल, घोड़े, बकरी और भेड़ें आदि पालतू जानवर प्रमुख हैं। यहाँ लगभग ३०० प्रकार के पक्षी, विविध जीव तथा मछलियाँ मिलती हैं।

ताप के साथ वनस्पति का घनिष्ठ संबंध है। समुद्रतटीय प्रदेश में दलदली झाड़ियाँ, भीतरी भागों में नारियल, ताड़, तथा लंबी घासें और पर्वतीय ढालों पर ऊँचाई के अनुसार पर्वतीय वनस्पति मिलती है। सागौन, महोगनी, चीड़, ओक, मेरटमट आदि वृक्षों से लकड़ी मिलती है।

निवासी — जावा संसार के घने आबाद क्षेत्रों में से एक है और यहाँ का जनबाहुल्य राष्ट्रीय समस्या हो गया है। इंडोनेशिया के कुल क्षेत्रफल का ७% क्षेत्र होते हुए भी कुल जनसंख्या के लगभग ६५% लोग यहाँ बसते हैं। यहाँ जनसंख्या का घनत्व प्रति वर्ग किमी० ४८० व्यक्ति है। समस्त जनसंख्या में जावा जातिवाले ७५% (मध्य एवं उत्तरी क्षेत्र); सुंडानी १५% (पश्चिमी क्षेत्र); और मदुराई रक्तवाले १०% (पूर्वी क्षेत्र) हैं। यद्यपि अधिकांश निवासी मुस्लिम हैं, तथापि उनके पुराने हिंदू और बौद्ध संस्कार और संस्कृति उनके रीतिरिवाज, नामकरण, भाषा एवं साहित्य आदि पर छाए हुए हैं। १९६१ ई० के जनगणनानुसार इंडोनेशिया की राजधानी जकार्ता (२९,७३,१००), बृहत्तम नगर सुराबाया (१०,०७,६००), बांडुंग (९,७२,६००), सेमरांग (५,०३,२००), जोग्जकार्ता (३,१२,७००), सुराकार्ता (५,००,०००–१९५२), बोगोर (१,५४,१००), मैगेलांग (६०,०००–१९५२) आदि द्वीप के बड़े नगर हैं।

उत्पादन — जावा कृषिप्रधान क्षेत्र है। रबर, गन्ना, चाय, कहवा तथा कोको व्यापारिक फसलें हैं, जो पहले बड़े बागानों में किंतु अब छोटे खेतों में भी उगाई जाती हैं। संसार का कुल ९०% सिनकोना यहीं पैदा होता है। नारियल की जटा, तेल, ताड़ का तेल (Palm oil) और पटुआ भी निर्यात होते हैं। धान सर्वप्रमुख उपज और निवासियों का आहार है। सिंचाई की सहायता से इसकी दो फसलें उगाई जाती हैं। तंबाकू, मक्का, मटर, सोयाबीन (Soyabean) और कसावा (Cassava) अन्य फसलें हैं। खनिजों में कोयला और तेल का उत्पादन होता है। जावा के लोग लगभग ३० प्रकार की दस्तकारी के लिये प्रसिद्ध हैं। बड़े उद्योग अधिक नहीं हैं। जकार्ता, सुराबाया और सेमरांग में जहाज बनते और मरम्मत होते हैं। कपड़े, कागज, दियासलाई, कांच और रासायनिक पदार्थों के भी कुछ कारखाने हैं।

इतिहास — प्राचीन काल में जावा निकटवर्ती क्षेत्रों की तरह ही हिंदू राजाओं के अधीन था। हिंदू राजाओं ने ही यहाँ बौद्धधर्म का प्रचार किया। यहाँ बहुत से हिंदू एवं बौद्ध मंदिर तथा उनके अवशेष विद्यमान हैं। मैगेलांग के निकट 'बोरोबुदुर' मंदिर संसार का बृहत्तम बौद्ध मंदिर है। १४वीं–१५वीं सदी में यहाँ मुस्लिम संस्कृति फैली और यहाँ मुसलमानों का राजनीतिक आधिपत्य हुआ। तदनंतर पुर्तगाली, डच एवं अँग्रेज व्यापारी आए किंतु १६११ ई० से डचों ने राज्य प्रारंभ किया। २७ दिसंबर, १९४९ में इंडोनेशिया गणराज्य की स्थापना हुई, जिसमें जावा प्रमुख द्वीप है। [का० ना० सिं०]

जावित्री (Mace), वानस्पतिक नाम : मिरिस्टिका फ्रैग्रैंस (Myristica iragrans), कुल : मिरिस्टिकेसिई (Myristicaceae), जाति : फ्रैग्रैंस। मिरिस्टिका नामक वृक्ष से जायफल तथा जावित्री प्राप्त होती है। मिरिस्टिका की अनेक जातियाँ हैं, परंतु व्यापारिक जायफल अधिकांश मिरिस्टिका फ्रैग्रैंस से ही प्राप्त होता है। मिरिस्टिका प्रजाति की लगभग ८० जातियाँ हैं, जो भारत, आस्ट्रेलिया तथा प्रशांत महासागर के द्वीपों में उपलब्ध हैं। यह पृथग्लिंगी (डायोशियस, dioecious) वृक्ष है। इसके पुष्प छोटे, गुच्छेदार तथा कक्षस्थ (ऐक्सिलरी, axillary) होते हैं।

मिरिस्टिका वृक्ष के बीज को जायफल कहते हैं। यह बीज चारों ओर से बीजोपांग (aiii) द्वारा ढँका रहता है। यही बीजोपांग व्यापारिक महत्व का पदार्थ जावित्री है। इस वृक्ष का फल छोटी नाशपाती के रूप का १½″ से १″ तक लंबा, हल्के लाल या पीले रंग का गूदेदार होता है। परिपक्व होने पर फल दो खंडों में फट जाता है और भीतर सिंदूरी रंग का बीजोपांग या जावित्री दिखाई देने लगती है। जावित्री के भीतर गुठली होती है, जिसके काष्ठवत् खोल को तोड़ने पर भीतर जायफल (nutmeg) प्राप्त होता है। जायफल तथा जावित्री व्यापार के लिये मुख्यतः पूर्वी ईस्ट इंडीज से प्राप्त होते हैं।

जायफल का वृक्ष समुद्रतट से ४००–५०० फुट तक की ऊँचाई पर उष्णकटिबंध की गरम तथा नम घाटियों में पैदा होता है। इसकी उपजाऊ

के लिये जल-निकास-युक्त गहरी तथा उर्वरा दूमट मिट्टी उपयुक्त है। इसके वृक्ष ६–७ वर्ष की आयु प्राप्त होने पर फूलते फलते हैं। फूल लगने
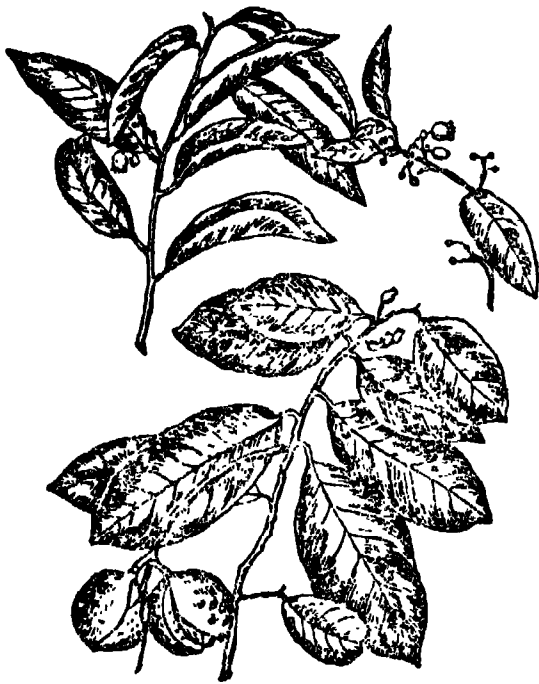
चित्र १. जायफल (Myristica fragrance)
ऊपर दिखाई गई कोमल टहनियाँ नर पौधे की हैं
(वास्तविक का $\frac{1}{3}$)।

के पहले नर या मादा वृक्ष का पहचानना कठिन होता है। ग्रेनाडा (वेस्ट इंडीज) में साधारणतः नर तथा मादा वृक्ष ३ : १ के अनुपात में पाए
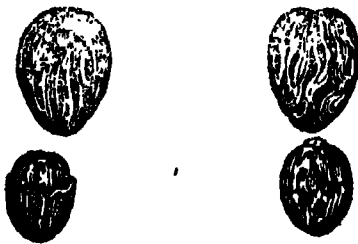
२. जावित्री और जायफल

ऊपर के दोनों चित्रों मे बीजोपाग जावित्री दिखाई गई है। जावित्री निकाल लेने के पश्चात् शेष काष्ठफल नीचे दाहिनी ओर तथा ऊपरी आधे भाग से छिलका निकालने पर उद्घाटित जायफल नीचे बाईं ओर दिखाया गया है।

जाते हैं। जमैका के वनस्पति उद्यान में जायफल के छोटे पौधों पर मादामूल की टहनी कलम करके मादा वृक्ष की संख्यावृद्धि में सफलता प्राप्त की गई है।

सं० ग्रं० — माडर्न इनसाइक्लोपीडिया ऑव ऐग्रीकल्चर; मेडिसिनल प्लांट्स ऑव इंडिया; इनसाइक्लोपीडिया ऑव हार्टिकल्चर। [ज० रा० सि०]

जाहिलिया अरब में इस्लाम के पूर्वकाल के लिये प्रयुक्त होनेवाला शब्द यद्यपि इसका प्रयोग सीमित अर्थों में नहीं हुआ है। प्राय: इस्लाम के आविर्भाव से पूर्वकाल की स्थिति को यह नाम दिया जाता है। जाहिलिया शब्द जाहिल से बना है। गोल्डज़िहर ने जाहिल को अर्सस्कृत के अर्थ में और जाहिलिया को असंस्कृति की अवस्था के अर्थ में माना है। कुरान के अनुसार ईश्वर और पैगंबर को न माननेवाले को जाहिल कहा गया है। जाहिलिया इस प्रकार की अज्ञानता के काल का नाम है। साधारणतः कुरान के भाष्यकारों ने जाहिल को ईश्वर का अस्तित्व नकारनेवाला समझा है।

जाहिलिया शब्द उस काल के लिये प्रयुक्त होता है जिसमें अरब वासी इस्लाम और दैवी सिद्धांत से अपरिचित थे। कुरान के मतानुसार जाहिलिया दो बार रहा। (१) आदम और नोआ के मध्य और (२) मूसा और मुहम्मद के मध्य। फिर भी उस युग के अपने जाहिल पूर्वजों के अनेक गुणों को मुसलमान आदर्श मानते हैं।

जाहीज अल प्रसिद्ध अरबी राजनीतिक और धार्मिक लेखक। ७७६ में बसरा में उत्पन्न हुआ। उसके द्वारा लिखित पुस्तकों की संख्या २०० बताई जाती है जिनमें से केवल ३० सुरक्षित हैं। लगभग ५० पुस्तकें आंशिक रूप में ही उपलब्ध हुई हैं। उसके विचार प्राय: अव्यवस्थित रूप से व्यक्त हुए हैं, किंतु शैली मधुर है। ८६८–८६६ में उसकी मृत्यु हुई।

जिंगो उपाख्यानों में वर्णित जापान की एक सम्राज्ञी जो १४वें मिकाडो छुआई (१६१–२०० ई०) की पत्नी थी। पति का देहांत हो जाने पर सम्राज्ञी ने राज्य का संचालन किया। कोरिया पर आक्रमण करने के लिये उसने सेना तैयार की और तीन वर्ष की अनुपस्थिति के बाद वह विजयी होकर लौटी। उसका पुत्र ओजेन तेन्नो १५ वां मिकाडो घोषित किया गया। सम्राज्ञी जिंगो ने सन् २७० तक राज किया। अभी तक जापान में जिंगो की पूजा की जाती है। [ज० चं० जै०]

जिंजी स्थिति : १२° १५′ उ० अ० तथा ७६° १५′ पू० दे०। यह ऐतिहासिक ग्राम है जो मद्रास राज्य के दक्षिण आर्काट जिले में तिंडिवनम तिरुवन्नमलै सड़क पर स्थित है। यहाँ पर एक प्रसिद्ध दुर्ग है, जो राजगिरि, कृष्णगिरि तथा चंद्रदुर्ग नामक तीन पूर्णतः सुरक्षित पार्श्ववर्ती पहाड़ियों पर फैला है और एक दीवार से घिरा है। दुर्ग का महत्वपूर्ण भाग राजगिरि पहाड़ी पर स्थित है। यह पहाड़ी आसपास की भूमि से लगभग ६०० फुट ऊँची है। रणकुशलता की दृष्टि से दुर्ग पर खड़े १० रक्षक १०,००० शत्रुसेना को रोकने में समर्थ हो सकते थे। ऐतिहासिक अभिलेखों तथा शिल्पकला से ऐसा प्रतीत होता है कि यह किला प्राचीन विजयनगर वंशजों की ही देन है। [रा० ना० मा०]

जिंद पंजाब की जिंद रियासत की एक निजामत थी। इसका क्षेत्रफल १,०८० वर्ग मील था। इसमें ३४४ गाँव थे। यह निजामत जिंद तथा दादरी तहसीलों से बनी थी। सफीदोन, दादरी, कलियाना, ओंद और जिंद यहाँ के प्रमुख नगर थे। जिंद नगर निजामत का प्रधान कार्यालय था। इसमें स्थित कुरुक्षेत्र हिंदुओं का पवित्र स्थान है। यहाँ के प्राचीन मंदिर एवं फतहगढ़ का किला दर्शनीय स्थान हैं।

२. राज्य, वर्तमान पंजाब राज्य में था। इसका क्षेत्रफल १,३३२ वर्ग मील था। इसमें संगरूर, जिंद तथा दादरी तहसीलें थीं। दादरी की पहाड़ियाँ एवं संगरूर के रेत के टीलों को छोड़कर शेष भाग मैदानी है। छोया, झंबुवाली और घग्घर यहाँ की नदियाँ हैं। गेहूँ, जौ तथा चना प्रमुख फसलें हैं। इनके अतिरिक्त सरसों, कपास, दाल एवं गन्ना भी यहाँ होता है। सोने चाँदी के जेवर बनाना, लकड़ी और चमड़े का काम तथा बरतन बनाना राज्य के प्रमुख उद्योग हैं। यहाँ एक महाविद्यालय और कुछ स्कूल हैं।

३. तहसील, पंजाब राज्य के संगरूर जिले की तहसील है। इसका क्षेत्रफल ४८६ वर्ग मील है। यह बांगर के प्राकृतिक क्षेत्र में आता है। यह तहसील कुरुक्षेत्र के भाग में स्थित है, जो हिंदुओं का पवित्र स्थान है। जिंद, जनसंख्या २४,२१६ (१९६१) और सफीदोन, जनसंख्या ९,२२१ (१९६१) नामक दो नगर हैं। जिंद नगर में प्रधान कार्यालय हैं।

४. नगर, स्थिति। २९° २०′ उ० अ० तथा ७६° १९′ पू० दे०। पंजाब प्रदेश के संगरूर जिले का नगर तथा तहसील है। इसकी जनसंख्या २४,२१६ (१९६१) है। रोहतक से २५ मील दक्षिण-पश्चिम में यह कुरुक्षेत्र में स्थित है। भूतपूर्व जिंद रियासत की राजधानी था। जयंतीदेवी के मंदिर के अतिरिक्त यहाँ कई प्राचीन मंदिर एवं फतेहगढ़ में एक किला है। [से० मु० अ०]

जिओलाइट (Zeolite) इस वर्ग के मुख्य खनिज निम्नांकित हैं:
१—ऐनैलसाइट [Analcite, $Na\ Al\ (Si\ O_3)_2,\ H_2O$]
२—नैट्रोलाइट [Natrolite, $Na_2\ Al_2\ Si_3\ O_{10},\ 2H_2O$]
३—स्टिलबाइट [Stilbite, $(Ca,\ Na_2)\ Al_2\ (Si_3O_8)_6,\ 6H_2O$]

जैसा इनके रासायनिक संगठन से विदित है, ये सभी खनिज गरम करने पर पानी छोड़ते हैं। इस वर्ग के सभी खनिज आग्नेय शिलाओं में विद्यमान फेल्स्पार तथा ऐल्युमिनियम वाले अन्य खनिजों के परिवर्तन से बनते हैं।

ऐनैलसाइट क्यूबिक समुदाय में स्फटित होता है। यह रंगहीन या श्वेत होता है। इसकी कठोरता ५–५·५ तथा आपेक्षिक घनत्व २·२५ है। नैट्रोलाइट के मणिभ सूई के आकार के होते हैं तथा काच के समान चमकते हैं। इसकी कठोरता तथा आपेक्षिक घनत्व ऐनैलसाइट के समान ही है। स्टिलबाइट एकनत (monoclinic) समुदाय का खनिज है। इसका रंग श्वेत या लाल होता है। इसकी कठोरता ३·५ से ४ तथा आपेक्षिक घनत्व २·१ से २·२ तक है।

इन खनिजों का मुख्य उपयोग भारी पानी को हल्का करने के लिये किया जाता है। भारतवर्ष में इन खनिजों के सुंदर मणिभ राजमहल की पहाड़ियों में, काठियावाड़ में गिरनार पर्वत पर तथा दक्षिणी ट्रैप (Deccan Trap) में मिलते हैं। [म० ना० मे०]

जिग्गुरैत प्राचीन बेबिलोनिया तथा असीरिया में पाए जानेवाले एक तरह के स्तूप या मीनारनुमा टीले। ऊपर चढ़ने के लिये इनमें प्रायः सीढ़ियाँ बनी रहती थीं। ये धूप में सुखाए हुए ईंटों के बने होते थे और इनके ऊपर किसी न किसी देवता का मंदिर बना रहता था, जिसके नाम पर इनका निर्माण किया जाता था। संभव है, इनके बनवाने के मूल में यह विचार रहा हो कि इनके ऊपर चढ़कर वेधशाला की तरह, आकाश के तारों का निरीक्षण अधिक सुविधा के साथ किया जा सकता है।

जिजिया, खराज इस्लामिक विधान के नियमों के अनुसार गैरमुस्लिमों (या जिम्मी, अर्थात् कुरान के स्थान पर अन्य धर्मपुस्तकों में विश्वास रखनेवालों) पर लगाए जानेवाले दो मुख्य कर। मुसलमानों पर जो विशेष कर जकात और उश्र होते थे। जिजिया प्रति पुरुष (या प्रति मुंड) कर है तथा जकात से बिल्कुल भिन्न है, जो वास्तव में भूमि को छोड़ अन्य संपत्ति पर कर है। प्रत्येक बालिग जिम्मी को, जो शरीर से पूर्णतया असमर्थ तथा दरिद्र नहीं है, जिजिया देना पड़ता था। केवल तीन दरें अनुमोदित हैं—निर्धनों को १२ दिरहम, मध्यम वर्ग को २४ दिरहम तथा धनवानों को ४८ दिरहम वार्षिक देना पड़ता था। खराज एवं उश्र स्वभावतः अनुरूप हैं। दोनों ही भूमिकर हैं, किंतु खराज की दरें उश्र से सदैव मूलतः अधिकतम रही हैं। इस प्रकार जब उश्र में एक मुसलमान को अपनी भूमि के उत्पादन का १।१० देना होता, तब जिम्मी द्वारा दी जानेवाली खराज उसके उत्पादन के १।५ से कम नहीं हो सकती, यद्यपि यह आधे से या दो तिहाई से अधिक भी न होनी चाहिए।

यह वास्तव में मनःकल्पित और भावनात्मक कर व्यवस्था है, और समय समय पर स्वयं मुस्लिम स्मृतिज्ञों को भी इसमें हेरफेर स्वीकार करना पड़ा। मावर्दी का कथन है कि जब कोई जिम्मी खराज देता है, तब उससे जिजिया नहीं लेना चाहिए। मुसलमान का उश्र (न कि खराज) देने का अधिकार इस सिद्धांत से कम कर दिया कि यदि किसान मुसलमान है तो भी उसे उस भूमि पर खराज देना पड़ेगा जो मुसलमानों के पूर्वकाल की खोदी हुई नहरों से सींची जाती है, या वह भूमि किसी ऐसे गैरमुस्लिम के अधिकार में थी जो खराज अदा करता था, या वो खराजी भूमि से छटी हुई है। इन परिस्थितियों में कठिनता से ही कोई मुसलमान खराज से मुक्ति पाता होगा।

व्यावहारिक रूप से इस्लाम की प्रारंभिक शताब्दियों में यह कर-व्यवस्था और भी गूढ़ थी। यथार्थ में वेलोसन का यह मत था कि जिजिया एवं खराज मूलतः एक ही कर के नाम हैं, जो गैरमुस्लिमों के समुदायों पर पिंडराशि में लगाया जाता था। और आठवीं शताब्दी के मध्य से कुछ समय पूर्व ही ये कर पहली बार अलग अलग लगाए गए। हाल के अनुसंधानों से यह स्पष्ट हुआ है कि यद्यपि दोनों शब्द—जिजिया और खराज—पूर्वकाल में आपस में परिवर्तनशील थे, तथापि प्रति पुरुष कर को, अरबों की प्रारंभिक विजयों के समय से, भूमिकर से अलग सत्ता रही है, क्योंकि यह सासानी एवं बाइजेंटाइन साम्राज्यों में भी प्रचलित था। परंतु जिजिया की दरें किसी भी प्रकार एक सी न थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस्लाम के आरंभ के दिनों में यह मुख्यतः अकृषक जनता पर लगाया जानेवाला एक अलग कर था।

मध्यकालीन भारत में खराज का प्रयोग सदैव "माल" अथवा भूमिकर के पर्यायवाची के रूप में किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि-राजस्व की दरों के संबंध में मुसलमान और गैरमुसलमान कृषकों में कोई पक्षपात नहीं हुआ। इसके विपरीत जिजिया का अपना इतिहास है। यह प्रथम बार मुहम्मद बिन कासिम द्वारा सिंध की विजय के समय लगाया गया (७१२–१३) और इस प्रकार पारसियों की भाँति हिंदुओं को भी जिम्मी समझा गया। दिल्ली सुल्तानों ने इसे प्रचलित रखा और फिरोज तुगलक (१३५१–८८) ने इसको ब्राह्मणों पर भी लगा दिया, जिन्हें अब तक छूट थी। अकबर ने १५६४ में जिजिया लेना समाप्त कर दिया। १६७९ में जब औरंगजेब ने इसे पुनः लगाया तब इसकी वसूली का प्रबंध विशेष महत्वपूर्ण ढंग से किया गया। समस्त शहरी एवं ग्राम्य गैर-मुस्लिम जनता को जिजिया देना पड़ता था, केवल उन लोगों को छोड़कर जो विधितः मुक्त थे। इसकी वसूली से लोगों को बहुत कष्ट हुआ तथा भ्रष्टाचार फैला। १७१३ में फर्रुखसियर द्वारा यह रोक दिया गया और अंत में इसकी समाप्ति १७१९ में मोहम्मद शाह द्वारा हुई।

सं० ग्रं०—एफ० लोकगार्ड : इस्लामिक टैक्सेशन इन दि क्लासिकल पीरियड, कोपेनहेगेन, १९५०; आर० सी० डेनेट : कन्वेंशन ऐंड पोल टैक्सेशन इन अर्ली इस्लाम, १९५०।

[इ० हु०]

झिझौतिया कान्यकुब्ज ब्राह्मण जाति की एक उपशाखा। कुछ इसे 'यजुर्होता' शब्द का बिगड़ा हुआ रूप बताते हैं। परंतु दूसरों के अनुसार वर्तमान बुंदेलखंड का नाम पहले जिझौती था और यह उपजाति वहीं वास करती थी, इसलिये इसका नाम झिझौतिया पड़ा। यह मत अधिक समीचीन लगता है, क्योंकि बुंदेलखंडी व्यापारी भी झिझौतिया कहे जाते हैं।

जिझौती दे० जीजाकभुक्ति

ज़िटेल (Zittel), कार्ल ऐल्फ्रेड, रिटर फॉन (सन् १८३९-१९०४), जर्मन भूवैज्ञानिक, का जन्म जर्मनी के बाडेन प्रदेश के नगर बाह्लिंगेन में हुआ था। इनकी शिक्षा हाइडेलबर्ग, पैरिस तथा विएना में हुई।

सन् १८६३ में ये कार्ल्सरूए के पौलिटेक्निक (Polytechnique) विद्यालय में खनिज विज्ञान के प्रोफेसर तथा सन् १८६६ में म्यूनिख विश्वविद्यालय में पहले जीवाश्मविज्ञान (Paleontology) के तथा बाद में भूविज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त हुए। सन् १८७३-७४ में ये अफ्रीका के लीबिया प्रदेश में एक अनुसंधानी अभियान में गए और यह सिद्ध किया कि सहारा की मरुभूमि अभिनूतन हिम काल (Pleistocene Ice Age) में साधारण भूमि थी, किंतु तदनंतर धीरे धीरे अपक्षरण से बालुराशि में बदल गई।

जीवाश्म स्पंजों के संबंध में इनका अध्ययन तथा कछुओं (turtles) और क्षुद्र पक्षिसरट (Pterodactyles) संबंधी इनके अनुसंधान कशेरुकदंडी जीवाश्मविज्ञान को महत्व की देन हैं। अंग्रेजी में अनूदित पुस्तक "दि हिस्टरी ऑव जिऑलोजी ऐंड पैलिऑन्टॉलोजी टु दि एंड ऑव नाइंटींथ सेंचुरी" इनकी प्रमुख रचना है। [भ० दा० व०]

जिनकीर्ति सूरि तपागच्छीय सोमसुंदरगणि के शिष्य थे। ये वाचक कहे जाते थे और सन् १४३७ में विद्यमान थे। इन्होंने श्रेष्ठिकथानक, धन्नाशालिभद्रचरित्र, नमस्कारस्तवटीका, दानकल्पद्रुम आदि ग्रंथों की रचना की। बीदर के बादशाह द्वारा संमानित पूर्णचंद्र कोठारी ने गिरनार पर्वत पर जब जिनचैत्य का निर्माण किया तो उसकी प्रतिष्ठा जिनकीर्ति सूरि ने की थी। एक और जिनकीर्ति जैसलमेर के राजा मूलराज के समय हुए। इन्होंने मूल प्राकृत ग्रंथ के आधार पर संस्कृत में चार प्रस्तावों में श्रीपालचरित्र की रचना की है। [ज० चं० जै०]

जिनप्रभ सूरि ईसवी सन् की १४वीं शताब्दी में एक असाधारण प्रतिभाशाली जैन आचार्य हो गए हैं। मुगल बादशाह अकबर के दरबार में जो स्थान जगद्गुरु हीरविजय सूरि को प्राप्त था, वही स्थान तुगलक सुलतान मुहम्मदशाह के दरबार मे जिनप्रभ सूरि का था।

जिनप्रभ सूरि लघु खरतर गच्छ के प्रवर्तक जिनसिंह सूरि के प्रधान शिष्य थे। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में विविध विषयों पर इन्होंने महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं। प्रति दिन किसी अभिनव काव्य की रचना करने के पश्चात् ही आहारग्रहण करने का उनका नियम था। उनके जीवनकाल में बघेला वंश का अंत, गुजरात का मुसलमान बादशाहों के अधिकार में चला जाना, दिल्ली में मुगल सल्तनत का आरंभ आदि अनेक रोमांचकारी ऐतिहासिक घटनाएँ घटी थीं।

जिनप्रभ सूरि को भ्रमण का बहुत शौक था तथा गुजरात, राजस्थान, मालवा, मध्यप्रदेश, बरार, दक्षिण, कर्णाटक, तेलंगाना, बिहार, अवध, उत्तर प्रदेश और पंजाब आदि स्थानों की यात्राएँ इन्होंने की थीं। अपने विविध तीर्थकल्प में इस भ्रमण का विस्तृत वृत्तांत जिनप्रभ सूरि ने संकलित किया है। इस वृत्तांत के अनुसार विक्रम संवत् १२५६ (११९९ ई०) में सुलतान अलाउद्दीन के छोटे भाई उल्लू खाँ (अलफ खाँ) ने दिल्ली से गुजरात पर आक्रमण किया। उस समय चित्तौड़ के नरेश समरसिंह ने उल्लू खाँ को दंड देकर मेवाड़ की रक्षा की। विविध तीर्थकल्प में बनारस के मणिकर्णिकाघाट तथा देववाराणसी, राजधानी वाराणसी, मदन वाराणसी और विजयवाराणसी का उल्लेख है। राजधानी वाराणसी में यवन रहते थे। आजकल का मदनपुरा ही मदन वाराणसी हो सकता है।

सं० ग्रं०—जिनप्रभ सूरि, विविध तीर्थकल्प और उसकी भूमिका।

[ज० चं० जै०]

जिनव्येव (वास्तविक उपाधि रादमीस्लास्कि) ग्रिगरी एफ्सिएविच् (१८८३-१९३६) सोवियत साम्यवादी दल के प्रमुख कार्यकर्ता थे। जन्म एक छोटे पूँजीपति परिवार में हुआ था। सन् १९०१ में रूसी समाजवादी जनतंत्र (सोशल डेमोक्रेटिक) दल में संमिलित हुए और १९०३ में बोलशेविकों के दल में संमिलित हो गए। सन् १९०७ में दल की केंद्रीय समिति के सदस्य निर्वाचित हुए। अप्रैल, १९०८ से १९१७ तक विदेश में प्रवासी के रूप में रहे। उस समय दल के 'प्रालितारी' (सर्वहारा) तथा 'समाजवादी जनतंत्र' नामक पत्रों के संपादकमंडल में कार्य करते थे। सन् १९१७ की अक्टूबर क्रांति के ठीक एक दिन पूर्व ये उस क्रांति की सफलता पर संदेह प्रकट कर तत्कालीन पूँजीवादी सरकार के विरुद्ध विद्रोह करनेवाले पेत्रोग्राद के श्रमिक तथा सेना की तैयारी के विरोध में खड़े हो गए। सन् १९१७ से लेकर १९२६ तक ये सरकार तथा दल में महत्वपूर्ण पद सँभालते रहे। कई बार लेनिन के राजनीतिक मत का विरोध भी किया। साम्यवादी दल में एक विरोधी दल के साथ १९२५ से योगदान कर दल की कार्रवाई का विरोध करने लगे। सन् १९२६ में लियो त्रात्स्की के साथ होकर दल के विरुद्ध आचरण करने लगे। १९२७ में इन्हें दल से निष्कासित कर दिया गया। दो बार-सन् १९२८ तथा १९३३ में-इन्हें दल में संमिलित किया गया। किंतु १९३२ तथा १९३४ में पुनः पार्टी के कार्य का विरोध करने पर ये निष्कासित कर दिए गए।

दल तथा सोवियत सरकार का विधिविरुद्ध विरोध करने पर इन्हें गिरफ्तार कर सन् १९३६ में मृत्युदंड दे दिया गया। [औ० ले० स्टे०]

जिना, मुहम्मद अली जातीय नाम मुहम्मद अली, खानदानी नाम जिना। ये २१ दिसंबर, १८७६ को कराची में पैदा हुए। उच्च शिक्षा के लिये बंबई भेजे गए। १६ साल की उम्र में कानून की शिक्षा के लिये इंग्लैंड गए और बैरिस्टर होकर १८९६ में हिंदुस्तान लौटे। बंबई में प्रैक्टिस की। सन् १९०६ में दादा भाई नौरोजी के प्राइवेट सेक्रेटरी होकर हर साल इंडियन नेशनल कांग्रेस के अधिवेशन में संमिलित होने लगे। १९१३ में आप गोखले के साथ दूसरी बार इंग्लैंड गए, वहाँ पर इंडियन एसोसिएशन की स्थापना की। लौटकर मुसलिम लीग में शामिल हुए लेकिन कांग्रेस के भी मेंबर रहे। तीसरी बार कांग्रेस प्रतिनिधिमंडल के सदस्य होकर इंग्लैंड गए। यह बैठक बहुत मशहूर है। इसी में कांग्रेस ने जिना साहब से वह समझौता किया जो 'लखनऊ पैक्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। १९१८ में आपकी शादी रति पेटिट के साथ हुई। १९२० में आप कांग्रेस से अलग हुए लेकिन कोशिश करते रहे कि हिंदू मुसलिम समझौता हो जाय। १९२८ में साइमन कमीशन का विरोध किया

और चतु:सूत्री योजना बनाई जिसपर मुसलिम लीग की आगे आनेवाली नीति निर्भर रही। १९३० में मुसलमानों के प्रतिनिधि होकर गोलमेज कांफ्रेंस लंदन में संमिलित हुए। लंदन से १९३४ में लौटे। उस समय से पाकिस्तान बनने तक मुसलिम लीग के सभापति रहे। १९३७ में जब पहली बार कांग्रेस का मंत्रिमंडल बना तब जिना साहब की नीति और कठोर हो गई क्योंकि उनके ख्याल में कांग्रेस के मंत्रिमंडल मुसलमानों के साथ न्याय नहीं कर रहे थे। १९४० का मुसलिम लीग का जलसा बहुत अहम है क्योंकि उसमें जिना साहब ने, जो अब कायदे आजम कहलाते थे, पाकिस्तान का प्रस्ताव पास करवाया। १९४२ में कांग्रेस ने "भारत छोड़ो" का आंदोलन शुरू किया लेकिन मुसलिम लीग उसमें शामिल नहीं हुई। जुलाई, १९४३ को बंबई में एक खाकसार ने, जिसका नाम रफीक साबिर था, जिना साहब पर घातक हमला किया लेकिन सफल न हो सका। जुलाई, १९४६ को कलकत्ता मुसलिम इजलास में 'डाइरेक्ट ऐक्शन' का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। इस जलसे में संमिलित मुसलमानों ने सरकारी खिताब वापस किए। १९४६ के अंत में जिना साहब लंदन गए लेकिन सूबों की तकसीम पर कोई समझौता न हो सका।

२० फरवरी, १९४७ को हाउस ऑव कामन्स में हिंदुस्तान की स्वाधीनता घोषित की गई। जिना साहब और गांधी जी ने शांति की एक संयुक्त अपील निकाली और फसादों को रोकने की कोशिश की। अगस्त, १९४७ में हिंदुस्तान का विभाजन हुआ और पाकिस्तान बना। इसके पश्चात् १९४८ में जिना साहब का कराची में निधन हो गया।

आपने अपने अंतिम व्याख्यान में फरमाया था 'पाकिस्तान में हमें यह बताना है कि किस तरह सब लोग सामूहिक रूप से शहरियों की भलाई के लिये बगैर नस्ल और मिल्लत का फर्क किए जद्दो जहद कर सकते हैं।' [र० स० ज०]

जिनीवा या ज्हूनेव्ह (Geneva) १. स्थिति : ४६° १२' उ० अ० तथा ६° ९' पू० दे०। यह स्विटसरलैंड का एक प्रांत है, जो उसके धुर दक्षिणी भाग में बसा है। इसके उत्तर में वाड (Vaud) का प्रदेश और जिनीवा झील है तथा पूर्व, उत्तर-पूर्व, पश्चिम और दक्षिण की ओर फ्रांस देश फैला हुआ है। यह स्विट्सरलैंड का द्वितीय श्रेणी का सबसे छोटा प्रदेश है, जिसका क्षेत्रफल १०९ वर्ग मील है।

इसका समस्त भाग रोन (Rhone) नदी के बेसिन में बसा है। यह नदी जिनीवा झील से निकलकर पश्चिम में फ्रांस राज्य की ओर बहती है, जिसमें दूसरी नदी एरवी (Arve) पूर्व से आकर ज्हूनेव्ह नगर के पास मिलती है। जिनीवा नगर यहाँ की राजधानी है, जहाँ पर प्रदेश की संपूर्ण जनसंख्या के दो तिहाई लोग निवास करते हैं। यहाँ का जलवायु नम तथा मिट्टी अनुपजाऊ है, फिर भी लगभग ११५ भूभाग को उर्वर बनाया गया है। यहाँ के निवासी भेड़, बकरी, घोड़ा, सूअर तथा गाय पालते हैं तथा अधिकांश लोग दुग्धनिर्मित वस्तुओं, सब्जियों, फलों एवं शराब का व्यापार करते हैं। अधिकतर औद्योगिक संस्थान जिनीवा नगर में केंद्रीभूत हैं, जिससे यह स्विट्सरलैंड का सबसे बड़ा मुख्य औद्योगिक प्रदेश हो गया है। इन औद्योगिक संस्थानों के विकास में रोन नदी द्वारा प्राप्त सस्ती जलविद्युत् का महत्वपूर्ण योग है।

यहाँ के आधे निवासी रोमन कैथोलिक हैं तथा संपूर्ण जनसंख्या के लगभग ९० प्रति शत लोग फ्रांसीसी भाषा बोलते हैं। यहाँ की अनुमानित जनसंख्या २,५१,२०० (१९६०) है।

२. नगर, स्थिति : ४६° १२' उ० अ० तथा ६° ९' पू० दे०। यह नगर स्विटजरलैंड के अपने ही नाम के प्रदेश की राजधानी है तथा जिनीवा झील के दक्षिणी-पश्चिमी छोर पर स्थित है। रोन (Rhône) नदी ज्योंही जिनीवा झील से निकलती है त्योंही इस नगर को दो भागों में विभक्त कर बहती हुई फ्रांस राज्य की ओर चली जाती है। इसके दोनों किनारे कई पुलों द्वारा एक दूसरे से मिला दिए गए हैं। नगर के उद्यान तथा छोटे बड़े होटल और रमणीक जलपानगृह हर ऋतु में भ्रमणार्थियों के आकर्षणकेंद्र बने रहते हैं। इन्हीं कारणों से यह नगर भ्रमणस्थल तथा अंतरराष्ट्रीय संमेलनों का केंद्र बन गया है।

प्राचीन नगर दक्षिण की ओर बाएँ किनारे पर कुछ ऊँची उठी हुई भूमि पर बसा हुआ है, जबकि नया नगर रोन नदी के उत्तर की ओर है, जहाँ पर चौड़ी चौड़ी सड़कें तथा आधुनिक ढंग के मकान हैं। नए नगर में ही प्रमुख औद्योगिक, व्यापारिक तथा वित्तीय केंद्र हैं। सुंदर उद्यान, पथकुंज, पार्क आदि इस भाग की शोभा बढ़ाते हैं।

प्राचीन काल से ही यह नगर महान् कलाकारों, वैज्ञानिकों, विद्वानों तथा सांस्कृतिक संस्थाओं का जन्मस्थान रहा है, जिनमें दार्शनिक रूसो (Rosseau) तथा राजनीतिज्ञ नेकेयर (Necker) के नाम उल्लेखनीय हैं। यहाँ पर प्राकृतिक इतिहास का संग्रहालय, जिनीवा विश्वविद्यालय, संयुक्त राष्ट्रसंघ का कार्यालय, यूरोपीय परमाणु अनुसंधान संघ, अंतरराष्ट्रीय रेडक्रास एवं अंतरराष्ट्रीय श्रमिक संघ के प्रमुख कार्यालय स्थित हैं।

यह नगर घड़ी, आभूषण, साइकिल, यंत्र, वैज्ञानिक तथा चिकित्सालय के विशिष्ट यंत्रों, कृषि तथा दुग्धशाला सामग्री के उत्पादन के लिये प्रसिद्ध है। [वि० रा० सि०]

३. झील, स्थिति : ४६° २६' उ० अ० तथा ६° ३०' पू० दे०। यह मध्य यूरोप की विशालतम झील है। इस अनुचाकार झील का क्षेत्रफल २२३ वर्ग मील है, जिसका १४० वर्ग मील भाग स्विट्सरलैंड के तथा शेष फ्रांस के अंतर्गत है। रोन नदी झील के पूर्वी छोर से प्रवेश करती है तथा पश्चिमी छोर से बाहर आती है। पूर्वी तथा पश्चिमी छोरों के मध्य की दूरी ४५ मील, अधिकतम एवं औसत गहराई क्रमश: १,०१५ और ५०० फुट, तथा अधिकतम एवं औसत चौड़ाई क्रमश: ८.५ और ५ मील है।

जिनीवा झील का जल स्वच्छ तथा आकर्षक नीले रंग का है। झील का जलदोलन (seiches) विलक्षण प्रक्रिया है, जो स्थानीय वायुमंडल के दबाव में आकस्मिक परिवर्तन के कारण होता है। मत्स्यभंडार में यह झील स्विट्सरलैंड की अन्य झीलों के समान धनी नहीं है। [रा० ना० मा०]

जिनेश्वर सूरि युगप्रधान जिनेश्वरसूरि चंद्रकुलीय वर्धमान सूरि के प्रतिभाशाली शिष्य थे। खरतर गच्छ के ये संस्थापक थे और सन् १०२३ में विद्यमान थे। जैन आगम ग्रंथों के टीकाकार अभयदेव सूरि, सुरसुंदरीकथा के कर्ता धनेश्वरसूरि तथा महावीरचरित के कर्ता गुणचंद्रगणि जिनेश्वर सूरि के शिष्य प्रशिष्यों में गिने जाते हैं।

वि० सं० ८०२ में अणहिल्लपुर पाटण के राजा वनराज चावड़ा के गुरु शीलगुण सूरि ने यह राजाज्ञा जारी करा दी थी कि पाटण में चैत्यवासी साधुओं को छोड़कर दूसरे वनवासी साधु प्रवेश न करें। आगे चलकर वि० सं० १०७४ में जिनेश्वर सूरि और बुद्धिसागर नाम के विद्वान् विद्वानों ने चौलुक्य राजा दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासियों को

शास्त्रार्थ में पराजित कर इस आज्ञा को रद्द कराया। चैत्यवासी शिथिलाचारी होने के कारण प्रायः चैत्यों (मंदिरों) में ही रहते, वहीं भोजन करते और वहीं उपदेश देते। चैत्य ही एक प्रकार से उनका मठ या निवासस्थान बन गया था, इसलिये वे चैत्यवासी कहे जाते थे। हरिभद्र सूरि ने संबोधप्रकरण में चैत्यवासियों को कुसाधु बताते हुए कहा है कि ये देवद्रव्य का उपभोग करते हैं, जिन मंदिर और शालाएँ चिनवाते हैं, रंग बिरंगे सुगंधित धूपवासित वस्त्र पहनते हैं, बिना नाथ के बैलों के समान स्त्रियों के आगे गाते हैं, मुहूर्त निकालते हैं, निमित्त बताते हैं, भभूत देते हैं, रात भर सोते हैं, क्रय विक्रय करते हैं, चेला बनाने के लिये छोटे बच्चों को खरीदते हैं, भोले लोगों को ठगते हैं और जिन प्रतिमाओं को बेचते खरीदते हैं। श्वेतांबरों में आजकल जो 'जती या श्रीपूज्य' कहलाते हैं वे इन्हीं चैत्यवासियों या मठवासियों के, और जो 'संवेगी' कहे जाते हैं वे वनवासियों के अवशेष हैं। संवेगी अपने को विधिमार्ग का अनुयायी कहते हैं। जिनेश्वर सूरि के गुरु वर्धमान सूरि स्वयं चैत्यवासी यतियों के प्रमुख आचार्य थे लेकिन बाद में उन्होंने जातियों का आचार छोड़ दिया था।

युगप्रधान जिनेश्वर सूरि ने दूर दूर तक भ्रमण किया तथा गुजरात, मालवा और राजस्थान उनकी प्रवृत्तियों के केंद्र बन गए। जिनेश्वर सूरि ने संस्कृत और प्राकृत में अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं जिनमें हरिभद्राष्टक की टीका, प्रमालक्षण, पंचलिंगीप्रकरण, वीरचरित्र, कथाकोषप्रकरण, निर्वाणलीलावती कथा आदि मुख्य हैं। कथाकोषप्रकरण प्राकृत कथाओं का सुंदर ग्रंथ है जो सन् १०५२ में लिखा गया था।

बुद्धिसागर सूरि जिनेश्वर सूरि के सगे भाई थे। उन्होंने श्वेतांबर संप्रदाय में सर्वप्रथम व्याकरण की रचना की। सन् १०२३ में ये दोनों आचार्य जाबालिपुर (जालौर) में विद्यमान थे।

सं० ग्रं० — जिनेश्वरसूरि, कथाकोषप्रकरण की मुनि जिनविजय जी की भूमिका। [ज० चं० जै०]

जिनोक्रातिज दे० जेनोक्रातिज

जिप्सम ($CaSO_4, 2H_2O$) एक खनिज है। रासायनिक संरचना की दृष्टि से यह कैल्सियम का सल्फेट है, जिसमें जल के भी दो अणु रहते हैं। गरम करने से जल के अणु निकल जाते हैं और यह अजल हो जाता है। आकृति में यह दानेदार संगमर्मर सदृश होता है। ऐसे जिप्सम को सेलेनाइट या सेलखड़ी (अलाबास्टर, Alabaster) कहते हैं। नमक की खानों में नमक के साथ जिप्सम भी मिला रहता है। समुद्र के पानी में भी जिप्सम रहता है। समुद्री पानी को सुखाने पर जो लवण प्राप्त होते हैं उनमें जिप्सम के मणिभ पाए जाते हैं।

जिप्सम के मणिभ प्रिज्म के आकार के या नलाकार होते हैं। अनेक स्थलों में सेलेनाइट के सुंदर, सूक्ष्म मणिभ पाए गए हैं।

जिप्सम कोमल होता है। नखों से इसपर खरोंच पड़ जाती है। इसकी कठोरता १·५ से २ तक होती है तथा विशिष्ट गुरुत्व २·३ के लगभग। यह जल में अल्प विलेय होता है। जिप्सम से होकर बहते हुए पानी में जिप्सम का कुछ अंश घुला हुआ रहता है, जिससे पानी कठोर हो जाता है।

शुद्ध जिप्सम सफेद या वर्णरहित होता है। पर साधारणतः अपद्रव्यों के कारण इसका रंग धूसर, पीला या गुलाबी दिखाई देता है। यदि ७५% जल निकालकर जिप्सम को पीस डाला जाय तो उत्पाद प्लास्टर ऑव पैरिस के नाम से व्यापक रूप से सीमेंट के रूप में प्रयुक्त होता है। जिप्सम को प्लास्टर पत्थर या साँचा पत्थर भी कहते हैं, क्योंकि इस से प्लास्टर ऑव पैरिस बड़ी मात्रा में और साँचे बड़ी संख्या में बनते हैं।

जिप्सम संसार के अन्य देशों में प्रचुरता से पाया जाता है। भारत में राजपूताना, गुजरात, मद्रास और बिहार में इसके निक्षेप मिले हैं। उर्वरक के निर्माण में इसका प्रयोग होता है। ऐमोनियम सल्फेट उर्वरक का सल्फेट जिप्सम से ही प्राप्त होता है। खनिज के रूप में जिप्सम, कृषि, काच और पोर्सिलेन के निर्माण में काम आता है। जिप्सम से अग्निसह ईंटें भी बनाई जाती हैं। इसके स्वच्छ टूटे पट्टों का उपयोग सेलों के वर्गीकरण में तथा सेलों के प्रकाशीय नियतांकों के निर्धारण में होता है। (अन्य उपयोगों के लिये देखें गृहनिर्माण के सामान)। [स० व०]

जिप्सी एक घुमक्कड़ आदिवासी जाति, जो संसार के सभी सभ्य प्रदेशों, विशेषतः पश्चिमी एशिया, यूरोप और उत्तरी अफ्रीका में बिखरी हुई है। मूलतः मिस्र से संबंधित अंग्रेजी संविधान में इसे जिप्सी नाम दिया गया। फ्रांस में यह खानाबदोश जाति के नाम से पुकारी जाती है और यह समझा जाता है कि ये हुसाइट्स थे जो कालांतर में निर्वासित कर दिए गए। स्विटसरलैंड तथा नीदरलैंड में वे डीडेन (पगन) नाम से पुकारे जाते हैं और उत्तरी जर्मनी, डेनमार्क तथा स्विडन में उनका नाम तातार (तारतार) है। जर्मनी में प्रायः उनका नाम जिगुनर है, जो इटली के जिगारो या जिंगानो, स्पेन के जिगारो या जिटानो, हंगरी के सिगनी, तुर्की के शिगने से भिन्न नहीं है। वे अपने को रोम कहते हैं, और उनकी भाषा का नाम रोमणी है। यूरोप में जिप्सियों की संख्या अनुमानतः ७,५०,००० है, किंतु वे रूमानिया, हंगरी, यूरोपीय टर्की और बाल्कन राज्यों में विशेष रूप से बहुसंख्यक हैं। स्पेन, जर्मनी, फ्रांस, इटली और ग्रेट ब्रिटेन में भी सहस्रों की संख्या में ये लोग बसे हुए हैं। पूरे यूरोप में उनकी भाषा का मूल रूप एक सा है, जो भारतीय भाषा के अत्यधिक निकट है, यद्यपि उनकी भाषा पर उन जातियों का भी व्यापक प्रभाव पड़ा है, जिनके संपर्क में वे रहे हैं।

जिप्सी जिन जातियों के संपर्क में रहते हैं, उनसे अपनी शारीरिक रचना, जाति और भाषा के भेद से वे अलग दिखाई देते हैं। वे प्रायः शरीर के दुबले और चुस्त होते हैं। देह का रंग भूरा, आँखें बड़ी बड़ी काली और चमकदार होती हैं। इनके बाल लंबे, गहरे काले और घुंघराले होते हैं। जिप्सियों के मुख छोटे और सुंदर आकृति के होते हैं। अब वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इन घुमक्कड़ लोगों का मूल न तो यूरोप में है और न ही अफ्रीका में, वरन् यह किसी भारतीय आदिवासी जाति के अवशेष हैं। यह निष्कर्ष इस बात से और भी स्पष्ट होता है कि इनकी भाषा निःसंदेह संस्कृत से निकली मालूम होती है, यद्यपि अब उसमें ग्रीक, रूमानिया, मगयर, जर्मन, फ्रांसीसी और अंग्रेजी भाषाओं के शब्द मिल गए हैं।

जिप्सियों का संघटित रूप यूरोप में सर्वप्रथम १५वीं शताब्दी के प्रारंभ में प्रकट हुआ और इटली में सन् १४२२ में इनकी संख्या लगभग १४,००० थी। पाँच वर्ष पश्चात् वे प्रथम बार पेरिस में दिखाई दिए। उस समय वे कहा करते थे कि हम मिस्र के ईसाई हैं और हमें सारासेंस से भागकर यूरोप आना पड़ा है। कुछ ही समय पहले उन्होंने बोहेमिया छोड़ा था। अपने कथन के अनुसार वे एक प्रकार की तपस्या कर रहे थे, जिसका आदेश उन्हें पोप मार्टिन पंचम ने उन पापों की शुद्धि के लिये दिया था, जो उन्होंने अपनी यात्रा के दौरान किए थे। आदेश यह

था कि वे निरंतर सात वर्ष तक बिना शयन किए संपूर्ण पृथ्वी पर भ्रमण करें। उन्हें पेरिस नगर के बाहर बसने की अनुमति मिल गई, किंतु जब इन लोगों ने हस्तसामुद्रिक और भविष्यवाणी का पेशा अपनाया, तो वहाँ के धर्माध्यक्ष ने उन्हें उस स्थान से निष्कासित कर दिया और उन तमाम नागरिकों को धर्म से बहिष्कृत कर दिया, जिन्होंने जिप्सियों से संपर्क रखा था। वे घोर प्रकृति के व्यक्ति थे और यूरोप में जहाँ जहाँ वे गए, उनका तिरस्कार किया गया। उनके विरुद्ध नियम भी बनाए गए किंतु सब व्यर्थ रहे। फ्रांस के सम्राट फ्रांसिस प्रथम ने उन्हें तुरंत देश छोड़ने का आदेश दिया। आर्लीस के स्टेट्स जनरल ने उन्हें सदैव के लिये अपनी भूमि से बाहर कर दिया। १५वीं शताब्दी के मध्य में पोप पायस द्वितीय ने उन्हें काकेशस से आए हुए चोर बताया। १४९२ में ये लोग स्पेन से निकाल बाहर किए गए और १० वर्ष पश्चात् पुनः यही आदेश दोहराया गया। रानी एलिज़बेथ ने हेनरी अष्टम की भाँति उनके विरुद्ध कदम उठाया। स्काटलैंड में उन्हें शरण दी गई और उनकी सुरक्षा का प्रबंध किया गया। छोटे से मिस्र के सम्राट् जान फा ने अपनी जिप्सी प्रजा पर नियंत्रण का कार्य प्रारंभ किया। जर्मनी ने उन्हें निष्कासित करने का प्रयत्न किया और मारिया थेरेसा ने १७६८ में उन्हें प्रदेश में बसाया तथा कृषि के लिये भूमि प्रदान की। यह कदम सफल नहीं हुआ, लेकिन जोसेफ द्वितीय ने बहुत प्रयत्न करके, उन्हें बसाया, उन्हें व्यापार-पद्धति सिखाई; और उनके बच्चों की शिक्षा का प्रबंध किया। अब वे पहले की भाँति खानाबदोश नहीं रह गए हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि उनमें सभ्यता की चेतना जगी है और कृषि का उन्होंने बुद्धिमत्ता से उपयोग किया है।

जिब्रान, खलील (१८८३–१९३१) आधुनिक अरबी साहित्य में जिब्रान खलील 'जिब्रान' के नाम से प्रसिद्ध हैं, किंतु अंग्रेजी में वह अपना नाम खलील जिब्रान लिखते थे और इसी नाम से वे अधिक प्रसिद्ध भी हुए। उनका जन्म १८८३ ई० में लेबनान के बशेरी नामक कस्बे में हुआ। १२ वर्ष की अवस्था में वे अपनी माता एवं भाई बहिनों के साथ संयुक्त राज्य अमरीका चले गए और जून, १८९५ ई० से बोस्टन नगर में निवास करने लगे। वहीं उन्होंने बालकों के एक पब्लिक स्कूल में २½ वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की। तदुपरांत एक रात्रि के स्कूल में वर्ष भर पढ़ते रहे। फिर वह लेबनान में मदरस्तुल हिकमत नामक एक उच्च कोटि के विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के लिये चले गए। वहाँ शिक्षा प्राप्त करके वह सीरिया तथा लेबनान में ऐतिहासिक स्थानों की सैर करते हुए १९०२ ई० में लेबनान से वापस चले गए। वह अपने परिवारवालों से बड़ा प्रेम करते थे। इसी कारण १९०२ ई० में अपनी बहिन, १९०३ ई० में अपने भाई तथा तीन मास उपरांत ही अपनी माँ के स्वर्गवास से उन्हें बड़ा शोक हुआ। इन पारिवारिक दुःखों की अनुभूति तथा अपने मितभाषी स्वभाव के कारण वे अपने विचारों के जगत् में ही विचरण करते रहते थे। चित्रकला से उन्हें बड़ी रुचि थी। जब बच्चे उन्हें बातों में लगाना चाहते, वे ऐसी अद्भुत बातें छेड़ देते कि वे यह समझने पर विवश हो जाते कि यह कोई बड़ा ही विचित्र बालक है। १९०८ ई० में उन्होंने पेरिस की फाइन आर्ट्स एकेडमी में मूर्तिकला की शिक्षा प्राप्त की। पेरिस से लौटकर वे न्यूयार्क में निवास करने लगे किंतु वे हर वर्ष अपने परिवारवालों के पास कुछ समय व्यतीत करने के लिये बोस्टन जाया करते थे। वहीं वे शांतिपूर्वक चित्रकला में अपना समय व्यतीत करते।

उनके जीवन की कठिनाइयों की छाप उनकी कृतियों में भी वर्तमान है जिनमें उन्होंने प्रायः अपने प्राकृतिक एवं सामाजिक वातावरण का चित्रण किया है। आधुनिक अरबी साहित्य में उन्हें प्रेम का संदेशवाहक माना जाता है। अंग्रेजी में अनूदित उनकी कृतियाँ बड़ी प्रसिद्ध हो चुकी हैं।

सं० ग्रं० — 'दि फोररनर (१९२०); दि प्रॉफेट (१९२३); सैंड ऐंड फोम' (१९२७); जीसस दि सन ऑव मैन (१९२८); दि अर्थ गॉड्स (१९३१), दि वांडरर (१९३२); 'प्रोज पोएम्स (१९३४); निम्फ्स ऑव दि वैली, (१९४८)। बार्बरा यंग : 'दि मैन फ्राम लेबनान। [से० अ० अ० रि०]

जिब्राल्टर स्थिति। ३५° ५५' उ० अ० तथा ५° ४०' प० दे०। यह चट्टानी प्रायद्वीप है, जो स्पेन के मूल स्थल से दक्षिण की ओर समुद्र में निकला हुआ है। इसके पूर्व में भूमध्यसागर तथा पश्चिम में ऐलजे-सियरास की खाड़ी है। १७१३ ई० से यह अंग्रेजी साम्राज्य के उपनिवेश तथा प्रसिद्ध छावनी के रूप में है।

जिब्राल्टर के चट्टानी प्रायद्वीप को "चट्टान" (दी रॉक) कहते हैं। चट्टान समुद्र की सतह से एकाएक ऊपर उठती दृष्टिगोचर होती है। यह चट्टानी स्थलखंड उत्तर-दक्षिण फैली हुई पतली श्रेणी द्वारा बीच में विभक्त होता है, जिसपर कई ऊँची चोटियाँ हैं। चट्टानें चूना पत्थर की बनी हैं, जिनमें कई स्थलों पर प्राकृतिक गुफाएँ निर्मित हो गई हैं। कुछ गुफाओं में प्राचीन जीव जंतुओं के चिह्न भी पाए गए हैं।

जिब्राल्टर नगर नया बसा है। प्राचीन नगर की प्रायः सभी पुरानी महत्वपूर्ण इमारतें युद्ध (१७७९-८३) में नष्ट हो गईं। वर्तमान नगर 'राक' के उत्तरी-पश्चिमी भाग में ३.१६ वर्ग मील के क्षेत्रफल में फैला है। इसके अतिरिक्त समुद्र का कुछ भाग सुखाकर स्थल में परिणत कर लिया गया है। नगर का मुख्य व्यापारिक भाग समतल भाग में है। समतल के उत्तर की ओर ऊँचे असमतल भागों में लोगों के निवासस्थान तथा दक्षिण की ओर सेना के कार्यालय तथा बैरक हैं। यहाँ एक सैनिक हवाई अड्डा भी है। नगर की जनसंख्या २२,८४८ (१९५१) है। जिब्राल्टर कोयले के व्यापार का मुख्य केंद्र था, पर तेल से जल-यानों के चलने के कारण इस व्यापार में अब अधिक शिथिलता आ गई है। [उ० सिं०]

जिम्नैस्टिक्स प्राचीन ग्रीस देश में युवा पुरुष नंगे शरीर दौड़कर, भारी वस्तुएँ फेंककर, कुश्ती लड़कर तथा अन्य रीतियों से व्यायाम करते थे। इस व्यायाम को जिम्नैस्टिक्स कहते थे, क्योंकि ग्रीक भाषा में जिम्नोस शब्द नग्न का समानार्थी है। इन व्यायामों का उद्देश्य बल, कौशल तथा अंगों के प्रयोग के आवश्यकतानुसार नियंत्रण का विकास करना होता था।

इतिहास — जिन स्थानों पर ये व्यायाम किए जाते थे उन्हें जिम्नेशियम कहते थे। जिम्नेशियमों का ग्रीक जीवन में विशेष स्थान था। ये सार्वजनिक संस्थाएँ होते थे। राज्य इनके लिये विशेष भवन तथा संचालक अधिकारी नियुक्त करता था। इन अधिकारियों पर जिम्नेशियम की सजावट और सुरक्षा, युवा प्रशिक्षार्थियों के नैतिक आचरण की देख-रेख, सार्वजनिक दंगलों में भाग लेनेवाले मनुष्यों को तैयार करने तथा इन दंगलों की व्यवस्था का भार रहता था।

कुछ समय पश्चात् ग्रीक निवासियों का जिम्नेशियम केवल व्यायाम का स्थल नहीं रह गया। इसका रूप व्यापक हो गया। अब भी आरंभ में

तो व्यायाम तथा बच्चों का स्वास्थ्यरक्षण ही ग्रीक शिक्षा का उद्देश्य होता था, किंतु जब बच्चे बड़े हो जाते थे तो इन जिम्नेशियमों में शारीरिक कसरतों के साथ साथ बौद्धिक विकास का कार्यक्रम भी रहने लगा। रोमन सभ्यता का अभ्युदय होने पर रोम राज्य में जिम्नेशियमों को वह स्थान नहीं मिला जो उन्हें ग्रीस में प्राप्त था। वहाँ के निवासियों में जिम्नैस्टिक्स का स्थान खेलों तथा सैनिक प्रशिक्षणों ने ले लिया। यूरोप के मध्यकाल में भी ग्रीक जिम्नेशियमों में दिए जानेवाले शारीरिक प्रशिक्षण की अवहेलना रही। रूसो (Rousseau, सन् १७१२–१७७८) ने सर्वप्रथम इस बात पर ध्यान आकर्षित किया कि शारीरिक उन्नति तथा व्यायाम शिक्षा के आवश्यक अंग हैं। इनके सुझाव का प्रभाव जर्मनी में पड़ा और इस देश में जिम्नैस्टिक्स की अनेक शालाएँ स्थापित हुई।

इन शालाओं से जर्मन जाति की बड़ी शारीरिक उन्नति हुई तथा उन्होंने जर्मनी के स्वातंत्र्य संग्राम और जर्मन राज्यसंघ स्थापित होने के पश्चात् की राजनीति पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला। शिक्षासुधारक पेस्टालात्सी (Pestalozzi) तथा फ्रबेल (Froebel) ने भी पूर्ण शिक्षा के लिये व्यायाम की आवश्यकता पर जोर दिया, किंतु जिस प्रकार प्राचीन ग्रीस में जिम्नेशियम केवल व्यायाम का स्थान न रहकर बौद्धिक शिक्षा के केंद्र हो गए थे, वैसी ही बात जर्मनी में भी हुई। यहाँ तक कि अब वहाँ जिम्नेशियम नाम का व्यायाम की संस्थाओं से कोई संबंध नहीं रह गया है, एवं उच्च माध्यमिक पाठशालाओं को जिम्नेशियम कहते हैं। किंतु इंग्लैंड, फ्रांस तथा यूरोप के अन्य देशों में यह नाम उसी भवन को दिया जाता है जहाँ व्यायाम किया जाता है।

वर्तमान अवस्था — आधुनिक काल में एक के बाद दूसरे शिक्षाशास्त्री नियमित व्यायाम पर अधिक जोर देते रहे हैं और जनता में बढ़ती हुई शारीरिक अवनति का प्रमाण मिलने के कारण इनकी बातों पर विशेष ध्यान दिए जाने पर जोर दिया जा रहा है। इंग्लैंड, भारत इत्यादि देशों की सेना में भरती हुए रंगरूटों की शारीरिक शिक्षा का आवश्यक अंग जिम्नैस्टिक्स स्वीकृत है तथा अनेक देशों के बच्चों की शारीरिक उन्नति के लिये जो उपाय सुझाए गए हैं उनमें जिम्नैस्टिक्स का भी विशेष स्थान है। साधारणतः जो व्यायाम कराए जाते हैं उनका एक अंग जिम्नैस्टिक्स तथा दूसरा ड्रिल होता है। इनके लिये विशेष उपकरणों की आवश्यकता नहीं होती, किंतु उच्च विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में अनेक प्रकार के उपकरणों का उपयोग भी होता है। इन उपकरणों के प्रयोग में विशेष कौशल आवश्यक होता है। उत्साह दिलाने के लिये इनमें वार्षिक प्रतियोगिताएँ भी होती हैं।

आवश्यक उपकरण — जिम्नैस्टिक्स के लिये विशेष तथा मूल्यवान् सामान भी होते हैं। इनमें से कुछ को रखने तथा प्रयोग में लाने के लिये लंबे चौड़े स्थान की भी आवश्यकता होती है। चिकित्सा में उपयोगी व्यायामों के लिये विशेष प्रकार के उपकरण आवश्यक होते हैं। इनमें से भी कुछ विशेष मूल्यवान् होते हैं। किंतु इन विशेष उपकरणों को छोड़कर अन्य सब सामान साधारण होते हैं और समान रूप से सब जगह काम में लाए जाते हैं। इनमें सबसे साधारण है डंबेल। यह लोहे का भी होता है और लकड़ी का भी। लोहेवाला अधिक शक्त्युत्पादक है। लगभग एक मीटर लंबा, लकड़ी या लोहे का डंडा भी एक उपकरण है, जिससे कई प्रकार के हलके व्यायाम किए जाते हैं। लोहे का डंडा भार में पाँच पाउंड होता है। हलके छोटे मुगदर भी जिम्नैस्टिक्स में काम आते हैं। इन सब उपकरणों की सहायता से अनेक प्रकार के सामूहिक व्यायाम कराए जाते हैं। यदि इनकी सहायता से उत्साहसहित व्यायाम कराए जायें और साथ साथ टाँगों के लिये अलग कसरतें की जायें तो शरीर की सर्वांगीण उन्नति होती है।

जिम्नेशियमों में निम्नलिखित अचल उपकरण होते हैं। चढ़ने के लिये लटकती रस्सियाँ या गड़े हुए डंडे, कूदने के लिये लकड़ी का घोड़ा (वाल्टिंग हार्स) या पेटी; क्षैतिज दंड (हॉरिजांटल बार), जिसकी ऊँचाई कम या अधिक की जा सकती हो; समांतर दंड (पैरलल बार); ढालवाली भूमि या तख्ता (इन्क्लाइंड प्लेन); झूलने के लिये रस्सी से लटकते छल्ले (स्विंगिंग रिंग्स); चढ़ने के लिये दीवारें (स्केलिंग वॉल्स); संतुलन के लिये धरन (बैलेंस बीम) इत्यादि। इन सबका प्रयोजन शक्ति तथा शारीरिक नियंत्रण और कौशल की वृद्धि करना तथा शरीर को आज्ञाकारी सेवक बनाना है।

चिकित्सा में स्थान — सौ वर्ष से कम हुए, आरोग्यशास्त्रियों ने अनुभव किया कि जिम्नैस्टिक्स चिकित्सा में भी उपयोगी हो सकती है। फलतः विभिन्न शारीरिक दोषों या दुर्बलताओं को दूर करने के लिये अनेक उपकरण बनाए गए। इन उपकरणों की सहायता से किए जानेवाले व्यायाम शरीरशास्त्र तथा रचना पर आधारित वैज्ञानिक सिद्धांतों के अनुसार व्यवस्थित होते हैं। कुछ रोगों में जिम्नैस्टिक्स से आश्चर्यजनक लाभ होता है। इसके अतिरिक्त शरीर की अनेक ऐसी विकृत रचनाएँ होती हैं, जो योग्य चिकित्सक की देखरेख में इन व्यायामों से यदि दूर नहीं होतीं तब भी विकलांगों की अवस्था में अत्यधिक सुधार हो जाता है। [भ० दा० व०]

जिम्मेरमैन, आर्थर जर्मन राजनीतिज्ञ। फ्रौकेंस्टीन में ८ मई, १८५६ को जन्म। शंघाई और टिंट्सिन में क्रमशः वाइस कांसल और कांसल (वैदेशिक प्रतिनिधि) रहने के पश्चात् १९०२ मे अपने देश के वैदेशिक विभाग में नियुक्त हुआ। फिर १९११ में वह उपराज्यमंत्री और १९१६ में वान जगो के पश्चात् राज्यमंत्री नियुक्त हुआ। मेक्सिको को जर्मनी के साथ संधि करने का और जापान को भी इसी उद्देश्य से प्रेरित करने का प्रस्ताव १९१७ में इसी ने किया था। इस संधि का परिणाम यह हुआ कि मेक्सिको, अमरीका के न्यूमेक्सिको, टेक्सास और एरिजोना राज्यों में बँट गया। यह प्रस्ताव, जिसे मेक्सिको में जर्मन प्रतिनिधि वान एकहार्ड्ट के माध्यम से भेजा गया था, अमरीकी राष्ट्रपति विल्सन ने प्रकाशित करवा दिया। जर्मनी के विरुद्ध अमरीका की युद्धघोषणा के कारणों में उस प्रस्ताव की गोपनीयता का उद्घाटन मुख्य कारण था। अगस्त, १९१७ में जिम्मेरमैन ने अवकाश ग्रहण किया। १९४० में उसकी मृत्यु हो गई।

जियोवानी, जेंतील इटली की राष्ट्रीय शिक्षापद्धति के विकास में जेंतील जियोवानी का अत्यधिक योगदान रहा है। इनका जन्म सन् १८७५ में हुआ था। उच्च अध्ययन के पश्चात् इनकी नियुक्ति दर्शन के प्रोफेसर के पद पर हुई। जेंतील ने अनेक महत्वपूर्ण दार्शनिक ग्रंथ लिखे हैं। 'आदर्शवाद का पुनर्जन्म' इनका प्रथम प्रसिद्ध ग्रंथ था। इटली के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् क्रोचे के सहयोग से जेंतील ने एक

दार्शनिक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया था। इस पत्रिका के माध्यम से इतालवी शिक्षा के सुधार का प्रयास किया गया। यह उल्लेखनीय है कि जेंतील के राष्ट्रीय विचार लोकतंत्र और समाजवाद के पक्ष में नहीं थे। अतः जब इटली में मुसोलिनी का अभ्युदय हुआ तब जेंतील ने उसका पूर्ण समर्थन किया और इसके फलस्वरूप उन्हें मुसोलिनी ने इतालवी शिक्षा में सुधार की योजना बनाने के लिये नियुक्त किया। इतना ही नहीं, जेंतील मुसोलिनी के मंत्रिमंडल में शिक्षामंत्री भी नियुक्त हुए। इस प्रकार वे इटली की शिक्षाप्रणाली में समकालीन राजनीतिक आवश्यकताओं के अनुकूल परिवर्तन करा सके।

यह उल्लेखनीय है कि जेंतील राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद पर अत्यधिक बल देते थे। अतः अंतरराष्ट्रीय सहयोग के किसी भी प्रयास को वे उपहासजनक समझते थे। जेंतील राष्ट्रीयता के घोर समर्थक थे और इसीलिये उन्होंने इटली के सभी विद्यालयों में ऐसी शिक्षा का प्रबंध किया जो राष्ट्रीय भावना के विकास में पूर्ण रूप से सहायक होती थी। इतना ही नहीं, उन्होंने व्यक्ति से अधिक राष्ट्रीयता और राज्य (स्टेट) को महत्व दिया। उनका मत था कि राष्ट्र सभी व्यक्तियों की भावनाओं का प्रतीक है। अतः उन्हें राष्ट्र और राज्य को अपना पूर्ण समर्थन प्रदान करना चाहिए।

शिक्षा के क्षेत्र में जेंतील की मुख्य देन राष्ट्रीयता की शिक्षा पर अत्यधिक बल देना है। लेकिन आदर्शवादी होने के कारण उन्होंने व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य आत्मानुभूति स्वीकार किया। फलतः वे शिक्षा का उद्देश्य आत्मज्ञान मानते थे। जेंतील ने दर्शन और शिक्षा के अंतर को कम किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने शिक्षक के स्थान को भी अत्यधिक महत्वपूर्ण माना। लेकिन उन्होंने अंतरराष्ट्रीयता तथा विश्व-एकता की अवहेलना की। इसीलिये आज जेंतील विश्व की प्रगतिशील शक्तियों द्वारा उपेक्षित हो गए हैं। [सी० जा०]

जिरेनियम (Geranium) वानस्पतिक जगत् के जिरेनिएसिई (Geraniaceae) परिवार का पौधा है। इसके फल का आकार सारस पक्षी की चोंच के समान होने के कारण इसे अंग्रेजी में 'क्रेन्स-बिल' (Cranes Bill) कहा जाता है। यह छोटा पौधा साधारणतया बारहमासी और कभी कभी एकवार्षिक और द्विवार्षिक भी होता है। इसके फूल हलके और गहरे बैंगनी, प्याजी या नीले रंग के होते हैं। समशीतोष्ण देशों में जिरेनियम की प्रजाति में दो सौ पचास से अधिक जातियों के पौधे पाए जाते हैं। गरम देशों में यह पौधा कम पाया जाता है। साधारणतः पौधों के लिये अच्छी उपजाऊ मिट्टी आवश्यक होती है। इनके प्रसार के लिये इनके बीजों और जड़ों को विभक्त करके प्रयोग में लाया जाता है।

जी० मैक्युलेटम लिन्न० (G. maculatum Linn.) और जी० रौबर्टिएनम लिन्न० (G. robertianum Linn.) के पौधे पेड़ों की छाया के नीचे भी खूब फलते फूलते हैं। कई जातियों के पौधों, जैसे जी० मैक्युलेटम लिन्न०, की जड़ों का उपयोग दवाइयों में भी किया जाता है। इस प्रजाति की केवल दो जातियों, जि० मैक्रोरिंजम एल० (G. macrorrhizum L.) और जी० मालवरोसा (G. malvarosa), के पौधों में अल्पांश में सौगंधिक तेल पाए गए हैं।

'जिरेनियम' के सुगंधित पौधे वास्तव में जिरेनिएसिई कुल की एक अन्य प्रजाति पेलारगोनियम (Pelargonium) की विभिन्न जातियों में से होते हैं। इन पौधों का आर्थिक महत्व उनके उड़नशील सौगंधिक तेल के कारण अत्यधिक है। भारत में इस प्रजाति के कुछ पौधों का प्रसार

जंगली जिरेनियम (G. maculatum)

सौगंधिक तेल उद्योग के विस्तार की दृष्टि से मद्रास राज्य के सेलम के निकटवर्ती यरकौड नामक पहाड़ी इलाके में किया जा रहा है।

सं० ग्रं० — बेली, एल० एच० : दि स्टैंडर्ड साइक्लोपीडिया ऑव हॉर्टिकल्चर खंड २ (एफ-ओ); पाउचर, डब्ल्यू० ए० : परफ्यूम्स, कॉस्मेटिक्स ऐंड सोप, खंड १ (१९४२)। [सद्०]

जिरेनिएसिई (Geraniaceae) पौधों का एक कुल है, जो कषायमूल गण (Geraniaceae Order) के अंतर्गत है। उद्यानों में उगाई जानेवाली गुलमेंहदी इसी कुल की सदस्या है। ये पौधे पृथक्‌दलीय (Dialypetalae) होते हैं। इनके ११ वंश तथा ६५० जातियाँ मिलती हैं। जिरेनिएसिई के सदस्य संसार के सभी शीतोष्ण भागों में पाए जाते हैं। पेलरगोनियम (Pelargonium) जाति के पौधे मांसल होते हैं।

जिरेनिएसिई में पुष्पक्रम बहुशाख्यक्ष (Cymose) होता है, बाह्यदल ऐंठे हुए या धारास्पर्शी एवं दल संख्या में प्रायः पाँच होते हैं; किंतु पेलरगोनियम का पुष्प एकयुग्मी (Zygomorphic) होता है। इसमें प्रायः दो आवर्त होते हैं। भीतरी आवर्त के पुंकेसर बाहर की अपेक्षा बड़े होते हैं। इन भीतरी पुंकेसरों के नीचे मधुस्रावी ग्रंथियाँ (Honey-glands) होती हैं। इसी मधु के कारण कीट पतिंगे आकृष्ट हो, परागण में सहायता पहुँचाते हैं। बाह्यदल (sepal) भी साधारणतः पाँच होते हैं। फलों के परिपक्व होने पर उनकी चोटी के कँटीले भाग सूखकर ऐंठ जाते हैं। आर्द्रता पाने पर ये खुल जाते हैं और बीज छिटककर दूर जा गिरते हैं। बीज के भीतर स्थित बीजपत्र हरे रहते हैं। जिरेनियम के पुष्प पूर्वपुंपक्व (protandrous) होते हैं। उद्यान में पाए जाने
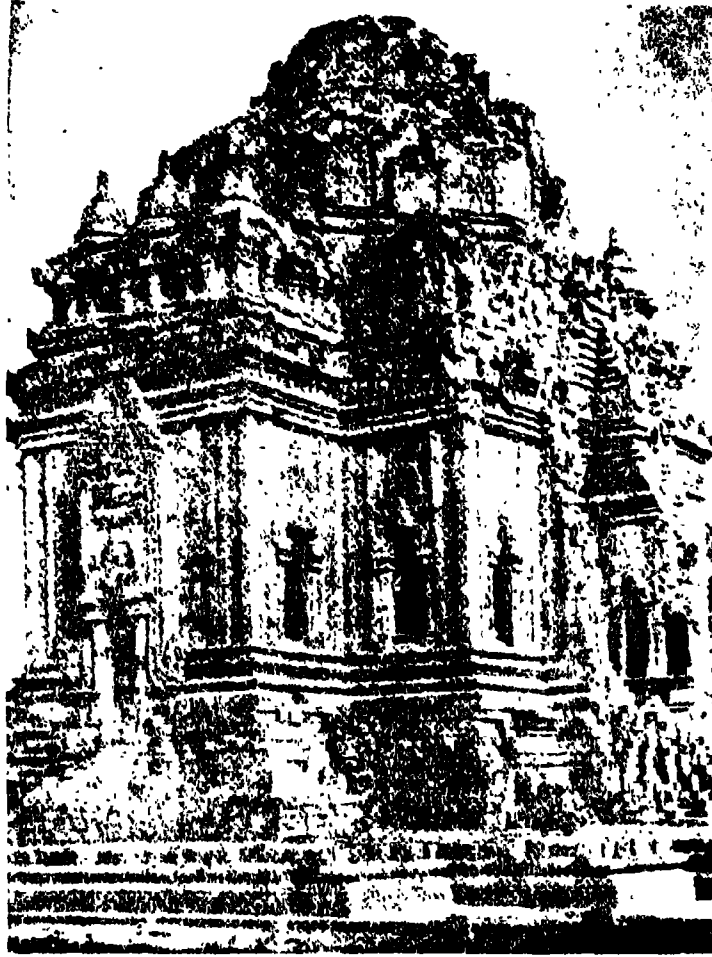
चंडीकलशन् (मध्य जावा)

जावा (पृष्ठ ४६०)

बोरोबुदुर (मध्य जावा)

जिरेनियम (पृष्ठ ४६८)

गमले में जिरेनियम का पौधा

पाये जिरेनियम अथवा पेलरगोनियम जाति के होते हैं। भारत में कई प्रजातियाँ पाई जाती हैं। [वि० मा० शु०]

जिलेटिन (सरेसा) खाद्य पदार्थ है, जो सरलता से जठर में ऐमिनो अम्ल में परिणत हो जाता है। समस्त प्रोटीन इसी रूप में शरीर में पचते हैं। अन्य खाद्य पदार्थों के साथ मिलकर जिलेटिन उन्हें कणों में बिखेर-कर अधिक पाच्य बना देता है। वसा और तेल के साथ मिलकर यह इमलशन (पायस) बनाता है, जिससे ये जल्द पच जाते हैं। इसी कारण मांस और फलों के साथ मिलाकर जिलेटिन खाया जाता है। मलाई की बरफ में यह प्रधानतया संरक्षी कलिल (protective colloid) का काम करता है और शर्करा को मणिभ के रूप में पृथक् होने से रोकता है। इस काम के लिये ०·५ प्रति शत जिलेटिन पर्याप्त होता है। पाश्चात्य देशों में, विशेषतः मिठाइयाँ बनाने में, इसका उपयोग प्रचुरता से होता है। अंग्रेजी दवाइयों के कड़े और मुलायम संपुट (capsule) भी इसके बनते हैं। फोटोग्राफी के पट्ट तथा फिल्मों और चलचित्र के फिल्मों में रजत लवणों को पकड़ रखने के लिये जिलेटिन का आवरण चढ़ाया जाता है।

जिलेटिन हड्डियों और चमड़ों से तैयार होता है। हड्डियों से तैयार करने में कैलसियम फॉस्फेट, कैलसियम क्लोराइड और चिकनाई (grease) उपजात के रूप में प्राप्त होती है। कैलसियम फॉस्फेट उर्वरक के लिये और पोर्सिलेन के निर्माण में 'बोन चाइना' के नाम से काम आता है।

जिलेटिन का निर्माण — जिलेटिन के निर्माण में जो हड्डियाँ प्रयुक्त होती हैं वे कसाईखाने की बची खुची हड्डियाँ और चमड़े के कार-खानों के निरर्थक अंश, कतरन आदि होते हैं। चमड़े और हड्डियों में (हड्डी का तृतीयांश भार) कोलेजन (Collagen) का होता है, जिससे जिलेटिन बनता है। यदि खाने के लिये जिलेटिन बनता है तो उसके लिये सरकार का कड़ा निर्देश है कि हड्डियाँ और चमड़े उच्च कोटि के होने चाहिए और निर्माण के प्रत्येक क्रम पर पूर्ण नियंत्रण रहना चाहिए। सरेस के निर्माण के लिये ऐसा कोई कड़ा नियम नहीं है।

जिलेटिन बनाने में हड्डी या चमड़े को चूने के साथ ६५° सें० तक कुछ समय के लिये उपचारित कर लें तो अच्छा होता है, अन्यथा निष्कर्षण निकालने में ठंडे जल के उपयोग से जलविश्लेषण नहीं होता। अधिक जलविश्लेषण से जिलेटिन सरेस में बदल जाता है।

हड्डी को पहले चिकनाई से मुक्त करते हैं। इसके लिये हड्डी को दबाव-वाली भाप से गरम करते हैं। चिकनाई पानी पर तैरने लगती है और उसे काछ लेते हैं। कहीं कहीं भाप के स्थान में निम्न क्वथनांकवाले पेट्रोलियम नैफ्था से भी चिकनाई को निकालते हैं। इससे जिलेटिन का क्षय नहीं होता। कहीं कहीं पट्टावाही (belt conveyor) द्वारा ले जा-कर हड्डी को दलते हैं और चुंबक पृथक्कारक द्वारा लोहे के टुकड़ों को अलग कर, श्रेणीबद्ध २० फुट व्यास की और ५ फुट गहरी टंकियों में रखकर, प्रतिधारा के आधार पर ७·५ प्रति शत हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के विलयन को पारित करते हैं। हड्डी के खनिज लवण घुलकर निकल जाते और केवल कार्बनिक पदार्थ रह जाते हैं। चमड़े में इस उपचार की आवश्यकता नहीं पड़ती।

ऐसी उपचारित हड्डी को अथवा चमड़े को पाँच फुट घनाकार सीमेंट की [illegible] नादों में रखकर पानी और बुझा चूना डालकर एक मास से अधिक काल तक छोड़ देते हैं। इससे कोलेजन का ओस्सीन (Ossein) फूल जाता और बर्फ सा सफेद हो जाता है, म्युसिन और एल्ब्युमेन घुल जाते और बची खुची चिकनाई साबुनीकृत हो जाती है। अब ओस्सीन को निकालकर घूर्णन टंकी में चार बार, पहले पानी से, फिर तनु हाइ-ड्रोक्लोरिक अम्ल से, फिर दो बार पानी से, एक एक दिन धोते हैं। ऐसे चूना उपचारित ओस्सीन को चार फुट गहरी और चार फुट चौड़ी टंकी में रखकर कूट पेंदे के नीचे भाप कुंडली से गरम करते हैं। पानी का ताप ६०° सें० रहता है। ८ घंटे तक निस्सारण करने से ८ से १० प्रति शत जिलेटिन निकल आता है। निष्कर्ष को छानकर ठंडा करते हैं। इसका दूसरा और तीसरा निष्कर्ष क्रमशः ६५° सें० और ७५° सें० पर निकलता है। अंतिम निष्कर्ष ऐसा होता है जिससे जेली नहीं बनती। पर सभी जिलेटिन खाने के योग्य होते हैं।

जिलेटिन के गरम विलयन को लुगदी पर छानते हैं। फिर ६ इंच चौड़ी और ६ इंच गहरी इस्पात की लंबी द्रोणी में रखकर शीतानुकूलित कक्ष में ठंढा करते हैं। साँचे से निकालकर, छोटा छोटा काटकर, तार के फ्रेम पर रखकर, ७० फुट लंबी सुरंग में ४०° सें० गरम वायु में सुखाते हैं। इससे जो जिलेटिन प्राप्त होता है उसमें १० प्रति शत जल रहता है। फिर पीसकर इसका चूरा बना लेते हैं।

जिलेटिन के गुण — जिलेटिन ठोस पदार्थ है। इसकी विशेषता अधिक मात्रा में जल पकड़ रखने की है। जल के साथ यह अर्ध ठोस हो जाता है, जिससे मणिभ जल्दी नहीं निकलते। यदि पानी में तीन प्रति शत जिलेटिन रहे, तो वह जमकर जेली बन जाता है। [फू० स० व०]

जिल्दसाजी मुद्रित पृष्ठों को पुस्तकाकार बनाने, सुरक्षा के लिये आवरण लगाने तथा आवरण को आकर्षक बनाने की पद्धति है। यूरोप में जिल्द-साजी के वर्तमान स्वरूप का विकास ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ। भारत में जिल्दसाजी मुद्रण कला के साथ ही विकसित हुई।

अच्छी जिल्दसाजी के लिये चमड़ा उपयुक्त वस्तु है। प्राचीन काल से अब तक इसका उपयोग इस कार्य के लिये होता आ रहा है। नम होने पर यह सुगमता से पुस्तक के आकार में मुड़ जाता है। अपने चिमड़े-पन तथा नम्यता के कारण चमड़ा पुस्तकों को मजबूत बनाता है। इसके कारण पुस्तकों को खोलने में कोई बाधा नहीं होती। जहाँ चमड़ा मूल्यवान् होता है वहाँ चमड़े के पूर्ण आवरण के स्थान पर केवल किनारों तथा पीठ (back) पर चमड़ा और शेष स्थान पर कागज या कपड़ा लगाते हैं। चमड़े के स्थान पर बकरम या इसी प्रकार के अन्य कपड़े सस्ती जिल्दसाजी के लिये व्यवहृत होते हैं।

आजकल हाथ और मशीन दोनों प्रकार से जिल्दसाजी की जाती है। हाथ से जिल्द बाँधने में निम्नलिखित यंत्र उपयोग में आते हैं : १. सिलाई करने का चौखटा (sewing frame) — इसमें पुस्तक के मुड़े परिच्छेद या फर्मे (signature or section) खड़े धागे से सीए जाते हैं; २. काटने का यंत्र — यह यंत्र पुस्तक के किनारों को काटने के काम में आता है; ३. दबावयंत्र या शिकंजा — इसके द्वारा जिल्द-साजी के समय पुस्तकों को दबाया जाता है।

हाथ से जिल्दसाजी — भारत में डिमाई अठपेजी (अर्थात् डबल डिमाई १६ पेजी), रायल अठपेजी और डबल क्राउन १६ पेजी आकार की पुस्तकें अधिक प्रचलित हैं। उपर्युक्त आकार कागज के एक ताव (sheet) में होते हैं, लेकिन डिमाई अठपेजी का एक कुच आठ पृष्ठों का ही होता है। पहले इन छपे हुए तावों को दो बराबर भागों में

काटना पड़ता है। इसके बाद भँजाई या मोड़ाई (folding) की क्रिया की जाती है। दफ्तरी इसमें दो बातों का ध्यान रखता है। (१) बाहर और भीतर का हाशिया ठीक रहे तथा (२) भाँज इस तरह पड़े कि पृष्ठों की संख्या क्रमानुसार रहे। सभी फर्मों को भाँज लेने के बाद मिसिल उठाने की क्रिया की जाती है। इसमें प्रत्येक फर्मे की गड्डी दफ्तरी अपने बाईं ओर से दाईं ओर सजाता है। बाईं ओर सबसे पहले भीतरी आवरण इत्यादि का फर्मा और अंत में दाहिनी ओर पुस्तक का अंतिम फर्मा रखता है और वह एक एक फर्मे को क्रमशः उठाता जाता है। इसके बाद दफ्तरी सांकेतिक क्रमसंख्या के अनुसार फर्मों का मिलान करता है।

मिसिल उठाने (gathering) की क्रिया के बाद पुस्तक में लगनेवाले चित्रों को यथास्थान साट देते हैं और तब सिलाई करते हैं। सिलाई दो प्रकार से की जाती है। स्टिचिंग (stitching) और जुजबंदी। स्टिचिंग सिलाई में फर्मों को स्टिचिंग यंत्र द्वारा तार से या टेकुए से छेदकर सूई और धागे से सीकर ऊपर से आवरण साट देते हैं। जुजबंदी सिलाई में जोड़ा पन्ने रहते हैं। फुट पन्नों की जुजबंदी सिलाई नहीं हो सकती। शिकंजे में पुस्तक को उल्टा कसते हैं और जहाँ बंधनी (cord) रखनी है वहाँ आरी से काटकर लगभग १।३२ इंच गहरा घाट बनाते हैं। जुजबंदी में एक फर्मे को एक तरफ से घाट पर सीते हुए दूसरे किनारे तक ले आते हैं। इसी तरह सभी फर्मों को सीते हैं। संपूर्ण पुस्तक की सिलाई पूरी हो जाने पर पुस्तक के दोनों ओर पुस्तक की माप का जोड़ा पन्ना कागज साटते हैं, जिसे पोस्तीन कहते हैं। पोस्तीन का कागज चिमड़ा एवं रंगीन होना चाहिए। पोस्तीन लगाने के बाद पुस्तक की कटाई की जाती है और सबसे पहले वह किनारा काटा जाता है जिधर से पुस्तक खुलती है। कटाई कर चुकने पर पोट पर पतले सरेस का हलका लेप चढ़ा देते हैं, किंतु पुस्तक काटने से पहले ही सरेस लगा देना अच्छा है। पुस्तक के पोट को सरेस सूखने से पहले ही गोल किया जाता है। पोट गोल करने की क्रिया में पोट को उन्नतोदर तथा जिधर पुस्तक खुलती है उसे नतोदर कर दिया जाता है। पोट को गोल करने के बाद इसका किनारा निकालते हैं। किनारा निकालने के लिये पुस्तक को शिकंजे में कसके पोट के दोनों किनारों को धीरे धीरे पीटते हैं। किनारा निकालना इसलिये आवश्यक है कि दफ्ती मढ़ देने के बाद पुस्तक के खुलने में सुगमता हो।

पुस्तक के आकार के अनुसार दफ्ती की मोटाई निश्चित की जाती है। दफ्ती दो तरह से लगाई जाती है। एक तो पुस्तक के ठीक नाप की होती है, जिसे फ्लश कट कहते हैं। दूसरे प्रकार में दफ्ती तीनों तरफ एक एम बाहर निकली रहती है। दफ्ती को बड़ी रखने के लिये दफ्ती के अंदरवाले भाग पर कागज साट देते हैं। यदि पूरी दफ्ती पर कपड़ा अथवा चमड़ा मढ़ना हो, तो उसके दोनों तरफ कागज साटना चाहिए। प्रत्येक बंधनी के सामने बंधनी की लंबाई के अनुसार दफ्ती पर चिह्न बना देते हैं। प्रत्येक चिह्न पर टेकुए से दो छेद बनाते हैं. एक छेद चिह्न पर तथा दूसरा छेद चिह्नवाले छेद तथा दफ्ती के किनारे से १।८ इंच हटकर। दफ्ती को पुस्तक पर रखकर बंधनी को पासवाले छेद से बाहर निकालकर दूसरे छेद में पहना देते हैं तथा इन जगहों पर कागज की चिप्पी साट देते हैं। पोट को हथौड़े से ठोंकते हैं तथा सरेस से दफ्ती के किनारों को कसकर रगड़ देते हैं। अब दफ्ती पर लकड़ी का पटरा रखकर पुस्तक को प्रेस में कम से कम २४ घंटे तक दबाए रखते हैं।

पोट पर आवरण दो विधियों से लगाया जाता है। एक विधि में आवरण पोट से सटा रहता है और दूसरी विधि में आवरण और पोट के मध्य खोखली फाँक रहती है। पहली विधि में पोट पर पहले एक झीना कपड़ा या मोटा कागज साट देते हैं। इसके बाद आवरण को दफ्ती के एक किनारे सरेस से चपका देते हैं और उसे पोट पर चपकाते हुए दूसरी ओर ले जाते हैं और दफ्ती के दूसरे किनारे पर चपका देते हैं। दूसरी विधि में पोट पर कागज का दोहरा अस्तर चढ़ाते हैं। पहला अस्तर पोट के आकार का काटकर चपका देते हैं तथा दूसरे अस्तर के लिये कागज की चौड़ी पट्टी लेते हैं और उसे तीन भागों में मोड़ते हैं। एक भाग का केवल किनारा बीचवाले भाग पर साट देते हैं तथा दूसरा भाग इसके ऊपर साट देते हैं। ये दोनों भाग बीच में खुले रहते हैं। अंत में इसे पहले अस्तर से पूरी तरह साट देते हैं।

पोट पर तथा कोनों पर चमड़ा या कपड़ा मढ़ने के बाद ही दफ्ती पर आवरण चढ़ाते हैं। आवरण को काटते समय दफ्ती की माप से तीन तरफ कम से कम आधा इंच अधिक रखते हैं, जिससे वह अंदर मोड़कर चिपकाया जा सके। सबसे अंत में पोस्तीन साटा जाता है। पोस्तीन के पास जिल्द को मजबूत रखने के लिये पोस्तीन के दोनों पत्रों के बीच झीने कपड़े की पट्टी साट देते हैं। इसके बाद पुस्तक को धागे से बाँधकर सूखने के लिये रख देते हैं।

आवरण को अलंकृत करने के लिये लकड़ी की मुठिया में लगे हुए ताँबे के ठप्पे का उपयोग करते हैं। गरम चमड़े के आवरण पर ठप्पे को दबाने से अक्षर या अभिकल्प उतारे जाते हैं। चर्मजिल्द पर गरम ठप्पों को दबाकर भी सजावट के अभिकल्प उतारे जाते हैं। तैयार चमड़े पर ठप्पे द्वारा सुनहला वर्क दबाए जाने पर सुनहला अक्षर या अभिकल्प उभर आता है। सुनहली सजावट सबसे साधारण एवं विशिष्ट सजावट है। इसके अतिरिक्त लकड़ी पर नक्काशी द्वारा तथा रत्न इत्यादि लगाकर भी सजावट की जाती है। मध्यकाल में गिरजाघरों तथा राजा महाराजाओं के उपयोग में आनेवाली पुस्तकों पर इसी प्रकार की मूल्यवान् सजावट की जाती थी। सजावट सुनहली अथवा सादी दोनों प्रकार की होती है। कपड़े की जिल्द के प्रचार के साथ साथ इस प्रकार की सजावट का प्रचार बढ़ा है।

यांत्रिक जिल्दसाजी — जिल्दसाजी के कार्य में अब स्वचालित यंत्रों ने प्रवेश पा लिया है, जिससे बड़ी संख्या में पुस्तकों की जिल्दसाजी संभव हो गई है। यांत्रिक जिल्दसाजी को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है: पहला, कागज की जिल्द (Painphlet binding) तथा दूसरा, दृढ़ जिल्द (Edition binding)।

कागज की जिल्द — घूर्णनी (rotary) तथा तंत्रजाल (web) की तरह के मुद्रणयंत्रों में कागज मोड़ने का यंत्र लगा रहता है, जिससे समय की बचत होती है। स्वचालित निविष्ट यंत्र (automatic inserting machine) परिच्छेदों (फर्मों) अथवा पृष्ठों को यंत्र में प्रविष्ट करता है और स्वचालित समवेत (assembling) तारसीवा (Wire-stitching) तथा आवरणयंत्रों द्वारा कागज की जिल्दसाजी की क्रिया पूर्ण होती है। स्वचल यंत्रों में फर्मों को लेकर मुड़े किनारों को काटना, बाक लगाना, गोंद लगाना, मोटा कपड़ा चिपकाकर कागज के आवरण पर गोंद लगाना और दफ्ती पर चिपकाकर काटने के लिये तैयार करना पूर्ण जिल्दसाजी कहलाता है। काटने की क्रिया तीन धारवाले यंत्र से की जाती है, जो पोट को छोड़कर शेष तीनों को काटता है। इस यंत्र

से पुस्तकों या साप्ताहिक एवं मासिक पत्रों के समूह की कटाई एक साथ होती है।

दृढ़ जिल्दसाजी — पुस्तक के फर्मों को मोड़ने के बाद उनका बंडल वायुदाब यंत्रों द्वारा बनाया जाता है। मेरिशफोर्ड टीपिंग यंत्र द्वारा चिमफलक, प्रथम एवं अंतिम फर्मों, आवरण और पोस्तीन को जोड़ने का कार्य होता है। मानचित्रों तथा मुड़े फर्मों को पट्टी लगाकर दृढ़ करने का कार्य ब्रैकेट स्ट्रिपिंग यंत्र द्वारा होता है। मलमल, ट्विल अथवा कागज के साथ यह यंत्र अच्छा कार्य करता है। इस प्रकार के अन्य यंत्र मार्श ऐंड पेपर, मार्श ट्विन स्कूल बुक ऐंड पेपर और एलरिंग ऐंड पेपर हैं। शेरीडम, जेंग्स्ट और व्हीमल यंत्रों द्वारा पुस्तक के फर्मों को क्रम से लगाने का कार्य भी किया जाता है। शेरिडन बेल्ट कनवेयर स्मैशर द्वारा कतरने, छपाई के धब्बे हटाने तथा पुस्तक के समूह को एक समान विस्तार देने का कार्य होता है। सीबोल्ड कंप्रेसर द्वारा सिलाई के कारण उत्पन्न सिकुड़न दूर की जाती है। अन्य विभिन्न प्रकार के स्वचालित यंत्र आवरण लगाने तथा आवरण को अलंकृत करने का कार्य करते हैं। पुस्तकों पर जिल्द के अतिरिक्त आवरण चढ़ाने तथा उनका पुलिंदा बनाने का काम भी स्वतःचालित यंत्रों से होता है। [भ० ना० मे०]

जिहाद जिहाद जिहद से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है 'प्रयास' या न्याय-परायणता के लिये प्रयत्न। कुरान की पद्धति में जिहाद का ठीक ठीक अर्थ धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने और उसे बनाए रखने के लिये युद्ध प्रारंभ करना है। कुरान की मुख्य शिक्षाएँ निम्नलिखित हैं :

(१) प्रथम, मुसलमान गैरमुस्लिमों से अच्छा संबंध रखें जो अपने धर्म के कारण उनपर धार्मिक अत्याचार नहीं करते। 'अल्लाह तुम्हें उन लोगों का संमान करने से नहीं रोकता, जिन्होंने धर्म के कारण तुमसे युद्ध नहीं किया है; तुम्हें तुम्हारे घरों से नहीं निकाला है; तुम उनके साथ दयालुता का व्यवहार करो और उनके साथ न्याय और सत्य का व्यवहार करो (६०:८–९)। (२) धर्म में कोई बंधन नहीं होना चाहिए (२:२५६)। (३) तुम्हारे लिये तुम्हारा धर्म है, मेरे लिये मेरा (१०९:६)। (४) इस्लाम के पैगंबर पीड़ित किए जाने पर भी मक्का में १० वर्ष तक उपदेश करते रहे; किंतु उनका जीवन खतरे में पड़ गया और उन्होंने भागकर मदीना में शरण ली। जब उनके शत्रुओं ने वहाँ भी आक्रमण किया, तब जिहाद या पवित्र युद्ध की घोषणा कर दी गई और वे, जो अल्लाह में विश्वास करते थे, उसके लिये घोर संघर्ष करते थे 'और जिन्होंने उसे शरण दी और सहायता की वे ही सच्चे अनुयायी हैं, वे क्षमा किए जायँगे और उन्हें ईश्वरीय सुख प्राप्त होगा' (८:७४)।

जहाँ तक पैगंबर के जीवन का संबंध है, उन्होंने अपने असंतुष्ट अनुयायी को अपनी 'हुदैबिया' संधि (६ हिजरी, ६२७ ई०) की विधाओं को भी मान्यता देने के लिये बाध्य किया। यह संधि उनके विरोधी कुरैश से १० वर्ष रही। उसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं।

(१) धर्म और धार्मिक प्रवचन की स्वतंत्रता वांछनीय है। (२) यदि अन्य धर्मावलंबी इस्लाम धर्म स्वीकार करके पैगंबर के पास जाय, तो पैगंबर उसको उसकी पूर्व जाति को लौटा देता था; किंतु इस्लाम-धर्मी यदि अपने पैगंबर और धर्म को छोड़े तो मुसलमानों की अतिरिक्त जातियाँ उसे इस्लाम को नहीं लौटाती थीं। इमाम शरीफ ने धार्मिक स्वतंत्रता की इस संधि को इस्लाम की पूर्वविजयों में सबसे महान् कहा है क्योंकि इस प्रकार पैगंबर ने अगले चार वर्षों में अरब में धार्मिक परिवर्तन कर दिया।

उसके बाद की शताब्दियों में धर्मनिरपेक्ष शासक, अभिजात एवं धार्मिक वर्ग परस्पर और अपने से भिन्न जातियों से लड़ते रहे और जिहाद या पवित्र युद्ध का झूठा दावा करते रहे।

कुरान का जिहाद अपने तीव्रतम रूप के बाद वैयक्तिक धार्मिक स्वतंत्रता में समाप्त हुआ। मुस्लिम सरकार का साम्राज्यवाद, यद्यपि उसे विद्वानों ने राज्यसेवा में न्यायोचित ठहराया, कुरान की परंपरा में न्यायोचित नहीं माना जाता। [मो० ह०]

जीजाबाई प्रमुख निजामशाही सामंत लुखजी जाधवराव की पुत्री जीजाबाई का विवाह अत्यंत साधारण परिवार में मालोजी भोंसले के पुत्र शाहजी के साथ हुआ (१६०५)। उनका वैवाहिक संबंध दुःखद होने के कारण जीजाबाई को पति से विलग होकर, अपनी एकमात्र जीवित संतान शिवाजी के साथ पति की पैतृक जागीर में पूना जाकर रहना पड़ा। एकाकी जीवन व्यतीत करने के कारण माता की समस्त भावनाएँ पुत्र में केंद्रित हो गईं। अतः धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत शुद्धाचरणी, स्वाभिमानी, साहसी माता ने संपूर्ण मनोयोग के साथ बालपन से ही शिवाजी को हिंदुत्व के उच्चादर्शों से प्रेरित किया तथा उसके अभ्युत्थान में सहायता प्रदान की। इस प्रकार शिवाजी का व्यक्तित्व तथा भविष्य सँवारने में जीजाबाई का बहुत बड़ा हाथ था। शिवाजी के राज्याभिषेक के ११ दिनों बाद, अपने संजोए सपनों को सार्थक होते देखकर, १७६४ में जीजाबाई की मृत्यु हुई। [रा० ना०]

जीजी भाई सर जमशेद जी (१७८३–१८५९ ई०) उनका जन्म नौसारी (बड़ौदा) के पारसी परिवार में हुआ। जीवन के प्रारंभ में ही दुर्भाग्यवश माता पिता की छाया से वंचित होना पड़ा, किंतु अपनी बुद्धि और विवेक के बल पर इन्होंने अद्भुत उन्नति की। २० वर्ष की अवस्था के पूर्व ही चीन जाकर वहाँ से व्यापारिक संबंधों का सूत्रपात किया। पाँच बार चीन की यात्रा कर बंबई में बस गए तथा वहीं बड़े पैमाने पर व्यापारिक कार्यों का संचालन तथा प्रसार करने लगे और १८३६ ई० तक अपार संपदा एकत्र कर ली।

उनका बाद का जीवन समाजसेवी का था। वस्तुतः उनके व्यक्तित्व का यह पक्ष ही उनकी प्रतिष्ठा और महानता का प्रधान कारण है। उन्होंने सार्वजनिक हित के लिये अस्पताल, शिक्षा संस्थाएँ, दानशालाएँ, पेंशन निधि आदि की स्थापना की। बंबई और बंबई से बाहर देश के अन्य भागों में भी जनहित के लिये कुएँ, तालाब, पुल, बाँध आदि निर्मित करवाए।

असांप्रदायिक चेतना विकसित करने का उन्होंने आजीवन प्रयत्न किया। १८४२ ई० में उन्हें 'सर' की उपाधि और १८५८ ई० में बैरोनेट का पद मिला। महारानी विक्टोरिया द्वारा इस प्रकार संमानित आप प्रथम भारतीय थे। इनका देहांत १८५९ ई० में हुआ। [का० ना० सु०]

जीभ या जिह्वा (Tongue) जिह्वा का विशेष कार्य स्वाद (taste) का अनुभव करना है, किंतु इसके अतिरिक्त वह और भी कई विशेष महत्व के कार्य करती है। भाषण अथवा ध्वनियों के उच्चारण में वह विशेष सहायक होती है। कई अक्षर उसकी सहायता के बिना बोले ही नहीं जा सकते।' निगलने (swallowing) की क्रिया में उसका विशेष

भाव रहता है। यह ग्रूष में ऋण दाब (negative pressure) उत्पन्न करके चूसने का कार्य करती है। एक पतली नली में जल को चूसकर यह तीन फुट ऊँचा उठा सकती है।

जीभ अत्यंत चलायमान मांसपेशियों से निर्मित अंग है। यह श्लेष्मा कला से आच्छादित है और पीछे की ओर जो भाग इसका मूल कहलाता है वह ग्रसनी (Pharynx) के साथ जुड़ा हुआ है, किंतु पार्श्व तथा अग्रभाग में पूर्णतया स्वतंत्र होने से उसकी गति में कोई बाधा नहीं पड़ती। जीभ के ऊपरी पृष्ठ की सारी श्लेष्मिक कला अंकुरकों (papillae) से ढकी हुई है। ये अंकुर तीन प्रकार के होते हैं। आगे के भाग में अंकुरक छोटे और कोमल सूत्रों के समान होते हैं। इस कारण उनको
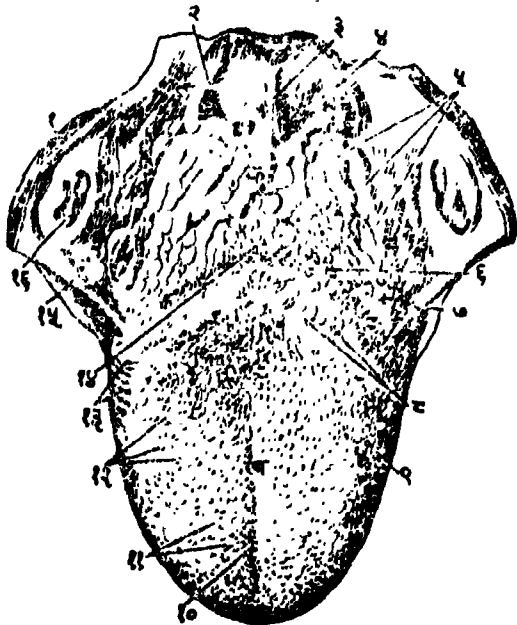
जीभ का ऊपरी पृष्ठ

क. मूल (radix); ख. काय (corpus); १. ग्रसनी (pharynx) तथा कोमल तालु के मध्य की चाप का प्रांत; २, ३, और ४, जीभ और कंठच्छद (epiglottis) को मिलानेवाले पुट (folds) तथा खात (hollows), ५. जीभ का गलशुंडा; ६. मूल तथा काय के मध्य की लीक; ७. और १५. जीभ तथा कोमल तालू को जोड़नेवाले चाप या पुट; ८,९,११, १२ और १३. अंकुरकों (papillae) के विभिन्न रूप (इनमें से कुछ में स्वाद कलिकाएँ होती हैं); १०. जीभ के मध्य का पुट चिह्न तथा १४. वह स्थान जहाँ पर मूल और काय मिलते हैं।

सूत्री अंकुरक (filiform papillae) कहा जाता है। जीभ के पिछले भाग में मूल के समीप एक पंक्ति सरकमवैलेट (circumvallate) अंकुरकों की है। इनके बीच में एक उभरा हुआ दाना सा होता है और उसके चारों ओर एक खाई या परिखा होती है। जीभ की नोक और उसके पार्श्वों पर तीसरे प्रकार के अंकुरक होते हैं, जो वर्षा ऋतु में उत्पन्न होनेवाले कुकुरमुत्ते या कवक के समान प्रतीत होते हैं। इस कारण इनको कवकी अंकुर (fungi form) कहा जाता है। सरकमवैलेट अंकुरकों में स्वाद कलिकाएँ (taste buds) होती हैं। ये सूक्ष्म दीप के समान होती हैं, जिनमें लंबे आकार की स्वाद कोशिकाएँ होती हैं। ये पार्श्व की ओर एक दूसरे से चिपटी रहती हैं। इनके ऊपरी सिरे से, जो जीभ के पृष्ठ की ओर रहता है, बाल सरीखे कुछ तंतु निकले रहते हैं। दूसरी ओर ये तंत्रिका तंतुओं से संबंधित होते हैं। जब खाए हुए पदार्थ के अवयव रस में घुलकर स्वाद कोश में जाते और इन कोशिकाओं के संपर्क में आते हैं, तो उनके द्वारा ये उत्तेजित होकर उत्तेजना को तंत्रिकासूत्रों तक पहुँचाते हैं। इनके द्वारा उत्तेजना का अनुभव मस्तिष्क के स्वादकेंद्र को होता है और इस प्रकार स्वाद का अनुभव होता है।

मुख्य स्वाद चार हैं : मीठा, कड़ुवा, खट्टा तथा नमकीन। अन्य सब स्वाद इनके कम या अधिक संमिश्रण से उत्पन्न होते हैं। जीभ की नोक मीठे स्वाद के अनुभव का विशेष स्थान है। कड़ुवा जिह्वा के पृष्ठ पर अधिक प्रतीत होता है और खट्टा उसके किनारों पर। अन्य स्थानों पर भी स्वाद प्रतीत होते हैं किंतु कम।

जीभ में दो तंत्रिकाओं के सूत्र आते हैं : १. मौखिकी तंत्रिका (Facial nerve) की मध्यकर्णरज्जु (chorda tympanic) शाखा तथा २. जिह्वा ग्रसनिका (glossopharyngeal) तंत्रिका की जिह्विकी (lingual) शाखा। [मु० स्व० व०]

जीभ के रोग इनमें सबसे महत्व का रोग कर्कट (Cancer) है, जो कहीं भी हो सकता है, परंतु कृमिदंत (carious tooth) या ठीक न बैठनेवाले कृत्रिम दंत (artificial dentures) के प्रक्षोभ से प्रायः जीभ के किनारे पर हुआ करता है। कर्कट कठिन, उन्नत व्रण के समान होता है। इससे सर्वप्रथम गले की तथा जबड़े के नीचे की लसीका ग्रंथियाँ आक्रांत होती हैं, जिससे प्रारंभ में गले में बेचैनी, पश्चात् निगलने की कठिनाई और अंत में स्थिरीकरण (fixation) के कारण आधे इंच से अधिक मुँह खोलना कठिन हो जाता है।

आगे चलकर आक्रांत लसीका ग्रंथियों में, तथा अन्यत्र, व्रण उत्पन्न होते हैं और उनसे रक्तस्राव होने लगता है। अत्यधिक लालास्रवण इसका महान् कष्टदायक उपद्रव है। रोग होने पर रोगी वर्ष, सवा वर्ष से अधिक जीवित नहीं रह सकता।

जीभ तथा लसीकाग्रंथियों को एक साथ, अथवा थोड़ा अंतर छोड़कर, शल्यक्रिया से निकालना ही इसकी मुख्य चिकित्सा है। पार्श्व के, या पीछे के, कर्कट की शल्यक्रिया की अपेक्षा जिह्वाग्र में कर्कट की शल्यक्रिया में रोगी व्यक्ति के बच रहने की आशा अधिक होती है। रेडियम सूचियों (radium needles) की तथा उसके बीजों (seeds) के प्रयोग की सफलता शल्यक्रिया के समान होती है। कृत्रिम दंत के प्रक्षोभ से जीभ में कर्कट उत्पन्न होने की संभावना के कारण कृत्रिम दंत से जीभ को कष्ट पहुँचने पर दंतचिकित्सक की सलाह लेनी चाहिए।

फिरंग रोग (syphilis) में जीभ पर सफेद धब्बे (Leukoplakia) बनते हैं, जिनमें कर्कट उत्पन्न होने की संभावना होती है तथा फिर निर्यासार्बुद (Gumma) उत्पन्न होते हैं, जिनको कर्कट से पृथक् करना कठिन होता है। अतः संदेह होने पर जीभ को निकाल देना चाहिए।

अन्य रोगों में जीभ — ज्वर में जीभ सफेद और मलावृत, अग्निमांद्य में ढीली और दंतचिह्नांकित, मधुमेह में लाल और चिटकी हुई (cracked), मद्यात्यय (alcoholism) में डोलायमान ([illegible]

ulous), पार्श्वतः में विस्थापित (laterally displaced), संग्रहणी (sprue) में अनियमित आकार तथा धूसर वर्ण के धब्बों के कारण भूगोल के नक्शे के समान (geographical), क्षय (phthisis) में अणुयुक्त और ऐक्टिनोमाइकोसिस (actinomycosis) में गाँठदार होती है।

दुबले पतले बच्चों में सदोष दुग्धपान से जीभ की उपकला (epithelium) के ऊपरी स्तरों में यीस्टों (yeasts) तथा फफूँदियों (moulds) की उत्पत्ति से एक प्रकार का मुखपाक (Thrush) होता है। इसकी उत्पत्ति में लाला की अम्ल प्रतिक्रिया, या श्लेष्मा, सहायक होती है। इसका निवारण दुग्धपान के दोषों को दूर करने तथा जीभ पर मधु के साथ बोरिक अम्ल, सुहागा (borax) या बोल (myrrh) लगाने से होता है। [भा० घे० घा०]

जीमूतवाहन पौराणिक व्यक्ति, जो विद्याधरराज जीमूतकेतु का पुत्र था। पिता का उत्तराधिकार सँभालने के बाद इसने सारा राज्य संबंधियों को वितरित कर दिया और स्वयं माता पिता के साथ मलयपर्वत पर चला गया। दूसरा जीमूतवाहन शालिवाहन का पुत्र था। एक और जीमूतवाहन धर्मरत्न नामक स्मृति के संग्रहकर्ता थे। दायभाग के रचयिता का नाम भी जीमूतवाहन था।

जीरा १. नगर, यह पंजाब प्रदेश के फीरोजपुर जिले का नगर और तहसील है। इसकी जनसंख्या ८,११८ (१९६१) है। व्यापारिक दृष्टि से यह नगर महत्वपूर्ण नहीं है। यहाँ जीरा तहसील का प्रधान कार्यालय तथा एक स्कूल और एक सरकारी अस्पताल है।

२. तहसील, यह पंजाब प्रदेश के फीरोजपुर जिले की एक तहसील है। इसका क्षेत्रफल लगभग ४१९ वर्ग मील है। भूरचना की दृष्टि से इसके तीन भाग किए जा सकते हैं। 'बेट' या समतल उपजाऊ मैदान, 'रोही' या उठा हुआ पठार तथा 'बेट' और 'रोही' के बीच का सँकरा भाग। तहसील के उत्तर की ओर सतलज नदी है। इस तहसील में जीरा, माखू तथा धर्मकोट [जनसंख्या ६,४४३-१९६१] नामक तीन नगर हैं। [सै० मु० अ०]

जीरूसालेम स्थिति : ३१° ४७' उ० अ० तथा ३५° १०' पू० दे०। यह महान् नगर यहूदियों, ईसाइयों तथा मुसलमानों का पवित्र धार्मिक तीर्थस्थान है। इस नगर के पुराने तथा नए दो भाग हैं, जो क्रमशः जॉर्डन तथा इजरायल देशों में सम्मिलित हैं।

यह नगर जूडेया पर्वत या पठार की ऊबड़ खाबड़ पहाड़ी भूमि पर समुद्रतल से २,५०० फुट की ऊँचाई पर बसा है। नगर के पश्चिम जूडेया पठार क्रमशः नीचा होता हुआ भूमध्यसागर के तटीय प्रदेश से मिलता है। पूरब की ओर वीरान जूडेया पठार, जॉर्डन घाटी एवं डेड सी दिखाई पड़ते हैं। जीरूसालेम का पुराना भाग किड्रन तथा हिनोमम नदियों के संगम पर बसा है, परंतु इसका नया भाग पहाड़ियों तथा घाटियों के अंचल में फैला है। इसके पूरब में 'ओलाइव्स' पर्वत है। वर्तमान स्थान पर जीरूसालेम की स्थापना भौगोलिक दृष्टि से नहीं वरन् सुरक्षा की दृष्टि से हुई थी।

पुराने नगर में पूरी जनसंख्या का १/५ भाग रहता है। यह भाग अर्ध मील लंबी एवं ३८½ फुट ऊँची दीवार से घिरा है। इसके तीन विभाग हैं, जिनमें क्रमशः मुसलमानों, विभिन्न प्रकार के ईसाइयों तथा आर्मीनियन ईसाइयों का निवास है। सन् १९४२ तक एक अलग यहूदी विभाग भी था। यहाँ पतली गलियों का जाल है। बड़ी सड़कों पर बाजार हैं, जहाँ दोनों किनारों पर छोटी छोटी दूकानें हैं। इन सँकरी गलियों में ट्रक या कार नहीं चल सकती अतएव व्यापार ऊँटों तथा खच्चरों द्वारा होता है। नगर के इस भाग में कोई रेलमार्ग नहीं है। इसका संबंध जॉर्डन के प्रधान नगरों से सड़कों द्वारा है।

नया नगर इजरायल की राजधानी है। इस भाग में जनसंख्या सन् १९४८ के बाद दूनी हो गई है। इसके पश्चिम तरफ नए कस्बे बढ़ते जा रहे हैं। यहाँ के निवासी प्रधानतः यहूदी हैं। कुछ मुसलमान तथा ईसाई भी हैं। नए जीरूसालेम में करीब ५० कारखाने हैं। जूते, रासायनिक पदार्थ, दवाइयाँ, धातु के सामान, कपड़े, प्लास्टिक तथा चमड़े की वस्तुओं का निर्माण प्रमुख है। हीरे पर पॉलिश चढ़ाने का काम भी यहाँ होता है।

हस्तकला में चाँदी के सामान, कसीदे काढ़ना तथा काष्ठकला प्रसिद्ध है। यह भाग तटीय मैदान से होकर इजरायल के अन्य शहरों से रेल, सड़क तथा वायुमार्ग द्वारा संबंधित है। [ज० सिं०]

जीलानी, अब्दुल कादिर (जन्म १०७७-७८, मृत्यु ११६६) इस्लाम का महान् संत और सूफी धर्मोपदेशक। १८ वर्ष की आयु से मृत्युपर्यंत बगदाद उसका कार्यक्षेत्र रहा। सूफी होते हुए भी उसने तत्कालीन धार्मिक विचारधारा 'हंबलवाद' से उसका विशेष मतभेद नहीं था। अल-गुन्या लि-तालिबी तारीक अल-हक़, अल फतह अल-रब्बानी और फ़ुतूह अल-ग़ैब नामक पुस्तकों में उसने धार्मिक शिक्षायुक्त बातें और उपदेश लिखे हैं। अलकासिदा अल-गाविया उसकी प्रसिद्ध रहस्यवादी कविता मानी जाती है।

जीली अल दे० जीलानी, अब्दुल कादिर।

जीलैंड (Zealand) स्थिति : ५५° ३०' उ० अ० तथा ११° ३०' पू० दे०। यह डेनमार्क राज्य का सबसे बड़ा द्वीप (क्षेत्रफल २,७०९ वर्ग मील) है, जो स्वीडन के दक्षिण में तीन मील दूर केटेगट तथा बाल्टिक सागर के बीच में स्थित है। यह द्वीप, उत्तर से दक्षिण ८२ मील लंबा तथा पूर्व से पश्चिम ६८ मील चौड़ा है। धरातल असम है, जिसमें बहुत सी छोटी छोटी पहाड़ियाँ हैं। यहाँ की भूमि बहुत ही उपजाऊ है। यहाँ की जनसंख्या १,६०,२५० है। यहाँ मक्का आदि फसलें पर्याप्त होती हैं। उपयुक्त चरागाहों के कारण पशुपालन यहाँ का मुख्य धंधा है। मछलियों का शिकार, खेती, तथा छोटे मोटे उद्योग धंधे यहाँ के मुख्य व्यवसाय हैं। यहाँ बहुत छोटे छोटे नगर तथा कस्बे हैं। कोपेनहेगेन यहाँ की राजधानी है। एल्सिनोर या हेलसिंगार प्रसिद्ध नगर है।

२. जीलैंड (Zeeland) स्थिति : ५१° ३०' उ० अ० तथा ३° ५०' पू० दे०। इसका क्षेत्रफल ६५१ वर्ग मील तथा जनसंख्या २,७५,१४८ (१९५३) है। यह नीदरलैंड का एक प्रांत है, जो उत्तरी समुद्र के पास है। यहाँ का धरातल समुद्र की सतह से भी नीचा है। नवनिर्मित बाँधों के कारण यहाँ बहुत से खाद्यान्न, सब्जियाँ तथा फल आदि उगाए जाते हैं। कृषि तथा पशुपालन के अतिरिक्त मत्स्य व्यवसाय यहाँ के लोगों का मुख्य धंधा है। मिडिलबर्ग यहाँ का प्रसिद्ध नगर तथा राजधानी है। [हृ० सिं०]

जीवक आयुर्वेद साहित्य की काश्यप संहिता का नाम वृद्धजीवकतंत्र भी है। वृद्धजीवक के संबंध में एक कथा भी है, जिसके अनुसार ऋत-

युग और त्रेता युग के संधिकाल में दक्ष यज्ञ के विध्वंस के समय देवता क्रोध भय के कारण इधर उधर भागने लगे। इनके भागने से दैहिक और मानसिक रोग उत्पन्न हुए। इस समय लोगों की हितकामना से महर्षि कश्यप ने अपने ज्ञानचक्षुओं से एवं पितामह की आज्ञा से इस तंत्र को बनाया। इस तंत्र को सबसे प्रथम ऋचीक के पुत्र जीवन नाम के एक बाल मुनि ने ग्रहण किया और इसको संक्षिप्त रचना में बदल दिया, परंतु बालक का वचन होने से ऋषियों ने इसका आदर नहीं किया। तब ऋषियों के सामने ही कनखल में गंगा नदी के अंदर जीवक ने डुबकी लगाई और क्षण भर में वली पलित युक्त वृद्ध शरीर प्रकट हुआ। तब ऋषियों ने बालक का नाम वृद्ध जीवक रखा और इस तंत्र का अनुमोदन किया [आ० वृ० इ० पृष्ठ ४८८]। इसके पीछे कालक्रम से लुप्त इस तंत्र को जीवक के वंश में ही उत्पन्न वात्स्य ने प्रतिसंस्कार करके लोककल्याण के लिये प्रचारित किया।

जीवक नाम के एक वैद्य की कथा महावग्ग में भी आती है। यह जीवक इससे सर्वथा भिन्न है। यह जीवक भगवान् बुद्ध का समकालीन तथा बिंबिसार का राजवैद्य था [आ० वृ० इ० ९८–१०६]।

[अ० दे० वि०]

जीव गोस्वामी यह सनातन गोस्वामी के अनुज वल्लभ के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १५६८ में रामकेलि ग्राम में हुआ। इनके पितृव्यों के विरक्त हो जाने पर यह बाकला आए, जहाँ इनका पालन हुआ तथा इन्होंने शिक्षा पाई। २० वर्ष की अवस्था में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये ये नवद्वीप आए, जहाँ श्री नित्यानंद से इनकी भेंट हुई। उनके आदेश से कुछ दिनों के अनंतर ये काशी आए और यहाँ चार वर्ष वेदांतादि का अध्ययन कर ये अपने पितृव्यों के पास वृंदावन चले गए। रूप गोस्वामी से दीक्षा प्राप्त कर ये भक्ति के प्रचार तथा ग्रंथों की रचना में वृद्ध गोस्वामियों की सहायता तथा उनकी सेवा करने लगे। सं० १५९९ में श्री रूप ने अपने सेव्य ठाकुर श्रीराधादामोदर की सेवा इन्हें सौंप दी। यह मंदिर शृंगारवट पर वर्तमान है और इसी के पास श्री रूप आदि तथा जीव गोस्वामी की समाधियाँ हैं। वृद्धों के शरीर त्यागने पर सं० १६११ से यही श्री चैतन्य संप्रदाय के वृंदावन में मुख्य कर्णधार हुए।

इन्होंने गोस्वामी ग्रंथों पर सरल टीकाएँ लिखीं, स्वयं अनेक ग्रंथ लिखे तथा आगरा से कागज मँगवाकर उनकी प्रतिलिपियाँ प्रस्तुत कराईं। सं० १६३९ में इन सब प्रतियों को बंगाल भेजा। अकबर की इन गोस्वामियों पर बड़ी आस्था थी, इससे लाल पत्थर के कई बड़े मंदिर इनके समय में वृंदावन में बने। सं० १६३० में अकबर वृंदावन आए और जीव गोस्वामी से भेंट की। उन्होंने वृंदावन का फरीदाबाद नाम रखा और सन् १०१४ हि० में एक फर्मान जारी कर वहाँ जीवहत्या, वृक्ष काटना तथा वैष्णवों को कष्ट देना बंद करा दिया। इस प्रकार ४० वर्ष अपने संप्रदाय के कर्णधार रहकर पौष शुक्ल ३, सं० १६५३ को इन्होंने शरीर त्याग दिया। इन्होंने व्याकरण पर हरिनामामृत, सूत्रमालिका तथा धातुसंग्रह, लीलाग्रंथ, श्रीगोपाल चंपू और वैष्णवदर्शन पर सात संदर्भग्रंथ लिखे। अंतिम पर सर्वसंवादिनी टीका लिखी। ब्रह्मसंहिता, गोपालतापिनी, भक्तिरसामृतसिंधु, उज्वलनीलमणि, योगसारस्तव, श्री गायत्री विवृति आदि पर इन्होंने टीकाएँ लिखी हैं। इन्होंने सात आठ संग्रह ग्रंथ भी प्रस्तुत किए हैं, जैसे पद्मपुराणोक्त श्रीकृष्णपदचिह्न, श्रीराधिकाकरपदचिह्न आदि। इन रचनाओं से इनका अद्भुत पांडित्य, गंभीर विवेचन तथा सूक्ष्म मर्मज्ञता ज्ञात होती है।

[व्र० दा०]

जीवजनन (Biogenesis) जीवविज्ञान के अंतर्गत व्यवहृत होनेवाला एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका तात्पर्य होता है सजीव की उत्पत्ति। सजीव की उत्पत्ति सजीव से ही होती है। यह अजीवजनन (Abiogenesis) का विपरीतार्थक है।

प्राचीन प्रकृतिवादी अरस्तू, थियोफ्रेस्टस आदि का विश्वास था कि जीवों की उत्पत्ति स्वतः निर्जीव पदार्थों से होती है। कीड़े या कीटों के लार्वा (larva) कीचड़ से और मक्खियाँ जंतुओं के शव से उत्पन्न होती हैं। किसी किसी का मत था कि अनुकूल परिस्थितियों में जीवों की उत्पत्ति यों ही स्वतः हो जाती है। इसके प्रमाण में वे कहते थे कि यदि मांस का टुकड़ा या ऐसी ही कोई चीज हवा में खुली रखें तो उसमें अनेक कीड़े अपने आप पैदा हो जाते हैं। इस समस्या के समाधान का सर्वप्रथम वैज्ञानिक प्रयास इटली के फ्रैंसिस्को रेडी (जीवनकाल १६२६–१६९७ ई०) ने किया। उसने थोड़े से कई बरतनों में मांस के टुकड़े रखे। उनमें से कुछ को खुला रखा और कुछ को महीन जाली से ढक दिया। थोड़े ही समय में उसने देखा कि खुले बरतनों में तो मक्खियों के अंडे और बच्चे अंदर थे, किंतु ढके बरतनों में जाली के ऊपर ही थे। इस प्रयोग से स्पष्ट हो गया कि अंडे किसी मक्खी ने दिए न कि स्वयं उत्पन्न हो गए।

१९वीं शताब्दी के मध्य काल में कीटाणुविज्ञान (Bacteriology) के जन्मदाता लुई पैस्टर (Louis Pasteuer) ने सिद्ध कर दिया कि जीवों की उत्पत्ति निर्जीव पदार्थों से अथवा स्वतः नहीं होती, बल्कि किसी पूर्ववर्ती (pre-existing) जीव से ही होती है। उन्होंने प्रमाणित कर दिया कि शोरबा या मांस या अन्य दूसरी वस्तुएँ, जिन्हें वायु में खुला रखने पर अनेकों कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं, यदि उबालकर कीटाणुरहित कर हवा और दूसरी वस्तुओं से रक्षित रखी जायँ तो उनमें कीटाणु या जीव उत्पन्न नहीं होते। पहले तो लोगों ने इस सिद्धांत को मानना अस्वीकार किया और इसके विरुद्ध अनेक तर्क उपस्थित किए, किंतु बाद में चलकर उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि पैस्टर का कथन ठीक है और सजीव की उत्पत्ति सजीव से ही होती है।

[मु० ना० प्र०]

जीव तत्व भारतीय विचारकों ने आत्मबोध और जगद्बोध के बीच कोई व्यवधान नहीं कल्पित किया। मनुष्य जितना ही रूप और विज्ञान के विविध स्कंधों के फेर में पड़कर अज्ञान और राग, मान आदि संयोजनों में फँसता है उतना ही मलिन होकर उसे अनुताप की अग्नि में जलना पड़ता है, क्योंकि सभी धर्मों का मन अग्रगामी है।

बौद्ध दर्शन में क्षयशील जगत और मानव शरीर की अनित्यता के विषय में असंख्य व्याख्याएँ पाई जाती हैं — विचार के क्षीण होने से अज्ञान और अज्ञान के कारण उत्पन्न संस्कार के अनुगामी विज्ञान, नाम और रूप, आयतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जन्म, जरा आदि दुःखों की अविच्छिन्न परंपरा स्थापित हो जाती है। इसलिए विवेक को बनाए रखने के लिये शरीर के साधारण धर्म का स्वरूप समझ रखना हर एक व्यक्ति के लिये उतना ही आवश्यक है जितना जीने के लिए प्राणवायु।

व्यावहारिक दृष्टि से भी हम यदि अपने जीवन को सुखमय और सुंदर बनाना चाहते हैं, तो सबसे पहले मन की साधारण गतियों एवं चेष्टाओं पर ध्यान देना होगा; क्योंकि हमारे बाह्य व्यापार अंतःप्रवृत्ति के प्रकाशन मात्र होते हैं।

[चं० म०]